प्रस्तावना.

यह महान् ग्रंथ मूलाराधना अथवा भगवती आराधना इस नाम से प्रसिद्ध है. जैसे मुनिओंके प्रधान आचार विशेष को मूलगुण कहते हैं, वैसे मोक्षप्राप्ति के लिये रत्नत्रय प्रधान कारण होनेसे उसको मूल कहते हैं. इस मूलभूत रत्नत्रय की प्राप्ति जिससे होती है ऐसे उपायों को आराधना कहते हैं. इस ग्रंथमें मूलभूत रत्नत्रय की प्राप्ति होने के उपायोंका सविस्तर वर्णन किया है अतः इसको मूलाराधना यह अन्वर्थ नाम दिया गया है. अत एव पं. आशाधरजीने इस ग्रंथ का मूलाराधना इस नाम से उल्लेख कर के उसके ऊपर मूलाराधनादर्पण नाम की पञ्जिका लिखी है.

प्रस्तुत ग्रंथके निर्माता ऋषिपुंगव शिवकोट्याचार्यजीने ' भगवती आराधना ' ऐसा भी इस महान् ग्रंथ का नाम करण किया है 'आराधणा भगवदी एवं भत्तीए वण्णिदा संती' इस गाथार्धके द्वारा उपर्युक्त नामकरण का खुलासा होजाता है.

जैसे पूज्य, पूजक, पूजा और पूजा फल ऐसे चार विभाग जिनपूजन प्रतिपादक ग्रंथोंमें किये गये हैं वैसे इस ग्रन्थमें भी आराध्य, आराधक, आराधना और आराधनाफल इन प्रकरणोंका वर्णन आचार्यने किया है.

रत्नत्रयामाराध्यं भव्यस्त्वाराधको विशुद्धात्मा
आराधाना ह्युपायस्तत्फलमभ्युदयमोक्षौ स्तः ॥

रत्न अमूल्य चीज है और उससे इष्टपदार्थ की प्राप्ति होती है. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र रत्न के समान अमूल्य हैं. उनसे जीवों को स्वर्गादि मोक्षान्त फल प्राप्त होते हैं अतः आचार्य इनको रत्नत्रय यह सार्थक नाम देते हैं. यह रत्नत्रय आराध्य है. निर्मल परिणामवाले भव्य जीवको आराधक कहते हैं. गृहस्थ व मुनि-वर्य जिनके परिणाम निर्मल हैं वे इस रत्नत्रय को प्राप्त कर लेते हैं अतः उनको आराधक कहते हैं. जिन उपायोंसे रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है ऐसे उपायोंको आराधना कहते हैं. जैसे धार्मिकों में वात्सल्यभाव रखना, उनके अवर्णवादको हटाना धार्मिकों को कोई तकलीफ देवा होगा तो—उसका निराकरण करना वगैरे उपाय करनेसे सम्यग्दर्शनादि रत्नोंकी

प्राप्ति होती है. इस रत्नत्रय की आराधना करनेसे अभ्युदय और मोक्षरूप फलकी प्राप्ति होती हैं. इन सब बातोंका इस ग्रंथमें वर्णन किया हैं.

रत्नत्रय आराध्य है वैसा तपभी आराध्य माना है परंतु उसका चारित्रमें अन्तर्भाव होनेसे रत्नत्रय ही आराध्य है ऐसा सिद्ध होता है. जिस ने सुखिया स्वभावको छोड दिया है वही चारित्रको धारण करता है अर्थात् अनशनादि बाह्य तपश्चरण करने की प्रवृत्ति करनेवाला साधु चारित्रमें उत्साहयुक्त होता है जिससे उसके पापोंका नाश होता है. चारित्रके परिणामोंको अर्थात् विनयादि तपोंको चरित्रकी वृद्धि करनेवाले होनेसे आचार्य चारित्रमें ही अन्तर्भूत करते हैं. यदि तपको अलग गिनाया जाय तो आराध्य पदार्थ चार होते हैं.

इन चार आराध्य पदार्थोंकी आराधना उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरण इन उपायोंसे होती है. सम्यग्दर्शनादिकोंको अतिचारोंसे अलिप्त रखना अर्थात् उनमें दोष उत्पन्न न होने देना उद्योतन है. आत्मामें वारवार सम्यग्दर्शनादिकोंकी परिणति होते जाना उद्यवन कहते हैं. परीषहादिक प्राप्त होनेपर भी स्थिरचित्त होकर सम्यग्दर्शनादिकोंसे च्युत न होना इसको निर्वहण कहते हैं. अन्य कार्योंमें चित्त लगनेसे यदि सम्यग्दर्शनादिक तिरोहित होनेपर पुनः उपायोंसे उनको पूर्ण करना इसको साधन कहते हैं. आमरण सम्यग्दर्शनादिकोंको निर्दोष धारण कर अन्यजन्ममें उनको पोहोंचाना निस्तरण है. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इन चारोंकी उन्नति होनेके लिये उपर्युक्त पांचोंकी आवश्यकता है ही. प्रत्येक में उद्योतादिक पांच उपाय मान लेनेसे २० वीस भेद होते हैं. अतः यह अराधना उद्योतनादिक वीस भुजाओंको धारण करनेवाली अम्बिकादेवी है ऐसा श्री अमितगति आचार्यने आराधनास्तवनमें वर्णन किया है वह योग्य ही है ऐसा हम समझते हैं.

इस भगवती अराधनाग्रंथमें आराधकके मरणोंका विस्तृत विवेचन किया है. ऐसा वर्णन अन्यत्र इतना विस्तारयुक्त नहीं है. प्रस्तुत ग्रंथमें मरणके १७ सत्रह प्रकारोंका विवेचन है उसमें भी पंडितपंडित मरण, पंडितमरण, बालपंडित मरण, बालमरण और बालबालमरण इन मरणोंमें आद्यके तीन मरण ही श्रेष्ठ गिने हैं क्योंकि इनमें समाधि मरण अर्थात् सल्लेखना मरण सिद्ध होता है. यह सल्लेखना मरण रत्नत्रयकी आराधनासे युक्त होनेसे भव्यजीव इसक आश्रय लेकर संसारपंजर को तोडकर मुक्त होते हैं.

मुनिओंके सल्लेखना मरणका अर्थात् भक्तप्रत्याख्यान मरणका आचार्य शिवकोटीजीने ४० चालिस अधिकारोंमें

इतना योग्य वर्णन किया है कि जिसका विवेचन सुननेसे और बाचनेसे उनकी विशालबुद्धिके विषयमें मन साश्चर्यानंदित होता है. इन सब बातोंका अनुक्रमणिकासे खुलासा होगा.

अब हम श्रीशिवकोटि आचार्यके विषयमें थोडासा कथन करते हैं. प्रस्तुत ग्रंथकी २१६५ वी गाथामें श्री शिवकोटि आचार्यने आर्य जिननंदिगणी, आर्य सर्वगुप्तगणी तथा आर्य मित्रनंदिगणी इन आचार्योंके पास मैंने श्रुत और उसके अर्थका अध्ययन किया है ऐसा उल्लेख किया है. अनंतर २१६६ वी गाथामें पूर्वाचार्योंके बनाये हुए शास्त्रोंसे थोडा थोडा अर्थ संगृहीत करके हस्तरूपी पात्रमें भोजन करनेवाले अर्थात् दिगंबर मुनि ऐसे मैंने-शिवार्यने यह आराधना नामक महाशास्त्र रचा है. ' इस नाम से ग्रंथकार अपना परिचय देते हैं. श्री पं. आशाधरजी ' सिवज्जेण शिवकोट्याचार्येण मयेति लक्ष्यति ' सिवज्ज इस शब्दका शिवकोटि आचार्य ऐसा अर्थ निकालते हैं. सिवज्ज यह शब्द नामका एक देश बतलाता है. नामैकदेशो·नाम्न्यपि प्रवर्तते इस नियम के अनुसार शिवकोटि आचार्य इतना पूर्ण नाम सिवज्ज शब्दसे सूचित करते हैं ऐसा अवगत होता है. इस आराधना शास्त्रकी रचना शिवकोटि आचार्यने ही की है ऐसा ग्रंथांतरसे भी सिद्ध होता है. महापुराण के कर्ता श्री. जिनसेन आचार्य शिवकोटिके विषय में ऐसा विधान करते हैं: —

शीतीभूतं जगद्यस्य वाचाराध्य चतुष्टयम्॥
मोक्षमार्गं स पायान्नः शिवकोटिमुनीश्वरः॥ ४९ ॥ महापुराण पर्व १ ला.

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप रूप जो चार प्रकार का मोक्षमार्ग है उसकी आराधना जिसके वचनोंसे भव्यजीव करके कर्मसंतापसे रहित होते हैं अर्थात् अपने निराकुल शांत आत्मस्वरूप की प्राप्ति कर लेते हैं वे शिवकोटि आचार्य महाराज हम लोगोंका रक्षण करें, इस श्लोकमें चार प्रकारके आराधनाओंका स्वरूप विस्तृत शिवकोटि आचार्यने भगवती आराधनामें कहा है ऐसा खुलासा होता है. अतः ' सिवज्ज ' यह नामैकदेश शिवकोट्याचार्य का ही वाचक है ऐसा व्यक्त होता है.

शिवकोटि आचार्यने ' रत्नमाला ' नामक श्रावकाचार का वर्णन करनेवाला छोटासा ग्रंथ लिखा है. श्रीश्रुतसागरजीने षट्पाहुड की टीका के एक स्थलमें इस रत्नमाला का श्लोक उद्धृत किया है वह इस प्रकार—तथा चोक्तं शिवकोटिनाचार्येण—

चर्मपात्रगतं तोयं घृतं तैलं प्रवर्जयेत् ॥
नवनीतप्रसूनादिशाकं नाद्यात्कदाचन ॥

यह रत्नमालाग्रंथ किसी भट्टारकका बनाया होगा, शिवकोट्याचार्यका नहीं है ऐसा पं. नाथुराम प्रेमीजी लिखते हैं तथा उसकी सिद्धिके लिये वे इस प्रकार कहते हैं. रत्नमाला ग्रंथमें मुनिराज इस पंचम कालमें वन में न रहकर गांव शहर वगैरेह स्थानोंमें जो जिनमंदिर हैं उनमें रहें ऐसा विवेचन है. और यह शिथिलाचारका विवेचन है. परंतु ऐसा लिखनेसे क्या शिथिलाचार हो गया यह हमें मालूम नहीं होता है. श्रीसमंतभद्राचार्य भी श्रावकों को मुनिओंके लिये वसतिकादान देना चाहिये ऐसा उपदेश करते हैं. तथा वसतिका ग्रामसे दूर नहीं होनी चाहिये इत्यादि विस्तीर्ण वर्णन खुद भगवती आराधनामें भी आया है. अतः इसमें शिथिलाचारका पोषण कैसे हो गया ?

इस कलिकालके मुनिओंको समाधिमरण सध जाय इस हेतूसे शिवकोट्याचार्यजीने भक्तप्रत्याख्यान मरणका ही मुख्यतासे भगवती आराधनामें निरूपण किया है.इंगिनीमरण और पादोपगमनमरणका इस कलिकालमें निषेध किया है. अतः वसतिकामें रहनेकी जो आज्ञा शिवकोटि आचार्यने दी है वह समंतभद्रादि प्राचीन आचार्योंके ग्रंथों में भी पायी जाती है. इसमें शिथिलाचार नहीं है.

रत्नमाला ग्रंथमें नीचे लिखे दो श्लोक गृहस्थके स्नानप्रकरणमें आये हैं—

पाषाणोत्स्फुटितं तोयं घटीयंत्रेण ताडितम् ॥ सद्यः सन्तप्तवापीनां प्रासुकं जलमुच्यते ॥
देवर्षीणां प्रशौचाय स्नानाय च गृहार्थिनाम् । अप्रासुकं परं वारि महातीर्थजमप्यदः ॥

पाषाणके ऊपर जोरसे गिरनेवाला जलप्रपातका पानी, घटीयंत्रसे ताडित जल, गरम बावडियोंका जल ये प्रासुक हैं. मुनि इस जलसे शौचक्रिया कर सकते हैं, तथा इस जलमे गृहस्थ स्नान कर सकते हैं.

परंतु नाथुरामजी प्रेमी कहते हैं कि यह वर्णन किसी भट्टारक महाराजने ही किया होगा शिवकोट्याचार्यका नहीं हो सकता है. परंतु हम ऐसा कहते हैं कि यह कथन शिवकोट्याचार्यने ही किया है और इसमें शिथिलाचार नही है. जैसा उपर्युक्त वर्णन शिवकोटी आचार्यने किया है इसी प्रकारका वर्णन अमितगति आचार्यने भी सुभाषित-रत्नसंदोह ग्रंथमें चारित्रके प्रकरणमें किया है. शिवकोटिआचार्य के समान अमितगति आचार्य भी भट्टारक नहीं थे. एकाद समय कमंडलुमें गरम जल नहीं हो तो उपरि श्लोकवर्णित जलसे मुनि शौचक्रिया कर सकते हैं.

शिवकोटि आचार्यने रत्नमालामें समन्तभद्राचार्यका बडे गौरवसे नामोल्लेख किया है इससे वे समन्तभद्राचार्यजीको अपना गुरु मानते होंगे ऐसा सिद्ध होता है, जैसे—

स्वामी समंतभद्रो मेऽहर्निशं मानसेऽनघः । तिष्ठताज्जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचंद्रमाः ॥

स्वामि समंतभद्र मेरे मनमें हमेशा निवास करे. आचार्य समन्तभद्र जैन शासनरूप समुद्रको चंद्रके समान वृद्धिंगत करनेवाले थे,

पाणितलभोजिणा सिवज्जेण ऐसा भगवती आराधनामें अपना नामोल्लेख किया है अर्थात् हस्तपात्रमें भोजन करनेवाले शिवकोट्याचार्यने यह भगवती आराधना रची है. अर्थात् पाणितलभोजि शब्दसे उन्होंने अपना दिगंबर जैनयतित्व सूचित किया है. परंतु पं. नाथुराम प्रेमीजी इस शब्दसे यह अभिप्राय निकालते हैं कि उस समयके कोई मुनि पात्रमें भी भोजन करते होंगे.

परन्तु यह शंका बिलकुल निरर्थक है. जबतक मैं खडा होकर हस्तरूपी पात्र से आहार लेने में समर्थ रहूंगा तबतक ही भोजन करूंगा. जब खडा रहनेका सामर्थ्य मेरा नष्ट होगा तब मैं आहारका त्याग करूंगा ऐसी दीक्षाके समयमें दि॰जैन मुनि प्रतिज्ञा ग्रहण करते हैं. चाहे वे स्थविरकल्पी मुनि हो चाहे जिनकल्पी मुनि हो. दोनोंके मूलगुण समान ही रहते हैं. दि॰ जैन मुनि कभी बैठकर और पात्र में आहार लेते नहीं हैं. श्वेतांबरत्व की किसीको शंका होगी वह न हो इसी हेतुसे शिवकोटि आचार्यनें अपने नामके पीछे पाणितलभोजी यह विशेषण जोड दिया है. चतुर्थकालमें भी स्थविरकल्पी मुनि होते थे, परन्तु पंचमकाल में स्थविरकल्पी मुनि ही उत्पन्न होते हैं, वज्रवृषभसंहननादि तीन उत्तम संहननोंके धारक ही जिनकल्पी मुनि होते हैं. इन उत्तम संहननोंका सद्भाव चतुर्थकालमें ही रहता है. अन्यत्र नहीं. श्वेताम्बरोंके यहां आचेलक्य, वगैरह दशविध स्थितिकल्पका उल्लेख होगा परंतु वह नाममात्र ही हैं. उसका आचरण दि. जैन मुनियोंमें ही समीचीनरूपसे पाला जाता है.

• श्रीशिवकोटी आचार्य दि. जैनयतिही थे उन्होने अपने ग्रंथमें नग्नता, लोच, शरीरममत्वका त्याग तथा मयूर पिच्छ धारण करना ये जैन यतीका उत्सर्ग लिंग है. ऐसा लिंगाधिकारमें वर्णन किया है इससे दिगंबर और श्वेतांबरत्व का भेद उस समय भी था ऐसा झलकता है.

शिवकोटि आचार्य गृहस्थावस्थामें शिवकोटि नामके काञ्ची देशके राजा थे. इनके भाईका नाम शिवायन

ऐसा था. वे दोनो शैवधर्मके परमोपासक थे. स्वामी समंतभद्राचार्यके उपदेशसे ये दोन भाई जैन मुनि हो गये ऐसा कामताप्रसादजीने वीरपाठावलीमें लिखा है. आराधना कथा कोषमें भी-इनकी कथा मिलती है तथा श्री नेमिदत्त कविने शिवकोटि आचार्यने भगवती आराधनाकी रचना की है ऐसा उल्लेख भी किया है.

शिवकोटी आचार्यके प्रस्तुत ग्रंथपर श्रीअपराजित सूरीकी विजयोदया टीका, श्री. पं. आशाधरजीकी मूलाराधना दर्पण टीका, शिवजीलालकी भावार्थ दीपिका टीका, है. इनमेंसे अपराजित सूरीकृत विजयोदया टीका, और पं. आशाधरजी की मूलाराधना दर्पण पंजिका ये दोन टीकायें तथा श्री अमितगति आचार्यके भगवती आराधनाके प्रत्येक गाथाका जिसमें अभिप्राय आया है ऐसे श्लोक इतने ग्रंथ इस भगवती आराधनाके साथ जोड दिये हैं.

विजयोदया टीका श्रीअपराजित सूरिने रची है यह टीका बहुत विस्तृत है. इसकी श्लोक संख्या लगभग सोलह हजार होगी. हमने आचार्य अपराजित सूरिकी प्रशस्ति ग्रंथ में जोड दी है. उस से पाठकगणको आचार्य का परिचय होगा. श्री अपराजित सूरिका ही दूसरा नाम विजयाचार्य अथवा श्रीविजय ऐसा है. पं. आशाधरजीने मूलाराधना दर्पण नामकी टीका लिखी है- उसमें अनेक स्थलोंमें ' इमां गाथां श्रीविजयो नेच्छति ' अर्थात् यह गाथा श्री विजयाचार्य क्षेपक समझते हैं. "श्रीविजयाचार्यस्तु मिथ्यात्वसेवामतिचारं नेच्छति। तथा च तद्ग्रंथो " मिथ्यात्वमश्रद्धानं तत्सेवायां मिथ्यादृष्टिरेवासौ इति नातिचरता." अर्थात् श्रीविजयाचार्य मिथ्यात्वकी सेवा करना यह सम्यग्दर्शनका अतिचार नहीं है अर्थात् उससे तो श्रद्धान अर्थात् सम्यग्दर्शन नष्ट ही होता है ऐसा कहते हैं. ऐसा लिखकर आगे पं. आशाधरजीने खुद विजयोदया टीकाका उस अभिप्रायका उनका वाक्य भी दिया है. यह वाक्य इसी ग्रंथके १४४ पृष्ठपर पाठकगण देख सकते हैं. इसही प्रकार कभी श्रीविजयके बदले केवल ' टीकाकार ' इस शब्दका भी पं. आशाधरजी प्रयोग करते हैं. जैसे " टीकाकारस्तु ' सामान्यमूर्तेः विशेषमूर्तिः कर्मतया निर्दिष्टा तथा गोपोपं पुष्टमिल्याचष्टे " यह पंक्ति १०८ पृष्ठ पर छपी है. इन प्रमाणों से यह बात सिद्ध होती है कि. श्री विजयाचार्य अन्य कोई नहीं है. श्री अपराजितसूरि ही है.

अपराजित सूरीने भगवती अराधनाकी स्वकृत टीकाका विजयोदया ऐसा नाम विधान किया है उसी प्रकार दशवैकालिक ग्रंथपर भी इन्होने टीका रची है. और उसका नाम भी यही श्रीविजयोदया टीका ऐसा ही दिया है. इसी ग्रंथमें पृष्ठ ११९६ में खुद आचार्यजीने ' दशवैकालिकटीकायां श्री विजयोदयायां प्रपंचिता उद्गमादिदोषा इति नेह

प्रपंच्यते ' ऐसा उल्लेख किया है. इस तरहके प्रमाणोंसे अपराजित सूरि और श्रीविजयाचार्य एकही है ऐसी हमारी धारणा है.

पं. नाथुराम प्रेमीजी इस टीकाका विनयोदया यह नाम अधिक अन्वर्थक है ऐसा समझते हैं. वे कहते हैं कि, मुनिओंके आचारमें विनयाचार प्रधान है अत एव इसका नाम विनयोदया होना चाहिये. परंतु यह युक्ति जोरदार नहीं है. ग्रंथकार जिस समय जिस विषयका वर्णन करते हैं उस समय उस विषयको मुख्य कर अन्य विषयको गौण कर देते हैं. अर्थात् विनयको जैसी उन्होंने मुख्यता दी है वैसी स्वाध्याय, वैयावृत्य वगैरह विषयोंके वर्णनमें भी मुख्यता दी है अतःजैसा विजयोदया नाम होना चाहिये वैसे इतर विषयोंकी भी प्रधानता होनेसे अन्यनामकी भी क्यों मुख्यता नहीं मानी जायगी. फिर वे कहते हैं कि यदि आचार्यका नाम श्रीविजय था तो टीकाका भी श्रीविजया ऐसा होता परंतु उसके साथ उदय शब्द जोडना उपयुक्त नहीं है. ऐसा कहना भी हमें युक्तियुक्त मालूम नहीं होता.

हरिचंद्र कवीने धर्मनाथ तीर्थंकरका चरित्र लिखा है और उसका नाम उन्होंने ' धर्मशर्माभ्युदय ' ऐसा रक्खा है. इस नामसे तो अनभिज्ञ लोगों को यह काव्य है और इसमें धर्मनाथ जिनेश्वरका चरित वर्णन किया है ऐसा बोध होना कठिन हि पडेगा. परंतु इस चरितके पठनसे पाठकोंको धर्म, शर्म—सुख, और अभ्युदय—स्वर्गादि संपत्ति प्राप्त होगी ऐसे विचारसे कविने उसको उपर्युक्त लंबाचौडा नाम दिया है और धर्मनाथ के चरितका भी बोध हो जाता है. उसी प्रकार विजयोदया इस शब्दसे टीकाकार के नामके साथ पाठकोंको कर्म के ऊपर विजय और आत्मोन्नतिकी प्राप्ति होगी ऐसा अभिप्राय सूचित होता है. अतः विजयोदया यह नाम अन्वर्थक ही है. निरर्थक नहीं है. ऐसी हमारी धारणा है.

अपराजितसूरीने विस्तृत टीका लिखकर भव्यों को आराधना का वास्तविक स्वरूप समझा दिया है इस टीकाका मनन करनेसे वास्तविक आत्मशांति प्राप्त होगी.

आराधना ग्रंथपर जो टीका लिखते हैं उनको समाधिमरण की प्राप्ति होती है ऐसा श्रीदेवसेन आचार्यजीने सावयधम्मसंगह नामक ग्रन्थमें विधान किया है. वह इस प्रकार—

जिणभवणइं कारावियइं लब्भइ सग्गि विमाणु ॥
अह टिकह आराहणहं होइ समाहिहि ठाणु ॥ १९३ ॥ पृष्ठ ५९ ॥

अर्थात् जो जिनमंदिर बनवाते हैं उनको स्वर्गमे विमानकी प्राप्ति होती है, तथा जो आराधना ग्रन्थपर टीकायें रचते हैं उनको समाधिमरणकी प्राप्ति होती है.

श्री अपराजितसूरिका कालनिर्णय करनेमें हम असमर्थ हैं. क्योंकि अभी इनके अस्तित्वकालका निर्णय इतिहासज्ञोंको भी ठीक मालूम नहीं हुआ है.

श्री. पं. आशाधरजी जैनधर्मप्रभावक महाकवि हो गये हैं. इनका काल विक्रमका १३ वा शतक निर्णीत है. इन्होंने अनेक जैन साहित्यके ग्रन्थ बनाये हैं. इनका साहित्य बहुत प्रौढ व गंभीर है. इनके समान उद्भट विद्वान गृहस्थोंमें बहुत विरला हुए हैं. इनका यहां वर्णन करनेका कारण यह है कि इन्होंने भगवती आराधना ग्रन्थपर मूलाराधनादर्पण नामकी पञ्जिका टीका रची है. यह टीका संक्षिप्त है. इसलिये प्रत्येक अध्यायके अन्तमें वे ' पदप्रमेयार्थप्रकाशीकरणप्रवणे मूलाराधनादर्पणे ' ऐसा उल्लेख करते हैं. अर्थात् इन्होंने कठिन पदोंका खुलासा करके उनके प्रतिपाद्य विषयका निर्णय किया है. जो टीका श्लोकके अथवा गाथाके संपूर्ण पदोंका खुलासा न कर कुछ पदोंका--कठिन पदों का स्पष्टीकरण करती है उस टीकाको पञ्जिका या पंचिका टीका कहते हैं. सुलभ गाथाओंका स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता न होनेसे ' स्पष्टम् ' इतना ही लिखकर वे आगे चले गये हैं यह टीका किस समय बनाई गई है इसका खुलासा उन्होंने ग्रंथके अन्तमें स्वप्रशस्तिमें जरूर किया होगा परंतु इस टीकाकी जो प्रति हमको मिली है उसमें प्रशस्ति पूर्ण नहीं है इससे हम खुलासा करनेमें असमर्थ हैं. पंडितजीकी टीका बहुत विद्वत्तापूर्ण है. उन्होंने इस टीकामें अनेक श्लोक अन्य जैन ग्रन्थोंके विषयका खुलासा करनेके लिये दिये हैं.

भगवती आराधनापर अनेक आचार्योंने टीकायें और निबंध लिखे हैं. पंडितजीने तीन चार टीकायें तथा तीन चार निबंधोंका आश्रय लेकर अपनी टीका रची है. आचार्य जयनंदि, प्राकृत टीकाके कर्ता [नाम ज्ञात नहीं है] श्रीचंद्राचार्यकृत भगवती आराधनाका टिप्पनक, विद्वत्प्रीतिवर्धनी नामक ग्रन्थ, विजयाचार्यकृत विजयोदया टीका, श्री अमितगत्याचार्यकृत श्लोकरूप भगवती आराधना, ऐसे अनेक ग्रंथोंका आश्रय लेकर प्रस्तुत टीका पंडितजीने लिखी है. इससे पंडितजीकी अन्वेषण करनेवाली बुद्धिका परिचय पाठकगण को मालुम पडेगा. पंडितजीने इस महान्ग्रन्थके विषयोंका खूब मनन करके अपनी टीका आठ आश्वासोंमें विभक्त की है. यह टीका आठ हजार श्लोक प्रमाण होगी ऐसी हमारी धारणा है.

यह टीका विजयोदया टीकाके नीचे दी है. अर्थात् इस ग्रन्थ में प्रथमतः शिवकोट्याचार्य की गाथा अनंतर अमितगति आचार्यका समानार्थक श्लोक, तदनंतर विजयोदया टीका और मूलाराधनादर्पण टीका, इन के अनंतर विजयोदया टीकाका हिंदी अनुवाद ऐसा क्रम है.

भगवती आराधनाका हिंदी अनुवाद श्री. पं. सदासुखजी का भी प्रसिद्ध हुआ है. उसमें श्री विजयोदया टीकाका उन्होंने कितनेक स्थलोंमें आश्रय लिया है' कितनेक स्थलोंमें इस टीका के विषयमें वे संदेहयुक्त हैं. उनको यह टीका श्वेताम्बराचार्य कृत है ऐसा भ्रम हुआ है. परंतु वह कोरा भ्रम ही है. उलटा इस टीकामें श्वेताम्बरोंके आचारांगादि ग्रंथों के वस्त्रपात्रादि ग्रहण वगैरेह विषयों का जोरदार खंडन है. पाठक टीका तथा उसका अनुवाद पढकर संशयनिवृत्त अवश्य होंगे.

आजतक किसी भी जिनवाणीभक्त ने भगवती आराधना की संस्कृत टीकायें प्रकाशित नहीं की थी. यह न्यूनता जानकर जिनवाणीभूषण श्रीमान् धर्मवीर रावजी सखाराम दोशीने विपुल धनव्यय कर यह सटीक ग्रन्थ प्रकाशित किया है, इसके लिये वे अतीव धन्यवादके पात्र हैं. श्री. धर्मवीर रावसाहेब का जैन ग्रंथका प्रकाशनकार्य आजकलका नहीं हैं. करीब तीस वर्षसे उन्होंने यह प्रकाशन कार्य सतत चालु रक्खा है.स्याद्वादभूषण स्व. पं. कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवेने प्रथमतः शालिवाहन शक १८३० में महापुराणका अनुवाद महाराष्ट्र भाषामें प्रसिद्ध किया, उन्होंने प्रस्तावनामें श्री रावजी सखाराम दोशी इन्होंने हमारे इस प्रकाशनके कार्यमें दो तीन वर्षसे साहाय्य दिया है इस लिये वे धन्यवादके पात्र हैं ऐसा उल्लेख किया है.

परमपूज्य श्री शांतिसागर आचार्यजीने इस महान् ग्रंथको प्रकाशित करने के लिये श्री. धर्मवीर रावसाहेबको प्रेरणा की थी. महाराजकी आज्ञा गुरुभक्तशिरोमणि रावसाहेबने मस्तकपर धारण कर तथा दो वर्षके पूर्व श्री० क्षुल्लक विमलसागरजी के सान्निध्यमें शोलापुरमें विजयोदया टीकाका हमने यहांकी संपूर्ण दि. जैन जनता के साथ स्वाध्याय किया था. श्री. क्षु. विमलसागर महाराजकी भी प्रेरणासे तथा खुद उनकी अभिरुचीसे भी यह ग्रंथ उन्होने प्रकाशित किया है.

जैनधर्मकी प्रभावना तथा उसका सत्यस्वरूप जैन ग्रंथके प्रकाशनसे प्रगट होता है ऐसा प्रशंसनीय विचार इनके हृदयमें सदैव विराजमान है. इस विचार की प्रेरणा सतत होनेसे आजतक सैकडो ग्रंथोंका सेठ साहेबने प्रकाशन किया है.

सेठजीके इस प्रशंसनीय उद्योगकी कोन सहृदय मनुष्य प्रशंसा न करेगा. तथा उनको हर्षसे धन्यवाद न देगा? प्रस्तुत महान ग्रंथ सेठजीके सुवर्णजयंती अर्थात् वर्षवृद्धि महोत्सवके लिये जो श्री महावीर जिनबिंबप्रतिष्ठा इस सालमें हुई उस समय बडे समारोहके साथ प्रकाशित करनेका सेठजीका विचार था परंतु उस समय मुद्रणकार्य पूर्ण न हो सका इस लिये कार्तिक शुद्ध पंचमीके दिन इसका प्राणप्रतिष्ठापूर्वक प्रकाशन किया गया है.

इस महान् ग्रन्थके प्रकाशनके लिये पूना भांडारकर प्राच्य विद्यासंशोधक संस्थाने अपराजितसूरिकृत विजयोदया टीकाकी दो प्रति भेज दी थी उन प्रतियोंसे हमने प्रेसकॉपी तयार की. ये दो प्रति प्रायः शुद्ध और सुवाच्य थी. इस संस्थाने ये पुस्तकें भेजकर हमको अत्यंत उपकृत किया है अतः हम उसको अन्तःकरणसे धन्यवाद देते हैं.

श्री. ऐ प. सरस्वती भवन मुंबई से हमको श्रीमान् पं. रामप्रसादजी शास्त्रीने मूलाराधनादर्पण पूर्वार्ध पांच आश्वास पूर्ण यह ग्रंथ और श्री अमितगति आचार्यकृत संस्कृत श्लोकानुवादरूप भगवती आराधना ग्रन्थ ऐसे दो ग्रंथ भेजे थे. इन दो ग्रंथोंका हमको अतिशय साहाय्य मिला. अमितगति भगवती आराधनाके प्रथमके १९ श्लोक मूल ग्रंथमें नही थे परंतु वीसवे श्लोकसे आगे ग्रंथ पूर्ण है. हमने अन्यत्र इसके प्रारंभके १९ श्लोक प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न किया था परंतु प्राप्त नही हुए. इन दो ग्रंथोंको भेज कर हमको पं. रामप्रसादजी शास्त्रीने बहुत उपकृत किया है. वे हमेशा ऐसा साहाय्यदान हमको करते हैं अतः आपके हम अत्यंत आभार पूर्वक धन्यवाद मानते हैं.

कारंजासे मूलाराधना दर्पण पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध श्रीमंत रतनलाल नरसिंगसा राऊळ इन्होने भेजा था परंतु पूर्वार्ध में प्रारंभका प्रथमपत्र नहीं है. चौदहवे पत्रसे १९ वे पत्रतक ६ पत्र नही हैं.तथा ३१ वा पत्र नहीं है. अतः हमको इस पूर्वार्धका विशेष उपयोग नहीं हुआ. बंबई सरस्वती भवनसे प्राप्त हुये प्रतीसे हमको पूर्ण साहाय्य हुआ. उत्तरार्धमें भी प्रारंभके दो पत्रे है तदनंतर तीसरे पत्रसे १४ वे पत्रतक १२ पत्र नहीं है. अतः उतनी टीका हम नहीं छपा सके. अन्तिम प्रशस्ति भी पूर्ण नहीं है, अतः प्रशस्ति हम पूर्ण प्रगट न कर सके.

यह पुस्तक श्रीमंत रतनलाल नरसिंगसा राऊळने भेज दी थी. मूलाराधनादर्पण की हस्तलिखित प्रति भेजकर हमपर जो उपकार उन्होंने किये हैं उनके लिये आभार मानना हम आवश्यक कर्तव्य समझते हैं और मानते हैं.

इस भगवती आराधना ग्रंथका संशोधन मैंने मेरी तुच्छ बुद्धिके अनुसार किया है. तथा विजयोदया टीकाका हिंदी भाषामें अनुवाद किया है. मराठी भाषा मेरी मातृभाषा है. अतः इस हिंदी अनुवादमें लिंग, विभक्ति वगैरहोंक

व्याकरण शुद्ध प्रयोग न होने से बहोतसी भूलें होजाना नितरां संभवनीय हैं. तथा भाषांतर में भी अज्ञानवश प्रमाद रहे होंगे.

विजयोदया टीकामें दशस्थितिकल्पके विषयका विवेचन करते समय अपराजित सूरीने आचारांगादि श्वेतांबर ग्रंथोंके जो प्राकृत भाषाके श्लोक दिये हैं उनका मराठी अनुवाद करके श्री. प्रो. ए. एन. उपाध्यायजीने मेरी प्रार्थनासे भेज दिया था उसका मैंने हिंदी अनुवाद किया है अतः श्री. प्रोफेसरसाहेबका मैं अतिशय आभारी हूं.

सज्जन पाठकवर्ग तथा विद्वद्वर्गको मेरी सविनय यह प्रार्थना है कि इस संशोधन, अनुवादादि कार्य में रहे हुए दोषोंका संशोधन करके मेरेको उपकृत बनावे.

जैन साहित्यकी सेवा मेरे द्वारा आजन्म होती रहे ऐसी श्रीजिनेंद्रदेवसे प्रार्थना करके मैं यह प्रस्तावना पूर्ण करता हूं.

जिनवाणीका तुच्छ सेवक—

जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले.

ता. १–११–३५

वीर सं० २४६२ कार्तिक शुद्ध ५ मी.

हिंदी अनुवादके अनुसार

भगवती आराधनाके मुख्य विषयोंकी सूची-

इति विषयसूची समाप्ता.

श्री शिवकोटि आचार्यकृत भगवती आराधना. इसमें अपराजितसूरिकृत संस्कृत टीका और पं. आशाधरजीकृत संस्कृत टीका और श्री अमितगति आचार्यकृत संस्कृत श्लोक और पं. श्री. जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले सोलापूरवालोंकी हिंदी टीका सहित यह ग्रन्थ छपाया गया इसके लिये जिन्होने सहायता दी उन महाशयोंकी शुभ नामावलिः—

७०१ श्री पूज्य आचार्य शांतिसागर दिगम्बर जैन ग्रंथमाला सातवाडा.
७०१ श्री पूज्य आचार्य शांतिसागर ग्रंथमाला.
५० श्री. जिनसेन भट्टारक कोल्हापुर.
५० स्व. लक्ष्मीसेन भट्टारक ,,
५० संघभक्त शिरोमणि शेठ पुनमचंद घासीलाल मुंबई.
५० मेथा कस्तुरचंद्र मलुकचंद अक्कलकोट.
५० शहा देवचंद रामचंद सोलापूर.
५० श्री. रतनबाई देवचंद करजगीकर.
५० सौ. केशरबाई भ्र. हिराचंद रामचंद वळसंगकर.
५० श्री. ब्र. कंकुबाई कारंजा.
५० शहा माणिकचंद अमीचंद *B. A* सोलापुर.
५० ब्र. रत्नमाबाई सोलापुर.
५० गंगूबाई पदमशी करकंबकर.
५० माणिकबाई कस्तुरचंद निंबर्गीकर.
५० सौ० चतुरबाई मोतीचंद शहा.
५० शहा गुलाबचंद सखाराम सोलापूर.
५० सौ० राजुबाई रावजी दोशी.
५० सौ० नवलबाई गुलाबचंद दोशी.
५० सौ० कस्तुरबाई वालचंद हिराचंद दोशी
५० शेठ गांधी शिवलाल मलुकचंद पंढरपूर.
५० रा. मेथा माणिकचंद पानाचंद निमगांव
५० रा. शेठ रामचंद धनजी दावडा नातेपुते.
५० ब्र. राजुबाई भ्र. गोतमचंद बारामती.
५० रा. काळप्पा आण्णाजी लेंगडे शाहापुर बेळगांव
५० शा. माणिकचंद मोतीचंद आळंद
५० रा. बळवंत ग्यानोबा ढोले आळंद.
५० रा. जिवराज हिराचंद शहा आळंद.
५० जोतीराम दलुचंद पंढरपूर.
५० नरसिंगा धोंडी चिचवाडे इचलकरंजी व श्री. जिनगौडा आपगौडा पाटील.
५० श्री. माणिकबाई हिराचंद जयचंद निमगांव.

५० श्री. कंकूबाई भ्र. रामचंद दोशी निमगांव.
५० श्री. चतुराबाई भ्र. मोतीचंद गांधी चिकोडीकर.
५० श्री. जिवराज माणिकचंद मेथा निमगांव.
५० शेठ नथुराम तलकचंद दोशी.
५० श्री. वेणीचंद रामचंद मथा निमगांव.
५० श्री. हिराचंद दाजी शहा. ,,
५० श्री. मैनाबाई फुलचंद दोशी फलटणकर व गौतमचंद मोतीचंद करमाळेकर.
५० रा. शहा गुलाबचंद सुरचंद आळंद.
५० शहा नानचंद सुरचंद आळंद.
५१ शेठ लीलाचंद हेमचंद हिंगोळी.
५० मोतीचंद हरीचंद शहा नळदुर्ग.
५१ स्व. सौ. चंद्रभागाबाई दत्तात्रय मोहीकर.
५० मोतीचंद उरगचंद फलटणकर पुना.
५० भाऊ नेमण्णा दुगे कुरुंदवाड.
५० श्री. चालुबाई भ्र. दलुचंद हिवरेकर.
५० कुंदनलाल जयचंदलाल मदारीपूर.
५० दुलीचंद रतनलाल ,,
५० श्री. अमीचंद दलुचंद शहा मुंबई.
५० श्री. रोडमल मेघराज सुसारी.

५० स्व. सौ. कंकुबाई वीरचंद कोदरजी गांधी फलटण.
५० श्री. शंकरलाल गांधी मुंबई.
५० शेठ लुणकरण मदनमोहन मुंबई.
५० शेठ फत्तेचंद दीपचंद नागपुर
५० सौ० चतुरबाई भ्र. हिराचंद अमीचंद गांधी उस्मानाबाद
५० शेठ हरीचंद खुशालचंद मोडनिंब
१०० शेठ भूपाल आप्पा जिरगे.
५० लक्ष्मण भरमप्पा आरवाडे सांगली
५० रतनबाई भ्र. माणिकचंद.
१०० जिऊबाई भ्र. मोतीचंद करजगीकर.
५० आवलबाई कळसकर.
५० मोतीचंद रावजी परांडेकर.
५० शेठ बनशीलाल गंगाराम नांदगांव.
५० शेठ धनराज गोकुळचंद कोपरगांव.
५० शेठ शहा परमचंद मोतीचंद करकंब.
५० ब्र. जिऊबाई भ्र. जिवनचंद विजापुर.
५० मोतीलाल ल्हीला मुंबई.
१० श्री. ब्र. जिवराज गौतमचंद दोशी सोलापूर.
५० श्री. बिहारीलाल कठनेरा जैन मुंबई.
२५ श्री. गांधी नानचंद अमीचंद पंढरपूर.
२५ श्री. लिलाचंद रावजी कोठारी आळंद



मूलाराधना

(अपरनाम—भगवती आराधना)

टीकाद्वयोपेता हिन्दीभाषानुवादसहिता च ।



अथ अपराजितसूरिकृता विजयोदया टीका । १ ।

दर्शनज्ञानचारित्रतपसामाराधनायाः स्वरूपं, विकल्पं, तदुपायं, साधकान्, सहायान्, फलं च प्रतिपादयितुमुद्यतस्यास्य शास्त्रस्यादौ मङ्गलं स्वस्य श्रोतॄणां च प्रारब्धकार्यप्रत्यूहनिराकृतौ क्षमं शुभपरिणामं विदधता तदुपायभूतेयमरचि गाथा—

सिद्धे जयप्पसिद्धे चउव्विहाराहणाफलं पत्ते॥
वंदित्ता अरहंते वोच्छं आराहणं कमसो ॥ १ ॥

सिद्धान्जगत्प्रसिद्धांश्चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्तान् ॥
वंदित्वार्हतो वक्ष्याम्याराधनां क्रमशः ॥ १ ॥

१ सिद्धे०—सिद्धे जयप्पसिद्धे इत्यादिका । अत्रान्ये कथयन्ति । " निवृत्तविषयरागस्य निराकृतसकलपरिग्रहस्य क्षीणागुप्तसाधकस्याराधनाविधानावबोधनार्थमिदं शास्त्रं " तस्याविघ्नसिद्ध्यर्थमियं मङ्गलस्य कारिका गाथेति । असंयत-

सम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतादयोऽप्याराधका एव । तत्किमुच्यते निवृत्तविषयरागस्य निराकृतसकलपरि- अध्याय
प्रहस्येति । न ह्यसंयतसम्यग्दृष्टेः संयतासंयतस्य वा निवृत्तविषयरागता, सकलग्रन्थपरित्यागो वास्ति । क्षीणायुष इति १
चानुपपन्नं । अक्षीणायुषोऽप्याराधकतां दर्शयिष्यति सूत्रं । ' अणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्से ' ति ।
शास्त्रान्तरे पञ्चानां गुरूणां नमस्क्रिया प्रारभ्यते । तत्र चार्हतामेवोपादानमादौ । इह तु पुनर्द्वयोरेव नमस्कारो
विपर्ययश्च । तत्किंकृतं वैधर्म्यमिति ? अत्रोच्यते अन्यथाप्रवृत्तावस्ति कारणं । इह द्विप्रकाराः सिद्धसाधक-
भेदेन जीवाः । अर्हतां सिद्धानां चाप्याराधनाफलत्वात्, आचार्यादीनां त्रयाणां साधकानामनुग्रहायेदं शास्त्रं प्रस्तूयत
इति सिद्धानां मङ्गलत्वेनोपादानं युक्तं, नेतरेषामधिक्रियमाणत्वात्तेषामिति भाष्यपरिहारौ केषांचित् । तावसङ्गताविव
लक्ष्येते। तत्र चाद्यस्य निवेद्यतेऽयुक्तता । किमर्थं नमस्कारः क्रियते शास्त्रादिषु ? अविघ्नप्रसिद्धये । कथं निहन्ति
विघ्नमसौ ? स हि वक्तुः श्रोतुर्वा भवेत् ? उभयस्यापि निबन्धनमन्तरायः, 'विघ्नकरणमन्तरायस्य' [त. सू.] इति वचनात् ।
पञ्चप्रकारोऽसौ दानलाभभोगोपभोगवीर्याणां विघ्नकारणभेदेन, तत्र वक्तुर्दानान्तरायस्सम्पादयति प्रत्यूहं, त्रिविधस्य हि
दानस्य प्रतिबाधको दानान्तरायः । ज्ञानलाभं विहन्ति श्रोतुर्लाभान्तरायस्तदायत्तो विघ्नः कथं तस्मिन्सति न भवेत् सत्यपि
नमस्कारे, यथा बीजसलिलवसुन्धरावर्मरश्मिकरसंघाताधीनजन्मा व्रीह्याद्यंकुरः स्वहेतुसामग्र्यां भवत्यन्यूनायां सन्निहि-
तेऽपि सालतमालादौ तथेहापि । अथैवं ब्रूषे अन्तरायोऽशुभप्रकृतिः । स च शुभपरिणामोन्मूलितरसप्रकर्षः स्वकार्यं
निष्पादयितुं नालमिति । यद्येवं शुभपरिणाममात्रस्योनापयोगस्तथा सति सिद्धादिगुणानुरागः सर्व एवोपयोगी विघ्न-
निराचिकीर्षतस्तत्र कस्मात् प्रेक्षापूर्वकारिणः क्रमाश्रयणमन्याय्यं ? उपेयात्मलाभहेतुत्वमात्रनिबन्धनमुपायानामुपायत्वं,तच्चत्र-
यत्रास्ति तस्य तस्योपायता तेन सर्व एवार्हदादिगोचरा गुणानुरागास्तत्पुरःसरवाक्कायक्रिया अनादृतक्रमा भवन्ति ।
वाञ्छितफलप्रसाधना एकैकरूपा बहवोऽपि । इमामानुपूर्वीमन्तरेणैषा सिद्धिः साध्यस्यान्यथा न विद्यत इति यत्र
तत्राश्रीयते उपायक्रमः । यथा घटं सिसाधयिषतो मृन्मर्दनपिण्डकरणचक्रारोपणादयः । युगपदनेकवचनप्रवृत्तिर २
संभाविन्येकस्य वक्तुरिति नान्तरीयकतया क्रमाश्रयणं तत्र च कामचारः । तथाहि, सिद्धे सिद्धट्ठाणे
ठाणमणोवममुहगयाणमिति । शासनगुणानुस्मरणमेव केवलं । क्वचित्तीर्थकृत्स्वपि वीरस्वामिनः एव प्रथमं नमस्क्रिया ।

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघादिकम्ममलं । पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥

सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे । समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे । इति

क्वचिदेकप्रघट्टेन,

इंदसदवंदिदाणं तिहुवणहिदमधुरविसदवक्काणमिति ।

क्वचिज्जीवगुण एवानाश्रितार्हदादिस्वामिविशेषो निरूपितः "धम्मो मङ्गलमुक्किट्ठ" मिति ।

एवं सति येचिन्त्ये का विपर्ययाशङ्का ? यच्चोक्तं साधकानुग्रहाधिकारे सिद्धात्मनामेव मङ्गलत्वेनाधिकारो युक्त
इति । इदं पर्यनुयोज्योऽयं श्रुतसाधकार्थमुत यद्येवं सकलस्य श्रुतस्य सामायिकादेर्लोकबिन्दुसारान्तस्यादौ मङ्गलं

कुर्यन्निर्गणधरैः 'णमो अरहंताणमित्यादिना कथं पञ्चानां नमस्कारः कृतः ? तेन सूत्रविरोधिनी व्याख्या अनेनापि च सूत्रेण विरुध्यते । 'वंदित्ता अरहंते' इति अर्हतामुपादानात् । तेऽपि सिद्धा इति चेत् पृथगुपादानानर्थक्यं । अथैकदेशासिद्धास्त इति पृथगुपात्ताः, आचार्यादयोऽपि किं नोपात्तास्तेषामप्येकदेशसिद्धतास्ति । एकदेशसिद्धतायां अर्हतामप्याराधकत्वे सत्युपादानं स्वव्याख्यानविरोधमाधत्त इति ॥ 'सिद्धे' सिद्धान् 'जगप्पसिद्धे' जगति प्रसिद्धान् 'चदुव्विधाराधणाफलं' चतुर्विधाराधनाफलं 'पत्ते' प्राप्तान्, 'वंदित्ता' वंदित्वा 'अरहंते' अर्हतः 'वोच्छं' वक्ष्यामि 'आराधणं' आराधनां 'कमसो' क्रमशः ॥

सिद्धशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः नामस्थापनाद्रव्यभावा इति । तत्र नामसिद्धः क्षायिकं सम्यक्त्वं, ज्ञानं दर्शनं, वीर्यं, सूक्ष्मतां, अतिशयवतीमवगाहनां, सकलबाधारहिततां चानपेक्ष्य सिद्धशब्दप्रवृत्तेर्निमित्तं कस्मिंश्चित्प्रवृत्तः सिद्धशब्दः। ननु स्वरूपनिष्पत्तिः सिद्धशब्दस्य प्रवृत्तेर्निमित्तं न सम्यक्त्वादय इति चेत् सत्यं, व्यावर्णितयत्किंचिन्न्यूनात्मरूप-निष्पत्तिर्निमित्तत एव्यत एव । पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया चरमशरीरमनुप्रविष्टो य आत्मा क्षीरानुप्रविष्टोदकमिव संस्थानवत्तामुपगतः, शरीरापायेऽपि तमात्मानं चरमशरीरात् किंचिन्न्यूनात्मप्रदेशसमवस्थानं बुद्धावारोप्य तदेवेद-मिति स्थापिता मूर्तिः स्थापनासिद्धः । सिद्धस्वरूपप्रकाशनपरिज्ञानपरिणतिसामर्थ्योपवासित आत्मा आगमद्रव्यसिद्धः । नोआगमद्रव्यसिद्धस्त्रेधा ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदात् । ज्ञायकशरीरसिद्धः सिद्धप्राभृतज्ञस्य शरीरं भूतं भवत् भावि वा । भविष्यत्सिद्धत्वपर्यायो जीवो भाविसिद्धः । तद्व्यतिरि-क्तमसंभवि, कर्मनोकर्मणोः सिद्धत्वस्य कारणत्वाभावात् । सिद्धप्राभृतगदितस्वरूपसिद्धज्ञानमागमभावसिद्धः । क्षायिकज्ञानदर्श-नोपयुक्तः परिप्राप्ताव्याबाधस्वरूपाखिलविष्टपशिखरस्थो नोआगमभावसिद्धः । स इह गृह्यते । ननु सामान्यशब्दस्यान्तरेण प्रकरणं विशेषणं वाऽभिमितार्थवृत्तिता दुरवगमा ? अत एव विशेषणमुपात्तं चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्तानिति । सम्यक्त्वं केवलज्ञानदर्शने सकलकर्मविनिर्मुक्ततेति चतुर्विधं, चतुर्विधाया आराधनायाः फलं साध्यं तस्मान्निरात्मनः सम्यग्दर्शनादि-रूपेण समवस्थानं । ततोयमर्थः-'फलं पत्ते' इत्यस्य क्षायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानदर्शननिरवशेषकर्मविनिर्मुक्ततारूपेणाव-स्थितानिति । जगति आसन्नभव्यजीवलोके समीचीनश्रुतज्ञानलोचने प्रसिद्धान् प्रतीतान् विदितान् । 'अरहंते' इत्यत्र च शब्दमन्तरेणापि समुच्चयार्थो गतिः । पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणीत्येवं यथा । निहतमोहनीया तथाऽऽवृतज्ञानदर्शनावरणात् अतिशयितपूजाभाज इत्ययमर्थोऽनेन 'अरहंते' इत्यनेनोक्तः । अनुगतार्थत्वादर्हन्निति संज्ञायाः यथा सर्वनामशब्दोऽङ्गीकृतशब्दार्थसंज्ञाभावमुपयाति । अथवा 'जगप्पसिद्धे' इति अर्हतां विशेषणं, यतः पञ्चकल्याणस्थानेषु विष्टपत्रयेणाधिगता महात्मानः, नैवमितरे सिद्धाः । सर्वस्यैव हि वस्तुनः कथंचित्प्रतीतत्वे सति अप्रतीतस्य कस्यचिदभावात् प्रसिद्धग्रहणमुपात्तप्रकर्षमिति गम्यते । यथाऽभिरूपाय कन्या देयेति । तेनायमर्थो जगति प्रसिद्धतमानिति । अर्हतामेव प्रतीततरत्वमुक्तेन क्रमेण । अनधिगतप्रयोजनः श्रोता न यतते श्रवणेऽध्ययने वा । परोपकारसंपादनाय चेदं प्रस्तूयते मया, ततः प्रयोजनं प्रकटयामीत्याह 'वोच्छं आराहण' मिति । एतेनाराधनास्वरूपावगमनं प्रयोजनं शास्त्रश्रवणाद्भवतीत्यावेदितम् ।

न्वाराधनास्वरूपावगमनं पुरुषार्थः। पुरुषार्थो हि प्रयोजनं, पुरुषार्थश्च सुखं दुःखनिवृत्तिर्वा, न चानयोरन्यतरताऽस्य। अयमस्याभिप्रायः, यो येनार्थेनार्थी स तत्प्राप्तये तदीयमुपायमधिगंतुमुपादेयं वा यतते। येन प्रयुक्तः क्रियायां प्रवर्तते तत्प्रयोजनं, ज्ञानेन प्रयुज्यते श्रवणादिक्रियायामुपयोगिवस्तुपरिज्ञानं प्रयोजनं भवतु, आराधना तु कथमुपयोगिनी? सकलसुखरूपकेवलज्ञानपरमाव्याबाधतां जनयतीत्युपयोगिनी। तथा चोक्तं चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्तानिति। ततोऽयमर्थः, अनन्तज्ञानादिफलनिमित्ताराधनाऽवबोधनार्थमिदं शास्त्रमारभ्यत इति साध्यमाराधनास्वरूपज्ञानं साधनमिदं शास्त्रमिति साध्यसाधनरूपसंबन्धोऽपि शास्त्रप्रयोजनयोरत एव वाक्याल्लभ्यते। अभिधेयभूतास्तु चतस्र आराधनाः। आह्यमिदं शास्त्रं प्रयोजनादित्रयसमन्वितत्वात् व्याकरणादिवदिति। एवमनया मङ्गलं प्रयोजनादित्रयं च सूचितं। 'कमसो' क्रमेण पूर्वशास्त्रमिगदितेन, एतेन स्वमनीषिकाचर्चितमिदं न भवति। आप्तवचनानुसारितया प्रमाणमिदमाख्यातं भवति। 'पुव्वसुत्ताणं' इति वाक्यशेषादिदं लभ्यते॥

अथ श्रीमदाशाधरकृतं मूलाराधनादर्पणम्। २।

नत्वार्हतः प्रबोधाय मुग्धानां विवृणोम्यहम्॥
श्रीमूलाराधनागूढपदान्याशाधरोऽर्थतः॥ १॥

तत्रादौ ऐदंयुगीनश्रमणोपयुज्यमानप्रवचननिष्यंदामृतमाधुर्यस्तत्र भवान् शिवकोट्याचार्यवर्यः शिष्टाचारं प्रमाणयितुं मंगलपुरःसरमुपदेश्यं वस्तु निर्दिशन् श्रोतृप्रवृत्त्यंगतया च प्रयोजनादित्रयमवबोधयन् 'सिद्धे' इत्यादि सूत्रं चतुर्विंशतिगाथामयपीठिकाप्रथमावयवभूतमासूत्रयामास॥

एतदर्थः कथ्यते यथा–वोच्छं वक्ष्यामि। प्रतिपादयिष्याम्यहं ग्रंथकारः। कां आराधनां? आराध्यंते सेव्यन्ते स्वार्थप्रसाधकानि क्रियते सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षसुखार्थिभिरनयेत्याराधना आराध्यनिष्ठ आराधकव्यापारः। उपजातसम्यग्दर्शनादिपरिणामस्यात्मनस्तद्गतातिशयवृत्तिरित्यर्थः॥ तथा चोक्तम्—

रत्नत्रयमाराध्यं भव्यस्त्वाराधको विशुद्धात्मा॥
आराधना ह्युपायस्तत्फलमभ्युदयमोक्षौ स्तः॥

तां। केन? कमसो क्रमशः। पुव्वसुत्ताणमित्यध्याहारात्पूर्वसूत्रक्रमेणेत्यर्थः॥ एतेन गुरुपर्वक्रमायातामाराधनामहं वक्ष्यामि, न स्वमनीषिकाचर्चितामित्युक्तं स्यात्॥ किं कृत्वा? वंदित्ता वंदित्वा प्रणम्य स्तुत्वा वा। कान्? सिद्धे 4

सिद्धान् । किंविशिष्टान् ? पत्ते प्राप्तान् । किं तत् ? चउव्विहाराहणाफलं—सम्यग्दर्शनाद्याराध्यचातुर्विध्याच्चतुर्विधाया आराधनायाः फलं साध्यं क्षायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानदर्शनानि सर्वकर्मनिर्मोक्षश्चेति चतुष्टयं तद्रूपेण समवास्थितानित्यर्थः ॥ एतेन नामादिसिद्धाष्टकव्यवच्छेदान्नोआगमभावसिद्धाः संगृह्यन्ते ॥ नामादिनिक्षेपापेक्षया हि नवधा सिद्धाः संभवन्ति । कर्मनोकर्मणोः सिद्धत्वस्य अकारणत्वेन तद्व्यतिरिक्तस्यासंभवात् । तथाहि-नामसिद्धाः, स्थापनासिद्धाः, आगमद्रव्यसिद्धाः, भाविनोशरीरनोआगमद्रव्यसिद्धाः, । भवज्ज्ञायकशरीरनोआगमद्रव्यसिद्धाः, भविष्यज्ज्ञायकशरीरनोआगमद्रव्यसिद्धाः, भाविनोआगमद्रव्यसिद्धाः, आगमभावसिद्धाः, नोआगमभावसिद्धाश्चेति ॥ अत एव सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिरेषामतिशये-नाशरीरत्वलक्षणेनास्तीति 'अर्श आदेर' इत्यनेन अप्रत्ययेऽन्वर्थतया सिद्धशब्दोऽपि व्युत्पाद्यः ॥ एवं तर्ह्येते धूर्तोपदिष्टयिवरा-दिगताद्भुतभाववल्लोके केनाप्यनुपलब्धत्वाद्धीमतामश्रद्धेया भविष्यंति इति अनाश्वासनिरासार्थमाह—पुनः किंविशिष्टान् ? 'जयप्पसिद्धे' जगत्यासन्नभव्यलोके समीचीनज्ञानलोचने प्रतीतान् । कतिपयजनसंवेद्यानित्यर्थः । एतेन लोकोत्तरत्वादति-दुर्लभमेवत्तत्वमतस्तदधिगमाय सुतरां यत्नो मुमुक्षुभिः कर्तव्य इत्यावेद्यते । न केवलं तान्वंदित्वा किं तर्हि ' अरहन्ते ' अर्हतश्च वंदित्वा । अरिहननाद्रजोरहस्यहननाच्च परिप्राप्तानंतचतुष्टयस्वरूपाः संतः शक्रादिकृतामतिशयवतीं पूजामर्हन्तीत्यर्हन्त इति निरुक्तसिद्धमपि तल्लक्षणं स्फुटीकर्तुं जयप्पसिद्धे इत्यत्रापि योज्यः । जगल्लोकः प्रकर्षेणालोकयुक्तत्वेन साक्षाद्भावेन च सिद्धं निर्णीतं यैर्येभ्यश्च संदेहादिव्यवच्छेदेन भव्यैर्जगति च तेषु महाकल्याणस्थानेषु प्रसिद्धाः प्रतीताः ये तान् लोकालोकसाक्षात्कारिणस्तदुपदेशकान्भुवनत्रयप्रतीतांश्चेत्यर्थः ॥ अत्र सर्वे एव अर्हदादिगुणानुरागाः शुभ-परिणामत्वादशुभकर्मप्रकृतीनां रसप्रकर्षमुन्मूल्य वांछितार्थप्रसाधनाय प्रभवन्तीति, प्रेक्षापूर्वकारिणः पूर्वाचार्याः स्वस्य ज्ञानदानांतरायं, श्रोतॄणां च ज्ञानलाभांतरायं निराकर्तुकामा निजनिजशास्त्रारंभेऽर्हदादीनां समस्तानां व्यस्तानां वा कामचारेण मंगलं उपात्तवन्तः प्रतीयन्ते । इत्यस्य शास्त्रस्यादौ स्वपरविघ्नविघाताय प्राक् सिद्धाः पश्चाच्चार्हन्तो ग्रंथकृता नमस्कृताः । भवति चात्र श्लोकः—

नेष्टं विहन्तुं शुभभावभग्नरसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः ॥
तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकृदर्हदादेः ॥

किंच, यो यद्गुणार्थी ग्रंथकृत् सिद्धान्प्रथमं नमश्चकार, तत्प्राप्त्युपायोपदेशज्येष्ठतया च पश्चादर्हतोऽपि । तथा चोक्तं—

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः । प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ॥
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादप्रबुद्धैर्नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥

अतश्च सामर्थ्यलब्धत्वात् पुव्वसुत्ताणमिति नोक्तं ॥ तथा क्षिप्रं मोक्षार्थिनां मुक्तात्मान एव परमार्थतो भक्त्या इत्युपदेष्टुं प्राक् सिद्धस्तुतिः कृता ॥ तथा चोक्तं—

सपयत्थं तित्थयरं अधिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स ॥
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपउत्तस्स ॥
तम्हा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य भविय पुणो ॥
सिद्धेसु कुणदि भत्ती णिव्वाणं तेण पप्पोदि ॥
सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् ॥
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यताम् ॥

इत्यस्य शास्त्रस्य माहात्म्यप्रसिद्धये प्रयोजनमाकर्ण्यतां । येन क्रियायां प्रयुज्यते तत्प्रयोजनमिति शास्त्रश्रवणादिक्रियायां ज्ञानेन प्रयुज्यते इति तदेव शास्त्रस्य प्रयोजनं । शास्त्रश्रवणादेर्ज्ञानं मे जनिष्यत इति हि तत्र प्रवर्तते । तदस्य शास्त्रस्य मुख्यमाराधनास्वरूपं ज्ञानं प्रयोजनं, आनुषंगिकं तु तद्विकल्पादिज्ञानमपि । ज्ञानाद्याराधनायाः स्वरूपविकल्पतदुपायसाधकसहायफलानां षण्णामप्यनेन शास्त्रेणाभिधास्यमानत्वात् ॥ भवति चात्र श्लोकः—

शास्त्रे लक्ष्मविकल्पास्तदुपायः साधकस्तथा ॥
सहायाः फलमित्याह ज्ञानाद्याराधनाविधेः ॥

तत्परिज्ञानात्पुनः सम्यक्त्वाद्याराधनायां प्रवर्तमानः सकलसुखस्वभावं केवलज्ञानं, परमावबोधत्वं च प्राप्नोतीति परंपरया तदुभयमप्यस्य शास्त्रस्य प्रयोजनं । वस्तुतः सुखस्य दुःखनिवृत्तेर्वा पुरुषेणार्थ्यमानत्वात् तत्स्वरूपादिषट्कस्य शास्त्रस्य चाभिधानाभिधेयभावलक्षणः संबंधः । आराधनाया अनंतज्ञानादेश्च साध्यसाधनभावस्वभावः । तत्त्रयं च 'वोच्छं आराहणा' मिति ब्रुवाणेन सूरिणा सूचितं लक्ष्यते । ततो ग्राह्यमिदं शास्त्रं प्रयोजनादित्रयसमन्वितत्वात् ॥

अथ हिंदी भाषानुवादः ।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनके आराधनाका स्वरूप, इस आराधनाके विकल्प अर्थात् भेद, और उपाय, साधक, सहायक तथा आराधनाका फल इतनी बातोंका यह भगवती आराधनाशास्त्र विवेचन करेगा. अर्थात् इतने विषयोंका इस शास्त्रमें खुलासा किया है.

इस शास्त्रके प्रारंभमें स्वतःके तथा श्रोताओंके प्रारब्ध कार्यमें उत्पन्न होनेवाले विघ्नोंके परिहारमें समर्थ ऐसा मंगल और शुभ परिणाम करनेवाले श्री शिवकोटि आचार्यजीने उसके उपायभूत यह ऊपरकी गाथा रची है.

यहां पर कोई विद्वान् ऐसा कहते हैं—पंचेंद्रियोंके विषयोंसे जिसका प्रेम हट गया है, संपूर्ण परिग्रहोंका जिसने त्याग किया है, जिसकी आयु क्षीण हुई है, ऐसे साधकको आराधनाका विधान समझानेके लिए यह शास्त्र आचार्य महाराजने लिखा है. साधकके आराधनासाधनमें निर्विघ्नता हो यह हेतु मनमें धारणकर आचार्यने उपर्युक्त मंगलश्लोक रचा है. इस विचारसरणीका खंडन आचार्य इसप्रकार करते हैं—असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्त-संयत, अप्रमत्तसंयत वगैरह गुणस्थानोंके धारक पुरुष आराधक हैं ही अतः पंचेंद्रिय विषयोंसे जो पराङ्मुख है, जिसने सर्व परिग्रह तजे है, तथा जिसकी आयु क्षीण हुई है ऐसे साधकके लिए यह शास्त्र रचा है यह कहना अनु-चित है. क्योंकि असंयत सम्यग्दृष्टि तथा संयतासंयत जीव संपूर्ण विषयोंसे विरक्त नहीं है, तथा वे सर्व परिग्रह त्यागी भी नहीं है. तो भी वे आराधक माने गये है. क्षीणायु व्यक्ति ही आराधक हो ऐसा कहना भी योग्य नहीं है. क्यों कि 'अणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स' इस सूत्रसे अक्षीणायु व्यक्ति भी आराधक होता है यह सिद्ध होता है. अर्थात् कुटुंबादिक बांधव जिसके चारित्र धर्मका नाश करनेके लिये उद्यमी हुए हों अथवा कोई शत्रु चारित्रसे भ्रष्ट करनेके लिए उतारू होगया हो तो उस समय अक्षीणायु भी आराधक होता है. इसका आचार्य आगे खुलासा करेंगे ही ।

प्रश्न—अनेक शास्त्रोंमें पंच परमेष्ठिओंको नमस्कार किया है. तथा अर्हत्परमेष्ठिको प्रथम नमस्कार लिखा है परंतु इस आराधना शास्त्रमें अर्हत् और सिद्ध ऐसे दोही परमेष्ठिओंको नमस्कार किया है और वह भी विपरीत प्रकारसे किया है. अर्थात् प्रथम सिद्ध परमेष्ठिको नमस्कार करनेके अनंतर अर्हत्परम देवको नमस्कार किया है. ऐसे विपरीत क्रमका क्यों आश्रय किया है ?

उत्तर—विपरीत क्रमका आश्रय करनेमें यह कारण है—इस शास्त्रमें सिद्ध और साधक ऐसे दो प्रकारके जीव कहे हैं. अर्हत और सिद्ध परमेष्ठि आराधनाका फल पाचुके हैं अतः वे सिद्ध जीव हैं. आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठि ये तीनों भी साधक माने गये हैं. इन साधकोंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए इस शास्त्रकी रचना की है. अतः सिद्धोंको मंगलरूपसे स्वीकार कर उनको आचार्यने प्रथम नमस्कार किया है, यह योग्यही हुआ. आचार्यादि तीन परमेष्ठिओंको वंदन नहीं किया है क्योंकि वे आराधनाके अधिकारी हैं. उन्होंने आराधना फलकी प्राप्ति नहीं की है. ऐसा किसी विद्वानोंका भाष्य व परिहार है. परंतु ये दोनों भी असंगत सरीखे मालूम पडते हैं. प्रथमतः यहां भाष्यकी अयुक्तता आचार्य दिखाते हैं—

शास्त्रादिकोंमें नमस्कार क्यों करते हैं ? यदि निर्विघ्न रीतीसे शास्त्रकी सिद्धि होवे इस हेतुसे नमस्कार करते हैं ऐसा कहोगे तो हम आपसे ऐसा पूछते हैं कि वह कैसा विघ्नपरिहार करता है ? विघ्न श्रोताको अथवा वक्ताको होता है क्या ? विघ्न दोनोंको भी होता है तथा अन्तराय कर्म उसका कारण है. 'विघ्नकरणमन्तरायस्य' ऐसा आचार्य उमास्वामीका वचन भी है. इस अन्तराय कर्मके दान, लाभ, भोग, उपभोग, व वीर्य इन पांच कार्यों में विघ्नकारण होनेसे पांच प्रकार है. जब वक्तामें दानांतराय कर्म उपस्थित होता है उससमय वह उसको विघ्न करता है. अर्थात् वक्ता उससमय शास्त्ररचना करनेमें असमर्थ होता है. दानान्तराय कर्म आहारदान, वसतिकादान और शास्त्रदान ऐसे तीन दानोंमें विघ्न करता है, अतः दानान्तराय कर्म ज्ञानलाभका घात करता है. श्रोताको लाभांतराय कर्म हो तो वह शास्त्रलाभ-शास्त्रश्रवणलाभ होने नहीं देता. नमस्कार करनेपर भी यदि अन्तराय कर्म उदयमें आया हो तो शास्त्र रचना तथा श्रवणलाभ क्यों नहीं होते ? इस प्रश्नका उत्तर यह है—शाल्यंकुर उत्पन्न होनेमें शालिबीज, जल, जमीन, सूर्यके किरण इतने कारण होते हैं. यह सर्व समग्री पूर्ण रहनेपर भी, यदि साल तमालादि वृक्ष मौजूद हो तो शाल्यंकुर उत्पन्न नहीं होता. प्रकृत प्रकरणमें भी ऐसा ही समझना चाहिए. अर्थात् वक्ता और श्रोताओंने नमस्कार किया हो तो भी अन्तराय कर्म होनेसे प्रस्तुत कार्य करनेमें वे समर्थ नहीं होते हैं.

यहांपर यदि आप ऐसा कहोगे—" यद्यपि अन्तराय अशुभ कर्मप्रकृति है, परंतु शुभ परिणाम उत्पन्न ८
होनेसे उसका विघ्न करनेका उत्कट रस नष्ट हो जानेसे वह विघ्नरूपी स्वकार्य करनेमें असमर्थ हो जाता है " तो

शुभ परिणाम मात्र ही प्रस्तुत प्रसंगमें उपयोगी होते हैं ऐसा सिद्ध हुआ. अतः सिध्दादि परमेष्ठिओंके गुणोंमें अनुराग करना यह सर्व विघ्न दूर करनेके लिए आवश्यक हैं ऐसा सिद्ध हुआ. विद्वान् पुरुष शास्त्रप्रारंभमें अर्हदादिकोंको क्रमपूर्वक नमस्कार करते हैं." ऐसा आपने जो भाष्य किया था वह अयोग्यसा ज्ञात होता है.

वस्तु प्राप्त होनेमें अथवा प्राप्य वस्तुका जन्म होनेमें जो कारण लगते हैं वे उपाय हैं. जहां जिस कारणसे प्राप्य वस्तु प्राप्त हो वह वहां उपाय समझना चाहिए. अतः सर्व ही अर्हदादिविषयक गुणानुराग तथा तत्पुरःसर वचन और शरीरकी चेष्टायें क्रमयुक्त ही होती हैं ऐसा नियम नहीं है. एकेक उपाय भी इष्टफल प्राप्तिके लिये सहायक हो सकता है. ऐसे बहुतसे उपाय हैं जो एकेक भी इष्टफल प्राप्तिमें सहायक होते हैं. अतः ऐसे स्थानोंपर क्रमका आश्रय करनेकी आवश्यकता नहीं होती है.

जहां क्रमसे उपायोंका आश्रय करनेसे कार्यसिध्दि होती है वहां उपायक्रमका शरण लेना चाहिए. जैसे घट बनानेकी इच्छा हो तो मट्टीका मर्दन करना, पिंड करना, चाकपर उसको आरूढ करना वगैरे उपाय क्रमसे ही करने पडेंगे. अन्यथा घटोत्पत्ति न होगी. वक्ताके मुखसे एक समयमें एक ही शब्द निकलेगा. अनेक वचनोंकी प्रवृत्ति होना असंभव है. इस वास्ते शब्द क्रमसे ही मुखसे निकलेंगे. अतः नमस्कार वचनमें वक्ताकी स्वेच्छाही मुख्य रहेगी. नमस्कार विषयमें स्वेच्छाप्रवृत्ति शास्त्रोंमें प्रायः देखी गई है. यहां आचार्य उसके थोडेसे उदाहरण देते हैं. यथा—' सिद्धं सिद्धट्ठाणं ठाणमणोवमसुहगयाणं ' अर्थात् जो अनुपम सुखको प्राप्त हुए, कृतकृत्य, ऐसे अर्हत्परमेष्ठिओंका शासन अनादि है, तथा वह सिद्धीका कारण है. इस श्लोकांशमें जिनशासनके गुणोंका हि केवल स्मरण किया है. क्वचित् शास्त्रमें चोवीस तीर्थकरोंमेंसे प्रथमतः वीर तीर्थकर को ही नमस्कार किया है. यथा—एस सुरासुर मणुसिंद इति। यहां श्री कुंदकुंदाचार्यजीने क्रमस्मरणका उल्लंघन किया है. पंचास्तिकाय समयसारमें सामान्यतः संपूर्ण जिनेश्वरोंका स्मरण किया है। क्वचित् शास्त्रमें अर्हदादिकोंको नमस्कार न करके केवल जीवगुणका ही स्मरण किया है. जैसे—' धम्मो मंगलमुक्किट्ठमिति '। इस तरहसे देखा गया तो नमस्कारके विषयमें अनेक प्रकार होनेसे विपरीत पना की शंका लेना व्यर्थ है।

"साधकोंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये यह शास्त्र है अतः इसमें सिद्धपरमेष्ठिको ही मंगलरूपता है" ऐसा कहना भी अयुक्त है। हम यहां ऐसा पूछ सकते हैं कि—सिद्धिको चाहनेवाले साधकोंपर अनुग्रह करनेका अभि-

कार होनेसे यहां सिद्धोंको नमस्कार किया है अथवा श्रुतसाधकों पर अनुग्रह करनेका अधिकार होनेसे सिद्धोंको वंदन किया है ? दूसरा पक्ष मानेंगे तो भी आपका मत सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि, सामायिकसे लेकर लोक बिंदुसार पर्यंत जितना द्वादशांग है उसकी रचना गणधरोंने की है. उसके प्रारंभमें गणधरोंने ' णमो अरहंताणं ' इत्यादि वाक्योच्चार करके पंचपरमेष्ठिओंको नमस्कार किया है। यह भी आपके मंतव्यके विरुद्ध है । यतः पंचणमोकार रूप मंगलमें प्रथम अरहंत परमेष्ठीको नमस्कार किया है. अनंतर सिद्ध परमेष्ठीको किया है। परन्तु " सिद्धे जयप्पसिद्धे " इस मंगल गाथामें प्रथमतः सिद्ध परमेष्ठीको अनंतर अरहंत परमेष्ठीको नमस्कार किया है।

यदि अर्हत्परमेष्ठी भी सिद्ध ही है ऐसा कहोगे, तो सिद्धपरमेष्ठिओंका ' सिद्धे जयप्पसिद्धे ' इस वाक्यसे स्मरण किया ही है फिर अर्हत्परमेष्ठीका सिद्धस्वरूपसे स्मरण करना व्यर्थ होता है।

यदि अर्हत्परमेष्ठी एकदेशसिध्द हैं इस वास्ते उनको पृथक् नमस्कार किया है ऐसा कहोगे, तो आचार्यादि भी एकदेशसिध्द हैं, उनका ग्रहण क्यों नहीं किया यह प्रश्न उपस्थित होगा. एकदेश सिध्द होने पर अर्हत्त भी आराधक हैं ही तो भी, उनका मंगलरूप समझ करके ग्रहण किया है ऐसा कहोगे तो तुम्हारा यह विवेचन विरुध्द होगा. अतः इतने विवेचनका यहां यह अभिप्राय है कि, यह ग्रंथ रचनेवाले आचार्य श्री शिवकोटिकी यहां क्रम विवक्षा नहीं है. अतएव उन्होनें प्रथम सिध्द परमेष्ठीको, अनंतर अर्हत्परमेष्ठीको नमस्कार किया है. यहां संक्षिप्त गाथार्थ इस प्रकार है—

जिन्होने चार आराधनाओंका फल प्राप्त किया है, जो जगतमें प्रसिध्द हुए हैं ऐसे सिध्द परमेष्ठीओंको, तथा सिध्दके समान जिनको चार आराधनाओंका फल मिला है ऐसे जगत्प्रसिध्द अर्हत्परमदेवको भी वंदन कर मैं (श्री शिवकोट्याचार्य) क्रमशः—पूर्वाचार्य प्रणीत शास्त्रोंके अनुसार इस आराधना ग्रंथको कहता हूं अर्थात् भगवती आराधना नामक ग्रंथकी रचना करता हूं.

' सिद्धे जयप्पसिद्धे ' इस गाथामें जो सिद्ध शब्द आया है उसके नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव ऐसे चार अर्थ हैं. इन अर्थोंका विशेष विवेचन इस प्रकार है—

१ नाम सिद्ध—क्षायिक सम्यग्दर्शन, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मता, संसारावस्थामें प्राप्त न होनेवाली अवगाहन शक्ति तथा सर्व बाधाओंसे रहितपना ऐसे गुणोंकी अपेक्षा न करके सिद्धशब्दकी प्रवृत्तिके निमित्त किसी

व्यक्तिमें सिद्ध शब्दकी प्रवृत्ति होना यह नाम सिद्ध है.

शंका—स्वरूपकी उत्पत्ति सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तीका निमित्त होता है. सम्यक्त्वादिगुण सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तीका निमित्त नहीं होते हैं. फिर यहांपर सम्यक्त्वादिगुणोंको सिध्द शब्दकी प्रवृत्तीका निमित्त क्यों बताया इस शंकाका उत्तर आचार्यने ऐसा दिया है—

२ ठीक है. सम्यक्त्वादि गुणोंके स्वरूपकी निष्पत्ति निमित्तसे हो जाती है, ऐसा हम मानते ही हैं. पूर्वभाव प्रज्ञापि नयकी अपेक्षासे अर्थात् सिध्दत्व प्राप्त होनेके कालमें अन्तिम शरीरमें प्रविष्ट जो आत्मा वह दूधमें मिले हुये पानीके समान शरीराकार था. वही आत्मा शरीरका नाश होनेपर भी अन्तिम शरीरसे किंचित् न्यून आत्मप्रदेशोंकी आकृतीसे युक्त है, ऐसा बुध्दीमें आरोपण कर ' वही यह है ' ऐसा समझकर स्थापन की गई जो मूर्ति उसको स्थापना सिध्द कहते हैं.

३ आगम द्रव्यसिध्द—सिध्दोंका स्वरूप प्रकट करनेवाले ज्ञानकी परिणतीके सामर्थ्यसे युक्त जो आत्मा उसको आगम द्रव्य सिध्द कहते है. अर्थात् जिस आत्माके ज्ञानमें सिध्दोंका स्वरूप जाननेका सामर्थ्य प्राप्त हुवा है परंतु वर्तमान अवस्थामें वह सिध्दोंको नहीं जानता है, ऐसे ज्ञानसे युक्त आत्माको आगमद्रव्यसिध्द कहते हैं.

४ नो आगम द्रव्य सिध्द—इनके ज्ञायक शरीर, भावि तथा तद्व्यतिरिक्त ऐसे तीन भेद हैं.

५ ज्ञायक शरीर सिध्द—सिध्दोंके स्वरूपका प्रतिपादक ऐसे सिध्द प्राभृत शास्त्रको जाननेवाले जीवका भूतकालीन, भविष्यत्कालीन व वर्तमान कालीन जो शरीर वह सिध्द स्वरूप जाननेमें जीवको मदत करता है अतः ऐसे त्रिकाल गोचर शरीरको ज्ञायक शरीर सिध्द कहते हैं.

६ जिस आत्माको भविष्यकालमें सिध्दत्वपर्याय प्राप्त होगा वह आत्मा भाविसिध्द है.

७ तद्व्यतिरिक्तसिध्द यह भेद होता नहीं. क्योंकि, कर्म और नोकर्म ये सिध्दत्वके कारण नहीं हैं. कर्म, नोकर्म जबतक जीवके साथ रहेंगे तबतक सिध्दत्व प्राप्त नहीं होता.

८ आगम भावसिध्द-सिध्दप्राभृतमें जो सिध्दोंका स्वरूप लिखा है उसको वर्तमान कालमें जाननेमें उपयुक्त हुए ज्ञानको आगमभावसिध्द कहते हैं.

९ नो आगमभावसिध्द—क्षायिक ज्ञान दर्शनसे युक्त, अव्याबाध स्वरूपको प्राप्त हुवा, लोक शिखरमें

विराजमान जो शुध्दात्मा यह नो आगमभावसिध्द है. यहां नो आगमभावसिध्दको ही सिध्द समझना चाहिए.

शंका-प्रकरण अथवा विशेषणके विना सामान्य शब्दकी अभीष्टार्थमें प्रवृत्ति है यह समझना कठिन बात है. अतः सामान्य सिध्द शब्दसे नो आगम भावसिध्दका ग्रहण यहां कैसा हो सकेगा ?

उत्तर-अतएव आचार्य महाराजने ' चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्तान् ' यह विशेषण देकर यहां नो आगमभाव सिध्दका ही ग्रहण करना योग्य है ऐसा प्रकट किया है. सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन, व संपूर्णकर्मरहितता यह चार आराधनाओंका फल है. अर्थात् सम्यग्दर्शनादिगुणोंसे परिपूर्ण होना-तद्रूप होना यह आराधनाका फल है. फलं पत्ते-क्षायिक सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, दर्शन व सर्व कर्मोंसे मुक्तता ऐसे स्वरूपसे सिध्द परमात्मा युक्त होगये हैं. यह आराधनाका फल उनको मिल गया.

अरहंत भी जगप्पसिद्ध-जगत्प्रसिद्ध है. निर्दोष श्रुतज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले आसन्न भव्य जीवरूप जगतमें अरहंत प्रसिद्धि पाचुके हैं अतः वे जगत्प्रसिद्ध है. अरहंते इस शब्दके आगे 'च' शब्दकी योजना नहीं की है तो भी यहां समुच्चयार्थ समझ लेना. च शब्दके विना भी समुच्चयार्थका बोध होता है. उसका उदाहरण यह है-' पृथिव्यप्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन ' इति इस वाक्यमें च शब्दके विना सर्व द्रव्योंका वैशेपिक मतवालोंने संग्रह किया है.

मोहनीय कर्म नष्ट करनेसे, तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म दग्ध करनेसे जो इंद्रादिकोंके द्वारा विशिष्ट पूजाको प्राप्त हुए हैं ऐसे जिनेश्वरोंको अरहंत यह अन्वर्थ नाम प्राप्त हुआ है. जैसे सर्वनाम शब्द समस्त शब्दार्थोंकी संज्ञा हो जानेसे अन्वर्थ है.

अथवा ' जगप्पसिद्धे ' यह अर्हत्परमेष्ठीका विशेपण समझना चाहिए. क्योंकि गर्भ जन्मादि इतर पंचकल्याण स्थानोंमें त्रैलोक्यके द्वारा वे महात्मा सेवित होते है. ऐसे इतर सिध्दपरमेष्ठी सेवित नहीं हैं. कोई भी वस्तु किसी प्रकारसे प्रसिध्द होती ही है. अप्रसिध्द ऐसी कोई वस्तु नहीं है अतः जगप्पसिध्दे यह अर्हन्तका विशेपण व्यर्थ दीखेगा. परंतु व्यर्थ नहीं है. जैसे ' अभिरूपाय कन्या देया ' रूपवानको कन्या देनी चाहिये ऐसा इस वाक्यका अर्थ है. परंतु रूप रहित कोई पुरुष जगतमें रहता ही नहीं. सभी पुरुषोंमें रूपगुण रहताही है अतः यह वाक्य व्यर्थ होता है ऐसा नहीं. अभिरूप इसका अर्थ विशिष्टरूपवान् अर्थात् सुंदर पुरुष ऐसा करनेसे

व्यर्थता नष्ट होती है. उसी तरह ' जगत्प्रसिद्ध ' इस अर्हन्तके विशेषणका प्रसिद्धतम ऐसा अर्थ समझना चाहिए इस विशेषणसे अर्हत्परमेष्ठीकी ही अधिकतर प्रसिद्धि सूचित की गई है.

जबतक श्रोताको प्रयोजनका ज्ञान होता नहीं तबतक वह शास्त्र श्रवण करनेमें अथवा उसका अध्ययन करनेमें प्रयत्न नहीं करेगा इस वास्ते परोपकार करनेके लिए उद्युक्त हुवा मैं यह शास्त्र रच रहा हूं. अतः मैं शास्त्र रचनेका प्रयोजन प्रगट करता हूं ऐसा आशय मनमें धारण करनेवाले आचार्य ' वोच्छं आराहणमिति ' इस वाक्यसे प्रयोजन कहते हैं. आराधनाके स्वरूपका ज्ञान होना यह प्रयोजन है तथा यह प्रयोजन श्रोताको इस शास्त्रके सुननेसे प्राप्त होगा ऐसा अभिप्राय ' वोच्छं आराहणं ' इस वाक्यसे झलकता है।

शंका—आराधनाका स्वरूपपरिज्ञान होना यह पुरुषार्थ नहीं है. पुरुषार्थको प्रयोजन कहते हैं । सुख अथवा दुःख निवृत्तिको पुरुषार्थ कहते हैं । आराधनाका स्वरूप ज्ञान होना यह सुखरूप अथवा दुःखकी निवृत्ति एतद्रूप नहीं है अतः स्वरूपावगमन प्रयोजन नहीं है. इसका खुलासा हम इस तरह कहते हैं—

जो जिस प्रयोजनको चाहता है वह उसको प्राप्त करनेके लिए उसके उपाय जाननेका प्रयत्न करता है। अथवा प्राप्य वस्तु मिलानेका प्रयत्न करता है। जिसके द्वारा प्रयुक्त होकर कार्यमें मनुष्य प्रवृत्त होता है उसको प्रयोजन कहते हैं। आत्मा ज्ञानके द्वारा शास्त्रश्रवणादि क्रियांमें प्रवृत्त होता है अतः उपयोगिवस्तुका ज्ञान होना यह प्रयोजन कह सकते हैं।

शंका—परन्तु आराधना तो कुछ उपयोगिनी नहीं है अतः उसका ज्ञान कर लेना आवश्यक नहीं है।

उत्तर—यह आराधना अनंत सुखरूप केवलज्ञान व परम अव्याबाधता इन गुणोंको उत्पन्न करती है अतः यह आराधना अवश्य उपयोगी है. अतएव सिध्द और अरहंत ये महापुरुष चार प्रकारके आराधनाओंका फल प्राप्त कर चुके हैं ऐसा आचार्य कहते हैं. अनंत ज्ञानादिफल देनेवाली आराधनाका स्वरूप भव्योंको ज्ञात हो जाय १२
इस हेतुसे प्रेरित होकर आचार्य इस शास्त्रकी रचना करते हैं. यह शास्त्र आराधना स्वरूपका ज्ञान उत्पन्न करता है अतः यह साधन है तथा आराधनाज्ञान साध्य है. शास्त्र और प्रयोजन इन दोनोंमें साध्यसाधन संबंध है यह भी ' चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्तान् ' इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है. यह शास्त्र चार आराधनाओंका वर्णन करता है अतः इसको अभिधायक-प्रतिपादक कहते हैं. सम्यग्दर्शनादि आराधना इस शास्त्रमें वर्ण्य-अभिधेय है अतः इन

दोनोंमें प्रतिपाद्य प्रतिपादक अभिधेयाभिधायक संबंध है. अतः इस शास्त्रमें प्रयोजन, संबंध व फलनिर्देश होनेसे व्याकरणादि शास्त्रवत् यह आराधना शास्त्र श्रोतृवर्गसे ग्राह्य ही है. ग्रंथकी प्रथम गाथासे मंगल व प्रयोजनादि तीन बातोंको भी आचार्य महोदयने सूचित किया है. यह शास्त्र पूर्वाचार्योंके वचनानुसार रचा गया है इस लिये यह प्रमाण है. प्रथम गाथामें 'कमसो' ऐसा शब्द आया है. उसका योग्य संबंध मिलानेके लिए 'पुव्वसुत्ताणं' यह वाक्य शेष अध्याहृत लेना चाहिए.

- विजयोदया—का आराधना कस्य वा ? न ह्याराध्यापरिज्ञानेनात्मभूताराधना शक्या प्रतिपत्तुं इत्यारेकायामाह—

उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं ।
दंसणणाणचरित्तं तवाणमाराहणा भणिदा ॥ २ ॥

२ उज्जोवण— उज्जोवणमुज्जवणमित्यादिकं । 'उज्जोवणं' उद्योतनं शङ्कादिनिरसनं सम्यक्त्वाराधना श्रुतनिरूपिते वस्तुनि किमित्थं भवेन्न भवेदिति समुपजातायाः शङ्कायाः संशयप्रतिसंज्ञिताया अपाकृतिः । कथं ? हेतुबलेन आप्तवचनेन वा समुपजातया इत्थमेवेदमिति निश्चित्या । यद्धि यस्य विरोधि यत्रोपजातं तत्र नेतरत्पदमास्पदं बध्नाति, यथा शीतस्पर्शेनाक्रान्ते शिशिरकरे उष्णता । विरोधे च निश्चयज्ञानं संशीतिर्विरोधिता च नियोगतस्तद्भावे तनेतरस्य तदा अभवनात् वक्ष्यामः कांक्षादीनां स्वरूपं तन्निरासक्रमं च प्रस्तावे । अनिश्चयो वैपरीत्यं वा ज्ञानस्य मलं, निश्चयेनानिश्चयव्युदासः । यथार्थतया वैपरीत्यस्य निरासो ज्ञानस्योद्योतनं । भावनाविरहो मलं चारित्रस्य, तासु भावनासु वृत्तिरुद्योतनं चारित्रस्य । तपसोऽसंयमपरिणामः कलङ्कतया स्थितस्तस्यापाकृतिः संयमभावनया तपस उद्योतनं । उत्कृष्टं यवनं उद्यवनं । ननु मिश्रणं युप्रकृतेरर्थः, मिश्रणं च संयोगता । तथा हि—गुडमिश्रा धाना इति कथिते गुडेन संयुक्ता इति प्रतीयते । संयोगश्च विभिन्नयोरर्थयोरप्राप्तयोः प्राप्तिर्न च दर्शनादयोऽर्थान्तरभूता आत्मनस्तद्रूपविकलरूपाभावात् । तत्कथं दर्शनादिभिरात्मनो मिश्रणमिति ? उच्यते-विशेषवाच्योऽपि सामान्योपलक्षणतया वर्तते, यथा काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिरित्यत्रोपघातकसामान्यमेवार्थः काकशब्दस्य प्रतीतस्तद्वत्संबन्धसामान्यमत्र यवनशब्दाभिधेयं । असकृद्दर्शनादिपरिणतिरुद्यवनं । निराकुलं वहनं धारणं निर्वहणं, परीषहाद्युपनिपातेऽप्याकुलतामन्तरेण दर्शनादिपरिणतौ वृत्तिः । उपयोगान्तरेणान्तर्हितानां दर्शनादिपरिणामानां निष्पादनं साधनं । भवान्तरप्रापणं दर्शनादीनां निस्तरणम् । एवमाराधनाशब्दस्यानेकार्थवृत्तितायां यथावसरं तत्र तत्र व्याख्या कार्या । अत्रान्ये व्याचक्षते-निस्तरणशब्दः सामर्थ्यवाची स प्रत्येकं संबध्यते उद्योतनादिभिरुद्योतनादीनां तद्दर्शनादिभिश्चतुर्भिरपि यथासंख्येन संबन्धः । उद्योतनं मरणकाले प्रागवस्थाया उत्कर्षेण निर्मलीकरणं अविघ्नेन दर्शनाराधनेत्यादिना

क्रमेण। न एवं पर्यनुयोज्याः। किमत्र ज्ञानादीनां निर्मलीकरणमिष्टमनिष्टं वा। इष्टं चेद्दर्शनेनैव किमिति संबध्यते निर्मलीकरणं ? उत्कर्षेण यवनमपि सर्वेषामिष्यते। अनाकुलं वहनमपि साधारणं। किमुच्यते व्रतगुप्तिसमितीनां निश्चयेनानाकुलं वहनमिति ? न च निस्तरणशब्दात्सामर्थ्यं प्रतीयते। उद्योतनं सामर्थ्यं, उद्यवनं सामर्थ्यमित्यादिषु न च कश्चिदर्थः, अविघ्नेनेति कथमयमर्थो लभ्यते उज्जोवणादिशब्दैरनुपात्तो, मरणकालश्च कः ? मनुष्यभवपर्यायविनाशसमयो मरणकालसमयेन यद्युच्यते। न तत्र भावनोत्कर्षः, मारणान्तिकसमुद्घाते परिणाममान्द्यात्। अत्र भावनाकालो मरणकालशब्देनोच्यते सोऽनुपात्तः। प्रकृतश्च कथमिह लभ्यते। भावनाकालगतव्यापारकथनायेदं शास्त्रं प्रस्तुतमिति लभ्यत इति चेत्, न तथाऽसूत्रितत्वात्। 'दंसणणाणचरित्ततवाणमुज्जोवणमाराहणा भणिया' 'दंसणणाणचरित्ततवाणुज्जवणमाराधणा' इति, इति प्रत्येकमभिसंबन्धोऽत्र कार्यः। अन्यथा समासेन निर्देशं कुर्यात्।

का आराधना कस्य वेत्यनुयोगे सत्याह—

मूलारा० दर्पणम्— उज्जोवणमित्यादि । दर्शनादीनां प्रत्येकमुद्योतनादिपंचकमाराधना चतुर्विधा भणिता जिनैरिति संबंधः ॥ तत्र उद्योतनं दर्शनादीनां निर्मलीकरणं ॥ तन्मला यथा—

शंकादयो मला दृष्टेर्न्यर्थतयासानिश्चयौ मतेः।
वृत्तस्य भावनात्यागस्तपसः स्यादसंयमः ॥

उज्जयणं उत्कृष्टं यवनं मिश्रणं असकृत्परिणतिः। णिव्वहणं परीषहाद्युपनिपातेऽपि निराकुलं लाभादिनिरपेक्षं वा वहनं धारणं। साहणं साधनं उपयोगान्तरेणान्तर्हितानां निष्पादनं। नित्यं नैमित्तिकं वा किंचित्कुर्वता व्यवहितस्य सम्यग्दर्शनाद्यन्यतमस्य पुनरुपायप्रयोगात्संपूर्णीकरणमित्यर्थः। णिच्छरणं भवान्तरप्रापणं। निस्तारो मरणान्तप्रापणमित्यर्थः। दंसणेत्यादि। दर्शनं तत्वार्थश्रद्धानं, ज्ञानं स्वार्थनिर्णयः, चारित्रं पापादाननिमित्तक्रियोपरमः, तपः इंद्रियमनसोर्नियमानुष्ठानम् ॥

अथ हिंदी भाषानुवादः।

२ आराध्यका ज्ञान होनेसे आराधनाका स्वरूप ज्ञात होता है. अतः आराधना क्या चीज है तथा वह किसको होती है ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य कहते हैं—

उद्योतन—शंकाकांक्षादि दोषोंको दूर करना यह उद्योतन है इसको सम्यक्त्वाराधना कहते हैं. द्वादशांगमें जीवादितत्वोंका जो स्वरूप कहा हुवा है वह यही है अथवा अन्य है ऐसी जो शंका मनमें उत्पन्न होती है-जिसको संशय भी कहते हैं उसको अपने हृदयसे दूर करना इसको उद्योतन कहते हैं. जैनसिद्धांतकी अविरुद्ध युक्तियों द्वारा और आगमवचनसे जीवादिक वस्तुओंका यही स्वरूप है ऐसा ही है ऐसा निश्चय करके संशयादिक दोषोंको दूर करना चाहिए. जो जिसकी विरुद्ध चीज जहां उत्पन्न होती है उससे उलटी वस्तु वहां नहीं रह सकती जैसे शीतस्पर्शसे युक्त चंद्रमें उसकी विरोधी उष्णता अपने पैर नहीं जमा सकती. संशयके विरुद्ध निश्चय है. वह जहां उत्पन्न होता है वहां संशय कैसा रहेगा? निश्चयसे विरोध करता हुआ वह संशय बिलकुल टिक नहीं सकता. शंकाकांक्षादिक दोषोंका स्वरूप और उनका निरसन आगे दर्शनाराधनाके प्रकरणमें आचार्य स्वयं लिखेंगे ही.

निश्चय न होना अथवा उलटा ज्ञान होना यह ज्ञानका मल है. जब निश्चय होता है तब अनिश्चय नहीं रहता है. यथार्थ वस्तुज्ञान होनेसे विपरीतता चली जाती है. यह ज्ञानका उद्योतन है. अर्थात् ज्ञानके अनिश्चय विपर्यासादि दोष दूर करना ज्ञानका उद्योतन है,

भावनाओंका त्याग होना चारित्रका मल है. अर्थात् भावनाओंमें तत्पर होना ही चारित्रका उद्योतन होता है. असंयम परिणाम होना यह तपका कलंक है. संयम भावनामें तत्पर रहकर उस कलंकको हटाकर तपश्चरण निर्मल बनाना यह तपका उद्योतन है.

उद्यवन—उत्कृष्टं यवनं उद्यवनं अर्थात् उत्कृष्ट मिश्रण होना उद्यवन है. आत्माकी सम्यग्दर्शनादिरूप परिणति होना उद्यवन शब्दका अर्थ है.

शंका—उद्पूर्वक यु धातुसे उद्यवन शब्द बना है. उसका मिश्रण ऐसा अर्थ है. मिश्रण और संयुक्तपना दोनो समनार्थक हैं. जैसे गुडसे मिश्रित धाना है. अर्थात् गुडसंयुक्त धाना है ऐसा अभिप्राय होता है. विभिन्न पदार्थ आपसमें मिल जाना उसको संयोग कहते हैं परन्तु सम्यग्दर्शनादिक गुण आत्मासे भिन्न नहीं है. आत्मा तद्रूप है. वह उससे विकल नहीं है अर्थात् सम्यग्दर्शनादिसे भिन्न उसका और रूप नहीं है. अर्थात् सम्यग्दर्शनादिकसे उसका संयोग होना यह उद्यवनका अर्थ यहां योग्य नहीं दीखता.

उत्तर—विशेष शब्दसे जो विशिष्ट अर्थ कहा गया है वह भी उपलक्षणसे सामान्य अर्थ रूप भी माना जाता

है. जैसे 'काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिः' अर्थात् कौवोंसे घृतका रक्षण करो. यहां कौवा शब्द विशिष्टार्थवाचक होने पर भी उसका उपघातक सामान्य ही अर्थ अनुभवमें आता है. अर्थात् घृतको बिगाडनेवाले सब प्राणियोंका काक शब्द वाचक हो जाता है. वैसा यहांपर उद्यवन शब्दका सामान्य संबंध ऐसा अर्थ समझना अर्थात् वारंवार सम्यग्दर्शन गुणोंसे आत्मा परिणत होजाना यह उद्यवन शब्दका अर्थ है.

निर्वहण—सम्यग्दर्शनादिगुणोंको निराकुलतासे धारण करना. अर्थात् परीषहादिक प्राप्त हो जानेपर भी व्याकुलचित्त न होकर दर्शनादि परिणतीमें तत्पर रहना, उससे च्युत न होना यह निर्वहण शब्दका अर्थ है.

साधन—अन्य कार्यके तरफ ज्ञानोपयोग लगनेसे तिरोहित हुए दर्शनादिपरिणामोंको उत्पन्न करना. अर्थात् नित्य कार्य तथा नैमित्तिक कार्य करनेमें चित्त लगनेसे तिरोहित हुए सम्यग्दर्शनादिकोमेंसें किसी एकको पुनः उपायोंके प्रयोगसे संपूर्ण करना उसको साधन कहते हैं.

निस्तरण—अन्यभवमें सम्यग्दर्शनादिकोंको पोहोंचाना, अर्थात् आमरण निर्दोष पालन करना जिससे वे अपने साथ अन्य जन्ममें भी आसकेंगे.

आराधना शब्द अनेकार्थमें रूढ होनेसे प्रकरणानुसार अविरुद्ध व्याख्या करनी चाहिये.

अब यहां दूसरे विद्वान ऐसा कहते हैं–निस्तरण शब्दका सामर्थ्य ऐसा अर्थ है. तथा इस शब्दका उद्योतन, उद्यवन इत्यादि शब्दोंके साथ संबंध करना चाहिये. तथा उद्योतनादिकोंका दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप इनके साथ यथाक्रम संबंध करना चाहिये. अर्थात् दर्शनका उद्योतके साथ, ज्ञानका उद्यवनके साथ, चारित्रका निर्वहणके साथ तथा तपका साधनके साथ संबंध करे. दर्शनोद्योत—पूर्वावस्थापेक्षासे भी मरणकालमें निर्विघ्नतया सम्यग्दर्शन अधिक निर्मल करना यह दर्शनाराधना समझनी चाहिये. इत्यादिरूपसे अन्यविद्वान् व्याख्यान करते हैं. इस विवेचनपर आचार्य निम्न प्रकारसे विचार करते हैं.

यहां आपको ज्ञानादिकोंको निर्मल करना इष्ट है या अनिष्ट है ? यदि इष्ट है तो दर्शनके साथ ही उद्योतनका क्यों संबंध जोडते है ? अर्थात् ज्ञानादिकोंके साथ भी उद्योतका संबंध जोड देना चाहिये. उद्यवनका भी सबके साथ संबंध करना चाहिये. निर्वाह अर्थात् निराकुल धारण करना इसका भी दर्शनादिक चारोंके साथ संबंध जोडना

चाहिये. व्रत, गुप्ति, समितिओंको निश्चयसे निर्विघ्न धारण करना अर्थात् चारित्रके साथ ही निर्वाहका संबंध करना चाहिये ऐसा कहना अनुचित है. निस्तरण शब्दका सामर्थ्य ऐसा अर्थ है ऐसा आप कहते हैं परंतु उसको उद्योतन, उद्यवन, निर्वाह इत्यादिकोंके साथ जोडनेसे कुछ प्रयोजन सिद्ध होता नहीं. मरणकालमें निर्विघ्नतया सम्यग्दर्शन निर्मल करना उसको उद्योतन कहते हैं ऐसा आप कहते है परंतु उज्जोवण वगैरह शब्दोंका 'निर्विघ्नतया' ऐसा अर्थ नहीं है. आप मरण काल कोनसा समझते है ? मनुष्यभव पर्यायका नाश होनेका जो समय उसको यदि मरणकाल समझते हो तो अयुक्त है. कारण मरणकालमें भावनाका उत्कर्ष होता नहीं. मारणान्तिक समुद्घातमें परिणाम मंद होते हैं. यदि मरणकाल शब्दसे भावना कालका अर्थ समझना चाहिए ऐसा कहोगे तो उसका यहां ग्रहण किया नहीं है. तथा वह अप्रकृत होनेसे उसका यहां कुछ प्रयोजन नहीं है.

भावनाकालकी प्रवृत्ति कैसी होती है इसका विवेचन करनेके लिए इस शास्त्रकी रचना हुई है अतः भावनाकालका यहां ग्रहण हो जाता है ऐसा कहोगे तो योग्य नहीं है. ' दंसणणाणचरित्ततवाणुज्जवणमाराहणा भणिया ' इस वाक्यमें उज्जवण शब्दका प्रत्येकसे संबंध करना चाहिये ' उज्जोवणमुज्जवणं ' इस गाथामें उज्जवणादिक शब्द समास रहित लिखे हैं अतः दर्शनादिकोंके साथ उद्योतनादिकका प्रत्येकका संबंध होता है ऐसा समझना अर्थात् सम्यग्दर्शनका उद्योत, ज्ञानका उद्योत, चारित्रका उद्योत तथा तपका उद्योत. इसी तरह उद्यवनादि शब्दोंका भी सबके साथ संबंध समझना चाहिये. अन्यथा आचार्य उद्योतादिकोंका समासपूर्वक उल्लेख कर सकते थे.

किं चतुर्विधैवाराधनेत्याशङ्कायामाह—

दुविहा पुण जिणवयणे भणिया आराहणा समासेण ॥
सम्मत्तम्मि य पढमा विदिया य हवे चरित्तम्मि ॥ २ ॥

विजयोदया— दुविहा समासेण द्विविधा आराधना भणिता इति पदसंबन्धः । आवरणमोहजयाज्जिनाः । ज्ञानदर्शनावरणजयात्सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः । मोहपराजयाद्वीतरागद्वेषाः । सर्वज्ञानां सर्वदर्शिनां वीतरागद्वेषाणां वचनं जिनवचनं । एतेन असत्यवचनकारणाभावात् प्रामाण्यमाख्यातमागमस्य । वक्तुरज्ञानाद्रागद्वेषाभ्यां वा प्रवृत्तं वचः

अयथार्थावबोधनादप्रामाण्यमारकमिति । तत्र च 'समासेण' संक्षेपेण 'दुविधा' द्विप्रकारा 'भणिदा' कथिता 'आराहणा' आराधना । का प्रथमा आराधना का द्वितीयेत्यत आह–'सम्मत्तम्मि य पढमा' श्रद्धानविषया प्रथमाराधना । 'बिदिया य' द्वितीया च 'हवे' भवेत् 'चरित्तम्मि' चारित्रविषया आराधना । दर्शनचारित्राराधनयोः प्रथमद्वितीयव्यपदेशः उत्पत्त्यपेक्षया गुणस्थानापेक्षया चेति । केचित्तु दर्शनपरिणामोत्पत्त्युत्तरकाले हि चारित्रपरिणाम उत्पद्यत इति प्राथम्यं दर्शनाराधनायाः । असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं पूर्वं प्रमत्तसंयतादिकं तु परमिति । श्रद्धानविरतिपरिणामयोर्युगपदप्यस्ति प्रादुर्भावः, श्रद्धानवतो वा असंयतस्य पश्चाद्विरतिरुपजायते । तत्किमुच्यते, उत्पत्त्यपेक्षयेति । असंयतसम्यग्दृष्टीनां कुतः क्रमो येन तदपेक्षया प्रथमद्वितीयव्यपदेशप्रवृत्तिः स्यात् । उत्पत्त्यपेक्षया तत्रोक्त एव नियमः । अथागमे पौर्वापर्यापेक्षया 'असंजदसम्मादिट्ठिसंयदासंयदापमत्तसंयदा' इति वचनात् । तत्रैव वचनं किमर्थं क्रममाश्रित्य प्रवृत्तमुत नान्तरीयकतया ? न तावदस्ति परिणामानां नियोगमवीक्रमः । यदि स्यान्न यौगपद्यं कदाचित्स्यात् । दृश्यते च सम्यग्दृष्टिसंयतासंयता इति चैकदा । अथ नानेकं वचनमेकः प्रयोक्तुं क्षमत इति वक्तुरिच्छानुविधायी क्रमः सूत्रविवक्षाकृतं प्राथम्यं द्वितीयता चेति यार्थ्यं न गुणस्थानापेक्षयेति । किं चोपजातदर्शनादिपरिणामस्यात्मनस्तत्रातिशयप्रवृत्तिराराधना साऽत्र प्रस्तुता । तत्र च प्राथम्यं द्वितीयता वा, तत्किमुच्यते उत्पत्त्यपेक्षया गुणस्थानापेक्षया चेति । अस्य सूत्रस्योपोद्घातमेवमपरे वर्णयन्ति । अस्मिन् शास्त्रे किमयमेव निश्चयश्चतुर्विधैवाराधनेति, उतान्योऽपि विकल्पः संभवतीति ? अस्तीत्याहेति तदयुक्तम् 'दंसणणाणचरित्ततवाणमाराधणा भणिया' इत्यतीतकालाभिधानक्रियातः, प्रतीयते नास्य शास्त्रस्य व्यापार इति । यद्यस्य व्यापारः शास्त्रस्य वक्तुमिष्टः स्यात् 'भण्णदि' इति ब्रूयात् । 'जिणवयणे भणिया दुविहा आराधणा' इति वचनात् । संक्षेपनिरूपणापि तत्रैवेति नेदं संक्षेपवाच्यम् । वस्तु बहूपन्यस्तं दुरवगमं मन्दबुद्धीनामिति । तदनुग्रहाय स्वरूपस्योपन्यासः । स संक्षेपस्त्रिप्रकारः । वचनसंक्षेपोऽर्थसंक्षेपस्तदुभयसंक्षेपश्चेति । वचनबहुत्वस्यार्थनिश्चयो न जायते जडानामिति वचनं संक्षिप्यते । अर्थस्तु सप्रपञ्च एव । अनुयोगद्वारादीनां बहूनामुपन्यासमकृत्वा दिङ्मात्रोपन्यासः प्रस्तुतस्यार्थसंक्षेपः । वचनानि तु बहूनि । तस्योभयसंक्षेपः पाश्चात्यः । द्विविधाराधनेति वचनसंक्षेपो नार्थसंक्षेपः । ज्ञानस्याराधना तपसश्च विद्यमानापि न वचनेनोच्यते । परमुखेनैवावबोधयितुं शक्यत इति ।

मूलारा० दर्पणम्—एवं आराधनाया भेदनिरूपणद्वारेण स्वरूपं दर्शनादिविषयभेदाच्चातुर्विध्यं चानुशिष्येदानीं संक्षेपाद्द्वैविध्यमनुशास्ति—

जिणवयणे जिनानां वीतरागसर्वज्ञानां वचने प्रमाणभूत आगमे । प्रथमं विस्तररुचिविनेयाशयवशाच्चतुर्विधाराधनाभिहिता । पश्चात्संक्षेपरुचिशिष्यापेक्षया सा द्विप्रकारा कथिता । ज्ञानेन दर्शनस्य, तपसा च चारित्रस्य अविना-

भावात्तत्र तयोरन्तर्भावनात् । तत एव चारित्रार्थस्य संक्षेपः । स हि संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहाय । स्वल्पस्योपन्यासो वचनार्थोभयभेदात्रेधा । श्लोक·

यत्राल्पोक्त्यानुयोगादिद्वारैरर्थः प्रपंच्यते ॥
संक्षेप उक्त· सोर्थस्य दिङ्मात्रोक्तिद्वयणुद्वयोः ॥

सम्मत्तम्मि तत्वश्रद्धानविषये इत्यर्थ । पढमा सम्यक्त्वाराधनाया सत्यामेव ज्ञानाराधनापूर्वकत्वेन चारित्राराधनायाः संभवात् ॥

क्या आराधनाके चार ही भेद हैं ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते है—

हिंदी—जिनागममें संक्षेपसे आराधनाके दो भेद कहे हैं। एक सम्यक्त्वमें आराधना अर्थात् सम्यक्त्वाराधना तथा दूसरी चारित्रमें आराधना अर्थात् चारित्राराधना.

विशेष—आवरण व मोहको जीतनेसे अर्हत्परमेष्ठिको जिन कहते है. ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्मको जीतनेसे वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हुये हैं. मोहनीय कर्मको परास्त करनेसे वे रागद्वेष रहित हो चुके है. अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, रागद्वेष रहित ऐसे अर्हत्परमदेवके वचनको जिनवचन कहते हैं. जिनेश्वरके वचनमें असत्य वचनके कारण नहीं पाये जाते हैं अतः उनका वचन अर्थात् जिनागम प्रमाण है। वक्ता यदि अज्ञानी अथवा रागद्वेषयुक्त हो तो उससे निकला हुवा वचन असत्यवस्तुका वर्णन करनेवाला होनेसे प्रमाण नहीं है. प्रमाणरूप जिनागममें संक्षेपसे आराधनाके दो भेद कहे हैं. श्रद्धानको विषय करनेवाली पहिली आराधना है तथा दूसरी आराधना चारित्रको विषय करती है।

दर्शनाराधना और चारित्राराधना को क्रमसे प्रथम तथा दूसरी आराधना ऐसे नाम उत्पत्ति की अपेक्षासे तथा गुणस्थानों की अपेक्षासे प्राप्त हुए है. आत्मा प्रथम सम्यग्दर्शन परिणामसे परिणत होता है तदनंतर उत्तरकालमें उसमें चारित्र परिणाम उत्पन्न होता है. अतः दर्शनाराधना प्रथम कही है. असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान प्रथम हो जाता है, नंतर प्रमत्तसंयतादिक गुणस्थान आत्माको प्राप्त होते है ऐसा कोई विद्वान् कहते है।

श्रद्धान तथा विरति परिणामोंकी युगपत्कालमें—एकसमयमें भी उत्पत्ति होती है अर्थात् 'सम्यग्दर्शन और चारित्र परिणाम एककालमें भी उत्पन्न होते हैं. अथवा श्रद्धानवान् जीवको पश्चात् भी विरतिपरिणाम हो जाते हैं।

अतः उत्पत्तिकी अपेक्षासे प्रथमता द्वितीयता क्यों कही जाती है ? जो असंयत सम्यग्दष्ट्यादिजीव है उनका अपेक्षासे क्रमघटना कैसी होगी ? जिससे उसमें प्रथम द्वितीयता आजावें. उत्पत्तिकी अपेक्षासे यदि कहोगे तो हमने उस विषयमें नियम कहा ही है।

अब आगममें जो प्रथम वचन कहे है और जो नंतर कहे हैं उनकी अपेक्षा लेकर हम प्रथम तथा द्वितीयकी कल्पना करते हैं क्योंकि आगममें 'असंजदसम्मादिट्ठीसंयदासंयदापमत्तसंयदा' ऐसा क्रमपूर्वक उल्लेख है. यह भी कहना योग्य नहीं है. हम इस विषयमें आपको ऐसा पूछते है कि, यह आगमका वचन क्रमका आश्रय लेकर क्यों प्रवृत्त हुवा है ? क्या क्रमके साथ आगम वचनका अविनाभाव है ? परिणाम क्रमसे ही होने चाहिये ऐसा नियम नहीं है. अन्यथा सम्यग्दर्शनरूप तथा विरतिरूप परिणाम एक समयमें किसी कालमें भी नहीं होंगे. परंतु एक कालमें सम्यग्दृष्टि और संयतासंयतरूप परिणाम अनुभवमें आजाते है. यदि एक वक्ता एक समयमें एकही शब्द बोल सकता है, अनेक शब्दोंका उच्चारण नहीं करता है अतः वक्ताके इच्छानुकूल वचनक्रम है तो परिणामोंमें वचनकृत ही क्रमता सिद्ध हो गई गुणस्थानापेक्षया वहां क्रम नहीं रहा। यदि सम्यग्दर्शनादि परिणाम जिसमें उत्पन्न हुए है ऐसे आत्माकी सम्यग्दर्शनादिकोंमें अतिशय एकरूपता होनाही आराधना है. और ऐसी आराधनाही प्रस्तुत प्रकरणमें समझनी चाहिये और उसमें प्रथमता या द्वितीयता है ऐसा यदि कहोगे तो, उत्पत्तिकी अपेक्षासे और गुणस्थानकी अपेक्षासे प्रथमता और द्वितीयताका प्रतिपादन क्यों किया ?

दूसरे आचार्य इस सूत्रका उपोद्घात इस प्रकार लिखते हैं-- इस आराधनाशास्त्रमें आराधनाके चार प्रकारही हैं ऐसा निश्चय है ? अथवा अन्य भी विकल्प यहां माना गया है ? हां दूसरा भी विकल्प है ऐसा कहोगे तो यह आपका कहना अयोग्य है. 'दंसणणाणचरित्ततवाणमाराधणा भणिया' अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तप इन्होंकी आराधना कही है यहां भूतकालकी क्रिया कही गई है अतः सिद्ध होता है कि यह इस शास्त्रका व्यापार नहीं है। यदि यह इस शास्त्रका व्यापार होता तो वह 'भणिया' इस शब्द प्रयोगके स्थानपर 'भण्णादित्ति' अर्थात् कहते हैं ऐसा प्रयोग करता. परंतु 'जिणवयणे भणिया दुविहा आराहणा' जिनागममें आराधना दो प्रकारकी कही है ऐसा वचन है अतः संक्षेपसे आराधना कहनेके लिए भी इस शास्त्रका व्यापार नहीं है. संक्षेपसे विवेचन करनेका भी व्यापार आगममेंही है.

भावात्तत्र तयोरन्तर्भावनात् । तत एव चारित्रार्थस्य संक्षेपः । स हि संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहाय । स्वल्पस्योपन्यासो वचनार्थोभयभेदात्त्रेधा । श्लोकः

यत्राल्पोक्त्यानुयोगादिद्वारैरर्थः प्रपंच्यते ॥
संक्षेप उक्तः सोर्थस्य दिङ्मात्रोक्तिद्वयणुर्द्वयोः ॥

सम्मत्तम्मि तत्वश्रद्धानविषये इत्यर्थः । पढमा सम्यक्त्वाराधनायां सत्यामेव ज्ञानाराधनापूर्वकत्वेन चारित्राराधनायाः संभवात् ॥

क्या आराधनाके चार ही भेद हैं ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

हिंदी—जिनागममें संक्षेपसे आराधनाके दो भेद कहे हैं । एक सम्यक्त्वमें आराधना अर्थात् सम्यक्त्वाराधना तथा दूसरी चारित्रमें आराधना अर्थात् चारित्राराधना.

विशेष—आवरण व मोहको जीतनेसे अर्हत्परमेष्ठिको जिन कहते हैं. ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्मको जीतनेसे वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हुये हैं. मोहनीय कर्मको परास्त करनेसे वे रागद्वेष रहित हो चुके हैं. अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, रागद्वेष रहित ऐसे अर्हत्परमदेवके वचनको जिनवचन कहते हैं. जिनेश्वरके वचनमें असत्य वचनके कारण नहीं पाये जाते हैं अतः उनका वचन अर्थात् जिनागम प्रमाण है। वक्ता यदि अज्ञानी अथवा रागद्वेषयुक्त हो तो उससे निकला हुवा वचन असत्यवस्तुका वर्णन करनेवाला होनेसे प्रमाण नहीं है. प्रमाणरूप जिनागममें संक्षेपसे आराधनाके दो भेद कहे हैं. श्रद्धानको विषय करनेवाली पहिली आराधना है तथा दूसरी आराधना चारित्रको विषय करती है ।

दर्शनाराधना और चारित्राराधना को क्रमसे प्रथम तथा दूसरी आराधना ऐसे नाम उत्पत्ति की अपेक्षासे तथा गुणस्थानों की अपेक्षासे प्राप्त हुए हैं. आत्मा प्रथम सम्यग्दर्शन परिणामसे परिणत होता है तदनंतर उत्तरकालमें उसमें चारित्र परिणाम उत्पन्न होता है. अतः दर्शनाराधना प्रथम कही है. असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान प्रथम हो जाता है, नंतर प्रमत्तसंयतादिक गुणस्थान आत्माको प्राप्त होते हैं ऐसा कोई विद्वान् कहते हैं ।

श्रद्धान तथा विरति परिणामोंकी युगपत्कालमें—एकसमयमें भी उत्पत्ति होती है अर्थात् 'सम्यग्दर्शन और चारित्र परिणाम एककालमें भी उत्पन्न होते हैं. अथवा श्रद्धानवान् जीवको पश्चात् भी विरतिपरिणाम हो जाते हैं ।

थाराधितं ' रुचे ' भवेत् ' नियमा ' निश्चयेन । यस्य हि यद्विषया श्रद्धा तस्य कथंचिदप्यज्ञाने न सा भवति । न हि निर्विषया रुचिः प्रवर्तते । बुद्धिपरिगृहीतवस्तुविषया श्रद्धेत्यविनाभावः श्रद्धाया ज्ञानेन । अत्र परा व्याख्या—आत्मनो विषयाकारपरिणामवृत्तिर्ज्ञानं तदावरणक्षयोपशमजनितम् । भूम्यावरणापगमे तोयजन्मवत् । तद्गतविशुद्धिः प्रसन्नता अभिरुचिः श्रद्धा श्रुतिनिरूपितार्थविषया सत्यभावना दर्शनं । न च दर्शनमोहोपशमक्षयोपशमनिमित्त तोयाश्रयपंकाभावे जलप्रसादवत् । तस्मिन्नाराध्यमाने ज्ञानसिद्धिरवश्यंभाविनी निराश्रयधर्मस्य केवलसिद्ध्यभावादिति । तत्रेदं परीक्ष्यते, विषयाकारपरिणतिरात्मनो यदि स्याद्रूपरसगन्धस्पर्शात्मकता स्यात्तथा च—

' अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं '

इत्यनेन विरोधः । विरुद्धश्च नीलपीतादिपरिणामो नैकत्र युज्यते । एकदा आकारद्वयसंवेदनप्रसंगश्च । बाह्यस्यैकनीलादिविज्ञानगतमपरं विज्ञानागतविशुद्धिः प्रसन्नता अभिरुचिः श्रद्धेति वा समीचीनं गदितम् चैतन्यस्य धर्मः श्रद्धानम् । ननु ज्ञानस्य ज्ञानधर्मत्वे क्षायोपशमिकज्ञानविनाशे कथमवस्थितिर्दर्शनस्य । न हि धर्मिणि विनष्टे धर्मस्यावस्थितिः । चैतन्यमविनाशि तदाश्रयं तदिति चेत् ज्ञानस्य धर्मता नश्यति । किं च यो यस्य धर्मः स तस्य स्वरूपम् । न चान्यस्य धर्मिणो रूपं धर्मान्तरस्य प्रभवति । न हि बलाकायाः शुक्लता कुन्दकुसुमस्य कदाचन । एवं मतेः प्रसन्नता श्रुतादेर्न स्यात् । श्रुतादेर्वा प्रसन्नता मतेरिष्यते । एवं ज्ञानभेदे तद्गोचराया अपि प्रसत्तेर्भेद इति क्षायिकस्यां का वार्ता न तस्याः प्रसन्नायाः प्रादुर्भूतिः प्रलयो वा ।

न हि दर्शनमोहोदयं विना दर्शनस्याभावो युज्यते । यदि स्याद्दर्शनमोहनीयकल्पना अघटमाना भवेत् । अथ याथात्म्यविषया श्रद्धा आत्मनि प्रतिबंधकसद्भावान्नोदेति, तदपाये उद्गच्छति, यदि प्रतिबंधकारि किंचिन्न स्यात् । आत्मनि परिणामिनि सति किमिति । सदा न भवेत् ? अतत्परिणामत्वे नात्मनि कदाचिदपि भवेत् । तत् अनुभवसिद्धश्चासौ सहकारिकारणानामसान्निध्यादात्मा श्रद्धानरूपेण न परिणमते । न तु किंचित्प्रतिबंधकमस्येति चेत् किं तत्सहकारि यस्याभावादनुत्पत्तिः श्रद्धायाः । अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभावः सर्व एव तावंतरेण हेतुता प्रतिज्ञामात्रत एव कस्यचित्सा वस्तुचिंतायामनुपयोगिनीति प्रतिबंधकसद्भावानुमानमागमेऽभिमतं तावदसति न घटते । किंचित् श्रुतप्ररूपितार्थविषया सत्यभावनेति वा सर्वद्धम् । अवध्यादिनिरूपितार्थविषया सत्यभावना किं न दर्शनं ? अवध्यादिकमपि वस्तुयाथात्म्यसंस्पर्शि । अथ श्रुतग्रहणं समीचीनज्ञानोपयोगोपलक्षणमिति मन्यसे भवतु । अलमतिप्रसंगेन—

" सम्मत्तणाणदंसणवीरियसुहमं तहेव अवगहणं ॥
अगुरुलहुमव्वाबाहमट्ठगुणा होन्ति सिद्धाणं ॥ "

इत्यनेन च व्याख्या विरुध्यते । गुणान्तरत्वेन उपन्यासानुपपत्तेः । क्षायिकक्षायोपशमिकयोर्भेदोऽस्ति वा न वा ? यदि नास्ति भावपंचकनिरूपणाकारिणा आगमेन विरोधः । अथ अस्ति भेदपरिणामः ? परिणामान्तरस्य स्वरूपं न भवति । परिणामकर्दमस्य परिणामिस्वरूपता न्याय्या ॥ यौ भिन्नप्रतिबंधकापायजन्यौ, न तावन्योऽन्यस्य धर्मधर्मिणौ

यथा अवधिकेवले भिन्नप्रतिबंधकापायजन्ये, तथा न ज्ञानदर्शने ॥ ज्ञानाराधना चारित्राराधनेति द्वैविध्यं कस्मान्नोपन्यस्तं इत्यत्र चोद्ये प्रतिविधानायाह—

'णाणमाराधंतेण दंसणं होइ भयणिज्जं' ज्ञानशब्दः सामान्यवाची संशये, विपर्यासे, समीचीने च वृत्तः। संशयज्ञानं, विपर्यासज्ञानं, सम्यग्ज्ञानमिति प्रयोगदर्शनात्। तेन ज्ञाने परिणत आत्मा नियोगतस्तत्त्वश्रद्धाने विपरिणमत एवेति न नियोगोऽस्ति। मिथ्याज्ञानपरिणतस्य तत्त्वश्रद्धाया अभावात्। ततो ज्ञानस्य दर्शनाविनाभावित्वस्याभावात् न ज्ञानाराधनोक्त्या दर्शनाराधनावगंतुं शक्येति न तथा संक्षेपाभिधानमागमे प्रक्रांतमिति भावार्थः। 'णाण' ज्ञानं॥ 'आराधंतेण' आराधयता। 'दंसणं' दर्शनं। 'होदि' भवति। 'भयणिज्जं' भजनीयं विकल्प्यं। अत्र दंसणशब्देन दर्शनविषयमाराधनमुच्यते। ततोऽयमर्थः दर्शनाराधना भाज्येति भजनीयतया अविनाभावित्वाभावः सूचितः। सम्यग्ज्ञाने आराधिते भवत्याराधिता, मिथ्याज्ञानाराधनायां नेति भजनीयता॥ अथवा ज्ञानाराधना चारित्राराधनेति च शक्यते संक्षेप्तुं।

ननु यस्य येनाविनाभावस्तदुक्तौ तस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता अन्यान्यनोक्तौ शरावाद्यन्यतमपात्रमात्रप्रतिपत्तिवत्। इह पुनः सकथमित्याहः—

मूलारा॰ दंसणमित्यादि—दर्शनं हि श्रद्धानं तत्तु अज्ञाते वस्तुनि न स्यादित्यविनाभावः श्रद्धाया ज्ञानेन। ततः साधूक्तं सूत्रे तत्वश्रद्धानाराधनायां सम्यग्ज्ञानमाराधितमवश्यं स्यादिति। आराहंतेण आराधयता उद्योतनाद्यतिशयेषु वर्तयता। अथ ज्ञानाराधना चारित्राराधना चेति द्वैविध्यं कस्मान्नोपन्यस्तं सूत्रे इत्यत्राह—णाणमित्यादि। ज्ञानमत्र सामान्यं। दंसणं दर्शनविषयाराधना, भयणिज्जं विकल्प्यं। इदमत्र। तात्पर्यं—सम्यग्ज्ञाने आराधिते सति सम्यक्त्वमाराधितं भवति न मिथ्याज्ञाने इत्यविनाभावाभावात् ज्ञानाराधनायां दर्शनाराधना भाज्या। ननु तर्हि सम्यग्ज्ञानाराधनोक्तौ सम्यक्त्वाराधना बोधयितुं शक्यते इति सा कस्मान्नोच्यते इति चेत् ज्ञानस्य सम्यगिति व्यपदेशे सम्यक्त्वमुखप्रेक्षितया प्राधान्याभावात्॥

हिंदी—सम्यग्दर्शनकी आराधना करने वाले नियमसे ज्ञानाराधना करते है. परंतु ज्ञानाराधना करने वालेको दर्शनकी आराधना होती है अथवा नहीं.

विशेष—आचार्यने दर्शनाराधनाका वर्णन किया है इससे ही ज्ञानाराधनका भी ग्रहण हो जाता है। जैसे

किसी मनुष्यको अग्नि लानेके लिये आज्ञा की तो वह सरावमें बिना कहे भी अग्नि लाता है. सरावमें अग्नि लावो ऐसा कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती है. आधारके बिना अग्नि नहीं लासकते अतः पात्र लेकर अग्नि लावो ऐसा नहीं कहने पर भी पात्रका बोध हो ही जाता है। परंतु सम्यग्दर्शनकी आराधना करने वालेको ज्ञानकी भी आराधना कैसे होगी यह समझमें नहीं आता है. इस शंकाका उत्तर यह है कि, सम्यग्दर्शन और ज्ञान इन दोनोंमें अविनाभाव संबंध है अर्थात् सम्यग्दर्शनकी जो व्यक्ति आराधना करेगी वह जरूर ज्ञानाराधक होती ही है.

यहां कोई आचार्य इस गाथाका संबंध ऐसा जुडानेका प्रयत्न करते है. यदि दो प्रकारकी आराधना कहते हो तो ' चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्ताः सिद्धाः ' 'चार प्रकारकी आराधनाओंका फल सिद्धोंको प्राप्त हुवा है ' यह प्रतिज्ञा नष्ट होती है. क्योंकि आपने दर्शनाराधना और चारित्राराधना ऐसी दोही आराधनायें कही हैं. और प्रथम गाथामें सिद्ध परमेष्ठीको चार आराधनाओंका फल प्राप्त हुआ ऐसी आपने प्रतिज्ञा की है. वह चरितार्थ नहीं होती यह दोष अर्थात् प्रतिज्ञाहानि नामका दोष यहां आता है. इसका उत्तर—आराधनाके दो भेद माननेसे भी दोष नहीं है. क्योंकि हमने दर्शनाराधना तथा चारित्राराधनामें क्रमसे ज्ञानाराधना और तप आराधनाका संग्रह किया है. अतः हमारी प्रतिज्ञा नष्ट नही होती है. प्रतिज्ञा शब्दसे आपका क्या अभिमत है ? यदि साध्यका वर्णन करना यह प्रतिज्ञा है ऐसा कहोगे तो यह योग्य नहीं है. चार प्रकारके आराधनाओंका फल सिद्ध परमेष्ठिओंको प्राप्त हुआ है यह बात यहां साध्यरूप नहीं है. क्योंकि, जो असिद्ध है वह वस्तु साध्य मानी जाती है. सिद्धोंको चार आराधनाओंका फल प्राप्त हुवा है यही बात किसे आचार्यने यहां कही है. यदि चार आराधनाओंका फल सिद्धोंको प्राप्त हो गया है ऐसा मानना यह प्रतिज्ञा है ऐसा कहोगे तो यह क्या युक्ति संगत नहीं है ? चार आराधनाओंका फल उनको प्राप्त हुवा है यह मान्य करने योग्य है इसको नाकबूल करना कैसा योग्य होगा ?

पूर्व गाथामें आराधनाके चार भेद कहे हैं अब यहां उसके दो भेद आप कहते हैं यह पूर्वापर विरुद्ध नामका दोष हुवा. इसका उत्तर यह है कि, संक्षपसे आराधनाके दो भेद हैं व विस्तृत वर्णनकी अपेक्षासे चार भेद होते हैं अतः इसमें कौनसा विरोध है ? अतः यह गाथा विरोधपरिहार करनेके लिए आचार्यने रची है ऐसा समझो.

सम्यग्दर्शनकी आराधना करनेसे सम्यग्ज्ञानका आराधन अवश्य होता है. जिस पुरुषको जिस विषयकी

श्रद्धा होती है उसको यदि उस विषयमें किसी प्रकारसे अज्ञान होगा तो श्रद्धा नहीं होगी. श्रद्धा रुचि अविषयमें नहीं होती. अर्थात् पदार्थका स्वरूप समझ लेनेपर उसमें मनुष्यको श्रद्धा उत्पन्न होती है. बुद्धीके द्वारा जिस वस्तुको जान लिया वह वस्तु श्रद्धाका विषय होती है. अतः श्रद्धाका ज्ञानसे अविनाभाव है ऐसा समझना चाहिए.

इस गाथापर दुसरी व्याख्या है वह इस प्रकार है—आत्माका पदार्थाकार परिणमन होना यह ज्ञान है. जैसे भूमीका आवरण हट जानेसे पानी उत्पन्न होता है. वैसा ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम हो जानेसे ज्ञान उपजता है. ज्ञानमें जो विशुद्धि, प्रसन्नपना, अभिरुचि रहती है उसको श्रध्दा–सम्यग्दर्शन कहते हैं. यह आगममें कहे हुए पदार्थोंको विषय करता है. अर्थात् आगम कथित पदार्थ सत्य है ऐसी भावनाको सम्यग्दर्शन कहते हैं. जैसे तलाव में कीचड नष्ट होनेसे पानीमें स्वच्छता दीखती है. वैसे दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम, क्षय, वा क्षयोपशम होनेसे जो ज्ञानमें निर्मलता उत्पन्न होती है उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं. ऐसे सम्यग्दर्शनकी आराधना करनेसे अवश्य ज्ञान प्राप्ति हो जायगी. जिसका आधार नहीं होगा उसकी सिद्धि नहीं होती है. दर्शन ज्ञानका धर्म है. ज्ञान उसका आश्रय है.

उपर्युक्त विवेचनका आचार्य खंडन करते हैं—

यदि ज्ञान विषयके आकारसे परिणमेगा तो वह स्पर्श, रस गंध वर्णात्मक होगा. ऐसी अवस्था हो जानेपर

" ज्ञान रस, रूप, गंध रहित है. वह दृष्टि गोचर नहीं होता अर्थात् अमूर्तिक है. शब्द रहित तथा आत्माका गुण है " ऐसा आगममें ज्ञानका वर्णन किया है, वह विरुद्ध होगा. तथा एक पदार्थमें विरुद्ध ऐसे नील व पीत परिणाम नहीं रह सकते हैं. एक समयमें दो आकारोंका अनुभव आवेगा. एक बाह्य पदार्थका आकार व दूसरा ज्ञानाकार ऐसे दो आकारोंका संवेदन होगा.

ज्ञानमें जो निर्मलता, प्रसन्नता अभिरुचि है उसको श्रद्धा कहना यह भी अयुक्त है. क्योंकि, श्रद्धा चैतन्यका धर्म है, वह ज्ञानका धर्म नहीं है. यदि ज्ञानका धर्म कहोगे तो क्षायोपशमिक ज्ञानका नाश हो जाने पर श्रद्धाका–सम्यग्दर्शनका भी नाश मानना पडेगा. धर्मीका नाश हो जानेसे धर्मका नाश होना अनिवार्य है. चैतन्य विनाश रहित है और सम्यग्दर्शन उसके आश्रयसे रहता है ऐसा यदि मानोगे तो वह ज्ञानका धर्म है ऐसा आपका कहना व्यर्थ है.

जो जिसका धर्म होता है वह उसी वस्तुका स्वरूप है ऐसा समझना चाहिये. एक वस्तुका धर्म उस वस्तुसे भिन्न ऐसे अन्य वस्तुका धर्म नहीं हो सकता. बगुलाका सफेदपना कुंद पुष्पका नहीं होता है. इसी तरहसे मतिज्ञानकी प्रसन्नता उसकीही होती है वह श्रुतादि ज्ञानकी नहीं होती है. श्रुतादि ज्ञानकी प्रसन्नता मतिज्ञानकी नहीं होती है. अतः ज्ञानमें भिन्नता होनेसे उनमें रहनेवाली प्रसन्नतायें भी भिन्न भिन्नही माननी पडेगी. सम्यग्दर्शन क्षायोपशमका धर्म मानोगे तो क्षायिक सम्यग्दर्शनकी सिद्धि नहीं होगी वह नया न उत्पन्न होगा न विनाश पावेगा.

दर्शनमोहनीय कर्मके उदय विना सम्यग्दर्शनका अभाव नहीं होता है, यदि होगा तो दर्शनमोहनीय कर्मकी कल्पना व्यर्थ हो जाती है.

पदार्थके यथार्थ विषयपर जो श्रद्धा होती है उसको सम्यग्दर्शन कहते है. वह प्रतिबंधक कारण उपस्थित होने पर उत्पन्न नहीं होता है. यदि उसका विनाश हो तो वह उत्पन्न होता है. यदि प्रतिबंधक कारण कोइ न होगा और आत्मा सदा परिणमनयुक्त है ऐसा कहोगे तो सम्यग्दर्शन हमेशा क्यों न उत्पन्न होता है? यदि आत्मा परिणमनशील नाहीं है तो कभी भी आत्मामें सम्यग्दर्शन न होगा. अतः सहकारिकारणोंका सानिध्य न होनेसे आत्मा सम्यग्दर्शनरूप परिणत नहीं होता है. उसको जगतमें कोई भी प्रतिबंधक कारण नहीं है ऐसा यदि कहोगे तो यह युक्ति संगत नहीं है. ऐसा कोनसा सहकारिकारण है कि जिसके न होनेसे श्रद्धाकी उत्पत्ति नहीं होती है? अर्थात् जिस सहकारिकारणके सद्भावसे श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा जिसके न होनेसे उत्पन्न नहीं होती ऐसा कोनसा सहकारिकारण है? जगतमें पदार्थका संपूर्ण कार्यकारणभाव अन्वय व्यतिरेकसे जाना जाता है. अन्वयव्यतिरेकके विना कोई पदार्थ किसीका कारण मानना केवल प्रतिज्ञामात्र ही है. ऐसी प्रतिज्ञा वस्तुके विचार सनयमें कुछ भी उपयोगी नहीं है.

आगममें प्रतिबंधक कारणसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है ऐसा खुलासा है. जैसे सहकारिकारण नहीं होनेसे कार्यसिद्धि नहीं होती वैसे प्रतिबंधकका सद्भाव होनेसे भी कार्य होता नहीं. सहकारिकारण होते हुए प्रतिबंधककारणोंका अभाव होगा तो कार्य उत्पन्न होता है अन्यथा नहीं होगा. अतः प्रतिबंधकके सद्भावमें कार्य नहीं होता है यह मानना पडेगा.

श्रुतज्ञानसे जाने गये पदार्थोपर ये पदार्थ सत्य है ऐसी श्रद्धा होना उसको ही सम्यग्दर्शन कहते है ऐसा

समझना भी अयोग्य है. क्योंकि अवध्यादिज्ञानसे जाने गए पदार्थोंपर सत्यभावना होती है उसको भी सम्यग्दर्शन मानना चाहिये. अवधिज्ञान, मनः पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान भी वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ही जानते हैं अतः वहां जो सत्यभावना होती है वह भी सम्यग्दर्शन है ऐसा मानना चाहिये. यदि ' श्रुत शब्दसे ' सर्व प्रकारके सम्यग्ज्ञानका ग्रहण होता है क्योंकि यहां श्रुत शब्द; उपलक्षण वाची है. ऐसा कहोगे तो योग्य ही है. अतः अब इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है.

सम्मत्तणाण दंसण इस गाथामें सिद्धोंके आठ गुणोंके नाम बताये है. उसमें सम्यक्त्व गुण प्रथम लिखा है परंतु आप तो सम्यग्ज्ञानका धर्म बता रहे हैं. अतः सम्यग्दर्शन आपके मतसे गुण नहीं है यह सिद्ध होता नहीं. अतः आपका कहना इस गाथाके विरुध्द है.

क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन इसमें आप भिन्नता मानते हैं या नहीं ? यदि भेद नहीं है तो पांच भावोंका वर्णन करने वाले आगमसे आपका कहना विरुद्ध होता है. यदि भेद मानोगे तो एक परिणाम दुसरे परिणामका स्वरूप नहीं होता यह कबूल करना पडेगा. अर्थात् क्षायिक परिणाम और क्षायोपशमिक परिणाम परस्पर एक दुसरेके स्वरूप हो नहीं सकते. जितने परिणाम है वे परिणामीका स्वरूप होते है यह मानना न्यायसंगत है. अर्थात् जीव परिणामी है तथा उसके ज्ञानादिक गुण परिणाम है. परंतु ज्ञानको परिणामी मानकर सम्यग्दर्शनको उसका परिणाम स्वरूप मानना अन्याय्य है.

जो परिणाम भिन्न भिन्न प्रतिबंधक कारण नष्ट होनेसे उत्पन्न होते हैं वे अन्योन्य धर्मि धर्मताको नहीं प्राप्त होते है. जैसे अवधि ज्ञान व केवल ज्ञान ये दोन ज्ञान अपने अपने प्रतिबंधक कारणोंका अभाव होनेसे उत्पन्न होते हैं अतः उनका अन्योन्य धर्म धर्मिभाव नहीं है वैसे ज्ञान और सम्यग्दर्शनमें धर्म धर्मिभाव नहीं है.

ज्ञानाराधना और चारित्राराधना ऐसी दो आराधना क्यों नहीं मानी है. ऐसे प्रश्नपर आचार्यका यह उत्तर है—
" ज्ञानकी आराधना करने वालेको सम्यग्दर्शन आराधना होती है नहीं भी होती है. "

यहांपर ज्ञानशब्द सामान्यवाचक भी है और संशय, विपर्यय तथा सम्यग्ज्ञानवाचक भी है. अर्थात् संशय ज्ञान, विपर्यय ज्ञान, सम्यग्ज्ञान ऐसे ज्ञानके भेद देखे जाते है. अतः ज्ञानमें परिणत हुआ आत्मा निश्चयसे तत्त्व श्रद्धानमें परिणत होगा ऐसा नियम नहीं है. क्योंकि वह मिथ्याज्ञानपरिणत हो तो उसमें तत्त्वश्रध्दाका अभाव

रहेगा. इसवास्ते ज्ञान दर्शनका अविनाभावी है ऐसा सिद्ध नहीं होता. ज्ञानाराधनमें दर्शनाराधनाका स्वरूप नहीं जाना जाता है. इसलिए ज्ञानाराधनामें सम्यग्दर्शनाराधना अन्तर्भूत नहीं होती है ऐसा आगममें कहा है.

सम्यग्ज्ञानकी आराधनाके साथ सम्यक्त्वाराधनाका अविनाभाव है. परंतु मिथ्याज्ञानकी आराधनाके साथ सम्यक्त्वाराधना नहीं रहती है. अतः वह भजनीय है ऐसा आचार्योंने युक्तियुक्त कहा है. सम्यग्ज्ञानके साथ अवश्य सम्यग्दर्शन रहता है अतः सम्यग्ज्ञानमें सम्यग्दर्शनाराधना क्यों अन्तर्भूत नहीं की गई है इसका उत्तर ऐसा है— ज्ञानको समीचीनपना प्राप्त होनेमें सम्यग्दर्शन ही कारण है अतः उसकी मुख्यता होनेसे सम्यग्दर्शनाराधना तथा चारित्राराधना ऐसे आराधनाके संक्षेपसे दो भेद किये हैं.

ननु च ज्ञानमंतरेणापि दर्शनं वर्तते, यतो मिथ्यादृष्टिरपि ज्ञानस्याराधको भवति। अतो ऽविनाभावाभाव इत्यत आह—

सुद्धणया पुण णाणं मिच्छादिट्ठिस्स वेंति अण्णाणं।

तम्हा मिच्छादिट्ठी णाणस्साराहवो णेव ॥ ५ ॥

विजयोदया—सुद्धनयाः पुनः। अनंतधर्मात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमधर्मपरिच्छेदहेतुरविनाभाविधर्मप्रत्यक्षप्रसूतो नयः। तथा चोक्तम्। "उपात्तिवस्त्वर्थपरिच्छेदको नय" इति॥ शुद्धो नयो येषां ते शुद्धनयाः। निरपेक्षनयनिरासाय शुद्धविशेषणम्। नित्यमेव सर्वथा क्षणिकमेवेति ये परिच्छेदास्ते विपर्यासरूपास्तथाविधस्य प्रतिपक्षधर्मानपेक्षस्य वस्तुनि रूपस्याभावात्। सर्वथैकं नित्यं क्षणिकत्वरूपेण दर्शयतः प्रत्ययस्य अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं भ्रान्तमिति भ्रान्तता। तद्दोषरहितता शुद्धता। यथा द्रि-रुपकत्वेन अनित्यतामेव वस्तुनः प्रत्येति ज्ञानं न तत्सर्वथा वस्त्वनित्यं, नित्यानित्यात्मकत्वात्सकलस्य। यदि हि नित्यमेव स्यात् क्रियमाणतानुरूपहेतुकर्तृत्वेनायुक्ततास्य स्यादतो नित्यं भवत्येव च न भवतीति द्रव्यप्रतिपत्तयः॥ शुद्धा नया येषां प्रतिपत्तॄणां ते शुद्धनयाः। पुण पुनः। णाणं ज्ञानमित्यभिमतं परस्य। मिच्छादिट्ठिस्स मिथ्यादृष्टेः। वेंति ब्रुवते। अण्णाणं अज्ञानं इति। न ज्ञानशब्दः सामान्यवाची किंतु यथार्थप्रतिपत्तिरेव ज्ञानशब्दाभिधेयेति। ज्ञायते मन्यते अर्थः परिच्छिद्यते येन तज्ज्ञानं। वस्त्वन्यभूतं च रूपमादर्शयता नार्थः परिच्छिद्यते तस्मान्न मिथ्याज्ञानं ज्ञानशब्दस्यार्थः, तदज्ञानमित्येव प्राप्तम्॥ ननु च—

" गदि इंदिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य ॥
संजमदंसणलेस्सा भविया सम्मत्तसण्णि आहारे ॥ "

इत्यत्र ज्ञानशब्दः सामान्यवाची,सत्यं, ज्ञातिर्ज्ञानमिति व्युत्पत्तौ सा निरूपणा सामान्यशब्द इति॥ तम्हा तस्मात्।
मिच्छादिट्ठी तत्त्वश्रद्धानरहितः। णाणस्साराधको ण होदित्ति पदघटना। ज्ञानं नाराधयतीत्यर्थः॥
अत्रापरा व्याख्या—यदुक्तं अज्ञाने दर्शनाभाव इति किं, तद्ज्ञानं कस्य भवतीति? तत इदं सूत्रं इति। तदति-
पेलवं। किं तद्ज्ञानमित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं न सूत्रेऽस्ति। मिथ्याज्ञानलक्षणप्रतिपादनपरमिथ्यादृष्टिसंबंधिज्ञानत्वमेव
अज्ञानलक्षणमित्युभयोरपि प्रतिवचनमिति विकल्प्यते। एवमपि 'तम्हा न मिच्छदिट्ठि' इति सूत्रे मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानस्याराध-
कत्वाभावमेव सूत्रकार उपसंहरति। तत्परित्यज्यासूत्रितमुपादेयमिति केयं स्वतंत्रता।

ननु च ज्ञानमंतरेणापि दर्शनं वर्तते यतो मिथ्यादृष्टिरपि ज्ञानस्याराधको भवति। गतानुगतिकत्वेन लोकानां श्रद्धामात्रेणैव प्रवृत्तिप्रतीतेरतो ज्ञानेन दर्शनस्याविनाभावाभावः इत्यत्राह—

मूलारा०—सुद्धणया। अनंतधर्मात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमधर्मपरिच्छेदस्तदविनाभाविधर्मपरिच्छेदबलप्रसूतो नयः। शुद्धाः प्रतिपक्षसापेक्षतया निर्दोषा नया येषां प्रमातॄणां ते शुद्धनयास्तीर्थकरदेवादयः। पुण यस्मात्। णाणं परस्याराध्यतया इष्टं ज्ञानं। वेंति ब्रुवते। आण्णाणं ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तज्ज्ञानं। न ज्ञानमज्ञानं अयथार्थपरिच्छेदकं मिथ्येत्यर्थः।

ज्ञानके विना भी सम्यग्दर्शन होता है क्यों कि मिथ्यादृष्टि भी ज्ञानके आराधक देखे गये हैं. अतः ज्ञान के साथ दर्शनका अविनाभाव नहीं है. इस आक्षेपका उत्तर आचार्य कहते है—

हिंदी अर्थः—वस्तु अनंत धर्मात्मक है अर्थात् वस्तुमें एकत्व, अनेकत्व, नित्यपना, अनित्यपना, अस्तित्व नास्तित्व, प्रमेयत्व वगैरह अनंत धर्म है. अतः वस्तुको अनंत धर्मात्मक कहते हैं. ऐसे वस्तुमेंसे किसी एक धर्मको जो मुख्यतासे जानता है तथा उससे भिन्न अविनाभावी धर्मको जो गौण समझता है ऐसा जो ज्ञान उसको नय कहते हैं. 'उपपत्तिबलादर्थपरिच्छेदो नय इति' अर्थात् युक्तीके आश्रयसे पदार्थको जान लेना उसको नय कहते हैं ऐसा पूर्वाचार्योंने कहा है. वस्तुके एक धर्मकोही वस्तु समझनेवाला तथा वस्तुके अन्य धर्मकी जो अपेक्षा रखता नहीं ऐसे ज्ञानको मिथ्यानय कहते हैं. जैसे वस्तु सर्वथा क्षणिकही है. सर्वथा नित्यही है, एकही है इत्यादि रूपसे वस्तुका प्रतिपादन करनेवाला ज्ञान मिथ्यानयरूप है. इस मिथ्या नयका निरसन करनेके लिए आचार्यने गाथामें 'सुद्ध णया' ऐसा शब्द रख दिया है. मिथ्यानय प्रतिपक्षरूप धर्मकी अपेक्षा नहीं करते है. अर्थात् वस्तुका सर्वथा

एकांत रूपसे विवेचन करते हैं. परंतु प्रतिपक्ष धर्मकी अपेक्षा न करनेवाला ऐसा वस्तुका स्वरूपही नहीं बन सकता. अर्थात् परस्पर प्रतिपक्षी धर्मोंसे वस्तु सदाही युक्त रहती है. जैसे वस्तुमें एकत्व धर्म रहता है उसी तरह अनेकत्व भी धर्म रहता है. जैसे अस्तित्व धर्म वस्तुमें विद्यमान है वैसे नास्तित्व धर्मभी विद्यमान है. अतएव वस्तु इन दोनो विरुद्ध धर्मोंको अपनेमें स्थान देती हुई अपनी अनंत धर्मात्मकता जाहीर करती है. इस तरह वस्तुमें सापेक्षता है. परंतु जो ज्ञान सापेक्ष वस्तुको निरपेक्षरूप बताता है वह ज्ञान भ्रांत है. जैसे देवदत्तको जो कि जिनदत्तरूप नहीं है जिनदत्त समझना. ऐसी भ्रांतता मिथ्यानयमें रहती है. सच्चे सापेक्षनयमें नहीं रहती है. अतः उसको शुद्ध नय कहते हैं। मिथ्यानय वस्तुमें कृतकता धर्म दीखने पर उसको सर्वथा अनित्य ही मानने लगता है परंतु वस्तु सर्वथा अनित्य नही है किंतु नित्यानित्यात्मक है. यदि सर्वथा वस्तु नित्यही होती तो उससें जो कार्य करना हो उसको अनुकूल कारण प्राप्त करनेका प्रयत्न व्यर्थ होगा. क्योंकि,कारणोंकी प्राप्ति होनेपर भी वस्तु पूर्वरूप छोडकर कार्यरूपता धारण नहीं करेगी अतः वस्तु सर्वथा नित्य भी नहीं है। वस्तु नित्यानित्य है ऐसा अनुभवही योग्य है.

इस विवेचनका अभिप्राय यह है कि, साक्षात् वस्तुका अनुभव करा देनेवाले शुध्दनय जिनके है ऐसे तीर्थंकरादिक महापुरुष मिथ्यादृष्टि लोगोंके ज्ञानको अज्ञान कहते हैं. क्योंकि मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान वस्तुका यथार्थ स्वरूप नहीं दिखाता है. इस वास्ते वह ' ज्ञान ' इस नामको अपात्र है. उसको अज्ञान ही कहना चाहिये. यद्यपि ज्ञान शब्द सामान्यवाची होनेसे यथार्थ अयथार्थ रूप दोनों ज्ञानोंको ज्ञान कह सकते हैं तथापि मिथ्यादृष्टीका जो ज्ञान है वह अयथार्थ स्वरूपको दिखानेवाला होनेसे उसके लिए प्रयुक्त ज्ञान शब्दका अर्थ अज्ञान ऐसा ही करना चाहिये.

यहां शकाकार ऐसा कहता है–' गइ इंदिये च काये ' इस गाथामें जो ज्ञान शब्द है उसका क्या अभिप्राय है ? क्या उसको सामान्य शब्द कहते है ?

उत्तर—यहां ज्ञान शब्द की ' ज्ञातिर्ज्ञानम् ' ऐसी निरुक्ति है. यहां पदार्थको जानना ऐसा सामान्य अर्थ अभिमत है. मिथ्या या सच्चे ज्ञान की विवक्षा यहां नहीं है.

जो मिथ्यादृष्टि है वह तत्व श्रध्दानरहित होनेसे सम्यग्ज्ञानका आराधक नहीं है. ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

इस गाथापर कोइ विद्वान् ऐसी व्याख्या लिखते है. पिछलेके गाथामें ' अज्ञान होनेसे दर्शनाराधनाका अभाव होता है, ऐसा जो कहा है वह अज्ञान क्या चीज है तथा वह किसको होता है? ऐसे प्रश्नका उत्तर देनेकेलिये ' सुध्दणया पुण णाणं ' यह गाथा आचार्यने रची है ऐसा कोई विद्वान् कहते है. परंतु यह उनका कहना युक्तिशून्य है. ' वह अज्ञान क्या चीज है, इस प्रश्नका मिथ्याज्ञानका लक्षण कहनेवाला उत्तर उपर्युक्त सूत्रमें आचार्यने नहीं दिया है. मिथ्यादृष्टिका जो ज्ञान है वही अज्ञान लक्षण है ऐसा दोनों प्रश्नोंका उत्तर आचार्यने दिया है ऐसी आपने कल्पना की है. ' तम्हा ण मिच्छदिट्ठी ' इस सूत्रमें मिथ्यादृष्टिजन ज्ञानके आराधक नहीं होते है इस अभिप्रायका ही उपसंहार किया है ऐसा समझना चाहिए, परंतु वह अभिप्राय छोड करके सूत्रमें न दिखाया हुवा अभिप्राय समझ लेना अयोग्य है.

चारित्राराधना कथ्यते । चतुर्थ्या आराधनायाः प्रतिपत्तिक्रमं दर्शयन्नाह—

संयममाराहंतेण तवो आराहिओ हवे णियमा ॥

आराहंतेण तवं चारित्तं होइ भयणिज्जं ॥ ६ ॥

विजयोदया–संयममाराहंतेण संयम इत्यनेन शब्देन इह चारित्रमित्युच्यते । कर्मादाननिमित्तक्रियाभ्य उपरमः संयमः । स च चारित्रं । तथा चाभ्यधायि–' कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमो ज्ञानवतश्चारित्रमिति '। संजमं चारित्रं आराधंतेण आराधयता । तवो तपः । आराधिदो आराधितं । हवे भवेत् । णियमा अवश्यमेव । कथं? इह अनशनं नाम अशनत्यागः । स च त्रिप्रकारः । मनसा भुंजे, भोजयामि, भोजने व्यापृतस्यानुमतिं करोमि । भुंजे, भुंक्ष्व, पचनं कुर्विति वचसा । तथा चतुर्विधस्याहारस्याभिसंधिपूर्वकं कायेनादानं, हस्तसंज्ञायाः प्रवर्तनं अनुमतिसूचनं कायेन । एतासां मनोवाक्कायक्रियाणां कर्मोपादानकारणानां त्यागोऽनशनम् चारित्रमेव । योगत्रयेण तृप्तिकारिण्यां भुजिक्रियायां दर्पवाहिन्यां निराकृतिः अवमोदर्यम् । तथा आहारसंज्ञाया जयो वृत्तिपरिसंख्यानं । रसगोचरगार्ध्यत्यजनं त्रिधा रसपरित्यागः । कायसुखाभिलाषत्यजनं कायक्लेशः । चित्तव्याकुलतापराजयो विविक्तशयनासनं । स्वकृतापराधगूहनत्यजनं आलोचना । स्वकृतादशुभयोगात्प्रतिनिवृत्तिः प्रतिक्रमणं । तदुभयोज्झनं उभयं । येन यत्र वा अशुभोपयोगोऽभूत्तन्निराक्रिया, ततो परासनं विवेकः । देहे ममत्वनिरासः कायोत्सर्गः । तपोऽनशनादिकं यथा भवति चारित्रं तथोक्तमेव । असंयमजुगुप्सार्थमेव प्रव्रज्याहापनं छेदः । मूलं पुनश्चारित्रादानं । ज्ञानदर्शनचारित्रतपसामतीचारा अशुभक्रियाः । तासामपोहनं विनयः, चारित्रस्य कारणानुमननं वैयावृत्त्यं ॥

एवं स्वाध्यायो ध्यानं च अविरतिप्रमादकषायत्यजनरूपतया । इत्थं चारित्राराधनयोक्तया प्रत्येतुं शक्या तपस आराधना । अशनादिकं यदि नाम त्यक्तं न नियोगतोऽविरतिः प्रत्याख्याता भवति । कृताशनत्यागा अपि दृश्यंते असंयता इत्येतच्चेतसि कृत्वाह—आराधंतेणेति—आराधंतेण आराधयता । तवं तपः । चारित्तं चारित्रं सकलविरतियोगः । होदि भवति । भयणिज्जं भजनीयं । तपस्युद्यतः करोति वा न वा असंयमपरिहारं इति यावत् । अत्रान्येषां व्याख्या—चारित्राराधनायां तपस आराधनायाः सिद्धिरवश्यंभाविनीत्युक्तं तत्कथं ? तदिदं संयममाराधंतेणेत्यादि एवं सूत्रोपोद्धातः कृतः स नोपपद्यते । चारित्राराधनायां तपस आराधनायाः सिद्धिर्भवतीति नोक्तं कचित्सूत्रकारेण तत्किमुच्यते उक्तमिति ? 'विदियाय हवे चरित्तम्मि' ति वचनोक्तमिति चेन्न अशब्दार्थत्वात् । शब्देन हि यत्प्रतीयते तदुक्तमिति युक्तं वक्तुं । अपि च भवतु तेनोक्तं इह तेदयोक्तं किमिति पुनरुपन्यस्यते ? तत्कथमिति वा युक्तं । सूत्रे चारित्रसिद्धावितरसिद्धिक्रमस्यानुपन्यासात् ॥ प्रतिज्ञामात्राद्धिप्रतिपक्षो न प्रतिपद्यते इति युक्तिप्रश्नोऽयं स कथं युज्यते व्याख्यांतरसूचिते प्रतिविधाने । यच्च व्याख्याने "त्रयोदशात्मके चारित्रे सर्वथा प्रयतनं संयमः स च बाह्यतपःसंस्कारिताभ्यंतरतपसा विना न संभवति । तदुपकृतात्मकत्वात्संयमस्वरूपस्येति" तदप्यस्मानं । न हि प्रयतनं संयमशब्दस्यार्थः । कचिदपि संयमशब्दस्य तत्राप्रयुक्तत्वात् । प्रयोगानुवृत्तिसमधिगम्यो हि शब्दार्थः । 'विदिया य हवे चरित्तम्मि' इति सूत्रे चारित्रशब्देन सामान्यवाचिना सकलचारित्रमिति किमर्थं विशेषेणोच्यते ? सर्वस्य हि सामायिकादेश्चारित्रस्याराधना चारित्राराधना भवति । तथाहि-' पंडिदपंडिदमरणे गीणकसाया मरंति केवलिणो, इत्यन्ये यथाख्यातचारित्राराधनामपि वक्ष्यति । संस्कारिताभ्यंतरतपसा इति या असंबद्धं । अंतरेणापि बाह्यतपोऽनुष्ठानं अंतर्मुहूर्तमात्रेणाधिगतरत्नत्रयाणां भद्दणराजप्रभृतीनां पुरुदेवस्य भगवतः शिष्याणां निर्वाणगमनमागमे प्रतीतमेव ॥

इदानीं चारित्राराधनोक्तौ तप आराधनायाः प्रतिपत्तिक्रमं गाथाद्वयेन दर्शयति ॥

मूलारा–संजमं । संमतान्मनोवाक्कायैः पापादाननिमित्तक्रियाभ्यो यमनमुपरमः संयमस्तं चारित्रमित्यर्थः । तवो–रत्नत्रयाविर्भावार्थमिच्छानिरोधस्तपोऽनशनादिकं, तदाराधना चाविरतिप्रमादकषायत्यजनरूपतया चारित्राराधनाभिधाने सति प्रतीयत एव । चारित्तं चारित्रं सकलविरतित्यागः । भयणिज्जं तपस्युद्यतः करोति वा न वा असंयमत्यागं । कृताशनादि त्यागानामपि कचित्कदाचिदसंयतत्वदर्शनात् ॥

अब चारित्राराधना कहते है–इस आराधनामें चतुर्थ आराधनाका–तप आराधनाका ग्रहण कैसा हो जाता है उसका क्रम दिखाते है.

हिंदी अर्थ—जिन्होंके द्वारा कर्मका ग्रहण होता है ऐसे मन, वचन व शरीरके द्वारा होनेवाली क्रियाओंका त्याग-परिहार करना उनको चारित्र कहते हैं। प्रस्तुत गाथामें जो संयम शब्द है वह चारित्रका वाचक है। अन्य आचार्योंने भी चारित्रका लक्षण 'कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमो ज्ञानवतश्चारित्रं, इति' ऐसा कहा है. इसका भी अभिप्राय ऊपरके समानही है। जो चारित्रकी आराधना करते हैं उनको नियमसे-अवश्य तपकी भी आरधना हो जाती है। इस आराधनाका स्वरूप निम्नप्रकारसे समझना चाहिये।—

अनशन—चार प्रकारके आहारोंका त्याग करना इसको अनशन कहते हैं। यह अनशन तीन प्रकारका है। मैं भोजन करूं, भोजन कराउ, भोजन करनेवालेको अनुमति देउ इस तरह मनमें संकल्प करना. मैं आहार लेता हूं, तूं भोजन कर, तुम पकाओ ऐसा बोलना. चार प्रकारके आहारको संकल्पपूर्वक शरीरसे ग्रहण करना. हाथसे इशारा करके दूसरोंको ग्रहण करनेमें प्रवृत्त करना. आहार ग्रहण करनेके कार्यमें शरीरसे सम्मति देना ऐसी जो मन, वचन, कायकी कर्मग्रहण करनेमें निमित्त होनेवाली क्रियायें उनका त्याग करना उसको अनशन कहते हैं. यह चारित्र ही है. तृप्ति करनेवाला, दर्प उत्पन्न करनेवाला ऐसा जो आहार उसका मन, वचन, कायके तीन योगोंमे त्याग करना अवमोदर्य है. अर्थात् स्वयं पेट पूर्ण भरेगा इतना आहार मैं ग्रहण करूंगा, कराऊंगा, करनेवालेको सम्मति प्रदान करूंगा ऐसे मन वचन शरीरके संकल्पका त्याग करना इसको अवमोदर्य कहते हैं. आहारकी अभिलाषाको जीतना-इतने घरोंमें, गल्लीमें आहार मिलेगा तो लेऊंगा इत्यादि प्रतिज्ञा करके आहाराभिलाषाको जीतना इसको वृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं. रसविषयकी लंपटताको मन वचन शरीरके संकल्पसे त्यागना रसपरित्याग नामका तप है. शरीरको सुख मिले ऐसी भावनाको त्यागना कायक्लेश तप है. चित्तमें उत्पन्न हुई व्यग्रताको भगा देना अर्थात् चित्त व्याकुल न हो इसलिये स्त्री, पशु, षण्ढ विवर्जित एकान्त स्थानमें सोना बैठना इसको विविक्तशय्यासन कहते हैं.

अपने द्वारा हुवे अपराधोंको छिपानेकी कोशिस न करना, अपराध हो गया तो शीघ्र उसका निवेदन करना यह आलोचना तप है. स्वतःके द्वारा किये गये अशुभ योगसे परावृत्त होना अर्थात् मेरे अपराध मिथ्या होवे ऐसा कह कर पश्चात्ताप करना प्रतिक्रमण है. अपराधोंको न छिपाना तथा अशुभ योगोंसे परावृत्त होना वह तदुभय तप है. जिस जिस पदार्थके अवलंबनसे अशुभ परिणाम होते हैं उनको त्यागना अथवा उनसे स्वयं दूर होना यह विवेक

तप है. देहमेंसे ममत्व-स्नेह दूर करना कायोत्सर्ग तप है.अनशादिकको तप कहते हैं. यह तप दोषोंका नाश करनेके लिए गुरूने दिया हुवा प्रायश्चित्त स्वरूप है. असंयमसे तिरस्कार उत्पन्न होवे इस लिये दीक्षाके दिन कम करना छेद तप है. पुनः दीक्षा देना उसको मूल तप कहते है. ये सब प्रायश्चित्त तपके भेद हैं. अशुभ क्रियायें ज्ञान दर्शन चारित्र तप इनके अतीचार हैं. इनको हटाना विनय तप हैं. चारित्रके कारणोंको सम्मति देना इसको वैयावृत्य कहते है. अर्थात् जिन कारणोंसे चारित्रकी वृद्धि होगी ऐसे कारणोंसे मुनीश्वरोंकी सेवा करना. अर्थात् संयमोपकरण पिंछी, कमंडलु, ज्ञानोपकरण शास्त्र, आहार, औषध वगैरह वस्तुओंसे उपकार करना यह सब वैयावृत्य है. स्वाध्याय और ध्यान भी चारित्रकी वृद्धि करनेवाले तप है. अंग पूर्वादि शास्त्रोंको पढना स्वाध्याय तप है. शुभ विषयमें एकाग्र चित्त करना ध्यान है. अविरति, प्रमाद, कषायोंका त्याग स्वाध्याय करनेसे तथा ध्यान करनेसे होता है इस वास्ते वे भी चारित्ररूप हैं. अतः सब तपोंका चारित्राराधनामें अन्तर्भाव होता है अतः दर्शनाराधना व चारित्राराधना ऐसे आराधनाके दो भेद माने हैं.

अशनादिकोंका— आहारादिकोंका यद्यपि त्याग किया तो भी अविरतिका त्याग नहीं होता है क्योंकि, आहारादिकोंका त्याग करनेवाले भी असंयत दीख पडते हैं. ऐसा आशय मनमें धारण कर आचार्य ऐसा कहते हैं— जो तपकी आराधना करते हैं वे चारित्राराधना करते हैं अथवा नहीं. अर्थात् तप करनेवाला पापोंसे विरक्त होकर चारित्र धारण करनेवाला होता है अथवा नहीं भी. परंतु चारित्र धारण करनेवाला नियमसे विरतिपूर्वक तप करता है अतः चारित्रमें तपका अन्तर्भाव होता है. परंतु तपमें उद्युक्त हुवा पुरुष असंयमका परिहार करेगा वा न करेगा.

इस गाथापर दुसरे विद्वान् आपना आगे दिखाया हुवा आभिप्राय प्रगट करते हैं—

" चारित्राराधनामें तप आराधनाकी सिद्धि अवश्य होती है ऐसा कहा गया है. वह कैसा ? ऐसा प्रश्न होनेपर ' संयममाराधंतेण ' ऐसा सूत्रोपोद्घात किया है " ऐसा जो अन्य विद्वान् कहते है. वह युक्ति संगत नहीं दीखता है. क्योंकि आचार्यने ' चारित्राराधनामें तप आराधनाकी सिद्धि होती है ' ऐसा वाक्य सूत्रमें कहा नहीं है. तो आप उन्होंने कहा है ऐसा क्यों कहते हैं ? यदि ' सिदिया य हवे चरित्तम्मि ' इस वचनके द्वारा उन्होंने कहा है ऐसा कहोगे तो यह कहना अशब्दार्थ है. अर्थात् ' चारित्राराधनमें तप आराधनाकी सिद्धि होती है ऐसे शब्द गाथामें नहीं हैं. शब्दोंके द्वारा जो अनुभव आवेगा उसकोही ' कहा गया है ' ऐसा कहना चाहिये.

यदि वे कह चुके हैं तो फिर वे पुनः कैसे कहेंगे ? अतः यह कैसा ? ऐसा प्रश्न करना भी अयुक्त है । क्योंकि सूत्रमें चारित्र सिद्धिमें इतर आराधनासिद्धिके क्रमका उपन्यास–विवेचन नहीं किया है । और केवल प्रतिज्ञासे अज्ञको अथवा संशय ग्रस्तको वस्तुका स्वरूप ज्ञान नहीं होता है । इस वास्ते वह कैसा ? ऐसा युक्तिप्रश्न भी यहां पूछना योग्य नहीं है ।

यहां संयमके विषयमें और जो विवेचन अन्य विद्वानोंने किया है वह भी योग्य नही दीखता–" तेरा प्रकारके चारित्रमें सर्वथा प्रयत्न करना वह संयम है. यह संयम बाह्य तपसे अभ्यंतर तप जब सुसंस्कृत होता है तब प्राप्त होता है. उसके विना होता नहीं. अतएव संयम बाह्य व अभ्यंतर तपसे सुसंस्कृत होता है ऐसा मानना होगा. " यह संयमका स्वरूप विवेचन योग्य नहीं है. तेरा प्रकारके चारित्रमें प्रयत्न करना उसको संयम कहते है ऐसा संयम शब्दका अर्थ नहीं है. अपने जो अभिप्राय कहा है उसमें संयम शब्दका प्रयोग किया है ऐसा कहां भी हमारे देखने सुननेमें नहीं आया है. शब्दका अर्थ वार वार प्रयोग आनेसे निश्चित होता है परंतु तेरा प्रकारके चारित्रमें प्रयत्न करना यह संयम है ऐसा शब्दप्रयोग कहां भी आया नही है.

' विदिया य हवे चरित्तम्मि ' इस सूत्रमें चारित्र शब्द सामान्यवाची है. परंतु आप ' सकलचारित्र ' ऐसा चारित्र शब्दका विशिष्टार्थ क्यों कहते हैं ? सामायिक, छेदोपस्थापनादि समस्त चारित्रभेदोंको चारित्राराधना कहते हैं ' पंडिदपंडिदमरणं खीणकसाया मरंति केवलिणो ' इस सूत्रमें यथा ख्यातचारित्र समझना इसका आगे वर्णन करेंगे. बाह्य तपके संस्कारसे युक्त ऐसे अभ्यतर तपके विना संयम नहीं होता है यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है. क्योंकि बाह्य तपके आचरणविना भी आदि भगवंतके शिष्य भद्रणराज वगैरे भरत चक्रवर्तीके पुत्र अन्तर्मुहूर्तमें रत्नत्रयको पाकर मोक्षको गये हैं ऐसा आगममें प्रसिद्ध उल्लेख है.

ननु तपस्यायत्तनिर्जरानुक्रमेण निर्जरामुपगच्छन्ति संति कर्माणि यदा निःशेषाण्यपगतानि भवन्ति तदा स्वास्थ्यरूपं निर्वाणमुपजायते ततो निर्वाणस्य कारणं निर्जरैव, तस्याश्च संपादकं तपस्ततो युक्तं दर्शनाराधना तप आराधना चेति द्विविधा आराधनेति गदितुं इत्यारेकायां, तपो निर्जरां मुक्तेरनुगुणां करोति सति चारित्रे संवरकारिणि नान्यथेति प्रदर्शयति—

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि ॥
होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्चुदगंव तं तस्स ॥ ७ ॥

विजयोदया—सम्मादिट्ठस्स वि इत्यादिना। सम्मादिट्ठस्सवि तत्वार्थश्रद्धानवतोऽपि। अविरदस्स असंयतस्य। न तवो तपः। महागुणो गुणशब्दोऽनेकार्थवृत्तिः। रूपादयो गुणशब्देनोच्यन्ते क्वचिद्यथा–'रूपरसगंधस्पर्शसंख्यापरिमाणानि, पृथक्त्वं, संयोगविभागौ, परत्वापरत्वबुद्धयः, सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नादयः क्रियावद्गुणसमवायिकारणं द्रव्यं' इत्यस्मिन्सूत्रे गृहीताः॥ गुणभूता वयमत्र नगरे इति अत्र प्रधानवाचीयस्य गुणस्य भावादिति विशेषेण वर्तते। गुणोऽनेन कृत इत्यत्र उपकारार्थे वृत्तिः। इह उपकारे वर्तमानो गृह्यते। महागुणः उपकारोऽस्येति महागुणं। होदि भवति। क्रियैव हि भाव्यते निरूप्यते वा इति वचनात्। न तु भवनक्रिया संबध्यते। तपो न भवति महोपकारमिति। एतदुक्तं भवति कर्मनिर्मूलनं कर्तुमसमर्थं तपः सम्यग्दृष्टेरप्यसंयतस्य पुनरितरस्य असति संवरे प्रतिसमयमुपचीयमानकर्मसंहतेः का मुक्तिः? ननु सत्यपि संयमे विना निर्जरां न निर्वृत्तिरिति। शक्यमेवमप्यभिधातुं 'सम्मादिट्ठस्स वि अकददवो भावणाविसेसस्स न चारित्तं महागुणं होदित्ति'। सत्यमेवमेतत् चारित्रप्राधान्यविवक्षापरा इयं चोदना। असिश्छिनत्तीत्यत्र छेत्तारमंतरेण असिनैव संपद्यते छिदा, तथा तदीयतैक्ष्ण्यगौरवकाठिन्यातिशयनिरूपणवांछायां तस्यैव स्वातंत्र्यं निगद्यते। एवमिहापीति न दोषः। कुतः? यस्मात् होदि खु हत्थिण्हाणं होदि भवति। खु शब्द एवकारार्थः स हत्थिण्हाणमित्यनेन संबंधनीयः। हत्थिण्हाणमेवेति। यथा हस्ती स्नातोऽपि न नैर्मल्यं वहति पुनरपि करावर्जित पांसुपटलमलिनत्वात् तद्वत्तपसा निर्जीर्णेऽपि कर्मांशे बहुतरादानं असंयममुखेनेति मन्यते। दृष्टान्तान्तरमाचष्टे–चुंदच्चुदगंव मंथनचर्मपालिकेव तदसंयमहीनं तपः। दृष्टांतद्वयोपन्यासः किमर्थं इति चेत्। अपगताद्बहुतरोपादानं कर्मणोऽसंयमनिमित्तस्येति प्रदर्शनाय हस्तिस्नानोपन्यासः। आर्द्रतनुतया बहुतरमुपादत्ते रजः। बंधरहिता निर्जरा स्वास्थ्यं प्रापयति नेतरा बंधसहभाविनीति। किमिव मंथनचर्मपालिकेव। सा हि बंधसहितां मुक्तिं वर्तयति। अत्रान्ये व्याचक्षते–कालभेदमनपेक्ष्य शुद्धिमशुद्धिं च दर्शयता प्रथम उपात्तः। तदयुक्तं सकलकर्मापायो हि शुद्धिः, अशुद्धिश्च कर्मणा सहवृत्तिः, तत्रागती शुद्धिः कथमादर्श्यते कर्मांशापगममात्रतः शुद्धिर्वा या मुक्तिः सा कस्य न विद्यते? फलं दत्वा प्रयांत्यात्मनः कर्मपुद्गलस्कंधाः। यच्चोक्तं यदा तु कालभेदेन बंधस्यैमाशंक्यते बंधनशातनयोरेकसमयत्वात् इति ततो द्वितीयो दृष्टांतः। रज्जुवेष्टननिर्गमनयोरेककालत्वादिति तदप्यसारं। न हि चंद्रमुखी कन्या इत्यत्र एवमाशंका संभवति, सदा सैपूर्णमानतं वा मल्लोचनायाः निशागायस्य कदाचिदेव पूर्णता ततो ऽनुमानमिति साधारणधर्ममात्रावलंबन एवोपमानोपमेयभावः, वैधर्म्यं सूपमानोपमेययोरस्ति अन्यथा उपमानमिदं उपमेयमिति भेदो निरास्पदः। अपि च उपमेयस्यातिशयं प्रदर्शयितुमेकोपमानं प्रवृत्तं॥ न तेनैकस्योपमानस्यानुक्तत्वादष्टोरितद्दुपादीयते इति युक्तम्।

नतु मुक्ते : कारणं निर्जरैव तत्कारणं च तपः इति सम्यक्त्वाराधना तप आराधना चेति संक्षिप्य वक्तुं युक्तं। तत्र संवरकारिणि चारित्रे सत्येव निर्वाणानुगुणाया निर्जरायास्तपसा कर्तुं शक्यत्वात्। तदेवाह—

मूलारा—सम्मादिट्ठिस्स वि। तत्त्वश्रद्धानवतोऽपि किं पुनर्मिथ्यादृष्टेरित्यतिशयोऽपिशब्दार्थः। अविरदस्स हिंसादिषु विषयेषु च प्रवर्तमानस्य। महागुणो अनल्पोपकारं कर्मनिर्मूलनसमर्थमित्यर्थः। संयमहीनस्य संवराभावे प्रतिक्षणमपरापर-कर्मसंघातोपादानान्मुक्तिर्न स्यादिति भावः। एतच्चारित्रस्य प्राधान्यविवक्षायामेवोच्यते। यथा "मुक्तिस्तपसैव तत्तपः कार्यमि" ति तपसः प्राधान्यविवक्षायां। खु भेदविवक्षायां इवार्थे अभेदविवक्षायां वा एवार्थे। हस्तिस्नानमिव असंयतस्य तपो भवतीति योज्यं॥ यथा हस्ती स्नातः सन्नार्द्रतनुतया स्वकरार्पितं रजो बहुतरमादत्ते तथा तपसा निर्जीर्णकर्मांशोऽसंयमार्पितं कर्म पुनर्भुक्त्यादिलंपटतया बहुतरमादत्ते इत्यर्थः॥ चुंदच्छुदगंव मंथनचर्मपालिकेव। तं तत्तपः। तस्स सम्यग्दृष्टेरप्यविरतस्य। यथा वेष्टनसहभाव्युद्वेष्टनं कुर्वाणा आकर्षणचर्मवद्भ्रिका भ्रमियंत्रस्य स्थैर्यं न करोति तथा बंधसहभाविनीं निर्जरां कुर्वंस्तपोऽसंयतस्य मोक्षं न करोतीत्यर्थः। अत्र हस्तिस्नानेनापगताद्बहुतरस्यापादनं चर्मवद्भ्रिकया च बंधसहभाविन्या निर्जरया स्वास्थ्याभावो दर्श्यते। उपमेयगतातिशयफलत्वाद्दृष्टान्तान्तरोपन्यासस्य। ये तु चुंदछिदकम्मेति पठन्ति तेषामियं व्याख्या चुंदं मानकसेतिकादियोग्यं काष्ठं छिंदन्ति चिकीर्षितवस्त्वनुगुणभावेन कृंततीति चुंदाश्छिदाकारास्तेषां कर्म व्यापारश्चर्म-वद्भ्रिकया भ्रमिपरिभ्रमणं। तथा खुशब्देन यथार्थेनोभयत्र संबंधात्। शेषं पूर्ववत्॥

निर्जरा तपके आधीन है. तथा विद्यमानकर्म इस तपके प्रभावसे क्रमसे निर्जीर्ण होता है, जब संपूर्ण कर्म निःशेष हो जाता है तब स्वास्थ्य रूप मोक्ष प्राप्त होता है. अतः मोक्षका कारण निर्जरा ही है. वह निर्जरा तपसे होती है. अतः दर्शनाराधना व तपआराधना ऐसी दो आराधनाओंका वर्णन करना योग्य है ऐसी शंका होनेपर संवरको उपन्न करनेवाला चारित्र सहायक होनेसे हि तप मुक्तीकी साधक ऐसी निर्जरा उत्पन्न कर सकता है अन्यथा नहीं ऐसा उत्तर निम्न लिखित गाथामें देते हैं—

हिंदी अर्थ—जीवादि तत्वोंपर जिसकी श्रद्धा है ऐसे अविरत अर्थात् असंयमी पुरुषका तप महान् उपकार करनेवाला नही होता है. वह उसका तप हाथीके स्नान समान होता है. जैसे हाथी नदीमें स्नान करता है परंतु फिर तटपर आकर अपने सूंडसे सर्वांगपर धूलि फेकता है वैसे असंयत सम्यग्दृष्टि कर्म निर्जीर्ण करता हुवा भी

असंयमके द्वारा बहुत कर्मका ग्रहण करता है. अथवा लकडीको छिद्र पाडनेवाला वर्मा जैसा छेद पाडते समय दोरी बांधकर घुमाते हैं उस समय उसकी दोरी एक तरफसे ढिली होती हुई भी दूसरी तरफसे उसको दृढ बद्ध करती है वैसे सम्यग्दृष्टीका पूर्वबद्ध कर्म निर्जीर्ण होता हुवा उसी समय असंयम द्वारा नवीन कर्म बंध जाता है. अतः असयत सम्यग्दृष्टीको तप आराधना नहीं होती है. इसलिये तप आराधनामें चारित्राराधना अंतर्भूत नहीं होती है ऐसा समझना चाहिये.

विशेष—गाथामें ' महागुणो ' ऐसा शब्द है. यहां गुणशब्दके अनेक अर्थ होते हैं. जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्श इनको भी शास्त्रमें गुणसंज्ञा है. गुणोंकी संख्या दिखानेवाला सूत्र इसप्रकार है. ' रूपरसगंधस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वबुद्धयः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नादयः ' क्वचिद् गुणका अर्थ मुख्य ऐसा भी होता है. जैसे—' गुणीभूता वयमत्र नगरे ' अर्थात् इस नगरमें हम प्रधान–मुख्य हैं. यहां गुण शब्दकी प्रधान अर्थमें वाचकता है. क्वचित् गुण शब्दका अर्थ उपकार ऐसा होता है. जैसे ' गुणोऽनेन कृतः ' अर्थात् इसने उपकार किया. प्रकृत गाथामें गुणशब्दका अर्थ उपकार ऐसा समझना चाहिये. अविरत सम्यग्दृष्टिका भी तप महागुण नहीं होता है अर्थात् वह कर्म निर्मूलन करनेके लिये समर्थ नहीं होता है. पुनः जो मिथ्यादृष्टि है उसका तप मुक्तिकेलिये कैसा कारण होगा ? उसको संवर न होनेसे प्रतिसमय नया कर्म आता ही रहेगा अतः उसको मुक्ति नहीं होगी.

शंका—संयम प्राप्त भी हो गया तो भी कर्मनिर्जरा न होनेसे मुक्ति नहीं प्राप्त होगी. अथवा ऐसा भी कह सकते हैं–जिसने तपका अभ्यास किया नहीं है ऐसे सम्यग्दृष्टीको भी केवल चारित्र महोपकारक नहीं होता है. अर्थात् संवरसहित निर्जराको उत्पन्न नहीं करता है.

उत्तर—आपका कहना ठीक है. परंतु यहां चारित्रकी मुख्यता है अतः चारित्र न होनेसे मुक्ति प्राप्त नहीं होगी ऐसा कहा है. जैसे ' असिश्छिनत्ति ' अर्थात् तरवार काटती है. इस वाक्यका विमर्श करेंगे तो ऐसा मालूम होगा कि, छेदनेवाले पुरुषके विना केवल तरवार ही स्वयं छेदनकार्य नहीं करेगी परंतु तरवारकी तीक्ष्णता, काठिन्य वगैरे गुणातिशयको देखकर उसमें छेदनकार्य करनेका कर्तृत्व आरोपित करके तरवार तोडती है ऐसा कहते हैं. वैसे चारित्रका वर्णन करनेकी मुख्यता होनेसे चारित्रके विना तप महोपकारक संवर निर्जराका उत्पादक

नहा हात है ऐसा कह सकत है. २

असंयत सम्यग्दृष्टिका तप हस्तिस्नानके समान है. जैसे हाथी तालावमें स्नान कर निर्मल होता है परंतु आपनी सुंडाके द्वारा धूलको शरीरपर फेककर अपनेको मलिन करता है. तद्वत् तपके द्वारा कर्मांश निर्जीर्ण हो गया तो भी असंयमसे सम्यग्दृष्टि बहुत कर्मसमुदायको ग्रहण करता है.

आचार्य दुसरा दृष्टान्त मंथन चर्मपालिकाका देते है. उसका विवेचन किया है. आचार्यने दो दृष्टान्त क्यों दिये है ? इसका खुलासा इस प्रकार है. सम्यग्दृष्टिने पूर्वमें जितनी कर्म निर्जरा की है उससे भी अधिक कर्म उसको असंयमसे बंध जाता है. यह खुलासा करनेके लिये हस्तिस्नानका दृष्टांत दिया है. हाथी स्नानसे गीला होता है अतः बहुत धूलीका संग्रह उसके अंगपर हो जाता है. उसही प्रकारसे सम्यग्दृष्टिको बहुत कर्मबंधन होता है. जो निर्जरा बंध रहित होती है वही स्वास्थ्य अर्थात् मोक्षप्रदान करती है. परंतु बंधके साथ होनेवाली कर्म निर्जरा मुक्तिका कारण नही होती है इसका स्पष्टीकरण करनेके लिये आचार्यने मंथन चर्मपालिकाका दृष्टान्त दिया है यह बंध सहित मुक्तिको दिखाती है.

यहां दूसरे विद्वान ऐसा कहते हैं—" कालभेदकी अपेक्षा न करके शुद्धि और अशुद्धिको दिखानेकी इच्छासे आचार्यने प्रथम उदाहरण-हस्तिस्नानका गाथामें लिखा है. " परंतु यह उनका अभिप्राय युक्ति युक्त नहीं है. क्योंकि, संपूर्ण कर्मोंका नाश होना यह शुद्धि है व कर्म सहितावस्थाही अशुद्धि है जब शुद्धि है ही नही तो आचार्य उसको हस्तिस्नानका उदाहरण देकर भी कैसे दिखा सकेंगे. यदि कुछ कर्म नष्ट होना उसको शुद्धि या मुक्ति कहोगे तो ऐसी शुद्धि किस प्राणीमें न मिलेगी ? अर्थात् ऐसी शुद्धि प्रत्येक प्राणीमें विद्यमान है. कारण प्रत्येक प्राणीके कर्मस्कंध उसको फल दे देकर खिरतेही हैं. अतः ऐसी शुद्धि मिलना असंभव नहीं है. वह तो सुलभ ही है.

और भी जो उन विद्वानोंने कहा है ' जहां कालभेदका आश्रय लेकर दो धर्म रहते हैं वहां उन धर्मोंमें भिन्नता—विरुद्धता दीखती है. परंतु कर्मबंध होना व उसकी निर्जरा होना ये दो धर्म एक समयमें होते है अतः ये विरुद्ध नही हैं. इस वास्ते यहा दुसरा दृष्टांत मंथन चर्मपालिकाका दिया है. यहां ४७
रज्जुसे मंथनदंड वेष्टित भी हो जाता है और मुक्त भी हो जाता है. ये दोन क्रियायें एक समयमें होतीं हैं

अतः इसमें वैधर्म्य नहीं है. यह कहना भी असार है. 'चंद्रमुखी कन्या' इस उदाहरणमें ऐसी वैधर्म्यकी शंका उपस्थित नहीं होती. कन्याका मुख हमेशा पूर्ण ही रहता है. परंतु चंद्रकी पूर्णता कदाचित् होती है, सदा नहीं होती अतः अनुमानसे मुख और चंद्रमें साधारण धर्म-आल्हादकत्व, सुंदरता इत्यादिका आश्रय लेकर उपमानोपमेय भाव रहता है. मुख और चंद्रमें वैधर्म्य है ही अन्यथा चंद्र उपमान है व मुख उपमेय है यह भेदही उत्पन्न नहीं होता. उपमेयमें विशेषता दिखानेके लिये ही उपमान प्रवृत्त होता है. उपमानको छोडकर दुसरेका ग्रहण कोइ नहीं करते है. तात्पर्य—मंथनचर्मपालिका का उदाहरण देनेका कारण इतनाही यहां समझना चाहिये कि, अविरतसम्यग्दृष्टीका तप असंयमपूर्वक होनेसे कर्मबंध और निर्जराका कारण है. वैधर्म्य दिखानेके लिये आचार्यने यह उदाहरण नहीं दिया है.

संक्षेपस्य प्रकारान्तराख्यानायाह—

अहवा चारित्ताराहणाए आराहियं हवइ सव्वं॥
आराहणाए सेसस्स चारित्ताराहणा भज्जा ॥ ८ ॥

विजयोदया—अहवेति । एकद्व्यादिसंख्येयासंख्येयानंतरूपेण हि जैनी निरूपणा ॥ चरंति यांति तेन हितप्राप्तिं अहितनिवारणं चेति चारित्रं, चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्रं सामायिकादिकं, तस्याराधनायां तत्परिणतौ सत्यां आराधितं निष्पादितं । हवइ भवति । सव्वं सर्वं ज्ञानं दर्शनं तपश्च, प्रकारकात्स्न्ये सर्वशब्दोऽत्र प्रवृत्तः । यथा सर्वमोदनं भुंक्ते इति व्रीहिशाल्योदनप्रकारकात्स्न्यं भुजिक्रियायाः कर्मत्वेन प्रतीयते । एवमिहापि मुक्त्युपायप्रकाराणां ज्ञानादीनां सामस्त्यमाख्यायते । चारित्राराधनैकैवेत्यनेन गाथार्धेन कथितम् । अत्रेयमाशंका—कस्मादेकत्वनिरूपणाराधनायाश्चारित्रमुखेनैव क्रियते नान्यमुखेनेत्यत आह—आराधणाए आराधनायां । सेसस्स शेषस्य । ज्ञानदर्शनतपसां अन्यतमस्य । चारित्ताराधणा । भज्जा भाज्या विकल्प्या । कथं? असंयतसम्यग्दृष्टिर्भवति ज्ञानदर्शनयोराराधको नेतरयोः । मिथ्यादृष्टिस्त्वनशनदावुद्यतोऽपि न चारित्रमाराधयति । कश्चित्पुनः ज्ञानादीनि चारित्रमपि संपादयतीति नाविनाभावितेति इतराराधनायां चारित्राराधनाया इति न तन्मुखेनैकत्वनिरूपणेति भावः ॥ ननु क्षायिकवीतरागसम्यक्त्वाराधनायां, क्षायिकज्ञानाराधनायां च इतरेषामाप्याराधना नियोगतः संभवति तत्किमुच्यते शेषाराधनायां चारित्राराधना भाज्येति? क्षायोपशमिकज्ञानदर्शनापेक्षयैतदुक्तं इति ज्ञेयम् । अत्रान्येषां व्याख्या "चारित्ताराधणाए इत्यत्र चारित्रशब्देन सच्चारित्रमुपात्तं । तच्च सद्दर्शनात्मकज्ञाननिरूपितक्रमाप्रत्ययनेन प्रयतवृत्तिरूपं तस्मिन्नाराध्यमाने शेषसिद्धिर्भवत्येव । कथं ? सज्ज्ञानकार्यं चारित्रं सज्ज्ञानं च दर्शनाद्धितं कार्यं हि कारणाविनाभावित्वं प्रयुक्तं इति सानुपपन्ना"। प्रतिज्ञामात्रेण हि सूत्रमिदमव-

स्थितं, एतत्साधनाय सूत्रद्वयमुत्तरं यत्र हि सूत्रकारो तन्निबंधनं वदति । आत्मन· प्रतिज्ञातस्य तत्र व्याख्यातुरवसरो निबंधनाख्याने यत्र तु स एव वदति तत्र तदेव व्याख्यातुमवगन्तव्यमिति व्याख्याक्रम शास्त्रेषु । न चेदमनेन प्रतिविधानमसूत्रितम् स्वयमेवोत्प्रेक्षते । ' कादव्वमिणमकादव्वयत्ति णादूण होदि परिहारो, इत्यत्र निरूपयिष्यति यत. सूत्रकार· । किं च उत्तरसूत्रानुष्ठानमस्या व्याख्यायां चारित्राराधनामुखेनैकेवाराधनेति प्रतिपिपादयिषितं । तच्च संप्रति विधान प्रतिपादयितुं कोऽवसर उत्तर गाथायाः । इतराराधनान्तर्भावकारिण्याश्चारित्राराधनाया निरूपणायां चारित्रस्वरूपाख्यानाय उत्तरगाथायातेति कथमनवसर इति चेत् यथैवं दर्शनाराधनायां ज्ञानाराधनामन्तर्भाव्य प्रवर्तमानायां दर्शनस्वरूपं किं नोच्यते सूत्रकारेण ? स्वेच्छेति चेन्न न्यायानुगामिना शास्त्रकाराणां न्यायादपेतेच्छा अयुक्ता ।

इदानीं परमसंक्षेपादेकधैवाराधना स्यादिति दर्शयति—

मूलारा—चारित्ताराहणाए—चरन्ति यान्ति तेन हितप्राप्तिमहितनिवारणं चेति, चर्यते सेव्यते सद्भिस्तदिति वा चारित्रं सामायिकादिकं । तत्परिणतौ सत्यां आराहिदं निष्पादितं । सव्वं ज्ञानं दर्शनं तपश्च । सेसस्स ज्ञानादित्रयस्य भज्जा भाज्या विकल्पाः । तद्यथा—असंयतसम्यग्दृष्टिर्ज्ञानदर्शनयोराराधको भवति नेतरयोः । मिथ्यादृष्टिरनशनादितपस्युद्यतोऽपि न चारित्रमाराधयति । कश्चित्पुनः ज्ञानादीनि चारित्रमपि संपादयति । ततो न ज्ञानादिमुखेनैकत्वमुक्तमाराधानाया इति भावः । एतच्च क्षायिकवीतरागसम्यक्त्वात्केवलज्ञानाच्चान्यत्र बोध्यम् ॥

हिंदी अर्थ–चारित्रकी आराधना करनेसे सर्व आराधनाओंकी आराधना होती है. परंतु दर्शनादि आराधनासे चारित्रकी आराधना होगी या नही भी होगी.

विशेषार्थ—एक, दोन, तीन, संख्यात, असंख्यात अनंत रूपसे श्री जिनेश्वरके मतमें वस्तुका वर्णन होता है. अतः वस्तुका अतिशय संक्षेप व विस्तार पूर्वक निवेचन जैन ग्रंथमें पाया जाता है. जिससे जीव हितको प्राप्त होते हैं अथवा अहितका निवारण करते हैं उसको आचार्य चारित्र कहते है. अथवा सज्जन जिसका आचरण करते हैं, सेवन करते हैं उसको चारित्र कहते हैं. इस चारित्रके सामायिक वगैरे भेद हैं. ऐसे चारित्रकी आराधनामें जब आत्मा तत्पर होता है तब इसमें तन्मयता होनेसे ज्ञान, दर्शन, तप ऐसी सर्व अर्थात् तीनों आराधनायें आराधी जाती हैं. अर्थात् इन तीनोंकी भी प्राप्ति होती है. यहां प्रकार व संपूर्णता ऐसे दो अर्थोंमें सर्व शब्दका प्रयोग किया है. जैसे ' सव्वं मोदनं भुंक्ते ' अर्थात् " व्रीही वगैरे जितने शालीके भेद हे उतने सर्व भेदसहित शालीका भात खाता है. " इस

वाक्यमें सर्व शब्दका प्रकार ऐसा अर्थ है. इसी तरह यहांभी मोक्षोपायके प्रकार जो ज्ञान, दर्शन तप हैं वे यहां ' सव्वं ' इस शब्दसे संगृहीत होते हैं. एक चारित्राराधनामें सब आराधनाओंका अन्तर्भाव हो जाता है.

शंका—चारित्रको मुख्यता देकर ही क्यों आराधनाका एकत्व आप दर्शाते हैं ? अन्य आराधनाको मुख्यता देकर आराधनाकी एकता आपने क्यों नहीं दिखायी है ?

इस प्रश्नका उत्तर—इतर आराधना-ज्ञान, दर्शन तप इनमेंसे किसी एक आराधनाकी मुख्यता होने पर भी चारित्राराधना भाज्य ही है अर्थात् इतराराधना प्राप्त होगी परंतु चारित्राराधना प्राप्त होगी अथवा नहीं होगी, इसका खुलासा—असंयत सम्यग्दृष्टि ज्ञान और दर्शन ऐसी दोन आराधनाओंका आराधक है. जब आराधकको सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है तब उसके ज्ञानमें भी सम्यग्दर्शनके साथ सम्यक्पना प्राप्त होता है. अतएव वह सम्यग्दृष्टि दर्शन ज्ञानका आराधक है. मिथ्यादृष्टि जीव अनशनादि तपोंमें उद्युक्त होकर भी चारित्राराधक नहीं होता. कोई सम्यग्दृष्टि जीव व्रतसहित होनेसे ज्ञानादि तीन आराधनाओंका आराधक होता है चारित्रका भी. अतः चारित्राराधनाका इतर आराधनाओंमें अविनाभाव नहीं है. जहां चारित्राराधना है वहां चारोंहि आराधनायें है ही परंतु जहां अन्य आराधनायें हैं वहां यह चारित्राराधना रहे या न रहे. अतः चारित्रकी मुख्यतासे आचार्यने सबका अन्तर्भावकरके एक चारित्राराधनाही कही है.

शंका—क्षायिकवीतराग सम्यक्त्वाराधना और क्षायिकज्ञानाराधना ऐसे दो आराधनाओंमें बाकीकी तप और चारित्राराधनायें निश्चयसे अन्तर्भूत होती हैं अतः शेष आराधनाकी प्राप्ति हुई तोभी चारित्राराधना भाज्य है ऐसा क्यों कहा है.

उत्तर—क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शनकी अपेक्षासे हमारा उपर्युक्त कथन समझना चाहिये. अर्थात् जहां जहां क्षायोपशमिक ज्ञान व दर्शन है वहां चारित्र होता ही है ऐसा नियम नहीं है. क्योंकि क्षायोपशमिक ज्ञान व दर्शन चतुर्थ गुणस्थानसे शुरू होते हैं. इस गुणस्थानमें अविरतिपरिणाम होनेसे चारित्राराधना नहीं है अतः आचार्यका कथन किस अपेक्षासे है यह ध्यानमें आया होगा.

प्रकृत गाथापर अन्य विद्वानोंका आगे लिखा हुवा व्याख्यान है—चारिचाराधणाए " इस गाथामें चारित्र शब्दका अर्थ सच्चारित्र ऐसा समझना चाहिये. सम्यग्दर्शन युक्त व सम्यग्ज्ञान निरूपित ऐसा जो आचरण

क्रम उससे च्युत न होकर दृढ रहनेका जो प्रयत्न उसको चारित्र कहते हैं अर्थात् आगममें जो धर्माचरणके क्रमका उल्लेख किया है उसके उपर श्रद्धा रखकर उसका स्वरूप समझ लेनेके अनंतर उस आचरणक्रमसे च्युत न होकर उसमें दृढ रहना यह सच्चारित्रका लक्षण है. ऐसे चारित्रकी आराधना करनेसे ज्ञान, दर्शन, तप इनकी आराधना अवश्य होती है. चारित्र सम्यग्ज्ञानका कार्य है. और ज्ञान भी सम्यग्दर्शनके प्रभावसे हितकारक होता है. कार्य हमेशा कारणसे अविनाभावी होता है जो जो कार्य उत्पन्न होता है वह २ कारणपूर्वक ही होता है. कारणके विना होता ही नहीं है. चारित्र ज्ञान व दर्शनका कार्य है व सम्यग्दर्शन ज्ञानके साथ अविनाभावी है. उनके विना चारित्रकी उत्पत्ति होती ही नहीं. अतः चारित्राराधनामें सब आराधनाओंका प्रवेश हो जाता है. " यहां आचार्य उनके व्याख्यानकी अयुक्तता दिखाते है.

आपने जो सच्चारित्रके कारण ओर लक्षण बताये हें उनकी यहां आवश्यकता नहीं है. इस गाथामें तो फक्त चारित्र की प्रतिज्ञा ही अर्थात् नामोल्लेख ही किया है इस प्रतिज्ञाका स्पष्टीकरण ओर उसके कारणोंका उल्लेख ग्रंथकारने आगेकी दोन गाथाओंमें स्वय किया हे अत. उन स्थलोंमें व्याख्याकारको कारणोंका विवेचन करनेका अवसर है ऐसा ही व्याख्याक्रम शास्त्रमें सुना जाता है 'कादव्वमिणमकादव्वयत्ति णादूण होदि परिहारो' इस गाथामें चारित्रका लक्षण आचार्य कहेंगे. परंतु आपने उत्तर सूत्रानुष्ठान इस व्याख्यानमें किया है. इस गाथासूत्रमें चारित्राराधनाकी मुख्यतासे एक ही आराधना है यह प्रतिपाद्य विषय है. इसलिये उत्तरगाथा का विषय यहां प्रतिपादन करनेका अवसर कैसा है ? इतर आराधनाका अन्तर्भाव अपनेमें करनेवाली चारित्राराधनाका निरूपण करते समय चारित्रके स्वरूपका वर्णन करनेके लिये उत्तर गाथा है अतः यह हमारा विवेचन ठीक है ऐसा भी आप नहीं कह सकते. अन्यथा ज्ञानाराधनाको अपनेमें प्रविष्ट करनेवाली दर्शनाराधना हे अतः सम्यग्दर्शन का स्वरूप वर्णन सूत्रकारने क्यों नहीं किया ? यदि कहोगे जेसा उन्होंने चाहा वेसा वर्णन किया है तो यह उत्तर योग्य नहीं है क्योंकि न्यायका अनुसरण करनेवाले शास्त्रकारकी न्यायविरुद्ध इच्छा रहना ठीक नहीं है. अत इतने विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि आचार्य का उद्देश इतर आराधनाओंका चारित्राराधनामें अन्तर्भाव करना यही है. चारित्रका व सम्यग्दर्शनका लक्षण लिखनेका उनका उद्देश नहीं था.

कथं चारित्राराधनायां कथितायां इतरासां प्रतिपत्तिरविनाभावात् तावज्ज्ञानदर्शनाराधनयोरन्तर्भावं वक्तु- त्तरगाथायाः पूर्वार्द्धेन कथयति—

कायव्वमिणमकायव्वयत्ति णाऊण होइ परिहारो ॥

तं चेव हवइ णाणं तं चेव य होइ सम्मत्तं ॥ ९ ॥

कायव्वं कर्तव्यं । इणं इदं । आकायव्वयत्ति अकर्तव्यमिति । णादूण ज्ञात्वा । हवदि भवति । परिहारो परिवर्जनं चारित्रमिति शेषः । कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञानं पूर्वं तदुत्तरकाले अकर्तव्यपरिहरणं यत्तच्च चारित्रमिति सूत्रार्थः ॥ ननु परि हार इत्यत्र परिहारो वर्जनार्थः । तथा हि-परिहरति सर्पमित्यत्र सर्पं वर्जयतीति गम्यते । ततश्च यद्वर्जनीयं तत्परिज्ञानमेव वर्जनमुपयुज्यते तत एवं वक्तव्यं-अकादव्वत्ति णादूण हवदि परिहारो इति, कादव्वमित्येतत्किमर्थमुपन्यस्तं? कर्तव्यपरिज्ञानं करणे एवोपयुज्यते इति ॥ अत्र प्रतिविधीयते—कादव्वमिणत्ति णादूण हवदि परिहारो इति पदघटनैका, अकादव्वमिणत्ति णादूण हवदि परिहारो इत्यपरा॥तत्राद्यायां पदघटनायां परिशब्दः समंताद्भाववृत्तिः। यथा परिधावतीत्यत्र हि समंताद्धावतीति गम्यते । हरतिरुपादानवचनः । तथाहि प्रयोगः-कपिलिकां हरति-कपिलिकामुपादत्ते इति यावत् । मनसा, वचसा, कायेन कर्तव्यस्य च संवरहेतोरुपादानं गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयानां उपादानं चारित्रमिति वाक्यार्थः । आस्रवबंधहेतवो ये परिणामास्ते न कर्तव्याः, न निर्वर्त्यास्तेषां परिहरणं परिवर्जनं चारित्रमिति संबंधनीयम् । परिहार्य एव परिज्ञानमंत- रेणापि तत्परिहारो दृश्यते । यथा शरज्जनाध्यासितं देशं परिहरति कश्चित्तत्र तेषां अवस्थानं अप्रतिपद्यमानोऽपि मार्गा- न्तरगामी, एवमज्ञात्वापि परिहार्यं परिहरेदिति विनाभावितेति चेदयमभिप्रायः सूरेः-सामान्यशब्दा अपि विशेषप्रवृत्तयो दृश्यंते ।तथा हि—गोशब्दो गोत्वसामान्यांगीकरणेन प्रवृत्तो गौर्नहंतव्या, गौस्तवा न स्प्रष्टव्या इत्यादौ विशेषमेवाभिधेयी करोति ॥

महति गोमंडले गोपालकमासीनमेत्य कश्चित्पृच्छति गौर्दुग्धा भवतेति । अत्र वाक्ये गोशब्दस्तदभिप्रेतार्थाकांक्षी स्वस्तिमतीं वा प्रत्याययति । एवमत्र परिहारशब्दः परिवर्जनसामान्यगोचरोऽपि नियतानेकपरिहार्यविषये परिहरणे प्रयुक्तः । न च नियोगभाव्यनेकपरिहार्यविषयं परिहरणं असकृद्वृत्तिपरिज्ञानं विना युज्यते । इति मिथ्यादर्शनं, असं- यमाः, कषायाः, अशुभाश्च योगाः प्रत्येकमनेकविकल्पाः सततं परिहरणीयाः । तत्कथं परिहरेदज्ञः । ननु ज्ञानचारित्रयोरवि- नाभाविता द्योत्या । 'णादूण होदि परिहारो' इत्यनेन श्रद्धानाविनाभावितेत्याशंकायामाह—तं चेव हवइ इत्यादिकं । तं चे य तदेव चैतन्यं । हवइ भवति, णाणं ज्ञानं । तं चेव य तदेव च हवइ भवति, सम्मत्तं तत्त्वश्रद्धानं चेति चैतन्यद्रव्यार्था- व्यतिरेकात् ज्ञानदर्शनयोरेकता ख्याता । ततो ज्ञानाविनाभाविता कथनेन श्रद्धानस्यापि कथितैव भवति । चारित्रमेव ज्ञानदर्शने इति कल्पनायां 'णादूण हवइ परिहारो' इति पूर्वं ज्ञानं पश्चात्परिहार इति । अत्र भेदोपन्यासः सूत्रकारस्य अघटमानः स्यात् । तं चेवेति नपुंसकलिंगनिर्देशश्च न स्यात् ।

सो चेव हवइ णाणं इति वक्तव्यं भवति परिहारशब्दस्य पुल्लिंगत्वात् । अथवा कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञाने सत्यकर्तव्यानां मिथ्यादर्शनं, ज्ञानं, असंयमः, कषाया, योग इत्यमीषां परिहारश्चारित्रमित्येतस्मिन्नर्थे परिगृह्यते ' तं चेव परिहरणं-सामान्यं चारित्रं, ज्ञानं दर्शनं इत्येकमेवेति । चारित्राराधनायामेव भेदवादिनोऽभिमतस्याराधनाप्रकारस्यान्तर्लीनतया चारित्राराधनैकेवेति सूत्रार्थः ॥

चारित्राराधनायां ज्ञानदर्शनयोरन्तर्भावं तावद्दर्शयति—

कायव्वमित्यादि । अत्र द्वे पदघटने । तत्रैका । इणं गुप्त्यादिकं । कायव्वं कर्तव्यं संवरकारणत्वात् इति णादूण ज्ञात्वा निश्चित्य श्रद्धानस्य । परि समन्तान्मनोवाक्कायैर्हारो हरणमुपादानं कर्तव्यस्य गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षा परीषहजयरूपस्य भवति ॥ कवलिकां हरतीत्यादिवत् अत्र हरतिरुपादानार्थः । द्वितीया त्वियं । इदं मिथ्यादर्शनादिकं अकर्तव्यं आस्रवबंधनिबंधनत्वात् । इति निश्चित्य रोचमानस्य परिहारः परिवर्जनं अकर्तव्यस्य मिथ्यादर्शनमिथ्या-ज्ञानासंयमप्रमादकषायाशुभयोगलक्षणस्य भवति । अत्र इणमिति उभयत्र काकाक्षिगोलकन्यायेन संबंधनीयं । अकायव्व मतीत्यत्र कुत्सायां पादपूरणे वा कः । णादूणेत्यत्र परकालैककर्तृकादिति क्त्वान्तसामर्थ्याल्लब्धं श्रद्धानस्येति संबंध नीयं । तत्र कर्तव्योपादानमकर्तव्यपरिवर्जनं चोभयमेव चारित्रं । तं चेवेत्यादि । तदेव ज्ञानदर्शनोपहितहिताहित प्राप्तिपरिहारपरिणतं चैतन्यमेव द्रव्यार्थाव्यतिरेकात्र ज्ञानं दर्शनं च भवतीत्यविनाभावश्चारित्रस्य ज्ञानदर्शनाभ्यामिति चारित्रेऽन्तर्भावस्तयोः ॥

चारित्राराधनाके कथनमे इतर आराधनाओंका ज्ञान कैसा हो जाता है इसका उत्तर अविनाभाव ही देगा. अर्थात् अविनाभाव होनेसे शेष आराधनाओंका चारित्रमें अन्तर्भाव हो जाता है. अब ज्ञान और दर्शनका अन्तर्भाव आगेकी गाथा के पूर्वार्धसे दिखाते है.

हिंदी अर्थ—यह करने योग्य कार्य है ऐसा ज्ञान होनेके अनन्तर अकर्तव्य का त्याग करना यह चारित्र है ऐसा इस सूत्रका अर्थ है.

शंका—गाथामें परिहार शब्द है उसका त्याग करना, छोडना ऐसा अर्थ होता है. जैसे ' परिहरति सर्पं ' इस वाक्यमें सर्पका परिहार करता है, उससे दूर होता है. ऐसा परिहरति धातुका अर्थ है. अतः जो पदार्थ वर्जन

करने योग्य है उसका ज्ञान होना ही वर्जनके लिये उपयुक्त है. अतः यहां ऐसा समझना चाहिये कि जो अकार्य है उसको समझकर छोड देना यह ही चारित्र है. करने योग्य क्या है उसको जाननेकी कुछ जरूरत नहीं है. अतः ' कादव्वमिदि णादूण हवदि परिहारो ' ऐसा आचार्यका लिखना व्यर्थ है.

उत्तर—इस गाथाका पदसंबंध ऐसा समझना ' कायव्वमिणत्ति णादूण हवदि परिहारो ' ऐसा प्रथमतः पद संबंध समझना चाहिये. ' अकादव्वमिणत्ति णादूण हवदि परिहारो, ऐसा दूसरी बार पदसंबंध करना चाहिये.

पहिले पदसंबंधका विवेचन—परिहार इस शब्दका अर्थ ऐसा समझना. परि–चारों तरफ. जैसे ' परि धावति ' यहां समंतात् चारो तरफ, धावति दौडता है. ऐसा अर्थ होता है. उसी तरह परिहार शब्दमें परि इस उपसर्गका चारो तरफ ऐसा अर्थ होता है. हृधातुका अर्थ इस प्रकरणमें ग्रहण करना ऐसा है. अर्थात् सर्व तरफसे ग्रहण करना ऐसा परिहार शब्दका अर्थ यहां समझना. जैसे ' परिहरति कंबलिकां ' अर्थात् कंबलको ग्रहण करता है. उसी तरह संवरको उत्पन्न करनेवाले गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय ऐसे कर्तव्यको–करने योग्य कार्यको परिहरति सर्व तरफसे अर्थात् मन, वचन, कायसे ग्रहण करना यह चारित्र है ऐसा प्रथम पदसंबंधका अर्थ है. आस्रव और बंधके कारण ऐसे कार्य अर्थात् आत्माके परिणाम कर्तव्य नहीं है उनका परिहार–त्याग करना चाहिये. अर्थात् यहां ऐसे अयोग्य कर्तव्यका त्याग करना चारित्र कहलाता है. जो पदार्थ त्याज्य है उसका ज्ञान न होने पर भी त्याग हो जाता है. जैसे कोई मनुष्य शत्रुजन जहां रहते हैं ऐसे देशका त्याग करता है. अर्थात् शत्रुका वहां अस्तित्व न जानता हुवा भी शत्रुप्रदेशका त्याग कर अन्य मार्गसे चला जाता है. वैसे यहां भी त्याज्य पदार्थका ज्ञान नहीं हो तो भी उसका त्याग करना चाहिये.

शंका—त्याज्य पदार्थको त्याज्य समझकर त्याग होता है ऐसा अविनाभाव यहां नहीं रहा. क्योंकि उसका स्वरूप समझे विना भी त्याग होता है.

उत्तर—आचार्यका यह अभिप्राय है–सामान्य शब्द की भी विशेषमें प्रवृत्ति होती है–जैसे ' गौर्न- हन्तव्या ' गौर्न स्प्रष्टव्या, इस वाक्यमें गोवध नहीं करना चाहिये. गायको स्पर्श नहीं करना चाहिये इन वाक्योमें गोशब्द सामान्य है. परंतु विशेष अर्थमें भी इसकी प्रवृत्ति होती है. यथा–गाईयोंके समूहमें ग्वाला बैठा था उसके पास जाकर कोई मनुष्य ' मेरी गौ तूने देखी है क्या ? ऐसा पूछने लगा. इस वाक्यमें गोशब्द विशिष्ट गायका वाचक

है ऐसा मानना पडेगा. इसी तरह प्रकृत प्रकरणमें परिहार शब्द त्यागसामान्य को विषय करता हुवा भी नियत-निश्चित ऐसे त्याज्य विषयके त्यागमें प्रयुक्त समझना चाहिये. नियत ऐसे अनेक त्याज्य विषयोंका त्याग उनका वारंवार ज्ञान हुए विना अशक्य है. अत. त्याज्य पदार्थके मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असंयम, कषाय, अशुभयोग ऐसे अनेक भेद हैं. तथा इनके भी अनेक विकल्प हैं. उनका सतत त्याग करना चाहिये. परंतु अज्ञको इसके भेद प्रभेद ज्ञात न होनेसे वह उनका कैसा त्याग करेगा ?

शंका–ज्ञानचारित्रका अविनाभाव है यह ' णादूण होदि परिहारो ' इस वाक्यसे अनुभवमें आता है अर्थात् पदार्थका ज्ञान होनेके अनन्तर चारित्र होता है. परंतु श्रद्धानका चारित्रके साथ अविनाभाव नहीं है.

उत्तर—जो ज्ञान अथवा जो दर्शन है वे दोनों भी चैतन्यरूप होनेसे अविनाभाव युक्त ही हैं. अर्थात् चैतन्यही ज्ञान है और चैतन्यही दर्शन है. द्रव्यार्थिक नयसे ज्ञान और दर्शनमें चेतनारूपता होनेसे एकरूपता–अभिन्नपना है. अतः जैसा चारित्रका ज्ञानसे अविनाभाव है वैसा सम्यग्दर्शनके साथ भी है. क्योंकि सम्यग्दर्शन ज्ञानसे अभिन्न है. चारित्र ही ज्ञान और दर्शन है ऐसी कल्पना करनेसे पूर्वमें ज्ञान नंतर चारित्र होता है अर्थात् प्रथम वस्तुका स्वरूप यह हेय है या ग्राह्य है इसका निर्णय होता है तदनंतर ग्राह्यका स्वीकार व त्याज्यका त्याग एतत्स्वरूपी चारित्र होता है. ऐसी जो सूत्रकारकी भेद कल्पना उपर प्रदर्शित की है वह, चारित्र ही ज्ञान दर्शनमय है ऐसी कल्पनाके आगे कैसी टिकेगी. यहा विरुद्धता दोष उत्पन्न होगा तथा 'तं चेव' ऐसा जो नपुंसकलिंग शब्द है वह योग्य न होगा. कारण परिहार शब्दके साथ उसका संबंध आनेसे 'सो चेव हवइ णाणं' ऐसा कहना पडेगा. क्योंकि परिहार शब्द पुल्लिंगी है. अथवा कर्तव्य क्या चीज है, अकर्तव्य कोनसी वस्तु है इसका जब ज्ञान हो जाता है तब अकर्तव्य–मिथ्यादर्शन, ज्ञान, असंयम, कषाय, और योग इनका परित्याग होना उसको चारित्र कहते हैं ऐसा माननेसे जो परिहरण सामान्य चारित्र है वही ज्ञान, चारित्र एक ही है अतः चारित्राराधनामें ही भेद वादीको अभिमत–मान्य ऐसा जो आराधनाका प्रकार है वह अन्तर्लीन हो जाता है. इस वास्ते चारित्राराधना एक ही है ऐसा सूत्रार्थ समझना चाहिये.

चारित्राराधनायामंतर्भावो ज्ञानदर्शनाराधनयोरेव निगदितो न तपस आराधनाया इत्यत आह—

चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउंजणा य जो होई ॥
सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असढं चरंतस्स ॥ १० ॥

विजयोदया—चरणम्मि चारित्रे । तम्मि एतस्मिन् । अकर्तव्यपरिहरणे । जो य उज्जमो उद्योगः । आउंजणा य उपयोगश्च । जिणेहिं तवो होदित्ति भणिदो इति पदघटना । चरणोद्योगोपयोगावेव तपो भवतीति जिनैः कृतकर्मारिपराजयैरुक्तमिति यावत् । कृतसुखपरिहारो हि चारित्रे प्रयतते न सुखासक्तचित्तस्ततश्च बाह्यानि तपांसि चारित्रप्रारंभं प्रति परिकरतां उपयान्तीति । तथा च वक्ष्यति 'बाहिरतवेण होदि खु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता' इति । तथा स्वाध्यायदयतभावना पंचविधा तत्र वर्तमानश्चारित्रे परिणतो भवति । तथा च वक्ष्यति 'सुदभावणाए णाणं दंसणतवसंजमं च परिणमदि' त्ति परिणाम एव उपयोगः । 'कृतातिचारजुगुप्सापुरःसरं वचनमालोचनेति' अकर्तव्यपरिहरणोपयोगः कथं न चारित्रं? कृतातिचारस्य यतेस्तदतिचारपराङ्मुखतो योगत्रयेण हा दुष्टं कृतं चिंतितमनुमतं चेति परिणामः प्रतिक्रमणम् । उभयं चरणोपयोगः । एवमतिचारनिमित्तद्रव्यक्षेत्रादिकान्मनसा अपगतिस्तत्र अनादृतिर्विवेकः । इति उपयोगता विवेकश्च । दुस्त्यजशरीरममत्वनिवृत्तिर्ममेदं शरीरं न भवति नाहमस्येति भावना सा च परिग्रहपरित्यागोपयोग एवेति चारित्रं । तपसोऽनशनादेश्चारित्रपरिकरतोक्तैव । सातिचारं चारित्रमचारित्रमेवेति बुद्ध्या निश्चित्यात्मनो न्यूनतापादनं, क्रियास्व-भ्युत्थानादिकासु असंयमपरिहारेण वृत्तेश्चारित्रपरिकरः । पुनः प्रव्रज्यादानमपि चारित्रोपयोग एवेति । विनयस्तु पंच प्रकारः ज्ञानदर्शनविनयो ज्ञानदर्शनपरिकरतया तदुपयोगरूपतया च ज्ञानदर्शनाभ्यामभेदात्तद्वदेव चारित्राराधनांतर्भावः ।

इंद्रियविषयस्य रागद्वेषयोः कषायाणां च परित्यागः, अयोग्यवाक्कायक्रियायास्त्यागः, ईर्यादिषु निरवद्या च वृत्तिश्चारित्रोपयोग एवेति चारित्रविनयस्यान्तर्भावः । तपोऽधिके तपसि च भक्तिः, अनासादना च परेषां तपो-विनयः, तं विना सुतपसोऽभावात् तपसः परिकरता । अस्य परिकरं हि तपश्चारित्रस्य परिकरः । उपयोगो वा नान्यथास्तिता मन्यते । असढं चरतः स्याच्छाद्मंतरेण वर्तमानस्य भवेत्तथा चतुर्विधा, द्विविधा, एकविधा वा आराधना स्यात् कसाच्च निरूप्यते ॥ पुरुषो हि प्रेक्षापूर्वकारी प्रयोजनायत्तचेष्टः सति प्रयोजने तत्साधनाय प्रयतते नान्यथा, तत्कथमियमाराधना व्याख्या प्रयोजिता श्रवणस्येत्याशंकायां, निर्वाणसुखस्याव्याबाधात्मकस्य पुरुषार्थ-स्योपायत्वप्रदर्शनेन आराधनाव्याख्या तदर्थिनामुपयोगिनी इत्येतत्प्रतिपादनायोत्तरप्रबंधः । अथवा व्यावर्णितविकल्पा या आराधना तस्यां चेष्टा कर्तव्येत्येतदाख्यानायोत्तरसूत्राणि, तथा चोपसंहारः 'कादव्वा खु तदत्थं आदहिदग वेसिणा चेट्ठा' इति ॥

चारित्रे तपसोऽन्तर्भावो भाव्यते ।

मूलारा—उज्जमो उद्यमः । आउंजणा उपयोगः अनुष्ठानमित्यर्थः । सो चेव आर्षे प्राकृते वचनादिव्यत्ययस्य बहुलं दर्शनात् । सो इत्यनेन उद्यमायोजने परामृश्येते । तेन ते एव चरणोद्योगोपयोगावेवेत्यर्थः । असढं अशाठ्यं । चरंतस्स प्रवर्तमानस्य मायाहीनमनुष्ठानं कुर्वतः इत्यर्थः । त्यक्तसुख एव हि चारित्रे प्रयतते इति । तदुद्यमस्तावद्बाह्यं तपो भवति तदारंभे परिकरत्वात् । चारित्रपरिणामोऽन्तरंगं तपो भवति । प्रायश्चित्तादीनां दुष्कृतिनिराकृतिपरत्वेन तदव्यतिरेकात् । आर्या—

त्यक्तसुखोऽनशनादिभिरुत्सहते वृत्त इत्यघं क्षिपति ॥
प्रायश्चित्तादीत्यपि चरणेन्तर्भवति तप उभयम् ॥

वृत्तं वा—

कृतसुखपरिहारो बाहते यच्चरित्रे
न सुखनिरतचित्तस्तेन बाह्यं तपः स्यात् ॥
परिकर इह वृत्तोपक्रमेणात्र पापं
क्षिपत इति तदेवेत्यस्ति वृत्ते तपोऽन्तः ॥

चारित्राराधनामें ज्ञान और दर्शनका ही अन्तर्भाव आपने दिखाया है तपका नहीं दिखाया इस शंकाका उत्तर आचार्य आगे की गाथामें देते हैं—

अर्थ—चारित्रमें जो उद्योग और उपयोग किया जाता है जिनेंद्र भगवान् उसकोही तप कहते हैं. यह तप आराधना जिसने मायाका त्याग किया है उसको होती है. अर्थात् माया–कपटाचरणका त्याग कर चारित्रमें उद्योग करना तथा उसमें उपयोग लगाना यही तप है. ऐसा इस गाथाका भावार्थ है.

विशेषार्थ—अकर्तव्य अर्थात् मिथ्यात्वादिकका त्याग करनेमें जो प्रयत्न करना उसको यहां उद्योग कहते है. जिसने सुखासक्तिको छोडा है वह ही चारित्रमें प्रयत्न करता है. ऐसे प्रयत्नशील मुनिराजको बाह्य तप चारित्र–प्रारंभ करनेके लिये सहायप्रदान करता है. अर्थात् अनशनादि बाह्य तप चारित्रका सहकारी परिकर है. इस बाह्य तपके पालनेसे मुनिवर्यकी सब प्रकारकी सुखासक्ति नष्ट होती है. यही अभिप्राय " बाहिरतवेण होदि खु सव्वा

सुहसीलदा परिचत्ता " इस गाथाके प्ररूपणमें आचार्य महाशय आगे कहेंगे. स्वाध्याय और श्रुतभावनाके जो पांच भेद है उसमें जो हमेशा परिणति करता है वह चारित्रमें परिणत हो जाता है. श्रुतभावनाके प्रभावसे आत्माका ज्ञान, दर्शन, तप और संयम ये पक्वावस्थाको प्राप्त कर लेते हैं. "सुदभावणाए णाणं दंसण तव संजमं च परिणमदि" इस गाथामें श्रुतभावनाकी महती आचार्य आगे कहेंगे. ज्ञान, दर्शन, तप आदिमें परिणति होनाही उपयोग है. चारित्राचरण करते समय जो अतिचार होते है उसकी पश्चात्तापपूर्वक निंदा करना यह आलोचना है. आलोचनामें अकर्तव्योंका परिहार करनेमें आत्माका उपयोग लगता है अतएव ऐसे उपयोगको चारित्र कहना अयोग्य नहीं है. जब मुनिको चारित्र पालते समय दोप लगते हैं तब मन वचन योगसे मैंने हा ! दुष्ट कार्य किया कराया व करनेवालोंको अनुमोदन दिया, यह अयोग्य किया ऐसा उनके आत्माका परिणाम हो जाता है. और उस समय वे अतिचारोंसे पराङ्मुख होते हैं अतः ऐसे आत्मपरिणामोंको प्रतिक्रमण कहते हैं. आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनोंके मेलको उभय कहते हैं. अतिचारको कारणीभूत ऐसे द्रव्य, क्षेत्र और कालादिकसे मनसे पृथक् रहना अर्थात् दोपोत्पादक द्रव्यादिकोंका मनसे अनादर करना यह विवेक है. यह भी आत्माका परिणामही है. जिसका त्याग करना कठिन है ऐसे शरीरसे ममत्व दूर करना अर्थात् यह शरीर मेरा नहीं है और न मैं शरीरका स्वामी हूं ऐसी जो भावना उसको व्युत्सर्ग कहते हैं. अर्थात् परिग्रहत्यागके प्रति जो उपयोग है उसको व्युत्सर्ग कहते हैं. यह प्रतिक्रमणादिरूप परिणाम चारित्ररूप है. अनशनादिक तप चारित्रके परिकर है ऐसा उपर कहा है. अतिचारसहित चारित्र अचारित्र है ऐसा बुद्धीसे निश्चित कर आत्मामें चारित्रकी वृद्धि करना, वंदना करना, खडे होना इत्यादि क्रियाओंमे असंयमका परिहार करके प्रवृत्त होना यह सब चारित्रका परिकर है. मुनिव्रत लेना अर्थात् दीक्षा धारण करना यह भी चारित्रोपयोग है. विनयके पांच प्रकार हैं. ज्ञान विनय और दर्शन विनय ये ज्ञान व दर्शनके सहायक हैं. और उनके प्रति उपयोगरूप होनेसे ज्ञान और दर्शनसे ये अभिन्न हैं. पांचो इंद्रियोंके स्पर्श रसादिक विषयोंका त्याग तथा रागद्वेषका और कषायोंका त्याग इनका चारित्राराधनामें अंतर्भाव होता है. अयोग्य वचन और शरीरकी अयोग्य चेष्टाओंका त्याग करना. जाना, बोलना, आहार लेना पदार्थोंका ग्रहण करना इत्यादि कार्योमें पापरहित प्रवृत्ति करना ये सब चारित्रोपयोग हैं. अतः इस चारित्र विनयका चारित्रमें अंतर्भाव होता है. जो तपसे श्रेष्ठ हैं ऐसे मुनिओमें तथा तपश्चर्यामें आदर रखना, किसीकी

अवहेलना न करना यह सब तपोविनय है. इसके विना तपश्चरणमें श्रेष्ठता नहीं आती है. अतः यह तप आराधनाका परिकर है. तथा यह तप आराधना चारित्राराधनाका परिकर है. कपटका त्याग करके जो तप किया जाता है वही तप आराधना है.

इस प्रकार चार प्रकारकी, दोन प्रकारकी, एक प्रकारकी आराधना कही है. ये आराधनाके भेद अथवा समग्र आराधना कारण के विना कहना योग्य नहीं है. क्योंकि पुरुष बुद्धिसे विचार कर कार्य करता है तथा उसका प्रयोजन किसी कार्य करनेसे सिद्ध होता दीखेगा तो वह उसको करनेके लिये प्रयत्न करता है. अथवा प्रयोजन सिद्धीके लिये उसके साधनोंका संग्रह प्रयत्नसे करता है. प्रयोजन सिद्ध होनेकी संभावना नहीं दीखनेपर वह कार्य करनेसे हट जाता है. अतः यह आराधना पुरुषको श्रवण कार्यमें कैसी उद्युक्त करेंगी ? ऐसे प्रश्नका उत्तर आचार्य देते है—

किसी प्रकारकी बाधा जिसमें नहीं है ऐसा मोक्षका सुख प्राप्त कर लेना यह आत्माका इष्ट प्रयोजन है. उसके सिद्धिका उपाय यह आराधना ही है. अतः इस आराधनाका विवेचन निर्वाणसुखेच्छु भव्योंका अवश्य उपयोगी होगा. ऐसा उद्देश मनमें धारण कर आचार्य आगेका प्रबंध कहते हैं. अथवा चार, दोन, एक ऐसे भेद जिसके ग्रंथकारने बताये है ऐसे इस आराधनामें मोक्षसुखेच्छु भव्योंकी प्रवृत्ति करना योग्य है. इसके निरूपणके लिये यह उत्तर प्रबंध है. इसवास्ते आत्महितका अन्वेषण-शोध करनेवाले भव्यात्माका मुक्तिसुखके लिये इसमें प्रवृत्ति करना अवश्य कार्य हैं इसलिये ग्रंथकारने " कादव्वा खु तदत्थं आदहिदगवेसिणा चेट्ठा " ऐसा उपसंहार किया है. ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीनोंमें कौन मुख्य हैं ऐसा प्रश्न किया जाने पर आचार्य चारित्र की मुख्यता दिखानेके लिये उत्तर गाथा कहते है ऐसा कितनेक विद्वान कहते हैं परंतु यह उनका कहना अयोग्य है.

अन्येऽत्र व्याचक्षते ज्ञानदर्शनचारित्रेषु किं प्रधानमिति चोद्ये चारित्रप्राधान्यख्यापनायोत्तरसूत्रमिति तदयुक्तम् ।

णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जहाखादं ॥
चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं भणियं ॥ ११ ॥

विजयोदया—' णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं जहारवादं ' इत्युक्ते ज्ञानदर्शनाभ्यां प्रधानं चारित्रं इति प्रतीतिरुपपत्तेः । त्रयाणामपि कर्मापायनिमित्ततास्ति वा न वा ? यदि नास्तीत्युच्यते सूत्रविरोधः ' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ' इति सूत्रमवस्थितम् । अथोपायतास्ति ? परार्थतया गुणत्वं त्रयाणामिति का प्रधानता चारित्रस्य ? ज्ञानदर्शने चारित्रार्थं चारित्रं तु न तदर्थमिति वक्तुं अयुक्तम् । ज्ञानदर्शनयोः साध्यत्वात्तदुपायतया चारित्रस्य चारित्रं तदर्थमिति तस्य किमित्यप्रधानता न भवति ? न हि चारित्रमंतरेण क्षायिकं ज्ञानं, क्षायिकं वीतरागसम्यक्त्वं चोपजायते । तस्मात्पूर्वोक्त एव उत्तरप्रबंधक्रमः । इदं सूत्रं यथाख्यातचारित्रस्वरूपं तत्फलं च गदितुं आयातम् । ' णाणस्स दंसणस्स य सारो ' सारशब्दोऽत्रातिशयितगुणवचनः । तथा प्रयोगः—

पढमंचिय विगलियमच्छरेण सुयणेण गहियसारम्मि ।
दोसं मोत्तूण खलो गेह्णइ कव्वम्मि किं अण्णं ॥

प्रथममेव साधुजनेन विगलितमात्सर्येण गृहीतेऽतिशयितगुणे काव्ये दोषं मुक्त्वा खलः किमन्यद्गृह्णाति इति गाथार्थः ॥

ज्ञानदर्शनयोरतिशयितरूपं किं तन्मोहनीयजन्यकलंकरहितं, चरणं चारित्रं । हवे भवेत् । जहारवादं यथाख्यातं । तथा चोक्तं—

" चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो सम्मोत्ति णिद्दिट्ठो ॥
मोहक्खोहविहूणो परिणामो अप्पणो य समो ॥ "

इति ॥ "मोहो द्विविधो दर्शनमोहश्चारित्रमोहश्च । तत्र दर्शनमोहजन्यं अश्रद्धानं शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवरूपं । चारित्रमोहजन्यौ रागद्वेषौ तदनुन्मिश्रं ज्ञानं दर्शनं च यथाख्यातचारित्रमित्युच्यते " इति सूत्रार्थः । चरणस्स चारित्रस्य, तस्स तस्य, यथाख्याताख्यस्य । सारो अतिशयितं फलं साध्यसाधनलक्षणसंबंधनिमित्ता इयं षष्ठी तेन साध्यफलं लब्धं, सारशब्दस्तु तस्यातिशयमाचष्टे। ततोऽयमर्थो जातः यथाख्यातचारित्रस्य फलमतिशयितमिति। किं तत् णिव्वाणं निर्वाणं विनाशः, तथा प्रयोगः—निर्वाणः प्रदीपो नष्ट इति यावत् । विनाशसामान्यमुपादाय वर्तमानोऽपि निर्वाणशब्दः चरणशब्दस्य निर्जीतकर्मशातनसामर्थ्याभिधायिनः प्रयोगात्कर्मविनाशगोचरो भवति । स च कर्मणां विनाशो द्विप्रकारः, कतिपयप्रलयः सकलप्रलयश्च । तत्र द्वितीयपरिग्रहमाचष्टे—अणुत्तरमिति न विद्यतेऽन्य दुत्तरमधिकं अस्मादित्यनुत्तरं । भणिदं उक्तं पवयणे इति शेषः । अथवा ज्ञानश्रद्धानयोः फलं दुःखहेतुक्रियापरिहारः यस्तद्वै फलं तत्र सन्निहितो हेतुस्ततश्चारित्राराधनायां इतरेतरान्तर्भाव इत्याख्यातम् । इदं सूत्रं ' णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जधाखादं ' इति ॥ पापक्रियादुःखहेतु तत्परिहारश्च असति ज्ञाने श्रद्धाने वा न संभवति, कश्चिन्मनसो रंजनं अप्रीतिर्वा पापक्रियाभिनवकर्मसंवरणं चिरंतननिरासं च विदधाति चरणमदो युक्तमुच्यते ' चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं ' इति ।

१ सपुस्तके यदत्र च फलमिति पाठः । २ खपुस्तके इतरान्तर्भाव इति ।

उक्तविकल्पाया आराधनायाः परमपुरुषार्थः फलमिति दर्शयितुं तत्फलत्वात्तत्र स्वहितैषिणा चेष्टितव्यमिति च वक्तुं गाथात्रयं सूत्रयंस्तत्रादौ तत्साधकतमत्वाद्यथाख्यातचारित्रस्य स्वरूपं फलं च वक्तुमिदमाह—

मूलारा—सारोऽतिशयितं रूपं । रागद्वेषरहिते ज्ञानदर्शने एव यथाख्यातं नाम यथोक्तमागमे वा चारित्रं भवति इत्यर्थः । सारो अतिशयितं फलं तस्येत्यत्र साध्यसाधनसंबंधे षष्ठीविधानात् । णिव्वाणं विनाशोऽर्थात्कर्मणामेव । अणुत्तरं न विद्यते अन्यदुत्तरमधिकमस्मादित्यनुत्तरं । यथाख्यातचारित्रस्य परममुक्तिः फलमित्यर्थः ।

अर्थ—रागद्वेष रहित ऐसे ज्ञान व दर्शन ही यथाख्यात चारित्र है. ऐसा आगममें कहा है. अर्थात् यथाख्यात चारित्र यह रागद्वेष रहित ऐसे ज्ञान दर्शनका उत्कृष्ट सार है. इस यथाख्यात चारित्रका फल निर्वाण—मोक्ष है. सर्व कर्म आत्मासे हट जानाही मोक्ष है. यह चारित्रका सर्वोत्कृष्ट फल है. ऐसा इस गाथाका संक्षेपार्थ है.

विशेषार्थ—' ज्ञान और दर्शनका सार फल यथाख्यात चारित्र है ' इस वाक्यसे ज्ञान और दर्शनसे यथाख्यात चारित्र श्रेष्ठ है एसा अर्थ कोइ विद्वान मानते हैं परंतु यह मानना असंगत हैं. हम उनको पूछते है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनोंको कर्मका नाश करनेमें निमित्तता हैं या नहीं ? यदि ये तीनो भी निमित्त नहीं है एसा कहोगे तो " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " इस सूत्रके साथ विरोध आवेगा. क्योंकि यह सूत्र ज्ञानादिकोंको कर्मनाश करनेमें निमित्त समझता है. यदि ये तीनों भी मोक्षके उपाय है ऐसा कहोगे तो तीनों भी उत्कृष्ट पदार्थ होनेसे सबको ही गुणपना प्राप्त हुवा. अतः चारित्रकी प्रधानता कैसी समझी जायगी. ? ज्ञान और दर्शन चारित्र प्राप्तिके लिये है परंतु चारित्र उनकी प्राप्तिके लिये आवश्यक नहीं है यह कहना भी योग्य नहीं है. हम तो ज्ञान और दर्शन चारित्रसे प्राप्त हो जाते हैं अतः चारित्र साधन और ज्ञान दर्शन साध्य है ऐसा समझते हैं. क्योंकि चारित्रके विना क्षायिज्ञान—केवलज्ञान और क्षायिक वीतराग सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होते. हैं अतः यह सूत्र चारित्रकी मुख्यता बतानेके लिये नहीं है, किंतु यथाख्यातचारित्रका स्वरूप और उसका फल प्रदर्शित करनेके लिये है ऐसा समझना चाहिये ' णाणस्स दंसणस्स य सारो ' यहां सार शब्द उत्कृष्ट गुण इस अर्थमें उपयुक्त हुवा है. इसका उदाहरण आचार्य लिखते हैं—

" जिसने मत्सरदोषका त्याग किया है ऐसे सज्जनने काव्यका सार भाग अर्थात् उत्कृष्ट गुण ग्रहण

करनेपर दुर्जनको दोषोंके सिवाय काव्यमें और कौनसी वस्तु प्राप्त होगी ? यहां सार शब्दका उत्कृष्ट गुण ऐसा अर्थ किया है. प्रकृत विषयमें भी वही अर्थ करना योग्य है"

मोहनीय कर्मसे उत्पन्न हुए दोष जिसमें तिलमात्र भी नहीं है ऐसा यथाख्यात चारित्र ही ज्ञान और दर्शनका उत्कृष्ट स्वरूप है.

रागद्वेषरहित जो आत्माकी समावस्था उसको चारित्र कहते हैं. मोहका उदय न होनेसे परिणामोंमें जो निर्मलता पायी जाती है उसीको समावस्था कहते हैं. इस समावस्था को धर्म कहते हैं. इसीको ही चारित्र कहते हैं. इस विषयमें ' चारित्त खलु धम्मो ' यह गाथा प्रसिद्ध है—

दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ऐसे मोहकर्मके दो भेद हैं. उसमें दर्शनमोहके उदयसे जीवादि तत्वोंपर अश्रद्धान उत्पन्न होता है, इसके शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा, अन्यदृष्टिसंस्तव ऐसे उत्तर भेद हैं. चारित्र मोहसे रागद्वेष होते हैं. इस दो प्रकारके मोहकर्मसे अलिप्त ऐसा श्रद्धान और ज्ञान ही यथाख्यात चारित्र हैं. ऐसा ' णाणस्स दंसणस्स य ' इस गाथाका अभिप्राय है.

यथाख्यात चारित्रका अतिशय फल निर्वाण है. निर्वाण शब्दका विनाश ऐसा अर्थ है. जैसे—"निर्वाणः प्रदीपो नष्ट इति यावत् " दीप निर्वाण हुवा, नष्ट हुवा, यहां निर्वाण शब्दका सामान्य अर्थ नाश ऐसा है. तो भी प्रकृत विषयमें चारित्रमें जो कर्मनाश करनेका सामर्थ्य है उसका प्रयोग यहां निर्वाण शब्दसे किया है. अर्थात् कर्मका नाश करना यह चारित्रका फल है. कर्मका नाश दो प्रकारका है. १ थोडे कर्मोंका नाश २ सर्व कर्मोंका नाश. ' णिव्वाणमणुत्तरं भणियं ' अर्थात् अनुत्तर शब्दका निर्वाण शब्दसे संबंध होनेसे सर्व कर्मोंका नाश ही यहां अभिप्रेत—इष्ट है. यही यथाख्यातका सर्वोत्कृष्ट फल है ऐसा आगममें प्रतिपादन किया है

अथवा दुःखकी कारण ऐसी क्रियाओंका परिहार होना यह ज्ञान और श्रद्धाका फल है. जहां फल रहता है. वहां उसका कारण भी रहता है जैसे घट कार्य है तो उसके साथही मट्टी रूप कारण भी रहता है. उसी तरह जहा चारित्ररूपी फल अर्थात् दुःखोंके कारणोंका परिहार एतत्स्वरूपी फल है उस आत्मामें चारित्रके हेतुरूप अर्थात् फलको उत्पन्न करनेवाले ज्ञान और श्रद्धान भी रहतेही है. अतः चारित्राराधनामें ज्ञान और दर्शनाराधनाका अंतर्भाव होना है ऐसा सिद्ध हुवा.

जितनी पापयुक्त क्रियायें हैं वे सब दुःख उत्पन्न करती हैं इसका जब आत्माको ज्ञान हो जाता है व श्रद्धान हो जाता है तब आत्मा ऐसी दुःख कारक क्रियाओंका त्याग करता है, परंतु ज्ञान व श्रद्धान न हो तो ऐसी क्रियाओंसे आत्मा विरक्त नहीं होता, ऐसी क्रियाओंमें उसको आनंद होता है व कल्याणकारक क्रियामें वह अप्रीति रखता है, जब ज्ञान दर्शन युक्त चारित्रकी आत्माको प्राप्ति होती है तब वह चारित्र नवीन कर्म आत्मामें नहीं आने देता व पूर्व बद्ध कर्मकी निर्जरा करता है, अतः इस चारित्रका उत्कृष्ट फल कर्मका पूर्ण विनाश करना ऐसा आचार्यका कहना योग्य ही है.

यज्ज्ञानं दुःखहेतुनिराकरणफलमित्यस्यान्वयप्रसाधनाय दृष्टान्तमाह—

चक्खुस्स दंसणस्स य सारो सप्पादिदोसपरिहरणं ॥
चक्खू होई णिरत्थं दट्ठूण बिले पडंतस्स ॥ १२ ॥

विजयोदया—चक्खुस्स दंसणस्स य सारो इति । चक्खुस्स चक्षुषः । द्रव्येन्द्रियमिह चक्षुरिति गृहीते निर्वृतिरुपकरणं च तज्जन्यत्वाद्रूपगोचरं विज्ञानं दर्शनं तस्य संबंधितयोच्यते । ततोऽयमर्थो जायते-चक्षुर्जन्यायाः प्रतीतेः सारो फलं किं सप्पादिदोसपरिहरण सर्पकंटकादीनां स्पर्शनादिक्रियायाः दुःखदायिन्याः परिहारः सर्पादिभिः संपाद्यत्वात् स्पर्शनभक्षणादिकः क्रियाविशेषः सर्पादिदोष इत्युच्यते, तस्य परिहरणं परिवर्जनं, ततोयं वाक्यार्थः—यज्ज्ञानं तद्दुःखनिराकरणफलं यथा चक्षुर्जन्यसर्पादिगोचरज्ञानं सर्पादिस्पर्शनभक्षणादिपरिहरणफलमिति । चक्षुर्ज्ञानमिह चक्षुरुच्यते चक्षुःप्रसूतं ज्ञानं । होदि भवति । णिरत्थं निरर्थकं । दट्ठूण दृष्ट्वा ज्ञात्वा बिलादिकमग्रतः स्थितं, बिलग्रहणमुपलक्षणं उपघातकारिणाम् । पडंतस्स पततः पुरुषस्य । अत्रापरा व्याख्या—ज्ञानाद्दर्शनाच्चात्मोपकारिविशिष्टफलदायिचारित्रं इत्युक्तं । ननु ज्ञानमिष्टानिष्टमार्गोपदर्शि तद्युक्तं ज्ञानस्योपकारित्वमभिधातुं इति चेन्न ज्ञानमात्रेण ष्टार्थसिद्धिः, यतो ज्ञानं प्रवृत्तिहीनं असत्समं । अत्र वस्तुनि दृष्टान्तदर्शनेन निगमयति-चक्खुस्स दंसणस्स य इति । ज्ञानदर्शनाभ्यामपि चारित्रस्यात्मोपकारिता कस्मिन्सूत्रे निगदिता येनोक्तमित्युच्यते । अतीतसूत्र इति चैतन्मिथ्या णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जहाखाद' । इत्यतो वाक्यात्किं ज्ञानदर्शनाभ्यां चारित्रमेवोपकारीत्ययं प्रत्ययो जायते ? एवमिति तदनुभयविरुद्धमाचरतीत्युपेक्ष्यते, न चेत्कथमुक्तमित्युच्यते । किंच तस्य सूत्रस्य या पातनिका कृता ज्ञानदर्शनचारित्रेषु किं प्रधानमित्यत्र प्रश्ने, प्रधानस्य निरूपणार्थं सूत्रमित्यनया च विरुध्यते । 'चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं भणियं ' इत्युक्तं चारित्रस्य समतारूपस्य फलमशेषकर्मापाय इत्युक्तं ॥

यज्ज्ञानं तद्दुःखनिराकरणफलं यथा चक्षुर्ज्ञानमित्यन्वयदृष्टान्तं प्रकृते दर्शयन्नाह—

मूलारा—चक्खुस्स दंसणस्स—चक्षुर्ज्ञानस्य सारो फलं। सप्पादिदोसपरिहरणं। सर्पादीनां भुजंगकीटकादीनां दोषो दुःखहेतु. स्पर्शनभक्षणादिक्रिया तस्य परिवर्जनं। चक्खू चक्षुर्ज्ञानं, णिरत्थं निष्फलं। बिले गर्तादावुपघातहेतौ॥

दुःखोंके कारणोंको दूर करना यह ज्ञानका फल है इसका अन्वय सिद्ध करनेके लिये आचार्य दृष्टांत कहते हैं—

हिंदी अर्थ—नेत्र और उससे होनेवाला जो ज्ञान उसका फल सर्पदंश, कंटकव्यथा इत्यादि दुःखोंका परिहार करना यह है. परंतु जो बिलादिक देखकर भी उसमें गिरता है उसका नेत्रज्ञान व्यर्थ है.

विशेषार्थ—यहां चक्षु शब्दका अर्थ द्रव्यचक्षु ऐसा है. इस चक्षूके निर्वृत्ति और उपकरण ऐसे दो भेद हैं. उत्सेधांगुलके असंख्येयभागप्रमाण नेत्रेंद्रियावरणक्षयोपशमविशिष्ट ऐसे आत्मप्रदेशोंकी जो नेत्राकार रचना होती है वह चक्षुकी अभ्यंतर निर्वृत्ति समझना चाहिये. नेत्राकार आत्मप्रदेशोंके उपर जो पुद्गलकी रचना होती है उसको बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं. निर्वृत्तिरूप चक्षुके संरक्षणके लिये जो कृष्ण शुक्ल मंडल तथा पापनी वगैरे रचना है वह उपकरण है. अर्थात् उपर्युक्त निर्वृत्ति और उपकरणरूप नेत्रको द्रव्यचक्षु कहते हैं. इस चक्षुसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको यहां दर्शन कहते हैं. दुःखनिराकरण करना यह ज्ञानका फल है, जैसे सर्पकंटक इत्यादि दुःखकारणोंका चक्षुसे उत्पन्न हुवा ज्ञान, सर्पादिदंश, कंटकादिव्यथाका परिहार करता है. अर्थात् ऐसे दोषोंसे मनुष्यको अलग रखना यह नेत्रज्ञानका फल है. उसी तरह दुःखोत्पादक संसारकारणोंका परिहार करना यह सम्यग्ज्ञानका फल है.

यहां दूसरी व्याख्या ऐसी है. " ज्ञान और दर्शनसे भी आत्माका अधिक हित करनेवाला विशिष्टफलदायी चारित्र है " ऐसा गत गाथामें कहा है. परंतु यहां ऐसी शंका उत्पन्न होती है—

" ज्ञान इष्ट मार्ग कोनसा और अनिष्ट मार्ग कोनसा है यह दिखाता है. अतः वह उपकार करता है ऐसा कहना योग्य है. " यह कहना योग्य नहीं है. ज्ञानमात्रसे इष्ट सिद्धि नहीं होती. कारण प्रवृत्तिहीन ज्ञान नहींके समान है. जैसे नेत्रसे ज्ञान होकर भी वह यदि कुवेमें गिरते हुवे पुरुषको नहीं बचाता है तो वह व्यर्थ है. ५७

यहां आचार्य उपर्युक्त व्याख्याकारको प्रश्न करते है—

" ज्ञान और दर्शनसे भी चारित्रका आत्माके ऊपर अधिक उपकार है " ऐसा किस गाथामें कहा है ? पूर्व गाथामें कहा है ऐसा आप कहते हैं परन्तु यह आपका कहना मिथ्या है.

'णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जहाखादं ' इस वाक्यसे ज्ञान और दर्शनसे भी चारित्रही उपकारी है ऐसा अनुभव आता है क्या ? हां आता है ऐसा कहोगे तो वह अनुभवसे विरुद्ध होनेसे उसकी उपेक्षा करनी चाहिये. यदि वह अनुभव विरुद्ध नहीं है ऐसा कहोगे तो ' कहा है ' ऐसा क्यों कहा ? और भी मुक्तिके कारण ऐसे ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीनोंमें कोन प्रधान है ? ऐसा प्रश्न होनेपर प्रधानका निरूपण करनेके लिये यह सूत्र है ऐसा जो शीर्षक आपने लिखा है वह भी आपके उपर्युक्त निरूपणसे विरुद्ध है.

कर्मापायो हि कथं पुरुषार्थः दुःखनिवृत्तिः सुखं चाभिमतं फलमित्यारेकायां प्रधानपुरुषार्थस्य अखिलबाधाव्यपगमरूपस्य सुखस्य निबंधनतयोपयोगितामाचष्टे कर्मापायस्य—

णिव्वाणस्स य सारो अव्वाबाहं सुहं अणोवमियं ॥

कायव्वा हु तदट्ठं आदहिदगवेसिणा चेट्ठा ॥ १३ ॥

विजयोदया—णिव्वाणस्स य सारो इति । निरवशेषकर्मापायस्य सारः फलं । अव्वबाहं कर्मजन्यसकलदुःखापायः कारणाभावे कार्यस्य अनुत्पत्तेः । अणोवमियं उपमातीतं । कादव्वा कर्तव्या । चेट्ठा चेष्टा । तदट्ठं अव्याबाधसुखार्थम् । आदहिदगवेसिणा आत्महितं मृगयता । क चेष्टा कार्या ? आराधनायां मृतावनतिचारज्ञानदर्शनचारित्रपरिणतिरूपायां। कस्मात् ?

निर्वाणफलमाह—

मूलारा—अव्वाबाहं निर्दुःखं दुःखहेतूनामशेषकर्मणां प्रक्षयात् । तत एव अणोवमियं अनौपम्यं । स्वर्गादिसुखानां कर्माधीनतया सव्याबाधत्वात् । तदट्ठं अव्याबाधसुखार्थं । आदहिदगवेसिणा आत्महितान्वेषिणा । चेट्ठा अनुष्ठानं । प्रकृतत्वान्मरणे ज्ञानदर्शनचारित्रतपःपरिणतिरूपायामाराधनायामिति योज्यं ।

'चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं भणियं' इस सूत्रसे समतारूप चारित्रका संपूर्ण कर्मका नाश होना यह फल है ऐसा पूर्व गाथामें कहा है. परंतु कर्मका नाश होना यह पुरुषार्थ कैसा? दुःखका नाश होना तथा इष्ट सुखकी प्राप्ति होना यही फल मानना योग्य है. ऐसी शंकाका आचार्य इस प्रकार उत्तर देते हैं—जिसमें तिलमात्र भी बाधा नहीं है ऐसे पुरुषार्थ रूपी सुखकी प्राप्ति होनेमें सर्व कर्मका नाश होना यह कारण है अतः वह उपयोगी है ऐसा विवेचन ग्रंथकार करते हैं—

हिंदी अर्थ—कर्मसे उत्पन्न हुए समस्त दुःखोंका अभाव होना यह संपूर्ण कर्मके नाशका फल है. कर्मही सर्व दुःखोंका जनक है अतः जब कर्मका पूर्ण क्षय होता है तब दुःखका लेश भी नहीं रहता है. कारणके नाशसे कार्यका नाश होना यह योग्य ही है. अतः यह दुःखाभाव अर्थात् सुख अनुपम है उपमारहित है. आत्महितका शोध करनेवाले मुमुक्षु जनोंको मरण समयमें ज्ञान दर्शन और चारित्रमें निरतिचार परिणति करना चाहिये. क्योंकि,

---

जह्मा चरित्तसारो भणिया आराहणा पवयणम्मि ॥
सव्वस्स पवयणस्स य सारो आराहणा तह्मा ॥ १४ ॥

विजयोदया—जह्मा यस्मात् चरित्तसारो चारित्रस्य ज्ञाने दर्शने पापक्रियानिवृत्तौ च प्रयतस्य चरणं प्रवृत्तिः परिणतिरिह चारित्रशब्देन गृहीता, ततोऽयमर्थो लब्धः सारः फलमिति। भणिदा कथिता। आराहणा आराधना। मृतौ अनतिचाररत्नत्रयता। पवयणम्मि प्रोच्यंते दृष्टेष्टप्रमाणाविरोधेन जीवादयः पदार्था अनेनास्मिन्वेति प्रवचनं जिनागमस्तस्मिन्। अतिशयवत्तां प्रक्रांताया आराधनाया उपसंहरत्युत्तरार्धेन सव्वस्स इत्यादिना। सव्वस्स समस्तस्य। पवयणस्स जिनागमस्य। सारो अतिशयः। आराहणा आराधना व्यावर्णितरूपा। तम्हा तस्मात्। च शब्द एवकारार्थः स चाराधनाशब्दात्परतो द्रष्टव्यः। आराधनैव सार इति।

अन्यत्र व्याख्या—यदिदमुक्तं फलं एतच्चारित्रमात्राद्भुत विशिष्टाज्जायते इत्याह—जह्मा चरित्तसारो इति। किं पातनिकायां गाथायां संवादमुपयाति न चेतीत्यत्र श्रोतारः प्रमाणं। कस्मात्? अतिशयवत्तयाराधनागमेऽभिहिता यस्मात्—

कस्मात् ?

मूलारा—चरित्तसारो चरित्रस्य जीवद्वस्थाभाविनिरतिचाररत्नत्रयप्रचतनस्य सारः फलं । आराहणा मरणे निरतिचाररत्नत्रयपरिणतिः । पवयणम्मि प्रकर्षेण दृष्टेष्टप्रमाणाविरोधेन उच्यते प्रतिपाद्यन्ते जीवादयो भावा अनेन अस्मिन्वेति प्रवचनं जिनागमस्तस्मिन् । सारोऽविशयः । आराहणा आराधनैव च शब्दस्य एवकारार्थस्यात्र संबंधनात् ॥

हिंदी अर्थ—प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाणोंके अनुसार जीवादिक पथार्थोंका जिसने अथवा जिसमें विवेचन किया है ऐसे जिनागममें ज्ञान, दर्शन और पापोंका परिहार रूपी चारित्र इन तीनोंमें जो पूर्ण उद्यमशील हुवा है उसको आराधना रूप फल प्राप्त होता है. अतः संपूर्ण जिनागमनका आराधनाही सार है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट फल है.

यहां दुसरी व्याख्या ऐसी है—उपरकी गाथामें जो फल कहा है वह चारित्रमात्रसे मिलता है या विशिष्ट चारित्रसे ? उत्तर विशिष्ट चारित्रसे मिलता है—

जम्हा चरित्तसारो इस सूत्रके उपर जो शीर्षक आपने लिखा है उसका अभिप्राय गाथाके अभिप्रायसे मिलता जुलता है या नहीं इसमें हम श्रोताओंको ही प्रमाण समझते हैं- क्योंकि आगममें आराधना सर्वोत्कृष्ट फलरूप है ऐसा कहा है.

सुचिरमवि णिरदिचारं विहरित्ता णाणदंसणचरित्ते ॥
मरणे विराधयित्ता अणंतसंसारिओ दिट्ठो ॥ १५ ॥

विजयोदया—सुचिरं अतिचिरकालमपि । णिरदिचारं अतिचारमंतरेण । विहरित्ता विहृत्य । क ? णाणदंसणचरित्ते ज्ञाने श्रद्धाने समतायां च । मरणे भवपर्यायविनाशकाले । विराधयित्ता रत्नत्रयपरिणामान्विनाश्य मिथ्यादर्शने ज्ञाने ऽसंयमे परिणतो भूत्वा । अणतससारिओ अनंतभवपर्यायपरिवर्तने उद्यतः । दिट्ठो दृष्टः । देशोनं पूर्वकोटीकालं अनतिचाररत्नत्रयप्रवृत्तानामपि मरणकाले ततः प्रच्युतानां मुक्त्यभावं संसारे चिरपरिभ्रमणकथनव्याजेन दर्शयति सूत्रकारः ।

कस्मादतिशयवत्तया मरणे आराधनागमेऽभिहितेति चेत् यस्मात्—

मूलारा—सुचिरमवि अष्टवर्षोनपूर्वकोटिकालमपि । विहरित्ता परिणतो भूत्वा मरणे भवपर्यायविनाशे वर्तमान इति शेषः । विराहयित्ता—रत्नत्रयपरिणतिं विनाश्य मिथ्याज्ञानासंयमेषु परिणतो भूत्वेत्यर्थः । अनंतसंसारिओ अनंतभव पर्यायपरिवर्तने उद्यतः ॥

हिंदी अर्थ—चिरकालपर्यंत भी ज्ञान दर्शन और चारित्रमें निरतिचार प्रवृत्ति कर मनुष्यभव छोडनेके समयमें यदि रत्नत्रय परिणामसे यह जीव भ्रष्ट होगा अर्थात् रत्नत्रयपरिणामोंका नाश कर मिथ्यादर्शन, ज्ञान और असंयममें परिणत होगा तो अनंतसंसार युक्त हो जाता है अर्थात् अनंतभवके पर्याय धारण करनेवाला होता है. जिन्होंने देशोन पूर्व कोटिकाल पर्यंत निरतिचार रत्नत्रयका पालन किया परंतु मरणसमयमें वे उससे भ्रष्ट होगये तो उनको मुक्तिका अभाव होता है यह संसारमें चिरकाल परिभ्रमणके कथनके निमित्तसे आचार्यने दिखाया है.

अनुपगतमिथ्यात्वस्य अविचलितचारित्रस्यापि परीषहपरिभवादुपगतसंक्लेशस्य महती संसृतिरिति भयोपदर्शनेन संक्लेशः परित्याज्यः इति निगदति सूत्रकारः ।

सामिदीसु य गुत्तीसु य दंसणणाणे य णिरदिचाराणं ॥
आसादणबहुलाणं उक्कस्सं अंतरं होई ॥ १६ ॥

अमितगतिश्लोक— समितिगुप्तिसंज्ञानदर्शनादिव्यपेक्षिनाम् ॥
प्रवर्तितापवादानां जायते महदंतरम् ॥ १९ ॥

विजयोदया—समिदीसु य इत्यादिना अन्ये व्याचक्षते–" उत्कस्यानंतसंसारस्य प्रमाणप्रतिपादनाय आयाता गाथा, अनंतस्यानंतविकल्पत्वात् अनंतविशेषः प्रतिपादनीयः "अस्यां व्याख्यायां उक्कस्स अंतरं होदी त्येतावदुपयुज्यते । इतरस्य वचनसंदर्भस्य अनर्थकत्वं प्रसज्यते इति । समिदीसु य सम्यगयनादिषु अयनं समितिः, सम्यक्श्रुतज्ञाननिरूपितक्रमेण गमनादिषु वृत्तिः समितिः । सावद्ययोगेभ्य आत्मनो गोपनं गुप्तिः । वस्तुयाथात्म्यश्रद्धानं दर्शनं । अपेतमिथ्या-

त्यकलंकस्यात्मनो वस्तुतत्वपरिज्ञानं मत्यादिक्षायोपशामिकं ज्ञानं । क्षायिके सति ज्ञाने आसादनाया असंभवः । मोहजन्यत्वात्संक्लेशस्य, मोहस्य च केवलज्ञानोत्पत्तेः प्रागेव विनष्टत्वात् । तथा चोक्तं—' मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ' इति । वीतरागसम्यक्त्वं च नेह गृहीतम् । मोहप्रलयमन्तरेण वीतरागता नास्तीति । ईर्यासमितेरतिचारः मंदालोकगमनं, पदविन्यासदेशस्य सम्यगनालोचनम्, अन्यगतचित्तादिकम् । इदं वचनं मम गदितुं युक्तं न वेति अनालोच्य भाषणं, अज्ञात्वा वा । अत एवोक्तं ' अपुट्ठो दु ण भासेज्ज भासमाणस्स अंतरे ' इति अपृष्ट श्रुतधर्मतया मुनिः अपृष्ट इत्युच्यते । भाषासमितिक्रमानभिज्ञो मौनं गृह्णीयात् इत्यर्थः । एवमादिको भाषासमित्यतिचारः । उद्गमादिदोषे गृहीतं भोजनमनुमनन वचसा, कायेन वा प्रशंसा, तैः सहवासः, क्रियासु प्रवर्तनं वा एषणासमितेरतीचारः । आदातव्यस्य, स्थाप्यस्य वा अनालोचनं, किमत्र जंतवः सन्ति न सन्ति वेति दुःप्रमार्जनं च आदाननिक्षेपणसमित्यतिचारः । कायभूम्यशोधनं, मलसंपातदेशानिरूपणादि, पवनसंनिवेशदिनकरादिकक्रमेण वृत्तिश्च प्रतिष्ठापनासमित्यतिचारः ॥ असमाहितचित्ततया कायक्रियानिवृत्तिः कायगुप्तेरतिचारः । एकपादादिस्थानं वा जनसंचरणदेशे, अशुभध्यानाभिनिविष्टस्य वा निश्चलता । आप्ताभासप्रतिबिंबाभिमुखतया वा तदाराधनाव्यापृत इवावस्थानं । सचित्तभूमौ संपतत्सु समंततः अशेषेषु महति वा वाते हरितेषु, रोषाद्वा दर्पात्तूर्णी अवस्थानं निश्चला स्थितिः कायोत्सर्गः । कायगुप्तिरित्यस्मिन्पक्षे शरीरममतायाः अपरित्यागः कायोत्सर्गदोषो वा कायगुप्तेरतिचारः । रागादिसहिता स्वाध्याये वृत्तिर्मनोगुप्तेरतिचारः । शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दर्शनातीचाराः। द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धिमंतरेण श्रुतस्य पठनं श्रुतातिचारः । अक्षरपदादीनां न्यूनताकरणं, अतिवृद्धिकरणं, विपरीतपौर्वापर्यरचना विपरीतार्थनिरूपणा ग्रंथार्थयोर्वैपरीत्यं अमी ज्ञानातिचाराः । उक्तातिचारविगमो निरतिचारता चारित्रादीनाम् । मरणकाले रत्नत्रयपरिणामाभावे दोष उक्तः ॥

रत्नत्रययुक्तस्यापि मरणे परीषहभावादुपगतसंक्लेशस्य महती संसृतिरिति भयोपदर्शनेन संक्लेशस्य परित्याज्यतां वक्तुमाह—

मूलारा—नन्वनन्तस्यानन्तविकल्पत्वादुक्तस्यानंतसंसारस्य प्रमाणप्रतिपादनार्थं गाथेयमित्यन्ये व्याचक्षते । तदयुक्तं । तत्र उक्कस्सं अंतरं होदि इत्येतावन्मात्रस्योपयोगित्वात् इतरस्य वचनसंदर्भस्य अनर्थकत्वप्रसंगात् । पूर्वगाथायाः संवादगाथेयमिति जयनंदिपादाः । समिदीसु–सम्यक्श्रुतनिरूपितक्रमेण गमनादिप्वयनमिति प्रवृत्तिः समितिः ।

---

१ ख पुस्तके अपुट्ठश्रुतधर्मतया मुनिरपृष्ट इति पाठः

गासु समितिषु ईर्यासमित्यादिषु पंचसु । गुप्तीषु सावद्ययोगेभ्य आत्मनो गोपनं रक्षणं निवारणं गुप्तिः तासु कायगुप्त्यादिषु तिसृषु । दंसणणाणे दर्शनमत्र सरागसम्यक्त्वं ज्ञानं च क्षायोपशमिकं ग्राह्यं तयोरेव असादनायाः संभवात् । वीतराग सम्यक्त्वक्षायिकज्ञानयोर्मोहापायप्रभवत्वेन तदभावात् । संक्लेशस्य मोहजन्यत्वेन तदभावस्तत्रावर्तनात् । णिरदिचाराणं माहात्म्यापकर्षहेतुः परिणामस्तस्मान्निष्क्रान्तानां । तत्र ईर्यासमितेरतिचारो मंदालोके गमनं पदविन्यासदेशस्य सम्यगनालोचनं, अन्यत्र गतचित्तत्वादिकं च । भाषासमितेरिदं वचो वक्तुं मम युक्तं न वेत्यनालोच्याज्ञात्वा वा भाषणमित्यादिकः ॥ एषणासमितेरुद्गमादिदोषोपहतभोजनस्य मनोवाक्कायैः करणकारणानुमोदनानि, तत्कारिभिः सह संवासो वा । आदाननिक्षेपणसमितेरादेयस्य स्थाप्यस्य वा किमत्र जन्तवः सन्ति न सन्ति वेत्यनालोचनं । दुष्प्रमार्जनमप्रमार्जनं च । प्रतिष्ठापनासमितेः कायभूम्यशोधनं, मलसंपातदेशानिरूपणमित्यादिकः ॥ कायगुप्तेरसमाहितचित्ततया कायक्रियानिवृत्तिर्जनसंचरणदेशे एकपादादिना अवस्थानमशुभध्यानाभिनिविष्टस्य निश्चलत्वमाप्ताभासप्रतिबिंबाभिमुख तया तदाराधनाव्यापृतस्येवावस्थानं ॥ सचित्तभूम्यादौ रोषाद्दर्पाद्वाऽनिश्चला स्थितिः । कायोत्सर्गे तद्दोषाः कायममत्वात्यागो वेत्यादिकः । मनोगुप्ते रागादिसहिता स्वाध्याये वृत्तिः । दर्शनस्य शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवादिकः । ज्ञानस्य द्रव्यादिशुद्धिं विनाध्ययनं, वर्णपदादीनां न्यूनाधिकत्वकरणं, विपरीतपौर्वापर्यरचना, विपरीतार्थनिरूपणं, ग्रंथार्थयोर्वैपरीत्यं, संदेहविपर्यासानध्यवसाया वा । समिदीसु य च शब्दाद्व्रतेषु च । गुत्तीसु य च शब्दात्तपसि च । आसादणबहुलाणं मरणकाले परीषहपराभवात्समित्यादिषु पुनः पुनः संक्लेशं कुर्वतां । उक्कस्सं अंतरं अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनकालमात्रमंतरालं । मरणे रत्नत्रयाच्च्युताः पुनस्तावति काले अतिक्रान्ते तल्लभंते इति भावः ॥

जो मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं हुआ है, जिसका चारित्र दृढ है ऐसा भी मुनि परीषहके भयसे यदि संक्लेश परिणामी होगा तो उसको दीर्घकाल तक संसारभय रहेगा अतः संक्लेश परिणामोंका त्याग करना चाहिये ऐसा ग्रंथकार कहते हैं.

हिंदी अर्थ—ईर्यासमित्यादि पांच समिति, मनोगुप्त्यादि पांच गुप्ति, सम्यग्दर्शन और ज्ञान ऐसे आत्महितकारक आचरणोंमें जो संक्लेश परिणाम रखते हैं, इनमें जो अतिचार लगाते हैं वे मुनि दीर्घकालतक संसारभ्रमण करते हैं.

विशेष—यहां कोइ आचार्य उपर्युक्त गाथामें, ' अनंतसंसारिओ होदि ' ऐसा शब्द आया है उसका खुलासा करनेके लिये यह गाथा है ऐसा कहते हैं. अनंतसंख्याके अनंत विकल्प होते हैं अतः उपर्युक्त अनंत संसारका प्रमाण दिखानेके लिये यह गाथा है ऐसा कोइ आचार्योंका कथन है परन्तु यह अयुक्त है. यदि इतना ही अभिप्राय होता तो ' उक्कस्सं अंतरं होदि ' इतना ही वाक्य उपयुक्त है ऐसा समझकर गाथाके तीन चरण व्यर्थ है ऐसा मानना पडेगा. अतः पूर्व गाथाका स्पष्टीकरण और सत्यताका समर्थन करनेके लिये यह गाथा है अर्थात् संक्लेश परिणाम रखनेका फल दिखानेका उद्देश इस गाथामें ग्रंथकर्तांने लिखा है ऐसा समझना चाहिये.

गमन, भाषण, आहार, वस्तु रखना, उठा लेना, मलमूत्रादिक क्षेपण करना ऐसे कार्योंमें श्रुतज्ञानमें–आगममें जैसी प्रवृत्ति करनेका वर्णन किया है वैसीहि प्रवृत्ति रखना उसको समिति कहते है. अर्थात् प्राणि हिंसा न हो, उनका संरक्षण हो इस तरहसे प्रवृत्ति करना वह समिति है.

मनवचनकायकी अशुभ प्रवृत्तीसे आत्माको दूर रखना अर्थात् अशुभ प्रवृत्तीको छोड देना यह गुप्ति है. जीवादितत्वोंपर यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है. जिससें मिथ्यात्वदोष हट गया है ऐसे जीवको वस्तुके स्वरूपका जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान है. उसके यहां मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय ऐसे चार भेद मानने चाहिये. ये ज्ञानभेद क्षायोपशमिक हैं. क्षायिकज्ञानमें आसादना नहीं रहती है. क्योंकि, मोहजन्य संक्लेशपरिणाम और मोहकर्म केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पूर्व ही नष्ट होते हैं. ' मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलं ' ऐसा सूत्रकार उमास्वामीका भी वचन है. इसवास्ते यहां केवलज्ञानका ग्रहण नहीं किया है. वीतराग सम्यक्त्वका भी यहां ग्रहण नहीं किया है क्योंकि वह भी मोहका नाश हुये बिना होता नहीं.

ईर्यासमितीके अतिचार–सूर्यके मंदप्रकाशमें गमन करना, जहां पांव रखना हो वह जगह नेत्रसे अच्छी तरहसे न देखना, इतर कार्यमें मन लगना इत्यादि.

भाषासमितीके अतिचार–यह भाषण बोलना योग्य है अथवा नहीं इसका विचार न कर बोलना. वस्तुका स्वरूपज्ञान न होनेपर भी बोलना. ग्रंथांतरमें भी ' अपुट्ठो दु ण भासेज्ज भासमाणस्स अंतरे ' कोइ मनुष्य बोल रहा है और अपनेको प्रकरण, विषय मालूम नहीं है तो बीचमें बोलना अयोग्य है. जिसने धर्मका स्वरूप सुना

नहीं अथवा धर्मस्वरूपका जिसको पूर्णतया ज्ञान नहीं है ऐसे मुनिको अपुष्ट कहते हैं. भाषासमितिका क्रम जो जानता नहीं वह मौन धारण करे ऐसा यहां अभिप्राय समझना. इस तरह भाषासमितिके अतिचार हैं.

एषणासमितीके अतिचार–उद्गमादि दोषोंसे सहित भोजन लेना, मनसे, वचनसे ऐसे आहारको सम्मति देना, उसकी प्रशंसा करना, ऐसे आहारकी प्रशंसा करनेवालोंके साथ रहना, प्रशंसादि कार्यमें दुसरोंको प्रवृत्त करना.

आदाननिक्षेपणसमितीके अतिचार–जो चीज लेनी है अथवा रखनी है वह लेते समय अथवा रखते समय इसमें जीव है या नहीं इसका खयाल–ध्यान नहीं रखना. तथा अच्छी तरहसे जमीन व वस्तु स्वच्छ न करना.

प्रतिष्ठापन समितीके अतिचार–शरीर व जमीन पिच्छिकासे न पोछना, मलमूत्रादिक जहां क्षेपण करना है वह स्थान न देखना.

मनकी एकाग्रता विना शरीरकी चेष्टायें बंद करना काय गुप्तिका अतिचार है. जहां लोक भ्रमण करते हैं ऐसे स्थानमें एक पाव उपर कर खडे रहना, एक हाथ ऊपर कर खडे रहना. मनमें अशुभ संकल्प करते हुए अनिश्चल रहना. आप्ताभास–हरिहरादिक की प्रतिमाके सामने मानो उसकी आराधना ही कर रहे हैं इस ढंगसे खडे रहना या बैठना. सचित्त जमीनपर जहां कि बीज अंकुरादिक पडे है ऐसे स्थलपर रोषसे, वा दर्पसे निश्चल बैठना अथवा खडे रहना. ये कायगुप्तीके अतीचार हैं. कायोत्सर्गको भी गुप्ति कहते हैं अतः शरीरममताका त्याग न करना, किंवा कायोत्सर्गके दोषोंको न त्यागना ये भी कायगुप्तीके अतिचार हैं. रागादिविकार सहित स्वाध्यायमें प्रवृत्त होना, मनोगुप्तिके अतिचार हैं.

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि प्रशंसा, संस्तव ये पांच सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं. इसका खुलासा आगे आचार्य करेंगे.

द्रव्य शुद्धि, काल शुद्धि, भाव शुद्धि, क्षेत्र शुद्धि इन शुद्धिओंके विना शास्त्रका पठन करना यह श्रुतातिचार है. अक्षर, शब्द, वाक्य, चरण इत्यादिकोंको कम करना, बढाना, पीछेका संदर्भ आगे लाना, आगेका पीछे करना, विपरीत अर्थका निरूपण करना, ग्रंथ व अर्थमें विपरीतता करना ये सब ज्ञानातिचार हैं. संदेह, विपर्यय, अनध्यवसाय ये भी ज्ञानके अतिचार हैं. उपर्युक्त अतिचारोंसे समितिगुप्त्यादिक रहित होनेसे चारित्रादिकोंमें निर्मलता आती है.

इदानीमाराधनाफलातिशयख्यापनायाह—

दिट्ठा अणादिमिच्छादिट्ठी जह्मा खणेण सिद्धा य ॥
आराहया चरित्तस्स तेण आराहणा सारो ॥ १७ ॥

चारित्राराधने सिद्धाश्चिरमिथ्यात्वभाविताः ॥
क्षणाद्दृष्टा यतः सूत्रे चारित्राराधना ततः ॥ २० ॥

विजयोदया—दिट्ठा इत्यादिकं । दिट्ठा दृष्टा उपलब्धाः । अणादिमिच्छादिट्ठी अनादिमिथ्यादृष्टयः । भद्दणाद्यो राजपुत्रास्तस्मिन्नेव भवे त्रसतामापन्नाः अत एवानादिमिथ्यादृष्टयः प्रथमजिनपादमूले श्रुतधर्मसाराः समारोपितरत्नत्रयाः । जह्मा यस्मात्क्षणेन क्षणग्रहणं कालस्याल्पत्वोपलक्षणार्थम् अन्यथा क्षणस्याल्पकालतया कर्मशातनस्य कर्तुमशक्यत्वात् सकलकर्मशातनपुरस्सरं सिद्धत्वमेव न स्यात् । सिद्धा य सिद्धाश्च परिप्राप्ताशेषज्ञानादिस्वभावाः, चशब्देन निरस्तद्रव्य भावकर्मसंहतयश्च, दृष्टा आराधनासंपादकाः । चरित्तस्स चारित्रस्य । चारित्रग्रहणं रत्नत्रयोपलक्षणं । एतेन चारित्राराधनां स्तौति इत्येतद्व्याख्यानं निरस्तं । चारित्राराधनास्तवनस्य नायं प्रस्तावः । आयुरंते रत्नत्रयपरिणतिरिह प्रक्रांतं स्तोतुं, किमुच्यते चारित्राराधनां स्तौतीति ।

एवं मरणसमये रत्नत्रयविराधनाया दोषं प्रकाश्येदानीं तदाराधनायाः फलातिशयं प्रकाशयति—

मूलारा—अणाइमिच्छाइट्ठी अनादिकालं मिथ्यात्वोदयोद्रेकान्नित्यनिगोदपर्यायमनुभूय भरतचक्रिणः पुत्रा भूत्वा भद्रविवर्द्धनादयस्त्रयोविंशत्यधिकनवशतसंख्याः पुरुदेवपादमूले श्रुतधर्मसाराः समारोपितरत्नत्रयाः खणेण अल्पकालेनैव सिद्धा य सिद्धाः संप्राप्तानंतज्ञानादिस्वभावाश्चशब्दान्निरस्तद्रव्यभावकर्मसंहतयश्च । चरित्तस्स रत्नत्रयस्य । तेण तेन कारणेन आराहणा आयुरन्ते रत्नत्रयपरिणतिः । सारो सर्वाचरणानां परमाचरणम् ।

मरणकालमें रत्नत्रयपरिणति न होनेसे दीर्घकालपर्यंत संसारभ्रमण करना पडता है इस दोषका वर्णन किया. अब आराधनाके फलका माहात्म्य कहनेके लिये ग्रंथकार कहते हैं—

हिंदी अर्थ—चारित्रकी आराधना करनेवाले अनादि मिथ्यादृष्टी जीव भी अल्पकालमें संपूर्ण कर्मोंका नाश करके मुक्त हो गये ऐसा देखा गया है. अतः जीवोंको आराधनाका अपूर्व फल मिलता है, ऐसा समझना चाहिये.

भावार्थ—अनादिकालसे मिथ्यात्वका तीव्र उदय होनेसे अनादिकाल पर्यंत जिन्होंने नित्य निगोदपर्यायका अनुभव लिया था ऐसे नउशे तेवीस जीव निगोदपर्याय छोडकर भरत चक्रवर्तीके भद्रविवर्धनादि नाम धारक पुत्र उत्पन्न हुए थे. उनको आदिभगवानके समवसरणमें द्वादशांग वाणीका सार सुननेसे वैराग्य होगया. ये राजपुत्र इसही भवमें त्रसपर्यायको प्राप्त हुये थे. इन्होनें जिनदीक्षा लेकर रत्नत्रयाराधनासे अल्पकालमें ही मोक्ष लाभ किया. अर्थात् मरणसमयमें इन्होनें रत्नत्रयकी विराधना नहीं की इसलिये उनको आराधनाका उत्कृष्ट फल–मोक्ष प्राप्त हुवा. ऐसे अनादि मिथ्यादृष्टिओंका भी रत्नत्रयसे सर्व कर्म नष्ट होता है व अनंत ज्ञानादिगुणरूप सिद्धत्व प्राप्त होता है.

गाथामें 'चारित्तस्स य आराहया' यह शब्द है. चारित्रका अर्थ यहां रत्नत्रय ऐसा समझना चाहिये. अतः 'चारित्राराधनाकी स्तुति करते हैं' ऐसा कोइ व्याख्यान करते है उनका खंडन हो गया. क्योंकि यहां चारित्राराधनाका महत्त्व बतानेका प्रसंग नहीं है. आयुके अंतमें रत्नत्रय परिणामकी विराधना नहीं करना चाहिये यह अभिप्राय इस गाथामें कहा है. अतः 'चारित्राराधनाकी स्तुति करते हैं' ऐसा व्याख्यान करना योग्य नहीं है.

'सव्वस्स पवयणस्स य सारो आराहणा तहा' इति यदुच्यते, यस्मिन्नेव काले मरणं तस्मिन्नेव काले रत्नत्रयपरिणतेन भाव्यं हितार्थिना अन्यदा किमिति चारित्रे तपसि च प्रयासः क्रियते इति शिष्यशंकामुपन्यस्यति सूत्रकारः—

जदि पवयणस्स सारो मरणे आराहणा हवदि दिट्ठा ॥
किं दाइं सेसकाले जदि जददि तवे चरित्ते य ॥ १८ ॥

मूलाचाराधनासारो यदि प्रवचने मतः ॥
किमिदानीं सदा यत्नश्चतुरंगे विधीयते ॥

विजयोदया—जदि पवयणस्स इत्यादिना । पवयणस्स प्रवचनस्य । सारो अतिशय इति । मरणे आयुरंते। आराहणा आराधना रत्नत्रयपरिणतिः । जदि दिट्ठा इति पदसंबंधः यद्युपलब्धा । हवदि भवेत् । किदाइं किमिदानीं । सेसकाले मरणकालादन्यः कालः शेषकालस्तत्र जददि प्रयतनं क्रियते । क तवे तपसि । चरित्ते सामायिकादिके सावद्यक्रियापरिहारात्मके । चशब्दात् ज्ञानदर्शनयोश्च । एतदुक्तं भवति—ग्रहणकालादिषु भावितरत्नत्रयस्यापि मरणे तदभावे यदि न सिद्धिः, अकृतभावनस्यापि मृतौ रत्नत्रयसान्निध्यात्सा सिद्धिर्यदि भवति मरणकालवर्तिरत्नत्रयमेव निर्वाणहेतुरित्यापन्नं ततश्च शेपकाले प्रयासो विफल इति । अस्योत्तरं—मरणे या विराधना सा महतीं संसृतिमावहति । अन्यदा जातायामपि विराधनायां मृतिकाले रत्नत्रयोपगतौ संसारोच्छित्तिर्भवत्येव ततो मरणकाले प्रयत्नः कार्य इत्यस्माभिरुपन्यस्तं । इतरकालवृत्तं तु रत्नत्रयं संवरनिर्जरयोर्घातिकर्मणां च क्षयकारणनिमित्तं इतीष्यत एव। तथा चोक्तं— ' सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशो ऽसंख्येयगुणनिर्जराः ' इति एतेषामसंख्यातगुणनिर्जरा सम्यग्दर्शनादिगुणनिमित्तात्कथमफलता ?

अत्राह शिष्यः—

मूलारा—किं दाइं किमिदानीं । सेसकाले मरणकालादन्यत्र ग्रहणशिक्षाप्रतिसेवनाभावनासंल्लेखनाकालेष्वित्यर्थः । जदिज्जदि यत्नः क्रियते । चरित्ते य च शब्दाज्ज्ञाने दर्शने च । इदमत्र तात्पर्यं ग्रहणादिषु भाविते ऽपि रत्नत्रये मृतावभाविते यदि सिद्धिर्न स्यादन्यदा तदभावनेऽपि मरणे तत्परिणतौ सा स्यात्तदा साऽन्यदा मुधैव भवेत् । मरणकालवर्तिन एव रत्नत्रयस्य निर्वाणहेतुत्वापत्तेः । अत्रोच्यते—मृतौ विराधना महतीं संसृतिमावहत्यन्यदा पुनर्जातायामपि तस्यां मृतावाराधनायां भवोच्छेदो भवत्येव । ततो मरणे तत्र प्रयतितव्यमित्यस्माभिरुपन्यस्तम् । ग्रहणादिकालभावितं तु रत्नत्रयमचरमदेहस्य अशुभकर्मणां संवरनिर्जरयोश्चरमदेहस्य च घातिकर्मक्षयेऽपि निमित्तमिष्यतेऽत एव । तथा चोक्तं—सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽ संख्येयगुणनिर्जराः ॥ इति । तदचोद्यमचोदि त्वया ।

सर्व द्वादशांगका सार आराधना है. ऐसा आपने कहा है. अतः मरण कालमेंहि हितार्थी पुरुषको रत्नत्रयकी आराधना करना योग्य है. अन्य कालमें चारित्र और तपमें क्यों प्रयास किया जाता है. ऐसी शिष्यकी शंका आगेके गाथामें आचार्य प्रगट करते हैं—

हिंदी अर्थ—आगमका सार ऐसी रत्नत्रयपरिणति मरण कालमें यदि होती हुई देखी जाती है तो मरणकालसे भिन्न कालमें अर्थात् दीक्षा ग्रहण, शिक्षा ग्रहण, गण पोषण, आत्म संस्कार इत्यादि कालमें चारित्र और तपश्चरणमें प्रयत्न करनेकी क्या आवश्यकता है ? अर्थात् अनशनादिक तप, सामायिकादिक चारित्र और सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन इनमें प्रवृत्ति करना व्यर्थ है. दीक्षा, शिक्षा वगैरे कालमें रत्नत्रयकी आराधना करने पर भी मरणकालमें यदि रत्नत्रयकी आराधना न हो तो सिद्धिप्राप्ति नहीं होती है. और यदि अन्यकालमें रत्नत्रयभावना नहीं की और मरणकालमें रत्नत्रयाराधनासे मोक्ष प्राप्त हो गया तो मरणकालीन रत्नत्रयही मोक्षका कारण है ऐसा सिद्ध होता है. अतः शेषकालमें रत्नत्रयाराधना करना निष्फलही है, श्रयम मात्रही है.

इस शंकाका उत्तर—मरणसमयमें रत्नत्रयकी विराधना करनेसे विराधकको दीर्घ कालतक संसारमें भ्रमण करना पडता है. परंतु दीक्षादि कालमें विराधना होगई हो तो भी मरण कालमें रत्नत्रयकी प्राप्ति हो जानेसे संसारका नाश हो जाता है अतः मरणकालमें रत्नत्रयमें परिणति करनी चाहिये ऐसा हमारा अभिप्राय है. इतर कालमें रत्नत्रयाराधना की तो वह विफल नहीं होती है. उससे कर्मका संवर और निर्जरा होती है. तथा घाति कर्मका क्षय करनेमें वह निमित्त होगी ऐसा हम समझते है. "सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशांतमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः" सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत इत्यादिक व्यक्तियोंको सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे उत्तरोत्तर असंख्यात गुण रूपसे निर्जरा होती है ऐसा सूत्रकार उमास्वाम्याचार्य कहते हैं. अतः दीक्षा शिक्षादि कालमें रत्नत्रयाराधना व्यर्थ नहीं है. क्षायिक सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र यह सब साध्य इतर कालीनभावनासे भी प्राप्त होते हैं अतः व्यर्थ नहीं है. अतः तुम्हारे प्रश्नके अनुसार भी शंकाका परिहार करना शक्य है. यही बात आगेके गाथासे दिखाते है—

क्षायिक सम्यक्त्वं ज्ञानं चारित्रं च यत्साध्यं तदखिलमवाप्यत एव इतरकालवृत्तयापि भावनया । तदेव चोद्यं चोद्यते इति चेतसि कृत्वा सूरिश्चोद्यानुसारेणापि परिहर्तुं शक्यते इत्याचष्टे ॥

आराहणाए कज्जे परियम्मं सव्वदा वि कायव्वं ॥
परियम्मभाविदस्स हु सुहसज्झाराहणा होइ ॥ १९ ॥

परिकर्म विधातव्यं सर्वदाराधनार्थिना ॥
सुसाध्याराधना तेन भावितस्य प्रजायते ॥ २२ ॥

विजयोदया—आराहणाए कज्जे इति । आराधनाशब्दः सम्यग्दर्शनादिपरिणामसंसिद्धिमनाश्रितकालभेदां प्रतिपादयितुं उद्यतोऽपि मरणे विराधयित्ता इत्यत्र मरणकालविशेषस्य प्रस्तुतत्वात् प्रकरणानुरोधेन तद्विषयायामेवाराधनायां प्रवृत्तो गृह्यते । ततोऽयमर्थः—मृतिकालगोचररत्नत्रयसिद्ध्यर्थं परियम्मं परिकर्म परिकरः । सव्वदा सर्वस्मिन्नपि काले—ग्रहणकाल', शिक्षाकाल', प्रतिसेवनाकालः सल्लेखनाकालश्चेह सर्वशब्देन गृह्यते । करणिज्जं अवश्यकरणीयं । कुतोऽयं नियोग इत्याशंक्याह—परिकम्मभाविदस्स खु परिकरेण भावितस्यैव खु शब्दोऽवधारणार्थः । सुहसज्झा होदि सुखेन क्लेशमंतरेण साध्या भवति । का आराधणा आराधना मृतिगोचरा ॥

तथापि तदनुसारेणापि परिहर्तुं शक्यते इतीदमुच्यते ।

मूलारा–आराहणाए कज्जे—मृतिकालगोचररत्नत्रयसंसिद्ध्यर्थं । परियम्मं—परिकरः सम्यक्त्वाद्यनुष्ठानं । सव्वदा वि—दीक्षाशिक्षागणपोषणात्मसंस्कारसल्लेखनाकालेषु । करणिज्जं अवश्यमेव कर्तव्यम् । हु एवार्थे परिकर्मभावितस्यैवेत्यर्थः । येन हि यत्साध्यं तेन तत्पूर्वं परिकरो निषेव्यः ।

हिंदी अर्थ—मरणसमयमें रत्नत्रयकी सिद्धिके लिये सम्यग्दर्शनादि कारणकलापकी अवश्य प्राप्ति कर लेना चाहिये. अर्थात् दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना इत्यादिकालमें सम्यग्दर्शनादिककी प्राप्ति कर लेना कर्तव्य है. जिसने दीक्षादिकालोंमें सम्यग्दर्शनादिको की अच्छी भावना–अभ्यास की है उसको मरणसमयमें विना क्लेशके रत्नत्रयाराधना सिद्ध होगी.

येन हि यत्साध्यं तेन पूर्वं तस्य परिकरोऽनुष्ठेय इत्यमुं अर्थं दृष्टांतबलेन साधयितुमुत्तरसूत्रम् । तथा च वदंति ' दृष्टांतसिद्धावुभयोर्विवादे साध्यं प्रसिद्ध्येत् ' इति ।

जह रायकुलपसूओ जोग्गं णिच्चमवि कुणइ परिकम्मं ॥
तो जिदकरणो जुद्धे कम्मसमत्थो भविस्सदि हि ॥ २०

राजन्य सर्वदा योग्यां विदधानः परिक्रियाम् ॥
शक्तो जितश्रमीभूतः समरे जायते यथा ॥ २३ ॥

विजयोदया—जह यथा। राजकुलपसूदो राजपुत्रः। जोग्गं योग्यं। प्रहरणक्रियायाः परियम्मं परिकर्म परिकरं। णिश्चमवि समरकालात्प्राक्प्रतिदिवसमपि। कुणदि करोति। तो ततः पश्चात्। जिदकरणो क्रियंते रूपादिगोचरा विज्ञसय एभिरिति करणानि इंद्रियाण्युच्यंते क्वचित्करणशब्देन। अन्यत्र क्रियानिष्पत्तौ यदतिशयितं साधकं तत्करणमिति साध_ कतममानमुच्यते। क्वचित्तु क्रियासामान्यवचनः यथा डुकृञ् करणे इति। अत्र क्रियावाची गृहीतः। जितशब्दश्च स्ववशी-करणवृत्तिस्तया जितभार्यः स्ववशीकृतभार्यः इति गम्यते। तेनायमर्थः स्ववशीकृतक्रियः सन् जुद्धे युद्धे समरे। कम्मसमत्थो कर्मसमर्थः। कर्मशब्दो ऽनेकार्थः। मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायैर्ज्ञानप्रतिबंधादिसामर्थ्योध्यासितानि क्रियंते इति कर्माणि ज्ञानावरणादीनि। कर्तुः क्रियया व्यापकत्वेन विवक्षितमपि कर्म, यथा कर्मणि द्वितीयेति। तथा क्रियावचनोऽपि अस्ति, किं कर्म करोषि ? कां क्रियामित्यर्थः। इह क्रियावाची गृहीतः। सा चात्र क्रियाऽव्यधनप्रहरणताडनादिका तस्यां, समत्थो भविस्सदि समर्थो भविष्यामीति ॥ यो यत्साधयितुं वांछति स तत्परिकर्मणि प्राक् प्रयतते, यथा रिपूनिहन्तुकामो हननकर्मोपायं अस्त्रशिक्षां करोति इत्येतावानर्थोऽनया गाथया दर्शितः।

कोऽत्र दृष्टान्त इति चेदुच्यते—

मूलारा—जोग्गं युद्धयोग्यं। णिच्चमवि युद्धकालात्प्राक् प्रतिदिवसमपि। परियम्म शस्त्राद्यभ्यासं। तो पश्चात्। जिदकरणो स्ववशीकृतक्रियः सन्। कम्मसमत्थो व्यधनादिकार्यक्षमः। भविस्सति अहं भविष्यामीति मत्वा।

जिस पुरुषको जो कार्य सिद्ध करना है वह उसके कारण कलापका संग्रह करे इस अर्थको दृष्टांत बलसे सिद्ध करनेके लिये आगेका सूत्र है. वादी प्रतिवादीके विवादसमयमें दृष्टांतके द्वारा साध्यकी सिद्धि होती है. इस न्यायसे प्रस्तुत आराधनाकी सिद्धिके लिये आचार्य दृष्टांतप्रदर्शन करते है—

हिंदी अर्थ— जैसा राजपुत्र शस्त्रविद्याके साधनभूत कारणसामग्रीका नित्य अभ्यास करता है अर्थात् युद्धके पूर्वकालमें दररोज शस्त्रोंका अभ्यास करता है, उसके प्रभावसे वह शस्त्रविद्यामें पूर्ण स्वाधीनक्रिय होता है. अर्थात्–निपुण होता है जिससे युद्धमें लक्ष्यभेद, शब्दभेदादिकार्य करनेमें वह समर्थ होता है. उसी तरह मुनि भी आराधनाओंका हमेशा अभ्यास करनेसे मरणकालमें रत्नत्रय सिद्ध करेंगे.

विशेष—गाथामें जिदकरणो यह शब्द है. यहां करण शब्दके अनेक अर्थ हैं. रूपादिविषयको ग्रहण करनेवाले ज्ञान जिनसे उत्पन्न होते हैं वे करण हैं. अर्थात् करण शब्दका इंद्रिय ऐसा अर्थ होता है. इंद्रियोंसे रूपादिक पदार्थोंका ज्ञान उत्पन्न होता हैं. कार्य उत्पन्न करनेमें कर्ताको जो अतिशय सहायक होता है उसको भी करण अर्थात् साधकतम कहते हैं. जैसे देवदत्त कुल्हाडीसे लकडी काटता है. कुल्हाडीके विना लकडीका काटना देवदत्तसे असंभव है अर्थात् लकडी काटनेमें देवदत्तको कुल्हाडी अतिशय मदत करती है अतः वह करण साधकतम कहलावेगी. करण शब्दका कहां कहां सामान्यक्रिया ऐसा भी अर्थ माना है. यथा डुकृञ् करणे. प्रस्तुत प्रकरणमें करण शब्दका क्रिया ऐसा अर्थ इष्ट है. ' जित ' शब्दका अर्थ अपने तांबेमें रखना, पूर्णहस्तगत करना ऐसा है. जैसे—जितभार्यः स्ववशीकृतभार्यः अर्थात् जिसने पत्नीको अपने स्वाधीन रक्खा है ऐसा मनुष्य. प्रस्तुत प्रकरणमें ' जिदकरणो स्ववशीकृतक्रियः ' अर्थात् शस्त्रादिकोंको घुमाना, लक्ष्यभेद करना इत्यादि क्रियाओंमें निपुण उसमें न चुकनेवाला ऐसा समझना चाहिये. ' कम्मसमत्थो ' इस समस्त शब्दमें कम्म शब्दके अनेक अर्थ हैं जैसे—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषायोंके द्वारा जो ज्ञानादिक गुणोंको प्रतिबद्ध करनेके सामर्थ्यसे युक्त किये जाते हैं उनको कर्म कहते हैं. अर्थात् ज्ञानावरणादिकोंको कर्म कहते हैं. कर्ताकी होनेवाली क्रियाके द्वारा जो व्याप्त होता है उसको कर्मकारक कहते हैं. कर्मकी व्याकरण शास्त्रमें द्वितीया होती है. जैसे सूत्र—' कर्मणि द्वितीया ' ' घटं करोति देवदत्तः ' इस वाक्यमें देवदत्त कर्तृत्व क्रियासे घटको व्यापता है. अर्थात् घट कर्तृत्वक्रियासे व्याप्य होता है. कर्म शब्दका ' क्रिया ' ऐसा भी अर्थ है. यहां कर्म शब्द क्रियावाची समझना. जैसे ' किं कर्म करोषि ' तू कोनसा कार्य करता है ? ' कम्मसमत्थो इसका अर्थ—छुट जाना, प्रहार करना, ठोकना इत्यादि कर्म शब्दका अभिप्राय यहां समझना चाहिये.

जो जिस कार्यको साधनेकी इच्छा रखता है वह उसके साधनभूत सामग्रीमें प्रथम प्रयत्न करता है. जैसे शत्रुको मारनेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य मारनेकी साधन भूत शास्त्र विद्या पढता है उसी तरह मुनि भी आराधनाओंका अभ्यास करके मरण कालमें रत्नत्रयकी प्राप्ति कर लेते हैं.

स्वार्थे हेतोः पदधर्मयोजनायात्—

इय सामण्णं साधू वि कुणदि णिच्चमवि जोगपरियम्मं ॥

तो जिदकरणो मरणे झाणसमत्थो भविस्संति ॥ २१ ॥

श्रामण्यं सर्वदा कुर्वन्परिकर्म प्रजायते ॥

आभ्यस्त (अभ्यस्त) करणः साधुर्ध्यानशक्तो मृतौ तथा ॥ २४ ॥

विजयोदया—इय सामण्णमिदि । इय एवं । सामण्णं समणस्स भावो सामण्णं समता इत्यभियुक्ता निरुक्तिमाहुः । यतोऽस्याभिधानप्रत्ययौ इति भावशब्देन द्रव्यशब्दस्य वृत्तौ निर्दिष्टं ततो गुण उच्यते । तथा चोक्तम्—यस्य गुणस्य भावाद्द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलाविति । ततोऽत्रापि समण इत्यस्य शब्दस्य जीवे प्रवृत्तौ किं निमित्तं गुणः समता क जीविते, मरणे, लाभेऽलाभे, सुखे, दुःखे, बंधुषु, रिपौ च एतेषु रागः क्वचि-दपि द्वेषाभावः समानता, तदुभयाकरणं जीवितादिस्वरूपपरिज्ञानं समचित्तता । अर्थयाथात्म्यग्राहित्वेन जीवितादिविषयाणां ज्ञानानां समता । जीवितं नाम प्राणधारणं तदायुरायत्तं न ममेच्छया वर्तते, सत्यामपि तस्यां प्राणानामनवस्थानात् । सर्वं हि जगदिच्छति प्राणानामनपायं न च तेऽवतिष्ठन्ते । मरणं नाम इंद्रियादिप्राणेभ्यो वियम आत्मनः । यथा चोक्तम् । मृङ् प्राणत्यागे इति । त्यागो हि वियोग आत्मनः सकाशात्प्राणानां पृथग्भावः । स चायुः संज्ञितानां पुद्गलानां अशेषगलनात् । अथ द्रव्येंद्रियाणां उपघातकशरादिद्रव्यसंपाताद्भावेंद्रियस्य चोपयोगस्य विनाशः विज्ञानावरणोदयात् । तदुदयादेव च, लब्धेरभावः । वीर्यान्तरायोदयात्रिविधबलप्राणहानिः । मुखस्य नासि-कायाश्च पिधानात् श्लेष्मादिनावरोधात् उच्छ्वासनिश्वासहानिः । अभिमतस्य लाभो लाभांतरायक्षयोपशमात् । अलाभस्तदुदयात् । सुखं नाम प्रीतिः सद्वेद्योदयात् अभिलषितविषयसान्निध्यात् । दुःखं तु बाधात्मकमसद्वेद्योदयहेतुकम् । बंधवो नाम न नियताः सन्ति केचन । संसृतौ परिभ्रमतः उपकारापेक्षा हि ते यदि त एव अन्यदा कृता-पकाराः इति किमारयः ? अरयोऽपि कदाचिदुपपादितानुग्रहा इति किं न बंधवः ? अपि च स्नेहस्य सर्वासंयम-मूलस्य हेतुतया सन्मार्गप्रतिबंधकारितया च ते महाशत्रवः । किं च पुण्योदयादेव संपद्यते सकलं सुखं । सुख-हेतुरनुमानिष्यं च । विपुण्यस्य न ते, किंचिदपि कर्तुं क्षमाः । न च कुर्वन्ति । तथा हि—मातरं त्यजति पुत्रः सा च सुतं । तथाऽसत्यसद्वेद्योदये न कश्चित्किंचिदप्यपकारं करोति । बाह्या हि शत्रवो नाभ्यंतरकर्माणि शमनि पीडामुपजनयन्ति । इत्येवंभूता सर्वत्र समचित्तता सामण्णं । साधू वि साधुरपि । कुणदि करोति । णिच्चमवि नित्यमपि सर्वदापि । जोगपरियम्मं योगशब्दोऽनेकार्थः । 'योगनिमित्तं ग्रहणं' इत्यात्मप्रदेशपरिस्पंदे

१ ख पुस्तके निमित्तभूतः इति पाठः ।

त्रिविधवर्गाणासहायमाचष्टे। कचित्संबंधमात्रवचनः 'अस्यानेन योग' इति। कचिद्ध्यानवचनः यथा 'योगस्थित' इति। इहार्थं परिगृहीतः। ततो ध्यानपरिकरं करोतीति यावत्। रागद्वेषमिथ्यात्वासंश्लिष्टं अर्थयाथात्म्यस्पर्शि प्रतिनिवृत्त विषयांतरसंचारं ज्ञानं ध्यानमित्युच्यते। अभावितसमानभावोऽनधिगतवस्तुसद्भावश्च ध्यातुं न क्षमते इति भावः। तो ततः पश्चाज्जितकरणो इत्यत्र करणशब्दः अंतःकरणे मनसि वर्तते ततोऽयमर्थः। स्ववशीकृतचित्तोऽहं मरणे भवपर्यायनाशवेलायां। ज्ञाणसमत्थो ध्यानस्यैकाग्रचिन्तानिरोधस्य। ध्यानशब्दोऽत्र प्रशस्तध्यानविषये ग्राह्योना शुभ-योर्नारकतिर्यग्गतिनिर्वर्तनप्रवणयोः। योगे परिकर्मणि सदात्मनः प्रवृत्तत्वात् अयत्नसाध्यता। धर्मशुक्लयोर्निवर्तने समत्थो शक्तः भविस्संति भविष्यामीति॥

यो यच्चिकीर्षति स तत्परिकर्मणि प्राक् प्रयतते। यथा रिपूञ्जिघांसुस्तद्धननक्रियायोग्यायामस्त्रशिक्षायामिति दर्शयित्वा इदानीं हेतोः पक्षधर्मत्वयोजनायाह—

मूलारा—इय एवं। सामण्णं जीवितमरणादिषु समानस्य भावस्तत् समचरितत्वं, श्रामण्यं वा चारित्रमित्यर्थः। जोगपरियम्मं सद्ध्यानपरिकरं तथा चोक्तं—

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणं॥
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मनः॥

जिदकरणो स्ववशीकृतमनाः। करणं ह्यन्तःकरणम्। स्ववशीकृतचित्तेन्द्रिय इति वा ग्राह्यम्। ज्झाणसमत्थो धर्मशुक्लध्यानसमर्थः॥

यही आशय आगेकी गाथामें आचार्य स्पष्ट करते है—

हिंदी अर्थ—जीवित, मरण, लाभ, अलाभ, शत्रु, मित्र, सुख, दुःख इन चीजोंमें रागद्वेष रहित होना इसको समता कहते हैं, यह समता ध्यानाभ्यास करनेमें सहायक होती हैं, जो ऐसी समता हमेशा धारण करते हैं, जिन्होंने मन और इंद्रियोंको अपने आधीन रक्खा है अर्थात् जो जितेंद्रिय और जितचित्त हैं वे साधु मरणसमयमें दुर्गति अर्थात् नरक तिर्यग्गतिको दूर करनेवाले ऐसे धर्म व शुक्ल ध्यान करनेमें समर्थ होंगे.

विशेषार्थ—जीवित, मरण, लाभ, अलाभ इत्यादिकोंमें जो आत्मा रागद्वेष रहित है उसको समान कहते

है. ऐसे समान आत्माका जो स्वभाव उसको सामान्य अर्थात् समता कहते हैं. 'समान' इस शब्दकी प्रवृत्ति जीवमें होनेका कारण समता है. अर्थात् जिसमें समता है उसको समान कहते हैं. जीवित मरण, लाभ अलाभ, सुख दुःख, बंधु व शत्रु इनमें अर्थात् जीवित, लाभ, सुख, बंधु इनमें रागभाव करना और मरण, अलाभ, दुःख और शत्रु इनमें द्वेष–अप्रीति रखना यह असमानता है. इस असमानताका त्याग करना ही समता है. जीवित मरण इत्यादिकोंका यथार्थ स्वरूप समझनाही समता है. परंतु उनमें प्रीति व अप्रीति करना यह समानता नहीं है. इंद्रियादि प्राणोंको धारण करना यह जीवित शब्दका अर्थ है. परंतु इंद्रियादिप्राणोंका अस्तित्व आयुकर्मके आधीन है. यह आयु जब तक रहेगी तब तक जीवित टिक सकता है. यह जीवित मेरे आधीन नहीं है. क्योंकि जीवितेच्छा होकर भी प्राण चले जाते हैं. सर्व जगतके प्राणी हमेशा प्राण रहे ऐसी इच्छा करते हैं परंतु आयुका वियोग होनेसे प्राणोंका निर्गमन होता ही है उनको वे रोकनेमें असमर्थ हैं.

२. मरण— इंद्रियादि प्राणोंसे आत्माका अलग हो जाना मरण है. अर्थात् प्राणोंका त्याग होना मरण है. 'मृङ् प्राणत्यागे' ऐसा मृङ् धातुका अर्थ है. प्राणोंका त्याग अर्थात् आत्मासे प्राणोंका वियोग होना, आत्मासे उनका अलग होना. आयुकर्म संपूर्ण गल जानेसे प्राणोंका वियोग होता है. विष, शस्त्र, बाण इत्यादि प्राणहारक पदार्थोंका संयोग होनेसे द्रव्येंद्रियोंका नाश होता है. ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग ये भाव प्राण हैं. विष शस्त्रादिकोंका संयोग होनेसे ज्ञानदर्शनादि आवरण कर्मका उदय होता है. जब इन कर्मोंका उदय होता है तब लब्धिका विनाश हो जाता है. वीर्यांतराय कर्मका उदय होनेसे कायबल, वचनबल, और मनोबल इनका नाश होता है. मुख बंद करनेसे, नाक बंद करनेसे तथा श्लेष्मादिकोंसे उच्छ्वासनिश्वास प्राण नष्ट होते हैं.

लाभांतराय कर्मका क्षयोपशम होनेसे इष्ट पदार्थकी प्राप्ति होती है. तथा लाभांतरायका उदय होनेसे अलाभ होता है. प्रीतिरूप परिणामको सुख कहते हैं यह प्रीति परिणाम जीवमें साता वेदनीय कर्मके उदयसे होता है. इष्ट पदार्थ प्राप्त होनेसे मनुष्यको आनंद होता है. अंतरंग कारण साता वेदनीयका उदय और बहिरंग कारण इष्ट वस्तुकी प्राप्ति इन दोनोंसे जीवमें प्रीति उत्पन्न होती है.

पीडा रूप परिणामको दुःख कहते हैं. यह असाता वेदनीय कर्मके उदयसे जीवमें प्रगट होता है.

संसारमें भ्रमण करनेवाले जीवके कोई नियत बांधव नहीं है. जिसके उपर यह जीव उपकार करता है वह

जीव उपकारकर्ताका बंधु होता है यदि जीव अपकार करे तो वही बंधु शत्रु हो जानेमें देर नहीं लगती. शत्रुओंके उपर भी यदि हम अनुग्रह—उपकार करेंगे तो वे भी हमारे बंधु होते हैं. स्नेह सर्व असंयमका मूल कारण है. इस स्नेहके भी—बंधु कारण होते हैं अर्थात् बंधु असंयमके कारण हैं. ये बांधवगण सन्मार्गमें प्रवृत्त हुये जीवके विरोधी बन जाते हैं अतः ये बांधव महाशत्रु हैं ऐसा समझना. पुण्यके उदयसेही जीवको सर्व प्रकारके सुख मिलते हैं. सुखदायक वस्तुओंका उसको समागम होता है परंतु पुण्यरहित जीवको सुखदायक पदार्थोका संयोग होने पर भी सुख नहीं होता है. असाता वेदनीय कर्मका उदय हो तो पुत्र माताका त्याग करता है. अथवा माता भी पुत्रको त्यागती है. यदि असाता वेदनीय कर्मका उदय न होगा तो कोइ भी अपने उपर अपकार नहीं करेगा. यदि अंतरंगमें असाता वेदनीय कर्मका उदय न हो तो बाह्य शत्रु जीवको कुछ भी पीडा नहीं दे सकेगा, इस तरह विचार करना यह समता है. यह समता योगपरिकर्म है अर्थात् शुभध्यान—धर्मध्यान और शुक्लध्यान उत्पन्न होनेमें कारण है. योगपरिकर्म इस समस्त शब्दमें जो योग शब्द है उसके अनेक अर्थ हैं. जैसे—' योगनिमित्तं ग्रहणं ' यहां मनोवर्गणा, वचनवर्गणा व कायवर्गणा इनके आश्रयसे जो आत्मप्रदेशोंमे चंचलता उत्पन्न होती है वह योग शब्दसे वाच्य होती है. योग शब्दका संबंध ऐसा भी अर्थ होता है. जेसे—इसका इसके साथ योग है. अर्थात संबंध है. योग शब्द कहीं कहीं ध्यानवाचक भी है. जैसे ' योगास्थितः ' अर्थात् मुनि ध्यानमें स्थिर है. प्रस्तुत प्रकरणमें योगका अर्थ ध्यान ऐसा मानना चाहिये राग द्वेष, और मिथ्यात्वसे रहित, पदार्थके यथार्थ स्वरूपको स्पर्श करने-वाला अर्थात् जाननेवाला तथा विषयांतरसे हटकर एक विषयमें ही स्थिर होनेवाला एसे ज्ञानको ध्यान कहते हैं. जिसने समताका अभ्यास नहीं किया है. ओर जिसको वस्तुका सत्यस्वरूप ज्ञात नहीं हुवा है ऐसा पुरुष ध्यान करनेमे असमर्थ है ऐसा समझना चाहिये. जिसने अंतःकरण वश किया है. वह मुनि मनुष्यपर्यायका नाश होनेके समयमें अर्थात् मरणकालमें धर्मशुक्लध्यानमें मैं समर्थ होउंगा ऐसा समझकर हमेशा समताका अभ्यास करता है. यद्यपि गाथामें ' ज्झाणसमत्थो ' इस समस्त शब्दमें ध्यान शब्द सामान्य ध्यानका वाचक है तथापि यहां प्रशस्त ध्यानका वाचक समझना चाहिये. अर्थात् धर्म व शुक्ल ये दोन ध्यान प्रशस्त है तथा आर्त और रौद्र ये दो ध्यान अशुभ है.

कृतपरिकरो राजपुत्रो व्यधनादिकासु क्रियासु उपगतकौशलः क्रियां प्रहरणादिकां संपाद्य यथाफलं प्राप्नोति इति गनदुत्तरगाथयाचष्टे—

जोगाभाविदकरणो सत्तू जेदूण जुद्धरंगम्मि ॥
जह सो कुमारमल्लो रज्जवडायं बला हरदि ॥ २२ ॥

कृतयोग्यक्रियो युद्धे जगतीपतिदेहजः ॥
आदत्ते विद्विषो जित्वा बलाद्राज्यध्वजं यथा ॥ २९ ॥

विजयोदया—जोगाभाविद इत्यनया । जोगाभाविदकरणो परिकर्मणा असकृत्प्रवर्तितव्यधनताडनप्रहरणादिक्रियः । आभाविन इत्यत्राङ् भृशार्थे प्रयुक्तः । तथा च प्रयोगः—आधूमितं भृशं धूमेन परिपूर्णमित्यर्थः । सत्तू शत्रून् । जेदूण जित्वा । जुद्धरंगम्मि युद्धार्थं संस्कृतो देशो युद्धरंगमित्युच्यते तत्र । जह यथा । सो सः भावितात्मा । कुमारमल्लो प्राणिनां कालकृतोऽवस्थाविशेषो द्वितीयः कुमारत्वं नाम । तद्योगाद्राजपुत्रः कुमारः स एव मल्लः । रज्जपडागं राज्यध्वजं । बला बलात्कारेण । हरदि हरति । गृह्णाति ॥

प्राक् परिकर्मभावनायाः फलं दृष्टान्ते प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिके योजयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—जोगाभाविदकरणो योग्यया परिकर्मणा भावितमसकृत्प्रवर्तितं करणं व्यधनादिक्रिया येन । जुद्धरंगम्मि युद्धार्थं संस्कृते देशे । रज्जपडायं राज्यध्वजं । बला बलात्कारेण । हरदि गृह्णाति प्रत्यानयतीत्यर्थः ।

जिसने शस्त्रविद्याकी सामग्रीका खूब अभ्यास किया है ऐसा राजपुत्र लक्ष्यवेधादिक क्रिया करनेमें चतुर हो जाता है. और शत्रूको मारकर अथवा पकडकर राज्यादिकका फल प्राप्त कर लेता है यह आगेकी गाथामें आचार्य कहते है—

हिन्दी अर्थ—लक्ष्यवेध, ताडन, प्रहार करना इत्यादि क्रिया करनेमें अतिशय चतुर, तरुण, पहिलवानके समान शक्तियुक्त ऐसा राजपुत्र युद्ध करनेके मैदानमें शत्रूको जीतकर जैसे बलात्कारसे राज्यध्वजको हरण करता है. उसी तरह मुनि भी मोहरिपूको जीतकर बलात्कारसे आराधनापताका हर लेता है. ऐसा आगेकी गाथामें आचार्य कहते हैं. उपर्युक्त गाथा दृष्टान्त रूप है—दार्ष्टान्तिक गाथा यहां आचार्य कहते हैं.

दार्ष्टान्तिके योजयितुं उत्तरगाथामाह—

तह भाविदसामण्णो मिच्छत्तादी रिवू विजेदूण ॥
आराहणापडायं हरइ सुसंथाररंगम्मि ॥ २३ ॥

साधुर्भावितचारित्रो गृह्णाति संस्तरारङ्गे ॥
आराधनाध्वजं जित्वा मिथ्यात्वादिद्विषस्तथा ॥ २६ ॥

विजयोदया—तह भाविदसामण्णो इति । तह तथैव राजपुत्रवदेव । भाविदसामण्णो भावितसमानभावः। पुण्यमिति शेषः । मिच्छत्तादी मिथ्यात्वासंयमकषायाशुभयोगाः इत्येतान् । रिवू रिपून् । विजेदूण भृशं जित्वा। विशब्दो भृशार्थे प्रयुक्तः । यथा विवृद्धो मल्लः भृशं वृद्ध इति यावत् । अथवा विजेदूण नानाप्रकारं जित्वा यथा विचित्रमिति नानाचित्रमिति यावत् । एकान्तमिथ्यात्वं, संशयमिथ्यात्वं, विपर्ययमिथ्यात्वं इत्यनेकधा मिथ्यात्वपरिणामाः स्थिताः । तथैकान्तमिथ्यात्वं नाम वस्तुनो जीवादेर्नित्यत्वमेव स्वभावो न चानित्यत्वादिकं । असदुत्पत्त्या सतो निरोधे वा अनित्यता भवति । न चासत उत्पत्तिर्यदि स्याद्गगनकुसुमादिकं किं नोपजायते? असत्वाविशेषे खकुसुमादेर्घटादेश्च घटादिकं उपजायते न वियत्कुसुमादिकं इत्यत्र न नियामकं हेतुं पश्यामः । न च सद्विनश्यति, विनाशो ह्यसत्वं, भावाभावौ हि परस्परपरिहारस्थितिलक्षणौ नैकतां यातः । न भावोऽभावो भवति, इत्थमसत्वे उत्पादनिरोधयोरभावान्नित्यतैवावतिष्ठते इदमेकं मिथ्यात्वं एतस्य जय उच्यते—न नित्यतैव वस्तुनो रूपं, अनित्यताया अपि प्रमाणसमधिगम्यत्वात् । रागद्वेषमिथ्यात्वसंशयविपर्ययादीनां आत्मनि सतां पश्चादनुभवप्रतिष्ठापितमसत्वमनुभवोपनीतं च सत्व प्रागननुभूतानामित्यनित्यता पुद्गलद्रव्यस्यापि मेघादेर्वर्णान्यथाभावः । आम्रफलादीनां रूपरसगंधाद्यन्यथाभावश्च प्रत्यक्षग्राह्योऽशक्यापन्हव, तथानुमानग्राह्यश्च—यत्सत्तत्सर्वं नित्यानित्यात्मकं यथा घटस्तथा च जीवादिकं सदिति । कारणानां प्रतिनियतजननस्वभावकार्यत्वात् । घटादेर्जनकानि सन्ति इत्युत्पत्तिः न खरविषाणादेः । न च भावाभावयोर्विरोधः एकस्मिन्वस्तुन्येकदा प्रवृत्तेः रूपरसादीनामिव । अपररूपेणासत्वं सति विद्यते न वा । यद्यस्ति न विरोधः. न चेत्सर्वात्मकता । न ह्यभावो नाम भावादन्यः । अपि तु भावान्तरस्यैव रूपान्तरम् । ततोऽयुक्तो नित्यत्वैकान्तवादः इति । एवंभूतया तत्वश्रद्धया पराभूयते नित्यमेवेति मिथ्यात्वम् । तथा क्षणिकमेवसर्वं कथं कार्यकारि, यद्वस्तु सर्वथा सामर्थ्यविरहो भावलक्षणं । कार्यकारिता च न नित्यस्य । कथं तद्धि नित्यं स्वसंपाद्यं क्रमेण वा कुर्याद्युगपदेव वा ? न तावत्क्रमेण कार्यात्मलाभस्य कारणस्वभावसान्निध्यमात्रपराधीनत्वात् । सर्वं कार्यप्रादुर्भूतिहेतूनां सामर्थ्यानां सदा सान्निध्यत्वात् कुतः कार्याणां क्रमः । समर्थहेतुभावेऽप्यभावे न तत्तस्य कार्यं स्यात् । यथा सन्निहितेऽपि यवबीजे ऽनुपजायमानस्य शाल्यंकुरस्य न यवबीजकार्यता । युगपत्करोति चेत् द्वितीयादौ

क्षणेऽर्थक्रियाविरहता स्यान्न च तथा दृश्यते । इत्थं नित्यवस्तुलक्षणस्य कार्यकारित्वस्याभावात्, अनित्ये सद्भावात् क्षणिकमेवेत्यध्यवसायो मिथ्यात्वमेव तस्य जय उच्यते—सत्यं सर्वथा नित्ये वस्तुलक्षणे नास्त्युक्तया नीत्या नित्याऽनित्यात्मके तु संभविनी कार्यकारिता । एकान्तेन क्षणिकतैव वस्तुनो यदि रूपं कार्यकारिता नास्ति । एकस्य वस्तुन एकमेव रूपं नापरमिति प्रतिज्ञानात् । एवमन्यत्रापि चोद्यः एकान्तमिथ्यात्वजयः । संशयमिथ्यात्वं वस्तुस्वरूपानवधारणात्मकं तस्य जयः कथंचिन्नित्यानित्यात्मकाः सर्वे भावा इति भावनया । विपर्ययमिथ्यात्वं हिंसाया दुर्गतिवर्तिन्याः स्वर्गादिहेतुताध्यवसितिज्ञानम् । अहिंसायाश्च प्रत्यपायहेतुतेति एतस्य जयः । परोक्षस्योपायोपेयभावस्य अप्रत्यक्षत्वात् । अनुमानस्य च प्रत्यक्षपृष्ठभाविनस्तत्राप्रवृत्तेः । आगमः सर्वज्ञेन निरस्तरागद्वेषेण प्रणीतः उपेयोपायतत्त्वस्य व्यापकः आश्रयणीयः । कपिलादीनामसर्वज्ञतया न तत्प्रणीत आगमोऽदृष्टप्रतिपत्तावुपायः । तदसर्वज्ञता दृष्टेष्टप्रमाणविरुद्धवचनतया रथ्यापुरुषवत् । नित्यस्तु शब्दो न विद्यते । यदि स्यात्सर्वस्य नित्यतया पुरुषदोषानुपश्लिष्टतास्तीति प्रामाण्यं भवेत्ततो जिनागमेन हिंसाया दुःखहेतुत्वप्रतीतेर्विपर्ययमिथ्यात्वप्रसिद्धिः तस्य जयः अविपरीतज्ञानेन । आराधणापडायं आराधनापताकां । हरदि गृह्णाति । सुसंथाररंगम्मि । शोभनसंस्तररंगे उद्गमादिदोषानुपहतता शोभनता ॥

मूलारा—भाविदसामणो प्रागभ्यस्तसमभावः । मिच्छत्तादी मिथ्यात्वासंयमकषायाशुभयोगान् । विजेदूण भृशं विविधं वा प्रतिहत्य । आराहणापडायं आराधनैव पताका त्रिजगत्परमैश्वर्यचिन्हं तां मिथ्यात्वादिशत्रुहृतां । यदि वा आराधनायाः पताका इन्द्रादिनिर्मितपूजाद्यैश्वर्यातिशयसंपत् । सुसंथाररंगम्मि उद्गमादिदोषानुपहते संस्तररंगे ।

हिन्दी अर्थ—तरुण राजपुत्रके समान मुनि भी समताकी बारबार भावना करके मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, अशुभ मन वचन, कायकी प्रवृत्तियां इन शत्रुओंको अच्छी तरह जीतकर—नाना प्रकारोंसे इनका पराभव कर उद्गमादि दोषोंसे रहित ऐसे संस्तरका आश्रय कर आराधना पताकाका हरण बलात्कारसे करते हैं.

विशेष स्पष्टीकरण—नाना प्रकारसे मिथ्यात्वादिशत्रुओंको मुनि कैसे जीतते हैं. इसका वर्णन यहां लिखते है—मिथ्यात्व परिणामके एकांत मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व ऐसे अनेक भेद हैं. एकान्त मिथ्यात्वका स्वरूप—जीवादिक वस्तु सर्वथा नित्य ही है, उसमें अनित्यत्वादिक धर्म नहीं हैं, यदि असत् पदार्थ उत्पन्न हो जाय और सत्पदार्थका नाश हो जावे तो अनित्यता वस्तुका स्वरूप है ऐसा मानना योग्य होगा. परंतु असत् कभी उत्पन्न नहीं होता है. यदि वह भी उत्पन्न होगा तो आकाशपुष्प, और खरगोशका सींग भी क्यों न उत्पन्न होगा? क्योंकि

वे भी तो असत् ही हैं. आकाशपुष्प असत् है तथा घटादि भी उसके समान असत् ही है तो आकाशपुष्पसे घटादिक अथवा घटादिकसे आकाश पुष्प बनते है ऐसा मानना पडेगा. घटादिकसे घटादिक ही उत्पन्न होते हैं. और आकाशपुष्पादिसे आकाशपुष्पादिक ही बन जाते हैं ऐसा माननेमें कुछ नियामक कारण हमको नहीं दीखता है.

सत्पदार्थका नाश होता है यह मानना भी अयोग्य है. विनाश असद्रूप है. अर्थात् अभाव रूप है. सत्पदार्थ विनाशके उलटा है अर्थात् भावरूप है. जहां भावात्मक पदार्थ रहता है वहां अभावात्मक पदार्थ नहीं रह सकता. अत भावपदार्थ और अभावपदार्थ एकस्वरूपताको प्राप्त नहीं होते हैं. अर्थात् वे भिन्न भिन्न स्वरूपके धारक हैं. भावपदार्थ कभी अभावरूप नहीं होता है. असत् पदार्थसे उत्पाद और नाश दोनों भी सिद्ध नहीं होते हैं. अतः नित्यता ही पदार्थका स्वरूप समझना चाहिये. पदार्थ अनित्य ही मानना यह एक मिथ्यात्व है. ऐसे मिथ्यात्वका समताकाअभ्यास करनेवाले मुनिराज पराजय करते हैं.

अब नित्यता ही वस्तुस्वरूप है ऐसा मानना भी मिथ्यात्व है यह दिखाते हैं—नित्यता ही वस्तुस्वरूप है यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है. आत्मामें प्रथमतः रागद्वेष, मिथ्यात्व, संशयविपर्यय वगैरे अशुद्धस्वरूपके द्योतक विकार दीखते हैं परंतु नंतर इसका अभाव होता है. यह सबके अनुभवमें आनेवाली बात है. यदि आत्मा सर्वथा नित्य ही मानोगे तो उसमेंसे रागद्वेषादिक कभी भी नष्ट होंगे ही नहीं. तथा जो विकार पूर्वमें अनुभवमें आये नहीं थे वे कभी भी उत्पन्न न हो सकेंगे. परतु पूर्वपर्यायका नाश और नवीन पर्यायकी उत्पत्ति प्रत्येक पदार्थमें होती हुइ अनुभवमें आती है. अतः वस्तु नित्य माननेसे ये बातें नहीं बनेगी. मेघादिक पुद्गलद्रव्यमें जो पूर्वक्षणमें वर्ण था वह अनंतर समयमें नहीं रहता दुसरा ही वर्ण नजरमें आता है. आम्रफलादिकोंमें कच्ची अवस्थामें हरा रंग, अर्धपक्व अवस्थामें लाल पीला रंग और पकावस्थामें पीलापना आता है यह सब प्रत्यक्ष ग्राह्य बातें हैं. इन बातोंको मानना ही पडेगा. अनुमानसे भी वस्तु कथंचित नित्यानित्यात्मक है यह सिद्ध होता है. जो जो सत्पदार्थ है वे सब नित्यानित्यात्मक है जसा घट. अर्थात् घटके समान सभी जीवादिक पदार्थ सत् है अतएव वे नित्यानित्यात्मक है.

कारणोंमें प्रतिनियत कार्य ही उत्पन्न करनेका स्वभाव है अतः उनसे विशिष्ट ही कार्य उत्पन्न होते है. जैसे मृत्पिंडसे घट ही होता है पटोत्पत्ति नहीं होती है. अतएव खर विषाणादिकसे घटादिक सत्पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं होती है. जैनमतमें भाव और अभावमें परस्पर विरोध है नहीं. अर्थात् वस्तुमें एक ही समयमें

अस्तित्व और नास्तित्व दोनों भी धर्म पाये जाते हैं. जैसे वस्तुमें रूपरसादिक धर्म रहते है उसीतरह अपर पदार्थके स्वरूपका अभाव भी उसमें रहता है या नहीं ? यदि दूसरे पदार्थके स्वरूपका अभाव है ऐसा कहोगे .तो भावाभावत्व एक पदार्थमें अविरुद्ध रूपसे रहता है ऐसा सिद्ध हो चुका. यदि दुसरे पदार्थ का भी स्वरूप पदार्थमें मानोगे तो प्रत्येक वस्तु सर्वात्मक है ऐसा मानना पडेगा. घट पदार्थ स्वस्वरूपसे युक्त तो है ही परंतु पटादिस्वरूपता भी उसको आवेगी और ऐसा होनेसे यह घट ही है ऐसा कहते समयमें पट ही है ऐसा भी कहनेका प्रसंग आवेगा अतः वस्तुके निश्चित स्वरूपका लोप होगा.

वस्तुमें जो अभाव माना गया है वह भावसे भिन्न है नहीं. अर्थात् भावान्तरको ही अभाव कहते हैं. वस्तु स्वस्वरूपसे जैसी भावात्मक मानी है वैसी परस्वरूपसे अभावात्मक भी मानी है अतः प्रत्येक वस्तु भावाभावात्मक है. अतः नित्यत्वैकान्तवाद अयुक्त है. ऐसी तत्वश्रद्धा करनेसे वस्तु नित्य ही है यह मिथ्यात्व पराजित होता है.

सर्वथा क्षणिक वस्तुमें कार्य करनेका सामर्थ्य ही नही रहता है. वह पहिले क्षणमें उत्पन्न होकर नष्ट होती है अतः कार्य कब करेगी, क्षणिक वस्तुकी उत्पत्ति भी पूर्व क्षणिक वस्तुसे यदि होती तो कार्यकारित्ता उसमें है ऐसा मान सकते थे. परंतु सर्व पूर्व क्षणिक वस्तुओंमें कार्यकारण भाव नही है. तथा प्रत्येक क्षणिक वस्तु एक समयके बाद निश्चयसे यदि नष्ट होती ही है तो उसको कार्य करनेके लिये अवसर ही नही रहा. अतः वस्तु क्षणिक है यह मानना अयुक्तियुक्त है.

नित्य भी पदार्थ कार्य नहीं कर सकता है. वह यदि कार्य करेगा तो क्या क्रमसे करेगा अथवा एकदम करेगा ? ऐसे दो प्रश्न यहां उपस्थित होते हैं. क्रमसे कार्य उत्पन्न करेगा यह आपका कथन योग्य नही है, क्यों कि कार्य का जन्म होना कारण में विद्यमान जो स्वभाव है उसके आधीन है और नित्य पदार्थमें कार्य उत्पन्न करनेका स्वभाव सदा ही विद्यमान होनेसे सदाही कार्य होते रहेंगे अतः कार्यमें क्रम कैसा रहेगा ? एकदम सब कार्य होंगे. यदि हेतुमें सामर्थ्य होता हुवा भी कार्य न होगा तो कभी भी न होगा. अथवा वह उसका कार्य है ऐसा मानना योग्य नहीं है. जैसे यवबीज समीप होते हुए भी उत्पन्न न होनेवाले शाल्यंकुरको यव बीज कारणरूप नहीं मानते हैं वैसा नित्यपदार्थ कार्यके प्रति कारण नही होगा. यदि सर्व कार्य युगपत् नित्य

पदार्थसे हो जाते हैं तो प्रथम समयमें ही उससे सब कार्य हो जानेसे द्वितीयादि समयमें वह अकिंचित्कर होगा. परंतु पदार्थ द्वितीयादि क्षणमें भी कार्य करता हुवा दृष्टिगोचर होता है अतः वह सर्वथा नित्य है ऐसा मानना अनुचित है. नित्यवस्तुमें कार्य करनेका स्वभाव नहीं दीखता है वह अनित्यमें है अतः वस्तु क्षणिक ही है यह श्रद्धान करना भी मिथ्यात्व ही है. ऐसे मिथ्यात्वका समताधारक मुनि पराजय करते हैं. सर्वथा नित्य व अनित्य पदार्थमें कार्य करनेका स्वभाव नहीं है परंतु कथंचित् नित्यानित्य पदार्थमें कार्य करनेका स्वभाव अवश्य होनेसे वह कार्य करता हुवा दीखता है. यदि क्षणिकता ही वस्तुका स्वरूप है तो वह कार्य नहीं करेगी क्योंकि उसका एक ही रूप रहेगा. उसमें पूर्वस्वरूप नष्ट होकर दुसरा स्वरूप नहीं आता है. इसी तरह नित्यमें भी समझना चाहिये.

संशय मिथ्यात्वका स्वरूप— वस्तुस्वरूपका जिसमें निश्चयही नहीं होता है उसको संशय मिथ्यात्व कहते हैं अर्थात् वस्तु नित्य है ? अथवा अनित्य है ? वा नित्यानित्यात्मक है ? ऐसा अनिश्चय रहता है. ऐसे मिथ्यात्वका पराभव मुनिराज वस्तु नित्यानित्यात्मक है ऐसा निश्चय करके करते हैं. जगत्के समस्त पदार्थ कथंचिन्नित्यानित्यात्मक हैं. द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे वस्तु अपने स्वरूपको नहीं छोडती है. जीवका चैतन्य जीवको कभी छोडता नहीं है. वह हमेशा उसमें रहताही है अतः जीवको नित्य कह सकते हैं. मनुष्यत्व देवत्वादि पर्याय सदा स्थिर रहते नहीं, मनुष्यत्व नष्ट होकर जीव देव, नारकी, तिर्यंच ऐसी पर्यायें धारण करता है. अतः पर्यायकी अपेक्षासे वह अनित्य भी है. अतः उसको नित्यानित्य समझना योग्य है. जीवके समान अजीव– पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश, काल ये पदार्थ भी नित्यानित्यात्मक हैं.

विपर्यय मिथ्यात्वका स्वरूप—हिंसा दुर्गतिमें भ्रमण कराती है. तथापि वह स्वर्गादि सुखके लिये कारण होती है ऐसा निश्चय ज्ञान होना यह विपर्यय मिथ्यात्व है. अहिंसा दुःख देनेमें कारण है ऐसा समझना विपरीत मिथ्यात्व है. ऐसे मिथ्यात्वका पराजय मुनि करते हैं. हिंसा स्वर्गप्राप्तिमें कारण होती है अतः हिंसा कारण है और स्वर्गप्राप्ति होना उसका कार्य है ऐसा कहना योग्य नहीं है. जिसको लोक धर्म हेतुसे मारते हैं उसको अत्यंत दुःख होता है. तिलमात्र भी उस प्राणीमें शांतता उस समय रहती नहीं है. अतः उस प्राणीको तथा मारनेवालेको स्वर्ग लाभ होना नितांत असंभव है. दयाक्षमादि गुणही स्वर्गादि सुखके लिये कारण होते हैं. हिंसाही यदि स्वर्गके लिये

कारण हो तो व्याघ्रादि हिंस्र प्राणीही मरणोत्तर स्वर्गादि सुखको प्राप्त होंगे. अतः हिंसा स्वर्गदायिनी है यह मानना अयोग्य है.

स्वर्ग व मोक्षकी प्राप्तिके उपाय व स्वर्गादिक उपेय इन दोनोंका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है. अनुमानसे भी इनका स्वरूप नहीं जाना जाता है क्योंकि वह भी प्रत्यक्षके विना उत्पन्न होता नहीं. आगमसे उपाय और उपेयका ज्ञान होता है अतः आगमका आश्रय लेना ही योग्य है. वह आगम जिसने रागद्वेषका नाश किया है ऐसे सर्वज्ञ जिनेश्वरने रचा है. अतः वह ही स्वर्गादिके उपाय और उपेय सुखादिकका प्रतिपादन करता है.

कपिलादिक अन्यमत प्रणेतासपि असर्वज्ञ थे अतः उनका आगम अदृष्ट पदार्थोंका ज्ञान करानेमें उपाय हो नहीं सकता. कपिलादिकके वचन प्रत्यक्ष और अनुमादिक प्रमाणोंसे विरुद्ध हैं अतः वे रथ्यापुरुषके समान अप्रमाण हैं.

शब्द नित्य है यह कहना भी योग्य नहीं है यदि वे नित्य हैं तो सर्व शब्द नित्य होनेसे पुरुषोंके राग-द्वेषादि दोषोंसे वे अलिप्त होनेसे प्रमाण मानने पडेंगे. जिनागमसे हिंसा दुःखोत्पत्तिके लिये कारण है ऐसा अनुभव आता है अतः हिंसाको सुखका कारण समझना विपरीत मिथ्यात्व है. इस विपरीत मिथ्यात्वका सत्यज्ञानसे मुनिराज पराभव करते हैं. मिथ्यात्व, असंयम, कषाय ऐसे शत्रुओंको जीतकर वे बलात्कारसे आराधनापताका हरण करते हैं.

चिरमभावितरत्नत्रयाणामंतर्मुहूर्तकालभावनानां सिद्धिरिष्यते तत्किं चिरभावनयेत्यस्योत्तरमाचष्टे—

पुव्वमभाविदजोग्गो आराधेज्ज मरणे जदि वि कोई ॥
खण्णुगदिट्ठंतो सो तं खु पमाणं ण सव्वत्थ ॥ २४ ॥

यद्यभावितयोगोऽपि कोऽप्याराधयते मृतिं ॥
तत्प्रमाणं न सर्वत्र स्थाणुमूलनिधानवत् ॥ २७ ॥

पुव्वं पूर्वं मरणकालात् । अभाविदजोग्गो अभावितपरिकरः । आराधेज्ज आराधयेत् । किं मरणं रत्नत्रयानुगतभवपर्यायप्रलयं । जदि वि यद्यपि । कोई कश्चित् । खण्णुगदिट्ठंतो स्थाणुदृष्टान्तः । सो सः । तं खु तदेव । अकृत-

परिकरस्य कस्यचिद्रत्नत्रयसमापर्थ। सव्वत्थ सर्वत्र। ण पमाणं न प्रमाणं। अर्थाख्यानमत्र वाच्यम्।

एवं पीठिका समाप्ता ॥

मूलारा—आराहेज्ज मरणं रत्नत्रयानुगतं भवपर्यायप्रलयं कुर्यादित्यर्थः। खण्णुगदिट्ठंतो सो स्थाणुदृष्टान्तः सः। तं खु। तदेव अकृतपरिकर्मणः कस्यचिन्मरणे रत्नत्रयपरिणमनं। सव्वत्थ सर्वत्र सर्वेषु। न पमाणं न गमकं। यो यो जीवः स स सर्वोऽपि अकृतपरिकर एव मरणसमाधिमुपेयात्। यथा कश्चित् प्रसिद्धो जीव इति व्याप्तेरभावात्।

पूर्वमभावितयोग्यो यद्यप्याराधयन्मृतौ कश्चित् ॥
स्थाणौ निधानलाभो निदर्शनं नैव सर्वत्र ॥

पीठमासनमिव समस्तग्रंथार्थसंमहस्याधारभूतत्वात्। श्लोकः

त्यक्त्वा संगं सुधीः साम्यसमभ्यासवशाज्जवं।
समाधिं मरणे लब्ध्वा हन्त्यल्पयति वा भवम् ॥

इति मूलाराधनादर्पणे पीठिकाप्रतिष्ठा।

जिन्होंने बहुतकालपर्यंत रत्नत्रयाराधन नहीं किया है अर्थात् अन्तर्मुहूर्तकालपर्यन्त ही आराधन किया है उनको भी मोक्षलाभ होगया है, अतः चिरकालरत्नत्रय भावनाकी आवश्यकता नहीं है ऐसे प्रश्नका उत्तर आचार्य कहते हैं—

अर्थ—मरणकालके पूर्व अर्थात दीक्षा, शिक्षा वगैरे समयमें रत्नत्रयके साधनभूत कारणोंका किसी जीवने आराधन नहीं किया हो परंतु मरणसमयमें उसने रत्नत्रयकी आराधना की हो तो भी यह स्थाणुदृष्टांतके समान हो गया. रत्नत्रयके साधन विना यदि किसी विरले मुनिको मरण समयमें रत्नत्रयाराधना होनेसे यह सार्वत्रिक नियम नहीं हो सकता. जैसे किसी विरले अंधको स्तंभसे टकरानेसे नेत्रलाभ हुवा और स्तंभ गिरनेपर उसके नीचे रक्खा हुवा निधि उसको दीख पडा परंतु तमाम अंध जनोंको इसी उपायसे निधिलाभ होगा यह समझना नितांत

भूलभरा समझना चाहिये. अत इस दृष्टांतके अनुसार रत्नत्रयाराधना मरणसमयमें किसी एकादे मनुष्यको हो गई हो तो सर्वत्र यह नियम प्रमाणभूत नहीं है.

पीठिका समाप्त.

मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थकरेहिं जिणवयणे ॥
तत्थ वि य पंच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि ॥ २५ ॥

विस्तरेणागमोक्तेषु मध्ये सप्तदशस्वहम् ॥
मरणान्यत्र पंचैव कथयामि समासतः ॥ २८ ॥

विजयोदया—मरणान्यनेकप्रकाराणि इति शास्त्रान्तरे निर्दिष्टानि । तेष्विह निरूप्याणीमानीति निरूपयितु इदमुत्तर सूत्र मरणाणीति । मरण विगमो विनाश विपरिणाम इत्येकोऽर्थ । तच्च मरण जीवितपूर्व । जीवित स्थितिरविनाशोऽवस्थितिरिति यावत् । स्थितिपूर्वको विनाश । यदस्थितिक तन्न विनश्यति यथा वन्ध्यासुत । तथा च स्थितिरहित वस्तु क्षणिकवादिनिरूप्य । जीवित जन्मपुरोग । अनुत्पन्नस्य स्थित्यभावात् । तत उत्पत्तिविगमौ ध्रौव्य च सर्वेषा रूपाणि । अस्या च प्रक्रियाया मरण नामोत्पन्नपर्यायविनाश । देवत्व, तिर्यक्त्व, नारकत्व, मनुष्यत्व, इत्यमीषा पर्यायाणा प्रध्वस इह मरणशब्दवाच्य । अथवा प्राणपरित्यागो मरण । तथा चाभ्यधायि–मृङ् प्राणत्यागे इति । एवमेव प्राणग्रहण जन्म, प्राणाना धारण, जीवित । प्राणा द्विविधा द्रव्यप्राणा भावप्राणाश्च । तत्र द्रव्यप्राणा इन्द्रियाणि, बल, उच्छ्वास, आयुरित्येतानि पुद्गलद्रव्याणि । भावप्राणा ज्ञानदर्शनचारित्राणि एतत्प्राणापेक्षया सिद्धाना जीवित । तथायुर्द्विभेद अद्धायुर्भवायुरिति च । भवधारण भवायुर्भव शरीर तच्च ध्रियते आत्मन आयुष्कोदयेन । ततो भवधारणमायुष्काख्य कर्म तदेव भवायुरित्युच्यते । तथा चोक्तम्—

देहो भवोत्ति उच्चदि धारिज्जइ आउगेण य भवो सो ।
तो उच्चदि भवधारणमाउगकम्म भवाउत्ति ॥

इति आयुर्वशेनैव जीवो जायते जीवति च आयुष एवोदयेन । अन्यस्यायुष उदये सति मृतिमुपैति पूर्वस्य चायुष्कस्य विनाशे ।

---

१ मृङ् प्राणत्यागे इति ख पुस्तके पाठ । २ ख–आत्मनेति ।

तथा चोक्तम्—

आउगवसेण जीवो जायदि जीवदि य आउगस्सुदये ।
अण्णाउगोदये वा मरदि य पुव्वाउणासे वा ॥ इति ॥

अद्धाशब्देन काल उच्यते । आउगशब्देन द्रव्यस्य स्थितिः, तेन द्रव्याणां स्थितिकालः अद्धायुरित्युच्यते द्रव्यार्थापेक्षया द्रव्याणामनाद्यनिधनं भवत्यद्धायुः । पर्यायार्थापेक्षया चतुर्विधं भवत्यनाद्यनिधनं, साद्यनिधनं, सनिधनमनादि, सादिसनिधनमिति । चैतन्यरूपादिमत्वगतिस्थितिहेतुत्वादिसामान्यापेक्षया अनाद्यनिधना स्थितिः । केवलज्ञानादिकानां साद्यनिधनता । भव्यत्वस्य अनादिसनिधनता, सादिसनिधनता कोपादीनाम् । अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभावानाश्रित्य चतुर्विधा भवति स्थितिः । एतस्याद्धायुषो वशेन भवधारणायुषो निरूपणा भवति । आयुःसंज्ञितानां कर्मणां पुद्गलद्रव्यतया आयुःस्थितेर्न द्रव्यस्थितेरत्यंतान्यथात्वं । अथवा अनुभूयमानायुःसंज्ञकपुद्गलगलनं मरणं । तानि मरणानि । सत्तरस सप्तदश । देसिदानि कथितानि । तित्थंकरेहिं तीर्थकरैः । जिणवयणे जिनानां वचने । ननु तीर्थकरैरुक्तानि इत्यनेनैव गतं किं जिनवचनग्रहणेन ? नैष दोषः । जिनशब्देन गणधरा उच्यन्ते । अंतरेण चशब्दं समुच्चयार्थगतिः । तत्रायं संबंधः–जिनवचने च किं सप्तदशमरणानि । एतेन तीर्थकृतो गणधराश्च मरणविकल्पानुपपादितवन्तः । तदुभयवचनसिद्धं प्रमाणमविशंकनीयमित्येतदाचष्टे १ आवीचिमरणं २ तद्भवमरणं ३ अवधिमरणं ४ आदिअंतार्य ५ बालमरणं ६ पंडितमरणं ७ आसण्णमरणं ८ बालपंडिदं ९ ससल्लमरणं १० बलायमरणं ११ वोसट्टमरणं १२ विप्पाणसमरणं १३ गिद्धपुट्ठमरणं १४ भत्तपच्चक्खाणं १५ पाउवगमणमरणं १६ इंगिणीमरणं १७ केवलिमरणं चेति । तेषां स्वरूपता यथागमं संक्षेपतो निरूप्यते ॥

वीचिशब्दस्तरंगाभिधायी इह तु वीचिरिव वीचिरिति । आयुष उदये वर्तते । यथा समुद्रादौ वीचयो नैरंतर्येणोद्गच्छन्ति एवं क्रमेण आयुष्काख्यं कर्म अनुसमयमुदेति इति तदुदय आवीचिशब्देन भण्यते । आयुषः अनुभवनं जीवितं, तच्च प्रतिसमयं जीवितभंगस्य मरणं । अतो मरणमपि अत्र आवीचि, उदयादनंतरसमये मरणमपि वर्तते इति । तत्पुनरावीचिकामरणं अनादिसनिधनं भव्यानां । ननु सिद्धानामेव मरणं विच्छित्तिमुपयाति नेतरेषां ते च न भव्याः । भविष्यत्सिद्धत्वपर्याया हि भव्याः । सिद्धास्त्वधिगतसिद्धत्वपर्यायास्ततः किमुच्यते भव्यानामनादिसनिधनमिति । ' भवियाणमणादियं मरणं आवीचिगं सणिधणं च' इति यदेवाधिगतभव्यत्वपर्यायं द्रव्यं तदेवेदमिति कृत्वा भव्यानामित्युक्तं इति नियतम् । अभव्यानां पुनरुदयं प्रति सामान्यापेक्षयाऽवीचिकमनादिनिधनं । भवापेक्षया क्षेत्राद्यपेक्षया च सादिकं । चतुर्णामायुष्काणां मध्ये द्वयोर्यद्यपि सत्कर्मता तथापि एकस्यैवायुष उदयः । द्वयोः प्रकृत्योः सत्कर्मता सह भवति । उच्यते–तिर्यङ्मनुष्यायुष्कयोः सर्वैरायुष्कैः सह सत्कर्मता देवनारकायुष्कयोस्तिर्यङ्मानवायुष्काभ्यां सत्कर्मता । भवतु नामैषा सत्कर्मव्यवस्था । द्वयोरायुष्कप्रकृत्योः किं न युगपदुदयः ? अत्रोच्यते—अनुभूयमानप्रकृतिस्थितीनामुपरि इतरस्यायुषो निषेको यतस्ततो न युगपदायुष्कप्रकृत्योरुदयः । किं च यस्मादेकस्य जीवस्य द्वयोर्भवयोर्गत्योर्वा न संभवः । भवं गतिं च

प्रयोज्य अपेक्ष्य आयुष उदयो नान्यथा ततो नायुष्कद्वयोदयः । एवमेकस्यायुष्कर्मणः एकैव प्रकृतिरुदेत्येकस्यात्मनस्त-स्मादेकैकायुष्कप्रकृतिगलनरूपामेव मृतिमुपैति । तदेतत्प्रकृतिमरणं ।

भवधारणकारणतयपरिणतानां पुद्गलानां स्नेहादात्मप्रदेशेष्ववस्थितिरित्युच्यते । आत्मनः कषायपरिणामः सहकारी पुद्गलानां स्निग्धतायाः । पारिणामिकारणं तु तदेव पुद्गलद्रव्यं । सा चैषा स्थितिरेकादिकैकोत्तरा देशोनत्रय-स्त्रिंशत्सागरोपमाणां यावन्तः समयास्तावद्भेदा उत्कर्षस्थितिः । अंतर्मुहूर्तभवा परा । तस्या वीचय इव क्रमेणावस्थि-तायाः विनाशादात्मनो भवति स्थित्यावीचिकामरणं ।

भवांतरप्राप्तिरनंतरोपश्लिष्टपूर्वभवविगमनं तद्भवमरणं । तत्त्वनंतशः प्राप्तं जीवेनेति ज्ञातव्यं तेन तद्भवमरणं न दुर्लभम् ।

अनुभवावीचिकामरणमुच्यते—कर्मपुद्गलानां रसः अनुभव इत्युच्यते, स च परमाणुषु षोढा वृद्धिहानि-रूपेण वावीचय इव क्रमेणावस्थितस्य प्रलयोऽनुभवावीचिमरणं ।

आयुःसंज्ञितानां पुद्गलानां प्रदेशा जघन्यनिषेकादारभ्य एकादिवृद्धिक्रमेणावस्थितवीचय इव तेषां गलनं प्रदेशावीचिकामरणं ।

अवधिमरणं नाम कथ्यते—यो यादृशं मरणं सांप्रतमुपैति तादृगेव मरणं यदि भविष्यति तदवधिमरणं । तद्द्विविधं देशावधिमरणं सर्वावधिमरणं इति ।

तत्र सर्वावधि मरणं नाम यदायुर्यथाभूतमुदेति सांप्रतं प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैस्तथानुभूतमेवायुः प्रकृत्या-दिविशिष्टं पुनर्बध्नाति उदेष्यति च यदि तत्सर्वावधिमरणं ।

यत्सांप्रतमुदेत्यायुर्यथाभूतं तथाभूतमेव बध्नाति देशतो यदि तद्देशावधिमरणं । एतदुक्तं भवति देशतः सर्वतो वा सादृश्येन विशेषितं मरणमवधिमरणमिति । सांप्रतेन मरणेनासादृश्यभावि यदि मरणमाद्यंतमरणं उच्यते, आदि-शब्देन सांप्रतं प्राथमिकं मरणमुच्यते तस्य अंतो विनाशभावो यस्मिन्नुत्तरमरणे तदेतदाद्यंतमरणं अभिधीयते । प्रकृति स्थित्यनुभवप्रदेशैर्यथाभूतैः सांप्रतमुपैति मृतिं तथाभूतां यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदाद्यंतमरणं ।

बालमरणमुच्यते—बालस्य मरणं बालमरणं, स च बालः पंचप्रकारः अव्यक्तबालः, व्यवहारबालः, ज्ञानबालः, दर्शनबालः, चारित्रबाल इति । अव्यक्तः शिशुः धर्मार्थकामकार्याणि यो न वेत्ति न च, तदाचरणसमर्थशरीरः सोऽ-व्यक्तबालः । लोकवेदसमयव्यवहारान्यो न वेत्ति शिशुर्वासौ व्यवहारबालः । मिथ्यादृष्टयः सर्वथा तत्त्वश्रद्धानरहिताः दर्शनबालाः । वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञानन्यूना ज्ञानबालाः । अचारित्राः प्राणभृतश्चारित्रबालाः । एतेषां बालानां मरणं बालमरणं । एतानि च अतीते काले अनंतानि । अनंताश्च मृतिमिमां प्रपद्यंते । इह दर्शनबालो गृहीतः नेतरबालाः कथं ? यस्मात्सम्यग्दृष्टेरितरबालत्वे सत्यपि दर्शनपंडिततायाः सद्भावात्पंडितमरणमेवेष्यते ।

दर्शनबालस्य पुनः संक्षेपतो द्विविधं मरणमिष्यते । इच्छया प्रवृत्तमनिच्छयेति च । तयोराद्यमग्निना धूमेन,

शस्त्रेण, विषेण, उद्बंधेन, मरुत्प्रपातेन उच्छ्वासनिरोधेन, अतिशीतोष्णपातेन, रज्ज्वा, क्षुधा, तृषा, जिह्वोत्पाटनेन, विरुद्धाहारसेवनया बाला मृतिं ढौकन्ते, कुतश्चिन्निमित्ताज्जीवितपरित्यागैषिणः काले अकाले वा अध्यवसानादिना यन्मरणं जिजीविषोः तद्द्वितीयं। एतैर्बालमरणैर्दुर्गतिगामिनो म्रियन्ते। विषयव्यासक्तबुद्धयः अज्ञानपटलावगुंठिताः, ऋद्धि-रससातगुरुकाः। बहुतीव्रपापकर्मास्रवद्वाराण्येतानि बालमरणानि जातिजरामरणव्यसनापादनक्षमाणि॥

पंडितमरणमुच्यते—व्यवहारपंडितः, सम्यक्त्वपंडितः, ज्ञानपंडितश्चारित्रपंडितः इति चत्वारो विकल्पाः। लोकवेदसमयव्यवहारनिपुणो व्यवहारपंडितः, अथवाऽनेकशास्त्रज्ञः शुश्रूषादिबुद्धिगुणसमन्वितः व्यवहारपंडितः, क्षायिकेण क्षायोपशमिकेनोपशमिकेन वा सम्यग्दर्शनेन परिणतः दर्शनपंडितः। मत्यादिपंचप्रकारसम्यग्ज्ञानेषु परिणतः ज्ञान पंडितः। सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातचारित्रेषु कस्मिंश्चित्प्रवृत्तश्चारित्रपंडितः। इह पुनर्न ज्ञानदर्शनचारित्रपंडितानां अधिकारः। व्यवहारपंडितस्य मिथ्यादृष्टेः बालमरणं यथा भवति सम्यग्दृष्टे स्तदेव दर्शनपंडितमरणं भवति। नरके, भवनेषु, विमानेषु, ज्योतिष्केषु, वानव्यंतरेषु, द्वीपसमुद्रेषु च ज्ञानपंडितमरणानि च तेष्वेव। मनुष्यलोके एव केवलमनःपर्ययज्ञानपंडितमरणं भवति।

ओसण्णमरणमुच्यते—निर्वाणमार्गप्रस्थितात्संयतसार्थाद्यो हीनः प्रच्युतः सोऽभिधीयते ओसण्ण इति। तस्य मरणं ओसण्णमरणमिति। ओसण्णग्रहणेन पार्श्वस्थाः, स्वच्छंदाः, कुशीलाः संसक्ताश्च गृह्यन्ते। तथा चोक्तम्॥

पासत्थो सच्छंदो कुसील संसत्त होंति ओसण्णा॥
जं सिद्धिपच्छिदादो ओहीणा साधु सत्थादो॥

के पुनस्ते? ऋद्धिप्रिया, रसेष्वासक्ताः, दुःखभीरवः सदा दुःखकातराः, कषायेषु परिणताः, संज्ञावशगाः, पाप-श्रुताभ्यासकारिणः, त्रयोदशविधासु क्रियास्वलसाः, सदा संक्लिष्टचेतसः, भक्ते उपकरणे च प्रतिबद्धाः, निमित्तमंत्रौषध-योगोपजीविनः गृहस्थवैयावृत्यकराः, गुणहीना गुप्तिषु समितिषु चानुद्यताः मंदसंवेगा दशप्रकारे धर्मे अकृतबुद्धयः शबलचारित्राः आसन्ना इत्युच्यंते। एवंभूताः संतो मृत्वा वराका भवसहस्रेषु भ्रमन्ति। दुःखानि भुक्त्वा भुक्त्वा पार्श्वस्थ-रूपेण सुचिरं विहृत्यान्ते आत्मनः शुद्धिं कृत्वा यदि मृतिमुपैति प्रशस्तमेव मरणं भवति।

सम्यग्दृष्टेः संयतासंयतस्य बालपंडितमरणं यतोसावुभयरूपो बालः पंडितश्च। स्थूलकृतात्प्राणातिपातादेर्विर-मणलक्षणं चारित्रमस्ति दर्शनं च ततश्चारित्रपंडितो दर्शनपंडितश्च कुतश्चित्सूक्ष्मादसंयमादनिवृत्त इति चारित्रबालः। तत्तु बालपंडितमरणं गर्भजेषु पर्याप्तकेषु तिर्यक्षु मनुजेषु भवति। दर्शनपंडितमरणं तु तेषु देवनारकेषु।

सशल्यमरणं द्विविधं यतो द्विविधं शल्यं द्रव्यशल्यं भावशल्यमिति। मिथ्यादर्शनमायानिदानशल्यानां कारणं कर्म द्रव्यशल्यं। द्रव्यशल्येन सह मरणं पंचानां स्थावराणां भवति असंज्ञिनां त्रसानां च। ननु द्रव्यशल्यं सर्वेनास्ति तत्किमुच्यते स्थावराणामिति। भावशल्यविनिर्मुक्तं द्रव्यशल्यमपेक्ष्यते। एतदुक्तं—सम्यक्त्वातिचाराणां दर्शनशल्यत्वात्स म्यग्दर्शनस्य च स्थावरेषु अभावात् त्रसेषु च विकलेंद्रियेषु। इदमेव स्यादनागते काले इति मनसः प्रणिधानं निदानं।

न च तद्गंतुमिच्छति। मार्गस्य दूषणं, मार्गनाशनं, उन्मार्गप्ररूपणं, मार्गप्ररूपणं, मार्गस्थानां भेदकरणं मिथ्यादर्शनशल्यानि।

तत्र निदानं त्रिविधं प्रशस्तमप्रशस्तं भोगकृतं चेति। परिपूर्णं संयममाराधयितुकामस्य जन्मांतरे पुरुषादिप्रार्थना प्रशस्तं निदानं, मानकषायप्रेरितस्य कुलरूपादिप्रार्थनमनागतभवविषयं अप्रशस्तं निदानं। अथवा क्रोधाविष्टस्य सरात्रुवधप्रार्थना वशिष्ठस्येवोग्रसेनोन्मूलने। इह परत्र च भोगा अपि इत्थंभूता अस्माकृतशीलादिकाद्भवन्त्विति मनःप्रणिधानं भोगनिदानं। असंयतसम्यग्दृष्टेः संयतासंयतस्य वा निदानशल्यं भवति। पार्श्वस्थादिरूपेण चिरं विहृत्य पश्चादपि आलोचनामंतरेण यो मरणमुपैति तन्मायाशल्यं मरणं तस्य भवति। एतच्च संयते, संयतासंयते, अविरतसम्यग्दृष्टावपि भवति।

पलायमरणमुच्यते—विनयवैयावृत्यादावकृतादरः, प्रशस्तयोगोद्वहनालसः, प्रमादवान्व्रतेषु, समितिषु, गुप्तिषु च स्ववीर्यनिगूहनपरः, धर्मचितायां निद्रया घूर्णित इव ध्याननमस्कारादेः पलायते अनुपयुक्ततया, एतस्य मरणं पलायमरणं। सम्यक्त्वपंडिते, ज्ञानपंडिते, चरणपंडिते च पलायमरणमपि संभवति। ओसण्णमरणं ससल्लमरणं च यदभिहितं तत्र नियमेन पलायमरणम्। तद्व्यतिरिक्तमपि पलायमरणं भवति। निःशल्यः संविग्नो भूत्वा चिरं रत्नत्रयप्रवृत्तस्य संस्तरमुपगतस्य शुभोपयोगात्पलायमानस्य शुभस्य भावस्यानवस्थानात्।

वसट्टमरणं नाम—आर्ते रौद्रे च प्रवर्तमानस्य मरणं। तत्पुनश्चतुर्विधं—इंद्रियवसट्टमरणं, वेदणावसट्टमरणं, कषायवसट्टमरणं, नोकषायवसट्टमरण इति। इंद्रियवसट्टमरणं यत् तत्पंचविधं इंद्रियविषयापेक्षया। सुरैर्नरैस्तिर्यग्भिरजीवैश्च एतेषु ततविततघनसुषिरेषु मनोज्ञेषु रक्तोऽमनोज्ञेषु द्विष्टो मृतिमेति। तथा चतुःप्रकारे आहारे रक्तस्य द्विष्टस्य वा मरणं, पूर्वोक्तानां सुरनरादीनां गंधे द्विष्टस्य रक्तस्य वा मरणं, तेषामेव रूपे संस्थाने वा रक्तस्य द्विष्टस्य वा मरणं, तेषामेव स्पर्शे रागवतो द्वेषवतो वा मरणं। इति इंद्रियानिंद्रियार्तवशमरणविकल्पाः।

वेदणावसट्टमरणं द्विभेदं समासतः। सातवेदनावशार्तमरणं असातवेदनावशार्तमरणं। शारीरे मानसे वा दुःखे उपयुक्तस्य मरणं दुःखवशार्तमरणमुच्यते। यो दुःखेन मोहमुपागतस्तस्य मरणमिति यावत्। तथा शारीरे मानसे वा सुखे उपयुक्तस्य मरणं सातवशार्तमरणं।

कषायभेदात्कषायवशार्तमरणं चतुर्विधं भवति। अनुबंधरोषो य आत्मनि परत्र उभयत्र वा मारणवशोऽपि मरणवशः भवति। तस्य क्रोधवशार्तमरणं भवति। मानवशार्तमरणमष्टविधं भवति। कुलेन, रूपेन, बलेन श्रुतेन ऐश्वर्येण, लाभेन, प्रज्ञया, तपसा वा आत्मानमुत्कर्षयतो मरणमपेक्ष्य, विख्याते विशाले उन्नते कुले समुत्पन्नोऽहमिति मन्यमानस्य मृतिः कुलमानवशार्तमरणम्। निरुपहतपंचेंद्रियसमग्रगात्रस्तेजस्वी प्रत्यग्रयौवनः सकलजनताचेतःसम्मदकररूप इति मानयतो मृतिः रूपवशार्तमरणं। वृक्षपर्वतादुत्पाटनक्षमोऽहं योधप्रधानोऽहं, मित्राणां च बलं ममास्ति इति बलाभिमानोद्वहनान्मानवशार्तमरणं। बहुपरिवारो बहुशासनोऽहं इति ऐश्वर्यमानोन्मत्तस्य मरणं मानवशार्तमरणं। लोकवेदसमयसिद्धान्तशास्त्राणि शिक्षितानि इति श्रुतमानोन्मत्तस्य मरणं श्रुतमानवशार्तमरणमुच्यते। तीक्ष्णा मम बुद्धिः सर्वशास्त्र-

तिहता इति प्रज्ञामत्तस्य मरणं प्रज्ञावशार्तमरणमुच्यते । व्यापारे क्रियमाणे मम सर्वत्र लाभो जायते इति लाभ माने भावयतो मरणं लाभवशार्त्तमरणम् । तपो मयानुष्ठीयते अन्यो मत्सदृशश्चरणे नास्ति इति संकल्पयतस्तपोमानवशार्ते मरणं भवति । माया पंचविकल्पा निकृतिः, उपधिः, सातिप्रयोगः, प्रणिधिः प्रतिकुंचनमिति । अतिसंधानकुशलता धने कार्ये वा कृताभिलाषस्य वंचना निकृतिः उच्यते । सद्भावं प्रच्छाद्य धर्मव्याजेन स्तैन्यादिदोषे प्रवृत्तिरुपधिसंज्ञिता माया । अर्थेषु विसंवादः स्वहस्तनिक्षिप्तद्रव्यापहरणं, दूषणं, प्रशंसा वा सातिप्रयोगः । प्रतिरूपद्रव्यमानकरणानि, ऊनातिरिक्तमानं, संयोजनया द्रव्यविनाशनमिति प्रणिधिमाया । आलोचनं कुर्वतो दोषविनिगूहनं प्रतिकुंचनमाया । एवंविधमायावशार्तमरणं । उपकरणेषु, भक्तपानक्षेत्रेषु, शरीरे, निवासस्थानेषु च इच्छां मूर्च्छां च वहतो मरणं लोभवशार्तमरणं । हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदे मूढमतेर्मरणं नोकषायवशार्तमरणं । नोकषायवशार्त-मरणमुपगतो जायते मनुजतिर्यग्योनिषु, असुरेषु, कंदर्पेषु, किल्विषिकेषु च मिथ्यादृष्टेरेतद्वेवं बालमरणं भवति । दर्शनपंडितोऽपि अविरतसम्यग्दृष्टिः संयतासंयतोऽपि वशार्तमरणमुपैति तस्य तद्बालपंडितं भवति दर्शनपंडितं वा ।

अप्रतिषिद्धे अननुज्ञाते च द्वे मरणे । विप्पाणसं गिद्धपुट्ठमितिसंज्ञिते कृते प्रवर्तेते । दुर्भिक्षे, कांतारे, दुरुत्तरे, पूर्वशत्रुभये, दुष्टनृपभये, स्तेनभये, तिर्यगुपसर्गे एकाकिनः सोढुमशक्ये ब्रह्मव्रतनाशादिचारित्रदूषणे च जाते संविग्नः पापभीरुः कर्मणामुदयमुपस्थितं ज्ञात्वा तं सोढुमशक्तः तन्निस्तरणस्यासत्युपाये सावद्यकरणभीरुः विराधन-मरणभीरुश्च एतस्मिन् कारणे ज्ञाते कालेऽमुष्मिन् किं भवेत्कुशलमिति गणयतो यद्युपसर्गभयत्रासितः संयमाद्भ्रं-श्यामि ततः संयमभ्रष्टो दर्शनादपि न वेदनामसंक्लिष्टः सोढुं उत्सहेत ततो रत्नत्रयाराधनाच्युतिर्ममेति निश्चित-मतिर्निर्मायश्चरणदर्शनविशुद्धः, धृतिमान्, ज्ञानसहायोऽनिदानः, अर्हदन्तिके, आलोचनामासाद्य कृतशुद्धिः, सुलेश्यः, प्राणा-पाननिरोधं करोति यत्तद्विप्पाणसं मरणमुच्यते । शस्त्रग्रहणेन यद्भवति तद्गिद्धपुट्ठमित्युच्यते । मरणविकल्पसंभव-प्रदर्शनमिदं सर्वत्र कर्तव्यतयोपदिश्यते । प्रायोपगमनमिंगिणीमरणं भक्तप्रत्याख्यानं इत्येतान्येवोत्तमानि पूर्वपुरुषैः प्रव-र्तितानि । एवं दिङ्मात्रेण पूर्वागमानुसारि सप्तदशमरणव्याख्यानमत्रोपक्रान्तं ।

अथाह शिष्यः । आयुःसंज्ञकपुद्गलगलनं मरणमिष्यते तत्किल सप्तदशप्रकारं । तदिह कतिधा भवद्भिरभि धास्यते ? आराधनानुगतमरणस्यैवेह शास्त्रे विधेयत्वेनेष्टत्वात् । तद्वाक्यानुसारितया सूरिरिदमाह—

मूलारा—सत्तरस सप्तदश । जिणवयणे जिना इह गणधरास्तेषां वचनं तद्रचितं सूत्रं तस्मिन् । अयमर्थः— न केवलं तीर्थकरैर्मरणानि सप्तदश देशितानि यावता गणधरैरपि स्वसूत्रे यानि तावन्त्येवोपनिबद्धानि । उत्तरवाक्ये च शब्दोऽत्र योज्यः । तत्थवि तेष्वपि तीर्थकरोपदिष्टगणधरोपनिबद्धेषु सप्तदशमरणेषु मध्ये पंचविधसंगहेण—पंचानां प्रकाराणां संक्षेपेण । एतेनैदंयुगीनविनेयजनानुरोधेन प्रशस्तेतररूपतया कृत्येतररूपतां गतानि पंच मरणान्यहं वक्ष्यामीति

मपिना सूरेर्लक्ष्यते । मरणं चानुभूयमानायुःपुद्गलगलनं मरणभेदस्मरणार्थमिदमार्याद्वयमपधार्य—

आवीचितद्भवावध्याद्यंतसशल्यगृध्रपृष्ठमृतीः ॥
जिघ्रासव्युत्सृष्टवलाकासंक्लिश्यमरणानि ॥ १ ॥
शिशुशिशुशिशुशिशुपंडितमृतीः सभक्तोज्झनेंगिनीमरणं ॥
प्रायोपगमनपंडितपंडितमरणे च सप्तदश विद्यात् ॥ २ ॥

१ तत्र प्रतिक्षणमायुःक्षय आवीचिमरणं । समुद्राम्बुषु वीचीनामिव आयुःपुद्गलाणुषु रसानां प्रतिसमय मुद्भूयोद्भूय विलयनात् । २ भुज्यमानायुषश्चरमसमये मरणं तद्भवमरणं ३ यादृशेन मरणेन पूर्वं मृतस्तादृशेनैव मरणमवधिमरणं । ४ देशतः सर्वतो वा प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशसादृश्येन अवधीकृतेन विशेषितत्वात्। प्रकृतिस्थित्यनुभव प्रदेशैर्देशतः सर्वतो वान्यादृशैर्मरणमाद्यंतमरणं । आदेः प्रथममरणस्यान्तो विनाशो यस्मिन्नुत्तरमरण इति व्युत्पत्तेः । ५ मायानिदानमिथ्यात्वलक्षणशल्यसमेतस्य मरणं सशल्यं मरणं । ६ हस्तिकलेवरादिषु प्रविश्य मरणं गृध्रपृष्ठमरणं ७ प्राणनिरोधं कृत्वा मरणं जिघ्रासमरणं । ८ दर्शनज्ञानचारित्राणि त्यक्त्वा मरणं व्युत्सृष्टमरणं ९ पार्श्वस्थरूपेण मरणं वलाकामरणम् । १० दर्शनज्ञानचारित्रेषु संक्लेशं कृत्वा मरणं संक्लिश्यमरणं । शेषसप्तकस्य लक्षणानि स्वयमेवाचार्योऽग्रे वक्ष्यति ।

हिन्दी अर्थ—श्रीजिनेश्वरोंने जिनागममें मरणोंके सतरह प्रकार कहे हैं. उसमेंसे संग्रह करके मैं (शिवकोट्याचार्य) पांच मरणोंका स्वरूप कहता हूं ।

विशेषार्थ-मरण, निगम, विनाश, विपरिणाम ये एकार्थ वाचक अर्थात् मरणके वाचक शब्द हैं. मरणके पूर्व में प्राणीका जीवन पर्याय होता है अनंतर मरण पर्याय होता है ऐसे दो पर्याय जीवमें होते हुए देखे जाते हैं. जीवन पर्यायकेही स्थिति, अविनाश, अवस्थिति ऐसे नाम हैं. जिस पदार्थकी स्थिति होती है वही पदार्थ नष्ट भी होता है. जिसकी स्थिति ही नहीं उसका नाश भी नहीं होता है. जैसे वंध्यासुतकी स्थिति नहीं है अतः उसका नाश भी नहीं है. स्थितिरहित वस्तु क्षणिकवादि बौद्धोंने मानी है. वे सर्वथा वस्तु क्षणिक मानते हैं. जीवन जन्म पूर्वक ही रहता है. जो चीज उत्पन्न हुई नहीं उसकी स्थिति भी नहीं रहती है. अतः नाश, उत्पत्ति और ध्रौव्य ये तीन

अवस्थायें संपूर्ण पदार्थोंकी होती हैं. ऐसी यदि प्रक्रिया माने तो उत्पन्न हुए पर्यायका जो नाश उसकोही मरण कहना चाहिये. देवपना, मनुष्यपना, तिर्यंचपना, और नारकपना इन पर्यायोंका नाश होना यह यहां मरण शब्दका वाच्यार्थ है. अथवा प्राणोंका त्याग वह मरण शब्दका अर्थ है. अत एव 'मृङ् प्राणत्यागे' ऐसा मृ धातुका अर्थ धातुपाठमें है. उसी तरह प्राणोंको ग्रहण करना यह जन्म शब्दका अर्थ है. अर्थात् प्राण धारण करना यह जीवित है. प्राणोंके द्रव्यप्राण व भावप्राण ऐसे दो भेद हैं. स्पर्शनादिक पांच इंद्रिया, मनोबल, वचनबल और कायबल श्वासोच्छ्वास और आयु ऐसे दस भेद द्रव्य प्राणोंके है. ये द्रव्यप्राण पुद्गलात्मक हैं. ज्ञान, दर्शन, चारित्र ये भावप्राण हैं. भावप्राणोंकी अपेक्षासे सिद्धोंमें जीवित माना गया है.

आयुष्यके दो भेद हैं पहिला भेद अद्धायु और दुसरा भेद भवायु. भवधारण करना वह भवायु है. शरीरको भव कहते हैं. इस शरीरको आत्मा आयु कर्मके उदयका साहाय्य प्राप्त करके धारण करता है. अतः शरीर धारण करनेमें असमर्थ ऐसे आयुकर्मको भवायु कहते हैं. इस विषयमें अन्य आचार्य ऐसा कहते हैं.

देहको भव कहते हैं. वह भव आयु कर्मसे धारण किया जाता है. अतः भवधारण करनेवाले आयु कर्मको भवायु ऐसा कहते हैं. आयु कर्मके उदयसे ही उसका जीवन स्थिर है. और जब प्रस्तुत आयु कर्मसे भिन्न अन्य आयु कर्मका उदय होता है तब यह जीव मरणावस्थाको प्राप्त होता है. मरण समयमें पूर्वायुका विनाश होता है.

इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

अद्धायुके विषयमें विवेचन–अद्धा शब्दका काल ऐसा अर्थ है. और आयु शब्दसे द्रव्यकी स्थिति ऐसा अर्थ समझना चाहिये. द्रव्योंका जो स्थितिकाल उसको अद्धायु कहते हैं. द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे द्रव्योंका अद्धायु अनाद्यनिधन है अर्थात् द्रव्य अनादि कालसे चला आया है और वह अनंत कालतक अपने स्वरूपसे च्युत न होगा इसलिये उसको अनादि अनिधन भी कहते हैं. पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे जब विचार करते हैं तो अद्धायुके चार भेद होते है. वे इस प्रकार है—१ अनाद्यनिधन २ साद्यनिधन ३ सनिधन अनादि ४ सादि सनिधनता.

चैतन्यादिकगुण, रूपादिकगुण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व इत्यादि सामान्य धर्मापेक्षया द्रव्योंकी अनाद्य-

निधन स्थिति है अर्थात् उपर्युक्त धर्म द्रव्योंमें अनादिकालसे विद्यमान हैं और इनका कभी भी नाश होता नहीं. अत इनकी अनाद्यनिधन स्थिति विद्वानोंने मानी है. जीवमें भव्यत्वगुण, अनादिकालसे है परंतु मुक्तीके समयमें उसका नाश होता है अत' यह अनादि और सनिधन है.

कोप, हर्षादिविकार सादि और सनिधन हैं. अर्थात् ये वार वार उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं. केवलज्ञानादिक गुण सादि हैं परंतु ये कभी नष्ट नहीं होते, अतएव ये सादि और अनिधन हैं.

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका आश्रय लेकर अद्धायुके चार भेद होते हैं. अद्धायुके आश्रयसे भवधारणरूप आयुका निरूपण होता है. आयुसंज्ञक जो कर्म हैं वे पुद्गलद्रव्यस्वरूप ही हैं. अतः आयुःस्थिति द्रव्यस्थितिसे भिन्न नहीं है.

अथवा जीव जिसका अनुभव ले रहा है ऐसे आयुसंज्ञक पुद्गल आत्मासे नष्ट होना वही मरण है. अत. आयुःस्थितीसे द्रव्यस्थिती अत्यंत भिन्न नहीं है. आयुकर्म भी पुद्गल द्रव्य है अत' आयुकी स्थितीको अद्धा काल–द्रव्यस्थिति ऐसा भी कह सकते हैं. आयुकर्म नष्ट होना यह मरण है ऐसा उपर कह चुके हैं. इस मरणके तीर्थकरोंने जिनवचनमें सतरह प्रकार कहे हैं.

शंका—तीर्थकरोंने मरणके १७ प्रकार कहे हैं इतना कहनेसे भी अभिप्राय ध्यानमें आता है ' जिनवचनमें ' ऐसे अधिक शब्दकी क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—आपकी शंका ठीक है. जिन शब्दका यहां गणधर ऐसा अर्थ समझना चाहिये. गाथामें च शब्द नहीं है तो भी उसके विना भी समुच्चयार्थ माना जाता है. यहां ऐसा संबंध करना चाहिये. तीर्थकरोंने मरणके सतरह प्रकार कहे हैं. और गणधरोंके वचनमें अर्थात् उनके रचित सूत्रोंमें भी मरणके सतरह प्रकार कहे हैं. अत' दोनोंके वचन प्रमाण अर्थात् शंकाके स्थान नहीं हैं । सतरह मरणोंके नाम इस प्रकार हैं—१ आवीचिमरण २ तद्भवमरण ३ अवधिमरण ४ आदि अंतियमरण ५ बालमरण ६ पंडितमरण ७ ओसण्णमरण ८ बालपंडित मरण ९ सशल्यमरण १० बलाकामरण ११ वोसट्टमरण १२ विप्पाणसमरण १३ गिद्धपुट्ठमरण १४ भक्तप्रत्याख्यान मरण १७ केवलिमरण ।

आगमके अनुसार इनका संक्षेपसे यहां वर्णन करते हैं.

१ आवीचिमरण—वीचि शब्दका अर्थ ' तरंग ' ऐसा होता है. तरंगके समान जो आयु कर्मका प्रतिसमय उदय आता है उसका भी यहां वीचि शब्दसे आचार्य उल्लेख करते हैं. जैसे नदी समुद्र इत्यादिकोंमें निरंतर लहरें उछलती हैं वैसे आयु कर्म प्रतिसमय उदयमें आता है. अतएव उसके उदयको आवीचि कहते हैं. आयुका अनुभव लेना वह जीवित है. वह जीवित प्रति समयमें रहता है. प्रत्येक समयका जीवित नष्ट होना यह मरण है. अतः प्रति समयके मरणको भी यहां वीचि कहते हैं आयुके अनंतर मरण भी प्रतिसमय होता रहता है अतः वह मरण ' आवीचि मरण ' ऐसे नामसे प्रसिद्ध है. यह आवीचि मरण भव्य जीवोंके प्रति अनादि और सनिधन है. भव्यको जब मोक्षप्राप्ति होती है तब यह मरण नष्ट हो जाता है अतः इसको सनिधन कहते हैं. मोक्षके पूर्वमें भव्यको हमेशा मरण था इसकी अपेक्षासे उसे अनादि भी कहते हैं. अतः यह मरण भव्योंकी अपेक्षासे अनादि सनिधन है.

शंका—सिद्धोंको ही मरण नहीं है उनके जन्म मरणका नाश हो चुका है परंतु सिद्धसे व्यतिरिक्त जीवोंको हमेशा मरण है ही. सिद्ध जीवको भव्य भी नहीं कहना चाहिये । जिनको भविष्य कालमें सिद्धत्व पर्याय प्राप्त होगा उनकोही भव्य कहते हैं. सिद्धोंको तो सिद्धत्व पर्याय मिल चुका है अतः उनको भव्य कहना योग्य नहीं है. सिद्धोंकी अपेक्षासे ही आवीचि मरण अनादि सनिधन है. भव्योंकी अपेक्षासे वह अनादि और सनिधन ही समझना चाहिये.

उत्तर—' भवियाणमणादियं मरणं आवीचिगं सणिधणं च ' अर्थात् भव्योंका आवीचि मरण अनादि और सनिधन है ऐसा आगममें कहा है. जिसने भव्यत्वपर्याय प्राप्त किया था वही यह द्रव्य है ऐसी अपेक्षासे भव्योंका मरण अनादि सनिधन है ऐसा कह सकते हैं. अर्थात् सिद्धोंको भी भूतपूर्व नयकी अपेक्षासे भव्य कहते हैं.

अभव्योंकी अपेक्षासे यह आवीचि मरण अनादि अनिधन है. अर्थात् प्रतिसमय उनको आयुका उदय रहता ही है. भवकी अपेक्षासे अथवा क्षेत्रकी अपेक्षासे यह मरण सादि कहते हैं.

आयु कर्म के चार भेद है, उसमें यद्यपि प्रत्येक गतिमें दो आयुकी सत्ता रहती है तो भी एकही आयुका उदय रहता है अर्थात् जिस गतिमें यह प्राणी उत्पन्न होता है उस गतिके अनुकूल आयुकाही उदय होता है.

परंतु दो आयु कर्म एक साथ रह सकते हैं.

तिर्यंचायु और मनुष्यायुके साथ सर्व आयुष्यकी सत्ता रहती है. अर्थात् तिर्यंच जीवको देवायु, नरकायु, मनुष्यायु, तिर्यंचायु ऐसे आयुमेंसे कोइ भी आयुका बंध हो सकता है इस लिये सर्व आयुकी सत्ता रहती है ऐसा आचार्य कहते हैं. इसी तरह मनुष्यायुके साथ भी-सब आयुकी सत्ता रहती है. देव आयु और नारकायुके साथ तिर्यंचायु और मनुष्यायु की ही सत्ता रह सकती है. अतएव देव नारकी नहीं होता और नारकी मरकर देव नहीं होता. देव मरकर तिर्यंच अथवा मनुष्य ही होगा. नारकी भी मरकर तिर्यंच अथवा मनुष्यगतीमें ही उत्पन्न होगा.

शंका—दो आयुष्यों की एक समयमें सत्ता रहती है यह हम मानते है परंतु एकदम दो आयुओंका उदय होता है क्या ?

उत्तर—जिस आयुकी प्रकृति और स्थिति अनुभवमें आ रही है उसके उपर इतर आयुके निषेक रहते है. अर्थात पूर्वायुकी प्रकृति और स्थिती पूर्ण अनुभवमें आकर समाप्त होनेपर नंतर दुसरे आयुका उदय होता है. अतः एकदम दो आयुष्योंका उदय होता नहीं. आपके प्रश्नका उत्तर अन्य प्रकारसे भी दे सकते हैं—

एक जीवको युगपत् दो भव अथवा दो गतिओंका संभव नहीं है. भव और गति की अपेक्षासे आयुका उदय होता रहता है. इनकी अपेक्षाका उल्लंघन कर आयुका कभी उदय होता नहीं ऐसा नियम है. एक आत्मामें एक ही आयु कर्म की प्रकृती का उदय एक भवमें आता है. इसलिये एक एक आयु की प्रकृति गलित होनेसे आत्मा मरणावस्थाको प्राप्त होता है. इसको प्रकृतिमरण कहते हैं.

भवको धारण करनेमें कारण ऐसे पुद्गलोंमें स्निग्धता रहती है अतः वे पुद्गल आत्माके प्रदेशोंमें संनद्ध होकर रहते हैं. उसको स्थिति कहते हैं. आत्मामें कषाय परिणाम है. वह पुद्गलोंमें स्निग्धता लानेमें सहकारि कारण है. स्निग्धताका उपादान कारण तो वे पुद्गल ही है परंतु कषाय न हो तो पुद्गलकी स्निग्धता व्यक्त होती नहीं अतः उसकी व्यक्तीमें कषाय सहकारी कारण माने गये हैं. यह पुद्गल द्रव्यकी स्थिति एक समयसे लेकर चढती है. देशोन तेतीस सागरोंके जितने समय होते हैं उतने भेदवाली जो स्थिति है उसको उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं. अंतर्मुहूर्त परिमाणवाली स्थिति जघन्य स्थिति है. इन स्थितिओंकी तरंगोंके समान क्रमरचना है. इनका

क्रमसे नाश होनेसे आत्माको स्थित्यावीचिक मरण की प्राप्ति होती है.

अनुभवावीचिमरणका स्वरूप—कर्म पुद्गलोंका जो रस अनुभवमें आता है उसको अनुभव कहते हैं. यह अनुभव कर्मपुद्गलोंके परमाणुओंमें छह प्रकारकी हानि रूपतासे तथा छह प्रकारकी वृद्धिरूपतासे हीन होता और बढता है. क्रमसे रहे हुए इस अनुभवका तरंगोंके समान क्रमसे नाश होता है. इसको अनुभवावीचिक मरण कहते हैं.

प्रदेशावीचि मरणका स्वरूप—आयुसंज्ञक पुद्गलोंके प्रदेश जघन्य निषेकसे प्रारंभ करके एक दो तीन इत्यादि वृद्धिक्रमसे तरंगके समान नष्ट हो जाते हैं उसको प्रदेशावीचिक मरण कहते हैं. इस तरह आवीचिकामरण का विवेचन हुआ।

२ तद्भवमरणका स्वरूप—पूर्वभवका नाश होकर उत्तर भवकी प्राप्ति होना वह तद्भवमरण है यह मरण इस जीवने अनंत वार प्राप्त किया है. यह मरण इस जीवको दुर्लभ नहीं है.

३ अवधिमरणका स्वरूप—जो प्राणी जिस तरहका मरण वर्तमानकालमें प्राप्त करता है. वैसा ही मरण यदि आगे भी उसको प्राप्त होगा तो ऐसे मरणको अवधिमरण कहते हैं। इस मरणके देशावधिमरण और सर्वावधिमरण ऐसे दो भेद हैं. सर्वावधिमरणका स्वरूप—प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशों सहित जो आयु वर्तमानसमयमें जैसी उदयमें आती है वैसी ही आयु फिर प्रकृत्यादि विशिष्ट बंधकर यदि उदयमें आवेगी तो उसको सर्वावधि मरण कहते हैं।

देशावधिमरणका स्वरूप—जो आयु वर्तमानकालमें प्रकृत्यादि विशिष्ट होकर जैसी उदयमें आती है. वैसी ही आयु यदि किसी अंशमें सदृश होकर बंधेगी और आगेके कालमें—भविष्यकालमें उदयमें आवेगी तो उसको देशावधिमरण कहते हैं. अभिप्राय यह है कि कुछ अंशमें अथवा पूर्णरूपसे सादृश्य जिसमें पाया जाता है ऐसा अवधिसे विशिष्ट अर्थात् जिसमें पूर्ण सादृश्य मर्यादित हुआ है अथवा जिसमें कुछ हिस्सेमें सादृश्यकी मर्यादा है और कुछ हिस्सेमें नहीं ऐसे मरण को अवधिमरण कहते हैं।

आद्यंतमरण—वर्तमानकालमें जैसा मरण जीवको प्राप्त हुआ है वैसा अर्थात् सदृशमरण आगे प्राप्त न होना उसको आद्यन्तमरण कहते हैं. यहां आदि शब्दसे वर्तमानकालीन प्रथम मरण ऐसा अर्थ समझना चाहिये।

ऐसे मरणका उत्तर मरणमें नाश होना उसको आद्यंतमरण कहते हैं. प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशोंसे युक्त ऐसे आयुका नाश होनेसे वर्तमानकालमें जैसा मरण प्राप्त हुआ है ऐसा ही सदृश मरण आगे जीवको यदि प्राप्त न होगा तो उसको आद्यंतमरण कहते हैं। आश्वासः १

५ बालमरणका स्वरूप-बालका-अर्थात् अज्ञानी जीवका जो मरण उसको बालमरण कहते हैं. बालजीवके पांच भेद हैं. उनके नाम यथा-अव्यक्तबाल, व्यवहारबाल, ज्ञानबाल, दर्शनबाल और चारित्रबाल.

अव्यक्तबाल—अव्यक्त शब्दका अर्थ छोटा लडका ऐसा होता है. अर्थात् जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका स्वरूप जानता नहीं और इन चार पुरुषार्थोंका आचरण करनेमें जिसका शरीर असमर्थ है ऐसे बालकको अव्यक्तबाल कहते हैं।

व्यवहार बाल—लोकव्यवहार, वेदका ज्ञान, शास्त्रज्ञान, जिसको नहीं है वह व्यवहार बाल है.

दर्शन बाल—तत्वार्थ श्रद्धान जिनको बिलकुल नहीं हैं ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव दर्शन बाल हैं.

ज्ञान बाल—जीवादि पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान जिनको नहीं है वे ज्ञान बाल हैं.

चारित्र बाल—चारित्रहीन प्राणीको चारित्र बाल कहते हैं. ऐसे पांच बालोंका जो मरण उसको बाल मरण कहते हैं. ऐसे बाल मरण अनंतवार भूतकालमें इस जीवने प्राप्त किये हैं. अनंत जीव इस मरणको प्राप्त होते हैं. यहां दर्शनबालका प्रकरण ही प्रस्तुत है. इतर बालोंका विवेचन करनेकी यहां आवश्यकता नहीं है. सम्यग्दृष्टीमें इतर बालकत्वका सद्भाव है तो भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेसे वह दर्शनपंडित कहा जाता है. अतः सम्यग्दर्शन सहित उसका मरण होनेसे उसके मरणको पंडित मरण ही कहते हैं.

दर्शनबालके मरणके संक्षेपसे दो भेद हैं. इच्छाप्रवृत्त और अनिच्छाप्रवृत्त.

इच्छाप्रवृत्त मरण—अग्नीसे, धूममें, शस्त्रके द्वारा, विषसे, पानीसे, पर्वतपरसे कूदनेसे, श्वासोच्छ्वास रोकनेसे, अति शीतोष्णके पडनेसे भूक और प्याससे, जिव्हाको उखाडनेसे, प्रकृतिके विरुद्ध ऐसे आहारका सेवन करनेसे, इत्यादि कारणोंमें जीवनका त्याग करनेकी इच्छासे जो प्राण त्याग करते हैं वे इच्छाप्रवृत्त मरण करनेवाले दर्शन बाल हैं. योग्य कालमें अथवा अकालमें ही मरनेका अभिप्राय धारण न करते हुए भी दर्शन बालोंको जो मरण आता है वह अनिच्छाप्रवृत्त मरण है. जीनेकी इच्छा होते हुए भी जो मरण आता है वह ९७

अनिच्छा प्रवृत्त मरण है.

जो दुर्गतिको जानेवाले हैं, जिनका चित्त विषयोंमें आसक्त हुवा है, जिनके हृदयमें अज्ञानांधकार छाया हुवा है. जो ऋद्धिमें आसक्त हुवे हैं, रसोंमें आसक्त हुवे हैं, और सुखका अभिमान रखते हैं अर्थात् मैं बडा सुखी हूं, मेरेको ही अच्छे अच्छे पदार्थ खानेको मिलते हैं, और मैं बडा श्रीमंत था इत्यादिक रूप तीन गारवोंसे जो युक्त हैं ऐसे जीव ऊपर कहे हुए बाल मरणसे मरते हैं. इन बालमरणोंसे बहुत तीव्र पाप कर्मके आस्रव जीवमें आते हैं. ये बालमरण जरा, मरण वगैरह संकटोंमें जीवोंको फेकते हैं.

पंडित मरणका कथन करते हैं—

१ व्यवहार पंडित २ सम्यक्त्व पंडित ३ सम्यग्ज्ञान पंडित ४ चारित्र पंडित एसे पंडितके चार भेद है. लोक, वेद, समय इनके व्यवहारोंमें जो निपुण हैं वे व्यवहार पंडित हैं. अथवा जो अनेक शास्त्रोंके ज्ञानकार हैं, शुश्रूषा, श्रवण, धारणादि बुद्धिके गुणोंसे जो युक्त हैं उनको व्यवहार पंडित कहते हैं.

दर्शन पंडित—जिनको क्षायिक सम्यग्दर्शन, अथवा औपशमिक सम्यग्दर्शन वा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन हैं वे जीव दर्शन पंडित हैं।

ज्ञानपंडित–मत्यादि पांच प्रकारके सम्यग्ज्ञानसे जो परिणत हैं उनको ज्ञानपंडित कहते हैं ।

चारित्र पंडित—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात ऐसे चारित्रके पांच भेद है. उनमेंसे किसी एक चारित्रके धारक जो हैं उनको चारित्रपंडित कहते हैं. यहां ज्ञानपंडित और चारित्र पंडितोंका ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि व्यवहारपंडित मिथ्यादृष्टि होता है इसलिये उसका मरण बालमरणमें समाविष्ट होता है. और ज्ञानादिपंडितोंका मरण पंडितमरणमें अन्तर्भूत होता है ऐसा समझना चाहिये. नरकमें, भवनवासिदेवोंके स्थानोंमें, स्वर्गवासिदेवोंके तथा ज्योतिर्वासिदेवोंके विमानोंमें व्यंतरोंके निवास स्थानोंमें, द्वीप और समुद्रोंमें दर्शनपंडितका मरण होता है.

ज्ञानपंडितोंका मरण भी उपर्युक्त स्थानोंमें होता है परंतु जिनको मनःपर्यय प्राप्त हुआ है ऐसे ज्ञानपंडित और जिनको केवलज्ञान हुआ है ऐसे ज्ञानपंडित इनका मनुष्य लोकमें ही मरण होता है ।

अवसन्नमरणका वर्णन–रत्नत्रयमार्गमें विहार करनेवाले मुनिओंका संघ जिसने छोड दिया है ऐसे मुनिको

अवसन्न कहते हैं और उसके मरणको अवसन्नमरण कहते हैं. अवसन्न शब्दसे पार्श्वस्थ, स्वच्छंद, कुशील और संसक्त ऐसे भ्रष्ट मुनिओंका भी ग्रहण होता है. इनका वर्णन—

पार्श्वस्थ, स्वच्छंद, कुशील, संसक्त और अवसन्न ये पांच प्रकारके मुनि रत्नत्रयमार्गमें विहार करनेवाले मुनिओंका त्याग करते हैं. अर्थात् स्वच्छंदसे चलते हैं. ये मुनि ऋद्धीमें आसक्त होते हैं, रसोंमें आसक्ति रखते हैं. दुःखसे डरते हैं, हमेशा सुखको चाहते हैं, कषायोंमें परिणत होकर आहारादि संज्ञाके आधीन रहते हैं. जिससे पाप उत्पन्न होता है ऐसे कुशास्त्रोंका अभ्यास करते हैं. ३ गुप्ति ५ समिति और ५ महाव्रत ऐसे तेरह प्रकारकी क्रियाओंमें आलसी रहते हैं. इनके परिणामोंमें हमेशा संक्लेश रहा करता है. आहारके पदार्थ और पिंछी, कमंडलादिक उपकरणोंमें इनका चित्त आसक्त होता है. निमित्त शास्त्र, मंत्र शास्त्र, औषध इनका कथन कर ये उपजीविका करते हैं. गृहस्थोंका वैयावृत्त्य करते हैं. उत्तरगुणोंसे रहित होते हैं. गुप्ति और समितिमें इन की तत्परता नहीं रहती है. इनका मन संसारदुःखोंसे भययुक्त होता नहीं हैं. उत्तम क्षमादिक दशधर्मोंमें ये प्रेम नहीं करते हैं. इनके चारित्रमें दोष लगते हैं. ऐसे मुनिओंको अवसन्न कहते हैं. ये मुनि मरकर हजारों भवमें भ्रमण करते हुवे दुःखोंको वारंवार भोगते हैं. यदि पार्श्वस्थरूपसे चिरकाल विहार कर अंतमें उन्होंने अपनी शुद्धि की होगी तो वे प्रशस्तमरणको प्राप्त होते हैं.

जो सम्यग्दृष्टि होकर संयमासंयम अर्थात् अणुव्रत धारण करता है वह श्रावक बाल पंडित कहा जाता है. उसके मरण का नाम बाल पंडित मरण ऐसा है. यह श्रावक बाल और पंडितत्व ऐसे दोनों भावोंसे युक्त होनेसे इसको बाल पंडित कहते हैं. स्थूल हिंसादिक पंच पापोंका त्याग इसने किया है, तथा सम्यग्दर्शन का धारक भी है. अतः यह चारित्र पंडित और दर्शन पंडित है. परंतु सूक्ष्म असंयमसे निवृत्त नहीं है, सूक्ष्म हिंसादि पापोंका त्यागी न होनेसे इसमें बालत्व भी है अतः इसको बालपंडित कहना अन्वर्थ है. यह बाल पंडित मरण गर्भजपर्याप्त ऐसे तिर्यंच और मनुष्योंमें होता है. देव और नारकी जीवोंमें नहीं होता. क्योंकि वे केवल दर्शन पंडित ही है. दर्शनपंडितमरण उपर्युक्त तिर्यंच, मनुष्य, देव और नारकी जीव इनमें होता है.

सशल्यमरणके दो भेद हैं क्योंकि शल्यके द्रव्यशल्य और भावशल्य ऐसे दो भेद माने हैं. मिथ्यादर्शन माया, निदान ऐसे तीन शल्योंकी जिनसे उत्पत्ति होती हैं ऐसे कारणभूत कर्मको द्रव्यशल्य कहते हैं. इनके

उदयसे जीवमें जो मायारूप, निदानरूप और मिथ्यात्वरूप परिणाम होते हैं वे भावशल्य हैं. पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति इन पांच स्थावरोंके मरणको द्रव्यशल्यमरण कहते हैं. असंज्ञि ऐसे त्रस जीव भी इसी मरणसे मरते हैं.

शंका—द्रव्यशल्य सर्व त्रस स्थावर प्राणिओंमें है ही ? तो स्थावरोंमें ही वह है ऐसा आप कहते हैं यह योग्य नहीं है.

उत्तर—भावशल्यसे रहित केवल द्रव्यशल्यकी अपेक्षासे हमने ऐसा कहा है. सम्यक्त्वमें दर्शनशल्यसे अतिचार उत्पन्न होते हैं. सम्यग्दर्शन स्थावर जीवोंमें और विकलेन्द्रियोंमें नहीं उत्पन्न होता है.

मेरेको भविष्यत्कालमें ऐसी ऐसी वस्तु मिलनी चाहिये ऐसा मनका संकल्प होना उसको निदान कहते हैं. यह असंज्ञिजीवोंमें मन न होनेसे नहीं होता है.

रत्नत्रयमार्गको दूषण लगाना, मार्गका नाश करना, मिथ्यामार्गका निरूपण करना, रत्नत्रयमार्गमें चलनेवाले लोगोंका बुद्धिभेद करना ये सब मिथ्यादर्शनशल्यके प्रकार हैं.

निदानके प्रशस्त, अप्रशस्त और भोगकृत ऐसे तीन भेद हैं. परिपूर्ण संयमकी आराधना करनेकी इच्छासे जन्मांतरमें मेरेको पुरुषत्व प्राप्त हो, उत्तम कुल, उत्तम दृढ शरीर इत्यादि सामग्री प्राप्त हो ऐसी प्रार्थना करना प्रशस्तनिदान है. कषायसे प्रेरित होकर आगेके जन्ममें कुलरूपादिकोंकी प्रार्थना करना अप्रशस्तनिदान है. अथवा क्रोधांध होकर अपने शत्रूको मैं उत्तर भवमें मार सकूं ऐसी इच्छा रखना जैसे वशिष्ठमुनीने उग्रसेन राजाका नाश करनेकी इच्छा की थी. वह वशिष्ठमुनि मरकर कंस हुवा था. उसने अपने पिताका राज्य छीन लिया था और उसको कारागृहमें कैद किया था. यह अप्रशस्तनिदानका उदाहरण है.

भोग निदान—इस लोकमें तथा परलोकमें-स्वर्गादिकमें मेरेको अच्छे २ भोग इस व्रताचरणसे मिलने चाहिये ऐसा मनमें संकल्प करना वह भोगनिदान है. यह भोगनिदान असंयतसम्यग्दृष्टि व संयतासंयत अर्थात् श्रावकको होता है. ये जीव भोगनिदानसे मरते है. इसको भोगनिदान मरण कहते हैं.

मायाशल्यमरण—पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त वगैरे भ्रष्ट मुनीके रूपसे चिरकाल तक विहार करके जो मुनि मरणसमयमें भी दोषोंकी आलोचना किये विना ही मरते हैं उनका वह मरण मायाशल्यमरण समझना १००

चाहिये. यह बालपंडितमरण मुनि, श्रावक, और असंयतसम्यग्दृष्टिको प्राप्त होता है.

वलाय मरण—वलाका मरण—देववंदनादिक नित्यनैमित्तिक क्रिया करनेमें अलसी-प्रमादयुक्त, विनय, वैयावृत्य वगैरे कार्योंमें आदरभाव न रखनेवाला, व्रत, समिति और गुप्ति इनके पालनमें अपनी शक्ति छिपानेवाला, धर्मके स्वरूपका विचार करनेके समय मानो नींद लेनेवाला, और ध्यान, नमस्कारादिसे दूर भागनेवाला ऐसे मुनीके मरणको वलाकामरण कहते हैं. उपर्युक्त कार्योंमें अनुपयुक्त रहनेवाले मुनि इस मरणसे मरते हैं. सम्यक्त्वपंडित, ज्ञानपंडित, चारित्रपंडित ऐसे लोक इस मरणसे मरते हैं. इनके सिवाय अन्य भी इस मरणसे मरते हैं. अवसन्नमरण और सशल्यमरणका स्वरूप पीछे कह चुके हैं उसमें नियमसे वलाय मरण होता है.

ओसण्णमरण—जिसने शल्यरहित और संसार दुःखसे भयभीत होकर चिरकाल रत्नत्रयका पालन किया है. जिसने समाधिमरणके लिये संस्तरका आश्रय लिया है. ऐसा मुनि यदि शुभोपयोगको छोड दे तो शुभभाव उसमें नहीं रह सकेगा उसको आर्तध्यान और रौद्रध्यान घेर लेगा. ऐसी अवस्थामें मुनिका यदि मरण होगा तो उसको वसट्टमरण कहते हैं. इस मरणके १ इंदियवसट्टमरण २ वेदनावसट्टमरण, ३ कसायवसट्टमरण ४ नोकषायवसट्टमरण ऐसे चार भेद हैं.

इंदियवसट्टमरण-स्पर्शनादिक पांच इंद्रियोंके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द ऐसे पांच विषय हैं. इन विषयोंकी अपेक्षासे इस मरणके पांच भेद होते हैं. जैसे-स्पर्शनेंद्रियवसट्टमरण, रसनेंद्रियवसट्टमरण इत्यादि. देव, मनुष्य, तिर्यंच, और अजीव पदार्थ इनके द्वारा किये गये तत, वितत, घन, और सुषिरशब्दोंमें-यदि ये मनोहर हो तो उनमें आसक्त होकर, अमनोहर हो तो उनमें द्वेषयुक्त होकर जो मरण होता है उसको श्रोत्रेंद्रियवसट्टमरण कहते हैं. अन्न, पान, खाद्य और लेह्य ऐसे चार प्रकारके सुंदर और असुंदर आहारमें क्रमसे आसक्त और द्वेषयुक्त होकर मरना यह रसनेंद्रिय वसट्टमरण है. पूर्वोक्त देव, मनुष्य, तिर्यंच और अजीव पदार्थ इनके गंधोंमें आसक्त या द्वेषयुक्त होकर मरना यह घ्राणेंद्रियवसट्टमरण है. उपर्युक्तपदार्थोंके रूपमें या आकृतीमें आसक्त अथवा द्वेषयुक्त होकर मरना नेत्रेंद्रिय वसट्ट मरण है. इनही पदार्थोंके स्पर्शोंमें आसक्त या द्विष्ट होकर मरना स्पर्शनेंद्रिय वसट्ट मरण है. इन सब मरणोंका इंद्रियानिंद्रिय वसट्ट मरण ऐसे एक नामसे उल्लेख करते हैं.

वेदनावसट्ट मरण—इस मरणके सातवेदनावशार्त मरण और असातवेदनावशार्त मरण ऐसे दो भेद हैं.

शारीरिक और मानसिक वेदनासे पीडित होकर अर्थात् उनमें एकाग्रचित्त होकर, दुःखसे मूर्छित होकर जो मरण होता है वह असातवेदनावशार्त मरण है. शारीरिक और मानसिक सुखोंमें अनुरक्त होकर जो आर्त ध्यानसे मरण होता है वह सातवेदनावशार्त मरण है.

कषायवशार्त मरण—कषायके चार भेद होनेसे इस मरणके भी चार भेद होते हैं. स्वतःमें, दुसरेमें अथवा उभयत्र उत्पन्न हुवा जो क्रोध मरणको कारण हो जाता है वह क्रोधकषायवशार्त मरण है. मानवशार्त मरण—इसके आठ भेद हैं. कुल, रूप, बल, शास्त्रज्ञान, ऐश्वर्य, लाभ, प्रज्ञा–बुद्धि व तप इनमें उत्पन्न हुए अभिमानके नशेमें मरण होना मानवशार्त मरण है. १ विख्यात, विशाल और उत्कर्षको प्राप्त हुए कुलमें उत्पन्न हुवा हूं ऐसे अभिमानसे जो मरण होता है वह कुलमानवशार्त मरण है.

२ मेरी पांचो इंद्रियां निर्व्यंग हैं, मेरा शरीर संपूर्ण अवयवोंसे युक्त है, मैं तेजस्वी हूं, नवीन यौवनसे मेरा शरीर युक्त है, मेरा सौंदर्य समस्त लोकोंके अंतःकरणको हर लेता है ऐसी भावनामें जो मरण होता है वह रूप–मानवशार्त मरण है.

३ मे वृक्ष और पर्वतोंको भी उखाडनेमें समर्थ हूं, बडे बडे योद्धा मेरे आश्रयमें रहते हैं, बहुतसे मित्र भी मेरेको सहाय प्रदान करते हैं. ऐसा स्वकीय बलका अभिमान करते करते मरण होना वह बलाभिमान-वशार्त मरण है.

मैं बडे परिवारका मालिक हूं, बहुत लोगोंपर मेरी हुकमत चलती है ऐसे ऐश्वर्यके मानसे उन्मत्त होकर जो मरण होता है वह ऐश्वर्यमानवशार्त मरण है.

५ मैंने लोक व्यवहार, वेद, अनेक मत इनके सिद्धान्त शास्त्रोंका अध्ययन किया है ऐसे शास्त्रज्ञानके अभिमानमें चूर होकर मरण करना यह श्रुतमानवशार्त मरण है.

६ मेरी बुद्धि तीक्ष्ण है, सर्व विषयोंमें बिना रुकावटके प्रवेश करती है ऐसे बुद्ध्यभिमानके वशमें आकर मरण होना वह प्रज्ञामानवशार्त मरण है.

७ व्यापारमें मेरेको हमेशा लाभही होता है ऐसा लाभके अभिमानमें मत्त होकर जो मरण होता है वह लाभमानवशार्त मरण है. ८ मै तप करता हूं, मेरे समान तप करनेवाला कोई नहीं है ऐसे अभिमानमें आकर

जो मरण होता है वह तपोमानवशार्त मरण है.

मायाके पांच प्रकार हैं. निकृति, उपधि, साति प्रयोग, प्रणिधि और प्रतिकुंचन. १ धनके विषयमें अथवा किसी कार्यके विषयमें जिसको अभिलाषा उत्पन्न हुई है ऐसे मनुष्यका जो फसानेका चातुर्य उसको निकृति कहते हैं २ अच्छे परिणामको ढककर धर्मके निमित्तसे चोरी वगैरे दोषोंमें प्रवृत्ति करना वह उपधिसंज्ञक माया है. ३ धनके विषयमें असत्य बोलना, अपने हाथमें किसीने रखनेकेलिये द्रव्य दिया हो तो उसका कुछ हिस्सा हरण करना, दूषण लगाना, अथवा प्रशंसा करना वह सातिप्रयोग माया है. ४ हीनाधिक कीमतकी सदृश वस्तुयें आपसमें मिलाना, तोल और मापके सेर पसेरी वगैरह साधन पदार्थ कम जादा रखकर लेन देन करना, सच्चे और झूटे पदार्थ आपसमें मिलाना. यह सब प्रणिधि माया कहते हैं. ५ आलोचना करते समय अपने दोष छिपाना यह प्रतिकुंचन माया है. ऐसे मायाके प्रकार करते हुए जो मरण होता है उसको मायावशार्तमरण कहते हैं.

उपकरण पिंछी, कमंडलु आदिक, भक्तपान–आहारके और पीनेके पदार्थ, शरीर, निवासस्थान इत्यादिकोंमें इच्छा–ममत्व रखते हुए जो मरण होता है वह लोभवशार्तमरण कहते हैं.

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इनसे जिसकी बुद्धि मूढ हो गई है ऐसे मनुष्यका जो मरण वह नोकषायवशार्त मरण है.

जो प्राणी वशार्तमरण को प्राप्त होते हैं वे मनुष्य और तिर्यंचोंमें जन्म धारण करते हैं. तथा असुर, कंदर्पजातिके देव, किल्बिष देव इनमें वशार्तमरणसे मिथ्यादृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं. इनके इस मरणको बालमरणमें अन्तर्भूत कर सकते हैं. दर्शन पंडित भी, अविरत सम्यग्दृष्टि, और संयतासंयत जीव भी वशार्तमरणको प्राप्त होते हैं. उनका यह मरण बालपंडित मरण अथवा दर्शन पंडित मरण समझना चाहिये.

विप्राणसमरण और गृद्धपृष्ठ ऐसे नाम जिनके हैं ऐसे दो मरणोंका शास्त्रोंमें निषेध नहीं है और इनकी अनुज्ञा भी नहीं है.

दुष्कालमें, अथवा दुर्लंघ्य ऐसे जंगलमें, पूर्वकालके शत्रुका भय उपस्थित हुवा हो ऐसे समयमें, दुष्ट राजासे भीति उत्पन्न हुई हो, चोरसे भय उत्पन्न हुवा हो, तिर्यंचका उपसर्ग हो रहा हो, एकाकी स्वयं सहन करनेमें असमर्थ होनेसे, ब्रह्मव्रतका नाश वगैरेके द्वारा चारित्रमें दोष लगनेका प्रसंग आया हो तो संसारभीरु,

पापोंसे डरनेवाला, कर्मका उदय इस समय उपस्थित हुआ है ऐसा जानकर उसको सहन करनेमें असमर्थ होता है. ऐसे संकटोंसे पार पडने का उपाय उसको नहीं दीखता है तो भी पापकार्यसे वह डरता है, आत्माका घात करनेवाले मरणोंसे भययुक्त होता है. उपर्युक्त कारण उपस्थित हो जानेपर अब मेरा कुशल होगा क्या ऐसा वह मनमें विचार करता है-यदि मैं इस उपसर्गके भयसे पीडित हो जाऊं तो मेरा संयम नष्ट होगा और मेरा सम्यग्दर्शन भी नष्ट होगा. इस उपसर्गसे जो वेदना हो रही है वह सहन करते समय परिणामोंमें संक्लेश होगा ही. अब मेरी रत्नत्रयाराधना नष्ट होगी-न टिकेगी ऐसा जब उसको निश्चय होता है उस समय निष्कपट होकर चारित्र और दर्शनमें विशुद्धता धारण कर धैर्ययुक्त होता है. ज्ञानका सहाय लेकर निदानरहित होता है. अर्हन्तके समीप आलोचना करके विशुद्ध होता है. निर्मल लेश्याधारी वह पुरुष अपने श्वासोच्छ्वासका निरोध करता हुआ प्राण त्याग करता है. ऐसे मरणको विप्राणस मरण कहते हैं.

उपर्युक्त कारण उपस्थित होनेपर शस्त्रग्रहण करके जो प्राणत्याग किया जाता है वह गृद्धपृष्ठ मरण है.

इस तरह मरणके जितने विकल्प संभवनीय थे वे कहे हैं. ऐसे मरणोंसे प्राणी प्राणत्याग करते हैं.

प्रायोपगमन मरण, इंगिनी मरण, और भक्तप्रत्याख्यान मरण ऐसे तीन मरणही उत्तम हैं. पूर्व कालीन महापुरुषोंने इनकी ही प्रवृत्ति चलायी है. हमने संक्षेपसे आगमका अनुमरण करके सतरा प्रकारके मरणका विवेचन किया है.

एतेषु सप्तदशसु पंच मरणानि इह संक्षेपतो निरूपयिष्यामीति प्रतिज्ञानेन कृता । कानि तानि पच मरणानि इत्याशंकायां नामनिर्देशार्थं गाथामाह—

पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चेव ॥
बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ॥ २६ ॥
पंडितं पंडितादिस्थं पंडितं बालपंडितम् ॥
चतुर्थं मरणं बालं बालबालं च पंचमम् ॥ २९ ॥

विजयोदया—पंडितपंडितमरणमित्यादि । ननु भवपर्यायप्रलयो मरणं यदि गृह्यते तस्य को भेदो भवपर्यायस्य अनेकत्वात् मरणं तद्विनाशः कथं न भिद्यते इति । मनुष्ये पंचप्रकारतानुपपद्या अनंतत्वात् । एकजीवगतस्यापि भवपर्यायस्य नानाजीवापेक्षायां कोऽवसरः पंचत्वस्य । प्राणिनः प्राणेभ्यो वियोगो मरणं इति चेत्तदेकविधमेव सामान्यतः । प्राणभेदापेक्षयेति चेद्दशप्रकारतापद्यते । उदयप्राप्तकर्मपुद्गलगलनं मरणं इति यदि गृह्यते प्रतिसमयं गलनात्र पंचता । गुणभेदापेक्षया जीवान्पंचधा व्यवस्थाप्य तत्संबंधेन पंचविधं मरणमुच्यते ।

अत्रान्या व्याख्या—प्रशस्ततमं, प्रशस्ततरं, ईषत्प्रशस्तं, अविशिष्टं, अविशिष्टतरं इति पंडितपंडितमरणादीनि केचिद्व्याचक्षते । पंडितशब्दः प्रशस्तमित्यस्मिन्नर्थे क प्रयुक्तो दृष्टो येनैवं व्याख्यायते ? किं च आगमांतराननुगतं चेदं व्याख्यानं ।

ववहारे सम्मत्ते णाणे चरणे य पंडिदस्स तदा ।
पंडिदमरणं भणिदं चदुव्विधं तब्भवंति हि ति ॥

इति वदता चतुःप्रकाराः पंडिता उपदर्शिताः । तेषां मध्ये अतिशयितं पांडित्यं यस्य ज्ञानदर्शनचारित्रेषु स पंडितपंडित इत्युच्यते । एतत्पांडित्यप्रकर्षरहितं पांडित्यं यस्य स पंडित उच्यते । व्याख्यातं बाल्यं पांडित्यं च यस्य स भवति बालपंडितः तस्य मरणं बालपंडितमरणं । यस्मिन्न संभवति पांडित्यं चतुर्णामप्येकं असौ बालः । सर्वतो न्यूनो बालबालः तस्य मरणं बालबालमरणं ।

कानि तानि पंचमरणानीत्यनुयोगे गुणभेदापेक्षया जीवान्पंचधा व्यवस्थाप्य तत्संबंधेन मरणपंचकनिर्देशार्थमाह-

मूलारा—पंडिदपंडिदमरणं— भवपर्यायविनाशः । निरुक्तिगम्यत्वाच्चैषां लक्षणस्यावचनम् । तथा हि—

सुतवे सम्मत्ते वा णाणे चरणे य पंडिदं जम्हा ॥
पंडिदमरणं भणिदं चदुव्विहं तव्विदूहिं जए ॥

एवंविधचतुर्विधपंडितानां मध्ये अतिशयितं पांडित्यं यस्य ज्ञानदर्शनचारित्रतपस्सु स पंडितः संपूर्णक्षायिकज्ञानादिरित्यर्थः । ततोऽन्यः पंडितः प्रमत्तसंयतादिः । पंडा हि रत्नत्रयपरिणता बुद्धिः संजाता अस्येति पंडितः । अत एव संयतासंयतो बालपंडित इत्युच्यते । कुतश्चिदसूक्ष्मादसंयमादनिवृत्तित्वाद्बालस्ततोऽन्यत्र रत्नत्रये परिणतबुद्धित्वाच्च पंडितः, बालश्चासौ पंडितश्च बालपंडितः । यतश्च सर्वत्रासंयतोऽसंयतसम्यग्दृष्टिस्ततो यथोक्तपांडित्यवियुक्तत्वाद्बाल इत्युच्यते । दर्शनज्ञानद्वये सत्यपि सर्वथा चारित्ररहितत्वात् । अत एव मिथ्यादृष्टिर्बालबाल इत्युच्यते सम्यक्त्वस्याप्यभावेन प्राप्तबाल्यातिशयत्वात् । पंडिदं पंडितमरणं संज्ञैकदेशेनापि तद्व्यवहारदर्शनात् भीमादिवत् एवमुत्तरत्रापि बोध्यं ।

तत्राद्यानि त्रीणि मरणानि सुगतिगमननियतनिमित्तत्वाज्जिना स्तुवन्ति नेतरद्द्वयं तद्विपरीतत्वात् ॥ तथा चान्यसादानीय सूत्रे पठन्ति—

पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव ॥
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति ॥

सतरा प्रकारके मरणोंमेंसे पांच प्रकारके मरणोंका संक्षेपसे मैं वर्णन करूंगा ऐसी ग्रंथकारने प्रतिज्ञा की है वे पांच मरण कौनसे हैं ? ऐसी शंका होनेपर मरणका नाम निर्देश करनेके लिये आचार्य गाथा कहते हैं—

हिन्दी अर्थ—पंडितपंडितमरण, पंडितमरण, बालपंडितमरण, बालमरण और बालबालमरण ऐसे पाच मरण हैं.

विशेषार्थ—' भवपर्यायप्रलयो मरणं , मनुष्यादिभवके पर्यायका नाश होना वह मरण है ऐसा यदि मरणका लक्षण करोगे तो भवपर्याय अनेक प्रकारके हैं उनका नाश होना यह भी मरण है ऐसा मानना पडेगा. पर्यायोंका नाश और मरण इसमें कुछ विशेषता अनुभवमें न आवेगी. यदि भवपर्याय अनेक हैं और उन सबका ही नाश होना मरण माना जाता है अत· पर्यायका नाश और मरण इनमें अंतर है ऐसा कहोगे तो मनुष्यमें मरणके पंच प्रकारोंकी संभावना न होगी. क्योंकि एक जीवका भी भवपर्याय अनंतरूपका होता है. नाना जीवोंकी अपेक्षा से तो मरणके पांच प्रकार नितरां सिद्ध न होंगे.

' प्राणिन· प्राणेभ्यो वियोगो मरणं ' प्राणोंसे प्राणीका अलग होना मरण है ऐसा यदि लक्षण करोगे तो सामान्यकी अपेक्षासे एकही मरण सिद्ध होगा. मरणके पांच प्रकार सिद्ध न होंगे. प्राणभेदकी अपेक्षासे मरणभेद मानोगे तो मरणके दश भेद होंगे. 'उदयप्राप्तकर्मपुद्गलगलनं मरणं' उदयमें आये हुए कर्मपुद्गलका खिरना वह मरण है ऐसा यदि कहोगे तो कर्मपुद्गल प्रतिसमयमें खिरते हैं अतः मरणके पांच प्रकार सिद्ध नहीं होते हैं. गुणभेदकी अपेक्षासे जीवोंके पांच प्रकार होते हैं अतः गुणोंके संबंधसे मरणके पांच भेद हम मानते हैं ऐसा यदि कहोगे तो यह कहना सयुक्तिक है.

यहा दूसरे विद्वान् अन्य तरहसे व्याख्या लिखते हैं—

"पंडितपंडित मरण प्रशस्ततम है, पंडितमरण प्रशस्ततर, बालपंडित मरण ईषत्प्रशस्त-थोडासा प्रशस्त है. बालमरण और बालबालमरण क्रमसे अविशिष्ट और अविशिष्ट तर है" ऐसी व्याख्या करते हैं. परंतु पंडित शब्द प्रशस्त इस अर्थमें किस प्रकरणमें प्रयुक्त किया हुआ उन्होंने देखा है ? जिससे वे ऐसा व्याख्यान करते हैं. दूसरे आगमका आश्रय न लेकर यह व्याख्यान किया गया है.

आगमान्तरमें व्यवहार, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनमें जो पंडित हैं ऐसे जीवोंका जो मरण वह पंडितमरण है ऐसा कहा है. उसके चार प्रकार हैं. जैसे—व्यवहारपंडित मरण, सम्यक्त्वपंडितमरण, ज्ञानपंडित मरण, और चारित्रपंडित मरण. व्यवहारादिक अर्थोंमें आगमान्तरमें पंडित शब्दका प्रयोग किया हुवा है. परंतु प्रशस्ततम, प्रशस्तर वगैरे अर्थमें प्रयोग नहीं देखा गया है.

ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें जिनका अत्यंत पांडित्य है वे पंडितपंडित हैं. इस तरहका पांडित्यका प्रकर्ष ज्ञानादिकोंमें जिनका नहीं है अर्थात् जिनमें ज्ञानादि विषयक पांडित्य अल्प है वे पंडित हैं. जिसका विवेचन पूर्वमें कर चुके हैं. बाल्य और पांडित्य जिनमें हैं वे बालपंडित है. जिनमें चार प्रकारके पांडित्योंमेंसे एक भी पांडित्य नहीं है वे बाल हैं. तथा सबसे जघन्य जो वह बालबाल हैं. इन सबके मरणोंको क्रमसे पंडितपंडित मरण, पंडितमरण, बालपंडित मरण, बालमरण और बालबाल मरण ऐसे नाम हैं.

पंडिदपंडिदमरणे खीणकसाया मरंति केवलिणो ॥
विरदाविरदा जीवा मरंति तदियेण मरणेण ॥ २७ ॥

विज्ञातव्यमयोगानां तत्र पंडितपंडितम् ॥
देशसंयतजीवानां मरणं बालपंडितम् ॥ ३० ॥

विजयोदया—पंडिदपंडिदमरणं खीणकसाया मरंति केवलिणो । सामान्यस्मृतेर्विशेषस्मृतिः कर्मतया निर्देष्टुं पंडितपंडितमरणमिति । यथा गोपोर्ण पुष्टः । खीणकसाया कषन्ति हिंसन्ति आत्मानमिति कषायाः । कषाय-शब्देन पनसपत्तीनां स्वक्पायमूलफलरस उच्यते । स यथा वस्त्रादीनां वर्णमन्यथा संपादयति एवं जीवस्य क्षमा-

मार्दवार्जवसंतोषाद्यगुणान्विनाश्यान्यथा व्यवस्थापयंतीति क्रोधमानमायालोभाः कपाया इति भण्यंते । क्षीणाः कषाया येषां ते क्षीणकषायाः । द्रव्यकर्मणां कषायवेदनीयानां विनाशात्तन्मूला अपि भावकषायाः प्रलयमुपगता इति क्षीणकषाया इति भण्यंते । केवलमसहायं ज्ञानं इंद्रियाणि मनःप्रकाशादिकं च नापेक्ष्य युगपदशेषद्रव्यपर्याय भासनसमर्थं सघन प्रवर्तते तदेषामस्ति ते केवलिनः। यद्यपि केवलज्ञानवस्तुसामान्येन प्रवर्तते केवलिशब्दस्तथापि सयोगकेवलिनो मरणस्यासंभवादयोगकेवलिनो ग्रहणं । अत्रान्ये क्षीणकषायाः श्रुतकेवलिनश्चेति व्याचक्षते । तेषां तद्व्याख्यानमसमंजसं । श्रुतशब्दमंतरेण केवलिशब्दस्य कचिदप्यागमे समस्तश्रुतरत्नवत्स्वपि प्रयोगादर्शनात्। प्रसिद्धशब्दार्थासंभवो यदि स्यात् कथंचिदन्योऽर्थो व्याख्येयः स्यात् । संभवति प्रतीतेर्थे कथं तत्परित्यागः । अपि च पांडित्यप्रकर्षः क्षायिकज्ञानदर्शनचारित्रापेक्षस्तत्र सन्निहितो न श्रुतकेवलिनि । विरताविरता जीवाः स्थूलकृतात्प्राणातिपातादेर्व्यावृत्ताः इति विरताः सूक्ष्माच्चाव्यावृत्तेरविरताः। विरता यदि कथमविरता अविरताश्चेत्कथं विरताः इति विरोधाशंका न कार्या। विरतत्वाविरतत्वयोः अर्पणाभेदाद्विरोधो नास्पदं बध्नाति । यथा द्रव्यपर्यायापेक्षे नित्यानित्यत्वे एकद्रव्याधिकरणे एकस्मिन्नपि समये न विरोधमुपयातः । अथवाऽप्रत्याख्यानावरणानां क्षयोपशमे सति स्थूलात्प्राणातिपातादेर्विरतोऽस्मि न सूक्ष्मादित्येक एव परिणाम उपजायते । विरोधश्च नाम अनेकाधिकरणः यथा शीतोष्णस्पर्शादीनां । द्रव्यभावप्राणधारणाज्जीवा इति निरूप्यंते । तदिएण तृतीयेन । मरणेण मरणेन । म्रियन्ते। वस्तुपरिणामवृत्तिक्रमो यदि स्यात्तथा गणने द्वित्वं नित्वं वा प्रतिपद्येरन् । गुणस्थानापेक्षायां सम्यग्मिथ्यादृष्टेरेव तृतीयता न संयतासंयतत्वस्य तत्किमुच्यते तृतीयेनेति ? मरणस्य तु सामान्यापेक्षायां एकत्वमेवेति न तृतीयता । विशेषापेक्षायां च अतीतानां च अनंतत्वादनागतानां चातिबहुत्वसंभवात् । अत्रोच्यते सूत्रनिर्दिष्टक्रमापेक्षया तृतीयता ग्राह्या ।

मरणानां स्वामिविशेषनिर्णयार्थं गाथात्रयं विवक्षुरादौ प्रशस्यतमप्रशस्यमरणद्वयनिर्देशार्थमाह—

मूलारा—पंडिदपंडिदमरणं–पंडिद पंडितपंडितमरणेनेत्यर्थः । आर्षत्वाद्विभक्तिविपर्ययः । आर्षप्राकृते सर्वे विधयो विकल्प्यंते इत्यभिधानात् । × टीकाकारस्तु सामान्यमृतेः विशेषमृतिः कर्मतया निर्दिष्टा तथा गोपोषं पुष्टमित्याचष्टे ।

अथवा मरंति प्राप्नुवन्ति इति व्याख्येयं धातूनामनेकार्थत्वात् । एवमुत्तरत्रापि सर्वत्र व्याख्यातव्यम् । खीणकसाया–कषन्ति हिंसन्ति शुद्धचिद्विवर्तलक्षणप्राणैर्वियोजयंत्यात्मानमिति कषाया द्रव्यक्रोधादयः अथवा वनस्पतीनां त्वग्मूलफलाश्रितो रसविशेषः कषायः । कषाय इव कषायः क्रोधादिः वस्त्रादीनां वर्णस्येव जीवस्य क्षमादिगुणानां अन्यथात्वसंपादकत्वात् । कषायशब्देन चात्र कषायोदयजनिताभिभवसंस्कारकः कर्मास्रवकारणमात्मप्रदेशपरिस्पंदो

× टीकाकार अपराजितसूरि.

माहः। केवलज्ञानस्य मोहादिकर्मनिर्मूलनमूलत्वेन केवलिनः क्षीणकषायत्वविशेषणस्य निष्फलत्वात्। किं च मरणकरणात् क्षीणकषाया इत्यनेन अयोगा निश्चीयंते सयोगकेवलिनां मरणासंभवात्। क्षीणा विश्लेषं गताः कषाया येभ्यस्ते क्षीणकषायवेदनीयाः तत्वादेव च विनष्टतन्मूलभावकषायाः मरंति द्रव्यप्राणांस्त्यजन्ति। सिद्धानामपि सत्ताचैतन्यबोधादिस्वभावप्राणधारणत्वलक्षणजीवस्वभावाविशेषात्। तथा चोक्तम्—

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो वि सव्वहा तस्स ॥
ते होन्ति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोचरमदीदा ॥

केवलिणो करणादिसहायकनिरपेक्षतया युगपन्निःशेषद्रव्यपर्यायसाक्षात्करणसमर्थं ज्ञानं येषां नित्यमास्ति ते केवलिनः। विरदाविरदा एकस्मिन्नेव समये स्थूलात्प्राणातिपातादेर्व्यावृत्ताः सूक्ष्माच्चाव्यावृत्ताः श्रावकाः इत्यर्थः। जीवाः पुरुषाः न प्रधानं। सांख्या हि प्रधानस्य मरणमिच्छन्ति। तदियेण बालपंडितेन।

जिनके मरणको पंडितपंडित मरण ऐसी संज्ञा है वे पंडितपंडित कौन है. ? अर्थात् पंडितपंडित किनको कहते हैं ऐसे प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

हिंदी अर्थ—पंडितपंडित मरण, पंडितमरण और बालपंडित मरण इन तीन मरणोंकी जिनेंद्र देव नित्य प्रशंसा करते हैं. क्षीणकषाय केवली भगवान् पंडितपंडित मरणसे मरते हैं. अर्थात् केवलीके मरणकी पंडित पंडित ऐसी संज्ञा है. विरताविरत जीवके मरणको बालपंडित मरण ऐसा नाम है.

गाथार्थ—' पंडितपंडितमरणं खीणकसाया मरंति केवलिणो ' इस वाक्यमें ' मरंति ' इस सामान्य मरणरूप क्रियाका ' पंडितपंडितमरणं ' यह विशेष मरण कर्मरूपसे प्रतिपादन किया है. जैसे ' गोपोषं पुष्टः' अर्थात् बैल जैसा पुष्ट रहता है वैसा यह आदमी पुष्ट है. जैसे यहां पुष्टिसामान्यका गोपोषं यह कर्मसरीखा विशेषण है उसी तरह सामान्य मरणका ही पंडितपंडितमरण यह एक विशेष प्रकार समझना चाहिये.

जो आत्माका घात करते हैं वे कषाय हैं. अतएव कषायशब्द की निरुक्ति आचार्य ' कषन्ति हिंसंति आत्मानमिति कषायाः ' ऐसी कहते हैं. अथवा वृक्षोंकी छाल, मूल, पत्ते और फलोंका जो रस निकलता है

उनको भी कषाय कहते हैं. वह रस जैसा वस्त्रादिकोंका वर्ण अन्यथा करता है. उसी तरह क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषाय जीवके उत्तम क्षमा, विनय, सरलपना, और निस्पृहपनाको अन्यथा करते हैं, उनका नाश करते हैं. अतः इन क्रोधादिकोंका ' कषाय ' यह नाम अन्वर्थक है.

कषायके द्रव्यकषाय और भाव कषाय ऐसे दो भेद हैं. क्रोध, मान, माया लोभ इन कषायवेदनीय कर्मको द्रव्यकषाय कहते हैं. और इनके उदयसे आत्माकी क्रोध मान माया लोभरूप परिणति हो जाती है वह भावकषाय है. केवली भगवानके द्रव्यकषाय और भावकषाय दोनों भी नष्ट हो चुके हैं अतः वे क्षीणकषाय इस अन्वर्थ नामसे युक्त हुए हैं. इंद्रियां, मन और प्रकाशादिक वस्तुओंकी अपेक्षाके विना युगपत्-एकदम संपूर्ण द्रव्योंकी त्रिकालवर्ती पर्यायें जाननेमें जो ज्ञान समर्थ होकर समस्त पदार्थोंमें प्रवृत्त होता है वह केवल ज्ञान है. यह ज्ञान केवल अर्थात् असहाय है. इंद्रियादिकोंकी मदत न लेकर स्वयं अपने सामर्थ्यसे पदार्थोंको जानता है अतः इसको केवल-असहाय ऐसा कहते हैं. ऐसा माहात्म्यशाली ज्ञान जिनको हैं वे मुनि केवली अर्थात् केवल ज्ञानी कहे जाते हैं. केवली यह शब्द सयोग केवली और अयोग केवली दोनोंमें रूढ है तो भी यहां केवली शब्दमे अयोगकेवलीका ही ग्रहण करना चाहिये. इसका भी कारण यह है कि-सयोगकेवलि गुणस्थानमें मरण नहीं होता हैं अतः अयोग केवलीका ही केवली शब्दसे ग्रहण होता है.

कोई २ विद्वान् केवली शब्दका अर्थ क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती मुनि और श्रुतकेवली ऐसा करते हैं. परंतु ऐसा अर्थ करना अयोग्य है. श्रुत शब्द केवली शब्दके पूर्वमें जोड देनेसे ही श्रुतकेवली ऐसा अर्थ होगा. श्रुतशब्द रहित केवली शब्दका किसी भी आगममें समस्तश्रुतरूपी रत्न धारण करनेवाले श्रुतकेवलीके विषयमें प्रयोग किया है ऐसा देखनेमें आया नहीं. प्रसिद्ध शब्दका अर्थ प्रकरणमें यदि असंभवरूप मालूम पडेगा तो अन्यार्थ की कल्पना की जा सकती है. यहां तो प्रसिद्ध अर्थ ही योग्य जंचता है. अतः श्रुतकेवली ऐसा अर्थ निकालने की अपेक्षा नहीं है. दुसरा कारण यह भी है कि, पांडित्यका प्रकर्ष केवलज्ञानियोंमें ही होता है अन्यत्र श्रुतकेवल्यादिकमें नहीं है. अतः पंडितपंडित केवली भगवानको ही कहते हैं. केवली भगवानमें क्षायिकज्ञान, क्षायिक दर्शन और चारित्र रहते हैं यह पांडित्यप्रकर्ष केवलीमें है. परंतु यह श्रुतकेवलीमें नहीं है. अतः केवली शब्दका अर्थ श्रुतकेवली ऐसा समझना योग्य नहीं है.

विरताविरत जीवोंके मरणको बालपंडित मरण कहते हैं. श्रावक स्थूल हिंसादि पांच पापोंसे विरक्त रहते हैं अतः उनको विरत कहते हैं. सूक्ष्मपापोंका वे त्याग नहीं कर सकते हैं इसलिये उनको अविरत भी कह सकते हैं.

शंका—यदि श्रावकोंको आप 'विरत' ऐसा कहना चाहते हो तो उनको अविरत मत कहो, यदि अविरत कहोगे तो विरत कहना अनुचित है ?

उत्तर—विरतत्व और अविरतत्वमें विवक्षाभेदसे विरोध नहीं. जैसे एकही पदार्थको द्रव्यापेक्षासे और पर्यायापेक्षासे एकसमयमें नित्यानित्य समझते हैं. अर्थात् द्रव्यरूप आधारमें एक समयमें नित्य और अनित्य ऐसे दो धर्म रहते हैं. वैसे अप्रत्याख्यानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होनेसे मैं स्थूलपातकोंसे विरक्त हुवा हूं सूक्ष्मपातकोंसे नहीं ऐसा एकही परिणाम युगपत् उत्पन्न होता है. इसलिये विरताविरतत्वमें विरोध नहीं है. जहां एक पदार्थमें दो धर्म यदि अनुभव में आते हैं तो वहां विरोध कैसा ? विरोध अनेक आधारमें रहता है. जैसे शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श एक आधार में नहीं रहता.

विरताविरत जीव द्रव्य प्राण और भावप्राणोंके धारक है अतः वे जीव है. ये विरताविरत तृतीय मरणसे बालपंडित मरणसे मरते हैं. यहां तृतीय शब्द वस्तुके परिणामगणनामें यदि उपयुक्त है ऐसा कहोगे तो गणनाके समय विरताविरतजीवको द्वित्व या त्रित्व भी प्राप्त होगा. तृतीय शब्दसे तिसरा गुणस्थान ऐसा अर्थ मानोगे तो सम्यग्मिथ्यादृष्टिको तृतीयपना प्राप्त होगा. संयतासंयतको तीसरेपना प्राप्त न होगा. अतः 'तृतीयेन' ऐसा कहना योग्य नहीं है. यदि मरणकी अपेक्षासे तृतीयता मानते हो तो मरण सामान्यापेक्षासे एक ही है उसको तृतीयता नहीं है. विशेषमरणापेक्षासे तृतीयता मानोगे तो भूतकालमें अनंतमरण हो चुके हैं और भविष्यत्कालमें भी बहुत होंगे अतः विशेषमरणापेक्षासे भी तृतीयता सिद्ध नहीं होती.

उत्तर—सूत्रमें कहे हुए क्रमकी अपेक्षासे मरणकी तृतीयता ग्रहण करनी चाहिये. अर्थात् पहिला मरण पंडितपंडितमरण, दुसरे मरणको पंडितमरण कहते हैं. और तिसरा मरण बालपंडित इस नामका है.

अथ के पंडितपंडिता येषां मरणं पंडितपंडितमरणं इति भण्यते इत्यारेकायामाह—

पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव ॥
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति ॥ २८ ॥

निःश्रेयससुखादीनां आसन्नीकरणक्षमं ॥
आदिमं जायते तत्र प्रशस्तं मरणत्रयम् ॥ ३१ ॥

विजयोदया—पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव इति । विरताविरतपरिणामविशेषनिर्देशादेव जीवद्रव्यस्य गते जीवा इति सूत्रे वचनमपार्थकमिति चेन्नानर्थकं। मतांतरनिवृत्तिपरत्वात्। सांख्या हि प्रकृतिधर्मतां मरणस्याभ्युपयन्ति पुरुषस्य सर्वथा नित्यत्वात्। तत्तथा न, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वादात्मनः । अत्रोच्यते—पंडितपंडितमरणादनंतरं पंडितमरणं तदुल्लंघ्य तृतीयस्य स्वामित्वं कस्मात्प्रदर्श्यते क्रमोल्लंघने प्रयोजनं वाच्यम् ? इति चेदुच्यते-उत्कृष्टजघन्यपंडितत्वमध्यवृत्तिपंडितत्वमित्येतदाख्यातुं उभयावधिप्रदर्शनं क्रियते । अथवा पंडितमरणे बहुवक्तव्यमस्तीति तत्सान्यासिकं व्यवस्थाप्य अल्पवक्तव्यतया बालपंडितमेव प्राग् व्याचष्टे ।

शंका—विरताविरतपरिणामविशेषसे ही श्रावक जीव है ऐसा समझमें आता है तो भी 'विरदाविरदा जीवा' इसमें जीवशब्दका ग्रहण व्यर्थ है. उत्तर–जीव शब्द गाथामें दिया है उसका उद्देश मतांतर निराकरण करनेके लिये है. सांख्य मरण प्रकृतिका धर्म है ऐसा समझते है. वे पुरुषको–आत्माको सर्वथा नित्य समझते हैं. परंतु वह समझना योग्य नहीं हैं. आत्मा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन स्वरूपोंसे युक्त है अतः वह सर्वथा नित्य नहीं है.

शंका—पंडितपंडित मरणके अनंतर पंडितमरणका वर्णन करना योग्य था परंतु वह उल्लंघन कर तिसरे मरणके स्वामी आपने क्यों बताये ? क्रमका उल्लंघन करनेमें आपका क्या हेतु है ?

उत्तर—उत्कृष्ट पंडितत्व और जघन्य पंडितत्व इनके बीचमें जो है सो मध्यम पंडितत्व है ऐसा दिखानेके अभिप्रायसे उपर्युक्त कथन है. अर्थात् उत्तम पंडितत्व और जघन्य पंडितत्वके विवेचनसे मध्यम पंडितत्व बिना कहे सिद्ध होता है. अथवा पंडितमरणके विषयमें ग्रंथकार बहुत विस्तारयुक्त लिखनेवाले है. इस वास्ते उसको आचार्य अलग रखते हैं और थोडासा विवेचन करनेकी इच्छासे बालपंडितत्वका प्रथम आचार्यने उल्लेख किया है.

कतिविधं पंडितमरणं। किं स्वामिकं वा इत्यारेकायां इयं गाथा—

पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव ॥
तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स ॥ २९ ॥

पादोपगमनं भक्तप्रतिज्ञामिंगिणीमृतिं ॥
वदन्ति पंडितं त्रेधा योगिनो युक्तिचारिणः ॥ ३२ ॥

विजयोदया—पायोपगमणमरणं इत्यादि। पादाभ्यामुपगमनं ढौकनं तेन प्रवर्तितं मरणं पादोपगमनमरणं। इतरमरणयोरपि पादाभ्यामुपगमनमस्तीति त्रैविध्यानुपपत्तिरिति चेन्न मरणविशेषे वक्ष्यमाणलक्षणे रूढिरूपेणायं प्रवर्तते, रूढौ च क्रिया उपादीयमाना शब्दव्युत्पत्त्यर्थैव। यथा गच्छतीति गौरिति शब्दव्युत्पत्तौ क्रियमाणायामपि गमनक्रियाकर्तृतास्तीति गोशब्देन न महिष्यादयो भण्यंते। अथवा पाउग्गगमणमरणं इति पाठः। भवांतकरणप्रायोग्यं संहननं संस्थानं च इह प्रायोग्यशब्देनोच्यते। अस्य गमनं प्राप्तिः, तेन कारणभूतेन यन्निर्वर्त्यं मरणं तदुच्यते पाउग्गगमणमरणमिति। भज्यते सेव्यते इति भक्तं, तस्य पइण्णा त्यागो भत्तपइण्णा। इतरयोरपि भक्तप्रत्याख्यानसंभवेऽपि रूढिवशान्मरणविशेषे एव शब्दोऽयं प्रवर्तते। इंगिणी शब्देन इंगितमात्मनो भण्यते स्वाभिप्रायानुसारेण स्थित्वा प्रवर्त्यमानं मरणं इंगिणीमरणं। तिविहं त्रिविधं त्रिप्रकारं। पंडितमरणं कस्य तद्भवति ? साहुस्स साधोः जधुत्तचारिस्स यथा येन प्रकारेण उक्तं श्रुते तथा चरितुं शीलं यस्य साधोस्तस्येति यावत्। सदाचारः सर्व एव जनः संयतोऽसंयतश्च लोके साधुशब्दवाच्यः, इति संयतपरिग्रहार्थं यथोक्तचारित्वविशेषणं कृतम् ॥

प्रशस्यतरपंडितमरणस्य भेदान्प्ररूपयन्स्वामिनं निरूपयति।

मूलारा—पाउग्गमणमरणं—पादाभ्यामुपगमनं ढौकनं संघान्निर्गत्य योग्यदेशस्याश्रयणं। तेन प्रवर्तितं मरणं पादोपगमनमरणं स्वपरवैयावृत्त्यनिरपेक्षः प्राणत्याग उच्यते रूढिवशात्। यदा पाउग्गगमणमरणं इति पाठस्तदा प्रायोग्यस्य भवान्तकरणयोग्यस्य संहननस्य संस्थानस्य च गमनेन प्राप्त्या निर्वर्त्यं मरणं प्रायोग्यगमनमरणं। प्रायोगमनमित्यपीदमुच्यते प्रायस्य संन्यासवदनशनस्योपगमनेन साध्यत्वात्। प्रायोपवेशनमिति चैतदाख्यायते। भत्तपइण्णा भण्यते देहस्थित्यर्थमिति भक्तमाहारः तस्य प्रतिज्ञा प्रत्याख्यानं त्यागः। भक्तप्रतिज्ञा स्वपरवैयावृत्त्यसापेक्षं मरणं। इंगिणी शब्देन इंगितमात्मनोऽभिप्रायो भण्यते स्वाभिप्रायानुसारेण स्थित्वा प्रवर्त्यमानं मरणं इंगिणीमरणं। अत्र णत्वं नेच्छंति

केचित् । यत्पुनः स्ववैयावृत्तिसापेक्षमेव । जहुत्तचारिस्स । येन प्रकारेण उक्तं श्रुते तेन चरितुं शीलं यस्य तस्य यथोक्तचारिणः संयतस्येत्यर्थः ।

पंडितमरणके कितने भेद है और उसके स्वामी कितने हैं ऐसी शंकाका उत्तर आगेकी गाथा देती है—

हिंदी अर्थ—आगममें जिस प्रकारसे चारित्रका वर्णन है वैसा स्वयं आचरण करना यह जिनका शील हैं अर्थात् आगमसे अविरुद्ध चारित्र जो धारण करते हैं ऐसे मुनिराजका पंडितमरण पादोपगमनमरण, भक्त प्रतिज्ञा मरण और इंगिनी मरण ऐसे तीन भेदयुक्त है. अर्थात् निरतिचार मुनिराजके मरणके भेद उपर्युक्त गाथामें तीन कहे हैं.

विशेषार्थ—पादोपगमन मरण इसका शब्दार्थ-'पादाभ्यामुपगमनं ढौकनं तेन प्रवर्तितं मरणं पादोपगमनं' अपने पावोंके द्वारा संघसे निकलकर और योग्य प्रदेशमें जाकर जो मरण किया जाता है वह पादोपगमन मरण है. इस मरणको चाहनेवाले मुनिराज अपने शरीरका वैयावृत्य स्वयं भी नहीं करते हैं और इतर मुनियोंके द्वारा भी स्वशरीरकी शुश्रूषा नहीं कराते हैं. ऐसे मरणको पादोपगमन मरण कहते हैं.

शंका—इतर मरणमें भी पावोंके द्वारा संघसे मुनिराज अन्यत्र चलकर मरण करते हैं अतः इतर मरणोंको भी यही नाम प्राप्त होनेसे पंडितमरणके तीन भेद नहीं ठहरेंगे ऐसी शंकाका उत्तर इस तरह है—पादोपगमन मरण यह नाम रूढिका आश्रय लेकर विशिष्ट मरणमें ही आचार्यने प्रयुक्त किया है. इस पादोपगमन मरणका स्वरूप आगे ग्रंथकार स्वयं कहेंगे. रूढीमें जो शब्दकी निरुक्ति—व्युत्पत्ति करते हैं उसका मतलब वह शब्द किस धातुको कौनसा प्रत्यय जोडनेसे बन गया यह दिखानेका होता है. जैसे 'गच्छतीति गौः' ऐसी गो शब्दकी व्युत्पत्ति है. इसमें गमनक्रियाका कर्तृत्व इसमें व्यक्त होता है. एतावता गो शब्दसे माहिषी, अश्व वगैरह प्राणी गो शब्दका अर्थ नहीं माना जाता है. वैसे प्रकृत विषयमें पादोपगमन यह शब्द विशिष्ट मरणका वाचक माना जाता है. तथा वह मरण भक्तप्रतिज्ञा और इंगिनीमरणसे भिन्न ही है ऐसे समझना चाहिये.

अथवा गाथामें ' पाओग्गगमणमरणं ' ऐसा भी पाठ है. उसका ऐसा आभिप्राय है—भवका अंत करने लायक ऐसे संस्थान और संहननको प्रायोग्य कहते हैं. ऐसे संहनन और संस्थान की प्राप्ति होना यह प्रायोग्य गमन है. अर्थात् विशिष्ट संहनन और विशिष्ट संस्थानवाला ही प्रायोग्यगमन मरणका अंगीकार करता है.

भक्तप्रतिज्ञामरण—भक्त शब्दका अर्थ आहार है और प्रतिज्ञा शब्दका अर्थ त्याग होता है अर्थात् आहारका त्याग कर मरण करना यह भक्तप्रतिज्ञामरण है. यह मरण स्वपरवैयावृत्य की अपेक्षासे होता है. अर्थात् इस मरणमें सल्लेखनाधारक की परिचारक मुनि शुश्रूषा करते हैं तथा वह भी अपनी शुश्रूषा करता है. यद्यपि आहारका त्याग इंगिनीमरण और प्रायोग्यगमन मरणमें भी होता है तो भी इसको ही रूढीसे भक्तप्रतिज्ञा कहते हैं. अर्थात स्वपरवैयावृत्यकी अपेक्षा करके जो मरण किया जाता है वह भक्तप्रतिज्ञामरण है. ऐसे विशिष्ट मरण को ही भक्तप्रतिज्ञा कहते हैं.

इंगिनी मरण—स्वाभिप्रायको इंगित कहते हैं. अपने अभिप्रायसे युक्त होकर स्वयं ही स्वतः की शुश्रूषा कर जो मरण किया जाता है. वह इंगिनी मरण है. परिचारक मुनिकी शुश्रूषा इसमें क्षपक मुनि चाहते नहीं है.

— यथोक्त चारित्रका पालन करनेवाले मुनिके ऐसे तीन मरण कहे है इन मरणोंको सामान्य रीतीसे पंडित मरण कहते है.

इतरयोर्बालमरणबालबालयोरिस्त्यनयो स्वामित्वसूचनार्थंगाथा—

अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि ॥
मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए बालबालम्मि ॥ ३० ॥

— सदाचारसे प्रवर्तनेवाले सब संयत अथवा असंयत जगतमें साधु कहे जाते हैं. परंतु यहा मुनिओंका ही ग्रहण होवे इस हेतुसे ' जधुत्तचारिस्स 'यह साधुका विशेषण करके यथोक्त चारित्र पालनेवाले मुनिका ही ग्रहण किया है.

भजते मरणं बालं सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥
मिथ्यात्वाकुलितस्वान्तो बालबालमपास्तधीः ॥ ३३ ॥

विजयोदया—अविरदसम्मादिट्ठी इति प्रसिद्धार्थत्वान्न व्याख्येयं । अत्रावसरे इदं चोद्यमाशंक्यते । वोच्छं आराधणं कमसो इति प्रतिज्ञातं । सा च द्विप्रकारा दर्शनाराधना चारित्राराधना चेति । तद्व्याख्यानमकृत्वा मरणविकल्पास्तत्स्वामिनश्च कस्मान्निर्दिश्यते । प्रस्तुतपरित्यागमप्रस्तुताभिधानं च न क्षमंते विद्वांस.। अत्रोच्यते–न अप्रस्तुत अतरनिर्दिष्टं मरण। आराधनानुगतमरणस्यैवेह शास्त्रेऽभिधेयत्वेनेष्टत्वात् । आराधनायाश्च आराधकमंतरेणासंभवात् । स्वामी च निर्देष्टव्य एवेति सूरेरभिप्राय ॥

अप्रशस्याप्रशस्यतरमरणद्वयस्वामिनौ निर्दिशति—

मूलारा—अविरदसम्माइट्ठी इति ।

नो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि ॥
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ १ ॥

मिच्छादिट्ठी य।

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि ॥
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥ २ ॥

बालमरण और बालबालमरणके स्वामी कौन होते है यह विषय आचार्य विशद करते हैं.

हिंदी अर्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि जीव चौथे बालमरणसे मरते हैं अर्थात् अविरतिसम्यग्दृष्टीके मरणको बालमरण कहते हैं. और मिथ्यादृष्टी जीव जिस मरणसे मरते हैं वह बालबाल नामका पांचवा मरणभेद है.–यहां शंकाकार ऐसी शंका करता है—' वोच्छं आराधणा कमसो ' ग्रंथकारने ' मैं क्रमसे आराधनाओंका विवेचन करूंगा ' ऐसी प्रतिज्ञा की है. वह दर्शन आराधना और ज्ञानाराधना ऐसी दो प्रकारकी है. इनका विवेचन तो ग्रंथकारने किया ही नहीं परंतु मरणके विकल्प और उसके स्वामीओंका ही विवेचन किया है ऐसा करना अयोग्य है. प्रस्तुत विषयका त्याग करके अप्रस्तुत विवेचन करना बुद्धिमानोंको सहन नहीं होता है. इस शंकाका परिहार आचार्य करते हैं—

ग्रंथकारने अप्रस्तुत विषयका विवेचन किया नहीं है. बीचमें जो मरणके विकल्पका विवेचन किया है वह अप्रस्तुत नहीं है. आराधनाके साथ मरणका संबंध है. अतएव इस शास्त्रमें उनका उल्लेख आचार्यको करना पडा है. आराधना आराधकके विना होती नहीं, आराधक आराधनाका स्वामी है. अतः उसका उल्लेख करना न्यायप्राप्त ही है. इस तरह आचार्यने शंकापरिहार किया है.

अत एव प्रस्तुतां प्राथमिकीं दर्शनाराधनां आचष्टे—

तत्थोवसमियसम्मत्तखइयं खवोवसामियं वा ॥
आराहंतस्स भवे सम्मत्ताराहणा पढमा ॥ ३१ ॥

शामिकीं क्षायिकीं दृष्टिं वेदिकीमपि च त्रिधा ॥
समाराधयतः पूर्वा सम्यक्त्वाराधनेष्यते ॥ ३४ ॥

विजयोदया—तत्थोवसमियसम्ममित्यादिना । अथवा अंतरसूत्रनिर्दिष्टं बालमरणव्याख्यानं प्रस्तुतां प्राथमिकीं सम्यक्त्वाराधनां पुरस्कृत्य प्रवर्तते इत्यत आह-तत्थोवसमियसम्मत्तं । अथवा सम्यग्दर्शनविशेषस्य कस्यचिदेव आराधना उत सर्वस्येत्याशंका । कुतः संदेहः ? आचार्यमतभेदेन पदानामर्थद्वैविध्यात्सामान्यं पदानामभिधेयं । पदादनुगतार्थसामान्य-निर्भासप्रतीत्युत्पत्तेर्न हि गामित्यतः पदाच्छुक्लां कृष्णां शबलामिति वा प्रतीतिः, खंडां मुंडां इति वा जायते। यच्च पदोपल-ब्धिकार्यभूतायां बुद्धौ न प्रतिभाति तत्कथं शब्दस्याभिधेयतां गंतुमुत्सहते । अप्रतीयमानस्याप्यर्थत्वे अयमेवास्यार्थो नान्य इतीयं व्यवस्था न स्यात् । तेन सामान्यमेवार्थ इति । अन्ये तु मन्यंते त्यागोपादानोपेक्षारूपा हि लोकव्यवहृतिस्तत्र पुमांसं प्रवर्तयितुं शब्दाः प्रयुज्यंते। दुःखसाधनं यत्तत्त्यज्यते । सुखसाधनमुपादीयते । तदुभयस्यासंपादकमुपेक्ष्यते । विशिष्टमेव च वस्तु सुखादीनां संपादकं । तथाहि—स्त्रीवस्त्रगंधमाल्यादिकं अतिशयितमेवादातुं उत्सहन्ते । दुःखसाधनं चात्मनिकटवर्त्येव कंटकादिकं परिजिहीर्षन्ति । तेन शब्देनापि तदर्थिनां तथाभूतमेव वस्तु प्रतिपाद्यमित्यभ्युपगन्तव्यं अतो विशेषः पदानामर्थः । इति सारूप्यानामनेकविशेषवर्तिनां पदानामेकपदप्रयोगाद्यदि नाम विशेषो न प्रतीयते नैतावता विशेषस्याभिधेयताहानिः पदांतरसंनिधाने विशेषप्रतीतेरनुभवसिद्धत्वात् इति ।

जैनानामुभयं पदार्थः । पदानामुभयत्र प्रतीत्युत्पत्तेः तथाहि—न हिंस्याः प्राणिनः प्राणिसामान्यं परिहार्यत्वेन प्रतीयते। देवदत्तमानयेत्युक्ते पुरुषविशेषमवगच्छन्ति । ततो न ज्ञायते 'समत्तंमि य' इत्यत्र सामान्यं सम्यक्त्वं गृहीतं उत तद्विशेष इति तेन तत्संदेहनिवृत्तिः क्रियते । तत्र तेषु सम्यक्त्वेषु । उवसमियसम्मत्तं अनंतानुबंधिक्रोधमानमाया लोभानां सम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वानां च सप्तानामुपशमादुपजातं तत्त्वश्रद्धानं औपशमिकं सम्यक्त्वं ।

तासामेव सप्तप्रकृतीनां क्षयादुपजातवस्तुयाथात्म्यगोचरा श्रद्धा क्षायिकं दर्शनं । तासामेव कासांचिदुपशमात् अन्यासां च क्षयादुपजातं श्रद्धानं क्षायोपशमिकं । वा शब्दः प्रत्येकं संबध्यते । औपशमिकं वेत्यादिना क्रमेण । आराधंतस्स आराधयतः । हवे भवेत् । सम्मत्ताराहणा सम्यक्त्वाराधना । पढमा प्रथमा । "अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे" इत्युक्तं । तत्राविरतग्रहणं सम्यग्दृष्टेर्विशेषणत्वेनोपात्तं । प्रतीतेन हि विशेष्येण भाव्यम् । तथाभावेप्रतीतपदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः इति ।

एतमाराधनायाः स्वरूपलाभफलविशेषसिद्ध्यर्थं स्वामिमरणविशेषावभिधायेदानीं प्रस्तुतां प्राथमिकीं दर्शनाराधनामभिधत्ते —

मूला०—तच्छ तत्र । तेषु आगमप्रसिद्धेषु त्रिषु सम्यक्त्वेषु मध्ये यत्किंचिदेकमाराधयतः सम्यक्त्वाराधना भवेत् इति पदघटना । उवसमियसम्मत्तमित्यादि अनंतानुबंधिचतुष्कमिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वसम्यक्त्वानां उपशमाज्जातं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मस्वरूपलक्षणं तत्वार्थश्रद्धानं औपशमिकं । तेषामेव क्षयात् क्षायिकं । तेषामेव च षण्णाम् उदयाभावलक्षणे क्षयेऽनुदयप्राप्तानां सन्मात्रावस्थितिलक्षणे चोपशमे तथा सम्यक्त्वदेशघातिस्पर्द्धकोदये सत्युत्पन्नं सम्यक्त्वं क्षायोपशमिकं । श्लोकाः—

पाकादेशघ्नसम्यक्त्वप्रकृतेरुदयक्षये ॥
शमे च वेदकं षण्णामगाढं मलिनं चलं ॥ १ ॥
वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता ॥
स्थान एव स्थितं कंप्रमगाढं वेदकं तथा ॥ २ ॥
स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते ॥
अन्यस्यासाविति भ्राम्यन्मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते ॥ ३ ॥
तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात्सम्यक्त्वकर्मणः ॥
मलिनं मलसंगेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत् ॥ ४ ॥
लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमिव स्थितम् ॥
नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं यथा ॥ ५ ॥

सर्वेऽप्यनंतशक्तित्वे सर्वेषामर्हतामयं ॥
देवोऽस्मै प्रभुरेषोऽस्मा इत्यास्था सुदृशामपि ॥ ६ ॥

जीनके विना आराधना होती ही नहीं अतएव प्रथम सम्यग्दर्शनाराधनाका आचार्य वर्णन करते हैं—

हिन्दी अर्थ—बीचके सूत्रमें बालमरणका वर्णन किया है. उस मरणका स्वामी सम्यग्दर्शन आराधनाका आराधन करनेवाला जीव है. अतः बालमरणका सम्यग्दर्शनके साथ संबंध सिद्ध है. उपशमसम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व इन तीन आराधनाओंमेंसे किसी भी सम्यग्दर्शनकी आराधना करनेवाला सम्यक्त्वाराधक कहा जाता है.

विशेषार्थ—यहां शंकाकारकी शंका यह है—सम्यग्दर्शनके सर्व भेदोंकी आराधना करनेवाला सम्यग्दर्शनाराधक है ? अथवा कोई एक सम्यग्दर्शनकी भी आराधना करनेवाला आराधक होता है ? यहां ऐसी शंका क्यों होती है ऐसा कोई पूछेगा तो उसका उत्तर शंकाकारने इस तरह दिया है—आचार्योंके मतभेदसे शब्दके दो अर्थ माने गये है. अर्थात् कोई आचार्य शब्द सामान्य अर्थके वाचक है ऐसा कहते हैं, और दुसरे कोई आचार्य उसका विशेष अर्थ वाच्य होता है ऐसा मानते हैं. अर्थात् सम्यग्दर्शन इस शब्दका सामान्य अर्थ सम्यग्दर्शन सामान्य ऐसा है ऐसा किसीका मत है और विशिष्ट सम्यग्दर्शन ही सम्यग्दर्शन शब्दका वाच्य है ऐसे अन्य आचार्योंका मत है. अतएव हमने उपर्युक्त शंकाकी है ऐसा शंकाकारने अपनी शंकाका समर्थन किया है.

आचार्य क्रमशः दोनोंके मतोंका दिग्दर्शन करके अनंतर शब्दका अर्थ जैनमतसे क्या होता है इसका निरूपण करेंगे. प्रथमतः शब्दका सामान्य ही अर्थ है इस मतका निरूपण करते हैं—

शब्द सुनने पर अर्थसामान्यका ही अनुभव आता है. जैसे किसीने गौ लावो ऐसा वाक्य कहा इस वाक्यके सुननेसे सुननेवालेको काली गाय, चितकवरी गाय, वा सफेत रंगकी गाय ऐसा ज्ञान नहीं होता है. किंतु गोसामान्यका ही उसको बोध होता है. शब्दका श्रवण करनेके अनंतर जो अर्थ बुद्धीमें झलकता नहीं वह शब्दका अर्थ कैसे माना जायगा ? बुद्धीमें न झलकनेवाला भी अर्थ यदि माना जायगा तो अमुक शब्दका अमुक ही अर्थ होता है ऐसी अर्थव्यवस्था नहीं होगी. अर्थात् गोशब्दका अर्थ जैसा गाय होता है वैसा भैंस, घोडा वगैरे भी

उनके अर्थ होंगे. अतः सामान्य पदार्थ ही शब्दका वाच्य होता है यह मत मानना चाहिये.

विशेष पदार्थ ही शब्दका अर्थ है ऐसे मतका विवेचन इस प्रकार है–जगतमें लोक किसी पदार्थका ग्रहण करते हैं, किसीका त्याग करते हैं और किसीकी उपेक्षा करते हैं ऐसा व्यवहार देखनेमें आता है. इस व्यवहारमें प्रवृत्ति करनेके लिये शब्दोंका प्रयोग किया जाता है. जो दुःखका कारण है वह वस्तु छोडते हैं, जो सुखकर होती है वह चीज लोक लेते हैं. जिससे सुख और दुःख दोनों भी उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसी चीजसे लोक उपेक्षा करते हैं अतः विशिष्ट वस्तु ही सुख या दुःखकी उत्पादक मानी जाती है. जैसे स्त्री, वस्त्र, गंध पुष्पमाला वगैरे पदार्थ विशेषरीतीसे सुख साधक हैं ऐसा समझकर लोक इनका ग्रहण करते हैं. जो दुःखके कारण हैं एसे समीपस्थ कंटक शत्रु वगैरह पदार्थोंका त्याग करनेकी इच्छा करते हैं. शब्दके द्वारा भी ऐसे ही पदार्थोंका विवेचन होता है ऐसा समझना चाहिये. अर्थात् शब्दका अर्थ सामान्यपदार्थ नही है किंतु विशेष ही समझना चाहिये. अनेक पदार्थोंमे रहनेवाला सादृश्य एक शब्दके द्वारा उल्लेखित होता है अतः शब्दका विशेष पदार्थ अर्थ नहीं है ऐसा मानना अयोग्य है. जैसे गो शब्द समस्त सदृश गायोमें प्रयुक्त होता है अतः गो शब्दका विशेष पदार्थ वाच्य नहीं है, ऐसा कहना अयोग्य है. उस गो शब्दका दुसरे शब्दसे जब संबंध होता है तब विशेष पदार्थका उससे अनुमत्र अवश्य होता है. शब्दका विशेष पदार्थ ही वाच्य है ऐसा विशेष वादियोंका मत है.

सामान्य पदार्थ और विशेष पदार्थ दोनों शब्दके द्वारा प्रतीत होते हैं ऐसा जैनियोंका मत है–उसकी सिद्धि आचार्य करते हैं–' न हिंस्याः प्राणिनः ' अर्थात् ' प्राणिओंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये ' इस वाक्यमें प्राणि शब्द संपूर्ण प्राणिओंका वाचक है. दुसरा वाक्य ' देवदत्तमानय ' देवदत्तको लाओ यहां देवदत्त शब्द पुरुष विशेषका वाचक है. अर्थात् शब्द सामान्य और विशेष दोनो पदार्थोंके वाचक हैं ऐसा जैनियोंका मत है.

अतः प्रस्तुत विषयमें–सम्यक्त्वाराधनामें क्या सामान्य सम्यक्त्वका ग्रहण करना चाहिये ? अथवा उसके विशेषोंका ग्रहण करना चाहिये ? ऐसी शंका उपस्थित होती है. उसका आचार्यने इस प्रकार निरसन किया है—

सम्यग्दर्शनके उपशम सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ऐसे तीन भेद है. इनमेंसे किसी भी सम्यग्दर्शन की जो आराधना करता है उसको पहिली सम्यक्त्वारधना होती है.

औपशमिक सम्यग्दर्शन—अनंतानुबंधि क्रोध, मान, माया और लोभ, तथा सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और

सम्यङ्मिथ्यात्व ऐसे सात कर्म प्रकृतिओंका उपशम होनेसे जो तत्वोंके उपर श्रद्धान होता है उसको औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं.

क्षायिक सम्यक्त्व—उपर्युक्त सात प्रकृतियोंका क्षय होनेसे जो जीवादि सात तत्वोंके ऊपर श्रद्धा होती है वह क्षायिक सम्यक्त्व है.

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—इन सात प्रकृतियोंमेंसे किसी प्रकृतियोंका उपशम और अन्य प्रकृतियोंका क्षय होनेसे जो तत्त्वश्रद्धान होता है वह क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है.

' अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे ' ऐसा पूर्वमें कहा है. अर्थात् उनके मरणको बालमरण कहते हैं. अविरत सम्यग्दृष्टि इस सामासिक शब्दमें अविरत शब्द विशेषणरूप है और सम्यग्दृष्टि यह शब्द विशेष्य है. यह विशेष्य प्रसिद्ध है. अर्थात् तत्वार्थ श्रद्धान करनेवालेको सम्यग्दृष्टि कहते हैं यह बात सुप्रसिद्ध है. प्रसिद्ध पदार्थोंमें विशेषण विशेष्यभाव होता है.

तस्मात्कीदृग्जीवोऽभिधेयः सम्यग्दृष्टिशब्दस्येति प्रश्नस्योत्तरमाह—

सम्मादिट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहइ ॥
सद्दहइ असब्भावं अयाणमाणो गुरुणियोगा ॥ ३२ ॥

मन्यते दर्शितं तत्वं जन्तुना शुभदृष्टिना ॥
पूर्वं ततोऽन्यथापीदमजानानेन रोच्यते ॥ ३९ ॥

विजयोदया—सम्मादिट्ठी जीवो इत्यनया । अत्रैवं पदघटना ' उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि यो जीवो सो सम्मादिट्ठी' इति । उवइट्ठं उपदिष्टं कथितं । ननु उपपूर्वो दिशिरुच्चारणक्रियः । तथा हि-प्रयोगः—उपदिष्टा वर्णा उच्चारिताः इति। सत्यम्, समुच्चारणक्रियस्तत्रैव वर्तते नान्यत्र इत्यत्र न निबंधनं किंचित् । यथा गां बोधि इत्यादिषु सास्नादिमति दृष्टप्रयोगोऽपि गोशब्दो वागादिषु अपि वर्तते एवमिहापीति किं न गृह्यते ? उपदिष्टमपि किं न वेत्ति इत्यादौ कथितमिति प्रतीतिरुपजायते सा कथमपास्यते । प्रायोग्यवृत्तिसमधिगम्यो हि शब्दार्थः । प्रोच्यन्ते जीवादयः पदार्था अनेनास्मिन्निति वा प्रवचनं जिनागमः । प्रकर्षश्चोक्तः दृष्टेष्टप्रमाणाविरोधिता वस्तुयाथात्म्यानुसारिता च । प्रवचनवाक्योऽर्थः साहचर्यात्प्रवचनमिति संगृह्यते । तु शब्दः एवकारार्थः । स च क्रियापदात्परतो द्रष्टव्यः । व्याख्यातं जैनागमार्थं यः श्रद्दधात्येव न

तु श्रद्धाति इत्ययोगव्यवच्छेदः। स जीवः सम्माइट्ठी सम्यग्दृष्टिशब्दवाच्य इति प्रतीतपदार्थकत्वमादर्शितं। सद्दहदि श्रद्धानं करोति। असब्भावमपि असत्यमप्यर्थं। अयाणमाणो अनवगच्छन्। किं? विपरीतमनेनोपदिष्टमिति। गुरोर्व्याख्यातुरस्यायमर्थ इति कथनान्नियुज्यते प्रतिपत्त्यां श्रोता अनेन वचनेन इति नियोगः कथनं। सर्वज्ञप्रणीतस्यागमस्यार्थः आचार्यपरंपरया अविपरीतः श्रुतोऽवधृतश्चानेन सूरिणा उपदिष्टो ममेति सर्वज्ञाज्ञाया रुचिरस्यास्तीति। आज्ञारुचितया सम्यग्दृष्टिर्भवत्येवेति भावः।

ननु अविरदसम्माइट्ठी इत्युक्तं तत्र कीदृग्जीवः सम्यग्दृष्टिः स्यात् इति पृष्टः सन् आचष्टे—

मूला०—पवयणं जिनागमः तद्वाच्योऽर्थः साहचर्यादिह ग्राह्यः। तु एवार्थे। स जीवः सम्यग्दृष्टिर्भवति यः उपदिष्टं प्रवचनं श्रद्धात्येवेति संबंधः। यो ज्ञानावरणोदयवशात्स्वयं तत्त्वमजानन्गुरुनियोगादसद्भावं श्रद्धत्ते सोऽपि तदैव सम्यग्दृष्टिः स्यादित्युत्तरार्द्धेन दर्शयते॥ असब्भावं असत्यमप्यर्थं प्रकृतत्वादागमवाक्ये। अयाणमाणो मिथ्या अनेन उपदिष्टमिति अजानन्। गुरुणियोगा गुरोर्व्याख्यातुर्नियोगादस्यागमवाक्यस्य अयमर्थ इति कथनात्। नियुज्यते नियतं संबध्यते श्रोता अनेनेति नियोगः कथनं। इदमत्र तात्पर्यं—सर्वज्ञोक्तस्यागमस्यार्थो गुरुपर्वक्रमेण सम्यक् श्रुतोऽवधृतश्चानेनाचार्येणोपदिष्टो ममेति सर्वज्ञाज्ञया रुचिरस्यास्तीति आज्ञारुचितया सम्यग्दृष्टिस्तदाप्येप भवत्येव॥

कोनसा जीव सम्यग्दृष्टि शब्दका वाच्य होता है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

हिंदी अर्थ—गुरुने कहे हुए आगमका अर्थात् जीवादि पदार्थोंके स्वरूप का जो श्रद्धान करता है वह पुरुष सम्यग्दृष्टि है. गुरूके वचनोंको प्रमाण मानकर जीवादिके असत्य स्वरूप में विश्वास रखता हुवा भी वह पुरुष सम्यग्दृष्टि ही है. क्योंकि सर्वज्ञप्रणीत आगमका अर्थ आचार्यपरंपरासे अविपरीत ऐसा गुरूने सुना है और हृदयमें धारण कर उसका ही उपदेश उसने मेरेको किया है ऐसा समझकर वह जीवादि पदार्थोंपर विश्वास रखता है अतः असत्यस्वरूप सत्य मानता हुवा भी वह जीव सम्यग्दृष्टि ही है ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

विशेषार्थ—गाथामें 'उवइट्ठं—उपदिष्टं' ऐसा शब्द है. यह शब्द उप पूर्वक दिश् धातुसे बना हुवा उच्चारण करना इस अर्थमें प्रसिद्ध है और आप इसका अर्थ 'कहा हुवा' ऐसा करते हैं परन्तु इस अर्थमें प्रयोगवाक्य दीखते नहीं है. 'उपदिष्टा वर्णा उच्चारिता इति' यहां उपदिष्टका अर्थ वर्ण उच्चारे गये हैं ऐसा किया है. यह

हुई शंका अब इस का उत्तर सुन लीजिये—उच्चारण करना इस अर्थमें ही उपदिष्ट शब्दका प्रयोग है अन्य अर्थमें नहीं है ऐसा सिद्ध करनेके लिये आपके पास कुछ भी प्रमाण नहीं है.

जैसे ' गां दोग्धि ' इस वाक्यमें गोशब्दका अर्थ गाय ऐसा होता है अर्थात् गाय इस अर्थमें गोशब्द का प्रयोग जैसा होता है उसी तरह वाणी, स्वर्ग, पृथ्वी इत्यादि अर्थोंमें भी गोशब्दका प्रयोग देखा जाता है. उसी तरह उपदिष्टशब्द का प्रयोग अन्यार्थ में भी होता है. जैसे ' उपदिष्टमपि किं न वेत्ति ' इस वाक्यमें उपदिष्ट शब्द ' कथितं ' कहा हुआ इस अर्थमें है ऐसा अनुभव आता है. इसको मानना पडेगा ही. जिस शब्दका जो अर्थ प्रकरणादि से योग्य मालूम होता है वही उस शब्दका अर्थ समझना चाहिये.

गाथामें जो पवयण शब्द है उसका खुलासा इस प्रकार है—जिसके द्वारा जीवादिक पदार्थ कहे जाते हैं अथवा जिसमें जीवादिक पदार्थ कहे हैं उसको प्रवचन कहते हैं अर्थात् जिनेश्वरके आगमको प्रवचन कहते हैं. प्रवचन शब्दकी निरुक्ति आचार्य इस प्रकार कहते हैं—'प्रोच्यन्ते जीवादयः पदार्था अनेन अस्मिन्निति वा प्रवचनं जिनागमः' जिनेश्वरके वचनोंमें प्रकर्षता अर्थात् उत्कृष्टता आनेका कारण यह है कि उनके वचन दृष्टेष्टप्रमाणोंसे अर्थात् प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणोंसे अविरुद्ध सिद्ध होते हैं. और वे वस्तुके यथार्थ स्वरूपका अनुसरण करनेवाले हैं. ऐसे प्रवचनके द्वारा जो जीवादि पदार्थ कहे गये हैं उनको भी साहचर्यसे अथवा अभिधेयाभिधायकसंबंध होनेसे ' प्रवचन ' कह सकते हैं.

गाथामें जो तु शब्द है उसकी ' सद्दहइ ' इस क्रियापदके आगे योजना करनी चाहिये. अर्थात् विवेचित जिनागमके जीवादि अर्थोंमें जो श्रद्धान करता ही है वह सम्यग्दृष्टि है ऐसा अभिप्राय उससे व्यक्त होता है.

यह सम्यग्दृष्टि जीव असत्य पदार्थका भी श्रद्धान करता है परंतु वह तब तक असत्य पदार्थके उपर श्रद्धान करता है जब तक वह गुरुने मेरेको असत्य पदार्थका स्वरूप कहा है यह नहीं जानता है. जब तक वह असत्य पदार्थका श्रद्धान करता है तबतक उस गुरुने आचार्यपरंपराके अनुसार जिनागमके जीवादितत्वका स्वरूप कहा है और जिनेंद्र भगवानकी आज्ञा प्रमाणभूत माननी चाहिये ऐसा भाव हृदयमें रखता है अतः उसके सम्यग्दर्शनमें हानि नहीं है. वह मिथ्यादृष्टि नहीं गिना जाता है.

सर्वज्ञकी आज्ञाके ऊपर उसका प्रेम रहता है. वह आज्ञारुचि होनेसे सम्यग्दृष्टि ही है. ऐसा इस गाथाका भाव है.

किमेष विपरीतं प्रतिपद्यमानोऽपि सर्वदा सम्यग्दृष्टिरेव ? नेत्याह—

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि ॥
सो चेव हवइ मिच्छादिठ्ठी जीवो तदो पहुदि ॥ ३३ ॥

दर्श्यमानं यदा सम्यक् श्रद्दधाति न सूत्रतः ॥
तमर्थं स तदा जीवो मिथ्यादृष्टिर्निगद्यते ॥ ३६ ॥

विजयोदया—सुत्तादो इति । सुत्तादो सूत्रात् । तं आत्मना विपरीतं गृहीतमर्थं । सम्मं सम्यक् अविपरीतरूपेण । दरसिज्जंतं दर्श्यमानं प्ररूप्यमाणं अन्येन आचार्येण । जदा यदा यस्मिन्काले । न सद्दहदि न श्रद्दधाति । सो चेव स एव सम्यग्दृष्टितयोक्तः । मिच्छादिट्ठी हवइ मिथ्यादृष्टिर्भवति । आप्ताज्ञाश्रद्धानवैकल्यात् अर्थयाथात्म्याश्रद्धानाच्च । तदो ततः । पहुदि प्रभृति आरभ्य । असंदिग्धसूत्रांतरदर्शितार्थाश्रद्धानादारभ्येति यावत् ।

किमेष विपरीतं प्रतिपद्यमानोऽपि सर्वदा सम्यग्दृष्टिरेव नेत्याह—

मूलारा—सुत्तादो सूत्राद्गणधराद्यन्यतमग्रथितमागममाश्रित्येत्यर्थः । तं प्रथमगुरूपदेशेन मिथ्याप्रतिपन्नमर्थं सम्मं दरसिज्जंतं अन्येन गुरुणाऽविपरीतं प्ररूप्यमाणं । सो चेव स एव सम्यग्दृष्टितयोक्तो मिथ्यादृष्टिर्भवति । आप्ताज्ञाश्रद्धानवैधुर्यादर्थयाथात्म्याश्रद्धानाच्च । तदो पहुदि । असंदिग्धसूत्रांतरदर्शितार्थाश्रद्धानादारभ्य ।

क्या जीवादि पदार्थोंका विपरीत स्वरूप मानता हुवा भी यह हमेशा सम्यग्दृष्टि ही रहता है अथवा नहीं? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते है—

हिंदी अर्थ—' तुमने पदार्थोंका विपरीत अर्थ जाना है उसका श्रद्धान छोड दो और हमने जो पदार्थका सच्चा स्वरूप कहा है उसके ऊपर श्रद्धा करो. ' ऐसा आचार्यके कहने पर भी जब वह आपना आग्रह नहीं छोडेगा तो तबसे वह मिथ्यादृष्टि समझा जायगा. आचार्यने प्रमाणभूत ऐसे गणधरादिकोंके रचे हुए आगमसे जीवादिकोंका स्वरूप बताया था तो भी उसका उस आप्ताज्ञाके उपर श्रद्धान नहीं रहनेसे और अर्थके यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धान न होनेसे वह मिथ्यादृष्टि ही समझा जाता है.

गुणादो तं सम्मं दरसिज्जंतं इत्युक्तं केन रचितानि सूत्राणि प्रमाणभूतानीत्यत आह—

सुत्तं गणधरगाधिदं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च ॥
सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विगाधिदं च ॥ ३४ ॥

ज्ञेयं प्रत्येकबुद्धेन गणेशेन निवेदितं ॥
श्रुतकेवलिना सूत्रमभिन्नदशपूर्विणा ॥ ३७ ॥

विजयोदया—सुत्तं गणधरगाधिदं इति । सुत्तं सूत्रं । गणशब्देन द्वादशगणा उच्यंते । तान्धारयन्ति इति गणधराः । दुर्गतिप्रस्थिता हि तेन रत्नत्रयोपदेशेन धार्यन्ते ते सप्तविधर्द्धिमुपगताः । उक्तं च—

बुद्धितवविगुव्वणोसधिरसबलं च अक्खीणं ॥
सत्तविध इड्ढिपत्ता गणधरदेवा णमो तेसिं ॥

इति । तैः गाधिदं ग्रथितं संदब्धं । केवलिभिरुपदिष्टं अर्थं ते हि ग्रथ्नन्ति । तथाभ्यधायि—'अत्थं कहन्ति अरुहा गंथं गंथंति गणधरा तेसिं' इति । तहेव तथैव । पत्तेयबुद्धगाधिदं च प्रत्येकबुद्धग्रथितं च । श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात् परोपदेशमंतरेणाधिगतज्ञानातिशयाः प्रत्येकबुद्धाः । सुदकेवलिणा समस्तश्रुतधारिणा कथितं चेति । अभिन्नदसपुव्विकधिदं च । दशपूर्वाण्यधीयमानस्य विद्यानुप्रवादस्थाः क्षुल्लकविद्या महाविद्याश्च अंगुष्ठप्रसेनाद्याः प्रज्ञप्त्यादयश्च तैरागत्य रूपं प्रदर्श्य, सामर्थ्यं स्वकर्माख्याय पुरः स्थित्वा आज्ञाप्यतां किमस्माभिः कर्तव्यमिति तिष्ठति । तद्वचः श्रुत्वा न भवतीभिरस्माकं साध्यमस्तीति ये वदन्ति अचलितचित्तास्ते अभिन्नदशपूर्विणः । एतेषामन्यतमेन ग्रथितं सूत्रं प्रमाणं । प्रमाणेन केवलेन श्रुतेन वा गृहीतमर्थं अरक्तद्विष्टाः संतो यदुपदिशंति ततस्तद्वचसां प्रामाण्यं इति भावः । प्रमाणपरिदृष्टार्थगोचरं अरक्तद्विष्टवक्तृप्रभवं वचः प्रमाणं । यथा पितुररक्तद्विष्टस्य स्वप्रत्यक्षगोचरं वचः घटोयं रक्ष्य इति । तथा च गणधरादीनां वचः प्रमाणं परिदृष्टार्थगोचरं । अरक्तद्विष्टवक्तृप्रभवं ।

केन रचितं सूत्रं प्रमाणं स्यादित्यत्राह—

गणहरकथिदं—गणा द्वादश यत्यादयो जिनेंद्रसभ्याः । गणान्धारयंति दुर्गतिमार्गान्मिथ्याश्रद्धानादेर्विनिवृत्त्य शिवमार्गे सम्यग्दर्शनादौ स्थापयन्तीति इति गणधराः सप्तविधर्द्धिप्राप्ता धर्माचार्याः । पत्तेयबुद्धा—एकं केवलं परोपदेशनिरपेक्षं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषं प्रतीत्य बुद्धाः संप्राप्तज्ञानातिशयाः प्रत्येकबुद्धाः । सुदकेवलिणा समस्तश्रुतधारिणा । अभिन्नदसपुव्वि—दश पूर्वाणि उत्पादपूर्वादिविद्यानुवादान्तान्येषां सन्तीति दशपूर्विणः । अभिन्ना विद्याभिरप्रच्या

वितथारित्रास्ते च ते दश पूर्विणश्च । विद्यानुवादपाठे स्वयमागतद्वादशशतविद्याभिरचलितचारित्रा इत्यर्थः ।

' सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं ' ऐसा उपरकी गाथामें वाक्य आया है परंतु प्रमाणभूत सूत्रोंकी रचना किन्होंने की है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

हिंदी अर्थ—गणधररचित आगमको सूत्र कहते हैं. प्रत्येकबुद्ध ऋषिओंके द्वारा रचे गये आगमको भी सूत्र कहते हैं. श्रुतकेवली और अभिन्न दशपूर्वधारक आचार्योंके रचे हुए आगम ग्रंथको भी सूत्र कहते हैं.

विशेषार्थ—गणके बारा प्रकार हैं. चौदापूर्वके ज्ञाता मुनि, विक्रियाऋद्धिके धारक मुनि, अवधिज्ञानी मुनि, मनःपर्ययज्ञानी मुनि, वाद करनेवाले मुनि वगैरे बारा गण उनको रत्नत्रयधर्मका उपदेश देकर जो दुर्गतीसे बचाते हैं उनको गणधर कहते हैं. गणधरोंको सात ऋद्धियां प्राप्त होती है. उनके नाम इसप्रकार है—बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, रस, बल और अक्षीण ऐसे सात ऋद्धिको प्राप्त हुए गणधरोंको मेरा नमस्कार हो गणधरोंने रचे हुए आगमको सूत्र कहते हैं. केवलियोंने कहा हुवा अर्थ गणधर ग्रथित करते हैं. इस विषयमें ' अत्थं कहंति अरुहा गंथं गंथन्ति गणहरा तेसिं ' अर्थात् केवलि भगवान जो अर्थ कहते हैं उसका गणधर देव आगममें ग्रथन करते हैं. प्रत्येकबुद्ध ऋषियोंने रचे हुए शास्त्रोंको भी सूत्र कहते हैं. श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे गुरूपदेशके विना जिनको सातिशय ज्ञान होता है ऐसे महर्षियोंको प्रत्येकबुद्ध कहते हैं. द्वादशांगश्रुत ज्ञानको धारण करनेवाले महर्षियोंको श्रुतकेवलि कहते हैं. उनका कहा हुवा जो आगम वह भी सूत्र है.

अभिन्नदशपूर्वके जाननेवाले आचार्योंके रचे हुए शास्त्रको भी सूत्र कहते हैं. दशपूर्वोंका अध्ययन करते समय विद्यानुवादमें जिनका वर्णन है ऐसी अंगुष्ठप्रसेनादि क्षुल्लक विद्या व प्रज्ञप्त्यादि महाविद्या इन आचार्योंके पास आ जाती है तथा वे आपना रूप दिखाकर सामर्थ्य और अपने कार्यका स्वरूप कहती हैं. आगे खडे होकर हे प्रभो ! हमे कोइ कार्य करनेकी आज्ञा दीजिये ऐसी प्रार्थना करती हैं. उनका भाषण सुनकर आपसे हमारा कुछ कार्य नहीं है ऐसा जो ऋषि निश्चलचित्त होकर बोलते हैं. उनको अभिन्नदशपूर्वधर महर्षि कहते हैं. उपर्युक्त कहे हुए ऋषियोंके आगमोंको सूत्र कहते हैं.

प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंके द्वारा, केवलज्ञानके द्वारा और श्रुतज्ञानके द्वारा जाना हुवा वस्तुका स्वरूप रागद्वेष

रहित होकर उपर्युक्त महर्षि प्रतिपादन करते हैं इसलिये इनके वचनोंमें प्रमाणता रहती है.

जैसे राग द्वेष छोडकर पिता अपने लडकेको इस घटका रक्षण करो ऐसे वचन कहता है, उसका वह कहना जैसा प्रत्यक्ष गोचर है और प्रमाण है उसी तरह रागद्वेषरहित होकर प्रमाणोंके द्वारा देखा हुवा जीवादिपदार्थ का स्वरूप महर्षिओंने कहा है अतः वह प्रमाण मानना चाहिये. गणधरादिक महर्षि रागद्वेषरहित और महाज्ञानी थे. उन्होंने सब पदार्थोंका प्रमाणोंके द्वारा निर्णय किया था अतः उनके आगम प्रमाण माननेमें हर्ज नहीं है.

भवतु नामैषां अन्यतमेन प्रणीतं सूत्रं प्रमाणं तदर्थकथनं तु को विपरीतं करोति को याऽविपरीतमित्यारेकायां अविपरीतार्थकथनकारिणो लक्षणमाहोत्तरया गाथया—

गिहिदत्थो संविग्गो, अच्छुवदेसेण संकणिज्जो हु ॥
सो चेव मंदधम्मो अच्छुवदेसम्मि भजणिज्जो ॥ ३५ ॥
मातार्थश्चारुचारित्रः शंक्यते न महामनाः ॥
शंक्यते मंदधर्मोऽसौ कुर्वाणस्तत्त्वदेशनाम् ॥ ३८ ॥

विजयोदया—गिहिदत्थो संविग्गो गृहीतं आत्मसात्कृतो ऽवधारितोऽर्थः सूत्रस्य येन सः गृहीतार्थः अवधृतसूत्रार्थ इति यावत्। संविग्गो संसाराद्द्रव्यभावरूपात् परिवर्तनात् भयमुपगतः। विपरीतोपदेशे रागात्कोपाद्वा अनंतकालं संसारपरिभ्रमणं मम मिथ्यादृष्टेः सतो भविष्यतीति यः सभयः। अच्छुवदेसे अर्थस्याभिधेयस्य सूत्राणामुपदेशे। न संकणिज्जो नैवाशंक्यः। खु शब्द एवकारार्थः। सो चेव स एव च गृहीतार्थः। मंदधम्मो धर्मशब्दश्चारित्रवाची 'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो' इति वचनात्। ततो मंदचारित्र इत्यर्थः। अच्छुवदेसम्हि सूत्रार्थव्याख्याने? भयणिज्जो भाज्यः। यदि सूत्रानुसारि युक्त्यनुगतं वा तद्व्याख्यानं ग्राह्यमन्यथा नेति यावत्।

प्रमाणपरिदृष्टार्थगोचरत्वेन रागद्वेषानुपहतवक्तृप्रभवत्वेन च पित्रादिवाक्यवत्प्रमाणभूतस्यापि सूत्रस्यार्थं यो यथावत्कथयति तं लक्षयति—

गीदत्थो—सम्यग्गुरूपदेशादवधारितसूत्रार्थः। संविग्गो रागाद्वा द्वेषाद्वा सूत्रार्थमन्यथोपदिशतो मम मिथ्यादृष्टेः सतोऽनंतकालं संसारे परिभ्रमणं भविष्यतीति भयमापन्नः। अच्छुवदेसे सूत्रार्थव्याख्यानविषये। ण संकणिज्जो खु। १२७

नैव शंकनीय । यं यथार्थं व्याचष्टे सूत्रार्थं स तथैवेति मन्तव्यः । सो चेव गीतार्थ एव । मंदधम्मो सातिचारचारित्रः । भयणिज्जः भाज्यः । यदि सूत्रानुसारी युक्तियुक्तं वा तद्व्याख्यानं ततो ग्राह्यं नान्यथेत्यर्थः ।

इन महर्षियोंमेंसे किसीके भी बनाये हुए सूत्र हम प्रमाण मानते हैं. परंतु इनका अर्थका कथन करनेवालोंमें हम किसको सत्यार्थ प्रतिपादन करनेवाला समझें और किसको न समझें ? ऐसी शंकाका निरसन करते हैं. प्रथमतः अविपरीत पदार्थका विवेचन करनेवालेका लक्षण आगेकी गाथासे कहते हैं—

हिंदी अर्थ—जिसने सूत्रका अर्थ समीचीनरूपसे जान लिया है, तथा जिसके अंतःकरणमें कर्मबंधरूप, द्रव्यसंसार और भावरूप कषाय, मिथ्यात्वादिरूप–भावसंसारसे भय उत्पन्न हुआ है ऐसे व्यक्तिद्वारा कहा हुवा सूत्रार्थ निःसंशयचित्त होकर प्रमाण मानना चाहिये. यदि रागभावसे अथवा क्रोधसे मैं विपरीत उपदेश करूंगा तो अनंतकालपर्यंत मिथ्यादृष्टियुक्त ऐसे मेरेको संसारमें भ्रमण करना पडेगा ऐसा जिसके मनमें भय है उसको संविग्न कहते हैं. उसको सूत्रार्थके कहनेमें प्रमाणता है. परंतु जिसका चारित्र मंद है उसको सूत्रार्थनिरूपणमें प्रमाण मानना विकल्पनीय है. अर्थात् यदि उसका व्याख्यान सूत्रानुसार और युक्तियुक्त हो तो ग्रहण करना चाहिये. वैसा न हो तो ग्रहण करना नहीं चाहिये.

किमधिगतसमपंचवचनार्थो भूत्वा श्रद्धावान्य स एव च सम्यग्दृष्टिः, स एव सम्यक्त्वाराधकः इत्यारेकायामाह अन्योप्यस्तीति—

धम्मा धम्मागासाणि पोग्गला कालदव्व जीवे य ॥
आणाए सद्दहन्तो समत्ताराहओ भणिदो ॥ ३६ ॥
सिद्धाः संसारिणो जीवाः प्रयाताः सिद्धिमेकधा ॥
आज्ञया जिननाथानां श्रद्धेयाः शुद्धदृष्टिना ॥ ३९ ॥

विजयोदया—धम्माधम्मागासाणिपि–जीवपुद्गलयो. स्वावस्थिताकाशदेशाद्देशान्तर प्रतिगतिः परिस्पंदपर्याये परप्रयोगत स्वभावतो वा विद्यते । अन्येषां निष्क्रियतेति न गतिरस्ति । अनयोर्गतिपर्यायस्य याह्यं गतिहेतुत्व-

संहितं गुणं धारयतीति धर्मः । तं न धारयतीत्यधर्मः । यद्यपि जीवादिष्वपि अस्ति गतिहेतुतायाः साधारण्यं तथापि न तत्र धर्मशब्दस्य वृत्तिः । प्रतिनियतविषया रूढयः इत्युक्तमेव । अथवा स्थितेरुदासीनहेतुत्वादधर्मः । न च जीवादीनां स्थितेरुदासीनहेतुत्वमस्ति । तावेतावुभावपि असंख्यातप्रदेशौ एकतामेवोद्वहन्तौ सूक्ष्मौ निःक्रियौ रूपादिरहितौ । आकाशं अनंतप्रदेशाध्यासितं सर्वेषां अवकाशदानसामर्थ्योपेतं । पुद्गलास्तु रूपरसगंधस्पर्शवंतः अणुस्कंधरूपभेदाद्द्विविधाः । कालो निश्चयेतरविकल्पः । जीवा उपयोगात्मकाः । एतानर्थान् । आणाए आज्ञया । आप्तानां साधारणं चेदं । आप्तस्यैव षड् द्रव्याणि सन्तीति श्रद्धातव्यं भवतीति आप्तवचनबलेनैव श्रद्धानं करोति । निक्षेपनयादिमुखेन प्रवृत्तयाधिगत्या सोऽपि सम्यक्त्वस्याराधकः ।

\+ धर्माधर्मनभःकालपुद्गलाञ्जिनदेशितान् ॥
आज्ञया श्रद्धानोऽपि दर्शनाराधको मतः ॥ ३९ ॥

किं प्रमाणादिमुखेन सप्रपंचं प्रवचनार्थमधिगम्य श्रद्धानः सम्यक्त्वस्याराधकः स्यादुतान्योऽप्यस्ति इति अत्राह—

मूलारा—धम्मा इत्यादि—जीवपुद्गलयोः साधारण्येन गतिनिमित्तं धर्मः । तयोरेव साधारण्येन स्थितिहेतुरधर्मः । सर्वेषामवकाशदायकं आकाशम् । रूपिणः पुद्गलाः । वर्तनालक्षणः कालः । चेतनालक्षणो जीवः । एतान्षडेव गुणपर्ययत्वाद्द्रव्याणि । आज्ञयापि षड्द्रव्याणि संति इत्याप्तवचनबलेनापि श्रद्धानः सम्यक्त्वमाराधयतीत्युक्तः । वृत्तं—

सर्वेषां युगपद्गतिस्थितिपरीणामावगाहान्यथा—
योगाद्धर्मतदन्यकालगगनान्यात्मा त्वहंप्रत्ययात्
सिद्ध्येत्स्थस्य परस्य वाक्प्रमुखतो मूर्तत्वतः पुद्गल—
स्ते द्रव्याणि षडेव पर्ययगुणात्मानः कथंचिद्ध्रुवाः ॥

\+ ऊपरके पेज १२८ की गाथा नं. ३६ के नीचे जो श्लोक आया है वहां यह श्लोक आना चाहिये था और आगेकी गाथा नंबर ३७ के आगे गाथा नं. ३६ के नीचे वाला श्लोक आना चाहिये । गलतीसे ये उलटे लगा गये हैं । इसलिये यह श्लोक यहांपर लगा दिया गया है । पाठक सुधार कर पढेंगे ऐसी आशा है ।

सविस्तर आगमवचन और उसके अर्थको जानता हुआ जो उसके ऊपर श्रद्धा रखता है क्या वही सम्यग्दृष्टि है ? वही सम्यक्त्वाराधक है ? ऐसी शंका होनेपर आचार्य अन्य भी सम्यग्दृष्टि होता है ऐसा आगेकी गाथामें उत्तर कहते हैं—

हिन्दी अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, काल, व जीव इन छह द्रव्योंको जिनेश्वरकी आज्ञासे श्रद्धान करनेवाला आत्मा सम्यक्त्वका आराधक होता है.

विशेषार्थ— जीव और पुद्गल ये दो पदार्थ जहां रहे हैं ऐसे आकाशप्रदेशसे प्रदेशांतरमें दुसरेके निमित्तसे अथवा स्वभावतः गमन करते हैं. इन दो ही द्रव्योंमें क्रियावत्व धर्म है. परंतु धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्योंमें क्रिया नहीं है. जिनेंद्र भगवान इनको निष्क्रिय कहते हैं. जीव और पुद्गलद्रव्यमें एक स्थानसे दुसरे स्थानमें गमन क्रिया होनेमें धर्मद्रव्य कारण माना गया है. अर्थात् धर्मद्रव्यमें गतिहेतुत्व यह धर्म है. अधर्म द्रव्यमें स्थितिहेतुत्व धर्म है. इसके निमित्तसे जीव और पुद्गलमें स्थिरता आती है. यद्यपि जीव पुद्गलादि भी गतिके लिये कारण होते है तो भी धर्मद्रव्यकाही यह असाधारण स्वभाव है अतः जीव पुद्गलको 'धर्म' ऐसी संज्ञा प्राप्त नहीं होती है. रूढि नियतविषयमेंही प्रवृत्त होती है ऐसा पूर्वमें कह चुके हैं. धर्मद्रव्य जैसा जीवपुद्गलके गतिमें उदासीन कारण है वैसा जीव गतिमें उदासीन नहीं है. वह दुसरेको गतिकार्यमें प्रेरक होता है. इस लिये उदासीन रूपसे गतिहेतुत्व धर्मद्रव्यमेंही है अन्यत्र नहीं है.

अधर्मद्रव्य जीव पुद्गलके स्थिरतामें उदासीन कारण है. उदासीनरूपसे स्थितीको हेतु हो जाना यह स्वभाव अधर्मद्रव्यके सिवाय अन्यद्रव्यमें नहीं पाया जाता है. धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यके असंख्यात प्रदेश हैं. परंतु इनके ये प्रदेश आपसमें मिलकर एकताको प्राप्त हुये हैं. ये द्रव्य सूक्ष्म, निःक्रिय और रूप, रस, गंध, स्पर्श इन गुणोंसे रहित अर्थात अमूर्त हैं.

आकाश द्रव्य अनंत प्रदेशी है. संपूर्ण द्रव्योंको अवकाश देनेका सामर्थ्य इसमें है. पुद्गल रूप, रस, गंध, स्पर्श इन गुणोंसे युक्त रहता है. उसके अणु व स्कंध ऐसे दो भेद हैं. कालके व्यवहारकाल व निश्चयकाल ऐसे दो भेद हैं. जीव ज्ञान व दर्शनोपयोगमय है. ऐसे छह द्रव्योंका जिनेश्वरकी आज्ञासे जो श्रद्धान करता है वह सम्यक्त्वाराधक है. तथा जो निक्षेप नय वगैरहका आश्रय करके जीवादि पदार्थोंका स्वरूप समझकर श्रद्धान करता है वह भी सम्यक्त्वका आराधक है.

जीवद्रव्यविषयं नियोगतः श्रद्धानं कर्तव्यं इत्येतदाख्यानायोत्तरगाथा—

संसारसमावण्णा य छव्विहा सिद्धिमस्सिदा जीवा ॥
जीवणिकाया एदे सद्दहिदव्वा हु आणाए ॥ ३७ ॥

⊛ सिद्धाः संसारिणो जीवाः प्रयाताः सिद्धिमेकधा ॥
आज्ञया जिननाथानां श्रद्धेयाः शुद्धदृष्टिना ॥ ४० ॥

विजयोदया—संसारं चतुर्गतिपरिभ्रमणं । समावण्णा समाप्ताः शोभनाशोभनशरीरग्रहणमोचनाभ्युद्यताः, स्वयोगव्यापारोपनीतपुण्यपापोदयजनितसुखदुःखानुभवनिरताः, । त्रसस्थावरकर्मोदयापादितत्रसस्थावरभावाः, विचित्रमतिज्ञानावरणोदयेन तत्क्षयोपशमविशेषेण च एकेंद्रिया, विकलेंद्रियाः, समग्रेन्द्रियाः पर्याप्त्यपर्याप्तिकर्मोदयनिर्वर्तितषड्विधपर्याप्त्यपर्याप्तिगते च, पृथिव्यादिशरीरभारोद्वहनचतुराः, आयुराख्यप्रकृतिघनशृंखलाघनाढ्यबंधनपराधीनवृत्तयः । नवविकल्पयोनिगमाश्रयोपजाततनुप्यासक्तयुक्तयः, । जराडाकिनीपीतरूपरक्ताः, मृत्युदुर्वारक्रूराशनिसंपातचकितचेतसः संसारिणः षड्विधा षट्प्रकाराः पृथिव्यादिशरीरसंबंधतः । सिद्धिं सम्यक्त्वकेवलज्ञानदर्शनवीर्याव्याबाधत्वपरमसूक्ष्मत्वावगाहनादिस्वरूपनिष्पत्तिम् । अस्सिदा आश्रिताः । जीवा जीवाः । ननु जीव प्राणधारणे इति वचनात् । जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति इति जीवः । प्राणाश्चेंद्रियादयः कर्मनिर्वर्त्याः पुद्गलस्कंधधारणभूतेषु कर्मस्वसत्सु न विद्यन्ते ततः कथं सिद्धानां जीवत्वेनेति ? नैष दोषः, द्विविधाः प्राणाः द्रव्यप्राणा भावप्राणाश्चेति । द्रव्यप्राणा इंद्रियादयः कर्महेतुकाः । भावप्राणास्तु ज्ञानदर्शनादयः । न ते कर्मनिमित्तकाः । कर्माभावे प्रसूतेः । तेन भावप्राणधारणात् जीवता न्याय्या सिद्धानां । अथवा यदेव कृतप्राणधारणं वस्तु तदेवमिति प्रत्यभिज्ञोपदर्शितमेकत्वमाश्रित्य जीवव्यपदेशः सिद्धानाम् । अथवा जीवशब्दोऽयमनादिनिधनः रूढशब्दः । रूढौ च क्रिया व्युत्पत्त्यर्थैव तदसंभवेऽपि तदुपलक्षणगृहीतं सामान्यमाश्रित्य वर्तत एव । यथा गच्छतीति गौरिति व्युत्पादितोऽपि गोशब्दोऽसत्यामपि गतौ स्थितः गोनिरूपणेत्यत्र वर्तते । गमनेनाश्रयेणोपलक्षितस्य गोत्वस्य सद्भावात् । एवं प्राणधारणोपलक्षितचैतन्याश्रयाज्जीवशब्दस्य सिद्धेषु वृत्तिः । जीवनिकाया जीवसमूहाः । सद्दहिदव्वा दु श्रद्धातव्याः एव । आणाए आज्ञामात्रावलात् ।

जीवाश्रद्धाने मुक्तिसंसारविषयपरिप्राप्तित्यागार्थोद्यमानुपपत्तेरिति भावः । यदि नाम धर्मादिद्रव्यापरिज्ञानं परिज्ञानगतश्चारित्रश्रद्धानं नोत्पन्नं तथापि नासौ मिथ्यादृष्टिर्दर्शनमोहोदयस्य अश्रद्धानपरिणामस्याज्ञानविषयस्याभावात् । न हि श्रद्धानस्यानुत्पत्तिरश्रद्धानं इति गृहीतं । श्रद्धानादन्यदश्रद्धानं इदमित्थमिति श्रुतनिरूपितेऽरुचिः ।

⊛ यह श्लोक पत्र १२८ की ३६ वीं गाथा के नीचे गलतीसे लग गया है वस्तुतः यहां ही चाहिये ।

जीवद्रव्यं नियमेन श्रद्धेयं तदश्रद्धाने मुक्तिसंसृतिप्राप्तित्यागार्थप्रयासानुपपत्तेरित्यनुशासितुमाह—

समावण्णा–प्राप्ताः शोभनाशोभनशरीरग्रहणमोचनाभ्युद्यताः । छव्विहा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकभेदात् । अस्सिदा आश्रिताः । णिकाया निकायाः समूहाः । आणाए आप्तानामाज्ञाबलात् । यद्यपि च ज्ञानावरणोदयाद्धर्मादेरज्ञाने सति तच्छ्रद्धानं नोत्पद्यते तथापि नासौ मिथ्यादृष्टिर्दर्शनमोहोदयजन्यस्य अश्रद्धानस्य ज्ञातव्यश्रद्धेयविषयस्याभावात् । न हि श्रद्धानस्यानुत्पत्तिरश्रद्धानं किं तर्हि ? श्रद्धानादन्यदिदमित्थमिति श्रुतनिरूपितेऽर्थेऽरुचिः ।

जीवद्रव्यके उपर नियमसे श्रद्धान करना चाहिये इसके विवेचनके लिये उत्तर गाथा आचार्य कहते हैं—

हिंदी अर्थ—इस जगतमें चार गतिमें भ्रमण करनेवाले जीवोंके छह प्रकार हैं. पृथिवी, हवा, पानी, अग्नि, वनस्पति ये पांच स्थावर काय जीव हैं. द्वीन्द्रियादि जीवोंको त्रसकाय जीव कहते हैं. ऐसे छह भेद संसारी जीवके हैं. जिन्होंने ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका नाश करके मुक्ति प्राप्त की हैं वे जीव सिद्ध है. जिनेश्वरकी आज्ञासे इस जीवनिकायपर श्रद्धा करनी चाहिये.

विशेषार्थ—षटकायके जीव संसारमें चार गतियोंमें भ्रमण कर रहे हैं. उनको शुभाशुभ कर्मके उदयसे शुभाशुभ शरीर मिलते हैं तथा नष्ट होते हैं. कभी कभी स्वतःके मनोयोग, वचनयोग और काययोगसे पुण्य कर्मबंध हो गया तो उनको सुख मिलता है. और यदि पापबंध हुवा तो दुःखानुभवमें उनको प्राप्तपर्याय खतम करनी पडती है. त्रसकर्मके उदयसे द्वीन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रियतकके प्राणिओंमें उनका जन्म होता है. और स्थावरकर्मके उदयसे वे पृथिवी, हवा वगैरह प्राणिओंमें जन्म धारण करते हैं. विचित्र मतिज्ञानावरणके उदयसे और उसके क्षयोपशमविशेषसे उनको एकेन्द्रिय, विकलेंद्रिय और पंचेन्द्रियावस्था प्राप्त होती है. पर्याप्ति नाम कर्मके उदयसे यथायोग्य चार, पांच और छह पर्याप्ति प्राप्त होती हैं. यदि अपर्याप्ति नाम कर्मका उदय आवे तो अपर्याप्त बनते हैं. पृथिव्यादि शरीरोंको धारण करनेमें ये सब संसारी जीव चतुर हैं. आयुनाम कर्मरूप बेडीसे जखड जानेसे पराधीन हो गये है. सचित्तयोनि इत्यादि नउ योनियोंसे उत्पन्न हुए शरीरमें इनकी मति आसक्त हो गई है. जरा-वृद्धावस्थारूप डाकिनी इनका रूप और रक्त पीनेमें चतुर रहती है. मृत्युरूपी अनिवारणीय वज्रपातसे

इनका चित्त भययुक्त हो जाता है. ऐसे ये संसारी जीव पृथिवी, हवा, इत्यादि रूपसे छह प्रकारके हैं.

जिनको सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतशक्ति, अव्याबाधता, सूक्ष्मता, अवगाहन, अगुरुलघुता ऐसे आठगुणोंकी प्राप्तिरूपी मुक्ति प्राप्त हो गई है वे सिद्ध जीव हैं.

शंका—जीव धातुका अर्थ प्राणधारण करना है. 'जीवति प्राणान्धारयति इति जीवः' अर्थात् जो इंद्रियादि प्राणोंको धारण करता है वह जीव है ऐसी जीव शब्दकी निरुक्ति है. इंद्रियादिक प्राणोंकी उत्पत्ति कर्मसे होती है. परंतु सिद्धोंको कर्म नहीं है अतः सिद्धोंमें जीवत्व कैसा मानोगे ?

उत्तर—द्रव्य प्राण और भाव प्राण ऐसे प्राणोंके दो भेद हैं. इंद्रियां, आयु श्वासोच्छ्वास और काय बल, मनोबल और वचनबल ये द्रव्यप्राण हैं. ज्ञानदर्शन वगैरह भावप्राण हैं द्रव्यप्राण कर्मसे उत्पन्न होते हैं. वैसे भावप्राण कर्मसे उत्पन्न नहीं होते हैं. कर्मोंका अभाव होनेपर उनका जन्म होता है. सिद्धोंको भावप्राण हैं अतः वे जीव हैं यह सिद्ध हो चुका. अथवा जिन्होंने संसारावस्थामें द्रव्यप्राण धारण किये थे वेही अब सिद्ध बने हैं ऐसे प्रत्यभिज्ञानसे उनमें एकत्वसिद्धि होती है इस लिये एकत्वके आश्रयसे हम सिद्धोंको भी जीव कह सकते हैं. अथवा जीव शब्दकी चेतनावान प्राणीमें रूढी है. अर्थात् जीव यह शब्द रूढि शब्द है. रूढ शब्दमें क्रिया व्युत्पत्तीके लिये ही होती है. इस लिये वह क्रिया वहां नहीं भी हो तो भी उपलक्षणसे ग्रहण किये हुए सामान्यके आश्रयसे उस शब्दकी प्रवृत्ति होती है. जैसे 'गच्छतीति गौः' इस निरुक्तिसे बनाया हुवा भी गोशब्द गमन क्रिया न होनेपर भी अर्थात् बैठी हुई वा खडी हुई गोमें भी प्रवृत्त होता है. क्योंकि अनित्यगमनक्रियासे युक्त गोत्वका गोमें सद्भाव है और गोशब्द उपलक्षणसे गोत्वका वाचक होता है. उसी तरह प्रकृत विषयमें प्राण धारणासे उपलक्षित चैतन्यके आश्रयसे जीव शब्दकी सिद्धोंमें प्रवृत्ति होती है. संसारी और मुक्त ऐसे जीवसमूहोंपर जिनाज्ञासे श्रद्धा करनी चाहिये ऐसा इसका अभिप्राय है. जीवके विषयमें यदि श्रद्धा नहीं हो तो मुक्तिके साधनभूत रत्नत्रयकी प्राप्ति करना और संसारवर्धक मिथ्यात्वादि कारणोंका त्याग करना यह सब प्रयासमात्रही होगा.

यद्यपि धर्मादि द्रव्योंका ज्ञान न होनेसे ज्ञानके साथ होनेवाली श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई तो भी वह सम्यग्दृष्टिही है, मिथ्यादृष्टि नहीं है. क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुवा जो अश्रद्धान जो कि अज्ञानको विषय करता है वह यहां नहीं है. मिथ्यादर्शनसे उत्पन्न हुआ जो अश्रद्धान वह अरुचि रूप है अर्थात्

यह वस्तुस्वरूप इस तरहसे है ऐसा जो आगममें कहा गया है. उस विषयमें अरुचि होना यह मिथ्यादर्शनरूप अश्रद्धान है. और प्रकृत विषयमें ऐसी अश्रद्धा नहीं है. यहां जीवादिकका ज्ञान नहीं है परंतु जिनेश्वरके प्रतिपादित जीवादि तत्त्व सच्चे हैं ऐसी मनमें प्रीति-रुचि उत्पन्न होती है यह विशेषता समझनी चाहिये.

श्रद्धातव्यं प्रकारांतरेणापि निर्देष्टुं उत्तरगाथा—पूर्वं सर्वद्रव्यविषयश्रद्धानमुक्तं, पश्चादतिशयप्रतिपादनार्थं जीवद्रव्यविषया श्रद्धा निरूपिता अनंतरगाथया। इह तु आस्रवादयोऽपि श्रद्धातव्या इति सूच्यते—

आसवसंवरणिज्जरबंधो मुक्खो य पुण्णपावं च ॥

तह एव जिणाणाए सद्दहिदव्वा अपरिसेसा ॥ ३८ ॥

आस्रवं संवरं बंधं निर्जरां मोक्षमंजसा ॥

पुण्यं पापं च सद्दृष्टिः श्रद्धाति जिनाज्ञया ॥ ४१ ॥

विजयोदया—असवसंवरणिज्जर। आस्रवत्यनेनेत्यास्रवः। आस्रवत्यागच्छति जायते कर्मत्वपर्यायः पुद्गलानां येन कारणभूतेनात्मपरिणामेन स परिणाम आस्रवः। ननु कर्मपुद्गलानां नान्यतः आगमनमस्ति यमाकाशप्रदेशमाश्रित आत्मा तत्रैवावस्थिताः पुद्गलाः अनंतप्रदेशिनः कर्मपर्यायं भजन्ते। 'एयखित्तोवगाढ' मिति वचनात् तत् किमुच्यते आगच्छतीति ? न दोषः। आगच्छन्ति ढौकन्ते ज्ञानावरणादिपर्यायमित्येवं ग्रहीतव्यं। न देशान्तरपरिस्पंद इहागमनं विवक्षितं। तेन तत्प्रदोषनिन्हवमात्सर्यान्तरायासादनोपघातादयः जीवपरिणामाः कर्मत्वपरिणतेः पुद्गलानां साधकतमतया विवक्षिताः आस्रवशब्देनोच्यंते। अथवा आस्रवणं कर्मतापरिणतिः पुद्गलानां आस्रव इत्युच्यते। संव्रियते संरुध्यते मिथ्यादर्शनादिः परिणामो येन परिणामांतरेण सम्यग्दर्शनादिना, गुप्त्यादिना वा स संवरः। निर्जीर्यते निरस्यते यया, निर्जरणं वा निर्जरा। आत्मप्रदेशस्थं कर्म निरस्यते यया परिणत्या सा निर्जरा। निर्जरणं पृथग्भवनं विश्लेषणं वा कर्मणां निर्जरा। मोक्ष्यतेऽस्यते येन मोक्षणमात्रं वा मोक्षः। निरवशेषाणि कर्माणि येन परिणामेन क्षायिकज्ञानदर्शनयथाख्यातचारित्रसंज्ञितेन अस्यंते स मोक्षः। विश्लेषो वा समस्तानां कर्मणां। बध्यंते अस्वतंत्रीक्रियन्ते कार्मणद्रव्याणि येन परिणामेन आत्मनः स बंधः। अथवा बध्यते परवशतामापाद्यते आत्मा येन स्थितिपरिणतेन कर्मणा तत्कर्म बंधः। पुण्यं नाम अभिमतस्य प्रापकं। पापं नाम अनभिमतस्य प्रापकं। इह बंधशब्देन जीवपरिणाम एव गृहीतः न कर्म एव, पृथक् पुण्यपापग्रहणात्। ननूक्तेन परिणामेन जीवपुद्गलयोरेवांतर्भाव आस्रवादीनां जीवपुद्गलत्वश्रद्धानस्य पूर्वमुपन्यस्तत्वात् किमर्थमिदं सूत्रमिति नैष दोषः। विनेयाशयवैचित्र्याद्देशनाभेद आगमवाक्येषु। ततः श्रद्धा तत्र सर्वत्र कार्येति चोदितं भवति। अश्रद्धानं न मनागपि कार्यम्।

आश्वासः

१

आस्रवादितत्त्वं जीवपुद्गलयोः पर्यायविशेषत्वात्तच्छ्रद्धेयत्वनिरूपणायां श्रद्धेयतया निरूपितमपि विनेयाशयवैचित्र्यवशात् पृथक् श्रद्धेयतया निर्देष्टुमाह—

मूलारा—आसव–आस्रवन्त्यागच्छन्ति ज्ञानावरणादिकर्मभावं तद्योग्याः अनंतप्रदेशिनः समानदेशस्थाः पुद्गला येन मिथ्यादर्शनादिना तत्प्रदोषनिह्नवादिना वा विघ्नकारणं तेन जीवपरिणामेन स आस्रवः । अथवा आस्रवणमास्रवः । पुद्गलानां कर्मत्वपरिणतिः । तथा चोक्तं—

अत्ता कुणदि सहावं तत्थगदा पुग्गला सहावेहिं ॥
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ॥

संवर—संव्रियते निरुध्यते आस्रवो येन सम्यग्दर्शनादिना, गुप्त्यादिना वा जीवपरिणामेन स संवरः । संवरणं संवरः । ज्ञानावरणादिकर्मयोग्यानां पुद्गलानां तद्भाव—परिणतिनिवारणं । णिज्जर—निर्जीर्यते आत्मप्रदेशादेकदेशेन पृथक् क्रियते कर्म यया जीवपरिणत्या सा । अथवा निर्जरणं निर्जरा । कर्मणामेकदेशेन संक्षयः । बंधो—बध्यंतेऽस्वतंत्रीक्रियंते कर्मद्रव्याणि येन स्थितिपरिणामेन आत्मनः स बंधः । अथवा बध्यते परवशतामापाद्यते आत्मा येन स्थिति परिणामेन कर्मणा तत्कर्म बंधः । यदि वा बंधनं बंध', जीवकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशः । मोक्खो मोक्ष्यंतेऽस्यंते आत्मनः पृथक् क्रियंते समस्तानि कर्माणि येन संपूर्णरत्नत्रयलक्षणेनात्मपरिणामेन स मोक्षः । अथवा मोक्ष्यते विश्लिष्यते जीवो येन नीरसीभूतेन कर्मणा । तच्छादितफलदानसामर्थ्यं कर्म मोक्षः । यदि वा मोक्षणं मोक्षः जीव कर्मणोरात्यंतिको विश्लेषः । पुण्णपावं—पुण्यं सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि अतोऽन्यत्कर्म पापं । पृथगनयोर्ग्रहणादिह बंध शब्देन जीवपरिणाम एव गृहीतो लक्ष्यते । न कर्म नापि बंधनक्रिया । अपरिसेसा समावि ।

श्रद्धाके विषयका विवेचन प्रकारांतरसे आचार्य करते हैं—प्रथमतः सर्व द्रव्य श्रद्धानके विषय कहे हैं. अनंतर महत्त्व दिखानेके लिये जीव द्रव्यकी श्रद्धा करनी चाहिये ऐसा कहा. अब प्रस्तुत गाथामें आस्रवादि तत्त्वोंपर भी श्रद्धा करनी चाहिये ऐसा आचार्य कहते हैं—

हिंदी अर्थ—आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष, पुण्य और पाप ऐसे बाकीके पदार्थोंपर भी जिनभगवानकी आज्ञासे श्रद्धान करना चाहिये.

विशेषार्थ—आत्माके जिस परिणामसे पुद्गलद्रव्य कर्मरूप बनकर आता है उस परिणामको आस्रव कहते हैं. अर्थात् आत्मपरिणाम पुद्गलमें कर्मावस्था उत्पन्न होनेमें निमित्त हुआ अतः आत्मपरिणामको आस्रव-भावास्रव कहते हैं. और पुद्गलकी कर्मरूप परिणतिको द्रव्यास्रव कहते हैं.

शंका - कर्मपुद्गलोंका अन्य स्थानसे आगमन नहीं होता है. जिस आकाशप्रदेशमें आत्मा है उसी आकाशप्रदेशमें अनंतप्रदेशी पुद्गल द्रव्य भी है. और वह कर्मस्वरूप बन जाता है. 'एयक्खित्तोवगाढ' ऐसा कर्मपुद्गलके विषयमें आचार्य वचन कहते हैं अर्थात् कर्म और आत्मा एक प्रदेशावगाही है ऐसा शास्त्र वचन है. इस लिये आप पुद्गलद्रव्य आत्मामें आकर कर्मरूपता धारण करता है ऐसा क्यों कहते हैं ?

उत्तर — आपकी शंका ठीक है यहां पुद्गलद्रव्य आता है इसका अभिप्राय ऐसा समझना चाहिये 'आगच्छति ढौकन्ते ज्ञानावरणादिपर्यायमित्येवं ग्रहीतव्यम्' अर्थात् जीवमें पुद्गल आते हैं—ज्ञानावरणादि पर्यायको प्राप्त होते हैं. ऐसा अभिप्राय यहां समझना चाहिये. देशान्तरसे आकर पुद्गल कर्मावस्था धारण करते हैं ऐसा कहनेका हमारा आशय नहीं है.

अतः प्रदोष, निन्हव मात्सर्यादिक जीवके परिणाम पुद्गलकीकर्मरूप परिणति होनेमें साधकतम है. अर्थात् जीवके मात्सार्यादिक परिणाम होनेसेही पुद्गल कर्मरूप होता है अन्यथा होताही नहीं. जीवपरिणाम करण रूप है. करणरूपपरिणामकी मुख्यता जब मानी जाती है तब उस परिणामकोही आस्रव कहते हैं. अथवा 'आस्रवणं कर्मतापरिणातिः पुद्गलानां आस्रवशब्देनोच्यते' पुद्गलोंकी कर्मरूप परिणतिमें भी आस्रव शब्दका व्यवहार किया जाता है. इसको द्रव्यास्रव कहना चाहिये.

संवर—जिस सम्यग्दर्शनादि परिणामोंसे अथवा गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह जय इत्यादि परिणामोंसे मिथ्यादर्शनादि परिणाम रोके जाते हैं वे रोकनेवाले परिणाम संवर शब्दसे कहे जाते हैं. अर्थात् सम्यग्दर्शनादि परिणाम वा गुप्त्यादिपरिणामोंको आचार्य संवर कहते हैं. उसको ही भाव संवर कहना चाहिये.

निर्जरा—आत्माके जिन परिणामोंसे आत्मासे कर्म झड जाता है उसको निर्जरा कहो. अर्थात् आत्माके प्रदेशोंमें जो कर्मबद्ध हो चुका है वह जिन परिणामोंके द्वारा वहांसे अलग किया जाता है ऐसे परिणामोंका नाम निर्जरा है. अथवा कर्मका आत्मासे अलग हो जाना वह भी निर्जरा है.

मोक्ष—जिससे कर्म दूर किया जाता है वह मोक्ष है अर्थात् क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, यथाख्यात चारित्ररूप जिनपरिणामोंसे आत्माके संपूर्ण कर्म आत्मासे दूर किये जाते हैं उनको मोक्ष-भावमोक्ष कहो अथवा संपूर्ण कर्मोंका आत्मासे अलग हो जाना वह भी मोक्ष अर्थात् द्रव्यमोक्ष है.

बंध -जिन मिथ्यादर्शनादि परिणामोंसे कार्मण द्रव्य परतंत्र किया जाता है अर्थात् जब तक उसकी स्थिति पूर्ण नहीं होती तबतक आत्मामें उसको परतंत्र होकर रहना पडता है ऐसे कर्मको परतंत्र करनेवाले मिथ्यादर्शनादि आत्मपरिणामोंका बंध—भावबंध कहते हैं. अथवा स्थितिबंधयुक्त कर्मकेद्वारा आत्मा परतंत्र किया जाता है इस लिये कर्मको भी बंध कहते हैं. वह कर्म द्रव्यबंधरूप समझना चाहिये.

पुण्य—इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति जिससे होती है ऐसे कर्मको पुण्य कहते हैं.

पाप—अनिष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति जिससे होती है ऐसे कर्मको पाप कहते हैं.

यहां बंध शब्दसे जीवके परिणामोंकाही ग्रहण किया है. कर्मका ग्रहण किया नहीं है. पाप और पुण्यका अलग ग्रहण किया है अतः उससे कर्मका ग्रहण किया है ऐसा समझना चाहिये.

शंका—आपने परिणामोंका वर्णन किया है इससे आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष इनका जीव व पुद्गलोंमें अंतर्भाव होता है. जीव और पुद्गलका पूर्व गाथामें आपने वर्णन किया है. अतः आस्रवादिकोंका वर्णन करनेवाली यह सूत्रगाथा व्यर्थसी मालूम पडती है.

उत्तर—आपकी शंका ठीक है. शिष्योंके अभिप्राय भिन्न भिन्न हुवा करते हैं अर्थात् कोइ संक्षेपरुचि रहते हैं, किसीको विस्तार प्रिय रहता है और कोइ शिष्य मध्यप्रकारप्रिय होते हैं. अतः वे समझ सके ऐसे मार्गोका-तत्व कथनकी प्रणालीका आगममें कथन है. इस लिये आचार्यने दो तीन प्रकारोंसे जीवादि पदार्थोंका स्वरूप कहा है. यह योग्यही हुवा है. इसलिये भव्योंने तत्व विवेचनके सर्व प्रकारोंमें श्रद्धा करनी चाहिये. थोडीसी भी अश्रद्धा नहीं करना चाहिये.

मिथ्यादृष्टिता किमल्पस्य अश्रद्धानेन भवति ? बहुतरं श्रद्धीयते इत्याशंका न कार्यत्येतदाचष्टे—

पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्दिट्ठं ॥
सेसं रोचंतो वि हु मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ ३९॥

नैकमप्यक्षरं येन रोच्यते तत्त्वदर्शितम् ॥
स शेषं रोचमानोऽपि मिथ्यादृष्टिरसंशयम् ॥ ४२ ॥

विजयोदया--पदमक्खरं इति । पदशब्देन पदशब्दस्य सहकारी पदस्यार्थ उच्यते । अक्खरं च इति स्वल्पशब्दोपलक्षणं स्वल्पमप्यर्थं शब्दश्रुतं वा । जो यः । ण रोचेदि न रोचते । सुत्तणिद्दिट्ठं पूर्वोक्तप्रमाणनिर्दिष्टम् । सेसं इतरश्रुतार्थं श्रुतांशं । रोचंतोऽपि । मिच्छादिट्ठी मिथ्यादृष्टिरिति । मुणेदव्वो ज्ञातव्यः । महति कुंडे स्थितं यद्यपि पयो यथा विषकणिका दूषयति । एवमश्रद्धानकणिका मलिनयत्यात्मनमिति भावः ।

बहुतरं श्रद्दधतोऽल्पस्याश्रद्धाने किं मे मिथ्यादृष्टित्व स्यादित्याशा न कार्या, बृहत्कुण्डसंभृतक्षीरस्य विषकणिकाप्रक्षेपेणेव तत्त्वाश्रद्धानकणिकयाप्यात्मनो दूष्यत्वादिति शिक्षां प्रयच्छन्नाह--

मूलारा:--पदं, पदस्यार्थं साहचर्यात् । अक्खरं स्वल्पमप्यर्थं शब्दश्रुतं वा ।

हम बहुतोंपर श्रद्धा करते हैं और थोडेकी अश्रद्धा करते हैं तो हम मिथ्यादृष्टि कैसे होंगे ऐसी शंका नहीं करना चाहिये. इसका खुलासा आचार्य करते हैं--

हिंदी अर्थ--सूत्रमें कहा हुवा एक पदका अर्थ और एक अक्षरका भी अर्थ जो प्रमाण भूत मान कर श्रद्धा नहीं करता है वह बाकीके श्रुतार्थको या श्रुतांशको प्रमाण मानता हुवा भी मिथ्यादृष्टिही है ऐसा समझना चाहिये. बडे पात्रमें रक्खे हुए बहुत दूधको भी छोटीसी विषकणिका बिगाडती है. इसी तरह अश्रद्धाका छोटासा अंश भी आत्माको मलिन करता है ऐसा समझना चाहिये.

मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यमित्युक्तं स एव न ज्ञायते एवंस्वरूप इत्याशंकायां मिथ्यादृष्टिस्वरूपनिरूपणार्था गाथा--

मोहोदयेण जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ॥
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं अणुवइट्ठं वा ॥ ४० ॥

मोहोदयाकुलस्तत्त्वं तथ्यमुक्तं न रोचते ॥
१ जंतुरुक्तमनुक्तं वा विपरीतं तु रोचते ॥ ४३ ॥

विजयोदया—मोहोदयेणेति । मोहोदयेण ण सद्दहदि सो मिच्छादिट्ठीति । मोहयति मुह्यतेऽनेनेति वा मोहो दर्शनमोहनीयाख्यं कर्म मद्येन तुल्यवीर्यम् । यथा मद्यमासेव्यमानं अपाटवं प्रज्ञाया वैपरीत्यं च संपादयति।

मिथ्यादृष्टेः किं लक्षणमित्याह—

मूलाराः—मोहोदयेण—मद्यमिव प्रज्ञां मोहयति, अपाटवं वैपरीत्यं वा यो नयति, मोह्यते येन वा स मोहो मिथ्यात्वकर्म तस्योदयः सहकारिसान्निध्यादप्रतिबद्धा स्वकार्ये प्रवृत्तिः । पवयणं वस्तुयाथात्म्यं । असब्भावं अतत्त्वं । अत्र साध्याहारत्वात्सूत्राणामित्थं पदघटना । यो जीवो मोहोदयेन कारणेन सम्यग्गुरूपदिष्टं न श्रद्धत्ते सद्भावं पुनः उपदिष्टमनुपदिष्टं वा श्रद्धाति स मिथ्यादृष्टिरेष्टव्यः । तथा च मूले सूक्तमन्वाख्यायते—

मिच्छत्तं वेदन्तो जीवो विवरीयदंसणो होदि ॥
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥

' मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वा ' अर्थात् अल्पभी अश्रद्धा करनेवाला मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये ऐसा आपने कहा है परंतु उसका स्वरूप हमको मालूम नहीं है ऐसी आशंका होनेपर आचार्य मिथ्यादृष्टिका स्वरूपनिरूपण करनेके लिये गाथा कहते हैं—

हिंदी अर्थ—दर्शन मोहनीयकर्मका उदय होनेसे यह जीव कहे हुए जीवादि पदार्थोंके सच्चे स्वरूपपर श्रद्धान करता नहीं है. परंतु जिसका स्वरूप कहा है अथवा कहा नहीं ऐसे असत्य पदार्थोंके ऊपर वह श्रद्धान करता है. जैसे मदिराका पान करनेसे मनुष्यके बुद्धीमें मंदता आती है और वह पदार्थका स्वरूप उलटा जान लेता है वैसे यह दर्शनमोहनीयकर्म भी मदिराके समान शक्तिको धारण करता है. यह कर्म आत्माको मोहयुक्त करता है. इसलिये असत्य पदार्थोंको वह सत्य समझकर उसमें श्रद्धा करता है. अथवा पदार्थका स्वरूप जानता नहीं है.

१ रापुस्तके—मोहोदयेणेति—साध्याहारत्वात्सूत्राणां अध्याहारेणैवं पदघटना । जो जीवो इति ।

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि ॥
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥ ४१ ॥

मिथ्यात्वं वेदयन्नंगी न तत्त्वे कुरुते रुचिम् ॥
कस्मै पित्तज्वरार्त्ताय रोचते मधुरो रसः ? ॥ ४४ ॥

विजयोदया—एवं मिथ्यात्वस्य कर्मत्वकल्पितस्य उदयः सन्निहितसहकारिकारणस्य स्वकार्यजनने प्रतिपन्नवृत्तिस्तेनोदयेन कारणेन निरूपितं वस्तुयाथात्म्यं न श्रद्धत्ते अतत्त्वं तु कथितं अकथितं वा श्रद्धत्ते । वस्तुयाथात्म्याश्रद्धाने को दोषो येन कारणेन निरूपितं वस्तुयाथात्म्यं न श्रद्धत्ते । अतत्त्वं तु कथितं अकथितं वा श्रद्धत्ते ।

हिंदी अर्थ—मिथ्यात्व कर्मका अनुभव लेनेवाला यह जीव विपरीत श्रद्धावाला बन जाता है. उसको जैनधर्मका स्वरूप अच्छा मालूम नहीं होता है. जैसे ज्वरपीडित मनुष्यको मधुर भी खांडका रस कडु ज्ञात होता है. जब सहकारिकारणोंकी मदत मिथ्यात्व कर्मको मिलती है तब वह अपना कार्य करनेमें कटिबद्ध होता है. अर्थात् वस्तुका यथार्थ स्वरूप बतानेपर भी जीव इस कर्मके उदयसे उसपर श्रद्धान नहीं करता है. और अतत्त्वके ऊपर उसका स्वरूप कहो अथवा न कहो श्रद्धा हो जाती है. वस्तुके यथार्थ स्वरूप पर अश्रद्धा होनेसे अतत्त्वमें श्रद्धा हो जाती है-यह दोष उत्पन्न होता है.

वस्तुयाथात्म्याश्रद्धाने को दोषो येन तत्प्रतिपक्षश्रद्धानभावनाया तदपास्यते इत्याशंकायां अश्रद्धानकृतदोषमाहात्म्यस्थापनार्थो गाथा—

सुविहियमिमं पवयणं असद्दहन्तेणिमेण जीवेण ॥
बालमरणाणि तीदे मदाणि काले अणंताणि ॥ ४२ ॥

अनेनाश्रद्दधानेन जिनवाक्यमनेकशः ॥
बालबालमृतिः प्राप्ताः कालेऽतीते (यतोऽङ्गिना) ॥ ४५ ॥

विजयोदया—सुविहिदमिति । सुष्ठु विहितं कृतं पूर्वापरविरोधदोषरहितवस्तुयाथात्म्यग्राहिविज्ञानकारणं । इमं इदं । पवयणं प्रवचनं । असद्दहंतेण अश्रद्दधानेन । इमेण अनेन । जीवेण जीवेन । एवमत्र पदसंबंधः । बालमरणाणि

अनंतानि मदानि तीदे काले इति । बालमरणान्यनंतानि अतीतकाले मृतानि । ननु मिथ्यादृष्टेर्मरणं बालबालमरणं तत्कि-मुच्यते बालमरणानीति । बालत्वं नाम सामान्यं बालबालेऽपि विद्यते इति बालमरणानीत्युक्तं ।

तत्त्वाश्रद्धाने को दोषो येन तत्सम्यक्त्वभावनया निरस्यते इत्यत्राह—

मूलारा–सुविहिदं—दृष्टेष्टाविरुद्धं पूर्वापरविरोधरहितं वा । केचित्तु सुविहिद इति पठंति । हे सुचरित्र इति व्याख्यानयंति च । इमं इदं गुरुपर्वक्रमायातं । इमिणा अनेन स्वसंवेदनसिद्धेन । बालमरणानि बालबालमरणानि बालत्वसामान्यस्य बालबालेऽपि विद्यमानत्वात् । तीदे अतीते । मदाणि मृतानि प्राप्तानि धातूनामनेकार्थत्वात् ।

वस्तुके यथार्थ स्वरूपमें श्रद्धा न करनेसे कौनसा दोष उत्पन्न होता है. कि जिसको यथार्थ श्रद्धान की भावनाके द्वारा दूर करना पडता है. ? ऐसी शंका होनेपर अश्रद्धानसे उत्पन्न हुए दोषका माहात्म्य वर्णन करनेके लिये उत्तर गाथा कहते हैं—

हिंदी अर्थ—यह जिनागम पूर्वापरविरोधादिदोषरहित है. और वस्तुके यथार्थस्वरूपका ग्रहण करनेवाले ज्ञानको उत्पन्न करता है. परंतु ऐसे आगमके ऊपर अश्रद्धान करनेसे इस जीवने अतीत कालमें–भूतकालमें अनंत बालबालमरण किये हैं. शंका–मिथ्यादृष्टीके मरणको बालबालमरण कहते हैं और आप उसके मरणको बालमरण कहते हैं.

उत्तर—बालत्व नामका सामान्य धर्म बालबालमरणमें भी विद्यमान है इसलिये उसको बालमरण कहते हैं.

कीदृशी तर्हि मतिः कार्या संसारभीरुणा—

णिग्गंथं पव्वयणं इणमेव अणुत्तरं सुपरिसुद्धं ॥
इणमेव मोक्खमग्गोत्ति मदी कायव्विया तम्हा ॥ ४३ ॥

इदमेव वचो जैनमनुत्तममकल्मषम् ॥
निर्ग्रंथं मोक्षवर्त्मेति विधेया धिषणा ततः ॥ ४६ ॥

विजयोदया—णिग्गंथं पव्वयणं । ग्रथ्नंति रचयन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रंथाः । मिथ्यादर्शनं, मिथ्या-

ज्ञानं, असंयमः, कषायाः, अशुभयोगत्रयं चेत्यमी परिणामाः । मिथ्यादर्शनान्निष्क्रान्तं किं सम्यग्दर्शनं । मिथ्याज्ञानान्निष्क्रांतं सम्यग्ज्ञानम् । असंयमात्कषायेभ्योऽशुभयोगत्रयाच्च निष्क्रान्तं सुचारित्रं तेन तत्त्रयमिह निर्ग्रंथशब्देन भण्यते । पवयणं प्रवचनस्येदं अभिधेयं । इणमेव इदमेव अणुत्तरं न विद्यते उत्तरं उत्कृष्टमस्मादिति अनुत्तरम् । सुपरिशुद्धं सुष्टु परिशुद्धं । इणमेव इदमेव । मोक्खमग्गोत्ति कर्मणां निरवशेषापायस्योपाय इति । मदी बुद्धिः । कायव्विया कर्तव्या । तम्हा तस्मात् । यस्मादेवंभूतायामसत्यां मत्यां दुःखमरणप्राप्तिरतीतकाल इव भविष्यत्यपि काले भविष्यतीति ।

भगवन्यद्येवं तर्हि संसारभीरुणानेन कीदृशी मतिः कर्तव्येत्यत्राह —

मूलारा—णिग्गंथमित्यादि—ग्रथ्नंति रचयंति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रंथा मिथ्यादर्शनादयः । तत्र मिथ्यादर्शना न्निष्क्रान्तं सम्यग्दर्शनं, मिथ्याज्ञानात्सम्यग्ज्ञानं, असंयमकषायाशुभयोगेभ्यश्च सम्यक्चारित्रं इति । रत्नत्रयमत्र निर्ग्रंथ शब्देनोच्यते ॥ पावयणं—प्रावचनं प्रवचनस्य जिनागमस्य अभिधेयं केवलिप्रज्ञप्तमित्यर्थः । अन्ये तु निःसंगं प्रवचनमिति प्राधान्येन व्याचक्षते । इणमेव सुपरिसुद्धं इदमेव सुष्टु समन्तान्निर्दोषं सत् । अणुत्तरं लोकोत्तमं । ' केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगोत्तमो, इति वचनात् । मदी मतिरभ्युपगमः । कादव्विया कर्तव्या । तम्हा तस्मात् । यत एवंविधां मतिं कुर्वता अनेन जीवेन दुःखैकमये भवार्णवे अनादिकालं भ्रान्तमिति भावः ।

संसारसे डरनेवाले मनुष्यको अपने मनमें कैसे विचार करने चाहिये इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

हिंदी अर्थ—जो संसारको गूंथते हैं अर्थात् जो संसारकी रचना करते हैं, जो संसारको दीर्घकाल तक रहनेवाला करते हैं उनको ग्रंथ कहना चाहिये. मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान. असंयम, कषाय, अशुभ योगत्रय अर्थात् अशुभ मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन परिणामोंको आचार्य ग्रंथ ऐसा नाम देते हैं. मिथ्याश्रद्धा जब हट जाती है तब सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है. मिथ्याज्ञान नष्ट हो जानेसे सम्यग्ज्ञान पैदा होता है. असंयम, कषाय और अशुभ तीन योग इनसे रहित जो चारित्र उसको सम्यक्चारित्र कहते हैं. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको अर्थात् रत्नत्रयको आचार्य निर्ग्रन्थ यह संज्ञा देते हैं. यह निर्ग्रन्थ ही अर्थात् रत्नत्रय ही जगतमें सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है. इससे भी उत्कृष्ट पदार्थ दूसरा कोई भी नहीं है. यह पदार्थ पूर्ण निर्दोष है. यही मोक्ष है. अर्थात् इससे ही संपूर्ण कर्मोंका नाश होगा. ऐसा मनमें सदा विचार करना चाहिये. इस तरहका वि—

यदि न हो तो जैसे भूतकालमें जन्ममरणके दुःख इस जीवको भोगने पडे थे ऐसे ही दुःख भविष्यत्कालमें भी अवश्य भोगने पडेंगे.

तच सम्यक्त्वं निरतिचारं गुणोज्ज्वलितं भावनीयं इत्येतदाचष्टे उत्तरप्रबंधेन तथातिचारनिवेदनार्थोत्तरगाथा—

सम्मत्तादीचारा संका कंखा तहेव विदिगिंछा ॥
परदिट्ठीण पसंसा अणायदणसेवणा चेव ॥ ४४ ॥

शंकाकांक्षाचिकित्सान्यदृष्टिशंसनसंस्तवाः ॥
सदाचारैरतिचाराः सम्यक्त्वस्य निवेदिताः ॥ ४७ ॥

विजयोदया—सम्मत्तादीचारा श्रद्धानस्य दोषाः । संका शंका, संशयप्रत्ययः किं स्विदित्यनवधारणात्मकः । स च निश्चयप्रत्ययार्थयं दर्शनं मलिनयति । ननु सति सम्यक्त्वे तदतिचारो युज्यते । संशयश्च मिथ्यात्वमावहति । तथाहि मिथ्यात्वभेदेषु संशयोऽपि गणितः ।

'संसइदमभिग्गहिदं अणभिग्गहिदं च तं तिविधं' इति । सत्यपि संशये सम्यग्दर्शनमस्त्येवेति अतिचारता युक्ता । कथं ? श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषाभावात्, उपदेष्टुरभावात्, तस्य वा वचननिपुणता नास्ति, तन्निर्णयकारिश्रुतवचनानुपलब्धेः, अभावाद्वा, काललब्धेरभावाद्वा यदि नाम निर्णयो नोपजायते । तथापि तु इदं यथा सर्वविदा उपलब्धं तथैवेति श्रद्धेहमिति भावयतः कथं सम्यक्त्वहानिः ? एवंभूतश्रद्धारहितस्य को वेति किमत्र तत्वमिति अदृष्टेषु कपिलादिषु सर्वज्ञतैव दुरवधारा, अयमेव सर्वविदेतर इति आगमशरणतायां को वस्तुयाथात्म्यानुसारी को वा नेति संशय एवेति यत्तत्त्वाश्रद्धानं संशयप्रत्ययोपनीतत्वात्तत्संशयमिथ्यात्वमित्युच्यते । अश्रद्धानरूपतैव लक्षणं मिथ्यात्वस्य यथा वक्ष्यति 'तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होदि अत्थाण' मिति । अन्यथा मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनस्य च भेदो न भवेद्, भेदश्च स्फुटो वाक्यांतरे 'मिच्छाणाणमिच्छादंसण मिच्छाचारित्तादो पडिविरदोमीति' । किं च छद्मस्थानां रज्जूरगस्थाणुपुरुषादिषु किमियं रज्जूरुरगः, स्थाणुः पुरुषो वा किमित्यनेकः संशयप्रत्ययो जायते इति ते सम्यग्दृष्टयः स्युः ।

कांक्षा गार्द्ध्यं आसक्तिः, सा च दर्शनस्य मलं । यद्येवं आहारे कांक्षा, स्त्रीवस्त्रगंधमाल्यालंकारादिषु वाऽसंयतसम्यग्दृष्टेर्विरताविरतस्य वा भवति । यथा प्रमत्तसंयतस्य परीषहाकुलस्य भक्ष्यपानादिषु कांक्षा संभवतीति सातिचारदर्शनता स्यात् । तथा भव्यानां सुखकांक्षा अस्त्येवेत्यत्रोच्यते न कांक्षामात्रमतीचारः किं तु दर्शनाद्व्रताद्दानादेवपूजायास्तपसश्च जातेन पुण्येन ममेदं कुलं, रूपं, वित्तं, स्त्री-पुत्रादिकं, शत्रुमर्दनं, स्त्रीत्वं, पुंस्त्वं वा सातिशयं स्यादिति कांक्षा इह गृहीता एषा अतिचारो दर्शनस्य ।

विचिकित्सा जुगुप्सा मिथ्यात्वासंयमादिषु जुगुप्सायाः प्रवृत्तिरतिचारः स्यादिति चेत् इहापि नियतविषया जुगुप्सेति मतातिचारत्वेन। रत्नत्रयाणामन्यतमे तद्वति वा कोपादिनिमित्ता जुगुप्सा इह गृहीता। ततस्तस्य दर्शनं, ज्ञानं, चरणं वाऽशोभनमिति। यस्य हि इदं भद्रं इति श्रद्धानं स तस्य जुगुप्सां करोति। ततो रत्नत्रयमाहात्म्यारुचिर्युज्यतेऽतिचारः।

परदिट्ठीण पसंसा परशब्दोऽनेकार्थवाची। नापरो ग्रामः पाटलिपुत्रादित्यादौ। तथा क्वचिदन्यार्थे, परे आचार्या अन्ये इत्यर्थः। तथा इष्टार्थे, परं धाम गतः इष्टमिति यावत्। इह तु अन्यवाची। दृष्टिः श्रद्धा रुचिः परा अन्या दृष्टिः श्रद्धा येषां ते परदृष्टयः। तत्त्वदृष्ट्यपेक्षाया अतत्त्वदृष्टिरन्या तेषां प्रशंसा स्तुतिः।

अणायदणसेवणा चेव-अनायतनं षड्विधं मिथ्यात्वं, मिथ्यादृष्टय, मिथ्याज्ञानं, तद्वन्तः, मिथ्याचारित्र मिथ्याचारित्रवन्त इति तत्र मिथ्यात्वमश्रद्धानं तत्सेवायां मिथ्यादृष्टिरेवासौ नातिचारता। मिथ्यादृष्टीनां तु सेवा बहु मननं तेषां। मिथ्याज्ञानसेवा नाम निरपेक्षनयदर्शनोपदेश इदमेव तत्वमिति श्रद्धानमुत्पादयामि श्रोतॄणामिति क्रियमाणो मिथ्याज्ञानिभिः सह संवासः। तत्र अनुरागो वा तदनुवृत्तिर्वा तत्सेवा। मिथ्याचारित्रं नाम मिथ्याज्ञानिनामाचरणं तत्रानुवृत्तिर्द्रव्यलाभाद्यपेक्षया द्रव्यालाभोचितपु वा सांगत्यादिकं एतेषां सम्यक्त्वातिचाराणां वर्जनं।

एवं उत्पन्नं सम्यक्त्वमतिचारपरिहारेण भाव्यमानं महात्म्यं लभते इति सम्यक्त्वातिचारान्निर्दिशति —

मूलारा— शंका — संशयप्रत्ययः किं स्विदित्यनवधारणात्मकः। स चेह ज्ञानावरणकर्मोदयमात्रप्रवृत्तो विवक्षितो, न मिथ्यात्वकर्मोदयनिमित्तस्तस्यैव निश्चयप्रत्ययाश्रयं दर्शनं प्रति महत्वोपपत्तेर्नेतरस्य। तस्य सद्दर्शनोपमर्दनात्मक मिथ्यादर्शनविकल्पात्मकत्वेनाग्रे वक्ष्यमाणत्वात्। तथाहि—इदं वस्तुजातं सर्वज्ञेन यथादृष्टं तथैवेति प्रतिपाद्यमानस्यैव यदा स्वस्य श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषाभावात्, उपदेशकविरहात्तस्य वा सतोऽपि वचनचातुर्यवैधुर्यान्निर्णयकारि श्रुतवचनानुपलब्धेर्वा, काललब्धेरभावाद्वा किमिदमीदृशं वा अन्यदन्यार्थं वा तत्त्वमिति संशयः स्यात्तदा दर्शनस्यातिचारः शंकेति व्यपदिश्यते। यदा पुनरदृष्टेषु सर्वज्ञतैव दुरवधारा अयमेव सर्वज्ञो नेतर इति आगमशरणतायामपि आगमेषु को वस्तुयाथात्म्यानुसारी को वा नेति मिथ्यात्वकर्मपाकपारतंत्र्यात्संशयमभिनिवेशमानस्य तत्त्वाश्रद्धानमुदेति। तदा संशयप्रत्ययोपनीतत्वात्तत्संशयमिथ्यात्वमित्युच्यते। न च संशयोऽस्तीत्येतावतैव दर्शनस्यातीचारो धाच्यः ? किं तर्हि प्रवचन गोचरायां चलन्त्यां प्रतीतौ सत्यामन्यथा छद्मस्थानां समदृष्टीनां रज्जूरगस्थाणुपुरुषादिषु किमयं रज्जुरुत सर्पः, स्थाणुः पुरुषो वा किमित्यनेकः संशयप्रत्ययो जायते। इति निःशंकत्वं सुदुष्करं स्यात्। तथा अत्राणभयमपि शंकां केचिदाहुः।

तथा चोक्तम्—अहमेको न मे कश्चिदस्ति त्राता जगत्त्रये ॥

इति व्याधिव्रजोत्क्रान्तिभीतिं शङ्का विदुः पराम् ॥ १ ॥

कांक्षा आकांक्षा । सा चेह प्रतिनियतविषयैव ग्राह्या । न तु सार्वत्रिकी, अन्यथा असंयतसम्यग्दृष्ट्यादेरपि स्त्रीस्रगलंकारभक्तपानादिकमभिलषत सम्यक्त्वमालिन्यमनुषज्येत । ततो दर्शनव्रतदानदेवार्चनतपोजनितपुण्यमाहात्म्यात्तुच्छं, रूपं, वित्तं, स्त्रीपुत्रादिकं, शत्रूपमर्दनं, स्त्रीत्वं, पुंस्त्वं वा सातिशयं मे भूयादित्याशंसनं दर्शनस्य मलः स्यात् इति मंतव्यम् ।

विचिकित्सा—विचिकित्सा जुगुप्सा । सापि चेह सम्यक्त्वादीनामन्यतमे तद्वति वा कोपादिनिमित्ता न सार्वत्रिकी, इतरथा मिथ्यात्वासंयमादिजुगुप्सायां प्रवर्तमानानां सम्यग्दृष्टीनां सकलं कुदर्शनत्वं स्याचतो न वस्य दर्शनं, ज्ञानं, चरणं वा शोभनं, तद्वानभद्रक इति च द्वेषपूर्विका मनोवृत्तिर्विचिकित्साख्यो दर्शनदोष एषितव्यः ॥

परदृष्टीन परा तत्त्वगोचराया दृष्टेरन्या अतत्त्वगोचरा दृष्टि श्रद्धानं येषा ते परदृष्टयः मीमांसकतापससांख्यसौगतादय. । अथवा परा अनेकान्तदृष्टेरन्या दृष्टय एकान्तदृष्टय परसमया वेदन्यायशास्त्रादयः । प्रशंसा स्तुतिर्मनोव्यापारैः सत्कारः ।

अनायतनसेवना—आयतनं सम्यग्दर्शनादिगुणोद्योतनाधारमं तन्वति पृथक् कुर्वन्ति इति आयतनानि सम्यग्दर्शनादीनि त्रीणि । तद्वन्तश्च त्रयस्तेभ्योऽन्यानि अनायतनानि षट्—मिथ्यात्वं, मिथ्याज्ञानं, मिथ्याचारित्रं, मिथ्यादृष्टि मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्री चेति । तत्सेवा तत्र मिथ्यात्वस्य सेवा तत्परिणामयोग्यद्रव्याद्युपयोगः, तां च कुर्वन् सम्यक्त्वं निर्मूलयिष्यतीति द्रव्यतो मिथ्यादृष्टिरेवासौ इति कथं न सम्यक्त्वातिचारवान् । अतीत्य चरणं ह्यतिचारो माहात्म्यापकर्षोऽशतो विनाशो वा । श्रीविजयाचार्यस्तु मिथ्यात्वसेवामतिचारं नेच्छति । तथा च तद्ग्रन्थो " मिथ्यात्वमश्रद्धानं तत्सेवाया मिथ्यादृष्टिरेवासाविति नातिचारता" इति । मिथ्यादृष्टिसेवा नाम एकान्तग्रहरक्तानां बहुमननं । मिथ्याज्ञानसेवनं पुनरिदमेव तत्त्वमिति श्रद्धानमुत्पादयामि श्रोतॄणामिति क्रियमाणो निरपेक्षनयदर्शनोपदेशः । मिथ्याज्ञानिसेवा मिथ्याज्ञानिभि. सह संवासस्तत्रानुरागस्तत्रानुवृत्तिर्वा । मिथ्याचारित्रसेवा द्रव्यलाभाद्यपेक्षया मिथ्याज्ञानिनामाचरणस्यानुवर्तनं मिथ्याचारित्रिसेवा पंचाग्निसाधकादिषु संगत्यादिकं, एताः पंच सम्यक्त्वातिचाराः शंकादयः पंच त्याज्याः । सम्यक्त्वाराधकैरिति सम्बंध. सामर्थ्यात्सिद्धो बोद्धव्यः ।

सम्यग्दर्शन निरतिचार और गुणोंसे उज्ज्वल करनेका अभ्यास करना चाहिये. इसका आचार्य विस्तारसे वर्णन करते हैं. प्रथमतः सम्यग्दर्शनके अतिचारोंका वर्णन करते हैं.—

हिंदी अर्थ—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परदृष्टिप्रशंसा व अनायतनसेवन ऐसे सम्यक्त्वके पांच अतिचार हैं.

विशेषार्थ—वस्तुका स्वरूप यह है अथवा यह है ऐसा अनिश्चयात्मक जो ज्ञान उसको शंका कहते हैं. यह शंका निश्चयज्ञानका आश्रय करनेवाले सम्यक्त्वको मलिन करती है.

शंका—यदि सम्यग्दर्शन हो तो उसका शंका अतिचार मानना योग्य है. परंतु संशय मिथ्यापनाको धारण करता है अर्थात् संशय स्वयं मिथ्यात्व ही है. मिथ्यात्वोंके भेदोंमें आचार्योंने संशयकी भी गणना की है. ' संशयित, अभिग्रहित और अनभिग्रहित ऐसे मिथ्यात्वके तीन भेद हैं, ' ऐसे आगममें उल्लेख पाये जाते हैं.

उत्तर—आपका कहना ठीक है. संशयके सद्भावमें भी सम्यक्त्व रहताही है. अतएव संशयको अतिचार-पना मानना युक्तियुक्त है. इसका स्पष्टीकरण ऐसा है–अपनेमें श्रुतज्ञानावरणीय कर्मका विशिष्टक्षयोपशम न होना, विद्वान् उपदेशकका अभाव रहना, अथवा उपदेशक होकर भी उसमें वचनचातुर्यका अभाव रहना, संशय दूर करनेवाले आगमके वचन न मिलना, अथवा उसका अभाव रहना, काललब्धिकी प्राप्ति न होना इत्यादि कारणोंसे वस्तुस्वरूपका निर्णय नहीं होता है. तो भी जैसा सर्वज्ञ जिनेश्वरने वस्तुस्वरुप जाना है वह वैसाही है ऐसी मैं श्रद्धा रखता हूं ऐसी भावना करनेवाले भव्यके सम्यक्त्वकी हानि कैसी होगी अर्थात् शंका नामके अतिचारसे उसका सम्यग्दर्शन समल होगा परंतु नष्ट न होगा.

उपर्युक्त श्रद्धामें जो रहित है वह हमेशा संशयाकुलही रहता है. वास्तविक तत्त्वस्वरूप क्या है ? उसको कौन जानता है कुछ निर्णय कर नहीं सकते ऐसी उसकी मति रहती है. कपिल, बुद्ध वगैरे सर्वज्ञ थे इसका निर्णय नहीं होता है. यदि अर्हन् सर्वज्ञ होता है कपिलादि सर्वज्ञ नहीं होते है ऐसा मानकर आगमके द्वारा निर्णय मानना भी वह संशयमिथ्यात्वी कबूल नहीं करता है. कौनसा आगम वस्तुके यथार्थस्वरूपका प्रतिपादन करता है और कौनसा नहीं यह भी निर्णीत नहीं है अर्थात् आगमके विषयमें भी संशय है ऐसा संशयमिथ्यात्वी कहेगा. इसलिये उसकी तत्त्वके ऊपर अश्रद्धा संशयज्ञानसे सहित होनेसे वह संशय मिथ्यात्वही है. तत्त्वोंके उपर अश्रद्धान होना यह

मिथ्यात्वका लक्षण है इसका आगे आचार्य विवेचन करेंगे. इस संशयमिथ्यात्वमें सच्चे तत्त्वके प्रति अरुचि भाव रहता है. यह मिथ्यात्व मिथ्याज्ञानसे भिन्न वस्तु है. ' मिच्छाणाण मिच्छादंसण मिच्छाचारित्तादो पडिविरदो मीति ' अर्थात् मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र इनसे मैं विरक्त हुवा हूं, इस वाक्यसे मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन ये भिन्न चीजें हैं ऐसा सिद्ध होता है.

छद्मस्थोंको भी दोरी, सर्प, खुंट, मनुष्य इत्यादि पदार्थोंमें यह रज्जू है ? या सर्प है ? यह खूट है या मनुष्य है इत्यादि अनेक प्रकारका संशय उत्पन्न होता है. तो भी वे सम्यग्दृष्टि ही है. इतने विवेचनका सारांश यहां ऐसा समझना चाहिये—

मिथ्यात्व कर्मके उदयसे सर्वत्र संशयरूपही तत्वोंमें अरुचि पैदा होती है; इस अरुचिको संशयज्ञानका सहाय मिलता है इसलिये इसको संशयमिथ्यात्व कहते हैं. आगमकथित जीवादिक पदार्थोंमें ज्ञानावरणकर्मके उदयसे और सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयसे जो यह वस्तु स्वरूप है या यह है ऐसी जो चंचल मति होती है उसको शंका अतिचार कहते हैं यह अतिचार सम्यग्दर्शनको मलिन बनाता है इस लिये यह अतिचार है. दोरी, साप, पुरुष, ख्ूट इत्यादिकोंमें जो संशय होता है वह यदि अतिचाररूप माना जावेगा तो सम्यग्दर्शनका निःशंकितांगही दुर्लभ हो जायगा.

कांक्षा—इष्ट पदार्थोंपर जो आसक्ती अथवा लंपटता होती है उसको कांक्षा कहते हैं. यह कांक्षा सम्यग्दर्शनका अतिचार है.

शंका—यदि कांक्षाको अतिचार कहते हो तो आहारमें अभिलाषा उत्पन्न होती है. स्त्री, वस्त्र, अत्तर, पुष्पहार, अलंकारादिकोंमें असंयत सम्यग्दृष्टिको और विरताविरत अर्थात् अहिंसाद्यणुव्रत पालनेवालोंको अभिलाषा उत्पन्न होती है. छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनीकोभी जब वे क्षुधादि परीषहोंसे व्याकुल होते हैं तब आहारमें, पेयपदार्थोंमें अभिलाषा उत्पन्न होती है. इसलिये उनके सम्यग्दर्शनमें भी यह अतिचार उत्पन्न होगा. सभी भव्योंको सुखोंकी इच्छा रहेगी ही अतः इच्छाको अतिचार मानना युक्तियुक्त है नहीं.

उत्तर केवल इच्छाको अतीचार हम भी मानते नहीं. किंतु इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे, दानके सामर्थ्यसे, देवपूजा और तपश्चरणके शक्तीसे मेरेको जो पुण्य उत्पन्न हुवा है उससे कुल, रूप, ऐश्वर्य, स्त्री पुत्रादिक,

शत्रुका नाश, ऐसे सर्वोत्कृष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति हो. सातिशय स्त्रीपना, माहात्म्ययुक्त पुरुषपना मेरेको प्राप्त हो ऐसी अभिलाषा रखना सम्यग्दर्शनका अतिचार है ऐसा यहां समझना.

विचिकित्सा – जुगुप्सा, तिरस्कार इनको यदि अतिचार कहोगे तो मिथ्यात्व, असंयम इत्यादिकोंमें जुगुप्सा–तिरस्कार होता है वह भी अतिचार है ऐसा मानना पडेगा.

उत्तर—यहां भी कांक्षाके समान जुगुप्साका विषय नियत समझना चाहिये. अर्थात् नियत विषयसंबंधी जुगुप्साही अतिचार है ऐसा समझना चाहिये.

रत्नत्रयमेंसे किसी एकमें अथवा रत्नत्रयधारकोंमें कोपादिकसे जुगुप्सा होना यहां सम्यग्दर्शनका अतिचार है. इस जुगुप्साके वश होकर सम्यग्दृष्टि जीव अन्य भव्यके ज्ञान, दर्शन वा आचरणका तिरस्कार करता है. जिसमें ये सम्यग्दर्शनादिक निरतिचार है ऐसे पुरुषका वह तिरस्कार करता है. अतः ऐसी जुगुप्सासे रत्नत्रयके माहात्म्यमें अरुचि होनेसे इसको अतिचार समझना योग्य है.

परदृष्टिप्रशंसा अतिचार-यहां पर शब्दके अनेक अर्थ है. जैसे ' नापरोः ग्रामः पाटलिपुत्रात् पाटलिपुत्रसे और दुसरा गांव नहीं है. यहां अपर शब्द अन्य वाची है. ' परे आचार्या ' अन्ये आचार्याः ' अर्थात् दूसरे आचार्य यहां ' पर ' शब्दका अर्थ ' अन्य ' ऐसा समझना. इष्टार्थमें भी पर शब्दका प्रयोग होता है जैसे परं धाम गतः अर्थात् इष्ट स्थानको वह चला गया. प्रस्तुत प्रकरणमें पर शब्द अन्यार्थवाची है. तत्वदृष्टीसे–पारमार्थिक दृष्टीसे विपरीत दृष्टि जिनकी है ऐसे सांख्य, बौद्ध, जैमिन्यादि मतके विद्वानोंको परदृष्टि कहते हैं. उनकी प्रशंसा करना यह सम्यग्दर्शनका मल है.

अनायतनसेवना — अनायतनके छह भेद हैं. अर्थात् मिथ्यात्व, मिथ्यादृष्टि जन, मिथ्याज्ञान, मिथ्या ज्ञानी, मिथ्याचारित्र और मिथ्याचारित्रवान्. इन छहोंमेंसे मिथ्यात्व अनायतनका अर्थ अतत्त्वश्रद्धान ऐसा होता है. यदि भव्य जीव मिथ्यात्वकी सेवा करेगा तो वह मिथ्यात्वीही होगा, सम्यग्दर्शनही उसका नष्ट हो गया ऐसा समझना चाहिये. इसलिये ' मिथ्यात्व ' यह सम्यग्दर्शनका अतिचार नहीं है. वह अनाचार है. मिथ्यादृष्टिसेवा— मिथ्यादृष्टियोंको अच्छा समझकर उनका आदर करना. मिथ्याज्ञानसेवा–मिथ्यामतके तत्व अच्छे हैं ऐसी भावना श्रोतृवर्गके मनमें मैं उत्पन्न करूंगा ऐसा विचार करके नयोंकी अपेक्षा छोडकर मिथ्यात्वका उपदेश करना.

मिथ्याज्ञानिसेवा—मिथ्याज्ञानियोंके साथ सहवास रखना, उनमें प्रेम रखना, उनका अनुसरण करना.

मिथ्याचारित्र—मिथ्याज्ञानिओंका आचरण देखकर वैसा स्वयं आचरण रखना, उसका अनुसरण करना. उनसे द्रव्य लाभ होगा इस अपेक्षासे उनका सहवास करना ऐसे सम्यक्त्वके अतिचारोंका त्याग करना चाहिये.

गुणान्दर्शनविशुद्धिकारिणो निरूपयति—

उवगूहणठिदिकरणं वच्छल्लपभावणा गुणा भणिदा ॥
सम्मत्तविसोधीए उवगूहणकारया चउरो ॥ ४५ ॥

उपबृंहः स्थितीकारो वत्सलत्वं प्रभावना ॥
चत्वारोऽमी गुणाः प्रोक्ताः सम्यग्दर्शनवर्द्धकाः ॥ ४८ ॥

विजयोदया—उवगूहणमित्यनया । उपबृंहणं नाम वर्द्धनं । बृह बृहि वृद्धाविति वचनात् । धात्वर्थानुवादी चोपसर्गः उप इति । स्वभ्यनाग्राम्येण श्रोत्रमनःप्रीतिदायिना वस्तुयाथात्म्यप्रकाशनप्रवणेन धर्मोपदेशेन परस्य तत्त्वश्रद्धानवर्द्धनं उपबृंहणं । सर्वजनविस्मयकारिणीं शतमखप्रमुखगीर्वाणसमितिविरचितोपचितिसदृशीं पूजां संपाद्य दुर्धरतपो योगानुष्ठानेन वा आत्मनि श्रद्धास्थिरीकरणम् ।

जीवादीनि द्रव्याणि तत्सामान्यविशेषरूपाध्यासितानि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकानि प्रतिसमयमिति जिनैः सम्यग्भाणि एवमेव नान्यथा श्रद्धे जिनानां मतं । न हि जिना वीतरागा विदिताखिलवेद्यतया याथातथ्याः कृपापरिगताः विपरीतमुपदिशंतीति भावनया स्थिरीकरणं अस्थिरस्य रत्नत्रये स्थिरतापादनं । मिथ्यात्वाभिमुखस्य सम्यग्दृष्टेरस्थिरस्य मिथ्यात्वं मूलमेव तदनुभवतः कर्मादानं, मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाया हि बंधहेतवः । तद्बंधहेतुकं चानंतसंसारपरिभ्रमणं चतुरशीतियोनिशतसहस्रेषु । सद्दर्शनं तु विचित्रायातनासंकटभयप्रदायिन्योर्नरकतिर्यग्गतिघटिन्योर्वज्रार्गलीभूतं । शतमखमनुष्यलोकयोरन्यूनमान्यरूपभोगादिसंपत्संपादनचतुरं क्रमेण निर्वाणमपि प्रयच्छति । ततो दुःखजलवाहिनीं मिथ्यादृष्टिकुल्यामुल्लंघ्य, प्रतिपद्यस्व जैनीं दृष्टिमिति तत्र स्थिरताकरणम् । तथा सम्यग्ज्ञानभावनायां च प्रमादिनमलसं दृष्ट्वा एवमसौ वक्तव्यः । ज्ञानं हिताहितप्रकाशनपटु, तदंतरेण हितमजानतः कथं तत्र वृत्तिरहितपरिहारो वा । हिताहितप्राप्तिपरिहारौ विना न सुखाधिगमदुःखविश्लेषौ । तदर्थमेव चायं प्राज्ञो जनः क्लिश्यति । ततः पंचविधस्वाध्यायत्यागं मा कृथाः इति ज्ञाने स्थिरीकरणं । अथवा अनधिगतसूत्रार्थनिश्चयस्य तत्र निश्चयसंपादनं । असकृद्भावनात्मनः स्थिरीकरणं । चारित्रात् प्रच्यवमानं दृष्ट्वा हिंसादिसावद्यक्रियायां प्रवर्तमाना इहैव दुःखभाजो दृश्यन्ते,

तथा परं हन्तुमुद्यतः स्वयं तेनैव वा हन्यते प्राक्तनमित्रैर्बंधुभिर्वोदीर्णवैरैः। परत्राशुभां गतिमुपैति । दुःखाख्यसद्वेद्यं च बध्नाति। अलीकं ब्रुवन्निहैव बंधुजनस्यापि विद्वेष्योऽविश्वास्यश्च भवति किं पुनरन्यस्य। जिह्वां चोत्पाटयंति क्रुद्धा बलिनः। परत्र च मूकतां यास्यति इत्येवमाद्यसंयमगतदोषं प्रज्ञाप्य नीरोगतां, दीर्घजीवनं, सौरूप्यं, प्रियवचनादिकं गुणमुपदिश्य अहिंसादिव्रताचरणफलं चारित्रे स्थिरीकरणम्। असंयमदोषं संयमगुणं वा पुनः पुनः स्मृत्वात्मनः स्थिरीकरणं।

धर्मस्थेषु मातरि पितरि भ्रातरि वानुरागो वात्सल्यं, रत्नत्रयादरो वात्मनः। प्रभावना माहात्म्यप्रकाशनं रत्नत्रयस्य तद्वतां वा।

एवमतिचारनिरासेन विशुद्धस्य सम्यग्दर्शनस्य वृद्धिकारिणो गुणानुपदिशतिः—

मूलारा—उवगूहण—स्वयमकलंकस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयवाच्यतानिरासः। टीकाकारास्तु उवगूहणेत्यस्य 'उपबृंहणं–वर्द्धनं' मित्यर्थमकथयन्। तत्र परस्य स्वच्छाम्नायश्रवणमनःप्रीतिकरतत्त्वप्रकाशनपरधर्मोपदेशेन तत्त्वश्रद्धानस्फारीकरणं। स्वस्य च शक्रनिर्मितसपर्यासोदर्यपूजाविशेषेण, दुर्द्धरतपोयोगानुष्ठानेन, जिनेंद्रोपज्ञश्रुतज्ञानातिशयभावनया वा श्रद्धानवर्द्धनं॥

ठिदिकरणं स्वस्य परस्य वा सम्यक्त्वाद्यन्यतमात्प्रच्यवमानस्य पुनस्तत्रैव युक्तिबलाद् दृढमवस्थापनम्। तथाहि–दैवात्प्रमादाद्वा मिथ्यात्वमभिपतंतमात्मानं स्वसंवित्त्या परं वा तदनुरूपवाक्चेष्टाभ्यां निश्चित्यैवं ब्रूयात्। 'मा स्म भोः दुस्सहदुःखोर्मिनिकरव्यतिकीर्णसंसारार्णवपरिवर्तनैककार्यक्रमनिर्माणसूत्रधारे सुदुर्निवारेऽस्मिन्मिथ्यात्वमहावैरिणि पुनर्व्यतिपजः। परिष्वजस्व सरभसममंदानंदसंदोहमुन्मुद्रयन्ती निःसीमसुखरसर्धस्वपर्यवसानविलासां सम्यग्दृष्टि प्रेयसीमिव। मा स्म विस्मरस्तास्त्वाश्चतुर्गतियातनायातुधानी.। एवं दूषणगुणगणाविष्करणेन श्रुतज्ञानभावनायां प्रमाद्यंतं चारित्राद्भ्रश्यन्तं स्वं परं वा पुनस्तत्रैव स्थिरीकुर्यात्।

वच्छल्ल—धर्मस्थेषु धेनोः स्ववत्स इव स्नेहः, स्वस्य च रत्नत्रयेऽनुरागः॥ पहावणा—रत्नत्रयस्य तद्वतां च माहात्म्यप्रकाशनं॥ उवगूहणकारया वृद्धिकराः अत एव सेव्या इति प्रतिपत्तव्यम्॥

अब आचार्य सम्यग्दर्शनको वृद्धिंगत करनेवाले गुणोंका वर्णन करते हैं—

हिंदी अर्थ—उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये चार गुण सम्यक्त्वको निर्मल करनेवाले और उसको बढानेवाले हैं.

विशेषार्थ—उपगूहन-उपगूहन अथवा उपबृंहण ऐसे इस गुणके दो नाम हैं. उपबृंहण इसका अर्थ बढाना ऐसा होता है. 'वृह वृहि वृद्धौ' इस धातूसे बृंहण शब्दकी उत्पत्ति होती है. उप इस उपसर्गके योगसे वृह धातूका अर्थ बदला नहीं है. स्पष्ट, अग्राम्य, कान और मनको प्रसन्न करनेवाला, वस्तूकी यथार्थता भव्योंके आगे दर्पणके समान दिखानेवाला, ऐसे धर्मोपदेशके द्वारा तत्त्वश्रद्धान बढाना यह उपबृंहण गुण है.

उपबृंहण—इंद्र प्रमुख देवोंके द्वारा जैसी महत्त्वयुक्त पूजा की जाती है वैसी जिनपूजा करके अपनेको जिनधर्ममें, जिनभक्तिमें स्थिर करना, अथवा दुर्धर तपश्चरण या आतापनादि योग धारण करके अपने आत्मामें श्रद्धा गुण उत्पन्न करना इसको भी उपबृंहण कहते हैं.

स्थितिकरण—जीवादिक पदार्थ सामान्य और विशेष धर्मोंसे युक्त हैं अर्थात् चेतनत्व, स्पर्शादिमत्त्व, गतिमें हेतु होना इत्यादि विशेष धर्म और अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, इत्यादि सामान्य धर्मोंसे युक्त हैं. जीवादि छहो द्रव्योंमें उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य यह स्वरूप सदाही प्रतिसमय रहता है ऐसा जिनोपदेश है और यह बिलकुल सचा है ऐसी मेरी श्रद्धा है. मैं इससे उलटी श्रद्धा धारण नहीं करूंगा. जिनेश्वर वीतराग है अर्थात रागद्वेष, क्षुधा तृपादि अठारह दोषोंसे वे पूर्ण अलिप्त हैं. उनमें संपूर्ण पदार्थ जाननेवाला ज्ञान है. अतः वे कभी भी विपरीत उपदेश नहीं देते हैं. भव्यजीवोंका संसारसे उद्धार करनेका प्रयत्न करनेवाले जिनभगवान् क्या वस्तुका विपरीत स्वरूप कहेंगे ? ऐसी भावनाओंसे अपनेको जैन धर्ममें स्थिर करना यह स्थिती करण है.

जो भव्य रत्नत्रयसे चलित हुवा हो तो उसको फिर रत्नत्रयमें स्थिर करना चाहिये. जो सम्यग्दृष्टि भव्य सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट होकर मिथ्यात्वी बननेके स्थितीमें आरहा हो तो फिर उसको सम्यग्दर्शनमें स्थिर करना चाहिये.

"मिथ्यात्वही कर्मग्रहण करनेका मूल कारण है. मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कषाय और योग ये कर्मबंधन के कारण हैं. इन कारणोंसे जीवको अनंत संसारमें भ्रमण करना पडता है. चौरासी लक्ष योनियोंमें इन ही कारणोंसे जीव भ्रमण करता है. परंतु जब जीवको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है तब नानाप्रकारकी यातनाओंकी उत्पत्ति करनेवाली तिर्यग्गति और नरकगति टल जाती है. अर्थात् सम्यग्दर्शन धारण करनेवाला मनुष्य तिर्यंचोंमें और नरकोंमें उत्पन्न नहीं होता है. स्वर्गलोकके और मनुष्यलोकके अनुपम भोग, मान्यता, सौख्य वगैरह उत्कृष्ट पदार्थ

यह सम्यग्दर्शन जीवोंको अर्पण करता है, और अन्तमें यह जीवको मोक्ष भी प्रदान करता है. अतः दुःखरूपी जल जिसमें वहता है ऐसी मिथ्यादर्शनरूपी नदीको तू लांघकर जैनधर्मको धारण कर " ऐसे उपदेशसे मिथ्यादर्शनसे हटा कर लोकोंको जैनधर्ममें स्थिर करना चाहिये. यह भी स्थितीकरण है.

जो भव्य सम्यग्ज्ञानकी आराधना करनेमें प्रमादी और अलसी बन गया है उसको सम्यग्ज्ञानमें आगे लिखे हुए वचनोंसे स्थिर करना चाहिये—ज्ञान ही हित और अहितका स्वरूप दिखानेमें प्रवीण है. विना ज्ञानके मनुष्योंको हित और उसके उपायोंका स्वरूप अवगत नहीं होता है. इसलिये वह अहितसे हटकर हितमें प्रवृत्ति नहीं कर सकेगा. जबतक जीव हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार न करेगा तबतक उसको सुख न मिलेगा और वह दुःखोंसे मुक्त न होगा. सर्व विद्वान लोक सुखकी प्राप्तिके लिये और दुःख दूर करनेके लिये ही प्रयत्न करते हैं. सुख प्राप्तीके लिये हे भव्य ! तूं पांच प्रकारका स्वाध्याय कर. उसका त्याग करनेसे तेरी आत्मोन्नति नहीं होगी. ऐसे उपदेशसे उसको सम्यग्ज्ञानमें स्थिर करना चाहिये. अथवा जिसको आगमके सूत्रार्थका निश्चय नहीं हुवा हो तो उसको उसका परिज्ञान कर देना चाहिये.

सम्यग्ज्ञानका वारंवार अभ्यास करके स्वतः भी उसमें स्थिर होना चाहिये.

चारित्रसे भ्रष्ट होते हुए भव्यको देखकर उसमें उसको स्थिर करनेके लिये यह उपदेश उपयुक्त है—

हिंसा, चोरी, असत्य बोलना इत्यादि पापोंमें जो मनुष्य प्रवृत्त होते हैं उनको इस लोकमेंही बहुत दुःख भोगने पडते हैं. दुसरोंको मारनेका प्रयत्न करनेवाला मनुष्य स्वयं दुसरोंसे मारा जाता है. जो पूर्वकालमें उसके मित्र अथवा संबंधी थे वे भी उसके वैरी बनते हैं. पाप करनेवाले मनुष्य मरकर अशुभ गतिको अपनाते हैं. पापोंसे असाता वेदनीय कर्म बंधता है.

जो अदमी झूट बोलते हैं उनके बंधुगण भी शत्रु बनते हैं. वे भी उसके ऊपर विश्वास नहीं रखते हैं. फिर दुसरे शत्रु अविश्वास रखनेवाले होंगे इसमें आश्चर्यही क्या है. असत्य बोलनेवालेकी जिह्वा क्रुद्ध बलिष्ठ लोक उखाड देते हैं. झूट बोलनेका फल यह है कि वे परलोकमें गूंगे हो जाते हैं. इस तरहसे असंयमके दोष बतलाकर हिंसादिक पाप न करनेवाले भव्यगण नीरोग, दीर्घजीवी, सुंदर, प्रिय और मधुरभाषी होते हैं. प्रिय वचनादिक गुण उनको प्राप्त होते हैं. ऐसा उपदेश करना चाहिये.

अथवा असंयमके दोष और संयमके गुणोंका वार वार स्मरण कर चारित्रमें स्वतःको स्थिर करना चाहिये. यह सब स्थितिकरण गुणका विवेचन हुआ.

वात्सल्य—धार्मिक लोगोंपर और माता, पिता, भ्राता इनके ऊपर प्रेम रखना यह वात्सल्य गुण है. अथवा रत्नत्रयमें आदर करना यह भी वात्सल्य है.

प्रभावना—रत्नत्रयका और उसके धारक श्रावक और मुनिगणका महत्त्व बतलाना यह प्रभावना गुण है. ऐसे गुणोंसे सम्यक्त्व वृद्धिंगत होता है.

दर्शनविनयप्रतिपादनार्थं गाथाद्वयमुत्तरम्—

अरहंतसिद्धचेइय सुदे य धम्मे य साधुवग्गे य ॥
आयरिय उवज्झाए सुपवयणे दंसणे चावि ॥ ४६ ॥

जिनेशसिद्धचैत्येषु धर्मदर्शनसाधुषु ॥
आचार्येऽध्यापके संघे श्रुते श्रुततपोधिके ॥ ४९ ॥

विजयोदया—अरहंत इत्यादिकम् । अरिहननाद्रजोहननाद्रहस्याभावादतिशयपूजार्हत्वाच्चाधिगतार्हद्व्यपदेशा नोआगमभावार्हन्त इह गृहीताः । न नामार्हन्, निमित्ताभावेऽपि पुरुषाकपात्रियुक्तार्हद्व्यपदेशः । अर्हतां प्रतिबिंबानि सोऽयमित्यभिसंबंधावर्हद्व्यपदेशभांजि पूजातिशयार्हत्वेपि अरिहननादिगुणासंभवान्नेह गृह्यन्ते । आगमद्रव्यार्हन्नर्हत्स्वरूपव्यावर्णनपरप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्तस्तदर्थेऽन्यत्र व्यापृतः । ज्ञायकशरीरार्हन्नाम तत्प्राभृतज्ञस्य त्रिकालगोचरं शरीरं । यस्मिन्नात्मनि अरिहननादयो भविष्यंति गुणाः स भाव्यर्हन् । तीर्थकरनामकर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यार्हन् । अर्हद्व्यावर्णनपरप्राभृतप्रत्ययोऽर्हन्निर्भासो बोध आगमभावार्हन् । एतेषु अरिहननादिगुणानामभावात् नेहार्हच्छब्देन ग्रहणम् ।

एवं नामसिद्धः अलब्धसकलात्मस्वरूपे सिद्धशब्दः । यस्य वा निमित्तनिरपेक्षा सिद्धसंज्ञा । स्थापनासिद्धा इति तत्प्रतिबिंबानि उच्यन्ते । ननु सशरीरस्यात्मनः प्रतिबिंबं युज्यते, अशरीराणां तु शुद्धात्मनां सिद्धानां कथं प्रतिबिंबसंभवः ? पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया शरीरमनुगतो य आत्मा सयोगकेवलीतरो वा न शरीराद्भिर्भक्तुं शक्यते । विभागे हि शरीरात्संसारिता न स्यात् । अशरीरः संसारी चेति विरुद्धमेतत् । ततः शरीरसंस्थानवच्छिन्नात्मापि संस्थानवानेव संस्थानवतोऽव्यतिरिक्तत्वाच्छरीरस्थात्मवत् । स एव चायं प्रतिपन्नसम्यक्त्वाद्यष्टगुण इति स्थापनासंभवः । आगमद्रव्यसिद्धः सिद्धप्राभृतज्ञः सिद्धशब्देनोच्यते अनुपयुक्तः । सिद्धप्राभृतज्ञस्य शरीरं ज्ञापकशरीरं । भविष्यत्सिद्धत्वपर्यायो

भावसिद्धः। व्यतिरिक्तः सिद्धो न संभवति । सिद्धत्वं न कर्मकारणम् इति सकलकर्मापायहेतुका सिद्धता। पुद्गलद्रव्य-स्य तदुपकारिणोऽसंभवान्नोकर्मसिद्धाभावः । सिद्धप्राभृतानुसारिसिद्धज्ञानपरिणत आगमभावसिद्धः । निरस्तभाव-द्रव्यकर्ममलकलङ्क-परिप्राप्तसकलक्षायिकभावः नोआगमभावसिद्धः स इह गृहीतो न इतरे सकलात्मस्वरूपप्राप्त्यभावात्।

चेदिय चैत्यं प्रतिबिंबं इति यावत्। कस्य? प्रत्यासत्तेः श्रुतयोरेवार्हत्सिद्धयोः प्रतिबिंबग्रहणं। अथवा मध्य-प्रक्षेप- पूर्वोत्तरगोचरस्थापनापरिग्रहार्थस्तेन साध्वादिस्थापनापि गृह्यते।

श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाज्जातं वस्तुयाथात्म्यग्राहि श्रद्धानानुगतं श्रुतं अंगपूर्वप्रकीर्णकभेदभिन्नं, तीर्थकर श्रुतकेवल्यादिभिरारचितो वचनसंदर्भो वा, लिप्यक्षरश्रुतं वा।

धर्मशब्देन चारित्रं समीचीनमुच्यते। ज्ञानदर्शनाभ्यामनुगतं सामायिकादि पंचविकल्पम् । दुर्गतिप्रस्थित जीवधारणात्, शुभे स्थाने वा दधाति इति धर्मशब्देनोच्यते। अथवा

'खंती मद्दव अज्जव लाघव तव संजमो अकिंचणदा ॥
तह होदि बम्भचेरं सच्चं चागो य दस धम्मा॥

इति सूत्रांतरनिर्दिष्टधर्मपरिग्रहः । क्रोधनिमित्तसान्निध्येऽपि कालुष्याभावः क्षमा स्नेहकार्याद्यनपेक्षः । जात्याद्यभिमानाभावो मानदोषानपेक्षश्च दृष्टकार्यानपाश्रयो मार्दवम् । आक्रुष्टान्तद्वयसूत्रबद्धकताभावः आर्जवमित्युच्यते। द्रव्येषु ममेदं भावमूलो व्यसनोपनिपातः सकल इति ततः परित्यागो लाघवं। अशनादिपरित्यागात्मिका क्रिया अनपेक्षित दृष्टफला द्वादशविधा तपः। इंद्रियविषयरागद्वेषाभ्यां निवृत्तिरिंद्रियसंयमः । षड्जीवनिकायबाधाऽकरणादपरः प्राणि संयम । आकिंचनता सकलग्रंथत्याग.। ब्रह्मचर्यं नवविधब्रह्मपालनं। सतां साधूनां हितभाषणं सत्यम्। संयतप्रायोग्याहा-रादिदानं त्यागः। एते दशधर्माः ।

साधयन्ति रत्नत्रयमिति साधवस्तेषां वर्गः समूहः । तस्मिन्वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञाने परिणतिर्ज्ञानाचारः। तत्त्वश्रद्धानपरिणामो दर्शनाचारः । पापक्रियानिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः। अनशनादिक्रियासु वृत्तिस्तप आचारः। स्वशक्त्यनिगूहनरूपा वृत्तिर्ज्ञानादौ वीर्याचार' एतेषु पंचस्वाचारेषु ये वर्तन्ते परांश्च वर्तयंति ते आचार्याः । रत्नत्रयेषु उद्यता जिनागमार्थं सम्यगुपदिशंति ये ते उपाध्यायाः। उपेत्य विनयेन ढौकित्वा अधीयते श्रुतमस्मादित्युपाध्यायः ।

पवयणे प्रवचने। ननु श्रुतशब्दः प्रवचनवाची ततः पुनरुक्तता? रत्नत्रयं प्रवचनशब्देनोच्यते। तथा चोक्तम्— 'णाणदंसणचरित्तमेग पवयणमिति' अथवा श्रुतज्ञान श्रुतमित्युक्तं पूर्वमिह तु प्रोच्यंते जीवादयः पदार्था इति शब्दश्रुत-मुच्यते। दंसणे सम्यग्दर्शने च ॥ ४६ ॥

दर्शनविशुद्धिविवृद्ध्यर्थं तद्विनयं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—चेदियमतिबिंबानि मध्ये पाठादर्हदादीनां पंचानामपि । सुदे भावश्रुते ज्ञानात्मके। धम्मे चारित्रे, उत्तमक्षमादौ वा। पवयणे रत्नत्रयेऽथवा द्रव्यश्रुते शब्दात्मके लिप्यक्षरे वा॥

दर्शनविनयका विवेचन आचार्य दो गाथाओंसे करते हैं—

हिंदी अर्थ—अरहंत, सिद्ध, अर्हत् और सिद्धोंकी प्रतिमायें, श्रुतज्ञान, जिनधर्म, आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्टी, रत्नत्रय, आगम और सम्यग्दर्शन इनमें भक्ति, पूजा, करना. इनमें अन्यमतीयोंने आरोपित किये दोषोंको हटाना, इनका महत्त्व बताना, इत्यादि बातोंसे दर्शनविनय होता है.

विशेषार्थ—जिन्होंने अरिहनन किया अर्थात् मोहनीय कर्मका नाश किया, रजोहनन अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरणको नष्ट किया, रहस्यहनन अर्थात् अन्तराय कर्मका घात किया तथा इन्द्रादिकोंके द्वारा जो सातिशय पूजाको प्राप्त हुए इस लिये जो नो आगमभाव निक्षेपसे अर्हन्त इस नामको प्राप्त हुए हैं उनकोही प्रकृत विषयमें अर्हन् समझना चाहिये. चार घातिकर्मोंका नाश होनेसे जिनको अर्हतकी अवस्था साक्षात् प्राप्त हो गई वेही यहां अर्हन्त माने हैं. केवल जो नामसे ही अर्हत हैं वे यहां अर्हन्त नही समझे जायेंगे. निमित्त न होनेपरभी मनुष्यके प्रयत्नसे जिसमें अर्हत् ऐसा नामकरण विधि होता है उसको नामर्हत् कहते हैं. अर्हन्त की प्रतिमामें वही यह अर्हत् है ऐसे संकल्पसे जो स्थापना की जाती है वह ' स्थापनार्हत् है. स्थापनारूप अर्हत् में पूजातिशय होनेपर भी अरिहननादि गुण अर्थात् मोहनीयादि चार घातिकर्मोंका नाश करनेका गुण नही है. अत: स्थापनार्हत् भी प्रकृत विषयमें उपयुक्त नहीं है. अर्हन्तके स्वरूपका वर्णन करनेवाले शास्त्रका जिसको अच्छा ज्ञान है परंतु उस तरफ जिसका सांप्रत उपयोग नहीं लगा है, दुसरे तरफ जिसका चित्त लगा है ऐसे पुरुषको द्रव्यनिक्षेपसे अर्हत् कहते हैं. अर्हत्के स्वरूपका वर्णन करनेवाले शास्त्रको जाननेवाले विद्वानका जो त्रिकालवर्ती शरीर वह ज्ञायकशरीर अर्हत् है. जिस आत्मामें भाविकालमें अरिहननादिक अर्हन्तके गुण उत्पन्न होंगे ऐसे आत्माको सांप्रतमें अर्हत् कहना यह भावि अर्हत् है. तीर्थकरनामकर्मको तद्व्यतिरिक्त अर्हत् कहते हैं. अर्हन्तके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रका ज्ञान जिसको है और वर्तमान कालमें वह ज्ञान अर्हत्स्वरूपका विचार कर रहा हो तो उसको आगमभावार्हन् कहते हैं.

नो आगमभावार्हन्तके शिवाय नामादि अर्हन्तोंमें अरिहननादि गुणोंका अभाव है अत एव नामादि अर्हन्तोंका यहां ग्रहण नही किया है.

सिद्धोंके भी नामसिद्ध, स्थापनासिद्ध वगैरे भेद हैं. जिसको सिद्धस्वरूप प्राप्त नही हुवा है ऐसे मनुष्यको नामसिद्ध कहते हैं. उसका सिद्ध यह नाम गुणादिनिमित्तोंके विना केवल व्यवहारार्थ रक्खा गया है.

सिद्धोंके प्रतिबिंबोंको स्थापनासिद्ध कहते हैं.

यहां शंका—शरीरसहित आत्माका प्रतिबिंब अर्थात् प्रतिमा मानना योग्य है. परंतु जिनके शरीरका अभाव है, जो शुद्धात्मस्वरूपको प्राप्त हो गये हैं ऐसे सिद्धोंकी प्रतिमा मानना अर्थात् प्रतिमामें सिद्धोंका आरोप करना यह कैसा न्यायसंगत है ?

उत्तर—पूर्वभावप्रज्ञापननयकी अपेक्षासे सिद्धोंको प्रतिमामें स्थापन कर सकते हैं. अर्थात् जो वर्तमान कालमें सिद्ध हैं वेही पूर्वकालमें शरीरसहित सयोगकेवली थे अतः उनकी अपेक्षासे सिद्धोंमें भेद न मानकर प्रतिमामें सिद्धोंकी स्थापना हो सकती है. सयोगकेवली अथवा इतर आत्मा शरीरसे विभिन्न नहीं होता है. यदि सयोगकेवलीको देहसे विभिन्न मानोगे तो सयोगकेवलीको संसारिता नहीं हैं ऐसा मानना पडेगा. अशरीर माननेसे संसारी व अशरीरता यह परस्पर विरुद्ध है. अतः शरीरकी आकृतीके समान चिदात्मा भी आकृतिमान् समझना चाहिये. जैसी शरीरकी आकृति रहती है उसी तरह चिदात्मा सिद्धकी भी आकृति रहती है. इस लिये शरीरके समान चिदात्मा सिद्ध भी संस्थानवान्-आकृतिवान है. शरीरस्थ आत्मा जैसा अपने संस्थानसे आकृतिसे अभिन्न है वैसा मुक्तात्मा भी अपने संस्थानसे अभिन्न है. अतः प्रतिमामें सम्यक्त्वादि अष्ट गुणोंसे विराजमान वही सिद्ध ये है ऐसा संकल्प कर सकते हैं. अतः सिद्धोंमें स्थापनाका संभव होता है.

आगमद्रव्यसिद्ध—सिद्धप्राभृतके ज्ञाता परंतु संप्रति अनुपयुक्त ऐसे विद्वानको आगमद्रव्यसिद्ध कहते हैं. सिद्धप्राभृतके ज्ञाताका जो शरीर वह ज्ञायकशरीर है. जिसको भविष्यत्कालमें सिद्धावस्था प्राप्त होनेवाली है ऐसा आत्मा भाविसिद्ध है.

व्यतिरिक्त सिद्धकी संभावना नहीं है. क्योंकि जैसे तीर्थकरनामकर्मसे अर्हत्पर्याय प्राप्त होता है वैसे सिद्धपर्याय किसी कर्मके उदयसे होता नहीं है. वह संपूर्ण कर्मके नाशसे होता है. इसलिये व्यतिरिक्तसिद्ध यह भेद नहीं है. कोइ पुद्गलद्रव्य भी सिद्धत्वपर्यायका उत्पादक है नहीं इसलिये नोकर्मसिद्ध यह भी भेद नहीं है.

सिद्धप्राभृतके अनुसार सिद्धोंका स्वरूप जाननेवाले ज्ञानसे परिणत आत्माको आगमभावसिद्ध कहते हैं.

संपूर्ण द्रव्यकर्म और भावकर्ममल जिनका नष्ट हो चुका है. अनंतज्ञानादि सर्व क्षायिकभाव जिनको

प्राप्त हो गये हैं. उनको नो आगमभाव सिद्ध कहते हैं. इसी सिद्धका प्रकृतविषयमें ग्रहण किया है. इतर सिद्धोंका ग्रहण नहीं किया है क्योंकि इतर सिद्धोंमें संपूर्णतया आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं हुई है.

३ चेदिय– चैत्य अर्थात् प्रतिमा चैत्य शब्दसे प्रस्तुत प्रसंगमे अर्हत् और सिद्धोंके प्रतिमाओंका ग्रहण समझना चाहिये. अथवा यह मध्यप्रक्षेप है. इसलिये पूर्वविषय और उत्तर विषयक स्थापनाका यहां ग्रहण होता है. अर्थात् पूर्वविषय तो अरहंत और सिद्ध है ही. उत्तर विषय श्रुत, शास्त्र, धर्म, साधुपरमेष्टी, आचार्य, साधु वगैरह हैं. इनका भी यहां संग्रह होता है. इनकी भी स्थापनाप्रतिमा होती है.

४ श्रुतज्ञान—श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे वस्तुके यथार्थ स्वरूपका ग्रहण करनेवाला सम्यग्दर्शन सहित जो ज्ञान वह श्रुतज्ञान है. इस ज्ञानके आचारांगादि बारा अंग, उत्पाद पूर्वादि चौदा पूर्व, और सामायिकादि चोवीस प्रकीर्णक अर्थात् अंगबाह्य ऐसे इसके भेद हैं. इसकी रचना तीर्थंकर, श्रुतकेवली, गणधर और आरातीय आचार्य इन्होंने की है.

५ धर्म–सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अनुसरण करने वाला सम्यक् चारित्र यहां धर्म शब्दका अर्थ है. इस धर्मके सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, और यथाख्यात ऐसे पांच भेद हैं. दुर्गतिको जानेवाले जीवको जो धारण करता है अर्थात् उसका उद्धार करता है और शुभ इंद्रादिपदवीपर जो स्थापन करता है वह धर्म है ऐसी धर्मशब्दकी व्याख्या है. अथवा—

क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, तप, संयम, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य और त्याग ऐसे दश धर्म अन्य ग्रंथमें कहे हैं उनका भी यहां धर्म शब्दसे संग्रह करना चाहिये.

१ क्षमा—क्रोधके निमित्त–कटुवचन, निंदा वगैरे उपस्थित होनेपर भी मनमें कलुषता उत्पन्न न होने देना. किसीके साथ अपनी मित्रता होती है तब क्रोधके कारण उपस्थित होनेपर भी मन कलुषित न होने देना यह कुछ क्षमा नहीं समझी जाती है. अथवा अपना कार्य सिद्ध होने तक मनुष्य क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी शांति धारण करता है यह भी सच्ची क्षमा नहीं है. परंतु स्नेहादिकी अपेक्षाविना जो शांतिभाव मनमें धारण करना वही क्षमा है.

२ मार्दव--जाति, कुल, तप इत्यादिका अभिमान न होना यह मार्दव है. मैं अभिमान करूंगा तो लोक

मेरेऊपर रुष्ट होंगे अथवा मेरे ऐहिक कार्योंमें बाधा उपस्थित होगी ऐसी भीतीसे मान न करना यह सच्चा मार्दव नहीं है. किंतु मान करनेसे आत्मा पतित होता है. मानसे नीचगतिमें भ्रमण करना पडेगा ऐसी भावना हृदयमें धारण कर मार्दवधर्मका पालन करना चाहिये.

३ आर्जव—दोरीके दो छोर पकडकर खीचनेसे वह सरल होती है उसी तरह मनमेंसे कपट दूर करनेपर वह सरल होता है अर्थात् मनकी सरलताको आर्जव कहते हैं.

४ लाघव—धनादि वस्तुओंमें ये मेरे है ऐसी अभिलाषबुद्धिही सर्व संकटोंमें मनुष्यको गिराती है इस ममत्वको हृदयसे दूर करनाही लाघव अर्थात् शौच धर्म है.

५ तप—अन्न, पान, लेह्य इनका त्याग करना, रसोंका त्याग करना, दाता पात्र इत्यादिकोंका नियम करना यह सब तप है. इस लोकमें अपनी कीर्ति हो, अपनेको लोक पूजे इत्यादि अभिलाषा छोडकर बारह प्रकारका तप करना चाहिये.

६ संयम—इंद्रियोंके स्पर्शादि इष्ट व अनिष्ट विषयोंसे अपने मनको हटाना. इष्ट वस्तुमें रागभाव रखना. अनिष्ट वस्तुसे द्वेष करना यह इंद्रिय असंयम है. इनसे निवृत्त होना यह इंद्रियसंयम है. पंच स्थावर और त्रसजीव इनको बाधा देनेसे विरक्त होना यह प्राणिसंयम है.

७ संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग करना यह आकिंचन्य धर्म है.

८ नउ प्रकारके ब्रह्मचर्यका पालन करना यह ब्रह्मचर्य है.

९ मुनि और उनके भक्त अर्थात् श्रावक इनके साथ आत्महितकर भाषण बोलनायह सत्य धर्म है.

१० मुनिओंके लिये योग्य ऐसे आहार, अभय—वसतिका और शास्त्र ये चीजें देना यह त्याग धर्म है. ऐसे धर्मके दश भेद कहे.

जो रत्नत्रयको साधते हैं ऐसे मुनिराजको साधु कहते हैं.

१ वस्तुके यथार्थ स्वरूप जाननेवाले ज्ञानमें परिणति होना यह ज्ञानाचार है.

२ तत्त्वश्रद्धानमें परिणति होना यह दर्शनाचार है.

३ हिंसादि पांच पापक्रियाओंसे विरक्त होना चारित्राचार है.

४ अनशनादि क्रियाओंमे प्रवृत्ति रहना तप आचार है.

५ अपनी शक्तीके अनुसार ज्ञान दर्शन चारित्रादिकमें प्रवृत्ति करना वीर्याचार है.

ऊपर कहे गये पांच आचारोंमें जो स्वयं उद्युक्त होते हैं और शिष्योंको उद्युक्त करते हैं वे मुनि आचार्य कहलाते हैं.

जो रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करते हैं और जिनेन्द्र भगवानका कहा हुवा अर्थ शिष्योंकी अविरुद्धतासे कहते हैं वे उपाध्याय परमेष्टि हैं. ' उपेत्य विनयेन ढौकित्वा अधीयते श्रुतमस्मादिति उपाध्याय " अर्थात् विनयसे आकर जिनसे शिष्यमुनि आगमार्थका पठन करते हैं ऐसे मुनिराजको उपाध्याय परमेष्टि कहते हैं.

प्रवचन—शंका—श्रुत शब्द प्रवचनवाची है उसका खुलासा किया गया है. प्रवचनका अर्थ श्रुत होता पुनरपि यहां श्रुतका ग्रहण करनेसे पुनरुक्तता दोष आया. उत्तर—प्रवचन शब्दका अर्थ यहां रत्नत्रय है. ' णाण दंसणचरित्तमेग पवयणं ' ऐसे आगम वाक्यसे रत्नत्रयको प्रवचन कहते हैं यह सिद्ध होता है. अथवा श्रुतज्ञानको श्रुत कहना चाहिये ऐसा पूर्वमें कहा है. यहा ' प्रोच्यंते जीवादयो येनेति ' जिनके द्वारा जीवादि पदार्थोंका विवेचन किया जाता है वह प्रवचन है अर्थात् शब्दात्मक श्रुतको यहां प्रवचन कहते हैं.

अरहंत, सिद्ध, इनके और आचार्यादिकोंके प्रतिबिंब, श्रुतज्ञान, धर्म, साधुवर्ग, आचार्य, उपाध्याय, शब्द श्रुत और सम्यग्दर्शन इनमें भक्ति, पूजा प्रशंसा वगैरे करना यह संक्षेपसे दर्शन विनय है. ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है. ॥ ४६ ॥

भत्ती पूया वण्णजणणं च णासणमवण्णवादस्स ॥
आसादणपरिहारो दंसणविणओ समासेण ॥ ४७ ॥

भक्तिः पूजायशोवादो दोषावज्ञा तिरस्क्रिया ॥
समासेनैष निर्दिष्टो विनयो दर्शनाश्रयः ॥ ५० ॥

विजयोदया—का भत्ती पूजा ? अर्हदादिगुणानुरागो भक्ति । पूजा द्विप्रकारा द्रव्यपूजा भावपूजा चेति । गन्धपुष्पधूपाक्षतादिदान अर्हदाद्युद्दिश्य द्रव्यपूजा । अभ्युत्थानप्रदक्षिणीकरणप्रणमनादिका कायक्रिया च । वाचा गुणसंस्तवन च भावपूजा मनसा तद्गुणानुस्मरण ।

वण्णजणणं वर्णशब्दः कचिद्रूपवाची शुक्लवर्णमानय शुक्लरूपमिति । अक्षरवाची क्वचिद्यथा सिद्धो वर्णसमाम्नायः इति । कचित् ब्राह्मणादौ यथात्रैव वर्णानामधिकार इति । क्वचिद्यशसि वर्णार्थी ददाति । तथा इहाप्यनंतरार्थौ गृहीतः । तेन अर्हदादीनां यशोजननं विदुषां परिषदि । अन्येषामपि स्ववेदिनां दृष्टेष्टविरुद्धवचनताप्रदर्शनेन निबंध तत्संवादिवचनतया महत्ताप्रख्यापनं भगवतां वर्णजननम् ।

चैतन्यमात्रसमवस्थानरूपे निर्वाणे नापूर्वातिशयप्राप्तिरस्ति । यत्नमंतरेण सर्वात्मसु चैतन्यस्य सदा स्थितेः । विशेषरूपरहितत्वादसचैतन्यं खपुष्पवत् । प्रकृतेरचेतनाया मुक्तिरनुपयोगिनी । किं तया बद्धया मुक्तया वा फलमात्मनः? अनया दिशा कापिलमते सिद्धता दुरुपपादा ॥ बुद्ध्यादिविशेषगुणरहितता सिद्धताऽन्येषां । आत्मनोऽचेतनतां कः सचेतनोऽभिलषति । विशेषरूपशून्यं वा कथमात्मनः सत्ता? नैव चासावात्मा पराभ्युपगतः बुद्ध्यादिगुणरहितत्वाद्भस्मवत् । रागादिक्लेशवासनारहितं चित्तमेव मुक्तिशब्देनोच्यते इत्यत्र चित्तमत्यंतासाधारणरूपं । यथैकं चिद्रूपं नेतरदिति तस्य स्वभावोऽनिरूप्यः । असाधारणस्वरूपशून्यं यत्तदसद्यथा—नभस्तामरसं । असाधारणरूपशून्यं च विवक्षिताचित्तादन्यदिति । एवं मतान्तरे निरूपितानां सिद्धानामघटमानत्वाद्बाधाकारिसकलकर्मलेपनिर्दहनसमुपजाताचलस्वास्थ्यसमवस्थिताः । अनंतज्ञानात्मकेन सुखेन संतृप्ताः सिद्धा इति तन्माहात्म्यकथनं सिद्धानां वर्णजननं ।

यथा वीतरागद्वेषास्त्रिलोकचूलामणयोऽर्हदादयो भव्यानां शुभोपयोगकारणतामुपयान्ति । तद्वदेतान्यपि तदीयानि प्रतिबिंबानि । बाह्यद्रव्यालंबनो हि शुभोऽशुभो वा परिणामो जायते । यथात्मनि मनोज्ञामनोज्ञविषयसान्निध्याद्रागद्वेषौ स्वपुत्रसदृशदर्शनं पुत्रस्मृतेरालंबनं । एवमर्हदादिगुणानुस्मरणनिबंधनं प्रतिबिंबं । तथानुस्मरणं अभिनवाशुभप्रकृतेः संवरणे, प्रत्यग्रशुभकर्मादाने, गृहीतशुभप्रकृत्यनुभवस्फारीकरणे, पूर्वोपात्ताशुभप्रकृतिपटलरसापन्हासे च क्षममिति सकलाभिमतपुरुषार्थसिद्धिहेतुतया उपासनीयानीति चैत्यमहत्ताप्रकाशनं चैत्यवर्णजननमिति ।

केवलज्ञानवदशेषजीवादिद्रव्ययाथात्म्यप्रकाशनपटु, कर्मघर्मनिर्मूलनोद्यतशुभध्यानचंदनमलयायमानं । स्वपरसमुद्धरणनिरतविनेयजनताचित्तप्रार्थनीयं, प्रतिपन्नाशुभास्रवं, अप्रमत्ततायाः संपादकं । सकलविकलप्रत्यक्षज्ञानबीजं, दर्शनचरणयोः समीचीनयोः प्रवर्तकं इति निरूपणा श्रुतवर्णजननम् ।

दुःखात्त्रातुं, सुखं दातुं, निधीनां चाधिपत्ये स्थापयितुं, स्वचक्रविक्रमानमितसकलभूपालसेचरगणबद्धमकुटचक्राश्मकलांछनात्पादयोः पातयितुं, सुरविलासिनीचेतः संमोहावहं, तदीयविलुठत्पाठीनलोचनरागमभिवर्धयंतीं, दर्पभरपरवशोद्भिन्नसांद्ररोमांचकंचुकमाचरितुं, उन्नतां रूपशोभामंदिरां संपादयितुं, अतिशयिताणिमादिगुणप्रसाधनां, सामानिकादिसुरसहस्रानुयानोपनीतमहत्तां, सततमत्यग्रयुवतालिंगितां सुभगतालतारोहयष्टिम्, अनेकसमुद्रबिंदुगणनागणितायुःस्थितिं, मेरुकुरुसुरसरित्कुलाचलादिगोचरस्वेच्छाविहारचतुरां, सुरांगनापृथुलनितंबबिंबाधरकठिननिबिडसमुन्नतकुचतटक्रीडालोकनस्पर्शनादिक्रियोपयोगामितप्रीतिविस्मितां, शतमखतामपदेऽपि झटिति घटयितुं, विरूपताजननीजराडाकिनीनामगोचरां शोकधूकानुलंघितां, विपद्दावानलशिखाभिरनुपप्लुतां, रोगोरगैरदष्टवपुषं, यममहिषखु-

रावंडितां, भीतिवराहसमितिभिरनुल्लिखितां, संक्लेशशतशरभैरनध्यासितां, प्रियवियोगचंडपुंडरीकैरसेवितां, अनर्घ्यसुखरत्नप्रभवभूमिं निर्वृतिं मापयितुं समर्थो जिनप्रणीतो धर्म इति धर्मस्वरूपकथनं धर्मवर्णजननम् ॥

उन्नोटितप्रियवचनमुखरदुर्भेदबंधुसमितिशृंखलाः, दुस्तरतरसंसारावर्तचिरपरिभ्रमणचकितसंवेगपृथुहृदयाः, अनित्यभावनावहितचेतस्तया निरस्तशरीरद्रविणादिगोचराः, दुःखसंहतिसंपातरक्षाक्षमस्यापरस्य जिनप्रणीता त्कर्मोऽभावात् तमेव शरणमित्युपगताः । ज्ञानरत्नप्रदीपप्रभाप्रकरनिर्मूलितभुवनभवनान्तर्लीनाज्ञानध्वान्तसंततयः, कर्मणामादाने, तत्फलानुभवने, तन्निर्मूलने च वयमेकका एवेति कृतविनिश्चितयः, असाधारणचैतन्यादिलक्षणोपनीतभेदापेक्षयाऽन्ये वयमितरद्रव्यकलापादित्यन्यताभावनायामासक्ताः, सुखदुःखयोरकृतादरद्वेषाः, सद्सद्वेद्योदयकर्मनिमित्तत्वेन ममाहितमनभिमतं चापेक्षते इति उपकारापकारयोरहमेव प्रणेता, आत्मनः शुभाशुभकर्मारोपणे ममैव स्वातंत्र्यात्तदुपचरितत्वात् । अनुग्रहनिग्रहयोः परे वराकाः किं कुर्वन्तीति मत्वा स्वजनपरजनविवेकनिरुत्सुकाः, समंतादुपसर्गमहोरगैरवार्यवीर्यैरवष्टब्धा अप्यविचलवृत्तयः, क्षुत्पिपासादिपरीषहमहापातिसरभससंपातेऽप्यदीनासंक्लिष्टचेतोवृत्तयः, त्रिगुप्तिगुप्तिमुपाश्रिताः, अनशनादितपोराज्यपालनोद्युक्तमतयः, धृतानूनव्रतकवचाः, गृहीतशीलखेटाः, उदीर्णध्यानातिनिशितमंडलाग्राः, कर्मारिपृतनासाधनोद्यताः साधव इति साधुमाहात्म्यप्रकाशनं साधुवर्गवर्णजननं ।

मुक्ताहारपयोधरनिशाकरवासराधीश्वरकल्पमहीरुहादय इव प्रत्युपकारानपेक्षानुग्रहव्यापृताः, निर्वाणपुरपरिप्रापणक्षमे मार्गे निर्मले स्थिताः, परानपि विनतान्विनेयान्प्रवर्तयन्तः, आयततातिधवलज्ञानपृथुलदर्शनपक्ष्मलेक्षणाः, कुलीना, विनता, विभया, विमाना, विरागा, विशल्या, विमोहा, वचसि तपसि महसि चाऽद्वितीया इव भूषणं सूरय इति सूरिवर्णजननम् ।

अधिगतश्रुतार्थयाथातथ्यवाच्यवाचकानुरूपव्याख्यानाः, निरस्तनिद्रातंद्रीप्रमादाः,सुचरिताः, सुशीलाः, सुमेधसः, इत्याध्यापकवर्णजननं ।

रत्नत्रयालाभादनंतकालं अयमनादिनिधनोऽपि भव्यजीवराशिर्निर्वाणपुरमुपैति तल्लाभे च सकलाः संपदः सुलभा इति मार्गवर्णजननं ।

मिथ्यात्वपटलविपाटनपटीयसी, ज्ञाननैर्मल्यकारिणी, अशुभगतिगमनप्रतिबंधविधायिनी, मिथ्यादर्शनाविरोधिनीति निगदनं समीचीनदृष्टेर्वर्णजननम् ।

सर्वज्ञतावीतरागते नार्हति विद्येते रागादिभिरविद्यया च अनुगताः समस्ता एव प्राणभृतः इत्यादिरर्हतामवर्णवादः ।

स्त्रीवस्त्रगंधमाल्यालंकारादिविरहितानां सिद्धानां सुखं न किंचिदतीन्द्रियाणां । तेषां समधिगतौ न निबंधनमस्ति किंचिदिति सिद्धावर्णवादः ।

स्वकल्पनाभिरयमर्हन्नेष सिद्धः इत्यचेतनस्य व्यवस्थापनायामपि दारिकाणां कृत्रिमपुत्रकव्यवहृतिरिव न मुख्यवस्तूपसेवनोद्भवं फलं लभ्यते । न प्रतिबिंबादिस्था अर्हदादयः तद्गुणवैकल्यान्न प्रतिबिंबानामर्हत्त्वादित्वमिति

२१

चैत्यावर्णवादः ।

पुरुषकृतत्वाद्दशदाडिमादिवाक्यवदयथार्थता नातींद्रियं वस्तु पुंसो ज्ञानगोचरं, अज्ञातं चोपदिशतो वचः कथं सत्यं ? तदुद्भूतं च ज्ञानं कथं समीचीनमितिश्रुतावर्णवादः ।

दुर्गतिप्रतिबंधं स्वर्गादिकं च फलं विधत्ते धर्म इति कथमहर्य्यं श्रद्धीयते ? न हि सन्निहितकारणस्य कार्यस्यानुद्भवोऽस्ति यथांकुरस्य । सुखप्रदायी चेद्धर्मः स्वनिष्पत्त्यनंतरं सुखमात्मनः किं न करोति इति धर्मावर्णवादः ।

अहिंसादिव्रतपालनोद्यताः साधवः,सूरयोऽध्यापकाश्चेष्यन्ते । अहिंसाव्रतमेवैषां न युज्यते षड्जीवनिकायाकुले लोके वर्तमानाः कथमहिंसकाः स्युः ? केशोल्लुंचनादिभिः पीडयतां च कथं नात्मवधः ? अदृष्टमात्मनो विषयं, धर्मं, पापं, तत्फलं च गदतां कथं सत्यमतम् ? इति साध्ववर्णवादः । एवमितरयोरपि ।

विरुद्धानां एकत्र धर्माणामसंभवात् विरुद्धाभिमतधर्माधिकरणैकवस्तुज्ञापनं न सम्यक् । तदभिरुचेर्न समीचीनता विपर्ययज्ञानानुगतत्वान्मृगतृष्णोदकश्रद्धेव, मिथ्याज्ञानानुगतत्वाच्चरणमपि न सम्यक् । उरगप्रत्ययबलाद्रज्जुपरिहार इवेति प्रवचनावर्णवादः ।

एतेषामवर्णवादानामसंभवप्रदर्शनं । पुरुषत्वाद्रथ्यापुरुषवत् सर्वज्ञो वीतरागो वा न भवत्यर्हन् इति साधनमनुपपन्नं । असर्वज्ञतामवीतरागतां चान्तरेण पुरुषता नोपपद्यते इत्यन्यथानुपपत्तेरभावात् । जैमिन्यादयो न सकलवेदार्थज्ञा पुरुषत्वाद्वेपालवत् इति शक्यं वक्तुम् । सर्वज्ञतावीतरागतासिद्धिश्चान्यत्र निरूपितेति नेह प्रतन्यते । दुःखप्रतीकारार्थेषु वस्तुषु मूढानां सुखसाधनव्यवहारः । शरीरायासमात्रत्वात्, कामिनीसमागमसुखं । वैरूप्यनाशनैर्वस्त्रादिभिर्न कृत्यं सिद्धानां । अशरीराणां सकलदुःखापायरूपं सुखं अविकलमनंतज्ञानात्मकं तेष्ववस्थितं । श्रुतं निबंधनं तदधिगमे । शुभोपयोगनिमित्तताहंसादीनामिव प्रतिबिंबानामिति न युक्त्योत्प्रेक्षिता ॥

मूलारा— भत्ती–भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागः । पूया पूजा सा च द्वेधा द्रव्यभावभेदात् । तत्र द्रव्यपूजा अर्हदादीनुद्दिश्य गंधाक्षतादिदानं । भावपूजा कायेन अभ्युत्थानप्रदक्षिणीकरणप्रणामादिका । वाचा गुणस्तवनं । मनसा गुणानुस्मरणं ॥

वण्णजणणं–विदुषां परिषदि यशोजननं गुणकीर्तनमिति यावत् । तत्र सुगतादीनां दृष्टेष्टविरुद्धवचनताप्रकाशनेनासर्वज्ञत्वं प्रज्ञाप्य तत्संवादिवचनतया महत्त्वप्रख्यापनमर्हतां वर्णजननं ।

एवं परमतप्रसिद्धान् सिद्धानपोह्य जिनमतेन तत्त्वरूपनिरूपणं सिद्धानां वर्णजननं । तथा हि–न तावत्सांख्योक्ता सिद्धता घटते । चैतन्यमात्रावस्थानरूपे निर्वाणे पुंसोऽपूर्वातिशयप्राप्तेरभावात् न संसारिभ्यः कश्चिद्विशेषस्तद्रूपमुक्तेः सर्वेषामयत्नसिद्धतया सदा सत्वात् । चैतन्यमात्रस्य ज्ञेयाकारपरिच्छेदे पराङ्मुखस्य विशेषरूपरहितत्वादसत्त्वं खपुष्पवत् । न च प्रकृतेर्बद्धत्ववन्मुक्तेरपि किंचित्फलमात्मनः । नापि वैशेषिकोक्तानां

ज्ञानादिगुणानां अत्यंतोन्मुक्तिर्मुक्तिर्युक्ता । न खलु कश्चित् स्वगुणस्य सतो विनाशाय सचेताः प्रयतते, किं तर्ह्यतिशयाधानाय । किं पुनश्चैतन्यस्य विशेषलक्षणशून्यस्य चात्मनः कथं सत्ता खपुष्पवत्, कथं वात्मतत्त्वं ? तथाहि-नासौ वैशेषिकाभ्युपगत आत्मा आत्मबुद्ध्यादिगुणरहितत्वादश्मवत्। नापि बौद्धमतो निरास्रवचित्तोत्पत्तिलक्षणो मोक्षः क्षोदं क्षमते। चित्तक्षणो हि रागादिक्लेशवासनारहितो यदि प्राक्तनात्सास्रवचित्तक्षणादुत्पद्येत तर्हि कुतस्तस्य निरास्रवत्वं ? निरास्रवात्तस्मात्तस्योत्पत्तौ तु तस्यापि कुतो निरास्रवत्वमित्यनवस्था । न च पूर्वेण सर्वथा नष्टेन परो जन्येत मृतेन पित्रा पुत्रवत् । नापि ब्रह्माद्वैतवादिकल्पितनिर्वाणे प्रमाणं । ते हि यथा घटविघटने घटाकाशमाकाशीभवति तथा देहोच्छेदात्सर्वः प्राणी परे ब्रह्मणि लीयते इति तल्लक्षणमाचक्षते । तदसत् । निस्तरंगैकरूपपरमब्रह्मणः कुतश्चित्प्रमाणादसिद्धत्वात्, भेदस्यैव सकलप्राणिनां निराबाधबोधे प्रकाशमानत्वात् । अभेदस्य वाचिरपेक्षस्य स्वप्नेऽप्यप्रतीतेः । एवं मतान्तरोक्तानां सिद्धानां अथ टनादुःखारिसंसारकाराकरणकर्मनिर्मूलनोन्मीलितनिर्मलनिश्चलविश्वदर्शीचिद्रूपसमवस्थानलक्षणं स्वास्थ्यमास्थिताः अनंतज्ञानात्मकेन सुखेन संतृप्ताः सिद्धा इत्यादि तद्गुणकीर्तनं सिद्धवर्णजननं ।

चैत्यवर्णजननं यथा—अर्हदादीनां शांतरूपत्ववीतरागत्वादिगुणानुस्मरणादपूर्वपापनिरोधोऽभिनवपुण्यास्रवणं, पुण्योदयस्फारीभावः, पापोदयापकर्षश्च स्यात् । तच्च तत्प्रतिबिंबदर्शनादुत्पद्यते । पुत्रसदृशदर्शनात्तद्गुणस्मरणवत् । बाह्यद्रव्यालंबनो हि शुभोऽशुभो वा परिणामः स्यात् इष्टानिष्टार्थसान्निध्यात्रागद्वेषवत् । अथवा अर्हदादिप्रतिरूपदर्शनात्तद्रूपं स्मर्यते, ततश्च तद्गुणाः॥ तथा चोक्तं—भूषावेषायुधत्यागी विद्यादमदयापरं ॥ रूपमेव तवाचष्टे धीरदोषविनिग्रहम् ॥ तदेवमर्हदादिवत्तच्चैत्यान्यपि शुभोपयोगहेतुतया सकलाभिमतपुरुषार्थसिद्धिहेतुत्वादुपासनीयानि इति चैत्यमहत्ताप्रकाशनं तद्वर्णजननं ।

श्रुतज्ञानं हि केवलज्ञानवद्विश्वतत्त्वावभासि, कर्मनिर्मूलनोद्यतशुभध्याननिदानं, स्वपरसमुद्धरणनिरतविनेयजनताप्रार्थनीयं, प्रतिबद्धशुभास्रवं, अप्रमत्ततायाः संपादकं, सकलविमलप्रत्यक्षज्ञानबीजं, समीचीनदर्शनचरणप्रवर्तकमिति निरूपणं श्रुतवर्णजननं ॥

चतुर्गतिदुःखात्त्रातुं, निरातंकातिशयितदीर्घकालोपलालितं सुखं दातुं, सकलसाम्राज्यं स्वर्गाधिराज्यं चाधिकर्तुं, सुरेंद्रनागेंद्रान्पादयोः पातयितुं, समवसरणादिबहिरंगानंतज्ञानाद्यंतरंगलक्ष्मीलक्षणां जीवन्मुक्तिं, सम्यक्त्वाद्यष्टगुणलक्षणामात्यंतिकीं परममुक्तिं च संपादयितुं समर्थो जिनप्रणीत एव धर्मो नान्य इति धर्ममहिमख्यापनं धर्मवर्णजननम् ॥

रत्नत्रयं साधयंतीति साधवस्त्रुट्यत्कर्मबंधनाः, संसारभीरवोऽनित्यभावनानिरस्तदेहाद्यादराः, जिनधर्मैकशरणा, ज्ञानार्कतेजोनिरस्तान्तस्तमसः, कर्मणामादाने फलानुभवने च वयमेकाकिन इति कृतनिश्चयाः, स्वचैतन्यादिगुणार्पितभेदापेक्षया कायादिपरद्रव्येभ्योऽन्ये वयमिति अन्यत्वभावनावहिताः, सुखासुखयोरकृतादरद्वेषाः, सदसद्वेद्योदयार्थमिष्टमनिष्टं वापेक्ष्य स्वस्योपकारापकारयोरहमेव प्रणेता, शुभाशुभकर्मनिर्माणे ममैव स्वातंत्र्यादनुपरतशक्तिकत्वादनुग्रहनिग्रहयोः परे वराका किं कुर्वन्ति इति मत्वा स्वजनपरजनविवेकनिरुत्सुका, समंतादुपसर्गोपनिपातेऽप्यचलधृतय, परीषहोद्रेकेऽप्यदीनासंक्लिष्टमनसस्त्रिगुप्तिगुप्तास्तपस्युद्यताः, शंसितव्रताः, शीलतत्पराः, शुभध्यानरताः,कर्मनिर्मूलनकर्मठा इति साधुमाहात्म्यप्रकाशनं साधुवर्णजननं ॥

पंचधाचारं स्वयमाचरन्ति शिष्यानाचारयन्ति इति आचार्याः। प्रत्युपकारनिरपेक्षपरोपकाराः, सुरभूधरवद्धीराः, सर्वशास्त्रपारदृश्वानः, स्वयं श्रेयःपथे स्थिताः, विनीतविनेयांस्तत्र स्थापयंतः, शुद्धदेशकुलजातयो, विनयसिद्धा, मानमर्माविधो, विगतरागद्वेषमोहाः, शल्यव्यपेतास्तपसि, तेजसि, यशसि, तरसि, वचसि च निरौपम्या इति गुणग्रहणं सूरीणां वर्णजननम् ॥

उपेत्य विनयेन ढौकित्वाऽधीयते श्रुतमेतेभ्य इति उपाध्यायाः, प्रबुद्धजिनागमार्थयथातथ्याः, सुचरितचूडामणयः पटुवर्कीसुरस्रोतस्विनीनदीष्णमतयो, निरस्तनिद्रातंद्राप्रमादाः, सुमेधसः, शिष्यमेधानुरूपव्याख्याना इत्यध्यापकवर्णजननम् ॥

रत्नत्रयस्यालाभादनंतकालमनाद्यंतोऽपि भव्यराशिर्न निर्वाति तल्लाभे च सुलभाः सर्वसंपदो दूरचारिण्यश्च समस्तविपद इत्यादिप्रवचनवर्णजननम् ॥

मिथ्यात्वकर्मनिर्मूलनं, ज्ञाननैर्मल्यमूलं, दुर्गतिगमनप्रतिबंधनं, सुगतिद्वारोद्घाटनं इत्यादि दर्शनवर्णजननम् ॥

अवर्णवादस्य–असद्भूतदोषोद्भावनस्य नाशनं प्रकृतत्वादर्हदादीनामेव । तद्यथा-वीतरागत्वसर्वज्ञत्वेऽर्हति न विद्येते सर्वप्राणिनां रागादिभिरविद्यया च नित्यमनुस्यूतत्वादित्यादिरर्हतामवर्णवादः ॥ सिद्धानां सुखं न किंचिदस्ति तत्कारणकामिन्यादीनामभावात् । सतोऽपि वा सुखस्य तेषां नानुभवस्तन्निमित्तानामिंद्रियाणामतीन्द्रियतया तत्रासत्त्वादित्यादिः सिद्धानाम् ॥ सोऽयमर्हन्नित्यादिसंकल्पनया पाषाणादावचेतने तद्व्यवस्थापनायामपि कन्यकानां कृत्रिमपुत्रकव्यवहाराविव न मुख्यवस्तूपसेवनोद्भवं फलमुपलभ्यते इति न प्रतिमादिषु संक्रान्ता अर्हदादयो, नापि प्रतिमादीनामर्हदादित्वमस्ति, तद्गुणशून्यत्वात्ततोऽन्यपाषाणादिवन्न तेषामाराधने किंचित्फलमस्ति इत्यादिश्चैत्यानां ॥

इदमार्हतं श्रुतं पुरुषकृतत्वाद्दशदाडिमादिवाक्यवदयथार्थं । न शृंगाराजनादिवत्कालुष्योत्कर्षप्रवृत्तस्य चित्तस्य कुत

श्चिद्विशुद्धिरिति सर्वे पुरुषाः सर्वदा रागादिदोषदूषिताः अत एवातीन्द्रियं वस्तु न कश्चिज्जानाति । अज्ञातं च उपदिशतो न वचः सत्यं, तद्भूतं च ज्ञानं मिथ्यैवेत्यादिः श्रुतस्य ॥

शीतोष्णस्पर्शवत्परस्परविरुद्धानामस्तित्वादिधर्माणामेकत्र वस्तुन्यसंभवात् विरुद्धाभिमतधर्माधिकरणैकवस्तुज्ञापनं न सम्यक् । नापि तच्छ्रद्धानं मृगतृष्णोदकश्रद्धानवन्मिथ्याज्ञानानुगमनात्नापि चरणं रज्जौ सर्पप्रत्ययात्तत्परिहारवत् असत्यज्ञानपूर्वक इत्यादिः प्रवचनस्य ॥ यदा तु प्रवचनशब्देन द्रव्यश्रुतमुच्यते । तदेवं जैनानां शास्त्रं शब्दशास्त्रविरोधि म्लेच्छभाषानिबद्धं, लोकशास्त्राप्रसिद्धत्वाद्विवक्षितार्थप्रतिपादनासमर्थमित्यादि ॥ दर्शनावर्णवादस्तु रत्नत्रयावर्णवादान्तर्गत एव । पृथग्दर्शनस्योपादानं तु विशिष्टतद्भक्त्यादिगोचरत्वसूचनार्थं । अर्हदाद्यवर्णवादपरिहारस्तु यथाशास्त्रं प्रतिपत्तव्यः ॥ आसादना अवज्ञा ॥ अर्हदादिषु दशस्वपि भक्त्यादयः पंचापि सम्यक्त्वस्य विनयो माहात्म्याधायकत्वात् । इति गाथाद्वयसंग्रहार्थः ॥

हिंदी अर्थ—अर्हदादिगुणोंमें प्रेम करना भक्ति है. पूजाके द्रव्यपूजा और भावपूजा ऐसे दो भेद हैं. अर्हदादिकोंके उद्देश्यसे गंध, पुष्प, धूप, अक्षतादिक समर्पण करना यह द्रव्यपूजा है. तथा ऊठ करके खडे होजाना, तीन प्रदक्षिणा देना, नमस्कार करना वगैरे शरीरक्रिया करना, वचनोंसे अर्हदादिकोंके गुणोंका स्तवन करना यह भी द्रव्यपूजा है. मनसे उनके गुणोंको चिंतन करना यह भावपूजा है.

वर्णजनन—वर्ण शब्दके अनेक अर्थ हैं. वर्ण-शुक्लादिक वर्ण, जैसे ‘ शुक्लवर्णमानय ’ अर्थात् सफेत रंगको लाओ. वर्ण शब्दका अर्थ अक्षर ऐसा भी होता है ‘ सिद्धो वर्णसमाम्नायः ’ वर्णोंका समुदाय अनादि कालसे है. वर्ण शब्दका अर्थ ब्राह्मणादिक ऐसा भी है. यथा ‘ अत्रैव वर्णानामधिकारः ’ इस कार्यमें ही ब्राह्मणादिक वर्णोंका अधिकार है. यहांपर वर्ण शब्दका ‘ यश ’ ऐसा अर्थ माना जाता है. जैसे ‘वर्णार्थी ददाति’ यशकी कामनासे देता है. प्रस्तुत ‘ वर्णजनन ’ इस शब्दमें वर्ण शब्दका अर्थ यश ऐसा समझना चाहिये.

अर्हदादि परमेष्ठिओंका विद्वानोंकी सभामें यशोगान करना, उनका महत्त्व बताना इसको ‘ वर्णजनन ’ कहते हैं.

कपिल, बुद्ध, ईश्वरादिक सर्वज्ञ नहीं थे, उनके वचन प्रत्यक्ष अनुमानादिकोंसे विरुद्ध—बाधित होते हैं ऐसा सिद्ध करके अर्हदादिकोंके वचन युक्ति और आगमसे अविरुद्ध हैं ऐसा सिद्ध करना, इस रीतीसे उनकी महत्ता

प्रकट करना यह अर्हदादिकोंके वर्णजनन है. आत्मको जब मोक्ष प्राप्त होता है तब वह अपने चैतन्यमें स्थिर होता है ऐसा सांख्य कहते हैं. मुक्तात्माका चैतन्य फक्त स्वस्वरूपको जानता है. बाह्य पदार्थको वह जानता ही नहीं- ऐसा उनका मत है. परंतु यह मत युक्तीसे बाधित होता है. प्रयत्नके विना ही सर्व आत्मामें चैतन्य सदा विराजमान है ही. वैसा ही यदि मुक्तमें भी होगा तो उसका विशेषरूप संसारी आत्माके चैतन्यस्वरूपसे भिन्न नहीं है ऐसा मानना पडेगा. अर्थात् मुक्तात्माके चैतन्यमें कुछ अपूर्वता है नहीं ऐसा सिद्ध हो गया. जिसमें कुछ अपूर्वता नहीं रहती है वह चीज इतर वस्तुसे अपना भिन्नपना सिद्ध नहीं कर सकनेसे खपुष्पके समान असत् ही समझनी चाहिये।

प्रकृतितत्त्व अचेतन होनेसे उसमें मुक्तिकी कल्पना करना फिजूल है. वह मैं बद्ध हूं अथवा मुक्त हुई हूं ऐसा जानती ही नहीं. अतः कापिलके–सांख्यके मतमें मुक्तावस्था आत्माकी सिद्ध हो नहीं पाती.

बुद्ध्यादि विशेष गुणोंसे रहित मोक्ष है ऐसा वैशेषिकोंका मत है परंतु वह भी समुचित नहीं है. आत्मामें अचेतनताकी कल्पना कौन सचेतन प्राणी करेगा? अर्थात् आत्मामें ज्ञान है यह बात बाल गोपालतक स्वीकारते हैं. यदि मुक्तावस्थामें आत्माका ज्ञान नष्ट हो गया तो वह अपनी सिद्धिके लिये किसका आश्रय करेगा? अर्थात् ज्ञान यह आत्माका विशेष लक्षण है. उसके विना उसकी सत्ता ही नष्ट हो जाती है. जैसे भस्ममें ज्ञान न होनेसे उसको कोई आत्मा नहीं कहते हैं वैसे ही मुक्तात्मा ज्ञानशून्य हो जानेसे अपना आत्मत्व खो चुके हैं ऐसा मानना पडेगा.

रागद्वेषादि क्लेशोंको उत्पन्न करनेवाला वासनाओंसे रहित जब ज्ञान हो जाता है तब वह मुक्त माना जाता है ऐसा बौद्धोंका मत है. यहां हम उनको पूछते हैं कि, यदि वह ज्ञान अत्यंत असाधारण रूप और एक ही है, दुसरे पदार्थ ज्ञानके समान असाधारणरूपके धारक नहीं है ऐसा कहोगे तो दुसरे पदार्थोंका स्वरूप वर्णन करने लायक नहीं है ऐसा निश्चित हो गया. जो जो वस्तु असाधारण स्वरूपसे रहित है वह वह आकाशपुष्पके तुल्य अभावरूप माननी पडेगी.

इस रीतीसे अन्यमतमें सिद्धोंका स्वरूप सिद्ध होता नहीं. अतः बाधक सकलकर्मका नाश हो जानेसे अविनाशी आत्मस्वरूपको जो प्राप्त होगये हैं वे सिद्ध परमेष्ठी हैं. वे अनंत ज्ञानरूपसुखसे तृप्त हुये हैं. ऐसा उनका माहात्म्यकथन करना यह सिद्धमाहात्म्यवर्णन है.

जैसे जिनके रागद्वेष नष्ट हुये हैं जो त्रैलोक्यचूडामणि हैं ऐसे अर्हदादिक भव्योंको शुभोपयोग उत्पन्न होनेमें कारण हो जाते हैं. वैसे उनके प्रतिबिंबभी शुभोपयोग उत्पन्न करते हैं. बाह्य पदार्थके आश्रयसे शुभ वा अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं. आत्मामें इष्टानिष्ट पदार्थका सान्निध्य होनेसे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं. अपने पुत्रके समानही दुसरेका सुंदर पुत्र देखनेसे अपने पुत्रकी याद आती है. इसीतरह अर्हदादिकोंके प्रतिबिंब देखनेसे अर्हदादि परमेष्ठिओंके गुणोंका स्मरण हो जाता है. इस स्मरणसे नवीन अशुभ कर्मका संवर होता है. नवीन शुभ कर्मोंका आगमन होता है. जो शुभप्रकृति ग्रहण की गई है उसमें वृद्धि होती है. पूर्वमें ग्रहण की हुई अशुभ प्रकृतियोंका रस कम करनेमें समर्थ होता है. इसलिये समस्त इष्टपुरुषार्थकी सिद्धि करनेमें प्रतिबिंब हेतु होते हैं. अतः उनकी उपासना अवश्य करनी चाहिये. इस तरहसे चैत्यकी महत्ता प्रकाशित करना यह चैत्यवर्णजनन है.

श्रुतज्ञानवर्णजनन—श्रुतज्ञान केवलज्ञानके समान संपूर्ण जीवादि द्रव्योंके यथार्थ स्वरूपका प्रकाशन करनेमें समर्थ है, कर्मरूपी उष्णताको नष्ट करनेके लिये उद्युक्त हुवा जो शुभ ध्यानरूपी चंदनवृक्ष उसको यह श्रुतज्ञान मलयपर्वतके समान है. स्वतःका और भव्यजीवोंका उद्धार करनेमें तत्पर ऐसे विद्वान लोगोंके द्वारा यह ज्ञान आराधने योग्य है. यह अशुभ कर्मके आस्रवोंकी उत्पत्ति होने नहीं देता है. इस श्रुतज्ञानसे आत्माका प्रमाद नष्ट होता है. सकल और विकल ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानोंकी उत्पत्तीमें यही कारणभूत है. सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी इससेही प्रवृत्ति टिक सकती है. इस तरहसे श्रुतज्ञानके महत्त्वका कथन है.

धर्मवर्णजनन—यह जैनधर्म दुःखोंसे जीवको बचाता है. सुख देनेमें समर्थ है, नवनिधी और चौदह रत्नोंका अधिपति करता है. जिन्होंने अपने चक्ररत्नसे संपूर्ण भूगोचरी राजे, विद्याधर नृप और गणबद्ध देव वश किये है ऐसे चक्रवर्ती भी इस धर्मके प्रभावसे नम्र होकर चरणोंपर नमस्कार करते हैं. इसके प्रभावसे इंद्र पदवी प्राप्त होती है. यह पदवी देवांगनाके चित्तको लुभानेवाली है. उसके चंचलमत्स्यके तुल्य नेत्रोंमें प्रेम उत्पन्न करती है. हर्षसे शरीरमें रोमांच उत्पन्न करती हैं. इस पदवीके धारक देवमें धर्मके प्रसादसे सर्व देवोंसे भी अधिक महत्त्वशाली अणिमामहिमादिक ऋद्धि प्राप्त होती है. हमेशा इंद्र तारुण्यसे युक्तही रहता है. उसका शरीर सौंदर्यरूपी लताके आरोहणके लिये यष्टीके समान होता है. इंद्रका आयुष्य अनेक सागरोंके जलबिंदुओंकी गणना

तुल्य बडा रहता है, अर्थात् अनेक समुद्रोंमें जलबिंदु जैसे अगणित रहते हैं वैसा इंद्रका आयुष्य अनेक सागरोपम रहता है. वह इंद्र मेरुपर्वत, कुरुभूमि [देवकुरु और उत्तरकुरु भोगभूमि] गंगादि महानदियां, हिमवदादि कुल पर्वत, इत्यादि स्थानोंमें स्वेच्छासे विहार करता है. देवांगनाओंके विशाल नितंब, अधरोष्ठ, कठिन, ऊंचे और विशाल ऐसे स्तनतट इनके साथ वह क्रीडा करता है, उनको अवलोकन और स्पर्श करके बहुत आनंद लूटता है. ऐसी महत्त्वशालिनी इंद्रपदवी इस जिनधर्मके प्रसादसे मनुष्य प्राप्त कर सकता है.

इस जिनधर्मके प्रसादसे मोक्षकी भी प्राप्ति होती है. कुरूपता उत्पन्न करनेवाली वृद्धावस्था रूप डाकिनी इस अविनश्वर ज्ञानमय मोक्षको स्पर्श नहीं करती है. शोकरूपी वृक मोक्षभूमीमें प्रवेश नहीं करते हैं. यह भूमी विपत्तिरूप दावाग्नीकी ज्वालाओंसे अलिप्त रहती है. रोगरूपी दुष्ट सर्प इसके शरीरको दंश नहीं करते हैं. यह मोक्षभूमि यममहिषके शृंगसे अखंडित रहती है. भीतिरूपी वराहोंसे उकीरी जाती नहीं है. संक्लेश परिणामरूपी शरभ इसमें वास नहीं करते हैं. प्रियवियोगरूपी क्रूर व्याघ्रोंसे यह रहित है. यह अनुपम सुखरूप रत्नोंको उत्पन्न करनेवाली खनी भूमि है. ऐसी मोक्षभूमि जिनधर्मके प्रसादसे भव्य जीव पा सकते हैं. इस तरह धर्मका माहात्म्यकथन करना यह धर्मवर्णनजनन है.

साधुवर्ग वर्णजनन-प्रियवचन बोलनेमें चतुर ऐसे बंधुगण दुर्भेद्य शृंखलाके समान है. परंतु साधुगण इस बंधुशृंखलाको झटसे तोडते हैं. दुस्तर संसाररूपी भोंवरोंमें चिरकालतक भ्रमण करनेसे उनका हृदय भययुक्त रहता है. हमेशा अनित्य भावनामें उनका चित्त आसक्त रहनेसे शरीर, धन, वगैरे पदार्थोंमें वे आसक्ति नहीं रखते हैं. यह जिनधर्म ही सैंकडो दुःखोंसे हमारा रक्षण करता है. इसको छोडकर दुसरा कोई भी हमको दुःखोंसे छुडानेवाला नहीं है ऐसा मनमें विचार कर उसके ही शरणमें जाते हैं. श्रीसाधुपरमेष्ठी ज्ञानरूपी रत्नदीपककी प्रभासे जगद्रूपी गृहमें छिपकर बैठे हुए अज्ञानांधकारको भगाते हैं. कर्मोंको ग्रहण करना, उनके फलोंको चखना और उनको निर्मूलन करना इन कार्योंमें हमको कोई साहाय्य नहीं कर सकता है. हमको ही ये कार्य करने पडते हैं. ऐसा अपने मनमें निश्चित करते हैं. असाधारणचैतन्य हमारा लक्षण है इससे हम इतर अजीवादि पदार्थोंसे भिन्न हैं ऐसी भावना कर इतर द्रव्योंसे वे अपनेको सर्वथा भिन्न भाते हैं. वे सुखमें आदर तथा दुःखमें द्वेष करते नहीं हैं. यदि मेरेमें सातावेदनीय कर्म होगा तो अन्यजन मेरा आदर करेंगे यदि नहीं होगा तो मेरा वे द्वेष करेंगे अतः मैं

ही अपने ऊपर उपकार या अनुपकार करता हूं. शुभ या अशुभ कर्म उत्पन्न करनेमें मैं स्वतंत्र हूं. अनुग्रह और निग्रह अन्य लोक करते हैं यह मानना औपचारिक है. ये लोक दीन हैं ये कुछ करने धरनेमें समर्थ नहीं हैं ऐसा विचार कर ये मेरे बंधुगण है, ये मेरे शत्रु हैं ऐसी भावनाको वे हृदयसे दूर करते हैं. जिनका सामर्थ्य अनिवार्य है ऐसे उपसर्गरूपी सर्पोंसे घिरे हुए भी वे तिलमात्र भी घबडाते नहीं है. क्षुधा, तृषादिपरीषहरूपी शत्रु बडे जोरसे आक्रमण करते हैं, तथापि वे दीन होकर मनमें संक्लेशयुक्त नहीं होते हैं. वे तीन गुप्तिरूपी गुप्ती-का आश्रय लेते हैं. अनशनादितपोराज्यका पालन करनेमें उद्युक्त होते हैं. संपूर्ण महाव्रतरूप कवचको धारणकर हाथमें शीलरूपी ढाल लेते हैं. म्यानसे बाहर निकाली हुई ध्यानरूपी तरवार वे अपने हाथमें लेकर कर्मशत्रुकी सेना जीतते हैं. इस तरहसे साधुपरमेष्टीका माहात्म्य प्रगट करना यह साधुवर्णजनन है.

आचार्यवर्णजनन—मोतिओंका हार, मेघ, चंद्र, सूर्य, कल्पवृक्ष वगैरे पदार्थ प्रत्युपकारकी अपेक्षा न करके ही उपकार करते हैं. आचार्यपरमेष्ठी भी उनके समान परानुग्रह करनेमें सदा उद्युक्त रहते हैं. वे निर्वाणनगरी के प्रति ले जानेवाले निरतिचार चारित्ररूपी मार्गका स्वयं अवलंबन करके नम्र हुए ऐसे शिष्यादिक भव्य जीवों को भी उस मार्गमें प्रवृत्त करते हैं. आचार्य निर्मल ज्ञान और विशालदर्शनरूपी पक्ष्मल नेत्रोंसे सब पदार्थोंको जानते हैं और देखते हैं. वे कुलीन, नम्र, निर्भय, अभिमानरहित, रागद्वेष रहित, माया, मिथ्यात्व, निदानरहित और मोहरहित होते हैं. वचनोंमें, तेजमें, तपमें वे अद्वितीय होते हैं. वे जगतके अद्वितीय अलंकार हैं. इस तरह आचार्यवर्णजनन समझना.

उपाध्यायवर्णजनन—उपाध्याय परमेष्ठी अच्छी तरहसे आगमके ज्ञाता होते हैं. वे जीवादि पदार्थोंका यथार्थ वर्णन करते हैं. शब्द और अर्थके वाच्यवाचक संबंधका निर्दोष विवेचन करते हैं. वे निद्रा, आलस्य और प्रमादका त्याग किये हुये हैं, निरतिचार चारित्रके धारक, शील संपन्न और सम्यग्ज्ञान संपन्न होते हैं. यह उपाध्याय वर्णजनन है.

मार्गवर्णजनन—रत्नत्रयही मोक्षका मार्ग है. इसका लाभ जीवको यदि न हो जायगा तो अनादि व अविनश्वर ऐसी यह भव्यजीवराशि मोक्षपुरकी प्राप्ति नहीं कर सकेगी. जब उसका लाभ होता है तब जगतकी सर्व संपत्ति इस जीवको प्राप्त होती है. यह मार्गवर्ण जनन है.

सम्यग्दर्शन वर्णजनन—सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वपटलको नष्ट करके सम्यग्ज्ञानमें निर्मलपना लाता है. नरक तिर्यंचादि अशुभ गतिमें जानेसे रोकता है. यह मिथ्यादर्शनका शत्रु है ऐसा वर्णन करना यह सम्यग्दर्शन वर्णजनन है.

गुणवान ऐसे पंच परमेष्ठीओंमें जो दोष नहीं है ये दोष निकालना उसको अवर्णवाद कहते हैं. ऐसे अवर्णवादका निराकरण करनेसे दर्शनविनय होता है. अब अवर्णवादका वर्णन करते हैं—

वीतरागता और सर्वज्ञपना अर्हन्तमें नहीं है. जगतमें संपूर्ण प्राणी रागद्वेष और अज्ञानसे घिरे हुए ही देखे जाते हैं ऐसा कहना यह अर्हत्का अवर्णवाद है.

स्त्री, वस्त्र, इत्र वगैरे सुगंधी पदार्थ, पुष्पमाला और वस्त्रालंकार येही सुखके कारण हैं. इन पदार्थोंका अभाव होनेसे सिद्धोंको सुख नहीं है. सुख इंद्रियोंसे प्राप्त होता है. परंतु सिद्धोंको स्पर्शादि इन्द्रियां नहीं हैं अतः वे सुखी नहीं हैं. ऐसा कहना यह सिद्धावर्णवाद है.

जैसे छोटी छोटी कन्यायें गुड्डी यह मेरा बालक है ऐसा व्यवहार करती हैं. परंतु जैसे साक्षात् बालक गोदमें लेनेसे उनको सुख मिलेगा वैसा गुड्डीसे नहीं मिलता है वैसेहि ये अर्हन्त है ये सिद्ध परमेष्टि हैं ऐसी अचेतन पदार्थमें स्थापना करके उपासना की तो भी समवसरणमें साक्षात् विराजमान अर्हन्तकी पूजा करनेसे जो फल मिलता है वह नहीं मिलेगा. मूर्तिमें अर्हत् सिद्ध वगैरे पूज्य पुरुष वास नहीं करते हैं. क्योंकि उनके गुण मूर्तीमें दीखते नहीं हैं. ऐसा कहना चैत्यावर्णवाद है.

श्रुतावर्णवाद–जैसे नदीके तीरपर दस दाडिम गिरे हैं हे लडको ! भागो ऐसा कहनेंवाले पुरुषका वाक्य जैसा असत्य है वैसे आगम भी पुरुषकृत होनेसे असत्य है अप्रमाण है. पुरुषको अतींद्रिय वस्तुओंका ज्ञान होता नहीं है. और अज्ञात वस्तुका यदि वह उपदेश करेगा तो उसके उपदेशमें प्रमाणता कैसी आवेगी ? उसके उपदेशसे लोगोंको जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह भी प्रमाण कैसा माना जायगा ? अतः आगमज्ञान प्रमाण नहीं है ऐसा कहना यह श्रुतावर्णवाद है.

धर्मावर्णवाद–धर्म दुर्गतिसे प्राणीको बचाता है, और स्वर्गादिफल देता है यह कहना ही है. ये सब बातें परोक्ष हैं. प्रत्यक्ष नहीं है. अतः इनके उपर विश्वास रखना कैसा योग्य होगा ? जिसके कारण मौजद रहते हैं वह

वस्तु उत्पन्न होती है जैसे बीज होनेसे अंकुरोत्पत्ति होती है. यदि धर्म सुखदायक है तो वह उत्पन्न होनेके अनंतर ही सुख क्यों उत्पन्न नहीं करता है. ऐसा कहना यह धर्मावर्णवाद है.

साधु, आचार्य और उपाध्याय ये सर्व मुनिराज अहिंसाव्रतका पालन करते हैं ऐसा जैनलोक कहते हैं परंतु इन मुनिओंका अहिंसाव्रत युक्तीसे सिद्ध होता नहीं. ये सर्वमुनि पांच स्थावरजीव व और त्रस जीवके समुदायमें विहार करते हैं. इसलिये ये अहिंसक कैसे होंगे ? ये साधु केशलोच, उपवासादिकेद्वारा आपने आत्माको दुःख देते हैं. इसलिये इनको आत्मवधका दोष क्यों न लगेगा. पाप और पुण्य दृष्टिगोचर होते नहीं है तो भी ये मुनि उनका और उनके नरक, स्वर्गादिफलोंका वर्णन करते हैं. उनका यह विवेचन झूटा होनेसे असत्य बोलनेका दोष उनसे होता है. इत्यादि कहना यह साधु अवर्णवाद है. इसी तरह आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठीका भी अवर्णवाद समझना चाहिये-

प्रवचनावर्णवाद—एक वस्तूमें परस्पर विरुद्ध स्वभाव नहीं रहते हैं. तो भी एक वस्तूमें उनकी कल्पना करना यह युक्ति संगत नहीं है. जो मनुष्य एकवस्तुमें विरुद्ध स्वभाव रहते हैं ऐसी श्रद्धा करता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है. क्योंकि उसके श्रद्धानने विपरीत ज्ञानका अनुसरण किया है. जैसे मृगतृष्णामें की गई श्रद्धा मिथ्याज्ञानका अनुसरण करनेवाली होनेसे मिथ्या मानी जाती है. जैनलोगोंका चारित्र भी मिथ्याज्ञानका अनुसरण करता है अतः वह भी सच्चा नहीं है. दोरीमें सर्पकी भ्रांति होनेसे जैसे रज्जुका त्याग हो जाता है, इस त्यागके समान ही मिथ्याज्ञानसे होनेवाला चारित्र भी भ्रांत है. इत्यादि कहना प्रवचनावर्णवाद है.

अब उपर्युक्त अवर्णवादोंका असत्यपना संक्षेपमें दिखाते हैं. अर्हन् पुरुष होनेसे रास्तेसे जानेवाले प्रवासीके समान सर्वज्ञ और वीतराग नहीं हैं यह कहना असत्य है. क्योंकि असर्वज्ञपना व रागद्वेषीपना इनसे पुरुषत्वका अविनाभाव नहीं है. जैनलोक भी जैमिनी, बुद्ध वगैरह पुरुष भी भेडियोंको पालनेवाले मनुष्यके समान हैं ऐसा कह सकेंगे. अर्हन् सर्वज्ञ और वीतराग है इस बातका विवेचन अन्य न्यायग्रंथोंमें होनेसे हम यहां करते नहीं. जो पदार्थ केवल दुःख प्रतीकारार्थ ही है उनमें मूढ लोक सुखसाधनता मानते हैं. स्त्रीके साथ संभोग करना यह वास्तविक सुख नहीं है. क्योंकि स्त्रीको भोगते समय शरीरको बहुत आयासयुक्त करना पडता है अतः उसको सुख कहना

यह सोलह आना झूट है. कुरूपताको मिटानेवाले वस्त्रादिकोंकी सिद्धपरमेष्ठीको बिलकुल आवश्यकता नहीं है. वे सिद्ध भगवान शरीररहित हैं. अशरीर आत्मामें सकल दुःखोंका नाश होना यही सुख है. यह पूर्ण, अनंत और अनंतज्ञानात्मक है. आत्मामें रहा हुआ श्रुतज्ञान जीवादि पदार्थोंको जाननेमें निमित्त होता है. जैसे अरहंत और आचार्यादिक शुभोपयोगके लिये कारण हैं वैसे उनके प्रतिबिंब भी शुभोपयोगके लिये कारण हैं. यह संक्षेपसे अवर्णवादका निरसन हुवा.

एवं दंसणमाराहंतो मरणे असंजदो जदि वि कोवि ॥
सुविसुद्धतिव्वलेस्सो परित्तसंसारिओ होइ ॥ ४८ ॥

मृतावाराधयन्नेवं निश्चरित्रोऽपि दर्शनं ॥
प्रकृष्टशुद्धलेश्याको जायते स्वल्पसंसृतिः ॥ ५१ ॥

विजयोदया—एवमित्यनया गाथया असंयतसम्यग्दृष्टेः सम्यक्त्वमाराधयतः फलमाचष्टे एवमिति पूर्वोक्तपरामर्शः । नैर्ग्रन्थ्यमेव मोक्षमार्गः प्रकृष्टः इति । श्रद्दधानाः शंकादिकमपाकुर्वन्ति उपबृंहणादिभिः । सम्यक्त्वस्य शुद्धिं वर्धयन्समीचीनं दर्शनविनयं संपादयन् । दंसणं श्रद्धानं । आराधन्तो निष्पादयन्मरणे भवपर्ययप्रच्युतिकाले । असंजदो जदि वि यद्यप्यसंयतः । सुविसुद्धतिव्वलेस्सो कषायानुरंजिता योगवृत्तिर्लेश्या, सा षोढा प्रविभक्ता कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्ललेश्याभेदेन । तत्राशुभलेश्यानिरासार्थं सुविशुद्धग्रहणं । तीव्रग्रहणं परिणामप्रकर्षोपादानाय । सुविशुद्धा तीव्रा लेश्या यस्य सुविशुद्धतीव्रलेश्यः । परित्तसंसारिओ अल्पचतुर्गतिपरिवर्तः । होदि भवति । अल्पसंसारता सम्यक्त्वाराधनायाः फलत्वेन दर्शिता ॥

एवंविधसम्यक्त्वाराधनायाः फलमाचष्टे—

मूलारा—आराहंतो निष्पादयन् । सुविसुद्धतिव्वलेस्सो सुविशुद्धतीव्रलेश्यः विशुद्धा शुभा तीव्रा परिणामप्रकर्षवती लेश्या कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्यस्य सः । परित्त परिमितः । सम्यक्त्वाराधनायाः स्वल्पसंसारत्वमित्यर्थः ।

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी आराधना करनेवाले असंयत सम्यग्दृष्टीको कोनसा फल मिलता है इसका इस गाथामें आचार्यने उल्लेख किया है. उपगूहन, वात्सल्य, स्थितिकरण और प्रभावना ये सम्यग्दर्शनके चार गुण हैं इनसे सम्यग्दर्शन शंकादिदोषोंसे रहित हो जाता है. सम्यग्दर्शनमें विशुद्धि

रह जाती है. और दर्शनविनयकी प्राप्ति होती है. सम्यक्त्वकी आराधना करनेवाला कोई जीव यद्यपि असंयत सम्यग्दृष्टि होगा तथापि वह विशुद्ध और तीव्र लेश्याका धारक होनेसे अल्पसंसारी होता है. क्रोधादि कषायोंसे अनुरंजित योगकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं. उसके कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, और शुक्ल ऐसे छह भेद हैं. कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेश्यायें अशुभ हैं. यहां उत्तर तीन लेश्याओंका ग्रहण समझना चाहिये. जिसके तीन शुभ लेश्याके तीव्र निर्मल परिणाम हैं वह सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दर्शनकी आराधनासे चतुर्गतिमें थोडा भ्रमण करके मुक्त होता है. अल्प संसार रह जाना यह सम्यग्दर्शनाराधनाका फल है ऐसा यहां समझना चाहिये.

सद्दहया पत्तियया रोचय फासंतया पवयणस्स ॥
सयलस्स जेण एदे समत्ताराहया होंति ॥

रोचका जंतवो भक्त्या स्पर्शकाः प्रतिपादकाः ॥
आगमस्य समस्तस्य सम्यक्त्वाराधका मताः ॥ ५२ ॥

संघातार्थं व्याख्यातृभिः सूत्रे पठिता गाथा यथा—

सद्दहया पत्तियया रोचय फासंतया पवयणस्स ॥
सयलस्स जे णरा ते सम्मत्ताराहया होंति ॥

मूलारा—सद्दहया श्रद्धानकारकाः मनसा। पत्तियया प्रीतिमंतः इदमेवोत्तममिति वचनेन। रोचय रुचियुक्ताः नखच्छोटिकया। फासंतया अनुष्ठातारः

अर्थ—जो जीव जीवादितत्त्वोंके प्रतिपादक आगमपर मनसे श्रद्धान करते हैं. जो जिनकथित तत्त्व ही सर्वोत्कृष्ट है ऐसा वचनके द्वारा उच्चार करके श्रद्धान करते हैं. अर्थात् अन्तःकरणमें उत्पन्न हुवा श्रद्धानपरिणाम वचनके द्वारा व्यक्त करते हैं. जो चुटकीके द्वारा अर्थात् करतलध्वनिके द्वारा अपना तत्त्वश्रद्धान प्रगट करते हैं. तथा जो अपना तत्त्वश्रद्धान कार्य करके-धर्मप्रभावना-जिनपूजा, दान इत्यादिके द्वारा प्रगट करते हैं. वे सब जीव सम्यग्दर्शनके आराधक हैं ऐसा मानना चाहिये.

तत्त्वश्रद्धानपरिणामः कतिभेदः किं फलं इत्यस्य प्रतिवचने उत्तरप्रबंधः। तत्र भेदप्रतिपादनायाह—

तिविहा सम्मत्ताराहणा य उक्कस्समज्झिमजहण्णा ॥
उक्कस्साए सिज्झदि उक्कस्ससुक्कलेस्साए ॥ ४९ ॥

उत्कृष्टा मध्यमा हीना सम्यक्त्वाराधना त्रिधा ॥
उत्कृष्टलेश्यया तत्र सिद्ध्यत्युत्कृष्टया तया ॥ ५३ ॥

विजयोदया—तिविहा त्रिविधा। सम्मत्ताराहणा सम्यक्त्वाराधना। उक्कस्समज्झिमजहण्णा उत्कृष्टमध्यमजघन्या चेति। तत्र उक्कस्साए उत्कृष्टया सम्यक्त्वाराधनया। सिज्झइ सिध्यति निर्वृतिमुपैति। उत्कृष्टशुक्ललेश्यासहितया।

सम्यक्त्वाराधनाया भेदनिर्देशपूर्वकं उत्कृष्टभेदस्य फलमाचष्टे—

मूलारा—स्पष्टम्।

तत्त्वश्रद्धानरूप परिणाम कितने तरहके हैं? उनसे क्या फल मिलता है? इसका उत्तररूप आगेका विषय लिखते हैं. प्रथमतः सम्यक्त्वाराधनाके भेद दिखाते हैं—

अर्थ—सम्यग्दर्शनाराधनाके उत्कृष्टाराधना, मध्यमाराधना व जघन्याराधना ऐसे तीन भेद हैं. उत्कृष्ट शुक्ललेश्यासहित जीवको उत्कृष्ट सम्यक्त्वाराधनाके प्रभावसे मुक्तिसुख प्राप्त होता है.

सेसा य हुंति भवसत्त मज्झिमाए य सुक्कलेस्साए ॥
संखेज्जा ऽसंखेज्जा वा सेसा भवजहण्णाए ॥ ५० ॥

भवन्त्यन्ये भवाः सप्त मध्यमया मध्यलेश्यया ॥
संख्याता वाप्यसंख्याता हीनया हीनलेश्यया ॥ ५४ ॥

विजयोदया—सेसा अवशिष्टाः। होंति भवन्ति। किं भवा मनुष्यत्वादिपर्यायाः। कति सत्त सप्त। मज्झिमाए य सम्यक्त्वाराधनया। सुक्कलेस्साए शुक्ललेश्यया मध्यमया वर्तमानस्येत्युभाभ्यां मध्यमशब्दस्य संबंधो व्याख्येयः। संखेज्जा संख्याताः असंख्याता वा सेसा शेषा भवन्ति भवाः। जहण्णाए जघन्यसम्यक्त्वाराधनया मृतिमुपेतस्य।

मूलारा—मज्झिमाए-मध्यमया इदमुभयत्र योज्यं । तेन मध्यमशुक्ललेश्यायां वर्तमानस्य मध्यमया सम्यक्त्वा राधनया मृतिमुपगतस्यावशिष्टाः सप्तभवाः स्युरित्यर्थः । संखेज्जा इत्यादि संख्याता असंख्याता वा भवन्ति शेषा भवा जघन्यया मृतस्येत्यर्थः । अन्ये तु संखेज्जा संखेज्जा भवा य इति पठित्वा भवाश्चेत्यत्र च शब्देन अनंत इति समुच्चिन्वन्ति । वयं तु वा शब्दात् ।

अर्थ—मध्यम शुक्ल लेश्याका आश्रय करके जो जीव मध्यम सम्यक्त्वाराधना करते हैं वे सात भव धारण करके मोक्षको प्राप्त करते हैं. जघन्य सम्यक्त्वकी आराधनासे जो मरण करते हैं वे जीव संख्यात अथवा असंख्यात जन्म धारण करके मोक्ष हस्तगत करते हैं.

उत्कृष्टेव आराधनाः कस्य भवंति इत्यस्योत्तरमाह गाथया—

उक्कस्सा केवलिणो मज्झिमया सेससम्मदिट्ठीणम् ।

अविरदसम्मादिठ्ठिस्स संकिलिठ्ठस्स दु जहण्णा ॥ ५१ ॥

तत्र केवलिनो वर्या मध्या सा शेषसद्दृशाम् ॥

असंयतस्य सद्दृष्टेर्हीनं संक्लिष्टचेतसः ॥ ५५ ॥

विजयोदया—उत्कृष्टा सम्यक्त्वाराधना भवति । कस्य केवलिणो केवलिनः । केवलमसहायं ज्ञानं । इंद्रियाणि, मनः, प्रकाशोपदेशादिकं वानपेक्ष्य वृत्तेः । प्रत्यक्षस्यावध्यादेः आत्मकारणत्वादसहायतास्तीति केवलत्वप्रसंगः स्यादिति चेन्न कर्मनिरासकारिरज्ञानावरणस्योपजायमानस्यैव बोधस्य केवलशब्दवृत्तेः । केवलिशब्दो यद्यपि सामान्येन केवलिद्वये प्रवृत्तस्तथापीह अयोगिकेवलिग्रहणं इत्यन्यत्र मरणाभावात् ॥

उत्कृष्टता कथं सम्यक्त्वाराधनाया इति चेत् इह द्विविधं सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं चेति । रागो द्विविधः प्रशस्तरागः अप्रशस्तराग इति । तत्र प्रशस्तरागो नाम पंचगुरुषु, प्रवचने च वर्तमानस्तद्गुणानुरागात्मकः । अप्रशस्तो रागो द्विविधः इंद्रियविषयेषु मनोज्ञेषु जायमानः । आप्ताभासेषु, तत्प्रणीते सिद्धांते, तन्निरूपिते मार्गे, तत्स्थेषु वा प्रवर्तमानः दृष्टिरागः इति । तत्र प्रशस्तरागसहितानां श्रद्धानं सरागसम्यग्दर्शनं । रागद्वयरहितानां क्षीणमोहावरणानां वीतरागसम्यग्दर्शनं । तस्याराधना उत्कृष्टा रागमलाभावात् । अशेषत्रिकालगोचरवस्तुयाथात्म्यग्राहिसकलज्ञान सहचारित्वाच्च ।

मज्झिमया मध्यमिका सम्यक्त्वाराधना भवति । सेससम्मदिट्ठीणं उपयुक्तेतरवचनः शेषशब्दः इति केवलि-

भ्यो येऽन्येऽसंयतसम्यग्दृष्ट्यादयस्ते परिगृह्यन्ते शेषशब्देन ।

तत्रापवादमाह—अविरदसम्मादिट्ठिस्स असंयतसम्यग्दृष्टेः । जहण्णा जघन्या सम्यक्त्वाराधना भवति । किं भवंस्य ? नेत्याह—संकिलिट्ठस्स संक्लिष्टस्य परीषहव्याकुलचेतसः इति यावत् ।

का सम्यक्त्वाराधना कस्य स्यादित्याह—

मूलारा—चक्कस्स उत्कृष्टा प्रशस्तेतररागात्कर्ममलविलयान्निखिलवस्तुयाथात्म्यग्राहिसकलज्ञानसहचरितत्वाच्च । अर्थादयोगकेवलिनस्यैव मरणसंभवात्परमोत्कृष्टशुक्लेश्यासंस्कारव्यवहरणानुसरणाच्च । पूर्वप्रयोगादाविद्धकुलालचक्रव-दिति सूत्रकारवचनात् । सेसा असंक्लिष्टसम्यग्दृष्ट्यादिः । संकिलिट्ठस्स परीषहव्याकुलमनसः ।

कहीं हुई ये तीन आराधनायें किस जीवको प्राप्त होती है ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं.

अर्थ—उत्कृष्ट सम्यक्त्वकी आराधना अयोगकेवलीको होती है. मध्यम सम्यग्दर्शनाराधना बाकीके सम्यग्दृष्टी जीवोंको होती है. परंतु परीषहोंसे जिसका मन उद्विग्न हुवा है ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टीको जघन्य सम्यक्त्वाराधना प्राप्त होती है.

विशेषार्थ—असहाय ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं. शंका–इंद्रिया, मन, प्रकाश और उपदेशादिकोंका सहारा न लेकर फक्त आत्माके आश्रयसे अवधि व मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होते हैं. इस लिये उनको भी केवलज्ञान क्यों नहीं कहते हो ? उत्तर–अवध्यादिक ज्ञानको केवलज्ञान नहीं कहते हैं. जिसने सर्व ज्ञानावरणकर्मका नाश किया है ऐसे ज्ञानको ही केवलज्ञान यह शब्द रूढ है अन्य ज्ञानोंमें केवल शब्दकी रूढी नहीं है.

केवलि शब्द सामान्यसे सयोगकेवली और अयोगकेवली इन दोनोंमें प्रवृत्त है तो भी यहां केवली शब्दमें अयोग केवलीकाही ग्रहण होता है. सयोगकेवलीकी अवस्थामें मरण होताही नहीं.

केवलीका सम्यग्दर्शन उत्कृष्ट कैसा ? उत्तर—सम्यग्दर्शनके सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन ऐसे दो भेद हैं. रागके भी प्रशस्त राग और अप्रशस्त राग ऐसे दो भेद हैं. पंच परमेष्टी, और जिनागममें जो गुणानुराग उत्पन्न होता है उसको प्रशस्तराग कहते हैं. अप्रशस्तरागसे मनोहरविषयोंमें जो प्रेम उत्पन्न होता है वह पहिला अप्रशस्त राग है. और बुद्ध, कपिलादिक आप्ताभास और उनके सिद्धान्त, उनके द्वारा प्ररूपे हुए कुमार्ग तथा कुमार्गस्थ लोक इनके विषयमें हुआ जो अनुराग वह दूसरा अप्रशस्त राग है. प्रशस्तरागसहित जीवोंका जो

सम्यग्दर्शन वह सराग सम्यग्दर्शन है. जिनके प्रशस्त और अप्रशस्त दोनो ही राग नष्ट हो गये हैं अर्थात् मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म जिनका नष्ट हो गया है उनके सम्यग्दर्शनको वीतराग सम्यग्दर्शन कहते हैं. केवली भगवानको उत्कृष्ट सम्यग्दर्शनाराधना होती है. क्योंकि संपूर्ण रागरूपी मल उनका नष्ट हुआ है. तथा त्रिकालवर्ती संपूर्ण पदार्थोंका यथार्थस्वरूप जाननेवाला ज्ञान सम्यग्दर्शनका साथी है. इसलिये भी केवली भगवानकी सम्यग्दर्शनाराधना सर्वोत्कृष्ट है. अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिक सम्यग्दृष्टि जीवोंकी सम्यग्दर्शनाराधना मध्यम दर्जेकी है. जो परीषहोंसे व्याकुलचित्त हो गये हैं ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टी जीव जघन्याराधक हैं ऐसा समझना चाहिये.

जघन्यसम्यक्त्वाराधनामाहात्म्यं कथयति—

संखेज्जमसंखेज्जगुणं वा संसारमणुसरित्तूणं ।
दुक्खक्खयं करेंते जे सम्मत्तेणणुमरंति ॥ ५२ ॥

संख्यातामप्यसंख्यातामनुसृत्यापि संसृतिम् ॥
मृत्युकालेऽनुगच्छन्तो जीवाः सिध्यन्ति दर्शनम् ॥ ५६ ॥

विजयोदया-संखेज्जमसंखेज्जगुणं वा संसारमणुसरित्तूणं परिभ्रम्य। दुक्खक्खयं दुःखक्षयं। करेंति कुर्वन्ति। के जे। सम्मत्तेणणुमरंति सम्यक्त्वेन सह मृतिमुपयान्ति । नन्वियं जघन्या सम्यक्त्वाराधना तस्यां च प्रवृत्तस्य संसारकलो निरूपित एव । 'संखेज्जं वा असंखेज्जं वा सेसा जहण्णाए' इति तत्पुनरुक्तता स्यादिति। न, उक्तस्यार्थस्याविशेषेण भूयोऽभिधानं पुनरुक्तमिति, इह तु विशेषाभिधानमस्ति 'दुक्खक्खयं करेंतित्ति'।

जघन्यसम्यक्त्वाराधनामाहात्म्यमाह—

मूलारा—गुणं वा । वा शब्दादनंतं चेत्यर्थः । अणुसरित्तूणं । परिभ्रम्य । अणुसरित्ता मरणे प्रतिपद्य । करेंति इत्यादि ॥ एतद्विशेषख्यापनार्थत्वादस्योक्तार्थत्वेऽपि न दोषः॥

जघन्य सम्यक्त्वाराधनाकी विशेषता आचार्य दिखाते हैं—

अर्थ—जिनका सम्यक्त्वके साथ मरण होता है वे जीव संख्यात या असंख्यातभवतक संसारदुःखोंका क्षय करके मोक्षकी प्राप्ति कर लेते हैं. १७८

शंका—इस जघन्यसम्यक्त्वाराधनाका काल पूर्वमें ' संखेज्जा संखेज्जा वा सेसा जहण्णाए ' इस गाथामें कहा है. वही अभिप्राय प्रस्तुत गाथामें पुनः आप कहते हैं इस लिये यहां पुनरुक्ति दोष आता है. समाधान—आपका कहना ठीक है. कहे गये अर्थकोही बार बार कहना वह पुनरुक्तिदोष है. परंतु यहां सम्यक्त्वाराधनाकी विशेषता कही है इस लिये पुनरुक्ति दोष नहीं है. सम्यक्त्वाराधक दुःखोंका क्षय करके मुक्त हो जाता है यह विशेषता इस गाथामें आचार्यने दिखायी है अतः यहां पुनरुक्ति नहीं है.

सम्यक्त्वलाभमाहात्म्यनिवेदनाय गाथा—

लध्दूण य सम्मत्तं मुहुत्तकालमवि जे परिवडंति ॥
तेसिमणंताणंता ण भवदि संसारवासद्धा ॥ ५२ ॥

मुहूर्तमपि ये लब्ध्वा जीवा मुंचन्ति दर्शनम् ॥
नानंतानंतसंख्याता तेषामद्धा भवस्थितिः ॥ ५७ ॥

इति बालमरणं समाप्तम् ॥

विजयोदया—लध्दूण लब्ध्वा । सम्मत्तं तत्वश्रद्धानं । कियत्कालं ? मुहुत्तकालमवि अंतर्मुहूर्तमात्रमपि ॥ जे ये परिवडंति सम्यक्त्वात्प्रच्यवन्ति । अनंतानुबंधिनामुदयात् । तेसिं तेषां सम्यक्त्वात्प्रच्युत्य मिथ्यात्वं गतानां । संसारवासद्धा संसारवसनकालोऽनंतो भवत्येवेति, तु शब्द एवकारार्थोऽत्र संबधनं नेयः । अनंतानंतग्रहणं कुर्वता अनंतकालपरिभ्रमणसद्भावसूचनं कृतम् ॥ इति बालमरणम् ॥

मूलारा—दु एवार्थे । मुहुत्तकालं अन्तर्मुहूर्तमात्रं । परिवडंति । सम्यक्त्वात्प्रच्यवन्ते अनंतानुबंधिनामन्यतमोदयात् । अनंतानंतो । अनंतस्तु स्यादिति भावः । अद्धा काल । इति बालमरणं प्रकरणम् ।

सम्यक्त्वके लाभका माहात्म्य कहते हैं.

अर्थ—जो जीव सम्यग्दर्शनको मुहुर्तकालपर्यंतभी प्राप्त करके अनंतर छोड देते हैं वे भी इस संसारमें अनंतानंत कालपर्यंत नहीं रहते हैं. अर्थात् उनको अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन कालतकही फिरना पडता है. इससे ज्यादा कालतक वे भवभ्रमण करते नहीं.

बालमरण प्रकरण समाप्त हुवा. अब बालबाल प्रकरणका वर्णन करते हैं.

मिथ्यादृष्टेर्दर्शनस्याभावान्न तस्याराधकः स्यात् ज्ञानचारित्रयोः परिणत इति तयोराराधकः स्यादितीमां शंकाम पाकर्तुमाह—

जे पुण सम्मत्ताओ पब्भट्ठा ते पमाददोषेण ॥
भामन्ति दुब्भवा वि हु संसारमहण्णवे भीमे ॥ ५४ ॥ क्षेपकगाथा ।
जो पुण मिच्छादिट्ठी दढचारित्तो अदढचरित्तो वा ॥
कालं करेज्ज ण हु सो कस्सहु आराहओ होदि ॥ ५५ ॥

संयतोऽसंयतो वा यो मिथ्यात्वकलुषीकृतम् ॥
विदधात्यधमः कालं कस्याप्याराधको न सः ॥ ५८ ॥

विजयोदया—जो पुण मिच्छादिट्ठी । यः पुनर्मिथ्यादृष्टिस्तत्त्वश्रद्धानरहितो । यः पुनर्दढचरित्तो अदढचरित्तो वा दृढचारित्रो वा अदृढचारित्रो वा । कालं करेज्ज मृतिमुपेयात् । सो सः । ण खु नैव । कस्सइ कस्यचिदपि । आराधगो आराधको भवति । सम्यक्त्वमंतरेण सम्यग्ज्ञानसम्यक्चारित्रे न स्त. । इति रत्नत्रये कस्यचिदपि नाराधक इति ग्राह्यम् । अन्यथा मिथ्यादर्शनादीनामाराधक एवासौ इति कृत्वा न कस्यचिदपि इत्ययुक्तं स्यात् ॥

अथ मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वाभावात्तदनाराधकोऽपि ज्ञानचारित्रपरिणत्या म्रियमाणस्तदाराधकः स्यादित्याशंकापनोदार्थं आह—

मूलारा—कस्सवि रत्नत्रयमध्ये कस्यचिदपि सम्यक्त्वं विनान्ययोरपि अभावात् ।

मिथ्यादृष्टि सम्यग्दर्शन न होनेसे सम्यग्दर्शनका आराधक नहीं है. तो भी ज्ञान और चारित्रमें वह परिणत होनेसे उनका आराधक होगा इस शंकाको दूर करते हैं—

अर्थ—अनंतानुबंधीके उदयसे प्रमाद दोष उत्पन्न होकर जो जीव सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हो जाते हैं, अर्थात् जो मिथ्यात्वी होते हैं वे इस भयंकर संसारसमुद्रमें पडकर अनंत कालतक कुत्सितभव धारण करते हुये भ्रमण करते हैं.

अर्थ—तत्त्वार्थश्रद्धानरहित जो मनुष्य अर्थात् मिथ्यादृष्टी दृढचारित्रका धारक हो अथवा शिथिलचारित्री

हो वह यदि मरेगा तो किसी भी आराधनाका धारक नहीं है. अभिप्राय यह है कि उसको सम्यग्दर्शन नहीं है. सो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र उसके बिना उसको कैसे प्राप्त होंगे? अतः रत्नत्रयमेंसे वह किसीका भी आराधक नहीं है. यदि वह मिथ्यादर्शनादिकोंका आराधक हैं ऐसा मानोगे तो 'ण हु सो कस्स हु आराहगो होदि' 'वह किसी भी आराधनाका आराधक नहीं है' यह वचन मिथ्या कहना पडेगा.

अथ को मिथ्यादृष्टिर्यो मिथ्यात्ववान्। अथ तत्रैव मिथ्यात्वं नाम किं कतिविधं इत्यत आह—

तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं ॥
संसइयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तं तिविहं ॥ ५६ ॥

जिनैरभाणि मिथ्यात्वं तत्त्वार्थानामरोचनम् ॥
इदं सांशयिकं जंतोर्गृहीतमगृहीतकम् ॥ ५९ ॥
तत्र जीवादितत्वानां कथितानां जिनेश्वरैः ॥
विनिश्चयपराचीना दृष्टिः सांशयिकी मता ॥ ६० ॥
परोपदेशसंपन्नं गृहीतमभिधीयते ॥
निसर्गसंभवं प्राज्ञैर्मिथ्यात्वमगृहीतकम् ॥ ६१ ॥

विजयोदया—तं तत्। मिच्छत्तं मिथ्यात्वं। होदि भवति। जं यत् असद्दहणं अश्रद्धानं। कस्य तच्चाणं अत्थाणं तत्त्वार्थानामनंतद्रव्यपर्यायात्मकानां जीवादीनां। अर्थस्य तत्त्वविशेषणमनर्थकम्। अतत्त्वरूपस्याभावात् इति चेन्न। मिथ्याज्ञानोपदर्शितस्य नित्यत्वक्षणिकत्वाद्यन्यतमधर्ममात्रात्मकस्यातत्त्वरूपसंभवात्। तस्य भावस्तत्त्वं तत्त्वशब्दो भाववचनः। भाववत्त्वमर्थशब्दो ब्रवीति। ततोऽनयोर्भिन्नाधिकरणभूतोः कथं समानाधिकरणतेति न दोषः। भाववद्व्यतिरेकाद्भावस्य तत्त्वशब्दोऽर्थे एव वर्तते इति। तथा च प्रयोगः—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति। अथवाप्यधिकरणतैव। अर्थानां जीवादीनां यानि तत्त्वानि अविपरीतानि रूपाणि तेषामश्रद्धानं यत्तन्मिथ्यात्वं इति संबंधः क्रियते। संसयिदं संशयितं किंचित्तत्त्वमिति। तत्त्वानवधारणात्मकसंशयज्ञानसहचारि अश्रद्धानं संशयितं। न हि संदिहानस्य तत्त्वविषयं श्रद्धानमस्ति इदमित्थमेवेति। निश्चयप्रत्ययसद्भावित्वात् श्रद्धानस्य। अभिग्गहिदं परोपदेशाभिमुख्येन गृहीतं स्वीकृतं अश्रद्धानं अभिगृहीतमुच्यते। एतदुक्तं भवति। न संति जीवादीनि द्रव्याणि इति गृहाण संति जीवादीनि नित्यान्येवेति यदा परस्य वचनं श्रुत्वा

जीवादीनां सत्वे अनेकांतात्मकत्वे चोपजातं अश्रद्धानं अरुचिर्मिथ्यात्वमिति । परोपदेशं विनापि मिथ्यात्वोदयादुपजायते यदश्रद्धानं तदनभिगृहीतं मिथ्यात्वं ॥

यद्वान्मिथ्यादृष्टिःस्यात्तन्मिथ्यात्वं किं कतिविधं चेत्यत्राह—

मूलारा---तच्चाण अत्थाणं अनंतद्रव्यपर्यायात्मकानां जीवादीनां, अथवा अर्थानां यानि तत्त्वानि अविपरीतानि रूपाणि तेषां । संसइदं किं सग्रंथतायां मुक्तिर्निर्ग्रंथतायां चेत्यादि तत्त्वानवधारणात्मको दर्शनमोहोदयनिमित्तः प्रत्ययः संशयः । तेन सहचरितं तत्त्वाश्रद्धानं संशयितं, संशयः संजातोऽस्येति व्युत्पत्तेः । न हि संदिहानस्य तत्त्वश्रद्धानमस्ति । इदमित्थमेवेति निश्चयसद्भावित्वात्तस्य । अभिग्गहिदं । परोपदेशादाभिमुख्येन स्वीकृतं परोपदेशजं इत्यर्थः । तथा हि—न संति जीवादीनि इति गृहाण । संति वा तानि, नित्यान्येवेत्यादि परवचः श्रुतवतो यदा तेषां सत्वे अनेकांतात्मकत्वे वा अश्रद्धानं स्यात्तदाभिगृहीतमित्युच्यते । तच्चतुर्धा—क्रियावाद्यादिमतभेदात् । ते यथा---

असिदिसदं किरियाणं अक्किरियाणं च होदि चुलसीदि ॥

सत्तट्ठी अण्णाणी वेणइयाणं च होदि बत्तीसं ॥

अणभिग्गहिदं परोपदेशं विनापि मिथ्यात्वोदयाज्जातं ।

जिसको आप मिथ्यादृष्टि कहते हैं उसका क्या स्वरूप है ? तथा मिथ्यात्वके कितने भेद हैं ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—अनंत द्रव्यपर्यायोंसहित जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन है. इस मिथ्यादर्शनके संशयमिथ्यात्व, अभिग्रह मिथ्यात्व और अनभिग्रह मिथ्यात्व ऐसे तीन भेद हैं.

विशेषार्थ—गाथामें ' तच्चाणं होइ अत्थाणं ' ऐसा वाक्य है उसमें अर्थ शब्दका ' तत्व ' यह विशेषण व्यर्थ माल्हम होता है. क्योंकि जीवादिक अर्थ तत्वरूपही रहते हैं. अतत्वरूप-मिथ्यारूप नहीं होते हैं. इस शंकाका उत्तर आचार्य देते हैं.

मिथ्याज्ञानीओने जीवादि पदार्थ सर्वथा नित्यही हैं अथवा अनित्यही हैं, एकही हैं, अनेकही हैं ऐसा उपदेश किया है. परंतु वस्तु सर्वथा नित्यादि एक एक धर्ममय है ऐसा सिद्ध नहीं होता है. अतः एकेक धर्मात्मकही वस्तुस्वरूप समझना मिथ्यात्व है. एक एक धर्मात्मक वस्तु अतत्व है. उससे व्यावृत्ति करनेके लिये ' तत्व ' यह विशेषण ग्रंथकारने जोड दिया है.

यहां तत्त्व शब्द भाववाचक है. जो पदार्थ जिस स्वरूपमें विराजमान है वह उस रूपसे रहनाही तत्त्व कहलाता है. जैसे चेतना आत्माका स्वरूप है. इसलिये हमेशा आत्मा चैतन्यस्वरूपमें रहता है. अर्थशब्द भाववान्का वाचक है. अर्थात् स्वभावको धारण करनेवाले पदार्थको भाववान् कहते हैं. तत्त्व शब्द और अर्थ शब्द ये दोनो शब्द भिन्नाधिकरणवृत्ति है अतः इनकी समानाधिकरणता कैसी जुडेगी ?

आचार्य इस शंकाका उत्तर देते हैं—भाववानसे भाव अभिन्न होता है. जीवसे चैतन्य अभिन्न है. जीव भाववान् है और चैतन्य भाव है. चैतन्य जीवसे अपृथक् है अतः दोनोंकी समानाधिकरणता जुड सकती है. अतः पुद्गल, धर्मादिक पदार्थोंमें भी अपने अपने स्वरूपसे अभिन्नता होनेसे समानाधिकरणता सिद्ध होती है.

अथवा भिन्नाधिकरणता माननेसेभी कुछ हानि नहीं है. इसलिये जीवादि पदार्थोंके जो तत्त्व अर्थात् सच्चा स्वरूप ऐसा अभिप्राय भिन्नाधिकरणता माननेसे सिद्ध होता है.

संशयितमिथ्यात्व–जिसमें तत्त्वोंका निश्चय नहीं है ऐसे संशयज्ञानसे संबंध रखनेवाले श्रद्धानको संशयमिथ्यात्व कहते हैं. जिसको पदार्थके स्वरूपका निश्चय नहीं है अर्थात् जो व्यक्ति संशययुक्त बनी है उसको जीवादिकोंका स्वरूप ऐसा ही है अन्य नहीं है ऐसी तत्त्वविषयक सच्ची श्रद्धा नहीं रहती है. जीवादितत्त्वोंपर जब सच्ची श्रद्धा होती है तब उनका निश्चयज्ञान अवश्य रहता ही है.

अभिगृहीतमिथ्यात्व—कुगुरुके उपदेशसे जीवादितत्त्वोंपर जो अश्रद्धा पैदा होती है वह अभिगृहीतमिथ्यात्व है. जीवादिकतत्त्व नहीं है, अथवा वे अनित्य ही है, वा नित्य ही है ऐसा दुसरोंका उपदेश सुनकर जीवादिकोंके अस्तित्वमें अथवा उनके अनेक धर्मोंमें अश्रद्धा होती है. यह अभिगृहीतमिथ्यात्व है.

अनभिगृहीतमिथ्यात्व—दुसरेके उपदेश विना ही जो अश्रद्धान मिथ्यात्व कर्मके उदयसे हो जाता है. वह अनभिगृहीतमिथ्यात्व है.

मिथ्यात्वदोषमाहात्म्यख्यापनायाह—

जे वि अहिंसादिगुणा मरणे मिच्छत्तकडुगिदा होंति ॥
ते तस्स कडुगदोद्धियगदं च दुद्धं हवे अफला ॥ ५७ ॥

अहिंसादिगुणाः सर्वे व्यर्था मिथ्यात्वभाविते ॥
कटुकेऽलाबुनि क्षीरं सफलं जायते कुतः ॥ ६२ ॥

विजयोदया—जे वि हिंसा नाम प्रमादवतः प्राणेभ्यो वियोगकरणं प्राणिनस्ततो निवृत्तिरहिंसा। असदभिधानाद्विरतिः सत्यम्। अदत्तादानाद्विरतिरस्तेयं। मैथुनाद्विरतिर्ब्रह्म। ममेदं भावो मोहोदयजःपरिग्रहः। ततो निवृत्तिरपरिग्रहता। एते अहिंसादयो गुणाः परिणामा धर्म इत्यर्थः।

ननु सहभुवो गुणा इति वचनात् चैतन्यामूर्तत्वादीनामेवात्मनः सहभुवां गुणता। हिंसादिभ्यो विरतिपरिणामः पुनः कादाचित्कत्वात् मनुष्यत्वादिक्रोधादिवत्पर्याया इति चेन्नन्नु गुणपर्ययवद्द्रव्यमित्यादावुभयोपादाने अवांतरभेदोपदर्शनमेतद्यथा 'गोबलीवर्दम्' इत्युभयोरुपादाने पुनरुक्ततापरिहृतये स्त्रीगोशब्दवाच्या इति कथनमेकस्यैव गुणशब्दस्य ग्रहणे धर्ममात्रवचनता॥

अहिंसादयश्च ते गुणाः अहिंसादिगुणाः। मिच्छसकडुगिदा मिथ्यात्वेन तत्त्वाश्रद्धानेन। कडुगिदा कटूकृताः कटुकतां गताः। होंति भवंति। कदा मरणे मरणकाले इति। अफला भवंति। कस्य मिथ्यात्वकटूकृताहिंसादिगुणस्यात्मनः। किमिव? दुद्धं क्षीरमिव। कीदृग्भूतं? कडुअदुद्धियगदं कटुकालाबूपगतम् यथा अफलं फलरहितं। पित्ताद्युपशमन प्रीतिरित्यादिकं यत्फलं क्षीरस्य प्रतीतं तेन फलेन अफलं जातम्। यथा क्षीरं भाजनदोषादेवं मिथ्यात्ववत्यात्मनि स्थिता अहिंसादिगुणा स्वसाध्येन फलेन अफलयंतः पंचानुत्तरविमानवासित्वं लौकांतिकत्वमित्याद्यभ्युदयफलमिह गृहीतं। अहिंसादयो न स्वोचितफलातिशयदायिनः दुष्टभाजनस्थितत्वात् कटुकालाबुकगतपयोवदिति सूत्रार्थः॥

मिथ्यात्वमाहात्म्यं कथयति—

मूलारा—गुणा धर्माः। ननु च सहभुवो गुणा इति वचनाच्चैतन्यामूर्तत्वादीनामेवात्मना सह सदा लब्धवृत्तीनां गुणत्वं न्याय्यं, न त्वहिंसादीनां कादाचित्कत्वेन मनुष्यादिवत्क्रोधादिवद्वा तेषां पर्यायत्वादिति चेन्न 'गुणपर्ययवद्द्रव्यमित्यादावुभयोपादानेऽवांतरभेदोपदर्शनमेतद्यथा गोबलीवर्दमित्युभयोपादाने स्त्री गोशब्दवाच्येति कथनं। एकस्यैव तु गुणशब्दस्य ग्रहणे धर्ममात्रवचनता। कडुगिदा कटुकिता दूषिताः। स्वोचितफलातिशयदानेऽन्यथाकृतसामर्थ्या इत्यर्थः। तस्स मिथ्यात्वकटूकृताहिंसादिगुणस्यात्मनः। कडुदोद्धियगदं कटुकतुंबकस्थितं। कदमिति पाठे कृतं प्रक्षिप्तमित्यर्थः। हुवे भवति। अहलं-पंचानुत्तरविमानवासित्वं लौकान्तिकत्वाद्यभ्युदयलक्षणफलरहिताः। प्रीतित्वापित्ताद्युपशमनादिफलरहितं च॥

परोपदेशाभिमुखेन इति खपुस्तके पाठः।

मिथ्यात्वके दोषोंका आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग ये आत्माके गुण हैं परंतु मरणसमयमें यदि ये गुण मिथ्यात्वसे युक्त हो जायेंगे तो कडवी तुंबीमें रक्खे हुए दूधके समान व्यर्थ होते हैं, फलरहित होते हैं.

विशेषार्थ—कषाययुक्त होकर प्राणीके प्राणोंका नाश करना हिंसा है. इस हिंसासे विरक्त हो जाना अहिंसा मानी जाती है. प्राणीको दुःख देनेवाले भाषणसे विरक्त होना सत्य है. अन्यजनोंके द्वारा नहीं दी गई वस्तु ग्रहण करना अचौर्यव्रत है. मैथुनके त्यागका नाम ब्रह्मचर्य है, तथा यह धनादिक मेरा है ऐसा संकल्प मोहकर्मके उदयसे होता है उसको परिग्रह कहते हैं, उससे निवृत्त होना अपरिग्रह—परिग्रहत्याग कहलाता है. ये अहिंसादिगुण आत्माके परिणाम हैं अर्थात् धर्म हैं.

शंका—गुण द्रव्यके साथ हमेशा रहते हैं. 'सहभुवो गुणाः' ऐसा गुणके विषयमें आगमका वचन है. चैतन्य, अमूर्तित्व ये ही आत्माके गुण है. ये गुण कभी आत्मासे अलग नहीं होते हैं. इनको ही गुण कहना चाहिये. परंतु हिंसादिकोंसे जो विरक्तिरूप परिणाम हैं वे कादाचित्क है—अर्थात् वे परिणाम मनुष्यपना, क्रोधादिकोंके समान सदाही आत्मामें रहते नहीं हैं. अतः उनको गुण कहना योग्य नहीं.

इस शंकाका उत्तर—'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' इस सूत्रमें दोनोंका ग्रहण किया है अर्थात् गुण और पर्यायको ग्रहण किया है. यहां गुणशब्द उपलक्षणवाचक समझना चाहिये. अर्थात् वह ज्ञानादिगुणोंके समान अहिंसादिधर्मोंका भी वाचक है. जैसे 'गोबलीवर्दम्' इस शब्दोंसे एक ही गोका दो शब्दोंसे ग्रहण करनेसे एकको व्यर्थता अर्थात् पुनरुक्तता आती है वह दूर करनेके लिये गोशब्दका अर्थ गाय करना पडता है. उसी तरह 'अहिंसादि गुणा' इस गाथाके शब्दसे यहां धर्ममात्रको गुण कहा है ऐसा समझना चाहिये.

कडु तुंबीमें रक्खा हुआ दुग्ध पित्तोपशमन करना, माधुर्य इत्यादि गुणोंसे हाथ धो बैठता है. अर्थात् पात्रके दोषसे दूधमें जैसे अफलता आती है वैसे ही मरणकालमें अहिंसादिगुण यदि मिथ्यात्वसे युक्त हो जायेंगे तो उनसे आत्माको विजय वैजयंतादि पंचानुत्तरोंमें जन्म होना, लौकांतिकदेवत्व प्राप्त होना ऐसे २ सातिशय फल प्राप्त नहीं होते हैं. मिथ्यात्व दूषित अहिंसादिकोंसे फक्त फलातिशय मिलता नहीं है ऐसा भी नहीं है प्रस्तुत वे आत्मामें रहकर महादोषोंको भी उत्पन्न करते हैं.

न केवलं फलातिशयाकारित्वं आहिंसादिगुणानां अपि तु मिथ्यात्वकटुकिते स्थिता दोषानपि कुर्वन्ति इत्याचष्टे—

जह भेसजं पि दोसं आवहइ विसेण संजुदं संतं ॥
तह मिच्छत्तविसजुदा गुणा वि दोसावहा होंति ॥ ५८ ॥
सर्वे दोषाय जायन्ते गुणा मिथ्यात्वदूषिताः ॥
किमौषधानि निघ्नंति सविषाणि न जीवितम् ॥ ६३ ॥

विजयोदया—यथा भेसजं पि इति स्पष्टतया न व्याख्यायते। मिच्छत्तविसजुदा मिथ्यात्वेन विषेण संबद्धाः गुणा वि गुणा अपि आहिंसादयो गुणा अपि। दोसावहा दोषावहाः संसारे चिरपरिभ्रमणदोषमावहन्तीत्यर्थः। अथवा मिथ्यादृष्टेर्गुणाः पापानुबंधि स्वल्पमिंद्रियसुखं दत्वा बह्वारंभपरिग्रहादिषु आसक्तं नरके पातयन्ति इति दोषावहाः। दृष्टान्तप्रदर्शनेन इष्टनिर्वृतिः प्राप्तिश्च मिथ्यात्वमाहात्म्याच्च भवतीति प्रमाणेन दर्शयितुं गाथाद्वयमायातम्।

न केवलं मरणे मिथ्यात्वदूषिता अहिंसादयः फलातिशयाद्भ्रंशयंति किं तर्हि दोषमपि कुर्वन्ति इत्याह—

मूलारा—आवहदि करोति। दोसावहा संसारे चिरभ्रमणकारिणः। अथवा मिथ्यादृष्टेर्गुणाः पापानुबन्धि स्वल्पमिंद्रियसुखं दत्वा बह्वारंभपरिग्रहादिष्वासक्तं कृत्वा नरके पातयन्ति इति दोषावहाः॥

उन दोषोंका आचार्य एवं प्रकारसे वर्णन करते हैं—

अर्थ— औषध यद्यपि गुण करनेवाला होता है तथापि वह यदि विषमिश्रित होगया हो तो वह दोषयुक्त होता है, अर्थात् उसके सेवनसे मनुष्यकी हानि होती है. उसी तरह अहिंसादिगुण जब मिथ्यात्वसे युक्त होते हैं तब वे गुण होते हुए भी संसारमें दीर्घकालतक परिभ्रमण करानेवाले दोषोंको धारण करते हैं. अथवा मिथ्यादृष्टिके ये अहिंसादिगुण पापानुबंधी स्वल्प इंद्रियसुखकी जीवको प्राप्ति कर देते हैं. परंतु उसको बहु आरंभ और परिग्रहोंमें आसक्त करके नरकमें ले जाते हैं अतः ये मिथ्यात्वदूषित आहिंसादिगुण दोषोंको उत्पन्न करते हैं ऐसा समझना चाहिये. विषमिश्रित औषधसे आरोग्यका लाभ होता नहीं वैसे मिथ्यात्वयुक्त अहिंसादिकगुणोंसे जीवको मोक्ष प्राप्त होता नहीं ऐसा समझना चाहिये.

दिवसेण जोयणसयं पि गच्छमाणो सगिच्छिदं देसं ॥
अण्णंतो गच्छंतो जह पुरिसो णेव पाउणदि ॥ ५९ ॥

निर्वृतिं संयमस्थोऽपि न मिथ्यादृष्टिरश्नुते ॥
जवनोऽप्यन्यतो यायी किं स्वेष्टं स्थानमृच्छति ॥ ७४ ॥

विजयोदया—इत्यनेन प्रकृष्टगमनसामर्थ्यात्क्रमणमाख्यातम् । अण्णंतो गच्छंतो इत्यनेन तन्मार्गाप्रवृत्तत्वात् इत्ययं हेत्वर्थो दर्शितः । तेन इष्टं देशं न प्राप्नोतीति साध्यधर्मो दृष्टान्तेनोपदर्शितः । सगिच्छदं देसं जह पुरिसो णेव पाउणदि । इत्यनेन दृष्टान्त उपदर्शितः ।

मिथ्यादृष्टिर्नेष्टं प्राप्नोति तन्मार्गाप्रवृत्तित्वात् स्वप्राप्यस्य मार्गे न वर्तते नासौ तत्प्राप्नोति । यथा दक्षिणमथुरातः पाटलिपुत्रं प्राप्तुमिच्छुर्दक्षिणां दिशं गच्छन्निति प्रमाणेनाभिमतनिर्वृतिप्राप्तिप्रतिबंधकत्वमपि मिथ्यात्वस्य दर्शयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—सगिच्छिदं स्वेष्टं । अण्णंतो अन्यत्र । पाउणदि प्राप्नोति ।

अर्थ—एक दिनमें सो योजन भी गमन करनेवाला आदमी यदि वह अपने इष्ट स्थानसे बिलकुल उलटी दिशाको गमन करने लग जाय तो जैसे वह कभी भी अपने स्थानको प्राप्त न होगा उस तरह मिथ्यात्वसे युक्त अहिंसादिगुण जिसके हो वह पुरुष कभी भी मुक्तिपदको प्राप्त होनेवाला नहीं है. यह निश्चित समझना चाहिये.

घणिदं पि संजमंतो मिच्छादिट्ठी तहा ण पावेई ॥
इट्ठं णिव्वुइमग्गं उग्गेण तवेण जुत्तो वि ॥ ६० ॥

विजयोदया—घणिदं पि नितरामपि । संजमन्तो चारित्रे वर्तमानोऽपि । उग्गेण तवेण जुत्तोवि उग्रेण तपसा युक्तोपिऽपि, नैव निर्वृतिं प्राप्नोति इत्यनेन साध्यधर्माख्यानम् । मिच्छादिट्ठी इत्यनेन साध्यधर्मि दर्शितम् । एवं प्रमाणरचना कार्या—

मिथ्यादृष्टिर्नेष्टं प्राप्नोति तन्मार्गाप्रवृत्तित्वात् । यः स्वप्राप्यस्य मार्गे न प्रवर्तते न स तमभिमतं प्राप्नोति । यथा

१ पाठमागत्यातं इति रापुस्तके ।

दक्षिणमथुरातः पाटलिपुत्रं प्राप्तुमिच्छुः दक्षिणां दिशं गच्छन्निति । णिव्वुदिं निर्वृतिं । अथवा अपूर्वां ।–अथवा निर्वृतिस्तुष्टि यथा मनसो निर्वृतिर्मनस्तुष्टिरित्यर्थः । निर्वृतेर्मार्गमुपायं क्षायिकज्ञानचारित्राख्यम् । स्पष्टतया न प्रतिपदव्याख्या कृता ॥

मूलारा—धरिदं अत्यर्थं । पिसंजमंतो संयमं कुर्वन्नपि । इट्ठं णिव्वुदिमग्गं क्षायिकरत्नत्रयाख्यं मुक्तिमार्गं । अथवा इष्टां वांछितां निर्वृतिं तुष्टिं । अग्र्यां प्रधानभूतां । अनंतसुखमित्यर्थः ।

अर्थ—मिथ्यादृष्टि मनुष्य चारित्रका पालन अच्छी तरहसे करेगा और उग्रतप भी तपेगा तो भी उसको इच्छित मोक्षमार्गकी प्राप्ति कभी भी नहीं होगी.

जैसे कोई आदमी पाटलिपुत्र नगरको जानेकी इच्छा रखता हुआ दक्षिणमथुरासे दक्षिणदिशाके तरफ ही चलने लगा अब बोलो यह कभी पाटलिपुत्र शहरको पोहोंच सकता है ? उसी तरह यह मिथ्यादृष्टिजीव भी मोक्षमार्गमें न होनेसे स्वेष्टस्थान–मोक्षको प्राप्त नहीं कर सकता. मोक्षका मार्ग क्षायिकज्ञान, यथाख्यात चारित्र ये है. मिथ्यादृष्टिको इनकी प्राप्ति नहीं होती है ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

येन शीलेन तपसा च युक्तोऽपि मिथ्यात्वदोषाच्चिरं संसारे परिभ्रमति तैरसद्भिर्व्रतादिहीने किं वाच्यमिति दर्शयति—

जस्स पुण मिच्छदिट्ठिस्स णत्थि सीलं वदं गुणो चावि ॥
सो मरणे अप्पाणं कह ण कुणइ दीहसंसारं ॥ ६१ ॥

न विद्यते व्रतं शीलं यस्य मिथ्यादृशः पुनः ॥
न कथं दीर्घसंसारमात्मानं विदधाति सः ॥ ६७ ॥

विजयोदया—स्वल्पापि मिथ्यात्वविषकणिका कुत्सितासु योनिषु उत्पादयति कमात्ति वाच्यं सर्वस्य जिनदृष्टस्याश्रद्धाने । इति गाथार्थः ॥

मूलारा—भगवन्नयेर्थं व्रतादियुक्तोऽपि मिथ्यादृष्टिर्दीर्घे संसारे भ्राम्यति तर्हि मरणे [illegible] परमार्थं कुर्वन्नित्याह—

शीलं व्रतपरिरक्षणं । षदं हिंसादिभ्योऽभिप्रायकृता विरतिः । गुणो ज्ञानादिः । कहेत्यादि । कह कथं । अनंतानंतसंसारमप्यात्मानं करोतीति भावः ।

व्रत, शील और तपश्चरण धारण करता हुवा भी यह जीव यदि मिथ्यादृष्टि हो तो मिथ्यात्वदोषसे चिरकाल तक संसारमें भ्रमण करता है. यदि वह व्रतादिकोंसे भी रहित हो तो अवश्य संसारमें भ्रमण करेगा ही यही अभिप्राय सूत्रकार गाथामें कहते हैं.

अर्थ--जो मिथ्यादृष्टि शील, व्रत और गुणोंसे रहित है वह मरणके अनंतर दीर्घ संसारी क्यों न होगा? अवश्य होगा.

एक्कं पि अक्खरं जो अरोचमाणो मरेज्ज जिणदिट्ठं ॥
सो वि कुजोणिणिवुड्डो किं पुण सव्वं अरोचन्तो ॥ ६२ ॥
अरोचित्वाज्जिनाख्यातं एकमप्यक्षरं मृतः ॥
निमज्जति भवाम्भोधौ सर्वस्यारोचको न किम् ॥ ६६ ॥

विजयोदया—एक्कमपीत्यस्य बालबालमरणप्रवृत्तस्य भव्यस्य संख्याता, असंख्याता, अनंता वा भवन्ति भवाः । अभव्यस्य तु अनंतानंताः । मिथ्यादर्शनदोषमाहात्म्यसूचनं संसारमहत्त्वाख्यापनेन क्रियतेऽनया गाथा ॥

जिनदृष्टस्यैकस्याप्यक्षरस्याश्रद्धाने कुयोनिपूत्पत्तिः स्यात्किं पुनः समस्तस्यापि श्रुतस्येत्याह—

मूलारा—कुजोणिणिवुड्डो कुत्सितयोनिनिमग्नो भवति ।

अर्थ—जिनेश्वरने उपदेशा हुवा एक अक्षरपर भी जो मनुष्य श्रद्धान नहीं करेगा वह भी कुयोनियोंमें चिरकाल भ्रमण करेगा. तो जो संपूर्ण जिनवचनोंको अमान्य समझता है उसको तो संसारमें अनंतकाल तक भ्रमण करना पडेगा ही यह अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं है. अल्प भी मिथ्यात्वरूप विषकणिकाका सेवन करनेसे जीवको कुयोनीमें भ्रमण करना पडता है. जिनभगवानने कहा हुआ समस्त जीवादिक पदार्थोंका उपदेश जो जीव अप्रमाण समझकर अश्रद्धान करता है उसके लिये तो कहना ही क्या रहा? ऐसा इस गाथाका भाव है.

संखेज्जासंखेज्जाणंता वा होंति बालबालम्मि ॥

सेसा भव्वस्स भवा णंताणंता अभव्वस्स ॥ ६२ ॥

संख्येयाः संख्यसंख्येया बालबालमृतौ भवाः ॥
भव्यजंतोरनंता वा परस्य गणनातिगाः ॥ ६७ ॥
अनंतेनापि कालेन प्रभज्य भवपंजरं ॥
सिद्ध्यन्ति भाविनो भव्या नाभव्यास्तु कदाचन ॥ ६८ ॥

इति बालबालमरणम् ।

विजयोदया—बालबाले गदे संखेज्जा संखेज्जा वा इत्यनया । 4
इदानीं भव्याभव्ययोर्भवैयत्तावधारणेन मिथ्यात्वमरणमाहात्म्यं कथयतिः—

मूलारा—स्पष्टं । बालबालमरणम् ।

बाल्येनापि यदि त्यजन्नपमसून्संसारघोरार्णवे ॥
दीर्घं भ्राम्यति चेतनस्त्यजति कस्तद्बाल्यबाल्येन तान् ॥
इत्यश्रान्तमनुस्मरञ्जिनवचःपीयूषमस्तामिमं ॥
भक्तत्यागमुपैतु जीवितधनाद्याशाधरैर्दुर्लभम् ॥

इत्याशाधरानुस्मृतग्रंथसंदर्भे मूलाराधनादर्पणे पदप्रमेयार्थप्रकाशीकरणप्रवणे बालमरणद्वयप्रपंचप्ररूपणो नाम प्रथम आश्वासः ॥

अर्थ—जो भव्यजीव बालबाल मरणसे देहत्याग करता है उसको संख्यात, असंख्यात अथवा अनंत जन्म मरण करने पडते हैं. और अभव्य अनंतानंत जन्ममरण धारण करता हुआ सदाही संसारमें भ्रमण करता है. इस गाथासे मिथ्यात्वदोषका माहात्म्य सूचित होता है.

सप्तदशमरणविकल्पेषु पंचमरणान्यत्रोच्यंते इति प्रतिज्ञातं । तत्र यत्पंडितमरणं तत्प्रायोपगमनमरणमिंगिनीमरणं भक्तप्रत्याख्यानमिति त्रिविकल्पं सूचितं । तत्र भक्तप्रत्याख्यानं प्राग्वर्णनीयमिति दर्शयति सूत्रकारः स्वयमेव संबंधं उत्तरप्रबंधस्य—

कतिविकल्पं भक्तप्रत्याख्यानमित्यारेकायामाह—

दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचारं ॥
सविचारमणागाढे मरणे सपरक्कमस्स हवे ॥ ६५ ॥

सवीचारमवीचारं भक्तत्यागं द्विधा विदुः ॥
शक्यश्चिरायुषामाद्यस्तत्रान्योऽन्यस्य कथ्यते ॥ ७० ॥

विजयोदया—दुविधं तु भत्तपच्चक्खाणं द्विविधमेव भक्तप्रत्याख्यानं । सविचारमध अविचारं इति । विचरणं नानागमनं विचारः । विचारेण वर्तते इति सविचारं । एतदुक्तं भवति । वक्ष्यमाणार्हलिंगादिविकल्पेन सहितं भक्तप्रत्याख्यानं इति । अविचारं वक्ष्यमाणार्हादिनानाप्रकाररहितं । भवतु द्विविधं । सविचारभक्तप्रत्याख्यानं कस्य भवति इत्यस्योत्तरं । सविचारं भक्तप्रत्याख्यानं अणागाढे सहसा अनुपस्थिते मरणे चिरकालभाविनि मरणे इति यावत् । सपरक्कमस्स सदपराक्रमेण वर्तते इति सपराक्रमस्तस्य भवे भवेत् । पराक्रमः उत्साहः एतेनैव सहसोपस्थिते मरणे पराक्रमरहितस्य अविचारभक्तप्रत्याख्यानं भवतीति लभ्यते यतो विचारभक्तप्रत्याख्यानं अस्य अस्मिन्काले इति सूत्रे नोक्तं ॥

कतिविकल्पं भक्तप्रत्याख्यानं स्यादित्यत्राह—

मूलारा—सविचारं अर्हत्यादिभेदसहितं । विधिपूर्वकपरगणगमनलक्षणेन विचारेण सह वर्तमानत्वात् । अविचारं परगणसंक्रमणलक्षणविचाररहितं । तत्राद्यं कस्य स्यात् इत्यत्राह—अणागाढे चिरकालभाविनि । सपरक्कमस्स बलयुक्तस्य । एतेनैव सहसोपस्थिते मरणे बलहीनस्य अविचारं भवेदिति लभ्यते इति तत्तथा सूत्रे नोक्तम् ॥

भक्तप्रत्याख्यानके भेदोंका वर्णन आचार्य करते हैं.

हिंदी अर्थ—भक्तप्रत्याख्यान मरणके सविचारभक्तप्रत्याख्यान और अविचारभक्तप्रत्याख्यान ऐसे दो भेद कहे हैं. उसमेंसे जो गृहस्थ अथवा मुनि उत्साह बलयुक्त है और जिसका मरणकाल सहसा उपस्थित हुवा नहीं है. अर्थात् जिसको दीर्घ कालके अनंतर मरण प्राप्त होगा ऐसे साधुके मरणको सविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं. जिसको सामर्थ्य नहीं है और मरणकाल एकदम उपस्थित हुवा है ऐसे पराक्रमरहित साधुके मरणको अविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं. नाना प्रकारसे चारित्र पालना, चारित्रमें विहार करना विचार है, इस विचारके अर्ह, लिंग वगैरे चालिस प्रकार हैं उनका विवेचन ग्रंथकार आगे करेंगेही.

तयोः कस्य भक्तप्रत्याख्यानस्य अनेन शास्त्रेण निरूपणेत्याशंकायां आह—

सविचारभत्तपच्चक्खाणस्सिणमो उवक्कमो होइ ॥
तत्थ य सुत्तपदाइं चत्तालं होंति णेयाइं ॥ ६६ ॥

भक्तत्यागं सवीचारं मृत्युं तत्र चिवक्षुणा ॥
चत्वारिंशद्विबोध्यानि सूत्राणीमानि धीमता ॥ ७१ ॥

विजयोदया—सविचारभत्तपच्चक्खाणस्स इति सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य । इणमो अयं । उवक्कमो व्याख्यानप्रारंभः । होदि भवति । तत्थ य तत्र च भक्तप्रत्याख्याने । सुत्तपदाई सूत्रपदानि । सूतेऽर्थं, सूचयतीति वा सूत्रं । सूत्राणि च तानि पदानि च सूत्रपदानि । चत्तालं चत्वारिंशत् । होंति भवन्ति । णेयाइं ज्ञातव्यानि ।

इदानीं सविचारस्य भक्तप्रत्याख्यानस्य व्याख्यारंभसूचनपूर्वकं अर्हदादिभेदसूत्रेयत्तां निर्दिशति ।

मूलारा—इणमो अयं । उवक्कमो व्याख्यानप्रारंभः । तत्थ य तत्र सविचारभक्तप्रत्याख्याने । सुत्तपदाई सूत्राणि च तानि पदानि च न वाक्यानि । चत्तालं चत्वारिंशत् ।

हिंदी अर्थ—अब यहांसे आचार्य सविचारभक्तप्रत्याख्यानमरणका स्पष्टीकरण करनेके लिये प्रारंभ करते हैं. इस मरणके वर्णन करनेमें चालिस सूत्र जानने लायक हैं. जो अर्थको उत्पन्न करते हैं अर्थात् प्रकृत विषयकी सूचना करते हैं ऐसे शब्दोंको सूत्र कहते हैं. ऐसे सूत्र इस मरणका विवेचन करनेवाले चालीस हैं.

तानि सूत्रपदानि गाथाचतुष्टयनिबद्धानि—

अरिहे लिंगे सिक्खा विणय समाधी य अणियदविहारे ॥
परिणामोवधिजहणा सिदी य तह भावणाओ य ॥ ६७ ॥

प्रस्तावना, अर्ह, लिंग, शिक्षा, विनय, समाधि, अनियतविहार, परिणाम, उपधित्याग, श्रिति, भावना, सल्लेखना, दिक्, क्षमण, अनुशिष्टि, परगणचर्या, मार्गणा, सुस्थित, उपसर्पण, निरूपण, प्रतिलेख, पृच्छा, एकसंग्रह, आलोचना, गुणदोष, शय्या, संस्तर, निर्यापक, प्रकाशन, हानि, प्रत्याख्यान, क्षामण, क्षपणा, अनुशिष्टि, सारणा, कवच, समता, ध्यान, लेश्या, फल, आराधकत्यागलक्षणानि चत्वारिंशत्सूत्राणि ॥ ७२ ॥

विजयोदया—अरिहे अर्हः योग्यः । सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्यायं योग्यो नेति प्रथमोऽधिकारः । कर्तृव्यापारा लिंगादयः कर्तृपुरःसरा भवंतीति प्रागेव लिंगशिक्षादिभ्यो योग्यकर्तृनिर्देशः सूत्रे कृतः अरिह इति । शिक्षादिक्रियाया भक्तप्रत्याख्यानक्रियांगभूताया योग्यपरिकरमादर्शयितुं लिंगोपादानं कृतम् । कृतपरिकरो हि कर्ता क्रियासाधनायोद्योगं करोति लोके । तथा हि घटादिकरणे प्रवर्तमाना दृढबद्धकक्षाः कुलाला दृश्यंते । ज्ञानमंतरेण न विनयादयः कर्तुं शक्यन्ते इति तेभ्यः प्राङ् निर्देशमर्हति शिक्षा । यथावसरमितरक्रममादर्शयिष्यामः । लिंगशब्दश्चिह्नवाची । तथाहि वक्ष्यति । ' चिह्नं करणं ' इति । सिक्खा शिक्षा श्रुतस्य अध्ययनमिह शिक्षाशब्देनोच्यते । तथा च वक्ष्यति । ' जिणवयणं कलुसहरं अह्नो य रत्ती य पढिदव्वमिति ' । विनयः मर्यादा तथा हि—ज्ञानादिभावनाव्यवस्था हि ज्ञानादिविनयतया वक्ष्यते । समेकीभावे वर्तते तथा च प्रयोगः—

संगतं घृतमित्यर्थ एकीभूतं तैलं एकीभूतं घृतमित्यर्थः । समाधानं मनसः एकाग्रताकरणं शुभोपयोगे शुद्धे वा । अनियतक्षेत्रावासः अनियतविहारः । तद्भावः परिणामः इति वचनात्तस्य जीवादिद्रव्यस्य क्रोधादिना दर्शनादिना वा भवनं परिणाम इति यद्यपि सामान्येनोक्तं तथापि यतेः स्वेन कर्तव्यस्य कार्यस्यालोचनमिह परिणाम इति गृहीतम् । उपाधिः परिग्रहः तस्य जहणा त्यागः । सिदी य श्रितिः निश्रेणिः सोपानमिति यावत् । भावनाभ्यासः तत्र असकृत्प्रवृत्तिः ॥

तत्सूत्रोद्देशार्थं गाथाचतुष्टयमाचष्टे—

मूलारा—अरिहे अर्हः । सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य योग्यः । लिंगादिव्यापाराणां योग्यं कर्तारं विना असंभवादस्य तत्पूर्वमुपन्यासः । लिंगे लिंगं चिन्हं । शिक्षादिक्रियाशेषाणां कर्तुः परिकरभूतत्वादस्य तेभ्यः प्राग्निर्देशः । शिक्षा श्रुताध्ययनं । ज्ञानं विना विनयादीनां कर्तुमशक्यत्वात् । ततः पूर्वमुपन्यासः शिक्षायाः । यथावसरं चान्येषां क्रमं दर्शयिष्यामः । विणय विनयः मर्यादा, ज्ञानादिभावनाव्यवस्था हि ज्ञानादिविनयतया वक्ष्यते । उपास्तिर्वा विनयः । समाही समाधानं मनस एकाग्रताकरणं शुभ उपयोगे शुद्धे वा । अणियदविहारो अनियतक्षेत्रावासः । परिणामो स्वकार्यपर्यालोचनं । उवविजहणा परिग्रहत्यागः । सिदि श्रितिः शुभपरिणामश्रेण्यारोहणं । भावणा अभ्यासः । प्रक्रमादसंक्लेश परिणामानां ।

इन सूत्रोंका आचार्य चार गाथाओंसे वर्णन करते हैं.

हिंदी अर्थ—अरिह-अर्ह, लिंग, शिक्षा, विनय, समाधि, अनियतविहार, परिणाम, उवधिजहणा—उपधित्याग, श्रिति और भावना ऐसे दस सूत्रोंके नाम इस गाथामें कहे हैं. इन सूत्रोंका संक्षेपसे विवरण इस प्रकार है.

अर्ह—अर्ह सविचारभक्तप्रत्याख्यानके लिये कौन योग्य होता है इसका वर्णन अर्ह सूत्रसे किया जाता है यह प्रथमाधिकार है लिंग, शिक्षा, विनय, समाधि वगैरहको धारण करने लायक जो व्यक्ति है उसको अर्ह कहते हैं. योग्यता हो तो लिंग, शिक्षा, विनयादि गुण रह सकते हैं. अन्यथा नहीं.

लिंग—शिक्षा, विनय, समाधि वगैरह क्रिया भक्तप्रत्याख्यान की साधनसामग्री है. उस सामग्रीका यह लिंग योग्य परिकर है यह सूचित करनेके लिये अर्हके अनंतर लिंगका विवेचन किया है सर्व परिकरसामग्री जुटनेपर जैसे कुंभकार घटनिर्माण करता है वैसे अर्ह–योग्य व्यक्ति भी साधनसामग्रीसे युक्त होकर सल्लेखनादि कार्य करनेके लिये सन्नद्ध होता है. लिंग शब्द चिन्हका वाचक है.

शिक्षा—ज्ञानोपार्जन करना. विना ज्ञानके विनयादिक कार्य करना शक्य नहीं है. अत: विनयादिकका वर्णन करनेके पूर्व शिक्षाधिकारका वर्णन करते हैं.

शास्त्राध्ययन करना यह शिक्षा शब्दका अर्थ है. जिनेश्वरका शास्त्र पाप हरण करनेमें निपुण है अतः उसको दिनरात पढना चाहिये ऐसा ग्रंथकार आगे स्वयं कहेंगे.

विनय—मर्यादा, ज्ञानादिभावनाकी व्यवस्था ज्ञानादिका विनय करनेसे होती है ऐसा आगे कहेंगे.

समाधि मनको एकाग्र करना. सम् शब्दका अर्थ एकरूप करना ऐसा है. जैसे घृत संगत हुवा है. तेल संगत हुवा है अर्थात एकरूप हुवा है. मनको शुभोपयोगमें अथवा शुद्धोपयोगमें एकाग्र करना यह समाधि शब्दका अर्थ समझना.

अणियदविहार—अनियत ग्राम, पुरादिक स्थानोंमें रहना.

परिणाम—'सद्भाव परिणाम' ऐसा पूर्वाचार्यका वचन है अर्थात् जीवादिकपदार्थ क्रोधादिक विकारोंसे अथवा सम्यग्दर्शनादिक पर्यायोंसे परिणत होना यह परिणाम शब्दका सामान्यार्थ है तथापि यहां यतिको अपने कर्तव्यका हमेशा ख्याल रहना परिणाम शब्दका प्रकरण संगत अर्थ समझना चाहिये.

उपधिजहणा—परिग्रहका त्याग करना.

सिदी – श्रिति अर्थात् शुभपरिणामसे उत्तरोत्तर परिणामोंकी उन्नति होना. उत्तरोत्तर उत्कृष्ट भावनाओंको अभ्यास करना इसको भावना कहते हैं.

सल्लेहणा दिसा खामणा य अणुसिट्ठि परगणे चरिया ॥
मग्गण सुट्ठिय उवसंपया य पडिछा य पडिलेहा ॥ ६८ ॥

विजयोदया—सल्लेहणा सम्यकतनूकरणं । दिसा परलोकदिगुपदर्शनपर. सूरिणा स्थापित. भवतां दिशं मोक्षवर्तन्याश्रयमुपदिशति य सूरि स दिशा इत्युच्यते । खमावणा क्षमाग्रहणं । अणुसिट्ठि सूत्रानुसारेण शासनम् । परगणे अन्यस्मिन्गणे चरिया चर्या प्रवृत्ति । मग्गणमात्मनो रत्नत्रयविशुद्धिं समाधिमरण वा संपादयितुं क्षमस्य सूरेरन्वेषणं । सुट्ठिदो सुस्थित परोपकरणे स्वप्रयोजने च सम्यक् स्थितः सुस्थितः आचार्य । उपसंपया आचार्यस्य ढौकनं । पडिछा परीक्षा। गणस्य, परिचारकस्य, आराधकस्य, उत्साहशक्तेश्च आहारगताभिलाषं त्यक्तुमयं क्षमो नेति। पडिलेहा आराधनाया व्याक्षेपेण विना सिद्धिर्भवति न वा राज्यस्य देशस्य ग्रामनगरादेस्तत्र प्रधानस्य वा शोभनं वा नेति एवं निरूपणम् ॥

मूलारा—सल्लेहणा सम्यक्कृशीकरणं अर्थात्कायकषायाणाम् । दिसा एलाचार्यः संघाधिपतिना यावज्जीवमाचार्यकत्यागेन स्वपदे प्रतिष्ठित स्वसमानगुणग्रामः स्वशिष्य इत्यर्थः । खामणा परस्परक्षमापणा । अणुसिट्ठि सूत्रानुसारेण शिक्षादानं । परगणे चरिया अन्यस्मिन्संघे गमनं । मग्गण आत्मनो रत्नत्रयशुद्धिं, समाधिमरणं च संपादयितुं क्षमस्य सूरेरन्वेषणं । सुट्ठिद परोपकारकरणे स्वप्रयोजने च सम्यक् स्थितः सुस्थितः आचार्यः । उवसंपा आचार्यस्य आत्मसमर्पणं । पडिच्छा परीक्षा क्षपकस्य मनोज्ञाहारलौल्यगोचरा। पडिलेहा आराधनानिर्विघ्नसिद्ध्यर्थं देवतोपदेशाष्टांगनिमित्तादिगवेषणं ।

हिंदी अर्थ—सल्लेहणा, दिशा, क्षामणा, अनुशिष्टि, परगणचर्या, मार्गणा, सुस्थित, उपसंपदा, परीक्षा, प्रतिलेखन ऐसे दस सूत्रोंका विवरण इस तरह समझना चाहिये.

सल्लेखना—शरीर और कषायोंको कृश करना. दिशा—आचार्यने अपने स्थानपर स्थापित किया हुवा शिष्य जो परलोकका उपदेश करके मोक्षमार्गमें भव्योंको स्थिर करता है. संघाधिपति आचार्यने यावज्जीव आचार्य पदवीका त्याग करके अपने पदपर स्थापा हुवा और आचार्यके समान जिसका गुणसमुदाय है ऐसा जो उनका शिष्य उनको दिशा अर्थात् बालाचार्य कहते है. खामणा—अन्योन्य क्षमाकी याचना करना. अनुशिष्टि—आगमके अविरुद्ध उपदेश करना.

परगणचर्या—अपना संघ छोडकरके अन्यसंघमें गमन करना. मग्गण—रत्नत्रयकी विशुद्धि करनेमें समर्थ अथवा समाधिमरण करनेमें समर्थ ऐसे आचार्यका शोध करना. यह मार्गणा सूत्र है. सुट्ठिद—परोपकार करनेमें तथा स्वकीय आचार्य पदवीके लायक कार्य करनेमें प्रवीण गुरूको सुस्थित कहते हैं.

उपसंपदा—आचार्यके चरणमूलमें गमन करना. पडिच्छा—गण, शुश्रूषा करनेवाले मुनि, समाधिमरणाराधक, उत्साहशक्ति, आहारकी अभिलाषा, इत्यादिककी परीक्षा करना. पडिलेहा—आराधनामें यदि विघ्न उपस्थित हो तो आराधनाकी सिद्धि नहीं होती है. अतः उसकी निर्विघ्नताके लिये राज्य देश, गांव, नगर वगैरहका शुभ होगा या अशुभ होगा इसका अवलोकन करना.

आपुच्छा य पडिच्छणमेगस्सालोयणा य गुणदोसा ॥
सेज्जा संथारो वि य णिज्जवग पयासणा हाणी॥ ६९

विजयोदया—आपुच्छा प्रतिप्रश्न । किमयमस्माभिरनुगृहीतव्यो न वेति संघप्रश्नः । पडिच्छणमेगस्स प्रति चारकैरप्यनुज्ञातस्यैकस्य संग्रह आराधकस्य । आलोयणा य स्वापराधनिवेदनं गुरूणामालोचना । गुणदोसा तस्या गुणा दोषा । सेज्जा शय्या वसतिरित्यर्थः । आराधकावासगृहमिति यावत् । संथारो वि य संस्तरश्च । णिज्जावगा निर्यापका आराधकस्य समाधिसहायाः । पयासणा चरमाहारप्रकाशनम् । हाणी क्रमेणाहारत्यागः हानिः ।

मूलारा— आपुच्छा कियमस्माभिरनुगृहीतव्यो न वेति संघं प्रति प्रश्नः । पडिच्छणमेक्कस्स संघानुमतेनैकस्य क्षपकस्य स्वीकारः । आलोयणा गुरोः स्वदोषनिवेदनं । गुणदोसा गुणा दोषाश्च प्रत्यासत्तेरालोचनाया एव। सेज्जा शय्या वसतिरित्यर्थः । संथारो संस्तरः । णिज्जवग निर्यापकाः आराधकस्य समाधिसहाया । पयासणाचरणं आहारप्रकटनं । हाणी क्रमेणाहारत्यागः ।

हिंदी अर्थ—आपुच्छा, पडिच्छण, आलोयणा, गुणदोस, सेज्जा, संथार णिज्जवग, पयासणा व हानि ऐसे दस सूत्र भक्तप्रत्याख्यानके उपयोगी है.

आपुच्छा—यह आराधक भक्तप्रत्याख्यान करनेके लिये आया है इसके ऊपर अनुग्रह करना योग्य है या नहीं है ऐसा संघको प्रश्न करना अर्थात् उनकी अनुज्ञा प्राप्त करना. पडिच्छण-प्रतिचारक मुनिओंकी स्वीकारता मिलनेपर एक आराधकका ग्रहण करना. आलोयण-गुरूके आगे अपने पूर्वापराध कहना.

गुण दोसा—आलोचनाके गुण और दोषोंका वर्णन करना.

सेजा-समाधिमरण साधनेके लिये आराधककी योग्य वसतिका-निवास स्थान. संथार-संस्तर-अर्थात् आराधकके लिये आगमोक्त शय्या. णिजवग-आराधकको समाधिमरण साधनेमें सहायता करनेवाले आचार्यादिक.

पयासणा–अन्तिम आहारको दिखाना. हाणी–क्रमसे आहारका त्याग करना.

पच्चक्खाणं खामण खमणं अणुसट्ठिसारणाकवचे ॥
समदाज्झाणे लेस्सा फलं विजहणा य णेयाइं ॥ ७०

विजयोदया—पच्चक्खाणं प्रत्याख्यानं त्रिविधाहारस्य । खामणं आचार्यादीनां क्षमाग्रहणं । खमणं स्वस्यान्यभूतापराधक्षमा । अणुसट्ठि अनुशासनं शिक्षणं निर्यापकस्याचार्यस्य । सारणा दुःखाभिभवान्मोहमुपगतस्य निश्चेतनस्य चेतनाप्रवर्तना सारणा । कवचे यथा कवचस्य शरशतनिपातदुःखनिवारणक्षमता एवमाचार्येण निर्यापकेन धर्मोपदेशश्चतुर्गतिपरिभ्रमणे दुःसहानि दुःखानि ननु कर्मपरवशतया भुक्तानि निष्फलानि । इदं पुनर्दुःखसहनं निर्जरार्थं प्रवर्त्यमानं सकलदुःखान्तं सुखमप्यतीन्द्रियमचलमनुपममव्याबाधात्मकं संपादयिष्यतीति क्रियमाणो दुःखनिवारणसामान्यात् कवचशब्देनोच्यते । यथा शौर्यप्रख्यापयिषया माणवके सिंहशब्दः प्रयुज्यमानः शौर्यादिगुणाध्यासितं देवदत्तमवगमयति । समदा समभावः जीवितमरणलाभालाभसंयोगविप्रयोगसुखदुःखादिषु रागद्वेषयोरकरणं । ज्झाणे ध्यानं एकाग्रचिंतानिरोधः । लेस्सा लेश्या कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या । फलं साध्यं परिप्राप्यं आराधनायाः । विजहणा आराधकस्य शरीरत्यागः ।

मूलारा—पच्चक्खाणं त्रिविधाहारत्यागः । खामणा आचार्यादीनां क्षपकेन क्षमाग्रहणं । खवणं क्षपणं पापकर्मनिर्जरणमित्यर्थः । अनुसिट्ठि निर्यापकाचार्येण आराधकस्य शिक्षणं । सारणा दुःखाभिभवान्मोहं गतस्य चेतनाप्रापणा । कवचे धर्मानुप्रवेशेन दुःखनिवारणं । समदा जीवितमरणादिषु रागद्वेषयोरकरणं । झाणे एकाग्रचिंतानिरोधः । लेस्सा कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिः । फलं आराधनासाध्यं । विजहणा आराधकशरीरत्याग ।

हिंदी अर्थ–पचखाण, सिवाय जलके तीन प्रकारके आहारोंका त्याग करना.

खामण खवणं–आचार्यादिकोंको क्षमाकी याचना करना. तथा दूसरोंने किये हुए अपराधोंकी क्षमा करना.

अनुशिष्टिः– आचार्यका समाधिमरणके लिये उद्युक्त हुए मुनिराजको उपदेश देना.

सारणा–दुःखोंसे पीडित होनेपर मोहको प्राप्त हुये, बेसुध हुए आराधकको सचेत करना.

कवच—जैसे कवच–चिलखत शेकडो बाण पडनेपर उत्पन्न होनेवाले दुःखोंसे वीर पुरुषको बचाता है. वैसे आचार्यने किया हुवा धर्मोपदेश आराधकको दुःखोंसे बचाता है. चतुर्गतीमें पूर्वभवमें आराधकके आत्माने

दुःख दुःखोंका अनुभव किया है. परंतु वह सब व्यर्थ हुआ. वह दुःखका सहन कुछ आत्मकल्याणकारी नहीं हुआ. परंतु हे आराधक! इस समय जो दुःख तेरे द्वारा सहा जा रहा है वह तेरे कर्मकी निर्जरा करेगा, वर्तमान दुःखोंका नाश करके अतीन्द्रिय, निश्चल, उपमारहित, बाधारहित सुख देगा इस रीतीसे कहा हुआ आचार्योंका उपदेश आराधकके दुःखोंका नाश करनेवाला होनेसे कवचके तुल्य है. अतः इसको कवच यह नाम देना योग्य ही है. जैसे किसी तेजस्वी बालकका शौर्यगुण सूचित करनेके लिये उसमें जैसे सिंह शब्दका आरोपण करते हैं वैसे यहां भी कवचके गुणोंका अध्यारोपण उपदेशमें करके उसको कवचशब्दसे गौरवित किया है.

समता– जीवित, मरण, लाभ, हानि, संयोग, वियोग, सुख और दुःख इनमें रागद्वेषोंका त्याग करके उदासीनतादि धारण करना.

ध्यान—अन्य पदार्थोंसे चित्तवृत्ति हटाकर एक विषयमें उसको नियुक्त करना. लेश्या–मन वचन और शरीरके व्यापार कषाययुक्त होना. फल—आराधनासे प्राप्त हुआ साध्य उसको फल कहते हैं.

विजहणा—आराधकका शरीर त्याग. इस तरह भक्त प्रत्याख्यानके चालीस अधिकारोंकी संक्षेपसे निरूपणा की गई है. अब एकेक अधिकारका सविस्तर वर्णन आचार्य यहांसे करेंगे.

प्रथमतः अर्हाधिकारका वर्णन करते हैं.

अर्हनिरूपणायोत्तरा गाथा—

वाहिव्व दुप्पसज्झा जरा य समण्णजोग्गहाणिकरी ॥
उवसग्गा वा देवियमाणुसतेरिच्छिया जस्स ॥ ७१ ॥

रोगो दुरुत्तरो यस्य जरा श्रामण्यहारिणी ॥
तिर्यग्मिर्मानवैर्देवैरुपसर्गाः प्रवर्तिताः ॥ ७३ ॥

विजयोदया—वाहिव्व। अत्र चैव पदघटना। वाहिव्व दुप्पसज्झा सो अरिहो होइ भत्तपइण्णाए इति। व्याधियों दुःप्रसाध्यः दुःखेन महता संयमप्रच्यावादिना चिकित्स्यः यस्य विद्यते सोऽर्हो भक्तप्रत्याख्यानं कर्तुं। जीर्यति विनश्यति रूपयौवनप्रभृतयो गुणा यस्यामवस्थायां प्राणिनः सा जरा। सामण्णजोग्गहाणिकरी श्राम्यति तपस्यतीति

श्रमणः; तस्य भावः श्रामण्यं श्रमणशब्दस्य पुंसि प्रवृत्तिनिमित्तं तपःक्रिया श्रामण्यं, तेन योगः संबंधः साध्यसाधनलक्षणस्तस्य हानिं विनाशं करोति या सा जरा यस्य सोऽर्हति भक्तप्रत्याख्यानं विधातुं।

जरापसारितशरीरबलः शरीरबलसाध्येषु कायक्लेशेषु न वर्तितुमुत्सहते। अथवा समणो समानमणो समणस्स भावो सामण्णं कचिदप्यननुगतरागद्वेषता समता सामण्णशब्देनोच्यते। वस्तुयाथात्म्यावहितचेतस्तया योगः संबंधो ध्यानयोग इति यावत्। वस्तुयाथात्म्यावबोधो निश्चलो यः स ध्यानमिष्यते। जरापरिप्लुतबोधस्य ध्यानं विनश्यति। ततो ध्यानयोगविनाशकारिणी जरा यस्य सोऽर्हति भक्तं त्यक्तुम्। अथवा सामण्णं समता, युज्यतेऽनेन निर्जरार्थिन इति योगः, तपसः योगशब्दस्तपसि कायक्लेशाख्ये रूढः सोऽत्र गृहीतः। 'आदावणादिजोगधारिणो अणागारा' इत्युक्तेः आतापनादितपोधारिणः इति प्रतीयते॥

द्वंद्वे अल्पस्वरत्वाद्योगशब्दस्य पूर्वनिपातप्रसंग इति चेत् न अभ्यर्हितत्वात्समतायाः सामण्ण इत्यस्य पूर्वनिपात इति मन्यते, पूर्वजोऽभ्यर्हितमिति वचनात्। न हि समताशून्यात्तपसो विपुला निर्जरा भवति। ततस्तपसो निर्जराहेतुता परवदीति प्रधानं समता।

उवसग्गा वा उपद्रवा वा 'देवियमाणुसतेरिक्खिगा' देवैर्नरैस्तिर्यग्भिश्च प्रवर्तिता यस्य सोऽर्हति भक्तप्रत्याख्यानं इति संबंधः। चतुर्विधत्वादुपसर्गस्य त्रिविधोपदेशः कथमिति? अत्रोच्यते-उपसर्गा वा इति वा शब्दः समुच्चयार्थोऽसौ 'देवियमाणुसतेरिक्खिगा वा इति संबध्नीयस्तेनाचेतनोपसर्गसमुच्चयः क्रियते॥

अधुना गाथाषट्केनार्हलक्षणमाह—

मूलारा—बाहीव व्याधिर्वा। दुष्पसज्झ महता क्लेशेन संयमप्रचयापहेन चिकित्स्यः। औषधादिना निराकर्तुमशक्यो वा। सामण्णजोग श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणस्तस्य भावः श्रामण्यं तपश्चरणं तेन योगः साध्यसाधनभावलक्षणः संबंधः। अथवा सामान्येन कचिदप्यनुगतरागद्वेषतया योगो ध्यानं। अथवा सामण्णं समता जोग आतापनादि वा। उवसग्गा वा एत्थ वा शब्दोऽनुक्तसमुच्चये तेन अचेतनकृताश्चेति लभ्यते॥

हिंदी अर्थ—जिसको संयमसमुदायका नाश करनेवाला और महाप्रयत्नसे चिकित्सा करने योग्य रोग हुआ है वह मुनि भक्तप्रत्याख्यानमरणके योग्य है. अर्थात् जिस रोगको दूर करनेके लिये संयमको छोडना पडेगा और महाक्लेशसे भी जिसके नाशकी संभावना नहीं है ऐसे रोगसे पीडित होनेपर मुनिवर्य भक्तप्रत्याख्यानके लिये योग्य माने जाते हैं. प्राणिओंके रूप, बल, वय वगैरे गुणोंका नाश वृद्धावस्था आनेसे होता है. यह वृद्धावस्था जब अतिशय बढती है तब मुनि तपःक्रिया करनेमें असमर्थ हो जाते हैं. ऐसी परिस्थितीमें वे भक्तप्रतिज्ञामरणके लिये योग्य समझे गये हैं. वृद्धावस्था प्राप्त होनेसे शरीरकी ताकत नष्ट होती है. कायक्लेश तप शरीरमें बल

होनेसेही हो सकता है. अन्यथा नहीं है. अतः वृद्धावस्था श्रामण्ययोगकी हानि करनेवाली है. किसी भी इष्टानिष्ट विषयमें रागद्वेषरहित मनोवृत्ति होना ही समता है. वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जाननेमें चित्तकी एकाग्रता होनाही योग अथवा ध्यान कहते हैं. जब वस्तुके यथार्थ ज्ञानको निश्चलता प्राप्त होती है तब उसको ध्यानसंज्ञा प्राप्त होती है. बुढापेसे ज्ञानमें अस्थिरता आती है तब ध्यानका विनाश होता है. अर्थात् ध्यानका नाश करनेवाली वृद्धावस्था शरीरको जब जर्जर करती है तब मुनिराज भक्तप्रतिज्ञामरणसे देहोत्सर्ग करते हैं. सामान्ययोग इस शब्दका अर्थ इस तरहसे भी आचार्य करते हैं—समता शब्दका अर्थ उपर लिखा है. निर्जरार्थी मुनि जिससे संयुक्त होते हैं वह योग है अर्थात् यहां कायक्लेशको योग कहना रूढ है. आतापनादिकायक्लेशतपको योग कहते हैं यह बात प्रसिद्ध ही है. 'आदावणादिजोगधारिणो अणगारा' आतापनादि योगोंको धारण करनेवाले मुनियोंको अनगार कहते हैं ऐसा आगममें कहा है. जराजर्जरित होनेसे उपर्युक्तयोग धारण करनेमें शरीर समर्थ नहीं रहता है.

'सामण्ण जोग' इस शब्दसमूहमें योग शब्द अल्पस्वरयुक्त होनेसे द्वंद्व समासमें उसको प्रथम नियुक्त करना चाहिये. इस प्रश्नका उत्तर यह है कि, समता अर्थात् सामण्ण प्रधानरूप है, महत्त्वयुक्त है. जिसमें महत्त्व रहता है उसको द्वंद्व समासमें प्रथम नियुक्त करते हैं. समतारहित केवल तप विपुल निर्जराका कारण नहीं होता है. अतः तपश्चरणमें निर्जराहेतुता स्वयं नहीं है किंतु वह समताका साहाय्य पाकर होती है.

देवोंका उपद्रव, मनुष्यकृत उपद्रव तथा तिर्यंचकृत उपद्रव इन उपद्रवोंमेंसे किसी भी उपद्रवसे निष्प्रतीकार पीडा हो जानेसे मुनि भक्तप्रत्याख्यान मरणके योग्य माने जाते हैं.

उपसर्गके चार भेद हैं. परंतु तीन उपसर्गकाही यहां उल्लेख क्यों किया है ?

उत्तर—'उवसग्गा वा' इस गाथोक्त शब्दोंमें 'वा' शब्द समुच्चयार्थक समझना चाहिये. अतः अचेतन उपसर्गका भी यहां समुच्चय होता है.

अणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स ॥
दुब्भिक्खे वा गाढे अडवीए विप्पणट्ठो वा ॥ ७२ ॥

अनुकूलैर्गृहीतो वा वैरिभिर्वृत्तहारिभिः ॥
योऽटव्यां पतितो घोरे दुर्भिक्षे च दुरुत्तरे ॥ ७४ ॥

विजयोदया—अणुलोमा वा अनुकूला वा शत्रव । चारित्तविणासगा चारित्रं पापक्रियानिवृत्ति' तस्य विनाशकाः । बधवो हि स्नेहान्मिथ्यात्वदोषात् स्वपोषणलोभाद्वा यस्य चारित्रं विनाशयितुं उद्यताः अनुलोमत्वे शत्रुत्वविरोधिप्रातिकूल्ये समवस्थिता हि भवन्ति शत्रवस्तत्किमुच्यते अणुलोमा वा सत्तू इति ? प्रियवचनभाषणादनुलोमता अहिते ऽसंयमे प्रवर्तनाद्धितस्य सयमधनस्य विनाशनात् शत्रवो भवन्ति । अथवा अनुलोमा बधवः सत्तू वा शत्रवश्चेति समुच्चयः वा शब्दसमुच्चयार्थत्वात् । देविगमाणुसतेरिक्खगा उवसग्गा जस्स इति वचनात् अनुकूलशत्रुकृतोऽप्युपसर्गः संगृहीत एव किमर्थं पुनरुच्यते 'अणुलोमा वा' इति पुनरुक्तता । तत्र हि सूत्रे मनुष्योपसर्गो नाम बंधनताडनविलंपनादिकं शरीरोपद्रवः परकृतो गृहीतः । इह तु जिव्होत्पाटनादिकं कुर्मो यदि श्रामण्यं न त्यजसीति खलीकरणं वक्तुमिष्टम् ।

दुब्भिक्खे वा दुर्भिक्षे वा । आगाढे दुरुत्तरे महति अशनिपातमिव सर्वजनगोचरे । अर्हति प्रत्याख्यातुं ।

अडवीए अटव्यां महत्यां व्यालमृगाकुलायां मार्गोपदेशिजनरहितायां दिङ्मूढः पाषाणकंटकबहुलतया दुःप्रचारायां । विप्पणट्टो वा विप्रनष्टो वा अर्हतीति संबंधः ॥

मूलारा—अणुलोमा बांधवादयः । स्नेहान्मिथ्यात्वदोषात्स्वपोषणलोभाद्वा यस्य चारित्रं विनाशयितुमुद्यताः स्युः । अनुलोमत्वं चैषां प्रियभाषणमात्राच्छत्रुत्वं च संयमधनविनाशनादसंयमविषयप्रवर्तनाच्च ॥ अथवा शत्रवोऽत्र जिव्होत्पाटनादिकं वय कुर्मो यदि न यतित्वं त्यजासि इति खलीकारिणो वैरिणः । तेऽपि यस्य चारित्रघातका इति ग्राह्यं ।

पूर्वसूत्रे मनुष्योपसर्गेस्तु बंधनलवनताडनादिरुपात्तः । आगाढे दुरुत्तरे । विपण्णट्ठो मार्गविमूढमना ।

हिंदी अर्थ—अनुकूल शत्रु जिसके चारित्रका नाश करनेके लिये उद्युक्त हुए हो वह मुनि अपने पाप क्रियाओंका त्यागरूपी चारित्रके रक्षणार्थ भक्तप्रत्याख्यानमरण करनेके लिये योग्य माना गया है. अभिप्राय यह है कि, बंधुगण स्नेहवश होकर अथवा मिथ्यात्व दोषसे किंवा यह स्वपोषण करेगा इत्यादि लोभसे प्रेरित होकर जिसके चारित्रका नाश करनेके लिये उद्यमी हो जाते है वह मुनि समाधिमरण धारणाकेलिए योग्य है. उपद्रव करनेवाले बंधु शत्रु क्यों माने जाते हैं यह ऊपर दिखाया है. वे प्रिय भाषण करते हैं अतः उनको बंधु अर्थात् अनुलोम कह सकते हैं परंतु अकल्याणकारक असंयममें वे जीवको प्रवृत्त करते हैं और हितकारक संयमधन का नाश करते हैं अतः वे शत्रु हैं.

शंका—' देविगमाणुसतेरिक्खगा उवसग्गा जस्स ' अर्थात् देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत उपसर्गों मेंसे मनुष्यकृत उपसर्ग एक उपसर्ग है ऐसा पिछली गाथामें लिखा है. शत्रुकृत उपद्रव अथवा बंधुकृत उपसर्ग भी मनुष्यकृत उपसर्गमें अन्तर्भूत होता है अतः पुनः इस गाथामें शत्रु व बंधुकृत उपसर्गका वर्णन क्यों किया है ?

उत्तर--पूर्व गाथामें मनुष्योपसर्गका खुलासा इस प्रकार समझना चाहिये-बंधन, ताडन, वृक्षशाखासे लटकाना इत्यादि शरीरोपद्रव जो परकेद्वारा किये जाते हैं उनको मनुष्योपद्रव कहना चाहिये. इस सूत्रमें बंधु वा शत्रुकृत उपद्रवका अभिप्राय यह है-यदि तुम अपना मुनिपना न छोडोगे तो तुह्मारी जिह्वा हम निकालेंगे. इत्यादि शब्दोंके द्वारा उपद्रव करना ऐसे उपद्रव उपस्थित होने पर मुनि समाधिमरणका स्वीकार करते हैं.

विद्युत्पातके समान भयंकर और जिसमें जीनेकी संभावना नहीं है ऐसा दुष्काल आपडनेपर भी मुनि भक्तप्रत्याख्यानके लिये योग्य हैं. कारण एसे दुष्कालमें अन्न मिलताही नहीं, अतः चारित्रनाश न हो इस हेतुसे उनको सल्लेखना करना योग्य है. जिससे उनके धर्मका रक्षण होगा.

जिसमें क्रूर प्राणी हैं और जिसमेंसे पार पाडनेवाला मार्गोपदेशक भी नहीं है ऐसे जंगलमें मुनि दिङ्मूढ हो जाते हैं. तथा यह जंगल पाषाण कंटकादिकोंसे व्याप्त होनेसे मुनिओंको उसमें विचरना अशक्य सा माल्म हो तो वे ऐसी अवस्थामें प्रत्याख्यान करनेके लिये योग्य हैं.

चक्खुं व दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं व दुब्बलं जस्स ॥
जंघावलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिदुं वा ॥ ७२ ॥

दुर्बलौ यस्य जायेते श्रवणौ चक्षुषी तथा ॥
विहर्तुं न समर्थो यो जङ्घाबलविवर्जितः ॥ ७५ ॥

विजयोदया—चक्खुं व चक्षुर्वा । चष्टेऽर्थान्दर्शयतीति चक्षु । दुब्बल दुर्बलं अल्पशक्तिकं सूक्ष्मवस्तुदर्शनाक्षम । जस्स यस्य । होज्ज भवेत् । सोदं व श्रोत्र वा श्रूयते शब्द उपलभ्यते येन तत् श्रोत्रम् । दुब्बलं शब्दोपलब्धिजननसामर्थ्यविकल । सोप्यर्हति । जंघावलपरिहीणो जंघावलपरिहीनो । जो यः । ण समत्थो न शक्तो । विहरिदु वा गंतु वा सोप्यर्हति ॥

मूलारा—दुब्बलं सूक्ष्मनिरीक्षणाक्षमं । दुब्बलं शब्दश्रवणशक्तिविकलं ॥ विहरिदुं गंतुमागंतुं वा ॥

हिंदी अर्थ—जिसकी आंखे कमशक्तिकी हो जानेसे सूक्ष्म वस्तु देखनेमें असमर्थ हो गयी हैं, जिसके कानोंका शब्द सुननेका सामर्थ्य नष्ट हो गया है, तथा जिसके पावोंकी चलनेकी शक्ति नष्ट होगई हो वह मुनि भी भक्तप्रत्याख्यानके लिये योग्य है.

अण्णम्मि चावि एदारिसंमि आगाढकारणे जादे ॥
अरिहो भत्तपइण्णाए होदि विरदो अविरदो वा ॥ ७४ ॥
दुर्वारं कारणं यस्य जायतेऽन्यदपीदृशम् ॥
भक्तत्यागमृतेर्योग्यः संयतोऽसंयतोऽपि सः ॥ ७६ ॥

विजयोदया—अण्णमि चावि अन्यस्मिन्नपि उक्तादस्मात् । आगाढकारणे आगाढे कारणे जादे जाते । एदारिसम्मि उक्तकारणसदृशे । भत्तपदिण्णाए अरिहो होदि विरदो अविरदो वा इति पदघटना । प्रत्याख्यानस्यार्हो भवति विरत अविरतो वा ॥

मूलारा—विरदो यतिः । अविरदो श्रावक ।

हिंदी अर्थ—उपर कहे हुए कारणोंसे अन्य भी तत्सदृश कारण यदि तीव्रतया उपस्थित हुए हो ऐसे समयमें मुनि अथवा गृहस्थ प्रत्याख्यानके योग्य समझे जाते हैं.

अनर्हसूचनायोत्तरगाथा—

उस्सरइ जस्स चिरमवि सुहेण सामण्णमणदिचारं वा ॥
णिज्जावया य सुलहा दुब्भिक्खभयं च जदि णत्थि ॥ ७५ ॥
प्रवर्तते सुखं यस्य श्रामण्यमपदूषणम् ॥
दुर्भिक्षान्नभयं योग्या दुरापा न च सूरय. ॥ ७७ ॥

विजयोदया—उस्सरदि नितरां प्रवर्तते । जस्स यस्य । चिरमवि चिरकालमपि । किं सामण्णं चारित्रं । सुहेण अक्लेशेन । अणदिचारं वा । निरतिचारं । चारित्रविनाशभयात्रय अतीतेषु कारणेषु सत्सु प्रत्याख्यानायोद्योगं करोति ।

तथेत्थंयततं निरतिचारमक्लेशेन नैव भक्तप्रत्याख्यानमर्हति । इदानीमहं यदि न त्यागं कुर्यां निर्यापकाः पुनर्न लप्स्यन्ते सूरयस्तदभावे नाहं पंडितमरणमाराधयितुं शक्नोमि इति यदि भयमस्ति भक्तप्रत्याख्यानार्ह एव ।

अर्हप्रसंगादायातमनर्हं तन्मुखेन वा पुनरर्हमेव लक्षयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—उस्सरदि नितरां प्रवर्तते । णिज्जावया पंडितमरणाराधनासहकारिणः सूरयः । सुलहा तत्कालेप्युत्तरकालेऽपि सुप्रापाः । दुब्भिक्खभयं अग्रे धान्यक्षयाद्भिक्षां विना चारित्रहानिर्मे भविष्यतीति भीतिः ।

प्रत्याख्यानमरणके लिये अयोग्य कौन है इसका खुलासा—

अर्थ—जिस मुनीश्वरका चारित्रपालन निरतिचार होता है और आयासके विना होता है वह भक्तप्रत्याख्यानके लिए अयोग्य है. अथवा सल्लेखनाके साधक निर्यापक आचार्य सुलभ हो तथा दुर्भिक्षका भय यदि न हो तो ऐसे समयमें मुनि समाधिमरण धारण न करे. अभिप्राय यह है कि, उपर्युक्त गाथाओंमें कहे हुए कारण आपडनेपर मेरे चारित्रका नाश होगा ऐसा समझकर मुनि भक्तप्रत्याख्यान करते हैं और यदि वे कारण नहीं हो तो मुनि भक्तप्रत्याख्यानमें प्रयत्न नहीं करते हैं. इस समय यदि मैं भक्तप्रत्याख्यान न करूंगा और आगे यदि निर्यापक आचार्य मेरेको न मिलेंगे तो उनके अभावसे मैं पंडितमरण न साध सकूंगा ऐसा यदि भय हो तो वह मुनि भक्तप्रत्याख्यानके योग्यही है ऐसा समझना चाहिए; यदि निर्यापकाचार्य सुलभ हो और भविष्यकालमें दुर्भिक्षकी भीति न हो तो वह मुनि भक्तप्रत्याख्यानके लिये अयोग्य समझना चाहिये.

यदि च सुलभा निर्यापका अनागतदुर्भिक्षभयं च यदि न स्यान्न भवत्यर्हः इति कथयति ।—

तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो ॥
सो मरणं पच्छितो होदि हु सामण्णणिव्विण्णो ॥ ७६ ॥

नासावर्हति संन्यासमदृष्टे पुरतो भये ॥
मरणं याचमानोऽसौ निर्विण्णो वृत्ततः परम् ॥ ७८ ॥

इति अर्हाभिधेयं सूत्रम् ॥

विजयोदया—तस्स तस्य । ण कप्पदि भत्तपइण्णं न योग्यं प्रत्याख्यानं भक्तस्य । भये पुरदो अणुवट्ठिदे भये पुरस्तादनुपस्थिते । सो स. । निरतिचारश्रामण्यः सुलभनिर्यापकः अनुपस्थितदुर्भिक्षभयः । मरणं मृतिं । पेच्छंतो प्रार्थयमानः । खुशब्द एवकारार्थः । एवमसौ संभावनीयः सामण्णणिव्विण्ण एव होदित्ति । श्रामण्यान्निर्विण्ण एव संभवतीति । ननु च अरिहेति अर्ह एव सूचितो नानर्हः, तत्किमर्थमसूत्रितव्याख्या क्रियते सूत्रकारेण ? अर्हप्रसंगादायातमिति केचित् । अनर्हमपि लक्षणतया अनर्हत्वं सूचितं इति वा न दोषः । स्वपरभावाभावो नयाधीनात्मलाभत्वात्सर्ववस्तूनां इति मन्यते ॥ अरिहोत्ति गदम् ॥

मूलारा—ण कप्पदि योग्यो न भवति । अणुवट्ठिदे अढौकिते ॥ खु इत्यादि श्रामण्यनिर्विण्ण एव । अर्हः । सूत्रतः ॥ १ ॥ अंकतः ॥ ६ ॥

यही अभिप्राय आगेकी गाथामें आचार्य कहते हैं—

हिंदी अर्थ—जिसके चारित्रमें निरतिचारता है, निर्यापकाचार्य जिसको सुलभतासे मिलते हैं, दुर्भिक्षकी भीति जिसको उपस्थित नहीं हुई है ऐसा भी मुनि यदि मरणकी इच्छा करेगा तो वह मुनि चारित्रसे विरक्त हुआ है ऐसा समझना चाहिये.

शंका—'अरिहेति' इस सूत्रसे अर्हकाही वर्णन करना चाहिये सूत्रकारने क्यों सूत्रके विरुद्ध अनर्हका भी निरूपण किया है ? इसका समाधान—अर्हके प्रसंगसे अनर्हका भी वर्णन सूत्रकारने किया है ऐसा कोई समाधान करते हैं.

स्वस्वरूपकी अपेक्षासे जो वस्तु है वही परस्वरूपकी अपेक्षासे अवस्तु होती है. ऐसी सर्व वस्तुओंकी व्यवस्था है. अतः अर्ह जैसे अपने लक्षणसे अर्ह है उसी तरह अनर्ह भी अर्हके उलटा होनेसे अनर्ह माना जाता है अनर्ह सर्वथा अभावरूप नहीं है. जितने पदार्थ है ये सभी नयसे सिद्ध होते है. अतः अनर्हका भी लक्षण आचार्यने लिखा है वह अयोग्य नहीं है.

भक्तप्रत्याख्यानके लिये जो अर्ह-योग्य है उस मुनिको भक्तप्रत्याख्यानके लिये उचित सामग्री रूप लिंगका वर्णन आचार्य आगेकी गाथाओंसे करते हैं.

भक्तप्रत्याख्यानार्हस्य तत्प्रत्याख्यानपरिकरभूतलिंगनिरूपणं उत्तराभिर्गाथाभिः क्रियते—

उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव ॥
अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ॥ ७७

तदौत्सर्गिकलिंगानां लिंगमौत्सर्गिकं परं ॥
अनौत्सर्गिकलिंगानामपीदं वर्ण्यते जिनैः ॥ ७९ ॥

विजयोदया—उस्सग्गियलिंगकदस्स उत्कर्षेण सर्जनं त्यागः सकलपरिग्रहस्य उत्सर्गः । उत्सर्गे त्यागे सकल ग्रंथपरित्यागे भवं लिंगं औत्सर्गिकं । किं करोति क्रियासामान्यवचनोऽत्र स्थित्यर्थो ग्राह्यः । तेनायमर्थः औत्सर्गिकलिंग-स्थितस्य भक्तप्रत्याख्यानाभिलाषवतः । तं चेव उस्सग्गिगं लिंगं तदेव प्राक् गृहीतं लिंगं औत्सर्गिकम् । अववादियलिंगस्स वि यतीनामपवादकारणत्वात् परिग्रहोऽपवादः, अपवादो यस्य विद्यते इत्यपवादिकं परिग्रहसहितं लिंगं अस्येत्यपवादिक लिंगं भवति । वाक्यशेषं कृत्वा एवं पदसंबंधः कार्यः । जइ पसत्थलिंगं जइ यदि प्रशस्तं शोभनं लिंगं मेहनं भवति । चर्मरहितत्वं, अतिदीर्घत्वं, स्थूलत्वं, असकृदुत्थानशीलतेत्येवमादिदोषरहितं यदि भवेत् । पुंस्त्वलिंगता इह गृहीतेति बीजयोरपि लिंगशब्देन ग्रहणं । अतिलंबमानतादिदोषरहितता । प्रशस्ततापि तयोर्गृहीता ॥

अथ गाथाद्वाविंशत्या भक्तप्रत्याख्यानार्हस्य तत्परिकरभूतं लिंगं व्याचष्टे ।

मूलारा—उस्सग्गियलिंगकदस्स उत्कर्षेण सर्जनमुत्सर्गः सकलपरिग्रहत्यागः । तत्र भवमौत्सर्गिकं तच्च तल्लिंगं च तत्र कृतः स्थितः तस्य यतेर्भक्तं त्यक्तुमिच्छोः । तयं चेव तदेव प्राग्गृहीतमेव भवेत् । अववादियलिंगस्स । यतीनां अपवादहेतुत्वादपवादः परिग्रहः सोऽस्यास्तीत्यपवादिकं लिंगं यस्य सोऽपवादिकलिंगः सग्रंथचिह्न आर्यादिस्तस्यापि भक्तं त्यक्तुमिच्छोरौत्सर्गिकमेव लिंगं वर्णितम् । यदि निश्चर्मत्वातिदीर्घत्वस्थूलत्वासकृदुत्थानशीलत्वादिदोषरहितं, वृषणौ चातिलंबमानतादिदोषवर्जितौ स्याताम् ॥

हिंदी अर्थ—उत्सर्ग-संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग करना यह उत्सर्ग है. अर्थात् संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग जब होता है उस समय जो चिन्ह मुनि धारण करते हैं उसको औत्सर्गिक लिंग कहते हैं. अभिप्राय यह है कि, जिस मुनीने संपूर्ण परिग्रह छोडकर पूर्ण नग्नता धारण की है उसके लिंगको-नग्नताको औत्सर्गिक लिंग कहते हैं. जब वह भक्तप्रत्याख्यान धारण करता है तब भी उसका नग्नता ही लिंग रहेगा.

यतीको परिग्रह अपवादका कारण होता है अतः परिग्रहसहित लिंगको अपवादिकलिंग कहते हैं.

अर्थात् अपवादलिंगधारक गृहस्थ जब भक्तप्रत्याख्यानके लिये उद्युक्त होता है तब उसके पुरुषलिंगमें यदि दोष न हो तो औत्सर्गिक लिंग-नग्नता धारण कर सकता है. गृहस्थके पुरुषलिंगमें चर्म न होना, अतिशय दीर्घता, वारंवार चेतना होकर ऊपर ऊठना ऐसे दोष यदि हो तो वह दीक्षा लेनेके लायक नहीं है. उसी तरह उसके अंड भी यदि अतिशय लंबे हो, बडे हो तो भी गृहस्थ नग्नताके लिये अयोग्य है. परंतु एवं दोषविशिष्ट भी गृहस्थ भक्त प्रत्याख्यानके समय एकान्तादिकमें सर्व परिग्रहका त्याग करके नग्न रह सकता है.

जिसको उपर्युक्त दोष है वह औत्सर्गिक लिंगका धारक नहीं होता है इस नियमका अपवाद कहते हैं—

औत्सर्गिकं लिंगं न भवत्येवेत्यस्यापवादमाह—

जस्स वि अव्वभिचारी दोसो तिट्ठाणिगो विहारम्मि ॥
सो वि हु संथारगदो गेण्हेज्जोस्सुग्गियं लिंगं ॥ ७८ ॥

यस्य त्रिस्थानगो दोषो दुर्निवारो विरागिणः ॥
लिंगमौत्सर्गिकं तस्मै संस्तरस्थाय दीयते ॥ ८० ॥

विजयोदया-जस्स वि यस्यापि। अव्वभिचारी अनिराकार्यो। दोसो दोषः। तिट्ठाणिगो स्थानत्रयभवः मेहने वृषणयोश्च भवः औषधादिनानपसार्यः। सोऽपि खु शब्द एवकारार्थः स च गेण्हेज्ज इत्यनेन संबंधनीयः। गृण्हीयादेव किं? उस्सग्गिगं लिंगं औत्सर्गिकं अचेलतालक्षणं। क्व विहारम्मि विहारे वसतौ, संथारगदे संस्तरारूढः संस्तरारोहणकाले। एवं संस्तरारूढस्यैव औत्सर्गिकं नान्यत्रेत्याख्यातं भवति।

अप्रशस्तलिंगस्यौत्सर्गिकं लिंगं न भवत्येवेत्यस्यापवादमाह—

मूलारा—अव्वभिचारो औषधादिना निराकर्तुमशक्यः। तिट्ठाणिओ त्रिषु स्थानेषु मेढ्रवृषणयोश्च भवः। स च फुरंडो लिंगे दुश्चर्मत्वं स्तब्धत्वं च। विहारम्मि वसतौ। खु एवार्थे। संस्तरगत एव गृण्हीयादेवेत्यर्थः। उस्सग्गियं अचेलता लक्षणं॥

हिंदी अर्थ — जिसके उपर्युक्त तीन दोष औषधादिकोंसे नष्ट होने लायक नहीं है वह वसतिकामें जब संस्तरारूढ होता है तब पूर्ण नग्न रह सकता हैं. संस्तरारोहणके समयमेंही वह नग्न रह सकता है अन्य समयमें उसको मना है.

अपवादलिंगस्थानां प्रशस्तलिंगानां सर्वेषामेव किमौत्सर्गलिंगतेत्यस्यामाशंकायां आह—

आवसधे वा अप्पाउग्गे जो वा महड्ढिओ हिरिमं ॥
मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिंगं ॥ ७९ ॥

समृद्धस्य सलज्जस्य योग्यं स्थानमविंदतः ॥
मिथ्यादृक्प्रचुरज्ञातेरनौत्सर्गिकामिष्यते ॥ ८१ ॥

विजयोदया—आवसधे वा निवासस्थाने। अप्पाउग्गे अप्रायोग्ये अविविक्ते। अपवादिकलिंगं हवदित्ति शेषः। जो वा महड्ढिगो महर्द्धिकः। हिरिमं ह्रीमान् लज्जावान्। तस्यापि होज्ज अपवादिकं लिंगं। मिच्छे वा मिथ्यादृष्टौ। सजणे स्वजनो बंधुवर्गो। होज्ज भवेत्। अपवादिकलिंगं सचेललिंगं॥

इदानीमपवादिकलिंगस्थानां प्रशस्तलिंगानामपि येषामौत्सर्गिकं लिंगं न स्यात्तानाह—

मूलारा—आवसधे निवासस्थाने। अप्पाउग्गे जनसंकुलत्वादयोग्ये। महड्ढिगो महर्द्धिकः। हिरिमं ह्रीमान् लज्जावान्। मिच्छे मिथ्यादृष्टौ॥

जिनके पुरुषलिंगमें दोष नहीं हैं ऐसे अपवादलिंगस्थित सभी लोक औत्सर्गिकलिंगधारी हो सकते हैं क्या? इस प्रश्नका उत्तर—

हिंदी अर्थ—जो श्रीमान्, लज्जावान् है तथा जिसके बंधुगण मिथ्यात्वयुक्त है ऐसे व्यक्तिने एकान्त रहित वसतिकामें सवस्त्रही रहना चाहिये.

पूर्वनिर्दिष्टोत्सर्गलिंगस्वरूपनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

अचेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं ॥
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥ ८० ॥

औत्सर्गिकमचेलत्वं लोचो व्युत्सृष्टदेहता ॥
प्रतिलेखनमित्येवं लिंगमुक्तं चतुर्विधम् ॥ ८२ ॥

विजयोदया—अचेलक्कमिति। अचेलक्कं अचेलता। लोचो केशोत्पाटनं हस्तेन। वोसट्टसरीरदा य व्युत्सृष्टशरीरता च। पडिलहणं प्रतिलेखनं। एसो दु एषः। लिंगकप्पो लिंगविकल्पः। चउव्विहो चतुर्विधः भवति। उस्सग्गे औत्सर्गिकसंज्ञिते लिंगे।

औत्सर्गिकलिंगस्वरूपं निरूपयति—

मूलारा—आचेलक्कं वस्त्राद्यभावः । नैर्ग्रंथ्यमित्यर्थः । लोचो हस्तेन केशोत्पाटनं ॥ वोसट्ट व्युत्सृष्टं त्यक्तं असंस्कारं इत्यर्थः । लिंगकप्पो लिंगविधिः ॥

पूर्वमें नाममात्रसे कहे हुए उत्सर्गलिंगका स्वरूप कहते हैं—

हिंदी अर्थ—संपूर्ण वस्त्रोंका त्याग अर्थात् नग्नता, लोच- हाथसे केश उखाडना, शरीरपरसे ममत्व दूर करना अर्थात् कायोत्सर्ग करना, तथा पडिलिहून–प्रतिलेखन प्राणिदयाका चिह्न–मयूरपिच्छिका हाथमें धारण करना इस तरह चार प्रकारका औत्सर्गिक लिंग है.

अतीताभिर्गाथाभिः पुरुषाणां भक्तप्रत्याख्यानाभिलाषिणां लिंगविकल्पोऽभिहितनिश्चयः। अधुना स्त्रीणां तदर्थिनीनां लिंगमुत्तरया गाथया निरूप्यते—

इत्थीवि य जं लिंगं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा ॥
तं तह होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करेंतीए ॥ ८१ ॥

विजयोदया—इत्थीवि य स्त्रियोऽपि । जं लिंगं यल्लिंगं । दिट्ठं दृष्टं आगमेऽभिहितं । उस्सग्गियं व औत्सर्गिकं तपस्विनीनां । इदरं वा श्राविकाणां । तं तदेव । तत्थ भक्तप्रत्याख्याने । होदि भवति । लिंगं तपस्विनीनां प्राक्तनम् । इतरासां पुंसामिव योज्यम् । यदि महर्द्धिका लज्जावती मिथ्यादृष्टिस्वजना च तस्याः प्राक्तनं लिंगं विविक्ते आवसथे, उत्सर्गलिंगं वा सकलपरिग्रहत्यागरूपं । उत्सर्गलिंगं कथं निरूप्यते स्त्रीणामित्यत आह—तं तत् उत्सर्गलिंगं । तत्थ स्त्रीणां होदि भवति । परित्तं अल्पं । उवधिं परिग्रहं । करेंतीए कुर्वत्याः ।

अधुना भक्तप्रत्याख्यानार्थिनीनां स्त्रीणां लिंगं निर्दिशति ॥

मूलारा—इत्थीए वि स्त्रिया अपि । उसग्गियं दिट्ठं आगमेऽभिहितं ॥ परित्तमुवहिं करेंतीए परिग्रहमल्पं कुर्वंत्या इति योज्यं । औत्सर्गिकं तपस्विनीनां साटकमात्रपरिग्रहेऽपि तत्र ममत्वपरित्यागादुपचारतो नैर्ग्रन्थ्यव्यवहरणानुसरणात् । इयरं अपवादिकं श्राविकाणां तथाविधममत्वपरित्यागाभावादुपचारतोऽपि नैर्ग्रन्थ्यव्यवहारानवतारात् ॥ तच्छ तत्र भक्तप्रत्याख्याने सन्न्यासकाले इत्यर्थ. । लिंगं तपस्विनीनामयोग्यस्थाने प्राक्तनं । इतरासां पुंसामिवेति योज्यम् । इदमत्र तात्पर्य–तपस्विनी मृत्युकाले योग्ये स्थाने वस्त्रमात्रमपि त्यजति । अन्या तु यदि योग्यं स्थानं लभते । यदि च

महर्द्धिका सलज्जा मिथ्यात्वप्रचुरज्ञातिश्च न तदा पुंवल्लमपि मुंचति ॥ नो चेत्प्राग्लिंगेनैव म्रियते । तथा चोक्तं—

यदौत्सर्गिकमन्यद्वा लिंगं दृष्टं स्त्रियाः श्रुते ॥

पुंवत्तदिष्यते मृत्युकाले स्वल्पीकृतोपधेः ॥

यहांतक भक्तप्रत्याख्यानकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंका दो प्रकारका लिंगभेद—उत्सर्ग लिंग और अपवादलिंग आचार्यने कहा है. अब भक्तप्रत्याख्यानेच्छु स्त्रियोंका लिंग आगेकी गाथासे कहते हैं—

हिंदी अर्थ—परमागममें स्त्रियोंका अर्थात् आर्यिकाओंका और श्राविकाओंका जो उत्सर्गलिंग और अपवादलिंग कहा है वही लिंग भक्तप्रत्याख्यानके समय समझना चाहिये. अर्थात् आर्यिकाओंका भक्तप्रत्याख्यानके समय उत्सर्गलिंग विविक्तस्थानमें होना चाहिये अर्थात् वह भी मुनिवत् उस समय नग्नरूपता धारण करे ऐसी आगमाज्ञा है. परन्तु श्राविकाका उत्सर्ग लिंग भी है और अपवादलिंग भी है. यदि वह श्राविका संपत्तिवाली अथवा लज्जावती होगी अथवा उसके बांधवगण मिथ्यात्वी हो तो वह अपवादलिंग धारण करे अर्थात् पूर्ववेषमेंही रहकर भक्तप्रत्याख्यानसे मरण करे. तथा जिस श्राविकाने अपना परिग्रह कम किया है वह एकान्त वसतिका-स्थानमें उत्सर्गलिंग—नग्नता धारण कर सकती है.

ननु रत्नत्रयभावनाप्रकर्षेण मृतिरुपयुज्यते किममुना लिंगविकल्पोपादानेनेत्यस्योत्तरमाह—

जत्तासाधणचिह्नकरणं खु जगपच्चयादठिदिकरणं ॥

गिहभावविवेगो वि य लिंगग्गहणे गुणा होंति ॥ ८२ ॥

यात्रासाधनगार्हस्थ्यविवेकात्मस्थितिक्रिया ॥

परमो लोकविश्वासो गुणा लिंगमुपेयुषः ॥ ८३ ॥

विजयोदया—जत्तासाधणचिण्हकरणं यात्रा शरीरस्थितिहेतुभूता भुजिक्रिया । तस्याः साधनं यल्लिंगजातं चिन्हजातं तस्य करणं । न हि गृहस्थवेषेण स्थितो गुणीति सर्वजनताधिगम्यो भवति । अज्ञातगुणविशेषाश्च दानं न प्रयच्छंति । ततो न स्याच्छरीरस्थितिः । असत्यां तस्यां रत्नत्रयभावनाप्रकर्षः क्रमेणोपचीयमानो न स्यात् । विना तं न मुक्तिरित्यभिलाषितकार्यसिद्धिरेव न स्यात् । गुणवत्तायाः सूचनं लिंगं भवति । ततो दानादिपरंपरया कार्यसिद्धिर्भवतीति भावः । अथवा यात्राशब्दो गतिवचनः यथा देवदत्तस्य यात्राकालोऽयम् । गतिसामान्यवचनादप्ययं शिवगतावेव वर्तते,

दारकं पश्यसीति यथा। यात्रायाः शिवगतेः साधनं रत्नत्रयं तस्य चिह्नकरणं ध्वजकरणं।

जगपच्चयादठिदिकरणं॰ जगच्छब्दोऽन्यत्र चेतनाचेतनद्रव्यसंहतिवचनो 'जगन्नैकावस्थं युगपदखिलानंत विषयम्' इत्येवमादौ। इह प्राणिविशेषवृत्तिः। यथा—'अर्हतस्त्रिजगद्वंद्यान्' इति। प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थः। क्वचिज्ज्ञाने वर्तते यथा 'घटस्य प्रत्ययो' घटज्ञानं इति यावत्। तथा कारणवचनोऽपि 'मिथ्यात्वप्रत्ययोऽनंतः संसार' इति गदिते मिथ्यात्वहेतुक इति प्रतीयते। तथा श्रद्धावचनोऽपि 'अयं अत्रास्य प्रत्ययः' श्रद्धेति गम्यते। इहापि श्रद्धावृत्तिः। जगतः श्रद्धेति। ननु श्रद्धा प्राणिधर्मः अचेलतादिकं शरीरधर्मो लिंगं तत्किमुच्यते 'लिंगं जगत्प्रत्यय' इति। सकलसंगपरिहारो मार्गो मुक्तेः इत्यत्र भव्यानां श्रद्धां जनयति। लिंगमिति जगत्प्रत्यय इत्यभिहितं। न चेत्सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तिलिंगं किमिति नियोगतोऽनुष्ठीयते इति।

आदठिदिकरणं आत्मनः स्वस्य अस्थिरस्य स्थिरतापादनं। क? मुक्तिवर्त्मनि प्रजने। किं मम परित्यक्तवसनस्य रागेण, रोषेण, मानेन, मायया, लोभेन वा। वसनाग्रेसराः सर्वा लोकेऽलंक्रियाः तच्च निरस्तं। को मम रागस्यावसर इति। तथा परिग्रहो निबंधनं कोपस्य। तथा हि–पित्रा सुतो युध्यते धनार्थितया ममेदं भवति तवैवमिति। तत्किमनेन स्वजनवैरिणा रिक्थेन, लोभं, आयासं, पापं, दुर्गतिं च वर्द्धयता इति सकलः परित्यक्तो वसनपुरःसरः परिग्रहो रोषविजितये। हसंति च मां परे साधवो रोषमुपयांतं। केयमवसनता मुमुक्षोः कायमस्य कोपहुताशनः ज्ञानजलसेकपरिवृद्धतपोवनविनाशनबद्धविभ्रमः इति। तथा च माया धनार्थिभिः प्रयुज्यते सा च तिर्यग्गतिं प्रापयतीति भीत्वा मायोन्मूलनायैवेदमनुष्ठितं।

गिहिभावविवेगोवि य गृहित्वात्पृथग्भावो दर्शितो भवति॥

नन्वर्हस्य रत्नत्रयभावनाप्रकर्षेण मृतिरुपयुज्यते किममुना लिंगविकल्पोपादानेनेत्यस्योत्तरमाह–

मूलारा—जत्तेत्यादि–जत्ता साहणचिण्हकरणं। यात्रा–मुक्त्यंगरत्नत्रयप्रकर्षार्थं देहस्थितिहेतुराहार; शिवगतिर्वा यात्रा तस्याः साधनं गुणातिशयः। तस्य चिह्नकरणं ज्ञापकं, संयमध्वजीभूतं वा लिंगमाचेलक्यादि स्यात्। तथा जगप्पच्चयादठिदिकरणं जगतो भव्यलोकस्य प्रत्ययो नैर्ग्रन्थ्यादेव मुक्तिरिति प्रतीतिः श्रद्धेति यावत्। तथा आत्मनो यत्यात्मनः कषायोदयवशान्मुक्तिमार्गाच्चलतः स्थितिः सूत्रस्थिरता जगत्प्रत्ययश्चात्मस्थितिश्च तयोः करणं संपादनं तल्लिंगं भवति। तथा गिहिभावविवेगो गार्हस्थ्यपृथग्भावस्तदुपदर्शकत्वाल्लिंगमपि। तथा चोक्तं। आचेलक्यादिलिंगेन हि गृहस्थत्वं त्यक्तं, अनेन मंग चेति ज्ञाप्यते। लिंगेत्यादि मुमुक्षुणा गृह्यमाणे आचेलक्यलिंगे यथोक्ताश्चत्वारो गुणाः स्वपरोपकारिणो धर्मा भवन्ति इत्यर्थः।

जो भक्तप्रतिज्ञायोग्य है उसको रत्नत्रयभावनाका प्रकर्ष करके मरण करना योग्य है। उत्सर्गलिंग अथवा अपवादलिंग धारण करके भक्तप्रत्याख्यान मरण करना चाहिये ऐसा हठ क्यों? इस प्रश्नका उत्तर—

हिंदी अर्थ—उत्सर्गलिंग अर्थात् नग्नता यह यात्राका साधन है अर्थात्–शरीर स्थिर रहनेके लिये कारणीभूत जो आहार उसकी प्राप्ति होनेके लिये कारणरूप चिन्ह है. गृहस्थवेषसे ही यदि भिक्षु भी रहने लगे तो ये गुणी है ऐसा नहीं समझे जायेंगे तथा उनका आदर न होगा. गृहस्थवेषसे उनके विशिष्ट गुण ज्ञात न होनेसे गृहस्थ उनको दान नहीं देंगे. दान न मिलनेसे उनके शरीरकी स्थिरता न होगी. शरीरस्थितीके विना रत्नत्रयभावनाका प्रकर्ष कैसे होगा? रत्नत्रयके प्रकर्षसे ही मुक्ति प्राप्ति होती है. उसके विना वह न मिलेगी. अतः अभिलषितकार्य अर्थात् मुक्तिप्राप्ति गृहस्थवेषसे होती नहीं. अतः यह नग्नता गुणीपनाका सूचक चिन्ह है. इस नग्नतागुणसे दानादिकार्यपरम्पराकी सिद्धि होती है.

अथवा यात्रा शब्द सामान्य गतिवाचक है जैसे 'देवदत्तस्य यात्राकालोऽयम्' अर्थात् यह देवदत्तका गमनकाल है. यहां यद्यपि यात्राशब्द सामान्य गतिवाचक है तो भी प्रस्तुत प्रकरणमें वह शिवगति–मोक्षगमन इस अर्थमें रूढ समझना चाहिये. 'दारकं पश्यासि' इस वाक्यमें दारकशब्दका सामान्य अर्थ लडका ऐसा होनेपर भी जो लडकेको देख रहा था उसका ही वह लडका है ऐसा अभिप्राय सिद्ध होता है उसी तरह 'जत्रासाधणचिन्हकरणं' इस शब्दसमुच्चयका अर्थ यात्राका अर्थात् मोक्षगतिका साधन जो रत्नत्रय उसका नग्नता यह लिंग ध्वजके समान है.

इस लिंगमें जगत्प्रत्ययता यह गुण है. 'जगत्प्रत्ययः' अर्थात् सर्व जगत्की इसके ऊपर श्रद्धा होती है. जगत् शब्दका चेतनअचेतनरूप संपूर्ण द्रव्यसमूहको जगत् कहते हैं ऐसा अन्य प्रकरणमें अर्थ होगा. 'जगन्नैकावस्थं युगपदखिलानंतविषयम्' अर्थात् चेतनाचेतनरूपी इस जगत्की एक अवस्था नहीं है, यह संपूर्ण और अनंतपर्यायोंको धारण करने वाला है. परंतु प्रस्तुतप्रकरणमें जगत् शब्दका अर्थ प्राणिविशेष ही लेना चाहिये. जैसे 'अर्हतस्त्रिजगद्वंद्यान्' अर्थात् इंद्र, देव, मनुष्य व सिंहादितिर्यंच ऐसे विशिष्टप्राणियोंसे वंदनीय जिनेश्वरको हम नमस्कार करते हैं. यहां जगत् शब्दका विशिष्टप्राणी ऐसा अर्थ होता है. प्रत्ययशब्दके भी अनेक अर्थ है. जैसे 'घटस्य प्रत्ययः' घटका ज्ञान यहां प्रत्यय शब्दका ज्ञान ऐसा अर्थ होता है. तथा प्रत्यय शब्द कारणवाचक भी है जैसे 'मिथ्यात्वप्रत्ययः अनंतः संसारः' अर्थात् इस अनंतसंसारको मिथ्यात्व कारण है. प्रत्यय शब्दका श्रद्धा ऐसा भी अर्थ होता है जैसे 'अयं अत्रास्य प्रत्ययः' इस मनुष्यकी इसके ऊपर श्रद्धा है' यहां प्रस्तुत प्रकरणमें प्रत्यय शब्दका श्रद्धा यह अभीष्ट अर्थ है.

साधूकी नग्नता देखकर उनमें सब जगत्‌का श्रद्धान होता है ऐसा जगत्प्रत्यय इस शब्दका अभिप्राय समझ लेना चाहिये.

शंका—श्रद्धा प्राणिओंका धर्म-स्वभाव है और अचेलतादिक शरीरका धर्म है अतः लिंगका जगत्प्रत्यय यह विशेषण कैसा उपयुक्त है ?

उत्तर—संपूर्ण परिग्रहका त्याग ही मुक्तिका मार्ग है ऐसी नग्नता देखकर श्रद्धा उत्पन्न होती है अतः लिंगका यह विशेषण सार्थक है संपूर्ण परिग्रहत्यागही मुक्तिका लिंग यदि नहीं होता तो नियोगसे क्यों उसकी आराधना की जाती है ?

नग्नतामें ' आदठिदिकरणं ' इस नामका एक गुण है. स्वतःमें अस्थिरपनाको निकालकर स्थिरपना उत्पन्न करना यह आदिठिदिकरण इस शब्दका अर्थ है. मुक्तिमार्गमें प्रयाण करनेमें स्थिर होना ऐसा इसका अभिप्राय है. इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—मुनि विचार करते हैं- मैंने वस्त्रका त्याग किया है अतः अब राग, द्वेष, अभिमान, माया और लोभ इनसे मेरा क्या प्रयोजन है ? वस्त्रकी इच्छा ही अलंकारदिकी इच्छाको उत्पन्न करती है. अर्थात् वस्त्र यदि पास होवे तो अलंकारादिक भी मेरेको मिलेंगे तो अच्छा ही होगा ऐसी इच्छा होती है. मैंने वस्त्र ही फेक दिया है अब रागभावनासे मेरा क्या प्रयोजन है ऐसा विचार करते हैं. तथा परिग्रह कोपोत्पत्तिका कारण है. धनकी आवश्यकता पडने पर पुत्र भी अपने पितासे लडता है. यह धन मेरा है यह धन तेरा है इस रीतीसे झगडा करता है. अतः स्वजनोंमें वैर उत्पन्न करने वाले धनको लेकर मैं क्या करूं ? यह परिग्रह लोभ, आयास, पाप व दुर्गतिको उत्पन्न करते हैं. इसी वास्ते मैंने वस्त्रप्रमुख समस्त परिग्रहको कोपको जीतनेके लिये छोड दिया है. मैं यदि रोषवश होऊं तो मेरेको इतर साधु हसेंगे. वे कहेंगे देखो इनकी नग्नता और देखो इनका कोपग्नि ! यह कोपाग्नि ज्ञानजलसे सींचा और वृद्धिंगत हुआ ऐसे तपरूपी वनका नाश करनेके लिये तयार हुआ है । धनवान लोक हमेशा कपट व्यवहार करते हैं, वह उनको तिर्यग्गतीमें पटकता है. अतः ऐसे घोर कपटसे डरकर इसका नाश करनेके लिये ही मैंने यह मुनिपना धारण किया है. ऐसा विचार मुनि मनमें करते हैं. अतः नग्नता आत्मस्थितिकारण गुणको उत्पन्न करती है ऐसा कहना योग्य है. इस नग्नता से मुनि गृहस्थोंसे भिन्न है ऐसा भी व्यक्त होता है.

गंथच्चाओ लाघवमप्पडिलिहणं च गदभयत्तं च ॥
संसज्जणपरिहारो परिकम्मविवज्जणा चेव ॥ ८३ ॥

परिकर्मभयग्रन्थसंसक्तिप्रतिलेखनाः ॥
लोभमोहमदक्रोधाः समस्ताः सन्ति वर्जिताः ॥ ८४ ॥

विजयोदया—गथच्चागो परिग्रहत्यागः। लाघवं हृदयसमारोपितशैल इव भवति परिग्रहवान्। कथमिदमन्येभ्यश्चौरादिभ्यः पालयामि इति दुर्धरचित्तखेदविगमाल्लघुता भवति।

अप्पडिलिहणं वसनसहितलिंगधारिणो हि वस्त्रखंडादिकं शोधनीयं महत्। इतरस्य पिच्छादिमात्रं।

परिकम्मविवज्जणा चेव। याचनसीवनशोषणप्रक्षालनादिरनेको हि व्यापारः स्वाध्यायध्यानविघ्नकारी अचेलकस्य तन्न तथेति परिकर्मविवर्जनं।

गदभयत्तं भयरहितता। भयव्याकुलितचित्तस्य न हि रत्नत्रयघटनायामुद्योगो भवति। सवसनो यतिर्वस्त्रेषु यूकालिक्षादिसम्मूर्छनजजीवपरिहारं विधातुं नार्हति। अचेलस्तु तं परिहरतीत्याह- संसज्जणं परिहारो इति।

परिसहअधियासणा चेव। शीतोष्णदंशमशकादिपरीषहजयो युज्यते नग्नस्य। वसनाच्छादनवतो न शीतादिबाधा येन तत्सहनपरीषहजयः स्यात्। पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहा' इति वचनान्निर्जरार्थिभिः परिषोढव्याः परीषहाः॥

एवं सामान्यतो लिंगगुणानभिधायेदानीं लिंगविशेषस्याचेलक्यस्य गुणान्गाथात्रयेणोपदिशति।

मूलारा—संगच्चाओ परिग्रहत्यागः शरीरेऽपि निर्ममत्वमित्यर्थः। लाघवं कथमिदं चौरादिभ्यो रक्षयमिति दुर्धररक्षोपायचिंताखेदविगमाल्लघुता, कर्मलघुत्वं वा। अप्पडिलिहणं बर्हपिच्छादिना वस्त्रादेर्निरीक्षणशोधनाद्यभावः। गदभयत्तं चौरादिभ्यस्त्रासस्याभावः। संसज्जण यूकादिसंमूर्छनं। परिकर्म प्रक्षालनादिसंस्कारः।

अर्थ—ग्रंथत्याग, लाघव, अप्रतिलेखन, गतभयत्व, संसर्गपरिहार, परिकर्मविवर्जन ऐसे गुण मुनिलिंगमें समाविष्ट हुवे हैं.

ग्रंथत्याग—मुनिलिंगधारण करनेसे परिग्रहत्याग होता है. लाघव—परिग्रहवान् मनुष्यको परिग्रह छातीपर रक्खे हुऐ पर्वतके समान बहुत कष्टप्रद होता है. परंतु जो परिग्रहरहित है उसको अपने ऊपरसे बडा भारी परिग्रहका बोझा उतर गयासा मालूम होता है. अतः मुनिलिंगमें लाघवगुण है यह सिद्ध होता है. इस परिग्रहका मैं

चौरादिसे कैसा रक्षण करूं ऐसी चिन्ता निष्परिग्रहीको होती नहीं. अतः तद्विषयक खेदका नाश होनेसे लघुता गुण प्राप्त हो जाता है.

अप्रतिलेखन— जो सवस्त्रलिंग धारण करते हैं उनको वस्त्रखंडादिकको बहुत शोधना पडता है. परंतु मयूरपिच्छादिमात्र परिग्रह जिनके पास है उनको बहुत सोधनेकी आवश्यकता नहीं रहती है. अतः अप्रतिलेखन गुण उनको प्राप्त होता है.

परिकर्मवर्जना—वस्त्रके विषयमें याचना करना, उसको सीना, धूपमें सुखाना, जलसे धोना, वगैरे. अनेक क्रियायें करनी पडती है. तब ध्यान, स्वाध्यायादि कार्यमें विघ्न उपस्थित होता है. परंतु जो मुनि अचेल है वस्त्रका त्यागी है उसको याचनादिकार्य करना नहीं पडता है अतः उसके ध्यानस्वाध्यायादि क्रियायें निर्विघ्न पार पडती है.

गतभयत्व –निर्वस्त्रमुनीश्वरको परिग्रहाभाव होनेसे भय रहता नहीं भयसे जिसका चित्त व्याकुल हो उठा है उसकी रत्नत्रयमें प्रवृत्ति होती नहीं. सवस्त्र मुनि वस्त्रमें यूकादिसम्मूर्च्छन जीवोंका परिहार करनेमें असमर्थ होता हैं. परंतु वस्त्ररहित मुनि उन जीवोंका परिहार कर सकता है.

परिषहाधिवासना—नग्न मुनि शीत, उष्ण, दंशमशकादि परीषह सहन करते हैं. परंतु वस्त्रवेष्टित यति को शीतादि बाधा होती नहीं. अतएव वे शीतादिपरीषह विजयी नहीं हैं. पूर्वोपार्जित कर्मकी निर्जरा करनेके लिये परीषह सहन करने चाहिये ऐसा आगमवचन है इसलिये निर्जरार्थी मुनिओने परिषह सहन करने चाहिये.

विस्सासकरं रूवं अणादरो विसयदेहसुक्खेसु ॥
सव्वत्थ अप्पवसदा परिसह अधिवासणा चेव ॥ ८४॥

अङ्गाक्षार्थसुखत्यागो रूपं विश्वासकारणम् ॥
परीषहसहिष्णुत्वमर्हदाकृतिधारणम् ॥ ८५ ॥

विजयोदया—विस्सासकरं रूवं विश्वासकारि जनानां रूपं अचेलतात्मकं । एवं असंगा नैतेऽन्यद्घ्नन्ति नापि परोपघातकारि शस्त्रग्रहणं मच्छन्नमात्रे संभाव्यते । विरूपेषु चामीषु नास्मदीयाः स्त्रियो रागमनुबध्नंतीति विश्वासः ॥

अणादरो विसयदेहसुक्खेसु । विषयजनितेषु शरीरसुखेषु प्रेताकारस्य किं मम वामलोचनाविलोकितेन । तासां कलगीतश्रवणेन । तासिर्जुगुप्सनीयशरीरस्य का वा रतिक्रीडेति भावना चैवानादरः । अथवा शरीरसुखे विषयसुखे चानादरः । विषयसुखव्यतिरेकेण न शरीरसुखं, नाम किंचिदिति चेत्—शारीरदुःखाभावः शरीरसुखं । इंद्रियार्थविषयसन्निधानजनिता प्रीतिर्विषयसुखमिति महाननयोर्भेदः ॥

सव्वत्थ सर्वस्मिन्देशे । अप्पवसश्च आत्मवशता । स्वेच्छया आस्ते, गच्छति, शेते वा । इहासनादिकरणे इदं मम विनश्यति वस्त्विति तदनुरोधकृता परतन्त्रता नास्ति सयतस्य । परिग्रहविनाशभीरुरात्मनोऽयोग्येऽपि उद्गमादिदोषोपहते प्राणिसंयमविनाशकारिणि वा आसनस्थानशयनादिकं संपादयति । त्रसस्थावरबाधामावहता धर्मेना वजति । एतद्दोषपरिहारोऽसंगस्य भवति ॥

परिसह अधियासणा चेव पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरार्थिना यतिना सोढव्या. परीषहाः नियोगेन क्षुदादयो बाधाविशेषाः द्वाविंशतिप्रकाराः । तत्रायं सामान्यवचनोऽपि परीषहशब्दः प्रकरणादचेलाख्यात्तदनुरूपपरीषहवृत्तिर्ग्राह्यः । तेन नाग्न्यशीतोष्णदंशमशकपरीषहसहनमिह कथितं भवति । सचेलस्य हि सप्रावरणस्य न तादृशी शीतोष्णदंशमशकजनिता पीडा यथा अचेलस्येति मन्यते ॥

मूलारा—विस्सासकरं रूवमसंगा एते कथमन्यस्य किमपि ग्रहीष्यन्ति । न च परोपघातकारि शस्त्रादिकमत्र प्रच्छन्नं संभाव्यते । प्रेताकारेषु नास्मत्कामिन्यो रागमनुबध्नन्ति इति जनाना विश्वासकरणशीलं । विसयदेहसोक्खेसु विषयेभ्यः स्त्रीकटाक्षनिरीक्षणादिभ्यो जातेषु देहस्याल्हादनेषु । किं मे प्रेताकारस्य आसां कटाक्षनिरीक्षणेन, कलगीतश्रवणेन, आलिंगनस्य वा तद्वाग्मिश्रणया, तद्रत्या वेत्यादिभावनया अनादरोऽनासक्तिः । यदि वा सौख्येष्वाल्हादनाकारेषु, देहसौख्ये च दुःखनिवृत्तिरूपे चानादरः प्रार्थनाकांक्षा । सव्वत्थ अप्पवसदा सर्वस्मिन्देशे स्वेच्छया आगमाविरोधेनासनशयनगमनादिप्रवृत्तिः । परिसहअधिआसणा परीषहाणामाचेलक्योचितानां नाग्न्यशीतोष्णदंशमशकादीनामधिवासना अध्यासना वा सहनं तद्दुःखेनापि नाभिभवनमित्यर्थः ।

अर्थ—निर्वस्त्रताही विश्वास उत्पन्न करनेवाली है इसको कोई हरण करते नहीं. निर्वस्त्र मुनीके पास शस्त्रादिक छिपे हुए नहीं रह सकते हैं. अर्थात् शस्त्रादि परोपघातक वस्तु उनके पास रहती भी नहीं हैं अतः उनके ऊपर लोगोंका विश्वास उत्पन्न होता है. वस्त्ररहित होनेसे विरूप दीखनेवाले मुनिओंपर हमारी स्त्रिया मोहित नहीं होती हैं. अतः उनपर वे लोग विश्वास करते हैं.

अनादर—परिग्रहका त्याग करनेसे विषयजनित सुखोंसे आदर नष्ट होता है. मैं प्रेतके समान हूं अतः

स्त्रियोंकी तर्फ देखना मेरेको योग्य नहीं है. उनका मधुर गीत सुनना योग्य नहीं है, मेरा शरीर ग्लानि उत्पन्न करनेवाला है अतः उससे उनके साथ रतिक्रीडा करना क्या योग्य है? इस तरह भावनाओंसे अनादरगुण उत्पन्न होता है. अथवा इस निर्वस्त्रतासे शरीरसुखमें व विषयसुखमें अनादर उत्पन्न होता है.

विषयसुखको छोडकर शरीरसुख भिन्न पदार्थ नहीं है इस प्रश्नका उत्तर इस तरह समझना। शरीरके दुःखोंका अभाव होना शरीरसुख कहलाता है व इंद्रियोंके विषयोंसे जो मनमें प्रेम आल्हाद उत्पन्न होता है वह विषयसुख है। इस प्रकार इन दोनोंमें महान्भेद है.

सर्वत्र आत्मवशता—यह गुण भी प्राप्त होता है. मुनीके पास कोई परिग्रह न होनेसे वे स्वेच्छासे बैठते हैं, जाते हैं तथा सोते हैं. बैठने उठनेमें मेरी अमुक वस्तु नष्ट हुई, अमुक वस्तु मेरेको चाहिये इस प्रकारकी चिन्ता उनको होती नहीं. अतः परिग्रहविषयक परतंत्रतासे वे छूट गये हैं. मेरे परिग्रहका विनाश हो जायगा ऐसी भीति यदि मुनिको उत्पन्न हो जावेगी तो वे अपनेको अयोग्य तथा उद्गमादिदोषोंसे सहित, प्राणिसंयमका नाश करनेवाले ऐसे आसन शयनादिकोंका संपादन करेंगे. परिग्रहको चौरादिक हरण करेंगे इस भीतीसे त्रस स्थावर जीवोंको जिसमें दुःख पोहोंचेगा ऐसे मार्गसे वे जावेंगे. परंतु जो परिग्रहरहित हैं ऐसे मुनिराज उपर्युक्त दोषसे अलिप्त रहते हैं.

परिसह अधिआसणा—पूर्वकर्मकी निर्जरा करनेकी इच्छा जिनको है ऐसे मुनीको परीषह सहन करनेही चाहिये. क्षुधादिक बावीस परिषह हैं. यद्यपि परिषह शब्द सामान्यतया प्रयुक्त किया है तो भी यहां अचेलत्वका प्रकरण होनेसे उनके अनुरूप परिषहोंका ग्रहण हो जाता है. इस लिये नग्नता, शीत, उष्ण, दंशमशक, इतने परिषहोंको सहन करना चाहिये ऐसा अभिप्राय सिद्ध हुवा. जैसी निर्वस्त्रमुनीको शीत, उष्ण, दंशमशकोंसे पीडा होती है वैसी वस्त्र ओढे हुए मनुष्यको होती नहीं है.

अचेलताया गुणान्तरसूचनाय गाथा—

जिणपडिरूवं विरियाचारो रागादिदोसपरिहरणं ॥
इच्चेवमादिबहुगा अच्चेलक्के गुणा होंति ॥ ८५ ॥

स्ववशात्वमदोषत्वं धैर्यवीर्यप्रकाशनम् ॥
नानाकारा भवन्त्येवमचेलत्वे महागुणाः ॥ ८६ ॥

विजयोदया—जिणपडिरूवं जिनानां प्रतिबिंबं चेदं अचेललिंगं। ते हि मुमुक्षवो मुक्त्युपायज्ञा यद्गृहीतवन्तो लिंगं तदेव तदर्थिनां योग्यमित्यभिप्रायः। यो हि यदर्थी विवेकवान् नासौ तदनुपायमादत्ते यथा घटार्थी तंतुरित्येवमादीन्मुक्त्यर्थी च यतिर्न चेलं गृह्णाति मुक्तेरनुपायत्वात्। यश्चात्मनोऽभिप्रायस्योपायस्तन्नियोगत उपादत्ते यथा चक्रादिकं तथा यतिरपि अचेलतां तदुपायतां वा अचेलताया जिनाचरणादेव ज्ञानदर्शनाचारयोरिव।

विरियायारो वीर्यांतरायक्षयोपशमजनितसामर्थ्यपरिणामो वीर्यं, तदनिगूहनेन रत्नत्रयवृत्तिर्वीर्याचारः। स च पंचविधेष्वाचारेष्वेकः स च प्रवर्तितो भवति। अचेलतामुद्वहताऽशक्यचेलपरित्यागस्य कृतत्वात्। परिग्रहत्यागो हि पंचमं व्रतं तन्नाचरितं भवेत् शक्तोऽपि यदि न परिहरेत्।

रागादिदोसपरिहरणं। लाभे रागोऽलाभे कोपः। लब्धे ममेदंभावलक्षणो मोहः। अथवा मृदुत्वं दार्ढ्यमित्येवमादिषु वसनाच्छादनगुणेषु रागो मृदुस्पर्शनादिषु द्वेष इत्येषां परिहारः। इच्चेवमादि इत्येवमादयः बहुगा महान्तः महाफलतया अचेलक्के अचेलतायां सत्यां गुणा होंति। याच्ञादीनतासंक्लेशादिपरिहाराः आदिशब्देन गृहीताः।

मूलारा—जिणपडिरूवं जिनसदृशत्वं जिना हि मुमुक्षवो मुक्त्युपायज्ञा यद्गृहीतवंतो लिंगं तदेव तदर्थिनां योग्यमित्यभिप्रायः।।विरियाचारो स्वसामर्थ्यानिगूहनेन निर्मलरत्नत्रये प्रवृत्तिः। रागादि—लब्धे वस्त्रे रागोऽलब्धे रोषो, लब्धेऽपि च ममेदमिति मूर्च्छा। अथवा वस्त्रगतेषु मृदुत्वदार्ढ्यादिगुणेषु रागः प्रीतिः। कर्कशत्वजर्जरत्वादिदोषेषु द्वेषः। इच्चेवमाइ इत्येवमादयः। आदिशब्देन यांचादैन्यरक्षासंक्लेशादिपरिहारग्रहणं। बहुगा महाफलत्वान्महान्तः। आचेलक्के वस्त्रत्यागे सति यतेः।

अचेलत्वमें और भी गुण हैं यह आगेकी गाथासे सूचित होता है—

अर्थ—जिनप्रतिरूप-यह अचेलत्व गुण है. मुक्तिप्राप्तिके अभिलाषी तीर्थकरोंको मुक्तिका उपाय मालूम था अतः उन्होंने जो लिंगधारण किया था वही मुमुक्षु मुनिओंको धारण करना चाहिये. जो जिस वस्तुको चाहता है वह विवेकवान् उसके प्राप्तिके लिये जो उपाय हैं उनकाही आलंबन लेता है. उसके उपाय न होनेवाले वस्तूको वह ग्रहण नहीं करेगा. जैसे जिसको घटकी चाह है तो वह मृत्पिंड, चक्र इत्यादि कारकोंको ही ग्रहण करेगा वह कदाचिदपि वस्त्रोत्पत्तिके कारणोंका-तंतु इत्यादिकोंका स्वीकार न करेगा. उसी तरह वस्त्र मोक्षप्राप्तिका उपाय नहीं है अतः मुमुक्षुजन उसका ग्रहण नहीं करते हैं. जो जो अपनी अभीष्ट वस्तु है लोक उसके कारणोंको ही ग्रहण

करते हैं जैसे घटार्थी चक्रादिक कारणोंको ग्रहण करते हैं. उसी तरह मुनिगण भी मुक्तिका उपाय जो अचेलता उस का अंगीकार करते हैं, इस अचेलताको जिनेश्वरोंने मुक्तिका उपाय है ऐसा समझकर धारण किया था. जैसे जिनेश्वरोंने ज्ञानाचार और दर्शनाचार धारण किये थे वैसे उन्होंने अचेलता भी धारण कीथी.

वीर्याचार—अचेलतासे वीर्याचार गुणकी प्राप्ति होती है. वीर्यान्तरायकर्मका क्षयोपशम होनेसे जो आत्मा में सामर्थ्यपरिणाम उत्पन्न होता है उसको वीर्य कहते हैं. इस वीर्यको न छिपाकर रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करना वीर्याचार है. ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार व वीर्याचार ऐसे आचारोंके पांच भेद आगे ग्रंथकार कहेंगे ही. जिसने अचेलता धारण की है उसने अशक्य वस्त्रत्यागको शक्य करके दिखाया है. यदि वस्त्रत्याग मुनिओंने नहीं किया तो परिग्रहत्याग नामका पांचवा महाव्रत उन्होंने पाला नहीं है ऐसा समझना चाहिये. सामर्थ्य होकर भी वस्त्रका त्याग न करनेसे परिग्रहत्याग महाव्रत कैसे पाला जायगा.

रागादिदोस परिहरण—यह भी गुण अचेलतासे ही मिलता है. वस्त्रका लाभ होनेसे उसमें आसक्ति हो जाती है. उसकी प्राप्ति न होनेसे मनमें कोप घर करता है. वस्त्र मिलनेसे वह वस्त्र मेरा है ऐसी मोहभावना उत्पन्न होती है. अथवा ओढनेके पहरनेके वस्त्रोंमें मृदुपना, दृढता वगैरे गुण देखकर प्रेम उत्पन्न होता है तथा उसके कठोरस्पर्श, जल्दी फट जाना इत्यादिक दोष अनुभवमें आनेसे उससे द्वेष उत्पन्न होता है. वस्त्रका त्याग करनेसे ये सर्व रागादि दोष नहीं रहते हैं. अर्थात् अचेलताके धारण करनेसे पूर्व गाथाओंमें कहे हुए सब महागुण मुनिराज को मिलते हैं. वस्त्रका त्याग करनेसे याचना दोष नष्ट होता है. दीनता और संक्लेशपरिणाम विलीन हो जाते हैं.

पुनरप्यचेलतामाहात्म्यं सूचयत्युत्तरगाथा—

इय सव्वसमिदकरणो ठाणासणसयणगमणकिरियासु ॥
णिगिणं गुत्तिमुवगदो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥ ८६ ॥

सम्यक्प्रवृत्तनिःशेषव्यापारः समितेन्द्रियः ॥
इत्थमुक्तिधृते सिद्धौ नाग्न्यगुप्तिमधिष्ठितः ॥ ८७ ॥

विजयोदया—इय एवं । सव्वसमिदकरणो सम्यगितानि प्रवृत्तानि समितानि, क्रियते रूपाद्युपयोग एभिरिति करणानि इंद्रियाणि, समितानि च तानि करणानि च समितकरणानि, सर्वाणि च तानि समितकरणानि च सर्वसमित करणानि, सर्वसमितकरणान्यस्येति सर्वसमितकरणः। रागद्वेषरहिता भावेन्द्रियाणां प्रवृत्तिः समीचीना तस्याश्च अचेलता निबंधनं । रागादिविजयाय गृहीतासंगत्वात्कथमिव रागादौ प्रेक्षावान्यतेत ।

ठाणासणसयणगमणकिरियासु एकपादसमपादादिका स्थानक्रिया, उत्कटासनादिका आसनक्रिया, दंडायतशयनादिका शयनक्रिया । सूर्याभिमुखगमनादिका गमनक्रिया एतासु । पग्गहिददरं प्रगृहीततरं । परक्कमदि चेष्टते । कः ? णिगिणं नग्नतां । गुत्तिं गुप्तिं । उवगदो उपगतः प्रतिपन्नः । कृतवसनत्यागस्य शरीरे निःस्पृहस्य मम किं शरीरतर्पणेन तपसा निर्जरामेव कर्तुं उत्सहते इति । तपसि यतते इति भावः ॥

आचेलक्यप्रतिपन्नो यतिः समितिपरत्वेनैकपादादिस्थानादिदुष्करानुष्ठानेष्ववितरामुत्सहते इति पुनराचेलक्यमाहात्म्यं प्रकाशयति ॥

मूलारा—सव्वसमिदकरणो सर्वेष्विष्टानिष्टविषयेषु शमितानि रागद्वेषोद्भवरहितानि कृतानि करणानि इंद्रियाणि येन । अथवा सर्वत्र समितानि श्रुतनिरूपितक्रमेण प्रवृत्तानि करणानि ईर्यादिकाः क्रिया यस्य । ठाणेत्यादि स्थानक्रिया एकपादसमपादादिका । शयनक्रिया दंडायतस्वापादिका । गमनक्रिया सूर्याभिमुखव्रजनादिका तासु णिगिणं नग्नतां । गुत्तिं गुप्तिं रक्षां रत्नत्रयस्य । पग्गहिददरं प्रगृहीततरं सुदृढं इत्यर्थः । परक्कमदि पराक्रमते चेष्टते । त्यक्तवस्त्रस्य देहेऽपि निर्ममस्य मे किं शरीरतर्पणेन तपसा निर्जरामेव कर्तुमुत्सहेऽहमिति यथोक्तस्थानादिदुष्करकायक्लेशलक्षणे तपसि यतत इति भावः ॥

पुनः अचेलताके महत्वाको आगेकी गाथा दिखाती है—

अर्थ—इस अचेलताके प्रभावसेही मुनिराजकी स्पर्शनादि पांचों इंद्रियां रूपादिक विषयोंमें समितियुक्त प्रवृत्ति करती हैं. अर्थात् उनके इंद्रियोंकी स्पर्शादि विषयोंमें रागद्वेषरहित प्रवृत्ति होती है. अचेलता रागादिकोंको जीतनेके लिये हि मुनियोंने ग्रहण की है अतः वे रागादि विकारोंमें कैसे प्रवृत्त होंगे ? अचेलता धारण करनेसे ही वे एक पावसे खडे होना, समपाद रखकर कायोत्सर्ग करना, इत्यादिरूप स्थानक्रिया, उत्कटासनादिकोंको आसनक्रिया कहते हैं. दंडके समान शयन करना, एक पार्श्वसे शयन करना इत्यादिक शयनक्रिया, सूर्याभिमुख गमन करना इत्यादिक गमनक्रिया इत्यादिकार्योंमें खूब प्रवृत्ति करते हैं. वस्त्रत्याग करनेवाले व गुप्तिको पालनेवाले मुनि

शरीरमें प्रेम दूर करते हैं. वे निःस्पृह होकर शरीरको खुश करनेसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा. मैं तपश्चरणके द्वारा कर्मको निर्जीर्ण करूंगा ऐसा विचार करके तपश्चरणमें यत्न करते हैं.

अपवादलिंगमुपगतः किमु न शुद्ध्यत्येवेत्याशंकायां तस्यापि शुद्धिरनेन क्रमेण भवतीत्याचष्टे–

अववादियलिंगकदो विसयासत्तिं अगूहमाणो य ॥
णिंदणगरहणजुत्तो सुज्झदि उवधिं परिहरंतो ॥ ८७ ॥
आपवादिकलिंगोऽपि निन्दागर्हापरायणः ॥
जन्तुरच्छादकः शक्तेः संगत्यागी विशुद्ध्यति ॥ ८८ ॥

इत्यचेलम् ॥

विजयोदया—अचेलक्कं गदं। अववादियलिंगकदो वि अपवादलिंगस्थोऽपि। करोति स्थानार्थवृत्तिरिह परिगृहीतः। तथा च प्रयोगः—

एवं च कृत्वा एवं च स्थित्वेत्यर्थः। सुज्झदि शुध्यति च। कर्ममलापायेन शुद्ध्यति। कीदृक् सन् यः स्वां सार्ति शक्तिं। अगूहमाणो अगूहमानः सन्। उवधिं परिग्रहं। परिहरंतो परित्यजन् योगत्रयेण। णिंदणगरहणजुत्तो सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तेर्मार्गो मया तु पातकेन वस्त्रपात्रादिकः परिग्रहः परीषहभीरुणा गृहीत इत्यंतःसंतापो निंदा। गर्हा परेषां एवं कथनं। ताभ्यां युक्तः निंदागर्हाक्रियापरिणतः इति यावत्। एवमचेलता व्यावर्णितगुणा मूलतया गृहीता ॥

अथैवमाचेलक्यगतस्य शुद्धिस्तर्ह्यपवादलिंगगतः शुद्ध्यति न वा यदि शुद्ध्यति तत्केन क्रमेणेति पृच्छन्तं प्रत्याह–

मूलारा—अववादियलिंगगदो अपवादिकलिंगस्थो आर्यादिरित्यर्थः। अवि य अपि च। कौपीनादिग्रंथवानपि शुद्ध्यति किं पुनर्नैर्ग्रंथ्यधर इत्यपिवेत्यस्यार्थः। सगसत्ति निजसामर्थ्यं। णिंदन् सर्वसंगत्यागो जिनोपज्ञं मुक्तिमार्गः मया पुनः पापेन परीषहभीरुणा वस्त्रपात्रादिग्रंथो गृहीत इत्यंतःसंतापरूपा निंदा। गरहण निंदैव गुर्वादिसाक्षिकेत्यर्थः। उवहिं परिहरंतो त्यक्तुमशक्यतया परिगृहीतेऽपि वस्त्रादौ निर्ममो भवन्नित्यर्थः।

अपवादलिंग धारण करनेवाले आर्यादिक अर्थात् ऐलकादिक शुद्ध नहीं होते हैं क्या? ऐसा प्रश्न होनेपर उनकी भी शुद्धि आगे कहे गये क्रमसे होती है ऐसा आचार्य कहते हैं.

अर्थ—अपवादलिंगधारी ऐलकादिक भी अपनी चारित्रधारणशक्तीको न छिपाता हुवा कर्ममल निकल जानेसे शुद्ध होता है. क्योंकि वह अपनी निंदा व गर्हा करता है और मन, वचन व शरीर ऐसे तीन योगपूर्वक परिग्रहक त्याग करता है, संपूर्ण परिग्रहका त्याग करना ही मुक्तिका मार्ग है. परंतु मेरेको परीषहोंका डर होनेसे पापोदयसे मैंने वस्त्र पात्रादिक परिग्रहका ग्रहण किया है ऐसी मनमें पश्चात्तापपूर्वक वह निंदा करता है. तथा गुर्वादिकोंके समीप अपनी निंदा करता है. यह निंदा और गर्हा ऐसे दो परिणामोंसे युक्त होकर परिग्रह स्वल्प करता जाता है अतः उसके पूर्वकर्मकी निर्जरा होकर आत्मशुद्धि होती है. इस तरह अचेलताके गुणोंका वर्णन किया. यह अचेलता मुनियोंके अट्ठाइस मूलगुणोंमेंसे एक मूलगुण है.

केशलोचाकरणे के दोषा यान्परिहर्तुं लोचोऽनुष्ठीयते इत्यारेकायां दोषप्रतिपादनायोत्तरं गाथाद्वयम्—

केसा संसज्जंति हु णिप्पडिकारस्स दुपरिहारा य ॥
सयणादिसु ते जीवा दिट्ठा आगंतुया य तहा ॥ ८८ ॥

संस्काराभावतः केशाः संमूर्च्छन्ति निरन्तरम् ॥
विशन्त्यागन्तवो जीवा दूरक्षाः शयनादिषु ॥ ८९ ॥

विजयोदया—केसा केशाः । संसज्जंति खु खुशब्द एवकारार्थः । यूकालिक्षोत्पत्तेराधारभावमुपव्रजन्त्येव । कस्य केशाः ? णिप्पडियारस्स निष्क्रान्तः प्रतीकारात् निष्प्रतीकारः । प्रतीकारशब्दः सामान्यवचनोऽपि संसजनस्य प्रकृतत्वात् संसजनप्रतिकार एव वृत्तो गृह्यते । तैलाभ्यंगगंधादिप्रक्षेपजलप्रक्षालनादिक्रियामकुर्वत इत्यर्थः । ते च सम्मूर्छनामुपगता यूकादयः । दुःपरिहारा य दुःखेन परिह्रियन्ते । क्व सयणादिसु शयनं शय्योपगमनं, शिरसा कस्यचिदवष्टंभनं । निद्रामुद्रितलोचनस्य पतनं परवशस्य सतः आदिशब्देन गृह्यते । बाधा जीवेभ्यः कथंचिदन्यदेशकालस्वभावभेदात् । ततः बाधायां दुष्परिहारायां जीवा एव दुष्परिहारा एव भवंतीति मन्यते । अन्यथा हस्तेनापनेतुं शक्याः कथं दुष्परिहाराः स्युः । न केवलं तत्रोत्पन्ना एव दुष्परिहारास्तथा तेनैव प्रकारेण जीवाः आगंतुका य अन्यत आगताश्च कीटादयश्च । एतेन हिंसादोष आख्यातः ॥

मूलारा—केसा संसजंति खु यूकालिक्षोत्पत्तेराधारभावमुपव्रजन्त्येव । णिप्पडियारस्स स्नानादिप्रतीकारमकुर्वतः । दुप्परीत्यादि—स्वाध्यायादिखिन्नस्य शिलातलादौ संवेशनं, आदिशब्देन शिरसा कस्यचिदवष्टंभनं, निद्रामुद्रितलोचनस्य

परवशस्य सतः पतनं वा, तेषु वर्तमानेन यतिना ते केशसम्मूर्च्छिनो जीवा बाधां गच्छंतो दुष्परिहारा रक्षितुमशक्याः । दिट्ठा प्रतिपन्नाः । न केवलं त एव अपि त्वागंतुकाश्च कीटकादयस्तथा दुष्परिहारा दृष्टाः । एतेन हिंसादोष उक्तः ।

केशलोच नहीं करनेसे कौनसे दोष उत्पन्न होते हैं? जिनका परिहार करनेके लिये मुनिगण लोच करते हैं? ऐसी शंका होनेपर लोच न करनेसे जो दोष हो जाते हैं उनका दो गाथाओंसे आचार्य वर्णन करते हैं.

अर्थ—तेल लगाना, अभ्यंगस्नान करना, सुगंधित पदार्थसे केशोंका संस्कार करना, जलसे धोना इत्यादि क्रियायें न करनेसे केशोंमें यूका और लिखा ये जन्तु उत्पन्न होते हैं. जब इनकी उत्पत्ति केशोंमें होती है तब इनको वहांसे निकालना बडा कठिन काम है.

वे लिक्षादिक जंतु चटाइ वगैरहमें घुस जाते हैं. मस्तकसे यदि किसी पदार्थका आश्रय लिया हो तो उसमें उनका प्रवेश होता है. जब निद्रा आती है तब मस्तकसे वे नीचे गिरते हैं. अन्य देशकालस्वभावभेदसे उत्पन्न हुए प्राणियोंसे इन लिक्षादि जंतुओंको बाधा भी पोहोंचती है। अन्य देश, काल, स्वभावसे यह बाधा भी मिटाना बडा कठिन काम है. बाधाका दुष्परिहार होनेसे जीव भी दुष्परिहार होते है ऐसा कह सकते हैं. अन्य स्थलसे कीटादिक जीव आकर भी वे वहां ठहरते हैं उनको निकालते समय वे मर जानेसे हिंसादोष उत्पन्न होगा.

जूगाहिं य लिक्खाहिं य बाधिज्जंतस्स संकिलेसो य ॥
संघट्टिज्जंति य ते कंडुयणे तेण सो लोचो ॥ ८९ ॥

संक्लेशः पीड्यमानस्य यूकालिक्षेण दुःसहः ॥
पीड्यते तच कंडूतौ यतो लोचस्ततो मतः ॥ ९० ॥

विजयोदया—जूवाहिं य यूकाभिश्च । लिक्खाहिं य लिक्षाभिश्च । बाधिज्जंतस्स बाध्यमानस्य यतेः । संकिलेसो य संक्लेशश्च । जायते इति शेषः । स च क्लेशोऽशुभपरिणामः पापास्रवः । पूर्वोपात्तकर्मपुद्गलरसाभिवर्द्धननिपुणः । अथवा बाधिज्जंतस्स भक्ष्यमाणस्य संकिलेसो य दुःखं वा । तथा चोक्तं-क्लिशू विबाधने इति । एतेनात्मविराधनादोषः सूचितः । अथ तद्भक्षणं असहमानः कंडूयति तत्र दोषमाह-संघट्टिज्जंति य संघट्यंते ते यूकादयः । आगंतुकाश्च कंडूयणे कंडूकरणे । तेन दोषेण हेतुनासो आगमदृष्टः लोचः क्रियते इति शेषः । प्रदक्षिणावर्तः केशश्मश्रुविषयः हस्तांगुलीभिरेव संपाद्यः द्वित्रिचतुर्मासगोचरः ॥

मूलारा—सांकिलेसो दुष्परिणामः; संततदुःखं वा। एतेनात्मविराधनादोषः सूचितः। संघट्टिज्जंति संघट्यंते पीड्यंते यूकाद्याः कीटाद्याश्च। सो आगमदृष्टः केशश्मश्रुविषयो द्वित्रिचतुर्मासगोचरः प्रदक्षिणावर्तो हस्तांगुलीभिरेव संपाद्य इत्यर्थः।

अर्थ—जूं और लिखाओंसे पीडित होने पर मनमें नवीन पापकर्मका आगमन कराने वाला अशुभ परिणाम–संक्लेश परिणाम होजाता है. तथा इस परिणामसे पूर्वबद्धपापकर्ममें अधिक अनुभव–रस बढ जाता है, इन जीवोंके द्वारा भक्षण किये जानेपर शरीरमें दुःख होता है. अतः इससे आत्मविराधना होती है. जब इनके दंश करनेसे असह्य वेदना होती है तब मनुष्य मस्तक खुजाता है. मस्तक खुजानेसे जूं लीख आदिक जंतुओंका परस्पर मर्दन होकर नाश होता है. ऐसे दोषोंसे बचनेके लिये मुनिगण आगमके अनुसार केशलोच करते हैं. मस्तक, दाढी और मूछके केशोंका लोच हाथोंकी अंगुलियोंसे करते हैं. दाहिने बाजूसे आरंभकर बाये तरफ आवर्त रूप करते हैं. इस लोचकी उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य मर्यादा दो मास, तीन मास और चार मासकी है. ऊपर लोच नहीं करनेसे होनेवाले दोष दिखाये हैं.

एवं लोचाकरणे दोषानुद्भाव्य लोचे गुणख्यापनाय गाथानयमुत्तरम्–

लोचकदे मुंडत्तं मुंडत्ते होइ णिव्वियारत्तं ॥
तो णिव्वियारकरणो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥ ९० ॥

मुंडत्वं कुर्वतो लोचमस्त्यतो निर्विकारिता ॥
प्रकृष्टां कुरुते चेष्टां वीतरागमनास्ततः ॥ ९१ ॥

विजयोदया—लोयकदे लोचे कृते. स्थित. लोचकृतः सप्तमीति योगविभागात्समासः। तस्मिन् लोचे कृते लोचस्थिते इति केचित्। अन्ये तु वदन्ति लोयगदे इति पठंतः लोचं गतः प्राप्तः लोचगतः तस्मिन्निति। अथवा कृतशब्दो भावसाधनः ततः सल्लक्षणा सप्तमी लोचं एवं कृतं तस्मिन्। लोचक्रियायां सत्यां। मुंडत्तं मुंडशिरस्कता नाम भवति। न मुंडशिरस्कता मुक्त्युपायो गुणोऽरत्नत्रयत्वादसत्याभिधानवत् तत्किमुक्तेनानेनानुपयोगिना गुणेनेत्याशंकायां आह–मुंडत्ते होदि णिव्वियारत्तं इति। मुंडत्ते मुंडनायां सत्यां। होदि भवति। णिव्वियारत्ते निर्विकारता। विकारो विक्रिया सलीलग-मनशृंगारकथाकटाक्षेक्षणादिकः। तस्मान्निष्कान्तः तत्राप्रवृत्तः निर्विकारः तस्य भावः निर्विकारता निर्विकारो भवति इति

यावत् । तो ततः णिव्वियारकरणो विकाररहितक्रियः । पग्गहिददरं प्रगृहीततरं । परक्कमदि चेष्टते कारणत्रये इति शेषः रत्नत्रयोद्योगः परंपरया लोचस्योपयोगः समाख्यातोऽनया गाथया । नग्नस्य मुंडस्य सविभ्रमं गमनादिकं जनो दृष्ट्वा हसति, शोभते तरामियमस्य विलासिता पंडकस्य वामलोचनाविलास इवेति मन्यमानो निरस्तविकारो मुक्तये केवलं घटते इत्यभिप्रायः ॥

एवं लोचाकरणे दोषानुक्त्वा तत्करणे गुणान्वक्तुं गाथात्रयमाह–

मूलारा—लोचकदे लोचस्य करणे सति । णिव्वियारत्तं सलीलगमनहसनशृंगारकथाकटाक्षनिरीक्षणादिलक्षणविकाररहितत्वं । णिव्वियारकरणे वीतरागगमनादिक्रिय. सन् । परक्कमदि शुभमनोवाकायव्यापारे प्रवर्तेत इत्यर्थः । एतेन लोचः परंपरया रत्नत्रयोपयोगी भवतीत्युक्तं प्रतिपत्तव्यम् ॥

अब लोचके गुणोंका वर्णन आचार्य तीन गाथाओंसे करते हैं—

अर्थ—लोच करनेपर ही शिरोमुंडन हुवा ऐसा माना जाता है. शंका शिरोमुंडन करना अर्थात् लोच करना मुक्तिका उपाय नहीं है क्योंकि यह रत्नत्रय नहीं है. अतः लोच करना व्यर्थ है. इससे कोई गुणविशेष उत्पन्न नहीं होता है. इस शंकाका उत्तर आचार्य इस प्रकार देते हैं–शिरोमुंडन होनेपर निर्विकार प्रवृत्ति होती है. अर्थात् केशलोच किया हुआ साधु लीलासे गमन करना, शृंगारिक कथायें कहना, कटाक्षसे अवलोकना– तिरछी नजरसे देखना, इत्यादिक विकारभावसे प्रवृत्ति नहीं करता है. इस निर्विकारप्रवृत्तिसे वह मुक्तिके उपायभूत रत्नत्रयमें खूब उद्योगशील बनता है. अतः लोच परंपरया रत्नत्रयमें प्रवृत्ति होनेके लिये कारण होता है ऐसा इस गाथासे सिद्ध हुवा. नग्न और मुंडितमस्तक मैं यदि हावभावसे गमन करूंगा और इधर उधर कटाक्षपात करते चलूंगा तो मेरेको देखकर लोग हसेंगे और स्त्रीके विलासके समान इस हिजडेका यह विलास शोभा पाता है ऐसा कहेंगे ऐसा मनमें विचार करके साधु संपूर्ण विकारभावोंको त्याग करके केवल मुक्तीके लिये प्रयत्न करते हैं. ऐसा अभिप्राय समझना.

अप्पा दमिदो लोएण होइ ण सुहे य संगमुवयादि ॥
साधीणदा य णिद्दोसदा य देहे य णिम्ममदा ॥ ९१ ॥

दम्ममानस्य लोचेन हृषीकार्थेऽस्य नाग्रहः ॥
स्वाधीनत्वमदोषत्वं निर्ममत्वं च विग्रहे ॥ ९२ ॥

विजयोदया—अप्पा दमिदो होदि वशीकृतो भवति। कस्य? आत्मन एव। केन कारणेन? लोचण केशोत्पाटनेन। दुःखभावनया निगृहीतदर्पः सर्व एव शांतो भवति यथा बलीवर्दादिरिति मन्यते।

सुखे य सुखे च। संगं आसक्तां। नोपयाति। सुखमेव सुखलंपटं जनं करोति। दुःखेऽन्तर्माव्यमाने सुखासक्तिर्हीयते सुखोपयोगमूलात्तदभावात्। बीजाभावेऽङ्कुर इव। इंद्रियसुखवान्सुखशब्देनोच्यते तत्रासक्तो हिंसादिषु प्रवर्तते। तेन परिग्रहारंभमूलात्सुखासंगाद्व्यावृत्तेः संवर एवेति मुक्तेर्भवत्युपायः। आभिनवास्रवनिरोधमंतरेण का नाम निर्जरा? तस्यां वा सत्यां का मुक्तिरिति भावः॥

साधीणदा य स्ववशता च केशासक्तो हि जनोऽवश्यं शिरोम्रक्षणे, सम्मर्दने, प्रक्षालने, तच्छोपणे च प्रयतते। स चायं व्यापारो विघ्नमावहति स्वाध्यायादेः।

णिद्दोसदा य निर्दोषता च। या सदोषक्रिया सा न कार्या यथा स्तेयादिका। निर्दोषात्वनुष्ठीयते यथानशनादिका। तथा चेयमदोषा लोचक्रिया।

देहे य देहे च। णिम्ममदा ममेदंबुद्धिरहितता अनेन शौचाख्यो धर्मो भावितो भवतीत्युक्तं भवति। प्रकृष्टा लोभनिवृत्तिः शौचं, शरीरलोभनिवृत्तिः शौचं। शरीरलोभनिवृत्तिः सकललोभनिराक्रियाया मूलं। शरीरोपकृतये बंधुधनादिष्वस्य लोभः। धर्मश्च संवरहेतुः, गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयैरिति वचनात्॥

मूलारा—दमिदो दर्पं निगृह्य बलीवर्दवद्वशीकृतो भवत्यात्मन एव। सुदे विषयोत्थे सुखे। संगं आसक्तिं दुःखभावनया सुखासक्तिहान्युपलब्धेः। साधीणदा शिरोम्रक्षणादिपारतंत्र्याभावात् स्वाध्यायादौ स्वातंत्र्यं। णिद्दोसदा अनशनादिक्रियावल्लोचक्रियानिर्दोषत्वं रत्नत्रयोपयोगित्वात्।

अर्थ—जैसे बैल वगैरह पशु उनको दुःख देनेसे उन्मत्ताहीन होकर शांत होते हैं वैसे केशलोच करनेसे और दुःख सहन करनेकी भावनासे आत्माका दमन होता है, वह शांत होता है इसीलिये मुनि लोच करके अपने आत्माको स्ववश करते हैं. सुखोंमें वे आसक्ति नहीं रखते हैं. क्योंकि सुख मनुष्य प्राणीको सुखलंपट बनाता है. दुःखका विचार करनेसे उसकी भावना करनेसे सुखासक्ति नष्ट होती है. सुखकी भावना करनेसे ही सुखासक्ति पैदा होती है. परंतु यह भावना नष्ट होनेसे बीजके अभावसे अंकुर जैसे अपने अस्तित्वको नहीं रखता वैसे सुख भी अपना अस्तित्व नहीं रख सकता है. इंद्रियसुखोंके पीछे दौडनेवाला मनुष्य उनमें आसक्त होकर हिंसादिक पापकार्य करता है. इंद्रियसुखकी प्राप्तिके लिये आरंभ परिग्रह मूल कारण हैं. अतः ऐसे सुखसे परावृत्त होनेसे संवर होता

है. यह संवर ही मुक्तीका उपाय है. जबतक नवीन कर्मोंका निरोध न होगा तबतक निर्जरा होकर भी कुछ आत्माका कल्याण न करेगी. अर्थात् संवर पूर्वक निर्जरा ही मुक्तिका उपाय है.

लोचसे स्वाधीनता गुण प्राप्त होता है, केशोंपर जो प्रेम करता है वह मस्तक धोनेमें, केशप्रक्षालन करनेमें, उनको सुखानेमें, प्रयत्न करता है. इसके इन कृत्योंसे स्वाध्याय ध्यानादिकोंमें विघ्न उपस्थित होता है. अतः वह इन कृत्योंमें लगनेसे पराधीन हुवा है ऐसा समझना चाहिये. लोच करनेमे उपर्युक्त कृत्य नहीं करने पडते हैं तथा स्वाध्यायादिक स्वकृत्योंमें लगनेसे वह स्वाधीन कहा जाता है.

लोच करनेसे निर्दोषता गुण मिलता है. चोरी करना, झूठ बोलना यह सदोष क्रिया है. मुनिराज अनशनादिक निर्दोष क्रिया जैसी करते हैं वैसा लोच भी निर्दोष क्रिया होनेसे वे इस क्रियाको भी करते हैं.

लोचसे देहममता नष्ट होती है. यह देह मेरा है ऐसी भावना नष्ट होती है. तथा लोचसे शौचधर्मकी प्राप्ति होती है, प्रकृष्ट लोभकी निवृत्ति होना शौच है. शरीरपरसे लोभ नष्ट होगया तो समस्त लोभोंके प्रकारोंका नाश होता है. शरीरके उपकारके लिये ही बंधु धनादिकोंके ऊपर लोभ उत्पन्न होता है.
इन लोभोंका नाश होनेसे शौचधर्म संवरका कारण होता है. क्योंकि गुप्ति, समिति, धर्म अनुप्रेक्षा,और परीषह जय संवरके कारण हैं ऐसा पूर्वाचार्य कहते हैं.

आणक्खिदा य लोचेण अप्पणो होदि धम्मसड्ढा च ॥
उग्गो तवो य लोचो तहेव दुक्खस्स सहणं च ॥ ९२ ॥
आत्मीया दर्शिता श्रद्धा धर्मे लोचं वितन्वता ॥
भावितं सकलं दुःखं दुश्चरं चरितं तपः ॥ ९२ ॥
इति लोचः ॥

विजयोदया—आणक्खिदा य होदि आदर्शिता भवति । लोचेण लोचेन । का ? धम्मसड्ढा धर्मे चारित्रे श्रद्धा । कस्य ? अप्पणो आत्मनः । महती धर्मस्य श्रद्धाऽन्यथा कथमिदं दुःसहं क्लेशमारभते इति । आत्मनो धर्मश्रद्धाप्रकाशनेन परस्यापि धर्मश्रद्धाजननोपबृंहणं कृतं भवति । [illegible]

कायक्लेशाख्यं दुःखांतराणि च सहते॥ लोचः तथैव ख्यापयितगुणश्च। दुक्खस्स दुःखस्य सहणं च सहनं च दुःखं भावयन् दुःखान्तराणिच सहते। दुःखसहनाभि जरो भवत्यशुभकर्मणां॥ लोचोसि गदं॥

मूलारा–आणाक्खिदा आनक्षिता। णक्ष दर्शन इत्यस्य प्रयोगः। आदर्शितेत्यस्य प्रयोगः। उग्गो तवो उग्रं-तपः कायक्लेशाख्यं॥

अर्थ---मुनि लोच करते है उससे उनकी धर्मके–चारित्रके ऊपर बडी भारी श्रद्धा व्यक्त होती है. यदि उनमें–चारित्रमें श्रद्धा न होती तो वे इतना दुःसह क्लेश क्यों करते? वे अपनेमें धर्मश्रद्धा प्रगट करते हैं अतः अन्य जनोंमें भी उनकी धर्मश्रद्धा देखकर धर्मके प्रति श्रद्धा बढ जाती है. अतः लोचके द्वारा उपबृंहण नामका गुण भी प्राप्त होता है. लोच करनेवाले मुनि उग्रतप अर्थात् कायक्लेश नामका तप करके होनेवाला दुःख सहते हैं. जो लोच करते हैं उनको दुःख सहनेका अभ्यास हो जाता है अतः वे अन्य दुःखके प्रसंग आने पर डरते नहीं शांततासे सहन करते हैं. दुःख सहन करनेसे अशुभ कर्मकी निर्जरा होती है.

व्युत्सृष्टशरीरताभिधानायोत्तरः प्रबंधः—

सिण्हाणब्भंगुव्वट्टणाणि णहकेसमंसु संठप्पं॥
दंतोट्ठकण्णमुहणासियच्छिभमुहाइं संठप्पं॥ ९३॥

न भ्रूदन्तौष्ठकर्णाक्षिनखकेशादिसंस्कृतिम्॥
भजन्त्युद्वर्तनं स्नानं नाभ्यङ्गं ब्रह्मचारिणः॥ ९४॥

विजयोदया—सिण्हाणब्भंगुव्वट्टणाणि वज्जेदित्ति पदघटना स्नानाभ्यंजनोद्वर्तनानि॥ णहकेसमंसुसंठप्पं नख-केशश्मश्रुसंस्कारं च वर्जयंति। अन्तरेणापि चशब्दं समुच्चयार्थप्रतीतिः॥ पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मनः इति द्रव्याणि इत्यत्र यथा॥ दंतोट्ठकण्णमुहणासियच्छिभमुहादि संठप्पं वज्जेदिति पदरचना॥ दंतानामोष्ठयोः, कर्णयो मुखस्य, नासिकाया, अक्ष्णोर्भ्रुवोरादिग्रहणात्पाणिपादादीनां च संस्कृतिं परिहरंति॥

स्नानमनेकप्रकारं शिरोमात्रप्रक्षालनं, शिरो मुक्त्वा अन्यस्य वा गात्रस्य, समस्तस्य वा। तत्र शीतोदकेन क्रियते स्थावराणां त्रसानां च बाधासमुदिति। कर्दमवालुकादिमर्दनाज्जलक्षोभणात्तच्छरीराणां च वनस्पतीनां पीडातःमत्स्यदर्दुर सूक्ष्मत्रसानां च स्नानं निवार्यते। उष्णोदकेन स्नायादिति चेन्न, तत्र त्रसस्थावरबाधावस्थितैव। भूमिदरीविवरस्थितानां पिपीलिकादीनां मृतेः, तरुणतृणपल्लवानां चोष्णांबुभिस्तप्तानां दुःखासिका महती जायते। तथा क्षारतया धान्यरसादीनां।

न चास्ति प्रयोजनं स्नानेन सप्तधातुमयस्य देहस्य न शुचिता शक्या कर्तुं। ततो न शौचप्रयोजनं । न रोगापहृतये रोग-परीषहसहनाभावप्रसंगात् । न हि भूषायै विरागत्वात् ।

घृततैलादिभिरभ्यंजनमपि न करोति प्रयोजनाभावादुक्तेन प्रकारेण घृतादिना क्षारेण स्पृष्टा भूम्यादिजंतवो बाध्यंते । त्रसाश्च तत्रावलग्नाः ।

उद्वर्तने इतस्ततः पततां व्याघातः । मूलत्वक्फलपत्रादेः पेषणे, दलने च महानसंयमः । निर्वर्तनविलेखनघर्षण-रंजनादिको नखसंस्कारः । ओष्ठमलापकर्षणं तद्रागकरणं वा ओष्ठसंस्कारः । केशसंस्कारो हस्तघर्षणेन मसृणतासंपादनं, तथा श्मश्रूणामपि । दंतमलापकर्षणं तद्रंजनं वा दंतसंस्कारः । न्हस्वयोर्लंबतरपादनं । दीर्घयोर्वा न्हस्वकरणं । तन्मलनिरा-सोऽलंकारग्रहणं कर्णसंस्कारः । मुखस्य तेजःसंपादनं लेपेन मंत्रेण वा मुखसंस्कारः । अक्ष्णोः प्रक्षालनं अंजनं अक्षि-संस्कारः । विकटोत्थितानां रोम्णां उत्पाटनं आनुलोम्यापादनं । लंबयोरुन्नतीकरणं, भ्रूसंस्कारः । शोभार्थं हस्तपादादि-प्रक्षालनं, औषधविलेपादिर्वासंस्कार आदिशब्देन गृहीतः ।

अधुना व्युत्सृष्टशरीरताख्यालिंगविकल्पव्याख्यानाय गाथात्रयमाह—

मूलारा—सिण्हाण स्नानं । अब्भंग तैलादिना स्निग्धत्वापादनं । उव्वट्टण जलादिप्लुतमसूरादिपिष्टादिना देहस्ये-तस्ततो मर्दनं । मंसु श्मश्रु कूर्च इत्यर्थः । संठप्पं संस्कारं । मसुहादि आदिशब्देन हस्तपादादि । तत्र लेखनकर्तनघर्षणरंज-नादिको नखसंस्कारः । हस्तघर्षणेन मसृणताकरणं केशश्मश्रुसंस्कारः । मलापनयनरंजनादिको दन्तौष्ठसंस्कारः । न्हस्वीकरण लंबीकरणमलापकर्षणाभरणादिकः कर्णसंस्कारः । लेपेन मंत्रेण वा तेजःसंपादनं मुखसंस्कारः । अंतर्मलरोमापनोदादिको नासासंस्कारः । प्रक्षालनांजनादिको नेत्रसंस्कारः । विकटोत्थितानां रोम्णां केशानामुत्पाटनं आनुलोम्यापादनं च । भ्रुवोरेव वा लंबयोरुन्नतीकरणं भ्रूसंस्कारः । शोभार्थं प्रक्षालनमौषधलेपनादिकं च हस्तपादादिसंस्कारः ।

व्युत्सृष्ट शरीरता शरीर परसे ममत्वभाव दूर करना अर्थात् कायोत्सर्ग करना यह भी लिंगका एक प्रकार है इसका वर्णन करनेके लिये उत्तर प्रबंध आचार्य कहते हैं—

अर्थ—मुनिगण जलस्नान, अभ्यंगस्नान और शरीरको उवटन लगाना इनका त्याग करते हैं. वे नखोंका संस्कार, केशोंका संस्कार और दाढी मूछोंका संस्कार इनका त्याग करते हैं. दांत, ओठ, कान, नाक, मुंह, आंखें और भौंहें आदिका भी वे कभी संस्कार नहीं करते हैं. आदि शब्दसे हाथ और पावोंका संस्कार भी वे नहीं करते हैं ऐसा समझना.

विशेष—स्नानके अनेक प्रकार हैं. जलसे केवल मस्तक धोना, अथवा मस्तक छोडकर अन्य अवयवको

धोना अथवा समस्त अवयवोंको धोना. परंतु त्रस और स्थावर जीवोंको बाधा न होवे इसलिये मुनि शीतलजलसे स्नान नहीं करते हैं. स्नानके जलसे कीचड होता है, वालुकादिकोंके मर्दनसे जलकायिक जीवोंका घात होता है. वनस्पति जीवोंको बाधा पोहोंचती है. मत्स्य, मेंडक, और सूक्ष्म त्रसोंको बाधा पोहोंचती है अतः मुनिगण शीत जलसे स्नान नहीं करते हैं. यदि वे थंडे पानीसे स्नान नहीं करते हैं तो गरम पानीसे क्यों नहीं करते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर यह है-गरम जलसे स्नान करनेसे भी त्रसस्थावर जीवोंको बाधा होती ही है. जमीनके छिद्रोंमें, बडे बडे बिलोंमें वह पानी प्रवेश करेगा तो वहांके चींटी वगैरह प्राणिओंको बाधा अवश्य होगी ही. गरम पानीसे घास, कोमल अंकुर संतप्त होकर महान्कष्टी होते हैं. गरम पानीसे धान्योंका रस नष्ट हो जाता है.

मुनिओंको जलस्नानकी आवश्यकता नहीं है. क्योंकि, जलस्नानसे सप्त धातुमय देह पवित्र नहीं होता है. इस वास्ते शुचिताकेलिये स्नान करना भी योग्य नहीं है. रोगपरिहार करनेके लिये भी स्नानकी आवश्यकता नहीं है. यदि वे स्नान करेंगे तो रोगपरीषह सहन करना व्यर्थ होगा. शरीर सौंदर्य युक्त होनेकेलिये भी वे स्नान नहीं करते हैं क्यों कि वे वीतराग है.

मुनि घी, तैल इत्यादिकोंसे अभ्यंगस्नान भी कुछ प्रयोजन न होनेसे करते नहीं हैं. घृतादि क्षारपदार्थोंका स्पर्श होनेसे भूमि वगैरहमें रहनेवाले जन्तुओंको पीडा होती है. भूमिपर चिपके हुए त्रस जीव इधर उधर होते हैं. गिरते हैं तब उनको एकस्थानसे दूसरे स्थानपर जाते समय बाधा पोहोंचती है.

वृक्षोंके मूलभाग, छाली, फल, पत्ते इत्यादिकोंका चूर्ण करनेमें, पीसनेमें महान् असंयम होता है. नख निकालना, घिसना, रंगाना इत्यादि कार्यको नखसंस्कार कहते हैं. ओठोंका मल निकालना, उनको रंगाना अधिक लाल दीखने लायक बनाना यह ओष्ठसंस्कार है. हाथोंके द्वारा घर्षण करके स्निग्धता उत्पन्न करना यह केश संस्कार है. दाढी और मूंछोपर भी हात बार बार फेरकर स्निग्धता उत्पन्न करना यह श्मश्रुसंस्कार है. कान न्हस्व हो तो उनको दीर्घ करना, दीर्घ हो तो उनको छोटे बनाना, उसमें से मल दूर करना, उनको अलंकारोंसे भूषित करना यह कर्णसंस्कार हैं. कुछ उवटन वगैरे पदार्थ लगाकर मुहको तेजस्वी बनाना, अथवा मंत्रके द्वारा मुहको तेजस्वी करना यह मुखसंस्कार हैं. आंखे स्वच्छ धोना, वे अंजनसे आंजना यह नेत्रसंस्कार है. जो केश इधर उधर तिरछे ऊगे हैं उनको निकाल देना, दीर्घ केशोंको न्हस्व करना, उन्नत बनाना यह भोंहोंका संस्कार है.

सुंदरता बढे इसलिये हाथ और पाय, वगैरे धोना, औषधादि विलेपन करना यह हस्तपादादिसंस्कार है. ऐसे सब देहसंस्कारोंका मुनि त्याग करते हैं. इससे वे शरीरके ऊपर स्नेह रहित हैं यह सिद्ध होता है. शरीर स्नेह छोडना यह भी मुनिलिंगका एक भेद है.

वज्जेदि बंभचारी गंधं मल्लं च धूववासं वा ॥
संवाहणपरिमद्दणपिणिद्धणादीणि य विमुत्ती ॥ ९४ ॥
न स्कन्धकुट्टनं वासं माल्यं धूपविलेपनम् ॥
कराभ्यां मलनं चूर्णं चरणाभ्यां च मर्दनम् ॥ ९५ ॥

विजयोदया—गंधं कस्तूरिकादिकं। मल्लं माल्यं चतुष्प्रकारं। धूववासं च। धूपं कालागुर्वादिकं। वासं मुखवासं च जातिफलादिकं। अनेकसुरभिद्रव्यमिश्रं वा। संवाहणं हस्ताभ्यां मलनं। चरणाग्रमर्दनं परितः परिमर्दनं। अंसकुट्टनं उन्नतिं दार्ढ्यं च कर्तुं यत्तत्पिणिद्धमित्युच्यते। एतत्सर्वं वर्जयति प्रयोजनाभावाद्धिंसाप्रवृत्तेश्च। कः ? ब्रह्मचारी अब्रह्म निवृत्तिपरो यतिः।

मूलारा—मल्लं माल्यं पुष्पमाला। गंधं जातिफलादिना मुखवासनं। संवाहण हस्ताभ्यां मर्दनं। परिमद्दण पादाभ्यां मर्दनं। पार्णिवणादीणि असयोरुन्नतिं दार्ढ्यं च कर्तुं कुट्टनं पणिधणमित्युच्यते। पुटपुटीत्यन्ये। आदिशब्देन काष्ठपालिका चुडचहिकादिमर्दनम्। विमुत्ता विमुक्ताः निर्ग्रंथा इत्यर्थः। न हि ब्रह्मचारिणां स्नानादिना प्रयोजनमस्ति स्वभावतोऽशुचेः कायस्य शोधयितुमशक्यत्वात् नाग्न्यलोचाभ्या च बीभत्सस्यासंपाधरामणीयकत्वात्। तेन भूम्यादिस्थत्रसस्थावरप्राणि हिंसारागादिप्रसंगाच्च।

अर्थ—ब्रह्मचर्य धारकने कस्तूरी वगैरे सुगध वस्तुओंका त्याग करना चाहिये. पुष्पमाला, रत्नमाला मुक्तमाला, सुवर्णमाला इनका त्याग करना चाहिये. कालागरु, तगर वगैरहका धूप भी त्यागना चाहिये. मुखको सुगंधित करनेवाले जायफल, इलायची, लवंगादि पदार्थ छोडने चाहिये. हाथोंसे अंग चूरना, पाओंसे अंग रगडना, पुष्ट दृढ करनेके लिये बाहुमर्दन करना इत्यादि कार्य मैथुनसेवाके त्यागी मुनिवर्य छोड देते हैं.

किं ब्रह्मव्रतस्य कुर्वन्ति स्नानादिपरित्यागाः येन तद्व्रताचरणप्रियस्तदनुष्ठाने यतते इत्यारेकायामाह—

जल्लविलित्तो देहो लुक्खो लोयकदवियडबीभत्थो ॥
जो रूढणक्खलोमो सा गुत्ती बंभचेरस्स ॥ ९५ ॥

या रूक्षा लोचबीभत्सा सर्वांगणिमला तनुः ॥
सा रक्षा ब्रह्मचर्यस्य प्ररूढनखलोमिका ॥ ९६ ॥

इति व्युत्सृष्टदेहता ॥

विजयोदया—जल्लविलित्तो देह इति । देहो गुत्ती बंभचेरस्स इति पदघटना । देहः शरीरं । गुत्ती गुप्तिः रक्षा । कीदृक्? जल्लविलित्तो घनीभूतमुपर्युपरि प्रचितं शरीरमलं जल्लशब्देनोच्यते । तेन विलित्तो विलिप्तः देहः । स्नानादित्यागात् । रुक्खो रूक्षस्पर्शः स्नानादिविरहादेव लोचकदवियडबीभत्थो लोचकरणविकृतबीभत्सः । जो यो देहः रूढणक्खलोमो दीर्घीभूतनखप्रच्छाद्यदेशलोमान्वितः । सेति गुप्तिः ॥ सामानाधिकरण्यात् स्त्रीलिंगत्वात् ॥ कस्य ? बंभचेरस्स ब्रह्मचर्यस्य ॥

स्नानादित्यागस्य फलमाह—

मूलारा—जल्ल घनीभूतमुपर्युपरि प्रचितं शरीरमलं जल्ल इत्युच्यते । सर्वांगीणमलो वा जल्लः । लोचकडवियडभीभच्छो लोचकडं लोचकृतं लोचकरणं तेन वियडो विकृतो वैरूप्यं नीतोऽत एव बीभत्सो जुगुप्साविषयः । रूढणक्खलोमो दीर्घीभूतनखप्रच्छाद्यदेशादिलोमकः । गुत्ती गुप्तिः रक्षा । आरूढा रूढवैराग्यकरत्वात् ।

ब्रह्मव्रतधारक मुनि स्नानादिकोंका त्याग करते हैं, यह सत्य है, परन्तु स्नानादिकोंका त्याग करनेसे ब्रह्मव्रतमें क्या विशेषता होती है ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—स्नानादिकोंका त्याग करनेसे यतीके देहपर बार बार मल जम कर दृढ होता है, अर्थात् इस तरहसे मल संचित होनेपर उनके ब्रह्मचर्यका रक्षण होता है. स्नानत्यागसे और मलसंचय होनेसे देहकी स्निग्धकांति नष्ट होकर वह रूखी बनती है. लोच करनेसे देह बीभत्स दीखता है. नखसंस्कार न करनेसे नख बढ कर लंबे होते हैं और गुह्यप्रदेश केशोंसे ढक जाता है. अतः स्नानादिकार्य न करनेसे ब्रह्मचर्यका रक्षण होता है. यह सिद्ध होता है. 'व्युत्सृष्ट शरीर' यह प्रकरण समाप्त हुआ.

संबन्धः— प्रतिलेखनसाध्यप्रयोजनाख्यानायोत्तरगाथाद्वयम्—यस्य येन हि संबन्धो दूरस्थमपि तस्य तत् इत्यनेन क्रमेण वोसट्टसरीरं गदं।

इरियादाणणिखेवे विवेगठाणे णिसीयणे सयणे ॥
उव्वत्तणपरिवत्तण पसारणा उंटणामरसे ॥ ९६ ॥
आसने शयने स्थाने गमने मोक्षणे ग्रहे ॥
आमर्शनपरामर्शप्रसाराकुञ्चनादिषु ॥ ९७ ॥

विजयोदया—इरियादाणे पडिलेहणेण पडिलिहिज्जदित्ति एवं सर्वत्र। ईर्यायां गमने प्रजतः स्वपादनिक्षेपदेशे यदि दुष्परिहाराः स्युः पिपीलिकादयोऽथवा प्राक् पादावलग्नरजसो विरुद्धयोनिर्वा भूमिरुत्तरा जलं प्रवेष्टव्यं यदि पडिलेहणेण प्रतिलेखनेन पडिलेहिज्जदि निराक्रियते त्रसादिकं। आदाने ग्रहणे ज्ञानचारित्रसाधनानां।णिखेवे विवेके। ज्ञानसंयमोपकरणानां निक्षेपे स्थापनायां। यन्निक्षिप्यते यत्र च तदुभयप्रमार्जनं कार्यं। शरीरमलानां उच्चारादीनां विवेके उत्सर्जने वा कर्तरि प्रदेशः। सा च भूर्ययोग्या प्रमार्जनीया। ठाणे निसीयणे सयणे स्थाने आसने च शयने च शयनक्रियायां। उव्वत्तणपरियत्तणपसारणा उंटणामरसे। उव्वत्तणं उत्तानशयनं। परिवत्तणं पार्श्वांतरसंचारं, पसारणं प्रसारणं हस्तपादादीनां। आउंटणं संकोचनं। स्पर्शक्रिया आमरसशब्देनोच्यते ॥

अधुना प्रतिलेखनाख्यलिंगभेदस्य साध्यमभिधातुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—इरिया ईर्या गमनमित्यर्थः। तदादौ प्रतिलेखनेन पिंछादिना त्रसादिकमपसार्यते। तथाहि— मार्गे गच्छतः संयतस्य स्वपादनिक्षेपदेशे पिपीलिकादयो दुष्परिहारा यदि स्युर्यदि वा प्राक्पदावलग्नरजसो विरुद्धयोनिरुत्तराभूमिर्वा गंतव्या, जलं वा प्रवेष्टव्यं तदा तत्पिपीलिकारजःप्रभृति लेखनेन निराक्रियते। एवमादाने ज्ञानसंयमाद्युपकरणग्रहणे, निक्षेपे तत्स्थापनायां, विवेके विण्मूत्राद्युत्सर्गे, स्थाने उद्ध्वीभावे, णिसयणे निषीदने उपवेशने, सयणे स्वापे, उवट्टणे उत्तानशयने, परियट्टणे पार्श्वान्तरसंचारे, पसारणे हस्तपादादिप्रसारणे, आउट्टणे तेषामेव संकोचने, आमासे आमर्शे स्पर्शनक्रियायां, अन्यत्राप्येवंविधे कर्मणि अवश्यकार्ये यतिरप्रमत्तस्त्रसादिकं प्रतिलिखेत्।

प्रतिलेखनसे मुनि कोनसा प्रयोजन सिद्ध करते हैं इसका वर्णन आगेकी दोन गाथाओंसे आचार्य करते हैं:—

जिसका जिसके साथ संबंध है वह चीज दूर भी हो तोभी वह उसकी ही मानी जाती है. इस न्यायसे 'प्रतिलेखन' यह लिंगका अन्तिम भेद है अर्थात् पहिले तीन भेदोंके अनंतर होनेसे इसको दूर कह सकते हैं

तथापि लिंगभेदी इसका संबंध है अतः यह उसका ही संबंधी है ऐसा कह सकते हैं.

अर्थ—देववंदनाके लिये जब मुनि जाते हैं तब बहुत सावधान होकर सूर्यके प्रकाशमें गमन करते हैं. जाते समय जहां वे पांव रखना चाहते हैं उस जमीनपर यदि चींटी वगैरे जन्तु दुष्परिहार्य होंगे तो उनको मृदु पिच्छिकासे दूर करके आगे पांव रखकर गमन करते हैं. अथवा पूर्व भूमीसे आगेकी जमीन यदि भिन्न स्वभाव–रंग वगैरहसे युक्त होगी तो मुनि प्रथम पिच्छिकासे पांवोंकी धूल हटाकर उसमें प्रवेश करते हैं. यदि पानीमें प्रवेश करना हो तो प्रथम पिच्छिका अपने शरीरपर फेरकर वहांके त्रसजीव हटाते हैं और तदनंतर जलमें प्रवेश करते हैं. ज्ञान और चारित्रके साधन शास्त्र वगैरहको ग्रहण करते समय वे पिच्छिकासे साफ करके ग्रहण करने चाहिये. जब ज्ञानचारित्रके शास्त्रादिक साधन जमीनपर रखना हो तो पिच्छिकासे जमीन और शास्त्रादिक साफ करके रखना चाहिये. और अलग अलग रखते समयमें भी पिच्छिकासे उनको स्वच्छ करना चाहिये.

शरीरके मलमूत्रादिक जहां फेकना हो उस स्थानको पिच्छिकासे साफ करनेसे वहांके त्रस जीव विना बाधाके दूर हो सकते हैं. जब मुनि बैठते हैं, खडे हो जाते हैं, सो जाते हैं, अपने हाथ और पांव पसारते हैं, संकोच लेते हैं, जब वे उत्तानशयन करते हैं, एक बाजूसे दूसरी बाजूपर मुडकर सोते हैं तब अर्थात् इतने कार्य करते समय वे अपना शरीर पिच्छिकासे स्वच्छ करते हैं ऐसा करनेसे शरीरपर त्रसजीव हो तो वे विना तकलीफके दूर होते हैं. और मुनिओंका आचारक्रम भी इस कृत्यसे पाला जाता है.

पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ चिण्हं च होइ सगपक्खे ॥
विस्सासियं च लिंगं संजदपडिरूवदा चेव ॥ ९७ ॥

स्वपक्षे चिह्नमालम्ब्यं साधुना प्रतिलेखनम् ॥
विश्वाससंयमाधारं साधुलिङ्गसमर्थनम् ॥ ९८ ॥

विजयोदया—चिण्हं च होदि।चिह्नतां भजते । सगपक्खे स्वप्रतिज्ञायां । सर्वजीवदया हि यतेः पक्षः । विस्सासियं च विश्वासकारि च जनानां । लिंगं प्रतिलेखनाख्यं कथमयमतिसूक्ष्मान्कुंथ्वादीनपि परिहर्तुं गृहीतप्रतिलेखनोऽसा-

न्महतो जीवान्कथमिव बाधितुं उत्सहते इति । संजदपडिरूवदा चेव । संयतानां प्रधानानां प्रतिबिंबता च प्रतिलेखना ग्रहणेन भवति ॥

मूलारा—सयपक्खे स्वकपक्षे सर्वजीवदयाप्रतिज्ञालक्षणे । विस्सासिगं वैश्वासिकं लिंगं प्रतिलेखनाख्यं जनानां । अयमेवं सूक्ष्मतरकुन्थ्वादिजीवानपि रक्षितुं गृहीतप्रतिलेखनः कथमस्मान्स्थूलतरान्हन्तुमुत्सहेतेति विश्वासकारीत्यर्थः । संयदपडिरूवदा प्राक्तनयतिबिंबता च यतेः प्रतिलेखनग्रहणे स्यादित्यर्थः ।

अर्थ— मुनि पिच्छिकासे उपर्युक्त सब कार्य करते हैं. सर्व जीवोंपर दया करूंगा यह यतिओंकी प्रतिज्ञा पिच्छिकाके ग्रहणमें पाली जाती है. पिच्छिका लोगोंमें यतिविषयक विश्वास उत्पन्न करनेका चिन्ह है. इन मुनिराजोंने अति सूक्ष्म कुंथ्वादि जंतुओंका भी रक्षण करनेके लिये हाथमें पिच्छिका धारण की है वे हम सरिखे बडे जीवोंको कैसे सतायेंगे ? यह कभी संभवनीय होगा क्या ? इस तरह लोगोंके मनमें विश्वास पैदा होजाता है. पिच्छिका धारण करनेसे ये मुनिराज प्राचीन मुनिओंके प्रतिनिधिस्वरूपी हैं ऐसा सिद्ध होता है.

प्रतिलेखनालक्षणाख्यानायाह—

रयसेयाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लघुत्तं च ॥
जत्थेदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥ ९८ ॥

लघ्वस्वेदरजोग्राहि सुकुमारमृदूदितम् ॥
इति पंचगुणं योग्यं ग्रहीतुं प्रतिलेखनम् ॥ ९९ ॥

इति प्रतिलेखनम् ॥ इति लिंगसूत्रम् ।

विजयोदया—रजसेदाणमगहणं रजसः सचित्तस्य अचित्तस्य वा स्वेदस्य अग्राहकं । अचित्तरजोग्राहिणा प्रतिलेखनेन सचित्तरजो विराध्यते सचित्तरजोग्राहिणा चेतरस्य विराधना। स्वेदग्राहिणा च रजसामुपद्रुतिः । मद्दवसुकुमालदा मृदुस्पर्शता मार्दवं, सुकुमालदा सौकुमार्यं । लघुत्तं लघुत्वं च एते पंच गुणाः यत्रैते पंच प्रकारगुणाः संति तं तत् पडिलिहणं प्रतिलेखनं पसंसंति स्तुवंति दयाविधिज्ञाः । अमृदुना, असुकुमारेण, गुरुणा च प्रतिलेखनेन जीवानामुपघात एव कृतो न दयेति भावः । एवं चतुर्गुणयुक्तं लिंगं व्याख्यातं गृहीतलिंगस्य यतेः ॥

मूलारा—रजसेदाणमगहणं रजःस्वेदयोरग्राहकं अचित्तरजोग्राहिप्रतिलेखनेन सचित्तरजो विराध्यते तद्ग्राहिणा वा अचित्तं रजः। स्वेदग्राहिणा तु रजसामुपहतिः स्यात्। मद्दव मार्दवं मृदुस्पर्शता। सुकुमालदा नमनशीलता। लहुत्तं लघुत्वमभारिकत्वं। मार्दवादिविपर्ययवता प्रतिलेखनेन जीवानामुपघात एव कुतो दयेति भावः। अन्येयं चतुर्विधलिंगसंग्रहकारिका मुमुक्षुणा भावनीया।

नग्नो मुंडो ऽस्तसंस्कारः प्राणिरक्षाध्वजं दधत्।
सरागं यदि चेष्टेय हास्येयाहं मुमुक्षुभिः॥

लिंगं॥ सूत्रतः॥ २॥ अंकतः २२॥

प्रतिलेखनके—पिंछिकाके लक्षणोंका वर्णन करते हैं.

अर्थ—सचित्त और अचित्त ऐसे धूलीके दो प्रकार है. जो पिंछिका इन दोनो प्रकारके धूलिओंका ग्रहण नहीं करती है वह रजोऽग्राहक नामक गुणसे युक्त है ऐसा समझना चाहिये. पिच्छिका यदि सचित्त धूलीको ग्रहण करने वाली होगी तो उससे अचित्त धूलीकी विराधना होगी. और अचित्त धूलीको यदि ग्रहण करेगी तो सचित्त धूलीका विराधन होगा. अतः धूलिमात्रका ग्रहण न करना यह पहिला गुण है. स्वेदको ग्रहण न करना यह उसका दूसरा गुण है. स्वेदके ग्रहण करनेसे रजकी—धूलिकी विराधना होगी. इसलिये स्वेदको घामके—जलको ग्रहण न करना यह उनका दुसरा गुण है. मार्दव नामक तीसरा गुण है. अर्थात् पिच्छिकाका स्पर्श मृदु होना चाहिये. मृदु स्पर्श न होगा तो उससे त्रसादि जन्तु जब हटाये जावेंगे तो उनको कष्ट होंगे कदाचित् मर भी जावेंगे. सुकुमालता यह चौथा गुण है. अर्थात् वह नमनशील होनी चाहिये. यदि न नमेगी कडी होगी तो उससे भी जीव विराधना होगी. तथा वह लघुतागुणयुक्त होनी चाहिये. अर्थात् वह हलकी होनी चाहिये. भारयुक्त न हो ऐसे पांच गुण जिस पिच्छिकामें हो वह दयाके प्रकारोंके जाननेवालोंसे प्रशंसी जाती है. जिसने लिंग धारण किया है ऐसे मुनीके लिंगके चार गुणोंका वर्णन किया.

शिक्षानंतरेति तन्निरूपणार्थं उत्तरप्रबंधः। जिणवयणं जिनवचनं। अहो य रत्ती य नक्तं दिवं। पढिदव्वं अध्येतव्यं। कीदृग्भूतं जिनप्रवचनमत आह—

णिउणं विउलं सुद्धं णिकाचिदमणुत्तरं च सव्वहिदं ॥
जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्ती य पढिदव्वं ॥ ९९ ॥
निपुणं विपुलं शुद्धं निकाचितमनुत्तरं ॥
पापच्छेदि सदा ध्येयं सार्वीयं वाक्यमार्हतम् ॥ १०० ॥

विजयोदया—निउणं जीवादीनर्थान्प्रमाणनयानुगतं निरूपयतीति निपुणं । सुद्धं पूर्वापरविरोधपुनरुक्तादिद्वात्रिंशद्दोषवर्जितत्वात् शुद्धं । विपुलं निक्षेपः, पदार्थः, निरुक्तिः अनुयोगद्वारं, नयश्चेति अनेकविकल्पेन जीवादीनर्थान्सप्रपंचं निरूपयतीति विपुलं । अर्थगाढत्वान्निकाचितं अर्थनिचितं । अणुत्तरं च न विद्यते उत्तरं उत्कृष्टमस्मादित्यनुत्तरं । परेषां वचनानि पुनरुक्तानि, अनर्थकानि, व्याहतानि, प्रमाणविरुद्धानि च तेभ्य इदमुत्तरं तदसंभविगुणत्वात्। सव्वहिदं सर्वे प्राणिहितं । अन्येषां मतानि केषांचिदेव रक्षां सूचयंति ' जिघांसन्तं जिघांसीयात् न तेन ब्रह्महा भवेत् ' इत्युपदेशात् ।

" यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥
यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ १ ॥
" अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ॥
क्षेत्रदारहरश्चेति षडेते आततायिनः ॥ "
" आततायिनमायांतमपि वेदांतविद् द्विजम् ॥
जिघांसंतं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥ "

कलुसहरं द्रव्यकर्मणां ज्ञानावरणादीनां अज्ञानादेर्भावमलस्य च विनाशनात् कलुषहरं । अहो य रत्तीय पढियव्वमित्यनेन अनारतं अध्ययनं सूचितं ।

अथैवं चतुर्धा लिंगं व्याख्याय सांप्रतं क्रमप्राप्तां शिक्षां व्याख्यातुं त्रयोदशभिर्गाथाभिरुपक्रमते । तत्र तावज्जिनवचननित्याध्ययनाय गृहीतलिंगं मुमुक्षुं प्रेरयितुमाह —

मूलाराः — निउणं निपुणं सूक्ष्मार्थनिरूपकं प्रमाणनयानुगतजीवाद्यर्थनिरूपकत्वात् । सुद्धं पूर्वापरविरोधपुनरुक्तादिद्वात्रिंशद्दोषविरहितत्वात् । विउलं विपुलं निक्षेपैकार्थनिरुक्त्यनुयोगद्वारनयैर्जीवाद्यर्थानां प्रपंचकत्वात् । णिकाचिदं निकाचितत्वादर्थावगाढं । अणुत्तरं नास्त्युत्तरमुत्कृष्टमन्यदस्मादित्यनुत्तरं । परवचसां प्रमाणविरुद्धत्वादिदोषदुष्टतया तदसंभविगुणत्वात् । सव्वहिदं सर्वप्राणिहितं मतांतराणां केषांचिदेव रक्षासूचकत्वात । तथा च तद्ग्रंथः—

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥

यज्ञो हि भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ॥

क्षेत्रदारहरश्चेति षडेते आततायिनः ॥

आततायिनमायांतमपि वेदांगविद् द्विजम् ।

जिघांसंतं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥

फलुसहरं श्रव्यभावकर्ममलापहम् ।

अब शिक्षाधिकारका आचार्य विस्तृत वर्णन करते हैं ।

अर्थ—श्री जिनेश्वरका वचन जीवादि नव पदार्थोंका प्रमाण और नयके आश्रयसे वर्णन करता है. अतः उसको निपुण विशेषण है. जिनवचन शुद्ध है क्योंकि उसमें पूर्वापरविरोधादि बत्तीस दोष बिलकुल नहीं हैं. वह विपुल है अर्थात् नाम स्थापनादि निक्षेप, प्रतिज्ञा हेतु उदाहरणादि अनुमानके अंग, शब्दका व्याकरण द्वारा धातु प्रत्यय विभक्ति इत्यादि रूपसे स्पष्टीकरण, सत्संख्यादिक अनुयोग और नैगम संग्रहादिक नय ऐसे अनेक विकल्पोंसे जीवादिक अर्थोंका सविस्तर विवेचन करता है. अतः उसको विपुल कहते हैं. जिनवचनका प्रत्येक शब्द अर्थसे गाढ भरा हुआ है अतः उसको निकाचित कहते हैं. जिनवचनको छोडकर अर्थात् इससे बढकर उत्कृष्ट किसीका भी वचन नहीं है इसलिये यह अनुत्तर है. अन्यमतोंके वचन पुनरुक्त हैं, अनर्थक-अर्थहीन और पूर्वापरविरोधयुक्त हैं. प्रमाणाविरुद्ध हैं परंतु जिनवचनमें ये दोष नहीं हैं इसलिये यह वचन अनुत्तर है. इस वचनमें सर्व जीवोंका कल्याण करना यह गुण है. इतरोंके मत सर्व जीवोंका रक्षण नहीं करते हैं थोडे जीवोंका ही वे रक्षण करते हैं 'जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत्' 'अपनेको मारनेके लिये आवेगा उसको मारना चाहिये इस कृत्यके करनेसे वह मारनेवाला ब्रह्मघाती नहीं होता है.'

यज्ञार्थं पशवः सृष्टा इत्यादि—ब्रह्मदेवने यज्ञ करनेके लिये पशु उत्पन्न किये हैं. यज्ञ सर्वको ऐश्वर्य देता है अतः यज्ञमें प्राणिवध करना हिंसा नहीं है वह अहिंसा ही है.

अग्निदो गरदश्चैवेत्यादि—जो मनुष्य अग्निकेद्वारा दूसरोंके घर जलाता है, जो अन्नमें विष देकर मारता है, जो शस्त्रसे मारता है, जो धन हरण करता है और जो खेत और दूसरेकी स्त्री हरण करता है ऐसे छे प्रकारके

लोकोंको आततायी कहते हैं. ये आततायी लोक यद्यपि वेद जानने वाले ब्राह्मण जातीके भी हो तो भी वे मारनेकी इच्छा रखते हैं अतः उनको मारना चाहिये उनको मारनेसे ब्रह्महत्याका दोष लगता नहीं है. इत्यादिरूप अन्यमतोंके वचन है. ये सब वचन सर्व प्राणिओंकी रक्षाके सूचक नहीं हैं.

जिनेश्वरका वचन कलुपहर है अर्थात् ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, अज्ञानादिक भावकर्मरूपी मलका नाश करता है. इसलिये इसका हमेशा अध्ययन करना चाहिये.

जिनवचनशिक्षायां गुणान्संहृत्य कथयति--

आदहिदपइण्णा भावसंवरो णवणवो य संवेगो ॥
णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसिगत्तं च ॥ १०० ॥

गद्यम्—सर्वभावहिताहितावबोधपरिणामसंवरप्रत्यग्रसंवेगरत्नत्रयस्थिरत्वतपोभावना-परदेशकत्वलक्षणा गुणाः सप्त संपद्यन्ते जिनवचनशिक्षया ॥१०१॥

विजयोदया—आदहिदपइण्णा आत्महितप्रतिज्ञानं । इंद्रियसुखं अहितं हितमिति गृह्णन्ति जनाः । दुःखप्रतीकारमात्रं तत् । अल्पकालिकं, पराधीनं, रागानुबंधकारि, दुर्लभं, भयावहं, शरीरायासमात्रं, अशुचिशरीरसंस्पर्शनजं । तन्नास्य बालस्य सुखबुद्धिः । निःशेषदुःखापायजनितं स्वास्थ्यं अचलं सुखमिति न वेत्ति । जिनवचोऽभ्यासात्त्वधिगच्छति । भावसंवरो भावः परिणामः तस्य संवरो निरोधः । ननु परिणाममंतरेण न द्रव्यस्यास्ति क्षणमात्रमप्यवस्थानं तत्किमुच्यते भावसंवर इति । परिणामविशेषवृत्तिरिह भावशब्द इति मन्यते । तथा वक्ष्यति—

'सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदीसंवुडो इति' अशुभकर्मादाननिमित्तपरिणामग्रहणमिह सरागापेक्षया । वीतरागाणां तु केषांचिच्छुद्धोपयोगनिमित्ततया पुण्यास्रवपरिणामसंवरोऽपि ग्राह्यः । णवणवो य प्रत्यग्रः प्रत्यग्रः । संवेगो धर्मे श्रद्धा जिनवचनाभ्यासादुपजायते । णिक्कंपदा निश्चलता । क रत्नत्रये । तवो स्वाध्यायाख्यं तपश्च । भावणाय भावना च गुप्तीनां । परदेसिगत्तं च परेषामुपदेशकता च ॥

कलुसहरं द्रव्यभावकर्ममलापहम् ।

मूलारा—आदहिदपरिण्णाण आत्महितपरिज्ञानं अत्रात्मशब्देनोपलक्षणाज्जीवाजीवादिपदार्थो गृह्यन्ते । तथा हितशब्देन हितमहितं च तथैवोत्तरगाथार्थस्योपपत्तेः । भावसंवरो भावोऽत्र सरागापेक्षया पाप

कर्मादानहेतुः परिणामस्तस्य संवरो निरोधः । वीतरागाणां केषांचिच्छुद्धोपयोगनिमित्ततया पुण्यास्रवपरिणामसंवरोपि प्राह्यः । संवेगो धर्मे श्रद्धा । अत्र संसारभीरुतालक्षणसंवेगकारणको धर्मोऽपि संवेगशब्देन गृह्यते । कारणे कार्योपचारात् । णिक्कंपदा रत्नत्रये निश्चलत्वं । तवो स्वाध्यायाख्यं तपः । भावणा गुप्तितत्परता । परदेसगत्तं परेषामुपदेशकर्तृत्वं । एते सप्त गुणा जिनवचनाभ्यासाज्जायंते इति संबंधः ।

जिनवचनके अध्ययनसे कोनसे गुण प्राप्त होते हैं इसका वर्णन आचार्य संक्षेपसे करते हैं—

अर्थ—आत्माके हितका ज्ञान जिनवचनसे होता है-लोक अहितकर इंद्रियसुखको हितकर समझते हैं. यह सुख दुःखका केवल प्रतीकार ही है. अल्पकालतक ही रहता है. तदनंतर उसका नाश होता है. इंद्रियां और पदार्थोंके यह आधीन है. रागभावको उत्पन्न करके आत्माको कर्मसे बद्ध करता है. दुर्लभ है. दुर्गतीका भय उत्पन्न करता है. शरीरके आयाससे वह उत्पन्न होता है. अपवित्र शरीरके स्पर्शसे उत्पन्न होता है. ऐसे इंद्रियसुखमें अज्ञ जीवोंको सुखबुद्धि हो रही है. संपूर्ण दुःखोंका नाश होनेसे उत्पन्न होनेवाला, आत्मामें हमेशा रहने वाला, निश्चल ऐसे आत्मसुखको अज्ञजन सुख समझते नहीं हैं. परंतु जिनवचनके अभ्याससे भव्यजीवोंको आत्मिक सुखका ज्ञान होता है. इसलिये जिनवचनमें आत्महितप्रतिज्ञा नामका गुण है यह सिद्ध हुवा.

भावसंवर—यह दूसरा गुण है. शंका—भाव-पदार्थका परिणमन—संवर—निरोध अर्थात् पदार्थोंका परिणमन होना बंद पडना ऐसा भावसंवरका अर्थ होगा. परंतु यह अर्थ ठीक नहीं है. क्योंकि पदार्थमें यदि परिणमन होना बंद होगा तो वह एक क्षणतक भी अपना अस्तित्व न रख सकेगा. अतः भावसंवर जिनवचनका गुण मानना योग्य नहीं है. उत्तर—यहां भावशब्दका अर्थ आपने जो किया है वह नहीं है. अशुभ कर्मका आस्रव जिनसे होता है ऐसे पापपरिणामोंका-विचारोंका त्याग करना यह भावसंवरका अर्थ यहां प्रस्तुत है. सरागी जीव अशुभ परिणामोंको जिनवचनके अध्ययनसे त्यागते हैं. अतः जिनवचनमें भावसंवर नामका गुण है ऐसा आचार्य कहते हैं- वीतराग अवस्थाको प्राप्त हुए मुनिओंको जिनवचन शुद्धोपयोगके लिये कारण होता है. अतः वीतराग मुनीकी अपेक्षासे पुण्यास्रवके लिये कारण जो परिणाम उनका संवर होना भावसंवर शब्दसे कहा जाता है.

जिनवचनका प्रतिदिन अभ्यास करनेसे नवनव संवेग नामक गुणका लाभ होता है. अर्थात् जिनधर्ममें गाढ श्रद्धा

उत्पन्न होती है. इस जिनवचनके अभ्याससे रत्नत्रयमें निश्चलता प्राप्त होती है, स्वाध्याय नामक तपकी सिद्धि होती है, गुप्तिओंमें भावना होती है और भव्योंको उपदेश देनेका सामर्थ्य पैदा होता है.

आदहिदपइण्णा इत्यस्य व्याख्यानं गाथोत्तरा—

णाणेण सव्वभावा जीवाजीवासवादिया तधिगा ॥

णज्जदि इहपरलोए अहिदं च तहा हियं चेव ॥ १०१ ॥

सर्वे जीवादयो भावा जिनशासनशिक्षया ॥

तत्त्वतोऽत्रावबुध्यन्ते परलोके हिताहिते ॥ १०२ ॥

विजयोदया—णाणेण ज्ञानेन । सव्वभावा सर्वे पदार्थाः । जीवाजीवादिगा जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षाः । तधिगा तथ्यभूताः । णज्जंति ज्ञायन्ते । तथा तेनैव प्रकारेण । इहपरलोए इह परस्मिश्च लोके । अहिदं अहितं । हिदं हितं चेव । ननु च आदहिदपइण्णा इत्यत्र हितस्यैव हि सूचितत्वात् जीवादिपरिज्ञानं असूचितं कथं व्याख्यायते पूर्वमभिहितं हितमनुक्त्वा ? अत्रोच्यते—आत्मा च हितं च आत्महिते तयोः परिज्ञानं इति गृहीतं । न चात्मनो हितमिति । ततो युक्तं व्याख्यातं । एवमपि जीव एव निर्दिष्ट इत्यजीवाद्युपन्यासः कथं ? आत्मशब्दवस्तूपलक्षणत्वाददोषः । जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वं इत्यत्र सूत्रे आदौ निर्दिष्टो जीवः प्रसिद्धस्तेनोत्तरोपलक्षणं क्रियते । अथवा " जादं सयं समत्तं णाणमणंतत्थवित्थिदं विमलं । रहिदं तु उग्गहादिहिं सुहंति एयंतियं भणियं " इति वचनात् अनंतज्ञानरूपं सुखं यदि हितमिति गृहीतं, तथापि चेतनाया जीवत्वाच्चेतन्याचस्यास्वरूपत्वात् केवलस्यावस्थानात् आत्मा ज्ञातव्य एव । मोक्षस्तु कर्मणां तदपायतयाधिगंतव्यः । तत्परिज्ञानमजीवेऽनिर्ज्ञाते न भवति । पुद्गलानामेव द्रव्यकर्मत्वात् तद्वियोगस्य मोक्षत्वात् । स च मोक्षो बंधपुरस्सरः । न ह्यसति बंधे मोक्षोऽस्ति । स च बंधो नासत्यास्रवे । मोक्षस्य चोपायौ संवरनिर्जरे । अहित इति यदि दु ख गृह्यते तदैहलौकिकमनुभवसिद्धमेव । किं तत्र जिनवचनेन ? अहितकारणं यद्यहितमुच्यते तत्कर्म तच्चास्राजीववचनेन आक्षिप्तं । अथ हिंसादयः परंपराकारणत्वेन दुःखस्यावस्थिताः अहितशब्देनोच्यन्ते । तथाप्ययुक्तं आस्रवेऽन्तर्भूतत्वात् । अत्रोच्यते—अनुभूतमपि दुःखं अस्मिञ्जन्मनि जडमतयो विस्मरन्त्येव सन्मार्गं न ढौकंते । तेषां स्मृतिर्जन्यते जिनवचनेन मनुजभवापदां प्रकटनेन । जुगुप्सिते कुले प्रादुर्भूतिर्विचित्रास्तत्र रोगोरगदशनजनिता विपदः । निर्द्रविणता, दुर्भगता, अंधता, अनाथता, प्रार्थितद्रविणपरांगनालाभधूमध्वजनिर्दग्धचित्तता, द्रविणवतां कुत्सितप्रेषणकरणं, तथापि तेषां आक्रोशननिर्भर्त्सनताडनादीनि परवशतामरणादीन्येवमादिना, इह लोके हितं दानतप प्रभृतिकं हितकारणं हितं इति यदा गृह्यते ' हितमारण्यमौषधं ' इति यथा । यतो दानादिके कुशलकर्मणि वर्तमाना जनैः स्तूयंते पंचते । उक्तं च—

दानेन तिष्ठंति यशांसि लोके। दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ॥
परोऽपि बंधुत्वमुपैति दानात्तस्मात्सुदानं सततं प्रदेयम् ॥

इंद्रचक्रधरादयोऽपि प्रणतिमायान्ति तपोद्रविणानाम् । परलोके अहितं भवान्तरभाविदुःखे नरकगतौ हि, तिर्यक्त्वं च, परलोके हितं निर्वृतिसुखे, तदेतत्सफलं अवबोधयति जैनी भगवती भारती ॥

आत्महितपरिज्ञां व्याचष्टे—

मूलारा—तधिया तथाभूताः—

आत्महितप्रतिज्ञा नामके गुणका वर्णन—

अर्थ—ज्ञानके प्रभावसे जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ऐसे सात पदार्थोंका सत्य स्वरूप जाना जाता है. तथा इसके सामर्थ्यसे इहलोकमें और परलोकमें हिताहितका भी परिज्ञान होता है.

शंका—आदहिदपइण्णा इस शब्दमें हितकाही परिज्ञान करलेना सूचित किया गया है. जीवादिकोंका परिज्ञान उपर्युक्त शब्दसे सूचित नहीं होता है. अतः पूर्वमें कहे हुए हितका स्वरूप प्रथम कहकर ही इतरोंका स्वरूप कहना चाहिये था. यह तो आपका असूचित कथन हुआ ?

उत्तर—आत्महितप्रतिज्ञा इस शब्दका अर्थ ऐसा समझना—यहां द्वंद्वसमास है अर्थात् 'आत्मा च हितं च आत्महिते' ऐसा आत्महित शब्दका विग्रह होता है. अर्थात् आत्मा और हित इन दोनोंका जो ज्ञान उसको आत्महितप्रतिज्ञा कहते हैं. 'आत्मनो हितं' आत्माका हित ऐसा षष्ठीतत्पुरुष समास यहां समझना भूल है.

शंका—आत्महितप्रतिज्ञासे जीवके हितका ज्ञान होना ही अभीष्ट रहा. अजीवादिकोंके ज्ञानकी आवश्यकता न रही ?

उत्तर—आत्मा शब्द उपलक्षणात्मक है अतः उसके साथ अजीवादिकोंका भी ग्रहण कर सकते हैं. 'जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वं' इस सूत्रमें प्रथम जीवका निर्देश किया है. इसलिये वह प्रसिद्ध है. प्रसिद्धके साथ अप्रसिद्धकाभी उपलक्षणसे ग्रहण होता है अतः अजीवादिकका भी आत्महितप्रतिज्ञा इस शब्दसे ग्रहण कर सकते हैं.

अथवा केवलज्ञान अनंत पदार्थों को जानता है, वह स्वयं कर्मका नाश करके उत्पन्न हुआ है, पूर्णताको प्राप्त हुआ है, विस्तीर्ण है और कर्ममलसे रहित होनेसे निर्मल है. अवग्रह, ईहा वगैरे विकल्पोंसे

मोहयुक्त जीव हिताहित न समझकर अशुभ कर्मसे बद्ध होता है. और वह कर्म जीवको अनंत संसारमें घुमाता है. अतः संसारसे छुटकारा पानेकेलिये आत्मा और हितका परिज्ञान कर लेना आवश्यक है.

आत्महितपरस्योपयोगमादर्शयति—

जाणंतस्सादहिदं अहिदणियत्ती य हिदपवत्ती य ।
होदि य तो से तम्हा आदहिदं आगमेदव्वं ॥ १०३ ॥

हितादानाहितत्यागौ हिताहितविबोधने ॥
यतस्ततः सदा कार्यं हिताहितविबोधनम् ॥ १०४ ॥

विजयोदया—जाणंतस्स जानतः । आदहिदं आत्महितं । अहिदणियत्ती य अहितनिवृत्तिश्च । हिदपवत्ती य हिते प्रवृत्तिश्च । होदि य भवति च । तो ततः हितज्ञानात्पश्चात् । तह्मा तस्मात् आदहिदं आत्महितं । आगमेदव्वं शिक्षितव्यम् । अत्र चोद्यते—ननु आत्महितज्ञस्य हिते प्रवृत्तिर्भवतु, अहितान्निवृत्तिः कथं ? अहितज्ञोऽहितान्निवर्तते, हितमहितं च भिन्नमेव । यद्यतो भिन्नं न तस्मिन्नवगते तदन्यदवगतं भवति । यथा—वानरेऽवगते न मकरः, भिन्नं च हितादहितं तस्माद्धितज्ञोऽहितं अजानन् कथमहितान्नियोगतो निवर्तेत ? अत्रोच्यते सर्वमेव वस्तु स्वपरभावाभावोभयाधीनात्मलाभं यथा घटः पृथुलोदराद्याकारात्मकः पटादिरूपतयाऽग्राह्य , अन्यथा विपर्ययस्थं तज्ज्ञानं भवेत् । एवमिहापि हितविलक्षणमहितं अजानता तद्विलक्षणता हितस्य न ज्ञाता भवेत् । अतो हितज्ञोऽहितमपि वेत्तीति युक्ता निवृत्तिस्ततः शिक्षाया अशुभभावसंवरहेतुत्वं प्रतिपद्यामहे ।

आत्महितपरिज्ञानस्योपयोगमादिशति—

मूलारा॰—अहिदणियत्ती अहितान्निवृत्तिः । न चैवं शंक्यं आत्महितज्ञस्य कथमहितान्निवृत्तिस्तत्स्वरूपापरिज्ञानात् । हितं हि अहितविलक्षणं अवगच्छन्नहितमपि जानात्येवान्यथा हितज्ञानस्याप्यसंभवात्पटाद्यपरिज्ञाने तद्विलक्षणघटापरिज्ञानवत् । तो ततो हिताहितज्ञानात्पश्चात् । से तस्य हिताहितमपि जानात्येव । अन्यथा प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थिनः कर्तुः आगमेदव्वं आगमयितव्यं शिक्षितव्यमित्यर्थः ।

आत्महित-साधनेमें उद्युक्त हुए प्राणीका उपयोग बताते हैं—

अर्थ—जो जीव आत्माके हितको पहिचानता है वह अहितसे पराङ्मुख होकर हितमें प्रवृत्ति करता है. इस वास्ते हे भव्यजन हो ! आत्महितका आप परिज्ञान करलो.

यहां शंका—जो आत्महित जानता है उसकी हितमें प्रवृत्ति होती है यह कहना योग्य है परंतु जो अहित के स्वरूपको जानता ही नहीं है तो वह उससे कैसे परावृत्त हो सकेगा. जो अहितज्ञ है वही उससे परावृत्त होगा. हित और अहित ये दोनो चीजें भिन्न है. जो जिससे भिन्न है वह यदि जाना जायगा तो उससे भिन्न अन्य भी कैसा जाना जायेगा ? जैसे वानरका ज्ञान होनेसे मगरका ज्ञान नहीं होता है, वैसे हितसे अहित भिन्न है. अतः हितको जाननेवाला अहितको न जाननेसे अहितमें कैसे परावृत्त होगा ?

उत्तर—सर्व ही वस्तु स्वभावसे उत्पन्न होती है और परभावसे अनुत्पन्न मानी जाती है. अर्थात् स्वस्वरूप की अपेक्षासे प्रत्येक वस्तु भावात्मक है. वही वस्तु परकी अपेक्षासे अभावात्मक भी है. जैसे बडा पेट, शंखाकृति गला इत्यादि स्वस्वरूपसे घट पदार्थ जाना जाता है. यदि वह घट परस्वरूपसे भी जाना जायगा तो वह जानना 'विपरीतज्ञान' है. अतः घटको जाननेके समयमें ही घट पट नहीं है ऐसा भी ज्ञान होता है. हितको जानते समयमें ही अहित भी हितसे उलटा है यह जाना जाता है. यदि हितके विलक्षणरूप अहितको न जाना जायगा तो हितका ज्ञान नहीं होगा. इसलिये हितज्ञ और अहितको भी जानता है ऐसा समझना चाहिये अतः वह अहितसे परावृत्त होता है.

सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदियसंवुडो तिगुत्तो य ॥
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिदो भिक्खू ॥ १०४ ॥

स्वाध्यायं पञ्चधा कुर्वंस्त्रिगुप्तः पंचसंवृतः ॥
एकाग्रो जायते योगी विनयेन समाहितः ॥ १०५ ॥

विजयोदया—सज्झायं स्वाध्यायं पंचविधं वाचनाप्रश्नानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशभेदेन । तत्र निरवद्यस्य ग्रंथस्याध्यायनं तदर्थाभिधानपुरोगं वाचना । संदेहनिवृत्तये निश्चितबलाधानाय वा सूत्रार्थविषयः प्रश्नः । अवगतार्थानुप्रेक्षणं अनुप्रेक्षा । आम्नायो गुणना । आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी, निर्वेदनीति चतस्रः कथास्तासां कथनं धर्मोपदेशः । तं स्वाध्यायं कुर्वन् । पंचिंदियसंवुडो होदि पंचेंद्रियसंवृतो भवति । ननु निष्ठांतस्य पूर्वनिपातात्संवृतपंचेंद्रिय ' इति भवितव्यम् ? सत्यं । ' जातिकालसुखादिभ्यः परवचनम् ' इत्यनेन पंचेंद्रियजातिवृत्तिरिति जातिवचनः । ततो निष्ठांतः परतः प्रयुज्यते इति मन्यते । इंद्रियमनेकप्रकारं द्रव्येंद्रियं भावेन्द्रियं इति । इह तु रूपाद्युपयोगा इंद्रियशब्देनोच्यंते । तेनायमर्थः स्वाध्या-

रहित और सर्वथा सुखमय है. ऐसा केवलज्ञानका आचार्य स्वरूप कहते हैं. सुखपदार्थ ज्ञानरूप ही है. वह आत्मा का वास्तविक हित है. अतः वह यहां हितशब्दसे संगृहीत होता है. तथापि चेतना यह जीवका स्वरूप है व चैतन्य रूप अवस्था है. उसको जाननेके लिये आत्माको जानना आवश्यक है. कर्मोंका संपूर्ण नाश होना ही मोक्ष है. उसका स्वरूप अजीव पदार्थको जाने विना समझमें आ नहीं सकेगा. सूक्ष्म पुद्गल ही द्रव्यकर्मरूप बनता है. उसका नाश होनाही मोक्ष है. मोक्ष बंधपूर्वक होता है. यदि कर्मबंध न होगा तो मोक्ष किसको होगा. अर्थात् जो आत्मा कर्म बद्ध है वही कर्मोंका नाश कर स्वतः मुक्त हो जाता है. वह बंधभी कर्मास्रवके विना होता नहीं. संवर और निर्जरा मोक्षके उपाय है.

अहित शब्दका अर्थ यदि दुःख ऐसा है तो वह इहलोकसंबंधी दुःख अनुभवसिद्ध है ही उसको जतलानेकेलिये जिनवचनकी क्या आवश्यकता है ? अहितका जो कारण है वह यदि अहित शब्दका वाच्य है तो कर्म ही अहितका कारण है ऐसा मानना पडेगा. उस कर्मका इस ही गाथामें अजीव शब्दसे ग्रहण किया है. यदि हिंसादिक दुःखके परंपरा कारण हैं और वे अहित शब्दसे संगृहीत होते हैं ऐसा कहते हो तो वह भी कहना युक्तियुक्त नहीं है. क्योंकि हिंसादिक कारणोंका आस्रवमें अन्तर्भाव होता ही है. इस शंकाका उत्तर आचार्यने इस प्रकार दिया है—

अनुभवमें आया हुआ भी दुःख अज्ञजन भूल जाते हैं इसीलिये सन्मार्गके प्रति गमन नहीं करते हैं. ऐसे लोगोंको जिनवचन दुःखोंकी स्मृति दिलाता है. अर्थात् वह मनुजभवमें क्या क्या आपदायें आती हैं उनको दिखलाता है. जैसे—जुगुप्सितकुलमें—हीन कुलमें उत्पत्ति होती है. और वहां नानाविध रोगरूपी सर्पके दंशसे अनेक आपत्तियां उपस्थित होती हैं. दारिद्र्य, कुरूपता, बंधुरहितपना, अनाथपना, ये अवस्थायें प्राप्त होती हैं. इच्छित धनकी प्राप्ति होना, परांगनाका लाभ न होनेसे मनमें झुरना, श्रीमान लोगोंके द्वारा कुत्सित कार्य करनेकी आज्ञा होना, उनकी गालियां सुनना, उनके द्वारा किया गया अपमान, पीटे जाना, परवशता इत्यादि दुःखोंको सहन करना पडता है. इत्यादि दुःखोंका स्वरूप जिनवचन अज्ञ जीवोंको बतलाता है.

जैसे अरण्यकी वनस्पतिजन्य औषधि हित करती है वैसे इस लोकमें दान, तप वगैरह कार्य हितके कारण हैं अतः उसको हित कहते हैं. दानादिक पुण्यकार्यमें जो तत्पर रहते हैं उनकी लोक स्तुति और वंदना करते हैं. आगममें इस विषयमें ऐसा कहा है—

दान देनेसे जगतमें दाताकी कीर्ति चिरस्थायी होती है. दानसे वैरका नाश होता है. शत्रु भी मित्रताको प्राप्त होता है. अतः सज्जनोंने हमेशा दान देना चाहिये.

तपस्वी धन जिनके पास है उनको इंद्र चक्रवर्ती वगैरह महापुरुष वंदन करते हैं. हिंसादिक पाप करनेसे परलोकमें दुःख भोगना पडता है. अर्थात् नरकगतीमें नरकस्थानमें दुःख ही दुःख भोगना पडता है. तिर्यग्गतिमें पशु होकर दुःख सहना पडता है. दानादिकोंसे परलोकमें हित होता है. अन्तमें मोक्षसुख मिलता है. इन सब हिताहितोंका जिनवरकी पूज्य वाणी वर्णन करती है.

आत्महितापरिज्ञाने दोषमाचष्टे—

आदहिदमयाणंतो मुज्झदि मूढो समादियदि कम्मं ॥
कम्मणिमित्तं जीवो परीदि भवसायरमणंतं ॥ १०२ ॥

हिताहितमजानानो जीवो मुह्यति सर्वथा ॥
मूढो गृह्णाति कर्माणि ततो भ्राम्यति संसृतौ ॥ १०३ ॥

विजयोदया—आदहिदमयाणंतो आत्महितमबुध्यमानः । मुज्झदि मुह्यति । अहितं हितमिति प्रतिपद्यते मोहं । को दोष इत्यत आह—मूढो मोहवान् समादियदि समादत्ते । कम्मं कर्मसामान्यशब्दोऽप्ययं अशुभकर्मवृत्तिर्ग्राह्यः । कर्म ग्रहणे को दोष इत्यत आह—कम्मणिमित्तं कर्महेतुकं, जीवः परीदि परिभ्रमति । किं ? भवसायरम् भवसमुद्रं अणंतं अनन्तम् ॥

आत्महितापरिज्ञाने दोषमाचष्टे—

मूलारा—समादियदि समादत्ते समन्तान्मनोवाक्कायैरादत्ते गृह्णाति । कम्मं कर्म मोहहेतुकत्वादशुभं । परीदि पर्येति परिभ्रमतीत्यर्थः ।

आत्मा और हितका यदि ज्ञान न हो तो क्या दोष उत्पन्न होगा इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जिसको आत्माका और हितका स्वरूप ज्ञात नहीं हुआ है वह जीव मोहित होता है अर्थात् अहितको हित मानता है. मोहसे वह अनंत संसारमें भ्रमण करानेवाले अशुभ कर्मका बंध कर लेता है. तात्पर्य—

यानिरुद्धरूपाद्युपयोगो भवति इति । रूपाद्युपयोगनिरोधे किं फलं ? रागाद्यप्रवृत्तिः । मनोज्ञामनोज्ञरूपाद्युपयोगावलंबनौ रागद्वेषौ । न ह्यनवबुध्यमानो विषयः स्वसत्तामात्रेण तौ करोति । सुप्तेऽन्यमनस्के वा रागादीनां विषयसन्निधावप्यदर्शनात् ।

" गादिमाधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ॥
तत्तो विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥ "

इति वचनाच्च । कथं स्वाध्याये प्रवर्तमानः । विणयेण समाहिदो ज्ञानविनयेन समन्वितो भूत्वा यः स्वाध्यायं करोति । तिगुत्तो य होदि । तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तश्च भवति । मनसोऽप्रशस्तरागाद्यनवलेपात्, अनृतरूक्षपरुषकर्कशात्मस्तवनपरदूषणादावव्यापृतेः, हिंसादौ शरीरेणाप्रवृत्तेश्च, एयग्गमणो य होदि भिक्खू इति पदघटना—एकमुखांतःकरणश्च भवति भिक्षुः स्वाध्याये रतः । एतदुक्तं भवति—ध्याने प्रवृत्तिमभ्यासादयतीति । न ह्यकृतश्रुतपरिचयस्य धर्मशुक्लध्याने भवितुमर्हतः । अपायोपायभवविपाकलोकविचयादयो धर्मध्यानभेदाः । अपायादिस्वरूपज्ञाने जिनवचनबलादेव ' शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ' इत्यभिहितत्वाच्च ॥

शिक्षाया अशुभभावसंवरहेतुत्वं विवृण्वन्नाह—

मूलारा—सज्झायं वाचनादिपंचविधं स्वाध्यायं । पंचिंदियसंवुडो पंचापि इंद्रियाणि संवृतानि यथास्वमिष्टानिष्टविषयेभ्यो व्यावर्तितानि येन । तिगुत्तो निगृहीताशुभमनोवाक्कायव्यापारः । एयग्गमणो एकाग्रमनाः ध्यानप्रवृत्तिमानपि स्यादिति भावः । विणएण समाहिदो अष्टविधज्ञानविनयेन संयुक्तः सन्स्वाध्यायं कुर्वन्निति संबंधः ।

जिनवचनका अध्ययन करनेसे अशुभभावोंका संवर होता है इसका आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—वाचना, प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ऐसे स्वाध्यायके पांच भेद हैं. जिसके पढनेसे और पढानेसे पापास्रव न होंगे ऐसे ग्रंथको और उसके अर्थको पढा देना वाचना स्वाध्याय है. प्रश्न—जो आगमका विषय मनमें निश्चित किया है उसमें विशेष दृढताके लिये अथवा संशय दूर करनेके लिये सूत्रार्थविषयक प्रश्न आगमज्ञको पूंछना. अनुप्रेक्षा—जो विषय जान लिया है उसका मनमें चिंतन करना. आम्नाय—पढा हुवा विषय वार वार घोकना. धर्मोपदेश—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी, और निर्वेजनी ऐसी चार धर्मकथायें हैं. उनका भव्योंको उपदेश देना, यह पांच तरहका स्वाध्याय करनेसे पांचो इन्द्रियां संयम युक्त होती हैं. अर्थात् रूपादि विषयों प्रति वे दौडती नहीं. इन्द्रियसंयमसे नये रागद्वेष आत्मामें उत्पन्न नहीं होते हैं. इष्ट रूपादि वस्तुओंके तरफ जब इंद्रियां प्रवृत्त

होती है तब रागविकार पैदा होता है. अनिष्टरूपादि विषयोंसें द्वेष उत्पन्न होता है. इष्टानिष्ट पदार्थ समीप होनेपर भी यदि उनके तरफ इंद्रियोंका उपयोग न लगेगा तो वे पदार्थ केवल अपने अस्तित्वमात्रसे जीवमें रागद्वेष उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होते हैं. जिस समय आत्माका दूसरे तरफ मन चल जाता है अथवा वह सोता है उस समय इंद्रिय विषय समीप होनेपर भी रागद्वेष उत्पन्न नहीं होते हैं.

शंका—निष्ठाप्रत्ययांत शब्दके साथ जब समास होता है तब वह शब्द समासमें प्रथम प्रयुक्त होता है अतः 'संवृतपंचेंद्रिय' एसा समस्त शब्द बनेगा. 'पंचेंद्रियसंवृतः' यह समास योग्य नहीं है.

उत्तर—'जातिकालसुखादिभ्यः परवचनम्' इस सूत्रसे पंचेंद्रिय शब्द जातिवाचक होनेसे समास करते समय प्रारंभमें पंचेंद्रिय शब्दका प्रयोग किया है. अनंतर निष्ठाप्रत्ययांत संवृत शब्द जोड देनेसे 'पंचेन्द्रिय संवृतः' ऐसा समस्त शब्द हुआ है. इन्द्रियशब्द जातिवाचक है. इंद्रियके द्रव्येंद्रिय और भावेंद्रिय ऐसे दो भेद हैं. रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द ये इन्द्रियोंके विषय हैं. अपने अपने विषयोंके तरफ उपयोग लगना यह भावेन्द्रिय है. स्वाध्याय करनेसे इंद्रियनिरोध होता है और इंद्रियनिरोधसे रागादिक विकार उत्पन्न नहीं होते हैं.

चतुर्गतिमें भ्रमण करनेवाले इस जीवको देह प्राप्त होता है. देहकी प्राप्ति होनेसे इंद्रियां उत्पन्न होती हैं. वे अपने अपने विषयको ग्रहण करती हैं. अतः विषयग्रहणमें रागद्वेष उत्पन्न होते हैं.

जो मुनि ज्ञानविनयपूर्वक स्वाध्याय करता है वह त्रिगुप्तिधारक होता है अर्थात् उसका मन अप्रशस्त रागद्वेषादिकोंसे अलिप्त रहता है उसके मुखसे असत्य, रूक्ष, कठोर, कर्कश, स्वस्तुतिपर और परदूषणात्मक वाणी बाहर आती नहीं. हिंसादि कार्योंमें उसका देह प्रवृत्ति करता नहीं. इस रीतिसे त्रिगुप्ति धारक वह मुनि एक विषयके तरफ अपने मनको स्थिर करके ध्यानमें तत्पर हो जाता है. स्वाध्याय करनेसे श्रुतज्ञानमें परिचय होता है. जब श्रुतज्ञानके साथ यतीका परिचय होता है तब धर्मध्यान और शुक्लध्यानकी प्राप्ति होती है. अपायविचय, उपायविचय, भवविचय, लोकविचय, विपाकविचय वगैरह धर्मध्यानके भेदोंका ज्ञान जिनवचनके सामर्थ्यसे होता है. आगममें 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः' अर्थात् चौदह पूर्वोंका श्रुतज्ञान जिसको है ऐसे मुनिराजको धर्मध्यान और शुक्लध्यानकी प्राप्ति होती है ऐसा कहा है.

३२

प्रत्यग्रसंवेगप्रभवक्रममाचष्टे—

जह जह सुदमोग्गाहदि अदिसयरसपसरमसुदपुव्वं तु ॥
तह तह पल्हादिज्जदि नवनवसंवेगसड्ढाए ॥ १०५ ॥

अदृष्टपूर्वमुचार्थमभ्यस्यति जिनागमम् ॥
यथा यथा यतिर्धर्मे प्रह्लाद्यति तथा तथा ॥ १०६ ॥

विजयोदया—जह जह यथा यथा। सुदं श्रुतं ओग्गाहदि अवगाहते। शब्दश्रुताभिधेयमधिगच्छतीति यावत्। अदिसयरसपसरं अतिशयरसप्रसरं समयांतरेषु अनुपलब्धोऽर्थोऽतिशयितो रसः। शब्दस्य हि रसोऽर्थः तस्य सारत्वात् आम्रफलादिरस इव। प्रसरशब्देन प्राचुर्यमतिशयितार्थस्य सूचयति। ततोऽयमर्थोऽस्य–अतिशयाभिधेयबहुलं श्रुतमिति। ननु प्रवादिनोऽपरेऽपि स्वसमयमेव प्रशंसन्ति। प्रत्यक्षेणानुमानेन च विरुद्धमर्थस्वरूपं केवलं नित्यत्वमनित्यतां वा निरूपयतामागमानां नातिशयार्थप्रसरता। प्रमाणांतरसंवाद्यागमार्थोऽतिशयितो भवति नापरः। असुदपुव्वं तु अश्रुतपूर्वमेव। ननु भव्यानामभव्यानां च कर्णगोचरतामायात्येव श्रुतं किमुच्यतेऽश्रुतपूर्वमिति ? अर्थश्रुताभिधेयापरिज्ञानाच्छब्दमात्रं श्रुतमप्यश्रुतं इति गृह्यते। तदप्ययुक्तं अर्थोपयोगस्यापि असकृत् ज्ञातत्वात्। अयमभिप्रायः श्रद्धानसहचारिबोधाभावाच्छ्रुतमप्यश्रुतमिति। तह तह पल्हादिज्जइ तथा तथा प्रल्हादमुपैति। नवनवसंवेगसड्ढाए प्रत्यग्रतरधर्मश्रद्धया। ननु च संसारभीरुता संवेगः ततोऽयमर्थः स्यादसंबंधः। न दोषः। संसारभीरुताहेतुको धर्मपरिणामः। आयुधनिपातभीरुताहेतुककवचग्रहणवत्। तेन संवेगशब्दः कार्ये धर्मे वर्तते ॥

श्रुतावगाहनस्य नवनवसंवेगनिमित्तत्वं प्रवनोति—

मूलारा—उग्गाहदि अवगाहते शब्दसमयादर्थसमयमधिगच्छति ॥ १०३ ॥

नवीन संवेग भी स्वाध्यायसे प्राप्त होता है इसका वर्णन आचार्य करते हैं—

अर्थ—जिनेश्वर के शब्दात्मक श्रुतज्ञानमें अन्य मतोंमें अप्राप्य ऐसा अर्थ भरा हुआ है. जैसा आम्रफलमें रस भरा हुआ रहता है वैसा ही शब्दात्मक श्रुतज्ञानमें सर्वोत्कृष्ट अर्थ भरा हुआ है. यह अर्थरस अन्यमत के शब्दात्मक कुश्रुतमें भरे हुए अर्थकी अपेक्षासे अधिक उत्कृष्ट है.

शंका—जैसे आप अपने मतकी प्रशंसा करते हो वैसे अन्यमती भी आपने ही मतकी प्रशंसा करते हैं. अतः आपके मतकी विशेषता कैसी सिद्ध होगी ?

उत्तर–अन्यमतमें कहा हुवा जीवादिक पदार्थोंका स्वरूप प्रत्यक्ष और अनुमानसे बाधित है. जीवादि पदार्थ सर्वथा नित्य ही है अथवा अनित्य ही है ऐसा उनके आगममें कहा हुआ है. पदार्थ सर्वथा नित्य वा अनित्य सिद्ध नहीं होते हैं. उनका नित्यानित्यपना सिद्ध होता है. जो वस्तुस्वरूप एक प्रमाणसे सिद्ध होता है वही अन्य प्रमाणसे भी सिद्ध हो तो वह वस्तु सातिशय मानी जाती है. और यदि प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध हुवा वस्तु स्वरूप अनुमानादिकोंसे बाधित होता है तो वह वस्तु सातिशय नहीं है. अस्तु. यह जिनप्रतिपादित शब्दश्रुतज्ञान पूर्व कालमें इस जीवने कभी सुना नहीं है.

शंका—भव्य अथवा अभव्य जीवोंके कर्णपथ पर यह शब्द श्रुत आयाही होगा अतः आप इसको अश्रुतपूर्व नहीं कह सकते हैं. इस शंकाका कोई ऐसा समाधान करते हैं.

"जो शब्द सुने उनके अर्थके तरफ ध्यान नहीं दिया अथवा उनका अर्थ ज्ञात नहीं हुआ तो वह अश्रुतपूर्व ही है" यह समाधान भी योग्य नहीं है. शब्दात्मक श्रुत सुनकर उसके अर्थको भी अनेकवार जान लेते हैं तथापि वह अश्रुतपूर्व ही समझना चाहिये. उपर्युक्त शंकाका परिहार इस प्रकार समझना चाहिये–शब्दात्म श्रुत सुनकर उसके अर्थ को भी समझ लिया परंतु उसके ऊपर यदि श्रद्धा नहीं है तो वह सब सुनकर और जान लेने पर भी अश्रुतपूर्व ही समझना चाहिये. इस शब्दश्रुतके अध्ययनसे अपूर्व अर्थोंका ज्ञान होता है. और उत्तरोत्तर संवेग-धर्मश्रद्धा बढनेसे मनमें बडा आनंद उत्पन्न होता है. संवेग शब्दका अर्थ संसारभीरुता ऐसा होता है परंतु उपर्युक्त अर्थ असंबद्ध दिखता है ऐसी शंका भी ठीक नहीं है. जैसे मेरे अंगपर शस्त्रप्रहार होगा इस भयसे वीरपुरुष कवच धारण करता है अर्थात् शस्त्रप्रहारभय यह कवच धारण करनेका हेतु है वैसे संसारभीरुता यह कारण है और उससे उत्पन्न हुई धर्मश्रद्धा कार्य है. यहां आचार्यने संवेग शब्द कार्यरूप धर्मश्रद्धामें रूढ किया है ऐसा समझना चाहिये.

निष्कंपताख्यानायाह—

आयापायविदण्हू दंसणणाणतवसंजमे ठिच्चा ॥
विहरदि विसुज्झमाणो जावज्जीवं दु णिक्कंपो ॥ १०६ ॥

शुद्धया निःकंपनो भूत्वा हेयादेयविचक्षणः ॥
रत्नत्रयात्मके मार्गे यावज्जीवं प्रवर्तते ॥ १०७ ॥

विजयोदया—आयापायविदण्हू वृद्धिहानिक्रमज्ञः। प्रवचनाभ्यासादेवं रत्नत्रयाभिवृद्धिः एवं तथा हानिरिति यो जनाति असौ, दंसणणाणतवसंजमे श्रद्धाने, ज्ञाने, तपसि, संयमे वा। ठिच्चा स्थित्वा। विहरदि प्रवर्तते। विसुज्झमाणो शुद्धिमुपयान्। जावज्जीवं जीवितकालावधि। तु शब्दोऽन्ते नेयः। णिक्कंपो दु विनिष्प्रकंपो निश्चल एवेति यावत्। निःशंकितत्वादिना दर्शनस्य वृद्धिः, शंकादिना हानिः। अर्थव्यंजनतदुभयशुद्धया स्वाध्याये चोपयोगात् ज्ञानवृद्धिः। अनुपयोगादपूर्वार्थाग्रहणाच्च ज्ञानहानिः। तथा चोक्तम्—"पुव्वगहिदं पि णाणं संकुडइ विजुत्तजोगिस्स" इति। तपसो द्वादशविधस्य वृद्धिः संयमभावनया वीर्याविनिगूहनात् ज्ञानोपयोगात्। हानिः पुनस्तद्विपर्ययादैहिककार्यासंगाद्वा। सम्यक् पापक्रियाभ्य उपरमः संयमः। पापक्रियाश्चाशुभमनोवाक्काययोगाः तेन चारित्रं संयमः। 'पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रं' इति वचनात्। तस्य संयमस्य वृद्धिः पंचविंशतिभावनाभिर्हानिः तासां भावनानां अभावेन। श्रुताद्विना ज्ञानादीनां गुणदोषं वा न वेत्ति। अज्ञातगुणः कथं गुणानुपबृंहयेत्। अविदितदोषो वा न तांस्त्यजेत्। तेन शिक्षायामादरः कार्यः।

श्रुताभ्यासाद्दर्शनादिषु निष्कंपतां प्रकाशयति—

मूलारा—आयापायविदण्हू वृद्धिहानिक्रमज्ञः। विहरदि प्रवर्तते अकुवलाद्दर्शनादावेव। विसुज्झमाणो विशुद्धिं गच्छन्। तु णिक्कंपो। तुरेवार्थे भिन्नक्रमः। निश्चल एवेत्यर्थः। तथाहि–निःशंकितत्वादिना दर्शनस्य वृद्धिः शंकादिना हानिः। अर्थव्यंजनतदुभयशुद्धया स्वाध्याये चोपयोगात् ज्ञानस्य वृद्धिरनुपयोगादपूर्वार्थाग्रहणाच्च हानिः। तपसो वृद्धिः संयमभावनया वीर्यविनिगूहनोपयोगाच्च। हानिः पुनस्तद्विपर्ययादैहिककार्यासंगाच्च। संयमस्य वृद्धिर्वाङ्मनोगुप्तीर्यादानेत्यादिनवसूत्र्या निर्दिष्टाभिः प्रतिनियततरभावनाभिस्तदभावे च हानिः।

स्वाध्यायसे निष्कंपता गुणकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन—

अर्थ—स्वाध्याय करनेसे मुनिराजको हानि और वृद्धिका ज्ञान होता है, अर्थात् आगमका अभ्यास करनेसे रत्नत्रयमें वृद्धि कैसी होती है और उसके अभावमें कैसी हानि होती है ऐसा जाननेवाले मुनीश्वर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, चारित्र और तपमें स्थिर होकर आमरण विशुद्ध परिणामको धारण करनेवाले होकर निश्चलरूपसे रत्नत्रयमें विहार करते हैं. सम्यग्दर्शनके निःशंकितत्वादि गुण आगमाभ्यास करनेसे बढते हैं. आगमाभ्यासके अभावमें शंकादिक दोष उत्पन्न होनेसे सम्यग्दर्शनकी हानि होती है. अर्थशुद्धि, व्यंजनशुद्धि, उभयशुद्धि वगैरह ज्ञान

श्रुतज्ञानमें एकाग्रता न होनेसे और अपूर्व जीवादिपदार्थका स्वरूप न जाननेसे सम्यग्ज्ञानकी हानि होती है. ' पुव्वगहिदं पि णाणं संकुडइ णिरुत्तजोगिस्स ' " सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति पूर्वकालमें हो चुकी हो तो भी अभ्यास छोड देनेसे तथा अपूर्व पदार्थोंका ज्ञान कमानेका प्रयत्न न करनेसे वह पूर्व ज्ञान संकुचित होता है " ऐसा आगमवचन है. संयमकी भावनामें तपकी वृद्धि होती है. अपनी शक्ति न छिपाना, ज्ञानाभ्यासमें तत्पर रहना, ऐहिक कार्योंमें अनासक्त रहना यह भी तपोवृद्धिके लिये कारण है. और इसके विरुद्ध प्रवृत्ति करनेसे तपमें हानि होती है. पापक्रियाओंसे विरक्त होना यह संयम है. मन, वचन और शरीर इन तीन योगोंकी अशुभ प्रवृत्तीका त्याग करना चारित्र है ' पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रं ' ऐसा आगमका वचन है. प्रत्येक अहिंसादिव्रतोंकी पांच पांच भावनायें हैं. ऐसी पच्चीस भावनाओंके अभ्याससे चारित्रकी उन्नति होती है. भावनाओंका अभ्यास न करनेसे चारित्र हानिके मार्गका आश्रय करता है. श्रुतका अभ्यास न करनेसे ज्ञानादिकोंके गुण दोषोंका परिज्ञान होता नहीं. गुणोंका ज्ञान न होनेसे मुनि उनको उन्नति शिखर पर नहीं ले जा सकते. दोषोंका ज्ञान न होगा तो उनका वे कैसा त्याग कर सकेंगे. अत एव ज्ञानाभ्यासमें आदर करना चाहिये.

जिनवचनशिक्षा तपः इत्येतदुच्यते—

बारसविहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ॥
ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवो कम्मं ॥ १०७ ॥

तपस्यभ्यन्तरे बाह्ये स्थिते द्वादशधा तपः ॥
स्वाध्यायेन समं नास्ति न भूतं न भविष्यति ॥ १०८ ॥

विजयोदया—बारसविहम्मि य द्वादशप्रकारे । तवे तपसि । सब्भंतरबाहिरे सहाभ्यंतरबाह्याभ्यां वर्तते इति साभ्यंतरबाह्यो । बाह्यमभ्यंतरं वा तपो मुक्त्वा किमन्यत्तपो नाम यत्ताभ्यां सह वर्तते इत्युच्यते ? तपःसामान्यं विशेषैः सह वर्तते इत्युच्यते । अजाद्यदंतत्वात् अभ्यर्हितत्वाच्च अभ्यंतरशब्दस्य पूर्वनिपातोऽल्पस्वरादपि बाह्यशब्दात् । कुसलदिट्ठे संसारः, संसारकारणं, बंधो, बंधकारणं, मोक्षस्तदुपायः इत्यत्र वस्तुनि ये कुशलाः सर्वविदस्तैरुपदिष्टे । सज्झायसमं स्वाध्यायेन सदृशं । तवोकम्मं तपःक्रिया । ण वि अत्थि नैवास्ति । ण वि य नैव । होहिदि भविष्यति । नाप्यासीदिति कालत्रयेऽपि स्वाध्यायसदृशस्यान्यस्य तपसोऽभावः कथ्यते । अत्र चोद्यते—स्वाध्यायोऽपि तपो अनशनाद्यपि तपो बुद्धेरविशेषात् कर्मतपनसा-

मध्यंस्याविशेषात् । किमुच्यते स्वाध्यायसदृशं तपो नेति ? कर्मनिर्जराहेतुत्वातिशयापेक्षया सदृशमन्यत्तपो नैवास्तीत्यभिप्रायः । तपो नाम किमात्मपरिणामो भवेत् वा न ?आत्मपरिणामत्वे कथं कस्यचिद्बाह्यता? अनात्मपरिणामत्वे न निर्जरां कुर्यात् घटादिवदित्यत्रोच्यते —आत्मपरिणाम एव तपः कथं तर्हि बाह्यता ? बाह्याः सद्धर्ममार्गांधे जनाः तैरप्यवगम्यत्वात् बाह्यमित्युच्यतेऽनशनादि । बाह्यैर्वाचरणात् । सन्मार्गज्ञा अभ्यंतराः । तदवगम्यत्वात् घटादिवत्तैराचरितत्वाद्वा बाह्याभ्यंतरमिति सूरेरभिप्रायः ॥

तीर्थोपाचश्रुतस्यैव स्वाध्यायाख्यं तपः स्यादतस्तन्माहात्म्यमाभिधत्ते—

मूलारा—सब्भंतरबाहिरे अभ्यंतराः सन्मार्गज्ञास्तदधिगम्यत्वात्तैरेवाचरितत्वाद्वा प्राधान्येनान्तर्द्रव्याश्रितत्वाद्वा तपोऽभ्यन्तरमुच्यते । बाह्याः सन्मार्गबहिर्भूताः तदवगम्यत्वात्तैरेवाचरितत्वाद्वा प्राधान्येन बाह्यद्रव्याश्रितत्वाद्वा बाह्यं तपः । अभ्यंतरं च बाह्यं च अभ्यंतरबाह्ये सह ताभ्यां वर्तमानं तपः सामान्यापेक्षया तथोक्तम् । कुसलदिट्ठे सर्वज्ञोपदिष्टे । ण वि य । अत्र च शब्दान्नाप्यासीत् इति ग्राह्यम् । सज्झायसमं कर्मनिर्जराहेतुत्वातिशयापेक्षया कालत्रयेऽपि स्वाध्यायेन तुल्यं नान्यत्तपोऽस्तीत्यभिप्रायः ॥ ध्यानस्य तस्मादुत्कृष्टत्वेऽपि तत्पूर्वकत्वादप्राधान्यमत्र विवक्षितं ॥

जिनवचनका शिक्षण लेना यह तप है ऐसा आचार्य कहते हैं.

अर्थ—संसार और उनके कारण, बंध और उसके कारण, मोक्ष और उसके उपाय इनको जाननेवाले गणधरादिक आचार्य बारा प्रकारके बाह्य और अभ्यंतर तपश्चरणोंमें स्वाध्याय नामका तप ही ऐसा है कि जिसके बराबरी करनेवाला दूसरा तप पूर्व कालमें हुआ नहीं और आगे न होगा व संप्रति–वर्तमानकालमें नहीं है ऐसा निरूपण करते हैं. अर्थात् तीनो कालमें भी स्वाध्यायके समान दुसरा तप जगतमें है ही नहीं.

गाथामें ' सब्भंतरबाहिरम्मि ' ऐसा समस्त शब्द है. इसका अर्थ अभ्यंतर व बाह्य तपसे युक्त तप ऐसा होता है. यहां अभ्यंतर तप और बाह्य तप इन दोनोंको छोडकर तिसरा तप है ही, नहीं तो अभ्यंतर और बाह्य तपसे युक्त तप ऐसा अर्थ करना अनुचित है ? इस शंकाका उत्तर—तपरूप सामान्य बाह्य और अभ्यंतर तप ऐसे विशेषोंसे युक्त होनेसे ' सब्भंतरबाहिरम्मि ' यह तपका विशेषण योग्य है.

शंका—स्वाध्याय भी तप है और अनशनादिक भी तप ही है दोनोंमें भी कर्मको संतप्त करनेका सामर्थ्य है अतः स्वाध्यायके समान अन्य तप नहीं है यह कहना क्या उचित है ? उत्तर—स्वाध्याय तप ! करनेसे

जितनी कर्म निर्जरा होती है उतनी अन्य तप करनेसे होती नहीं है अतः अन्य तप इसके समान नहीं है ऐसा कहना क्या अयोग्य है ?

शंका—तप यह आत्माका परिणाम है या नहीं ? यदि तप आत्मपरिणाम रूप है तो कुछ तप अभ्यंतर है और कुछ तप बाह्य है ऐसे भेद मानना अयोग्य है. यदि उनको आत्मपरिणामात्मकता नहीं है तो वे घटादिकके समान बाह्यही मानने चाहिये फिर अन्तरंग तप रहाही नहीं ?

उत्तर—तप यह आत्माका परिणाम है तो तपको बाह्यपना किस रीतसे समझे ? सद्धर्म मार्गसे जो जन अलग हुए हैं अर्थात् जैनधर्म धारण न करनेवाले ऐसे मिथ्यात्वी लोकोंको 'बाह्य' कहते हैं. वे भी जो तपश्चरण करते हैं वह बाह्य तप है. अर्थात् अनशन अवमोदर्य वगैरह तपको बाह्य तप कहते हैं. अथवा बाह्य-गृहस्थ उनके द्वारा जिनका आचरण किया जाता है ऐसे अनशनादि तपको बाह्य कहते हैं. सन्मार्ग मुक्तिमार्ग-रत्नत्रय इसको जाननेवाले मुनि जिसका आचरण करते हैं ऐसे तप 'अभ्यंतर तप' इस शब्दसे कहे जाते हैं. ऐसा आचार्यका अभिप्राय है.

प्रतिज्ञामात्रेण स्वाध्यायस्यान्यतपोभ्योऽतिशयितता न सिद्ध्यतीति मन्यमानं प्रति अतिशयसाधनायाह—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ॥
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥ १०८ ॥
छठ्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही ॥
तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥ १०९ ॥

बह्वीभिर्भवकोटीभिर्यदज्ञानेन हन्यते ।
हंति ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तस्तत्कर्मान्तर्मुहूर्ततः ॥ १०९ ॥
षष्ठाष्टमादिभिः शुद्धिरज्ञानस्यास्ति योगिनः ॥
ज्ञानिनो वल्भमानस्य प्रोक्ता बहुगुणा ततः ॥ ११० ॥

विजयोदया—जं यत्। अण्णाणी सम्यग्ज्ञानरहितः। कम्मं कर्म। खवेदि क्षपयति। भवसदसहस्सकोडीहिं भवशतसहस्रकोटिभिः। तं तत् कर्म। णाणी सम्यग्ज्ञानवान्। तिहिं गुत्तो त्रिगुप्तियुक्त'। खवेदि क्षपयति। अंतोमुहुत्तेण अन्तर्मुहूर्तमात्रेण। झडिति कर्मशातनसामर्थ्यं तपसोऽन्यस्य न विद्यते इत्ययमतिशयः स्वाध्यायस्य॥

अर्थवादमात्रमेतद्भविष्यतीति परो मा मंस्तेति झडिति कर्मशातनशक्तिलक्षणतदतिशयसमर्थनार्थमिदमाह—

मूलारा—अण्णाणी सम्यग्ज्ञानरहितः।

अनशनमात्रतपोयद्धाग्रहस्य प्रबोधनाय ततोऽतिशयितां शक्तिं स्वाध्यायस्य प्रख्यापयन्नाह—

मूलारा—छट्ठेत्यादि—षष्ठं द्वावुपवासौ, अष्टमं त्रयो, दशमं चत्वारो, द्वादशं पंच, उपलक्षणात्पक्षोपवासादयोऽपि। बहुगुणदरिया बहुगुणतरा। होज्ज भवेत्। जिमिदस्स भोजनं कुर्वनः। णाणिस्स स्वाध्यायपरिणतस्य। इमां गाथां टीकाकारो न मन्यते। पूर्वगाथोक्तातिरिक्तस्यार्थस्य अनयानभिधानात्॥

केवल प्रतिज्ञासे स्वाध्यायकी अन्य तपसे विशिष्टता सिद्ध नहीं होती है ऐसे समझनेवालोंके लिये आचार्य स्वाध्याय तपकी महत्ता दिखाते हैं—

अर्थ—सम्यग्ज्ञानसे रहित जीव लक्षावधि कोटि भवोंमें जितने कर्मोंका क्षय करने में समर्थ होता है ज्ञानी जीव तीन गुप्तिओंसे युक्त होकर अन्तर्मुहूर्त मात्र कालमें शीघ्र उतने कर्मोंका क्षय करता है. अभिप्राय यह है कि, स्वाध्याय तपको छोडकर अन्य तपमें शीघ्र कर्मका नाश करनेका सामर्थ्य नहीं है. यह स्वाध्याय तपका अतिशय है. दो, तीन, चार, पांच उपवाससे पक्षोपवास, मासोपवास वगैरह उपवास करनेवाले सम्ज्ञानरहित मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा भोजन करनेवाला, स्वाध्याय तपमें तत्पर ऐसा सम्यग्दृष्टि परिणामोंकी जादा विशुद्धि कर लेता है. तात्पर्य यह है कि, सम्यग्दृष्टि जीवको सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञानका भी साहाय्य मिलनेसे वह यद्यपि थोडासा तपश्चरण करता है तो भी विषयवासनासे रहित होनेसे अपने आत्माको उत्तरोत्तर अधिकाधिक निर्मल परिणामोंसे विशुद्ध करता है. उसका कर्म उत्तरोत्तर असंख्येय गुणित पद्धतीसे निर्जीर्ण होता है. और उसको बंध कम २ होता जाता है. परंतु मिथ्यादृष्टिजीव विषयवासनाके वश होकर तप करता है. श्रद्धा व सम्यग्ज्ञानके आधारपर उसका तप अधिष्ठित नहीं है अतः उसका आत्मा सम्यग्दृष्टीके समान विशुद्ध नहीं होता है.

स्वाध्याये उद्यतो गुप्तिभावनायां प्रवृत्तो भवति तत्र च वृत्तस्य रत्नत्रयाराधनं सुखेन भवति इत्युत्तरगाथया कथयति—

सज्झायभावणाए य भाविदा होंति सव्वगुत्तीओ ॥
गुत्तीहिं भाविदाहिं मरणे आराधओ होदि ॥ ११० ॥

स्वाध्यायेन यतः सर्वा भाविताः सन्ति गुप्तयः ॥
भवत्याराधना मृत्यौ गुप्तीनां भावने सति ॥ १११ ॥

विजयोदया—मनोवाक्कायव्यापाराः कर्मादानहेतवः सर्व एव व्यावर्तंते स्वाध्याये सति, ततो भाविता भवन्ति गुप्तयः । कृताभिमतादियोगत्रयनिरोधश्च रत्नत्रय एव घटते इति सुखसाध्यता । अनंतकालाभ्यस्ताशुभयोगत्रयस्य कर्मोदयसहायव्यावर्तनमतिदुष्करं स्वाध्यायभावनैव क्षमा कर्तुमिति भावः । सज्झायभावणाए य स्वाध्यायभावनया वा । भाविदा भाविताः । होंति भवन्ति । सव्वगुत्तीओ सर्वगुप्तयः । गुत्तीहिं गुप्तिभिः । भाविदाहिं भाविताभिः । मरणे मरणकाले । आराधओ रत्नत्रयपरिणामाराधनपरः । होदि भवति ॥

स्वाध्यायभावनां विना अनादिकालाभ्यस्तमशुभयोगत्रयं कर्मोदयसहायमन्येन केनापि व्यावर्तयितुं न शक्यते इत्युपदेष्टुमाचष्टे—

मूलारा—आराधओ रत्नत्रयाराधनापरः ।

स्वाध्यायमें तत्पर मुनि गुप्ति भावनामें प्रवृत्ति करता है. जब गुप्तिमें वह तत्पर होता है तब उसको रत्नत्रयकी आराधना सुखसे होती है. यही अभिप्राय आगे की गाथा कहती है—

अर्थ—स्वाध्याय करनेसे कर्मको ग्रहण करने वाली मन वचन और शरीरकी सर्व प्रवृत्तियां बंद होजाती हैं. इनके बंद होनेसे गुप्तियोंका अभ्यास मुनि कर सकते हैं. शरीरादिकके द्वारा स्वयं कार्य करना, दूसरोंके द्वारा कराना और स्वयं कार्य करने वालोंको सम्मतिप्रदान करना इन तीन योगोंका निरोध रत्नत्रयकी प्राप्तिसे होजाता है. यह रत्नत्रय स्वाध्यायसे मुनि स्वतःमें प्रगट करते हैं. मन वचन शरीरकी प्रवृत्तियां अर्थात् तीन प्रकारके अशुभ योग और उनको मिलनेवाला कर्मका सहाय्य ये सब स्वाध्यायके बलसे नष्ट होते हैं. अभिप्राय यह है कि, स्वाध्याय से सर्व गुप्तियां मिल जाती हैं. गुप्तियां प्राप्त होनेसे मरणकालमें आत्मा रत्नत्रयका आराधक होता है.

स्वाध्यायभावनारतः परस्योपदेशको भवन् इतरोऽन्यः कमुपकारं परस्य संपादयेदन्यस्य परस्योपदेशकत्वे किमस्यायातमित्यत्राह—

आदपरसमुद्धारो आणा वच्छल्लदीवणा भत्ती।
होदि परदेसगत्ते अव्वोच्छित्ती य तित्थस्स॥ १११ ॥

जिनाज्ञा स्वपरोत्तारा भक्तिर्वात्सल्यवर्द्धनी॥
तीर्थप्रवर्तिका साधोर्ज्ञानतः परदेशना॥ ११२ ॥

इति शिक्षासूत्रम्॥

विजयोदया—आदपरसमुद्धारो आत्मनः परस्य वा उद्धरणमुद्दिश्य व्यापृतः स्वाध्याये स्वकर्माण्यपि साधयति परेषामप्युपयुक्तानां। आणा "श्रेयोर्थिना हि जिनशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेश" इत्याज्ञा सर्वविदां, सा परिपालिता भवतीति शेषः। वच्छल्लदीवणा वात्सल्यप्रभावना परेषामुपदेशकत्वे कृता भवति। भत्ती भक्तिश्च कृता भवति जिनवचने तदभ्यासात्। होदि भवति। परदेसगत्ते परेषामुपदेष्टृकत्वे सति। अव्वोच्छित्ती य अव्युच्छित्तिश्च। तित्थस्स तिसु चिठ्ठदित्ति तित्थं मोक्षमार्गः श्रुतं वा। श्रुतमपि रत्नत्रयनिरूपणे व्यापृतत्वात् तत्रस्थं भवति। ततोऽयं अर्थः-श्रुतस्य मोक्षमार्गस्य वा अव्युच्छित्तिरिति॥ सिक्खा गदा॥

एवं स्वाध्यायभावनाप्रवृत्तया त्रिगुप्तिभावनया मरणकाले सुखप्राप्यामाराधनां प्रदर्श्येदानीं परोपकारोऽपि स्वोपकारकरंचितः स्वाध्यायपरस्य परोपदेशकत्वे सति भवतीत्युपदिशति—

मूलारा—आदपरसमुत्तारो आत्मनः परस्य च संसारदुःखादुद्धरणमपेक्ष्य स्वाध्याये प्रवृत्तः स्वस्येव परेषामप्युपयुक्तानां कर्माणि शातयतीति तात्पर्य। आणा श्रेयोर्थिना जिनशासनवत्सलेन कर्तव्य एव हितोपदेश इति सर्वविदामाज्ञा सा परिपालिता भवतीति शेषः। भत्ती जिनवचनविषयेति शेषः। परदेसगत्ते परेषामुपदेशकत्वे सति। तित्थस्स श्रुतस्य मोक्षमार्गस्य वा॥ शिक्षा। सूत्रतः ३। अंकतः १३॥

स्वाध्याय भावनामें आसक्त मुनि इतरोंको कोनसा उपदेश देता है तथा दूसरोंको उपदेश देनेसे इसको क्या लाभ होता है? इस प्रश्नका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ—स्वाध्याय करनेवाले मुनि परोपदेश देकर आगे लिखे हुए गुणगणोंको प्राप्त कर लेते हैं. परोपदेशक मुनि सामायिकादिक आवश्यक कर्मके द्वारा खुदकी संसारसे मुक्ति कर लेता है और आवश्यकर्ममें तत्पर इतर

मुनिओंको उपदेशदानसे संसारसे छुडाता है. अतः आत्मपरसमुद्धार यह गुण परोपदेशकपनेसे मुनिको मिलता है.

आज्ञागुण—" जिनमतपर प्रीति रखनेवाले मोक्षेच्छु मुनिओंने नियमसे हितोपदेश करना चाहिये " ऐसी श्रीजिनेश्वरकी आज्ञा है उसका पालन धर्मोपदेश देनेसे होता है.

वात्सल्य प्रभावना—परोपदेशसे वात्सल्य और प्रभावना इन गुणोंका लाभ होता है. अर्थात् साधर्मिक बांधवोंपर प्रेम व्यक्त होता है तथा उनका अज्ञानांधकार दूर करनेसे प्रभावना गुण भी प्राप्त होता है.

भक्ति—जिनवचनका अभ्यास करके परोपदेश करनेवाले मुनिका जिनवचनमें अनुराग प्रगट होता है.

अव्युच्छित्ति—' तिसु चिट्ठदित्ति तित्थं ' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंमें रहने वाला जो मोक्षमार्ग उसको त्रिस्थ किंवा तीर्थ कहते हैं. अथवा जिनागम भी तीर्थ है क्योंकि वह भी रत्नत्रयका वर्णन करनेमें तत्पर रहता है. उस को त्रिस्थ अथवा तीर्थ कहते हैं. धर्मोपदेशदानसे श्रुत और मोक्षमार्गकी परंपरा टिक सकती है. शिक्षाका प्रकरण समाप्त हुआ.

लिंगग्रहणानन्तरं ज्ञानसंपत्तिः कार्या, ज्ञानसंपदि वर्तमानेन विनयोऽनुष्ठातव्य. । स च पंचप्रकार इत्याह—

विणओ पुण पंचविहो णिद्दिट्ठो णाणदंसणचरित्ते ॥

तवविणवो य चउत्थो चरिमो उवयारिओ विणओ ॥ ११२ ॥

विनयो दर्शने ज्ञाने चारित्रे तपसि स्थितः ॥

उपचारे च कर्तव्यः पंचधापि मनीषिभिः ॥ ११३ ॥

विजयोदया—विनयत्यपनयति यत्कर्माशुभं तद्विनय. । तथा चोक्तं—" जह्मा विणेदि कम्मं अट्ठविहं चाउरंग मोक्खो य " इति । पुण पश्चात् जिनवचनाभ्यासोत्तरकालं । पंचविहो पंचप्रकार. । णिद्दिट्ठो निर्दिष्टः । णाणदंसणचरित्ते विषयलक्षणेयं सप्तमी । ज्ञानदर्शनचारित्रविषय. ॥ तवविणओ य तपसि विनयश्च ॥ चउत्थो चतुर्थ. । चरमो अन्त्यः ॥ उवयारिओ विणयो उपचारविनयश्चेति ॥

अर्हेण लिंगमादाय समभ्यस्तश्रुतेन तत्फलभूतो मोक्षांगतया विनयोऽनुष्ठेयः इति तत्प्रपंचार्थं गाथात्रयोविंशति- गादिशति ॥ तत्र तावन्निरुक्तिगम्यं विनयस्य सामान्यलक्षणं विषयभेदात्तद्भेदांश्च निर्देष्टुमाह— .

मूलारा—विणओ—अशुभकर्माणि विनयत्यपनयतीति विनयः । इति निरुक्तिगम्यमपि तल्लक्षणं श्लोकेनोच्यते—

हिताहितातिलुप्त्यर्थं तदंगानां सदांजसा ॥
यो माहात्म्योद्भवे यत्नः स मतो विनयः सताम् ॥

पुण शिक्षानंतरम् ।

लिंगधारण करनेपर ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये. ज्ञानसंपत्ति धारण करनेवालोंने विनय अवश्य करना चाहिये. वह विनय पांच प्रकारका है—

अर्थ—' विनयत्यपनयति यत्कर्म अशुभं तद्विनयः ' जो अशुभ कर्मको विनयति अर्थात् दूर करता है, नष्ट करता है ऐसे कर्तव्यको विनय कहते हैं. आगममें विनयके विषयमें ऐसा कहा है. ' जह्मा विणेदि कम्मं अट्ठविहं चाउरंग मोक्खो य' अर्थात् जो आठ प्रकारके ज्ञानावरणादि कर्मोंका नाश करता है और मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद और योग जिसके कारण है ऐसे संसारसे जो आत्माको छुडाता है वह विनय है.

विनयकी निरुक्ति आचार्योंने इस तरहसे कही है. इस विनयके पांच प्रकार हैं ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तपोविनय और उपचारविनय.

ज्ञानभेदानाचष्टे—काले स्वाध्यायवाचनकालाविह कालशब्देन गृह्येते । अन्यथा कालमन्तरेण कस्यचिदपि वृत्त्यभावात् कालग्रहणमनर्थकं स्यात् । भवतु नाम कालविशेषः कालशब्दवाच्यः तथापि नासौ विनयो न कर्म व्यपनयतीति, यदि व्यपनयेत्सर्वस्याकर्मवत्ता प्राप्नुयात्—

काले विणये उवधाणे बहुमाणे तहे व णिण्हवणे ॥
वंजण अत्थ तदुभये विणओ णाणम्मि अट्ठविहो ॥ ११३ ॥

ज्ञानीयो विनयः काले विनयेऽवग्रहे मतः ॥
बहुमानेऽनपह्नुत्यां व्यंजनेऽर्थे द्वयेऽष्टधा ॥ ११४ ॥

विजयोदया—काले इति सप्तम्यंतं पदं । तेन वाक्यशेषपुरस्सरोऽयं सूत्रार्थो ज्ञायते । साध्याहारत्वात् सर्वसूत्राणां । काले अध्ययनमिति । परिवर्जनीयत्वेन निर्दिष्टं कालं संध्यापर्वदिग्दाहोल्कापातादिकं परिहृत्याध्ययनं कर्म विनयति इति । विणए इति प्रथमान्तः विनयः श्रुतश्रुतधरमाहात्म्यस्तवन श्रुतश्रुतधरभक्तिरिति यावत् ।

उग्गहाणे थयग्रहः। यावदिदमनुयोगद्वारं निष्ठामुपैति तावदिदं मया न भोक्तव्यं, इदं अनशनं चतुर्थषष्ठादिकं करिष्यामीति संकल्पः। स च कर्म व्यपनयतीति विनयः।

बहुमाणे सन्मानं। शुचेः कृतांजलिपुटस्य अनाक्षिप्तमनसः सादरमध्ययनं। तच्च तथा।

अणिण्हवणे अनिह्नवश्च निह्नवोऽपलापः। कस्यचित्सकाशे श्रुतमधीत्यान्यो गुरुरित्यभिधानमपलापः।

वंजण अत्थ तदुभये व्यंजनं शब्दप्रकाशनं। अर्थः शब्दवाच्यः, तदुभयशब्देन व्यंजनमर्थश्च निर्दिश्यते। वंजण अत्थतदुभये व्यंजनं च अर्थश्च तदुभयं चेति द्वंद्वे कृते सर्वो द्वंद्वो विभाषया एकवद्भवतीति एकवद्भावाधर्मस्य एकवचनं कृतं। अर्थशब्दस्य अजाद्यदंतत्वादल्पाच्तरत्वाच्च पूर्वनिपातप्रसंग इति चेन्न, सर्वतोऽभ्यर्हितं पूर्वं निपतति इति व्यंजनशब्दः पूर्वं प्रयुज्यते। कथमभ्यर्हितं ? स्वयं परप्रत्ययहेतुत्वात्स्वयं च शब्दश्रुतादेवार्थयाथात्म्यमवैति परं चावबोधयति। अत्र च वंजणअत्थतदुभये सुद्धी इति शेषः।

तत्र व्यंजनशुद्धिर्नाम यथा गणधरादिभिर्द्वात्रिंशद्दोषवर्जितानि सूत्राणि कृतानि तेषां तथैव पाठः। शब्दश्रुतस्यापि व्यज्यते ज्ञाप्यते अनेनेति ग्रहे ज्ञानशब्देन गृहीतत्वात् तन्मूलं हि श्रुतज्ञानं।

अथ अर्थशब्देन किमुच्यते ? व्यंजनशब्दस्य सांनिध्यादर्थशब्दः शब्दाभिधेये वर्तते, तेन सूत्रार्थोऽर्थ इति गृह्यते। तस्य का शुद्धिः ? विपरीतरूपेण सूत्रार्थनिरूपणायां अर्थाधारत्वान्निरूपणा या अवैपरीत्यस्य अर्थशुद्धिरित्युच्यते। सूत्रार्थनिरूपणायाः शब्दश्रुतत्वादविपरीतनिरूपणापि व्यंजनशुद्धिरेव भवतीति नार्थशुद्धिः कदाचिदिति चेत्, न परकृत शब्दश्रुताविपरीतपाठे व्यंजनशुद्धिस्तदर्थनिरूपणाया अवैपरीत्यं अर्थशुद्धिः। प्रत्ययश्रुते तु अर्थयाथात्म्यप्रतिभासोऽर्थशुद्धिः॥

तदुभयशुद्धिर्नाम तस्य व्यंजनस्य अर्थस्य च शुद्धिः।

ननु व्यंजनार्थशुद्ध्योः प्रतिपादितयोः तदुभयशुद्धिर्गृहीता न तद्व्यतिरेकेण तदुभयशुद्धिर्नामास्ति ततः कथमष्टविधता ? अत्रोच्यते पुरुषभेदापेक्षयेयं निरूपणा—

कश्चिदविपरीतं सूत्रार्थं व्याचष्टे सूत्रं तु विपरीतं। तत्तथा न कार्यमिति व्यंजनशुद्धिरुक्ता। अन्यस्तु सूत्रमविपरीतं पठन्नपि निरूपयत्यन्यथा सूत्रार्थं इति तन्निराकृतयेऽर्थशुद्धिरुदाहृता। अपरस्तु सूत्रं विपरीतमधीते सूत्रार्थं च कथयितुकामो विपरीतं व्याचष्टे तदुभयापाकृतये उभयशुद्धिरुपन्यस्ता। अयमत्रप्रकारो ज्ञानाभ्यासपरिकरोऽष्टविधं कर्म विनयति व्यपनयति विनयशब्दवाच्यो भवतीति सूरेरभिप्रायः।

यदि ज्ञानादिभेदात्पंचधा विनयस्तर्हि ज्ञानविनयः कतिधेति प्रश्ने सत्याह—

मूलारा—काले संध्यापर्वदिग्दाहोल्कापातादेः सूत्रेतिनिषिद्धादन्यत्र यथोक्ते काले अध्ययनं कालविनय इति २६१

व्याख्येयं सोपस्कारत्वात्सूत्राणां।

विणए प्रथमांतोऽपरेऽपि च श्रुतश्रुतधरभक्तिरित्यर्थः।

ज्वहाणे अवग्रहविशेषः यावदिदमनुयोगद्वारं समाप्यते तावदिदं मया न भोक्तव्यमिदं वानशनादिकं करिष्यामीति संकल्पः। बहुमाणे शुचेः कृतांजलिपुटस्याव्याक्षिप्तचित्तस्य सादरमध्ययनं। अणिण्हवणे अन्यतः श्रुतमधीत्यान्यस्य गुरोः कथनं निह्नवनं गुरोरपलापस्तद्विपर्ययः। पंचमो विनयः। वंजणअत्थतदुभये सुद्धी इत्यध्याहार्यं। तेन व्यंजनशुद्धिरर्थशुद्धिः शब्दार्थोभयशुद्धिरित्यमी त्रयो ज्ञानभेदाः। तत्र व्यंजनशुद्धिर्यथोक्तसूत्रपठनं। अर्थशुद्धिः सम्यक्सूत्रार्थनिरूपणा। तदुभयशुद्धिर्यथोक्तं सूत्रं पठतः सम्यक्तदर्थप्रतिपादनं। कश्चिद्धि सूत्रं विपर्यस्यति तदर्थं तु सम्यग्व्याचष्टे। अन्यस्तु सूत्रं सम्यगधीयानोऽपि तदर्थमन्यथा कथयति। अपरः पुनः सूत्रमर्थं च विपर्यस्यतीति पुरुषभेदापेक्षया तत्त्रयपरिहारेण ज्ञानविनयभेदत्रयमुपपद्यते। अट्ठविहो.अयमष्टप्रकारो ज्ञानाभ्यासपरिकरो 'जह्मा विणेदि कम्मं अट्ठविहं तेण विणओ सो' इति वचनादष्टविधं कर्म विनयतीति विनयो ज्ञानविषय इति सूरेरभिप्रायः।

ज्ञानविनयके भेद कहते हैं—

अर्थ—काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, व्यंजन, अर्थ, तदुभय ऐसे ज्ञानविनयके आठ भेद हैं. कालविनय—यहां कालशब्दसे स्वाध्यायकाल यह अर्थ समझना चाहिये. अन्यथा कालके विना कोई भी पदार्थ अपना अस्तित्व रखनेमें असमर्थ है अतः काल शब्दके ग्रहणको वैयर्थ्य आवेगा. कारण काल तो हमेशा ही रहता है उसका उल्लेख करनेकी कुछ भी जरूरत नहीं थी अतः काल शब्दसे स्वाध्यायकालका अर्थात् कालविशेषका यहां ग्रहण किया है.

शंका—कालशब्दसे विशिष्ट कालका ग्रहण करे तो भी कुछ हर्ज नहीं है. परंतु उसको विनय क्यों कहना चाहिये ? क्योंकि वह अशुभ कर्मको दूर नहीं करता है. यदि वह अशुभ कर्मको दूर करेगा तो सर्व प्राणी मात्र कर्मरहित हो जावेंगे.

उत्तर – यहां काल शब्द सप्तम्यंत समझना चाहिये तथा उसके आगे 'अध्ययन' यह शब्द जोड देना चाहिये. सर्व सूत्र संक्षेपमें रचे जाते हैं अतः उपरसे भी कुछ शब्द जोडने पडते हैं. 'काले' इसका मतलब 'काले अध्ययनं' ऐसा समझना चाहिये. संध्याकाल, पर्वकाल, दिशादाह, उल्कापात इत्यादि वर्जनीय कालका परिहार करके अन्य कालमें यदि स्वाध्याय, व्याख्यान, पठन, भजनादिक करनेसे अशुभ कर्म नष्ट होता है.

विनय—श्रुतज्ञान और श्रुतधर अर्थात् श्रुतकेवली इनके माहात्म्यका स्तवन करना. अर्थात् श्रुतभक्ति पढना चाहिये.

उपधान—विशेष नियम धारण करना. जबतक यह अनुयोगका प्रकरण समाप्त होगा तबतक मैं उपवास करूंगा अथवा दो उपवास करूंगा इस तरहसे संकल्प करना यह विनय अशुभ कर्मको दूर करता है.

बहुमानविनय—पवित्रतासे, हाथ जोडकर, मनको एकाग्र करके बडे आदरसे अध्ययन करना.

अनिह्नव—अपलाप करना निह्नव है. एक आचार्यके पास अध्ययन करके अन्य आचार्यका नाम लेना यह निह्नव है ऐसे दोषका त्याग करना अनिह्नवविनय है.

व्यंजन, अर्थ, तदुभय विनय—शब्दको व्यंजन कहते हैं. शब्दका जो वाच्य वह अर्थ है. जैसे मनुष्य शब्दका वाच्य आदमी ऐसा होता है. शब्द और उसके अर्थको तदुभय कहते हैं. गाथामें वंजण, अत्थ, तदुभय इन शब्दोंमें द्वंद्वसमास किया है. सर्व द्वंद्वसमास विभाषासे एकवचनयुक्त होता है इस व्याकरणके नियमानुसार 'वंजण अत्थ तदुभये' इस समासमें एकवचन किया है.

शंका—यहां अर्थ शब्द स्वरादि व अल्पस्वर युक्त होनेसे वंजण इस शब्दके पूर्व उसका निवेश होना चाहिये. इस शंकाका उत्तर ऐसा है–'सर्वतोऽभ्यर्हितं पूर्वं निपतति' इस परिभाषासे वंजण–शब्द अभ्यर्हित अर्थात् महत्त्वयुक्त होनेसे वही अर्थशब्दके पूर्वमें प्रयुक्त किया है. व्यंजनको अर्थात् शब्दको महत्त्व–प्राधान्य क्यों है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि शब्दके द्वारा हम दूसरोंको समझा सकते हैं और स्वयं शब्दश्रुतादिके सहारेसे पदार्थका यथार्थ स्वरूप जान लेते हैं.

व्यंजनशुद्धि—गणधरादि आचार्योंने बत्तीस दोषोंसे रहित सूत्रोंका निर्माण किया है उनको दोष रहित पढना व्यंजन शुद्धि है. शब्दोंको कोई भी ज्ञान नहीं कहते है अतः शब्दोंकी शुद्धि ज्ञानविनयमें कैसी अन्तर्भूत कर सकोगे ऐसी शंका यहां उपस्थित होती है. इसका उत्तर इस मुजब है—शब्दके द्वारा ही हम वस्तुको जान लेते हैं. ज्ञानोत्पत्तिके लिये शब्द कारण हैं. समस्त श्रुतज्ञान शब्दके भित्तीपर ही खडा हुवा है अतः शब्दोंको 'ज्ञायतेऽनेन' इस विग्रहसे ज्ञान कह सकते हैं.

अर्थशुद्धि—अर्थशब्दसे हम क्या समझे ? अर्थशब्द व्यंजनशब्दके समीप होनेसे शब्दोंका उच्चार

होनेपर मनमें जो अभिप्राय उत्पन्न होता है वह अर्थशब्दका भाव है. अर्थात् गणधरादिरचित सूत्रोंके अर्थको यहां अर्थ समझना चाहिये. अर्थशुद्धिका अर्थ इस मुजब समझना—विपरीतरूपसे सूत्रार्थके निरूपणामें अर्थ ही आधार भूत है अतः ऐसी निरूपणा अर्थशुद्धि नही है. किंतु यथार्थरूपसे जो सूत्रार्थका विवेचन होता है वही अर्थ शुद्धि हैं संशय, विपर्यय अनध्यवसायादि दोषोंसे रहित सूत्रार्थनिरूपणको अर्थशुद्धि कहते हैं.

शंका—सूत्रार्थनिरूपण भी शब्द श्रुत है इसलिये अविपरीतनिरूपण भी व्यंजनशुद्धि ही है. उसको अर्थशुद्धि समझना भूल हैं. इस शंकाका उत्तर—

शब्द श्रुतके वाक्योंका जो अविपरीत उच्चार किया जाता है वह व्यंजनशुद्धि है. और उन वाक्योंका जो अविपरीत रूपसे अर्थ समझाया जाता है वह अर्थशुद्धि है अर्थात् वाक्योंके शब्दोंका स्पष्ट उच्चारं, दीर्घ-ह्रस्वादि-कको ध्यानमें लाकर जो उच्चारण किया जाता है वह व्यंजनशुद्धि है. और उनका अभिप्राय बतानेके लिये जो अविपरीत शब्दोच्चार किया जाता है वह अर्थशुद्धि है.

ज्ञानश्रुतमें जो अर्थकी सत्यताका अनुभव आता है वही अर्थशुद्धि है.

तदुभयशुद्धि—व्यंजनकी शुद्धि और उसके वाच्य अभिप्रायकी जो शुद्धि है वह उभयशुद्धि है. शंका—उपर व्यंजनशुद्धि और अर्थशुद्धि इन दोनोंका स्वरूप आप कह चुके हैं उनमें ही इसका भी अन्तर्भाव हो सकता है. इन दोनोंको छोडकर तदुभय शुद्धि नामकी तीसरी शुद्धि है नहीं. अतः ज्ञानविनयके आठ प्रकार सिद्ध नहीं होते हैं.

उत्तर—यहां पुरुषभेदोंकी अपेक्षासे निरूपण किया है

खुलासा—जैसे कोई पुरुष सूत्रका अर्थ तो ठीक कहता है परंतु सूत्रको विपरीत पढता है ठीक पढता नहीं. दीर्घोचारके स्थानमें ह्रस्वोच्चार इत्यादि दोषयुक्त बोलता है ऐसा दोषयुक्त पढना नहीं चाहिये इस वास्ते व्यंजन-शुद्धि कही है. दूसरा कोई पुरुष सूत्रको ठीक पढलेता है. परंतु सूत्रार्थ का विपरीत निरूपण करता है यह भी योग्य नहीं है इसका निराकरण करनेके लिये अर्थशुद्धि कही है. तीसरा अदमी सूत्रभी विपरीत पढता है और उसका अर्थ भी अंटसंट कहता है. इन दोनो दोषोंको दूर करनेके लिये तदुभयशुद्धिको भिन्न मानना चाहिये. ज्ञानाभ्यासके ये आठ प्रकार आठ प्रकारके कर्मोंको आत्मासे दूर करते हैं इसलिये इनको विनयशब्दसे संबोधन करना सार्थक है ऐसा आचार्योंका अभिप्राय है.

दर्शनविनयसूचनपरोत्तरगाथा—

उवगूहणादिया पुव्वुत्ता तह भत्तियादिया य गुणा ॥
संकादिवज्जणं पि य णेओ सम्मत्तविणओ सो ॥ ११४ ॥
उपबृंहादितात्पर्यं भक्त्यादिकरणोद्यमः ॥
सम्यक्त्वविनयो ज्ञेयः शङ्कादीनां च वर्जनम् ॥ ११५ ॥

विजयोदया—उवगूहणादिगा उपबृंहणादिकाः । उपबृंहणं, स्थितिकरणं, वात्सल्यं, प्रभावना चेत्येते । पुव्वुत्ता पूर्वाचार्यैरुक्ताः पूर्वोक्ताः। अस्मात् सूत्रात्पूर्वेण च सूत्रेण " उवगूहणठिदिकरणं वच्छल्लपभावणा भणिदा " इत्यनेनोक्ताः पूर्वमुक्ताः । पूर्वोक्तो वा सम्मत्तविणओ सम्यक्त्वविनय इति संबंधनीयं । तध भत्तियादिगा य गुणा तथा भक्त्यादिकाश्च गुणाः विनयस्तथा ते तत्प्रकारेण अवस्थिताः इति । अर्हदादिविषया भक्त्यादिगुणा इति यावत् । संकादिवज्जणं पि य शंकादिवर्जनं च । चशब्दः पादपूरणः। णेओ ज्ञेयः ॥ सम्मत्तविणओ सम्यक्त्वविनय इति ॥ उपबृंहणादीनां भक्त्यादीनां च गुणानां बहुत्वात् तेषामेव च विनयत्वात् समत्तविणया इति वाच्यमिति चेत्, विनयसामान्यापेक्षया तस्यैकत्वादेकवचनेन पदसंस्कारः कृतो न निवर्तते । न च पदांतरवाच्यापेक्षया बहुत्वमस्तीत्येतावता अप्रतिपदिका स्युत्पद्यते । तथा च प्रयोगः वृक्ष एव वनमिति ॥

सम्यक्त्वविनयं निर्दिशति—

मूलाराधना—स्पष्टम् ।

दर्शनविनयकी सूचना करनेवाली गाथा—

अर्थ—उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ऐसे सम्यग्दर्शनके चार गुण पूर्वाचार्योंने कहे हैं तथा इस ग्रंथके कर्ताने भी पीछे ' उवगूहणठिदिकरणं वच्छल्ल पभावणा गुणा भणिदा ' इस गाथामें इनका वर्णन किया है. अर्हदादिकी भक्ति, पूजा, वर्णजनन वगैरह गुणोंका भी वर्णन पीछे विशदतया किया है इन सबोंको दर्शनविनय कहते हैं. शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परदृष्टिप्रशंसा व अनायतनसेवन ऐसे सम्यग्दर्शनके पांच दोष हैं इनका त्याग करना यह भी दर्शनविनय है.

शंका—उपगूहनादिगुण, भक्त्यादिगुण इनकी संख्या बहुत है और ये ही दर्शनविनयके स्वरूप है अतः गाथामें ' सम्मत्तविणओ ' ऐसा एकवचनका प्रयोग अयोग्य है. ' सम्मत्तविणया ' ऐसा बहुवचनमें प्रयोग होना चाहिये.

उत्तर—विनयसामान्यकी अपेक्षासे सम्यक्त्वविनयको एक समझकर 'समत्तविणओ' यह एकवचनमें प्रयोग किया है. अतः एकवचनरूप किया हुवा पदसंस्कार अत्र बदलता नहीं है.

चारित्रविनयनिरूपणाय गाथा—

इंदियकसायपणिधाणं पि य गुत्तीओ चेव समिदीओ ॥
एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायव्वो ॥ ११५ ॥

कुर्वतः समितीर्गुप्तीः प्रणिधानस्य वर्जनम् ॥
चारित्रविनयः साधोर्जायते सिद्धिसाधकः ॥ ११६ ॥

विजयोदया—इंदियकसायपणिधाणं पि य । इंद्र आत्मा तस्य लिंगमिंद्रियं । यत्करणं तत्कर्तृमद्यथा—परशुः । करणं च चक्षुरादिकं । तेनास्य कर्ता केनचिद्भाव्यमिति । तच्च द्विविधं द्रव्येंद्रियं भावेन्द्रियमिति । तत्र द्रव्येन्द्रियं नाम निर्वृत्युपकरणे मसूरिकादिसंस्थानो यः शरीरावयवः कर्मणा निर्वर्त्यते इति निर्वृतिः । उपक्रियतेऽनुगृह्यते ज्ञानसाधनमिंद्रियमनेनेत्युपकरणं अक्षिपत्रशुक्लकृष्णतारकादिकं । भावेंद्रियं नाम ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषोपलब्धिः, द्रव्येंद्रियनिमित्तरूपाद्युपलब्धिश्च । इह इंद्रियशब्देन मनोज्ञरूपादिसान्निध्येन रागकोपानुगरूपादिनिर्भासाः प्रतीतयो गृहीताः । कषंति हिंसंति आत्मक्षेत्रमिति कषायाः । अथवा तरूणां वाल्कलरसः कषायः, कषाय इव कषाय इत्युपमाद्वारेण क्रोधादौ वर्तते कषायशब्द उपमार्थः । यथा कषायो वस्त्रादेः शौक्ल्यशुद्धिमपनयति, निराकर्तुं चाशक्यस्तद्वदात्मनो ज्ञानदर्शनशुद्धिं विनाशयति, आत्मावलग्नश्च दुःखेनापोह्यते इति । यथा वा पटादेः स्थैर्यं करोति कषायस्तद्वदेव कर्मणां स्थितिप्रकर्षमात्मनि निबध्नाति क्रोधादिः । इन्द्रियाणि च कषायाश्च इन्द्रियकषायाः । इन्द्रियकषाययोः अप्रणिधानं अनाक्षेपः आत्मनो व्यावर्णितेंद्रियकषायापरिणतिः । गुत्ती चेव गुप्तयश्च संसारकारणादात्मनो गोपनं गुप्तिः ।

संसारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपरिवर्तनस्य कारणं कर्म ज्ञानावरणादि तस्मात्संसारकारणादात्मनो गोपनं रक्षा गुप्तिरित्याख्यायते । भावे क्तिः, अपादानसाधनो वा, यतो गोपनं सा गुप्तिः । गोपयतीति कर्तृसाधनो वा क्तिन् । शब्दार्थव्यवस्थेयम् । किं स्वरूपं तस्या इति चेत् । सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः । कायवाङ्मनःकर्मणां प्राकाम्याभावो निग्रहः, यथेष्टचारिताभावो गुप्तिः । सम्यगिति विशेषणात्पूजापुरस्सरां क्रियां संयतो मद्दानयमिति यशश्चानपेक्ष्य पारलौकिकमिंद्रियसुखं वा क्रियमाणा गुप्तिरिति कथ्यते । इति सूत्यो व्यवस्थिताः । रागकोपाभ्यां अनुपप्लुता नोइंद्रियमतिः मनोगुप्तिरिति ब्रूमहे । एवं चायं वक्ष्यति सूत्रकारो 'जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ति' मिति । अनृतपरुषकर्कशमिथ्यात्वासंयमनिमित्तवचनानां अवक्तृता वाग्गुप्तिः । अप्रमत्ततया यदप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितभूभागेऽचंक्रमणं, द्रव्यांतरादाननिक्षेपशयनासनक्रियाणां अकरणं कायगुप्तिः कायोत्सर्गो वा ।

समिदीओ समितयः। प्राणिपीडापरिहारादरवतः सम्यगयनं प्रवृत्तिः समितिः । सम्यग्विशेषणाज्जीवनिकायस्वरूपज्ञानश्रद्धानपुरस्सरा प्रवृत्तिर्गृहीता। ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः पंचसमितयः । "ईर्यादिसमितीनां वाक्कायगुप्तिभ्यां अविशेषस्ततो भेदेनोपादानमनर्थकं, प्राणिपीडाकारिण्याः कायक्रियाया निवृत्तिः कायगुप्तिः, ईर्यादिसमितयश्च तथाभूतकायक्रियानिवृत्तिरूपाः" अत्रोच्यते—निवृत्तिरूपा गुप्तयः प्रवृत्तिरूपाः समितयः इति भेदः विशिष्टा गमनभाषणाभ्यवहरणग्रहणनिक्षेपणोत्सर्गक्रियाः समितय इति उच्यन्ते । एसो एषः । चरित्तविणओ चारित्रविनयः । समासदो संक्षेपतः । णादव्वो ज्ञातव्यः । होदि भवति ।

इंद्रियकषायाप्रणिधानं मनोगुप्तिरेव किमर्थं पृथगुच्यते ? सत्यम्। वाक्कायगुप्त्योरेव गुत्तीओ इत्यनेन परिग्रहः। अथवा रागद्वेषमिथ्यात्वाद्यशुभपरिणामविरहो मनोगुप्तिः सामान्यभूता। इंद्रियकषायाप्रणिधानं तद्विशेषः। सामान्यविशेषयोश्च कथंचिद्भेदान्न पौनरुक्त्यं । मनोगुप्तावन्तर्भूतस्यापि इंद्रियकषायाप्रणिधानस्य भेदेनोपादानं चारित्रार्थिनोऽवश्यं परिहार्यत्वख्यापनार्थं वा।

ननु त्रयोदशविधं चारित्रं पंच महाव्रतानि, पंच समितयः, तिस्रो गुप्तयः इति । ततः समितीनां गुप्तीनां चारित्रत्वे चारित्रविनय इति कथं भेदेनाभिधानं ? व्रतान्येवात्र चारित्रशब्देनोच्यंते। तेषां परिकरत्वेनावस्थिताः गुप्तयः समितयश्चेति सूत्रकारस्याभिप्रायः। तथा चोक्तमन्यैः 'कर्मादाननिमित्तक्रियाभ्यश्च विरतिः अहिंसादिभेदेन पंचप्रकारा गुप्तिसमितिविस्तारसंक्षेपो भवति। कश्चारित्रविनयस्तस्य इति चेत् पंचविंशतिभावनाः । 'तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंचेति' निरूपिताः ॥

चारित्रविनयं निरूपयति—

मूलाराधना—इंद्रियकसायपणिधाणं इह इंद्रियशब्देन मनोज्ञामनोज्ञरूपादिसन्निध्ये रागद्वेषानुगतरूपादिनिर्भासाः प्रतीतयो गृहीताः । कषायाश्च भावक्रोधादयः तेष्वप्रणिधानमपरिणतिरात्मन इंद्रियकषायाप्रणिधानं। कसायपणिधानमित्यत्र शकंध्वादित्वात्पररूपं। अन्ये तु प्रणिधानशब्देनात्र निरोधं व्याचक्षते। इंद्रियकषायनिरोध इत्यर्थः। तस्य च मनोगुप्तावन्तर्भूतस्यापि भेदेनोपादानं चारित्रार्थिनोऽवश्यकार्यत्वख्यापनार्थं। चारित्रशब्देन चात्र व्रतान्येवेष्टानि तेषां च परिकरत्वेनावस्थिता गुप्तयःसमितयश्चेति सर्वं सुस्थम्। अन्यैस्तु पंचविंशतिभावनाश्चारित्रविनय उक्तः ॥

चारित्रविनयनिरूपण करनेके लिये आचार्य आगेकी गाथा कहते हैं—

अर्थ– आत्माको इंद्र कहते हैं. इस इंद्रका जो चिह्न अर्थात् आत्माका स्वरूप पहिचाननेका जो साधन वह इंद्रिय है. यह इंद्रिय करण है. जो जो करण होता है वह कर्तासे युक्त रहता है. क्योंकि कर्ताको क्रिया करने में जिससे साहाय्य मिलता है वह करण है. इस करणके विना कर्ता क्रिया नहीं कर सकता है. जैसे देवदत्त जब

लकडी तोडता है तब वह कुल्हाडीका साहाय्य लेता है. बिना कुल्हाडीके वह लकडी नहीं काट सकता है. इसलिये जैसे देवदत्त कर्ता और कुल्हाडी करण है वैसे आत्मा कर्ता है क्योंकि वह पदार्थोंको जाननेकी क्रिया करता है और इंद्रियां पदार्थ जाननेमें आत्माको साहाय्य करती हैं इसलिये वे करण हैं. यहां इंद्रियोंके द्रव्यइंद्रिय और भाव इंद्रिय ऐसे दो भेद कहे हैं.

द्रव्येन्द्रिय—मसूर, यवनाल, खुरपा इत्यादि पदार्थोंके आकारके समान नेत्र, कर्ण, जीभ वगैरे द्रव्येन्द्रियोंका आकार है. ये निर्वृत्ति और उपकरणसे युक्त रहती हैं. और ये शरीरके अवयवरूप मानी गयी हैं. तात्पर्य यह है कि, आत्माके प्रदेश इन्द्रियाकार हो जाना यह अभ्यंतरनिवृत्ति है. और उसके ऊपर पुद्गलोंकी जो इन्द्रियाकार रचना होती है वह बाह्यनिवृत्ति है. निवृत्तिओंका जिससे रक्षण होता है वह उपकरण है. उसके भी दो भेद हैं. बाह्य उपकरण व अभ्यंतर उपकरण. जैसे नेत्रमें तारका, काला और सफेत जो भाग है वह अभ्यंतर उपकरण है. अक्षिपत्र–पापनी, भोंहें वगैरह बाह्योपकरण है. ज्ञानके साधनभूत इंद्रियोंको जो सहायप्रदान करते हैं उसको उपकरण कहते हैं. यह द्रव्येन्द्रियका स्वरूप है.

भावेन्द्रिय—आत्मामें ज्ञानावरण कर्मका जो विशिष्ट क्षयोपशम प्रगट हुआ है वह तथा द्रव्येन्द्रियके सहारेसे रूपादिकोंका जो ज्ञान होता है वह भावेंद्रिय है.

यहां मनचाहे रूपादि पदार्थोंका सान्निध्य होनेसे जो रागद्वेषसहित ज्ञान होता है वह इंद्रियशब्दका अर्थ है.

कषाय—' कषन्ति हिंसंति आत्मक्षेत्रं इति कषायाः ' जो आत्माका घात करते हैं वे कषाय हैं. क्रोधादिक विकार आत्माका अहित करते हैं अतः उनको कषाय कहते हैं. अथवा वृक्षोंकी छालीसे जो रस निकलता है उसको कषाय कहते हैं. वह चिक्कण होनेसे वस्त्रमें लगनेपर निकलता नहीं है. उपर्युक्त उपमाके द्वारा क्रोधादिकोंको भी कषाय कहते हैं.

जैसे कषायरस वस्त्रको लगनेपर उसका सफेतपना, स्वच्छता नष्ट होते हैं और वह रस भी वस्त्रसे निकालना अशक्य है. वैसे क्रोधादिकषाय भी आत्माके ज्ञान और दर्शनगुणकी निर्मलताको नष्ट करते हैं. और इन कषायोंका आत्माके साथ संबंध होनेपर वहांसे बडे कष्टसे दूर होसकते हैं. जैसे कषायरससे वस्त्रादिकोंमें दृढता

आती है. वैसे ये क्रोधादि कषाय आत्मामें ज्ञानावरणादि कर्मको स्थिर करते हैं. अर्थात् कषायसे ही कर्मकी कालस्थिति बढती है. ऐसे कषाय और इंद्रियोंमें मनकी एकाग्रता न होने देना चाहिये अर्थात् इंद्रियोंके विषयमें प्रवृत्ति होनेसे आत्मामें राग द्वेष उत्पन्न होजाते हैं. वे न होने देवें. रागद्वेषरूप परिणति आत्मामें न होना यह इंद्रिया प्रणिधान है. और कषायवश न होकर आत्माकी ज्ञानशुद्धि और दर्शन शुद्धि कायम रखना यह कषायाप्रणिधान है.

गुप्ति—संसारके कारणोंसे आत्माका रक्षण करना यह गुप्ति है. द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भावपरिवर्तन और भवपरिवर्तन ऐसे संसारके पांच भेद हैं (इसका आगे ग्रंथकार वर्णन करेंगे.) ज्ञानावरणादि कर्म समूह संसारका कारण है. इससे आत्माका रक्षण करना यह गुप्ति है. ' संसारकारणादात्मनो गोपनं गुप्तिः ' यह गुप्तिका लक्षण है. ' भावे क्तिः ' इस सूत्रसे भाव अर्थमें क्ति प्रत्यय जोड देनेसे गुप्ति यह शब्द सिद्ध हुआ है. अथवा अपादानकारकमें भी इस गुप्तिशब्दकी सिद्धि होती है. ' यतो गोपनं सा गुप्तिः ' अर्थात् संसारकारणोंसे आत्माका बचाव करना वह गुप्ति है. किंवा कर्ता कारकमें भी यह शब्द सिद्ध होता है. ' गोपयतीति गुप्तिः ' आत्मा ही संसारकारणोंसे अपनेको बचाता है अतः आत्मा ही गुप्ति है. यहां कर्तृकारकमें गुप् धातुके आगे क्तिन् प्रत्यय जोड देनेसे गुप्ति शब्द सिद्ध होता है. इस रीतीसे गुप्तिशब्दके अर्थका विवेचन किया है.

गुप्तिका स्वरूप क्या है? उत्तर—' सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ' शरीर, वचन और मनकी यथेष्ट प्रवृत्तिको रोकना यह गुप्ति है. सम्यक् यह विशेषण योगनिग्रहका है. यह महान् तपस्वी है ऐसा समझकर लोक मेरी पूजा करेंगे. मेरी सर्वत्र कीर्ति फैलेगी, ऐसी अपेक्षा मनमें धारण करके जो योगनिग्रह किया जाता है अथवा पारलौकिक सुखकी इच्छासे जो योगनिग्रह किया जाता है उसका निषेध करनेकेलिये सम्यक् यह विशेषण योगनिग्रह शब्दके पीछे जोडा है. उपर्युक्त इच्छाओंका त्याग करके जो गुप्ति पाली जाती है वह संवरका कारण होती है अन्यथा नहीं. ऐसा आचार्योंका उपदेश है.

मनोगुप्ति—राग और कोपसे अलिप्त ऐसे मानसिकज्ञानको मनोगुप्ति कहते हैं. ग्रंथकार भी आगे ' जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ती ' इस सूत्रमें मनोगुप्तीका लक्षण कहेंगे. मनमें जो रागादि विकार उत्पन्न होते हैं उनका नियमन करना मनोगुप्ति है ऐसा समझना चाहिये.

वचनगुप्ति—असत्य, मनको दुःखित करनेवाली और कठोर वाणीको मुंहसे न निकालना. तथा मिथ्यात्व और असंयम उत्पन्न करनेवाली वाणी मुंहसे न निकालना वचनगुप्ति है.

कायगुप्ति—सावधान होकर देखभाल न की हुई जमीनपर तथा न झाडी हुई अप्रासुक जमीनपर गमन करना, उससे वस्तु उठा लेना, रखना, सोना बैठना इत्यादि क्रियाओं का त्याग करना यह कायगुप्ति है अथवा शरीरपरसे ममत्व छोडना—अर्थात् कायोत्सर्ग करना यह भी कायगुप्ति है. ये तीनो गुप्तियां भी चारित्रविनय हैं.

समिति—प्राणिओंको पीडा न होवे ऐसा विचार करके दयाभावसे अपनी सर्व प्रवृत्ति जो करता है वह साधु समितिधारक माना जाता है. 'प्राणिपीडापरिहारादरवतः सम्यगयनं प्रवृत्तिः समितिः' यह समितीका लक्षण है. इस लक्षणमें जो सामितिका सम्यक् यह विशेषण है उसका भाव ऐसा है—जीवोंके भेद और उनके स्वरूप के ज्ञानके साथ श्रद्धान गुण सहित जो पदार्थ उठाना, रखना, गमन करना, बोलना इत्यादिक प्रवृत्ति की जाती है वही सम्यक् है. ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपसमिति और एषणासमिति ऐसी पांच समितियां हैं.

शंका-ईर्यादिसमितिओंकी वाग्गुप्ति और कायगुप्ति इन दोनोंसे कुछ विशेषता नहीं है. अतः दोनोंको अलग अलग दिखाना व्यर्थ है. प्राणिओंको पीडा करनेवाली प्रवृत्तिओंका त्याग करना यह कायगुप्ति है. और ईर्यादि समितिओंमें भी प्राणिपीडा करनेवाली देह प्रवृत्तियां त्यागी जाती हैं. अतः दोनोंमें अविशेषसा ही मालूम होता है.

उत्तर—गुप्तियां निवृत्तिरूप होती हैं और प्रवृत्तिरूप क्रियाओंको समिति कहते हैं ऐसा दोनोंमें विशेष है. प्राणीपीडापरिहारपूर्वक गमन करना, बोलना, आहार लेना, कोइ चीज उठाना, रखना मलमूत्र त्यागना इन सब क्रियाओंमें प्रवृत्ति करना समिति है. इस प्रकार चारित्र विनय संक्षेपसे समझलेना चाहिये.

शंका-इंद्रिया और कषायोंका अप्रणिधान मनोगुप्तिरूप ही है इसलिये उनका पृथक् कथन क्यों किया है ?

उत्तर—वचनगुप्ति और कायगुप्ति इनका ही गुप्तिरूपसे ग्रहण किया है ऐसा समझो. अथवा रागद्वेष, मिथ्यात्व वगैरह अशुभ परिणामोंका त्याग करना यह मनोगुप्ति है. यह सामान्य है और इंद्रिय कषायोंकी तरफ आत्माका झुकाव न होना अर्थात् इंद्रियकषायरूपपरिणति आत्माकी न होना यह उसका विशेष है. सामान्यमे विशेष सर्वथा भिन्न नहीं है. कथंचिद्भिन्न है. अतः यहां पुनरुक्तिदोष नहीं है. अर्थात् मनोगुप्तिसे

यदि इंद्रियकषायापरिणति सर्वथा समानरूप होती तो यहां एक ही विषय दुहराया जानेसे पुनरुक्ति दोष आता परंतु सामान्य और विशेषतासे यहां वह दोष नहीं है. मनोगुप्ति यहां सामान्यरूप है और इंद्रियकषायापरिणति विशेषरूप है अतः पुनरुक्ति दोष यहां नहीं है.

इंद्रियकषायापरिणति विशेषात्मक होनेसे मनोगुप्तिमें अन्तर्भूत होती है तथापि उसको भिन्नरूपतया दिखानेका प्रयोजन यह है कि, चारित्रका निर्दोष पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले इंद्रियविषय और कषाय-परिणति इनका त्याग करें.

शंका—चारित्रके तेरा प्रकार हैं-पांच महाव्रत, पांच समिति, और तीन गुप्ति. समिति और गुप्ति भी चारित्रात्मक ही है अतः उनको चारित्रविनय कहते हैं. परंतु समिति और गुप्तिको आप यहां चारित्रसे भिन्न दिखाते हैं. क्या यह युक्ति संगत है ?

उत्तर—आचार्योंने अन्य ग्रंथोंमें पांच महाव्रतोंको ही चारित्र कहा है. गुप्ति और समिति ये महाव्रतरूप चारित्रके परिकर हैं ऐसा इस ग्रंथकारका अभिप्राय है. अन्य आचार्योंने इस विषयमें ऐसा कहा है " कर्मादान निमित्तक्रियाभ्यश्च विरतिरहिंसादिभेदेन पंचप्रकारा गुप्तिसमितिविस्तारसंक्षेपो भवति " मन, वचन और शरीर की क्रिया ही कर्मग्रहण करनेमें निमित्त है. इस क्रियासे विरक्त होना चारित्र है, चारित्रके अहिंसा, सत्य, अचौर्य, इत्यादिरूपसे पांच भेद हैं. यह संक्षेपरूप चारित्र है. और गुप्ति समिति इस भेदसे वह विस्ताररूप है.

इस चारित्रविनयकी स्थिरता पचीस भावनाओंसे होती है. ' तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ' अर्थात् प्रत्येक व्रतकी स्थिरता होवे एतदर्थ पांच पांच भावनाएं आचार्यने कही हैं.

पणिधाणं पि य दुविहं इंदिय णोइंदियं च बोधव्वं ॥
सद्दादि इंदियं पुण कोधाईयं भवे इदरं ॥ ११६ ॥
प्रणिधानं द्विधा प्रोक्तमिंद्रियानिंद्रियाश्रयम् ॥
शब्दादिविषयं पूर्वं परं मानादिगोचरम् ॥ ११७ ॥

सद्दरसरूवगंधे फासे य मणोहरे य इयरे य ॥
जं रागदोसगमणं पंचविहं होदि पणिधाणं ॥ ११७ ॥

उक्तं शब्दे रसे रूपे स्पर्शे गंधे शुभेऽशुभे ॥
रागद्वेषविधानं यत्तदाद्यं प्रणिधानकम् ॥ ११८ ॥

णोइंदियपणिधाणं कोधो माणो तधेव माया य ॥
लोभो य णोकसाया मणपणिधाणं तु तं वज्जे ॥ ११८ ॥

मानमायामदक्रोधलोभमोहादिकल्पनम् ॥
अनिंद्रियाश्रयं ज्ञेयं प्रणिधानमनेकधा ॥ ११९ ॥

इंद्रियमनःप्रणिधानपरिहारद्वारेण चारित्रविनयं प्रपंचयितुं गाथात्रयमाह—

मूलारा—प्रणिधानं आत्मनः परिणामोऽत्र नेंद्रियादिनिरोधः । सद्दादि–मनोज्ञामनोज्ञशब्दादिविषयरागद्वेषपरिणतिः ।

मूलारा—पंचविधं–श्रोत्रादीनामिष्टानिष्टशब्दादिविषयभेदात् ।

मूलारा—णोकसाया हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदाः । तं तद्द्विविधमैंद्रियिकमानसं च प्रणिधानं । वज्जे वर्जयेत् । चारित्रविनयार्थीति शेषः । एतदपि गाथात्रयं टीकाकारो नेच्छति ॥

इंद्रिय और मन वश करनेसे चारित्रविनय होता है. इस चारित्रविनयका तीन गाथाओंमें आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ— प्रणिधानके इंद्रियप्रणिधान और नोइंद्रियप्रणिधान ऐसे दो भेद हैं. आठ स्पर्श, पांच रस, दो गंध, पांच वर्ण और शब्द ये इष्ट और अनिष्ट ऐसे दो प्रकारके हैं. इनसे आत्मा में रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है. इसको इंद्रियप्रणिधान कहते हैं. स्पर्शनेंद्रियप्रणिधान, रसनेंद्रियप्रणिधान, घ्राणेंद्रियप्रणिधान, चक्षुरिंद्रियप्रणिधान, और श्रोत्रेंद्रियप्रणिधान ऐसे पांच भेद हैं.

क्रोध मान, माया–कपट, लोभ, हास्य, रति–उत्सुकता, अरति–तिरस्कार, शोक, भय, जुगुप्सा–अन्यके

दोष प्रकट करना व अपने दोष छिपाना, स्त्रीवेद–पुरुषाभिलाषा, पुरुषवेद–स्त्रीकी अभिलाषा होना, नपुंसकवेद–दोनोंके साथ रमण करनेकी इच्छा होना, इन सर्व मनके परिणामोंको नोइंद्रिय प्रणिधान कहते हैं. चारित्रविनयेच्छु मुनिराज इन दो प्रणिधानों का त्याग करते हैं. इन दो प्रणिधानोंको जिन्होंने जीता है उनको चारित्रविनयका शीघ्र लाभ होता है. टीकाकार अपराजित सूरि उपर्युक्त तीन गाथाओं को क्षेपक समझते हैं.

तपोनिरूपणार्थं गाथाद्वयमुत्तरम्—

उत्तरगुणउज्जमणे सम्मं अधिआसणं च सड्ढाए ॥

आवासयाणमुचिदाण अपरिहाणी अणुस्सेओ ॥ ११६ ॥

परीषहसहिष्णुत्वं श्रद्धोत्तरगुणोद्यमः ॥

योग्यावश्यकसंबंधे हान्युत्सेधनिराकृतिः ॥ ११७ ॥

विजयोदया—सम्यग्दर्शनज्ञानाभ्यामुत्तरकालभावित्वात्संयमः उत्तरगुणशब्देनोच्यते । न हि श्रद्धानं ज्ञानं चांतरेण संयमः प्रवर्तते । अजानतः श्रद्धानरहितस्य वाऽसंयमपरिहारो न संभाव्यते । तेनायमर्थः—संयमोद्योततपसो निर्जराहेतुता सति संयमे, नान्यथेति तपसः संयमः परिकरः । तथा चाहुः 'संजमहीणं च तवं जो कुणइ णिरत्थयं कुणइ' इति । सम्मं सम्यक् । संक्लेशं दैन्यं चांतरेण । अधियासणं सहनं क्षुधादेः ।

अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानेषु क्षुत्तृड्जनितवेदनया अव्याकुलता, कथमिदमुद्वहामीति वा अदीनता । भक्तपानयोर्मनसोऽप्रणिधानं, अश्नि पिबामीति वा भक्तकथापरित्यागः, तत्कथनानादरः इतस्ततश्चापरिवर्तनं । क्षुधा तृषा वा बाधितोऽस्मीति एवं वचनं सहनं, अथवा भोजनादिवसे यांचाया अकरणं । श्रांतोऽस्म्युपवासेन रूक्षं भोक्तुं न शक्नोमि । क्षीरघृतशर्करादिकं दातव्यमिति वचनेन यांचाया अकरणं । मनसा वा यदीदं लभ्येत भद्रं स्यात् इति वाऽप्रार्थना । कायसंज्ञया वा क्षीरादिदानेऽहसितायमानमुखता । शीतरूक्षाद्याहारदाने वा अकुपितानतता । अलाभेऽपि लाभादलाभो मे परं तपोवृद्धिरिति संकल्पेनालाभपरीषहसहनं वा । अथवा लौकिकानां धर्मस्थानां वा सत्कारपुरस्काराकरणे तपसि महति वर्तमानोऽप्यहमेतेषां न पूजितः इति कोपसंक्लेशाकरणं । सत्कारपुरस्कारपरीषहसहनं वा ।

रसपरित्यागं कृतवतः रसवदाहारकथादर्शनोपजायमानतदादरनिवारणं रसपरित्यागजाताशरीरसंतापक्षमा वा सहनं । आतापयोगधारिणो घर्माद्युपनिपाते असंक्लिष्टचित्तता तत्प्रतीकारवस्तुषु अनादरश्च सहनं । जनविविक्तदेशे विशतः पिशाचव्यालमृगाद्यवलोकनादिकृतभीतिव्युदासोऽरतिविजयश्च सहनं । * प्रायश्चित्तमाचरतोऽपि महदिदं दत्तं गुरुणा बलाबलं ममानिरूप्येति कोपाकरणं, प्रायश्चित्तकरणजनितश्रमेण वा असंक्लिष्टतासहनं* । ज्ञानविनये वर्तमानस्य

* अयं पाठः कपुस्तके नास्ति । खपुस्तकदुद्धृत्य संयोजितोऽत्र ।

क्षेत्रकालशुद्धिकरणे ममैव नियोजयति इति कोपनिरासो वा, तद्गतश्रमे वा असंक्लेशस्य सहनं। दर्शनविनये अभ्युद्यतस्य सन्मार्गात्प्रच्यवमानस्य स्थिरीकरणं महानायासः, स्वचेतसोपि ऋजुतापादनमतिदुष्करं किमंग पुनः परस्ये त्यसंकल्पः सहनं। पुरस्कृतचारित्रविनयस्य ईर्यादिसमितयो दुष्कराः। जीवनिकायाकुले जगति कियंतः परिहर्तुं शक्यंते? निपुणतरं प्रतिपद्न्यासं जीवावलोकने तत्परिहृतौ च कियद्गन्तुं शक्यते? तथा प्रवर्तमानं बाधन्ते तरामातपादयः। नवकोटिपरिशुद्धा भिक्षा क लभ्यते एतेषु कृतज्ञता वेति मनसोऽप्यप्रणिधानं चारित्रविनयः। तपोविनयमुपगतस्यानशनादितपोऽनुष्ठानातिशयस्य मम स्वल्पमसंयमं अप्रासुकोदकपानेन, अशुद्धभिक्षाग्रहणेन वा जातं तप एवोन्मूलयतीति असंकल्पनं सहनं। असकृदभ्युत्थानं, अनुगमनं, प्रेषणकरणं, उपकरणशोधनादिकं वा कः कर्तुं शक्नोति प्रतिदिनमित्यनभिसंधिरुपचारविनयसहनं।

सद्दा य श्रद्धा च। क तपसि। तपसा संपाद्यमुपकारमात्मनोऽवलोक्य बुद्ध्या। तपो हि प्रत्यग्रं कर्म संवृणोति, चिरार्जितानां कर्मणां निर्जरामापादयति, इंद्रचक्रलांछनादिसंपदोऽप्यानयति। समीचीनस्य तपसोऽलाभादेव जननमरणावर्तसहनं, असुखाकुले भयांभोधौ पर्यटनं ममासीद्भविष्यति इति तपस्यनुरागः कार्यः।

आवासगाणं आवश्यकानां। ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासगं इति व्युत्पत्तावपि सामायिकादिष्वेवायं शब्दो वर्तते। व्याधिदौर्बल्यादिना व्याकुलो भण्यते अवशः परवश इति यावत्। तेनापि कर्तव्यं कर्मेति। यथा आशु गच्छतीत्यश्व इति व्युत्पत्तावपि न व्यापादौ वर्तते अश्वशब्दोऽपि तु प्रसिद्धिवशात् तुरग एव। एवमिहापि अवश्यं यत्किंचन कर्म ततस्ततः पराभृत्तिराक्रंदनं, पूत्करणं वा न तद्भण्यते॥ अथवा आवासकानां इत्ययमर्थः आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति कृत्वा सामायिकं, चतुर्विंशतिस्तवो, वंदना, प्रतिक्रमणं, प्रत्याख्यानं, व्युत्सर्गः, इत्यमीषां।

तत्र सामायिकं नाम चतुर्विधं नामस्थापनाद्रव्यभावभेदेन। निमित्तनिरपेक्षा कस्यचिज्जीवादेरव्याहिता संज्ञा सामायिकमिति नामसामायिकम्। सर्वसावद्यनिवृत्तिपरिणामवता आत्मना एकीभूतं शरीरं यत्तदाकारसादृश्यात्तदेवेदमिति स्थाप्यते यष्टिप्रपुस्तादिकं तत्स्थापनासामायिकम्। आगमद्रव्यसामायिकं नाम श्रुतस्याद्यं सामायिकं नाम ग्रंथः, तदर्थज्ञो यः सामायिकाख्यात्मपरिणामप्रत्ययभासः प्रत्ययरूपेण सांप्रतमपरिणतः आत्मा। नो आगमद्रव्यसामायिकं नाम यत्त्रिविकल्पं ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदेन। सामायिकज्ञस्य यच्छरीरं तदपि सामायिकज्ञानकारणं, आत्मैव शरीरमंतरेण तस्याभावात्। यस्य हि भावाभावौ नियोगतो यदनुकरोति तत्तस्य कारणमिति हेतुफलव्यवस्था वस्तुषु। ततः प्रत्ययसामायिकस्य कारणत्वाच्छरीरं त्रिकालगोचरं सामायिकशब्दवाच्यं भवति। चारित्रमोहनीयक्षयोपशमविशेषसहायो य आत्मा भविष्यत्सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिपरिणामः सोऽभिधीयते भाविसामायिकशब्देन। चारित्रमोहनीयाख्यं कर्म परिप्राप्तक्षयोपशमाख्यं नो आगमद्रव्यं तद्व्यतिरिक्तकर्म। सामायिकं नाम प्रत्ययसामायिकं। नो आगमभावसामायिकं नाम सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिपरिणामः। अयमिह गृहीतः।

चतुर्विंशतिसंख्यानां तीर्थकृतामत्र भारते प्रवृत्तानां वृषभादीनां जिनवरत्वादिगुणज्ञानश्रद्धानपुरस्सरा चतुर्विंशतिस्तवनपठनक्रिया नो आगमभावचतुर्विंशतिस्तव इह गृह्यते।

वंदना नाम रत्नत्रयसमन्वितानां यतीनां आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविराणां गुणातिशयं विज्ञाय श्रद्धापुरःसरेण अभ्युत्थानप्रयोगभेदेन द्विविधे विनये प्रवृत्तिः । प्रत्येकं तयोरनेकभेदता । कर्तव्यं केन, कस्य, कदा, कस्मिन्कतिवारानिति । अभ्युत्थानं केनोपदिष्टं, किंवा फलमुद्दिश्य कर्तव्यं ? पूर्वमेव विनयः कर्तव्यतयोपदिष्टः सर्वैर्जिनैः कर्मभूमिषु सदा मानकषायभंगः ॥ गुरुजने बहुमानं, तीर्थकराणां आज्ञासंपादनं, श्रुतधर्माराधनाक्रिया भावशुद्धिरार्जवं, तुष्टिं च फलमपेक्ष्य तेन तत्क्रियते । अमानिना, संविग्नेन, अनलसेनाशठेनानुग्रहकारिणार्थिना, परगुणप्रकाशनोद्यतेन संघवत्सलेन । असंयतासंयतस्य वा नाभ्युत्थानं कुर्यात्, पार्श्वस्थपंचकस्य वा । रत्नत्रये तपसि च नित्यमभ्युद्यतानां अभ्युत्थानं कर्तव्यं कुर्यात् । सुखशीलजनेऽभ्युत्थानं कर्मबंधनिमित्तं प्रमादस्थापनोपबृंहणकारणात् । संविग्नजनं प्रति क्रियमाणमभ्युत्थानं निर्जरानिमित्तं विरतिस्थापनोपबृंहणकारणात् । वाचनामनुयोगं वा शिक्षयतः अवमरत्नत्रयस्याभ्युत्थातव्यं तन्मूलेऽध्ययनं कुर्वद्भिः सर्वैरेव । वसतेः, कायभूमितः, भिक्षातः, चैत्यात्, गुरुसकाशात्, ग्रामांतराद्वा आगमनकालेऽभ्युत्थातव्यं । गुरुजनश्च यदा निष्क्रामति निष्क्राम्य प्रविशति वा तदा तदा अभ्युत्थानं कार्यं । अनया दिशा यथागममितरदप्यनुगंतव्यम् ।

दुऊणदं जहाजादं वारसावत्तमेव य ।
चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदिकम्मं पउंजए ॥

इत्यादिकः प्रयोगविनयः ।

प्रतिक्रमणं प्रतिनिवृत्तिः षोढा भिद्यते-नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन । अयोग्यनाम्नामनुच्चारणं नामप्रतिक्रमणं । तर्हि दारिगा[1] सामिणी इत्यादिकमयोग्यं नाम । आप्ताभासानामर्चा, त्रसस्थावराणां रूपाणि, लिखितान्युत्कीर्णानि वा स्थापनाशब्देनेह गृह्यंते । तत्राप्ताभासप्रतिमायां पुरःस्थितायां यदभिमुखतया कृतांजलिपुटता, शिरोवनतिः, गंधादिभिरभ्यर्चनं च न कर्तव्यम् । एवं सा स्थापना परिहृता भवति । त्रसस्थावरस्थापनानामविनाशनं, अमर्दनं, अताडनं वा परिहारः प्रतिक्रमणं । वास्तुक्षेत्रादीनां दशप्रकाराणां उद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्टानां वसतीनां, उपकरणानां, भिक्षाणां च परिहरणं, अयोग्यानां चाहारादीनां, गृद्धेर्दर्पस्य च कारणानां संक्लेशहेतूनां वा निरसनं द्रव्यप्रतिक्रमणं । उदककर्दमत्रसस्थावरनिचितेषु क्षेत्रेषु गमनादिवर्जनं क्षेत्रप्रतिक्रमणं । यस्मिन्वा क्षेत्रे वसतो रत्नत्रयहानिर्भवति तस्य वा परिहारः, तच्च किं ? ज्ञानतपोवृद्धैरनध्यासितं । रात्रिसंध्यात्रयस्वाध्यायावश्यककालेषु गमनागमनादिव्यापाराकरणात् कालप्रतिक्रमणं । कालस्य दुष्परिहार्यत्वात्कालाधिकरणव्यापारविशेषाः कालसाहचर्यात्कालशब्देन गृहीताः । मिथ्यात्वमसंयमः, कषायः, रागः, द्वेषः, संज्ञा, निदानं, आर्तरौद्रमित्यादयोऽशुभपरिणामाः, पुण्यास्रवभूताश्च शुभपरिणामाः इह भावशब्देन गृह्यन्ते, तेभ्यो निवृत्तिर्भावप्रतिक्रमणं इति केषांचिद्व्याख्यानं । चतुर्विधमित्यपरे । निमित्तनिरपेक्षं कस्यचिन्नामत्वेन नियुज्यमानं प्रतिक्रमणमित्यभिधानं नामप्रतिक्रमणं ॥ अशुभपरिणामानां विशिष्टजीवद्रव्यानुगतशरीराकार-

१ भट्टि दारिगा सामिणी इति त्पुस्तके ।

सादृश्यापेक्षया चित्रादिरूपं स्थापितं स्थापनाप्रतिक्रमणं ॥ प्रमाणनयनिक्षेपादिभिः प्रतिक्रमणावश्यकस्वरूपकसूत्रानुपयुक्तः प्रत्ययप्रतिक्रमणकारणत्वात् आगमद्रव्यप्रतिक्रमणशब्देनोच्यते । नो आगमद्रव्यप्रतिक्रमणं त्रिविधं । ज्ञायकशरीरभावित-व्यतिरिक्तभेदैः । यथात्मा कारणं प्रतिक्रमणपर्यायस्य, तथा तदीयमपि शरीरं त्रिकालगोचरमिति प्रतिक्रमणशब्दवाच्यं भवति । चारित्रमोहक्षयोपशमसांनिध्ये भविष्यत्प्रतिक्रमणपर्याय आत्मा भाविप्रतिक्रमणं । क्षयोपशमावस्थामुपगतः चारित्रमोहः नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तकर्म प्रतिक्रमणं । प्रतिक्रमणप्रत्यय आगमभावप्रतिक्रमणं । मिच्छाणाण-मिच्छादंसणमिच्छाचारित्तादो पडिविरदोमित्ति एवं स्वरूपज्ञानं । अशुभपरिणामदोषमवबुध्य श्रद्धाय तत्प्रतिपक्षपरिणामवृत्तिर्नो आगमभावप्रतिक्रमणं ॥

सामायिकस्य प्रतिक्रमणस्य च को भेदः ? सावद्ययोगनिवृत्तिः सामायिकं। प्रतिक्रमणमपि अशुभमनोवाक्कायनिवृत्तिरेव तत्कथं षडावश्यकव्यवस्था ?

अत्रोच्यते—सव्वं सावज्जजोगं पच्चक्खामीति वचनाद्धिंसादिभेदमनुपादाय सामान्येन सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिः सामायिकं। हिंसादिभेदेन सावद्ययोगविकल्पं कृत्वा ततो निवृत्तिः प्रतिक्रमणं। तथा च सूत्रं—

" मिच्छत्तपडिक्कमणं, तहेव असंजमपडिक्कमणं, कसाएसु पडिक्कमणं, जोगेसु अ अप्पसत्थेसु " इति वचनादिति केचित्परिहरन्ति।

इदं त्वन्याय्यं प्रतिविधानं । योगशब्देन वीर्यपरिणाम उच्यते । स च वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितत्वात् क्षायोपशमिको भावस्ततो निवृत्तिरशुभकर्मादाननिमित्तयोगरूपेण अपरिणतिरात्मनः सामायिकं । मिथ्यात्वासंयमकषायाश्च दर्शनचारित्रमोहोदयजा औदयिकाः। मिथ्यात्वं तत्त्वाश्रद्धानरूपं, असंयमो हि हिंसादिरूपः। क्रोधादयस्तु परस्परतो मिथ्यात्वादसंयमाच्चानुभवसिद्धवैलक्षण्यरूपाः । ये भिन्नहेतुस्वरूपास्ते नैक्यमापद्यन्ते यथा शालियवगोधूमादिधान्यं। भिन्नहेतुस्वरूपाश्च मिथ्यात्वासंयमकषायाः। तेभ्यो विरतिर्व्यावृत्तिः प्रतिक्रमणं। सावद्ययोगमात्रनिवृत्तिः सामायिकमिति भेदो महाननयोः। भेदमेवाश्रित्यामीषां परिणामानां ' चदुपच्चयाण बंधो इति सूत्रमवस्थितं । अन्यथा योगविकल्पत्वे मिथ्यात्वादीनां चतुःसंख्या न व्याख्या योगेन सह।

प्रत्याख्यानं नाम अनागतकालविषयां क्रियां न करिष्यामि इति संकल्पः । तच्च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकाल भावविकल्पेन षड्विधं। अयोग्यं नाम नोच्चारयिष्यामीति चिंता नामप्रत्याख्यानं। आप्ताभासानां प्रतिमा न पूजयिष्यामीति, योगत्रयेण त्रसस्थावरस्थापनापीडां न करिष्यामीति प्रणिधानं मनसः स्थापनाप्रत्याख्यानं। अथवा अर्हदादीनां स्थापनां न विनाशयिष्यामि, नैवानादरं तत्र करिष्यामि इति वा। अयोग्याहारोपकरणद्रव्याणि न ग्रहीष्यामीति चिंताप्रबंधो द्रव्यप्रत्याख्यानं। अयोग्यानि वातिप्रयोजनानि, संयमहानिं संक्लेशं वा संपादयंति यानि क्षेत्राणि तानि त्यक्ष्यामि इति क्षेत्रप्रत्याख्यानं। कालस्य दुःपरिहार्यत्वात् कालसाध्यायां क्रियायां परिहृतायां काल एव प्रत्याख्यातो भवतीति ग्राह्यं। तेन संध्याकालादिष्वध्ययनगमनादिकं न संपादयिष्यामीति चेतः कालप्रत्याख्यानं । भावोऽशुभपरिणामः तं न

निर्वर्तयिष्यामि इति संकल्पकरणं भावप्रत्याख्यानं । तद्द्विविधं मूलगुणप्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानमिति । ननु च मूलगुणा व्रतानि तेषां प्रत्याख्यानं निरासो भविष्यत्कालविषयश्चेन्न स संवरार्थिना कार्यः, संवरार्थमवश्यमनुष्ठीयते इति उत्तरगुणानां कारणत्वान्मूलगुणव्यपदेशो व्रतेषु वर्तते । मूलगुणशब्दः मूलगुणश्च सः प्रत्याख्यानं च तत् इति । व्रतोत्तरकालभावितत्वादनशनादिकं उत्तरगुण इति उच्यते । उत्तरगुणश्च सः प्रत्याख्यानं च तदिति उत्तरगुणप्रत्याख्यानं । तत्र संयतानां जीवितावधिकं मूलगुणप्रत्याख्यानं । संयतासंयतानां अणुव्रतानि मूलगुणव्रतव्यपदेशभांजि भवंति तेषां द्विविधं प्रत्याख्यानं अल्पकालिकं, जीवितावधिकं चेति । पक्षमासषण्मासादिरूपेण भविष्यत्कालं सावधिकं कृत्वा तत्र स्थूलहिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहान्नाचरिष्यामि इति प्रत्याख्यानमल्पकालकम् ।

आमरणमवधिं कृत्वा न करिष्यामि स्थूलहिंसादीनि इति प्रत्याख्यानं जीवितावधिकं च । उत्तरगुणप्रत्याख्यानं संयतसंयतासंयतयोरपि अल्पकालिकं जीवितावधिकं वा । परिगृहीतसंयमस्य सामायिकादिक अनशनादिकं च वर्तते इति उत्तरगुणत्वं सामायिकादेस्तपसश्च । भविष्यत्कालगोचराशनादित्यागात्मकत्वात्प्रत्याख्यानत्वं । सति सम्यक्त्वे चैतदुभयं प्रत्याख्यानं जीवनिकायं हिंसादिस्वरूपं च ज्ञात्वा श्रद्धाय सर्वतो देशतो वा हिंसादिविरतिर्वर्तते व्रतं । तथा चोक्तं— ' निःशल्यो व्रती ' इति ।

मिथ्यादर्शनशल्यं,[1] मायाशल्यं, निदानशल्यं चेति त्रिविधं शल्यं तेभ्यो निष्क्रांतः निःशल्यः । सावधारणं चेदं निःशल्य एव व्रतीति । तेन सशल्यव्रतिता निरस्ता भवति । न च असति श्रद्धाने मिथ्यात्वशल्यनिवृत्तिः । न च जीवाद्यर्थपरिज्ञानमंतरेण श्रद्धानस्यास्ति संभव इति ज्ञानदर्शनवत एव व्रतिता सूत्रकारेण ख्याता । तथावश्यकेऽप्युक्तम्—

" पंचवदाणि जदीणं अणुव्वदाइं च देसविरदाणं "
" ण हु सम्मत्तेण विणा तो सम्मत्तं पढमदाए ॥ "

इति हिंसादिप्रवर्तनपरं भाषितमिति क्रियाः पंचापि सदाभिमोजनाः प्रत्याचष्टे यतिस्त्रिधा मनोवाक्कायविकल्पेन कृतकारितानुमतैर्यावज्जीवं ।

सम्यग्दृष्टिरनगारी मूलगुणं उत्तरगुणं वा स्वशक्त्या गृण्हाति परिमितकालं यावज्जीवं वा । आत्मना प्राक्कृतं हिंसादिकं हा दुष्टं कृतं, हा दुष्टं संकल्पितं । वचो वा हिंसादिप्रवर्तनपरं भाषितं इति निंदागर्हाभ्यां दूषयन्वर्तमानं चासंयमं कृतं क्रियमाणासंयमसदृशं न करिष्यामि इति मनसि कुर्वन्प्रत्याख्याता भवति ॥

अगारिणां विरतिपरिणामविकल्पो निरूप्यते । स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं कृतकारितानुमतविकल्पात्रिविकल्पकं मनोवाक्कायविकल्पैर्न त्यजति । मनसा स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं न करोमि, तथा वचसा कायेनेति त्रिविधं कृतम् । मनसा स्थूलकृतं प्राणातिपातादिकं न कारयामि, तथा मनसा स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं नानुजानामि, तथा वचसा कायेन चेति त्रिभेदं कारितमनुमननं च ॥ एवं नवविधं स्थूलकृतप्राणवधादिकं त्यक्तुमशक्तोऽगारी ।

१ पाठोऽयं कपुस्तके नास्ति रपुस्तकात्संयोजितोऽयम् ।

तथा मनोवाग्भ्यां स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं कृतकारितानुमतिविकल्पात्त्रिविधं कर्तुमशक्तो मनसा न करोमि, न कारयामि, नानुजानामि। वचसा करोमि, न कारयामि नानुजानामि इति॥ कायेन कृतकारितानुमतविकल्पान् हिंसादींश्च न समर्थो विहातुं तथा च सूत्रं—

न खु तिविधं तिविधेण य दुविधक्कविधेण वापि विरमेज्ज इति॥

कथं तर्ह्यगारी विरतिमुपैति॥ अत्रोच्यते॥ कृतकारितविकल्पादुभिप्रकारं हिंसादिकं मनोवाक्कायैस्त्यजति॥ वाचा कायेन वा हिंसादिविषयं कृतकारितं त्यजति॥ कायेन एकेन वा कृतं कारितं त्यजति॥ अत एवोक्तं 'दुविधं पुण तिविधेण य दुविधेकविधेण वा विरमेज्ज' इति। अथवा हिंसायाः स्वयं करणं एकं मनोवाक्कायैस्त्यजति॥ नाहं मनसा वाचा कायेन स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं पंचकं करोमीति॥ अभिसंधिपूर्वकं विरमणं करोति। वाक्कायाभ्यां वा स्वयं करणं त्यजति कायेनैकेन वा॥ तथा चोक्तम्—'एकविधं तिविधेण वापि विरमेज्ज'॥ एवमेते मतविकल्पाः भविष्यत्कालविषयतयानुयुज्यमानाः प्रत्याख्यानविकल्पाः भवंतीत्ययमुपन्यासः॥

कायोत्सर्गो निरूप्यते—कायः शरीरं तस्य उत्सर्गस्त्यागः उपलब्ध्यधिष्ठानेंद्रियावयवकः कर्मनिर्वर्तितः पुद्गलप्रचयविशेष औदारिकाख्य इह कायशब्देन गृहीतः। इतरत्र उत्सर्गस्यासंभवात् वक्ष्यमाणस्य।

ननु च आयुषो निरवशेषगलने आत्मा शरीरमुत्सृजति नान्यदा तत्किमुच्यते कायोत्सर्ग इति।

आत्मशरीरयोरन्योऽन्यस्य प्रदेशानुप्रवेशिनोरायुर्वशत्वेन अनपायित्वेऽपि शरीरे अशुचित्वं सप्तधातुरूपतया अशुचितमशुक्रशोणितबीजत्वाच्च, तथाऽनित्यत्वं, अपायित्वं, दुर्वहत्वं, असारत्वं, दुःखहेतुत्वं, शरीरगतममताहेतुकमनंतसंसारपरिभ्रमणं इत्यादिकान्संप्रधार्य दोषानिदं मम नाहमस्येति संकल्पवतस्तदादराभावात्कायस्य त्यागो घटत एव। यथा प्राणेभ्योऽपि प्रियतमा कृतापराधावस्थिता ह्येकस्मिन्मंदिरे त्यक्तेत्युच्यते तस्यामनुरागाभावान्ममेदं भावव्यावृत्तिमपेक्ष्य एव सिद्धापि। किं च कायापायसन्निपातेऽपि अपायनिराकरणाभिलाषस्याभावात्। यो यदपायनिराकरणानुत्सुकस्तेन तत्परित्यक्तं यथा वसनादिकं परिहृतं। शरीरापायनिराकरणानुत्सुकश्च यतिस्तस्माद्युज्यते कायत्यागः।

तत्र शरीरनिःस्पृहः, स्थाणुरिवोर्ध्वकायः, प्रलंबितभुजः, प्रशस्तध्यानपरिणतोऽनुन्नमितानतकायः, परीषहानुपसर्गांश्च सहमानः, तिष्ठन्निर्जन्तुके कर्मापायाभिलाषी विविक्ते देशे।

अन्तर्मुहूर्तः कायोत्सर्गस्य जघन्यः कालः, वर्षमुत्कृष्टः। अतिचारनिवृत्तये कायोत्सर्गा बहुप्रकारा भवन्ति। रात्रिदिनपक्षमासचतुष्टयसंवत्सराद्या बहुप्रकारा भवन्ति। रात्रिदिनपक्षमासचतुष्टयसंवत्सरादिकालगोचरातिचारभेदापेक्षया। सायाह्नेउच्छ्वास शतकं, प्रत्युषसि पंचाशत्, पक्षे त्रिशतानि, चतुर्षु मासेषु चतुःशतानि, पंचशतानि संवत्सरे उच्छ्वासानां। प्रत्युषसि प्राणिवधादिषु पंचस्वतीचारेषु अष्टशतोच्छ्वासमात्रः कालः कायोत्सर्गः। कायोत्सर्गे कृते यदि शक्यते उच्छ्वासस्य स्खलनं वा परिणामस्य उच्छ्वासाष्टकमाधिकं स्थातव्यं।

उत्थितोत्थितं, उत्थितनिविष्टम्, उपविष्टोत्थितं, उपविष्टोपविष्टं इति चत्वारो विकल्पाः। धर्मे शुक्ले वा परिणतो यस्तिष्ठति तस्य कायोत्सर्गः उत्थितोत्थितो नाम। द्रव्यभावोत्थानसमन्वितत्वादुत्थानप्रकर्षः उत्थितोत्थितशब्दे-

नोच्यते। तत्र द्रव्योत्थानं शरीरं स्थाणुवदूर्ध्वं अविचलमवस्थानं। ध्येयैकवस्तुनिष्ठता ज्ञानमयस्य भावस्य भावोत्थानं। आर्तरौद्रयोः परिणतो यस्तिष्ठति तस्य उत्थितनिषण्णो नाम कायोत्सर्गः। शरीरोत्थानादुत्थितत्वं शुभपरिणामोन्नतिरूपस्योत्थानस्याभावान्निषण्ण इत्युच्यते । अत्र एवविरोधाभावो भिन्ननिमित्तत्वादुत्थानासनयोः एकत्र एकदा। यस्त्वासीन एव धर्मशुक्लध्यानपरिणतिमुपैति तस्य उत्थितनिषण्णो भवति परिणामोत्थानात्कायानुत्थानाच्च । यस्तु निषण्णो ऽशुभध्यानपरस्तस्य निषण्णनिषण्णकः। कायाशुभपरिणामाभ्यां अनुत्थानात्।

दैवसिकातिचारं रत्नत्रयगतं मनसा विमृश्य इदं मया दुष्टं कृतं प्रमादेनेति संचिन्त्य पश्चाद्धर्मे शुक्ले वा ध्याने प्रवर्तितव्यम्।

कायोत्सर्गं प्रपन्नः स्थानदोषान्परिहरेत्। के ते इति चेदुच्यते। १ तुरग इव कुंटीकृतपादेन अवस्थानम् २ लतेवेतस्ततश्चलतोऽवस्थानं ३ स्तंभवत्स्तब्धशरीरं कृत्वा स्थानं । ४ स्तंभोपाश्रयेण वा कुड्याश्रयेण वा मालावलग्नशिरसा वावस्थानम्। ५ लंबिताधरतया, स्तनगतदृष्ट्या वायस इव इतस्ततो नयनोद्वर्तनं कृत्वावस्थानम् । ६ खलीनावपीडितमुखहय इव मुखचालनं संपादयतोऽवस्थानं । ७ युगावष्टब्धबलीवर्द इव शिरोऽधः पातयता । ८ कपित्थफलग्राहीव विकासितकरतलं, संकुचितांगुलिपंचकं वा कृत्वा ॥ ९ शिरश्चालनं कुर्वन् १० मूक इव हुंकारं संपाद्यावस्थानं ११ मूक इव नासिकया वस्तूपदर्शयता वा ॥ १२ अंगुलिस्फोटनं १३ भ्रूनर्तनं वा कृत्वा १४ शबरवधूरिव स्वकौपीनदेशाच्छादनपुरोगं १५ शृंखलाबद्धपाद इवावस्थानं ॥ १६ पीतमदिर इव परवशगतशरीरो वा भूत्वावस्थानं इत्यमी दोषाः ॥

व्यावर्णितानामावश्यकानां अपरिहाणिर्हानिर्न कार्या ॥ अणुसेगो अधिकोनाकरणं च।

तपोविनयप्ररूपणाय गाथाद्वयमाह—

मूलारा—उत्तरगुणउज्जमो श्रद्धानज्ञानोत्तरकालभावित्वादुत्तरगुणः संयमः, तत्र उद्यमः। तपसो हि सति संयमे निर्जराहेतुत्वं नान्यथेति तत्परिकरः संयमः। तथा चाहुः—"संयमहीणं च तवो जो कुणइ णिरत्थयं कुणइ" इति। सम्मं सम्यक् संक्लेशदैन्याभ्यां विना। अधियासणं सहनं क्षुधादेरिति शेषः। सद्धा श्रद्धा तपस्यनुराग इत्यर्थः। आवासयाणं आवश्यकानां सामायिकचतुर्विंशतिस्तववंदनाप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानकायोत्सर्गलक्षणानां अवश्यकार्याणाम् । उचियाण उचितानां, योग्यानां, यथोक्तानामित्यर्थः। अपरिहाणि अन्यूनता। अणुस्सेगो अनुत्सेकः, आधिक्येन करणं।

तपका निरूपण करनेके लिये आगेकी दो गाथायें आचार्य कहते हैं—

अर्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके अनंतरकालमें चारित्रकी उत्पत्ति होती है इसलिये चारित्रको-संयमको उत्तरगुण कहते हैं. श्रद्धान और ज्ञानके विना संयम होता नहीं. जिसको ज्ञान नहीं है और जो श्रद्धानरहित है

वह असंयमका त्याग नहीं करता है. यहां इस विवेचनका यह अभिप्राय है कि, संयमका उद्योत करनेवाला तपश्चरण निर्जराका कारण होता है. अर्थात् संयमपूर्वक तप हो तो कर्मकी निर्जरा होती है अन्यथा नहीं होती है. इसलिये संयम तपका परिकर है. इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं " संजमहीणं च तवो जो कुणइ णिरत्थयं कुणइ " संयमरहित तप जो व्यक्ति करता है वह व्यर्थ ही क्लेश करता है.

संयमका उद्योत करनेके लिये मनमें संक्लेश परिणामोंको उत्पन्न न करते हुए क्षुधादि बाधाओंको सहना चाहिये. उपवास, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान इन तपोंको करते समय भूख प्यासकी वेदनासे मनमें व्याकुलता न होनी चाहिये. अथवा यह तपश्चरण मैं कैसा धारण करूं ऐसी कायरता छोड देनी चाहिये. आहारके और पानके पदार्थोंमें मनको चलित न करना चाहिये. मैं यह पदार्थ भक्षण करूंगा यह पदार्थ पी लूंगा ऐसे मुहसे कथा न करें तथा उस कथासे अनादर करें. उपवाससे थका हुआ इधर उधर लोटना छोडदे. मैं क्षुधासे पीडित हुआ हूं, प्याससे मेरेको कष्ट ही रहा है ऐसा वचन न बोले अथवा आहारके दिन याचना न करे.

मैं उपवाससे थक गया हूं इसलिये यह रूखा भोजन मैं नहीं खा सकता हूं. मेरेको दूध, घी, खांड वगैरह पदार्थ आप देवें ऐसी वचनसे याचना नहीं करनी चाहिये. अथवा यदि यह पदार्थ मिले तो बहुत अच्छा होगा ऐसा मनमें भी विचार न लाना चाहिये. शरीरपर भी इस विचारका कुछ चिन्ह व्यक्त न होना चाहिये. जैसे दाता क्षीरादि पदार्थ देने लगा तो मुख हास्यसे प्रफुल्लित होना, थंडा और रूक्ष आहार देता हो तो मुखपर कोप प्रगट होना. इस तरह क्षुधादिक परीषह सहन करने चाहिये.

आहारादिककी प्राप्ति न होनेपर भी लाभकी अपेक्षा अलाभसे ही मेरे तपकी वृद्धि होती है ऐसा मनमें विचार करता हुआ अलाभ परीषह सहन करना चाहिये. लोकव्यवहारज्ञ और धार्मिक जन तप और तपस्विओंका बडा आदर करते हैं, मैं बडा कठिन तप करता हूं तो भी ये लोक मेरा आदर करते नहीं हैं. यह विचार मनमें लाकर कोपसे संक्लेशपरिणामके वश न हो जाना चाहिये. अथवा सत्कारपुरस्कार परीषह सहन करना चाहिये.

रसका यदि परित्याग किया है तो रसयुक्त आहारकी कथाके तरफ अपने मनको न लगावें, रसयुक्त पदार्थका अवलोकन होनेसे उस विषयके आदरभावको दूर हटाना चाहिये. रसोंका त्याग करनेसे यदि देहमें दाह उत्पन्न हो तो सहन करना चाहिये.

आतापनयोग धारण करते समय सूर्यकिरणसे, स्वेदसे बहुत कष्ट होनेपर भी मन संक्लिष्ट न होने देना चाहिये. और उनका प्रतीकार करनेवाले वस्तुओंमें आदर भी नहीं करे.

जहां लोगोंका आना जाना नहीं है ऐसे एकान्तस्थानमें प्रवेश किया हो और वहां पिशाच अथवा दुष्ट व्याघ्रादि पशुओंका उपद्रव होनेपर भी मनमें भयभीत न होना चाहिये और अरतिपरीषह सहन करना चाहिये. प्रायश्चित्तका आचरण करते समयमें भी गुरुने मेरे बलाबलका विचार न करके बडा प्रायश्चित्त दिया है ऐसा विचार कर मनमें क्रोध न उपजावें. प्रायश्चित्त करते समयमें होनेवाले क्लेशको सहकर संक्लेश परिणाम न होने देवें

ज्ञानविनयके कार्य में प्रवृत्त हुये मेरे को ही क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि करनेके लिये गुरु नियुक्त करते हैं. दूसरों को इस कार्यमें नहीं लगाते ऐसा विचार कर कोप नहीं करना चाहिये और ज्ञानविनयके कार्यमें श्रम हुआ तो भी सहन करना चाहिये.

दर्शनविनयमें तत्पर रहनेवाले मुनिवर्यने सन्मार्गसे भ्रष्ट हुए व्यक्तीको सन्मार्गमें पुनः स्थिर करना चाहिये. ऐसे कार्यमें महान् परिश्रम करने पडने पर भी खेद न मानना चाहिये. स्वतःका चित्त वक्रविचारयुक्त हुआ हो तो उसको भी सीधे मार्गपर लाना बडा दुष्कर कार्य है तो अन्य व्यक्तिको सन्मार्गमें स्थिर रखना क्या सुलभ है? ऐसा मनमें विचार न करना चाहिये. अर्थात् स्थिरीकरणकार्यमें होनेवाले परिश्रमको सहन करना अपना कर्तव्य समझना चाहिये.

चारित्रविनयमें सदा ही तत्पर रहकर ईर्यादिसमितियां पालनी चाहिये. ये समितियां बडी दुष्कर हैं. जगमें सर्वत्र जीव भरे हैं अतः जीवहिंसाका कैसे परिहार हो सकेगा ? प्रत्येक पांव रखते समय अच्छी तरहसे देख भाल करने पर भी जीवोंका दर्शन और उनका परिहार होना अशक्य है. इससे तो इष्टस्थान पर जाना ही न होगा. ईर्यासमितीसे चलते समय सूर्यकी उष्णता, कंटकादिकसे बाधायें होती हैं. ऐसे विचार मनमें लाकर संक्लेशपरिणाम नहीं बनाना चाहिये.

जैसे दुष्टपुरुषमें कृतज्ञता गुण पाना दुर्लभ है वैसे ही नऊ प्रकारसे विशुद्ध आहार पाना कठिन है. ऐसा मनमें कभी भी विचार न करे. यह सब चारित्रविनय है.

मैंने तपोविनय धारण किया है, अनशनादिक तप करनेमें मैं हमेशा तत्पर रहता हूं, अप्रासुक पानी

पीनेसे तथा अशुद्ध भिक्षा ग्रहण करनेसे जो पाप उत्पन्न होता है उसको मेरा तप भस्म कर डालेगा ऐसा मनमें संकल्प नहीं करना चाहिये.

वारवार ऊठना, गुरुओंके पीछे गमन करना, उनकी आज्ञा शिरोधारण करना, उपकरणोंको सोधना पोछना वगैरे उपचारविनय है. ये कार्य दररोज करनेकी यह आपत् व्यर्थ ही पीछे लगी है. ऐसा मनमें विचार न करें. वडे आनन्दसे उपचारविनयका पालन करें.

तपश्चरणमें श्रद्धा रखना यह भी तपोविनय है. तपश्चरणके द्वारा आत्मापर उपकार होता है यह अपने बुद्धिसे जानकर तपके उपर श्रद्धा करनी चाहिये. तपश्चरणसे नवीन कर्मका संवर होता है. और पूर्वकालमें बंधा हुआ कर्म निर्जीर्ण होकर आत्मासे छूट जाता है. तप जीवोंको इंद्रपदवी, चक्रवर्तिपद वगैरे लोकपूज्य पद अर्पण करता है. उत्कृष्ट तपके अलाभसे ही जीवको संसारसमुद्रमें जन्ममरण के आवर्तमें घूमना पडता है. दुःखोंसे भरे हुए इस भवसमुद्रमें तपके अभावसे ही मैंने भ्रमण किया है और करूंगा. ऐसा विचार करके तपमें प्रेम करना चाहिये.

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ऐसी छह आवश्यक क्रियायें हैं. ये क्रियायें शास्त्रमें जैसी कही हैं वैसा उनका आचरण करना चाहिये. उसमें न्यूनता न होवें. यदि होगी तो तपोविनयमें न्यूनता आवेगी.

' ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासयंति वोधव्वा ' ऐसी आवश्यक शब्दकी निरुक्ति है. व्याधि–रोग अशक्तपना इत्यादि विकार जिसमें है ऐसे व्यक्तिको अवश कहते हैं. ऐसे व्यक्तीको जो क्रियायें करना योग्य हैं उनको आवश्यक कहते हैं. जैसे ' आशु गच्छतीत्यश्वः ' अर्थात् जो शीघ्र दौडता है उसको अश्व कहते हैं. अर्थात् व्याघ्रादिक कोई भी प्राणी जो शीघ्र दौड सकते हैं वे सभी अश्वशब्दसे संगृहीत होते हैं. परंतु अश्वशब्द प्रसिद्धिके वश होकर घोडा इस अर्थमें ही रूढ है. वैसे अवश्य करने योग्य जो कोई भी कार्य है वह आवश्यक शब्दसे कहा जाना चाहिये जैसे–लौटना, करवट बदलना, किसीको बुलाना वगैरह कर्तव्य अवश्य करने पडते हैं परंतु आवश्यक शब्द यहां सामायिकादि क्रियाओंमें ही प्रसिद्ध है.

अथवा आवासक ऐसा शब्द मानकर ' आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनि इति आवासकाः ' ऐसी भी निरुक्ति करते हैं. अर्थात् जो आत्मामें रत्नत्रयका निवास कराते हैं उनको आवासक कहते हैं. सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव,

वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक क्रिया हैं-उसमेंसे सामायिक क्रियाका वर्णन आचार्य कहते हैं –

सामायिकके चार भेद हैं—नामसामायिक, स्थापनासामायिक, द्रव्यसामायिक और भावसामायिक.

नामसामायिक—जाति, गुण, क्रिया वगैरह निमित्तोंके विना किसी भी जीवादि पदार्थोंका सामायिक ऐसा नाम रखना.

स्थापनासामायिक—सर्व पापोंका त्याग करनेवाले परिणामोंसे परिणत ऐसे आत्मासे एकरूप हुए शरीरका जो आकार सामायिक करते समय होता है वैसा ही आकारसादृश्य जिनमें है ऐसे चित्र, फोटो वगैरह पदार्थमें यह सामायिक है ऐसी स्थापना करना यह स्थापनासामायिक है.

आगमद्रव्यसामायिक—अंगबाह्य श्रुतज्ञान का सामायिक नामका आद्य ग्रंथ है. उस ग्रंथका अर्थ जो जानता है अर्थात् सामायिक रूप आत्मपरिणामका अनुभव जिसको आ चुका था परंतु सांप्रत जो सामायिकरूपज्ञानसे परिणत नहीं हुवा है वह व्यक्ति आगमद्रव्यसामायिक है.

नो आगमद्रव्यसामायिकके ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त ऐसे तीन भेद हैं. सामायिकको जानने-वाले आत्माका जो शरीर है वह भी आत्माके समान सामायिकका ज्ञान होनेमें कारण है. क्यों कि शरीरके विना आत्माको ज्ञान होता नहीं है. जो पदार्थ जिसके सद्भावमें रहता है या उत्पन्न होता है और जिसके अभावमें उत्पन्न नहीं होता है वह उत्पन्न होनेवाला पदार्थ उसका कार्य समझना चाहिये. शरीरके विना सामायिकका ज्ञान आत्मा स्वयं अपनेमें धारण नहीं कर सकता है. अतः वह ज्ञान शरीरका कार्य माना जाता है. अर्थात् ज्ञान और शरीरमें हेतुफलव्यवस्था है ऐसा यहां समझना चाहिये. ज्ञानरूप सामायिकका शरीर कारण होनेसे त्रिकालस्थित वह शरीर सामायिक शब्दसे वाच्य होता है.

भाविसामायिक—चारित्रमोहनीय कर्मके विशेष क्षयोपशमसे आत्मामें भविष्यत्कालमें जो सर्व सावद्य योगसे निवृत्त करनेवाला परिणाम होगा उसको भावि सामायिक कहते हैं.

तद्व्यतिरिक्त नो आगमद्रव्यसामायिक—क्षयोपशमरूप अवस्थाको प्राप्त हुए चारित्र मोहनीय कर्मको जो कि सामायिकके प्रति कारण है वह नो आगमद्रव्य तद्व्यतिरिक्त सामायिक है.

नो आगमभावसामायिक—संपूर्ण सावद्ययोगोंसे विरक्त ऐसे आत्माके परिणामको नो आगमभाव सामायिक कहते हैं. यही सामायिक प्रकृत विषयमें ग्राह्य है.

आगमभावसामायिक—सामायिक शास्त्रका ज्ञान जिसका सांप्रतमें उपयोग हो रहा है.

चतुर्विंशतिस्तव—इस भरतक्षेत्रमें वर्तमानकालमें वृषभनाथसे महावीर तक चोवीस तीर्थंकर होगये हैं उनमें अर्हन्तपना वगैरे अनंतगुण हैं. उनको जानकर तथा उनके ऊपर श्रद्धान रखते हुये उनकी स्तुति करना यह चतुर्विंशतिस्तव है.

वंदना—रत्नत्रयधारक यति, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, वृद्धसाधु, इनके उत्कृष्ट गुणोंको जानकर श्रद्धा सहित होता हुवा अभ्युत्थान और प्रयोग ऐसे भेदसे दो प्रकारके विनयोंमें प्रवृत्ति करना यह वंदना आवश्यक है. इस अभ्युत्थान और प्रयोगके और भी अनेक भेद हैं।

यह वंदना कार्य किसको करना चाहिये, किसके प्रति करना चाहिये, किस समयमें और कितने वार करना चाहिये ? अभ्युत्थान–ऊठकर आदरसे खडे होना यह कर्तव्य किसने बताया है ? तथा किस फलकी अपेक्षा करके यह करना चाहिये ? पूर्वकालमें कर्मभूमीमें विनयको कर्तव्य कर्म समझकर सर्व जिनेश्वरोंने उसका उपदेश दिया है यह कर्तव्य करनेसे मानकषायका नाश होता है. बहुमान करनेका श्रेय मिलता है. अथवा गुरुजन विनय करनेवालोंको आदरकी दृष्टीसे देखते हैं. तीर्थंकरोकी आज्ञा हमने शिरोधार्य की है ऐसा सिद्ध होता है. इस विनयसे ज्ञान और धर्मकी आराधना होती है. परिणामोंमें निर्मलता, निष्कपटता और संतोष ये फल प्राप्त होते हैं. इन फलोंकी प्राप्तिके लिये यह कर्तव्य वंदना करनेवालोंको करना चाहिये. विनय करनेवाला गर्वरहित, संसारभीरु, आलस्यरहित स्वभावयुक्त, अनुग्रहकी इच्छा रखनेवाला, अन्य व्यक्तिओंके गुण प्रकाशित करनेवाला, संघवत्सल, एवंविधगुणविशिष्ट होना चाहिये. मुनिओंको श्रावकके आनेपर ऊठकरके खडे होना योग्य नहीं है. अथवा पार्श्वस्थादि भ्रष्ट मुनिओंका आगमन होनेपर भी ऊठना योग्य नहीं है, जो मुनि रत्नत्रयमें, और तपश्चरणमें तत्पर हैं वे आनेपर अभ्युत्थान करना योग्य है. जो सुखके वश होकर अपने आचारमें शिथिल हो गये हैं उनके आनेपर ऊठ करके खडे हो जानेसे कर्मबंध होता है. सुखशीलोंका विनय करनेसे प्रमाद उत्पन्न होता है. और ज्यादा प्रमादी बनानेका साधन हो जाता है.

आश्वासः २

भीलता स्थिर और वृद्धिंगत होती है. जो ग्रंथ और अर्थका पढाता है अथवा सदादि अनुयोगोंका शिक्षण देता है वह व्यक्ति यदि अपनेसे रत्नत्रयमें हीन है तोभी उसके आनेपर उठकर खडे होना चाहिये. जो जो उसके पास अध्ययन करते हैं वे सर्वजन उठकर खडे होवें. वसतिकास्थानसे, कायभूमीसे (?) भिक्षा लेकर लौटते समय, जिनमंदिरमें आते समय, गुरुके पाससे आते वख्त अथवा ग्रामांतरसे आते समय उठना चाहिये. गुरुजन जब बाहर जाते हैं अथवा बाहरसे आते हैं, तबतब अभ्युत्थान करना चाहिये. इसी प्रकारसे इतर बातें भी जाननी चाहिये.

पंचनमस्कारोच्चारण करते समय प्रथमतः भूमिपर हाथ जोडकर एक नमस्कार करना चाहिये. तथा चतुर्विंशतिस्तवनके प्रारंभमें ही नम्र होकर एक नमस्कार करना चाहिये. प्रत्येक दिशामें तीन आवर्त कर एक नमस्कार करना चाहिये. ऐसा करनेसे चार दिशाओंमें चार नमस्कार और बारा आवर्त होते हैं. (हमने इसका अर्थ संक्षेपमें लिखा है. इसका खुलासा मूलाचार ग्रंथमें षडावश्यकाधिकार की १०४ गाथामें वसुनंदि आचार्यने किया है पाठकगण वहां देख लेवें.)

अब प्रतिक्रमणका विवरण करते हैं—

अशुभ प्रवृत्तीसे निवृत्त होना प्रतिक्रमण है. उसके छह भेद हैं. जैसे नामप्रतिक्रमण, स्थापनाप्रतिक्रमण, द्रव्यप्रतिक्रमण, क्षेत्रप्रतिक्रमण, कालप्रतिक्रमण, और भावप्रतिक्रमण, अयोग्य नामोंका उच्चारण न करना यह नाम प्रतिक्रमण है. भर्तृदारिका, स्वामिनी इत्यादिक अयोग्य नामोंका उच्चार न करना यह नामप्रतिक्रमण है.

स्थापना प्रतिक्रमण —आप्ताभास-हरिहरादिकोंकी प्रतिमायें, त्रस और स्थावरोंके चित्र, जो कि रंगके द्वारा लिखे गये हैं अथवा पाषाण, लकडी इत्यादिकोंमें उकेरे गये हैं इन सबको स्थापना कहते हैं. आप्ताभासकी प्रतिमाके आगे खडे होकर हात जोडना, मस्तक नम्र करना, उनकी गंधादिद्रव्योंके द्वारा पूजा करना यह कार्य नहीं करना चाहिये. इस प्रकारके स्थापनाका त्याग होनेसे स्थापना प्रतिक्रमण होता है. अथवा त्रसजीवोंकी वा स्थावरजीवोंकी जो स्थापनायें होती हैं उसका नाश न करना, मर्दन न करना, ताडन न करना, यह भी स्थापना प्रतिक्रमण है.

द्रव्यप्रतिक्रमण —वास्तु, क्षेत्र, धनधान्यादि दशप्रकारके परिग्रहोंका त्याग करना, उद्गम, उत्पादनादि

दोषयुक्त वसतिका, उपकरण व आहार इनका त्याग करना, जो आहारादिक पदार्थ अयोग्य हैं, अभिलाषाको अधिकतासे उत्पन्न करते हैं. जिनसे उन्मत्तता और संक्लेशपरिणाम बढते हैं ऐसे आहारादिकोंका त्याग करना यह सब द्रव्यप्रतिक्रमण है.

क्षेत्रप्रतिक्रमण—पानी, कीचड, त्रसजीव, स्थावर जीव इनसे व्याप्त हुए प्रदेशोंमें जाने आनेका त्याग करना. अथवा जिसमें अपने रहनेसे रत्नत्रयधर्मकी हानि होगी ऐसे प्रदेशोंका त्याग करना यह भी क्षेत्रप्रतिक्रमण है. जहां ज्ञानवृद्ध व तपोवृद्ध मुनि रहते नहीं हैं ऐसे स्थानोंको त्यागना यह क्षेत्रप्रतिक्रमण है.

कालप्रतिक्रमण—रात्रौ, तीनो संध्यासमयोंमे, स्वाध्याय काल, और सामायिकादि आवश्यक क्रियाके कालोंमें जाना आना वगैरे क्रियाओंका त्याग करना यह कालप्रतिक्रमण है.

काल तो सदा ही रहता है उसका त्याग हो नहीं सकता परंतु उस कालमें होनेवाली क्रियाओंका यह काल आधार है उसके साहचर्यसे उन क्रियाओंको भी काल कहते हैं.

भावप्रतिक्रमण—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, रागद्वेष, संज्ञा,-आहार, भय, परिग्रह और मैथुनकी अभिलाषा, निदान और आर्तध्यान, रौद्रध्यान इत्यादिक अशुभपरिणाम व पुण्यास्रवके कारणभूत अशुभपरिणाम इन सबोंको यहां भाव कहते हैं. उनसे निवृत्त होना भावप्रतिक्रमण है ऐसा किसी आचार्योंका मत है. कोइ आचार्य प्रतिक्रमणके चार भेद कहते हैं.

नामप्रतिक्रमण—द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति इत्यादि निमित्तोंके विना ही किसीका प्रतिक्रमण ऐसा नाम रखना वह नाम प्रतिक्रमण है.

स्थापना प्रतिक्रमण—विशिष्ट जीव द्रव्यके शरीराकारकी सदृशताकी अपेक्षासे चित्रादिकोंमें अशुभ परिणामोंकी स्थापना करना वह स्थापना प्रतिक्रमण है.

आगमद्रव्यप्रतिक्रमण—प्रमाण, नय, निक्षेप वगैरहके द्वारा प्रतिक्रमणावश्यक ग्रंथका स्वरूप जो जानता है परंतु वर्तमानकालमें प्रतिक्रमणके सूत्रोंमें उसका उपयोग लगा नहीं है. परंतु आगामिकालमें उत्पन्न होनेवाले ज्ञानरूप प्रतिक्रमणका जो कारण है ऐसे जीवको आगमद्रव्यप्रतिक्रमण कहते हैं.

नो—आगमद्रव्यप्रतिक्रमणके तीन भेद हैं. ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त. जैसे प्रतिक्रमण-

पर्यायको आत्मा कारण है वैसे उस आत्माका शरीर भी प्रतिक्रमणपर्यायको कारण है. इसलिये उसका त्रिकालगोचर शरीर भी प्रतिक्रमणशब्दसे वाच्य होता है.

भाविप्रतिक्रमण—चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयोपशमका सान्निध्य होनेसे जो आगे प्रतिक्रमणपर्याय धारण करेगा वह आत्मा भाविप्रतिक्रमण है.

नो-आगमद्रव्यव्यतिरिक्त प्रतिक्रमण—क्षयोपशमावस्थाको प्राप्त हुआ जो चारित्रमोहकर्म वह तद्व्यतिरिक्त प्रतिक्रमण है.

प्रतिक्रमणका जो ज्ञान वह आगमभावप्रतिक्रमण है मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र इनसे मैं विरक्त हुआ हूं ऐसा जो ज्ञान आत्मामें उत्पन्न होता है वह आगमभावप्रतिक्रमण है.

अशुभपरिणामोंके दोष जानकर और श्रद्धा कर उसके उलटे परिणामोंसे आत्मा जब परिणत होता है तब वह नो आगमभावप्रतिक्रमण है.

प्रश्न—सामायिक और प्रतिक्रमणमें क्या भेद है ? सावद्यमनवचन कायकी प्रवृत्तियोंसे विरक्त होना यह सामायिकका लक्षण है. और अशुभ मनोवाक्कायकी निवृत्ति होना यह प्रतिक्रमण है अर्थात् प्रतिक्रमण और सामायिक इनमें कुछ भी भेद नहीं है इसलिये छह आवश्यक क्रियाओंकी व्यवस्था कैसी होगी ? इस प्रश्नका उत्तर कोई विद्वान इस प्रकार देते हैं—

'सर्व सावद्ययोगोंका मैं त्याग करता हूं' ऐसा वचन अर्थात् प्रतिज्ञा सामायिकमें की जाती है. हिंसादिकोंके भेद पृथक् न ग्रहण कर सामान्यसे सर्व पापोंका त्याग करना सामायिक है. और हिंसा, असत्य वगैरे भेदोंसे सावद्ययोगके विकल्प करके उससे विरक्त होना प्रतिक्रमण है. इस विषयके सूत्र का अभिप्राय यह है कि—मिथ्यात्वका त्याग करना, असंयमका अर्थात् उसके प्रभावसे उत्पन्न होनेवाले अतिचारोंका त्याग करना, कषायोंका तज्जनित अतिचारोंका त्याग करना तथा अप्रशस्त मनोवाक्काय विषयक व्रतातिचारोंका त्याग करना यह भाव प्रतिक्रमण है. इस रीतीसे उपरके प्रश्नका कोई विद्वान उत्तर देते हैं परंतु यह उनका उत्तर अयोग्य है.

योग शब्दसे वीर्यपरिणाम ऐसा अर्थ होता है. वह वीर्यपरिणाम वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न

होता है. इसलिये यह क्षायोपशमिक भाव है. ऐसे योगसे निवृत्त होना यह सामायिक है अर्थात् अशुभकर्मका ग्रहण करनेवाले योगरूप आत्मा की परिणति न होना यह सामायिक शब्दका अर्थ है.

मिथ्यात्व, असंयम और कषाय ये दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे आत्मामें उत्पन्न होते हैं, अतः ये भाव औदयिक हैं. मिथ्यात्व-तत्वोंमें श्रद्धान न करना, असंयम-हिंसादि पंच पापोंको असंयम कहते हैं. क्रोध, मान, माया, लोभ ये परिणाम परस्परसे और मिथ्यात्व असंयमसे बिलकुल भिन्नस्वरूप है ऐसा अनुभवमें आता है. जिसके कारण भिन्न रहते हैं वे पदार्थ एकस्वरूपके नहीं होते हैं. जैसे शाली और गेहुओंके कारण भिन्न होनेसे वे एक नहीं है. वैसे ही मिथ्यात्व, असंयम और कषाय इनके हेतुओंमें और स्वरूपमें भी भिन्नता होनेसे ये परस्पर तो भिन्न है. ऐसे परिणामोंसे विरक्ति होना यह प्रतिक्रमण कहा गया है. सावद्ययोगमात्रसे निवृत्त होना सामायिक है. ऐसा दोनोंमें बडा भेद-विशेष है.

इन परिणामोंके भेदोंका आश्रय कर ' चदुपच्चयाण बंधो ' यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है. यदि योगके ही चार भेद माने जाते तो योगके साथ मिथ्यात्वादिकोंकी चार संख्या मानना न्याय्य नहीं होता.

प्रत्याख्यान आवश्यक—भविष्यकालीन क्रिया मैं नहीं करूंगा ऐसा संकल्प करना यह प्रत्याख्यान आवश्यक है यह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ऐसे विकल्पसे छह प्रकारका है. अयोग्य नामका मैं उच्चार नहीं करूंगा ऐसे संकल्पको नामप्रत्याख्यान कहते हैं. आप्ताभासके-हरिहरादिकोंकी प्रतिमाओंकी मैं पूजा नहीं करूंगा, मनसे, वचनसे और कायसे त्रस और स्थावर जीवोंकी स्थापना मैं पीडित नहीं करूंगा ऐसा जो मानसिक एकाग्र रूप संकल्प यह स्थापना प्रत्याख्यान है. अथवा अर्हदादि परमेष्ठिओंकी स्थापनाका-उनकी प्रतिमाओंका मैं नाश न करूंगा, अनादर नहीं करूंगा. यह भी स्थापना प्रत्याख्यान है.

द्रव्यप्रत्याख्यान—अयोग्य आहार, उपकरण वगैरह पदार्थोंको मैं ग्रहण न करूंगा ऐसा संकल्प करना.

क्षेत्रप्रत्याख्यान—अयोग्य व जिनसे अनिष्ट प्रयोजनकी उत्पत्ति होगी, जो संयमकी हानि करेंगे अथवा संक्लेशपरिणामोंको उत्पन्न करेंगे एसे क्षेत्रोंको मैं त्यागूंगा ऐसा संकल्प करना यह क्षेत्रप्रत्याख्यान है.

कालप्रत्याख्यान—कालका त्याग करना शक्य ही नहीं है. इसलिये उस कालमें होनेवाली क्रियाओंको त्यागनेसे कालका ही त्याग होता है ऐसा यहां समझना चाहिये. अर्थात् संध्याकाल, रात्रिकाल वगैरह समयमें

अध्ययन करना, आना जाना इत्यादिकार्य मैं नहीं करूंगा ऐसा संकल्प करना कालप्रत्याख्यान है.

भावप्रत्याख्यान—भाव-अशुभपरिणाम उनका मैं त्याग करूंगा ऐसा संकल्प करना. इसके दो भेद हैं. मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तर गुणप्रत्याख्यान.

शंका—मूलगुण इस शब्दका अर्थ व्रत ऐसा होता है. उनका त्याग भविष्यत्कालमें मैं करूंगा ऐसा संकल्प संवरको चाहनेवाले यदि करें तो कर्मसंवर होगा ही नहीं. संवरको चाहनेवालोंको व्रतका अवश्य पालन करना चाहिये अतः मूलगुणप्रत्याख्यान होता नहीं है.

उत्तर—उत्तरगुणोंको कारण होनेसे व्रतोंमें मूलगुण यह नाम प्रसिद्ध है. मूलगुणरूप जो प्रत्याख्यान वह मूलगुणप्रत्याख्यान है. अर्थात् यहां षष्ठीतत्पुरुष समास नहीं है. कर्मधारय समास है. अतः उपर्युक्त शंकाका परिहार हुआ. व्रतोंके अनंतर जो पाले जाते हैं ऐसे अनशनादि तपोंको उत्तरगुण कहते हैं. उत्तरगुणप्रत्याख्यान इस शब्दमें भी कर्मधारय समास ही है. ' उत्तरगुणश्च सः प्रत्याख्यानं च तदिति उत्तरगुणप्रत्याख्यानं ' उत्तरगुण-प्रत्याख्यानका ऊपर कहा हुआ विग्रह समझना चाहिये. मुनियोंको मूलगुणप्रत्याख्यान आमरण रहता है. संयता-संयत अर्थात् पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक उसके अणुव्रतोंको मूलगुण कहते हैं. गृहस्थ मूलगुणप्रत्याख्यान अल्प-कालिक और जीवितावधिक ऐसा दोन प्रकारका कर सकते हैं. पक्ष, छह महिने इत्यादिरूपसे भविष्यत्कालकी मर्यादा करके उसमें स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुनसेवन, और परिग्रह ऐसे पंचपातक मैं नहीं करूंगा ऐसा संकल्प करना यह अल्पकालिक प्रत्याख्यान है. मैं आमरण स्थूल हिंसादिपापोंको नहीं करूंगा ऐसा संकल्प कर उनका त्याग करना यह जीवितावधिकप्रत्याख्यान है.

उत्तरगुणप्रत्याख्यान तो मुनि और गृहस्थ जीवितावधि और अल्पावधि भी कर सकते हैं. जिसने संयम धारण किया है. उसको सामायिकादिक, और अनशनादिक भी रहते हैं अतः सामायिकादिकोंको और तपको उत्तरगुणपना है. भविष्यत्कालको विषय करके अशनादिकोंका त्याग किया जाता है. अतः उत्तरगुणरूप यह प्रत्याख्यान है ऐसा माना जाता है. सम्यक्त्व यदि होगा तभी यह दो तरहका प्रत्याख्यान मुनि और गृहस्थोंको माना जाता है. यदि सम्यग्दर्शनके साथ यह प्रत्याख्यान न होगा अकेला ही होगा तो यह प्रत्याख्यान इस २९२
नामको नहीं पाता है.

जीवनिकाय और हिंसादिकोंका स्वरूप जानकर और उनके ऊपर श्रद्धा कर यदि सर्व प्रकारसे अथवा एकदेशसे हिंसादिकोंका त्याग करनेपर उस त्यागको व्रतसंज्ञा प्राप्त होती है. यही अभिप्राय 'निःशल्यो व्रती' इस सूत्रमें है. मिथ्याशल्य, मायाशल्य और निदानशल्य ऐसे तीनशल्य हैं. ऐसे तीनशल्योंसे जो रहित है वही निःशल्य है; निःशल्यको ही व्रती कहना चाहिये. जो शल्यसहित है वह व्रती नहीं है. यदि जीवादि पदार्थोंपर श्रद्धा न हो तो मिथ्यात्वशल्यका त्याग नहीं हो सकता. जीवादिपदार्थोंका ज्ञान यदि न होगा तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान युक्त प्राणीको ही व्रतिपना प्राप्त होता है ऐसा सूत्रकारने कहा है. यही अभिप्राय आवश्यक नामके ग्रंथमें भी कहा है—

" मुनिओंके अहिंसादि पंचमहाव्रत और श्रावकोंके पांच अणुव्रत ये सम्यग्दर्शनके बिना नहीं होते हैं. इसलिये प्रथमतः आचार्योंने सम्यक्त्वका वर्णन किया है. "

मुनिराज मनसे, वचनसे और शरीरसे हिंसादिक पाप कार्य स्वयं नहीं करते, न कराते और न अनुमोदन देते हैं, यावज्जीव नव प्रकारसे पापोंका त्याग करते हैं. परंतु सम्यग्दृष्टि गृहस्थ मूलगुण अथवा उत्तरगुण अपनी शक्त्यनुसार ग्रहण करता है और यावज्जीव किंवा अल्पकालपर्यंत पालता है. मैंने पूर्वकालमें हिंसादिक कार्य किये, हाय मैंने यह दुष्ट कार्य किया, मैंने दुष्ट संकल्प किये और मैंने हिंसादि प्रवृत्तिकर भाषण किया. यह मैंने अयोग्य किया है इस प्रकार निंदा और गर्हाके द्वारा वर्तमान कालीन असंयम बुरा समझता है. पूर्वमें जैसा असंयम मैंने किया था अथवा अब जो असंयम प्रवृत्ति हुई ऐसी असंयम प्रवृत्ति मैं आगामिकालमें नहीं करूंगा, इस रीतीसे वह श्रावक पापोंका प्रत्याख्यान करता है.

अब गृहस्थोंके हिंसादि त्यागरूप परिणामोंके विकल्पोंका विवरण करते हैं—

स्थूल हिंसादिक पांच पापोंको कृत, कारित, अनुमत ऐसे तीन विकल्पोंसे तथा मन, वचन और शरीरके विकल्पोंसे त्याग नहीं करते हैं. उनका क्रम—मैं मनसे स्थूल हिंसादिक पंच पाप नहीं करूंगा, तथा वचनसे और शरीरसे भी नहीं करूंगा. यह कृतके तीन भेद हैं. मनके द्वारा मैं स्थूल हिंसादिक पांच पाप नहीं कराऊंगा, तथा वचन और शरीरके द्वारा भी नहीं कराऊंगा. ये कारितके तीन भेद हैं. मनके द्वारा स्थूल हिंसादि पापोंको सम्मति मैं नहीं देऊंगा. वचन और शरीरके द्वारा भी मैं सम्मति नहीं देऊंगा इस तरहसे तीन प्रकारकी सम्मति

हैं. परंतु गृहस्थ स्थूलहिंसादि पापोंका नउ प्रकारोंसे त्याग करनेमें असमर्थ रहते हैं. क्यों कि वे गृहकार्योंसे विरक्त नहीं रहते हैं.

मन और वचनके द्वारा स्थूल हिंसादिक पापोंको कृत, कारित, अनुमतीके विकल्पोंसे नहीं करता है. परंतु शरीरके द्वारा हिंसादिक पापोंका कृतकारितानुमति विकल्पपूर्वक त्याग करनेमें असमर्थ होता है, अर्थात् मनके द्वारा मैं स्थूल पातक नहीं करूंगा, नहीं कराउंगा और अनुमति नहीं देउंगा. तथा वचनके द्वारा भी स्थूल पातक नहीं करूंगा, नहीं कराउंगा और अनुमति नहीं देउंगा इस प्रकार हिंसादिकका त्याग कर सकता है. इस विषयमें ऐसा सूत्र है—' ण दु तिविधं तिविधेण य दुविधेकविधेण वापि विरमेज्ज ' इति.

गृहस्थ किस प्रकारसे विरक्त होता है ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य लिखते हैं—कृत और कारितविकल्पसे मन वचनकायके द्वारा वे हिंसादिक त्यागते हैं. अथवा शरीरके द्वारा और वाणीके द्वारा हिंसादिविषयक कृतकारितका त्याग करते हैं. इसीलिये इस विषयमें पूर्वाचार्योंने आगेका सूत्र कहा है—' दुविधं पुण तिविधेण य दुविधेकविधेण वापि विरमेज्ज '

अथवा मनवचन और शरीरके द्वारा स्थूलहिंसादिक पाप फक्त स्वयं मैं नहीं करूंगा ऐसा संकल्पपूर्वक व्रत ग्रहण करता है. किंवा वचन और शरीरके द्वारा ही पांच पापोंको स्वयं नहीं करता है अथवा केवल शरीरसे ही स्वयं हिंसादिकोंका कृतरूपसे त्याग करता है. अर्थात् मैं शरीरके द्वारा ही पांच पातक नहीं करूंगा. ऐसा व्रत लेता है. इस विषयका सूत्र ऐसा है—' एकविधं तिविधेणापि विरमेज्ज '

इस रीतीसे जो व्रतोंके विकल्प होते हैं इनको भविष्यत्कालका विषय करनेसे प्रत्याख्यानके विकल्प उपजते हैं. जैसे—मैं मन, वचन और शरीरके द्वारा कृत, कारित और अनुमोदनोंसे आगेके कालमें हिंसादिकोंका त्याग करूंगा इत्यादि.

कायोत्सर्गका निरूपण करते हैं—

कायोत्सर्ग—काय शब्दका अर्थ शरीर होता है. और उत्सर्ग शब्दका अर्थ त्याग होता है. अर्थात् शरीरका त्याग करना यह कायोत्सर्ग शब्दका समग्र अर्थ हुआ. पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानको आधारभूत इंद्रियरूपी अवयवोंसे जिसकी रचना हुई है ऐसा कर्मनिर्मित औदारिक नामका जो विशिष्ट पुद्गलसमुदाय वह यहां

काय शब्दसे गृहीत होता है. अर्थात् औदारिकशरीरको यहा 'काय' कहते हैं. क्योंकि इतर वैक्रियिकादि शरीरोंमें उत्सर्ग–त्यागका संभव सिद्ध नहीं होता है. औदारिक शरीरसे ही चारित्र पाला जाता है. इससे ही मनुष्य मोक्षको हस्तगत करते हैं अतएव इसमें ही उत्सर्गकी संभावना है. अन्यत्र नहीं है. इस उत्सर्गका आगे खुलासा लिखेंगे.

शंका—जब आयुकर्म पूर्ण निकल जाता है तभी आत्मा शरीरको छोडती है. अन्यसमयमें नहीं. इसलिये अन्यसमय कायोत्सर्ग नामकी आवश्यक क्रिया कैसी होगी ?

उत्तर—आत्माके और शरीरके प्रदेश परस्परोंमें मिलजानेसे जबतक आयुकर्म है तबकत आत्मासे शरीरका विछोह नहीं होगा तोभी शरीर सप्तधातुओंसे बना हुआ है, अत्यंत अपवित्र शुक्र और शोणितोंसे इसकी उत्पत्ति हुई है अतः यह अशुचि है. तथा यह अनित्य, विनाशशील, असार, दुःखका हेतु है. इस शरीरपर ममता करनेसे जीवको अनंत कालतक संसारमें भ्रमण करना पडेगा. इत्यादिक शरीरदोषोंका विचार कर यह शरीर मेरा नहीं है और मैं इसका स्वामी नहीं हूं ऐसा संकल्प मनमें पैदा हो जानेसे शरीरपर प्रेमका अभाव होता है. उससे शरीरका त्याग सिद्ध होता है. जैसे प्राणसे भी प्रियपत्नीने यदि कुछ अपराध किया हो तो वह पतिके साथ एक ही घरमें रहती है तो भी पतीका प्रेम उसपरसे हट जानेसे वह त्यागी गई है ऐसा कह सकते हैं. क्यों कि यह मेरी है यह ममत्वभावना पुरुषके हृदयसे नष्ट हुई है. वैसे यहां शरीरपरसे ममत्व भाव हटनेसे कायोत्सर्ग–शरीरका त्याग सिद्ध होता है.

शरीरका नाश होनेका कारण उपस्थित होनेपर भी नाशको हटानेकी अभिलाषा कायोत्सर्ग नामक आवश्य क्रिया करते समय मुनिवर्यमें नहीं होती है. जो जिसके नाशके कारण हटानेमें उत्सुक नहीं हैं उसने वह त्यागा है ऐसा समझना चाहिये जैसे वस्त्रादिकोंका त्याग. शरीरके अपायकारणको हटानेमें यति निरुत्सुक रहते हैं इस लिये उनका कायत्याग योग्य ही है. कायोत्सर्ग करनेवाले मुनि शरीरपर निस्पृह होकर स्तंभके समान खडे हो जाते हैं. अपने दो बाहु जानु तक लंबे रखते हैं. और प्रशस्तध्यानमें निमग्न होते हैं. अपने ऊपरके शरीरको वे उन्नत और नम्र भी नहीं रखते हैं अर्थात् वे छातीको आगे जादा उठाते नहीं हैं अथवा नीचे उनका शरीर जादा झुकता भी नहीं है. कर्मका नाश करनेकी इच्छा रखते हुए वे निर्जन्तुक एकान्त स्थानमें उपसर्ग सहन करते हैं.

२९१ कायोत्सर्गका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल एक वर्षका है. रात्रिकायोत्सर्ग, दिनकायोत्सर्ग, पक्ष, मास, चारमास, संवत्सर ऐसे कायोत्सर्गके बहुत भेद हैं. अतिचार नष्ट होनेके लिये ये कायोत्सर्ग किये जाते हैं. रात्रि, दिवस, पंधरादिन, महिना, चारमहिने, वर्ष इत्यादि समयमें जो व्रतमें अतिचार लगते हैं उनको दूर करनेके लिये ये कायोत्सर्ग किये जाते हैं. सायंकालमें सो उच्छ्वास और प्रातःकालमें पचास उच्छ्वास किये जाते हैं. एक पक्षमें तीनसो श्वासोच्छ्वास, चारिमहिनेमें चारसो और वर्षमें ५०० पांचसो कायोत्सर्गका काल कहा है. प्राणि-हिंसादि पांच प्रकारके अतिचारोंमेंसे जो कोई अतिचार होगा तब एकसो आठ उच्छ्वास करने चाहिये. कायोत्सर्ग करनेपर यदि श्वासोच्छ्वास करते समय उनकी यदि संख्या ध्यानमें न रही है अथवा परिणामोंमें स्खलन हुवा हो तो आठ उच्छ्वास काल तक अधिक कायोत्सर्ग करना चाहिये.

कायोत्सर्गके १ उत्थितोत्थित, २ उत्थितनिविष्ट, ३ उपविष्टोत्थित ४ और उपविष्टोपविष्ट ऐसे चार भेद कहे हैं.

१ धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यानमें परिणत होकर जो खडे होकर कायोत्सर्ग करते हैं उनका वह उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग है. शरीर और आत्माके परिणाम दोनो भी उन्नत है यहां उनका उन्नतिप्रकर्ष दिखानेके लिये ' उत्थितोत्थित ' शब्दका प्रयोग किया है. उसमें शरीर खंबेके समान स्थिर खडा हुआ है यह द्रव्योत्थान कहा जाता है. तथा ज्ञान स्थिर होकर ध्येय वस्तुमें एकाग्र होता है उसको भावोत्थान कहते हैं.

आर्तध्यान और रौद्रध्यानमें परिणत होकर जो खडा होता है उसके कायोत्सर्गको उत्थितनिषण्ण कायोत्सर्ग कहते हैं. शरीरसे वह खडा है अतः उसको उत्थित कहते हैं. परंतु शुभपरिणामरूप उत्थानका अभाव होनेसे निषण्ण कहते है. उत्थितावस्थाका और आसनावस्थाका भिन्न भिन्न कारण होनेसे यहां उत्थित और उपविष्टमें विरोध नहीं है.

जो मुनि बैठकर ही धर्म और शुक्लध्यानमें लवलीन होता है उसका उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग है. परिणाम उसके उन्नतशील है परंतु शरीरसे वह उठकर खडा नहीं हुआ है. जो मुनि बैठा हुवा है और अशुभध्यान कर रहा है वह निषण्णनिषण्ण कायोत्सर्गयुक्त समझना चाहिये. वह शरीरसे बैठा हुवा है और परिणामोंसे भी २९२ उत्थानशील नहीं है.

दिवस, रात्रि, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक रत्नत्रय संबधी जो अतिचार होगये हो उनका मनसे स्मरण करना चाहिये. अनंतर मैंने प्रमादवश होकर यह दुष्ट कार्य किया है ऐसा चिन्तन कर धर्म अथवा शुक्लध्यानमें प्रयत्न करना चाहिये. कायोत्सर्ग धारण करनेवाले मुनियोंने उत्थित कायोत्सर्ग दोषोंका त्याग करना चाहिये. उन दोषोंका स्वरूप इस प्रकार है—

१ जैसे घोडा आपना एक पांव थोडासा अकड लंगडा करके खडा हो जाता है वैसे खडा होना २ वेली जैसी इधर उधर चंचल होकर हिलती है वैसे खडा कार्योत्सर्ग करते समय हिलना. ३ खंबेके समान शरीर ताठ करके खडे होना ४ खंबेके आश्रयसे, भित्तीके आधारसे अथवा मस्तकको ऊपरके पदार्थका आश्रय देकर खडे होना. ५ अधरोष्ठ लंबा करके और स्तनके तरफ दृष्टि देकर कौवेके समान दृष्टीको इतस्ततः फेकना. ६ लगामसे पीडित होकर घोडा जैसे मुखको हिलाता है वैसे मुखको हिलाता हुआ खडे होना ७ बैलके मानपर जूं रखनेसे वह अपनी मान नीचे करता है वैसे मान नीचे करता हुवा खडे होना. ८ कैथका फल पकडनेवाला मनुष्य हाथका तलभाग जैसे पसरता हैं वैसे करतल पसारकर खडे होना. ९ हाथके पांचो अंगुलिया संकुचित करके खडे हो जाना. १० गूंगामनुष्य जैसे हुंकार करता है वैसे खडे होकर हुंकार करना. अथवा गूंगा आदमी जैसे नाकके तरफ हाथ उठाकर वस्तुको दिखाता हैं वैसे खडे होकर वस्तुको हाथसे दिखाना, चुटकी बजाना, भोंहे टेढी करना, भोहे नचाना. अर्थात् खडे होकर उपर्युक्त दोषसहित कायोत्सर्ग करना. १४भीलकी स्त्री जैसी अपने गुह्यप्रदेशको हाथसे ढकती है वैसा कायोत्सर्गके समयमें करना. १५ जिसके पाव बेडीसे जकडे हुये हैं ऐसे मनुष्यके समान खडे रहना. १६ मद्यपान किये हुए मनुष्यके समान शरीरको इधर उधर झुकाता हुआ खडे होना ऐसे कायोत्सर्गके. दोष हैं. इन छह आवश्यक कर्मोंमें हानि नहीं करनी चाहिये तथा इनमें घटबढ भी नहीं करनी चाहिये.

भत्ती तवोधिगंमि य तवम्मि य अहीलणा य सेसाणं ॥
एसो तवम्मि विणओ जहुत्तचारिस्स साधुस्स ॥ ११७ ॥
तपस्तपोऽधिके भक्तिर्यच्छेषाणामहेडनं ॥
स तपोविनयोऽवाचि यथोक्तं चरतो यतेः ॥ ११८ ॥

विजयोदया—भत्ती भक्तिः। वदननिरीक्षणादिप्रसादेन अभिव्यज्यमानोऽन्तर्गतोऽनुरागः। तवोऽधिगम्मि। तपो ऽधिके च तवम्मि य सम्यक्तपसि, तद्वति च, भक्तिरिति यावत्। तच्च सम्यग्ज्ञानदर्शनसंयमानुगतं। अहीलणा य अपरिभवश्च। सेसाणं शेषाणां। तपसा न्यूनानामात्मनः ज्ञानश्रद्धानचरणवतां परिभवे ज्ञानादीन्येव परिभूतानि भवंति। ततो बहुमानाभावो ज्ञानातिचारः, वात्सल्याभावो दर्शनातिचारः। सातिचारज्ञानदर्शनस्य चारित्रमशुद्धं इति, महाननर्थ इति भावः। एसो एष व्यावर्णितपरिणामसमूह उत्तरगुणोद्योगादिकः। तवम्मि तपसि तपोविषयः। विणओ विनयः जधुत्तचारिस्स श्रुतनिरूपितक्रमेणाचरतः। साधुस्स साधोः।

मूलारा—तवोद्दियम्मि आत्मनः सकाशात्तपसाधिके मावौ। अहीलणा अपरिभवः। सेसाणं आत्मनः सकाशात्तपसा न्यूनानां। एसो यथोक्तः परिणामसमूहः।

अर्थ—तपसे अधिक अर्थात् अपनेसे श्रेष्ठ ऐसे मुनिओंका दर्शन होनेपर मुखमें प्रसन्नता आनंद वगैरह उत्पन्न होकर मनका अनुराग गुण प्रकट होना यह भक्ति है. यह भक्ति तपोधिक मुनि और तपमें करनी चाहिये. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और संयमपूर्वक जो तप किया जाता है वही सम्यक् तप है. इससे उलटा तप संवर और निर्जराका साधन न होकर संसारभ्रमणका साधन होता है. जो मुनि अपनेसे तपसे हीन हैं, न्यून हैं परंतु जो ज्ञान, श्रद्धान और चारित्रसंपन्न हैं उनकी अवहेलना कदापि नहीं करनी चाहिये. उनकी अवहेलना करनेसे ज्ञानादिक सद्गुणोंका तिरस्कार होता है. ज्ञानादिकका बहुमान न होनेसे ज्ञानमें अतिचार दोष उत्पन्न होता है. अवहेलनामें वात्सल्यगुणका नाश होकर दर्शनमें सदोषता पैदा होती है. ज्ञान और सम्यग्दर्शन अशुद्ध होनेपर चारित्र भी अशुद्ध हो जाता है. यह तो महा अनर्थ हुवा ऐसा समझना चाहिये. पूर्व गाथामें और इस गाथामें कहे हुए गुणोंका पालन करनेमें शास्त्रके अनुसार आचरण करनेवाले साधुको तपोविनयकी प्राप्ति होती है.

उपचारनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

काइयवाइयमाणसिओत्ति तिविधो हु पंचमो विणओ ॥
सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो चेव पारोक्खो ॥ ११८ ॥
कायिको वाचिकश्चैतः पंचमो विनयस्त्रिधा ॥
सर्वोऽप्यसौ पुनर्द्वेधा प्रत्यक्षेतरभेदतः ॥ ११९ ॥

विजयोदया—कायवाङ्माणसिगोत्ति पदसंबंधः । पंचमो विनयस्त्रिप्रकारः । कायेन, मनसा, वचसा च निर्वर्त्यते इति । सो पुण सव्वो स पुनस्त्रिप्रकारोऽपि विनयः । दुविधो द्विविधः । पच्चक्खो चेव प्रत्यक्षः । पारोक्खो परोक्षश्चेति ।

उपचारिकविनयं गाथादशकेनोपदिशति—

मूलारा—पच्चक्खो प्रत्यक्षः संनिहितगुर्वादिविषयत्वात् । पारोक्खो परोक्षः ।

उपचार विनयका निरूपण करनेवाली गाथा—

अर्थ—उपचारविनयके कायिक विनय, वाचनिक विनय, और मानसिक विनय ऐसे तीन भेद है. शरीरसे, वचनोंसे, और मनसे ये तीनो विनय किये जाते हैं इसलिये इनको कायिक विनय इत्यादि नाम प्राप्त हुए हैं. ये कायिकविनयादि तीनो विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रकारके हैं.

तत्र प्रत्यक्षकायिकविनयप्रदर्शनाय गाथाचतुष्टयमुत्तरम्—

अब्भुट्ठाणं किदियम्मं णवंसणं अंजली य मुंडाणं ॥
पच्चुग्गच्छणमेत्तो पच्छिद अणुसाधणं चेव ॥ ११९ ॥
संभ्रमो नमनं सूरेः कृतिकर्मांजलिक्रिया ॥
सम्मुखं यानमायाति यात्यनुव्रजनं पुनः ॥ १२० ॥

विजयोदया—अब्भुट्ठाणं अभ्युत्थानं गुर्वादीनां प्रवेशनिःक्रमणयोः । किदियम्मं णवंसणं, वंदना, शरीरावनतिश्च । अंजली य कृतांजलिपुटता च । मुंडाणं शिरोवनतिश्च । पच्चुग्गच्छणं प्रत्युद्गमनं । आसीने स्थिते वा गुरौ । पच्छिद अणुसाधणं चेव स्वयं गच्छतः दूरात्परिहृत्य निभृतकरचरणस्यावनतगात्रस्य गमनं, सहगमे वा पृष्ठतः स्वशरीरमात्रप्रमाणभूभागेन तं परिहृत्य गमनं ।

प्रत्यक्षकायिकविनयनिर्वर्णनाय गाथाचतुष्टयमाह—

मूलारा—अब्भुट्ठाणं गुर्वादीनां प्रवेशनिष्क्रमणयोः सम्मुखमुत्थानं । किदियम्मं वंदना । णमणं शरीरावनतिः । अंजली करमुकुलीकरणम् । मुंडाणं शिरोवनतिः । अथवा मुंडानां मस्तकादीनां सम्बंधी अंजलिः मस्तके कृतांजलिपुटस्येत्यर्थः । पच्चुग्गच्छणं प्रत्युद्गमनमभिमुखगमनमित्यर्थः । एते आगच्छति सति गुरौ, मान्यमुनौ वा । पत्थिदस्स चलितस्य

गुर्वादेः। अणुसाहणा अनुव्रजनं। टीकाकारस्तु पच्छिदसंसाहणा इति पठति, व्याख्याति च, आचार्योपाध्यायादिभिः प्रार्थितस्य मनसाभिलषितस्य सम्यक्प्रसाधनं अनाज्ञप्तस्यापींगितेनैवावगम्येति।

प्रत्यक्षकायिकविनयका आचार्य चार गाथाओंमें वर्णन करते हैं—

अर्थ—गुरुजन, तपोधिक महर्षि वगैरह पूज्यमुनि आनेपर अथवा प्रयाण करते समय स्वयं बडे आदरसे उठना चाहिये, वंदना करना चाहिये और शरीरमें नम्रता लानी चाहिये, हात जोडने चाहिये, और मस्तकसे नमन करना चाहिये. तथा वे बैठ गये अथवा खडे हुए हैं तो उनके पास जाना चाहिये, स्वागत करना चाहिये. जब गुरु आदिक पूज्यमुनि प्रयाण करते हैं तब उनके पीछे थोडे अन्तरसे हाथ और पावोंका चलते समय शब्द न होवे इस प्रकार शरीर नम्र करके शांतिसे गमन करना चाहिये. यदि साथ जानेका प्रसंग आवे तो स्वशरीरमात्र-प्रमाण भूमीका अन्तर छोडकर उनके अंगका अपने अंगको स्पर्श न होगा इस रीतीसे गमन करना चाहिये.

णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सयणं ॥
आसणदाणं उवगरणदाणमोगासदाणं च ॥ १२० ॥
नीचं यानमवस्थानं नीचं शयनमासनं ॥
प्रदानमवकाशस्य विष्टरस्योपकारिणः ॥ १२१ ॥

विजयोदया—णीचं च आसणं नीचैरासनं। पृष्ठतः स्वहस्तपादश्वासादिभिरुपद्रुतो यथा न भवति गुर्वादिस्तथासनं। अग्रतोऽभिमुखं मनागपसृत्य वामपार्श्वेऽनुद्धतस्येषदवनतोत्तमांगस्य चासनं। आसने गुरावुपविष्टे स्वयं भूमावासनं च। सयणं च णीयमिति पदघटना। नीचैः शयनमिति यावत्। अनुत्तरे[1] देशे शयनं, गुरुनाभिप्रमाणमात्रभूभागे वा स्वशिरो भवति यथा तथा शयनं। हस्तपादादिभिर्वा यथा न घट्यते गुर्वादिः। आसणदाणं आसितुमिच्छति इत्यवगम्य निरूप्य चक्षुषा प्रमार्जनयोग्यं न वेति, पश्चात्प्रतिलेखनेन लाघवमार्दवादिगुणान्वितेनातिशनकैः प्रमार्ज्य भूभागं पीठादिकं वा आसनदानं। उपकरणदानं ज्ञानसंयमौ उपक्रियेते अनुगृह्येते येन तदुपकरणं पुस्तकादि ग्रहीतुमभिप्रेतं तस्य दानं। अथवा उद्गमोत्पादनैषणादिदोषैरदुष्टस्य सुप्रतिलेखनस्यात्मना लब्धस्य उपकरणस्य दानं। ओगासदाणं च अवकाशदानं च शीतार्तस्यावस्थितनिवातावकाशदानं, उष्णार्दितस्य शीतलस्थानदानं, ग्रामनगरादिस्वावासस्थानदानं वा।

[1] अनुन्नते देशे इति पाठः खपुस्तके।

मूलारा—णीचं ठाणं नीचैः स्थानं गुर्वादौ मान्यस्थाने उद्धीभूते निविष्टे वा ततोऽन्यत्र तस्य वामपार्श्वे पृष्ठदेशे वा शिष्येणावस्थानं कर्तव्यमित्यर्थः। णीचं गमणं आसीने स्थिते वा गुरौ स्वयं गच्छतः शिष्यस्य तं दूरात्परिहृत्य निभृतकरचरणस्य अवनतगात्रस्य गमनं। सहगमने वा पृष्ठतः स्वशरीरमात्रभूभागेन तं परिहृत्य गमनं। णीचं च आसणं च-शब्दोऽयमुत्तरत्र योज्यः। नीचैरुपवेशनं, पृष्ठतः स्वहस्तपादश्वासाद्युपद्रववर्जनमुपवेशनम। अग्रतोऽभिमुखं मनागपसृत्य वामपार्श्वे अनुद्धतस्य मनागवनतोत्तमांगस्य चोपवेशनम्।

आसने गुरावनुपविष्टे स्वयं भूमावासनं वा। शयनं च नीचमिति पदघटना। अनुश्रवे देशे शयनं गुरुनाभिमात्रप्रमाणभूभागे वा स्वशिरो यथा भवति तथा शयनं वा हस्तपादादिघट्टणवर्जं। आसणदाणं आसितुमिच्छन्तं गुर्वादिकं ज्ञात्वा भूभागं पीठादिकं च प्रमार्जनयोग्यं न वेति चक्षुषा निरूप्य प्रतिलेखनेन च त्रिः शनैः प्रमृज्य तत्र भूभागे प्रमृष्टपीठादेः स्थापनं। उवगरणदानं योग्यस्य पुस्तकादेर्गुर्वादिना जिघृक्षितस्य स्वयं वा संपादनं। ओगासदाणं अवकाशनं शीतार्तस्य स्वाधिष्ठितनिवातस्थानदानं, उष्णार्तस्य स्वशीतलस्थानं, ग्रामनगरादौ स्वनिवासस्थानदानं वा।

अर्थ—अपने हाथ, पांव, श्वासोच्छ्वासादिकोंसे गुरु आदि मुनिजनोंको उपद्रव न होगा इस पद्धतीसे उनके पीछे बैठना चाहिये. गुरुजनोंके सम्मुख बैठना हो तो उनके वामपार्श्व बैठना चाहिये. उद्धततारहित, अपना मस्तक किंचित नम्र कर बैठना चाहिये. गुरु आसनपर विराजमान होनेके अनंतर स्वयं जमीनपर बैठना चाहिये. गुरु जहां सोये हैं उसके ऊपरकी जमीनपर शिष्यका शयन करना अनुचित है. गुरुके नाभितक जो जमीनका परिमाण होगा उतनी जमीन छोडकर नीचे सोना चाहिये अर्थात् डीड, पौन दो हाथका अंतर छोडकर नीचले भूमीपर उनके चरण तरफ अपना मस्तक करके शिष्य शयन करे. अथवा अपने हाथ, पांव इत्यादिकोंसे गुरुको धक्का न लगेगा इस रीतीसे शयन करना योग्य है. जब गुरुकी बैठनेकी इच्छा दीखेगी तब जमीन और आसन वगैरह प्रमार्जन करनेके योग्य हैं वा नहीं यह आखोंसे देखकर नंतर हलकी और कोमल पीछीके द्वारा जमीन अथवा चटाई वगैरह स्वच्छ करके गुरुको देना चाहिये. ज्ञान और संयमका जिससे उपकार—वृद्धि होगी ऐसे शास्त्र, पीछी वगैरह इनको उपकरण कहते हैं. शास्त्रमें जो उपकरण मुनिओंको ग्रहण करनेमें दोष नहीं है वह गुरुओंको यदि उनकी इच्छा हो तो प्रदान करना चाहिये. उद्गम उत्पादनादिदोषोंसे रहित जो अच्छीतरह प्रमार्जित हो सकते हैं ऐसे चाहिये. यदि गुरु शीतसे पीडित हुए हो तो अपना निर्वात स्थान उनको देवें. यदि गुरुको उष्णतासे

बाधा हुई होगी तो उनको शीतल स्थान रहनेके लिये देना चाहिये. अथवा ग्राममें वा नगरादिकोंमे जहां अपना रहनेका स्थान होगा वह गुरुओंको देना चाहिये.

पडिरूवकायसंफासणदा पडिरूवकालकिरिया य ॥
पेसणकरणं संथारकरणमुवकरणपडिलिहणं ॥ १२१ ॥
देशकालवयोभावधर्मयोग्यक्रियाकृतिः ॥
करणं प्रेषणादीनामुपधेः प्रतिलेखनं ॥ १२२ ॥

विजयोदया—पडिरूवकायसंफासणदा कायस्य संस्पर्शनं कायसंस्पर्शनं । प्रतिरूपं कायस्य संस्पर्शनं प्रतिरूपकायसंस्पर्शनं तस्य भावः प्रतिरूपकायसंस्पर्शनता । गुर्वादिशरीरानुकूलं संस्पर्शनमिति यावत् ।

अयं चात्र क्रम —मनागुपसृत्य स्थित्वा तदीयेन पिच्छेन कायं त्रिः प्रमृज्य आगंतुकजीवबाधापरिहारोपयुक्तः सादरः स्वबलानुरूपं यावद्याद्दग्मर्दनसहस्तावदेव मर्दनं कुर्यात् । उष्णाभितप्तस्य यथा शैत्यं भवति तथा स्पृशेच्छीतार्तस्य यथौष्ण्यं तथा ।

पडिरूवकालकिरिया य कालकृतोऽवस्थाविशेषो बालत्वादीह कालशब्देनोच्यते कालप्रभवत्वात् । तेन बालत्वाद्यनुरूपवैयावृत्त्यक्रियेति यावत् । पेसणकरणं गुर्वादिभिराज्ञप्तस्य । संथारकरणं तृणफलकादिकसंस्तरणक्रिया । उवकरणपडिलिहणं गुर्वादीनां ज्ञानसंयमोपकरणप्रतिलेखनं अस्तमनवेलायां आदित्योद्गमने च ।

मूलारा—पडिरूवकायसंफासणदा गुर्वादेः शरीरस्यानुकूलं स्पर्शनम । अयं चात्र क्रमः—मनागुपसृत्य स्थित्वा तदीयेन पिच्छेन तत्कायं त्रिः प्रमृज्य आगंतुजीवबाधापरिहारोपयुक्तः सादरः स्वबलानुरूपं यावत्सुखं मर्दयेत् । उष्णार्तस्य यथा शैत्यं स्याच्छीतार्तस्य च यथोष्णं स्यात्तथा स्पृशेत् । पडिरूवकालकिरिया कालशब्देनात्र कालकृतो बालत्वाद्यवस्थाविशेषो विवक्षित । ततो बालत्वाद्यनुरूपं वैयावृत्त्यं कुर्यादित्यनतिष्ठते । पेसणकरणं आज्ञप्तस्य कार्यस्य निष्पादनं । संथारकरणं तृणफलकादिसंस्तरणक्रिया । उवगरणपडिलिहणं । गुर्वादीनां पुस्तकादेरस्तमनवेलायामादित्योद्गमने च प्रमार्जनम ।

पडिरूवकायसंफासणदा इति—

अर्थ—गुरु वगैरह मुनिओंके शरीरानुकूल मर्दन करना यह भी कायिक विनय है. इस विषयमें ऐसी

पद्धति है–थोडा गुरुके नजदीक खडे होकर उनके पीछीसे उनका शरीर तीनवार पोंछना चाहिये. आगंतुक जीवोंको बाधा न होगी इस रीतीसे उन जीवोंको हटाना चाहिये. और बडे आदरसे गुरु जितना मर्दन सह सकेंगे उतना ही शरीरका मर्दन करना चाहिये. यदि उष्णतासे गुरु पीडित हो तो उनकी उष्णतापीडा दूर होकर जैसे उनको शांतिलाभ होगा वैसे अंगमर्दन करना चाहिये. शीतपीडित गुरुके अवयवोंमें उष्णता उत्पन्न होनेतक उनका शरीरमर्दन करना चाहिये. बालपना, वृद्धपना वगैरह अवस्था देहमें कालके द्वारा होती है. उस उस अवस्था के योग्य वैयावृत्य करके दुःखपरिहार करना चाहिये. गुरुओंने जो आज्ञा की होगी वह सफल करना चाहिये. गुरुओंको सोनेके लिये तृणका बिछाना कर-देना, लकडीका फलक सोनेके लिये रखना, चटाई विछाना यह कर्तव्यभी कायिक विनयमें अन्तर्भूत है. गुर्वादिकोंके ज्ञानके उपकरण शास्त्र, संयमके उपकरण पिंछी, कमंडल्वादिककी सूर्यास्त समय और सूर्योदय के समय स्वच्छता करनी चाहिये.

इच्चेवमादिविणओ उवयारो कीरदे सरीरेण ।

एसो काइयविणओ जहारिहो साहुवग्गम्मि ॥ १२२ ॥

व्यापारः क्रियते नित्यं यः कायेनैवमादिकः ॥

कायिको विनयोऽवाचि साधूनां स यथोचितः ॥ १२३ ॥

विजयोदया—उपचारिकविनयः । शेषं सुगमं ।

मूलारा—जहारिहो यथोचितः ।

अर्थ—गुरुजनोंमें योग्यताके अनुसार इत्यादि प्रकारका विनय शरीरके द्वारा करना चाहिये. यह सब कायिक उपचारविनयका विस्तार दिखाया है. १२२

वाचिकविनयनिरूपणार्थं गाथाद्वयम्—

पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च महुरं च ॥

सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं ॥ १२३ ॥

पूजासंपादकं वाक्यमनिष्ठुरमकर्कशम् ॥
अक्रियावर्णकं श्रव्यं सत्यं सूत्रानुवीचिकं ॥ १२४ ॥

विजयोदया—पूयावयणं पूजापुरस्सरं वचनं भट्टारक इदं शृणोमि, भगवन्निदं कर्तुमिच्छामि युष्मदनुज्ञयेत्यादिकं । हिदभासणं च गुर्वादीनां यद्धितं लोकद्वयस्य तस्य भाषणं । मितभाषणं यावता विवक्षितार्थप्रतिपत्तिर्भवति तावदेव वक्तव्यं न प्रसक्तानुप्रसक्तं । मधुरं च श्रोत्रप्रियं । सुत्ताणुवीचिवयणं सूत्रानुवीचिवचनं । भाषासमित्यधिकारे यानि वाच्यानि निर्दिष्टानि वचांसि तेषां कथनं । अणिट्ठुरं अनिष्ठुरं परचित्तपीडाकृतावनुद्यतं । अकक्कसं वयणं अकर्कशं वचनं अपरुषमिति यावत् ।

वाचिकविनयं गथाद्वयेनाह—

मूलारा—पूयावयणं पूजावचनं । भट्टारक इदं शृणोमि, भगवन्निदं कर्तुं इच्छामि भवदाज्ञयेत्यादि । मिदभासणं यावता विवक्षितार्थस्य प्रतीतिः स्यात्तावन्मात्रस्यैव जल्पनं । मधुरं कर्णप्रियं । सुत्ताणुवीचिवयणं भाषासमित्यधिकारोक्तवचोभाषणम् । अणिठ्ठुरं यन्मनःकदर्थनं न । अकक्कसं अपरुषं चित्तसुखदं वा ।

वाचिकविनयका निरूपण दो गाथाओंसे आचार्य करते हैं.

अर्थ—आदरपूर्वक भाषण करना वह पूजावचन कहा जाता है. जैसे हे पूज्य भट्टारक मैं सुन रहा हूं, हे भगवन् मैं आपकी आज्ञामें यह कार्य करना चाहता हूं. हित भाषण–गुर्वादिकोंका इहपरलोकमें हित होगा ऐसा भाषण करना चाहिये. मित भाषण–जितना बोलनेसे अपने मनका अभिप्राय गुर्वादिजन जान सके उतना ही बोलना इससे जादा और अप्रासंगिक न बोलना. जो भाषण बोलना हो वह कर्णमधुर शास्त्रके अविरुद्ध होना चाहिये. भाषा समितीके अधिकारमें जिन भाषणोंका उल्लेख किया है वेहि बोलने चाहिये. अनिष्ठुरभाषण दूसरोंके मनको दुःखित न कर देना. अकर्कश–कठोरता जिसमें नहीं है ऐसा भाषण उपर्युक्त भाषण बोलना वचनविनय है. १२४

उवसंतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं ॥
एसो वाइयविणओ जहारिहो होदि कादव्वो ॥ १२४ ॥
उपशांतमगार्हस्थ्यं हितं मितमहेडनम् ॥
योगिनो भाषमाणस्य विनयोऽवाचि वाचिकः ॥ १२५ ॥

विजयोदया—उवसंतवयणं प्रशांतरागकोपः उपशांतः । तस्य वचनं उपशांतवचनं । विरागस्य विरोषस्य च यद्वचस्तदेव भाष्यं । अगिहत्थवयणं गृहस्था मिथ्यादृष्टयोऽसंयता अयोग्यवचनविकल्पानभिज्ञास्तेषां यद्वचनं न भवति । तस्य अभिधानं । अकिरियं षट्कर्मव्यापारपरं यन्न भवति । अहीलणं परानवज्ञाकारि । एसो व्यावर्णितवचनव्यापारः । वाचिगविणओ वाग्विनयो । जधारिहं यथार्हं । होदि कादव्वो कर्तव्यो भवति ।

मूलारा—उवसंतवयणं विरागविरोधवचन । अगिहत्थवयणं गृहस्था मिथ्यादृष्टयोऽसंयताः योग्यवचनविकल्पानभिज्ञास्तद्वचनानभिधानं । अकिरियं कृष्याद्यारंभवर्णनशून्यं । अहीलणं अवज्ञाधिक्षेपहीनं ।

अर्थ—उपशांतवचन—जिसके राग और कोप शांत हुवे है ऐसे व्यक्तीको 'उपशान्त' कहते है. उपशांत का जो भाषण उसके उपशांत वचन कहते हैं. अर्थात् रागद्वेषरहित लोक जो भाषण करते हैं वही भाषण बोलना चाहिये. अगृहस्थ वचन—गृहस्थ अर्थात् मिथ्यादृष्टि और असंयमी लोक वे कोनसा भाषण बोलने योग्य है कोनसा योग्य नहीं है कुछ जानते नहीं हैं ऐसे लोगोंके सरीखा भाषण न बोलना चाहिये. अर्थात् योग्य भाषणको अगृहस्थ वचन कहते हैं. अक्रियवचन—असि, मषि, कृष्यादि षट्कार्योंमे प्रवृत्त करनेवाला भाषण जीवबाधाके लिये हेतु है. ऐसे भाषणका त्यागकर जीवोंका रक्षण करनेवाला भाषण बोलना चाहिये.

अहीलनवचन—दुसरोंकी अवज्ञा करनेवाला वचन नहीं बोलना चाहिये इस प्रकारके यथायोग्य वचन बोलना यह वाचनिक विनय है.

मानसिकविनयं निरूपयति—

पापविसोत्तिय परिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो ॥
णायव्वो संखेवेण एसो माणसिओ विणओ ॥ १२५ ॥

हितप्रियपरीणामं विदधानस्य मानसः ॥
पापास्रवपरीणामं मुंचतो विनयो मतः ॥ १२६

विजयोदया—पापविसोत्तिगपरिणामवज्जणं पापशब्देन अशुभकर्माण्युच्यंते । स्रोतः प्रवाहः स्रोत इव अविच्छेदेन प्रवृत्तेः । कर्माणि अपि पापविस्रोतःशब्देन उच्यंते । पापविस्रोतःप्रयोजनाः परिणामा एतेषां वर्जनं । इह गुरुविनयस्य प्रस्तुतत्वात् गुरुविषयोऽशुभः परिणामः । आत्मनो यथेष्टचारित्वनिवारणजनितक्रोधः । अविनीततादर्शनादनुग्रहामायमपेक्ष्य नाध्यापयति । पूर्ववत् मया सह संभाषणं करोति इति वा क्रोधः । गुरुविनये आलस्यं, गुरुं प्रत्यवज्ञा,

निंदा, संभ्रमः, तत्प्रतिकूलवृत्तिरित्येवमादयः। पियहिदे य परिणामः। गुरोर्यत्प्रियं तस्मै यद्धितं यात्मने वा तत्र परिणामः। णादव्वो ज्ञातव्यः। संखेवेण समासेन। एसो एषः। माणस्सिगो मानसिकः। विणओ विनयः।

मानसविनयमाह—

मूलारा—पापविसोत्तिय परिणामवज्जणं। पापान्यशुभकर्माणि तान्येव विशिष्टं स्रोतः प्रवाहः अविच्छेदेन प्रवृत्तः। पापविस्रोतः प्रयोजनं येषां ते पापविस्रोतिकाः ते च ते परिणामाश्च। ते चेह गुरुविषयास्तद्विनयस्य प्रस्तुत्वात्। आत्मनो यथेष्टचारित्वनिवारणजनितः क्रोधो अविनीतत्वादर्शनादनुग्रहाभावमपेक्ष्य मां नाध्यापयति पूर्ववत्। मया सह संभाषणं न करोतीति वा क्रोधो। गुरुविनये आलस्यं, गुरुं प्रत्यवज्ञा, निंदनमसंयमस्तत्प्रतिकूलवृत्तितेत्येवमादयः। पियहिदे गुरोर्यत्प्रियं स्वस्मै च यद्धितं तस्मिन्।

अर्थ—जिससे पापसमुदायका जलप्रवाहके समान अखण्डरूपसे आगमन होगा ऐसे परिणामोंको अपने हृदयमें मानसिक विनय पालन करनेवाले मुनिओंने उत्पन्न नहीं होने देना चाहिये. यहा गुरुविनयका प्रकरण है इसलिये गुरुविषयका अशुभ परिणाम मनमें उत्पन्न न होने देवें

गुरु जब शिष्यका स्वैराचार देखते हैं तब वे उसका निवारण करते हैं. ऐसे समयमें शिष्य अपना मन यदि क्रोधयुक्त करेगा तो अशुभ कर्मका आस्रव होने लगेगा. शिष्यकी उद्दंडवृत्ति देखकर गुरु उनपर अनुग्रह नहीं करते हैं, तब मेरेको गुरु पढाते नहीं हैं, पूर्वके समान मेरेसे संभाषण नहीं करते हैं ऐसे विचार कर गुरुविषयक क्रोध शिष्यके मनमें उत्पन्न होता है, यह पापागमनका कारण होता है ऐसा समझकर छोड देना चाहिये. गुरुविनयमें आलस्य करना, गुरुकी अवज्ञा करना, निंदा करना, उनका आदर न करना, उनके विरुद्ध चलना ये सब कुचेष्टायें छोड देनी चाहिये. गुरुको जो प्रिय लगे और जिससे उसका हित होगा, स्वयंका भी जो हित करेगा ऐसा परिणाम-संकल्प मनमें उत्पन्न करना चाहिये, इस तरहसे मानसिक विनयका संक्षेपसे वर्णन किया है.

इय एसो पच्चक्खो विणओ पारोक्खिओ वि जं गुरुणो ॥
विरहम्मि विवट्टिज्जइ आणाणिद्देसचरियाए ॥ १२६ ॥

इत्ययं विनयोऽध्यक्षः परोक्षः स मतो गुरोः ॥
अप्रत्यक्षेऽपि या वृत्तिराज्ञानिर्देशचर्ययोः ॥ १२७

विजयोदया—इय एवं । एसो एषः । पच्चक्खो प्रत्यक्षो विनयः । सन्निहितगुरुविषयत्वात् । पारोक्खिगो वि गुरोःपरोक्षे क्रियमाणोऽपि विनयः । कोऽसाविति चेदाह—गुरुणो विरहम्मि विवट्टिज्जइ गुरोर्विरहेऽपि, यत्क्रियते । आणाणिद्देसचरियाए । आज्ञायाम्—इत्थमेव भवता कार्यं मुमुक्षुणा न कदाचनेत्थमिति यन्निर्दिश्यते तदाज्ञानिर्देशः । 'वट्टंतगो विहारो दंसणणाणचरणेसु कादव्वो'। इत्येवमादिस्तद्वशः ।

एवं त्रिधा प्रत्यक्षविनयं निरूप्य परोक्षविनयं व्याचष्टे—

मूलारा—पारोक्खिगो गुरो परोक्षे क्रियमाणः । आणाणिद्देसचरियाए । आज्ञायामित्थमेव त्वया मुमुक्षुणा कार्यं, न कदाचनेत्थं इति यन्निर्देशस्तच्चर्यायां गुरोः सामान्यविशेषोपदेशानुष्ठाने इत्यर्थः ।

इय एसो पचक्खो इति—

अर्थ— इस प्रकार प्रत्यक्षविनयका वर्णन किया. अब परोक्षविनयका वर्णन करते हैं— गुरुके परोक्षमें किया जानेवाला जो विनय उसको परोक्षविनय कहते हैं. जैसे तुम मुमुक्षु हो इसलिये तुम आगमके अनुसार आचरण करो, विरुद्धाचरण कभी भी मत करो ऐसी गुरुकी आज्ञा गुरुके परोक्ष भी यथार्थ रीतीसे पालन करना परोक्ष विनय है. 'वट्टंतगो विहारो दंसणणाणचरणेसु कादव्वो' सम्यग्दर्शन, ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपरत्नत्रयमें उत्तरोत्तर अधिकरूपसे प्रवृत्ति करो ऐसा गुरुका उपदेश उनके परोक्षमें भी पालन करना यह परोक्ष विनय है.

न गुरुष्वेव विनयः कार्य इति ग्रहीतव्यं, एतेष्वपि विनयः कर्तव्य इत्याह—

राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिवग्गे ॥
विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥ १२७ ॥

संयतानां गृहस्थानां आर्यिकाणां यथायथम् ॥
विनयः सर्वदा कार्यः संसारान्तं यियासुना ॥ १२८ ॥

विजयोदया—राइणिय अराइणिएसु यथा रत्नानि दुर्लभानि अभिलाषितवानक्षमाणि तथैव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि रत्नशब्दवाच्यानि श्रद्धानादिपरिणामेनोत्कृष्टेन वर्तमानः । रायणिय इत्युच्यते । आत्मनो न्यूनरत्नत्रया अरायणिया । अथ वा रादिणिग अमरादिणिगेसु ज्येष्ठकनिष्ठमतेषु च शेषं सुगमं ।

पदेष्वपि च विनयोऽभिधेय इत्यधुनाभिधत्ते—

मूलारा—रादिणिगऊमरादिणिगेसु । रादिणिमा आत्मनः सकाशाद्रत्नत्रयेणाधिकाः समा वा साधवः । ऊमरादिणिगा अवमरात्रिकाः आत्मनः सकाशान्न्यूनरत्नत्रयाः । रातिकाश्च अवमरातिकाश्च तेषु तपसैकरात्रादिना ज्येष्ठकनिष्ठेष्वित्यन्ये ।

फक्त गुरुका ही विनय करना चाहिये ऐसा नहीं समझना परंतु मुनि, आर्यिका, श्रावकवर्गका भी विनय यथायोग्य करना चाहिये ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—जैसे रत्न दुर्लभ होते हैं परंतु उनकी प्राप्ति होने पर उनसे अभिलषित पदार्थ मिलते हैं, वैसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र दुर्लभ हैं इसलिये इनको रत्नत्रय कहते हैं. यह रत्नत्रय जीवोंका अभिलषित पदार्थ जो मोक्ष वह देता है. रत्नत्रयरूप परिणाम जिसके उत्कृष्ट हैं ऐसे मुनिको 'रायणिय' ऐसा नाम है. अपने मे जिस मुनिका रत्नत्रय न्यून है वह मुनि 'अरायणीय' इस नामका धारक है. अथवा जिसके अपनेसे श्रेष्ठव्रत है और जिनके अपनेसे न्यून व्रत है उनको भी उपर्युक्त शब्दोंका क्रमसे प्रयोग कर सकते हैं. अर्थात् उपर्युक्त मुनिओंका उनके योग्यतानुसार आदर करना चाहिये. आर्यिकायें और गृहस्थवर्ग इनका भी यथायोग्य विनय करना चाहिये.

विनयाभावे दोषमाचष्टे-दोषप्रकटनेन भयमुत्पाद्य विनये दृढतां कर्तुम्—

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा ॥
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं ॥ १२८ ॥

विनयेन विना शिक्षा निष्फला सकला यतेः ॥
विनयो हि फलं तस्याः कल्याणं तस्य चिन्तितम् ॥ १२९ ॥

विजयोदया—विणएण विप्पहूणस्स विनयरहितस्य यतेः । हवदि सिक्खा णिरत्थिया सर्वशिक्षा निष्फला । किं शिक्षायाः फल इत्यारेकेय आह—विणओ सिक्खाए फलं व्यावर्णितः पंचप्रकारो विनयः शिक्षायाः फलं । तस्य विनयस्य किं फलं ? पुरुषार्थो हि फलमित्याशङ्क्याह-विणयफलं सव्वकल्लाणं सर्वमभ्युदयनिःश्रेयसरूपं कल्याणस्थानमानैश्वर्यादिकं इंद्रियसुखं च ।

इत्ययं विनयोऽध्यक्षः परोक्षः स मतो गुरोः ॥
अप्रत्यक्षेऽपि या वृत्तिराज्ञानिर्देशचर्ययोः ॥ १२७

विजयोदया—इय एवं। एसो एषः। पच्चक्खो प्रत्यक्षो विनयः। सन्निहितगुरुविषयत्वात्। पारोक्खिगो वि गुरोःपरोक्षे क्रियमाणोऽपि विनयः। कोऽसाविति चेदाह—गुरुणो विरहम्मि विचट्टिज्जइ गुरोर्विरहेऽपि, यत्क्रियते। आणाणिद्देसचरियाए। आज्ञायाम्—इत्थमेव भवता कार्यं मुमुक्षुणा न कदाचनेत्थमिति यन्निर्दिश्यते तदाज्ञानिर्देशः। 'वट्टंतगो विहारो दंसणणाणचरणेसु कादव्वो'। इत्येवमादिसदृशः।

एवं त्रिधा प्रत्यक्षविनयं निरूप्य परोक्षविनयं व्याचष्टे—

मूलारा—पारोक्खिगो गुरो परोक्षे क्रियमाणः। आणाणिद्देसचरियाए। आज्ञायामित्थमेव त्वया मुमुक्षुणा कार्यं, न कदाचनेत्थं इति यन्निर्देशस्तच्चर्यायां गुरोः सामान्यविशेषोपदेशानुष्ठाने इत्यर्थः।

इय एसो पच्चक्खो इति—

अर्थ— इस प्रकार प्रत्यक्षविनयका वर्णन किया. अब परोक्षविनयका वर्णन करते हैं— गुरुके परोक्षमें किया जानेवाला जो विनय उसको परोक्षविनय कहते हैं. जैसे तुम मुमुक्षु हो इसलिये तुम आगमके अनुसार आचरण करो, विरुद्धाचरण कभी भी मत करो ऐसी गुरुकी आज्ञा गुरुके परोक्ष भी यथार्थ रीतीसे पालन करना परोक्ष विनय है. 'वट्टंतगो विहारो दंसणणाणचरणेसु कादव्वो' सम्यग्दर्शन, ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपरत्नत्रयमें उत्तरोत्तर अधिकरूपसे प्रवृत्ति करो ऐसा गुरुका उपदेश उनके परोक्षमें भी पालन करना यह परोक्ष विनय है.

न गुरुष्वेव विनयः कार्य इति ग्रहीतव्यं, एतेष्वपि विनयः कर्तव्य इत्याह—

राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिवग्गे ॥
विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥ १२७ ॥

संयतानां गृहस्थानां आर्यिकाणां यथायथम् ॥
विनयः सर्वदा कार्यः संसारान्तं यियासुना ॥ १२८ ॥

विजयोदया—राइणिय अराइणिएसु यथा रत्नानि दुर्लभानि अभिलषितदानक्षमाणि तथैव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि रत्नशब्दवाच्यानि श्रद्धानादिपरिणामेनोत्कर्षेण वर्तमानः। रायणिय इत्युच्यते। आत्मनो न्यूनरत्नत्रया अरायणिया। अथ वा रातिणिग ऊमरातिणिगेसु ज्येष्ठकनिष्ठयतिषु च शेषं सुगमं।

एतेष्वपि च विनयोऽभिधेय इत्यधुनाभिधत्ते—

मूलारा—राद्दिणिगऊमरादिणिरेसु । रादिणिमा आत्मनः सकाशाद्रत्नत्रयेणाधिकाः समा वा साधवः । ऊमरादिणिगा अवमरात्रिकाः आत्मनः सकाशान्न्यूनरत्नत्रयाः । रातिकाश्च अवमरातिकाश्च तेषु तपसैकरात्रादिना ज्येष्ठकनिष्ठेष्वित्यन्ये ।

फक्त गुरूका ही विनय करना चाहिये ऐसा नहीं समझना परंतु मुनि, आर्यिका, श्रावकवर्गका भी विनय यथायोग्य करना चाहिये ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—जैसे रत्न दुर्लभ होते हैं परंतु उनकी प्राप्ति होने पर उनसे अभिलषित पदार्थ मिलते हैं. वैसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र दुर्लभ हैं इसलिये इनको रत्नत्रय कहते हैं. यह रत्नत्रय जीवोंका अभिलषित पदार्थ जो मोक्ष वह देता है. रत्नत्रयरूप परिणाम जिसके उत्कृष्ट है ऐसे मुनिको 'रायणिय' ऐसा नाम है. अपने से जिस मुनिका रत्नत्रय न्यून है वह मुनि 'अरायणीय' इस नामका धारक है. अथवा जिसके अपनेसे श्रेष्ठव्रत है और जिनके अपनेसे न्यून व्रत है उनको भी उपर्युक्त शब्दोंका क्रमसे प्रयोग कर सकते हैं. अर्थात् उपर्युक्त मुनिओंका उनके योग्यतानुसार आदर करना चाहिये. आर्यिकायें और गृहस्थवर्ग इनका भी यथायोग्य विनय करना चाहिये.

विनयाभावे दोषमाचष्टे-दोषप्रकटनेन भयमुत्पाद्य विनये दृढता कर्तुम्—

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा ॥
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं ॥ १२८ ॥

विनयेन विना शिक्षा निष्फला सकला यतेः ॥
विनयो हि फलं तस्याः कल्याणं तस्य चिन्तितम् ॥ १२९ ॥

विजयोदया—विणएण विप्पहूणस्स विनयरहितस्य यते । हवइ सिक्खा णिरत्थिया सर्वाशिक्षा निष्फला । किं शिक्षाया फलं इत्यारेक्य आह—विणओ सिक्खाए फलं व्यावर्णित पचप्रकारो विनय शिक्षाया फलं । तस्य विनयस्य किं फलं ? पुरुषार्थो हि फलमित्याशक्याह-विणयफलं सव्वकल्लाण सर्वमभ्युदयनि श्रेयसरूप कल्याणमात्मना नैश्वर्यादिकं इंद्रियसुखं च ।

विनयफलं गाथाचतुष्टयेन व्याचिख्यासुर्विनयाभावे दोषप्रकाशनेन भयमुत्पाद्य विनये दृढतां कर्तुमाह—

मूलारा—सव्वकल्लाणं सर्वमभ्युदयनिःश्रेयसरूपं कल्याणं स्थानमानैश्वर्यादिकमिंद्रियानिंद्रियसुखं च ।

विनयके अभावसे कौनसे दोष उत्पन्न होते हैं. अर्थात् दोषप्रकटनसे भय उत्पन्न करके विनयमें दृढता उत्पन्न करते हैं.

अर्थ—जो मुनि विनय नहीं करता है. उसकी सब शिक्षा व्यर्थ होती है. क्योंकि उक्त पांच प्रकारका विनय शिक्षाका फल है. यदि शिक्षासे विनयकी प्राप्ति न हुई तो शिक्षाकी प्राप्ति करना व्यर्थ ही है. जैसे शिक्षाका फल विनय है वैसे विनयका फल क्या है ? पुरुषार्थ उसका फल है ऐसा किसीने उत्तर दिया. तब आचार्य कहते हैं कि नहीं यह उत्तर नहीं है. किंतु पंचकल्याणिकोंकी प्राप्ति होना, ऐश्वर्य प्राप्त होना, इंद्रियसुखकी प्राप्ति होना ये सब विनयके फल हैं.

विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं ॥
विणएणाराहिज्जइ आयरिओ सव्वसंघो य ॥ १२९ ॥

विमुक्तिः साध्यते येन श्रामण्यं येन वर्ध्यते ॥
सूरिराराध्यते येन येन संघः प्रसाद्यते ॥ १३० ॥
विनयेन विना तेन निर्वृतिं यो यियासति ॥
तरंडेन विना मन्ये स तितीर्षति वारिधिं ॥ १३१ ॥

विजयोदया—विणओ मोक्खद्दारं यथा द्वारमभिमतदेशप्राप्तेरुपायस्तद्वत् मोक्षस्य निरवशेषकर्मापायस्य प्राप्त्यामुपायो विनय इति मोक्षद्वारमित्युच्यते । निरूपितेषु पंचप्रकारेषु विनयेषु अनवरतं प्रवर्तमानो ह्यसंयमं परिहर्तुं शक्नोति नापरः । इंद्रियकषाययोरप्रणिधानं यदि न स्यात् कथमिंद्रियसंयमः प्राणिसंयमो वा भवति ? तवो तपः ज्ञानादिविनयशून्यं अनशनादिकं न कर्म तपतीति विनयहेतुकं तपस्त्वमिति मत्वोच्यते विनयात्तप इति । णाणं ज्ञानं च विनयहेतुकं । अविनीतो हि ज्ञानं न लभते । विणएण विनयेन । आराधिज्जदि आराध्यते स्ववशे स्थाप्यते । आयरिओ आचार्यः । सव्वसंघो य सर्वश्च संघः ।

मूलारा—मोक्खद्दारं यथा द्वारमभिमतदेशप्राप्तेरुपायस्तद्वन्मोक्षप्राप्तेर्विनयो यथोक्ते विनये सत्येव कर्मापायसंभवात्

अर्थ—जैसे दरवाजा इच्छित देशकी प्राप्तिका उपाय है वैसे संपूर्ण कर्मका नाशरूप जो मोक्ष उसकी प्राप्तिका विनय उपाय है. अतः विनय मोक्षका द्वार है ऐसा आचार्य कहते हैं. उक्त पांच प्रकारके विनयोंमें जो हमेशा प्रवृत्ति करता है वह असंयमका त्याग करनेमें समर्थ होता है. विनय न करनेवाला मनुष्य उद्धत होकर असंयमी बनता है. इसलिये विनयसे संयमकी प्राप्ति होती है. इंद्रियोंके विषयसे और कषायपरिणतीसे यदि आत्मा नहीं हटेगा तो इंद्रियसंयम और प्राणिसंयमकी रक्षा कैसी होगी ? ज्ञानविनय, दर्शनविनय वगैरह विनयोंसे शून्य अनशनादि तप कर्मको पीडित नहीं कर सकता है. इसलिये विनय तपका कारण है ऐसा आचार्य कहते हैं. विनयसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है. अविनयी मनुष्यको ज्ञानका लाभ होता नहीं विनय करनेवालेपर आचार्य प्रसन्न होते हैं. सर्व संघ भी उसके वश होता है.

आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधि णिज्झंझा ॥
अज्जव मद्दव लाघव भत्ती पल्हादकरणं च ॥ १३० ॥

कल्पाचारपरिज्ञानं दीपनं मानभंजनम् ॥
आत्मशुद्धिरवैचित्त्यं मैत्री मार्दवमार्जवम् ॥ १३२ ॥

विजयोदया—आयारजीदकप्पगुणदीवणा-रत्नत्रयाचरणनिरूपणपरतया प्रथममंगमाचारशब्देनोच्यते । आचारशास्त्रनिर्दिष्टः क्रमः आचारजीदशब्देन उच्यते । कल्प्यते अभिधीयते येन अपराधानुरूपो दंडः स कल्पस्तस्य गुणः उपकारस्तेन निर्वर्त्यत्वात् । अनयोः प्रकाशनं आचारजीदकप्पगुणदीवणा । एतदुक्तं भवति-कायिको वाचिकश्च विनयः प्रवर्तमानः आचारशास्त्रनिर्दिष्टं क्रमं प्रकाशयति । कल्पोऽपि विनयं विनाशयतो दंडयतो विनयं निरूपयति । तद्द्वयादयं प्रवर्त्यते इति कल्पसंपाद्य उपकारः प्रकटितो भवति इति केषां चिद्व्याख्यानं । अन्ये तु वदन्ति । कल्प्यते इति कल्प्यं योग्यं कल्प्या गुणाः कल्प्यगुणाः । आचारक्रमस्य कल्प्यानां च गुणानां प्रकाशनं । आचारजीदकप्पगुणदीवणाशब्देनोच्यते । श्रुताराधना चारित्राराधना च कृता भवतीत्येतदाख्यातं अनेनेति ।

अत्तसोधिणिज्झंझा विनयपरिणतिरात्मशुद्धेर्ज्ञानदर्शनवीतरागात्मिकायाः निमित्तमिति आत्मशुद्धिरुच्यते । अथवा ज्ञानादिविनयपरिणतिः कर्ममलापायलभ्यत्वात् शुद्धिरुच्यते आत्मनः पंकापायलभ्या जलादिशुद्धिरिव । वैमनस्याभावो णिज्झंझा । विमनस्को भवति विनयहीनो गुर्वादिभिरननुगृह्यमाणः ।

अज्जवं आर्जवं नाम ऋजुमार्गवृत्तिः, शास्त्रनिर्दिष्टं वा चरणं ऋजु। मद्दव अभिमानत्यागो मार्दवं परगुणातिशये श्रद्धानेन, तन्माहात्म्यप्रकाशनेन च विनयेन च अभिमाननिरासः कृतो भवति।

लाघवं विनीतो हि आचार्यादिषु न्यस्तभरो भवतीति। लाघवं विनयमूलं। भत्ती विनीतस्य हि सर्वजनो विनीतो भवति। इति विनयहेतुका भक्तिः। पल्हादकरणं च प्रकृष्टं सुखं प्रकृष्टसुखं प्रल्हादस्तस्य करणं क्रिया प्रल्हादकरणमित्युच्यते। येषां विनयः क्रियते तेषां सुखं संपादितं भवति इति परानुग्रहो गुणः आत्मनो वा प्रल्हादकरणं। कथमविनीतो हि निर्भर्त्सनादिभिरनवरतं दुःखितो भवति। विनीतो हि निर्भर्त्सनाद्यभावात्सुखी भवति। बाधाभावे एव सुखव्यवहारो लोके।

मूलारा — आयारेत्यादि आचारशास्त्रनिर्दिष्टः क्रमः आचारजीदः। कल्पगुणः प्रायश्चित्तशास्त्रे कृत उपकार-स्तयोर्दीपना प्रकाशना। अन्ये तु कल्पा योग्या गुणा इत्याहुः। अत्तसोधि आत्मशुद्धिर्विनयपारिणतेर्ज्ञानदर्शनवीतरागता-लक्षणात्मशुद्धिनिमित्तत्वात्। णिज्झंझा वैमनस्याभावः। विनयहीनो हि गुर्वादिनाननुगृह्यमाणो विमनस्कः स्यात्। अज्जवं आर्जवं नाम ऋजुमार्गवृत्तिः शास्त्रनिर्दिष्टं वाचरणं ऋजुः। मद्दवं निरभिमानता। परगुणातिशयश्रद्धानेन तन्माहात्म्यप्र-काशनेन च विनयो ह्यभिमानं निरस्यति। लाघवं विनीतस्याचार्यादिषु न्यस्तभारत्वाल्लघुत्वं स्यात्। भत्ती विनीतस्य सर्व-जनभक्तिविषयत्वात्। पल्हादकरणं परेषां स्वस्य वा प्रकृष्टसुखोत्पादनम्।

अर्थ—रत्नत्रयके आचारका निरूपण करनेवाले पहिले अंगका 'आचार' यह नाम है. आचारशास्त्रमें कहे हुए क्रमको आचारजीद कहते हैं. जिसमें अपराधानुरूप दंडका विधान कहा है उस शास्त्रको कल्पशास्त्र कहते हैं. इससे जो उपकार उत्पन्न होता है उसको कल्पगुण कहते हैं. इस कथनका यह अभिप्राय है—किया जानेवाला कायिक और वाचिक विनय आचारशास्त्रके क्रमको प्रकाशित करता है. कल्पशास्त्र भी विनयका नाश करनेवालेको दंड करता हुआ विनयको प्रगट करता है. अर्थात् कल्पशास्त्रके भयसे साधु विनय करने लगते हैं. विनयसे कल्प-संपादित उपकार प्रगट हो जाता है. ऐसा कोई आचार्य व्याख्यान करते हैं. दुसरे आचार्यका व्याख्यान इस प्रकार है—योग्य गुणोंको कल्प्यगुण कहते हैं. आचारका क्रम और कल्प्यगुण अर्थात् योग्य गुण इनका जो प्रकाशन करना उसको 'आचारजीदकल्प्यगुणदीवणा' ऐसा कहते हैं. अर्थात् विनय करनेसे श्रुतकी आराधना और चारित्रकी आराधना सिद्ध होती है ऐसा भाव समझना चाहिये.

विनयसे आत्मशुद्धि और निर्झंझा ऐसे दो गुणोंकी प्राप्ति होती हैं. विनयसे ज्ञानदर्शनरूप आत्मशुद्धि

होती है. ज्ञानविनयपरिणति और दर्शनविनयपरिणति कर्ममलका नाश होनेसे प्राप्त होती है. अतः ज्ञानविनयपरिणति और दर्शनविनयपरिणतिको ही आत्माकी शुद्धि कहते हैं. कीचडका नाश होनेसे जलादिकोकी जैसी शुद्धि-निर्मलता होती है वैसी कर्ममलका नाश होनेसे आत्मामें ज्ञानविनयादि शुद्धि उत्पन्न होती है. विनयसे वैमनस्य नष्ट होता है. जो विनय नहीं करता है उसके ऊपर गुरुका अनुग्रह नहीं होता है जिससे उसमें वैमनस्य उत्पन्न होता है. विनयसे ऋजुगुण-सरलता प्रगट होती है. अथवा जो विनय करता है वह शास्त्रनिर्दिष्ट आचरण करता है यह सिद्ध होता है. विनय करनेसे अभिमानका नाश होता है. अर्थात् मार्दवगुण प्रगट होता है. दुसरोंके उत्कृष्ट गुणोंमें श्रद्धा उत्पन्न होनेसे, और गुणोंका महत्त्व प्रगट करनेसे तथा विनयसे अभिमानका नाश होता है. विनयसे लाघवगुण प्राप्त होता है. विनीतमुनि आचार्यादिकोंपर अपना भार सोंपता है, अर्थात् जो कुछ कार्य करता है वह आचार्यकी कृपासेही मैं यह कार्य कर सका हूं ऐसा समझता है. अतः विनय लाघवगुणका मूल है. विनयी मनुष्यके ऊपर सर्व ही भक्ति करते हैं. विनयसे दुसरे पुरुषों को उत्कृष्ट आनंद की प्राप्ति होती है और खुद को भी आनंद होता है. जो विनय नहीं करता है. लोक उसकी निर्भर्त्सना करते हैं अतः अविनयी मनुष्य हमेशा दुःखी रहता है. विनयी की कोईभी निंदा-निर्भर्त्सना नहीं करता है अतः वह सुखी है उनको कोई बाधा नहीं देता है. बाधाके अभावमें ही सुखकी लोक कल्पना करते हैं.

कित्ती मेत्ती माणस्स भंजणं गुरुजणे य बहुमाणो ।
तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा ॥ १३१ ॥

भक्तिः प्रल्हादनं कीर्तिर्लाघवं गुरुगौरवं ॥
जिनेंद्राज्ञा गुणश्रद्धा गुणा वैनयिका मताः ॥ १३२ ॥
विनयं न विना ज्ञानं दर्शनं चरितं तपः ॥
कारणेन विना कार्यं ज्ञायते कुत्र कथ्यताम् ॥ १३३ ॥

समस्ताः संपदः सद्यो विधाय वशवर्तिनीः ॥
चिंतामणिरिवाभीष्टं विनयः कुरुते न किम् ॥ १३४
इति विनयः ॥

विजयोदया—कित्ती विनीतोऽयमिति संशब्दनं कीर्तिः । मेत्ती परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री । परस्य दुःखं नैवेच्छति विनीत इति । माणस्स भंजणं मानस्य भंगः ।

ननु मार्दवशब्देनाभिहित एव मानभंगः पूर्वसूत्रे ततः पौनरुक्त्यं इत्युच्यते माणस्स भंजणं परस्स इति शेषः एकस्य विनयदर्शनात् परोऽपि स्वं मानं जहाति । गतानुगतिको हि प्रायेण लोकः । नूनमभिमानत्यागो गुणो अन्यथा किमित्ययं विनयं करोतीति । गुरवो हि बहुमान्याः कृता भवन्ति विनयेनेत्याह—गुरुजणे य बहुमाणो इति ।

तित्थयराणं आणा संपादिदा होदित्ति शेषः । विनयमुपदिशतां तीर्थकृतां आज्ञा संपादिता भवति, अनुष्ठितेन विनयेन । गुणिविनयं प्रवर्तयता तदीयगुणानुमननं कृतं भवति इति केचित् । गुणेषु श्रद्धानादिषु हर्षः कृतो भवतीत्येवं वदन्ति । एते विनयगुणाः गुणशब्द उपकारवचनोऽत्र विनयजन्यत्वाद्विनयस्य गुणा इत्युच्यंते ।

मूलारा—कित्ती विनीतोऽयमिति संशब्दनं । मित्ती परस्य हि दुःखं नैवेच्छति विनीतः । माणस्स भंजणं परस्य हि मानभंग एकस्य विनयदर्शनात्परोऽपि स्वमानं त्यजति । गतानुगतिकत्वाल्लोकस्य । गुर्वित्यादि । विनीतेन हि गुरवो बहुमान्याः कृताः स्युः । आणा संपादिवा होदीति शेषः । गुणानुमोदा गुणिषु विनयं वितन्वता तद्गुणानुमननं कृतं स्यात् । गुणेषु वानुगतो मोदो हर्षो गुणानुमोदः । विनयगुणा विनयकृता उपकाराः । विनयः । सूत्रतः । ४ । अंकतः २३ ॥

अर्थ—जो मुनि गुरुजनोंका विनय करते हैं उनकी ' ये मुनि नम्र है ' ऐसी कीर्ति जगमें फैलती है. जो विनयी है उसको मैत्रीगुणका लाभ होता है अर्थात् वह किसी को भी दुःख होवे ऐसी अभिलाषा रखता नहीं है. विनयगुणसे मानका नाश होता है. शंका—मार्दवगुणका वर्णन पिछली गाथामें किया है उससे ही मानभंगका वर्णन हो चुका पुनः इस गाथामें वर्णन करनेसे पुनरुक्ति दोष यहा हुआ है. उत्तर— 'माणस्स भंजणं' इन शब्दोंके आगे ' परस्स ' यह शब्द जोड देना चाहिये. अर्थात् एक मनुष्य विनय करता हुआ नजर आनेस दूसरा भी अपना मान त्याग कर विनय करता है क्योंकि लोक प्रायः गतानुगतिक होते हैं. लोक भी ऐसा मनमें समझते हैं कि अभिमानका त्याग करना यह सद्गुण है यदि यह सद्गुण न होता तो यह पुरुष विनयगुणका क्यों आश्रय लेता ? विनयमें गुरुजनोंका आदर होता है. विनय करनेसे तीर्थकरोंकी आज्ञा जातीपाली है तीर्थकरोंने [illegible]

चाहिये ऐसी भव्योंको आज्ञा की है. गुणी लोगोंका विनय करनेसे उनके गुणोंको अपनी सम्मति है ऐसा सिद्ध होता है अर्थात् दुसरोंके सम्यग्दर्शनादि गुण दीखनेपर विनयवान जन हर्षयुक्त होते हैं. यह हर्षित होना गुणानुमोदनको सूचित करता है. ये सब ऊपर कहे हुवे विनयके गुण हैं.

विनयव्याख्यानानंतरं समाधिनिरूपणार्थं उत्तरप्रबंधः। योग्यस्य, गृहीतलिंगस्य, ज्ञानभावनोद्यतस्य, ज्ञाने निरूपिते विनये वर्तमानस्य, रत्नत्रयमनसः, सम्यगाराधनं स्यादित्यधिकारसंबंधोऽनुगंतव्यः। चेतः समाहितं कीदृक् तस्य वा समाहितस्य किं फलमिति चोद्यद्वयप्रतिविबोधनार्था गाथा विणयत्तिगदं ॥

चित्तं समाहिदं जस्स होज्ज वज्जिदविसोत्तियं वसियं।
सो वहदि णिरदिचारं सामण्णधुरं अपरिसंतो ॥ १३२ ॥

समाहितं मनो यस्य वश्यं त्यक्ताशुभास्रवम् ॥
उह्यते तेन चारित्रमश्रांतेनापदूषणम् ॥ १३५ ॥

विजयोदया:—चित्तं समाहिदं जस्स जस्स चित्तं वज्जिदविसोत्तिगं वसियं समाहिदं इति पदघटना। यस्य चेतः परित्यक्ताशुभपरिणतिप्रसरं वशवर्ति च यत्र नियुक्तं तत्रैव तिष्ठति, तच्चित्तं समाहितमिति ग्राह्यम्। अन्यैरेवं विचार्यते। किमिदं चित्तं नाम? मन इति चेद्द्रव्यमनो भावमनश्चेति तद्द्विप्रकारं, कस्येह ग्रहणं? न तावत् द्रव्यमनः पुद्गलत्वादसंभविनी कर्मादाननिमित्ततया कर्मपरिणतिरिति। वज्जिदविसोत्तिगमिति। विशेषणमसंभवीति। न च तद्वशवर्त्यात्मनः तेन भावमनो गृह्यते। नोइंद्रियमतिः सा रागादिसहभाविनी। तद्रहिता चास्तीति युज्यते वज्जदि विसोत्तिगं इति विशेषणं। वसिगमिति च तस्यां घटते। नो इंद्रियमतिज्ञानावरणक्षयोपशमवत आत्मनो वशेन नो इंद्रियमतिर्वर्तते। तथा हि रागकोपभयदुःखादयो नटादीनां वशेन परिणामा वर्तंते तत्कार्यपुलकादिदर्शनेनानुमीयमानाः। तद्वदेव नोइंद्रियमतिरपि आत्मेच्छया कश्चिदेवावशानुभूयते इति। सो सः समाहिदचित्तो वहदि धारयति। तथा च प्रयोगः—विनयं वहति धारयति इति गम्यते। णिरदिचारं निरतिचारं निर्दोषं। सामण्णधुरं रागकोपानुपप्लुतचित्तः समण इत्युच्यते। तथा च नैरुक्ता वदन्ति 'समणो' समणो इति समणस्स भावो सामण्णं तच्च किं समानता चारित्रं। तस्य भारं कीदृशं निरतिचारं निर्मलं। अपरिसंतो अश्रान्तश्चारित्रभारोद्वहनं फलं समाहितचित्तस्येत्याख्यातं भवति। अनिभृतमनस्ताया दोषाख्यानव्याजेन निभृतं मनः कार्यमिति कथयत्युत्तरगाथया। कश्चित्कंचिदुज्जयिनीस्थं दक्षिणापथाभिमुखमाह अल्पधान्यः क्षुद्रजनबहुलो द्रमिलदेशः इति। स एवमुक्तं प्रत्येति अयं जनपदः सुभिक्षः सुजनाधिवासः इति।

अथ योग्यस्य, गृहीतमुक्त्युपायलिंगस्य, ज्ञानभावनोद्यतस्य, विनये वर्तमानस्य, रत्नत्रये मनसः सम्यगाधानं न्याय्यमित्युपदेष्टुं गाथादशकमादिशति तत्र तावच्चेतः समाहितं कीदृक् तस्य वा समाहितस्य किं फलमिति प्रश्ने सतीदमाह ।

मूलारा—चित्तं भावमनः । तल्लक्षणं यथा—गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानमात्मनो भावमनः । तदभिमुखस्यास्यैवानुग्राही पुद्गलोच्चयो द्रव्यमनः ॥ १ ॥ वज्जियविसोत्तिगं वर्जितविसोतकं वर्जितानि निरूपाणि स्रोतांसि पापास्रवकारणाशुभपरिणामप्रवाहा येन तत्परित्यक्ताशुभपरिणतिप्रसरमित्यर्थः । वसग वशवर्ति । यत्र नियुंक्ते तत्रैव तिष्ठतीत्यर्थ एतद्विशेषणोपेतं समाहितमित्युच्यते । सामण्णधुरं चारित्रभारं । अपरित्तो अश्रान्तः ।

विनयके निरूपणके अनंतर आचार्य समाधिनिरूपण करते हैं. जो समाधिमरणकेलिए योग्य है, जिसने मुनिलिंग धारण कर ज्ञानाभ्याससे विनयगुण धारण किया है, जिसका मन रत्नत्रयमें लीन हुआ है उसको आराधना करना योग्य है. ऐसा अगेके अधिकारके लिये पूर्व संबंध ध्यानमें रखना योग्य है. इसके अनंतर एकाग्र अन्त करणका क्या स्वरूप है ? उसका फल क्या है ऐसे दो प्रश्नोंका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—जिसके चित्तने अशुभ विचारपरिणतिको छोडा है, जो वश हुआ अर्थात् जिस पदार्थमें उसको नियुक्त करते हैं वहा ही वह स्थिर होता है तो वह चित्त समाहित हुआ है ऐसा समझना चाहिये. अन्य आचार्य मनका एवं विचार करते हैं—चित्त किसको कहते हैं ? यदि मनको चित्त कहते हो तो उसके द्रव्यमन और भावमन ऐसे दो भेद हैं. यहां कोनसा मन समाहित होता है ऐसा हम समझें ? द्रव्यमन तो समाहित होता नहीं क्योंकि वह पुद्गलस्वरूपी है. वह कर्मका ग्रहण करनेमें यद्यपि निमित्त कारण है तथापि स्वयं वह रागद्वेषादि कर्मरूप परिणतीको प्राप्त होता नहीं है. इसलिये द्रव्यमनका ' वज्जिदविसोत्तिगं ' यह विशेषण नहीं है. क्योंकि पुद्गल मन अर्थात् द्रव्यमन आत्माके वशमें रहनेवाला नहीं है अतः यहां चित्त शब्दसे भावमन ही समझना चाहिये. भावमन माने मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान वह रागद्वेषादि विकारके साथ रहनेवाला और न रहनेवाला ऐसे दो भेदोंसे युक्त है. अतः भावमनका ही ' वज्जिदविसोत्तिगं ' यह विशेषण समझना युक्तियुक्त है. वसिगं यह भी विशेषण उसमें ही जुडता है.

नोइंद्रियमतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे नोइंद्रियमतिज्ञान आत्माके वश होकर रहता है. इसका खुलासा इस प्रकार समझना—नट, वेश्या, नर्तकी वगैरेके हावभाव, नृत्यादि कार्य देखनेपर प्रेम, कोप, भय,

दुःखादिक परिणाम आत्मामें उत्पन्न होते हैं और इनका अनुमानज्ञान शरीरमें रोमांच, मुखमें विकास, म्लानि इत्यादि कार्यके दीखनेपर होता है. वैसे नोइंद्रियमतिज्ञान आत्मेच्छासे किसी एक पदार्थमें एकाग्र होता हुआ अनुभवमें आता है.

जिसका मन एकाग्र और वश है ऐसा मुनि रागकोपादि विकारोंसे रहित, निरतिचार चारित्रको न थका हुआ यावज्जीव धारण करता है. चारित्रभार धारण करना यह एकाग्रचित्तका फल है. विना एकाग्र चित्तके चारित्र धारण नहीं होता है.

आगेकी गाथायें चंचल मनसे होनेवाले दोषोंका वर्णन करती हैं. उस वर्णनसे मनको निश्चल करना चाहिये यह अभिप्राय उत्तर गाथाओंका व्यक्त होता है. उदाहरणके द्वारा यही अभिप्राय आचार्योंने पुष्ट किया है जैसे–उज्जयिनीका कोई आदमी–दाक्षिणदिशाके तरफ जानेको उद्यत हुआ. उसको देखकर कोई पुरुष कहता है, द्रमिल देशमें धान्य थोडा है, और क्षुद्रलोक वहां अधिक हैं तो उस पुरुषके वचनका अभिप्राय यह निकला कि उज्जयिनीदेशमें सुभिक्षता है और यहांके लोक सज्जन हैं. वैसे चंचल मनके दोषवर्णनसे मनको निश्चल करना चाहिये ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये.

चालणिगयं व उदयं सामण्णं गलइ अणिहुदमणस्स ॥
कायेण य वायाए जदि वि जधुत्तं चरदि भिक्खू ॥ १३३ ॥
तितचाविव पानीयं चारित्रं चलचेतसः ॥
वचसा वपुषा सम्यक् कुर्वतोऽपि पलायते ॥ १३६ ॥

विजयोदया—चालणिगयं व उदयं उदकमिव चालनीगतं । सामण्णं सामान्यं समानभावो । गलइ गलति । कस्स अणिहुदमणस्स अनिभृतं चेतो यस्य । कायेण य वायाए कायेन च वचसा च । जदि वि चरदि यद्यपि चरति प्रवर्तते भिक्षुः । जधुत्तं यथाशास्त्रेणोक्तं । तथा वाक्कायाभ्यामाचरतोऽपि मनोनिभृतताभावे श्रामण्यं नश्यतीत्यर्थः । तस्माच्चेतःसमाधानं कार्यमित्युपसंहारः ।

चलचित्तत्वदोषख्यापनव्याजेन मनःस्थैर्यं कार्यतया ज्ञापयति—

मूलारा—अणिहुदं चलं ।

अर्थ—जिस मुनिका चित्त चंचल है उसका चारित्र चालिनीमें डाला हुआ पानी उसमेंसे जैसे निकल जाता है रहता नहीं, वैसे नष्ट होता है. यद्यपि वह साधु शरीरसे और वचनसे शास्त्रोक्त चारित्र पालन करता है. शरीर और वचनसे चारित्र पाले तो भी यदि साधूका चित्त स्थिर नहीं हो तो वह नष्ट होता ही है. अतः चित्त-की चंचलता नष्ट कर उसमें स्थैर्य लानेका साधुओंको प्रयत्न करना चाहिये.

मनसो दुष्टतां प्रपंचेनोपदिश्य तदेवंभूतं मनो यो निगृह्णाति तस्य श्रामण्यं भवति समानभावो नेतरस्येत्ये-तदुत्तरप्रबंधेनोच्यते तद्दौरात्म्यप्रकाशनार्थं गाथापंचकम्—

वादुब्भामो व मणो परिधावइ अट्ठिदं तह समंता ॥
सिग्घं च जाइ दूरंपि मणो परमाणुदव्वं वा ॥ १३४ ॥

परितो ऽटाट्यते [धावते] चेतश्चरण्युरिव चंचलम् ॥
परमाणुरिव क्षिप्रं दूरं यात्यनिवारितम् ॥ १३७ ॥

विजयोदया—वादुब्भामो इत्यादिकं । वादुब्भामो व वात्येव । मणो मनः । परिधावइ । धावति परिरनर्थकः । प्रलंबित इति यथा । अट्ठिदं इति क्रियाविशेषणं अस्थितं धावति । कचिद्विषयेऽनवस्थितिराख्याता मनसः । तह समंता तथा समंतात् । दूरं पि दूरमपि । सिग्घं च जाइ शीघ्रं याति । मणो मनः । परमाणुदव्वं वा परमः प्रकृष्टो अणुः सूक्ष्मः परमाणुः स एव द्रव्यं गुणपर्यायगमनात् तदिव । एतेन झटिति दूरस्थितविषयग्रहणं तस्य दौरात्म्यमावेदितं ।

क्रमशोऽनवस्थितत्वझटितिविदूरस्थितविषयग्राहित्वात्मस्वामिचिकीर्षिताप्रवर्तनाशुनाशित्ववस्तुसदसद्रूपनिराकरण-ग्रहणप्रवृत्यप्रतिनिवर्तनीयत्वमार्गाप्रवृत्तत्वातिदुर्ग्रहत्वदुरंतदुःखप्रदचेष्टत्वसंसारकारणदोषकारिजीवितव्यत्वलक्षणं नवधा मनसो दौष्ठ्यं गाथापंचकेन व्याचष्टे—

मूलारा—वादुब्भामोव्व वातावलीव वातावलीतुल्यं । अट्ठिदं कचिदपि विषये अनवस्थितं यथा भवति । परमाणुदव्वंव मनसो झटितिदूरस्थितविषयग्रहणलक्षणदौरात्म्योपलक्षणार्थमिदं भवति ।

आगे पांच गाथाओंसे मनकी दुष्टता आचार्य दिखाते हैं, दुष्ट मनका जो निग्रह करते हैं, उनका चारित्र निर्दोष पला जाता है. अन्य साधुका चारित्र निर्दोष नहीं पल सकता यह विषय विस्तारसे आचार्य दिखाते हैं—

अर्थ—बडे जोरसे वहने वाली वायु किसी भी स्थानमें स्थिर नहीं रहती है. चारो तरफ दौडती है. मन भी किसी भी विषयमें स्थिर नहीं होता है. गुणपर्यायोंसे युक्त परमाणुद्रव्य जैसा एक समयमें बहुत दूर जाता है

वैसा मन भी एक विषयको छोडकर अतीव दूरके विषयको भी ग्रहण करता है. मनकी दूरके विषयको भी तत्काल ग्रहण करनारूप दुष्टता इस गाथासे आचार्यने प्रदर्शित की है.

अंधलयबहिरमूवो व्व मणो लहुमेव विप्पणासेइ ॥
दुक्खो य पडिणियत्तेदुं जो गिरिसरिदसोदं वा ॥ १३५ ॥

वांछिताभिमुखं स्वान्तं निषेद्धुं केन शक्यते ॥
नगापगापयो निम्ने प्राप्तं (तद्रुध्यते) कथम् ॥ १३८ ॥
न मूको बधिरोऽन्धो वा ब्रूते शृणोति पश्यति ॥
यस्तु हेयमुपादेयं विषयाकुलितं मनः ॥ १३९ ॥
विकल्पैर्विविधैर्लोकं पूरयित्वा मलीमसैः ॥
मेघवृन्दमिव स्वान्तं क्षणेनैव विनश्यति ॥ १४० ॥

विजयोदया—अंधलयबहिरमूओ व्व मणो हवइ इति शेषः । अंधवद्बधिरवन्मूकवच्च भवति मनः । कदाचित्कथंचित्कचिद्विषये सक्तं मनः संनिहितमपि विषयं न पश्यति, न शृणोति, न ब्रवीति, इति । ननु चक्षुरादेः कर्तृता दर्शनादौ न मनसस्तत्सर्वदापि न किंचित्पश्यति, न शृणोति वक्ति वा ? उच्यते—मनसः करणस्य कर्तृता परशुश्छिनत्तीति यथा । एतदुक्तं भवति—द्रष्टव्ये जीवादिके, श्रोतव्ये जिनवचनादिके, स्वपरहितवाक्ये च कदाचिदप्रवृत्तिर्मनसो दुष्टतेति । यथा भृत्यो दुष्ट इत्युच्यते स्वामिनो नियुक्ते कर्मण्यप्रवर्तमानः । एवं मनोऽप्यात्मना नियुक्तेऽव्यापृतेर्दुष्टमिति भावः । लहुमेव विप्पणासेदि य आशु विनश्यति च । अनित्यतादोषतस्तु याथात्म्यग्राहिणो मनसः नो इंद्रियमतेः दुःखं अशक्यं । पडिनियत्तेदुं जं प्रतिनिवर्तयितुं यदन्यभूतरूपग्रहणे भूतरूपनिरासे च प्रवृत्तं ताभ्यां निवर्तयितुं न शक्यं रागादिसहचारित्वात् प्रतिनिवर्तयितुं । किमिव गिरिसरिदसोदं व्व नदीप्रवाह इव ।

मूलारा—अंधलयबहिरमूओव अंधबधिरमूकवद्भवति कदाचित्कथंचिद्विषये सक्तं मनः संनिहितमपि विषयं न पश्यति, न शृणोति, न ब्रवीति इत्यर्थः । अत्र सर्वत्र चक्षुरादिकर्तृकेऽपि दर्शनादौ मनसः करणस्य कर्तृत्वमुक्तं वृक्षच्छिदायां परशोरिव आत्मना च जीवादिके द्रष्टुमिष्टे जिनवाक्ये, श्रोतुमिष्टे स्वपरहिते च, वक्तुमिष्टे नियुज्यमानस्य मनसः कदाचिदप्रवृत्तिरेव दुष्टता स्वामिना भृत्यस्य यथा निर्दिष्टे कर्मणि । लहुमेव विप्पणासेदि य आश्वेव विनश्यति च । एतेन वस्तुयाथात्म्यग्राहिणश्चित्तस्यानित्यत्वदोष उक्तः । दुःखो य दुखं च अशक्यमित्यर्थः । पडिणियत्तेदुं जं प्रतिनिवर्तयितुं वस्त्वन्य-

भूतरूपग्रहणे भूतरूपनिराकरणे च प्रवृत्तं मनस्ताभ्यां व्यावर्तयितुं न शक्यते रागादिसहचारित्वादिति भावः। गिरिसरित्स्रोतःस्व पर्वतनदीप्रवाह इव।

अर्थ—अंधा, बहिरा और गूंगेके समान दुष्ट मनका स्वभाव है. किसी समयमें किसी प्रकारसे व किसी विषयमें आसक्त हुआ मन समीपास्थित भी दुसरे विषयको देखता नहीं है, सुनता नहीं और बोलता भी नहीं है.

शंका—देखना, सुनना और बोलना इस क्रियाका कर्तृत्व नेत्र, कर्ण और जिह्वाके तरफ है. मन तो इन क्रियाओंका कर्ता नहीं है. वह सर्वदा भी किसी विषयको देखता नहीं है. सुनता नही है. और बोलता भी नहीं है.

उत्तर—मन यद्यपि करण है तो भी उसमें कर्तृताका आरोप किया है जैसे 'परशुश्छिनत्ति' कुन्हाड लकडी काटती है. यहां कुन्हाड छेदन क्रिया करनेमें देवदत्तको सहाय करती है अतः करण है. तोभी उसके तीक्ष्णत्वादि गुणोंकी प्रशंसामें उसको कर्तृपद मिला है. वैसे मनमें पदार्थोंको जाननेकी उत्कटता होनेसे इतर इंद्रियोंको उनके विषयमें वह सहाय्यता देता है तो भी उसमें कर्तृत्वका अध्यारोपण किया जाता है. अभिप्राय यह है—कि जीवादिक पदार्थ अवलोकनके योग्य हैं. जिनवचनादिक सुननेके योग्य हैं, स्वपरहित करनेवाले वाक्य भी सुनने योग्य हैं परंतु इस मनकी उनमें कदाचित् प्रवृत्ति नहीं होती है. यह इसकी दुष्टता है. जैसे मालिकने किसी कार्यमें प्रेरा हुआ नोकर यदि उस कार्यको न करेगा तो उसको दुष्ट कहते हैं वैसे मनभी आत्माने नियुक्त कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता है अतः वह दुष्ट कहां जाता है. किसी कार्यमें संलग्न हुआ तो भी वह वहां स्थिर न होकर वहांसे शीघ्र हटता है अर्थात् वस्तुका यथार्थ स्वरूप ग्रहण करता हुआ भी उससे जल्दी हटता है. वह मन वस्तुका जो सत्य स्वरूप है उसको ग्रहण न कर असद्रूपको ग्रहण करता हैं. उसमेंसे उसको हटाना अतीव कष्टकर कार्य है अर्थात् मनको सद्रूपके ग्रहण करानेमें असद्रूपसे हटानेमें कोई प्रयत्न करेगा तो उसको बडा कष्ट होगा. जैसे पर्वतपरसे बहनेवाली नदीका प्रवाह हटाना अतीव दुष्कर है वैसे मन भी रागद्वेषादि विकारोंसे युक्त होनेपर उसको असत् से हटाकर सत् में प्रवृत्त करना बडा कठिन कार्य है.

तत्तो दुक्खे पंथे पाडेदुं दुब्भओ जहा अस्सो।
बीलणमच्छोव्व मणो णिग्घेत्तुं दुक्करो धाणिदं॥ १३६॥

न प्रवर्तयितुं मार्गे दुष्टो वाजीव शक्यते ॥
ग्रहीतुं शक्यते चेतो न मत्स्य इव चीलनः ॥ १३९ ॥

विजयोदया—तत्तो तस्मात्प्रतिनिवर्तनात् । दुक्खे दुष्करे पंथे । पाडेदुं मार्गे पातयितुं किमिव । दुट्ठओ जह्य अस्सो दुष्टोऽतिव्यालो यथैवाश्व । एतेन दुष्करमार्गप्रपातित्वदोषः प्रकटितः । चीलणमच्छोव्व मसृणतरदेहमत्स्य इव । धणिदं दुक्करो णिघेत्तुं नितरां दुष्करं ग्रहीतुं मनः । एतेन दुरवग्रहता ख्याता ।

मूलारा—तत्तो अशक्यप्रतिनिवर्तनत्वात् । दुक्खं दुःशकं । पाडेदुं नेतुं । चीलणमच्छोव्व मसृणतरदेहमत्स्य इव । णिग्घेत्तु ग्रहीतुं । धणिदं अत्यर्थम् ।

अर्थ—यदि मनको अयोग्य विषयसे हटाया जावे तो जैसा दुष्ट अश्व दुःखदायक मार्गमें मनुष्यको गिराता है वैसे दुःखदायक कुमार्गमें यह जीवको गिराता है. इस गाथासे दुष्करमार्गप्रपातित्व नामका मनका दोष प्रगट होता है. जिसका देह अतिशय स्निग्ध है ऐसा चीलण मत्स्य हाथसे नहीं पकड सकते हैं वैसे यह मन भी ग्रहण करना दुष्कर कार्य है. इससे दुरवग्रहता नामका दोष मनमें रहता है यह आचार्यने दिखाया है.

जस्स य कदेण जीवा संसारमणंतयं परिभमंति ॥
भीमासुहगदिबहुलं दुक्खसहस्साणि पावंता ॥ १३७॥

यस्य दुःखसहस्राणि भजंते वशवर्तिनः ॥
संसारसागरे घोरे बंभ्रम्यन्ते शरीरिणः ॥ १४० ॥

विजयोदया—जस्स य यस्य च । कदेण करोति क्रियासामान्यवाची इह चेष्टावृत्तिर्गृहीतस्तेनायमर्थः यस्य मनसश्चेष्टितेन जीवाः संसारं पंचविधं परावर्तं परिभ्रमन्ति । अणंतगं अनंतप्रमाणावच्छिन्नं । भीमासुहगदिबहुलं । भयावहाशुभनरकादिगतिप्रचुरं । दुक्खसहस्साणि शारीरागंतुकमानसस्वाभाविकाख्यानि प्रत्येकमनेकविकल्पानि । पावंता प्राप्नुवंतो जीवाः । एतेन चतुर्गतिपरावर्तमूलतादोषः प्रकटितः ।

मूलारा—कदेण वेष्टितेन।

अर्थ—इस मनकी दुष्ट प्रवृत्तीसे जीवको पांच प्रकारके परिवर्तनसहित इस अनादि अनंत संसारमें शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक हजारो दुःख सहन करने पडते हैं. यह संसार अशुभ नरकादिगतिओंसे भरा है. इसमें शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक दुःखोंके अनेक प्रकार इस जीवको प्राप्त होते हैं. अभिप्राय यह है कि, यह मनही चतुर्गतिमें भ्रमण करनेका मूल कारण है.

जह्मि य वारिदमेत्ते सव्वे संसारकारया दोसा ॥
णासंति रागदोसादिया हु सज्जो मणुस्सस्स ॥ १३८ ॥
संसारकारिणो दोषा रागद्वेषमदादयः ॥
जीवानां यस्य रोधेन नश्यंति क्षणमात्रतः ॥ १४१ ॥

विजयोदया—जह्मि यस्मिंश्च मनसि। वारिदमेत्ते वारित एव। मात्रग्रहणं वारणादन्यं निराकर्तुमुपात्तं। मनो निवारणादेव। रागदोसादिया रागद्वेषादयः। णासंति खु नश्यंत्येव। सज्जो सद्यः तदानीमेव। संसारकारया परावर्तपंचकस्य संपादनोद्यताः।

मूलारा—वारिदमित्ते वारित एव।

अर्थ—इस मनको रोकने मात्रसेही पंच परावर्तनात्मक संसारकी उत्पत्ति करनेवाले राग, द्वेष, मोह वगैरह दोष तत्काल नष्ट होते हैं.

इय दुट्ठयं मणं जो वारेदि पडिट्ठवेदि य अकंपं ॥
सुहसंकप्पपयारं च कुणदि सज्झायसण्णिहिदं ॥ १३९ ॥
तद्दुष्टं मानसं येन निवार्याशुभवृत्तितः ॥
प्रवृत्तशुभसंकल्पं स्वाध्याये क्रियते स्थिरम् ॥ १४२ ॥

विजयोदया—इय। एवं व्यावर्णितरूपेण। दुट्ठयं दुष्टकं दुष्टं। मणं। मनो जो वारेदि यो निवारयति रागादिभ्यः। पडिट्ठवेदि य प्रतिष्ठापयति च श्रद्धानपरिणामादौ। अकंपं निश्चलं। क्रियाविशेषणमेतत्

तस्स सामण्णं होदि । वक्ष्यमाणेन संबंधः । सुभसंकप्पपयारं जो कुणदि तस्स सामण्णं होदित्ति संबंधनीयं । शुभः संकल्पः तस्मिन्प्रकृष्टश्चारो गमनं प्रवृत्तिर्यस्य मनसस्तच्छुभसंकल्पप्रचारं मनो यः करोति । सज्झायसण्णिहिदं पज्जो कुणदि तस्स सामण्णं इति संबंधः । सम्यगध्ययनं स्वाध्यायः द्रुतविलंबितादिदोषरहितत्वं अर्थव्यंजनशुद्धिश्च सम्यक्त्व । स पुनः पंचप्रकारः वाचनाप्रश्नानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशभेदेन ।

प्रश्नस्य कथं स्वाध्यायता ? प्रश्नो हि ग्रंथेऽर्थे वा संशयच्छेदाय इत्थमेवैतदिति निश्चितार्थबलाधानाय वा प्रच्छनं। तर्हि यदच्छावग्रहमर्थं वा सोऽधीते अध्ययनप्रवृत्तत्वात् । प्रश्नेऽध्ययनव्यपदेशः इंद्रप्रतिमार्थे दारुणि द्रव्यव्यपदेश इव । अथवा किमित्थमेवं पठितव्यमिति । अधीत एव ग्रंथे संदिहानः । अर्थसंदेहेऽपि किमस्य वाक्यस्य पदस्य वायमर्थः इति । यद्वाप्यते एवं निश्चितबलाधानेऽर्थे प्रश्ने योज्यम् ।

अनुप्रेक्षा कथं स्वाध्यायः ? अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा अन्तर्जल्परूपमध्ययनमस्त्येव तत्रापीति मन्यते ।

घोषपरिशुद्धं श्रुतं परावर्त्यमानं आम्नायः स्वाध्यायो भवत्येव ।

आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी, निर्वेदनी चेति कथाश्चतस्रस्तासामुपदेशो धर्मोपदेशः स च स्वाध्यायः एतस्मिन्स्वाध्याये सम्यक् निहितं निक्षिप्तं मनो यः करोति इत्यर्थः ।

अत्रैवं पदघटना अध्याहृतं कृत्वा । इय दुट्ठं मणो सो वारेदि अकंपं पडिट्ठवेदि य जो मणं सुभसंकप्पपयारमेव कुणदि सज्झायसण्णिहिदं काऊण इति । एवं दुष्टं मनः स वारयति निश्चलं प्रतिष्ठापयति वा । यो मनः शुभसंकल्पप्रचारमेव करोति । स्वाध्याये सन्निहितं कृत्वेति सूत्रार्थः । तस्येत्थंभूतस्य श्रामण्यं समानता वा भवति ।

एवं प्रबंधेन मनसो दुष्टतां प्रकाश्य तदनिग्रहकारिणः फलं गाथात्रयेणाह—

मूलारा–पट्ठिवेदि अद्धानसंयमादौ प्रतिष्ठापयति । सुहसंकप्पपयारं । शुभपरिणामप्रचारं । शुभसंकल्पेष्व र्हदादिभक्तिजीवदयादिषु प्रचारः प्रवृत्तिर्यस्य । अत्रायं सूत्रार्थः । स्वाध्याये सम्यङ् निक्षिप्तं कृत्वा यो मनः शुभप्रवृत्तिकमेव करोति स तथा दुष्टं वारयति निश्चलं प्रतिष्ठापयति चैतत्तस्यैव च समाहितादिगुण श्रामण्यं भवतीति सम्बन्धः ।

अर्थ—उपर्युक्त दुष्ट प्रवृत्ति करनेवाले मनको जो रागादि विकारोंसे हटाता हुवा सम्यग्दर्शनादिपरिणामोंमें दृढ स्थिर करता है उस मुनिको समता भाव प्राप्त होता है. जो मुनि अपने मनको शुभविचारोंमें प्रवृत्त करता है और स्वाध्यायमें तत्पर करता है उसको समताभावकी प्राप्ति होती है.

विशेषार्थ–स्वाध्याय करते समय शास्त्रकी पंक्तियां जल्दीसे अथवा अतिमंदरीतीसे नहीं पढना चाहिये. अर्थशुद्धि और व्यंजन शुद्धिके तरफ ध्यान देना चाहिये. इस तरह जो-शास्त्र पढना वह स्वाध्याय है. स्वाध्यायके वाचना

प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ऐसे पांच भेद हैं.

प्रश्नको स्वाध्याय क्यों मानना चाहिये ? ग्रंथ और अर्थमें संशयका नाश करनेकेलिये अथवा इस पदार्थका ऐसाही स्वरूप है अन्य नहीं है इत्यादि रूपसे जो स्वयं निश्चय किया होगा उसको पुष्टि लानेकेलिये जो विद्वानोंको पूछना यह प्रश्न है. प्रथम स्वाध्याय करनेवाला यदृच्छासे जान लेता है अथवा अर्थका पठन करता है. प्रश्न करना भी स्वाध्याय ही है क्योंकि प्रश्न अध्ययनमें प्रवृत्ति करनेके लिये कारण है. जैसे जिस काष्ठसे इंद्रकी प्रतिमा बनाना है उसको हम द्रव्यनिक्षेपसे इंद्रप्रतिमा कहते हैं. वैसे प्रश्न भी स्वाध्याय करनेमें जीवको प्रेरणा करेगा अतः उसको स्वाध्याय कहना कुछ अनुचित नहीं है. अथवा पढे हुए ग्रंथमें भी क्या यह शास्त्र इस रीतीसे पढना चाहिये ? अथवा अन्य प्रकारसे पढना चाहिये ऐसा यदि ग्रंथमें संशय उत्पन्न हुआ हो किंवा अर्थमें यदि संशय हो तो इस पदका अथवा इस वाक्यका क्या यह अर्थ है ? इस तरहसे पूछना यह प्रश्न स्वाध्यायको कारण होनेसे स्वाध्याय कहा जाता है. अथवा जो निश्चित किया है ऐसे अर्थमें और दृढता उत्पन्न करनेकेलिये जो प्रश्न किया जाता वह भी स्वाध्याय को कारण होनेसे स्वाध्याय ही है.

अनुप्रेक्षाको स्वाध्यायपना कैसा ? जाने हुवे पदार्थका मनके द्वारा वार वार चिंतना करना अनुप्रेक्षा है. यह अन्तर्जल्परूप होनेसे इसमें भी स्वाध्यायपना है ही. उच्चारणसे शुद्ध जो शास्त्रको वार वार घोकना उसको आम्नाय कहते हैं. यह भी स्वाध्याय है. आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी. निर्वेजनी, ऐसी चार कथाओंका भव्योंके सामने कथन करना धर्मोपदेश है यह भी स्वाध्याय है, ऐसे पांचो प्रकारके स्वाध्यायोंमें जिसने अपने मनको संलग्न किया है उसको श्रामण्यप्राप्ति होती है. अर्थात् अपने मनको जो साधु स्वाध्यायमें स्थिर करके रागद्वेषादिसे उसको हटाता है. शुभसंकल्पोंमें स्थिर करता है उसकोही श्रामण्य प्राप्ति है. ऐसा इस गाथाका अभिप्राय जानना चाहिये.

जो विय विणिप्पडंतं मणं णियत्तेदि सह विचारेण ॥
णिग्गहदी य मणं जो करेदि अदिलंभियं च मणं ॥ १४० ॥

अभितो धावमानं तद्विचारेण निवर्त्यते ॥
निगृह्य क्रियते चित्तं दुर्वृत्त इव लज्जितम् ॥ १४३ ॥

विजयोदया—जो वि य यश्चापि। विणिप्पडंतं वि शब्दो नानार्थः निर् इत्युपसर्गो बहिर्भावे पडिर्गमनार्थः। ततोऽयमर्थोऽस्य पदस्य विचित्रं बहिर्निर्गच्छन्निवर्तयेदिति। ननु च सत्यभ्यंतरे कस्मिंश्चित्सदपेक्षो भवति बहिर्भावस्ततः किम्? अभ्यंतरमिह गृहीतं रत्नत्रयं, कथमस्याभ्यंतरता? आत्मनो निजस्वरूपमिति। रागकोपादयस्तु चारित्रमोहोदयजा भावा. परिणामा बाह्या मिथ्यात्वकषायादिभेदेन विचित्रास्तदभिमुखतया प्रवृत्तेः। णियत्तेदि सह विचारेण जो इति शेषः।

कोऽसौ विचारः? उच्यते- इदं तत्त्वाश्रद्धानं, इयं च हिंसादिपरिणतिरियं वा क्रोधादिको भावो मया परिणामिकारणभूतेन निर्वर्त्यमानो जातिजरामरणपरिणामरूपानंतसंसारकारणानां कर्मणां मूलोत्तरप्रकृतिभेदेन संख्यातासंख्यातविकल्पानां, स्थितिविशेषमात्मप्रदेशेष्ववस्थानरूपं, तीव्रमध्यममंदरूपाश्रद्धानासंयमकषायपरिणामानिर्वर्तनसामर्थ्यमनुभवाख्यं च निर्वर्तयति। तानि चात्मप्रदेशस्थान्यनंतप्रदेशेषु पुद्गलस्कंधद्रव्याणि सन्निहितद्रव्यक्षेत्रकालभवभावसहायापेक्षया पुनरपि मिथ्यात्वादिपरिणाममापादयन्ति। न हि सन्निहितविकलकारणसमूहस्य अनुत्पत्तिर्नाम संभाव्यते। तेन चाश्रद्धानादिपरिणामेन तथैव कर्मणामादानं, आत्तानां स्थितिः, सामर्थ्यातिशयः इत्यादिका परंपरता। तयानंतकालपरिभ्रमणमिति महाननयमनर्थो मम भविष्यतीति, एवंभूतेन विचारेण मनो निवर्तयति यस्तस्य श्रामण्यमिति संबंधः। णिगहदि य मणं जो यो मनो निगृह्णाति हा दुष्टं चिंतितमिदमिति निंदागर्हाभ्यां तस्य श्रामण्यमिति संबंधः। करेदि अंदिलज्जियं च मणं, करोत्यतीव लज्जापरं यो मनः। कथं संसारमहितं तत्कारणभूतान्परिणामान्मुक्तिं तदुपायांश्च भावानधिगच्छतः श्रद्धानस्य तत्परिणामव्यपोहनार्थमेवं गृहीतनिर्ग्रंथलिंगस्य चिंतेयमयुक्तेति, निरूपयति, अतिव्रीडां मनसो जनयति।

एवं बहिरंगयोगेन समाधिसिद्धिमनुशिष्यांतरंगयोगेन तामनुशास्ति—

मूलारा—विणिप्पडंतं विनिष्पतत् विनाशार्थे, नि बहिर्भावे प्रतिगमने। रत्नत्रयात्प्रच्युत्य विचित्रेषु शुद्धचिद्रूपाद्बहिर्भूतेषु रागादिषु गच्छदित्यर्थः। सह विचारेण, वर्तमान इति शेषः। अयं मिथ्यात्वादिर्दुर्विपाककर्मणां कारणं, तानि च दुरंतसंसारदुःखफलानि, ततोऽस्मान्निवृत्तिर्मे श्रेयसीत्येवं भायो विमर्शश्चात्र विचारः। णिगिण्हदि हा दुष्टं चिंतितं इति निंदागर्हाभ्यां निगृह्णाति। अनशनादिदुष्करतपोऽनुष्ठानद्वारेण क्षपितदुर्विकल्पशक्तिकं करोति वा। अदिलज्जिदं एवं गृहीतलिंगस्य मम कथमीदृक्चिंता करोमीति निरूपणेनातिमात्रं लज्जां नीतम्।

अर्थ—जो मुनि अनेक प्रकारसे बाहर घुमनेवाले मनको विचारोंके द्वारा आत्मामें लगाता है, जो साधु अपनी

निंदा और गर्हा करके मनका निग्रह करता है और उसको लज्जित करता है उसको ही श्रामण्यकी सिद्धि होती है.

विशेषार्थ—विणिप्पडंतं इस शब्दका अर्थ इसप्रकार है. वि शब्दका नाना, अनेक ऐसा अर्थ है. निस् यह उपसर्ग है. 'बाहर' बाह्य यह निस् उपसर्गका अर्थ है. 'पडि' धातु गमन करना इस अर्थका वाचक है. विणिप्पडंतं इस पदका समुच्चयार्थ 'नाना प्रकारसे बाहर जानेवाले मनको वापिस आत्मामें लौटाना चाहिये' यह है.

शंका—यदि अभ्यंतर कोई चीज हो तो उसकी अपेक्षासे बाह्य पदार्थकी सिद्धि होगी. यहां अभ्यंतर चीज कोनसी है ? उत्तर—यहां रत्नत्रयको अभ्यंतर वस्तु कहते हैं. इसको अभ्यंतर वस्तु क्यों कर कहना चाहिये ?

उत्तर—यह रत्नत्रय आत्माका स्वरूप है अतः इसको अभ्यंतर कहना चाहिये. रागद्वेषादिक विकार चारित्र मोहके उदयसे होते हैं अत' वे बाह्य वस्तु है. मिथ्यात्व कषाय वगैरह भेदोंसे राग द्वेषादिकोंमें विचित्रता आती है इन विकारोंके तरफ मनकी प्रवृत्ति हुई हो तो उसको वहांसे हटाकर आत्मामें प्रवृत्त करना चाहिये.

जिनके साहाय्यसे मनको आत्माभिमुख कर सकते हैं ऐसे विचार कोनसे हैं इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है— मैं यदि तत्त्वोंपर अश्रद्धान करूं, यदि हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना इत्यादि पापरूप परिणति मेरेमें हो जावेगी, यदि क्रोध, मान, मायादिक मेरेमें उत्पन्न होंगे तो चार प्रकारके कर्मबंध उत्पन्न होंगे. जन्मजरामरणरूप अनंतसंसारके कारणभूत कर्मोंका प्रकृतिबंध मेरे आत्मप्रदेशोंमें होगा. इस कर्मके मूल प्रकृतिभेद आठ हैं, उत्तर प्रकृतिभेद संख्यात असंख्याती होते हैं. कर्म आत्मामें आकर स्थिर होना स्थिति बंध है. अश्रद्धान, असंयम, कषाय इत्यादि परिणामोंमें तीव्रता, मध्यमता, मंदता, उत्पन्न करनेवाला जो कर्मका सामर्थ्य उसको अनुभवबंध कहते हैं. अश्रद्धानादि परिणामोंसे चार प्रकारके कर्मबंध जीवमें होंगे. आत्माके समस्त प्रदेशोंमें अनंतानंत प्रदेशयुक्त पुद्गल-स्कंधरूप यह कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावोंका साहाय्य प्राप्तकर नवीन मिथ्यात्व, असंयम, कषायादि परिणामोंको उत्पन्न करते हैं. जिसके समस्त कारण इकट्ठे होते हैं वह कार्य अवश्य होता है. इस न्यायसे कर्मको द्रव्य, क्षेत्र, कालादि सामग्री मिलनेपर वह मिथ्यात्वादि परिणामोंका अवश्य उत्पन्न करेगा ही. अश्रद्धानादि परिणामोंसे जीव कर्मका स्वीकार करता है. स्वीकृत कर्म आत्मामें स्थिर होता है. और अपना प्रभाव दिखाता है. फिर नवीन कर्मबंध होनेसे जीवको अनंतकालतक संसारमें भ्रमण करना पडेगा यह बडा भारी अनर्थ होगा. इस विचारसे जो मनको बाह्य मिथ्यात्वादि परिणामोंसे हटाकर आत्मामें स्थिर करेगा उसको ही मुनिपनाकी सच्ची प्राप्ति होती है.

ण्यसिद्धि होती है. जो मनको लज्जित करता है उसको भी श्रामण्यलाभ होता है " हे मन अकल्याण करनेवाले संसारको, उसको बढानेमें कारणभूत रागद्वेषादि परिणामोंको, मुक्ति और उसके उपायोंको तू जानता है. श्रद्धान करता है. अश्रद्धानादि परिणामोंका नाश करनेके लिये ही तूने निर्ग्रंथ लिंग धारण किया है इसलिये उलटे विचार रखना क्या तेरेको योग्य दीखता है ' इस विधिसे जो मनको लज्जित करता है उसको समताकी प्राप्ति होती है.

दासं व मणं अवसं सवसं जो कुणदि तस्स सामण्णं ॥
होदि समाहिदमविसोत्तियं च जिणसासणाणुगदं ॥ १४१ ॥

अवशं क्रियते वश्यं येन दास इव व्रतम् ॥
श्रामण्यं निश्चलं तस्य सर्वदाप्यवतिष्ठते ॥ १४४ ॥

इति समाधिसूत्रम् ।

विजयोदया—अवसं दासं व मणं सवसं जो कुणदि इति पदसंबंधः । दासं व चेटीपुत्रं अवशवर्तिनं यथा कश्चिद्बलात्स्ववशं करोत्येवमधीतजिनवचन आत्मनो मनो निरवग्रहतया प्रवृत्तं अशुभपरिणामप्रसरे यदि नाम तथापि बलात्तन्निर्भर्त्स्याभिमतशुभभावपरंपरानुकूलतया यः स्थापयति जैनमतामृतास्वादकारितत्सामर्थ्यातिशयस्तस्य सामण्णं समानता होदि भवति । समाहिदं एकमुखं । अविसोत्तिगं दूरापसृतविश्वरूपाशुभपरिणामप्रवाहं । जिणसासणाणुगदं सपादितद्रव्यभावकर्मकरपराभवानां यच्छासनं-शिष्यंते जीवादयः पदार्था अनेनास्मिन्वेति शासनं आगमस्तेनानुगतम् ।

मूलारा—समाहिदं एकमुखं शुद्धस्वचिद्रूपमात्रालम्बनमित्यर्थः । अविसोत्तिगं निवृत्तपापास्रवपरिणामं ॥ समाधिः । सूत्रतः ५ । अंकतः । १० ॥

अर्थ—जैसे कोई समर्थ मनुष्य उन्मत्त नोकरको बलात्कारसे अपने आधीन रखता है वैसे जिनागमका जिसने अभ्यास किया है ऐसा यति भी स्वच्छंदी होकर अशुभपरिणामोंके प्रवाहमें पडे हुए मनकी निंदा, निर्भर्त्सना कर बलात्कारसे अपने वश रखता है. इष्ट ऐसे शुभ परिणामोंमें उसको स्थिर करता है. यतिको जैनमतामृतका आस्वादन करनेसे ही मनको वश करनेका विशिष्ट सामर्थ्य प्राप्त होता है. इसकी प्राप्ति होनेसे समानताका लाभ मुनिको

होता है. जिनागमके अभ्याससे मनकी इष्ट विषयमें एकाग्रता होकर अशुभ परिणामसे व्यावृत्ति होती है. अर्थात् अशुभपरिणामोंकी उत्पत्ति मनमें नहीं होती है. जिन्होंने द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि और भावकर्म– रागद्वेषादिकोंका पराभव किया है ऐसे जिनेश्वरके आगमका ही वह मन हमेशा अनुगामी बनता है. जीवादिक पदार्थोंका जिसमें अथवा जिसके द्वारा उपदेश किया जाता है उसको शासन कहते हैं. जिनेश्वरने जीवादि पदार्थोंका उपदेश करने वाला शासन–आगम भव्य जीवोंके हितार्थ कहा है. इस आगमका अभ्यास कर मुनिवर्य अपने अवश मनको वशकर समताकी–रागद्वेषके अभावकी माप्ति कर लेते हैं.

योग्यस्य गृहीतमुक्त्युपायलिंगस्य श्रुतशिक्षापरस्य पंचविधविनयवृत्तेः स्ववशीकृतमनसः अनियतवासो युक्तः। कस्तत्र गुणः ? इत्यारेकायां समाधिगतस्य अनियतविहारगुणप्रकटनार्थं उत्तरसूत्रं—

दंसणसोधी ठिदिकरणभावणा अदिसयत्तकुसलत्तं ॥
खेत्तपरिमग्गणावि य अणियदवासे गुणा होंति ॥ १४२ ॥

दृष्टिशुद्धिस्थिरीकारौ भावना शास्त्रकौशलम् ॥
क्षेत्रस्य मार्गणा साधोर्गुणा नित्यविहारिणः ॥ १४५ ॥

विजयोदया—दंसणसोधी दर्शनशुद्धिः । दृशिर प्रेक्षणे इति पठितोऽपि धातुः श्रद्धानार्थवृत्तिरिह गृहीतः। धातूनामनेकार्थत्वात् । तथा च सूत्रं- 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' इति जिनागमनिरूपितार्थविषयश्रद्धानमिह दर्शनशब्देन भण्यते । तस्य शुद्धिर्नैर्मल्यं । ठिदिकरणं स्थितिकरणं रत्नत्रयपरिणामस्यात्मनोऽनपायपरिणामः। तस्य करणं स्थितिकरणं । भावणा भावना अभ्यासः पुनर्वृत्तिः । अदिसयत्तकुसलत्तं अतिशयितेष्वर्थेषु निपुणता । खेत्तपरिमग्गणा वि य क्षयंति निवसंति तस्मिन्निति क्षेत्रं ग्रामनगरादिकं क्षेत्रं । तस्य अन्वेषणा च । अनियतस्थानवसने गुणा होंति भवंति ।

अथैवं स्ववशीकृतमनसो मुनेरनियतविहारो दर्शनविशुद्धि इत्यादि गुणपंचककारकत्वेन युक्त इति द्वादशभिर्गाथाभिः प्रकाशयति—

मूलारा—भावणा परिषहसहनं । अणियदवासे अनियतस्थानवसने ।

जो समाधिमरणकेलिये योग्य है, जिसने मुक्तिके उपायभूत ऐसे लिंगको धारण किया है. जो शास्त्राध्ययन करनेमें तत्पर हैं; पांचों प्रकारका विनय करनेवाले, अपने मनको वश रखनेवाले ऐसे मुनिओंके लिये ग्राम नगरादिक अनियत क्षेत्रमें निवास करना योग्य है.

अनियत क्षेत्रमें निवास करनेसे कोनसे गुणोंकी प्राप्ति होती है. ? ऐसी शंका होनेपर समाधिको प्राप्त अर्थात् मनकी एकाग्रताको धारण किये हुए मुनीश्वरके अनियत विहारके गुण आगेकी गाथामें आचार्य दिखाते हैं.

अर्थ—अनियत स्थानमें निवास करनेसे मुनिओंको जिन गुणोंकी प्राप्ति होती है उसका खुलासा—मुनिओंके सम्यग्दर्शनमें निर्मलता प्राप्त होती है. अर्थात् जिनागममें कहे हुए जीवादि सप्त तत्वोंपर निर्मल श्रद्धान उत्पन्न होता है. स्थितिकरण— मुनिओंके रत्नत्रय परिणाममें स्थिरता आती है. वह किसीसे बाधित नहीं होता है. अनियत वाससे पुनः पुनः रत्नत्रयमें अभ्यास होता है—प्रवृत्ति होती है. जीवादिक पदार्थोंके सूक्ष्म अर्थका प्रतिपादन करनेमें चतुरता आती है. अनियत वास करनेसे कोनसा क्षेत्र अर्थात् ग्रामनगरादि समाधिमरण करनेके लिये योग्य है इसका भी ज्ञान होता है. अर्थात् दर्शनादि, स्थितिकरण, भावना, अतिशयार्थ कुशलता और क्षेत्रपरिमार्गणा इतने गुणोंकी प्राप्ति अनियत वाससे होती है ॥ १४३ ॥

दंसणसुद्धी इत्येतत्पदव्याख्यानकारिणी गाथा—

जम्मणअभिणिक्खवणं णाणुप्पत्ती य तित्थणिसहीओ ॥
पासंतस्स जिणाणं सुविसुध्दं दंसणं होदि ॥ १४३ ॥

विशुद्धं दर्शनं साधोर्जायते पश्यतोऽर्हताम् ॥
जन्मनिष्क्रमणज्ञानतीर्थचिह्ननिषिद्धिकाः ॥ १४६ ॥

विजयोदया—जम्मण जन्माभिनवशरीरग्रहणं तद्यस्मिन्क्षेत्रे जातं तदिह साहचर्याज्जन्मशब्देनोच्यते । गृहीतशरीरस्य वात्मनो जन्म, जनन्युदराद्यत्र निष्क्रमणं जातं तद्वा। अभिणिक्खवणं रत्नत्रयाभिमुख्येन गृहाद्बहिर्गमनं यस्मिन्क्षेत्रे तदिह निष्क्रमणं । णाणुप्पत्ती य केवलज्ञानावरणक्षयात् सर्वार्थयाथात्म्यग्रहणक्षमं यत्केवलं तदिह ज्ञानमिति गृहीत। सामान्यशब्दानामपि विशेषवृत्तिः प्रतीतेव । तस्य ज्ञानस्योत्पत्तिर्यस्मिन् क्षेत्रे तदिह साहचर्यात् णाणुप्पत्ती य शब्देनोच्यते । तित्थं चिण्हं । तीर्थमिह समवसरणं गृह्यते । तरंति तस्मिन्भव्याः पापवि-

विलोकनैकव्यग्राः, मनुजभोगाग्रेसरं सुखमखेदेनानुभवन्ति । अपरेऽपि मंडलीकमहामंडलीकपदमुपगताः ।

पुनस्तीर्थकृन्नामकर्मोदयात् चारित्रमोहक्षयोपशमप्रकर्षादनुमतादनादिकालावलग्नस्वपरकर्मरजोविधूननाय-बद्धकक्ष्या इत्यमन्तः प्रतिदधति । कथं मोहस्य बलवत्ता येनास्मानप्यध्यक्षीक्रियमाणदुरंतसंसारसरिदधिपतिभयददुःखा-वर्तान् प्रवर्तयत्यारंभपरिग्रहयोः । अणिमाद्यष्टगुणसंपत्कं, आपदमापदां, अभिलापस्याप्यविषयम्, अपरामराणां कुशाग्री-यबुद्धीनामपि बलभिदामगोचरं, वचसामप्रत्यूहं, अपराधीनं, अनास्वादितान्यूनतारसं, अहमिंद्रसुखं चिरतरमनुभूतय तामसाकं केयमुत्कंठा मनुजभोगसंपदि, खलजनमैत्रीव विविधदुःखानुबंधविधानोद्यतायां चलायां च पुण्यसमितिरिव परायत्तवृत्तौ, कुकविकृतिरिवाल्पार्थसंग्रहायां, दूरभव्यस्य मुक्तिपद्धतीगतिरिव अनेकप्रत्यूहप्रतिहतायां अनंतकाल-परिभुक्तायां इति ।

तदैव च ब्रह्मलोकांतावासादधिगतलौकान्तिकव्यपदेशाः, शंखावदाततनवः, स्वावधिज्ञानलोचनेनावलोक्य स्वपरोत्तारणाबद्धपरिकरतां जिनानां, महदिदं कार्यं अनेकभव्यानुग्रहकरं भगवता प्रारब्धं, अस्माभिरपि एतदनुमंतव्यं । पूज्यपूजाव्यतिक्रमश्च स्वार्थभ्रंशकारीति सुरपथादवतीर्य स्वामिनः पुरस्तात्सबहुमानमवस्थिता एवं विज्ञापयंति—

भट्टारका ! उचित एवायमुद्योगो भवतां कल्पमहीरुहा इव प्रत्युपकारनिरपेक्षा, जगदनुग्रहकारिणो महान्तः, मिथ्यात्वतिमिरावगुंठितज्ञानलोचनतया विनेयजनराशिरुत्पथप्रस्थानोऽसकृत्कुगतिगर्तपतितो निःसर्तुमभिलषन्नपि असमर्थो क्लिश्यति । स च भवत्यायतदृढसमीचीनदृष्टिरज्जावरूढः युष्मदुपदर्शितातिप्रगुणविशालमुक्तिमार्गेऽनेकानाद्-नंतज्ञानात्मकेन सुखेन सुखी भवत्वित्यभिधाय गतेषु सारस्वतादिषु ।

जिननिर्वेदसमीरणांदोलितहरिविष्टरो हरिः प्रणिधानप्रवर्तितावधिलोचनाधिगतगुरुप्रारभ्यमाणकार्यः, सिंहास-नतः ससंभ्रममुत्थाय, स्वामिसमवस्थितदिगभिमुखं गत्वा सप्तपदमात्रं, ललाटतटविन्यस्तेन प्रबुद्धनलिनदलच्छायापहासिना, अंकुशकुलिशादिलक्षणोद्भासिना, दक्षिणेन करेणालंकृतमौलिरत्नप्रभादंतुरमवनम्य शिरः सलीलं नमः सद्धर्मतीर्थप्रवर्तनोद्य-तेभ्यः शरणागतविनेयत्राणकारिभ्योऽलौकिकनयनेभ्यो जिनेभ्य इत्यभिधाय, पुरो धावद्भेरीध्वानादिभिर्घंटिति विदितका-र्येण, समुदितावनतेन, स्वनायकपुरोयायिना, विचित्रातपत्रशस्त्रवस्त्रविभूषणवाहनोज्ज्वलेन गीर्वाणचक्रेणानुगम्यमानः सौधर्मः सह नरामरेन्द्रः, चमररुहहरिविष्टरश्वेतातपत्रादिपरमैश्वर्यलांछनमखिलमपहाय प्रतीहारनिवेदितागमनस्तदाश्रयाद्धु धर्मचक्रलांछनातिक्रमभयाच्च सबहुमानप्रणाममारभते स्म ।

ततो जिनात्प्रसादावलोकनप्रसावमात्मोचितमुपलभ्य विज्ञापनं करोति । समालोकयायमायातोऽच्युताधिपपुरःसरः शक्रलोको भट्टारकाणां परिनिष्क्रमपरिचर्यामुपपादयितुमना अयमतमुक्तिमार्गोऽप्ययं स्वाधीतज्ञानात्मकानंतसुखानुभवलंप टोऽपि, अवधीरितेंद्रियसुखवेदोऽपि, अपरिप्राप्तसंयमघातिकर्मक्षयोपशमः, न चारित्रे प्रवर्तते, न परान्प्रवर्तयितुमीहते ।

१ मोहस्य महत्ता इति पाठः ख पुस्तके ।

दृष्टिज्ञानदर्शनोऽपि विना सम्यक्चारित्रं तपश्च, कर्माणि निरवशेषं क्षपयितुं घटते । अनेकसमुद्रगणनायुःस्थितिना दीर्घसंसारी यथा कोऽस्मदादिः छिद्यति । उत्थातुमभिलषन्नपि दारको यथा पतत्येवमपि जनश्चारित्राभिप्रायेऽपि गर्भोद्गमनमभिलषति । यूयं पुनर्विदितवेदितव्याः क्षयोपशमपरिप्राप्तिनिवृत्तिपरिणामाः, पूज्यतमाः ! जन्मान्तरेऽस्माकमपि दृष्टा यतयो गता सकलारम्भपरिग्रहपरित्यागाद्योग्या विनेयजनोपकारशक्तिश्च भवत्प्रसादादस्यानुमननाच्च भवतु । गर्भावतारमिदं विमानं आनीतमलंकरोतु देवः इत्युपरतवचसि सुराधिपे हर्षविषादपरवशं ज्ञातिवर्गं अंतःपुराणि परिवारं चापृच्छ्य कृपया जिना वदन्ति ।

निर्ग्रंथानामल्पकोपकारापेक्षया जनस्यानुरागो भवति । तदनुसारी कोपप्रसादाभ्यां दुरंतकर्मादानं ततो भवति संसारभ्रमणं सर्वदुःखानां मूलमपनेतुमर्हति विद्वान् । न हि कस्यचित्किंचिन्मित्रं, धनं, शरीरं चानपाय्यस्ति । पार्श्वसमितादि संपदः, परिवारा, धनं च पुनरर्जने विनाशे च महतीमानयति दुःखासिकां । तदर्थिभिरन्यैश्च सह विरोधं कारयति । तृष्णां प्रवर्धयतीन्धनादधाति लवणजलपीतिमिव । वामलोचनाः पुनः सुरा इव चित्तं मोहयन्ति । व्यलीकरोदनहसनेन चाटुभिश्च पुंसामल्पसत्त्वानां चेतः स्ववशीकुर्वंति । चर्ममयपुत्रिकासु, चपलासु, सन्ध्याम्बुदावलीवास्थिररागासु, मायाजननीषु, कृतघ्नोपनाशिकासु, सुगतिप्रत्यर्गलयष्टिषु कोऽनुरागः प्रज्ञावताम् ? शरीरं पुनरिदमनेकाशुचिनिधानं, कचारपुंजकल्पमपभूतमनपायी भारः । महारोगव्यालानां वल्मीकीभूतं, जराव्याघ्रीनिवासबिलं, नेत्रं धौतचर्मवेष्टितलोचयदन्तनिःसारं पतिसंगोदरं, गुणः पुनरत्र एक एव धर्मसहायता । गिरिनदीस्रोतांसीवानवस्थितानि यौवनानि । तृणाग्निज्वाला इव संपदः क्षणमात्रे रमणीया । इत्यनवगम्य मा कृथा वृथा प्रमादं जननरत्नाकरपारगमनाय कृतोद्योगं । मर्षणीयोऽस्माभिः प्रमादाद्विहितोऽपराध इति ।

भगवद्वार्तामिममनंतरं सुरकुमारकरप्रहताः समंततो दुंदुभयो ध्वनंति । सकलं च जगदिदममुत्र जयध्वनिमुखरं जायते । समंतात्सुरतरुण्यः सविलासं नृत्तमारभंते । जगन्नाथाश्च त्रिलोकभूषणा धवलदुकूलपरिधानाः परमनुकम्पेदयया निष्पतिमिन्दुकल्पेव मुक्ताकंठिकाव्याजेनोपगतयालंकृतग्रीवः विरागाणामपि सुरागकरणे पाटवं नः पश्यतेति हसितचन्द्रद्वयमिव कुंडलाभ्यां विराजमानपूर्णसगुणगंडस्थलाः । वृत्तं प्रियं येषां चैषोऽवसर इतीवोपगतेन कटकद्वयेनाश्लिष्टप्रकोष्ठाः । यथामीषामतिशयरत्नाभिमानाः तत्पश्यामः स्थित्वोच्चैरितीवोत्तमांगस्थेन मुकुटरत्नकरेण शोभमानाः निर्वाणपुरगोपुरमिव विमानं प्रविशन्ति ।

ततः शानन्दयुगमबाहुस्कंधोत्क्षिप्तेन सदेवीकचतुर्निकायामरसमानीकपरिवृत्तेन गत्वा अवतीर्य रम्यतमे देशे उत्तराभिमुखाः, कृतसिद्धनमस्कृतयः मुकुटादिकं क्रमेण अलंकारादिकं अपनयान्ति । परित्यक्तोभयसकलग्रंथाः परिगृह्णन्ति योगवर्यस्य रत्नत्रयमिदं मूलं च परिनिष्क्रमणं पश्यतः ।

घातिघातिज्ञानोत्पत्तिश्चोच्यतेऽधुनोच्यते सकलमर्थयाथात्म्यमनेनेति ज्ञानं इति केवलमुच्यते । तस्योत्पत्तिरनादिमोहनीयमारणां, योगवासनाधीश्वरनिर्मूलितज्ञानदर्शनावरणतमसां, उत्पातान्तरायविषविटपिनां, वीतक्रमम-

नपेक्षितकरणचेष्टमत्यस्तसंशीतिकं, दूरीकृतविपर्यासं केवलमुत्पद्यते । तस्य फलस्य दर्शनाज्जिनप्रणीते मार्गे भपनी— तशंकादिकलंका श्रद्धोत्पद्यते । फलार्थी तद्धत्स रोचते दृष्टसामर्थ्य इति किं चित्रम् ?

देशांतरातिथेः साधोः कथं दर्शनशुद्धिः स्यादित्याशंकां निराकरोति—

मूलारा—जम्मण, जन्म अभिनवशरीरग्रहणं, जनन्युदरनिष्क्रमणं वा यत्र क्षेत्रे जातं तदत्र जन्मशब्देनोच्यते साहचर्यात् । उत्तरत्राप्ययमेव न्यायो योज्यः । अहिणिक्खमणे रत्नत्रयाभिमुख्येन गृहाद्बहिर्गमनं वा यस्मिन् क्षेत्रे तत् । तित्थं तरन्ति तस्मिन्भव्याः पापनाशार्थिन इति तीर्थमिह समवसरणं । जम्मणणिक्खमणेणाणोप्पत्ती तित्थचिण्हे ति क च- स्पाठः । तत्र तीर्थस्य समवसरणस्य चिन्हानि मानस्तंभा गृह्यन्ते । णिसिधी योगवृत्तिर्यस्यां भूमौ सा निसिधीत्युच्यते ॥

दर्शनशुद्धि गुणका वर्णन करनेवाली गाथा—

अर्थ—अनियत स्थानोंमें विहार करनेवाले मुनिओंके सम्यग्दर्शनमें तीर्थकरोंके जन्मादि स्थानोंका दर्शन होनेसे निर्मलता प्राप्त होती है.

जन्म—नवीन शरीर ग्रहण करना. जिस क्षेत्रमें जन्म होता है उसको भी साहचर्यसे जन्म कहते हैं. अथवा जिसने नवीन शरीर धारण किया है ऐसा आत्माभी जन्म शब्दसे वर्णित होता है. अथवा माताके उदरसे बाहर आनेकी क्रिया जिस स्थानपर हो वह स्थान भी जन्म शब्दसे गृहीत करना चाहिये. अर्थात् जिस क्षेत्रपर जिनेश्वरका जन्म हुआ है ऐसे क्षेत्रोंको जन्मक्षेत्र कहते हैं. अभिनिष्क्रमण—रत्नत्रयके अभिमुख होकर गृहका त्याग कर जिस स्थानपर तीर्थकर गमन करते हैं उस स्थानको अभिनिष्क्रमण कहते हैं.

ज्ञान—केवलज्ञानावरण कर्मके क्षयसे संपूर्ण पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जाननेवाला केवलज्ञान यहां ज्ञान शब्दका वाच्य है. सामान्य शब्दभी प्रकरणके अनुसार विशेषार्थको जतलाते हैं. अतः यहां ज्ञानशब्दसे केवल ज्ञान समझना चाहिये. केवलज्ञानावरणीय कर्मके क्षयसे संपूर्ण पदार्थोंका यथार्थस्वरूप ग्रहण करनेवाला जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही ज्ञान इस प्रकरणमें संगृहीत किया है. क्योंकि ज्ञान यह शब्द यद्यपि सामान्य है तो भी विशेषमें समझना चाहिये. यह केवलज्ञान जिस क्षेत्रमें होता है उसको भी ज्ञानके साहचर्यसे 'ज्ञानोत्पत्ति' यह नाम है.

तीर्थ—चिन्ह. तीर्थ इस शब्दका अर्थ इस प्रकरणमें समवसरण ऐसा होता है. पापका नाश करनेकी इच्छा रखनेवाले भव्य जीव समवसरण में जाकर संसारोत्तीर्ण होते हैं अतः समवसरणको तीर्थ कहना योग्य ही है. अमुक

स्थानमें भगवानका समवसरण आया था यह समझनेकेलिये चिन्हरूप जो मानस्तंभ स्थापन करते हैं वह यहां तीर्थ शब्दका अभिप्राय समझना चाहिये. अर्हदादिकोंके व मुनिराजके समाधि स्थानको निषिद्धिका कहते हैं. जन्मादि स्थानोंको मुनिराज प्रथम शास्त्रोंसे जानते हैं और अनंतर उनकी वंदना करनेके लिये जाते हैं, तब उनका सम्यग्दर्शन अतिशय निर्मल हो जाता है. अर्थात् मुनिराज हमेशा अनेक देशोंमें भ्रमण करते हैं तब वहां के जन्मादिस्थानोंका दर्शन कर अतिशय श्रद्धालु होते हैं. जैसे कोई आदमी किसी सुंदर स्त्रीका स्वरूप वर्णन करता है तब कोई श्रोता वह वर्णन सुनकर परोक्षरूपसे उसका परिज्ञान कर लेता है और उसको देखने की अभिलाषा उत्पन्न होती है. यदि वह स्त्री उसको दृष्टिगोचर होती है तो उसके विषयमें उसको महती श्रद्धा उत्पन्न होती है. वैसे आगमसे जन्मादि स्थानोंको जानकर जब मुनि उनको साक्षात् देख लेते हैं तब उनको महाश्रद्धान उत्पन्न होता है. अथवा जब तीर्थकर उत्पन्न होते हैं तब अनियत विहार करने वाले यति उनके जन्मादिक कल्याणोंको साक्षात् जानकर अपने सम्यग्दर्शनमें निर्मलता उत्पन्न करते हैं.

अब यहां तीर्थकरोंके जन्मादि कल्याणकोंका विस्तारसे टीकाकार अपराजित सूरिने वर्णन किया है. उस का भावार्थ हम यहां लिख देते हैं.—

तीर्थंकर तीनज्ञानके धारक रहते हैं. जब स्वर्गमें उनका आयुष्य समाप्त होता है तब वे माताके उदरमें आते हैं इंद्रादिदेव आकर उनका गर्भमहोत्सव करते हैं. तीर्थकरका जन्माभिषेक महोत्सव भुवनरूपगृहमें जमा हुआ अज्ञानरूप अंधकारको नष्ट कर देता है. अमृतके पानसे प्राणिओंको आरोग्यलाभ होता है वैसे जन्म महोत्सवसे संपूर्ण प्राणी रोगमुक्त होजाते हैं .

देवांगनाओंका नृत्य देखनेसे जैसा आनंद होता है वैसा इसके अवलोकनसे भी सर्व जगत् आनंदमय होता है. प्रियवचनके समान यह महोत्सव मन में प्रसन्नता उत्पन्न करता है. प्रशस्त पुण्यके समान यह अगणित पुण्यको समर्पण करता है. लक्ष्मी अपने परिचारिकाओंके साथ इस उत्सवको आश्चर्यसे देखती है. गुह्यक जातीके देव आकाशमेंसे पुष्पवृष्टि करते हैं. तब चारो तरफसे भौंरें आकर गुंजारव करते हैं. इस उत्सवके समय नगारे और शंखोंकी ध्वनि सतत हुवा करती है. इनके ध्वनीसे जगतका अवकाश भर जाता है. देवांगनाये नृत्य करती हैं. मानो उनको जीतनेके लिये ही सौधोंके शिखरोंकी पचरंगयुक्त पताकायें भी नृत्य करती हैं. जन्माभिषेकोत्सवके

समय आसन कंपित होनेसे देवांगनायें भीतीसे इंद्रोंको आलिंगन देती हैं तब उनका मुख हर्षसे कमलतुल्य प्रफुल्लित होता है.

इंद्र जब जन्माभिषेक करने का कार्यक्रम देवोंको सुनाता है तब वे आदरसे अपने हाथ जोडकर उसकी आज्ञा मानते हैं. नगारेकी ध्वनि सुनकर सर्व इंद्र और सामानिकादिक देव भी एकत्र होकर सौधर्मेंद्रके पास जाते हैं. परस्पर की ईर्ष्यासे देव वैक्रियिक शरीर धारण कर आकाशमार्गसे प्रयाण करने लगते हैं. जिनबालकका जन्माभिषेकोत्सव करनेके लिये जब इंद्राणी राजभवनमें आती है तब उसके नूपुरोंका ध्वनि सुनकर राजहंसी राजभवन के अंगणमें सविलास गमन करती है.

ऐरावतसे उतरकर जब इंद्र जिनबालकको ग्रहण करनेके लिये अपने हाथ पसारता है तब दुंदुभि भेरी ध्वनीके सिंहनादसे सब दिशायें शब्दमय होती है. प्रणाम करते समय अनेक पटहोंका गंभीर और धीर शब्द होता है.

इंद्र अपने हाथमें अष्टमी चंद्रके समान शुभ्र चामर लेकर प्रभुके ऊपर ढोरते हैं. तब जिनबालकको देखनेके लिये इंद्रोंकी देवियां उत्कंठित होती हैं. सफेत छत्ररूप मेघोंसे आकाश व्याप्त होता है. बिजली के समान चमकनेवाली पताकाओंसे आकाश व्याप्त होता है. इंद्रनीलमणिओंसे रचे हुये सोपानोंपर पांव रखकर देवोंका सैन्य आगे गमन करता है. ऐरावत हाथी के दंतपंक्तिओंके सरोवरमें कमलोंपर देवांगनायें लीलासे पदनिक्षेप कर नृत्य करती हैं. हजारो देवी अष्टमंगल धारण कर आगे गमन करती हैं.

उस समय द्वारपाल देव क्षुद्र देवोंको हटाते हैं. आत्मरक्ष जातीके हजारो देव अपने ऊपर पडा हुआ रक्षा का कार्य एकाग्रता से करते हैं. इस रीतीसे देव मेरु पर्वतके समीप जाकर उसको प्रदक्षिणा देते हैं. तदनन्तर मेरुपर्वतके ऊपर शिखरके समान ऊंचे सिंहासनपर इंद्र प्रभूको विराजमान करता है. अनेक देव समूह क्षीर समुद्र का जल लाते हैं तब इंद्र प्रभूका अभिषेक करता है इसके अनंतर इंद्राणी प्रभूको बालक योग्य अलंकारों से भूषित करती है. हजारो इंद्रके भाटदेव प्रभूकी स्तुति करते हैं. उस समय इंद्र भी आनंदसे नृत्य करते हैं. इस तरहका जन्माभिषेक कल्याण देखनेसे यतिओंका सम्यग्दर्शन दृढ होता है.

अब दीक्षाकल्याणिकोत्सवका वर्णन करते हैं—

संपूर्ण जिनेश्वरोंका जन्माभिषेकोत्सव होता ही है. इंद्रकी आज्ञासे कुबेर बडे आदरसे दिव्य और योग्य ऐसे उबटन, वस्त्र भोजन, यान, वाहन, अलंकार वगैरह वस्तु प्रभूको समर्पण करता है. मनके अनुकूल क्रीडा करनेवाले देवकुमारसमुदाय भक्तीसे प्रभूकी सेवा करते है. कितनेक तीर्थकरोंका पूर्वपुण्य उदयमें जब आता है तब उनको चक्ररत्नकी प्राप्ति होती है. यह चक्ररत्न हजारो सूर्यके समान चमकीले आरोंसे युक्त होता है. इसके साहाय्यसे और अपने बाहुपराक्रमसे तीर्थंकर समस्त प्रभास, मागधादि देवोंको, विद्याधरराजाओंको और भूगोचरी भूपतिओंको वश करते हैं. देवांगनाओंके समान, रूप, तारुण्य और विलासयुक्त, उपहास करनेमें चतुर ऐसी बत्तीस हजार पट्टरानिओंके मुखकमलोंको चक्रवर्तित्वको प्राप्त हुए ये तीर्थंकर विकसित करते हैं. इंद्रसे भेजी गयी अप्सराओंका नृत्य अवलोकन करके अपने मनका विनोदन करते हैं. बडे आनंदसे किन्नर गंधर्वादि देवोंका गायन सुनते हैं. काल महाकालाधिक नवनिदिओंकी उनको प्राप्ति होती है. चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंका हजार हजार देव रक्षण करते हैं. बत्तीस हजार मुकुटबद्ध भूपाल अपने सुवर्णरचित किरीटके अग्रभागपर मकरिकामें बैठाये हुए रत्नरूपी दीपपंक्तीसे चक्रवर्तीका चरणयुगल पूजते हैं. देव कुमारके द्वारा लाए हुए उपहारोंको देखनेमें ये एकाग्रचित्त हो जाते हैं ऐसे वे चक्रवर्ती मनुष्योंको जो भोग प्राप्त होते हैं उनसे भी सर्वोत्कृष्ट भोगोंको पुण्योदयसे प्राप्त कर लेते है. ये भोगोंके पदार्थ उनको बिना प्रयत्नसे ही प्राप्त होते हैं. कितनेक तीर्थंकर मंडलीक, महामंडलीक पदको प्राप्त होकर उत्कृष्ट भोगोंका अनायास भोग लेते हैं।

जब तीर्थंकर नामकर्मका उदय होता है और चारित्रमोह कर्मका अपकर्ष होता है तब अनादिकालसे आत्माके साथ बंधे हुए स्वतःके और इतर जीवोंके कर्मोंका नाश करनेकेलिए कटिबद्ध हो जाते हैं और मनमें इस प्रकार विचार करते हैं.—

बडे कष्टसे जिसका अंत आता है ऐसे संसाररूपी समुद्रमें दुःखरूपी मोचरोंका हमको खूब ज्ञान है, अनुभव है, तो भी हमसरीखे भी लोग इस मोह के फंदेमें पडे हुए है अतः यह मोहकर्म महाबलवान है. हमको भी इसने आरंभ और परिग्रहोंमें खूब फसाया है. हमने अणिमामहिमादिक आठ गुणोंकी संपत्तीसे परिपूर्ण, आपत्तीका अविषय, अभिलाषाओंसे दूर, जिनकी बुद्धि कुशाग्रके समान तीक्ष्ण है ऐसे इंद्रादिक भी

जिसको अपने ज्ञानसे जाननेमें असमर्थ हैं, जो वचनके अविषय है, अपराधीन है, जिसमें कभी न्यूनताका अनुभव आता ही नहीं है, ऐसा अहमिंद्रोंका सुख भी हमने बहुतकालतक भोगा है. अतः मनुष्योंके तुच्छ संपत्ति सुखमें क्यों उत्कंठित हो रहे हैं यह मनुजभोगसंपदा दुष्ट जनकी मैत्रीके समान विचित्र दुःखोंका संबंध उत्पन्न करती है. चंचल है, पुण्यका समूह जैसा पूर्व कर्मके अधीन होता है वैसे यह भोग संपदा भी पराधीनही है. कुकवीकी कृतिमें अल्प ही अर्थ भरा रहता है वसे इस मनुजसुखमें अल्प प्रयोजनही सिद्ध होता है. दूर भव्य जीवका मुक्तिमार्ग जैसे अनेक विघ्नोंसे रुका रहताही वैसा यह मनुजसुख भी अनेक विपत्तिओसे घिरा हुवा है. यह मनुजवैभव अनंतकालतक मैंने भोगा है.

इसप्रकार प्रभु वैराग्यभावनामें लीन हुये हैं ऐसे समयमें ब्रह्मस्वर्गसे शंखके समान शुभ्रदेह जिनका है ऐसे लौकांतिक देव जिनेश्वर भगवान अपनेको और भव्य जनोंको संसारसमुद्रसे निकालनेके लिये उद्युक्त हुए है ऐसा अवधिज्ञानरूप नेत्रसे जानकर प्रभुके पास आते हैं. और अनेक भव्य जीवोंपर जिससे अनुग्रह होगा ऐसा यह महाकार्य प्रभूने अपने हाथमें लिया है. आपके इस कार्यमें हम लोगोंकी भी सम्मति है. पूज्य पुरुषोंकी पूजा का उल्लंघन करनेसे स्वार्थहानि होती है अर्थात् इष्ट स्वर्गादि संपदाकी प्राप्ति नही होती है. ऐसा मनमें विचार कर वे लौकांतिक देव आकाशसे नीचे उतरकर प्रभूके पास महा आदरसे बैठकर प्रभूकी इसप्रकार प्रार्थना करते हैं—

हे भट्टारक! आपका यह उद्योग प्रशंसनीय है. कल्पवृक्ष प्रत्युपकारकी अपेक्षा न रखकर जगतपर अनुग्रह करते हैं. हे प्रभो आप महापुरुष है अत आपभी कल्पवृक्षके समान जगत पर अनुग्रह करो.

विनेय अर्थात् भव्य जीवोंके ज्ञानरूपी लोचन मिथ्यात्वरूपी तिमिररोगसे व्याप्त होगये हैं. अतः वे खोटे रास्तेपर जा रहे हैं और कुमतिरूप खड्डेमें गिर रहे है. कुमतिरूप गड्डेसे निकलनेकी इच्छा मनमें होते हुये भी असमर्थ होनेसे क्लेश पाने लगे हैं दीर्घ और दृढ ऐसे निर्दोष सम्यग्दर्शनरूपी डोरेंसे आप उनको कुगतिमेंसे निकालकर आपके दिखाये हुये विशाल मोक्षमार्गपर स्थिर करो जिससे वे अनंतज्ञानात्मक सुखकी प्राप्ति होनेसे सुखी होंगे. इस प्रकार स्तुति करके सारस्वतादिक लौकांतिकदेव अपने स्थानको चले जाते हैं.

भगवानके वैराग्यरूपी वायुसे इंद्रका सिंहासन कंपित होता है. तब प्रभु महाकार्यका प्रारंभ करनेका विचार कर रहे हैं ऐसा इंद्र अवधिज्ञानसे जानकर सिंहासनसे बडे आदरसे नीचे उतरकर प्रभु जिस दिशामें मुह कर

बैठे हैं उस दिशाके तरफ सात पाद परिमित भूमीतक चला जाता है. अपने मस्तकपर विकसित कमलदलकी कांतिको हंसनेवाला, अंकुश, वज्रादिक शुभ लक्षणोंसे मनोहर दीखनेवाला, ऐसे अपने दक्षिण हाथसे किरीटके रत्नों से भूषित अपना मस्तक नीचे झुकाकर सद्धर्मतीर्थको चलानेमें उद्युक्त, शरणागत भव्यलोकोंका रक्षण करनेवाले और अपूर्व ज्ञानरूपी नेत्रके धारक ऐसे जिनेश्वरको मेरा नमस्कार हो ऐसा वचनोच्चार इंद्र करता है तब नगारेके ध्वनिसे सब देवोंको प्रभूके कार्यका ज्ञान होता है. सब एकत्र होते हैं. अपने अपने स्वामीके आगे वे देव प्रयाण करते हैं. नानाप्रकारके छत्र, शस्त्र, वस्त्र, अलंकारोंसे सज्ज होकर श्रेष्ठ देव सौधर्मेंद्रके सन्निध जाते हैं. सर्व इंद्र और इतर राजा लोकोंके साथ इंद्र राजवाडेके पास जाता है. तब चामर, सिंहासन, श्वेतच्छत्रादि राजचिन्होंको छोडकर दरवाजेके पास खडा होता है. द्वारपालकी अंदर प्रवेश करनेकेलिये अनुज्ञा मिलनेपर धर्मचक्रसे सुशोभित ऐसे भगवानके पास जाकर उनको बहुमानसे प्रणाम करता है. जिनेश्वर प्रभु बडी प्रसन्नतासे देखते हैं तब इंद्र इस प्रकार प्रभुको विज्ञापन करता है–

हे भट्टारक! आपका दीक्षा कल्याणविधि करनेकेलिये अच्युतेन्द्रके साथ सब इंद्र आये हैं. हमको मुक्तिमार्ग का स्वरूप मालूम हैं इंद्रिय सुख खेदस्वरूप होनेसे उससे हम उदासीन हैं, ज्ञानात्मक अनंत सुखानुभव प्राप्त करनेके लिये हम उद्यत भी है परंतु संयमघाति कर्मका क्षयोपशम न होनेसे चारित्र धारण करनेमें स्वयं चारित्रमें प्रवृत्ति नहीं करते हैं और अन्य भव्योंको भी प्रवृत्त नहीं करते हैं. यद्यपि हमको विशुद्ध ज्ञान और सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होगयी है तो भी निर्दोष चारित्र और तपके विना हम संपूर्ण कर्मोंका नाश करनेमें असमर्थ हैं. हमारा आयुष्य अनेक सागरोंका होनेसे हम दीर्घसंसारी हैं. अतः हम को बहोत खेद होता है. ऊठकर खडे होनेकी अभिलाषा रखता हुआ भी बालक जैसे गिर पडता है वैसे चारित्र की अभिलाषा रखते हुये भी उसको हम धारण करनेमें असमर्थ हैं.

हे भगवन्! आप ज्ञातव्य वस्तुयें सब जानचुके हैं. मोहनीय कर्मके क्षयोपशमसे आपमें त्यागरूप परिणाम उत्पन्न हुये हैं. आप हमारे लिये सर्वोत्कृष्ट पूज्य है पूर्व जन्ममें संपूर्ण आरंभ और परिग्रहोंका त्याग करने से जैसी आपको अपूर्व वीतरागता और सर्व भव्य जीवोंपर उपकार करनेकी शक्ति प्राप्त हुई है वैसी वीतरागता और उपकार शक्ति हमको भी अन्य जन्मोंमें मिले ऐसी अभिलाषा रखते हैं. आपके दीक्षाकल्याणके

कार्यमें हम सहानुभूति रखते हैं अतः हमको इस सहानुभूतीका उपर्युक्त फल मिले ऐसी हम इच्छा रखते हैं.

हे भगवान् ! हम यह विमान सज्ज करके लाये हैं. इसके उपर आप आरोहण करो. ऐसा बोलकर जब सौधर्मेन्द्र मौन धारण करता है तब संपूर्ण ज्ञातिवर्ग, अंतःपुर और परिवारके समस्त लोक हर्ष और विषादयुक्त हुये. उन सब लोगोंको हर्ष विषादयुक्त देखकर जिनेश्वर इस प्रकारसे बोलते हैं--

हे जनहो ! चिरकालीन सहवाससे जो अल्प उपकार लोक अन्योन्यमें करते हैं उससे अन्योन्यमें अनुराग उत्पन्न होता है. तथा जहां अनुराग-प्रेम उत्पन्न होता है वहां द्वेष भी उत्पन्न होता है. इस प्रेम और कोपसे अर्थात् रागद्वेषोंसे दुरंत कर्मबंधन होता है. इन सब आपत्तिओंका मूलकारण यह मेरा है, मे इसका स्वामी हूं ऐसा ममत्वभाव है. यह सर्व दुःखोंका आद्यकारण है. विद्वान् पुरुषने इस ममत्वभावको फेंक देना चाहिये. किसीका मित्र अथवा, धन वा शरीर ये पदार्थ कायमके टिकनेवाले नहीं हैं. सर्व बंधुगण, परिवार जन लड्डु उडानेमें खूब सहायता करते हैं धन कमानेमें बडा दुःख होता है. यह धन धनेच्छु लोगोंके साथ बखेडा उत्पन्न कराता है. तीव्र लोभको बढाता है. जैसे खारा पानी पीने वालेको अधिक प्यास लगती है वैसे धन तृष्णा—
—लोभको उत्तरोत्तर अधिक रूपसे बढाता है.

स्त्रिया मदिराके समान अन्तःकरणको मोहित करती हैं. असत्य रोना, हसना और असत्य प्रार्थनाओंके द्वारा धैर्यरहित लोगोंके मनको शीघ्र हरलेती है. स्त्रिया चर्मसे बनी हुई पुतलियां हैं. वे स्वभावसे चंचल होती है संध्याकालकी मेघपंक्ति जैसी अस्थिर रागभावसे युक्त है. संध्याकालके अनंतर विलीन होता है वैसे स्त्रियोंका प्रेम अल्पकालमें नष्ट होता है. वे दूसरेपर प्रेम करने लगती है. ये कपटकी मातायें है. असत्यभाषणरूप वृत्तीकी वे स्वामिनी है. और सुगतिकी प्राप्तिको वज्रार्गला के समान प्रतिबंध करनेवाली है. ऐसी स्त्रियोंमें बुद्धमान पुरुषोंको प्रेम करना क्या उचित है ?

यह शरीर अनेक अपवित्र पदार्थोंका स्थान है. जैसे कूडे कचरेमें एक भी पवित्र पदार्थ नही रहता है वैसे शरीरमें सब रक्त, मांस, मलमूत्रादिक अपवित्र ही पदार्थ भरे हुये हैं. प्राणिओंको यह शरीर कभी नष्ट होनेवाले भारके समान है. अर्थात् जबतक इस जीवको मोक्ष प्राप्त न होगा तबतक इस शरीरका बोझा इसको हमेशा धारण करना पडेगा ही. यह शरीर महारोगरूपी सर्पोंके लिए वामीके समान है. जरारूपी व्याघ्रोंका रहनेका यह स्थान

है. चर्मके टुकडोंसे वेष्टित भट्टीके ढेलेके समान नेत्र अंदर तो निःसार और ऊपरसे मनोहर दीखते हैं. ऐसे शरीरमें एक ही गुण है. वह यह है कि, वह धर्मसाधनकेलिए सहाय करता है.

पर्वतपरसे बहनेवाली नदीके प्रवाहके तुल्य यौवन अस्थिर है. तिनकेकी अग्निज्वाला उत्पन्न होकर जल्दी नष्ट होती है वैसे संपत्ती भी प्राप्त होकर शीघ्र नष्ट होती है. शरीर संपदा और तारुण्यका स्वरूप जानकर हे जनहो आप प्रमादको छोड दो. जन्मसमुद्रके दुसरे किनारे की प्राप्ति करने के लिए उद्योग करो. प्रमादसे हममे जो अपराध हुये होंगे उनकी आप क्षमा करो.

ऐसा तीर्थंकर का भाषण होनेके अनंतर सुरकुमारों द्वारा देव दुंदुभि शब्द करने लगते हैं. इंद्रप्रमुख सकल जगत् उससमय जय जय कार करता है. चारों तरफ देवांगनायें सुंदर नृत्य करती हैं उससमय त्रैलोक्य को अलंकार सदृश प्रभु शुक्लेश्याके समान श्वेतवस्त्र पेहनते हैं. मानो मुक्तिकी दूतीही है ऐसी रत्नमालाको धारण कर वे अपना गला सुशोभित करते हैं. विरक्त पुरुषोंके भी मुखपर हम रागभाव उत्पन्न करनेमें हम चतुर हैं. हमारा चतुरपना देखो ऐसा कहकर अपनी मानो चतुरता दिखानेवाले ऐसे कुंडलोंके द्वारा प्रभूके दो स्निग्ध और सुंदर कपोल अपूर्व शोभाको धारण करने लगे. यदि प्रभूको वृत्त—चारित्र प्रिय है तो इस समय प्रभूको हमसे प्रयोजन है क्यों कि हम भी वृत्त है अर्थात् वृत्त—गोल हैं ऐसा अभिप्राय मानो धारण कर प्राप्त हुए कटकोंसे—कर कंकणोंसे प्रभूके हाथ आश्लिष्ट होगये. जिनमें प्रभूकी महारत्नकी कल्पना है वे कितने सुंदर हैं हम भी उच्च स्थानमें रहकर देखेंगे मानो ऐसे अभिप्रायसे ही मस्तकपरके मुकुटके रत्नसमुदायसे प्रभु शोभने लगे. इस तरह भूषणालंकृत होकर भगवानने निर्वाणपत्तनका मानो गोपुर ही है ऐसे विमानमें प्रवेश किया.

तदनंतर इंद्रोंने वह विमान अपने कंधोंपर धारण किया. देवांगना, चतुर्णिकायके देव और सातप्रकारका देवसैन्य इनसे वेष्टित होकर प्रभू रम्यतम देशमें जाकर विमानसे उतरे. उत्तर दिशाको मुखकर सिद्धको नमस्कार कर मुकुटादिक अलंकार क्रमसे अंगपरसे उतरते हैं.

बाह्याभ्यंतर परिग्रहोंका त्याग कर मनवचन कायसे रत्नत्रयका स्वीकार करते हैं. इस तरहका दीक्षा कल्याणिक देखनेसे मुनिओंका सम्यग्दर्शन निर्मल होता है.

संपूर्ण पदार्थोंका स्वरूप जिससे जाना जाता है उसको ज्ञान कहते है. यहां केवल ज्ञानको ज्ञान कहते

हैं उसकी उत्पत्ती इस प्रकारसे होती है.

जिन्होंने मोहनीय कर्मका भार फेंक दिया है, शुक्लध्यानरूपी सूर्यके सहाय्यसे जिन्होंने ज्ञानावरण और दर्शनावरणरूप अंधकार नष्ट किया है, अन्तराय कर्मरूप विपवृक्षको जिन्होंने निर्दलित किया है ऐसे भगवानको केवलज्ञान उत्पन्न होता है. वह ज्ञान क्रमरहित, इंद्रियोंकी प्रवृत्तिसे रहित, और संशय विपर्ययज्ञानसे रहित होता है. इस केवलज्ञानसे मोक्षफलकी प्राप्ति होती है. केवलज्ञानकल्याण देखनेसे जिनप्रणीत मोक्षमार्गमें शंकादि दोषरहित श्रद्धा उत्पन्न होती है. जिनको मोक्षफलेच्छा है वे रत्नत्रययुक्त अथवा जन्मकल्याणादिकोंसे युक्त तीर्थकरादिकोंपर उनके सामर्थ्य देखनेमें श्रद्धान करते हैं.

एवमनियतविहारे दर्शनशुद्धिस्वार्थमुपदर्श्य परोपकारं स्थिरीकरणं प्रकटयति—

संविग्गं संविग्गाणं जणयदि सुविहिदो सुविहिदाणं ॥
जुत्तो आउत्ताणं विसुद्धलेस्सो सुलेस्साणं ॥ १४४ ॥

संविग्नो वृत्तसंपन्नः शुद्धलेश्यस्तपोधनः ॥
देशांतरातिथिः साधुः संवेजयति तद्गतः (तद्गतान्) ॥ १४७ ॥

विजयोदया-संविग्गं संसारभीरुतां । जणयदि जनयति । कः ? सुविहिदो सुचरितानां । संविग्गाणं संविग्नानां । जुत्तो अनशनादिके तपसि युक्तः । आजुत्ताणं योगचारणां । विसुद्धलेस्सो विशुद्धलेश्यः । सुलेस्साणं सुलेश्यानां च । सम्यक् चारित्रतपसोः शुद्धलेश्यायां च प्रवर्तमानं दृष्ट्वा सर्वेऽपि सुचारित्राः सुतपसः, शुद्धलेश्या यतयः अतिशयवतीं संसारभीरुतां प्रपद्यंते । न वयमतीव संसारभीरवः, यथायं भगवान् अत एव नश्चारित्रं तपश्च सातिचारं इति मन्यमानाः ।

एवमनियतविहारे दर्शनशुद्धिं स्वार्थमुपदर्श्येदानीं स्थितिकरणं परार्थमुपदर्शयति—

मूलारा—संवेगं संसारभीरुतां । जणयदि वर्द्धयति । जनिरिह स्वरूपातिशयोत्पादनार्थो न स्वरूपाविर्भावनार्थः । संवेगस्य प्रागपि सद्भावात् । सुविहिदो सुचारितः । अनशनादिके तपसि समाहितः । आजुत्ताणं योगधरिणाम् ।

अनियतविहारसे दर्शनविशुद्धि होती है. अब साधार्मिक स्थिरीकरण भी इससे होता है यह दिखाते हैं—

अर्थ—अनियतविहारी मुनि उत्तमचारित्र धारक होनेसे उनको देखकर सर्व मुनि उत्तम चारित्रधारक

होते हैं. इनकी संसारभीरुता देखकर वे भी ससांरभीरुताको प्राप्त होते हैं. इनकी अनशनादि तपश्चरणोमें निमग्नता देखकर अन्य मुनि भी वैसे बनते हैं. विशुद्ध लेश्याके धारक ऐसे इन मुनिओंको देखकर वे भी अपने परिणाम विशुद्ध करते हैं. यह फायदा अनियत विहारसे होता है. इस लिये मुनिओंको अनियतविहारी बनना अवश्य योग्य है. अभिप्राय यह है कि, अनियतविहारी मुनिवर्यकी सम्यक्चारित्र और तपमें प्रवृत्ति देखकर सर्व उत्तम चारित्र युक्त, महातपस्वी और विशुद्धलेश्या धारक यति भी संसारभयकी उत्कृष्ट सीमाको प्राप्त होते हैं. जैसा ये महामुनि अतिशय संसारभीरु हैं वैसे संसारभीरु हम नहीं हैं. इसलिये हमारा तप और चारित्र अतिचारसहित है ऐसा मनमें विचार कर अन्य साधु भी संसारभीरु, महा तपस्वी, सच्चारित्रधारक और विशुद्धलेश्यावान् बनते हैं. अतः अनियत विहारसे साधुओंपर उपर्युक्त उपकार होता है यह सिद्ध होता है.

उत्तरगाथया एतदाचष्टे न केवलं अतिशयितचारित्रतपोगुण एव परं संविग्नं करोति किंतु एवंभूतोऽपि इत्याचष्टे—

पियधम्मवज्जभीरू सुत्तत्थविसारदो असढभावो ॥
संवेग्गाविदि य परं साधू णियदं विहरमाणो ॥ १४५ ॥

प्रियधर्माशयः साधुरागमार्थविचक्षणः ॥
अमद्यवद्यवित्रस्तः संविग्नं कुरुते परम् ॥ १४८ ॥

विजयोदया—पियधम्मवज्जभीरू प्रिय उत्तमक्षमादिधर्मो यस्य, यश्चावद्यस्य पापस्य भीरुः । सुत्तत्थविसारदो सूत्रार्थयोर्निपुणः, । असढभावो शाठ्यरहितः । संवेग्गाविदि य परं संविग्नं करोति । साधू साधुः । णियदं सर्वकालं विहरमाणो देशांतरातिथिः ।

न केवलं सम्यक्चारित्रतपोविशुद्धलेश्यावृत्तिस्तथाभूतानन्यान्साधूनतिसंविग्नान्करोत्यपि त्वेवंभूतोऽपि—

मूलारा—वज्जभीरु पापभीरुः । संविग्गावेदि संविग्नं करोति । णियदं सर्वदा ।

जिसका तप व चारित्र गुण उत्कृष्ट है वही मुनि अन्य मुनिओंमें संसारभीरुत्व उत्पन्न कर सकता है ऐसा नहीं है किंतु अन्य गुणवालाभी संसारभीरुता उत्पन्न कर सकता है इसी बातका वर्णन आगेकी गाथा करती है.

अर्थ—जिसका उत्तम क्षमादि दशधर्मोंपर अतिशय प्रेम है, पापसे जो भयभीत है, जो सूत्र और अर्थमें निपुण है. जिसमें कपट तिलमात्र भी नहीं है वह अनियत विहारी साधु हमेशा देशांतरका अतिथि बनता है अत उसके उपर्युक्त गुणोंको देखकर अन्य साधुभी संसारसे भयभीत होते हैं.

पूर्वगाथाया परस्थिरीकरण प्रतिपाद्य उत्तरयात्मानमपि स्थिरयति इत्यभिधत्ते—

संविग्गदरे पासिय पियधम्मदरे अवज्जभीरुदरे ॥

सयमवि पियथिरधम्मो साधू विहरतओ होदि ॥ १४६ ॥

अवद्यभीरु संविग्न प्रियधर्मतरेक्षणे ॥

अवद्यभीरुः संविग्न प्रियधर्मतरोऽस्ति स ॥ १४९ ॥

विजयोदया—ठिदियणं । संविग्गतर इत्यादिकया । असकृत्पचविधपरावर्तनिरूपणादितचेतस्त्वयोपगततदागमनभयातिशया 'संविग्नतरा' । अभिनवकर्मनिरोधं चिरतनगलन करोति, अभ्युदयानि श्रेयससुखानि च प्रयच्छति सुचरितो धर्म इति । धर्मस्य फलमाहात्म्ये अनारतं—चेत समाधानात्प्रियधर्मतरा, स्वल्पमप्यशुभयोगानामवसरादानाद् वद्यभीरुतरा । स्वयमात्मना प्रियस्थिरधर्मतरा । अतरेणाप्यतिशायिकप्रत्ययमतिशयार्थगतिरत्र 'अभिरूपाय कन्या देयेति' यथा प्रियस्थिरधर्मतर इति । अपिशब्देन संविग्नतर अवद्यभीरुतरश्चेति ग्राह्यम् ।

एवं नानादेशविहारिणः परस्थिरीकरणधर्ममभिधाय स्वस्थिरीकरणमाह—

मूलारा—पासिय दृष्ट्वा । पियथिरधम्मा अतरेणाप्यतिशायिक प्रत्ययमतिशयार्थगतिरत्र । अभिरूपाय कन्या देयेति यथा । तेन प्रियस्थिरधर्मतर इति बोध्यम् । अथवा पियदरधम्मा इति पाठः । प्रियतरधर्मेत्यर्थः । अपिशब्देन संविग्नतरोऽवद्यभीरुतरश्चेति ग्राह्यम् । तथान्येऽप्यूचु ।

अवद्यभीरु संविग्न प्रियधर्मतरेक्षणे ।

अवद्यभीरु संविग्न प्रियधर्मतरोऽस्ति स ॥

पूर्व गाथामें परस्थिरीकरण दिखाया है अब आगेकी गाथामें अनियत विहारी साधु स्वयंको भी गुणोंमें स्थिर करता है यह दिखाते हैं.

अर्थ—अन्य देशोंमें रहनेवाले साधुओंका दर्शन होनेसे अनियतविहारी साधु भी उनके समानही हो जाता है. बार बार पांच प्रकारके संसारका निरूपण श्रवण करनेसे मन व्यथित होकर जिनको संसारसे अत्यंत भय उत्पन्न हुवा है ऐसे साधुओंका दर्शन होनेसे अनियतविहारी साधु भी संसारसे अधिक भययुक्त होता है. धर्मका आचरण करनेसे नवीन कर्मोंका निरोध अर्थात् संवर होता है, पूर्वबद्ध कर्म निर्जीर्ण होकर आत्मासे अलग होते हैं. यह जिनधर्म अर्थात् मुनिधर्म स्वर्गादिसुख और मोक्षसुख जीवोंको देता है ऐसा धर्मका फल और उसका माहात्म्य सुनकर उसमें जिनका मन हमेशा अधिक रुचि रखता है ऐसे मुनिवर्यको प्रियधर्मतर कहते हैं. उनको देखनेसे विहारी यति भी धर्ममें प्रगाढ रुचि रखता है. जो थोडेसे अशुभयोगोंको अपने आत्मामें उत्पन्न होने नहीं देते ऐसे मुनिओंको अवद्य भीरुतर कहते हैं. ऐसे साधुओंको देखकर अनियत विहार करनेवाला साधु धर्म पर अतिशय प्रेम करता है और उसमें अधिक स्थिर होता है. जैसे 'अभिरूपाय कन्या देया' रूपवानको कन्या देनी चाहिये. यहां सर्व मनुष्य रूपयुक्तही होते हैं. कोईभी मनुष्य रूपरहित नहीं होता है. अतः 'अभिरूपाय कन्या देया' इस वाक्यका 'अधिक सुंदर पुरुषको कन्या देनी चाहिये' ऐसा अभिप्राय है. वैसे 'प्रियस्थिरधर्मा, इसका 'प्रियस्थिरधर्मतरः' ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये. अर्थात् अनियत विहार करनेवाला साधु अधिक प्रिय और अधिक स्थिर धर्मको धारण करनेवाला होता है.

भावना व्याचष्टे—परीषहसहनमिह भावनेत्युच्यते—

चरिया छुहा य तण्हा सीदं उण्हं च भाविदं होदि ॥
सेज्जा वि अपडिबद्धा विहरणेणाधिआसिया होदि ॥ १४७ ॥

शीतातपक्षुधातृष्णानिषद्याद्याः परीषहाः ॥
यतिनाटाट्यमानेन समस्ताः सन्ति भाविताः ॥ १५० ॥

विजयोदया—चरिया चर्याजन्यं दुःखमिह चर्येति गृहीतं । उपानहान्येन वा अकृतपादरक्षस्य, गच्छतो निशितशर्करापाषाणकंटकादिभिस्तुद्यमानचरणस्य, उष्णरजःसंतप्तपादस्य, वा यद्दुःखं तस्यानुभवनमसंक्लेशेन चर्याभावना । छुहा य अपरिचिते देशे संयतः पूर्वमनभ्यासिते अल्पधान्यसंग्रहे प्रयोग्याया अलाभात् भिक्षायाः समुपजाता क्षुद्वेदना

सोढा भवति । चिरमेकत्र वसतो जनः परिचयाद्दाक्षिण्याद्वा भिक्षां प्रयच्छतीति न महान्परिश्रमः । सीदं उण्हं च शीतोष्णस्पर्शजं दुःखं इह गृह्यते । तदनुभवनं संक्लेशरहितभाविना सोढं भवति । सेज्जा य शय्या च वसतिः । अपडिबद्धा ममेदं भावरहिता । अधियासिदा सोढा भवति । विहरणेण विविधदेशगमनेन ।

भावनां भावयति—

मूलारा—चरिया गमनजन्यं दुःखमित्यर्थः । क्षुधा अपरिचिते देशे संयतैः पूर्वमनध्यासिते अल्पधान्यसंग्रहे च योग्यभिक्षाया अलाभादुपजाता क्षुद्वेदना । सीदं शीतस्पर्शनजं दुःखं । अधियासिया असंक्लेशेन सोढा। सेज्जा वसतिः । अपडिबद्धा ममेदंभावरहिता ।

भावना—परीषह सहन करना यह भावना शब्दका अर्थ है.

इसका विवेचन इस प्रकार है–

अर्थ—चर्या—चर्यासे उत्पन्न हुए दुःखको चर्या कहते हैं. जूता अथवा अन्य पदार्थसे जिसने अपने पावोंका रक्षण नहीं किया है, तथा गमन करते समय तीक्ष्ण शर्करा, पत्थर, कांटे इत्यादिकोंके द्वारा जिसके चरण व्यथित हो रहे हैं. उष्णधूलीसे जिसके पैर संतप्त हुए हैं, ऐसे मुनिको जो दुःख उत्पन्न होता है वह मुनि विना संक्लेश परिणामसे सहन करते हैं. यह चर्या भावना है.

क्षुधा भावना—जहां मुनिओंने निवास नहीं किया था ऐसे अपरिचित तथा अल्प धान्य के संग्रहसे युक्त देशमें योग्य भिक्षा न मिलनेसे जो भूखसे वेदना होती है वह सहन करना क्षुधाचर्या कहलाती है. बहुत दिन-पर्यंत एकस्थानमें ही निवास करनेसे सब श्रावकोंके साथ परिचय होता है इस लिये वहां भिक्षा मिलनेमें महान परिश्रम नहीं होता है. संक्लेश परिणाम न करके शीतसे और उष्णसे होनेवाले दुःखोंको सहन करना यह शीतोष्ण चर्या है. वसतिकाके ऊपर भी यह मेरी है ऐसा ममत्वभाव उत्पन्न नहीं होता है. अनियत विहार करनेसे ये उपर्युक्त फायदे होते हैं.

णाणादेसे कुसलो णाणादेसे गदाण सत्थाणं ॥
अभिलाव अत्थकुसलो होदि य देसप्पवेसेण ॥ १४८ ॥

शृण्वतो भूरिसूरीणां व्याख्यां नानार्थदर्शिनीम् ॥
देशांतरातिथेः साधोरस्ति सूत्रार्थकौशलम् ॥ १५१ ॥

णाणादेसे कुसलो णाणादेसे गदाण सत्थाणं ॥
अहिलाव अत्थकुसलो होदि य देसप्पवसेण ॥ १ ॥

इति गाथा सूत्रे क्षिप्ता मन्तव्या।

अपराजितसूरि और पं. आशाधरजीने इस गाथाकी टीका नहीं लिखी है. वे इसको क्षेपक समझते हैं.

अर्थ— अनेक देशमें विहार करनेसे क्षुधाभावना, चर्याभावना इत्यादि भावनाओंका पालन होता है, अर्थात् क्षुधादि परीषह सहन करनेका अभ्यास होता है, अनेक देशोंका परिज्ञान होता है. अनेक देशोंमें जो मुनिओं के भिन्न भिन्न आचार हैं उनका ज्ञान होता है. नाना भाषाओंमें जीवादि पदार्थोंका स्वरूप प्रतिपादन करनेका चातुर्य प्राप्त होता है इतने गुण अनियत विहारमें हैं.

अतिशयार्थकुशलताख्यं गुणं कथयति—

सुत्तत्थथिरीकरणं अदिसयिदत्थाण होदि उवलद्धी ॥
आयरियदंसणेण दु तहा सेविज्ज आयरियं ॥ १४९ ॥

विनिष्क्रमप्रवेशादिसमाचारविचक्षणः ॥
सूरीणां बहुभेदानां जायते पादसेवया ॥ १५२ ॥

विजयोदया—सुत्तत्थथिरीकरणं अल्पवर्णवत्, अभिधेयविषयसंशयाकारि, सारार्थवद्व्यतरीकृतोत्पत्तिक, प्रमाणांतरदर्शितवस्तुतया विरुद्धानुपदर्शनेन निर्दोषं इत्येतद्गुणसहितं सूत्रं तस्यार्थो वाच्यो बाह्य आंतरो वा अर्थः, तयोः सूत्रार्थयोः स्थिरीकरणं इत्यसंदेहं सूत्र शब्दः, अभिधेयं चासंदेहमेवेति यत्नेन। अदिसइदत्थाण अतिशयितानां सूत्रार्थानां उवलद्धी उपलब्धिः। होदि भवति। प्रमाणनयनिक्षेपैर्निरुक्त्या अनुयोगद्वारेण निरूप्यमाणः सूत्रार्थो अतिशयितो भवति। आचार्याणां व्याख्यातॄणां दर्शनेन मतभेदेन। केचिन्निक्षेपमुखेनैव सूत्रार्थमुपपादयन्त्यपरे नैगमादिविचित्रनयानुसारेण, अन्ये सदाद्यनुयोगोपन्यासेन। अपरे 'अदिसयसत्थाण होइ उवलद्धी' इति पठन्ति। तत्रायमर्थः—अतिशयभूतानां शास्त्राणां प्रत्यग्राणामप्रतीतेः सर्वैरपि कृतानां चिरंतनानां उपलब्धिर्भवति।

आरातीय आचार्य-श्रुतकेवलीके अनंतर जो आचार्य उत्पन्न हुए हैं उनको आरातीय आचार्य कहते हैं. अर्थात् आरातीय और प्राचीन आचार्योंने रचे हुये शास्त्रोंका भी ज्ञान होता है.

प्रकारांतरेण अतिशयार्थकुशलत्वमाख्यातुमीहते—

णिक्खवणपवेसादिसु आयरियाणं बहुप्पयाराणं ॥
सामाचारीकुसलो य होदि गणसंपवेसेण ॥ १५० ॥

विजयोदया—णिक्खवणपवेसादिसु इत्यनया गाथया । आयरियाणं आचार्याणां । बहुप्पयाराणं बहुविधानं । केचिदाचार्याः चरणक्रममवगच्छन्ति । परैः सदाचरणात् । अपरे पुनः शास्त्रनिगदितमेव । अन्ये तदुभयज्ञा । इति बहुप्रकारता । एवं अनेकप्रकाराणां गणसंपवेसेण गणप्रवेशेन निःक्रमणप्रवेशादिकासु क्रियासु । कुसलो य होदि । कुशलश्च भवति । कः ? समाचारी ते यथा आचरंति तथा प्रवर्तमानः । स्वावासदेशान्निर्गन्तुमिच्छता शीतलादुष्णाद्वा देशात्शरीरप्रमार्जनं कार्यं, तथा विशतापि । किमर्थं ? शीतोष्णजंतूनामाबाधापरिहारार्थं अथवा श्वेतरक्तगुणासु भूमिषु अन्यस्या नि क्रमेण अन्यस्याश्च प्रवेशने प्रमार्जनं कटिप्रदेशादधः कार्यं । अन्यथा विरुद्धयोनिसंक्रमेण पृथिवीकायिकानां तद्भूमिभागोत्पन्नानां त्रसानां चाबाधा स्यात् । तथा जलं प्रविशता सचित्ताचित्तरजसोः पदादिषु लग्नयोर्निरासः । यावच्च पादौ शुष्यतस्तावन्न गच्छेज्जलांतिक एव तिष्ठेत् । महतीनां नदीनां उत्तरणे आराद्भागे कृतसिद्धवंदनः यावत्परकूलप्राप्तिस्तावन्मया सर्वं शरीरभोजनमुपकरणं च परित्यक्तमिति गृहीतप्रत्याख्यानः समाहितचित्तो द्रोण्यादिकमारोहेत्, परकूले च कायोत्सर्गेण तिष्ठेत् । तदतिचारव्यपोहार्थं । एवमेव महतः कांतारस्य प्रवेशनिःक्रमणयोः ।

तथा भिक्षानिमित्तं गृहं प्रवेष्टुकामः पूर्वं अवलोकयेत्किमत्र बलीवर्दाः, महिष्यः, प्रसूता वा गावः, दुष्टा वा सारमेया, भिक्षाचराः श्रमणाः सन्ति न सन्तीति । सन्ति चेन्न प्रविशेत् । यदि न बिभ्यति ते यत्नेन प्रवेशं कुर्यात् । ते हि भीता यतिं बाधंते स्वयं वा पलायमानाः त्रसस्थावरपीडां कुर्युः । क्लिश्यंति, महति वा गर्तादौ पतिता मृतिमुपेयुः ।

गृहीतभिक्षाणां वा तेषां निर्गमने गृहस्थैः प्रत्याख्याने वा दृष्ट्वा श्रुत्वा वा प्रवेष्टव्यं । अन्यथा बहव आयाता इति दानुमशक्ताः कस्मैचिदपि न दद्युः । तथा च भोगांतरायः कृतः स्यात् । क्रुद्धाः परे भिक्षाचराः निर्भर्त्सनादिकं कुर्युरस्माभिरादौ प्रविष्टं गृहं किमर्थं प्रविशतीति । अन्ये भिक्षाचरा यत्र स्थित्वा लभंते भिक्षां, यत्र वा स्थितानां गृहिणः प्रयच्छन्ति तावन्मात्रमेव भूभागं यतिः प्रविशेन्न गृहाभ्यंतरं । गृहिभिस्तिष्ठ प्रविशेत्यभिहितोऽपि नांधकारं प्रविशेत्त्रस-

स्थावरपीडापरिहृतये । तद्द्वारकाद्युल्लंघने कुप्यन्ति च गृहिणः । [फलकं वैत्से वा नातिक्रम्य प्रविशेत् । भीताः पलायनं कुर्युरात्मानं वा पातयेयुः] ।

द्वारमप्यायामविष्कंभहीनं प्रविशतः गात्रपीडासंकुचितांगस्य विवृताधोभागस्य वा प्रवेशं दृष्ट्वा कुप्यंति हसंति वा । आत्मविराधना मिथ्यात्वाराधना च । द्वारपार्श्वस्थजंतुपीडा स्वगात्रमर्दने शिक्यावलंबितभाजनानि वा अनिरूपितप्रवेशी वा अभिहंति । तस्मादूर्ध्वं तिर्यक्चावलोक्य प्रवेष्टव्यं ।

तदानीमेव लिप्तां, जलसेकार्द्रां, प्रकीर्णहरितकुसुमफलपलाशादिभिर्निरंतरां, सचित्तमृत्तिकावर्ती, छिद्रबहुलां, विचरत्त्रसजीवां, गृहिणां भोजनार्थं कृतमंडलपरिहारां, देवताध्युषितां निकटीभूतनानाजनामंतिकस्थासनशयनामासीनशयितपुरुषां, मूत्रास्रपुरीषादिभिरुपहतां भूमिं न प्रविशेत् ।

संयमविराधनां मिथ्यात्वाराधनां च परिहर्तुं भुक्त्वा निर्गच्छन्नपि शनैरतीवानवनतो वंद्यमानं प्रति दत्तयोग्याशीर्वादो निर्गच्छेत् । तथा भिक्षाकाले, बुभुक्षाकाले च ज्ञात्वा गृहीतावग्रहः, ग्रामनगरादिकं प्रविशेदीर्यासमितिसंपन्नः । भोजनकालपरिमाणं ज्ञात्वा ग्रामादिभ्यो निःसरेत् । जिनायतनं, यतिनिवासं वा प्रविशन्प्रदक्षिणीकुर्यान्निसीधिकाशब्दप्रयोगं च । निर्गंतुकाम आसीधिकेति । आदिशब्देन परिगृहीतास्थानभोजनशयनगमनादिक्रिया । तत्रापि यत्नो यतीनां । तं सकलं वेद्मि गुरुकुलवासी सूत्रार्थज्ञोहं, न यथाचारक्रमः सूत्रार्थो वान्यस्मात्को ज्ञातव्य इत्यभिमानं न वहेत् ।

प्रकारांतरेणातिशयकुशलार्थत्वं व्याख्यातुमाह—

मूलारा—णिक्खवणपवेसादिसु वसतिव'तृगृहादेर्निष्क्रमणे प्रवेशे आदिशब्देन स्थानभोजनशयनासनादिक्रियासु । बहुप्पयाराणं केचिद्धि सूत्रश्रवणमन्तरेणैव एवावगच्छन्ति, परे सदाचरणात् । अपरे पुन शास्त्रोक्तमेव । अन्ये तदुभयज्ञाः इति बहुप्रकारता । सामाचारीकुसलो निष्क्रमणादिषु यत्तेषां सम्यगाचरणं समानुष्ठानं वा तत्र प्रवीणः । एतत्प्रपंचस्तु टीकायां द्रष्टव्य ।

अर्थ—अनियत विहार करनेवाला साधु अनेकगणोंमें प्रवेश कर अनेक आचार्योंसे वसतिकामें और दाताके घर आदिकोंमें प्रवेश करना और वहांसे गमन करना, स्थान, भोजन, शयन, वगैरे क्रियाओंका स्वरूप जानकर कुशल होता है. अतः साधुओंको विहार करना चाहिये. कितनेक आचार्य अन्यमुनिओंके आचरणसे आचारका क्रम जानते हैं. कोई आचार्योंको शास्त्रोक्त आचार और अन्य मुनिओंका आचार दोनोंका स्वरूप मालूम

१ अयं पाठः कपुस्तके नास्ति खपुस्तकादुद्धृत्य संयोजितः ।

रहता है. इस लिये आचार्योंके अनेक प्रकार होते हैं. आचार्य जिस तरहसे आचारमें प्रवृत्ति करते हैं वह सब स्मरणमें रखकर वैसा आचरण करता हुआ देशांतरविहारी साधु आचारमें कुशल हो जाता है. उस आचारक्रमका टीकाकार अपराजितसूरि वर्णन करते हैं—

वसतिकासे बाहर जानेकी साधुको जब इच्छा होती है तब वह शीतलस्थानसे अथवा उष्णस्थानसे बाहर जानेके पूर्वमें अपने सर्व अंग पिच्छिकासे साफ करे जब वह साधु वसतिका में प्रवेश करेगा उस समयमें भी अपना अंग पिच्छिकासे साफ कर ही वसतिकामें प्रवेश करे. यह अंग पोछनेकी क्रिया करनी चाहिये. क्यों ? इसका उत्तर यह है–

शीत और उष्ण जंतुओंको बाधा न हो इसलिये शरीर प्रमार्जन पिच्छिकासे करना पडता है. अथवा सफेद भूमि या लालरंगकी भूमिमें प्रवेश करना हो अथवा एक भूमिसे निकलकर दूसरे भूमिमें प्रवेश करना हो तो कटिप्रदेशसे नीचेतक सर्व अवयव पिच्छिकासे प्रमार्जित करना चाहिये. ऐसी क्रिया नहीं करनेसे विरुद्ध योनि संक्रमसे पृथ्वीकायिक जीव और त्रसकायिक जीवोंको बाधा होगी. जलमें प्रवेश करने के पूर्वसमय साधु पांव हाथ, वगैरह अवयवों में लगे हुए सचित्त और अचित्त धूली को अपनी पिच्छिकासे दूर करे. अनंतर जलमें प्रवेश करे. जलसे बाहर आनेपर जब तक पांव न सूख जावेंगे उतने कालतक वह जलके समीप ही खडा हो जावे. पांव सूखने पर आगे विहार करे. बडी नदीओंको उलंघकर यदि जानेका प्रसंग आवे तो नदीके प्रथम तटपर सिद्धवंदना कर जबतक दुसरे तटकी प्राप्ति न होगी तबतक मैंने शरीर, भोजन और उपकरणका त्याग किया है ऐसा प्रत्याख्यान स्वीकारना चाहिये. मनमें एकाग्रता धारण कर नौका वगैरह पर आरूढ होवे. दूसरे तटपर पोहोंचनेके अनंतर उसके अतिचार नाशार्थ कायोत्सर्गसे खडे होना चाहिये. प्रवेश करनेपर अथवा वहांसे बाहर निकलनेपर भी यही आचार करना चाहिये.

भिक्षाके लिये श्रावकके घरमें प्रवेश करते समय प्रथमतः इस घरमें बैल, भैंस, प्रसूत गाय, दुष्ट कुत्ता, भिक्षा मांगनेवाले साधु हैं या नहीं यह अवलोकन करे यदि न होंगे तो प्रवेश करे. अथवा उपर्युक्त प्राणी साधुके प्रवेश करनेसे भययुक्त न होवे तो यहांसे सावध रहकर प्रवेश करे. यदि वे प्राणी भययुक्त होंगे तो उनसे यतीको बाधा होगी. इधर उधर वे प्राणी दौडेंगे तो त्रसजीवोंका, स्थावरोंका नाश होगा. अथवा साधुके प्रवेशसे उनको क्रोध

होगा. किंवा भागते समय गड्ढेमें गिरकर मृत्युवश होगे. जिन्होंने भिक्षा ली है ऐसे अन्यसाधु घरसे बाहर निकलते हुये देखकर अथवा गृहस्थोंके द्वारा उनका निराकरण किया हुआ देखकर वा सुनकर तदनंतर प्रवेश करना चाहिये. यदि मुनिवर्य इसका विचार न कर श्रावकगृहमें प्रवेश करें तो बहुत लोक आये है ऐसा समझकर दान देनेमें असमर्थ होकर किसी को भी दान न देंगे. अतः विचार के बिना प्रवेश करना लाभांतरायका कारण होता है. दूसरे भिक्षा मांगनेवाले पाखंडी साधु जैन साधु प्रवेश करनेपर हमने कुछ मिलनेकी आशासे यहां प्रवेश किया है यह मुनि क्यों यहां आया है ऐसा विचार मनमें लाकर निर्भर्त्सना तिरस्कारादिक करेंगे. इतर भिक्षा मांगनेवाले साधु जहां खडे होकर भिक्षा प्राप्त करते हैं. अथवा जिस स्थानमें ठहरे हुये साधुको गृहस्थ दान देते हैं उतने ही भूप्रदेशतक साधु प्रवेश करे. गृहके अभ्यंतर भागमें प्रवेश न करें. गृहस्थोंने तिष्ठो, प्रवेश करो ऐसा कहने पर भी अंधकारमें साधुको प्रवेश करना उचित नहीं. अन्यथा त्रस स्थावर जीवोंका नाश होगा. द्वारादिकोंका उल्लंघन कर जानेसे गृहस्थ कुपित होंगे. घरमें बकरा अथवा गायका बछडा हो तो उसको लांघकर प्रवेश न करे. अन्यथा वे डरके मारे पलायन करेंगे वा साधुको गिरा देंगे. दीर्घता व चौडाइसे रहित द्वारमें प्रवेश करनेसे शरीरको व्यथा होगी, अंगोंको संकुचित करके जाना पडेगा. नीचे के अवयवोंको पसारकर यदि साधु प्रवेश करेगा तो गृहस्थ कुपित होंगे अथ हास्य करेंगे. इससे साधुको आत्मविराधना व मिथ्यात्वाराधना होगी. संकुचित द्वारसे गमन करते समय उसके समीप रहनेवाले जीवोंको पीडा होगी, अपने अवयवोंका मर्दन होगा. यदि ऊपर साधु न देखे तो सीके में रक्खे हुवे पात्रोंको धक्का लगेगा अतः साधु ऊपर और चारो तरफ देखकर प्रवेश करे.

तत्काल लेपी गई, पानी के छिडकावसे गीली, हरा तृण, पुष्प, फल, पत्रादिक जिसके उपर फैले हुए हैं ऐसी, सचित्त मट्टीसे युक्त, बहुत छिद्रोंसे युक्त, जहां त्रस जीव फिर रहे है, जहां गृहस्थों के भोजनके लिये रंगावली रची है, देवताओंकी स्थापनासे युक्त, अनेक लोक जहा बैठे हैं, जहां आसन और शय्या रक्खे हैं, जहां लोक बैठे हैं और सोये हैं, जो मूत्र, रक्त, विष्ठादिसे अपवित्र बनी है ऐसी भूमीमें साधु प्रवेश न करे. अन्यथा उस के संयममें विराधना होगी व मिथ्यात्वाराधनाका दोष लगेगा.

साधू भोजन कर जब निकलेगा तब धीरे धीरे गमन करे. नम्र होकर चले. नमस्कार करनेवालोंको योग्य आशीर्वाद देवें. इस तरह स्वस्थानगमन करें.

भिक्षाका समय, और क्षुधाका समय जानकर कुछ वृत्तिपरिसंख्यानादि नियम ग्रहणकर ग्राम या नगरमें ईर्यासमितीसे प्रवेश करे. भोजनकालका प्रमाण जानकर ग्रामादिकसे निकले. जिनमंदिर अथवा यतिका निवास अर्थात् वसतिका – मठ इनमें प्रवेश कर प्रदक्षिणा करें. उस समय निसीधिका शब्दका उच्चारण करे और जब वहांसे लौटते समय असीधिका शब्दोच्चार करे. इसी तरह स्थान, भोजन, शयन, गमनादि क्रिया करते समय भी मुनिओंको प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिये. सब आचारक्रम मैं जानता हूं, मैं गुरुकुलवासी हूं, सूत्रका अर्थ मैं जानता हूं. आचारक्रम अथवा सूत्रार्थ अन्यसे जाननेकी मेरेको जरूरत नहीं है. ऐसा अभिमान न धारण करे.

शिक्षायामुद्योगपरो भवेदित्याह—

कंठगदेहिं वि पाणेहिं साहुणा आगमो हु कादव्वो ॥
सुत्तस्स य अत्थस्स य सामाचारी जध तहेव ॥ १५१ ॥

कर्तव्या यत्नतः शिक्षा प्राणैः कंठगतैरपि ॥
आगमार्थसमाचारप्रभुनीनां तपस्विना ॥ १५३ ॥

विजयोदया—कंठगदेहिं वीत्यादिना । कंठगते प्राणे सह वर्तमानेनापि साधुना आगमशिक्षा कर्तव्यैव सूत्रस्यार्थस्य सामाचारस्य ।

कंठगदेहिं वि पाणेहि साहुणा आगमो हु कादव्वो ।
सुत्तस्स य अत्थस्स य सामाचारी जध तधेव ॥ २ ॥

मूलारा—इत्येषापि गाथा क्षिप्तैव ।

अनियतवास करनेवाले मुनीने आगमाभ्यास करना चाहिये—

अर्थ—प्राणकंठमें आगये हो तो भी मुनिका आगमका अध्ययन करना अवश्य कार्य है. जैसे वह सूत्र अर्थ व आचारोंका अध्ययन करता है वैसे आगमका भी अध्ययन करे.

क्षेत्रपरिमार्गणां व्याचष्टे—

संजदजणस्स य जहिं फासुविहारो य सुलभवुत्ती य ॥
तं खेत्तं विहरंतो णाहिदि सल्लेहणाजोग्गं ॥ १५२ ॥

प्रासुकं सुलभाहारं संयतैर्गोचरीकृतम् ॥
सल्लेखनोचितं क्षेत्रं पश्यत्यनियतस्थितिः ॥ १५४ ॥

विजयोदया—संजदजण इत्यादिना । असंयमान्हिंसादीन्ज्ञात्वा श्रद्धाय च तेभ्य उपरतो व्यावृत्तः सम्यग्यतः संयतः इत्युच्यते तस्य संयतजनस्य । जहिं यस्मिन्क्षेत्रे । फासुविहारो य प्रासुकं विहरणं जीवबाधारहितं गमनं त्रसहरितबहुलत्वात्प्रचुरोदककर्दमत्वाच्च क्षेत्रस्य । सुलभवुत्ती य सुखेनाक्लेशेन लभ्यते वृत्तिराहारो यस्मिन्क्षेत्रे । तं खेत्तं तत्क्षेत्रं । णाहिदि ज्ञास्यत्यात्मनः परस्य वा । सल्लेहणाजोग्गं सम्यक्कायकषायतनूकरणं सल्लेखना तस्या योग्यं । कर्तुं विहरन्तो देशांतराणि भ्रमन् ।

क्षेत्रपरिमार्गणामाह—

मूलारा—फासुविहारो जीवबाधारहितं गमनं । त्रसहरितोदककर्दमाद्यबहुलत्वात् । णाहिदि ज्ञास्यति ।

अनियतविहारी साधूने क्षेत्रका अवलोकन करना चाहिये. इस विषयका विवेचन करते हैं—

अर्थ—असंयमरूप हिंसादि पापोंका स्वरूप जानकर तथा श्रद्धाकर उनसे जो मुनि परावृत्त होते हैं और अपनेको अहिंसादिकोंमें प्रयत्नशील करते हैं उनको संयत—संयमी मुनि कहते हैं. ऐसे संयमी मुनिको विहार करने योग्य क्षेत्रका अवलोकन करना योग्य है. जहां गमन करनेसे जीवोंको बाधा नहीं होगी, जो त्रस जीव और वनस्पतियोंसे रहित है. जहां बहुत पानी और कीचड नहीं है ऐसा क्षेत्र प्रासुक है. मुनियोंकेलिये विहार योग्य है. जिस क्षेत्रमें मुनियोंको सुलभतासे आहार मिलेगा वह क्षेत्र अपनेको और अन्य मुनियोंको सल्लेखना योग्य है. शरीर और कषायोंको संक्लेश परिणामोंका त्याग कर शास्त्रोक्त विधीके अनुसार कृश करना सल्लेखना है. देशांतरमें विहार करनेवाले मुनीने इस प्रकार क्षेत्रमार्गणा करनी चाहिये.

न देशांतरभ्रमणमात्राद्नियतविहारी भवति किंत्वेवंविध इत्याचष्टे—

वसधीसु य उवधीसु य गामे णयरे गणे य सण्णिजणे ॥
सव्वत्थ अपडिबद्धो समासदो अणियदविहारो ॥ १५३ ॥

श्रावके नगरे ग्रामे वसतावुपधौ गणे ॥
सर्वत्राप्रतिबद्धोऽस्ति योगी देशांतरातिथिः ॥ १५५ ॥

इति अनियतविहारसूत्रम् ।

विजयोदया—वसईसु अ इत्यादिना—वसतिषु उपकरणेषु । ग्रामे नगरे गणे श्रावकजने च । सर्वत्र अप्रतिबद्धः । ममेदं वसत्यादिकं अहमस्य स्वामीति संकल्परहितः अनियतविहारी भवति इति संक्षेपतः प्रतिपत्तव्यः ॥ विहारो गदो ।

न देशांतरभ्रमणमात्रादनियतविहारी किंत्वेवंविधो भवन्नित्याह—

मूलारा—सण्णिजणे श्रावकलोके । अपडिबद्धो ममेदमहस्य स्वामीति संकल्परहितः । अनियतविहारः । सूत्रतः ॥ ६ ॥ अंकतः ॥ १२ ॥

जैनीं दीक्षामास्थितोऽभ्यस्तशास्त्र ।
श्रेयोमार्गे सार्थवाहायते यः ॥
कीर्तिव्यासाशाधरः सोऽगभेदेऽ ।
भ्युद्यल्लीतिः सद्व्रतः शश्वदीष्टे ॥

इत्याशाधरानुस्मृतग्रंथसंदर्भे मूलाराधनादर्पणे पदप्रमेयार्थप्रकाशीकरणप्रवणे ग्रहणशिक्षणप्रतिसेवनाविधिप्रकाशनो नाम द्वितीय आश्वासः ॥ २ ॥

देशांतरमें भ्रमण करनेमात्रसेही साधु अनियत विहारी कहा जाता है ऐसा नहीं किन्तु अन्य प्रकारसे भी वह अनियत विहारी कहा जाता है. उसीका खुलासा करते हैं—

अर्थ—वसतिका, उपकरण, गांव, नगर, स्वसंघ, श्रावकलोक इन सबोंमें जो ममत्वरहित है अर्थात् ये

मेरे हैं और मैं इनका स्वामी हूं ऐसा मनमें कभी संकल्प जो साधु नहीं करता है वह भी अनियतविहारी है ऐसा संक्षेपमें कहा जाता है.

विहार अधिकारका वर्णन समाप्त हुवा.

अनियतवासादनंतरं परिणामं प्रतिपादयितुं उत्तरगाथा—

अणुपालिदो य दीहो परियाओ वायणा य मे दिण्णा ॥
णिप्पादिदा य सिस्सा सेयं खलु अप्पणो कादुं ॥ १५४ ॥
पर्यायो रक्षितो दीर्घं वितीर्णा वाचना मया ॥
शिष्या निष्पादिताः श्रेयो विधातुमधुनोचितम् ॥ १५६ ॥

विजयोदया—अणुपालिदो य अनुपालितश्च सूत्रानुसारेण रक्षितः । दीहो दीर्घः चिरकालप्रवृत्तिः । परियाओ पर्यायः ज्ञानदर्शनचारित्रतपोरूपः । वायणा वि वाचनापि । मे मया । दिण्णा दत्ता । णिप्पादिदा य सिस्सा निष्पादिताश्च शिष्याः । सेयं श्रेयः हितं । अप्पणो कादुं आत्मनः कर्तुं युक्तं इति शेषः । एतदुक्तं भवति । ज्ञानदर्शनचारित्रेषु चिरकालं परिणतोऽस्मि । सूत्रानुसारेण परेभ्यश्च निरवद्यग्रंथार्थदानं च कृतं । शिष्याश्च व्युत्पन्नाः संवृत्ताः । एवं स्वपरोपकारक्रियया गतः कालः । इतः प्रभृत्यात्मन एव हितं कर्तुं न्याय्यमिति चेतःप्रणिधानं इह परिणामशब्देनोच्यते । तथा चोक्तम्—

अप्पहिदं कायव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कायव्वं ॥
अप्पहिदपरहिदादो अप्पहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥

तृतीय आश्वासः ।

कर्तुं केवलमात्मने हितमपोह्याशेषबाह्यग्रहम् ।
श्रेयःसंततिवर्तिचित्परिणतिर्युक्तस्तपस्यन् श्रुते ॥
सत्त्वैकरसधृतिप्रबंधविधुतत्रासान्यसंगोर्मिरुक् ।
कायं प्रावहुताशिहेतुमुभयीमभ्येतु सल्लेखनाम् ॥

अथ गाथाष्टकेन परिणामं प्रणेष्यन् तथाभावितश्रामण्यस्य आत्मसंस्कारसल्लेखनोद्यतस्य मुमुक्षोः समीक्षापूर्वकं स्वहितैककरणीयताप्रणिधानमाह—

मूलारा—परियाओ व्यवहाररत्नत्रयरूपः पर्यायः। मे मया। सेओ हितं। खलु अप्पणो स्वस्यैव परोपकारस्य पूर्वं कृतत्वात्। काउं कर्तुम्। युक्तमिति शेषः।

उक्तं च—अप्पहियं कायव्वं जइ सक्कइ परिहिदं च कायव्वं।
अप्पहियपरहियादो अप्पहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥

अनियतवासके अनंतर परिणामका प्रतिपादन करनेके लिये उत्तरगाथा कहते हैं—

अर्थ—मैंने बहुतकालपर्यंत ज्ञान, दर्शन, चारित्र ओर तपरूप मुनिपर्यायका पालन किया है. मैंने शिष्यों को वाचना भी दी है अर्थात् ग्रंथ और अर्थ दोनोंका भी स्वरूप अच्छी तरहसे समझा दिया है. शिष्य पढाये हैं, बहुत शिष्य तयार किये हैं. अब इस समय अपना कल्याण करना योग्य है. अभिप्राय यह है कि, ज्ञान, दर्शन और चारित्रका मैंने चिरकालतक पालन किया है. निर्दोष ग्रंथ और अर्थ समझाकर शिष्य व्युत्पन्न किये हैं. इस रीतीसे स्वपरोपकार करनेमें मैंने दीर्घ काल बिताया है. अब यहांसे मैं अपना ही हित करनेके लिये प्रयत्न करूंगा. इसरीतीसे मनकी एकाग्रता करना इसको परिणाम कहते हैं.

अपना हित करना ही श्रेयस्कर है इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

अपना हित करना चाहिये. शक्य हो तो परका भी हित करना कर्तव्य है परंतु आत्महित और परहित इन दोनोंमेंसे कौनसा मुख्यतया करना चाहिये ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर अवश्य ही उत्तम प्रकारसे आत्महित करना चाहिये.

किण्णु अधालंदविधी भत्तपइण्णेंगिणी य परिहारो ॥
पादोवगमणजिणकप्पियं च विहरामि पडिवण्णो ॥ १५५ ॥

किमालंदं परीहारं भक्तत्यागमुतेंगिनीं ॥
पादोपगमनं किं किं जिनकल्पं श्रयाम्यहम् ॥ १५७ ॥

विजयोदया—किं नु अथालंदविधौ भक्तग्रहणं । कीदृग्यथालंदविधिः उच्यते-परिणामः सामर्थ्यं, गुरुविसर्जनं, प्रमाणं, स्थापना, आचारमार्गणा, अथालंदमासकल्पश्च । गृहीतार्थाः कृतकरणाः, परीषहोपसर्गजये समर्थाः, अनिगूहित वलवीर्या, आत्मानं मनसा तुलयन्ति । किमथालंदविधिराराधनीयोऽथवा प्रायोपगमनविधिरिति । परिहारस्यासमर्था अथालंदविधिमुपगंतुकामास्त्रयः, पंच, सप्त, नव वा ज्ञानदर्शनसंपन्नास्तीव्रसंवेगमापन्नाः, स्थविरमूलनिवासिनः, अवधृतात्मसामर्थ्या निश्चितायुःस्थितयः स्थविरं विज्ञापयन्ति—भगवन् ! किमिच्छामोऽथालंदकसंयमं प्रतिपत्तुमिति । तच्छ्रुत्वा स्थविरोऽधारयति धृत्या शरीरेण च दुर्बलान्परिणामातिशयविरहितांश्च कांश्चिदनुजानाति । समग्रगुणास्ते निसृष्टाः स्वचिरेण मनसोऽवकाशे स्थिताः कृतलोचाः, गुरूणामालोचनां कृत्वा कृतव्रतारोपणा अचिरोद्गते आदित्ये कल्पस्थितमेकं गणस्यालोचनां श्रोतुं शुद्धिं चैव कर्तुं समुद्यतं स्थापयन्ति । स एव प्रमाणं गणस्य । आत्मनः सहाया यावन्तो गणान्निर्गतास्तावन्त एव तत्स्थाने स्थापयितव्या गणे ।

आचारो निरूप्यते—अथालंदसंयतानां लिंगं औत्सर्गिकं, देहस्योपकारार्थं आहारं वसतिं च गृह्णन्ति, शेषं सकलं त्यजन्ति । तृणपीठकटफलकादिके उपधिं च न गृह्णन्ति । प्राणिसंयमपरिपालनार्थं जिनप्रतिरूपतासंपादनार्थं च गृहीतप्रतिलेखना ग्रामांतरगमने विहारभूमिगमने, भिक्षाचर्यायां, निषद्यायां च अप्रतिलेखना एव व्युत्सृष्टशरीरसंस्काराः परीषहान्सहन्ते नो वा धृतिवलहीनाः । अस्ति च मनोबलं संयममाचरितुं इति मत्वा त्रयः पंच वा सह प्रवर्तन्ते । रोगेणाभिघातेन वा आगताया वेदनायाः प्रतिक्रियया वर्ज्या यदा तपसातिश्रान्तास्तदा सहायहस्तावलंबनं कुर्वन्ति । वाचनादिकां च न कुर्वन्ति । यामाष्टकेऽप्यनिद्रा एकचित्ता ध्याने यतंते । यदि बलादायाता निद्रा तत्राकृतप्रतिज्ञाः । स्वाध्यायकालप्रतीक्षणादिकाश्च क्रियास्तेषां न सन्ति । श्मशानमध्येऽपि तेषां ध्यानमप्रतिषिद्धं आवश्यकेषु च प्रयतंते । उपकरणप्रतिलेखनां कालद्वयेऽपि कुर्वन्ति । सस्वामिकेषु देवकुलादिषु तदनुमया वसन्ति । अज्ञायमानस्वामिकेषु यस्येदं सोऽनुज्ञां करोतु इत्यभिधाय वसन्ति । सहसातिचारे जाते अशुभपरिणामे वा मिथ्या मे दुष्कृतमिति निवर्तंते । दशविधे समाचारे प्रवर्तन्ते । दानं, ग्रहणं, अनुपालनं, विनयः, सहजल्पनं च नास्ति संघेन तेषां । कारणमपेक्ष्य केषांचिदेक एव सहायः कार्यः । यत्र क्षेत्रे सधर्मा तत्क्षेत्रं न प्रविशन्ति । मौनाभिग्रहनिरताः पंथानं पृच्छन्ति, शंकितव्यं वा द्रव्यं शय्याधरगृहं वा । एवं तिस्र एव भाषाः । ग्रामाद्बहिरागंतुकागारे कल्पस्थितेनानुज्ञाते वसन्ति । पशुपक्षिप्रभृतिभिर्यत्र ध्याने विघ्नो भवति ततः स्थानादपयांति । को भवान् , कुत आयातः, क्व प्रस्थितः, कियत्कालं अत्र भवतो वसनं, कति यूयमिति पृष्टाः श्रमणोऽहमित्येवं प्रतिवचनमेकं प्रयच्छन्ति, इतरे कृततूष्णींभावाः । अपसरातः स्थानादवकाशं मे प्रयच्छ, परिपालय गृहं, इत्यादिको वाग्व्यापारो यत्रान्येषां भवति, बहिरपि वसतः यदि भवति, ततोऽपयान्ति । स्वावास-

गृहे प्रज्वलिते न चलन्ति चलन्ति वा । गोचर्यामप्राप्तायां तृतीयपौरुष्यां द्विगव्यूतमध्वानं गच्छन्ति । यदि गमनव्याघातो महावातेन वर्षादिना जातः समतीतगमनकाल एव तिष्ठन्ति । व्याघ्रादिका, व्यालमृगाद्या यद्यापतंति ततोऽपसर्पन्ति न वा । पादे कंटकालग्ने, चक्षुषि रजःप्रवेशे वा, अपनयन्ति न वा । दृढधृतिकाः मिथ्यात्वचर्याराधनामात्मविराधनामवस्थां दोषान्वा तस्मात्परिहरन्ति न वा । तृतीयपौरुष्यां भिक्षार्थमवतरंति । कृपणवनीपकपशुपक्षिगणे अपगते पंचमीं पिंडैषणां कुर्वन्ति मौनं च । एका, द्वे तिस्रश्चतस्रः पंच वा गोचर्यो यत्र क्षेत्रे तत्रालंदिकयोगं प्रवर्तयन्ति । यस्मात्पाणिपात्रभोजी मिथ्याराधनां न वर्जयति तस्माल्लेपमलेपं वा भुक्त्वा तत्प्रक्षालयन्ति । धर्मोपदेशं कुर्वन्तः तत्प्रव्रज्यामिच्छामि भगवतां पादमूले इत्युक्ता अपि न मनसापि वांछन्ति । किं पुनर्वचसा कायेन । इतरे तत्सहाया धर्मोपदेशं कृत्वा सशिरं मुंडितं वा गणाधिपतयेऽर्पयन्ति ।

क्षेत्रतः सप्ततिशतधर्मक्षेत्रेषु भवंति । कालतः सर्वदा । चारित्रतः सामायिकच्छेदोपस्थापनयोः । तीर्थतः सर्वतीर्थकृतां तीर्थेषु । जन्मनि त्रिंशद्वर्षजीविताः । श्रामण्येन एकोनविंशतिवर्षाः । श्रुतेन नवदशपूर्वधराः । वेदतः पुमांसो नपुंसकाश्च । लेश्यातः पद्मशुक्ललेश्याः । ध्यानेन धर्मध्यानाः । संस्थानतः षड्विधेष्वन्यतरसंस्थानाः देशोनसप्तहस्तादि यावत्पंचधनुःशतो त्सेधाः । कालतो भिन्नमुहूर्ताद्यूनपूर्वकोटिकालस्थितयः । विक्रियाचारणताक्षीरास्रावित्वादयश्च तेषां जायंते । विरागतया न सेवन्ते । गच्छविनिर्गतालंदविधिरेष व्याख्यातः ।

गच्छप्रतिबद्धालंदकविधिरुच्यते—गच्छान्निर्गच्छन्तो बहिः सक्रोशयोजने विहरन्ति । सपराक्रमो गणधरो ददाति क्षेत्राद् बहिर्गत्वार्थपदं । तेष्वपि समर्था आगत्य शिक्षां गृह्णन्ति । एको द्वौ त्रयो वा परिज्ञानधारणागुणसमग्रा गुरुसकाशमायान्ति । कृतप्रतिप्रश्नकार्याः स्वक्षेत्रे भिक्षाग्रहणं कुर्वन्ति । अपराक्रमस्तु गणधरो गच्छे सूत्रार्थपौरुषीं कृत्वा अग्रोद्यानं गत्वा यत्नेन ददात्यर्थपदं । अथवा स्वोपाश्रय एव गणधरो अन्यापसरणं कृत्वा एकस्मै उपदिशति । यदि गच्छेद्देशांतरं गणः अथालंदिका अपि गुर्वनुज्ञया यांति क्षेत्रं । गच्छनिवासिनः क्षेत्रप्रतिलेखनार्थं प्रयतंते तदा तत्र मार्गेण द्वौ अथालंदिकौ यातः । व्याख्यातोऽयमथालंदविधिः ।

परिहार उच्यते—जिनकल्पस्यासमर्थाः परिहारसंयमभरं वोढुं समर्थाः आत्मनो बलं वीर्यमायुः प्रत्यवायांश्च ज्ञात्वा ततो जिनसकाशं उपगत्य कृतविनयाः प्रांजलयः पृच्छन्ति " परिहारसंयमं प्रतिपत्तुमिच्छामो युष्माकमाज्ञया " इति तच्छ्रुत्वा येषां ज्ञानमनुत्तरं उपजायते विघ्नो वा तान्निवारयति । निसृष्टास्तु यतीन्द्रेण संयतानां कृतनिःशल्याः प्रशस्तमधकाशमुपगताः, लोचं कृत्वा सुनिश्चिता गुरूणां कृतालोचना व्रतानि विशुद्धानि कुर्वन्ति । परिहारसंयमाभिमुखानां मध्ये एकं सूर्योदये स्थापयन्ति कल्पस्थितं गुरुत्वेन । सच प्रमाणं तस्य गणस्य । स चालोचनां श्रुत्वा शुद्धिं करोति । कल्पस्थितमाचार्यं मुक्त्वा शेषाणामर्द्धो अग्रे परिहारसंयमं गृह्णन्ति इति परिहारिका भण्यन्ते । शेषास्तेषामनुपरिहारिकाः । पश्चात्संयमग्राहिणः अनुपरिहारिका भण्यंते । एवं कल्पस्थिते सति ये पश्चात्परिहारसंयमार्थमात्मानमुपसृतास्तानपि स्वगणे प्रक्षिपति गणी । यावन्निरूनो गणः तावत्प्रमाणं गणं कृत्वा परिहारिकाननुपरिहारिकांश्च व्य-

वस्थापयति । तेन परिहारसंयमं निविशमाना अनुपरिहारिकाश्च एको द्वौ बहवो वा भवन्ति । जदि तिण्णि, गणी विदिओ परिहारसंयमं पडिवण्णो, तदिओ अणुपरिहारगो हवे । जदि पंच एको कप्पट्ठिदो, दो परिहारसंजमं पडिवज्जन्ति । तेसिमणुपरिहारगा पत्तेगं । इतरे जदि एगो कप्पट्ठिदो, तिण्णि परिहारगा, इदरे तिण्णि अणुपरिहारगा । जदि णव एगो कप्पट्ठिदो, चत्तारि परिहारगा, चत्तारि अणुपरिहारगा । छहिं मासेहिं परिहारीणिविट्ठा हवंति । ततो पच्छा अणुपरिहारी परिहारं पट्ठवेदि । तेसिं णिविट्ठपरिहारी हवंतेणुपरिहारगे ते पुण छहिं मासेहिं णिविट्ठाइं भवन्ति । तु कप्पट्ठिदो पच्छा परिहारं पडिवज्जदि । तस्सेगो अणुपरिहारी एगो कप्पट्ठिदो वि । असोवि अ छहिं मासेहिं णिविट्ठपरिहारगो अट्ठारसमासा ते एवं होंति पमाणंदा ।

लिंगादिकस्तेषामाचारो निरूप्यते—एकोपधिकं अचेलानं लिंगं परिहारसंयतानां । वसतिमाहारं च मुक्त्वा नान्यद् गृह्णन्ति तृणफलकपीठकटकादिकं । संयमार्थं प्रतिलेखनं गृह्णति । त्यक्तदेहाश्च चतुर्विधानुपसर्गान्सहन्ते । दृढधृतयो निरंतरं ध्यानावहितचित्ताः । अस्ति नो वलवीर्यं सर्वगुणसमग्रता च । एवंभूता अपि यदि गणे वसामो वीर्याचारो न प्रवर्तितः स्यादिति मत्वा त्रयः, पंच, सप्त, नव वैपणां निर्यान्ति । रोगेण वेदनयोपद्रुताश्च तत्प्रतिकारं च न कुर्वन्ति । प्रायोग्यमाहारं मुक्त्वा, वाचनां प्रश्नं परिवर्तनां मुक्त्वा सूत्रार्थपौरुषीष्वपि सूत्रार्थमेवानुप्रेक्षन्ते । एवं यामाष्टकेऽपि निरस्तनिद्रा ध्यायन्ति । स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिकाश्च क्रिया न सन्ति तेषां । यस्माच्छ्मशानमध्येऽपि तेषां न ध्यानं प्रतिषिद्धं । आवश्यकानि यथाकालं कुर्वंति । कालद्वये स्वोपकरणशोधना अनुज्ञाप्य देवकुलादिषु वसन्ति । अनिजायमानस्वामिकेषु यस्येदं सोऽनुज्ञाने नः करोतु इति विशंति । आसीधिकां च निषीधिकां च निष्क्रमणे प्रवेशे च संपादयंति । निर्देशकं मुक्त्वा इतरे दशविधे समाचारे वर्तते । उपकरणादिदाने, ग्रहणं, अनुपालनं, विनयो, वंदना सल्लापश्च न तेषामस्ति संघेन सह । गृहस्थैरन्यालिंगिभिश्च दीयमानं योग्यं गृह्णन्ति । तैरपि न शेषोऽस्ति संभोगः । तेषां त्रयाणां पंचानां, सप्तानां, नवानां परस्परेणास्ति संभोगः ।

कप्पट्ठिदो णुकप्पी भुंजणसंघाडट्ठाणगहणे वि ॥
संवाससंवृणालावणाहि भुंजन्ति अण्णोण्णं ॥
सेयासवंदणोपाद्दाण अणुपालणाहि परिहारिं ॥
अणुपरिहारी भुंजदि निवसमाणो वंदणसंवासालावणाहिं ॥
कप्पट्ठिदं भुंजदि अणुपरिहारिं पि गहणासंघाडाणाहि ॥
तु णिव्विसमाणो णिव्विसमाणं संवासदो य अण्णोण ॥

कप्पट्ठिदो भुंजदि संवासणुवासणगिराहिं । कप्पट्ठिदोणुकप्पी वंदित्ता वेंति धम्मलाहोत्ति । गारात्थि अण्णतित्थी अण्णातित्थीहिं निदिसंतो पत्तगुणी को सव्वे वि विणय अण्णोण्णं गणं वादंति दट्ठूण य मोदूण व जत्थ हु साधम्मिगो वसदि सेचो तं ण पसंसंति । सेत्तं कुदो हु णो वंदणाईगं ॥ एवं कल्पोक्तः क्रमः सर्वोऽनुगंतव्यः ।

मौनाभिग्रहरतास्तिस्रो भाषाः मुक्त्वा प्रव्रज्याहृतिमनुज्ञाकरणीं प्रश्ने च प्रवृत्तां च मार्गस्य शंकितस्य वा योग्यायोग्यत्वेन शय्याधरगृहस्य, वसतिस्वामिनो वा प्रश्नः । ग्रामाद्बहिः श्मशानं, शून्यगृहं, देवकुलं, गुहां वा आगंतुकगृहं, तरुकोटरं वा अनुज्ञाप्यैत्येकवारं । कस्त्वं, कुतो वागच्छसि, गमिष्यसि वा कं देशं, कियच्चिरमत्र वसतिर्यूयं कतिजना इति प्रश्ने श्रवणोऽहमित्येकमेव प्रतिवचनं प्रयच्छन्ति । इतरत्र तूष्णींभावः । इतोऽवकाशादपसर्पणं कुरु, स्थानमिदं प्रयच्छ, परिपालय गृहमित्येवमादिको वाग्व्यापारो यत्र तत्र न वसन्ति । गोचर्या यद्यपर्याप्ता तृतीययामे गव्यूतिद्वयं यान्ति । वर्षमहावाताद्विभिर्यदि व्याघातो गमनस्य अतीतगमनकालास्तत्रैव तिष्ठंति । व्याघ्रादिव्यालागमने यदि ते भद्रा युगमात्रं अपसर्पंति । दुष्टाश्चेत्पदमात्रमपि न चलन्ति । नेत्रयोर्धूलिप्रवेशे कंटकादिविद्धे वा स्वयं न निराकुर्वन्ति । परे यदि निराकुर्युस्तूष्णीमवतिष्ठंते । तृतीययाम एव नियोगतो भिक्षार्थं गच्छन्ति । यत्र क्षेत्रे षट् गोचर्या अपुनरुक्ता भवन्ति तत्क्षेत्रमावासप्रयोग्यं शेषमयोग्यमिति वर्जयन्ति ।

क्षेत्रं, तीर्थं, कालश्चारित्रं, पर्यायं, श्रुतं, वेदः, लेश्या, ध्यानं, संहननं, संस्थानं, आयामो गात्रस्य, आयुः, लब्धयः, अतिशयज्ञानोत्पत्तिः, सिद्धिरित्येते नियोगा इहानुगंतव्याः । क्षेत्रतः भरतैरावतयोः, प्रथमपाश्चात्ययोः तीर्थे, उत्सर्पिणीअवसर्पिण्याः कालतः, छेदोपस्थापनाप्रभवाश्चारित्रतः, प्रथमतीर्थंकरकाले देशोनपूर्वकोटीकायकालः । विंशतिवर्षाग्रशतवर्षं कालः पाश्चात्यतीर्थे । जन्मतस्त्रिंशद्वर्षाः पर्यायतः एकोनविंशतिवर्षाः । श्रुतेन दशपूर्विणः, वेदेन पुरुषवेदाः, लेश्यातस्तेजःपद्मशुक्ललेश्याः, धर्मध्यानपरा ध्यानतः, आद्यत्रिकसंहननाः षट्कान्यतरसंस्थानाः । सप्तहस्तादिपंचधनुःशतायताः । अष्टादशमासाः पूर्वकोटी वा आयुः । चारणताहारसिद्धिः, विक्रियाहारर्द्धिश्च लब्धयः । अवधिमनःपर्ययं केवलं वा योगसमाप्तौ प्राप्नुवन्ति । सिद्ध्यन्ति वा परेषां । संक्षेपतः परिहारविधिवर्णना ।

जिनकल्पो निरूप्यते—जितरागद्वेषमोहा, उपसर्गपरिषहारिवेगसहाः, जिना इव विहरंति इति जिनकल्पिका एक एवेत्यतिशयो जिनकल्पिकानां । इतरो लिंगादिराचारः प्रायेण व्यावर्णितरूप एव ।

क्षेत्रादिभिर्निरूप्यते—सर्वधर्मक्षेत्रेषु भवन्ति जिनकल्पिकाः । कालः सर्वदा । सामायिकच्छेदोपस्थापने वा चारित्रतः । सर्वतीर्थेषु तीर्थतः । जन्मना त्रिंशद्वर्षाः । श्रामण्यतः एकान्नविंशतिवर्षाः । नवदशपूर्वधारिणः । तेजःपद्मशुक्लेश्याः । धर्मशुक्लध्यानाः । प्रथमसंहननाः, षट्स्वन्यतरसंस्थानाः । सप्तहस्तादिपंचधनुःशतायामाः । भिन्नमुहूर्तादिन्यूना पूर्वकोटिः कालः । विक्रियाहारकचारणताक्षीरास्रावित्वादिकाश्च तपसा लब्धयो जायन्ते । विरागास्तु न सेवन्ते । अवधिमनःपर्ययं केवलं वा प्राप्नुवन्ति केचित् । केवलिनस्ते नियमेन सिध्यन्ति ।

स्वहितैकपरो मुमुक्षुर्वीर्याचारानुरोधेन नानाविधान्परमार्षयोग्यानाचरणविधीन्विमृश्य स्वानुरूपे यत्र मतिं विधत्ते तदुपदेष्टुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—अथालंदविधिं, अथालंदविधिमृषीणामुत्कृष्टाचरणं । तद्वत्परिहारं जिनकल्पं च । एषां च स्वरूप-

निर्णयार्थमिदं पूर्वनिबंधानुसारेण किंचिन्निरूप्यते । अथालंदविधिर्द्विधा, गच्छविनिर्गतगच्छप्रतिबद्धभेदात् । तत्र तावद्गच्छविनिर्गताथालंदविधिरभिधीयते । परिहारसंयममाचरितुमसमर्था अथालंदविधिमुपगंतुकामास्त्रयः, पंच सप्त, नव, वा ज्ञानदर्शनसंपन्नास्तीव्रसंवेगमापन्ना, धर्माचार्यपादमूलनिवासिनोऽवधृतात्मसामर्थ्या, विदितायुःस्थितयो, धर्माचार्यं विज्ञापयन्ति । भगवन्निच्छामोऽथालंदकसंयमं प्रतिपत्तुमिति । तच्छ्रुत्वा सूरिः सममगुणाननुजानाति । ततस्ते शुभे देशे स्थित्वा कृतलोचा गुरूणामालोचनां कृत्वा कृतव्रतारोपणा अचिरोद्गते सूर्ये कल्पस्थितमेकं गणस्यालोचनां श्रोतुं, व्रतविशुद्धिं च विधातुमुद्यतं स्थापयन्ति स एव प्रमाणं गणस्य । आत्मना सह यावन्तो गणान्निर्गतास्तावन्त एव तत्स्थाने स्थापयितव्या गणे । तदाचारो निरूप्यते । अथालंदसंयतानां लिंगमौत्सर्गिकमेव । कायस्थित्यर्थमाहारं वसतिं कमंडलुं प्रतिलेखनं च ते गृह्णंति । शेषं परिग्रहं त्यजंति । धृतिकायमलिनश्लेषपरीषहादीन्सहन्ते । अन्यथा चेत्ततः पूर्वमेवापसरंति । रोगेणाभिघातेन या जनिता वेदनां न प्रतिकुर्वंति । यदा तपसातिश्रान्तास्तदा सहायहस्तावलंबनं कुर्वंति । अहोरात्रं न स्वपन्ति । यदाधिका निद्रा तदा रात्रौ स्वपंति च । स्वाध्यायकाले प्रतिलेखनादिक्रियास्तेषां न सन्ति । श्मशानमध्येऽपि तेषां ध्यानमप्रतिषिद्धमेव । आवश्यकेषु ते प्रयतन्ते । उपकरणप्रतिलेखनं कालद्वयेऽपि कुर्वंति । सस्वामिकेषु देवकुलादिषु तत्स्वाम्यनुज्ञया वसंति । अनिर्ज्ञातस्वामिकेषु यस्येदं सोऽनुज्ञां करोत्वित्यभिधाय वसंति । सहसातिचारे जातेऽशुभपरिणामे वा मिथ्या मे दुष्कृतमिति निवर्तंते ।

इच्छामिच्छाकारो य तधाकारो य आसियाणिसिही ॥
आपुच्छा पडिपुच्छा छंदणसणिमंतणा य उवसंपा ॥

इत्येवं दशविधे समाचारे प्रवर्तंते । संघेन सह तेषां दानं, ग्रहणं, अनुपालनं, विनयः, सहभोजनं च नास्ति । कारणमपेक्ष्य केषांचिदेक एव संलापः कार्यः । यत्र सधर्मा तत्क्षेत्रं न प्रविशन्ति । मौनावग्रहनिरता अपि पंथानं, शंकितव्यद्रव्यं, शय्याधरगृहं वा पृच्छन्ति । ग्रामाद्बहिरागन्तुकागारे कल्पस्थितेनानुज्ञाते वसंति । पशुपक्षिप्रमुखैर्यत्र ध्यानाभिघातस्ततोऽपयान्ति । को भवान् कुत आयातः, कुत्र प्रस्थितः, कियन्तं कालं अत्र भवता स्थेयं, कति यूयमिति पृष्टा श्रमणोऽहमित्येव प्रतिवचनमेकमेव प्रयच्छंति । अपसरातः स्थानादवकाशं मे प्रयच्छ, परिपालय गृहमित्यादिको जनजल्पो यत्र तत्र न वसंति । बहिररि वसतां, यदि भवति ततोऽपयान्ति । स्वावासगृहे प्रज्वलिते न चलन्ति । चलन्ति

वा। यदि कंटकादिकं लग्नं, चक्षुषि वा धूल्यादिकं प्रविष्टं स्फेटयन्ति न स्फेटयन्ति वा । व्याघ्रादिका, व्यालमृगाद्या वा यद्यापतन्ति ततोऽपसर्पन्ति न वा। एका द्वे, तिस्रश्चतस्रः पंच वा गोचर्यो यत्र क्षेत्रे तत्राथालंदकयोगं प्रवर्तयन्ति । तृतीययामे प्रविष्टगोचर्या काललाभालाभेऽपि गव्यूतिद्वयं गच्छन्ति । यदि गमनव्याघातो महावातेन वर्षादिना वा जातस्तदा तत्रैव तिष्ठन्ति । यदि कोपि तेषां पार्श्वे दीक्षां याचेत तदा मनसापि नेच्छन्ति । इतरे तत्सहाया धर्मोपदेशं कृत्वा मशिरं मुंडितं वान्येषामाचार्याणां तं नीत्वा समर्पयंति । सर्वेषु धर्मक्षेत्रेषु सर्वतीर्थेषु सर्वदा भवन्ति । सामायिकं छेदोपस्थापनां चाचरन्ति । जन्मतस्त्रिंशद्वर्षाणि भोगान्भुक्त्वा श्रामण्येनैकोनविंशतिवर्षाश्रवदशपूर्विणः पुंवेदा, नपुंसकवेदा वा पद्मशुक्ललेश्या वा धर्मध्यानिनः, षट्संहननेषु संस्थानेषु चैकतरसंहननसंस्थाना देशोनसप्तहस्तादि यावत् पंचशतोत्सेधा अथालंदककालतो जघन्येन भिन्नमुहूर्तायुःस्थितयः, उत्कर्षेण गतवर्षोनपूर्वकोटिस्थितिकाः । क्षीरस्वादादितपोलब्धीरपि सरागमसेवमानाश्च भवन्ति । एवं गच्छविनिर्गताथालंदकविधिर्व्याख्यातः ।

गच्छप्रतिबद्धाथालंदकविधिरुच्यते । गच्छान्निर्गच्छतो यदिः सक्रोशयोजने विहरन्ति । सपराक्रमो गणधरः क्षेत्राद्बहिर्गत्वा तेभ्यो ददात्यर्थपदम् । तेऽपि समर्था आगत्य शिक्षां गृह्णन्ति । एको, द्वौ, त्रयो वा परिज्ञानधारणागुणसमग्रा गुरुसकाशमायान्ति । कृतप्रतिप्रश्नकार्याः स्वक्षेत्रे गत्वा भिक्षां गृह्णन्ति । अपराक्रमस्तु गणधरो गच्छे सूत्रार्थपौरुषीं कृत्वा अग्रोद्यानं गत्वा यत्नेन ददात्यर्थपदं । अथवा स्वोपाश्रय एव गणधरोऽन्यापसारणं कृत्वा एकस्मै उपदिशति । यदि गच्छेत्क्षेत्रांतरं गणस्तदाथालंदिका अपि गुर्वनुज्ञया गच्छन्ति । यदा गच्छनिवासिनः क्षेत्रप्रतिलेखनार्थं प्रयतंते तदा तत्र मार्गेण द्वावथालंदिकौ यात इति ।

परिहार उच्यते । जिनकल्पस्यासमर्थाः परिहारसंयमभारं वोढुं समर्था आत्मनो वीर्यमायुः प्रत्यवायांश्च ज्ञात्वा ततस्तीर्थकरपादमूलमुपगम्य पृच्छन्ति भगवन्परिहारसंयममाचरितुमिच्छामो वयमिति । ततो येषां ज्ञानमनुत्तरमुपजायते विप्रो या तेभ्योऽन्ये तीर्थकरेणानुमता लोचं कृत्वा गुरूणामालोच्य व्रतशुद्धिं कुर्वन्ति । परिहारसंयमाभिमुखानां मध्ये एकमाचार्यं कल्पस्थितं स्थापयन्तीति परिहारका भण्यन्ते । तेषां शेषाः पश्चात्परिहारसंयमं गृह्णन्तीत्यनुपरिहारका उच्यन्ते । यावन्तो गणान्निर्गतास्तावन्तो जना न कर्तव्याः । तेऽपि यत्र पंच सप्त नव वा भवन्ति । यदि पुनः केचित्परिहारसंयमार्थिन आयान्ति तदा तेऽपि गणमध्ये प्रक्षेप्तव्या यावन्नव । यदि त्रयः एको गणी, द्वितीयः परिहारसंयमं प्रतिपन्नः, तृतीयोऽनुपरिहारको भवति । एवं षण्मासैः परिहारसंयतः परिहारसंयमे निर्विष्टो भवति । ततोऽनुपरिहारी

परिहारं गृण्हाति । सोऽपि षण्मासे परिहारे निविष्टो भवति । ततः कल्पस्थित आचार्योऽनुपरिहारकनामा परिहारं प्रतिपद्यते । सोऽपि षण्मासे परिहारे निविष्टो भवति । एवमष्टादशमासाः परिहारप्रवेशने त्रयाणां मुनीनां भवंति । एवं पंचानां, सप्तानां, नवानामपि वक्तव्यम् ।

इदानीं परिहारसंयतानामाचार उच्यते । वसतिमाहारं प्रतिलेखनं च गृह्णन्ति । शेषं परिग्रहं च त्यजंति । गृहस्थैरन्यलिंगिभिर्वा दीयमानं योग्यं प्रतिगृह्णन्ति । उत्पन्नचतुर्विधोपसर्गान्सहन्ते । रोगाभिभूता अपि प्रतीकारं न कुर्वन्ति । वाचनादिषु पौरुषीष्वपि सूत्रार्थमेवानुप्रेक्षन्ते। आवश्यकानि यथाकालं कुर्वन्ति। अहोरात्रेऽपि निरस्तनिद्राः । स्वाध्यायकाले प्रतिलेखनादिक्रियास्तेषां न सन्ति । ध्यायन्ति च निरन्तरं यतः श्मशानेऽपि ध्यानं न प्रतिषिद्धं । कालद्वयेऽप्युपकरणानि शोधयन्ति । संघेन सह वंदना, भोजनं, संभाषणं नास्ति । तेषां परस्परमस्ति । भाषात्रयादन्यत्र मौनव्रतिनः । तृतीययामे गोचर्यां प्रविश्य लाभालाभेऽपि गव्यूतिद्वयं गच्छन्ति । वर्षमहावातादिना यदि गमनव्याघातो जायते तदा ते निष्क्रान्तगमनकालास्तत्रैव वसन्ति । व्याघ्रव्यालमृगादयो यदि भद्रास्तदा युगमात्रमपसरन्ति । अथ दुष्टास्ते पदमपि न लंघन्ते । अक्षिणि धूलिप्रवेशे पादे च कंटकवेधे जाते स्वयं न स्फेटयन्ति । परस्फेटने तु तूष्णीकाः । क्षेत्रतः सर्वधर्मक्षेत्रेषु भवन्ति । तीर्थतः सर्वतीर्थेषु । कालतः सर्वदा । चारित्रतः सामायिकच्छेदोपस्थापनिकाः । जन्मतस्त्रिंशद्वर्षाणि भोगभोजिनः । व्रतैकोनविंशतिवर्षकाः । श्रुतेन नवदशपूर्विणः । वेदेन पुरुषवेदाः । लेश्यातः शुभत्रिलेश्या । ध्यानतो धर्मध्यानिनः संहननतश्चाद्यत्रिकसंहननाः । संस्थानत षडेकतरसंस्थानाः । उत्सेधतः सप्तहस्तादिपंचधनुःशतायताः । परिहारकालतो जघन्येनाष्टादशमासायुष्काः । उत्कर्षेण गतवर्षोनाः पूर्वकोट्यायुष्काः । क्षीरस्रावादितपोमाहात्म्योत्पन्नर्द्धीर्विरागतया न सेवन्ते । शीतोष्णकुंथ्वादिसछन्नभूम्या गमनाभावादुत्क्षिप्तैकपादेन षण्मासं तिष्ठन्ति । मतिश्रुतावधिज्ञानिनः योगसमाप्तौ केवलं चाप्नुवन्ति । एवं परिहारसंयमविधिर्भणित. ॥

जिनकल्पो निरूप्यते जितरागद्वेषमोहाः परिषहोपसर्गारिवेगसहा जिना इव विहरन्ति इति जिनकल्पिताः । ते च एकविहारिणः । पूर्वोक्तपरिहारसंयताचारलक्षणसमग्राः । अयं तु विशेषो धर्म्यशुक्लध्यानिनस्ते जघन्येनाभिन्नमुहूर्तायुष्काः अवधिं मनःपर्ययं, केवलं वा प्राप्नुवन्ति ।

अर्थ—अथालंद विधि, भक्तप्रतिज्ञा, इंगिनीमरण, परिहारविशुद्धिचारित्र, पादोपगमनमरण और जिनकल्पावस्था इनमेंसे कोनसी अवस्थाका आश्रय कर मैं रत्नत्रयमें विहार करूं ऐसा विचार करके साधुको धारण

करने योग्य अवस्था धारण करके समाधि मरण करना चाहिये. अब आलंदविधिका स्वरूप टीकाकार कहते हैं—

परिणाम, सामर्थ्य गुरुके द्वारा अनुमति मिलना, प्रमाण, स्थापना, आचार मार्गणा और अथालंद मास कल्प इनका वर्णन इस प्रकरणमें आवेगा.

जिनको आगमार्थका स्वरूप ज्ञात हुवा है, अपना मुनिअवस्थाका कर्तव्य जिन्होंने किया है, परीषह और उपसर्गको जीतनेमें जो समर्थ है, अपना बल और वीर्य जिन्होंने व्यक्त किया है, ऐसे मुनि क्या हम आलंद विधि धारण कर सकते हैं या प्रायोपगमनविधि धारण कर सकते हैं ऐसा विचार मनमें करते हैं. परिहार विधि धारण करनेमें असमर्थता मालूम करनेपर अथालंदविधीको धारण करते हैं. अथालंदविधीका स्वीकार करनेकी इच्छा रखनेवाले तीन, पांच, सात अथवा नउ मुनि जो कि ज्ञान और दर्शन संपन्न हैं, तीव्र संसारभीरुताको धारण करते हैं, धर्माचार्यके चरण कमलका आश्रय करते हैं, जिनको अपने सामर्थ्यका ज्ञान है, अपनी आयुष्य स्थिति जिनको मालुम हो चुकी है, धर्माचार्यको प्रार्थना करते हैं. हे भगवन्! हम अथालंदविधीका आश्रय लेना चाहते हैं. धर्माचार्य उनकी विज्ञप्ति सुनकर जो धैर्यहीन, शरीरसामर्थ्यहीन है, जिनके परिणामोंमें अतिशयपना नहीं है उनको त्यागकर, धैर्यादिगुणविशिष्ट मुनिओंको अनुज्ञा देते हैं. गुरूसे परवानगी मिलनेपर गुरुके साथ वे प्रशस्त स्थानमें ठहरकर लोच करते हैं. गुरूके सामने दोषोंकी आलोचना करते हैं. आलंदविधीके व्रतोंका अपनेमें आरोपण करते हैं. सूर्योदयके अनंतर थोडे समयमेंही कल्पस्थित मुनिओंमेंसे एकको जो कि गणकी आलोचना सुननेके लिये और व्रतशुद्धि करनेके लिये उद्यत है, स्थापना करते हैं. वह ही गणके लिये प्रमाणभूत माना जाता है. अपनेको साहाय्य करनेवाले जितने मुनि गणसे निकले हैं उतने मुनि संघमें उनके स्थानमें स्थापन करने चाहिये. अब इन मुनिओंका आचारक्रम कहते हैं—

अथालंद विधिको पालनेवाले मुनि औत्सर्गिक लिंग धारण करते हैं. अर्थात् नग्नही रहते हैं. देहोपकारार्थ आहार, वसतिका, कमंडलु और पिच्छिकाका आश्रय लेते हैं. बाकी सब परिग्रहका त्याग करते हैं. तृण, चटाई, फलक वगैरह उपाधिका त्याग करते हैं. प्राणिसंयमका रक्षण करनेके लिये और जिनरूपताका संपादन करनेके लिये पिच्छिका धारण करते हैं. यदि धैर्य और बलसे रहित न होंगे तो अन्य ग्रामको जाते समय, मठादि भूमीके तरफ गमन करते समय, आहार लेते समय, बैठते समय, प्रति लेखन नहीं करते हैं अर्थात् पिच्छिकासे शरीरस्पर्शन नहीं ३६०

करते हैं. शरीरसंस्कारको छोड देते हैं. और परिषहों को सहते हैं हमारमें संयमाचरण करनेके लिये योग्य मनोबल है ऐसा विचार कर तीन या पांच मुनि मिलकर प्रवृत्ति करते हैं. रोगसे अथवा आघातसे वेदना उत्पन्न हो तो उसका इलाज नहीं करते हैं तपसे जब अतिशय थक जाते हैं तब अपने सहायकोंका हस्त–हाथका आश्रय लेते हैं. वाचना पृच्छानादिकोंका वे त्याग करते हैं. अहोरात्रमें कदाचित्‌भी नहीं सोते हैं. एकचित्त होकर ध्यानमें प्रयत्न करते हैं यदि बलात् निद्रा आ जावे तो वे प्रतिज्ञा नहीं करते हैं अर्थात् मै सोऊंगाही नहीं ऐसी प्रतिज्ञा नहीं करते हैं. अर्थात् रात्रमें सोते भी हैं स्वाध्यायकालमें प्रतिलेखनादि क्रिया उनको नहीं है. श्मशानमें भी उनके लिये ध्यानका निषेध नहीं है. सामायिकादिक आवश्यकोंमें वे प्रयत्न करते हैं. प्रातःकाल और सायंकालमें पिच्छिका कमंडलु इनका वे संशोधन करते हैं. जिनमंदिर, वसतिका वगैरह सस्वामिक हो अर्थात् उनके कोई मालिक हो तो उनकी अनुज्ञासे वे उसमें रहते हैं. यदि इनके स्वामीका पता मालूम न हो तो जिसके ये जिनमंदिरादिक हैं वे हमको ठहरनेकी अनुज्ञा देवे ' ऐसा कहकर उनमें ठहरते हैं. सहसा अतिचार या अशुभ परिणाम हो गया तो ' मिथ्या मे दुष्कृतं ' ऐसा बोलकर अतिचार व अशुभपरिणामसे निवृत्त होते हैं. दश प्रकारके समाचारोंमें वे प्रवृत्ति करते हैं उनकी संघके साथ दान, ग्रहण, विनय, आपसमें बोलना ये क्रियायें नहीं होती हैं. किसी कार्यकी अपेक्षासे उनमेंसे एक मुनि भाषण करते हैं. जिस क्षेत्रमें सधर्मा मुनि होंगे उस क्षेत्रमें वे प्रवेश करते नहीं है. मौनका नियम होते हुए भी वे रास्ता पूछते हैं, किसी पदार्थमें शंका उत्पन्न हुई हो तो उसके निराकरणार्थ प्रश्न करते हैं. वसतिकाका जो स्वामी है उसके घरका पता पूछते हैं. इस तरह तीन विषयोंमें ही वे बोलते हैं. गांवके बाहर जहां प्रवासी लोक ठहरते हैं ऐसे स्थानमें कल्पस्थित मुनि यदि अनुज्ञा दे तो ठहरते हैं. पशु, पक्षी वगैरह प्राणियोंसे जहां ध्यानमें विघ्न होता है वह स्थान वे छोडते हैं. आप कौन हैं? आप कहांसे आये हैं? आप कहां जा रहे हैं, आप यहां कितने समयतक ठहरेंगे, आप कितने मुनि हैं ऐसा पूछने पर मैं श्रमण-अर्थात् मुनि हूं इतना एक ही प्रत्युत्तर देते हैं. अथवा इतर मुनि मौन धारण करते हैं. इस स्थानसे हटो, मेरेको यहां रहनेके लिये स्थान दो, मेरे घरका रक्षण करो. इस तरहसे यदि कोई गृहस्थादिक उनको बाहर ठहरते हुये भी बोले तो वहांसे भी वे चले जाते हैं. जिसमें वे ठहरे हैं उस घरको यदि आग लगी तो वे वहांसे गमन नहीं करते हैं. अथवा गमन करते हैं. आहार यदि नहीं मिला तो तीसरे प्रहरमें दो गव्यूति प्रमाण मार्ग वे जाते हैं. यदि बडे वायुसे, महावृष्टिसे

गमनमें रुकावट उपस्थित हो तो वहां ही ठहरते हैं. आगे जाते नहीं. व्याघ्र वगैरह प्राणी अथवा दुष्ट पशु यदि रास्तेमें आये तो उस रास्तेसे हट जाते हैं अथवा हटते नहीं हैं. पावमें यदि कांटा चुभ गया, आखोंमें यदि धूलीके कण गये तो वे निकालते हैं अथवा नहीं भी. दृढ धैर्ययुक्त ऐसे वे मुनि मिथ्यात्वचर्याराधना व आत्मविराधना और अन्य दोषोंका परिहार करते हैं अथवा नहीं हैं. तृतीययाममें भिक्षाके लिये वे उतरते हैं—आते हैं. कृपण, याचक, पशु पक्षी, ये सब चले जानेपर आहार लेनेकी इच्छा करते हैं और मौन धारण करते हैं. एक, दोन तीन, चार अथवा पांच गोचर्या जिस क्षेत्रमें होती हैं उस क्षेत्रमें आलंदिका योग करते हैं. [जिससे पाणिपात्रमें भोजन करनेवाला मिथ्यात्वका त्याग नहीं करता है. उससे लेपाहार अथवा अलेपाहार का भक्षण कर उसका वे प्रक्षालन करते हैं [इसका अभिप्राय ध्यानमें आता नहीं है.]

धर्मोपदेश करनेसे यदि कोइ पुरुष आपके चरणमूलमें मैं दीक्षा लेनेकी इच्छा करता हूं ऐसा कहे तो भी उसको दीक्षा देनेका विचार वे मनसे भी करते नहीं फिर वचन और शरीर के द्वारा वे उसको क्यों दीक्षा देंगे? उनको सहाय करनेवाले अन्य मुनि धर्मोपदेश देकर शिखासहित अथवा मुंडन जिसने किया है ऐसे उस पुरुषोंको आचार्यके सन्निध ले जाते हैं.

क्षेत्रकी अपेक्षासे ये अथालंद विधि करनेवाले मुनि एकसो सत्तर कर्मभूमीमें होते हैं. कालकी अपेक्षासे देखा जाय तो हमेशा होते हैं. चारित्रकी अपेक्षासे इनको सामायिक और छेदोपस्थान ऐसे दो चारित्र होते हैं. तीर्थकी अपेक्षासे सर्व तीर्थकरोंके तीर्थमें ये उत्पन्न होते हैं. जन्मसे तीस वर्ष तक भोगों को भोगकर मुनि अवस्था में उन्नीस वर्ष तक रहते हैं. अनंतर अथालंदक विधिको धारण करते हैं. ज्ञानकी अपेक्षासे इनको नो या दस पूर्वोका ज्ञान रहता है. वेदकी अपेक्षासे ये पुरुषवेदी वा नपुंसकवेदी रहते हैं. लेश्याकी अपेक्षासे ये पद्म व शुक्ल लेश्याके धारक होते हैं. ध्यानकी अपेक्षासे ये धर्मध्यानी होते हैं, संस्थानकी अपेक्षासे छहो संस्थानोंमेंसे किसी एक संस्थानके धारक होते हैं. इनके शरीरका प्रमाण कुछ कम सात हाथसे पांचसे धनुष्यतक रहता है. कालकी अपेक्षासे जघन्य आयुष्य भिन्नमूहूर्त और उत्कृष्ट आयु:स्थिति आलंदक विधि धारण करनेके पूर्व जितना आयुष्य व्यतीत हुआ है वह पूर्व कोटिमें कम करना यह उत्कृष्ट स्थिति समझनी चाहिये. उनको विक्रियाऋद्धि, चारणऋद्धि धीराक्षानित्वऋद्धि इत्यादि ऋद्धियां प्राप्त होती हैं. परंतु विराग होनेसे उनका सेवन नहीं करते हैं. गच्छसे निकल

कर आलंदविधि करनेवाले मुनिओंका यह स्वरूप दिखाया है.

अब गच्छप्रतिबद्धालंदकाविधिका विवेचन करते हैं–

गच्छसे निकलकर बाहर एक योजन और एक कोसपर ये मुनि विहार करते हैं. शक्तिमान आचार्य क्षेत्रके बाहर जाकर उनको अर्थपदका अध्ययन कराते हैं. अथवा आलंदविधि करनेवालोंमेंसे समर्थ मुनि आकर उनके पास अध्ययन करते हैं. एक, दो या तीन मुनि जो कि परिज्ञान, धारणा वगैरह गुणोंसे परिपूर्ण हैं वे गुरूके पास आते हैं. प्रश्नका कार्य करनेपर अपने क्षेत्रमें जाकर आहार ग्रहण करते हैं. शक्तिरहित आचार्य गच्छमें सूत्रार्थ पौरुषी करके गांवके निकट वनमें जाकर यत्नसे अर्थपदका अध्यापन करते हैं. अथवा अपने आश्रय स्थानमें ही वे इतर शिष्योंको दूर करके एकको पढाते हैं. यदि गच्छ क्षेत्रांतरको चला जायगा तो आलंदविधि करनेवाले मुनि भी आचार्यकी अनुज्ञा लेकर क्षेत्रांतरको जाते हैं. जब गच्छनिवासी क्षेत्रकी शुद्धि करनेका प्रयत्न करते हैं अर्थात् कोनसा क्षेत्र योग्य है इसका यदि अन्वेषण करते हैं तो आलंदविधि करनेवाले दो मुनि भी उस क्षेत्रमें मार्गसे जाते हैं. इस प्रकार यह अथालंदविधिका विवेचन पूर्ण हुआ.

अब परिहारविधिका विवेचन करते है–

जिनकल्पको धारण करनेमें असमर्थ ऐसे मुनिराज परिहारसंयमका भार धारण करते हैं. अपनी शक्ति, वीर्य, आयुष्य, उपसर्गादिक विघ्न जानकर वे जिनेन्द्र भगवान्‌के पास जाते हैं. विनय कर और हात जोड कर हे भगवन् ! हम आपकी आज्ञासे परिहारसंयम धारण करनेकी इच्छा करते हैं. उनका यह भाषण सुन कर जिनको उत्कृष्ट ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न होगा अथवा जिनको विघ्न उपस्थित होगा उनको जिनभगवान रोकते हैं. जिनको जिनभगवानने आज्ञा दी है वे मुनि निःशल्य होकर प्रशस्त स्थानमें जाकर लोच कर, उत्तम निश्चयसे गुरूके पास आलोचना करते हैं और व्रतोंको विशुद्ध करते हैं. परिहार संयमके अभिमुख हुए मुनिओंमेंसे एकको सूर्योदयमें कल्पस्थित आचार्य पदवीपर स्थापन करते हैं. वह उस गणमें प्रमाण माना जाता है. वह गणकी आलोचना सुनकर शुद्धि करता है.

कल्पस्थित आचार्यको छोडकर शेष मुनिओंमें अर्धमुनि प्रथम परिहारसंयम ग्रहण करते हैं. और बाकीके मुनि नंतर परिहारसंयमको ग्रहण करते हैं अतः उनको अनुपरिहारक कहते हैं. इस रीतिसे जो पीछेसे संयम

ग्रहण करनेकेलिये आचार्यके पास आते हैं उनको भी अपने गणमें स्वीकारते हैं. जितने मुनिऐसे गण कम हैं उतने प्रमाणका गण करके उसमें परिहारक और अनुपरिहारककी व्यवस्था करते हैं. इसलिये परिहारसंयममें प्रवेश करनेवाले अनुपरिहारक मुनि एक दो और तीन होते हैं.

यदि तीन मुनि गणमें होंगे तो एक गणी है, दुसरा मुनि परिहार संयमको स्वीकार करनेवाला होता है और तिसरा अनुपरिहारी होता है. यदि गणमें पांच मुनि होंगे तो एक कल्पस्थित आचार्य, दो मुनि परिहार संयमके धारक और दो मुनि अनुपरिहारक समझने चाहिये. यदि सात मुनि होंगे तो उसमें एक गणी, तीन परिहारसंयमी और तीन अनुपरिहारक मुनि होते हैं. यदि नो मुनि हो तो एक गणी चार परिहारक मुनि और चार अनुपरिहारी मुनि समझने चाहिये. छहमास होनेके बाद अनुपरिहारी मुनि परिहारसंयम में पूर्ण प्रविष्ट होता है. नंतर अनुपरिहारी परिहार संयमको ग्रहण करता है. वह भी छह माससे परिहारमें निविष्ट होता है. तदनंतर कल्पस्थित आचार्य जो कि अनुपरिहार तथा परिहारक होता है. वहभी छहमासके अनंतर परिहारमें निविष्ट होता है. इस रीतिसे तिन मुनिओंको परिहारके प्रवेशमें प्रमाणसे अठारहमास परिहार चरित्रमें लगते हैं.

अब परिहार संयत मुनिओंका लिंगादिक आचार क्रम कहते हैं—

परिहार संयतमुनि वसति और आहारको छोडकर अन्यका स्वीकार नहीं करते हैं. तृण, फलक, आसन, चटाइ आदिक संयमके लिये ग्रहण करते हैं. पिच्छिका भी संयमके लिये पास रखते हैं. शरीरसे प्रेम हटाकर चार प्रकारके उपसर्ग सहन करते हैं. उनमें दृढ धैर्य होनेसे वे ध्यानमें निरंतर निमग्न रहते हैं. हमारेमें बलवीर्य और सर्व गुण हैं तथापि यदि हम गणमें निवास करेंगे तो हम वीर्याचार आचरणमें कैसा ला सकेंगे ऐसा समझकर वे तीन, पांच, सात अथवा नो एषणाके लिये-आहारके लिये जाते हैं. (?) रोगसे और वेदनासे पीडित होनेपर भी उसका इलाज नहीं करते हैं. अयोग्य आहारको छोड देते हैं. वाचना, प्रच्छना, और परिवर्तन रूप स्वाध्यायको छोड सूत्रार्थ पौरुषीमें भी (?) सूत्रार्थकाही वारवार अनुमनन करते हैं. इस रीतिसे आठों प्रहरोंमें भी निद्राका त्याग कर ध्यान करते हैं, चिंतन करते हैं. स्वाध्याय कालमें प्रतिलेखनादि क्रिया अर्थात् पिच्छिकासे अंग पोछना वगैरह क्रियायें इनको नहीं होती है। क्योंकि श्मशानमें भी उनको ध्यानका निषेध नहीं है। यथाकालमें आवश्यक क्रियायें वे करते हैं. सायंकाल-सूर्यास्त समय और सूर्योदयके समयमें उपकरणोंको शुद्ध

करते हैं. जिनमंदिरादिकोंमें अनुज्ञा लेकर वे रहते हैं, जिनके स्वामीका परिज्ञान नहीं है ऐसे मंदिरोंमें जिनके ये स्थान हैं वे यक्षादिक हमको आज्ञा देवें ऐसा बोलकर वहां निवास करते हैं. असीधिका व निषेधिका ये दोन विधि बाहर निकलनेके और अंदर प्रवेश करनेके समय करते हैं. निर्देशको छोडकर बाकीके दश प्रकारके समाचारोंमें वे प्रवृत्ति करते हैं. उपकरणादिकोंको देना, और ग्रहण करना, अनुपालन करना, विनय करना, वंदना करना, अन्योन्य संभाषण करना इन बातोंका संघके साथ वे त्याग करते हैं. गृहस्थ अथवा अन्य लिंगिओंने साधुओंने योग्य वस्तु दी तो वे लेते हैं. परंतु उनके साथ भी विनय, वंदना वगैरे बातें वे नहीं करते हैं. तीन, पांच, सात और नो ऐसे उन मुनिओंका दानादि विधि परस्पर होता है.

कप्पट्ठिदोणुकप्पीइति—कल्पस्थित आचार्य और परिहार संयम पालनेवाले दुसरे मुनि इनका परस्पर व्यवहार होता है अर्थात् सहायता देना, ग्रहण करना, एक स्थानमें निवास करना, वंदना करना और परस्पर बोलना ये विधि होते हैं. जो पीछेसे परिहार संयम धारण करते हैं वे अनुपरिहारी हैं. वे परिहारीके साथ संवास, वंदना,विनय, अनुपालना ये विधि करते हैं. अनुपरिहारी परिहारसंयममें पूर्ण प्रवेश करनेवाले मुनिओंके साथ वंदना, संवास संभाषण ये विधि करते हैं. कल्पस्थित आचार्य मुनि अनुपरिहारीके साथ ग्रहण, संवास स्थान ये विधि करते हैं.

परिहारसंयममें पूर्ण प्रवेश करनेवाले मुनि अपने साधर्मीके साथ अर्थात् परिहारसंयम पूर्ण धारण करनेवालोंके साथ संवास ही विधि करते हैं दूसरा विधि नहीं करते हैं. कल्पस्थित आचार्य इतर मुनिके साथ रहते हैं व समपतासे भाषण करते हैं. कल्पस्थितको जब अनुकल्पी वंदन करते हैं तब कल्पस्थित धर्मलाभ ऐसा कहते हैं. गृहस्थ अन्य धर्मी साधुओंको मार्गका संशय हो तो पूछते हैं व गणके साथ बोलते हैं. जहां साधर्मिक मुनि रहते हैं उनको देखकर अथवा सुनकर उनके क्षेत्रकी प्रशंसा नहीं करते हैं, तो वंदनादिक क्यों करेंगे ? [इन गाथाओंका अर्थ संपूर्ण तया ध्यानमें नहीं आता है. भूल हुई होगी. पाठक सुधार लेवें.] इस रीतीसे कल्पोक्त सर्व कार्य जानना चाहिये.

ये परिहार संयमी तीन भाषाओंको छोडकर मौनव्रतको धारण करते हैं. किसीने प्रश्न पूछा तो उसका संदेह दूर करना, धर्मकार्यमें अनुज्ञा देना और स्वयं प्रश्न करना ऐसी तीन भाषायें वे बोलते हैं. विहार करते समय मार्गके

विषयमें शंका हो जैसे यह मार्ग कहां चला जाता है इसका यदि निर्णय न हो तो, उपकरणादिक योग्य हैं या अयोग्य हैं इसका निर्णय होनेके लिये, और शय्याधरका घर और वसतिकाके स्वामी इस विषयमें वे प्रश्न करते हैं. (वसतिकाको बनानेवाला, उसकी मरम्मत करानेवाला और यहां आप ठहरो ऐसा कहकर वसतिका देनेवाला इन तीनोंको शय्याधर कहते हैं.) ग्रामके बाहर, श्मशानमें, शून्य घरमें, देवगृहमें, गुहामें, प्रवासी रहनेके घरमें अर्थात् धर्मशालामें और झाडके पोलमें एकवार अनुज्ञा लेकर रहते हैं. आप कोन हैं, आप कहांसे आये हैं, आप किस देशको जानेवाले हैं. यहां आप कितने दिन ठहरेंगे, आप कितने जन हैं. ऐसे प्रश्न करनेपर मैं मुनि हूं ऐसा एक ही उत्तर वे देते हैं. अन्यसमयमें वे मौन धारण करते हैं. इस स्थानसे तुम चले जाओ, हमको यह जगह दो, इस घरको संभालो ऐसा यदि कोई भाषण करे तो उस स्थानमें वे रहते नहीं हैं. तीसरे प्रहरमें आहारको जाते हैं उस समय भिक्षा मिले अथवा न मिले हमेशा दो गव्यूतितक विहार करते हैं. वृष्टि, जोरसे बहनेवाली हवा इत्यादिकोंसे यदि बाधा हो जहां तक गमन किया है वहां ही वे स्थिर रहते हैं. व्याघ्रादि प्राणी, दुष्ट बैल वगैरह पशु आनेपर यदि वे भद्र हो तो चार हात जमीन वे पीछे हटते हैं. यदि दुष्ट हो तो एक पैर भी वे हटते नहीं. वहां ही स्थिर खडे होते हैं. नेत्रोंमें धूल यदि गई हो अथवा पांवमें यदि कांटा चुभ गया हो तो स्वयं वे मुनि निकालते नहीं हैं. यदि दूसरे कोई पुरुष निकाले तो मौनसे रहते हैं. तीसरे प्रहरमें ही नियमसे भिक्षाको जाते हैं. जिस क्षेत्रमें छह भिक्षा अपुनरुक्त होती हैं वह क्षेत्र रहनेके लिये योग्य समझते हैं. बाकीका क्षेत्र अयोग्य समझते हैं.

क्षेत्र, तीर्थ, काल, चारित्र, पर्याय, श्रुत, वेद, लेश्या, ध्यान संहनन, संस्थान शरीरकी दीर्घता, आयुष्य, लब्धि, अतिशय ज्ञानोत्पत्ति और सिद्धि इतने नियोग यहां वर्णन करने योग्य हैं ऐसा समझना चाहिये.

ये मुनि क्षेत्रकी अपेक्षासे भरत और ऐरावत क्षेत्रमें होते हैं. तीर्थकी अपेक्षासे पहिले तीर्थंकर व अन्तिम तीर्थंकरके समय होते हैं. कालकी अपेक्षासे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमें होते हैं. चारित्रकी अपेक्षासे उनको छेदोपस्थापना चारित्र होता है. प्रथम तीर्थंकरके समयमें इनके शरीरकी अवस्था देशोनपूर्व कोटी रहती है, और अन्तिम तीर्थंकरके समयमें एकसो वीस वर्षकी अवस्था होती हैं. जन्मतः तीस वर्षतक भोगोपभोगका सुख-अनुभव लेकर मुनिपर्यायमें उन्नीस वर्ष व्यतीत होते हैं. इनको दशपूर्वीका ज्ञान होता है. वेदसे ये पुरुषवेदी होते हैं. लेश्याकी अपेक्षासे इनको तेजो लेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ल लेश्या होती है. ध्यानकी अपेक्षासे उनको धर्मध्यान

होता है. इनको पहिले तीन संस्थान होते हैं. और छहों संहननोंमेंसे कोई एक संहनन होता है. इनके देहकी अवगाहना सात हाथसे लेकर पांचसो धनुष्यपर्यंत होती है. इनका आयु अठारह मास अथवा पूर्व कोटी होता है. उनको चारण ऋद्धि, आहारक ऋद्धि अथवा विक्रिया ऋद्धि और आहारक ऋद्धि होती है. योगसमाप्तिके अनंतर अवधिज्ञान, मनःपर्यय अथवा केवल ज्ञान उत्पन्न होता है. इस तरह परिहार संयमका विधि कहा है.

जिनकल्पका निरूपण–

जिन्होंने राग द्वेष और मोहको जीत लिया है, उपसर्ग और परीषहरूपी शत्रुके वेगको जो सहते हैं और जो जिनेंद्र भगवानके समान विहार करते हैं ऐसे मुनिओंको जिनकल्पी मुनि कहते हैं. इतनी ही विशेषता इन मुनिओंमें रहती है. बाकी सब लिंगादिक आचार प्रायः जैसा पूर्वमें वर्णन किया है वैसा ही इनका भी समझना चाहिये.

क्षेत्रादिकोंके द्वारा इनका वर्णन करते हैं—

सर्वधर्म क्षेत्रोंमें ये जिनकल्पी मुनि होते हैं. कालकी अपेक्षासे ये मुनि सर्व कालमें होते हैं. ये सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्रके धारक होते हैं. तीर्थकी अपेक्षासे सर्व तीर्थकरोंके तीर्थमें इनकी उत्पत्ति होती है. जन्मसे तीस वर्षतक भोगोंको भोगते हैं. तदनंतर उन्नीस वर्ष तक मुनिपर्यायमें रहकर अनंतर जिनकल्पी मुनि होते हैं. इनको नो या दश पूर्वोका ज्ञान होता है. इनको तेजोलेश्या, पीतलेश्या, और पद्मलेश्या ये लेश्यायें होती हैं. धर्मध्यान और शुकलध्यानमें लीन रहते हैं. इनका प्रथम संहनन वज्रर्षभनाराच नामका होता है. छहसंस्थानोंमेंसे कोई एक संस्थान होता है. इनके देहका आयाम सात हाथको आदिलेकर पांचसो धनुष्य पर्यंत होता है. इनका जघन्य आयुष्य भिन्नमुहूर्तादिक रहता है. और उत्कृष्ट आयुष्य कुछ कम पूर्व कोटिवर्षका होता है. इनको विक्रिया, आहारक, चारण और क्षीरास्रवितादिक ऋद्धि होती है परंतु ये वीतराग होनेसे उनका उपयोग करते नहीं. इनको अवधिज्ञान और मनः पर्यज्ञान होता है. कितनोंहीको केवलज्ञान भी होता है. जो केवली होते हैं वे नियमसे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

पयमथालंदादिकं प्रतिपद्य चारित्रविधिं मयोत्साहः कर्तव्यः इति विचारयति—

एवं विचारयित्ता सदि माहप्पे य आउगे असदि ॥
अणिगूहिदबलविरिओ कुणदि मदिं भत्तवोसरणे ॥ १५६ ॥

सत्येव स्मृतिमाहात्म्ये विचार्य सति जीविते ॥
भक्तत्यागे मतिं धत्ते बलवीर्यनिगूहकः ॥ १५८ ॥

विजयोदया—एवं विचारयित्ता-एवमुक्तेन प्रकारेण । विचारयित्ता विचार्य । सदिमाहप्पे य स्मृतिमाहात्म्ये च । असदि आउगे आयुष्यसति दीर्घे । अणिगूहिदबलविरिओ असंवृतबलसहायं वीर्यं आहारव्यायामाभ्यां कृतं बलं । कुणइ करोति । मइ मतिं । भत्तवोसरणे । भज्यते सेव्यते इति भक्तं आहारः । तस्य त्यागं आहारेण समयसाधनेन शरीरस्थितिं चिरं कृत्वा स्वपरोपकारः कृतः । आयुष्यल्पे न शरीरमवस्थातुमलमाहारग्रहणेऽपि । तेन त्याज्यो मयाहारः इति भावोऽस्य । अत एव सूत्रकारेणेदमुक्तं दीहो परियाओ इति । अवशिष्टकालाल्पताख्यापनाय न केवलमायुषोऽल्पता एव भक्तत्यागमतेः कारणं, अपि तु अन्यदपीति ।

मूलारा—सदि माहप्पे स्मृतिमाहात्म्ये । जहा चरित्तसारो इत्यादिजिनागमरहस्योपदेशश्रवणाहितसंस्कारो-ह्योधवशान्मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि इत्थंभूतायाः स्मृतेर्माहात्म्ये स्फारीभावे सति । न परमत्रैव । असदि आयुष्यसति च । ईषत् सत् असत् तस्मिन् असति । अल्पे सतीत्यर्थः ।

इस रीतीसे अथालंदादिक विधीको जानकर चारित्र धारण करनेमें मेरेको उत्साह करना योग्य है इसका विचार मुनि करते हैं—

अर्थ—उपर कहे हुए अथालंदादि चारित्रविधि का विचार कर चारित्र धारण करना ही आगम पढनेका सार है. मैं मरणसमयमें अवश्य सल्लेखना धारण करूंगा इस तरहका स्मृतिमाहात्म्य यदि आत्मामें स्फुरायमान होगा तो मुनि आहारका त्याग करनेमें बुद्धि लगाते हैं. अपना आयुष्य अब दीर्घ नहीं है यह भी

जब उनको मालुम पडता है तो वह आहारका त्याग करनेमें मतिको उद्युक्त करता है. उस समय आहार और व्यायामसे प्राप्त किया हुआ बल वह छिपाता नहीं है. धर्म साधनको सहायता प्रदान करनेवाले आहारसे मैंने शरीर धारण कर चिरकाल तक स्वपरोपकार किया है. परंतु जब आयुष्य थोडा रहता है तब शरीर, आहार ग्रहण करनेपर भी टिक नहीं सकता है. इस लिये मेरेको अब आहारका त्याग करनाही योग्य है. ऐसा वह मुनि विचार करता है. दीर्घकालतक मैंने यह मुनिपर्याय धारण किया है अब आयुष्य अल्प रहा है. यह आहार त्यागका कारण है।

पुव्वुत्ताणण्णदरे सल्लेहणकारणे समुप्पण्णे ॥
तह चेव करिज्ज मदिं भत्तपइण्णाए णिच्छयदो ॥ १५७ ॥

संन्यासकारणे जाते पूर्वोक्तान्यतमे सति ॥
करोति निश्चितं बुद्धिं भक्तत्यागे तथैव सः ॥ १५९ ॥

विजयोदया—पुव्वुत्ताणण्णदरे पूर्वमुक्ताना ' वाहीव दुप्पसज्झा ' इत्यादीनां मध्ये अन्यतरस्मिन् । सल्लेहणकारणे सम्यक् कायकषायतनूकरणं सल्लेखना तस्याः कारणे वा । समुप्पण्णे समुपस्थिते । तह चेव तथैव च । यथाल्प आयुषि करोति भक्तत्यागे मतिं । तथैव णिच्छयदो भत्तपइण्णाए मदिं करेज्ज । निश्चयतो भक्तप्रत्याख्याने मतिं कुर्यात् । एतद्गाथाद्वय सूत्रसारवचनम् ।

न केवलमायुषोऽल्पतैव भक्तत्यागमतेः कारणमपि तु तदन्यदपि इति दर्शयन्नाह—

मूलारा—यथा आयुष्यल्पे तथैवात्रापीत्यर्थः ।

आयुष्यकी अल्पल्पता ही आहार त्यागके प्रति कारण है ऐसा नहीं है किंतु और भी कारण है—

अर्थ— इसी ग्रंथमें आहारत्यागके दुसरे भी कारण पूर्वमें बताये हैं ' वाही व दुप्पसज्झा ' इत्यादि गाथामें कारणोंका उल्लेख किया है. जैसें असाध्य व्याधि होनेपर आहारका त्याग करना चाहिये वगैरह इन कारणोंमेंसे कोई कारण उपस्थित होनेपर सल्लेखना करनी चाहिये, शास्त्रोक्त विधि की अनुसार शरीर और कषायोंको कृश करना सल्लेखना है. जैसे अल्पायुष्य रहनेपर आहार त्याग करनेमें अपनी बुद्धि लगानी चाहिये उसी तरह

पूर्वोक्त कारण उपस्थित होने पर भी निश्चयसे भक्तप्रत्याख्यानमें—आहारके त्यागमें अपनी मतिको मुनि लगावें. उपर्युक्त दो गाथाओंमें सूत्रकारने अपना अभिप्राय व्यक्त किया है.

आराधकस्य मन प्रणिधानं प्रदर्शयति—

जाव य सुदी ण णस्सदि जाव य जोगा ण मे पराहीणा ॥
जाव य सद्धा जायदि इंदियजोगा अपरिहीणा ॥ १५८ ॥

योगा यावन्न हीयंते यावन्नश्यति न स्मृतिः ॥
श्रद्धा प्रवर्तते यावद्यावदिंद्रियपाटवम् ॥ १६० ॥

विजयोदया—जाव य सुई ण णस्सदि यावत्स्मृतिर्न नश्यति । रत्नत्रयाराधनागोचरा अनुभूतविषयग्राहिणी तदित्थंभूतमिति प्रवर्तमाना स्मृतिरित्युच्यते मतिज्ञानविकल्पः । वस्तुयाथात्म्यश्रद्धानं, दर्शनं तद्याथात्म्यावगमो ज्ञानं, समता चारित्रमिति । श्रुतेनावगते परिणामत्रये यदुपजायते सातिज्ञानं तदिह स्मृतिरित्युच्यते । स्मृतिमूलो व्यवहारः, स्मृतौ नष्टायां न स्यादिति, स्मृतिसद्भावकाल एव प्रारभ्या मया सल्लेखनेति चिंत्यम् । जाव य यावच्च । जोगा योगाः आतापनादयः । ण मे पराहीणा न मे परायत्ताः शक्तिवैकल्यात् । विचित्रेण तपसा निर्जरां विपुलां कर्तुकामस्य मम तपोऽतिचारे सा न भवतीति यावन्निरतिचारं इदं तपस्तावत्सल्लेखनां करोमीति कार्या चिंता । जाव य सद्धा जायदि यावच्छ्रद्धा जायते रत्नत्रयमाराधयितुं । ताव खमं मे काउमिति वक्ष्यमाणेन संबंधः । उपशमकालकरणलब्धयो हि दुर्लभाः प्राणिनां सुहृदो विद्वांस इव । मूलं ताः श्रद्धायाः, न च विनष्टा सा पुनर्लभ्यते । न च तामंतरेणातिशयवताहारत्यागः सुखेन संपद्यते । इंदियजोगा इंद्रियाणां चक्षुरादीनां रूपादिभिर्विषयैः संबद्धा अपरिहीणा हीना न भवंति । चक्षुःश्रोत्रेन्द्रियाणामपाये दर्शनश्रवणाभ्यां परिहार्योऽसंयमः कथं परिह्रियते । दृष्ट्वा श्रुत्वा स इदमयोग्यमिति वेत्ति नान्यथा ।

आराधकस्य प्रणिधानं प्रदर्शयन् गाथाचतुष्टयमाह—

मूलारा—सदी स्मृतिः । सा चेह रत्नत्रयाराधनागोचरा । स्मृतिसद्भावकाल एव प्रारभ्या मया सल्लेखनेति भावः । जोगा आतापनादयः । पराहीणा परायत्ताः स्युः शक्तिवैकल्यात् । यावन्निरतिचारं तप इति भावः । सद्धा रत्नत्रयाराधने रुचिः । जायदि उदितोदिता भवति । उपशमकालकरणलब्धयो हि दुर्लभा इति भावः । इंदियजोगा चक्षुरादीनां इंद्रियादिभिः सह संबंधाः । दर्शनश्रवणमूलो ह्यसंयमत्यागः ।

आराधकके चित्तकी एकाग्रताका वर्णन करते हैं.

अर्थ—रत्नत्रयाराधनाको विषय करनेवाला, अनुभूत विषय जो रत्नत्रय उसको जाननेवाला, और जिसमें 'वह' इस शब्दसे ज्ञानाकार प्रदर्शित किया जाता है ऐसे ज्ञानको स्मृति कहते हैं. यह स्मृति मतिज्ञानका एक भेद है. वस्तुके यथार्थ स्वरूपपर श्रद्धान होना उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं. वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानलेना सम्यग्ज्ञान है. और रागद्वेषाभावरूप समताको चारित्र बोलते हैं. इस रत्नत्रयका शास्त्रोंसे स्वरूप जाननेपर सम्यग्दर्शनरूप, सम्यग्ज्ञानरूप और चारित्र रूप तीन प्रकारके परिणाम आत्मामें उत्पन्न होते हैं. इस परिणामत्रय संबंधी जो स्मरणात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है उसको इस प्रकरणमें स्मृति कहना चाहिये. जितना जगत्का व्यवहार चल रहा है उसको स्मृतिही कारण है. स्मृतिका नाश होनेपर जगद्व्यवहार नष्ट होगा. यह बात ध्यानमें रखकर स्मृतिज्ञान है तबतक ही मेरेको सल्लेखना धारण करना योग्य है ऐसा विचार करना चाहिये. जबतक मेरेमें आतापनादि योग धारण करनेका सामर्थ्य मौजूद है तबतक मैं सल्लेखना करूंगा. शक्ति कम हो जानेसे आतापनादि योग मैं कर नहीं सकूंगा तब सल्लेखना मेरेद्वारा निभाना कठिन हो जावेगा. शक्तिरहित होनेपर नाना प्रकारके तपोंसे मैं कर्मको निर्जीर्ण करूंगा ऐसी इच्छा करना व्यर्थ ही है. क्यों कि उस समय मेरे द्वारा जो तप किया जावेगा उसमें अतिचार उत्पन्न होंगें. तपमें अतिचार लगनेपर सल्लेखना कैसी सिद्ध होगी? अतः जबतक निरतिचार तप करनेमें मेरा सामर्थ्य है तबतक मैं सल्लेखना धारण करनेके लिये 'उद्युक्त होऊं' ऐसा मनमें विचार करना चाहिये. जबतक रत्नत्रयाराधन करनेमें मन श्रद्धायुक्त–उत्साहयुक्त हैं तबतक मैं सल्लेखना धारण करनेमें समर्थ होऊंगा ऐसा विचार साधु करे. प्राणिओंको उपशमलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि इनकी प्राप्ति होना दुर्लभ है. विद्वान् मित्र जैसे प्राप्त होना दुर्लभ है. ये तीन लब्धियां श्रद्धाके मूलकारण हैं. श्रद्धा विनष्ट हो गई तो फिर उनकी प्राप्ति होना अतिशय दुर्लभ है. श्रद्धाके विना अतिशययुक्त मनुष्य भी आहारका त्याग सुखसे नहीं कर सकता है. जबतक इंद्रियां अपने विषयको ग्रहण करनेमें समर्थ हैं तबतक सल्लेखना धारण करना योग्य है. नेत्र और कर्ण अपने विषयको ग्रहण करनेमें असमर्थ होनेपर देखनेसे और श्रवण करनेसे जो असंयमका परिहार होता है वह कैसा होगा? देखकर और सुनकर यह अयोग्य है ऐसा मुनि जानेंगे अन्यथा नहीं.

जाव य खेमसुभिक्खं आयरिया जाव णिज्जवणजोग्गा ॥
अत्थि तिगारवरहिदा णाणचरणदंसणाविसुद्धा ॥ १५९ ॥

क्षेमं यावत्सुभिक्षं च संति नष्टास्त्रिगारवाः ॥
यावन्निर्यापका योग्या रत्नत्रितयसुस्थिताः ॥ १६१ ॥

विजयोदया—जाव य खेमसुभिक्खं यावच्च क्षेमसुभिक्षं, स्वचक्रोपद्रवस्य व्याधेर्मार्याश्चाभावः क्षेम इत्युच्यते। प्रचुरधान्यता सुभिक्षत्वम् । एतदुभयमंतरेण दुर्लभा निर्यापकाः, तानन्तरेण चतुष्काराधना । आयरिया जाव आचार्यो यावत् । अत्थि सन्ति । कीदृग्भूता णिज्जवणजोग्गा निर्यापकत्वयोग्याः । तिगारवरहिदा गारवत्रयरहिताः ऋद्धिरससातगुरुकाः ये न भवन्ति । ऋद्धिप्रियो ह्यसंयतमपि जनं निर्यापकत्वेन स्थापयति । स्वयं च नासंयमभीरुर्भवति । असंयमकारणं अनुमननं च न परिहरतीति । रससातगुरुकौ क्लेशासहौ आराधकस्य शरीरपरिकर्म कथं कुरुतः ? किं स्वयं सरागो वैराग्यं परस्य संपादयत्येवेति न नियोगोऽस्ति । णाणचरणदंसणविसुद्धा ज्ञानचारित्रदर्शनेषु विशुद्धाः निर्मलाः । जीवादियाथात्म्यगोचरता ज्ञानस्य विशुद्धिः । दर्शनस्यापि समीचीनज्ञानसद्भाविता, अरक्तद्विष्टता च चारित्रशुद्धिः । शुद्धज्ञानचरणदर्शनशुद्धाः ज्ञानदर्शनचारित्रशुद्धा भण्यंते । यथा शुक्लगुणयोगाच्छुक्लतम इत्युच्यते पटादिः ॥

मूलारा—क्षेमं स्वचक्रपरचक्रोपद्रवमारिगदाद्यभावः । सुभिक्खं प्रचुरधान्यता । तद्द्वयं हि विना निर्यापका दुर्लभाः स्युः । णिज्जवणजोग्गा णिज्जवणं संसारार्णवान्निर्यातः प्रयोजकत्वं । तत्र योग्याः समर्थाः । तिगारवरहिया ऋद्धिरससातगुरुका ये न स्युः । ऋद्धिप्रियो ह्यसयतमपि जनं निर्यापकत्वेन स्थापयति । स्वयं वा नासंयमाद्बिभेति । नाप्यसंयमकारिणीमनुमतिं त्यजति । रससातगुरुकौ तु क्लेशासहौ कथमाराधकस्य कायपरिकर्म कुरुत ।

अर्थ—जबतक देशमें क्षेम और सुभिक्ष है तबतक शरीरका त्याग करना मेरे लिए योग्य अवसर है. अपने देशके सैन्यसे उपद्रव न होना, और किसी रोगसे और मारी रोगसे देश पीडित न होना ऐसी अवस्थाको क्षेम कहते हैं. और देशमें धान्यकी समृद्धि होना सुभिक्षता है. देशमें ये दोनो परिस्थितियां जबतक हैं तबतक सल्लेखना धारण करना श्रेयस्कर है. क्षेम और सुभिक्षताके अभावमें निर्यापकोंकी प्राप्ति होना दुर्लभ होता है इसलिए सल्ले-

१ इत आरभ्य ' ताव खमं ' ' एवं सदि परिणामो ' ' संजम साधणमेत्तं ' इति गाथात्रयं सव्याख्यं मपुस्तके नास्तीति ।

खनाके लिए इन तीनोंकी आवश्यकता है. इन तीनोंका अभाव होनेपर रत्नत्रयाराधना और तपआराधनाकी सिद्धि होना दुर्लभ है. निर्यापकत्वके योग्य आचार्य जबतक देशमें विद्यमान हैं तबतक सल्लेखना करना चाहिए. ऋद्धिगारव, रसगारव, और सातगारव इनसे रहित आचार्य हो तो उनसे सल्लेखना की सिद्धि मुनि कर सकते हैं. जिनको ऋद्धि प्रिय है ऐसे आचार्य असंयत पुरुषको भी निर्यापक पदमें स्थापेंगे. स्वयं भी असंयमसे भययुक्त न होंगे. असंयमके कारणभूत अनुमोदनका उनसे परिहार होना असंभवनीय होता है. जो आचार्य रसप्रिय और सुखप्रिय हैं वे स्वयं क्लेश सहन करना नहीं चाहते हैं. अतः वे आराधकके देहकी शुश्रूषा कैसी करेंगे ? स्वयं सरागी आचार्य आराधकमें वैराग्यके भाव उत्पन्न करेंगे यह निश्चय नहीं है. जो आचार्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र को निरतिचारतया पालते हैं उनसे ही आराधककी सल्लेखना सधेगी जो जीवादि पदार्थोंके यथार्थस्वरूप को पहिचानता है वही ज्ञान विशुद्ध समझना चाहिये. दर्शन भी सम्यग्ज्ञान का साथी होता है. रागद्वेषका अभाव होनेसे चारित्रमें निर्मलता आती है. अर्थात् निर्मल रत्नत्रयधारक आचार्य से ही आराधक सल्लेखना धारण कर सकता है अन्यथा नहीं.

ताव खमं मे कादुं सरीरणिक्खेवणं विदुपसत्थं ॥
समयपडायाहरणं भत्तपइण्णाणियमजण्णं ॥ १६० ॥

तावन्मे देहनिक्षेपः कर्तुं युक्तो बुधेहितः ॥
भक्तत्यागो मतः सूत्रे व्रतयज्ञो ध्वजग्रहः ॥ १६२ ॥

विजयोदया—ताव खमं मे काउं । तावद्युक्तं कर्तुं मम । किं ? सरीरणिक्खेवणं शरीरनिक्षेपणं शरीरत्यजनं । विदुपसत्थं विद्वज्जनस्तुतं आत्महितत्वात् । समयपडागाहरणं समयः सिद्धांतः तस्मिन् कीर्तिता पताका आराधना पताकेव पताका उपमार्थः । यथा पताका चक्रादिरचिता जयादिकं प्रकटयति । एवमियं आराधनापि भवनिर्मुक्तिं प्रकटयति । तस्या हरणं ग्रहणं । भत्तपइण्णं भक्तप्रत्याख्यानं णियमजण्णं व्रतयज्ञं । ननु शरीरत्यागोऽन्यः, अन्यज्ज्ञानं, श्रद्धानं, तप.सु परिणतिरन्यान्यद्भक्तत्यजनं, अन्यानि च व्रतानि तत्कथं सामानाधिकरण्यनिर्देशः ? अत्रोच्यते-प्रत्येकमभिसंबंधः कार्यः । ताव खमं मे काउं इत्यनेन शरीरनिक्खेवणं इत्यादीनां । ततोऽयमर्थः--शरीरत्यजनं, सम्यग्दर्शनादिपरिणमनं, भक्तप्रत्याख्यानं, व्रतयज्ञश्च वाधत्कर्तुं अयुक्तमिति ।

मूलारा—खमं श्रमं युक्तं । णिक्खेवणं त्यजनं । विदुपसत्थ विद्वज्जनसंस्तुतं स्वहितत्वात् । समयपडाया-हरणं पताकेव पताका आराधनोच्यते । भाविन्या मुक्तेर्जयश्रियः प्रकटनात् । समये सिद्धान्ते कीर्तिता पताका तस्या हरणं ग्रहणं । णियमजण्णं व्रतयज्ञं शरीरत्यजन । सम्यग्दर्शनादिपरिणमनं भक्तप्रत्याख्यानं । व्रतयज्ञश्च तावत्कर्तुं युक्ता । किंविशिष्टासौ ? शरीरणिक्खेवणं देहममत्वत्यागहेतुकत्वात् । पुनः किंविशिष्टा समयपडायाहरणं । मरणे आराधना परिणतेस्तत्साध्यत्वात् । अत एव सा व्रतयज्ञः समीहितार्थसाधकं व्रतम् ।

अर्थ—उपर्युक्त कारणोंका सद्भाव होनेपर शरीरका त्याग करना मेरेको योग्य है और यह आत्महितका करनेवाला होनेसे विद्वज्जन इसकी प्रशंसा करते हैं. यह शरीरका त्याग अर्थात् सल्लेखनाराधना आगममें जयपताकाके समान माना है. जैसे पताका वस्त्रादिसे रची जाती है और वह जयादिकको व्यक्त करती है वैसे यह आराधना भी संसारसे मुक्तता की सूचक होती है. उपर्युक्त कारण के सद्भावमें शरीरका त्याग करना मानो हाथमें आराधना पताका धारण करना है. यह भक्तप्रत्याख्यान अर्थात् आहारत्याग व्रतयज्ञ है. शंका—शरीरत्याग भिन्न है, ज्ञानगुण भिन्न है श्रद्धा, चारित्र और तपमें परिणति ये बातें भी भिन्न ही हैं और आहार का त्याग करना उनसे भिन्न है और व्रत भी भिन्न है अतः भक्तप्रत्याख्यानके साथ इनकी समानाधिकरणता कैसी सिद्ध होगी ? ' ताव खमं मे काउं ' इस वाक्यसे शरीरनिक्खेवणं इत्यादिकोंका संबन्ध करना चाहिये ऐसा करनेसे समानाधिकरणता सिद्ध होगी. इसका अभिप्राय यह है—जबतक उपर्युक्त कारणोंका सद्भाव न होगा तबतक शरीरत्याग, सम्यग्दर्शनादिरूपसे परिणमन, आहारोंका त्याग और व्रतयज्ञ करना अयोग्य होगा.

व्यावर्णितस्य परिणामस्य गुणमाहात्म्यकथनायोत्तरगाथा—

एवं सदिपरिणामो जस्स दढो होदि णिच्छिदमदिस्स ॥
तिव्वाए वेदणाए वोच्छिज्जदि जीविदासा से ॥ २६१ ॥

एवं स्मृतिपरीणामो निश्चितो यस्य विद्यते ॥
तीव्रायामपि बाधायां जीविताशास्य नश्यति ॥ २६३ ॥
इति पर्यायसूत्रम् ॥

विजयोदया—एवं सदिपरिणामो व्यावर्णितस्मृतिपरिणामो यस्मात्तज्ज्ञानमेव परिणामः । जस्स दढो होज्ज यस्य स्मृतेर्दृढो भवेत् । णिच्छियमदिस्स निश्चितमतेः । करिष्याम्येव शरीरनिक्षेपणं इति कृतनिश्चयस्य । जीविदासा वोच्छिज्जइ जीविते आशा व्युच्छिद्यते । तिव्वाए वेदणाए तीव्रायामपि वेदनायामुदीर्णायां एतत्प्रतीकारं कृत्वा जीवामीति चिंता न भवति । से तस्येति जीविताशाव्युच्छेदो गुणः सूचितः । परिणामं गदं ।

मूलारा—सदिपरिणामो स्मृतिपरिणामः । णिच्छिदमदिस्स करिष्याम्येव कायत्यागादिकमिति कृतनिश्चयस्य । जीविदासा एतत्प्रतिकारं कृत्वा जीवामीति चिंता । से तस्य । परिणामः । सूत्रतः । ७ । अंकतः ८ ॥

जिसका वर्णन पूर्व गाथामें किया है ऐसे परिणामके गुणमहात्म्यका वर्णन इस गाथासे आचार्य कहते हैं—

अर्थ—मैं शरीरका त्याग करूंगा ही ऐसा जिसने निश्चय किया है उस मुनिका स्मृति परिणाम उपर्युक्त विचारसे दृढ हो जाता है. तब तीव्र वेदना उत्पन्न होनेपर भी इसका इलाज कर मैं पुनः जीऊंगा ऐसी चिंता उसके मनमें उत्पन्न नहीं होती है. उसकी जीनेकी इच्छा नष्ट होती है. अतः इस स्मृति परिणाममें जीविताशाका नाश करनेवाला गुण है ऐसा समझना चाहिए. परिणाम गुणका वर्णन हुआ.

उवधि अहण इति पदं व्याचष्टे प्रबंधेन—

संजमसाधणमेत्तं उवधिं मोत्तूण सेसयं उवधिं ॥
पजहदि विसुद्धलेस्सो साधू मुत्तिं गवेसन्तो ॥ १६२ ॥

उपधिं मुंचतेऽशेषं मुक्त्वा संयमसाधकम् ॥
मुमुक्षुर्मृगयन्मुक्तिं शुद्धलेश्यो महामनाः ॥ १६४ ॥

विजयोदया—संजमसाहणमेत्तं-संयमः साध्यते येनोपकरणेन तावन्मात्रं कमंडलुपिच्छमात्रं । उवधिं परिग्रहं मोत्तूण मुक्त्वा । सेसयं अवशिष्टं । उवधिं अवशिष्टं । उपधिर्नाम पिच्छान्तरं कमण्डल्वन्तरं वा तदानीं संयमसिद्धौ न करणमिति संयमसाधनं न भवति । येन सांप्रतं संयमः साध्यते तदेव संयमसाधनं अथवा ज्ञानोपकरणं अवशिष्टोपधि-रुच्यते । पजहइ प्रकर्षेण योगत्रयेण त्यजति । विसुद्धलेस्सो विशुद्धलेश्यः । साहू साधुः । मुत्तिं मुक्तिं कर्मणामपायं । गवेसंतो मृगयन् लोभकषायेणाननुरंजिता योगवृत्तिरिह विशुद्धलेश्या गृहीता । सा परिग्रहत्यागे प्रवर्तयत्यात्मान-मिति ॥

अथोपधित्यागमाराधकस्य विधेयतया गाथानवकेनोपदिशति तत्र चादौ द्रव्योपधित्यागं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—संजमसाहणमेत्तं कमंडलुपिच्छमात्रं । सेसयं पिच्छान्तरकमण्डल्वन्तररूपं । तदानीमन्यस्य संयमसाधनत्वाभावात् । अथवा पुस्तकादिकं शेषशब्देनानोच्यते । पजहदि योगत्रयेण त्यजति । विसुद्धलेस्सो लोभकषायाननुरंजितयोगप्रवृत्तिकः ॥

उवधिं च जहण इन दो पदोंका आगेके प्रबंधसे ग्रंथकार वर्णन करते हैं—

अर्थ–जिस उपकरणसे संयम साध्य होता है उतना ही परिग्रह छोडकर बाकीका परिग्रह विशुद्ध लेश्यावान् और कर्मके अपायाका अन्वेषण करनेवाला साधु योगत्रयसे छोडता है. तात्पर्य–सल्लेखनाके समय साधुकी योगप्रवृत्ति लोभकषायसे अनुरंजित नहीं होती है, अतः वह एकही पिच्छिका और एकही कमंडलु रखता है. क्योंकि उससे हि उसका संयमसाधन होता है. दूसरा कमंडलु और दूसरी पिच्छिका उसको संयमसाधनमें कारण नहीं है. जिससे सल्लेखना के समयमें संयम सिद्ध होता है वही संयमसाधक है. अवशिष्ट ज्ञानोपकरण शास्त्र भी उस समय परिग्रह माना गया है. उनका भी वह साधु त्याग करता है. उसकी निर्लोभवृत्ति उस समय सर्व परिग्रहोंका त्याग कराती है.

वसत्यादिकं तर्हि त्याज्यतया नोपदिष्टमिति आशंकिते तत्त्यागमुपदिशति—

अप्पपरियम्म उवधिं बहुपरियम्मं च दोवि वज्जेइ
सेज्जा संथारादी उस्सग्गपदं गवेसंतो ॥ १६२ ॥

साधुर्गवेषयन्मुक्तिं शुद्धलेश्यो महामनाः ॥
विमुंचत्युपधिं सर्वमल्पानल्पपरिक्रियम् ॥ १७४ ॥

विजकोदया—अप्पपरियम्म उवधिं अल्पपरिकर्म निरीक्षणप्रमार्जनविधूननादिकं यस्मिन्तं परिग्रहं । बहु

महत् परिकर्म यत्र तं च । दो वि द्वावपि वज्जेदि वर्जयति मनोवाक्कायैः । सेज्जासंथारादी वसतिसंस्तरादिकं । उस्सग्गपदं उत्सर्जनं त्यागः तदेव पदं । परिग्रहत्यागपदान्वेषणकारीति यावत् । गाथाद्वयेनातिक्रांतेन द्रव्योपधित्यागो व्याख्यातः । इयता परिसमाप्तः परिग्रहत्यागः ।

मूलारा—परियम्मं निरीक्षणप्रमार्जनाविधूननादिकम् । उस्सग्गपदं परिग्रहपरित्यागस्थानं ।

संस्तर वगैरह त्याज्य है ऐसा नहीं कहा होगा ऐसी शंका की जाने पर आचार्य उनके त्यागका उपदेश करते हैं—

अर्थ—जिसमें अल्प परिकर्म है अर्थात् निरीक्षण करना, स्वच्छ करना, झटकना इत्यादि क्रिया जिसमें थोडी करनी पडती है और जिसमें उपर्युक्त क्रिया अधिक करनी पडती है ऐसे दो प्रकारके भी परिग्रह मन, वचन और कायसे साधु त्यागते हैं. क्योंकि परिग्रहत्यागका वे अन्वेषण करनेमें तत्पर रहते हैं. इस लिये वसतिका और शय्याका भी त्याग वे करते हैं.

पंचविहं जे सुद्धिं अपाविदूण मरणमुवणमन्ति ॥
पंचविहं च विवेगं ते खु समाधिं ण पावेन्ति ॥ १६४ ॥

औत्सर्गिकपदान्वेषी शय्यासंस्तरकादिकम् ॥
पंचधा शुद्धिमप्राप्य ये विवेकं च पंचधा ॥ १६५ ॥
विपद्यंते समाधिं ते लभंते न विमोहिनः ।

विजयोदया—पंचविहं जे सुद्धि इत्यादिना किं प्रतिपाद्यते पूर्वमसूचितमिति । अत्रोच्यते—योग्योपादानमेवायोग्यत्यागस्तत्परिहार इत्युपधित्याग एवाख्यायते उत्तरग्रंथेनापि ॥ पंचविहं पंचप्रकारां । सुद्धि शुद्धिं । अपाविदूण अप्राप्य । जे ये । मरणं मृतिं । उवणमंति प्राप्नुवंति । पंचविहं च विवेगं विवेकं परिहरणं पृथग्भावं अप्राप्य मृतिमुपयान्ति । खु शब्द एवकारार्थः स च क्रियापदात्परतो योज्यः । समाधिं न प्राप्नुवंत्येवेति । उपधिपरित्यागाभावे समाध्यभावो दोष आख्यात. ।

मूलारा—सुद्धिं नैर्मल्यं । उवणमंति प्राप्नुवंति । विवेगं पृथग्भावं । अन्वयेनाह—

अर्थ—पांच तरहकी शुद्धिको प्राप्त न करके जो साधु मरण करते हैं, तथा पांच प्रकारके विवेकका भी

आश्रय न लेकरही जो साधु मरते हैं वे समाधिको प्राप्त होते नहीं हैं,

'पंचविहं जे सुद्धिं' इत्यादि सूत्रसे कोनसा विषय आचार्य कहते हैं ? पूर्वमें न कहा हुआ विषय दिखाते हैं क्या ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं. योग्यका ग्रहण करना ही अयोग्यका त्याग है. अतः आगेके सूत्रोंसे भी परिग्रह त्यागका ही वर्णन किया है ऐसा समझना.

पंचविहं जे सुद्धिं पत्ता णिखिलेण णिच्छिदमदीया ॥
पंचविहं च विवेगं ते हु समाधिं परमुवेंति ॥ १६५ ॥

शुद्धिं ये पंचधा प्राप्ता ये विवेकं च पंचधा ॥
सर्वत्र निश्चितस्वान्ताः समाधिमुपयान्ति ते ॥ १६७ ॥

विजयोदया—के समाधिं प्राप्नुवंतीत्यत्र आह-पंचविहं पंचविधां जे सुद्धिं पत्ता ये शुद्धिं प्राप्ताः । णिखिलेण साकल्येन। णिच्छियमदीगा निश्चितमतयः । पंचविहं पंचविधं च विवेग विवेकं ते हु समाहिं परमुवेंति। ते स्फुटं समाधिं परमुपयांति।

मूलारा—णिखिलेण साकल्येन ।

अर्थ—समाधि किनको प्राप्त होती है इसका उत्तर आचार्य महाराजने इस गाथामें दिया है-जो साधु पूर्णतया निश्चित मतिको प्राप्त हो गये हैं अर्थात् शरीरत्याग करनेका जिन्होंने दृढ निश्चय किया है. जिन्होंने पांच प्रकारकी शुद्धिका और पांच प्रकारके विवेकका आश्रय किया हैं वे समाधिको प्राप्त होते हैं. उपाधिका यदि त्याग न किया हो तो समाधिकी-मनकी एकाग्रताकी प्राप्ति नहीं होती है.

का पुनः पंचविधा शुद्धिरित्याह—

आलोयणाए सेज्जासंथारुवहीण भत्तपाणस्स ॥
वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खलु पंचहा होइ ॥ १६६ ॥

शुद्धिरालोचना शय्या संस्तरोपधिगामिनी ॥
वैयावृत्यकराहारपानजाता च पंचधा ॥ १६८ ॥

विजयोदया—आलोयणाए आलोचनायाः शुद्धिः। शय्यासंस्तरयोः या शुद्धिः, उपकरणशुद्धिः, भक्तपानशुद्धिः, वैयावृत्त्यकरणशुद्धिरिति पंचविधा। मायामृषारहितता आलोचनाशुद्धिः। मनोगतवक्रता माया। व्यलीकता चासौ मृषा। मायाकषायः स च परिग्रहः 'चत्तारि तह कसाया' इति वचनात्। मृषा कथं परिग्रहः इति चेत् उपधीयते अनेने-त्युपधिरिति शब्दव्युत्पत्तौ उपधीयते उपादीयते कर्म अनेन व्यलीकेनेत्युपधिरित्युच्यते। यत्र यस्यादरः कर्महेतौ तत्सर्वमुपधिरेवेति भावः। उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितता ममेदं इत्यपरिग्राह्यता च वसतिसंस्तरयोः शुद्धिस्तामुपगतेन उद्गमादिदोषोपहतयोर्वसतिसंस्तरयोस्त्यागः कृत इति भवत्युपधित्यागः। उपकरणादीनामपि उद्गमादिरहितता शुद्धिस्तस्यां सत्यां उद्गमादिदोषदुष्टानां असंयमसाधनानां ममेदं भावमूलानां परिग्रहाणं त्यागोऽस्त्येव। संयतवैयावृत्त्य-क्रमज्ञता वैयावृत्त्यकारिशुद्धिः सत्यां तस्यां असंयता अक्रमज्ञाश्च न मम वैयावृत्त्यकरा इति स्वीक्रियमाणास्त्यक्ता भवंति।

कथं पंचधाशुद्धिरित्याह्—

मूलारा—मायामृषारहितता अलोचनायाः शुद्धिः। उद्गमादिदोषरहितत्वं ममेदमित्यपरिग्राह्यता च वसति संस्तरोपक्रमणादीनां। संयतत्वं क्रमज्ञता च वैयावृत्त्यकराणां। मायादित्यागश्चांतरंगसंगत्याग एव।

अर्थ—आलोचनाकी शुद्धि, शय्या और संस्तरकी शुद्धि, उपकरणोंकी शुद्धि, भक्तपानशुद्धि, वैय्या-वृत्त्यकरण शुद्धि ऐसी शुद्धि पांच प्रकारकी है.

आलोचना शुद्धि, माया और असत्यभाषणका त्याग करना यह आलोचनाशुद्धि है. मनमें कपट विचार रखना यह माया है. असत्य भाषणको मृषा कहते हैं. माया यह एक कषाय है और वह परिग्रह है. 'चत्तारि तह कसाया' इस वचनसे मायामें कषायपना सिद्ध है. असत्य भाषणको परिग्रह कैसे समझना ? उत्तर-असत्य भाषण भी उपधि-परिग्रह है क्योंकि 'उपधीयते उपादीयते कर्म अनेन व्यलीकेनेत्युपधिरित्युच्यते' इस असत्य भाषणसे कर्मग्रहण होता है अतः इसको भी उपधि परिग्रह-ऐसा नाम अन्वर्थक है. कर्मग्रहणको कारणभूत जिस पदार्थमें जिसका आदर है वह सर्व उसके लिये उपधि ही है.

वसतिसंस्तर शुद्धि—उद्गम, उत्पादन, एषणा दोषोंसे रहित होकर यह मेरा है ऐसा भाव वसतिका में और संस्तरमें होना यह वसतिसंस्तर शुद्धि है. इस शुद्धिको जिसने धारण किया है उसने उद्गम उत्पादनादिदोष युक्त वसतिका और संस्तरका त्याग किया है ऐसा समझना चाहिये. इसलिये इसमें भी उपधित्याग सिद्ध हुआ है. पिंछीकमंडलु वगैरे उपकरण भी उद्गमादिदोषरहित हों तो वे शुद्ध हैं. उद्गमादि दोषसे अशुद्ध उपकरण असंयमके

विजयोदया-इंद्रियकसाय इति। इंद्रियविवेकः, कषायविवेकः, भक्तपानविवेकः, उपधिविवेकः, देहविवेकः इति विवेकः पंचप्रकारो निरूपितः पूर्वागमेषु। स पुनः पंचप्रकारोऽपि द्विविधः। द्रव्यकृतो भावकृत इति। रूपादिविषये चक्षुरादीनामादरेण कोपेन वा अप्रवर्तनं। इदं पश्यामि शृणोमीति वा। तथा तस्या निबिडकुचतटं पश्यामि, नितंबरोमराजिं वा विलोकयामि, पृथुतरं जघनं स्पृशामि, कलं गीतं सावधानं शृणोमि, मुखकमलपरिमलं जिघ्रामि। बिंबाधरं समास्वादयामि इति वचनानुच्चारणं वा द्रव्यत इंद्रियविवेकः। भावत इंद्रियविवेको नाम जातेऽपि विषयविषयिसंबंधे रूपादिगोचरस्य विज्ञानस्य भावेंद्रियाभिधानस्य रागकोपाभ्यां विवेचनं, रागकोपसहचारिरूपादिविषयमानसज्ञानापरिणतिर्वा। द्रव्यतः कषायविवेको नाम कायेन वाचा चेति द्विविधः। भ्रूलतासंकोचनं, पाटलेक्षणता, अधरावमर्दनं, शस्त्रनिकटीकरणं, इत्यादिकायव्यापाराकरणं। हन्मि, ताडयामि, शूलमारोपयामि इत्यादिवचनाप्रयोगश्च। परपरिभवादिनिमित्तचित्तकलंकाभावो भावतः क्रोधविवेकः। तथा मानकषायविवेकोऽपि वाक्कायाभ्यां द्विविधः। गात्राणां स्तब्धताकरणं, शिरस उन्नमनं, उच्चासनारोहणादिकं च यन्मानसूचनपरं तस्य कायव्यापारस्याकरणं। मत्तः को वा श्रुतपारगः सुचरितः सुतपोधनश्चेति वचनाप्रयोगश्च। एवमेवैतेभ्योऽहं प्रकृष्ट इति मनसाहंकारवर्जनं भावतो मानकषायविवेकः। वाक्कायाभ्यां मायाविवेको द्विप्रकारः। अन्यं ब्रुवत इवान्यस्य यद्वचनं तस्य त्यागो मायोपदेशस्य वा, मायां न करोमि न कारयामि, नाभ्युपगच्छामि इति वा कथनं वाचा मायाविवेकः। अन्यत्कुर्वत इवान्यस्य कायेनाकरणं कायतो मायाविवेकः। लोभकषायविवेकोऽपि द्विविधः। यत्रास्य लोभस्तदुद्दिश्य करप्रसारणं, द्रव्यदेशानपायिता, तदुपादातुकामस्य कायेन निषेधनं हस्तसंज्ञया निवारणं, शिरश्चालनया वा एतस्य कायव्यापारस्य अकरणं कायेन लोभविवेकः। शरीरेण वा द्रव्यानुपादानं एतन्मदीयं वस्तुग्रामादिकं वा अहमस्य स्वामीति वचनानुच्चारणं वा लोभविवेकः। नाहं कस्यचिदीशो न च मम किंचिदिति वचनं वा। ममेदंभावरूपमोहजपरिणामापरिणतिर्भावतो लोभविवेकः।

विवेकं विवेचयतिः—

मूलारा—रूपादिषु चक्षुरादीनां रागेण द्वेषेण वा अप्रवर्तनमिदं पश्यामीत्यादिरूपेणान्तर्विकल्पेन वाग्व्यापारेण वा द्रव्यत इंद्रियविवेकः। भावतस्तु जातेप्यक्षार्थयोगे रूपादिज्ञानस्य भावेंद्रियाभिधानस्य रागद्वेषाभ्यां विवेचनं तत्सहचारिरूपादिविषयमानसज्ञानापरिणतिर्वा। द्रव्यतः कषायविवेको द्वेधा कायेन वाचा च। तत्र भ्रुकुट्याद्यकरणं कायिको, हन्मीत्याद्यनुच्चारणं च वाचिको द्रव्यतः क्रोधविवेक.। भावतस्तु परपरिभवादिनिमित्त चित्तकलंकाभावः। तत्र गात्रस्तब्धताद्यकरणं कायिकः। मत्तः कोऽन्यः श्रुतपारगामीत्याद्यभाषणं च वाचिको द्रव्यतो मानविवेकः। भावतस्त्वेतेभ्योऽहं प्रकृष्ट इति मनसाहंकारवर्जनं। मायाविवेको वाक्कायाभ्यां द्विविधः। स चान्यं ब्रुवत इवान्यस्य यद्वचनं तस्य त्यागो, मायोपदेशस्य वा मायां न करोमि न कारयामि, नाभ्युपगच्छामि इति वा कथनं

वाचिकः । अन्यत् कुर्वत इधान्यस्य कायेनाकरणं कायिकः । द्रव्यतो लोभविवेको यत्रास्य लोभस्तदुद्दिश्य कराप्रसारणादिकः कायेन । ममेदमित्याद्यवचनं वाचा । भावतस्तु ममेदंभावरूपमोहजपरिणामापरिणतिः । वैयावृत्यकरैः सहासंवासः, कायेन मा कुर्व्वं वैयावृत्यं मया त्यक्ता यूयमिति वचनं वाचा तद्विवेकः ।

पांच प्रकारके विवेकोंका वर्णन करनेवाली गाथा—

अर्थ—इंद्रियविवेक, कषायविवेक, भक्तपानविवेक, उपधिविवेक, देहविवेक ऐसे विवेकके पांच प्रकार पूर्वागममें कहे हैं.

यह विवेक द्रव्यविवेक और भावविवेक ऐसा दो प्रकारका है.

इंद्रियविवेक—रूपादि विषयोंमें नेत्रादिक इंद्रियोंकी आदरसे अथवा कोपसे प्रवृत्ति न होना. अर्थात् यह रूप मैं देखता हूं. शब्द मैं सुन रहा हूं. इस रीतीसे प्रवृत्ति न होना. मैं उसके कठिन कुचतट—स्तन देखता हूं, मैं उस स्त्रीके नितंबको तथा वक्षस्थलके उपरकी रोमपंक्ति देखता हूं. उसके विस्तृत जघनका स्पर्श करता हूं. उसका मधुर गायन सावधान होकर सुनता हूं. उसके मुखकमलका सुगंध नाकसे ग्रहण करता हूं. उसके अधरोष्ठका रस पीता हूं. ऐसे वचनोंका उच्चारण न करना यह द्रव्यतः इंद्रियविवेक है.

भावइंद्रिय विवेक—स्पर्शादि विषय और स्पर्शनादि इंद्रिय इनका संबंध होने पर भी जो रूपादिका ज्ञान होता है उसको उपयोगात्मक भावेंद्रिय कहते हैं. यह ज्ञान होकर भी रागद्वेषसे भिन्न रहना इसको भावेंद्रिय विवेक कहते हैं. रागद्वेषसे युक्त ऐसी रूपादि विषयमें मानसिक ज्ञानकी परिणति न होना अर्थात् रूपादिकोंका ज्ञान होकर भी मन रूपादि विषयोंमें रागरूप अथवा द्वेषरूप परिणत न होना यह भी भावेंद्रिय विवेक हैं. द्रव्यतः कषाय विवेकके शरीरसे और वचनसे दो भेद होते हैं. भौंहें संकुचित करना, नेत्र लाल होना, ओष्ठदंश करना, शस्त्र हाथमें लेना, इत्यादि शरीरकी प्रवृत्ति न होना कायविवेक होता है.

मैं मारूंगा, ठोकूंगा, शूलपर चढाऊंगा इत्यादि वचनोंका प्रयोग न करना यह वचन विवेक है.

दूसरोंका पराभव करना, वगैरह के द्वेषपूर्वक विचार मनमें न लाना यह भावक्रोधविवेक है.

मानकषायविवेक भी वचन और शरीरके निमित्तसे दो प्रकारका है. शरीरके अवयव ताठ करना, मस्तकको ऊंचा करना, उच्चासन पर चढना वगैरह कृत्य मानसूचक है. शरीरके द्वारा ऐसी क्रिया न करना. मेरेसे

साधन हो जाते हैं. उनमें ये मेरे हैं ऐसा भाव उत्पन्न होता है अतः ये परिग्रह हैं. उनका त्याग करना यह उपकरण शुद्धि है.

वैयावृत्यकरणशुद्धि–साधुजनकी वैयावृत्यकी पद्धति जान लेना यह वैयावृत्य करनेवालोंकी शुद्धि है. यह शुद्धि होनेसे असंयत लोक अक्रमज्ञ लोक ये मेरा वैयावृत्य करनेवाले नहीं हैं ऐसा समझकर त्यागे जाते हैं.

अहवा दंसणणाणचरित्तसुद्धी य विणयसुद्धी य ॥
आवासयसुद्धी वि य पंच वियप्पा हवदि सुद्धी ॥ १६७ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रविनयावश्यकाश्रया ॥
अथवा पंचधा शुद्धिर्विधेया शुद्धबुद्धिना ॥ १६९ ॥

विजयोदया—अहवा अथवा दंसणणाणचरित्तसुद्धी य, विनयसुद्धी य, आवासयसुद्धी वि य आवश्यकशुद्धिश्चेति पंचविकल्पा हवइ सुद्धी शुद्धिर्भवति । निःशंकितत्वादिगुणपरिणतिर्दर्शनशुद्धिः तस्यां सत्यां शंकाकांक्षाविचिकित्सादीनां अशुभपरिणामानां परिग्रहाणां त्यागो भवति । काले पठनमित्यादिका ज्ञानशुद्धिः, अस्यां सत्यां अकालपठनाद्याः क्रिया ज्ञानावरणमूलाः परित्यक्ता भवंति । पंचविंशतिभावनाश्चारित्रशुद्धिः सत्यां तस्यां अनिगृहीतमनःप्रचारादिशुभपरिणामो ऽभ्यंतरपरिग्रहस्त्यक्तो भवति । दृष्टफलानपेक्षिता विनयशुद्धिः । तस्यां सत्यामुपकरणादिलोभो निरस्तो भवति । मनसावद्ययोगनिवृत्तिः जिनगुणानुरागः वंद्यमानश्रुतादिगुणानुवृत्तिः, कृतापराधविषया निंदा, मनसा प्रत्याख्यानं, शरीरासारतानुपकारित्वभावना, चेत्यावश्यकशुद्धिरस्यां सत्यां अशुभयोगो जिनगुणाननुरागः श्रुतादिमाहात्म्ये ऽनादरः, अपराधाजुगुप्सा, अप्रत्याख्यानं, शरीरममता चेत्यमी दोषाः परिग्रहनिराकृता भवन्ति ।

तामेव प्रकारांतरेणाह—

मूलारा:— दंसण इत्यादि निःशंकितत्वादिगुणपरिणतिर्दर्शनशुद्धिस्तस्यां सत्यां शंकाद्यशुभपरिणामानां परिग्रहाणां त्यागः स्यात् । एवं ज्ञानचारित्रयोरपि । दृष्टफलानपेक्षता विनयशुद्धिस्तस्यां सत्यां उपकरणादिलाभालाभो निरस्तः स्यात् । सावद्ययोगनिवृत्तिर्जिनगुणानुरागो, वंद्यमानश्रुतादिगुणानुवृत्तिः, कृतापराधविषया निंदा, मनसा प्रत्याख्यानं, शरीरासारतानुपकारित्वभावना चेत्यावश्यकशुद्धिरस्यां सत्यामशुभयोगादयो भावदोषाः परिग्रहा निरस्ता भवन्ति ।

अर्थ—अथवा दर्शनशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, चारित्रशुद्धि, विनयशुद्धि और आवश्यकशुद्धि ऐसी पांच प्रकारकी शुद्धि है.

दर्शनशुद्धि—निःशंकित वगैरह गुणोंकी आत्मामें परिणति होना यह दर्शनशुद्धि है. यह शुद्धि होनेसे शंका, कांक्षा, विचिकित्सा वगैरह अशुभ परिणामरूपी परिग्रहोंका त्याग होता है.

ज्ञानशुद्धि—योग्य कालमें अध्ययन करना, जिससे अध्ययन किया है ऐसे गुरुका और शास्त्रका नाम न छिपाना इत्यादिरूप ज्ञानशुद्धि है. यह शुद्धि आत्मामें होनेसे अकालपठनादिक क्रिया जो कि ज्ञानावरण कर्मास्रवको कारण है त्यागी जाती है.

चारित्रशुद्धि—प्रत्येक व्रतकी पांच पांच भावनायें हैं. पांच व्रतोंकी पचीस भावनायें होती हैं इनका पालन करना यह चरित्रशुद्धि है. इन भावनाओंका त्याग होनेसे मन स्वच्छंदी होकर अशुभपरिणाम होते हैं. ये परिणाम अभ्यंतर परिग्रहरूप हैं. व्रतोंकी भावनाओंसे अभ्यंतर परिग्रहोंका त्याग होता है.

विनयशुद्धि—कीर्ति, आदर इत्यादि लौकिक फलोंकी इच्छा छोडकर साधर्मिकजन, गुरुजन इत्यादिकोंका विनय करना यह विनयशुद्धि है, इसके होनेसे उपकरणादि लोभका अभाव होता है.

आवश्यकशुद्धि—सावद्ययोगोंका त्याग, जिनगुणोंपर प्रेम, वंद्यमान आचार्यादि गुणोंका अनुसरण करना, किये हुए अपराधोंकी निंदा करना, मनसे अपराधोंका त्याग करना, शरीरकी असारता और अपकारीपनाका विचार करना यह सब आवश्यक शुद्धि है. यह शुद्धि होनेपर अशुभ योग, जिन गुणोंपर अप्रेम, आगम, आचार्यादि पूज्य पुरुषोंके गुणोंपर अप्रीति, अपराध करने परभी मन में पश्चात्ताप न होना, अपराध का त्याग न करना, और शरीरपर ममता करना ये दोष परिग्रहका त्याग करनेसे नष्ट होते हैं.

पंचविधविवेकप्रख्यापनायोद्यता गाथा—

इंदियकसायउवधीण भत्तपाणस्स चावि देहस्स ॥
एस विवेगो भणिदो पंचविधो दव्वभावगदो ॥ १६८ ॥

विवेको भक्तपानांगकषायाक्षोपधिश्रितः ॥
पंचधा साधुना कार्यो द्रव्यभावगतो द्विधा ॥ १७० ॥

अधिक शास्त्र प्रवीण कौन है ? मेरेसे अधिक चारित्रका पालन किससे होता है ? मैं ही अच्छा तपस्वी हूं ऐसा मुखसे वचनप्रयोग न करना मैं इन मुनिओंमें उत्कृष्ट हूं ऐसा मनके द्वारा अभिमानको छोडना यह भाव मान कषाय विवेक है.

वचन और शरीरके निमित्तसे मायाविवेक दो प्रकारका है. एक विशिष्ट व्यक्तिके विषयमें बोलता हुआ भी मानो अन्यके विषयमें ही बोल रहा हूं ऐसा दिखाना यह वचनसे माया है ऐसी मायाका त्याग करना अथवा कपटका उपदेश न करना, किंवा मैं माया न करूंगा न कराउंगा, करनेवालोंको अनुमतिदान नहीं करूंगा इत्यादि वचनको वाचामायाविवेक कहते हैं.

शरीरसे एक कार्य करता हुआ भी मैं अन्यही कर रहा हूं ऐसा दिखाना यह शरीरकी माया है. इस मायाका त्याग करना कायमायाविवेक है.

लोभ कषाय विवेक— जिस पदार्थ में लोभ है उसके तरफ अपना हाथ पसारना, जहां वह पदार्थ है वह स्थान सुरक्षित रखना, यदि कोई मनुष्य उस वस्तु को लेनेकी इच्छा करता हुआ दीखे तो शरीरसे निषेध करना, हाथ की सहनानी से मना करना अथवा मस्तक को हिलाकर निषेध करना इत्यादिक शरीरक्रिया न करना यह कायलोभ विवेक है. शरीरसे द्रव्य को न उठाना यह भी कायलोभ विवेक है. यह मेरी वस्तु है, ये ग्राम घर वगैरह पदार्थ मेरे हैं. मैं इनका स्वामी हूं ऐसा वचनोचार न करना यह भी वाचालोभविवेक है. मैं किसीका स्वामी नहीं हूं. मेरी कुछ भी वस्तु नहीं ऐसा वचनोच्चार करना यह भी वाचा लोभ विवेक है. यह मेरा है ऐसी जो मोहसे उत्पन्न होनेवाली परिणति वह भावलोभ है परंतु इस परिणति को न होने देना यह भाव लोभविवेक है.

अहवा सरीरसेज्जा संथारुवहीण भत्तपाणस्स ॥
वेज्जावच्चकराण य होइ विवेगो तहा चेव ॥ १६९ ॥

सोऽथवा पंचधा शय्यासंस्तरोपधिगोचरः ॥
वैयावृत्यकराहारपानविग्रहसंश्रयः ॥ १७१ ॥

विजयोदया—अहवा अथवेति । विवेकः प्रकारांतरेणाचेयते । शरीरसेज्जासंथारुवहीणभत्तपाणस्स शरीरविवेकः । वसतिसंस्तरविवेकाद्युपकरणविवेकः, भक्तपानविवेकः । वेज्जावच्चकराण य वैयावृत्यकराणां च विवेको भवति । तहा चेव तथैव द्रव्यभावाभ्यां इति यावत् । तत्र शरीरविवेकः शरीरेण निरूप्यते । संसारिणः शरीराद्विवेकः कथमिति चेत् । शरीरेण स्वशरीरेण स्वशरीरोपद्रवापरिहरणं । शरीरं उपद्रवन्तं नरं तिर्यंचं देवं वा न हस्तेन निवारयति । मा कृथा ममोपद्रवमिति दंशमशकवृश्चिकभुजंगसारमेयादीन हस्तेन, पिच्छाद्युपकरणेन, दंडादिभिर्वा नापसारयति । छत्रपिच्छकटकप्रावरणादिना वा न शरीररक्षां करोति । शरीरपीडां मा कृथा इत्याद्यवचनं । मां पालयेति वा, शरीरमिदमन्यदचेतनं चेतन्येन सुखदुःखसंवेदनेन वाऽविशिष्टमिति वचनं वाचा विवेकः । वसतिसंस्तरयोर्विवेको नाम कायेन वसतावनासनं प्रागध्युषितायां । संस्तरे वा प्राक्तने अशयनं अनासनं । वाचा त्यजामि वसतिसंस्तरमिति वचनं । कायेनोपकरणानामनादानं, अस्थापनं क्वचिद्रक्षा च उपधिविवेकः । परित्यक्तानीमानि ज्ञानोपकरणादीनि इति वचनं वाचा उपधिविवेकः । भक्तपानयोरनशनं वा कायेन भक्तपानविवेकः । एवंभूतं भक्तं पानं वा न गृह्णामि इति वचनं वाचा भक्तपानविवेकः । वैयावृत्यकराः स्वशिष्यादयो ये ये तेषां कायेन विवेकः तैः सहासंवासः । मा कृथा वैयावृत्यं इति वचनं, मया त्यक्ता यूयमिति वचनं । सर्वत्र शरीरादौ अनुरागस्य ममेदं भावस्य वा मनसा अकरणं भावविवेकः ॥

तमेव पुनर्भंग्यंतरेणाह—

मूलारा—द्रव्यभावाभ्यामित्यर्थः । तत्र द्रव्यतस्तावत् । स्वशरीरेण स्वशरीरोपद्रवापरिहरणं शरीरविवेकः । शरीरपीडां मम मा कृथा इति मां पालयेति वा अवचनं । शरीरमिदमन्यदचेतनमित्यादि वचनं वा वाचिकः । एवं कायेन प्रागध्युषितायां वसतावनासनं संस्तरे वा प्राक्तनेऽशयनमनासनं वा । वाचा त्यजामि संस्तरमिति वचनं च शय्यासंस्तरविवेकः । कायेनोपकरणानामनादानमस्थापनं क्वचिद्रक्षा च । वाचा परित्यक्तानीमानि मयेति वचनं चोपाधिकविवेकः । भक्तपानयोरनशनमपानं च कायेन भक्तपानविवेकः । एवंभूतं भक्तं पानं च न गृह्णामि इति वचनं वाचा तद्विवेकः । सर्वत्र शरीरादौ अनुरागस्य ममेदं भावस्य वा मनसा अकरणं भावविवेकः ।

अर्थ—विवेकके दूसरे प्रकारसे भी पांच भेद हैं वे इस प्रकार-शरीरविवेक, वसतिसंस्तरविवेक, उपकरण विवेक, भक्तपानविवेक और वैयावृत्यकर विवेक इन पांच भेदोंमें प्रत्येकके द्रव्य और भाव ऐसे दो दो भेद होते हैं.

शरीरविवेक—अपने शरीरको कुछ उपद्रव होने लगा तो वह अपने शरीरसे दूर न करना, शरीरको उपद्रव देनेवाले मनुष्य, तिर्यंच अथवा देवको अपने हाथसे दूर न करना, मेरेको उपद्रव मत करो ऐसा कह कर डास

मन्छर, बिच्छु, सर्प, कुत्ते वगैरह प्राणिओंको वह हस्तसे दूर करता नहीं है. पिच्छिकादि उपकरणसे अथवा दंडादि-कोंसे हटाता नहीं है, छत्र, पिच्छिका, चटाई, प्रावरण वगैरहसे वह अपने शरीरकी रक्षा नहीं करता है. शरीरको तुम पीडा मत करो इत्यादिवचन वह कहता नहीं है. अथवा मेरा रक्षण करो ऐसा वचन वह कहता नहीं है. यह शरीर आत्मासे भिन्न है, अचेतन है, यह चैतन्यसे अथवा सुखदुःखानुभवनसे अविशिष्ट है अर्थात् रहित है यह वाचा विवेक है.

वसतिसंस्तरविवेक—जिस वसतिकामें पूर्व कालमें निवास किया था उसमें निवास न करना, पूर्व संस्तरमें-शय्यामें न सोना, अथवा न बैठना, मैं वसतिका और संस्तरका त्याग करूंगा ऐसा बोलना.

उपकरण विवेक—शरीरके द्वारा उपकरणोंको ग्रहण न करना, उनको स्थापन न करना, और उनका रक्षण न करना, यह उपधिविवेक है. मैंने ज्ञानोपकरणादिक उपकरणोंका त्याग किया है ऐसा वचन बोलना. यह वाचा उपधिविवेक है.

भक्तपान विवेक—आहार और पीनेके पदार्थ भक्षण नहीं करना यह शरीरके द्वारा भक्तपानविवेक है. इस तरहका आहार और पानी मैं ग्रहण न करूंगा, ऐसा वचन बोलना यह वाचा भक्तपानविवेक है.

वैयावृत्यकर विवेक—वैयावृत्य करनेवाले जो अपने शिष्यादिक हैं उनका शरीरसे त्याग करना अर्थात् उनके साथ सहवास छोड देना. तुम मेरी वैयावृत्य मत करो. मैंने तुह्मारा त्याग किया है ऐसा वचनके द्वारा बोलना.

सर्व शरीरादिक पदार्थोंपरसे प्रेमका त्याग करना अथवा ये मेरे हैं ऐसा भाव छोड देना यह भावविवेक है.

परिग्रहपरित्यागक्रमं उपदिशति—

सव्वत्थ दव्वपज्जयममत्तिसंगाविजडो पणिहिदप्पा ॥
णिप्पणयपेमरागो उवेज्ज सव्वत्थ समभावं ॥ १७० ॥

समस्तद्रव्यपर्यायममतासंगवर्जितः ॥
निःप्रेमस्नेहरागोऽस्ति सर्वत्र समदर्शनः ॥ १७२ ॥
इति उपधित्यागसूत्रम् ॥

विजयोदया—सव्वत्थ इत्यादिना-सर्वत्र देशे। पणिहिदप्पा प्रणिहितात्मा प्रकर्षेण निहितः निक्षिप्तः वस्तुयाथात्म्यज्ञाने आत्मा येन स प्रणिहितात्मा। दव्वपज्जयममत्तिसंगविजडो द्रव्येषु जीवपुद्गलेषु तत्पर्यायरूपेषु च ममतारूपो यः संगः परिग्रहस्तेन परित्यक्तः। प्रणयः स्नेहः, प्रेम प्रीतिः, राग आसक्तिः द्रव्यपर्यायेषु जीवद्रव्ये पुत्रदारमित्रादौ, तेषां नीरोगत्वधनवत्त्वादौ पर्याये, आत्मनो वा देवत्वे, चक्रवर्तित्वेऽहमिंद्रत्वे वा, तथा शरीरे आहारादिके भोगसाधने, तदीयरूपरसगंधस्पर्शपर्यायेषु वा, एतेभ्यः परिणामेभ्यो निर्गतो णिप्पणयपेमराग इत्युच्यते। उवेज्ज प्रतिपद्येत। समभावं समचित्ततां द्रव्ये पर्याये वा रागकोपाबंतरेण तत्स्वरूपग्रहणमात्रप्रवृत्तिर्ज्ञानता समचित्तता॥ उपधी गदा॥

परिग्रहपरित्यागक्रममुपदिशति—

मूलारा—सव्वत्थ सर्वत्र देशे। दव्व इत्यादिद्रव्येषु जीवपुद्गलेषु। तत्पर्यायेषु च यो ममतारूपः संगस्तेन विजडो परित्यक्तः। पणिहिदप्पा प्रकर्षेण निहितो निक्षिप्तो वस्तुयाथात्म्यज्ञाने आत्मा येन। णिप्पणयपेमरागो निर्गतस्नेहप्रीत्यासक्तिः। प्रकृतत्वाज्जीवद्रव्ये पुत्रादौ तत्पर्याये नीरोगत्वधनित्वादौ। आत्मनो वा देवत्वादौ। तथा शरीरे आहारादिके भोगसाधने तद्रूपरसादौ वा। उवेज्ज प्रतिपद्येत॥ उपधित्यागः सूत्रतः। ८। अंकतः ९॥

अब परिग्रहका त्याग करनेका क्रम दिखाते हैं.

अर्थ—सर्व देशमें जिसने अपने आत्माको वस्तुका सत्यस्वरूप जाननेमें एकाग्र किया है. अर्थात् जो जीवादिपदार्थोंको जाननेमें तत्पर हैं. जिसने जीव पुद्गलादिक द्रव्य और उनके देव मनुष्यादि पर्याय और स्पर्श रसादि पर्याय इनमें ममताका त्याग किया है. अर्थात् जीव पुद्गलादि द्रव्योंके पर्यायोंमें जिसने रागद्वेषरूप परिग्रहका त्याग किया है. स्नेह, प्रीति और आसक्ति इनको जिसने अपने हृदयसे निकाला है. अर्थात् जीवद्रव्य जो पुत्र, स्त्री, मित्र इनके नीरोगता, धनीपना इत्यादिमें जिसको स्नेह नहीं है, प्रीति नहीं है और आसक्ति नहीं है ऐसा साधु सर्व द्रव्य और पर्यायोंमें समचित्त होता है अथवा स्वतःके देवपना, चक्रवर्तिपना और अहमिंद्रपना इत्यादि पर्यायोंमें भी वह प्रेम, स्नेह और आसक्तिका त्याग करता है. तथा शरीरमें, आहारादिक भोगसाधनके

पदार्थोंमें उनके रूप, रस, गंध, स्पर्शादि पर्यायोंमें भी जिसने प्रेम, स्नेह और आसक्ति करना छोड दिया है ऐसा सत्पुरुष द्रव्योंमें और उनके पर्यायोंमें रागद्वेषका त्याग कर समताभावका स्वीकार करता है.

पदार्थोंको जाननेके समय रागरूप और द्वेषरूप परिणति छोडकर केवल पदार्थोंको जानना ही समता है. उपाधि नामक प्रकरण समाप्त हुआ.

परिग्रहपरित्यागादनंतरोऽधिकारः श्रितिर्नाम, एतद्व्याख्यातुकामः श्रितिशब्दस्यार्थद्वयं व्याचष्टे भावश्रितिर्द्रव्यश्रितिरिति, अप्रकृतं श्रितिशब्दार्थं निराकर्तुमिदं दर्शयितुम्—

जा उवरि उवरि गुणपडिवत्ती सा भावदो सिदी होदि ॥
दव्वसिदी णिस्सेणी सोवाणं आरुहंतस्स ॥ १७१ ॥

उपर्युपरि शुद्धेषु गुणेष्वारुह्यते यया ॥
भावश्रितिरभाष्येषा विशुद्धा जीववासना ॥ १७२ ॥
मंदिरादिषु तुंगेषु सुखेनारुह्यते यया ॥
द्रव्यश्रितिर्मता प्राज्ञैः सा सोपानादिलक्षणा ॥ १७४ ॥

विजयोदया—जा या । उवरि उवरि उपर्युपरि गुणपडिवत्ती गुणप्रतिपत्तिः । ज्ञानश्रद्धानसमानभावानां गुणानां प्रवृत्तानां उपर्युपरि गुणनात्तथाभूतानामेव प्रतिपत्तिर्या सा। भावदो भावेन । सिदी होदि श्रितिर्भवति । परिणाम सेवेति यावत् । अथ का द्रव्यश्रितिः? अस्योत्तरमाह-दव्वसिदी श्रीयते इति श्रितिः द्रव्यं च तत् श्रितिश्च सा द्रव्यश्रितिः। यदाश्रीयते द्रव्यं निश्रयणीसोपानादिकं तदपि श्रितिशब्देनोच्यते । आरुहंतस्स आरोहतः ॥

अथैनं त्यक्तद्विरंगान्तरंगसंगेन मुमुक्षुणोपर्युपरि विशुद्धपरिणामसेवा विधातव्येति गाथाषट्केनोपदेष्टुकामो भावश्रितिद्रव्यश्रितिदृष्टान्तस्फुटीकृतस्वरूपा निरूपयन्निदमाह—

मूलारा—उवरीत्यादि–ज्ञानश्रद्धानसमभावानां गुणानां प्रवृत्तानामुपर्युपरिगुणानां तथाभूतानामेव प्रतिपत्तिः परिणति । भावदो सिदी भावेन परिणामेन श्रितिः परिणामसेवेति यावत्। दव्वसिदी श्रीयत इति श्रितिः द्रव्यं च तच्छ्रितिश्च सा द्रव्यश्रितिः । आरुहन्तस्स प्रासादमिव मोक्षमारोहतश्चटत ।

'परिग्रहोंका त्याग करना' इस अधिकारके अनंतर श्रिति नामक अधिकार है इसका वर्णन करनेके प्रथम श्रिति शब्दके भावश्रिति और द्रव्य श्रिति ऐसे दो अर्थ करते हैं. श्रिति शब्दके अप्रकृत अर्थका निराकरण कर इष्टार्थ दिखानेके लिये भावश्रिति और द्रव्यश्रिति ऐसे दो प्रकार आचार्यने दिखाये हैं.

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और समानभाव अर्थात् चारित्र इन गुणोंकी गुणितरूप उत्तरोत्तर उन्नतावस्थाको प्राप्त करलेना यह भावरूप श्रिति है अर्थात् अपनेमें रत्नत्रयका दिन प्रतिदिन उत्तरोत्तर विकासही करते जाना उसको भावश्रिति कहना चाहिये. और कोई उच्चस्थानमें स्थित पदार्थ लेना चाहे तो निश्रेणी का अवलंबन लेकर एक एक सोपानपंक्ति क्रमसे जो चढना वह द्रव्यश्रिति है.

अनयो· का या गृहीतेत्यत्राह—

सल्लेहणं करेंतो सव्वं सुहसीलयं पयहिदूण ॥
भावसिदिमारुहित्ता विहरेज्ज सरीरणिव्विण्णो ॥ १७२ ॥

द्रव्यश्रितिं परित्यज्य भावश्रितिमधिश्रितः ॥
चारित्रे चेष्टतां शुद्धे त्यक्तुकामः कलेवरम् ॥ १७५ ॥

विजयोदया—सल्लेहणं सल्लेखना करेंतो कुर्वन् । सव्वं सुहसीलयं सर्वां सुखभावनां आसनशयनभोजनादिविषयां । पयहिदूण प्रकर्षेण त्यक्त्वा योगत्रयेणेति यावत् । भावसिदिमारुहित्ता श्रद्धानादिपरिणामसेवां प्रतिपद्य विहरेज्ज प्रवर्तेत । सरीरणिव्विण्णो शरीरनिस्पृहः । किमनेन शरीरेण, सुलभेनासारेण, अशुचिना, कृतघ्नेन, भारेण रोगाणामाकरेण, जरामरणप्रतिहतेन दु:खविधायिनेति ॥

प्रशमसुखरसिकेन निर्वेदमुत्त्रणयितुं भावश्रितिमाश्रित्य प्रवर्तितव्यमित्यनुशास्ति ॥

मूलारा—सुहसीलदं भोजनासनशयनादिविषयां सुखभावनां । पजहिदूण प्रकर्षेण योगत्रयेण त्यक्त्वा भावसिदिमारुहित्ता श्रद्धानादिपरिणामसेवां प्रतिपद्य । विहरेज्ज प्रवर्तेत । सरीरणिव्विण्णो किमनेन शरीरेण सुलभेन, निःसारेण, अशुचिना, कृतघ्नेन, भारेण, रोगाणामाकरेण, जरामरणप्रतिहतेन, दुःखविधायिनेति देहस्पृहानिष्क्रान्तः ।

दो श्रितिओंमेंसे प्रकृत विषयमें कोनसी श्रिति ग्रहण की है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य कहते हैं.

अर्थ—सल्लेखना करनेवाले साधुने सब सुखभानको छोडना चाहिये अर्थात् आसन, शयन और भोजन वगैरह विषयोंमें मन, वचन और शरीरसे आसक्ति का त्याग करना चाहिये. तथा श्रद्धानादिपरिणामों का आश्रय लेकर विहार करना चाहिये. अर्थात् रत्नत्रयमें हमेशा प्रवृत्त होना चाहिये. शरीरपर विरक्ति को बढाना चाहिये. यह शरीर प्रत्येक जन्ममें मिलता है इसलिये सुलभ है. निःसार है, रक्तादि अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है अतः अपवित्र है. मिष्ट पदार्थों से पुष्ट करनेपर भी यह आत्माको रोगादिसे कष्ट देता है. अतः कृतघ्न है. भारस्वरूप है, नाना प्रकारके रोगोंने इसमें अड्डा जमाया है, जरा और मरण से पीडित है और दुःखदायक है ऐसे दोषपूर्ण शरीरसे विरक्त होकर रत्नत्रयमें साधु विहार करें.

दव्वसिदिं भावसिदिं अणिओगवियाणया विजाणंता ॥
ण खु उड्ढगमणकज्जे हेट्ठिल्लपदं पसंसंति ॥ १७३ ॥
द्रव्यभावश्रितिज्ञानाः संत्युत्तरपदोद्यताः ॥
न ह्यधोऽधः प्रशंसंति पदमूर्ध्वं यियासवः ॥ १७६ ॥

विजयोदया—दव्वसिदिं भावसिदिं अणिओगवियाणया विजाणंता इत्यस्मिन्सूत्रे पदघटना। उड्ढगमणकज्जे हेट्ठिल्लपदं ण खु पसंसंति ऊर्ध्वगमने कार्ये अधोध पादनिक्षेपं नैव प्रशंसन्ति। विजाणता विशेषेण जानंतो । कां दव्वसिदिं भावसिदिं च द्रव्यभावश्रित्यो स्वरूपं उपादेयश्रितिज्ञाना इति यावत् । न केवलं श्रितिमात्रज्ञाः किंतु अणुओगवियाणया अनुयोगशब्दः सामान्यवचनोऽपि इह चरणानुयोगवृत्तिर्गृहीतस्तेनायमर्थः आचारांगज्ञाः अथवा चतुर्विधानुयोगज्ञाः श्रुतमाहात्म्यंतः न प्रशंसति। एतदुक्तं भवति—शुभपरिणामवतां तदतिशय एव प्रवर्तितव्यं, न जघन्यप्रवाहे निपतितव्यं, यतोऽतिशयितश्रुतज्ञानलोचना यतयो निंदन्ति जघन्यपरिणामान् । कुतो? मंदायमानशुभपरिणामः क्रमेण न बहलविशालकर्मतिमिरमपाकर्तुमर्हति नाशाभिमुखः प्रदीप इव अशुभपरिणामसंततेर्मूलं भवति । तेन कर्मणां स्थिति रनुभवश्च प्रकर्षमुपैति ततो व्यवस्थिता सैव दीर्घसंसारिता । समीचीनज्ञानमारुतप्रेरितः शुभपरिणामानलः प्रकुप्यमाणो विशोषितकर्मपादपस्तत्समुन्मूलयतीति ॥

ऊर्ध्वगत्यूर्ध्वमधिष्ठितशुभपरिणामस्य तदतिशय एव प्रतिपत्तिस्तत्त्वज्ञैः श्लाघ्यत इत्यावेदयति ।

मूलारा—अणिओगवियाणया अनुयोगज्ञाः । वियाणंता विशेषेण हेयोपादेयतालक्षणेन लक्षयन्तः । हिट्ठिल्लपदं अधोधःपादनिक्षेपं जघन्यतापरिणामप्रवाहपतनं च । मंदायमानशुभपरिणामो ह्यशुभपरिणामनिपतनात्कर्मणा स्थित्यनुभावौ प्रकर्षयति ।

अर्थ—द्रव्याश्रिति और भावाश्रितिको जानने वाले अनुयोगज्ञ आचार्य ऊपर जानेके लिये नीचे नीचेके स्थानमें पदनिक्षेप करना प्रशंसनीय समझते नहीं है.

भावार्थ—'अणुयोगवियाणया' इस पदमें अनुयोग शब्द सामान्यवाचक है तो भी चरणानुयोगका वाचक समझना चाहिये. अतः 'अणुयोगवियाणया' इस पदका अर्थ आचारांगके जाननेवाले विद्वान् ऐसा समझना चाहिये. अथवा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगके ज्ञाता ऐसा भी अर्थ होता है. चार अनुयोगके ज्ञाता श्रुतके माहात्म्य को जाननेवाले आचार्य ऊपर जानेके लिये नीचे नीचे पदनिक्षेप करते जाना प्रशंसनीय नहीं समझते हैं. अभिप्राय यह है कि, शुभ परिणाम युक्त साधुओंको उस परिणामोंकी वृद्धि करनेकाही प्रयत्न करना चाहिये. उत्तरोत्तर अशुभ अथवा जघन्य परिणामों के प्रवाहमें नहीं वह जाना चाहिये. उत्कृष्ट श्रुतज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करने वाले आचार्य जघन्य परिणामोंकी निंदा करते हैं.

जिसके शुभ परिणाम उत्तरोत्तर मंद हो रहे हैं वह यति क्रमसे विपुल और बडा कर्मरूपी अंधकार कैसा नष्ट करनेमें समर्थ होगा? प्रत्युत वह नाशके सम्मुख हुए दीपके समान कर्मरूप अंधकारको बढानेमें सहायकही होगा. मंद होनेवाले शुभपरिणाम अशुभ परिणामोंकी उत्पत्तिमें कारण बनते हैं. ऐसे परिणामोंसे कर्मका स्थितिबंध और अनुभागबंध पुष्ट होता है. और दीर्घ संसार में भ्रमण करना पडता है. सम्यग्ज्ञानरूपी वायुसे प्रेरा गया शुभ-परिणामरूप अग्नि जब बढता जाता है तब वह कर्मरूपी वृक्षको रसहीन बनाकर उसको धराशायी कर देता है. अर्थात् कर्मोंका नाश करता है.

श्रितेरपायस्थानपरिहाराख्यानायोत्तरगाथा—

गणिणा सह संलाओ कज्जं पइ सेसएहिं साहूहिं ॥
मोणं से मिच्छजणे भज्जं सण्णीसु सजणे य ॥ १७४ ॥

गणिनैव समं जल्पः कार्यार्थं यतिभिः परैः ॥
कुदृष्टिभिः समं मौनं शांतैस्स्वैश्च विकल्प्यते ॥ १७७ ॥

विजयोदया—गणिणा सह सावधारणमिदं गणिनेव सह। संलावो प्रश्नप्रतिवचनप्रबंधः, नान्यैःसह चिरभाषणं कार्यः। आचार्येण सह संलापः शुभपरिणामस्य हेतुरित्यनुज्ञायते। इतरे तु प्रमादिनो यत्किंचिद्ब्रुवन्तोऽशुभपरिणामं विदध्युः। कज्जं पद कार्यं स्वं प्रति। सेसगेहिं साधूहिं शेषैः साधुभिः संभाषणं कार्यं, न प्रबंधरूपा कथा कार्या। मोणं मौनमेव। से तस्य शुभपरिणामश्रेणीमारूढस्य। मिच्छजणे मिथ्यादृष्टिजने। स्वार्थं वद्धपरिकरस्य किं तेनानुपकारिणा हितोपदेशाविना। भज्जं भाज्यं विकल्प्यं मौनं। सण्णीसु मिथ्यादृष्टिष्वप्युपशांतेषु। सजणे य स्वजने च। मिथ्यादृष्टौ अस्यामवस्थायां मदीयं वचनं श्रुत्वा सम्यग्दर्शनादिकमिमे गृह्णंतीति यद्यस्ति संभावना ब्रूयाद्धर्मं न चेन्मौनमेव ॥

इदानीं शुभभावश्रितेरुपचयापचयनिमित्तप्रवृत्तिनिवृत्तिप्रतिपत्त्यर्थं आह—

मूलारा—गणिणा आचार्येणैव। संलावो प्रश्नोत्तरप्रबंधरूपा संकथा कर्तव्या। शुभपरिणामैकनिमित्तत्वात्। कज्जं पडि कार्यं स्वमुद्दिश्य। शेषसाधुभिः सह संभाषणमात्रं कार्यं न प्रबंधरूपा कथा। ते हि प्रमादितया यत्किंचिद्ब्रुवन्तोऽशुभपरिणामं विदध्युः। से तस्य शुभपरिणामश्रेणीमारूढस्य। मिच्छजणे मिथ्यादृष्टिलोके अर्थात् क्रूरे। सण्णीसु संज्ञिषु शिक्षालापोपदेशानां ग्राहकेषु मिथ्यादृष्टिष्वपि उपशान्तेषु इत्यर्थः। सजणे स्वजने ज्ञातिलोके मिथ्यादृष्टौ। अस्यामवस्थायां मम वाक्यमाकर्ण्य सम्यक्त्वादिकमिमे गृह्णान्तीति संभावना यद्यस्ति तदा धर्मं ब्रूयान्नो चेन्मौनमेव कुर्यादिति तात्पर्यं। तथा चान्ये पठन्ति—

गणिनैव समं जल्पः कार्यार्थं यतिभिः परैः।
कुदृष्टिभिः समं मौनं शांतैः स्वैश्च विकल्प्यते ॥

भावश्रितिके अपाय स्थानोंका त्याग करना चाहिये ऐसा आचार्य उत्तर गाथामें कहते हैं.

अर्थ—सल्लेखना धारण करनेवाले मुनिओंको आचार्यके साथही भाषण करना चाहिये अर्थात् प्रश्नोत्तर रूप भाषण करना चाहिये. अन्य मुनिओंके साथ बहुत कालतक भाषण करना अकल्याण करनेवाला है. आचार्यके साथ किया हुआ भाषण शुभपरिणामका हेतु होता है. इतर प्रमादी मुनि कुछभी बोलकर सल्लेखना धारकके मनमें अशुभ परिणामोंकी उत्पत्ति कर देंगे. कुछ कार्यके लिये इतर साधुओंके साथ अल्प भाषण करना चाहिये. जो मिथ्या दृष्टि है उसके साथ बोलना ही निषिद्ध है. मौन धारण करना ही श्रेयस्कर है. सल्लेखनाधारक आत्महित करना ही मुख्य

कार्य समझता है. मिथ्यादृष्टि मनुष्योंको हितोपदेशादिक यदि वह करेगा तो उससे उसका कुछ फायदा नहीं है. वह शुभपरिणामोंपर चढा हुआ है. मिथ्यात्वियोंको उपदेश देनेसे उसके स्वार्थमें क्षति पोहोंचेगी. अतः उसको मिथ्यात्वीके साथ बोलना निषिद्ध है. जो मिथ्यादृष्टि तो है परंतु मंदकषायी है ऐसे पुरुषके साथ वह बोले अथवा न भी बोले और जो स्वजन हैं उनके साथ भी वह बोले अथवा न बोले. मिथ्यादृष्टि जन जब मंदकषायी होते हैं. तब मेरा वचन सुनकर सम्यग्दर्शन अणुव्रतादिक धारण करेंगे ऐसी यदि संभावना होगी तो उनके साथ बोलना चाहिए अन्यथा न बोलना ही श्रेयस्कर होगा.

उपगतशुभपरिणामस्य प्रवृत्तिक्रममाचष्टे—

सिदिमारुहित्तु कारणपरिभुत्त उवधिमणुवाधिं सेज्जं ॥
परिकम्मादिउवहदं वज्जित्ता विहरदि विदण्हू ॥ १७५ ॥

कार्याय स्वीकृतां शय्यां विमुच्याचारपंडितः ॥
परिकर्मवर्ती वृत्ते वर्तते देहनिस्पृहः ॥ १७८ ॥

विजयोदया—सिदिमारुहित्तु शुभपरिणामश्रेणिमारुह्य । कारणभुत्त किंचित्कारणमुपदिश्य श्रुतग्रहण, परेषा वा श्रुतोपदेशः, आचार्यादिवैयावृत्त्यादिकं, वा परिभुत्त व्यवहृत । उवधिं परिग्रहमौपध अतिरिक्तज्ञानसंयमोपकरणानि वा । अणुपधिं ईषत्परिग्रह । अन्वर्थपदवृत्ति अनुदरा कन्येति यथा । कौसावनुपधिरत आह—' सेज्ज सेविज्जदि जदिणा ' इति व्युत्पत्तौ वसतिरुच्यते, तेन सेज्ज वसतिं । परिकम्मादिउवहद यतयोऽत्र वसतीति प्रमार्जनप्रलेपनादिपरिकर्मणा उपहत अयोग्य । वज्जित्ता वर्जयित्वा । विहरदि आचरति । विदण्हू क्रमज्ञ ॥

उपगतशुभपरिणामस्य प्रवृत्तिक्रममाचष्टे—

मूलारा —सिदिमारुहित्तु शुभपरिणामश्रेणिमारुह्य । कारणपरिभुत्तं कारणेन श्रुतग्रहणशिष्योपदेशाचार्यवैयावृत्त्यादिप्रयोजनेन व्यवहृतं । उवधिं परिग्रहमौपधं, अतिरिक्तपुस्तकादिकं वा । अणुवधिं सेज्जं वसतिलक्षणमीषत्परिग्रहं । परिकम्मादिउवहदं यतय उपवसन्तीति क्रियमाणेन सम्मार्जनलेपनादिसंस्कारारंभेण अयोग्यं । विहरदि तपश्चरति । विदण्हू क्रमज्ञः ।

शुभपरिणामयुक्त सत्पुरुषका आचरण क्रम दिखाते हैं—

अर्थ—शुभ परिणामरूप नसैनीपर चढकर आचरण का क्रम जाननेवाले साधु शास्त्र पढना, दूसरोंको शास्त्रोपदेश देना, आचार्योंका वैयावृत्य करना इत्यादि कारणोंके उद्देश्यसे जो परिग्रह संगृहीत किया था अथवा औषध व तदतिरिक्त ज्ञानोपकरण और संयमोपकरण संगृहित किया था उसका त्यागकर विहार करे तथा जो ईषत्परिग्रह अर्थात् वसतिकाकाभी त्याग करे. इसमें यति निवास करेंगे इस हेतुसे झाडकर स्वच्छ करना लेपना वगैरह क्रियाओंसे जो दूषित है उस वसतिकाको भी वह मुनि त्याग कर विहार करता है अर्थात् तपश्चरण करता है.

श्रित्यनंतरं किं करोतीत्यत्राह—

तो पच्छिमंमि काले वीरपुरिससेवियं परमघोरं ॥
भत्तं परिजाणंतो उवेदि अब्भुज्जदविहारं ॥ १७८ ॥

दुश्चरं पश्चिमे काले भक्तत्यागं सिषेविषुः ॥
धीरैर्निषेवितं बाढं चतुरंगे प्रवर्तते ॥ १७९ ॥

इति श्रितिसूत्रम् ॥

विजयोदया—तो तस्याः श्रितेः। पच्छिमंमि काले पश्चिमे काले। वीरपुरुससेवियं वीरैः पुरुषैराचरितं। परमघोरं अतिदुष्करं। भत्त परिजाणंतो आहारं परित्यक्तुकामः। उवेदि उपैति। किं अब्भुज्जदविहारं सम्यग्दर्शनादिपरिणामादि मुख्ये उद्यत॥ सीदी॥

एवंविधश्रित्यनंतरं किं करोतीत्यत्राह—

मूलारा—तो तस्याः। परिजाणंतो परित्यक्तुकामः। आहारं त्यजन्नित्यर्थः। उवेदि आश्रयति। अब्भुज्जदविहारं रत्नत्रयाभिमुख्येनोद्युक्तमाचरणं॥ श्रितिः। सूत्रतः ९। अंकतः ६॥

श्रितीके अनंतर साधु कोनसी क्रिया करते हैं इसका वर्णन करते हैं.

अर्थ—उस श्रितीके अनंतर अंतकालमें वीरपुरुषोंके द्वारा आचरण किया गया, अतिशय दुष्कर ऐसे आहार का त्याग करने की इच्छा करनेवाला मुनि सम्यग्दर्शनादिपरिणामोंमें उद्युक्त होता है.

कीदृगसावभ्युद्यतो विहार इत्यत्राचष्टे—

इत्तिरियं सव्वगणं विधिणा वित्तिरिय अणुदिसाए दु ॥
जहिदूण संकिलेसं भावेइ असंकिलेसेण ॥ १७७ ॥

समर्प्यानुदिशं सर्वं गणं संक्लेशवर्जितः ॥
कियंतं कालमात्मानं गणी भावयते तराम् ॥ १८० ॥

विजयोदया—इत्तिरियं कियतः कालस्य । सव्वगणं संयतानां, आर्यिकाणां, श्रावकाणां, इतरासां च समितिं । वित्तिरिय दत्वा । कथं विधिणा विधिना । कथं सर्वस्य गणस्य मध्ये तं व्यवस्थाप्य स्वयं बहिः स्थित्वा 'एष निरतिचाररत्नत्रयः आत्मानं युष्मानपि समर्थः संसारसागरादुद्धर्तुं, अनुज्ञातश्च मया सूरिरयमिति तत एतदुपदेशानुसारेण भवद्भिः प्रवर्तितव्यं इति । अणुदिसाए दु अनुपश्चादर्थे दिशिर्विधाने गुरोःपश्चाद्दिशति विधत्ते चरणक्रमं यः सोभिधीयते अणुदिसाशब्देन । जहिऊण त्यक्त्वा । संकिलेसं संक्लेशं परोपकारसंपादनायासं । भावेइ भावयति । असंकिलेसेण न विद्यते संक्लेशोऽस्मिन्नित्यसंक्लेशः शुभपरिणामस्तेन भावयति वासयति आत्मानं ॥

अथ कीदृगसावभ्युद्यतो विहार इत्यत्र प्रश्ने पंचविंशत्या गाथाभिरुत्तरयति ।

मूलारा—इत्तिरियं स्तोककालं । वित्तिरिय दत्वा । अणुदिसाएदु । जहिदूण संकिलेसं भावेदि असंकिलेसेण । अनुगुरोः पश्चाद्दिशति विधत्ते चरणक्रममित्यनुदिक् एलाचार्यस्तस्मै विधिना । सर्वस्य गणस्य मध्ये तं व्यवस्थाप्य स्वयं बहि स्थित्वा एष निरतिचाररत्नत्रयत्वादात्मानं युष्मांश्च संसारसागरादुद्धर्तुं समर्थोऽनुज्ञातश्च मया ततः सूरिरयं इति मन्यमानैरेतदुपदेशानुसारेण भवद्भिः प्रवर्तितव्यमिति समर्पणक्रमेण सर्वगणं दत्वेति संबंधः । तथा चोक्तं—

आहूय गणं विधिना दत्वा प्रतिसूरये नियतकालम् ॥
संक्लिष्टां त्यक्त्वासावक्लिष्टां भावनां भजते ॥

संकिलेसं परोपकारकरणायासं । भावेदि वासयत्यात्मानं सल्लेखनोद्यत इति शेषः । असंकिलेसेण नास्ति संक्लेशो वक्ष्यमाणज्ञानादिविषयमायावित्वादिदेवदुर्गतिनिमित्तात्मपरिणामो यस्मिंस्तेन शुभपरिणामेन ।

जिसमें सल्लेखनाकी इच्छा करनेवाला उद्युक्त होता है वह विहार कैसा है इसका आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—गुरुके पश्चात् जो मुनि चरित्रका क्रम मुनि और आर्यिकादिकोंको कहता है उसको अनुदिश अर्थात् एलाचार्य कहते हैं. कुछ कालके अनंतर मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका ऐसे चतुर्विध संघको बुलाकर

संघके मध्यमें उसको बिठाकर स्वयं संघके बाहर खडे होकर यह एलाचार्य निरतिचाररत्नत्रय पालते हैं. निजका और तुम्हारा भी संसारसमुद्रसे उद्धार करनेमें समर्थ हैं. ये अब तुम्हारे आचार्य गुरु है ऐसी मेरी सम्मति है. इस लिये इनकी आज्ञाके अनुसार ही आपकी प्रवृत्ति होनी चाहिये इतना बोलकर चतुर्विध संघका भार एलाचार्यके मस्तकपर अर्पण करना चाहिये. तदनंतर दुसरोंके ऊपर उपकार करनेका आयास छोडना चाहिये और शुभपरिणामोंसे अपने आत्माको संस्कृत करना चाहिये.

त्यक्तव्यसंक्लेशभावनाविकल्पस्याख्यानायाचष्टे—

जावंतु केइ संगा उदीरया होंति रागदोसाणं ॥
ते वज्जितो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो ॥ १७८ ॥
कंदप्पदेवखिब्भिस अभिओगा आसुरी य सम्मोहा ॥
एदा हु संकिलिट्ठा पंचविहा भावणा भणिदा ॥ १७९ ॥
कांदर्पी कैल्बिषी प्राज्ञैराभियोग्यासुरी सदा ॥
साम्मोही पंचमी हेया संक्लिष्टा भावना ध्रुवम् ॥ १८१ ॥

विजयोदया—कंदप्प इत्यादिना गतिकर्म चतुर्विधं नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिरित्यत्र देवगतिर्नैकप्रकारा असुरदेवगतिनागदेवगत्यादिप्रपंचेन । कंदर्पदेवगतेः, किल्बिषदेवगतेराभियोग्यदेवगतेः, असुरदेवगतेः, सम्मोहदेवगतेश्च कारणभूताः आत्मपरिणामाः । कारणेन कार्योपचारोऽन्नप्राणवत् । यथान्नं वै प्राणाः इति । प्राणकारणेऽन्ने प्राणोपचारः । कार्यगतेन व्यपदेशेन कंदर्पशब्देनोच्यते कंदर्पभावना । किल्बिषभावना, अभियोग्यभावना, असुरभावना, सम्मोहभावनाश्चेति पंचप्रकारा भावना निरूपिताः सर्वविद्भिः ।

अन्येयं गाथा मूले श्रूयते ।

मूलारा—एतां टीकाकारो नेच्छति।

त्यक्तव्यसंक्लेशभावनाविकल्पानुदेष्टुमाह—

मूलारा—कंदप्पेत्यादि । अत्र कंदर्पादिदेवगतीनां कारणभूता आत्मपरिणामविशेषाः कंदर्पादिशब्दैर्निर्दिष्टाः ।

कार्ये कारणोपचारात्। तेन कंदर्पभावना, किल्बिषभावना, अभियोग्यभावना, असुरभावना सम्मोहभावना चेति ग्राह्यं। अन्ये तु तद्धितादिमुखेन व्युत्पाद्य ताः पठन्ति यथा—

कादर्पी कैल्बिषी चैव भावना चाभियोगजा।
दानवी चाभिसंमोहा त्याज्या पंचतयी च सा॥
इत्थं वा-कादर्पी कैल्बिषी याज्ञैराभियोग्यासुरी तथा।
सामोही पंचमी हेया संक्लिष्टा भावना ध्रुवम्॥

संक्लेशको उत्पन्न करनेवाली भावनाओंके विकल्प कहते हैं—

अर्थ—जगतमें परिग्रहही रागद्वेषादिकोंको उत्पन्न करते हैं इस लिये परिग्रहोंका त्यागकर निःस्पृह होकर रागद्वेषोंको जीतना चाहिये.

गतिकर्मके नरगति, तिर्यंचगति देवगति और मनुष्यगति ऐसे चार भेद हैं. देवगतिके असुरदेवगति, नागदेव गति वगैरह अनेक प्रकार हैं. कंदर्पदेवगति, किल्बिषदेवगति, अभियोगदेवगति, असुरदेवगति और सम्मेह देवगति इनके प्रति कारणरूप जो संक्लेश परिणाम उनको भी कंदर्प्पभावना किल्बिषभावना ऐसे नाम हैं. अन्न कारण है और प्राण कार्य है इसलिए प्राणके कारण भूत अन्नमें कार्योपचारसे प्राण व्यवहार होता है वैसे किल्बिषादि देवगतिकी प्राप्ति कर देनेमें जो संक्लेश परिणाम है, उनमें भी कार्योपचार करके कदर्पभावना, किल्बिष-भावना इत्यादि नामोंका व्यवहार सज्जन करते हैं.

तत्र कंदर्पभावनानिरूपणायोत्तरगाथा—

कंदप्पकुक्कुआइय चलसीला णिच्चहासणकहो य॥
विब्भाविंतो य परं कंदप्पं भावणं कुणइ॥ १८०॥
हास्यकांदर्पकौत्कुच्यपरविस्मयकोविदः॥
कांदर्पी भावनां दीनो भजते लोलमानसः॥ १८२॥

विजयोदया—कंदप्पकुक्कुआइयचलसीलो रागोद्रेकात्प्रहाससम्मिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कंदर्पः । रागातिशयवतो हसतः परमुद्दिश्याशिष्टकायप्रयोगः कौत्कुच्यं । एवं भवतो मातरं करोमीति कंदर्पकौत्कुच्याभ्यां चलसीलः णिच्चहासणकहो य सदा हास्यकथाकथनोद्यतः । विम्भावितो य परं परं विस्मापयन् कुतुकं किंचिदुपदर्श्य । कंदप्पं भावणं कुणदि कंदर्पभावनां करोति । रागोद्रेकजनितहासप्रवर्तितो वाग्योगः काययोगः परविस्मयकारी वा कंदर्पभावनेत्युच्यते । असकृत्प्रवर्तमानः ।

तत्र कांदर्पी निर्दिशति—

मूलारा—कंदप्पकुक्कुआइववयसीलो कंदर्पकुत्कुचायितद्वयशीलः । रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कंदर्पः । रागातिशयवतो हसतः परमुद्दिश्यैवं तव मातरं करोमि इति अशिष्टकार्यं प्रकुत्कुचायितं । कौत्कुच्यमिति यावत् अव्यक्तकंठस्वरकरणमवशिष्टांगावयवचालनं वेति केचित् । तद्द्वयं शीलयति पुनः पुनः प्रवर्तयति । णिच्चहासणकहो सदा हास्यकथाकथनोद्यतः । विंभावितो मंत्रेंद्रजालादिकुहकप्रदर्शनेन विस्मयं नयन् ।

कंदर्प भावनानिरूपण—

अर्थ—प्रीतिकी उत्कटतासे हास्यसहित असभ्य वचन बोलना, संक्लवचन बोलना वह कंदर्पवचन है. रागकी आधिक्यतासे—अतिशयरागवश होकर हसकर दुसरोंको उद्देश कर शरीरके असभ्य अभिनयके साथ असभ्य वचनोच्चार करना यह कौत्कुच्य है. जैसे तेरी माताके साथ मैं बुरा कार्य करूंगा ऐसा वचन बोलना. इन दो प्रकारके वचनका जो वारंवार प्रयोग करते हैं वे चलशील समझना चाहिए. जो मंत्र, इंद्रजालादि कौतुक दिखाकर लोगोंको आश्चर्य उत्पन्न करते हैं. जो हमेशा हास्य उत्पन्न हो ऐसी कथायें कहनेमें उद्युक्त रहते हैं. वे मुनि कदर्पभावना करते हैं ऐसा समझना चाहिए.

किल्विषभावनाख्यानायाचष्टे—

णाणस्स केवलीणं धम्मस्साइरिय सव्वसाहूणं ॥
माइय अवण्णवादी खिब्भिसियं भावणं कुणइ ॥ १८१ ॥
सर्वज्ञशासनज्ञानधर्माचार्यतपस्विनाम् ॥
निंदापरायणो मायी कैल्विषीं भयतेऽधमः ॥ १८३ ॥

विजयोदया—णाणस्स इत्यादिकं । माई अवण्णवादी इत्येताभ्यां प्रत्येकं संबंधनीयम् । ज्ञानमिह श्रुतं परिगृहीत श्रुतज्ञानविषया माया यस्य विद्यते स ज्ञानसंबंधी मायावान् । ज्ञानभक्तिरहितो बाह्यविनयवृत्तिः । केवलिण केवलिन्यादरवानिव यो वर्तते । तदर्चनायां तु मनसा तु न रोचते । स केवलिना मायावान् । धर्मश्चारित्रं तत्र मायया प्रवृत्त । आचार्याणा साधूनां च वंचक. । रिशिमसभाषण किल्विषभावना । कुणइ करोति ।

मूलारा—णाणस्स श्रुतज्ञानस्य, धम्मस्स चारित्रस्य । माई ज्ञानादिसंबंधित्वेन मायावान् । तत्र श्रुतज्ञानभक्तिरहितः सूत्रबाह्यविनयवृत्तिश्च ज्ञानमायी । तथा केवलिष्वादरवानिव यो वर्तते तत्पूजायां मनसा तु न तां रोचते असौ केवलिमायी । चारित्रानुष्ठानेषु बाह्यवृत्त्या सुवरा वतते मनसा तु तृणायापि न मन्यते योऽसौ धर्ममायी । आचार्यादीनां वंचकत्वं तन्मायी । अवण्णवाई श्रुतज्ञानादिषु असद्भूतदोषोद्भावकः ।

किल्विष भावनाका वर्णन —

अर्थ—श्रुतज्ञानमें कपट करनेवाला अर्थात् ज्ञानमें जिसको प्रेम नहीं है परन्तु ऊपरसे विनय करनेवाला वह ज्ञानविषयक मायावी है. केवलीओंके ऊपर मानो आदर दिखानेवाला परन्तु मनमें उनकी पूजा करना जिसको पसंत नहीं है. इसलिए उसको केवलिविषयक मायावी कहते हैं. चारित्र को धर्म कहते हैं इस धर्मकी मैं अतिशय भक्ति कर रहा हूं. उसका आचरण मनसे करता हूं ऐसा लोगोंको दिखाता हैं परंतु अन्तरंगमें वह चरित्रको तिनकेके बराबरीका भी मानने को तैयार रहता नहीं वह धर्ममायावी है. आचार्य, उपाध्याय और साधुपरमेष्ठी को फसानेवाला उनमें दोष न होते हुये भी उनका आरोपण करनेवाला उसको आचार्यादिमायावी और अवर्णवादी कहते हैं. ऐसे अशुभविचारों से मुनि किल्विष जातिके देवोंमें जन्म लेते हैं. ये देव इंद्रकी सभामें जा नहीं सकते हैं. इनको बाहर ही रहना पडता है.

अभियोग्यभावना निरूपयत्युत्तरगाथा—

मंताभिओगकोदुगभूदीयम्मं पउंजदे जो दु ॥
इड्ढिरससादहेदुं अभिओगं भावणं कुणइ ॥ १८२ ॥

मंत्रकौतुकतात्पर्यभूतिकर्मौषधादिकम् ॥
कुर्वाणो गौरवाद्यर्थमाभियोगीमुपैति ताम् ॥ १८४ ॥

विजयोदया—मंताभिओगकोदुगभूईकम्मं-मंत्राभियोगक्रियां, कुतूहलोपदर्शनक्रियां, बालादीनां रक्षार्थं भूतिकर्म च । पयुंजदे करोति यः । अभियोगं भावणं कुणइ । अभियोग्यां भावनां करोति । किं सर्व एव मंत्राभियोगादौ प्रवृत्तो नेत्याह । इड्ढिरससादहेदुं मंताभियोगकोदुगभूईकम्मं जो पउंजदे सो अभियोगभावणं कुणइ ॥ द्रव्यलाभस्य, मृष्टाशनस्य, सुखस्य वा हेतुं मंत्राद्यभियोगकर्म प्रयुंक्ते यः स एव अभियोग्यभावनां करोति । तेन यः स्वस्य परस्य वा आयुरादिपरिज्ञानार्थं मंत्राभियोगं कुर्वन्, धर्मप्रभावनार्थं कौतुकं उपदर्शयन्, वैयावृत्यं वा प्रवर्तयामीति उद्यतः, ज्ञानदर्शन चारित्रपरिणामादरवर्तनान्न दुष्यतीति भावः ।

आभियोगं लक्षयति—

मूलारा—मंत्राभियोगं कुमार्यादिपात्रे भूतावेशकरणं । कोदुग अकालवृष्ट्यादिकौतुहलोपदर्शनं, वशीकरणादिकं वा । भूदीकम्मं बालादीनां रक्षार्थं भूतिकर्म भूतिक्रीडनकम वा । इड्ढरससादहेदुं द्रव्यलाभमृष्टाहारसुखनिमित्तं । न पुनरायुरादिपरिज्ञानधर्मप्रभावनावैयावृत्त्यार्थं मंत्रादिप्रयोगं कुर्वन् रत्नत्रयादरवत्तया दुष्यतीति भावः ॥

आभियोग्य भावना का वर्णन—

अर्थ—कुमारी वगैरहमें भूतका आवेश उत्पन्न करना, अकालमें जलवृष्टि करके दिखाना ऐसे ही आश्चर्य कारक प्रयोग करना जैसे अमावास्याके दिन आकाश में लोगों को चंद्र दिखाना इत्यादि, किसी स्त्री या पुरुषको वश करना, उच्चाटन करना इत्यादि, बालकादिकोंका रक्षण करने के लिये भूतिकर्म मंत्रप्रयोग करना अथवा भूतों की क्रीडा दिखाना ये सब क्रियायें यदि अपना ऐश्वर्य दिखानेके लिये, अथवा संपदा दिखानेके लिये, मिष्टाहारके लिये, किंवा इंद्रिय जनित सुखके लिये यदि मुनि करेगा तो उसकी यह आभियोग्य भावना कही जायगी. इस भावना के प्रभाव से जीवका जन्मवाहन जाती के देवोंमें हो जाता है. यदि कोई मुनि निजकी अथवा दुसरों की आयु वगैरे जाननके लिये मंत्रप्रयोग करेगा, धर्मप्रभावनाके लिये यदि वह कौतुककारक अकाल वृष्ट्यादिक दिखावेगा अथवा इन मंत्रादिकोंसे मैं मुनिका वैयावृत्त्य करूंगा ऐसा अभिप्राय मनमें धारण कर यदि वह कौतुकादि करेगा तो दर्शन, ज्ञान चारित्र परिणामोंमें आदरसे प्रवृत्ति करनेवाला होनेसे दूषणीय नहीं है.

चतुर्थी भावनां वक्ति—

अणुबंधरोसविग्गहसंसत्ततवो णिमित्तपडिसेवी ॥

णिक्किवणिराणुतावी आसुरिअं भावणं कुणदि ॥ १८३ ॥

निष्कृपो निरनुक्रोशः प्रवृत्तक्रोधविग्रहः ॥

निमित्तसेवको धत्ते भावनामासुरीं यतिः ॥ १८५ ॥

विजयोदया-अणुबंधरोसविग्गहसंसत्ततवो णिमित्तपडिसेवी। रोषश्च विग्रहश्च रोषविग्रहौ अनुबंधेन रोषविग्रहौ अनुबंधरोषविग्रहौ अनुबंधरोषविग्रहाभ्यां संसक्तं संबद्धं अनुबंधरोषविग्रहसंसक्तं तपो यस्य स तथोक्तः। निमित्ताजीवी च यः स आसुरीभावनां करोति इति केचित्कथयंति। अनुबद्धो भवांतरानुयायी रोषो यस्य सोऽनुबंधरोषः। विग्रहेण कलहेन संसक्तं तपो यस्य सः विग्रहसंसक्ततपःशब्देन भण्यते। अनुबद्धौ रोषविग्रहौ अस्येत्यनुबद्धरोषविग्रहः। सम्यगतीवसंसक्तं संबद्धं परिग्रहेण तपो यस्य स संसक्ततपोऽभिलापवाच्यः। णिक्किवणिराणुतावी यः निर्दयः प्राणिषु, कृत्वापि परपीडां अनुतापरहितश्चासुरीं भावनां करोति।

आसुरीं व्याहरति—

मूलारा—अणुबद्धरोसविग्गहसंसत्ततवोणिमित्तपडिसेवी णिक्किवणिराणुतावी आसुरियं। अनुबद्धरोषविग्रहाभ्यां नित्यप्रवृत्तक्रोधकलहाभ्यां संसक्त संयुक्त तपो यस्य स तथाभूततपाः। अथवा अनुबद्धरोषो भवांतरानुयायी क्रोधः। विग्रहसंयुक्ततपाः कलहसंयुक्ततपाः। यदि वा अनुबद्धरोषविग्रहश्चासौ संसक्ततपाश्चेति ग्राह्यं। संसक्त सम्यगतीव सक्तं परिग्रहेण संबद्धं तपो यस्येति विग्रहः। णिमित्तपडिसेवी। ज्योतिषाद्याजीवी। णिक्किव निर्दयः। णिराणुतावी कृत्वापि परपीडां पश्चात्तापमकुर्वन्।

चतुर्थ भावना—आसुरी भावनाका वर्णन—

अर्थ—जिसका कोप अन्य भवमें भी गमन करनेवाला है और कलह करना जिसका स्वभाव बन गया है वह मुनि रोष और कलहके साथ ही तप करता है ऐसे तपसे उसको असुरगतिकी प्राप्ति होती है. जिसका तप परिग्रहके साथ रहता है अर्थात् तप करता हुआ भी परिग्रहोंपर जिसका मोह रहता है, जो निर्दय स्वभावी है, प्राणीओंको दुःख देकर भी जिसके अन्तःकरणमें पश्चात्ताप उत्पन्न होता नहीं है ऐसा साधु असुरगतिमें उत्पन्न होता है. ज्योतिष, सामुद्रिक वगैरे कहकर जो मुनि आहारादिककी प्राप्ति कर लेता है वह असुरगतीको जाता है.

संमोहभावना निरूप्यते—

उम्मग्गदेसणो मग्गदूसणो मग्गविप्पडिवणी य ॥
मोहेण य मोहिंतो संमोहं भावणं कुणइ ॥ १८४ ॥

उन्मार्गदेशको मार्गदूषको मार्गनाशकः ॥
मोहेन मोहयंल्लोकं साम्मोही तां प्रपद्यते ॥ १८६ ॥

विजयोदया—उम्मग्गदेसणं मिथ्यादर्शनं, अविरतिं, वा य उपदिशति, आप्ताभासानागमांस्तत्प्रणीतांश्च हितत्वेनाचष्टे । यो वा तत्त्वज्ञो हिंसादिकं कुर्वन्नपि न पापेन लिप्यते । ज्ञानं हि सर्वं पापं दहति इति प्रतिपादयता हिंसादिभ्यो भयं निराकुर्वता हिंसादिषु जीवाः प्रवर्तिता भवन्ति । स एकः उन्मार्गस्योपदेष्टा । यज्ञे प्राणिवधो न पापाय शास्त्रचोदितत्वाद्दानादिवत् । किं च पशवो हि यागार्थमेवादौ सृष्टा याजका यजमानाः पशवश्च मंत्रमाहात्म्यात्स्वर्गं लभंते इति । अयमेकः उन्मार्गोपदेशः। मग्गदूसणो संवरस्य निर्जरायाश्च निरवशेषकर्मापायस्य वा हेतुभूताः समीचीनज्ञानदर्शनपरिणामः मार्ग इति उच्यते । अव्याबाधसुखस्य परंपराकारणत्वाच्च । तस्य मार्गस्य दूषणं नाम ज्ञानादेव मोक्षः किं दर्शनचारित्राभ्यां ? चारित्रमेवोपायः किं ज्ञानेनेति कथयन्मार्गस्य दूषको भवति । अथवा मार्गप्रत्यायनपरं श्रुतं मार्गस्तस्य दूषको यो अपव्याख्यानकारी । मग्गविप्पडिवणी य मार्गे रत्नत्रयात्मके विप्रतिपन्नः एष न मुक्तेर्मार्ग इति यस्तद्विरुद्धाचरणः । मोहेण य अज्ञानेन च संशयविपर्यासरूपेण । मुज्झन्तो मुह्यन् । सम्मोहेसु तीव्रकामरागेषु कुत्सितेषु देवेषु उपपद्यते।

सांमोहीमाह—

मूलारा—उम्मग्गदेसणा मिथ्यात्वसंयमोपदेशः । मग्गणदूसणा मार्गस्य रत्नत्रयस्य दूषणा । ज्ञानादेव मोक्षः किं दर्शनचारित्राभ्यां ? चारित्रमेव मोक्षः किं ज्ञानेनेत्यादि विरुद्धभाषणं । अथवा मार्गप्रत्यायनपरं श्रुतं मार्गस्तस्य दूषणमपव्याख्यानमिति ग्राह्यम् । णाणदूसणेति पाठेऽपि इयं व्याख्या,उन्मार्गदेशनायोगाद्यतिरपि तथोक्त एवं मार्गदूषणायोगोऽत्र अथवा उम्मग्गदेसगो मग्गदूसगो इतिपाठः । मग्गविप्पडिवन्नो रत्नत्रयविप्रतिपन्नः । एष न मुक्तेर्मार्ग इति तद्विरुद्धचरणः॥ मोहेण संशयविपर्ययरूपेणाज्ञानेन ।

सम्मोह भावनाका निरूपण—

अर्थ—जो मिथ्यादर्शन और अविरतिका उपदेश करता है, हरिहरादिक और उनसे बनाये हुए कुशास्त्र ये प्राणिओंको हितमार्ग दिखाते हैं ऐसा जो कहता है. तत्वज्ञ पुरुष हिंसादिक कार्य करनेसे भी पापसे लिप्त

नहीं होता है. उसको पापसे दुर्गतिकी प्राप्ति होती नहीं है. क्योंकि उसका ज्ञान समस्त पापको नष्ट करता है. इस रीतीका विवेचन करके जो हिंसादि पापोंसे निर्भीक बना कर उसमें प्रवृत्त करता है वह सम्मोहभावना भाता है ऐसा समझना चाहिये. यह एक उन्मार्गका उपदेशक है. और भी उन्मार्ग उपदेशका विवेचन करते हैं— शास्त्रमें आहारादिक दान पात्रको देना चाहिये ऐसा उपदेश है, यह दान जैसे पापका कारण नहीं है वैसे यज्ञमें प्राणिओंकी हिंसा करनेपर भी वह पापके लिये नहीं है. क्यों कि शास्त्रमें प्राणिओंका यज्ञ करनेका विधान है. यज्ञके लियेहि पशु ब्रह्मदेवने उत्पन्न किये हैं. यज्ञ करनेवाला, यज्ञ करानेवाला और पशु ये सब मंत्रोंके माहात्म्यसे स्वर्ग को जाते हैं यह भी उन्मार्गोपदेश है. ऐसे उपदेशसे सम्मोही देवोंमें जन्म मिलता है. संवर, निर्जरा व सपूर्ण कर्मोका नाश करनेके लिये आत्माके सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और चारित्र शरण हैं. इनको आचार्य मार्ग कहते हैं. इस मार्गसे परंपरासे अव्याबाध–अर्थात् दुःख रहित अनंत सुख मिलता है. परंतु ऐसे सच्चे मार्गको जो दूषण लगाता है वह मार्गदूषक है. रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग जो भव्योंको दिखाता है वह श्रुतज्ञान मार्ग है. उस मार्गरूप श्रुतज्ञानमें जो दूषण लगाता है अर्थात् उसकी विरुद्ध व्याख्या करता है. वह जीव सम्मोही देवोंमें उत्पन्न होता है. रत्नत्रयही मुक्तिका मार्ग है परंतु उसके विरुद्ध जो आचरण करता है तथा संशय, विपर्यय व अनध्यवसायात्मक ज्ञानसे जो पदार्थके सच्चे स्वरूपको पहचानता नहीं है. वह मोहित होकर जिनमें कामविकार और रागभावकी तीव्रता है ऐसे कुत्सित देवोंमें उत्पन्न होता है.

भावनानां फलं दर्शयति भयोपजननाय—

एदाहिं भावणाहिं य विराधओ देवदुग्गदिं लहइ ॥
तत्तो चुदो समाणो भमिहिदि भवसागरमणंतं ॥ १८५ ॥

रत्नत्रयं विराध्याभिर्भावनाभिर्दिवं गतः ॥
भीषणे भवकांतारे चिरं बंभ्रम्यते च्युतः ॥ १८७ ॥

विजयोदया—एदाहिं भावणाहिं य एताभिः भावनाभिः । देवदुग्गइं लहदि देवेषु कुत्सा या गतिस्तां गच्छति । विराधगो रत्नत्रयाच्च्युतः । तत्तो चुदो समाणो तस्या देवदुर्गतेश्च्युतः सन् । भमिहिदि भ्रमिष्यति भवसागरमंतातीतं ।

कंदर्पादिभावनानां स्वरूपं निरूप्य संवेगोत्पादनाय तत्फलं दर्शयति—

मूलारा—विराधगो रत्नत्रयच्युतः । समाणो समानः सन् ।

भय उत्पन्न होवे इस वास्ते इन भावनाओंका फल दिखाते हैं—

अर्थ— इन भावनाओंसे मुनि रत्नत्रयसे भ्रष्ट होकर देवोंमें जो कुगति हैं उनको प्राप्त होते हैं. उन देवदुर्गतीसे भी च्युत होकर अनंत भवसागरमें वे भ्रमण करेंगे. तात्पर्य—कांदर्पी वगैरह भावनाओंसे कुदेवपना और अनंत संसारमें भ्रमण प्राप्त होता है.

एदाओ पंच वज्जिय इणमो छट्ठीए विहरदे धीरो ॥
पंचसमिदो तिगुत्तो णिस्संगो सव्वसंगेसु ॥ १८६ ॥

पंचेति भावनास्त्यक्त्वा संक्लिष्टः समितो यतिः ॥
षष्ठ्यां प्रवर्तते गुप्तः संविग्नः संगवर्जितः ॥ १८८ ॥

विजयोदया—एदाओ पंच वज्जिय एताः पंच भावनाः परित्यज्य । इणमो अयं यतिः धीरः । छट्ठीए षष्ठ्या भावनया । विहरदे प्रवर्तते । षष्ठ्यां भावनायां प्रवर्तितुं एवंभूतो योग्यः इत्याचष्टे—पंचसमिदो समितिपंचकवृत्तिः । तिगुत्तो गुप्तित्रयालंकृतः । णिस्संगो संगरहितः । सव्वसंगेसु सर्वपरिग्रहेषु ॥

ताः पंच त्यक्त्वा षष्ठ्या यादृक् प्रवर्तते तामाचष्टे—

मूलारा—इणमो अयं यतिः । छट्ठीए, षष्ठ्या असंक्लिष्टभावनया । विहरदे प्रवर्तते । णिस्संगो आसक्तिमुक्तः ।

अर्थ—इन पांच भावनाओंका त्यागकर जो धीर मुनि पांच समिति और तीन गुप्तिओंका पालनकर संपूर्ण परिग्रहोंमें निःस्पृह रहते हैं वेही छट्ठी भावनाके आश्रयसे रत्नत्रयमें प्रवृत्त होते हैं.

का सा षष्ठीभावना ? अत्राचष्टे—

तवभावणा य सुदसत्तभावणेगत्तभावणे चेव ॥
धिदिबलविभावणाविय असंकिलिट्ठावि पंचविहा ॥ १८७ ॥

असंक्लिष्टतपःशास्त्रसत्वैकत्वधृतिश्रिता ॥
पंचधा भावना भाव्या भवभ्रमणभीरुणा ॥ १८९ ॥

विजयोदया—तवभावणा तपसोऽभ्यासः । सुदभावणा ज्ञानस्य भावना । सत्तभावणा अभीरुत्वभावना । एगत्तभावणा एकत्वभावना । धिदिबलविभाविणावि य धृतिबलभावना चेति । असंकिलिट्ठावि पंचविधा असंक्लिष्टा भावनाः पंचप्रकाराः । ननु च ताः पंचभावनास्तत्र किमुच्यते ' छट्ठी य भावणा चेति ' असंक्लिष्टभावनात्वसामान्यापेक्षया एकतामारोप्य षष्ठीत्युच्यते । विशेषरूपापेक्षया तपोभावनादिविवेकः । अत एव सूत्रकारोऽपि एकतां दर्शयति ' असंकिलिट्ठा वि पंचविहा ' इति ।

असंक्लिष्टभावनाविकल्पानुद्दिशति—

मूलारा—सत्त अभीरुत्वं । धिदियलिद्भावणा । धृतिः परमप्रसत्तिस्तस्या भावनाभ्यासः ।

छट्ठी भावनाका वर्णन करते हैं—

अर्थ—तपका अभ्यास करना, ज्ञानका अभ्यास करना, निर्भयपनाका अभ्यास करना. मैं अकेलाही हूं ऐसा एकपनेका अभ्यास करना और धृतिबल भावना ऐसी पांच असंक्लिष्ट भावनायें हैं. इस गाथामें पांच भावना ओंका उल्लेख किया है तथापि छठी भावनासे वीर मुनि रत्नत्रयमें विहार करते है ऐसा ऊपरकी गाथामें कहा है यह विरुद्ध दीखता है. उत्तर—इन पांचो भावनाओंमें असंक्लिष्टपना है इस असंक्लिष्टत्व सामान्यकी अपेक्षासे इन पांचो भावना ओंमे एकपनाको आरोपित कर संक्लिष्ट पांच भावनाओं की अपेक्षासे यह भिन्न होनेसे इसको सामान्यतया छठी भावना ऐसा गाथामें कहा है. विशेषताकी अपेक्षासे तपोभावना, श्रुतभावना वगैरे पांच भावनायें आचार्यने कही है. अतःविरोध नहीं है.

तपोभावनासमाधेः कथमुपाय इत्यत्राचष्टे—

तवभावणाए पंचेंदियाणि दंताणि तस्स वसमेंति ॥
इंदियजोगायरिओ समाधिकरणाणि सो कुणइ ॥ १८८ ॥

दांतान्यक्षाणि गच्छन्ति तपोभावनया वशं ॥
विधानेनेन्द्रियाचार्यः समाधाने प्रवर्तते ॥ १९० ॥

विजयोदया—तवभावणाए तपोभावनया । असकृद्दानत्यागेन द्रव्यभावरूपेण । पंचेंदियाणि पंचापि इंद्रियाणि । तस्स तपोभावनारतस्य । वसमेंति वशमुपयांति । यतोऽस्माद् दंताणि दांतानि निगृहीतदर्पाणि । इंदियजोगायरिओ इंद्रियाणां शिक्षाविधाय्याचार्योऽसौ समाधिकरणानि रत्नत्रयसमाधानक्रियाः । सो स० कुणइ करोति । एतदुक्तं भवति । दांतानि इंद्रियाणि तपसा न कामपगमस्थानयंति। क्षुधादिभिरुपद्रुतात्मा न वामलोचनासुरतक्रीडादो करोत्यादरमिति प्रतीतमेव । ननु चानशनादौ प्रवृत्तस्याहारदर्शने तद्वार्ताश्रवणे तदासेवायां चादरो नितांतं प्रवर्तते ततोऽयुक्तमुच्यते तपोभावनया दांतानींद्रियाणीति । इंद्रियविषयरागकोपपरिणामानां कर्मास्रवहेतुतया अहितत्वप्रकाशनपरिज्ञानपुर सरतपोभावनया विषयसुखपरित्यागात्मकेन अनशनादिना दान्तानि भवंति इंद्रियाणि । पुनः पुन० सेव्यमानं विषयसुखं रागं जनयति । न भावनांतरान्तर्हितमिति मन्यते ।

तपोभावनां कथं समाध्यंगमित्याह—

मूलारा— तवभावणाए असकृद्दशनत्यागेन । दंतानि निगृहीतदर्पाणि । तस्स तपोभावननारतस्य यतेः । वसमेंवि वशं यान्ति । इंद्रियजोग्गायरिओ इंद्रियशिक्षाविधायी आचार्यः । समाधिकरणाणि रत्नत्रयसमाधानार्थाः क्रियाः । आसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानलक्षणाः । सो तपोभावनादांतवशीभूतेंद्रियः । अथवा तपोभावनया साधोः पंचेंद्रियाणि दांतानि संति वशमायान्ति । स प्रसिद्ध इंद्रिययोग्याचार्यो मनश्च समाधिकारणानि करोति ॥

तपोभावना समाधीका उपाय कैसी होती है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—वारंवार आहारका त्याग करनेसे तपोभावनामें तत्पर रहनेवाले साधुकी पांचो इंद्रियां वश हो जाती हैं. चार प्रकारका आहार छोडना यह द्रव्यतपभावना, है और वह आहार छोडनेका जो मनःसंकल्प वह भावतपोभावना है. इस दो प्रकारकी तपोभावनासे इंद्रियोंका मद नष्ट होता है. तदनंतर वे आराध, कके वश होती हैं. इंद्रियोंको शिक्षा देनेवाला आचार्य अर्थात् साधु रत्नत्रयमें जिनसे स्थिरता होती हैं. ऐसी क्रिया करता है. भावार्थ यह है कि, जब तपश्चरणसे इंद्रियोंका दमन होता है तब मनमें काम विकार उत्पन्न नहीं होता है. क्षुधा, प्यास इत्यादिसे पीडित पुरुषके मनमें स्त्रीके साथ सुरतक्रीडा करना, आलिंगन देना वगैरह क्रियाओंमें आदर नहीं रहता है. यह बात सुप्रसिद्ध ही है.

शंका—उपवासादि तपोंमें प्रवृत्त हुए पुरुषको आहारके दर्शनसे और उसकी कथा सुननेसे, उसको

उत्तर—इंद्रियोंके इष्टानिष्ट स्पर्शादि विषयोंपर आत्मा रागी और द्वेषी जब होता है तब उसके रागद्वेष परिणाम कर्मागमनके लिये हेतु बनते हैं. ये राग जीवका अहित करते हैं ऐसा सम्यग्ज्ञान जीवको बतलाता है. सम्यग्ज्ञानयुक्त तपोभावना जो कि विषयसुखोंका परित्यागरूप और अनशनादिरूप है इंद्रियोंका दमन करती है. पुनः विषयसुखका सेवन करनेसे रागभाव उत्पन्न होता है परंतु तपोभावनासे जब आत्मा संस्कृत होता है तब इंद्रियां विषयसुखके तरफ दौडती नहीं है.

तपोभावनारहितस्य दोषमाचष्टे उत्तरप्रबंधेन सदृष्टान्तोपन्यासेन—

इंदियसुहसाउलओ घोरपरीसहपराजियपरस्सो ॥
अकदपरियम्म कीवो मुज्झदि आराहणाकाले ॥ १८९ ॥
इंद्रियार्थसुखासक्तः परीषहपराजितः ॥
जीवोऽकृतक्रियः क्लीवो मुह्यत्याराधनाविधौ ॥ १९१ ॥

विजयोदया—इंदियसुहसाउलओ इंद्रियसुखस्वादलंपटो। घोरपरीसहपराजिय परस्सो परीषहैः घोरैः दुःसहैः क्षुदादिभिः पराजितोऽभिभूतः सन् यः पराङ्मुखतां गतो रत्नत्रयस्य । अकदपरियम्म कीवो अकृतं परिकर्म तपआराधनाया येनासौ अकृतपरिकर्मा। कीवो दीनः । मुज्झइ मुह्यति विचित्ततामाप्नोति। आराहणाकाले आराधनायाः काले।

तपोभावनाविहीनस्य गाथापंचकेन सदृष्टांतोपन्यासेन दोषमाचष्टे—

मूलारा—साउलओ स्वादलंपटः। पराइय पराजित । परज्झो पराङ्मुखो रत्नत्रयस्य। अकदपरियम्म न कृतं परिकर्म आराधनायोग्यं तपो येन। कीवो क्लीवो दीन इत्यर्थः। मुज्झदि विचित्ततां याति।

तपोभावना जिसको नहीं है उस पुरुषमें दोष उत्पन्न होते हैं. इस विषयका खुलासा दृष्टान्त देकर आचार्य करते हैं.

अर्थ—जो पुरुष अर्थात् मुनि इंद्रियसुखोंका आस्वादन करनेमें लंपट हुआ है, दुःसह भूख तहान वगैरह परीषहोंसे जो पीडित हुआ है. अतः जो रत्नत्रयमें पराङ्मुख हुआ है, जो आराधनाका रक्षण करनेमें ऐसे तपको छोड बैठा है वह मुनि दीन होकर आराधनाके कालमें मोहयुक्त होता है. समाधिमरण यह आराधनाका अन्तिम

लफ है. परंतु जिसने तपश्चरण किया नहीं, जो इंद्रियसुखमें निमग्न हुआ वह रत्नत्रयसे भ्रष्ट हो कर समाधिमरणसे च्युत होता है.

अत्र दृष्टान्तमाह—

जोग्गमकारिज्जंतो अस्सो सुहलालिओ चिरं कालं ॥
रणभूमीए वाहिज्जमाणओ जह ण कज्जयरो ॥ १९० ॥

लालितः सर्वदा सौख्यैरकारितपरिक्रियः ॥
कार्यकारी यथा नाश्वो वाह्यमानो रणांगणे ॥ १९२ ॥

विजयोदया—जोग्गमकारिज्जंतो वाह्यचालनभ्रमणलंघनादिकां शिक्षां अकार्यमाणः। अस्सो अश्वः। सुहलालिओ सुखलालितः। चिरं काले रणभूमीए युद्धभूमौ। वाहिज्जमाणगो वाह्यमानः। जह ण कज्जकरो यथा कार्यं न करोति तथा यतिरपि ॥

मूलारा—जोग्गं धावनभ्रमणलंघनादिकां शिक्षां। शेषं गाथात्रयं सुगमम्।

इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं—

अर्थ—जैसे शब्दोंका अभिप्राय ध्यानमें रखना, चलाना, वेगसे घुमाना, कूदना वगैरह कृत्योंका अभ्यास जिसमे कराया गया नहीं है, जिसको सुखसे पुष्ट किया है, ऐसे अश्वको बहुत काल व्यतीत होनेपर युद्धभूमीमें ले जानेपर वह कार्य नहीं करता है. शत्रूको जीतनेमें अपने स्वामीको सहायता देना दूर ही रही परंतु भयसे भाग जा कर मालिकका काम बिगाड देता है वैसे यति भी—

सुगमत्वान्न व्याख्यायते गाथात्रयम्—तद्भावणा।

पुव्वमकारिदजोग्गो समाधिकामो तहा मरणकाले ॥
ण भवदि परीसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो ॥ १९१ ॥

जोग्गमकारिज्जंतो अस्सो दुहभाविदो चिरं कालं ॥
रणभूमीए वाहिज्जमाणओ कुणदि जह कज्जं ॥ १९२ ॥

पुव्वं कारिदजोगो समाधिकामो तहा मरणकाले ॥
होदि हु परीसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो ॥ १९२ ॥

अकारिततपोयोग्यश्चिरं विषयमूर्च्छितः ॥
न जीवो मृत्युकालेऽस्ति परीषहसहस्तथा ॥ १९३ ॥
विधापितः क्रियां योग्यां सर्वदा दुःखवासितः ॥
वाह्यमानो यथा वाजी कार्यकारी रणक्षितौ ॥ १९४ ॥
विधापितस्तपो योग्यं हृषीकार्थपराङ्मुखः ॥
जायते मृत्युकालेऽसौ परीषहसहस्तथा ॥ १९५ ॥

अर्थ—यदि पूर्व कालमें तपश्चरण नहीं किया होय तो मरणकालमें समाधिकी इच्छा करता हुआ भी परीषहोंको सहन नहीं करता है अतः वह विषयसुखोंमें आसक्त हो जाता है. जिससे भ्रमण करना, उल्लंघन करना वगैरह कार्योंका अभ्यास कराया गया है तथा जिसको क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण इत्यादि दुःखोंका चिरकालतक अभ्यास कराया है, ऐसा अश्व रणभूमीमें ले जानेपर वह स्वामीके शत्रुको जीतनेका कार्य करता है. यतिने भी पूर्व कालमें यदि तप किया हो तो परीषहोंको सहन कर समाधिकी इच्छा करनेवाला होकर मरणकालमें विषयसुखमें वह मूर्छित-आसक्त नहीं होता है.

श्रुतमाहात्म्यं प्रकटयति—

सुदभावणाए णाणं दंसणतवसंजमं च परिणमइ ॥
तो उवओगपइण्णा सुहमच्चविदो समाणेइ ॥ १९४ ॥

चतुरंगपरीणामश्रुतभावनया परः
निर्व्याक्षेपः प्रतिज्ञातं स्वं निर्वाहयते ततः ॥ १९६ ॥

विजयोदया—सुदभावणाए । श्रूयते इति श्रुतमित्यस्यां व्युत्पत्तौ शब्दश्रुतमुच्यते । तस्य भावना नाम तदर्थविषयज्ञानासकृत्प्रवृत्तिः । ननु शब्दश्रुतस्यासकृत्पठनं श्रुतभावना स्यात्, ध्यानं ततोऽर्थान्तरं? अत्रोच्यते—श्रुतकार्ये ध्याने

श्रुतशब्दो वर्तते इति न दोषो वा। गच्छतीति गोरिति व्युत्पत्तावपि नाश्वादौ गोशब्दो वर्तते । किंतु रूढिवशात्सास्नादिमत्येव । एवमिहापि श्रूयते इति व्युत्पादितोऽपि न सकले श्रोत्रोपलभ्ये वचनसंदर्भे प्रवर्तते, अपि तु स्वसमयरूढिवशाद्गणधरोपरचिते एव । तथैव श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तज्ञाने एव वर्तते । तस्यास्य श्रुतज्ञानस्य भावनया । णाणं दंसणतवसंजमं च परिणमइ समीचीनज्ञानदर्शनतप संयमपरिणतिः प्रतिपद्यते। ज्ञानभावनापरो ज्ञानपरिणतो भवतु कथमसौ दर्शनादौ परिणामांतरे प्रवृत्तो भवति ? न हि क्रोधपरिणतो मायायां प्रवृत्तो भवतीति चेन्नैष दोषः । यद्यन्नांतरीयकं तस्मिन्सति तद्भवत्येव तदधिकरणे यथा कृतकत्वेऽनित्यत्वं । ज्ञानं चांतरेण न भवंति सम्यग्दर्शनादयः । अत्रेदं चोद्यं असंयतसम्यग्दृष्टेरस्ति ज्ञानं तस्य तप-संयमौ किमुत स्तः ? संयमसद्भावे कथमसंयतता ? तस्मान्न तौ स्तः। कथमिदं सूत्रं ? नायमस्य सूत्रस्यार्थो ज्ञानभावनायां सत्यां भवत्येव सर्वे एव इति, किंतु ज्ञानभावनायां सत्यामेव भवंति नासत्याम् । तपः संयमौ कार्यत्वेन स्थितौ चारित्रमोहक्षयोपशमापेक्षिणा ज्ञानेन प्रवर्त्यते, न चावश्यं कारणानि कार्यवन्ति। धूममजनयतोऽप्यग्नेर्दर्शनात् काष्ठाद्यपेक्षस्य । तो ततः ज्ञानभावनातः । उवओगपइण्णा ज्ञानदर्शनतपःसंयमपरिणामप्रबंधे प्रवर्तयाम्यात्मानं इति या उपयोगप्रतिज्ञा तां । सुहं अक्लेशेन । समाणेदि समापयति । अच्चविदो अचलितः ॥

श्रुतभावनामाहात्म्यं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—उवओगपइण्णं ज्ञानादिप्रबंधे प्रवर्तयाम्यात्मानं इत्यंगीकारम् । अच्चविदो अचलितः । समाणेदि समापयति ।

श्रुतज्ञानभावनाका माहात्म्य प्रकट करते हैं—

अर्थ—' श्रूयते इति श्रुतं ' जो सुना जाता है उसको श्रुत कहते हैं. यदि यह श्रुत शब्दका अर्थ मानोगे तो शब्दोंको श्रुत मानना चाहिये. इस श्रुतकी भावना करना अर्थात् शब्दका जो अर्थ तद्विषयक ज्ञानम बारबार प्रवृत्ति करना श्रुतभावना है. अर्थात् शब्द सुनकर उसके अर्थका जो वारवार ज्ञान होना वह श्रुतभावना है. शंका-शब्दश्रुतको बार बार पढना वह श्रुतभावना है. ज्ञान तो इससे भिन्न है ? उत्तर-श्रुत जो शब्द उसका कार्यरूप जो ज्ञान उसमें भी श्रुतशब्दकी प्रवृत्ति है. शब्दको भी श्रुत कहते हैं और उससे होनेवाले कार्यरूप ज्ञान को भी श्रुत कहते हैं, अतः इसमें कुछ विरोध नहीं है. "गच्छतीति गौः " इस व्युत्पत्तीसे बना हुआ भी गो शब्द अश्वादिकका वाचक होता नहीं. परंतु रूढीसे सास्नादिमान् जो गाय उसका ही वाचक होता है. वैसे यहां भी " श्रूयते इति श्रुतं" इस प्रकारसे व्युत्पन्न किया गया शब्द कानसे सुनेगये समस्त शब्दोंमें प्रवृत्त होता नहीं है, परंतु स्वसिद्धान्त की रूढीकी अपेक्षासे गणधररचित - शब्दश्रुतमें ही श्रुतशब्द की प्रवृत्ति समझनी चाहिये. श्रुतज्ञानावरण

४१०

कर्मका क्षयोपशम पाकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें भी यहां श्रुत शब्द समझना चाहिये. इस श्रुतज्ञानकी भावनासे सम्यग्ज्ञान, दर्शन, तप, संयम इन गुणोंकी प्राप्ति होती है.

शंका—जो मनुष्य ज्ञानभावनामें तत्पर है वह ज्ञानमें परिणत होगा वह दर्शनादि परिणामोंमें कैसा परिणत होगा. क्रोधकषायसे परिणत हुआ आदमी मायामें परिणत नहीं होता है. उत्तर–आपका यह कहना योग्य नहीं है. जो जिसके साथ अविनाभावी रहता है वह उसके सद्भावमें उसके आधारमें रहेगा ही. यथा जहां जहां कृतकत्व रहता है वहां वहां अनित्यत्व रहेगा ही. ज्ञानके विना सम्यग्दर्शनादिक होते नहीं है.

शंका—असंयत सम्यग्दृष्टी में ज्ञान है परंतु उसमें तप और संयम भी है क्या? यदि होंगे तो उसको असंयमी क्यों कहते हैं. अतः ज्ञानके साथ तप और संयम नहीं रहते हैं. अर्थात् ज्ञानके साथ उनका संबंध नहीं है.

उत्तर–ज्ञानभावना होनेपर तप संयमादिक होते ही है ऐसा इस सूत्रका अभिप्राय नहीं है. परंतु तपः संयमादिक यदि उत्पन्न होंगे तो ज्ञानभावना के रहते ही उत्पन्न होंगे. अन्यथा नहीं. तप और संयम ये कार्यरूप हैं और ये चारित्र मोहनीय कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले ज्ञानके द्वारा प्रवृत्त किये जाते हैं.

कारण अवश्य कार्यवान् होते ही है ऐसा नियम नहीं है. काष्ठादिकी अपेक्षा रखनेवाला अग्नि धूमको उत्पन्न करेगाही ऐसा नियम नहीं है. इसलिये ज्ञानभावनासे मैं ज्ञान, दर्शन, तप संयम परिणामोंमें आत्माको प्रवृत्त करूंगा ऐसी जो उपयोग प्रतिज्ञा उसको वह मुनि एकाग्र होकर अचलित होकर अनायाससे संपूर्ण करता है.

जदणाए जोग्गपरिभाविदस्स जिणवयणमणुगदमणस्स ॥
सदिलोवं कादुंजे ण चयंति परीसहा ताहे ॥ १९५ ॥

स्वभ्यस्तजिनवाक्यस्य रचितोचितकर्मणः ॥
परीषहापदः शक्ता न कर्तुं स्मृतिलोपनम् ॥१९७॥

इति वृत्तम् ॥

विजयोदया—जदणाए यत्नेन । जोग्गपरिभाविदस्स युज्यते अनेन अनशनादिना निर्जरार्थं यतिरिति याग्यं तपः योगशब्देनाभोच्यते । तेनायमर्थः । तपसा भावितस्येति । जिणवयणमणुगदमणस्स जिनवचनानुगतचेतसः ।

सदिलोयं स्मृतिलोपं । रत्नत्रयपरिणामप्रबंधसंपादनोद्योगस्य स्मृतिर्या तस्या विनाशं । काउंजे कर्तुं । न चयेति न शक्नुवंति । के ? परिस्सहा क्षुदादिवेदनाः । ताहे तदा । एतदुक्तमनया गाथया अभ्यस्यमानं श्रुतज्ञानं निर्मलं पटीयो भवति । पाटवाभ्यासबलेन च स्मृतिरखेदेन प्रवर्तते । स्मृतिमूलो हि योगो वाक्कायव्यापार इति । सुदं गदं ।

मूलारा—जदणाए यत्नेन प्रमादपरिहारेणेत्यर्थः । जोग युज्यतेऽनेनानशनादिना निर्जरार्थं यतिरिति जोगो बाह्यं तपः । सदिलोवं स्मृतिलोपं । काउंजे कर्तुं । न शक्नुवन्ति । ताधे तदा मरणकाले ॥

अर्थ—अनशन अवमोदर्य इत्यादि तप मुनिराजके कर्मकी निर्जरा करते हैं अर्थात् कर्मकी निर्जरा करनेके लिए मुनि अनशनादि तपसे जुड जाते हैं. इसलिए अनशनादि बाह्य तप को आचार्य योग कहते हैं. प्रमाद छोड कर प्रयत्नसे जो तपसे अपने आत्माको सुसंस्कृत बनाता है, जिसका मन जिनेश्वरके वचनोंमें एकाग्र हुआ है, ऐसा मुनि रत्नत्रय परिणामोंमें स्थिरता रखनेमें सतत उद्युक्त होता है अतः यदि क्षुदादि परीषहोंसे वह पीडित होगया तो भी उसकी स्मृतिका नाश होता नहीं हैं. अभिप्राय यह है कि, श्रुतज्ञानका अभ्यास करनेसे वह निर्मल और ऊहापोहके सामर्थ्यसे युक्त हो जाता है. ऊहापोहका अभ्यास बढ जानेसे जिनागममें स्मृति बिना खेदके प्रवृत्त होती है. वचनकी प्रवृत्ति, शरीरकी सब प्रवृत्तियां स्मृतिपर ही निर्भर रहती हैं. इस तरह ज्ञानके सामर्थ्य का वर्णन किया.

सत्यभावनाया गुणं स्तौति उत्तरगाथया—

देवेहिं भेसिदो वि हु कयावराधो व भीमरूवेहिं ॥
तो सत्तभावणाए वहइ भरं णिब्भओ सयलं ॥ १९६ ॥
बहुसो वि जुद्ध भावणाए ण भडो हु मुज्झदि रणम्मि ॥
तह सत्त भावणाए ण मुज्झदि मुणी वि वोसग्गे ॥ १९७ ॥
भीष्यमाणोऽप्यघोरार्त्तं भीमरूपैः सुरासुरैः ॥
सत्त्वभावनया साधुं धुरि धारयतेऽखिलम् ॥ १९८ ॥

विमुह्यत्युपसर्गे नो सत्त्वभावनया यतिः ॥
सुद्धभावनया युद्धे भीषणेऽपि भटो यथा ॥ १९७ ॥

विजयोदया—देवेहिं देवैस्त्रासितोऽपि। खु स्फुटं। कृतापराधोऽतिभीमरूपैः। वा अथवा। तो ततः। सत्वभावनया सोढदुःखात्। वहइ भरं णिब्भओ सयलं वहति भरं संयमस्य निर्भयः सकलं। मृतेर्भीमरूपदर्शनाच्च भीतिरुपजायते भीतस्य प्रच्युतरत्नत्रयस्य तदतिदुरवापं। तदनवाप्त्या न कर्म निर्मूलनं शक्यं कर्त्तुं। अनासादितप्रलयानि च कर्माणि विचित्रं यातयंत्यात्मानं। ततो भीतिरेवानेकानर्थमूलमिति निश्चित्य सा प्रागेव निरसनीया। तथाहि—

मूलारा—भीसिदो भयं नीतः। दिया दिवा। राओ रात्रौ। तो तया प्रसिद्धया पृथ्वीकायिकादिभवग्रहणद्वारायातविचित्रदुःखपरामर्शकृतभयापसारणया। धुरं चारित्रभारं।

मूला—स्पष्टम्।

सत्वभावनामें जो गुण हैं उनकी स्तुति आचार्य करते हैं—

अर्थ—वह मुनि देवोंसे त्रस्त किया गया, भयंकर व्याघ्रादिरूप धारण कर पीडित किया गया तो भी सत्वभावनाको हृदयमें रखकर दुःखोंको सहन कर और निर्भय होकर संयमका संपूर्ण भार धारण करता है. मरण होगा इस विचारसे और भीमरूप दर्शनसे मनमें भीति उत्पन्न होने पर रत्नत्रयका यदि त्याग किया तो पुनः उसकी प्राप्ति होना अतिशय दुर्लभ है. रत्नत्रयकी प्राप्ति न होनेसे कर्मका नाश करना अशक्य है. कर्मोंका नाश न होनेसे वे आत्माको नाना प्रकारसे पीडा देते हैं. अतः भीति ही अनेक अनर्थोंका मूल है ऐसा निश्चय करके वह सत्वभावनासे प्रथम दूर करनी चाहिये.

खणणुत्तावणवालणवीयणविच्छेत्तणावरोदत्तं ॥
चिंतिय दुहं अदीहं मुज्झदि णो सत्तभाविदो दुक्खे ॥ १९८ ॥
बालमरणाणि साहू सुचिंतिदूणप्पणो अणंताणि ॥
मरणे समुट्ठिएविहि मुज्झइ णो सत्तभावणाणिरदो ॥ १९९ ॥

विजयोदया—पृथिवीकायिकः सन् खननदहनविलेखनकुट्टनभंजनलोठनपेषणचूर्णनादिभिर्बाधां परिप्राप्तोऽस्मि । अपश्च शरीरत्वेनोपादाय शर्मरश्मिकरनिकरापातेन, दहनज्वालाकलापकलिततनुस्तथा पर्वतदरीसमुन्नतदेशेभ्योऽतिवेगेन शिलाघनवसुंधरासु पतनेन, आम्ललवणक्षारादिरससमवेतद्रव्यसन्निमिश्रणेन, धगधगायमानेऽग्नौ प्रक्षेपणेन, तरुतटशिलापातेन, पादकरतलाभिघातैः, तरणोद्यतानां विशालघनोरःस्थलावपीडनेन, अवलोकमानमहाजनातरणमज्जनहस्तक्षोभणादिना च महतीं वेदनां अधिगतोऽस्मि ।

तथा समीरणं तनुतया परिगृह्य द्रुमगुल्मादिलोम्यादीनां प्राणभृतां नितांतकठिनकायानां चाभिघातेन समीरणांतरावमर्दनेन, ज्वलनस्पर्शनेन च दुःखासिकामनुभूतोऽस्मि ।

तथा परिगृहीताग्निशरीरो विध्यापनेन पांसुभस्मसिकतादिप्रक्षेपणेन, मुशलमानजलधारापातेन, दंडकाष्ठादिभिस्ताडनेन, लोष्ठपाषाणादिभिश्चूर्णनेन प्रभंजनेन विपदमाश्रितोऽस्मि ।

फलपलाशपल्लवकुसुमादिकायं स्वीकृत्य त्रोटनभक्षणमर्दनपेषणदहनादिभिस्तथा गुल्मलतापादपादिकं तनूकृत्य छेदनेन, भेदनेनोत्पाटनेन, रोहणेन, दहनेन च क्लेशभाजनतामुपयातोऽस्मि ।

तथा कुंथुपिपीलिकादित्रसो भूत्वा वेगमयाथिरथचक्राक्रमणेन, खरतुरगादिपरुषखुरसंताडनेन, जलप्रवाहप्रकर्षणेन, दावानलेन, द्रुमपाषाणादिपतनेन, मनुजचरणावमर्दनेन, बलवतां भक्षणेन च चिरं क्लिष्टोऽस्मि ।

तथा खरकरभबलीवर्दादिभावमाप्य गुरुतरभारारोपणेनारोहणेन, बंधनेन, कर्कशतरकशादंडमुशलादिताडनेनाहारनिरोधनेन, शीतोष्णवातादिसंपातेन, कर्णच्छेदनेन, दहनेन, नासिकावेधनेन, विदारणेन, परश्वादिभिर्निशितासिधाराप्रहारेण चिरमुपद्रुतोऽस्मि ।

तथा भयरादं, कृशतया व्याध्यभिभवेन वा पतितं इतस्ततः परावर्त्यमानं, क्रूरतमव्याघ्रशृगालसारमेयादिभिर्भक्ष्यमाणं, काकगृध्रकंकादिभिः कवलीक्रियमाणं, तरलतरतारकाक्षियुगलं, करुणतमासीत् । ततो यतो गुरुतरभारोद्वहनजातक्षतभणम्मुद्भवकृमिकुलेन, काकादिभिश्चानारतमुपद्रुतोऽस्मि ।

तथा मनुजभवेऽपि करणवैकल्याद्दारिद्र्यादसाध्यव्याध्युपनिपातात्, प्रियालाभादप्रियोयोगात्परप्रेष्यकरणादपरपराभवात्, द्रविणार्जनाशया दुष्करकर्मादानमूलषट्कर्मोद्योगाच्च, विचित्रविपदमुपगतोऽस्मि ।

तथैवामरभवेऽपि दूरमपसर लघु प्रयाहि, प्रभोः प्रस्थानवेला वर्तते । प्रयाणपटहं ताडय, ध्वजं धारय, हताश देवीजनं पालय, तिष्ठ स्वामिनोऽभिलषितेन वाहनरूपेण, किं विस्मृतोऽस्यनल्पपुण्यपण्यशतमखस्य दासेरतां यत्तूष्णीं तिष्ठसि । पुरो न धावसीति देवमहत्तरपरुषतरभास्वीशलाकानां ताडनेन शतमुखान्तःपुरादप्रविश्रमविलोकनोद्भूताभिलापदहनजनितसंतापेन षण्मासावशिष्टायुषः परिज्ञानेन च महदुदपादि दुःखं । एवं नरकभवेपि इत्थमनंतकालमनुभूतस्य मम को विषादो, दुःखोपनिपाते इति न च विषण्णं त्यजंति दुःखानि, स्वकारणायत्तसंनिधानानि तानीति सत्वभावना ॥ यच्चाशुभशरीरदर्शनाद्भीतिः सापि नो युक्ता । तानि शरीराणि असकृन्मया गृहीतानि दृष्टानि च । का तत्र परिचितेभ्यो भीतिरिति चित्तस्थिरीक्रिया सत्वभावना ।

इस सत्वभावनाका महात्म्य दो गाथाओंसे आचार्य कहते हैं ।—

अर्थ—सत्वभावनाका धारक मुनि मनमें इस प्रकारसे विचार करता है– जब पृथ्वी ही मेरा शरीर थी उस समय मेरेको खोदना, जलाना, हलके द्वारा विदीर्ण करना, कूटना, फोडना, पीसना, चूर्ण करना इत्यादि बाधा देकर लोग मुझे सताते थे. अर्थात् पृथ्वीकायिकअवस्थामें मैंने दीर्घकालतक वचनके द्वारा अवर्णनीय ऐसे दुःख सहे हैं. जब मैंने जलको अपना शरीर बनाया तब सूर्यके प्रचंडकिरणोंसे, अग्निकी ज्वालाओंसे मेरा शरीर अतिशय उष्ण होकर मैं बहुत वेदनायें सही. पर्वतकी दरी वगैरे ऊंचे स्थानोंसे अतिवेगसे मेरा पतन नीचे कठिन शिलाओंपर होनेसे मैंने दुःख सहन किया है. खट्टा, लवण, क्षारादि रसयुक्त पदार्थों का मेरे साथ मिश्रण करके जब धगधगायमान अग्निके उपर मेरेको संतप्त करते थे तब मेरेको असह्य दुःख होता था. वृक्षोंपरसे नीचे शिलाओंपर गिरनेसे, पांव और हाथोंके आघातोंसे, तीरनेके लिये उद्युक्त हुए मनुष्यादि प्राणिओंके विशाल वक्षःस्थलकी ताडनासे, प्रथम देखकर अनंतर पानीमें जिसने प्रवेश किया है ऐसे वडे हाथीका तीरना, मज्जन करना और शुंडासे जलक्षोभ करना इत्यादि कारणोंसे मेरेको महान् दुःख हुआ था.

जब जलावस्थाका त्यागकर मैंने वायुरुप शरीर धारण किया तब वृक्ष, झुडप, इत्यादिकसे धक्का पोहोचनेपर मैंने दुःखोंका अनुभव किया है. जिनका शरीर अतिशय कठिन है ऐसे प्राणिओंके आघातसे और [मेरेसे भिन्न वायुसे टकरानेपर, मेरा शरीर चूर्ण–विचूर्ण होकर मैं बहुत दुःखोंका स्थान होगया था. अग्निज्वालाओंका जब मेरे शरीर से स्पर्श हुआ तब तो मेरे प्राणही निकल गये.

जब वायुशरीरको छोडकर अग्निको शरीररूपसे ग्रहण किया, तो बहुत बार धूल, भस्म, बालू वगैरह मेरे ऊपर डालकर लोगोंने मेरेको बुझाया, मुशलके समान जल धारायें पडनेपर, दंड काष्टादिकोंसे ठोककर चूर्ण करनेसे मेरेको बहुत ही कष्टोंसे सामना करना पडा. मातीके ढेले और पत्थरोंके आघातसे तथा वायुके जोरदार धक्केसे मैं दुःखविह्वल हुआ था।

जब अग्निका शरीर छोडकर मैं फल, पुष्प, पत्र, कोमल अंकुर इनको शरीररूपसे धारण किया तब तोडना, खाना, मर्दन करना, दांतोंसे चबाना, अग्निपर भुंजना इत्यादि प्रकारोंसे मेरेको जनताने दुःख दिया है. जब मैं झाड, लता, छोटे पेड इत्यादिक रूपसे जन्मा तब छेदन करना, भेदन करना, उखाडना, तोडना एक जग-

हसे उठाकर दुसरे स्थानमें बोना, जलाना इत्यादिकोंसे जो दुःख भोगने पडे उनका वर्णन करना मेरी शक्तीके-बाहर है.

जब मैंने कुंथु, चींटी वगैरे प्राणिओंमें द्वींद्रिय, त्रींद्रिय धारक होकर जन्मग्रहण किया तब वेगसे जानेवाले रथके पहियोंके नीचे दबकर प्राणविसर्जन किये है.

गधा, घोडा वगैरे प्राणिओंके कठिण खुरोंके ताडनसे. पानीके प्रवाहके वेगसे, जंगलके अग्नीसे, वृक्ष पाषाणादिक पदार्थ अंगपर गिरनेसे, मनुष्योंके पैरोंसे कुचल जानेसे, बलवान् प्राणिओंका भक्ष्य होनेसे मेरेको दीर्घकाल तक दुःख भोगने पडे है.

तथा गधा, ऊंट, बैल, वगैरे पंचेंद्रिय प्राणिओंका जन्म जब धारण किया था तब मनुष्योंने मेरे ऊपर अधिक बोझा लादकर और स्वयं चढकर बहुत खेदित किया था. दोरीसे बांधना, अधिक कर्कश चाबूक, लाठी, मुशल, इत्यादिकोंसे आघात करना, आहार पानी न देना, शीत, उष्ण, वायु इत्यादिककी बाधा होना इत्यादिकोंके द्वारा मेरेको बहुत क्लेश हुआथा. कान छेदना, जलाना, नाकमें नथनी डालना, विदारण करना, कुल्हाडी वगैरह शस्त्रोंसे तीक्ष्ण तरवारसें प्रहार करना इत्यादिकोंसें मनुष्योंने मेरेको अत्यंत दुख दियाथा. जिससे पांव टूटगये है, कृश होनेसे अथवा रोगपीडित होनेसे जो गिरपडा है, इतस्ततः पीडा सहन न होनेसे जो तडफडाने लगा है. अत्यंत क्रूर व्याघ्र, कुत्ते, स्याल वगैरह प्राणिओंका जो भक्ष्य हो रहा है. कौवे, गीध, बगुला इत्यादि दुष्ट पक्षी जिसकी नोंच नोचकर खा रहे है. जिसको आंखे भयके मारे चंचल हो रही है, ऐसे समयमें कोई भी मेरा रक्षण करनेवाला न था.

अधिक बोझा लादनेसे मेरे पीटपर जखम हो कर वह क्रिमिओंसे भर गईथी उस समय कौवे वगैरे पक्षी आकर जखमका मांस नोचकर खातेथे वह बडाही भीषण, दुःखदायक प्रसंग था. कुछ पापोंका उपशम होनेसे मनुष्य होकर मैं जन्मा परंतु इंद्रियोंकी न्यूनता, दारिद्र्य, असाध्य रोग इत्यादिकोंसे मैं बहुत दुःखी था. प्रिय पदार्थ न मिलना, अप्रिय शत्रु, विष, कंटकादिकोंका संयोग होना, दूसरोंकी नोकरी करना, शत्रुसे पराभव होना, इत्यादिक दुःखोंसे मैं बहुत ही व्याकुल हो उठता था. धन कमानेकी इच्छासे दुःखदायक कर्मास्रवके कारण ऐसे असि मषि वगैरह पट्कर्मोंमें दिन रात प्रयत्न करता था तो भी नानाप्रकारकी विपत्ति आती ही थी.

कुछ शुभोदयसे देवगतीमें मेरा जन्म हुआ. परंतु वहां भी, "यहांसे दूर हटो, शीघ्र चले जाव, प्रभुका आनेका समय है, उनके प्रस्थानकी सूचना देनेवाला नगारा बजाओ. अरे यह ध्वज हाथमें पकडकर खडा हो"।

"अरे दीन इन देवांगनाओंका रक्षण कर. स्वामी की अभिलाषा के अनुसार वाहनका रूप धारण कर. विपुल पुण्य रूपी धन जिसके पास है ऐसे इंद्रका तू दास है क्या तू यह भूल गया है? क्यों व्यर्थ खडा हुआ है? इंद्रके आगे क्यों मागता नहीं" ऐसे अधिकारी देवोंके कठोर वचन सुनकर वह बहुत खेदयुक्त होता है. इंद्रकी अप्सराओंका हावभाव देखकर ऐसी देवांगनायें मेरेको कब मिलेंगी यह अभिलाषा मनमें होकर मैंने देवपर्यायमें भी बहुत दुःखोंका अनुभवन किया है. इसी तरह अनंत काल दुःखानुभव करने में मेरा चला गया है अतः इस समय परीषह उपसर्गादि दुःख आपडने पर विषाद करनेसे कुछ भी फायदा नहीं है. खिन्न हुये पुरुषको क्या दुःख छोड देता है? वह तो अपने कारणसे उत्पन्न होता है ऐसा विचार कर सत्वभावनासे दुःखोंका हमला सहन करना चाहिये. यदि अशुभ, जुगुप्सा उत्पन्न करनेवाले शरीरको देखकर भय उत्पन्न होता है ऐसा कहना भी युक्त नहीं है. क्यों कि स्वुद मैंने अशुभ शरीर असंख्यात वार ग्रहण किये हैं. और देखे हैं. वे सब शरीर मेरे परिचयके हैं. परिचितोंसे भय ही कैसा उत्पन्न होगा ऐसा विचार कर मनको स्थिर करना चाहिये. मनको स्थिर करना यही सत्वभावना है.

जिसने बहुत वार युद्धका अभ्यास किया है. ऐसा वीरपुरुष युद्धमें मोहयुक्त नहीं होता है अर्थात् धैर्य धारण करता है वैसे सत्वभावनाका आश्रय लेकर मुनि भी उपसर्ग आनेपर मोहयुक्त होते नहीं प्रत्युत वे धैर्य धारण कर उपसर्ग सहन करते हैं.

एयत्तभावणाए ण कामभोगे गणे सरीरे वा ॥
सज्जइ वेरग्गमणो फासेदि अणुत्तरं धम्मं ॥ २०० ॥

कामे भोगे गणे देहे विवृद्धैकत्वभावनः ॥
करोति निःस्पृहीभूय साधुर्धर्ममनुत्तरम् ॥ १९८ ॥

विजयोदया—एकत्वभावना नाम जन्मजरामरणावृत्तिजनितदुःखानुभवने न दुःखं मदीयं संविभजति कश्चित्। दुःखासंविभजनगुणेन स्वजन इत्यनुरागः तदकरणेन च परजन इति च द्वेषो युज्यते। न चेदस्ति सुखं मय्याधातुमक्षमः इति न तत्सुखेनापि स्वजनपरजनविवेकः। तस्मादेक एवाहं न मे कश्चित्। नाप्यहं कस्यचिदिति चिन्ता कार्या। तस्या गुणमाचष्टे- एयत्तभावणाए एकत्वभावनया हेतुभूतया। न सज्जदि नासक्तिं करोति। क कामभोगे, गणे शिष्यादिवर्गे, शरीरे वा सुखे वा। कामं स्वेच्छया भुज्यंते अनुभूयंते इति कामभोगाः। सुखसाधनतया संकल्पितभक्तपानादयो वामलोचनादिवर्गश्च तत्र न संगं करोति। बाह्यद्रव्यसंसर्गजनिता प्रीतिविशेषाः सुखशब्दवाच्यास्ते तृष्णामेवातिशयवतीं आनयंति चेतोव्याकुलकारिणीं, न चेतःस्वास्थ्यं संपादयितुमीशा इति। न तु उपयोग्याः कामभोगाः, रत्नत्रयसंपत्तिरेव जनस्योपयोगिनी, न तया भोगसंपदास्माकं किंचिदस्ति कृत्यं। मदीयपरिणामावलंबिनौ हि बंधमोक्षौ मम। ततः किं तेन गणेन। शरीरमप्यकिंचित्करं। न चेत्कर्माणि किंचित्कुर्युः। बाह्यं जीवाजीवात्मकं द्रव्यं रागकोपनिमित्तं, इदमुपकारकमनुपकारकमिति वा संकल्प्यमानं नान्यथा। ततः संकल्पमीदृग्भूतं विहाय शुद्धात्मस्वरूपज्ञानपरिणामप्रबंधः असहायात्मस्वरूपविषय इति एकत्वभावनोच्यते। सत्यामस्यां न कश्चित्संगं करोति। वेरग्गगदो वैराग्यमुपगतः। फासेइ स्पृशति। अणुत्तरं धम्मं अतिशयितं चारित्रं। एतेन संसारबीजस्य संगस्य निवृत्तिरशेषकर्मापायहेतोश्चारित्रस्य च लाभो गुण एकत्वभावनाजन्यः इत्याख्यातं भवति। एकत्वभावना मोहमज्ञानरूपं अप्यपनयति। यथा जिनकल्पिको निरस्तमोहः संवृत्तः।

मूलारा—एयत्तभावणाए। अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचिदित्यादि देहादिपरद्रव्याचिंताभ्यासेन। कामभोगे इंद्रियसुखानुभवने। सज्जदि आसक्तिं करोति। फासेदि करोति। एतेन संसारिजीवस्य संगस्य निवृत्तिरशेषकर्मक्षयहेतोश्चारित्रस्य च लाभो गुणः एकत्वभावनाजन्य इत्युक्तं भवति।

अर्थ—एकत्वभावनाका आश्रय लेकर विरक्त हृदयसे मुनिराज कामभोगमें, चतुर्विध संघमें, और शरीरमें आसक्त न होकर उत्कृष्ट चारित्ररूप धारण करता है.

जन्म, जरा मरण वगैरे दुःखोंका मैं अनंत कालसे उपभोग लेरहा हूं. परंतु मेरे दुःखका कोइ भी विभाग करता नहीं. मैं अकेला ही जन्मादि दुःखोंका अनुभव लेरहा हूं. जो अपने दुःखोंका विभाग करता है वह स्वजन है ऐसा समझकर मनुष्य उसको स्वजन मानने लगता है. जो दुःखोंको हलके नहीं करता है. वह परजन है ऐसा समझता है, परंतु मेरेमें सुख उत्पन्न करनेवाले साता वेदनीय कर्मका उदय यदि नहीं है तो दूसरे मेरेको कदापि सुखी नहीं कर सकते हैं. यदि साता वेदनीय कर्मका उदय हो तो शत्रु दुःखदायक न होकर सुखदायकही होगा अतः ये स्वजन हैं और ये परजन हैं

४१८

ऐसा विभाग करना व्यर्थ है. इस लिये मैं एकही हूं मेरा कोईभी संबंधी नहीं है. मैं भी किसीका नहीं हूं ऐसा विचार करना चाहिये. इस एकत्व भावनाका यह गुण है—

एकत्वभावनाका अभ्यास करनेसे मुनि कामभोगमें, शिष्यादिवर्गरूप गणमें, और सुखमें आसक्ति नहीं करता हैं. स्वेच्छासे जिन पदार्थोंका उपभोग ले सकते हैं ऐसे पदार्थोंको कामभोग कहते हैं. जैसे आहारके और पनिके पदार्थ, स्त्री वगैरह पदार्थ इनमें ये सुखदायक हैं ऐसा संकल्प लोग करते हैं परंतु मुनि एकत्वभावनाका अभ्यास करता है अतः वह राग नहीं करता हैं. बाह्य द्रव्योंका संबंध होनेसे जो मनमें आल्हाद होता है- उसको सुख कहते हैं. परंतु ये बाह्य पदार्थ लोभको ही उत्तरोत्तर वृद्धिंगत करते हैं. लोभसे मन बहुत व्याकुल होता है. ये भोगके पदार्थ मनमें स्वास्थ्य उत्पन्न करने में असमर्थ है, इसलिये ये पदार्थ-कामभोग भोगने योग्य नहीं है. रत्नत्रय संपत्ति ही लोकके लिये उपयोगी है. इस भोगसंपत्तीसे हमारा कुछ भी प्रयोजन सिद्ध होता नहीं है.

मेरे परिणामोंसेही मेरेको शुभाशुभ कर्मबंध होता है- गण उसमें कारण नहीं हैं अतः उससे मेरा न कुछ बिघडता है न सुधरता है.

शरीर भी अकिंचित्कर है वह खुद कुछ भी कर नहीं सकता. कर्मके आश्रयसे वह कार्यकारी दीखता है. बाह्य जीव और अजीव पदार्थ ये उपकार करते हैं, तथा अनुपकार करते है ऐसा उनमें संकल्प होनेसे रागद्वेषके क्रमसे निमित्त बनते हैं. अन्यथा नहीं. अतः यह संकल्पही हृदयमेंसे निकालना चाहिये. शुद्ध आत्माका स्वरूप जाननेमें सतत प्रयत्न करना चाहिये. मेरा आत्मस्वरूप असहाय है ऐसा विचार करना चाहिये इसको एकत्व भावना कहते हैं. इस भावनाके माहात्म्यसे मुनि किसीमें भी आसक्त नहीं होते हैं. वैराग्य बढनेसे वे उत्कृष्ट चारित्रका आश्रय करते हैं. इस वैराग्यसे संसारको बीजभूत जो परिग्रह उसका संपूर्ण त्याग होता है. व संपूर्ण कर्मोंका नाश करनेमें हेतुभूत चारित्रकी प्राप्ति होती है. यह सब एकत्वभावनाका ही गुण है. यह एकत्वभावना अज्ञानरूप मोहको दूर करती है. इसके प्रभावसे जिनकल्पी मुनि मोहरहित हुये हैं.

भयणीए विधम्मिज्जंतीए एयत्तभावणाए जहा ।
जिणकप्पिदो ण मूढो खवओ वि ण मुज्झइ तधेव ॥ २०१ ॥

स्वसुर्विधर्मतां दृष्ट्वा जिनकल्पीव संयतः ॥
एकत्वभावनाभ्यासो न मुह्यति कदाचन ॥ १९९ ॥

इति एकत्वं ।

विजयोदया—यथा जिनकल्पिको जिनकल्पकं प्रपन्नो नागदत्तो नाम मुनिर्भगिन्यामयोग्यं कारयंत्यामपि एकत्वभावनया । ण मूढो मोहं न गतः । तथैव क्षपकोऽपि न मुह्यतीति गाथार्थः । एकत्वभावना ॥

मूलारा—विधम्मिज्जंतीए विडंब्यमानायां । जिणकप्पिओ जिनकल्पमाचरणविशेषं । प्रतिपन्नो नागदत्तो नाम मुनिः ॥

अर्थ—जिनकल्प अवस्थाको प्राप्त हुये नागदत्त नामक मुनि अयोग्य कार्य करानेवली अपनी बहिनपर मोहयुक्त नहीं हुये. क्षपक मुनि भी एकत्वभावनाके बलसे मोहयुक्त नहीं होते है ऐसा गाथार्थ है. एकत्वभावना समाप्त हुई.

पंचमी धृतिबलभावना दुःखोपनिपात अकातरता धृतिः सैव बलं धृतिबलं तस्य भावनाभ्यासः असकृदकातरतया वृत्तिः । तया धृतिबलभावनया दुःसहपरीषहचम्वा ॥ शुध्यतीति निगदति ।—

कसिणा परीसहचमू अब्भुट्ठइ जइ वि सोवसग्गावि ॥
दुद्धरपहकरवेगा भयजणणी अप्पसत्ताणं ॥ २०२ ॥

उपसर्गमहायोधां परीषहचमूं परां ॥
कुर्वाणामल्पसत्वानां दुर्निवाररया भयम् ॥ २०० ॥

विजयोदया—कसिणा कृत्स्ना । परीसहचमू परीषहसेना क्षुदादिद्वाविंशतिदुःखपूलेनेति यावत् । अब्भुट्ठइ आभिमुख्येनोत्तिष्ठति । जदवि यद्यपि सोवसग्गा वि चतुर्विधेनोपसर्गेण सह वर्तमानापि । दुद्धरपहकरवेगा दुर्धरसंकटवेगा यणसत्ताणं भयजणणी अल्पसत्वानां भयजननी ।

मूलारा—कसिणा सर्वा । एकोनविंशतिभयव्यूहरूपापि (पीड्रैः) अब्भुट्ठवि अभिमुखमुत्तिष्ठते । दुद्धरपहकरवेगा अजय्यमगर्थभंजकप्रवृत्तिभया । अथवा दुर्धरो दुःसदः स चासौ पंथाश्च दुष्करो वेगो यस्याः । पथकर संकट इति टीकायां । अप्पसत्ताणं अल्पसत्वानां भीरूणां ॥

पांचवी धृतिबलभावना है. दुःख आनेपर भी निर्भय रहना ही धैर्यका लक्षण है. इस धैर्यबलकी भावना करना अर्थात् अभ्यास करना यह धृतिबलभावनाका स्वरूप है. इस भावनाके बलसे मुनीश्वर दुःखद परीषहरूप सेनामें युद्ध करते हैं ऐसा वर्णन आचार्य करते हैं—

अर्थ—चार प्रकारके उपसर्गोंके साथ भूक, तहान, शीत उष्ण वगैरह बावीस प्रकारके दुःखोंको उत्पन्न करनेवाली परीषहरूपी सेना, दुर्धर संकटरूपी वेगसे युक्त होकर जब मुनिओंपर आक्रमण करती है तब अल्पशक्तिके धारक जीवोंको बहुत भय उत्पन्न होता है.

धिदिधणिदबद्धकच्छो जोधेइ अणाइलो तमच्चाई ॥
धिदिभावणाए सूरो संपुण्णमणोरहो होई ॥ २०३ ॥

धीरतासेनया धीरो विवेकशरजालया ॥
जायते योधयन्नाशु साधुः पूर्णमनोरथः ॥ २०१ ॥

इति धृतिसूत्रम् ।

विजयोदया—तं तां पृतनां । जोधेइ योधयति । कया सह ? धिदिभावणाए धृतिभावनया । कः ? धिदिधणिदबद्धकच्छो भूत्वा नितरां बद्धकक्षः । सूरो शूरः । अणाइलो अनाकुलो विक्रमवान् । फलमाचष्टे तस्य । संपुण्णमणोरहो होइ । संपूर्णमनोरथो भवति ॥

मूलारा—धिदिधणिदबद्धकच्छो धृतिः परमसक्तिः सैवात्यर्थं बद्धा कक्षा परिवेष्टनं येन । जोधेदि योधयति । अणाइलो अनाकुलः । तं तां परीषहचमूं । अव्वधिदो अबाधितः निर्भरोऽक्षोभो वा । धिदिभावणाए धृतिभावनया सह अथवा धृतिभावनया कर्तृभूतया तां घातयति योधयतीति व्याख्येयम् ।

अर्थ—धैर्यरूपी ऊपरका परिधान करनेका वस्त्र जिसने दृढ बांधा है ऐसा पराक्रमी शूर मुनि धृतिभावनाको हृदयमें धारण कर सफल मनोरथ होता है.

एयाए भावणाए चिरकालं हि विहरेज्ज सुद्धाए ॥
काऊण अत्तसुद्धिं दंसणणाणे चरित्ते य ॥ २०४ ॥

विधाय विधिना दृष्टिज्ञानचारित्रशोधनम् ॥
चिरं विहरतां पञ्चा यतिभावनयानया ॥ २०२ ॥

इति भावनासूत्रम् ।

विजयोदया-एयाए भावणाए एतया पंचप्रकारया भावनया सह । चिरकालं विहरेज्ज चिरं प्रवर्तेत । सुद्धाए शुद्धया । काऊण कृत्वा । अत्तसोधिं आत्मशुद्धिं । दंसणणाणे चरित्ते य रत्नत्रये निरतिचारो भूत्वा ।

एतस्यां पंचविधायां असंक्लिष्टभावनायां क्षपकः प्रवर्ततामिति शिक्षां प्रयच्छतिः—

मूलारा—विहरेज्ज प्रवर्तेत । अत्तसुद्धिं आत्मशुद्धिं । भावना । सूत्रतः १०। अंकतः २५ ॥

अर्थ—इन पांच प्रकारकी शुद्ध भावनायें चिरकाल तक मनमें धारण कर मुनिराज अपने आत्माकी शुद्धि करते हैं और सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें निरतिचार प्रवृत्ति करते हैं.

व्यावर्णितभावनानंतरं सल्लेखनेत्यधिकारसंबंधमाचष्टे—

एवं भावेमाणो भिक्खू सल्लेहणं उवक्कमइ ॥
णाणाविहेण तवसा बज्झेणब्भंतरेण तहा ॥ २०५ ॥

साधुः सल्लेखनां कर्तुमित्थं भावितमानसः ॥
तपसा यतते सम्यक् बाह्येनाभ्यंतरेण च ॥ २०३ ॥

विजयोदया—एवं भावेमाणो इति एवं उक्तेन प्रकारेण भावनापरः । भिक्खू सल्लेहणं सल्लेखनां तनूकरणं । उपक्कमइ प्रारभते । केन णाणाविहेण नानाप्रकारेण । तवसा बज्झेणब्भंतरेण तहा बाह्याभ्यंतरेण तपसा च ।

अथैवंविधभावनापरस्य मुमुक्षोः सल्लेखनां गाथाषट्पञ्चाशता व्याख्यातुकामः पूर्वं तदुपक्रमोपायमुद्दिशति—

मूलारा—भावेमाणो भावयमानः । असंक्लिष्टभावनां पुनः पुन प्रवर्तयन्नित्यर्थः । उवक्कमदि प्रारभते ।

भावनाओंका वर्णन करनेपर सल्लेखनाधिकारका संबंध दिखाते हैं.

अर्थ—इस प्रकार पांच प्रकारकी असंक्लिष्ट भावनाओंका अभ्यास करनेवाले मुनि बाह्य अभ्यंतर चारा प्रकारके तपके द्वारा सल्लेखना को प्रारंभ करते हैं.

भेदमकृत्वा व्यावर्णयितुं अशक्या सल्लेखनेति भेदमाचष्टे—

सल्लेहणा य दुविहा अब्भंतरिया य बाहिरा चेव ॥
अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे ॥ २०६ ॥

सल्लेखना द्विधा साधोरंतरानंतरेष्यते ॥
तत्रांतरा कषायस्था द्वितीया कायगोचरा ॥ २०४ ॥

विजयोदया—सल्लेहणा य दुविहा सल्लेखना च द्विप्रकारा। अब्भंतरिया य बाहिरा चेव अभ्यंतरा बाह्या चेति । अब्भतरा कसायेसु अभ्यंतरा सल्लेखना क्रोधादिकषायविषया । बाहिरा होदि हु सरीरे । बाह्या भवति सल्लेखना शरीरविषया ॥

सल्लेखना द्वैविध्येनाभिधत्ते—

बाह्यसल्लेखना गाथापंचशता प्रपंचयिष्यन्सामान्यतस्तदुपायं निर्दिशति—

मूलारा—स्पष्टम् ।

भेदके विना सल्लेखनाका वर्णन करना शक्य नहीं है इसलिये भेद बताते हैं.—

अर्थ—सल्लेखनाके अभ्यंतर सल्लेखना व बाह्य सल्लेखना ऐसे दो भेद हैं. क्रोधादि कषायोंको कृश, कृश

तर, कृशतम करना यह कषायसल्लेखना है. इसको अभ्यंतर सल्लेखना भी कहते हैं. और शरीर उत्तरोत्तर कृश करते जाना उसको शरीरसल्लेखना कहते हैं इसीको बाह्य सल्लेखना यह भी नाम है.

बाह्यसल्लेखनानिरूपणार्थः उत्तरप्रबंधः—

सव्वे रसे पणीदे णिज्जूहित्ता दु पत्तलुक्खेण ॥
अण्णदरेणुवधाणेण सल्लिहइ य अप्पयं कमसो ॥ २०७ ॥

विजयोदया—सव्वे रसे सर्वान्रसान् । प्रकर्षं नीताः प्रणीताः तान् अतिशयवत इत्यर्थः । णिज्जूहित्ता त्यक्त्वा । अण्णदरेणुवधाणेण । अन्यतरेणावग्रहेण । अप्पगं आत्मानं शरीरं । कमसो क्रमशः । सल्लिहदि तनूकरोति ।

मूलारा—पणीदे प्रकर्षं नीताः प्रणीताः तानतिशयवत इंद्रियबलवर्द्धनानित्यर्थः । णिज्जूहित्ताण त्यक्त्वा । पत्तलुक्खेण प्राप्तरूक्षाहारेण । उवधाणेण अवग्रहविशेषेण । सल्लिहइ कृशीकरोति । अप्पगं स्वशरीरम् ।

अब बाह्य सल्लेखनाका यहांसे विस्तृत वर्णन करते हैं—

अर्थ—इंद्रियोंका बल बढानेवाले संपूर्ण रसोंका त्याग करके और विशिष्ट नियम ग्रहण करके प्राप्त हुए रूक्षभोजनके द्वारा अपना शरीर क्षपक क्रमशः क्षीण करता है.

बाह्य तपो व्याचष्टे—

अणसण अवमोयरियं चाओ य रसाण वुत्तिपरिसंखा ॥
कायकिलेसो सेज्जा य विवित्ता बाहिरतवो सो ॥ २०८ ॥
अभुक्तिरवमोदर्यं वृत्तिसंख्या रसोज्झनम् ॥
कायक्लेशो विविक्ता च शय्या पोढा बहिस्तपः ॥ २०९ ॥

विजयोदया—अणसणं अनशनं । अवमोदरियं अवमोदर्यं च । चागो य रसाणं त्यागो रसानां । वुत्तिपरिसंखा वृत्तिपरिसंख्यानं । कायकिलेसो कायक्लेशः । सेज्जा विवित्ता विविक्तशय्या । बाहिरतवो सो बाह्यं तपस्तत् ।

बाह्यसल्लेखनोपायभूतं षोढा बाह्यतपो व्याख्यातुमाह—

मूलारा—ऊमोयरियं अवमोदर्यं । वुत्तिपरिसंखा वृत्तेराहारस्य परिसंख्यानं । विचित्ता शुद्धा । प्रासुकविजन-देशाश्रिपयेत्यर्थः । सो बत् प्रसिद्धं सल्लेखनोपायभूतम् ।

अर्थ—अनशन, अवमोदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्या, कायक्लेश और विविक्तशय्या ऐसे बाह्यतपके छह भेद हैं.

तत्र अनशनतपोभेदनिरूपणार्था गाथा—

अद्धाणसणं सव्वाणसणं दुविहं तु अणसणं भणियं ॥
विहरंतस्स य अद्धाणसणं इदरं च चरिमंते ॥ २०९ ॥

सार्वकालिकमन्यच्च द्वेधानशनमीरितम् ॥
प्रथमं मृत्युकालेऽन्यद्वर्तमानस्य कथ्यते ॥ २०६ ॥

विजयोदया—अद्धाणसणं अद्धाशब्दः कालसामान्यवचनोऽन्यत्रेह चतुर्थादिषण्मासपर्यंतो गृह्यते । तत्र यदनशनं तदद्धानशनं सर्वानशनं चेति । दुविधमणसणं तु शब्दोऽवधारणार्थः द्विप्रकारमेवानशनं । सर्वशब्दः प्रकारकार्त्स्न्ये वर्तते । यथा सर्वमयं भुंक्ते । परित्यागोत्तरकालो जीवितस्य यः सर्वकालः तस्मिन्ननशनं अशनत्यागः सर्वानशनं । कदा तदुभयमित्यत्र कालविवेकमाह—विहरंतस्स य ग्रहणप्रतिसेवनकालयोर्वर्तमानस्य अद्धानशनं । इतरं च इतरत् सर्वानशनं । चरिमंते परिणामकालस्यान्ते ।

अनशनाख्यतपोभेदनिरूपणार्थं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—अद्धाणसणं अद्धाशब्दः कालसामान्यवचनोऽन्यत्रेह चतुर्थादिषण्मासपर्यन्तो गृह्यते । तत्राहारत्यागोऽद्धानशनं कालसंख्ययोपवास इत्यर्थः । सव्वाणसणं । सर्वस्मिन्संन्यासोत्तरकाले अनशनं अशनत्यागः । विहरंतस्स ग्रहणप्रतिसेवनकालयोर्वर्तमानस्य । चरिमंते परिणामकालस्यान्ते मरणसमये इत्यर्थः ।

अर्थ—अद्धानशन और सर्वानशन ऐसे अनशन तपके दो भेद हैं. अद्धाशब्द अन्यत्र कालवाचक है परंतु यहां चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम ऐसे भेदोंको लेकर षण्मास पर्यंत जितने अनशन तपके भेद होते हैं उन सबको अद्धानशन कहते हैं. धारणा पारणासहित उपवासको चतुर्थ कहते हैं अथवा उपवास यह भी संज्ञा है. दो उपवासोंको षष्ठ कहते

हैं. तीन उपवासोंको अष्टम कहते हैं. चार उपवासोंको दशम कहते हैं. ऐसे ही आगे भी समझना. संन्यास लेनेपर यावज्जीव चारो आहारोंका त्याग करना शुद्ध सर्वानशन है. ग्रहण और प्रतिसेवना कालमें अद्धानशन तप मुनि करते हैं और मरणसमयमें-संन्यास कालमें सर्वानशन तप करते है. दीक्षाग्रहण कर जबतक संन्यास ग्रहण किया नहीं तबतक ग्रहणकाल माना जाता है. तथा व्रतादिकोंमें अतिचार लगनेपर जो प्रायश्चित्तसे शुद्धि करनेके लिये कुछ दिन अनशनादि तप करना पडता हैं उसको प्रतिसेवना काल कहते हैं.

अद्धानशनविकल्पं प्रतिपादयति—

होइ चउत्थं छट्ठट्ठमाइ छम्मासखवणपरियंतो ॥
अद्धाणसणविभागो एसो इच्छाणुपुव्वीए ॥ २१० ॥

एकद्वित्रिचतुःपंचषट्सप्ताष्टनवादयः ॥
उपवासा जिनैस्तत्र षण्मासावधयो मताः ॥ २०७ ॥
बहुदोषाकरे ग्रामे प्रवेशो विनिवारितः ॥
संयमो वर्द्धितः पूतः कुर्वतानशनं तपः ॥ २०८ ॥

विजयोदया—अद्धाणसणविभागो होइ इति पदघटना। अद्धानशनविभागो भवति। चउत्थं छट्ठट्ठमाई छम्मासखमणपरियंतो चतुर्थषष्ठाष्टमादिषण्मासक्षपणपर्यन्तः। इच्छाणुपुव्वीए आत्मेच्छाक्रमेण[1]।

अद्धानशनविकल्पं वक्तिः—

मूलारा—छम्मासखमण षण्मासोपवासाः। इच्छाणुपुव्वीए आत्मेच्छाक्रमेण।

अर्थ—चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम वगैरह उपवासों से छह महिने तक के उपवासों को अद्धानशनतपके भेदोंमें परिगणित करना चाहिये. ये उपवास मुनिराज अपनी इच्छा के अनुसार करते हैं.

---

१ आत्मेच्छाक्रमेण इति स्वपुस्तके पाठः।

अवमोदर्यं निरूपयितुकामः आहारपरिमाणं प्रायोवृत्त्या प्रवृत्तं दर्शयति—

वत्तीसं किर कवला आहारो कुक्खिपूरणो होइ ॥
पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं हवे कवला ॥ २११ ॥

आहारस्तृप्तये पुंसां द्वात्रिंशत्कवला जिनैः ॥
अष्टाविंशतिरादिष्टा योषितः प्रकृतिस्थितः ॥ २०९ ॥

विजयोदया—वत्तीसं किर कवला पुरुषस्य कुक्षिपूरणो भवत्याहारः । द्वात्रिंशत्कवलमात्रः । इच्छिआए स्त्रियाः कुक्षिपूरणो भवत्याहारः अष्टाविंशतिकवलजातानि । तत्तो तस्मादाहारात् । तत्तो ।

अवमोदर्यं गाथाद्वयेन विवक्षुराहारप्रमाणं प्रायोवृत्त्या प्रवृत्तं प्रदर्शयति

मूलारा—किर किल । उक्तं च—

ग्रासोऽश्रावि सहस्रतंदुलमितो द्वात्रिंशदेतेऽशनम् ।
पुंसो वैश्वसिकं स्त्रिया विचतुरास्तद्धानिरौचित्यतः ।
मासं यावदधैकसिक्थमवमोदर्यं तपस्तच्चरे-
द्धर्मावश्यकयोगधातुसमतानिद्राजयाद्याप्तये ॥

अवमोदर्य तपका निरूपण करनेके पूर्व आहारका प्रमाण बहुशः किस प्रकार रहता है यह दिखाते हैं—

अर्थ—पुरुषके आहारका प्रमाण बत्तीस ग्रास है. इतने ग्रासोंसे पुरुषका पेट पूर्ण भरता है. स्त्रियोंके आहारका प्रमाण अट्ठाईस ग्रास है.

एगुत्तरसेढीए जावय कवलो वि होदि परिहीणो ॥
ऊणोदरियतवो सो अद्धकवलमेव सित्थं च ॥ २१२ ॥

तस्मादेकोत्तरश्रेण्या कवलः शिष्यते परः ॥
मुच्यते यत्र तदिदमवमोदर्यमुच्यते ॥ २१० ॥

निद्राजयः समाधानं स्वाध्यायः संयमः परः ॥
हृषीकनिर्जयः साधोरवमोदर्यतो गुणाः ॥ २११ ॥

विजयोदया—एगुत्तरसेढीए एककवलोत्तरश्रेण्या परिहीणो परिहीनः । ऊमोदरियतवो अवमोदर्याख्यं तपः-क्रिया यावदेकसिक्थकं वा अवशिष्टं । आहारस्याल्पतोपलक्षणमिदं अन्यथा कथमेकसिक्थकमात्रभोजनोद्यतो भवेत् । ननु चाहारो न्यूनः कथं तत्र इत्युच्यते इति । केचित्कथयंति आयूनतापरिहारस्य तपसो हेतुत्वात्तप इत्युच्यते । अवमोयरियं ॥

मूलारा—वत्तो इत्यादि—तस्मात्पुंस्त्रीभोजनादेकद्वयादिहानिक्रमेण यावदेकग्रासपरिहीन आहारोऽवमोदर्यं तपः स्यात् । एयसिच्छ आहारस्याल्पतोपलक्षणमिदं अन्यथा कथमेकसिक्थमात्रभोजनोद्यतो भवेत् । आयूनतापरिहारस्य तपोहेतुत्वात् एतत्तप इत्युच्यते । एतद्गुणा यथा—

निद्राजयः समाधानं स्वाध्यायः संयमः परः ॥
हृषीकनिर्जयः साधोरवमोदर्यतो गुणाः ॥

अर्थ—स्त्री और पुरुषोंका जो ग्रासका परिमाण अट्ठाईस और बत्तीस ग्रास कहा है उसमें एक ग्रास अवशिष्ट रहने तक जो कम करते जाना वह सब अवमोदर्य तपही है. एक ग्रासमेंसे भी समान विभक्त किये हुये अर्द्ध ग्रासतक भी इस तपके भेद होते हैं. और अर्द्धग्राससे कम करते करते एक सिक्थतक भेद होते हैं. एक कवलसे लेकर एक सिक्थतक जो भेद बताये हैं वे अल्पाहारका केवल उपलक्षण है. क्योंकि केवल एक सिक्थ खानेके लिये कौन उद्युक्त होगा. शंका–न्यून आहार करना यह तप कैसा समझा जायेगा. इसका उत्तर यह है कि अभिलाषासे बहुत अन्न खानेका त्याग इस तपमें होता है अतः इसको तप कहते हैं.

रसपरित्यागो निरूप्यते—

चत्तारि महावियडीओ होंति णवणीदमज्जमंसमहू ॥
कंखापसंगदप्पाऽसंजमकारीओ एदाओ ॥ २१२ ॥
चतस्रो गृध्नुतासक्तिदर्पासंयमकारिणीः ॥
नवनीतसुरामांसमध्वाख्या विकृतीर्विदुः ॥ २१२ ॥

विजयोदया—चत्तारि महावियडीओ चतस्रो महाविकृतयः। महत्याश्चेतसो विकृतेः कारणत्वात् महाविकृतय इत्युच्यंते। होंति भवंति। णवणीदमज्जमंसमहू नवनीतं, मद्यं, मांसं, मधु च। कीदृश्यस्ताः? कंखापसंगदप्पासंजमकारीओ पदार्थो। कांक्षा गार्द्ध्यं, प्रसंगः पुन पुनस्तत्र वृत्तिः, दर्पः इंद्रेन्द्रियता, असंयमः रसविषयानुरागात्मकः इंद्रियासंयमः, रसजजंतुपीडा प्राणासंयमः, एतान्दोषानिमाः कुर्वन्ति।

रसपरित्यागं गाथापंचकेनाचिख्यासुर्नवनीतादित्यागोऽपि रसपरित्यागाख्यं तप इति गाथाद्वयेन तमेव तावद्व्याचष्टे—

मूलारा—महावियडीओ महत्याश्चेतसो विकृतेः कारणत्वान्महाविकृतयश्चित्तविकारकारिरसा इत्यर्थः। अत्र नवनीतं कांक्षाकारि गार्द्ध्यकरं, मद्यं प्रसंगं पुनः पुनः अगम्यगमनादिकं वा करोतीति प्रसंगकारि। मांसमिंद्रियदर्पकरं। मधुरसविषयानुरागात्मकमिंद्रियासंयमरसजजंतुपीडात्मकप्राण्यसंयमं च करोतीत्यसंयमकरं, चत्वार्यपि वा प्राणिपीडाकारीणी। यृत्तम्।

कांक्षाकृन्नवनीतमक्षमदकृण्मांसं प्रसंगप्रदं।
मद्यं क्षौद्रमसंयमार्थमुदितं यद्यच्च चत्वार्यपि॥
सम्मूर्च्छोल्लसत्तदर्णजंतुनिचितान्युच्चैर्मनोविक्रिया-।
हेतुत्वादपि यन्महाविकृतयस्त्यज्यान्यतो धार्मिकैः॥

रसपरित्याग तपका निरूपण करते हैं—

अर्थ—मक्खन, मदिरा, मांस और शहद ये चार पदार्थ महाविकृति अर्थात् अंतःकरणमें विकार उत्पन्न होनेके लिये कारण हैं. ये चार पदार्थ कांक्षा–वार वार अभिलाष उत्पन्न करते हैं. इंद्रियोंको उन्मत्त करते हैं, असंयमको उत्पन्न करते हैं. इतने दोष इनके सेवनसे होते हैं. असंयमके दो भेद हैं. इंद्रियासंयम और प्राणासंयम. स्वादमें अनुराग उत्पन्न होना यह इंद्रियासंयम है. और मद्यादिकोंके रसमें उत्पन्न हुवे प्राणिओंका भक्षण करते समय घात होना यह प्राणासंयम है.

आणाभिकंखिणावज्जभीरुणा तवसमाधिकामेण ॥
ताओ आवज्जीवं णिज्जूढाओ पुरा चेव ॥ २१४ ॥
महाविकारकारिण्यो भव्येन भवभीरुणा ॥
जिनाज्ञाकांक्षिणा त्याज्या यावज्जीवं पुरैव ताः ॥ २१३ ॥

विजयोदया—आणाभिकंखिणा अत्रैवं पदघटना—ताओ ताः महाविकृतयः । आवज्जीवं जीवितावधिकं । णिज्जूढाओ परित्यक्ताः । पुरा चेव सल्लेखनाकालात्पूर्वमेव । केन परित्यक्ताः ? आणाभिकंखिणा—इदमित्थं त्वया कर्तव्यमिति कथनं आज्ञा । सर्वविदा आज्ञप्ता भव्याः परित्याज्या नवनीतादयः । तदासेवा असंयमः कर्मबंधहेतुरिति । अस्यामाज्ञायां कांक्षावता आदरवता सर्वज्ञाज्ञाऽसंपादनादेव दुरंतसंसारमध्यपतनं ममासीद्भविष्यति च तेन तदाज्ञादरः कार्य इत्यभ्युद्यतेन । अवज्जभीरुणा अवद्यं पापं तेन । अयमर्थः पापभीरुणा । तवसमाधिकामेण तपस्येकाग्रतामभिलषता । अतो नवनीतत्यागोऽपि रसत्याग एव ।

मूलारा—आणाभिकंखिणा नवनीताद्युपयोगो द्रव्यभावहिंसाभयस्यात् कर्मबंधहेतुरिति नासौ कर्तव्य इति सर्वज्ञवचस्यादरवता । तवसमाधिकामेण तपस्येकाग्रतामिच्छता । णिज्जूढाओ परित्यक्ताः । पुरा चेव सल्लेखनाकालात्पूर्वमेव ।

इसलिये—

अर्थ—श्रीजिनेश्वरने नवनीत, मद्य, मांस और मधु त्यागो ऐसी भव्योंको आज्ञा दी है. अतः आज्ञा पालनकी इच्छा रखनेवाले भव्य जीव सल्लेखना कालके पूर्व कालमेंही इनका त्याग करते हैं. इनका सेवन करनेसे संयम नष्ट होकर कर्मबंध करनेवाला असंयम उत्पन्न होता है. यदि मैं जिनेश्वरकी आज्ञाका आदर न करूं तो जैसा आजतक संसारमें मैंने भ्रमण किया है ऐसा आगेभी मेरको भ्रमण करना पडेगा. ऐसा विचार कर जिनेश्वरकी आज्ञाका आदर करना चाहिये. जिसको पापसे भय लगता है, जो तपमें एकाग्रताकी इच्छा करता है ऐसा मुनि इन पदार्थोंको त्यागे. नवनीतका त्याग करना भी रसत्याग नामक तप है.

इह तु सल्लेखनाकाले सर्वेषां त्यागो रसत्यागो गृहीत इत्याचष्टे—

खीरदधिसप्पितेल्लं गुडाण पत्तेगदो व सव्वेसिं ॥
णिज्जूहणमोगाहिम पणकुसणलोणमादीणं ॥ २१५ ॥

गुडतैलदधिक्षीरसर्पिषां वर्जने सति ॥
देशतः सर्वतो ज्ञेयं तपः साधो रसोज्झनम् ॥ २१४ ॥

विजयोदया—क्षीरदधिसप्पितेल्लगुडाणं क्षीरस्य, दध्नः, घृतस्य, तैलस्य, गुडस्य, च णिज्जूहणं त्यागः। कथं पत्तेगदो य प्रत्येकं एकैकस्य वा त्यागः । सव्वेसिं सर्वेषां वा क्षीरादीनां त्यागः। रसपरित्यागः । ओगाहिम पणकुसण लोणमादीणं अपूपानां, पत्रशाकानां, सूपस्य, लवणादीनां वा त्यागो रसपरित्यागः।

इह सल्लेखनाकाले क्षीरादीनामेव त्यागो रसत्यागो गृहीतस्तमेवाचष्टे—

मूलारा—एगेगदो एकैकस्यैव । चात्रानुक्तसमुच्चये । तेन यथायोग्यं द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां वेति ग्राह्यं । णिज्जूहणं त्यागः । ओगाहिमा घृतपूरादि । पण पूपं पत्रशाकादि । कुसण सूपः ।

सल्लेखना कालमें क्षीरादिकका त्याग करना रसत्याग है. आचार्य उसका वर्णन करते हैं—

अर्थ—दूध, दही, घी, तेल, गुड इन सब रसोंका त्याग करना अथवा एक एक रसका त्याग करना यह रसपरित्याग नामका तप है. अथवा पूप, पत्रशाक, दाल, नमक, वगैरह पदार्थोंका त्याग करना यह भी रसपरित्याग नामका तप है.

अरसं च अण्णवेलाकदं च सुद्धोदणं च लुक्खं च ॥
आयंबिलमायामोदणं च विगडोदणं चेव ॥ २१६ ॥
अन्नानं नीरसं शुद्धं शुष्कमस्वादु शीतलम् ॥
भुंजते समभावेन साधवो निर्जितेन्द्रियाः ॥ २१५ ॥

विजयोदया—अरसं च स्वादरहितं । अण्णवेलाकदं च वेलांतरकृतं च शीतलमिति यावत् । सुद्धोदणं च शुद्धं च शुद्धौदनं च केनचिदप्यमिश्रं । लुक्खं च रूक्षं च स्निग्धताप्रतिपक्षभूतेन स्पर्शेन विशिष्टमिति यावत्। आयंबिलं असंस्कृतसौवीरमिश्रं । आयामोदणं अप्रचुरजलं सिक्थाढ्यमिति केचिद्वदन्ति । अवसावणसहितमित्यन्ये । विगडोदणं अतीव तीमनकं। उष्णोदकसम्मिश्रं इत्यपरे।

मूलारा—अरसं स्वादरहितं । अण्णवेलाकदं भोजनवेलाया अन्यस्यां वेलायां साधितं शीतलमिति यावत् ।

सुद्धोदण केवलभक्तं । आयविल असंस्कृतकाञ्जिकमिश्रभक्त । आयामोदणं मंडौदनं स्तोकजलसिक्थाद्यं वा । तिगडोदणं अवपक्व उष्णोदकक्रूरं वा ।

अर्थ—अरस अर्थात् स्वादरहित पदार्थ, भोजन समयको छोडकर अन्यसमयमें पकाया हुआ अर्थात् भोजनके समयमें जो ठंडा हुवा है ऐसा पदार्थ, जिसमें घी वगैरह नहीं मिलाये हैं ऐसा भात, जिसका रूक्ष स्पर्श है ऐसा अन्न, जैसे रोटी वगैरे रूखा पदार्थ. असंस्कृत काजीसे मिश्र ऐसा भात, आयामोदण—जिसमें थोडा पानी है और सिक्थ जादे है ऐसा भात, बहुत पका हुआ भात अथवा गरम जल जिसमें मिला हुआ है ऐसा भात खाना चाहिये

इच्चेवमादि विविहो णायव्वो हवदि रसपरिच्चाओ ॥
एस तवो भजिदव्वो विसेसदो सल्लिहंतेण ॥ २१७ ॥

येऽन्येऽपि केचनाहारा वृष्या विकृतिकारिणः ॥
ते सर्वे शक्तितस्त्याज्या योगिना रसवर्जिना ॥ २१६ ॥
संतोषो भावित सम्यग् ब्रह्मचर्यं प्रपालितम् ॥
दर्शितं स्वस्य वैराग्यं कुर्वाणेन रसोज्झनम् ॥ २१७ ॥

विजयोदया—इच्चेवमादिविविहो एवमादिर्विविधो नानाप्रकारो । णादव्वो हवइ रसपरिच्चाओ ज्ञातव्य सर्वेषां रसपरित्याग । एस तवो भजिदव्वो एतद्रसपरित्यागाख्य तप । भजिदव्वो सेव्य । विसेसदो विशेषेण । सल्लिहंतेण कायसल्लेखना कुर्वता । चाओ त्यागः ।

मूलारा—इच्चेवमादि क्षीरादित्यागादिप्रकारपुरस्सरा । विसेसदो अनशनादिभ्योऽतिशयेन । सल्लिहंतेण कायसल्लेखना कुर्वता ।

अर्थ—इत्यादि नानाप्रकारका रसपरित्याग जानना चाहिये यह रसपरित्याग नामका तप शरीरसल्लेखना करनेवाले मुनिको विशेपरीतीसे करना चाहिये. अर्थात् अनशनादि तपोंकी अपेक्षा यह तप अधिकतासे करना चाहिये रसपरित्याग तपका स्वरूपवर्णन समाप्त हुआ

वृत्तिपरिसंख्याननिरूपणाय गाथाचतुष्टयमुत्तरम्—

गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुत्तियं च पेलवियं ॥
संबूकावट्टंपि य पदंगवीधी य गोयरिया ॥ २१८ ॥
गृह्णाति प्रासुकां भिक्षां गत्वा प्रत्यगतो यतः ॥
शंबूकावर्तगोमूत्रपुटेषु शलभायनः ॥ २१७ ॥

विजयोदया—गत्तापच्चागदं । यया वीथ्या गतः पूर्वं तयैव प्रत्यागमनं कुर्वन्यदि लभते भिक्षां गृह्णाति नान्यथा । उज्जुवीहिं ऋज्व्या वीथ्या गतो यदि लभते गृह्णाति नेतरथा । गोमूत्रिकाकारं भ्रमणं वा संपादयन् । पेलवियं वंशदलादिभिर्निष्पादितं वस्त्रसुवर्णादिनिक्षेपणार्थं पिधानसहितं यत्तद्वच्चतुरस्राकारं भ्रमणं । संबूकावट्टं पि य शंबूकावर्त इव । पदंगवीधी य पतंगमाला पतंगवीथीत्युच्यते । सा यथा भ्रमति तथा भ्रमणं । गोयरिया । गोचर्या भिक्षायां भ्रमणं । एवंमूलेन भ्रमणेन लब्धां भिक्षां गृह्णामि नान्यथेति कृतसंकल्पना वृत्तिपरिसंख्यानं ।

मूलारा—गत्तापच्चागदं । यया वीथ्यागतस्तयैव प्रत्यागच्छन्यदि भिक्षां लभते तदा गृण्हाति इति । उज्जुविही ऋज्व्या प्रांजलया वीथ्या मार्गेण यदि गतो लभते तदा गृण्हाति । गोमुत्तियं । गोमूत्रिकाकारं भिक्षार्थं भ्रमणं । पेलवियं पेट्टावच्चतुरस्रं भ्रमणं । संबुकावट्टं शंखावर्तवदभ्यंतरमावर्त्य बहिर्भ्रमतो भिक्षाग्रहणं । पतंगवीही पतंगमालावदितस्ततो भ्रमणं, एकस्मिन्नेव कटाक्षितगृहे गमनं वा । गोयरिया योग्यं यथाप्राप्ताहारग्रहणमित्यर्थः ।

वृत्तिपरिसंख्यान तपका निरूपण आचार्य चार गाथाओंमें करते हैं—

अर्थ—जिस मार्गसे आहारके लिये गमन कर उसी मार्गसे लौटते समय यदि आहार मिलेगा तो मैं ग्रहण करूं ऐसी प्रतिज्ञा करना वह गतप्रत्यागत है. सरल रास्तेसे जाते समय यदि आहार मिलेगा तो आहारग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना. यह ऋजुवीथी है. बैल मूतते जाता है उस समय जो आकार रस्तेपर उत्पन्न होता है वैसा मोडा खाते हुये भ्रमण करनेवाले मेरेको यदि आहार मिलेगा तो मैं ग्रहण करूं ऐसी प्रतिज्ञा करना इसको गोमूत्रिक कहते हैं. बांसके टुकडे, लकडी इत्यादिसे बनाया हुआ, और जिसमें ढकन लगा हुआ है ऐसा वस्त्र सुवर्णादि रखनेका जो चार कोनोंका पदार्थ अर्थात् संदूक-पेटीके समान चतुष्कोण भ्रमण करते हुए मेरेको यदि आहार मिलेगा तो ग्रहण करूं ऐसी प्रतिज्ञा करना इसको पेलविय कहते हैं. शंखके आवर्तोंके समान ग्रामके अंदर भ्रमण

करके जब बाहर भ्रमण करूंगा ऐसे समयमें यदि भिक्षा मिलेगी तो स्वीकारूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना. यह शंबूकावर्त है.

पक्षिओंकी पंक्ति जैसे भ्रमण करती है वैसा भ्रमण करते हुए मेरेको यदि भिक्षा मिलेगी तो आहार ग्रहण करूंगा इस प्रतिज्ञाको पतंगवीथी कहते हैं- अथवा जिस श्रावकके घरमें आहार लेनेका मनमें विचार किया है वहां जाना इसको भी पतंगवीथी कहते हैं. इस प्रकारसे आहारार्थ भ्रमण करनेसे यदि भिक्षा मिलेगी ते स्वीकारूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना यह वृत्तियरिसंख्यान तप है-

---

पाडयणियंसणभिक्खा परिमाणं दत्तिघासपरिमाणं ॥
पिंडेसणा य पाणेसणा य जागूय पुग्गलया ॥ २१९ ॥

पाटकावसथद्वारदातृदेयादिगोचरम् ॥
संकल्पं विविधं कृत्वा वृत्तिसंख्यापरो यतिः ॥ २१८ ॥
लूना तृष्णालता रूढा चित्रसंकल्पपल्लवा ॥
कुर्वता वृत्तिसंख्यानं परेषां दुश्चरं तपः ॥ २१९ ॥

विजयोदया:—पाडयणियंसणभिक्खापरिमाणं इमं एव पाटकं प्रविश्य लब्धां भिक्षां गृह्णामि नान्यं । एकमेव पाटकं पाटकद्वयमेवेति। अस्य गृहस्य परिकरतया अवस्थितां भूमिं प्रविशामि न गृहमित्थमभिग्रहः णियंसणमित्युच्यते इति केचिद्वदन्ति। अपरे पाटस्य भूमिमेव प्रविशामि न पाटगृहाणि इति संकल्पः पाडगणिगंसणमित्युच्यते इति कथयंति। भिक्षापरिमाणं एकां भिक्षां द्वे एव वा गृह्णामि नाधिकामिति। दत्तिघासपरिमाण एकेनैव दीयमानं द्वाभ्यामेवेति दानक्रियापरिमाणं। आनीतायामपि भिक्षायां इयत एव ग्रासान्गृह्णामि इति वा परिमाणं। पिंडेसणा पिंडभूतमेवाशनं गृह्णामि। पाणेसणाओ द्रवबहुलतया यत्पीयते अशनं। जागूय यवागूः। पोग्गलिया वा धान्यान्येव निष्पावचणकमसूरकादीनि भक्षयामि इति।

मूलारा—पाडयणियंसणपरिमाणं। एकमेव पाटकं पाटकद्वयमेव वा प्रविश्य भिक्षाग्रहण। निवसनपरिमाणं यदि वा अस्य गृहस्य परिकरतयावस्थितां भूमिं प्रविशामि न गृहं इत्येवंग्रहेण भिक्षाग्रहणं निवसनपरिमाणं। अन्ये पाटकभूमिमेव प्रविशामि न पाटकगृहाणीति भिक्षासंकल्पं पाटकनिवसनपरिमाणमाहुः। भिक्खापरिमाणं एकद्विवारपरिवेषित

भिक्षामहणं। दत्तियासपरिमाणं एकेनैव दायकेन द्वाभ्यां वा दीयमानस्य ग्रहणं दत्तिपरिमाणं। आनीतायामपि भिक्षायां इयत एव ग्रासान् ग्रहीष्यामि इति ग्रासपरिमाणं। पिंडेसणाओ पिंडभूतमेव अशनं गृह्णामि न पानमिति। पाणेसणाओ-द्रवमेवाशनं गृह्णामि न पिंडमिति। जागूय यवागूः। पोग्गलिया धान्यान्येव निष्पावचणकादीनि भिक्षायामिति। सिथमित्यन्यः।

अर्थ—इसही पाटकमें प्रवेश कर मिली हुई भिक्षा मैं ग्रहण करूंगा दूसरे पाटकमें मैं आहारार्थ जाउंगा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना. अथवा मैं एक पाटकमें अथवा दोन पाटकोंमें भिक्षा मिलनेपर ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना. इस घरके परिकरकी भूमीमें यदि आहार मिलेगा तो मैं ग्रहण करूं घरमें प्रवेश न करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना. इसको निर्यमण कहते हैं. पाटककी भूमिपर ही आहार मिलेगा तो मैं आहार स्वीकारूंगा परंतु पाटकके घरोंमें प्रवेश नहीं करूंगा ऐसा संकल्प करना इसको पाटकनिवसन परिमाण कहते हैं.एकदफे अथवा दो दफे जो अन्न परोसा है उतनाही मैं ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं यह भिक्षापरिमाण है. एक दाता अथवा दोन दाताओंने दिया हुआ अन्न ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना यह दातृपरिमाण संकल्प है. दाताने देनेके लिये भिक्षा लाने पर भी इतने ही ग्रास मैं स्वीकारूंगा इस तरह का संकल्प करना यह ग्रासपरिमाण संकल्प है. पिंडरूप जो अन्न है वही मैं ग्रहण करूंगा द्रवरूप पदार्थ ग्रहण न करूंगा ऐसा संकल्प करना यह पिंडेषणासंकल्प है. द्रवरूप अन्नही मैं ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना, अपिंडेषणासंकल्प कहते हैं. रबडी इत्यादि जो पतली भी नहीं और पिंडरूप भी नहीं है वह भक्षण करूं ऐसा संकल्प करना. पावटे, चना, मसूर इत्यादि धान्यरूप अन्न ही मैं ग्रहण करूंगा ऐसा संकल्प करना ये सब वृत्तिपरिसंख्यान तपके भेद हैं.

संसिट्ठ फलिह परिखा पुप्फोवहिदं व सुद्धगोवहिदं ॥
लेवडमलेवडं पाणयं च णिस्सित्थगमसित्थं ॥ २२० ॥

विजयोदया—संसिट्ठं शाककुल्माषादिसंसृष्टमेव। फलिह समंतादवस्थितशाकं मध्यावस्थितौदनं। परिखा व्यंजनमध्यावस्थितान्नं। पुप्फोवहिदं च व्यंजनमध्ये पुष्पबलिरिव अवस्थितसिक्थं। सुद्धगोवहिदं। शुद्धेन निष्पावादिभिरमिश्रेणान्नेन उवहिदं संसृष्टं शाकव्यंजनादिकं। लेवडं हस्तलेपकारि। अलेवडं यच्च हस्ते न सज्जति। पाणगं पानं च कीदृक्? णिस्सित्थगमसित्थं सिक्थरहितं पानं तत्सहितं च।

करके जब बाहर भ्रमण करूंगा ऐसे समयमें यदि भिक्षा मिलेगी तो स्वीकारूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना. यह शंबूकावर्त है.

पक्षिओंकी पंक्ति जैसे भ्रमण करती है वैसा भ्रमण करते हुए मेरेको यदि भिक्षा मिलेगी तो आहार ग्रहण करूंगा इस प्रतिज्ञाको पतंगवीथी कहते हैं- अथवा जिस श्रावकके घरमें आहार लेनेका मनमें विचार किया है वहां जाना इसको भी पतंगवीथी कहते हैं. इस प्रकारसे आहारार्थ भ्रमण करनेसे यदि भिक्षा मिलेगी ते स्वीकारूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना यह वृत्तिपरिसंख्यान तप है-

---

पाडयणियंसणभिक्खा परिमाणं दत्तिघासपरिमाणं ॥
पिंडेसणा य पाणेसणा य जागूय पुग्गलया ॥ २१९ ॥

पाटकावसथद्वारदातृदेयादिगोचरम् ॥
संकल्पं विविधं कृत्वा वृत्तिसंख्यापरो यतिः ॥ २१८ ॥
छूना तृष्णालना रूढा चित्रसंकल्पपल्लवा ॥
कुर्वता वृत्तिसंख्यानं परेषां दुश्चरं तपः ॥ २१९ ॥

विजयोदयाः—पाडयणियंसणभिक्खापरिमाणं इमं एव पाटकं प्रविश्य लब्धां भिक्षां गृह्णामि नान्यं । एकमेव पाटकं पाटकद्वयमेवेति। अस्य गृहस्य परिकरतया अवस्थितां भूमिं प्रविशामि न गृहमित्थमभिग्रहः णियंसणमित्युच्यते इति केचिद्वदन्ति। अपरे पाटस्य भूमिमेव प्रविशामि न पाटगृहाणि इति संकल्पः पाडगणिगंसणमित्युच्यते इति कथयंति। भिक्षापरिमाणं एकां भिक्षां द्वे एव वा गृह्णामि नाधिकामिति । दत्तिघासपरिमाणं एकेनैव दीयमानं द्वाभ्यामेवेति दानक्रियापरिमाणं। आनीतायामपि भिक्षायां इयत एव ग्रासान्गृह्णामि इति वा परिमाणं । पिंडेसणा पिंडभूतमेवाशनं गृह्णामि। पाणेसणाओ द्रवबहुलतया यत्पीयते अशनं। जागूय यवागूः। पोग्गलिया वा धान्यान्येव निष्पावचणकमसूरकादीनि भक्षयामि इति।

मूलारा–पाडयणियंसणपरिमाणं । एकमेव पाटकं पाटकद्वयमेव वा प्रविश्य भिक्षाग्रहणं । निवसनपरिमाणं यदि वा अस्य गृहस्य परिकरतयावस्थितां भूमिं प्रविशामि न गृहं इत्येवंग्रहेण भिक्षाग्रहणं निवसनपरिमाणं । अन्ये पाटकभूमिमेव प्रविशामि न पाटकगृहाणीति भिक्षासंकल्पं पाटकनिवसनपरिमाणमाहुः । भिक्खापरिमाण एकद्वितारपरिवेषित

मूलारा—अभिग्गहो अवग्रहः । स च पात्रस्य यथा । एवंभूतेनैव सौवर्णाद्यन्यतमेन भाजनेनानीतं गृह्णामीति । दायकस्य यथा-स्त्रियैवानीतं गृह्णामि तत्रापि बालया, युवत्या, वृद्धया, सालंकारया, ब्राह्मण्या, राजपुत्र्या चेत्येवमादिः ।

अर्थ—यदि सुवर्णपात्र, कांसेका पात्र, रूपेका पात्र अथवा मट्टीकापात्र इससे दाता आहार दे तो मैं ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना दायक-यदि स्त्री अर्थात् बालिका, तरुणी, वृद्धा इनमेंसे किसी एक विवक्षित स्त्रीने आहार दिया तो ग्रहण करूंगा. अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना. यदि कोई स्त्री भूषणरहित होगी अथवा ब्राह्मणी या राजकन्या होगी तो यदि वह आहार देगी तो मैं ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना इत्यादि नाना प्रकारके नियम करना उसको वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप कहते हैं.

कायक्लेशनिरूपणायोत्तरप्रबंधः—

अणुसूरी पडिसूरी य उड्ढसूरी य तिरियसूरी य ॥
उब्भागेण य गमणं पडिआगमणं च गंतूणं ॥ २२२ ॥

तिर्यगर्कमुपर्यर्कमन्वर्कं प्रतिभास्करम् ॥
याति ग्रामान्तरं गत्वा प्रत्यागच्छति वा यतिः ॥ २२० ॥

विजयोदया—अणुसूरी पूर्वस्या दिशा पश्चिमाशागमन करुतरतपे दिने । पडिसूरी अपरस्या दिशः आदित्याभिमुख गमनं । उड्ढसूरी य उर्ध्वं गते सूर्ये गमनं । तिरियसूरी य तिर्यगवस्थितं दिनकरं कृत्वा गमनं । उब्भागमेण गमणं स्वावस्थितग्रामाद्ग्रामान्तरं प्रति भिक्षार्थं गमनं । पडिआगमणं च गतूणं प्रत्यागमनं च गत्वा स्थाने ।

कायक्लेशतपो गमनस्थानासनशयननिष्ठीवनादिशरीरक्लेशक्रमाभिधाननिष्ठेन गाथाषट्केनाचष्टे—

मूलारा—अनुसूरिं अनुसूर्यं, सूर्यं पश्चात्कृत्य यानं । पडिसूरिं सूर्याभिमुखं गमनं । उड्ढसूरिं उर्द्धं गते सूर्ये गमनं । तिरियसूरिं सूर्यं पार्श्वतः कृत्वा गमनं । उब्भागमेण गमणं उद्भ्रमेन गमनं उद्भ्रमकेण ग्रामाद्ग्रामांतरे उद्भ्रेन अविश्रम्य गमनं । पडित्यादि ग्रामांतरं गत्वा पुनस्तत्रैवागमनम् ।

कायक्लेशनिरूपणार्थ आगेका प्रबंध लिखते हैं—

अर्थ—जिस दिन कडी धूप पडती है उस दिन पूर्व दिशामे पश्चिमदिशाके तरफ जाना, अनुसूरिगमन है पडिसूरी-

मूलारा—संसिट्ठं व्यंजनसंमिश्रं, फलिहा व्यंजनैकपार्श्वस्थितौदनं । परिखा व्यंजनमध्यस्थितकूरं । पुप्फोवहिदं पुष्पप्रकरवद्व्यंजनमध्यप्रकीर्णसिक्थकं । सुद्धगोवहिदं शुद्धेन निष्पावाद्यसंसृष्टेनान्नेनोपहितं संसृष्टं शाकव्यंजनादिकं वा । यदि वा शुद्धेन केवलेन केन जलेनोपहितं कूरं । लेवडं हस्तलेपकारि घोलादिकं । अलेवडं हस्तालेपकारि माथितादिकं । पाणगं द्राक्षादिशोधितं पानकं । तच्च निःसिक्थं ससिक्थं वा । भोज्यतया कल्पयति ।

अर्थ—शाक और कुल्माष अर्थात् कुलत्थादिक धान्योंसे मिश्रित अन्नको संसृष्ट कहते हैं. इस प्रकारका अन्न यदि मिले तो आहार करूंगा अन्यथा नही ऐसी प्रतिज्ञा करना. फलिह—थालीके मध्यमें भात रखकर उसके चारों तरफ भाजी रखना ऐसी रचनाको फलिह कहते हैं. इस तरहकी आकृतीका आहार यदि मिले तो ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना. परिखा—मध्यमें अन्न रखकर आसमंतात् व्यंजन रखना उसको परिख कहते हैं. इस प्रकार का अन्न यदि मिले तो आहार करूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना.

पुप्फोवहिदं—व्यंजनोंके बीचमें पुष्पोंके समान अन्नकी रचना करना उसको पुष्पोपहित कहते हैं. ऐसी रचना किया हुआ आहार यदि मिले तो लेनेकी प्रतिज्ञा करना, जिसमें मठ इत्यादि धान्यका मिश्रण नहीं है परंतु जिसमें भाजी और व्यंजन—चटनी वगैरे पदार्थ मिले हुये हैं उसको शुद्ध गोवहिद कहते हैं उसकी प्रतिज्ञा करना. लेवड—हाथको चिपकने वाला अन्न लेनेकी प्रतिज्ञा करना—अलेवड—जो हाथको नहीं चिपकता है ऐसा आहार लेनेकी प्रतिज्ञा करना. पान—सिक्थरहित अथवा सिक्थसहित आहार लेनेकी प्रतिज्ञा करना.

पत्तस्स दायगस्स य अवग्गहो बहुविहो ससत्तीए ॥
इच्चेवमादिविधिणा णादव्वा वुत्तिपरिसंखा ॥ २२१ ॥

विजयोदया—पत्तस्स एवंभूतेन भाजनेनैवानीतं गृह्णामि सौवर्णेन, कंसपात्र्या, राजतेन मृण्मयेन वा । दायगस्स य स्त्रियैव तत्रापि बालया, युवत्या, स्थविरया, निरलंकारया, ब्राह्मण्या, राजपुत्र्या इत्येवमादि अभिग्रहोऽवग्रहः । बहुविहो बहुविधः । ससत्तीए स्वशक्त्या । इच्चेवमादि एवंप्रकारा विविहा विविधा । णायव्वा ज्ञातव्या । वुत्तिपरिसंखा वृत्तिपरिसंख्या ॥

समपलियंक णिसेज्जा समपदगोदोहिया य उक्कुडिया ॥
मगरमुह हत्थिसुंडी गोणणिसेज्जद्धपलियंका ॥ २२४ ॥

पर्यंकमर्द्धपर्यंकं वीरपद्मगवासनम् ॥
आसनं हस्तिशुंडं च गोदोहमकराननम् ॥ २२२ ॥

विजयोदया—समपलियंकणिसेज्जा सम्यक्पर्यंकनिषद्या । समपदं स्फिक्पिंडसमकरणेनासनं । गोदोहिगा गोदोहने आसनमिवासनं । उक्कुडिगा ऊर्ध्वं संकुचितमासनं । मगरमुह मकरस्य मुखमिव कृत्वा पादावस्थानं । हत्थिसुंडी हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं प्रसार्यासनं । हस्तं प्रसार्येत्यपरे । गोणणिसेज्ज अद्धपलियंके गोनिषद्या गवामासनमिव अर्द्धपर्यंकं ।

एवं स्थानयोगं निरूप्यासनयोगं निरूपयति—

मूलारा—संपलियंकणिसज्जा सम्यक्पर्यंकासनं । समपुदं स्फिक्पिंडसमकरणेनासनं । गोदोहिगा गोदोहे आसनमिव पार्ष्णिद्वयमुत्क्षिप्याग्रपादाभ्यामासनम् । उक्कडिया पुताभ्यां भूमिमस्पृशतः समपादाभ्यामासनं । मगरमुह मकरस्य मुखमिव कृत्वा पादावासनं । हत्थिसुंडी हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं संकोच्य तदुपरि द्वितीयं पादं प्रसार्यासनं । एकं हस्तं प्रसार्येत्यपरे । गोणिसेज्जा जंघाद्वयं संकोच्य गोरिवासनं । अद्धपलियंके अर्द्धपर्यंकासनं गोनिषद्येव गवासनमिवार्द्धपर्यंकमिति व्याचष्टे ।

आसनयोगका वर्णन—

अथ–उत्तम पर्यंकासनसे बैठना उसको पर्यंकनिषद्या कहते हैं. समपद्—जंघा और कटिभागको समान करके बैठना. गोदोहिया—गायको दोहनेके समय जैसा बैठते हैं उस पद्धतीसे बैठना उत्कुटिकासन–जमीनको स्पर्श न हो इस रीतीसे समान पावोंपर बैठना वह उत्कुटिकासन है.

मगरमुह—मगरके मुखसमान पांवोंकी आकृति कर बैठना. हत्थिसुंडी–हाथी जैसे अपनी सुंडको पसारता है तद्वत् एक पांव पसारकर बैठना. एक हाथ पसारकर बैठनेको भी यही नाम है. गोणिसेज्ज–गवासन और अर्द्धपर्यंकासन ये सब बैठकर कायक्लेश तप करनेके प्रकार है.

पश्चिमदिशासे पूर्व दिशाको जाना. अर्थात् सूर्यके सम्मुख गमन करना. उद्धसूरि-सूर्य जब मस्तकपर चढता है ऐसे समयमें गमन करना. तिरियछरि-सूर्यको तिर्यक् करके गमन करना, उब्भागमेण गमणं-स्वयं ठहरे हुए ग्रामसे दुसरे गांवको विश्रांति न लेकर आहारके लिये गमन करना. और जाकर स्वस्थानको आना यह सब गमनरूप कायक्लेश तप है.

स्थानयोगनिरूपणा--

साधारणं सवीचारं सणिरुद्धं तहेव वोसट्टं ॥
समपादमेगपादं गिद्धोलीणं च ठाणाणि ॥ २२३ ॥

सावष्टंभं तनूत्सर्गं ससंक्रममसंक्रमम् ॥
गृद्धोर्ड्डीनमवस्थानं समपादैकपादकम् ॥ २२१ ॥

विजयोदया—साधारणं प्रमृष्टस्तंभादिकमुपाश्रित्य स्थानं । सवीचारं ससंक्रमं पूर्वावस्थितादेशाद्गत्वापि स्थापितस्थानं । सणिरुद्धं निश्चलमवस्थानं । तहेव तथैव । वोसट्टं कायोत्सर्गः । समपादौ समौ पादौ कृत्वा स्थानं । एगपादं एकेन पादेन अवस्थानं । गिद्धोलीणं गृद्धस्योद्ध्वगमनमिव बाहू प्रसार्यावस्थानं ।

मूलारा—साधारणं प्रमृष्टं स्तंभादिकमवष्टभ्य स्थानं उद्धस्यावस्थानं । सविचारं ससंक्रमं । पूर्वस्थानात् स्थानांतरे गत्वा प्रहरदिवसादिपरिच्छेदेनावस्थानमित्यर्थः । सणिरुद्धं निश्चलं तत्रैवावस्थानं । वोसट्टं कायोत्सर्गं । समपायं समौ पादौ कृत्वा स्थानं । एगपायं एकेनैव पादेनावस्थानं । गिद्धोलीनं गृद्धस्योर्द्धगमनमिव बाहू प्रसार्यावस्थानम् ।

स्थानयोगका निरूपण करते हैं—

अर्थ—स्वच्छ स्तंभ वा भींत इत्यादिकोंका आश्रय लेकर खडे होना यह साधारण कायक्लेश है. सविचार-पूर्वस्थानसे स्थानान्तरको जाकर वहां एक पहर, एकदिवस वगैरह प्रमाणसे खडे होना. स्वस्थानमें ही निश्चल खडे रहना. यह संनिरुद्ध है. वोसट्टं-कायोत्सर्ग करना. समपाद-पांव भूमिपर समान रखकर खडे होना. एकपाद-एक पांवसेंही खडे रहना. गिद्धोलीणं-गीधपक्षी जैसा आकाशमें उडते समय अपने पंख फैलाता है वैसा बाहु फैलाकर खडे होना.

समपलियंक णिसेज्जा समपदगोदोहिया य उक्कुडिया ॥
मगरमुह हत्थिसुंडी गोणणिसेज्जद्धपलियंका ॥ २२४ ॥
पर्यंकमर्द्धपर्यंकं वीरपद्मगवासनम् ॥
आसनं हस्तिशुंडं च गोदोहमकराननम् ॥ २२२ ॥

विजयोदया—समपलियंकणिसेज्जा सम्यक्पर्यंकनिषद्या । समपदं स्फिक्पिंडसमकरणेनासनं । गोदोहिगा गोदोहने आसनमिवासनं । उक्कुडिगा ऊर्ध्वं संकुचितमासनं । मगरमुह मकरस्य मुखमिव कृत्वा पादावस्थानं । हत्थिसुंडी हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं प्रसार्यासनं । हस्तं प्रसार्येत्यपरे । गोणणिसेज्ज अद्धपलियंकं गोनिषद्या गवामासनमिव अर्धपर्यंकं ।

एवं स्थानयोगं निरूप्यासनयोगं निरूपयति —

मूलारा—संपलियंकणिसज्जा सम्यक्पर्यंकासनं । समपुदं रिफक्पिंडसमकरणेनासनं । गोदोहिगा गोदोहे आसनमिव पार्ष्णिद्वयमुत्क्षिप्याग्रपादाभ्यामासनम् । उक्कडिया युताभ्यां भूमिमस्पृशतः समपादाभ्यामासनं । मगरमुह मकरस्य मुखमिव कृत्वा पादावासनं । हत्थिसुंडी हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं संकोच्य तदुपरि द्वितीयं पादं प्रसार्यासनं । एकं हस्तं प्रसार्येत्यपरे । गोणिसेज्जा जंघाद्वयं संकोच्य गोरिवासनं । अद्धपलियंकं अर्द्धपर्यंकासनं गोनिपद्येव गवासनमिवार्द्धपर्यंकमिति व्याचष्टे ।

आसनयोगका वर्णन—

अथ–उत्तम पर्यंकासनसे बैठना उसको पर्यंकनिपद्या कहते हैं. समपद—जंघा और कटिभागको समान करके बैठना. गोदोहिया—गायको दोहनेके समय जैसा बैठते हैं उस पद्धतीसे बैठना उत्कुटिकासन–जमीनको स्पर्श न हो इस रीतीसे समान पावोंपर बैठना वह उत्कुटिकासन है.

मगरमुह—मगरके मुखसमान पांवोंकी आकृति कर बैठना. हत्थिसुंडी–हाथी जैसे अपनी सुंडको पसारता है तद्वत् एक पांव पसारकर बैठना. एक हाथ पसारकर बैठनेको भी यही नाम है. गोणिसेज्ज–गवासन और अर्द्धपर्यंकासन ये सब बैठकर कायक्लेश तप करनेके प्रकार है.

वीरासणं च दंडा य उड्ढसाई य लगडसाई य ॥
उत्ताणो मच्छिय एगपाससाई य मडयसाई य ॥ २२५ ॥

समस्फिगं समस्फिक्कं कुर्यं कुक्कुटकासनम् ॥
बहुधेत्यासनं साधोः कायक्लेशविधायिनः ॥ २२३ ॥
कोदंडलगडादंडशवशय्यापुरस्सरम् ॥
कर्तव्या बहुधा शय्या शरीरक्लेशकारिणा ॥ २२४ ॥

विजयोदया—वीरासणं जंघे विप्रकृष्टदेशे कृत्वासनं । दंडवदायतं शरीरं कृत्वा शयनं । स्थित्वा शयनं च ऊर्ध्वशायीत्युच्यते । लगडसाई संकुचितगात्रस्य शयनं । उत्ताणो उत्तानं शयनं । अवमस्तकशयनं एकपार्श्वशयनं च ।

मूलारा—वीरासणं ऊरुद्वयोपरि पादद्वयविन्यासः । जंघे विप्रकृष्टदेशे कृत्वासनमिति टीकाकृत् । इतःशयनभेदानाह—दंडायदोड्ढसाई दंडवदायतं शरीरं कृत्वा शेते इत्येवं व्रतं यस्य स दंडायतशायी साधुस्तत्साहचार्यात्तच्छयनमपि तथोक्तं दंडायतशयनमित्यर्थः । एवमूर्द्ध्वशाय्यादीनामपि व्युत्पत्तिः कार्या, ऊर्द्ध्वीभूयशयनमूर्द्ध्वशायी । लगडसाई संकुचितचरणस्य शयनं । उत्ताणेत्यादि—उत्तानस्य शयनं उत्तानशयनं । अवमस्तकशयनमधोमुखदानं । एकपार्श्वशयनं च । मडयसाई मृतकस्येव निश्चेष्टं शयनम् ।

अर्थ—वीरासन-दो जांघे दूर अन्तर पर स्थापन कर बैठना. दंडायत शयन-दंडके समान शरीर दीर्घ कर सोना. खडे होकर शयन करना. लगडसायी-अवयवोंका संकोच कर शयन करना. मुंह ऊपर कर सोना वह उत्तानशयन है. मस्तक नीचे करके सोना अवमस्तकशयन है और एक बाजुसे सोना वह एक पार्श्वशयन है.

अब्भावगाससयणं अणिट्ठुवणा अकंडुगं चेवं ॥
तणफलयसिलाभूमी सेज्जा तह केसलोचे य ॥ २२६ ॥

काष्ठाश्मतृणभूशय्या दिवानिद्राविपर्ययः ॥
दुर्धराभ्रावकाशादियोगत्रितयधारणम् ॥ २२५ ॥

विजयोदया—अभ्भावगाससयणं बहिर्निरावरणदेशे शयनं। अणिट्ठिवणगं निष्ठीवनाकरणं । अकंडुवणगं च अकंडूयनं। तणफलगसिलाभूमीसेज्जा तृणादिषु शय्या। तहा तथा। केसलोओ य केशलोचश्च।

मूलारा—अब्भावगाससयणं बहिर्निरावरणदेशे शयनं। इतःक्लेशांतराण्याह—अणिट्ठिवणगं निष्ठीवनाकरणं। अकंडुवणगं। अकंडूयनं।

अर्थ— बाह्य आवरणरहित जमीनपर शयन करना वह अभ्रावकाश शयन है. अनिष्ठीवनक—नहीं थूकना. अकंडूयन-अंगमें खुजली उत्पन्न होनेपर भी नहीं खुजालना. तृण, काठका फलक, शिला इत्यादिकोंपर शयन करना तथा केशलोच करना.

अब्भुट्ठणं च रादो अण्हाणमदंतधोवणं चेव ॥
कायकिलेसो एसो सीदुण्हादावणादी य ॥ २२७ ॥

दंतधावनकंडूतिस्नाननिष्ठीवनासनम् ॥
यामिनीजागरो लोचः कायक्लेशोऽयमीरितः ॥ २२६ ॥
सूत्रानुसारतः साधोः कायक्लेशं विलन्वतः ॥
चिंतिताः संपदः सर्वाः संपद्यंते करस्थिताः ॥ २२७ ॥

विजयोदया—अब्भुट्ठणं च रादो रात्रावशयनं जागरणमित्यर्थः। अण्हाणं अस्न[illegible]न। अदंतधोवणं चेव दंतानामशोधनं। कायकिलेसो कायक्लेशः। एसो एषः। सीदुण्हादावणादी य। शीतातपनमुष्ण[illegible]तपनमित्येवमादिकं।

मूलारा—अब्भुट्ठाणं रादो रात्रावप्यशयनं। चोऽत्राप्यर्थे भिन्नक्रमो यो[illegible]यः। सीदुण्हादावणादीणि शीतेनातापेन च समंतात्कायस्य क्लेशनं। आदिशब्देन वृष्टिक्लेशादि ॥

अर्थ—रातमें जागरण करना, स्नान नहीं करना, दांत धो[illegible]का त्याग करना. ये सब कायक्लेशके प्रकार है. शीतकालमें कायक्लेश करना और धूपमें शरीरको क्लेश करना. इत्यादिरूपसे कायक्लेश तप अनेक प्रकार का है.

विविक्तशयनासननिरूपणा—

जत्थ ण सोत्तिग अत्थि दु सद्दरसरूवगंधफासेहिं ॥
सज्झायज्झाणवाधादो वा वसधी विवित्ता सा ॥ २२८ ॥

विविक्तवसतिः सास्ति यस्यां रूपरसादिभिः ॥
संपद्यते न संक्लेशो न ध्यानाध्ययनेक्षतिः ॥ २२८ ॥

विजयोदया—जत्थ ण सोत्तिग यस्यां वसतौ न विद्यतेऽशुभपरिणामः। सद्दरसरूवगंधफासेहिं शब्दरसरूपगंधस्पर्शैः करणभूतैः मनोज्ञैरमनोज्ञैर्वा। सा विवित्ता वसधी विविक्ता वसतिः। सज्झायज्झाणवाधादो स्वाध्यायध्यानयोर्व्याघातो वा नास्ति सा विविक्ता भवति।

विविक्तशय्याख्यं तपो गाथापंचकेन व्याचक्षाण प्रथमं विविक्तवसतिसामान्यलक्षणमाह—

मूलारा—विसोत्तिगा अशुभपरिणामो रागद्वेषमोहात्मकसंक्लेशरूपः। वाघादो विनाशः।

विविक्तशयनासनतपका वर्णन करते हैं—

अर्थ—जिस वसतिकामें मनोहर और अमनोहर ऐसे स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्दोंसे अशुभ परिणाम नहीं होते हैं वह वसतिका रहनेके लिये योग्य है. तथा जिसमें स्वाध्याय और ध्यानमे विघ्न नहीं होता है वह वसतिका मुनिओंको रहनेके लिये योग्य होती है. ऐसी वसतिकाको विविक्तवसतिका कहना चाहिये.

वियडाए अवियडाए समविसमाए बहिं च अंतो वा ॥
इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए सीदाए उसिणाए ॥ २२९ ॥

अंतर्बहिर्भवां शय्यां विकटां विषमां समाम् ॥
वांछन्नविकटां सेव्यां रामाषंढपशूज्झिताम् ॥ २२९ ॥

विजयोदया—वियडाए उद्घाटितद्वारायां। अवियडाए अनुद्घाटितद्वारायां वा। समविसमाए समभूमिसमन्वितायां विषमभूमिसमन्वितायां। बहिं च बहिर्भागे वा। अंतो वा अभ्यंतरे वा। इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए स्त्रीभिर्नपुंसकैः पशुभिश्च वर्जितायां वसतौ। सीदाए शीतायां। उसिणाए उष्णायां।

वा । वहिव्य वहिर्वा । ग्रामनगरादेरिति शेषः ।

अर्थ—जिसके द्वार खुले हैं अथवा जिसके दरवाजे ढके हुये हैं. जो समभूमिसहित है, जो विषमभूमि सहित है जो बाह्य भागमें है अथवा अन्तभागमें है, जो स्त्री, पुरुष और नपुंसकवर्जित है, जो शीत और उष्ण है वह वसतिका विविक्त वसतिका है.

उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए दु ॥
वसदि असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए ॥ २३० ॥

उद्गमोत्पादनावल्भादोषमुक्तामपक्रियां ॥
अविविक्तजनागम्यां गृहशय्याविवर्जितां ॥ २३० ॥

विजयोदया—उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितायां । तत्रोद्गमो दोषो निरूप्यते । वृक्षच्छेदस्तदानयनं, इष्टकापाकः, भूमिखननं, पाषाणसिकतादिभिः पूरणं, धरायाः कुट्टनं, कर्दमकरणं, कीलानां करणं, अग्निनायस्तापनं कृत्वा प्रताड्य क्रकचैः काष्ठपाटनं, वासीभिस्तक्षणं, परशुभिश्छेदनं इत्येवमादिव्यापारेण षण्णां जीवनिकायानां बाधां कृत्वा स्वेन वा उत्पादिता, अन्येन वा कारिता वसतिराधाकर्मशब्देनोच्यते । यावन्तो दीनानाथकृपणा आगच्छन्ति लिंगिनो वा तेषामियमित्युद्दिश्य कृता, पाषंडिनामेवेति वा श्रमणानामेवेति, निर्ग्रन्थानामेवेति सा उद्देसिगा वसदित्ति भण्यते । आत्मार्थं गृहं कुर्वता अपवरकं संयतानां भवत्विति कृतं अब्भोवब्भमित्युच्यते । आत्मनो गृहार्थमानीतैः काष्ठादिभिः सह बहुभिः श्रमणार्थमानीतास्तेन मिश्रिता यत्र गृहे तत्पूतिकमित्युच्यते । पाषंडिनां गृहस्थानां वा क्रियमाणे गृहे पश्चात्संयतानुद्दिश्य काष्ठादिमिश्रणेन निष्पादितं वेश्म मिश्रम् । स्वार्थमेव कृतं संयतार्थमिति स्थापितं ठविदं इत्युच्यते । संयतः स च यावद्भिर्दिनैरागमिष्यति तत्प्रवेशदिने गृहसंस्कारं सकलं करिष्यामः इति चेतसि कृत्वा यत्संस्कारितं वेश्म तत्पाहुडिगमित्युच्यते । तदागमानुरोधेन गृहसंस्कारकालापन्हासं कृत्वा वा संस्कारिता वसतिः प्रदीपकं वा तत्प्रादुष्कृतमित्युच्यते । यद्गृहं अंधकारबहुलं तत्र बहुलप्रकाशसंपादनाय यतीनां छिद्रीकृतकुड्यं, अपाकृतफलकं, सुविन्यस्तप्रदीपकं वा तत्पादुष्कारशब्देन भण्यते । द्रव्यक्रीतं भावक्रीतं इति द्विविधं क्रीतं वेश्म, सचित्तं गोबलीवर्दादिकं दत्वा संयतार्थंक्रीतं, अचित्तं वा गुडखंडादिकं दत्वा क्रीतं द्रव्यक्रीतं । विद्यामंत्रादिदानेन वा क्रीतं भावक्रीतं । अल्पमृणं कृत्वा वृद्धिसहितं अवृद्धिकं वा गृहीतं संयतेभ्यः पामिच्छं उच्यते । मदीये वेश्मनि तिष्ठतु भवान् युष्मदीयं तावद्गृहं यतिभ्यः प्रयच्छेति गृहीतं परियट्टमित्युच्यते । कुड्याद्यर्थं कुटीरकटादिकं स्वार्थं निष्पन्नमेव यत्संयतार्थमानीतं तदब्भ्याहिडमुच्यते । तद्द्वि-

विधमाचरितमनाचरितमिति । दूरदेशाद्ग्रामान्तराद्वानीतमनाचरितं इतरदाचरितं । इष्टकादिभिः, मृत्पिंडेन, वृत्या, कवाटेनोपलेन वा स्थगितं अपनीय दीयते यत्तदुद्भिन्नं । निश्रेण्यादिभिरारुह्य इत आगच्छत युष्माकमियं वसतिरिति या दीयते द्वितीया तृतीया वा भूमिः सा मालारोहमित्युच्यते । राजामात्यादिभिर्भयमुपदर्श्य परकीयं यद्दीयते तदुच्यते अच्छेद्यं इति । अनिसृष्टं पुनर्द्विविधं । गृहस्वामिना अनियुक्तेन या दीयते वसतिः यत्स्वामिनापि बालेन परवशवर्तिना दीयते सोऽप्यनिसृष्टेति उच्यते । उद्गमदोषा निरूपिताः ।

उत्पादनदोषा निरूप्यन्ते—पंचविधानां धात्रीकर्मणां अन्यतमेनोत्पादिता वसतिः । कश्चिद्दारकं स्नपयति, भूषयति, क्रीडयति, आशयति, स्वापयति वा । वसत्यर्थमेवोत्पादिता वसतिर्धात्रीदोषदुष्टा । ग्रामान्तराद्नगरान्तराच्च देशादन्यदेशतो वा संबंधिनां वार्तामभिधायोत्पादिता दूतकर्मोत्पादिता । अंगं, स्वरो, व्यंजनं, लक्षणं, छिन्नं, भौमं, स्वप्नोऽन्तरिक्षमिति एवंभूतनिमित्तोपदेशेन लब्धा वसतिर्निमित्तदोषदुष्टा । आत्मनो जातिं, कुलं, ऐश्वर्यं वाभिधाय स्वमाहात्म्यप्रकटनेनोत्पादिता वसतिराजीवशब्देनोच्यते । भगवन्सर्वेषां आहारदानाद्वसतिदानाच्च पुण्यं किमु महदुपजायते इति पृष्टो न भवतीत्युक्ते गृहिजनः प्रतिकूलवचनरुष्टो वसतिं न प्रयच्छेदिति एवमिति तदनुकूलमुक्त्वा योत्पादिता सा वणिगवा शब्देनोच्यते । अष्टविधया चिकित्सया लब्धा चिकित्सोत्पादिता । क्रोधोत्पादिता । गच्छतामागच्छतां च यतीनां भवदीयमेव गृहमाश्रयः इतीयं वार्ता दूरादेवास्माभिः श्रुतेति पूर्वं स्तुत्वा या लब्धा । वसनोत्तरकालं च गच्छन्प्रशंसां करोति पुनरपि वसतिं लप्स्ये इति । एवं उत्पादितासंस्तवदोषदुष्टाः । विद्यया, मंत्रेण, चूर्णप्रयोगेण वा गृहिणं वशे स्थापयित्वा लब्धा । मूलकर्मणा वा भिन्नकन्यायोनिसंस्थापना मूलकर्म । विरक्तानां अनुरागजननं वा । उत्पादनाख्योऽभिहितो दोषः षोडशप्रकारः ॥

अथ एषणादोषान्दश प्राह—

किमियं योग्या वसतिर्नेति शंकिता । तदानीमेव लिप्ता सत्यालिप्ता सती वा छिद्रस्खलज्जलप्रवाहेण वा, जलभाजनलोठनेन वा तदानीमेव लिप्ता वा म्रक्षितेत्युच्यते । सचित्तपृथिव्या, अपां, हरितानां, बीजानां त्रसानां उपरि स्थापितं पीठफलकादिकं अत्र शय्या कर्तव्येति या दीयते सा पिहिता । काष्ठचेलकंटकप्रावरणाद्याकर्षणं कुर्वता पुरोयायिनोपदर्शिता वसतिः साहारणशब्देनोच्यते । मृतजातसूतकयुक्तगृहिजनेन, मत्तेन, व्याधितेन, नपुंसकेन, पिशाचगृहीतेन, नग्नया वा दीयमाना वसतिर्दायकदुष्टा । स्थावरैः पृथिव्यादिभिः, त्रसैः पिपीलिकामत्कुणादिभिः सहितोन्मिश्रा अधिकवितस्तिमात्राया भूमेरधिकाया अपि भुवो ग्रहणं प्रमाणातिरेकदोषः । शीतवातातपाद्युपद्रवसहिता वसतिरियमिति निंदां कुर्वतो वसनं धूमदोषः । निर्वाता, विशाला, नात्युष्णा शोभनेयमिति तत्रानुराग इंगाल इत्युच्यते । एवमेतैरुद्गमादिदोषैरनुपहता वसतिः शुद्धा तस्याः । अकिरियाए दुःप्रमार्जनादिसंस्काररहितायाः । असंसत्ताए जीवसंभवरहितायाः । णिप्पाहुडियाए शय्यारहितायाः । सेज्जाए वसतौ । अन्तर्बहिर्वा वसइ वसति । यतिर्विविक्तशय्यासनरतः ।

१ छ पुस्तके नास्त्ययं पाठः । २ क्रोधं, मानं, मायां, लोभं वा प्रयुज्योत्पादिता क्रोधादिचतुष्टयदुष्टा ॥ इति

मूलारा—उग्गमेत्यादि उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितायां । तत्राहारोपधवसतिसंस्तरोपकरणादिकं यतये देयमुद्गच्छति उत्पद्यते यैर्दातुः क्रियाविशेषैर्मार्गविरोधिभिस्ते उद्गमोद्देशिकादयः षोडश । यैश्च भक्तादिकमुत्पाद्यते मार्गविरोधिभिस्ते धात्र्यादयः षोडश साधोः क्रियाभेदा उत्पादनाः । तथा चावोचाम धर्मामृते—

भक्ताद्युद्गच्छत्यपथ्यैर्यैरुत्पाद्यते च ते ॥
दातृयत्योः क्रियाभेदा उद्गमोत्पादनाः क्रमात् ॥

एते द्वात्रिंशदप्याधाकर्मांशत्वाद्दोषत्वेन व्यपदिश्यंते । भक्ताद्यर्थं यतेः षड्जीवनिकायबाधनं तत्कारणं वा भक्तादिकमेवाधाकर्मेत्युच्यते । एषणादोषास्तु शंकितादयो दश । ते च मूलाचारोक्ता यथा—

आधाकम्मुद्देसिय अज्झोवज्झे य पूदिमिस्से य ॥
ठविदे बलि पाहुडिदे पादुकारे य कीदे य ॥
पामिच्छे परियट्टे अभिहडमुब्भिण्णमालमारोहे ॥
अच्छिज्जे अणिसट्ठे उग्गमदोसा दु सोलसिमे ॥
धादी दूदणिमित्ते आजीवे वणिवगे य तेगिंछे ॥
कोही माणी मायी लोही य हवंति दश एदे ॥
पुर्व्वं पच्छासंथुइ विज्जामंते य चुण्णजोगे य ॥
उप्पायणा य दोसो सोलसिमो मूलकम्मो य ॥
संकिदमक्खिदणिक्खित्तपिहिद संववहरणदायगुम्मिस्से ॥
अपरिणदलित्तछोडिद एसणदोसा दु दस एदे ॥

तत्र वृक्षच्छेदेष्टकापाककर्दमकरणादिव्यापारेण षण्णां जीवनिकायानां बाधां कृत्वा स्वेनोत्पादिता अन्येन वा कारिता क्रियमाणा वानुमोदिता वसतिराधाकर्मशब्देनोच्यते ॥

१ यावन्तो दीनानाथकृपणा आगच्छन्ति लिंगिनो वा तेषामियमित्युद्दिश्य कृता, पार्षडिनामेवेति वा श्रवणानामेव निर्ग्रंथानामेवेति सा वसतिरुद्देशिका ॥ १ ॥

२ आत्मार्थं गृहं कुर्वता अपवरकं संयतानां भवत्विति कृतं अज्झोवज्झमित्युच्यते ॥

३ आत्मनो गृहार्थमानीतैः काष्ठादिभिः सह श्रमणार्थमानीतेनाल्पेन मिश्रता यत्र गृहे तत्पूतिकं । ४ पाषंडिनां गृहस्थानां वा सम्बन्धित्वेन क्रियमाणे गृहे पश्चात्संयतानुद्दिश्य काष्ठादिमिश्रणेन निष्पादितं वेश्म मिश्रं । ५ स्वार्थमेव कृतं संयतार्थमिदं इति स्थापितं ठविदं । ६ यक्षनागमातृकाकुलदेवतार्थं कृतं गृहं तेभ्यश्च यथास्वं दत्तं, तद्दत्तावशिष्टं यतिभ्यो दीयमानं बलिरित्युच्यते । ७ संयता इयद्भिर्दिनैरागमिष्यन्ति, तत्प्रवेशदिने गृहसंस्कारं सफलं करिष्याम इति चेतसि कृत्वा यत्संस्कारितं वेश्म तत्पाहुडिदं । तदागमानुरोधेन गृहसंस्कारकालापन्हासं कृत्वा वा संस्कारिता वसतिः ॥ ८ यद्गृहं अंधकारबहुलं तत्र प्रकाशसंपादनाय यतीनां छिद्रीकृतकुड्यमपाकृतफलकं विन्यस्तप्रदीपकं वा तत्पादुष्कारम् । ९ गवादिना वा सचित्तेन, गुडादिना वा अचित्तेन द्रव्येण, विद्यामंत्रादिदानेन वा भावेन क्रीतं क्रीदमित्युच्यते । अल्पमृणं कृत्वा सवृद्धिकमवृद्धिकं वा संयतार्थं गृहीतं पामिच्छं । ११ मद्गृहे तिष्ठतु भवान् स्वगृहं यतिभ्यः प्रयच्छेति गृहीतं परियट्टं ॥ १२ । कुटीकटकादिकं स्वार्थनिष्पन्नमेव संयतार्थमानीतं तदभिहडं । तच्च दूरदेशादानीतमाचरितं इतरदनाचरितम् । १३ इष्टकाभिर्मृत्पिंडेन कृत्वा कपाटेन वा स्थगितमपाकृत्य यद्दीयते तदुद्भिन्नम् । १४ निःश्रेण्यादिभिरारुह्य इत आगच्छत युष्माकमियं वसतिरिति या दीयते द्वितीया तृतीया वा भूमिः स मालारोहं । १५ राजामात्यादिभिर्भयमुपदर्श्य परकीयं यद्दीयते तदच्छिज्जं । १६ गृहस्वामिना अनियुक्तेन या दीयते या च स्वामिनापि वा बालेन परवशेन सोभय्यपि वसतिरनिसृष्टा एवमुद्गमदोषाः । षोडश ॥

१ अथोत्पादनदोषाः । दारकाणां स्नपनेनालंकरणेन, क्रीडनेन, भोजनेन, स्वापेन वा धात्रीवत्कर्मणा संयतेनोत्पादिता वसतिः धात्रीदोषदुष्टा ॥ १ ॥

२ ग्रामांतरादेर्लेखं संदेशं वार्तां वा संपाद्योत्पादिता दूतकर्मदुष्टा । ३ अंगादिनिमित्तोपदेशाल्लब्धा निमित्तदुष्टा । ४ स्वस्य जातिं कुलमैश्वर्यमभिधाय माहात्म्यप्रकाशनेनोत्पादिता आजीवदुष्टा । ५ भगवन्सर्वेषामाहारदानाद्वसतिदानाद्वा किं पुण्यं जायेत उत नेति पृष्टो यदि न जायत इति ब्रवीमि तदेष गृही रुष्टो वसतिं मे न प्रयच्छेदिति संप्रधार्य तदनुकूलकथनादुत्पादिता वणिवगदुष्टा । ६ वैद्यकर्मणा दुष्टा चिकित्सादुष्टा । ७ क्रोधं, मानं, मायां, लोभं वा प्रयुज्योत्पादिता क्रोधादिचतुष्टयदुष्टा ॥ गच्छतामागच्छतां च यतीनां भवदीयमेव गृहमाश्रयः इत्येषा वार्ता दूरादेवास्माभिः श्रुतेति पूर्वं स्तुत्वा या लब्धा सा पूर्वसंस्तवदुष्टा । वसनोत्तरकालं गच्छन्पुनरपि वसतिं लप्स्ये इति यत्प्रशंसति सा पश्चात्संस्तवदुष्टा । एवं षोडशोत्पादना दोषाः ॥ एषणादोषाः शंकितादयो दश यथा— १ किमियं योग्या वसतिर्न वेति

कीचड करना, खंबे तयार करना, अग्निसे लोह तपावना, करौंतमे लकडी चीरना, पटासीसे छीलना, कुन्हाडीसे छेदन करना, इत्यादि क्रियाओंसे षट्कायजीवोंको बाधा देकर स्वयं वसतिका बनाई हो अथवा दूसरोंसे बनवाई हो वह वसतिका अधःकर्म के दोषसे युक्त है.

२ जिसने दीन, अनाथ अथवा कृपण आवेंगे अथवा सर्वधर्मके साधु आवेंगे किंवा जैन धर्मसे भिन्न ऐसे साधु अथवा निर्ग्रंथमुनि आवेंगे उन सबजनोंको यह वसति होगी इस उद्देशसे जो वसतिका बांधी जाती है वह उद्देशिक दोषसे दुष्ट है.

३ जब गृहस्थ अपने लिये घर बंधवाता है तब यह कोठरी संयतोंके लिये होगी ऐसा मनमें विचार कर जो बंधवाई गई वह वसतिका अब्भोब्भव दोषसे दुष्ट है.

४ अपने घरके लिये लाये गये बहुत काष्ठादिकोंसे श्रमणोंके लिये लाये हुवे काष्ठादिक मिश्रण कर बनवाई गई जो वसतिका वह पूतिक दोषसे दुष्ट हैं.

५ पाखंडि साधु अथवा गृहस्थोंके लिये घर बांधनेका कार्य शुरु हुआ था तदनंतर संयतोंके उद्देशसे काष्ठादिकोंका मिश्रण कर बनवाई जो वसतिका वह मिश्र दोषसे दूषित समझना चाहिये.

६ गृहस्थने अपने लिये ही प्रथम बनवाया था परंतु नंतर यह गृह संयतोंके लिये हो ऐसा संकल्प जिसमें हुआ है वह गृह स्थापित दोषसे दुष्ट है.

७ संयत अर्थात् मुनि वे इतने दिनोंके अनंतर आवेंग अतः जिस दिनमें उनका आगमन होगा उस दिनमें सब घर झाडकर, लीपकर स्वच्छ करेंगे ऐसा मनमें संकल्प कर प्रवेशदिनमें वसतिका संस्कृत करना वह पाहुडिग नामका दोष है.

पाहुडिग दोषके प्रथम बलिनामक दोषका मूलाराधना दर्पणमें ऐसा लक्षण लिखा है—यक्ष, नाग, माता, कुलदेवता इनके लिये घर निर्माण करके उनको देकर अवशिष्ट रहा हुआ स्थान मुनिको देना यह बलि नामका दोष है.

मुनि भनेके अनुसार संस्कारके कालमें न्हास कर अर्थात् उनके पूर्वमें संस्कारित जो वसतिका वह पादुष्कृत दोषसे दूषित समझना चाहिये.

जिस घरमें विपुल अंधकार हो तो वहां प्रकाशके लिये भित्तीमें छेद करना, वहां काष्टका फलक होगा तो वह निकालना, उसमें दीपककी योजना करना यह पादुकार दोष है.

द्रव्यक्रीत और भावक्रीत ऐसे खरेदी किये हुए घरके दो भेद हैं. गाय, बैल वगैरह सचित्त पदार्थ देकर संयतोंके लिये खरीदा हुआ जो घर उसको सचित्त द्रव्यक्रीत कहते हैं. घृत, गुड, खांड ऐसे अचित्त पदार्थ देकर खरीदा हुआ जो घर उसको अचित्तक्रीत कहते हैं.

विद्या, मंत्रादि देकर खरीदे हुए घरको भावक्रीत कहते हैं. अल्पऋण करके और उसका सूद देकर अथवा न देकर संयतोंके लिये जो मकान लिया जाता है वह पामिच्छ दोषसे दूषित है.

मेरे घरमें आप ठहरो और आपका घर मुनिओंको रहनेकेलिये दो ऐसा कहकर उनसे लिया जो घर वह परियट्ट दोषसे दूषित समझना चाहिये.

अपने घरकी भीतके लिये जो स्तंभादिक सामग्री तयार की थी वह संयतोंके लिये लाना वह अभिघट नामका दोष है, इस दोषके आचरित और अनाचरित ऐसे दो भेद हैं. जो सामग्री दूर देशसे अथवा अन्यग्रामसे लायी होय तो उसको अनाचरित कहते हैं और जो ऐसी नहीं होय तो वह आचरित समझना चाहिये.

ईंट, मट्टीके पिंड, कांटोंकी वाडी अथवा कवाट, पाषाणोंसे ढका हुआ जो घर खुला करके मुनिओंको रहनेके लिये देना वह उद्भिन्न दोष है.

नसैनी वगैरहसे चढकर आप यहां आइये आपके लिये यह वसतिका दी जाती है ऐसा कहकर संयतोंको दूसरा अथवा तीसरा मंजिला रहनेके लिये देना यह मालारोह नामका दोष है.

राजा अथवा प्रधान इत्यादिकोंसे भय दिखाकर दूसरेका गृहादिक यतिओंको रहनेके लिये देना वह अच्छेज्ज नामका दोष है.

अनिसृष्ट दोषके दो भेद हैं. जो दानकार्य में नियुक्त नहीं हुआ है ऐसे स्वामीसे जो वसतिका दी जाती है वह अनिसृष्ट दोषसे दूषित है. और जो वसतिका बालक और परवश ऐसे स्वामीसे दी जाती है वह भी उपयुक्त दोषदूषित समझनी चाहिए इस तरहसे उद्गमदोष निरूपण किए.

उत्पादन दोषका निरूपण—

जगतमें धात्रीके पांच प्रकार हैं. कोई धात्री बालकको स्नान कराती है, कोई उसको आभूषण पहनाती है, कोई उसका मन क्रीडाओंसे प्रसन्न रखती है. कोई उसको अन्न पानसे पुष्ट करती है, और कोई उसको सुलाती है. ऐसे धात्रीके पांच कार्योंमेंसे किसी भी कार्यका गृहस्थको उपदेश देकर उससे यति अपने को रहनेकेलिए वसतिका प्राप्त करते हैं अतः यह वसतिका धात्रीदोषसे दुष्ट है.

अन्यग्राम, अन्यनगर, देश और अन्य देशके संबन्धी जनोंकी वार्ता श्रावकको निवेदन कर वसतिका प्राप्त करना यह दूतकर्म नामका दोष है.

अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न, और अन्तरिक्ष ऐसे निमित्तशास्त्रके आठ विषय हैं. इनका उपदेश कर श्रावकसे वसतिकाकी प्राप्ति करना यह निमित्त नामका दोष है. अपनी जाति, कुल ऐश्वर्य वगैरह का वर्णन कर अपना माहात्म्य श्रावकको निवेदन कर वसतिकाकी प्राप्ति कर लेना यह आजीवनामक दोष है.

हे भगवन् सर्व लोगोंको आहार दान देनेसे और वसतिकाके दानसे क्या महान्पुण्यकी प्राप्ति न होगी ? ऐसा श्रावक का प्रश्न सुनकर यदि मैं पुण्यप्राप्ति नहीं होती है ऐसा कहूं तो श्रावक रुष्ट होकर वसतिका नहीं देगा ऐसा मनमें विचार कर उसके अनुकूल वचन बोलकर वसतिकाकी प्राप्ति करना यह वणिवग दोप है.

आठ प्रकारकी चिकित्सा करके वसतिकाकी प्राप्ति करलेना यह चिकित्सा नामक दोप है.

क्रोध, मान, माया और लोभ दिखाकर जो वसतिकाकी प्राप्ति कर लेना वह क्रोधादि चतुष्टय दोप है.

जाने वाले और आनेवाले मुनिओंको आपका घर ही आश्रय स्थान है. यह वृत्तान्त हमने दूर देशमें भी सुना है ऐसी प्रथम स्तुति करके वसतिकाको प्राप्त करना यह पूर्वस्तुति नामका दोप है. निवास कर जानेके समय पुनः भी कभी रहनेके लिए स्थान मिले इस हेतुसे स्तुति करना यह पश्चात्स्तुति नामका दोप है.

विद्या, मंत्र अथवा चूर्ण प्रयोगसे गृहस्थको अपने वश कर वसतिकाकी प्राप्ति करलेना यह विद्यादि दोप है. भिन्न कन्या अर्थात् भिन्न जातीकी कन्याके साथ संबंध मिला देकर वसतिकाका प्राप्त करना अथवा विरक्तोंको अनुरक्त करनेका उपाय कर उनसे वसतिका प्राप्त कर लेना यह मूलकर्म नामका दोप है. इस प्रकार उत्पादन नामक दोपके सोला भेद कहे हैं.

अब एषणा दोषके दश भेद दिखाते हैं—

यह वसतिका योग्य है अथवा नहीं है ऐसी जिस वसतिकाके विषयमें शंका उत्पन्न होगी वह शंकित दोषदूषित समझनी चाहिये.

जो वसतिका तत्काल ही सींची गई है अथवा जिसकी तत्काल ही लीपा पोती की गई है. अथवा छिद्रसे निकलनेवाले जलप्रवाह से किंवा पानीका पात्र लुढकाकर जिसकी लीपापोती की गई है वह म्रक्षिता वसतिका समझनी चाहिये.

सचित्त जमीन के ऊपर, अथवा पानी, हरित वनस्पति, बीज वा त्रसजीव इन के ऊपर पीठ फलक वगैरे रखकर यहाँ आप शय्या करें ऐसा कहकर जो वसतिका दी जाती है वह निक्षिप्तदोष से युक्त है.

हरितकाय वनस्पति, कांटे, सचित्त मृत्तिका, वगैरेका अच्छादन हटाकर जो वसतिका दी जाती है वह पिहित दोषसे युक्त है

लकडी, वस्त्र, कांटे इनका आकर्षण करता हुआ अर्थात् इनको घसीटता हुआ आगे जानेवाला जो पुरुष उससे दिखाई गई जो वसतिका वह साधारण दोषसे युक्त होती है.

जिसको मरणाशौच अथवा जननाशौच है, जो मत्त, रोगी, नपुंसक, पिशाचग्रस्त और नग्न है ऐसे दोषसे युक्त गृहस्थके द्वारा यदि वसतिका दी गई हो तो वह दायक दोषसे दूषित है.

पृथिवी जल वगैरह स्थावर जीवोंसे और चींटी, मरकुण वगैरह त्रस जीवोंसे जो युक्त है वह वसतिका उन्मिश्र दोषसहित समझना चाहिये.

मुनिओंने जितने वितस्त प्रमाण भूमि ग्रहण करना चाहिये उससे भी अधिक प्रमाण की भूमीका ग्रहण करना यह प्रमाणातिरेक दोष है.

ठंड हवा और कडी धूप वगैरह उपद्रव इस वसतिकामें है ऐसी निंदा करते हुए वसतिकामें रहना यह धूम दोष है.

यह वसतिका वातरहित है, विशाल है, अधिक उष्ण है और अच्छी है ऐसा समझकर उसके ऊपर राग मान करना यह इंगाल नामका दोष है. इस तरह उद्गम उत्पादन और एषणादि दोषोंसे रहित वसतिका मुनिओंके

लिए योग्य है. जो वसतिका अच्छी तरहसे देख भाल न करके लीपी पोती है वह योग्य नहीं है. जो वसतिका जीवोत्पत्ति से रहित है वह योग्य है. जिससे कोई उपद्रव नहीं है अथवा जिसमें शय्या नहीं है. ऐसी वसतिकामें अन्दर बाहर जो मुनि रहता है वह विविक्त शय्यासन तपका धारक समझना चाहिये.

अथ का विविक्ता वसतिरित्याह—

सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूलआगंतुगारदेवकुले ॥
अकदप्पब्भारारामघरादीणि य विचित्ताइं ॥ २३१ ॥

शून्यवेश्मशिलावेश्मतरुमूलगुहादयः ॥
विविक्ता भाषिताः शय्याः स्वाध्यायध्यानवर्धिकाः ॥ २३१ ॥

विजयोदया—शून्य गृहं । गिरिगुहा, वृक्षमूलं, आगन्तुकानां वेश्म, देवकुलं । शिक्षागृहं केनचिदकृतं प्राग्भार शब्देनोच्यते । आरामगृहं क्रीडार्थमायातानां आवासाय कृतं । एता विविक्तवसतयः ।

विविक्तवसतिभेदानाह—

मूलारा—आगन्तुगारं सार्थवाहादिगृहं । अकदप्पब्भारं अकृतप्राग्भारं अकृत्रिमशिलागृहमित्यर्थः । आरामघरं आरामगृहं क्रीडार्थमायातानां आवासाय कृतं । विवित्ताइं एता विविक्ता वसतय इत्यर्थः ।

विविक्त वसतिकाका क्या स्वरूप है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—शून्यघर, पर्वतकी गुहा, वृक्षका मूल, देवमंदिर, व्यापारार्थ देश देशांतरोंमें फिरनेवाले व्यापारियोंको निवास करनेके लिये बनाये हुये घर, शिक्षागृह, शिलाओंसे स्वयं बना हुआ घर, अकृत्रिम गृह, क्रीडा करनेके लिये आनेवाले जनोंके लिये बनाये हुए घर ये सब विविक्तवसतिकायें हैं.

अत्र वसने दोषाभावमाचष्टे—

कलहो बोलो झंझा वामोहो संकरो ममत्तिं च ॥
ज्झाणाज्झयणविघादो णत्थि विवित्ताए वसधीए ॥ २३२ ॥

अयोग्यजनसंसर्गराटीकलकलादयः ॥
अविविक्तास्थितेः संति समाधाननिषूदिनः ॥ २३२ ॥
प्राग्भाराकृत्रिमारामदेवतादिगृहादिषु ॥
जायते वसतः साधोः समाधानमखंडितम् ॥ २३३ ॥

विजयोदया—कलहो बोलो ममेयं वसतिस्तवेयं वसतिरिति कलहो न केनचित् अन्यजनरहितत्वात् । बोलो शब्दबहुलता । झंझा सक्लेशो । वामोहो वैचित्र्यं । संकरो अयोग्यैरसंयतैः सह मिश्रणं । ममत्वं च ममेदंभावश्च । णत्थि नास्ति । ज्झाणज्झयणविघादो ध्यानस्याध्ययनस्य च व्याघातः । उक्तः कलहादिर्न विद्यते । क ? विवित्ताए वसधीए विविक्तायां वसतौ । एकस्मिन्प्रमेये निरुद्धज्ञानसंततिर्ध्यानं । अनेकप्रमेयसंचारी स्वाध्यायः ।

विविक्तवसतौ वसतां दोषाभावमाह—

मूलारा—कलहो ममेयं वसतिस्तवेयमिति कलिः । रोला रोलः शब्दबहुलतेत्यर्थः । झंझा संक्लेशं झकटक इत्येके । वामोहो वैचित्र्यं । संकरो असंयतैः सह मिश्रणं ॥

अर्थ—यह मेरी वसतिका है, यह तेरी वसतिका है ऐसा कलह करनेका प्रसंग विविक्त वसतिकामें रहने वाले मुनि के उपर आता नही है. एकांत वसतिकामें मनको व्यग्र करनेवाले शब्द सुननेमें आते नहीं हैं, संक्लेश परिणाम और मनकी व्यग्रताभी वहां होती नही है. अयोग्य असंयत पुरुषोंके साथ संबंध नहीं रहता है. विविक्त वसतिकाके ऊपर ममत्व रहता नहीं है. ध्यान और अध्ययनमें व्यत्यय आता नहीं. ध्यान और अध्ययनमें यह फरक है.– एकही विषयमें ज्ञानकी परंपरा स्थिर होना यह ध्यान है और अनेक विषयोंमें संचार करनेवाली ज्ञान-परंपराको स्वाध्याय कहते हैं.

इय सल्लीणमुवगदो सुहप्पवत्तोहिं तित्थजोएहिं ॥
पंचसमिदो तिगुत्तो आदट्ठपरायणो होदि ॥ २३३ ॥
एवमैकाग्र्यमापन्नो ध्यानैः शुद्धप्रवृत्तिभिः ॥
समितः पंचभिर्गुप्तस्त्रिभिरस्ति हितोद्यतः ॥ २३४ ॥

विजयोदया—इय एवं । सल्लीणं एकात्मतां उवगदो उपगतः । केन ? जोगेहिं योगैः तपोभिर्ध्यानैर्वा । सुहप्पवत्तेहिं सुखप्रवृत्तैः सुखेनाक्लेशेन प्रवृत्तैः । पंचसमिदो समितिपञ्चकोपेतः । तिगुत्तो कृताशुभमनोवाक्कायनिरोधः । आदट्ठपरायणो होदि आत्मप्रयोजनपरो भवति । एतेन कथ्यते—विविक्तवसतिस्थायी यतिर्निष्प्रतिद्वंद्वध्यानैः शुभैस्तपोभिर्वा स्वास्थ्यमुपगतः संवरं निर्जरां च स्वप्रयोजनं संपादयति इति ।

विविक्तवसतिस्थायी निर्विघ्नध्यानादिना प्राप्तस्वास्थ्यः संवरनिर्जरे करोतीति दर्शयति—

मूलारा—इय अनेन वसतिस्थायित्वलक्षणेन प्रकारेण । संलीण एकात्मतां । सुहप्पवत्तेहिं अक्लेशेन प्रवृत्तैः । तथ बाह्ये तपसि । संलीनमुपगत इति योज्यम् । जोगेहिं मनोवाक्कायैर्ध्यानैर्वा । तिगुत्तो कृताशुभमनोवाक्कायनिरोधः । आदट्ठपरायणो आत्मप्रयोजनपरः संवरनिर्जरानिष्ठः इत्यर्थः ।

अर्थ—इस प्रकार एकांत वसतिकामें निवास कर वह साधु क्लेशके बिना सुखसे तप और ध्यान कर आत्मस्वरूपमें लीन होता है. ईर्यासमिति वगैरह पांच समितिओंका पालन करता है. मन वचन और शरीरकी अशुभ प्रवृत्तियां रोक कर आत्मप्रयोजनमें तत्पर होता है. अभिप्राय यह है कि, एकांत वसतिकामें रहनेसे मुनिओंके ध्यानमें और स्वाध्यायमें विघ्न उपस्थित होते नहीं है. तथा रागद्वेषादिक संक्लेशपरिणामोंकी उत्पत्ति होती नहीं. तपसे मुनि निजस्वरूपमें स्थिर होकर संवर और निर्जरारूपमें आत्माके प्रयोजनको पूर्ण रूपसे प्राप्त कर सकते हैं. अतः विविक्तशय्यासन तप करना मुनिओंका परम कर्तव्य है.

संवरपूर्विकां निर्जरां स्तोतुमाह—

जो णिज्जरेदि कम्मं असंवुडो सुमहदावि कालेण ॥
तं संवुडो तवस्सी खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥ २३४ ॥

तन्निर्जरयते कर्म संवृत्तोऽन्तर्मुहूर्ततः ॥
षष्ठाष्टमादिभिः साधुस्तपसा यदसंवृतः ॥ २३५ ॥

विजयोदया—जं णिज्जरेदि कम्मं यत्कर्म निर्जरयति तपसा बाह्येन । कः ? असंवुडो असंवृतः अशुभयोगनिरोधरहितः । सुमहदावि कालेण सुष्ठु महता कालेनापि । तं तत्कर्म खवेदि क्षपयति । अंतोमुहुत्तेण अतिस्वल्पेन कालेन । कः ? संवुडो संवृतः गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयपरिणतः । तवस्सी तपस्वी अनशनादिमान् ।

संवरपुरःसरां निर्जरां गाथाद्वयेन स्तोतुमाह—

मूलारा—असंवुडो असंवृतो अशुभयोगनिरोधरहित इत्यर्थः । संवुडो गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयपरिणतः । तवस्सी अनशनादितपोनिष्ठः ।

संवरपूर्वक निर्जराकी ग्रंथकार स्तुति करते हैं—

अर्थ—अशुभ मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको न रोक कर बाह्यतपके द्वारा बहुतकालसे जो मुनि जितने कर्मकी निर्जरा करता है, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षादिकोंमें तत्पर रहनेवाला साधु उतना कर्म अनशनादि तपोंके द्वारा अंतर्मुहूर्तमें नष्ट करता है. गुप्ति समिति इत्यादिकोंसे संवरपूर्वक विपुल कर्मकी निर्जरा होती है और केवल बाह्य तप गुप्ति समित्यादिकोंके आश्रयसे रहित होकर बहुकालसे भी उतनी निर्जरा नहीं कर सकता है.

एवमवलायमाणो भावेमाणो तवेण एदेण ॥
दोसे णिग्घाडंतो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥ २३५ ॥

एवं भावयमानः संस्तपसा स्थिरमानसः ॥
अप्रशस्तं परीणामं नाशयंश्चेष्टते तराम् ॥ २३६ ॥

विजयोदया—एवमुक्तेन । क्रमेण एतेन । तवेण भावेमाणो तपसा भावयन्नात्मानमुद्यतः । अवलायमाणो अपलायमानः । कुतो दुर्धरात्तपसः । एवमवलोयमाणो इति क्वचित्पाठः तत्रायमर्थः—किल एवमेदेण तवेण भावेमाणो इति पदसंबंधः । एवमेतेन तपसा भावयमानः अवलोयमाणो द्रव्यकर्म विनाशयन् इति तदयुक्तं । अशब्दार्थत्वात् । दोसे दूषयंति रत्नत्रयमिति दोषाः अशुभपरिणामाः तान् घातयन् । पग्गहिददरं नितरां । परक्कमदि चेष्टते मुक्तिमार्गे ।

मूलारा—अवलायमाणो अपलायमान दुर्धरात्तपसो भिभ्यदित्यर्थः । भावेमाणो भावयमानः । तवेण एदेण दोसे णिग्घादेंतो अशुभपरिणामान् विनाशयन् । पग्गहिददरं नितरां परक्कमदि मोक्षमार्गे चेष्टते ।

अर्थ—इस रीतीसे तपश्चरणसे आत्माको संस्कृत करनेवाला और दुर्धर तपमें जो भययुक्त नहीं हुआ है. ऐसा मुनि रत्नत्रयको दूषित करनेवाले अशुभपरिणामोंको नष्ट करता हुआ मोक्षमार्गमें महाप्रयत्नसे प्रवृत्त होता है.

यतिना निर्जरार्थिना एवंभूतं तपोऽनुष्ठेयं इति कथयति।

सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कडं ण उठ्ठेदि ॥
जेण य सड्ढा जायदि जेण य जोगा ण हायंति ॥ २३६ ॥

तत्तपोऽभिमतं बाह्यं मनो येन न दुष्यति ॥
योगा येन न हीयंते येन श्रद्धा प्रवर्तते ॥ २३७ ॥

विजयोदया—सो णाम बाहिरतवो तन्नाम बाह्यं तपः। किं? जेण मणो दुक्कडं ण उठ्ठेदि येन तपसा क्रियमाणेन मनो दुष्कृतं प्रति नोत्तिष्ठते। जेण य सड्ढा जायदि येन च क्रियमाणेन तपसा तपस्यभ्यंतरे श्रद्धा जायते। जेण य जोगा ण हायंति येन च क्रियमाणेन पूर्वगृहीता योगा न क्षीयंते। तत्तथाभूतं तपोऽनुष्ठेयमिति यावत्।

यतिना निर्जरार्थिना एवं भूतं तपोऽनुष्ठेयमिति कथयति—

मूलारा - दुक्कडं ण उठ्ठेदि दुष्कृतं प्रति नोत्तिष्ठते। सड्ढा श्रद्धा तपस्यभ्यंतरे रुचिः। जोगा पूर्वगृहीतव्रतविशेषाः।

निर्जराकी इच्छा रखनेवाले मुनिवर्यको जो तप करना योग्य है उसका वर्णन करते हैं—

अर्थ—जिस तपके आचरणसे मन दुष्कर्मके प्रति प्रवृत्त नहीं होता है. तथा जिसके आचरणसे अभ्यंतर प्रायश्चित्तादि तपोंमें श्रद्धा होती है. जिसके आचरणसे पूर्वके धारण किये हुए व्रतविशेषोंका नाश नहीं होता है उसी तपका अनुष्ठान करना योग्य है.

बाहिरतवेण होदि हु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता ॥
सल्लिहिदं च सरीरं ठविदो अप्पा य संवेगे ॥ २३७ ॥

बाह्येन तपसा सर्वा निरस्ताः सुखवासनाः ॥
सम्यक्तनूकृतो देहः स्वः संवेगेऽधिरोपितः ॥ २३८ ॥

विजयोदया—बाह्यतपोऽनुष्ठाने गुणं कथयत्युत्तरैः सूत्रैः। बाहिरतवेण बाह्येन तपसा हेतुभूतेन। सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता होदि सर्वा सुखशीलता परित्यक्ता भवति। सुखभावना रागं जनयति। रागः स्वयं च कर्मबंधहेतुदोषं जनयति। बंधः कर्मस्थितिहेतुः संयमर्थाधिरक्ता भवति इति मन्यते। सल्लिहिदं च शरीरं भवति। शरीरं दुःखनिमित्तं

तत्त्वक्नुकामस्य तनूकरणमुपायः तदनुष्ठितं भवतीति यावत्। ठविन्द्रो स्थापितः। आत्मा य स्वयं च संवेगे संसारभीरुतायां। ननु च संसारभीरुता हेतुस्तपसो न तपो हेतुस्तस्याः, ततोऽयुक्तमभाणि सूत्रकारेण बाह्येन तपसा संवेगे स्थापितः। लोकेनायं संविग्नचित्त इति स्थाप्यते बाह्ये तपसि वर्तमानस्ततो युक्तमुच्यते।

बाह्यतपोऽनुष्ठानगुणान् बाहिरतवेणेत्यादि जहसंभवेणेत्यवसानं गाथाष्टकेनाचष्टे—

मूलारा—सुहसीलदा सुखभावना। सा हि रागं जनयति रागश्च कर्मबंधं। संवेगे बाह्यं तपः कुर्वन् लोकेनायं संविग्नचित्त इति स्थाप्यते यतस्तत एवमुक्तं। न पुनर्बाह्यं तपः संसारभीरुताया हेतुः किं तर्हि सा बाह्यतपसः।

अर्थ—बाह्य तपसे संपूर्ण सुखस्वभावका त्याग होता है. अर्थात् बाह्य तप करनेसे आलस्य. और सुख प्रियता नष्ट होती है. हमेशा सुखकी भावना करनेसे मनमें रागभाव उत्पन्न होता है. रागभाव कर्मबंधके कारणभूत दोषोंको उत्पन्न करता है. बंध कर्मस्थितिका कारण है अतः बाह्य तपसे सुखशीलताका ही नाश होता है. बाह्य तपमें शरीरसल्लेखना होती है. शरीर दुःखका कारण है. उसका त्याग करनेकी इच्छा करनेवालेको तप शरीर कृश करनेमें उपाय है. अर्थात् बाह्य तप करनेसे शरीरसल्लेखनाके उपायकी प्राप्ति होती है. बाह्य तपसे आत्मा संसारभीरुता नामक गुणमें स्थिर होता है. शंका—संसारभीरुता तपके लिए कारण है. ऐसा समझना योग्य नहीं है इसलिये बाह्य तपसे मुनिराज संवेगगुणमें स्थिर किया जाता है. यह सूत्रकारका वचन अयोग्य है. उत्तर बाह्य तपश्चरणमें तत्परता देखकर इस मुनिका चित्त संसारभयसे युक्त है ऐसा लोक समझते हैं, अतः संसारभीरुता कारण है और तप कार्य है. कार्यको देखकर कारणरूप को लोक जानते है. इस नियमका विचार करनेपर सूत्रकारने संसारभय तपका कारण है ऐसा जो कहा है वह योग्य है ऐसा सिद्ध होता है.

दंताणि इंदियाणि य समाधिजोगा य फासिदा होंति ॥
अणिगूहिदवीरियओ जीविदतण्हा य वोच्छिण्णा ॥ २३८ ॥

संतीन्द्रियाणि दान्तानि स्पृष्टा योगसमाधयः ॥
जीविताशा परिच्छिन्ना बलवीर्यमगोपितम् ॥ २३९ ॥ ४५७

विजयोदया—दंताणि दांतानि इंद्रियाणि च । होंति भवन्ति । अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानेन जिह्वा शांता भवति इति । विविक्तशय्यासनेन इतराणि इंद्रियाणि दांतानि भवंति । मनोज्ञेंद्रियविषयरहितायां वसतावस्थानाच्चानि निगृहीतानि भवन्ति । समाधिजोगा य फासिदा होंति । रत्नत्रयसमाधानसंबंधाः स्पृष्टा भवन्ति । अशनादिकं त्यजता विषयरागो निरस्तो भवति । विषयरागव्याकुलो हि रत्नत्रये न घटते । असति तस्मिन्व्याकुलोऽशुभपरिणामैकमुखो भवति इति मन्यते । अणिगूहिदवीरियदा अनिगूढवीर्यता च भवति । वीर्याचारे प्रवृत्तश्च भवति । जीविदतण्हा य या जीविते तृष्णा च वुच्छिण्णा गता । न हि जीविताशावान् अशनादिकं त्यक्तुमीहते । जीविते तृष्णावान्यत्किंचित्कृत्वा असंयमादिकं प्राणानेव धारयितुमुद्यतो भवति न रत्नत्रये ।

मूलारा—दताणि अनशनादिचतुष्टयेन हि प्राधान्येन जिह्वा दांता भवति । विविक्तशय्यासनेन चेतराणि इंद्रियाणि दाम्यंति । मनोज्ञेंद्रियविषयाणां तद्रागकोपिनां विविक्तवसतौ असंभवात् । समाधिजोगा रत्नत्रयैकाग्रतासंबंधाः । फासिदा अनुष्ठिताः । अशनादित्यजनाद्विषयरागनिरोधेन शुभपरिणामैकमुखत्वोपपत्तेः । अणिगूहिदवीरियदा । अनिगूहितवीर्यता वीर्याचारप्रवृत्तिश्च स्यादित्यर्थः । वोच्छिण्णा निरस्ता लक्ष्यते । न हि जीविताशावानशनादिकं त्यक्तुमीहते, किं तर्हि यत्किंचित्कृत्वा प्राणानेव धर्तुं उत्सहते न रत्नत्रयम् ।

अर्थ—अनशन, अवमोदर्य और वृत्तिपरिसंख्या इन तीन तपोंके द्वारा जिव्हाका दमन होता है. विविक्तशय्यासन तपके द्वारा स्पर्शनादि इंद्रियोंका दमन होता हैं. इंद्रियोंको प्रिय ऐसे विषयोंका अभाव जिसमें है ऐसी वसतिकामें निवास करनेसे स्पर्शनादिक इंद्रियां वश होती हैं.

इन बाह्य तपश्चरणोंसे रत्नत्रयमें एकाग्रता प्राप्त होती है. आहारादिकका त्याग होनेसे विषयप्रेम नष्ट होता है. विषयोंके प्रेमसे व्याकुल हुआ मनुष्य रत्नत्रयमें स्थिर होता नहीं है. रत्नत्रयका अभाव होनेपर वह व्याकुल पुरुष अशुभ परिणामोंमें ही लीन होता है. ऐसा समझना चाहिये. बाह्यतपसे मुनिराजको अपनी आत्मिक शक्ति प्राप्ति होती है. अर्थात् बाह्य तप कर मुनिराज वीर्याचारमें प्रवृत्त होते हैं. बाह्यतपके प्रभावसे मुनिराजकी जीवितकी आशा नष्ट होती है. जिसका जीवितके ऊपर स्नेह है वह आहारादिकोंका त्याग करना पसद नहीं करता है. जीवितार्थी मनुष्य चाहे जो असंयमादिक करके प्राण धारण करनेके लिये उद्युक्त होता है. परंतु रत्नत्रयमें प्रवृत्त नहीं होता है.

दुक्खं च भाविदं होदि अप्पडिबद्धो य देहरससुक्खे ।
मुसमूरिया कसाया विसएसु अणायरो होदि ॥ २३९ ॥

रसदेहसुखानास्था जायते दुःखभावना ॥
प्रमर्दनं कषायाणामिंद्रियार्थेष्वनादरः ॥ २४० ॥

विजयोदया—दुःखं च भाविदं होइ दुःखं च भावितं भवति। दुःखभावना च कथमुपयोगिनी असंक्लेशेन दुःखसहने कर्मनिर्जरा जायते। क्रमेण च जायमाना निर्जरा निरवशेषस्य कर्मापायस्योपाय इत्येवमुपयोगिनी इति मन्यते। अपि चासकृद्भावितदुःखो निश्चलो भवति इति। ध्याने अप्पडिबद्धो य होइ अप्रतिबद्धश्च भवति। देहरससोक्खे शरीररससौख्ये। एतेषु त्रिषु प्रतिबद्धता समाधेर्विघ्नः स निरस्तो भवतीति भावः। मुसुमूरिदा कसाया उन्मृदिताः कषायाः भवन्ति। कथं अनशनादिना कषायनिग्रहः कृतो भवति? क्षमामार्दवार्जवसंतोषभावनादिप्रतिपक्षभूता विनाशयन्ति कषायानेतरदिति चेत् अयमभिप्रायः — अशनाद्यलाभे, स्वल्पलाभे, अशोभनानां वा लाभे क्रोधकषाय उत्पद्यते। तथा प्रचुरलाभाद्रसवद्भिक्षालाभाच्च लब्धिमानहमेवेति मानकषायः। अस्मदीयभिक्षागृहं यथान्ये न जानंति तथा प्रविशामीति चिंता मायाकषायः। अशने रसे प्राचुर्यविशिष्टे वासक्तिर्लोभकषायः। तथा वसत्यप्रदाने कोपः, तल्लाभे च मानकषायः प्राग्वत्। अन्येऽप्यागच्छंतीति न मम वसतेरस्त्यवकाशश्चेति वचनान्मायाकषायः। अहमस्य स्वामीति लोभः। इत्थं कषायनिमित्तवस्तुत्यागाच्च कषायाणामवसरः इति। विसएसु विषयेषु स्पर्शनादिषु। अणादरो होइ अनादरो भवति औदासीन्यं जायते। तदौदासीन्यात् तदादरनिमित्तं कर्मसंवरो भवतीति भावः। अशनस्य हि शुक्लादिरूपेषु मृदुस्पर्शे, सौगंधे, रसे वादरस्त्यक्तो भवति अशनं त्यजता। तथा क्षीरादिकमपि त्यजता क्षीरादिरूपेषु।

मूलारा—असंक्लेशेन हि दुःखसहने शुभकर्म संवरनिर्जरे स्यातां, क्रमेण मुक्तिश्च भावितदुःखस्य च ध्याने निश्चलता स्यात् इति मन्यते। अप्पडिबंधो देहे रसे सौख्ये वानासक्तिः स्यात्ततश्च समाधिविघ्नो न स्यात्। मुसुमूरिदा दलिताः। द्रव्यक्रोधाद्युदयनिमित्तस्य अशनादिवस्तुनस्त्यागाद्बाह्यतपसा क्रूरत्वादिलक्षणभावक्रोधादेर्यो निरुध्यंते इतीदमुच्यते। वस्तुतस्तु क्षमादिभावनात्क्रोधादिनिग्रहः स्यात्। अयमभिप्रायोऽत्र अशनादेरलाभे स्वल्पस्याशोभनस्य वा लाभे क्रोध उत्पद्यते। तथा प्रचुरस्य विचित्ररसस्य वा लाभाल्लब्धिमानहमेवेति मानो जायते। मद्भिक्षागृहं यथान्ये न जानन्ति तथा प्रविशामि इति चिंतया माया समुद्भवति। अशनादौ विशिष्टे आसक्तेर्लोभः संभवतीति। तथा वसते रप्रदाने कोपस्तल्लाभे प्राग्वन्मानोऽन्येऽप्यागच्छन्तीति न मे वसतिरस्त्यवकाशो वा नेति वचनान्माया। अहमस्याः स्वामीति

भावनाल्लोभः । इत्थं कषायोदयनिमित्तवस्तुत्यागान्न कषायाणामवसर इति । अनादरो औदासीन्यं । ततश्च तदादरनिमित्त कर्मास्रवनिरोधः स्यादिति भावः । अशनं हि त्यजता तद्गतरसरूपगंधेष्वादरस्त्यक्तो भवति ॥

अर्थ— बाह्यतपोंका आचरण करनेसे दुःखभावनाका अभ्यास होता है. अर्थात् संक्लेश परिणामोंके विना दुःख सहन करनेसे कर्मोंकी निर्जरा होती है. क्रमसे होनेवाली यह कर्मनिर्जरा संपूर्ण कर्मका नाशरूप जो मोक्ष उसका उपाय होती है. अतः दुःखभावना परंपरासे मोक्षप्राप्तिका कारण होनेसे उपयोगी है ऐसा साधुगण समझें. दुःखभावनाका वारंवार चिन्तन होनेसे साधुका चित्त धर्मध्यानमें निश्चल होता है. बाह्यतपमें निमग्न हुये मुनिकी देह, क्षीरादि पदार्थ और सुख इन तीनोंमें आसक्ति नहीं रहेगी. यह आसक्ति रत्नत्रयमें विघ्न करनेवाली होती है. अनशनादिक बाह्यतप सर्व क्रोधादि कषायोंका निग्रह करता है. शंका— तपमें कषायनिग्रह करनेका सामर्थ्य कैसा ? क्षमा, मार्दव, आर्जव और संतोष इन भावनासे कषाय निग्रह होता है क्योंकि ये कषायोंके प्रतिपक्षी हैं. बाह्यतप प्रतिपक्षी नहीं है ? इस शंकाका उत्तर—

इसका अभिप्राय यह है कि, अन्नादि पदार्थ न मिलनेसे अथवा स्वल्प मिलनेसे, किंवा अप्रिय मिलनेसे, क्रोध कषाय उत्पन्न होता है. यदि अन्नादि पदार्थ यथेष्ट मिले और वे रसयुक्त भी हो तो मेरेको ही ऐसे अच्छे मिष्ट पदार्थ मिलते हैं इतरोंको नहीं मिलते हैं ऐसा विचार मन में आनेसे मानकषाय उत्पन्न होता है, मेरा भिक्षा लेनेका स्थान अन्य साधुओंको ज्ञात नहीं होगा इस रीतीसे मैं वहां प्रवेश करूं ऐसा विचार मन में उत्पन्न होना यह मायाकषाय है. विपुल अन्न और उसके रसमें आसक्ति होना लोभकषाय है. वसतिकाके विषयमें भी क्रोधादि चारों कषाय उत्पन्न होते हैं. जैसे—

श्रावकने वसतिका नहीं देनेपर कोप उत्पन्न होता है. उसके मिलनेपर मानकषाय उत्पन्न होता है. जब दुसरे साधु आवेंगे तो यहां अवकाश नहीं है ऐसा वचनप्रयोग करता है जिससे मायाकषाय प्रगट होता है. इस वसतिकाका मैं मालिक हूं यह संकल्प उत्पन्न होना लोभकषाय है. इस प्रकार कषायोंको उत्पन्न करनेवाली चीजोंका त्याग करनेसे कषायोंको मनमें स्थान नहीं मिलता है. अतः बाह्यतपसे कषायनिग्रह होता है ऐसा आचार्यने कहा है. बाह्य तपसे पंचेंद्रियके विषयोंमें अनादर होता है अर्थात् उनमें उदासीनता होती है. इस उदासीनतासे तपमें आदर उत्पन्न होकर कर्मोंका संवर होता है. आहारके पदार्थ शुक्लादिरूप धारक, मृदुस्पर्शयुक्त, सुगंध

सहित व रसविशिष्ट हो तो भी उसमेंसे आहार त्याग करनेवालेका आदर नष्ट होता है. क्षीरादिकका जिसने त्याग किया है उस मुनीका क्षीरादिकमें आदरभाव नष्ट होता है.

कदजोगदाददमणं आहारणिरासदा अगिद्धी य ॥
लाभालाभे समदा तितिक्खणं बंभचेरस्स ॥ २४० ॥

आहारखर्वता दांतिः समस्तत्यागयोग्यता ॥
गोपनं ब्रह्मचर्यस्य लाभालाभसमानता ॥ २४१ ॥

विजयोदया—कदजोगदा सर्वत्यागस्य पश्चाद्भाविन । योगश्च कृतो भवति बाह्येन तपसा । आददमणं आत्मनो दमनं आहारे सुखे च योऽनुरागस्तस्य प्रशमनात् । आहारणिरासदा आहारे नैराश्यं संपादितं प्रतिदिनं आहाराशानिरासाभ्यासात् । सर्वकालेऽपि सुकरा भवत्याहारनिराशतेति भावः । अगिद्धी य अगृद्धिश्च अलंपटता च । क्व ? आहारे । न ह्याहारे गृद्धिमान्लब्ध्वा तं त्यजति । लाभालाभे समदा लाभालाभयोः समता । लाभे च सत्याहारस्य हर्षाकरणात् । अलाभे च तथाऽकोपात् । यः स्वयमेव लब्धमपि त्यजति स कथमिव परेणाप्रदाने दुर्मनीभवति । तितिक्खण बंभचेरस्स ब्रह्मचर्यं च सोढं भवति । रसवदाहारत्यागादभिनवेऽसति शुक्रसंचये अनशने च संचितमलये सति न स्त्रीष्वनुरागो भवति इति भावः । तथा गलितशुक्राणां पुंसां वैमुख्यं अंगनासु प्रतीतमेव ॥

मूलारा—कदजोगदा कृता योग्या परिकर्म सर्वाहारत्यागस्य पश्चाद्भाविनोऽभ्यासो येनासौ कृतयोग्यस्तस्य भावः कृतयोग्यता । कृतकरणीयता बाह्येन तपसा स्यात् । आददमणं आत्मनो दमनं आहारे सुखे वानुरागप्रशमनाद्दर्पखंडनं । आहारणिरासदा प्रतिदिनं आहाराशानिरासाभ्यासात्सर्वत्यागकालेऽपि तद्वांछासमुच्छेदः सुकरः स्यादिति भावः । अगिद्धी अलांपट्यमाहारे । न ह्याहारे गृद्धिमांल्लब्ध्वा तं त्यजति । समदा आहारस्य लाभे हर्षस्याकरणादलाभे च रोषस्य । यो हि स्वयमेवलब्धमपि त्यजति स कथमिव परेणाप्रदाने दुर्मनीभवति । दाने वा दृप्यति । तितिक्खणं वृष्याहारत्यागेनाभिनवस्य रेतसोऽसंचयनात् । अनशनेन च संचितस्य संहरणात् । स्त्रीष्वनुरागानुद्भवात् प्रतीतमेव च गलितरेतसां पुंसां स्त्रीषु वैमुख्यम् ।

अर्थ—मरण कालमें जो संपूर्ण आहारोंका त्याग करना पडता है उसका अभ्यास बाह्य तपके आचरण से होता है. इन तपोंसे आत्मदमन नामका गुण प्राप्त होता है. अर्थात् आहारमें और सुखमें जो प्रेम उत्पन्न होता

है उसका तपसे प्रशमन होता है अतः आत्माका दर्प अर्थात् मद नामका दोष नष्ट होता है. इस तपसे आहारकी इच्छा का त्याग करनेका अभ्यास वृद्धिंगत होता है. इस लिए आहारनिरासता नामक गुण प्राप्त होता है. और सर्व कालमें यह गुण आत्मा अपनेमें धारण करनेमें समर्थ होता है. तपसे आहार की लंपटता नष्ट होती है. जो आहारमें लंपट है वह व्यक्ति आहारकी प्राप्ति होने पर उसको छोडना नहीं चाहता है. तपसे लाभ और अलाभमें समता प्राप्त होती है. तपस्वीको आहार मिलनेपर हर्ष होता नहीं और न मिलने पर वह कुपित भी होता नहीं. जो तपस्वी प्राप्त हुआ आहार स्वयं छोड देता है वह यदि उसको कोई आहार न दे तो क्यों खिन्न होगा ? तपसे मुनि ब्रह्मचर्यको सहन करते हैं. रसयुक्त आहारका त्याग करनेसे नवीन वीर्यका संचय नहीं होता है. और पुराना शुक्रसंचय नष्ट होता है. तब स्त्रीपर अनुरागभाव नहीं होता है. जिनका शुक्र नष्ट होगया है ऐसे मनुष्य स्त्रीसे पराङ्मुख होते हैं यह वस्तुस्थिति प्रसिद्ध है.

णिद्दाजओ य दढझाणदा विमुत्ती य दप्पणिग्घादो ॥
सज्झायजोगणिव्विग्घदा य सुहदुक्खसमदा य ॥ २४१ ॥

निद्राशुद्धिमदस्नेहलोभमोहपराजयः ॥
ध्यानस्वाध्याययोर्वृद्धिः सुखदुःखसमानता ॥ २४२ ॥

विजयोदया--णिद्दाजओ य निद्राजयश्च । प्रतिदिनमश्नतः रसवदाहारसेवापरस्य बहुभोजिनश्च निवाते सुखस्पर्शे निरुपद्रवे च देशे शयानस्य निद्रा महती जायते, यया परवशो निश्चेतन इव भवत्यशुभपरिणामप्रवाहे च पतति, न च रत्नत्रयेण घटयति, तस्या जयो । दढझाणदा दृढध्यानता च दुःखोपनिपातान्चलति ध्यानाद्भावितदुःखो यतिः । कृततपोभावनस्तु क्षुदादिपरीषहोपनिपातेऽपि सहते । विमुत्ती य विमुक्तिर्विशिष्टत्यागः अनशनादावुद्यतेन शरीरमेव त्यक्तं भवति तदेव दुस्त्यजं । दप्पणिग्घादो असंयमकरणो यो दर्पस्तस्य निर्घातश्च कृतो भवति । सज्झायजोगणिव्विग्घदा य वाचनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशैर्योगः संबंधो यस्तस्य विघ्नाभावश्च । आहारार्थं भ्रमतः कथं स्वाध्यायः क्रियते ? बहुभोजनश्च उत्तानः स्वपिति आसितुमप्यसमर्थः । रसवदाहारभोजी आहारोष्मणा दह्यमान इतस्ततः परावर्तते । अविधिकायां वसतौ वर्तमानः परेषां वचः शृण्वंस्तैः सह संभाषणं कुर्वन्नाधीते । विविक्तदेशस्थायी पुनर्निर्व्याकुलः स्वाध्याये घटते । सुहदुक्खसमदा य सुखेन हृष्यति दुःखेन दुष्यति इति रागद्वेषावंतरेण सुखदुःखानुभवः सुखदुःखसमता । अशनं

रसांश्च सुखसाधनभूतांस्त्यजता सुखे रागस्त्यक्तो भवति । क्षुदादिवेदनोपनिपाते असंक्लेशात् दुःखे न च द्वेषोऽस्यास्तीति । यादिरत्नेण होदि हु इत्यनेन पंचसूत्रीनिर्दिष्टानां प्रत्येकं संबंधः ॥

मूलारा — णिद्दाजओ प्रतिदिनमश्नतो रसवदाहारसेवापरस्य बहुभोजिनश्च निवाते निरुपद्रवे सुखस्पर्शतल्पे निद्रा महती जायते । वद्धशाम्निश्चेतन इव भवति, अशुभपरिणामप्रवाहे च पतति । न च रत्नत्रयाय कल्पते । तस्या जयोऽनशनादिना क्रियते । दढज्झाणदा तपसा भावितदुःखो हि परीषहनिपातेऽपि न ध्यानाद् भ्रश्यति । विसिट्ठा मुक्तिरनशनादाबुद्यतेन दुस्त्यजस्यापि देहस्य त्यजनात् । दप्पणिग्धादो असंयमकरणे यो दर्पस्तस्य विनाशो । सज्झाय जोगाणिविग्घदा । वाचनादिसंधविघ्नाभावः । आहारार्थं भ्रमणे बहुभोजनादासनस्यापि शक्त्युपघातेन, रसवदाहारभोजनजन्यवेदाद्दशादिवस्ततः परावलंबेन, जनसंकुले तद्वचःश्रवणतत्संभाषणकरणाभ्यां च स्वाध्यायभंगसंभवात् । सुहदुःखसमदा सुखसाधनाशनरसादित्यजनात्सुखे रागानुदयात् क्षुदादिवेदनोदयेऽपि असंक्लेशाद्दुःखे च द्वेषानुद्भवात् ।

अर्थ — बाह्य तपसे मुनि निद्राको जीत लेते हैं. जो प्रतिदिन भोजन करता है, रसयुक्त आहारका सेवन करनेमें तत्पर रहता है और बहुत भोजन करता है, जिसकी वातरहित, मृदुस्पर्श युक्त, और निरुपद्रव ऐसे स्थानमें सोनेकी फिकिर होती है, ऐसा स्थान मिलनेपर दीर्घ कालतक खुर्राटे लेता है. प्रेतके समान निश्चल सो जाता है. अशुभ परिणाम भी उसके मनमें हुआ करते हैं और वह रत्नत्रयमें प्रवृत्त होता नहीं इस तपसे ये सर्व दोष नष्ट होकर निद्राजय नामका गुण प्राप्त होता है.

तपसे ध्यानमें दृढता आती है. दुःख सहन करनेका अभ्यास होनेसे मुनि दुःखोंके प्रसंग आने पर भी ध्यानसे भ्रष्ट नहीं होते हैं. हमेशा तपका अभ्यास करनेसे वह सामर्थ्य मुनिमें आजाता है जिससे वे भूख, तृषा वगैरह परीषह प्राप्त होने पर भी दुःखोंकी परवाह नहीं करते हैं. तप करनेसे मुनिओंको विमुक्ति अर्थात् विशिष्ट त्याग नामका गुण प्राप्त होता है अनशनादिक तपश्चरणमें तत्पर मुनिओंसे शरीरका त्याग किया जाता है यह शरीरका त्याग करना ही बडा कठिन है. तपसे दर्पनाश नामका गुण प्राप्त होता है. असंयमको उत्पन्न करनेवाला मद इस तपसे नष्ट होता है. अनशनादि तपसे वाचना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश इन स्वाध्यायके भेदोंका संबंध आता है और उसमें विघ्न उपस्थित होते नहीं है. आहारके लिये भ्रमण करने वाले मुनिको स्वाध्याय करना शक्य नहीं होता है. बहुत भोजन करनेपर वह ऊपर मुख कर सोवेगा. वह बैठ भी नहीं सकेगा. हमेशा रसयुक्त आहार

करनेवाले मुनिको आहारकी उष्णतासे इधर उधर लोटना पडेगा. बहुजन जिसमें ठहरते हैं ऐसी वसतिकामें रहनेवाला मुनि दूसरोंके वचन सुनकर उनके साथ भाषण करनेमें अपना समय बिता देगा. और अध्ययन नहीं करेगा. परन्तु जो एकांत वसतिकामें रहता है वह मुनि व्याकुलता रहित होनेसे स्वाध्यायमें तत्पर रहता है. बाह्य तपसे सुख और दुःखोंमे समता प्राप्त होती है. अर्थात् मुनि इसके प्रभावसे सुखमें आनन्द नहीं मानते हैं और दुःखमें दुःखित नहीं होते हैं. अर्थात् सुखमें रागभाव और दुःखमें द्वेषभाव उनको नहीं होता है. रागद्वेषोंके अभावमें सुखदुःखका अनुभव आता नहीं है. यही सुखदुःखसमताका स्वरूप है. आहार और रसयुक्त घी, दूध वगैरे सुख साधक पदार्थोंका त्याग करनेवाले मुनि सुखमें प्रीति नहीं रखते हैं. क्षुदादिकोंसे दुःख की प्राप्ति होने पर भी संक्लेश परिणाम उनके मनमें नहीं होते हैं अतः वे दुःखमें द्वेष नहीं रखते हैं. इस प्रकार पांच गाथाओंसे बाह्य तपके गुण आचार्यजीने कहे हैं.

आदा कुलं गणो पवयणं च सोभाविदं हवदि सव्वं ॥
अलसत्तणं च विजढं कम्मं च विणिद्धुयं होदि ॥ २४२ ॥

आत्मा प्रवचनं संघः कुलं भवति शोभनं ॥
समस्तं त्यक्तमालस्यं कल्मषं विनिवारितम् ॥ २४१ ॥

विजयोदया—आदा कुलं गणो पवयणं च सव्वं सोभाविदं हवदित्ति पदघटना। बाह्येन तपसा स्वयं कुलमात्मनो, गणं, स्वशिष्यसंतानश्च शोभामुपनीतो भवति। अलसत्तणं च अलसत्वं च। विजढं त्यक्तं भवति। दुर्धरतपःसमुद्योगात् कम्मं च विणिद्धुदं कर्म च संसारमूलं विशेषेण निर्धूतं भवति।

मूलारा—कुलं स्ववंशः। गणो स्वगुरुशिष्यसंतानः। सोहाविदं शोभामुपनीतं। विजढं त्यक्तं। विणिध्दुदं विनिर्धूतं ॥

अर्थ—अपना आत्मा, अपना वंश, अपना गण अर्थात् अपने गुरुके शिष्योंकी परंपरा और जिनमत इन सबको बाह्य तपसे मुनि शोभा युक्त करते हैं. बाह्य तपसे अलसीपनाका त्याग होता है. दुर्धर तपश्चरणमें प्रवृत्ति करनेसे संसारका मूलभूत कर्म भी पूर्णपनेसे नष्ट होता है.

बहुगाणं संवेगो जायदि सोमत्तणं च मिच्छाणं ॥
मग्गो य दीविदो भगवदो य आणाणुपालिया होदि ॥ २४३ ॥

मिथ्यादर्शनिनां सौम्यं संवेगो भूयसां सतां ॥
मुक्तेः प्रकाशितो मार्गो जिनाज्ञा परिपालिता ॥ २४४ ॥

विजयोदया—बहुगाणं बहूनां। संवेगो जायदि संसारभीरुता जायते यथा। सन्नद्धमेकं दृष्ट्वा नूनमत्र भयमस्ति किंचिदहमपि सन्नह्यामिति जनः प्रवर्तते। एवं तपस्युद्यतमवलोक्य संसारभयादयमेवं क्लिश्यति तदस्माकमप्यनिवारितमेवेति बिभेति। भीतश्च प्रतिक्रियां प्रारभते। सोमत्तणं च मिच्छाणं मिथ्यादृष्टीनां सौम्यता सुमुखता वा जायते। दुर्धरमिदं महत्तपो यतीनां इति प्रसन्ना भवंतीति। मग्गो य दीविदो मार्गश्च मुक्तेः प्रकाशितो भवति। यतीनां बाह्येन तपसा करणभूतेन विना कर्मणां निर्जरा नास्तीति। भगवदो य अणुपालिदा आणा भगवतः आज्ञा चानुपालिता भवति यतिना बाह्येन तपसा करणेन।

मूलारा—तपस्युद्यतं दृष्ट्वा अयमेवं क्लिश्यति तदस्माकमप्यनिवारितमेवेति बिभेति, भीतश्च तत्प्रतिकर्तुमुत्सहते। सोमत्तणं सौम्यता दुर्धरमिदं तपो यतीनामिति मिथ्यादृशोऽपि प्रसन्ना भवन्ति इति तात्पर्यं। दीविदो। तपसैव कर्मणां निर्जरा भवति इति प्रकाशितः।

अर्थ—तपश्चरणमें तत्पर मुनिको देखकर बहुत मुनिजनोंको संसारसे भय उत्पन्न होता है. "इस संसारमें भय है इसलिये मैं भी तपमें तत्पर होऊंगा.' ऐसा विचार कर वे भी तपमें तत्पर होते हैं. संसारके भयसे यह महात्मा इतना तपःक्लेश भोग रहा है. और हमको भी यह संसारभय दुर्निवार है ऐसा मनमें संकल्प कर उससे भय युक्त होता है. और भयवान् होकर उसकी प्रतिक्रिया करता है अर्थात् तपश्चरणमें वह भी लीन होता है. मुनिराजोंका उग्रतप देखकर मिथ्यादृष्टि भी अपनी उग्रता छोडकर सौम्य बनते हैं. यतिओंका यह तप बडा ही दुर्धर है ऐसा देखकर वे प्रसन्न होते हैं- तपके द्वारा मुक्तिके मार्गका प्रकाशन होता है. क्योंकि बाह्यतपश्चरणके बिना कर्मकी निर्जरा नहीं होती है. बाह्यतपश्चरण करनेसे जिनेंद्र भगवानकी आज्ञाका पालन होता है.

देहस्स लाघवं णेहलूहणं उवसमो तहा परमो ॥
जवणाहारो संतोसदा य जहसंभवेण गुणा ॥ २४४ ॥

संतोषः संयमो देहलाघवं शमवर्द्धनम् ॥
तपसः क्रियमाणस्य गुणाः सन्ति यथायथम् ॥ २४५ ॥

विजयोदया—देहस्स लाघवं शरीरस्य लाघवगुणो बाह्येन तपसा भवति। लघुशरीरस्य आवश्यकक्रियाः सुकरा भवन्ति। स्वाध्यायध्याने चाक्लेशसंपाद्ये भवतः। णेहस्स लूहणं शरीरस्नेहविनाशनं स गुणः। शरीरस्नेहादेव जनोऽसंयमे प्रवर्तते। शरीरमेवानर्थहेतुरिति तपोऽपि न करोति। तेनाहितः शरीरस्नेहो विनाशितो भवति। उवसमो तहा परमो तथा चोत्कृष्टोपशमो भवति रागादेर्दुष्करे तपसि वर्तमानस्य। किं च मम रागेण उपद्रवकारिणा। सति रागे हि नवकर्मबंधो जायते। चिरंतनकर्मरसोपबृंहणं च। सति चेत्थं मदीय क्लेशो निष्फलो भवेदिति मनःप्रणिधानादुपशमः। जवणाहारो-परिमिताहारता इति केचिदाचक्षते। तत्र च गुणो नीरोगतादिकं। तथा चाहुर्मिताशिनः षड्गुणा भजंते। अपरे शरीरस्थिति मात्रहेतुराहारः जवणाहारशब्दः शरीरवाच्यः इति स्थिताः।

मूलारा—लाघवं स्वाध्यायादिक्रियासौकर्यकारि लघुत्वं। णेहलूहणं देहस्नेहाद्धि जनस्य असंयमे प्रवृत्तिः। देह-बाधाहेतुरिदमिति तपस्यपि न प्रवर्तते। तेनाहितत्वाद्देहे स्नेहस्य विनाशनं। देहस्नेहाद्विरक्तस्य संयमो गुणः परमः। रागे हि नवःकर्मबंधश्चिरंतनकर्मरसोपबृंहणं च स्याद्रागानुपदचारी च द्वेषः। एवं च सत्ययं क्लेशो निष्फल इति मनःप्रणिधाना-दुत्कृष्टः। जवणाहारो परिमिताहारता तत्र चारोग्यादिगुणः। शरीरस्थितिमात्रहेतुराहारो वासौ। संतोसदा संतोषः। जहसंभवेण अनशनादीनां बाह्यतपोभेदानां यो येन संभवति स तेन व्याख्येय इति भावः।

अर्थ—तपश्चरणसे देहमें लाघव गुण प्राप्त होता है. अर्थात् शरीरमें तपसे भारीपना नष्ट होता है जिस-से आवश्यकादि क्रिया सुकर होती है, स्वाध्याय और ध्यान क्लेशके विना किये जाते हैं. तपके आचरणसे शरीरस्नेह नष्ट होता है. शरीरके स्नेहसे लोक असंयममें प्रवृत्त होते हैं. यह शरीर अनर्थका कारण है. इसके स्नेहमें लीन होकर तपको छोड बैठते हैं. मुनि दुष्कर तपमें प्रवृत्त होनेसे उनके रागादि दोषोंका उपशम होता है. मुनि मनमें ऐसा विचार करते हैं—यह राग भाव उपद्रव करनेवाला है. यह रागभाव आत्मामें नवीन कर्मका बंध उत्पन्न करता है. और पूर्वकर्मके रसमें वृद्धि करता है. यदि मैं रागभावको मनमें आश्रय दूंगा तो मेरा तपश्चरण व्यर्थ होगा. ऐसा विचार करके रागभावको

शांत कर देते हैं. तपसे परिमिताहारतानामक गुण प्राप्त होता है. जवणाहार शब्दका परिमित आहार ऐसा अर्थ है ऐसा कोई आचार्य कहते हैं. परिमित आहार करनेसे नीरोगतादिक छह गुणोंकी प्राप्ति होती है. जितने आहारसे शरीर रह सके उतने आहारको जवणाहार कहना चाहिये ऐसा कोई आचार्य जवणाहार शब्दका अर्थ करते हैं.

एवमित्यादिनोपसहरति—

एवं उग्गमउप्पादणेसणासुद्धभत्तपाणेण ॥
मिदलहुयविरसलुक्खेण य तवमेदं कुणदि णिच्चं ॥ २४५ ॥

विजयोदया—एवमेदं तवो णिच्चं कुणदित्ति पदघटना। एव व्यावर्णितरूपेण। एदं एतत् बाह्यं तपः कुणदि करोति णिच्चं नित्यं। उग्गमउप्पादणेसणासुद्धभत्तपाणेण उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितेन, भक्तेन पानेन च। कीदृग्भूतेन? मिदलहुगविरसलुक्खेण परिमितेन लघुना, विरसेन, रूक्षेण एवभूतं शुद्धमाहारं भुक्त्वा तपः कुर्यान्नाशुद्धमिति भावः।

इत्थं बाह्यतपसो गुणानाख्यायोपसंहारमाह—

मूलारा—एवं बाह्यं। कुणदि शुद्ध्यादिपंचगुणमेवाहारं भुक्त्वा मुमुक्षुः तपः करोति नेतरमिति भावः ॥

अर्थ—मुनिराज उद्गम उत्पादन और एषणा इन दोषोंका त्याग कर मित, लघु, रसरहित और रूक्ष ऐसा आहार और पानके पदार्थ लेकर यह बाह्य तप नित्य करते हैं. शुद्ध आहार लेकर तप करना चाहिये, अशुद्ध आहार नहीं लेना ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

उल्लीणोल्लीणेहिं य अहवा एक्कंतवड्ढमाणेहिं ॥
सल्लिहइ मुणी देहं आहारविधिं पयणुगिंतो ॥ २४६ ॥

आहारमल्पयन्नेवं वृद्धो वृद्धेन संयतः ॥
तपसा संलिखत्यंगं वृद्धैकांततोऽथवा ॥ २४६ ॥

विजयोदया—उड्डीणोड्डीणेहिं य प्रवर्द्धमानेन हीयमानेन च तपसा चतुर्थषष्ठादिक्रमेणानशनतपोवृद्धिः । एकद्विकवलादिन्यूनतया अवमोदर्यवृद्धिः । एकस्य रसस्य द्वयोस्त्रयाणामित्यादिना क्रमेण रसपरित्यागवृद्धिः । एकपाटकं, गृहसप्तकं, गृहत्रयं वा प्रविशामीति, भिक्षाग्रासपरिमाणन्यूनताकरणेन वा वृत्तिपरिसंख्यानवृद्धिः । दिवसे आतपनं कृत्वा रात्रौ प्रतिमायग्रहकरणमित्यादिना कायक्लेशवृद्धिः । एवं श्रमे महति संजाते क्रमेण अनशनादीनां न्यूनताकरणं । अहवा अथवा एयंतवड्ढमाणेहिं एकांतेन वर्धमानैः तपोभिः । सल्लिहइ संलिखति । मुणी मुनिः । देहं । आहारविधिं अशनादिविधिं । पयणुगिंतो । अल्पीकुर्वन् ॥

प्रकारांतरेण सल्लेखनोपायमाह—

मूलारा—उड्डीणोड्डीणेहिं वर्द्धमानैर्हीयमानैरनशनादितपोभिरिति शेषः । तथाहि—चतुर्थषष्ठादिक्रमेणानशनस्य वृद्धिः । एककवलादिन्यूनतयावमोदर्यस्य । एकद्व्यादिरसत्यागक्रमेण रसपरित्यागस्य । एकपाटकं सप्त पंच त्रीणिवा गृहाणि प्रविश्य भिक्षां गृह्णामि । ग्रासं चैकत्रिंशदित्यादिहानिक्रमेण गृह्णामि इत्यादिक्रमेण वृत्तिपरिसंख्यानस्य । दिवातापनं कृत्वा रात्रौ प्रतिमायोगावग्रहकरणमित्यादिविधिना कायक्लेशस्य । शून्यगृहग्रामसमीपगिरिगुहारण्यादिवसत्याश्रयणेन विविक्तशय्यासनस्य च बोद्धव्या । एवं च महति श्रमे संजाते सति अनशनादीनां क्रमेण न्यूनताकरणं हानिः । अहवा अथवा । एगंतवड्ढिमाणेहिं । वर्द्धमानैरेव न हीयमानैः । आहारविधिं विहितमभ्याहारं । पयणुगेंतो प्रतनुकुर्वन् अल्पीकुर्वन्नित्यर्थः ।

अर्थ-क्रमसे अनशनादि तपको बढाते हुवे यतिराज अपने देहको कृश कर शरीरसल्लेखना करते हैं. उसका विवेचनक्रम इस प्रकार समझना चाहिये-एक उपवास, दो उपवास तीन उपवास इस प्रकारसे वे अनशन तप बढाते हैं. मुनिओंके आहारका प्रमाण बत्तीस ग्रासोंका कहा है. उनमेंसे एक ग्रास, दोन ग्रास, तीन ग्रास कमी कमी करके अवमोदर्य तपकी वृद्धि करते हैं. एकरसका त्याग, दो रसोंका, तीन रसोंका इत्यादि क्रमसे रसत्याग करते जाना यह रसपरित्याग तपकी वृद्धि है. एक गल्लीमें ही आज आहार ग्रहण करूंगा, सातघर, तीनघरमेंही प्रवेश कर आहार करूंगा, अथवा आहारके ग्रासोंका परिमाण कर आहार ग्रहण करूंगा इत्यादि रूपसे वृत्तिपरिसंख्यान तपमें वृद्धि समझना. दिनमें आतापन योग कर रात्रौ प्रतिमायोग धारण करनेका नियम करना. इत्यादि प्रकारसे कायक्लेश तपमें वृद्धि करना. इन तपोंकी वृद्ध करनेसे जब महान् श्रम होता है तब वे अनशनादि तपका प्रमाण

कम कम करते हैं. अथवा सर्वथा बढते हुवे तपोंसे वे आहारका प्रमाण कम करते करते देहकी सल्लेखना करते हैं.

प्रकारांतरेण सल्लेखनोपायमाचष्टे—

अणुपुव्वेणाहारं संवट्टंतो य सल्लिहइ देहं ॥
दिवसुग्गहिएण तवेण चावि सल्लेहणं कुणइ ॥ २४७ ॥

क्रमेण संलिखत्यंगमाहारं खर्वयन्यतिः ॥
प्रत्यहं वा गृहीतेन तपसा विधिकोविदः ॥ २४७ ॥

विजयोदया—अणुपुव्वेण क्रमेण। आहारं संवट्टंतो य आहारं न्यूनयित्वा। सल्लिहइ देहं तनूकरोति। दिवसुग्गहिदेण तवेण चावि एकैकदिनं प्रतिगृहीतेन तपसा च, एकस्मिन्दिनेऽनशनं, एकस्मिन्दिने वृत्तिपरिसंख्यानं इति। सल्लेहणं कुणइ सल्लेखनां करोति।

मूलारा—अणुपुव्वेण क्रमेण। संवट्टंतो ह्रासयित्वा दिवसग्गहिदेण। एकैकदिनं प्रतिगृहीतेन। एकस्मिन्दिनेऽनशनमेकस्मिन्वृत्तिपरिसंख्यानं इति। अथवा संवट्टंतो न्यूनयन् क्रमेणाहारं कृशयति शरीरं। प्रतिदिनगृहीतेन तपसा वा सल्लेखनां करोति इति व्याख्येयम्। वा शब्दस्य भिन्नक्रमस्य योजनात्। तथा चोक्तं—

क्रमेण संलिखत्यंगं आहारं खर्वयन्यतिः ॥
प्रत्यहं वा गृहीतेन तपसा विधिकोविदः ॥

अन्य प्रकारसे सल्लेखनाका उपाय कहते हैं—

अर्थ— क्रमसे आहार कमी करते करते क्षपक अपना देह कृश करता है. दररोज जिसका नियम किया है ऐसे तपश्चरणसे अर्थात् एक दिन अनशन, दुसरे दिन वृत्तिपरिसंख्यान इस क्रमसे क्षपक सल्लेखना करता है— अपना देह कृश करता है.

विविहाहिं एसणाहिं य अवग्गहेहिं विविहेहिं उग्गेहिं ॥
संजममविराहिंतो जहाबलं सल्लिहइ देहं ॥ २४८ ॥

आहारगोचरैरुग्रैर्नानाकारैरवग्रहैः ॥
मुमुक्षुः संलिखत्यंगं संयमस्याविरोधकम् ॥ २४८ ॥

विजयोदया—विविहाहिं नानाप्रकारैः । एसणाहिं य भोजनैः रसवर्जितैरल्पैः शुष्कैराचाम्लैः । अवग्गहिं नानाप्रकारैरवग्रहैः । उग्गेहिं उग्रैः । संजममविराधैंतो संयमं द्विप्रकारं अविनाशयन् । जहाबलं स्वबलानतिवृत्त्या देहं तनूकरोति ।

मूलारा—विविधाहिं अरसविरसाल्पशुष्काचाम्लादिभिः । एसणाहिं आहारैः । अवग्गहेहिं नियमैः । आहारगोचरैः ॥

अर्थ—नाना प्रकार रसवर्जित, अल्प, रूक्ष, ऐसे आचाम्ल भोजनोंसे अपने सामर्थ्यके अनुसार क्षपक मुनि देहको कृश करते हैं. नाना प्रकारके उग्र नियमोंकी प्रतिज्ञा लेकर इंद्रियसंयम और प्राणिसंयमकी विराधना नहीं करता हुआ स्वशक्तीके अनुसार क्षपक देहको क्षीण करते हैं.

संदि आउगे संदि बले जाओ विविधाओ भिक्खुपडिमाओ ॥
ताओ वि ण बाधंते जहाबलं सल्लिहंतस्स ॥ २४९ ॥
या भिक्षुप्रतिमाश्चित्रा बले सति च जीविते ॥
पीडयन्ति न ताः कायं संलिखन्तं यथाबलम् ॥ २४९ ॥

विजयोदया—सदि आउगे आयुषि सति । सदि बले सति बले । जाओ याः । विविहाओ विचित्राः । भिक्खुपडिमाओ भिक्षुप्रतिमाः । ताओ वि ताश्च । ण बाधते न पीडां जनयंति महतीं । कस्य ? जहाबलं सल्लिहंतस्स यथाबलं तनूकुर्वतः । प्रारब्धमहाक्लेशस्य योगभंगः संक्लेशश्च महान् जायते इति भावः ।

मूलारा—ण बाधंते न पीडां जनयंति । जहाबलं यथाबलं बलं विना सल्लेखना कुर्वतः प्रारब्धमहाक्लेशस्य योगभंगः संक्लेशश्च महान् जायते इति भावः ॥ भिक्षुप्रतिमा इमाः ।

---

१ सदि आउगे इति गाथाया अनंतरं 'मासिय दुय तिय' इत्यादिरूपा गाथा मूलाराधनादर्पणे सटीकाऽस्ति परमत्र सा गाथा सटीका न अपराजित सूरिणा नोल्लिखिता ।

मासिय दुय तिय चउ पंचमास छम्मास सत्तमासीय ॥
तिण्णे व सत्तराइं दाइंदिय राइपडिमाओ ॥

गाथार्थः कथ्यते—

आत्मानं संछिन्दन् धृतिकायबलवान्, महासत्वो, जितपरीषहः, उत्तमसंहननः क्रमेण पूरितधर्मशुक्लध्यानो मुनिरात्माधिष्ठितदेशोत्कृष्टदुर्लभाहारस्य व्रतं गृण्हाति । ईदृशमाहारं यदि मासाभ्यंतरे लभेऽहं ततो भोजनं करोमि नान्यथेति । तस्य मासस्यांतिमेदिने प्रतिमायोगमास्ते । सा एका भिक्षुप्रतिमा । एवं पूर्वोक्ताहाराच्छतगुणेनोत्कृष्टदुर्लभान्यान्याभ्यवहारस्यावग्रहं गृण्हाति । यावद्द्वित्रिचतुःपंचषट्सप्तमासाः सर्वत्रांतिमदिनकृतप्रतिमायोगाः । एताः सप्त भिक्षुप्रतिमाः । पुनः पूर्वाहाराच्छतगुणोत्कृष्टस्य दुर्लभस्य अन्यान्याहारस्य सप्त सप्त दिनानि वारत्रयं व्रतं गृण्हाति । एतास्तिस्रो भिक्षुप्रतिमाः । ततो रात्रिंदिनं प्रतिमायोगेन स्थित्वा पश्चाद्रात्रिप्रतिमायोगमास्ते । एते द्वे भिक्षुप्रतिमे । पूर्वमवधिमनःपर्यय ज्ञाने प्राप्य पश्चात्सूर्योदये केवलज्ञानं प्राप्नोति । एवं द्वादशभिक्षुप्रतिमायोगेन स्थित्वा पश्चाद्रात्रिप्रतिमायोगमास्ते । एते द्वे भिक्षुप्रतिमे भवतः ॥

अर्थ—यदि आयुष्य हो और देहमें सामर्थ्य हो तो जिन विचित्र भिक्षुप्रतिमाओंका शास्त्रमें उल्लेख है उनका भी वह क्षपक स्वीकार करके यथाशक्ति देह को क्षीण करता है. उन प्रतिमाओंसे इस क्षपकको पीडा नहीं होती है. जिसने अपने शक्तिका विचार न कर इन प्रतिमाओंको धारण किया है. उसके योगका भंग होता है और उसके मनमें महासंक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हैं.

अपने शरीरकी सल्लेखना करनेवाला, धैर्य रूपी बल और शरीरबल धारण करनेवाला, महासत्वसंपन्न, परीषहोंको जीतनेवाला, उत्तम संहननका धारक, क्रमसे धर्मध्यान और शुक्लध्यानको पूर्ण करनेवाला मुनि स्वयं ठहरे हुए देशमें उत्कृष्ट और दुर्लभ आहारका व्रत ग्रहण करता है- अर्थात् उत्कृष्ट और दुर्लभ आहार यदि एक महिनेके अंदर मेरेको मिलेगा तो मैं ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करके उस महिनेके अंतिम दिनमें वह प्रतिमा योग धारण करता है. यह एक भिक्षु प्रतिमा है.

पूर्वोक्त आहारसे शतगुणित उत्कृष्ट और दुर्लभ ऐसे भिन्न भिन्न आहारका व्रत वह क्षपक ग्रहण करता है. यह व्रत वह क्षपक दो, तीन, चार पांच, छह और सात मास तक ग्रहण करता है. प्रत्येक महिनेके अन्तिम दिनमें

प्रतिमायोग धारण करता है. ये सात भिक्षु प्रतिमायें है.

पुनः सात सात दिनोंमें पूर्व आहारकी अपेक्षासे शतगुणित उत्कृष्ट और दुर्लभ ऐसे भिन्न भिन्न आहार तीन दफे लेनेकी प्रतिज्ञा करता है. आहारकी प्राप्ति होने पर तीन दोन और एक ग्रास लेता है. ये तीन भिक्षु प्रतिमायें है. तदनंतर रात्रि और दिनभर प्रतिमायोगसे खडा रहकर अनंतर प्रतिमायोगसे ध्यानस्थ रहता है. ये दो भिक्षु प्रतिमायें है. प्रथम अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानकी प्राप्ति होती है. अनंतर सूर्योदय होनेपर यह क्षपक केवलज्ञानको प्राप्त कर लेता है. इस रीतीसे बारा भिक्षुप्रतिमायें होती हैं.

शरीरसल्लेखनाहेतुषु उपन्यस्तेषु के उत्कृष्टा इत्यत्राह—

सल्लेहणा सरीरे तवोगुणविधी अणेगहा भणिदा ॥
आयंबिलं महेसी तत्थ दु उक्कस्सयं विंति ॥ २५० ॥

देहसल्लेखनाहेतुर्बहुधा वर्णितं तपः ॥
वदन्ति परमाचाम्लमार्हता यत्र योगिनः ॥ २५० ॥

विजयोदया—सल्लेहणा सरीरे शरीरसल्लेखनानिमित्तं शरीरे सल्लेखना इत्युच्यते। तवोगुण तपःसंज्ञितो गुणविकल्पः। अणेगहा भणिदा अनेकधा निरूपितः अतीतसूत्रैः। तत्थ तत्र। महेसी महर्षयः। आयंबिलं दु आचाम्लाशनाख्यं च। उक्कस्सगं उत्कृष्टमिति। वेंति ब्रुवन्ति।

शरीरसल्लेखनाहेतुषूपन्यस्तेषु क उत्कृष्ट इत्याह—

मूलारा—सल्लेहणा सल्लेखनानिमित्तं कार्ये कारणोपचारात्। तवोगुणविधी तपःसंज्ञितो गुणविकल्पः। भणिदो निरूपितोऽतीतसूत्रैः। आयंबिलं वक्ष्यमाणलक्षणमाचाम्लं। महेसी महर्षयः। वेंति ब्रुवते।

शरीरसल्लेखनाके हेतु ऊपर कहे हैं उनमेंसे कौनसे हेतु उत्कृष्ट है इसका विवरण—

अर्थ—शरीरसल्लेखनाका निमित्त जो तप उसके अनेक विकल्प पूर्वोक्त गाथाओंमें कहे हैं. उन विकल्पोंमें आचाम्लभोजन करना यह उत्कृष्ट विकल्प है ऐसा महर्षिगण कहते हैं.

शरीरसल्लेखनोपायोत्कृष्टमाचाम्लाशनमित्युक्तं तत्कीदृगिति चोदिते आह—

छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं भत्तेहिं अदिविकिट्ठेहिं ॥
मिदलहुगं आहारं करेदि आयंबिलं बहुसो ॥ २५१ ॥

षष्ठाष्टमादिभिश्चित्रैरुपवासैरतंद्रितः ॥
गृह्णाति मितमाहारमाचाम्लं बहुशः पुनः ॥ २५१ ॥

विजयोदया—छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं भत्तेहिं अदिविकिट्ठेहिं द्वित्रिचतुःपंचदिनोपवासैः उत्कृष्टैः । मिदलहुगं आहारं करेदि । परिमितं लघ्वाहारं करोति । आयंबिलं आचाम्लं । बहुसो बहुशः ।

मूलारा—छट्ठेत्यादि—द्वित्रिचतुःपंचदिनोपवासैः । अदिविकिट्ठेहिं उत्कृष्टैः । वियदिअट्ठेहिं इति पाठे विशेषात्विकृष्टैः । मिदलहुगं । परिमितं लघुं च गुणेन । आयंबिलं काञ्जिकाहारं । इदमत्र तात्पर्यं षष्ठाद्युपवासैरसंक्लिष्टो मितलघ्वाहारं बुभुक्षुर्बहुशः काञ्जिकाहारं करोति तत्सल्लेखनाहेतुमुत्कृष्टमाचक्षते ।

तथा चोक्तं— षष्ठाष्टमादिभक्तैरतिशयवद्भिर्बली हि भुंजानः ॥
मितलघुमाहारविधिं विदधात्यम्लाशनं बहुशः ॥

अपि च—षष्ठाष्टमादिभिश्चित्रैरुपवासैरतंद्रितः ॥
गृह्णाति मितमाहारमाचाम्लं बहुशः पुनः ॥

तथा—समोऽथ षष्ठाष्टमकैस्तपोधिकैस्ततो विकृष्टैर्दशमैः शमात्मकः ॥
तथा लघु द्वादशकैश्च सेवते मितं मुदा चाम्लमनाविलो लघुः ॥

आचाम्लभोजन करना यह शरीरसल्लेखनाका उत्कृष्ट उपाय है ऐसा पूर्व गाथामें कहा है. अब उसका विधि बतलाते हैं—

अर्थ— दोन दिनका उपवास, तीन दिनका उपवास, चार दिनका उपवास, पांच दिनका उपवास ऐसे उत्कृष्ट उपवास होनेके अनंतर मित और हलका ऐसा कांजीभोजन ही क्षपक बहुशः करता है.

भक्तप्रत्याख्यानस्यास्य वर्ण्यमानस्य कियत्काल इत्यत्रोत्तरं आह—

उक्कस्सएण भत्तपइण्णाकालो जिणेहिं णिद्दिट्ठो ॥
कालम्मि संपहुत्ते वारसवरिसाणि पुण्णाणि ॥ २५२ ॥
कालो द्वादशवर्षाणि काले सति महीयसि ॥
भक्तत्यागस्य पूर्णानि प्रकृष्टः कथितो जिनैः ॥ २५२ ॥

विजयोदया—उक्कस्सएण उत्कर्षेण । भत्तपइण्णाकालो भक्तप्रत्याख्यानकालः । जिणेहिं णिद्दिट्ठो जिनैर्निर्दिष्टः । कालम्मि काले । संपहुत्ते महति सति । वारसवरिसाणि संपूर्णद्वादशवर्षमात्रान् ॥

महति जीवितकाले संभाव्यमाने सति भक्तप्रत्याख्यानस्योत्कर्षेण कियान् काल इत्यत्राह—

मूलारा—कालमि काले अर्थाज्जीवितस्य । संपहुत्ते महति सति । अन्ये संभवन्ते इति पठित्वा संभवति सतीत्यर्थं व्याचख्युः ॥

जिसका वर्णन चल रहा है ऐसे भक्त प्रत्याख्यान विधीका काल कितना है इस प्रश्नका आचार्य उत्तर कहते हैं—

अर्थ—आयुष्य काल अधिक होनेपर भक्त प्रतिज्ञाका अर्थात् भक्तप्रत्याख्यानका उत्कृष्ट कालप्रमाण जिनेंद्र भगवानने बारा वर्ष प्रमाण कहा है.

उक्तेषु द्वादशवर्षेषु एवं कर्तव्यमिति क्रमं सल्लेखनाया दर्शयति—

जोगेहिं विचित्तेहिं दु खवेइ संवच्छराणि चत्तारि ॥
वियडी णिज्जूहित्ता चत्तारि पुणो वि सोसेदि ॥ २५३ ॥
विचित्रैः संलिखित्यंगं योगैर्वर्षचतुष्टयम् ॥
समस्तरसमोक्षेण परं वर्षचतुष्टयम् ॥ २५३ ॥

विजयोदया—जोगेहिं कायक्लेशैः । विचित्तेहिं दु विचित्रैरनियतैः । खवेदि क्षपयति । संवच्छराणि चत्तारि ।

वर्षचतुष्टयं । यत्किंचिद्भुक्त्वा । विगडी णिज्जूहित्ता रसादीन्क्षीरादीन्परित्यज्य । चत्तारि वर्षचतुष्टयं । पुणो वि पुनरपि । सोसेदि तनूकरोति तनुम् ।

द्वादशसु वर्षेषु सल्लेखनाया इतिकर्तव्यताक्रमं गाथाद्वयेन दर्शयति—

मूलारा—जोगेहिं कायक्लेशैः । विचित्तेहिं विचित्रैरनियतैरित्यर्थः । विगडि क्षीरादिरसान् । णिज्जूहित्ता निःशेषेण त्यक्त्वा । सोसेदि शोषयति कृशीकरोति शरीरमिति शेषः । अन्ये ब्भोसेदि इति पठित्वा नयतीत्यर्थं व्याचक्षुः ॥

इस बारा वर्षप्रमाण कालमें सल्लेखनाका कर्तव्यक्रम कैसा होता है उसका वर्णन आचार्य करते हैं—

अर्थ—अनेक प्रकारके कायक्लेशोंद्वारा वह क्षपक पहिले चार वर्ष व्यतीत करता है. अर्थात् पहिले चार वर्षोंमें कायक्लेशका एक ही प्रकार नहीं रहता है. चार वर्ष समाप्त होनेपर आगेके चार वर्षोंमें वह क्षपक दूध, दही, गुड, घी वगैरह रसोंका त्याग करके पुनः शरीरको कृश करता है. इस तरह आठ वर्ष व्यतीत होते हैं.

आयंबिलणिव्वियडीहिं दोण्णि आयंबिलेण एक्कं च ॥
अद्धं णादिविगट्ठेहिं अदो अद्धं विगट्ठेहिं ॥ २५४ ॥

आचाम्लरसहानिभ्यां वर्षे द्वे नयते यतिः ॥
आचाम्लेन विशुद्धेन वर्षमेकं महामनाः ॥ २५४ ॥
षण्मासीमप्रकृष्टेन प्रकृतेन समाधये ॥
षण्मासीं नयते धीरः कायक्लेशेन शुद्धधीः ॥ २५५ ॥

विजयोदया—आयंबिलणिव्वियडीहिं आचाम्लेन निर्विकृत्या च । दोण्णि वर्षद्वयं क्षपयति । आयंबिलेण आचाम्लेनैव । एक्कं च एकं वर्षं । अद्धं अवशिष्टस्य वर्षस्य षण्मासान् । णादिविगट्ठेहिं अत्यनुत्कृष्टैस्तपोभिः कृशयति । अदो अद्धं विकट्ठेहिं अतः परं षण्मासान् उत्कृष्टैस्तपोभिः ।

मूलारा—आयंबिलणिव्वियडीहिं आचाम्लं कांजिकाहारः । निर्विकृतिः रसव्यंजनादिवर्जितमव्यतिकीर्णमोदनादिभोजनम् । अद्धं द्वादशस्य वर्षस्य अर्धं षण्मासानित्यर्थः । णादिविगट्ठेहिं नात्युत्कृष्टैस्तपोभिः । कृशयति शरीरमिति शेषः विकट्ठेहिं उत्कृष्टैः ।

अर्थ—आचाम्ल अर्थात् कांजीका भोजन करना और णिव्वियडी जिससे भोजनमें स्वाद उत्पन्न होता है

ऐसे साग, चटणी वगैरह पदार्थ को विकृति कहते हैं. इनसे रहित रसहीन भोजनको निर्विकृति भोजन कहते हैं. आचाम्ल भोजन और निर्विकृति भोजन कर क्षपक दो वर्ष बिताता है. तदनंतर आचम्ल भोजन कर एक वर्ष व्यतीत करता है. अब अंतिम एक वर्षके प्रथम छहमासतक वह मध्यम तपोद्वारा शरीरको क्षीण करता है. और अन्तके छहो मासमें उत्कृष्ट तपोंसे शरीरको कृश करता है. इस तरह अपने आयुके अन्तिम बारा वर्षोंमें वह सल्लेखना करता है.

व्यावर्णितेनैव क्रमेण आचरितव्यमिति नियोगो न विद्यते इत्याचष्टे—

भत्तं खेत्तं कालं धादुं च पडुच्च तह तवं कुज्जा ॥
वादो पित्तो सिंभो व जहा खोभं ण उवयंति ॥ २५५ ॥

द्रव्यं क्षेत्रं सुधीः कालं धातुं ज्ञात्वा तपस्यति ॥
तथा क्षुभ्यंति नो जातु वातपित्तकफा यथा ॥ २५६ ॥

विजयोदया—भत्तं आहारं शाकबहुलं, रसबहुलं, कुल्मापप्रायं, निष्पावचणकादिमिश्रं, शाकव्यंजनादिरहितं वा। खेत्तं अनूपजांगलसाधारणविकल्पं। कालं घर्मशीतसाधारणभेदं। धातुमात्मनः शरीरप्रकृतिं च। पडुच्च आश्रित्य। तह तथा। तवं कुज्जा तपः कुर्याज्जहा खोभं ण उवयंति। यथा क्षोभं नोपयांति। वादो पित्तो सिंभो वा वातपित्तश्लेष्मत्रिकं।
यथोक्तेनैव क्रमेण चरितव्यमिति नियमो नास्तीति ब्रवीति

मूलारा—दव्वं आहारं शाकरसभूयिष्ठं कुल्मापकलायचणकनिष्पावादिमिश्रं शाकव्यंजनादिरहितं वा। खेत्तं अनूपजांगलसाधारणविकल्पं। कालं शीतधर्मवृष्टिभेदं। धातुं स्वशरीरप्रकृतिं। पडुच्च आश्रित्य खोभं प्रकोपं।

ऊपर दो गाथाओंमें जो आचारक्रम बताया है उसके मुआफिक ही आचरण करना चाहिए ऐसा नियम नहीं है. अन्य भी प्रकार है ऐसा आगेकी गाथामें लिखते हैं—

अर्थ— आहारके अनेक प्रकार है जैसे शाक जिसमें ज्यादा है ऐसा एक आहार, घी, दूध, वगैरह जिसमें अधिक है ऐसा आहार, कुलथ्या नाम का धान्य जिसमें ज्यादा है ऐसा आहार, निष्पाव, चना वगैरह से रहित केवल

जिसमें बहुत जल वृष्टि होती है ऐसा क्षेत्र जिसको अनूप कहते हैं, जिसमें अल्प वृष्टि होती है और जिसमें नदी के पानीसे खेती होती है ऐसे क्षेत्रको जांगल कहते हैं. जिसमें अनूप और जांगलके लक्षण मिलते हैं ऐसे देशको साधारण क्षेत्र कहते हैं. कालके शीतकाल, वर्षाकाल और उष्णकाल ऐसे भेद होते हैं. धातु—अपनी शरीरप्रकृति. अर्थात् देश, काल, अपनी शरीरकी प्रकृति इनका विचार कर वात, पित्त और श्लेष्मका क्षोभ न होगा इस रीतीसे तप करके क्षपकने शरीरसल्लेखना करनी चाहिये.

शरीरसल्लेखनाक्रममभिधायाभ्यंतरसल्लेखनाक्रममभिधातुं अभ्यंतरसल्लेखनया सह संबंधं कथयति—

एवं सरीरसल्लेहणाविहिं बहुविहा वि फासेंतो ॥
अज्झवसाणविसुद्धिं खणमवि खवओ ण मुंचेज्ज ॥ २५६ ॥

इत्थं सल्लेखनामार्गं कुर्वाणेनाप्यनेकधा ॥
नैव त्याज्यात्मसंशुद्धिः क्षपकेण पटीयसा ॥ २५७ ॥

विजयोदया—एवमुक्तेन क्रमेण । शरीरसल्लेहणाविहिं नानाप्रकारं । फासेंतो वि स्पृशन्नपि । अज्झवसाणविसुद्धिं परिणामविशुद्धिं । खवगो खणमवि ण मुंचेज्ज क्षपकः क्षणमपि न त्यजेत् ।

एवं कायसल्लेखनाक्रममभिधाय कषायसल्लेखनामभिधातुकामस्तया सह तस्याः संबंधं नित्यविधातव्यतयाभिधत्ते—

मूलारा—फासेन्तो स्पृशन्नपि । अपि शब्दो भिन्नक्रमो योज्यः । अज्झवसाणविसुद्धिं शुद्धचिद्विवर्तपरिणतिं ॥

यहांतक शरीरसल्लेखनाका क्रम आचार्य महाराजने कहा है. अब अभ्यंतर सल्लेखना—कषायसल्लेखनाका संबंध करते हैं. प्रथम कषायसल्लेखनाके साथ शरीरसल्लेखनाको दिखाते हैं—

अर्थ—क्रमसे नाना प्रकारकी शरीरसल्लेखना करता हुआ भी क्षपक मुनि अपने परिणामोंकी निर्मलताको एक क्षण भी न छोडे. तात्पर्य यह है कि, क्षपक शरीरसल्लेखनाके तरफ जितना ध्यान देता है उतना ही कषायसल्लेखनाके तरफ भी देवे. यदि परिणामोंमें मलिनता उत्पन्न होगी तो शरीरसल्लेखना करना व्यर्थ होगा. इसलिये परिणामकी विशुद्धि भी क्षपकको रखनी पडती है.

अभ्यंतरशुद्ध्यभावे दोषं कथयति—

अज्झवसाणविसुद्धीए वज्जिदा जे तवं विगट्ठंपि ॥
कुव्वंति वहिल्लेस्सा ण होइ सा केवला सुद्धी ॥ २५७ ॥

भावशुद्ध्या विनोत्कृष्टमपि ये कुर्वते तपः ॥
बहिर्लेश्या न सा तेषां शुद्धिर्भवति केवला ॥ २५८ ॥

विजयोदया—अज्झवसाणविसुद्धीए वज्जिदा अध्यवसानविशुद्ध्या वर्जिताः । जे ये । तवं तपः । विकट्ठंपि उत्कृष्टमपि कुर्वन्ति । वहिल्लेस्सा बहिर्लेश्याः पूजासत्काराद्याहितचित्तवृत्तयः । ण होदि तेसिं केवला सुद्धी दोषोन्मिश्रका भवतीति शुद्धिरिति यावत् ।

अभ्यंतरशुद्ध्यभावे दोषमाह—

मूलारा—विकट्ठं पि उत्कृष्टमपि । वाहिल्लेसा पूजासत्काराद्याहितचित्तवृत्तयः । केवला अशुभकर्मास्रवणरहिता । सुद्धा अशुभकर्मनिर्जरा ॥

अभ्यंतर शुद्धि न होनेसे दोष उत्पन्न होता है ऐसा कथन —

अर्थ—जिनके परिणामोंमें निर्मलता नहीं है वे साधु यद्यपि उत्कृष्ट तप करते हैं तो भी पूजा, आदर, कीर्ति इनकी इच्छासे वे तप करते हैं ऐसा समझना चाहिये. इसलिये उनके परिणामोंकी शुद्धि नहीं होती. अर्थात् उनके परिणामोंकी शुद्धि दोषसहित है ऐसा समझना. जब पूजा, आदर इत्यादिकी अभिलाषा छोडकर मुनि उत्कृष्ट तप करते हैं तब उनके परिणामोंमें निर्मलता वृद्धिंगत होती है.

केवला शुद्धिः कस्य तर्हि भवतीत्याह—

अविगट्ठं पि तवं जो करेइ सुविसुद्धसुक्कलेस्साओ ॥
अज्झवसाणविसुद्धो सो पावदि केवला सुद्धिं ॥ २५८ ॥

विजयोदया—अविकट्ठं पि अनुत्कृष्टमपि तपो यः करोति । सुविशुद्धशुक्लेश्यासमन्वितः विशुद्धपरिणामः स केवलां शुद्धिं प्राप्नोति इति गाथार्थः ।

तर्हि केवला शुद्धि कस्य स्यादित्याह—

मूलारा—सो इत्यादि संवरसहभाविनीं निर्जरां करोतीत्यर्थः ॥

किस मुनिके परिणाम केवल शुद्ध होते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—विशुद्धशुक्ललेश्याका धारक जो मुनि वह उत्कृष्ट तप यद्यपि नहीं करेगा तो भी परिणामोंसे निर्मल होनेसे दोषरहित अर्थात् केवल शुद्धिको प्राप्त होता है. ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

प्रस्तुता द्वितीया कपायसल्लेखनामुक्तयाध्यवसायविशुद्ध्या योजयति—

अज्झवसाणविसुद्धी कसायकलुसीकदस्स णत्थित्ति ॥
अज्झवसाणविसुद्धी कसायसल्लेहणा भणिदा ॥ २५९ ॥

कषायाकुलचित्तस्य भावशुद्धिः कुतस्तनी ॥
यतस्ततो विधातव्या कषायाणां तनूकृतिः ॥ २५९ ॥

विजयोदया—अज्झवसाणविसुद्धी परिणामविशुद्धिः । कसायकलुसीकदस्स कषायैः कलुषीकृतस्य । णत्थि नास्ति यस्मात् इति तस्मात् । अज्झवसाणविसुद्धी परिणामविशुद्धिः । कसायसल्लेहणा भणिया कषायसल्लेखनेति गदिता ॥

अध्यवसानविशुद्ध्या कपायसल्लेखना साध्यसाधनभावेन योजयति ।

मूलारा—अज्झवसाण इत्यादि—स्वोदयनिमित्तबाह्यद्रव्यादिसान्निध्यशालिभिरुदयैर्द्रव्यक्रोधादिभिः क्रूरत्वादिरूपं कालुष्य नीतस्य मुनेरध्यवसानविशुद्धिर्नास्तीति हेतोः ।

प्रस्तुत कपायसल्लेखनाका परिणामविशुद्धिके साथ संबंध दिखाते हैं—

अर्थ—कषायोंसे जिस मुनिका मन कलुषित हुआ है वह परिणामोंकी विशुद्धीसे दूर रहता है. और जिसके परिणामोंमें शुद्धता है वह कपायसल्लेखना कर सकता है इसलिये परिणामविशुद्धिको आचार्योंने कपायसल्लेखना यह नाम दिया है. इन दोनोंमें अविनाभाव है. जहा परिणामोंकी निर्मलता है वहा कपायसल्लेखना है. और जहां कपाय सल्लेखना है वहा परिणामोंकी निर्मलता है.

शुभपरिणामप्रवाहवृत्तेन चतुष्कषायसल्लेखना कृता भवति इत्यभिधाय सामान्येन चतुर्णामपि कषायाणां तनूकरणे उपायं प्रतिपक्षपरिणामचतुष्कं कथयति--

कोधं खमाए माणं च मद्दवेणाज्जवं च मायं च ॥
संतोषेण य लोहं जिणदु खु चत्तारि वि कसाए ॥ २६० ॥

जेतव्यः क्षमया क्रोधो मानो मार्दवसंपदा ॥
आर्जवेन सदा माया लोभः संतोषयोगतः ॥ २६० ॥

विजयोदया--क्रोधं खमायेत्यादिना कषायविनाशने उपायस्तदुत्पत्तित्यागः ।

संवेगवैराग्यदयादमतत्त्वज्ञानसंस्कारादिशुभपरिणामप्रवाहप्रवृत्तेन कषायसल्लेखना कृता भवति इत्यभिधाय क्रोधादीनां प्रत्येकं कृशीकरणोपायं प्रतिपक्षपरिणाममाचष्टे ।

मूलारा--जिणदि स्वनिमित्तवशादुद्यतः क्रोधादीन्क्षमादिभावना क्रूरत्वादिफलदानशक्तिरहितान्करोति ॥

शुभपरिणामोंके प्रवाहमें जो मुनि अवगाहन करता है उसको कषायसल्लेखनाका लाभ होता है इस विषय का खुलासा किया. अब क्रोधादि चार कषायोंको क्षीण करनेके उपायभूत चार प्रतिपक्षरूप परिणामोंका वर्णन करते हैं--

अर्थ--हे क्षपक मुने ! तुम क्षमारूपी परिणामोंसे क्रोधको, मार्दवगुणसे मानकषायको आर्जव गुणके द्वारा मायाको और संतोषके सहारेसे लोभकषायको इस तरह चार कषायोंको जीतो.

उत्पद्यमानो हि कषायो वृद्धिमुपैतीति कथयति--

कोहस्स य माणस्स य मायालोभाण सो ण एदि वसं ॥
जो ताण कसायाणं उप्पत्तिं चेव वज्जेइ ॥ २६१ ॥

चतुर्णां स कषायाणां न वशं याति शुद्धधीः ॥
उत्पत्तिस्त्यज्यते तेषां सर्वदा येन तत्वतः ॥ २६१ ॥

विजयोदया—कोहस्स य अथेयं पदघटना। जो तेसिं कसायाणमुप्पत्तिं चेव वज्जेदि यस्तेषां कपायाणामुत्पत्ति एव परिहरति। कोधस्स य माणस्स य मायालोभाण सो ण वदि वसं क्रोधमानमायालोभानां स नोपैति वशं यस्तेषामुत्पत्तिमपेक्षते स तद्वशगः कथं कषायसल्लेखनां कुर्यादिति भावः ॥

अशक्यत्यागद्रव्यादिसामग्रीवशादुत्पन्नमानः कपायो वृद्धिमुपयाति इति तद्विनाशने उत्तमक्षमादिप्रयोगेण तदुत्पत्तिनिरोध एवोपाय इत्युपदिशति ॥

मूलारा—वसं द्रव्यक्रोधादिजन्यमानक्रूरत्वादिलक्षणभावक्रोधादिपरिणतिलक्षणपारतंत्र्यम्।

उत्पन्न होनेवाले कषाय वृद्धिंगत होते हैं ऐसा कहते हैं—

अर्थ—जो मुनि उन कषायोंको उत्पन्न ही नहीं होने देता है वह मुनि क्रोध, मान, माया और लोभके वश नहीं होता है, परंतु जो उनके उत्पत्तिकी अभिलाषा रखता है वह उनके वश हो जानेसे कषायसल्लेखना कैसी कर सकेगा ?

कषायोत्पत्तिं परिहर्तुमिच्छता किं कर्तव्यमित्यत आह—

तं वत्थुं मोत्तव्वं जं पडि उप्पज्जदे कसायग्गि ॥
तं वत्थुमल्लिएज्जो जत्थोवसमो कसायाणं ॥ २६२ ॥

तद्धेयं सर्वदा यत्र कपायाग्निरुदीयते ॥
यत्र शाम्यत्यसौ वस्तु तदादेयं पटीयसा ॥ २६२ ॥

विजयोदया—तं वत्थुं मोत्तव्वं तद्वस्तु मोक्तव्यं। जं पडि उप्पज्जदे यन्निमित्तं उत्पद्यते। कसायग्गी कपायाग्निः। तं वत्थुमल्लिएज्जो तद्वस्त्वाश्रयणं कुर्यात्। जत्थ यत्रोपाश्रयणे। उवसमो कसायाणं कपायाणामुपशमो भवति ॥

कपायोत्पत्तिपरिजिहीर्षुणा किं कर्तव्यमित्यत्राह—

मूलारा—जं पडि यद्वस्तु निमित्तीकृत्य। अल्लियज्जो आश्रयेत् ॥

कषायोत्पत्ति न होनेके लिये क्या इलाज करना चाहिये इसका उत्तर—

अर्थ—जिसके निमित्तसे कषायरूपी अग्नि उत्पन्न होती है वह वस्तु छोडनी चाहिये, और जो वस्तु

कषायोंका उपशम करेगी वही वस्तु आश्रय करने योग्य है. जिस वस्तुका आश्रय करनेसे कषायोंका उपशम होगा उसी वस्तुका आश्रय करना चाहिये.

जइ कहवि कसायग्गी समुट्ठिदो होज्ज विज्झवेदव्वो ॥
रागद्दोसुप्पत्ती विज्झादि हु परिहरंतस्स ॥ २६३ ॥
यद्युदेति कषायाग्निर्विध्यातव्यस्तदा लघुः ॥
शाम्यन्ति ह्यखिला दोषाः शमिते तत्र तत्त्वतः ॥ २६३ ॥

विजयोदया--जइ कहवि कसायग्गी यदि कथंचित्कषायाग्निः। समुट्ठिदो होज्ज समुत्थितो भवेत्। विज्झवेदव्वो विध्यापयितव्यः। रागद्दोसुप्पत्ती रागद्वेषयोरुत्पत्तिः। विज्झादि हु खु शाम्यत्येव। परिहरंतस्स परिहरतः। कषायाग्निः प्रशान्तिं नीयते। तद्दोषापेक्षणेन नीचजनसांगत्यमिव हृदयं दहति। अशुभांगोपांगनामकर्मबद्धिरूपाननं करोति। रज इव चक्षुषो रागमानयति। महासमीरण इव तनुं कंपयति। सुरापानमिव यत्किंचिद्विगदयति। आविष्टग्रह इव यत्किंचन कारयति। सम्यग्ज्ञानलोचनं मलिनयति। दर्शनवनमुत्पाटयति। चारित्रसरः शोषयति। तपःपल्लवं भस्मयति। अशुभप्रकृतिलतां स्थिरयति। शुभकर्मफलं विरसयति। प्रत्यग्रमनोमलं ढौकयति। हृदयं कठिनयति। प्राणभृतो घातयति। भारतीमसत्यां प्रवर्तयति। गुरूनपि गुणान्लंघयति। यशोधनं नाशयति। परानपवादयति। महतोऽपि गुणान्स्थगयति। मैत्रीमुन्मूलयति। कृतमप्युपकारं विस्मारयति। अपकारमध्यापयति। महति नरकगर्ते पातयति। दुःखावर्ते निमज्जयतीत्यनेकानर्थावहत्वभावनया।

मूलारा--विज्झादि खु शाम्यत्येव। परिहरंतस्स तद्दोषभावनया कषायांस्त्यजतः। तद्भावना यथा---कषायो हृदयं दहति, मुखं विरूपयति। चक्षुषो रागमानयति। तनुं कंपयति। यत्किंचन भाषयति। यद्वा तद्वा कारयति। सम्यग्ज्ञानं मलिनयति। दर्शनमुन्मूलयति। चारित्रं चूर्णयति। तपः क्षपयति। अशुभप्रकृतिलतां स्थिरयति। शुभकर्मफलं विरसयति। प्रत्यग्रमनोमलं ढौकयति। हृदयं कठिनयति। प्राणभृतो घातयति। भारतीं वितथयति। गुरूनपि गुणान् लंघयति। यशो नाशयति। परानपवादयति। महतोऽपि गुणान्स्थगयति। मैत्रीमुल्लनयति। कृतमप्युपकारं विस्मरयति अपकारमध्यापयति। दुःखार्णवे निमज्जयतीति ॥

अर्थ--यदि किसी प्रकारसे कषायाग्नि भभक कर उठेगी तो उसका उपशम करना चाहिये. जो

कषायाग्निका परिहार करनेका प्रयत्न करता है उसके रागद्वेषोंकी उत्पत्ति नहीं होती है. कषायोंमें कौनसे दोष भरे हैं इसका विचार कर उसका उपशमन करना चाहिये.

दुर्जनोंकी संगतीके समान ये कषाय हृदयको जलाते हैं. अशुभ अंग और उपांगोंकी रचना करनेवाले नाम कर्मके समान कषाय मुखको कुरूप करते हैं. नेत्रमें गये धूलिके कण जैसे आंखको लाल बनाते हैं वैसे कषायसे भी वह लाल होती है. बडे जोरसे बहनेवाले वायुके समान कषाय शरीरको कंपित करते हैं. सुरापानसे मनुष्य चाहे जो बडबडता है वैसे कषायवश हुआ मनुष्य बडबडता है. पिशाचग्रस्त मनुष्य के समान कुछ भी कार्य करने लगता है. यह कषाय सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रको मलिन करता हैं. सम्यग्दर्शनरूपी वनको उध्वस्त कर देता है. चारित्ररूपी सरोवरको सुखा देता है. यह कषाय तपरूपी कोमल कमलोंको दग्ध करता है. अशुभकर्मप्रकृतिको दृढ करता है, शुभकर्मके फलोंको रसहीन करता है. निर्मल मनको मलिन करता है. हृदयको निर्दय बनाता है. प्राणिओंकी हिंसा कराता है, असत्य भाषणमें मनुष्यको प्रवृत्त करता है. बडे बडे गुणोंको भी लांघता है. कीर्तिरूपी धनको नष्ट करा देता है. दूसरोंकी निंदा करवाता है महापुरुषोंके गुणोंको ढक देता है, मैत्रीको तुडवाता है, किये गये उपकारको भुला देता है. अपकारका पाठ सिखाता है. बडे भयंकर नरकके खड्डेमें प्राणीओंको गिराता है. और दुःखरूपी भोवरोंमें डुबाता है. इस तरह यह कषाय अनेक अनर्थोंको उत्पन्न करता है ऐसी भावना मनमें कर रागद्वेषोंकी उत्पत्तिको न होने देना चाहिये.

रागद्वेषप्रशांत्युपायकथनाय गाथा—

जावंति केइ संगा उदीरया होंति रागदोसाणं ॥
ते वज्जंतो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो ॥ २६४ ॥
रागद्वेषादिकं साधोः संगाभावे विनश्यति ॥
कारणाभावतः कार्यं किं कुत्राप्यवतिष्ठते ॥ २६४ ॥

विजयोदया—जावंति केइ संगा यावन्तः केचन परिग्रहाः । उदीरगा होंति रागदोसाणं उत्पादका भवन्ति रागद्वेषयोः ॥ ते वज्जंतो तान्परिग्रहान्निराकुर्वन् । जिणदि खु जयत्येव । रागं दोसं च रागद्वेषौ । निस्संगो निःपरिग्रहः ।

रागद्वेपयोः प्रशमोपायमाह—

मूलारा–स्पष्टम् ।

रागद्वेषोंका प्रशमन करनेका उपाय कहनेकेलिये यह गाथा कहते हैं—

अर्थ—राग और द्वेषको उत्पन्न करनेवाले जो कोई परिग्रह हैं उनका त्याग करनेवाला मुनि निःसंग होकर उन रागद्वेषोंको जीतता ही है. अर्थात् परिग्रहका त्याग कर निःसंग बनना यह रागद्वेषोंको जीतनेका उपाय है.

एवमुदयमुपयाति कषायाग्नि स चेत्थमपकारं करोत्येवं उपशांति नेतव्य इत्येतद्गाथाद्वयोदाहरणेनोच्यते –

पडिचोदणासहणवायखुभिदपडिवयणइंधणाइद्धो ॥
चंडो हु कसायग्गी सहसा संपज्जिलेज्जाहि ॥ २६५ ॥
वाक्यासहिष्णुतावात्याप्रेरितः कोपपावकः ॥
उदेति सहसा चंडो भूरिमत्युत्तरेन्धनः ॥ २६५ ॥

विजयोदया - पडिचोयणा प्रतिचोदनाया. असहनमेव वातः तेन क्षुभित ,प्रतिवचनैंधनैरिद्ध' क्रूरः कषायाग्निः सहसा प्रज्वलति ।

एवं क्रोधादीनां निर्जयोपायमुपदिश्येदानीं क्रोधस्य स्वार्थभ्रंशकरत्वप्रकाशनद्वारेणेतरकषायाणामप्यपायभूयिष्ठता उपदेष्टुं तस्यैवोदीरणां दिद्धाविणाह —

मूलारा— पडीलादि —प्रतिचोदनासहनवातक्षुभितप्रतिवचनेंधनेद्ध. । प्रतिचोदना शिष्यस्याविहितप्रवृत्तिनिवारणार्थं गुरोः शिक्षावचने सति प्रतिकूलवचनं, तस्यासहनममर्षणं गुरुणा, तदेव वातस्तेन क्षुभित- संधुक्षितो गुरोर्मनसि कोपाग्निः । तदनंतरं प्रतिवचनं, पुनर्गुरुणा शिक्षावचने सति प्रतिकूलं वचनं तदेवेंधनं तेनेद्धो दीप्तः । अथवा प्रतिचोदना गुरुणा शिष्यस्य शिक्षापणं,तस्यासहनममर्षणं शिष्येण,तदेव वातस्तेन क्षुभित ततः प्रतिवचनं पुनः शिष्यस्य गुरुणा शिक्षापणं तदेवेंधन तेनेद्धो दीप्त शिष्यस्य मनसि कोपाग्नि । चंडो रौद्रः प्रत्याख्यानावरणोऽनंतानुबंधी वा । संपज्जलेज्जाहि संप्रज्वलेत् । तथा चोक्तम्—

वाक्यासहिष्णुतायास्त्या प्रेरितः कोपपावकः ।
उदेति सहसा चंडो भूरिप्रत्युत्तरेन्धनः ॥

एवं वा तदर्थो भाव्यः ।

प्रतिवचनेंधनजनितः प्रतिकूलाचरणपवनसंचालितः ।
चंडः कषायदहनः सहसा संप्रज्वलेत्पापः ॥

कषायाग्नि उत्पन्न होकर जब अपकार करने लगता है तब आगे कहे हुए उपायसे उसका उपशमन करना चाहिये. इस विषयको आचार्य तीन गाथाओंसे प्रगट करते हैं—

अर्थ—शिष्यकी अयोग्य कार्यमें प्रवृत्ति रोकनेके लिये गुरु उपदेश करते हैं. परंतु जब शिष्य प्रतिकूल उत्तर देता है तब यह गुरुको सहन नहीं होता है यह सहन न होना यही वायु है. इस वायुसे गुरुके मनमें कोपरूपी अग्नि प्रज्वलित होती है परंतु पुनः गुरु शिष्यको उपदेश देते हैं. शिष्य पुनः प्रतिकूल वचन बोलता है. इस प्रतिकूलवचनरूपी इंधनसे गुरुकी क्रोधाग्नि उद्दीप्त होती है. ऐसा होनेसे अनंतानुबंधी अथवा अप्रत्याख्यानरूप कषायाग्नि प्रज्वलित होती है. तदनंतर वह—

जलिदो हु कसायग्गी चारित्तसारं डहेज्ज कसिणं पि ॥
सम्मत्तं पि विराधिय अणंतसंसारियं कुज्जा ॥ २६६ ॥

स दग्ध्वा ज्वलितः क्षिप्रं रत्नत्रितयकाननम् ॥
विदधाति महातापं संसारांगारसंचयैः ॥ २६६ ॥

विजयोदया—जलिदो हि कसायग्गी ज्वलितश्च कषायाग्निः । चरित्तसारं चारित्राख्यं सारं दहत्येव । सम्यक्त्वं विनाश्यानंतसंसारपरिभ्रमणे रत कुर्यादेव ।

क्रोधश्चैवं संप्रज्वलितः कमपकारं करोति इत्यत्राह—

मूलारा—कसिणं पि कृत्स्नमपि । अनंतसंसारियं अनंतभवपरिवर्तनोद्यतं गुरुं शिष्यं च ।

अर्थ—चारित्ररूपी उत्कृष्ट वस्तुको जलाकर भस्म करती है, और सम्यक्त्वका नाश कर आत्माको अनंत संसारी करती है.

तम्हा हु कसायग्गी पावं उपज्जमाणयं चेव ॥
इच्छामिच्छादुक्कडवंदणसलिलेण विज्झाहि ॥ २६७ ॥
जायमानः कषायाग्निः शमनीयो मनीषिणा ॥
इच्छामिथ्यातथाकारप्रणिपातादिवारिभिः ॥ २६७ ॥

विजयोदया—तह्मा खु तस्मात्खलु कषायाग्निः पापमुत्पद्यमानमेव प्रशमयेत् । केन " इच्छामि भवतः शिक्षां, मिथ्या भवतु मम दुष्कृतं, नमस्तुभ्यं " इत्येवंभूतेन सलिलेन ॥

तर्हि स कथं संशमनीय इत्यत्राहः—

मूलारा—इच्छेत्यादि—इच्छामि भवतां शिक्षामित्यभ्युपगमवचनं । मिच्छादुक्कडं मिथ्या विफलं भवतु मम दुष्कृतं, युष्मच्छिक्षावचनोल्लंघनलक्षणं दुराचरणमिति प्रार्थनावचनं । वंदण भगवंतः प्रसीदत, नमस्तत्र भवद्भ्यो इत्यादि-पूजावचनं, तत्त्रयसलिलेन विज्झाहि विध्यापयेच्छिष्यः ।

अर्थ—इसलिये यह कषायाग्नि पापको अब उत्पन्न करेगी ऐसा समझकर उसके उत्पन्न होते ही अर्थात् पापवर्धक कषाय उत्पन्न होते ही हे भगवन् ! मैं आपका उपदेश शिरोधार्य समझता हूं, मेरे पातक मिथ्या होवें मैं आपको वंदन करता हूं ऐसे वचनरूप सलिलसे शान्त करना चाहिये.

तह चेव णोकसाया सण्णिहियव्वा परेणुवसमेण ॥
सण्णाओ गारवाणि य तह लेस्साओ य असुहाओ २६८ ॥
संक्लिष्टं गौरवं संज्ञा नोकषाया महाभटाः ॥
समस्ता निंदिता लेश्या समाधानं यता सता ॥ २६८ ॥

विजयोदया—तह चेव णोकसाया तथैव नोकषायाः तनूकर्तव्याः। परेणुवसमेण परेणोपशमेन। संज्ञा, गारवाणि, अशुभाश्च लेश्याः, हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुरुषनपुंसकवेदाः नोकषाया इत्युच्यंते। आहारभयमैथुनपरिग्रहाभिलाषाः संज्ञाः। ऋद्धौ तीव्राभिलाषो, रसेषु, सुखे च गारवशब्देन उच्यंते॥

कषायवत्स्वार्थभ्रंशकरत्वाविशेषान्नोकषायादीनामपि मुमुक्षोः सल्लेखनीयत्वमाख्याति—

मूलारा—णोकसाया हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदाख्या नव। परेण उत्कृष्टेन। उवसमेण कषायोन्मुखपरिग्रहलक्षणेन वैभाविकभावपृथग्भूतशुद्धस्वात्मभावनाप्रभवेन। सण्णाओ अनादिसंतत्या प्रवर्तमाना; आहारभयमैथुनपरिग्रहाभिलाषाः। असुहाओ कृष्णनीलकपोतलक्षणाः॥

अर्थ—कषायके समान हास्यादि नवनोकषायोंका भी उपशमन करना चाहिये. अर्थात् नो कषाय भी कृश करने चाहिये. आहार, भय, परिग्रह और मैथुन इनमें अभिलाषा करना यह संज्ञाका लक्षण है. कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें हैं. हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नउ नोकषाय हैं. ऋद्धिमें तीव्र अभिलाष होना, रसोंमें तीव्र अभिलाष होना और सुखमें आसक्ति होना इनको गारव कहते हैं. ये नोकषाय, संज्ञा, लेश्या और गारव उत्पन्न होते ही इनको उत्कृष्ट उपशमके द्वारा कृश करना चाहिये.

परिवड्ढिदोवधाणो विगडसिराण्हारुपासुलिकडाहो॥
सल्लिहिदतणुसरीरो अज्झप्परदो हवदि णिच्चं॥ २६९।
वर्धितावग्रहः साधुः प्रकटास्थिसिरादिकः॥
तनूकृतसमस्तांगो भवत्यध्यात्मनिष्ठितः॥ २६९॥

विजयोदया—परिवड्ढिदोवधाणो परिवर्धितावग्रहः अन्येषां पाठः परिवड्ढिदोवधाणो परिवर्धितावधानः। वियडसिराण्हारुपासुलिकडाहो प्रकटीभूता मदन्यः अराद्य सिराः, पार्श्वास्थिसंहतयः कटाहदेशाश्च यस्य। सल्लिहिदतणुसरीरो सम्यक्तनूकृतं शरीरं यस्य स। अज्झप्परदो अध्यात्मध्याने तत्र रतः। होइ भवति। णिच्चं नित्यं॥

बाह्यतपोविशेषानुष्ठानेन कृशतरीकृतशरीरोऽपि विशुद्धपरिणामसंतत्या प्रवर्तमानो मुमुक्षुः संततं सद्ध्याननिष्ठो भवति इति कषायसल्लेखनानुविद्धकायसल्लेखनामाहात्म्यं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—परिवड्डिदोवहाणो समंतादहरहरुत्कर्षितमुपधानमवग्रहो येन । परिवड्डिदावहाणो इत्यत्र पाठे परिवर्द्धितप्रमादपरिहार इत्यर्थः । वियड प्रकटीभूताः । ण्हारु स्नायुः । पासुलि पार्श्वास्थिसंहतिः । कडाहो कटाक्षदेशः । नितंबसमीपदेश इत्यन्ये । सल्लिहिदतणुसरीरो तनुसल्लेखनारंभात्प्रागपि तपोविशेषैः कृशं यच्छरीरं तदेव तदा सम्यग्वशीकृतं यस्य येन वा ॥

अर्थ—जिसने प्रतिदिन अनशनादि बाह्य तपोंके नियम वृद्धिंगत किये हैं; अथवा जिसने प्रतिदिन प्रमादका परिहार अधिकाधिकरूपसे बढाया है, बाह्य तप करनेसे छोटी और बडी सिरायें, शरीरकी दोनो पसवाडे की हड्डियां, और नेत्रके अस्थि स्पष्ट दीख रही है. ऐसा वह क्षपक निर्दोष शरीरसल्लेखना करके अध्यात्मध्यानमें तत्पर होता है अर्थात् क्षपक शरीर सल्लेखनाके साथ कषाय सल्लेखना भी प्रमादका नित्य त्याग कर करता है.

एवं कदपरियम्मो सब्भंतरबाहिरम्मि सल्लिहणो।

संसारमोक्खबुद्धी सव्वुवरिल्लं तवं कुणदि ॥ २७० ॥

बाह्यामाभ्यंतरीं कृत्वा योगी सल्लेखनामिति ॥

संसारत्यजनाकांक्षी प्रकृष्टं कुरुते तपः ॥ २७० ॥

इति सल्लेखनासूत्रम् ॥

विजयोदया—एवं कदपरियम्मो एवमुक्तेन क्रमेण कृतपरिकरः। सब्भंतरबाहिरम्मि सल्लिहणो अभ्यंतरसल्लेखनासहितायां बाह्यसल्लेखनायां । संसारमोक्खबुद्धी संसारत्यागे कृतबुद्धिः । सव्वुवरिल्लं तवं सर्वेभ्यस्तपोभ्यः उत्कृष्टं तपश्चरति । सल्लेहणा सम्मत्ता ।

मूलारा – संसारमुक्खबुद्धी संसारत्यागकृतमतिः । सव्वुवरिल्लं सर्वेभ्यस्तपोभ्य उत्कृष्टं धर्मशुक्लध्यानलक्षणं । सल्लेखना सूत्रतः ११ अंकतः । ६६ ॥

अर्थ—इसतरहसे शरीर सल्लेखना और कषाय सल्लेखनामें जिसने बाह्यतपका आचरण कर अभ्यास किया है संसारका त्याग करनेमें जिसने अपनी बुद्धि एकाग्र की है ऐसा वह क्षपक सर्वतपोंसे उत्कृष्ट तप अर्थात् उत्कृष्ट धर्मध्यान और उत्कृष्ट शुक्लध्यान करता है.

मद्दोगणानंतरं कार्यमुपदिशति—

वोढुं गिलादि देहं पच्चोढव्वमिणमसुचिभारोत्ति ॥
तो दुक्खभारभीदो कदपरियम्मो गणमुवेदि ॥ २७१ ॥

न शक्नोम्यशुचि त्याज्यमिदं वोढुं महत्क्षयि ॥
विचिन्त्येति वपुस्त्यक्तुं गणं याति कृतक्रियः ॥ २७१ ॥

विजयोदया—वोढुं गिलादि देहं शरीरोद्वहनपरिहितः । पच्चोढव्वं इणमसुइभारोत्ति परित्यागार्हमिय अशुचिभारभूतं शरीरमिति कृतचित्तः । पश्चादु:खभारभीदो दु:खभाजनाच्छरीराद्भीतः । कयपरिकम्मो कृतसमाधिमरणपरिकरः । गणं शिरयूर्दं । उवेदि ढौकते । अन्येषां पाठः ' वोढुं गिलामि देहं ' इति, ते व्याख्यानयंति-शरीरं वोढुं अकृतादरोऽस्मि । पच्चोढव्वमिणमसुइभारोत्ति परित्याज्यमिदं अशुचिभारभूतं शरीरमिति कृतनिश्चयः ।

अत्रैव नित्यस्मृत्यर्थं नवश्लोकानिमान्पठेत्—

कषायान् मानसंवेगादुपयोगेन संलिखेत् ॥
समाधिमृतये बाह्यतपसा संलिखेद्वपुः ॥ १ ॥
उदयोपायमुत्पित्सामुदयं च तुदन्सदा ॥
कषायनोकषायाणां तपस्तप्येत तत्त्ववित् ॥ २ ॥
क्रूरत्वाद्यात्मनां भावक्रोधादीनां प्रवर्तिनः ॥
द्रव्यक्रोधादिपाकस्य हेतुं द्रव्यार्थिकं त्यजेत् ॥ ३ ॥
उत्पित्सून्कोपहास्यादीन्भेदविज्ञानसज्जितैः ॥
जयेत्क्षमाद्यैः संक्लेशकारितच्छक्तिशातनैः ॥ ४ ॥
कषायानात्मनो त्यग्न्यालंबनोद्दीपनोद्धतान् ॥
तद्दोषभावनैर्भिंद्याद्गुर्वादेर्विनयादिभिः ॥ ५ ॥
निश्चिकित्सस्य कोपाद्या वर्धमानान्यथामयम् ॥
धृतं दृष्टं च संहृत्य द्रापयंति भवामयम् ॥ ६ ॥

छिंद्यात्तद्दिहामुत्राप्यपायावद्यभावनैः ॥
सन्नाश्चतस्रो दुर्लेश्यास्तिस्रश्चासंगतां गतः ॥ ७ ॥
भावयेच्छुद्धचिद्रूपं स्वात्मानं नित्यमुद्यतः ॥
रागाद्युद्भवशत्रूणामनुत्पत्त्यै क्षयाय च ॥ ८ ॥
निश्चयात्संविदानंदाद्वयरूपं तदस्म्यहम् ॥
ब्रह्मेति संततभ्यासाल्कश्चित्तल्लयमश्नुते ॥ ९ ॥
इत्थं कृत्वात्मसंस्कारं कर्शितांगकषायकः ॥
शिवाशाधरसंस्तुत्य सूरिपूतः स्वमुद्धरेत् ॥ १० ॥

इत्याशाधरानुस्मृतग्रंथसंदर्भे मूलाराधनादर्पणे पदप्रमेयार्थप्रकाशीकरणप्रवणे आत्मसंस्कारसल्लेखनाविधिविधायको नाम तृतीय आश्वासः समाप्तः ॥

अथ चतुर्थ आश्वासः ।

सुभावितमनाः शमी स्वसदृशाय पाल्येऽर्पिते ॥
कृतक्षमणशासनः परगणप्रवेशोद्यत
सुमार्ग्य गुरुमुत्तमं विधिविदाहृतस्तेन यो ।
विशोधयति सत्पथं स पदमाप्तुमेवेप्सितम् ॥ १ ॥

अथ सल्लेखनानंतरकरणीयाचार्यकपरित्यागक्रमोपदेशार्थं गाथापंचकमाचष्टे—

मूलारा—वोढुमित्यादि । उवेदि उपैति ढौकते । कोऽसौ कदपरियम्मो कृतसमाधिमरणपरिकरो मुनिः । कं ? गणं स्वशिष्यवृंदं । किंविशिष्टः सन् । दुःखभारभीदो दुःखभाजनाच्छरीरात्त्रस्तः । कुतो हेतोः ? सत्तः इति शब्दो हेत्वर्थे । यतो गिलादि ग्लायति क्षीणहर्षो भवति । कोऽसौ ? कृतपरिकर्मा । किं कर्तुं ? वोढुं धर्तुं । किं तत् ? इणं इदं देहं । किंविशिष्टं पच्चोढव्वं परित्यागार्हं । कुतः असुहभारोत्ति दोषधातुमलमूलत्वादपवित्रमौदारिकत्वाद्भारभूतम् यतः

अथवा अशुचीनां भारः संघातः। अन्ये तु गिलामीति पठित्वा इत्यमर्थं कथयन्ति। गिलामि देहं वोढुं अकृतादरोऽस्मि न शक्नोमि वा। यतः परित्याज्यमिदं अशुभमिति कृतनिश्चयः। तो ततः सल्लेखनानंतरं गणमुपैति।

सल्लेखनाके अनंतर करनेके कार्यका उपदेश करते हैं—

अर्थ—यह देह अपवित्र पदार्थोंसे भरा हुआ है और भारभूत है ऐसा समझकर वह सल्लेखना करनेवाला मुनि शरीरको धारण करनेमें हर्षरहित होता है. दुःखका पात्र ऐसे शरीरसे भयभीत होकर समाधिमरणकी सामग्रीको अपनाता है. और अपने शिष्योंके पास जाता है.

सल्लेहणं करेंतो जदि आयरिओ हवेज्ज तो तेण ॥
ताए वि अवत्थाए चिंतेदव्वं गणस्स हियं ॥ २७२ ॥
अपि संन्यस्यता चिंत्यं हितं संघाय सूरिणा ॥
परोपकारिता सद्भिः प्राणांतेऽपि न मुच्यते ॥ २७२ ॥

विजयोदया—सल्लेहणं करेंतो सल्लेखनां कर्तुमुद्यतः। जइ यदि। आयरिओ हवेज्ज आचार्यो भवेत्। तो ततः। तेण तेन। ताए वि तस्यामपि। अवत्थाए अवस्थायां। चिंतेयव्वं चिंतनीयं। गणस्स गणस्य। हियं हितं।

सल्लेखनां कर्तुमुद्यतो द्विधा भवत्याचार्य इतरश्च। तत्र अनाचार्यः स्वचित्तविक्षेपकारणं परित्यजेत्। आचार्यः पुनः गणायापि हितं चिंतयेदित्यनुशास्ति।

मूलारा—ताएवि तस्यामपि देहत्यागोद्योगलक्षणायाम्।

अर्थ—सल्लेखना करनेके लिए उद्युक्त हुआ क्षपक यदि आचार्य पदवी का धारक होगा तो उसने उस अवस्थामें भी-क्षपककी अवस्थामें भी अपने गणके हितकी चिंता करनी चाहिए.

कालं संभाविचा सव्वगणमणुदिसं च वाहरिय ॥
सोमतिहिकरणणक्खत्तविलग्गे मंगलोगासे ॥ २७३ ॥

विज्ञाय कालमाहूय समस्तं गणमात्मना ॥
आलोच्य सदृशं भिक्षुं समर्थं गणधारणे ॥ २७३ ॥

विजयोदया—काल संभाविता आत्मन आयु स्थितिं विचार्य । सव्वगणं सर्वगणं अणुदिसं च बालाचार्यं च । वाहरिय व्याहृत्य । सोमतिहिकरणणक्खत्तविलग्गे सौम्ये दिने, करणे, नक्षत्रे, विलग्ने । मंगलोगासे शुभे देशे ।

गणानुपालनाय स्वपदे अनुदिश प्रतिष्ठाविधिं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—कालं संभाविता आत्मन आयुः स्थितिं विचार्य । वाहरिय आकार्य । मंगलोगासे शुभे देशे ।

अर्थ—अपनी आयु अभी कितनी रही है इसका विचार कर तदनंतर अपने शिष्यसमुदायको और अपने स्थानमें जिसकी स्थापना की है ऐसे बाल आचार्यको बुलाकर सौम्यतिथि, करण, नक्षत्र और लग्नके समय शुभप्रदेशमें—

गच्छाणुपालणत्थं आहोइय अत्तगुणसमं भिक्खू ॥
तो तम्मि गणविसग्गं अप्पकहाए कुणदि धीरो ॥ २७४ ॥

प्रदेशे पावनीभूते चारुलग्नादिके दिने ॥
गणं निक्षिपते तत्र स्वल्पां कृत्वा कथां सुधीः ॥ २७४ ॥

विजयोदया—गच्छाणुपालणत्थं गच्छानुपालनार्थं । आहोइय विचार्य । अत्तगुणसमं आत्मनो गुणैः समानं । भिक्खुं भिक्षुं । तो ततः । तम्मि तस्मिन् । गणविसग्गं गणत्यागं । अप्पकहाए अल्पया कथया । कुणइ धीरो करोति धीरः । अन्ये तु वदंति आत्मन कथयेति ।

मूलारा—आभोगिय विचार्य । अत्तगुणसमं आत्मगुणैः कृत्वा समानं । उक्तं च

ज्ञानविज्ञानसंपन्नः स्वगुरोरभिसम्मतः ॥
विनीतो धर्मशीलश्च यः सोऽर्हति गुरोः पदम् ॥

तो व्याहरणानंतरं । गणविसग्गं गणत्यागं । अप्पकहाए अल्पया कथया ।

अर्थ—अपने गुणके समान जिसके गुण हैं ऐसा वह बालाचार्य गच्छका पालन करनेके लिये योग्य है ऐसा विचार कर उसपर अपने गणको विसर्जित करते हैं अर्थात् अपना पद छोडकर संपूर्ण गणको बालाचार्यकेलिये छोड

देते हैं. अर्थात् बालाचार्य ही यहांसे उस गणका आचार्य समझा जाता है. उस समय पूर्वाचार्य उसको थोडासा उपदेश भी देते हैं,

---

किमर्थमेव प्रयतते सूरि ?

अव्वोच्छित्तिणिमित्तं सव्वगुणसमोयरं तयं णच्चा ॥
अणुजाणेदि दिसं सो एस दिसा वोत्ति वोधित्ता ॥ २७५ ॥

अविच्छेदाय तीर्थस्य तं विज्ञाय गुणाकरं ॥
अनुजानाति संबोध्य दिगयं भवतामिति ॥ २७५ ॥

इति दिक्सूत्रम् ।

विजयोदया—अव्वोच्छित्तिणिमित्तं धर्मतीर्थस्य ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकस्य व्युच्छित्तिर्मा भूदित्येवमर्थं । सव्वगुणसमोयरं सर्वगुणसमन्वितं । तयं तक णच्चा ज्ञात्वा अणुजाणेदि अनुज्ञां करोति । दिसं आचार्यं । सो स. एष. । दिसा आचार्य । वोत्ति युष्माकमिति । वोधित्ता बोधयित्वा ॥ दिसा समत्ता ॥

किमर्थं कथं चोत्तमार्थोद्यत एलाचार्याय गणं समर्पयतीत्यत्राह—

मूलारा—अवोच्छित्तिणिमित्तं धर्मतीर्थस्य अविच्छेदार्थं । समोयरं समन्वितं । स्थानं वा । तयं तं । अणुजाणादि पालयतु भवानिमं गणं इत्यनुमन्यते । अधीच्छति वा । दिसं एलाचार्यं । एस दिसा वोत्ति वोधित्ता एष आचार्यो युष्माकमिति बोधयित्वा सानुकंपं प्रतिपाद्य शिष्यानिति शेषः । दिक् सूत्रतः १२ अंकतः ५ ॥

अर्थ—धर्मतीर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र स्वरूपी है. इसका नाश नहीं होवे, इसकी परिपाटी अखंडरूपसे चलनी चाहिये इसलिये बालाचार्यको सर्व गुणोंसे परिपूर्ण समझकर यह तुम्हारा आचार्य है ऐसा गणको समझाते हैं. यदि पूर्वाचार्य अपने स्थानमें अपनी योग्यताके धारक शिष्यकी योजना न कर ही समाधिमरणके लिये संघको छोडकर चले जायेंगे तो संपूर्ण गणके रत्नत्रयधर्मका नाश होनेसे धर्मतीर्थका ही विच्छेद होगा अतः मेरे स्थानपर मैंने इस योग्य शिष्यको स्थापा है और यह अबसे तुम्हारा आचार्य है ऐसा कह कर वे सर्व गणकी क्षमा मांगते हैं. इसका वर्णन इस प्रकार है. (दिशा नामक प्रकरण समाप्त हुआ है.)

क्षमाग्रहणक्रमं निरूपयति—

आमंतेऊण गणिं गच्छम्मि य तं गणिं ठवेदूण ॥
तिविहेण खमावेदि हु स बालउड्ढाउलं गच्छं ॥ २७६ ॥
सकलं गणमामन्त्य कृत्वा गणिनिवेशनं ॥
स त्रिधा क्षमयत्येवं बालवृद्धाकुलं गणं । २७६ ॥

विजयोदया—आमंतेऊण गणिं आमंत्र्य आचार्य। गच्छम्मि य गणे। तं गणिं ठवेदूण आत्मनानुज्ञातं स्थापयित्वा, स्वयं पृथग्भूत्वा। तिविधेण खमावेदि खु सबालवुड्ढाउलं गच्छं मनोवाक्कायैर्ग्राहयति क्षमां स बालवृद्धैः संकीर्णं गणं ॥

अथ समाधिसमार्थिनो मुमुक्षोः कृतात्मसंस्कारस्य सम्यग्वशीकृतकायकषायस्य प्रतिसूरिसमर्पितशिष्यवृंदस्य परगणं गन्तुमनसश्चिरसंवासदोषसंभाव्यमानांतःकालुष्यकलंकगणक्षमणाक्रमं गाथात्रयेणोपदिशति तत्रापि सूरेर्गणक्षमणविधिं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—तं गणपालनाय स्वयमनुज्ञातं । ठवेदूण गणमध्ये निवेश्य स्वयं च पृथग्भूत्वा । खमावेदि क्षमा ग्राहयति स वृद्धाचार्यः ॥

अर्थ—उस नवीन आचार्यको आमंत्रणकर और उसको गणके बीचमें स्थापन कर और स्वयं अलग होकर बालमुनि, वृद्धमुनि, इत्यादिकोंसे पूर्ण ऐसे गणकी मन, वचन, कायसे क्षमा मांगते हैं.

जं दीहकालसंवासदाए ममकारणेहरागेण ॥
कडुगपरुसं च भणिया तमहं सव्वं खमावेमि ॥ २७७ ॥
यद्दीर्घकालसंवासममत्वस्नेहरागतः ॥
अप्रियं भणितं किंचित्तत्सर्वं क्षमयामि वः ॥ २७७ ॥

विजयोदया—जं दीहकालसंवासदाए दीर्घकालं सह संवासेन यज्जातं ममत्वं, स्नेहो, प्रेमो, रागश्च तेन। जं यत् कडुगपरुसं च भणिया कटुकं परुषं वा वच भणिता। त तत् युष्मान्। सव्वं सर्वान्। खमावेमि क्षमां ग्राहयामि।

१ कडुग इत्यस्मादारभ्य भणिता इत्येतावत्पर्यंता वाक्यपंक्तिः कपुस्तके नास्ति ।

मूलारा—ममकार ममेमे इति बुद्धिः। मेहरागेण स्नेहेन प्रणयेन, रागोपायनिवारणाभिलाषः कल्याणप्रापणमनोरथश्च तेन। भणिदा भाषिता यूयं। तं भो सव्वे तत्कटुकपरुषभाषणं युष्मान्सर्वान्क्षमयामि तज्जनितकालुष्यरहितान्करोमीत्यर्थः।

अर्थ—हे मुनिगण! तुम्हारे साथ मेरा दीर्घ कालतक सहवास हुआ है इसलिये मैंने ममत्वसे, स्नेहसे, द्वेषसे आपको कटु और कठोर वाक्य कहे होंगे इसलिये आप सर्व मेरे ऊपर क्षमा करेंगे ऐसी आशा है. मेरे कटु कठोर भाषणसे आपके मनमें कलुषभाव उत्पन्न हुआ होगा तो उसको त्याग कर मेरे अपराध की आप क्षमा करो.

गणेन संपाद्यक्रममाचष्टे—

वंदिय णिसुडिय पडिदो तादारं सव्ववच्छलं तादिं ॥
धम्मायरियं णियय खामेदि गणो वि तिविहेण ॥ २७८ ॥

प्रणम्य पतितः संघत्रातारं वत्सलं यतिम् ॥
धर्माचार्यं निजं सर्वं सम्यक् क्षमयति त्रिधा ॥ २७८ ॥

इति क्षमणासूत्रम्।

विजयोदया- वंदिय णिसुडिय पडिदो अभिवंद्य संकुचितपतितः। तादारं संसारदुःखात्त्रातारं। सव्ववच्छलं सर्वेषां वत्सलं। तादिं यतिं। धम्मायरियं दशविधे उत्तमक्षमादिके धर्मे स्वय प्रवृत्तं अन्येषां प्रवर्तकं। णिययं आत्मीयं। आत्मीयं। खामेदि गणो वि तिविहेण क्षमां ग्राहयति गणस्त्रिविधेन। खमावणा समत्ता ॥

गणेन कार्यमाणस्य क्रममाह—

मूलारा—वंदिय णिसुडिय पडिदो वंदित्वा संकुचितपतितः प्रणम्य भूतलन्यस्तपंचांगोभूत इत्यर्थः। धादारं संसारदुःखात्रक्षकं। तादिं यतिं। णिययं निजं॥ क्षमणा सूत्रतः॥ १३॥ अंकतः ३॥

गणने भी आचार्य क्षमाके अनंतर कौनसा विधि करना चाहिये उसका वर्णन—

अर्थ—वंदना करके भूतलपर पंचागोंका जिन्होंने स्थापन किया है अर्थात् प्रथम वंदना करके अनंतर पंचांग नमस्कार जिन्होंने किया है ऐसे वे गणके सर्व मुनिजन संसारदुःखसे रक्षण करनेवाले, सबके ऊपर प्रेम

रखनेवाले, उत्तमक्षमादिक दश प्रकारके धर्ममें स्वयं प्रवृत्त होकर गणको प्रवृत्त करनेवाले ऐसे अपने पूर्वाचार्यको मन वचन कायसे क्षमा मांगते हैं. क्षमणा प्रकरण समाप्त हुआ.

अनुशासननिरूपणार्थ उत्तरप्रबंधः—

संवेगजणियहासो सुत्तत्थविसारदो सुदरहस्सो ॥
आदट्ठचिंतओ वि हु चिंतेदि गणं जिणाणाए ॥ २७२ ॥

स सूत्रार्थरहस्यज्ञः स्वार्थनिष्ठोऽपि यत्नतः ॥
संविग्नश्चिंतयत्येवं गणं धीरो जिनाज्ञया ॥ २७९ ॥

विजयोदया—संवेगजणिदहासो संसारभीरुतया करणभूतया उत्पादितहासः। परिग्रहेऽस्मिंस्त्यक्ते अभ्यंतराश्च रागादयः निमित्तापायादपयांति। तदपगमाच्चन्मूलस्थितीनि कर्माणि प्रलयमुपव्रजंति। तेषु नष्टेष्वेव चतुर्गतिभ्रमणं नंक्ष्यति इति विजितहर्षः। सुतत्थविसारदो सूत्रे जिनप्रणीते तदर्थे च विसारदो निपुणः। सुदरहस्सो श्रुतप्रायश्चित्तग्रंथः। आदट्ठचिंतओ वि हु आत्मप्रयोजनचिंतापरोऽपि। चिंतेदि गणं जिणाणाए जिनानामाज्ञया गणचिंतां करोति।

अथ परगणं प्रस्थातुमुद्यतेन गुरुणा गणस्य संपाद्यमनुशासनं गाथानामेकोत्तरशतेन निरूपयति तत्र तावदुपक्रममाह—

मूलारा—संवेगजणिदहासो संसारभीरुतया करणभूतयोत्पाहितो हासो हर्षो येन। अस्मिन्बाह्यपरिग्रहे त्यक्ते निमित्तापायादंतरंगा रागादयोऽपगच्छन्ति, तदपगमात्तन्मूलस्थितीनि कर्माणि नश्यन्ति, तेषु च नष्टेष्वेव चतुर्गतिभ्रमणं नंक्ष्यतीति संजातप्रमोद इत्यर्थः सुदरहस्सो श्रुतप्रायश्चित्तग्रन्थः। चिंतेदि इति कर्तव्यतानिरूपणेन अनुगृह्णाति॥

उपदेशका निरूपण करनेके लिये उत्तरप्रबंध—

अर्थ—संसारसे भययुक्त होकर परिग्रहविषयक हर्षका जिन्होनें त्याग किया है. जिनेश्वरने कहे हुये सूत्रोंमें अर्थात् आगममें और जीवादिक पदार्थोंमें जिन्होनें निपुणता प्राप्त कर ली है अर्थात् जिनागम और जीवादिरूपदार्थोंका जो ज्ञाता है, प्रायश्चित्त ग्रंथका जिन्होंने श्रवण किया है. ऐसे आचार्य आत्महितकी चिंतामें तत्पर होते हुए भी जिनाज्ञाके अनुसार चतुर्विध संघकी चिन्ता करते हैं. ये आचार्य संसारसे भययुक्त होकर परिग्रहोंके

त्याग करते हैं. परिग्रहोंका त्याग होनेसे रागादिक विकार दूर होते हैं. कारण निमित्त नष्ट होनेसे उससे होनेवाला कार्य भी नष्ट होता है. रागादिकोंका नाश होनेपर उनसे जिनका स्थितिबंध आत्मामें होता है ऐसे कर्म भी नष्ट होते हैं. कर्मोंका अभाव होनेपर चार गतिओंमें जीवका भ्रमण होना बंद पडता है. इसलिये संवेगयुक्त आचार्य परिग्रहविषयक हर्षका त्याग करते हैं.

णिद्धमहुरगंभीरं गाहुगपल्हादणिज्जपत्थं च ॥
अणुसिट्ठिं देइ तहिं गणाहिवइणो गणस्स वि य ॥ २८० ॥

गंभीरां मधुरां स्निग्धां ग्राह्यामानंददायिनीं ॥
अनुशिष्टिं ददात्येवं स गणस्य गणेशिनः ॥ २८० ॥

विजयोदया—णिद्धं स्नेहसहितां । महुरं माधुर्यसमन्वितां । गभीरं सारार्थवत्तया गृहीतगांभीर्यां । गाहुगं ग्राहिकां सुखावबोधां । पल्हादणिज्जपत्थं च । चेत प्रल्हादविधायिनीं । पत्थं पथ्यां हितां । अणुसिट्ठिं देइ अनुशिष्टिं ददाति । तहिं तस्मिन्पूर्वोक्ते देशे काले च । गणाहिवइणो गणस्स वि य गणाधिपतये गणाय च ॥

कीदृशीमनुशिष्टिं कस्मै स ददाति इत्यत्राह—

मूलारा—णिद्धमधुरगंभीरं स्नेहलां, श्रोतृहृदयप्रियां, सारार्थवत्तया अस्पृष्टतलां च । गाहुग ग्राहिकां झटित्यर्थनिश्चायनसमर्थां । ग्राह्यामित्यन्ये पठन्ति । पल्हादणिज्ज आनंदकरीं । पत्थं मार्गानुगामिनीं ॥ तहिं तस्मिन्पूर्वोक्ते सौम्यतिथ्यादियुक्तकाले शुभप्रदे च ॥

अर्थ—आचार्य गणत्याग करनेके पूर्व बालाचार्य और गणको जो उपदेश करते हैं उसका ग्रंथकार इस गाथासे वर्णन करनेका प्रारंभ करते हैं—आचार्यका उपदेश, स्नेहसहित, मधुरतासे भरा हुआ, सारयुक्त अर्थसे भरा हुआ और गंभीर रहता है. उसका अभिप्राय सुखसे जाना जाता है. वह मनको आनंदित करनेवाला और हितकर होता है. आचार्य उत्तम तिथि नक्षत्रादि समयमें और उत्तम स्थानमें गण और बालाचार्य को आमंत्रण देकर आगे कहा हुआ उपदेश देते हैं.

वड्ढंतओ विहारो दंसणणाणचरणेसु कायव्वो ॥
कप्पाकप्पठिदाणं सव्वेसिमणागदे मग्गे ॥ २८१ ॥
रत्नत्रये विधातव्यं वर्द्धमानं प्रवर्तनम् ॥
कल्पाकल्पप्रवृत्तानां सर्वेषामागमिष्यति ॥ २८१ ॥

विजयोदया—वड्ढंतगो[1] विहारो कायव्वो वर्धमानविहारः कार्यः । क ? सव्वेसिं कप्पाकप्पट्ठियाणं अणागदे मग्गे सर्वेषां प्रवृत्तिनिवृत्तिस्थितानां मुक्तिमार्गे। प्रमत्तसंयतादिगुणस्थानापेक्षया विचित्रो यतिधर्मः । दंसणवदसामायिकादिविकल्पेन प्रवृत्तिधर्मोपि विचित्ररूपः । तस्य सकलस्योपादानं सर्वेषामित्यनेन । कोऽसौ मार्ग इत्याशंकायामाह- सामान्येन दंसणणाणचरणेसु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु चतुर्विकल्पगणोद्देशेनायमुपदेशः ।

चतुर्विधगणमुद्दिश्योपदेशमाह—

मूलारा—विहारो अनुष्ठानं । कप्पाकप्पठिदाणं योग्यायोग्यवस्तुप्रवृत्तिनिवृत्तिनिष्ठितानां । युष्माकं युष्माभिः कर्तव्य इत्यर्थः । अणागदे मग्गे आगामिनि रत्नत्रये मार्गे इति समान्यस्य दर्शनेत्यादिना विशेषितत्वात् ॥ तथा चोक्तम्—

रत्नत्रये विधातव्यं वर्धमानं प्रवर्तनम ॥
कल्पाकल्पप्रवृत्तानां सर्वेषामागमिष्यति ॥

अर्थ—प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गमें रहनेवाले मुनि और गृहस्थोंके आगामि रत्नत्रय मार्गमें हे मुनिगण! आप उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होने वाली प्रवृत्ति करो. तथा दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, और चारित्राराधनामें वृद्धिंगत होनेवाली प्रवृत्ति करो.

प्रमत्त संयत्त, अप्रमत्त संयतादि गुणस्थानोंकी अपेक्षासे यतिधर्मके भी अनेक प्रकार होते हैं. और दर्शन, व्रत, सामायिक वगैरह विकल्पोंसे गृहस्थका प्रवृत्तिधर्म भी अनेक प्रकारका है. गाथामें ' सव्वेसिं ' ऐसा पद है इससे प्रवृत्ति निवृत्त्यात्मक और विकल्पसहित गृहस्थधर्म और मुनिधर्मका संग्रह होता है.

---

१ वड्ढंतगो इत्यत आरभ्य स्थितानां एतावत्पर्यंता वाक्यपंक्तिः कपुस्तके नास्ति ।

सूत्रं कथयति—

संखित्ता वि य पवहे जह वच्चइ वित्थरेण वड्ढंती ॥
उदधिं तेण वरणदी तह गुणसीलेहिं वड्ढाहि ॥ २८२ ॥

संक्षिप्तेहादितोऽम्भोधिं गच्छन्तीव महानदी ॥
विस्तरन्ती विधातव्या गुणशीलप्रवर्तना ॥ २८२ ॥

विजयोदया—संखित्ता वि य पवहे संक्षिप्तापि च प्रवाहे प्रवहत्यस्मादिति प्रवाहः उत्पत्तिस्थानं तत्र संक्षिप्तापि सती वरनदी। जह वच्चइ यथा व्रजति। वित्थरेण पृथुलतया। वड्ढंती वर्द्धमाना। उदधिंतेण यावत्समुद्रं। तह गुणसीलेहिं वड्ढाहि तथा शीलगुणैस्त्वं वर्धस्व।

गणाधिपमनुशासितुं द्वादशगाथाः कथयति—

मूलारा—संखित्ता वि य कृशापि। पवहे प्रवहणारंभे वज्जदि व्रजति। उदधिं तेण। समुद्रं यावत्। वड्ढाहि वर्द्धस्व त्वं भो गणाधिपते!॥

बालाचार्यको आचार्यका उपदेश—

अर्थ—उत्कृष्ट नदी जहांसे उत्पन्न होती है वहां छोटी रहती है परंतु वह आगे गमन करते करते विस्तृत होकर समुद्रको प्राप्त होती है. वैसे हे बालाचार्य! आप भी प्रारंभमें अल्प प्रमाणसे शील, व्रत, धारण कर उत्तरोत्तर शील और गुणोंसे बढनेका प्रयत्न करो.

मज्जाररसिदसरिसोवमं तुमं मा हु काहिसि विहारं ॥
मा णासेहिसि दोण्णि वि अप्पाणं चेव गच्छं च ॥ २८३ ॥

मा स्म कार्षीर्विहारं त्वं मार्जाररसितोपमम् ॥
मा नीनशो गणं स्वं च कदाचन कथंचन ॥ २८३ ॥

विजयोदया—मज्जाररसिदसरिसोवमं मार्जारस्य रसितं रटनं मार्जाररसितं तेन सह सादृश्यं उपमा परि_

च्छेदो यस्य विहारस्य तन्मार्जाररसितसदृशोपमं विहारं चरणं । तुमं भवान् । मा हु काहिसि मा कार्षीः । मार्जाररस्य रसितं प्राग्वहत् क्रमेणापचीयते तद्वद्रत्नत्रयभावनातिशयवती प्राक् क्रमेण मंदायमाना न कर्तव्येति यावत् । मा णासेहिसी दोण्णि वि अत्ताणं चेव गच्छं च । आत्मनो गणस्य च मा विनाशं कृथाः । प्रथममेवातिदुर्धरचारित्रतपोभावनायां प्रवृत्तो भवान् गणं च तथा प्रवर्त्यमानो नश्यति ।

मूलारा—मज्जाररसिदसरिसोवमं मार्जाररसितेन विडालवासितेन सदृशी उपमा परिच्छेदो यस्य । यथा मार्जाररसितं प्राङ् महद्भूय क्रमेण हीयमानं भवति, तथा रत्नत्रयाभावनात्वं संपद्यते माकार्षीरित्यर्थः (?)] मेत्यादि । प्रथममेव अतिदुर्धरचारित्रतपोभावनायां गणं प्रवर्तयन् स्वयं प्रवृत्तः पश्चाद्दुश्चरया तत्र मंदायमानो आत्मानं गणं च नाशयिष्यसि इत्यर्थः ।

अर्थ—जैसे मार्जारका शब्द प्रथम बडा और नंतर छोटा छोटा होता है वैसे प्रथम रत्नत्रयभावना अतिशययुक्त कर अनंतर उसमें उत्तरोत्तर मंद मंदता धारण करना आपके लिये योग्य नहीं होगा. ऐसे आचरणसे आपका, संघका और दोनोंका भी नाश होगा. प्रथम ही अतिशय दुर्धर तप और चारित्रमें प्रवृत्ति कर गणका और अपना भी नाश कर लेना योग्य नहीं है.

जो सघरं पि पलित्तं णेच्छदि विज्झविदुमलसदोसेण ॥
किह सो सद्दहिदव्वो परघरदाहं पसामेदुं ॥ २८४ ॥

विध्यापयति यो वेश्म नात्मीयमलसत्वतः
परवेश्मशमे तत्र प्रतीतिः क्रियते कथम् ?॥ २८५ ॥

विजयोदया—जो सघरं पि यः स्वगृहं अपि । दह्यमानमालस्यात् वांछति विध्यापयितुं कथमसौ श्रद्धातव्यः परकीयगृहदाहं प्रशमयितुं उद्योगं करोतीति ।

मया स्वयं मंदाचरणेनापि गणश्चरणे मंदायमानो रक्षिष्यते इति च मा संस्थास्त्वं यतः—

अर्थ—जो पुरुष आलसीपनसे अपने जलते हुये घरको शांत करनेका प्रयत्न नहीं करता है वह दुसरोंके जलते हुये घरको शांत करनेका प्रयत्न करेगा यह कहना कैसा श्रद्धानके लायक माना जायगा ?

तस्मादृत्तैवं प्रवर्तितव्यमित्याचष्टे—

वज्जेहि चयणकप्पं सगपरपक्खे तहा विरोधं च ॥

वादं असमाहिकरं विसग्गिभूदे कसाए य ॥ २८५ ॥

मुंच च्यवनकल्पं त्वं विरोधं स्वान्यपक्षयोः ॥

असमाधिकरं वादं कषायानग्निसन्निभान् ॥ २८५ ॥

विजयोदया—वज्जेहि चयणकप्पं वर्जय अतिचारप्रकारं ज्ञानदर्शनचारित्रविषयं । अवाचनाकाले अस्वाध्याय-काले वा पठनं । क्षेत्रशुद्धिं, द्रव्यशुद्धिं, भावशुद्धिं वा विना । निह्नवः, ग्रंथार्थयोरशुद्धिः, अबहुमानं इत्यादिको ज्ञानातिचारः। शंकाकांक्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दर्शनातिचाराः । समितिभावनारहितता चारित्रातिचाराः । एते च्यवनकल्पेनोच्यंते । सगपरपक्खे तहा विरोहं च धर्मस्थेषु, मिथ्यादृष्टिषु च विरोधं वर्जयेत् । चेतःसमाधानविनाश-कारणं वादश्च वर्जनीयः । वादे प्रवृत्तो यथात्मनो जयः पराजयः परस्य वा भवति तदेवान्वेषते न तत्त्वसमाधानवान् । विसग्गिभूदे कसाये य । कषाया हि क्रोधादयः स्वस्य परस्य च मृत्युं उपानयंति इति विषभूताः, हृदयं दहंतीति दहन-भूतास्तांश्च वर्जय ।

तथा चोक्तं—त्रिलोकमल्लाः कुलशीलदानवो ॥
मलानि दुर्मोज्यतमानि चापि ते ॥
यतोद्धरा हानिकरास्तपस्विनाम् ॥
भवंति दौर्भाग्यकरा हि देहिनाम् ॥ १ ॥
न केवलं ते परलोकलोपिनः, शर्म च लोके नाशयन्ति दारुणाः ॥
न धर्मनाशस्य च विघ्नहेतवो , धनस्य कामस्य च ते विघातकाः ॥ २ ॥

मूलारा— चयनकप्पं च्यवनकल्पं सम्यक्त्वाद्यतिचारप्रकारमित्यर्थः । सगपरपक्खे धर्मस्थेषु मिथ्यादृष्टिषु च असमाहिकरं चेतःसमाधानजनकं । विसग्गिभूदे कसाये य वादे हि प्रवृत्तो यथात्मनो जयः पराजयः परस्य वा भवति तदन्वेषते न तत्त्वसमाधानं । विसग्गिभूदे स्वस्य परस्य च मृत्युमुपानयंतीति विषतुल्यान्, हृदयं दहन्तीति दहनसदृशान् वा: ।

इसलिये वालाचार्यकी प्रवृत्ति कैसी होनी चाहिये इसका वर्णन ग्रंथकार करते हैं—

अर्थ—हे वालाचार्य ! ज्ञान, दर्शन और चारित्रसंबंधी अतिचारोंका त्याग करो. वाचना काल और स्वाध्यायकालको छोडकर अन्य काल में पठन करना, अथवा स्वाध्याय करते समय क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भाव शुद्धि के विना स्वाध्याय करना, ग्रंथको और पढानेवाले गुरुको छिपाना, ग्रंथ अशुद्ध पढना तथा अर्थका विवेचन अन्यथा करना, ज्ञान और ज्ञानवानोंका आदर न करना ये सम्यग्ज्ञानके अतिचार हैं.

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और संस्तव ये सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं (इनका खुलासा दर्शनविनयके प्रकरणमें आया है.) समितीकी भावनाओंका अभाव होना यह चारित्रातिचार है. इन सब अतिचारोंको च्यवनकल्प कहते हैं. इनका तुम त्याग करो. स्वकपक्ष—जैनधर्मस्थ मुनिगण और परपक्ष मिथ्यादृष्टिजन इनमें विरोध भावका त्याग करो. मनके समाधानका नाश करनेवाले वादका भी त्याग करो. वादमें प्रवृत्त हुआ पुरुष अपना जय जिस उपाय से होगा और अन्यका पराजय जिससे होगा उसीको ढूंढता है. परन्तु वस्तुके सत्यस्वरूपको वतलाकर समाधान करना नहीं चाहता है. हे वालाचार्य ! आप विष और अग्निके समान ऐसे क्रोधादिकषायोंका त्याग करो. ये कषाय अपनेको और दुसरोंको मारते हैं इसलिए इनको विषसमान कहते हैं. अग्निके समान हृदय को जलाते हैं अतः इनको अग्नि कहते हैं. कषायके विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

ये कषाय त्रैलोक्यमें मल्लके समान हैं, कुल और शीलके शत्रु हैं. जिसको आत्मासे बडे कष्टसे दूर कर सकते हैं ऐसे मलस्वरूप हैं. ये कषाय तपस्विओंका यश नष्ट करते हैं और तपका घात करते हैं. इन कषायोंसे प्राणिओंको दुर्भाग्य की प्राप्ति होती है.

इस कषायशत्रुसे परलोकका ही नाश होता होता है ऐसा मत समझो. ये भयंकर कषाय इह लोकका भी नाश करते हैं. केवल ये कषाय धर्ममात्र का ही घात कर रह जाते हैं ऐसा नहीं; इनसे काम और अर्थका भी नाश होता है.

णाणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तीसु समयसारेसु ॥
ण चाएदि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणधरो सो ॥ २८६ ॥

दर्शने चरणे ज्ञाने श्रुतसारेषु यस्त्रिषु ॥
निधातुं गणमात्मानमसमर्थो गणी न सः ॥ २८६ ॥

विजयोदया—णाणम्मि य । रत्नत्रये गणमात्मानं च यो न स्थापयितुं समर्थो नैवासौ गणधरः । ण चाएदि न समर्थः । बहवो मम वशवर्तिनः सन्ति एतावता भवतो गणित्वगर्वो माभूदिति भावः ।

मूलारा—चाएदि शक्नोति ।

अर्थ—सिद्धांतके सारभूत ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्रमें जो अपनेको और गणको स्थापन करनेमें असमर्थ है वह मुनि गणधर पदके योग्य नहीं है. बहुत मुनि मेरे वश है इस लिये मैं गणधर हूं, आचार्य हूं ऐसा गर्व तुम्हारे मनमें कभी भी उत्पन्न नहीं होना चाहिये.

कीदृकर्हि गणधरो भवतीति चेदेवंभूत इत्याचष्टे—

णाणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तीसु समयसारेसु ॥
चाएदि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणधरो सो ॥ २८७ ॥

दर्शने चरणे ज्ञाने श्रुतसारेषु यस्त्रिषु ॥
निधातुं गणमात्मानं शक्तोऽसौ गदितो गणी ॥ २८७ ॥

विजयोदया—स्पष्टार्थो गाथा ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—सिद्धांतके सारभूत ऐसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें जो अपने को और गणको स्थापन करनेमें समर्थ है वही गणधर हो सकता है.

पिंडं उवहिं सेज्जं अविसोहिय जो हु भुंजमाणो हु ॥
मूलट्ठाणं पत्तो मूलोत्ति य समणपेल्लो सो ॥ २८८ ॥

पिंडं उवहिं सेज्जं उग्गमउप्पादणेसणादीहिं ॥
चारित्तरक्खणट्ठं सोधिंतो होदि सुचरित्तो ॥ २८९ ॥

यः पिंडमुपधिं शय्यां दूषणैरुद्गमादिभिः ॥
गृह्णीते रहितां योगी संयतः स निगद्यते ॥ २८८ ॥

विजयोदया—पिंडं आहारं, उवहिं उपकरणं, सेज्जं वसतिं । सोधिंतो शोधयन् । उग्गमउप्पादणेसणादीहिं उद्गमोत्पादनैषणादिभिर्दोषैः । किमर्थं शोधयति ? चारित्ररक्षणार्थं उद्गमादिदोषं परिहरति । सुसंयत इति लोके यशो मे भविष्यतीति वा, स्वसमयप्रकाशनेन लाभो ममेत्थं भवतीति वा चेतस्यकृत्वेति भावः । एवंभूतः सुचरित्रो भवतीति यतिः ॥

मूलारा—उवधि पिच्छाद्युपकरणं । सोधिंतो शोधयन् उद्गमादिदोषरहिताः कुर्वन् ।

अर्थ—आहार, पिंछी, कमंडलु वगैरे उपकरण और वसतिका इनका शोधन किए बिना न करताहुआ जो मुनि इनका ग्रहण करता है वह मूलस्थान नामक दोष को प्राप्त होता है. अर्थात् वह मुनिपदसे भ्रष्ट होता है. परंतु जो आहार, उपकरण और वसतिकाको उद्गम, उत्पादन और एषणादि दोषोंसे रहित जानकर चारित्ररक्षण के लिये ग्रहण करता है वह सुचारित्र माना जाता है.

एसा गणधरमेरा आयारत्थाण वण्णिया सुत्ते ॥
लोगसुहाणुरदाणं अप्पच्छंदो जहिच्छाए ॥ २९० ॥

समये गणिमर्यादा तेषामाचारचारिणाम् ॥
स्वच्छंदेन प्रवर्तंते लोकसौख्यानुसारिणा ॥ २८९ ॥

विजयोदया—एसा गणधरमेरा एषा गणधरमर्यादा । सुत्ते वण्णिदा सूत्रे निरूपिता । केषां ? आयारत्थाणं आचारस्थानां । पंचविधे आचारे ये स्थितास्तेषां गणिनां व्यवस्था सूत्रे वर्णिता । लोगसुहाणुरदाणं लोकानुवर्तिनां सुखे रतानां च यथेच्छया । असंयतजनसंसर्गः कुमादस्य शास्त्रे निषिद्धः तत्र ये वर्तंते स्वेच्छया तेषां अप्पच्छंदो आत्मेच्छा एव केवला न तेषां गणधरमर्यादा सूत्रे व्यावर्णिता । अथवा लोकसुखं नाम मृष्टाहारभोजनं, यथाकामं मृदुशय्यासनं, मनोज्ञ वेश्मनि पवनं च तत्र रतानां चिरमालुरणामित्यर्थः ।

मूलारा — गणधरमेरा आचार्यमर्यादा गणिव्यवस्था इत्यर्थः । आयारत्थाणं आचारस्थानां गणिनामित्यर्थः । लोगसुहाणुरदाणं लोकानुवर्तिनां सुखेप्सूनां च । अथवा लोकसुखं नाम मृष्टाहारभोजनं, यथाकामं मृदुशयनासनं, सर्वर्तुरम्ये वेश्मनि वसनं च तत्र सक्तानां । लोगसुदीणिरदाणं लोकश्रुतिर्विदादिशास्त्रं । अप्पच्छंदो आत्मेच्छैव केवला न सूत्रोक्ता गणधरमर्यादा । जहेच्छाए यथेच्छया लोकसुखानुरत्तानामित्यनेन संबंधः ।

अर्थ—यह अच्छा संयत मुनि है ऐसा मेरा जगतमें यश फैले अथवा अपने मतका प्रकाशन करनेसे मेरेको लाभ होगा ऐसे भाव मनमें धारण न करके केवल चारित्र रक्षणार्थ ही निर्दोष आहारादिकोंको जो ग्रहण करता है वही सचारित्र मुनि समझना चाहिये.

ज्ञानाचारादिक पांच प्रकारके आचारोंमें जो स्थिर रहे हैं. अर्थात् पांच आचारोंका जो निर्दोष पालन करते हैं, उन आचार्योंकी जिनागममें उपर्युक्त मर्यादा कही है. परंतु जो लोकोंका अनुसरण करते हैं, और सुखकी इच्छा करते हैं उनका आचरण कुछ मर्यादास्वरूप माना नहीं जाता है. शास्त्रमें असंयमीलोकोंके साथ संसर्ग और सुखमें आदर करना ये बातें मुनिओंके लिये निषिद्ध मानी हैं. परंतु इनमें जो अनुरक्त हैं वे स्वेच्छासे प्रवर्तते हैं ऐसा समझना चाहिये. उनकी गणधरमर्यादा ग्रन्थमें उल्लिखित नहीं है. अथवा लोकसुखका अर्थ यह भी होता है—यथेच्छ मिष्टाहारका भोजन करना, मृदुशय्यापर सोना, सुंदर घरमें निवास करना, एसे कार्यमें रत होना इसको लोकसुख कहते हैं. जो विषयासक्त मुनि हैं वे आचार्यत्वके योग्य नहीं हैं.

सीदावेइ विहारं सुहसीलगुणेहिं जो अबुद्धीओ ॥
सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो ॥ २९१ ॥

यः शिष्यानियादतान् दोषाणामाश्रयाय दुष्ठराजि तया चिनिशुद्धि भूप-
तिरहितं हारं सुखमुज्झितः ॥ ?
हीनः संयमसारेण लिंगधारी स केवलम् ॥ २९० ॥

विजयोदया—सीदावेदि मंदं करोति । विहारं चारित्रं रत्नत्रये प्रवृत्तिं । सुहसीलगुणेहिं सुखसमाधानाभ्यासैः ।

जो अबुद्धीओ यो बुद्धिरहित । सो णवरि लिंगधारी स बृथालिंगी भवति, द्रव्यलिंगं धारयति। संजमसारेण णिस्सारो संयमाख्येन इन्द्रियप्राणसंयमविकल्पेन सारेण निःसार । एतदुक्तं भवति—

उद्गमादिदोषदुष्टपिंडादिग्राहिणः संयमवैधुर्यांल्लिंगधारणवैयर्थ्यं कथयति—

मूलारा—सीदावेदि शिथिलयति । विहारं चारित्रं । सुहसीलगुणेहिं यथेष्टपिण्डादिप्रयोगसुखप्रवृत्तसमाधानाभ्यासैः । अबुद्धिगो बुद्धिरहितः । णवरि लिंगधारी बृथालिंगी न यतिर्न गणधर इति भावः । णिस्सारो दरिद्र ॥

अर्थ—यथेष्ट आहारादि सुखोंमें तल्लीन होकर जो अबुद्धि मुनि रत्नत्रयमें अपनी प्रवृत्ति शिथिल करता है वह द्रव्यलिंगधारी मुनि है ऐसा समझना चाहिये इंद्रियसंयम और प्राणिसंयमसे वह निःसार है. इसका अभिप्राय यह है—

पिंडं उवधिं सेज्जामविसोधिय जो खु भुंजमाणो हु ॥
मूलट्ठाणं पत्तो बालोत्तिय णो समणबालो ॥ २९२ ॥

विजयोदया—य उद्गमादिदोषोपहतमाहारं, उपकरणं, वसतिं वा गृह्णाति तस्य नेन्द्रियसंयम , नैव प्राणसंयम , ततोऽसौ केवलं नग्न । न यतिर्न गणधर इति निगद्यते ।

अर्थ—उद्गमादि दोषोंसे युक्त आहार, उपकरण, वसतिका इनका जो साधु ग्रहण करता है जिसको प्राणिसंयम और इंद्रिय संयम है ही नहीं वह साधु मूलस्थानको प्राप्त होता है वह अज्ञानी है. वह केवल नग्न है. वह यति भी नहीं है और न गणधर ही है

कुलगामणयररज्जं पयहिय तेसु कुणइ दु ममत्ति जो ॥
सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो ॥ २९३ ॥

ममत्वं कुरुते हित्वा यो राज्यं नगरं कुलम् ॥
तस्य संयमहीनस्य केवलं लिंगधारणम् ॥ २९१ ॥

विजयोदया—कुलग्रामणगररज्जं कुलं, ग्रामं, नगरं, राज्यं च। पयहिय परित्यज्य। तेसु कुणदि ममत्ति जो ग्रामादिषु पुनः यः करोति ममतां। मदीयं कुलं, अस्मदीयो ग्रामः, नगरं, राज्यं चेति सोऽपि केवलं नग्नः। यो हि यत्र ममतां करोति तस्य यदि शोभनं जातं तुष्यति अन्यथा द्वेष्टि, संक्लिश्यति वा। ततो रागद्वेषयोर्लाभे च वर्तमानः असंयतो भवतीति भावः।

कुलादिममकारकारिणोऽपि—

मूलारा—पजहिय त्यक्त्वा। यो हि यत्र ममतां करोति तस्य शोभने जाते तुष्यति अन्यथा द्वेष्टि, संक्लिश्यते वा। रागादिमानसंयतेष्वाद्यरवांश्च कथं संयतः स्यादिति भावः।

अर्थ—जो मुनि कुल, गांव, नगर और राज्यको छोडकर उनमें पुनः प्रेम करता है अर्थात् यह मेरा कुल है, यह मेरा ग्राम है, यह मेरा शहर है, मेरा राज्य है ऐसा संकल्प रखता है. यह फक्त नग्न है. संयमसे रहित है. जो जिस पदार्थमें ममता करता है वह उसका शुभ होनेसे हर्षित होता है और अशुभ होनेसे द्वेष करता है अथवा संक्लेश परिणाम करता है. इसलिये जो रागभाव, द्वेषभाव और लाभमें लीन होता है वह असंयत होता है ऐसा समझना चाहिये.

अपरिस्सावी सम्मं समपासी होहि सव्वकज्जेसु ॥
संरक्ख सचक्खुंपि व सबालवुड्ढाउलं गच्छं ॥ २९४ ॥

त्वं कार्येष्वपरिस्रावी समदर्श्यखिलेष्वपि ॥
भूत्वा विधानतो रक्ष बालवृद्धकुलं गणम् ॥ २९२ ॥

विजयोदया—अपरिस्सावी गुरुरयमिति शंकां विहाय निगदितानामपराधानां प्रकटनं मा कृथाः। समपासी चेव होहि कज्जेसु कार्येषु सम्यक् समदर्शी च भव। संरक्ख सचक्खुंपि व परिपालय स्वं नेत्रं इव। किं सबालवुड्ढाउलं गच्छं सबालवृद्धैराकीर्णं गणं।

एवं संयमशैथिल्ये दोषानुद्भाव्य गणिनं गणरक्षायां नियुंक्ते—

मूलारा—अपरिस्सावी आलोचितदोषाप्रकाशको भव। समपासी समदर्शी। सचक्खुंपि निजनेत्रमिव सबालवुड्ढाउलं बालसहितैर्वृद्धैराकीर्णम्।

अर्थ—हे बालाचार्य ! यह गुरु अपरिस्रावी है ऐसा समझकर शंकाको छोड कर यदि शिष्योंने अपने अपराध तुमको कहे तो उनको तुम प्रगट मत करो. सब कार्योंमें समानदर्शी तुम होवो. और अपने नेत्रके समान बाल और वृद्धोंसहित सर्व गणका रक्षण करो.

णिवदिविहूणं खेत्तं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज ॥
पव्वज्जा च ण लब्भदि संजमघादो व तं वज्जो ॥ २९५ ॥

प्रव्रज्य संयमध्वंसि दूराजमपराजकम् ॥
न क्षेत्रमात्मनीनेन सेवनीयं कदाचन ॥ २९३ ॥

विजयोदया—नृपतिर्वा यस्मिन्दुष्टो भवेत्तच्च क्षेत्रं परित्यज । पव्वज्जा च ण लब्भदि जत्थ प्रव्रज्या च न लभ्यते यत्र क्षेत्रे । शिष्या न जायंते तच्च । संजमघादो व जत्थ संयमस्य चोपघातो यत्र क्षेत्रे तं वज्जो तत् त्यजेति । गणिशिक्षा ॥ गणिसिक्खा ।

साधूनामसेव्यं क्षेत्रमनुशास्ति ।

मूलारा—पव्वज्जा च ण लब्भदि । प्रव्रज्या वा न लभ्यते । यत्र शिष्या न जायंते तदपि क्षेत्रं त्यज । अन्ये तु न लभ्यते दातुं कर्तुं ग्रहीतुं वेति व्याख्यान्ति ॥

अर्थ—जिस क्षेत्रमें राजा नहीं है अथवा दुष्ट राजा है उस क्षेत्रका तुम त्याग करो. जहां प्रव्रज्या नहीं है अर्थात् शिष्य नहीं होगें अथवा जहां संयमका घात होगा उस क्षेत्रका तुम त्याग करो. गणिशिक्षा अर्थात् आचार्यको जिसमें उपदेश दिया है ऐसा गणिशिक्षा नामक प्रकरण समाप्त हुआ.

गणं शिक्षयत्युत्तरप्रबंधेन—

कुणह अपमादमावासएसु संजमतवोवधाणेसु ॥
णिस्सारे माणुस्से दुल्लहबोहिं वियाणित्ता ॥ २९६ ॥

सावद्यके कृथा जातु प्रमादं (धृत्त) वर्धके ॥
विज्ञाय दुर्लभां वोधिं निःसारे मानुषे भवे ॥ २९४ ॥

विजयोदया—कुणह अपमादमावासगेसु कुरुताप्रमादमावश्यकेषु । संजमतवोवधाणेसु संयमस्य, तपसश्चाश्रयेषु । अभ्यर्हितः संयम इति पूर्वनिपातः । संयमं विना न तपः शक्नोति कर्तुं मुक्तिमिति सामायिकादौ प्रवर्तमानस्य संयमो भवति । असंयमं त्यजतीति, सावद्यक्रियानिवृत्तौ सत्यां कर्माणि तपतीति तपो भवति । नान्यथेति तपसोऽप्याश्रयः । णिस्सारे माणुस्से साररहिते मानुष्ये अनित्यतया अशुचितया मनुजानां असारं । तत्र दुर्लभां वोधिं दुर्लभां दीक्षाभिमुखां बुद्धिं । विजाणित्ता ज्ञात्वा ।

इतो गणं शिक्षयति—

मूलारा—कुणध कुरुत यूयं भो यतयः । अपमादं अवधानं । उवहाणं उपधानं अवग्रहविशेष : । णिस्सारे अनित्यतया अशुचितया वा साररहिते । दुल्लमबोधि दुर्लभां दीक्षाभिमुखां बुद्धिम् ।

अर्थ—हे मुनि गण ! तुम सामायिकादि छह आवश्यकोंमें प्रमादका त्याग करो क्योंकि आवश्यक्रिया संयम और तपका आश्रयस्थान है. संयम और तप इन दोनोंमेंसे संयमको श्रेष्ठपना है इस लिये गाथामें संयम शब्द प्रथम और तप शब्द अनंतर है. संयमके विना केवल तप मुक्तिदायक नहीं है. जब मुनि सामायिकादि आवश्यकोंमें प्रवृत्त होता है तब उसको संयम प्राप्त होता है और असंयम का त्याग होता है. सावद्यक्रियाका त्याग होने पर तप कर्मोंको संतप्त करता है तभी उसको तप यह संज्ञा प्राप्त होती है. अन्यथा नहीं. अतः आवश्यक क्रिया तपका भी आश्रय स्थान है. यह मनुजजन्म साररहित, अनित्य, अपवित्र है. ऐसे मनुष्यजन्ममें दीक्षा ग्रहण करनेके प्रति बुद्धि होना दुर्लभ है ऐसा जानकर षडावश्यकोंमें प्रमाद कभी भी तुम मत करो.

समिदा पंचसु समिदीसु सव्वदा जिणवयणमणुगदमदीया ॥
तिहिं गारवेहिं रहिदा होह तिगुत्ता य दंडेसु ॥ २९७ ॥

संज्ञागौरवरौद्रार्तध्यानकोपादिवर्जिताः ॥
समिताः पंचभिर्गुप्तास्त्रिभिर्भवत सर्वदा ॥ २९५ ॥

विजयोदया—सम्यक्प्रवृत्ताः होह भवत । पंचसु समिदीसु पंचसु समितिषु । सव्वदा सर्वदा । जिणवयणमणुगदमदीगा जिनवचनमनुगतबुद्धयः । तिहिं गारवेहिं रहिया गारवत्रयरहिताः । तिगुत्ता य गुप्तित्रयसमन्विताः भवत । क दंडेसु अशुभमनोवाक्कायेषु ।

मूलारा—समिदा सम्यक् प्रवृत्ताः । तिदंडेसु अशुभमनोवाक्कायव्यापारेषु ।

अर्थ—हे मुनिगण ! तुम हमेशा पांच समितिओंमें तत्पर रहो. जिनेश्वरके वचन में अपनी बुद्धि लगाओ. अर्थात् जिनवचनके विरुद्ध अपनी बुद्धिको मत दौडाओ. तीन गारवसे रहित होकर तीन गुप्तिके धारक बनो. अशुभ मन वचन और शरीरकी प्रवृत्तिका त्याग करो.

सण्णाउ कसाए वि य अट्टं रुद्दं च परिहरह णिच्चं ॥
दुट्ठाणि इंदियाणि य जुत्ता सव्वप्पणा जिणह ॥ २९८ ॥

हृषीकदन्तिनो दुष्टान्विषयारण्यगामिनः ॥
जिनवाक्याङ्कुशेनाशु वशे कुरुत यत्नतः ॥ २९६ ॥

विजयोदया—सण्णाओ संज्ञा आहारादिविषयाः । कसाए वि कषायानपि । अट्टं रुद्दं च आर्तं रौद्रं च ध्यानं । परिहरत निराकुरुत । णिच्चं नित्यं । दुट्ठाई इंदियाई दुष्टानींद्रियाणि च । जुत्ता युक्ता ज्ञानेन तपसा च । सव्वप्पणा जिणह सर्वदाक्त्या इंद्रियजयं कुरुत ।

मूलारा—जुत्ता ज्ञानेन तपसा च समाहिता : । सव्वप्पणा सर्वात्मना, सर्वशक्त्या ।

अर्थ—हे मुनिगण ! आहारादि चारों-संज्ञाए, चार कषाय, आर्तध्यान और रौद्रध्यान इनका तुम सदा त्याग करो. ज्ञान और तपमें दुष्ट इन्द्रियोंको अपने पूर्ण सामर्थ्यसे जीतो.

धण्णा हु ते मणुस्सा जे ते विसयाउलम्मि लोयम्मि ॥
विहरंति विगदसंगा णिराउला णाणचरणजुदा ॥ २९९ ॥

धन्यास्ते मानवा मन्ये ये लोके विषयाकुले ॥
विचरंति गतग्रंथाश्चतुरगे निराकुलाः ॥ २९७ ॥

विजयोदया—धण्णा हु ते मणुस्सा धन्यास्ते मनुष्याः। के? जे विसयाउलम्मि लोयम्मि ये शब्दादिभिराकीर्णे जगति। विगदसंगा निःसंगाः क्वचिदपि विषये स्पर्शादौ। णिराउला निराकुलाः। णाणचरणजुदा ज्ञानेन चारित्रेण च युताः। ज्ञानचारित्रयुतानां प्रशंसा तथात्वजननसमर्था गणस्य।

मूलारा—णिराउला निराकुलाः।

अर्थ—स्पर्शादिक पांच इंद्रियविषयोंसे भरे हुए इस जगत में ज्ञान और चारित्रमे तत्पर होकर विषयों में अनासक्त रहकर निःसंग बनकर निर्व्याकुल होते हुए विहार करते हैं वे मनुष्य धन्य हैं.

सुस्सूसया गुरूणं चेदियभत्ता य विणयजुत्ता य ॥
सज्झाए आउत्ता गुरुपवयणवच्छला होह ॥ ३०० ॥

विनीता गुरुशुश्रूषाकारिणश्चैत्यभक्तयः ॥
वत्सला भवत ध्याने स्वाध्यायोद्यतचेतसः ॥ २९८ ॥

विजयोदया—सुस्सूसगा गुरूणं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैः गुणैर्गुरुतया गुरव इत्युच्यंते आचार्योपाध्यायसाधवः। तेषां शुश्रूषाकारिणो भवत। शुश्रूषापरेण भाव्यं। लाभादिकमनपेक्ष्य तेषां गुणेष्वनुरागः कृतो भवति। गुणानुरागाद्दर्शनशुद्धिस्तदीयरत्नत्रयानुमननं च भवति। सुकरो ह्युपायः पुण्यार्जने अनुमननं नाम। चेदियभत्ता य चैत्यानि जिनसिद्धप्रतिबिंबानि कृत्रिमाकृत्रिमाणि तेषु भक्ताः। यथा शत्रूणां मित्राणां वा प्रतिकृतिदर्शनाद्द्वेषो रागश्च जायते। यदि नाम उपकारोऽनुपकारो वा न कृतस्तया प्रतिकृत्या तत्कृतापकारस्योपकारस्य वा अनुसरणे निमित्तताऽस्ति तद्वज्जिनसिद्धगुणाः अनंतज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीतरागत्वादयस्तत्र यद्यपि न संति, तथापि तद्गुणानुसरणं संपादयन्ति सादृश्यात्तच्च गुणानुसरणं अनुरागात्मकं ज्ञानदर्शने सन्निधापयति। ते च संवरनिर्जरे महत्यौ संपादयतः। तस्माच्चैत्यभक्तिमुत्तरयोगिनीं कुरुत। विणयजुत्ता य विलयं नयति कर्ममलमिति विनयः। ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रविनया उपचारविनयश्चेति पंचप्रकारे विनये युक्ता भवत॥ शास्त्रोक्तवाचनास्वाध्यायकालयोरध्ययनं श्रुतस्य श्रुतं प्रवचनश्च भक्तिपूर्वं कृत्वा, अवग्रहं परिगृह्य, बहुमानं कृत्वा, निह्नवं निराकृत्य, अर्थव्यंजनतदुभयशुद्धिं संपाद्य पठं भाववतां श्रुतज्ञानं संवरं निर्जरां च करोति। अन्यथा ज्ञानावरणस्य कारणं भवेत्।

शंकाकांक्षादिनिरासो दर्शनविनय. । —

स च प्रयत्नेन भवद्भिः संपाद्योऽन्यथा शंकादिपरिणामा मिथ्यात्वमानयंति । दर्शनमोहनीयस्य चास्रवा भवंति । ततो मिथ्यादर्शननिमित्तकर्मवशादनंतसंसारपरिभ्रमणं तु स्वभीरूणां भवतां जायते। रूपरसगंधस्पर्शशब्देषु मनोज्ञामनोज्ञेषु सन्निहितेषु अनंतकालाभ्यासाद्रागोऽप्रीतिश्च जायते । तथा कषायाश्च बाह्यमाभ्यंतरं च निमित्तमाश्रित्य प्रादुर्भवन्ति । ते चोत्पद्यमानाश्चारित्रं विनाशयन्ति । कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमो हि चारित्रं । रागादयश्च कर्मादाननिमित्तक्रियास्तथा अशुभमनोवाक्कायक्रियाश्च कर्मादाननिमित्ताः । तथा षड्जीवनिकायबाधापरिहारमंतरेण गमनं । मिथ्यात्वेऽसंयमे वा प्रवर्तकं वचनं साक्षात्पारंपर्येण वा जीवबाधाकरणं । भोजनं, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादाननिक्षेपौ शरीरमलोत्सर्गो जीवपीडाहेतुरेताः कर्मपरिग्रहनिमित्ताः क्रियाः । आसां परिवर्जनं चारित्रविनयः । व्यावर्णिताशुभक्रियापरिवर्जनं विना चारित्रं नाम किमारंभवतां तस्मादत्रोद्योगं कुरुत ॥ अनशनादितपोजनितक्लेशसहनं तपोविनयः । सति संक्लेशे महानास्रवो भवेदल्पा निर्जरा । उपचारविनयाद्विनीत इति पूज्यते बुधैरन्यथा अविनीत इति निंद्यते । किं च उपचारविनयं मनोवाक्कायविकल्पं यो न करोति, स गुरूननवज्ञानाति, नाभ्युत्तिष्ठति, नानुगच्छति, नांजलिं करोति, न स्तौति, न विज्ञप्तिं करोति, गुरोरग्रत आसनमारोहति, याति पुरस्तेषां, निंदति, परुषं वदति, आक्रोशति वा स नीचैर्गोत्रं बध्नाति । तेन श्वपाकचांडालादिकुलेषु गर्हितेषु, सारमेयग्रामसूकरादिषु वा जायते। न च रत्नत्रयं गुरुभ्यो लभते। विनीतं हि शिक्षयन्ति गुरवः, प्रयत्नेन मानयंति च ततो विनयपरा भवत । अविनये दोषं विनये च गुणं महांतमवबुध्य सज्झाए आजुत्ता होह । शोभनं अध्ययनं स्वाध्यायः । जीवादितत्त्वपरिज्ञानं, तदुपायभूतश्च ग्रंथ. तस्मिन्स्वाध्याये आजुत्ता आयुक्ता भवत । निद्रां, हास्यं, क्रीडां, आलस्यं, लोकयात्रां च त्यक्त्वा ॥ तथा चोक्तं—" णिद्दं ण बहु मण्णेज्ज हासं खेड विवज्जए ॥ जोग्गं समणधम्मस्स जुंजे अणलसो सदा ॥ " इति ॥ गुरुपवयणवच्छल्ला होह गुरुप्रवचनवत्सला भवत ॥

मूलारा—सुस्सूसगा उपासकाः । गुरूणं आचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां ॥ आजुत्ता आसक्ताः निद्रादिकं त्यक्त्वा भवत यूयं । उक्तंच—णिद्द ण बहु मण्णेज्ज हासखेडं विवज्जए । जोग्गं समण धम्मस्स जुंजे अणलसो सदा ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन गुणोंसे जो बडे बन चुके हैं उनको गुरु कहते हैं. अर्थात् आचार्य, उपाध्याय, और साधु ये तीन परमेष्ठी गुरु कहे जाते हैं. हे मुनिगण ! आप इन गुरुओंकी शुश्रूषा करो. लाभ कीर्ति, आदर इनकी अपेक्षा छोडकर हे मुनिगण आप शुश्रूषा करो. शुश्रूषासे गुणोंपर प्रेम होगा. गुणप्रेम करनेसे सम्यग्दर्शन निर्मल होता है. तथा गुरुओंकी शुश्रूषा करनेसे उनके रत्नत्रयके प्रति अपनी अनुमति है यह सिद्ध होता है अनुमतीसे परिश्रमके विना ही पुण्यकी प्राप्ति होती है.

हे मुनिगण आप अर्हन्त और सिद्धकी अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिमाओंपर भक्ति करो. शत्रुओंकी अथवा

मित्रोंकी प्रतिमा या फोटो दीख पडनेपर द्वेष और प्रेम उत्पन्न होता है. यद्यपि उस फोटोने उपकार अथवा अनुपकार कुछ भी नहीं किया है परंतु वह शत्रुकृत अपकार और मित्रकृत उपकारका स्मरण होनेमें कारण है. जिनेश्वर और सिद्धोंके अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, सम्यग्दर्शन, वीतरागतादिक गुण यद्यपि अर्हत्प्रतिमा और सिद्धप्रतिमामें नहीं हैं तथापि उन गुणोंका स्मरण होनेमें ये कारण होती हैं. क्योंकि अर्हत् और सिद्धोंका उन प्रतिमाओंमें सादृश्य है. यह गुणस्मरण अनुरागस्वरूप होनेसे ज्ञान और श्रद्धान को उत्पन्न करता है और इनसे नवीन कर्मोंका अपरिमित संवर और पूर्वसे बंधे हुए कर्मोंकी महानिर्जरा होती है. इसलिये आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेमें सहायक चैत्यभक्ति आप हमेशा करो. हे मुनिवृंद ! आप पांच प्रकारका विनय नित्य करो. 'विलयं नयति कर्ममलं इति विनयः' जो कर्ममलका नाश करता है ऐसे कर्तव्यको विनय कहते हैं. इस विनयके ज्ञानविनय, दर्शनविनय चारित्रविनय तपोविनय और उपचारविनय ऐसे पांच भेद हैं. शास्त्रमें वाचना और स्वाध्याय का जो काल कहा हुआ है उसी कालमें श्रुतका अध्ययन करो, श्रुतज्ञानको पढानेवाले गुरुकी भक्ति करो. कुछ नियम ग्रहण कर आदरसे पढो, गुरु और शास्त्रको छिपाकर स्वयं मैंने और मेरी बुद्धीसे सब श्रुतज्ञान धारण किया है ऐसा गर्व मनमें धारण करना छोड दो. अर्थशुद्धि, व्यंजनशुद्धि और उभयशुद्धिके साथ श्रुतज्ञानका अध्ययन करो. विनयपूर्वक अभ्यस्त हुआ श्रुतज्ञान कर्मोंका संवर और निर्जरा करता है. यदि विनय न होगा तो दोषसहित श्रुतज्ञान ज्ञानावरण कर्मका निमित्त होता है.

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा इत्यादि दोषोंको जो हटाना वह दर्शन विनय है. इसकी आप प्राप्ति करनेमें प्रयत्न करो. नहीं तो शंकादिक परिणाम मिथ्यात्वको उत्पन्न करेंगे जिससे दर्शनमोहनीयके आस्रव आकर मिथ्यात्वी बनोगे. इस मिथ्या दर्शनके निमित्तसे बंधा हुआ कर्म दुःखभीरु ऐसे तुमको अनंत कालतक संसारमें भ्रमावेगा.

इष्ट और अनिष्ट ऐसे स्पर्श रस, गंध, रूप और शब्दोंमें अनंतकालतक जीवका अभ्यास होनेसे उनमें राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं. कषाय भी बाह्य कारण और अभ्यंतर कारणोंको पाकर उदयमें आ जाते हैं. उनके उदयसे चारित्रका घात होता है. कर्मका जिन्हांसे ग्रहण होता है ऐसी मानसिक, कायिक और वाचनिक क्रियाओंका अभाव होनेसे चारित्र उत्पन्न होता है. राग, द्वेष, मोह वगैरह परिणामोंसे कर्म आत्मामें आता है. तथा मन, वचन और शरीरके अशुभ व्यापारोंसे आत्मामें नवीन कर्म आता है. पानी, हवा, अग्नि, पृथ्वी और वनस्पति ये पांच प्रकारके स्थावर जीव हैं. द्वीन्द्रियादिक जीवोंको त्रसजीव कहते हैं. इन छह काय जीवोंको बाधा हो इस

रीतीसे गमन करना, मिथ्यात्वमें और असंयममें जीवोंकी प्रवृत्ति जिससे होगी ऐसा वचन बोलना, साक्षात् अथवा परम्परासे जीवोंको बाधा देना. भोजन करना, कोईभी वस्तु विना देखे, विना पोंछे, जमीनपरसे लेना और रखना, जमीनकी देखभाल किये विना उसपर हगना, मूतना, वगैरे क्रिया करना. ये क्रियायें जीवपीडाका कारण हैं. इनका त्याग करनेसे चारित्र विनय होता है. अशुभ क्रियाओंका त्याग करना यह चारित्रका लक्षण है. परंतु जो आरंभ क्रिया करते हैं वे चारित्र धारण नहीं कर सकते हैं. इस लिये हे मुनिवृंद ! आप चारित्रमें नित्य उद्योग करो.

अनशन, अवमोदर्य वगैरह तपोंसे उत्पन्न होनेवाले परिश्रमोंको सहन करना यह तपोविनय है. यदि तप करते समय आत्मामें संक्लेश परिणाम उत्पन्न होंगे तो कर्मोंका महान् आस्रव होगा और निर्जरा अल्प होगी उपचारविनय धारण करनेसे विद्वान लोक यह मुनि विनयशील है ऐसा समझकर पूजा करते हैं. यदि उपचार विनय मुनिमें न हो तो वह निंदाका पात्र होता है. मानसिक उपचार विनय, वाचनिक उपचार विनय और कायिक उपचार विनय ऐसे उपचार विनयके भेद है. इन विनयोंको जो मुनि धारण नहीं करता है, गुरुओंकी मनसे अवहेलना करता है, गुरु आनेपर ऊठकर खडा होता नहीं, वे जानेपर उनके पीछे जाता नहीं, हात जोडता नहीं, उनकी स्तुति और विज्ञप्ति करता नहीं, गुरुके सम्मुख आसनपर चढकर बैठता है, उनके आगे जाता है, उनकी निंदा करता है और उनको कठोर शब्द बोलता है, गालि देता है उसको नीचगोत्रका बंध होता है. इस कर्मके उदयसे वह मातंग, चांडाल, धीवरादि निंद्य नीच कुलोंमें जन्म लेता है. कुत्ता, सूकर, वगैरह पशुओंमें वह उत्पन्न होता है. निंदा करनेवाले मुनिओं को गुरुसे रत्नत्रयका लाभ होता नहीं. परंतु जो मुनि नम्रस्वभावका है गुरु उसको प्रयत्नसे पढाते हैं और उसका आदर करते हैं. इसलिये हे मुनिगण ! आप विनयमें नित्य तत्पर रहो. अविनय दोषसे भरा हुआ है और विनयमें बडे गुण निवास करते हैं ऐसा समझकर तुम स्वाध्यायमें अनुरक्त रहो. शोभन अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं. जीवादि तत्त्वोंका स्वरूप समझलेना और उसका वर्णन करनेवाले ग्रंथको पढना यह शोभन–उत्तम स्वाध्याय है. इसमें तुम हमेशा तत्पर रहो. सोना, हसना, खेलना, आलस्य, लोक व्यवहार इन बातोंको छोडकर तुम स्वाध्याय करो. पूर्वाचार्य इस विषयमें ऐसा कहते हैं. 'मैं निद्रा को अच्छी नहीं मानता हूं. मैं हास्य और क्रीडा का त्याग करता हूं. मैं आलस्य छोडकर मुनिधर्मकी, योग्य क्रियाओंमें हमेशा

उद्युक्त रहें " हे मुनिवृंद ! तुम हमेशा त्रलोक्यमें महान् ऐसे सर्वज्ञ कथित आगममें प्रेम करो.

दुस्सहपरीसहेहिं य गामवचीकंटएहिं तिक्खेहिं ॥
अभिभूदा वि हु संता मा धम्मधुरं पमुचेह ॥ २०१ ॥

मा स्म धर्मधुरं त्याक्षुरभिभूताः परीषहैः ॥
दुस्सहैः कंटकैस्तीक्ष्णैर्ग्रामेयकवचोमयैः ॥ २९९ ॥

विजयोदया—दुस्सहपरीसहेहिं य दुःसहैः परिषहैश्च । गामवचीकंटएहिं तिक्खेहिं आक्रोशवचनकंटकैः तीक्ष्णैश्च । अभिभूदा वि य संता पराभूता अपि संतः । मा धम्मधुरं पमुच्चेह मा कृथा धर्मभारत्यागं । ननु च ' दुस्सहपरीसहेहिं य अभिभूदा मा धम्मधुरं पमुच्चेह ' इत्यनेनैव आक्रोशपरीषहसहनं उपदिष्टं ? किमनेन ' गामवचीकंटएहिं ' इत्यनेन ? । अयमभिप्रायः सूत्रकारस्य-सोढक्षुदादिवेदनोऽपि न सहतेऽनिष्टं वचस्ततोऽतिदुष्करमपि तत्सोढव्यं इति दर्शनाय पृथगुपादानम् ।

मूलारा—गामवचीकंटगेहिं ग्राम्याणामविविक्तजनानां वचनानि एव कंटकास्तैराक्रोशवचनैरित्यर्थः । सोढक्षुदादिवेदनोऽपि हि नानिष्टं वचनं सोढुं शक्नोति इति अतिदुःसहत्वादाक्रोशवचनस्य पृथगुपादानं । अतिदुःसहमप्याक्रोशवचनं भवाद्भिः सोढव्यमित्युपदेशार्थं ।

अर्थ—दुःसह क्षुधादिक परीषहोंसे और ग्राम्यलोगोंके तीक्ष्ण गालिवचनों से पीडित होते हुए भी हे मुनिगण ! आप धर्मभारका त्याग कदापि न करे- 'दुःसह परीषहोंसे पीडित हो कर आप धर्मभार का त्याग न करो' इन वचनोंसे हि आक्रोशपरिषह सहनका अन्तर्भाव होता है तो भी ग्राम्यतीक्ष्ण वचनोंको सहन करनेका उपदेश क्यों किया है ? इस प्रश्नका उत्तर ऐसा है- क्षुधादिवेदनायें सही भी जाती हैं परंतु अनिष्ट वचन सहा जाता नहीं. अतिदुःसह अनिष्ट वचन भी मुनिगण को सहना चाहिये यह दिखानेका आचार्यका अभिप्राय था इसलिये ' गामवचीकंटएहिं तिक्खेहिं ' ऐसा पृथक् वचन दिया है.

तपःसूद्योगः सर्वप्रयत्नेन त्यक्तालस्यैर्भवद्भिः कर्तव्य इत्युपदिशति—

तित्थयरो चदुणाणी सुरमहिदो सिज्झिदव्वयधुवम्मि ॥
अणिगूहिदवलविरिओ तवोविधाणम्मि उज्जमदि ॥ ३०२ ॥

ध्रुवसिद्धिश्चतुर्ज्ञानस्तीर्थकृत्त्रिदशार्चितः ।
अनिगुह्य बलं वीर्यमुद्यतः कुरुते तपः ॥ ३०० ॥

विजयोदया—तित्थयरो तीर्थंकरः तरंति संसारं येन भव्यास्तत्तीर्थं । केचन तरंति श्रुतेन गणधरैर्वालंबनभूतैरिति श्रुतं गणधरा वा तीर्थमित्युच्यते । तदुभयकरणात्तीर्थंकरः । अथवा 'तिसु तिट्ठदित्ति तित्थं' इति व्युत्पत्तौ तीर्थशब्देन मार्गो रत्नत्रयात्मकः उच्यते तत्करणात्तीर्थंकरो भवति । चउणाणी मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानवान् । सुरमहिदो सुरैश्चतुःप्रकारैः पूजितः स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणेषु । सिज्झिदव्वगधुवम्मि नियोगभाविन्यां सिद्धावपि । तथापि अणिगूहियवलविरिओ अनुपह्नुतबलवीर्यः । तवोविहाणम्मि तपःसमाधाने उज्जमदि उद्योगं करोति ।

तपस्युद्योगः सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यः इत्युपदेष्टुं गाथाष्टाविंशतिं आचष्टे—

मूलारा—सिज्झदव्वयधुवम्मि अवश्यंभाविन्यामपि सिद्धौ सत्याम् ।

आलस्य छोडकर सर्व प्रयत्नसे तपश्चरणमें तुम उद्योग करो ऐसा आचार्य उपदेश करते हैं.

अर्थ—मति, श्रुति, अवधि और मनःपर्यय ऐसे चार ज्ञानोंके धारक; स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और दीक्षाकल्याणादिकोंमें चतुर्णिकाय देवोंसे जो पूजे गये हैं, जिनको नियमसे मोक्षप्राप्ति होती है, ऐसे तीर्थंकर भी अपना बल और वीर्य नहीं छिपाते हैं और तपमें उद्युक्त होते ही हैं इसलिये तुमको भी तपमें उद्योग करना आवश्यक है. जिसका आश्रय लेकर भव्यजीव संसारसे तीरकर मुक्तिको प्राप्त होते हैं उसको तीर्थ कहते हैं. कितनेक भव्य जीव श्रुतसे अथवा गणधर की सहायतासे संसारसे उत्तीर्ण होते हैं. इसलिये श्रुत और गणधरको तीर्थ कहते हैं. श्रुत और गणधरको भी जो कारण हैं उनको तीर्थंकर कहते हैं. अथवा 'तिसु तिट्ठदित्ति तित्थं' ऐसी भी तीर्थ शब्दकी व्युत्पत्ति है. रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गको तीर्थ कहते हैं. उसको जो प्रचलित करते हैं उनको तीर्थंकर कहते हैं ऐसे तीर्थंकरभी यदि तप करते हैं तो अन्य मुनि भी क्यों न करें ?

किं पुण अवसेसाणं दुक्खक्खयकारणाय साहूणं ॥
होइ ण उज्जमिदव्वं सपच्चवायम्मि लोयम्मि ॥ ३०२ ॥
मुमुक्षूणां किमन्येषां दुःखक्षपणकांक्षिणाम् ॥
न कर्तव्यं तपो घोरं प्रत्यपायाकुले जने ॥ ३०१ ॥

विजयोदया--किं पुण अवसेसाणं किं पुनर्न प्रयतितव्यं अवशिष्टैः साधुभिः । दुक्खक्खयकारणाय दुःखविनाशननिमित्तं । सापाये लोके आयुषः, शरीरस्य, बलस्य नीरोगतायाश्च विनाशे अविदितकाले सति, दावानलसमाने मृत्यावायाति, लोकत्रयमिदं अशेषं भस्मसात्कर्तुं अद्य इत्यपि सुचिरं निमिषमात्रेणापि मृत्युरेयात्र मासमर्धमासमृतुमयनं संवत्सरं वा प्रति वचनाधिकारकः स्याद्यावन्नायाति मृत्युस्तावत्तपस्युद्योगः कार्यः। न हि मृत्योर्देशनियमोस्ति । स्थल एव प्रचारो यथा शकटादीनां । समीरणपथ एव ज्योतिषां, सलिल एव मीनमकरादीनां । कथ्यतमस्य पुनरस्य मृत्योः स्थले, जले, वियति च विहृतिः । दहनस्य, सुधासूतेर्वा सुराधिपतेः, प्रभंजनस्य, शीतोष्णस्य वा, हिमान्या वा अप्रवेशदेशाः संति न तथा मृत्योः । यथा वा निदानमानं व्याधीनां पित्तानिलश्लेष्मरूपं । अपमृत्योः पुनरखिलमेव निदानं । वातस्य, कफस्य, शीतोष्णयोर्वर्षोष्णिमातपानां शक्यः प्रतीकारविधिर्न पुनः संसारे मृत्योः । हिमोष्णवर्षादीनां च कालो विदितोऽस्ति न तद्वदस्य । न वा हितमस्य किंचिद्विद्यते । यथा शत्रुघ्नमनुष्ठरे प्रवेशो निशापतेः । असत्यपि मृत्युपनिपाते जीवतोऽपि कुरोगाशनिभ्यो महद्भयं । यथा वियतो निपतत्यशुभ एव पादानिः । आयुरलकपादयश्च गुणास्तावदेव यावन्नोपैति रोगो देहं । यद्वृन्तलग्नस्य फलस्य तावदपातो यावन्न स्पन्दनः । व्याधौ च बाध्यमाने देहे न सुखेन शक्यते श्रेयः कर्तुं, यथा वेश्मनि दह्यमाने समन्वाग्न प्रतीकारः । सत्स्तु वा रोगेषु रागशत्रुः सुहृन्मुखः वाग्रुचि मग्नः यदा नरस्य चित्तं बाधते न तदा समेऽधिकारः । पित्तोद्भवो वैद्यशुभप्रयोगैः प्रशाम्येदपि, रागोदयस्य प्राण्यहितस्य हन्तुं प्रशमः सुदुर्लभः । यदैव च तस्य प्रशमोपलब्धिः पूर्वोक्तकर्मप्रशान्तौ तदैव श्रेयस्करी शक्तिः पित्तोपशान्तौ कार्यचित्ते च । इत्थं मृत्युर्व्याधयो राग इत्येते प्रत्यपाया जगति, तांश्चेतसि कृत्वा, यदा ते न संति तदोद्योगः कार्यः ।

मूलारा—किं पुण पुनर्नान्यैःसाधुभिरशमनीयमपि तु तपस्युद्यमः कर्तव्य एव । सपच्चवायम्मि आयुःशरीरबलादिविनाशेनातर्कितकालादिमायिना महिते ।

अर्थ—अन्य मुनिको भी संसारदुःखोंका क्षय करनेके लिये क्या प्रयत्न नहीं करना चाहिये ? अर्थात् उनको भी तपमें उद्योग करना अवश्य प्राप्त है. इस जगत्में मनुष्यका आयु, शरीर, बल और आरोग्यका नाश कर

होगा यह समझमें नहीं आता है. मृत्यु दावानलके समान है. वह इस संपूर्ण जगत्‌रूपी वनको कब दग्ध करेगा यह हम नहीं समझ सकते हैं. मृत्यु आज नहीं आवेगा, अथवा एकमास, अर्धमास, दो महिने, छहमास, एक वर्ष तक आवेगा नहीं ऐसा खात्रीसे वचन नहीं कह सकते हैं. एक क्षणमें भी मृत्युका आगमन होगा. जबतक मृत्यु आता नहीं तबतक तपश्चर्याका उद्योग करना चाहिये. मृत्यु अमुक स्थानमें रहता है ऐसा उसका प्रदेश निश्चित नहीं है. गाडी-मोटर वगैरह स्थल परही गमन करते हैं. नक्षत्रसमूह आकाशमें ही भ्रमण करते हैं. मत्स्य, मगर वगैरह जलचर प्राणी पानीमें ही फिरते हैं. परंतु अत्यंत दुःख देनेवाला यह मृत्यु स्थलमें, जलमें, आकाशमें सर्वत्र भ्रमण करता है. अग्नि, चंद्र, सूर्य, इन्द्र, ठंडा अथवा उष्ण वायु, और बर्फ समुदाय इनका जहां प्रवेश नहीं है ऐसे प्रदेश बहुत है. परंतु मृत्युका सर्वत्र अप्रतिहत संचार है. वात, पित्त और कफ ये रोग उत्पन्न होनेके कारण हैं परंतु अपमृत्युके लिये सर्व पदार्थ कारण हो सकते हैं. वात, पित्त, कफ, शीत, उष्ण, जलवृष्टि, ठंडी, धूप इनका प्रतिकार करनेके पदार्थ हैं. परन्तु इस संसारमें मृत्यु का प्रतिकार करनेवाला कोई भी पदार्थ नहीं है. शीतकाल, वर्षाकाल और ग्रीष्मकाल इनका समय लोगोंको ज्ञात होता है. परन्तु मृत्युका आगमनसमय किसी को भी मालुम नहीं रहता है. जब राहुके मुखमें चन्द्रका प्रवेश होता है तब उससे छुडाने वाला हितकर पदार्थ कोई नहीं है उसी तरह मृत्यु जब जीवको पकडता है तब उसको उससे बचानेवाला कोई नहीं है. मृत्युके विना भी अन्य पदार्थोंसे प्राणिओंको भय उत्पन्न होता है. जैसे दुष्ट रोग, वज्रपात वगैरहसे भय उत्पन्न होता है. अशनिपात अचानक आकाशसे होता है. तद्वत् अचानक मृत्यु प्राणिको पकडता है. आयु, बल, रूप वगैरह तबतक देहमें स्थिर रहते हैं जबतक रोगसे यह ग्रसित नहीं होता. जबतक वायुका आगमन नहीं तबतक फल वृंतमें स्थिर रह सकता है वह गिरता नहीं है. जब रोगसे शरीर पीडित होता है तब सुखसे आत्महित करना नहीं होता है. जैसे अग्नीसे घर चारों तरफसे जब घिर जाता है तब उपाय करना नितरां अशक्य है. शरीर में रोग नहीं हो तो भी जब मित्रके समान दीखनेवाला रागशत्रु इस मनुष्य के चित्तको पीडित करता है तब यह मनुष्य समता धारण करनेमें असमर्थ होता है. वैद्यके अच्छे प्रयोगोंसे प्राणीका पित्तप्रकोप शांत होगा परंतु प्राणीका अहित करनेवाला रागभाव शांत होना बडा ही कठिन है. पित्त शांत होनेपर जैसा प्राणी स्वकार्यमें चित्त लगाता है, तथा पूर्वकर्म शांत होनेपर रागभाव शांत होकर आत्मकल्याण करनेमें मनुष्य समर्थ होता है. इस प्रकार इस जगतमें मृत्यु, राग

और रोग ये तप करनेमें व्यत्यय लाते हैं. ऐसा मनमें विचार कर जब ये देहमें नहीं होंगे तब तपमें उद्योग करना चाहिये.

सत्तीए भत्तीए विज्जावच्चुज्जदा सदा होह ॥
आणाए णिज्जरेत्ति य सवालउड्ढाउले गच्छे ॥ ३०४ ॥
शक्तितो भक्तितः संघे वत्सलास्ते चतुर्विधे ॥
वैयावृत्यकराः शश्वज्जिनाज्ञानिर्जरार्थिनः ॥ ३०२ ॥

विजयोदया—सत्तीए भत्तीए शक्त्या भक्त्या च । विज्जावच्चुज्जदा वैयावृत्ये उद्यताः सदा होह नित्यं भवत । आणाए णिज्जरेत्तिय सर्वज्ञानामाज्ञा वैयावृत्यं कर्तव्यमिति तदाज्ञया हेतुभूतया, वैयावृत्यं हि तपः तपसा निर्जरा भवतीति च । सवालउड्ढाउले सह बालैर्वर्तमाना ये वृद्धास्तैराकीर्णे गणे ॥

मूलारा—आणाए वैयावृत्यं कर्तव्यमिति जिनानामाज्ञया हेतुभूतया । णिज्जरेत्ति वैयावृत्यं निर्जराहेतुभूतया-न्निर्जरा इति कृत्वा ॥

अर्थ—बालमुनि और वृद्ध मुनिओंसे व्याप्त ऐसे मुनिसमुदायका वैयावृत्य करनेमें हे मुनिवृंद! तुम अपनी शक्तिसे और भक्तीसे सदा उद्यत बनो. वैयावृत्य करना यह मुनिओंका कर्तव्य है ऐसी जिनदेवकी आज्ञा है ऐसा समझकर और यह वैयावृत्य तप है तथा निर्जराका कारण है ऐसा समझकर उसके करनेमें तुम तत्पर रहो.

वैय्यावृत्यं कर्तुमभ्युद्युक्तं प्रति इदमादर्शयति—

सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणाउवग्गाहिदे ॥
आहारोसहवायणविकिंचणुव्वत्तणादीसु ॥ ३०५ ॥
उपधीनां निषद्यायाः शय्यायाः प्रतिलेखनम् ॥
उपकारोऽन्नभैषज्यमलत्यागादिगोचरः ॥ ३०३ ॥

विजयोदया—सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणा उवग्गहिदे। शय्यावकाशस्य, निषद्या स्थानस्य, उपकरणानां च प्रतिलेखना, उपग्रह उपकारः। किंविषयः ? आहारोसहवायणाविकिंचणुव्वत्तणादीसु योग्यस्य आहारस्य औषधस्य वा दानं स्वाध्यायस्योत्सारणं अशक्तस्य शरीरमलनिरासः। उवत्तणे पार्श्वात्पार्श्वान्तरस्योत्थापनं॥

वैय्यावृत्यप्रयोगविधिं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—सेज्जोगास शयनस्थानं। णिसेज्जा उपवेशनस्थानं। उवधी उपकरणानि। एषां प्रतिलेखना। उवग्गहिधे उपग्रहः उपकार इत्यर्थः। स चाहारादिविषयो ग्राह्यः। आहारोसह योग्यस्याहारस्यौषधस्य च दानं। वायणा व्याख्यानं। विकिंचणं अशक्तस्य कायमलशोधनम्। उवत्तणं पार्श्वात्पार्श्वान्तरोत्थानम्।

वैयावृत्य करनेके लिये उद्युक्त हुए मुनिओंको वैयावृत्यका प्रयोगविधि बतलाते हैं—

अर्थ—शयनस्थान, बैठनेका स्थान, उपकरण-पिंछी कमंडलु वगैरह इनका शोधन करना, आहार-योग्य निर्दोष आहार, निर्दोष औषध, देकर उपकार करना, स्वाध्याय करना अर्थात् व्याख्यान करना, अशक्त मुनिका मैला उठाना, उस मुनिको एक बाजुसे दूसरे बाजुपर उठाकर सुलाना· बैठाना वगैरह कार्य करना यह सब वैयावृत्यका विधि है.

अद्धाण तेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे ॥
वेज्जावच्चं उत्तं संगहणारक्खणोवेदं ॥ ३०६ ॥
मार्गे चौरापगाराजदुर्भिक्षमरकादिषु ॥
वैयावृत्यं विधातव्यं सरक्षासंग्रहं सदा ॥ ३०४ ॥

विजयोदया—अद्धाण तेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे अध्वनां श्रमेण श्रांतानां पादादिमर्दनं। स्तेनैरुपद्रूयमाणानां। तथा श्वापदैः, दुष्टैर्वा भूमिपालैः, नदीरोधकैः मार्या च तदुपद्रवनिरासः विद्यादिभिः। ऊमे दुर्भिक्षे सुभिक्षदेशानयन। वेज्जावच्चं वुत्तं वैयावृत्यमुक्तम्। संगहसारक्खणोवेदं संग्रहसंरक्षणाभ्यामुपेतः।

मूलारा—अद्धाणे मार्गश्रमेण श्रांतानां पादादिमर्दनं। तेण चौरोपद्रवनिरासः। एवमुत्तरत्राप्युपस्कारः। सावदरायणदीरोधकासिवे उपद्रव निराकारः। रोधक वंदीकारः। असिवे मरके तदुपद्रवविनाशो विद्यादिभिः। ऊमे दुर्भिक्षे सुभिक्षदेशनयनं। संगह ना मैष्टत्यादि धैर्यधानपूर्वकः सम्यगंगीकारः। सारक्खणं संरक्षणं।

अर्थ—जो मुनि रास्तेके श्रमसे थक गये उनकी पगचंपी करना, हस्तमर्दन, अंगमर्दन करना. जिन मुनिओंको चोरसे उपद्रव हुआ, दुष्ट पशुओंसे पीडा हुई हो, राजासे कष्ट पोहोंचा होगा, नदीके द्वारा कोई मुनि रुक गये, भारी रोगसे पीडित होगये तो उनका उपद्रव विद्यादिकोंसे नष्ट करना चाहिये. यदि कोई मुनि दुर्भिक्षपीडित हुए हो तो उनको सुभिक्ष देशमें लाकर उनकी पीडाका परिहार करना चाहिये. इन सब कार्योंको वैयावृत्य कहते हैं. ऐसे कार्य करनेसे मुनिओंका संग्रह होता है. और आप डरो मत ऐसा बोलकर उनमें धैर्य उत्पन्न कर उनका अंगीकार करना चाहिये.

वैयावृत्याकरणं निंदति—

अणिगूहिदबलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण ॥
जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिद्धम्मो ॥ ३०७ ॥

समर्थो न विधत्ते यो वैयावृत्त्यं जिनाज्ञया ॥
अप्रच्छाद्य बलं वीर्यमतो निर्धर्मकः सकः ॥ ३०५ ॥

विजयोदया— अनिगूहितेत्यादिना-अनिगूढवीर्यो वैयावृत्यं जिनोपदिष्टं क्रमेण न करोति । शक्तोऽपि सन् स निर्धर्मो भवति धर्मान्निष्क्रांतो भवति इति सूत्रार्थः ।

वैयावृत्याकरणे दोषान्गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—स्पष्टं ।

जो मुनि वैयावृत्य करता नही उसकी निंदा करते हैं—

अर्थ—जिसने अपना बल और वीर्य छिपाया नहीं है, और जो समर्थ है तो भी जिनेश्वरने कहे हुए क्रमसे जो वैयावृत्य करता नहीं है वह मुनि निर्धर्मा है अर्थात् धर्मसे भ्रष्ट हुआ है ऐसा समझना चाहिये. ऐसा इस सूत्रका अर्थ है.

दोषांतराणि व्याचष्टे—

तित्थयराणाकोधो सुदधम्मविराधणा अणायारो ॥
अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिदं होदि ॥ ३०८ ॥
आज्ञाकोपो जिनेंद्राणां श्रुतधर्मविराधना ॥
अनाचारः कृतस्तेन स्वपरागमवर्जनम् ॥ ३०६ ॥

विजयोदया—तित्थयराणाकोधो तीर्थंकराणामाज्ञाकोपः । सुदधम्मविराहणा श्रुतोपदिष्टधर्मनाशनं। अणाचारो आचाराभावः वैयावृत्याख्ये तपसि अवृत्तेः । अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिदं होदि ॥ आत्मा साधुवर्गः प्रवचनं च त्यक्तं भवति । तपस्यनुद्योगादात्मा त्यक्तो भवति, आपद्युपकाराकरणाद्यतिवर्गः, श्रुतोपदिष्टस्याकरणादागमश्च त्यक्तः ॥

मूलारा—कोवो भंगः कृतो भवतीति शेषः । सुदधम्मविराहणा श्रुतोपदिष्टधर्मविनाशः । वैयावृत्याख्ये तपस्य-प्रवृत्तेः । णिज्जूहिदं तपस्यनुद्योगादात्मा त्यक्तः । आपद्युपकाराकरणाद्यतिवर्गः । श्रुतोपदिष्टस्याकरणादागमश्च ।

अन्य दोषोंका भी वर्णन करते हैं—

अर्थ—वैयावृत्य करना चाहिये ऐसी अर्हत्परमेश्वरकी आज्ञा है परंतु जो वैयावृत्य नहीं करता है उसने उनकी आज्ञाका भंग किया है ऐसा समझना चाहिये. वैयावृत्य न करनेसे शास्त्रमें कहे हुए धर्मका नाश होता है. वैयावृत्य नहीं करनेसे मुनि मुनिधर्मका आचार पाल नहीं सकेंगे इसलिये धर्मविनाश होगा. अनाचार होगा. क्योंकि, कोई भी वैयावृत्य नामक तपमें प्रवृत्त नहीं होंगे. वैयावृत्य न करनेसे अपना, साधुवर्गका और आगमका त्याग होगा. तपश्चरणमें उद्युक्त न होनेसे आत्माका त्याग हुवा, संकटमें उपकार न करनेसे यतिओंका त्याग होता है. और शास्त्रोपदिष्ट वैयावृत्यका पालन न करनेसे आगमका त्याग होता है. वैयावृत्य न करनेसे ऐसे महादोष उत्पन्न होते हैं.

१ कपुस्तके 'वैयावृत्याख्ये तपसि' इत आरभ्य अग्रेतनगाथाद्वयं तट्टीका च नोपलब्धा ।

गुणान्वैयावृत्त्यकरणे कथयति गाथाद्वयेन—

गुणपरिणामो सड्ढा वच्छल्लं भत्तिपत्तलंभो य ॥
संधाणं तवपूया अव्वोच्छित्ती समाधी य ॥ ३०९ ॥

विजयोदया—गुणपरिणामो यतिगुणपरिणतिः। सड्ढा श्रद्धा। वच्छल्लं वात्सल्यं। भत्ती भक्तिः। पत्तलंभो य पात्रस्य लाभः। संधाणं संधानं। तव तपः। अव्वुच्छित्ती य तित्थस्स अव्युच्छित्तिश्च तीर्थस्य। समाधी य समाधिश्च।

वैयावृत्त्यकरणेऽष्टादशगुणान्गाथाद्वयेनोद्दिशति—

मूलारा—गुणपरिणामो वैयावृत्त्यकरस्य बाध्यमानसाधुगुणेषु वासना। क्रियमाणवैयावृत्यस्य च साधोः सम्यक्त्वादिगुणेषु प्रबंधेन प्रवृत्तिः। पत्तलंभो पात्रस्य लाभः। संधाणं कुतश्चिद्विच्छिन्नानां दर्शनादीनां आत्मनि पुनः संयोजनं।

वैयावृत्य करनेसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंका वर्णन आचार्य दोन गाथाओंसे करते हैं—

अर्थ - वैयावृत्य करनेसे इतने गुणोंकी प्राप्ति होती है—

१ गुणपरिणाम—मुनिगुणोंकी वैयावृत्य करनेवालेमें परिणति होती है. उपसर्गादिसे जिसको पीडा हुई है ऐसे मुनिके गुण मेरेको प्राप्त हो ऐसी इच्छा वैयावृत्य करनेवालेके मनमे उत्पन्न होना यह गुणपरिणति शब्दका अर्थ है २ श्रद्धा करना, ३ भक्ति ४ वात्सल्य ५ पात्रलंभ-पात्र की प्राप्ति होना ६, संधान किसी कारणसे विच्छिन्न हुए सम्यग्दर्शनादिकोंको आत्मामें जोड देना. ७ तप ८ पूजा ९ तीर्थाव्युच्छित्ति तीर्थकी परंपरा सतत रहना अर्थात् धर्मका नाश न होने देना. १० समाधि.

आणा संजमसाखिल्लदा य दाणं च अविदिगिंछा य ॥
वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि ॥ ३१० ॥

गद्यम्—गुणपरिणामश्रद्धावात्सल्यभक्तिपात्रलाभसंधानतपःपूजातीर्थाविच्छित्तिसमाधिजिनाज्ञासंयमसाहाय्यदानविचिकित्साप्रभावनासंघकार्याणि वैयावृत्त्यगुणाः ॥ ३०७-३०८ ॥

विजयोदया—आणा संजमसाखिल्लदा य आज्ञा संयमसाहाय्यं च । दाणं च दानं च । सर्वज्ञोपदिष्टवैयावृत्यकरणादाज्ञा संपादिता । आज्ञासंपादनमाज्ञासंयमः । परस्य वैयावृत्यकृत उपकारः । रत्नत्रयस्य निरतिचारस्य दानं । संजमसाखिल्लदा य संयम साहाय्यमिति चार्थः । अविदिगिंछा य अविचिकित्सा च । वेजावच्चस्स गुणा वैय्यावृत्यस्य गुणाः । पभावणा प्रभावना च । कज्जपुण्णाणि कार्यनिर्वहणानि च ॥

मूलारा--साखिल्लिदा साहाय्यं । दाणं निरतिचाररत्नत्रयस्य संपादनं ॥

अर्थ—आज्ञासंयम, साहाय्य, दान, निर्विचिकित्सा, प्रभावना, कार्य निर्वाहण ऐसे वैयावृत्यके अठारह गुण हैं. सर्वज्ञने वैयावृत्य करना यह मुनिओंका कर्तव्य है ऐसी आज्ञा दी है. उनकी आज्ञाका संपादन करना चाहिये अर्थात् मुनिओंके संयममे वैयावृत्य करके उपकार करना चाहिये. संयममाखिल्लदा संयममें सहायता करना.

गुणपरिणामो इत्येतत्पदं व्याचष्टे—

मोहग्गिणादिमहदा घोरमहावेयणाए फुट्टंतो ॥
डज्झदि हु धगधगंतो ससुरासुरमाणुसो लोओ ॥ ३११ ॥

दह्यते सकलो लोको महता मोहवह्निना ॥
धगधगित्येव कुर्वाणो महावेदनया स्फुटम् ॥ ३०९ ॥

विजयोदया—मोहग्गिणा अज्ञानाग्निना । अदिमहदा अतिमहता, सकलवस्तुविषयतया महदज्ञानं तेन डज्झदि दह्यते । घोरमहावेदणाए घोरया महत्या वेदनया । फुट्टंतो विशीर्यमाणः । धगधगंतो धगधगायमानः । ससुरासुरमाणुसो लोगो देवासुरमानुषैः सह वर्तमानो लोकः ॥

गुणपरिणामं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे–

मोहग्गिणा ममेदमहमस्येत्यादिप्रत्ययलक्षणाज्ञानवह्निना । अदिमहदा सकलवस्तुविषयतया अतिविपुलेन । फुट्टन्तो विशीर्यमाणः । धगधगंतो धगधगायमान जाज्वल्यमान इत्यर्थः । लोगो बहिरात्मप्राणिगण. ।

गुणपरिणाम इस गुणका स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ— यह जगत् मोहरूपी अग्नीसे अर्थात् अज्ञानरूपी अग्नीसे जल रहा है. इस अग्नीने संपूर्ण वस्तुंग

घेरली है. इस के द्वारा सब जीव दग्ध हो रहे हैं. इससे होनेवाली घोर वेदनासे उनके अंग फुटने लगे हैं. और उनको बडा ही दाह हो रहा है. इस अग्नि में केवल मनुष्य और पशु ही दग्ध हो रहे हैं ऐसा नहीं समझना परंतु समस्त चतुर्णिकाय देव भी जल रहे हैं. तात्पर्य यह है कि जगतके समस्त जीव वस्तुओंका यथार्थ स्वरूप जाननेमें असमर्थ हैं. उनमें गाढ अज्ञान घुसा है.

एदम्मि णवरि मुणिणो णाणजलोवग्गहेण विज्झविदे ॥
डाहुम्मुक्का होंति हु दमेण णिव्वेदणा चेव ॥ ३१२ ॥
तत्र विध्यापिते सद्यो भूयसा ज्ञानपाथसा ॥
मग्ना दमपयोराशौ सुखायंते तपोधनाः ॥ ३१० ॥

विजयोदया—एदम्मि एतस्मिल्लोके दह्यमाने । णवरि पुनः मुणिणो णिव्वेदणा चेव होंति मुनय एव निर्वेदना भवन्ति । कथं ? णाणजलोवग्गहेण ज्ञानजलोपग्रहेण । विज्झविदे नष्टे मोहाग्नौ । डाहुम्मुक्का दाहोन्मुक्ताः । दमेण रागद्वेष प्रशमेन च । एतदुक्तं भवति—समीचीनज्ञानजलप्रवाहोन्मूलिताज्ञानवह्निप्रसरत्वं नाम यतीनां गुणः निर्वेदनत्वं चेति ।

मूलारा—एदंमि एतस्मिन्लोके दह्यमाने । णवरि पुनः । णाणजलोवग्गहेण आत्मदेहादिभेदज्ञानसलिलप्रवाहेण विज्झविदे विध्यापिते । मोहमहाग्नाविति शेषः । अन्ये तु एदंमीत्यस्य मोहाग्नावित्यर्थमाहुः । दमेण रागद्वेषप्रशमेन । णिव्वेदणा चेव मुनय एव निर्वेदना भवन्तीत्यर्थः । एतदुक्तं भवति— समीचीनज्ञानजलप्रवाहप्रसरत्वं, विर्वेदनत्वं च यतीनां गुणो ज्ञानानंदमयत्वं इत्यर्थः ।

अर्थ—यह सब जगत् अज्ञानाग्निमें जल रहा है परंतु मुनीश्वर ज्ञानमय जलके प्रवाहसे मोहरूपी अग्निको बुझाकर भ्रान्ति, संशय अनध्यवसायादि वेदनासे मुक्त हुए हैं. अर्थात् उनको देह और आत्मा भिन्न भिन्न है ऐसा ज्ञान हुआ है. देहही मैं हूं यह भ्रान्ति उनके हृदयसे नष्ट हो गई है. मुनिओंने जितेन्द्रियता और रागद्वेषका उपशम इन उपायोंसे अज्ञानजन्य वेदनाका नाश किया है. अभिप्राय यह है कि मुनि सम्यग्ज्ञानरूपी जलप्रवाहसे अज्ञानाग्नि समूल शांत कर वेदना रहित हुए हैं.

णिग्गहिदिंदियदारा समाहिदा सामिदसव्वचेट्ठंगा ॥
धण्णा णिरावयक्खा तवसा विधुणंति कम्मरयं ॥ ३१२ ॥
निगृहीतेन्द्रियद्वारैः सर्वचेष्टासमाहितैः ।
धन्यैस्तपःसमीरेण धूयन्ते कर्मरेणवः ॥ ३११ ॥

विजयोदया—णिग्गहिदिंदियदारा इंद्रियं द्विविधं द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियं इति । तत्र द्रव्येंद्रियं पुद्गलस्कंधा आत्मप्रदेशाश्च तदाधाराः । भावेन्द्रियं ज्ञानावरणक्षयोपशम इंद्रियजनितो रूपाद्युपयोगश्च । तत्रेहोपयोगेन्द्रियं गृहीतं तत्साहचर्याद्रागद्वेषावमनोज्ञे मनोज्ञे च विषये प्रवृत्तौ । इह पापकर्मनिमित्ततया इंद्रियद्वारशब्देनोच्येते । तेनायमर्थः—निगृहीतेंद्रियविषयरागद्वेषा इति । समाहिदा रत्नत्रये समवहितचित्ताः । समिदसव्वचेट्ठंगा सम्यक्प्रवृत्तसर्वेहाः । धण्णा पुण्यवंतः । णिरावयक्खा निश्चला इति केचिद्वदन्ति । अन्ये निरपेक्षाः सत्कारं लाभं वानपेक्षमाणाः इति कथयंति । तपसा विधुणंति कम्मरयं तपसा कर्मरजोविधूननं कुर्वन्ति । निगृहीतेन्द्रियत्वं, रत्नत्रयैकाग्रता, निरवद्यचेष्टावत्ता, सत्कारादेर्निरपेक्षता, तपसि वृत्तता, कर्मरजोविधूननं च यतिगुणाः एतया गाथया सूचिताः ।

मूलारा– णिग्गहिदिंदियदारा निगृहीतेन्द्रियविषयरागद्वेषाः । समाहिदा रत्नत्रये समाहितचित्ताः । समिदा सम्यक्प्रवृत्ता । चिट्ठा ईर्याभाषादिप्रवृत्तिः । णिरावयक्खा निश्चला सत्कारादिनिरपेक्षा वा । अत्र जितेंद्रियत्वं, रत्नत्रयैकाग्रता, निरवद्यचेष्टत्वं, सत्कारादिनिरपेक्षता, तपसि वृत्तिमत्ता, कर्मरजोविधूननं च यतिगुणाः सूचिताः ॥

अर्थ—द्रव्येंद्रिय और भावेंद्रिय ऐसे इंद्रियोंके दो भेद हैं. पुद्गलस्कंधोंकी इंद्रियाकार रचना होती है और आत्माके प्रदेश भी इंद्रियाकार बनते हैं उन दोनोंको भी द्रव्येन्द्रिय कहते हैं. आत्मप्रदेशोंके आधारसे पुद्गलस्कंध रहते हैं. ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमको भावेंद्रिय कहते हैं. और रूप रस, गंधादिकोंको जाननेकेलिये आत्माकी प्रवृत्ति होना इसको भी भावेंद्रिय कहना चाहिये. रूपादिकोंके प्रति उपयोग होना—उनको जाननेमें उद्युक्त होना इसको यहां इंद्रिय समझना चाहिये. अर्थात् उपयोगरूप भावेंद्रियको यहां इंद्रिय कहना चाहिये. क्योंकि उसके आश्रयसे जीवके राग द्वेष सुंदर और असुंदर स्पर्शादि विषयोंमें प्रवृत्त होते हैं. जगत में इष्टानिष्ट विषय में इंद्रियां प्रवृत्त हो कर जीवको दुःखित करती हैं. अतः मुनिगण इंद्रियोंके स्पर्शादि विषयोंमें होनेवाले रागद्वेषोंको नष्टकर रत्नत्रयमें अपने मनको एकाग्र करते हैं. और अपनी सर्व प्रवृत्तियां—बोलना, चलना, वस्तु उठाना, आहार लेना वगैरह क्रियायें प्राणिरक्षणके अभिप्रायसे करते हैं. वे अपने मनको निश्चल करते हैं. अथवा सत्कारकी, और लाभकी अपे-

था ने नहीं करते हैं. अतः ये निरपेक्ष स्वभाववान् हैं. ऐसे मुनिराज धन्य हैं. ऐसे ही यतिनायक तपश्चरणसे कर्मरजको आत्मासे हटाते हैं.

तात्पर्य यह है कि—जितेन्द्रियता, रत्नत्रयमें एकाग्रता, ईर्यादिसमितिओंका पालन करना, सत्कारादिककी इच्छा न रखना, तपमें तत्पर होना, क्रमनाश करना ये यतिओंके गुण इस गाथासे आचार्यजीने सूचित किये हैं.

इय दढगुणपरिणामो वेज्जावच्चं करेदि साहुस्स ॥
वेज्जावच्चेण तदो गुणपरिणामो कदो होदि ॥ ३१४ ॥

इत्थं गुणपरीणामो विद्यते यस्य निश्चितः ॥
साधूनां भव्यबंधूनां वैयावृत्यं तनोति सः ॥३१२॥

विजयोदया—इय एव दढगुणपरिणामो यतिगुणेषु व्यावर्णितेषु दढपरिणामः । साधुस्स वेज्जावच्चं करेइ साधोर्वैयावृत्त्यं करोति । वेज्जावच्चेण वैयावृत्त्येन । तदो तेन गुणपरिणामो कदो होदि गुणपरिणामः कृतो भवति । एतदुक्तं भवति—अस्य यतेरेते गुणा, इमे नश्यंति यदि नोपकारं कुर्यात् इति यश्चेतसि करोति स तेषु गुणेषु परिणतो भवति । यस्य चोपकारः कृतस्तस्य च गुणेषु परिणतिः कृता भवति । अत. स्वपरोपकारनिमित्तं वैयावृत्यं इति आख्यातं ॥

मूलारा—दढगुणपरिणामो यतिगुणेषु व्यावर्णितेषु निश्चलानुरागसंस्कारः । तदो तेन तद्गुणग्रामसमग्रयतिगोचरेण । गुणे इत्यादि । एतदुक्तं भवति-अस्य यतेरेते गुणा नश्यन्ति यदि नोपकारं कुर्यामिति यश्चेतसि करोति स तेषु गुणेषु परिणतो भवति । तैर्वासितो भवतीत्यर्थः ॥ यस्य चोपकारः कृतस्तस्य गुणेषु परिणतिस्तदप्रच्युतिः कृता भवति । अतः स्वपरोपकारनिमित्तं वैयावृत्त्यमित्याख्यात । उक्तं च—स्वदु खनिर्घृणारंभाः परदुःखेषु दुःखिताः ॥ निर्व्यपेक्षं परार्थेषु बद्धकक्षा मुमुक्षवः ॥

अर्थ—वैयावृत्य करनेसे यतिओंके गुणोंमें वैयावृत्य करनेवालेके हृदयमें दृढ अनुराग उत्पन्न होता है. इसलिये वैयावृत्यसे गुणपरिणति होती है ऐसा आचार्य कहते हैं. अभिप्राय यह है कि, इस यतिराजमें जितेंद्रियता, रत्नत्रयमें एकाग्रता, वगैरह गुण हैं. यदि मैं इनकी शुश्रूषा न करूंगा तो इनके ये महनीय गुण नष्ट होंगे. ऐसा जो

मन में विचार कर उनकी सेवा करता है वह मुनि उनके गुणोंमें अनुरक्त होकर वैसा गुणवान होजाता है. और जिसके ऊपर वैयावृत्यसे उपकार किया जाता है उसकी भी गुणोंमें परिणति होती है. अर्थात् वह अपने गुणोंसे च्युत नहीं होता. इसलिये यह वैयावृत्य तप स्वोपकार और परोपकारके लिये कारण होता है ऐसा आचार्य कहते हैं.

जह जह गुणपरिणामो तह तह आरुहइ धम्मगुणसेढिं ॥

वड्ढदि जिणवरमग्गे णवणवसंवेगसड्ढावि ॥ ३१५ ॥

यथा यथा निशं साधोर्वर्धते गुणवासना ॥

जिनेशशासने श्रद्धा परोदेति तथा तथा ॥३१३॥

विजयोदया—जह जह यथा यथा गुणपरिणामो भवति तह तह आरुहइ धम्मगुणसेढिं तथा तथाऽरोहति चारित्रगुणश्रेणीः। वड्ढइ वर्धते । जिणवरमग्गे जिनेंद्रमार्गे। किं वर्धते ? नवनवसंवेगसड्ढावि प्रत्यग्रसंसारभीरुता श्रद्धापि। इह गुणशब्देन गुणनिर्भासः स्मार्तः प्रत्यय उच्यते। तेनायमर्थः—यथा यथा यतिगुणानां स्मरणं तथा तथा चारित्रगुणानुपारोहति। विस्मृतयतिगुणो न तत्र प्रयतते। तेषां गुणानां स्मरणात्तत्र रुचिरुपजायते। गुणानुरागिणो हि भव्याः। संसारभीतिः श्रद्धा च प्रवर्तमाना दृढयति यतिं रत्नत्रये। एतया गाथया सूत्रिता श्रद्धा व्याख्याता। गुणानामनुस्मरणात्तत्र रुचिर्भवति ॥

श्रद्धां व्याचष्टे

मूलारा—गुणपरिणामो इह गुणशब्देन गुणनिर्भासः स्मार्तः प्रत्यय उच्यते। तेनायमर्थः। यथा यथा यतिगुणानां स्मरणं भवति तथा तथा चरित्रगुणश्रेणिमारोहति । वर्धते च जिनवरमार्गेऽपूर्वा पूर्वसंसारभीरुत्वानुविद्धा श्रद्धा। उक्तं च—

यथा यथानिशं साधोर्वर्द्धते गुणवासना ॥

जिनेशशासने श्रद्धा परोदेति तथा तथा ॥

अर्थ—मुनि जैसे जैसे उत्तरोत्तर गुणोंमें परिणत अर्थात् दृढ होंगे वैसे २ वे चारित्रगुणों की नसैनीपर आरोहण कर अपने निर्मल स्वरूपको प्राप्त होंगे. और जिनेश्वरके मार्गमें उत्तरोत्तर ताजी संसारभीरुताकी श्रद्धा बढे गी. इस गाथामें 'गुणपरिणामो' यह समस्त पद है इसमें गुण शब्द का अर्थ स्मरण ज्ञान ऐसा समझना चाहिये.

अतः इसका स्पष्टार्थ इस मुजब है—जैसे २ यतिगुणोंका स्मरण होता है वैसे २ यति चारित्रगुणोंपर आरोहण करते हैं. परंतु जिनको यतिगुणोंका स्मरण नहीं होता है वे अपने में यतिगुण लानेका प्रयत्न नहीं करते हैं. यतिगुणोंका स्मरण होनेसे उनमें रुचि पैदा होती है. भव्यजीवोंका गुणोंपर प्रेम रहता है अर्थात् वे गुणोंपर प्रेम करते हैं. संसारभीतिके विषयमें उत्पन्न हुई श्रद्धा यतिको रत्नत्रयमें दृढ करती है. इस गाथामें श्रद्धा नामक गुणका विवेचन किया है.

श्रद्धौ मवृद्धायां वात्सल्यं नाम दर्शनस्य गुणो भवतीत्याचष्टे—

सड्ढाए वड्ढियाए वच्छल्लं भावदो उवक्कमदि ॥
तो तिव्वधम्मराओ सव्वजगसुहावहो होइ ॥ ३१६ ॥

विना गुणपरीणामं वैयावृत्यं करोति नो ॥
यतस्ततो मुमुक्षूणां वैयावृत्यं व्यनक्ति सः ॥३१४॥
प्रवृद्धधर्मसंवेगः श्रद्धया वर्धमानया ॥
यतिः करोति वात्सल्यं लोकद्वयसुखप्रदम् ॥३१५॥

विजयोदया—सड्ढाए वड्ढिदाए श्रद्धया वर्धितया। वच्छल्लं भावदो उवक्कमदि वात्सल्यं भावतः मनसा प्रारभेत। तो ततः। तिव्वधम्मराओ धर्मे तीव्रो रागः। तीव्रधर्मरागो वा यतिरात्मनः सकलं सुखमावहति। वात्सल्यं इत्येतद्व्याख्यातमनया गाथया।

श्रद्धावृद्धौ च वात्सल्यं नाम दर्शनस्य गुणो भवतीत्याह—

मूलारा— भावदो मनसा। सव्वजगसुहावहो सर्वेषु जगत्सु यत्सुखमैंद्रियिकं अतींद्रियं वा तदावहत्याकर्षति यतिः।

गुणोंका स्मरण होनेसे रुचिगुण उत्पन्न होता है और उसके बढनेसे वात्सल्य नामक सम्यग्दर्शन गुण उत्पन्न होता है. इसका वर्णन ग्रंथकार करते हैं—

अर्थ—श्रद्धागुण बढनेसे मुनि मनसे यतिओंपर वात्सल्य करते हैं. अर्थात् उनका आदरसत्कार, सेवादिक कार्य यथोचित करते हैं. इस वात्सल्य भावसे धर्ममें तीव्र प्रेम उत्पन्न होता है. जिसका धर्मपर तीव्र अनुराग

उत्पन्न हुआ है उस मुनिको जगतके इंद्रियजन्यसुख और अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होते हैं. इस गाथासे वात्सल्य गुणका वर्णन किया गया.

वैयावृत्यस्य 'भत्ति' नाम यो गुणस्तं व्याचष्टे—

अरहंतसिद्धभत्ती गुरुभत्ती सव्वसाहुभत्ती य ॥
आसेविदा समग्गा विमला वरधम्मभत्ती य ॥ ३१७ ॥

भक्तिरर्हत्सु सिद्धेषु धर्मसूरिषु साधुषु॥
वैयावृत्यकृतोत्कृष्टा पूजा भवति सेविता ॥३१६॥

विजयोदया—अरहंतसिद्धभत्ती तत्रार्हतो नामातिक्रान्ते तृतीये भवे दर्शनविशुद्ध्यादिपरिणामविशेषबद्धतीर्थकरत्वनामकर्मातिशयाः। स्वर्गावतरणादिपरदुरवापपंचमहाकल्याणभागिनः। घातिकर्मप्रलयाधिगतसकलद्रव्यत्रिकालगोचरसरूपावभासनपटुनिरतिशयज्ञानदर्शनमोहोन्मूलनोपजातवीतरागसम्यक्त्वाः।चारित्रमोहोत्पाटनलब्धवीतरागभावाः। वीर्यांतरायकर्मप्रक्षयाविर्भूतानंतवीर्याः । परीतसंसारभव्यजनोद्धरणबद्धप्रतिज्ञाः । अष्टमहाप्रातिहार्यचतुस्त्रिंशदतिशयविशेषाः॥ सिद्धा नाम मिथ्यात्वादिपरिणामोपनीतकर्माष्टकबंधनिर्मुक्ताः। अजराव्याबाधाः। उपमातीतानंतसुखाः। जाज्वल्यमाननिरावरणज्ञानतनवः। पुरुषाकाराः प्राप्तपरमात्मावस्थाः। एतयोरर्हत्सिद्धयोर्भक्तिः । गुरुशब्देनात्राचार्योपाध्यायौ गृहीतौ तयोर्भक्तिः। सव्वसाहुभत्ती य सर्वसाधुभक्तिश्च। आसेविआ आसेविता भवति । अर्हदाद्युपदिष्टवैयावृत्यकरणात्तेषां भक्तिः कृता भवति। रत्नत्रयवतामुपकरणात्तदादरत एव तत्र भक्तिः। वैयावृत्त्यं भक्तिमापादयति अर्हदादिष्वित्युक्तं।

भक्तिं गाथाद्वयेन व्याचष्टे।

मूलारा—गुरुभत्ती आचार्योपाध्यायभक्तिः। अर्हदाद्युपदिष्टवैयावृत्यकरणात्तद्भक्तिः खलु कृता भवति। रत्नत्रयवतां चोपकारकरणात्तदादरत एव धर्मे भक्तिः । आसेविदा वैयावृत्यं कुर्वतासकृत्कृता।

अर्थ—अर्हद्भक्ति इस जन्मके पूर्व तिसरे भवमें दर्शनविशुद्धि वगैरह विशिष्ट परिणामोंसे जिनको सातिशय तीर्थकर नाम कर्मका बंध हुआ है, अन्यजनदुर्लभ स्वर्गावतरणादि पांच कल्याणोंके जो स्वामी हैं, घातिकर्मोंका नाश कर जिन्होंने संपूर्ण द्रव्योंके त्रिकालवर्ति पर्यायोंका स्वरूप जाननेमें समर्थ ऐसे केवलज्ञान, केवल दर्शनकी प्राप्ति की है, दर्शनमोहनीय कर्मका समूल नाश करनेसे जिनको वीतराग सम्यक्त्वका लाभ हुआ है, चारि-

प्रमोहका समूल नाश कर जिन्होंने वीतरागभाव–चारित्रको प्राप्त किया है. वीर्यान्तराय कर्मके क्षयसे अनंतवीर्यका लाभ जिनको हुआ है, आसन्न भव्योंका उद्धार करनेके लिये जिन्होंने प्रतिज्ञा धारण की है, आठ महाप्रातिहार्य और चौंतिस विशेष अतिशयोंकी जिनको प्राप्ति हुई है वे अरहंत है. मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषाय और योग इन परिणामोंसे बद्ध हुए आठ कर्मोंका जिन्होंने नाश किया है, जो जरा और मरणसे परे हैं, जिनको किसी प्रकारकी बाधा नहीं है, जिनका सुख अनुपम और अनंत है, जिनका ज्ञानरूपी शरीर अतिशय उज्ज्वल और आवरणरहित है, जो पुरुषाकार हैं, और परमात्मपदको धारण करते हैं, वे सिद्धपरमेष्टि हैं. वैयावृत्यसे अर्हत् और सिद्धोंके ऊपर भक्ति होती है. गुरुभक्ति–गुरुशब्दसे यहां आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठीओंका ग्रहण होता है. आचार्यभक्ति, उपाध्यायभक्ति और साधुभक्ति ये भक्तियां करनेका श्रेय अर्हदादिकोंसे कहा हुआ वैयावृत्य करनेसे मिलता है. और वैयावृत्य करने से धर्मपर निर्मल भक्ति उत्पन्न होती है. रत्नत्रधारक मुनिओंपर उपकार करनेसे, उनका आदर करनेसे ही उनके ऊपर भक्ति करनेका श्रेय मिलता है. वैयावृत्य तप अर्हदादि पंच परमेष्ठिओंमें भक्ति उत्पन्न करता है ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

इदानीं तस्या माहात्म्यं स्तौति–

संवेगजणियकरणा णिस्सल्ला मंदरुव्व णिक्कंपा ॥
जस्स दढा जिणभत्ती तस्स भयं णत्थि संसारे ॥ ३१८ ॥

अर्हद्भक्तिः परा यस्य विभीते भवतो न सः
येनावगाहिता गंगा स किं नश्यति वह्नितः ॥ ३१७ ॥
संसारभीरुतोत्पन्ना निःशल्या मंदराचला ॥
जिनभक्तिर्दृढा यस्य नास्ति तस्य भवाद्भयम् ॥ ३१८ ॥

विजयोदया – संवेगजणियकरणा संसारभीरुतोत्पादा । करणशब्द सामान्यवचनोऽपि उत्पत्तिक्रियावृत्तिरत्र गृहीतः । णिस्सल्ला मिथ्यात्वेन, मायया, निदानेन च रहिता । मंदरुव्व णिक्कंपा मंदर इव निश्चला । जस्स दढा जिणभत्ती यस्य जिने भक्तिर्दृढा । ण तस्स भयमत्थि संसारे तस्य भयं नास्ति संसारात् । जिनशब्देनात्रार्हदादयः सर्वे एवोच्यंते । कर्मैकदेशानां च जयात् धर्मोऽपि कर्माण्यभिभवति इति जिनशब्देनोच्यते । द्रव्यलाभादिकमनुद्दिश्य प्रवृत्तेस्तत्कथयति ।

संवेगजणियकरणा इत्यनेन संसारभयनिराकरणोपायभूता जिनभक्तिरिति ज्ञात्वा प्रवृत्तेति यावत् । वैनयिकमिथ्यादृष्टेः सर्वत्र भक्तिः प्रवर्तते इति तन्निरासाय णिस्सल्ला इत्युच्यते । मंदरुव्व णिक्कंपा इत्यनेन सर्वकालवृत्तिताख्याता । सासादनसम्यग्दृष्टेर्जाताप्यल्पकाला न संसारान्निस्सारयतीति ॥

जिनभक्तिमाहात्म्यमभिष्टौति—

मूलारा—संवेगजणिदकरणा संसारभीरुतया न द्रव्यलाभादिना कृतोत्पादकरणशब्दो ह्यत्रोत्पत्त्यर्थः । णिस्सल्ला मिथ्यात्वमायानिदानरहिता । वैनयिकमिथ्यादृष्टेः सर्वत्र भक्तिः प्रवर्तते इति तन्निरासार्थं इदं । मंदरोव्व णिक्कंपा सर्वकालवर्तिनी न सासादनसम्यग्दृष्टिवदल्पकाला । दढा अभेद्या । जिणभत्ती जिनशब्देनात्र पंचाप्यर्हदादय उच्यन्ते । कर्मणामेकदेशेन साकल्येन च जयात् । तथा धर्मोऽपि संसारे संसारात् । जिनादिभक्त्या हि सुदेवत्वसुमानुषत्वलक्षणे सुखानुबंधिन्येव भवे भ्राम्यंति । उक्तं च ।

संसारभीरुतोत्पन्ना निःशल्या मंदराचला ।
जिनभक्तिर्दृढा यस्य नास्ति तस्य भवाद्भयम् ॥

भक्तिके माहात्म्यका आचार्य कथन करते हैं—

अर्थ—संसार से भय उत्पन्न करनेवाली, माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योंसे रहित, मंदर पर्वतके समान निश्चल ऐसी जिनमें जिसकी दृढ भक्ति है उस मुनिको संसारसे भय नहीं रहता है. यहां जिनशब्द से पंच परमेष्ठिओंका ग्रहण होता है. जैसे अर्हन्त और सिद्ध परमेष्ठिओंने घातिकर्मका नाश किया है वैसे आचार्य, उपाध्याय और साधुपरमेष्ठिओंने घातिकर्मोंका एकदेशसे नाश किया है इसलिये उनको भी जिन कहते हैं. धर्म भी कर्मोंका पराभव करता है अतः उसको भी जिन कह सकते हैं द्रव्यलाभादिककी अपेक्षा न करके की हुई जिनभक्ति कर्मनाश करती है. यह भक्ति संसारभय दूर करनेवाली है. वैनयिक मिथ्यादृष्टीकी सर्वत्र भक्ति रहती है. उसका निरसन करनेके लिये जिनभक्ति को 'णिस्सल्ला' यह विशेषण दिया है. 'मंदरुव्व णिक्कंपा' यह विशेषण सर्वकाल जिन भक्ति रहती है, सासादन सम्यग्दृष्टिके समान यह अल्प कालिक नहीं है ऐसा अभिप्राय व्यक्त करता है. सासादन सम्यग्दृष्टिकी भक्ति अल्पकालही रहती है अत उसमें संसार नाश करनेका सामर्थ्य नहीं है.

वैयावृत्यस्य पात्रलाभगुणमाचष्टे—

पंचमहव्वयगुत्तो णिग्गहिदकसायवेदणो दंतो ॥
लब्भदि हु पत्तभूदो णाणासुदरयणणिधिभूदो ॥ ३१९ ॥

निःकषायो यतिर्दान्तः पात्रभूतो गुणाकरः ॥
महाव्रतधरो धीरो लभते श्रुतसागरम् ॥ ३१९ ॥

विजयोदया—पंचमहव्वदगुत्तो पंचभिर्महाव्रतैः कृतास्रवनिरोधः । णिग्गहियकसायवेदणो निगृहीतकपायवेदनः कषायस्तु तपार्यत्यात्मानमिति वेदना । दंतो दांतः शांतरागजदोषः । परिज्ञानाद्वैराग्यभावनातः प्रशांतराग इति कृत्वा दांत इत्युच्यते । लब्भदि हु पत्तभूदो लभ्यते पात्रभूतः । णाणासुदरयणनिधिभूदो नानाश्रुतरत्ननिधिभूतः ॥

पात्रलाभगुणमाह—

मूलारा—गुत्तो कृतास्रवनिरोधः । वेदणा उदयः । लब्भदि लभ्यते वैयावृत्यात् । आपत्त्रातारं हि सर्वोऽप्याश्रयति ।

अर्थ—अहिंसादि पांच महाव्रतोंसे बंद किया है कर्मका आगमन जिसने; कषाय आत्माको संतप्त करते हैं. अर्थात् दुःखित करते हैं. अतः जिसने कषायसे उत्पन्न होनेवाली वेदनाको शांत करदिया है, रागभावसे उत्पन्न होनेवाले दोष जिसके शांत हुए हैं. अर्थात् ज्ञान और वैराग्यसे जिसका रागभाव शांत हुआ है. जो नानाप्रकारके श्रुतज्ञानरूपी रत्नोंका निधि है ऐसा सत्पात्र मुनि वैयावृत्य करनेसे प्राप्त होता है.

दंसणणाणे तव संजमे य संधाणदा कदा होइ ॥
तो तेण सिद्धिमग्गे ठविदो अप्पा परो चेव ॥ ३२० ॥

दर्शनज्ञानचारित्रसंधानं क्रियते यतः
रत्नत्रयात्मके मार्गे स्थाप्येते स्वपरौ ततः ॥ ३२० ॥

विजयोदया— दंसणणाणे दर्शनज्ञानयोः तवसंजमे य तपश्चारित्रयोश्च । संधाणदा होदि कृतविचित्रा-विच्छिन्नानां दर्शनादीनां संधानं कृतं भवति वैयावृत्येन । तो तस्मात् तेनैव वैयावृत्यकारिणा सिद्धिमग्गे रत्नत्रये । ठविदो अप्पा परो चेव स्थापित आत्मा परश्च । अनया संधानमित्येतत्सूत्रपदव्याख्यानम् ॥

कुतश्चिन्निमित्ताद्विच्छिन्नानां दर्शनादीनां संधानं वैयावृत्त्येन क्रियते इत्यावेदयति ।

मूलारा—तेण वैयावृत्यकारकेण ।

अर्थ—किसी कारणसे यदि सम्यग्दर्शन और चारित्र तप और संयम इनमें विच्छेद हुआ हो तो वैयावृत्य के द्वारा वे पुनः जुड जाते हैं. इस लिए वैयावृत्य करनेवाले व्यक्तीने अपने को और जिसका वैयावृत्य किया गया है उसको मोक्षमार्गमें–रत्नत्रयमें स्थापन किया है ऐसा समझना चाहिये. इस गाथासे 'संधान' इस सूत्रका व्याख्यान हुआ है.

तव इत्येतद्व्याख्यातुमाह—

वेज्जावच्चकरो पुण अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ॥
पप्फोडिंतो विहरदि बहुभवबाधाकरं कम्मं ॥ ३२१ ॥

वैयावृत्यं तपोन्तस्थं कुर्वतानुत्तरं मुदा ॥
वेदनाश्चापदाधारा भिद्यंते कर्मभूधराः ॥ ३२१॥

विजयोदया—वेज्जावच्चकरो पुण वैयावृत्याख्ये तपसि समाधिमेकाग्रतामुपाश्रित । पप्फोडिंतो विहरदि विधूनयन्विहरति । बहुभवबाधाकरं कम्मं बहुभवेषु बाधा संपादयत्कर्म ।

वैयावृत्यकृत्यं तपोगुणं व्याचष्टे—

मूलारा—तवसमाधिं तपसि वैयावृत्याख्ये समाधिमेकाग्रताम् ।

अर्थ—वैयावृत्य करनेवाले मुनि वैयावृत्य नामके तपमें एकाग्र होकर अनेक भवोंमें बाधा उत्पन्न करनेवाले कर्मका नाश करते हुए रत्नत्रयमें विहार करते हैं

जिणसिद्धसाहुधम्मा अणागदातीदवट्टमाणगदा ॥
तिविहेण सुद्धमदिणा सव्वे अभिपूइया होंति ॥ ३२२ ॥

त्रेधा विशुद्धचित्तेन कालत्रितयवर्तिनः
सर्वतीर्थकृतः सिद्धाः साधवः संति पूजिताः ॥३२२॥

विजयोदया—जिणसिद्धसाहुधम्मा तीर्थकृतः, सिद्धाः, साधवो, धर्मश्च । अणागदातीदवट्टमाणगदा सर्वे त्रिकालवर्तिन । सव्वे तिविधेण पूजिदा होंति सर्वे मनोवाक्कायैः पूजिता भवन्ति । सुद्धमइणा शुद्धचेतसा । तीर्थकृदादय-स्तदाज्ञासंपादनात्पूजिताः, दशविधे धर्मे तपसोऽन्तर्भावाद्वैयावृत्यस्य च तदन्तर्गतत्वाद्वैयावृत्ये आदरात् तत्प्रवृत्तेश्च धर्मः पूजितो भवति ॥

वैयावृत्यकारिणा त्रैकालिकजिनादीनां पूजा संपाद्यते इत्युपदिशति ।

मूलारा—अभिपूजिदा जिनादयस्तदाज्ञासंपादनात्पूजिता भवंति । दशविधे धर्मे तपसः सद्भावाद्वैयावृत्य-स्य च तदन्तर्गतत्वात्तदादरात्तत्र प्रवृत्तेश्च धर्मः पूजितो भवति ।

अर्थ—जो मुनि वैयावृत्य करता है उसने भूतकालीन, वर्तमान कालीन और भविष्यत्कालीन तीर्थंकर, सिद्धपरमेष्ठी, साधु और धर्म इनका शुद्ध अन्तःकरणसे मनवचन कायसे पूजन किया है ऐसा समझना चाहिये. वैयावृत्य करना चाहिये ऐसी तीर्थंकरादिकोंकी आज्ञा है उसका पालन करनेसे तीर्थंकरादिकोंकी पूजा की ऐसा अभिप्राय है. उत्तम क्षमादि दशप्रकारके धर्ममें तपका अन्तर्भाव है. और तपमें भी वैयावृत्यका अन्तर्भाव है. वैयावृत्य में आदर और उसका आचरण करनेसे धर्म का भी पूजन किया ऐसा माना जाता है.

वैयावृत्यं दशविधं आचार्योपाध्यायतपस्विशिक्षकग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञभेदेन । तत्राचार्यवैयावृत्य-माहात्म्यकथनायाह—

आइरियधारणाए संघो सव्वो वि धारिओ होदि ॥
संघस्स धारणाए अव्वोच्छित्ती कया होई ॥ ३२३ ॥

सूरिधारणया संघः सर्वो भवति धारितः ॥
न साधुभिर्विना संघो भूरुहैरिव काननम् ॥ ३२३ ॥

विजयोदया—आयरियधारणाए आचार्यधारणात्, संघो सव्वो वि धारिदो होदि सर्वः संघोऽवधारितो भवति । कथं ? आचार्यो हि रत्नत्रयं ग्राहयति । गृहीतरत्नत्रयांस्तेपु दृढयति । अतिचाराज्ञातानप्यपनयति । तदुपदेश-

वलेनैव गुणसंहतिरूपतां धत्ते संघो नान्यथेति संघो धारितो भवति । संघधारणाया गुणमाचष्टे । संघस्स धारणाए अवोच्छित्ती कदा होदि धर्मतीर्थस्याभ्युदयनिःश्रेयससुखसाधनस्य अव्युच्छित्तिः कृता भवति । उपाध्यायादयः सर्व एव साधयंति निरवशेषकर्मापायमिति साधुशब्देनोच्यंते ॥

वैयावृत्यसाध्यां धर्मतीर्थस्याव्युच्छित्तिं गाथाद्वयेन व्याचिख्यासुराचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञविषयभेदाद्दशविधेऽपि वैयावृत्ये धर्माचार्यवैयावृत्यस्यैव करणीयतमत्वप्ररूपणार्थमिदमाह —

मूलारा—आयरियधारणाए पंचाचाराचरणचंचुराचार्यस्तस्य धारणा स्वकर्मसामर्थ्यभ्रंशननिमित्तव्यावर्तनेन स्वकर्मसामर्थ्योपादनं वैयावृत्यकरणं इति यावत् । संघो बहूनां परमार्थहितसाधनाभिमुख्यपरिणतिलक्षणभावप्रत्यासत्तिरूपः समुदायः । स च प्रतिबंधकापायतारतम्यप्रवृत्तधर्मानुष्ठानभेदाच्चतुर्विधः । धारिउ । आचार्यो हि रत्नत्रयं मुमुक्षून् ग्राहयति । गृहीतरत्नत्रयांस्तत्र द्रढयति । अतीचाराज्जातानप्यपनयति । तदुपदेशपालनेनैव गुणसंहतिरूपतां धत्ते संघो नान्यथेत्याचार्यधारणात्संघो धारितः स्वरूपे व्यवस्थापितो भवति । अव्वोच्छित्ती धर्मतीर्थस्य अभ्युदयनिःश्रेयससुखसाधनस्य संतत्या प्रवृत्तिः ।

वैयावृत्यके आचार्य वैयावृत्य, उपाध्याय वैयावृत्य इस प्रकार दश भेद है आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी शिक्षक, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, और मनोज्ञ ऐसे मुनिओंके दस भेद है. इन दसोंका वैयावृत्य करना योग्य है इस लिये इनकी अपेक्षासे वैयावृत्यके भी दस भेद होते हैं. उसमें आचार्य वैयावृत्यका माहात्म्य कहते हैं——

तेष्वन्यतमस्य साधोर्धारणायां गुणं कथयति—

साधुस्स धारणाए वि होइ तह चेव धारिओ संघो ॥
साधू चेव हि संघो ण हु संघो साहुवदिरित्तो ॥ ३२४ ॥

साधुधारणया संघः सर्वो भवति धारितः ॥
न साधुभिर्विना संघो भूरुहैरिव काननम् ॥ ३२५ ॥

विजयोदया—साधुस्स धारणाए एकस्य साधोर्वैयावृत्यकरणेन धारणायां । होदि भवति । तह चेव तथैव आचार्यधारणातः संघधारणात् । धारिदो संघो धारितो यति समुदायः ॥ कथमेकस्य धारणायां समुदायावयवयोर्भेदादि

स्याशंकायामाह—साधू चेव हि संघो साधव एव हि संघः। ण हि संघो साधुवदिरित्तो नेव संघो नामार्थान्तरभूतोऽस्ति साधुव्यतिरिक्तः। कथं चिरसमुदायावयवयोरव्यतिरेक इति मन्यते गाथाद्वयेनानेन। अव्युच्छित्तिर्व्याख्याता।

सिद्धिं साधयंतीति नवाप्युपाध्यायादयः साधवः, अतस्तेष्वन्यतमस्यापि वैयावृत्यकरणे गुणं दर्शयति—

मूलारा—साधुस्स उपाध्यायादीनामन्यतमस्य। तध चेव आचार्यधारणात् संघधारणावत्। संघो यतिसमुदायः साधुविदिरित्तो समुदायावयवयोः कथंचिदव्यतिरेकात्साधव एव संघ इति व्यवह्रियते॥

उसमें आचार्यवैयावृत्यका माहात्म्य कहते हैं—

अर्थ—वैयावृत्य कर आचार्यको रत्नत्रयमें स्थिर करनेसे संघको रत्नत्रयमें स्थिर किया सरिखा हो जाता है. क्योंकि, आचार्य महाराज शिष्योंको रत्नत्रय ग्रहण कराते हैं. जिन्होंने रत्नत्रयका स्वीकार किया है उनको उसमें दृढ करते हैं. अतिचार उत्पन्न होनेपर उनको दूर करते हैं. उनके उपदेशके माहात्म्यसे ही संघ अपनेमें गुणोंका समूह धारण कर सकता है. अन्यथा वह गुणों को नहीं धारण करेगा. इस लिये आचार्य को धारण करनेसे संघका भी धारण होता है. संघको धारण करनेसे अभ्युदय और मोक्षसुख देनेमें कारणभूत धर्म अव्याहत रूपसे प्रचलित होता है.

उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष वगैरह को साधु कहते हैं, क्योंकि ये संपूर्ण कर्मका नाश, अर्थात् मोक्ष को साधते हैं. उपाध्यायादिक साधुओंमेंसे किसी एक साधुको रत्नत्रयमें धारण करनेमें कौनसा गुण है इसका उत्तर आचार्य कहते हैं—

जैसे आचार्यका वैयावृत्य करनेसे संघका धारण होता है वैसे एक साधुको वैयावृत्य कर रत्नत्रयमें स्थिर करनेसे संघका धारण होता है. अर्थात् यतिओंका समुदाय रत्नत्रयमें स्थिर होता है. एक साधुको रत्नत्रयमें स्थिर करनेसे समस्त यतिसमूह को कैसा धारण कर सकते हैं? क्योंकि समुदाय और अवयव परस्पर भिन्न है. इसका उत्तर ऐसा है—साधु हि संघ है. साधुओंसे संघ भिन्न पदार्थ नहीं है. क्योंकि समुदाय और अवयव परस्परमें कथंचित् अभिन्न है. इसप्रकार अव्युच्छित्ति गुणका दोन गाथाओंसे विवेचन किया है.

सिद्धिसुखे चेतस एकाग्रता समाधिरित्युच्यते तदुपगूहनं कृतं भवतीत्याचष्टे—

गुणपरिणामादीहिं अणुत्तरविहीहिं विहरमाणेण ॥
जा सिद्धिसुहसमाधी सा वि य उवगूहिया होदि ॥ ३२५ ॥
एवं गुणपरीणामप्रमुखैर्विविधैः परैः ॥
प्राप्यते वर्तमानेन समाधिः सिद्धिशर्मणा ॥ ३२५ ॥

विजयोदया—गुणपरिणामादीहिं य गुणपरिणामः, श्रद्धा, वात्सल्यं, भक्तिः, पात्रलाभः, संधानं, तपः, पूजा, तीर्थाव्युच्छित्तिः क्रियेत्येतैः। अणुत्तरविधीहिं प्रकृष्टैः क्रमैः। विहरमाणेण आचरता। जा सिद्धिसुहसमाधी सिद्धिसुखैकाग्रता। सा वि य उवगूहिया होइ साप्यालिंगिता भवति। कारणे ह्यादरः कार्ये समाधानमंतरेण न प्रवर्तते। न हि साध्ये घटे चेतस्यसति तदुपायभूतदंडादिकारणकलापे जनः प्रवर्तते। इह च गुणपरिणामादय उपायाः सिद्धिसुखस्य न च सिद्धिसुखैकाग्रतामंतरेण ते युज्यंते इति भावः।

वैयावृत्त्यसाध्यसिद्धिसुखसाधनगुणपरिणामादिनवकाचरणपरेण मुमुक्षुणा सिद्धिसुखैकनिष्ठमनस्कतालक्षणः समाधिः प्राप्यत इत्यादर्शयति—

मूलारा—अणुत्तरविहीहि उत्कृष्टकर्मैः। अवगूहिदा आलिंगिता। सिद्धिसुखसमाधिपरिणतो वैयावृत्त्यकरः स्यादित्यर्थः॥ उक्तं च—

एवं गुणपरीणामप्रमुखैर्विविधैः परैः ॥
प्राप्यते वर्तमानेन समाधिः सिद्धिशर्मणा ॥

सिद्धिसुखमें चित्तकी एकाग्रता होना समाधि है. वैयावृत्त्य करनेसे उसका संरक्षण होता है इस विषयका वर्णन आचार्य करते हैं—

अर्थ—गुणपरिणाम, श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, संधान, तप, पूजा और तीर्थाव्युच्छित्ति ऐसे नउ उत्कृष्ट क्रमोंसे आचरण करने वाले मुनिके द्वारा सिद्धिसुखमें एकाग्रता नामक गुणकी प्राप्ति की जाती है. अर्थात् वैयावृत्य करनेवाली व्यक्ति सिद्धिसुखकी एकाग्रतामें परिणत होती है. कारणोंमें जो आदर किया जाता है वह कार्य के विषयमें एकताको करता है. अर्थात् कारणोंका संग्रह करनेसे उससे इष्ट कार्यकी सिद्धि होती है. परंतु यदि

मन में घट बनानेका विचार न होगा तो उसको बनानेके लिये दंड, चक्र, मृत्तिकादि कारणसमुदाय की प्राप्ति में जन प्रवृत्त नहीं होते हैं. प्रकृत प्रकरणमें गुणपरिणामादिक सिद्धिसुखकी प्राप्ति के उपाय हैं इस लिये ये सिद्धिसुखकी एकाग्रताको जोडे विना नहीं रहेंगे.

अणुपालिदा य आणा संजमजोगा य पालिदा होंति ॥
णिग्गहियाणि कसायिंदियाणि साखिल्लदा य कदा ॥ ३२६ ॥

जिनाज्ञा पालिता सर्वा विजित्य गुणहारिणः ॥
कृतं संयमसाहाय्यं कषायेन्द्रियवैरिणः ॥ ३२६ ॥

विजयोदया—अणुपालिदा य आणा अनुपालिता च आज्ञा भवति वैयावृत्यं कुर्वता। केषां ? तीर्थकृदादीनां। एतेन आणा इत्येतत्सूत्रपदं व्याख्यातं भवति। संजमजोगा य पालिदा होंति इत्यनेन संयमपदव्याख्या कृता संयमेन सह संबंधः आचार्यादीनां। पालिदा होंति रक्षिता भवंति। व्याध्यापद्रुतानां रोगपरीषहानसंक्लेशेन धारयितुमसमर्थानां। अथवा संयमो योगाश्च तपांसि अनशनादितपोविशेषाः रक्षिता भवंति। स्वस्य परेषां च करणानुमननाभ्यां स्वस्यापन्निरासेन स्वस्थतोपजातसामर्थ्यादीनां संयमसंपादनात्। परेषां सहायतां व्याचष्टे—जहा इति वाक्यशेषाध्याहारेण सूत्रपदानि संबंधनीयानि। यस्मान्निगृहीतानि कषायेंद्रियाणि तद्दोषोपदेशं कुर्वता तस्मात्साखिल्लदा य कदा सहायता कृता॥

मूलारा—संजमजोगा आचार्यादीनां संयमेन सह संबंधः। अथवा स्वस्य परेषां च संयमो, योगध्यानशनादितपोविशेषाः। स्वस्य हि परैर्वैयावृत्यं कारयित्वा क्रियमाणं वानुमत्य स्वास्थ्यं प्राप्तः परेषामप्यापन्निरासेन स्वपरसंयमयोगरक्षां करोति। साखिल्लदा संयमं साधयतं साहाय्यकं कृतं भवति। कषायेंद्रियदोषोपदर्शनलक्षणवैयावृत्यकारिणा। कथं ? यस्मान्निगृहीतानि भवन्ति कषायेन्द्रियाणि तद्दोषोपदेशं कुर्वता॥

अर्थ—जो मुनि वैयावृत्य करते हैं वे तीर्थकरादिकोंकी आज्ञा पालते हैं ऐसा समझना चाहिये- " अणुपालिदा य आणा " इस वचनमें आज्ञा नामक सूत्रपदका व्याख्यान हुआ. ' संजमजोगा य पालिदा होंति ' इस वचनमें संयमपदका व्याख्यान हुआ. रोगादि आपत्तिओंसे ग्रसित होनेसे जो रोगादि परीषहोंको विना संक्लेशसे धारण करनेमें असमर्थ हैं ऐसे आचार्यादिकोंकी वैयावृत्यके द्वारा शुश्रूषा करनेवाले मुनि उनको संयमसे संबद्ध कर देते हैं. अर्थात् वैयावृत्य क्रिया जानेसे आचार्यादिक असंयमी न बनकर संयममें ही स्थिर रहते हैं, अथवा शुश्रूषासे उनके

संयम और अनशनादि तपोंका रक्षण होता है, स्वतःका वैयावृत्य दुसरोंसे कराकर अथवा करनेवालोंको अनुमोदन देकर रोगादिकोंसे निवृत्त हुआ साधु दुसरोंकी आपत्तिओंको दूर कर स्वतःके सदृश उनके संयम और योग की रक्षा करता है. ऐसा कार्य करनेसे संयमकी सिद्धि करनेवाले मुनिओंको साहाय्य किया जानेसे साखिल्लता नामक गुणकी सिद्धि होती है. वैयावृत्य करनेवाला मुनि इंद्रिय और कषायोंके दोष आपद्ग्रस्त मुनिओंको दिखाता हैं तब वे इंद्रियनिग्रह और कषायनिग्रह करते हैं. इस लिये वैयावृत्य करनेवालेने इस कार्यमें सहाय किया ऐसा माना जाता है.

अदिसयदाणं दत्तं णिव्विदिगिंछा य दरिसिदा होइ ॥
पवयणपभावणा वि य णिव्वूढं संघकज्जं च ॥ ३२७ ॥

दत्तं सातिशयं दानमचिकित्सा च दर्शिता ॥
संघस्य कुर्वता कार्यं वाक्यं भावयतार्हताम् ॥ ३२७ ॥

विजयोदया—अदिसयदाणं दत्तं अतिशयदानं दत्तं भवति । रत्नत्रयदानात् । णिव्विदिगिंछा य दरिसिया होइ सम्यग्दर्शनस्य गुणो निर्विचिकित्सा नाम सा प्रकटिता भवति । द्रव्यविचिकित्सा निरस्ता शरीरमलानां निराकरणाय जुगुप्सां विना । पवयणपभावणावि य प्रवचनमागमस्तदुक्तार्थानुमननात् प्रवचनप्रभावना भवति । णिव्वूढं संघकज्जं च संघेन कर्तव्यं कार्यं च निश्चयेन संपादितं भवति । एतेन कज्जपुण्णाणि इत्येतद्व्याख्यातम् ।

रत्नत्रयदाननिर्विचिकित्सताप्रकटनप्रवचनप्रभावनासंघकार्यनिर्वहणलक्षणगुणचतुष्टयं वैयावृत्त्यफलं व्याख्यातु-मिदमाह—

मूलारा—अदिसयदाणं लोकोत्तरदानं, लोकोत्तमस्य रत्नत्रयस्य व्यापत्तिव्यपनोदनेन संपादनात् । णिव्विदिगिंछा द्रव्यविचिकित्सानिरासः, पुरीषादिदेहमलापनयनात् । पवयणपहावणा आगमोक्तार्थानुष्ठानात्तन्माहात्म्यप्रकाशनं, वैयावृत्त्यकृता कृतं स्यात् । णिव्वूढं निश्चयेन संपादितं स्यात् ॥

अर्थ—वैयावृत्य करके आपद्ग्रस्त मुनिओंको रत्नत्रय का दान दिया जानेसे अतिशयदान नामक गुण की सिद्धि होती है. वैयावृत्य करनेसे निर्विचिकित्सा गुणकी प्राप्ति होती है. यह निर्विचिकित्सा सम्यग्दर्शनका गुण है. जुगुप्साके विना रोगी मुनीके विष्ठामूत्रादि मल दूर करनेसे द्रव्यविचिकित्साका त्याग होता है. वैयावृत्य करनेसे

मानकर वैयावृत्य करता है. वैयावृत्य करनेसे संघको अपना कर्तव्यसंपादन करनेका श्रेय प्राप्त होता है. इस रचनमें 'कज्जपुण्णाणि' इस पदकी व्याख्या होचुकी.

वैयावृत्यस्य फलमाहात्म्यं दर्शयति—

गुणपरिणामादीहिं य विज्जावच्चुज्जदो समज्जेदि ॥
तित्थयरणामकम्मं तिलोयसंखोभयं पुण्णं ॥ ३२८ ॥

एवं गुणाकरीभूतं वैयावृत्यं करोति यः ॥
लभते तीर्थकृन्नाम त्रैलोक्यक्षोभकारणम् ॥ ३२८ ॥

विजयोदया—गुणपरिणामादीहिं य गुणपरिणामादिभिः कारणभूतैः। पुण्णं तित्थयरणामकम्मं समज्जेदि। पुण्यं तीर्थकरनामकर्म समर्जयति। कीदृक्? तिलोयसंखोभयं त्रैलोक्यसंक्षोभकरणक्षमं ॥

वैयावृत्यस्य परमं फलं तीर्थकरत्वनामकर्माख्यं परमपुण्यं दर्शयति—

मूलारा—स्पष्टम्।

वैयावृत्यके फलका माहात्म्य बताते हैं—

अर्थ—वैयावृत्य करनेवाला मुनि गुणपरिणाम वगैरे गुणोंकी साहाय्यतासे त्रैलोक्यको क्षुब्ध करनेमें समर्थ ऐसा तीर्थकर नामकर्मका पुण्य बांध लेता है.

एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुज्जदस्स बहुया य ॥
अप्पट्ठिदो हु जायदि सज्झायं चेव कुव्वंतो ॥ ३२९ ॥

लभमानो गुणानेवं वैयावृत्यपरायणः ॥
स्वस्थः संपद्यते साधुः स्वाध्यायोद्यतमानसः ॥ ३२९ ॥

विजयोदया—एदे गुणा महल्ला एते गुणा महान्तः। वेज्जावच्चुज्जदस्स वैयावृत्त्योद्यतस्य। बहुगा ये बहवः। अप्पट्ठिदो हु जायदि आत्मप्रयोजनपर एव जायते। सज्झायं चेव कुव्वंतो स्वाध्यायमेव कुर्वन् वैयावृत्त्यकरस्तु स्वं परं चोद्धरतीति मन्यते।

वैयावृत्त्यपरस्य जगत्पूज्यगुणबहुत्वसंप्राप्तिं स्वपरोद्धरणपरत्वेन स्वार्थपरस्वाध्यायपरादुत्कृष्टत्वं च प्रकाशयति-

मूलारा—महल्ला महान्ति महद्भिरभिलष्यमाणत्वात्, तत्पूज्यत्वान्महाफलत्वाच्च॥ बहुगा बहवोऽष्टादशसंख्यात्वात्। अप्पट्ठिदो हु आत्मप्रयोजनपर एव भवति स्वाध्यायमेव केवलं कुर्वन्। वैयावृत्त्योद्यतस्तु स्वं परं चोद्धरतीति केवलस्वाध्यायपरात्तस्य विशेषः। स्वाध्यायकारिणोऽपि विपदुपनिपाते तन्मुखप्रेक्षित्वात्। तथा चोक्तमार्षे——

स वैयावृत्त्यमातेने व्रतस्थेष्वामयाविषु॥

अनात्मवरको भूत्वा तपसो हृदयं हि तत्॥

आत्मनोऽर्थः प्रयोजनं आत्मार्थः। संजातोऽस्येति तारकादित्वादित इति सिद्धमात्मार्थित इति॥

अर्थ—जो मुनि केवल स्वाध्यायही करता है वह स्वतः ही कार्य करता है अर्थात् स्वतःकी ही आत्मोन्नति वह करता है. परंतु जो वैयावृत्य करता है वह स्वयंको और अन्यको भी उन्नत बनाता है. उपर्युक्त गुणपरिणाम वगैरह महान् गुणों की उसको प्राप्ति होती है. इस लिये स्वाध्यायमें तत्पर रहने वालेसे वैयावृत्य करनेवाला श्रेष्ठ गिना जाता है. स्वाध्याय करनेवालेपर यदि आपत्ति आवेगी तो उस समय उसको वैयावृत्य करने वालेका मुख देखना पडेगा. अर्थात् मेरी यह विपत्ति दूर करो ऐसा उसको कहना पडेगा.

वज्जेह अप्पमत्ता अज्जासंसग्गमग्गिविससरिसं॥

अज्जाणुचरो साधू लहदि अकित्तिं खु अचिरेण॥ ३३०॥

त्याज्यार्यासंगतिर्गरवद्वह्निज्वालेव तापिका॥

दुर्नीतेरिव निंद्याया दुःकीर्तिं लभते ततः॥ ३३०॥

विजयोदया—वज्जेह वर्जयत अग्निना विषेण सदृशः आर्याजनसंसर्गः। प्रमादरहितैर्भवद्भिस्त्याज्यः। अज्जाणुचरो आर्यानुचरः। साधू साधुर्लहदि अकित्तिं लभते अयशः अचिरेण अचिरेण। चित्तसंतापकारितया अग्निसदृशता। संयमजीवितविनाशनाद्विषसदृशता। पापस्य अयशसश्च प्रायेण श्रीदलोकोऽपि साध्वाचारः मिथ्यादृष्टिरसंयतोऽपि किं

पुनर्विदितवेदितव्यस्य । परिहार्यमशेषं उद्यत परिहर्तुं यतिजन पापमयशश्च न परिहरेत् । तथा च श्लोकः—

काये पातिनि का रक्षा यशो रक्ष्यमपाति यत् ॥
नरः पतितकायोऽपि यशःकायेन धार्यते ॥

आर्यासंसर्गदोषान् गाथानवकेनाह —

मूलारा—अग्गिविससरिसं चित्तसंतापापादनादग्निना संयमजीवितविनाशनाद्विषेण च तुल्यमार्जिकासंसर्गं यूयं त्यजत । अकीर्तिं पापादकीर्तेश्च प्रायेण पृथग्जनोऽपि बिभेति किं पुनर्विदितवेदितव्यस्त्याज्यमशेषं त्युक्तुमुद्युक्तो यतिजनः । अर्जिकानुवृत्तिश्च भिक्षोरचिरादयशस्करीति सुतरां परिहार्येति तात्पर्यम् । तथा च लोको वक्ति—काये पातिनि का रक्षा यशो रक्ष्यमपाति यत् । नरः पतितकायोऽपि यशःकायेन धार्यते ॥

अर्थ—हे साधुगण! तुम प्रमाद छोडकर आर्यिकाका सहवास छोडो. क्योंकि आर्यिकाका सहवास अग्नि और विषके समान है. चित्तमें संताप उत्पन्न करता है इसलिये यह सहवास अग्नितुल्य है और संयमरूप जीवितका हरण करता है इस वास्ते यह विषतुल्य है आर्यिकाका अनुसरण करनेवाला साधु निश्चयसे और शीघ्र ही अपकीर्तिका स्थान बनता है. प्राय पाप और अकीर्ती से डरनेवाले मिथ्यादृष्टि और असंयमी सामान्य लोक भी उत्तम आचरण करते हैं. परंतु मुनि तो योग्यायोग्य सब जानते ही हैं उनके लिये क्या कहना चाहिये. अर्थात् उन्होने तो अवश्य आर्यिकाका साथ छोडनाही चाहिये. जितने त्याज्य पदार्थ हैं उनको त्यागनके लिये मुनिजन उद्युक्त होते हैं इस लिये उनको पाप और अयशका जरूर त्याग करना चाहिये. यशके विषयमें आचार्य ऐसा कहते हैं—

अर्थात् शरीर तो पडेगा ही उसकी हम कैसी रक्षा कर सकेंगे परंतु यशका संरक्षण करना हमारा परम कर्तव्य है. मनुष्य का शरीर छूटगया तो भी यशरूपी शरीरसे वह धारण किया जाता है. अर्थात् वह मरनेपर भी उसका यश जगतमें रहता है इसी लिये कीर्तिमान् मनुष्य हमेशा अमर रहता है ऐसा सज्जन कहते हैं.

थेरस्स वि तवसिस्स वि बहुस्सुदस्स वि पमाणभूदस्स ॥
अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि ॥ ३२१ ॥

स्थविरस्य प्रमाणस्य शास्त्रज्ञस्य तपस्विनः ॥
आर्यिकासंगतेः साधोरपवादो दुरुत्तरः ॥ ३३१ ॥

विजयोदया--थेरस्स स्थविरस्य । तवसिस्स वि अनशनादितपस्युद्यतस्यापि । बहुसुदस्स वि बहुश्रुतस्यापि । पमाणभूदस्स प्रमाणभूतस्य । अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि आर्यापरिचयाज्जनापवादो भवति ।

मूलारा—तवस्सिस्स अनशनादितपस्युद्यतस्य । जणजंपणयं लोकापवादः ।

अर्थ—मुनि वृद्ध, तपस्वी, अर्थात् उपवास, अवमोदर्य, रसपरित्याग वगैरे तप करनेवाला, बहुश्रुत और जनमान्य होने पर भी यदि वह आर्यिकाका सहवास करनेवाला होगा तो वह लोगोंकी निंदाका स्थान बनेगाही. आर्यिकाके साथ परिचय होनेसे उसकी निंदा होना दुर्निवार है.

किं पुण तरुणो अबहुस्सुदो य अणुकिट्ठतवचरित्तो वा ॥
अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं ण पावेज्ज ॥ ३३२ ॥

न किं यूनोऽल्पविद्यस्य मंदं विदधतस्तपः ॥
कुर्वाणस्यार्यिकासंगं जायते जनजल्पनम् ॥ ३३२ ॥

विजयोदया—किं पुण ण पावेज्ज जणजंपणयं किं पुनर्न प्राप्नुयाज्जनापवादं वा ? प्राप्नोति नियोगतः । केन ? अज्जासंसग्गीए आर्यागोष्ठ्या । कः ? तरुणो अबहुस्सुदो अणुकिट्ठतवचरित्तो य तरुणो यतिरबहुश्रुतोऽनुत्कृष्टतपश्चारित्रश्च ॥

मूलारा—अणुकिट्ठं अनुत्कृष्टं । अज्जासंसग्गीए आर्याजनगोष्ठ्या ॥

अर्थ—जो तरुण है, बहुश्रुतता जिसमें नहीं है अर्थात् जिसमें हिताहितका विचार कम है, जो उत्कृष्ट चारित्रका धारक नहीं है ऐसा यति आर्यिकाके संसर्गसे जननिंदाको प्राप्त न होगा क्या ? अवश्य होगा. तात्पर्य यह है कि, जब विवेकपूर्ण, महान् तपस्वी और लोकमान्यतायुक्त ऐसा मुनि भी आर्यिकाके सहवाससे अपकीर्तिका पात्र बनता है तो इतर अल्पज्ञ मुनिओंके विषयमें क्या कहना चाहिये.

जदि वि सयं थिरबुद्धी तहा वि संसग्गिलद्धपसराए ॥
अग्गिसमीवे व घदं विलेज्ज चित्तं खु अज्जाए ॥ ३३२ ॥

आर्यिकामानसं सद्यो यतिसंगे विनश्यति ॥
सर्पिर्वन्हेः समीपे हि काठिन्यं किं न मुंचति ॥ ३३३ ॥
स्वयं साधोः स्थिरत्वेऽपि संसर्गप्राप्तधृष्टता ॥
क्षिप्रं विभावसोः संगे सा लाक्षेव विलीयते ॥ ३३४ ॥

विजयोदया—जदि वि सयं थिरबुद्धी यद्यपि स्वयं स्थिरबुद्धिः। तहा वि तथापि। संसग्गिलद्धपसराए संसर्गाल्लब्धप्रसरायाः। अज्जाए आर्यायाः। चित्तं विलेज्ज चित्तं द्रवति। किमिव? अग्गिसमीवे व घदं अग्निसमीपस्थं घृतमिव। न केवलमार्याजन एव वारिहरणीयः किं तु—

मूलारा—थिरबुद्धी स्थिरचित्तो यतिः। संसग्गियतिना सह गोष्ठी तया लब्धः प्रसरश्चित्तोल्लासो यया। विलेज्ज विलीयते ॥

अर्थ—मुनि यद्यपि स्थिर बुद्धिका धारक होगा तो भी मुनिके सहवाससे जिसका चित्त चंचल हुआ है ऐसी आर्यिकाका मन अग्निके समीप घी जैसा पिघल जाता है वैसा पिघलेगा इस वास्ते मुनि और आर्यिका दोनोंकोभी अन्योन्य परिचय छोडनाही योग्य है.

सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि अप्पमत्तो सया अवीसत्थो ॥
णित्थरदि बंभचेरं तव्विवरीदो ण णित्थरदि ॥ ३३४ ॥

अविश्वस्तोऽङ्गनावर्गे सर्वत्राप्यप्रमादकः ॥
ब्रह्मचर्यं यतिः शक्तो रक्षितुं न परः पुनः ॥ ३३५ ॥

विजयोदया—सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि सर्वस्मिन्नेव स्त्रीवर्गे बालाकन्यामध्यमास्थविरासुरूपाविरूपेति विचित्रभेदे। अप्पमत्तो अप्रमत्तः प्रमादरहितः। सदा अवीसत्थो विश्वासरहितः। णित्थरइ निस्तरति बंभचेरं ब्रह्मचर्यं। तव्विवरीदो तद्विपरीतः प्रमत्तः विश्वासवांश्च। ण णित्थरदि न निस्तरति ॥

न केवलं आर्या एव त्याज्या । किं तर्हि सर्वोऽपि स्त्रीजन इत्यनुशास्ति—

मूलारा—सव्वत्थ बाला, कुमारी, युवतिर्मध्यमा, वृद्धा, सुरूपा, कुरूपा इत्यादिविचित्रभेदे । अवीसत्था विश्वासरहितः । णित्थरइ मरणांतं प्रापयति ॥

अर्थ—बालिका, अविवाहित कन्या, तरुणी, मध्यम वयकी स्त्री, वृद्ध स्त्री, सुरूप स्त्री और कुरूप स्त्री एसे संपूर्ण स्त्रीमात्रमे मुनिको प्रमादरहित होना चाहिये. विश्वासरहित होना चाहिये, इस रीतीसे प्रवृत्ति करनेवाला मुनिही आजन्म अपना ब्रह्मचर्यव्रत निर्दोष पालन कर सकेगा अन्यथा नहीं. जो मुनि प्रमादी और स्त्रीजनोंमें विश्वासयुक्त है वह अपने ब्रह्मचर्यव्रतको नहीं निभा सकेगा.

आर्यानुचरणे दोषं प्रकटयति—

सव्वत्तो वि विमुत्तो साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो ॥
सो चेव होदि अज्जाओ अणुचरंतो अणप्पवसो ॥ ३३५ ॥

विमुक्तः सर्वतो जातः सर्वत्र स्ववशो यतिः ॥
आर्यिकानुचरीभूतो जायतेऽन्यवशः पुनः ॥ ३३६ ॥

विजयोदया—सव्वत्तो वि विमुत्तो साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो सर्वस्माद्वास्तुक्षेत्रादिकाद्विमुक्तः साधुः सर्वत्र भवति स्ववशः । सो चेव स एवात्मवशः । होइ भवति । अणप्पवसो अनात्मवशः । किं कुर्वन् ? अज्जाओ अणुचरंतो आर्या अनुचरन् ॥

मूलारा—सव्वत्तो वि सर्वस्माद्वास्तुक्षेत्रादिकात् । विमुत्तो व्यावृत्तचित्तः । अज्जाओ आर्यिकाः अणुचरंतो अनुवर्तमानः ॥

अर्थ—जो साधु घर, खेत, धनधान्यादि सर्व प्रकारके परिग्रहोंसे ममत्वरहित हुआ है, वही सर्व वस्तुओंमेंसे अपने मनको अलग रखकर जितेंद्रिय होता है. परंतु जो मुनि आर्यिकाके साथ परिचय रखता है वह अपनेको आत्माके शुद्ध स्वरूपमें तत्पर नहीं कर सकेगा. अर्थात् जितेन्द्रियता गुणको छोड बैठेगा. इसीलिये आर्यिकाका परिचय मुनिओंके लिये निषिद्ध माना है.

खेलपडिदमप्पाणं ण तरदि जह मच्छिया विमोचेदुं ॥
अज्जाणुचरो ण तरदि तह अप्पाणं विमोचेदुं ॥ ३३६ ॥

आर्यिकावचने योगी वर्तमानो दुरुत्तरे ॥
शक्तो मोचयितुं न स्वं श्लेष्ममग्नेव माक्षिका ॥ ३३७ ॥

विजयोदया—खेलपडिदमप्पाणं श्लेष्मपरीतमात्मानं। जह ण तरइ मच्छिया विमोचेदुं यथा न तरति मक्षिका विमोचयितुं। तह अज्जाणुचरो ण तरइ अप्पाणं विमोचेदुं तथा आर्यानुचरो न शक्नोति आत्मानं विमोचयितुं ॥

मूलारा—खेल श्लेष्मा। ण तरदि न शक्नोति ॥

अर्थ—जैसे मनुष्यके कफमें अर्थात् थूकमें पडी हुई मक्खी उससे निकलनेमें असमर्थ होती है वैसे आर्यिकाके साथ परिचय किया हुआ मुनि भी उससे छुटकारा नहीं पाता है. अर्थात् उसका स्नेह छोडनेमें वह असमर्थ होता है.

साधुस्स णत्थि लोए अज्जासरिसी खु बंधणे उवमा ॥
चम्मेण सह अवेंतो ण य सरिसो जाणिकसिलेसो ॥ ३३७ ॥

नार्या बंधेन बंधोऽन्यस्तुल्यो वृत्तच्छिदा यतेः ॥
वज्रलेपः स नो तुल्यो यो याति सह चर्मणा ॥ ३३८ ॥
ब्रह्मव्रतं मुमुक्षूणां स्त्रीसंसर्गेण निश्चितम् ॥
मंडूकः पन्नगेनेव भीषणेन विनाश्यते ॥ ३३९ ॥
चौराणामिव सांगत्यं पुंसा सर्वस्वरक्षिणा ॥
योगिना योषितां त्याज्यं ब्रह्मचर्यप्रपालिना ॥ ३४० ॥

इत्यार्यासंगत्यजनसूत्रम् ॥

विजयोदया—साधुस्स णत्थि लोए अज्जासरिसी खु बंधणे उवमा। साधोर्नास्ति लोके आर्यासदृशी बंधने

उपमा। चर्मेण सह अवेंतो चर्मणा सह अपगच्छन्। ण य सरिसो जोणिगसिलेसो नैव सदृशः चर्मकारश्लेषः। न केवलं आर्याजनो दूरत एव परिहार्यः अपि तु अन्यदपि वस्तु ॥

मूलारा—अज्जेत्यादि—अवेंतो द्रव्यमुपमा उपमेयं अस्यार्यिकया सदृशं। तर्हि चर्मयोजितवज्रलेपसमबंधा मुनेरार्यिका भविष्यतीति शंकमानं प्रत्याह। चम्मेणेत्यादि अवेंतो अवगच्छन्। जोणिगसिलेसो वज्रलेपः। उक्तं च—

नार्या बंधन बंधोऽन्यस्तुल्यो धृताच्छिदा यतेः ॥
वज्रलेप. स नो तुल्यो यो याति सह चर्मणा ॥

अर्थ—साधुके लिये आर्यिकाका सहवास ऐसा बंधन है कि उसका वर्णन करनेके लिये जगतमें दृश्यमान कोइ भी बंधन उपमानरूप नहीं है. चर्मके साथ वज्रलेप भी उसके लिये उपमान नहीं है. किसी चीजके ऊपर वज्रलेपके साथ चर्मका भी बंधन किया तो भी वह वस्तु उस बंधनसे मुक्त होनेकी संभावाना होगी परंतु आर्यिकाका परिचय ऐसा बंधन है कि उससे वह छूटना असंभव है.

अण्णं पि तहा वत्थुं जं जं साधुस्स बंधणं कुणदि ॥
तं तं परिहरह तदो होहदि दढसंजदा तुज्झ ॥ ३३८ ॥

यद्यदन्यदपि द्रव्यं किंचिद्बंधनकारणम् ॥
तत्तद्विधा निराकृत्य जायध्वं दृढसंयमाः ॥ ३४१

विजयोदया—अण्णं पि तहा वत्थुं अन्यदपि तथाभूतं वस्तु। जं जं साधुस्स बंधणं कुणइ यद्यत्साधोर्बंधनं करोति अस्वतंत्रतां करोति। तं तं परिहरह तत्तत्परिहारे उद्योगं कुरुत। ततः वस्तुत्यागात्। होहदि दढसंजदा तुज्झ भवतां दृढसंयतता गुणो भवत्येवमिति यावत्। बाह्यवस्तुनिमित्तो ह्यसंयमस्तत्त्यागे त्यक्तो भवति ॥

न केवलमार्याजन एव दूरतस्त्याज्योऽपि तु—

मूलारा—तथा तथाभूतमार्यिकासदृशमित्यर्थः। बंधणं पारतंत्र्यं। तदो बंधनकारिवस्तुत्यागात्। होहिध भविष्यथ। दढसंजदा बाह्यवस्तुनिमित्तो ह्यसंयमस्तत्त्यागे त्यक्तो भवति। तुज्झे यूयं ॥

आर्यिकाओंका ही दूरसे त्याग करना चाहिये ऐसा नहीं परंतु इतर वस्तु भी त्यागनी चाहिये —

अर्थ—जिस २ वस्तुमें साधु बंधा जाता है, परतंत्र होता है वह वह वस्तु हे साधुगण ! तुम छोडनेका उद्योग करो. ऐसी बंधनकारक वस्तुयें छोडनेसे तुम्हें दृढसंयमगुणकी प्राप्ति होगी. बाह्यवस्तुके सहवाससे असंयम उत्पन्न होता है. परंतु ऐसी वस्तु तुम छोड दोगे तब असंयमका त्याग होगा.

पासत्थादीपणयं णिच्चं वज्जेह सव्वधा तुम्हे ॥
हंदि हु मेलणदोसेण होइ पुरिसस्स तम्मयदा ॥ ३३९ ॥

पार्श्वस्थासन्नसंसक्तकुशीलमृगचारिणः ॥
मलिनीक्रियते शश्वत्कज्जलेनेव संगतम् ॥ ३४२ ॥
कषायाकुलचित्तानां पार्श्वस्थानां दुरात्मनाम् ॥
भुजंगानामिव त्याज्यः संगश्छिद्रगवेषिणाम् ॥ ३४३ ॥

विजयोदया—पासत्थादीपणयं पार्श्वस्थादिपंचकं पार्श्वस्थः, अवसन्नः, संसक्तः, कुशीलो, मृगचरित्रः इति पंच। तान् सूत्रो निराकुरुत। वर्जित्यागदोषमाह—मेलणदोसेण तम्मयदा होइ संसर्गदोषेण पार्श्वस्थादिमयता। तन्मयताप्रतिपत्तिमल्पयतापाता गाथा ॥

अथ पार्श्वस्थादिसंगत्यत्यागं गाथात्रयेणाह—

मूलारा—पासत्थादीपणयं पार्श्वस्थावसन्नसंसक्तकुशीलमृगचरितानां पंचकं। ते हि प्रच्छन्नमिथ्यादृष्टयः। तथा चोक्तम्— पासत्थोसन्नकुसीलासंसत्तो य होइ सच्छंदो ॥
एए पंच वि समणा जिणवयणपरम्मुहा भणिया ॥

हंदि जानीहि। तम्मयदा पार्श्वस्थादिस्वरूपता। तल्लक्षणानि क्षपकानुशिष्टौ वक्ष्यंते संक्षेपतस्त्विमानि—
मृतेऽलसोऽवसन्नः पार्श्वस्थो मलिनपरदृशेष्टेऽनिष्टे।

संसर्गवशाद्गुणदोषौ भवतोऽचेतनेष्वपीति दृष्टांतेन बोधयति—

जइ भाविज्जइ गंधेण मट्टिया सुरभिणा व इदरेण ॥
किह जोएण ण होज्जो परगुणपरिभाविओ पुरिसो ॥ ३४२ ॥

नानाशुभेन गंधेन मृत्तिका यदि वास्यते ॥
तदा नान्यगुणैरत्र कथ्यतां पुरुषः कथम् ॥ ३३७ ॥

विजयोदया—जदि यदि। भाविज्जइ भाव्यते वास्यते। गंधेग गंधेन मट्टिया मृत्तिका। सुरहिणा व इयरेण सुरभिणा च इतरेण वा। कह जोएण होज्जो कथं संबंधेन न भवेत्। परगुणपरिभाविओ पुरिसो परेषां पार्श्वस्थादीनां गुणैः परिभावित पुरुष ॥

संसर्गवशाद्गुणदोषावचेतनेष्वपि स्यातां किं पुनश्चेतनेष्विति दृष्टान्तावष्टंभेनाचष्टे—

मूलारा—भावेज्जदि वास्यते। जोगेग संबंधेन। परगुणपरिभाविदो परेषां शिष्टानां गुणैः शुभाशुभैर्धर्मैः समन्ताद्वासितः ॥

संसर्गसे अचेतनपदार्थमें भी गुण और दोष उत्पन्न हो जाते हैं यही बात दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—यदि सुगंध अथवा दुर्गंधके सहवाससे मृत्तिकाभी सुगंध अथवा दुर्गंध बनती है तो पार्श्वस्थादिकोंका संयोग होने पर मुनि उनके गुणोंसे क्यों न तन्मय होगा? अर्थात् होगा ही अथवा परपदार्थ यदि सुगुण होगा तो उससे संयुक्त होने वाला पदार्थ भी सद्गुणसंपन्न होगा और परपदार्थ यदि दुर्गुण अर्थात् दोषयुक्त होगा तो वह भी दोषोंसे पूर्ण होगाही.

परगुणग्रहणमाह—

* जो जारिसीय मेत्ती केरइ सो होइ तारिसो चेव ॥
वासिज्जइ च्छुरिया सा रिया वि कणयादिसंगेण ॥ ३४३ ॥

* मूलाराधना दर्पणमें यह गाथा तथा उसकी टीका नहीं है, तथा अमितगति प्रणीत श्लोक भी नहीं है

विजयोदया—दृष्टांतत्वेनोपन्यस्ता मृत्तिका छुरिका च । तथा चोक्तं सुरभिणा व इदरेण जारितीति च ॥

परगुणग्रहण यह पदार्थ का स्वभाव है ऐसा वर्णन—

अर्थ—ऊपर मट्टीका उदाहरण दिया है. इस श्लोकमें छुरीका उदाहरण आचार्य देते हैं. जैसे छुरी सुवर्णादिक की जिल्हई देनेसे सुवर्णादि स्वरूपकी दीखती है वैसे मनुष्य भी जिसकी मित्रता करेगा वैसा होगा अर्थात् मनुष्य दुष्टके सहवाससे दुष्ट और सज्जनसंगसे सत्पुरुष होता है.

दुज्जणसंसग्गीए पजहदि णियगं गुणं खु सुजणो वि ॥
सयिलभावं उदयं जह पजहदि अग्गिजोएण ॥ ३४४ ॥
शिष्टोऽपि दुष्टसंगेन विजहाति निजं गुणं ॥
नीरं किं नाग्नियोगेन शीतलत्वं विमुंचति ॥ ३४७ ॥

विजयोदया—दुज्जणसंसग्गीए दुष्टजनसंसर्गेण । पजहदि णियगं गुणं खु सुजणो वि । विजहाति स्वगुणं सुजनोऽपि । सीयलभाव जहा उदक पजहदि शैत्यं भावं यथा जहात्युदकं । अग्गिजोएण अग्निसंबंधेन । साधुः स्वगुणं जहात्यनलसंबद्धजलमिवेति सहजगुणत्यागे दृष्टांत- ॥

दुर्जनसंगत्यागं गाथाषट्केनोपदेष्टुकामो दुर्जनसंसर्गात्सुजनस्यापि सहजगुणत्यागं दृष्टांतेन समर्थयते—

मूलारा— स्पष्टम् ॥

अर्थ—सज्जन मनुष्य भी दुर्जनके संगसे अपना उज्वल गुण छोड देता है. अग्नीके सहवाससे ठंडा भी जल अपना ठंडपना छोडकर क्या गरम नहीं होता ? यह सहजगुणके त्यागका दृष्टांत है. अर्थात् अग्निके सहवाससे शीतस्वभाव का जल भी अपना स्वभाव छोडकर गरम होता है- वैसे सज्जन अपने जन्मजात निर्मल गुणोंको छोडकर दुर्जनके सहवाससे दुष्ट बनता है.

अशोभनगुणेन संसर्गात् तद्वत् स्वयमप्यशोभनगुणो भवतीति कथयति—

सुजणो वि होइ लहुओ दुज्जणसंमेलणाए दोसेण ॥
माला वि मोल्लगरुया होदि लहू मडयसंसिट्ठा ॥ ३४५ ॥

संसक्तो मृगचरितः स्वकल्पिते प्रकटकुचरितस्तु कुशील. ॥

अर्थ—पार्श्वस्थ, अवसन्न, संसक्त, कुशील, मृगचारित्र ऐसे पांच चारित्रभ्रष्ट मुनिओंका आप दूरसे ही त्याग करो. यदि उनका संसर्ग करोगे तो उस संसर्गदोषसे आप भी उनके सरीखे हो जाओगे. ये पार्श्वस्थादि मुनि प्रच्छन्न मिथ्यादृष्टि है-

---

पार्श्वस्थादिसंसर्ग कर्तुं वांच्छन्नपि—

लज्जं तदो विहिंसं पारंभं णिव्विसंकदं चेव ॥
पियधम्मो वि कमेणारुहंतओ तम्मओ होइ ॥ ३४० ॥

लज्जां जुगुप्सनं योगी प्रारम्भं निर्विशंकताम् ॥
आरोहन्प्रियधर्मोपि क्रमेणैत्यस्ति तन्मयः ॥ ३४४ ॥

विजयोदया—लज्जं लज्जां उपारोहति। ततः पश्चाद्विहिंसं असंयमजुगुप्सां करोति। कथमहमेवंविधं व्रतभंगं करोमि। दुरंतसंसारपतनहेतुमिति। पश्चाच्चारित्रमोहोदयात्परवशः पारंभं प्रारभते। कृतप्रारंभो यतिरारंभपरिग्रहादिषु निव्विसंकदं चेव निर्विशंकतामुपैति। पियधम्मोवि धर्मप्रियोऽपि। कमेणारुहंतगो क्रमेण प्रतिपद्यमानो लज्जादिकं। तम्मओ होदि पार्श्वस्थादिरूपो भवति ॥

तन्मयताप्रतिपत्तिक्रमाख्यानार्थमाह—

मूलारा—लज्जमित्यादि। धर्मप्रियोऽपि लज्जादीन् क्रमेणारोहन्पार्श्वस्थादिरूपो भवति। तथा हि पार्श्वस्थादिसंसर्गं कर्तुं वांछन्नपि लज्जामारोहति तत पश्चाद्विहिंसं असंयमजुगुप्सां प्रतिपद्यते। कथमहं एवंविधं व्रतभंगं करोमि दुरंतसंसारपतनहेतुमिति। तदनु चारित्रमोहोदयात्परवशस्तं प्रारभते। ततश्चारंभपरिग्रहादिषु निर्विशंकतामुपैति। ततश्च पार्श्वस्थादिरूपो भवति ॥

उनके संसर्ग करनेसे तन्मयता कैसी आती है इसका क्रम वर्णन आचार्य दिखाते है—

अर्थ—प्रथमतः पार्श्वस्थादिक मुनिओंके साथ संसर्ग रखनेमें लज्जा आ जाती है. अनंतर जुगुप्सा होती है

अर्थात् इस अमूल्य व्रतका नाश करनेमें मैं कैसा उद्युक्त होऊं, यह मेरा व्रतनाशकार्य दुःखदायक संसारमें पतनका कारण होगा. ऐसा विचार मनमें आनेसे उन पार्श्वस्थादिकोंके विषयमें उसको जुगुप्सा उत्पन्न होती है. नंतर चारित्र मोहकर्मका उदय होनेसे वह परवश होकर व्रतभंग करनेके लिये उद्युक्त होता है. व्रतभंग कर वह मुनि आरंभ परिग्रहादिकोंमें निःशंक होता है. यद्यपि वह मुनि पार्श्वस्थादिकके सहवासके पूर्वमें धर्मप्रिय था तो भी क्रमसे लज्जा, जुगुप्सा वगैरह भावोंको प्राप्त होकर पार्श्वस्थादिरूप हो जाता है. यद्यपि वह शरीरसे और वचनसे पार्श्वस्थादिरूप नहीं है तो भी मनसे वैसा हो जाता है.

यद्यपि वाक्कायाभ्यां न प्रयतते तथापि मानसीं पार्श्वस्थादितां प्रतिपद्यत इत्याचष्टे—

संविग्गस्सवि संसग्गीए पीदी तदो य वीसंभो ॥
सदि वीसंभे य रदी होइ रदीए वि तम्मयदा ॥ ३४१ ॥

तेषु संसर्गतः प्रीतिर्विस्रम्भः परमस्ततः ॥
ततो रतिस्ततो व्यक्तं संविग्नोऽप्यस्ति तन्मयः॥ ३४५ ॥

विजयोदया—संविग्गस्स वि संसारभीरोरपि यतेः संसग्गीए पार्श्वस्थादिसंसर्गेण । पीदी होदि प्रीतिर्भवति । तदो य प्रीतेः सकाशात् । वीसंभो होदि विस्रंभो भवति । सदि वीसंभे य रदी विस्रंभे सति रतिर्भवति । पार्श्वस्थादिषु रदीए वि तम्मयदा रत्या च तन्मयता ॥

यद्यपि तत्संगत्या वाक्कायाभ्यां न तदाचारे प्रयतते तथापि मानसीं पार्श्वस्थादिरूपतां प्रतिपद्यते इत्याचष्टे—

मूलारा संसग्गीए पार्श्वस्थादिसंसर्गेण । वीसंभो विश्वासः । रदी पार्श्वस्थादिषु संसर्गेण चित्तविश्रान्तिः ॥

यही आशय आगे की गाथामें आचार्य कहते हैं—

अर्थ—संसारभययुक्त मुनि भी पार्श्वस्थादिकोंके सहवाससे प्रथम प्रीतियुक्त होता है. प्रीतिके अनंतर उस विषयमें मनमें विश्वास होता है. अनंतर उन्होंमें चित्त विश्रांति लेता है अर्थात् आसक्त होता है और तदनंतर वह संसारभीरु मुनि भी पार्श्वस्थादिमय बनता है.

लाघवं दुष्टसंगेन शिष्टोऽपि प्रतिपद्यते ॥
किं न रत्नमयी माला स्वल्पार्घा शवसंगता ॥ ३४८ ॥

विजयोदया—सुजणो वि होइ लहुओ सुजनोऽपि भवति लघुः । दुज्जणसंमेलणाए दोसेण दुर्जनगोष्ठीदोषेण । मालावि मोल्लगरुया मालापि सुमनसां मौल्येन लघ्वी । होइ भवति । मडयसंसिद्दा मृतकस्य संश्लिष्टा ॥

निंद्यगुणसंगात्तद्गुणपरिणतिं प्रणिगदति—

मूलारा—स्पष्टं ॥

बुरे गुणके सहवाससे मनुष्य बुरा अर्थात् दुष्ट होता है इसी अभिप्रायको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—दुर्जनके दोषोंका संसर्ग होनेसे सज्जन भी नीच होता है. बहुत कीमतकी पुष्पमाला भी मृतके अर्थात् शवके संसर्गसे कौडीके कीमतकी होती है.

अदुष्टोऽपि दुष्ट इति शंक्यते यतिः पार्श्वस्थादिगोष्ठ्या इत्येतद्दृष्टान्तेनाचष्टे—

दुज्जणसंसग्गीए संकिज्जदि संजदो वि दोसेण ॥
पाणागारे दुद्धं पियतओ बंभणो चेव ॥ ३४९ ॥

संयतोऽपि जनैर्दुष्टो दुष्टानामिह संगतः ॥
क्षीरपा ब्राह्मणः शौण्डः शौण्डानामिव शंक्यते ॥ ३४९ ॥

विजयोदया—दुज्जणसंसग्गीए इति स्पष्टार्था गाथा ॥

पार्श्वस्थादिसंसर्गाददुष्टोऽपि यतिर्दुष्ट इव शंक्यते इत्याचष्टे--

मूलारा—पाणागारे उद्यानापानगोष्ठ्या ? (मद्यपानगोष्ठ्या इति भवेत्) बंभणो शिवभूतिर्नाम । चेव यथा ।

पार्श्वस्थ वगैरह कुमुनिओंके संसर्गसे अदुष्ट भी यति लोकोंके द्वारा दुष्ट माना जाता है. इसको दृष्टान्तसे आचार्य स्पष्ट करते हैं.

अर्थ—दुर्जनके संसर्गसे दोषरहित भी मुनि लोकोंके द्वारा दोषयुक्त गिना जाता है. मदिरागृहमें जाकर कोई ब्राह्मण दूध पीवे तो भी उसने मद्य पिया है वह मद्यपी है ऐसा लोक मानते हैं.

परदोसगहणलिच्छो परिवादरदो जणो खु उस्सूणं ॥
दोसत्थाणं परिहरह तेण जणजंपणोगासं ॥ १४७ ॥

परदोषपरीवादग्राही लोको यतोऽखिलः ॥
अपवादपदं दोषं मुंचध्वं सर्वदा ततः ॥ ३५० ॥

विजयोदया—परदोसगहणलिच्छो परदोषग्रहणेच्छावान्। परिवादरदो परोक्षे परदोषवचने रतः। जणो जन.। उस्सूण खु नितरामेव। तेण दोसत्थाण परिहरह तेन दोषस्थानपरिहारं कुरुत। जणजंपणोगासं जनजल्पनावकाशं ॥

दोषावतारस्थानपरिहारमाह—

मूलारा—लिच्छो इच्छावान्। परिवादरदो परोक्षे परदोषवचने रतः। हु यस्मात् उस्सूणं अतीव। जणजंपणोगासं लोकापवादास्पदम्।

अर्थ—लोक परदोष ग्रहण करनेके लिये उत्सुक रहते हैं. परोक्ष दोष कहनेमें वे आनंदित होते हैं. इस वास्ते हे मुनिगण! जहां आने जानेसे दोषसंसर्ग होगा ऐसे स्थानोंका और चीजोंका आप त्याग करो. क्योंकि ऐसी चीजें रखनेसे लोकमें अपकीर्ति होती है.

दुर्जनगोष्ठी अनर्थमावहत्यैहलौकिकमित्येतत्कथयति—

अदिसंजदो वि दुज्जणकएण दोसेण पाउणइ दोसं ॥
जह घूगकए दोसे हंसो य हओ अपावो वि ॥ १४८ ॥

दुर्जनेन कृते दोषे दोषमाप्नोति सज्जनः ॥
कादंबः कौशिकेनेव दोषिकेणापदूषणः ॥ ३५१ ॥
दुर्जनस्यापराधेन पीड्यंते सज्जना जने ॥
अपराधपराचीनाः पृदाकोरिव डुंडुभाः ॥ ३५२ ॥
असंयतेन चारित्रं संयतस्यापि लुप्यते ॥
संगतेन समृद्धस्य सर्वस्वमिव दस्युना ॥ ३५३ ॥

लाघवं दुष्टसंगेन शिष्टोऽपि प्रतिपद्यते ॥
किं न रत्नमयी माला स्वल्पार्घा शवसंगता ॥ ३४८ ॥

विजयोदया—सुजणो वि होइ लहुओ सुजनोऽपि भवति लघु । दुज्जणसमेलणाए दोसेण दुर्जनगोष्ठीदोषेण । मालावि मोल्लगरुया मालापि सुमनसा मोल्येन लघ्वी । होइ भवति । मडयससिट्ठा मृतकस्य सन्श्लिष्टा ॥

निंद्यगुणसंगात्तद्गुणपरिणतिं प्रणिगदति--

मूलारा—स्पष्टं ॥

बुरे गुणके सहवाससे मनुष्य बुरा अर्थात् दुष्ट होता है इसी अभिप्रायको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—दुर्जनके दोषोंका संसर्ग होनेसे सज्जन भी नीच होता है, बहुत कीमतकी पुष्पमाला भी प्रेतके अर्थात् शवके संसर्गसे कौडीके कीमतकी होती है.

अदुष्टोऽपि दुष्ट इति शक्यते यतिः पार्श्वस्थादिगोष्ठ्या इत्येतद्दृष्टान्तेनाचष्टे—

दुज्जणसंसग्गीए संकिज्जदि संजदो वि दोसेण ॥
पाणागारे दुद्धं पियंतओ बंभणो चेव ॥ ३४६ ॥

संयतोऽपि जनैर्दुष्टो दुष्टानामिह संगतः ॥
क्षीरपा ब्राह्मणः शौण्डः शौण्डानामिव शंक्यते ॥ ३४९ ॥

विजयोदया—दुज्जणससग्गीए इति स्पष्टार्था गाथा ॥

पार्श्वस्थादिसंसर्गाददुष्टोऽपि यतिर्दुष्ट इव शंक्यते इत्याचष्टे--

मूलारा—पाणागारे उद्यानापानगोष्ठ्या ? (मद्यपानगोष्ठ्या इति भवेत्) बंभणो शिवभूतिर्नाम । चेव यथा ।

पार्श्वस्थ वगैरह कुमुनिओंके संसर्गसे अदुष्ट भी यति लोकोंके द्वारा दुष्ट माना जाता है इसको दृष्टान्तसे आचार्य स्पष्ट करते हैं.

अर्थ—दुर्जनके संसर्गसे दोषरहित भी मुनि लोकोंके द्वारा दोषयुक्त गिना जाता है. मदिरागृहमें जाकर कोई ब्राह्मण दूध पीने तो भी उसने मद्य पिया है वह मद्यपी है ऐसा लोक मानते हैं.

परदोसगहणलिच्छो परिवादरदो जणो खु उस्सूणं ॥
दोसत्थाणं परिहरह तेण जणजंपणोगासं ॥ १४७ ॥

परदोषपरीवादग्राही लोको यतोऽखिलः ॥
अपवादपदं दोषं मुंचध्वं सर्वदा ततः ॥ ३५० ॥

विजयोदया—परदोसगहणलिच्छो परदोषग्रहणेच्छावान्। परिवादरदो परोक्षे परदोषवचने रतः। जणो जनः। उस्सूणं खु नितरामेव। तेण दोसत्थाणं परिहरह तेन दोषस्थानपरिहारं कुरुत। जणजंपणोगासं जनजल्पनावकाशं॥

दोषापवादस्थानपरिहारमाह—

मूलारा—लिच्छो इच्छावान्। परिवादरदो परोक्षे परदोषवचने रतः। खु यस्मात्. उस्सूणं अतीव। जणजंपणोगासं लोकापवादास्पदम्।

अर्थ—लोक परदोष ग्रहण करनेके लिये उत्सुक रहते हैं. परोक्ष दोष कहनेमें वे आनंदित होते हैं. इस वास्ते हे मुनिगण! जहां आने जानेसे दोषसंसर्ग होगा ऐसे स्थानोंका और चीजोंका आप त्याग करो. क्योंकि ऐसी चीजें रखनेसे लोकमें अपकीर्ति होती है.

दुर्जनगोष्ठी अनर्थमापद्यत्यैहलौकिकमित्येतत्कथयति—

आदिसंजदो वि दुज्जणकएण दोसेण पाउणइ दोसं ॥
जह घूगकए दोसे हंसो य हओ अपावो वि ॥ १४८ ॥

दुर्जनेन कृते दोषे दोषमाप्नोति सज्जनः ॥
कादंबः कौशिकेनेव दोषिकेणापदूषणः ॥ ३५१ ॥
दुर्जनस्यापराधेन पीड्यंते सज्जना जने ॥
अपराधपराचीनाः पृदाकोरिव डुंडुभाः ॥ ३५२ ॥
असंयतेन चारित्रं संयतस्यापि लुप्यते ॥
संगतेन समृद्धस्य सर्वस्वमिव दस्युना ॥ ३५३ ॥

विजयोदया—अदिसंजदो वि इत्यनया-अतीव संयतोऽपि दुर्जनकृतेन दोषेण प्राप्नोति। दोसं अनर्थं। यथोलूककृतदोषनिमित्तं अपापोऽपि हंसो हतः॥

दुर्जनगोष्ठ्या ऐहलौकिकानर्थावहत्वमाह—

मूलारा—अपावो वि अपापोऽपि निर्दोषोऽपि॥

दुर्जनसहवाससे इहपरलोकमें अनर्थ होता है इसका दृष्टान्तपुरःसर स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—महान् तपस्वी भी दुर्जनके दोषोंसे अनर्थमें पडते हैं. अर्थात् दोष तो दुर्जन करता है परंतु फल सज्जनको भोगना पडता है. जैसे उल्लूके दोषसे निष्पाप हंसपक्षी मारा गया.

दुर्जनगोष्ठ्या दोषांतरमाचष्टे—

दुज्जणसंसग्गीए विभाविदो सुयणमज्झयारम्मि॥
ण रमदि रमदि य दुज्जणमज्झे वेरग्गमवहाय॥ ३४९॥

दुष्टानां रमते मध्ये दुष्टसंगेन वासितः॥
विदूरीकृतवैराग्यो न शिष्टानां कदाचन॥ ३५४॥

विजयोदया—दुज्जणसंसग्गीए विभाविदो दुर्जनगोष्ठ्या भावितः। सुजणमज्झयारम्मि सुजनमध्ये। ण रमदि न रमते। रमदि य दुज्जणमज्झे रमते दुर्जनमध्ये। वेरग्गमवहाय वैराग्यं परित्यज्य॥

दुर्जनगोष्ठ्या दोषांतरमाह—

मूलारा—वेरग्गमवहाय संयमं त्यक्त्वा॥

दुर्जनसहवाससे और भी दोष होते हैं यह दिखाते हैं—

अर्थ—दुर्जनके संसर्गसे दुष्ट बना हुआ मनुष्य सुजनोंमें रहना अर्थात् उनकी संगति करना पसंत नहीं करता है. परंतु वह पुरुष वैराग्यको छोडकर दुर्जनोंके समूह में बडे आनंदसे रहता है.

सुजनसमाश्रयणे गुणख्यापनायोत्तरसूत्राणि—

जहदि य णिययं दोसं पि दुज्जणो सुयणवइयरगुणेण ॥
जह मेरुमल्लियंतो काओ णिययच्छविं जहदि ॥ ३५० ॥

दुष्टोऽपि मुंचते दोषं स्वकीयं शिष्टसंगतः ॥
किं मेरुमाश्रितः काको न धत्ते कनकच्छविम् ॥ ३५९ ॥

विजयोदया—जहदि य जहाति निजमपि दोषं दुर्जनः सुजनमिश्रगुणेन । यथा मेरुसमाश्रयणे काको जहाति सहजामपि छायामशोभनां तद्वत् । संतोऽपि दोषा नश्यंति सुजनाश्रयेण ततस्ते समाश्रयणीया इति भावः ॥

सुजनसमाश्रयणे गाथासप्तकेन गुणान्व्याचक्षाणः सुजना समाश्रयणीया इत्युपदिशति—

मूलारा—परिकरं सांगत्यं । अल्लियंतो आश्रयन् ॥

सुजनोंका सहवास करनेसे गुणोंकी प्राप्ति होती है इस विषयका वर्णन आचार्य अनेक गाथाओंसे करते हैं.

अर्थ—दुर्जन मनुष्य सज्जनोंका सहवास करके उनके गुणोंसे युक्त होता है. और अपने पूर्व दोषोंको वह छोडता है. इसका उदाहरण यह है कि, मेरु पर्वतका आश्रय करनेवाला कौवा अपनी स्वाभाविक मलिन कांतिका त्यागकर मेरुपर्वतकी सुवर्णकांतिका आश्रय करता है. अभिप्राय यह है कि सुजनसंगसे विद्यमान दोष भी नष्ट होते हैं. इसलिये उनका ही आश्रय करना योग्य है.

सुजनसमाश्रयणे अभ्युदयफलं, पूजालाभं कथयति गाथा—

कुसुमभगंधमवि जहा देवयसेसत्ति कीरदे सीसे ॥
तह सुयणमज्झवासी वि दुज्जणो पूइओ होइ ॥ ३५१ ॥

पूजां सज्जनसंगेन दुर्जनोऽपि प्रपद्यते ॥
देवशेषा विगंधापि क्रियते किं न मस्तके ॥ ३५६ ॥

विजयोदया—कुसुममित्यादिका । यथा सौगंध्यरहितमपि कुसुमं देवताशेषेति क्रियते शिरसि तथा साधुजन मध्यवासी दुर्जनोऽपि पूजितो भवति ॥

साधुसंगेनासाधुरपि पूजां प्राप्नोति इत्याह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

सुजनके आश्रयसे अभ्युदयफल, पूजालाभ होता है इसका विवेचन—

अर्थ—निर्गंध भी पुष्प यह देवताकी शेषा है-प्रसाद है ऐसा समझकर लोक उसको अपने मस्तकपर धारण करते हैं. वैसे सज्जनोंमें रहनेवाला दुर्जन भी लोकसे पूजा जाता है.

द्रव्यसंयमे वाक्कायनिमित्तास्रवनिरोधरूपे प्रवृत्तिगुणं कथयति—

संविग्गाणं मज्झे अप्पियधम्मो वि कायरो वि णरो ॥
उज्जमदि करणचरणे भावणभयमाणलज्जाहिं ॥ ३५२ ॥

कातरोऽप्रियधर्माऽपि व्यक्तं संविग्नमध्यगः ॥
भीत्रपाभावनामानैश्चारित्रे यतते यतिः ॥ ३५७ ॥

विजयोदया—संविग्गाणं मज्झे इत्यनया । संसारभीरूणां मध्ये वसन्नपि यद्यपि धर्मप्रियो न भवति । कातरश्चासुखे तथापि उद्युक्ते पापक्रियानिवृत्तौ भावनया, भयेन, मानेन, लज्जया च ॥

संयताना मध्ये निवसन्नप्रियधर्मोऽपि संयमे यतते इत्युपदिशति—

मूलारा—चरणकरणे पापक्रियानिवृत्तौ, भावण भावना, माण अभिमानः ॥

वचन और शरीरकी प्रवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाले आस्रवका निरोध होना यह द्रव्यसंयम है. सज्जनोंके आश्रयसे इस द्रव्यसंयममें प्रवृत्ति होती है यह अभिप्राय आचार्य स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—कोई मुनि संसारभीरु यतिओंके साथ रहकर भी धर्मपर प्रेम नहीं करते हैं. और दुःखसे, परीषह और उपसर्गसे भय युक्त होते हैं. तो भी भावना, भय मान और लज्जाके वश होकर पापक्रियाओंका वे त्याग करते हैं तात्पर्य यह है कि, सज्जनोंका सहवास आवश्य फलप्रद होता है.

संसारभीरोरपि यते सुजनसमाश्रयणेन गुणमभिदधाति—

संविग्गोवि य संविग्गदरो संवेगमज्झयारम्मि ॥
होइ जह गंधजुत्ती पयडिसुरभिदव्वसंजोए ॥ ३५३ ॥

संविग्नः परमां कोटिं साधुः संविग्नमध्यगः ॥
गंधयुक्तिरिवायाति सुरभिद्रव्यकल्पिताम् ॥ ३५८ ॥

विजयोदया—संविग्गोऽपि इत्यनया। प्रागपि संसारभीरुर्जनः संविग्नमध्यनिवासी संविग्नतरो भवति। यथा गंधयुक्तिः कृतको गंधः प्रकृतिसुरभिद्रव्यसंसर्गे सुरभितरो भवति ॥

सत्संगाद्गुणोत्कर्षप्राप्तिमाह—

मूला—गंधजुत्ति कृतको गधः सुरभितरो भवतीति शेषः ॥ पयडिसुरभि स्वभावसुगंधि ॥

उक्तं च—संविग्नः परमां कोटिं साधुः संविग्नमध्यगः ॥
गंधयुक्तिरिवायाति सुरभिद्रव्यकल्पिता ॥

संसारभीरु यतीको भी सुजनके संगसे गुणप्राप्ति होती है यह कथन—

अर्थ—जो मुनि प्रथमसे ही संसारभीरु है वह संसारभीरु मुनिओंके सहवासमें रहनेसे पूर्वसे भी अधिक संसारभीरु होता है, स्वभावतः सुगंधयुक्त ऐसे कस्तुरी, चंदन वगैरह पदार्थोंके सहवाससे कृत्रिम गंध पूर्वसे भी अधिक सुगंधमय बनता है.

बहव इत्येतावता चारित्रक्षुद्रा न भवद्भिः समाश्रयणीयाः। एक इति वा न सगुणः परिहार्य इत्येतदाचष्टे—

पासत्थसदसहस्सादो वि सुसीलो वरं खु एक्को वि ॥
जं संसिदस्स सीलं दंसणणाणचरणाणि वड्ढंति ॥ ३५४ ॥

एकोऽपि संयतो योगी वरं पार्श्वस्थलक्षतः ॥
संगमेन तदीयेन चतुरंगं विवर्धते ॥ ३५९ ॥

विजयोदया—पासत्थसदसहस्सादो वि पार्श्वस्थग्रहणं चारित्रक्षुद्रोपलक्षणार्थं। चारित्रक्षुद्राच्छतसहस्राद्पि एकोऽपि सुशीलो वरं। संयममाश्रितस्य शीलं, दर्शनं, ज्ञानं, चारित्रं च वर्द्धते, स भवद्भिराश्रयणीय इति भावार्थः।

बहव इति चारित्रक्षुद्रा न भवद्भिराश्रयणीयाः एक इति सुशीलो न त्याज्य इत्युपदिशति—

मूलारा—जं संसिदस्स यमाश्रितस्य ॥

हे मुनिवृंद ! चारित्रहीन मुनि बहुत हैं ऐसा समझकर उनका आप आश्रय मत करो और सद्गुणी मुनि एकही है ऐसा समझकर उसको मत छोडो ऐसे अभिप्रायका कथन—

अर्थ—यहां पार्श्वस्थ शब्दसे चारित्रहीन मुनिओंका ग्रहण समझना चाहिये अर्थात् चारित्रहीन मुनि लक्षावधि हो तो भी एक सुशील मुनि उनसे श्रेष्ठ समझना चाहिये कारण सुशील मुनीश्वरके आश्रयसे शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्र बढते हैं, ऐसे ही मुनिका आप आश्रय करो ऐसा गाथार्थ है

संजदजणावमाणं पि वरं दुज्जणकदादु पूजादो ॥
सीलविणासं दुज्जणसंसग्गी कुणदि ण दु इदरं ॥ ३५५ ॥
वरं संयतत प्राप्ता निंदा संयमसाधनी ॥
न त्वसंयततः पूजा शीलसंयमनाशिनी ॥ ३६० ॥

विजयोदया—संयता परिभवन्ति मामसुचरित तत पार्श्वस्थादीनेवाश्रयामि इति न चेत कार्यमित्याचष्टे—संजदजणावमाणं पि वरं संयतापमानमपि वरं । दुज्जणकदादु पूजादो दुर्जनकृतायाः पूजायाः । कथं ? दुज्जणसंसग्गी सीलविणासं कुणदि दुर्जनसंसर्गः शीलविनाशं करोति । न दु इदरं न तु इतरः संयतजनावमान तु नैव शीलविनाशं करोति ॥

संयता मा मंदाचरणं अवमानयंति तत पार्श्वस्थादीनेवाश्रयाभीति न चेतः कार्यमित्याचष्टे—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

चारित्रहीन मेरेको संयमी जन अपमानित करते हैं इस लिये पार्श्वस्थादि मुनिओंका आश्रय मैं करूंगा ऐसी बुद्धि हे मुनिगण ! आपको करना योग्य नहीं है ऐसा अभिप्राय ग्रंथकार आगेकी गाथामें कहते हैं.

अर्थ—संयमी तपस्विओने किया हुआ अपमान भी दुर्जनके द्वारा की गई पूजासे बढकर अच्छा है ऐसा समझना चाहिये क्योंकि दुर्जनोंका सहवास शीलका नाश करता है परंतु संयमी मुनिओंका सहवास शीलका नाश नहीं करता है अतः सज्जनसहवासही श्रेयस्कर है

प्रस्तुतोपसंहारगाथा—

आसयवसेण एवं पुरिसा दोसं गुणं व पावंति ॥
तह्मा पसत्थगुणमेव आसयं अल्लिएज्जाह ॥ ३५६ ॥

गुणदोषौ प्रजायेते संसर्गवशतो यतः ॥
संसर्गः पावनः कार्यो विमुच्यापावनं ततः ॥ ३६१ ॥

विजयोदया—आसयवसेण आश्रयवशेन । एवमुक्तेन क्रमेण । पुरिसा दोसं गुणं व पावंति । पुरुषा दोषं गुणं वा प्राप्नुयन्ति । तह्मा पसत्थगुणमेव आसयं अल्लिएज्जाह । तस्मात् प्रशस्तगुणमेव आश्रयं आश्रयेत् ॥

प्रकृतमुपसंहरति—

मूलारा—आसयवसेण—आश्रयवशेन । अल्लिएज्जाह आश्रयत यूयम् ॥

प्रस्तुत प्रकरणका उपसंहार—

अर्थ—मनुष्यको आश्रयके वश दोष और गुणोंकी प्राप्ति होती है. इस लिये हे मुने! तुम उत्तम गुणपरिपूर्ण ऐसे ही आश्रयकी अर्थात् गुणयुक्त मुनिओंकी संगति करो.

पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स ॥
कडुगं व ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स ॥ ३५७ ॥

वाच्यो गणास्थितः पथ्यमनभीष्टमपि स्फुटम् ॥
तत्तस्य कटुकं पाके भैषज्यमिव सौख्यदम् ॥ ३६२ ॥

विजयोदया—पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स पथ्यं हितं हृदयस्य अनिष्टमपि वदत आत्मीयगणे वसतः । कडुगं व ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स कट्वौषधमिवापि तन्मधुरविपाकं भवति । तस्य परस्य अलिपेन कथितेन किमस्माकं प्रयोजनं । किंच वेत्ति स्वयमपि इति नोपेक्षितव्यं । परोपकारः कार्य एवेति कथयति । तथाहि—तीर्थकृतः विनेयजनसंबोधनार्थं एव तीर्थविहारं कुर्वन्ति । महत्ता नामैवं यत्-परोपकारबद्धपरिकरता ॥ तथा चोक्तं—

क्षुद्रा सति सहस्रश स्वभरणव्यापारमात्रोद्यता ।
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेक सतामग्रणी ॥
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोत.पतिं वाडवो ।
जीमूतस्तु निदाघसंभूतजगत्संतापविच्छित्तये ॥

स्वयूथ्यस्यानिष्टमपि पथ्यं कथ्यमित्यनुशास्ति—

मूलारा—पथमित्यादि–परविप्रियेणोक्तेन किमस्माकमिति स्वाश्रमवासी नोपेक्ष्यः यतः—

क्षुद्राः सन्ति सहस्रशः स्वभरणव्यापामात्रोद्यताः ॥
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः ॥
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोत पतिं वाडवो ॥
जीमूतस्तु निदाघसंभूतजगत्संतापविच्छित्तये ॥

अर्थ—हे मुनिगण ! तुम अपने गणमें रहने वाले मुनिके साथ हितकर वचन बोलो यद्यपि वह हृदयको अप्रिय हो तो भी हरकत नहीं हैं. जैसे कडुक भी औषध परिणाममें मधुर, कल्याणकारक होता है वैसे तुम्हारा भाषण उस मुनिका कल्याण करेगा. दुसरेको अनिष्ट बोलनेसे हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? क्या दुसरा मनुष्य अपना हित स्वयं नहीं जानता है ? ऐसा विचार करके दुसरों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये. परोपकार करनेका कार्य करना ही चाहिये. देखो तीर्थंकर परमदेव भव्य जनोंको उपदेश देनेके लिये ही तीर्थविहार–धर्मविहार करते हैं. परोपकारके कार्यमें कमर कसना यही बडप्पन है. किसी कविने ऐसा कहा है—

" जगतमें अपना कार्य करने में ही तत्पर रहनेवाले मनुष्य हजारों की तादात में हैं. परंतु परोपकार ही जिसका स्वार्थ है ऐसा सत्पुरुषोंमें अग्रणी पुरुष एकाद ही है. वडवानल अपना दुर्भर पेट भरनेकेलिये समुद्रका हमेशा पान करता है क्योंकि वह क्षुद्र मनुष्य के समान स्वार्थी है. परंतु मेघ ग्रीष्मकालकी उष्णतासे पीडित समस्त प्राणियोंका संताप मिटानेके लिये समुद्रका पान करता है. मेघ परोपकारी है और वडवानल स्वार्थी है. "

इतरेणापि श्रवणयोरनिष्टमपि तद्ग्राह्यं इति कथयति—

पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणं णरेण घेत्तव्वं ॥
पेल्लेदूण वि छूढं बालस्स घदं व तं खु हिदं ॥ ३५८ ॥

स्वांतानिष्टमपि ग्राह्यं पथ्यं बुद्धिमता वचः
हठतः किं न बालस्य दीयमानं घृतं हितम् ॥ ३६३ ॥

इति दुर्जनसंगवर्जनम् ।

विजयोदया—हृदयस्यानिष्टमपि पथ्यं नरेण बुद्धिमता ग्राह्यं इति चेतो निधाय । पेल्लेदूण वि छूढं अवष्टभ्यापि प्रवेशितं घृतं बालानां हितं भवति यथा तद्वदिति यावत् ॥

हृदयानिष्टमपि शिष्टवाक्यं हितबुद्ध्या ग्राह्यमित्युपदिशति—

मूलारा—पेल्लेदूण वि अवष्टभ्यापि हठादपि । छूढं मुखे प्रवेशितं । तं तत् । खु स्फुटं ॥

अर्थ—शिष्यादि मुनिओंने कर्णको अप्रिय भी गुरुओंका भाषण ग्रहण करना चाहिये. जैसे माता बालकको पकडकर उसके मुखमें घृत डालती है. उसमें उसका हित होता है वैसे कर्णको अप्रिय भी गुरुका भाषण हि घृतके समान हितकारक होता है ऐसा समझ कर स्वीकारना चाहिये.

अप्पपसंसं परिहरह सदा मा होह जसविणासयरा ॥
अप्पाणं थोवंतो तणलहुहो होदि हु जणम्मि ॥ ३५९ ॥

मा छेदयन्तु स्वयशो मा कार्षुः स्वं प्रशंसनम् ॥
लघवः स्वं प्रशंसंतो जायन्ते हि तृणादपि ॥ ३६४ ॥

विजयोदया—अप्पपसंसं परिहरह आत्मप्रशंसां त्यजत सदा । मा होह मा भवत । जसविणासयरा यशोविनाशकाः । सद्भिर्गुणैः प्रख्यातमपि यशो भवतां नश्यति आत्मप्रशंसया । अप्पाणं थोवंतो आत्मानं स्तुवन् । तणलहुओ होदि हु जणम्मि तृणवल्लघुर्भवति सुजनमध्ये ॥

आत्मप्रशंसा यशोविनाशिनीति तां त्यजतेत्यनुशास्ति—

मूलारा—थोवंतो प्रशंसयन् ॥

अर्थ-हे मुनिगण ! तुम अपनी प्रशंसा करना हमेशाके लिये छोड दो. अपनी प्रशंसा आपही करनेसे सत्पुरुषोंके द्वारा वर्णन किया गया तुम्हारा यश नष्ट होगा. जो मनुष्य अपनी प्रशंसा करता है वह जगतमें तृणके समान हलका होता है.

संतो वि गुणा कत्थंतयस्स णस्संति कंजिए व सुरा ॥
सो चेव हवदि दोसो जं सो थोएदि अप्पाणं ॥ ३६० ॥

स्वस्तवेन गुणा यांति कांजिकेनेव सीधुनि ॥
स दोषः परमस्तेषां कोपः संयमिनामिव ॥ ३६९ ॥

विजयोदया—संतो वि विद्यमाना अपि। कत्थंतयस्स ममैते गुणा इति कथयतः। गुणा णस्संति गुणा नश्यंति। कंजिएव सुरा सौवीरेण सुरेव। सो चेव हवइ दोसो स एव भवति दोषः। जं सो थोएदि अप्पाणं यदात्मानं स्तौति सः॥

स्वयं स्वगुणकीर्तने दोषमाह—

मूलारा—विकहंतयस्स एते मे गुणा इति कथयत । कंजिए कांजिकेन। व यथा। कंजिएणेति पाठे यथेत्यध्याहारः। थोएदि स्तौति।

अर्थ-जैसे कांजी पीनेसे मदिराजन्य उन्माद नष्ट होता है वैसे अपनी प्रशंसा अपने मुहसे करनेवाले मनुष्यके गुण नष्ट होते हैं. इस वास्ते अपनी स्तुति करना यह दोष है.

स्वगुणस्तवनाकरणे यदि ते नश्यंति तर्हि स्तोतव्याः स्युर्न तथा नश्यंति इत्याचष्टे—

संतो हि गुणा अकहिंतयस्स पुरिसस्स ण वि य णस्संति ॥
अकहिंतस्स वि जह गहवइणो जगविस्सुदो तेजो ॥ ३६१ ॥

अनुक्तोऽपि गुणो लोके विद्यमानः प्रकाशते ॥

विजयोदया—संतो विद्यमानाः । अकहितयस्स अभाषमाणस्य । पुरिसस्स पुरुषस्य । गुणा ण वि य णस्संति नैव नश्यंति । यदि न स्वयं स्तौति स्वगुणान् प्रख्यातिमुपयांतीत्येतन्न नेति वदति । अकहिंतस्स वि अस्तुवतोऽपि गहयइणो ग्रहपतेः आदित्यस्य । णो जगविस्सुदो तेजो न जगति विश्रुतं तेजः ॥

स्वगुणास्तवने यदि ते नश्यंति ततः स्तोतव्याः स्युर्न च तथा नश्यंति इत्याह—

मूलारा—गहयइणो आदित्यस्य ॥

अपने गुणोंकी स्तुति न करनेसे यदि उनका विनाश होगा तो उनके अविनाशार्थ उनका वर्णन करना योग्य होगा परंतु गुणवर्णन न करनेपर भी वे नष्ट नहीं होते हैं ऐसा कथन—

अर्थ--वर्णन न करने पर भी मनुष्यके गुणोंका नाश नहीं होता है यह बात अनुभव सिद्ध है. स्वगुणोंकी स्तुति न करने पर भी वे प्रख्यात होते हैं. क्या सूर्यकी प्रशंसा न करने पर भी जगतमें सूर्यका तेज प्रसिद्ध नहीं होता है ?

आत्मन्यसतां गुणानां उत्पादकं स्तवनमिति वचनं न युज्यत इत्याह—

ण य जायंति असंता गुणा विकत्थंतयस्स पुरिसस्स ॥
धंति हु महिलायंतो व पंडवो पंडवो चेव ॥ ३६२ ॥

कथ्यमाना गुणा वाचा नासंतः सन्ति देहिनः ।
पंडका न हि जायन्ते योषा वाक्यशतैरपि ॥ ३६७ ॥

विजयोदया—ण य जायंति असंता गुणा नैवोत्पद्यन्ते असंतो गुणाः । विकत्थंतयस्स स्तुवतः । धंति नितरां महिलायंतो य वामलोचनेव आचरन्नपि । पंडगो पंडगो चेव पंढः पंढः एव भवति न युवतिः ॥

आत्मन्यसतां गुणानामनुत्पादकं स्तवनमिति युज्यत इत्याह—

मूलारा—महिलायंतो महिलेवाचरन् । पंडवो पंढः ॥

गुण नहीं होनेपर भी स्तुति करनेसे वे उत्पन्न होते हैं यह कहना भी अयोग्य है—

अर्थ---जो पुरुष अपनी स्तुति करता है उसमें गुणोंकी उत्पत्ति नहीं होती है. जैसे कोई पंढ स्त्रीके

समान हावभाव करता हुआ भी स्त्री नहीं होता है. वह पंड ही रहेगा. वैसे गुण अपनेमें नहीं होंगे तो क्या स्तुति करनेसे उनकी उत्पत्ति हो जावेगी ?

संतं सगुणं कित्तिज्जंतं सुजणो जणम्मि सोदूणं ॥
लज्जदि किह पुण सयमेव अप्पगुणाकित्तणं कुज्जा ॥ ३६३ ॥

'विद्यमानं गुणं स्वस्य कीर्त्यमानं निशम्य यः ॥
महात्मा लज्जते चित्ते भाषते स कथं स्वयम् ॥ ३६८ ॥

विजयोदया—संतं सगुणं कित्तिज्जंतं विद्यमानमपि स्वगुणं कीर्त्यमानं । सुजणो जणम्मि सोदूण साधुजनस्य मध्ये श्रुत्वा । लज्जइ व्रीडामुपैति । किह पुण कथं पुनः । सयमेव अप्पगुणकित्तणं कुज्जा स्वयमेवात्मनो गुणकीर्तनं कुर्यात् ॥

सुजनस्यात्मगुणस्तवनाभावं भावयति—

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—सत्पुरुषोंके समुदायमें कोई पुरुष किसी सत्पुरुषके विद्यमान भी गुणोंका वर्णन करने लगा तो वह सत्पुरुष लज्जासे अधोमुख करता है. फिर वह क्या अपने गुणोंका स्वयमेव वर्णन करेगा ?

स्वगुणाकीर्तने गुणमाचष्टे—

अविकत्थंतो अगुणो वि होइ सगुणो व सुजणमज्झम्मि ॥
सो चेव होदि हु गुणो जं अप्पाणं ण थोएइ ॥ ३६४ ॥

निर्गुणोऽपि सतां मध्ये सगुणोस्ति स्वमस्तुवन् ॥
न श्लाघते यदात्मानं गुणस्तस्य स एव हि ॥ ३६९ ॥

विजयोदया—अविकत्थंतो अगुणो वि होइ अकीर्तयन् स्वयमगुणोऽपि भवति। सगुणो व गुणवानिव। सुजणमज्झम्मि सुजनमध्ये । परस्परव्याहतमिदं वचः ' अगुणस्स गुण ' इति एतस्यामाशंकायमाह—सो चेव होदि गुणो स एव गुणो भवति । जं अप्पाणं ण थोयदि यदात्मानं न स्तौति । समीचीनज्ञानदर्शनादिगुणाभावान्निर्गुणः, आत्मप्रशंसाऽकरण गुणेन गुणवानिति भावार्थः ॥

यदि संति गुणास्तस्य निकेपे संति ते स्वयम् ।
न हि कस्तूरिकागंधः शपथेन विभाव्यते ॥

स्वगुणास्तवने गुणमाह--

मूलारा—अविकत्थंतो अस्तुवन् । सगुणोव गुणवानिव । ण थोवेदि न स्तौति । समीचीनज्ञानादिगुणाभावान्निर्गुणः स्वस्तवनाकरणगुणेन गुणवानिति भावार्थः ॥

अपनें गुणोंका वर्णन न करनेमें ही फायदा है इसका विवेचन आचार्य करते हैं--

अर्थ—जिसमें गुण नहीं हैं ऐसा पुरुष सज्जनोंमें मौन धारण कर बैठता है तब वह गुणी पुरुषके समान दीखता है. गुणरहित मनुष्य गुणवानके समान मानना यह परस्पर विरुद्ध है इस शंकाका उत्तर ऐसा है—अपनी प्रशंसा नहीं करना यही सद्गुण है इससे वह पुरुष गुणी कहा जाता है, यद्यपि उसमें सम्यग्ज्ञान, दर्शनादिगुणोंका अभाव होनेसे वह निर्गुण है तो भी स्वप्रशंसा न करना यह गुण उसमें होनेसे गुणवानके समान वह पुरुष माना जाता है. यदि मनुष्यमें गुण ही तो वे स्वयं प्रकाशित होते हैं. उनके वर्णन की कुछ भी आवश्यकता नहीं है. क्या कस्तूरीका सुगंध सौगंध खानेसे व्यक्त होता है ? नहीं वह स्वयं प्रकट होता है. वैसे गुण भी स्वयं प्रकट होते हैं.

वायाए जं कहणं गुणाण तं णासणं हवे तेसिं ॥
होदि हु चरिदेण गुणाणकहणमुब्भासणं तेसिं ॥ ३६५ ॥
गुणानां नाशनं वाचा क्रियमाणं निवेदनम् ॥
प्रकाशनं पुनस्तेषां चेष्टयास्ति निवेदनम् ॥ ३७० ॥

विजयोदया—वायाए जं कहणं वाचा गुणानां यत्कथनं । तं णासणं हवे तेसिं । तन्नाशनं भवेत्तेषां गुणानां । चरित्तेहिं गुणाण कहणं चरितैरेव गुणानां कथनं । तेसिमुब्भावणं होइ गुणानां प्रकटनं भवति । एतदुक्तं भवति— गुणान्प्रकटयितुकामस्य यद्वाचा कथनं गुणेष्वात्मनः प्रवृत्तिरेव गुणप्रकाशनं इति ।

गुणानां यद्वाचा कथनं तत्तेषां नाशनं यत्तु गुणेष्वात्मनः प्रवृत्तिस्तत्तत्प्रकाशनं इत्याह--

मूलारा—णासणं इहलोके सौख्यसौभाग्यादिहेतुत्वभ्रंशनेन निष्फलीकरणं । परलोके च नीचैर्गोत्रनिमित्तत्वेनानिष्टफलसंपादकत्वापादनम् । उब्भावणं प्रकटनम् ।

अर्थ -- वचनोंके द्वारा स्वगुणोंका वर्णन करना यह मानो उनका नाश ही करना है. अपने शुभ आचरणसे ही गुणोंका कथन हो जाता है. शुभ आचरणसे ही गुण प्रगट होते हैं. अपने गुणोंको प्रगट करनेकी जिसको इच्छा है वह सदाचारमें संपूर्ण प्रवृत्ति करे, ऐसी प्रवृत्तिया ही उसके गुणोंका प्रकाशन करेगी.

वायाए अकहंता सुजणो चरिदेहिं कहियगा होंति ॥
विकहिंतगा य सगुणे पुरिसा लोगम्मि उवरीव ॥ ३६६ ॥

अजल्पंतो गुणान्वाण्या जल्पंतश्चेष्टया पुनः ॥
भवन्ति पुरुषाः पुंसां गुणिनामुपरि स्फुटम् ॥ ३७१ ॥

विजयोदया—वायाए अकहिंता वाचया अकथयंतः । सुजणे साधुजनमध्ये । चरिदेहिं वि कहिंतगा य चरितैः प्रतिपादयन्तः । सगुणे आत्मीयान्गुणान् । पुरिसाणं पुरिसा लोगम्मि उवरीव होंति । पुरुषाणामुपरीव भवन्ति पुरुषा लोके ॥

चरितैः स्वगुणप्रकाशनस्य माहात्म्यमाह—

मूलारा—सुजणे साधुजनमध्ये । उवरीव उपरीव ।

अर्थ—जो सुजनोंमें वचनोंके द्वारा अपने गुणोंका वर्णन न कर केवल अपने चारित्रोंसे करते हैं वे पुरुष जगतमें सर्व पुरुषोंमें श्रेष्ठपना पाते हैं.

सगुणम्मि जणे सगुणो वि होइ लहुगो णरो विकत्थितो ॥
सगुणो वा अकहिंतो वायाए होंति अगुणेसु ॥ ३६७ ॥

निर्गुणो गुणिनां मध्ये ब्रुवाणः स्वगुणं नरः ॥
सगुणोऽप्यास्ति वाक्येन निर्गुणानामिव ब्रुवन् ॥ ३७२ ॥

विजयोदया—सगुणम्मि जणे गुणवति जने। सगुणो वि णरो गुणवानपि नरः। लहुगो होदि लघुर्भवति। कः ? सगुण णरो वि कत्थतो स्वगुण नरो वाचा निरूपयन्। किमिव सगुणो वा गुणवानिव। वाचा अकथेंतो वचनेन अप्रकटयन्। अगुणेसु निर्गुणमध्ये ॥

निर्गुणाना मध्ये स्वगुणं अब्रुवन्निव गुणिना मध्ये तं ब्रुवन् गुणवानपि लघुर्भवति इत्युपदिशति—

मूलारा—कहिंतओ वाचा निरूपयन्। वा यथा। उक्तं च—

निर्गुणो गुणिना मध्ये ब्रुवाणः स्वगुणं नरः ॥
सगुणो ऽप्यास्ति वाक्येन निर्गुणानामिव ब्रुवन् ॥

अर्थ—गुणवान मनुष्योंमें गुणवान भी मनुष्य यदि अपने गुणोंका वर्णन करेगा तो वह लघु होता है. और वचनों द्वारा वह अगुणवान पुरुषोंमें स्वगुणवर्णन न करेगा तो वह गुणवान है ऐसा समझना चाहिये

चरिएहिं कत्थमाणो सगुणं सगुणेसु सोभदे सगुणो ॥
वायाए वि कहिंतो अगुणो व जणम्मि अगुणम्मि ॥ ३६८ ॥

सगुणो गुणिनां मध्ये शोभते चरितैर्गुणं ॥
ब्रुवाणो वचनैः स्वस्य निर्गुणानामिवागुणः ॥ ३७३ ॥

विजयोदया—चरिएहिं कत्थमाणो चरितैरेव प्रकटयन्। किं सगुणं स्वगुणं। सगुणो सोभदे गुणवान् जनः शोभते। क सगुणेसु गुणवत्सु। किमिव वायाए वि कथतो वचसा ब्रुवन्। अगुणोव्व निर्गुण इव। अगुणम्मि निर्गुणमध्ये ॥

निर्गुणो निर्गुणेपु वचनैरिव सगुण सगुणेपु स्वस्य गुणाश्चरितैः प्रकटयन् शोभते—

मूलारा—अगुणो व निर्गुणो यथा। उक्तं च—

सगुणो गुणिना मध्ये शोभते चरितैर्गुणं।
ब्रुवाणो वचनैः स्वस्य निर्गुणानामिवागुणः ॥

अर्थ—जो सद्गुणी मनुष्य अपने शुभाचरणों द्वारा अपने सद्गुणोंको सद्गुणी मनुष्योंमें वर्णन करता है वह शोभाको पाता है. परंतु अगुण मनुष्य निर्गुणी मनुष्योंमें यदि अपने गुण वचनोंके द्वारा कहेगा तो वह शोभा नही पाता है.

सगणे व परगणे वा परपरिपवादं च मा करेज्जाह ॥
अच्चासादणविरदा होह सदा वज्जभीरू य ॥ ३६९ ॥

यूयमासादनां कुर्ध्वं मा जातु परमेष्ठिनाम् ॥
दुरंता संसृतिर्जंतोर्जायते कुर्वतो हि तां ॥ ३७४ ॥
त्यजतासंयमं त्रेधा मुक्तिलक्ष्मीं जिघृक्षवः ॥
सा दूरीक्रियते तेन व्याधिनेव सुखासिका ॥ ३७५ ॥
मा ग्रहीषुः परीवादं स्वसंघपरसंघयोः ॥
संसारो वर्धतेऽनेन सलिलेनेव पादपः ॥ ३७६ ॥

विजयोदया—सगणे व परगणे वा परपरिवादं च मा करेज्जाह। आत्मीये गणे परगणे वा परापवादं मा कृथाः। अच्चासादणविरदा य होह अत्यासादनतो विरता भवत। सदा वज्जभीरू य पापभीरवश्च भवत ॥

प्रकारांतरेण शिक्षां प्रयच्छति—

मूलारा—परपरिवादं परापवादं।

अर्थ—हे मुनिगण! आपको अपने गणमें अथवा परगणमें अन्य मुनिओंकी निंदा करना कदापि योग्य नहीं है. परकी विराधनासे आप विरक्त होकर हमेशा पापोंसे विरक्त होना चाहिये.

परनिंदया दोषमाचष्टे स्पष्टार्थी गाथा—

आयासवेरभयदुक्खसोयलहुगत्तणाणि य करेइ ॥
परणिंदा वि हु पावा दोहग्गकरी सुयणवेसा ॥ ३७० ॥

शोकद्वेषासुखायासवैरदौर्भाग्यभीतयः ॥
विशिष्टानिष्टया पुंसां जन्यंते परनिंदया ॥ ३७७ ॥

परनिंदाया दोषानाह —

मूलारा—सुजणवेस्सा सुजनाना द्वेष्या ।

अर्थ—परनिंदासे आयास, वैर, भीति, दुःख, शोक वगैरे दोष उत्पन्न होते हैं. यह परनिंदा पाप और द्रोहको उत्पन्न करती है, परनिंदा करनेवाला मनुष्य सुजनको अप्रिय होता है.

परनिंदा किमर्थं क्रियते गुणित्वे स्थापयितुमात्मानमिति चेत्, तन्निराकरोति—

किच्चा परस्स णिंदं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज ॥
सो इच्छदि आरोग्गं परम्मि कडुओसहे पीए ॥ ३७१ ॥

उत्थापयिपुरात्मानं परनिंदां विधाय यः ॥
अपरेणौपधे पीते स नीरोगत्वमिच्छति ॥ ३७८ ॥

विजयोदया—किच्चा परस्स णिंद परनिंदा कृत्वा । जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज । य आत्मानं गुणितायां स्थापयितुमिच्छेत् । सो इच्छदि स वांछति । किं आरोग्ग नीरोगतां । परम्मि कडुगोसधे पीदे कटुकौषधपायिन्यन्यस्मिन् ॥

गुणवत्वे स्थापयितुमात्मानं परनिंदा कुर्वतः प्रत्यवायं दर्शयति ।

मूलारा—स्पष्टम् ।

स्वतःका गुणिपना सिद्ध करनेके लिये परनिंदा करते हैं. ऐसा कहना योग्य नहीं है—यह बात आचार्य दिखाते हैं—

अर्थ—जो परनिंदा करके अपनेको गुणी सिद्ध करना चाहता है. वह मनुष्य दुसरोंको कडवी औषधी पिलाकर स्वयं निरोगी होना चाहता है ऐसा मानना चाहिये जो औषधी खा लेगा वही नीरोग होगा उसी तरह जो गुण प्राप्त कर लेगा वही गुणी होगा. परनिंदासे गुणी बननेका प्रयत्न करना यह उलटे रास्तेपर चलकर स्वस्थानको पोहोंचनेका प्रयत्न करनेके समान है

सत्पुरुषक्रमं व्याचष्टे—

दट्ठूण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ ॥
रक्खइ य सयं दोसं व तयं जणजंपणभएण ॥ ३७२ ॥

योऽन्यस्य दोषमाकर्ण्य चित्ते जिन्हेति सज्जनः ॥
परापवादतो भीतः स्वदोषमिव रक्षति ॥ ३७९ ॥

विजयोदया—दट्ठूण अण्णदोसं अन्यस्य दोषं दृष्ट्वा। सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होदि सत्पुरुषः स्वयं लज्जामुपैति। रक्खइ सयं दोसं व स्वदोषमिव च रक्षति। जणजंपणभयेण जननिंदाभयेन ॥

सत्पुरुषक्रमं कथयति।

मूलारा—रक्खदि छादयति। तयं तं अन्यदोषम्।

सत्पुरुषोंका क्रम कहते हैं—

अर्थ—सत्पुरुष दूसरोंका दोष देखकर उसको प्रगट नहीं करते हैं प्रत्युत लोकनिंदाके भयसे उनके दोषोंको अपने दोषोंके समान छिपाते हैं. दूसरोंका दोष देखकर सत्पुरुष लज्जित होते हैं.

अप्पो वि परस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प बहुदरो होदि ॥
उदए व तेल्लबिंदू किह सो जंपिहिदि परदोसं ॥ ३७३ ॥

स्वल्पोऽप्यन्यगुणो धन्यं तैलबिंदुरिवोदके ॥
विवर्द्धते समासाद्य परदोषं न वक्ति सः ॥ ३८० ॥

विजयोदया—अप्पो वि परस्स गुणो परस्य गुण स्वल्पोऽपि। सप्पुरिसं पप्प सत्पुरुषं प्राप्य। बहुदरो होइ अतिमहान् भवति। उदएव तेल्लबिंदू उदके तैलबिंदुरिव। किह सो जंपिहिदि परदोसं कथमसौ इत्थंभूतः जल्पति परस्य दोषं ॥

मूलारा—सप्पुरिसं पप्प सत्पुरुषं प्राप्य।

अर्थ—अन्य मनुष्यका स्वल्प भी गुण सत्पुरुष ग्रहण कर उसको बडा बनाते हैं. अर्थात् अन्य जनोंका अल्प गुण भी दीख पडा तो वे बहुत खुश होकर उसकी बहुत प्रशंसा करते हैं. जैसे पानीमें तेलका एक बिंदु यदि पड गया तो उसके आश्रयसे वह विस्तीर्ण होता है. वैसे सत्पुरुषसे प्रशंसित हुआ अन्य मनुष्यका गुण भी जगतमें फैलता है. अल्पगुणकी भी प्रशंसा करनेवाले सत्पुरुष क्या परदोषोंका कथन करेंगे ? कभी भी नहीं करेंगे.

एसो सव्वसमासो तह जतह जह्वा हवेज्ज सुजणम्मि ॥
तुज्झे गुणेहिं जणिदा सव्वत्थ वि विस्सुदा किची ॥ ३७४ ॥

ग्राह्यस्तथोपदेशोऽयं सर्वो युष्माकमंजसा ॥
यथा गुणकृता कीर्तिर्लोके भ्राम्यति निर्मला ॥ ३८१ ॥

विजयोदया—एष सर्वस्योपदेशस्य संक्षेपः । तह जतह तथा यतध्वं । जह हवेज्ज सुजणम्मि यथा भवेत्सुजने । तुज्झे गुणेहिं जणिदा सव्वत्थ वि विस्सुदा किची । युष्माकं गुणैर्जनिता सर्वत्रापि विश्रुता कीर्तिः ॥

सर्वोपदेशसंग्रहमाह

मूलारा—सव्वसमासो सर्वस्य उपदेशस्य संक्षेपः । घेत्तव्वो ग्रहीतव्यः । सुजणम्मि सुजनमध्ये । उक्तं च—

ग्राह्यस्तथोपदेशोऽयं सर्वो युष्माकमंजसा ।
यथा गुणकृता कीर्तिर्लोके भ्राम्यति निर्मला ॥

अर्थ—हे मुनिगण इस संपूर्ण उपदेशका सार यह है कि, आप हमेशा इस प्रयत्नमें रहो कि जिससे आपकी कीर्ति सुजनोंमें प्रसार पावेगी. और तुम्हारे गुणोंसे सर्वत्र तुम्हारा जगत्प्रसिद्ध यश फैल सके.

कासौ संयतानां कीर्तिरिति शंकायामुच्यते—

एस अखंडियसीलो बहुस्सुदो य अपरोवतावी य ॥
चरणगुणसुट्ठिदोत्तिय धण्णस्स खु घोसणा भमदि ॥ ३७५ ॥

अनन्यतापकोऽखंडब्रह्मचर्यो बहुश्रुतः ॥
शांतो दृढचरित्रोऽयमेषा धन्यस्य घोषणा ॥ ३८२ ॥

विजयोदया—एस अखंडियसीलो एष अयं अखंडितसमाधिः । बहुस्सुदो य बहुश्रुतश्च । अपरोवतावी य अपरोपतापकारी च । चरणगुणसुट्ठिदोत्ति य चारित्रगुणे सुस्थितश्च इति । धण्णस्स खु पुण्यवतः । घोसणा भमइ यशो विचरति ॥

कासौ संयताना कीर्तिरित्यत्राह—

मूलारा—घोसणा कीर्तिः ।

अर्थ—ये मुनिराज अखंडशीलके धारक हैं, इनकी ध्यानमें एकाग्रता अखंड रहती है, ये बहुश्रुत हैं. अनेक मतोको ये जानते हैं, ये किसी भी प्राणीको दुःख देते नहीं हैं और चारित्रके गुणोंमें ये स्थिर रहते हैं. इस प्रकार हे मुनिगण ! तुह्मारा पुण्य-यश जगतमें विचरण करो.

एवं गुरूपदेशं श्रुत्वा गण. —

वाढत्ति भाणिदूणं एदं णो मंगलोत्ति य गणो सो ॥
गुरुगुणपरिणदभावो आणंदंसुं णिवाडेइ ॥ ३७६ ॥

इदं नो मंगलं वाढमेवमुक्त्वा गणोऽप्यसौ ॥
तोष्यमाणो गुणैः सूरेरानंदाश्रु विमुंचति ॥ ३८३ ॥

विजयोदया—बाढत्ति भाणिदूणं बाढमित्युक्त्वा । एदं णो मंगलोत्ति एतद्भवतां वचनं अस्माकं मंगलं नितरां इत्युक्त्वा । गुरुगुणपरिणदभावो गुरोर्गुणेषु परिणतचित्त. । आणंदंसुं णिवाडेइ आनंदाश्रूणि निपातयति ॥

एवं गुरूपदेशं श्रुत्वा गणः कृताभ्युपगमस्तं प्रति यद्यत्करोति तद्गाथाष्टकेनाचष्टे—

मूलारा—बाढंति भाणिदूणं बाढमित्युक्त्वा । एदं णो मंगलोत्तिय एतद्युष्मद्वचोऽस्माकं मंगलमिति चोक्त्वा यद्भवद्भिरुपदिष्टं तत्तदभ्युपगतमस्माभिस्तदेवास्माकं मंगलमस्त्विति, से तस्य गुरोरग्रे निगद्य तद्गुणमयचित्तो गण आनंदाश्रूणि पातयति इति संबंधः । उक्तं च—

गाढमिति निगद्य गणो मंगलमेतद्भवद्वचोऽस्माकम् ॥
गुरुगुणपरिणतभावः सोऽश्रूण्यानंदगस्त्यजति ॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपका यह उपदेश हमको अतिशय मंगलकारक सुखदायक और पाप नाशक है ऐसा मुनिगण बोलते हैं और गुरुके गुणोंमें एकाग्रचित्त होकर नेत्रोंसे आनंदाश्रु गिराते हैं.

भगवं अणुग्गहो मे जं तु सदेहोव्व पालिदा अम्हे ॥
सारणवारणपडिचोदणाओ धण्णा हु पावेंति ॥ ३७७ ॥

अयं नोऽनुग्रहोऽपूर्वो यत्स्वांगमिव पालिताः ॥
सारणावारणादेशा लभ्यंते पुण्यभागिभिः ॥ ३८४ ॥

विजयोदया—भगवं अणुग्गहो मे भगवन्ननुग्रहोऽस्माकं। जं तु सदेहोव्व पालिदा अम्हे यत्स्वशरीरमिव पालिता वयम्। सारणवारणपडिचोयणाओ एवं कुरुत, माकुरुत इति शिक्षां। धण्णा हु पावेंति धन्याः प्राप्नुवन्ति।

मूलारा—अणुग्गहो प्रसादो युष्माकं। मे अस्माकं। सदेहं व स्वदेहमिव। सारणवारणपडिचोयणाओ एवं कुरु मैवं कुरु इत्यादिशिक्षा॥

अर्थ—हे भगवन्! आपने स्वदेहके समान हमारा पालन किया है. आपने हे मुनिगुण! तुम अमुक कार्य करो और अमुक कार्य मत करो ऐसी शिक्षा दी है. ऐसी शिक्षा भाग्यवंतको ही मिलती है. अन्योंको नहीं.

अम्हे वि खमावेमो जं अण्णाणापमादरागेहिं ॥
पडिलोमिदा य आणा हिदोवदेसं करिंताणं ॥ ३७८ ॥

क्षमयामो वयं तद्यद्रागाज्ञानप्रमादतः ॥
आदेशं ददतामाज्ञा भवतां प्रतिकूलिता ॥ ३८५ ॥

विजयोदया—अम्हे वि खमावेमो वयमपि क्षमां ग्राहयामः। जं अण्णाणापमादरागेहिं अण्णा अज्ञानात्।

पमादरागेहि प्रमादद्रागाच्च। पडिलोमिदा य आणा भवतां प्रतिकूलवृत्तयो जाताः। हिदोवदेसं करंताणं। आज्ञां हितोपदेशं कुर्वताम् ॥

मूलारा—समावेमो क्षमां ग्राहयिष्यामो युष्मान् ॥

अर्थ—हे प्रभो! प्रमाद, रागभाव, अज्ञान इत्यादि विकारोंके आवेशमें आकर हमने आपकी आज्ञाका लोप किया होगा. आपके हितोपदेशके प्रतिकूल हमने प्रवृत्ति की होगी. इसलिये हे प्रभो! हम आपके पास क्षमायाचना करते हैं.

सहिदय सकण्णयाओ कदा सचक्खू य लध्दसिद्धिपहा ॥
तुज्झ वियोगेण पुणो णट्ठदिसाओ भविस्सामो ॥ ३७९ ॥

लब्धसिद्धिपथा जाताः सचित्तश्रोत्रचक्षुषः ॥
युष्मद्वियोगतो भूयो भविष्यामस्तथाविधाः ॥ ३८६ ॥

विजयोदया—सहिदय सकण्णयाओ सहृदयाः सकर्णकाश्च जाताः। कदा सचक्खू य कृताः सलोचनाः। लद्धसिद्धिपहा लब्धसिद्धिमार्गाः। तुज्झ वियोगेण पुणो भवद्भयो वियोगेन पुनः। णट्ठदिसाओ नष्टदिक्काः। भविस्सामो भविष्यामः ॥

मूलारा—सकण्णयाओ सकर्णकाश्च। कदा कृताः युष्माभिरिति शेषः। तुज्झ भवद्भ्यः। णट्ठदिसागा नष्टदिका मार्गदर्शनरहिता इत्यर्थः।

अर्थ—हे प्रभो! आपने हमको हृदययुक्त किया है. अर्थात् आपके उपदेशसे हम हिताहितका विवेक करनेमें समर्थ होगये हैं. हमको कर्णोंकी प्राप्ति हुई है. अर्थात् आपने हमको शास्त्र पढाये हैं. और हमको आपने शास्त्ररूप लोचन प्रदान किये हैं. हमको आपने मोक्षमार्गमें भी लगा दिया है परंतु आपका वियोग होनेसे हम पुनरपि दिग्मूढ हो जायेंगे. हाय!

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीवणाथम्मि ॥
पवसंते य मरंते देसा किर सुण्णया होंति ॥ १८० ॥

सर्वजीवहिते वृद्धे सर्वलोकैकनायके ॥
प्रोषिते वा विपन्ने वा देशाः शून्या भवन्ति ते ॥ ३८७ ॥

विजयोदया—सव्वजयजीवहिदगे सर्वस्मिन्नगति ये जीवाः तेषां हिते । थेरे ज्ञानतपोवृद्धे । सव्वजगजीवणाथम्मि सर्वजगतो जीवानां नाथे । पवसंते य मरंते प्रवासं मृतिं वा प्रतिपद्यमाने । देसा किर सुण्णया होंति देशाः किल शून्या भवंति ॥

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीवणाथम्मि ॥
पवसंते य मरंते होदि हु देसोंधयारोव्व ॥ ३८१ ॥
सीलड्ढगुणड्ढेहिं दु वहुस्सुदेहिं अवरोवतावीहिं ॥
पवसंते य मरंते देसा ओखंडिया होंति ॥ ३८२ ॥

अनन्यतापिभिः सर्वैर्गुणशीलपयोधिभिः ॥
हीना बहुश्रुतैर्देशाः सांधकारा भवंति ते ॥ ३८८ ॥
सर्वज्ञैरिव वैर्वृद्धैर्जन्यन्ते तत्त्वनिश्चयाः ॥
देहनाशे प्रवासे वा तेषामंधा भवंति ते ॥ ३८९ ॥
वाक्यैराप्यायिता लोका यैर्मेघा इव वारिभिः ॥
येभ्यस्ते निर्गता वृद्धास्ते देशाः सन्ति खंडिताः ॥ ३९० ॥

विजयोदया—सीलड्ढगुणड्ढेहिं य बहुस्सुदेहिं अवरोवतावीहिं शीलाढ्यैर्गुणाढ्यैर्बहुश्रुतैः अपरोपतापिभिः । पवसंते य मरंते मृतिं प्रवासं वा प्रतिपद्यमानैः । देसा ओखंडिदा होंति जनपदा अवखंडिता भवंति । गतार्थोत्तरा गाथा ॥

मूलारा—थेरे ज्ञानतपोवृद्धे ॥

मूलारा—देसोंधयारोव्व जनपदोऽन्धकार इव भवति । हिताहितज्ञानशून्यो भवतीत्यर्थः ॥

मूलारा—ओखंडिदा अखंडिताः वंचिता दैवेन विपर्यासितस्वार्थसिद्ध्युपाया इत्यर्थः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप सर्व जगत्के जीवोंका हित करनेवाले हैं. आप ज्ञानवृद्ध और तपोवृद्ध हैं. आप सर्व जगत्के जीवोंके स्वामी हैं. आप अब प्रवास करनेवाले हैं. अथवा संन्यासमरणका स्वीकार करनेवाले हैं ऐसे समय हमको सर्व देश शून्य दिखते हैं. तथा सर्व देश अंधकारमय दीखते हैं. हे प्रभो ! आप शीलयुक्त, गुणयुक्त, और बहुश्रुत हैं. आप प्राणिओंको दुःख न देनेवाले हैं. परंतु अब आप प्रवास करनेवाले है अथवा सन्यासमरण धारण करनेवाले हैं. ऐसे समयमें हमको सब देश खंडित दीखते हैं.

सव्वस्स दायगाणं समसुहदुक्खाण णिप्पकंपाणं ॥
दुक्खं खु विसहिदुं जे चिरप्पवासो वरगुरूणं ॥ ३८३ ॥

दायकानामशेषस्य सूरिणामुपकारिणाम् ॥
समानसुखदुःखानां वियोगो दुःसहश्चिरम् ॥ ३९१ ॥
पवित्रविद्योद्यतदानपंडितैस्तनूभृतां तापविपादनोदिभिः ॥
गणाधिपैर्भाति विना न मेदिनी निरस्तपंकैः सरसीव वारिभिः ॥ ३९२ ॥
बुधैर्न शीलै रहिता नितंबिनी तपस्विदानै रहिता गृहस्थता ॥
गुरूपदेशै रहिता तपस्विता प्रशस्यते नित्यसुखप्रदायिनी ॥ ३९३ ॥
मनीषितं वस्तु समस्तमंगिनां सुरद्रुमाणामिव यच्छतां सदा ॥
गुणैर्गुरूणां विरहो गरीयसां न शक्यते सोढुमपास्तरेफसाम् ॥ ३९४ ॥

इति अनुशिष्टिसूत्रम् ।

विजयोदया—सव्वस्स दायगाणं ज्ञानदर्शनचारित्रतपोदानोद्यतानां । समसुहदुक्खाण सुखदुःखयोः समानानां । णिप्पकंपाणं परीषहेभ्यो निश्चलानां । वरगुरूणं महतां गुरूणां । चिरप्पवासो चिरकालप्रवासो वियोगः । दुक्खं खु विसहिदुं जे सोढुमतीव दुष्करं ॥

मूलारा—सव्वस्स ज्ञानादेः । णिप्पकंपाणं परीषहोपसर्गेषु निःक्षोभाणां ,। दुक्खं खु दुःखशोक एव ।

विसहिदुं जे विसोढुं । चिरप्पवासो दूरदेशांतरगमनं मरणं वा । इति गुणानुशिष्टिः । सूत्रतः । १४ । अंकतः १११ ॥

अर्थ—जिनसे शिष्योंको ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तपोंकी प्राप्ति होती हैं. जो सुख और दुःखोंमें समान हैं अर्थात् रागद्वेषरहित हैं. परीषहोंसे जिनकी ध्यानैकाग्रतामें बाधा आती नहीं है. ऐसे श्रेष्ठ आचार्योंका चिरकालीन वियोग सहन करना अतिशय दुष्कर है.

एवं परिसमाप्य अनुशासनाधिकारं परगणचर्यां निरूपयति—

एवं आउच्छित्ता सगणं अब्भुज्जदं पविहरंतो ॥
आराधणाणिमित्तं परगणगमणे मइं कुणदि ॥ ३८४ ॥

आपृच्छयेति गणं सर्वं चतुरंगमहोद्यमम् ॥
करोत्याराधनाकांक्षी गंतुं परगणं प्रति ॥ ३९५ ॥

विजयोदया—एवं आउच्छित्ता आपृच्छ्य । सगणं स्वगणं । अब्भुज्जदं पविहरंतो प्रकर्षेण रत्नत्रये प्रवर्तमानः । आराहणाणिमित्तं आराधनानिमित्तं । परगणगमणे मइं कुणइ परगणगमने मतिं करोति ।

अथ तथाभावितश्रामण्यस्य सल्लेखनापरिणतस्यापृष्टगणस्य गणिनः पुनर्ममत्वोज्जीवननिरोधेन समाधिप्रबंधसिद्ध्यर्थं परगणगमनक्रमं सप्तदशभिर्गाथाभिरुपदिशति—

मूलारा—आउच्छित्ता आपृच्छ्य । संबोध्येत्यर्थः । अब्भुज्जदं अभ्युद्यतं उद्यमाभिमुखं अनलसमित्यर्थः । पविहरंतो प्रकर्षेण रत्नत्रये प्रवर्तमान. ॥

इस प्रकार अनुशासनाधिकारकी समाप्ति करके आचार्य परगणचर्या नामक अधिकारका निरूपण करते हैं—

अर्थ—इस प्रकार अपने गणको पूछकर अपने रत्नत्रयमें अतिशय प्रयत्नसे प्रवृत्ति करनेवाले वे आचार्य आराधनाके निमित्त परगणमें गमन करनेकी इच्छा मनमें धारण करते हैं.

किमर्थं परगणप्रवेशं करोति इत्याशंकायां स्वगणावस्थाने दोषमाचष्टे—

सगणे आणाकोवो फरुसं कलहपरिदावणादी य ॥
णिब्भयसिणेहकालुगिणझाणविग्घो य असमाधी ॥ ३८५ ॥

आज्ञाकोपो गणशस्य परुषः कलहोऽसुख ॥
निर्भयस्नेहकारुण्यध्यानविघ्नासमाधयः ॥ ३९६ ॥

विजयोदया—सगणे आणाकोवो आत्मीयगणे आज्ञाकोपः। फरुसं कलहपरिदावणादी य परुषवचनं, कलहो, दुःखादीनि च। णिब्भयसिणेहकालुणिणझाणविग्घो य निर्भयता, स्नेहः, कारुण्यं, ध्यानविघ्नः। असमाही असमाधिश्च ॥

किमर्थमाचार्यस्तथाविधभिक्षुर्वा परसंघप्रवेशं करोतीति पृच्छन्तं प्रति स्वगणवासिन आज्ञाकोपादीनव दोषानुद्दिष्टुमिदमाचष्टे—

मूलारा—आणाकोवो आज्ञाभंगः। फरुसं परुषवचनं। परिदावणा दुःखविषादखेदादीनि। कोलुणिग कारुण्यम् ॥

आचार्य परगणमें प्रवेश क्यों करते हैं ? ऐसी शंका उपस्थित की जानेपर आचार्य स्वगणमें रहनेसे दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा उत्तर दिया है—उन दोषोंका सविस्तर विवेचन इस प्रकार—

अर्थ—आराधनासिद्धिके लिये आचार्य यदि स्वसंघमें ही रहे तो आज्ञाकोप, कठोरवचन, कलह, दुःख, विषाद, खेद वगैरह, निर्भयता, स्नेह, कारुण्य, ध्यानविघ्न और असमाधि ये दोष उत्पन्न होते हैं.

उड्डाहकरा थेरा कालहिया खुड्डया खरा सेहा ॥
आणाकोवं गणिनो करेज्ज तो होज्ज असमाही ॥ ३८६ ॥

परापवादोद्यतयो जरंतः शैक्ष्याः खरा युद्धपरानधीनाः ॥
आज्ञाक्षतिं मंक्षु गणे स्वकीये कुर्वन्ति सूरेरसमाधिहेतुम् ॥ ३९७ ॥

विजयोदया—उड्डाहकरा थेरा अयशःसंपादकाः स्थविराः। कालहिया कलहकराः। खुड्डगा क्षुल्लकाः। खरा सेहा परुषा अमार्गज्ञाः। आणाकोवं गणिणो करेज्ज आज्ञाकोपं सूरेः कुर्युः। तो होज्ज असमाही तस्मादाज्ञाकोपाद्भवेदसमाधिः ॥

स्वगणे स्थविरादिकृतमसमाधिकरमाज्ञाकोपं दर्शयति—

मूलारा—स्थविरा अयशःसंपादकाः । कालहिगा कालहिकाः कलहकरा इत्यर्थः । खुड्डया श्रमणोपासका बालकाः । मया शीघ्राः । सेहा शैक्षा मार्गानभिज्ञा इत्यर्थः । करेज्ज कुर्युः ।

अर्थ—संघमें वृद्ध मुनि यदि अकीर्ति संपादक होवे, और क्षुल्लक अर्थात् क्षुल्लकावस्था धारण करनेवाले गृहस्थ यदि कलह करनेके लिये उद्युक्त होवे, अमार्गज्ञ शिष्य मुनि अर्थात् समाधिविधि न जाननेवाले शिष्य मुनि यदि तीव्र स्वभावके होंगे तो वे आचार्यकी आज्ञाका उल्लंघन करेंगे तब आज्ञाके उल्लंघनसे आचार्यकी असमाधि होगी अर्थात् परिणामोंमें अशांतता उत्पन्न होगी. इसलिये आचार्य समाधिमरण साधनके लिये परगणमें प्रवेश करते हैं.

परगणवासी य पुणो अव्वावारो गणी हवदि तेसु ॥
णत्थि य असमाहाणं आणाकोयम्मि वि कदम्मि ॥ ३८७ ॥
व्यापारहीनस्य ममत्वहानेः संतिष्ठमानस्य गणेऽन्यदीये ॥
नाज्ञाविघाते विहितेऽपि सूरेरेतैरशेषैरसमाधिरस्ति ॥ ३९८ ॥

विजयोदया—परगणेऽप्यमी संत्येव स्थविरादयस्तथाप्यसमाधानं स्यादेवास्येति शंकां निरस्यति । परगणवासी य यः परगणे वसति गणी सो अव्वावारोऽव्यापारः तेषु शिक्षाव्यापाररहितः । तेन आणाकोवो न विद्यते आज्ञाभंगो मार्गज्ञानां । णत्थि य असमाधाणं नास्ति च असमाधिः । आणाकोवम्मि वि कदम्मि आज्ञाभंगे कृतेऽपि ममानुपकारिणो वचनमिमे किमर्थं कुर्वन्ति इति चेतःप्रणिधानात् ॥

परगणेऽप्यमीषां संभवात्तथाज्ञाकोपादस्यासमाधिः स्यादेवेत्यारेकामपाकरोति—

मूलारा— अव्वावारो शिक्षाव्यापाररहितः । तेसु परगणस्थविरादिषु । तेनाज्ञाकोपो नास्तीति शेषः । किकम्मि कोऽपि ममानुपकारस्य वचनमिमे किमर्थं कुर्वन्तीति चेतःप्रणिधानात् ।

परगणमें भी वृद्ध मुनि, क्षुल्लक, अमार्गज्ञ मुनि रहते ही हैं अतः वहां भी आचार्यको असमाधि दोष उत्पन्न होगा ही इस शंकाका ग्रंथकार उत्तर देते हैं —

अर्थ—जब आचार्य परगणमें जाकर रहते हैं तब उस गणस्थ मुनिओंको वे उपदेश, आज्ञा करते नहीं. जिससे

उस गणके मुनिओंके द्वारा आज्ञाभंग करनेका प्रसंग आता ही नहीं. और यदि उन्होंने आचार्य की आज्ञा नहीं भी मानी तो भी आचार्य इनके ऊपर तो मैंने कुछ भी उपकार किया नहीं अतः ये मेरा वचन क्यों शिरोधार्य करेंगे ऐसा विचार कर अपने परिणामोंकी शान्तता नष्ट नहीं करते हैं इसलिये असमाधि नामक दोषकी उत्पत्ति परगणमें रहनेसे नहीं होती है. आज्ञाकोप नामक दोषका विवेचन हुआ.

आज्ञाकोपदोषं अभिधाय द्वितीयं व्याचष्टे—

खुड्डे थेरे सेहे असंवुडे दट्ठु कुणइ वा परुसं ॥
ममकारेण भणेज्जो भणिज्ज वा तेहिं परुसेण ॥ ३८८ ॥

बालान्वृद्धान्शैक्षकान्दुष्टचेष्टान् दृष्ट्वा सूरिर्निष्ठुरं वक्ति वाक्यम् ॥
किंचिद्रागद्वेषमोहादियुक्तास्ते वा ब्रूयुःसंस्तवप्राप्तधार्ष्ट्याः ॥ ३९९ ॥

विजयोदया—खुड्डे थेरे सेहे क्षुल्लकान्स्थविरानमार्गज्ञांश्च। असंवुडे असंवृतान् असंयतान्। दट्ठुण दृष्ट्वा। कुणदि वा परुसं करोति वा परुषं। ममकारेण भणेज्जो ममत्वेन वदेद्वा परुषं। भणिज्ज वा तेहिं परुसेण भण्येत वा गणी तैः परुषं वचः ॥

परुषं व्याचष्टे—

मूलारा—असंवुडे असंवृतान् प्रमादाचरणानित्यर्थः। दट्ठु दृष्ट्वा। कुणदि वक्ति। भणिज्जो भणेत्। परुषं ब्रूयात् इत्यर्थः। भणेज्ज भण्येत। पसरेण प्रबंधेन परिचयकृतधृष्टत्वावष्टंभात् ॥

अब दुसरा दोष कहते हैं—

अर्थ—परुष नामक दोषका स्वरूप इस प्रकार है—क्षुल्लक गृहस्थ, वृद्धमुनि, और अमार्गज्ञ मुनि ये प्रमादसे असंयमपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं ऐसा देखकर उनको आचार्य परुषभाषण करेंगे. ये मेरे संघमें रहकर ऐसा प्रमादयुक्त आचरण करते हैं ऐसा मनमें विचार कर उनको कठोर भाषण करेंगे अथवा वे वृद्धमुनि वगैरह उनके साथ कठोर भाषण करेंगे. अपने संघमें ही रहनेसे वृद्धादि मुनिओंके साथ अधिक परिचय रहता है जिससे वे आचार्य को और आचार्य उनको कठोर भाषण करेंगे तब परुष नामक दोष उत्पन्न होगा.

कलहं पूर्वार्धेन व्याचष्टे—

पडिचोदणासहणदाए होज्ज गणिणो वि तेहिं सह कलहो ॥
परिदावणादिदोसा य होज्ज गणिणो व तेसिं वा ॥ ३८९ ॥

वाक्याक्षमायामसमाधिकारी सूरेः समं तैः कलहो दुरन्तः ॥
दोपास्ततो दुःखविपादखेदाः भवन्ति सर्वेष्वनिवारणीयाः ॥ ४०० ॥

विजयोदया—पडिचोदणासहणदाए गुरुशिक्षासहनेन । होज्ज कलहो तेहिं सह गणिणो वि भवेत्कलहस्तैः क्षुल्लकादिभिः सह गणिनः । परिदावणादिदोसा होज्ज दुःखादिदोषा भवेयुः । गणिणो व तेसिं च गणिनस्तेषां क्षुल्लकादीनां वा कलहः ॥

कलहादिदोपद्वयं व्याख्याति—

मूलारा—पडिचोयणासहणदाए गुरुशिक्षणासहिष्णुतया । होज्ज भवेयुः ।

कलह दोपका पूर्वार्द्धमें वर्णन करते हैं—

अर्थ—स्वगणमें रहनेसे आचार्य के शिक्षावचन सुनकर क्षुल्लकादिक मुनि क्रुद्ध होकर उनसे लडेंगे अथवा क्षुल्लकादिकोंसे आज्ञाभंग होनेसे आचार्यका कलह होना संभवनीय है. आज्ञाभंग होनेसे आचार्यके मनमें खेद, संताप वगैरह विकार उत्पन्न होंगे अथवा ये आचार्य हमको हमेशा उपदेश देते रहते हैं आज्ञा करते हैं ऐसा विचार कर क्षुल्लकादिक दुःख, संताप, शोकादिकसे पीडित होंगे.

परिदावणादीय इत्येतत्सूत्रपदं प्रकारांतरेणापि व्याचष्टे—

कलहपरिदावणादी दोसे व अमाउले करंतेसु ॥
गणिणो हवेज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी ॥ ३९० ॥

गणेन साकं कलहादिदोपं कुर्वत्सु बालादिषु दुर्धरेषु ॥
गणाधिपस्य स्वगणप्रवृत्तेर्ममत्वदोपादसमाधिरस्ति ॥ ४०१ ॥

विजयोदया—कलहपरिदावणादी दोसे व कलहं परितापादिदोपं वा । अमा कुले करंतेसु गणेन सह कुर्वत्सु

क्षुल्लकादिषु। गणिणो हवेज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी गणिनो भवेन्ममतादोषेण असमाधिः॥

कलहादिदोषानेव प्रकारांतरेण व्याचष्टे--

मूलारा--अमा गणेन सह। आकुले बहून्। आकुलं वा। संक्षोभातंकं करंतेसु कुर्वत्सु क्षुल्लकादिषु। ममत्तिदोसेण न केवलं शिक्षालंघनेन ममत्वदोषेण वा असमाधिर्भवेदिति संबंधः।

परितापादिक दुःखोंका अन्य प्रकारसे वर्णन--

अर्थ--अथवा अपने संघमें क्षुल्लकादि मुनि कलह, शोक संतापादिक परस्परमें करते हुए देखकर आचार्यकी अपने गणपर ममता होनेसे चित्तकी एकाग्रता नष्ट हो जायगी. अर्थात् उनके परिणाम अशांतिमय होंगे.

परितावणादि इत्येतत्सूत्रपदं अन्यथा व्याचष्टे--

रोगादंकादीहिं य सगणे परिदावणादिपत्तेसु॥
गणिणो हवेज्ज दुक्खं असमाधी वा सिणेहो वा॥ २९१॥

परीषहैर्घोरतमैः स्वसंघं निरीक्ष्यमाणस्य निपीड्यमानं॥
गणे स्वकीये परमोऽसमाधिः प्रवर्तते संघपतेरचार्यः॥ ४०२॥

विजयोदया--रोगातंकादीहिं य अल्पैर्महद्भिर्व्याध्यादिभिः। परिदावणादि पत्तेसु परितापनादि प्राप्तेषु। सगणे आत्मीयशिष्यवर्गे। गणिणो हवेज्ज दुक्खं। आचार्यस्य भवेद् दुःखं। असमाही वा सिणेहो वा असमाधिर्वा स्नेहो वा।

परितापनादिसूत्रमन्यथा व्याचष्टे--

मूलारा--रोगातंकादीहिं अल्पैर्महद्भिश्च व्याधिभि। आदिशब्देन क्षुद्रोपद्रवादिभिः। सगणे स्वसंघे स्थितेषु शिष्यादिषु। दुक्खं मनस्तापः। असमाही असमाधानाय। चतुर्थ्यर्थे प्रथमाविधानात्। सिणेहो मोहः। ममत्वकृतः छेद इत्यर्थः। उक्तं च--

निजगणगतेषु रोगिषु परिदेवनदुःखपरिगतेषु पुरः।
कारुण्यशोकमोहा भवेयुरसमाधये सूरेः॥

इसही दोषका प्रकारान्तरसे वर्णन —

अर्थ—छोटे मोटे रोग वगैरह विकार संघमें फैल जानेपर अपना शिष्यवर्ग दुःख संतापादिसे पीडित हुआ देखकर आचार्यको दुःख होगा, परिणामोंकी एकाग्रता नष्ट होगी, और उनमें स्नेह होगा. इसलिये समाधिमरणोद्यमी आचार्य इनके परिहारार्थ अन्य संघमें जाते हैं.

तण्हादिएसु सहणिज्जेसु वि सगणम्मि णिब्भओ संतो ॥
जाएज्ज व सेएज्ज य अकप्पिदं किं पि वीसत्थो ॥ ३९२ ॥

परीषहेषु विश्वस्तः स्वगणे निर्भयो भवन् ॥
याचते किंचनाकल्प्यं सेवते भाषते स्फुटम् ॥ ४०३ ॥

विजयोदया—तण्हादिएसु सहणिज्जेसु वि पिपासादिकेषु परीषहेषु सहनीयेष्वपि। सगणम्मि णिब्भओ संतो स्वगणे निर्भयःसन्। जाएज्ज व सेवेज्ज य याचते वा सेवते वा। अकप्पियं अयोग्यं किंचित्प्रत्याख्यातमशनं पानं वा। वीसत्थो विश्वस्तः भयलज्जाविरहितः ॥

निर्भयं व्याचष्टे।

मूलारा—णिब्भओ संतो निर्भीतिः सन् सूरिः। जाएज्ज याचेत। अकप्पियं अकल्प्यं अयोग्यं। किंपि प्रत्याख्यातं पानमशनादिकं वा। वीसत्थो विश्वस्तः। अकीर्तिभयलज्जारहितः ॥

अर्थ—समाधिमरणोद्युक्त आचार्यने प्यास, भूख वगैरहका दुःख सहन करना चाहिये. परंतु वे अपने संघमें रहनेपर निर्भय होकर आहार, जल, वगैरह पदार्थोंकी याचना करेंगे. अथवा स्वयं आहारादिकोंका सेवन करेंगे. अयोग्य अर्थात् जिनका त्याग किया है ऐसा भी आहार और पानके पदार्थ भय, लज्जा छोडकर खाने लग जावेंगे इस लिये उनका अपने संघमें रहना आगममें निषिद्ध माना है.

सिणेह इत्यस्य व्याख्या—

उड्ढे सअंकवड्ढिय बाले अज्जाउ तह अणाहाओ ॥
पासंतस्स सिणेहो हवेज्ज अच्चंतियविओगे ॥ ३९३ ॥

बालाः स्वांकोचिता दृष्टा वृद्ध्या चिह्लविग्रहाः ॥
अनाथाश्चार्यिकाः स्नेहं जनयंति गुरोस्तदा ॥ ४०४ ॥

विजयोदया—उड्ढे सअंकवड्ढिय इत्यादि वृद्धान्यतीन्स्वांकवार्द्धितबालान् यतींस्तथा आर्यिकाः, अनाथाः पश्यतः स्नेहो भवेदात्यातिके वियोगे।

स्नेहं व्याहरति—

मूलारा—सयकवड्ढिदे बाले सोत्संगवर्द्धितबालान्। बाल्यात्प्रभृतिपालितान्। अणाहाओ अनाथाः। अच्चंतिअविओए सर्वथा विरहे। पुनः संगमाभावात् ॥

स्नेह दोषका विवेचन—

अर्थ—वृद्ध मुनि, जिनका बाल्यावस्थासे पालन किया है ऐसे बालमुनि, अनाथ ऐसी आर्यिकाएं इनको देखनेसे अब इनका मेरे साथ अत्यंत वियोग होगा ऐसा विचार यदि स्वगणमें आचार्य रहेंगे तो आर्त बिना नहीं रहेगा जिससे उनके असमाधिमरणकी संभावना होगी. अतः स्वगणमें उनका रहना निषिद्ध माना गया है.

कोलुगिण इत्येतद्व्याचष्टे—

खुड्डा य खुड्डियाओ अज्जाओ वि य करेज्ज कोलुणियं ॥
तो होज्ज ज्झाणविग्घो असमाधी वा गणधरस्स ॥ ३९४ ॥

आर्यिकाः क्षुल्लिकाः क्षुल्लाः कारुण्यं कुर्वते यतः ॥
ध्यानविघ्नोऽसमाधिश्च जायते गणिनस्ततः ॥ ४०५ ॥

विजयोदया—खुड्डा य खुड्डियाओ क्षुल्लका, आर्याः कुर्युरारटनं। ततो ध्यानविघ्नोऽसमाधिर्वा गणधरस्य भवतीति ॥

कारुण्यं विवृणोति—

मूलारा—कोलुणिगं-सदैन्यमारटनं । सकरुणमारटनम् ॥

कोलुणिग दोषका विवेचन —

अर्थ—क्षुल्लक, ब्रह्मचारी वगैरह गृहस्थ, ब्रह्मचारिणी, आर्यिकायें आचार्यको समाधि मरणके लिये उद्यमी देखकर शोक करेंगे जिसको देखकर आचार्यके ध्यानमें विघ्न उपस्थित होगा और परिणामोंमें अशांति होगी. इसलिये आचार्यका स्वगणमें रहना निषिद्ध माना है.

भत्ते वा पाणे वा सुस्सूसाए व सिस्सवग्गम्मि ॥
कुव्वंतम्मि पमादं असमाधी होज्ज गणवदिणो ॥ ३९५ ॥

गणिनः प्रैष्यशुश्रूषाभक्तपानादिकल्पने ॥
स्वगणेप्यसमाधानं शिष्यवर्गे प्रमाद्यति ॥ ४०६ ॥

विजयोदया—भत्ते वा पाणे वा भक्ते पाने वा शुश्रूषायां वा प्रमादं शिष्यवर्गे कुर्वति गणपतेरसमाधिर्भवति ॥
ध्यानविघ्नासमाधिदोषौ व्याचष्टे—

मूलारा—सुस्सूसाए पर्युष्टौ संवाहनादिकायां । कुव्वतम्मि कुर्वति सति । असमाही आर्तं रौद्रं वा ध्यानं । यदि वा समाधिर्निर्विकल्पयोगः परमानन्दः स च सविकल्पकयोगलक्षणध्यानपूर्वकः । अतः शिष्यवर्गप्रमाददर्शनात् ध्यानविघातस्ततः स्वसमाध्यभावः इति पूर्वसूत्रितं दोषद्वयं व्याख्यातं प्रतिपत्तव्यम् ॥

अर्थ — आहारके पदार्थ, पीनेके जलादिक पदार्थ और शुश्रूषा-हस्तपादादि मर्दन वगैरह कार्योंमें यदि शिष्यवर्ग प्रमादी बने अर्थात् इन कार्योंमें यदि उन्होंने ध्यान नहीं दिया तो आचार्यके मनमें शांतिका अभाव होगा आर्तध्यान अथवा दुर्ध्यान उत्पन्न होगा.

एदे दोसा गणिणो विसेसदो होंति सगणवासिस्स ॥
भिक्खुस्स वि तारिसयस्स होंति पाएण ते दोसा ॥ ३१६ ॥

एते दोषाः सन्ति संघे स्वकीये सूरेः साधोस्तादृशस्यापि यस्मात् ॥
तस्मात्त्यक्त्वा स्वं समाधानकांक्षी धीरः संघं स प्रयात्यन्यदीयम् ॥४०७॥

विजयोदया—एदे दोसा गणिणो विसेसदो होंति एते दोषा विशेषतो भवन्ति स्वगणे वसतः। भिक्खुस्स वि तारिसयस्स भिक्षोरपि तादृशस्य उपाध्यायस्य, प्रवर्तकस्य वा भवन्ति प्रायेण ते दोषा. ॥

प्रागुक्ताञ्शेषानाचार्यस्याधिक्येन दर्शयन् उपाध्यायादेरपि स्वगणवासिनः प्रायोवृत्त्या तान्प्रदर्शयति—

मूलारा—विसेसदो अतिशयेन। तारिसयस्स तादृशकस्य गणिसदृशस्य उपाध्यायस्य, प्रवर्तकस्य वेत्यर्थः। अन्यस्तु भिक्खुस्स सामान्ययतेस्तादृशस्य स्वगणवासिन इति व्याचष्टे ॥

अर्थ—जो आचार्य स्वगणमें रहते हैं उनको ये दोष होंगे तथा जो आचार्यके समान उपाध्यायमुनि, तथा प्रवर्तक मुनि हैं वे भी यदि स्वगणमें ही रहेंगे तो उनको भी प्रायः इन दोषोंका संभव होगा.

एदे सव्वे दोसा ण होंति परगणणिवासिणो गणिणो ॥
तम्हा सगणं पयहिय वज्जदि सो परगणं समाधीए ॥ ३१७ ॥

भवंति दोषा न गणेऽन्यदीये संतिष्ठमानस्य ममत्ववर्जिं ॥
गणाधिनाथस्य ममत्वहानेर्विना निमित्तेन कुतो निवृत्तिः (?) ॥४०८॥

विजयोदया—एदे सव्वे दोसा ण होंति एते सर्वे दोषा न भवन्ति। परगणणिवासिणो गणिणो परगणनिवासिनो गणधरस्य। तस्मात्स्वगणं परित्यज्य व्रजति परगणं समाधये ॥

एतद्दोषासंभवेन समाधिसाधकत्वात्परगणस्य गम्यत्वमनुवर्णयति—

मूलारा—पजहिय सर्वात्मना त्यक्त्वा।

अर्थ—जो आचार्य अपना गण छोडकर परगणमें समाधि मरणके लिये प्रवेश करते हैं उनको इन दोषोंका संबंध नहीं होगा है. इस लिये आचार्य समाधिसिध्यर्थ परगणका आश्रय लेते हैं.

संते सगणे अहं रोचेदूणागदो गणमिमोत्ति ॥
सव्वादरसत्तीए भत्तीए वट्टइ गणो से ॥ ३९८ ॥

गणे स्वकीयेऽपि गुणानुरागी सत्यस्मदीयं गणमागतोऽयम् ॥
मत्वेति भक्त्या निजया च शक्त्या प्रवर्तते तस्य गणः स्वकृत्ये ॥ ४०९ ॥

विजयोदया—संते सगणे सत्यपि स्वगणे असद्गणे जातरुचिरागतो गणमिममिति सर्वादरेण शक्त्या भक्त्या च गणो वर्तते ॥

परगणचर्यागुणान्गाथात्रयेणाह—

मूलारा—संतो सत्यपि । रोचेदूण रुचिगोचरीकृत्य । गणमिमोत्ति गणमिममिति। से तस्योत्तमसाधनार्थोद्यतस्य ।

अर्थ—स्वगणके होनेपर भी हमारे ऊपर प्रेम कर ये आचार्य हमारे गणमें आये हैं ऐसा मनमें विचार कर परगणवासी मुनिसमुदाय पूर्ण आदर व सामर्थ्यसे उनकी सेवा करनेके लिये कटिबद्ध हो जाते हैं. अतः परगण-प्रवेश करना ही योग्य है.

गीदत्थो चरणत्थो पच्छेदूणागदस्स खवयस्स ॥
सव्वादरेण जुत्तो णिज्जवगो होदि आयरिओ ॥ ३९९ ॥

गृहीतार्थो गणी प्रार्थ्यः क्षपकस्योपसेदुषः ।
निर्यापकश्चरित्राढ्यो जायते सर्वयत्नतः ॥ ४१० ॥

विजयोदया—गीदत्थो चरणत्थो गृहीतार्थः ज्ञानी चरणस्थः । पच्छेदूणागदस्स प्रार्थयित्वागतस्य । खवगस्स क्षपकस्य । सव्वादरेण जुत्तो सर्वादरेण युक्तः । णिज्जवगो होइ आयरिओ निर्यापको भवत्याचार्यः ॥

मूलारा—पत्थेदूण प्रार्थ्य । आगदस्स आश्रितस्य ॥

अर्थ—प्रार्थना करके आये हुए आचार्य को अर्थात् क्षपकका समाधिमरण साध्य करानेवाला निर्यापकाचार्य आगे लिखे हुए लक्षणोंसे युक्त होना चाहिये. अर्थात् वह गीतार्थ जीवादि पदार्थोंका वेत्ता, ज्ञानी, चारित्रमें स्थिर, क्षपक के ऊपर पूर्ण आदर रखनेवाला होना चाहिये

संविग्गवज्जभीरुस्स पादमूलम्मि तस्स विहरंतो ॥
जिणवयणसव्वसारस्स होदि आराधओ तादी ॥ ४०० ॥

संविग्नस्याघभीतस्य पादमूले व्यवस्थितः ॥
अर्हदागमसारस्य भवत्याराधको यतिः ॥ ४११ ॥

इति परगणचर्यासूत्रम् ।

विजयोदया—संविग्गवज्जभीरुस्स संसारभीरो, पापकर्मभीरोश्च तस्य गुरो पादमूले वर्तमानो जिनवचनसर्वसारस्य भवत्याराधक । तादी यति । सते सगणे, गीदत्थो, संविग्गवज्जभीरु इत्येतत्सूत्रत्रयेण परगणे चर्याया गुणो व्याख्यात ॥ परगणचर्या ॥

मूलारा—विहरंतो वर्तमानः । जिणेत्यादि जिनप्रवचनस्य सर्वस्य सारो अतिशयितं रूप आराधना तस्या आराधको भवतीति संबंध । तादी यतिः । परगणचर्या अंकत १५ सूत्रत- १७ ॥

अर्थ—जो संसारसे भय युक्त है, जो पापकर्मभीरु है और जिसको जिनागमका सर्व सार मालुम हुआ है ऐसे आचार्य के चरणमूलमें वह यति समाधिमरणोद्यमी होकर आराधनाकी सिद्धि करता है. " संते सगणे, गीदत्थो, संविग्गवज्जभीरु " इन तीन गाथाओंसे परगणमें चर्या करना गुणयुक्त है ऐसा सिद्ध किया है. गणचर्या नामक प्रकरण समाप्त हुवा

मार्गणानिरूपणार्थमुत्तरप्रबंध —

पंचच्छसत्तजोयणसदाणि तत्तोऽहियाणि वा गंतुं ॥
णिज्जावगमण्णेसदि समाधिकामो अणुण्णादं ॥ ४०१ ॥

पंच षट् सप्त वा गत्वा योजनानां शतानि सः ॥
निर्यापकमनुज्ञातुं समाधानाय मार्गति ॥ ४१२ ॥

विजयोदया—पंचच्छसत्तजोयणसदाणि पंचषट्सप्तयोजनशतानि ततोऽभ्यधिकानि वा गत्वा अन्वेषते निर्यापकं। शास्त्रेण अनुज्ञातं समाधिकामो यतिः ॥

अथ क्षपकस्य परगणप्रवेशोद्यतस्य समाध्यर्थं निर्यापकाचार्यमन्वेषयाणस्य क्रमं सप्तदशभिर्गाथाभिर्निगदति—तत्र तावन्मार्गणक्षेत्रपरिमाणं निर्दिशति—

मूलारा—अणुण्णादं शास्त्रेणानुमतम् ।

मार्गणा नामक प्रकरणका निरूपण करनेके लिये उत्तर प्रबंध—

अर्थ—जिसको समाधिमरणकी इच्छा है ऐसा मुनि पांचसे योजन, छसे योजन, सातसे योजन अथवा उससे भी अधिक योजनतक विहार कर शास्त्रोक्त निर्यापकका शोध करता है.

स्पष्टार्थोत्तरगाथा—

एक्कं व दो व तिण्णि य बारसवरिसाणि वा अपरिदंतो ॥
जिणवयणमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥ ४०२ ॥

एकद्वित्रीणि चत्वारि वर्षाणि द्वादशापि च ॥
निर्यापकमनुज्ञातं स मार्गयति निःश्रमः ॥ ४१३ ॥

मार्गणाकालपरिमाणं द र्शयति—

मूलारा तेणिव अत्र बारसवरिसाणि इति निर्देशाच्चतुरादिसंख्यापरिग्रहो बोध्यः । अपरिसंतो अपरिक्लिष्टः अनुद्विग्न इति यावत् ॥

अर्थ—समाधिमरणेच्छु मुनि एक वर्ष, दो वर्ष, तीन वर्ष लेकर बारह वर्ष तक खेदयुक्त न होता हुआ जिनागममें निर्णीत निर्यापकाचार्यका अन्वेषण करता है.

निर्यापकान्वेषणार्थं गच्छत क्रममुदाहरति—

गच्छेज्ज एगरादियपडिमा अज्झेणपुच्छणाकुसलो ॥
थंडिल्लो संभोगिय अप्पडिबद्धो य सव्वत्थ ॥ ४०२ ॥

एकरात्रतनूत्सर्गे प्रश्नस्वाध्यायपंडितः ॥
सर्वत्रैवाप्रतीबंधः स्थांडिलः साधुसंयुतः ॥ ४१४ ॥

विजयोदया—गच्छेज्ज एगरादियपडिमा अज्झेण पुच्छणाकुसलो । गच्छेदेकरात्रिभवावग्रहे अध्ययने परप्रश्ने च कुशल । एकरात्रिभवा भिक्षुप्रतिमा निरूप्यते । उपवासत्रयं कृत्वा चतुर्थ्यां रात्रौ ग्रामनगरादेर्बहिर्देशे श्मशाने वा प्राङ्मुख, उदङ्मुखश्चैत्याभिमुखो वा भूत्वा चतुरंगुलमात्रपदान्तरो नासिकाग्रनिहितदृष्टिस्त्यक्तकायास्तिष्ठेत्। सुष्ठु प्रणिहितचित्त चतुर्विधोपसर्गसह न चलेत पतेत् यावत्सूर्य उदेति । स्वाध्याय कृत्वा गव्यूतिद्वयं गत्वा गोचरक्षेत्रवसतिं गत्वा तिष्ठति । यत्र विप्रकृष्टो मार्गस्तत्रसूत्रपौरुष्यामर्धपौरुष्या वा मंगल कृत्वा याति एवं स्वाध्यायकुशलता । प्रश्न कुशलतोच्यते-चैत्यसंयतानार्यिका श्रावकाश्च, बालमध्यमवृद्धाश्च पृष्ट्वा कृतगवेषणो याति इति प्रश्नकुशलः। यत्र भिक्षा कृता तत्र स्थंडिलान्वेषण कुर्यात्। कायशोधनार्थं संभोगयोग्य, यतिं, संघाटकत्वेन गृह्णीयात्। स्वयं वा तस्य संघाटको भवेत्। एव स्थंडिलान्वेषण संभोगयोग्ययतिना सहवृत्तौ च यो यत्नपर स्थंडिलसंभोगी यतिरित्युच्यते । अंतरालग्रामनगरादिसन्निवेशस्थयतिगृहिसत्कारसन्मानप्राघूर्णकमकारी सर्वत्र अप्रतिबद्धत्वात् अप्पडिबद्धो य सव्वत्थ इत्युच्यते ॥

निर्यापकाचार्यमार्गणाय गच्छत पंचधा विधिमाह—

मूलारा—एगरादिगपडिमा अज्झेणपुच्छणाकुसलो एकरात्रिकप्रतिमाकुशलोऽध्ययनकुशलः, प्रच्छनकुशलश्च । तत्रैकरात्रिकभिक्षुप्रतिमा यथा—उपवासत्रयं कृत्वा चतुर्थ्यां रात्रौ ग्रामनगरादेर्बहिर्देशे वने श्मशाने वा प्राङ्मुख, उदङ्मुखश्चैत्यमुखो वा भूत्वा चतुरंगुलमात्रपादान्तरो नासिकाग्रनिहितदृष्टिस्त्यक्तकायास्तिष्ठेत् । सुष्ठु प्रणिहितचित्तश्चतुर्विधोपसर्गसहो न चलेत्र पतेत् यावत्सूर्य उदेति । सैषा एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा । तत्र कुशलः । स्वाध्यायकशलस्तु यः स्वाध्यायं कृत्वा गोचरक्षेत्रवसतिं च गत्वा तिष्ठति । यत्र विप्रकृष्टो मार्गस्तत्र सूत्रपौरुष्यामर्धपौरुष्या वा मंगलं कृत्वा याति । प्रश्नकुशलस्तु यश्चैत्यसंयतानार्यिकाश्रावकाश्च बालमध्यवृद्धाश्च पृष्ट्वा कृतगवेषणो याति । थंडिलसंभोगिजदो यत्र भिक्षा कृता तत्र स्थंडिलं प्रासुकस्थानकायशोधनार्थमन्वेषते । समाचारात्मकः संभोगः । योग्य यतिं संघाटकत्वेन गृह्णीयात्। स्वयं वा तस्य संघाटको भवेत् । एवं स्थंडिलान्वेषणे संभोगयोग्ययतिना सहवृत्तौ च यो यस्य संघाटको भवेत् । एवं

स्थंडिलान्वेषणे संभोगयोग्ययतिना सद्वृत्तौ च यो यत्नपरः स स्थंडिलसंभोगियतिरित्युच्यते । अन्ये तु थंडिलं समोगिय इति पठित्वा स्थंडिलं इत्वेति व्याख्याति । " अध्ययनप्रश्नविधौ निपुणोऽसावैकरात्रिकप्रतिमः ॥ स्थंडिलशायी यायाद-प्रतिबद्धश्च सर्वत्र " ॥ इतरे तु स्थाडिलः स्थंडिलशायी, संभोगियुतः सधर्मयुक्त इति मत्वेदं पेठुः ॥ " एकरात्रतनूत्सर्ग-प्रश्नस्वाध्यायपंडित सर्वत्रैव प्रतीबंधः स्थाडिलः साधुसंयतः " ॥ अप्पडिबद्धो आसक्तिरहितः । सव्वत्थ सर्वत्रांतराल-ग्रामनगरादिमार्गवेशस्थयतिगृहिसत्कारसन्मानप्राघूर्णकभक्तादौ ॥

निर्यापक का अन्वेषण करनेके लिये निकले हुये आचार्य का कार्यक्रम बताते हैं—

अर्थ—एकरात्रिप्रतिमाकुशल, अध्ययनकुशल और प्रश्नकुशल ऐसा वह मुनि निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करने के लिये विहार करता है—एकरात्रिप्रतिमाकुशल का स्वरूप कहते हैं—तीन उपवास करनेके अनंतर चौथे रात्रीमें ग्रामनगरादिकके बाह्य प्रदेशमें अथवा श्मशानमें, पूर्वदिशा, उत्तरदिशा अथवा चैत्य-जिन-प्रतिमाके सन्मुख मुखकर दोनो चरणोंमें चार अंगुल प्रमाणका अंतर रखकर नासिकाके अग्रपर वह यति अपनी दृष्टि निश्चल करता है. शरीरपरका ममत्व छोड देता है अर्थात् कायोत्सर्ग करता हुआ मनको एकाग्र करता है, देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन इनके द्वारा किया हुआ उपसर्ग सहन करता है. वह मुनि भयसे आगे गमन करता नहीं और नीचे गिरता भी नहीं है. अर्थात् निर्भय होकर स्वस्थानमें ही सूर्योदय होने तक स्थिर रहता है. यह एक रात्रिप्रतिमाकुशल है जो मुनि स्वाध्याय कर दोन कोस गमन करता है और जहां आहार मिलेगा ऐसे क्षेत्रके वसतिकामें जाकर ठहरता है. यदि मार्ग दूर होय तो सूत्रपौरुषी अथवा, अर्थपौरुषी के समय मंगल करके आगे गमन करता है वह स्वाध्याय कुशलमुनि है.

प्रश्नकुशल मुनिका स्वरूप— चैत्य, मुनि, आर्यिका, श्रावक, बाल, मध्यम और वृद्धोंको पूछकर निर्यापकाचार्यका अन्वेषण करता है. जहां भिक्षा प्राप्त हो गई वहां जो स्थंडिलका अन्वेषण करता है. अर्थात् शरीर शोधन के लिये प्रासुक स्थान का अन्वेषण करता है, वह स्थंडिलशायी मुनि है. संभोगकुशल—सहायता करनेवाले योग्य यतिके साथ विहार करनेवाला, किंवा योग्य यतिका आश्रय करनेवाला अथवा योग्य यतिको स्वयं मदत करनेमें जो कुशल है वह यति संभोगकुशल माना जाता है. मार्गमें ग्राम, नगरादिकमें रहनेवाले यति और

गृहस्थोंके सत्कार, सन्मानमें जो मोह नहीं करता है, जो अतिथि और भक्तादिकों पर मोहयुक्त नहीं होता है ऐसे मुनिको अप्रतिबद्ध कहते हैं. निर्यापकाचार्यका शोध करनेके लिये निकले हुए मुनिका स्वरूप इस प्रकार है-

आलोयणापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ॥
जदि अंतरा हु अमुहो हवेज्ज आराहओ होज्ज ॥ ४०४ ॥
यद्यपि प्रस्थितो मूले सूरेरालोचनापरः
संपद्यते तरां मूकस्तथाप्याराधको मतः ॥ ४१५ ॥

विजयोदया—आलोयणापरिणदो रत्नत्रयातिचारान्मनोवाक्कायविकल्पानमदीयान्गुरो निवेदयिष्यामीति कृतसंकल्पः । सम्मं आलोचनादोषान्परित्यज्य संपत्थिदो यातुमुद्यतः । गुरुसगासं गुरुसमीपं । जदि अंतरा खु यद्यन्तराले पर । अमुहो हवेज्ज पतितजिह्वो भवेत् । आराधओ होज्ज आराधको भवति ॥

सम्यगालोचयिष्यामीति प्रणिधानपरो गुरुसंमुखं चलितो दैवादंतराले एव अवचनीभूतोऽप्याराधकोऽस्तीति उपदिशति—

मूलारा—आलोयणापरिणदो, रत्नत्रयातिचारान्मनोवाक्कायविकल्पानात्मीयान्गुरोर्निवेदयिष्यामीति कृतसंकल्पः । सम्मं सम्यक् आलोचनादोषं परित्यज्येत्यर्थः । संपत्थिदो यातुमुद्यतः । अमुहो निर्वचनः ॥

अर्थ—मन वचन और कायके द्वारा रत्नत्रयमें जो अतिचार लगे हैं वे सब गुरूके पास जाकर मैं कहूंगा अर्थात् गुरुके समीप दोषोंकी आलोचना करूंगा ऐसा मनमें विचार कर जो साधु गुरूके पास जानेके लिये निकला परंतु यदि मार्गमें ही वह मूकावस्थाको प्राप्त हो जावे तो भी वह आराधक होता है–आराधक माना जाता है.

आलोचणापरिणदो सम्मं संपच्छिओ गुरुसयासं ॥
जदि अंतरम्मि कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥ ४०५ ॥
यद्यपि प्रस्थितो मूले सूरेरालोचनापरः ॥
विपद्यतेऽन्तरालेऽपि तथाप्याराधकोऽस्ति सः॥ ४१६ ॥

विजयोदया—आलोचणापरिणदो स्वापराधकथनावहितचित्तः । गुरुसमीपमागच्छतो यद्यंतराल एव कालं कुर्यात् । आराधगो होइ आराधको भवति ॥

आलोचणापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ॥
जदि आयरिओ असुहो हवेज्ज आराहओ होइ ॥ ४०६ ॥

आलोचनाप्रवृत्तस्य गच्छतः सूरिसन्निधिं ॥
यद्यप्यस्त्यमुखः सूरिस्तथाप्याराधकोऽस्ति सः ॥ ४१७ ॥

विजयोदया—तथा आलोचनापरिणतः गुर्वन्तिकं प्रस्थितः आराधको भवति। यद्याचार्यो वक्तुमशक्तो जातः॥

आलोचणापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ॥
जदि आयरिओ कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥ ४०७ ॥

आलोचनाप्रवृत्तस्य गच्छतः सूरिसन्निधिं ॥
यद्यपि म्रियते सूरिस्तथाप्याराधकोऽस्ति सः ॥ ४१८ ॥

विजयोदया—आचार्यः कालकरणेऽप्याराधको भवति इति सूत्रार्थः ॥

वद्धन्मृतोऽप्याराधकोऽस्तीत्याह—

मूलारा—स्पष्टः ॥

अर्थ— मैं अपने अपराधोंका स्वरूप गुरूके चरणसमीप जाकर कहूंगा ऐसा मनमें विचार कर निकला हुआ मुनि यदि मार्गमेंही मरण करे तो भी वह आराधक होता है.

अर्थ—मैं अपने अपराध परगणके आचार्य के पास कहूंगा इस अभिप्रायसे गमन करनेवाले आचार्य यदि मार्गमें ही मूकावस्थाको प्राप्त होजावे तो भी वे आराधक होते हैं. अर्थात् यदि वे व्याधिजर्जरित होकर बोलनेमें असमर्थ हो गये तो भी वे आराधक होते हैं.

अर्थ—आलोचना करनेके उद्देशसे गुरूके समीप निकले हुए आचार्य यदि मार्गमें स्वर्गवासी हो जावे तो भी वे आराधक माने जाते हैं.

कथ आराधकता तस्य ? न कृता आलोचना ? नाचरित गुरूपदिष्ट प्रायश्चित्तमित्याशंकायामाचष्टे—

सल्लं उद्धरिदुमणो संवेगुव्वेगतिव्वसड्ढाओ ॥
ज जादि सुद्धिहेदु सो तेणाराहओ भवदि ॥ ४०८ ॥

संवेगोद्वेगसंपन्न शुद्ध्यै गच्छत्यसौ यतः ॥
मनःशल्यं निराकर्तुं भवत्याराधकस्ततः ॥ ४१९ ॥

विजयोदया- कृतापराधाऽनालोचनाया मायाशल्य भवति । सति मायाशल्ये न रत्नत्रयशुद्धिरिति मत्वा शल्य मुद्धर्तुमना । संवेगुव्वेगतिव्वसड्ढाओ संसारभीरुता संवेग , शरीरस्याशुचितामसारता, दु खदातृता चावलोक्य, तथेन्द्रियसुखानामतृप्तिकारिता, तृष्णाभिवृद्धिनिमित्तता च तजोद्वेग । तौ संवेगोद्वेगौ, तीव्रा मरणकाले रत्नत्रयाराधना श्रद्धा च यस्य विद्यते स उच्यते संवेगुव्वेगतिव्वसड्ढाओ इति । अथवा संवेगोद्वेगाभ्या प्रवर्तिता तीव्रा श्रद्धा यस्य रत्नत्रयाराधनाया स एव भण्यते । ज जादि सुद्धिहेदु यस्माच्छुद्धिनिमित्त याति ।सो तेण आराहओ होदि स तेन आराधको भवति ॥

कथमनालोचितस्याननुष्ठितगुरूक्तप्रायश्चित्तस्याराधकत्वं स्यादित्याशंकायामाह—

मूलारा—सल्ल कृतापराधानालोचनं सति मायाशल्यं रत्नत्रयाशुद्धिकृत् । उव्वेग शरीरेंद्रियसुखे चासारत्व तृष्णाभिवर्द्धकत्वादिदोषदर्शनादुद्वेगो वैराग्यं । तिव्वसड्ढा उत्कटमारणान्तिकरत्नत्रयाराधनारुचि. । संव्वेगादित्रयं गच्छति यः स तथोक्त । अथवा संवेगोद्वेगाभ्या प्रवर्तिता तीव्रा श्रद्धा यस्येति ग्राह्यम् । सोधिहेदुं शुद्धिनिमित्तम् ।

जिसने आलोचना नहीं की, जिसने गुरुकथित प्रायश्चितका आचरण नहीं किया है वह मुनि आराधक कैसा माना जाता है इस प्रश्नका उत्तर,—

अर्थ—अपराध करके भी जो आलोचना नहीं करता है वह मुनि मायावी समझना चाहिये. मायाशल्यके होनेसे रत्नत्रयमें निर्मलता होती नहीं ऐसा मनमें विचार कर शल्यका उद्धार करनेका जिसने विचार किया है जिसके मनमें संसारभय उत्पन्न हुआ है, शरीर अपवित्र, नि सार और दु ख देनेवाला है, इंद्रियसुख अतृप्तिजनक और तृष्णा बढानेवाला है, ऐसा विचार कर जो उससे उद्विग्न हुआ है और जिसके मनमें रत्नत्रयविषयक श्रद्धा तीव्रतासे प्रगट हुई है और जो अपराध निवेदनके लिये गुरुके पास जा रहा है ऐसे मुनिकी यदि मार्गमें वचन

शक्ति नष्ट हो गई अथवा वह यदि मार्गमें मृत्युवश हो गया तो विना आलोचनाके भी रत्नत्रयाराधक माना जाता है.

निर्यापकसूर्यन्वेषणार्थं गच्छतो गुणमाचष्टे —

आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधिणिज्झंझा ॥
अज्जवमद्दवलाघवतुट्ठीपल्हादणं च गुणा ॥ ४०९ ॥

आचारजीदकल्पानां जायते गुणदीपना ॥
गुणाः स्वशुद्ध्यसंक्लेशौ मार्दवार्जवचतुष्टयम् ॥ ४२० ॥

विजयोदया— आयारजीदकप्पगुणदीवणा आचारस्य जीदसंज्ञितस्य कल्पस्य च गुणप्रकाशना । एतानि हि शास्त्राणि निरतिचाररत्नत्रयतामेव दर्शयन्ति । तदर्थमेवान्वेषकः प्रयतते । अत्तसोधि आत्मनः शुद्धिः, णिज्झंझा क्लेशाभावः । न हि संक्लेशवानित्थं दूरं प्रयातुमीहते । स्वदोषप्रकटनान्माया त्यक्ता भवत्येव, तत एव माननिरासो मार्दवं । शरीरपरित्यागाद्धितबुद्धितया लाघवं । कृतार्थोऽस्मीति तुष्टिर्भवति । प्रस्थितस्य प्रल्हादनं हृदयसुखं च स्वपरोपकाराभ्यां गमितः कालः, इत उत्तरं मदीय एव कार्ये प्रधाने उद्युक्तो भविष्यामि इति चिंतया ॥

निर्यापकसूर्यन्वेषणार्थ गच्छतो गुणानाचष्टे—

मूलारा—आचारस्य जीदस्य कल्पस्य च गुणप्रकाशना एतानि हि शास्त्राणि रत्नत्रयतामेव दर्शयन्ति। तदर्थमेव चान्वेषकः प्रयतते । णिज्झंझा संक्लेशाभावः । न हि संक्लेशवानित्थं दूरं प्रायतुमीहते। अज्जवं मायात्यागः । स्वदोषप्रकटनान्यथायोगात् ॥ मद्दवं माननिरासस्तत एव लाघवं लोभनिर्जयः । शरीरत्यागाहितबुद्धित्वात् । तुट्ठी कृतार्थोऽस्मीति प्रीतिः । पल्हादणं स्वपरोपकाराभ्यां गमितः काल इत उत्तरं स्वकार्ये एवोद्युक्तो भविष्यामीति चिंतयोद्भूतं यत्सुखं । एतेष्टौ गुणा गुर्वन्वेषणार्थं प्रयायिनो भवंति ॥

निर्यापकाचार्यका शोध करनेके लिये विहार करनेवाले आचार्य के गुणोंका वर्णन—

अर्थ—निर्यापकाचार्यका शोध करनेके लिये विहार करनेसे आचारशास्त्र, जीतशास्त्र और कल्पशास्त्र इनके गुणोंका प्रकाशन होता है. ये शास्त्र निरतिचार रत्नत्रयका स्वरूप दिखाते हैं. और अन्वेषक मुनि रत्नत्रय निर्मल

करनेके लिये अवश्य प्रयत्न करता है. आत्मशुद्धि अर्थात् आत्माकी शुद्धि होती है, संक्लेशपरिणाम नष्ट होते हैं. अथवा विहार करना क्लेशदायक है ऐसा जो समझता है वह गुरूका अन्वेषण करनेके लिये क्यों कष्ट सहेगा परंतु जिनको आराधनासिद्धि करनेकी इच्छा है वे कष्ट सह कर गुरूका अन्वेषण करते हैं. और इस कार्यमें वे कष्ट समझते नहीं. अज्जवगुण–गुरूका अन्वेषण करनेके लिये विहार करनेसे आर्जव गुणकी सिद्धि होती है अर्थात् कपटका त्याग होता है. क्योंकि गुरूका शोध कर उसके आगे अपने दोषोंको मायाका त्याग कर प्रगट करनेसे आर्जव-गुणकी प्राप्ति होती है. दोष प्रगट करनेसे अभिमानका भी परिहार होकर मार्दव गुणका लाभ होता है. शरीरका परित्याग करनेकी बुद्धि होनेसे लाघव गुणका लाभ होता है. मैं कृतार्थ हो चुका ऐसा विचार मनमें आता है इससे तुष्टि गुण भी व्यक्त हुआ. गुरूका शोध करनेके लिये प्रयाण करते समय प्रल्हाद अर्थात् हृदयमें सुख उत्पन्न होता है. आजतक मैंने स्वपरोपकार करनेमें काल व्यतीत किया अब मैं आगेका सर्व काल मेरे कार्यमें ही अर्थात् चार आराधनाओंकी सिद्धीमें हि व्यतीत करूंगा ऐसी चिन्तासे उसके हृदयमें सुख उत्पन्न होता है.

इत्थं गुर्वन्वेषणार्थमायातं दृष्ट्वा तद्गणवासिनां सामाचारकमं व्याहरति –

आएसं एज्जंतं अब्भुट्ठिंति सहसा हु दट्ठूणं ॥
आणासंगहवच्छल्लदाए चरणे य णादुंजे ॥ ४१० ॥

आलोक्य सहसा यान्तमभ्युत्तिष्ठन्ति संयताः
आज्ञासंग्रहवात्सल्यप्रणामकृतयोऽखिलाः ॥ ४२१ ॥

विजयोदया – आएसं प्राघूर्णकं । एज्जंतं आयांतं । दट्ठूण दृष्ट्वा । सहसा अब्भुट्ठिंति शीघ्रमभ्युत्थानं कुर्वन्ति यतयः । आणासंगहवच्छल्लदाए अब्भुट्ठेज्जो समणो सुत्तत्थविसारदो उवासेज्ज इति जिनाज्ञासंपादनार्थं आगच्छंतं संग्रहीतुं । वत्सलतया च तस्मिश्चरणे य णादुं च, चारित्रं समाचारकमं तदीयं ज्ञातुं च अभ्युत्थानं कुर्वन्ति । क्वचित्पाठः " चरणे य णाएदुं " इति चरणावगमनार्थं तत्र ग्राह्यम् ॥

गुर्वन्वेषणार्थमायातं दृष्ट्वा तद्गणवासिभिः करणीयं समाचारकमं गाथात्रयेण निरूपयति—

मूलारा०—आएसं प्राघूर्णकं । एज्जंतं आगच्छंतं अब्भुट्ठेंति अभ्युत्थानं कुर्वंति । वास्तव्या मुनयः । आणासंगह-

अभ्युद्दया समता गुरुत्यविसारदा उवामेज्ज इति जिनाज्ञासंपदनार्थं संग्रहः । आगच्छतो मुनेः सांमुख्येन प्रतिग्रहणं । चरणे च पादुंजे तदीयचरित्रं समाचारक्रमं च ज्ञातुमिति टीका । अन्येतु चरणेवणामेदुं चरणावनमनार्थ इति प्रतिपन्नाः ।

उक्तं च—अभ्युत्थिष्टन्त्यथ्वा दृष्ट्वैवागामुकं समायातं ॥

संग्रहवात्सल्याज्ञाप्रणामहेतोः सुसंयमिनः ॥

इस प्रकार गुरु का अन्वेषण करनेके लिये आये हुए उस मुनीको देखकर परगणवासी मुनि-उसके साथ कैसा वर्ताव करते हैं इस विषयका विवेचन ग्रंथकार करते हैं-

अर्थ-अतिथि मुनि आता हुआ देखकर परगणस्थ यति सहसा शीघ्र खडे हो जाते हैं. खडे होजानेसे जिनाज्ञाका पालन होता है, आगत मुनिका स्वीकार होता हैं और वात्सल्य गुण प्रगट होता है. सूत्रार्थनिपुण मुनिकी उपासना भी ऐसे कृत्य करनेसे होती है. आगत मुनिका आचार भी इस उपायसे जाना जाता है इत्यादिका रणार्थ आगत मुनिको देखकर शीघ्र खडे होजाना चाहिये.

आगंतुगवच्छल्ला पडिलेहाहिं तु अण्णमण्णेहिं ॥

अण्णोण्णचरणकरणं जाणणहेदुं परिक्खंति ॥ ४११ ॥

वात्सल्यागंतुकाःसम्यक् विविधैः प्रतिलेखनैः ॥

क्रियाचारित्रबोधाय परीक्षन्ते परस्परम् ॥ ४२२ ॥

विजयोदया—आगंतुगवच्छल्ला आगंतुको वात्सल्याश्च । पडिलेहाहिं तु दृष्ट्वा । अण्णमण्णेहिं अन्योन्यं । अण्णोण्णकरणचरणं अन्योन्यस्य चरणं करणं वा । परिक्खंति परीक्षंते । किमर्थं जाणणहेदुं ज्ञातुं । समितयो गुप्तयश्चरणशब्देनोच्यंते करणमित्यावश्यकानि गृहीतानि । आचार्याणामुपदेशभेदात्सामाचारोऽनेकप्रकारो दुरवगमः तं ज्ञातुं सहायस्यानयोग्यो न वायमिति ज्ञातुं वा ॥

मूलारा—वच्छल्ला वात्सल्या तत्परा यतयः । पडिलेहाहिं तु दृष्ट्वा । अण्णमण्णाहिं अन्योन्यं । अण्णोण्ण चरणकरणं अन्योन्यस्य चरणकरणं चरणं गुप्तिसमितयः । करणं चावश्यकानि ॥ जाणणहेदुं ज्ञातुं, सूरीणामुपदेशभेदात्सामाचारोऽनेकप्रकारो दुरवगम इति तं ज्ञातुं । सहायस्थानयोग्यो न वायमिति वा ज्ञातुं । अन्ये तु प्रतिलेखनैरन्योन्य

करणादिज्ञानार्थं परीक्षेते इति प्रतिपन्ना ॥ तथा च तत्पाठ —आगंतुकवास्तव्या प्रतिलेखाभि परस्पर यतथ ॥

अन्योऽन्यचरणकरणज्ञाननिमित्तं परीक्षेते ॥

अपि च—वास्तव्यागतुका सम्यग्विविधे प्रतिलेखनै ॥

क्रियाचरित्रबोधाय परीक्षेते परस्परम् ॥

अर्थ—आया हुआ मुनि और गणके वास्तव्य अर्थात् दोनों मुनि अन्योन्यके आचरणको प्रकार परीक्षा पूर्वक देखते हैं. आये हुए मुनिकी समिति और गुप्तिया निर्दोष हैं या सदोष हैं इसका परीक्षण वास्तव्य मुनि करते हैं. आगतुक मुनि भी उनके समिति गुप्तिओंकी परीक्षा करता है. सामायिकादिक छह आवश्यकोंकी भी वे मुनि अन्योन्य परीक्षा करते हैं अथवा आचार्योंके उपदेशभेदसे आचार अनेक प्रकारका है उसका परिज्ञान करनेके लिये वे अन्योन्यकी परीक्षा करते हैं अथवा आगतमुनि अपने साथ रहनेकी योग्यता रखता है या नहीं यह जाननेके लिये वे मुनि परीक्षा करते हैं

क परीक्ष्यते इत्यत्राह—

आवासयठाणादिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे ॥

सज्झाए य विहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ॥ ४१२ ॥

आवश्यके ग्रहे क्षेपे स्वाध्याये प्रतिलेखने ॥

परीक्षन्ते वचोमार्गे विहाराहारयोरपि ॥ ४२३ ॥

विजयोदया—आवासगठाणादिसु अवश्यमेव संवरनिर्जरार्थिभि कर्तव्यानि सामायिकादीनि आवश्यकान्युच्यते तेषा स्थान स्थिति आवश्यकपरिणतिकाल । दुऊणदं जहाजाद बारसावत्तमेव च । चदुस्सिर तिसुद्धमित्यादिका क्रिया आदिशब्देन गृहीता । तेषु आवश्यकस्थानादिषु । पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे । प्रतिलेखने चक्षुषा उपकरणे वा, वचने, उपकरणाना ग्रहणे, निक्षेपे, च सज्झाए स्वाध्याये, विहारे जघाविहारे, भिक्खग्गहणे भिक्षाग्रहणे च परिक्खति परीक्षते । किमय सामायिकादीन्यावश्यकानि करोति ? कर्वन्नपि वा यथाकाल करोति न वा ? किं वा द्रव्य सामायिकादौ प्रवर्तते उत भावसामायिकादो ? द्रव्यसामायिकादिक भवति सामायिकादिकं पठत, कायेन चोक्ता क्रिया कुर्वत । सावद्ययोगप्रत्याख्याने, तीर्थकृद्गुणानुस्मरणे, आचार्योपाध्यायादीना वा गुणानुस्मृतौ, स्वातिचारनिंदागर्हयो,

प्रत्याख्येयप्रत्याख्याने, शरीरममतानिरासे वा, परिणतिर्भावसामायिकादिकं । तत्र प्रवृत्तो न वेति परीक्षा । चक्षुषा पूर्वमिदं प्रतिलेखनं योग्यं न वेति किं पश्यति न वा । उपकरणेन मृदुना लघुना प्रमार्जनं किं करोति न करोति वा । अथवा त्वरितं प्रमार्जयति, अवपीडयति, दूरावस्थान्पातयति, प्रमार्जनेन विरोधिनो जीवान्मिश्रयति । आहाराभिमुखान्, आहारग्राहिणो गृहीतोदककान्, स्वनिवासदेशस्थान्, मूर्च्छामुपगतान्प्रमार्जयति न वेति परीक्षा । वचने परीक्षा--परुषं वचः, परनिंदात्मप्रशंसारूपं, आरंभपरिग्रहयोः प्रवर्तकं, मिथ्यात्वसंपादकं, मिथ्याज्ञानकारि, व्यलीकं, गृहस्थानां वचो वा यत्विति न वेति । यतो यदादेयं यद्वा यत्र निक्षिपति तदुभयप्रमार्जनपूर्वकं किं गृह्णाति निक्षिपति वा नेति परीक्षा । कालशुद्धिं कृत्वा पठति किं वा न, अथवा इमं ग्रंथं पठति, कथं वास्यार्थं व्याचष्टे । स्वनिवासदेशाद्दूरे हस्तमात्रादिपरिमाणे स्थंडिले, निर्जंतुके निश्छिद्रे, समे, अविरोधे मार्गजनेनानवलोक्ये किं स्वशरीरमलं त्यजति उतातो विपरीते इति विहारे परीक्षा । भिक्षाग्रहणे परीक्षा नाम भ्रामर्यां यां कांचिद्भिक्षां गृह्णाति लब्धामुत नवकोटिपरिशुद्धामिति ॥

क क परीक्ष्यंते इत्यत्राह—

मूलारा—आवासयठाणादिसु आवश्यकेषु सामायिकादिषु, स्थानं स्थितिरावश्यकपरिणतिकाल इत्यर्थः । आदिशब्देन दुऊणदं जहाजादं बारसावत्तमेव य । चदुस्सिरं तिसुद्धमित्यादिकाः क्रिया गृहीताः । पडिलेहणा चक्षुःपिंछादिना प्राणिनिरूपणप्रमार्जनं । विहारे गमने ॥

अर्थ—संवर और निर्जराकी इच्छा रखनेवाले मुनियोंके द्वारा किये जानेवाले सामायिकादि कर्तव्योंको आवश्यक कहते हैं. अर्थात् सामायिकादि छह आवश्यकोंका पालन आगत मुनि योग्य समयपर करता है या नहीं इसकी परीक्षा वास्तव्य मुनि करते हैं. दो नमस्कार, बारा आवर्त, प्रत्येक दिशाके तरफ एकेक नमस्कार ऐसे चार नमस्कार, मन, वचन और कायकी शुद्धिसे करना इत्यादिक क्रियाओंका पालन यह मुनि करता है वा नहीं इसका सूक्ष्म अवलोकन वे करते हैं. नेत्रोंसे उपकरणोंका शोधन करना, सोध करके उपकरण उठाना, रखना, बोलना, स्वाध्याय करना, विहार करना, आहार ग्रहण करना इत्यादि कार्योंमें आगत मुनीकी परिक्षा] ली जाती है. यह मुनि सामायिकादि कर्तव्य करता है क्या? योग्य कालमें करता है या नहीं ? केवल द्रव्यसामायिकादिकोंमें यह प्रवृत्त होता है या भावसामायिकादिकोंमें इसकी प्रवृत्ति है ? वचनसे सामायिकादिकका पाठ बोलना और शरीरके सामायिकादिकोंकी क्रिया करना यह द्रव्यसामायिक समझना चाहिये. अशुभ योगका त्याग करना, तीर्थंकरोंके गुणोंका स्मरण करना, आचार्य, उपाध्याय वगैरह पूज्य मुनिओंके गुणोंका स्मरण करना, अपने व्रतमें लगे हुए अतिचारोंकी निंदा व गर्हा करना, त्याज्य पदार्थोंका त्याग करना, शरीरके उपरका स्नेह छोडना इत्यादिकोंमें जो तत्परता

देखी जाती है वह सामायिकादिक आवश्यक है. इन भावसामायिकादिकोंमें इसकी परिणति है या नहीं यह वास्तव्य मुनि देखते हैं. यह स्थान प्रथम नेत्रसे देखकर स्वच्छ करता है या नहीं इसकी परीक्षा करते हैं. मृदु पिच्छिकासे जमीन, कमंडलु, शास्त्र वगैरे उपकरण स्वच्छ करता है या नहीं. धीरे धीरे संमार्जन करता है या त्वरित, जीवोंको उपकरणसे हटाता हुआ उनको पीडा करता है क्या ? उनको फेंक देता है क्या ? अथवा विरोधी प्राणिओंको परस्पर मिश्रण करता है क्या ? जो आहारके लिये जा रहे हैं, जिन्होंने आहार ग्रहण किया हैं, जिन्होंने अण्डे ग्रहण किये हैं, जो अपने निवास प्रदेशमें ठहरे हुए हैं, जो मूर्च्छित होकर पडे हैं ऐसे प्राणिओंको यह मुनि धीरेसे हटाता है या नहीं उसकी वास्तव्य मुनि परीक्षा करते है. आगत मुनि के वचन की भी परीक्षा करते हैं अर्थात् आगतमुनि कठोर वचन, परनिंदा स्वप्रशंसा करता है क्या ? आरंभपरिग्रहोंमें प्रवृत्त करनेवाला, मिथ्यात्वको उत्पन्न करनेवाला मिथ्याज्ञानको उत्पन्न करनेवाला, असत्य, और गृहस्थोंका वचन बोलता है या नहीं इसकी परीक्षा करते हैं. जो वस्तु जिस स्थानसे लेना है और जो वस्तु जिस स्थान पर रखना है उन वस्तुओंका प्रमार्जन करके ग्रहण निक्षेपण करता है या अन्यथा उसमें प्रवृत्ति करता है इसका वे मुनि परीक्षण करते हैं. कालादिशुद्धि का विचार कर स्वाध्याय करता है या नहीं ? अथवा इस ग्रंथका यह मुनि पठन कर किस रीतीसे अर्थ कहता है. इसकी भी परीक्षा करते हैं. विहारपरीक्षाका स्वरूप इस प्रकार है–अपने निवासस्थानसे दूर हात वगैरे प्रमाणसे युक्त, प्राणिरहित, छिद्ररहित, समतलयुक्त विरोधरहित, मार्गसे चलनेवाले लोक जिसको नहीं देख सके ऐसे स्थानमें यह मुनि शरीरमलका त्याग करता है ? अथवा विपरीत स्थानमें शरीरमलका विसर्जन करता है इसकी परीक्षा करते हैं. यह विहारपरीक्षा कही जाती है. भिक्षाग्रहणपरीक्षा—जो कुछ आहार मिलेगा वह ग्रहण करता है अथवा नवकोटि विशुद्ध आहार ग्रहण करता है इसका भी वास्तव्य मुनि विचार करते हैं.

आगंतुको यतिर्गुरुमुपाश्रित्य सविनयं संघाटकदानेन भगवन्ननुग्राह्योऽस्मीति विज्ञापनां करोति। ततो गणधरेणापि समाचारज्ञो दातव्यः संघाटक इति निगदति—

आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडओ दु दादव्वो ॥
सेज्जा संथारो वि य जइ वि असंभोइओ होइ ॥ ४१३ ॥

देयः संघाटकोऽवश्यमागताय दिनत्रयम् ।
असंस्तुतस्य यत्नेन शय्यासंस्तरकावपि ॥ ४२४ ॥

विजयोदया—आएसस्स तिरत्त प्राघुर्णकस्य त्रिरात्रं । णियमा संघाडओ दु दादव्वो निश्चयेन संघाटको दातव्य एव । सेज्जा संथारो वि य वसतिः संस्तरश्च दातव्यः । जदि वि असंभोइओ होइ । यद्यप्यपरीक्षितत्वात्सहानाचरणीयो भवति । तथापि संघाटको दातव्यो भवति । युक्ताचारश्चेत्संगृह्यते ॥

आगंतुकेन च प्रश्रयमुपाश्रित्य भगवन्संघाटकदानेनानुग्राह्योऽस्मीति विज्ञापितो गुरुस्तस्मै सामाचारज्ञं संघाटकं दद्यात् इति ज्ञापयति—

मूलारा—दु दादव्वो दातव्य एव तुरेवार्थोन भिन्नक्रमः । असंभोइओ असंभोगिकः सामाचारिक इत्यर्थः युक्ताचारश्चेत्संग्राह्य इति भावः ॥

आगंतुक यति गुरूका आश्रयकर हे भगवन् ! सहाय देकर आप मेरे ऊपर अनुग्रह करो ऐसी विज्ञप्ति करता है तब आचारक्रमके ज्ञाता उसको संघाटक अर्थात् सहायप्रदन करते हैं यही भाव आगेके गाथामे आचार्य कहते हैं—

अर्थ—अतिथिरूप मुनिको नियमसे तीन दिन तक सहायप्रदान करना चाहिये. उसको वसतिका और संस्तर अर्थात् चटाई देना चाहिये. यद्यपि परीक्षा होनेतक उसके साथ आचारण करना योग्य नहीं है तथापि उसको सहाय देना चाहिए. और यदि उसका आचारण योग्य दीख पडा तो गणमें उसका संग्रह करना चाहिए.

त्रिनभयोत्तरकालं किं कार्यं गुरुणेत्याशंकायां वदति—

तेण परं अवियाणिय ण होदि संघाडओ दु दादव्वो ॥
सेज्जा संथारो वि य गणिणा अविजुत्तजोगिस्स ॥ ४१४ ॥

संघाटको न दातव्यो नियमेन ततःपरम् ॥
यतेर्युक्तचरित्रस्य शय्यासंस्तरकावपि ॥ ४२५ ॥

विजयोदया—तेण गणिणा तेन गणिना। परं दिनत्रयात्। अवियारिणय अविचार्य सवृत्तसंघाटं यतिवचन-श्रवणोत्तरकालं। तु शब्द एवकारार्थे प्रवर्तते स च दादव्वो इत्येतस्मात्परतो द्रष्टव्यः। न दातव्य एव संघाटकः। सेज्जा संथारो वा वसतिः संस्तरो वा न दातव्यः। अविजुत्तजोगिस्स युक्ताचारस्यापि न दातव्यः संघाटकादिः परीक्षामंतरेण किं पुनरितरस्येत्याशयः ॥

त्र्यहादूर्ध्वं किं कार्यमित्याह—

मूलारा—तेण गंतव्येन गणिना। परं दिनत्रयादूर्ध्वं। अविचारिय अविचार्य। संघाटकयतिना सार्द्धं अवर्तयित्वा (*) अविजुत्तजोगस्स युक्ताचारस्यापि आगंतुकस्य संघाटकादिकं युक्तयोगस्यापि परीक्षां विना न दातव्यमेव किं पुनरितरस्येत्यतिशयः। यदि परीक्षा क्षमते तदा संघाटकादिकं दातव्यमिति तात्पर्यः ॥

तीन दिनके अनन्तर गुरूके द्वारा कोनसा कार्य किया जाता है इसका विवेचन करते हैं—

अर्थ—तीन दिनके अनंतर मुनिका वचन सुनकर अर्थात् यह आगंतुक मुनि अपने गणमें आश्रय देने योग्य नहीं है ऐसा वचन सुनकर आचार्य उस आगंतुक मुनिको सहायप्रदान नहीं करते हैं, तथा वसतिका और संस्तर भी उसको नहीं देते हैं, आगंतुक मुनिका आचरण योग्य है परंतु तीन दिनमें उसकी परीक्षा नहीं हुई तो उसको भी आचार्य सहाय, वसतिका और संस्तर नहीं देते हैं.

अविचार्य तेन सहावस्थाने को दोषो येनैवं यत्नः क्रियते इत्यारेकायां दोषमाचष्टे—

उग्गमउप्पादणएसणासु सोधी ण विज्जदे तस्स ॥
अणगारमणालोइय दोसं संभुज्जमाणस्स ॥ ४१५ ॥

गृह्णानस्य यतेः सूरेरनिराकृतदूषणम् ॥
उद्गमोत्पादनाहारदोषशुद्धिर्न जायते ॥ ४२६ ॥

विजयोदया—उग्गमउप्पादणएसणासु उद्गमोत्पादनैषणादोषपरिहारो न विद्यते तस्य गणिनः। अणगारं यतिं।

अनालोच्य दोसं अनालोचितदोषं । संभुज्जमाणस्स संगृह्णतः । उद्गमादिदोषोपहतमाहारं वसतिं, उपकरणं वा सेवते यः यतिः तेन सह संवासात् संवासानुमतिं कुर्वता नानुमतिस्त्यक्ता भवति इति ॥

अविचार्य तेन सहावस्थाने को दोषो येनैवं यत्नः क्रियते इत्यारेकायां दोषमाचष्टे—

मूलारा—सोधी परिहार । उद्गमादिदोषाणां त्याग इत्यर्थः । तस्स गणिनः । अणगारं यतिं । संभुज्जमाणस्स संगृह्णतः । उद्गमादिदोषोपहतमाहारं वसतिमुपकरणं वा यः सेवते तेन सह संवासात् । संवासानुमतिं कुर्वता नानुमतिस्त्यक्ता भवतीति मन्यते ॥

समाध्यर्थी प्रश्रयेण गुरुमुपाश्रित्यागमनकारणं निवेदयति—

थिणयेणुवक्कमित्ता उवसंपज्जदि दिवा व रादो वा ॥
दीवेदि कारणं पि य विणयेण उवट्ठिए संते ॥

मूलारा—विणएण प्रणामादिना । उवक्कमित्ता परगणमिति शेषः । उवसंपज्जदि उपाश्रयति । निर्यापकाचार्यमिति शेषः । रादो रात्रौ । दीवेदि प्रकाशयति कारणं स्वागमनस्येति शेषः । अयमत्रार्थः—उत्तमार्थसाधनोद्यतः परगणं गत्वा निर्यापकाचार्यमुपाश्रयति । ततश्च दिने रात्रौ वा अवसरं प्राप्य तमुपाश्रितो विनयेनागमकारणं ब्रूते । एतां टीकाकारो नेच्छति

अर्थ—जो मुनि दोषोंकी आलोचना नहीं करता है. जो उद्गम, उत्पादन एषणा दोषोंसे युक्त आहारका, वसतिकाका, उपकरणका और संस्तरका सेवन करता है ऐसे मुनिके साथ जो आचार्य रहता है अथवा उसके साथ रहनेके लिये अन्य मुनिओंको अनुमति देता है. वह भी आगंतुक मुनिके समान दोषी समझना चाहिये. जो आगंतुक मुनि उद्गमादि दोषोंसे अशुद्ध हुआ है वह आलोचना भी नहीं करता है. अत एव उसको संघसे अलग करनाही योग्य है. उसके दोषोंको विचार न कर उसके साथ रहनेसे स्वयं भी आचार्य और संघ अशुद्ध होगा.

उव्वादो तं दिवसं विस्सामित्ता गणिमुवट्ठादि ॥
उद्धरिदुमणोसल्लं विदिए तदिए व दिवसम्मि ॥ ४१६ ॥

स प्रणम्य गणनायकं त्रिधा भापते निशि दिवाथ संश्रितः ॥
आगमस्य विनयेन कारणं सिद्धये न विनयं विना क्रिया ॥ ४२७ ॥
विश्रम्यासौ शल्यमुद्धर्तुकामः श्रांतः स्थित्वा वासरं तं द्वितीये ॥
तत्राचार्यं ढौकते वा तृतीये न प्रारब्धं साधवो विस्मरन्ति ॥ ४२८ ॥

इति मार्गणासूत्रम् ।

विजयोदया—उव्वादो श्रांतः स्थित्वा । तं दिवसं आगतदिनं । विस्सामित्ता विश्राम्य । गणिमुवढादि आचार्यं ढौकते । उद्धरिदुमणोसल्लं उद्धर्तुं मनःशल्यं अतिचारं । विदिए तदिए च दिवसम्मि द्वितीये तृतीये वा दिने मार्गणापुरस्सरा क्रिया सर्वा मार्गणेत्युपन्यस्ता ॥

ततो द्वितीयेऽन्हि तृतीये वा स्वशल्यमुद्धर्तुं गुरुमुपसर्पति—

मूलारा—उव्वादो श्रांतः । तं दिवसं आगमनदिनं । उवढादि ढौकते । उद्धरिदुमणो हृदयान्निष्कासयितुकामः सल्लं रत्नत्रयातिचारं । अत्र मार्गणानुषंगिण्यपि क्रिया मार्गणैवेति उपन्यस्ता । मार्गणा सूत्रतः । १६ । अंकतः १७ ॥

अर्थ—मार्गश्रमसे खिन्न हुआ वह आगंतुक मुनि पहले दिन श्रमपरिहारार्थ विश्रान्ति लेता है. तदनंतर दूसरे दिन अथवा तीसरे दिनमें मनमें शल्यके समान चुभनेवाले अतिचारोंका उद्धार करनेके लिये आचार्यके चरण समीप वह प्राप्त होता है. मार्गणापुरःसर जो जो क्रिया की जाती है वे सब मार्गणा ही कही जाती है.

कीदृग्गुणः सूरिरनेनोपाश्रित इत्याचष्टे—

आयारवं च आधारवं च ववहारवं पकुव्वीय ॥
आयावायविदंसी तहेव उप्पीलगो चेव ॥ ४१७ ॥
आचारी सूरिराधारी व्यवहारी प्रकारकः ॥
आयापायदृगुत्पीडी सुखकार्यपरिस्रवः ॥ ४२९ ॥

विजयोदया—आयारवं च आचारवान् । आधारवं च आधारवान् । ववहारवं च व्यवहारवान् । पकुव्वीय कर्ता । तहेव आयापायविदंसी आयापायदर्शनोद्यतः । उप्पीलगो चेव । अवपीडकः ॥

अथैवं समाध्यर्थं कृतपरिकर्मणा तेन मुमुक्षुणा कीदृग्गुणः सूरिरुपाश्रित इति पृष्टः सन् गाथानवत्या निर्यापकाचार्यगुणग्रामं प्रपंचयिष्यन्नादौ तद्गुणानष्टावुद्देष्टुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—आयारवं आचारवान्। पकुव्वो प्रकर्ता। आयापायनिर्दंसी आयापाययो रत्नत्रयस्य लाभच्छेदयोर्दर्शनोद्यतः उप्पीलगो अवपीडकः॥

जिस आचार्यका आगंतुक मुनि आश्रय करता है उसमें कोनसे गुण रहते हैं इसका विवेचन—

अर्थ—आचार्य आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, कर्ता, आयापायदर्शनोद्यत, और उत्पीलक होता है.

अपरिस्साई णिव्वावओ य णिज्जावओ पहिदकित्ती॥
णिज्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ॥ ४१८॥
एभिर्निर्यापकः सूरिर्गुणैरष्टभिरन्वितः॥
दातुमाराधनामीशः पृथुकीर्तिरुपेयुषे॥ ४२०॥

विजयोदया—अपरिस्साई अपरिस्रावी। णिव्वावओ निर्वापकः। पहिदकित्ती प्रथितकीर्तिः। णिज्जवणगुणोवेदो निर्यापनगुणसमन्वितः। एरिसओ होदि आयरिओ ईदृग्भवत्याचार्यः॥

मूलारा—णिज्जायगो-निर्यापकः। उक्तं च—

आचारी सूरिराधारी व्यवहारी प्रकारकः॥
आयापायदिगुत्पीडी सुखकार्यपरिस्रवः॥
एभिर्निर्यापकः सूरिर्गुणैरष्टभिरन्वितः॥
दातुमाराधनामीशः पृथुकीर्तिरुपेयुषे॥

अर्थ—आचार्य अपरिस्रावी, निर्वापक, प्रसिद्ध कीर्तिमान और निर्यापकके गुणोंसे पूर्ण होते हैं, इतने गुण आचार्यमें होते हैं.

आचारवत्वव्याख्यानायागता गाथा—

आयारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं ॥
उवदिसदि य आयारं एसो आयारवं णाम ॥ ४१९ ॥

आचारी स मतः सूरिरतिचारनिराकृतं ॥
चर्यते चार्यते येन पंचाचारोऽनुमन्यते ॥ ४३१ ॥

विजयोदया—आयारं पंचविहं पंचप्रकारं आचारं। चरदि विनातिचारं चरति । परं वा निरतिचारे पंचविधे आचारे प्रवर्तयति । उवदिसदि य आयारं उपदिशति च आचारं। एसो आयारवं णाम एष आचारवान्नाम । एतदुक्तं भवति—आचारांगं स्वयं वेत्ति ग्रंथतोऽर्थतश्च, स्वयं पंचविधे आचारे प्रवर्तते प्रवर्तयति च । पंचाचारवान् इति । पंचविधे स्वाध्याये वृत्तिर्ज्ञानाचारः । जीवादितत्त्वश्रद्धानपरिणतिः दर्शनाचारः । हिंसादिनिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः । चतुर्विधाहारत्यजनं, न्यूनभोजनं, वृत्तेः परिसंख्यानं, रसानां त्यागः, कायसंतापनं विविक्तावास इत्येवमादिकस्तपःसंज्ञित आचारः । स्वशक्त्यनिगूहनं तपसि वीर्याचारः । एते पंचविधा आचाराः ॥

मूलारा—पंचविहं पंचविधे स्वाध्याये वृत्तिर्ज्ञानाचारः। जीवादितत्वश्रद्धानपरिणतिर्दर्शनाचारः । हिंसादि निवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः । अनशनादितपश्चरणपरिणतिस्तप आचारः, तपसि स्वशक्त्यनिगूहनं वीर्याचारः । वीर्योदाचारस्य को भेद इति चेदुच्यते—सद्दर्शनादीनां निर्मलीकरणे यत्नो विनयः । निर्मलीकृतेषु तेषु यथावीर्यं यत्न आचारः । इत्यनयोर्भेदः । श्लोकः—

सद्दृग्धीवृत्ततपसां मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ ॥
यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धेषु तेषु तु ॥

उवदिसदि । उपदिशति च । एते तैर्लक्षयति [?] ग्रंथतोऽर्थतश्चाचारांगं वेत्ति पंचाचारोपदेशान्यथायोगात् ॥

अर्थ—जो मुनि पांच प्रकारके आचार अतिचार रहित स्वयं पालता है. और इन पांच आचारोंमें दुसरोंको भी प्रवृत्त करता है. जो आचारका शिष्योंको उपदेश करता है वह आचारवत्व गुणका धारक समझना चाहिये. अभिप्राय यह है कि जो मुनि ग्रंथ और अर्थ से आचारांगको जानता है, स्वयं पांच प्रकारके आचारोंमें प्रवृत्त होकर अन्योंको भी प्रवृत्त करता है वह पंचाचारवान् कहा जाता है. पांच प्रकारके स्वाध्यायोंमें प्रवृत्ति करना यह ज्ञानाचार है. जीवादितत्वोंपर श्रद्धा न रखना दर्शनाचार है. हिंसादि पांच पापोंसे निवृत्ति रूप परिणाम रहना चा-

र्गाचार है. चार प्रकारके आहारोंका त्याग करना, अल्प भोजन करना, दाता, पात्र, आहार इत्यादिका परिमाण करना, रसोंका त्याग करना, शरीरको आतपनादि योग और आसनादिकसे क्लेशयुक्त करना. एकांत स्थानमें रहना इन सब प्रवृत्तिओंको तप आचार कहते हैं. तपश्चरणमें अपनी शक्ति नहीं छिपाना यह वीर्याचार है. ऐसे आचारोंके पांच भेद हैं.

प्रकारांतरेण आचारवत्त्वं कथयति—

दशविहठिदिकप्पे वा हवेज्ज जो सुट्ठिदो सयायरिओ ॥
आयारवं खु एसो पवयणमादासु आउत्तो ॥ ४२० ॥

दशधा स्थितिकल्पे वा सुस्थितो गतदूषणे ॥
आचारी कथ्यते युक्तः सूरिरागममातृभिः ॥ ३३२ ॥

विजयोदया—दशविहठिदिकप्पे वा दशविधे स्थितिकल्पे वा । हवेज्ज जो सुट्ठिदो सया भवेद्यः सुस्थितः सदा । आयरियो आचार्यः । आयारवं खु आचारवान् । एसो एषः । पवयणमादासु आउत्तो प्रवचनमातृकासु समितिषु गुप्तिषु च आयुक्तः ॥

आचारवत्त्वमेव भंग्यंतरेणोपदिशति—

मूलारा—ठिदिकप्पे आचरणविशेषे । पवयणमादासु प्रवचनमातृषु समितिगुप्तिषु । आउत्तो कृतोद्योगः ॥

अन्य प्रकारसे आचारवत्त्व गुणका निरूपण करते हैं—

अर्थ—जो दशप्रकारके स्थितिकल्पोंमें स्थिर है वह आचार्य आचारवत्वगुणका धारक समझना चाहिये. यह आचार्य तीन गुप्ति और समितिओंका जिनको प्रवचनमाता कहते हैं धारक होता है.

अभिहितकल्पनिर्देशार्था गाथा—

आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिरियम्मे ॥
जेट्ठपडिक्कमणे वि य मासं पज्जो सवणकप्पो ॥ ४२१ ॥

अचेलकत्वमुद्दिष्टशय्येशाहारवर्जने ॥
राजपिंडविवर्जित्वं कृतिकर्मप्रवर्तनम् ॥ ३३३ ॥

विजयोदया—आचेलक्कुद्देसिय चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलपरिग्रहत्याग आचेलक्यमित्युच्यते । दशविधे धर्मे त्यागो नाम धर्मः । त्यागश्च सर्वसंगविरतिरचेलतापि सैव । तेनाचेलो यतिस्त्यागाख्ये धर्मे प्रवृत्तो भवति । अकिंचनाख्ये अपि धर्मे समुद्यतो भवति निष्परिग्रहः । परिग्रहार्थो ह्यारंभप्रवृत्तिर्निष्परिग्रहस्यासत्यारंभे कुतोऽसंयमः । तथा सत्येपि धर्मे समवस्थितो भवति । परं परिग्रहनिमित्तं व्यलीकं वदति । असति बाह्ये क्षेत्रादिके अभ्यंतरे च रागादिके परिग्रहे न निमित्तमस्त्यनृताभिधानस्य । ततो ब्रुवन्नेवमचेलः सत्यमेव ब्रवीति । लाघवं च अचेलस्य भवति । अदत्तविरतिरपि संपूर्णा भवति । परिग्रहाभिलाषे सति अदत्तादाने प्रवर्तते नान्यथेति । अपि च रागादिके त्यक्ते भावविशुद्धिमयं ब्रह्मचर्यमपि विशुद्धतमं भवति । संगनिमित्तो हि क्रोधस्तदभावे चोत्तमा क्षमा व्यवतिष्ठते । सुरूपोऽहमाढ्य इत्यादिको दर्पस्त्यक्तो भवति अचेलेनेति । मार्दवमपि तत्र सन्निहितं । अजिह्मता चास्य स्फुटमात्मीयं भावमादर्शयतोऽचेलस्यार्जवता भवति मायाया मूलस्य परिग्रहस्य त्यागात् । चेलादिपरिग्रहपरित्यागपरो यस्मात् विरागभावमुपगतः । शब्दादिविषयेष्वासक्तो भवति । ततो विमुक्तेश्च शीतोष्णदंशमशकादिपरिश्रमाः, सुरासुरोदीर्णाः सोढाश्चोपसर्गाः निश्चेलतामभ्युपगच्छता । तपोऽपि घोरमनुष्ठितं भवति ॥

एवमचेलत्वोपदेशेन दशविधधर्माख्यानं कृतं भवति संक्षेपेण । अथवान्यथा प्रक्रम्यते अचेलताप्रशंसा । संयमशुद्धिरेको गुणः । स्वेदरजोमलावलिप्ते चेले तद्योनिकास्तदाश्रयाश्च त्रसाः सूक्ष्माः स्थूलाश्च जीवा उत्पद्यंते, ते बाध्यंते चेलग्राहिणा । संसक्तं वस्त्रं तावत्स्थापयतीति चेत्तर्हि हिंसा स्यात् । विवेचने च म्रियंते संसक्ताः । चेलवतः स्थाने, शयने, निषद्यायां, पाटने, छेदने, बंधने, वेष्टने, प्रक्षालने, संघट्टने, आतपप्रक्षेपणे च जीवानां बाधेति महानसंयमः । अचेलस्यैवंविधासंयमाभावात् संयमविशुद्धिः । इंद्रियविजयो द्वितीयः । सर्पाकुले वने विद्यामंत्रादिरहितो यथा पुमान् दृढप्रयत्नो भवति एवमिंद्रियनियमने अचेलोऽपि प्रयतते । अन्यथा शरीरविकारो लज्जनीयो भवेदिति । कषायाभावश्च गुणोऽचेलतायाः । स्तेनभयाद्रोमयादिरसेन लेपं कुर्वन्विगूहयित्वा कथंचिन्मायां करोति । उन्मार्गेण वा स्तेनवंचनां कर्तुं यायात् । गुल्मवल्ल्याद्यंतर्हितो वा स्यात् । चेलादिर्ममास्तीति मानं चोद्वहते । बलादपहरणात्स्तेनेन सह कलहं कुर्यात् । लाभाद्वा लोभः प्रवर्तते । इति चेलग्राहिणाममी दोषाः । अचेलतायां पुनरित्थंभूतदोषानुत्पत्तिः । ध्यानस्वाध्याययोरविघ्नता च । सूचीसूत्रकर्पटादिपरिमार्गणसीवनादिव्याक्षेपेण तयोर्विघ्नो भवति । निःसंगस्य तथाभूतव्याक्षेपाभावात् । सूत्रार्थपौरुषीषु निर्विघ्नता, स्वाध्यायस्य ध्यानस्य च भावना । ग्रंथत्यागश्च गुणः । बाह्यचेलादिग्रंथत्यागोऽभ्यंतरपरिग्रहत्यागमूलः । यथा तुषनिराकरणमभ्यंतरमलनिरासोपायः अतुषं धान्यं नियमेन शुद्ध्यति । भाज्या तुषस्य शुद्धिः । एवमचेलवति नियमादेव भाज्या । सचेले वीतरागद्वेषता न गुणः । सचेलो हि मनोज्ञे वस्त्रे

रक्तो भवति। दुष्प्रत्यमनोज्ञे । बाह्यद्रव्यालंबनौ हि रागद्वेषौ तावसति परिग्रहे न भवतः । किं च शरीरे अनादरो गुणः शरीरगतादरवशेनैव हि जनोऽसंयमे परिग्रहे च वर्तते । अचेलेन तु तदादरस्त्यक्तः, वातातपादिबाधासहनात्। स्ववशता च गुणः देशांतरगमनादौ सहायाप्रतीक्षणात् । पिच्छमात्रं गृहीत्वा हि त्यक्तसकलपरिग्रहः पक्षीव यातीति । सचेलस्तु सहायपरवशमानसश्च कथं संयमं पालयेत् । चेतोविशुद्धिप्रकटनं च गुणोऽचेलतायां । कौपीनादिना प्रच्छादयतो भावशुद्धिर्न ज्ञायते । निश्चेलस्य तु निर्विकारदेहतया स्फुटा विरागता । निर्भयता च गुणः। ममेदं किमपहरंति चौरादयः, किं ताडयंति, घ्नंतीति वा भयमुपैति सचेलो, भयातुरो वा किं न कुर्यात् । सर्वत्र विश्रब्धता च गुणः । निष्परिग्रहः न किंचनापि शंकते । सचेलस्तु प्रतिमार्गयायिनं यन्यं वा दृष्ट्वा न तत्र विश्वासं करोति । को वेत्ययं, किं करोति । अप्रतिलेखनता च गुणः । चतुर्दशविधं उपधिं गृह्णतां बहुप्रतिलेखनता न तथाचेलस्य । परिकर्मवर्जनं च गुणः । उद्वेष्टनं, मोचनं, सीवनं, वंधनं, रंजनं इत्यादिकमनेकं परिकर्म सचेलस्य। स्वस्य वस्त्रप्रावरणादेः स्वयं प्रक्षालनं सीवनं वा कुत्सितं कर्म, विभूषा, मूर्च्छा च। लाघवं च गुणः। अचेलोऽल्पोपधिः स्थानासनगमनादिकासु क्रियासु वायुवदप्रतिबद्धो लघुर्भवति नेतरः। तीर्थकराचरितत्वं च गुणः–संहननबलसमग्रा मुक्तिमार्गप्रख्यापनपरा जिनाः सर्वे एवाचेला भूता भविष्यंतश्च । यथा मेर्वादिपर्वतगताः प्रतिमास्तीर्थकरमार्गानुयायिनश्च गणधरा इति तेऽप्यचेलास्तच्छिष्याश्च तथैवेति सिद्धमचेलत्वं । चेलपरिवेष्टितांगो न जिनसदृशः । प्रलम्बभुजो निश्चलो जिनप्रतिरूपतां धत्ते । अतिगूढबलवीर्यता च गुणः । परीषहसहने शक्तोऽपि सचेलो न परीषहान्सहते । एवमेतद्गुणावेक्षणादचेलता जिनोपदिष्टा । चेलपरिवेष्टिताङ्ग आत्मानं निर्ग्रंथं यो वदेत्तस्य किमपरे पाषंडिनो न निर्ग्रंथाः ? वयमेव न ते निर्ग्रंथा इति वाङ्मात्रं नाद्रियते मध्यस्थैः। इत्थं चेले दोषा अचेलतायां अपरिमिता गुणा इति अचेलता स्थितिकल्पत्वेनोक्ता।

अथैवं मन्यसे पूर्वागमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्टम् तथा ह्याचारप्रणिधौ भणितं–"प्रतिलिखेत्पात्रकंबलं ध्रुवमिति। असत्सु पात्रादिषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं क्रियते"। आचारस्यापि द्वितीयाध्यायो लोकविचयो नाम, तस्य पंचमे उद्देशे एवमुक्तं-"पडिलेहणं, पादपुंछणं, उग्गहं, कडासणं, अण्णदरं उवधिं पावेज्ज" इति। तथा वत्थेसणाए "वुत्तं तत्थ एसे हिरिमणे सेगं वत्थं वा धारेज्ज पडिलेहणगं विदियं, तत्थ एसे जुग्गिदे देसे दुवे वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहणगं तदियं। तत्थ एसे परिस्सहं अणधिहासस्स तओ वत्थाणि धारेज्ज पडिलिहणं चउत्थं"। तथा पायेसणाए कथितं "हिरिमणे वा जुग्गिदे चावि अण्णगे वा तस्स णं कप्पदि वत्थादिकं पादचारित्तए इति"। पुनश्चोक्तं तत्रैव–"आलावुपत्तं वा, दारुगपत्तं वा मट्टिगपत्तं वा अप्पपाणं, अप्पबीजं अप्पसरिदं तथा अप्पकारं पात्रलाभे सति पडिग्गाहिस्सामीति"। वस्त्रपात्रे यदि न ग्राह्ये कथमेतानि सूत्राणि नीयंते । भावनायां चोक्तं–"चरिमं चीवरधारितेन परमचेलके तु जिणे" इति । तथा सूत्रकृतस्य पुंडरीके अध्याये कथितं 'ण कहेज्जो धम्मकहं वत्थपत्तादिहेदुमिति,।

निषेधेप्युक्तं—"कसिणाइं वत्थकंबलाइं जो भिक्खु पडिग्गहिदि पज्जदि मासिगं लहुगं" इति। एवं सूत्रनिर्दिष्टे चेले अचेलता कथं इत्यत्रोच्यते— आर्यिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्रं कारणापेक्षया। भिक्षूणां ह्रीमानयोग्यशरीरावयवो दुश्चर्माभिलंबमानबीजो वा परीषहसहने वा अक्षमः स गृण्हाति।

तथा चोक्तमाचारांगे 'सुदं मे आउस्सन्तो भगवदा एवमक्खादं। इह खलु संयमाभिमुखा दुविहा इत्थीपुरिसा जादा भवंति। तं जहा—सव्वसमण्णागदे णोसव्वसमण्णागदे चेव। तत्थ जे सव्वसमण्णागदे थिरांगहत्थपाणिपादे सव्विंदियसमण्णागदे तस्स णं णो कप्पदि एगमवि वत्थं धारिउं एव परिहिउं एव अण्णत्थ एगेण पडिलेहगेण इति" तथा चोक्तं कल्पे-हरिहेतुकं व होइ देहदुगुंछंति देहे जुग्गिदगे धारेज्ज सियं वत्थं परिस्सहाणं च ण विहासीति"। द्वितीयमपि सूत्रं कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणमित्यस्य प्रसाधकं आचारे विद्यते—" अह पुण एवं जाणेज्ज। उपातिकंते हमंतेहिं सुपडिवण्णे से अथ पडिजुण्णमुवधिं पादिट्ठावेज्ज" इति। हिमसमये शीतबाधासहः परिगृह्य चेलं तस्मिन्निष्क्रान्ते ग्रीष्मे समायाते प्रतिष्ठापयेदिति। कारणापेक्ष्यं ग्रहणमाख्यातं। परिजीर्णविशेषोपादानाद्दृढानामपरित्याग इति चेत् अचेलतावचनेन विरोधः। प्रक्षालनादिकसंस्कारविरहात्परिजीर्णता वस्त्रस्य कथिता न तु दृढस्य त्यागकथनार्थं, पात्रप्रतिष्ठापना सूत्रेणोक्तेति। संयमार्थं पात्रग्रहणं सिध्यति इति मन्यसे नैव, अचेलता नाम परिग्रहत्यागः पात्रं च परिग्रह इति तस्यापि त्यागः सिद्ध एवेति। तस्मात्कारणापेक्षं वस्त्रपात्रग्रहणं। यदुपकरणं गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधिः गृहीतस्य च परिहरणमवश्यं वक्तव्यमेव। तस्माद्वस्त्रं पात्रं चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यम्। यच्च भावनायामुक्तं—' वरिसं चीवरधारी तेण परमचेलगो जिणोत्ति।' तदुक्तं विप्रतिपत्तिबहुलत्वात्। कथं? केचिद्वदन्ति 'तस्मिन्नेव दिने तद्वस्त्रं वीरजिनस्य विलंबनकारिणा गृहीतमिति'। अन्ये 'षण्मासाच्छिन्नं तत्कंटकशाखादिभिरिति'। 'साधिकेन वर्षेण तद्वस्त्रं खंडलकब्राह्मणेन गृहीतमिति केचित्कथयन्ति'। केचिद्वातेन पतितमुपेक्षितं जिनेनेत्यपरे वदन्ति। 'विलंबनकारिणा जिनस्य स्कंधे तदारोपितमिति'। एवं विप्रतिपत्तिबाहुल्यान्न दृश्यते तत्त्वं सचेललिंगप्रकटनार्थं। यदि चेलग्रहणं जिनस्य कथं तद्विनाश एवः। सदा तद्धारयितव्यम्। किंच यदि नश्यतीति ज्ञानं निरर्थकं तस्य ग्रहणं। यदि न ज्ञातमज्ञानमस्य प्राप्नोति। अपि च चेलप्रज्ञापना वांछिता चेत् " आचेलक्को धम्मो पुरिमचरिमाणं " इति वचो मिथ्या भवेत्। तथा नवस्थाने यदुक्तं "यथाहमचेली तथा होउ पच्छिमो इदि होक्खदित्ति" तेनापि विरोधः। किं च जिनानामितरेषां वस्त्रत्यागकालः वीरजिनस्येव किं न निर्दिश्यते, यदि वस्त्रं तेषामपि भवेत्। एवं तु युक्तं वक्तुं। सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केनचिद्वस्त्रं वस्तुं निक्षिप्तं उपसर्ग इति।

इदं चाचेलताप्रसाधनपरं शीतदंशमशकतृणस्पर्शपरीषहसहनवचनं परीषहसूत्रेषु। न हि सचेलं शीतादयो बाधन्ते। इमानि च सूत्राणि अचेलतां दर्शयन्ति। " परिचत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए॥ अचेलपवरे भिक्खू जिणरूवधरे सदा॥ सचेलगो सुखी भवदि। असुखी चावि अचेलगो। अहं तो सचेलो होक्खामि इति

भिक्खू ण चिंतए ॥ अचेलगस्स लूहस्स सीदं भवदि एगदा ॥ णातवं से विचिंतेज्जो अधिसिज्ज अलाहसो ॥ ण मे णिवारणं अत्थि छाइयं ता ण विज्जदि । अहं तावग्गि सेवामि इति भिक्खू ण चिंतए ॥ अचेलगाण लूहस्स संजदस्स तवस्सिणो ॥ तणेसु सयमाणस्स णं ते होदि विराधिदा ॥ एगेण ताव कप्पेण संडुंगातिणंसित दंसावाए जो संपसिद्धं किमग पुण वीहकारोहिं" ॥ एतान्युत्तराध्ययने-आचेलक्को य जो धम्मो जो वायं पुणरुत्तरो । देसिदो वड्ढमाणेण पासेण य महप्पणा ॥ एगधम्मे पवत्ताणं दुविधा लिंगकप्पणा । उभयसिं पदिट्ठाणमहं संसयमागदः;" इति वचनाच्चरमतीर्थस्यापि अचेलता सिद्ध्यति ।

णग्गस्स य मुंडस्स य दीहलोमणखस्स य । मेहुणादो विरत्तस्स किं विभूसा करिस्सदि ॥ इति दशवैकालिकायामुक्तं । एवमाचेलक्यं स्थितिकल्पः ।

श्रमणानुद्दिश्य कृतं भक्तादिकं उद्देसिगमित्युच्यते । तच्च षोडशविधं आधाकर्मादिविकल्पेन । तत्परिहारो द्वितीयः स्थितिकल्पः । तथा चोक्तं कल्पे—

सोलसविधमुद्देसं वज्जेदव्वंति पुरिमचरिमाणं ॥
तित्थगराणं तित्थे ठिदिकप्पो होदि विदिओ हु ॥

सेज्जाघरशब्देन त्रयो भण्यंते वसतिं यः करोति । कृतां वा वसतिं परेण भग्नां पतितैकदेशां वा संस्करोति । यदि वा न करोति न संस्कारयति केवलं प्रयच्छत्यत्रास्वेति । एतेषां पिंडो नामाहारः, उपकरणं वा प्रतिलेखनादिकं शय्याधरपिंडस्तस्य परिहरणं तृतीयः स्थितिकल्पः । सति शय्याधरपिंडग्रहणे प्रच्छन्नमयं योजयेदाहारादिकं । धर्मफललोभाद्यो वा आहारं दातुमक्षमो दरिद्रो लुब्धो वा न चासौ वसतिं प्रयच्छेत् । सति वसतौ आहारादाने वा लोको मां निंदति-स्थिता वसतावस्य यतयो न चानेन मंदभाग्येन तेषामाहारो दत्त इति । यतेः स्नेहश्च स्यादाहारं वसतिं च प्रयच्छति तस्मिन् बहूपकारितया । तत्पिंडाग्रहणे तु नोक्तदोषसंस्पर्शः ।

राजपिंडाग्रहणं चतुर्थः स्थितिकल्पः । राजशब्देन इक्ष्वाकुप्रभृतिकुले जाताः । राजते प्रकृतिं रंजयति इति वा राजा राजसदृशो महर्द्धिको भण्यते । तस्य पिंडः तत्स्वामिको राजपिंडः । स त्रिविधो भवति । आहारः, अनाहारः, उपधिरिति । तत्राहारश्चतुर्विधो भवति अशनादिभेदेन । तृणफलकपीठादिः अनाहारः, उपधिर्नाम प्रतिलेखनं वस्त्रं पात्रं वा । एवंभूतस्य राजपिंडस्य ग्रहणे को दोषः इति चेत् अत्रोच्यते— द्विविधा दोषा आत्मसमुत्थाः परसमुत्थाः मनुजतिर्यक्कृतविकल्पेनेति । तिर्यक्कृता द्विविधा ग्रामारण्यपशुभेदात् । ते द्विप्रकारा अपि द्विभेदा दुष्टा भद्राश्चेति । हया, गजा, गावो, महिषा, मेण्ढ्राः, श्वानश्च ग्राम्याः दुष्टाः । दुष्टेभ्यः संयतोपघातः । भद्राः पलायमानाः स्वयं दुःखिताः पातेन अभिघातेन वा व्रतिनो मारयंति वा धावनोल्लंघनादिभिः । प्राणिन आरण्यकास्तु व्याघ्रतरक्षुद्वीपिनो, वानरा वा राजगृहे बंधनमुक्ता यदि क्षुद्रास्तत आत्मविपत्ति-

भेद्रादेरपलायने पूर्वदोषः। मानुषास्तु तद्यथा म्लेच्छभेदाः, प्रेष्याः, दासाः, दास्यः इत्यादिकाः तैराकुलत्वात् दुःप्रवेशनं राजगृहं प्रविशंतं मत्ताः, प्रमत्ताः, प्रमुदिताश्च दासादयः उपहसंति, आक्रोशयन्ति वारयंति वा। अवरुद्धायाः स्त्रिया मैथुनसंज्ञया बाध्यमानाः पुत्रार्थिन्यो वा बलात्स्वगृहं प्रवेशयन्ति भोगार्थं। विप्रकीर्णं रत्नसुवर्णादिकं परे गृहीत्वा अत्र संयता आयाता इति दोषमध्यारोपयन्ति। राजा विश्वस्तः श्रमणेषु इति श्रमणरूपं गृहीत्वागत्य दुष्टाः खलीकुर्वन्ति। ततो रुष्टा अविवेकिनः दूषयंति श्रमणान्मारयंति बध्नन्ति वा एते परसमुद्भवा दोषाः। आत्मसमुद्भवास्तूच्यंते। राजकुले आहारं न शोधयति अदृष्टमाहृतं च गृण्हाति। विकृतिसेवनादिंगालदोषः, मंदभाग्यो वा दृष्ट्वानर्घ्यं रत्नादिकं गृण्हीयाद्रामलोचना वानुरूपाः समयलोकयानुरक्तस्तासु भवेत्। तां विभूतिं, अंतःपुराणि, पण्यांगना वा विलोक्य निदानं कुर्यात्। इति दोषसंभवो यत्र तत्र राजपिंडग्रहणप्रतिषेधो न सर्वत्र प्रकल्प्यते। ग्लानार्थं राजपिंडोऽपि दुर्लभं द्रव्यं। आगाढकारणे वा श्रुतस्य व्यवच्छेदो माभूदिति।

चरणस्थेनापि विनयो गुरूणां महत्तराणां शुश्रूषा च कर्तव्येति पंचमः कृतिकर्मसंज्ञितः स्थितिकल्पः।

ज्ञातजीवनिकायस्य दातव्यानि नियमेन व्रतानि इति षष्ठः स्थितिकल्पः। अचेलतायां स्थितः उद्देशिकराजपिंडपरिहरणोद्यतः गुरुभक्तिकृद्विनीतो व्रतारोपणार्हो भवति। उक्तं च—

आचेलक्के य ठिदो उद्देसादी य परिहरदि दोसे॥
गुरुभत्तिको विणीओ होदि वदाणं सया अरिहो॥

इति व्रतदानक्रमोऽयं स्वयमासीनेषु गुरुषु, अभिमुखं स्थिताभ्यो विरतिभ्यः, श्रावकश्राविकावर्गाय व्रतं प्रयच्छेत् स्वयं स्थितः सूरिः स्ववामदेशे स्थिताय विरताय व्रतानि दद्यात्। उक्तं च—

विरदी सावगवग्गे च णिविट्ठं ठविय तं च सुपडिमुखं॥
विरदं च ठिदो वामे ठविय गणिदो उवादेज्ज॥

इति ज्ञात्वा श्रद्धाय पापेभ्यो विरमणं व्रतं वृत्तिकरणं छादनं संवरो विरतिरित्येकार्थाः

णाऊण अब्भुवेज्जय पावाणं विरमणं वदं होइ॥
विदिकरणं छादणं संवरो विरदित्ति एगट्ठा॥

इति। आद्यपाश्चात्यतीर्थयो रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि पंच महाव्रतानि। तत्र प्राणिवियोगकरणं प्राणिनः प्रमत्तयोगात्प्राणवधस्ततो विरतिरहिंसाव्रतं। व्यलीकभाषणेन दुःखं प्रतिपद्यंते जीवाः इति मत्वा दयावतो यत्सत्याभिधानं तद्द्वितीयं व्रतं। ममेदमिति संकल्पोपनीतद्रव्यवियोगे दुःखिता भवंति इति तद्यथा अदत्तस्यादानाद्विरमणं तृतीयं व्रतम्। सर्षपपूर्णायां नाल्यां तप्तायसशलाकाप्रवेशनवद्योनिद्वारस्थानेकजीवपीडा साधनप्रवेशेनेति तद्बाधापरिहारार्थं तीव्रो राग-

भिनिवेशः, कर्मबंधस्य महतो मूलं इति ज्ञात्वा श्रद्धायतः मैथुनाद्विरमणं चतुर्थं व्रतम्। परिग्रहः षड्जीवनिकायपीडाया मूलं मूर्च्छानिमित्तं चेति सकलग्रंथत्यागो भवति इति पंचमं व्रतम्। तेषामेव पंचानां व्रतानां पालनार्थं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठं व्रतम्। सर्वजीवविषयमहिंसाव्रतं अदत्तपरिग्रहत्यागौ सर्वद्रव्यविषयौ द्रव्यैकदेशविषयाणि शेषव्रतानि। उक्तं च—

पढमम्मि सव्वजीवा तदिये चरिमे य सव्वदव्वाइं॥
सेसा महव्वदा खलु तदेकदेसम्मि दव्वाणं॥

पंचमहाव्रतधारिण्याश्चिरप्रव्रजिताया अपि ज्येष्ठो भवति अधुना प्रव्राजितः पुमान्। इत्येष सप्तमः स्थितिकल्पः पुरुषज्येष्ठत्वं। पुरुषत्वं नाम उपकारं, रक्षां च कर्तुं समर्थः। पुरुषप्रणीतश्च धर्मः इति तस्य ज्येष्ठता। ततः सर्वाभिः संयताभिः विनयः कर्तव्यो विरतस्य। येन च स्त्रियो लघ्व्यः परप्रार्थनीयाः, पररक्षोपेक्षिण्यः, न तथा पुमांस इति च पुरुषस्य ज्येष्ठत्वं। उक्तं च—

जेणित्थी हु लघुसिगा परप्पसज्झा य पच्छणिज्जा य॥
भीरु पररक्खणज्जेत्ति तेण पुरिसो भवदि जेट्ठो॥

अचेलतादिकल्पस्थितस्य यद्यतिचारो भवेत् प्रतिक्रमणं कर्तव्यमित्येषोऽष्टमः स्थितिकल्पः। नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन षड्विधं प्रतिक्रमणं। भट्टिणी भट्टिदारिगा इत्याद्ययोग्यनामोच्चारणं कृतवतस्तत्परिहरणं नामप्रतिक्रमणं। असंयतमिथ्यादृष्टिजीवप्रतिबिंबपूजादिषु प्रवृत्तस्य तत्प्रतिक्रमणं स्थापनाप्रतिक्रमणं। सचित्तमचित्तं मिश्रमिति त्रिविकल्पं द्रव्यं तस्य परिहरणं द्रव्यप्रतिक्रमणं। त्रसस्थावरबहुलस्य स्वाध्यायध्यानविघ्नसंपादनपरस्य वा परिहरणं क्षेत्रप्रतिक्रमणं। संध्यास्वाध्यायकालादिषु गमनागमनादिपरिहारः कालप्रतिक्रमणं। मिथ्यात्वासंयमकषाययोगेभ्यो निवृत्तिर्भावप्रतिक्रमणं। प्रतिक्रमणसहितो धर्मः आद्यपाश्चात्ययोर्जिनयोः जातापराधप्रतिक्रमणं मध्यवर्तिनो जिना उपदिशन्ति।

पडिकमणं देवसिगं रादिगइत्तिरियभिक्खचरिया य॥
पक्खिय चाउम्मासिय संवच्छर उत्तमट्ठे य॥

अमी प्रतिक्रमणभेदा आद्यंततीर्थकरप्रणीते पंचमे धर्मे, इतरत्र चतुर्थधर्मे प्रतिक्रमणस्य कालनियम उक्तः यदायमतिचारं प्राप्तस्तदा प्रतिक्रमणमभ्यात्मिकं दर्शनं। उक्तं च—

समणो य पेसणो वि य दूरायादो य सव्वसुमणो वि॥
सुमणो वि यदि य सद्दो जागरमाणो वि अणदो वि॥
ठाणविओ आयरियं णावज्जामित्ति मज्झिमजिणेसु॥
ण पडिक्कमगं तेण दु जे णातिक्कमदि सो णेव॥

सङ्गादिसु वि पवित्ती आदिय अंतम्मि सो पडिकमदि ॥
मज्झिमगा मण्णेंति य अमज्झगाणं हवे उभयं ॥
इरियं गोयर सुमिणादि सव्वमाचरदु मा व आचरदु ॥
पुरिम चरिमेसु सव्वो सव्वं णियमा पडिक्कमदि ॥

मध्यमतीर्थंकरशिष्या दृढबुद्धयः, एकाग्रचित्ताः, अमोघलक्ष्यास्तस्माद्यदाचरितं तद्गर्हया शुद्ध्यति। इतरे तु चलचित्ता न लक्षयंति स्वापराधांस्तेन सर्वं प्रतिक्रमणं उपदिष्टं जिनाभ्यां अंधघोटकदृष्टांतन्यायेन॥

ऋतुषु षट्सु एकैकमेव मासमेकत्र वसतिरन्यदा विहरति इत्ययं नवमः स्थितिकल्पः। एकत्र चिरकालावस्थाने नित्यमुद्गमदोषं च न परिहर्तुं क्षमः। क्षेत्रप्रतिबद्धता, सातगुरुता, अलसता, सौकुमार्यभावना, ज्ञातभिक्षाग्राहिता च दोषाः। पज्जो समणकप्पो नाम दशमः। वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्यागः। स्थावरजंगमजीवाकुला हि तदा क्षितिः। तदा भ्रमणे महानसंयमः, वृष्ट्या शीतवातपातेन चात्मविराधना। पतेद्वाप्यादिषु स्थाणुकंटकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्दमेन वा बाध्यत इति विंशत्यधिकं दिवसशतं एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः। कारणापेक्षया तु हीनाधिकं वावस्थानं, संयतानां आषाढशुद्धदशम्यां स्थितानां उपरिष्टाच्च कार्तिकपौर्णमास्यास्त्रिंशद्दिवसावस्थानं। वृष्टिबहुलतां, श्रुतग्रहणं, शक्त्यभाववैयावृत्त्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रेति उत्कृष्टः कालः। मार्यां, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशांतरं याति। अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति। पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिक्रांतायां प्रतिपदादिषु दिनेषु याति। यावच्च त्यक्ता विंशतिदिवसा एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य एष दशमः स्थितिकल्पः।

कोऽसौ दशविधः स्थितिकल्प इत्याह—

मूलारा—आचेलक्यं वस्त्रादिपरिग्रहाभावो नग्नत्वमात्रं वा। तच्च संयमशुद्धींद्रियजयकषायाभावध्यानस्वाध्यायनिर्विघ्नतानिर्ग्रंथतावीतरागद्वेषताशरीरानादरस्ववशचेतोविशुद्धिप्राकट्यनिर्भयत्वसर्वत्रविस्रब्धत्वप्रक्षालनोद्वेष्टनादिपरिकर्मवर्जनविभूषामूर्च्छात्यलाघवतीर्थकराचरितत्वानिगूढबलवीर्यतायपरिमितगुणग्रामोपलंभात् स्थितिकल्पत्वेनोपदिष्टम्। तद्गुणसमर्थनं टीकादृष्ट्या किंचिदुच्यते यथा—चेले हि स्वेदादियोनिकप्राणिनां प्रक्षालनादिना बाधा स्यात् इति तत्त्यागे संयमशुद्धिः। लज्जनीयशरीरविकारनिरोधनाय प्रयत्नवाढ्यादिंद्रियजयः, चोरादिवंचनाद्यभावात्कषायाभावः, सूचीसूत्रकर्पटादिमार्गणासेवनाद्यभावात्स्वाध्यायध्याननिर्विघ्नता, । अभ्यंतरग्रंथस्य चेलादिपरिग्रहमूलस्य त्यागः, मनोज्ञामनोज्ञवस्त्रत्यागात् वीतरागद्वेषता, वातातपादिबाधासहनाच्छरीरेऽनादरः, देशांतरगमनादौ सहायानपेक्षणात्स्ववशता, कौपीनादिप्रच्छादनाकरणाच्चेतोविशुद्धिप्रकटनं, चौरादिताडनादिभयाभावान्निर्भयत्वं, अपहार्यस्य अर्थस्याभावात्सर्वत्र विश्रब्धता, चतुर्दशविधोपकरणपरिग्राहिणां सितपटानामिव बहुप्रतिलेखनस्यप्रक्षालनादिक्रियासंगभारवाहित्वानि च न संतीत्यादि। उक्तं च—

म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारंभतः संयमो ।
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम् ।
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झगिति क्रोधः समुत्पद्यते ॥
तन्नित्यं शुचि रागहृच्छमवतां वस्त्रं ककुम्मंडलम् ॥
अपि च — विकारे विदुषां द्वेषो नाविकारानुवर्तने ॥
तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः ॥
नैष्किंचन्यमहिंसा च कुतः संयमिनां भवेत् ॥
ते संगाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ॥

२ उद्देसिगेत्यादि—उद्देशिकं श्रमणानुद्दिश्य कृतं भक्तादिकं । उद्देशिकं च शय्याधरराजपिंडौ च उद्देशिक शय्याधरराजपिंडाः । पिंडशब्देनात्रोपलक्षणाद्भक्तवसत्युपकरणादिग्रहणं । तेषामुद्देशिकादीनां त्रयाणां परिहारास्त्रयः स्थितिकल्पाः स्युः । परिहारशब्दश्चात्र लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः । तत्राधाकर्मादिकल्पेन षोडशविधोद्देशिकभक्तादित्यागाद्द्वितीयः स्थितिकल्पः । ३ शय्याधरशब्देन चात्र त्रयो गृह्यन्ते वसतेः कारकः, संस्कारकोऽत्रास्स्वेति संपादकश्च तत्पिंडत्यागः। सति हि तत्पिंडग्रहणे प्रच्छन्नमयं योजयेदाहारादिकं धर्मफललोभादिति लोकप्रवादशंका, यो वाहारं दातुमक्षमो दरिद्रो वा न चासौ वसतिं प्रयच्छेत् । सति वसविदाने लोको मां निंदति, स्थिता वसतावत्र यतयो न चानेन मंदभाग्येन तेषामाहारो दत्त इत्येवं वसत्यलाभ. । आहारं वसतिं च प्रयच्छति तस्मिन्बहूपकारितया यतेः स्नेहश्च स्यात् इति दोषाः स्युः । अन्ये पुनः शय्यागृहपिंडत्याग इति पठित्वैवं व्याचक्षते । मार्गे व्रजता यत्र गृहे रात्रौ सुप्यते तत्रैवान्यदिने भोजनपरिहारो वसतिसम्बन्धिद्रव्यनिमित्तपिंडस्य वा त्यागः इति तृतीयः ४ अथ राजशब्देन इक्ष्वाकुप्रभृतिकुले जातो, राजते प्रकृतिं रंजयतीति वा राज्ञा सदृशो महर्द्धिको भण्यते । तत्स्वामिभक्तादिवर्जनं चतुर्थः स्थितिकल्पः। तद्गृहप्रवेशे हि यतेः स्वच्छंदचित्रकुकुरात्युपघातस्तद्रूपालोकनाद्धरतुरगादीनां त्रासस्तं प्रति गर्वितदासाद्युपहासोऽवरुद्धाभिः स्त्रीभिर्मैथुनसंज्ञया बाध्यमानाभिः, पुत्रार्थिनीभिर्वा बलात्तस्य स्वगृहे प्रवेशनमुपभोगार्थम् । विप्रकीर्णरत्नसुवर्णादिकस्यान्यैः स्वयं चोरितस्य संयत आयात इति तत्र सच्चौरिकाध्यारोपणं । राजास्य विश्वस्तो राज्यं नाशयिष्यतीति कुद्धरमात्यादिभिर्यधबंधादिकं च स्यात् । तथा आहाराविशुद्धिः क्षीरादिविकृतिसेवानर्घ्यरत्नादिलोभाच्चोरणं, वरस्त्रीदर्शनाद्रागोद्रेको, लोकोत्तरविभूतिदर्शनाच्च तन्नि-

दानकरणं संभवेत् । एतद्दोषाभावेऽन्यत्र भोजनासंभवे च श्रुतव्युच्छेदपरिहारार्थं राजपिंडोऽपि न प्रतिषिध्यते ।

५ किदियम्मे कृतिकर्म, षट् नमस्काराः, षडावश्यकानि, निषेधिका चेति त्रयोदश क्रियाः । गुरुविनयमहत्तरशुश्रूषाकरणं वा । ६ वद मूलोत्तरगुणप्रतिपालनं । अचेलतायां हि स्थित उद्देशिकादिपिंडत्यागोद्यतो गुरुभक्तिमान् विनीतश्च व्रतारोपणयोग्यः स्यात् । उक्तं च—

आचेलक्के य ठिदो उद्देसादी य परिहरदि दोसे ॥
गुरुभत्तिमं विणीदो होदि वदाणं स अरिहो दु ॥

७ जेट्ठ ज्येष्ठत्वं मातापितृगृहस्थोपाध्यायार्यिकादिभ्यो महत्त्वमनुष्ठानेन वा श्रेष्ठत्वं । ८ पडिक्कमणे ऐर्यापथिकरात्रिंदिवापाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकोत्तमार्थभेदात्सप्तधा कृतदोषनिराकरणं ॥ ९ मासं त्रिंशदहोरात्रमेकत्र ग्रामादौ निवासः । एकत्र हि चिरावस्थाने उद्गमादिदोषपरिहाराक्षमत्वं, क्षेत्रप्रतिबद्धता, शातगुरुतालसता, सौकुमार्यभावनाभावो, ज्ञातभिक्षाग्राहिता च दोषाः स्युरिति टीकायां । टिप्पनके तु योगग्रहणादौ योगावसाने च तस्मिन्स्थाने मासमात्रं तिष्ठति इति मासं नाम नवमः कल्पः । उक्तं च—

पडिबंधो लहुयत्तं न जणुवयारो ण देसविण्णाणं ॥
णाणादीण अवुड्ढी दोसो अविहारपक्खम्मि ॥

१० पज्जो—प्रावृट्काले मासचतुष्टयमेकत्रावस्थानं । स्थावरजंगमजीवाकुला हि तदा क्षितिरिति तदा भ्रमणे महानसंयमः । वृष्ट्या शीतवातपातेन चात्मविराधना । पातो वा वाप्यादिषु । स्थाणुकंटकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्दमेन बाधनमिति विंशत्यधिकं दिवसशतं एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः । कारणापेक्षया तु हीनमधिकं वावस्थानं । संयतानामाषाढशुक्लदशम्याः प्रभृति स्थितानामुपरिष्टाच्च कार्तिकपौर्णिमास्यास्त्रिंशद्दिवसावस्थानं । वृष्टिबहुलतायां श्रुतग्रहणं, शक्त्यभावं वैयावृत्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्यावस्थानं एकत्रेत्युत्कृष्टः कालः । मार्यां, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशांतरं याति । अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यति इति पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिक्रांतायां प्रतिपदादिषु दिनेषु यावन्तश्चत्वारो दिवसा एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य । एष दशमः स्थितिकल्पो व्याख्यातः टीकायां ॥ टिप्पनके तु द्वाभ्यां द्वाभ्यां मासाभ्यां निषेधिका द्रष्टव्येति । सवणकप्पो यतीनामाचरणभेदः । तथा चोक्तम्—

अचेलकत्वमुद्दिष्टशय्येशाहरवर्जने ॥
राजपिंडविवर्जित्वं कृतिकर्मप्रवर्तनम् ॥
व्रतमरोहणार्हत्वं ज्येष्ठत्वं च प्रतिक्रमः ॥
मासैकत्रस्थितिः पर्योशिवकल्पा दशेरिताः ॥

दशकल्पोंका निर्देश—वर्णन करनेवाली गाथा—

अर्थ—आचेलक्य—चेल शब्दका अर्थ वस्त्र ऐसा होता है. परंतु यहा चेल शब्द संपूर्ण परिग्रहोंका उपलक्षण रूप है. अर्थात् आचेलक्यका अर्थ संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग ऐसा होता है. उत्तमक्षमादि दशधर्मों में से त्याग नामका एक धर्म है त्यागका अर्थ सर्वपरिग्रहोंसे विरक्त होना ऐसा होता है. अचेलता, आचेलक्य इन शब्दोंका भी यही अर्थ होता है. इस लिये वस्त्ररहित यति सर्वपरिग्रहका त्यागी होनेसे त्याग नामक धर्ममें प्रवृत्त होता है. परिग्रहरहित यति त्यागधर्मके समान अकिंचन धर्म.में भी प्रवृत्त होता है. लोक परिग्रहके लिये ही उद्योग, खेती, नोकरी वगैरह आरंभमें प्रवृत्ति करते हैं. परंतु मुनिने सर्व परिग्रहोंका त्याग किया है इस लिये उसको आरंभका अभाव हो चुका. आरंभका अभाव होनेसे असंयम भी नष्ट होता है. और सत्य धर्ममें स्थिरता आती है. परिग्रहके लियेहि मनुष्य दूसरेसे असत्य भाषण बोलता है. खेत, गृह, धनादि बाह्यपरिग्रह और क्रोधमानादि अभ्यंतर परिग्रह जब नष्ट होते हैं तब असत्य भाषण करनेका कारण ही नष्ट होता है. जब कभी निष्परिग्रही मुनि बोलेगा तो सत्यही बोलेगा. आचेलक्यसे लाघवगुण प्राप्त होता है. अचौर्य महाव्रतको पूर्णावस्था प्राप्त होती है. जब परिग्रहकी मनमें अभिलाषा उत्पन्न होती है तब दूसरोंका न दिया हुआ धन मनुष्य ग्रहण करता है.

परिग्रहोंका त्याग जिसने किया है वह ऐसे अकार्यमें प्रवृत्त होता ही नहीं. रागादिकोंका त्याग होनेसे परिणामोंमें निर्मलता आती है जिससे ब्रह्मचर्यका निर्दोष रक्षण होता है. ब्रह्मचर्य निर्मलतम होता है. क्रोध उत्पन्न होनेके लिये परिग्रह ही कारण है. परिग्रहोंका त्याग करनेसे क्रोध नष्ट होता है और क्षमागुण प्रगट होता है. मैं सुंदर हूं, मैं धनाढ्य हूं इत्यादि रूपका अभिमान भी परिग्रहोंका त्याग होनेपर मनमें नहीं रहता है. मार्दव गुण भी आचेलक्यसे प्राप्त होता है. निष्कपटता भी प्राप्त होती है. कारण आचेलक्यको धारण करनेवाला मुनि मनमें जो विचार उत्पन्न हुआ होगा वह मुखसे कहता है. अतः उसको आर्जव गुणकी लब्धि होती है, परिग्रहही माया—

कपटीपनाका मूल है. ऐसे परिग्रहका त्याग करनेसे वैराग्यभाव बढ जाते हैं. तब मुनिराज शब्दादि पंचेंद्रियोंके विषयोंमें आसक्त नहीं होते हैं. परिग्रहसे रहित होनेपर मुनि शीत, उष्ण, दंशमशकादि परिश्रम सहन करते हैं. देव दानवोंने उपसर्ग यदि किये तो भी सहन करते हैं. ऐसा दुःख सहन करनेका सामर्थ्य परिग्रहोंका त्याग करनेसे ही आत्मामें प्रगट होता है. परिग्रहोंके त्यागसे घोर तपका पालन भी होता है. एक अचेलत्वसे दश धर्मोंका पालन होता है ऐसा सिद्ध होता है. यह संक्षेपसे विवेचन किया.

अचेलताकी प्रशंसा अब दूसरे प्रकारसे आचार्य करते हैं—

आचेलक्यसे संयमशुद्धि होती है. यह पहिला गुण है. स्वेदजल और मलसे मलिन हुए वस्त्रमें स्वेदसे लिक्षा, जूं वगैरह सम्मूर्च्छन जन्तु उत्पन्न होते हैं. तथा वस्त्रके आश्रयसे दूसरे सूक्ष्म और स्थूल त्रस और स्थावर जीव उत्पन्न होते हैं. वस्त्रग्रहण करनेसे ये प्राणी पीडे जाते हैं. जीवव्याप्त वस्त्र वैसा ही रखने पर भी हिंसा होती है. उसमेंसे एक एक जीव अलग करना चाहे तो वे मरते हैं. वस्त्रधारी मनुष्यको खडे होना, बैठना सोना, फाडना, छेद करना, बांधना, वेष्टन करना, धोना, मर्दन करना, धूपमें सुखाना इत्यादि कार्य करते समय वस्त्रगत जीवोंको बाधा पोहोंचानेसे महान् असंयमकी प्राप्ति होती है. परंतु वस्त्रत्यागी मुनिको उपर्युक्त असंयमका स्पर्श भी होता नहीं है. उनका संयम निर्मल रहता है. वस्त्रत्याग करनेसे इंद्रियविजय नामक गुण प्राप्त होता है. सर्पोंसे व्याप्त वनमें विद्यामंत्रादिरक्षित मनुष्यको सावधानीसे रहना पडता है. इसी प्रकार इंद्रियोंका नियमन करनेके कार्यमें वस्त्ररहित मुनिओंको बहुत सावधानी रखनी पडती है. वे इंद्रियनियमन करनेमें सदा दक्ष रहते हैं. यदि वे असावध रहेंगे तो लज्जास्पद शरीरविकारकी उत्पत्ति होगी. निर्वस्त्रतासे कषायोंका अभाव होता है. जिसके पास वस्त्र है वह मनुष्य चोरके भयसे गोमयादिकके रससे वस्त्रको लिप्तकर उसको छिपाता है अर्थात् कपटप्रयोग करता है. अथवा रस्ता छोडकर उन्मार्गसे चोरको फसानेके लिये जाता है. चोरको आता हुआ देखकर छोटे झुडप, लताजाल इत्यादिकोंमें छिप कर रहता है. मेरे पास वस्त्रादिक हैं दूसरोंके पास वे नहीं है ऐसा मनमें विचारकर अभिमानी होता है. जबरदस्तीसे चोर हरण करनेके लिये उतारु होनेपर उसके साथ कलह करता है. वस्त्रका लाभ होनेसे लोभकषाय उत्पन्न होता है. वस्त्र ग्रहण करनेसे ऐसे दोष उत्पन्न होते हैं. वस्त्र के त्यागमें इन दोषोंका सर्वथा अभाव है. वस्त्रत्यागी मुनिको ध्यान और स्वाध्यायमें विघ्नभय रहता नहीं. कारण

वह परिग्रहरहित आसक्ति रहित होता है. वस्त्र समीप रखनेसे वह फटने पर उसको सीनेका विचार उत्पन्न होता है. सीनेके लिये सूची समीप रखनी पडेगी. कपडोंके तुकडे पास रखने पडेंगे सूई, दोरा, कपडेके टुकडे इनका अन्वेषण करनेमें चित्त व्याकुल हो जावेगा तब ध्यान स्वाध्यायमें एकाग्रता रहेगी नहीं, परंतु निःसंगमुनीको ऐसी व्यग्रता नहीं रहनेसे उनके ध्यानस्वाध्याय निर्विघ्न होते हैं. वस्त्रत्यागसे सूत्रस्वाध्याय व अर्थस्वाध्यायमें निर्विघ्नता प्राप्त होती है स्वाध्याय और ध्यानका हमेशा अभ्यास होता है. इसलिये ग्रंथत्याग–परिग्रहत्याग यह गुण है. जैसे तंडुलके ऊपरका छिलका निकालनेसे वह निर्मल होता है वैसे बाह्य वस्त्रादि परिग्रहका त्याग होनेसे अभ्यंतर क्रोधादि परिग्रहोंका त्याग होकर आत्मा निर्मल होता है. इसलिये बाह्य परिग्रहत्याग अभ्यंतर परिग्रह दूर करनेका मूल कारण है. छिलकेसे अलग किया हुआ तंडुलधान्य अवश्य निर्मल होता है. परंतु छिलकेसे युक्त तण्डुलकी शुद्धि भजनीय है. इसी तरह निर्वस्त्र मुनि अवश्य निर्मल होते हैं. वस्त्ररहित मनुष्यमें रागद्वेषरहितता नामक गुण रहता नहीं है. सवस्त्र मनुष्यका मन सुंदर वस्त्र दीखनेपर अनुरक्त होता है. व अपने असुंदरवस्त्रका द्वेष करने लगता है. बाह्य पदार्थोंके आश्रयसे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं. परंतु परिग्रह पास न रखनेसे उनकी उत्पत्ति नहीं होती है. शरीरपर अनादर करना यह गुण है. शरीरपर प्रेम करनेसे ही मनुष्य असंयममें व परिग्रहमें प्रवृत्त होता है. निर्वस्त्र मुनि वात, सूर्यका ताप, शीत वगैरह से उत्पन्न हुई पीडायें सहन करते हैं. इस लिये वे शरीरपर निरादर रहते हैं यह सिद्ध होता है. निष्परिग्रहतासे स्ववशतागुण प्राप्त होता है. देशांतरको जाते समय इस गुणके प्रभावामें किसीके सहायताकी अपेक्षा नहीं रहती है. संपूर्ण परिग्रहका त्यागी वह मुनि पिच्छमात्रका स्वीकार करता हुआ पक्षीके समान विहार करता है. परंतु वस्त्रधारी मनुष्य अन्य मनुष्यकी सहायताकी अपेक्षा करता हुआ संयमका कैसा पालन कर सकता है. अर्थात् उससे संयम पालन होता नहीं

वस्त्रत्यागसे मनकी विशुद्धि प्रगट होती है. कौपीन, वस्त्र इत्यादिकसे गुह्य आच्छादन करनेवालेकी भावशुद्धि नहीं जानी जासकती है. परंतु जो वस्त्ररहित है उसका निर्विकार देह देखकर उसका वैराग्य स्पष्टतया स्पष्ट जान सकते हैं. इसलिये अचेलतासे मनोविशुद्धि नामका गुण प्रकट होता है ऐसा समझना योग्यही है. इस अचेलतासे निर्भयता गुण प्राप्त होता है. जो वस्त्रसहित है उसको यह मेरा वस्त्र चोरादिक लोक हरण करेंगे, मरेको ठोकेंगे, बांधेंगे, ऐसी भीति उत्पन्न होती है. भययुक्त मनुष्य क्या नहीं करेगा? अचेलतासे सर्व मनुष्योंमें विश्वास

उत्पन्न होता है परिग्रहरहितको किसीमें भी शंका उत्पन्न होती नहीं. परंतु सचेल मनुष्य अपनेसाथ आनेवाले मनुष्यको अथवा किसी दुसरे मनुष्यको देखकर उसपर विश्वास नहीं करेगा. यह कौन है ? यह क्या करेगा? ऐसी शंका उसके मनमें अवश्य उत्पन्न होगी.

अप्रतिलेखना नामक गुणभी निष्परिग्रहतासे प्राप्त होता है. चौदा प्रकारके उपाधिओंको ग्रहण करनेवाले श्वेताम्बर मुनिओंको बहुत संशोधन करना पडता है परंतु नग्नता धारण करनेवाले दिगंबर मुनिओंको इसकी आवश्यकता रहती नहीं.

अचेलतामें परिकर्मवर्जन नामका गुण है. उद्वेष्टन करना, अलग अलग करना, सीना, बांधना, रंगाना इत्यादिक कार्य वस्त्रसहित मनुष्यको करने पडते हैं. परंतु निर्वस्त्र मुनि इनसे रहित होते हैं स्वतःके पास वस्त्र प्रावरणादिक हो तो उसको धोना पडेगा, फटनेपर सीना पडेगा, ऐसे कुत्सित कार्य करने पडते हैं. वस्त्र समीप होनेसे उसमें अपनेको अलंकृत करनेकी इच्छा होती है और उसमें मोह उत्पन्न होता है.

अचेलतामें लाघव नामक गुण है. निर्वस्त्र मुनि खडे होना, बैठना, गमन करना इत्यादिक कार्योंमें वायुके समान अप्रतिबद्ध रहते हैं. अतः उनमें लाघव गुण रहता है सवस्त्र मनुष्यमें यह गुण रहता नहीं.

तीर्थंकराचरित नामका गुणभी अचेलतामें रहता है उत्तमसंहनन-वज्रर्षभनाराच संहनन, और विपुलशक्तिके धारक ऐसे तीर्थंकर मुक्तिका मार्ग सर्व भव्योंको प्रगट करते हैं. जितने तीर्थंकर हो चुके और होने-वाले हैं वे सब वस्त्ररहित होकरही तप करते हैं. मेरुपर्वत वगैरह स्थानपर जो जिनप्रतिमायें हैं वे और तीर्थंकरोंके अनुयायि गणधरभी निर्वस्त्रही हैं. उनके सर्व शिष्यभी वस्त्ररहितही होते हैं अतः अचेलत्व यह मुनिओंका प्रथम स्थितिकल्प सिद्ध हुआ.

जिसने आपना शरीर वस्त्रसे वेष्टित किया है वह जिनेश्वरके समान शरीरपरसे मोहका त्यागकर और आपने दो भुज नीचे लंबायमान करके निश्चल हो जिनेश्वरका स्वरूप धारण नहीं करते हैं नग्नतामें अपना बल और वीर्य प्रगट करना यह गुण है. परंतु जो सवस्त्र है वह सामर्थ्ययुक्त होकर भी अर्थात् परीषह सहन करनेका सामर्थ्य होनेपर भी उनको नहीं सह सकता है इतने गुणोंको देखकर श्रीजिनेश्वरने आगममें अचेलताका वर्णन किया है.

जिसने वस्त्रधारण किया है वह मुनि यदि अपनको निर्ग्रंथ समझेगा तो पाखंडी साधुओंको भी हम क्यों न निर्ग्रंथ समझे ? हम ही निर्ग्रंथ है ऐसा उनका कहना केवल कहना ही है अर्थात् युक्तिशून्य है. मध्यस्थ लोक अर्थात् परीक्षक लोक उनका कहना मान्य नहीं करते हैं.

इस प्रकार वस्त्रमें अनेक दोष हैं. नग्नतामें दोष तो है ही नहीं परंतु गुणमात्र अपरिमित हैं. इसीलिये आचार्य महाराजने अचेलता स्थितिकल्प का प्रथम निरूपण किया है.

पूर्वागमोंमें वस्त्रपात्रादिकोंका ग्रहण करनेका विधान मिलता है ऐसी जिनकी कल्पना है वे अपना पक्ष इस प्रकार स्थापन करना चाहते हैं.

यदि वस्त्र पात्रादिकोंका विधान नहीं है तो उसकी प्रतिलेखना निश्चयसे करनेका विधान क्यों लिखा है ? आचारप्रणिधि नामक ग्रंथमें " प्रतिलिखेत्पात्रकंबलं ध्रुवं " इति । पात्र और कंबलको शोधना चाहिये अर्थात् वे निर्जन्तुक हैं या जन्तुसहित हैं यह देखना चाहिये. यदि जन्तुसहित हो तो वे जन्तु पिच्छिकासे दूर करने चाहिये.

आचारांगके लोकविचय नामक दूसरे अध्यायके पांचवे उद्देशमें ऐसा वचन है— " पडिलेहणं, पादपुंछणं, उग्गहं, कडासणं, अण्णदरं उवधिं पावेज्ज " अर्थात् पिंछी, रजोहरण, कटासन चटाइ, फलक, पादपीठ वगैरह तथा और भी दुसरा परिग्रह ग्रहण कर सकते हैं ऐसा उल्लेख किया है. वत्थेसणा नामक प्रकरणमें इस मुजब विधान है. तत्थ एसे हिरिमणे सेगं वत्थं वा धारेज्ज पडिलेहणगं विदियं । तत्थ एसे जुग्गिदे देसे दुवे वत्थाणि धारिज्ज पडिलेहणगं तदियं ॥ तत्थ एसे परीसहं अणधिहासस्स तगो वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहणं चउत्थं । इसका सारांश यह है—यह लज्जायुक्त मुनि एक वस्त्र धारण करे और प्रतिलेखनकेलिए दूसरा वस्त्र अपनेपास रक्खे. यह मुनि योग्य प्रदेशमें दोन वस्त्र धारण करे और प्रतिलेखनकेलिए तिसरा वस्त्र धारण करे. यदि शीतादि परीषह सहन न हो तो तीन वस्त्र धारण करें. और प्रतिलेखनकेलिए चौथा वस्त्र धारण करें.

तथा पादेसणा प्रकरणमें ऐसा कहा है ' हिरिमणे वा जुग्गिदे चावि अण्णगे वा तस्स णं कप्पदि वत्थादिगं पादचारित्तए ' अर्थात् लज्जायुक्त साधुको वस्त्रादिक रखने चाहिये. जिसके लिंगमें दोष हो तो वस्त्र धारण करना योग्य है.

पुनरपि उसी प्रकरणमें ऐसा उल्लेख है—'अलाबुपत्तं वा दारुगपत्तं वा, मट्टिगपत्तं वा अप्पपाणं, अप्पबीजं, अप्पसरिदं तथा अप्पकारं पत्तलाभे सति पडिग्गहिस्सामि " अर्थात् पात्र लाभ होता हो तो मै तुंबीका पात्र अथवा लकडीका पात्र किंवा मट्टीका पात्र ग्रहण करूंगा. जिसमें जीव नहीं है, बीज नहीं है और जो बडा नहीं है ऐसा पात्र यदि मिलेगा तो मैं ग्रहण करूंगा.

वस्त्रपात्र यदि ग्राह्य नहीं है ऐसा आगममें लिखा होता तो इन सूत्रोंका आगमोंमें उल्लेख ही नहीं आता.

भावनामें भी ऐसा कहा है—"वरमं चीवरधारि तेन परमचेलगे तु जिणे " अन्तिम तीर्थंकरके शरीरपर वस्त्र था तो भी वे अचेलक जिन थे.

सूत्र कृतांगके पुंडरीक नामक अध्यायमें भी ऐसा कहा है 'ण कहेज्जो धम्मकहं वत्थपत्तादिहेदुमिति । वस्त्र और पात्र प्राप्त करनेके उद्देशसे धर्मोपदेश नहीं करना चाहिए.

वस्त्रपात्रके विषयमें निषीध ग्रंथमें ऐसा प्रमाण है. 'कसिणाइं वत्थकंबलाइं जो भिक्खू पडिग्गहिदि अप्पज्जादि मासिगं लहुगं' इति । सर्व प्रकारके वस्त्रकंबलोंको ग्रहण करनेसे मुनिको लघुमासिक नामक प्रायश्चित्त विधि करना पडता है.

इस प्रकार सूत्रोंमें वस्त्र ग्रहणका विधान है. इसलिये अचेलताका--नग्नताका आपका विवेचन कैसा योग्य माना जायगा.

इसपर आचार्य कहते हैं— आगममें आर्यिकाओंको वस्त्र धारण करनेकी आज्ञा है. और कारणकी अपेक्षासे भिक्षुओंको अर्थात् मुनिओंको वस्त्र धारण करनेकी आज्ञा है. जो साधु लज्जालु है, जिसके शरीरावयव अयोग्य है अर्थात् जिसके पुरुषलिंगपर चर्म नहीं है. जिसके अंड दीर्घ हैं, अथवा जो परीषहसहन करनेमें असमर्थ है वह वस्त्र ग्रहण करता है.

आचरांगमें इस विषयमें ऐसा कहा है—"सुदं मे आउस्सत्तो भगवदा एवमक्खाद । इह खलु संयमाभिमुहा दुविहा इत्थी पुरिसा जादा हवंति। तं जहा–सव्वसमणागदे णो सव्वसमणागदे चेव । तत्थ जे सव्वसमणागदे थिरांगहत्थपाणिपादे सव्विंदियसमण्णागदे तस्स णं णो कप्पदि एगमपि वत्थं धारिउं, एवं परिहिउं एवं अणत्थ एगेण पडिलेहगेण इति " आयुष्मान् भगवान वीरस्वामीने ऐसा कहा है—इस जगतमें संयमको धारण करनेवाले

स्त्री पुरुष दो प्रकारके हैं. संपूर्ण अवयवोंकी अवस्थाको प्राप्त हुए ऐसे और असंपूर्ण ऐसे दो प्रकार है. जिनके शरीर, हाथ और पाय मजबुत है, जिनके शरीरकी अस्थिरचना मजबूत है. सर्व इंद्रियोंमें परिपूर्णता अर्थात् निर्दोषता है उनको एक भी वस्त्र धारण करना और पहरना अयोग्य है. मात्र उनको एक प्रतिलेखन अर्थात् पिच्छिका धारण करना योग्य है.

कल्प नामक ग्रंथमें ऐसा कहा है—हारिहेतुकं च होइ देहदुगुंछंति देहे जुग्गिदगे धारेज्ज सियं वत्थं परीसहाणं च ण विहासीति ॥ जिसका देह जुगुप्सायुक्त है अर्थात् जिसका पुरुषेंद्रिय चर्मरहित है, अंडकोष दीर्घ है, जो परीषह सहनेमें असमर्थ है वह मुनि जनसमुदायमें एक श्वेत वस्त्र धारण करें. कारणकी अपेक्षासे वस्त्र ग्रहण करना चाहिए इस विषय की पुष्टि करनेवाला और भी सूत्र आचारांगमें है. ' अह पुण एवं जाणेज्ज उपातिकंते हेमंतेहिं सुपडिवण्णे से अथ पडिजुण्णमुवधिं पदिट्ठावेज्ज इति ' इसका अभिप्राय यह है—थंडीके दिनोंमें जिसको जाडा सहन होता नहीं है ऐसे मुनिको वस्त्र ग्रहण करके जाडेके दिन समाप्त होनेपर और ग्रीष्म समय आनेपर जीर्ण वस्त्र छोड दना चाहिये. कारण की अपेक्षा से वस्त्र धारण करनेका विधान है. जीर्ण वस्त्र का त्याग करनेका विधान आगममें है इसलिये दृढवस्त्रका त्याग नहीं करना चाहिये ऐसा आगमसे सिद्ध होता है ऐसा यदि कहोगे तो वह अयोग्य है अचेलता यह मूल गुण है ऐसा आचार्यका वचन है अतः वस्त्रका त्याग करना ही चाहिये. प्रक्षालन वगैरह संस्कार न होनेसे वस्त्रमें जीर्णता आती है. परंतु दृढवस्त्रका त्याग करना चाहिये ऐसा कथन करनेके लिये जीर्ण शब्दका प्रयोग किया है. पात्रका भी संयमार्थ ग्रहण करना चाहिये क्योंकि सूत्रोंमें उसका भी विधान है ऐसा कहना अनुचित है

अचेलता शब्दका अर्थ सर्व परिग्रहोंका त्याग ऐसा होता है. पात्र भी परिग्रह है इसलिए उसका भी त्याग करना अवश्य सिद्ध होता है. अतः कारणकी अपेक्षासे वस्त्रपात्रका ग्रहण करना सिद्ध होता है. जो उपकरण कारणकी अपेक्षासे ग्रहण किया जाता है उसका त्याग भी अवश्य कहना चाहिये. इसलिये वस्त्र और पात्रका अर्थाधिकारकी अपेक्षासे सूत्रोंमें बहुत स्थानोंमें विधान आया है वह सब कारण की अपेक्षा से ही है ऐसा समझना चाहिये.

भावनामें इस विषयमें ऐसा उल्लेख है – ' वरिसं चीवरधारी तेण परमचेलगो जिणोत्ति ' अर्थात् महावीर

स्वामीने एक वर्ष तक वस्त्रधारण किया था, तदनंतर उन्होंने उसका त्याग किया था. ऐसा भावना में उल्लेख है. परंतु इसमें अनेक विवाद है. अर्थात् यह कहना निश्चययुक्त नहीं है. कोई इस विषय में ऐसा कहते हैं "जिस दिन महावीर स्वामीने दीक्षा धारण की उसी दिनमें महावीरस्वामीके शरीरपर जिसने सुगंध पदार्थोंकी चर्चा की थी उसने यह वस्त्र ग्रहण किया छह महिने के बाद वह वस्त्र वृक्षके कांटोंसे और शाखाओंसे फट गया ऐसा कोई कहते हैं. एक वर्ष और कुछ दिन व्यतीत होने पर खंडलक नामक ब्राह्मण ने वह ग्रहण किया था ऐसा कोइ कहते हैं. हवासे जब वह वस्त्र जमीनपर गिर गया तब स्वामीने उसकी उपेक्षा की ऐसा कोई विद्वान कहते हैं. सुगंधी चर्चा करने वाले मनुष्यने भगवानके कंधे पर वह वस्त्र रक्खा ऐसा कोई कहते हैं" इस तरह महावीर स्वामीका वस्त्र धारण अनिर्णीत है. सचेललिंगमें ऐसे अनेक संशय होनेसे उसमें कुछ तत्त्व नहीं दीखता है.

यदि भगवानने वस्त्रग्रहण किया था तो उन्होंने उसका क्यों नाश होने दिया. उनको वह सदा धारण करना योग्य था. यदि यह वस्त्र मेरा नष्ट होगा ऐसा प्रभूको ज्ञान था तो उसका क्यों उन्होंने ग्रहण किया ? यदि उनको यह मालूम न था तो उनका अज्ञान प्रगट होता है.

यदि भगवानने वस्त्र धारण कर वह भी मुनिका लिंग है ऐसा सूचित किया है ऐसा कहोगे तो 'आचेलक्को धम्मो पुरिमचरिमाणं' यह वचन मिथ्या होगा. अर्थात् प्रथम तीर्थंकर महावीर इन्होंने आचेलक्य धर्मका उपदेश किया है. अर्थात् मुनिओंने संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग करना चाहिए यह मुनिधर्म है. ऐसा उन्होंने उपदेश किया है. यह उपदेश असत्य समझना होगा.

उसी तरह नवस्थानग्रन्थमें' यथाहमचेलो तथा होउ पच्छिमो इदि होक्खदित्ति ' श्री आदिभगवानका "मैं जैसा निर्वस्त्र हूं वैसा पश्चिम तीर्थंकर भी निर्वस्त्र ही होगा" यह वचन भी मिथ्या मानना पडेगा.

जैसा महावीर स्वामीका वस्त्र त्यागकाल कहा है वैसा अन्य तेवीस तीर्थंकरोंका वस्त्रत्याग काल क्यों न ही आपने दिखाया यदि वस्त्र उनको भी होता तो ऐसा कहना युक्त होता है.

सर्व परिग्रहोंका त्याग कर जिनेश्वर जब ध्यान करते हैं उस समय यदि किसीने वस्त्र उनको पहनाया तो वह उपसर्ग कहलावेगा. शीत उष्ण, दंशमशक, तृणस्पर्श वगैरह परीषह सहन करना चाहिए ऐसा वर्णन परि-

पह सूत्रोंमें किया है. यह वर्णन अचेलताकी ही सिद्धि करेगा.

जो वस्त्र धारण करेगा उसको जाडेसे, दंशमशकादिसे दुःख होता नहीं.

इन सूत्रोंसे अचेलताका ही निर्णय होता है. परिचत्तेसु वत्थेसु इत्यादि. गाथाओंका अभिप्राय--मुनि मनमें विचार करते हैं ' जब मैंने वस्त्रका त्याग किया है तो मैं फिर उसको नहीं ग्रहण करूंगा. जिसने वस्त्रका त्याग किया है वह सदा जिनरूपका धारक माना जाता है. जिसने वस्त्र धारण किया है वह सुखी होता है और वस्त्ररहित दुःखी होता है. इसलिये मैं वस्त्र धारण करूंगा ऐसा विचार भिक्षु मनमें न लावे. निर्वस्त्र होनेसे मेरेको शीतसे दुःख होता है इसलिये मैं धूपका सेवन करूंगा ऐसी भावना भिक्षुकको मनमें नहीं करनी चाहिये. और शीतादि परीषहोंको वह सहन करे. मेरे पास शीतनिवारण करनेवाला वस्त्र नहीं है. इसलिये मैं अग्निका सेवन करूंगा ऐसा विचार भिक्षुकको नहीं करना चाहिये.

उत्तराध्ययनमें ऐसा अभिप्राय लिखा है—

जो आचेलक्य धर्म है वही पार्श्वनाथस्वामीने कहा है. परंतु एक धर्म में ही अर्थात् मुनिधर्म में ही प्रवृत्त हुए मुनिओंमें दो तरह की—सचेल धर्म और अचेल धर्म ऐसी दो कल्पनायें उत्पन्न हुई हैं. अतः मेरे मनमें संशय उत्पन्न हुआ है. इस वचनसे भी चरमतीर्थंकर महावीर स्वामी के धर्म में अचेलता सिद्ध होती है.

दशवैकालिक ग्रंथमें ऐसा वचन है—

अभिप्राय—जो नग्न है, मुंड है अर्थात् जो केशलोच करता है, जिसके नख केश दीर्घ है, जिसने मैथुनका त्याग किया है ऐसे साधूको अलंकार की क्या जरूरत है.

इस प्रकार आचेलक्य कल्पका वर्णन हुआ.

उद्देशिक स्थितिकल्पका वर्णन—

मुनिके उद्देशसे किया हुआ आहार, वसतिका वगैरहको उद्देशिक कहते हैं. उसके आधाकर्मादि विकल्पसे सोला प्रकार हैं उसका त्याग करना यह द्वितीय स्थितिकल्प है.

कल्पनामक ग्रंथमें इसका ऐसा वर्णन है—

अर्थात्—श्री आदिनाथ तीर्थंकर और श्री महावीरस्वामी इनके तीर्थमें सोलह प्रकारके उद्देश दोषोंका परिहार करके आहारादिक ग्रहण करना चाहिए ऐसा कहा है यह दूसरा स्थितिकल्प है.

सेज्जाधर कल्पका वर्णन—

सेज्जाधर शब्दके तीन अर्थ है—जो वसतीकाको बनाता है वह, बनाई हुई वसतिकाका संस्कार करनेवाला, अथवा गिरी हुई वसतिकाको सुधारनेवाला, किंवा उसका एक भाग गिरगया हो तो उसको सुधारनेवाला वह एक, जो बनवाता नहीं है और संस्कार भी नही करता है परन्तु यहां आप निवास करो ऐसा कहता है वह, ऐसे तीनोंको शय्याधर कहते हैं. इनके आहारका, और इनके पिच्छिका, वगैरह उपकरणका त्याग करना यह तीसरा कल्प है.

यदि इन शय्याधरोंके घरमें मुनि आहार लेंगे तो धर्मफलके लोभसे ये शय्याधर मुनिओंको आहार देते है ऐसी निंदा होगी. जो आहार देनेमें असमर्थ है, जो दरिद्री है, लोभी कृपण है वह मुनिओंको वसतिदान न देवें. उसने वसतिका दान किया तो भी इस मंदभाग्यनें मुनिको आश्रय दिया परंतु आहार नहीं दिया ऐसी लोग निंदा करते हैं. जो वसतिका और आहार भी देता है उसके ऊपर मुनिका स्नेह भी होना संभवनीय है. क्योंकि उसने मुनिपर बहुत उपकार किया है. अतः उनके यहां मुनि आहार ग्रहण नही करते हैं.

राजाके यहां आहार नहीं लेना यह चौथा स्थितिकल्प है. इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश इत्यादि कुलमें जो उत्पन्न हुआ है, जो प्रजाका पालन करना, उनको दुष्टोंसे रक्षण करना इत्यादि उपायोंसे अनुरंजन करता है उसको राजा कहते हैं. राजाके समान जो महाऋद्धीका धारक है उसको भी राजा कहते हैं, ऐसोंके यहां पिंड ग्रहण करना यह राजपिंड है. इसके तीन भेद हैं—आहार, अनाहार और उपधि. अन्न, पान, खाद्य और स्वाद्यके पदार्थोंको आहार कहते हैं. तृण, फलक, आसन वगैरह पदार्थोंको अनाहार कहते हैं. पिंछी, वस्त्र, पात्र उनको उपधि कहते हैं.

राजपिंडका ग्रहण करनेमें क्या दोष है? इस प्रश्नका उत्तर ऐसा है—आत्मसमुत्थ और परसमुत्थ ऐसे दोषोंके दो भेद हैं. ये दोष मनुष्य और तिर्यंचोंके द्वारा होते हैं. तिर्यंचों के ग्राम्य और अरण्यवासी ऐसे दो भेद हैं. ये दोनो प्रकारके तिर्यंच दुष्ट और भद्र ऐसे दो प्रकार के हैं. घोडा, हाथी, भैंसा, मेंढा, कुत्ता इनको ग्राम्य पशु कहते हैं. ये पशु राजाके घरमें प्रायः होते हैं. यदि ये दुष्ट स्वभावके होंगे तो उनसे मुनिओंको बाधा पोहोंचती है.

यदि वे भद्र हो अर्थात् दुष्ट स्वभावके न हो तो वे स्वयं मुनिओंको देखकर भय से भागकर दुःखित होते हैं. स्वयं गिर पडते हैं अथवा धक्का देकर मुनिओंको मारते हैं. इधर उधर कूदते हैं.

वाघ, सिंह वगैरह मांसभक्षी प्राणी, वानर वगैरह प्राणी राजा के घरमें बंधनसे यदि मुक्त होगये होंगे तो उनसे मुनिका घात होगा और वे यदि भद्र होंगे तो वे इधर उधर भागने पर भी मुनिको बाधा होने की संभावना है.

मनुष्योंसे भी राजाके घरमें मुनिओंको दुःख भोगने पडते हैं. उनका वर्णन-- राजाके घरमें तलवर, म्लेच्छ, दास, दासी वगैरह लोक रहते हैं. इन लोगोंसे राजगृह व्याप्त होनेसे वहां प्रवेश होने में कठिनता पडती है. यदि मुनिने राजाके घरमें प्रवेश किया तो वहां उन्मत्त दास वगैरह लोक उनका उपहास करते हैं. उनको निंद्य शब्द बोलते हैं. कोई उनको अंदर प्रवेश करने में मनाई करते हैं, कोई उनको उल्लंघते हैं. वहां अंतःपुरकी स्त्रियां यदि कामविकार से पीडित होगी अथवा पुत्रकी इच्छा उनको हो तो मुनिका जबरदस्तीसे उपभोगके लिये प्रवेश करवाती है.

कोइ व्यक्ति राजाके घरके सुवर्ण रत्नादिक चोर कर यहां मुनि आया था उसने चोरी की है ऐसा दोषारोपण करते हैं. यह राजा मुनिओंका भक्त है ऐसा समझकर दुष्ट लोक मुनि वेष धारण कर राजाके यहां प्रवेश करते हैं और वहां अनर्थ करते हैं. जिससे मुनिओंको बाधा पोहोंचनेकी बहुत संभावना रहती है. अर्थात् राजा रुष्ट होकर अविवेकी बनकर मुनिओंको दुःख देता है. अथवा अविवेकी दुष्ट लोक मुनिओंको दोष देते हैं उनको मारते हैं. ऐसे इतर व्यक्तिओंसे उत्पन्न हुए दोषोंका वर्णन किया है. अब राजाके घरमें प्रवेश करनेसे मुनि स्वयं कोनसे दोष करते हैं इसका वर्णन करते हैं—

राजगृहमें जाकर मुनि आहार शुद्ध है या नहीं इसका शोध नहीं करेगा देखभाल न कर लाया हुआ आहार ग्रहण करता है. विकार उत्पन्न करनेवाले पदार्थ सेवन करनेसे इंगाल नामक दोष उत्पन्न होता है. अर्थात् ऐसे पदार्थ भक्षण करनेमें लंपट होजाता है. दुर्दैवसे वहांकी रत्नादिक अमूल्य वस्तु चुरानेके भाव उत्पन्न होकर उसको उठा लेगा. अपने योग्य स्त्रीको देखकर उसमें अनुरक्त होगा. राजाका वैभव, उसका अंतःपुर, वेश्या वगैरहको देखकर निदान करेगा. ऐसे दोषोंका संभव जहां होगा ऐसे राजाके घरमें आहारका त्याग करना चाहिये.

परंतु जहां ऐसे दोष होनेकी संभावना नहीं है वहां मुनिको आहार लेनेके लिये मनाई नहीं है. गत्यंतर न हो अथवा श्रुतज्ञानका नाश होनेका प्रसंग हो तो उसका रक्षण करनेके लिये राजगृहमें आहार लेनेका निषेध नहीं है. ग्लान मुनि अर्थात् बीमार मुनिके लिये राजपिंड यह दुर्लभ द्रव्य है. बीमारी, श्रुतज्ञानका रक्षण ऐसे प्रसंगमें राजाके यहां आहार लेना निषिद्ध नहीं है.

५ चारित्र संपन्न मुनिका अपने गुरूका और अपनेसे बडे मुनिओंका विनय करना शुश्रूषा करना यह कर्तव्य है. इसको कृतिकर्म नामक स्थितिकल्प कहते हैं.

६ व्रतारोपण योग्यता नामक छठा स्थितिकल्प है—

जिसको जीवोंका स्वरूप मालुम हुआ है ऐसे मुनीको नियमसे व्रत देना यह छठा स्थितिकल्प है.

जिसने पूर्ण निर्ग्रंथावस्था धारण की है उद्देशिकाहार और राजपिंडका त्याग किया है. जो गुरुभक्त और विनयी है वह व्रतारोपणके लिये योग्य है.

व्रत देने का क्रम इस प्रकार है—जब गुरु बैठते हैं और आर्यिकायें सम्मुख होकर बैठती हैं. ऐसे समयमें श्रावक और श्राविकाओंको व्रत दिये जाते हैं. व्रत ग्रहण करनेवाला मुनि भी गुरुके बायें तरफ बैठता हैं तब गुरु उसको व्रत देते हैं.

व्रतोंका स्वरूप जानकर पापोंसे विरक्त होना वह व्रत है, वृतिकरण, छादन, संवर, विरति ये सब शब्द व्रतके वाचक है. यही अभिप्राय 'णाऊण' इस गाथामें कहा है.

पहिले तीर्थंकर और अन्तिम तीर्थंकर इन्होंने रात्रिभोजन त्याग और पंच महाव्रतोंका उपदेश किया है. प्रमत्त योगसे प्राणी के प्राणोंका घात करना इसको हिंसा कहते हैं. इस हिंसासे विरक्त होना यह प्रथम अहिंसा महाव्रत है. असत्य भाषणसे प्राणिओंको दुःख होता है ऐसा समझकर दयावान मुनि सत्य बोलते हैं. यह उनका सत्य महाव्रत है. यह मेरा है ऐसा संकल्प जिसके ऊपर है ऐसी वस्तु लेने पर लोक उस वस्तुके विरहसे दुःखित होते हैं यह देखकर दयासे उनकी वस्तु लेनेका त्याग करना यह तीसरा अचौर्य महाव्रत है, सरसोंसे भरी हुई नलिकामें तपी हुई लोहशलाका घुसनेसे सब सरसों जलकर भस्म हो जाती हैं उसी तरह योनी में पुरुषेंद्रियका प्रवेश होने से वहांके सर्व सूक्ष्म जीव नष्ट होते हैं. यह मैथुन रागभाव को उत्पन्न करता है, यह कर्मबंधका

महान् कारण है. ऐसा समझकर दयावान् मुनि उससे पूर्ण विरक्त होते हैं यह उनका चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत है.

परिग्रहसे छहों प्रकारके जीवोंको बाधा पोहोंचती है. यह ममत्वपरिणामके लिये कारण है. इसलिये सर्व परिग्रहोंका त्याग करना यह परिग्रहत्याग नामक पांचवा महाव्रत है.

इन व्रतोंका पालन करनेकेलिए रात्रिभोजनका त्याग करना यह छट्ठा व्रत हैं अहिंसामहाव्रत सर्व जीवोंको विषय करता है. अर्थात् सर्व जीवोंपर दया करना यह अहिंसा महाव्रतका विषय है. अचार्यमहाव्रत और परिग्रह त्याग महाव्रत ये सर्व पदार्थविषयक है. अर्थात् बाह्य धन धान्यादिक पदार्थोंका त्याग करनेपर इन व्रतोंकी प्राप्ति होती है. और बचे हुए व्रत अर्थात् सत्यमहाव्रत और ब्रह्मचर्यव्रत ये दो व्रत द्रव्योंका एकदेश विषय करते हैं. यही अभिप्राय पढमम्मि सव्वजीवा इस गाथामें आचार्योंने दिखाया हैं.

ज्येष्ठ नामक सप्तम स्थितिकल्पका वर्णन--

७ जिसने पांच महाव्रत धारण किये हैं, और जो बहुत वर्ष की दीक्षित है ऐसी आर्यिकासे भी आज जिसने दीक्षा ली है ऐसा मुनि ज्येष्ठ माना जाता है. पुरुष संग्रह, उपकार और रक्षण करता है. जगतमें पुरुषने ही धर्मकी स्थापना की है. इसलिए उसको ज्येष्ठता मानी है. इसवास्ते सर्व आर्यिकाओंका मुनिका विनय करना यह कर्तव्य है.

स्त्रिया पुरुषसे कनिष्ठ मानी गई हैं, वे अपना रक्षण स्वयं नहीं कर सकती. दूसरोंसे वे इच्छी जाती है. अर्थात् पुरुष जब उनकी इच्छा करता है तब वे उसका प्रतीकार करनेमें असमर्थ होती हैं. उनमें स्वभावतः भय रहता है, कम जोरी रहती है. पुरुष ऐसा नहीं है अतः वह ज्येष्ठ है. यही अभिप्राय 'जेणिच्छी हु लघुसिगा इस सूत्रमें कहा है.

८ अचेलनादि कल्पमें रहते हुए मुनीको जो अतिचार लगते हैं उनके निवारणार्थ प्रतिक्रमण करना यह अष्टम स्थिति कल्प है.

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव ऐसे प्रतिक्रमणके छे भेद हैं. अर्थात् नाम प्रतिक्रमण, स्थापनाप्रतिक्रमण, द्रव्य प्रतिक्रमण इत्यादि छह भेद हैं.

मद्विणी, मद्विदारिणा इत्यादि अयोग्य नामोच्चारण करनेपर उसका परिहार करना यह नाम प्रतिक्रमण है.

असंयत, मिथ्यादृष्टि जीवोंके प्रतिबिंब अर्थात् प्रतिमाकी पूजा वगैरह करनेपर उससे परावृत्त होना यह स्थापना प्रतिक्रमण है.

द्रव्यके सचित्त, अचित्त और मिश्र ऐसे तीन भेद हैं इनका त्याग करना यह द्रव्यप्रतिक्रमण है. जहां त्रस स्थावर जीव बहुत हैं ऐसे क्षेत्रका त्याग करना अथवा जहां स्वाध्याय करनेमें, ध्यान करनेमें बाधायें उत्पन्न होती हैं ऐसे प्रदेशोंका त्याग करना वह क्षेत्र प्रतिक्रमण है.

संध्याकालमें, स्वाध्यायकाल वगैरह कालोंमें आना जाना वगैरह क्रियाओंका त्याग करना यह काल प्रतिक्रमण है.

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग इनसे निवृत्त होना यह भाव प्रतिक्रमण है.

श्री आदि तीर्थंकर और महावीर स्वामीने प्रतिक्रमण के साथ मुनिधर्मका उपदेश किया है. अर्थात प्रतिक्रमण दररोज करना ही चाहिये ऐसा उन्होंने उपदेश दिया है. परंतु बीचके बावीस तीर्थंकरोंने अपराध होनेपर प्रतिक्रमण करना चाहिये ऐसा उपदेश दिया है. इस प्रतिक्रमणके दैवसिक, रात्रिक, ईर्यापथिक भिक्षाचर्या, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ ऐसे सात भेद हैं. श्रीआदितीर्थंकर और महावीर तीर्थंकरप्रणीत पांचवे धर्ममें और अन्य तीर्थंकर प्रणीत चौथे धर्ममें प्रतिक्रमण के कालभेद बताये हैं- जब अतिचार लगते हैं तब प्रतिक्रमण करना चाहिये अर्थात् अपने आत्माका अवलोकन करना चाहिये.

मुनिको आहारमें, ईर्यापथमें, सर्व प्रकारके स्वप्न, जागृतावस्था इत्यादि समयमें जो दोष उत्पन्न होते हैं उनका प्रतिक्रमण करना चाहिये- आदि भगवान् और महावीरके समयमें हुए मुनिओंको छोडकर बीचके बावीस तीर्थंकरके समयके मुनि जब अतिचार लगते थे तबही प्रतिक्रमण करते थे. अर्थात् आहार, दुःस्वप्न, ईर्यापथ इत्यादिक विषयमें जब दोष लगता था तब ही वे प्रतिक्रमण करते थे. अन्यसमयमें नहीं. आहार, ईर्यापथ अर्थात् वंदनादिकके लिये एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाना दुःस्वप्न इत्यादिकके समयमें अपनी प्रवृत्ति सातिचार हो या निरतिचार हो दोनों समयमें भी आद्यन्त तीर्थंकरकालीन मुनि प्रतिक्रमण करते हैं. अर्थात् दोष

लगनेपर या न लगनेपर प्रतिक्रमण करना ही चाहिये ऐसी आद्यंत तीर्थंकरोंकी आज्ञा है.

मध्यम तीर्थंकरके शिष्योंकी बुद्धि दृढ थी उनका चित्त एकाग्र रहता था. उनका अपने कार्य पर लक्ष्य दृढ बना रहता था इसलिए जो कार्य वे करते थे उसकी गर्हा करते थे. परन्तु आद्यंत तीर्थंकरके शिष्य मोहयुक्त, चंचलचित्त होते थे अतः उनको अपराधोंका स्मरण नहीं रहता था इसवास्ते वे सबका प्रतिक्रमण करते हैं. इस विषयमें अंध घोडेका उदाहरण उपयुक्त है—

किसी राजाका घोडा अंधा होगया तब उनने वैद्यके पुत्रको औषध देने के लिए कहा. वैद्यपुत्रको औषधि मालुम नहीं थी. वैद्य तो अन्य गांवको चला गया था अतः उसके पुत्रने घोडे के नेत्रपर सर्व औषधियोंका प्रयोग किया. उससे घोडे के नेत्र अच्छे होगये. इसी तरह साधु भी एक प्रतिक्रमण दंडकमें यदि स्थिर चित्त न होगा. दुसरेमें यदि न हो तो तीसरेमें स्थिर होगा इसलिये सर्व दंडकोंका उच्चारण करना उसके लिये योग्य है. इसमें कोई विरोध नही है. सर्व भी दंडक कर्मक्षय करनेमें समर्थ होते हैं.

मासैकवासितानामक नौवे स्थितिकल्पका वर्णन —

वसंतादि छहो ऋतुओंमेंसे एकेक ऋतुमें एक मासपर्यंत एकत्र मुनि निवास करते हैं. और एक मास विहार करते हैं. यह नौवा स्थितिकल्प है. एकही स्थानमें बहु–चिरकाल रहनेसे उद्गमादि दोषोंका परिहार होता नहीं. वसतिकापर प्रेम उत्पन्न होता है. सुखमें लंपटपना उत्पन्न होता है. आलस्य आता है, सुकुमारता की भावना उत्पन्न होती है. जिन श्रावकोंके यहां आहार पूर्वमें हुआ था वहांही पुनरपि आहार लेना पडता है. ऐसे दोष उत्पन्न होते हैं. इसलिये मुनि एकही स्थानमें चिरकाल तक रहते नहीं हैं.

पाद्य नामक स्थितिकल्पका वर्णन—

वर्षाकालके चार मासमें एकही स्थानमें रहना अर्थात् भ्रमणका त्याग करना यह पाद्य नामक दसवां स्थितिकल्प है. वर्षाकालमें जमीन स्थावर और त्रस जीवोंसे व्याप्त होती है. ऐसे समयमें मुनि यदि विहार करेंगे तो महा असंयम होगा. जलवृष्टिसे और थंड हवा बहनेसे आत्मविराधना होगी अर्थात् ऐसे समयमें विहार करनेसे मुनि अपने आचारसे च्युत हो जावेंगे. वर्षाकालमें भूमि जलमय होनेसे कुवा, खड्डा इत्यादिकोंमें गिर जानेकी संभावना होती है. ठूंट, कंटकादिक पानीसे ढक जानेसे विहार करते समय उनसे बाधा होनेकी संभावना होती है.

कीचडमें फस जायेंगे इत्यादि दोषोंसे बचनेके लिये मुनि एकसो वीस दिवस एक स्थानमें रहते हैं. यह उत्सर्ग नियम है. कारणवश इससे अधिक या कम दिवस भी एक स्थानमें ठहर सकते हैं. आषाढ शुक्ल दशमीसे प्रारंभ कर कार्तिक पौर्णिमासीके आगे भी और तीस दिनतक एक स्थानमें रह सकते हैं. अध्ययन, वृष्टीकी अधिकता, शक्तीका अभाव, वैयावृत्त्य करना इत्यादि प्रयोजन हो तो अधिक दिन तक रह सकते हैं. यह ऊपर लिखा ही है. यदि मारी रोग, दुर्भिक्ष, ग्रामके लोकोंका अथवा देशके लोकोंका अपना स्थान छोडकर अन्य ग्रामादिकोंमें जाना, गच्छका नाश होनेके निमित्त उपस्थित होना, इत्यादि कारण उपस्थित होने पर मुनि चातुर्मासमें भी अन्य स्थानको जाते हैं. नहीं जाने पर उनके रत्नत्रयका नाश होगा. इसलिये आषाढ पूर्णिमा व्यतीत होनेपर प्रतिपदा वगैरह तिथिमें अन्यत्र चले जाते हैं. इसलिये वीस दिन एकसौ वीस दिनोंमें कम किये जाते हैं. इस तरह कालकी हीनता है. यह सब वर्णन दसवे स्थितिकल्पका समझना चाहिये. ये दसकल्प यत्याचार के भेद हैं

एदेसु दससु णिच्चं समाहिदो णिच्चवज्जभीरू य ॥
खवयस्स विसुद्धं सो जधुत्तचरियं उवविधेदि ॥ ४२२ ॥

व्रतप्ररोहणार्हत्त्वं ज्येष्ठत्वं च प्रतिक्रमः ॥
मासैकत्र स्थितिः पर्या स्थितिकल्पा दशोरिताः ॥ ४३४ ॥
अवद्यभीरुको नित्यं दशस्वेतेषु यः स्थितः ॥
क्षपकस्य समर्थोऽसौ वक्तुं चर्यामदूषणाम् ॥ ४३५ ॥

विजयोदया—एदेसु दससु णिच्चं एतेषु दशस्थितिकल्पेषु नित्यं । समाहिदो समाहितः । णिच्चवज्जभीरू य नित्यं पापभीरुः । खवगस्स क्षपकस्य । विसुद्धं जधुत्तचरियं यथोक्तां चर्यामसौ उवविधेदि स विदधाति ॥

दशधा स्थितिकल्पयुक्तः क्षपकस्य किं करोतीत्याह—

मूलारा—उवविधेदि करोति ॥

अर्थ—जो आचार्य इन दश प्रकारके कल्पोंमें सदा तत्पर रहते हैं. जो हमेशा पापकार्योंसे भयभीत हैं

वे क्षपकको निर्दोष और आगमोक्त आचरण प्रदान करते हैं. अर्थात् क्षपकसे निर्दोष आचरण करवाते हैं. उसके आचरणोंमें दोष दिखाकर उसको शुद्धाचरणी बनाते हैं.

निर्यापकस्य सुदेराचारवत्वे क्षपकस्य गुणं व्याचष्टे—

पंचविधे आचारे समुज्जदो सव्वसमिदचेट्ठाओ ॥
सो उज्जमेदि खवयं पंचविधे सुट्ठु आयारे ॥ ४२३ ॥

उद्यतः पंचधाचारं यः कर्तुं समितक्रियः ॥
क्षपकः पंचधाचारे प्रेर्यते तेन सर्वदा ॥ ४२६ ॥

विजयोदया—पंचविधे आयारे समुज्जदो पंचप्रकारे आचारे समुद्यतः । समिदसव्वचेट्ठाओ सम्यक् प्रवृत्ताः सर्वाश्चेष्टा यस्य सः । सुट्ठु उज्जमेदि सुष्ठु उद्योगं कारयति । खवगं क्षपकं । क पंचविधे आचारे ॥

पंचाचारोद्यतः क्षपकं तत्र उद्यमयतीति आह—

मूलारा—समिदसव्वचिट्ठाओ सम्यक्प्रवृत्तसकलगमनादिक्रियः ॥

निर्यापक आचार्य यदि आचारवान् होंगे तो उनसे क्षपकको क्या लाभ होगा इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जो आचार्य दर्शनाचारादि पांच आचरोंमें तत्पर रहते हैं, अपनी सब चेष्टायें जो समितीओंके अनुसार ही करते हैं वे क्षपकको भी पांच आचारोंमें निर्दोषतया प्रवृत्त करते हैं.

यः आचारवान् भवति तदाश्रयणे दोषमाह—

सेज्जोवधिसंथारं भत्तं पाणं च चयणकंप्पगदो ॥
उवकप्पिज्ज असुद्धं पडिचरए वा असंविग्गे ॥ ४२४ ॥

अशुद्धमुपधिं शय्यां भक्तं पानं च संस्तरम् ॥
सहायानप्यसंविग्नान्विधत्ते च्यवनस्थितिः ॥ ४२७ ॥

विजयोदया—सेज्जं वसतिं । उवधिं उपकरणं । संथारभत्तपाणं च संस्तरं भक्तपानं च । असुद्धं उद्गमादिदोषोपहतं । उवकप्पेज्ज उपकल्पयेत् । क. चयणकप्पगदो ज्ञानाचारादिकादीषच्च्यवनमुपगतः । पडिचरए वा प्रतिचारकान्वा योजयेत्। असंविग्गे असंविग्नान् एवमसंयमे कृते महान्कर्मबंधो भविष्यति ततोऽस्माकं महती संसृतिरनेकापन्मूलेति । भयरहितान् ॥

आचारहीनाश्रयणे दोषं गाथात्रयेणाह—

मूलारा चयणकप्पगदो ज्ञानदर्शनादिषु च्यवनमुपगतः । उवकप्पेज्ज योजयेत् । असुद्धं उद्गमादिदोषोपहतं । पडिचरए प्रतिचारकान् । असंविग्गे एवमसंयमे कृतेऽस्माकं महान्कर्मबंधो भविष्यति इति दीर्घसंसृतिभयरहितान् ॥

जो आचार्य आचारवान् नहीं है ऐसे आचार्य का आश्रय करनेसे क्षपककी हानि होती है. इसका खुलासा—

अर्थ—जो ज्ञानाचारादिक पांच आचारोंसे थोडासा भ्रष्ट हुआ है ऐसा आचार्य क्षपकको वसतिका, पिंछादिक उपकरण, तृणादिकोंका संस्तर, आहारके पदार्थ, पीनेके पदार्थ उद्गमादि दोष सहित देगा. अर्थात् वसति वगैरह पदार्थ दोषरहित है या नहीं इसका विचार वह न करेगा. अथवा क्षपककी शुश्रूषा करनेवाले मुनि संसारभयसे युक्त है या नहीं इसका विचार न कर वैराग्यरहित मुनिओंको क्षपककी शुश्रूषा करनेके कार्यमें नियुक्त करेगा. हम यदि असंयममें प्रवृत्ति करेंगे तो हमको महान् कर्मबंध होगा और वह हमको दीर्घकालतक संसारमें भ्रमावेगा ऐसी भीति जिनके मनमें नहीं है उनको शुश्रूषा करनेके लिये नियुक्त करनेसे क्षपकका आत्महित होना अशक्य ही समझना चाहिये.

सल्लेहणं पयासेज्ज गंध मल्लं च समणुजाणिज्जा ॥
अप्पाउग्गं व कधं करिज्ज सइरं व जंपिज्ज ॥ ४२५ ॥

सल्लेखनायाः कुरुते प्रकाशनां कथामयोग्यां क्षपकस्य भाषते ॥
स्वैरं पुरस्तस्य करोति मंत्रणं गंधप्रसूनादिविधिं च मन्यते ॥ ४३८ ॥

विजयोदया—सल्लेहणं पगासेज्ज सल्लेखनां प्रकाशयेत् लोकस्य । गंधं माल्यं चानुजानीयात्। गंधमाल्यान-

यनमभ्युपगच्छेत् । अप्पाउग्गं व कहं कहेज्ज । अप्रायोग्यां वा कथां कथयेत् । क्षपकस्याशुभपरिणामविधायिनीं । मद्दरं या स्वैरं या जंपेज्ज जल्पेत् । आराधकस्याग्रत इदं युक्तं न वेत्यविचार्य वदेद्वा ॥

मूलारा—सल्लेहणं पयासेज्ज क्षपकस्य संन्यासविधिं लोकस्याग्रे प्रकटयेत् । समणुजाणेज्ज गंधादिकं सेवमानं क्षपकमनुमन्येत । अप्पाउग्गं अयोग्यं । कहं कथा । सइरं यथेष्टम् ॥

अर्थ—आचाररहित आचार्य क्षपककी सल्लेखना लोकमें प्रगट कर देगा. अथवा लोगोंको सुगंधित पदार्थ, और पुष्प लानेके लिए कहेगा. क्षपकके परिणामोंको बिगाडने वाली कथायें कहेगा अथवा क्षपकके आगे योग्यायोग्यका विचार न कर चाहे जो वकने लगेगा. अभिप्राय यह है कि ऐसे आचार्यको क्षपकके कल्याणकी पर्वा नहीं रहती है.

ण करेज्ज सारणं वारणं च खवयस्स चयणकप्पगदो ॥
उद्देज्ज वा महल्लं खवयस्स वि किंचणारंभं ॥ ४२६ ॥

साररत्नत्रये प्रवर्तनं सारणं, दोषेभ्यो वारणं निवर्तनमिति यावत् ॥
सारणां वारणां नास्य कुरुते च्यवनस्थितः ॥
क्षपकस्य महारंभं कंचित्कारयते गणी ॥ ४२९ ॥

विजयोदया—ण करेज्ज न कुर्यात् । किं सारणं रत्नत्रये वृत्ति । वारणं च निषेधं न कुर्यात् । तेभ्यः प्रच्यवमानस्य । खवगस्स क्षपकस्य । कः चयणकप्पगदो च्यवनकल्पगतः । उद्देज्ज वा महल्लं आरंभं कारयेद्वा महान्तं आरंभं पट्टकशाला, पूजां, विमानं वा । खवगस्स वि क्षपकस्यापि किंचन ॥

मूलारा—सारणं रत्नत्रये प्रवर्तनं । वारणं रत्नत्रयात्प्रच्यवमानस्य निषेधः । उद्वेज्ज कारयेत् । किंचणारंभं कमपि पट्टकशालापूजारथिकादिकं सावद्यव्यापारं ॥

अर्थ—भ्रष्ट आचार्य क्षपक रत्नत्रयमें प्रवृत्त होगा ऐसा उपदेश नहीं करता है. तथा यदि वह रत्नत्रयसे च्युत होने लगा तो उसमें स्थिर भी नहीं करता है. बडा आरंभ करावेगा अर्थात् पट्टकशाला, पूजा, विमान इत्या-

दि कार्य करनेमें लोगोंको प्रवृत्त करेगा. क्षपकके लिए भी ऐसा ही महारम्भका कार्य करेगा. इसलिए ऐसे आचार्य के सहवाससे क्षपकका हित होना शक्य नहीं है.

आयारत्थो पुण से दोसे सव्वे वि ते विवज्जेदि ॥
तम्हा आयारत्थो णिज्जवओ होदि आयरिओ ॥ ४२७ ॥

आचारस्थः पुनर्दोषान्यतः सर्वान्विमुंचति ॥
निर्यापकस्ततः सूरिराचारस्थोऽभिधीयते ॥ ४४० ॥

इति आचारी

विजयोदया—आयारत्थो पुण आचारस्थः पुनः सूरिः तान्सर्वान्वर्जयति दोषान् । तम्हा तस्मात् । गुणेषु प्रवर्तमानो दोषेभ्यो व्यावृत्तश्च । आयारत्थो आयरिओ णिज्जवओ होदि आचारस्थ एवाचार्यो निर्यापको भवति नापरः । व्याख्यातमाचारवत्त्वम् । आचारवं ॥

निर्यापकत्वे सूरिमाचारवन्तं निरूपयति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—आचारवत्त्व गुणको धारण करनेवाले आचार्य ऊपर लिखे हुए दोषोंका त्याग करते हैं. इसलिए गुणोंमें प्रवृत्त होनेवाले दोषोंसे रहित ऐसे आचार्य निर्यापक होने लायक जानना चाहिए. जो आचार्य आचारोंमें प्रवृत्त हैं वे हि निर्यापक समझना चाहिए. आचारवत्त्व गुणका वर्णन समाप्त हुआ.

आधारवत्त्वाख्यगुणयोगक्रमं प्राह—

चोद्दसदसणवपुव्वी महामदी सायरोव्व गंभीरो ॥
कप्पववहारधारी होदि हु आधारवं णाम ॥ ४२८ ॥

धीरोऽग्निलांगपूर्वज्ञो यः कल्प्यव्यवहारवित् ॥
आधारी स महाप्रज्ञो गंभीरो मंदरस्थिरः ॥ ४४१ ॥

विजयोदया—चोद्दसदसणवपुव्वी चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी, नवपूर्वी वा । महामदी महामतिः । सायरोव्व गंभीरो सागर इव गंभीरः । आधारवं णाम कप्पववहारधारी वा कप्पव्ववहारज्ञो वा आधारवान् ज्ञानी । दुष्परिणामा एते मनोवाक्कायविकल्पाः, शुभा वा पुण्यास्रवभूताः । शुद्धा वा शुभाशुभकर्मसंवरहेतवः, इति बोधयति । शुभेषु शुद्धेषु वा प्रवर्तयति श्रुतमनारतमुपदिशन्तोऽसौ दर्शनस्य, चारित्रस्य, तपसश्च आधारत्वात् । ज्ञानमाधार सज्ञानाधारवान् श्रद्धानाधारवान् ।

आधारवत्त्वमष्टादशभिर्गाथाभिर्व्याचिख्यासुरादावाधारवन्तं लक्षयति—

मूलारा — कप्पववहारधारी — अवधारितप्रायश्चित्तशास्त्रानुगततत्प्रयोगः । आधारवं दर्शनज्ञानचारित्रतपसा-मुत्पत्तिस्थितिवृद्धिरक्षाधिष्ठानत्वाधारोऽत्र ज्ञानं तद्वान् सूरिराधारवान् । नित्यश्रुतोपदेशेन पापास्रवणकारणाशुभपरिणामेभ्यो व्यावर्त्य क्षपकस्य पुण्यास्रवे, शुभयोगत्रये, संवरनिर्जराकारणे वा शुद्धोपयोगे प्रवर्तक इत्यर्थः ।

आधारवत्व गुणका सविस्तर वर्णन --

अर्थ — जो चौदापूर्व, दसपूर्व अथवा नउ पूर्वोंका ज्ञाता है, जिसमें समुद्रतुल्य गंभीरता गुण है. जो कल्प व्यवहारका ज्ञाता है अर्थात् जो प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता है और उसमें बताये हुए प्रयोगोंका जिसने अनुसरण किया है. अर्थात् अपराधी मुनिओंको जिसने अनेकवार प्रायश्चित्त देकर इस विषयमें विशेष ज्ञान प्राप्त कर लिया है ऐसे आचार्य आधारवत्व गुणके धारक माने जाते हैं. इस गुणके धारक आचार्य मनोवचन और शरीरके अशुभ परिणाम पापास्रवके कारण होते हैं. शुभ परिणामों से पुण्यकर्म आत्मामें उत्पन्न होता है और शुद्ध परिणामोंसे शुभाशुभ कर्मोंका संवर होता है ऐसा उपदेश कर शिष्योंको शुभ और शुद्ध परिणामोंमें प्रवृत्त करते हैं. हमेशा श्रुतका उपदेश करते हैं. इनका ज्ञान दर्शन, चारित्र और तपको आधार होता है. इसलिए ये आधारवत्व गुणके धारक माने जाते हैं.

यस्तु नाधारवान् भवति तदाश्रयणे दोषमाचष्टे—

णासेज्ज अगीदत्थो चउरंगं तस्स लोगसारंगं ॥
णट्ठम्मि य चउरंगे ण उ सुलहं होइ चउरंगं ॥ ४२९ ॥

चतुरंगमगीतार्थो नाशयेल्लोकपूजितम् ॥
संसृतौ लप्स्यते भूयो नाशितं तच्च दुःखतः ॥ ४४२ ॥

विजयोदया—णासेज्ज अगीदत्थो नाशयेदगृहीतसूत्रार्थः । तस्स तस्य क्षपकस्य । चउरंगं चत्वारि ज्ञानदर्शनचारित्रतपांसि अंगानि यस्य मोक्षमार्गस्य तं चतुरंगं । लोके यत्सारं निर्वाणं तस्यांगं उपकारकं । चतुरंगं नाम यदि नष्टं तथापि तच्चतुरंगं पुनर्लभ्यते इति शंकामिमां निरस्यति । णट्ठम्मि य चउरंगे नष्टे इह जन्मनि चतुरंगे मुक्तिमार्गे । ण उ सुलहं होदि चउरंगं । नैव सुखेन लभ्यते तच्चतुरंगं । विनाशितचतुरंगो मिथ्यात्वपरिणतः कुयोनिमुपगतः कथमिव लभते चतुरंगं इत्यभिप्रायः ॥

अज्ञाश्रयणे दोषमाह—

मूलारा—चउरंगं चत्वारि दर्शनज्ञानचारित्रतपांस्यंगानि यस्य मोक्षमार्गस्य तं । लोकसारंगं लोके यत्सारं व्यवहारेणेंद्रादिपदं निश्चयेन निर्वाणं तस्यांगं साधनं । यदि नाम नष्टं चतुरंगं तथापि पुनर्लभ्यते इत्यत्राह—नो इत्यादि विनाशितचतुरंगो मिथ्यात्वपरिणतः कुयोनिमुपगतः कथमिव लभते चतुरंगमित्यभिप्रायः ॥

जो आचार्य ज्ञानी नहीं है उनके आश्रयसे दोषोत्पत्ति होती है. इस विषयका विवेचन—

अर्थ—जिसको सिद्धांतग्रंथोंका ज्ञान नहीं है वह आचार्य क्षपकके चतुरंगका नाश करता है. अर्थात् यदि क्षपकने अज्ञ आचार्य का समाधिमरण के लिये आश्रय किया तो उसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, चारित्र और तपका नाश होता है. यह चतुरंग मोक्षमार्ग का हेतु है. यह चतुरंग व्यवहारनयसे सारभूत अर्थात् श्रेष्ठ ऐसे इंद्रादि पदका कारण है. तथा निश्चयनयमें लोकत्रयमें श्रेष्ठ ऐसे मोक्षका कारण है. यह नष्ट होने पर पुनः प्राप्त होगा ऐसी शंका करना व्यर्थ है. क्योंकि जब यह नष्ट हो जावेगा तो वह मोक्षपद कैसे मिलेगा अर्थात् सम्यग्दर्शनादिकोंका नाश होनेपर इस आत्माको मिथ्यात्व अनेक कुयोनिओंमें दीर्घ कालतक घुमाता है. अतः इस चतुरंगकी पुनः प्राप्ति होना अतिशय कठिण है.

क्षपकस्य चतुरंगं कथमगृहीतार्थो नाशयतीत्यारेकायामित्थमसौ नाशयतीति दर्शयति—

संसारसायरम्मि य अणंतबहुतिव्वदुक्खसलिलम्मि ॥
संसरमाणो दुक्खेण लहदि जीवो मणुस्सत्तं ॥ ४३० ॥

तह चेव देसकुलजाइरूवमारोग्गमाउगं बुद्धी ॥
सवणं गहणं सद्धा य संजमो दुल्लहो लोए ॥ ४३१ ॥
एवमवि दुल्लहपरंपरेण लद्धूण संजमं खवओ ॥
ण लहिज्ज सुदी संवेगकरी अबहुस्सुयसयासे ॥ ४३२ ॥
सम्मं सुदिमलहंतो दीहद्धं मुत्तिमुवगमित्ता वि ॥
परिवडइ मरणकाले अकदाधारस्स पासम्मि ॥ ४३३ ॥
सक्का वंसी छेत्तुं तत्तो उक्कड्ढिओ पुणो दुक्खं ॥
इय संजमस्स वि मणो विसएसुक्कड्ढिदुं दुक्खं ॥ ४३४ ॥
आहारमओ जीवो आहारेण य विराधिदो संतो ॥
अट्टदुहट्टो जीवो ण रमदि णाणे चरित्ते य ॥ ४३५ ॥
सुदिपाणयेण अणुसट्ठिभोयणेण य पुणो उवग्गाहिदो ॥
तण्हाछुहाकिलंतो वि होदि झाणे अवक्खित्तो ॥ ४३६ ॥
पढमेण व दोवेण व वाहिज्जंतस्स तस्स खवयस्स ॥
ण कुणदि उवदेसादिं समाधिकरणं अगीदत्थो ॥ ४३७ ॥

संसारसागरे घोरे दुःखनक्रकुलाकुले ॥
दुःखतोऽद्यमानेन प्राप्यते जन्म मानुषम् ॥ ४४३ ॥
देशो जातिः कुलं रूपं कल्पता जीवितं मतिः ।
श्रवणं ग्रहणं श्रद्धा संयमो दुर्लभो भवेत् ॥ ४४४ ॥

बहुदुर्लभसंतत्या साधुर्लब्ध्वापि संयमम् ॥
लभते नाज्ञसांनिध्ये देशनां धृतिवर्द्धनीम् ॥ ४४५ ॥
प्रपाल्यापि चिरं वृत्तमश्रुताधारसन्निधौ ॥
अलब्धदेशनो मृत्युकाले प्रभ्रंशते ततः ॥ ४४६ ॥
दोषेभ्यो वार्यते दुःखं संन्यस्तः क्रियते सुखम् ॥
छिद्यते सुखतो वंशः कृष्यते दुःखतस्ततः ॥ ४४७ ॥
अयमन्नमयो जीवस्त्याज्यमानस्त्वसौ कदा ॥
आर्तरौद्राकुलीभूतश्चतुरंगे न वर्तते ॥ ४४८ ॥
शिक्षान्नश्रुतिपानाभ्यां साधुराप्यायितः पुनः ॥
क्षुधातृष्णाभिभूतोऽपि शुद्धध्याने प्रवर्तते ॥ ४४९ ॥
क्षुधया तृष्णया साधोर्बाधितस्य ददाति न ॥
उपदेशमशास्त्रज्ञः समाधिजननक्षमम् ॥ ४५० ॥

विजयोदया--तस्स पढमेण क्षुधा । दोचेण च पिपासया वा । बाधिज्जंतस्स बाध्यमानस्य तस्य । खवयस्स क्षपकस्य । कुणदि उवदेसादिं न करोत्युपदेशादिं । समाधिकरण समाधि क्रियते येनोपदेशादिना त । अगीदत्थो अगृहीतार्थ ॥

एतदेव प्रबंधेन अभिधत्ते--

मूलारा--संसारसागरम्मि संसारो द्रव्यादिपंचप्रकारपरिवर्तन । सागर इव दुस्तरदुःखकरत्वात् । तत्र नारकादिशरीराणा ग्रहणमोक्षाणाभ्यामसकृद्वृत्तिर्द्रव्यसंसारः । चतुरशीतिलक्षसीमंतकादिनरकादिष्वतीते कालेऽनंता जन्ममरणयोर्वृत्तिर्भविष्यति साता भव्यानामनंता चाभव्याना क्षेत्रसंसारः । उत्सर्पिण्याः कस्याश्चिदवसर्पिण्याश्च प्रथम द्वितीयादिसमयेषु पर्यायेण जन्ममरणाभ्या वृत्तिः कालसंसारः । दशवर्षसहस्रजघन्यायुःप्रभृतिसमयोत्तरवृद्धिक्रमसमापितोत्कृष्टायु स्थितिकपर्यायवृत्तिर्भवसंसारः । कषायाध्यवसायस्थानविवर्तवृत्तिर्भावसंसारः । बहुशारीरमानसागन्तु

स्वाभाविकमदात्मभूत संसरणो परिवर्तमानः । दुर्लभं इत्यादि [illegible]
क्षेत्रम्याल्पत्वाश्च दुर्लभत्वं मनुष्यत्वं । साधुमुखे परुषवचनमिव, सूर्यमंडले तम इव, चंडकोपे दयेव, लुब्धे सत्यवचनामिव, मानिनि परगुणस्तवनमिव, स्त्रियामार्जवमिव, खलेषु उपकारज्ञतेव, आप्ताभासमतेषु वस्तुतत्त्वावबोध इव । अतिदुर्लभत्वे दश दृष्टान्ता. सूत्रेऽनुश्रूयन्ते ॥

चुल्लय पासं धण्णं जूवा रदणाणि सुमिण चक्कं वा ॥
कुम्मं जुग परमाणुं दस दिट्ठता मणुयलंभे ॥

एते चुल्लीभोजनादिकथासंप्रदाया दशापि प्राकृतटीकादिषु विस्तरेणोक्ताः प्रतिपत्तव्याः ॥

लब्धेऽपि कथं कथमपि मनुष्यत्वे तपोयोग्या देशादयो यथोत्तरं दुर्लभा इति ज्ञापयितुमाह—

मूलारा—तह चेव मनुजत्वमिव । देस तपोयोग्यो हि मगधादिजनपदः । जाई जातिः मातृवंशः कुल पितृवंशः । रूवं प्रशस्तसंस्थानसंहननाकारः । आरोग्गं नीरोगत्वं । आउगं दीर्घजीवित्वं । बुद्धी इहपरलोकान्वेषणपरा । सवणं हिताकर्णनं । गहण सद्गुरूपदिष्टार्थविज्ञानं । सद्धा सद्गुरूपदेशविज्ञातार्थरुचिः । संयमो धर्मे प्रयतनं ॥

उक्तनीत्या मनुष्यत्वादिदुर्लभपरंपरया लब्धसंयमोऽपि अल्पश्रुतसूरिपार्श्वे संसारभयजननीं देशनां नासादयती त्युपदिशति—

मूलारा – सुदि आगमवर्णनम् ॥

चिरप्रवर्तितसंयमोऽप्यल्पगुरुपार्श्वे म्रियमाणः संयमात्प्रच्यवते । मनोज्ञामनोज्ञविषयाणां सर्वत्र सदा सांनिध्याद्रागद्वेषमोहपरिणामकारणांतरंगचारित्रमोहाख्यकर्मोदयसद्भावाच्चेति दर्शयति—

मूलारा—सम्मं प्रस्तुतकार्यानुगुणं । दीहद्धं चिरकालं । मुत्तिं प्राणेंद्रियविषयासंयमत्यागं । उवगमित्ता वि प्राप्यापि । परिवडदि संयमात्प्रच्यवते । चारित्रं नाराधयतीत्यर्थः । अकदाधारस्स अबहुश्रुतस्य ॥

संयतस्यापि मनो विषयेभ्यो व्यावर्तयितुं दुर्विदग्धगुरुणा न शक्यते इति दृष्टांतेन स्पष्टयति —

मूलारा —वंसी अल्पवंश. । ततो गुल्मात् । उक्कट्टिदुं अवकष्टुं । पुणो पश्चात् । दुक्खं दुष्करं । न शक्तेत्यर्थः उक्कट्टिदुं उत्कष्टुं । एतदुक्तं भवति — रागद्वेषविजये यद्यपि प्रतिज्ञा कृता तथापि कृतशरीरसल्लेखनस्य क्षुधादिपरीषहैरुपद्रुतस्य मंदवीर्यस्य श्रुतज्ञानप्रणिधानमंतरेण अल्पश्रुतसूरिपार्श्वे रागद्वेषप्रवृत्तितश्चारित्राराधकता न स्यात् ॥

मूलारा—आहारमओ अन्नेन निर्वृत्त इव प्राणानां तन्मूलत्वात् । आहारेण भोजनत्यागेन। किलामिदो ग्लानिं गतः । विराहिदो इति पाठे भोजनेन वियोजित इत्यर्थः । अट्टदुहट्टो आर्तदुःखातुरः । अट्टदुअट्टो इति पाठे आर्तद्विकेन आर्तरौद्राभ्यां ऋतः पीडितः ।। उक्तं च—

अयमन्नमयो जीवस्त्याज्यमानोऽधसा कदा ।।
आर्तरौद्राकुलीभूतश्चतुरंगे प्रवर्तते ।।

बहुश्रुतसूरिणा पुनः श्रुतोपदेशशिक्षाविशेषाभ्यां निराकृततृड्बुभुक्षाकामः सद्ध्यानैकतानो भवतीत्युपदिशति—

मूलारा—उवग्गाहिदो कृतोपकारः । अवक्खित्तो अव्याक्षिप्तः ।।

कथमगीतार्थेन गुरुणा क्षुदादिना बाध्यमानो न चिकित्स्यते इति तदाश्रयणं प्रत्याचष्टे—

मूलारा—पढमेण तृष्णापरीषहेण । दोव्वेण क्षुत्परीषहेण । उव्वाधिज्जंतयस्स उत्कृष्टं पीड्यमानस्य उवदेसादिं श्रुतरहस्यनिरूपणव्रतधारणाधृत्यादिप्रतीकारं । समाधिकरणं धर्म्यशुक्लध्यानसाधनम् ।।

क्षपकके चतुरंगका अज्ञ आचार्य कैसा नाश करता है ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य इस प्रकार देते हैं—संसारसायरम्मि य इस गाथासे ४२७ नंबरकी पढमेण य दोवेण य इस गाथातकका अर्थ—

हिंदी अर्थ—यह संसारसमुद्र अनंत और तीव्र दुःखरूपी पानीसे लबालब भरा है. ऐसे संसारसमुद्रमें भ्रमण करनेवाले इस प्राणीको मनुष्यजन्म कष्टसे मिलता है.

मनुष्य जन्म मिलनेपर भी उत्तम देश, कुल, जाति, रूप, आरोग्य, दीर्घायुष्य, बुद्धि, शास्त्रश्रवण, ग्रहण श्रद्धा, और संयम इनकी प्राप्ति होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है.

उत्तरोत्तर दुर्लभ वस्तुओंकी प्राप्ति होकर संयमकी भी प्राप्ति हो गई तो भी अल्पज्ञ आचार्यके समागमसे संसारभय उत्पन्न करनेवाला शास्त्रश्रवण प्राप्त नहीं होता है.

योग्य कार्यमें प्रवृत्ति करनेवाली स्मृति प्राप्त होनेपर भी और चिरकालतक प्राणिसंयम और इंद्रियसंयमका पालन करनेपर भी अल्पज्ञ आचार्यके आश्रयसे मरणकालमें क्षपक संयम छोड देता है, संयमसे भ्रष्ट होता है, संयमकी आराधना नहीं करता है.

बांसके समुदायसे एक छोटे बांसको छेद करके निकालना सुलभ है परंतु उसमेंसे उसको उखाडना जैसा बहुत कठिन है वैसा इस मनको पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे निकालकर संयममें स्थापन करना बहुत कठिण है. राग-द्वेषोंका नाश करनेकी यद्यपि प्रतिज्ञा कीथी तथापि शरीरसल्लेखना जिसने की है, जो क्षुधादि परीषहोंसे पीडित है ऐसा अल्प शक्तीका धारक क्षपक श्रुतज्ञानमें एकाग्रता न होनेसे अज्ञ आचार्यके समीप रागद्वेषोंपर विजय नहीं पा सकता है. और चारित्राराधक नहीं होता है.

यह जीव आहारमय है, मानो अन्नसे ही उत्पन्न हुआ है, क्योंकि अन्न ही प्राणरक्षणका मूल कारण है. अन्नके त्यागसे यह आत्मा म्लान होता है, आर्तध्यानी होकर दुःखसे पीडित होता है. तब ज्ञान और चारित्रमें रममाण नहीं होता है.

श्रुतोपदेश और शिक्षाविशेषरूपी भोजनसे जिसने क्षुधा और प्यासका परिश्रम नष्ट किया है ऐसा वह क्षपक ध्यानमें एकाग्र होता है अर्थात् बहुश्रुतज्ञ आचार्यका आश्रय करनेसे क्षपकको श्रुतोपदेश और विशिष्ट उपदेश मिलनेसे क्षुधातृषाका परिश्रम नष्ट होता है और आत्मध्यानमें वह स्थिर होता है परंतु अल्पज्ञके आश्रयसे वह क्षुधादि परिषहोंका दुःख नहीं सहन कर सकनेसे आर्तध्यानी बनता है.

अगीतार्थ आचार्य क्षुधा और तृषासे जब क्षपक पीडित होता है तब उसको उपदेशादिक नहीं करता है. अतः ऐसे आचार्यके आश्रयसे क्षपकको समाधि मरणका लाभ होता नहीं.

सो तेण विडज्झंतो पप्पं भावस्स भेदमप्पसुदो ॥
कलुणं कोलुणियं वा जायणकिविणत्तणं कुणइ ॥ ४१८ ॥

ताभ्यां प्रपीडितो गाढं भिन्नभावस्तनुश्रुतः
रोदनं याचनं दैन्यं करुणं विदधाति सः ॥ ४५१ ॥

विजयोदया—सो तेण क्षपकस्तेन प्रथमेन द्वितीयेन वा । विडज्झंतो विविधं दह्यमानः । पप्पं भावस्स भेदमप्पसुदो प्राप्य शुभपरिणामस्य भेदं अल्पश्रुतः । कलुणं कोलुणियं च कुणदि यथा शृण्वतां करुणा दीनता च भवति तथा करोति । जायणं च कुणदि याचां वा करोति । किविणत्तणं कुणदि दीनतां वा करोति ॥

अकृततृष्णादिप्रतीकारोऽल्पशास्त्रज्ञ. क्षपको विपरिणतिं प्राप्य गर्हणीयक्रियाः करोतीति गाथात्रयेणाह —

मूलारा—तेण तृष्णादिना । विज्झंतो । विविधमुपद्रूयमाणः । पप्पा प्राप्य । भावस्स भेदं शुभपरिणामस्य विनाशं । कलुणं रोदनं । कोलुणियं । परकरुणोत्पादने किंचिणत्तं दैन्यम् । तथा—

अर्थ–वह क्षपक भूखसे अथवा प्याससे पीडित होकर शुभ परिणामोंको नष्ट कर देता है. वह अल्पज्ञ क्षपक सुननेवालों को दया उत्पन्न करनेवाला रुदन करता है. याचना करने लगता है. और दीनता व्यक्त करता है.

उक्वेज्ज व सहसा वा पिएज्ज असमाहिपाणयं चावि ॥
गच्छेज्ज व मिच्छत्तं मरेज्ज असमाधिमरणेण ॥ ४३९ ॥

पूत्कुर्यादसमाधानपानं पिबति पीडितः
मिथ्यात्वं क्षपको गच्छेद्विपद्येतासमाधिना ॥ ४५२ ॥

विजयोदया—उक्वेज्ज व सहसा पूत्कुर्याद्वा सहसा । पिएज्ज पिबेद्वा । असमाधिपाणगं चावि असमाधिपानकमुच्यते यत्स्वयं स्थित्वा स्वहस्ताभ्यां काले प्रायोग्यपानं ततोऽन्यदस्थित्वा अकाले च यत्पानं तदसमाधिपानकमुच्यते । गच्छेज्ज व मिच्छत्तं मिथ्यात्वं वा गच्छेत् । कष्टोऽयं धर्मः किमनेन श्रमविधायिनेति निंदापरेण चेतसा । मरेज्ज असमाधिमरणेण असमाधिना चापि मृतिमुपेयात् ॥

मूलारा—उक्वेज्ज पूत्कुर्यात् । असमाधिपाणयं यत्स्वयं स्थित्वा स्वहस्ताभ्यां काले प्रायोग्यपानं तत्समाधिपानकं ततोऽन्यदस्थित्वाऽकाले च पानं सूत्रानिंदितमित्यर्थः । गच्छेज्ज कष्टोऽयं धर्मः किमनेन श्रमविधायिनेति निंदापरेण चेतसा मिथ्यात्वं प्रतिपद्येत । तथा—

अर्थ–वह क्षपक क्षुधादिकोंकी वेदनासे जोरसे चिल्लाने लगेगा. स्वयं खडे होकर अपने दो हाथोंमें योग्य कालमें पानयोग्य पदार्थ पीना उसको समाधि पान कहते हैं. और बैठकर अपने हाथोंसे अकालमें पान करना उसको असमाधिपान कहते हैं. अर्थात् क्षुधा तृषा पीडित होकर क्षपक सूत्रानिंदित आहार लेगा ऐसा यहां अभिप्राय समझना चाहिये. अथवा संयमसे भ्रष्ट होकर मिथ्यात्वावस्थाको प्राप्त होगा. यह सल्लेखना धर्म अथवा मुनिधर्म बडा

कष्ट देनेवाला है. इससे आत्माको केवल श्रम ही होते हैं. ऐसे धर्मसे क्या प्रयोजन हैं ऐसी वह क्षपक निंदा करते करते मरण करेगा और असमाधिसे मरणको प्राप्त होगा.

संथारपदोसं वा णिब्भच्छिज्जंतओ णिगच्छेज्जा ॥

कुव्वंते उड्डाहो णिच्छुब्भंते विकिंते वा ॥ ४४० ॥

हित्वा निर्भर्त्स्यमानोऽसौ संस्तरं गन्तुमिच्छति ॥

पूत्कुर्वत्ययशस्तत्र त्याज्यमाने च जायते ॥ ४५३ ॥

विजयोदया—संथारपदोसं वा कुणदि संस्तरं वा कुप्यति । णिब्भच्छिज्जंतगो णिगच्छेज्ज रोदनं पूत्कारं वा कुर्वन्तं यदि निर्भर्त्सयन्ति निर्यायात् । कुव्वंते पूत्कुर्वति सति क्षपके । उड्डाहो अयशो धर्मस्य भवति । णिच्छुब्भंते बहिर्निःसरणे । विकिंते वा पृथक्करणे वा । उड्डाहो होदि धर्मदूषणो भवति । एवमगृहीतार्थः प्रतिकारानभिज्ञो नाशयति क्षपकम् ॥

मूलारा—संथारपदोसं आचार्यप्रद्वेषं करोति कुणदीत्यध्याहारात् । णिगच्छेज्ज निःसरेद्बहिः कुव्वंतो उड्डाहो पूत्कुर्वति सति क्षपके अयशोऽधर्मश्च भवति । णिच्छुभिमते बहिर्निःसरणे । विकिंते पृथक्करणे । क्षपकस्य उड्डाहो भवतीति संबंधः । णिब्भच्छिज्जंतगो णिगच्छेज्ज कुव्वंतो उड्डहिमिति पाठे निर्भर्त्स्यमानको निर्गच्छत्कुर्वन्नकीर्तिमिति व्याख्येयम् णिब्भच्छुत्तो प्रवेदयमानो विकिंते हन्ति परं स्वं वेति च व्याख्येयम् ।

अर्थ—वह क्षपक संस्तरकी निंदा करेगा अथवा आचार्यकी निंदा करेगा. यदि वह क्षपक रोनेपर जोरसे चिल्लानेपर यदि उसकी निंदा की तो वह संघसे भाग जावेगा. जिससे धर्ममें अपयश होनेकी संभावना रहती है. ऐसे क्षपकको यदि संघसे पृथक् किया जावेगा तो धर्ममें दूषण लगता है. इसने विवेचनसे अल्पज्ञ आचार्य क्षपकका नाश कर देता है यह सिद्ध होता है.

गृहीतार्थः पुनः किं करोतीति चेदाह—

गीदत्थो पुण खवयस्स कुणदि विधिणा समाधिकरणाणि ॥

कण्णाहुदीहिं उवेदोइदो य पज्जलइ ज्झाणग्गी ॥ ४४१ ॥

समाधानविधिं तस्य विधत्ते शास्त्रपारगः ॥
दीप्यते दीपितः कर्णाहुतिभिर्ध्यानपावकः ॥ ४५४ ॥

विजयोदया—गृहीतार्थ पुन । खवगस्स । क्षपकस्य कुणदि करोति । विधिणा क्रमेण । समाधिकरणाणि समाधानक्रिया. । कण्णाहुदीहिं कर्णाहुतिभि.। उवढोइदो उपगृहीत. । पज्जलदि प्रज्वलति । ज्झाणग्गि ध्यानाग्निः ॥

गीतार्थः पुनः क्षपक सान्त्वयितुं यतते इत्याह—

मूलारा—समाधिकरणाणि समाधानस्य साधनानि यथार्सं बाह्यान्याध्यात्मिकानि च । कण्णाहुदीहिं कर्णजप हव्यद्रव्यप्रक्षेपैः । उवघेप्पन्तो उपगृह्यमाणो दीप्यमान ।

सूत्रार्थज्ञ आचार्य क्या करते हैं इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—सूत्रार्थज्ञ आचार्य आगमानुसार क्षपककी समाधिमरणकी क्रिया करते हैं और उसका ध्यानरूपी अग्नि मधुर उपदेशरूपी आहुतिओंसे वृद्धिंगत करते हैं. अर्थात् क्षपकको क्षुधादि वेदना जब पीडित करती है तब मधुर हितकर उपदेश देकर आचार्य उसको आर्तध्यान न होने पावे ऐसा प्रयत्न करके धर्मध्यानमें लगाते हैं.

खवयस्सिच्छासंपादणेण देहपडिकम्मकरणेण ॥
अण्णेहिं वा उवाएहिं सो समाहिं कुणइ तस्स ॥ ४४२ ॥
क्षपकेच्छाविधानेन शरीरप्रतिकर्मणा ॥
समाधिं कुरुते सम्यगुपायैरपरैरपि ॥ ४५५ ॥

विजयोदया—खवयस्सिच्छासंपादणेण समाधिं कुणदि क्षपकस्येच्छासंपादनेन समाधिं करोति । यदिच्छत्यसौ तद्दत्वा समाधिं रत्नत्रये समवधानं तस्य करोति इति यावत् । देहपडिकम्मकरणेण शरीरबाधाप्रतिकारक्रियया । अण्णेहिं वा उवाएहिं अन्यैर्वा सामयचर्मोपकरणदानचिरतनक्षपकोपाख्यानादिभिरुपायैः समाधिं करोति ॥ ६४८

गीतार्थो यथासमाधिं विधत्ते तथा दर्शयति—

मूलारा—इच्छा संपादणेण यदिच्छत्यसौ योग्यं तद्दत्वा रत्नत्रयसमाहितं करोतीत्यर्थ. । देहपडिकम्मकरणेण शरीरबाधाप्रतीकारक्रियया ॥ तथा—

अर्थ—सूरि आचार्य क्षपककी जो चाह है उसकी पूर्णता कर उसको रत्नत्रयमें स्थिर करते हैं. उसके देहकी बाधाओंको मिटा देते हैं. मधुरभाषण, उपकरणदान और प्राचीन सल्लेखनाधारकोंकी कथा कहना इत्यादि उपायोंसे उनकी धर्मध्यानमें एकाग्रता करते हैं.

णिज्जूढं पि य पासिय मा भीही देइ होइ आसासो ॥
संधेइ समाधिं पि य वारेइ असंवुडगिरं च ॥ ४४२ ॥

वैय्यावृत्यकरैस्त्यक्तं मा भैषीरिति भाषते ॥
निषिध्य संसृतिं तस्य समाधानं करोति सः ॥४५६॥

विजयोदया—णिज्जूढं पि य पासिय निर्यापकैर्यतिभिः परित्यक्तं दृष्ट्वा किं भवता परीषहासहनेन चलचित्तेनास्माकं ? त्यक्तोऽस्यस्माभिरिति । मा भीहि देइ मा भैषीरित्यभयं ददाति । होदि भवति । संधत्ते च आसासो आश्वासः । संधेइ समाधिं पि य रत्नत्रयैकाग्र्यमविच्छिन्नं । वारेदि असंवुडगिरं च वारयत्यसंवृतानां वचनं, नैवं वक्तव्यो भवद्भिरयं महात्मा । को हि नामायमिव शरीरं आहारं दुस्त्यजं त्यक्तुं क्षम इति प्रोत्साहयन् ॥

मूलारा—णिज्जूढं निर्यापकैर्यतिभिः परित्यक्तं । पासिय दृष्ट्वा । मा भीही मा भैषीरित्यभयं ददाति सूरिः । होदि आसासो भवति चाश्वासः । क्षपकस्य तथा मा भीतिदानात् । संधेदि विच्छिन्नं पुनः संधत्ते । असंवुडगिरं असंवृतानां वचनं वारयति । नैवं वक्तव्यो भवद्भिरयं महात्मा । को हि नामायमिव शरीरमाहारं च दुस्त्यजं त्यक्तुं शक्नुयात् । इति प्रोत्साहयत् ॥ तथा—

अर्थ—शुश्रूषा करनेवालोंने यद्यपि क्षपकका त्याग किया हो तो भी उसको देख करके हे क्षपक ! तुम परिषह सहन नहीं करते हो और तुम्हारा मन बहुत चंचल है, हमारा तुमसे कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसा कहकर शुश्रूषा करने वालोंने तुम्हारा त्याग किया है. तो भी तुमको डरना नहीं चाहिये ऐसा बोलकर आचार्य उसको अभय करते हैं. उसको आश्वासन देते हैं, उसको रत्नत्रयमें स्थिर करते हैं. जो लोक कटु बोलकर क्षपकका उत्साह भंग करते हैं उनका आचार्य निवारण करते हैं. अर्थात् यह क्षपक महापुरुष है इसके प्रति ऐसा कटु भाषण करना योग्य नहीं

है. शरीर और आहार ये दो पदार्थ दुस्त्याज्य है परंतु इसने इनके ऊपरका मोह छोडा है. ऐसा भाषण कर ये क्षपकको स्वकार्यमें उत्साहित करते हैं.

जाणदि फासुयदव्वं उवकप्पेदुं तहा उदिण्णाणं ॥
जाणइ पडिकारं वादपित्तसिंभाण गीदत्थो ॥ ४४४ ॥

जानाति प्रासुकं द्रव्यं गीतार्थो व्याधिनाशनम् ॥
श्लेष्ममारुतपित्तानां विकृतानां च निग्रहम् ॥ ४५७ ॥

विजयोदया--जाणदि य जानाति च । फासुयदव्वं योग्यं द्रव्यं । उवकप्पेदुं विधातुं । तहा उदिण्णाणं तथोदीर्णानां विनाशने समर्थं । जाणदि पडिगारं जानाति प्रतिकारं । वादपित्तसिंभाणं वातपित्तश्लेष्मणां । गीदत्थो गृहीतार्थः ॥

मूलारा--उदिण्णाणं कुपितानां वातादीनां उद्भूतानां क्षुदादीनां वा ॥

अर्थ--सूत्रार्थज्ञ आचार्य प्रासुक पदार्थ कोनसे रहते हैं यह जानकर क्षपकको देते हैं. वात पित्तादिक क्षुब्ध होने पर अथवा क्षुधादिककी वेदना प्रगट होनेपर उनका नाश करनेका उपाय वे जानते हैं.

अहव सुदिपाणयं से तहेव अणुसिट्ठिभोयणं देइ ॥
तण्हाछुहाकिलिंतो वि होदि ज्झाणे अवाक्खित्तो ॥ ४४५ ॥

श्रुतपानं यतस्तस्मै दत्ते शिक्षणभोजनम् ॥
क्षुत्तृष्णाकुलचित्तोऽपि ततो ध्याने प्रवर्तते ॥ ४५८ ॥
गुणाः स्थितस्येति बहुप्रकारा गीतार्थमूले क्षपकस्य सन्ति ॥
संपद्यते काचन नो विपत्तिः संक्लेशजालं न च किंचनापि ॥४५९॥

इति आधारी ॥

विजयोदया—अहव खुदिपाणयं अथवा क्षुतिपानं। से देदि तस्मै ददाति । अणुसिट्ठिभोयणं देदि अनुशासनभोजनं वा तेन पानेन भोजनेन च ।· तण्हाछुहाकिलिंतो वि क्षुधा तृषा वा बाध्यमानोऽपि । ज्झाणे अवक्खित्तो होदि ध्याने अव्याक्षिप्तचित्तो भवति ।

मूलारा—से तस्मै । किलिंतो पीड्यमानः । अवक्खित्तो अव्याक्षिप्तः ।।

अर्थ—अथवा आचार्य क्षपकको उस समय शास्त्रोपदेशरूपी पेय पदार्थ और शिक्षावचनरूपी आहार देकर उसकी भूख और प्यास शांत करते हैं. भूख और प्यास से पीडित होकर भी वह क्षपक उपर्युक्त आहार से और पानी से संतुष्ट होकर आत्मध्यानमें एकाग्रचित्त होजाता है.

दोषांतरमाचष्टे—अगृहीतार्थसकाशे वसतः क्षपकस्य—

संसारसागरम्मि य णंते बहुतिव्वदुक्खसलिलम्मि ॥
संसरमाणो जीवो दुक्खेण लहइ मणुस्सत्तं ॥ ४४६

विजयोदया संसारसागरम्मि य संसारः सागर इव तस्मिन्संसारसागरे द्रव्यक्षेत्रकालभवभावेषु परिवर्तमानः संसारः। तत्र द्रव्यसंसारो नाम शरीरग्रहणमोक्षणाभ्यावृत्तिरसकृत् । तद्यथा—प्रथमायां पृथिव्यां सप्तधनूंषि त्रयो हस्ताः षडंगुलाधिकाः प्रमाणं नारकाणां शरीरस्य। अधोऽधस्तद्द्विगुणोच्छ्रयता यावत्पंचधनुःशतानि । एवंविकल्पेषु शरीरेषु एकैकं शरीरमनंतवारं गृहीतमतीते काले भव्यानां तु भाविनि काले भाज्यमनंतवारग्रहणं ॥ अभव्यानां तु भविष्यति कालेऽप्यनंतानि तथाविधानि शरीराणि। एष द्रव्यसंसारः स्थूलतः ॥

क्षेत्रसंसार उच्यते—सीमंतकादीनि अप्रतिष्ठांतानि चतुरशीतिनरकशतसहस्राणि । तत्रैकैकस्मिन् नरके अनंता जन्ममरणयोर्वृत्तिरतीते काले। भविष्यति तु भाज्या भव्यान्प्रति । अभव्यानां तु भविष्यत्यप्यनंता. ।

कालसंसार उच्यते—उत्सर्पिण्याः कस्याश्चित्प्रथमसमये प्रथमनरके उत्पन्नो, मृत्वान्यत्रोत्पन्नः, पुनः कदाचिदुत्सर्पिण्या द्वितीयादिसमये उत्पन्न एवं तृतीयादिसमयेषु। एवं उत्सर्पिणी समाप्तिं नीता। तथा अवसर्पिण्यां अपि । एवमितरेष्वपि नरकेषु । एवमुत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालयोरनंतवृत्तिः । भवसंसार उच्यते—

प्रथमायां पृथिव्यां दशवर्षसहस्रायुर्जातः पुनः समयेनैकैकेन अधिकानि दशवर्षसहस्राणि एवं द्विसमयाद्यधिकक्रमेण सागरोपमपर्यंतमायुः समाप्तिं नीतम्। द्वितीयायां समयाधिकं सागरोपममादिं कृत्वा द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण

यावत्सागरत्रयसमाप्तिः। तृतीयायां समयाधिकं त्रिसागरोपमादिकं कृत्वा द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावत्सागरोपमसप्तकपरिसमाप्तिः। चतुर्थ्यां समयाधिकसप्तसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावद्दशसागरोपमपरिसमाप्तिः। पंचम्यां समयाधिकदशसागरोपममारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावत्सप्तदशसागरोपमपरिसमाप्तिः। षष्ठ्यां समयाधिकसप्तदशसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावद्द्वाविंशतिसागरोपमपरिसमाप्तिः। सप्तम्यां समयाधिकद्वाविंशतिसागरोपमादारभ्य यावत्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमपरिसमाप्तिः। एवमेतेष्वायुर्विकल्पेषु परावृत्तिः भवसंसार उच्यते।

भावसंसारस्तु सर्वजनसुखाधिगम्य इति नेह प्रतन्यते। एवंभूते संसारसागरे अनंते। बहुतिव्वदुक्खसलिलम्मि शारीरं, आगंतुकं, मानसं, स्वाभाविकमिति विकल्पेन बहूनि तीव्राणि दुःखानि सलिलानि यस्मिन् तस्मिन्। संसरमाणो परिवर्तमानः। जीवो दुक्खेण कष्टेन। लभइ लभते। किं मणुसत्तं मनुष्यत्वं। मनुष्यक्षेत्रस्याल्पत्वात् सर्वजगति तिरश्चामुत्पत्तेर्मनुजतानिर्वर्तकानां कर्मणां कारणभूता ये परिणामास्तेषां दुर्लभत्वाच्च। के ते परिणामा इत्यत्रोच्यते—

सर्वे एव हि जीवपरिणामा मिथ्यात्वासंयमकषायाख्यास्त्रिप्रकारा भवन्ति। तीव्रो मध्यमो मंद इति। कुतः कर्मनिमित्ता हि मिथ्यात्वादयः कर्माणि च तीव्रमध्यममंदानुभवविशिष्टानि। तेन कारणभेदतः कार्याणां परिणामानां विचित्रता। तत्र ये हिंसादयः परिणामा मध्यमास्ते मनुजगतिनिर्वर्तकाः वालिकाराज्या, दारुणा, गोमूत्रिकया, कर्दमरागेण च समानाः यथासंख्येन क्रोधमानमायालोभाः परिणामाः। जीवघातं कृत्वा हा दुष्टु कृतं, यथा दुःखं मरणं वास्माकं अप्रियं तथा सर्वजीवानां। अहिंसा शोभना वयं तु असमर्था हिंसादिकं परिहर्तुमिति च परिणामः। मृषा परदोषसूचकं, परगुणानामसहनं वचनं वा सज्जनाचारः। साधूनामयोग्यवचने दुर्व्यापारे च प्रवृत्तानां का नाम साधुतास्माकमिति परिणामः। तथा शस्त्रप्रहारादप्यनर्थः परद्रव्यापहरणं, द्रव्यविनाशो हि सकलकुटुंबविनाशो। नेतरत् तस्मादृष्टु कृतं परधनहरणमिति परिणामः। परदारादिलंघनमस्माभिः कृतं तदतीवाशोभनं। यथास्मद्दाराणा परैर्ग्रहणे दुःखमात्मसाक्षिकं तद्वत्तेषामिति परिणामः। यथा गंगादिमहानदीनां अनवरतप्रवेशेऽपि न तृप्तिः सागरस्यैवं द्रविणेनापि जीवस्य संतोषो नास्तीति परिणामः। एवमादिपरिणामानां सुलभता अनुभवसिद्धैव। इत्थं दुर्लभमनुजत्वं साधुवदने परुषमिव वचः। घर्मरश्मिमंडले तम इव, चंडकोपे दयेव, लुब्धे सत्यवचनमिव। मानिनि परगुणस्तवनमिव, वामलोचनायामार्जवमिव, खलेषूपकारज्ञतेव, आप्ताभासमतेषु वस्तुतत्त्वावबोध इव। तह चेव मनुजत्वमिव। देसकुलरूवमारोग्गमाउगं बुद्धी देशः, कुलं, रूपं, आरोग्यं, आयुर्बुद्धिश्च। सवणं गहणं सद्धा य संजमो श्रवणं, ग्रहणं श्रद्धा संयमश्चेत्येते दुलहा, दुर्लभा लोके। तत्र देशदुर्लभतोच्यते। कर्मभूमिजा, भोगभूमिजा अन्तर्द्वीपजाः सम्मूर्छिमाः इति चतुःप्रकारा मनुजाः। पंचभरताः, पंचैरावताः, पंच विदेहाः इति पंचदशकर्मभूमयः। पंच हैमवतवर्षाः, पंच हरिवर्षाः, पंच देवकुरवः, पंच उत्तरकुरवः, पंच रम्यकाः, पंच हैरण्यवतवर्षाः त्रिंशद्भोगभूमयः। लवणकालोदधिसमुद्रयोरन्तरद्वीपाः। चक्रिस्कंधावारप्रस्रवोच्चारभूमयः शुक्रसिंहाणकश्लेष्मकर्णदंतमलानि चांगुलासंख्यातभाग-

मानशरीराणां सम्मूर्च्छिमानां जन्मस्थानानि। तत्र भोगभूमिमंतरद्वीपं च परिहृत्य कर्मभूमिपूत्पत्तिर्दुर्लभा। कर्मभूमिषु च बर्बरचिलातकपारसीकादिदेशपरिहारेण अंगवंगमगधादिदेशेषु उत्पत्तिः। लब्धेऽपि देशे चांडालादिकुलपरिहारेण तपो योग्ये कुले जातौ। जातिर्मातृवंशः। सुकुले कथं दुर्लभं इति चेदुच्यते। जातिं, कुलं, रूपं, ऐश्वर्यं, ज्ञानं, तपो, बलं वा प्राप्य अगर्वितत्वं। अन्येऽप्येतैर्गुणैरधिकाः स्वबुद्ध्यमननं, परानवज्ञाकरणं, गुणाधिकेषु नीचैर्वृत्तिः। परेण पृष्टस्यापि अन्यदोषाकथनं, आत्मगुणस्तास्तवनं, इत्येतैः परिणामैः उच्चैर्गोत्रं कर्म आपाद्यते। तेन कुलेषु पूज्येषु जायते। जंतुरयं पुनर्न तथा प्रवर्तते जडमतिः। किंत्वेतद्विपरीतेषु परिणामेषु वर्तमानो नीचैर्गोत्रमेव बध्नाति असकृत्तेन पूज्यं कुलं दुर्लभं। उक्तं च—

जात्या मत्तो यः कुलाद्वापि रूपादैश्वर्याद्वा ज्ञानतो वा बलाद्वा॥
प्राप्यार्थं वा यस्तपो वा परेषु निंदायुक्तः स्तौति चात्मानमेव॥ १॥
अन्यावज्ञानादरातिक्रमाणां कर्ता मानं योऽतिमात्रं बिभर्ति॥
नीचैर्गोत्रं नाम कर्मैष चाल्याद्बध्नात्युग्रं निंदितं जन्मवासे॥ २॥
यस्तु प्राप्याप्युत्तमत्वं कुलाद्यैरन्यान्बुद्ध्या मन्यमानो विशिष्टान्॥
अन्यान्कांश्चिन्नावजानाति धीरान्नीचैर्वृत्त्या युज्यते चाधिकेषु॥ ३॥
पृष्टोऽप्यन्यैर्नान्यदोषान्ब्रवीति नात्मानं वा स्तौति निर्मुक्तमानः॥
उच्चैर्गोत्रं नाम कर्मैष धीमान् बध्नातीष्टं जन्मवासे प्रजानाम्॥ ४॥

इति॥ नीरोगतापि दुर्लभा। असकृदसद्वेद्यकर्मबंधनात्। बंधाच्छेदात्ताडनान्मारणाद्दाहाद्रोधाच्चासद्वेद्यमेव बध्नाति। तथा चाभ्यधायि—

अन्येषां यो दुःखमज्ञोऽनुकंपां त्यक्त्वा तीव्रं तीव्रसंक्लेशयुक्तः॥
बंधच्छेदैस्ताडनैर्मारणैश्च दाहं रोधैश्चापि नित्यं करोति॥
सौख्यं कांक्षन्नात्मनो दुष्टचित्तो नीचो नीचं कर्म कुर्वन्सदैव॥
पश्चात्तापं तापिना यः प्रयाति बध्नात्येषोऽसातवेद्यं सदैवम्॥
रोगाभिभवाधपबुद्धिचेष्टः कथमेव हितोद्योगं कुर्यात्॥

तथा चाभाणि—

प्राप्नोत्युपात्तादिह जीवतोऽपि महाभयं रोगमहाशनिभ्यः॥
यथाशनिः शान्तिमतत्यबुद्धो रोगस्तथागत्य निहन्ति देहं॥ १॥
बलायुषी रूपगुणाश्च तावद्यावन्न रोगः समुपैति देहं॥

फलस्य लग्नस्य हि जातु तन्तोस्तावन्न पातः श्वसनो न यावत् ॥
तस्मिन्स्वदेहे परिबाधमाने श्रेयः प्रकर्तुं न सुखेन शक्यम् ॥
गृहे समंताच्च हि दह्यमाने शक्तः प्रकर्तुं पुरुषोत्र किंचित् ॥

सदा परप्राणिघातोद्यतस्तदीयप्रियतमजीवितविनाशनात् प्रत्येयाल्पायुरेव भवति । आयुश्छेदने बहूनि निमित्तानि । जलं, ज्वलनः, मारुतः, सर्पा, वृश्चिकाः, रोगा उच्छ्वासनिश्वासनिरोधः, आहारालाभः, वेदनेत्येवमादीनि । ततो दीर्घमायुर्न सुलभं मनुजभवे । सामान्यवचनोऽप्यायुःशब्दः दीर्घे मनुजायुषि वर्तमानो गृहीतोऽन्यथायुर्मात्रस्य संसारिणः सुलभत्वात् । लब्धेप्यपि देशादिषु बुद्धिर्दुर्लभा । परलोकान्वेषणपरा बुद्धिरत्र बुद्धिशब्देनोच्यते न ज्ञानमात्रवाची । तद्धि सुलभं ज्ञानावरणेनावरुद्धबोधवीर्यस्य जलधरपटलावरुद्धमंडलस्य छायामांद्यमिव दिनपतेरविवेदकं भवति ज्ञानम् । किंचिन्मिथ्यात्वोदयाद्विपर्यस्तमुदेति विज्ञानं । नैवात्मा नाम कश्चित्कर्ता शुभाशुभयोः कर्मणोः । नापि तत्फलानुभवनिरतः, नापि परलोकः प्राप्यः कर्मवशवर्तिना कश्चिदिति । तथाप्यधायि—

लोको नायं नापरो नापि चात्मा धर्माधर्मौ पुण्यपापे न चापि ॥
स्वर्गो दृष्टः केन केनाथवा ते घोरा दृष्टा नारकाणां निवासाः ॥ १ ॥
बंधः को वा कोऽथवा सोऽस्ति मोक्षो, मिथ्या सर्वं यंत्रणेयं निरर्था ॥
प्राप्ताः कामाः सेवितव्या यथेष्टं दृष्टं त्यक्त्वा दूरगे कोऽभिलापः ॥

इति । तथा चान्ये—अष्टवर्षिका स्त्री विंशतिवार्षिकः पुमान् तयोः परस्परं प्रेमपूर्वहावभावविभ्रमकटाक्षकिलकिंचितादिभावपूर्वकः संयोग एव स्वर्गः नान्यः ।

स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य जयिनीं सर्वार्थसंपत्करीं ॥
एनां ये प्रविहाय यांति कुधियः स्वर्गापवर्गेच्छया ॥
तद्देपैर्विनिहत्य ते द्रुततरं नग्नीकृता मुंडिताः ।
केचित्पंचकपटीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥

तथान्यैरभिहितं—जलबुद्बुदवज्जीवाः, परलोकिनोऽभावात्परलोकाभावः इति च । सत्यामपि बुद्धौ समीचीनज्ञानलोचनवता, सकलप्राणिभृद्दोचरकृपापरिष्वक्तचेतसा लाभसत्कारपुरस्कारादिनिरपेक्षेण, चतुर्गतिपरिभ्रमणप्रभवयातनासहस्रमवलोक्य प्राणभृतां परमामनुकंपामुपगतेन हा जनो विचेतनः मिथ्यादर्शनाद्यशुभपरिणामकर्दमकमिदमस्माभिरनुभवातिनिर्वर्तनप्रवणमपहातव्यमित्यजानानस्तत्रैवाखण्डमवर्तमानो, दुःखरत्नाकरमगारमुपविशत्यशरणो वराकः

१ फलस्य शाखागतवृंततन्त्वोः, इत्यपि पाठः क पुस्तके ।

२ 'तथा चान्ये' इदमारभ्य स्त्री मुद्रेति श्लोकावसानपर्यन्तो ग्रन्थः ख पुस्तके नास्ति ।

इति कृतसंकल्पेन यतिजनेन संसर्गो दुर्लभः । कुतः ? दर्शनमोहोदयाज्ज्ञानावरणोदयाच्च न यतिगुणान्वेत्ति श्रद्धत्ते वा जनः । तत एव न ढौकते यतीन्वा सुगुणमविदुषस्तदुपसर्पणमुपपद्यते । अपि च चारित्रमोहोदयादसंयतोऽतितरां प्राणिनस्ततो हिंसादिकं स्वयं करोति, कारयति अनुमोदते । हिंसादिषु वर्तमानेष्वेव रतिं बध्नाति । न हिंसादिपरिहारोद्यतेषु । विना रतिं कथं तैः संसर्गस्तत्सेवा वा । सा हि—

संसारोच्छेदकरी प्रशमकरी ज्ञानवृद्धिवृद्धिकरी ॥
कीर्तिकरी पुण्यकरी संसेवा साधुवर्गस्य ॥
दर्शनमात्रमपि सतां संसारोच्छेदने भवति बीजं ॥
किं पुनराधिकारकृता संसेवा साधुवर्गस्य ॥
तत्सेवा यदि न स्यान्न स्याद् ज्ञानागमो विना ज्ञानात् ॥
हितकर्मप्रतिपत्तिर्न स्यान्न स्यात्ततो मोक्षः ॥
साधूपसेवनं यदि पारंपर्येण मोक्षमानयति ॥
हानिः श्रमश्च नृणां का साधून्सेवमानानाम् ॥
श्रेयाः कथं न यतयो विदुषा श्रेयोर्थिना मनुष्येण ॥
अक्षयमिह ये श्रेयो मुदाश्रितेभ्यः प्रयच्छन्ति ॥
इति सततमपोह्यमानमोहाविद्धपरलोकहितैषिणा नरेण ॥
जगदधिकतपोविभूतियुक्ता यतिवृषभा विनयेन सेवितव्याः ॥

यदृच्छया जातेऽपि यतिसंसर्गे न गुणः न चेद्धितं शृणुयात् । यथा न घर्मस्य पात एव गुणो नरस्य अपि तु भुवि शीतवापः । तद्वच्छ्रवणं गुणो यतिसमीपगमनेन । तदेवं श्रवणं दुर्लभं कथयति । समीपमुपगतोऽपि निद्रायति । समीपस्थानां वचो यत्किंचित् शृणोति, न रोचते, वा तद्धर्ममाहात्म्यप्रकाशनं मोहोदयात् । न जानाति वा मतिमांद्यादत एव तत्र नानुरागोऽस्य । अंतरेण चानुरागं कथं श्रोतुमुत्सहेत् । तथा चाभाणि—

साधूनां शिवगतिमार्गदेशकानां संप्राप्तो निलयमपि प्रमाददोषात् ॥
आस्ते यो जिनवचनानि तत्र शृण्वन् गत्वासौ ह्रदमपि पंक एव मग्नः ।

सत्यपि श्रवणे ग्रहणं विज्ञानं तन्निरूपितपदार्थस्य दुष्करं । सौक्ष्म्याज्जीवादिवस्तुतत्वस्य कदाचिद्रण्यश्रुत स्यात् । ज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षमाद्याच्च ज्ञाते धर्मतत्वे तत्र श्रद्धा दुर्लभा । सोऽयं जिनप्रणीतो धर्मः अहिंसालक्षणः, सत्याधिष्ठानः, परद्रव्यापहरणपरिवर्जनात्मकः, नवविधब्रह्मचर्यगुप्तः, परित्यक्ताशेषमूर्छः, विनयमूलः, समीचीनज्ञानपुरः सरः, क्षमामार्दवार्जवसंतोषगुणभूषणः, नरकवर्तनीनर्गलीभूतः, तिर्यग्गतिलताकुठारः, कठोराशनिर्दुःखाचलशिखराणां, मोहमहामहीध्रोत्पाटने पटुमातरिश्वा जरादवानलशिखाप्रशमनमुखरो घनाघनः, मरणैकः प्रातृपेयः, मरणहरिणचि-

दासमनचुलदवंडपुंडरीकं, क्रूररोगोरगाणां विनतासुतः, संपत्सुरापगाया हिमाचलः, सेतुरगाधशोकपंकस्य, पिता शुभमतायाः, पद्मपरत्नानामाकरः, कुयोनिगमनविप्रनष्टानां पृथुलशिवपुरं, इति श्रद्धानं अतिदुर्लभं दर्शनमोहोदयात्। उपशमात् क्षयोपशमात्, क्षयाद्वा दर्शनमोहस्य जाते पि श्रद्धाने संयमो दुर्लभतरः प्रत्याख्यानावरणोदयात्। उक्तं च—

दुर्ज्ञेयो भवति नरेण तत्त्वधर्मो ज्ञात्वापि प्रयतनमत्र कष्टमेव ॥
तज्ज्ञात्वा धृतिमुपलभ्य दृष्टतत्त्वः, सद्धर्मे क्षणमपि मा कृथाः प्रमादं ॥
मत्वायं सुकरतरोऽपि पापकार्यात् धर्मोऽभूत्क्षणमपि दुष्करो मनुष्यैः ॥
आश्चर्यं किमपि न चात्र संति मूढाः स्यादेतद्ध्रुवमिह कर्मणां गुरुत्वं।
काकिण्यामपि गणयन्गुणं महान्तं तद्धेतोः श्रममतुलं करोति यस्मात् ॥

तत्त्वज्ञः सुरमनुजाद्धिमोक्षमूले सद्धर्मे हृदयमपि स्थिरीकरोति ॥
[illegible]सहिते करोति चेष्टामालस्यं परमहिते च याति धर्मे ॥
युक्तं यद्यदि न तथा भवेत्पृथिव्यां संसारं ननु पुरुषः कथं लभेत ॥

एवमपि परंपरेण दुर्लभपरंपरया। लद्धूण वि लब्ध्वापि। संयमे संयमं खवगो क्षपकः। किं न लभेज्ज सुदिं न लभते श्रुतिं। संवेगकरीं संसारभयजननीं। अबहुस्सुदस्स पासे अबहुश्रुतस्य सूरेः पार्श्वे तस्माच्छ्रुतवानाचार्य आश्रयणीयः इति प्रस्तुतेन संबंधः॥

सम्मं सुदिमलभंतो समीचीनां श्रुतिमलभमानः। कदा मरणकाले। अबहुस्सुदसगासे अबहुश्रुतस्य पार्श्वे। दिग्घद्धं चिरं कालं। मुत्तिमुवगमित्तावि [illegible] कशब्देनात्र घ्राणेन्द्रियविषयासंयमत्यागः परिगृह्यते। तेनायमर्थः। चिरप्रवर्तितसंयमोऽपीति परिवडदि प्रच्यवते कुतः? संयमात्। संयमहानिकथनेन चारित्राराधनाया अभाव आख्यायते। संयमात्प्रच्यवते कथमितिचेत्-मनोज्ञामनोज्ञानां च [illegible]यिषयाणां सर्वत्र च सदा च सांनिध्यात् अभ्यंतरकारणस्य कर्मणोऽपि रागद्वेषमोहपरिणामाः प्रादुर्भवन्तीति [illegible] इति वदन्ति। सक्कं वसी छेत्तुं अल्पवंशः वंशीत्युच्यते। गाढावलग्नता हि तत्र संभवति शक्यते वंशी च्छेत्तुं। तत्तो गुल्मात् उकड्ढिदुं अपकष्टुं। पुणो पश्चात्। दुक्खं दुष्करं। इय एवं। संजदस्स वि संयतस्यापि मनः। विसएसु रूपादिषु। उकड्ढिदु अपकष्टुं। दुक्खं दुष्करं। रागद्वेषेभ्यो व्यावर्तयितुं अशक्यं। एतदुक्तं भवति—रागद्वेषविजये यदि नाम प्रतिज्ञा कृता तथापि कृतशरीरसल्लेखनस्य क्षुदादिपरीषहैकपद्रुतस्य मंदवीर्यस्य न श्रुतज्ञानप्रणिधानं तच्चांतरेण रागद्वेषप्रवृत्तेन चारित्राराधकता स्यात्। बहुश्रुतः पुनः यथास्य रागद्वेषौ न जायेते तथोपदिशति भक्तनिर्जरां शरीरनिर्जरां कथामित्थं—

एकांतदुःखं निरयप्रतिष्ठा तिर्यक्षु देवेषु च मानुषेषु ॥
कश्चित्कदाचिन्नु कथंचिदेव सौख्यस्य संबाध शरीरिणां स्यात् ॥
एकेन जन्मस्वहताऽप्रमेयं शरीरिणा दुःखमवाप्यते यत् ॥
अनंतभागोऽपि न तस्य हि स्यात् सर्वं सुखं सर्वशरीरसंस्थं ॥
तथैकजीवः सुखभागमेकं सजेत्कियंतं अननार्णवेऽस्मिन् ॥
संचूर्ण्यमाणः पततो वराको घनेऽतिभीतो हरिणो यथैकः ॥
प्रयेष्वनंतेषु सुखे तथापि शरीरिणैकेन समापनीये ॥
एकप्रसूतौ यदवाप्यते तत्किमप्युदेवचतस्य विमृश्यमाणे ॥
अत्यल्पमप्यस्य तदस्तु तावदुःखराशौ पतितं तदीयं ॥
स्यात्तद्रसं स्वादुरसं यथांबु प्राप्यांबुदानां लवणार्णवांबु ॥

यच्चाप्यदः सौख्यमितीष्यतेऽत्र पूर्वोत्थदुःखप्रतिकार एषः ॥
विना हि दुःखात्प्रथमप्रसूतात् न लक्ष्यते किंचन सौख्यमत्र ॥
प्रपीयते ह्यंबु तृषाप्रशान्त्यै क्षुधाशनस्याशनमद्यते च ॥
हिमांबुवातातपवारणाय गृहप्रतिच्छादनमंबरं च ॥
शीतापनुत्त्यावरणं च हृद्यं शय्या च निद्राश्रमनोदनाय ॥
यानानि चाध्वश्रमवारणार्थं स्नानं श्रमस्वेदमलापनुत्यै ॥
स्थानं श्रमस्यौपशमासनं च दुर्गंधनाशाय च गंधसेवा ॥
वैरूप्यनाशाय च भूषणानि कलाभियोगोऽरतिबाधनाय ॥

तथेह सर्वं परिचिंत्यमानं भोगाभिधानं सुरमानुषाणां ॥
दुःखप्रतीकारनिमित्तमेव भैषज्यसेवेव रुगार्दितस्य ॥
पित्तप्रकोपेन विदह्यमाने द्रव्याणि शीतानि निषेवमाणः ॥
मन्येत भोगा इति तानि योऽज्ञः कुर्वीत सोऽपथ्यादिषु भोगसंज्ञां ॥
यतश्च नैकान्तसुखप्रदानि द्रव्याणि तोयप्रभृतीनि लोके ॥
अतश्च दुःखप्रतिकारबुद्धिं तेषु प्रकुर्यान्न तु भोगसंज्ञां ॥
क्षुधाभिभूतस्य हि यत्सुखाय तदेव तृप्तस्य विघातयेऽन्नं ॥
तृष्णार्दितः कांक्षति यानि चेह तान्येव विद्वेषकराणि शीते ॥

किं च सचक्रविक्रमाक्रांतदेवमानवविद्याधरचक्राणां निकटोपनिविष्टाक्षयनवनिधीनां, समधिगतचतुर्दशरत्नानां, चक्रलांछनानां, दशांगभोगानुभवचतुराणां। तथा सुधाशनानामप्यनेकसमुद्रोपमजीविनां, अप्रत्ययमल्पप्रयौवनानां, सहजस्वेच्छानुसारिदिव्याभरणमाल्यवसनसंपत्सौभाग्यस्कंधेन मनोनयनवल्लभरूपप्रसूनोज्ज्वलेन विलासपलाशेन, सौकुमार्यांकुरेण त्रिगंगनामुरयासायमानसौरभेण विद्रुमाधरपल्लवेन, निविडोन्नतवृत्तस्तनफलेन, मनोभवदक्षिणानिलप्रेरणांदोलितेन, ललितभुजशाखाप्रतानेन, स्फुरत्तपनीयमयरशनावेदिकापरीतकामनीरभरितविशालजघनसरोविभूषणेन, मुखरनूपुरभ्रमरकृतकलकलेन देवकन्यालतावनेन परिवृतानामपि परैर्भोगैस्तृप्तिर्न किं पुनरितरमानवानां। अपि तीव्रतरपुंवेदोदयानलजनितचेतोविदाहानां नैवौषधं यामलोचनासंगमः तापप्रकर्षानुबंधत्वात्। रूपयौवनविलासचातुर्यसौभाग्यादीनां प्रकर्षापकर्षरूपेणावस्थितत्वादंगनासु। ताः पश्यतोऽपि उत्कंठानुपरतमुपजायमाना विदाहमावहति दुर्वहं। तास्त्यक्त्वा चेमं याति मृतिं या ढौकंते, परैर्वलिभिर्वापन्हियंते। स्वयं वा दुर्विमोचतमपातकं यमपाशेनाकृष्यमाणे विहाय ता विधृतमुखो, निर्निमेषनयनो नितांतरोदनाच्छादितलोहितलोचनो जहाति। तासां तनयोऽपि स्फटिकमालेवोपाश्रितगुणग्राहिण्यः। ताश्चास्थिररागाः संध्यासमयजलदलेखेव दुर्लभाश्च। स्त्रीवस्त्रगंधमाल्यादींश्च लब्धानप्याहरन्ति बलिनः इति महद्भयं, न च तर्पयन्ति। तदर्जनार्थं षट्कर्मसु प्रयतितव्यं। तानि च संदिग्धफलानि बहुतरायासमूलानि हिंसादिसावद्यक्रियापरतंत्राणि, दुर्गतिवर्धनानि इत्येवमात्मिका भोगनिर्वेजनी। शरीरं पुनरिदमशुचिनिधानं, आत्मनो महान् भारः, न चात्रास्ति किंचित्सारभूतं। सन्निहितानेकापायं व्याधिसस्यानां क्षेत्रं, जराडाकिनीपितृगृहं, किं च मान्ये कुले जातो विशालकीर्तिः गुणवानपि प्रक्षीणविभवो नीचं कर्म, पुरो धावनं, प्रेषणकरणं, तदुच्छिष्टभोजनं वा करोति शरीरपोषणाय। उक्तं च—

> नान्तर्गतोऽथ न बहिर्न च तस्य मध्ये सारोऽस्ति येन मनसा परिगम्यमानः॥
> तस्मिन्नसारजनकांक्षितकामसारैः कोऽन्यः करिष्यति मनः प्रतिबद्धसारः॥
> वायुप्रकोपजनितैः कफपित्तजैश्च रोगैः सदा दुरितजैः प्रविमथ्यमानः॥
> देहोऽयमेवमतिदुःखनिमित्तभूतो नाशं प्रयाति वहुधेति कुरुष्व धर्मं॥
> संघातजं प्रशिथिलास्थि तरुप्रगाढं स्नायुप्रबुद्धमशुभं प्रगतं शिराभिः॥
> लिप्तं च मांसरुधिरोदककर्दमेन रोगाहितं स्पृशति देहविशीर्णगेहं॥
> इत्येवमादिका शरीरनिर्वेजनी।

अल्पज्ञ आचार्यका आश्रय करनेसे और भी दोष उत्पन्न होते हैं—

अर्थ–यह संसार समुद्र के समान है. द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इनके द्वारा इसमें परिवर्तन होता है. टीकाकार क्रमसे पांच प्रकारके संसारोंका वर्णन करते हैं. द्रव्यसंसारका स्वरूप इस प्रकार है—



... पहिले नरकमें सात धनुष्य, तीन हाथ और छह अंगुल प्रमाण नारकी जीवोंका शरीर होता हैं. दूसरे नरकसे सातवे नरकपर्यंत नारकी जीवोंका शरीर दूना दूना ऊंचा है. सातवे नरकमें नारकिओंका शरीरप्रमाण पांचसौ धनुष्यका होता है. इस तरह नारकी जीवोंके शरीरके प्रकार हैं. प्राणिओंने भूतकालमें एक एक शरीर भी अनंतवार धारण किया है. भव्य जीवोंने भूतकालमें अनंतो शरीर धारण किये हैं. परंतु भविष्यकालमें वे अनंत शरीरोंको धारण करेंगे अथवा नहीं भी करेंगे. यदि थोडेहि दिनोंमें उनको मोक्ष प्राप्त होनेवाला होगा तो अनंत शरीर धारण नहीं करेंगे अन्यथा धारण करेंगे. अभव्यजीव भूतकालके समान भविष्यकालमें भी अनंतो शरीर धारण करेंगेही. इस प्रकार स्थूलरीतिसे द्रव्यसंसारका वर्णन किया है—

क्षेत्र संसारका वर्णन—सीमंतक नरक बिलसे अप्रतिष्ठ नामक नरकबिलतक चौरासी लाख नरकबिलोंकी संख्या है. इन एकेक नरकबिलमें भी इस जीवने भूतकालमें अनंत जन्ममरण धारण किये हैं. भव्यजीवोंके भविष्यकालमें अनंत जन्ममरण होंगे ही ऐसा नियम नहीं है. अभव्यों के भविष्यकालमें भी अनंत जन्ममरण होंगे ही.

कालसंसारका वर्णन—किसी उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें कोइ जीव प्रथमनरकमें उत्पन्न हुआ. आयुष्य समाप्त होनेपर अन्य स्थानमें उत्पन्न हुआ. पुनः कदाचित् किसी उत्सर्पिणीके दुसरे समयमें प्रथम नरकमें उत्पन्न हुआ. इस प्रकारसे उत्सर्पिणीके तिसरा, चौथा, पांचवा वगैरे समयोंमें उसही नरकमें उत्पन्न हो होकर उत्सर्पिणीके संपूर्ण समय उसने पूर्ण किये. उत्सर्पिणीके समान अवसर्पिणीके समय क्रमसे उसही नरकमें जन्म लेकर उसने पूर्ण किये. प्रथमनरकमें जन्म लेले कर जैसे उसने उत्सर्पिणीके और अवसर्पिणीके समय पूर्ण किये. उसी तरह उसने अन्य नरकोंमें भी जन्म लेकर इनके समय पूर्ण किये हैं. प्रत्येक नरकमें पुनः पुनः जन्म लेकर इस जीवने अनंत उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालको समाप्त किया है.

भवसंसारका वर्णन—प्रथम नरकमें दस हजार वर्ष प्रमाण आयु धारण करके यह जीव नारकी हुआ. पुनः क्रमसे एक समय अधिक दस हजार वर्ष आयुका धारक हुआ. ऐसे एक एक समय बढता हुआ यह जीव प्रथम नरकमें एकसागरोपम आयुष्य पूर्ण करता है. दूसरे नरकमें एक एक समय अधिक के क्रमसे एक सागरोपम

र्षे आयुष्य आदि लेकर तीन सागरोपम आयुष्यतक उसही नरकमें उत्पन्न होता है. तिसरे नरकमें एक समय अधिक तीन सागरोपम से प्रारंभकर दो तीन चार पांच इत्यादि समयोंसे बधता हुवा सात सागरोपम आयुष्यकी परिपूर्णता करता हुआ वह जीव बार बार तीसरे नरकमे ही उत्पन्न होता है. चौथे नरकमें समयाधिक सात सागर से लेकर द्वितीयादिक समयादिके क्रमसे दशसागरोपमकी समाप्ति होनेतक चतुर्थ नरकमें इस जीवने जन्म धारण किये हैं. पांचमें नरकमें एक समयाधिक दशसागरोपमायुष्यका प्रारंभ करके द्वितीयादि समयाधिकके क्रमानुसार सतरा सागरोपमायुष्यकी समाप्ति होनेतक पांचवे नरकमें इस जीवने जन्म धारण किया था. छट्ठे नरकमें समयाधिक सतरा सागरोपमायुष्यका प्रारंभ कर दुसरा, तिसरा वगैरे समय अधिक बढाता हुआ बावीस सागरोपमायुष्य तक असंख्यात जन्म जीवने धारण किये हैं. सातवें नरकमें समयाधिक बावीस सागरोपम आयुष्य से उत्पन्न होकर समयाधिक क्रमसे तेहतीस सागरोपमायुष्यकी समाप्ति होनेतक इस जीवने असंख्यात जन्म धारण किये हैं. इस प्रकार आयुके विकल्पोंको धारण करते हुए इस जीवने भवसंसारमें भ्रमण किया है.

भावसंसारका स्वरूप सर्वजन सुखसे जान सकते हैं इसलिये यहां उसका वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है.

इस प्रकार इस संसारसमुद्रमें नानाविध तीव्र दुःखरूपी पानी है शारीरिक, मानसिक, आगंतुक व स्वाभाविक ऐसे दुःखके अनेक भेद हैं. इस संसारमें भ्रमण करने वाले इस जीवको कष्टसे मनुष्यपना प्राप्त होता है. सर्व जगतमें मनुष्य उत्पन्न होनेका क्षेत्र अल्प है और तिर्यंच प्राणी सर्व जगतमे उत्पन्न होते हैं. मनुष्यपना जिससे उत्पन्न होता है ऐसे कर्मकी उत्पत्ति करनेवाले कारणभूत परिणामोंकी प्राप्ति होना कठिन है इसलिये मनुष्यत्व दुर्लभ है.

मनुष्यत्व प्राप्तिके परिणाम कोनसे हैं इस प्रश्नका उत्तर—

जीवोंके परिणाम मिथ्यात्व, असंयम और कषाय ऐसे तीन प्रकारके हैं. वे परिणाम भी तीव्र, मध्यम और मंद हैं. कारणोंमें अर्थात् कर्मोंमें तीव्र, मध्यम और मंद स्वभाव रहता है अतः उनसे उत्पन्न होनेवाले परिणामोंमें भी तीव्र, मध्यम और मंदता आती है. कारणोंमें भेद होनेसे कार्यरूप परिणामोंमें भी विचित्रता आती है.

इन परिणामोंमें जो मध्यम हिंसादिपरिणाम हैं वे मनुष्यपना के उत्पादक हैं. वालुकामें खीची हुई

रेखाके समान क्रोध परिणाम, लकडीके समान मानपरिणाम, गोमूत्राकारके समान मायापरिणाम और कीचडके रंगसमान लोभपरिणाम ऐसे परिणामोंसे मनुष्यपनाकी प्राप्ति होती है. जीवघात करनेपर हा मैने दुष्ट कार्य किया है, जैसे दुःख वा मरण हमको अप्रिय है, संपूर्ण प्राणिओंको भी वह अप्रिय है जगतमें अहिंसा ही श्रेष्ठ व कल्याण कारिणी है. परंतु हम हिंसादिकोंका त्याग करनेमें असमर्थ हैं. झूट परदोषोंको कहना, दुसरोंके सद्गुण देखकर मनमें द्वेष करना, असत्यभाषण करना यह दुर्जनोंका आचार है. साधुओंको अयोग्य ऐसे निंद्य भाषण और खोटे कामोंमें हम हमेशा प्रवृत्त हैं. इसलिये हममें सज्जनपना कैसा रहेगा? ऐसा पश्चात्ताप करना. दुसरोंका धन हरण करना यह शस्त्रप्रहार करनेसे भी अधिक दुःखदायक है. द्रव्यका विनाश होनेसे सर्व कुटुंबका ही नाश होता है इसलिये मैने दूसरोंका धन हरण किया यह अयोग्य कार्य किया है ऐसे परिणाम होना. हमने परस्त्री वगैरह का हरण किया यह बहुत अयोग्य कार्य हमसे हुआ. हमारी स्त्रीका किसीने हरण करने पर जैसा हमको अतिशय कष्ट होता है वैसा उनको भी होता है यह अनुभवमे प्रसिद्ध है. ऐसे परिणाम होना. गंगादि नदियां हमेशा अपना अनंत जल लेकर समुद्रमें प्रवेश करती हैं तथापि समुद्रकी तृप्ति होती ही नहीं. यह मनुष्यप्राणी भी धन मिलनेसे तृप्त नहीं होता है. इस तरहके परिणाम दुर्लभ है.

सत्पुरुषके मुखमें कठोर वचन, सूर्यमंडलमें अंधकार, तीव्रक्रोधी मनुष्यमें दया, लोभी मनुष्यमें सत्यभाषण, अभिमानी मनुष्यमें परगुणोंका स्तवन, स्त्रीमें मायारहितपना, दुष्टोंमें कृतज्ञता, कपिल, बुद्ध वगैरह आप्ताभासोंके मतमें वस्तुके सत्यस्वरूपका ज्ञान ये जैसे दुर्लभ हैं. वैसा मनुष्यत्वकी प्राप्ति होना दुर्लभ है.

देश, कुल, रूप, आरोग्य, दीर्घायु, बुद्धि, शास्त्रश्रवण, ग्रहण, श्रद्धा, और संयम ये उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं.

यहां आचार्य उत्तम देशमें जन्म होना दुर्लभ है इस विषयका वर्णन करते हैं —

कर्मभूमिज, भोगभूमिज, अन्तर्द्वीपज और संमूर्च्छिम ऐसे मनुष्योंके चार भेद हैं.

ढाई द्वीपोंमें पांचभरत क्षेत्र, पांच ऐरावत क्षेत्र और पांच विदेह क्षेत्र ऐसी पंधरा कर्मभूमियां हैं. पांच हैमवत क्षेत्र, पांच हरिवर्ष क्षेत्र, पांच देवकुरु, पांच उत्तर कुरु, पांच रम्यक क्षेत्र और पांच हैरण्यवत क्षेत्र ऐसी तीस भोगभूमियां हैं.

लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्र के मध्यमें छानवें अन्तर्द्वीप हैं. चक्रवर्तीका सैन्य, मूतनेके, और हगनेके स्थान, वीर्य, नाकका मल, कफ, कानका मल, दांतोंका मल इनमें अंगुलका असंख्यात भाग प्रमाण शरीरके धारक सम्मूर्च्छन मनुष्य उत्पन्न होते हैं. भोगभूमि और अन्तर्द्वीपोंका छोड कर्मभूमिमें उत्पत्ति होना दुर्लभ है. कर्मभूमिमें भी बर्बर, चिलातक, पारसीक वगैरे देशोंको छोडकर अंगदेश, वंगदेश, मगध वगैरह देशोंमें उत्पत्ति होना दुर्लभ है. उत्तम देशोंकी प्राप्ति होने पर भी चांडाल, धीवर, चमार, ढोर वगैरे नीच कुलोंको छोडकर तप करनेके लिये योग्य अर्थात् मुनिधर्म धारण के योग्य कुलमें, जातिमें, जन्म होना दुर्लभ हैं.

माताके वंशको जाति कहते हैं. उत्तम कुलकी प्राप्ति होना क्यों कठिन है इसका विवेचन—

उत्तम जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान, तप, बल इनकी प्राप्ति होनेपर गर्व न करना अन्य लोक भी इन गुणोंसे मेरेसे भी अधिक हैं ऐसा समझकर गर्व रहित होना, दूसरोंकी अवज्ञा न करना, जो गुणोंसे श्रेष्ठ हैं उनके साथ नम्रताका व्यवहार करना, दूसरोंके पूछने पर भी अन्य दोषोंका कथन न करना, अपने गुणोंकी स्तुति न करना इत्यादि परिणामोंसे उच्च गोत्रकर्मका बंध होता है जिससे मनुष्य उच्च कुलमें उत्पन्न होता है.

परंतु मुर्खबुद्धिका मनुष्य उपर्युक्त परिणामोंका स्वीकार नहीं करता है. जो विपरीत परिणाम हैं. उनमें वह प्रवृत्ति करता है. जिससे उसको नीचगोत्रका बंध होता है. ऐसे विपरीत परिणाम होनेसे पूज्य–उच्चकुलकी प्राप्ति नहीं होती है. इसलिये उच्च कुल दुर्लभ है. अन्य ग्रंथोंमें इस प्रकार वर्णन है—

जो पुरुष जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, आज्ञा, शरीरबल अथवा तप इत्यादिकी प्राप्ति होनेमे उन्मत्त होकर दुसरों की निंदा करते हैं अथवा अपनी प्रशंसा करते हैं. दुसरोंकी अवज्ञा, अनादर और अशुभ नामकर्मका बंध कर लेते हैं. जिससे इस संसारमें उनको निंद्य कुलादिकमें जन्म धारण कर प्रतिसमय निंदा, अपमान, वगैरह दुःख भोगने पडते हैं क्योंकि उसने पूर्वजन्ममें अत्यंत अभिमान धारण किया था.

परंतु जो पुरुष कुल, जाति वगैरहकी उत्तमता प्राप्त करके भी दूसरोंको अपनेसे भी बुद्धीसे विशिष्ट समझता हैं, जो किसी का अपमान, अवज्ञा नहीं करता है, जो बुद्धिमान् को देखकर नम्र होता है, पूछने पर भी जो दूसरोंके दोषोंका वर्णन नहीं करता है. अपनेमें गुण रहते हुए भी गर्वरहित होकर उनका कथन करता नहीं वह पुण्यपुरुष उच्चगोत्र शुभनामकर्म इनका तीव्र बंधकर इस संसारमें सर्व लोकोंका प्यारा बनता है.

उच्च कुलादिक जैसे दुर्लभ है वैसीं नीरोगता अर्थात् रोगरहितदेह प्राप्त होना भी दुर्लभ है.

प्राणिओंको बांधना, ताडना, मारना, जलाना अन्न पानी न देना इत्यादि कार्यसे असातावेदनीय कर्मका तीव्र बंध होता है. इस विषयमें ग्रथांतरमें ऐसा विवेचन आया है—

जो मूर्ख मनुष्य दयाका त्यागकर तीव्र संक्लेश परिणामी होकर अन्य प्राणीको बांधना, तोडना, पीटना प्राण लेना, खानेके और पीनेके पदार्थोंसे वंचित रखना ऐसे ही कार्य हमेशा करता है. ऐसे कार्यमें ही अपनेको सुखी मानकर जो नीच पुरुष ऐसे ही कार्य हमेशा करता है. ऐसे कार्य करते समय जिसके मनमें पश्चात्ताप होता नहीं उसको निरंतर असातावेदनीय कर्मका बंध होता है. जिससे उसका देह हमेशा रोगपीडित ही रहता है. तब उसकी बुद्धि व क्रियाए नष्ट होती है वह पुरुष अपने हितका उद्योग कुछ भी नहीं कर सकता है.

इस विषयमें ग्रंथांतरमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं—

वह प्राणी यद्यपि जीता है तो भी रोगरूपी महावज्रसे उसको सदा भयकी प्राप्ति होती है. जैसे आकाशमें अकस्मात् वज्रपात होता है वैसे अकस्मात् रोग आकर मनुष्यको पकडता है जिससे उसका देह नष्ट होजाता है.

जबतक देह रोगसे पीडित हुआ नहीं तबतक ही देहमें सामर्थ्य, आयुष्य, सौंदर्य रहते हैं. जबतक हवाका धक्का फलको नहीं लगता है तबतक वह डंटलसे संलग्न रहता है. वैसेही देहमें रोगका अड्डा जम जानेपर उसके रूपादिक सब गुण वहांसे प्रयाण करते हैं जैसा अग्नि जब घरको चारो ओरसे लगनेपर समर्थ पुरुष भी उसमेंसे अपनी अमूल्य वस्तुओंका रक्षण नहीं कर सकता है. वैसे रोगसे देह पीडित होनेपर अपना हित सुखसे करनेमें यह जीव असमर्थ होता है.

जो प्राणी हमेशा परजीवोंका घात करके उनके प्रियजीवित का नाश करता है वह प्रायः अल्पायुषी ही होता है. आयुष्यका नाश होनेके बहुत निमित्त हैं—

पानी, अग्नि, वायु, सर्प, विच्छु, रोग, श्वासोच्छ्वास का रुक जाना. आहार न मिलना, और वेदना इत्यादिकोंसे आयुका क्षय होता है. इसवास्ते मनुष्यजन्म प्राप्त होनेपर भी दीर्घायुष्य की प्राप्ति होना सुलभ नहीं है.

यद्यपि आयु शब्द सामान्यका वाचक है तथापि यहां दीर्घायुष्यका वाचक माना है अन्यथा आयुष्य मात्र तो संसारी जीवोंको सुलभ है ही.

देश, कुल, जाति, नीरोगता वगैरह की प्राप्ति होनेपर भी बुद्धिका लाभ होना बडा कठिण है. बुद्धिका अर्थ यहांपर परलोक की प्राप्ति करा देनेवाली बुद्धि ऐसा है अर्थात् परलोकमें इस आत्माकी हित करनेवाली बुद्धि दुर्लभ है. सामान्य ज्ञान प्राप्त होना कुछ कठिन नहीं है. जैसे मेघपटलसे आच्छादित होनेपर सूर्यका प्रकाश भूतलपर नहीं आता है. वैसे ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे आत्माकी ज्ञानशक्ति आच्छादित होती है. मिथ्यात्व कर्मका उदय होनेसे ज्ञानमें विपरीतपना होता है. अर्थात् पदार्थका सच्चा स्वरूप जाननेमें असमर्थ होता है. उसका विपरीत स्वरूप समझ लेता है.

आत्मा नामक कोइ पदार्थ ही नहीं है. अतः वह शुभाशुभ कर्मका कर्ता है ऐसा मानना निर्मूल है शुभाशुभ कर्मसे सुख और दुःखरूपी फल उत्पन्न होता है. और यह आत्मा उसका अनुभव लेनेमें लीन होता है. यह कहना या मानना निःसार है. आत्मा पाप या पुण्य कर्मके वश होकर परलोककी प्राप्ति कर लेता है यह वचन भी मिथ्या है. इस विषयमें अन्यत्र ऐसा कहा है—परलोक नहीं है. आत्मा और पाप पुण्य नहीं है. धर्म और अधर्म नामकी चीज भी नहीं है. क्या किसीने स्वर्ग देखा है ? अथवा भयंकर दुःख देनेवाले नारकियोंके निवासस्थल भी देखे हैं ? कर्म बंध, और मोक्ष क्या चीज है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है बंध और मोक्ष न होने से तपश्चरणादिक करना व्यर्थ है. प्राप्त हुए सुंदर स्त्री वगैरह पुरुषोंका यथेच्छ सेवन करना चाहिए क्योंकि प्रत्यक्ष को छोडकर अप्रत्यक्ष चीजोंकी अभिलाषा करना बुद्धिमानका कर्तव्य नहीं है.

इस विषयमें कोई विद्वान ऐसा कहते हैं—सोलह वर्ष की स्त्री और बीस वर्षका जवान पुरुष इनका हाव भावपूर्वक कटाक्षपात, हास्यमिश्रित भाषण और रतिक्रीडा यही स्वर्ग हैं इससे और स्वर्ग नामकी चीज ही नहीं हैं

यह स्त्री मकरध्वजकी जयपताका है, इससे संपूर्ण पदार्थोंकी संपत्ति प्राप्त होती है. स्वर्ग और मोक्षकी इच्छासे जो दुर्बुद्धि लोक इस स्त्रीका त्याग कर वनमें प्रयाण करते हैं वे स्त्रीका त्याग करनेके अपराधसे दंडित कर दिये जाते हैं. कितनोंका मुंडन किया जाता है. कोइयोंको रक्तवस्त्र पहराया जाता है, कोइ जटायुक्त और कोइ

... स्वेच्छानुसार जिधर तिधर भ्रमण करने लगते हैं. अर्थात् स्त्रीका त्याग कर जो वनमें जाते हैं उनकी ऐसी दुर्दशा होती हैं. और जो उसकी आज्ञा शिरोधार्य समझकर प्रवृत्ति रखते हैं. उनको यहां ही स्वर्ग और मोक्षका सुख मिलता है.

और भी इस विषयमें कोई विद्वान् ऐसा कहते हैं—

पानीका बबूला जैसा क्षणके बाद पूर्ण नष्ट होता है, जीव भी देहका नाश होनेपर विनष्ट होते हैं. परलोकको प्रयाण करनेवाला आत्माही नहीं है तो परलोककी सिद्धि कैसी होगी ? अर्थात् जीवनामक पदार्थ नहीं है. इस लिये परलोकका भी अभाव है. ऐसे और इसके सदृश और भी विचार बुद्धोंमें दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न होजाते हैं. जीवोंमें बुद्धि तो होती है. परंतु उसने कुमार्गका आश्रय लिया है. जीवोंको यथार्थ रत्नत्रयमार्ग दिखलाने वाले सद्गुरुओंका संसर्ग मिलना बडा ही कठिण हो रहा है.

यतिजन अर्थात् सद्गुरु यथार्थ ज्ञानरूपी नेत्रके धारक हैं. संपूर्ण प्राणिओंमें वे दया करते हैं. वे लाभकी, सत्कारपुरस्कार की अपेक्षा नहीं करते हैं. चतुर्गतिओंमें संसारीजन हजारों यातनायें भोग रहे हैं यह देखकर उनके अंतःकरणसे दयाका प्रवाह वहता है. " अहो ये अज्ञजन मिथ्यादर्शनादि अशुभ परिणामोंसे अशुभगतिको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका बंध कर रहे हैं इन कर्मोंसे छूटनेका उपाय ये लोक जानते नहीं है. इससे ही ये दीन प्राणी अपार दुःखरूपी समुद्रमें प्रवेश कर दुःख भोग रहे हैं" ऐसा विचार सद्गुरु मनमें करते हैं. ऐसे सद्गुरुका संसर्ग होना दुर्लभ है.

दर्शनमोहनीय कर्म और ज्ञानावरणीय कर्मका उदय होनेसे लोक यतीके गुणोंको जानते नहीं और उनके ऊपर श्रद्धान भी करते नहीं. इसी लिये उनके पास वे जाते नहीं. जबतक सद्गुणोंका स्वरूप नहीं जाना जाता है तबतक उनका स्वीकार करनेकी प्रवृत्ति लोकोंमें नहीं दीखती है. चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे प्राणीकी हिंसा लोक स्वयं करते हैं, कराते हैं और अनुमोदन देते हैं. हिंसादिक कार्योंको करनेवाले लोकोंमें प्रीति रखते हैं. जो हिंसादि अकार्योंको नहीं करने देते हैं उनमें लोक प्रेम करते नहीं. जब मनमें अहिंसादिक गुणयुक्तोंपर प्रेमही नहीं तो उनमें संसर्ग और उनकी सेवा कैसी होगी ?

यह साधुसेवा संसारका नाश करती है, क्रोधादि अशुभपरिणामोंका उपशम करके ज्ञानको बढाती है. साधुसेवामे पुण्य और यश बढते हैं.

सत्पुरुषोंका एक वार दर्शन भी हुआ तो वह भी संसारका नाश करनेमें कारण होता है. तो उनकी सेवा करनेकी योग्यता मिलनेपर यदि हमने उनकी सेवा की तो उससे हमारे संसारका नाश होनेमें क्या देर लगेगी ?

यदि सज्जनोंकी सेवा हम नहीं करेंगे तो हमको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होगी. ज्ञानके विना हमको हित करनेवाले देवपूजा, स्वाध्याय वगैरह कर्मोंका स्वरूप ज्ञात नहीं होता है. अतः मोक्षकी प्राप्ति होती नहीं.

साधुओंकी उपासना करनेसे यदि परम्परासे भी मोक्षकी प्राप्ति होती है तो साधुओंकी सेवा करनेवाले मनुष्योंकी क्या हानि और श्रम होगा ? अर्थात् मोक्षप्राप्ति के समान जगतमें दूसरा अनुपम लाभ है ही नहीं अतः मनुष्यने साधुओंकी सेवा श्रमकी परवा न कर करनी चाहिए.

मोक्षप्राप्तिके इच्छुक विद्वान लोग अवश्य साधूका आश्रय करें. क्योंकि साधु पुरुष आश्रितजनोंको आनन्दसे अक्षय मोक्ष अर्पण करते हैं.

अभिमान और मोह दूरकर इह पर लोकमें हितको चाहनेवाले मनुष्य सतत सत्पुरुषकी विनयसे सेवा करें. क्योंकि, जगतमें सत्पुरुष तपरूपी वैभवसे युक्त होते हैं. अर्थात् महातपस्वी जनोंकी सेवा अवश्य करनी चाहिए.

दैवयोगसे मुनि सहवास प्राप्त भी हुआ परन्तु उनसे हमने हितका उपदेश नहीं सुना तो उनके सहवास का फायदा हमने नहीं लिया ऐसा ही समझना चाहिए. यदि हमने खेतमें बीज नहीं बोया और वृष्टि हुई तो उस वृष्टि से कुछ फायदा नहीं है. वैसे सत्पुरुषका उपदेश हमने सुना नहीं तो उनका सहवास व्यर्थ ही हुआ ऐसा समझना चाहिए. यतीश्वरके समीप जाकर हम यदि उनका हितोपदेश सुनेंगे तो यतिसमागम सफल हुआ ऐसा समझना चाहिए. इसलिए हितोपदेश सुनना दुर्लभ है ऐसा आचार्य कहते हैं.

सत्पुरुषोंका उपदेश सुननेके लिए जाकर भी कोई वहां सोते हैं. अथवा अपने पास बैठे हुए मनुष्यके साथ वार्तालाप करते हैं अथवा उनका वचन सुनते हैं सत्पुरुषके उपदेशके तरफ उनका लक्ष्य नहीं जाता. प्रगट किये धर्मके माहात्म्यपर मोहनीय कर्मके उदयसे उनकी अरुचि हो जाती है.

अथवा मति मंद होनेसे उनके उपदेशका रहस्य नहीं जाननेसे उनमें उसका प्रेम उत्पन्न नहीं होता है प्रेमके विना जनमें सुननेकी उत्कंठा नहीं होती है.

इस विषयमें आचार्य ऐसा कहते हैं—

मोक्षप्राप्तिके उपायका अर्थात् रत्नत्रयका उपदेश देनेवाले आचार्य के वसतिकामें जाकर भी जो प्रमादसे अन्य लोगोंकी बातें सुननेमें अपने चित्तको एकाग्र करता है वह मूर्ख मनुष्य सरोवरके पास जाकर भी कीचडमें फंसे हुए मनुष्य के समान समझना चाहिये.

यद्यपि सत्पुरुषके वचन सुनने पर भी उसका अभिप्राय ध्यानमें रखना दुर्लभ है. क्योंकि जीवादि वस्तुओंका स्वरूप सूक्ष्म होनेसे और वह पूर्वकालमें कभी सुननेमें नहीं आनेसे उसका अभिप्राय मनमें समझना कठिन है. यद्यपि ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम विशेष होनेसे बुद्धि जीवादिकोंका स्वरूप जानेगी, धर्मका स्वरूप जानेगी तथापि जाने हुए जीवादिके स्वरूपमें और धर्मस्वरूपमें श्रद्धा उत्पन्न होना दुर्लभ है.

यह श्रीजिनेश्वरका धर्म अहिंसात्मक है. यह सत्यके आधार पर है अर्थात् सत्यपना इसकी नींव है. परधन हरण न करना यह इसका स्वरूप है. नउ प्रकारसे ब्रह्मचर्य द्वारा इसका संरक्षण किया जाता है. संपूर्ण परिग्रहोंपरसे ममत्व दूर करना यह इसका ध्येय है. विनय इसका मूल है. इस धर्मके आचरणसे मनुष्यको सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है. क्षमा, मृदुपना अर्थात् अभिमानका त्याग, निष्कपटपना, संतोष इत्यादि गुण इस धर्मके अलंकार हैं. यह नरकका मार्ग बंद करनेके लिये वज्रार्गला के समान है. पशुगतिरूपीवेलीको काटनेके लिये यह जिनधर्म कुल्हाडीके समान है. दुःखरूपी पर्वतके शिखरोंको विध्वस्त करनेके लिये यह धर्म कठोर वज्रके समान है. मोहरूपी महावृक्षको समूल उपाडनेके लिये यह धर्म जोरदार हवाके समान है. वृद्धावस्थारूप वनकी अग्नीकी ज्वालायें बुझानेके लिये यह वर्षाकालीन वृष्टि करनेवाला मेघ है. मरणरूप हरिणका घात करनेके लिये यह धर्म वाघके तुल्य है. भयंकर रोगसर्पोंको यह गरुडके समान है. संपत्तिरूपी गंगानदीकी उत्पत्तिके लिये यह धर्म हिमपर्वत है. अगाध शोकरूपी कीचडको यह सेतू है. यह जैनधर्म सौंदर्यका पिता है. ऐश्वर्यरूप रत्नोंकी यह खान है. कुयोनिवनमें भ्रमण करनेवाले प्राणिओंको यह धर्म मुक्तिनगरको लेजानेवाला है. ऐसे जिनधर्मके ऊपर श्रद्धा होना अतिशय दुर्लभ है.

दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे लोक इससे मुंह मोडते हैं. दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम जब होता है तब इस परमहितकारक धर्मपर प्राणी श्रद्धा करने लगते हैं. श्रद्धा न करनेपर भी संयम-चारित्रकी प्राप्ति होना अधिकही कठिन हैं क्योंकि प्रत्याख्यानावरणी कर्म जीवको चारित्रपालन करनेमें प्रतिबंध करता है. इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

मनुष्यको सत्यधर्मका स्वरूप बडे कष्टसे मालुम होता है. ज्ञान होनेपर धर्ममें प्रवृत्ति करना उससे भी अधिक कठिन है. जीवादिक तत्त्वोंका स्वरूप जिसने जाना है ऐसे मनुष्यको धर्मका स्वरूप जानकर उसमें स्थिर होना चाहिये और इस धर्मका आचरण करते समय प्रमादको छोड देना चाहिये. एक क्षणपर्यंत भी उसका आश्रय नहीं करना चाहिये.

पापकार्य करनेकी अपेक्षा धर्माचरण करना अधिक सुलभ है. परंतु एक क्षणपर्यंत भी धर्माचरण करना मनुष्यको कठिनसा दीखता है.

इसमें कोइ आश्चर्यकी बात नहीं है. पापकर्मके तीव्र उदयसे मनुष्य मूढ होते हैं. एक तुच्छ कवडीको भी महत्वकी चीज समझकर यह मूढ मानव उसकी प्राप्तिके लिये महान्परिश्रम करता हुआ देखा जाता है.

परंतु तत्त्वज्ञ मनुष्य देव और मनुष्यका ऐश्वर्य देनेमे समर्थ मोक्षका मूल ऐसे सद्धर्म में अपना हृदय स्थिर करता है.

मूढ मनुष्य अहित कार्यमें ही प्रयत्न करता है. और परमहितकर धर्ममें हमेशा आलसी रहता है. यह योग्यही है. यदि मनुष्य ऐसी प्रवृत्ति न करेगा तो उसका संसारमें भ्रमण कैसा होगा?

संयमकी-मुनिधर्मकी भी जो कि परंपरा दुर्लभ है प्राप्ति हुई तो भी अल्पज्ञ गुरुके समीप सल्लेखना धारण करनेवाले मुनिको संसारसे भय उत्पन्न करनेवाला धर्मोपदेश मिलना कठिन है. इस लिये बहुश्रुतज्ञ आचार्यका आश्रय करना ही योग्य है. ऐसा इतना विवेचन करनेका अभिप्राय हैं.

अल्पज्ञ आचार्यसे क्षपकको उत्तम-भवोद्धारक धर्मोपदेश नहीं मिलनेसें मरणकालमें वह संयमसे भ्रष्ट होता है. तात्पर्य यह है कि दीर्घ कालतक प्राणिसंयम और इंद्रियसंयमका पालन क्षपकने किया था परंतु मरण समयमें उससे वह भ्रष्ट होनेसे वह चारित्राराधानासे रहित हो जाता है. संयमसे भ्रष्ट वह क्यों होता है इस प्रश्नका

उत्तर यह है—मनोज्ञ और अमनोज्ञ पदार्थ सर्वत्र और हमेशा रहते हैं. और अन्तरंग कारण जो कर्म उसका उदय होनेसे दुर्निवार राग, द्वेष, और मोहकी उत्पत्ति होती है, जिससे वह चारित्र का त्याग कर बैठता है.

जैसे बांसके समुदायमेंसे छोटा बांस कुल्हाडीसे काट सकते हैं परन्तु वह उखाडकर निकालना अतिशय कठिन है. वैसे संयमीका मन जब विषयोंमें आसक्त होता है तो उससे उसको निकालना दुःसाध्य होता है. अर्थात् मनमें उत्पन्न हुए राग द्वेष नष्ट करना कठिण कार्य है. इस विवेचनका यह अभिप्राय है—रागद्वेषोंका पराजय करने की क्षपकने प्रतिज्ञा की थी तथापि शरीरसल्लेखना करनेपर जब वह भूक प्यास वगैरह परीषहोंसे पीडित होता है और उसको सहन करनेका सामर्थ्य कम होता है तब श्रुतज्ञानके प्रति मनकी एकाग्रता नष्ट होती है. श्रुतज्ञानमें एकाग्रता न होने से राग द्वेष उत्पन्न होते हैं और वह क्षपक चारित्राराधनासे च्युत होता है.

ऐसे समयमें यदि बहुश्रुत आचार्यका संगम प्राप्त होगा तो वे रागद्वेषोंकी उत्पत्ति न होगी ऐसा उपदेश देते हैं. शरीर और भोगोंमें वैराग्य उत्पन्न होगा ऐसी कथायें उसको कहते हैं. और चारित्राराधनामें उसको स्थिर करते हैं.

भोग और शरीर में वैराग्य उत्पन्न करनेवाली कथा अर्थात् उपदेश इस प्रकार है—

नरकमें नारकिओंको दुःखही दुःख है. सुखका लेश भी वहां नहीं है. तिर्यंच प्राणी, देव और मनुष्य इनको किसी प्रदेशमें किसी कालमें और किसी प्रकारसे थोडासा सुख मिलता है.

नाना कुयोनिमें भ्रमण करनेवाले इस जीवने जो अपरिमित दुःख प्राप्त किया है वह इतना अधिक है कि आजतक अनेक शरीर धारण कर इसने जितना सुख प्राप्त किया है उससे वह अनंत गुणित है. अर्थात् जितना सुख इस जीवने आजतक भोगा है वह भोगे हुए दुःखका अनंतवा भाग भी होना कठिन है,

इस जन्मसागरमें यह एक जीव सुखके एक भागको कितने दिन भोगेगा. जैसे वनमें अतिशय भयाकुल हरिण दुःखोंसे व्याप्त होनेसे सुखका अति अल्पकाल में ही थोडासा अनुभव लेता है.

जो सुख अनंतभवमें भ्रमण कर यह प्राणी प्राप्त करता है उसका एक भवमें यह प्राणी कितना हिस्सा प्राप्त कर लेगा यह विचारणीय है. जैसे मेघोंका पानी लवणसमुद्रके पानीमें मिलकर खारा बन जाता है. वैसे इस जीवका अत्यल्प सुख दुःखराशीमें मिलकर दुःखरूप ही होजाता है.

इसी संसारमें जिसको लोक सुख यह नाम देते हैं, वास्तविक वह सुख है ही नहीं. वह केवल पूर्वकाल में उत्पन्न हुए दुःखोंको दूर करनेका इलाज मात्र है. प्रथमतः जो दुःख उत्पन्न होता है उसके इलाजको ही सुख कहते हैं. यदि प्रथम दुःख नहीं हुआ तो सुख की कल्पना भी उत्पन्न नहीं होगी.

तृष्णाका शमन करनेकेलिये मनुष्य पानी पीता है. और भूख की वेदना नष्ट करनेकेलिये भोजन करता है.

जल, हवा और सूर्यसंतापका निवारण करनेके लिये लोक घरका, गुह्यका आच्छादन करनेके लिये वस्त्रका, और निद्राका श्रम दूर करनेकेलिये शय्याका आश्रय करते हुए देखे जाते हैं.

रस्तेका श्रम दूर करनेके लिये घोडा, गाडी वगैरह उपाय हैं. और श्रमसे उत्पन्न हुए स्वेदको हटानेका जलस्नान करना यह उपाय है. अथवा एकस्थान में स्वस्थ बैठना यह श्रम दूर करनेका उपाय है. दुर्गंधका नाश करनेके लिये सुगंधि पदार्थोंका सेवन करना यह उपाय माना जाता है. शरीरकी कुरूपता दूर करने के लिये अलंकारोंको धारण करना यह उपाय है. अरतिको हटानेकेलिये कलाओंका अभ्यास करना यह सर्व प्रतिकाररूप होनेसे इसको ही लोक सुख समझते हैं. जैसे रोगसे पीडित मनुष्य रोगजन्य दुःखका प्रतिकार करनेकेलिये औषध ग्रहण करता है. देवोंके और मनुष्योंके भोग जिनको वे सुख रूप समझते हैं वे सब दुःखका प्रतिकार करनेमें केवल निमित्तमात्र ही हैं. पित्तप्रकोपसे जिसके सर्व अंगमें दाह हो रहा है वह मनुष्य शीतपदार्थोंका सेवन करता है उनको यदि वह अज्ञानी भोग यह नाम देगा तो वह अन्नादिक पदार्थोंको भी भोग नाम देगा.

इस जगतमें पानी वगैरह पदार्थ सर्वथा सुख ही देते हैं ऐसी कल्पना करना भी भूलसे खाली नहीं है. इसलिये वे पदार्थ दुःखका प्रतीकार करनेवाले हैं इतना ही समझना चाहिये. उसमें भोगसंज्ञा करना योग्य नहीं है. जो अन्न भूखसे पीडित मनुष्यको सुखका कारण होता है वही तृप्तमनुष्य को विषसमान हो जाता है. उष्णतासे पीडित हुआ मनुष्य जिन चीजोंको चाहता है वे चीजें शीतकालमें दुःखदायक होती हैं. इस जीवको चक्रवर्ती के सुखसे तृप्ति नहीं होती है. चक्रवर्ती अपने चक्ररत्नके प्रभावसे देव मनुष्य और विद्याधरोंको जीतते हैं. उनके पास क्षयरहित नउ निधि रहते हैं. वे चौदह रत्नोंके स्वामी होकर दस प्रकार के भोगोंका अनुभव लेते हैं तो भी उनसे उनका मन तृप्त होता नहीं.

देव भी देवांगनाओंसे प्राप्त होनेवाले विषयसुखसे तृप्त होते नहीं हैं. देवोंका आयुष्य अनेक सागरोंका

रहता है. वे आमरण तरुण ही होते हैं. वे हमेशा देवांगनारूपी लतासमूहसे घिरे रहते हैं तो भी उनको इनसें उत्पन्न होनेवाले सुखसे तृप्त होती नहीं.

देवांगनारूपी लतावनकी आचार्य इस प्रकार निरूपणा करते हैं—

स्वाभाविक अर्थात् जन्मसे ही साथ उत्पन्न हुये ऐसे दिव्य अलंकार, पुष्पमाला, दिव्यवस्त्र, दिव्य ऐश्वर्य एतद्रूप स्कंधसे यह देवीलतावन सुंदर दीखता है. मन और नेत्रोंसे आल्हाद देनेवाले सौंदर्यपुष्पोंसे यह देवी-लतावन पुष्पित है.

इन लताओंको विलास रूपी मनोहरता आती है. सुकुमारतारूपी नवीन कोमल अंकुर इनकी शोभा बढाते हैं ये लतायें अपने शरीरके सुगंधसे दिगंगनाओंका मुख सुगंधित करती हैं. इनका अधरोष्ठपल्लव मुंगाके समान मनको लुब्ध बनाता है. ये लतायें कठिन, उन्नत अर्थात पुष्ट और गोल ऐसे स्तनरूपी फलोंसे कमनीय दीखती हैं मदनरूप दाक्षिण वायुके झकोरोंसे ये डुलती हैं, सुंदर बाहुरूपी सुंदर शाखाओंसे मनोहर दीखती हैं. चमकीले सुवर्ण के कमरपट्टारूपी तटसे युक्त, कामजलसे भरा हुआ, ऐसे विशाल जघन रूपी सरोवरसे ये सोहती हैं. शब्द करनेवाले नूपुररूपी भ्रमरोंसे कलकल शब्द करने वाली ऐसी देवांगनारूप लताओंसे घिरे होते हुए भी देव तृप्त नही होते हैं. और भी अनेक भोग्य पदार्थोंसे उनका मन तृप्त होता नहीं, यदि देवोंके मन इतनी सुखसामग्री मिलनेपर भी अतृप्त ही रहता है, तो मनुष्यका मन कैसा तृप्त होगा.

तीव्रतर पुरुषवेदका जब उदय होता है तब वह अग्नीके समान मनुष्यके मनको जलाता है. ऐसे समय स्त्रीसंभोगरूपी औषधसे भी उस मनकी जलन शांत नहीं होती है. स्त्रीसंभोगसे कामाग्नि अधिक ही प्रदीप्त होती है. रूप, तारुण्य, विलास, चतुरता, सौभाग्यादिकसे एकसे दूसरी अधिक, दूसरीसे तीसरी अधिक ऐसी उत्तरोत्तर अधिक २ सुंदरी स्त्रियां नजरमें आ जानेसे उनके संगमकी मनमें अभिलाषा बढती है जिससे कामवेदना पुरुषको अधिक व्याकुल करती है.

कोइ स्त्रिया अपने पतिका त्याग करती हैं, अथवा मर जाती हैं अथवा बलवान पुरुष उनको हर कर-ले जाते हैं. अथवा स्वयं यमके पाशसे जकडा हुआ इच्छा न होते हुए भी स्त्रीको छोडकर यममंदिरको जाता है.

मरनेकी अवस्थामें वह दीन पुरुष अपना मुख उघाडकर, नेत्रोंकी टकटकी लगाता हुआ, रोनेसे जिसके नेत्रोंपर सूजन और लालपना आगया है ऐसा होता हुआ अपनी प्राणप्यारीको छोडकर चल बसता है.

स्फटिकमणिओंकी माला जैसा समीपके पदार्थका गुण ग्रहण करती है वैसे स्त्रियोंके शरीर समीपस्थ व्यक्तिके गुणोंका ग्रहण करता है. संध्याकालीन मेघोंकी पंक्ति लालरंगसे मनोहर दीखती है परन्तु उनका यह रंग शीघ्र ही नष्ट होता है वैसे स्त्रियोंका प्रेम उत्पन्न होकर शीघ्रही विलयको प्राप्त होता है. अर्थात् आज एक पुरुष पर उनका स्नेह जम जाता है तो कल वे दूसरोंपर प्रेम करेगी स्त्रीकी प्राप्ति होना भी दुर्लभ होता है. स्त्री, वस्त्र, गंध, माला वगैरह पदार्थ मिलनेपर समर्थ लोक जबरदस्ती से हर लेते हैं. इससे मन भय युक्त होता है. अर्थात् ये पदार्थ मेरे को प्राप्त हुए हैं परन्तु कोई इसको ले तो नहीं जायगा ऐसा भय मनमें उत्पन्न होता है. ऐसा भय होनेसे ये पदार्थ आत्माको सुखदायक होते नहीं. इनकी प्राप्ति के लिए खेती वगैरह छह कर्म करने पडते हैं. इन षट्कर्मोंसे संपत्तिरूपी फल प्राप्त होगा ही ऐसा नियम नहीं है और इनमें परिश्रम बहुत करना पडता है. इनमें हिंसादिक पापक्रिया करनी पडती है और ये कर्म अन्तमें दुर्गति की प्राप्ति में कारण होते हैं ऐसा उपदेश देकर बहुश्रुतज्ञ आचार्य क्षपकको भोगोंसे विरक्त करते हैं.

शरीरका भी वास्तविक स्वरूप दिखाकर आचार्य विरक्त करते हैं—

यह शरीर अपवित्रताका निधान है अर्थात् इसके संपूर्ण अवयव अपवित्र पदार्थ से ही बने हैं. यह शरीर आत्माके ऊपर लदा हुवा मानो बोझाही है. इसमें एक भी पदार्थ सारयुक्त नहीं है यह अनेक संकटोंसे घिरा रहता है. रोगरूपी धान्यकी उत्पत्तिका यह स्थान है अर्थात् इसमें अनेक रोग उत्पन्न होते हैं. वृद्धावस्थारूपी पिशाचिनीका यह स्मशानगृह है. मान्यकुलमें पैदा हुआ, विशालकीर्तियुक्त, और गुणी ऐसा भी मनुष्य दरिद्री होनेपर इस शरीरका पोषण करनेके लिये नीच कर्म करता है. श्रीमानोंके आगे दोडता है. उनके संदेश एक स्थानसे दुसरोंको पोहोचाता है. और उनका उच्छिष्ट भोजन खाता है. इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

इस शरीरके अंदर, बाहर और मध्यमें भी कुछ भी सारभूत वस्तु नहीं है. जिसको मन स्वीकार करेगा अर्थात् जब हम देहके स्वरूपका मनसे विचार करते हैं तो उसमें कोई सारभूत पदार्थ दीखता नहीं. इसवास्ते सारज्ञ विद्वान् तुच्छजनोंने कामपूर्तिके लिये पसंद किये हुए इस देह की इच्छा नहीं करते हैं.

इस देहमें वायुका प्रकोप होनेसे कोई रोग उत्पन्न होते हैं कोई पित्त और कफके प्रकोपसे उत्पन्न होते हैं. रोगोंके उत्पत्तिका अभ्यंतर कारण पाप है और बहिरंग कारण वातादिकोंका प्रकोप होना यह है. इन रोगोंसे यह देह पीडित होता है. दुःखोंको कारणभूत यह देह नाशवंत है ऐसा समझकर हे आत्मन् अर्थात् हे क्षपक! तूं अनेक प्रकारसे धर्मसाधन कर. यह देह रक्त और वीर्यके संयोगसे उत्पन्न होता है. शिथिल हड्डिओंसे—हड्डिरूप खंबोंमें इस देहकी रचना हुई है. स्नायुओंसे यह सर्व तरफसे जकडा हुआ है. शिराओंसे वेष्टित है. मांस, रक्तरूपी पानी और कीचडसे यह लिपा गया है. इस देहमें रोगोंने निवास किया है. ऐसे शरीरको कौन स्पर्श करेगा.

इस तरह शरीरनिर्वेजनी कथा कह कर आचार्य क्षपकको चारित्रमें स्थिर करते हैं.

गीदत्थपादमूले होंति गुणा एवमादिया बहुगा ॥
ण य होइ संकिलेसो ण चावि उप्पज्जदि विवत्ती ॥ ४४७ ॥

विजयोदया—गीदत्थपादमूले गृहीतार्थस्य बहुश्रुतस्य पादमूले। होंति बहुगा गुणा गीदत्थो पुण खवगस्स इत्येवमादिसूत्रपंचकनिर्दिष्टः । ण य होइ संकिलेसो नैव भवति संक्लेशः । ण वा वि उप्पज्जइ विवत्ती न चोत्पद्यते विपद्रत्नत्रयस्य । तस्मादाधारवानाचार्यः उपाश्रयणीयः इत्युपसंहारः। इति आधारवं ॥

मूलारा—विवत्ती रत्नत्रयविनाशः। आधारवान् ॥

अर्थ—जो आचार्य सूत्रार्थज्ञ है उसके चरणके समीप जो क्षपक समाध्यर्थ रहेगा उसको उपर्युक्त गुणोंकी प्राप्ति होती हैं. उसको संक्लेश परिणाम नहीं होंगे और रत्नत्रयमें कुछ बाधा भी उपस्थित नहीं होगी. इस लिये आधारगुणयुक्त आचार्यका आश्रय लेनाही क्षपकके लिये योग्य है. इस प्रकार आधारवत्त्व गुणका वर्णन हुआ.

व्यवहारवत्त्वनिरूपणायोत्तरगाथा—

पंचविहं ववहारं जो जाणइ तच्चदो सवित्थारं ॥
बहुसो य दिट्ठकयपट्ठवणो ववहारवं होइ ॥ ४४८ ॥
जानाति व्यवहारं यः पंचभेदं सविस्तरम् ॥
दत्तालोकितशुद्धिश्च व्यवहारी स भण्यते ॥ ४६० ॥

विजयोदया—पंचविहं ववहारं पंचप्रकारं प्रायश्चित्तं । जो जाणदि तच्चदो सवित्थारं यो जानाति तत्त्वतः सविस्तरं । बहुसो य दिट्ठकदपट्ठवणो बहुशश्च दृष्टकृतप्रस्थापनः । आचार्याणां प्रायश्चित्तदानं दृष्टं, स्वयं चान्येषां दत्तप्रायश्चित्तं । ववहारवं होदि व्यवहारवान् भवति । पूर्वार्धेन प्रायश्चित्तज्ञातता दर्शिता, कर्मदर्शनं कर्माभ्यासश्च प्रख्यापित । अशास्त्रज्ञो यत्किंचिद्दात्यात्मनोऽभिलषितं । न तेन, शुद्ध्यति, शास्त्रज्ञोऽप्यदृष्टकर्मा, सुविपादमेति । ततो ज्ञानं कर्मदर्शनं, कर्माभ्यास इति त्रयो गुणा यस्य स व्यवहारवानित्युच्यते ॥

व्यवहारवत्त्वं गाथासप्तकेन वक्तुकाम प्रथमं प्रायश्चित्तज्ञानकर्मदर्शनकर्माभ्यासलक्षणगुणत्रयवन्तं व्यवहारवन्तं निर्दिशति—

मूलारा—ववहारं प्रायश्चित्तं । दिट्ठकदपट्ठवणो दृष्टमाचार्यैः क्रियमाणमवधारितं । कृतमात्मना, स्वस्य परस्य वा प्रयुक्तं प्रस्थापनं प्रायश्चित्तदानं येन स दृष्टकृतप्रस्थापनः । अशास्त्रज्ञो हि यत्किंचन प्रायश्चित्तं ददाति न च तेन परः शुद्ध्यति । शास्त्रज्ञोऽप्यदृष्टकर्मा कर्मसु विषादमेति ॥

अर्थ—पांच प्रकारके प्रायश्चित्तोंको जो उनके स्वरूपसहित सविस्तर जानते हैं. जिन्होंने प्रायश्चित्त देते हुए अन्य आचार्योंको देखा है और स्वयं भी जिन्होंने दिया है ऐसे आचार्यको व्यवहारवान् आचार्य कहते हैं. इस गाथाके पूर्वार्द्धमें आचार्यकी प्रायश्चित्तज्ञता कही है और उत्तरार्धमें प्रायश्चित्त देते हुए देखना, प्रायश्चित्त देनेका अभ्यास करना इन गुणोंका उल्लेख किया है. प्रायश्चित्तशास्त्रका ज्ञान यदि न हो तो जो मनमें आया सो प्रायश्चित्त देगा अतः आचार्य प्रायश्चित्तज्ञ ही होना चाहिए. चाहे जो प्रायश्चित्त देनेमें अपराधकी शुद्धि नहीं होती है. प्रायश्चित्तशास्त्रका जानकार होते हुए भी यदि प्रायश्चित्त देते हुए किसीको नहीं देखनेसे प्रायश्चित्त देते समय घबडाहट पैदा होती है. इसलिए, प्रायश्चित्तका ज्ञान, प्रायश्चित्तदानदर्शन और प्रायश्चित्त देने का अभ्यास ये तीन गुण जिसमें हैं ऐसे आचार्य को व्यवहारवान आचार्य कहते हैं.

कः पंचविधो व्यवहार, को वा विस्तर इत्याशंकायां तदुभयं निरूपयति—

आगमसुद आणाधारणा य जीदेहिं हुंति ववहारा ॥
एदेसिं सवित्थारा परूवणा सुत्तणिद्दिट्ठा ॥ ४४९ ॥

व्यवहारो मतो जीदश्रुतज्ञागमधारणा ॥
एतेषां सूत्रनिर्दिष्टा ज्ञेया विस्तरवर्णना ॥ ४६१ ॥

विजयोदया—आगमसुद आणाधारणा य जीदेहिं हुंति ववहारा आगमः, श्रुतं, आज्ञा, धारणा जीद इति व्यवहाराः पंच। एदेसिं एतेषां आगमादीनां। परूवणा कीदृशी ? सवित्थारा विस्तारसहिता। सुत्ताणिद्दिट्ठा सूत्रेषु चिरंतनेषु निर्दिष्टा। प्रायश्चित्तस्य सर्वजनानामग्रतोऽकथनीयत्वाच्छास्त्रांतरे च निर्दिष्टत्वादिह नोच्यते। उक्तं च—

सव्वेण वि जिणवयणं सोदव्वं सड्ढिदेण पुरिसेण ॥
छेदसुदस्स हु अत्थो ण होदि सव्वेण णादव्वो ॥ इति ॥

पंचविधत्वं व्याचष्टे—

मूलारा—आगम एकादशांगोक्तं प्रायश्चित्तं। सुद चतुर्दशपूर्वोक्तं। आणा स्थानांतरस्थितेन अन्याचार्येण स्थानांतरस्थितेन अन्याचार्येण लोचितस्य स्वगुरुदोपस्य ज्येष्ठशिष्यस्य हस्ते प्रेषितं। धारणा एकाको जंघाबलपरिहीणः संजातदोषस्तत्रैव स्थितः पूर्वावधारितं प्रायश्चित्तं यत्करोति। जीदः ह्रासतातिपुरुषजातस्वरूपमपेक्ष्य यदुक्तं सांप्रतिकाचार्यै शास्त्रोक्तं जीद इत्यन्ये। वित्थारा विस्तारात्। विस्तरमाश्रित्य। परूवणा निर्णयः। सुत्ताणिद्दिट्ठा सूत्रेषु चिरंतनेषु निरूपिता बोद्धव्या।

अत्र तु नोक्ता प्रायश्चित्तस्य सर्वजनानामग्रतोऽकथनीयत्वात् ॥ उक्तं च—

सव्वेण वि जिणवयणं सोदव्वं सड्ढिदेण पुरिसेण ॥
छेदसुदस्स दु अत्थो ण होदि सव्वेण सोदव्वो ॥

पांच प्रकारके व्यवहार कोनसे और उनका विस्तार कोनसा है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य कहते हैं—

अर्थ—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीद ऐसे प्रायश्चित्त के पांच भेद हैं. इनका सविस्तर वर्णन प्राचीन आचार्योंने सूत्रग्रंथोंमें सविस्तर किया है. प्रायश्चित्तका वर्णन सर्व लोगोंके सामने करना योग्य नहीं है. अन्य शास्त्रांतरमें इसका खुलासा किया है अतः यहां हम उसका निरूपण नहीं करते हैं.

अन्यत्र प्रायश्चित्त के विषयमें ऐसा उल्लेख मिलता है—

श्रद्धावान सर्व पुरुष जिनवचन सुन सकते हैं. परन्तु प्रायश्चित्तशास्त्रका अर्थ सर्व लोगोंको जानने का अधिकार नहीं है.

व्यवहारवानसौ परालोचितापराधस्य कथं प्रायश्चित्तं ददातीत्याशंकायां प्रायश्चित्तदानक्रमनिरूपणाय गाथाद्वयम्—

दव्वं खेत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं ॥
संघदणं परियायं आगमपुरिसं च विण्णाय ॥ ४५० ॥

द्रव्यं क्षेत्रं परिज्ञाय कालं भावकृतोद्यमम् ॥
सम्यक्संहननमुत्साहं पर्यायं पुरुषं श्रुतम् ॥ ४६२ ॥

विजयोदया—दव्वं खेत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं द्रव्यमित्यादीनां विज्ञायेत्यनेन संबंधः। तत्र द्रव्यं त्रिविधं सचित्तमचित्तं मिश्रमिति। पृथिवी, आपस्तेजो वायुः, प्रत्येककायः, अनंतकायाः, त्रसाश्चेति सचित्तद्रव्यमित्युच्यते॥ तृणफलकादिकं जीवैरनुन्मिश्रं अचित्तं। संसक्तं उपकरणं मिश्रं। एवं त्रिविधा द्रव्यप्रतिसेवना। वर्षासु क्रोशार्द्धगमनं अर्धयोजनं वा। ततोऽधिकक्षेत्रगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना ॥ अथवा प्रतिषिद्धक्षेत्रगमनं, विरुद्धराज्यगमनं, छिन्नाध्वगमनं, ततो रक्षणीयागमनं। तस्यार्द्धो यद्वातिक्रांतः। उन्मार्गेण वा गमनं। अंतःपुरप्रवेशः। अननुज्ञातगृहभूमिगमनं। इत्यादिना क्षेत्रप्रतिसेवा॥ आवश्यककालादन्यस्मिन्काले आवश्यककरणे। वर्षावग्रहातिक्रमः। इत्यादिका कालप्रतिसेवना॥ दर्पः, प्रमादः, अनाभोगः भयं, प्रदोषः इत्यादिकेषु परिणामेषु प्रवृत्तिर्भावसेवा॥ एवमपराधनिदानं ज्ञात्वा प्रायश्चित्तं प्रकृतेर्द्रव्यादिकं ज्ञात्वा रसबहुलं, धान्यबहुलं, शाकबहुलं यवागूशाकमात्रं वा पानकमेव चेत्याहारे द्रव्यपरिज्ञानं ॥ प्रायश्चित्तमाचरतः अनूपजांगलसाधारणक्षेत्रपरिज्ञानं। धर्मशीतसाधारणकालज्ञानं। क्षमामार्दवार्जवसंतोषकादिकं भावं। क्रोधादिकं वा करणपरिणामं। प्रायश्चित्तक्रियायां परिणामं। सहवासार्थं। किमयं प्रायश्चित्ते प्रवृत्तः उत यशोर्थं, लाभार्थमुत कर्मनिर्जरार्थं इति॥ उच्छाहं उत्साहं। संघदणं शारीरबलं। परियायं प्रव्रज्याकालं। आगमं। अल्पं श्रुतमस्य बहु वेति। पुरिसं जातादरो भयांतरंगः इत्येवमादिकं विकल्पं च ज्ञात्वा॥

प्रायश्चित्तदानक्रमं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—दव्वं सचित्तं पृथिवीकायिकादिकं। अचित्तं तृणफलकादिकं। मिश्रं संसक्तमुपकरणं। त्रिविधा द्रव्यप्रतिसेवना॥ खेत्तं वर्षासु साधूनां क्रोशं द्विक्रोशं वा गमनं इष्टं। ततोऽधिकक्षेत्रगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना। अथवा निषिद्धक्षेत्रं विरुद्धराज्यछिद्राद्युन्मार्गान्तःपुराननुज्ञातगृहभूमिद्रोण्यादिगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना। कालं आवश्यककालवर्षावग्रहातिक्रमः कालप्रतिसेवा। भावं दर्पप्रमादानाभोगभयादिका भावप्रतिसेवा। एवं द्रव्यप्रतिसेवनादिद्वारेणापराधनिदानं विज्ञायेति संबंधः। करणपरिणामः। प्रायश्चित्तानुष्ठानपरिणतिं। किमयं सहसंवासार्थं प्रायश्चित्ते प्रवृत्त उत यशोऽर्थं किंवा

लाभार्थं उत कर्मनिर्जरार्थमिति विज्ञाय । उच्छाहं प्रायश्चित्तं प्रत्युद्योगं । संघदणं शरीरबलं । परियाय प्रव्रज्याकाल परिमाणं । आगम अल्पं श्रुतमस्य बहु वेति । पुरिसं वैराग्यपरो न वेति च विज्ञाय ॥

दूसरोंने आलोचना कर कहे हुए अपराधोंका प्रायश्चित्त देनेका व्यवहारवान् आचार्यका क्रम दो गाथाओंसे आचार्य कहते हैं.

अर्थ—द्रव्यके सचित्तद्रव्य, अचित्त द्रव्य, और मिश्र द्रव्य ऐसे तीन भेद हैं. पृथिवी, पानी, अग्नि, हवा, प्रत्येक काय वनस्पति, अनंत काय वनस्पति और त्रसजीव इन जीवोंको सचित्त द्रव्य कहते हैं. तृणका संस्तर, फलक वगैरे पदार्थ अचित्त द्रव्य हैं. जिसमें जीव उत्पन्न हुए हैं ऐसे उपकरणोंको मिश्र द्रव्य कहते हैं. ऐसे तीन प्रकारके द्रव्योंका सेवन करनेसे दोष लगते हैं.

वर्षाकालमें आधा कोस, आधायोजन मार्ग मुनि जा सकते हैं परंतु उससे अधिक वे गमन करे तो वह प्रायश्चित्तार्ह होता है यह क्षेत्र प्रतिसेवा है. जहां जाना निषिद्ध माना है ऐसे स्थानमें जाना, विरुद्धराज्यमें जाना, जहां रस्ता टूट गया है ऐसे प्रदेशमें गमन करना, यह क्षेत्रप्रतिसेवना है. उन्मार्ग से जाना, अंतःपुरमें प्रवेश करना, जहां प्रवेश करनेकी परवानगी नहीं है ऐसे गृहके जमीनमें प्रवेश करना यह क्षेत्रप्रतिसेवना है. (ततो रक्षणीयागमनं, तस्मादर्द्धो यदातिक्रान्त) इन पदोंका अर्थ लगता नहीं.

सामायिक प्रतिक्रमणादिक छह आवश्यकोंका जो काल नियत है उसको उल्लंघकर अन्यकालमें सामायिकादिक करना. वर्षाकालयोगका उल्लंघन करना यह कालप्रतिसेवना है, दर्प, उन्मत्तता, असावधानता, साहस, भय इत्यादिरूप परिणामोंमें प्रवृत्त होना भावप्रतिसेवना कहते हैं. इस प्रकार अपराधके कारण पदार्थोंका स्वरूप जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिये. प्रायश्चित्त देनेवालोंको आहारके पदार्थोंका भी ज्ञान होना आवश्यक है. कोइ आहार रसबहुल रहता है. अर्थात् उसमें रस का प्राधान्य रहता है. कोई आहार धान्यप्रचुर रहता है. किसी आहारमें शाककी मुख्यता होती है और किसीमें लापसी और शाककी मुख्यता होती है. कोई आहार पेयपदार्थरूप पतला रहता है. ऐसे आहारके पदार्थोंका भी प्रायश्चित्तदाताको ज्ञान होना चाहिये.

प्रायश्चित्त करनेवालोंको और देनेवालोंको अनूप, जांगल और साधारण इन प्रदेशोंको ज्ञान होना चाहिये. जिस देशमें पानीकी विपुलता है उसको अनूपदेश कहते हैं. वन पर्वतादिक जिसमें है और कम वृष्टि होती है उस

देशको जांगल देश कहते हैं. दोनो देशोंके लक्षण जिसमें है उसको साधारण देश कहते हैं. उष्णकाल, शीतकाल और साधारणकाल इसका भी ज्ञान होना आवश्यक है.

क्षमा, मार्दव, आर्जव, संतोषादि परिणामोंको भाव कहते हैं. क्रोधादिक विकारोंको भी परिणाम कहते हैं प्रायश्चित्त क्रियामें परिणाम और सत्वान् इनका भी ज्ञान होना चाहिये. यह मुनि मेरा पक्ष हो ऐसा अभिप्राय धारण कर प्रायश्चित्त लेनेमें प्रवृत्त हुआ है अथवा लाभके लिये किंवा कर्मनिर्जराके लिये प्रवृत्त हुआ है इत्यादि हेतु जानलेना भी आचार्य के लिये आवश्यक है. प्रायश्चित्त लेनेवालेका उत्साह, शरीरसामर्थ्य, दीक्षाकाल, आगमज्ञान, अर्थात् यह आगमका अल्पज्ञाता है अथवा बहुज्ञाता है इत्यादिक बातोंका ज्ञान कर लेना भी आवश्यक है.

मोत्तूण रागदोसे ववहारं पट्ठवेइ सो तस्स ॥
ववहारकरणकुसलो जिणवयणविसारदो धीरो ॥ ४५१ ॥

रागद्वेषावपाकृत्य व्यवहारविशारदः ॥
व्यवहारी ददात्यस्मै प्रायश्चित्तं विधानतः ॥ ४६३ ॥

विजयोदया—मोत्तूण त्यक्त्वा। रागदोसे रागं द्वेषं च मध्यस्थः सन्निति यावत्। ववहारं पट्ठवेदि सो तस्स प्रायश्चित्तं ददाति स सूरिस्तस्मै। ववहारकरणकुसलो प्रायश्चित्तदानकुशलः। जिणवयणविसारदो जिनप्रणीते आगमे निपुणः। धीरो धृतिमान् ॥

मूलारा—पट्ठवेदि ददाति ॥

अर्थ—जिनप्रणीत आगममें निपुण, धैर्यवान्, प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाता ऐसे आचार्य राग और द्वेषभावना छोडकर अर्थात् मध्यस्थ भाव धारण कर अपराधी मुनिको प्रायश्चित्त देते हैं.

अज्ञात्वा प्रायश्चित्तग्रंथं यो ददाति तस्य दोषं संकीर्तयत्युत्तरगाथा—

ववहारमयाणंतो ववहरणिज्जं च ववहरंतो खु ॥
उस्सीयदि भवपंके अयसं कम्मं च आदियदि ॥ ४५२ ॥

व्यवहारापरिच्छेदी व्यवहारं ददाति यः ॥
अवाप्यासौ यशो घोरं संसारमवगाहते ॥ ४६१ ॥

विजयोदया—ववहारं अयाणंतो प्रायश्चित्तं ग्रंथतोऽर्थतश्च कर्मतश्चाविद्वान्। ववहरणिज्जं च व्यवन्हियते अतिचारविनाशार्थिनेति व्यवहरणीयमालोचनादिकं प्रायश्चित्तं इति नवधा। ववहरंतो प्रयच्छन्। उस्सीयदि अवसीदति। क भवपंके। अजसं आदियदि अयशः तुंडाचार्योऽयं यत्किंचन ददाति नायं परं शोधयति। संसारभीरुयतिजनं वृथैव क्लेशयति इति। कम्मं च आदियदि बध्नाति कर्म दर्शनमोहनीयाख्यं उन्मार्गोपदेशात् सन्मार्गविनाशनाच्च। तस्मादज्ञो न दद्यात्प्रायश्चित्तमिति सूत्रार्थः। आचार्याणामियं शिक्षा। वयमाचार्या यदस्माभिर्दत्तं तदिदं कुर्वीति यत्किंचन न वक्तव्यम्। श्रुतरहस्याः प्रायश्चित्तदाने यतध्वमिति ॥

शास्त्रमज्ञात्वा प्रायश्चित्तं ददतो दोषमाह —

मूलारा —अजाणंतो ग्रंथतोऽर्थतः कर्मतश्चाविद्वान्। ववहरणिज्जं व्यवन्हियते अतिचारविनाशार्थिभिरनुष्ठीयते इति व्यवहरणीयमालोचनादिप्रायश्चित्तम्। ववहरंतो प्रयच्छन्। उस्सीयदि अवसीदति खिद्यते। अजसं तुंडाचार्योऽयं यत्किंचन ददाति नायं परं शोधयति संसारभीरुं यतिजनं वृथा क्लेशयतीत्यकीर्तिः। कम्मं दर्शनमोहनीयाख्यं कर्म बध्नाति उन्मार्गोपदेशनात्सन्मार्गविनाशनाच्च। आदियदि स्वीकरोति ॥

प्रायश्चित्तके ग्रंथको जानकर प्रायश्चित्त देना यह अयोग्य है ऐसा वर्णन—

अर्थ—ग्रंथसे, अर्थसे और कर्मसे प्रायश्चित्त का स्वरूप जिसको मालूम नहीं है वह मुनि यदि आलोचनादिक नउ प्रकारका प्रायश्चित्त देने लगेगा तो वह संसारके कीचडमें फसेगा अर्थात् संसारमें भ्रमण करेगा और जगतमें उसकी अकीर्ति फैलेगी. यह तुंडाचार्य है अर्थात् चाहे जो प्रायश्चित्त मुखसे देता है. कोनसा प्रायश्चित्त किस अपराधके लिये देना चाहिये इसका तो इसको कुछ भी ज्ञान यदि नहीं है तो यह मुनिओंको कैसा अपराधसे मुक्त करेगा. संसारभीरु मुनिओंको यह व्यर्थ ही क्लेश देता है. ऐसी लोकमें उसकी अकीर्ति फैलेगी. मनमें जो प्रायश्चित्त देनेका विचार आया सो दिया ऐसा करनेसे जिनाज्ञाका उल्लंघन हो जाता है. उन्मार्गका उपदेश करनेसे व सन्मार्गका नाश करनेसे उसको दर्शनमोहनीय कर्मका बंध होता है. इसप्रकार अज्ञ मुनि प्रायश्चित्त देनेका प्रयत्न न करें ऐसा आचार्यके प्रति यह उपदेश है. अर्थात् हम आचार्य हैं हमने जो प्रायश्चित्त दिया है वह तुम करो ऐसा नहीं कहना चा-

हिए. जिन्होंने प्रायश्चित्तशास्त्रको जान लिया है ऐसे आचार्य प्रायश्चित्त देते समय सावधानी रखकर प्रायश्चित्त देवे जिससे अज्ञताका दोष नहीं लगेगा.

जह ण करेदि तिगिंच्छं वाधिस्स तिगिंच्छओ अणिम्मादो ॥
ववहारमयाणंतो ण सोधिकामो विसुज्झेइ ॥ ४५३ ॥

व्यवहाराबुधः शक्तो न विशोधयितुं परम् ॥
किं चिकित्सामजानानो रोगग्रस्तं चिकित्सति ॥ ४६५ ॥

विजयोदया—यदि नाम मुखरा मुग्धनवशिष्यजनपरिवृतत्वमात्रेणोपजाताहंकारा मुर्खलोकेनादृताः संति सूरयस्ते भवद्भिः शुद्ध्यर्थं न ढौकनीयाः इति शिक्षयति—जह ण करेदि तिगिंच्छिगो वैद्यो । अणिम्मादो अनिपुणः । तहा तथा। ववहारमजाणंतो प्रायश्चित्तमजानन्सूरिः । सोधिकामो रत्नत्रयशुद्ध्यभिलाषः । ण सोधेदि खु न शोधयत्येव ॥

ये नाम मुखरा मूर्खा बहुशिष्यपरिवृतत्वमात्रेण प्ररूढाहंकारा मूर्खलोकेनादृताः संति सूरयस्ते भवद्भिः शुद्ध्यर्थं नोपाश्रयणीया इति शिक्षयति—

मूलारा— तिगिंछं प्रतिकारं । तिगिंछओ वैद्यः । अणिस्सदो अनिष्णातः । अनिपुणः । खु सोधेदि शोधयत्येव ।

अर्थ—जो आचार्य मुखर हैं अर्थात् वाचाल हैं, मूर्ख व नवीन शिष्योंसे वेष्टित होनेसे जिनको अभिमान उत्पन्न हुआ है, मूर्ख लोगोंसे जो पूजनीय हो रहे हैं ऐसे आचार्यका आश्रय हे क्षपक ! तुम अपराधशुद्धीके लिए कदाचित् भी न करो ऐसी शिक्षा इस गाथामें दृष्टांतपूर्वक कही है वह इस प्रकार—जैसे अज्ञ वैद्य रोगका स्वरूप जानता नहीं है अतः वह अनिपुण होनेसे रोगकी चिकित्सा नहीं कर सकता है, वैसे जो जो आचार्य प्रायश्चित्त ग्रंथके जानकार नहीं है वे यद्यपि रत्नत्रयको निर्मल करनेकी इच्छा रखते हुए भी उसको निर्मल नहीं कर सकते हैं.

तह्मा णिव्विसिदव्वं ववहारवदो हु पादमूलम्मि ॥
तत्थ हु विज्जा चरणं समाधिसोधी य णियमेण ॥ ४५४ ॥

ततः समीपे व्यवहारवेदिनः स्थितिर्विधेया क्षपकेण धीमता ॥
सिसिक्षुणा बोधिसमाधिपादपौ मनीषितानेकफलप्रदायिनौ ॥ ४६२ ॥

इति व्यवहारी ।

विजयोदया—तम्हा णिवियसिदव्वं तस्मात्स्थातव्यं । ववहारवदो खु व्यवहारवतः एव । पादमूलम्मि पादमूले । तत्थ खु तत्र व्यवहारवत्पादमूले । विज्जा विद्या ज्ञानं भवति । चरणं समाधि सोधी य चारित्रं समाधिश्च शुद्धिश्च । णियमेण निश्चयेन भवति । ववहारवं ॥

प्रकृतमुपसंहरति—

मूलारा—णिव्विसिदव्वं अवश्यं स्थातव्यं । व्यवहारवान् ॥

अर्थ—इसलिए क्षपकने प्रायश्चित्तज्ञ आचार्य के पासही निवास करना चाहिए. उनके पास रहनेसे ही ज्ञानप्राप्ति होती है, चारित्रप्राप्ति होती है और ध्यानसे एकाग्रता और आत्मशुद्धि निश्चयसे होती है. इस प्रकार आचार्यके व्यवहारत्व गुणका वर्णन किया है.

प्रगुर्वी एतद्याचष्टे—

जो णिक्खवणपवेसे सेज्जासंथारउवधिसंभोगे ॥
ठाणणिसेज्जागासे अगदूण विकिंचणाहारे ॥ ४५५ ॥

प्रवेशे निर्गमे स्थाने संस्तरोपधिशोधने ॥
उद्वर्त्तने परावर्ते शय्यायामुपवेशने ॥ ४६७ ॥

विजयोदया—जो णिक्खवणपवेसे यो यः सूरिः क्षपकस्य वसतेर्निःक्रमणे प्रवेशे वा । सेज्जासंथारउवधिसंभोगे वसतेः, संस्तरस्य, उपकरणस्य शोधने । ठाणणिसेज्जागासे स्थाने, निषद्यावकाशे, अगदूणविकिंचणाहारे शय्यायां, शरीरमलाहरणे, भक्तपानढौकने च ॥

प्रकारकत्वं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूलारा—संभोगे शोधने । णिसेज्जोगासे उपवेशनावकाशे । अगदूणविकिंचणाहारे शय्याया शरीरमलापहरणे भक्तपानढौकने च ॥

अब आचार्य के प्रकुर्वित्व नामक गुणका वर्णन करते हैं—

अर्थ—क्षपक जब वसतिकामें प्रवेश करता है अथवा बाहर जाता है उस समयमें, वसतिका, संस्तर, और उपकरण इनके शोधन करनेके समय में, खडे रहना, बैठना, सोना, शरीरमल दूर करना, आहारपानी लाना इत्यादि कार्यमें जो आचार्य क्षपकके ऊपर अनुग्रह करता है उसको प्रकुर्वी कहते हैं. इत्यादिकार्यके करते समय आचार्य मनमें जुगुप्सा नहीं करते हैं.

अब्भुज्जदचरियाए उवकारमणुत्तरं वि कुव्वंतो ॥
सव्वादरसत्तीए वट्टइ परमाए भत्तीए ॥ ४५६ ॥

उत्थापने मलत्यागे सर्वत्र विधिकोविदः ॥
परिचर्याविधानाय शक्तितो भक्तितो रतः ॥ ४६८ ॥

विजयोदया—अब्भुज्जदचरियाए क्षपकस्य अभ्युद्यतचर्याया उपकारं अनुग्रहं हस्तावलंबनादिकं । अणुत्तरं पकुव्वंतो उत्कृष्टं प्रकुर्वन् । सव्वादरसत्तीए सर्वादरशक्त्या । भत्तीए भक्त्या । परमाए उत्कृष्टया । वट्टदि वर्तते । स प्रकुर्वकः सूरिर्भवति इति संबंधः ॥

मूलारा—अब्भुज्जदचरियाए पंडितमरणोपक्रमे । सव्वादर सर्वप्रयत्नेन ॥

अर्थ—उपर्युक्त कार्योंमें प्रकुर्वी गुणके धारक आचार्य हाथसे अवलंब देना वगैरह द्वारा क्षपकके ऊपर अनुग्रह करते हैं. यह अनुग्रह भक्तिपूर्वक और उत्कृष्टतासे करते हैं.

इय अप्पपरिस्सममगणित्ता खवयस्स सव्वपडिचरणे ॥
वट्टंतो आयरिओ पकुव्वओ णाम सो होइ ॥ ४५७ ॥

आत्मश्रममनालोच्य क्षपकस्योपकारकः ॥
प्रकारको मतः सूरिः स सर्वादरसंयुतः ॥ ४६९ ॥

विजयोदया—इय एवं। अप्पपरिस्समं आत्मपरिश्रमं। अगणित्ता अपरिगणय्य। खवयस्स आराधकस्य। सव्वपडिचरणे सर्वशुश्रूषायां। वट्टंतो वर्तमानः। आयरिओ आचार्यः। पगुव्वो णाम प्रकुर्वको नाम। होदि स भवति। पकुव्वीगदं॥

मूलारा—सव्वपडिचरणे सकलशुश्रूषायां। पकुव्वगो प्रकारकः॥

अर्थ—इस प्रकार क्षपककी सर्व प्रकारकी शुश्रूषा आचार्य करते हैं. उसमें बहुत परिश्रम पडने पर भी वे खिन्न नहीं होते हैं. ऐसे आचार्य को प्रकुर्वी आचार्य कहते हैं. इस प्रकार प्रकुर्वी आचार्य का स्वरूप कहा है.

क्षपकशिक्षापरा गाथा—

खवओ किलामिदंगो पडिचरयगुणेण णिव्वुदिं लहइ॥
तह्मा णिव्विसिदव्वं खवएण पकुव्वयसयासे॥ ४५८॥

निपीड्यमानः क्षपकः परीषहैः सुखासिकां याति सहायकौशलैः॥
यतस्ततस्तेन समाधिमिच्छता निषेवणीया गुरवः प्रकारकाः॥ ४७०॥
इति प्रकारकः।

विजयोदया—खवगो क्षपकः। किलामिदंगो ग्लानशरीरः। पडिचरयगुणेण शुश्रूषागुणेन, णिव्वुदिं लहदि सुखं लभते। खवगेण क्षपकेण। पकुव्वयसयासे विनयकारिणः समीपे। पगुव्वीगदं॥

प्रकारकसमीपनिवासाय क्षपकं शिक्षयति—

मूलारा—गिलामिदंगो ग्लानशरीरः। पडिचरियगुणेण प्रतिचारकोपचारेण। णिव्वुदिं सुखं॥ प्रकारकः॥

आगे क्षपकको उपदेश देते हैं—

अर्थ—रोगसे ग्रसित क्षपकमुनि आचार्यके द्वारा की गई शुश्रूषासे सुखी होता है. अतः क्षपकको शुश्रूषा करनेवाले आचार्यके पास ही रहना श्रेयस्कर है. प्रकुर्वी गुणका वर्णन समाप्त हुआ.

आयोपायविदंसीत्येतद्व्याख्यानायोत्तरप्रबंधः—

खवयस्स तीरपत्तस्स वि गुरुगा होंति रागदोसा हु ॥
तम्हा छुहादिएहिं य खवयस्स विसोत्तिया होइ ॥ ४५९ ॥

अस्ति तीरं गतस्यापि रागद्वेपोदयः परः ॥
परिणामश्च संक्लिष्टः क्षुत्तृष्णादिपरीषहैः ॥ ४७१ ॥

विजयोदया—खवगस्स क्षपकस्य। तीरपत्तस्स वितीरं मात्तस्यापि। रागदोसा गुरुगा होंति रागद्वेषौ गुरू तीव्रौ भवत। तम्हा छुहादिएहिं य क्षुत्पिपासादिभिः परीषहैश्च कारणभूतैः। खवगस्स क्षपकस्य विसोत्तिगा होइ अशुभपरिणामो जायते ॥

आयापायविदर्शित्वं पंचदशभिर्गाथाभिः कथयितुकामः प्रथमं गाथाचतुष्टयेन तल्लक्षणमाह—

मूलारा—गुरुगा तीव्राः। विसोत्तिगा अशुभपरिणतिः।

आचार्य में आयोपाय दर्शन नाम का गुण होता है उसका निरूपण करनेके लिये आगेका प्रबंध—

अर्थ—क्षपकमुनि मोक्षप्राप्ति होनेके निकट समय को प्राप्त हुआ हो अथवा मनुष्यपर्यायका का नाश होने के समयको प्राप्त हुआ हो तो भी उसके अंत करणमें तीव्र रागद्वेप उत्पन्न होने की संभावना होती है. क्यों कि उस समयमें उसको क्षुदादि तीव्र परिषहोंसे अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं.

थोणाइदूण पुव्वं तप्पडिवक्खं पुणो वि आवण्णो ॥
खवओ तं तह आलोचेदुं लज्जेज्ज गारविदो ॥ ४६० ॥

आलोचनां प्रतिज्ञाय पुनर्विप्रतिपद्यते ॥
लज्जते गौरवाकांक्षी स तां कर्तुमपास्तधीः ॥ ४७२ ॥

विजयोदया—थोणाइदूण पुव्वं प्रव्रज्यादिक्रमेण तद्दिनपर्यवसानं रत्नत्रयातिचारं निवेदयामीति पूर्वं प्रतिज्ञाय। तप्पडिवक्खं तस्यापराधप्रत्याख्यापनस्य प्रतिपक्षेण निवेदनं। आवण्णो आपन्नः प्राप्तः। खवगो तं तह आलोचेदुं लज्जेज्ज गारविगो क्षपकस्तमपराधं तथा त्वाचरितक्रमेण गदितुं जिन्हेति संभावनागुरु ॥

मूलारा—थोलाइदूण प्रव्रज्यादिवसादारभ्याद्य यावत्क्रमेण रत्नत्रयातिचारं निवेदयामीति प्रतिज्ञाय । तत्प्रतिपक्षं तस्य अपराधनिवेदनस्य प्रतिपक्षमनिवेदनं । तं आलोचयितुमुपक्रान्तं दोषम् । तध तथा आत्माचरितक्रमेण । गारविदो आत्मसंभावनापरः ।

अर्थ—मुनिदीक्षाके कालसे आजतक जितने रत्नत्रयमें अतिचार लगे हैं वे सब गुरुके सन्निध मैं कहूंगा ऐसी क्षपकने प्रथम प्रतिज्ञा की थी परंतु लज्जा अथवा गर्व इत्यादि कारणोंसे अपने अतिचारोंकी आलोचना करने में वह हिचकता है.

तो सो हीलणभीरू पूयाकामो ठवेणइत्तो य ॥
णिज्जूहणभीरू वि य खवओ विनदो वि णालोचे ॥५६१॥

ततः स्वस्थापनाकारी त्यागावज्ञानभीलुकः ॥
क्षपको गुणदोषौ नो पूजाकामो विवक्षति ॥ ५७२ ॥

विजयोदया—तो पश्चात् । सो क्षपकः । हीलणभीरू ज्ञातमदीयापराधा इमे मामवजानंति इति अवज्ञाभीरुः । पूजाकामो य वंदनाभ्युत्थानं इत्यादिकायां पूजायामभिलाषवान् । सापराधं न पूजयंतीति । ठवणइत्तो य आत्मानं सुचरितत्वे स्थापयितुकामश्च । णिज्जूहणभीरू वि य मामिमे सापराधं त्यजंतीति त्यागभीरुश्च । खवगो स्वापराधं शरीरं च क्षपयामीति प्रवृत्तोऽपि णालोचेज्ज दोषं न कथयेद्गुरोर्दोषमात्मीयं ॥

मूलारा—तो पश्चात् । हीलणभीरू ज्ञातमदपराधा इमे मामवज्ञास्यंतीत्यवज्ञाभीरुः । पूयाकामो वंदनाभ्युत्थानादिसत्कारसाकांक्षः । सापराधं न पूजयंतीति कृतनिर्बंधः । ठवेणइत्तो आत्मानं सुचरितत्वे स्थापयितुकामः । ठवेदुमिच्छंतो इति पाठः आत्मानं माहात्म्ये स्थापयितुमिच्छन्नित्यर्थः । णिज्जूहणभीरू इमे सदोषं मां त्यक्ष्यंतीति त्यागभीरुः । खवगो वि स्वापराधं शरीरं च क्षपयामीति प्रवृत्तोऽपि । ण आलोचे गुरोर्न कथयेत् ।

अर्थ—मेरे अपराध आचार्योंको ज्ञात होने पर वे मेरा तिरस्कार करेंगे ऐसी मनमें वह कल्पना कर बैठता है. अथवा मेरेको अन्य मुनि वंदन करे, आदर करे ऐसी उसको अभिलाषा रहती है. यदि मेरे दोष इनको अवगत होंगे तो ये मेरी वंदना और आदर नहीं करेंगे ऐसे अभिप्रायसे भी क्षपक अपने दोषोंका निवेदन

नहीं करता है. मेरा आचरण निर्दोष है यह सिद्ध करना चाहता है इस हेतुसे भी वह दोषोंकी आलोचना करनेको तैयार होता नहीं. यदि मैं अपने अपराध इनको कहूंगा तो ये मेरा त्याग करेंगे ऐसी भी भावना क्षपकके मनमें स्थान कर बैठती है. अतः वह यद्यपि अपने अपराध और शरीरका त्याग करनेके लिये उद्युक्त हुआ है तो भी गुरुको अपने दोष कहता नहीं.

तस्स अवायोपायविदंसी खवयस्स ओघपण्णवओ ॥
आलोचेंतस्स अणुज्जगस्स दंसेइ गुणदोसे ॥ ४६२ ॥

आयापायविधिर्येन हेयोपादेयवेदिना
दिश्यते क्षपकस्यासावायापायदिगुच्यते ॥ ४७४ ॥
आयो रत्नत्रयस्य वृद्धिः । अपायो रत्नत्रयविनाशः ।
ततो वक्रमतेस्तस्य सामान्यालोचनाकृते ॥
आयापायदिशा वाच्यौ गुणदोषौ गणेशिना ॥ ४७५ ॥

विजयोदया—तस्स खवगस्स गुणदोसे दंसेदिति पदसंबंधः । तस्य अनालोचकस्य आलोचनायां गुणमितरत्र दोषं च दर्शयति । कः ? आयोपायविदंसी आयोपायविदर्शी सूरिः । अपायो रत्नत्रयस्यविनाशः उपायो लाभः । उपायशब्दोऽनर्थकः इति कृत्वा रत्नत्रयस्य आउ शुद्धिलाभः तदुभयदर्शी ओघपण्णवगो सामान्यं प्ररूपयन् यो न कथयति स्वापराधं तस्यायं दोष इति । आलोचेंतस्स वि अपि शब्दोऽत्र लुप्तनिर्दिष्टो आलोचनां कुर्वतोऽपि । अणुज्जगस्स मायावतः ॥

मूलारा—अपायो रत्नत्रयस्य विनाशः । उपायो लाभस्तौ विशेषेण दर्शयति । ओघपण्णवगो सामान्यं प्ररूपयन् । यो न कथयति स्वापराधं तस्यायं दोषः इति प्रज्ञापकः । आलोचेंतस्स आलोचनां कुर्वतोऽपि । अणुज्जगस्स मायावतः । गुणदोसे आलोचनायां गुणान् अनालोचनायां च दोषः ॥

अर्थ—जो क्षपक उपर्युक्त कारणोंसे दोषोंकी आलोचना करनेमें भययुक्त होता है. उसको आयोपाय दर्शन गुणके धारक आचार्य आलोचना करनेमें गुण और आलोचना न करनेसे हानि कैसी होती है इसका निरू-

पण करते हैं. अर्थात् यदि आप आलोचना न करोगे तो आपके रत्नत्रयका नाश होगा और दोषोंका निवेदन करनेसे आपको रत्नत्रयकी प्राप्ति होगी और उसमें निर्मलताभी प्राप्त होगी इस प्रकार दोष और गुण बतानेवाले आचार्योंको आयोपायविदर्शी आचार्य कहते है. जो क्षपक विशिष्ट अपराधोंको निवेदन न कर सामान्य अपराधोंका निवेदन करता है. और जो अपराध निवेदन करता हुआ भी मनमें मायाभाव रखता है उसके भी रत्नत्रयका नाश होता है और निष्कपटभावसे अपने सर्व दोषोंकी आलोचना करता है उसको रत्नत्रयप्राप्ति और विशुद्धि की प्राप्ति होती है.

माया अर्थात् कपट दोषोंकी उत्पत्ति करती है और यथार्थ कथन अर्थात् दीक्षाकालसे आजतक उत्पन्न हुए दोषोंका सत्यकथन गुणोंका जनक है इसलिये स्वदोषोंका आचार्यके समीप वर्णन करना चाहिये ऐसा आचार्य आगेकी गाथामें कहते हैं—

मायायां दोषयाथात्म्यकथने च गुणं दर्शयति एवं दोषप्रकटनं कर्तव्यमित्याचष्टे—

दुक्खेण लहइ जीवो संसारमहण्णवम्मि सामंण्णं ॥
तं संजमं खु अबुहो णासेइ ससल्लमरणेण ॥ ४६३ ॥

दुःखतः संयमं लब्ध्वा शरीरी भवसागरे ॥
सशल्यमृत्युना सारं नाशयत्यपचेतनः ॥ ४७६ ॥

विजयोदया—दुक्खेण लहइ जीवो क्लेशेन लभते जीवः। किं सामण्णं श्रामण्यं चारित्रं संयमं। क्व संसारमहण्णवम्मि चतुर्गतिपरिभ्रमणमहार्णवे दुष्प्रापपारतया संसारो महार्णव इव। खु शब्दः णासेइ इत्यतः परतो द्रष्टव्यः। तं संयमं नाशयत्येवाबुधः ससल्लमरणेण। यद्यपि शल्यमनेकप्रकारं मिथ्यामायानिदानशल्यभेदेन तथापीह प्रकरणवशान्मायाशल्यं गृह्यते, मायाशल्यसहितेन मरणेनेत्यर्थः। ननु समानतायाः प्रस्तुतत्वात् सामण्णं इत्यनेन तत् परित्यज्य कथमन्यदुपन्यस्तं 'तं संजममिति'। अस्यायमभिप्रायः श्रमणशब्दस्य द्रव्येऽप्रवृत्तिनिमित्तं यच्छ्रामण्यं किं च तत्संयमः। तथाहि सावद्यक्रियापरो नायं श्रमण इति लोको वदति। ततोऽयुक्तमेव भावशल्यमात्मन्यवस्थितमिव दोषमावहतीति दृष्टान्तमुखेन कथयति—

न केवलं प्रकारकः सन्सूरिः क्षपकस्य बाह्यमुपचारं तथा करोत्यपि त्वायापायविदर्शी सन्नाध्यात्मिकमपीत्थं दोषप्रकाशनयेति तामेव प्रबंधेनाह—

मूलारा—सामण्णं श्रामण्यं यतिधर्मं । ससल्ल मायाशल्यसहितं प्रकरणवशात् ॥

अर्थ—इस संसारका दुसरा किनारा प्राप्त होना कठिन है इस लिये आचार्य महाराज इसको समुद्रकी उपमा देते हैं. चतुर्गतिओंमें भ्रमण करना यही संसार है. इसमें भ्रमण करनेवाले जीवोंको संयमकी प्राप्ति होना अतिशय कठिन है. परंतु दैवयोगसे ऐसे संयमकी प्राप्ति होनेपर भी मूर्ख मनुष्य शल्यसहित मरण प्राप्त कर संयमको नष्ट करता है. मायाशल्य, मिथ्यात्वशल्य और निदानशल्य ऐसे शल्यके तीन भेद हैं. तथापि यहां प्रकरणवश मायाशल्यका ग्रहण करना चाहिए. अर्थात् मूर्खजन मायाशल्यसे संयमका नाश कर मरण करते हैं. ऐसा यहां अभिप्राय समझना चाहिये. शंका—गाथाके द्वितीय चरणमें समानताका उल्लेख किया है परंतु तीसरे चरणमें उसका ग्रहण न कर 'संयम' शब्दका ग्रहण किया है अतः प्रस्तुत समानताका त्याग कर अन्यका ग्रहण करना योग्य नहीं है.

उत्तर—इसका अभिप्राय यह है कि श्रमण शब्दका अर्थ मुनि है मुनि इस अर्थमें श्रमण शब्दकी प्रवृत्ति होनेमें श्रामण्य शब्द अर्थात् समानता शब्द कारण है. समानता अर्थात् श्रामण्य और संयम दोनों शब्द एकार्थ वाचक हैं इसीवास्ते संयमशब्दकाभी प्रयोग करना अनुचित नहीं है. ' सावद्यक्रियापरो नायं श्रमणः ' अर्थात् पापक्रिया करनेवाला मुनि नहीं कहा जाता है ऐसा लोक बोलते हैं. इसलिये आत्मामें भावशल्य रहना अर्थात् कपटविचार रहना अयोग्य ही है.

जह णाम दव्वसल्ले अणुद्धुदे वेदणुद्दिदो होदि ॥
तह भिक्खू वि ससल्लो तिव्वदुहट्टो भयोव्विग्गो ॥ ५६५ ॥

द्रव्यशल्ये यथा दुःखं सर्वांगीणव्यथोदयः ॥
भावशल्ये तथा जन्तोर्विज्ञातव्यमनुद्धृते ॥ ४७७ ॥

विजयोदया—जह णाम यथा नाम । दव्वसल्ले शरकंटकादौ अणुद्धुदे अनुद्धृते अनिराकृते । वेदणुद्दिदो होदि वेदनार्तो भवति । तह तथा भिक्खु वि भिक्षुरपि । ससल्लो भावशल्यवान् । तिव्वदुहिट्टो तीव्रदुःखितो भवति । भयोव्विग्गो भयेन चलो भवति । एवमनुद्धृतशल्यो गमिष्यामि कां गतिमिति भयमस्योपजायते । एवमर्थं दृष्टान्तेनाविरोधयति ।

मूलारा—णाम स्फुटम् । दव्वसल्ले शरीरकंटकादौ । अणुद्धुदे अनुद्धृते । वेदणुद्दुदो दुःखार्त्तः । ससल्लो मायाबाहुल्यवान् । भउव्विग्गो एवमनुद्धृतशल्यो गमिष्यामि कां गतिमिति भयाकुलितचित्तः ॥

यह भावशल्य दोषोंको उत्पन्न करता है. इसको ही दृष्टान्तसे आचार्य स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—जैसे द्रव्यशल्य-बाण, कांटा वगैरह शरीरमें घुसने पर मनुष्य दुःखी होता है वैसे भिक्षु भी यदि मनमें कपट मिथ्यात्व वगैरह भावशल्य धारण करेगा तो वह तीव्र दुःखसे पीडित होगा, और भयसे चंचल होगा. यदि मैं शल्यका त्याग नहीं करूंगा तो कौनसी गति मेरेको प्राप्त होगी ऐसा विचार मनमें आकर इस भिक्षुको भय उत्पन्न होता है.

कंटकसल्लेण जहा वेधाणी चम्मखीलणाली य ॥
रप्पइयजालगत्ताभदो य पादो सडदि पच्छा ॥ ४६५ ॥
कंटकेऽनुद्धृते प्राप्तो यथा त्वक्कीलनालिकां ॥
पूतिवल्मीकरन्ध्राणि प्राप्यांघ्रि सटति स्फुटम् ॥ ४७८ ॥

विजयोदया—कंटकसल्लेण जहा कंटकाख्येन शल्येन कारणभूतेन यथा । वेधाणी चम्मखीलनाली य व्यधनचर्मकीलनालिकाश्च भवन्ति । रप्पइयजालगत्ताभदो य कुथितवल्मीकच्छिद्राणि प्राप्तः स पादः पतति पश्चाद्यथा ॥

एतदेव दृष्टान्तमुखेन समर्थयितुं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—वेधाणी व्यधापनी सुषिरमित्यर्थः । चम्मकील मांसांकुरः । णाली नाडी । एतास्तिस्रः प्रथमं पादे भवन्ति । रप्पइदजालगत्तागदो कुथितवल्मीकच्छिद्राणि प्राप्तः ॥

दृष्टांतसे उपर्युक्त अभिप्रायका स्पष्टीकरण करते हैं.

अर्थ—जैसे कांटा पांवमें घुसनेसे प्रथम छिद्र पडता है अनंतर उसमें अंकुरके समान मांस बढता है तदनंतर वह कांटा नाडीतक घुसनेसे पांवका मांस बिघडने लगता है. जिससे उसमें बहुत छिद्र पडते हैं. इस प्रकार से वह पांव निरुपयोगी होता है.

एवं तु भावसल्लं लज्जागारवभएहिं पडिबद्धं ॥
अप्पं पि अणुद्धरियं वदसीलगुणे वि णासेइ ॥ ४६६ ॥

विविधं दोषमापन्नः संयमोऽनुद्धृते तथा ॥
भयगौरवलज्जाभिः भावशल्ये विनश्यति ॥ ४७९ ॥

विजयोदया—एवं तु एवमेव । भावसल्लं परिणामशल्यं । लज्जागारवभयेहिं पडिबद्धं स्वापराधनिगूहनं लज्जातो भवति । भयेन अपराधेऽकथिते कुप्यन्ति गुरवस्त्यजंति वा मां महद्वा प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्तीति । सुतपाः तपस्व्ययं सुसंयत इति महती प्रसिद्धिः सा विनश्यतीति गौरवेण च प्रतिबद्धमायाशल्यं । अप्पं पि अल्पमपि शल्यं अणुद्धरियं अनुद्धृतं । वदसीलगुणे व्रतानि शीलानि गुणांश्च विनाशयति ॥

मूलारा—पडिबद्धं अत्यंतगर्हितं तन्मयाकृतं कथं प्रकाश्यते इति लज्जया प्रच्छादितं सत्, अयं तपस्वी सुसंयत इति वा, मां महद्वा प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति इति भयेन वा प्रच्छादितं । अप्पंपि अल्पमपि ॥

अर्थ—इसी प्रकार भावशल्य भी जीवको दुःखदायक है. भय, गर्व और लज्जासे जब अपराध छिपाते हैं तब भावशल्य उत्पन्न होता है. जैसे लज्जासे अपराध छिपाते हैं वैसे भयसे भी अपराध छिपाते हैं. अपराध कहने पर गुरु मेरा त्याग करेंगे अथवा बडा प्रायश्चित्त देंगे ऐसे भयसे अपराधोंका कथन करनेमें क्षपक अनाकानी करता है. मैं बडा तपस्वी हूं ऐसी मेरी जगतमें कीर्ति है वह अपराध कथनसे नष्ट होगी ऐसे गर्वयुक्त विचारसे अपराध निवेदन नहीं करता है. इस प्रकारसे मायाशल्य मनमें उत्पन्न होकर वह व्रत, शील, और गुणोंका नाश करता है.

तो भट्ठबोधिलाभो अणंतकालं भवण्णए भीमे ॥
जम्मणमरणावत्ते जोणिसहस्साउलो भमदि ॥४६७॥

भ्रष्टबोधिलाभोऽनंतश्चिरकालं भवार्णवे ॥
जन्ममृत्युजरावर्ते जीवो भ्रमति भीषणे ॥ ४८० ॥

विजयोदया—तो पश्चात्। भट्टोधिलाभो विनष्टदीक्षाभिमुखबुद्धिलाभः। अणंतकालं भमइ अनंतकालं भ्रमति। क भवण्णवे भवार्णवे। भीमे भयंकरे। जम्मणमरणावत्ते जन्ममरणावर्ते। जोणिसहस्साउले चतुरशीतियोनिसहस्राकुले ॥

ततः किं स्यादित्याह—

मूलारा—भट्ठबोहिलाहो नष्टदीक्षाभिमुखबुद्धिलाभः। अणंतकालं अर्द्धपुद्गलपरिवर्तमात्रं ॥

अर्थ—इस भावशल्यसे दीक्षाभिमुख बुद्धिका लाभ नहीं होता है. अर्थात् मैंने मुनिदीक्षा व्यर्थ ली है ऐसा विचार क्षपकके मनमें आता है. भावशल्यसे यह जीव अनंतकालतक अर्थात् अर्धपुद्गलपरिवर्तन कालतक चोराशी लक्षयोनियुक्त, इस भयंकर भवसमुद्रमें भ्रमण करता है. जिसमें जन्म मरणरूपी भोंवरें हैं.

तत्थ य कालमणंतं घोरमहावेदणासु जोणीसु ॥
पच्चंतो पच्चंतो दुक्खसहस्साइ पप्पेदि ॥४६८॥
तीव्रव्यथासु योनीषु पच्यमानः स संततं ॥
तत्र दुःखसहस्राणि दीनो वेदयते चिरम् ॥ ४८१ ॥

विजयोदया—तत्थ य तत्र च भवार्णवे। अणंतकालं दुक्खसहस्साइ पप्पेदि इति पदघटना। अनंतकालं दुःखसहस्राणि अनुभवति। घोरमहावेदणासु जोणीसु पच्चंतो घोरमहावेदनासु योनिषु पच्यमानः ॥

भये भ्रम्यन्कि करोतीत्याह—

मूलारा—पच्चंतो पच्चंतो पुनः पुनरतिग्लप्यमानः ॥

अर्थ—इस घोर संसारसमुद्रमें अनंत कालतक जिनमें भयंकर वेदनायें हैं ऐसी कुयोनिओंमे पचते हुए इस क्षपकको सहस्रो दुःख भोगने पडते हैं.

तं न खु खमं पमादा मुहुत्तमवि अत्थिदुं ससल्लेण ॥
आयरियपादमूले उद्धरिदव्वं हवदि सल्लं ॥ ४६९ ॥

मुहूर्तमप्यतः स्थातुं सशल्येन न शक्यते ॥
आचार्यपादयोर्मूले तदुद्धर्तव्यमंजसा ॥ ४८२ ॥

विजयोदया—त तस्मात् । मुहुत्तमवि अत्थिदुं ससेल्लेण न खमो खु मुहूर्तमात्रमपि आसितुं शल्यसहितेन रत्नत्रयेण सह न शक्तः प्रमादवशादयतिः संसारभीरुः । आयरियपादमूले उक्तगुणस्याचार्यस्य पादमूले । उद्धरिदव्वं हवदि सल्लं शल्यमुद्धर्तव्यं भवति ।

प्रकृतमुपसंहरन्नाह—

मूलारा—ण खमं न युक्तं । पमादा प्रमादवशात् ॥

अर्थ—इसलिये क्षपकको प्रमादसे एक मुहूर्त कालतक भी शल्यसहित रत्नत्रय धारण करना योग्य नहीं है. अतः संसारभयसे युक्त क्षपक आयोपायदर्शक आचार्यके पास भावशल्य का उद्धार करें.

तम्हा जिणवयणरुई जाइजरामरणदुक्खवित्तत्था ॥
अज्जवमद्दणसंपण्णा भयलज्जाउ मोत्तूण ॥ ४७० ॥

जिनेंद्रवचनश्रद्धा जरामरणभीरवः ॥
निराकृतभयव्रीडाः संपन्नार्जवमार्दवाः ॥ ४८३ ॥

विजयोदया—तह्मा तस्मात् । जिणवयणरुई जिनागमे श्रद्धावंतः । जाइजरामरणदुक्खवित्तत्था जातिजरामरणदुःखवित्रस्ताः । अज्जवमद्दवसंपण्णा आर्जवेन मार्दवेन युक्ताः । भयलज्जाओ भयं लज्जां वा । मोत्तूण मुक्त्वा ॥

स्थितार्थमाह—

मूलारा—वित्तत्था वित्रस्ताः । अज्जवमद्दवसंपण्णा आर्जवेन मार्दवेन च युक्ता निर्जितमायामाना इत्यर्थः ॥

अर्थ—इसवास्ते जिनेश्वरके आगममें श्रद्धा रखनेवाले जन्म, बुढापा, मरण के दुःखोंसे भययुक्त, निष्कपटता, विनय इन गुणोंसे परिपूर्ण ऐसे क्षपकको भय और लज्जा छोडकर अपराधकथन करना योग्य है.

उप्पाडित्ता धीरा मूलमसेसं पुणब्भवलयाए ॥
संवेगजणियकरणा तरंति भवसायरमणंतं ॥ ४७१ ॥

पुनर्भवलतामूलमुत्पाट्य निखिलं बुधाः ॥
संवेगोत्पन्नवैराग्यास्तरन्ति भववारिधिम् ॥ ४८४ ॥

विजयोदया—उप्पाडित्ता उत्पाट्य । धीराः । किं मूलं । कथं असेसं निरवशेषं । कस्य मूलं ? पुणब्भवलयाए पुनर्भयलतायाः । किं तन्मूलं ? शल्यं । संवेगजणियकरणा संसारभीरुतोत्पादितक्रियाः । तरंति तरंति । भवसायरमणंतं भवसागरमनंतं ॥

मूलारा—मूलं शल्यं । करणं क्रिया समाधिमरणमिति यावत् ॥

अर्थ—संसाररूपी वेलीका मानो मूल ऐसा भावशल्य धीर क्षपक समूल उखाडकर फेक देते हैं. और संसारका भय मनमें धारण कर चारित्राचरणका अंगीकार करते हुए इस भयंकर संसारसमुद्रसे पार होते हैं.

उक्तयस्तूपसंहारार्थो गाथा—

इय जइ दोसे य गुणे ण गुरू आलोयणाए दंसेइ ॥
ण णियत्तइ सो तत्तो खवओ ण गुणे ण परिणमइ ॥ ४७२ ॥

तपःप्रसूचने दोषं दोषाणां सूचने गुणं ॥
एवं दर्शयते सूरिरायापायप्रदर्शकः ॥ ४८५ ॥
तदानीं क्षपको नूनं हेयादेयविमूढधीः ॥
निवर्तते न दोषेभ्यो न गुणेषु प्रवर्तते ॥ ४८६ ॥

विजयोदया—इय एवं । जदि गुरू ण दंसेदि यदि गुरुर्न दर्शयेत् क्षपकस्य । किं आलोयणाए गुणे स्वापराधकथनस्य गुणान् । दोसे य दोषांश्च यदि न दर्शयेत् । आलोयणाए इति वाक्यशेषः । सो खवगो ण णियत्तदि । असौ क्षपको न निवर्तते । कुतः ? तत्तो पूर्वोक्तदोषान्मायाशल्यात् । गुणे य ण परिणमदि गुणे च निःशल्यत्वेन परिणमते ॥

उक्तार्थान्यथाकरणे दोषमाह—

मूलारा— दोसे दोषान् । सामर्थ्याद्नालोचनायाः । तत्तो मायाशल्यलक्षणाद्दोषात् । गुणे निःशल्यत्वे ॥

उपर्युक्त विषयका उपसंहार करते हैं—

अर्थ—अपने अपराध कहनेसे रत्नत्रयविशुद्धि नामक गुण प्राप्त होता है और न करनेसे संसारभ्रमण

करना पडता है अर्थात् संसारभ्रमण नामका महादोष उत्पन्न होता है ऐसा यदि आचार्य न दिखावेंगे तो क्षपक मायाशल्यका त्याग न करेगा और निःशल्य होकर गुणोंमें तत्पर न होगा.

तह्मा खवएणाओपायविदंसिस्स पायमूलम्मि ॥
अप्पा णिव्विसिदव्वो धुवा हु आराहणा तत्थ ॥ ४७३ ॥

आयापायदिशस्तु समीपे स्थेयं बुद्धिमता क्षपकेण ॥
तत्राराधयते चतुरंगं नूनं विभ्रमशेषमपास्य ॥ ४८७ ॥

इति आयापायदिक् ॥

विजयोदया—तह्मा तस्मात् आयोपायदर्शिनः पादमूले यस्माद्दोषान्निवर्तते क्षपको गुणे च परिणमते तदुभ यार्थी च। तह्मा तस्मात् खवगेण आयोपायविदंसिस्स गुणदोषदर्शिनः। पादमूले। अप्पा णिव्विसिदव्वो आत्मा स्थापयितव्यः। तत्र गुणमाचष्टे धुवा खु आराहणा तत्थ निश्चिता रत्नत्रयाराधना तत्र। आयोपायः ॥

आयापायविदर्शिसूरेरात्मसमर्पणेऽवश्यंभाविनीमाराधनामभिधत्ते—

मूलारा—णिव्विसिदव्वो स्थापयितव्यः। धुवा निश्चिता ॥ आयोपायविदर्शी।

अर्थ—इस लिये आयोपायदर्शक आचार्य के चरणोंके समीप क्षपकको रहना चाहिये वहां रहनेसे ही रत्नत्रयाराधना क्षपकको प्राप्त होती है. गुणोंकी प्राप्ति और दोषोंका नाश चाहनेवाले क्षपकको अवश्य आचार्य का आश्रय करना चाहिये.

अपपीडकत्वं व्याख्यातुकाम संबध्नाति पूर्वेण उपायदर्शित्वेन।—

आलोचणगुणदोसे कोई सम्मं पि पण्णविज्जंतो ॥
तिव्वेहिं गारवादिहिं सम्मं णालोचए खवए ॥ ४७४ ॥

कश्चनाकथने दोषे दोषाणां कथने गुणे ॥
यस्तात्मा कथ्यमानेऽपि नालोचयति तत्त्ववित् ॥ ४८८ ॥

विजयोदया—आलोचणगुणदोसे आलोचनाया गुणदोषान्। कोई कश्चित्। सम्मंपि पण्णविज्जंतो सम्य गव-बोध्यमानोऽपि। खवगो णालोचए सम्मं क्षपकः सम्यक् न कथयेत्। केन हेतुना? तिव्वेहिं गारवादिहिं तीव्रैर्गारवादिभिः आदिशब्देन लज्जाभयक्लेशासहत्वं च गृह्यते

द्वादशभिर्गाथाभिरुत्पीडकत्वं प्रपंचयिष्यन्नायोपायविस्त्वेनास्य संबंधमभिधत्ते—

मूलारा—विपणविज्जंतो प्रज्ञाप्यमानोऽपि बोध्यमानोऽपि इत्यर्थः। गारवादिहिं गारलज्जाभयक्लेशासहत्वैः ॥

अवपीडकत्व यह भी आचार्य का गुण है, इस गुणका आयोपायदर्शित्व गुणके साथ संबंध दिखाते हैं--

अर्थ—आलोचना करनेसे गुण और न करनेसे दोषोंकी प्राप्ति होती है यह बात अच्छी तरहसे समझाने पर भी कोई क्षपक तीव्र अभिमान, लज्जा, भय, क्लेश सहन करनेकी इच्छा न होना इत्यादि कारणोंसे अपने दोष कहनेमें उद्युक्त नहीं होता है, तब निर्यापक आचार्य मधुरभाषण करके उसके लज्जादि विकार नष्ट करते हैं.

प्रथमनालोचयतोऽपि भावः मर्शांति नेतव्यो निर्यापकेनेत्येतद्व्याचष्टे—

णिद्धं मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते ॥
तो पल्हावेदव्वो खवओ सो पण्णवंतेण ॥ ४७५ ॥
एकान्ते मधुरं स्निग्धं गंभीरं हृदयंगमम् ॥
स वाच्यः सूरिणा वाक्यं प्रांजलीकुर्वता मनः ॥ ४८९ ॥

विजयोदया—णिद्धं स्नेहवत्। मधुरं श्रुतिसुखं। हिदयंगमं हृदयानुप्रवेशि। पल्हादणिज्जं सुखदं। एगंते एकांते। पल्हावेदव्वो शिक्षयितव्यः। खवगो क्षपकः। सो सः। आत्मापराधं यो न कथयति। पण्णवंतेण प्रज्ञापयता सूरिणा। आयुष्मन्! उपलब्धसन्मार्गरत्नत्रयोनिरतिचारकरणे समाहितचित्त! अतिचारं निवेद्य लज्जां, भयं, गारवं च विहाय॥ गुरुजनो हि माता पिता च सदृशः, तेषां कथने का लज्जेति। स्वदोषमिव न प्रख्यापयंति परेषां। यतिधर्मस्य वा अवर्ण-दूषणं। अतिचारदिमान्या हृतं च रत्नत्रयकमलवनं न शोभते। परनिंदा नीचैर्गोत्रस्यास्रवः। स्वयं च निंद्यते बहुषु जन्म-सु निंदकः। परस्य मनःसंतापं दुःसहं संपादयतो असद्वेद्यकर्मबंधः स्यात्। साधुजनोऽपि निंदति स्वधर्मतनयं किमर्थमयं एवं अयशःपंकेन लिंपतीति। प्रथमनेकानर्थावहपरदोषप्रकटने कः सचेतनः करोतीति॥

एवमनालोचयतोप्यस्य भावः प्रशान्तिं नेतव्य इत्येतदाचष्टे—

मूलारा—णिद्धं स्नेहयुक्तं ममत्वगर्भमित्यर्थः। मधुरं श्रुतिसुखं सम्मानपेशलमित्यर्थः। हिदयंगमं हृदयानुप्रवेशि। पल्हादणिज्जं सुखदं। तो पश्चात्। पल्हादिदव्वो भावो से। संबोधनावष्टंभेन तस्य भावो मनः प्रल्हादयितव्यः प्रसत्तिं नेतव्यो निर्यापकाचार्येण। स्निग्धादिगुणं वाक्यं पण्णवंतेण प्रज्ञापयता प्रतिपादयतेति संबंध.। तथा हि—आयुष्मन्! उपलब्धसन्मार्गे रत्नत्रयनैर्मल्यकरणैकाग्रांतःकरण! लज्जां भयं गौरवं च विहाय यथाजातमतिचारं निवेदय। मातापितृकल्पस्य हि गुरुजनस्याग्रे स्वापराधं कथयतां का लज्जा? न च लज्जाप्यैकांतिकी श्लाघ्यते। तथा च लोकः—

धनधान्यप्रयोगेषु विद्यासंग्रहणेषु च॥
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सदा भवेत्॥ इति॥

न च मदालोचितं दोषमेते प्रकाशयिष्यंतीति भवता अस्माज्जनात्र भेतव्यं। धर्माचार्या हि धर्मधुराधौरेया यतीनां यतिधर्मस्य च वाच्यतां निराकर्तुमुद्यताः कथमिव समाध्यर्थ उपाश्रितेन भवादृशा निवेदितं दोषं स्वस्वदोषमिव प्रकटयन्ति। सधर्मदोषप्रकटनं हि मोक्षमार्गप्रधानस्य सम्यग्दर्शनस्य दूषणं परनिंदया च नीचैर्गोत्रं कर्म बध्यते। बहुषु जन्मसु निंद्यश्च भवति, बध्नाति च निंदकः परस्य दुःसहमन संतापसंपादने दुर्विपाकमसद्वेद्यं। निंद्यते च साधुजनेन स्वधर्ममाणिक्यं किमयमेवमयशःपुरीषेण लिंपतीति। तदेवमनेकानर्थमूलं परदोषोद्भावनं कः सुधीर्विदधीत। न च धर्माचार्यवर्यमन्यतया त्वया दैवात्प्रमादाद्वा यः कश्चित्सम्यक्त्वादीनामन्यतमेतिचारः प्रादुर्भूतस्स प्रच्छादयितुं युज्यात्' रत्नत्रयं हि निर्मलीकृतमेव परं महिमानमावहति प्रापयति च तत्किमपि लोकोत्तरं सनातनं पदमिति॥

यही अभिप्राय आगेकी गाथामें है.

अर्थ—यदि क्षपक अपने अपराध नहीं कहे तो निर्यापिकाचार्य क्षपकको स्नेहयुक्त, कर्णमधुर, हृदयमें प्रवेश करनेवाला, ऐसा भाषण एकांतमें कहते हैं. उसकी पद्धति इस मुजब समझना—हे आयुष्मन् प्राप्त हुए रत्नत्रयमें दोष नहीं लगेंगे ऐसा तुम प्रयत्न करनेमें सदा एकाग्र चित्त रहते हो इसलिये भय, लज्जा, और गर्व छोडकर अपने दोष कहो. गुरुजन तो माता पिताके समान हैं उनके समक्ष अपने दोष कहनेमें लज्जा नहीं करनी चाहिये. ये गुरुजन तुह्मारे दोष स्वदोषके समान ही समझकर दुसरोंको नहीं कहते हैं. वे तो यतिधर्ममें कोइ दोष लगावेगा तो दूर करनेके लिये हमेशा उद्युक्त रहते हैं. अतः ये तुह्मारी अकीर्ति होनेकी इच्छा क्या मनमें

धारण करेंगे? यतिजनमें दोष लगानेसे सम्यग्दर्शन जो कि मोक्षमार्गमें प्रधान माना जाता है उसमें दोष उत्पन्न होता है. अतिचाररूपी बर्फ के आघात से रत्नत्रय रूपी कमलवन मुरझने लगता है. परनिंदा करनेसे नीचगोत्र कर्मका आस्रव होता है. तब निंदक जन अनेक जन्ममें लोगोंसे निंदित होते हैं. दुसरेके अंतःकरण को जो संताप उत्पन्न करते हैं उनको असातावेदनीय कर्मका बंध होता है. तुम अपने धर्मको पुत्रके समान समझो और उसको अयशरूपी कीचडमें मलिन न करो. ऐसा करनेसे तुम्हारी निंदा होगी. अनेक अनर्थों को उत्पन्न करनेवाले परदोषोंको कोन विद्वान प्रकट करेगा. अर्थात् तुम अपने दोष हमारे सामने निःशंक होकर बोलो. हम तुह्मारे दोष किसीके सामने प्रकट नहीं करेंगे.

णिद्धं महुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते ॥
कोइ तु पण्णविज्जंतओ वि णालोचिए सम्मं ॥ ४७६ ॥

कथायामकथायां च दोषाणां गुणदोषयोः ॥
कथायामपि नो कश्चिदालोचयति वक्रधीः ॥ ४९० ॥

विजयोदया – एवं प्रज्ञापनायां सत्यामपि यो नालोचयति इत्युत्तरसूत्रार्थः ।

एवं च प्रज्ञाप्यमानोऽपि कश्चिक्षपकः स्वदोषं सम्यग्नालोचयति विचित्रत्वात्पुरुषप्रभृतीनामित्युत्तरसूत्रावतारार्थमिदमाह—

णिद्धं मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते ।
कोइ तु पण्णवेज्जंतो वि य णालोचए सम्मं ॥

मूलारा – स्पष्टम् ।

अर्थ—स्निग्ध, कर्णमधुर, हृदयमें प्रवेश करनेवाला ऐसा भाषण बोलनेपर भी कोई क्षपक अपने दोषोंकी आलोचना करता नहीं. तब—

तो उप्पीलेदव्वा खवयस्सोप्पीलएण दोसा से ॥
वामेइ मंसमुदरमवि गदं सीहो जह सियालं ॥ ४७७ ॥

दोपमुद्दाल्यते तत्स्थमुत्पीड्योत्पीडनो यतिः ॥
मांसं कंठीरवेणेव शृगालः कुर्वता भयम् ॥ ४९१ ॥

विजयोदया—तो पश्चात् । उप्पीलिदव्वा अवपीडयितव्याः । के? दोसा दोषाः । कस्य? से तस्य । क्षपकस्य । केन उप्पीलएण अवपीडकेन सूरिणा । अपसरास्मत्सकाशात् । किमस्माभिर्भवतः प्रयोजनं? । यो हि स्वशरीरलग्नमलप्रक्षालनेच्छः स ढौकते काचच्छायानुसारिसलिलं सरः । यो वा महारोगोरगग्रस्तस्तदपनयनाभिलाषवान् स वैद्यं ढौकते । एवं रत्नत्रयातिचाराधिराकर्तुमभिलषता समाश्रयणीयो गुरुजनः । भवतश्च रत्नत्रयशुद्धिकरणे नैवादरः किमनया क्षपकत्वविडंबनया । न चतुर्विधाहारपरित्यागमात्रायत्तसल्लेखनेयं । अपि तु कषायसल्लेखनायत्ता संवरो निर्जरा च, कषाया ह्यभिनवकर्मादाने, बंधे, स्थितिविधाने चोद्यताः परिहरणीयाः । तेषु कषायेषु मायातिनिकृष्टा तिर्यग्योनिनिर्वर्तनप्रवीणा । तां त्यक्तुमसमर्थस्यापि प्रविष्टस्य भवतः संसारोदधेस्तिर्यग्भवावर्तं । ततो निःसरणमतिदुष्करं । वस्त्रमात्रपरित्यागेनैव निर्ग्रंथताभिमानोद्वहनमप्यसत्यं, सत्येवं तिर्यंचोऽपि निर्ग्रंथाः स्युः । चतुर्दशप्रकारस्याभ्यंतरपरिग्रहस्य त्यागाद्भावनैर्ग्रंथ्यं समवतिष्ठते । तदेवं हि मुक्तेरुपायः । भावनैर्ग्रंथ्यस्य उपाय इति दशविधबाह्यग्रंथत्याग उपयोगी मुमुक्षोः । न हि जीवपुद्गलद्रव्यसन्निधानमात्राधीनः कर्मबंधः । अपि तु तन्निमित्तजीवपरिणामालंबनः । अतिचारवंति दर्शनादीनि न मुक्तेरुपायः । 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति किन्न भवतः श्रुतिगोचरमायातं जैनं वचः? समीचीनता हि दर्शनज्ञानचारित्राणां निरतिचारता । सा च गुरूपदिष्टप्रायश्चित्ताचरणे । गुरवोऽपि कृतालोचनायैव प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति । ततो भवान्दूरभव्यः अभव्यो वा । आसन्नभव्यत्वे सति किमेवं महामायाशल्यं भवति?। नैव यतिजनवंदनार्होऽसि । 'समणं वंदेज्ज मेधावी संजदं सुसमाहिदं' इति वचनात् । जीवितमरणयोर्लाभालाभयोर्निंदाप्रशंसयोश्च समानचित्ततया समानो भवति । अतिचारनिवेदने मां निंदंति न प्रशंसंतीति भवता नालोच्यते । तत्कथं समानोऽसि? कथं वा वंद्यः?

सीहो जहा सियालं उदरमवि गदं पि मंस वामेदि सिंहो यथा शृगालमुदरप्रविष्टमपि मांसमुद्गारयति तद्वन्मायाशल्यमन्तर्लीनं निस्सारयत्यवपीडकः ॥

सामप्रयोगेण सम्यगालोचयति च क्षपके दंडभेदौ प्रयोक्तव्यावित्युपदेष्टुं सदृष्टान्तमाचष्टे—

मूलारा—तो सामप्रयोगानंतरं । उप्पीलेदव्वा उत्पीडयितव्याः । उद्गारणीया अंतर्निगूढास्तन्मुखेन निःसारणीया इत्यर्थः । तथा हि अहो स्वापराधारकुटवादिन् अपसरास्मत्सकाशात् । भिषग्भिरिव निर्व्याधेः किमस्माभिर्भवतः प्रयोजनं । रत्नत्रयातिचारान्निराकर्तुमिच्छता हि गुरवः समाश्रयणीयाः । भवतश्च रत्नत्रयशुद्धिकरणे नास्त्यादरः । तत्किमनया क्षपकत्वविडम्बनया? न हि चतुर्विधाहारपरिहारमात्रायत्ता सल्लेखनेयमपि तु कषायसल्लेखनायत्ता । तद्वत्संवरो

निर्जरा च । कराया अभिनवकर्मादाने तत्स्थितिविधाने च समुद्यता मुमुक्षुभिरपक्षेप्याः । तेषु च माया नियतमा तिर्यग्योनिपरिवर्तनप्रबंधनत्वात् । मायां न त्यक्तुमसमर्थोऽसि त्वं । प्रविष्टस्य च तिर्यग्भवावर्तं संसारवारणारंभवतस्ते निःसरणमतिदुष्करं । पत्रमात्रपरित्यागेनैव निर्ग्रंथताभिमानोद्वहनं च न न्याय्यं । एवं सति हि तिर्यंचोऽपि निर्ग्रंथाः स्युः । चतुर्दशाभ्यान्तरग्रंथग्रंथिनिर्मथनं हि भावनैर्ग्रंथ्यमनुशासति धर्मतीर्थप्रणेतारस्तदेव च मुक्तेः सत्य उपायः । दशविधबाह्यग्रंथत्यागस्तु भावनैर्ग्रंथ्यसिद्ध्यंगत्वे नैवोपयोगी मुमुक्षोः । न खलु जीवपुद्गलद्रव्यमात्रप्रत्यासत्तिमात्रः कर्मबंधः । किं तर्हि तन्निमित्तकजीवपरिणामकारणकः । न चातिचारवन्ति सम्यक्त्वादीनि मुक्तेरुपायः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति जैनं वचः किं न भवतः श्रुतिगोचरतामवातरत् । तत्र च समीचीनतां दर्शनादीनां निरतिचारतां व्याचक्षते । सा च गुरुप्रदिष्टप्रायश्चित्ताचरणेनैव संपाद्या । गुरवश्च कृतालोचनायैव प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति । ततो भवान्दूरभव्योऽभव्य एव वा, कथमन्यथेत्थं महन्मायाशल्यं अन्तर्वहति । कथं चैवं यतिजनवंदनामर्हसि । 'समणं वंदिज्ज मेधावी संजदं सुसमाहिदं' इति वचनात् । जीवितमरणयोर्लाभालाभयोर्निंदाप्रशंसयोश्च समानचित्ततया समानोऽनुमन्यते । अतीचारालोचने मां निंदति न प्रशंसतीति भवता नालोच्यते तत्कथं समानोऽसि, कथं वा वंद्यः ? किं च मद्दोषं न कश्चिल्लोके जानाति किं त्वहमेवैको जानामीति मां मंस्थाः । यतोऽत्र यदा यो दोषो मूलोत्तरगुणादिगोचरो भवता कृतस्तमहं जानाम्यन्येऽपि यत्यश्चेति । वामेदीत्यादि । सिंहो यथा शृगालमुदरप्रविष्टमपि मांसमुद्गालयत्येवं मायाशल्यं क्षपकस्यान्तर्लीनं निःसारयत्युत्पीडक इति तात्पर्यं ।

अर्थ--अवपीडगुणधारक आचार्य क्षपकके दोषोंको जबरी से बाहर निकालते हैं. जैसे सिंह सियालके पेटमें भी चला गया मांस वमन करवाता है तैसे तेजस्वी अवपीडक गुणके धारक आचार्य क्षपकके दोष सब बाहर निकालते हैं. वे उसको इस तरह भाषण करते हैं–हे मुने ! तुम हमारे पास मत रहो यहांसे हट जाओ. हमसे क्या तुमारा प्रयोजन है ? जिसको अपने शरीरका मल धो डालनेकी इच्छा है वह पुरुष कांचके समान सुंदर स्वच्छ पानी जिसमें है ऐसे सरोवरमें जाता है. जो पुरुष महारोग से पीडित है वह उसका नाश करनेकेलिये वैद्यको शरण जाता है. वैसे जिसको अपने रत्नत्रयमें लगे हुए दोष दूर करनेकी इच्छा है वह पुरुष गुरुओंका आश्रय करता है. परन्तु तुमको तो रत्नत्रयको निर्मल करनेकी इच्छा है ही नहीं अतः यह क्षपकका वेष व्यर्थ क्यों धारण किया है. चार प्रकारके आहारका त्याग करने मात्रसे सल्लेखना नहीं होती है, परन्तु कषायोंका त्याग करनेसे सल्लेखना

होती है. इस सल्लेखनासे ही संवर निर्जरा होते हैं. कपायोंसे नवीन कर्मोंका ग्रहण होता है, बंध होता है, और स्थिति होती है. अतः इनको आत्मासे हटाना चाहिये. सब कपायोंमें माया बडी खराब है. यह प्राणिओंको तिर्यग्योनीकी प्राप्ति करा देती है. 'माया तैर्यग्योनस्य' ऐसा तत्त्वार्थशास्त्र में उल्लेख है. यदि तुम इस मायाका त्याग न करोगे तो इस भवसमुद्रमें तिर्यग्गतिके भोवरेमें पडकर खूब भ्रमण करोगे. फिर वहांसे छूटना बडा ही कठिन हो जायगा. केवल वस्त्रमात्रका त्याग करनेसे तुम अपनेको निर्ग्रंथ मुनि समझ रहे हो परंतु याद रखो कि केवल वस्त्रके त्यागसे निर्ग्रंथता की प्राप्ति नहीं होती है. क्योंकि पशु भी निर्वस्त्र अर्थात् नग्न रहते हैं. उनको भी निर्ग्रंथ मानना पडेगा. मिथ्यात्व, क्रोधादिक चार कपाय, और हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, ऐसे चौदा अभ्यंतर परिग्रहोंका त्याग करनेसे भावनिर्ग्रंथताकी प्राप्ति होती है. यही मोक्षलाभके लिये उपाय है. अभ्यंतर परिग्रहका त्याग बाह्य परिग्रहत्यागके लिये उपयोगी है.

केवल जीव और पुद्गलोंका सान्निध्य होनेसे कर्मबंध नहीं होता है. परंतु कर्मबंधनके लिये योग्य जीवपरिणामही उसके आधार हैं. अतिचारयुक्त सम्यग्दर्शनादिक जीवको मोक्षकी प्राप्ति कर देनेमें समर्थ नहीं है. 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' अर्थात् रत्नत्रयकी पूर्णता होना मुक्तिप्राप्तिका उपाय है. क्या यह जिनेश्वरका वचन तुमने नहीं सुना है ? ज्ञान दर्शन और चारित्रका उत्तम पालन करनेसे ही निरतिचारपना प्राप्त होता है. गुरुओंने कहे हुए प्रायश्चित्तका पालन करनेसे वह निरतिचारपना प्राप्त होता है. गुरु भी जिन्होंने अपने दोषोंकी आलोचना की है उनकोही प्रायश्चित्त देते हैं. तुम तो दूर भव्य अथवा अभव्य हो ऐसा हम समझते हैं. यदि तुम आसन्नभव्य होते तो तुम्हारेमें यह बडा मायाशल्य क्यों रहता ? तुम मुनिजनकेलिये वंदनीय नहीं है. समणं वंदेज्ज मेधावी संजदं सुसमाहिदं, अर्थात् जीवित और मरण, लाभ और अलाभ निंदा और प्रशंसामें जिसका मन समान रहता है वही समान कहा जाता है. अतिचारका निरूपण करने पर मेरी निंदा करेंगे प्रशंसा न करेंगे ऐसा तुम मनमें विचार कर रहे हो इस लिये तुमको समान मानना व्यर्थ है. इस वास्ते तुम वंद्य नहीं है. ऐसा भाषण करके अवपीडक आचार्य क्षपकके सब व्रताद्यतिचार बाहर निकलवाते हैं. उसके हृदयमें जो मायाशल्य बैठा था उसको बाहर निकालवाते हैं.

इदंगयपीडको भयतीत्याचष्टे—

उज्जस्सी तेजस्सी वच्चस्सी पहिदकित्तियायरिओ ॥
सीहाणुओ य भणिओ जिणेहिं उप्पीलगो णाम ॥ ४७८ ॥

कंठीरव इवौजस्वी तेजस्वी भानुमानिव ॥
चक्रवर्तीव वर्चस्वी सूरिरुत्पीडकोऽकथि ॥ ४९२ ॥

स तर्हि कीदृगुत्पीडको भवति इति प्रश्ने सत्याह—

मूलारा—ओजस्सी बलवान् । तेजस्सी प्रतापवान् यतः सर्वोऽपि बिभेति परैः स्वैरचाधृष्य इत्यर्थः । वच्चस्सी प्रश्नोत्तरदानकुशलः । सीहाणुगो सिंहसमानः अक्षोभ्य इत्यर्थः ॥

अवपीडक आचार्यका लक्षण आचार्य कहते हैं—

अर्थ—उत्पीलक गुणधारक आचार्य ओजस्वी, बलवान् और तेजस्वी प्रतापवान् होते हैं. अर्थात् उनसे स्वसंघके मुनि और परसंघके भी-भययुक्त होते हैं. अर्थात् सर्व मुनिओंपर वे अपना रोब जमानेवाले होते हैं. स्वसंघ और परसंघके मुनि उनकी आज्ञा नहीं उल्लंघते हैं. वे वचस्वी अर्थात् प्रश्नका उत्तर देनेमें कुशल होते हैं. उनकी कीर्ति चारो दिशाओंमें रहती है वे सिंह समान अक्षोभ्य रहते हैं. वे किसीको डरते नहीं है.

विजयोदया—यो यद्धितकामस्स तं बलात्तत्र प्रवर्तयति । यथा हिता माता बालं घृतपाने । इत्येतदुत्तरसूत्रेणाचष्टे—

पिल्लिदूण रडंतं पि जहा बालस्स मुहं विदारित्ता ॥
पज्जेइ घदं माया तस्सेव हिदं विचिंतंती ॥ ४७९ ॥

यथावष्टभ्य हस्ताभ्यां विदार्य वदनं घृतं ॥
बालं पाययते माता रटंतं हितकारिणी ॥ ४९३ ॥

विजयोदया—पिल्लिदूण मुहं विदारित्ता घदं पज्जेदि यथा जननी बालहितचिंतोद्यता पूत्कुर्वन्तमपि बालं अवष्टभ्य मुखं विदार्य घृतं पाययति । दार्ष्टान्तिकेन योजयति ॥

यो यद्धितमिच्छति स तं बलादपि तत्र प्रवर्तयति यथा माता बालं घृतपाने इति समर्थयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—पेल्लिदूण हस्ताभ्यामवष्टभ्य । रडंतंपि पूत्कुर्वन्तमपि । पायेदि पाययति ॥

जो जिसका हित करना चाहता है वह उसको हितके कार्यमें बलात्कारसे प्रवृत्त करता है. जैसे हित करनेवाली माता अपने बालकको घृत पिलानेमें प्रवृत्त होती हैं.

यह अभिप्राय आगेके सूत्रमें आचार्य कहते हैं.

अर्थ—जैसे बालकको हित करनेवाली माता बालक रोता है तो भी उसको पकडकर और उसका मुख बलात्कारसे उघाडकर उसको घृत पिलाती है. उत्पीडक आचार्य भी वैसी ही प्रवृत्ति करते हैं. यह बात आगेकी गाथामें आचार्य प्रकट करते हैं—

तह आयरिओ वि अणुज्जयस्स खवयस्स दोसणीहरणं ॥
कुणदि हिदं से पच्छा होहिदि कडु ओसहं वत्ति ॥ ४८० ॥

अवपीड्य तथोत्पीडी हितारोपपरायणः ॥
अनृजुं क्षपकं सूरिर्दोषं त्याजयतेऽखिलम् ॥ ४९४ ॥

विजयोदया—तह तथा । आयरिओ आचार्योऽपि । अणुज्जयस्स खवगस्स अनृजो क्षपकस्य । दोसणीहरणं कुणइ मायाशल्यनिरासं करोति । कडुगोसधं वत्ति कडुकमौषधमिव। से तस्य । पच्छाहिदं होदि पश्चाद्धितं भवतीति ॥

दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकेन योजयन्नाह—

मूलारा—अणुज्जगस्स अनृजोः । दोसणीहरणं । मायाशल्यनिरासं । कडुगोसहं वत्ति कटुकौषधमिवेति ॥

अर्थ—आचार्य भी मायाचार धारण करनेवाले क्षपकको जबरदस्ती से दोषोंकी आलोचना करनेमें बाध्य करते हैं तब वह दोष कहता है कडु औषधि जैसे रोगीमनुष्य का सेवन करनेके नंतर कल्याण करती है वैसे दोषोंकी आलोचना करनेसे क्षपकका कल्याण होता है. अर्थात् आलोचनासे भविष्यत्कालीन संसारपरिभ्रमणसे वह मुक्त होता है.

यो न निर्भर्त्सयति दोषं दृष्ट्वापि प्रियमेव वक्ति स गुरुः शोभन इति न भवद्भिर्मंतव्यमित्युपदिशति—

जिब्भाए वि लिहंतो ण भद्दओ जत्थ सारणा णत्थि ॥
पाएण वि ताडितो स भद्दओ जत्थ सारणा अत्थि ॥ ४८१ ॥

भद्रः सारणया हीनो न लिहन्नपि जिह्वया ॥
ताडयन्नपि पादेन भद्रः सारणया युतः ॥ ४९५ ॥

विजयोदया—जिब्भाए वि लिहंतो जिह्वया स्वादयन्नपि न भद्दगो नैव भद्रकः । जत्थ सारणा णत्थि । यस्मि-न्गुरौ दोषनिवारणा नास्ति । पायण वि ताडितो पादेन ताडयन्नपि स भद्दगो स सूरिर्भद्रकः । सारणा जत्थ अत्थि सारणा गुरौ यत्र विद्यते ॥

दोषं दृष्ट्वापि त्वां न निर्भर्त्सयति अपि तु प्रियमेव ब्रवीति स गुरुः शोभन इति त्वया न मंतव्य इत्युपदिशति—

मूलारा—लिहन्तो स्वादयन् प्रियवचनादिभिः सुखयन्नपीत्यर्थः । सारणा दोषनिवारणा गुणप्रवर्तनं वा ।

जो शिष्योंके दोष देखकर भी प्रिय ही बोलता है. निर्भर्त्सना करता नहीं है वह गुरु उत्तम है ऐसा हे मुने ! तुम मनमें मत समझो. ऐसा आचार्य उपदेश करते हैं—

अर्थ—जो गुरु शिष्योंको दोषोंसे निवारण नहीं करते हैं वे जिव्हासे मधुर भाषण बोलें तो भी वे शिष्यों-का अकल्याणही करनेवाले मानना चाहिये. जो गुरु लातोंसे शिष्योंका समाचार लेता है परंतु जो दोषोंसे शिष्योंको अलिप्त रखता है वही गुरु हित करनेवाला समझना चाहिये.

सारणकस्य सूरेर्भद्रताप्रकटनाय गाथा—

सुलहा लोए आदट्ठचिंतगा परहिदम्मि मुक्कधुरा ॥
आदट्ठं व परट्ठं चिंतंता दुल्लहा लोए ॥ ४८२ ॥

परकार्यपराचीनाः सुलभाः स्वार्थकारिणः ॥
आत्मार्थमिव कुर्वाणाः परार्थमपि दुर्लभाः ॥ ४९६ ॥

विजयोदया—सुलभा लोए आदट्ठचिंतगा सुलभाः प्रचुराः । लोए लोके । आदट्ठचिंतगा स्वकार्थे तत्पराः । परहिदम्मि मुक्कधुरा परहितकरणे अलसाः । आदट्ठं व आत्मप्रयोजनमिव । परट्ठं चिंतंता परप्रयोजनचिंतासमुद्यताः लोके दुर्लभाः ॥

सारकत्वसूरिदुर्लभत्वख्यापनार्थमाह—

मूलारा—डुलभाः प्रचुराः । आदट्ठचिंतया स्वकार्यचिंतनपराः । मुक्कधुरा अलसाः आदट्ठंव स्वकार्यमिव ॥

दोषोंसे निवारण करनेवाले आचार्यकी भद्रता प्रकट करते हैं—

अर्थ—इस जगतमें अपने कार्यमें ही तत्पर रहनेवाले और परहित करनेके कार्यमें अलसी ऐसे ही लोक बहुत हैं अपने हितके समान परहितकी चिन्ता करनेवाले लोक अतिशय विरल हैं.

आदट्ठमेव चिंतदुमुट्टिदा जे परट्ठमवि लोगे ॥
कडुय फरुसेहिं साहेंति ते हु अदिदुल्लहा लोए ॥ ४८३ ॥
ये स्वार्थं कर्तुमुद्युक्ताः परार्थमपि कुर्वते ॥
कटुकैः परुषैर्वाक्यैस्ते तरां सन्ति दुर्लभाः ॥ ४९७ ॥

विजयोदया—आदट्ठमेव चिंतदुमुट्ठिदा आत्मीयमेव प्रयोजनं चिंतयितुमुत्थिताः। जे ये। परट्ठमवि परप्रयोजनमपि कडुगफरुसेहिं कटुकैः परुषैः वचनैः। साधेंति साधयन्ति लोके। अतिदुल्लहा अतीव दुर्लभाः ॥

अमार्गनिवारकाणामतिदुर्लभत्वमाह—

मूलारा—उट्ठिदा उद्युक्ताः । कडुगफरुसेहिं कटुकपरुषैर्वचनैश्चेष्टितैश्च दोषान्निवर्तयितुं प्रयुक्तैः । साधेंति ज्ञापयन्ति निष्पादयन्ति वा ।

अर्थ—जो पुरुष आत्महित करनेके लिये कटिबद्ध होकर आत्महितके साथ कडु और कठोर वचन बोलकर परहित भी साधते हैं वे जगतमें अतिशय दुर्लभ समझने चाहिये.

सूरिर्यदि नावपीडयेत् नासौ क्षपको मायाशल्यान्निवर्तेत । निर्मायत्वे निरतिचाररत्नत्रये च गुणे न प्रवर्तेत इति आचार्यसंपाद्यमुपकारं प्रकटीकरोति—

खवयस्स जइ ण दोसे उग्गालेइ सुहमेव इदरे वा ॥
ण पियच्चइ सो तचो खवओ ण गुणे य परिणमइ ॥ ४८४ ॥

निवर्तनं न दोषेभ्यो न गुणेषु प्रवर्तनम् ॥
विधत्ते क्षपकः सर्वदोषमत्याजितो यतः ॥ ४९८ ॥

विजयोदया—खवगस्स जइ ण सुहुमे व इदरे वा दोसे ण उग्गालेइ क्षपकस्य सूक्ष्मान् स्थूलान्वा दोषान्यदि नोद्गालयति । सो खवगो तत्तो ण णियत्तइ स क्षपकस्तेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः स्थूलेभ्यो वा दोषेभ्यो न निवर्तेत । नैव गुणे परिणमते । निराकृतदोषे गुणे वाऽपरिणतो कथमाराधकः स्यादाराधनार्थमायातोऽप्यसत्यवपीडके ॥ उप्पीलत्ति गदं ।

सूरेरुत्पीडकत्वाभावे क्षपकस्यापकारमाह—

मूलारा—तत्तो स्थूलसूक्ष्मदोषेभ्यः । निर्मायत्वे निरतिचाररत्नत्रये च ॥

आचार्य यदि कठोर और कटु शब्द बोलकर क्षपकको व्यथित नहीं करेंगे तो वह मायाशल्यसे परावृत्त नहीं होगा. निष्कपटपना और निरतिचाररत्नत्रय पालन करना इन गुणोंमें उसकी प्रवृत्ति न होगी, परंतु क्षपकको आचार्य दोषोंसे परावृत्त करते हैं; यह उनका महान् उपकार है. यही विषय आगेकी गाथामें प्रगट करते हैं—

अर्थ—यदि आचार्य क्षपकके सूक्ष्म अथवा स्थूल दोष उसके हृदयसे बाहर निकालनेका प्रयत्न नहीं करते तो वह क्षपक गुणोंमें कभी प्रवृत्त नहीं होता. दोषोंका नाशकर यदि वह गुणमें प्रवृत्त न होगा तो वह आराधक कैसा होगा ? इस वास्ते आचार्यमें अवपीडक गुण होना ही चाहिये, आचार्य इस गुणके धारक न हो तो आराधनार्थ आया हुआ क्षपक आराधक न होगा.

तह्मा गणिणा उप्पीलएण खवयस्स सव्वदो साहु ॥
ते उग्गालेदव्वा तस्सेव हिदं तहा चेव ॥ ४८५ ॥

नित्योत्पीडी पीडयित्वा समस्तांस्तस्माद्दोषांस्त्याजयेत्तं हितार्थी ॥
व्याधिध्वंसं किं विधत्ते न वैद्यः तन्वन्बाधां व्याधितस्येष्टकारी ॥ ४९९ ॥
इति उत्पीडी ।

उपसंहारमाह—

मूलारा—स्पष्टम् । उत्पीडकः ॥

अर्थ—इस लिये उत्पीडक आचार्यको क्षपकका हित करनेके लिये उसके सब दोष निकालना योग्य है.

एवं अवपीडकतां व्याख्यायावसरमाप्तामपरिस्राविता व्याचष्टे—

लोहेण पीदमुदयं व जस्स आलोचिदा अदीचारा ॥
ण परिस्सवंति अण्णत्तो सो अप्परिस्सवो होदि ॥ ४८६ ॥

दोषो निवेशितो यत्र तप्ते तोयमिवायसि ॥
न निर्याति महासारे स ज्ञातव्योऽपरिस्रवः ॥ ५०० ॥

विजयोदया—लोहेण पीदमुदगं व एवमत्र पदसंबंधः । जस्स आलोइदा दोसा ण परिस्सवंति अण्णत्तो यस्मै कथिता दोषा न परिस्रवन्त्यन्यतः । किमिव लोहेण पीदमुदगंव लोहेन संतप्तेन पीतमिवोदकं । सो सः । एवंभूतोऽपरिस्सवो होदि अपरिस्रावी भवति ॥

अपरिस्राविता दशभिर्गाथाभिर्व्याकर्तुकामः पूर्वं तल्लक्षणार्थमिदमाह—

मूलारा—लोहेण अर्थात् संतप्तेन । पीदं पीतमन्तर्नीतं । ण परिस्सवंति । न प्रकटा भवन्ति । अण्णत्तो अन्यतः अन्यत्रेति यावत् । उक्तं च—

दोषो निवेशितो यत्र तप्ते तोयमिवायसि ॥
न निर्याति महासारे स ज्ञातव्योऽपरिस्रव. ॥

इस प्रकार अवपीडक गुणका वर्णन हुआ. अब अपरिस्राविता गुणका वर्णन करते हैं—

अर्थ—जैसे तपा हुआ लोहका गोला चारो तरफसे पानीका शोषण कर लेता है और वह शोषण किया गया पानी उससे बाहर निकलता नहीं वैसे क्षपकके दोष जो आचार्य सुनकर अपने मनमें ही रखते हैं अन्य जनों को इस क्षपकने ऐसे ऐसे अपराध किये थे ऐसा नहीं कहते हैं वे आचार्य अपरिस्रावी गुणके धारक हैं ऐसा समझना चाहिये.

दंसणणाणदिचारे वदादिचारे तवादिचारे य ॥
देसच्चाए विविधे सव्वच्चाए य आवण्णो ॥ ४८७ ॥

अतिचारास्तपोवृत्तज्ञानसम्यक्त्वगोचराः ॥
मनोवाक्काययोगेन जायंते त्रिविधा यतेः ॥ ५०१ ॥

विजयोदया—दंसणणाणादिचारे य वदादिचारे श्रद्धानस्यातिचारः शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः। ज्ञानस्य अतिचाराः अकाले पठनं, श्रुतस्य श्रुतधरस्य वा विनयाकरणं अनुयोगादीनां ग्रहणे तद्योग्यावग्रहणं, उपाध्याय निह्नवः, व्यंजनानां न्यूनताकरणं, आधिक्यकरणं । अर्थस्य अन्यथाकथनं वा । तपसोऽनशनादेरतिचारः । स्वयं न भुंक्ते। अन्यं भोजयति, परस्य भोजनमनुजानाति मनसा वचसा कायेन च । स्वयं क्षुधा पीडित आहारमभिलषति। मनसा पारणां मम कः प्रयच्छति, क वा लप्स्यामीति चिंता अनशनातिचारः । रसवदाहारमंतरेण परिश्रमो मम नापैति इति वा । षड्जीवनिकायबाधायां अन्यतमेन योगेन वृत्तिः । प्रचुरनिद्रतया संक्लेशकमनर्थमिदमनुष्ठितं मया, संतापकारीदं नाचरिष्यामि इति संकल्प अवमोदर्यातिचारः । मनसा बहुभोजनादरः । परं बहु भोजयामीति चिंता। भुंक्ष्व यावद्भवतस्तृप्तिरिति वचनं, भुक्तं मया यद्वित्युक्ते सम्यक्कृतमिति वा वचनं, हस्तसंज्ञया प्रदर्शनं कंठदेशमुपस्पृश्य वृत्तिपरिसंख्यानस्यातिचाराः। गृहसप्तकमेव प्रविशामि, एकमेव पाटकं दरिद्रगृहमेकं । एवंभूतेन दायकेन दायिकया वा दत्तं ग्रहीष्यामीति वा कृतसंकल्पः । गृहसप्तकादिकादधिकप्रवेशः, पाटांतरप्रवेशश्च । परं भोजयामीत्यादिकः । कृतरसपरित्यागस्य रसातिसक्तिः, परस्य वा रसवदाहारभोजनं, रसवदाहारभोजनानुमननं, वातिचारः। कायक्लेशस्यातपनस्यातिचारः उष्णार्दितस्य शीतलद्रव्यसमागमेच्छा,संतापापायो मम कथं स्यादिति चिंता, पूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रदेशानां स्मरणं, कठोरातपस्य द्वेषः, शीतलादेशादकृतगात्रप्रमार्जनस्य आतपप्रवेशः। आतपसंतप्तशरीरस्य वा अप्रमृष्टगात्रस्य छायानुप्रवेशः इत्यादिकः । वृक्षस्य मूलमुपगतस्यापि हस्तेन, पादेन, शरीरेण वाप्कायानां पीडा। कथं ? शरीरावलग्नजलकणप्रमार्जनं, हस्तेन पादेन वा शिलाफलकादिगतोदकापनयनं'। मृत्तिकार्द्रायां भूमौ शयनं । निम्नेन जलप्रवाहगमनदेशे वा अवस्थानम् । अवग्राहे परंपातः कदा स्यादिति चिंता। वर्षति देवे कदास्योपरमः स्यादिति वा । छत्रकटकादिधारणं वर्षानिवारणायेत्यादिकः। तथा अभ्रावकाशस्यातिचारः । सचित्तायां भूमौ त्रससहितहरितसमुत्थितायां विवरवत्यां शयनं । अकृतभूमिशरीरप्रमार्जनस्य हस्तपादसंकोचप्रसारणं, पार्श्वान्तरसंचरणं, कंडूयनं वा । हिमसमीरणाभ्यां हतस्य कदैतदुपशमो भवतीति चिंता, वंशदलादिभिकपरिनिपतिताद्धिमापकर्षणं, अवश्यायघट्टना वा । प्रचुरवातापातदेशोऽयमिति संक्लेशः । अग्निप्रावरणादीनां स्मरणमित्यादिकः । प्रायश्चित्तातिचारनिरूपणा'—तत्रातिचाराः । आकंपिय अणुमाणियमित्यादिकाश्च । भूतातिचारेऽस्य मनसा अजुगुप्सा । अज्ञानतः, प्रमादात्कर्मगुरुत्वादालस्याद्वेदं अशुभकर्मबंधननिमित्तं अनुष्ठितं, दुष्टुं कृतमिति वचनादिकः प्रतिक्रमणातिचारः । उक्तोभयातिचारसमवायस्तदुभयातिचारः । भावतोऽविवेको विवेकातिचारः । व्युत्सर्गातिचारः । कुतो भवति शरीरममतायामनिवृत्तिः । अशुभध्यानपरिणतिः । कायोत्सर्गदोषाश्च तप अतिचार उक्ताः । एवं छेदस्यातिचारः न्यूनो जातोऽहमिति संक्लेशः, भावतो रत्नत्रयानादानं मूलातिचारः सर्वो द्विप्रकार इत्याचष्टे- देशत्याए विविधे देशातिचारं नानाप्रकारं मनोवाक्कायभेदात्कृतकारितानुमतविकल्पाश्च । सव्वचाए य सर्वातिचारे च आपन्नो आपन्नः ॥

सम्यक्त्वाद्यतिचारान्विविधानस्याचार्याणां विश्वस्तो भिक्षुरालोचयति तत्र परिस्रावी यदि सूरिः स्यात्तदा बहून् दोषान्प्राप्नोति इति वक्तुं गाथात्रयमाह—

मूलारा— देसच्चाए दर्शनादीनामेकदेशभंगे सति । विविहे मनोवाक्कायैः प्रत्येकं कृतकारितानुमननैर्नानात्वं गतान् । सव्वच्चाए सर्वात्मना दर्शनादीनां भंगे । आवण्णो दर्शनाद्यतिचारान्विविधान्प्राप्तो भिक्षु कथयति स्वदोषानिति उत्तरार्द्धेन संबंधः । अन्ये पुनरेवं संबध्नन्ति । दर्शनादीनामतिचारे विविधे आवण्णे प्राप्ते सति । भिक्षुः स्वदोषान्कथयति । तत्र दर्शनातिचाराः शंकादयः प्रागुक्ताः । ज्ञानातिचारास्तु विनयविपर्ययरूपा अकालपठनादयः संशयविपर्ययौ वा । अहिंसादिव्रतानां वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंचेत्यादि तत्वार्थोक्त भावनाहानयः । तपस्त्वनशनादौ सापेक्षस्य तद्देशभंजनमतिचारः ॥ तत्रानशनस्य परं मनसा, वाचा, कायेन वा भोजयतो भुंजानं वा अनुमन्यमानस्य स्वयं वा क्षुत्क्षामतयाहारमभिलषतोऽतिचारः स्यात् । मनसा को मे पारणां प्रदास्यति, क वा लप्स्ये इति चिंता वा सुरसाहारमंतरेण परिश्रमो मम नापैति इति वा । षड्जीवनिकायबाधायां अन्यतमेन योगेन वृत्तिर्वा प्रचुरनिद्रतया संक्लेशो वा । किमर्थमिदमनुष्ठितं मया संतापकारि पुनरिदं नाचरिष्यामि इति संक्लेशो वेति ।

२ अवमोदर्यस्यातिचारो मनसा बहुभोजनादरः । परं बहु भोजयामीति चिंता, भुंक्ष्व यावद्भवतस्तृप्तिरिति वचनं । भुक्तं मया बहिरुक्ते साधु कृतमिति वा वचनं । हस्तसंज्ञया वा प्रदर्शनं कंठदेशमुपस्पृश्येति ।

३ वृत्तिपरिसंख्यानस्यातिचारो गृहसप्तकमेव प्रविशामि इत्येवमादिसंकल्पं कृतवतः परं भोजयामीत्यभिप्रायेण तदधिकप्रवेशादिकः ॥

४ रसपरित्यागस्य रसातिसक्तिः परस्य वा रसवदाहारभोजनाद्भोजनानुमननं चेति ।

५ विविक्तशय्यासनस्य पूर्वोक्तलक्षणहीनवसतौ शयनासनं यथोक्तलक्षणवसतावरतिर्वेत्यादिकः ॥

६ कायक्लेशस्यातापनस्यातिचार उष्णार्दितस्य शीतलद्रव्यसमागमेच्छा, संतापापायो मम कथं स्यादिति चिंता, पूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रदेशानां स्मरणं, कठोरातपद्वेषः, शीतलदेशादकृतगात्रप्रमार्जनस्यातपप्रवेशः । आतापसंतप्तावपुषः ... स्य छायानुप्रवेश इत्यादिकः । वृक्षमूलाधिवासस्य हस्तेन पादेन वा शरीरावलग्नजलकणप्रमार्जनं । तद्वच्छिलाफलकादिगतोदकापनयनं, जलार्द्रायां भूमौ शयनं, निम्नजलप्रवाहगमनदेशे वा अवस्थानं, अवग्रहे वृष्टिः कदा स्यादिति चिंता, वृष्टौ वा कदैतदुपरमः स्यादिति वा, वृष्टिप्रतिबंधाय छत्रादिधारणं वेत्यादिः । अभ्रावकाशस्य हिमवाताभ्यामुपहतस्य कदैतदुपशमः स्यादिति चिंता, वंशदलादिभिरुपरिनिपतितहिमस्यापकर्षणमवश्यायघट्टना वा, प्रभूतवातातपदेशोऽयमिति संक्लेशोऽग्निप्रावरणादीनां स्मरणमित्यादिकः ।

प्रायश्चित्ते आलोचनातिचाराः ' आकंपियमित्यादिना ' वक्ष्यंते । प्रतिक्रमणातिचारः स्वकृतातिचारस्य मनसा अजुगुप्सा, अज्ञानतः प्रमादात्कर्मगुरुत्वादालस्याद्वा इदमशुभकर्मबंधनिमित्तमनुष्ठितं दुष्टं कृतमित्येवमादि जुगुप्सा । अज्ञानतःकरणाभावः । उक्तोभयातिचारसमवाय उभयातिचारः । भयतोऽविवेको विवेकातिचारः । व्युत्सर्गातिचारः अतवःशरीरममताया अनिवृत्तिरशुभध्यानपरिणतिः कायोत्सर्गदोषाश्च । तपसः प्रागुक्ता एव । छेदस्यातिचारो न्यूनो जातोऽहमिति संक्लेशः । मूलातिचारभावतो रत्नत्रयानादानं । एवं विनयादीनां अपि सामान्यलक्षणानुसारेण यथाशास्त्रमतिचाराश्चित्याः ।

अर्थ—सम्यग्दर्शन और ज्ञानमें अतिचार उत्पन्न हुए हों, व्रतमें अतिचार उत्पन्न हुए हो, देशरूप अतिचार उत्पन्न हुए हो अथवा सर्व प्रकारोंसे अतिचार उत्पन्न हुए हो ये सर्व अतिचार क्षपक आचार्य के पास विश्वासयुक्त होकर कहे.

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ऐसे अतिचार हैं. इनका स्वरूप दर्शनविनयके प्रकरणमें लिखा है.

ज्ञानके अतिचार—अकालमें अध्ययन करना, श्रुत और श्रुतधर अर्थात् जैनसिद्धान्तज्ञाता उनका अविनय करना, अनुयोगादिशास्त्रोंका अध्ययन करते समय उस अध्ययन के योग्य नियम धारण करने चाहिये. परंतु वे धारण न करना, जिस उपाध्यायसे शास्त्र पढ लिया हो उसका नाम छिपाना अर्थात् मैं किसीके पास नहीं पढा हूं. स्वयं मेरेको शास्त्रज्ञान स्फुरित हो गया है ऐसा कहना. पढते समय शब्द कम करना और ज्यादा बढाना. अर्थका कथन शास्त्रसे विरुद्ध कहना, ये ज्ञानके अतिचार हैं.

तपके अतिचारोंका वर्णन—स्वयं भोजन नहीं करता है परंतु दुसरोंको भोजन कराता है. कोई भोजन कर रहा हो तो उसको अनुमति देता है. ये अतिचार मन से वचनसे और शरीरसे करना अर्थात् तुम भोजन करो ऐसा कहना, जो भोजन कर रहा है उसको तुम अच्छा करते हो ऐसा कहना ये वचनके द्वारा अतिचार हैं. इसी प्रकारसे शरीरसे और मन से भी अतिचार लगते हैं. भूख से पीडित होनेपर स्वयं मनमें आहारकी अभिलाषा करना, मेरेको पारणा कोन देगा, किसी घरमें मेरी पारणा होगी ऐसी चिंता करना यह अनशन तप में अतिचार है.

रसयुक्त आहारके विना यह मेरा परिश्रम दूर न होगा ऐसी चिंता करना षट्काय जीवोंको मन वचन और शरीर इन तीन योगोंमें से किसी एक योगसे बाधा देने के लिये प्रवृत्त होना. मेरेको बहोत निद्रा आती है. और यह अवमोदर्य नामक तप मैंने व्यर्थ धारण किया है. यह संक्लेशदायक है. संताप उत्पन्न करनेवाला ऐसा यह तप फिर मैं कभी भी न करूंगा ऐसा संकल्प करना ये अवमोदर्य तपके अतिचार हैं.

बहुत भोजन करनेकी मनमें इच्छा रखना, दूसरोंको बहुत भोजन करनेमें प्रवृत्त करूंगा ऐसा विचार रखना, तुम तृप्ति होनेतक भोजन करो ऐसा कहना यदि वह मैंने बहोत भोजन किया है ऐसा कहे तो तुमने अच्छा किया ऐसा बोलना. अपने गले को हाथसे स्पर्शकर यहां तक तुमने भोजन किया है ना ? ऐसा हस्त चिन्ह से अपना अभिप्राय प्रकट करना. ये सब अवमोदर्य तपके अतिचार हैं.

अब वृत्तिपरिसंख्यान तपके अतिचार—मैं सात घरोंमें ही प्रवेश करूंगा, अथवा एक पाटकमें प्रवेश करूंगा, किंवा दरिद्री के गृहमें ही आज प्रवेश करूंगा. इस प्रकारके दातासे अथवा इस प्रकार के स्त्रीसे यदि दान मिलेगा तो लेंगे ऐसा संकल्प कर सात घरसे अधिक घर में प्रवेश करना, दूसरोंको मैं भोजन कराऊंगा इस हेतुसे भिन्न पाटकमें प्रवेश करना, ये वृत्तिपरिसंख्याके अतिचार हैं.

रसपरित्याग तपके अतिचार-रसका त्याग करके भी रसमें अत्यासक्ति उत्पन्न होना, दूसरोंको रसयुक्त आहारका भोजन कराना और रसयुक्त भोजन करनेकी सम्मति देना. ये इस तप के अतिचार हैं.

कायक्लेशतपके आतापनयोगका अतिचार-उष्णसे पीडित होनेपर थंड पदार्थोंके संयोगकी इच्छा रखना, यह संताप मेरा कैसा नष्ट होगा ऐसी चिन्ता उत्पन्न होना, पूर्वमें अनुभवन किये गए शीतल पदार्थोंके स्थानका स्मरण होना, कठोर धूपका द्वेष करना, शरीरको पिच्छीसे स्पर्श न करके ही धूपसे शरीरसंताप होनेपर छायामें प्रवेश करना, इत्यादिक अतिचार आतापनयोगके हैं.

वृक्षमूल योगके अतिचार-इस योगको धारण करनेपर भी अपने हाथसे, पावसे और शरीरसे जलकायिक जीवोंको दुःख देना, अर्थात् शरीरपर लगे हुए जलकण हाथमे पोछना अथवा पावसे. शिलापर अथवा फलकपर संचित हुआ जल अलग करना, गीली मट्टीकी जमीनपर सोना, जहां जलप्रवाह बहता है ऐसे स्थानमें अथवा खोल प्रदेशमें बैठना, वृष्टिप्रतिबंध होनेपर कब वृष्टि होगी ऐसी मनमें चिंता करना, वृष्टि होने-

लगी तो कब इसका उपशम होगा ऐसा संकल्प करना, अथवा वृष्टिका निवारण करनेके लिये छत्र, चटाई वगैरह धारण करना.

अभ्रावकाशके अतिचार–सचित्त जमीनपर, त्रससहित हरितवनस्पति जहां उत्पन्न हुई है ऐसे जमीनपर, छिद्रसहित जमीनपर शयन करना, जमीन और शरीरको पिच्छिकासे स्वच्छ किये विना हाथ और पाय संकुचित करके अथवा फैला करके सोना, एक बाजूसे दुसरी बाजूपर सोना अर्थात् करवट बदलना, अपना अंग खुजलाना, हवा और थंडीसे पीडित होनेपर इनका कब उपशम होगा ऐसा मनमें संकल्प करना, शरीरपर यदि वर्फ गिरा होगा तो वांसके टुकडेसे उसको हटाना, अथवा जलके तुषारोंको मर्दन करना, इस प्रदेशमें धूप और हवा बहुत है ऐसा विचार कर संक्लेश परिणामसे युक्त होना, अग्नि और आच्छादन पत्रोंका स्मरण करना ये सब अभ्रावकाशके अतिचार हैं.

प्रायश्चित्त तपके अतिचार–आकंपित, अनुमानित वगैरे दोष इस तपके अतिचार हैं. ये अतिचार होनेपर इसके विषयमें मनमें ग्लानि न करना, अज्ञानसे, प्रमादसे, तीव्र कर्मके उदयसे और आलस्यसे मैंने यह अशुभकर्मका बंध करनेवाला कर्म किया है. मैंने यह दुष्ट कर्म किया है ऐसा उच्चारण करना प्रतिक्रमणके अतिचार हैं. आलोचना और प्रतिक्रमणके अतिचारोंको उभयतिचार कहते हैं. परिणामोंके द्वारा विवेक न होना यह विवेकका अतिचार है. शरीरपरसे ममता हटाना व्युत्सर्ग तप है. परंतु ममत्व दूर नहीं करना यह व्युत्सर्ग तपका अतिचार है.

अशुभध्यानमें परिणमन होना और कायोत्सर्गके दोष ये तपके अतिचारमें कहे गये हैं.

छेदके अतिचार–मैं न्यून हो गया हूं ऐसा मनमें संक्लेश करना. रत्नत्रयको भावपूर्वक ग्रहण न करना यह मूलका अतिचार है.

अतिचारके देशत्याग और सर्व त्याग ऐसे दो भेद हैं. मन, वचन, शरीर, कृत, कारित और अनुमोदन ऐसे नऊ भेदोंमेंसे किसी एकके द्वारा सम्यग्दर्शनादिकोंमें दोष उत्पन्न होना ये देशत्यागातिचार है और सर्व प्रकार से अतिचार उत्पन्न होना यह सर्वत्यागातिचार है. क्षपकको इसमें अतिचार लग सकते हैं इसलिये वह गुरुके समक्ष इसमें आचोलना करे.

आयरियाणं वीसत्थदाए भिक्खू कहेदि सगदोसे ॥
कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेसिं कहेदि ते दोसे ॥ ४८८ ॥

विश्वस्तो भाषते सर्वानाचार्याणामसौ न सः ॥ (?)
आचार्यो भाषतेऽन्येभ्यस्तां स्तुवन् स्विदधार्मिकः ॥ ५०२ ॥ (?)

विजयोदया—आइरियाण आचार्याणां। भिक्खु। कहेदि कथयति। वीसत्थदाए विश्वासेन। किं ? सगदोसे स्वातिचारान्। कोई पुण कश्चित्पुनराचार्यपाशः। णिद्धम्मो निष्क्रान्तो बहिर्भूतो जिनप्रणीताद्धर्मात्। अण्णेसिं अन्येभ्यः। कहेदि ते दोसे कथयति आलोचितान्दोषान्। अनेन किलायमपराधः कृत इति।

मूलारा—वीसत्थदाए विश्वासेन। कहदि अनेन किलायमपराधः कृत इति परेभ्यः प्रकाशयति।

अर्थ—आचार्योंके आगे कोई क्षपक विश्वास रखकर ये आचार्य मेरे दोष अन्योंको नहीं कहेंगे ऐसा विश्वास रखकर कहता है. परंतु कोई आचार्य जिनप्रणीत धर्मसे बाहिर होकर इसने अमुक दोष किया है ऐसा अन्यजनोंको कहते हैं. अन्यजनोंको क्षपकके दोष कहनेवाले आचार्य जिनधर्मभ्रष्ट हो गये ऐसा समझना चाहिये. क्षपक तो विश्वाससे कहता है और ये उसका भंडाफोड सर्व लोगोंके समक्ष करते हैं. ऐसा करना जैनधर्ममें निषिद्ध माना है.

तेण रहस्सं भिंदंतएण साधू तदो य परिचत्तो ॥
अप्पा गणो य संघो मिच्छत्ताराधणा चेव ॥ ४८९ ॥

रहस्यभेदिना तेन त्यक्ताः कल्मषकारिणा ॥
साधुरात्मा गणः संघो मिथ्यात्वाराधना कृता ॥ ५०३ ॥

विजयोदया—तेण तेन। रहस्सं भिंदंतएण प्रच्छन्नालोचितदोषप्रकाशनकारिणा। साहू साधुः। तदो य परिचत्तो ततस्तु परित्यक्तः। स्वदोषप्रकाशने कृते मया लज्जावानयं दुःखितो भवति। आत्मानं वा घातयेत्। कुपितो वा रत्नत्रयं त्यजेत्। इति स्वचित्तेऽकुर्वता परित्यक्तो भवति। अप्पा परिचत्तो, गणो परिचत्तो, संघो परिचत्तो, इति प्रत्येकाभिसंबंधः। मिच्छत्ताराहणा चेव मिथ्यात्वाराधना दोषो भवति ॥

मूलारा—रहस्सं प्रच्छाद्यमालोचितदोषं । भिंदंतएण प्रकाशयता । सगो सः आलोचितस्वदोषः । परिचत्तो स्वगुरुणैव त्यक्तः । पुनरभेद्यावलोकिनं । मिच्छत्ताराधना मिथ्यात्वमुत्पादितं स्यादात्मन इत्यर्थः । प्रकाशयति ॥

अर्थ-क्षपकके आलोचित दोष आचार्यको प्रकट करना योग्य नहीं है परंतु यदि उसने प्रकट किये तो क्षपक साधुका उसने उसी समय त्याग किया ऐसा समझना चाहिये. मैं यदि इसके दोष प्रकट करूं तो यह लज्जावान् क्षपक अपने मनमें दुःखित होगा, यह अपना घात करेगा, क्रोधी बनकर रत्नत्रयधर्मका त्याग भी कर देगा. ऐसा विचार मनमें लाकर क्षपकके दोष कहना उनके लिये योग्य नहीं था. दोष कहनेसे आत्मत्याग, गणत्याग और संघत्याग आचार्यने किया और वे मिथ्याराधक बन गये ऐसा मानना चाहिये.

कथं साधुः परित्यक्तो भवतीत्याचष्टे—

लज्जाए गारवेण व कोई दोसे परस्स कहिदोत्ति ॥
विप्परिणामिज्ज उधावेज्ज व गच्छाहि वा णिज्जा ॥ ४९० ॥

रहस्यस्य कृते भेदे पृथग्भूयावतिष्ठते ॥
कोपतो मुंचते वृत्तं मिथ्यात्वं वा प्रपद्यते ॥ ५०४ ॥

विजयोदया—लज्जाए लज्जया । गारवेण व गुरुतया वा । कोई कश्चित् । दोसे दोषान् । परस्स परस्मै । कहिदो त्ति कथितोऽपि । विप्परिणामेज्ज पृथग्भवेत् । नायं मम गुरुः प्रियो यदि स्यात्किं मदीयान्दोषानिगदति । मदीया बहिश्चराः प्राणा गुरुरयमिति या संभावना साद्य नष्टेति चिंता विपरिणामः । उधाविज्ज वा त्यजेद्वा रत्नत्रयं दोषप्रकटनेन कुपितः । गच्छेज्ज वा गणांतरं प्रविशेत् ॥

कथं साधुः परित्यक्त इत्याह —

मूलारा—गारवेण मानगुरुत्वेन । परस्स परस्य । विप्परिणामेज्ज विपरीतं परिणमेत । पृथग्भवेत् नायं मम गुरुः । प्रियो यदि स्यात्किं मदीयान्दोषानिगदेत् । मदीया बहिश्चराः प्राणा गुरुरयमिति संभावना साद्य नष्टेति चिंता हि विपरिणामः । अयमर्थः निर्यापकाचार्येण परस्मै गुह्ये कथिते सति कश्चित्क्षपको लज्जया गारवेण वा विपरिणमेत । उधावेज्ज व त्यजेद्वा रत्नत्रयमिति शेषः । गच्छादि वा णिज्जा गच्छाद्वा निर्यायात् । गणाद्वा निर्गच्छेत् । गणांतरं प्रविशेदित्यर्थः । उधावेज्ज व गच्छेज्ज मिच्छत्तमिति पाठे त्यजेद्वा चारित्रं गच्छेद्वा मिथ्यात्वमिति व्याख्येयम् । तथा चोक्तं—

रहस्यस्य कृते भेदे पृथग्भूयावतिष्ठते ॥
कोपतो मुंचते वृत्तं मिथ्यात्वं वा प्रपद्यते ॥

उन्होंने साधुका त्याग किया ऐसा समझना चाहिये. उसका स्पष्टीकरण—

अर्थ—आचार्य क्षपकके दोष अन्य मुनिओंको कहने पर क्षपक लज्जासे अथवा गर्वसे ये गुरु मेरेको हितकर नहीं जंचते हैं यदि ये हितकर होते तो मेरे दोष क्या अन्य जनोंके समक्ष ये प्रगट करते ? मैं आजतक ये गुरु मेरे बाह्य प्राण हैं ऐसा समझता था परंतु आज वह समझना निर्मूल है ऐसा अनुभव मेरेको आया है. दोषके कहनेसे गुरुके विषयमें क्षपकके उपर्युक्त परिणाम बन जाते हैं. इतना होकर ही रहता नहीं. परंतु वह क्षपक दोष प्रकट करनेसे कुपित होकर रत्नत्रयका त्याग करनेके लिये उद्युक्त होता है अथवा आचार्यका संघ छोडकर अन्य संघ में प्रवेश करता है.

आत्मपरित्यागं व्याचष्टे—

कोई रहस्सभेदे कदे पदोसं गदो तमायरियं ॥
उद्दावेज्ज व गच्छं भिंदेज्ज वहेज्ज पडिणीओ ॥ ४९१ ॥

मारयत्यथवा सूरिं साधुर्मानग्रहाकुलः ॥
संसारकाननभ्रान्तिं न मन्यंते हि मानिनः ॥ ५०५ ॥

विजयोदया—कोई कश्चित्। रहस्सभेदे कदे रहस्यभेदे कृते। पदोसं गदो प्रद्वेषं गतः। तमायरियं तमाचार्यं। उद्दावेज्ज व मारयेत्। गच्छं भिंदेज्ज गणभेदं कुर्यात्। किमनेन सूरिणा कोहरहितेन, यथा ममापराधं प्रकटितवान् एवं युष्मानपि निरपराधान्दूषयिष्यतीति ब्रुवन्। होज्ज पडिणीओ प्रत्यनीको भवेत्॥

कथमात्मा परित्यक्त इत्यत्राह—

मूलारा—पदोसं प्रद्वेषं। उद्दावेज्ज मारयेत्। गच्छं भिंदेज्ज गच्छं भिंद्यादाचार्यद्रुणस्य भेदं कुर्यात्। यथायं विश्वस्तो ममालोचितदोषं प्रकटीकुर्यात्तथा युष्माकमपि प्रकटयिष्यतीति ब्रुवन्नाचार्यद्रुणस्य विघटनं कुर्यादित्यर्थः। पडिणीगो प्रत्यनीकः प्रतिकूल इत्यर्थः॥

आत्मपरित्याग दोषका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ-आचार्य के द्वारा क्षपकके अपराध सर्वजन समक्ष प्रगट होजाने पर क्षपकके मनमें यदि द्वेष बढ गया तो यह आचार्यको मारेगा अथवा गच्छमें फूट उत्पन्न करेगा अर्थात् इस आचार्यने जैसे मेरे दोष प्रगट किये हैं वैसे यह तुम्हारे दोष भी प्रगट करेगा, निरपराधी ऐसे तुमको यह दूषण लगावेगा. यह आचार्य स्नेहरहित है इसको छोड दो ऐसा बोलकर यह सर्वसंघमें भेदभाव उत्पन्न करेगा तथा आचार्यका शत्रु बन जावेगा.

गणत्यागं कथयति—

जह धरिसिदो इमो तह अम्हं पि करिज्ज धरिसणमिमोत्ति ॥
सव्वो वि गणो विप्परिणमेज्ज छंडेज्ज वायरियं ॥ ४९२ ॥

विश्वस्तो भाषते शिष्यः सूरेरग्रे स्वदूषणम् ॥
परस्याथ पुनर्ब्रूते सदाचारबहिर्भवः ॥ ५०६ ॥
यथायं दूषितोऽनेन दूषयिष्यति नस्तथा ॥
इति क्रुद्धो गणः सर्वः पृथक्त्वं प्रतिपद्यते ॥ ५०७ ॥

विजयोदया—जह धरिसिदो इमो वृथा दूषितोऽयं । तह तथा । अम्हं पि करेज्ज धरिसणमिमोत्ति अस्मान्दूषितान्कुर्यात् अयमिति । विप्परिणमेज्ज पृथग्भवेत् । छंडेज्ज वायरियं त्यजेदाचार्यं त्यजतीति कथ्यते तेन गणस्त्यक्त इति पूर्वसूचितं । ततोऽनयोर्न संगतिरित्यप्रोच्यते । यत एव सूरिणा द्वेषप्रत्याख्यानपरेण त्यक्तोऽसौ तत एव गणस्तं त्यजति ॥

कथं गणः परित्यक्त इत्यत्राह—

मूलारा—धरिसिदो दूषितः गुप्यप्रकाशनेनापकृतः । छंडेज्ज त्यजेत् ।

गणत्यागका वर्णन—

जैसा आचार्यने इस क्षपकको दोष कह करके दूषित किया है वैसा यह हमको भी दूषित करेगा ही ऐसा विचार कर गण भी आचार्यके प्रतिकूल होकर उसका त्याग करेगा. अथवा उससे स्वयं अलग होगा. दोषका कथन करनेवाले आचार्यने गणका त्याग किया ऐसा पूर्वमें कहा है और यहां गण आचार्य को छोड देता है ऐसा कहते

हैं अत यह कथन असंगतसा दीखता है उत्तर—दोषोंका वर्णन करनेवाले आचार्यने यदि गणका त्याग किया तो वह भी आचार्यका त्याग करेगा ही. अत: इस कथनमें असंगतपना नहीं है.

संघस्त्यको भवतीत्येतद्याचष्टे—

तह चेव पवयण सव्वमेव विप्परिणयं भवे तस्स ॥
तो से दिसावहारं करेज्ज णिज्जूहणं चावि ॥ ४९२ ॥

एतस्याचार्यकं संघो विच्छिनत्ति चतुर्विध ॥
निर्घाटयति वा रुष्टो रोपत क्रियते न किम् ॥ ५०८ ॥

विजयोदया—तह चेव पवयण सव्वमेव तथैव प्रवचन संघ सर्व एव प्रोच्यते रत्नत्रय यस्मिन्निति शब्दव्युत्पत्तौ सघवाची भवति प्रवचनशब्द । विप्परिणद विरुद्धतया परिणत प्रवृत्त । हवे तस्स भवेत्तस्य । तो तत । से तस्य । दिसापहरण करेज्ज कुर्यात् सघ । णिज्जूहण वावि करेज्ज इति पदसबध । परित्याग वा कुर्यात् ॥

कथं संघ परित्यक्त इत्यत्राह—

मूलारा—पवयणं प्रवचनशब्दोऽत्र संघवाची प्रोच्यतेऽस्मिन्रत्नत्रयमिति व्युत्पत्तेः । विप्परिणदं विरुद्धतया प्रवृत्त । तो ततो विपरिणमनाद्धेतो । से तस्य रहस्यभेदकस्य । दिसापहरणं आचार्यपदभ्रंशनं । णिज्जूहणं निर्घाटनं । उक्तं च–

एतस्याचार्यकं संघो विच्छिनत्ति चतुर्विध ॥
निर्घाटयति वा रुष्टो रोपत. क्रियते न किम् ॥

सघका त्याग भी होता है ऐसा वर्णन—

अर्थ—जिसम रत्नत्रयका प्रवचन-उपदेश किया जाता है ऐसे जनसमुदायका नाम संघ है. अर्थात् मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इनको संघ कहते हैं यह सब सघ दोष प्रगट करनेवाले आचार्य से विरुद्ध होकर उसका आचार्यपद हरण करेंगे. अथवा उसका त्याग करेंगे.

मिथ्यात्वाराधनाप्रतिपादनार्था गाथा—

जदि धरिसणमेरिसयं करेदि सिस्सस्स चेव आयरिओ ॥

धिद्धि अपुट्ठधम्मो समणोत्ति भणेज्ज मिच्छजणो ॥ ४९४ ॥

आचार्यो यत्र शिष्यस्य विदधाति विडंबनां ॥

धिक्तान्निर्धर्मकान्साधूनिति वक्ति जनोऽखिल ॥ ५०९ ॥

विश्वासघातका एव दुष्टाः सन्ति दिगंबराः ॥

ईदृशीं कुर्वते निंदां मिथ्यात्वाकुलिता जनाः ॥ ५१० ॥

विजयोदया—जइ धरिसणमेरिसय यदि दूषण एवभूत । करेदि करोति । सिस्सस्स चेव शिष्यस्यैव । क मागर्य । धिद्धि अपुट्ठधम्मो समणोत्ति भणिज्ज धिग्धिग् अपुष्टधर्मान् श्रमणान् । इति भणेज्ज मिच्छजणे यदेमिथ्यादृग्जिन ॥

मिथ्यात्वाराधनाद्वारायात जनापवादमाह —

मूलारा—धरिसण धर्षण विडम्बना। धिद्धी धिग् धिग् । अपुट्ठधम्मे अपुष्टधर्मणः निर्धर्मकान् श्रमणान् दिगंबरान्। तथा चोक्तम्—

आचार्यो यत्र शिष्यस्य विदधाति विडंबनाम् ॥

धिक्तान्निर्धर्मकान्साधूनिति वक्ति जनोऽखिल. ॥

दोष प्रगट करनेसे मिथ्यात्वकी आराधना होगी ऐसा वर्णन—

अर्थ—यदि आचार्य दोष प्रगट कर शिष्यको दूषित करेंगे तो मिथ्यात्वी लोक ये जैनमुनि अपने धर्मको पुष्ट नहीं बना सकते हैं. अपने हाथसे ये अपने धर्मका नाश करते हैं ऐसे वचन बोलकर धिक्कार करेंगे. इस लिये दोष प्रगट करना यह कार्य धर्मविध्वंसक है ऐसा समझना चाहिये

प्रस्तुतापरिस्राविताप्रसद्धारगाथा प्रसिद्धार्था-

इच्चेवमादिदोसा ण होंति गुरुणो रहस्सधारिस्स ॥

पुट्ठेव अपुट्ठे वा अपरिस्साइस्स धीरस्स ॥ ४९५ ॥

पृष्टोऽपृष्टोऽपि यो ब्रूते न रहस्यं कदाचन ॥
इत्यादयो न विद्यन्ते दोषास्तस्य गणेशिनः ॥ ५११ ॥
इति विमुच्य रहस्यविभेदकं भजत गुह्यनिगूहकमंजसा ॥
न हि विशुद्धहिताहितवस्तवो हितमपोह्य भजंत्यहितं जनाः ॥ ५१२ ॥

इति अपरिस्रवः ।

विजयोदया – इच्चेवमादि दोसा इति । अप्परिस्सवं तु गदं ॥

मूलारा—पुट्ठे व अपुट्ठे वा अपरिस्साइस्स किमनेनालोचितमिति परेण पृष्टे प्रश्रे कोऽपृष्टे वा अपरिस्राविणो गुह्यमकथयतः । धीरस्य स्वरूपचेष्टादिना विकारमगच्छतः । अयमत्राभिप्रायो–यः शिष्योक्तं दोषं पृष्टोऽपृष्टो वा परस्मै न वक्ति, नापींगितादिना प्रकाशयति स रहस्यधारी सूरिरपरिस्रावीति विख्यातिं बिभ्राणस्तैस्तैर्दोषैर्मनागपि न स्पृशति इति । अपरिस्रावी ॥

अब यहां प्रस्तुत अपरिस्राविता गुणका उपसंहार करते हैं—

अर्थ—जो आचार्य अपरिस्रावि गुणके धारक हैं वे शिष्यके—क्षपकके दोष सुनकर मनमें रख लेते हैं और उनको कोई पूछे वा मत पूछे वे कभी उसके दोष अन्यको कहते ही नहीं. दोष प्रगट करनेसे क्या हानि होती है इसका अपरिस्रावी आचार्य को पूर्ण ज्ञान रहता है. अतः वे कभी दोषप्रगटन नामका धर्मध्वंस करनेवाला कार्य नहीं करते हैं.

णिव्ववगो इत्येतत्सूत्रपदव्याख्यानायोत्तरप्रबंधः—
संथारभत्तपाणे 'यस्य येनाभिसंबंधो दूरस्थस्यापि तस्य सः' इति कृत्वा—

संथारभत्तपाणे अमणुण्णे वा चिरं व कीरंते ॥
पडिचरगपमादेण य सेहाणमसंवुडगिराहिं ॥ ४९६ ॥

शुश्रूषकप्रमादेन शय्यायामासनादिके ॥
संपन्ने दीनवाक्येन शिष्यकाणामसंवृते ॥५१३॥

विजयोदया--इति क्रियाभिः पदसंबंधोऽत्र कार्यः। संस्तरे भक्तपाने वा। अमणुण्णे अमनोज्ञे। कीरंतो क्रियमाणे। कुपिदो कुपितो भवेत्क्षपकः।मेरं वा मर्यादां वा। संथारभत्तपाणे अमणुण्णे वा कीरंते कुविदो हवेज्ज खवगो मेरं वा भेत्तुमिच्छेज्ज। भेत्तुमिच्छेत्। चिरं व कीरंते चिराद्वा संस्तरकरणे भक्तपानानयने वा। पडिचरगपमादेन वा निर्यापकानां वैयावृत्यकरणे यः प्रमादस्तेन वा कुपितो भवेत्। मर्यादां वा आत्मीयां भेत्तुं इच्छेत् । सेहाणमसंवुडगिराहिं अगृहीतार्थानां असंवृताभिः परुषाभिर्वा कुपितो भवेत्॥

निर्यापकत्वमेकादशभिर्गाथाभिर्व्याचिख्यासुरादौ तन्निमित्तसंनिधानादुत्पन्ने क्षपकस्य चित्तसंतापे निर्यापकाचार्येणेत्थंभूतेन सता तच्चित्तं निर्वापणीयमिति गाथात्रयेणाभिधत्ते—

मूलारा – अमणुण्णे अमनोज्ञे अनभिरुचिते। चिरं व चिरेण वा शीघ्रमक्रियमाण इत्यर्थः। कीरंते क्रियमाणे। पडिचरयपमादेण वैयावृत्त्यकराणां तत्कारणानवधानेन। सेहाणं शैक्षाणां। असंवुडगिराहिं परुषाभिः प्रतिकूलाभिर्वाग्भिः।

जिसका जिसके साथ संबंध है वह दूर भी होगा तो भी वह संबंधी पदार्थ उसका ही माना जायगा इस नीतिके अनुसार यहां क्षपकका वर्णन करते हैं—

अर्थ—क्षपककी शुश्रूषा करनेवाले परिचारक संस्तरकी रचना यदि अमनोज्ञ मनोहर—न करेंगे और खाने पीनेके पदार्थ अमनोहर होंगे तो वह क्रोधयुक्त होगा अथवा समाधिमरणके नियमोंका भंग करेगा. किंवा संस्तर करनेमें यदि देर लगेगी तो भी वह कुपित होगा, आहार और पेय पदार्थ लानेमें देरी लग जाय तो कुपित होगा. परिचारकगण शुश्रूषा करनेमें अलसी बन जाने पर उसको कोप उत्पन्न होगा. अथवा अपनी मर्यादा वह छोड देगा. जिनको सल्लेखनाविधि मालुम नहीं है ऐसे असंयमी जनके परुष—कठोर भाषणसे वह क्रोधयुक्त होगा तो उसको क्षमाधारण कर प्रसन्न करना चाहिये.

सीदुण्हछुहातण्हाकिलामिदो तिव्ववेदणाए वा ॥
कुविदो हवेज्ज खवओ मेरं वा भेत्तुमिच्छेज्ज ॥ ४९७ ॥

वेदनायामसह्यायां क्षुत्तृष्णोष्णहिमादिभिः ॥
क्षपकः कोपमासाद्य मर्यादां विबिभित्सति ॥ ५१४ ॥

विजयोदया—सीदुण्हछुहातण्हा किलामिदो शीतेनोष्णेन क्षुधा पीडितः कुपितो भवेत् । तिव्वेवयणाए वा तीव्रवेदनया वा कुपितो मर्यादोल्लंघनेच्छुर्भवेत् ॥

मूलारा—किलामिदो पीडितः । मेरं मर्यादां प्रतिपन्नानुष्ठानम् ।

अर्थ शीत, उष्ण, भूख और प्यास इनसे पीडित होनेसे क्षपकको क्रोध उत्पन्न होता है. अथवा रोग की तीव्रवेदनासे भी विह्वल होकर क्रुद्ध होता है और मर्यादा तोडनेकी इच्छा करता है. उस समय आचार्य उसको शांतचित्त होकर प्रसन्न करते हैं.

णिव्ववएण तदो से चित्तं खवयस्स णिव्ववेदव्वं ॥
अक्खोभेण खमाए जुत्तेण पणट्ठमाणेण ॥ ४९८ ॥

निर्यापकेण शांतेन शमनीयः स सूरिणा ॥
क्षमापरेण वीरेण कुर्वता चित्तनिर्वृतिं ॥ ५१५ ॥

विजयोदया—णिव्ववएण संतोषमुत्पादयता सूरिणा । तदो ततः । से खवयस्स चित्तं तस्य कुपितस्य मर्यादां भेत्तुमिच्छतो वा । चित्तं णिव्वेदव्वं चित्तं प्रशांतिं नेयं । अक्खोभेण चलनरहितेन व्यवस्थावता । खमाए जुत्तेण क्षमया युक्तेन । पणट्ठमाणेण प्रनष्टमानेन । न हि रोषी मानी वा सूरिः परचित्तकलंकं प्रशमयितुं ईहते ततो निःकषायेण भाव्यमिति भावः ॥

मूलारा—णिव्ववगेण संतोषोत्पादकेन । तदो कोपपरिणतिमर्यादाभेदेच्छानंतरं । णिव्ववेदव्वं प्रशमनीयं । अक्खोभेण चलनरहितेन उद्वेगमुक्तेनेत्यर्थः ॥

इसही विषयको आगेकी गाथामें आचार्य स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—संतोष उत्पन्न करनेवाले आचार्य तदनंतर कुपित अथवा मर्यादा तोडनेको जो उतारु हुआ है ऐसे क्षपकका चित्त शांत करते हैं. आचार्य अपना चित्त क्षुब्ध नहीं होने देते हैं. वे स्वयं क्षमाधारण करते हैं. अभिमानका त्याग करते हैं. क्योंकि रोषवाले और अभिमानयुक्त आचार्य दुसरेका मन प्रसन्न करनेमें प्रयत्न नहीं करते हैं. इसलिये आचार्य में कषायका अभाव होना चाहिये. अर्थात् निष्कषाय आचार्य ही क्षपकका क्रुद्ध मन शांत कर सकते हैं ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये.

एवंभूतो निर्वापयतीत्येतद्व्याचष्टे—

अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभत्ते ॥
रदणकरंडयभूदो खुण्णो अणिओगकरणम्मि ॥ ४९९ ॥

बहुप्रकारपूर्वांगश्रुतरत्नकरंडकः ॥
सर्वानुयोगनिष्णातो वक्ता कर्ता महामतिः ॥ ५१६ ॥

विजयोदया—अंगसुदे य श्रुतं पुरुषः मुखचरणाद्यंगस्थानीयत्वादंगशब्देनोच्यते । आचारादिके द्वादशविधे तस्मिन्नंगश्रुते। बहुविहे नानाप्रकारे। आचारं, सूत्रकृतं, स्थानं, समवायः, व्याख्याप्रज्ञप्त्यंगं इत्यादिभेदेन । णो अंगसुदे य अंगबाह्ये वा। बहुविधविभत्ते सामायिकं, चतुर्विंशतिस्तवो, वंदना, प्रतिक्रमणं, वैनयिकं, कृतिकर्म, दशवैकालिकं, उत्तराध्ययनं, कल्पव्यवहारः, कल्पं, महाकल्पं, पुंडरीकं, महापुंडरीकं इत्यादिना विचित्रभेदेन विभक्ते। रयणकरंडयभूदो रत्नकरण्डकभूतः। खुण्णो अणियोगकरणम्मि यथाप्रस्तुतं वस्तु तत्र तत्र सदादिकाद्यनुयोगयोजनायां कुशलः । अनेन ज्ञानमाहात्म्यं सूचितं ॥

इत्थंभूतः सूरिरेव निर्वापयतीत्युत्तरप्रबंधेनाह—

मूलारा—अंगसुदे अंगप्रविष्टप्रवचने। बहुविधे आचारं सूत्रकृतमित्यादिद्वादशविधे । णो अंगसुदे अंगबाह्यश्रुते। बहुविधविभत्ते सामायिकं, चतुर्विंशतिस्तव इत्यादिना चतुर्दशप्रकारविभक्ते। रयणकरंडयभूदो रत्नकरंडकसदृशः। श्रुतरत्नानां रक्षणोपायत्वात्। खुण्णो कुशल । अणिओगकरणम्मि यद्वस्तु प्रस्तुतं तत्र तत्र सदादिकानुयोगयोजनायां। एतेन ज्ञानमाहात्म्यं सूरेःसूचितं ॥

आगेकी गाथामें कहे हुए गुणोंसे युक्त आचार्य क्षपकका मन प्रसन्न कर सकते हैं यह दिखाते हैं—

अर्थ—श्रुतज्ञान पुरुषस्थानीय समझ करके आचारादिकों को मुख, पांव वगैरह अवयवोंके समान समझने से श्रुतज्ञान में अंगकी कल्पना घटित हो जाती है. श्रुतज्ञानके आचारादिक बारा भेद हैं. जैसे आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अंतकृद्दश, अनुत्तरोपपादिक दश, प्रश्नव्याकरण, विपाक सूत्र, दृष्टिवाद. अंगबाह्य श्रुतज्ञानके भी बहुत भेद हैं. जैसे सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक, इत्यादि अनेक भेद हैं. जैसे करंडमें रत्नोंको रखते हैं वैसे ये आचार्य इन आगमरत्नोंको अपने हृदयमें धारण करते हैं इसलिये ये रत्नोंके

करंड के समान शोभते हैं. जो जो प्रस्तुत विषय है उसमें सत्, संख्या, क्षेत्र, इत्यादि अनुयोगोंकी योजना कर उसका विवेचन करनेमें इनकी बुद्धि कुशल रहती है.

वत्ता कत्ता च मुणी विचित्तसुदधारओ विचित्तकहो ॥
तह य अपायविदण्हू मइसंपण्णो महाभागो ॥ ५०० ॥

विजयोदया—वत्ता वक्ता । कत्ता य कर्ता च विनयवैयावृत्त्ययोः । विचित्तसुदधारगो विचित्रं श्रुतं प्रथमानुयोगः, करणानुयोगश्चरणानुयोगो, द्रव्यानुयोग इत्यनेन विकल्पेन । विचित्तकहो विचित्राया: कथायाः निरूपणा अस्य स विचित्रकथः । ननु च 'अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभत्ते' इत्यनेनैव अवगतत्वात् किमनेन 'विचित्तसुदधारगो' इत्यनेन ? नैष दोषः । पूर्वसूत्रे श्रुतकेवली निर्वापकत्वेनोक्तः । अनया तु असमस्तश्रुताचार्योऽपि एवंभूतो निर्वापको भवतीति व्याख्यायते तेन न पुनरुक्तता । तह य तथा च । आपायविदण्हू रत्नत्रयातिचारज्ञः । मइसंपण्णो स्वाभाविक्या बुद्ध्या समन्वितः । महाभागो स्ववशो महात्मा ॥

मूलारा—वत्ता वक्ता प्रतिपादनकुशल । कत्ता कर्ता विनयवैयावृत्त्ययोः । विचित्तसुदधारओ विशिष्टं प्रथमानुयोगादिभेदेन चित्रमाश्चर्यकारि श्रुतकेवलिनिर्यापकैरुक्तं अवधारयता । अथवा विचित्रं श्रुतं परसमयादिशास्त्रं । विचित्त कधो विचित्रया कथया निरूपकः । न चैतयो. पौनरुक्त्यं शंक्यं पूर्वसूत्रे हि श्रुतकेवली निर्यापक उक्तः, इह पुनर्युगानुरूपश्रुतधरोऽपि । आयापायविदण्हू रत्नत्रयातिचारज्ञः । मदिसंपण्णो स्वाभाविकबुद्धिसंयुक्तः । महाभागो स्ववशो महापुण्यो वा ।

अर्थ—ये आचार्य वक्तृत्व गुणसे युक्त होते हैं. विनय और वैयावृत्य करते हैं. प्रथमानुयोग, करणानुयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इस प्रकारके श्रुतज्ञानके धारक होते हैं. नाना प्रकारकी विचित्र कथायें कहने में प्रवीण रहते हैं. शंका—'अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभत्ते' इस गाथामें ही वे महाज्ञानी होते हैं ऐसा सूचित होता है. तो पुनः 'विचित्तसुदधारगो' यह विशेषण क्यों ग्रंथकारने गाथामें दिया है ? इसका उत्तर यह है— पूर्व गाथामें श्रुतकेवली निर्वापकाचार्य होते हैं ऐसा कहा है और इस सूत्रसे असमस्त श्रुतज्ञान जिनको है ऐसे आचार्य भी निर्वापक होते हैं ऐसा सूचित होता है. इसलिये यहां पुनरुक्त दोप नहीं है. यह निर्यापकाचार्य रत्नत्रयके अतिचारोंके ज्ञाता होते हैं, स्वाभाविक बुद्धिमान् होते हैं और जितेन्द्रिय महात्मा होते हैं.

पगदे णिस्सेसं गाहुगं च आहरणहेदुजुत्तं च ॥
अणुसासेदि सुविहिदो कुविदं सण्णिव्ववेमाणो ॥ ५०१ ॥

कथानां कथने दक्षो हेयादेयविशारदः ॥
क्रुद्धं शास्ति यतिर्धीरः प्रकृतप्रतिपादकः ॥ ५१७ ॥

विजयोदया—अणुसासेदि अनुशास्ति । पगदे वक्तुं प्रारब्धे वस्तुनि ॥ णिस्सेसंगाहुगं समस्तमवबोधयन्ननुशासनं करोति । आहरणहेदुजुत्तं च । दृष्टांतेन हेतुना च । युक्तं एतस्माद्धेतोरिदमेवैतदिति युक्त्यानुशास्ति सुविहितो यतिः । कुविदं कुपितं । सण्णिव्ववेमाणो सम्यक्प्रशमयन् सम्यक्प्रसादमुपनयन् ।

मूलारा—पगदे वक्तुं प्रारब्धे वस्तुनि । णिस्सेसं समस्तं हेयमुपादेयं च । गाहुगं ग्राह्यं अथवा । णिस्सेसं गाहुणं समस्तावबोधकं । आहरणहेदुजुत्तं दृष्टान्तेन लिंगेन चोपपन्नं एतस्माद्धेतोरिदमेवैतदिति युक्त्यानुशास्ति इत्यर्थः । कुविदं क्रुद्धं क्षपकयतिं । सण्णिव्ववेमाणो सम्यक्प्रशमयन् ॥

अर्थ— जिस वस्तुका विवेचन करनेके लिये प्रारंभ किया होगा उस वस्तुके समस्त अंगोपांगोंका स्वरूप दृष्टांत और युक्ति देकर कहता है. इस हेतुसे इस वस्तुका ऐसा ही स्वरूप है इसके स्वरूपसिद्धिके लिये ऐसी युक्ति है इत्यादि रूपसे जो कथन करता है वह यति कुपित क्षपकको अपनी मधुर वाणीसे प्रसन्न कर सकता है.

णिद्धं मधुरं गम्भीरं मणप्पसादणकरं सवणकंतं ॥
देइ कहं णिव्ववगो सदीसमण्णाहरणहेउं ॥ ५०२ ॥

गंभीरां मधुरां श्रव्यां शिष्यचित्तप्रसादिनीं ॥
सुखकारी ददात्यस्मै स्मृत्यानयनकारिणीम् ॥ ५१८ ॥

विजयोदया—णिद्धं प्रियवचनबहुलतया स्निग्धं । मधुरं अनतिकठोराक्षरतया मधुरं । गंभीरं अर्थगाढतया । मणप्पसादकरणं मन प्रल्हादविधायिनीं । सवणकंतं श्रुतिसुखं । देदि कधं कथां कथयति । णिव्ववगो निर्वापकः । सदीसमण्णाहरणहेदुं । स्मृतिसमानयनकारणं । पूर्वाभ्यस्तश्रुतार्थगोचरस्मरणं इह स्मृतिरिति गृह्यते मतिवचनो वा । 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थांतरम्' इति वचनात् । तेन बुद्धिसमानयनकारणमित्यर्थः इति केचित् ।

मूलारा—सवणकंतं श्रुतिदुःखं । देदि कथयति । कथं कथां । सदीसमण्णाहरणहेदुं स्मृतिसमन्वाहरणहेतुं स्मृते पूर्वाभ्यस्तमीतार्थगोचरस्य स्मरणस्य मतेर्वा समानयनकारणम् ॥

अर्थ—आचार्य बहुत प्रिय वचन होनेसे स्निग्ध, कठोराक्षर न होनेसे मधुर, बहु अर्थयुक्त होनेसे गंभीर, मनको आनंदित करनेवाली, कर्णको सुख देनेवाली, ऐसी कथा कहते हैं. जिस कथाको सुनकर क्षपकको पूर्वकाल में अभ्यस्त श्रुतज्ञानके विषयका स्मरण होगा ऐसी कथा वे कहते हैं.

णिज्जावगो इत्येतत्सूत्रपदं व्याचष्टे—

जह पक्खुभिदुम्मीए पोदं रदणभरिदं समुद्दम्मि ॥
णिज्जवओ धारेदि हु जिदकरणो बुद्धिसंपण्णो ॥ ५०३ ॥

सुखकारी दधात्येनं मज्जंतं दुस्तरे भवे ॥
पूतरत्नभृतं पोतं कर्णधार इवार्णवे ॥ ५१९ ॥

विजयोदया—जह पक्खुभिदुम्मीए यथा प्रचलिततरंगे । समुद्दम्मि समुद्रे । पोदं पोतं नावं । रदणभरिदं रत्नैर्भरितं णिज्जवगो निर्यापक । धारेदि खु धारयति । जिदकरणो परिचितक्रियः । बुद्धिसंपण्णो बुद्धिसंपन्नः बुद्धिमान् ॥

मूलारा—पक्खुहिदुम्मीगे प्रक्षुभितोर्मिके । पोदं प्रवहणं । णिज्जवगो निर्यापकः कर्णधार इत्यर्थ । जिदकरणो परिचितक्रियः ॥

णिज्जवगो इस सूत्रपदका स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—जिसमें तरंग उछल रहे हैं ऐसे समुद्रमें नौका चलानेका जिसने खूब अभ्यास किया है ऐसा बुद्धिमान नाविक रत्नोंसे भरी हुई नौकाको डूबनेसे रक्षण करता है.

तह संजमगुणभरिदं परिस्सहुम्मीहिं खुभिदमाइद्धं ॥
णिज्जवओ धारेदि हु महुरेहिं हिदोवदेसेहिं ॥ ५०४ ॥

शीलसंयमरत्नाढ्यं यतिनावं भवार्णवे ॥
निमज्जंतीं महामाज्ञो बिभर्ति सूरिनाविकः ॥ ५२० ॥

विजयोदया—तह संजमगुणभरिदं तथा संयमेन गुणैश्च भरितं संपूर्णं । संयमस्य सर्वेभ्यो गुणेभ्यः प्रधानत्वात् संयमशब्दस्य पूर्वनिपातः । परिस्सहुम्मीहिं क्षुत्पिपासादयस्तानि परीषहास्ते । ऊर्मय इवानुक्रमेणोद्गच्छन्त्य ऊर्मिव्यपदेशं लभन्ते । परीषहोर्मिभिः खुभिदं चलितं । आइद्धं तिर्यग्भूतं यतिपोतं ॥ णिज्जवगो धारेदि खु निर्यापकसूरिर्धारयति । मधुरेहिं हिदोवदेसेहिं मधुरैर्हितोपदेशैः ॥

मूलारा—परीसहुम्मीहिं परीषहा ऊर्मय इवानुक्रमेणोद्गच्छन्तीति कृत्वा । खुहिदं चलितं । आविद्धं तिर्यग्भूतं भ्रमितं वा ।

अर्थ—वैसे संयमगुणोंसे भरी हुई यह क्षपकनौका क्षुधा, प्यास, वगैरह तरंगोंसे क्षुब्ध होकर तिरछी हो-रही है, ऐसे समयमें निर्यापकाचार्य मधुर हितोपदेशके द्वारा उसको धारण करते हैं अर्थात् उसका संरक्षण करते हैं.

धिदिबलकरमादहिदं महुरं कण्णाहुदिं जदि ण देइ ॥
सिद्धिसुहमावहंती चत्ता साराहणा होइ ॥ ५०५ ॥

कर्णाहुतिं न चेद्दत्ते धृतिस्थामकरीं गणी ॥
आराधनां सुखाहर्त्रीं जहाति क्षपकस्तदा ॥ ५२१ ॥

विजयोदया—धिदिबलकरं धृतिबलकारिणीं स्मृतेःस्थैर्यं धृतिस्तस्या अवष्टंभकारिणीं । आदहिदं आत्महितां । मधुरं मधुरां । कण्णाहुदिं कर्णाहुतिं । जदि ण देदि यदि न दद्यात् । सिद्धिसुखानयनकारिणी आराहणा चत्ता होदि त्यक्ता भवति ।

मूलारा—धिदिबलकरं स्मृतिस्थैर्यावष्टंभकारिणीं । कण्णाहुदिं कर्णयोराहुतिर्होम इव संतर्पकत्वात्। कर्णजपमित्यर्थः । आवहन्ती कुर्वती ॥

अर्थ— निर्यापकाचार्य की वाणी धैर्य उत्पन्न करती है, आत्माके हितका वर्णन करती है. मधुर और कर्णाल्हादक होती है. आचार्य यदि ऐसे वाणीका उपयोग न करेंगे तो मुक्तिसौख्यकी प्राप्ति करनेवाली आराधनाओंका क्षपक त्याग करेगा.

प्रस्तुतोपसंहारगाथा—

इय णिव्ववओ खवयस्स होइ णिज्जावओ सदायरिओ ॥
होइ य कित्ती पधिदा एदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स ॥ ५०६ ॥

क्षपकस्य सुखं दत्ते कुर्वन्यो हितदेशनाम् ॥
निर्यापकं महाप्राज्ञं तमाहुः सुखकारणम् ॥ ५२२ ॥
ददाति शर्म क्षपकस्य सूरिर्निर्यापकः सर्वमपास्य दुःखम् ॥
यतस्ततोऽसौ क्षपकेण सेव्यः सर्वे भजन्ते सुखकारिणं हि ॥ ५२३ ॥

इति सुखकारी ।

विजयोदया—इय एवं । णिव्ववगो निर्वापक. । खवगस्स क्षपकस्य । णिज्जावगो होदि निर्यापको भवति । सदायरिओ सदाचार्यः निर्यापकत्वगुणसमन्वितः क्षपकस्योपकारी भवतीत्युक्त्वा स्वार्थमपि तस्य सूरेर्दर्शयति । होदि य कित्ती पधिदा भवति च कीर्तिः प्रथिता । एदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स आचारवत्त्वादिभिर्गुणैर्युक्तस्य ॥

प्रकृतमुपसंहरन्परार्थकरणद्वारेण निर्यापकस्य स्वार्थसिद्धिं दर्शयति—

मूलारा—पधिदा प्रथिता प्रख्याता । एदेहिं आचरवत्त्वादिभिरष्टाभिः ॥ निर्यापकः ॥

प्रस्तुत प्रकरणकी उपसंहार गाथा—

अर्थ—इस प्रकारसे क्षपकका मन आल्हादित करनेवाले आचार्य निर्यापक होसकते हैं अर्थात् निर्वापकत्व गुणधारक आचार्य क्षपकका समाधिमरण साध सकते हैं. आचारवत्त्वादि गुणोंका यहां तक वर्णन किया. इन गुणोंसे परिपूर्ण आचार्य की जगतमें कीर्ति फैल जाती है जैसे इन गुणोंसे आचार्य क्षपकके ऊपर उपकार करते हैं वैसे इन गुणोंसे उनका उज्ज्वल यश भी जगतमें वृद्धिगत होता है.

इय अट्ठगुणोवेदो कसिणं आराधणं उवविधेदि ॥
खवगो वि तं भयवदी उवगूहदि जादसंवेगो ॥ ५०७ ॥

शिवसुखमनुपममपकजममलं व्रतचाति शमवति हितकृति सकलं ॥
वितरति यतिपतिरिति गुणकलितः शमयमदममयमुनिजनमहितः ५२४

गुणैरमीभिः कलितोष्टभिर्जनैः समेत्य (?) कीर्तिः शशिरश्मिनिर्मलाम् ॥
आराधनासिद्धिवरांगनासखीं ददाति सूरिः क्षपकाय निश्चितम् ॥ ५२५ ॥

इति सुस्थितः

विजयोदया—इय एवं । अट्ठगुणोवेदो आचारवानित्याद्यष्टगुणोपेतः सूरिः । कसिणं कृत्स्नां । आराधणं आराधनां । उवविधेदि ढौकयति । खवगो वि क्षपकोऽपि । तं तां भगवतीं सकलबाधापनयनमाहात्म्यवतीं । उवगूहदि आलिंगति । जादसंवेगो उत्पन्नसंसारभीरुत्वः । सुट्ठिदं सम्मत्तम् ॥

यथोक्तगुणसूरेः सकलाराधनासंपादकत्वं भवभीतस्य च क्षपकस्य तदालिंगनमुपदिशन्नाह—

मूलारा—उवविधेदि उपढौकयते । भयवदीं सकलबाधापनयनमाहात्म्यवतीम् । उवगूहदि आलिंगति ॥ सुस्थितः । सूत्र ॥ १७ । अंकत ॥

अर्थ– इस प्रकार आठ गुणोंसे पूर्ण आचार्यका आश्रय करनेसे क्षपकको चार प्रकारकी आराधना प्राप्त होती है. और जिसको संसारभय उत्पन्न हुआ है ऐसा वह क्षपक भी संपूर्ण बाधाओंका नाश करनेवाली, अपूर्व माहात्म्ययुक्त भगवती वंद्य आराधनाको आलिंगन देता है.

एवं सुट्ठिदं इत्येतद्व्याख्यातं, इत उत्तरं उवसंपा इत्येतद्व्याख्यायते—

एवं परिमग्गित्ता णिज्जवयगुणेहिं जुत्तमायरियं ॥
उवसंपज्जइ विज्जाचरणसमग्गो तगो साहू ॥ ५०८ ॥

निर्यापकं गुणोपेतं मार्गयित्वातियत्नतः ॥
उपसर्पत्यसौ सूरिर्ज्ञानचारित्रमार्गकः ॥ ५२६ ॥

विजयोदया—एवं परिमग्गित्ता अन्विष्य । कं आयरियं आचार्यं । कीदृग्भूतं ? णिज्जवयगुणेहिं निर्यापकगुणैराचारवत्वादिभिः समन्वितं । उवसंपज्जदि ढौकते । कः ? तगो सः । साहू साधुः । कीदृग्भूतः ? विज्जाचरणसमग्गो ज्ञानेन चारित्रेण समग्रः संपूर्णः ।

अथैवं निर्यापकाचार्यं सम्यक्परीक्ष्य तस्मै स्वं समर्पयतः क्षपकस्य गाथाषट्केनेतिकर्तव्यताक्रममुपदिशति—

मूलारा—परिमग्गित्ता अन्विष्य । उवसंपज्जदि उपसर्पति आश्रयतीत्यर्थः । तगो सः । उत्तमार्थोद्यतः ॥

अर्थ—इस प्रकार समग्र ज्ञान और चारित्रका धारक वह क्षपक आचारवत्वादि आंठ गुणोंसे पूर्ण आचार्यका शोधकर उनका आश्रय करता है.

गुरुकुले आत्मनिसर्गः उंवसपानाम समाचारः । तत्क्रमं निरूपयति—

तियरणसव्वावासयपडिपुण्णं तस्स किरिय किरियम्मं ॥
विणएणमंजलिकदो वाइयवसमं इमं भणदि ॥ ५०९ ॥

कृतिकर्म विधायासौ परिपूर्णं त्रिशुद्धितः ॥
आचार्यवृषभं वक्ति मस्तकारोपितांजलिः ५२७ ॥

विजयोदया—तियरणसव्वावासयपडिपुण्णं किरिय तस्स किरियम्मं । तस्य निर्यापकस्य सूरेः कृतिकर्म वंदनां कृत्वा । कीदृशं तिरियणसव्वावान्सयपडिपुण्णं मनोवाक्कायात्मसर्वावश्यकप्रतिपूर्णं सामायिकं, चतुर्विंशतिस्तवो वंदना, प्रतिक्रमणं, प्रत्याख्यानं, कायोत्सर्गः, इत्येते मनोवाक्कायविकल्पेन त्रिविधाः षडावश्यकसंज्ञिताः । मनसा सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिः, वचसा सव्वं सावज्जजोगं पचक्खामि इति वचनं । कायेन सावद्यक्रियाननुष्ठानं, मनसा चतुर्विंशति तीर्थकृतां गुणानुस्मरणं ' लोगस्सुज्जोययरे ' इत्येवमादीनां गुणानां वचनं । ललाटविन्यस्तकरमुकुलता जिनेभ्यः कायेन । वंदनीयगुणानुस्मरणं मनोवंदना । वाचा तद्गुणमाहात्म्यप्रकाशनपरवचनोच्चारणं । कायेन वंदना प्रदक्षिणीकरणं कृतानतिश्च । मनसा कृतातिचाराभिवृत्तिः । हा दुष्कृतमिति वा मनःप्रतिक्रमणं । सूत्रोच्चारणं वाक्यप्रतिक्रमणं । कायेन तदनाचरणं कायप्रतिक्रमणं । मनसातिचारादीन करिष्यामि इति मनःप्रत्याख्यानं । वचसा तन्नाचरिष्यामि इति उच्चारणं । कायेन तन्नाचरिष्यामि इत्यंगीकारः । मनसा शरीरे ममेदंभावनिवृत्तिः मानसः कायोत्सर्गः । प्रलंबभुजस्य, चतुरंगुलमात्रपादांतरस्य निश्चलावस्थानं कायेन कायोत्सर्गः । कायापायनिरासमकृत्वा एकान्ते गुरावासीने प्रसन्नचेतसि शनैरागत्य शरीरं भूमिं च प्रतिलेख्य अदूरे असमीपे आसित्वा कृतांजलिः भगवन्कृतिकर्मवंदनामिच्छामीति आलोच्य अनुज्ञातः शनैरुत्थाय मूर्धन्यस्तकर अविलंबितमनुद्रुतं सामायिकं पठेत् । सूत्रानुगतं, अविचलं, अविकृतं स्थितः कृतकायोत्सर्गश्चतुर्विंशतिस्तवमभिधाय सूरिणानुरक्तमनाः गुरुस्तवनं पठेत् इत्येषा कृतिकर्मवंदना । वंदनोत्तरकाले विणएण विनयेन अंजलिकदो मुकुलीकृतांजलिः । वाइयवसमं आचार्यवृषभं । इमं इदं । भणदि ब्रवीति इति ॥

गुरुकुले आत्मनिसर्गे उपसंपन्नाम समाचारस्तत्क्रमं निरूपयति—

मूलारा—तियरणसव्वावासयपडिपुण्णं मनोवाक्कायकृताचार्यक्रियापरिपूर्णं, आचार्यक्रिया चात्र सिद्धयोग्या-

चार्यशांतिभक्तयः। इत्थमेव श्रीचंद्रमुनिकृतनिबंधे व्याख्यानात्। किदिकम्मं वंदनां। अंजलिकदो मुकुलीकृतांजलिः वायगवसहं वाचकवृषभं आचार्यप्रधानं। इणं इदं वक्ष्यमाणं वेत्ति ब्रवीति॥

गुरुकुलमें आपना आत्मसमर्पण करना यह उपसंपा शब्दका अभिप्राय है. अतः इस उपसंपा समाचारका क्रम आचार्य दिखाते हैं–

अर्थ– मन, वचन और शरीरके द्वारा सर्व सामायिकादि छह आवश्यक कर्म जिसमें पूर्णताको प्राप्त हुए हैं ऐसा कृतिकर्म कर अर्थात् वंदना करके विनयसे हाथ जोडकर श्रेष्ठ आचार्य को क्षपक आगे लिखे हुए सूत्रके अनुसार विज्ञप्ति करता है —

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक क्रियाएं मनोयोग, वचनयोग और काययोग को निर्मल करके करने चाहिये. अर्थात् प्रत्येक आवश्यकके योगके संबंधसे तीन तीन भेद होते हैं. मनके द्वारा सर्व पापयोगोंका त्याग करना, सर्व सावद्ययोगोंका मैं त्याग करता हूं ऐसा वचनसे उच्चार करना, शरीरसे सर्व सावद्य क्रियाओंका त्याग करना ऐसे सामायिकके तीन भेद होते हैं. मनसे चोवीस तीर्थकरोंके गुणोंका स्मरण करना, वचनसे ' लोयस्सुज्जोययरे ' इत्यादि श्लोकोंमें कही हुई तीर्थंकर स्तुति बोलना, ललाटपर हाथ जोडकर जिनेंद्र भगवान को नमस्कार करना ऐसे चतुर्विंशति स्तवीके तीन भेद होते हैं.

वंदना करने योग्य गुरुओंके गुणोंका स्मरण करना यह मनोवंदना है. वचनोंके द्वारा उनके गुणोंका महत्त्व प्रगट करना यह वचनवंदना है. और प्रदक्षिणा करना, नमस्कार करना यह कायवंदना है. किये हुए अतिचारोंका मनसे त्याग करना यह मनःप्रतिक्रमण है. हाय हाय मैंने पापकार्य किया है ऐसा मनसे विचार करना यह मनःप्रतिक्रमण है. प्रतिक्रमणके सूत्रोंका उच्चार करना यह वाक्य प्रतिक्रमण है. शरीरके द्वारा दुष्कृत्यों का आचरण न करना यह कायकृत प्रतिक्रमण है.

मनसे मैं अतिचारोंको भविष्यकालमें नहीं करूंगा ऐसा विचार करना यह मनःप्रत्याख्यान है. वचनसे अतिचार मैं भविष्यमें नहीं करूंगा ऐसा बोलना अर्थात् भविष्यकालमें मैं अतिचार नहीं करूंगा ऐसा कहना यह वचनप्रत्याख्यान है. शरीरके द्वारा भविष्यकालमें अतिचार नहीं करना यह कायप्रत्याख्यान है. यह शरीर मेरा नहीं है ऐसा मनमें विचार करना अर्थात् शरीरपर मनसे प्रेम दूर करना यह मनःकायोत्सर्ग है. मैं शरीरका त्याग

करता हूं ऐसा वचनोच्चार करना यह वचनकृत कायोत्सर्ग है. बाहु नीचे छोडकर चार अंगुलमात्र अंतर दोनों पावोंमें रखकर निश्चल खडे होना यह शरीरके द्वारा कायोत्सर्ग है.

(कायापायनिरासमकृत्वा इस पदका अर्थ ध्यानमें आता नहीं) एकान्तस्थानमें गुरु प्रसन्न चित्तसे बैठे हैं ऐसा देखकर उनके पास मंदरीतीसे आकर अपना शरीर और जमीन पिच्छिकासे साफ करना चाहिये तदनंतर गुरुसे दूर अथवा निकटन बैठकर अर्थात् गुरुसे थोडे अंतर पर बैठकर हाथ जोडने चाहिये. ' हे भगवन् कृतिकर्मवंदना करनेकी मेरी इच्छा है ' ऐसा कहकर आलोचना करनी चाहिये. उनकी अनुज्ञा मिलने पर साव-काश ऊठकर मस्तकपर हाथ जोडकर रखने चाहिये और सामायिकका पाठ पढना चाहिये. पाठ पढते समय शीघ्रता और सावकाशपना छोडकर मध्यम प्रकारसे सामायिकपाठ पढना चाहिये.

सूत्रके अनुसार दोषोंका त्याग कर निश्चल खडे होकर कायोत्सर्ग करना चाहिये. तदनंतर चतुर्विंशति स्तुति पढकर गुरुके ऊपर प्रेम रखकर गुरुस्तुति पढनी चाहिये. इसीको कृतिकर्मवंदना कहते हैं.

तुज्झेत्थ बारसंगसुदपारया सवणसंघणिज्जवया ॥
तुज्झं खु पादमूले सामण्णं उज्जवेज्जामि ॥ ५१० ॥

निर्यापकं महासूरिं स्मृत्याध्यानपरायणम् ॥
क्षपको नाश्नुते सौख्यं विवेकमिव शाश्वतम् ॥ ५२८ ॥
तीर्णश्रुतपयोधीनां समाधानविधायिनाम् ॥
युष्माकमीश पादांते चोतयिष्यामि संयमम् ॥ ५२९ ॥

विजयोदया—तुज्झेत्थ यूयमत्र । बारसंगसुदपारगा द्वादश आचारादीनि अंगानि यस्य तत् द्वादशांगं श्रुतं सागर इव तस्य पारं गता । समणसंघणिज्जवगा श्राम्यंति तपस्यंति इति श्रमणाः तेषां समुदायः श्रमणसंघ तस्य निर्यापका । तुज्झ खु पादमूले युष्माकं पादमूले उज्जवेज्जामि उद्योतयिष्यामि । सामण्णं श्रामण्यं ॥

विनयपूर्वकं क्षपकः करणीयकं प्रतिजानीते—

मूलारा—इत्थ अत्र देशे णिज्जवया समाधिसंपधारकाः, उज्जवेज्जामि संपूर्णं करोमि ॥

वंदनाके अनंतर विनयसे हाथ जोडकर श्रेष्ठ आचार्यको आगे कहे हुए सूत्रोंके अनुसार बोलता है—

अर्थ—हे आचार्य! आपने द्वादशांग श्रुतज्ञानरूपी समुद्रका दूसरा किनारा प्राप्त किया है. आप तपश्चरण करनेवाले मुनिओंको समाधिमरण की प्राप्ति करानेवाले हैं. आपके चरणोंका आश्रय लेकर मैं मेरा श्रामण्य-मुनिव्रत उज्ज्वल करना चाहता हूं- अर्थात् मेरे व्रतोंमें आजतक जो दोष लगे हुए हैं उनका प्रायश्चित्त लेकर व्रतोंको उज्ज्वल करना चाहता हूं

आत्मेच्छां सूरये प्रकटयति—

पव्वज्जादी सव्वं कादूणालोयणं सुपरिसुद्धं ॥
दंसणणाणचरित्ते णिस्सल्लो विहरिदुं इच्छे ॥ ५११ ॥

दीक्षाप्रभृति निःशेषं विधायालोचनामहम् ॥
विजिहीर्षामि निःशल्यश्चतुरंगे निराकुलः ॥ ५३० ॥

विजयोदया—पव्वज्जादी सव्वं दीक्षाग्रहणादिकां सर्वां। कादूणालोयणं कृत्वालोचनां सुपरिसुद्धं दोषरहितां। दंसणणाणचरित्ते दर्शनज्ञानचारित्रे णिस्सल्लो शल्यरहितो भूत्वा। विहरिदुं विहर्तुं आचरितुं। इच्छे इच्छामि॥

आत्मेच्छां क्षपकः सूरे प्रकाशयति—

मूलारा—पव्वजादी दीक्षाग्रहणात्प्रभृति णिस्सल्लो अतीचारनिवार्जितो भूत्वा। विहरिदुं आचरितुं। इच्छे इच्छामि।

क्षपक अपनी इच्छा आचार्यको कहता है—

अर्थ—दीक्षाग्रहणकालसे आजतक जो जो व्रतादिकोंमें दोष उत्पन्न हुए हैं उनकी मैं आकंपित, अनुमानित वगैरे दशदोषोंसे रहित आलोचना कर दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें निःशल्य होकर प्रवृत्ति करनेकी इच्छा करता हूं.

एवं कदे णिसग्गे तेण सुविहिदेण वायओ भणइ ॥
अणगार उत्तमट्ठं साधेहि तुमं अविग्घेण ॥ ५१२ ॥

करता हूं ऐसा वचनोच्चार करना यह वचनकृत कायोत्सर्ग है. बाहु नीचे छोडकर चार अंगुलमात्र अंतर दोनों पावोंमें रखकर निश्चल खडे होना यह शरीरके द्वारा कायोत्सर्ग है.

(कायापायनिरासमकृत्वा इस पदका अर्थ ध्यानमें आता नहीं.) एकान्तस्थानमें गुरु प्रसन्न चित्तसे बैठे हैं ऐसा देखकर उनके पास मंदरीतीसे आकर अपना शरीर और जमीन पिच्छिकासे साफ करना चाहिये. तदनंतर गुरूसे दूर अथवा निकटन बैठकर अर्थात् गुरुसे थोडे अंतर पर बैठकर हाथ जोडने चाहिये. ' हे भगवन् कृतिकर्मवंदना करनेकी मेरी इच्छा है ' ऐसा कहकर आलोचना करनी चाहिये. उनकी अनुज्ञा मिलने पर सावकाश उठकर मस्तकपर हाथ जोडकर रखने चाहिये. और सामायिकका पाठ पढना चाहिये. पाठ पढते समय शीघ्रता और सावकाशपना छोडकर मध्यम प्रकारसे सामायिकपाठ पढना चाहिये.

सूत्रके अनुसार दोषोंका त्याग कर निश्चल खडे होकर कायोत्सर्ग करना चाहिये. तदनंतर चतुर्विंशति स्तुति पढकर गुरुके ऊपर प्रेम रखकर गुरुस्तुति पढनी चाहिये. इसीको कृतिकर्मवंदना कहते हैं-

---

तुज्झेत्थ बारसंगसुदपारया सवणसंघणिज्जवया ॥
तुज्झं खु पादमूले सामण्णं उज्जवेज्जामि ॥ ५१० ॥

निर्यापकं महासूरिं स्मृत्वाध्यानपरायणम् ॥
क्षपको नाश्नुते सौख्यं विवेकमिव शाश्वतम् ॥ ५२८ ॥
तीर्णश्रुतपयोधीनां समाधानविधायिनाम् ॥
युष्माकमीश पादांते द्योतयिष्यामि संयमम् ॥ ५२९ ॥

विजयोदया—तुज्झेत्थ यूयमत्र । बारसंगसुदपारगा द्वादश आचारादीनि अंगानि यस्य तत् द्वादशांगं श्रुतं सागर इव तस्य पारं गताः । समणसंघणिज्जवगा श्राम्यंति तपस्यंति इति श्रमणाः तेषां समुदायः श्रमणसंघः तस्य निर्यापकाः। तुज्झं खु पादमूले युष्माकं पादमूले उज्जवेज्जामि उद्योतयिष्यामि । सामण्णं श्रामण्यं ॥

विनयपूर्वकं क्षपकः करणीयकं प्रतिजानीते—

मूलारा—इत्थ अत्र देशे णिज्जवया समाधिसंपधारकाः, उज्जवेज्जामि संपूर्णं करोमि ॥

दुःखोंका नाश करनेवाली आराधनापताका हाथमें ग्रहण करनेका तुमने निश्चय किया है. इस रत्नत्रयरूप आराधनासे कर्मोंका नाश होता है, कर्मोंका नाश होनेपर दुःखका अभाव होता है.

अच्छाहि ताम सुविहिद वीसत्थो मा य होहि उव्वादो ॥
पडिचरएहिं समंता इणमट्ठं संपहारेमो ॥ ५१४ ॥

महामते ! तिष्ठ निराकुलः स्वं प्रयोजनं यावदिदं त्वदीयं ॥
समं सहायैरवधारयामस्तत्त्वेन कृत्यं हि परीक्ष्य सद्भिः ॥ ५३३ ॥

इति उपसर्पणसूत्रम् ।

विजयोदया—अच्छाहि ताव सुविहिद आस्स्व तावद्यते। वीसत्थं विश्वस्तं। मा य होहि उव्वादो व्याकुलितचित्तो मा च भूः। पडिचरगेहिं समं प्रतिचारकैः सह। इणमत्थं इदं प्रयोजनं। संपहारेमो संप्रधारयामः। उवसंपा निरूपिता।

सूरिः क्षपकमाश्वासयन्नाह—

मूलारा—अच्छाहि आस्स्व तिष्ठ। वीसत्थो विश्वस्तः। उव्वादो व्याकुलितचित्तः। इणमट्ठं इदं प्रयोजनं तव। संपधारेमो पर्यालोचयामः॥ उवसंपत्॥ सूत्रतः॥ १८॥ अंकत.॥ ६॥

अर्थः—हे क्षपक ! अब तुम निःशंक होकर हमारे संघमें ठहरो. अपने मनमेंसे खिन्नताको दूर भगाओ. हम प्रतिचारकोंके साथ तुमारे विषयमें अवश्य विचार करेंगे. इस प्रकार उपसंपाधिकार समाप्त हुआ.

इत उत्तरं पडिच्छा इति सूत्रपदव्याख्या—

तो तस्स उत्तमट्ठे करणुच्छाहं पडिच्छदि विदण्हू ॥
खीरोदणदव्वुग्गहदुगुंछणाए समाधीए ॥ ५१५ ॥

आचार्यः करणोत्साहं विज्ञातुं तं परीक्षते ॥
जिघृक्षाविचिकित्साभ्यामुत्तमार्थे समाधये ॥ ५३४ ॥

इति परीक्षणम् ।

एवं कृते स्वनिक्षेपे ततो ब्रूते गणेश्वरः ॥
निर्विघ्नमुत्तमार्थं त्वं साधयस्व महामते ॥ ५३१ ॥

विजयोदया—एवं कदे णिसग्गे स्वभावत्यागे कृते । केण तेण सुविहिदेण तेन सुचरितेन क्षपकेण । वायओ भणइ सूरिर्वदति । अणयार त्यक्तभावागारत्वादनगारः तस्य संबोधनं । उत्तमट्ठं उत्तमं प्रयोजनं रत्नत्रयं द्रव्यं । साधेहि साधय । तुमं त्व । अविग्घेण अविघ्नेन ।

आचार्य आह—

मूलारा—णिसग्गे आत्मभारत्यागे । उत्तमट्ठं उत्कृष्टप्रयोजनं रत्नत्रयं । साधेहि साधय संपूर्णीकुरु । तुमं त्वं ॥

अर्थः-इस प्रकार जब क्षपक अपना अभिप्राय आचार्यके पास जाकर व्यक्त करता है तब " हे मुने तुमने बाह्य और अभ्यंतर परिग्रहोंका त्याग किया है. इसलिये अब तुम निर्विघ्नतासे उत्तम प्रयोजन जो रत्नत्रय उसको सिद्ध करो.

धण्णोसि तुमं सुविहिद एरिसओ जस्स णिच्छओ जाओ ॥
संसारदुक्खमहणीं घेत्तुं आराहणपडायं ॥ ५१३ ॥

धन्यः स त्वं वंदनीयो बुधानां । साधो ! बुद्धिर्निश्चिता चास्तमोह ! ॥
यस्यासन्नाराधनां सिद्धिदूती तीक्ष्णां जन्मारामशस्त्रीं ग्रहीतुम् ॥ ५३२ ॥

विजयोदया—धण्णोसि तुमं पुण्यवानसि भवान् । सुविहिद तेण एरिसओ जस्स णिच्छओ जाओ । उपलक्षणपरं मनोज्ञाहारग्रहणे ईदृग्यस्य निश्चयो जातः । संसारदुक्खमहणी संसारे चतुर्गतिपरिभ्रमणे यानि दुःखानि तन्मर्द्दनो घेत्तुं ग्रहीतुं । आहारणापडागं आराधनापताकां । रत्नत्रयाराधनया कर्माण्यपयान्ति । तदपगमात्तदुःखनिवृत्तिः इति भावः । उपसंपा ॥

सूरिराराधकं प्रोत्साहयति—

मूलारा—संसारदुक्खमहणीं चतुर्गतिभ्रमणक्लेशविनाशनोद्यतां । रत्नत्रयाराधनया हि कर्माण्यपगच्छन्ति तदपगमाच्च तद्दुःखनिवृत्तिरिति भावः ।

अर्थ– हे क्षपक तुम बडे पुण्यवान हो. क्योंकि, चतुर्गतिओंमें घुमानेवाले इस संसारमें उत्पन्न होनेवाले

दुःखोंका नाश करनेवाली आराधनापताका हाथमें ग्रहण करनेका तुमने निश्चय किया है. इस रत्नत्रयरूप आराधनासे कर्मोंका नाश होता है. कर्मोंका नाश होनेपर दुःखका अभाव होता है.

अच्छाहि ताम सुविहिद वीसत्थो मा य होहि उव्वादो ॥
पडिचरएहिं समंता इणमट्ठं संपहारेमो ॥ ५१४ ॥

महामते ! तिष्ठ निराकुलः स्वं प्रयोजनं यावदिदं त्वदीयं ॥
समं सहायैरवधारयामस्तत्त्वेन कृत्यं हि परीक्ष्य सद्भिः ॥ ५३३ ॥

इति उपसर्पणसूत्रम् ।

विजयोदया—अच्छाहि ताव सुविहिद आस्स तावयते। वीसत्थं विश्वस्तं। मा य होहि उव्वादो व्याकुलितचित्तो मा च भूः। पडिचरगेहिं समं प्रतिचारकैः सह। इणमत्थं इदं प्रयोजनं। संपहारेमो समवधारयामः। उवसंपा निरूपिता।

सूरिः क्षपकमाश्वासयन्नाह—

मूलारा—अच्छाहि आस्स्व तिष्ठ। वीसत्थो विश्वस्तः। उव्वादो व्याकुलितचित्तः। इणमट्ठं इदं प्रयोजनं तव। संपधारेमो पर्यालोचयामः॥ उवसंपत् ॥ सूत्रतः ॥ १८ ॥ अंकतः ॥ ६ ॥

अर्थः—हे क्षपक ! अब तुम निःशंक होकर हमारे संघमें ठहरो. अपने मनमेंसे खिन्नताको दूर भगाओ. हम प्रतिचारकोंके साथ तुमारे विषयमें अवश्य विचार करेंगे. इस प्रकार उपसंपाधिकार समाप्त हुआ.

इत उत्तरं पडिच्छा इति सूत्रपदव्याख्या—

तो तस्स उत्तमट्ठे करणुच्छाहं पडिच्छदि विदण्हू ॥
खीरोदणदव्वुग्गाहदुगुंछणाए समाधीए ॥ ५१५ ॥

आचार्यः करणोत्साहं विज्ञातुं तं परीक्षते ॥
जिघृक्षाविचिकित्साभ्यामुत्तमार्थे समाधये ॥ ५३४ ॥

इति परीक्षणम् ।

विजयोदया—तो पश्चात्। तस्स तस्य क्षपकस्य। उत्तमट्ठे करणुच्छाहं रत्नत्रयाराधनाक्रियोत्साहं। पडिच्छदि परीक्षते। विदण्हू मार्गज्ञः। खीरोदणद-दुगुंछणाए क्षीरौदनद्रव्यग्रहण मनोज्ञाहारग्रहणोपलक्षणं। जुगुप्सापरेण समाधीए समाधिनाहारगतं लौल्यमस्य किं विद्यते न वेति परीक्षते। इयमेका परीक्षा। समाधिणिमित्तं पडिच्छा।

अथ सूरिः किमाहारेऽस्य लौल्यमस्ति न वेति समाध्यर्थं परीक्षते इत्येकया गाथया सूचयति—

मूलारा—विदण्हू मार्गज्ञः। खीरोदणदव्वुग्गहदुगंछणाए क्षीरौदनद्रव्यं मनोज्ञाहारोपलक्षणं तस्य अवग्रहो ग्रहणं तत्र विचिकित्सा निंदा तया। अथवा उत्कृष्टो ग्रह उद्ग्रह आसक्ति मनोज्ञाहारासक्तिर्निंदाभ्यामित्यर्थः। समाधीए समाधिनिमित्तं। उक्तं च—

तस्योत्तमार्थे परिणामवृद्धिपरीक्षणात्सूरिरुदारबोध।
दध्यादिसद्व्यरसोपयोगे रत्या जुगुप्सा विधिना समाधौ॥

परीक्षा। सूत्रतः॥ १९ ॥ अंकत ॥ १ ॥

इसके आगे पडिच्छा नामक सूत्रपदकी व्याख्या लिखते हैं—

अर्थ—मार्गज्ञ आचार्य यह क्षपक रत्नत्रयाराधनाकी क्रिया करने में उत्साही है या नहीं इसकी परीक्षा करते हैं. यह क्षपक समाधिमरणके लिये उद्युक्त हुआ है परंतु दूधभात वगैरह मनोहर मिष्ट आहारोंमें यह अभिलाषवान् है या उनसे विरक्त है इसका भी आचार्य निर्णय करते हैं, यह समाधिके निमित्त परीक्षा है.

खवयस्सुवसंपण्णस्स तस्स आराधणा अविक्खेवं॥
दिव्वेण णिमित्तेण य पडिलेहदि अप्पमत्तो सो॥ ५१६॥
आराधनागतं क्षेमं क्षपकस्य समीयुषः॥
दिव्येन निःप्रमादो-सौ निमित्तेन परीक्षते॥ ५३५॥

विजयोदया—खवगस्स क्षपकस्य उवसंपण्णस्स आत्मांतिकमुपाश्रितस्य। तस्स तस्य। आराहणा अविक्खेवं आराधनाया अविक्षेपं। पडिलेहदि परीक्षते। द.? सो स सूरिर्निर्यापकः। अप्पमत्तो अप्रमत्तः। केण दिव्वेण दैवतोपदेशेन। णिमित्तेण निमित्तेन वा इयमेका परीक्षा।

अथ राज्यादिमूलमुपाश्रितस्य क्षपकस्याराधनानिर्विघ्नता राज्यादिकं च परीक्ष्य स्वीकारं करोतीति प्रतिलेखा गाथाद्वयेनोपदिशति—

मूलारा—आराहणा अवकस्व आराधनाया अव्याक्षेप निर्विघ्नतां । दिव्वेण देवतोपदेशेन, निमित्तेण च ' अंगं सरं वंजण लक्खणं च छिण्णं च भोमं सिमिणंतरिक्खं ' इत्यष्टांगनिमित्तेन वा पडिलेहदि परीक्षते निरूपयति वा ।

अर्थ—हमारे संघका इस क्षपकने समाधिकेलिये आश्रय लिया है, इसकी समाधि निर्विघ्न समाप्त होगी या नहीं इस विषयका भी आचार्य देवताके उपदेशसे अथवा शुभाशुभ निमित्तोंसे निर्णय करलेते हैं, यह भी एक परीक्षा है.

रज्जं खेत्तं अधिवदिगणमप्पाणं च पडिलिहित्ताणं ॥
गुणसाधणो पडिच्छदि अप्पडिलेहाए बहुदोसा ॥ ५१७ ॥
तं गृहीते मार्गवेदी गणं स्वं राज्यं क्षेत्रं भूमिपालं निरूप्य ॥
साधुं सूरेर्गृह्णतो निःपरीक्षं चित्रा दोषा दुर्निवारा भवन्ति ॥ ५३६ ॥

इति निरूपणम् ।

विजयोदया—रज्जं खेत्तं अधिवदिगणमप्पाणं च राज्यं, क्षेत्रं, देशं ग्रामनगरादिकं अधिपतिं गणमात्मानं च । पडिलिहित्ताणं परीक्ष्य । गुणसाधणो गुणान्सम्यक्त्वादीन् साधयति यः सूरिः स पडिच्छदि प्रतिगृह्णाति । कं । क्षपकं । अन्यत्र गुणसाधणं इति पाठः गुणान्साधयितु उद्यतं साधुं प्रतिगृह्णाति । अप्पडिलेहाए उक्तायाः परीक्षाया अभावे । बहुदोसा बहवो दोषा भवंति के ते इति चेदुच्यंते । निरस्ताहारतृष्णो न वेति यदि न परीक्षितः, आहारे तृष्णावाधकांक्षिणं तमेव चिंतयतीति कथमाराधकः स्यात् । क्षुत्पिपासापरीषहाद्यसहमानः सहनाशक्तः फूत्कुर्वन् धर्मदूषणं कुर्यात् । आराधनाया व्याक्षेपो भवति न वेत्यपरीक्ष्य यदि तं न त्यजयति तस्यापि न कार्यसिद्धिः स्वयं च नियते जनेन । राज्यक्षेत्रादीनां शुभाशुभपरीक्षा येन कृता सोऽशुभं चेत्पश्यति तस्य राज्यादेश्च स राज्यक्षेत्रादिकं अन्यदुद्दिश्य तं गृहीत्वा याति । तथा च तस्योपकारको भवति । अपरीक्षायां तु राज्यादिभ्रंशे स च क्षपकः स्वयं च क्लिश्यति । गणस्य चोपद्रवं यदि पश्यति, आत्मनो वा न प्रारभते कार्यं । अपरीक्षितकारी सूरिर्न तस्योपकारको न चात्मन इति दोषाः ॥

भाविसमाधिनिर्णयार्थं परीक्षान्तरमिदं—

मूलारा—खेत्तं देशग्रामनगरादिकं । अहिवदिं अधिपतिं राजानं । गणं संघं । अप्पाणं आत्मशरीरं । पडिलिहित्ताणं परीक्ष्य । गुणसाधओ सम्यक्त्वादिगुणसंपादकः सूरिः । गुणसाधणमिति पाठे गुणान्साधयितुमुद्यतं क्षपकं । पडि-

न किंचित्कुर्वन्ति किमिहाहमायात इति क्षपकस्य संक्लेश । बहुजनसाध्यमिदं कार्यं न चास्मान्गुरुरनुमोदयति नापि नलाबळमस्माकं विचारयति इति परिचारकाणां संक्लेश ॥ आपृच्छा सूत्रम् २१ अंकतः १ ॥

परीक्षाके अनतर आपृच्छा नामक सूत्रपदका व्याख्यान करते है—

अर्थः—रत्नत्रयकी आराधना करनेके कार्यमें सहायक चाहता हुआ यह क्षपक अपने संघमें आया है साधुके तपश्चरणादिकोंमें आया हुआ विघ्न दूर करना और उसकी शुश्रूषा करना तीर्थंकर नामकर्म बंध होनेमें कारण है यह बात आपको विदित ही है. इस लिये आये हुये इस अतिथिको हम अनुग्रह–साहाय्य करे या न करे इस विषयमें आपकी जो सम्मति होगी सो कहो. जगतमें इतर लोक भी परोपकार करनेमें उद्यमी दीखते हैं. हम तो मुनि हैं. संपूर्ण असन्नभव्योंको संसाररूपी कीचडसे–जिससे निकसना बडही कठिन है और जो अगाध है निकालनेमें हमको हमेशा उद्युक्त रहना चाहिये. 'आत्महित करना चाहिये और शक्य हो तो परहित भी करना चाहिये' इस वचनके अनुसार इस क्षपकके ऊपर अनुग्रह करना चाहिये क्या? ऐसा आचार्यके पूछने पर यदि परिचारकोंने अनुग्रह करनेमें सम्मति दी तो आचार्य क्षपकको अंगिकारते हैं यदि परिचारकोंको विनापूछे ही क्षपकका आचार्यने स्वीकार किया तो आचार्य, क्षपक और परिचारक तीनोंको भी असमाधि होगी अर्थात् संक्लेशपरिणाम होगा हमने तो इसका स्वीकार किया नहीं है ऐसा समझकर परिचारक क्षपकका विनय करना, शुश्रूषा करना वगेरे कार्यमें उद्यमी न होनेसे मेरी ये लोक भक्ति नहीं करते हैं ऐसा मनमें विचार कर क्षपक संक्लेशयुक्त होगा मैंने उपकार करनेकी इच्छासे इसको संघमें रख लिया है परंतु परिचारक इस कार्यमें सहायक नहीं होते हैं इस विचारसे गुरूके मनमेंभी संक्लेश होगा. समाधिमरण सिद्धि करना यह कार्य बहुत जनकी सहायतासे होनेवाला है परंतु गुरूने हमको विनापूछेही इस क्षपकका स्वीकार किया है. हमारे सामर्थ्य असामर्थ्यका उन्होने विचारही नही किया है ऐसे विचारसे परिचारक संक्लिष्ट होते हैं.

पडिच्छणा इत्येतत्सूत्रपदं व्याचष्टे—

एगो संथारगदो जजइ सरीरं जिणोवदेसेण ॥
एगो सल्लिहदि मुणी उग्गेहिं तवोविहाणेहि ॥ ५१९ ॥

एकः संस्तरकस्थोऽग्नौ यजतेऽगं जिनाज्ञया ॥
दुःकरैः संक्षिखत्यन्यस्तपोभिर्विविधैर्यतिः ॥ ५३८ ॥

विजयोदया—एगो संथारगदो एकः संस्तरमारूढः । जजइ सरीरं यजते शरीरं । जिणोवदेसेण जिनानामुपदेशेन। एगो सल्लिहदि मुणी एको मुनिस्तनूकरोति शरीरं । उग्गेहि तवोविहाणेहिं उग्रैस्तपोविधानैः ।

अथ सत्यपि संघसाम्मत्ये सूरिणा अनुग्राह्यत्वेन एक एव समाधिमरणोद्यत प्रतिग्राह्योऽनेकप्रतिग्रहणे मनःसमाधानानुसंधानानुपपत्तेरिति प्रतिग्राह्यनियमार्थं प्रतीच्छां गाथात्रयेण सूत्रयति—

मूलारा—जजदि यजते तपोऽग्नौ इति शेषः संन्यस्यतीत्यर्थः । एगो अन्यो द्वितीय इत्यर्थः । एतेनैतदुक्तं भवति । एकः संन्यासपरः प्रतिग्राह्यो, द्वितीयश्च सल्लेखनोद्यतः ॥

पडिच्छणा इस सूत्रका विवेचन करते हैं—

अर्थः— एक क्षपक जिनेश्वरके उपदेशानुसार संस्तरपर चढकर शरीरका त्याग करता है अर्थात् समाधिमरणका साधन करता है. और एक मुनि उग्र अनशनादि तपोंके द्वारा शरीरको शुष्क करता है.

तदिओ णाणुण्णादो जजमाणस्स हु हवेज्ज वाघादो ॥
पडिदेसु दोसु तीसु य समाधिकरणाणि हायन्ति ॥ ५२० ॥

यजमानक्षतेर्जैनैस्तृतीयो नानुमन्यते ॥
द्वित्रेषु श्रितपात्रेषु समाधिर्हीयते तराम् ॥ ५३९ ॥

विजयोदया—तदिओ णाणुण्णादो तृतीयो यतिर्नानुज्ञातः तीर्थकृद्भिः एकेन निर्यापकेनानुग्राह्यत्वेन । कुतो यस्मात् । जजमाणस्स खु हवेज्ज वाघादो यजमानस्य भवेदेव व्याघात इति । कुतो व्याघात इत्यत्राह । पडिदेसु दोसु तीसु य संस्तरे पतितयोर्द्वयोस्त्रिषु च क्षपकेषु समाधिकरणानि चित्तसमाधानक्रिया विनयवैयावृत्यादयो हीयंते यस्माद्यजमानस्य व्याघातः । यस्मादेक एव यजमानो भवति ॥

तृतीयप्रतिग्रहणे दोषमाह—

मूलारा—णाणुण्णादो नानुमतस्तीर्थकृद्भिस्तृतीय एकेनाचार्येणानुग्राह्यत्वेन । कुत इत्याह—जजमाणस्य तपोऽग्नौ देहं जुह्वतः । वाघादो समाधिविघ्नः । पडिदेसु दोसु तीसु य संस्तरे पतितयोर्द्वयोस्त्रिषु वा सत्सु । समाधिकरणानि चित्तसमाधानक्रियाविनयवैयावृत्त्यादयः । हायंति हीयंते ॥

इन्द्रियनयं कषायनयं च कुर्वित्युपदिशति—

सद्दे रूवे गंधे रसे य फासे य णिज्जिणाहि तुमं ॥
सव्वेसु कसाएसु य णिग्गहपरमा सदा होह ॥ ५२२ ॥

रूपगंधरसस्पर्शशब्दानां मा स्म भूर्वशः ॥
कषायाणां विधेहि त्वं शत्रूणामिव निग्रहम् ॥ ५४३ ॥

विजयोदया—सद्दे रूवे गंधे इत्यनया। ननु शब्दादयो विषयास्तेषां जयो नाम कः ? तद्विषयो हि रागो बंधहेतुत्वात् तत्प्रतिपक्षभावनया जेतव्यत्वेनोपदेष्टव्यः । अत्रोच्यते—सोपस्कारत्वात्सूत्राणां सद्दे, रूवे, गंधे, रसे य फासे य रागं तुमं णिणाहि इति पदसंबंधः । अथवा शब्दादीनां विषयाणां वशेन स्थित इति कृत्वा जेता भण्यते यथा पुरुषो जितोऽनयेत्युच्यते या पुरुषवशानुवर्तिनी न भवति । सव्वेसु कसाएसु य सर्वेषु कषायेषु वा क्रोधादिषु। णिग्गहपरमो निग्रहप्रधानः क्षमादिभावनया सदा भव ॥

इन्द्रियनयं कषायनिग्रहं च कुर्वित्युपदिशति—

मूलारा—णिज्जिणाहि नि शेषेण जय त्वं शब्दादिविषयं रागमिति शेषः । अथवा शब्दादीन्विषयान्निर्जित्य तद्वशो मा भूरित्यर्थः । णिग्गहपरमो निग्रहप्रधानः ॥

इन्द्रियोंको और कषायोंको तुम जीतो ऐसा उपदेश—

अर्थ—शब्द, रस, गंध, और स्पर्श ये पांच इंद्रियोंके विषय हैं उनको कैसा जीत सकते हैं ? शब्दादिकोंमें उत्पन्न होनेवाले रागभावको जीतना चाहिये क्योंकि वह कर्मबंधका कारण है रागभावको उसके विरुद्ध भावनासे जीतना चाहिये ऐसा यहां उपदेश करना योग्य था परंतु आचार्य शब्दादिकोंको जीतनेके लिये क्षपकको उपदेश दे रहे हैं यह योग्य जचता नहीं।

उत्तर—सूत्र सोपस्कार रहते हैं अर्थात् उसमें प्रकरणवश और कुछ शब्द जोडकर संबंध ठीक मिलाना पडता है 'सद्दे रूवे गंधे रसे य फासे य रागं तुम जिणाहि,' ऐसा पद संबंध करना चाहिये अर्थात् यहां ऐसा अर्थ समझना चाहिये—हे क्षपक तुम शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श ऐसा पंचेंद्रियोंके विषयोंमें जो रागभाव उत्पन्न होता है उसको जीतकर संपूर्ण क्रोधादिक कषायोंका क्षमा, मार्दव, आर्जव, और शौचभावनासे निग्रह करो

शब्दादिक विषयोंके आधीन जो नहीं रहता है वह शब्दादिकोंका जेता कहाजाता है. जैसे जो स्त्री पुरुषके वश नहीं रहती है उसको इसने पुरुषको जीता है ऐसा लोक कहते हैं. अर्थात् शब्दादिक कषायोंके स्वाधीन हे क्षपक ! तुम कदापि न रहोगे तो तुम इन्द्रियजयी कहलावोगे ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

एवं कृतेंद्रियकषायजयेन मया पश्चात्किंकर्तव्यमित्यत्रोत्तरमाचष्टे—

हंतूण कसाए इंदियाणि सव्वं च गारवं हंता ॥
तो मलिदरागदोसो करेहि आलोयणासुद्धिं ॥ ५२४ ॥

रागद्वेषकषायाक्षसंज्ञाभिर्गौरवादिकम् ॥
विहायालोचनां शुद्धां त्वं विधेहि विशुद्धधीः ॥ ५४४ ॥

विजयोदया—हंतूण हत्वा । कसाए कषायान् । इंदियाणि इंद्रियाणि च हत्वा । सव्वं च गारवं हंता सर्वं च गारवं हत्वा ऋद्धिरससातभेदात्त्रिविकल्पं । तो पश्चात् । मलिदरागदोसो मृदितरागद्वेषः । करेहि कुरु । आलोयणासुद्धिं आलोचनाख्या शुद्धिं । रागद्वेषौ असत्यवचनस्य हेतू इति परित्याज्याविति कथितौ ॥ रागान्न पश्यति नरो दोषान् । द्वेषाद्गुणान्न गृह्णीते ॥ तस्माद्रागद्वेषौ व्युदस्य कार्याणि कार्याणि ॥

एवमिंद्रियजयं कृत्वा पश्चात्किं कुर्यामहमित्यत्राह—

मूलारा—हंता हत्वा । मलिद मर्दितौ । आलोयणासुद्धिं आलोचनाख्यां शुद्धिं । रागद्वेषावसत्यवचनस्य हेतू इति परित्याज्यौ । उक्तं च—रागान्न पश्यतीति किमिति परस्मै स्वच्यवनकल्पं निवेदयति । निर्बंधो भवता मुमुक्षुणा न कार्यो यतः ॥

इंद्रियजय और कषायजय करनेके अनंतर मेरा क्या क्या कर्तव्य है इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

अर्थ—क्रोधादिकषाय और स्पर्शनादिक इंद्रियोंको जीत कर ऋद्धिगारव, रसगारव और सातगारव ऐसे तीन गारवोंको हे क्षपक तुम जीतो. तदनंतर रागद्वेषोंका मर्दन कर आलोचनारूप शुद्धि करो. रागभाव और द्वेषभाव असत्य वचनके कारण हैं इसलिये उनका त्याग करना चाहिये. रागभावसे मनुष्य दोषको देखता नहीं और द्वेषसे सद्गुणोंको ग्रहण नहीं करता है इसलिये रागद्वेषोंका त्याग कर कार्य करने चाहिये.

अर्थ— तृतीय यति आचार्यके द्वारा अनुग्राह्य होता है ऐसा तीर्थकरोंनें आगममें नहीं कहा है. अर्थात् आचार्य ऊपरकी गाथाके अनुसार दो मुनिओंके ऊपर अनुग्रह करसकते हैं. दो या तीन मुनि यदि समाधिमरणके-लिये संस्तरका आश्रय करेंगे तो उनके अन्तःकरणको धर्ममें स्थिर रखनेका कार्य, विनय, वैयावृत्यादिक कार्य, यथायोग्य नहीं हो सकेंगे. जिससे उनके मनको संक्लेश होगा. अतः एकही क्षपक संस्तरारूढ हो सकता है.

तम्हा पडिचरयाणं सम्मदमेयं पडिच्छदे खवयं ॥
भणदि य तं आयरिओ खवयं गच्छस्स मज्झम्मि ॥ ५२१ ॥

एकमेव विधिना यतिं ततः स्वीकरोति स्वसहायसम्मतम् ॥
गृह्यते हि कवलः स एव यः पंडितेन वदने प्रशस्यते ॥ ५४० ॥

इति एकसंग्रहः ।

मध्ये गणस्य सर्वस्य क्षपकं भाषते हितम् ॥
इत्थं कारयितुं शुद्धां विधिनालोचनां गणी ॥ ५४१ ॥

विजयोदया—तम्हा तस्मात् । एगं एकं । पडिच्छदे अनुजानाति । खवगं क्षपकं एकं । पडिचरयाणं सम्मदं प्रतिचारकाणां इष्टं । भणदि य भणति च । तं क्षपकं । कः ? आयरिओ आचार्यः । क ? गच्छस्स मज्झम्मि गणस्य मध्ये । क्षपकस्य दीक्षा किमर्थं गणोऽपि मार्गज्ञो यथा स्यात् । पडिच्छणेनास्स ॥

उपसंहारमाह —

मूलारा—भणदि शिक्षामितिशेष. । मज्झम्मि गणोऽपि मार्गज्ञो यथा स्यादित्येवमर्थं गणमध्ये शिक्षयति ॥ एकप्रतीच्छा ॥ सूत्रतः ॥ २२ ॥ अंकतः ॥ ३ ॥

अर्थ — इसलिये आचार्य परिचारक मुनिओंके संमत्यनुसार एक क्षपक मुनिका स्वीकार करते हैं. और गणके मध्यमें उसको आगे की गाथाओंमें कहे मुजब उपदेश करते हैं. गणके बीचमें आचार्य क्षपकको उपदेश देनेका कारण यह है कि, गणको भी समाधिका अर्थात् रत्नत्रयका स्वरूप मालूम हो. अर्थात् समाधिमरणका अंगीकार करते समय कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिये इसका स्वरूप मालूम होनेके लिये गणके बीच क्षपकको उपदेश देते हैं.

एवमसौ क्षपकं वदतीति कथयति—

फासेहि तं चरित्तं सव्वं सुहसीलयं पयहिदूण ॥
सव्वं परीसहचमुं अधियासंतो धिदिबलेण ॥ ५२२ ॥

समस्तं स्पृश चारित्रं निरस्य सुखशीलताम् ॥
परीषहचमूं घोरां सहमानो निराकुलः ॥ ५४२ ॥

विजयोदया—फासेहि प्रतिपद्यस्व । तं भवान् । किं ? चरित्तं चारित्रं । सव्वं सुहसीलदं सर्वां सुखशीलतां । पजहिदूण त्यक्त्वा । सुखशीलतया हि चारित्रं मंदं भवति । पिंडस्योपकरणस्य वसतेश्चाशोधनात् । मनोज्ञाहारलंपटो न भिक्षां शोधयति । नाप्युपकरणं । सुखशील उद्गमादिदोषं न परिहरति मनोज्ञोपकरणबद्धाभिलाषत्वात् । क्लेशासहो यस्य कस्यचिद्वसतावास्ते ॥

अथालोचना गाथाचत्वारिंशत्या व्याचक्षाणस्तत्रात्मपादमूलमुपाश्रितमाराधकं परिचारकसंप्रतिपत्त्या प्रतिगृह्य तदालोचनां श्रोतुकामः सूरिस्तमादावित्थमालोचयितुं प्रोत्साहयन्गाथात्रयमाभिदध्यादित्यनुशास्ति—

मूलारा—फासेहि प्रतिपद्यस्व । तं त्वं । सुहसीलदं सुखभावनया हि चारित्रं मंदायते । पिंडस्योपकरणस्य वसतेश्चाशोधयन् । मनोज्ञाहारलंपटः खलु न भिक्षां शोधयति । मनोज्ञोपकरणाभिलाषुकस्तु नोद्गमादिदोषं परिहरति । क्लेशासहो यस्य कस्यांचित्सज्जितायां वसतावास्ते । अधियासंतो सहमान. ॥

क्षपकको आचार्यका उपदेश—

अर्थ - हे क्षपक तुम अपना सुखस्वभाव छोडकर संपूर्ण चारित्रको धारण करो. इस सुखस्वभावसे चारित्र मंद होता है. सुखस्वभावी मुनि आहार, उपकरण और वसतिका इनकी शुद्धि नहीं करता है. मनोज्ञ आहारमें लंपटी बनकर उद्गमादिदोषोंका त्याग करता नहीं. अच्छे उपकरणोंमें प्रेमयुक्त होकर उसके दोषोंका परिहार नहीं करता है. क्लेश सहनेमें असमर्थ होकर जिस किसी वसतिकामें रहता है. इस लिये तुम सुखस्वभावका त्याग करो. अपने धैर्यके सामर्थ्यसे सर्व परीषहोंकी सेनाको जीतकर चारित्रका तुम रक्षण करो.

इंद्रियजयं कषायजयं च कुर्वित्युपदिशति—

सद्दे रूवे गंधे रसे य फासे य णिज्जिणाहि तुमं ॥
सव्वेसु कसाएसु य णिग्गहपरमा सदा होह ॥ ५२३ ॥
रूपगंधरसस्पर्शशब्दानां मा स्म भूर्वशः ॥
कषायाणां विधेहि त्वं शत्रूणामिव निग्रहम् ॥ ५४३ ॥

विजयोदया—सद्दे रूवे गंधे इत्यनया। ननु शब्दादयो विषयास्तेषां जयो नाम कः ? तद्विषयो हि रागो बंधहेतुत्वात् तत्प्रतिपक्षभावनया जेतव्यस्तेनोपदेष्टव्यः। अत्रोच्यते—सोपस्कारत्वात्सूत्राणां सद्दे, रूवे, गंधे, रसे य फासे य रागं तुमं जिणाहि इति पदसंबंधः। अथवा शब्दादीनां विषयाणां वशेन स्थित इति कृत्वा जेता भण्यते यथा पुरुषो जितो ऽनयेत्युच्यते या पुरुषवशानुवर्तिनी न भवति। सव्वेसु कसाएसु य सर्वेषु कषायेषु वा क्रोधादिषु। णिग्गहपरमो निग्रहप्रधानः क्षमादिभावनया सदा भव॥

इंद्रियजयं कषायनिग्रहं च कुर्वित्युपदिशति—

मूलारा—णिज्जिणाहि निःशेषेण जय त्वं शब्दादिविषयं रागमिति शेषः। अथवा शब्दादीन्विषयान्निर्जीय तद्वशो मा भूरित्यर्थः। णिग्गहपरमो निग्रहप्रधानः॥

इन्द्रियोंको और कषायोंको तुम जीतो ऐसा उपदेश—

अर्थ—शब्द, रस, गंध, और स्पर्श ये पांच इंद्रियोंके विषय हैं उनको कैसा जीत सकते हैं ? शब्दादिकोंमें उत्पन्न होनेवाले रागभावको जीतना चाहिये क्योंकि वह कर्मबंधका कारण है. रागभावको उसके विरुद्ध भावनासे जीतना चाहिये ऐसा यहां उपदेश करना योग्य था परंतु आचार्य शब्दादिकोंको जीतनेके लिये क्षपकको उपदेश दे रहे हैं यह योग्य जचता नहीं.

उत्तर—सूत्र सोपस्कार रहते हैं. अर्थात् उसमें प्रकरणवश और कुछ शब्द जोडकर संबंध ठीक मिलाना पडता है. 'सद्दे रूवे गंधे रसे य फासे य रागं तुमं जिणाहि, ऐसा पद संबंध करना चाहिये. अर्थात् यहां ऐसा अर्थ समझना चाहिये—हे क्षपक तुम शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श ऐसा पंचेंद्रियोंके विषयोंमें जो रागभाव उत्पन्न होता है उसको जीतकर संपूर्ण क्रोधादिक कषायोंका क्षमा, मार्दव, आर्जव, और शौचभावनासे निग्रह करो.

शब्दादिक विषयोंके आधीन जो नहीं रहता है वह शब्दादिकोंका जेता कहाजाता है. जैसे जो स्त्री पुरुषके वश नहीं रहती है उसको इसने पुरुषको जीता है ऐसा लोक कहते हैं अर्थात् शब्दादिक कषायोंके स्वाधीन हे क्षपक ! तुम कदापि न रहोगे तो तुम इन्द्रियजयी कहलावोगे ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

एवं इन्द्रियकषायजयेन मया पश्चात्किंकर्तव्यमित्यत्रोत्तरमाचष्टे—

हंतूण कसाए इंदियाणि सव्वं च गारवं हंता ॥
तो मलिदरागदोसो करेहि आलोयणासुद्धिं ॥ ५२४ ॥

रागद्वेषकषायाक्षसंज्ञाभिर्गौरवादिकम् ॥
विहायालोचनां शुद्धां त्वं विधेहि विशुद्धधीः ॥ ५४४ ॥

विजयोदया—हंतूण हत्वा । कसाए कषायान् । इंदियाणि इंद्रियाणि च हत्वा । सव्वं च गारवं हंता सर्वं च गारवं हत्वा ऋद्धिरससातभेदात्त्रिविकल्पं । तो पश्चात् । मलिदरागदोसो मृदितरागद्वेषः । करेहि कुरु । आलोयणासुद्धिं आलोचनाख्या शुद्धिं । रागद्वेषौ असत्यवचनस्य हेतू इति परित्याज्याविति कथितौ ॥ रागाच्च पश्यति नरो दोषान् । द्वेषाद्गुणान्न गृह्णीते ॥ तस्माद्रागद्वेषौ क्षुवस्य कार्याणि कार्याणि ॥

एवमिंद्रियजयं कृत्वा पश्चात्किं कुर्यामहमित्यनाह—

मूलारा—हंता हत्वा । मलिद मर्दितौ । आलोयणासुद्धिं आलोचनाख्यां शुद्धिं । रागद्वेषावसत्यवचनस्य हेतू इति परित्याज्यौ । उक्तं च—रागान्न पश्यतीति किमिति परस्मै सत्यवचनकल्प निवेदयति । निर्वेदो भवता मुमुक्षुणा न कार्यो यतः ॥

इंद्रियजय और कषायजय करनेके अनंतर मेरा क्या क्या कर्तव्य है इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

अर्थ—क्रोधादिकषाय और स्पर्शनादिक इंद्रियोंको जीत कर ऋद्धिगारव, रसगारव और सातगारव ऐसे तीन गारवोंको हे क्षपक तुम जीतो तदनंतर रागद्वेषोंका मर्दन कर आलोचनारूप शुद्धि करो. रागभाव और द्वेषभाव असत्य वचनके कारण हैं इसलिये उनका त्याग करना चाहिये रागभावसे मनुष्य दोषको देखता नहीं और द्वेषसे सद्गुणोंको ग्रहण नहीं करता है इसलिये रागद्वेषोंका त्याग कर कार्य करने चाहिये.

निरतिचारं मदीयं रत्नत्रयं ततः किं गुरोर्निवेदयामीत्याचष्टे—

छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि अवस्समेव कायव्वा ॥
परसक्खिया विसोधी सुट्ठुवि ववहारकुसलेण ॥ ५२५ ॥

सपट्त्रिंशद्गुणेनापि व्यवहारपटीयसा ॥
कर्तव्यैषा महाशुद्धिरवश्यं परसाक्षिका ॥ ५४५ ॥

विजयोदया—छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि पट्त्रिंशद्गुणसमन्वितेनापि । अवस्समेव होइ कायव्वा अवश्यमेव भवति कर्तव्या । का विसोही विशुद्धिः मुक्त्युपायातिचाराणामपाकृतिः ॥

आयारवमादीया अट्ठगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो ॥
बारस तव छावासय छत्तीसगुणा मुणेयव्वा ॥ ५२६ ॥

अष्टाचारादयो ज्ञेयाः स्थितिकल्पा गुणा दश ॥
तपो द्वादशधा षोढावश्यकं पट्पडाहृतम् ॥ ५४६ ॥

सुट्ठुवि ववहारकुसलेण सुष्ठु अपि प्रायश्चित्तकुशलेनापि । अष्टौ ज्ञानाचाराः दर्शनाचाराश्चाष्टौ, तपो द्वादशविधं, पंच समितयः, तिस्रो गुप्तयश्च पट्त्रिंशद्गुणाः ॥

मूलारा—छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि पट्त्रिंशतागुणैः समन्वागतेन किं पुनरन्येनेत्यतिशयार्थे अपिः । पट्त्रिंशद्गुणा यथा—अष्टौ ज्ञानाचारा अष्टौ दर्शनाचाराश्च, तपो द्वादशविधं, पंच समितयस्तिस्रो गुप्तयश्चेति संस्कृतटीकायां । प्राकृतटीकायां तु अष्टाविंशतिमूलगुणा आचारवत्वादयश्चाष्टौ इति पट्त्रिंशत् । यदि वा दश आलोचना गुणा, दश प्रायश्चित्तगुणा, दश स्थितिकल्पाः, पड्जीतगुणाश्चेति पट्त्रिंशत् । एवं सति सूत्रेऽनुश्रूयमाणेयं गाथा प्रक्षिप्तैव लक्ष्यते ॥

परसक्खिया आचार्यादिसमक्ष्या । विसोही सम्यक्त्वाद्यतिचाराणामपाकृतिः । सुट्ठुवि ववहारकुसलेण अतीव प्रायश्चित्तनिपुणेनापि ॥

मेरे व्रत निरतिचार हैं इसलिये गुरूको मैं क्या निवेदन करूं? इस प्रश्नका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ—छत्तीस गुणोंके धारक व्यवहारकुशल, अर्थात् प्रायश्चित्त दानमें कुशल ऐसे आचार्योंकोभी अन्य आचार्योंके साक्षीसे आलोचना करनी चाहिये. अन्यथा उनके रत्नत्रयमें लगेहुये दोष नष्ट नहीं होते हैं.

आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारा तप, पांच समिति और तीन गुप्ति ऐसे आचार्यके छत्तीस गुण हैं. अथवा आचारवत्त्वादिक आठ गुण, आचेलक्यादिक स्थितिकल्पके दस गुण, बारा प्रकारके तप तथा छह आवश्यक ऐसे आचार्यके छत्तीस गुण हैं.

सव्वे वि तिण्णसंगा तित्थयरा केवली अणंतजिणा ॥
छदुमत्थस्स विसोधिं दिसंति ते वि य सदा गुरुसयासे ॥ ५२७ ॥
सर्वे तीर्थकृतोऽनंतजिनाः केवलिनो यतः ॥
छद्मस्थस्य महाशुद्धिं वदन्ति गुरुसन्निधौ ॥ ५४७ ॥

विजयोदया — सर्वेषां तीर्थकृतामियमाज्ञा-गुरोर्निवेद्यात्मापराधं तदुक्तं प्रायश्चित्तं कृत्वा शुद्धिः कार्येति । सव्वेवि तित्थयरा सर्वेऽपि तीर्थकरा । तिण्णसंगा तीर्णसंगा उल्लंघितपरिग्रहपंकाः । सव्वे वि केवली सर्वेऽपि केवलिनः । परित्रातस्वर्गावतरणादिकल्याणत्रयाः । केवलज्ञानावरणक्षयादधिगतविश्वज्ञाना केवलिनः । अणंतजिणा अनंतसंसार-कारणचारित्रमोहसर्वघातिमिथ्यात्वं द्वादशकषायाश्च अनंतं तज्जयादनंतजिना आचार्योपाध्यायसाधवः । तेऽपि सर्वे सदा गुरुसकासे सोधिं दिसंति सदा गुरुसमीपे रत्नत्रयशुद्धिं दर्शयन्ति । कस्य ? छदुमत्थस्स छद्मस्थस्य संबंधिनीमिति केचिद्वदन्ति । रत्नत्रयपरिणामात्मको रत्नत्रयविशुद्धया भवतीति छद्मस्थस्य विशुद्धिरित्युक्तवांतय ।

न चैतदप्रमाणकं सर्वतीर्थकृदाज्ञया छद्मस्थान्प्रति गुरुसाक्षिकायाः शुद्धेः प्रदर्शिकायाः सद्भावादिति दर्शयन्नाह—

मूलारा — तिण्णसंगा तीर्णोऽतिक्रांतः संगो यैस्ते त्यक्तग्रंथा इत्यर्थः । अणंतजिणा अनंतसंसारकारणत्वादि कर्मणां जितवंत एकदेशेनाचार्योपाध्यायसाधवश्च चोत्र गिलुसनिर्दिष्टे द्रष्टव्य । तीर्थकराणामेव वा विशेषणमिदं । तेहि संसारकारणत्वादि जितवंतस्तत्करणकर्मनिर्मूलत्वात् ।

अर्थ — सर्व तीर्थकरोंकी ऐसी आज्ञा है कि, गुरुको अपने अपराध कहकर उन्होंने दिया हुआ प्रायश्चित्त लेकर आत्मशुद्धि करनी चाहिये. सर्व तीर्थकर परिग्रहरूप अगाध कीचडको उल्लंघ कर मुक्त होगये हैं. सर्व केवलज्ञानी पुरुष स्वर्गसे इस भूतलपर जन्म लेकर तीन कल्याणोंके धारक हुए हैं. केवलज्ञानावरण कर्मके क्षयसे संपूर्ण विश्वका ज्ञान उनको हुआ था. चारित्रमोहनीय कर्म, मिथ्यात्व और अप्रत्याख्यानादि बारा कषाय इनको अनंत संज्ञा है. इनके ऊपर जिन्होंने जय प्राप्त कर लिया ऐसे आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओंको यहां अनंतजिन

रत्नत्रयमें निर्मलता उत्पन्न होनेसे यह आत्मा रत्नत्रयमय होता है. इस लिये उभ्यस्थान प्रायश्चित्त धारण कर निशुद्ध होना चाहिये.

यो न वेत्त्यतिचारजातमलनिराकरणक्रम सोऽन्यस्मै कथयेत्तु स्वयं वेत्ति स यस्मादसौ परस्मै कथयति तदुक्तं चाचरतीत्याह—

जह सुकुसलो वि वेज्जो अण्णस्स कहेदि आदुरो रोगं ॥
वेज्जस्स तस्स सोच्चा सो वि य पडिकम्ममारभइ ॥ ५२८ ॥

कुशलोऽपि यथा वैद्यः स्वं निगद्यातुरो गदम् ॥
वैद्यस्य परतो ज्ञात्वा विदधाति परिक्रियाम् ॥ ५४८ ॥

विजयोदया—जह सुकुसलो वि वेज्जो यथा सुष्ठु कुशलोऽपि वैद्यः । व्याधिनिरासे आदुरो आतुर । अण्णस्स कथेइ अन्यस्मै कथयति । रोगं व्याधिं । एवभूतो मम व्याधि, चिकित्सां कुर्विति । वेज्जस्स तस्स सोच्चा तस्य वैद्यस्य श्रुत्वा वचनं । सो वि य सोपि च अनातुरो वैद्य. । पडिकम्ममारभदि प्रतिक्रियामारभते ॥

उक्तमेवार्थं दृष्टांतोपन्यासपुरस्सरं दृढयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—सुकुसलो वि व्याधीनां निदाने, लिंगे, चिकित्सायां पुनर्भवनिरोधे च सुतरां प्रवीणोऽपि । तस्स तस्य स्वव्याधिं । कथ अविपर्यीकृतस्य । सोच्चा श्रुत्वा वाक्यमिति शेषः । सो रोगार्तो वैद्यः । वि य अपि च । आरभते चेत्यर्थः । पडिकम्मं प्रतीकारं ।

जो मुनि अतिचारसे उत्पन्न हुए मलका निवारण करनेका क्रम जानता नहीं है उसने दूसरोंको अपने अपराध कहना योग्य है परंतु जो अपराधोंका प्रायश्चित्त स्वयं जानता है उसको अपने दोप दूसरेको कहनेकी जरूरत नहीं है. वह क्यों दूसरोंको स्वापराध कहता है? और क्यों उनका दिया हुआ प्रायश्चित्त आचरता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ— जैसा अच्छा विद्वान भी वैद्य स्वयं बीमार पडनेपर अपने रोगका स्वरूप दुसरे वैद्यको कहता है. अर्थात् मेरे रोगका स्वरूप ऐसा है और इसके ऊपर आप औषध योजना करो. रोगीवैद्यका यह भाषण सुनकर नीरोग वैद्य उसकी चिकित्सा कर औषध योजना करता है.

एवं जाणंतेण वि पायच्छित्तविधिमप्पणो सव्वं ॥
कादव्वादपरविसोधणाए परसक्खिगा सोधी ॥ ५२९ ॥
जानतापि तथा दोषं स्वमुक्त्वा परके गुरौ ॥
परिज्ञाय विधातव्या महाशुद्धिः पटीयसा ॥ ५४९ ॥

विजयोदया—एवं जाणंतेण वि विजानतापि । किं पायच्छित्तविधिं प्रायश्चित्तकर्म । अप्पणो आत्मनः । परो उत्कृष्टा विशोधना यथा स्यादित्येवमर्थं स्वसाक्षिका परसाक्षिका च विशुद्धिरुत्कृष्टेति मन्यते ।

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत् ॥
चित्तशुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतं ॥

इति वचनात् । शुद्धिरतिचाराणां कृतेति परे मानयंति । निरतिचाररत्नत्रयोऽयमिति । परे भव्या एतदुपदेशेनास्माभिः प्रवर्तितव्यमिति ढौकन्ते । अन्यथा तद्गुणातिशयानवगमनान्न तदनुयायिनो भवंति । ततः कथमनेन परानुग्रहः कृतः स्यात् । कर्तव्यः स्वपरानुग्रहः । तथा चोक्तं—अप्पहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कायव्वं ॥ इति । तथापि—

'श्रेयोर्थिना हि जिनशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः' इति चैव इव । अथवा आत्मनः परस्य विशोधनार्थं परसाक्षिकं । मम शुद्धिं दृष्ट्वा परोऽप्ययमेव क्रम इति परसाक्षिकायां शुद्धौ प्रयतते । अन्यथा सर्वे स्वसाक्षिकामेव कुर्युः । तथा च न शुद्ध्यंति । गतानुगतिको हि प्रायेण लोकः ॥

मूलारा—आदपरविसोधणाए आत्मनः परा उत्कृष्टा विशोधना सम्यक्त्वाद्यतिचारमलक्षालना तदर्थं स्वसाक्षिका परसाक्षिका चोत्कृष्टा शुद्धिः स्यादिति हि मन्यते ।

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत् ॥
तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमितीरितम् ॥

इति वचनात् । अथवा आत्मानं परं च विशोधयितुं परसाक्षिका विशुद्धिः कर्तव्येति व्याख्येयं । स्वसाक्षिकामेव हि शुद्धिं कुर्वन्तमाचार्य तत्कल्पं वा मुनिं दृष्ट्वा परोऽपि तथैव प्रवर्तते । गतानुगतिकत्वात्प्रायेण लोकस्य । तथा च तेऽपि तथा शुध्यंति स्वसाक्षिकमात्रया ॥

अर्थ - इस प्रकार प्रायश्चित्त का ज्ञान जिनको है ऐसे मुनिराजने भी अपनी विशुद्धि होनेकेलिये आत्मसाक्षीसे और परसाक्षी से प्रायश्चित्त लेना चाहिये. प्राय शब्दका अर्थ लोक है. और चित्तका अर्थ मन है, अर्थात् चित्तको निर्मल करनेका जो कार्य है उसको प्रायश्चित्त कहते हैं. प्रायश्चित्त लेनेपर इसने आत्मशुद्धि की है ऐसा लोक समझते हैं.

यह संज्ञा दी है. ये सर्व महामुनिगण गुरुके समीपही छद्मस्थकी रत्नत्रयशुद्धि प्रायश्चित्तसे होती है ऐसा कहते हैं. रत्नत्रयमें निर्मलता उत्पन्न होनेसे यह आत्मा रत्नत्रयमय होता है. इस लिये छद्मस्थोंने प्रायश्चित्त धारण कर विशुद्ध होना चाहिये.

यो न वेत्त्यतिचारजातमलनिराकरणक्रम सोऽन्यस्मै कथयेद्यस्तु स्वयं वेत्ति स कस्मादसौ परस्मै कथयति तदुक्त चाचरतीत्याह—

जह सुकुसलो वि वेज्जो अण्णस्स कहेदि आदुरो रोग ॥
वेज्जस्स तस्स सोच्चा सो वि य पडिकम्ममारभइ ॥ ५२८ ॥

कुशलोऽपि यथा वैद्यः स्वं निगद्यातुरो गदम् ॥
वैद्यस्य परतो ज्ञात्वा विदधाति परिक्रियाम् ॥ ५४८ ॥

विजयोदया—जह सुकुसलो वि वेज्जो यथा सुष्टु कुशलोऽपि वेद्य । व्याधिनिरासे आदुरो आतुर । अण्णस्स कहेइ अन्यस्मै कथयति । रोग व्याधिं । एवंभूतो मम व्याधि, चिकित्सा कुर्विति । वेज्जस्स तस्स सोच्चा तस्य वैद्यस्य श्रुत्वा वचनं । सो वि य सोपि च अनातुरो वैद्य. । पडिकममारभदि प्रतिक्रियामारभते ॥

उक्तमेवार्थं दृष्टांतोपन्यासपुरस्सरं दृढयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—सुकुसलो वि व्याधीनां निदाने, लिंगे, चिकित्सायां पुनर्भवनिरोधे च सुतरां प्रवीणोऽपि । तस्स तस्य स्वव्याधिं । कथं अविपर्यीकृतस्य । सोच्चा श्रुत्वा वाक्यमिति शेषः । सो रोगार्तो वैद्यः । वि य अपि च । आरभते चेत्यर्थः । पडिकम्मं प्रतीकारं ।

जो मुनि अतिचारसे उत्पन्न हुए मलका निवारण करनेका क्रम जानता नहीं है उसने दूसरोंको अपने अपराध कहना योग्य है परंतु जो अपराधोंका प्रायश्चित्त स्वयं जानता है उसको अपने दोष दूसरेको कहनेकी जरूरत नहीं है. वह क्यों दूसरोंको स्वापराध कहता है ? और क्यों उनका दिया हुआ प्रायश्चित्त आचरता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ— जैसा अच्छा विद्वान भी वैद्य स्वयं बीमार पडनेपर अपने रोगका स्वरूप दुसरे वैद्यको कहता है. अर्थात् मेरे रोगका स्वरूप ऐसा है और इसके ऊपर आप औषध योजना करो. रोगीवैद्यका यह भाषण सुनकर नीरोग वैद्य उसकी चिकित्सा कर औषध योजना करता है

एवं जाणंतेण वि पायच्छित्तविधिमप्पणो सव्वं ॥
कादव्वादपरविसोधणाए परसक्खिगा सोधी ॥ ५२९ ॥

जानतापि तथा दोषं स्वमुक्त्वा परके गुरौ ॥
परिज्ञाय विधातव्या महाशुद्धिः पटीयसा ॥ ५४९ ॥

विजयोदया—एवं जाणंतेण वि विजानतापि । किं पायच्छित्तविधिं प्रायश्चित्तकर्म । अप्पणो आत्मनः । परो उत्कृष्टा विशोधना यथा स्यादित्येवमर्थं स्वसाक्षिका परसाक्षिका च विशुद्धिकारकेति मन्यते ।

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत् ॥
चित्तशुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतं ॥

इति वचनात् । शुद्धिरतिचाराणां कृतेति परे मानयंति । निरतिचाररत्नत्रयोऽयमिति । परे भव्याः एतदुपदेशेनास्माभिः प्रवर्तितव्यमिति ढौकन्ते । अन्यथा तद्गुणातिशयानवगमनान्न तदनुयायिनो भवंति । ततः कथमनेन परानुग्रहः कृतः स्यात् । कर्तव्यः स्वपरानुग्रहः । तथा चोक्तं—अप्पहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कायव्वं ॥ इति । तथापि—

'श्रेयोर्थिना हि जिनशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः' इति वैद्य इव । अथवा आत्मनः परस्य विशोधनार्थं परसाक्षिकं । मम शुद्धिं दृष्ट्वा परोऽप्ययमेव क्रम इति परसाक्षिकायां शुद्धौ प्रयतते । अन्यथा सर्वे स्वसाक्षिकामेव कुर्युः । तथा च न शुद्ध्यंति । गतानुगतिको हि प्रायेण लोकः ॥

मूलारा—आदपरविसोधणाए आत्मनः परा उत्कृष्टा विशोधना सम्यक्त्वाद्यतिचारमलक्षालना तदर्थं स्वसाक्षिका परसाक्षिका चोत्कृष्टा शुद्धिः स्यादिति हि मन्यते ।

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत् ॥
तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमितीरितम् ॥

इति वचनात् । अथवा आत्मानं परं च विशोधयितुं परसाक्षिका विशुद्धिः कर्तव्येति व्याख्येयं । स्वसाक्षिकामेव हि शुद्धिं कुर्वन्तमाचार्यं तत्कल्पं वा मुनिं दृष्ट्वा परोऽपि तथैव प्रवर्तते । गतानुगतिकत्वात्प्रायेण लोकस्य । तथा च तेऽपि तथा शुध्यंति स्वसाक्षिकमात्रया ॥

अर्थ – इस प्रकार प्रायश्चित्त का ज्ञान जिनको है ऐसे मुनिराजने भी अपनी विशुद्धि होनेकेलिये आत्मसाक्षीसे और परसाक्षी से प्रायश्चित्त लेना चाहिये. प्राय शब्दका अर्थ लोक है. और चित्तका अर्थ मन है. अर्थात् चित्तको निर्मल करनेका जो कार्य है उसको प्रायश्चित्त कहते हैं. प्रायश्चित्त लेनेपर इसने आत्मशुद्धि की है ऐसा लोक समझते हैं.

गुरुके उपदेशके अनुसार हमको प्रवृत्ति करनी चाहिये ऐसा समझकर शुद्धलोक उसके पास जाते हैं, यदि गुरुके विशिष्ट गुणोंका परिज्ञान न हो तो उसके अनुयायी कैसे होंगे. और गुरुभी परानुग्रह कैसा कर सकेगा. इसवास्ते गुरुको स्वपरानुग्रह करना चाहिये. क्यों कि 'आत्महित करना चाहिये और शक्य हो तो परहितभी करना चाहिये, इस उक्तिमें यद्यपि आत्महितकी मुख्यता दिखाई है तोभी ' श्रेयोर्थिना हि जिनशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियेमन हितोपदेशः' अर्थात् जिसको मोक्षकी इच्छा है, जो जिनधर्म पर प्रेम रखता है उसको हितोपदेश करना अवश्य कर्तव्य है. जैसे वैद्य रोगीको ओषध देकर उसको नीरोग करता है. उसका नीरोग करना जैसा कर्तव्य है वैसा गुरुओंका परहितके लिये उपदेश देना कर्तव्य है.

अथवा अपनी और दुसरोंकी आत्मशुद्धि करनेके लिये परसाक्षिक ही आत्मशुद्धि करनी योग्य है. क्यों कि मेरी शुद्धि देखकर दूसरेभी आत्मशुद्धिका क्रम ऐसा ही है ऐसा समझकर परसाक्षिक शुद्धि करनेके लिये प्रयत्न करेंगे अन्यथा सर्व लोक स्वसाक्षिसेही शुद्धि करेंगे. ऐसे करनेसे वे शुद्ध नहीं होंगे, लोकप्रायः गतानुगतिक होते हैं.

यस्मात्परसाक्षिका शुद्धिः प्रधाना—

तम्हा पव्वज्जादी दंसणणाणचरणादिचारो जो ॥
तं सव्वं आलोचेहि णिरवसेसं पणिहिदप्पा ॥ ५३० ॥

ततः सम्यक्त्वचारित्रज्ञानदूषणमादितः ।
एकाग्रमानसः सर्वं स्वमालोचय यत्नतः ॥ ५५० ॥

विजयोदया—तम्हा तस्मात्प्रव्रज्यादिकं । दंसणणाणचरणादिचारो जो दर्शनज्ञानचरणातिचारो यः । तं सव्वं सर्वं अतिचारं । आलोचेहि कथय । पणिहिदप्पा प्रणिहितचित्तो भूत्वा । निरवसेसं सर्वमित्यनेनैवावगतत्वात् निरवशेषमित्येतत्किमर्थं इति चेत् । ज्ञानदर्शनचारित्रविषयाणामतिचाराणां कतिपयानां सामस्त्येऽपि सर्वशब्दस्य प्रवृत्तिरस्तीति निरवशेषग्रहणं प्रत्येकं ज्ञानाद्यतिचारान् ग्रहीतुमुपन्यस्तमिति तत्र दोषः ॥

मूलारा—पव्वज्जादी दीक्षाग्रहणदिनात्प्रभृति । णिरवसेसं सूक्ष्मस्थूलभेदप्रभेदसहितम् ।

परसाक्षिक शुद्धि ही मुख्य है अतः तूं आलोचना कर ऐसा अभिप्राय आगेकी गाथा कहती है—

अर्थ—इस लिये दीक्षाकालसे आजतक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनमें जो जो अतिचार

लगे होंगे उन सबका और दर्शनादिकके प्रत्यक अतिचारोंका हे क्षपक 'तू एकाग्र चित्त कर कथन कर.

शंका – गाथामें 'सर्व, शब्द है उससेही सर्व अतिचारोंका कथन करनेका आशय स्पष्ट होजाता है. 'निरवशेष, यह गाथामें दुसरा शब्द है वह व्यर्थ दिखता है.

उत्तर—ज्ञानादिकोंमें किसी एकके सर्व अतिचार इस अर्थमेंभी सर्व शब्दकी प्रवृत्ति देखी जाती है. इस लिये ' निरवशेष ' शब्द ज्ञानदर्शनादिकोंके प्रत्येक अतिचारोंका ग्रहण करनेके लिये गाथामें आचार्य महाराजने जोड दिया है ऐसा समझना.

कथं निरवशेषालोचना कृता भवतीत्यारेकायामाह—

काइयवाइयमाणसियसेवणा दुप्पओगसंभूया ॥

जइ अत्थि अदीचारं तं आलोचेहि णिस्सेसं ॥ ५११ ॥

विद्यते यद्यतीचारो मनोवाक्कायसंभवः ॥

आलोचय तदा सर्व निःशल्यीभूतमानसः ॥ ५५१ ॥

विजयोदया—काइयवाइयमाणसियसेवणा कायेन, वाचा, मनसा च प्रवृत्ति प्रतिसेवना। दुप्पओगसंभूया दु प्रयोगसंभूतां। तं तां। आलोचेहि कथय। णिस्सेसं नि शेषं। जइ अत्थि अदीचारो यद्यस्त्यतिचारः।

मूलारा—काइय इत्यादि कायिकं काये भवं। वाइय वाचि भवं। माणसिय मनसि भवं।यत्सेवनं पिंडादेरुपयोगस्तस्य दुष्प्रयोगो अशुभानुष्ठानमुत्सूत्राचरणं इत्यर्थस्तस्मात्संभूद संजातः। सेवणमित्यत्र पादपूरणेऽनुस्वारः। संभूदमित्यत्रार्थत्वाल्लिंगव्यत्ययः तथा चोक्तं—

कायिकवाचिकमानससंसेवादुष्प्रयोगसंभूतो

यद्यस्ति तेऽतिचारो निरवयवं निगद तं गुरवे ॥

भगवतो निकटे निःशेषमालोचय यद्यस्ति तेऽतिचारः। कायादिना पिंडादीनुत्सूत्रमुपयुंजानस्य योऽतिचारः संपन्नस्तं प्रकाशयेति तात्पर्यार्थः॥

निरवशेष आलोचना कैसी की जाती है ? इस शंकाका उत्तर—

बडापन और छोटापन उत्पन्न होता है. और उसके अनुसार ही छोटा अथवा बडा प्रायश्चित्त दिया जाता है. अथवा परिणामोंमें तीव्रता वा मंदता होगी तो उसके अनुसार छोटा या बडा प्रायश्चित्त आचार्य देते हैं.

शिक्षयत्यालोचनाक्रमं सूरिः—

आलोयणा हु दुविहा ओघेण य होदि पदविभागी य ॥
ओघेण मूलपत्तस्स पयविभागी य इदरस्स ॥ ५३३ ॥

आलोचना द्विधा साधोरौघी पदविभागिका ॥
प्रथमा मूलयातस्य परस्य गदिता परा ॥ ५५३ ॥

विजयोदया—आलोयणा खु दुविहा होदि द्विप्रकारैवालोचना भवति। ओघेण पदविभागी य सामान्येन विशेषेण च। वचो हि सामान्यं विशेषं चावलम्ब्य प्रवर्तते। कस्य सामान्येन आलोचना कस्य वा विशेषेणेत्यत आह—ओघेण मूलपत्तस्स सामान्यालोचना मूलाख्यं प्रायश्चित्तं प्राप्तस्य। पदविभागी विशेषालोचना। इदरस्स मूलमप्राप्तस्य ॥

वचसां सामान्यविशेषालंबनत्वेन प्रवृत्तिदर्शनादौघी पादविभागी चेति द्विविधैवालोचनेति नियम्य तत्स्वामिनौ निर्दिशति।

मूलारा—ओघेण सामान्येन एकवारेण वा सामान्य लोचनेत्यर्थः। पादविभागी पादानां सम्यक्त्वाद्यपराधानां विभागे देशकालादिभेदे भवा पादविभागी विशेषालोचनेत्यर्थः। मूलं मूलाख्यं प्रायश्चित्तं ॥

आचार्य आलोचनाका क्रम दिखाते हैं—

अर्थ —आलोचनाके दोही प्रकार हैं. एक ओघालोचना और दूसरी पदविभागी आलोचना. अर्थात् सामान्यालोचना और विशेषालोचना ऐसे इनके औरभी दो नाम हैं. वचन सामान्य और विशेष इन दो धर्मोंका आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है. अतः आलोचनाके उपर्युक्त दो भेद हैं.

सामान्यालोचना और विशेषालोचनाका स्वरूप इस प्रकार है–जो मूल नामक प्रायश्चित्तकेलिये योग्य है अर्थात् जिसकी पूर्व दीक्षा महापराधसे नष्ट हो गई है उसको पुनः दीक्षा देना यह मूल प्रायश्चित्तका अर्थ है. इस प्रायश्चित्तके लिये योग्य मुनि दोषोंकी सामान्यालोचना करता है. और जो प्रायश्चित्तको छोड कर के बाकीके प्रायश्चित्तके योग्य है वह पदविभागी आलोचना करे.

जं जह णिसेविदं तं जेण य सह सव्वमालोच ॥ ५३२ ॥

कालेऽमुकत्र देशे वा जातो भावनयानया ॥
दोषो ममेति विज्ञाय त्वमालोचय सर्वथा ॥ ५५२ ॥

विजयोदया— चरणं कमाचरणं । इदो अस्मादिनादतिक्रांते । अमुगम्मि काले अमुकस्मिन्काले । देसे अमुस्मिन्देशे । अमुगभावेण अमुकभावेन अनेन भावेन । जं यत् । जधा णिसेविदं यथा निषेवितं । जेण य सह येन च सह । तं सव्वमालोचे तत्सर्वं कथयेद्देशकालभेदात् । परिणामभेदात्, सहायभेदात् च दोषाणां गुरुलघुभावः । गुरुलघुभावानुसारेण वा गुरुलघु वा प्रायश्चित्तं दीयते ।, तत्सर्वं कथयति ॥

कालदेशपरिणामसहायभेदाद्दोषाणां गुरुलघुभावः स्यात्तदनुसारि च प्रायश्चित्तमिति यो यदा यत्र येन यथा जातोऽविचारस्तं तथैवालोचयेदुत्कृष्टशुद्धिकाम इत्यालोचनाविध्यनुशासनार्थमाह——

मूलारा——अमुगम्मि अमुकस्मिन् । विप्रकृष्टप्रत्यक्षे । इदो इतोऽस्मात्समीपप्रत्यक्षाद्दिना प्राक् । काले शीतोष्णवर्षालक्षणे । पूर्वाब्दादिरूपे वा । देसे भूम्येकदेशे, जांगलादौ पुरवनादौ वा । अमुगभावेण अमुकेन क्रोधादीनामन्यतमेन परिणामेन । अमुकेन सहानेनेत्युपस्कारः णिसेविदं निषिद्धमनुष्ठितं । ते त्वया । तं सम्यक्त्वाद्यतिचारं । समालोचे संपूर्णमालोचय । उक्तं——

कालेऽमुकत्र देशे वा जातो भावनयानया ॥
दोषो ममेति विज्ञाय त्वमालोचय सर्वथा ॥

अर्थ—अमुक कालमें, अमुक देशमें, अमुक परिणामसे जो दोष जैसा किया होगा और जिसके साथ किया होगा उसका संपूर्णतया कथन करना चाहिये. देशकालभेदसे, परिणामभेदसे और साहायभेदसे दोषोंमें

अपराधोऽस्ति यः कश्चिज्जातो यत्र यथा यदा ॥
ब्रूते पदविभागीं तां सूरौ तत्र तथा तदा ॥ ५५५ ॥

विजयोदया—पव्वज्जादी सव्व प्रव्रज्यादिकं सर्वं । कमेण जं जत्थ जेण भावेण क्रमेण यद्यत्र कालत्रये वा देशे येन भावेन प्रतिसेवितं । तहा तं तथा तत् । आलोचितो निरूपयन्निति । यदि पदविभागी विशेषालोचना भवति । शल्यानिराकरणे दोषं शल्यापाये च गुणं दृष्टान्तेन दर्शयति ।

पादविभागीं लक्षयति—

मूलारा—जत्थ यस्मिन्देशे काले च । पडिसेविदं संव्यवहृतं । आलोचेंतो पदविभागीमालोचयन्साधुः विभागी विशेषालोचना स्याद्वक्तृवचनयोर्हेतुहेतुमद्भावेनाभेदोपचारात् ॥

विशेष आलोचनाका वर्णन—

अर्थ—तीन कालमें, जिस देशमें, जिस परिणामसे जो दोष हो गया है उस दोषकी मैं आलोचना करता हूं ऐसा कहकर जो दोष क्रमसे आचार्यके आगे क्षपक कहता है उसकी यह पदविभागी आलोचना है.

जह कंटएण विद्धो सव्वंगे वेदणुद्दुदो होदि ॥
तह्मि दु समुट्ठिदे सो णिस्सल्लो णिव्वुदो होदि ॥ ५२६ ।

कंटकेन यथा विद्धे सर्वांगव्यापिवेदना ॥
जायते निर्वृतस्तस्मिन्नुद्धृते शल्यवर्जितः ॥५५६॥

विजयोदया—जह कंटएण विद्धो यथा कटकेन विद्धः । सव्वंगे सर्वस्मिन् शरीरे । वेदणुद्दुदो होइ वेदनयोपद्रुतो भवति । तह्मि समुट्ठिदे तस्मिन्कंटके उद्धृते । सो दुःखितः । णिस्सल्लो नि शल्यो शल्येन रहितः । णिव्वुदो निर्वृतो । होदि भवतीति सुखी भवतीति यावत् ॥

शल्यानुद्धरणोद्धरणयोर्दोषगुणौ दृष्टांतमुखेन स्पष्टयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—वेदणुद्दुदो पीडोपद्रुतः । णिव्वुदो सुखी ।

शल्यका निराकरण न करनेमें दोष और शल्यके नष्ट होने से गुण प्राप्त होता है यह दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं—

सामान्यालोचनास्वरूपं कथयति—

ओघेणालोचेदि हु अपरिमिदवराधसव्वघादी वा ॥
अज्जोपाए इत्थं सामण्णमहं खु तुच्छोत्ति ॥ ५२४ ॥

ओघेन भाषतेऽनल्पदोषो वा सर्वघातकः ॥
इतः प्रभृति वांछामि त्वत्तोऽहं संयमं गुरो ! ॥ ५५४ ॥

विजयोदया—ओघेणालोचेदि हु सामान्येन कथयति । कोऽपरिमिदवराधो सव्वघादो वा बहवो अपराधा यस्य मिथ्यात्व व्रतभंगो वा । परसाक्षिकाया शुद्धौ मायाशल्यं निरस्तं भवति । मानकषायो निर्मूलितो भवति । गुरुजनः पूजितो भवति । तत्परतन्त्रया वृत्तेर्मार्गप्रख्यापना च कृता भवति । अज्जोपाए अद्योपाये अद्यप्रभृतिः । इच्छे सामण्णं इच्छामि श्रामण्यं । अहं खु तुच्छोत्ति अह स्वल्पको रत्नत्रयेणेति इयं सामान्यालोचना ।

सामान्यालोचनास्वरूपं च वक्तुमाह—

मूलारा—अपरिमिदवराध बहुदोष. । सव्वाघादी सर्वेषा सम्यक्त्वव्रतादीनां घातो विनाशोऽस्यास्तीति । अज्जोपाये अद्यप्रभृति । इच्छ इच्छामि प्रतिपद्येहम् । खु यस्मात् । तुच्छो अहं स्वल्पको रत्नत्रयेण । त्ति इत्येवमालोचयतीति योज्यम् ॥

सामान्य आलोचनाका स्वरूप कहते हैं —

अर्थ— जिसने अपरिमित अपराध किये हैं अथवा जिसके रत्नत्रयका—सर्व व्रतोंका नाश हुआ है वह मुनि सामान्यरीतीसे अपराधका निवेदन करता है. जो मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ अथवा जिसके व्रत नष्ट हुए हो वह सामान्यालोचना करता है. परसाक्षिसे शुद्धि कर लेनेसे मायाशल्यका नाश होता है. मानकषायका निर्मूलन होता है. प्रायश्चित्त लेनेसे गुरूजनोंका आदर होता है. अर्थात् उनकी आज्ञाका पालन होता है. उनके आधीन रहकर व्रताचरण करनेसे मार्गकी प्रसिद्धि होती है. आजसे मैं पुनः मुनि होनेकी इच्छा करता हूं. मैं तुच्छ हूं अर्थात् मैं रत्नत्रयसे आप लोगोंसे छोटा हूं ऐसा कहना सामान्यालोचना है.

विशेषालोचनामाचष्टे—

पव्वज्जादी सव्वं कमेण जं जत्थ जेण भावेण ॥
पडिसेविदं तहा तं आलोचिंतो पदविभागी ॥ ५२५ ॥

अपराधोऽस्ति यः कश्चिज्जातो यत्र यथा यदा ॥
ब्रूते पदविभागीं तां सूरौ तत्र तथा तदा ॥ ५५५ ॥

विजयोदया—पव्वज्जादी सव्वं प्रव्रज्यादिकं सर्वं । कमेण जं जत्थ जेण भावेण क्रमेण यद्यत्र कालत्रये वा देशे येन भावेन प्रतिसेवितं । तहा तं तथा तद् । आलोचिंतो निरूपयन्निति । यदि पदविभागी विशेषालोचना भवति । शल्यानिराकरणे दोषं शल्यापाये च गुणं दृष्टांतेन दर्शयति ।

पादविभागी लक्षयति—

मूलारा—जत्थ यस्मिन्देशे काले च । पडिसेविदं संव्यवहृतं । आलोचेंतो पदविभागीमालोचयन्साधुः पादविभागी विशेषालोचना स्याद्वक्तृवचनयोर्हेतुहेतुमद्भावेनाभेदोपचारात् ॥

विशेष आलोचनाका वर्णन—

अर्थ—तीन कालमें, जिस देशमें, जिस परिणामसे जो दोष हो गया है उस दोषकी मैं आलोचना करता हूं ऐसा कहकर जो दोष क्रमसे आचार्यके आगे क्षपक कहता है उसकी वह पदविभागी आलोचना है.

जह कंटएण विद्धो सव्वंगे वेदणुद्धुदो होदि ॥
तह्मि दु समुद्दिदे सो णिस्सल्लो णिव्वुदो होदि ॥ ५३६ ।

कंटकेन यथा विद्धे सर्वांगव्यापिवेदना ॥
जायते निर्वृतस्तस्मिन्नुद्धृते शल्यवर्जितः ॥५५६॥

विजयोदया—जह कंटएण विद्धो यथा कंटकेन विद्धः । सव्वंगे सर्वस्मिन् शरीरे । वेदणुद्धुदो होइ वेदनयोपद्रुतो भवति । तह्मि समुद्दिदे तस्मिन्कंटके उद्धृते । सो दुःखितः । णिस्सल्लो निःशल्यो शल्येन रहितः । णिव्वुदो निर्वृतो । होदि भवतीति सुखी भवतीति यावत् ॥

शल्यानुद्धरणोद्धरणयोर्दोषगुणौ दृष्टांतमुखेन स्पष्टयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—वेदणुद्धुदो पीडोपद्रुतः । णिव्वुदो सुखी ।

शल्यका निराकरण न करनेमें दोष और शल्यके नष्ट होने से गुण प्राप्त होता है यह दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं—

अर्थ— जैसे जिसको कांटा चुभ गया है वह दुःखसे विह्वल होता है, उसके सर्व शरीरमें वेदना होती है. परंतु जब कांटा शरीरसे निकाल[1] जाता है तब वह मनुष्य सुखी होता है.

दार्ष्टान्तिकयोजना—

एवमणुद्धुददोसो माइल्लो तेण दुक्खिदो होइ ॥
सो चेव वंददोसो सुविसुद्धो णिव्वुदो होइ ॥ ५१७ ॥

दुःखव्याकुलितस्वान्तस्तथा शल्येन शल्यितः ॥
निःशल्यो जायते यः स लभते निर्वृतिं पराम् ॥५५७॥

विजयोदया—एवं कंटकेन विद्ध इव अणुद्धुददोसो अनुद्धृतदोषः । माइल्लो मायावान् । स्वापराधाकथनानुद्धृतदोषेण । दुक्खिदो होदि । दुःखितो भवति । सो चेव वंददोसो स एव वांतदोषः । सुविसुद्धो णिव्वुदो होदि । निर्वृतो भवति ॥

मूलारा—मायिल्लो मायायुक्तः । तेण सम्यक्त्वादिदोषेण अनुद्धृतेन । दुक्खिदो इहपरलोके च दुःखार्त्तः । वंतदोसो परस्मै कथितापराधः । सुविसुद्धो कृतस्वपरसाक्षिकशुद्धिकत्वात् ।

दार्ष्टान्तिकमें योजना—

अर्थ— वैसे जिसने दोषरूपी कंटकको अपने मनसे निकाला नहीं है ऐसा मायावि मुनि अपने अपराधोंका कथन न करना एतत्स्वरूप दोषसे दुःखी होता है. परंतु जब सर्व दोषोंका कथन करता है तब मायाशल्य नष्ट होनेसे कांटा निकल जानेके समान आत्मामें प्रसन्नता उत्पन्न होती है.

मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं णिदाणसल्लं च ॥
अहवा सल्लं दुविहं दव्वे भावे य बोधव्वं ॥ ५३८ ॥

मायानिदानमिथ्यात्वभेदेन त्रिविधं मतम् ॥
अथवा द्विविधं शल्यं द्रव्यभावात्मकं मतम् ॥५५८॥

विजयोदया—मिच्छादंसणसल्लं मिथ्यादर्शनशल्यं । मायासल्लं मायाशल्यं । णिदाणसल्लं निदानशल्यं च । अहवा सल्लं दुविहं अथवा शल्यं द्विप्रकारं । दव्वे भावे य द्रव्यशल्यं भावशल्यमिति । बोधव्वं बोद्धव्यम् ॥

शल्यभेदनिर्णयार्थमाह—

मूलारा—मिच्छादंसणसल्लं मिथ्यादर्शनं शल्यमिव शरीरान्तःप्रविष्टकाण्डादिवत् बाधानुबंधनिबंधनत्वात् । एवमुत्तरयोरप्युपमार्थो वाच्यः । णिदाणसल्लं सम्यक्त्वव्रतादिमाहात्म्याद्राज्यादिकं मे भूयादिति संकल्पः । दव्वे द्रव्याश्रयं ।

अर्थ—मिथ्यादर्शनशल्य, मायाशल्य और निदानशल्य ऐसे शल्यके तीन दोष हैं. अथवा द्रव्यशल्य और भावशल्य ऐसे शल्यके दो भेद समझने चाहिये.

तिविहं तु भावसल्लं दंसणणाणे चरित्तजोगे य ॥
सच्चित्ते य अचित्ते य मिस्सगे वा वि दव्वम्मि ॥ ५३९ ॥

भावशल्यं त्रिधा तत्र ज्ञानादित्रयगोचरम् ॥
द्रव्यशल्यमपि त्रेधा सचित्ताचित्तमिश्रकम् ॥ ५६९ ॥

विजयोदया—तिविहं तु त्रिविधमेव । भावसल्लं परिणामशल्यं । दंसणणाणे चरित्तजोगे य दर्शने, ज्ञाने, चारित्रयोगे वा । दर्शनस्य शल्यं शंकादि । ज्ञानस्य शल्यं अकाले पठनं अविनयादिकं च । चारित्रस्य शल्यं समिति, गुप्त्योरनादरः । योगस्य तपसः प्रागुक्तानशनाद्यतिचारजातं । असंयमपरिणमनं वा । तपसश्चारित्रे अन्तर्भावविवक्षया तिविहमित्युक्तम् । दव्वम्मि सल्लं तिविहं । द्रव्ये शल्यं त्रिविधं । सचित्ते अचित्ते मिस्सगे य सचित्तद्रव्यशल्यं दासादि । अचित्तद्रव्यशल्यं सुवर्णादि । मिस्सगे वा विमिश्रद्रव्यशल्यं ग्रामादि एतत्त्रिविधं द्रव्यशल्यमित्युच्यते । चारित्राचारस्य शल्यस्य कारणत्वात् ॥

उभयमपि शल्यं प्रविवक्षुराह—

मूलारा—भावसल्लं सम्यक्त्वाद्यतिचारलक्षणपरिणामशल्यं दंसणे इत्यादि । दर्शनस्य शल्यं शंकादिकं । ज्ञानस्याकालपठनादिकं । चारित्रस्य समितिगुप्त्यनादरः । योगस्य तपसः प्रागुक्तानशनाद्यतिचारजातमसंयमपरिणमनं वा । तपसश्चारित्रेऽन्तर्भावविवक्षया तिविहमित्युक्तं । सचित्तद्रव्यशल्यं दासादि । अचित्ते अचित्तद्रव्यशल्यं सुवर्णादि । मिस्सगे मिश्रद्रव्यशल्यं ग्रामादि ।

अर्थ—भावशल्यके तीन भेद हैं. दर्शन, ज्ञान, चारित्र और योग इनम ...

१ शंका, कांक्षादिक सम्यग्दर्शनके शल्य हैं.

२ अकालमें पढना और अविनयादिक करना ज्ञानके शल्य हैं.

३ समिति और गुप्तिओंमें अनादर रहना चारित्रशल्य हैं.

४ योग—तप—अनशनादि तपोंके अतिचारोंका पूर्वमें वर्णन आया है.

असंयममें प्रवृत्ति होना योगशल्य है. तपश्चरणका चारित्रमें अन्तर्भाव करनेकी विवक्षासे भावशल्यके तीन भेद कहे हैं

द्रव्यशल्य भी तीन प्रकारका है. सचित्तशल्य, अचित्तशल्य और मिश्रशल्य. दासादिक सचित्त द्रव्य शल्य है. सुवर्ण वगैरह पदार्थ अचित्त शल्य है, और ग्रामादिक मिश्रशल्य हैं ये सब चारित्राचारके शल्यके कारण हैं.

भावशल्यानुद्धरणे दोषमाह—

एगमवि भावसल्लं अणुद्धरित्ताण जो कुणइ कालं ॥
लज्जाए गारवेण य ण सो हु आराधओ होदि ॥ ५४० ॥

अनुद्धृते प्रमादेन भावशल्ये शरीरिणः ॥
लभंते दारुणं दुःखं द्रव्यशल्यमिवानिशम् ॥ ५६० ॥
भावशल्यमनुद्धृत्य ये म्रियन्ते विमोहिनः ॥
भयप्रमादलज्जाभिः कस्याप्याराधका न ते ॥ ५६१ ॥
दुःसहा वेदनैकत्र द्रव्यशल्येऽस्त्यनुद्धृते ॥
भावशल्ये पुनः सास्ति जन्तोर्जन्मनि जन्मनि ॥ ५६२ ॥

विजयोदया—एगमवि एकमपि भावानां रत्नत्रयाणां शल्यं । अतिचारं । अणुद्धरित्ताण अनुद्धृत्य । जो कुणदि कालं यः करोति मरणं । कस्माद्नोद्धरति । लज्जाए लज्जया । गारवेण य गारवेण वा । सो ण खु आराधगो होदि । स आराधको नैव भवति । निरतिचारता हि तेषां यतीनां आराधना ॥

एकमपि भावशल्यमनुद्धृत्य म्रियमाणस्य दोषमाह—

मूलारा—भावसल्लं भावानां सम्यक्त्वादीनां शल्यमतिचारं । अणुद्धरित्ताणं अनुन्मूल्य गुरूक्तप्रायश्चित्तेनानिराकृत्येत्यर्थः । गारवेण य च शब्दाद्भयेन च ।

भावशल्यका उद्धार न करनेमें दोष दिखाते हैं—

अर्थ—जो क्षपक लज्जासे गारवसे रत्नत्रयमें लगे हुए अतिचारोंको दूर नहीं करता हुआ मरण करता है. वह आराधक नहीं होता है.

जाते अपराधे तदानीमेव कथितव्यं न कालक्षेपः कार्य इति शिक्षयति—

कल्लं परे व परदो काहं दंसणचरित्तसोधित्ति ॥
इय संकप्पमदीया गयं पि कालं ण याणंति ॥ ५४१ ॥

चारित्रं शोधयिष्यामि काले श्वः......वहम् ॥
शेमुषीमिति कुर्वाणा गतं कालं न जानते ॥ ५६३ ॥

विजयोदया—कल्लं श्वःप्रभृतिके काले । अहं करिष्यामि दंसणचरित्तसोधित्ति दर्शनज्ञानचारित्रशुद्धिमिति । इय संकप्पमदीगा एवं कृतसंकल्पमतयः गदंपि कालं ण जाणंति । गतमतिक्रांतमपि आयुःकालं नैव जानंति । ततः सशल्यं मरणं तेषां भवति ।. अत एवोक्तं उप्पण्णाणुप्पण्णा माया अणुपुव्वसो णिहंतव्वा । इति व्याधयः, कर्माणि, शत्रवश्चोपेक्षितानि बद्धमूलानि पुनर्न सुखेन विनाश्यंते । अथवा अतिचारकालं गतं चिरातिक्रान्तं नैव जानंति । ये हि अतिचाराः प्रतिदिनं जातास्तेषां कालं, संख्यां, रात्रिंदिनं इत्यादिकं पश्चादालोचनाकाले गुरुणा पृष्टास्तावन्त वक्तुं जानन्ति विस्मृतत्वाच्चिरातीतस्य । अधागतं व्यतीचारकालं तस्यातिचारस्य अपिशब्देन क्षेत्रभावौ चातिचारस्य हेतू न जानंति न स्मरन्ति । सामान्यवाच्यपि न जानंति । इह स्मृतिज्ञानागोचर इति केषांचिद्व्याख्यानं ॥

सम्यक्त्वादेरुत्पन्नो दोषस्तत्क्षणादेव संशोध्य इति शिक्षार्थमाह—

मूलारा—कल्लं श्वः । परे एकदिनांतरितागामि दिने । काहं करिष्याम्यहं । इय संकप्पमदीया एवं चिंतागवबुद्धयः गयंपीत्यादि अतिक्रांतमप्यायु कालं न बुध्यंते । ततः सशल्यास्ते म्रियन्ते । अत एवोक्तं उप्पण्णा उत्पन्नमाया अणु अपुव्व सो णिहंतव्वा । अथवा गतं चिरातिक्रांतं कालं संध्यारात्रिदिनादिकं अतिचारसमयं । अपि शब्दात्क्षेत्रभावौ च

न जानंति न स्मरंत्यालोचनाकाले गुरुणा पृष्टाः संत इति व्याख्येयम् । अन्ये तु गतं प्राप्तमतीचारं न स्मरंति तत्कालक्षेत्रभावांश्चेति व्याचक्षते ॥

आराधनामें-रत्नत्रयमें अपराध-अतिचार होनेपर उसी क्षणमें उनका गुरूके चरण समीप कथन करना चाहिये, कालक्षेप करना योग्य नहीं है, ऐसा उपदेश आचार्य कहते हैं—

अर्थ- -कल परसों अथवा तरसों मैं दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी शुद्धि करूंगा ऐसा जिन्होंने अपने मनमें संकल्प किया है ऐसे मुनि अपना आयुष्य कितना नष्ट हुआ यह जानते नहीं है. अर्थात् उनका शल्यसहित मरण होता है. इसी वास्ते मायाशल्य मनमें जब उत्पन्न होता है उसी समय उसको हृदयसे निकालना चाहिये, ऐसा आचार्य कहते हैं. रोग, शत्रु और कर्म इनकी उपेक्षा करनेसे ये दृढमूल होते हैं. पुनः उनका नाश सुखसे कर नहीं सकते. अथवा जो अतिचार होकर बहुत दिन व्यतीत होचुके हैं उनका स्मरण होता नहीं है. जो अतिचार हुए हैं उनके संध्या,दिन,रात्रि इत्यादिक रूप कालका स्मरण गुरूके पूछने पर शिष्योंको होता नहीं है. वे अमुक कालमें मेरे द्वारा यह अतिचार हुआ ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि अतिचार होकर बहुत दिन व्यतीत हो गये हैं. जैसे कालका स्मरण होता नहीं है वैसे क्षेत्र, भाव और अतिचारके कारण इनकाभी स्मरण होता नहीं. वे अतिचार स्मृतिज्ञानके अगोचर होते हैं. अर्थात् हमसे कोनसे अतिचार हुए यहभी उनके ध्यानमे नहीं रहता है. ऐसा कोइ आचार्य इस गाथाका व्याख्यान करते हैं.

सशल्यमरणे को दोष इत्याशंकायामाचष्टे—

रागद्दोसाभिहदा ससल्लमरणं मरंति जे मूढा ॥
ते दुक्खसल्लबहुले भमंति संसारकांतारे ॥ ५४२ ॥
रागद्वेषादिभिर्भग्ना ये म्रियन्ते सशल्यकाः ॥
दुःखशल्याकुले भीमे भवारण्ये भ्रमन्ति ते ॥ ५६४ ॥

विजयोदया—रागद्दोसाभिहदा रागद्वेषाभ्यामभिहताः । ससल्लमरणं मरंति म्रियंते । जे मूढा ये मूढास्ते संसारकांतारे भमंति ते संसाराटव्यां भ्रमंति । कीदृशि ? दुक्खसल्लबहुले दुःखानि शल्यवत् दुर्धरत्वाच्छल्य इत्युच्यंते । दुःखशल्यसंकुले ॥

सशल्यमरणे दोषमाह—

मूलारा—दुक्खसहस्सबहुले दुःखानि शल्यानीव दुरुद्धरत्वात्तानि प्रचुराणि यत्र कांतारे कंटकाटव्याम् ॥

अतिचारकी शुद्धि किये विना मरण करनेमें क्या दोष है? इस शंकाका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ—राग और द्वेषसे जो क्षपक पराजित होकर दोषोंकी आलोचना किये विनाही मरण करते हैं. दुःख रूपी शल्योंसे भरे हुए इस संसारवनमें भ्रमण करते हैं. जैसे शरीरमें घुसा हुआ शल्य दुर्धर होता है वैसा रागद्वेष संयुक्त होकर जीव भी दुर्धर दुःखोंको इस भवमें भोगते हैं. अतिचारोंकी आलोचना न करनेका यह फल है.

शल्योद्धरणे गुणं व्याचष्टे—

तिविहं पि भावसल्लं समुद्धरित्ताण जो कुणदि कालं ॥
पव्वज्जादी सव्वं स होइ आराधओ मरणे ॥ ५४२ ॥

उद्धृत्य कुर्वते कालं भावशल्यं त्रिधापि ये ॥
आराधनां प्रपद्यंते ते कल्याणधितारिणीं ॥ ५६५ ॥

विजयोदया—तिविहंपि त्रिविधमपि । भावसल्लं भावशल्यं । समुद्धरित्ताण समुद्धृत्य । जो कुणदि कालं यः कालं करोति । कीदृग्भूतं ? पव्वजादी प्रव्रज्यादिकं । सव्वं सर्वं । स होदि स भवति । आराधओ आराधको दर्शनादीनां । मरणे भवप्रत्यये ॥

उद्धृतशल्यस्य मरणे गुणं गृणाति—

मूलारा—समुद्धरित्ताण समुध्दृत्य ॥

जो शल्यका उद्धार करता है उसको आराधना सिद्ध होती है ऐसा कथन—

अर्थ - तीन प्रकारके भावशल्योंका स्वरूप ऊपर कहा है. इन शल्योंको हृदयमें निकालकर-अतिचारोंकी आलोचना करके प्रायश्चित्त द्वारा जो अपने आत्माको निर्मल बनाकर मरण करते हैं उनकी आराधनाओंकी सिद्धि होती है.आमरण उन्होंने दीक्षा लेकर व्रतादिकोंका पालन किया था वह सब आराधनाओंकी प्राप्तिसे सफल होता है.

जे गारवेहिं रहिदा णिस्सल्ला दंसणे चरित्ते य ॥

विहरंति मुत्तसंगा खवंति ते सव्वदुक्खाणि ॥ ५४४ ॥

सम्यक्त्ववृत्तनिःशल्या दूरोत्सारितगौरवाः ॥

विहरंति विसंगा ये कर्म सर्वं धुनंति ते ॥ ५६६ ॥

विजयोदया—जे गारवेहिं रहिदा ये गौरवैर्विरहिताः। णिस्सल्ला दंसणे चरित्ते य निःशल्याः संतो दर्शने चरित्रे च। विहरन्ति प्रवर्तन्ते। मुत्तसंगा निरस्तमूर्च्छास्ते। सव्वदुक्खाणि खवंति ते सर्वाणि दुःखानि क्षपयन्ति ॥

निःशल्यतया रत्नत्रये प्रवर्तमानानां गुणमाह —

मूलारा—मुत्तसंगा निरस्तमूर्च्छाः ॥

अर्थ—ऋद्धिगारव, रसगारव और सातगारव ऐसे तीन गारवोंसे रहित होकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें जो निरतिचार होकर प्रवृत्ति करते हैं, संपूर्ण परिग्रहके त्यागी होनेसे वे सर्व दुःखोंका नाश करते हैं.

तं एवं जाणंतो महंतयं लाभयं सुविहिदाणं।

दंसणचरित्तसुद्धो णिस्सल्लो विहर तो धीर ॥ ५४५ ॥

इति ज्ञात्वा महालाभं निःशल्यीभूतचेतसां ॥

शुद्धदर्शनचारित्रो विहरस्वापशल्यकः ॥ ५६७ ॥

विजयोदया—तं भवान्। एवमुक्तप्रकारेण जाणंतो जानन्। महंतगं महांतं लाभं सुविहिदाणं सुसंयतानां दंसणचरित्तसुद्धो दर्शने चारित्रे च शुद्धिं तयोः शुद्धिं ज्ञानदर्शनशुद्धिमंतरेण न भवतीति त्रयाणां शुद्धिरुक्ता। णिस्सल्लो-शल्यरहितः सन्। विहर चर। तो तस्माद्धीर धैर्योपेत ॥

रत्नत्रयनिर्मलीकरणे स्वार्थातिशयलाभप्रकाशनेन प्ररोचनामुत्पाद्य तत्र क्षपकं प्रेरयन्नाह—

मूलारा—तं जिनवचनं प्रसिद्धं। एवं एतेनास्मदुक्तेन विधिना। सुविहिदाणं निरतिचाररत्नत्रयाणां। दंसणचरित्तसुद्धि एतद्द्वयशुद्धिं विना न भवति रत्नत्रयशुद्धिः। णिस्सल्लो दीक्षाग्रहणात्प्रभृति कृतेभ्यो निष्क्रान्तः। विहर आचर। तं त्वं। भागनुष्ठितं रत्नत्रयं शोधयित्वा इत उत्तरं शुद्धं त्वमनुतिष्ठेत्यर्थः ॥

अर्थ—अतिचाररहित होकर रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करनेसे उत्तम मुनिओंको महान् लाभ होता है अर्थात् उनके सर्व दुःखोंका क्षय होता है ऐसा जानकर ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी शुद्धि कर तथा निःशल्य होकर हे क्षपक ! तुम धीरतासे इनमें प्रवृत्ति करो.

तम्हा सतूलमूलं अविछुढमविप्पुदं अणुव्विग्गो ॥
णिम्मोहियमणिगूढं सम्मं आलोचए सव्वं ॥ ५९६ ॥
सम्यगालोचयेत्सर्वमनुद्विग्नमविस्मृतम् ॥
आनिगूढमानिर्मोहं निर्मूलमपगौरवम् ॥ ५६८ ॥

विजयोदया—तम्हा तस्मात् यस्मात्सशल्यमरणे दोषः । निःशल्यमरणे च सकलनिवृत्तिः दुःखकारणानां कर्मणामभावः । तम्हा तस्मात् । सम्मं सव्वमालोचे सम्यक् सर्वमतिचारं कथयेत् । दुःखनिवृत्यर्थं इति । कथमालोचयेदित्याशंकायामालोचनाविशेषणमाह-सतूलमूलं तूलमूलाभ्यां सहितं । सव्वं निरवशेषं । अविछुढं अविस्मृतं । अविप्पुदं अद्भुतं । अणुव्विग्गो निर्भयः । णिम्मोहिदं मोहरहितं । अणिगूढं अनिगूढं ॥

कथं निःशल्यो भवेयमिति प्रश्ने सत्याह—

मूलारा—तह्मा निःशल्येतरमरणगुणदोषदर्शनादेव । समूलतूलं दीक्षादिवसादारभ्याद्ययावत् प्रवृत्तमतिचारजातं । क्रमसूचनार्थमिदं । अन्ये सतूलमूलं इति पठित्वा समस्तावयवयुक्तमित्यर्थमाहुः । अविथूलं अनाधिक्यं । अविप्पुदं अत्वरितं । अणुव्विग्गो निर्भयः सन् । णिम्मोहिदं अविस्मृतं । अणिगूढं अनपलपितं । आलोचए आलोचय, प्रकाशय त्वम् ॥

अर्थ—सशल्य मरणसे भववनमें दुःख सहन करना पडता है. और निःशल्यमरणसे सर्व कर्मोंका क्षय होता है. जिससे मुक्तिसुखकी प्राप्ति होती है. इसलिये दुःखकी निवृत्ति करनेके लिये संपूर्ण अतिचार कहने चाहिये. स्मरण कर, शांतरीतीसे, निर्भय और मोहरहित होकर दोषोंको न छिपाकर कहना चाहिये. दीक्षाग्रहण कालसे आज-तक जितने दोष हुए होंगे उन सबको कहना चाहिये. उसमेंसे एकभी छिपाना नहीं चाहिये

जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुअं भणइ ॥
तह आलोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तूणं ॥ ५९७ ॥

भयमानमृपामायामुक्तेन प्रांजलात्मना ॥

बालेनेवाभिधेयानि कृत्याकृत्यानि धीमता ॥ ५६९ ॥

विजयोदया—जह बालो जंपंतो यथा बालो जल्पन्। कज्जमकज्जं च कार्यमकार्यं वा। भणदि भणति। उज्जुगं ऋजुना क्रमेण। तह तथा। आलोचेदव्वं वक्तव्योऽपराधः। मायामोसं च मोत्तूणं मनोगतां वक्रतां, वचनगतां, मृषा च मुक्त्वा ॥

आलोचनोद्यतस्य तद्विधिमभिधत्ते—

मूलारा—उज्जुगं प्रांजलं। आलोचेदव्वं प्रकाश्यं। मायां मनोवक्रतां। मोसं वाग्वक्रताम् ॥

अर्थ—जैसा बालक कार्य हो अथवा अकार्य हो सरल अंतःकरणसे अपने पिताको कहता है. इसीतरह क्षपककोभी अपने अतिचार मनका कपट छोडकर और वचनकी असत्यता दूर कर कहने चाहिये.

उपसंहरति प्रस्तुतम्—

दंसणणाणचरित्ते कादूणालोचणं सुपरिसुद्धं ॥

णिस्सल्लो कदसुद्धी कमेण सल्लेहणं कुणसु ॥ ५४८ ॥

सम्यक्त्वज्ञानवृत्तेषु विधायालोचनां यते ! ॥

कुरु सल्लेखनां सम्यक्क्रमेणापास्तकल्मषः ॥ ५७० ॥

विजयोदया—दंसणणाणचरित्ते दर्शनज्ञानचरित्रविषयां। आलोयणं कादूण अपराधमभिधाय। सुपरिसुद्धं णिस्सल्लो मायाशल्यरहितः। कयसुद्धी कृतगुरुनिरूपितप्रायश्चित्तः। कमेण सल्लेहणं कुणसु क्रमेण सल्लेखनां कुरु ॥

आलोच्य मया किंकृत्यमित्याह—

मूलारा—सुपरिसुद्धं सर्वथा त्यक्तमायं। कदसुद्धी कृतगुरुदत्तप्रायश्चित्तः। सल्लेहणं कुणसु सर्वात्मना शरीरत्यागाय योग्यतामुत्पादयेत्यर्थः।

प्रस्तुत विषयका उपसंहार करते हैं—

अर्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनमें हुए अपराधोंका निवेदन मायाशल्यका पूर्ण त्याग करके करना चाहिये. गुरूओंने दिया हुआ प्रायश्चित्त धारण करके शुद्ध होना चाहिये. तदनंतर क्रमसे सल्लेखना करनी चाहिये

तो सो एवं भणिओ अब्भुज्जदमरणणिच्छिदमदीओ ॥
सव्वंगजादहासो पीदीए पुलइदसरीरो ॥ ५४९ ॥

इत्युक्तं सूरिणोत्कृष्टां चिकीर्षुः क्षपको मृतिं ॥
जातसर्वांगरोमांचः प्रमोदभरविव्हलः ॥ ५७१ ॥

विजयोदया—एवं शिक्षितोऽसौ क्षपकः । तो ततः । सो आराधकः । एवं भणिदो एवं शिक्षितः सूरिणा । अब्भुज्जदमरणणिच्छिदमदीओ अभ्युद्यते मरणे निश्चितबुद्धिः । सव्वंगजादहासो सर्वांगजातहर्षः । पीदीए पुलगिदसरीरो प्रीत्या पुलकितशरीरः ॥

एवं शिक्षितः क्षपकः किं करोतीत्यत्र गाथाद्वयमाह—

मूलारा—तो ततः शिक्षानंतरं कायोत्सर्गं करोतीति संबंधः । अब्भुज्जद उत्साहवान् । हासो हर्षः ।

अर्थ—यहांतक गुरुने क्षपकको आलोचनाके विषयमें उपदेश किया. यह सब उपदेश सुनकर मरणकेलिये जिसने निश्चय किया है ऐसा क्षपक मुनि अत्यंत हर्षित होता हैं और उसके शरीरपर आनंदसे रोमांच आते हैं.

पाचीणोदीचिमुहो चेदियहुत्तो व कुणदि एगंते ॥
आलोयणपत्तीयं काउस्सग्गं अणाबाधे ॥ ५५० ॥

चैत्यस्य सम्मुखः प्राच्यामुदीच्यां वा दिशः स्थितः ॥
कायोत्सर्गस्थितो धीरो भूत्वा कायेऽपि निस्पृहः ॥ ५७२ ॥

विजयोदया—प्राङ्मुख उदङ्मुखः । चेदियहुत्तो व चैत्याभिमुखो वा भूत्वा । कुणदि करोति कायोत्सर्गं । कीदृग्भूतं ? आलोयणपत्तीगं आलोचनाप्रत्ययं । आलोचनानिमित्तं । कायोत्सर्गं स्थित्वा दोषा यतः सर्वान्ते कथयितुं तस्मात्कायोत्सर्ग आलोचनाहेतुः । क तं करोति ? एगंते एकांते जनरहितदेशे । अणाबाधे अमार्गे बहुजनमध्ये एकमुखं न भवति चित्तं । मार्गे स्थितः परकार्यव्याघातकृद्भवति इति मत्वा । एकान्ते अमार्गे च कायोत्सर्गदेश आख्यातः ॥

मूलारा—पाचीणोदीचिमुहो पूर्वाभिमुख उत्तराभिमुखो वा । चेइयहुत्तो वा चैत्याभिमुखो वा । आलोयणपत्तीयं आलोचनाप्रत्ययं । कायोत्सर्गस्थो दोषान्स्मरतीति कायोत्सर्ग आलोचनाहेतुरुक्तः । काउस्सग्गं सामायिकदंडकस्तवप्रयोगपूर्वकं बृहत्सिद्धभक्तिं कृत्वोपविश्य लघुसिद्धभक्तिं करोतीति प्राकृतटीकाम्नायः । अणाबाधे क्लेशसंक्लेशकारणरहिते ॥

अर्थ—पूर्वदिशा अथवा उत्तर दिशाके तरफ मुख करके किंवा जिनप्रतिमाके सन्मुख उनका मुख करके आलोचनाके लिये प्रथम क्षपक कायोत्सर्ग करता है. कायोत्सर्ग कर कहनेके लिये दोषोंका स्मरण किया जाता है. अतः कायोत्सर्ग आलोचनाका कारण है. यह कायोत्सर्ग विधि क्षपक एकान्तमें और अमार्गमें करता है. अर्थात् जहां दन नहीं है ऐसे स्थानमें और जो आने जानेका मार्ग नहीं है ऐसे स्थानमें क्षपक कायोत्सर्ग करता है. बहुजनमें कायोत्सर्ग करनेसे मन एकाग्र होता नहीं और मार्गमें कायोत्सर्ग करनेसे दूसरोंके कार्यमें अडचन उपस्थित होती है. इसलिये एकान्तमें और अमार्गमें कायोत्सर्ग करना चाहिये ऐसा विधि कहा है.

कायोत्सर्गं किमर्थं करोति आलोचयितुकामः इत्याशंकायां कायोत्सर्गस्य उपयोगमाचष्टे—

एवं खु वोसरित्ता देहे वि उवेदि णिम्ममत्तं सो ॥
णिम्ममदा णिस्संगो णिस्सल्लो जाइ एयत्तं ॥ ५५१ ॥

मुक्तशल्यममत्वोऽसावेकत्वं प्रतिपद्यते ॥
शल्यमुत्पाटयिष्यामि पादमूले गणेशिनः ॥ ५७२ ॥

विजयोदया—एवं खु इत्यादिना। एवमित्यनंतरसूत्रनिर्दिष्टक्रमेण। प्राङ्मुख उदङ्मुखश्चैत्याभिमुखो वा। एकांते मार्गे। वोसरित्ता त्यक्त्वा किं? न हि त्याज्यमंतरेण त्यागो युज्यते। देहमिति चेत् देहे वि उवेदि णिम्ममत्तं सो इति न घटते निर्ममतैव ननु त्यागः। भिन्नयोः पूर्वापरकालविषययोः क्रिययोर्यत्र एकः कर्ता तत्र पूर्वकालक्रियावचनात् क्त्वा विधीयते। अथोच्यते वचसा त्यागः वोसरित्ता इत्यनेन उच्यते। मनसा ममायं न भवति देह इति त्याग पश्चात्सन्यते। तेन वाङ्मनःकरणभेदात्त्यागो भिद्यते। णिम्ममदा णिस्संगो निर्ममतया निस्संगो निष्परिग्रहः। णिस्सल्लो निःपरिग्रहत्वादेव निःशल्यः। एकत्तं जादि एकत्वभावनां प्रतिपद्यते॥

कायोत्सर्गस्यालोचनाप्रत्ययत्वसमर्थनाय गाथाद्वयमाह—

मूलारा—एवं पाचीणो इत्याद्युक्तविधिना। खु यस्मात्। वोसरित्ता कायं व्युत्सृजामीति वचनेन त्यक्त्वा। णिम्ममत्तं अयं देहो मम भवतीति मनसा त्यज तं। णिम्ममदा णिस्संगो निर्ममतया निःसंगो बाह्याभ्यंतरपरिग्रहरहितो अत एव निःशल्य.। आलोचनापरिणतोऽहमिदानीं संपन्न इति न मे सम्यक्त्वादिषु दोषः कश्चिदप्यस्तीति दोषशंकादुरावे-

शनिर्मुक्तः । एयत्तं एकत्वं अहमेकोऽसहायो नित्यो वा । देहोऽयं मत्तोऽन्यो दुःखहेतुत्वाच्च ममानुपकारी निरतिचाररत्नत्रयमेवाहमतो देहनाशेन मे न किंचिन्नश्यति मम शुद्धचिद्रूपस्येयमशुद्धिरिति मायां च न स्पृशेयमिति एकत्वभावनामयो भवतीत्यर्थः ।

अर्थ—पूर्व गाथामें कहे हुए अभिप्रायके अनुसार पूर्व, उत्तर अथवा चैत्यके तरफ मुख करके मैं शरीरका त्याग करता हुं ऐसा प्रथम वचनोच्चार करके तदनंतर 'यह देह मेरा है, ऐसी भावनाका मनसे त्याग करना चाहिये. इस वास्ते शरीरत्यागके वचनकृत और मनःकृत ऐसे दो भेद होते हैं. देहके उपर ममत्वरहित होनेसे वह क्षपक निष्परिग्रह है. और निष्परिग्रह होनेसेही वह निःशल्य भी है. अतः कायोत्सर्गके समय में अकेलाही हूं यह शरीर मेरा नही ऐसी एकत्वभावना उसको उत्पन्न होती है.

तो एयत्तमुवगदो सरेदि सव्वे कदे सगे दोसे ॥
आयरियपादमूले उप्पाडिस्सामि सल्लंत्ति ॥ ५५२ ॥

इत्येकत्वगतः कृत्स्नं दोषं स्मरति यत्नतः ॥
इत्थं स प्रांजलीभूय सर्वं संस्मृत्य दूषणं ॥ ५७४ ॥

विजयोदया—एगत्तमुवगदो एकत्वभावनामुपगतः । निरतिचारज्ञानदर्शनचारित्राण्येवाहं । शरीरमिदमन्यदनुपकारि मम दुःखनिमित्तत्वात् । तद्विनाशे मम किं विनश्यति । कश्चित्वोऽयमरातिरिति मन्यमानः । प्रायश्चित्ताचरणे न क्रियते । मायां च कर्मोदयनिमित्तां ज्ञातुं इहतो मम शुद्धरूपस्येयमशुद्धिरिति । 'तो ततः । सरेदि स्मरति । सव्वे सर्वेषां । कदे कृतानां । सगे स्वकानां । दोसे दोषाणां । किमर्थं स्मरति । आयरियपादमूले आचार्यपादमूले । उप्पाडिस्सामि उत्पाटयिष्यामि । सल्लंति दर्शनातिचारमिति ॥

मूलारा—तो ततः । कायोत्सर्गादिकमोपक्रमप्रवृत्तं । कदे कृतान् । किमर्थं तान्स्मरतीत्याह—आयरियपादमूले त्यादि ॥

अर्थ—जब क्षपक एकत्वभावनामय होता है तब मै अतिचाररहित ज्ञान, दर्शन और चारित्रमय हूं, यह शरीर मेरेसे भिन्न है, यह उपकार न करने वाला और दुःखकेलिये कारण है. उसके नाशसे मेरा कुछ बिगडता नहीं है,

यह शत्रु है इस लिये इसको कृश करना चाहिये. ऐसे विचार उसके हृदयमें उत्पन्न होते हैं. ऐसे विचार उत्पन्न होनेसे यह क्षपक प्रायश्चित्तका आचरण करते समय खिन्न होता नहीं. कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मायाको वह त्याग देता है यह माया मेरे शुद्ध स्वरूपमें अशुद्धता उत्पन्न करनेवाली है ऐसा मनमें समझता है. और आचार्यके चरणसन्निध दर्शनादिकके अतिचारोंका नाश करूंगा ऐसा विचार कर पूर्वमें किये हुए सर्व दोषोंको स्मरता है.

स्मृत्वा किं करोति पश्चादित्याशंकायामित्याचष्टे—

इय उजुभावमुपगदो सव्वे दोसे सरित्तु तिक्खुत्तो ॥
लेस्साहिं विसुज्झंतो उवेदि सल्लं समुद्धरिदुं ॥ ५५३ ॥

एति शल्यं निराकर्तुं सर्वं संस्मृत्य दूषणम् ॥
आलोचनादिकं कर्तुं युज्यते शुद्धचेतसः ॥ ५७५ ॥

विजयोदया—उजुभावं उवगदो इय एवं ऋजुभावं उपगतः। सव्वे दोसे सर्वेषां दोषाणां। तिक्खुत्तो सरित्तु त्रिःस्मृत्वा। लेस्साहिं विसुज्झंतो लेश्याभिर्विशुद्धाभिर्विशुद्ध्यन्। उवेदि ढौकते आचार्यं। सल्लं शल्यं। समुद्धरिदुं सम्यगुद्धर्तुं ॥

स्मरणानंतरं किं करोतीत्यत्राह—

मूलारा—सरित्तु स्मृत्वा। तिक्खुत्तो त्रीन्वारान्। आचार्यमुपसर्पति ॥

दोषोंका स्मरण कर अनंतर कोनसा कार्य क्षपक करता है? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—इस तरहसे सरलपना धारण कर तथा सब दोषोंका त्रिवार स्मरण करके लेश्याओंसे विशुद्ध होता-हुआ अतिचारोंका उद्धार करनेके लिये आचार्यके पास क्षपक जाता है.

आलोयणादिया पुण होइ पसत्थे य सुद्धभावस्स ॥
पुव्वण्हे अवरण्हे व सोमतिहिरक्खवेलाए ॥ ५५४ ॥

आलोचनादिकं तस्य संभवेच्छुद्धभावतः ॥
अपराण्हेऽथ पूर्वाण्हे शुभलग्नादिके दिने ॥ ५७६ ॥

विजयोदया—आलोचनादिका आलोचनप्रतिक्रमणादिकाः क्रियाः । अथवा आलोयणं आलोचना । दिया दिवसे । पुण पश्चात् । होइ भवति । क पसत्थे प्रशस्ते क्षेत्रे । अनेन क्षेत्रशुद्धिरुक्ता । विशुद्धभावस्स विशुद्धिपरिणामस्य भावशुद्धिरनेन कथिता । पुव्वण्हे पूर्वाण्हे । अवरण्हे च अपराण्हे वा सोमतिहिरिक्खवेलाए सौम्ये दिने, नक्षत्रे, वेलायां च ।

आलोचनादिक्रिया क्षेत्रादिशुद्धावेव कार्येत्यनुशास्ति—

मूलारा—आलोयणादिया आलोचनप्रतिक्रमणादिक्रियाः । अन्ये दिया दिवा न रात्रौ इति व्याख्यांति । तच्च नियमार्थमेव । पुव्वण्हे इत्यनेनैव रात्रिनिषेधस्य सामर्थ्यलब्धत्वात् । पसत्थे शुभे देशे ।

अर्थ—विशुद्ध परिणामवाले इस क्षपककी आलोचना, प्रतिक्रमणादिक क्रियाएं दिनमें और प्रशस्त स्थानमें अर्थात् शुद्ध स्थानमें होती हैं. दिवसके पूर्व भागमें अथवा उत्तर भागमें, सौम्यतिथि, शुभनक्षत्र, जिस दिनमें रहते हैं उस दिनमें होती हैं. आलोचना करनेके लिये परिणामोंकी विशुद्धताके साथ २ क्षेत्रशुद्धि, शुभदिन, शुभतिथि और शुभनक्षत्र इनकी भी आवश्यकता रहती है ऐसा इस गाथासे व्यक्त होता है.

पथमादिषु अप्रशस्तेषु देशेषु आलोचनां न प्रतीच्छेत् इति आचार्यशिक्षापरवचनं—

णिप्पत्तकंटइल्लं विज्जुहदं सुक्खरुक्खकडुदड्ढं॥
सुण्णघररुद्ददेउलपत्थररासिट्ठियापुंजं ॥ ५५५ ॥

निःपत्रः कटुकः शुष्कपादपः कंटकाचितः ॥
विच्छायः पतितः शीर्णो दवदग्धस्तडिद्धतः ॥ ५७७ ॥

विजयोदया—णिप्पत्तकंटयिल्लं निष्पत्रं कंटकाकुलं । विज्जुहदं अशनिनाहतं । सुक्खरुक्खकडुदड्ढं । शुष्कवृक्षं, कटुकरसं, दड्ढं दग्धं । सुण्णघररुद्ददेउल शून्यं गृहं, रुद्रदेवकुलं, पाषाणराशिं, इष्टकापुंजं ॥

आलोचनायायोग्यं क्षेत्रं गाथात्रयेणोपदिशति—

मूलारा—णिप्पत्त निष्पत्रं वृक्षयुक्तं स्थानं । एवं कंटइल्लं इत्याद्यपि व्याख्येयं । विज्जुहदं अशनिपातोपद्रुतं । कडु कटुकरसं । दड्ढं दवानलादिप्लुष्टं । इट्ठियापुंजं इष्टकानिचयं ।

अप्रशस्त देशमें आलोचना करना योग्य नहीं है ऐसा आचार्यका शिक्षापर वचन दिखाते हैं—

अर्थ—जो क्षेत्र पत्तोंसे रहित है, कांटोंसे भरा हुआ है, बिजली गिरनेसे जहां जमीन फट गई है, जहां

शुष्क वृक्ष है, जिसमें कडुरसके वृक्ष भरे हैं, जो जल गया है, ऐसे स्थानोंमें दोषोंकी आलोचना करना योग्य नहीं. शून्य घर,रुद्रका मंदिर, पत्थरोंका ढेर और ईंटोंका ढेर है ऐसा स्थानभी आलोचनाके लिये अयोग्य है.

तणपत्तकट्ठछारिय असुइ सुसाणं च भग्गपडिदं वा ॥
रुद्दाणं खुद्दाणं अधिउत्ताणं च ठाणाणि ॥ ५५६ ॥

क्षुद्राणामल्पसत्वानां देवतानां निकेतनम् ॥
तृणपाषाणकाष्ठास्थिपत्रपांस्वादिसंचयाः ॥ ५७८ ॥
शून्यवेश्मरजोभस्मवर्च प्रभृतिदूषिता ॥
रुद्रदेवकुलं त्याज्यं नित्यमन्यदपीदृशम् ॥ ५७९ ॥

विजयोदया—तणपत्तकट्ठछारिय असुइसुसाण च तृणवत्पत्रवत्काष्ठवत् यत्स्थान । अशुचिसुसाण वा अशुचिश्मशान वा । भग्नानि पतितानि वा भाजनानि गृहाणि वा यस्मिन् स्थाने तद्भग्नपतित । अधिउत्ताण च ठाणाणि देवताना स्थानानि । कीदृशीना ? रुद्दाण रौद्राणा । खुद्दाण क्षुद्राणा स्वल्पकाना ॥

मूलारा—छारियं भस्मधूल्यादियुक्तं । असुचि अमेध्यादियुक्तं । सुसाणं श्मशानं । भग्गपडिदं भग्नपतित भाजनगृहादियुक्तं । रुद्दाण रौद्राणां चामुंडादीनां । खुद्दाणं क्षुद्राणा स्वल्पकाना । अल्पसत्त्वानामित्यर्थः । अधिउत्ताणं देवताना अन्ये अधिउत्ताणं इति लोकेन आत्मात्मेष्टस्थाने स्थापितव्यंतरदेवानामित्यर्थमाहुः ।

अर्थ—जिसस्थानमें तृण, सूके पान, और काठके पुंज हैं जहां भस्म पडा है, ऐसे स्थानभी आलोचनाके लिये वर्ज्य हैं अपवित्र श्मशान, तथा फुटे हुए पात्र, अथवा गिरा हुआ घर जहां है वह स्थान भी वर्ज्य है रुद्रदेवतायें और क्षुद्रदेवतायें इनकेभी स्थान वर्ज्य समझने चाहिये.

अण्णं व एवमादी य अप्पसत्थं हवेज्ज जं ठाणं ॥
आलोचणं ण पडिच्छदि तत्थ गणी से अविग्घत्थं ॥ ५५७ ॥

चिकारयिषतां शुद्धां साधुमालोचनां स्फुटम् ॥
सूरीणां सर्वथा स्थानमसमाधानकारणम् ॥ ५८० ॥

विजयोदया—अण्णं च अन्यदपि स्थानं पद्ममादिकं । अप्पसत्थं अप्रशस्तं । हवेज्ज भवेत् । जं ठाणं यत्स्थानं । तत्थ तस्मिन्स्थाने । आलोयणं ण पडिच्छदि आलोचनां न प्रतीच्छति । गणी गणधरः । किमर्थं । से तस्य क्षपकस्य । अविग्घत्थं अविघ्नार्थं । एतस्यालोचनायां कृतायां प्रारब्धकार्यसिद्धिर्न भवतीति मत्वा ।

मूलारा—पडिच्छदि शृणोति । अविग्घत्थं आरब्धकार्यनिर्विघ्नसिद्ध्यर्थं ॥

अर्थ—ऊपरके स्थान जैसे वर्ज्य हैं वैसे अन्यभी जो अयोग्य स्थान हैं उसमेंभी क्षपककी आलोचना आचार्य सुनते नहीं. ऐसे स्थानोंमें आलोचना करनेसे क्षपककी कार्यसिद्धि नहीं होगी ऐसा मानकर उसकी आलोचना आचार्य ग्रहण नहीं करते हैं.

क्व तर्हि आलोचनां प्रतीच्छतीत्यत आह—

अरहंतसिद्धसागरपउमसरं खीरपुप्फफलभरियं ।
उज्जाणभवणतोरणपासादं णागजक्खघरं ॥ ५५८ ॥

जिनेंद्रयक्षनागादिमंदिरं चारुतोरणम् ॥
सरः स्वच्छपयःपूर्णं पद्मिनीषंडमंडितम् ॥ ५८१ ॥
पादपैस्तैः सेव्यं सर्वसत्वोपकारिभिः ॥
आरामे मंदिरे नम्रैः सज्जनैरिव भूषिते ॥ ५८२ ॥
समुद्रनिम्नगादीनां तीरमक्षमनोहरम् ॥
सच्छायं सरसं वृक्षं पवित्रफलपल्लवम् ॥ ५८३ ॥

विजयोदया—अरहंतसिद्धसागरपउमसरं अर्हद्भिः सिद्धैश्च साहचर्यात्स्थानं अर्हत्सिद्धशब्दाभ्यामिह गृहीतं । अर्हत्सिद्धप्रतिमासादृश्यर्यादा । सागरादिसमीपं स्थानं सामीप्यात्सागरादिशब्देनोच्यते । खीरपुप्फफलभरियं क्षीरपुष्पफलभरितशब्दसामीप्यात् स्थानं क्षीरपुष्पफलभरितमित्युच्यते । उज्जाणभवणतोरणपासादं उद्यानभवनं, तोरणं, प्रासादः ॥ णागजक्खघरं । नागानां यक्षाणां च गृहं ॥

क तर्हि सूरिः क्षपकस्यालोचनां प्रतीच्छति इति पृच्छायां गाथाद्वयमाह—

मूलारा—अरहंत अष्टप्रातिहार्यसहितप्रतिमास्थानं । सिद्ध अष्टप्रातिहार्यरहितप्रतिमास्थानं । सागर समुद्र समीपप्रदेशः । पउमसर पद्माकरजलाशयसमीपं । खीरपुष्फफलभरिदं क्षीरवृक्षैर्वटभूवाशोकादिभिः पुष्पितैः फलितैश्च वृक्षैरवकीर्णो यो देशस्तत्प्रत्यासन्नस्थानं । उज्जाणभवण क्रीडावनमध्यगृहं । तोरणपासादं महागृहं सौधहार्यादि ॥

किस प्रदेशमें क्षपककी आलोचनाका आचार्य स्वीकार करते हैं? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—अर्हन्तका मंदिर, सिद्धोंका मंदिर, अर्हद् और सिद्धोंकी जहां प्रतिमा है ऐसे पर्वतादिक, समुद्रके समीपका प्रदेश, जहां क्षीरवृक्ष हैं, जहां पुष्प और फलोंसे लदे हुए वृक्ष हैं ऐसे स्थान, उद्यान, तोरणद्वारसहित मकान, नागदेवताका मंदिर, यक्षमंदिर ये सब स्थान क्षपककी आलोचना सुननेके योग्य हैं.

अण्णं च एवमादिय सुपसत्थं हवइ जं ठाणं ॥
आलोयणं पडिच्छदि तत्थ गणी से अविग्घत्थं ॥ ५५९ ॥

शस्तमन्यदपि स्थानमुपेत्य गणनायकः ॥
आलोचनामसंक्लेशां क्षपकस्य प्रतीच्छति ॥ ५८४ ॥

मूलारा—स्पष्टं ।

अर्थ—और भी अन्य प्रशस्त स्थान आलोचनाके लिये योग्य हैं. ऐसे प्रशस्त स्थानोंमें क्षपकका कार्य निर्विघ्न सिद्ध हो इस हेतुसे आचार्य बैठ कर आलोचना सुनते हैं.

सूरिरेव स्थित्वा आलोचनां प्रतिगृह्णातीति कथयति—

पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व सुहणिसण्णो हु ॥
आलोयणं पडिच्छदि एक्को एक्कस्स विरहम्मि ॥ ५६० ॥

जिनाचाया दिशाःप्राच्या कौबेर्या वा स सन्मुखं ॥
शृणोत्यालोचनां सूरिरेकस्यैको निषण्णवान् ॥ ५८५ ॥

विजयोदया—पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व । प्राङ्मुखः, उदङ्मुखः । आयतनशब्दः स्थानसामान्यवचनोऽपि जिनप्रतिमास्थानवाच्यत्र गृहीतस्तेन जिनायतनाभिमुखो वा । सुहणिसण्णो इ सुखेनासीनः । आलोयणं आलोचनां । पडिच्छदि शृणोति । एक्को एक एव सूरिरेकस्यैवालोचनां । विरहम्मि एकान्ते । तिमिरापसारणपरस्य घर्मरश्मेरुदयदिगिति उदयार्थी तद्वदस्मत्कार्याभ्युदयो यथा स्यादिति लोकः प्राङ्मुखो भवति । सूरेस्तु कोऽभिप्रायो येन प्राङ्मुखो भवति । प्रारब्धपरानुग्रहणकार्यसिद्धेरंग तद्दिगभिमुखता तिथिवारादिवदिति । उदङ्मुखता तु स्वयंप्रभादितीर्थकृतो विदेहस्थान् चेतसि कृत्वा तदभिमुखतया कार्यसिद्धिरिति । चैत्याभिमुखताऽपि शुभपरिणामतया कार्यसिद्धेरंगं । निर्व्याकुलमासीनस्य यत् श्रवणं तदालोचयितुः सम्माननं । यथा कथंचिच्छ्रवणे मयि अनादरो गुरोरिति नोत्साहः परस्य स्यात् । एक एव शृणुयात्सूरिर्लज्जापरो बहूनां मध्ये नात्मदोषं प्रकटयितुमीहते । चित्तखेदश्चास्य भवति, तथा कथयतः एकस्यैवालोचनां शृणुयात् । दुरवधारत्वाद्युगपदनेकवचनसंदर्भस्य । तद्दोषनिग्रहं नायं वराकः प्रतीच्छति । इत्यनेनैव गतत्वाद्विरहम्मि इति वचनं निरर्थकं । यद्यन्येऽपि तत्र स्युर्न एकेनैव श्रुतं स्यात् । न लज्जत्ययमस्य अपराधश्चास्य अनेनावगत एवेति नान्यस्य सकाशे शृणुयात् इति । एतत्सूच्यते विरहम्मि एकान्ते आचार्यशिक्षेति ॥

सुप्रशस्तस्थाने कीदृग्भूत्वा सूरिरालोचनां प्रतिगृण्हातीत्यत्राह—

मूलारा—आयदणमुहो आयतनशब्द स्थानसामान्यवचनोऽपि इह जिनप्रतिमास्थानार्थो गृहीत. । तेन जिनायतनाभिमुख इति व्याख्येयं । सुहणिसण्णो निर्व्याकुलमासीनेनालोचनायाः श्रवणमालोचयितुः सम्माननमन्यथा मय्यनादरो गुरोरित्येष नोत्सहेत । एक्को बहूनां हि मध्ये लज्जापरो न स्वदोषं वक्तुमीहते चित्तखेदश्चास्य स्यात् । एकस्य दुरवधारत्वाद्युगपदनेकालोचकवचनसंदर्भस्य । तु शब्दोऽवधारणार्थोऽत्र योज्यः । विरहम्मि एकान्ते । प्रच्छन्नोऽवमतो माऽलोचितार्थं मा भैत्सीरित्येवमर्थमिदम् । उक्तं च—

पूर्वोदीच्योर्जिनार्चाभ्या येनासीनो निराकुलः ॥
शृणोत्यालोचनामेक एकस्यैव रहो गतः ॥

आचार्य इस प्रकार बैठकर आलोचना सुनते हैं इस बातको स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—पूर्वाभिमुख, उत्तरदिशाभिमुख अथवा जिनमंदिराभिमुख होकर सुखसे बैठकर आचार्य आलोचना सुनते हैं. एकान्तस्थानमें एकही आचार्य एकक्षपककीही आलोचना सुनता है. अंधकारका नाश करनेवाले सूर्यका पूर्वदिशामें उदय होता है अतः पूर्व दिशा प्रशस्त है. सूर्यके उदयके समान हमारे कार्यमेंभी दिन प्रतिदिन उन्नति होवे ऐसी इच्छा करने वाले लोक पूर्वदिशाके तरफ अपना मुख करके अपना इष्ट कार्य करते हैं. क्षपकके ऊपर अनुग्रह

करनेका कार्य मैंने हाथमें लिया है. उसकी सिद्धिके लिये यह दिशा कारणभूत है ऐसा समझकर ने पूर्वाभिमुख बैठते हैं. विदेहक्षेत्रमें स्वयंप्रभादि तीर्थंकर होगये हैं. विदेहक्षेत्र उत्तरदिशाके तरफ हैं. अतः उन तीर्थंकरोंको हृदयमें धारण कर उस दिशाके तरफ आचार्य अपना मुख कार्यसिद्धिके लिये करते हैं. चैत्यके तरफ मुख करनेसे परिणाम शुभ होंगे जो कि कार्यसिद्धिके निमित्त है इस विचार से वे चैत्याभिमुख बैठते हैं.

निर्व्याकुल बैठकर गुरु आलोचना सुनते हैं. इस प्रकारसे सुननेसे आलोचना करनेवालेका सम्मान होता है. इधर उधर लक्ष देकर सुननेसे गुरुका मेरे संबंधमें अनादरभाव है ऐसी आलोचककी समझ होगी जिससे दोष कहनेमें उसका उत्साह नष्ट होगा. एक ही आचार्य एकके दोष सुने, यदि बहुत गुरु सुननेके लिये बैठेंगे तो आलोचना करनेवाला क्षपक लज्जित होकर अपने दोष कहनेके लिये तयार होने पर भी उसके मनमें खेद उत्पन्न होगा. अतः एक ही आचार्य एककी ही आलोचना सुनें. एक कालमें एक आचार्य अनेक क्षपकों की आलोचना सुननेकी इच्छा न करें. क्यों कि अनेकोंका वचन ध्यानमें रखना बडा कठिन कार्य है. इसलिये उनके दोष सुनकर योग्य प्रायश्चित्त नहीं दे सकेगा. इतने विवेचन से हि एकान्तमें गुरुके विना अन्य कोई नहीं होगा ऐसे समयमें आलोचना सुननी चाहिये और करनी चाहिये ऐसा सिद्ध होता है. अतः 'विरहम्मि' यह पद व्यर्थ है. इसका उत्तर ऐसा है-यदि वहां अन्य भी होंगे तो आलोचकके दोष बाहर फूटनेका सभव है. एक गुरु यदि होंगे तो उस स्थानमें मच्छन्नरीतीसे दुसरे का प्रवेश होना योग्य नहीं है. यह सूचित करनेके लिये आचार्यने 'विरहम्मि' ऐसा पद दिया है.

शिष्यस्य आलोचनाक्रममाचष्टे—

काऊण य किरियम्मं पडिलेहणमंजलीकरणसुद्धो ॥
आलोएदि सुविहिदो सव्वे दोसे पमोत्तूणं ॥ ५६१ ॥

कृत्वा त्रिशुद्धिं प्रतिलिख्य सूरिं प्रणम्य मूर्धस्थितपाणिपद्मः ॥
आलोचनामेष करोति मुक्त्वा दोषानशेषानपशल्यदोषः ॥ ५८६ ॥

इति आलोचना.

विजयोदया—काऊण य किदिकम्मं कृतिकर्म वंदनां पूर्वं कृत्वा। पडिलेहणमंजलीकरणसुद्धो प्रतिलेखनासहितः प्रांजलीकरणशुद्धः। आलोएदि कथयति। सुविहिदो सुचारित्रः। सव्वदोसे पूर्वदोषान्। पमोत्तूण त्यक्त्वा। आलोचना॥

एवमाचार्यस्यालोचनाग्रहणक्रमं शिक्षयित्वा शिष्यस्यालोचनाक्रममुपदिशति—

मूलारा—किरियम्मं वंदनां। प्रक्रमात्सूरेरेव। सा चात्र सिद्धयोगभक्तिभ्यां इति वृद्धा.। श्रीचंद्राचार्यस्तु सिद्धचारित्रशांतिभक्तिभिस्तां व्याचष्टे। पडिलेहणमंजली दक्षिणपार्श्वे पिंछेन सह ललाटतटप्रमुक्तकरपुटः। करणसुद्धो मनोवाक्कायशुद्धियुक्त। आलोचना सूत्रतः २३। अंकतः ४०॥

शिष्यके आलोचनाका क्रम कहते हैं -

अर्थ—प्रथम वंदना करके हाथमें पिच्छिका लेकर अंजलि करना चाहिये. आलोचनाके जो दोष आगममें कहे हैं उनका त्याग कर सर्व दोषोंका आचार्य महाराजके पास कथन करना चाहिये. सिद्धभक्ति व योगभक्ति पढकर वंदना करनी चाहिये एसे वृद्ध आचार्य कहते हैं. परंतु श्रीचंद्राचार्य सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति तथा शांतिभक्ति पढकर वंदना करनी चाहिये ऐसा कहते हैं.

आलोचनाक्रमं निरूप्य गुरुदोसा इत्येतद्व्याख्यानायोत्तरप्रबंधः—

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च ॥
छण्णं सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ॥ ५६२ ॥

अनुकंप्यानुमान्यं हि यद्दृष्टं स्थूलमन्यथा ॥
छन्नं शब्दाकुलं भूरि सूर्यव्यक्तं च तत्समं ॥ ५८७ ॥

विजयोदया—आकंपिय अनुकंपामात्मनि संपाद्य आलोचना। अणुमाणिय गुरोरभिप्रायमुपायेन ज्ञात्वालोचना। जं दिट्ठं यद् दृष्टं दोषजातं परैस्तस्यालोचना। बादरं च यत्स्थूलमतिचारजातं तस्यालोचना। सुहुमं च यत्सूक्ष्ममतिचारजातं तस्यालोचना। छण्णं अदृष्टालोचना। सद्दाउलयं शब्दा आकुला यस्यां आलोचनायां सा शब्दाकुला। बहुजनशब्दः सामान्यविषयोऽपीह गुरुजनबाहुल्ये वर्तते। गुरोरालोचनायाः प्रस्तुतत्वाद्बहूनां गुरूणां आलोचना क्रियते सा बहुजनशब्देनोच्यते। अव्यत्ता अव्यक्तस्य क्रियमाणा आलोचना। तस्सेवी तानात्मचरितान्दोषानन्यः सेवते स तत्सेवी तस्य आलोचना। इदं सूत्रं। अस्य व्याख्यानायोत्तरप्रबंधः॥

मूलारा—आकंपिय अनुकंपामात्मनि संपाद्यालोचना । सुहुमं सूक्ष्मस्य दोषस्यालोचना । जं दिट्ठं यद्दृष्टं दोषजातं परैस्तस्यालोचना । बादरं यत्स्थूलमतिचारजातं तस्यालोचना । छण्णं प्रच्छन्नं पृष्ट्वा आलोचना ॥

आलोचनाका क्रम यहां तक आचार्य महाराजने कहा है. आगे 'गुण दोसा, इस प्रकरणका सविस्तर वर्णन करते हैं—

अर्थ—अपने विषयमें गुरूके मनमें दया उत्पन्न कर आलोचना करना यह आकंपित दोष है.

अनुमानित–गुरुके अभिप्राय उपायसे जानकर आलोचना करना. यद्दृष्ट—जो अपराध दूसरोंने देखे हैं उनकी ही आलोचना करना. बादर—स्थूल अतिचारोंके समूहकाही कथन करना. छोटे अपराध छिपाना. सूक्ष्म—सूक्ष्म अतिचार कहकर बडे दोष छिपाना. छन्न—न देखे हुए दोषोंकी आलोचना करना.

शब्दाकुलित—जिस आलोचनामें शब्द आकुलित हैं ऐसी आलोचना का नाम शब्दाकुलितालोचना है. अर्थात् पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक आलोचनाके समय बहुत यतिगण मिलकर आलोचना करते हैं. तब उनके ध्वनिओंमें अपना ध्वनि भी मिलाकर दोषोंकी आलोचना करना.

बहुजन—बहुजन शब्द सामान्य जनका वाचक होने पर भी प्रस्तुत प्रकरणमें गुरुजनोंके समुदायमें रूढ हुआ है. बहुत गुरु मिलकर जो आलोचना करते हैं उसको बहुजनालोचना कहते हैं.

अव्यक्त दोष– जो अज्ञानी है ऐसे मुनिको अपने दोष कहना.

तत्सेवी—जो दोष स्वतः किये हैं ऐसे ही दोष जिसके द्वारा होचुके हैं अर्थात् जिसने अपने दोषोंके समान दोष किये हैं उसको अपने अपराध कहना. ऐसे आलोचनाके दस दोष हैं.

इन दोषोंका आचार्य विस्तारसे वर्णन करते हैं.

अथैवमालोचनाक्रमं निरूप्यालोचनागुणदोषनिरूपणार्थं समषष्ठि गाथाः कथयति—तत्रादौ तावदाकंपादि सद्दोषान्दश दिशति तद्विपर्ययरूपत्वाद्गुणानाम्—

आकंपिय इत्येतत्सूत्रपदं व्याचष्टे

भत्तेण व पाणेण व उवकरणेण किरियकम्मकरणेण ॥
अणुकंपेऊण गणि करेइ आलोयणं कोइ ॥ ५६३ ॥

सूरिं भक्तेन पानेन मदानेनोपकारिणा ॥
विनयेनानुकम्प्य स्वं दोषं वदति कश्चन ॥ ५८८ ॥

विजयोदया—भक्तेण व पाणेण व स्वयं भिक्षालब्धिसमन्वितत्वात्प्रवर्तको भूत्वा आचार्यस्य प्रासुकेन उद्गमादिदोषरहितेन भक्तेन वा पानेन वा वैयावृत्यं कृत्वा, उपकरणेण कमंडलुपिच्छादिना । किदिकम्मकरणेण कृतिकर्मवंदनया वा । आकंपेदूण अनुकंपामुत्पाद्य । गणिं आचार्यं । कोइ आलोयणं करेइ कश्चित्स्वापराधं कथयति ॥

आकंपिय इत्येतत्सूत्रपदं गाथापंचकेन व्याचक्षाणः पूर्वं तल्लक्षणं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—आकंपेऊण स्वयं भिक्षालब्धिसमन्वितत्वात्प्रवर्तको भूत्वा निर्दोषभक्तादिसंपादनेन वंदनया वा गणिनमात्मनि सकरुणं कृत्वा ।

प्रथमतः आकंपित दोषका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—स्वतः भिक्षालब्धिसे युक्त होनेसे आचार्य की प्रासुक और उद्गमादिदोषोंसे रहित आहारपानी के द्वारा वैयावृत्य करना, पिंछी कमंडलु वगैरे उपकरण देना, कृतिकर्म वंदना करना इत्यादि प्रकारसे गुरूके मनमें दया उत्पन्न करके कोई अपने अपराध कहता है.

तस्यालोचयतो मनोव्यापारं दर्शयति—

आलोइदं असेसं होहिदि काहिदि अणुग्गहमिमोत्ति ॥
इय आलोचंतस्स हु पढमो आलोयणादोसो ॥ ५६४ ॥
आलोचितं मया सर्वं भविष्यत्येव मे गुणं ॥
करिष्यतीति मन्तव्यं पूर्वं आलोचनामलः ॥ ५८९ ॥

विजयोदया—आलोइदं असेसं होहिदि निरवशेषं आलोचितं भविष्यति । काहिदि करिष्यति । अणुग्गहं इमोत्ति । अनुग्रहं अयमिति । भक्तादिदानेन कृतोपकारस्य मम तुष्टो गुरुर्न महत्प्रायश्चित्तं प्रयच्छति । अपि तु स्वल्पमेव । ततो महाप्रायश्चित्तदानभयात्स्थूलं सूक्ष्मं चातिचारं सर्वं कथयामीति । इय एवं आलोचंतस्स खु एवं मनसि कृत्वा आलोचयतः । पढमो प्रथमः । आलोयणा दोसो आलोचनादोषः । कोऽसौ अविनयो नाम यत्किंचिल्लब्ध्वा गुरवस्तुष्यन्ति लघुप्रायश्चित्तदायिनो भविष्यंतीति स्वबुद्ध्या असद्दोषाध्यारोपणान्मानसोऽविनयः । अन्ये तु वर्णयन्ति आलोचना च दोषश्च आलोचनादोषः । अशुभाभिसंधिपुरःसरा आलोचना दुष्टमालोचनादोष इति यावत् ॥

तस्यालोचयतो मनोव्यापारं दर्शयति—

मूलारा—होहिदि अशेषं अस्यावर्जितचित्तस्य गुरोरग्रे भविष्यति स्थूलं सूक्ष्मं चातिचारजातं मया । न ह्यसौ बृहत्प्रायश्चित्तं मे दास्यति किं तर्हि? काहिदि अणुग्गहमिमोत्ति करिष्यत्ययमुपकारमिति । आलोचितस्स हु पढमो आकंपनामकः । दोषत्वं चास्य गुरोरविनयप्रवर्तनात् । यत्किंचिल्लब्ध्वा गुरवस्तुष्टा लघुप्रायश्चित्तदायिनो भविष्यंति इति स्वबुद्ध्या असद्दोषाध्यारोपणाद्धि न मानसो विनयः ।

आलोचना करते समय उसकी मनःप्रवृत्ति कैसी रहती है इसका वर्णन —

अर्थ — आहारादिकों के दानसे तुष्ट किये गुरु मेरेको महान् प्रायश्चित्त न देंगे. छोटासा प्रायश्चित्त देंगे- अतः स्थूल सूक्ष्म सब दोष मैं गुरुको कहूंगा. इस विचारसे कोई यति अपने दोष कहते हैं. और इस प्रकार सर्व दोषोंकी आलोचना होगी ऐसा मनमें समझते हैं. यह आलोचनाका प्रथम दोष है. इस दोषमें अविनय घुसा हुआ है. उसका विवेचन इस प्रकार——

जो कुछभी मिलनेसे गुरु संतुष्ट होकर छोटासा प्रायश्चित्त देंगे ऐसा अपने मनमें विचार कर उनपर असद्दोषका आरोपण करना यह मानसिक अविनय है. अर्थात् गुरु लोभी होनेसे उपकरणादि पदार्थ मिलनेसे खुप होजाते हैं ऐसे दोषका आरोपण करना. अशुभपरिणामसहित यह आलोचना की जाती है इस वास्ते यह आलोचना सदोष है ऐसा कोई आचार्य इस आलोचनाके विषयमें कहते हैं —

केदूण विसं पुरिसो पिएज्ज जह कोइ जीविदच्छीओ ॥
मण्णंतो हिदमहिदं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५६५ ॥
कश्चित् क्रीत्वा विषं भुंक्ते नरो मत्वाहितं हितं ॥
जीवितार्थी यथा मूर्खस्तथेयं शुद्धिरिष्यते ॥ ५९० ॥

विजयोदया—केदूण विसं पुरिसो इत्यादिना । जह कोइ पुरिसो जीविदच्छी विसं केदूण पिवेज्ज इति संबंध. । यथा कश्चित्पुरुषो जीवितार्थी विषं क्रीत्वा पिबति । अहिदं अहितं कृत्वा । विषपानं हिदं मण्णंतो हितमिति मन्यमानः । तधिमा तथा इयं सल्लुद्धरणसोधी मायाशल्योद्धरणशुद्धिः । सामान्यवचनोऽपि शल्यशब्दोऽत्र मायाशल्ये वृत्तः ।

तस्य उद्धरणं नाम स्वकृतापराधकथनं । आलोचनाशल्योद्धरणमेव शुद्धिरुच्यते । ज्ञानदर्शनचारित्रतपसां नैर्मल्यहेतुत्वात्, जीवितार्थिना हितबुद्धया गृहीता अहिता । क्रीतविषपानं उपमानं तद्वतीयमालोचना, भक्तपानादिदानेन वंदनया वा क्रीत्वा गुरुं स्वबुद्धया क्रियमाणा न शुद्धिं संपादयति विषपानमिव जीवितं विक्रयणलब्धं पानं दुष्टता उपमानोपमेययोः साधारणो धर्मस्तथाप्युपमानमुपमेयं तयोश्च साधारणं धर्ममाश्रित्य सर्वत्रोपमानोपमेयता । चंद्रमुखी कन्या इत्यादौ चंद्र उपमानं, उपमेयं मुखं, वृत्तता सर्वजनमनोवल्लभता च साधारणो धर्मः, ॥

दृष्टांतमुखेन गुर्वनुकंपनापूर्वकालोचनाया दुष्टतामाचष्टे —

मूलारा—केदूण क्रीत्वा । जीविदत्थीओ जीवितार्थी । अहिदं प्राणापहारित्वादपकारकं । सरिसा तथा इयं । भक्ताद्युपचारपूर्विका । सल्लुद्धरणसोधी शल्यस्य मायाख्यस्योद्धरणं स्वकृतापराधकथनं आलोचना । तदेव सोधी शुद्धा रत्नत्रये नैर्मल्यहेतुत्वात् । धनेन क्रीत्वा पीतं विषं जीवितमिव भक्तादिना गुरुमनुकंप्य कृतालोचना शुद्धिं न करोतीति दृष्टान्तार्थः । इयमालोचना विषवद्दुष्टेति तात्पर्यम् ।

अर्थ—जीनेकी इच्छा करनेवाला कोई पुरुष अहितकर विषको खरीद कर हितकर समझकर पीता है. उसके समान ही यह मायाशल्यसे उद्धार करनेवाली शुद्धि समझनी चाहिये. आलोचनाके दोष मनमेंसे नष्ट करना ही शुद्धि है. अर्थात् अपने किये हुए अपराध निष्कपट भावसे गुरुके समीप कहना ही शल्योद्धरण शुद्धि है, इस शुद्धिसे ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र निर्मल होते हैं.

परंतु यह आलोचना जीवितार्थी मनुष्यने हितकर समझकर किये हुये विषपानके समान है. विषपान उपमान है. और यह आलोचना उपमेय है. आहारादि पदार्थ गुरुको देकर अथवा वंदना करके गुरुको मानो खरीद लिया है ऐसी मनमें कल्पना कर यह आलोचना की जाती है अतः यह दुष्ट है. इस उपमान और उपमेयमें साधारणधर्म दुष्टता है. उपमान और उपमेय और साधारण धर्मका आश्रय लेकर उपमान उपमेयता दिखाई जाती है. जैसे चंद्रमुखी कन्या इस उदाहरणमें चंद्र उपमान, मुख उपमेय और गोलाई, सर्वजनचित्ताकर्षकता यह साधारणधर्म है. वैसे यहां भी विषपान उपमान, आलोचना उपमेय और दोनोंमें दुष्टता यह साधारणधर्म है. यद्यपि इस गाथामें सल्लुद्धरणसोधी इस समस्तपदमें सल्ल शब्द सामान्यवाचक है परंतु इस प्रकरणमें मायाशल्यके अर्थ मे यह रूढ हुआ है.

उपमानांतरेणापि उपमेयं आलोचनां प्रथयति ॥

वण्णरसगंधजुत्तं किंपाकफलं जहा दुहविवागं ॥
पच्छा णिच्छयकडुयं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५६६ ॥

मधुरालोचनैंपादो विपाके सेविता सती ॥
तीव्रं करोति किंपाकफलभुक्तिरिवासुखम् ॥ ५९१ ॥

विजयोदया—वण्णरस इत्यादिना । किंपाकफलं वण्णरसगंधजुत्तं जहा दुहविवागं । किंपाकाख्यस्य तरोः फलं। वर्णादिशून्यस्य तरोः फलस्याभाववचनसिद्धेर्वर्णादिवियुक्तवचनमतिशायितवर्णादिपरिग्रहं सूचयति । तेनायमर्थः—नयनप्रियरूपं, मधुररसयुक्तं, घ्राणसुखदं सेवितमिति वाक्यशेषः । दुहविपाकं दुःखविपाकं । पच्छा अनुभवोत्तरकालं। णिच्छयकडुगं निश्चयेन कटुकं। तधिमा तं यथा सल्लुद्धरणसोधी आलोचनाशुद्धिः किंपाकफलोपमेव उपमानं, उपमेयं आलोचना, दुःखविपाकता साधारणो धर्मः ।

तस्या एव दुर्विपाकतां दृष्टांतमुखेनाचष्टे—

मूलारा — वण्णेत्यादि नयनप्रियवर्णं मधुररसं घ्राणसुखदगंधं चेत्यर्थः । दुहविवागं दुःखविपाकं मरणे कारणत्वात् । पच्छा अनुभवोत्तरकालं । णिच्छयकडुगं निश्चयेन परमार्थेन कटुकं दुर्विपाकत्वात् । तधिमा तथेयं दुःखविपाका-दुर्गतिदु खहेतुत्वात् ।

दूसरे उपमानके द्वारा भी उपमेयरूप आलोचनाका वर्णन करते हैं—

अर्थ—किंपाकफलका रूप बडा सुंदर रहता है. रस, मधुर होता है, गंध नाकको मोहित करता है. परंतु उसका सेवन करनेसे परिणाम कालमें दुःख उत्पन्न होता है. अर्थात् उसके भक्षणसे जीवको प्राणत्याग करना पडता है. यह आलोचनाकी शुद्धि भी किंपाकफलके समान है. यहां किंपाकफल उपमान, आलोचना उपमेय और परिणाम में दुःख दायकपना यह साधारण धर्म समझना चाहिये,

---

किमिरागकंबलस्स व सोधी जदुरागवत्थसोधीव ॥
अवि सा हवेज्ज किह इण तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५६७ ॥

द्वितीयमालोचनादोषमाचष्टे—इति अणुकंपिय।

धीरपुरिसचिण्णाइं पवददि अदिधम्मिओ व सव्वाइं ॥
धण्णा ते भगवंता कुव्वंति तवं विकट्ठं जे ॥ ५६८ ॥

धीरैराचारितं धन्याः कुर्वते दुश्चरं तपः ॥
दुःखाम्भसो भवाम्भोधेर्दुस्तरात्तारकं परम् ॥ ५९३ ॥

विजयोदया—धीरपुरिसचिण्णाइं धीरैः पुरुषैराचरितानि। पवदति प्रवदति ॥ अदिधम्मिगोव अतीव धार्मिक इव। सव्वाइं सर्वाणि। धण्णा धन्याः पुण्यवंतः। ते भगवंतः माहात्म्यवंतः। जे ये। कुव्वंति कुर्वन्ति। तवं तपः। विकट्ठं उत्कृष्टं इति वदति ॥

अणुमाणिय इति द्वितीयमालोचना दोषं गाथाषट्केन व्याचक्षाणः पूर्वं तल्लक्षणं गाथापंचकेनाह—

मूलारा—चिण्णाइं आचरितानि। पवददि प्रकर्षेण कथयत्यालोचनाकारी। धण्णा इत्यादीति संबंधः। अदिधम्मिगो व अतीव धार्मिक इव। भयवंता माहात्म्यवंतः विकिट्ठं। उत्कृष्टं।

अनुमानित दोषका वर्णन—

अर्थ—आलोचना करनेवाला मुनि मानो अपनी अतिशय धार्मिकता दिखाता हुआ इस प्रकारकी स्तुति करता है—हे भगवान्! धीर पुरुषसे किया हुआ सर्व प्रकारका तप जो मुनि करते हैं वे अतिशय धन्य हैं, पुण्यवान हैं और महात्मा हैं.

थामापहारपासत्थदाए सुहसीलदाए देहेसु ॥
वददि णिहीणो हु अहं जं ण समत्थो अणसणस्स ॥ ५६९ ॥

बलमापहारपार्श्वस्थसुखशीलतया तपः ॥
न प्रकृष्टमलं कर्तुं वदत्येवमधार्मिकः ॥ ५९४ ॥

विनयोदया—थामापहारपासत्थदाए बलनिगूहनेन पार्श्वस्थतया च। सुहसीलदाए च सुखशीलतया च। तदो ततः। सो सः। वददि कथयति। णिहीणो जघन्यः। अहं अहकं। जं यस्मात्। ण समत्थो असमर्थोऽशक्तः। अणसणस्स अनशनस्य ॥

मूलारा--धामापह्नार बलनिगूहनेन । पासत्थदाए पार्श्वस्थतया । वददि णिहीणो इत्यादिकं कथयति । णिहीणो अहयं जं ण समत्थो । णिहीणो जघन्यः । अहयं अहं । जं यस्मात् ।

अर्थ—अपना बल छिपाकर और स्वयं पार्श्वस्थमुनि होनेसे और सुखमें आसक्त होनेसे वह मुनि गुरुकी इस प्रकार प्रार्थना करता है. ' मैं जघन्य हूं, असमर्थ हूं इसलिये मेरेको उपवास करनेका सामर्थ्य नहीं है.

जाणह य मज्झ थामं अंगाणं दुब्बलदा अणारोगं ॥
णेव समत्थोमि अहं तवं विकट्ठं पि कादुंजे ॥ ५७० ॥

पार्श्वस्थत्वमनारोग्यं दौर्बल्यं वह्निमंदता ॥
भगवंस्तव विज्ञाता मदीयाः सकलाः स्फुटम् ॥ ५९५ ॥

विजयोदया—जाणह य अस्मद्बलं युष्माभिरवसितमेव । अंगाणं दुब्बलदा उदराग्निदौर्बल्यं । आणारोगं रोगवत्तां च । अहं तवं विकट्ठं कादुं णेव समत्थोमि अहं तप उत्कष्टं कर्तुं नैव समर्थोऽस्मि ॥

मूलारा--जाणध जानीथ यूयं । मज्झ थामं मम बलं । गहणीदोषश्चियं उदराग्निदौर्बल्यमित्यर्थः । अणारोग्गं रोगवत्तां । कादुंजे कर्तुं । समत्थो मि समर्थोऽस्मि । उक्तं च—

अग्निमांद्यमनारोग्यं बलं मे ज्ञातमेव वः ॥
यथा च न समर्थो ऽहमुत्कष्टं चरितुं तपः ॥

अर्थ—हे प्रभो ! आप मेरा सामर्थ्य कितना है यह तो जानते ही हैं. मेरा उदराग्नि अतिशय दुर्बल है. मेरे अंगके अवयव कृश है इसलिये मैं उत्कृष्ट तप करनेमें असमर्थ हूं. मेरा शरीर हमेशा रोगी रहता है.

आलोचेमि य सव्वं जइ मे पच्छा अणुग्गहं कुणह ॥
तुज्झ सिरीए इच्छं सोधी जह णिच्छरेज्जामि ॥ ५७१ ॥

आलोचयामि निःशेषं कुरुषे यद्यनुग्रहम् ॥
त्वदीयेन प्रसादेन विशुद्धिर्मम जायताम् ॥ ५९६ ॥

विजयोदया—आलोचेमि य सव्वं सर्वमतिचारजातं आलोचयामि । जदि पच्छा अणुग्गहं कुणह मम यदि पश्चादनुग्रहः क्रियते भवद्भिः । तुज्झ सिरीए । भवतां श्रिया । इच्छं इच्छामि । सोधी सुद्धिं । णिच्छरेज्जामि निस्तारयिष्याम्यात्मानं ॥

मूलारा——पच्छा आलोचनानंतरं । अणुग्गहं कृपां । तुम्हसिरीए भवतां प्रसादेन । इच्छं इच्छामि । सोधीयं शुद्धिं । णिच्छरेज्जामि निस्तारयाम्यात्मानं । अन्यस्तु णिच्छरेज्जामि निस्तरितुमिच्छामीत्याह ॥

अर्थ——यदि मेरे ऊपर आप अनुग्रह करेंगे अर्थात् मेरेको आप यदि थोडासा प्रायश्चित्त देंगे तो मैं अपने संपूर्ण अतिचारोंका कथन करूंगा और अपनी कृपासे मैं शुद्धियुक्त होकर अपराधोंसे मुक्त होऊंगा.

अणुमाणेदूण गुरुं एवं आलोचणं तदो पच्छा ॥
कुणइ ससल्लो सो से विदिओ आलोयणा दोसो ॥ ५७२ ॥

कुर्वाणस्यानुमान्येति सूरिमालोचनां यतेः ॥
भवत्यालोचनादोषो द्वितीयः शल्यगोपकः ॥ ५९७ ॥

विजयोदया—एवं अणुमाणेदूण एवं अनुमानेन ज्ञात्वा । गुरुः प्रार्थितः करिष्यति स्वल्पप्रायश्चित्तदानेन ममानुग्रहं इति । पच्छा आलोयणं कुणइ पश्चादालोचनां करोति । ससल्लं शल्यसहितं । सो सः । से तस्य । विदिओ द्वितीय आलोयणादोसो आलोचनादोषः ।

मूलारा——अणुमाणेदूण अनुमानेन ज्ञात्वा ।

अर्थ——गुरु मेरेको थोडासा प्रायश्चित्त देकर मेरे ऊपर अनुग्रह करेंगे ऐसा अनुमान करके मायाभावसे जो मुनि पश्चात् आलोचना करता है. यह अनुमानित नामक आलोचनाका दूसरा दोष है.

गुणकारिओत्ति भुंजइ जहा सुहत्थी अपच्छमाहारं ॥
पच्छा विवायकडुगं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५७३ ॥

सेव्यमानो यथाहारो विपाके दुःखदायकः ॥
अपथ्यः पथ्यशेमुष्या तथेयं शुद्धिरीरिता ॥ ५९८ ॥

इति अनुमान्यदोषः ॥

विजयोदया – गुणकारिओत्ति भुंजइ गुणमुपकारं करोति इति भुंक्ते । जहा सुहत्थी यथा सुखार्थी । अपत्थमा-हारं । कीदृग्भूतं पच्छा विवागकडुगं भोजनोत्तरकाल विपाककटुकं । तधिमा तथा इमाः । सल्लुद्धरणसोधी शल्योद्धरणशुद्धीः अपथ्यमाहारं स्वबुद्ध्या गुणकारीति संकल्प्य यदि नाम भुंक्ते तथापि विपाके कटुक एवासौ । एवं गुर्वभिप्रायानुमानेन प्रवृत्तो हितबुद्ध्या गृहीताप्यालोचना अनर्थावहेति । न हि संकल्पवशाद्वस्तुनोऽन्यथाभावः । नापथ्यस्याहारस्य पथ्य-तास्ति संकल्पमात्रेण । अणुमाणिय ॥

मूलारा— गुणकारगोत्ति गुणमुपकारं करोति इति । पच्छा भोजनोत्तरकालं । तधिमा अपथ्यं पथ्यमिति संकल्प्य भुक्तमिव । गुर्वभिप्रायानुमानेन प्रवृत्तहितबुद्ध्या गृहीताप्यालोचना परिणामेऽनर्थावहा । न हि संकल्पवशाद्व-स्तुनोऽन्यथाभावः ।

अर्थ — जैसा सुखकी चाहना करनेवाला कोई पुरुष भोजन के अनंतर जिसका परिणाम दुःखदायक होगा ऐसा आहार खाता है. परंतु उससे सुख न होकर दुःख ही उत्पन्न होता है वैसी यह आलोचना शुद्धि है. अपथ्य आहार मेरेको हितकर होगा ऐसी बुद्धिके द्वारा मनमें संकल्प कर यदि कोई पुरुष भक्षण करेगा तोभी वह परिणाममें कडुही फल देगा. वैसे गुरुके अभिप्रायका अनुमान करके अर्थात् गुरु मेरेको अल्प प्राय-श्चित्त देंगे इस बुद्धिसे की गई हितकर भी आलोचना अनर्थ करनेवाली होती है. संकल्पसे वस्तुका परिणमन भिन्न नहीं होगा. संकल्पमात्रसे अपथ्य आहार पथ्यकर नहीं होता है. इस प्रकार अनुमानित दोपका वर्णन होचुका.

जं होदि अण्णदिट्ठं तं आलोचेदि गुरुसयासम्मि ॥
अदिट्ठं गूहंतो मायिल्लो होदि णायव्वो ॥ ५७४ ॥

परैः सूच्यते दृष्टमदृष्टं या निगूहति ॥
महादुःखफला तेन मायावल्ली मरोप्यते ॥ ५९९ ॥

विजयोदया – जं अण्णदिट्ठ होदि यदन्यदृष्टं भवति अपराधजातं । तं आलोचेदि कथयति । गुरुसयासंमि गुरु-

समीपे। अदिट्ठं परैरदृष्टं। गूहंतो प्रच्छादयन्। मायिल्लो मायावी होदि। मायावानिति ज्ञातव्यो भवति ॥

जं दिट्ठमिति तृतीयमालोचनादोषं गाथात्रयेण विवृण्वन् द्वाभ्यां लक्षयित्वा एकयाक्षिपति—

मूलारा—अण्णदिट्ठं परैरदृष्टं। गूहंतो प्रच्छादयन्।

अर्थ—जो अपराध अन्य जनोंने देखे हैं उतनेही गुरुके पास आकर कोई मुनि कहता है. और अन्यसे न देखे गये अपराधोंको छिपाता है वह मायावी है ऐसा समझना चाहिए.

दिट्ठं व अदिट्ठं वा जदि ण कहेइ परमेण विणएण ॥
आयरियपायमूले तदिओ आलोयणादोसो ॥ ५७५ ॥

यदि दृष्टमदृष्टं च नालोचयति दूषणं ॥
तदास्त्यालोचनादोषस्तृतीयो दोषवर्धकः ॥ ६०० ॥

विजयोदया—दिट्ठं व अदिट्ठं वा परैर्दृष्टमदृष्टं वापराधं। परमेण विणएण जदि ण कहेइ प्रकृष्टेन विनयेन यदि न कथयेत्। क आयरियपादमूले आचार्यपादमूले। तदिओ आलोयणादोसो तृतीय आलोचनादोषः ॥

मूलारा—दिट्ठं परैरिति शेषः।

अर्थ—दूसरोंके द्वारा देखे गये हो अथवा न देखे गये हो संपूर्ण अपराधोंका कथन गुरुके पास जाकर अतिशय विनयसे कहना चाहिये परंतु जो मुनि ऐसा नहीं करता है वह मुनि आलोचनाके तीसरे दोष से लिप्त होता है ऐसा समझना चाहिये.

जह वालुयाए अवडो पूरदि उक्कीरमाणओ चेव ॥
तह कम्मादाणकरी इमा हु सल्लुद्धरणसुद्धी ॥ ॥ ५७६ ॥

दोषशुद्धिरपचेतसा पुनः कल्मषैरिति कृता निधीयते ॥
वालुकासु रचितोऽवटः पुनर्वालुकाभिरभितो हि पूर्यते ॥ ६०१ ॥

इति दृष्टम्।

विजयोदया—जह वालुयाए यथा वालुकाभिः पूरदि पूर्यते । अवडो वालुकामध्यकृतो गर्तः । उक्कीरमाणगो चेव उत्कीर्यमाणोऽपि सन्। तह कम्मादाणकरी तथा कर्मग्रहणकारिणी । इमा सल्लुद्धरणसोधी इयमालोचनाख्या शुद्धिः। मायाशल्यनिराकरणार्थमालोचनायां प्रवृत्तोऽन्यया माययात्मानं प्रच्छादयति । यथा वालुकाविक्षेपो गर्तसंस्कारार्थो वालुकाभिरापूरयति गर्तमिति । जं दिट्ठं ॥

यदुद्धालोचनाकारी मायाशल्यनिरासार्थमालोचनायां प्रवृत्तोऽन्यया माययाऽत्मानं प्रच्छादयति वालुकाविक्षेपो गर्तसंस्काराय क्रियमाणो वालुकया गर्तं पूरयति इति दर्शयितुमिदमाह—

मूलारा—अवडो अवटो गर्तः । प्रक्रमाद्वालुकामध्य एव कृतः । पूरदि पूर्यते । उक्कीरमाणगो चेव उत्कीर्यमाणोऽपि उल्लिख्यमानोऽपि । कम्मादाणकरी अपूर्वकर्मास्राविणी ॥

अर्थ—जैसे वालुकाके मैदानमें कोई मनुष्य खाडा खोदने लग जाय तो वह खोदनेके समय ही वालुकासे फिर भरजाता है. वैसी यह आलोचना शुद्धि है. अर्थात् मायाशल्य मनसे निकालनेके हेतुसे यह आलोचनामें प्रवृत्त हुआ है परंतु अन्यभावासे अपनेको आच्छादित करनेका प्रयत्न कर रहा हैं ऐसा समझना. जं दिट्ठं इस नामक आलोचनादोषका वर्णन हुआ.

बादरमालोचेंतो जत्तो जत्तो वदाओ पडिभग्गो ॥
सुहुमं पच्छादेंतो जिणवयणपरंमुहो होइ ॥ ५७७ ॥
स्थूलं व्रतातिचारं यः सूक्ष्मं प्रच्छाद्य जल्पति ॥
पुरतो गणनाथस्य सोऽर्हद्वाक्यबहिर्भवः ॥ ६०२ ॥

विजयोदया—बादरमालोचेंतो । अत्रैवं पदसंबंधः, जत्तो जत्तो वदाओ पडिभग्गो यस्माद्यस्माद्व्रतात्प्रतिभग्नः । तत्र बादरं आलोचेंतो स्थूलं कथयन् । सुहुमं पच्छादेंतो सूक्ष्मदोषं प्रच्छादयन्। जिणवयणपरंमुहो होइ जिनवचनपराङ्मुखो भवति ॥

बादरमिति चतुर्थमालोचनादोषं गाथात्रयेण व्याचक्षाणो द्वाभ्यां लक्षयति—

मूलारा—वदाउ व्रतात् । पडिभग्गो भग्नः ।

अर्थ — जिन जिन व्रतोंमें अतिचार लगे होंगे उन उन व्रतोंमें स्थूल स्थूल अतिचारोंकी तो आलोचना

चंकमणे य ट्ठाणे णिसेज्जउवट्टणे य सयणे य ॥
उल्लामाससरक्खे य गब्भिणी बालवत्थाए ॥ ५८० ॥

आसने शयने स्थाने संस्तरे गमने तथा ॥
आर्द्रगात्रपरामर्शो गर्भिण्या बालवत्सया ॥ ६०५ ॥
परिविष्टोऽभवद्दोषो यः सूक्ष्मः स निगद्यते ॥
स्थूलं प्रच्छाद्य येनासौ जिनवाक्यपराङ्मुखः ॥ ६०६ ॥

विजयोदया--चंकमणे अवश्यायबहुलेन पथा व्याकुलितचित्तो मनागीर्यायामनुपयुक्तो गतवान् । ठाणे णिसेज्ज उवट्टणे य सयणे य प्रमार्जनमकृत्वा स्थानं, निषद्या, शय्या च कृता । उल्लामाससरक्खे आर्द्रायां गात्राधिकं स्पृष्टं । सरक्खे य सचित्तधूलिसहिते स्थितं सुसमासितं वा । गब्भिणी गर्भिण्या । बालवत्थाए बालवत्सया दीयमानं गृहीतं इति ॥

सुहुममिति पंचम आलोचनादोषमाचष्टे—

मूलारा— चंकमणे इत्यादि अत्र उपस्कारेण व्याख्येयं । तथाहि—चंकमणे अवश्यायादिबहुले मार्गे व्याकुलचित्तो गतोऽहमिति सूक्ष्मं दोषं वक्ति । ठाणे णिसेज्ज उट्टवणे प्रतिलेखनमकृत्वा स्थानमुपवेशनं शयनं वा मया कृतमिति ब्रूते । करणे काले षडावश्यकं मया न कृतमिति वदति । उल्लामास आर्द्रस्पर्शः जलादि नागात्रादिकं मया स्पृष्टमिति कथयति । सरक्खे सचित्तधूलिस्थाने मयास्थितं, धूलियुक्तपादेन मया जले प्रविष्टं, जलार्द्रपादाभ्यां रजोऽवष्टब्धमित्यादिकमालोचयति । गब्भिणी अष्टमादिमासगर्भधारिण्या मम परिविष्टमिति ब्रूते । बालवच्छाए मासाभ्यंतरप्रसूतया मम परिविष्टं रुदंतं स्तनलग्नबालं त्यक्त्वा स्त्रिया मेऽन्नं दत्तमिति निगदति ।

अर्थ—चंक्रमण—जहां ओस बहुत गिरी थी ऐसे मार्ग से इर्यासमितीमें चित्तकी एकाग्रता न कर मैंने गमन किया था. पिच्छिकासे जमीन साफ न करके मैं जमीन पर बैठा था, सोया था. और खडा हुआ था. योग्य कालमें मैंने छहों आवश्यक किये नहीं थे. पानीसे गीले शरीर आदिक पदार्थोंको मैंने स्पर्श किया था. सचित्त धूलिपर मैं बैठा था. खडा हुआ था और सोया था. धूलिसे भरे हुए पावोंसे जलमें मैंने प्रवेश किया था. आठ महिने नउ महिने जिसको हुए हैं ऐसे गर्भवतीने मेरेको आहार दिया था. प्रसूत होकर जिसको एक महिना भी पूरा नहीं हुआ था ऐसे स्त्रीने मेरेको आहार दिया था. रोता हुआ अथवा स्तनपान करता हुआ बालक छोडकर स्त्रीने मेरे

को आहार दिया था इत्यादि सूक्ष्म दोषोंको जो कहता है उसकी आलोचना शुद्ध नहीं है.

इय जो दोसं लहुगं समालोचेदि गूहदे थूलं ॥
भयमयमायाहिदओ जिणवयणपरंमुहो होदि ॥ ५८१ ॥

स्थूलं सूक्ष्मं च चेद्दोषं भाषते न गुरोः पुरः ॥
मायाव्रीडामदाविष्टः सदा दोषोऽस्ति पंचमः ॥ ६०७ ॥

विजयोदया—इय एवं । जो यः । दोसं अतिचारं । कीदृग्भूतं ? लहुगं स्वल्पं । आलोचेदि कथयति । विणिगूहदि विनिगूहयति । किं ? थूलं स्थूलं । भयमयमायाहिदओ भयमदमायासहितचित्तः । महतो दोषान्यदि ब्रवीमि महत्प्रायश्चित्तं प्रयच्छंतीति भयं, त्यजंति मामिति वा । वृथा निरतिचारचरित्रसर्वसमानभंगासहः स्थूलान्न शक्नोति वक्तुं । कश्चित्प्रकृत्यैव मायावी सोऽपि न निगदति । जिणवयणपरंमुहो होदि । जिनवचनपराङ्मुखो भवति ।

मूलारा—भयमदमायाहिदओ भयं, मदो, माया वा हृदये चित्ते यस्यासौ बहुप्रायश्चित्तं भयेन सधर्मत्यजनभयेन वा सूक्ष्ममेव दोषं वक्ति, स्थूलं प्रच्छादयति । वृथानिरतिचारचारित्रोऽस्मीति गर्वान्न स्थूलान्वक्ति । मायावी तु प्रकृत्यैव वंचकत्वान्न वान्वक्ति । उक्तं च—

आसने शयने स्थाने संस्तरे गमनेऽशने ॥
आर्द्रगात्रपरामर्शगर्भिण्या बालवत्सया ॥
परिविष्टेऽभवद्दोषो यः सूक्ष्मः स निगद्यते ॥
स्थूलं प्रछाद्य येनासौ जिनवाक्यपराङ्मुखः ॥

अर्थ—इस प्रकार जो छोटे छोटे दोष कहकर बडे दोष छिपाता है. वह मुनि भय, मद, और कपट इन दोषोंसे भरा हुआ जिनवचनसे पराङ्मुख होता है. बडे दोष यदि मैं कहूंगा तो आचार्य महाप्रायश्चित्त देंगे. अथवा मेरा त्याग करेंगे ऐसे भयसे कोई बडे दोष नहीं कहता है. मैं निरतिचार चारित्र हूं ऐसा समझकर स्थूल दोषोंको गर्वयुक्त होकर कोई मुनि कहता नहीं. कोई मुनि स्वभावसे ही कपटी रहता है अतः वह भी बडे दोष कहता नहीं इस वास्ते ये मुनि जिनवचनसे पराङ्मुख हैं.

सुहुमं व बादरं वा जइ ण कहेज्ज विणएण स गुरूणं ॥
आलायणाए दोसो पंचमओ गुरुसयासे से ॥ ५८२ ॥

विजयोदया—मायाशल्यत्यागस्य जिनवचनोपदर्शितस्य अकरणात् प्रसिद्धार्थो ॥

मूलारा—गुरुसयासे गुरुसमीपे वर्तमानस्य ॥

अर्थ—सूक्ष्म अथवा स्थूल दोष यदि गुरूको विनय से न कहेगा तो वह जिनोपदेशका उल्लंघन करनेसे आलोचनाके पांचवे दोषसे दूषित होता है.

उत्तर गाथा—

रसपीदयं व कडयं अहवा कवडुकडं जहा कडयं ॥
अहवा जदुपूरिदयं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५८३ ॥

रसेन पीतं जतुना प्रपूर्णं कूटं विपाके कटकं गृहीतं ॥
यथा तथेत्थं विहितं विधत्ते विशोधनं तापमपारमुग्रम् ॥ ६०८ ॥

इति सूक्ष्मदोषः

विजयोदया—रसपीदगं व कडयं रसोपलेपान्मनाक् बहि: पीतवर्णकटकमिव । अथवा कवडुकडं तनुसुवर्णपत्राच्छादितमिव वा । अन्तर्निस्सार । अथवा जदुपूरितगं अन्तश्छिद्रं जतुपूर्णकटकमिव । पीतता रसोपलिप्तस्य तथा तथाल्पा शुद्धिरिति प्रथमो दृष्टान्त । गुरुतरपापप्रच्छादनमात्रताप्रकाशनाय द्वितीयो दृष्टान्त । गुरुतरमय प्रभृति निस्सार वस्तु बाह्ये तु सुवर्णशकलेन प्रच्छादित यथा तथा स्वल्पानपराधान्कथयति । पापभीरुताप्रकर्षोदयं मुनिरित्थं संयतः कथं महत्यतिचारे प्रवर्तेत इति प्रत्ययजननाय अंत सारराहितता तृतीयेनोच्यते । सुहुम ॥

दृष्टांतत्रयेण सूक्ष्मदोषालोचना जुगुप्सते—

मूलारा—रसपीदगं सुवर्णरसरसितं । एतेन शुद्धेरल्पत्वं दर्शितं । कवडुकडं सुवर्णपत्रप्रच्छादितं । एतेन गुरुतर पापप्रच्छादनं दर्शितं । जदुपूरिदगं लाक्षाभृतमध्यं एतेनांतर्नि:सारतोदाहृता साधोः ॥

अर्थ—सोनेका मुलामा दिया हुआ लोहेका कडा जैसा ऊपर से मनोहर दीखता है. अथवा ऊपरसे सोने के पतले पत्रसे मढा हुआ लोहेका कडा जैसे ऊपरसे ही सुंदर दिखता है परंतु अंदर नि सारता ही रहती है. किंवा

जिसके अंदर लाख भरी है ऐसे सोनेके कडेके समान यह आलोचना शुद्धि है. जैसे प्रथम दृष्टान्तमें सुवर्णका ऊपर ही मुलामा है परंतु अंदर निःसारपना है वैसी यह आलोचना उपरसे तो अल्पशुद्ध दीखती है परंतु अंदर अशुद्धि भरी हुई है. जैसे सोनेके पत्रेसे मढा हुआ लोहा अंदर छिपा हुआ रहता है. वैसे यह आलोचनाशुद्धि बडे बडे पाप छिपानेवाली और ऊपरसे छोटे पापोंका कथन करनेवाली है. यह मुनि पापभीरु है यह बडे पापोंमें कैसे प्रवृत्त होगा ऐसा मानो विश्वास उत्पन्न करनेके लिये यह सूक्ष्म दोषोंका कथन करनेवाली आलोचना है. यह तीसरे लाखसे भरा हुआ कडेके दृष्टान्तसे व्यक्त होता है. इस प्रकार सूक्ष्म दोषकी आलोचनाका वर्णन हुआ.

जदि मूलगुणे उत्तरगुणे य कस्सइ विराहणा होज्ज ॥
पढमे बिदिए तदिए चउत्थए पंचमे च वदे ॥ ५८४ ॥

आद्ये व्रते द्वितीये वा दोषः संपद्यते यदि ॥
सूरे ! कस्यापि कथ्यस्व विशुद्ध्यति तदा कथम् ॥ ६०२ ॥

विजयोदया—यदि मूलगुणे उत्तरगुणे च कस्यचिद्धियते मूलगुणे, चारित्रे, तपसि वा अनशनादावुत्तरगुणे अतिचारो भवेत्। अहिंसादिके व्रते ॥

छण्णमिति षष्ठं आलोचनादोषं गाथाषट्केन व्याकर्तुकामः पूर्वं गाथात्रयेण तल्लक्षणमाह—

मूलारा—मूलगुणे चारित्रे तपसि वा। अहिंसादिव्रते। कस्सइ कस्यचित्साधोः। विराधणा अतिचारः। तवो प्रायश्चित्तं। उवाएण आलोचनया, प्रतिक्रमणया, स्थानांतरगमनादिना वा। पच्छण्णं पुच्छति आत्मानमनुदिश्य पृच्छां करोति। मयायमपराधः कृतस्तस्य किं प्रायश्चित्तं इति न पृच्छति। स्पष्टम् ॥

अर्थ—यदि किसी मुनिको मूलगुणमें अर्थात् पांच महाव्रतोंमें और उत्तरगुणोंमें—तपश्चरणमें अनशनादिक बारा तपोंमें अतिचार लगेगा तो—

को तस्स दिज्जइ तवो केण उवाएण वा हवदि सुद्धो ॥
इय पच्छण्णं पुच्छदि पायच्छित्तं करिस्सत्ति ॥ ५८५ ॥

विजयोदया—को तस्स दिज्जइ तवो किं तस्मै दीयते तपः ? । केण उवायेण होदि वा सुद्धो केनोपायेन वा शुद्धो भवतीति । पच्छण्ण प्रच्छन्नं । पुच्छदि पृच्छति । आत्मानमुद्दिश्य मयायमपराधः कृतस्तस्य किं प्रायश्चित्तं इति न पृच्छति । किमर्थमेव प्रच्छन्नं पृच्छति । ज्ञात्वा प्रायश्चित्तं करिस्सति करिष्यामि ॥

अर्थ—उसको कोनसा तप दिया जाता है, अथवा किस उपायसे उसकी शुद्धि होती है ऐसा प्रच्छन्न रूपसे पूछता है अर्थात् मैंने ऐसा २ अपराध किया है और उसका क्या प्रायश्चित्त है ? ऐसा न पूछकर प्रच्छन्न पूछता है. प्रच्छन्न पूछकर तदनंतर मैं उस प्रायश्चित्तका आचरण करूंगा ऐसा हेतु उसके मनमें रहता है.

इय पच्छण्णं पुच्छिय साधू जो कुणइ अप्पणो सुद्धिं ॥
तो सो जिणेहिं वुत्तो छट्ठो आलोयणा दोसो ॥ ५८६ ॥

इत्यन्यथाजतश्छन्नं पृच्छयते चेत्स्वशुद्धये ॥
तदानीं जायते दोषः षष्ठः संसारवर्द्धकः ॥ ६१० ॥

विजयोदया—इय एवं । पच्छण्णं पुच्छिय पृष्ट्वा । जो साहू साधुः । अप्पणो सोधिं कुणदि आत्मनः शुद्धिं करोति । सो छट्ठो आलोयणा दोसो वुत्तो जिणेहिं । षष्ठोऽसावालोचनादोषस्तस्य भवतीति जिनैरुक्तः ॥

अर्थ—ऐसा गुप्त रीतीसे पूछकर जो साधु अपनी शुद्धि कर लेता है. वह आलोचनाका छट्ठा दोष है ऐसा जिनेश्वरने कहा है.

घादो हवेज्ज अण्णो जदि अण्णम्मि जिमिदम्मि संतम्मि ॥
तो परववदेसकदा सोधी अण्णं विसोधिज्ज ॥ ५८७ ॥

भोजने च कृतेऽन्येन तृप्तिरन्यस्य जायते ॥
अपरस्य तदा शुद्धिर्विहिता परभर्मणा ॥ ६११ ॥
आत्मशुद्धिं विधत्ते यः प्रपृच्छय परभर्मणा ॥
अपरेणौषधे पीते स्वस्यारोग्यं करोति सः ॥ ६१२ ॥

विजयोदया—धादो हवेज्ज अण्णो तुसो भवेदन्यः । जदि अण्णमि जिमिदम्मि संतम्मि । यद्यन्यस्मिन्भुक्तवति सति । तो ततः । परववदेसकदा सोधी परव्यपदेशकृता शुद्धिः । अण्णं विसोधेज्ज अन्यं विशोधयेत् ॥

छन्नदोषदुष्टालोचनाया नैष्फल्यं दृष्टांतेन स्फुटयति—

मूलारा—धादो तृप्तः । जिमिदम्मि भुक्तवति । संतम्मि सति । परववदेसकदा अन्यमुद्दिश्यकृता ।

अर्थ-उपर्युक्त दोषका दृष्टांत इस प्रकार है— यदि किसी अन्य मनुष्यके भोजन करनेपर उससे अन्य मनुष्यका पेट भरेगा तो दूसरेके नामसे किया हुआ प्रायश्चित्त दूसरेको विशुद्ध करेगा ऐसा मानना पडेगा.

स्पष्टोत्तरा गाथा—

तवसंजमम्मि अण्णेण कदे जदि सुग्गदिं लहदि अण्णो ॥
तो परववदेसकदा सोधी सोधिज्ज अण्णंपि ॥ ५८८ ॥

संयमे चेत्कृतेऽन्येन विमुक्तिं लभते परः ॥
परव्याजकृता शुद्धिस्तदा शोधयते परम् ॥ ६१३ ॥

तदेव दृढयति—

मूलारा—सुग्गदिं सद्गतिम् ॥

अर्थ-तप और संयम भी अन्य व्यक्तीने किये जानेपर यदि अन्यही व्यक्तीको सुगतिकी प्राप्ति होगी तो दूसरेके नामसे किया हुआ प्रायश्चित्त भी दुसरेको दोषसे मुक्त करेगा ऐसा मानना पडगा.

मयतण्हादो उदयं इच्छइ चंदपरिवेसणा कूरं ॥
जो सो इच्छइ सोधी अकहंतो अप्पणो दोसे ॥ ५८९ ॥

गुरोर्निजं दोषमभाषमाणो दोषस्य यः कांक्षति शुद्धिमज्ञः ॥
मन्ये स तोयं मृगतृष्णिकातो जिघृक्षतेऽन्नं शशिबिंबतो वा ॥ ६१४ ॥

इति छन्नं दूपणम् ॥

विजयोदया—मयतण्हादो इत्यत्र पदघटनेत्थं । जो अप्पणो दोसे अकथेंतो सोधी इच्छइ सो मयतण्हादो उदयं इच्छइ, चंदपरिवेसणे कूरं इच्छइ य । य आत्मनो दोषाननभिधाय गुरूणां शुद्धिमिच्छति स मृगतृष्णात उदकं वांछति, चंद्रपरिवेषादशनमिच्छति । निष्फलतासाधर्म्यादयं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावः। छष्टं ॥

पुनस्तदेव समर्थयते—

मूलारा—मिगतिण्हादो मृगतृष्णातः । उदगं उदकं । चंदपरिवेसणे चंद्रपरिवेषात् चंद्रबिंबादित्यर्थः । कूरं भक्तं श्रीचंद्रटिप्पनके त्वेवमुक्तं । अत्र कथयार्थप्रतिपत्तिर्यथा—चंद्रनामा सूपकारः परिवाराहितो राज्ञा निःसारितोऽन्यः कृतः । परिवारेण च राज्ञा सह भोजनं परिहृतं । एवमेकदा समायाते तस्मिन् राजनि भोक्तुमुपविष्टे गगने चंद्रस्य परिवेषमालोक्योक्तं लोकैरत्र चंद्रस्य परिवेषो जात इति । एतच्छ्रुत्वा परिवारः सूपकारस्य राजकुले प्रवेशो जात इति मत्वा भोक्तुं गतवान्न च कूरं प्राप्तवान् इति । गुरोरप्रकाशयन् ॥

अर्थ—जो मुनि अपने दोषोंका विवेचन न करके उनसे मुक्त होना चाहेगा वह मृगतृष्णासे पानी प्राप्त करने की कोशिश करता है अथवा चंद्रके परिवेशसे अन्न प्राप्त करने की इच्छा धरता है ऐसा समझना चाहिये. दूसरेके नामसे प्रच्छन्नरीत्या प्रायश्चित्त धरना व्यर्थ है ऐसा इन दो दृष्टान्तोंसे सिद्ध होता है.

दृष्टांत और दार्ष्टान्तिक इन दोनोंमें निष्फलताकी समानता इस गाथामें दिखाई है.
किसी राजाने चंद्रनामक रसोइया को अपने घरसे निकाल दिया. और उसके स्थानमें दुसरे रसोइयाको नियुक्त किया. तब राजाके साथ परिवारने जीमना छोड दिया. एक दिन राजा भोजनके लिए आया उस समय आकाशमें चंद्रको परिवेषयुक्त देखकर चंद्रका परिवेश-प्रवेश हुआ ऐसा लोगोंने कहा तब सुनकर परिवार भोजनके लिये आया परंतु उसको भोजन नहीं मिला. ऐसी कथा यहां समझनी चाहिये. यह कथा श्रीचंद्राचार्य के टिप्पनकमें कही है.

पक्खियचाउम्मासियसंवच्छरिएसु सोधिकालेसु ॥
बहुजणसद्दाउलए कहेदि दोसे जहिच्छाए ॥ ५९० ॥

शब्दाकुले चतुर्मासपक्षवर्षक्रियादिने ॥
यथेच्छं पुरतः सूरेरालोचयति योऽधमः ॥ ६१५ ॥

विजयोदया—पक्खियचाउम्मासिय पक्षाद्यतिचारशुद्धिकालेषु । वहुजणसद्दाउलए बहुजनशब्दसंकटे । जधिच्छाए दोसे कधेदि यथेच्छया दोषानात्मीयान्कथयति ॥

सद्दाकुलगमिति सप्तमं आलोचनादोषं गाथात्रयेणाह—

मूलारा—जहिच्छाए यथेच्छया।

अर्थ— पाक्षिक दोषोंकी आलोचना, चार्मासिक दोषोंकी आलोचना और वार्षिक दोषोंकी आलोचना सब यतिसमुदाय मिलकर जब करते हैं तब अपने दोष स्वेच्छासे कहना यह बहुजननामका दोष है.

इय अव्वत्तं जइ सावेंतो दोसे कहेइ सगुरूणं ॥
आलोचणाए दोसो सत्तमओ सो गुरुसयासे ॥ ५९१ ॥
अव्यक्तं वदतः स्वस्य दोषान्संक्लिष्टचेतसः ॥
आलोचनागतो दोषः सप्तमः कथितो जिनैः ॥ ६१६ ॥

विजयोदया—जदि इय अव्वत्तं सावेंतो दोसे कहेइ सगुरूणं यद्येवमव्यक्तं श्रावयन्दोषान्कथयति स्वगुरुभ्यः । सत्तमगो आलोयणादोसो । सप्तम आलोचनादोषः गुरुसयासे गुरुसमीपे प्रवृत्तो भवति ॥

मूलारा—सावेंतो श्रावयन् ॥

अर्थ— यदि अस्पष्ट रीतीसे गुरुको सुनाता हुवा अपने दोष मुनि कहेगा तो गुरुके चरणसन्निध उसने सातवा शब्दाकुलित दोष किया है ऐसा समझना.

अरहट्टघडीसरिसी अहवा चुंदच्छुदोवमा होइ ॥
भिण्णघडसरिच्छा वा इमा हु सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५९२ ॥
अरगतंघटयंत्रसमां भिन्नघटोपमां ॥
चुंदरज्जुनिभामेनां शुद्धिं शुद्धिविदो विदुः ॥ ६१७ ॥
इति शब्दाकुलो दोषः ॥

विजयोदया—अरहट्टघडीसरिसी अरगर्तघटीसदृशी पूर्णाप्यपूर्णा । एवमपराधकथनं स्वमुखेन प्रवृत्तमेव अप्रवृत्तमेव गुरुणा अश्रुतत्वात् । अहवा चुंदच्छुदोवमा होइ अथवा मंथनचर्मपालिका इव, सा यथा मुक्तापि बध्नाति एवमियं चाड्मुखकुहरमुक्तापि मायाशल्यसहितेति बध्नाति । भिण्णघडसरिच्छा वा भिन्नघटसदृशी वा यथा भिन्नो घटो घटकार्यं जलधारणं जलाद्यानयनं वा कर्तुमसमर्थं एवमियमालोचना न निर्जरां संपादयतीति साधर्म्यं ॥ सद्दाउलयं ॥

शब्दाकुलदोषदुष्टालोचनाशैवर्थ्यं दृष्टांतेन समर्थयते—

मूलारा—अरहट्टघडीसरिसी यथा अरगर्तघटिकाः पूर्णा अपूर्णा एवमपराधकथनं स्वमुखेन कृतमप्यकृतमेव गुरुणाऽश्रुतत्वात् । चुंदच्छुदोवमा मंथनचर्मपालिकातुल्या । सा यथामुक्तापि बध्नाति । एवमियं दोषालोचना मुख कुहरमुक्तापि मायायुक्तेति बध्नाति । भिन्नघडसरिच्छा वा स्फुटितघटसदृशी । यथा भिन्नो घटो जलधारणादिकार्यं कर्तुं न शक्नोति तथेयं निर्जरामिति साधर्म्यम् ॥

अर्थ—जैसे अरगर्त घटीयंत्रमें लगे हुए घडे जलसे भरे हुए भी अपूर्ण हो जाते हैं अर्थात् वे हमेशा जलसे भरते हैं और पुनः रिक्त होते हैं वैसे अपराधोंका अपने मुखसे कथन किया तो भी कथन नहीं किये सरिखा हो जाता है. क्योंकि बहुतोंके शब्दोंमें उसके शब्द गुरु सुन नहीं सकते हैं. अथवा काष्ठको छिद्र पाडनेवाला चर्मा नामक शस्त्र घुमाते समय दोरीसे मुक्त होकर भी बंधा रहता है. एक पार्श्वसे उसकी दोरी ढिली हो जाती है परंतु दुसरी बाजु उसकी उसी समय दोरीसे दृढ बंधी जाती है. वैसे यह मुंहसे अपराधोंका वर्णन बाहर पडता है. तो भी अंतरंगमें माया शल्यसे सहित होनेसे कर्मबंध का ही कारण होता है. अथवा यह आलोचना फूटे घडेके समान है. फूटा घडा जल लानेमें और जल धारण करनेमें असमर्थ है. वैसी यह आलोचना कर्मनिर्जरा करनेमें असमर्थ होती है.

आयरियपादमूले हु उवगदो वंदिऊण तिविहेण ॥
कोई आलोचेज्ज हु सव्वे दोसे जहावत्ते ॥ ५९३ ॥
भूरिभक्तिभरानम्रः सूरिपादाम्बुजद्वयम् ॥
प्रणम्य भाषते कश्चिद्दोषं सर्वं विधानतः ॥ ६१८ ॥

विजयोदया—आयरियपादमूले उवगदो आचार्यपादमूलमुपगतः। तिविधेण वंदिदूण मनोवाक्कायशुद्ध्या वंदनां कृत्वा। कोई कश्चित्। आलोचेज्ज तु कथयेत्। सव्वे दोसे जधावत्ते सर्वान्दोषान्स्थूलान्सूक्ष्मांश्च यथाप्रवृत्तान्मनोवाक्कायमित्यास्रवान् कृतकारितानुमतभेदान्॥

यहुजनमित्यष्टमनालोचनादोषं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूलारा—जधावत्ते यथाप्रवृत्तान्। येन मनोवाक्कायकृतकारितानुमतान्यतमेन प्रकारेण प्रवृत्तान्॥

अर्थ—कोइ मुनि आचार्यके सान्निध जाकर उनके चरणोंको मन, वचन और शरीर इनको शुद्धकर नमस्कार करता है. तदनंतर मन, वचन, शरीरसे कृत, कारित और अनुमोदनके साथ स्थूल अथवा सूक्ष्म जो जो दोष हुये थे उनका संपूर्ण कथन करता है.

तो दंसणचरणाधारएहिं सुत्तत्थमुव्वहंतेहिं॥
पवयणकुसलेहिं जधारिहं तवो तेहिं से दिण्णो॥ ५९४॥
तस्य सूत्रार्थदक्षेण रत्नत्रितयशालिना॥
व्यवहारविदा दत्तं प्रायश्चित्तं यथोचितम्॥ ६१९॥

विजयोदया—तो पश्चात् आलोचनोत्तरकालं। दंसणचरणाधारएहिं समीचीनदर्शनचारित्रधारणोद्यतैः। सुत्तत्थमुव्वहंतेहिं सूत्रार्थमुद्वहद्भिः। पवयणकुसलेहिं सूत्रार्थमुद्वहद्भिरित्यनेनैव गतत्वात्किमनेन 'प्रवचनकुशलैः' इति। अयमभिप्रायः-प्रायश्चित्तग्रंथवृत्तिः प्रवचनशब्दः तेन प्रायश्चित्तकुशलैरित्यर्थः। अन्यशास्त्रज्ञो न ददाति न चेत्प्रायश्चित्तज्ञः इति प्राधान्यकथनार्थं पृथगुपादानं। तेहिं तैः। से तस्मै। जधारिहं तवो दिण्णो अपराधानुरूपं तपो दत्तं। तपोग्रहणं प्रायश्चित्तोपलक्षणार्थं तेन प्रायश्चित्तं दत्तं इत्यर्थः॥

मूलारा—तो आलोचनोत्तरकालं। पवयणकुसलेहिं प्रायश्चित्तचतुरैः। अन्यशास्त्रज्ञोऽपि प्रायश्चित्तमजानानो न शोधयतीति प्राधान्यकथनार्थं अस्य पृथगुपादानं। तवो प्रायश्चित्तं। जधारिहं अपराधानुरूपं। तेहिं तैः प्रसिद्धैर्धर्माचार्यैः। से तस्मै।

अर्थ—जब मुनि आलोचना समाप्त करता है तब सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके धारक, सूत्रार्थको अपने हृदयमें धारण करनेवाले, और प्रवचनमें कुशल ऐसे आचार्य आलोचना करनेवाले को यथायोग्य प्रायश्चित्त

देते हैं. शंका सूत्रार्थके धारक इस शब्दका अर्थ प्रवचनमें निपुण ऐसा होता है तो पवयणकुसलो यह शब्द गाथामें व्यर्थ है.

उत्तर—यहां प्रवचन शब्दसे प्रायश्चित्त ग्रंथ यह अर्थ आचार्य को अभिमत है. सूत्रशब्दसे प्रायश्चित्त शास्त्रके विना अन्य शास्त्र ऐसा समझ लेना चाहिये. अन्य शास्त्रों का ज्ञाता होकर यदि प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता न हो तो वह प्रायश्चित्त नहीं दे सकता यह अभिप्राय यहां मुख्य है. उसकी सिद्धीके लिये यहां 'पवयणकुसलो' यह पद आचार्य महाराजने गाथामें जोड दिया है.

णवमम्मि य जं पुव्वे भणिदं कप्पे तहेव ववहारो ॥
अंगेसु सेसएसु य पइण्णए चावि तं दिण्णं ॥ ५९५ ॥
तेसिं असद्दहंतो आइरियाणं पुणो वि अण्णाणं ॥
जइ पुच्छइ सो आलोयणाए दोसो हु अट्ठमओ ॥ ५९६ ॥

यत्कल्पव्यवहारांगपूर्वादिश्रुतभाषितम् ॥
तदालोच्य विधानेन दत्तं सूत्रपटीयसा ॥ ६२० ॥
अश्रद्धाय वचस्तस्य स यथा पृच्छते परं
आचार्यैः कथितो दोषस्तदालोचनगोचरः ॥ ६२१ ॥

विजयोदया—तेसिं तेषां। आयरियाणं आचार्याणां वचनं । असद्दहंतो अश्रद्दधानः । पुणो वि जदि पुनरपि यदि पृच्छत्यन्यानसौ। अट्ठमगो आलोयणादोसो सोऽष्टमः आलोचनादोषः ॥

अत्रेयं गाथा सूत्रेऽनुश्रूयते ।

मूलारा—एतां श्रीविजयो नेच्छति ।

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—नौवा पूर्व प्रत्याख्यान नामका है उसमें प्रायश्चित्तका निरूपण है. अंगबाह्यश्रुतमें कल्पनामक प्रकरण में प्रायश्चित्तका विचार किया है. बाकीके अंगोंमें और प्रकीर्णकोंमें जो प्रायश्चित्त का निरूपण है उसके अनुसार आचार्य प्रायश्चित्त देते हैं.

परंतु उनके दिये हुए प्रायश्चित्तमें अश्रद्धान करके यह आलोचक मुनि यदि अन्याका पूछगा अर्थात् आचार्य महाराजने दिया हुआ प्रायश्चित्त योग्य है या अयोग्य है ऐसा पूछेगा तो यह आलोचनाका बहुजन पृच्छा नामक आठवा दोष होगा.

पगुणो वणो ससल्लं जध पच्छा आदुरं ण तावेदि ॥
बहुवेदणाहिं बहुसो तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५९७ ॥

दोषावतीर्णोऽपि ददाति पीडां परप्रकारेण विशोध्यमानः ॥
व्रणो हि शुष्कोऽपि करोति बाधां प्रचाल्यमानः किमुताचिपक्वः ॥६२२॥

इति भूरिसूरिदोषः ।

विजयोदया—पगुणो वणो प्रगुणं व्रणं । उपचितं । ससल्लं शल्यसहितं । पच्छा पश्चात् । आदुरं व्याधितं । किमु न तावेदि । किमु न तापयति तापयत्येव । बहुवेदणाहिं बह्वीभिर्वेदनाभिः । बहुसो बहुशः । तधिमा तथा इयं सल्लुद्धरणसोधी आलोचनाशुद्धिः । मायामृषापरित्यागेन कृता अतिशोभना सद्वृत्ता गुरुदत्तप्रायश्चित्तापि श्रद्धानशल्यसमन्वितत्वाद्दुःखावहा । बहुजण ॥

बहुजनदोषदुष्टालोचनाया दुःखावहत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूलारा—पउणो उपरि रूढः । ससल्लो अंतःकंद्वादियुक्तः । ण तावेदि न कदर्थयति ? । बहुसो बहुवारान् । तधिमा तथेयं मायामृषापरित्यागेन कृतेति अंहृतदोषापि गुरुदत्तप्रायश्चित्ताश्रद्धानशल्यानुविद्धत्वेन दुःखावहत्वात् ॥

अर्थ—जिसमें कांटा रहा है ऐसा व्रण यद जाता है तब वह अनेक प्रकारकी वेदनायें उत्पन्न कर जीवको जैसा बहुत दुःख देता है. वैसी यह आलोचना भी जीवको बहुत दुःखदायक है. यह आलोचना माया और असत्य भाषणसे रहित है. इसलिये यद्यपि अतिशय अच्छी मानी जाती है तथापि गुरुओंने दिये प्रायश्चित्त पर श्रद्धान न होनेसे दुःखदायक है. इस प्रकार बहुजन नामक दोषका वर्णन हुआ.

आगमदो जो बालो परियाएण व हवेज्ज जो बालो ॥
तस्स सगं दुच्चरियं आलोचेदूण बालमदी ॥ ५९८ ॥

आगमेन चरित्रेण बालो भवति यो यतिः ॥
तस्यालोचयतो दोषं स्वं दोषो नवमो मतः ॥ ६२३ ॥

विजयोदया—आगमदो बालो आगमेन ज्ञानेन वा बालः। परियाएण व हवेज्ज बालो चारित्रबालो वा यो भवेत्। यः स तस्स तस्मै। सगं दुच्चरिदं आत्मीयमतिचारं। आलोचेदूण बालमदी उक्त्वा बालबुद्धिः ॥

अथ नवममव्यक्ताख्यमालोचनादोषं गाथात्रयेण व्याचष्टे तत्रैनं द्वाभ्यां गाथाभ्यां लक्षयत्येकयाक्षिपति—

मूलारा—आगमदो श्रुतज्ञानेन। बालो लघु। परियाएण चारित्रेण। जो गुरु। तस्स तस्मै। आलोचेदूण निवेद्य। बालमदी स्तोकबुद्धिः।

अर्थ—जो मुनि आगमसे बाल है अर्थात् जिसको आगमका ज्ञान नहीं है तथा जो चारित्रबाल है अर्थात् चारित्र भी जिसका श्रेष्ठ नहीं है उसको बाल कहते हैं ऐसे मुनिके पास जाकर कोई अल्पज्ञानी मुनि अपने दोषों की आलोचना करता है.

आलोचिदं असेसं सव्वं एदं मएत्ति जाणादि ॥
बालस्सालोचेंतो णवमो आलोचणा दोसो ॥ ५९९ ॥
निवेदितं मया सर्वं नासौ जानाति दूषणम् ॥
विश्राणयति मे शुद्धिं प्रणिधायेति मानसे ॥ ६२४ ॥

विजयोदया—आलोचिदं कथितं। असेसं सव्वं निरवशेषं सर्वं। मनोवाक्कायकृतोऽतिचारः सर्वशब्देन-उच्यते। कृतकारितानुमतविकल्पा अशेषा इत्याग्राह्यते। मएत्ति जाणादि मयेति जानाति। बालस्सालोचेंतो ज्ञानबालाय चारित्रबालाय वा कथयति णवमो आलोयणादोसो नवम आलोचनादोषः ॥

मूलारा—असेसं कृतकारितानुमतविकल्पं। सव्वं मनोवाक्कायकृतं दूषणं। बालस्स ज्ञानबालाय चारित्रबालाय वा गुरवे। णवमो बालो बालायालोचयन्मया सर्वमालोचितमिति यज्जानीते सोऽव्यक्तो नामालोचना दोषो भवतीति सम्बंधः।

अर्थ—और मैंने इसके पास संपूर्ण अपराधों की आलोचना की है मन, वचन, कायसे और कृत, कारित

अनुमोदनसे किये हुए अपराधोंकी मैंने आलोचना की है ऐसे जो समझता है उसकी यह आलोचना करना नौवे दोपसे दुष्ट है. ज्ञानबालको और चारित्रबालको अपने अपराध कहना यह नौवा अव्यक्त नामक दोप है.

कूडहिरण्णं जह णिच्छएण दुज्जणकदा जहा मेत्ती ॥
पच्छा होदि अपत्थं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ६०० ॥

इदमालोचनं दत्ते पश्चात्तापं दुरुत्तरं ॥
दुष्टानामिव सांगत्यं कूटं स्वर्णमिवाथवा ॥ ६२५ ॥

इति अव्यक्तदोपः ।

विजयोदया—अव्वत्तं । कूडहिरण्णं जह पच्छा अपत्था णिच्छएण होदित्ति पदघटना । यथा कूटहिरण्यं धनमिति गृहीतं पश्चादपथ्यं निश्चयतो भवति अभिमतद्रव्यग्रहणे अनुपायत्वात् । एवमपि इयमपि बालस्य क्रियमाणालोचना अनुरूपप्रायश्चित्तमासौ अनुपायत्वात् सदृशी । ज्ञानबालः परार्थयोग्यप्रायश्चित्तं दातुं न क्षमः । दुज्जणकदा य मेत्ती जहा पच्छा होइ अपत्थं इति संबंधः कार्यः । दुर्जने कृता मैत्री यथा न पथ्यं, दुःखं प्रयच्छतीति एवं चारित्रबालस्य संयमोभयविकलस्य कृतापि प्रायश्चित्तालाभमूला अनेकानर्थावहेति भावः ॥

मूलारा—कूडहिरण्णं कूटकं सुवर्णं । पच्छा पश्चात् । उत्तरकाले । अपच्छं दुःखकारणं । यथा कूटहिरण्यं धनमिति गृहीतं पश्चादपथ्यं निश्चयतो भवति । अभिमतद्रव्यग्रहणे अनुपायत्वात् । एवमियमपि बालगुरोरग्रे क्रियमाणालोचना अनुरूपप्रायश्चित्तप्राप्तावनुपायत्वादपथ्या । न हि ज्ञानबालः परस्मै योग्यं प्रायश्चित्तं दातुं क्षमते । यथा कार्यदुर्जने कृता मैत्री पश्चान्निश्चयतोऽपथ्यं भवत्येवं चारित्रबालगुरोरग्रे कृताऽऽलोचना प्रायश्चित्तालाभमूलानेकानर्थावहेति भावः ॥

अर्थ—जैसे कृत्रिम सुवर्ण धन समझकर ग्रहण किया परंतु कार्यकालमें उसका उपयोग नहीं होता है. अर्थात् बाजार में इच्छित वस्तु लेनेके लिये उसको बेचनेका विचार किया तो कोइ भी उसको स्वीकारेगा नहीं जिससे इच्छित वस्तु मिलना अशक्य होता है. वैसे बालमुनिके पास जाकर आलोचना करने पर भी दोपानुरूप प्रायश्चित्त नहीं मिलेगा. जिससे कर्मनिर्जरा होना असंभव है. जो ज्ञानबाल है वह योग्य प्रायश्चित्त नहीं दे सकता है. दुर्जन के साथ यदि मैत्री की तो वह जैसी प्रसंग पडनेपर दुःखदायक ही होती है. प्राणिसंयम अथवा इंद्रिय

संयम जो पूर्णतया पालन नहीं करता है उसके पास दोषोंकी आलोचना करनेसे उसके अनुरूप प्रायश्चित्त नहीं मिलता है और वह आलोचना अनेक अनर्थ को उत्पन्न करनेवाली होती है.

पासत्थो पासत्थस्स अणुगदो दुक्कडं परिकहेइ ॥
एसो त्ति मज्झसरिसो सव्वत्थवि दोससंचइओ ॥ ६०१ ॥

पार्श्वस्थानां निजं दोषं पार्श्वस्थो भाषते कुधीः ॥
निचितो निचितैर्दोषैरेषोऽपि सदृशो मया ॥ ६२६ ॥

विजयोदया—पासत्थो पासत्थस्स पार्श्वस्थः पार्श्वस्थमनुगतः । दुक्कडं परिकहेदि दुष्कृतं परिकथयति । एसो वि एषोऽपि । मज्झसरिसो मत्सदृशः । सव्वत्थ वि सर्वेष्वपि व्रतेषु दोससंचइओ दोषसंचयोद्यतः ।

तस्सेवीति दृष्टमालोचनादोषं गाथापंचकेन व्याचष्टे । तत्र तिसृभिस्तस्य लक्षणं द्वाभ्यां च क्षेपमाह—

मूलारा—पासत्थो उपलक्षणात्पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तमृगचरितानामेकतमः । अणुगदो विनीतः सन् । दुक्कडं दुश्चरितं स्वं । सव्वत्थ वि सर्वेष्वपि तेषु । दोससचयिगो दोषसचयनोद्यतः ।

अर्थ—पार्श्वस्थ मुनि पार्श्वस्थ मुनिके पास जाकर उसको अपने दोष कहता है. क्योंकि यह मुनि भी सर्व व्रतोंमें मेरे समान दोषोंसे भरा हुआ है ऐसा वह समझता है.

जाणादि मज्झ एसो सुहसीलत्तं च सव्वदोसे य ॥
तो एस मे ण दाहिदि पायच्छित्तं महल्लित्ति ॥ ६०२ ॥

जानीते मे यतः सर्वां सर्वदा सुखशीलताम् ॥
प्रायश्चित्तं ततो नैष महद्दास्यति निश्चितम् ॥ ६२७ ॥

विजयोदया—एसो मज्झ सुहसीलत्त जाणादि एष मम सुखासहत्त्वं वेत्ति। सव्वदोसे य जानाति सर्वदोषांश्च। तो तस्मात् । एस मे न दाहिदि एष मे न दास्यति । महल्ल पायच्छित्तत्ति महत्प्रायश्चित्तमिति मत्वा कथयतीति संबंध ॥

मूलारा—सुहसीलत्तं सुखासहत्त्वं । महल्लत्ति महदिति परिकथयतीति संबंध ।

अर्थ—यह मुनि मेरे सुखिया स्वभावको और व्रतोंके अतिचारोंको जानता है, इसका और मेरा आचरण समान है, इसलिये यह मेरेको बडा प्रायश्चित्त न देगा ऐसा विचार कर यह पार्श्वस्थ मुनि गुरूको अपने अतिचार कहता नहीं और समानशीलको अपने दोष बताता है.

आलोचिदं असेसं सव्वं एदं मणुत्ति जाणादि ॥
सो पवयणपडिकुद्धो दसमो आलोचणा दोसो ॥ ६०३ ॥

एतस्य कथने शुद्धिः सुव्रतो मे भविष्यति ॥
अयमालोचनादोषो दशमो गदितो जिनैः ॥ ६२८ ॥

विजयोदया—स्पष्टार्था।

मूलारा—मणुत्ति अयमिति भिन्नप्रक्रमः तेन जानातीति च मत्वा परिकथयतीति संबंधः। सो प्रागुक्तलक्षणः पवयणपडिकुद्धो आगमनिषिद्धः ॥

अर्थ—यह पार्श्वस्थ मुनि कहे हुए संपूर्ण अतिचारोंका स्वरूप जानता है ऐसा समझकर व्रतभ्रष्टोंसे प्रायश्चित्त लेना यह आगमनिषिद्ध दशवा तत्सेवी नामका दोष है.

उत्तरा गाथा—

जह कोइ लोहिदकयं वत्थं धोवेज्ज लोहिदेणेव ॥
ण य तं होदि विसुद्धं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ६०४ ॥

उक्तो दोषः सदोषस्य सदोषेण न नाश्यते ॥
रक्तरक्तं कुतो वस्त्रं रक्तेनैव विशोध्यते ॥ ६२९ ॥

विजयोदया—जह कोइ लोहिदकयं करोति क्रियासामान्यवाची इह लेपे वर्तते तेनायमर्थः—यथा कश्चिल्लोहितेन लिप्तं वस्त्रं। धोवेज्ज प्रक्षालयेत्। लोहिदेणेव लोहितेनैव। ण य तं हवदि विसुद्धं नैतद्भवति विशुद्धं। तधिमा सल्लुद्धरणसोधी आलोचनाशुद्धिः दोषं न निरस्यति। तद्विलक्षणं वस्तु यथा निर्मलजलं पंकं वस्त्रस्य न तु लोहितेन लिप्तं

वस्त्रं शोधयति तथाभूतमेव लोहितं । एवमतीचाराशुद्धिः अशुद्धरत्नत्रयोद्देशप्रवृत्तेः अशुद्धयालोचनया न निराक्रियते इति साधर्म्यनियोजना ॥

मूलारा—लोहिदकदं रुधिरेणालिप्तं । करोतेः क्रियासामान्यवाचित्वेन लेपनेऽपि वृत्त्यविरोधित्वात् । तधिमा स्वयं दुष्टेनान्यस्य दुष्टेर्निराकर्तुमशक्यत्वादिति सामर्थ्यम् ।

अर्थ--जैसे कोई मनुष्य रक्तसे भरा हुआ वस्त्र रक्तसे ही धोने लगजाय तो वह कभी विशुद्ध नहीं होगा अशुद्धही रहेगा वैसा यह आलोचना दोष है. अर्थात् यह दोष अतिचारोंसे आत्माको विशुद्ध नहीं बना सकेगा. रक्तसे उलटा पदार्थ पानी है. वह स्वयं स्वच्छ है अतः रक्तसे भरे वस्त्रको वह स्वच्छ करता है. अथवा वस्त्रको लगा हुआ कीचड धो डालता है. परंतु रक्त रक्तसे लिप्त हुए वस्त्रको कभी भी शुद्ध नहीं कर सकेगा. उसी तरह अशुद्ध रत्नत्रयवाला पार्श्वस्थ मुनि अशुद्ध रत्नत्रयवाले मुनिके अतिचारोंका निराकरण करनेमें समर्थ होता नहीं.

पवयणणिण्हवयाणं जह दुक्कडपावयं करेंताणं ॥
सिद्धिगमणमइदूरं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ६०५ ॥
जिनेशवाक्यप्रतिकूलचित्ता यथा विमुक्तिं दवयंति पूताम् ॥
तथा विशुद्धिं कुधियो वदंतो दोषाकुलानां निजदूषणानि ॥ ६३० ॥
इति तत्समः ॥

विजयोदया—पवयणणिह्नवयाणं जिनप्रणीतवचननिह्नवकारिणां । दुक्कडपावगं करेंताणं दुष्करपापकारिणां । जह सिद्धिगमणमइदूरं यथा सिद्धगमनमतिदुष्करं । तस्सेवी गर्द ॥

मूलारा—पवयणणिण्होदाणं आगमापन्होतॄणां । अदिदूरं अतिविप्रकृष्टं । अभव्यापेक्षया अनंतकालेनाप्यसंभवि ।

अर्थ—जो मुनि जिनेश्वरके कहे हुए आगमके वचनोंका लोप करते हैं और दुष्कर पाप करते हैं उनको मोक्ष की प्राप्ति जैसी अनंतकाल व्यतीत होनेपर भी होती नहीं वैसे जो शल्यसहित आलोचना करते हैं उनको मोक्षप्राप्ति अत्यंत दूर है.

सो दस वि तदो दोसे भयमायामोसमाणलज्जाओ ॥
णिज्जूहिय संसुद्धो करेदि आलोयणं विधिणा ॥ ६०६ ॥

हित्वा दोषान्दशापीति त्यक्तमायामदादिकः ॥
स विनीतमनाः सूरेरालोचयति यत्नतः ॥ ६३१ ॥

विजयोदया—सो क्षपकः । तदो ततः आलोचनया दुष्टया शुद्धेरभावात् । दोसे णिज्जूहिय दोषांस्त्यक्त्वा । दस वि दशापि । भयमायामोसमाणलज्जाओ भयमाया मनोगतां मृषा वचनगतां, मानं लज्जां च त्यक्त्वा संसुद्धो सम्यक् शुद्धः । विधिना आलोयणं करेदि । विधिना आलोचनां करोति ॥

एवमालोचनाया दश दोषान्व्याख्याय तस्यागं प्रकृते योजयन्नाह—

मूलारा—सो निर्यापकाचार्यपदमूलोपाश्रितः क्षपकः । तदो दुष्टालोचनाशुद्ध्यसामर्थ्यात् माया मनोवंचनां मोसं वाग्वंचनां, । णिज्जूहिय दोषान् भयादींश्च त्यक्त्वा ॥

अर्थ—इस लिये क्षपकमुनि आलोचनाके दस दोषोंका भी त्याग कर आलोचना करे. क्यों कि दूषित आलोचना आत्माको शुद्ध करनेमें असमर्थ है. भय, माया कपट, असत्य भाषण, गर्व, और लज्जा इनका भी त्याग कर शास्त्रोक्त विधीसे आलोचना करना क्षपकका कर्तव्य है.

कोऽसावालोचनाविधिरित्याशंक्याह—

णट्टचलवालियगिहिभासमूगदद्दुरसरं च मोत्तूण ॥
आलोचेदि विणीदो सम्मं गुरुणो अहिमुहत्थो ॥ ६०७ ॥

गृहस्थवचनं मुक्त्वामौनं च करनर्तनम् ॥
सम्यक्सुस्पष्टया वाचा वक्ति दोषान्गुरोःपुरः ॥ ६३२ ॥

विजयोदया—णट्टचलवलियगिहिभासमूगदद्दुरसरं च हस्तनर्तनं, भ्रूक्षेपं, चलनं गात्रस्य, वलितं, गृहिवचनं, मूकवत्संज्ञाकरणं, घर्घरस्वरं च मुक्त्वा आलोचेदि कथयति। विणीदो कृतांजलिपुटोऽवनतशिरस्कः । अद्दुदं अद्रुतं। अवि-लंबितं । स्पष्टं । गुरुणो अहिमुहत्थो गुरोरभिमुखः ॥

मूलारा—नट्ट हस्तनर्तनं । चल भ्रूक्षेपं देहकंपं च । वलिद गात्रमोटनं । मूग मूकवत्संज्ञाकरणं । दद्दुरसरं घर्घरस्वरं, उच्चैःस्वरं वा । विणीदो कृतांजलिपुटोऽवनतशिरस्को हस्तमात्रत्यक्तगुरुभूमिदेशश्च । अहिमुहत्थो गुरोर्वामपार्श्वाश्रयेण अभिमुखं गवासेनेनोपविष्टः । उक्तं च—

मूकसंज्ञागवलने भ्रूक्षेपं हस्तनर्तनं । गृहिणां वचनं चैव तथा शब्दं च घर्घरं ॥ १ ॥ विनुत्याभिमुखं स्थित्वा गुरुणा गुणधारिणां ॥ स्वापराध समाचष्टे विनयेन समन्वितः ॥ २ ॥

अर्थ—हाथोंका अभिनय करना, भौंहोंको ऊपर उठाना, शरीर हिलाना, शरीरको मूडना, गृहस्थके समान उद्धत भाषण करना, गुंगेके समान संज्ञा करना, घर्घर स्वरसे बोलना, इत्यादि दोषोंका त्याग कर आलोचना करनी चाहिये. अर्थात् नम्रता पूर्वक हाथ जोडना, मस्तक नम्र करना, अति शीघ्र अथवा अतिविलंबका त्याग कर गुरुके तरफ अपना मुह करके आलोचना करनी चाहिये. एक हाथके अंतर पर गवासनसे बैठकर आलोचना करनी चाहिए.

पुढविदगागणिपवणे य बीयपत्तेयणंतकाए य ॥
विगतिगचदुपंचिंदियसंचारंभे अणेयविहे ॥ ६०८ ॥

एकद्वित्रिचतुःपंचहृषीकांगिविराधने ॥
असून्रतवचस्तेयमैथुनेग्रंथसेवने ॥ ६३३ ॥

विजयोदया—पुढविदगागणिपवणे य पृथिव्यामुदकेऽग्नौ पवने च । बीजपत्तेयणंतकाए य बीजे प्रत्येककाये वनस्पतौ । विगतिगचदुपंचेंदियसचारंभे द्वित्रिचतु पंचेंद्रियसत्वविषये चारंभे अणेगविधे अनेकप्रकारे । पृथिव्या भूक्तिकोपलशर्करासिकतालवणाभ्रकमित्यादिकायाः खननं, विलेखनं, दहनं, कुट्टनं इत्यादिक्रियारम्भः । उदककरकावश्याय तुषारादीनां अप्भेदानां पानं, स्नानमवगाहनं, तरणं हस्तेन, पादेन, गात्रेण वा मर्दनं इत्यादिकं । अग्नेर्ज्वालः, प्रदीप, उल्मुकं इत्याविकस्य तेजस. उपर्युदकस्य, पाषाणस्य, मृत्तिकायाः सिकताया वा प्रक्षेपणं, पाषाणकाष्ठादिभिर्हननं इत्यादिकं। झंझामंडलिकादौ वायौ घाति व्यजनेन, तालवृंतेन, शूर्पेण, चेलादिना वा समीरणोत्थापनादिक. वाते वाभिगमनं, बीजानां प्रत्येककायानां अनंतकायानां च वृक्षवल्लीगुल्मलतातृणपुष्पफलादीनां दहनं, छेदनं, मर्दनं, भंजनं, भक्षणमित्यादिकः । द्वीन्द्रियादीनां मारणं, छेदनं, ताडनं, बंधनं, रोधनमित्यादिकं ॥

आलोच्यं गाथाचतुष्टयेनालोचनाविधिविपयीकर्तुमाह—

मूलारा—पुढवि पृथिवीकायिकाः । अगणि तेजःकायिकाः पवयणे वातकायिकाः । बीज बीजभूता वनस्पतिकायिकाः । एवं पत्तेयं प्रत्येकांगाः । णंतकाये अनंतकायिकाः साधारणांगाः । विगेत्यादि द्वित्रिचतुःपंचेंद्रियसत्वानामारंभे विराधने । एतत्पृथिव्यादिभिरपि योज्यं । अणेयविधे अनेकप्रकारे । यथा हि-पृथिव्या मृत्तिकोपलशर्करासिकतालवणव-आदिकायाः खननविलेखनदहनकुट्टनभंजनादिक आरंभः । उदककरकावश्यायतुषारादीनामप्भेदानां पानस्नानावगाहन तरणहस्तादिमर्दनादिकः । अग्निज्वालाप्रदीपोल्मुकादिकस्य तेजसः उपर्युदकपाषाणमृत्तिकासिकतादिप्रक्षेपणपाषाण काष्ठादिहननादिकः । झंझामंडलिकादिवातस्य कपाटछत्रादिना प्रतिबंधः । व्यजनादिना वा तस्य करणं वातेनाभि-गमनमित्यादिको वायुभेदानां । वृक्षवल्लीलतागुल्मतृणपुष्पफलादीनां दहनछेदनताडनबंधरोधनादिकः ।

अर्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, हवा, बीज, अनंतकायिक वनस्पति, प्रत्येककाय वनस्पति, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, पंचेंद्रिय इन प्राणिओंका वध यदि मेरेसे हुआ होगा तो मैं उस की आलोचना करता हूं.

पृथिवीके अनेक प्रकार हैं- जैसे—मृत्तिका, पाषाण, शर्करा, वालुका, नमक, अभ्रक वगैरह पृथ्वीके भेद हैं. इत्यादिरूप पृथ्वीको खोदना, हलसे विदारण करना, जलाना, फोडना, मोडना इत्यादिरूप से मैंने उनका नाश किया होगा.

पानीके भी बहुत भेद हैं जैसे—पानी, बर्फ, ओस, हिमबिंदु वगैरह पानीके भेद हैं. इनका पान करना, स्नान करना, उसमें कूदकर स्नान करना, तीरना, हाथ, पांव, और शरीरसे मर्दन करना इत्यादिरूपसे मैंने उनका नाश किया है.

अग्निके ज्वाला, दीपक, उल्मुक इत्यादि भेद हैं. इनके ऊपर मैंने पाषाण, मृत्तिका अथवा वालुका फेंककर इनका नाश किया होगा. पाषाण और लकडी से उसको पीटा होगा. इत्यादिरूप आरंभ मैंने किया होगा.

वायुके झंझावात, मंडलिक ऐसे भेद हैं. जलवृष्टि सहित जो वायु बहती है उसको झंझावात कहते हैं. जो वर्तुलाकार भ्रमण करती है उसको मंडलिक वायु कहते हैं. इस प्रकार बहनेवाले वायु को मैंने पंखेसे, सूपसे और वस्त्रसे रोका होगा, उसको उत्पन्न किया होगा, वातके सम्मुख गमन किया होगा.

वनस्पती—बीज, अनंतकायिक, प्रत्येककायिक वृक्ष, वल्ली, छोटे छोटे पेडोंका समूह, लता, तृण, पुष्प, फल

वगैरह वनस्पति के भेद हैं. इनको मैंने जलाया है, तोडा है, छेदन किया है, मर्दन मोडना खाना वगैरहसे इनका मैंने आरंभ किया है,

द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, पंचेंद्रिय इन प्राणिओंका मैंने छेदन किया है. उनको बांधा है. रोका है और ताडन किया है इत्यादि रूप आरंभ मैंने किये हैं.

पिंडोवधिसेज्जाए गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे लिंगे ॥
तेणिक्कराइभत्ते मेहूणपरिग्गहे मोसे ॥ ६०९ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपसां प्रतिकूलने ॥
उद्गमोत्पादनाहारदूषणानां निषेवणे ॥ ६३४ ॥

विजयोदया — पिंडोवधिसेज्जाए पिंडे, उपकरणे, वसतौ च उद्गमोत्पादनैषणादानातिचारः । गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे लिंगो । गृहस्थानां भाजनेषु कुंभकरकशरावादिषु कस्यचिन्निक्षेपणं, तैर्वा कस्यचिदादानं चाद्यतिचारः। दुःप्रतिलेख्यत्वाच्छोधयितुमशक्यत्वाच्च पीठिकायामासंद्यां, खट्वायां, मंचे वा आसनं निषद्योच्यते । पीठिकादिष्वनेकच्छिद्रा-कुलासु दुःप्रेक्ष्याः प्राणिनो दुष्टादच नापकर्तुं शक्यंते । ततोऽहिंसाव्रतातिचारः । तथा चोक्तं — पीठिकासंदपलंके मंचयालये तथा । अणाचरिदमज्जाणं आसिदुं सइदं पि वा । गंभीरवासिणो पाणा दुप्पेक्खा दुव्विकिंचणा ॥ तम्हा दुप्पडिलेहं च वज्जए पढमव्वए ॥

उपवेशनं अथवा गोचरप्रविष्टस्य गृहेषु निषद्या कस्तत्र दोष इति चेत् ब्रह्मचर्यस्य विनाशः स्त्रीभिः सह संवासात् । असकृत्तदीयकुचतटबिंबाधरादिसमवलोकनाद्भोजनार्थिनां च विघ्नः । कथमिव यतिसमीपे भुजिक्रियां संपादयाम। अशुचि चेदं चेरकथमस्यामासंद्यां तु तावदमी इति क्रुध्यन्ति वा गृहस्थाः। किमर्थमयमत्र दाराणां मध्ये निषण्णो यति र्भुंक्ते न यातीति । स्नानमुद्वर्तनं, गात्रप्रक्षालनं च वाकुसमित्युच्यते । स्नानेन उष्णोदकेन शीतजलेन सौवीरकादिना वा विलस्था धात्रीक्षुद्रविवरस्थाः इतरेऽपि स्वल्पकायाः कुंथुपिपीलिकादयो वा नश्यंति। तथा चोक्तं —

सुहुमा संति पाणा खु पासेसु अ बिलेसु अ ।
सिण्हायंति यतो भिक्खू सिकट्ठेणोपपीडए ॥
ण सिण्हायंतो तम्हा ते सीदुसण्णोदगेण वि ।
जावजीव वदं घोरं अण्हाणगमधिट्ठिदं ॥

लोध्रगंधादिना उद्वर्तनं च नाचरंति । लिंगविकाशनक्रिया तु तात्स्थ्याल्लिंगशब्देनोच्यते । तेणिक्कारादिभत्ते

अदत्तादानं रात्रिभोजनं च। अदत्तादाने कृते तत्स्वामिनः प्राणापहार एव कृतो भवति। बहिश्चराः प्राणा धनानि प्राणभृतां राजानो दण्डयन्तीह। रात्रौ च भोजनं अनेकासंयममूलं। रात्रौ भ्रमणे षड्जीवनिकायबाधा। अयोग्यस्य प्रत्याख्यातस्य च भोजनं। दातृपरीक्षासमयं। करस्य, भाजनोच्छिष्टनिपतनदेशस्य, दायिकागमनमार्गस्य तस्यात्मनश्चावस्थानदेशस्य अपरीक्षा। मेहुणपरिग्गहे चेव मैथुन परिग्रहश्चैव। मोसे मृषा च॥

मूलारा—पिंडोवधिसेज्जाए आहारे उपकरणे वसतौ, वोद्गमादिरतिचार। गिहिमत्ता गृहिणाममत्रेषु भाजनेषु कुंभकरकशरावादिषु कस्यचिज्जलभस्मादिद्रव्यस्य निक्षेपणं तेभ्यो कस्यचिदादानं चारित्रातिचारः तेषां दुष्प्रतिलेखत्वात् शोधयितुमशक्यत्वाच्च। णिसेज्ज निषद्या पीठिकायां असंद्यां खट्वाया मंचके वा आसनमित्यर्थः। तेषु हि अनेकछिद्राकुलेषु प्राणिनो दुर्निरीक्ष्या दृष्टा वा नापनेतुं शक्येरन्। ततोऽहिंसाव्रतातिचाराः। अथवा गोचरप्रविष्टस्य गृहेषु प्रवेशनं निषद्या। तत्र हि ब्रह्मचर्यस्य विनाशः, स्त्रीभिः सह संवासात्। भोजनार्थिनां भुक्तिक्रियांतरायकरणादुद्वेगः क्रोधादिसंक्लेशः स्यात्। थाकुसे स्नानमुद्वर्तनं गात्रप्रक्षालनं च थाकुसमित्यभिधीयते तैर्हि भूमिरंध्रादिस्था स्वदेहस्थाश्च प्राणिनो विनश्यंति। लिंगे लिंगविकासविक्रिया तात्स्थ्याल्लिंगशब्देनोच्यते। तेणिक्क चौर्यं। रादिभत्ते रात्रिभोजने तद्धयतेऽनेकासंयममूलं षड्जीवनिकायवधात्। तत्कारिणां चायोग्यस्य प्रत्याख्यातस्य च भोजनं दातुः पात्रादिस्थापनप्रदेशदायकागमनमार्गस्वावस्थानदेशानां वाऽपरीक्षा।

अर्थ—पिंड-आहार, उपकरण और वसतिका इनका स्वीकार करते समय मेरेसे उद्गम, उत्पादन एषणा वगैरह दोष उत्पन्न हुए होंगे.

गृहस्थोंके भाजन अर्थात् कुंभ, घडा, करक-कमंडलु, शराव वगैरे पात्रोंमेंसे किसी पात्रमें कोई पदार्थ रक्खे होंगे अथवा किसीको दिये होंगे ये सब चारित्रातिचार हैं: क्यों कि ये पदार्थ अंदरसे स्वच्छ करना कठिन है. छोटी चौकी, वेत्रासन, खाट, पलंग इनके ऊपर बैठना इसको निषद्या कहते हैं-

चौकी वगैरह पदार्थोंमें अनेक छिद्र रहते हैं और उसमें जो प्राणी रहते हैं वे दीखते भी नहीं. यदि दीखें भी तो उनको निकाल नहीं सकते. इसलिए ऐसे चौकी वगैरह पदार्थोंपर बैठनेसे अहिंसाव्रतमें अतिचार उत्पन्न होते हैं. यही अभिप्राय अन्य ग्रंथोंमें भी कहा है—

अथवा आहारके लिये श्रावकके घरमें जाकर वहां बैठाना यह भी अयोग्य है. स्त्रियोंके साथ सहवास होनेसे ब्रह्मचर्यका नाश होता है. वारंवार स्त्रियोंके स्तन, अधरोष्ठ वगैरह अवयव देखनेसे कामज्वर उत्पन्न होता

है. जो भोजन करना चाहते हैं उनको भी विघ्न उपस्थित होता है. मुनि के सान्निध आहार लेनेमें उनको संकोच होता है अथवा उनको उद्वेग क्रोधादिक विकार उत्पन्न होते हैं. यह आसन अपवित्र है तो भी ये इसपर कैसे बैठते हैं ऐसा विचार मनमें उत्पन्न होनेसे ये कोपयुक्त होते हैं. ये यति स्त्रियोंके बीचमें क्यों बैठते हैं यहां से क्यों अपने स्थानपर जाते नहीं.

स्नान करना, उबटन लगाना, शरीरके अवयव धोना इन क्रियाओं को 'बाकुस' कहते हैं. ठंडे पानीसे अथवा उष्ण पानीसे, नेत्रमें अंजन लगाना, शरीरपर उबटन लगाना इन क्रियाओंसे शरीरपर रहनेवाले प्राणी मर जाते हैं तथा बिलमें रहने वाले प्राणी, जमीन के छोटे छोटे छिद्रों में रहने वाले चींटी वगैरे कृमि नष्ट होते हैं. इसलिये स्नान मुनिओंको निषिद्ध माना है. मुनिओंको आमरण यह घोर व्रत पालना चाहिये. आगमांतरमें भी यही अभिप्राय लिखा है.

लोध्र वगैरह सुगंधी पदार्थोंका उबटन शरीरपर मुनि नहीं लगाते हैं.

लिंग विकासनक्रियाको लिंग कहते हैं. इसका मुनित्याग करते हैं. न दिया हुआ पदार्थ लेना और रात्रि भोजन इनका मुनिओं को त्याग रहता है न दी हुई वस्तु लेना मानो उस वस्तुके मालिकका प्राण ही लेना है. धन प्राणीओंका बाह्य प्राण है. जो दुसरोंका धन हरण करते हैं राजा उसको दंडित करता है. रात्रौ भोजन करना अनेक असंयमों का मूल कारण है. रात्रमें भ्रमण करने से स्थावर और त्रस जीवों को बाधा पोहोंचती है. रात्रौ भोजन करने में अयोग्य पदार्थ, और त्यागा हुआ पदार्थ का भी सेवन होता है. रात्रकालमें दाताकी परीक्षा नहीं हो सकती है. रात्रौ अपने हस्तपुटसे भोजन करते समय जो अन्न नीचे जहां गिरता है वह भूप्रदेश, जहां अन्नकी थ्याली रखते हैं वह प्रदेश और दायक जहांसे आकर आहार देता है वह प्रदेश, आहार देते समय वह जहां खडा होता है वह प्रदेश और स्वयं मुनि जहां खडे हुए हैं वह प्रदेश ये जीवोंसे रहित हैं या सहित हैं इनका निर्णय रातमें नहीं होता है. इस वास्ते रात्रौ आहार लेना योग्य नहीं है. मैथुन करना, परिग्रह रखना, झूट बोलना इनका मुनि त्याग करते हैं.

णाणे दंसणतववीरिये य मणवयणकायजोगेहिं ॥
कदकारिदेणुमोदे आदपरपओगकरेण य ॥ ६१० ॥

विजयोदया—णाणे ज्ञाने। दंसणतववीरिए श्रद्धायां तपसि वीर्ये च योऽतिचारः। मणवयणकायजोगेहिं मनोवाक्कायक्रियाभिः। मनसा सम्यग्ज्ञानस्यावज्ञा, किमनेन ज्ञानेन, तपश्चारित्रमेव फलदाय्यनुष्ठेयमिति। सम्यग्ज्ञानस्य वा मिथ्याज्ञानमिदमिति दूषणं। मनसा वाचा कायेन वा स्वारुचिप्रकाशनं, मुखवैवर्ण्येन नैतदेवमिति शिरःकंपनेन वा। शंकाकांक्षादि दर्शनेऽतिचारः। तपस्यसंयमः। वीर्ये स्वशक्तिगूहनं। स चातीचारः सर्वस्त्रिप्रकार इति कथयति। कदकारिदे अणुमोदे कृत, कारितोऽनुमतश्च। आदपरपओगकरणे य आत्मनैव कृत, कारितोऽनुमतश्च, परप्रयोगक्रियया कृतः कारितोऽनुमतो वा॥

मूलारा—णाणे इत्यादि। सम्यग्ज्ञानस्य किमनेन तपश्चारित्रमेवाभिमतफलदाय्यनुष्ठेयमिति मनसावज्ञा, मिथ्याज्ञानमिदमिति वाचा, कायेन च मुखवैवर्ण्येनारुचिप्रकाशनं। शिरःकंपनेन नैतदेवमिति वातिचारः। दर्शनादीनां च प्रागुक्ता एव। आदपरपओगकरणे आत्मना परेण वा कृतः कारितोऽनुमतश्च॥

अर्थ—ज्ञान, दर्शन, तप और वीर्य इनमें मन, वचन और शरीरसे और कृत, कारित, अनुमोदनसे अतिचार उत्पन्न हुए हों तो उनकी आलोचना करता हूं. मनके द्वारा सम्यग्ज्ञानकी अवज्ञा करना, सम्यग्ज्ञानकी क्या जरूरत है, तप और चारित्रही फलदायक है. उनका ही आश्रय करना चाहिये. अथवा सम्यग्ज्ञानको यह मिथ्याज्ञान है ऐसा दूषण लगाना. मनसे, वचनसे और शरीरसे सम्यग्ज्ञानके विषयमें अरुचि प्रगट करना, मुंह मोडकर अथवा मस्तक हिलाकर यह सम्यग्ज्ञान नहीं है ऐसा प्रगट करना. शंका, कांक्षा वगैरह सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं.

तपश्चरण करते समय असंयमरूप प्रवृत्ति करना, तपका अतिचार है. अपनी शक्ति छिपाना वीर्यका अतिचार है ये अतिचार कृत, कारित और अनुमोदित ऐसे तीन प्रकारके हैं. स्वयं करना, स्वयं कराना और अनुमोदन देना अथवा परप्रयोग क्रियासे भी करना, कराना, और अनुमोदन देना ऐसे तीन प्रकार हैं.

अद्धाण रोहगे जणवए य रादो दिवा सिवे ऊमे ॥
दप्पादिसमावण्णे उद्धरदि कमं अभिंदंतो ॥ ६११ ॥

दुर्भिक्षे मरके मार्गे वैरिचौरादिरोधने ॥
योऽपराधो भवेत्कश्चिन्मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ ६३५ ॥

सर्वदोषक्षयाकांक्षी संसारभ्रमभीलुकः ॥
आलोचयति तं सर्वं क्रमतः पुरतो गुरोः ॥ ६३६ ॥

विजयोदया—अद्धाण रोहगे जणवदे गस्यावस्थिते जनपदे यावन्तो मार्गास्तेषां रोधके परचक्रे जाते यदि निस्सर्तुं न लभते संक्लिष्टा भिक्षा चर्या तत्र अयोग्यस्य सेवा कृता आत्मना तमपि कथयति। रादो दिवा रात्रौ अयमतिचारो जातो दिवसे इति या कथनं । मार्यां उपद्रुते संघे विद्यया मंत्रेण वा तन्निषेधनायामयमतिचारो जात इति वा। दुर्भिक्षे वा महति अवमोदर्यभंगेन यदात्मना सेवितं,अन्ये वाऽयोग्यभिक्षाग्रहणे इत्थं प्रवर्तिता इति वा कथनं। दप्पादिसमायण्णे दर्पादिभिः समापन्नः ॥

मूलारा—अद्धाण रोधगे जणवदे। जनपदे देशे। यावंतोऽध्वानो मार्गास्तेषां परचक्रे रोधके परचक्रे प्रवृत्ते नि सर्तुमलभमानस्य साधोर्या पारवश्येन संक्लिष्टा भिक्षाचर्या संजाता अयोग्यसेवा वा आत्मना कृता तामप्युद्धरतीति संबंध। रादो दिवा रात्रौ दिवा वा योऽतिचारो जातः। आसिवे मार्यामुपद्रवे संघस्य विद्यामंत्रादिना तत्प्रतिकारे योऽतिचारः। ऊमे दुर्भिक्षे अयोग्यसेवनादिना योऽतिचारोऽन्यो वा तादृक्। दप्पादिसमावण्णे दर्पादिभिः सांमुख्येन आवण्णो प्राप्तस्तं सर्वं उद्धरति गुरोरग्रे कथयति। किं कुर्वन् ? कमं अभिंदंतो देशक्रमं कालक्रमं चानतिक्रामन् ॥

अर्थ—देशमें बाहर जानेके अथवा प्रवेश करनेके जितने मार्ग हैं वे शत्रुसैन्यके द्वारा रोके जानेपर वहांसे निकलना अशक्य हो जाता है. उस समय भिक्षा मिलना कठिन हो जानेसे परिणामोंमें संक्लेश पैदा होता है. कदाचित् ऐसे समयपर अयोग्य पदार्थका सेवन होता है. आलोचनाके समयमें इन सब बातोंका क्षपकको खुलासा करना योग्य है. अमुक अतिचार रातमें हुआ था अमुक अतिचार दिनमें हुआ था यह भी कथन करना चाहिये.

मारी रोगसे संघ पीडित होने पर विद्या और मंत्रके द्वारा उसका निराकारण करते समय जो अतिचार हुआ होगा वह भी कहना चाहिये. यदि महादुष्कालके समयमें अवमोदर्य तपमें अतिचार लगा हो अथवा अयोग्य भक्षण किया हो वह भी निवेदन करना चाहिये इतर मुनिओंने भी दुष्कालमें अयोग्य सेवन किया होगा तो वह कहना चाहिये. दर्प, प्रमाद वगैरहसे जो अतिचार होते हैं उनका भी कथन करना चाहिये.

दप्पपमादअणाभोगआपगा आदुरे य तित्तिणिदा ॥
संकिदसहसाकारे य भयपदोसे य मीमंसं ॥ ६१२ ॥

अण्णाणणेहगारव अणप्पवसअलस उपधि सुमिणंते ।
पलिकुंचणं ससोधी करेंति वीसंतवे भेदे ॥ ६१३ ॥

विजयोदया — इति दर्पादिः । अत्र दर्पोऽनेकप्रकारः । क्रीडासंघर्षः, व्यायामकुहकं, रसायनसेवा, हास्यं, गीतशृंगारवचनं, प्लवनमित्यादिको दर्पः । प्रमादः पंचविधः । विकथाः, कषाया, इंद्रियविषयासक्तता, निद्रा, प्रणयश्चेति । अथवा प्रमादो नाम संक्लिष्टहस्तकर्म, कुशीलानुवृत्तिः, बाह्यशास्त्रशिक्षणं, काव्यकरणं, समितिष्वनुपयुक्तता । छेदनं भेदनं, पेषणमभिघातो, व्यधनं, खननं, बंधनं, स्फाटनं, प्रक्षालनं, रंजनं, वेष्टनं, ग्रथनं, पूरणं, समुदायकरणं, लेपनं, क्षेपणं आलेखनमित्यादिकं संक्लिष्टहस्तकर्म, स्त्रीपुरुषलक्षणं निमित्तं, ज्योतिर्ज्ञानं, छंदः, अर्थशास्त्रं, वैद्यं, लौकिकवैदिकसमयाश्च बाह्यशास्त्राणि । उपयुक्तोऽपि सम्यगतीचारं न वेत्ति सोऽनाभोगकृतः, व्याक्षिप्तचेतसा वा कृतः । नदीपूरः, अभ्युत्थापनं, महावातापातः, वर्षाभिघातः, परचक्ररोध इत्यादिका आपाताः। रोगार्तः, शोकार्तो, वेदनार्त इत्यार्तता त्रिविधा । रसासक्तता मुखरता चेति द्विप्रकारता तिंतिणदा शब्दवाच्या । सचित्तं किमचित्तमिति शंकिते द्रव्ये भंजनभेदनभक्षणादिभिराहारस्योपकरणस्य. वसतेर्वा उद्गमादिदोषोपहतिरस्ति न वेति शंकायामप्युपादानं । अशुभस्य मनसो वाचो वा झटिति प्रवृत्तिः सहसेत्युच्यते ॥

एकांतायां वसतौ व्यालमृगव्याघ्रादयस्तेना वा प्रविशन्ति इति भयेन द्वारस्थगने जातोऽतिचारस्तीव्रकषायपरिणामः प्रदोष इत्युच्यते उदकराज्यादिसमानतया प्रत्येकं चतुर्विकल्पाश्चत्वारः कषायाः । आत्मनः परस्य वा बलबाधादिपरीक्षा मीमांसा तत्र जातोऽतिचारः । प्रसारितकराकुंचितम् । आकुंचितकरप्रसारणं । धनुपाद्यारोपणं । उपलाद्युत्क्षेपणं, बाधनं, वृतिकंटकाद्युल्लंघनं, पशुसर्पादीनां मंत्रपरीक्षणार्थं धारणं, औषधवीर्यपरीक्षणार्थमंजनस्य, चूर्णस्य वा प्रयोगः, द्रव्यसंयोजनया त्रसानामेकेन्द्रियाणां च संमूर्च्छना परीक्षा । आज्ञानामाचरणं दृष्ट्वा स्वयमपि तथा चरति तत्र दोषानभिज्ञः । अथवाऽज्ञानिनोपनीतमुद्गमादिदोषोपहतं उपकरणादिकं सेवते इति अज्ञानात्प्रवृत्तोऽतीचारः । शरीरे, उपकरणे, वसतौ, कुले, ग्रामे, नगरे, देशे, बंधुषु, पार्श्वस्थेषु वा ममेदंभावः स्नेहस्तेन प्रवर्तित आचारः । मम शरीरमिदं शीतो वातो बाधयति, कटादिभिरंतर्धानं, अग्निसेवा, ग्रीष्मातपनोदनार्थं प्रावरणग्रहणं वा, उद्वर्तनं, वा। उपकरणं विनश्यतीति तेन सकार्यीकरणं यथा पिच्छविनाशभयादप्रमार्जनं इत्यादिकं । म्रक्षणं, तैलादिना कमंडल्वादीनां प्रक्षालनं वा, वसतितृणादिभक्षणस्य भंजनादेर्वा ममतया निवारणं, बहूनां यतीनां प्रवेशने मदीयं कुलं न सहते इति भाषणं, प्रवेशे कोपः, बहूनां न दातव्यमिति निषेधनं, कुलस्यैव वैयावृत्यकरणं । निमित्ताद्युपदेशश्च तत्र ममतया ग्रामे नगरे देशे वा अवस्थाना निषेधनं। यतीनां संबंधिनां सुखेन सुखमात्मनो दुःखेन दुःखमित्यादिरतिचारः। पार्श्वस्थानां वंदना, उपकरणादिदानं वा तदुल्लंघनासमर्थता गुरुता ऋद्धित्यागासहता. ऋद्धिगौरवं. परिवारे कृतादरः। परकीयमात्मसात्करोति प्रियवचनेन उपकरण-

भक्ता मगनतया प्रवर्तितातिचारः। उन्मादेन, पित्तेन पिशाचादिना वा परवशता। अथवा ज्ञातिभिः परिगृहीतस्य बलात्कारेण गंधमाल्यादिना प्रत्याख्यानभोजनं, सुगन्धताम्बूलादिभक्षणं वा स्त्रीभिर्नपुंसकैर्वा बलाद्ब्रह्मभंगकरणं। चतुर्षु स्वाध्यायेषु आवश्यकेषु वा आलस्यं। उपधिशब्देन मायोच्यते प्रच्छन्नमनाचारे वृत्तिः। ज्ञात्वा दातृकुलं पूर्वमन्येभ्यः प्रवेशः। कार्यान्तरेषु वा भाल्यं। ... मदकं भुक्त्वा विरसमशनं भुक्तमिति कथनं। ग्लानस्याचार्यादेर्वा वैयावृत्त्यं करिष्यामि इति गृहीत्वा स्वयं तस्य सेवनम्। स्वप्ने वाऽयोग्यसेवा सुमिणमित्युच्यते। द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयेण प्रवृत्तस्यातिचारस्यान्यथा कथनं पलिकुंचनशब्देनोच्यते। कथं ? सचित्तसेवां कृत्वा अचित्तं सेवितमिति। अचित्तं सेवित्वा सचित्तं सेवितमिति वदति। तथा स्वावस्थाने कृतमध्वनि कृतमिति, सुभिक्षे कृतं दुर्भिक्षे कृतमिति, दिवसे कृतं रात्रौ कृतमिति, अल्पपरिणामतया संपादितं तीव्रक्रोधादिना संपादितमिति। यथावत्कृतालोचनो यतिर्यावत्सूरिः प्रायश्चित्तं प्रयच्छति तावत्स्वयमेवेदं मम प्रायश्चित्तं इति स्वयं गृह्णाति स स्वयं शोधकः। एवं मया स्वशुद्धिरनुष्ठितेति निवेदनं। परमेतैः पार्श्वस्थैः समाचरितोऽतिचारः उल्लंघ्य कथयति। कथं स्वकुलातिचारकर्म। आभिर्दत्तो अनिराकुर्वन् ॥

दर्पादयो विशतिरतिचारकारणविकल्पा यथागमं निर्दिश्यन्ते। तथाहि—

मूलारा—१ तत्र दर्पोऽनेकप्रकारः। क्रीडासंघर्षो व्यायामः, कुहकं, रसायनसेवा, हास्यं गीतशृंगारो, धावनं, प्लवनमित्यादिकः। प्रमादः पंचधा विकथा, कषायाः इंद्रियविषयासक्तता, निद्रा, प्रणय इति। अथवा संक्लिष्टहस्तकर्म, कुशीलानुवृत्तिः, सामुद्रिकनिमित्तज्योतिषवैद्यकछंदोऽर्थशास्त्रवैदिकलौकिकसमयमंत्रवादादिपापशास्त्रशिक्षणं, काव्यकरणं, समितिष्व-नुपयुक्तता, छेदनं, भेदनं, पेषणमभिघातो, व्यधनं, खननं, बंधनं, सीवनं, प्रक्षालनं, रंजनं, वेष्टनं, ग्रथनं, पूरणं, समुदायकरणं, लेपनं, क्षेपनं, आलेखनं इत्यादिकोऽनेकप्रकारः प्रमादः। अनाभोग उपयुक्तस्यापि अतिचाराणां सम्यगनवबोधः। आपगा आपगापूरवन्यत्यानां महावातावातवर्षाभिघातपरचक्ररोधाद्युपसर्गः। आतुरत्वं रोगशोकवेदनाभेदात्त्रेधा। तिंतिणिता त्रेधा रसासक्तता मुग्धता चेति। ७ पिच्छाद्युपयोगिद्रव्ये किमिदं सचित्तमुताचित्तमिति संदेहे सत्यपि वर्जनभेदनव्यापारकरणं। पिंडादेर्वा किमस्त्युद्गमादिदोषोपहतिरस्ति न वेति शंकायामप्युपादानं। ८ सहसाकारोऽशुभस्य मनसो वाचो वा झटिति प्रवृत्तिः॥ ९ भयं वर्षाकाले वसतौ स्तेनव्यालादिरत्र प्रवेक्ष्यतीति द्वारस्थगनम्। १० प्रद्वेषस्तीव्रसंज्वलनकषायपरिणामः॥ ११ मीमांसा स्वस्य परस्य वा बललाघवादिपरीक्षा। अथवा प्रसारितस्य करस्याकुंचनं, आकुंचितस्य वा प्रसारणं, धनुरारोपणं, उपलाद्युत्क्षेपणविक्षेपणधावनं, वृतिकंटकाद्युल्लंघनं, पशुसर्पादीनां मंत्रपरीक्षणावधारणं, औषधीवीर्यपरीक्षणार्थमंजनस्य वा प्रयोगः, द्रव्यसंयोजनया त्रसानामेकेंद्रियाणां वा सम्मूर्च्छनपरीक्षा।

१२ अज्ञानां आचरणदर्शनाद्यथाचरणं, अज्ञानिना उपनीतस्य उद्गमादिदोषदुष्टस्य उपकरणादेः सेवनं वा॥ १३

स्नेहो देहोपधिग्रमविकुलग्रामनगरदेशबंधुपार्श्वस्थेषु ममत्वपरिणामः। तेन ममेदं शरीरं शीतादिना बाध्यते इति कटाद्यंतर्धानाभिसेवनप्रावरणग्रहणम्रक्षणोद्वर्तनाद्युपचारोऽतिचारः। तथा ममोपकरणं विनश्यति इति पिंछविनाशभयादप्रमार्जनम्। बहूनां यतीनां प्रवेशनं मकमंडल्वादीनां प्रक्षालनं, तैलादिना वा म्रक्षणं, वसतेस्तृणाद्यपसारणं भंजनादिनिवारणं वा। तदुल्लंघनासमर्थना वा॥ १४ गारवं दीर्घं कुलं न सहते इति भाषणं वा। प्रवेशे पार्श्वस्थादीनां वंदनोपकरणादिदानं वा। ऋद्धिरससातासक्तिः तेन परिवारे लोभात्परकीयस्य प्रियवचनादीनां आत्मसात्करणं वा, गंधमाल्यतांबूलादिसेवनं, अनिष्टरसत्यागेष्टरसादरौ, यथेष्टभोजनशयनादितत्परत्वं च। १५ अनात्मवशत्वं—उन्मादपित्तप्रकोपपिशाचावेशादिना पारतंत्र्यं, स्त्रीभिर्नपुंसकैर्वा बलान्मैथुनप्रवर्तनं ज्ञातिबलात्कारेण वा गंधमाल्यतांबूलादिसेवनं, प्रत्याख्यातभोजनं, रात्रिभोजनं वा। १६ आलस्यं स्वाध्यायावश्यकेष्वनुत्साहः। १७ उपधिर्मायाप्रयोगः, प्रच्छन्नमनाचारे प्रवृत्तिः, प्रदातृगृहं ज्ञात्वा वा अन्येभ्यः पूर्वं तत्र प्रवेशः कार्यापदेशेन यथा परे न जानन्ति तथा। भद्रकं भुक्त्वा विरसमशनं भुक्तं इति कथनं। १८ स्वप्नांतः सुप्तस्यायोग्यसेवनं। १९ पलिग्लानस्याचार्यादेर्वैयावृत्यं करिष्यामीति किंचिद्गृहीत्वा स्वयं तस्य सेवा। कुंचनं द्रव्यादिविपर्ययेणातिचारकथनम्। यथा सचित्तं सेवित्वा अचित्तं सेवितमिति वक्ति। स्वावस्थाने कृतं मार्गे कृतमिति। सुभिक्षे कृतं दुर्भिक्षे कृतमिति। दिवा कृतं रात्रौ कृतमिति वा। तीव्रक्रोधादिकृतं मंदक्रोधादिकृतमिति वा। २० स्वयंशुद्धिः—अकृतालोचनेन यतिना यावत्सूरिः प्रायश्चित्तं ददाति तावदिदं मे प्रायश्चित्तं इति स्वयमेव तद्गृहीत्वा एवं मया स्वशुद्धिरनुष्ठितेति निवेदनम्। उक्तं च—

एकद्वित्रिचतुःपंचहृषीकांगिविराधने ॥
असूनृतवचःस्तेयमैथुनग्रंथसेवने ॥
दर्शनज्ञानचारित्रतपसां प्रतिकूलने ॥
उद्गमोत्पादनाहारदूषणानां निषेवणे ॥
दुर्भिक्षे मरके मार्गे वैरिचौरनिरोधने ॥
योऽपराधोऽभवत्कश्चिन्मनोवाक्कायकर्मभिः ॥
सर्वदोषक्षयाकांक्षी संसारभ्रमभीलुकः ॥
आलोचयति तं सर्वं क्रमतः पुरतो गुरोः ॥

अर्थ—दर्पके अनेक प्रकार हैं. क्रीडामें स्पर्द्धा, व्यायाम, कपट, रसायनसेवा, हास्य, गीत और शृंगार-मनन, दौडना और कूदना ये दर्पके प्रकार हैं. प्रमादके पांच प्रकार हैं—विकथा, कषाय, इंद्रियोंके विषयोंमें आसक्ति, निद्रा और स्नेह. अथवा संक्लिष्ट हस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति, बाह्यशास्त्र, काव्यकरण, और समिति में उपयोग न देना ऐसे भी प्रमाद के पांच प्रकार है

छेदन करना, भेदन करना, पीसना, आघात करना, चुभना, खोदना, बांधना, फाडना, धोना, रंगाना वेष्टन करना, गूंथना, पूर्ण करना, एकत्र करना, लेपन करना, फेकना, चित्र बनाना इत्यादि कार्यको संक्लिष्ट हस्त कर्म कहते हैं.

स्त्री पुरुषके लक्षणोंका वर्णन करने वाले शास्त्रको निमित्त शास्त्र कहते हैं. ज्योतिर्ज्ञान, छंदःशास्त्र, अर्थ-शास्त्र, वैद्यकशास्त्र, लौकिकशास्त्र, मंत्रवाद इत्यादि शास्त्रोंको बाह्यशास्त्र कहते हैं.

उपयोग देकर भी जिसमें अतिचारोंका सम्यग्ज्ञान नहीं होता है उसको अनाभोगकृत अतिचार कहते हैं. अथवा मन दूसरे तरफ लगनेपर जो अतिचार होता है वह भी अनाभोग कृत है.

नदीपूर, अग्नि लगना, महावायु बहना, वृष्टि होना, शत्रुके सैन्यासे घिरजाना, इत्यादिक कारणों से होनेवाले अतिचारोंको आपात अतिचार कहते हैं.

रोगसे पीडित होना, शोकसे दुःखित होना, वेदनासे व्यथित होना, ऐसे आर्तताके तीन प्रकार हैं इस से होनेवाले अतिचारोंको आर्ततातिचार कहते हैं.

रसमें आसक्त होना और बहुत बडबड करना इस कार्यको तिंतिणदा अतिचार कहते हैं.

शंकित—पिच्छिका वगैरे उपयोगी द्रव्योंमें ये सचित्त हैं या अचित्त हैं ऐसी शंका उत्पन्न होनेपर भी मोडना, फोडना, भक्षण करना, आहार और उपकरण और वसतिका ये पदार्थ उद्गमादिदोष रहित हैं अथवा नहीं है ऐसी शंका आनेपर भी उनको स्वीकारना यह शंकितातिचार है.

सहसा—अशुभवचनमें और अशुभ विचारोंमें वचनकी और मनकी तत्काल अविचारपूर्वक प्रवृत्ति होना इसको सहसातिचार कहना चाहिये.

भयातिचार—एकान्त स्थानमें वसतिका होनेसे सर्प, दुष्ट पशु, वाघ वगैरह प्राणी प्रवेश करेंगे इस भयसे वसतिकाके द्वार बंद करना.

प्रदोष—संज्वलन कषायोंका तीव्र परिणमन होना अर्थात् उनका तीव्र उदय होना. पानीके ऊपरकी लकीर, धूलिके ऊपरकी लकीर, जमीनके ऊपरकी लकीर, और पत्थर पर उकीरी हुई लकीर इन के समान क्रोधके चार प्रकार हैं. इस प्रकारसे मान, माया, लोभके भी दृष्टांत शास्त्रांतरसे समझ लेना चाहिये. इनसे होनेवाले अतिचारों को प्रदोषातिचार कहते हैं.

मीमांसा—अपना बल और दूसरेका बल इसमें कम और ज्यादा किसका है इसकी परीक्षा करना इससे होनेवाले अतिचारको मीमांसातिचार कहते हैं.

फैले हुए हाथको समेट लेना, संकुचित हाथको फैलाना धनुषको दोरी लगाकर सज्ज करना, पत्थर फेकना, माटीका ढेला फेकना, बाधा देना, मर्यादा–बाडको उल्लंघना, कंटकादिकोंको लांघकर गमन करना पशु, सर्प वगैरह प्राणिओंको मंत्र की परीक्षा करनेके लये पकडना, और सामर्थ्यकी परीक्षा करनेके लिये अंजन और चूर्णका प्रयोग करना. द्रव्योंको संयोग कर त्रस और एकेंद्रियों की उत्पत्ति होती है या नहीं इसकी परीक्षा करना इन कृत्योंको परीक्षा कहते हैं. ऐसे कृत्य करनेसे व्रतोंमें दोष उत्पन्न होते हैं.

अज्ञानातिचार—अज्ञ जीवोंका आचरण देखकर स्वयं भी वैसा आचरण करना, उसमें क्या दोष है इसका ज्ञान न होना, अथवा अज्ञानीके लाये, उद्गमादि दोषोंसे सहित ऐसे उपकरणादिकों का सेवन करना ऐसे अज्ञानसे अतिचार उत्पन्न होते हैं.

शरीर, उपकरण, वसतिका, कुल, गांव, नगर देश, बंधु और पार्श्वस्थमुनि इनमें ये मेरे हैं ऐसा भाव उत्पन्न होना इसको स्नेह कहते हैं. इससे उत्पन्न हुए दोषोंको स्नेहातिचार कहते हैं. यह ठंडी हवा मेरे शरीरको पीडा देती है ऐसा विचारकर चटाईसे उसको ढकना, अग्नीका सेवन करना, ग्रीष्म ऋतुका ताप मिटानेके लिये वस्त्रग्रहण करना, उवटन लगाना, साफ करना, तैलादिकोंसे कमंडलु वगैरह पदार्थ स्वच्छ करना, धोना. उपकरण नष्ट होगा इस भयसे उसको अपने उपयोगमें न लाना, जैसे पिच्छिका झड जायगी इस भयसे उससे जमीन, शरीर, पुस्तकादिक साफ न करना. इत्यादिक अतिचारोंको उपचारातिचार यह संज्ञा है.

वसतिका का तृण कोई पशु खाता होगा तो उसका निवारण करना, वसतिका भग्न होती हो तो उसका निवारण करना, यहांतसे यति मेरी वसतिका में नहीं ठहर सकते हैं ऐसा भाषण करना, बहुत मुनि प्रवेश करेंगे

लगे तो उनपर क्रुद्ध होना, बहुत यतिओं को वसतिका मत दो ऐसा कहना, वसतिका की सेवा करना अथवा अपने कुलके मुनिओं की सेवा करना, निमित्तादिकों का उपदेश देना, ममत्वसे ग्राममें, नगरमें अथवा देशमें रहनेका निषेध न करना, अपने संबंधि यतिओं के सुखसे अपने को सुखी समझना और उनको दुःख होनेमें अपने को दुःखी समझना. पार्श्वस्थादि मुनिओंकी वंदना करना, उनको उपकरणादिक देना, उनका उल्लंघन करने में सामर्थ्य न रखना. इत्यादि कृत्योंमें जो दोष होते हैं उनकी आलोचना करनी चाहिये.

ऋद्धिका त्याग करनेमें असमर्थ होना, ऋद्धि में गौरव समझना, परिवारमें आदर रखना, प्रियभाषण करके और उपकरण देकर परकीय वस्तु अपने वश करना इसको ऋद्धिगौरव कहते हैं. इष्टरसका त्याग न करना, अनिष्ट रसमें अनादर रखना, इसको रसगौरव कहते हैं. अतिशय भोजन करना, अतिशय सोना इसको सातगौरव कहते हैं. इन दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये.

परके वश होनेसे जो अतिचार होते हैं उनका विवेचन इस प्रकार है—उन्माद, पित्त, पिशाच इत्यादि कारणोंसे परवश होनेमें अतिचार होते हैं. अथवा ज्ञातिके लोकोंसे पकडनेपर बलात्कारसे इत्र, पुष्प वगैरहका सेवन किया जाना, त्यागे हुए पदार्थोंका भक्षण करना, रात्रिभोजन करना, मुखको सुगंधित करनेवाला पदार्थ, तांबूल वगैरह भक्षण करना, स्त्री अथवा नपुंसकोंके द्वारा बलात्कारसे ब्रह्मचर्यका विनाश होना, ऐसे कार्य परवशतासे होनेसे अतिचार लगते हैं. पृच्छना, अनुप्रेक्षा वगैरह चार प्रकारके स्वाध्याय और अवश्यक क्रियाओंमें अनादर आलस्य करना, इनकी आलोचना करना क्षपकका कर्तव्य है.

अनिधि शब्दका अर्थ माया होता है. गुप्त रीतीसे अनाचारमें प्रवृत्ति करना, दाताके घरका शोध करके अन्य मुनि जानेके पूर्वमें वहां आहारार्थ प्रवेश करना, अथवा किसी कार्यके निमित्तसे दुसरे नहीं जानसके इस प्रकारसे प्रवेश करना, मिष्ट पदार्थ खानेको मिलने पर मेरेको विरस अन्न खानेको मिला ऐसा कहना. रोगी मुनिका किंवा आचार्यका वैयावृत्त्य करनेके लिये श्रावकोंसे कुछ चीज मांगकर उसका स्वयं उपयोग करना. ऐसे दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये.

स्वप्नमें अयोग्य पदार्थका सेवन होना उसको 'सुमिण' कहते हैं. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयसे जो अतिचार हुए हो उनका अन्यथा कथन करना उसको 'पलिकुंचन' कहते हैं. जैसे सचित्त पदा-

धैका सेवन करके अचित्तका सवने किया ऐसा कहना. अचित्तका सेवन कर सचित्तका सेवन किया ऐसा कहना. वसतिकामें कोई कृत्य किया हो तो मैंने वह कार्य रास्तेमें किया ऐसा कहना सुभिक्षमें किया हुआ कृत्य दुर्भिक्षमें कियाथा ऐसा बोलना. दिनमें कोई कृत्य करनेपरभी मैंने रातमें अमुक कार्य किया था ऐसा बोलना. अकषायभावसे किये हुए कृत्यको तीव्र परिणामसे किया था ऐसा बोलना. इन दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये.

आचार्य के पास आलोचना करने पर आचार्य प्रायश्चित्त देने के पूर्व ही स्वयं यह प्रायश्चित्त मैंने लिया है ऐसा कहकर स्वयं प्रायश्चित्त लेता है उसको स्वयं शोधक कहते हैं. स्वयं मैंने ऐसी शुद्धि की है ऐसा कथन करना. इस रीतीसे दर्पादिके द्वारा अतिचार होते हैं वे सब कहने चाहिये. और अपने किये हुए अतिचारो के क्रमका उल्लंघन नहीं करना चाहिये.

इय पयविभागियाए व ओघियाए व सल्लमुद्धरिय ॥

सव्वगुणसोधिकंखी गुरूवएसं समायरइ ॥ ६१२ ॥

स सामान्यविशेषाभ्यामभिधाय स्वदूषणम् ॥

विधत्ते गुरुणा दत्तां विशुद्धिं शुद्धमानसः ॥ ६३७ ॥

विजयोदया—इय एवं । पदविभागियाए व विशेषालोचनया वा । ओघियाए व सामान्यालोचनया वा । सल्लं मायाशल्यं । उद्धरिय उद्धृत्य । सव्वगुणसोधिकंखी सर्वेषां गुणानां दर्शनज्ञानचारित्रतपसां शुद्धिमभिलषन् । गुरुवएसं गुरूणोपदिष्टं प्रायश्चित्तं । समादियदि सम्यगादत्ते । रोषं दैन्यमश्रद्धानं च त्यक्त्वा ॥

एवमालोच्य प्रपंचेनालोचनाविधिमभिधायोपसंहरति—

मूलारा—गुरूवदेसं गुरूपदिष्टं प्रायश्चित्तं । समादियदि सम्यक्रोषदैन्याश्रद्धानां त्यागेनादत्ते गृण्हाति । समाचरदीति वा पाठः । तत्र रोषादित्यागेनानुतिष्ठतीत्यर्थः ॥

अर्थ—विशेषालोचना करके अथवा सामान्यालोचना करके मायाशल्यको हृदयसे निकालकर दर्शन, ज्ञान-चारित्र और तपश्चरणोंमें शुद्धिकी अभिलाषा रखता हुआ गुरुके द्वारा कहा हुआ प्रायश्चित्त रोष, दीनता और अश्रद्धानका त्यागकर क्षपक ग्रहण करता है.

आलोचनाके दोषोंका यहांतक वर्णन किया. अब गुरुके आगे आलोचना करते समय स्वतः की निंदा करनी चाहिये.

परिहार्यालोचनादोषानुक्त्वा गुरुसकाशे आलोचनानिंदना गुणवतीति वदति—

कदपावो वि मणुस्सो आलोयणणिंदओ गुरुसयासे ॥
होदि अचिरेण लहुओ उरुहियभारोव्व भारवहो ॥ ६१५ ॥

मनुष्यः कृतपापोऽपि कृतालोचननिंदनः ॥
संपद्यते लघुः सद्यो विभारो भारवानिव ॥ ६३८ ॥

विजयोदया—कदपावो वि मणुस्सो कृतपापोऽपि मनुष्यः समर्जिताशुभकर्मसंचयोऽपि मनुष्यः । अथवा पापस्याशुभकर्मणः कारणभूताऽसंयमादिरिह पापशब्देनोच्यते, तेनायमर्थः—कदपावोऽवि कृतासंयमादिकोऽपि । आलोयणणिंदओ कृतालोचनः कृतनिंदितश्च । क गुरुसयासे गुरुसमीपे । होदि भवति । अचिरेण लहुओ लघुतमः । उरुहियभारोव्व अवतारितभार इव । भारवहो भारस्य वोढा ॥

एवं दोषानुक्त्वा गुणान्वक्तुमालोचनानिंदामाहात्म्यमाह—

मूलारा—आलोयणिंदओ कृतालोचनः कृतनिंदनश्च । लहुगो दोषशुद्धः । एवेन गुणा निरूपिता दोषविपर्ययरूपत्वात्तेषां । उरुहिदभारोव्व अवतारितभार इव ।

निंदाका माहात्म्य आचार्य कहते हैं—

अर्थ—अशुभकर्मोंका संचय जिसने किया है ऐसा भी मनुष्य यदि गुरु के समीप आलोचना और अपनी निंदा करेगा तो बहोत बोझा मस्तकपरसे उतर जानेपर भारवाही मनुष्य जैसा सुखी होता है वैसा शीघ्र सुखी होता है. अथवा पापके अशुभकर्मके कारणभूत असंयमादिक को भी पाप कहते हैं. इसलिये यहां दुसरा अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—जिसने असंयमाचरण किया है वह भी मनुष्य गुरुके समीप जाकर दोषोंकी आलोचना और निंदा करेगा तो भारवाही मनुष्य भार उतरनेसे जैसा सुखी होता है वैसा सुखी होता है.

भावशुद्ध्यर्थां आलोचना असत्यां भावशुद्धौ को वा दोष इत्याह—

सुबहुस्सुदा वि संता जे मूढा सीलसंजमगुणेसु ॥
ण उवेंति भावसुद्धिं ते दुक्खणिहेलणा होंति ॥ ६१६ ॥

भावशुद्धिं न कुर्वन्ति भवन्तोऽपि बहुश्रुताः ॥
चतुरंगे विमूढा ये दुःखपीडया भवन्ति ते ॥ ६३९ ॥

विजयोदया—सुबहुस्सुदा वि संता सुष्ठु बहुश्रुता अपि सन्तः। जे मूढा ये मूढाः। सीलसंजमगुणेसु शीले क्षमादिके धर्मे, संयमे, व्रतेषु गुणेषु ज्ञानदर्शनतपःसु च। भावसुद्धिं परिणामेन शुद्धिं। ण उवेंति नोपयांति ते दुक्खणिहेलणा दुःखैर्निष्पीड्या। होंति भवति ॥

भावशुद्ध्यभावे दोषमाह—

मूलारा—संता संतः। मूढा मुग्धाः। सीलं उत्तमक्षमादि गुणाः ज्ञानदर्शनतपांसि। ण उवेंति नोपयांति। भावसुद्धिं भावशुद्धिं। दुक्खनिमेलणा दुःखैर्निपीड्याः। दुक्खणिहेलणा इति पाठे दुःखगृहाः इत्यर्थः।

परिणामोंकी निर्मलता करनेके लिये आलोचना की जाती है यदि भावशुद्धिकी प्राप्ति न हो तो उससे क्या नुकसान होता है यह दिखाते हैं—

अर्थ—जो मुनि महाविद्वान होकर भी क्षमादिकधर्म, संयम, व्रत, ज्ञान, दर्शन और तपमें यदि भावशुद्धियुक्त नहीं होते हैं वे इस संसारमें नाना दुःखोंसे पीडित होते हैं.

कृतायामालोचनायां गुरुणा किं कर्तव्यमित्यत आह—

आलोयणं सुणित्ता तिक्खुत्तो भिक्खुणो उवायेण ॥
जदि उज्जुगोत्ति णिज्जइ जहाकदं पट्ठवेदव्वं ॥ ६१७ ॥

त्रिःकृत्वालोचनां शुद्धां भिक्षोर्विज्ञाय नत्वतः ॥
स मध्यस्थो रहस्यज्ञो दत्ते शुद्धिं यथोचिताम् ॥ ६४० ॥

विजयोदया—आलोयणं आलोचनां। सुणित्ता श्रुत्वा। तिक्खुत्तो त्रिः पृष्ट्वा। भिक्खुणो भिक्षोः। उवायेण

उपायेन। जदि उज्जुगोत्ति य यदि ऋजुरयमिति। णज्जइ वचनेन आचरणेन वा ज्ञायते प्रायेण ऋजुता। यथा अनृजोर्भावशुद्ध्यभावान्न व्यवहारिणः प्रायश्चित्तं प्रयच्छंति सूरयः। भावशुद्धिमंतरेण पापानपायात् रत्नत्रयस्य निरतिचारत्वाभावात्॥

कृतायामालोचनायां गुरुणा किं कर्तव्यमित्यत आह—

मूलारा—तिक्खुत्तं त्रीन्वारान्। उवाएण मनः प्रल्हाद्य। अथवा कीदृशोऽपराधस्ते विस्मृतो न श्रुतं मयेति वा। उज्जुगोत्ति ऋजुरयमिति। णज्जदि ज्ञायते वचनेन आचरणेन वा। जधाकदं यथाकृतं। पापं शुद्ध्यतीत्यध्याहारः। पट्ठवेदव्वं तथा प्रायश्चित्तं दातव्यम्॥

आलोचना करनेके अनंतर गुरुको क्या करना योग्य है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—संपूर्ण आलोचना सुनकर गुरु क्षपकको तीन वार उपायसे पूछते हैं अर्थात् तुमने कौनसे अपराध किये हैं ध्यानमें नहीं रहे हैं पुनः कहो ऐसा तीन वार पूछते हैं. यदि यह क्षपक सरल परिणामका है ऐसा गुरुके अनुभवमें आजाय अर्थात् क्षपकके आचरणसे और उसके वचनसे गुरु उसका निष्कपटपना अथवा कपटीपना जान लेते हैं. यदि यह क्षपक कपटी है ऐसा दीख पडेगा तो वे उसको प्रायश्चित्त नहीं देते हैं. परिणामकी निर्मलता न होनेसे पापका नाश होता नहीं. और रत्नत्रयमें निरतिचारपना आता नहीं.

ऋज्वी इतरा वा आलोचना कीदृशी यस्यां सत्यां प्रायश्चित्तं दीयते न च दीयते इत्यत्र आह—

आदुरसल्ले मोसे मालागरराय कज्ज तिक्खुत्तो॥
आलोयणाए वक्काए उज्जुगाए य आहरणे॥ ६१८॥

राजकार्यातुरासत्यप्रसशल्यानामिव त्रिधा॥
दोषाणां पृच्छना कार्या सूरिणागमवेदिना॥ ६४१॥

विजयोदया—आदुरसल्ले आतुरो व्याधितः स वैद्येन वारत्रयं पृच्छ्यते। किं भुक्तं? किमाचरितं? कीदृशी वा रोगस्य वृत्तिरिति। शल्यमपि शरीरलग्नं त्रिः परीक्ष्यते। शुद्धता मणस्य जाता न वेति। राजकज्जं तिक्खुत्तो राज्ञाश्रसं कार्यं किमेवं करिष्यामीति त्रिः पृच्छ्यते। आलोय राजकज्जं तिखुत्तो राज्ञा आश्रसं कार्यं किमेवं करिष्यामीति त्रिः पृच्छ्यते। आलोयणाए वक्काए वक्रायाः। उजुगाए ऋज्व्याश्च। आहरणे दृष्टान्ताः। यदि वारत्रयमप्येकरूपेण वक्ति ततो ऋज्वी अन्यथा अन्यदाचष्टे वक्रेति ग्राह्यं॥

व्याधितः शल्यं मोषो मालाकारो राजकार्यं चैतानि पंच यथा त्रिःपृच्छयन्ते तथा आलोचनापि ऋज्वी वक्रा चेति ज्ञातुं त्रिःप्रष्टव्या। यदि वारत्रयमप्येकरूपेण वक्ति तदा ऋज्वी प्रायश्चित्तदानार्हा अन्यथा वक्रा प्रायश्चित्त दानायोग्येत्युपदेष्टुमाह—

मूलारा—आदुरेत्यादि। तिक्खुत्तो त्रीन्वारान्। प्रष्टव्यायामालोचनायामातुराद्य पंच आहरणे दृष्टान्ता भवन्ति इति संबंधः। तत्रातुरः-त्रिः पृच्छयते वैद्येन किं भुक्तं कीदृशी च रोगप्रवृत्तिरिति। तथा शल्यं त्रिः पृच्छयते अत्र ते कंटकादिरिति। तथा मोषे द्रव्यापहारे किं ते चौरैर्नीतमिति त्रिः प्रश्नः क्रियते। तथा मालाकारोऽपि त्रि. पृच्छयते। कियन्मूल्या तव पुष्पमालेति। तथा राज्ञा आज्ञापितं कार्यं त्रिः पृच्छयते किमेवं करिष्यामीति। एवमालोचनापि त्रिः परीक्ष्यते कीदृशोऽपराधस्ते पुनः कथयेति।

सरल आलोचना अथवा वक्र आलोचना कैसी समझना? जिसके ऊपर प्रायश्चित्त देना न देना अवलंबित है? इस प्रश्नपर आचार्य उत्तर देते हैं.

अर्थ—रोगीको वैद्य तीन वार पूछते हैं—तुमने क्या खाया है? तुम कैसी प्रवृत्ति करते थे? और तुह्मारे रोगका क्या हाल है? शरीरमें यदि शस्त्र अथवा कांटेका अग्रभाग घुसनेपर यहां ही कांटा घुस गया है ना? अब व्रण अच्छा हुवा हैं ना? ऐसा तीन वार पूंछते हैं. किसीके यहां चोरी होगई हो तो तुह्मारा चोर क्या क्या माल लूटकर ले गये हैं ऐसे तीन वार पूंछते हैं. मालाकारको भी तुह्मारी इस पुष्पमालाकी क्या कीमत है? इस प्रकार तीन वार पूछते हैं. राजकार्यके लिए भी ऐसा ही तीन वार पूछते हैं अर्थात् यह कार्य मैं करूं क्या? उसी प्रकार आलोचना वक्रतासे या सरलपनासे की गई है इसको जाननेके लिये तुह्मारे अपराध कैसे है पुनः कहो ऐसा तीन वार भी उसने एकरूपसे ही अपराधोंका कथन किया तो समझना चाहिये कि इसकी आलोचना सरला है यदि वह भिन्न भिन्न प्रकारसे कहेगा तो इसकी आलोचनामें मायाचार है ऐसा समझना चाहिये.

पडिसेवणातिचारे जदि णो जंपदि जधाकमं सव्वे ॥
ण करेंति तदो सुद्धिं आगमववहारिणो तस्स ॥ ६१९ ॥

दोषान् प्रांजलीभूय भाषते यथदोषतः ॥
न कुर्वन्ति तदा शुद्धिं प्रायश्चित्तविचक्षणाः ॥ ६४२ ॥

विजयोदया—पडिसेवणातिचारे प्रतिसेवनानिमित्तानतीचारान् । तत्र सेवा चतुर्विधा द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन । द्रव्यसेवा त्रिप्रकारा सचित्तमचित्तं मिश्रमिति द्रव्यस्य त्रिविधत्वात् । चित्तं ज्ञानं तथा च प्रयोगः-चित्तमात्रं जगत्तत्वं ज्ञानमात्रमिति यावत् । ज्ञानस्यात्मनः कथंचिदव्यतिरेकात्तात्स्थ्याद्वा चित्तशब्देनाभिधानं, सह चित्तेनात्मना वर्तते इति सचित्तं जीवशरीरत्वेनावस्थितं पुद्गलद्रव्यं । न विद्यते चित्तं आत्मा यस्मिन्पुद्गले तदचित्तं मिश्रं । नाम सचित्ताचित्तपुद्गलसंहतिः । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः जीवपरिगृहीताः सचित्तशब्देनोच्यंते । अचित्तं जीवेन परित्यक्तं शरीरं तयोरुदाहृतं क्षेत्रादिप्रतिसेवना योज्या । जदि णो जंपदि न कथयेद्यदि । अहाकमं यथाक्रमं । सव्वे सर्वान् स्थूलान्सूक्ष्मांश्चातिचारान् । ण करेंति न कुर्वन्ति । तदो ततः । तस्स सोधिं तस्य शुद्धिं । आगमववहारिणो आगमानुसारेण व्यवहरंतः ॥

एत्थ दु उज्जुगभावा ववहरिदव्वा भवंति ते पुरिसा ॥
संका परिहरिदव्वा सो से पढाहि जहि विसुद्धा ॥ ६२० ॥

इति यवनात् सर्वमतिचारं निवेदयत एव ऋजुता, तस्यैव प्रायश्चित्तदानं ।
यथावद्दोषानालोचने प्रायश्चित्तप्रयोगाभावं भावयति —

मूलारा—पडिसेवणादिचारे द्रव्यादिचतुष्टयविराधनानिमित्तानतिचारान् । ण उंटे न कथयति ॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयसे उत्पन्न हुए दोषोंको प्रतिसेवना कहते हैं. इस सेवनाके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके विकल्पोंसे चार भेद हैं. द्रव्यसेवाके तीन प्रकार हैं. सचित्त द्रव्यसेवा, अचित्त द्रव्यसेवा, और मिश्रद्रव्यसेवा. चित्त शब्दका अर्थ ज्ञान है. 'चित्तमात्रं जगत्तत्वं' अर्थात् ज्ञानमात्र जगत्का तत्व है. यहां ज्ञान आत्मासे कथंचित् अभिन्न है. अथवा आत्मामें रहनेसे आत्माको भी ज्ञान कहते हैं. इस आत्माके साथ जो पुद्गल पदार्थ रहता है उसको सचित्त कहते हैं. अर्थात् जीवका शरीर बनकर जो पुद्गल रहता है उसको सचित्त कहते हैं. जिस पुद्गलमें आत्मा रहता नहीं है उसको अचित्त कहते हैं. सचित्त और अचित्त पुद्गलके एकरूप हुए समुदायको सचित्ताचित्त पुद्गल कहते हैं. जीवके द्वारा स्वीकारे हुए पृथ्वी, हवा, पानी, अग्नि, वनस्पतिको सचित्त कहते हैं. जीवके छोडे हुए शरीरको अचित्त कहते हैं. क्षेत्रादिनिमित्तसे जो जो अपराध होते

हैं वे यदि क्षपक क्रमसे न कहेगा तो अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल अपराधोंका कथन नहीं करेगा तो प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाता आचार्य उसको प्रायश्चित्त नहीं देते हैं. इस विषयमें आगममें ऐसा कहा है—

जो ऋजुभावसे आलोचना करते हैं ऐसे पुरुष प्रायश्चित्त देने योग्य है. और जिनके विषयमें शंका उत्पन्न हुई हो उनको प्रायश्चित्त आचार्य नहीं देते हैं. इससे यह सिद्ध हुआ कि सर्व अतिचार निवेदन करनेवाले में ही ऋजुता रहती है. उसको ही प्रायश्चित्त देना योग्य है.

पडिसेवणादिचारे जदि आजंपदि जहाकमं सव्वे ॥
कुव्वंति तहो सोधिं आगमववहारिणो तस्स ॥ ६२१ ॥
निःशेषं भाषते दोषं यदि प्रांजलमानसः ॥
तदानीं कुर्वते शुद्धिं व्यवहारविशारदाः ॥ ६४३ ॥

स्पष्टा गाथा।

यथावद्दोषालोचने प्रायश्चित्तप्रयोगमनुजानाति—

मूलारा—स्पष्टम्

अर्थ—यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रयसे हुए संपूर्ण दोष क्षपक अनुक्रमसे कहेगा तो प्रायश्चित्तदानकुशल आचार्य उसको प्रायश्चित देते हैं.

यतिना निर्दोषायामालोचनायां कृतायां गणिनां किं कर्तव्यमित्यारेकितेऽव्यापारं कथयति—

सम्मं खवएणालोचिदम्मि छेदसुदजाणग गणी से ॥
तो आगममीमंसं करेदि सुत्ते य अत्थे य ॥ ६२२ ॥
सम्यगालोचिते तेन सूत्रं मीमांसते गणी ॥
अनालोच्य न कुर्वन्ति महान्तः कांचन क्रियाम् ॥ ६४४ ॥

ज्ञात्वा वक्रामवक्रां वा सूरिरालोचनां यतेः ॥
विदधाति प्रतीकारं शुद्धिरस्ति कुतोऽन्यथा ॥ ६४५ ॥

विजयोदया—खवगेण सम्मं आलोचिदम्मि क्षपकेन सम्यगालोचिते । छेदसुदजाणगगणी सो छेदसूत्रज्ञः सूरिः सः । तो पश्चात् । आगममीमंसं आगमविचारं । करेदि करोति । कथं ? सुत्ते य अत्थे य सूत्रे च अर्थे च । इदं सूत्रं अस्य चायमर्थ इति अपराधस्यैवंभूतस्य इदं प्रायश्चित्तमनेन सूत्रेण चेदं निर्दिष्टं इति प्राग्निरूपयति ॥

यतिना निर्दोषमालोचिते सूरिः किं करोतीत्याह—

मूलारा—छेदसुदजाणगगणी प्रायश्चित्तसूत्रज्ञ आचार्यः । आगममीमंसं । प्रायश्चित्तशास्त्रविचारणां । सुत्ते य अत्थे य इदं सूत्रमस्य चायमर्थ इति विचारयतीत्यर्थः ।

यतिके द्वारा निर्दोष आलोचना किये जानेपर आचार्य का क्या कर्तव्य है इस शंका का उत्तर कहते हैं—

अर्थ—क्षपकमुनि जब निर्दोष आलोचना करते हैं प्रायश्चित्तसूत्रके ज्ञाता आचार्य तब आगम से अपराधोंकी परीक्षा करते हैं. अर्थात् यह प्रायश्चित्तको बतानेवाला सूत्र है, इसका यह अर्थ है, इस अपराधको यह प्रायश्चित्त देना योग्य है, इस सूत्र के द्वारा यह प्रायश्चित्त बतलाया है. इत्यादिरूपसे आचार्य प्रथम प्रायश्चित्त का विचार करते हैं.

परिणामश्च निरूपयितव्यस्तदीयः किमर्थमित्यत आह—

पडिसेवादो हाणी वड्ढी वा होइ पावकम्मस्स ॥
परिणामेण दु जीवस्स तत्थ तिव्वा व मंदा वा ॥ ६२२ ॥

जातस्य प्रतिसेवातो हानिर्वृद्धिश्च देहिनाम् ॥
पापस्य परिणामेन तीव्रा मंदा च जायते ॥ ६४६ ॥

विजयोदया—पडिसेवादो जातस्स पावकम्मस्स परिणामेण हाणी वड्ढी वा होदि । कीदृशी ? तिव्वा च मंदा वा इति पदघटना । प्रतिसेवनातो जातस्य पापकर्मणः परिणामेन पाश्चात्येन करणेन हानिर्वा वृद्धिर्वा भवति । तीव्रा हानिस्तीव्रा वृद्धिः । मंदा वा हानिर्मंदा वा वृद्धिः ॥

यथादोषं प्रायश्चित्तं निरूपयता सूरिणा अतिचारसद्भावी तदुत्तरकालभाव्यपि क्षपकस्य परिणामो निरूपणीयो यतः—

मूलारा—पडिसेवादो असंयमादिसेवनाज्जातस्यापि पापस्य पाश्चात्येन शुभाशुभपरिणामेन [illegible] शुद्धिरिव हानिस्तत्रालोचनाकाले स्यादिति संबंधः । सामान्येनापि दुष्कृतहानिवृद्धितीव्रमंदत्वख्यापनमेतेन प्रतिपत्तव्यम् । तथा चोक्तम्—

जातस्य प्रतिसेवातो हानिर्वृद्धिश्च देहिनाम् ।
पापस्य परिणामेन तीव्रा मंदा च जायते ॥

आचार्य क्षपकके परिणामका भी विचार करते हैं. उसका विचार करने की क्या आवश्यकता है इसका उत्तर कहते हैं—

अर्थ—असंयमादिकसे जो पापकर्म हुआ था उसकी आलोचना करनेके अनंतर यदि शुभ परिणाम तीव्र हुए होंगे तो पापकी तीव्र हानि होगी, यदि शुभपरिणाम मंद हुए हो तो पापकी मंद हानि होगी. जैसे तीव्र असंयमसे वा मंद असंयमसे पूर्वकालमें तीव्र पापवृद्धि अथवा मंद पापवृद्धि हुई थी वैसे आलोचनाके अनंतर शुभपरिणामकी तीव्रता या मदतासे तीव्र या मंद पापकी हानि होती है.

तदुभयं व्याख्याय गाथाद्वयमुत्तरम्—

सावज्जसंकिलिट्ठो गालेइ गुणे णवं च आदियदि ॥
पुव्वकदं व दढं सो दुग्गदिभवबंधणं कुणदि ॥ ६२४ ॥

स्थिरत्वं नयते पूर्वं संसारासुखकारणम् ॥
एतेषां चिनुते पापं संक्लिष्टः क्षिपेत गुणम् ॥ ६४७ ॥

विजयोदया—सावज्जसंकिलिट्ठो सावद्यसंक्लेशो द्विप्रकारः । सह अवद्येन पापेन वर्तत इति सावद्य एकः । अन्यस्तु संक्लेशश्चित्तबाधा । ननु सावद्यः । ज्ञानं विमलं किं मम न जायते, संपूर्णं चारित्रं । शरीरं वा किमर्थमिदमतिदुर्बलं तपोयोगासहमिति एवमादिकस्तभिरासाय सावद्यविशेषणं सावद्यसंक्लिष्टः । गालेदि गुणे गालयति गुणान् दर्शनज्ञानचारित्राणि । णवं च आदियदि आदत्ते च अभिनवं । पुव्वकदं च दढं कुणदि पूर्वार्जितं च दृढीकरोति । कषायपरिणामनिमित्तत्वात् स्थितिबंधस्य । दुग्गदिभयकारणं दुर्गतयः नारकत्वादयः विचित्रवेदनासहस्रसंकुलास्तासु भयं यद्दयति, यत्कर्माशुभं तदादत्ते स्थिरयति ॥

तदुभयं व्याख्यातुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—सावज्जसंकिलिट्ठो सपापसंक्लेशाविष्टः । ज्ञानं मम विमलं किं नोत्पद्यते, चारित्रं वा संपूर्णं, शरीरं या किमिदं ममातिदुर्बलं तपोयोगाक्षममित्यादिचित्तबाधामात्रात्मकसंक्लेशव्यवच्छेदार्थं सावद्यविशेषणम् । गुणे सम्यक्त्वादीन् । दढं स्थिरं । दुग्गदिभयबंधणं दुर्गतिषु नारकत्वतिर्यक्कुमानुषत्वकुदेवत्वभवभ्रमणेषु भयं दुःखात्त्रासो । बध्यते जीवेन संबद्धं क्रियते येन तत्पापकर्म । उक्तं च—

स्थिरत्वं नयते पूर्वं संसारासुखकारणम् ।
नवं संचिनुते पापं संक्लिष्टः क्षिपते गुणम् ॥

परिणाम और पाप बंधका वर्णन—

अर्थ—सावद्य संक्लेश दो प्रकारका है. पापसे युक्त संक्लेश, और केवल संक्लेश. मेरेको निर्मलज्ञानकी प्राप्ति क्यों नहीं होती है ? संपूर्ण चारित्र क्यों नहीं प्राप्त होता है ? मेरा यह शरीर क्यों इतना दुर्बल है, क्यों उससे तप और योगका कष्ट नहीं सहा जाता है ? इस प्रकारके विचार को संक्लेश नाम है इस संक्लेशको भिन्न दिखानेके लिये सावद्य यह विशेषण संक्लेशके पीछे दिया है. जिससे फक्त मनको पीडा होती हैं ऐसे पापयुक्त संक्लेश परिणामोंसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन गुणोंका नाश होता है, नवीन पापबंध होता है और, पूर्व पापकर्मों में वृद्धि होती है. क्यों कि कषायपरिणामोंसे स्थितिबंध होता है. हजारों विचित्र वेदनायें जिसमें होती हैं ऐसी नारकादिक अवस्थाओंका सावद्य संक्लिष्ट परिणाम कारण है. जो नवीन अशुभकर्म आता है वह इस पापयुक्त परिणामोंसे आत्मामें स्थिर हो जाता है.

पडिसेविचा कोई पच्छत्तावेण डज्झमाणमणो ॥
संवेगजणिदकरणो देसं घाएज्ज सव्वं वा ॥ ६२५ ॥

कृत्वापि कल्मषं कश्चित्पश्चात्तापकृशानुना ॥
दह्यमानमना देशं सर्वं वा हन्ति निश्चितम् ॥ ६४८ ॥

विजयोदया—पडिसेविचा कोई कश्चित्कृतासंयमाद्रिसेवनोऽपि । पच्छत्तावेण डज्झमाणमणो पश्चत्तापेन दह्य-

मानचित्त । संवेगजणिदकरणो संसारभीरुताजनितसंयमनक्रियः । देस सव्वं वा घादेज्ज आत्माभिनवसंचितकर्मपुद्गलस्कंधैकदेशनिर्जरा वा स्वीकरोति, समस्त वा तद् घातयेत् । यदि मध्यमो मंदो वा परिणामो देशं घातयति। अथ तीव्र. समस्तं इति भाव ॥

मूलारा—करणं संयमक्रिया । देसं आत्माभिनवं संचितकर्मपुद्गलस्कंधैकदेशं घादेज्ज घातयेत् । यदि मध्यमो वा परिणामस्तदा देशं हन्त्यथ तीव्रस्तदा समस्तमिति भाव । उक्तार्थसंग्रहश्लोकौ ॥

आवस्य प्रतिसेवावत्तीव्रा मंदा च रेफसः ।
हानिःसता स्वभावेन स्याद्वृद्धिश्चासता तथा ॥
संक्लिष्टो हृदयन्पूर्वं बध्नात्यंहः कषन् गुणान् ।
हंत्यंशतोऽखिलं वा तत् संविग्नोऽनुशयात्तपन् ॥

अर्थ—पूर्वकालमें किसी क्षपकने असंयमका सेवन किया था परंतु पश्चात् उसका अन्तःकरण पश्चात्तापसे दग्ध हुआ तब वह संसारसे भयभीत होकर संयमाचरणमें तत्पर हुआ. इस संयमाचरणके प्रभावसे नवीन संचित किये हुये पापकर्मके स्कंधमेंसे एकदेशकी निर्जरा होती है अथवा यदि तीव्र संयमाचरण हो तो उससे संपूर्णका भी घात होता है. अभिप्राय यह है कि संयमाचरणके परिणाम मंद अथवा मध्यम प्रकारके हो तो कर्मके एकदेशकी निर्जरा होती है और यदि तीव्र हो तो सम्पूर्ण कर्मका घात होता है.

तो णच्चा सुत्तविदू णालियधमगो व तस्स परिणामं ॥
जावदिएण विसुज्झदि तावदियं देदि जिदकरणो ॥ ६२६ ॥
नालिकाधमवज्ज्ञात्वा प्रमाणं कुरुते सुधीः ॥
ततः शुध्यति यावत्या तावतीं स परिक्रियाम् ॥ ६४९ ॥

विजयोदया—तो तस्मात् । णच्चा ज्ञात्वा । सुत्तविदू प्रायश्चित्तसूत्रज्ञ सूरि । किं ? तस्स परिणामं कृतापराधस्य परिणाम । कथ परिणामो ज्ञायते इति चेत् सहवासेन तीव्रक्रोधस्तीव्रमान इत्यादिक सुज्ञातमेव । तत्कार्योपलंभात्, तमेव वा परिपृच्छय, कीदृग्भवत परिणामोऽतिचारसमकाल ब्रूत । इति । किमिव ? णालिगधमगोव्व नालिकया यो धमति सुवर्णकार सोऽग्निर्वलावल विदित्वा धमन करोति, एव सूरिरपि अस्य कर्म तनुतरं महद्वेति विदित्वा

जावदिगेण यावता प्रायश्चित्तेन। विसुज्झदि विशुद्ध्यति। तावदिगं तावत्परिमाणं प्रायश्चित्तं अल्पं महद्वा। देदि ददाति। जिदकरणो परिचितप्रायश्चित्तदानक्रियः।

उक्तार्थं प्रकृते योजयन्नाह–

मूलारा–णच्चा ज्ञात्वा। सहवासेन तत्कार्योपलंभात्तद्वचनाद्वा निश्चित्य। सुत्तविदू छेदसूत्रज्ञः। णाणियधम्मगो व सुवर्णकार इव। जावदिगेण यावता। अल्पेन महता वा प्रायश्चित्तेन वह्निना च। विसुज्झदि विशुद्ध्यति निर्मलीभवति मुनिः कांचनं च। जिदकरणो परिचितप्रायश्चित्तदानक्रियः।

अर्थ—प्रायश्चित्त शास्त्रज्ञ आचार्य जिसने अपराध किये थे ऐसे क्षपकके परिणाम जानकर जितने प्रायश्चित्तसे वह शुद्ध होगा उतना प्रायश्चित्त उसको देते हैं. जैसे सुवर्णकार अग्निके सामर्थ्य असामर्थ्यको देखकर तदनुरूप कम या अधिक हवासे उसको प्रज्वलित करता है वैसे प्रायश्चित्त देनेके कार्यका जिनको पूर्ण परिचय हुआ है ऐसे आचार्य इसका अपराध छोटा है या बडा है, इसके क्रोधादि परिणाम तीव्र थे या मंद थे इस विषयका विचार कर अनुरूप प्रायश्चित देते हैं. दूसरेके परिणाम कैसे जाने जा सकते हैं इस प्रश्नका उत्तर– सहवाससे परिणाम जाने जा सकते हैं अथवा उसके कार्य देखनेपर उसके तीव्र या मंद क्रोधादिकका स्वरूप मालुम होता है. अथवा जब तुमने अतिचार किये थे तब तुम्हारे परिणाम कैसे थे ऐसा उसको पूछकर भी परिणामोंका निर्णय किया जा सकता है.

आउव्वेदसमत्थो तिगिंछिदे मदिविसारदो वेज्जो ॥
रोगादंकाभिहदं जह णिरुजं आदुरं कुणइ ॥ ६२७ ॥
उल्लाघीकुरुते वैद्यो वैद्यशास्त्रविशारदः ॥
यथातुरं कृताभ्यासो रोगातंकादिपीडितम् ॥ ६५० ॥

विजयो.—आउव्वेदसमत्थो निर्णीतसमस्तायुर्वेदः। तिगिंछिदे चिकित्सायां। मदिविसारदो बुद्ध्या निपुणः। वेज्जो वैद्यः। रोगातंकाभिहदं महता अल्पेन वा व्याधिना पीडितं। आदुरं व्याधितं। जह यथा। णिरुजं कुणदि विशुद्धं करोति।

तंत्रार्थकर्मनिपुणो वैद्यो रोगिणमिवाचार्यः क्षपकं संसारव्याधेरुद्धरतीति गाथाद्वयेनाह–

मूलारा—आउव्वेदसमत्ती निर्ज्ञातसमस्तवैद्यकशास्त्र. । तिगिंछिदे चिकित्सिते । रोगातंकाभिहदं अल्पेन महता वा व्याधिना पीडितं । णिरुजं नीरुजं निरामयं ॥

अर्थ—जिसने समस्त आयुर्वेदशास्त्रका ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो रोगपरीक्षण करनेमें निपुण है ऐसा वैद्य छोटे अथवा बडे रोगोंसे पीडित मनुष्यको औषधि देकर जैसे नीरोग करता है उसी प्रकार—

एवं पवयणसारसुयपारगो सो चरित्तसोधीए ।

पायच्छित्तविदण्हू कुणइ विसुद्धं तयं खवयं ॥ ६२८ ॥

गणाधिपः कृताभ्यासो व्यवहारविचक्षणः ॥

क्षपकं मलिनीभूतं निर्मलीकुरुते तथा ॥ ६५१ ॥

विजयोदया—एवं पवयणसारसुयपारगो प्रवचने यत्सारभूतं श्रुतं तस्य पारगतः । पायच्छित्तविदण्हू प्रायश्चित्तकमज्ञः । चरित्तसोधीए चारित्रशुद्ध्या । तयं खवयं तकं क्षपकं । विसुद्धं कुणदि विशुद्धं करोति ।

मूलारा—पवयणसारसुदपारगो प्रवचनस्य जिनागमस्य सारभूतं श्रुतं प्रायश्चित्तसूत्रं तत्समस्तं जानन् ॥

अर्थ—आगममें जो सारभूत श्रुतज्ञान है उसमें प्रवीण, प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाता आचार्य क्षपकको प्रायश्चित्त देकर उसका चारित्र निर्मल बनाते हैं.

स्थविरे व्यावर्णितगुणे असत्यन्योऽपि भवति निर्यापक इति शंकायां कथयति –

एदारिसंमि थेरे असदि गणत्थे तहा उवज्झाए ॥

होदि पवत्ती थेरो गणधरवसहो य जदणाए ॥ ६२९ ॥

गणास्थिते ऽसतीदृक्षे स्थविरेऽध्यापके तथा ॥

अस्ति प्रवर्तको वृद्धो बालाचार्योऽथ यत्नतः ॥ ६५२ ॥

विजयोदया—एदारिसंमि व्यावर्णितगुणे । थेरे स्थविरे अविद्यमाने । गणत्थे गणस्थे । तहा तथा । उवज्झाए

उवाध्याये पाठ्यति । होदि भवति । णिज्जवगो निर्यापकः । पवत्ती प्रवर्तकः । थेरो स्थविरश्चिरप्रव्रजितो मार्गज्ञो । गणधरवसहो व बालाचार्यो वा । जदणाए यत्नेन प्रवर्तमानः । एवमालोचनायां गुणदोषनिरूपणा समाप्ता ॥

यथोक्तगुणे गणाधिपेऽध्यापके वा निर्यापकेऽसति अन्योऽपि निर्यापकः स्यादित्यनुशास्ति—

मूलारा—थेरे वृद्धाचार्ये । पवत्ती अल्पश्रुतः सन्सर्वसंघमर्यादाचरितज्ञः प्रवर्तकः । थेरो चिरप्रव्रजितो मार्गज्ञः साधु । गणहरवसहो एलाचार्यः निर्यापको भवतीति संबंधः । जदणाए व्रतादिषु यत्नेन प्रवर्तमानः ॥

आचार्यके आधारवत्वादि गुणोंका पूर्वमें वर्णन कर चुके हैं इन गुणोंके धारक आचार्य यदि प्राप्त न हो तो अन्य मुनि भी क्षपकके समाधिमरण साधनेके लिये निर्यापकपदका धारक हो सकता है क्या इस शंकाका उत्तर—

अर्थ—पूर्वोक्तगुणोंके धारक संघपति आचार्य न हो तथा इन गुणोंके धारक उपाध्याय भी यदि न हो तो प्रवर्तक मुनि अथवा अनुभवी वृद्ध मुनि या बालाचार्य यत्नसे व्रतोंमें प्रवृत्ति करते हुए क्षपकका समाधिमरण साधनेके लिये निर्यापकाचार्य हो सकते हैं. जो ज्ञानसे अल्प है परंतु सर्व संघकी मर्यादा योग्य रहेगी ऐसे आचरणका ज्ञान जिसको है उसको प्रवर्तक कहते हैं और जिसको दीक्षा लेकर बहुत दिन हुए हैं ऐसे अनुभवी वृद्ध मुनिको साधु कहते हैं.

सो कदसामाचारी सोज्झं कट्टुं विधिणा गुरुसयासे ॥
विहरदि सुविसुद्धप्पा अब्भुज्जदचरणगुणकंखी ॥ ६३० ॥

स चारित्रगुणाकांक्षी कृत्वा शुद्धिं विधानतः ॥
गुरोरंते समाचारी विशुद्ध्यै चेष्टते तराम् ॥ ६२३ ॥

विजयोदया—सो कदसामाचारी स क्षपकः कृतसमाचारः । सोज्झं शुद्धिं । कट्टु कृत्वा । विधिणा विधिना । गुरुसयासे गुरुसमीपे । विहरदि प्रवर्तते । सुविसुद्धप्पा सुष्ठु विशुद्धात्मा । अब्भुज्जदचरणगुणकंखी अभ्युद्यतचारित्रगुणकांक्षासमन्वितः ॥

एवगुरुसमायदिवसस्य क्षपकस्य देहत्यागोचितकालप्राप्त्यंतराचरणं गाथात्रयेणोपदिशति—

मूलारा—कदसामाचारी कृतसामाचारः । सोज्झं कट्टुं शुद्धिं कृत्वा ।

अर्थ—जिसका आचार निर्दोष है ऐसा वह क्षपक प्रायश्चित्त लेकर शास्त्रकथित विधीके अनुसार गुरुसमीप रहकर आपनेको निर्मल चारित्रयुक्त बनाता हुआ रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करता है तथा समाधिमरणके लिए जिस विशिष्ट आचरणका स्वीकार किया है उसमें उन्नतिकी इच्छा करता है.

एवं वासारत्ते फासेदूण विविध तवोकम्मं ॥
संथारं पडिवज्जदि हेमंते सुहविहारंम्मि ॥ ६३१ ॥
वर्षासु विविधं स्पृष्ट्वा तपःकर्म विधानतः ॥
सुखवृत्तौ स हेमन्ते संस्तरं प्रतिपद्यते ॥ ६५४ ॥

विजयोदया—एवं वासारत्ते वर्षाकाले। फासिदूण स्पृष्ट्वा। विविधं नानाप्रकारं। तवोकम्मं तपःकर्म। संथारं संस्तरं। पडिवज्जदि प्रतिपद्यते। हेमंते शीतकाले सुहविहारम्मि सुखविहारे अनशने समुद्यतस्य महान्परिश्रमो न भवति तत्र काले इति सुखविहारमित्युच्यते।

मूलारा—वासारत्ते वर्षाकाले। फासेदूणं अनुष्ठाय। सुहविहारम्मि सुखो महान्परिश्रमाप्रादुर्भावादक्लिष्टो विहारोऽनशनानुष्ठानं यत्र।

अर्थ—इस प्रकारसे वर्षाकालमें नाना प्रकारके तप कर वह क्षपक जिसमें अनशनादि करने पर भी महान् कष्टका अनुभव नहीं आता है ऐसे हेमंतकालमें संस्तरका आश्रय करता है.

सव्वपरियाइयस्सय पडिक्कमित्तु गुरुणो णिओगेण ॥
सव्वं समारुहित्ता गुणसंभारं पविहरिज्जा ॥ ६३२ ॥
निस्पर्शवन्निश्चतुरंगदोषं गुरूपदेशेन विशुद्धचेताः ॥
प्रवर्तते शुद्धगुणाधिरूढः संसारकांतारविलंघनाय ॥ ६५५ ॥
इति गुणदोषौ।

विजयोदया—सव्वपरियाइयगस्सय सर्वस्य ज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायस्य अतिचारान्। पडिक्कमित्तु प्रतिनिवृत्तो

भूत्वा । गुरुणिओगेण गुरूपदेशेन । गुणसंभारं गुणानां समूहं । सव्वं कृत्स्नं । समारुहित्ता सम्यगारुह्य । पयिहरिज्ज प्रवर्तेत । आलोचनागुणदोषाः ॥

मूलारा---रूव्वपरियाइगस्स सर्वस्य ज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायस्यातिचारान् । पडिक्कमित्तु प्रतिनिवृत्तो भूत्वा । णिओगेण उपदेशेन ॥ आलोचनागुणदोषाः । सूत्रत २४ । अंकतः ॥ ६७ ॥

अथेदमुक्तार्थानुमोदनाय वृत्तमाध्येयम् ।

सर्वाविद्यनिवृत्तिरूपमुपगुर्वादाय सामायिकं ॥

यच्छेदैर्विधिवद्व्रतादिभिरुपस्थाप्याप्यदल्वेत्यपि ॥

वृत्तं वाह्य उतांतरे कथमपि च्छेदेऽप्युपस्थापय---

त्येवेति ह्यनणुर्धुरीणमिह नौम्यैदंयुगीनेषु तम् ॥

इति गुरुद्धृतशल्योऽजस्ररोचिष्णुरत्नत्रयलसदनुभावव्यक्तसौभाग्यसंपत् ॥

विचरयिपुशिवश्रीसंगमाशाधरांगव्रजमिममुपधत्तां भायपुण्याध्वराय ॥

इत्याशाधरानुस्मृतग्रंथसंदर्भे मूलाराधनादर्पणे पदप्रमेयार्थप्रकाशीकरणप्रवणे

क्षपकरत्नत्रयविशुद्धिविधानीयो नाम चतुर्थ आश्वासः ॥ ४ ॥

पंचम आश्वासः ।

योग्यायां वसतौ गणाधिपगिरा योग्यं श्रितः संस्तरम् ॥

शुश्रूषाद्दतसंयतैः परिवृतो भोज्ये विचित्रेऽपि तैः॥

संपाद्ये विगतस्पृहोऽल्पितपरित्यक्ताशुकर्ज्याशनः ॥

क्षांतिं संघमसौ विधाप्य यतते संहर्तुमंहोऽनिशम् ॥

अर्थ---ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपके संपूर्ण अतिचारोंसे निवृत्त होकर अर्थात् ज्ञानादिकोंका निर्दोष पालन कर गुरुके उपदेश से सर्व गुणोंके समुदायको हृदयमें धारण कर रत्नत्रयमें क्षपक प्रवृत्ति करता है.

कीदृशी वसतिर्योग्या का वा नेत्येतद्व्याचष्टे उत्तरेण ग्रंथेन तथा योग्यां निरूपयति—

गंधव्वणट्टजट्टस्सचक्कजंतग्गिकम्मफरुसे य ॥

णत्तियरजया पाडहिडोंबणडरायमग्गे य ॥ ६३३ ॥

गाथका वादका नर्तकाश्चाश्विकाः शालिका मालिकाः कोलिका वांशिकाः ॥

काष्ठिका लौहिका मात्सिकाः पात्रिकाः कांडिका दांडिकाश्चार्मिकाश्छिपकाः ॥६५६

विजयोदया—गंधव्वणट्टजट्टस्सचक्कजंतग्गिकम्मफरुसे य गायकानां, नर्तकानां, गजानामश्वानां च शालायां। तिलनंद्नकुंभकारशालायां च, रजकपाटहिकडोंबनटगृहाणां समीपे। राजमार्गस्य वा समीपभूतायां वसतौ ॥

अर्थेवं स्वभ्यस्तसमाधिसाधनस्याप्याराधकस्यायोग्यवसतौ निवसतः समाधिव्याघातो भवतीति योग्यवसतिं तन्निवासाय निरूपयिष्यन् गाथासप्तकेन द्वितयीमपि वसतिं सूत्रयति—तत्रादौ तावद्गाथाद्वयमयोग्यशय्यां लक्षयितुमाह—

मूलारा—गंधव्व गंधर्वं गीतं। णट्ट नृत्यं। जट्ट हस्ती। अस्स अश्वः। चक्कं चक्रं कुंभकारोपकरणं। जंत यंत्रं तिलेक्षुपीलनोपायः। फरुसे शांखिकमणिकारादिकः। णत्तिक। कोलिकः। रंजय रजकः। पाडहिय पाटहिकः लौरिकः। डोंबः श्वपचः। णड नटः वंशवारोहणनर्तकः। रायमग्गे महावर्त्म, राजमार्गो वा ॥

कोनसी वसतिका योग्य है और कोनसी नहीं है इसका विवेचन ग्रंथकार करते हैं. प्रथमतः अयोग्य वसतीका वर्णन करते हैं—

अर्थ— गंधर्वशाला-गायनशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, तेलीका घर, कुम्हारका घर, धोबीका घर, बाजे बजानेवालेका घर, डोंबका घर, बांसके ऊपर चढकर नृत्य करनेवालेका घर इनके समीप जो वसतिका होगी वह मुनिके लिये योग्य नहीं है. जो वसतिका राजमार्गके समीप है वह भी मुनिवासके लिये योग्य नहीं है.

चारणकोट्टगकल्लालकरकचे पुप्फदयसमीपे य ॥

एवंविधवसधीए होज्ज समाधीए वाघादो ॥ ६३४ ॥

चारणा वारणा वाजिनो मेषका, मद्यपाः पंडकाः सार्थिकाः सेवकाः ॥

ग्राविकाः कोटपालाः कुलाला भटाः पण्यनारीजना द्यूतकारा विटाः ॥ ६५७ ॥

संति यस्याः समीपे निकृष्टक्रियाः । सा न शय्या निषेव्या कदाचिद्बुधैः ॥
पालयद्भिःसमाधानरत्नं सदा रूढसंसारकांतारविच्छेदकम् ॥ ६५८ ॥

विजयोदया—चारणकोट्टगकल्लालकरकचे चारणकोट्टकशालायां, रजकशालायां, रसवणिक्शालायां । पुष्पपाटस्य वा जलाशयस्य वा समीपभूतायां । एवंविधवसधीए ईदृश्यां वसतौ वसतः । होज्ज वाघादो भवति व्याघातः । कस्य ? समाधीए समाधेश्चित्तैकाग्र्यस्य । इंद्रियविषयाणां मनोज्ञानां शब्दानां रूपादीनां च सन्निधानाच्छब्दबहुलत्वाच्च ध्यानविघ्नो भवतीति प्रतिषिध्यते व्यावर्णिता वसतिः ।

मूलारा—चारण भंडनमार्यगायकादयः । कोट्टय कुट्टकाः । वर्द्धकिशिलाकुट्टौवूखलिकादय । कल्लाल कल्पपालः । करकचे ककचं करपत्रं । पुप्फ पुष्पवाटिका मालाकारश्च । दय उदकं वापीकूपादिजलाशयश्च । समाधीए वाघादो चित्तैकाग्रताया विनाशो भवति मनोज्ञेन्द्रियार्थानां संनिधानाच्छब्दबाहुल्याच्च ॥ अत्र गंधर्वादिपदैः साहचर्यादिना गायकादयो गृह्यन्ते । तेन गायकादिशालासमीपवर्तिन्यां वसतौ समाधिकामैर्न स्थातव्यमिति तात्पर्यार्थः ।

उक्तं च–गायका वादका नर्तकाश्चाक्रिकाः शालिका मालिकाः कोलिका शांखिकाः ॥ काष्ठिका लौहिका मात्सिकाः पाजिकाः । कांडिका दांडिकाश्चार्मिकाश्छिपकाः ॥ चारणा वारणा वाजिनो मेषका । मद्यपाः षंडकाः सार्थिका सेवकाः ॥ भाविकाः कोट्टपालाः कुशाला भटाः । पण्यनारीजना द्यूतकारा विटाः ॥ संति यस्याः समीपे निकृष्टक्रियाः सा न शय्या निषेव्या कदाचिद्बुधैः ॥ पालयद्भिः समाधानरत्नं सदा रूढसंसारकांतारविच्छेदकं ॥

अर्थ–भांड, व स्तुतिपाठक, जहां रहते हैं ऐसे स्थानके समीप जो वसतिका होगी वह भी मुनिनिवासके लिये अयोग्य है. जहां शिलावट लोक रहते हैं, जहां बढई, पाथरवट लोक रहते हैं, और जहां मद्य बेचनेवाले लोक रहते हैं ऐसे स्थानके समीप वसतिकामें मुनिका रहना योग्य नहीं है. जहां धोबी लोक कपडे धोते है उस स्थानके समीप वसतिका करना योग्य नहीं है, जहां काठ करोतसे विदारते हैं उस स्थानके समीप वसतिका होना योग्य नहीं है. बगीचा और जलाशयके समीप वसतिका रहना योग्य नहीं है. ऐसी वसतिकाओंमें रहनेसे चित्तकी एकाग्रताका नाश होता है. इंद्रियों के मनोहर विषय, और शब्दादिक विषय, समीप होनेसे ध्यानमें विघ्न होता है. इसलिये ऐसी वसतिकायें मुनिओं के लिये वर्ज्य मानी हैं.

क तर्हि कथं तिष्ठत्यस्योत्तरमाचष्टे—

पंचेंदियप्पयारो मणसंखोभकरणो जहिं णत्थि ॥
चिट्ठदि तहिं तिगुत्तो उज्झाणेण सुहप्पवत्तेण ॥ ६३५ ॥
पंचाक्षप्रसरो यस्यां विद्यते न कदाचन ॥
त्रिगुप्तो वसतौ तस्यां शुभध्यानोऽवतिष्ठते ॥ ६५९ ॥

विजयोदया— पंचेंदियप्पयारो पंचानामिंद्रियाणां स्वविषयाभिमुख्येनादरात् प्रकृष्टं गमनं । जहिं यस्यां वसतौ नास्ति। कीदृगिंद्रियप्रचारो मणसंखोभकरणो मनःसंक्षोभकारी। तहिं तस्यां वसतौ। चिट्ठदि तिष्ठति। तिगुत्तो गुप्तमनोवाक्कायसंरक्षकः। उज्झाणेण। ध्यानेन सुहप्पवत्तेण सुखप्रवृत्तेन।

क तर्हि कथंभूतः सन् क्षपकस्तिष्ठतीत्यत्राह—

मूलारा—पयारो प्रचारः स्वस्वविषयाभिमुख्येनादरात्प्रकृष्टं गमनं ग्रहणाय प्रवृत्तिः। चिट्ठदि तिष्ठति। सुहप्पवत्तेण सुखेनानायासेन प्रवर्तमानेन ॥

क्षपक मुनि कहां और कैसे रहते हैं इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

अर्थ—जहां रहनेसे मुनिओं की इंद्रियां अपने अपने विषयों के तरफ न दौडेगी, जहां रहनेसे मनकी एकाग्रता नष्ट न होगी ऐसे स्थानमें अर्थात् ऐसी वसतिकामें त्रिगुप्तिधारक मुनि निवास करते हैं. जिसमें रहनेसे ध्यानमें निर्विघ्नता होगी वह वसतिका मुनिनिवासके लिये योग्य है.

मनःसंक्षोभहेतुः पंचानामिंद्रियाणां प्रचारो यस्यां वसतौ नास्ति तस्यां सर्वस्यां तिष्ठति न वेत्याचष्टे—

उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए हु ॥
वसइ असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए ॥ ६३६ ॥
उद्गमादिमलापोढा सप्रकाशा गतक्रिया ॥
संस्कारकरणायोग्या संमूर्च्छनविवर्जिता ॥ ६६० ॥

विजयोदया—उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितायां। अकिरियाए हु आत्मना उप-

त्मिलमार्जनक्रियारहितायां। वसदि वसति। असंसत्ताए तत्रस्थैरागंतुकैश्च सत्वैर्वर्जितायां। णिप्पाहुडियाए संस्काररहितायां। संजदाए वसती ॥

न च यस्यां मनःक्षोभकरः पंचेंद्रियप्रचारो नास्ति तस्यां सर्वस्यामेव स्थेयं किं तर्हि तथाभूतायामप्युद्गमादिदोषरहितत्वादिविशिष्टायामेवेत्यनुशास्ति—

मूलारा—अकिरियाए आत्मानमुद्दिश्य सम्मार्जनलेपनादिक्रियारहितायां। असंसत्ताए तत्रस्थैरागंतुकैश्च सत्वैर्वर्जितायां वा। णिप्पाहुडिगाए सर्वाद्युपद्रवरहितायां। निःसंस्कारायामित्यन्ये।

जिसमें मन क्षुब्ध होता नहीं है, जिसमें रहनेसे पंचेंद्रिय अपने विषयके प्रति दौड लगाते नहीं हैं ऐसा सर्व ही स्थान मुनिओंके लिये योग्य है क्या ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जो वसतिका उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित है. जो वसतिका मुनि के उद्देश्यसे लिपी पोती गई नहीं है ऐसी वसतिकामें क्षपक रहते हैं. जिसमें जंतुओंका वास नहीं है अथवा बाहरसे आकर जहां प्राणि वास नहीं करते हैं, जो संस्काररहित है ऐसी वसतिकामें मुनि रहते हैं.

कियत्यो वा वसतीराश्रयितव्या इत्यत्र वसतिं व्यावर्णयति-

दो तिण्णि वि सालाओ घेत्तव्वाओ विसालाओ ।

सुहणिक्खवणपवेसणघणाओ अवियडअणंधयाराओ ॥ ६३७ ॥

मिथ्यादृष्टिजनागम्या गृहिशय्याविवर्जिताः ॥

द्विज्या वसतयो ग्राह्याः सेव्या विध्वस्ततामसाः ॥ ६६१ ॥

विजयोदया—सुहणिक्खवणपवेसणघणाओ सुखेनप्रवेशनिर्गमना अपि। अवियडअणंधयाराओ अविवृतद्वारा अनंधकाराश्च जघन्यतो द्वे शाले ग्राह्ये। एकत्र क्षपको वसति, अन्यस्यां अन्ये यतयो बाह्यजनाश्च धर्मश्रवणार्थमायाताः। विवृतद्वारतया शीतवातादिप्रवेशात्क्षपकस्यासमाधानं दुःखं स्यात्। शरीरमलत्यागोऽपि कथमप्रच्छन्ने क्रियेत। अंधकारबहुले असंयमः स्यात्। असुखनिष्क्रमणप्रवेशायां आत्मविराधना असंयमविराधना च ॥

पुनर्वसतिं वर्तितां च व्यावर्णयति—

मूलारा—सुहणिक्खवणपवेसणघणाओ सुखनिर्गमाः सुखप्रवेशा निबिडाश्च। दुःखनिर्गमप्रवेशायामात्मनो पाल-

वृद्धजनानां च विराधना स्यात् । अनिविडायां क्षपकस्य त्वगस्थिमात्रतनोः शीतातपादिदुःखं दुःसहं स्यात् । अविघड अविकटा संवृतद्वारा विवृतद्वारायामनंतरोक्तश्च दोषो विण्मूत्रोत्सर्गदुष्करत्वं च। अगंधयाराओ अंधकाररहिताः । अंधकारबहुलायां असंयमः स्यात् । दो तिण्णिवि द्वे तिस्रो वा । तत्र यदि द्वे संपद्येते तदैकस्यां क्षपकस्तिष्ठेत् अन्यस्यामन्ये यतयो धर्मश्रवणार्थमागतो भव्यलोकश्च । यदि तिस्रस्तदा क्षपकः, संघो धर्मदेशना च पृथक् पृथक् प्रवर्तते ॥ घेत्तव्वाओ ग्राह्याः ॥

कोनसी निर्दोप वसतिकाओंका आश्रय लेना चाहिये इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—जिनमें सुखसे प्रवेश कर सकते हैं और बाहर आसकते हैं, जिनका द्वार ढका हुआ है, जिनमें विपुल प्रकाश है, ऐसी बडी दो वसतिकायें क्षपकके वास्ते जघन्यतया होनी चाहिये. एक वसतिकामें क्षपक रहता है और दूसरीमें अन्य मुनि और धर्मश्रवणार्थ आये हुये लोक रहते हैं. यदि तीन वसतिकायें होंगी तो एकमें क्षपक दुसरीमें संघके मुनि और तीसरीमें धर्मोपदेश ऐसी पृथक् पद्धति समझना चाहिये. वसतिकाका द्वार ढका नहीं होगा तो शीत वातादिकोंका प्रवेश होनेसे केवल चर्म और अस्थि ही जिसके अवशेप रहे हैं ऐसे क्षपकको दुःसह दुःख होगा. अतः वसतिकाका द्वार ढका हुवा ही होना योग्य है. द्वार ढका नहीं होगा तो ऐसी वसतिकामें शरीरमलत्याग क्षपक कैसे कर सकेगा ? यदि वसतिकामें बहुत अंधार होगा तो वहां रहने से असंयम की प्राप्ति होगी. जिस वसतिकासे बाहर जानेमें और अंदर आनेमें यदि कठिनता होगी तो आत्मविराधना और संयमविराधना ये दोष उत्पन्न होंगे.

अन्यथाचष्टे—

घणकुड्डे सकवाडे गामबहिं बालवुड्ढगणजोग्गे ॥
उज्जाणघरे गिरिकंदरे गुहाए व सुण्णहरे ॥ ६३८ ॥

निबिडाः संवृतद्वाराः सुप्रवेशविनिष्क्रमाः ॥
सकवाटा लसत्कुड्या बालवृद्धजनोचिताः ॥ ६६२ ॥

विजयोदया—घणकुड्डे दृढकुड्ये । सकवाडे कपाटसहिते । गामबहिं ग्रामबाह्ये देशे । बालवुड्ढगणजोग्गे बालानां वृद्धानां गणस्य चतुर्विधस्य योग्ये उद्यानगृहे । गुहाए गुहायां । वा सुण्णघरे शून्यगृहे वा । संथारो होदित्ति क्रियापदाभिसंबंधः ॥

मूलारा—घणकुड्डे दृढनिविडभित्तिके । गामबाहिं ग्रामाद्बहिर्देशे। बालवुड्ढगणजोग्गो बालानां वृद्धानां गणस्य चतुर्विधस्य च उचिते। गिरिकंदरे पर्वतदर्यां। गुहाए देवखातबिले ॥

और भी योग्य वसतिकाका वर्णन—

अर्थ—जिनके किवाड और भित्ति मजबूत हैं ऐसी वसतिकायें गांवके बाहर होनी चाहिये. जहां बाल, वृद्ध और चार प्रकारका गण आ जा सकते हैं ऐसे फासले पर वसतिकायें होनी चाहिये. उद्यानगृह, गुहा, और शून्य घर ये भी वसतिकाके योग्य माने गये हैं ऐसे स्थानमें क्षपकका संस्तर करना योग्य है.

आगंतुघरादीसु वि कडएहिं य चिलिमिलीहिं कायव्वो ॥
खवयस्सोच्छागारो धम्मसवणमंडवादी य ॥ ६२९ ॥

उद्यानमंदिरे हर्म्ये गुहायां शून्यवेश्मनि ॥
आगंतुकनिवासे वा स्थितिः कृत्या समाधये ॥ ६६३ ॥
क्षपकाध्युषिते धिष्ण्ये धर्मश्रवणमंडपः ॥
जनानंदकरः श्रेयः कर्तव्यः कटकादिभिः ॥ ६६४ ॥

इति शय्या ।

विजयोदया—आगंतुघरादीसु वि आगंतुकैः स्कंधावारायातैः सार्थिकैः कृतेषु गृहादिषु संथारो होदित्ति वक्ष्यमाणेन संबंधः। उक्तानां वसतीनामलाभे कडएहिं कटैः। खवगस्स क्षपकस्य अवस्थितये प्रच्छादनं कार्यं। धम्मसवणमंडवादी य धर्मश्रवणमंडपादिकं च अनेन बहुतरासंयमनिमित्तवसतित्यागः, संयमसाधनवसतिविकल्पश्च कथितः। सेज्जा ॥

मूलारा—आगंतुघरादीसु आगंतुभिः स्कंधावारायातैः सार्थिकैः कृतेषु गृहेषु। आदिशब्देन अन्येष्वपि एवंविधेषु क्षमणयोग्येषु घनकुड्यादिगुणोपेतोद्यानगृहादिषु पंचसूक्तेषु क्षपकस्य संस्तर कर्तव्य इति संबंध। उक्तानां वसतीनां अलाभे यत्कर्तव्यं तदाह कडएहिं इत्यादि कटैर्वंशदलमयप्रच्छादनैः। चिलिमिलीहिं पटलिकाभिः। उच्छागारो अवस्थितये गृहं। अन्ये उच्छायारो इति पठित्वा प्रच्छन्नप्रवेशमित्याहुः। न केवलमेष एव कर्तव्यो, यावता धर्मश्रवणमंडपादि च कर्तव्यं कटादिभिरिति संबंधः। एतेन बहुतरासंयमनिमित्तवसतित्याग. संयमसाधनवसतिविकल्पश्च कथितः। वसतिः सूत्रतः २९. ॥ अंकत ७ ॥

अर्थ—एक गांवसे दूसरे गांवको व्यापार करने के लिये जानेवाले व्यापारी लोगोंके लिये निर्माण किये घर वगैरे स्थानोंमें भी क्षपकके लिये संस्तर की योजना करते हैं और भी जो मुनि के लिये योग्य स्थान हैं उनमें संस्तरकी रचना कर सकते हैं. उपर्युक्त वसतिकाओं की प्राप्ति नहीं होगी तो वांसके दलसे तट्ट और आच्छादन बनवाकर वसतिका निर्माण करना चाहिये. वसतिकाके सिवाय धर्मोपदेशके लिये सभामंडपादिक भी बनवाने चाहिये. इतने विवेचन का अभिप्राय यह है कि जिसमें असंयम अधिक उत्पन्न होगा ऐसी वसतिकाओंका त्याग करना चाहिये. संयमसाधक वसतिकाओंके विकल्पका वर्णन भी इससे सिद्ध होता है. इस प्रकार वसतिकाका वर्णन हुआ.

एवंभूतायां वसतौ संस्तर इत्थम्भूत इत्याचष्टे—

पुढवीसिलामओ वा फलयमओ तणमओ य संथारो ॥
होदि समाधिणिमित्तं उत्तरसिर अहव पुव्वसिरो ॥ ६४० ॥

उत्तराशाशिराः क्षोणीशिलाकाष्ठतृणात्मकः ॥
संस्तरो विधिना कार्यः पूर्वाशामस्तकोऽथवा ॥ ६३५ ॥

विजयोदया—पुढवीसंथारो भवति । सिलामओ वा शिलामयो वा। फलकमओ फलकमयोवा वा। तणमओ वा तृणमयो वा। समाधिणिमित्तं समाध्यर्थं । उत्तरसिरमथ पुव्वसिरं पूर्वोत्तमांग उत्तरोत्तमांगो वा संस्तरः कार्यः । प्राची दिगभ्युदयिकेषु प्रशस्ता । अथवोत्तरा दिक् स्वयंप्रभाद्युत्तरदिग्गततीर्थकरभक्त्युद्देशेन ।

अथ प्रागुक्तलक्षणायां योग्यवसतौ आराधकस्य समाध्यंगतया संस्तरं गाथासप्तकेन निरूपयिष्यन्पूर्वं तद्भेदांश्चतुरो वक्तुमिदमाह—

मूलारा—उत्तरसिरे इत्यादि उत्तरा हि दिक् स्वयंप्रभाद्युत्तरदिग्गततीर्थकरभक्त्युद्देशेन शुभकार्ये चागमे प्रशस्ता । लोके पुनः आभ्युदयिकेषु कार्येषु पूर्वा दिक् प्रशस्यते सूर्याश्रयत्वात् । अत उत्तरशिराः पूर्वशिरा वा क्षपकस्य समाध्यर्थं पृथिव्यादिमयः संस्तरः कर्तव्य इति तात्पर्यम् ॥

इस प्रकारकी वसतिकामें संस्तर कैसा होना चाहिये इसका वर्णन—

अर्थ—संस्तरके पृथिवी संस्तर, शिलामयसंस्तर, फलकमयसंस्तर और तृणमय संस्तर ऐसे चार भेद

हैं. समाधिके निमित्त इन संस्तरों की आवश्यकता रहती हैं. इन संस्तरोंके मस्तकका भाग पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशाके तरफ होना चाहिये. पूर्व दिशा अभ्युदयिक कार्योंमें प्रशस्त मानी जाती है और उत्तर दिशा विदेह क्षेत्रमें स्वयंप्रभादितीर्थंकर उत्पन्न हुए हैं उनकी भक्तीके उद्देश्यसे प्रशस्त मानी गयी है.

भूमिसंस्तरनिरूपणाय गाथा—

अघसे समे असुसिरे अहिसुयअविले य अप्पपाणे य ॥
असिणिद्धे घणगुत्ते उज्जोवे भूमिसंथारो ॥ ६४१ ॥

निस्निग्धत्वसुखस्पर्शः प्रासुको निर्विलो घनः ॥
संस्तरः क्रियते क्षोणीप्रमाणरचितः समः ॥ ६६६ ॥

विजयोदया—अघसे अमृद्वी। समे अनिम्नोन्नता। असुसिरे असुषिरा अबिला। अहिसुया उद्देहिकारहिता अप्पपाणे निर्जन्तुका। असिणिद्धे अनार्द्रा। घणगुत्ते घना गुप्ता। उज्जोवे उद्योतवती भूमिः। भूमिसंथारो भूमिसंस्तरः। मृद्वी भूमिर्बाध्यते करचरणमर्दनेन। असमानेन तत्रात्मनो बाधा। सुषिरे बिले वा प्रविष्टा निर्गतास्तत्रस्थाः पीड्यन्ते। आर्द्रा चेदप्कायिकानां पीडा। अनुद्योते अपश्यतः कथमसंयमपरिहारः। अन्ये तु समन्वंततां व्याचक्षते। अमृद्व्यां अनिम्नोन्नतायामसुषिरायां इति तदयुक्तं। आधेयस्य संस्तरस्य अन्यस्याभावात्। अपि च पुढवी सिलामओ वा इति वचनेन पृथिवीरूपतया संस्तरस्योक्तेः।

भूमिं संस्तरीकर्तुं लक्षयति—

मूलारा—अघसे अमृद्वी। समे अनिम्नोन्नता। असुसिरे अच्छिद्रा। अहिसुय उद्देहिकारहिता। अप्पपाणे निर्जंतुका॥ अप्पमाणे क्षपकशरीरप्रमाणा॥ असिणिद्धे। अनार्द्रा। घणा घना दृढा॥ गुत्ते अप्रकटा। उज्जोवे उद्योतवती॥ भूमि भूमिः। अदृश्यत्वादिदशगुणोपेता क्षितिः संस्तरो भवेत् "अत्रार्थत्वात्प्रथमार्थे सप्तमीलिंगप्रत्ययश्च। उक्तं च॥

निर्जंतुका घना गुप्ता समामृद्वी सुनिर्मला॥
अनार्द्रा स्वप्रमाणा च सोद्योता संस्तरो धरा॥

मृद्वी हि भूमिर्गात्रकरचरणमर्दनेन बाध्यते। असमायामात्मनो बाधा। सच्छिद्रायां छिद्रप्रविष्टास्तत्रस्था वा निर्गताः प्राणिनः पीड्यन्ते। उद्देहिकासंभवयोग्यायां संन्यासकालोद्भूतोद्देहिकाभिः क्षपको दंदश्यते। सप्राणिकायां

प्राणिसंयमविराधना स्वप्रमाणाधिकायां व्यर्थः प्रतिलेखनादिव्यासंगः । प्रमाणहीनायां गात्रसंकोचदुःखं । आर्द्रायां अप्कायिकजंतुपीडा । अदृढायां अंगभारेण नमन्त्यां तद्गतजंतुबाधा, शयितुः कष्टं च । प्रकटायां मिथ्यादृष्टिजनानुषंगः । अनुद्योतायां दृष्टिप्रतिबंधाद्दुःशकोऽसंयमपरिहारः ॥

भूमिसंस्तरका निरूपण करनेवाली गाथा —

अर्थ—जो जमीन मृदु नहीं है वह संस्तरके लिये योग्य है. जमीन मृदु होगी तो वह हाथ और पांवोंके मर्दनसे बाधित होगी. वह जमीन असुषिर होनी चाहिये. सुषिर—छिद्र होंगे, बिल, होंगे तो उसमेंसे निकले हुए और प्रविष्ट हुये त्रसजीवोंको बाधा होगी. वह समा होनी चाहिये. वह ऊंची नीची होनेसे क्षपकको सोनेमें बाधा उत्पन्न होगी. यदि वह गीली होगी तो जलकायिक जीवोंको बाधा पहुंचेगी, इसलिये वह सूखीही होनी चाहिये. कृमिकीटकादिकसे रहित, प्राणिरहित, प्रकाशयुक्त, क्षपकके देहप्रमाणके अनुसार और गुप्त, सुरक्षित होनी चाहिये. यदि प्रकाशरहित हो तो असंयमका परिहार हो नहीं सकेगा. प्राणिओंसे युक्त होगी तो प्राणिसंयमका रक्षण क्षपक नहीं कर सकेगा. कृमिकीटक सहित होगी तो कीटादिक जंतु क्षपकके देहको काट खायेंगे. यह शरीर-प्रमाणसे अधिक होनेपर प्रतिलेखनादिकका व्यासंग अधिक करना पडेगा. प्रमाणसे हीन होगी तो शरीरसंकोच करना पडेगा. यदि दृढ न होगी तो क्षपकके अथवा शोधन करनेवाले के शरीर से दब जाने पर उसमें रहनेवाले जंतुओंको बाधा पोहोचेगी. यदि गुप्त न हो तो मिथ्यादृष्टि लोकोंका संसर्ग होगा. अतः मृदुत्वादिदोषोंसे वर्जित पृथिवी–जमीन संस्तररूप होगी. अन्यथा नहीं.

विद्धत्थो य अफुडिदो णिक्कंपो सव्वदो असंसत्तो ॥
समपट्ठो उज्जोवे सिलामओ होदि संथारो ॥ ६४२ ॥

विध्वस्तोऽस्फुटितोऽकंपः समपृष्ठो विजंतुकः ॥
उद्योते मसृणः कार्यः संस्तरोऽस्ति शिलामयः ॥ ६६७ ॥

विजयोदया— विद्धत्थो य विध्वस्तः । दाहात्कुट्टनाद्धर्षणाद्वा । अफुडिदो अस्फुटितः । णिक्कंपो निश्चलः । सव्वदो समंतात् । असंसत्तो जीवरहितः । पाषाणमत्कुणादिरहित इति यावत् । समपट्ठो समपृष्ठः । उज्जोए उद्योते । सिलामओ होदि संथारो शिलामयो भवति संस्तर. ॥

शिलासंस्तरमाह–

मूलारा–विद्धत्थो विध्वस्तो दाहकुट्टनघर्षणादिभिः प्रासुकीभूतः। अप्फुडिदो अस्फुटितः। णिकंपो निश्चलः। पापाणमत्कुणादिराहितः। समपट्ठो समतलः। उज्जोए सप्रकाशप्रदेशे वर्तमानः।

शिलासंस्तरका विवेचन—

अर्थ– शिलामय संस्तर विध्वस्त अर्थात् अग्निज्वालासे दग्ध, टांकीके द्वारा उकीरा गया अथवा घिसा हुआ होना चाहिये. क्योंकि अग्न्यादिके द्वारा वह प्रासुक हो जाता है. यह शिलामय संस्तर टूटा फूटा न हो, निश्चल हो, सर्वतः जीवोंसे रहित, मत्कुणादि जीवोंसे रहित, समतल, और प्रकाशयुक्त होना चाहिये.

भूमिसमरुंदलहुओ अकुडिल एगंगि अप्पपाणो य ॥
अच्छिद्दो य अफुडिदो लण्हो वि य फलयसंथारो ॥ ६४३ ॥

लघुर्भूमिसमो रुंद्रो निःशब्दः स्वप्रमाणकः ॥
एकांगः संस्तरोऽछिद्रः श्लक्ष्णः काष्ठमयो मतः ॥ ६६८ ॥

विजयोदया–भूमिसमरुंदलहुगो भूम्यचलनः, महान्, लघुः, । अकुडिल एगंगि अप्पपाणो य अचलः, एकशरीरः, निर्जन्तुकः । अच्छिद्दो य अच्छिद्रः। अफुडिदो अस्फुटितः। लण्हो मसृणः। फलगसंथारो फलकसंस्तरः॥

फलकसंस्तरं व्याचष्टे–

मूलारा–भूमिसम समंततो भूमिलग्नः। रुंद विस्तीर्णः। लहुओ उद्धर्तुं नेतुमानेतुं वा सुशकः। अकुक्कुचोकंग अकुकुचो निःशब्द एकांग एकफलकः। अप्पमाणो पुरुषप्रमाणः। लण्हो मसृणः॥

फलकमय संस्तरका वर्णन —

अर्थ—चारों तरफसे जो भूमिसे संलग्न हुआ है, रुंद, और हलका, उठानेमें रखनेमें अनायासकारक, सरल, अखंड, निर्जन्तुक, स्निग्ध, मृदु, अफूट ऐसा फलक संस्तर के लिये योग्य है.

णिस्संधी य अपोल्लो णिरुवहदो समधिवास्सणिज्जंतु ।
सुहपडिलेहो मउओ तणसंथारो हवे चरिमो ॥ ६४४ ॥

कृत्यस्तृणमयोऽसंधिः संस्तरो निरुपद्रवः ॥
निःसम्मूर्च्छेरपाच्छिद्रो मृदुः सुप्रतिलेखनः ॥ ६६९ ॥

विजयोदया—णिस्संधी य ग्रंथिरहितः । अपोल्लो अच्छिद्रः । णिरुवहदो निरुपहतः अचूर्णितः । समाधिवास्सणिज्जंतु । मृदुस्पर्शो निर्जन्तुकश्च । सुहपडिलेहो सुखेन प्रतिलेखनीयः सुखेन शोध्य इति यावत् । मउगो मृदुः । तणसंथारो हवे चरिमो तृणसंस्तरो भवेदन्त्यः ॥

तृणसंस्तरं व्याचष्टे—

मूलारा — णिस्संधी निर्ग्रन्थितृणविरचितः । निरंतरसमायततृणो वा । अपोल्लो अंतश्छिद्ररहिततृणः । णिरुवहदो अचूर्णिततृण । समधिवास्स समधिवास्यः सम्यगधिवस्तुं शक्यः सर्जूद्भवनायोग्यत्वात् । मउओ मृदुः ॥

तृणसंस्तरका वर्णन—

अर्थ—तृणसंस्तर गांठ रहित तृणसे बना हुआ, छिद्ररहित, न टुटे हुए तृणसे रचा गया, जिसपर सोनेसे अथवा बैठनेसे अंगमें खुजली उत्पन्न न होगी ऐसे तृणसे बना हुआ, मृदुस्पर्शवाला, जंतुरहित, जो सुखसे शोधा जाता है ऐसा होना चाहिये.

जुत्तो पमाणरइओ उभयकालपडिलेहणासुद्धो ॥
विधिविहिदो संथारो आरोहव्वो तिगुत्तेण ॥ ६४५ ॥

प्रमाणरचितो योग्यः कालद्वितयशोधनः ॥
आरोढव्यस्त्रिगुप्तेन संस्तरोऽयं समाधये ॥ ६७० ॥

विजयोदया—जुत्तो युक्तो योग्यः । पमाणरइदो प्रमाणसमन्वितः । नात्यल्पो नातिमहान् । उभयकालपडिलेहणासुद्धो सूर्योदयास्तमनकालद्वये प्रतिलेखनेन शुद्धः । विधिविहिदो संथारो शास्त्रनिर्दिष्टक्रमकृतसंस्तरः । आरोहव्वो आरोढव्यः । केन तिगुत्तेण त्रिगुप्तेन कृताशुभमनोवाक्कायनिरोधेन ।

चतुर्विधस्यापि संस्तरस्य गुणव्यावर्णनमुखेन आरोढत्वमाह—

मूलारा—जुत्तो योग्य । पमाणरइदो नात्यल्पाविपुल । उभयोकाल सूर्योदयास्तमनकालद्वये विधि शास्त्रक्रम ॥

अर्थ—चारों प्रकारके संस्तरोंमें ये गुण होने चाहिये. योग्य, प्रमाणयुक्त, बहुत छोटा अथवा बहुत बडा जो नहीं है. सूर्योदयकाल में और सूर्यास्तकालमें शोधन करनेसे जो शुद्ध होता है. शास्त्रोक्त जिसकी रचना हुई है, ऐसे संस्तरपर मन, वचन और कायको शुद्धकर क्षपकको आरोहण करना चाहिये.

णिसिदित्ता अप्पाणं सव्वगुणसमण्णिदंमि णिज्जवए ॥
संथारम्मि णिसण्णो विहरदि सल्लेहणाविधिणा ॥ ६४६ ॥

निर्यापके समर्प्य स्वं समस्तगुणशालिनि ॥
प्रवर्तते विधानेन क्षपकः संस्तरे स्थितः ॥ ६७१ ॥
तृणक्षोणिपाषाणकाष्ठप्रशस्ते स्थितः संस्तरे धर्ममार्गप्रवीणः ॥
धुनीते समस्तानि कर्माणि योगी रणे योधवर्गो बलानीव धीरः ॥६७२॥

इति संस्तरः ॥

विजयोदया—णिसिदित्ता स्थापयित्वा । त्यक्त्वा अप्पाणं आत्मानं । सव्वगुणसमण्णिदम्मि सर्वगुणसमन्विते णिज्जवगे निर्यापके । संथारम्मि संस्तरे । णिसण्णो निषण्णो । विहरदि चेष्टते । सल्लेहणा विहिणा सल्लेखना द्विप्रकारा बाह्याभ्यंतरा चेति । द्रव्यसल्लेखना भावसल्लेखना च । आहारं परिहाय शरीरसल्लेखनां करोति । सम्यग्दर्शनादिभावनया मिथ्यात्वादिपरिणामांस्तनूकरोति । एवं वसतिसंस्तरौ निरूपितौ ॥

किं कृत्वा संस्तरमारूढः किं करोतीत्याह—

मूलारा—णिसिदित्ता समर्प्य, सल्लेहणाविहिणा आहारपरिहापनेन शरीरं, सम्यक्त्वादिभावनया मिथ्यात्वादींश्च तनूकरोतीत्यर्थ. । संस्तरः सूत्र. २६ अंकत ७ ॥

अर्थ—क्षपक संपूर्ण गुणों से पूर्ण ऐसे निर्यापकाचार्य पर अपना सर्व भार सोपकर अर्थात् उसको ही शरण मानकर संस्तरपर अरोहण करता है और सल्लेखनाका विधिपूर्वक आचरण करनेकी शुरुआत करता है.

सल्लेखनाके दो प्रकार हैं. बाह्य सल्लेखना और अभ्यंतर सल्लेखना अथवा द्रव्यसल्लेखना और भावस-

छेखना. आहारका त्याग करनेसे शरीर सल्लेखना होती है. सम्यग्दर्शनादिकी भावनासे मिथ्यात्वादिपरिणामों को क्षीण करना कषायसल्लेखना है. इस प्रकार वसति और संस्तरका विवेचन समाप्त हुआ.

पियधम्मा दढधम्मा संवेगावज्जभीरुणो धीरा ॥

छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू ॥ ६४७ ॥

स्थेयांसः प्रियधर्माणः संविग्नाः पापभीरवः ॥

ख्याताश्छंदानुगमनाः कल्पाकल्पविचक्षणाः ॥ ६७२ ॥

विजयोदया—पियधम्मा प्रियो धर्मो येषां ते भवंति प्रियधर्माणः । दढधम्मा धर्मे स्थिराः, संविग्गा संविग्नाः संसारभीरवः । वज्जभीरुणो पापभीरवो धीरा धृतिमंतः । छंदण्हू अभिप्रायज्ञाः । पच्चइगा प्रत्ययिताः । पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू । प्रत्याख्यानक्रमज्ञाः । धर्मश्चारित्रं तेन प्रियचारित्रा यतः । ततश्चारित्रे क्षपकमपि वर्तयितुमुत्सहन्ते तत्सहायतां च कर्तुं । यद्यपि चारित्रेऽनुरागवंत. सम्यग्दृष्टितया तथापि चारित्रमोहोदयाददृढचारित्रा भवन्ति इति विशेषणमुपादत्ते दृढचारित्रा इति । अदृढचारित्रा हि न असंयमं परिहरेयुः । कस्मादसंयमं परिहरन्ति पापभीरवो यस्मात् । संविग्ना विविधव्यसननिधानभूतचतुर्गतिभ्रमणभयव्याकुलाः । धीरा इत्यनेन परीषहसहा इत्याख्यायते । परीषहैः पराजितो न संयमं पालयतीति मन्यते । क्षपकेन अनुक्तमपि तदिंगितेनावगततत्प्रयोजना वैयावृत्त्ये वर्तन्ते । नानाभिप्रायज्ञा इति वर्णयितुं छंदण्हू इत्युक्तं । प्रत्ययितव्या गुरुभिर्नामी असंयमं कुर्वंति क्षपके वैयावृत्त्योद्यता इति साकारनिराकारप्रत्याख्यानक्रमज्ञा' ॥

अथ तथा कृतपरिकरस्याराधकस्य यथोक्तलक्षणायां वसतौ विधिविहितं संस्तरमारूढस्य अष्टाचत्वारिंशतं समाधिसहायाभियोक्तुं चत्वारिंशतं गाथा. सूत्रयन्नादौ तल्लक्षणख्यापनार्थं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—धीरा परीषहसहाः । छंदण्हु अभिप्रायविद । पच्चइदा अनेकवारान्पूरितप्रत्यया. । धर्मो हि चारित्रं ततः स्वयमप्रियचारित्राः क्षपकमपि चारित्रे वर्तयितुं सहायतां च कर्तुं नोत्सहन्ते इति प्रियधर्माण इत्युच्यते । सम्यग्दृष्टितया चारित्रानुरागिणोऽपि चारित्रमोहोदयादस्थिरचारित्राः संत कथं क्षपकस्य चारित्रसमाधानाय प्रयतंत इति दृढधर्माण इत्युच्यते । पापाद्विभ्यतो नासंयमं त्यजेयुरित्यवद्यभीरव इत्युच्यते । यथोक्तगुणा अप्यनुमाह्याभिप्रायमिंगितादिभि-

गानभिप्रायश्च न गुरुभिरात्परिकर्मण्यधिक्रियन्ते इति प्रत्यचिताः प्रत्याख्यानक्रमज्ञा अभ्युच्यते । एवमुत्तरसूत्रेऽपि पदसाफल्यं चिन्त्यम् ।

परिचारकोंका लक्षण दो गाथाओंसे आचार्य कहते हैं---

अर्थ---जिनका धर्मपर गाढ प्रेम है और जो स्वयं धर्म में स्थिर हैं संसारसे और पापसे जो हमेशा भययुक्त हैं, धैर्यवान और क्षपकके अभिप्रायको जाननेवाले, प्रत्याख्यानके ज्ञाता ऐसे परिचारक क्षपककी शुश्रूषा करने योग्य माने गये हैं. धर्म अर्थात् चारित्र. जो यति स्वयं चारित्रपर प्रेम करते हैं वे क्षपकको भी उसके पालनेमें उत्साहित करेंगे और उसको मदत करेंगे. सम्यग्दृष्टि होनेसे चारित्र में वे केवल प्रेम ही करते हैं और चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे उनका चारित्र शिथिल होगा एसी शंकाका निरसन करनेके लिये 'दिढधम्मा' यह विशेषण है. अर्थात् परिचारक जैसे चारित्रपर प्रेम करते हैं वैसे वे उसमें दृढ भी रहते हैं. जिनका चारित्र दृढ होता नहीं वे असंयमका त्याग करनेमें असमर्थ होते हैं. परिचारक गण पापसे भययुक्त हैं अतः वे असंयमका त्याग करते हैं. नाना प्रकार के दुःखोंका निधानभूत ऐसे चतुर्गतिके भ्रमण से वे व्याकुल होगये हैं इसलिये वे संसारभीरु बने हैं परिषहोंको वे सहन करते हैं. जो परीषहोंसे पराजित होते हैं वे संयम पालनेमें असमर्थ देखे जाते हैं. जो क्षपक के बिना कहे भी मनके अभिप्राय जानते हैं वे ही वैयावृत्य कर सकते हैं. परंतु जिनमें अभिप्राय जाननेका सामर्थ्य नहीं है वे वैयावृत्य नहीं कर सकेंगे ऐसा अभिप्राय 'छंदण्हु' इस पदसे आचार्य ने व्यक्त किया है. जिनको साकार और निराकार प्रत्याख्यान का क्रम ज्ञात नहीं है और जिन्होंने पूर्वमें कभी क्षपकका वैयावृत्य किया नहीं है ऐसे मुनि अभिप्राय जाननेवाले हो तो भी उनको आचार्य परिचारकके कार्यमें नियुक्त नहीं करते हैं. इसलिये परिचारक प्रत्ययित अर्थात् अनेकवार क्षपक की सेवा जिन्होंने की है अर्थात् जो अनुभवी हैं ऐसे होने चाहिये.

कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्सा ॥
गीदत्था भयवंता अडदालीसं तु णिज्जवया ॥ ६७८ ॥

प्रत्याख्यानविदो धीराः समाधानक्रियोद्यताः ॥
पदूताडितादृष्टसंख्याना ग्राह्या निर्यापकाः पराः ॥ ६७४ ॥

विजयोदया—कप्पाकप्पे कुसला योग्यमिदमयोग्यमिति भक्तपानपरीक्षायां कुशलाः । समाधिकरणुज्जदा क्षपकचित्तसमाधानकरणोद्यताः । सुदरहस्सा श्रुतप्रायश्चित्तग्रंथाः । गीदत्था गृहीतसूत्रार्थाः । भगवंते भगवंतः स्वपरोद्धारमाहात्म्यवन्तः । अडदालीसं तु अष्टचत्वारिंशत्संख्या । णिज्जवगा निर्यापका यतयः ॥

मूलारा—कप्पाकप्पे योग्यायोग्यभक्तपानादिपरीक्षायां । भयवंता स्वपरोद्धरणमाहात्म्यवन्तः ।

अर्थ—ये आहारपानादिक पदार्थ योग्य हैं इनका ज्ञान परिचारकोंको होना आवश्यक है यदि वे इस ज्ञानसे वंचित हो तो क्षपकको असंयममें भी प्रवृत्त करने लग जायेंगे, आयोग्य आहारमें भी प्रवृत्त करेंगे. क्षपकका चित्त समाधान करनेवाले, प्रायश्चित्त ग्रंथको जाननेवाले, आगमज्ञ, स्वयं और परका उद्धार करनेमें कुशल अर्थात् स्वपरोपकार करके उद्धार करते हैं ऐसी जिनकी जगमें कीर्ति फैली है, ऐसे परिचारक यति अडतालीस होते हैं

निर्यापका इममुपकारं कुर्वन्तीति कथनायोत्तरप्रबंधः—

आमासणपरिमासणचंकमणासयण णिसीदणे ठाणे ॥
उव्वत्तणपरियत्तणपसारणा उंटणादीसु ॥ ६४९ ॥

आमर्शनपरामर्शगमस्थानशयादिषु ॥
उद्वर्तनपरावर्तप्रसाराकुंचनादिषु ॥ ६७५ ॥

विजयोदया— आमासणपरिमासणचंकमणसयणणिसीयणे ठाणे क्षपकस्य शरीरैकदेशस्य स्पर्शनं आमर्शनं, समस्तशरीरस्य हस्तेन स्पर्शनं परिमर्शनं । चंकमणमितस्ततो गमनं । णिसीदणे ठाणे निषद्यास्थानमित्येतेषु । उव्वत्तणपरियत्तणपसारणाउंटणादीसु । उद्वर्तने पार्श्वात्पार्श्वान्तरसंचरणे । हस्तपादादिप्रसारणे आकुंचनमित्यादिषु च ॥

निर्यापकाः क्षपकस्येममिममुपकारं कुर्वंतीत्युत्तरप्रबंधेन कथयिष्यन्नादौ तेषां तद्देहपरिचर्यायां चतुरो नियोक्तुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—आमासण-शरीरैकदेशस्पर्शनं । परिमासण सर्वगात्रस्पर्शनं । चंकमण इतस्ततो परिचरणं ॥

क्षपकके ऊपर उनके द्वारा किये जानेवाले उपकारका आचार्य वर्णन करते हैं.—

अर्थ—शरीरके एक देशका स्पर्शन करना उसको आमर्शन कहते हैं. अर्थात् हाथ या पांव वगैरे अवयवोंकी बाधा दूर करनेके लिये हाथसे दाबना, पगचंपी करना, संपूर्ण अंगके स्पर्शनको परिमर्शन कहते हैं. अर्थात्

संपूर्ण अंग अपने हाथसे मृदु दाबना जिससे क्षपककी देहबाधा मिटेगी. क्षपककी हाथका आश्रय देकर इधर उधर चलते समय मदत करना इसको संक्रमण कहते हैं. उसको संस्तरपर सुलाना, हाथ देकर बैठाना, खडा करना, उसको एक बगलसे दुसरे बगलपर सुलाना, हाथ पांव पसारना, संकुचित करना इत्यादिक उपकार परिचारक मुनि करते हैं.

संजदकमेण खवयस्स देहकिरियासु णिच्चमाउत्ता ॥
चदुरो समाधिकामा ओलग्गंता पडिचरंति ॥ ६५० ॥

देहकर्मसु चेष्टंते क्षपकस्य समाधिदाः ॥
चत्वारो यतयो भक्त्या परिचर्यापरायणाः ॥ ६७६ ॥

विजयोदया—संजदकमेण प्रयत्नेनैव। खवगस्स क्षपकस्य। देहकिरियासु शारीरक्रियासु व्यावर्णितासु। णिच्चं प्रतिदिनं। आउत्ता आयुक्ताः। चदुरो चत्वारो यतयः। समाधिकामाः क्षपकस्य समाधिकरणमभिलषन्तः। ओलग्गंता उपासनां कुर्वन्तः। पडिचरंति प्रतिचारका भवन्ति। 'चत्तारि जणा धम्मं कहंति विकधाओ वज्जित्ता' इति पदसंबंधः चत्वारो धर्मं कथयन्ति विकथाः परित्यज्य ॥

मूलारा—संजदकमेण मुनिमार्गेण। आउत्ता मनोवाक्कायैः समाहिताः। समाधिकामा क्षपकस्य समाधिमिच्छन्तः। ओलगंता पर्युष्टिं कुर्वन्ति। पडिचरंति प्रतिचारका भवन्ति ॥

अर्थ—यह सब उपकार करते समय परिचारक सावधानी रखते हैं. अर्थात् असंयमकी उत्पत्ति न होगी और क्षपकको समाधान होगा ऐसा प्रयत्न करते हैं. उपर्युक्त कार्य करनेकेलिये हमेशा चार परिचारक मुनिओंकी निर्यापकाचार्य योजना करते हैं.

कास्ता विकथा भवन्ति।

भत्तित्थिराजजणवदकंदप्पत्थणडणट्टियकहाओ ॥
वज्जित्ता विकहाओ अज्झप्पविराधणकरीओ ॥ ६५१ ॥

स्त्रीराजमन्मथाहारद्रव्यदेशादिगोचराः ॥
विमुच्य विकथाः सर्वाः समाधाननिषूदनीः ॥ ६७७ ॥

विजयोदया—भत्तित्थिरायजणवदकंदप्पत्थणडणट्टिगकहाओ । भक्तं भज्यते सेव्यते इति भक्तं चतुर्विधाहारः । भक्तस्य, स्त्रीणां, राज्ञां, जनपदानां रागोद्रेकात्महासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कंदर्पः तस्य अर्थस्य, नटानां, नर्तिकानां च याः कथास्ताः । अज्झप्पविराधणकरीओ । आत्मानमधिवर्तते इत्याध्यात्मिकं । आत्मनस्तत्त्वनिश्चयनिरूपणं ध्यानं तस्य विराधणकरीओ विराधनाकारिणीः ॥

चत्वारो विकथास्त्यक्त्वा धर्मं कथयंतीत्येतद्गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—भत्तित्थि भक्तकथां स्त्रीकथां च । कंदप्पत्थ कामकथां धनकथां च । णडणट्टिय नटनार्तकीकथां । विकहाओ मार्गविरुद्धकथाः । अज्झप्प शुभध्यानं ॥

चार मुनि विकथाओंका त्याग कर धर्मकथाका वर्णन करते हैं ऐसा आगे संबंध स्पष्ट करेंगे. प्रथम विकथाओंका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—चार प्रकारके आहारका वर्णन करना भक्तकथा है. स्त्रिओंका वर्णन करना स्त्रीकथा है. राजाओंकी कथा कहना राजकथा है और अनेक देशोंका वर्णन करना देशकथा है. कामविकारसे उन्मत्त होकर हास्यमिश्र असभ्य वचन बोलना उसको कंदर्प कहते हैं. बांसके ऊपर खेलनेवाले और नृत्य करनेवालोंका वर्णन करना ये सब कुकथायें हैं. ये आत्माके स्वस्वरूपके चिंतनमें बाधा उत्पन्न करती हैं. इस लिये इनका त्यागकर क्षपकको चार मुनि हमेशा धर्मका उपदेश देते हैं.

कथं तर्हि कथयंति—

अक्खलिदममिलिदमव्वाइद्धमणुच्चमविलंबिदममंदं ॥
कंतमभिच्छामेलिदमणत्थहीणं अपुणरुत्तं ॥ ६५२ ॥
अनाकुलमनुद्विग्नमव्याक्षेपमनुद्धतं ॥
अनर्थहीनमाश्लिष्टमविचलितमद्रुतम् ॥ ६७८ ॥

विजयोदया—अक्खलिदं अस्खलितं अन्यथा शब्दोच्चारणं शब्दस्खलना, विपरीतार्थनिरूपणा अर्थस्खलना । अमिलिदं अनाम्रेडितं । असंमुग्धं । अव्वाइद्धं अव्याहतं अप्रतिहतं प्रत्यक्षादिना । अणुच्चं नातिमहद्ध्वनिसमेतं । अविलंबितं नातिशनैः । अमंदं नात्यल्पघोषं । कन्तं श्रोत्रमनोहरं । अभिच्छामेलिदं मिथ्यात्वेनासंमिश्रं । अणत्थहीणं अभिधेयशून्यं यथा भवति । अपुणरुत्तं उक्तस्य अविशेषेण भूयोऽभिधानं पुनरुक्तं यथा तत्पौनरुक्त्यं न भवति ।

मूलारा—अग्गालिदं अस्खलितं। अन्यथा शब्दोच्चारणविपरीतार्थकथनरहितं। अमिलिदं असंदिग्धं। अव्याइद्धं प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणाविरुद्धं। अणुच्च नात्युच्चैर्ध्वनि। अविलंबितं। अपुनरुक्तं उक्तस्यार्थस्य अविशेषेण भूयोऽभिधानरहितम्।

मुनि धर्मोपदेश किस प्रकार कहते हैं—

अर्थ—वे मुनि जब धर्मोपदेश देते हैं तब उनके मुखसे जिस अभिप्राय के शब्द निकलने चाहिये वे ही निकलते हैं विपरीत अर्थका कभी भी वे वर्णन नहीं करते हैं. एकही शब्द वे दो तीन दफे नहीं बोलते हैं. संशय उत्पन्न करने वाला भाषण वर्ज्य करके प्रत्यक्षपरोक्षादि प्रमाणसे अविरुद्ध वचन मुखसे निकालते हैं. उच्चस्वर और मंदस्वर का त्याग कर मध्यमस्वरसे वे भाषण करते हैं. अतिशय सावकाश और अतिशीघ्रताको छोडकर मध्यम पद्धतिका अवलंबकर बोलते हैं. उनका भाषण, कर्णमनोहर, मिथ्यात्वसे अमिश्रित, निरर्थकतारहित रहता है. जो अर्थ एक दफे कहा है. उसको ही पुन. कहना पुनरुक्तदोष कहा जाता है इस दोषसे रहित उन मुनिगणका भाषण रहता है.

णिद्धं मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्ज पत्थं च ॥
चत्तारि जणा धम्मं कहंति णिच्चं विचित्तकहा ॥ ६५२ ॥

प्रल्हादजनकं पथ्यं मधुरं हृदयंगमं ॥
धर्मं वदन्ति चत्वारो ह्यचित्रकथोद्यताः ॥ ६७९ ॥

विजयोदया—णिद्धं प्रियं। मधुरं ललितपदवर्णरचने। हिदयंगमं श्रोत्रहृदयानुप्रवेशि। पल्हादणिज्ज पत्थं च सुखदं पथ्यं च कदावि कथयंति। णिच्चं सतत्तं। विचित्तकहा नानाकथाकुशला.॥

मूलारा—णिद्धं प्रियं। मधुरं ललितवर्णपदरचनं। विचित्तकथा नानाकथाकुशलः॥

अर्थ—प्रिय, सुंदरशब्दरचनायुक्त, कान और हृदयमें प्रवेश करने वाला सुखकर, हितप्रद ऐसा धर्मोपदेश अनेक कथाओंके साथ वे चार परिचारक मुनि कहते हैं.

कीदृशी क्षपकस्य कथा भणितव्या इत्याचष्टे—

खवयस्स कहेदव्वा दु सा कहा जं सुणित्तु सो खवओ ॥
जहिदविसोत्तिगभावं गच्छदि संवेगणिव्वेगं ॥ ६५४ ॥

क्षपकस्य कथा कथ्या सा यां श्रुत्वा विमुंचते ॥
सर्वथा विपरीणामं याति संवेगनिर्विदौ ॥ ६८० ॥

विजयोदया—खवगस्स क्षपकस्य । सा कहा सा कथा । कहेदव्वा कथयितव्या । सो खवगो असौ क्षपकः । जं यां कथां । सुणित्तु श्रुत्वा । जहिदविसोत्तिगभावो त्यक्ताशुभपरिणामः । गच्छदि संवेगणिव्वेगं संसारभीरुतां शरीरभोगनिर्वेदं च प्रतिपद्यते ।

एवं समां प्रति धर्मोपदेशविधिमभिधाय क्षपकं प्रति कथाविशेषकथनं नियमयति—

मूलारा—सुणित्तु श्रुत्वा । जहिद त्यक्त्वा । विसोत्तियभावं दुरध्यवसायं ॥

क्षपकको कोनसी कथा कहना योग्य है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—क्षपकको वह कथा सुनानी चाहिये कि जिसके सुननेसे उसके अन्तःकरणमें उत्पन्न हुए अशुभ परिणाम विनष्ट होकर वह संसारभीत और देहभोगसे विरक्त हो जावेगा.

आक्खेवणी य संवेगणी य णिव्वेयणी य खवयस्स ॥
पाओग्गा होंति कहा ण कहा विक्खेवणी जोग्गा ॥ ६५५ ॥

भवन्त्याक्षेपनिर्वेगनिर्वेदजनिकाः कथाः ॥
क्षपकस्योचितास्तिस्रो विक्षेपजनिका तु नो ॥ ६८१ ॥

विजयोदया—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी निर्वेजनी चेति चतस्रः कथाः । तासां मध्ये का योग्या ? का वायोग्येत्यत्रोत्तरं ब्रवीति । आक्खेवणी य इति आक्षेपणी, संवेजनी, निर्वेजनी च कथा क्षपकस्य श्रोतुं, आख्यातुं च योग्या । विक्षेपणी तु कथा न योग्या इति सूत्रार्थः ।

मूलारा—विक्षेपणीवर्जनमाक्षेपण्यादिकथात्रयं क्षपकस्य श्राव्यतयोपदिशति ॥

अर्थ—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी ऐसे कथा के चार भेद हैं. इन कथाओंमें आक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी कथायें क्षपकको सुनाना योग्य हैं. विक्षेपणी कथाका निरूपण करना हितकर न होगा.

तासां कथानां स्वरूपनिर्देशायोत्तरं गाथाद्वयं—

आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ ॥
ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम ॥ ६५६ ॥

कथा साक्षेपणी ब्रूते या विद्याचरणादिकम् ॥
विक्षेपणी कथा वक्ति परात्मसमयौ पुनः ॥ ६८२ ॥

विजयोदया—आक्खेवणी कहा सा सा आक्षेपणी कथा भण्यते । जत्थ यस्यां कथायां । विज्जाचरणमुवदिस्सदे ज्ञानं चारित्रं चोपदिश्यते । एवंभूतानि मत्यादीनि ज्ञानानि सामायिकादीनि वा चारित्राण्येवंस्वरूपाणि इति । ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम । या कथा स्वसमयं परसमयं चाश्रित्य प्रवृत्ता सा विक्षेपणी भण्यते । सर्वथा नित्यं, सर्वथा क्षणिकं, एकमेवानेकमेव वा, सदेव, विज्ञानमात्रं वा शून्यमेवेत्यादिकं परसमयं पूर्वपक्षीकृत्य प्रत्यक्षानुमानेन आगमेन च विरोधं प्रदर्श्य कथंचिन्नित्यं, कथंचिदनित्यं, कथंचिदेकं, कथंचिदनेकं, इत्यादिस्वसमयनिरूपणा च विक्षेपणी ॥

किंलक्षणा स्ताः कथा इत्यत्र गाथाद्वयमाह—

मूलारा—विज्जामित्यादि ज्ञानं । चरणं सामायिकादिचारित्रं । ससमयपरसमयगदा सर्वथा नित्यमेव सर्वथा क्षणिकमेवेत्यादिपरमतं पूर्वपक्षीकृत्य प्रत्यक्षादिना च प्रतिक्षिप्य कथंचिन्नित्यं कथंचित्क्षणिकं इत्यादि स्वमतं प्रतीत्यपद्दृष्टेन व्यवस्थापयतीत्यर्थः ।

इन कथाओंका स्वरूप आचार्य दो गाथाओंसे कहते हैं—

अर्थ—जिसमें सम्यग्ज्ञान और चारित्रका निरूपण किया जाता है उस कथाको आक्षेपणी कहते हैं. अर्थात् मति, श्रुत, अवधि वगैरह पांच प्रकारके सम्यग्ज्ञानका स्वरूप, और सामायिक छेदोपस्थापना वगैरह पांच प्रकारके चारित्रका स्वरूप जिसमें कहा गया है उसको आक्षेपणी कथा कहते हैं. जिस कथामें जैनमतके सिद्धांतोंका और परमतका निरूपण है उसको विक्षेपणी कथा कहते हैं. इसका विशेष विवेचन—वस्तु सर्वथा नित्य ही है,

सर्वथा अनित्य ही है, सर्वथा एक ही है, सर्वथा अनेकही है, सर्वथा सद्रूप ही है, सर्वथा विज्ञानरूप ही है, सर्वथा शून्य ही है, इत्यादि अन्यमतोंके सिद्धांतोंको पूर्वपक्षमें स्थापित कर उत्तरपक्षमें वे सिद्धांत प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमसे विरुद्ध हैं ऐसा सिद्ध करके वस्तुका स्वरूप कथंचित् अनित्य, कथंचित् एक, कथंचित् अनेक, इत्यादिरूपसे जैनमतके द्वारा सिद्ध करना यह विक्षेपणी कथाका वस्तुस्वरूप है.

संवेयणी पुण कहा णाणचरित्तं तववीरिय इड्ढिगदा ॥
णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोघे य ॥ ६५७ ॥

संवेजनी कथा ब्रूते ज्ञानचारित्रवैभवा ॥
निर्वेदनी कथा वक्ति भोगांगादेरसारताम् ॥ ९८२ ॥

विजयोदया—संवेयणी पुण कहा संवेजनी पुनः कथा । णाणचरित्ततववीरिय इड्ढिगदा ज्ञानचारित्रतपोभावना जनितशक्तिसंपन्निरूपणपरा । णिव्वेजणी पुण कथा निर्वेजनी पुनः कथा सा। सरीरभोगे भवोघे य शरीरे, भोगे, भवसंततौ च पराङ्मुखताकारिणी शरीराण्यशुचीनि, रसादिसप्तधातुमयत्वात्। शुक्रशोणितबीजत्वात्, अशुच्याहारपरिवर्धितत्वात् अशुचिस्थाननिर्गतत्वात् च न केवलमशुच्यसारमपि। अनित्यकायस्वभावाः प्राणभृतः इति शरीरतत्त्वाश्रयणात् । तथा भोगा दुर्लभाः स्त्रीवस्त्रगंधमाल्यभोजनादयो लब्धा अपि कथंचिन्न तृप्तिं जनयन्ति । अलाभे तेषां, लब्धानां वा विनाशे शोको महानुदेति। देवमनुजभवावपि दुर्लभौ, दुःखबहुलौ अल्पसुखौ इति निरूपणात् । तथा ॥

मूलारा—णाणेत्यादि–ज्ञानचारित्रतपोभावनाजनितशक्तिसंपन्निरूपणपरा । भवोघे भवसंततौ शरीरादित्रयस्य अशुचित्वादितत्त्वनिरूपणेन पराङ्मुखताकारिणी निर्वेदनीति व्याख्येयम ।

अर्थ—ज्ञान, चारित्र, तप इनका अभ्यास करनेसे आत्मामें कैसी २ अलौकिक शक्तियां प्रगट होती हैं इनका खुलासेवार वर्णन करनेवाली कथाको संवेजनी कथा कहते हैं. शरीर, भोग और जन्म परंपरामें विरक्ति उत्पन्न करनेवाली कथाका निर्वेजनी कथा ऐसा नाम है. इसका खुलासा—शरीर अपवित्र है क्योंकि यह रस, रक्त, मांस, शुक्र वगैरह सप्त धातुओंसे बना है. रक्त और वीर्य इसके उपादान कारण हैं. अपवित्र आहारसे इसकी वृद्धि हुई है, अर्थात् माताने खाया हुआ और लालारससे अपवित्र–उच्छिष्ट बना आहार गर्भावस्थामें जीवके शरीरमें प्रविष्ट होता है तब यह शरीर बढता है. अशुचिस्थानसे—योनीसे यह निकला है इस लिये भी अपवित्र है. न केवल यह

अपवित्र ही है परंतु निःसार भी है. इस शरीरके आश्रयसे आत्माको भी अनित्यता प्राप्त हुई है. अर्थात् इस आत्माको बार बार जन्म मरण धारण करना पडा है. वस्त्र, स्त्री, गंध, पुष्पमाला, भोजन वगैरह भोगपदार्थ दुर्लभ हैं इनकी प्राप्ति होनेपर आत्मा तृप्त होता नहीं. इनका लाभ नहीं होनेसे अथवा लाभ होने पर भी यदि ये शीघ्र नष्ट हो गये तो महान् दुःख उत्पन्न होता है.

देवजन्मकी प्राप्ति होना व मनुष्यजन्म मिलना दोनों दुर्लभ हैं, ये बहुत दुःखोंसे भरे हैं. इनमें अल्प सुख की प्राप्ति होती हैं. इस प्रकारका वर्णन जिसमें किया जाता है वह कथा निर्वेजनी कथा कहाती है.

विक्खेवणी अणुरदस्स आउगं जदि हवेज्ज पक्खीणं ॥
होज्ज असमाधिमरणं अप्पागमियस्स खवगस्स ॥ ६५८ ॥

विक्षेपणीरतस्यास्य जीवितं यदि गच्छति ॥
तदानीमसमाधानफला सा तस्य जायते ॥ ६८४ ॥

विजयोदया — विक्षेपण्या परसमयानिरूपणायां अनुरक्तस्य । आउगं आयुष्कं । जदि हवेज्ज यदि भवेत् । पक्खीणं प्रक्षीणं । होज्ज भवेत् असमाधिमरणं । अप्पागमिगस्स खवगस्स अल्पश्रुतस्य क्षपकस्य यदेव पूर्वपक्षीकृतं दूषणाभिधानाय तदेव तत्वमित्यध्यवसायादसमीचीनज्ञानदर्शनस्य रत्नत्रयैकात्म्यं नास्तीति मन्यते ।

विक्षेपण्यामासक्तस्यायुःप्रक्षयेऽल्पश्रुतस्यासमाधिमरणमाह —

मूलारा — अप्पागमियस्स अल्पश्रुतस्य ॥

अर्थ — विक्षेपणी कथामें जो की स्वमतका प्रतिपादन कर परमतका खंडन करती है. यदि क्षपक अनुरक्त हुआ है और ऐसी अवस्थामें यदि उसका आयुष्य विलीन होगा तो उसको असमाधिमरण होगा. क्षपक अल्पश्रुत धारक हो तो पूर्वपक्षमें जो परमतका स्वरूप उत्तरपक्षमे दूषित करने के लिये कहा है वही वस्तुका सत्यस्वरूप है ऐसी श्रद्धान करेगा जिससे उसको रत्नत्रयाराधना न होगी.

बहुश्रुतस्य तदुपयोगिनी विक्षेपणीतीमां शंकां निरस्यति–

आगममाहप्पगओ विकहा विक्खेवणी अपाउग्गा ॥

अब्भुज्जदम्मि मरणे तस्स वि एदं अणायदणं ॥ ६५९ ॥

कथ्या बहुश्रुतस्यापि नासन्ने मरणे सति ॥

अनाचारं न कुर्वन्ति महांतो हि कदाचन ॥ ६८५ ॥

विजयोदया—आगममाहप्पगदो वि बहुश्रुतस्यापि। विक्खेवणी विक्षेपणी अपाउग्गा अप्रायोग्या। अब्भुज्जदंमि मरणे रत्नत्रयाराधनपरे मरणे। तस्स वि बहुश्रुतस्यापि एदं एतत्। अणायदणं अनायतनं अनाधारः॥

अनल्पश्रुतस्य विक्षेपणी कथोपयोगिनी भविष्यतीत्याशंका निरस्यति–

मूलारा—अब्भुज्जदम्मि रत्नत्रयाराधनपरे। तस्स वि अल्पश्रुतस्य पुनः सुतरामपकारिकेत्ययमर्थः। अणायदणं अनाधारः असमाधिमरणप्रणयनात्॥

जो बहुश्रुत है उसके लिये विक्षेपणी कथा उपयोगिनी होगी इस शंकाका निरसन करते हैं–

अर्थ—यदि क्षपक आगमज्ञानी होगा तो भी यह विक्षेपणी कथा रत्नत्रयाराधना जिसमें की जाती है ऐसे समाधिमरणके समयमें उसको अयोग्यही मानी है. क्यों कि यह विक्षेपणी कथा समाधिमरण के लिये सहायक नहीं है. आधारभूत नहीं है.

अब्भुज्जदंमि मरणे संथारत्थस्स चरमवेलाए

तिविहं पि कहंति कहं तिदंडपरिमोडया तम्हा ॥ ६६० ॥

विक्षेपिणीं विमुच्यातः समाधानविधायिनः ॥

कथयन्ति कथास्तिस्रो निस्त्रिदंडत्रिगौरवाः ॥ ६८६ ॥

विजयोदया—अब्भुज्जदंमि मरणे। निकटभूते मरणे। कस्य संथारत्थस्स चरिमवेलाए। संस्तरस्थस्य अंतकाले। तिविहं पि कहंति कथ संवेजनीं, निर्वेजनीं आक्षेपणीं च कथां कथयन्ति। तिदंडपरिमोडया अशुभमनोवाक्कायदंडशब्देनोच्यते। तद्भेदनकारिणः सूरयः। तम्हा तस्मात्। अनायतनत्वाद्विक्षेपिण्याः॥

प्रकृतोपसंहारगाह—

मूलारा - चरिमवेलाए मृत्यासन्नमरणक्षणे । विदंडपरिमोक्खया । अशुभमनोवाक्कायनिर्मूलकाः साधवः ॥

अर्थ – संस्तरमें पडे हुए क्षपकका मरणकाल जब निकट आचुका है तो ऐसे समयमें अर्थात् अन्तसमय में अशुभ मनोविचार, अशुभ शरीर प्रवृत्ति और अशुभवचन इनका त्याग करनेवाले गणधरादि मुनि संवेजनी, निर्वेजनी और आक्षेपणी ऐसी तीन कथाओंकाही वर्णन करते हैं. विक्षेपणी कथा समाधिमरणके लिये आधाररूप नहीं है. इसलिये उसका निरूपण करते नहीं.

जुत्तस्स तवधुराए अब्भुज्जदमरणवेणुसीसंमि ॥
तह ते कहेंति धीरा जह सो आराहओ होदि ॥ ६६१ ॥

तपोभावनियुक्तस्य मृत्यासज्जतयीते तम् ॥
ते वदंति तथा तस्य भवत्याराधको यथा ॥ ६८७ ॥

विजयोदया—जुत्तस्स युक्तस्य । तवधुराए तपोभारेण । अब्भुज्जदमरणवेणुसीसम्मि समीपीभूतमरणवंशस्य शिरसि स्थितस्य क्षपकस्य । ते धीरा । तह तथा । कहेंति कथयन्ति । जध सो आराधगो होदि यथासावाराधको भवति रत्नत्रयस्य ॥

ते चत्वारो धर्मकथानियुक्ता यतयस्तथा कथयन्ति यथा रत्नत्रयमाराधयत्येवेत्यत्रसापयन्नाह—

मूलारा—अब्भुज्जदेत्यादि । समीपीभूतमरणवंशस्य शिरसि क्षपकस्य ॥

अर्थ – तपका भार जिसने धारण किया है, निकट प्राप्त हुए समाधिमरणरूपी वांसके अग्रभागपर जो ठहरा है ऐसे क्षपकको चार मुनि ऐसाही उपदेश देते हैं कि जिससे सुनकर वह रत्नत्रयका आराधक होगा.

चत्तारि जणा भत्तं उवकप्पेंति अगिलाए पाओग्गं ॥
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥ ६६२ ॥

तस्यानयंति चत्वारो योग्यमाहारमश्रमाः ॥
निर्मायां लब्धिसंपन्नास्तादिष्टं गतदूषणं ॥ ६८८ ॥

विजयोदया—चत्तारि जणा चत्वारो यतयः। भत्तं अशनं। पाउग्ग प्रायोग्यं उद्गमादिदोषानुपहतं। उवकप्पंति आनयंति। अगिलाए ग्लानिमंतरेण। कियन्तं कालमानयाम इति संक्लेशं विना। छंदियं क्षपकेण इष्टं अशनं पानं वा। क आनयंति? अमाइणो मायारहिताः अयोग्यमिति ये नानयन्ति। लद्धिसंपण्णा मोहान्तरायक्षयोपशमाद्भिक्षालब्धिसमन्विताः। क्षुत्पिपासापरीषहप्रशांतिकरणक्षममित्येतावता तेनेष्टं न तु लौल्यात्। अवगददोसं वातपित्तश्लेष्मणामजनकं। अलब्धिमान्क्षपकं क्लेशयति। मायावी अयोग्यं योग्यमिति कल्पयेत्॥

चत्वारस्तदर्थं समुचितमशनं उपनयन्तीत्यनुशास्ति—

मूलारा—उवकप्पंति आनयंति। अगिलाए ग्लानिं विना कियंतं कालं आनयाम इति संक्लेशं विना। छंदिय भक्तपानं क्षुत्पिपासादुःखमसमाधिकरं निराकरोतीत्येतावतैव क्षपकेणेष्टं। अवगददोसं वातपित्तश्लेष्मणामजनकं प्रशमकं च उद्गमादिरहितं वा। अमाइणो अयोग्यं योग्यमिदमिति प्रतारणरहिताः। लाभांतरायक्षयोपशमाद्भिक्षालब्धिसमन्विताः। तथैव क्षपकस्यासंक्लेशनात्॥

अर्थ — चार मुनि ग्लानिका त्यागकर उद्गमादिदोषरहित आहारके पदार्थ क्षपकके लिये लाते हैं. कितने दिनतक हमको लाना पडेगा ऐसा विचार वे मनमें नहीं करते हैं. क्षपक जो पदार्थ चाहता है उनको वे लाते हैं. क्षपक भी जिनसे भूख और प्यास शांत होगी ऐसे ही पदार्थ चाहता है. लौल्यसे आहारकी इच्छा वह नहीं करता है. क्षपकके वात, पित्त, और श्लेष्मको न बढानेवाले पदार्थ ही परिचारक मुनि लाते हैं. परिचारक मुनिओंके हृदयमें मायाभाव नहीं रहता है. अतः वे अयोग्य आहारको योग्य बताते नहीं. मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्मका क्षयोपशम जिनको प्राप्त हुआ है ऐसे ही परिचारक आहार लानेके कार्यमें आचार्यके द्वारा योजे जाते हैं. जिनको भिक्षालब्धि नहीं है ऐसे मुनि इस कार्यमें नियुक्त करनेसे क्षपकको क्लेश होगा.

चत्तारि जणा पाणयमुवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं॥
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा॥ ६६३॥

विजयोदया—चत्तारि जणा इति स्पष्टार्थो गाथा—सूरिणा अनुज्ञातौ निवेदितात्मानौ द्वौ द्वौ पृथग्भक्तं पृथक्पानं चानयतः॥

चत्वारः क्षपकाय पानमानयन्तीत्याह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—चार मुनि आचार्यके द्वारा नियुक्त होकर क्षपकके लिये योग्य पीनेके पदार्थ लाते हैं. (बाकी संपूर्ण अभिप्राय ऊपरकी गाथाके समान ही समझना चाहिये.)

चत्तारि जणा रक्खन्ति दवियमुवकप्पियं तयं तेहिं ॥
अगिलाए अप्पमत्ता खवयस्स समाधिमिच्छंति ॥ ६६४ ॥

पानं नयन्ति चत्वारो द्रव्यं तदुपकल्पितं ॥
अप्रमत्ताः समाधानमिच्छन्तस्तस्य विश्रमाः ॥ ६८९ ॥

विजयोदया—तैरानीतं भक्तं पानं वा चत्वारो रक्षन्ति प्रमादरहिताः त्रसा यथा न प्रविशन्ति, यथा वापरे न पातयन्ति ॥

चत्वारस्तद्भक्तपानं तरां रक्षन्तीत्याह—

मूलारा—रक्खंति यथा त्रसादयो न पतंति परे वा न पातयंति इत्यर्थः। दवियं द्रव्यं। उवकप्पियं आनीतं। तयं भक्तपानं वा।

अर्थ—उपर्युक्त मुनिओंके द्वारा लाये हुए आहारके और पानके पदार्थोंका चार मुनि प्रमाद छोडकर रक्षण करते हैं. उन पदार्थोंमें त्रस जीवोंका प्रवेश न होगा और कोई गिरा न सकेंगे ऐसी संभाल वे करते हैं. क्यों कि क्षपकका जिस प्रकारसे चित्त रत्नत्रयमें एकाग्र रहेगा वैसा ही वे प्रयत्न करते हैं.

काइयमादी सव्वं चत्तारि पदिट्ठवन्ति खवयस्स ॥
पडिलेहंति य उवधोकाले सेज्जुवधिसंथारं ॥ ६६५ ॥

मलं क्षपन्ति चत्वारो वर्चःप्रस्रवणादिकम् ॥
शय्यासंस्तरकौ कालद्वये प्रतिलिखन्ति च ॥ ६९० ॥

विजयोदया—काइगमादी सव्वं पुरीषप्रभृतिकं मलं सर्वं। क्षपकस्य चत्वारः। पदिट्ठवंति प्रतिष्ठापयंति। पडिलेहंति य प्रतिलिखंति च। उवधो काले उदयास्तमनकालवेलयोः। सेज्जुवधिसंथारं वसतिमुपकरणं, संस्तरं च ॥

चत्वारस्तन्मलापनोदं तच्छय्यादिप्रतिलेखनं च कुर्वन्तीत्याह –

मूलारा—काइयमादि विण्मूत्रश्लेष्मखेलादिमलं । पदिट्ठवेंति बहिः क्षिपंति । पडिलेहंति शोधयन्ति । उवधो काले प्रातः सायं च ॥

अर्थ—चार मुनि क्षपकका मलमूत्र निकालनेका कार्य करते हैं. तथा सूर्यके उदयकालमें और अस्तकालके समयमें वे वसतिका, उपकरण और संस्तर इनको शुद्ध करते हैं, स्वच्छ करते हैं.

खवगस्स घरदुवारं सारक्खंति जणा चत्तारि ॥
चत्तारि समोसरणदुवारं रक्खन्ति जदणाए ॥ ६६६ ॥
क्षपकावसथद्वारं चत्वारः पान्ति यत्नतः ॥
धर्मश्रुतिगृहद्वारं चत्वारः पालयन्ति ते ॥ ६९१ ॥

विजयोदया—खवगस्स क्षपकस्य । घरदुवारं गृहद्वारं । सारक्खंति पालयन्ति । जदणाए यत्नेन । चत्तारि चत्वारः । असंयतान् शिक्षकांश्च निषेद्धुं द्वारं पालयन्ति । चत्तारि चत्वारः । समोसरणदुवारं समवसरणद्वारं । जदणाए यत्नेन सारक्खंति पालयन्ति ॥

चत्वारस्तद्गृहद्वारं चत्वारश्च धर्मश्रवणमंडपद्वारं रक्षंतीत्याह—

मूलारा—सारक्खंति पालयंति । असंयतान् शिक्षकांश्च निषेद्धुं द्वारपालायंते । जदणाए यत्नेन । समोसरणदुवारं धर्मश्रुतिगृहद्वारं ॥

अर्थ— चार परिचारक मुनि क्षपककी वसतिकाके दरवाजेका प्रयत्नसे रक्षण करते हैं. अर्थात् असंयत और शिक्षकोंको वे अंदर आनेको मना करते हैं. और चार मुनि समोसरण के द्वारका प्रयत्नसे रक्षण करते हैं. धर्मोपदेश देनेके मंडपके द्वारपर चार मुनि रक्षणके लिये बैठते हैं.

जिदणिद्दा तल्लिच्छा रादौ जग्गंति तह य चत्तारि ॥
चत्तारि गवेसंति खु खेत्ते देसप्पवत्तीओ ॥ ६६७ ॥

निशि जाग्रति चत्वारो जितनिद्रा महोद्यमाः ॥
वार्तां मार्गन्ति चत्वारो यत्नाद्देशादिगोचराम् ॥ ६९२ ॥

विजयोदया—जितणिद्दा जितनिद्राः । तल्लिच्छा निद्राजयलिप्सवः । रत्तो रात्रौ । जग्गंति जागरं कुर्वन्ति । तह य तत्र क्षपकसकाशे । चत्तारि चत्वारः । गवेसंति खु परीक्षां कुर्वन्ति । खेत्ते क्षेत्रे स्वाध्युषिते । देसपवत्तीओ देशस्य क्षेमवार्तां ।

चत्वार क्षपकसमीपे रात्रौ जाग्रति चत्वारश्च स्वाध्युषितक्षेत्रे देशादिक्षेमाक्षेमवार्तां मृगयंते इत्याह—

मूलारा—तण्णिद्दा क्षपकतत्पराः । देसप्पवत्तीओ देशराज्यादिगोचराः शुभाशुभवार्ताः ।

अर्थ—निद्राको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले चार मुनि क्षपकके पास जागरण करते रहते हैं. और जहां क्षपक और संघ ठहरा है उस देशकी शुभाशुभ वार्ताका निरीक्षण करनेवाले चार मुनि आचार्योंके द्वारा नियुक्त किये जाते हैं.

बाहिं असद्दवडियं कहंति चउरो चदुव्विधकहाओ ॥
ससमयपरसमयविदू परिसाए सा समोसदाए खु ॥ ६६८ ॥

बहिर्वदन्ति चत्वारः स्वपरागमकोविदाः ॥
अनंतःशब्दपातं ते जनानां निखिलाः कथाः ॥ ६९३ ॥

विजयोदया—बाहिं बहिः क्षपकावासात् । असद्दपडिगं यावत् दूरे स्थितानां शब्दो न श्रूयते । तत्र स्थित्वा । चउरो चत्वारः पर्यायेण । कधाओ चतुर्विधाः कथाः पूर्वं व्यावर्णिताः । कीदृग्भूतास्ते कथका अत आह—ससमयपरसमयविदू स्वपरपक्षसिद्धांतज्ञाः । परिसाए परिषदे । समोसदाए द्राक् समागतायै ॥

चत्वारश्च चतस्रोऽपि कथाः कथयन्ति क्षपककर्णापतितशब्दमित्याह—

मूलारा—बाहिं बहिः क्षपकावासाद्दूरे । असद्दवडियं यथा क्षपको न शृणोति । चदुविध आक्षेपणीप्रमुखाः । परिसाए परिषदि । समोसदाए समुपविष्टायां । आगतायामित्यन्ये ॥

अर्थ—क्षपककी वसतिके बाहर क्षपक न सुन सके इतने अंतरपर स्वधर्म और अन्यधर्मोंके सिद्धांतोंका

रहस्य जाननेवाले चार मुनि सभामंडपमें आये हुए श्रोताओंको एकके अनंतर दूसरा इस पद्धतीसे आक्षेपण्यादि-कथाओंका वर्णन करते हैं.

वादी चत्तारि जणा सीहाणुग तह अणेयसत्थविदू ॥
धम्मकहयाण रक्खाहेदुं विहरंति परिसाए ॥ ६६९ ॥

चत्वारो वादिनोऽक्षोभ्याः सर्वशास्त्रविशारदाः ॥
धर्मदेशनरक्षार्थं विचरन्ति समन्ततः ॥ ६९४ ॥

विजयोदया—वादी वादिनः । चत्तारिजणा चत्वारः । सीहाणुग सिंहसमानाः । अणेगसत्थविदू अनेकशास्त्रज्ञाः धम्मकहयाण धर्मं कथयतां । रक्खाहेदुं रक्षार्थं । विहरंति । इतस्ततो यान्ति । परिसाए परिषदि ।

चत्वारो वादिनो धर्मकथापराणां प्रवाद्याक्षेपनिराकरणाय सभायामितस्ततो विचरंतीत्याह—

मूलारा—महाणुभावा सिंहवत्परैरधृष्याः ।

अर्थ—अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता, सिंहसमान ऐसे वाद करनेवाले चार मुनि धर्मकथा करनेवालोंका रक्षण करनेके लिये सभामें इधर उधर भ्रमण करते हैं.

एवं महाणुभावा पग्गहिदाए समाधिजदणाए ॥
तं णिज्जवंति खवयं अडयालीसं हि णिज्जवया ॥ ६७० ॥

एवमेकाग्रचेतस्काः कर्मनिर्जरणोद्यताः ॥
निर्यापका महाभागाः सर्वे निर्यापयन्ति तं ॥ ६९५ ॥

विजयोदया—एवं महाणुभावा, एवं माहात्म्यवंतः । पग्गहिदाए प्रकृष्टया । समाधिजदणाए समाधौ क्षपकस्य प्रयत्नवृत्त्या । तं णिज्जवंति खवयं तं निर्यापयन्ति क्षपकं । अडयालीसं हि अष्टचत्वारिंशत्प्रमाणाः । णिज्जवगा निर्यापकाः ॥

प्रस्तुतमुपसंहरति—

मूलारा—महाणुभावा महामाहात्म्याः । पग्गहिदाए प्रकृष्टया स्वीकृतया वा । समाधिजदणाए समाधौ यत्नवृत्त्या । णिज्जवंति संसारार्णवान्निर्यातुं प्रयोजयंति ॥

अर्थ—इस प्रकार ये माहात्म्यवान् अडतालीस मुनि उत्कृष्ट प्रयत्नसे क्षपकको समाधि में एकाग्र करते हैं. और संसारसमुद्रसे प्रयाण करनेवाले उस क्षपकको समाधिके कार्यमें अर्थात् रत्नत्रयमें प्रयुक्त करते हैं.

व्यावर्णितगुणा एव निर्यापका इति न ग्राह्यं, किंतु भरतैरावतयोर्विचित्रकालस्य परावृत्तेः कालानुसारेण प्राणिनां गुणाः प्रवर्तंते तेन यदा यथाभूताः शोभनगुणाः संभवंति तदा तथाभूता यतयो निर्यापकत्वेन ग्राह्या इति दर्शयति—

जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु ॥
ते तारिसया तदिया चोद्दालीसं पि णिज्जवया ॥ ६७१ ॥

कालानुसारतो ग्राह्याश्चत्वारिंशच्चतुर्युताः ॥
भरतैरावतक्षेत्रभाविनो मुनिपुंगवाः ॥ ६९६ ॥

विजयोदया—जो जारिसओ कालो इत्यादिना यो यादृक्कालो। भरदेरवदेसु वासेसु भरतैरावतेषु जनपदेषु। पंचभरताः पंचैरावतास्ते निर्यापकास्तारिसगा तादृग्भूताः कालानुगुणा इति यावत्। तइया तस्मिन्काले ग्राह्या इत्यर्थः।

सर्वत्र सर्वदा यथोक्तगुणगणना एव निर्यापकाः स्युरिति न ग्राह्यं। कालानुसारेण प्राणिनां गुणप्रवृत्तेः भरतैरावतक्षेत्रेषु विचित्रकालपरावृत्तिरतस्तत्र यदा यथाभूता यावंतश्च स्फुरद्गुणा यतयः संभवंति तदा तथाभूतास्तावंतश्चेति निर्यापकत्वेन व्यवस्थाप्या इति दर्शयितुमाह—

मूलारा—भरदेरवदेसु पंचसु भरतेषु पंचसु ऐरावतेषु। वासेसु क्षेत्रेषु। तइया तदा तस्मिन्काले कालानुगुणा निर्यापका ग्राह्या इत्यर्थः॥

जिनका गुणवर्णन ऊपर किया है ऐसे ही मुनि निर्यापक होते हैं ऐसा न समझना चाहिये. परंतु भरत और ऐरावत कालमें विचित्र कालका परावर्तन हुआ करता है इसलिये कालानुसार प्राणिओंके गुणोंमें भी जघन्य-मध्यमता और उत्कृष्टता आती है. जिससमय जैसे शोभन गुणोंका संभव रहता है उस समय वैसे गुणधारक मुनि निर्यापक परिचारक समझ कर ग्रहण करना चाहिये.

अर्थ— भरतक्षेत्रमें और ऐरावतक्षेत्रमें समस्तदेशोंमें जो जैसा काल प्रवर्तता है उसके अनुसार निर्यापक समझना चाहिये. अर्थात् मध्यमकालके प्रारंभमें चवेचालीस निर्यापक होते हैं.

एवं चदुरो चदुरो परिहावेदव्वगा य जदणाए ॥
कालम्मि संकिलिट्ठंमि जाव चत्तारि साधेंति ॥ ६७२ ॥
णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा ॥
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥ ६७३ ॥

हेयाः क्रमेण चत्वारश्चत्वारस्तावदंजसा ॥
यावत्तिष्ठन्ति चत्वारः काले संक्लेशसंकुले ॥ ६९७ ॥
कालानुसारिणौ ग्राह्यौ द्वौ जघन्येन योगिनौ ॥
भरतैरावतक्षेत्रभवौ निर्यापकौ यती ॥ ६९८ ॥

विजयोदया — स्पष्टार्थोत्तरगाथाद्वयमिति न व्याख्यायते ॥

कालानुसारेणात्र निर्यापकाणां संख्याहानिक्रमं दर्शयति—

मूलारा— परिहावेदव्वगा हानिं नेतव्याः । जदणाए देशकालानुसारेण गुणेषु यत्नेन । संकिलिट्ठम्मि संक्लेशबहुले ॥

अर्थ—इस प्रकार देशकालानुसार गुणोंको यत्नसे देखकर इस संक्लेश परिणामयुक्तकालमें चार चार निर्यापक कम कम करना चाहिये. वे तब तक कम करना जब वे चार रहेंगे. अर्थात् क्षपकके समाधिमरण साधनेके लिये केवल देश, काल, गुणकी अपेक्षासे यदि चार ही निर्यापक हो तो भी समाधिमरणरूपकार्यकी समाप्ति होती है. अतिशय संक्लिष्ट कालमें दो निर्यापक भी क्षपकके इस कार्यको साध सकते हैं. परंतु जिनागममें एक निर्यापकका किसी भी कालमें उल्लेख नहीं किया है.

जघन्यतो द्वौ निर्यापकौ इति किमर्थमुच्यते । एको जघन्यतो निर्यापकः कस्मान्नोपन्यस्त इत्याशंकायां एकस्मिन्निर्यापके दोषमाचष्टे—

एगो जइ णिज्जवओ अप्पा चत्तो परोपवयणं च ॥
वसणमसमाधिमरणं उड्डाहो दुग्गदी चावि ॥ ६७४ ॥

आत्मा त्यक्तः परं शास्त्रं एको निर्यापको यदि ॥
असमाधेर्मृतिर्व्यक्तोयमसौ दुर्गतिः परा ॥ ६९९ ॥

विजयोदया—एको यदि निर्यापक । अप्पा चत्तो आत्मा त्यक्तो भवति निर्यापकेण, परः क्षपकस्त्यक्तो भवति। पवयण च प्रवचन च त्यक्त भवति। वसण व्यसन दुःख भवति। असमाधिमरण समाधानमंतरेण रत्नत्रये मृतिः स्यात्। उड्डाहो धर्मदूषणा भवति। दुग्गदी चावि दुर्गतिश्च भवति ॥

सर्वजघन्या निर्यापकसंख्या नियमयति

मूलारा—दुवे द्वौ।

एकस्मिन्निर्यापके दोषमाह—

मूलारा—अप्पा चत्तो निर्यापकेण आत्मा त्यक्तः। परो क्षपकः। वसणं दुःखं भवति। उड्डाहो धर्मदूषणं।

जघन्यतासे एक निर्यापकका आगममें क्यों उल्लेख नहीं है, दो निर्यापकोंका क्यों उल्लेख किया है ऐसी शंका होनेपर आचार्य एक निर्यापक होनेमें उत्पन्न होनेवाले दोषोंका वर्णन करते हैं.

अर्थ—यदि एकही निर्यापक होय तो उसमें आत्मत्याग, क्षपकका त्याग और प्रवचनका भी त्याग होता है. एक निर्यापकसे दुःख उत्पन्न होता है और रत्नत्रयमें एकाग्रताके विना मरण हो जाता है. धर्मदूषण और दुर्गती भी होती है.

एव निर्यापकेणात्मा त्यक्तो भवति, एव क्षपक इत्येतत्कथयति—

खवगपडिजग्गणाए भिक्खग्गहणादिमकुणमाणेण ॥
अप्पा चत्तो तव्विवरीदो खवगो हवदि चत्तो ॥ ६७५ ॥

भिक्षाद्यविदधानेन क्षपकप्रतिकर्मणा ॥
अनारतं प्रसक्तेन स्वस्त्यक्तोऽन्यो विपर्यय ॥ ७०० ॥

विजयोदया—खवगपडिजग्गणाए क्षपकप्रतिजागरणया क्षपकप्रतियत्नेन । खवगपडिजग्गणाए इत्यनया गाथया अत्रैव पदघटना भिक्खग्गहणादिमकुणमाणेण भिक्षाग्रहण, निद्रा, कायमलत्याग वा कुर्वता निर्यापकेण । अप्पा चत्तो आत्मा त्यक्तो भवति। अशनाग्रहणान्निद्राया अभावात् । कायमलाना वाऽनिराकरणान्महती निर्यापकस्य पीडा ।

तद्विवरीदो यदि निर्यापको भिक्षां भ्रमति निद्रातिशयशरीरमलनिरासार्थं याति, खवगो चत्तो भवति क्षपकस्त्यक्तो भवति ॥

कथं आत्मा त्यक्तः कथं वा क्षपक इत्यत्राह—

मूलारा—पडिलग्गणाए कार्यकरणे। भिक्खग्गहणादि भिक्षाग्रहणं कायमलत्यागं च। अकुणमाणेण अकुर्वता निर्यापकेण। चत्तो अशनाग्रहणान्निद्रानिवारणाद्विण्मूत्राद्युत्सर्जनाच्च महतीं पीडां प्रापितः। तव्विवरीदे भिक्षाभ्रमणनिद्राकरणकायशुद्ध्यर्थगमने। चत्तो त्यक्तः क्षपकस्तत्समाधानानुसंधानापलापात्॥

एक निर्यापक से आत्माका और क्षपकका भी त्याग होता है इसका विवेचन —

अर्थ क्षपकके कार्यमें हि यदि निर्यापक तत्पर रहेगा तो आहारग्रहण करना, शयन करना, और शरीरमलका त्याग करना इन कार्योंका त्याग करनेसे निर्यापकको आत्मत्याग करना पडेगा. अर्थात् आहारका ग्रहण न करनेसे, निद्राका अभाव होनेसे, और शरीरमलका विसर्जन करनेसे निर्यापकको बडी वेदना होगी जिससे उसका देह पडेगा. यदि निर्यापक भिक्षाग्रहणादि कार्यमें ही लग जावेगा अर्थात् वह भिक्षाके लिये यदि भ्रमण करेगा, खूब सोवेगा, और शौचके लिए जावेगा तो क्षपकका त्याग होगा.

खवयस्स अप्पणो वा चाए चत्तो हु होइ जइधम्मो ॥
णाणस्स य वुच्छेदो पवयणचाओ कओ होदि ॥ ६७६ ॥

स्वस्यापरस्य वा त्यागे यतिधर्मो निराकृतः ॥
ततःप्रवचनत्यागो ज्ञानविच्छेदको मतः ॥ ७०१ ॥

विजयोदया—खवगस्स अप्पणो वा चाए क्षपकस्यात्मनो वा त्यागे। चत्तो खु होदि जइधम्मो त्यक्तो भवति यतिधर्मः। यतेर्धर्मो वैयावृत्त्यकरणं स परित्यक्तो भवति क्षपकमपहाय गमने। अगमने तु आवश्यकानि यतिधर्मेषु प्रधानानि त्यक्तानि भवंति शक्तिवैकल्यात्। णाणस्स य वुच्छेदो ज्ञानस्यापि व्युच्छेदो भवति, निर्यापकेन सह मृतिमुपयाति। तदो तस्मात्पवयणचागो होदि प्रवचनत्यागो भवति। प्रवचनशब्देनागम उच्यते। प्राज्ञा हि केचिदेव भवंतीति चेदेकका निर्यापका अनशनादिनातिखिन्ना मृतिमुपेयुः कः शास्त्राण्युपदिशेत् कश्च धारयेदिति प्रवचनत्यागः॥

स्वपरत्यागे प्रवचनत्यागमाह—

मूलारा—जदिधम्मो यतेर्धर्मो वैयावृत्यकरणं षडावश्यकं च त्यक्तं शक्तिवैकल्यात्। णाणस्स य वोच्छेदो ज्ञानस्यापि व्युच्छेदः स्यान्निर्यापकमरणात्। पवयणचाओ तदो ततो ज्ञानव्युच्छेदात् प्रवचनस्यागमस्य त्यागो विसर्जनं भवति भोजनाद्यकरणेनातिक्लिष्टस्य निर्यापकस्य मरणात्। प्रज्ञा हि केचिदेव स्युः॥

अर्थ—क्षपकका अथवा अपना त्याग होनेपर यतिधर्मका ही त्याग हुआ. वैयावृत्य करना यतिका धर्म है. आत्मत्याग अथवा क्षपकका त्याग होनेसे यतिधर्म भी नष्ट होता है. क्षपकको छोडकर यदि निर्यापक जावेगा अथवा नही जावेगा तो यति धर्ममें जो सामायिकादिक अवश्य कर्तव्य है उनका त्याग होगा. शक्ति कम होनेसे ज्ञानका भी नाश होगा. निर्यापक और क्षपक दोनो भी मरेंगे तो आगमका त्याग होगा. प्रायः विद्वान एकाद ही होता है. इस वास्ते अहारादिकके कष्टसे खिन्न होकर निर्यापक मरणको प्राप्त होगा तो कौन शास्त्रोंका उपदेश करेगा और कौन शास्त्रको धारण करेगा? इसलिये एकही निर्यापक होनेसे प्रवचनत्याग होता है. यह सिद्ध हुआ.

व्यसनं व्याचष्टे—

चायम्मि कीरमाणे वसणं खवयस्स अप्पणो चावि॥
खवयस्स अप्पणो वा चायम्मि हवेज्ज असमाधि॥ ६७७॥

क्षपकस्यात्मनो वास्ति त्यागतो व्यसनं परम्॥
भवेत्ततोऽसमाधानं क्षपकस्यात्मनोऽपि वा॥ ७०२॥

विजयोदया—चायम्मि कीरमाणे त्यागे क्रियमाणे। वसणं खवगस्स क्षपकस्य दुःखं भवति, प्रतिकाराभावात्। अप्पणो व वसणं निर्यापकस्य वा व्यसनं भवति अशनादित्यागात्। असमाधिमरणं व्याचष्टे—चागम्मि त्यागे सति। खवगस्स असमाधि क्षपकस्य असमाधिमरणं भवति। चित्तसमाधिं कुर्वतः समीपे अभावात्। अप्पणो वा निर्यापकस्य वा। हवेज्ज भवेत्। असमाधिः अशनादित्यागजनितदुःखव्याकुलस्य॥

स्वपरत्यागे दुःखमप्याह—

मूलारा—खवयस्स क्षपकस्य दुःखं स्यात्प्रतीकाराभावात्। अप्पणो अशनादित्यागात्। असमाधी क्षपकस्य असमाधिः। समाधिकराचार्यसंनिधानाभावादाचार्यस्य वा अशनादित्यागजनितदुःखसंक्लेशावेशात्॥

व्यसन अर्थात् दुःखका वर्णन करते हैं—

अर्थ—निर्यापकने क्षपकको छोड देनेपर क्षपकको दुःख होता है. उस दुःखका क्षपक कुछ भी प्रतिकार नहीं कर सकता है. और आहारादिकका त्याग होनेसे निर्यापकको दुःख होता है. क्षपकका त्याग करनेपर उसके अंतःकरणको रत्नत्रयमें एकाग्र करनेवाला कोई न होनेसे उसका असमाधिमरण होता है. और यदि क्षपकके पास हमेशा निर्यापक रहनेसे उसको आहारादिकोंका त्याग करना पडेगा जिससे निर्यापककी भी रत्नत्रयमें एकाग्रता होना असंभव होगी.

सेवेज्ज वा अकप्पं कुज्जा वा जायणाइ उड्डाहं ॥
तण्हाछुधादिभग्गो खवओ सुण्णम्मि णिज्जवए ॥ ६७८ ॥

क्षुधादिपीडितः शून्ये सेवते याचते यतः ॥
क्षपकः किंचनाकल्पं दुर्मोचमयशस्ततः ॥ ७०३ ॥

विजयोदया—सेवेज्ज वा अकप्पं अयोग्यसेवां कुर्यात्। अस्थितभोजनादिकं पार्श्ववर्तिन्यसति। कुज्जा वा कुर्याद्वा। जायणाइ उड्डाहं मिथ्यादृष्टीनां गत्वा याचेत क्षुधा वा तृषा वा अभिभूतोऽहं अशनं पानं वा देहीति। सुण्णम्मि णिज्जवगे असति निर्यापके॥

निर्यापकाभावेऽकीर्ति चाचष्टे—

मूलारा—अकप्पं अयोग्यमस्थितिभोजनादिकं। जायणादि याचनामन्नपानादिकप्रार्थनं मिथ्यादृष्टीन्प्रति। आदिशब्देन वस्त्रवेशादिकं। भग्गो पीडितः। सुण्णम्मि अविद्यमाने।

अर्थ—यदि एक निर्यापक आहारादिके वास्ते बाहर गया तो इधर क्षपक अयोग्य सेवन करेगा अर्थात् बैठकर भोजन करना वगैरह कार्य करेगा. किंवा मिथ्यादृष्टिके पास जाकर याचना करेगा. मैं भूखसे पीडित हुआ हूं अथवा प्याससे कष्टी हो रहा हूं मेरे को खानेके लिये या पीनेके लिये दो ऐसी याचना करेगा.

दुग्गदि एतद्व्याचष्टे—

असमाधिणा व कालं करिज्ज सो सुण्णगम्मि णिज्जवगे ॥
गच्छेज्ज तवो खवओ दुग्गदिमसमाधिकरणेण ॥ ६७९ ॥

यतोऽसमाधिना मृत्युं याति निर्यापकं विना ॥
क्षपको दुर्गतिं भीमां दुःखदां लभते ततः ॥ ७०४ ॥

विजयोदया—असमाधिणा व असति निर्यापके समीपस्थे समाधिमतरेण कालं कुर्यात्। ततस्तेन असमाधिमरणेन। खवगो दुग्गदिं गच्छेज्ज क्षपको दुर्गतिं यायात् अशुभध्यानात् ॥

असति निर्यापके दुर्गतिगमनमाह—

मूलारा—स्पष्टम्

दुर्गतिका वर्णन—

अर्थ—निर्यापक समीप न होनेपर क्षपकका असमाधिसे मरण होगा, और ऐसे मरणसे अर्थात् अशुभध्यानपूर्वक मरनेसे क्षपकको दुर्गति होगी.

सल्लेहणं सुणित्ता जुत्ताचारेण णिज्जवेज्जंतं ॥
सव्वेहिं वि गंतव्वं जदीहिं इदरत्थ भयणिज्जं ॥ ६८० ॥

चतुर्विधस्य संघस्य कश्चन प्रेषयेत्ततः ॥
संन्याससूचकाचार्यो निर्यापकगणेशिना ॥ ७०५ ॥
श्रुत्वा सल्लेखनां सर्वैरागंतव्यं तपोधनैः ॥
कारितां शुद्धवृत्तेन भजनीयमतोऽन्यथा ॥ ७०६ ॥

विजयोदया—सल्लेहणं सल्लेखना। सुणित्ता श्रुत्वा। जुत्ताचारेण युक्ताचारेण सूरिणा णिज्जवेज्जंतं प्रवर्त्यमानां। सर्वैरपि गंतव्यं यतिभिरितरत्र निर्यापके सूरौ मन्दचारित्रे भाज्यं। यान्ति न वा यतयः।

सम्यगाचार्येण प्रवर्त्यमाने क्षपकस्य समाधिमरणोपक्रमे श्रुते सति सर्वयतीनां तदुपसर्पणं अन्यथा विकल्पं चाह—

मूलारा—सुचारेण सुविहिताचारेण सूरिणा। णिज्जवेज्जंतं। प्रवर्त्यमानं। इदरत्थ मंदचारित्रे सूरौ निर्यापके सति। भयणिज्जं गंतव्यं न वेत्यर्थः—

अर्थ—निरतिचार रत्नत्रयका पालन करनेवाले निर्यापकाचार्य के द्वारा क्षपकका सल्लेखनामरण होने वाला है यह सुनकर सर्व मुनिओंको क्षपकके पास जाना योग्य है. परंतु निर्यापकाचार्य मंदचारित्रका धारक होगा तो यति चाहे तो जा सकते हैं. अन्यथा नहीं.

सल्लेहणाए मूलं जो वच्चइ तिव्वभत्तिरायेण ॥
भोत्तूण य देवसुहं सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥ ६८१ ॥
एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो ॥
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठभवे पमोत्तूण ॥ ६८२ ॥
सोदूण उत्तमट्ठस्स साधणं तिव्वभत्तिसंजुत्तो ॥
जदि णोवयादि का उत्तमट्ठमरणम्मि से भत्ती ॥ ६८३ ॥
एति सल्लेखनामूलं भक्तितो यो महामनाः ॥
स नित्यमश्नुते स्थानं भुक्त्वा भोगपरंपराः ॥ ७०७ ॥
एकत्र जन्मनि प्राणी म्रियते यः समाधिना ॥
अकल्मषः स निर्वाणं सप्ताष्टैर्लभते भवैः ॥ ७०८ ॥
यो नैति परया भक्त्या श्रुत्वोत्तमार्थसाधनम् ॥
उत्तमार्थमृतौ तस्य जंतोर्भक्तिः कुतस्तनी ॥ ७०९ ॥

विजयोदया—सोदूण श्रुत्वा उत्तमार्थसाधनं। तीव्रभक्तिसंयुक्तो यदि न गच्छेत् । नैव तस्य उत्तमार्थमरणे भक्तिः ॥

अत्रेमे गाथे सूत्रेऽनुश्रूयेते—

मूलारा—एते श्री विजयाचार्यो नेच्छति।

समाधिमरणोपक्रममाकर्ण्यानुपसर्पतो दोषमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—जो यति तीव्र भक्तिरागसे सल्लेखनाके स्थानकी वंदना करनेको जाते हैं उनको मरणोत्तर देवगतिका सौख्य मिलता है अनंतर उनको मोक्षकी प्राप्ति होती है. जो यति एकभवमें समाधिमरणसे मरण करता है वह अनेक भव धारण कर संसारमें भ्रमण नहीं करेगा. उसको सात आठ भव धारण करनेके अनंतर अवश्य मोक्षकी प्राप्ति होगी.

अर्थ—समाधिमरणका साधन कोई मुनि कर रहा है ऐसा मालूम होनेपर अन्य अन्य संघके मुनि बडे आदर भावसे उसके दर्शन के लिये जावे यदि कोई नहीं जायेगा तो उसकी उत्तमार्थमरणमें भक्ति नहीं है ऐसा समझना चाहिये

उत्तमार्थमरणभक्त्यभावे दोषमाचष्टे—

जस्स पुण उत्तमट्ठमरणम्मि भत्ती ण विज्जदे तस्स ॥
किह उत्तमट्ठमरणं संपज्जदि मरणकालम्मि ॥ ६८४ ॥
उत्तमार्थमृतौ यस्य भक्तिर्नास्ति शरीरिणः ॥
उत्तमार्थमृतिस्तस्य मृतौ संपद्यते कुतः ॥ ७१० ॥

विजयोदया—जस्स पुण यस्य पुनः उत्तमार्थमरणे भक्तिर्न विद्यते तस्य मरणकाले कथमुत्तमार्थमरणं संपद्येत इति दोषः सूचितः ॥

उत्तमार्थमरणे भक्त्यभावे दोषमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ।

उत्तमार्थ मरणमें भक्ति न होनेसे क्या दोष होता है इनका वर्णन—

अर्थ—जिसकी उत्तमार्थमरणमें–समाधिमरणमें भक्ति नहीं है उसको मरणकालमें उत्तमार्थमरणकी प्राप्ति कैसी होगी अर्थात् वह आर्तादिक अशुभध्यानसे मरणको प्राप्त होगा. ऐसा अभिप्राय इस गाथासे सूचित होता है.

सद्दवदीणं पासं अल्लियदु असंवुडाण दादव्वं ॥
तेसिं असंवुडगिराहिं होज्ज खवयस्स असमाधी ॥ ६८५ ॥

तस्यासंवृतवाक्यानां न पार्श्वे देयमासितुं ॥
वचनैरसमाधानं तदीयैर्जायते यतः ॥ ७११ ॥

विजयोदया— असंवुडाण पासं सद्दवदीणं अल्लियदु ण दादव्वं। असंवृतानां क्षपकसमीपं ढौकनं न दातव्यं। यावद्देशस्थानां तेषां वचनं न श्रूयते।

कस्मादसंवृतजनसमीपागमनं निषिध्यते इत्याचष्टे— तेसिं असंवुडगिराहिं होज्ज खवयस्स असमाधी। तेषामसंवृताभिर्वाग्भिर्भवेत्क्षपकस्य असमाधिः। क्षीणो हि जनो यत्किंचिच्छ्रुत्वा कुप्यति संक्लेशमुपयाति वा।

उत्तमार्थसाधकस्य समीपे वाचालानां गमनं निषेद्धुमाह—

मूलारा—सद्दवदीणं शब्दपतीनां शब्दव्रतिनां च कलकलकारिणामित्यर्थः। पासं समीपं अर्थात्क्षपकस्य। अल्लिदुं आश्रयितुं। असंवुडाण वाग्गुप्तिसमितिविकलानां। असंवुडगिराहिं उत्सूत्राभिर्वाग्भिः। असमाधी चित्तविक्षेपः। क्षीणो हि जनो यत्किंचिच्छ्रुत्वा कुप्यति संक्लिश्यते वा।

अर्थ—जो वाग्गुप्ति अथवा भाषासमितीके पालक नहीं है, जो आगमसे विरुद्ध भाषण बोलते हैं अथवा जो ज्यादा कलकल करते हैं ऐसे लोकोंको क्षपकके पास नहीं जाने देना चाहिये. क्यों कि उनका निरर्गल आगम विरुद्ध भाषण सुनकर क्षपकका चित्त रत्नत्रयमें स्थिर न होगा और क्षीण हुआ वह क्षपक कोपयुक्त संक्लेश परिणामयुक्त हो जावेगा अतः आगमविरुद्ध ज्यादा वाद करनेवाले को क्षपकके पास जाना निषिद्ध किया है. जहां तक शब्द सुननेमें आवेगा वहां तक उनका गमन निषिद्ध समझना चाहिये.

भत्तादीणं भत्ती गीदत्थेहिं वि ण तत्थ कादव्वा ॥
आलोयणा वि हु पसत्थमेव कादव्विया तत्थ ॥ ६८६ ॥

गीतार्थैरपि नो कृत्या स्त्रीसत्कार्थादिका कथा ॥
आलोचनादिकं कार्यं तत्रातिमधुराक्षरम् ॥ ७१२ ॥

विजयोदया—भक्तादीनां तत्ती भक्तस्यादिकथा। गृहीतार्थैरपि यतिभिस्तत्र क्षपकसकाशे न कर्तव्येति। आलोयणा त्ति तु आलोचनागोचरातिचारविषया। तस्य क्षपकसमीपे। पसत्थमेव काद्व्वा यथासौ न शृणोति तथा कार्या। बहुषु युक्ताचारेषु सूरिषु सत्सु॥

गीतार्थानां क्षपकांते व्यवहार्यमाह—

मूलारा—तत्ती कथा। आलोयणा गोचरातिचारगोचरा। पसत्थमेव यथासौ न शृणोति तथा कथा कार्येत्यर्थः॥

अर्थ—आगमार्थको जाननेवाले मुनिओंको क्षपकके पास भोजनकथा, वगैरे कथाओंका वर्णन करना योग्य नहीं है. योग्य आचारोंको जाननेवाले आचार्योंके पासही सूक्ष्म अतिचारविषयक आलोचना करना हो तो वह भी प्रशस्त ही करनी चाहिये. अर्थात् वह क्षपक सुन न सके ऐसी आलोचना करनी चाहिये.

पच्चक्खाणपडिकमणुवदेसणिवोगतिविहवोसरणे॥
पट्ठवणापुच्छाए उवसंपण्णो पमाणं से॥ ६८७॥

प्रत्याख्यानोपदेशादौ सर्वत्रापि प्रयोजने॥
क्षपकेण विधातव्यः प्रमाणं सूरिराश्रितः॥ ७१६॥

विजयोदया—प्रत्याख्यानं प्रतिक्रमणादिकं। से तस्य सकाशे कर्तव्यमिति यावत्। यदि शक्तोऽसौ, न चेत्तद्नुज्ञातस्य समीपे॥

बहुष्वपि युक्ताचारेषु सत्सु सूरिषु क्षपकेण प्रत्याख्यानादिकं प्रथममुपाश्रितस्यैव सूरेः समीपे कर्तव्यमित्यनुशास्ति—

मूलारा—णिओग आज्ञादानं। तिविहवोसरणे त्रिविधाहारत्यागे। पट्ठवणा प्रायश्चित्तं। आपुच्छा प्रश्नः। उवसंपण्णो निर्यापकत्वेनाश्रितः। पमाणं प्रमाणमविसंवादो भवति। यद्यसावशक्तस्तदा तदनुज्ञया तादृगन्योऽपि प्रमाणमिति निर्णयः।

युक्ताचारके ज्ञाता अनेक आचार्य हो तो भी जिसके पास क्षपकने प्रथम आलोचना की है उसकेही सन्निध प्रत्याख्यानादिक करने चाहिये ऐसा वर्णन—

अर्थ—क्षपकमुनि प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण वगैरेह आवश्यक कर्तव्य प्रथम आचार्यके पास ही करे, आज्ञा ग्रहण करना, उपदेश सुनना, तीन प्रकारके आहारका त्याग करना, (जल छोडकर) प्रायश्चित्त ग्रहण करना, प्रश्न करना, इत्यादिक कार्योंमें प्रथमाचार्य ही उसके लिये प्रमाण है. यदि प्रथमाचार्य उपदेश देना, वगैरह कार्योंमें अशक्त हो तो उनके आज्ञानुसार दुसरे आचार्यके पास क्षपक प्रतिक्रमणादिक कर्तव्य कर सकता है.

तेल्लकसायादीहिं य बहुसो गंडूसया दु घेत्तव्वा ॥
जिब्भाकण्णाण बलं होहिदि तुंडं च से विसदं ॥ ६८८ ॥

तेन तैलादिना कार्या गंडूषाः संत्यनेकशः ॥
जिह्वावदनकर्णादेर्नैर्मल्यं जायते ततः ॥ ७१९ ॥
भवन्ति येषां गुणिनः सहाया विघ्नं विना ते ददते समाधिं ॥
समाधिदानोद्यतमानसैस्ते ग्राह्याःप्रयत्नेन ततो गणेन्द्राः ॥ ७१६ ॥

इति निर्यापकाः ।

विजयोदया—तेल्लकसायादीहिं य तैलेन कषायादिभिश्च। बहुसो बहुशो। गंडूसगा दु गंडूषाः। घेत्तव्वा ग्राह्याः। तत्र गुणं वदति-जिब्भाकण्णाण बलं जिह्वायाः कर्णयोश्च शक्तिर्बलं वचने श्रवणे च। होहिदि भविष्यति। तुंडं च से विसदं होदित्ति पदसंबंधः। तुंडवैशद्य अपि क्षपकस्य भविष्यति। निर्यापकव्यावर्णना समाप्ता ॥

वाक्श्रवणपाटवमुखवैशद्यार्थं यथादोषं तैलादिगंडूषधारणं गुरुनियोगेन क्षपकस्य विधेयतयोपदिशति—

मूलारा—गंडूसया गंडूषा। घेत्तव्वा ग्राह्याः क्षपकेण। बलं। वचने श्रवणे च शक्तिः। तुंडं मुखं। निर्यापकः सूनतः २७ अंकत ॥ ४० ॥

अर्थ—तेल और कषायले द्रव्योंके क्षपकको बहुतवार कुरले करने चाहिये. कुरले करनेसे जीभ और कानोंमें सामर्थ्य प्राप्त होता है. अर्थात् कषायद्रव्यके कुरले करनेसे जीभके उपरका मल निकल जानेसे वह स्वच्छ होती है. बोलनेमें समर्थता प्राप्त होती है. कर्णमें तेल डालनेसे श्रवणशक्ति बढती है. निर्यापकवर्णन समाप्त हुआ.

णिज्जावयपगासणा इत्येतद्व्दति—

दव्वपयासमकिच्चा जइ कीरइ तस्स तिविहवोसरणं ॥
कहिवि भत्तविसेसंमि उस्सुगो होज्ज सो खवओ ॥ ६८९ ॥

अप्रकाश्य त्रिधाहारं त्याज्यते क्षपको यदि ॥
तदोत्सुकः स क्वापि विशिष्टे जायतेऽशने ॥ ७१७ ॥

विजयोदया—दव्वपगासमकिच्चा द्रव्यस्याहारस्य प्रकाशनं तं प्रति ढौकनं अकृत्वा । जइ कीरइ यदि क्रियते । तस्स तस्य क्षपकस्य । तिविहवोसरणं त्रिविधाहारत्यागः । कहिवि कस्मिंश्चिदपि । भत्तविसेसम्मि भक्तविशेषे । उस्सुगो होज्ज सो खवओ उत्सुको भवेत्स क्षपकः । आहारौत्सुक्यं चित्तं व्याकुलयति ॥

अथैवं प्रियधर्मत्वादिगुणग्रामसमग्रनिर्यापकयतिगणपरिचर्यमाणस्य क्षपकस्य त्रिविधाहारं परिजिहीर्षोराहारविशेषौत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं विचित्राहारदर्शनलक्षणां चरमाहारप्रकाशनां गाथासप्तकेन व्यावर्णयिष्यन्पूर्वं सयुक्तिकं तत्प्रयोगविधिं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—दव्वपयासं द्रव्यस्य नानाविधाहारस्य प्रकाशं तं प्रति ढौकनं। उस्सुगो उत्सुकः सोत्कंठमभिलाषुकोऽनादिसंततया प्रवर्तमानत्वादाहारसंज्ञायाः ॥

अब आहारप्रकाशन प्रकरणका आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—क्षपकको आहार न दिखाकर ही यदि उससे तीन प्रकारके आहारोंका त्याग कराया जावेगा तो वह किसी आहारविशेषमें उत्सुक होगा. अर्थात् अमुक आहार मेरेको चाहिये ऐसी इच्छा उसके मनमें प्रादुर्भूत होगी जिससे उसका मन दुःखित होगा. यह आहारसंज्ञा जीवमें अनादिकालसे संलग्न हुई है. इसवास्ते उसको आहार दिखाकर उपदेश देकर उससे विरक्त करना चाहिये.

तह्मा तिविहं वोसरिहिदित्ति उक्कस्सयाणि दव्वाणि ॥
सोसित्ता संविरलिय चरिमाहारं पयासेज्ज ॥ ६९० ॥

पासित्तु कोइ तादी तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ॥
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६९१ ॥

ततः कृत्वा मनोज्ञानामाहाराणां प्रकाशना ॥
सर्वथा कारयिष्यामि त्रिविधाहारमोचनम् ॥ ७१८ ॥
कश्चिद्दृष्ट्वा तदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७१९ ॥

विजयोदया—पासित्तु दृष्ट्वा आहारमुपदर्शितं । कोइ कश्चित् । तादी यतिः । तीरं पत्तस्स तीरं प्राप्तस्य । इमेहिं अमीभिर्मनोज्ञैराहारैः । किं मेत्ति किं ममेति । वेरग्गमणुप्पत्तो भोगवैराग्यमनुप्राप्त उपगतः । संवेगपरायणो होदि संसारभयात्यागे प्रधानो भवति ॥

मूलारा—वोसरिहिदि प्रत्याख्यास्यतीति । सोसित्ता सर्वतोपस्थेष्टत्वारात्समीपमानीय । संविरलिय भाजनेषु विरलं विरलं धृत्वा । संविरइय इति पाठे सम्यग्विरचय्येत्यर्थः । पयासेज्ज दर्शयेत्सूरिः । एतां टीकाकारो नेच्छति ॥

कश्चित्तानि दृष्ट्वा परं वैराग्यं प्राप्तो भवभयप्रधानो भवतीत्यनुशास्ति—

मूलारा—पासित्तु उपदर्शितमाहारं दृष्ट्वा । तादी मुनिः । तीरं मरणांतं। इमेहिं एतैरुत्कृष्टभोज्यैः। किं मेत्ति किं प्रयोजनं ममेति । वेरग्गं भोगवैराग्यं । मनोज्ञविषयसेवा हि पौनःपुन्येन प्रवर्त्यमाना तत्राभिलाषमनुबध्नाति ततश्च कर्मबंधस्ततो भूयोऽपि भीमभवप्रवेश इति ।

अर्थ—इसलिये अच्छे अच्छे आहारके पदार्थ बर्तनोंमें पृथक् पृथक् परोसकर उस क्षपकके समीप लाने चाहिये. और उसको दिखाना चाहिये. ऐसे उत्कृष्ट आहारको देखकर कोई क्षपक मुनि मैं तो अब इस भवके दूसरे किनारे को प्राप्त हुआ हूं, इन मनोहर आहारोंकी मेरेको कुछ आवश्यकता नहीं है ऐसा मनमें समझकर भोगसे विरक्त होता है. और संसारसे भययुक्त होकर आहारका त्याग करनेमें ही उद्युक्त होता है.

आसादित्ता कोई तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ॥
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६९२ ॥

देसं भोच्चा हा हा तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ॥
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६९३ ॥
सव्वं भोच्चा धिद्धी तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ॥
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होइ ॥ ६९४ ॥
आस्वाद्य कश्चिदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२० ॥
अशित्वा कश्चिदंशेन तीरंप्राप्तस्याकिं मम ॥
इति वैराग्यमापन्न: संवेगमवगाहते ॥ ७२१ ॥
वल्भित्वा सर्वमेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२२ ॥

विजयोदया—मनोज्ञविषयसेवा हि पौनःपुन्येन प्रवर्तमाना अभिलाषं जनयति जंतोः । स चानुरागः कर्मपुद्गलादाने हेतुः, ततो भोगं भयांभोधिप्रवेशनं भवभृतामिति स्पष्टार्थं गाथात्रयोत्तरं । प्रकाशना समाप्ता पयासणा ॥

कोपि स्तोकं मुखे प्रक्षिप्य विरक्तः सन्संविग्नः स्यादित्याह—

मूलारा—स्पष्टं ।

कोऽपि आहारैकदेशं वल्भित्वा तथा स्यादित्याह—

मूलारा—हाहा । भुक्ताश्च विविधाहाराः पीताश्च विविधास्तनाः ॥
मातरो विविधा दृष्टाः पितरश्च भवार्णवे ॥ इति शोकविषादाविष्टः ॥

कोऽपि सर्वमाहारं भुक्त्वा धिग्धिग्मामित्यात्मानं निंदित्वा तथा स्यादित्याह—

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—कोई क्षपक मुनि नाना प्रकारके मनोज्ञ आहार की प्राप्ति होनेपर इनसे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ऐसा विचार करके उनका सेवन नहीं करता है. मैं तो अब मरणके अन्तिम समयको प्राप्त हो चुका हूं

अतः इससे मेरा कुछ प्रयोजन सिद्ध होगा नहीं इस विचारसे वैराग्यको प्राप्त होकर संवेगतत्पर होता है.

कोई क्षपक उस आहारोंमें से थोडा आहार उठाकर अपने मुंहमें डाल कर तदनंतर हाय ' अब तो मैं अन्तिम समयको प्राप्त हुआ हूं इस आहारसे मेरा क्या मतलब है ऐसा विचार कर विरक्त और संसारभीत होता है. कोई क्षपक संपूर्ण आहारका भक्षण कर उसमे विरक्त होता है. हाय मेरेको धिक्कार हो. मैं अन्तिम समयको प्राप्त हुआ हूं. ऐसे विचारसे विरक्त और भयभीत होता है. मनोज्ञ विषयोंका सेवन करते रहनेसे वारंवार अभिलाषा बढती ही जाती है. यह अभिलाषा विषयोंपर अनुराग उत्पन्न करती है. अनुरागमे कर्मबंधन होता है और यह कर्मबंध संसारसमुद्रमें प्राणीको पटक देता है. इस प्रकारके विचारसे क्षपक आहारका त्याग करता है. प्रकाशन प्रकरण समाप्त हुआ.

हाणी इति सूत्रपदं व्याचष्टे—

कोई तमादयित्ता मणुण्णरसवेदणाए संविद्धो ॥
तं चेवणुबंधेज्ज हु सव्वं देसं च गिद्धीए॥ ६९५ ॥
कश्चिद्भुक्त्वा सुंदराहारं रसास्वादनलालसः ॥
कश्चित्समनुबध्नाति सर्वं देशं च गृद्धितः ॥ ७२२ ॥

इति प्रकाशनम् ।

विजयोदया—कोई कश्चिद्यतिः । तं दर्शितमाहारं । आदयित्ता भुक्त्वा । मणुण्णरसवेदणाए मनोज्ञरसानुभवनेन । संविद्धो मूर्च्छितः । तं चेवणुबंधेज्ज हु तमेवास्वादितं मनोज्ञाहारमनुबध्नीयात् । दर्शितैकदेशं वा गिद्धीए गृद्धया ॥

कश्चिद्धीनसत्वस्तं दर्शितमाहारं सर्वं भुक्त्वा तद्रसानुभवाविष्टस्तमेव सर्वं तदेकदेशं वा गृद्धया नित्यमभिलषेदित्याह—

मूलारा—आदइत्ता-भुक्त्वा । वेदणाए अनुभवेन संविद्धो सम्मूर्च्छितः ॥ एतां श्री विजयाचार्ये उत्तरसूत्रे व्याचष्ट । प्रकाशना । सूत्रतः २८ । अंकतः ७ ॥

हानि नामक प्रकरणका विवेचन—

अर्थ—कोई क्षपक दिखाया हुआ आहार भक्षण कर उसके स्वादिष्ट रसमें लुब्ध होकर उस संपूर्ण आहारको वारंवार भक्षण करने की इच्छा रखता है. अथवा उसमेंसे किसी एक पदार्थ को वारंवार खानेकी अभिलाषा करता है.

तत्थ अवाओवायं दंसेदि विसेसदो उवदिसंतो ॥
उद्धरिदु मणोसल्लं सुहुमं सण्णिव्ववेमाणो ॥ ६९६ ॥

कुरुते देशनां सूरिरायापायविशारदः ॥
निराकर्तुं मनःशल्यं सूक्ष्मं निर्यापयन्नमुम् ॥ ७२४ ॥

विजयोदया—तत्थ तथाहारासक्तौ जातायां । अवाओवायं इंद्रियसंयमस्यापायं, असंयमस्य च ढौकनं । दंसेदि दर्शयति । विसेसदो विशेषेण । उवदिसंतो उपदिशन् । उद्धरिदु उद्धर्तुं । मणोसल्लं मनःशल्यं । सुहुमं सूक्ष्मं । सण्णिव्ववेमाणो सम्यक् प्रशमयन् ॥

अथैवं मनोज्ञाहाररसगृद्धयनुबंधात्मकशल्योद्धरणपूर्विका क्षपकस्य हानिं गाथाचतुष्टयेन व्याचक्षाणः पूर्वं तादृक् शल्यार्त्तस्य तस्य निर्यापकाचार्येण प्रयोक्तव्यं प्रतिविधानमभिधत्ते—

मूलारा—तत्थ तस्यां मनोज्ञाहाररसासक्तौ क्षपकस्य जातायां । अपायोपाये अपायमिंद्रियसंयमविनाशं, उपायं च तदसंयमढौकनं । विसेसदो उवदिसंतो 'नाजितेन्द्रियस्य कापि कार्यसिद्धिरस्तीति'। "अंधादयं महानंधो विषयांधीकृतेक्षणः । चक्षुषांधो न जानाति विषयांधो न केनचित्" ॥ इत्येवं प्रायेण विशेषेणोपदेशं कुर्वन् । उद्धरिदु उद्धर्तुं उत्पाटयितुं । मणोसल्लं चित्तगतं भोजनगृद्धिलक्षणं घोरदुःखकारणं । सुहुमं सूक्ष्मं गुरुणापि सदैवोपलक्षणीयत्वात् । सण्णिव्ववेमाणो सम्यक् प्रीणयन्प्रशमोत्पादनेन शीतलयन्नित्यर्थः ॥

अर्थ—जब आहारमें क्षपककी आसक्ति हो जाती है तब अभिलाषा रूपी सूक्ष्म मनःशल्यको निकालनेके लिये आचार्य शांततासे उसको विशेष रीतीसे उपदेश करते हैं. उपदेशमें वे आहारकी गृद्धीसे इंद्रियसंयमकी हानि होती है और असंयमकी वृद्धि होती है ऐसा विशेषरीतीसे कहते हैं. जिसने इंद्रियोंको तावमें नहीं रखा है वह कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं कर सकता है, विषयांध मनुष्य अंधसे भी अन्धा है. आखोंसे अंधा पुरुष केवल पदार्थोंको

देख नहीं पाता परंतु विवेकसे वह रहित नहीं है. परन्तु विषयांध हेय, उपादेय, कुछ भी जानता नहीं. इस प्रकार का उपदेश करके उसकी आहारकी अभिलाषा हृदयसे निकालते हैं.

सोच्चा सल्लमणत्थं उद्धरदि असेसमप्पमाणेण ॥
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो खवओ ॥ ६९७ ॥

काश्चिदुद्धरते शल्यं क्षिप्रमाकर्ण्य देशनाम् ॥
करोति संसृतित्रस्तः सूरीणां वचसा न किम् ॥ ७२५ ॥

विजयोदया–सोच्चा श्रुत्वा वैराग्यकथां । सल्लं शल्यं, उद्धरदि उत्पाटयति । असेसं अशेषं । अप्पमादेण प्रमादं विना । वेरग्गमणुप्पत्तो वैराग्यमनुप्राप्त । संवेगपरायणः संवेगपरः । क्षपकः शल्योद्धरणपरो भवति ॥

गुरूपदेशमाकर्ण्य झटिति प्रतिबुद्धः स क्षपको यद्विधत्ते तदभिधत्ते—

मूलारा––स्पष्टम् ।

अर्थ––इस प्रकार वैराग्य बढानेवाला उपदेश सुनकर क्षपक प्रमाद छोड देता है. और संपूर्ण अभिलाषा रूपी शल्यको हृदयसे निकालकर फेक देता है. वैराग्य युक्त होकर संसारसे भययुक्त होता है.

अणुसज्जमाणए पुण समाधिकामस्स सव्वमुवहरिय ॥
एक्केक्कं हावेंतो ठवेदि पोराणमाहारे ॥ ६९८ ॥

समाधानीयतो गृध्नोः संत्याज्य सकलं गणी ॥
एकैकं हापयन्नेवं प्रकृते दधते शनैः ॥ ७२६ ॥

विजयोदया––अणुसज्जमाणए पुण कृतेऽप्याहाराभिलाषस्य दोषोपदर्शने । अणुसज्जमाणगे आहारे अनुरागवति क्षपके । समाधिकामस्स समाधिमरणमिच्छतः । सव्वमुवहरिय सर्वमाहारमुपसंहृत्य । कथं एक्केक्कं हावेंतो एकैकं आहारं हापयन् सूरिः । ठवेदि स्थापयति । क्षपकं । पोराणमाहारे प्राक्तने आहारे ॥

तदनुबंधिनं समाधिमरणार्थिनं एकैकहापनेन सर्वं गृद्धिकरमाहारं त्याजयित्वा सूरिः क्षपकं प्रकृताहारे स्थापयतीति उपदिशति––

मूलारा—अणुसज्जमाणगे दर्शितेप्याहारगृद्धिदोषे पुनराहारे रागवति क्षपके । समाधिकामस्स समाधिमरणार्थिनः क्षपकस्य संबंधिनं । सर्वमाहारमेकैकं हापयन्सूरिस्त्याजयित्वा । पौराणमाहारे प्राक्तने भोजने स्थापयति स्थितिं करोतीति संबंधः ॥

अर्थ—निर्यापकाचार्यके द्वारा आहाराभिलाषा के दोष बतानेपर भी क्षपक उस आहारमें यदि प्रेमयुक्त ही रहा तो समाधिमरणकी इच्छा रखनेवाले उस क्षपकके संपूर्ण आहारोंमेंसे एक एक आहारको घटाते हैं. अर्थात् क्षपकसे एकेक आहारका क्रमसे त्याग कराते हैं.

अणुपुव्वेण य ठविदो संवट्टेदूण सव्वमाहारं ॥
पाणयपरिक्कमेण दु पच्छा भावेदि अप्पाणं ॥ ६९९ ॥

क्रमेण वैराग्यविधौ नियुक्तो निरस्य सर्वं क्षपकस्ततोऽन्नं ॥
आराधनाध्यानविधानदक्षैः स पानकैर्भावयते श्रुतोक्तौ ॥ ७२७ ॥

इति हानिः।

विजयोदया—ठविदो स्थापितः सूरिणा प्राक्तनाहारे क्षपकः पश्चात्किं करोत्यत आह-सव्वमाहारं,अशनं खाद्यं, स्वाद्यं च । अणुक्रमेण क्रमेण । संवट्टेदूण उपसंहृत्य । पाणगपरिक्कमेण दु पानकाख्येन परिकरेण । अप्पाणं आत्मानं पच्छा भावेदि पश्चाद्भावयति । हानिर्व्याख्याता । हाणित्ति ॥

तथा प्राक्तनाहारे स्थापितोऽसौ किं करोतीत्यत्राह—

मूलारा—अणुपुव्वेण अनुक्रमेण । संवट्टेदूण त्यक्त्वा । सव्वं पानकवर्जं त्रिविधमाहारं । पाणयपरिक्कमेण दु पानकाख्येन परिकरेणैव । पच्छा पश्चिमकाले । भावेदि चतुर्विधाहारत्यागयोग्यं स्वं करोति क्षपकः ॥ हानिः सूत्रतः २९ अंकतः ४० ॥

अर्थ—आचार्य उपर्युक्त क्रमसे मिताहारका त्याग कराकर क्षपकको साधे भोजनमें स्थिर करते हैं. तब वह क्षपक भात वगैरे अशन और अपूप वगैरे खाद्य पदार्थोंको क्रमसे कम करता हुआ पानकाहार करनेमें अपनेको उद्युक्त करता है. इस प्रकार हानिनामक प्रकरण समाप्त हुआ.

कतिप्रकारं पानकमित्यारेकायामाचष्टे—

सत्थं बहलं लेवडमलेवडं चससित्थयमसित्थं ॥
छव्विहपाणयमेयं पाणयपरिकम्मपाओग्गं ॥ ७०० ॥

लेपालेपघनस्वच्छसिक्थासिक्थविकल्पतः ॥
पानकर्मोचितं पानं षोढेदं कथितं जिनैः ॥ ७२८ ॥

विजयोदया—सत्थं स्वच्छं पके पानक उष्णोदकं सौवीरकं । तिंतिणीकाफलरसप्रभृतिकं च अन्यद्बहलं । दध्यादिकं लेवडं लेपसहितं । अलेवडं अलेपसहितं यन्न हस्ततलं विलिंपति । ससित्थगं सिक्थसहितं, असित्थगं सिक्थरहितं । छव्वा षोढा । पाणगमेदं एतत्पानकमेकं । परिकम्मपाओग्गं पानकाख्यपरिकर्मप्रायोग्यं ।

अथैवं कृताहारपरिहारोद्योगस्य क्षपकस्य तत्प्रत्याख्यानविधानं गाथादशकेनोपदेक्ष्यन्पूर्वं तद्योग्यानुपानविकल्पान्निर्दिशति—

मूलारा—सच्छं स्वच्छं उष्णोदकादिकं । बहलं कांजिकद्राक्षापानकतिंतिडीकादिफलरसादिकं । लेवडं हस्ततललेपि दधिघोलादिकं । अलेवडं मंडमथितादिकं । ससित्थगं पेयादिकं । असित्थं मुद्गसूपादिकं । छव्वा षोढा ॥

पानकके कितने प्रकार हैं इस प्रश्नका उत्तर —

अर्थ-स्वच्छ यह एक पानकका प्रकार है. गरम पानी, वगैरहको स्वच्छ कहते हैं. बहल–कांजी, द्राक्षारस, इमलीका सार, वगैरह गाढ पानक. लेवड जो हाथको चिपकता है ऐसा पतला पदार्थ दही वगैरह. अलेवड–हाथको न चिपकनेवाला मांड ताक वगैरह. सिक्थसहित–जिसमें भातके सिक्थ रहते हैं ऐसा पानक अर्थात् मांड सिक्थग. भातके सिक्थ जिसमें नहीं है ऐसा मांड असिक्थग ऐसा छह प्रकारका पानक आगममें कहा है

आयंबिलेण सिंभं खीयदि पित्तं च उवसमं जादि ॥
वादस्स रक्खणट्ठं एत्थ पयत्तं खु कादव्वं ॥ ७०१ ॥

आचाम्लेन क्षयं याति श्लेष्मा पित्तं प्रशाम्यति ॥
परं समीररक्षार्थं प्रयत्नोऽस्य विधीयताम् ॥ ७२९ ॥

विजयोदया—आर्यविलेण आचाम्लेन । सिंभं खीयदि श्लेष्मा क्षयमुपयाति । पित्तं च पित्तं च । उवसमं जादि उपशममुपयाति । वादस्स वातस्य । रक्खणट्ठं रक्षणार्थं । एत्थ अत्र । पयत्तं खु कादव्वं प्रयत्नः कर्तव्यः ॥

कफपित्तवातप्रतिकारोपायमाह—

मूलारा—सिंभो खीयदि श्लेष्मा क्षयमुपयाति । रक्खणत्थं प्रकोपनिवारणार्थं । एत्थ अत्यासन्नमृत्युके क्षपके । पयत्तं प्रकृष्टो यत्नः । येन वातः कुपितः प्रशाम्यति येन वा न कुप्यति स आयुर्वेदानुसारेणोपक्रमः कर्तव्य एवात्राधीनत्वात्पित्तकफधातुमलादीनाम् ॥

अर्थ—आचाम्लसे कफ का क्षय होता है. पित्तका उपशम होता है और वातका रक्षण होता है अर्थात् उसकाभी प्रकोप होता नहीं इसलिये आचाम्लमें प्रयत्न करना चाहिये. अर्थात् इतर पानकोंकी अपेक्षासे आचाम्ल पानक क्षपककी प्रकृति को अनुकूल होता है इसलिये क्षपक विशेषतासे इसको उपयोगमें लावे.

पानभावनोत्तरकालभाविनं व्यापारं दर्शयति—

तो पाणएण परिभाविदस्स उदरमलसोधणिच्छाए ॥
मधुरं पज्जेदव्वो मंडं व विरेयणं खवओ ॥ ७०२ ॥

ततोऽसौ भावितः पानैर्जाठरस्य विशुद्धये ॥
मलस्य मधुरं मंदं पायनीयो विरेचनम् ॥ ७३० ॥

विजयोदया—तो पश्चात् । पाणगेण पानेन । परिभाविदो भावितः क्षपकः । मधुरं पज्जेदव्वो मधुरं पाययितव्यः । किमर्थं ? उदरमलसोधणिच्छाए उदरगतमलनिरासाय ॥

पानकसंस्कारोत्तरमुपक्रमं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—पज्जेदव्वो पाययितव्यः ॥

पानभावनोत्तर क्या क्रिया करनी चाहिये इसका वर्णन—

अर्थ—पानक पदार्थका सेवन करनेवाले क्षपकको पेटके मलकी शुद्धि करनेके लिये मांडके समान मधुर रेचक औषध देना चाहिये.

आणाहवत्तियादीहिं वा वि कादव्वमुदरसोधणयं ॥
वेदणमुप्पादेज्ज हु करिसं अत्थंतयं उदरे ॥ ७०३ ॥

अनुवासादिभिस्तस्य शोध्यो वा जाठरो मलः ॥
अनिरस्तो यतः पीडां महतीं विदधाति सः ॥ ७३१ ॥

विजयोदया—आणाहवत्तियादीहिं अनुवासनादिभिः कादव्वं कर्तव्यं। उदरसोधणयं उदरस्थमलमुदरशब्दनोच्यते तस्य निराक्रिया उदरमलशोधना। किमर्थमेवं प्रयासेन महता मलं निराक्रियते इत्यत्राचष्टे। वेदणमुप्पादेज्ज खु वेदनामुत्पादयेदेव। उदरे करिस्सगं पुरीषं अत्थंतगं स्थितं ॥

मूलारा—आणाह अनुवासनं। कांजिकस्विन्नबिल्वपत्राद्युपनाहो वा। वत्ति वर्तिः। सैंधवादिमयी गुदप्रणेया आदिशब्देन यापनबस्त्यादिग्रहणं। करिसं पुरीषं। अत्थंतयं तिष्ठत् ॥

अर्थ—कांजीसे भिगे हुए बिल्व पत्रादिकोंसे उदरको सेकना चाहिये तथा सेंधानमक वगैरह पदार्थोंकी वर्तिका बनाकर गुदद्वारमें उसका प्रवेश करना चाहिये ऐसा करनेसे सब उदरका मल निकलता है. ऐसा प्रयास क्यों करते हो इस प्रश्नका उत्तर ऐसा है कि, यदि उदरमें मल संचित होनेपर उसको न निकाला जाय तो वह वेदना उत्पन्न करता है.

एवं कृतोदरशोधनस्य क्षपकस्य योग्यं व्यापारं निर्यापकसूरिसंपाद्यमादर्शयति—

जावज्जीवं सव्वाहारं तिविहं च वोसरिहिदित्ति ॥
णिज्जवओ आयरिओ संघस्स णिवेदणं कुज्जा ॥ ७०४ ॥

आराधकस्त्रिधाहारं यावज्जीवं विमोक्षति ॥
निवेद्यमिति संघस्य निर्यापकगणेशिना ॥ ७३२ ॥

विजयोदया—जावज्जीवं जीवितावधिकं। सव्वाहारं सर्वाहारं। त्रिविधं अशनं, खाद्यं, स्वाद्यं च। वोसरिहिदित्ति त्यजतीति। णिज्जवगो आयरिओ निर्यापकः सूरिः। संघस्स णिवेदणं कुज्जा संघं निवेदयेत् ॥

एवं विशोधितोदरस्य क्षपकस्य योग्यं सूरिप्रयोज्यकर्मोपदिशति—

मूलारा—तिविहं अशनं, खाद्यं, स्वाद्यं च। वोसरिहिदित्ति त्यक्ष्यति क्षपक इति।

इस प्रकार क्षपकका उदर शोधनेपर क्षपकके द्वारा कोनसी क्रिया निर्यापक सूरि कराते हैं इसका विवेचन—

अर्थ—यह क्षपक अब अशन, खाद्य और स्वाद्य, ऐसे तीन प्रकारके आहारोंका आमरण त्याग करता है ऐसा निर्यापक आचार्य संपूर्ण संघको विदित करते हैं.

खामेदि तुह्म खवओत्ति कुंचओ तस्स चेव खवगस्स ॥
दावेदव्वो णेदूण सव्वसंघस्स वसधीसु ॥ ७०५ ॥

क्षपको वोऽखिलांस्त्रेधा निःशल्यीभूतमानसः ॥
क्षान्तः क्षमयते भक्ताः ! क्षमागुणविचक्षणः ॥ ७३३ ॥

विजयोदया—खामेदि क्षमां ग्राहयति । तुह्म युष्मान् । खवगोत्ति क्षपक इति । तस्स चेव खवगस्स तस्यैव क्षपकस्य । कुंचगो प्रतिलेखनं । दावेदव्वो दर्शयितव्यं । णेदूण नीत्वा । सव्वसंघस्स वसदीए सर्वसंघस्य वसतीषु ।

सूरिणा संघस्य निवेदनविधिमाह–

मूलारा—खामेदि क्षमां ग्राहयति । तुम्ह युष्मान् । कुंचगो प्रतिलेखनं । दावेदव्वो क्षमयति युष्मान्क्षपक इति भाषमाणेन ब्रह्मचार्यादिना सर्वसंघवसतिषु नीत्वा तत्प्रतिलेखनं सूरिणा दर्शयितव्यमित्यर्थः ॥

अर्थ—यह क्षपक आप सब लोगोंको क्षमा ग्रहण करनेकी प्रार्थना करता है इस अभिप्रायका भाषण सर्व संघमें जाकर आचार्य ब्रह्मचारीके हाथमें क्षपककी पिच्छी देकर कहते हैं. और वह पिच्छिका सबको दिखाते हैं. अर्थात् क्षपक सर्व मुनिओंके पास जा नहीं सकता है इसलिये उसकी पिच्छिका सबको दिखाकर क्षपक आप लोगोंसे क्षमा चाहता है ऐसा आचार्य कहते हैं.

तेन संघेन ज्ञातक्षपकाभिप्रायेण कर्तव्यमित्याचष्टे--

आराधणपत्तीयं खवयस्स व णिरुवसग्गपत्तीयं ॥
काओसग्गो संघेण होइ सव्वेण कादव्वो ॥ ७०६ ॥

आराधनास्य निर्विघ्ना सम्यक् संपद्यतामिति ॥
स याति सकलः संघस्तनूत्सर्गमसंभ्रमम् ॥ ७३४ ॥

विजयोदया–आराधणपत्तीयं रत्नत्रयाराधना क्षपकस्य यथा स्यादित्येवमर्थं । पवगस्स णिरुवसग्गपत्तीयं क्षपकस्योपसर्गा मा भूवन्नेवमर्थं च । काओसग्गो कायोत्सर्गः । सवेण सव्वेण सर्वेण संघेन । होदि कायव्वो भवति कर्तव्य ॥

एवं क्षमितेन संघेन किं कर्तव्यमित्यत्राह—

मूलारा—आराधणपत्तीयं रत्नत्रयाराधना क्षपकस्य यथा स्यादित्येवमर्थं । णिरुवसग्गपत्तीयं क्षपकस्योपसर्गा मा भूवन्नेवमर्थं च ।

क्षपकका अभिप्राय ज्ञात होनेपर संघका उस समयका कर्तव्य कहते हैं—

अर्थ—क्षपकको रत्नत्रयाराधना प्राप्त होवे और उसको समाधिमरण की प्राप्ति निर्विघ्न उपसर्ग रहित होनेके लिये सर्व संघको उस समय कायोत्सर्ग करना चाहिये.

खवयं पच्चक्खावेदि तदो सव्वं च चदुविधाहारं ॥
संघसमवायमज्झे सागारं गुरुणिओगेण ॥ ७०७ ॥

तं चतुर्विधमाहारमाचार्यो विधिकोविदः ॥
मध्ये सर्वस्य संघस्य स प्रत्याख्यानयेत्ततः ॥ ७३५ ॥

विजयोदया–खवगं क्षपकं । पच्चक्खावेदि प्रत्याख्यानं कारयति । निर्यापकः सूरिः । तदो पश्चात् । सव्वं सर्वं चदुव्विधाहारं चतुर्विधाहारं । संघसमवायमज्झे संघसमुदायमध्ये । सागारं साकारं गुरुनियोगेन । इतरं गुर्वनुज्ञया ।

ततः सूरिः किं करोतीत्यत्राह—

मूलारा—पच्चक्खावेदि प्रत्याख्यान कारयति । सागारं सविकल्पं । अग्रगाथाव्याख्यानापेक्षं । गुरुणिओगेण गुर्वाज्ञया ॥

अर्थ—तदनंतर संघके समुदायमें सविकल्पक प्रत्याख्यान अर्थात् चार प्रकारके आहारोंका निर्यापकाचार्य क्षपकको त्याग कराते हैं और इतर प्रत्याख्यान भी गुरूके आज्ञासे वह क्षपक करता है.

अहवा समाधिहेदुं कायव्वो पाणयस्स आहारो ॥
तो पाणयंपि पच्छा वोसरिदव्वं जहाकाले ॥ ७०८ ॥

त्रिविधं वा परित्याज्यं पानं देयं समाधये ॥
अवसाने पुनः पानं त्याजनीयं पटीयसा ॥ ७३६ ॥

विजयोदया—अहवा अथवा । समाधिहेदुं समाधिश्चित्तैकाग्र्यं । तदर्थं कादव्वो कर्तव्यः । पाणगस्स आहारो पानकस्य विकल्पः । तो पश्चात् । पाणगंपि पानकमपि । वोसरिदव्वं त्यक्तव्यं । अद्दाकाले यथाकाले नितरां शक्तिहानिकाले । पूर्वगाथया चतुर्विधाहारत्यागः कार्य इति, योऽतिशयेन परीषहबाधाक्षमोऽस्तं प्रत्युक्तं । अनया तु योन तथा भवति तं प्रति त्रिविधाहारत्याग इति दिश्यते ॥

एवं परिषहसहिष्णुक्षपकापेक्षया गुरुनियोगेन पानविकल्पविधिमाह—

मूलारा—समाधिहेदुं चित्तसंक्लेशनिरासार्थं । आगारो आकारो विकल्पः । अद्दाकाले नितरां शक्तिहानिकाले ॥

अर्थ—अथवा क्षपकके चित्तकी एकाग्रता होनेके लिये पानकको छोडकर अशन, खाद्य और स्वाद्य ऐसे तीन प्रकारके आहारोंका त्याग कराना चाहिये. और जब क्षपककी शक्ति अतिशय कम होती है तब पानकका भी त्याग करना चाहिये. जो परीषह सहन करनेमें खूब समर्थ है उसको चार प्रकारके आहारोंका त्याग कराना चाहिये परंतु जो उपसर्ग सहन करनेमें असमर्थ है उसके लिये तीन प्रकारके आहारोंका त्याग बताया है.

कीदृक्पानं तस्य योग्यमित्यत्र—

जं पाणयपरियम्मम्मि पाणयं छव्विहं समक्खादं ॥
तं से ताहे कप्पदि तिविहाहारस्स वोसरणे ॥ ७०९

यन्निर्दिष्टं पानकर्माधिकारे दातुं शक्यं तत्समाधानरत्नम् ॥
षोढा पानं युज्यते तस्य पातुं त्रेधाहारत्यागकाले पवित्रम् ॥ ७३७ ॥
इति प्रत्याख्यानम् ।

विजयोदया—जं पाणयपरियम्मम्मि पानकाख्ये परिकरे । पाणगं छव्विहं षड्विधं पानकं । समक्खादं समाख्यातं । स्वच्छं बहलमित्यादिकं । तं तत्पानं । से तस्य । ताहे तदा । कप्पदि योग्यं भवति । तिविहाहारस्स अशनस्य, खाद्यस्य, स्वाद्यस्य त्यागे ॥ पच्चक्खाणं ॥

कीदृक्पानं तस्य तदा योग्यमित्याह—

मूलारा—तं षड्विधमपि । यथार्त्तं । से तस्य । ताहे तदा । प्रत्याख्यानं सूत्रतः । २० । अंकतः । १० ।

कोनसा पानक उसको योग्य है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ--पानक परिकर्म प्रकरणमें पानकके छह भेद बतलाये हैं. तीन प्रकारके आहारका त्याग कराने पर वह पानक उसको उस समय देना योग्य है. पच्चक्खाण प्रकरण समाप्त हुआ.

तो आयरियउवज्झायसिस्ससाधम्मिगे कुलगणे य ॥
जो होज्जकसाओ से तमहं तिविहेण खामेदि ॥ ७१० ॥

आचार्येऽध्यापके शिष्ये संघे साधर्मिके कुले ॥
योऽपराधो भवेत्त्रेधा सर्वं क्षमयते स तं ॥ ७३८ ॥

विजयोदया—तो प्रत्याख्यानोत्तरकाले । आयरियउवज्झायसिस्ससाधम्मिगे आचार्ये, उपाध्याये, शिष्ये, सध-र्मिणि, कुलगणे य कुले गणे च । जो होज्ज कसाओ यो भवेत्कषाय· क्रोधो, मानो, लाभो वा । तं सव्वं णिरवसेसं तं सर्वं निरवशेषं । तिविहेण त्रिविधेन । खामेदि क्षपयति निराकरोति ।

अथैवं प्रतिपन्नभक्तप्रत्याख्यानस्याराधकस्य समाधिमरणसिध्यर्थं चतुर्विधसंघक्षमापणविधिं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूलारा--कुलं दीक्षागुरुपूर्वत्रिपुरुषसंतानः । कसाओ क्रोधादीनामन्यतमः । खामेदि क्षमयति ॥

अर्थ—प्रत्याख्यानके अनंतर आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक मुनि, कुलमुनि, और गणमुनि इनके विषयमें जो हृदयमें कषाय होगा अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ होगा उस सर्व कषायको क्षपक मन, वचन, काया विशुद्ध कर हृदयसे निकाल देता है.

अब्भहियजादहासो मत्थम्मि कदंजली कदपणामो ॥
खामेइ सव्वसंघं संवेगं संजणेमाणो ॥ ७११ ॥

मूर्धन्यस्तकरांभोजो रोमांचांचितविग्रहः ॥
त्रिधा क्षमयते सर्वं संवेगं जनयन्नसौ ॥ ७३९ ॥

विजयोदया—अब्भहिदजादहासो नितरामुपजातचित्तप्रसादः। कर्तव्यं मुमुक्षुणा यत्तत्सकलं मयानुष्ठितं इति। मत्थम्मि कदंजली मस्तकन्यस्तांजलिः। कदपणामो कृतप्रणामः। खामेदि क्षमां ग्रहयति। सव्वसंघं सर्वं श्रमणगणं। संवेग सधर्मानुरागं। संजणेमाणो सम्यगुत्पादयन्॥

मूलारा—अभ्यधिकं निरंतरं उपजातचित्तप्रसादो। यत्कर्तव्यं मुमुक्षुणा तत्सर्वं मयानुष्ठितमिति। संवेगं धर्मानुरागं। संजणेमाणो सम्यगुत्पादयन् संघस्य॥

अर्थ—मुमुक्षुका सर्व कर्तव्य मैंने किये हैं इस विचारसे जिसके हृदयमें प्रसन्नता उत्पन्न हुई है ऐसा वह क्षपक अपने मस्तकपर दो हाथ जोड सर्व संघको नमस्कार करता है. और साधर्मिकोंमें अनुराग उत्पन्न करता हुआ क्षमा ग्रहण कराता है. अर्थात् हाथ जोडनेसे उसने मेरे ऊपर आप सब लोग क्षमा करो ऐसा अभिप्राय सूचित किया.

मणवयणकायजोगेहिं पुरा कदकारिदे अणुमदे वा॥
सव्वे अवराधपदे एस खमावेमि णिस्सल्लो॥ ७१२॥
योऽपराधो मयाकारि मनसा वपुषा गिरा॥
क्षमये तमहं सर्वं निःशल्यीभूतमानसः॥ ७४०॥

विजयोदया—मणवयणकायजोगेहिं मनोवाक्काययोगैः। पुरा पूर्वं। कदकारिदे अणुमदे वा कृतकारितानुमतांश्च। सव्वे अवराधपदे सर्वानपराधविशेषान्। एस एषः। खमावेमि। क्षमां ग्राहयामि। णिस्सल्लो शल्यरहितोऽहमिति॥

मूलारा—अवराधपदे अपराधविशेषान्॥

अर्थ—मन, वचन और शरीरके द्वारा, तथा कृत, कारित और अनुमति के द्वारा जो जो अपराध मैंने किये हैं उनकी आप लोक मेरेको क्षमा करो. मैं शल्य रहित हुआ हूं.

अम्मापिदुसरिसो मे खमदु खु जगसीयलो जगाधारो॥
अहमवि खमामि सुद्धो गुणसंघायस्स संघस्स॥ ७१३॥

मम पितृजननीसदृशः शश्वत्त्रिभवनमहितः सुयशाः संघः ॥
प्रियहितजनकः परमां क्षांतिं रचयत कृतवानहमक्षान्तिम् ॥ ७४१ ॥

इति क्षमणा ।

विजयोदया—अम्मापिदुसरिसो माता पिता च सदृशो । मे मम खमदु क्षमां करोतु। जगसीदलो जगतः सर्वप्राणिलोकस्य शीतलः । जगाधारो आसन्नभव्यलोकस्य आधारः । अहमवि खमामि परकृतमपराधं मनसि न करोमि। सुद्धो शुद्धः क्रोधादिकलंकविरहात् । गुणसंघादस्स गुणसमुदायस्य । संघस्स संघस्य । खामणा ॥

मूलारा—अम्मा माता । खमदु क्षमां करोतु संघः । जगसीदलो सर्वप्राणिसुखावहः । जगाधारो आसन्नभव्यलोकाश्रयः । सुद्धो क्रोधादिकलंकनिर्मुक्तः । संघक्षमापणं सूत्रतः ॥ ३१ ॥ अंकतः ॥ ४ ॥

अर्थ—यह संघ माता और पिताके समान हित करनेवाला है, जगतके संपूर्ण प्राणिओंको सुखदायक है. आसन्न भव्य लोकोंको यह आश्रय स्थान है. क्रोधादि कलंकोंसे-दोषोंसे रहित है. और गुणोंके समुदायमें परिपूर्ण है. इस सर्वसंघसे मैं क्षमाकी याचना करता हूं. यह संघ मेरेको क्षमा प्रदान करे. मैं भी दुसरेने किये हुए अपराध मनमें नहीं लाता हूं अर्थात् दूसरेके अपराधोंको भूल जाता हूं. खामणासूत्रका विवेचन समाप्त हुआ.

संघो गुणसंघाओ संघो य विमोचओ य कम्माणं ॥
दंसणणाणचरित्ते संघायंतो हवे संघो ॥ ७१४ ॥
इय खामिय वेरग्गं अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ॥
पप्फोडिंतो विहरदि बहुभवबाधाकरं कम्मं ॥ ७१५ ॥
वड्ढंति अपरिदंता दिवा य रादो य सव्वपरियम्मे ॥
पडिचरया गणहरया कम्मरयं णिज्जरेमाणा ॥ ७१६ ॥

क्षपयित्वेति वैराग्यमेष स्पृशन्ननुत्तमम् ॥
तपःसमाधिमारूढश्चेष्टते क्षपयन्नघं ॥ ७४२ ॥

अप्रमत्ता गुणाधाराः कुर्वन्तः कर्मनिर्जराम् ॥
अनारतं प्रवर्तंते व्यावृत्तौ परिचारकाः ॥ ७४३ ॥

विजयोदया—वट्टंति वर्तन्ते । अपरिदंता अपरिश्रान्ताः । दिवा य रादो य दिने रात्रौ च । सव्वपरिकम्मे सर्वपरिचरणे । पडिचरगा निर्यापकाः । गणहरया गणान् धर्मस्थान् धारयन्तीति गणधराः । कम्मरयं कर्माख्यं रजः । णिज्जरेमाणा निर्जरयन्तः ॥

अथैवं कृतक्षमणस्य क्षपकस्य सर्वत्र समाहितमनसो बहुभवकोटिसंचिताशुभकर्मनिर्जरालक्षणं क्षमणं गाथापंचकेन व्याचक्षाणः पूर्वं तदर्थसंग्रहगाथामुपन्यस्यति—

मूलारा—खामिय क्षमयित्वा सर्वसंघं । वेरग्गो निर्विण्णः । अणुत्तरं उत्कृष्टम् । पप्फोडितो निर्जरयन् । विहरदि प्रवर्तते ॥

तथा प्रयतमानस्य संन्यासिनो निर्यापका वैयावृत्त्ये सुतरां यतंते इत्याह—

मूलारा—अपरिदंता अपरिश्रांताः । गुणधरया गुणान्स्वपरस्थान्धारयन्तः । कम्मरयं कर्म दुष्कृतं रज इव शरीरस्य सौरूप्यादिगुणानामिवात्मनः संज्ञानादीनां प्रतिबंधकत्वात्कच्छूदद्रुप्रभृतीनामिव दुर्गतिविपदां संपादकत्वाच्च । णिज्जरेमाणा क्षपकस्यात्मनश्चैकदेशेन क्षपणां आपयन्तः ।

अर्थ—यह संघ गुणोंका समूह है. यह कर्मोंका नाश करके प्राणिओंको मुक्तिसुख देनेवाला है. दर्शन, ज्ञान और चारित्रको इकट्ठा करनेवाला है. अतः इसको संघ यह अन्वर्थक नाम प्राप्त हुआ है.

अर्थ— इस प्रकारसे सर्व संघको क्षमा करानेवाला, उत्कृष्ट वैराग्यकी सीमाको प्राप्त हुआ, तपमें एकाग्रताको प्राप्त हुआ ऐसा यह क्षपक अनेक भवमें दुःख देनेवाले कर्मका नाश करता हुआ रत्नत्रयमें विहार करता है.

अर्थ—गणको धर्ममें स्थिर करनेवाले आचार्य और परिचारक मुनि दिवस और रातमें सर्व कार्योंमें तत्पर होकर क्षपककी शुश्रूषा करते हैं. जिससे उनकी कर्मनिर्जरा होती है. यह कर्म रजके समान है.

जं बद्धमसंखेज्जाहिं रयं भवसदसहस्सकोडीहिं ॥
सम्मत्तुप्पत्तीए खवेइ तं एयसमयेण ॥ ७१७ ॥

यज्जन्मलक्षकोटीभिरसंख्याभी रजोऽर्जितम् ॥
तत्सम्यग्दर्शनोत्पादे क्षणेनैकेन हन्यते ॥ ७४४ ॥

विजयोदया--जं यत्। बद्धं रयं बद्धं रजः कर्म। यथा रजश्छादयति परस्य गुणं शरीरादेः कच्छूदद्रुप्रभृतिकं दोषमावहति। तद्वद्बोधादिगुणमच्छादयति। संपादयति च विचित्रा विपद' तेन रज इव रज इत्युच्यते। भवसदसहस्स कोडीहिं भवशतसहस्रकोटिभिः। तद्रजः खवेंति क्षपयंति। केन? सम्मत्तुप्पत्तीए श्रद्धानोत्पत्त्या। एगसमयेण एकेनैव समयेन। तथा चोक्तं–सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जरा इति ॥

तत्कालोदीर्णस्य संन्यासिनस्तदुपासिनां च श्रद्धानस्य माहात्म्यमभिष्टौति—

मूलारा—रयं पापं। खवेंति गालयंति। क्षपकतत्परिचारका आविशेषेणैव वा भव्यजीवा सम्यक्त्वभूमिमनुप्राप्ताः। एयसमयेण अल्पकालेन ॥

अर्थ—रज-धूलि शरीरको आच्छादित कर विरूप बनाती है और खरूज, दद्रू वगैरह रोगको उत्पन्न करती हैं वैसा यह कर्मरज आत्माके ज्ञानदर्शनादि गुणोंको आच्छादित कर उसको दुर्गतिमें लोटता है अतएव इस बद्ध हुए कर्मरजको आचार्य और परिचारक मुनि क्षपकशुश्रूषा कर निर्जीर्ण करते हैं, जब सम्यग्दर्शन जीवको प्राप्त होता है तब कोट्यवधि भवमें संचित हुए कर्मको भी एक समयमें निर्जीर्ण करते हैं. क्षपककी शुश्रूषा करनेसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है. जिससे एक समयमें असंख्येय गुणी निर्जरा होती है. तथा जो भव्य क्षपकके दर्शनार्थ आते हैं उनको भी सम्यग्दर्शनका लाभ होनेसे उनके कर्मकी निर्जरा होती है. तत्त्वार्थाधिगम महाशास्त्रमें 'सम्यग्दृष्टिश्रावक इत्यादि' सूत्रमें सम्यग्दृष्ट्यादि श्रावकोंकी प्रतिसमय असंख्येय गुणित कर्म निर्जरा होती हैं ऐसा लिखा है.

एयसमएण विधुणादि उवउजुत्तो बहुभवज्जियं कम्मं ॥
अण्णयरम्मि य जोग्गे पच्चक्खाणे विसेसेण ॥ ७१८ ॥

धुनीते क्षणतः कर्म संचितं बहुभिर्भवैः ॥
व्यावृत्तोऽन्यतमे योगे प्रत्याख्याने विशेषतः ॥ ७४५ ॥

विजयोदया—एगसमयेण विधुणादि अल्पेन कालेन निर्धुनाति । उवउत्तो परिणतः । क अण्णयरम्मि य यस्मिन्कस्मिंस्तपसि । किं ? बहुभवज्जियं कम्मं अनेकभवसंचितं कर्म । पञ्चक्खाणे उवजुत्तो विसेसेण विधुणादि यावज्जीवं चतुर्विधाहारत्यागे परिणतः विशेषेण कर्माणि निरस्यति ॥

बद्धतपोविधानादिपरिणामस्य महिमानं गाथाद्वयेन व्यावर्णयति—

मूलारा—उवजुत्तो परिणतः । अण्णदरम्मि य जोगे यत्र कचिदपि तपसि । पञ्चक्खाणे यावज्जीवं चतुर्विधाहारत्यागे । विसेसेण अतिशयेन ॥

अर्थ—जिस किसी तपमें जब यह आत्मा एकाग्रताको प्राप्त होता है तब वह अल्पकालमें ही अनेक भवमें संपादित कर्मका नाश करता है. और जो जीव यावज्जीव चार प्रकारके आहारोंका त्याग करता है वह विशेष रीतीसे कर्मोंका नाश करता है.

एवं पडिक्कमणाए काउसग्गे य विणयसज्झाए ॥
अणुपेहासु य जुत्तो संथारगओ धुणदि कम्मं ॥ ७१९ ॥
प्रतिक्रान्तौ तनूत्सर्गे स्वाध्याये विनये रतः ॥
अनुप्रेक्षासु कर्मेति धुनीते संस्तरास्थितः ॥ ७४६ ॥

विजयोदया—एवं उक्तेन क्रमेण । पडिक्कमणगे प्रतिक्रमणे काउस्सग्गे य । कायोत्सर्गे च । विणयसज्झाए विनयस्वाध्याययोः । अणुपेहासु य जुत्तो अनुप्रेक्षासु च युक्तः । संथारगदो संस्तरारूढः । कम्मं धुणदि कर्म क्षपयति । गयणं गदं ॥

मूलारा—जुत्तो समाहित । धुणदि संस्तरारूढः सम्यक्त्वादियुक्तः पापं निरस्यति । विशेषेणेत्यनुवर्तनात्तत्परिचारकाद्योऽपि इति व्याख्येयम् । क्षपणा सूत्रतः ३२ । अंकतः ५ ॥

तादृक् संन्याससप्तार्चिषि रुचिरवरे भावहैयंगवीन—
व्यालीढाः प्राच्यजन्मार्जितकलिसमिधो यायजूकः स जुह्वत् ॥
सान्द्रानंदामृताशाधरविबुधमहाभव्यसंभोगिसेव्यः ।
स्फूर्जत्सर्वंसहमूर्तिः पिबतु मुहुरिमां सूरिशिक्षां सुधावत् ॥

इत्याशाधरानुस्मृतग्रंथसंदर्भे मूलाराधनादर्पणे पदप्रमेयार्थप्रकाशीकरणप्रवणे उत्तमार्थमहोयोगो नाम पंचम आश्वासः ॥

अर्थ---उक्त क्रमसे संस्तरारूढ जो क्षपक प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, विनय, स्वाध्याय, अनुप्रेक्षा, इनमें एकाग्र होकर कर्मका क्षय करता है. खवण सूत्रका विवेचन समाप्त हुआ.

इत उत्तरं अनुशासनं प्रकरयते इति निगदति—

णिज्जवया आयरिया संथारत्थस्स दिंति अणुसिट्ठिं ॥
संवेगं णिव्वेगं जणंतयं कण्णजावं से ॥ ७२० ॥

अनशननिरते तनुभृति सकलं भवभयजनकं विगलति कलिलं ॥
अनुहिमकिरणे ह्युदयति तरणौ कमलविकसने घनमिव तमः ॥ ७४७ ॥

क्षमणम्।

निर्यापको गणी शिक्षां संस्तरस्थाय यच्छति ॥
कुर्वन्संवेगनिर्वेदौ कर्णे जपमथानिशम् ॥ ७४८ ॥
अनुशिष्टिं न चेद्दत्ते क्षपकाय गणाग्रणीः ॥
त्यजेदाराधनादेवीं तदानीं सिद्धिसंफलीम् ॥ ७४९ ॥

विजयोदया—णिज्जवगा आइरिया निर्यापकाः सूरयः। अणुसिट्ठिं दिंति श्रुतज्ञानानुसारेण शिक्षां प्रयच्छंति। संथारत्थस्स संस्तरस्थस्य। संवेगं संसारभीरुतां। णिव्वेगं वैराग्यं च। जणंतगं उत्पादयन्तं। कण्णजावं कर्णजापं। से तस्मै क्षपकाय ॥

श्रीमूलाराधनादर्पणे षष्ठोऽध्यायः।

अथ वीरजिनं नत्वा श्रीनिर्यापकसूरिणा।
संपाद्या क्षपकस्यानुशिष्टिः स्पष्टीकरिष्यते ॥ १ ॥
मिथ्यात्वं निवरां निरस्य सुभजन्सम्यक्त्वमाराध्य सद्—
भक्तिर्भावनमस्कृतावभिरतो ज्ञानोपयोगं सदा ॥

कुर्वन्पंचमहाव्रतावनपरः सर्वेन्कषायेन्द्रिय–
ग्रामं संस्तरमाश्रयत्युभयथा धन्यस्तपस्युद्यतः ॥ २ ॥

अथैवं प्रतिपन्नसन्न्यासस्योत्तमार्थसाधनोद्यतस्य मुमुक्षोर्भिक्षोर्निर्यापकाचार्येण संपाद्यां शिक्षां गाथानां सप्तसप्तत्यधिकाष्टशत्या व्यावर्णयिष्यन्नुपक्षेपमाह —

मूलारा—णिव्वेदं संसारशरीरभोगवैराग्यं । कण्णजावं कर्णसमीपोच्चार्यमाणवचनमयीं क्षपकाय अनुशिष्टिं वक्ष्यमाणग्रंथप्रतिपाद्यां ददाति । कर्णजपं च कर्णजाह्योच्चार्यमाणपंचनमस्कारादिपरमाक्षररूपं ददातीति । मत्यत्र शब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टस्याश्रयणात् ॥ तदुक्तम्—

निर्यापको गणी शिक्षां संस्तरस्थाय यच्छति ॥
कुर्न्संवेगनिर्वेदौ कर्णजपपरोऽनिशम् ॥

अर्थ—निर्यापक आचार्य संस्तरस्थ-संस्तरारूढ क्षपकको श्रुतज्ञानके अनुसार उपदेश देते हैंऔर संवेग और निर्वेग उत्पन्न करने वाला कर्णजाप देते हैं.

कोऽसौ कर्णजापो यं ते प्रयच्छन्तीत्यनाचष्टे—

णिरसल्लो कदसुद्धी विज्जावच्चकरवसधिसंथारं ॥
उवधिं च सोधइत्ता सल्लेहण भो कुण इदाणिं ॥ ७२१ ॥

शोधयित्वोपधिं शय्यां वैयावृत्यकरानपि ॥
निःशल्यीभूय सर्वत्र साधो ! सल्लेखनां कुरु ॥ ७५० ॥

विजयोदया—णिरसल्लो मिथ्यादर्शनं, माया, निदानं इति त्रीणि शल्यानि तेभ्यो निःक्रान्तः । तत्त्वश्रद्धानेन, ऋजुतया, भोगनिस्पृहतया वा कदसुद्धी कृता शुद्धिर्निर्मलता रत्नत्रये येन स कृतशुद्धिः । विज्जावच्चकरवसधिसंथारं विविधा आपत् विपत् इत्युच्यते । व्याधय, उपसर्गा', परीषहा, असंयमो, मिथ्याज्ञानं इत्यादिभेदेन तस्यामापदि यत्प्रति विधानं तद्वैयावृत्त्यं तत्करोति य आत्मनः स वैयावृत्त्यकरस्तं । वसतिसंथारं वसतिसंस्तरं । उपधिं पिंछादिकं च । सोधयित्ता विशोध्य । सल्लेहणं सल्लेखनां । कुण कुरु । इदाणिं इदानीं । किं ? संयमासंयमविवेकज्ञाः असंयमं त्रिधा मनो-

वाकायैः परिहरन्ति न वेति परीक्ष्य अयोग्यवैयावृत्यकराणां त्यागः। योग्यानां चानुज्ञा। पूर्वापराह्णयोर्वसतेः, संस्तरस्यो पकरणानां च शुद्धिं कुरुतेति आज्ञापयता तच्छुद्धिः कृता भवति ॥

तात्कालिकीं गुरुसंपाद्यामनुशिष्टिं प्रपंचविषयसामान्यविशेषाभ्यां गाथाद्वयेन तामुद्दिशति। तत्र सामान्यतस्तावत्—

मूलारा---सोधइत्ता वैयावृत्त्यकरादिचतुष्कं संशोध्य सुपरीक्ष्यायोग्यानां त्यागो, योग्यानां चानुज्ञा, वैय्यावृत्त्यकराणां शोधना। शय्यादित्रयस्य च विधिवत्प्रतिलेखनम्। सल्लेहण सल्लेखना मिथ्यात्वादिगणस्य सम्यक्त्वादिभावनया निराकरणं। भोः क्षपकराज। इदाणिं संप्रति प्रत्यासन्ने मरणक्षणे। सुतरां प्रयत्नविधापनार्थमिदमुच्यते।

अर्थ— मिथ्यादर्शन, माया, और निदान ऐसे तीन शल्य हैं. तत्त्वश्रद्धानसे मिथ्यादर्शनका, सरलपना–निष्कपटता, निष्कपटतासे मायाशल्यका और भोगनिःस्पृहतासे निदानशल्यका नाशकर जिसने रत्नत्रयमें निर्मलता प्राप्त कर ली है ऐसे हे क्षपक मुने! तू जो वैयावृत्य करनेवाले, वसतिका, उपधि और संस्तरकी शुद्धि करके इस समय सल्लेखना करो. व्याधि–रोग, उपसर्ग, असंयम, मिथ्याज्ञान और परीषहोंको विपत्ति कहते हैं. ऐसी विपत्ति आनेपर जो उसका प्रतिकार करना उसको वैयावृत्य कहते हैं. इस वैयावृत्य करनेवाले परिचारकोंको वैयावृत्यकर कहते हैं. वैयावृत्य करनेवाले मुनि संयम असंयमके ज्ञाता है या नहीं इसका विचार क्षपकको करना चाहिये. यदि वे अयोग्य हो तो उनका त्याग करना चाहिये. वे असंयम का मन, वचन और शरीरसे त्याग करते हैं या नहीं इसकी परीक्षा करके अयोग्य हो तो त्याग करना चाहिये. और योग्य परिचारकोंको वैयावृत्य करनेके लिये आज्ञा देनी चाहिये. दिनके पूर्वकालमें और अपराण्हकालमें वसति, संस्तर, और उपकरणोंकी तुम दररोज शुद्धि करो ऐसी परिचारकोंको आज्ञा देनी चाहिये. ऐसी आज्ञा देनेसे उसने उनकी शुद्धि की ऐसा सिद्ध होता है.

मिच्छत्तस्स य वमणं सम्मत्ते भावणा परा भत्ती ॥
भावणमोक्काररदिं णाणुवजुत्ता सदा कुणसु ॥ ७२२ ॥

मिथ्यात्ववमनं दृष्टिभावनां भक्तिमुत्तमाम् ॥
रतिं भावनमस्कारे ज्ञानाभ्यासे कुरूद्यमम् ॥ ७५१ ॥

विजयोदया—मिच्छत्तस्स य वमणं मिथ्यात्वस्य वमनं । सम्मत्ते भावणा तत्त्वश्रद्धाने असकृद्वृत्तिः । परा उत्कृष्टा भक्तिः । भावणमोकाररदी नमस्कारो द्विविधः द्रव्यनमस्कारो भावनमस्कारः । नमस्तस्मै इत्यादि शब्दोच्चारणं, उत्तमांगावनतिः, कृतांजलिता च द्रव्यनमस्कारः ॥ नमस्कर्तव्यानां गुणानुरागो भावनमस्कारस्तत्र रतिः ॥ णाणुवयोगं श्रुतज्ञानोपयोगं च । सदा कुणसु कुर्विति ॥ सूत्रमिदं ॥

तामेवानुशिष्टिं विशेषेणोद्दिशति—

मूलारा—वमणं त्यागं । भावणा असकृद्वृत्तिं । भत्ती भक्तिं । प्रक्रमादर्हदादिष्वेव । भावणमोकाररदी नमस्करणीयार्हदादिगुणानुरागलक्षणे भावप्रणामे आसक्तिं । णाणुवओगं श्रुतज्ञानपरिणतिं ॥

अर्थ—हे क्षपक ! तू सदा मिथ्यात्वका वमन कर, अर्थात् मिथ्यात्वका त्याग कर और सम्यग्दर्शनमें हमेशा प्रवृत्ति कर. अर्हदादि परमेष्ठिओंमें उत्कृष्ट भक्ति कर. भावनमस्कारमें आसक्त होकर हमेशा ज्ञानोपयोगमें तत्पर हो. यह गाथार्थ हुआ.

गाथामें भावनमस्कार शब्द है. नमस्कारके भावनमस्कार और द्रव्यनमस्कार ऐसे दो भेद हैं. ' नमस्तस्मै जिनाय ' ' श्रीजिनेश्वरको नमस्कार हो ' ऐसा मुखसे कहना, मस्तक नम्र करना, हाथ जोडना यह द्रव्यनमस्कार है. जिनको नमस्कार करना योग्य है ऐसे व्यक्तिओंके गुणोंपर अनुराग करना यह भावनमस्कार है. इस भावनमस्कारमें उद्युक्त रहनेके लिये आचार्यने इस गाथामें क्षपकको प्रेरणा की है. तथा ज्ञानोपयोगमें अर्थात् श्रुतज्ञानमें परिणति कर ऐसा क्षपकको कहते हैं.

पंचमहव्वयरक्खा कोहचउक्कस्स णिग्गहं परमं ॥
दुद्दंतिंदियविजयं दुविहतवे उज्जमं कुणह ॥ ७२३ ॥

मुने ! महाव्रतं रक्ष कुरु कोपादिनिग्रहम् ॥
हृषीकनिर्जयं द्वेधा तपोमार्गे कुरूद्यमम् ॥ ७५२ ॥

विजयोदया—पंचमहव्वयरक्खा पंचानां महाव्रतानां रक्षां । कोहचउक्कस्स रोषचतुष्कस्य । णिग्गहं निग्रहं । परमं प्रकृष्टं । दुद्दंतिंदियविजयं दुर्दान्तेन्द्रियविजयं । दुविधतवे द्विप्रकारे तपसि । उज्जमं उद्योग । कुणसु कुरु ॥

तथा—

मूलारा—कोधचउक्कस्स क्रोधमानमायालोभानां। दुद्दंतिंदियविजयं। सम्यग्दमितानां चक्षुरादीनां विशेषेण जयः स्ववशीकरणम् ॥

अर्थ—हे मुने ! तू पंच महाव्रतोंका रक्षण कर. क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंका नाश कर. दुःखसे जिनका दमन कर सकते हैं ऐसे आंख, कान वगैरह इंद्रियोंको विशेष प्रकारसे तू जीत ले. बाह्य और अभ्यंतर तपोंमें तूं तत्पर रह.

मिच्छत्तस्स य वमणं व्याचष्टे—

संसारमूलहेदुं मिच्छत्तं सव्वधा विवज्जेहि ॥
बुद्धिं गुणण्णिदं पि हु मिच्छत्तं मोहिदं कुणदि ॥ ७२४ ॥

भवद्रुममहामूलं मिथ्यात्वं मुंच सर्वथा ॥
मोह्यते सगुणां बुद्धिं मद्येनेव मुने ! लघु ॥ ७५२ ॥

विजयोदया—संसारमूलहेदुं संसारस्य मूलकारणं। मिच्छत्तं अश्रद्धानं। सव्वधा मनोवाक्कायैः। विवज्जेहि वर्जय। बुद्धिं गुणण्णिदं पि हु बुद्धिं। गुणण्णिदं पि गुणान्वितामपि। मिच्छत्तं मिथ्यात्वं मोहिदं मुग्धां। कुणदि करोति। अथेदं विचार्यते। कथं प्रथमता मिथ्यात्वस्य ? न हीदं संभाव्यते। असंयमादिभ्यो मिथ्यात्वं प्रथममुपजातमिति कुतः ? यथा मिथ्यात्वं स्वनिमित्तसंनिधानाद्भवति, एवमसंयमादयोऽपीति का तस्य प्रथमता? अथ तद्धेतुरेव दर्शनमोहः प्रथमं भवति। पश्चाच्चारित्रमोहादीनीत्येतदपि असत्। तदा कर्माष्टकसद्भावात्। एवं सामान्यतः सूत्रकारः 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः' इति वचने मिथ्यात्वं बंधहेतुषु पूर्वमुपन्यस्तं बंधपुरःसरश्च संसारः, संसारमूलहेतुर्मिथ्यात्वं बुद्धिं अर्थयाथात्म्यपरिच्छेदगुणसमन्वितामपि मिथ्यात्वं विपरीतां करोति इत्याह। अन्ये तु वदंति। बुद्धी गुणण्णिया पि खु शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणादयो बुद्धेर्गुणास्तद्धेतुमपीति ॥

मिथ्यात्ववमनविधिसूत्रं व्याकर्तुं दश गाथाः सूत्रयन्सर्वात्मना तत्यागं विधेयतयोपदिश्यापायभूयिष्ठतया समर्थयते ॥

मूलारा—संसारमूलहेदुं संसारकारणकर्मबंधप्रधानकारणं। गुणण्णिदं पि गुणान्वितामपि। शुश्रूषाश्रवण-

ग्रहणधारणविज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिवेशलक्षणाष्टगुणयुक्तामपि । मोहिंदं मुग्धा विपर्यासमहावेशेन यथाव द्वस्तुपरिच्छेदपरिभ्रष्टाम् । अत्रेयं गाथासूत्रे न श्रूयते ।

मूलारा—एतां विजयाचार्यो नेच्छति ।

' मिथ्यात्वका वमन करो ' इस वाक्यका विशेष स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—संसार का मूलकारण मिथ्यात्व ही है. अर्थात् मिथ्याश्रद्धान ही संसारका मूल है. इस मिथ्यात्वका हे क्षपक ' तू मन, वचन और कायसे सर्वथा त्याग कर. यह मिथ्यात्व गुणोंसे युक्त ऐसी बुद्धीको,भी मुग्ध करता है.

यहां शंका—मिथ्यात्वको सर्व कर्मों में प्रथम आप कहते हैं यह योग्य नहीं है. जैसे मिथ्यात्व अपने कारणोंसे उत्पन्न होता है वैसी असंयमादि कों की भी उत्पत्ति अपने २ कारणोंसे होती है अतः मिथ्यात्वका कारण दर्शनमोहनीय कर्म प्रथम उत्पन्न होता है अनंतर चारित्र मोहादिकोंकी उत्पत्ति होती है ऐसा भी कहना असत् है. क्योंकि हमेशा आत्मामें आठो कर्मों का सद्भाव है.

उत्तर—सामान्यतः सूत्रकारने ' मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकपाययोगा बंधहेतवः ' इस सूत्रमें मिथ्यात्व को प्रथम स्थान दिया है अर्थात् बंधके कारणोंमें मिथ्यात्वका प्रथम उल्लेख है. संसार बंधपूर्वक है. और संसार का मूल कारण मिथ्यादर्शन है.

यह मिथ्यात्व बुद्धीको विपरीत करता है. यहां कितनेक आचार्य ऐसा कहते हैं–शुश्रूषा–सुननेकी इच्छा शास्त्रश्रवण करना, श्रवणकर उसको हृदयमें धारण करना, कालांतरमें भी धारण किया हुआ नहीं भूलना इत्यादिक बुद्धीके गुण हैं. मिथ्यात्व इनको भी विपरीत बनाता है. अर्थात् बुद्धि और उसके शुश्रूषादिकके कारण भी मिथ्यात्वके सहवाससे विपरीत होते हैं.

अतद्रूपवस्तुनि तद्रूपावभासिता कथं विज्ञानस्येत्याशंकायां विपर्यस्तमपि ज्ञानमुदेति तन्निमित्तसद्भावादित्याचष्टे—

परिहर तं मिच्छत्तं सम्मत्ताराहणाए दढचित्तो ॥
होदि णमोकारम्मि य णाणे वदभावणासु धिया ॥ ७२५ ॥

मयतण्हियाओ उदयत्ति मया मण्णंति जह सतण्हयगा ॥
सब्भूदंति असब्भूदं तध मण्णंति मोहेण ॥ ७२६ ॥

पिब सम्यक्त्वपीयूषं मिथ्यात्वविषमुत्सृज ॥
निधेहि भक्तितश्चित्ते नमस्कारमनारतम् ॥ ७५४ ॥
मिथ्यात्वमोहिताः सत्यमसत्यं जानते जनाः ॥
कुरंगा इव तृष्णार्ताः सलिलं मृगतृष्णिकाम् ॥ ७५५ ॥

विजयोदया—मयतण्हिया मृगतृष्णिकाशब्देन आदित्यरश्मयो भौमेनोष्मणा संपृक्ता उच्यन्ते । ता अजलभूताः । मया मण्णंति उदगंति । मृगा मन्यंते उदकमिति । यथा सतण्हगा तृष्णासंतप्तलोचनाः । तद्द य तथेव । मृगा इव नरा अपि । असब्भूदं सब्भूदंति मण्णंति मोहेण असत्त्वमपि तत्वमित्यवगच्छन्ति दर्शनमोहेन हेतुना॥

स्वनिमित्तसंनिधानाज्ज्ञानस्य विपर्यासः स्यादिति दृष्टान्तेन समर्थयते—

मूलारा—मयतण्हिया मृगतृष्णाशब्देन भौमेनोष्मणा संपृक्ताः सूर्यरश्मय उच्यंते । उदयत्ति उदकमिति । सब्भूदंति सद्भूतमिति । मोहेण दर्शनमोहेन ॥

अर्थ—हे क्षपक मुने ! तू ऐसे मिथ्यात्वका त्यागकर और सम्यक्त्वकी आराधनामें अपनेको स्थिर कर पंच परमेष्ठिओंके नमस्कारसें, ज्ञानाराधनामें और व्रताभ्यासमें तू दृढ हो.

जो वस्तु जिस स्वरूपका धारक नहीं है ज्ञान उसको अन्यरूपसे कैसा जानेगा ? इस शंकापर आचार्य उत्तर देते हैं-- ज्ञान विपरीतभी होता है क्योंकि उसकी विपरीत करनेके कारण मिलते हैं. इसका स्पष्टीकरण—

अर्थ—सूर्यके प्रचंड किरणोंसे जब जमीन अत्यंत गरम हो जाती है. तब उसकी उष्णता सूर्यके किरणोंसे मिश्र होकर पानीके समान दीखती हैं. प्याससे जिनकी आखें संतप्त हो रही हैं ऐसे हरिणोंको उस समय सूर्यके किरणोंमें जलका आभास होने लगता है. वैसा मिथ्यात्व कर्मके उदयसे इस जीवको असत्यपदार्थ भी सत्य भासने लगता है. अतत्त्वको मिथ्यात्वग्रस्त जीव तत्त्वरूप समझता है.

मिथ्यात्वजन्यमोहमाहात्म्यप्रख्यापनायाह—

मिच्छत्तमोहणादो धत्तूरयमोहणं वरं होदि ॥
वड्ढेदि जम्ममरणं दंसणमोहो दु ण दु इदरं ॥ ७२७ ॥

मिथ्यात्वमोहतो जंतोर्वरं कनकमोहनम ॥
दत्ते मृत्युसहस्राणि प्रथमं न परं पुनः ॥ ७५६ ॥

विजयोदया—मिच्छत्तमोहणादो मिथ्यात्वजन्यान्मोहात्। धत्तूरयमोहणं उन्मत्तरससेवाजनितमोहनं। वरं होदि शोभनं भवति। कथं? वड्ढेदि वर्धयति। जम्ममरणं जन्ममरणं च विचित्रासु योनिषु। किं दंसणमोहो दर्शनमोहजन्यः कलंकः। ण दु इदरं जम्ममरणं वड्ढेदि नैव धत्तूरकमोहनं जन्ममरणपरंपरां आनयति कतिपयदिनभाविमोहसंपादनोद्यते अनंतकालवर्तिवैपरीत्यजननक्षमं मोहनं अतिशयेन निकृष्टमिति भावः। ततो जन्ममरणप्रवाहभीरुणा भवता त्याज्यं मिथ्यात्वं इति।

मिथ्यात्वजन्यमोहमहिमानमादर्शयति—

मूलारा—वड्ढेदि वर्धयति ॥

मिथ्यात्वसे उत्पन्न हुए मोहके माहात्म्यका आचार्य कथन करते हैं—

अर्थ—मिथ्यादर्शनसे जो मोह परिणाम उत्पन्न होता है उससे धत्तूरका सेवन करनेसे उत्पन्न हुआ मोह अर्थात् उन्मत्तपना अच्छा है ऐसा हम समझते हैं. क्यों कि दर्शनमोहनीयसे उत्पन्न हुआ मोह अनेक कुयोनीओंमें जन्म मरणोंकी वृद्धि करता है. परन्तु धतूर खानेसे उत्पन्न हुआ पागलपना जन्ममरणको नहीं बढाता है. तथा वह थोडे दिनपर्यंतही जीवमें रह सकता है. इसलिये अनंतकालतक पदार्थोंका विपरीत स्वरूप दिखानेवाला दर्शन मोह-जन्य मोहपरिणाम अत्यंत निकृष्ट है ऐसा समझना चाहिये. जन्म मरणके प्रवाहसे डरनेवाले हे क्षपक! तू ऐसे दुष्ट मिथ्यात्वका त्याग कर.

ननु प्रागेव परित्यक्तं मिथ्यात्वं तत्कथं इदानीं तत्त्यागोपदेश इत्याशंकायामाह—

जीवो अणादिकालं पयत्तमिच्छत्तभाविदो संतो ॥
ण रमिज्ज हु सम्मत्ते एत्थ पयत्तं खु कादव्वं ॥ ७२८ ॥

अनादिकालमिथ्यात्वभावितो न प्रवर्तते ॥
सम्यक्त्वेऽयं यतस्तेन प्रयत्नोऽत्र विधीयते ॥ ७२७ ॥

विजयोदया—जीवो अणादिकाले पयत्तमिच्छत्तभाविदो संतो जीवो ऽनादिकालप्रवृत्तमिथ्यात्वभावितः सन्। ण रमिज्ज खु नैव रमेत। सम्मत्ते सम्यक्त्वे पत्थ अत्र सम्यक्त्वे। पयत्तं प्रयत्नः। कादव्वं खु कर्तव्य एव। अनंतकाले परिभावितं मिथ्यात्वं दुरत्यजं तदेव दुःपरित्याज्यं। यथोरगश्चिरपरिचितं छिद्रं निवार्यमाणोऽपि बलात्प्रविशति इति कर्तव्यं सम्यक्त्वे दार्ढ्यं ॥

मूलारा—एत्थ अत्र सम्यक्त्वे। खु कादव्वं कर्तव्य एव प्रयत्नः। निवार्यमाणोऽपि जीवश्चिरभावितं मिथ्यात्वमनुयात्युरग इव छिद्रमिति ॥

अर्थ—अनादिकालसे जीवमें मिथ्यात्व चला आया है इससे यह जीव सम्यक्त्वमें रममाण होता नहीं. इस मिथ्यात्वकाही स्वाद इसको अनादिकालसे आजतक आ रहा था इस लिये यह जीव सम्यक्त्वमें नहीं रमेगा. इस वास्ते सम्यक्त्वमें प्रयत्न करनेके लिये जीवको वारवार मिथ्यात्वका त्याग करनेका आचार्य उपदेश करते हैं. अनंतकालसे मिथ्यात्वका अभ्यास होनेसे उसका त्याग करना बडाही कठिन है. जैसे सर्प अपने चिरपरिचित बिलमें निवारण करने परभी प्रवेश करता है वैसे इस जीवको भी वारवार मिथ्यात्व का त्याग करनेके लिये और सम्यक्त्वमें दृढता लानेके लिये वारंवार मिथ्यात्वत्यागका उपदेश करना अयोग्य नहीं है.

अग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि दोसं ण तं करेज्जण्हू ॥
जं कुणदि महादोसं तिव्वं जीवस्स मिच्छत्तं ॥ ७२९ ॥

विजयोदया—अग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि अग्निर्विषं कृष्णसर्प इत्यादीनि। दोसं ण तं करेज्जण्हू दोषं तं न कुर्युः। जं कुणदि यं करोति। महादोसं महांतं दोषं। जीवस्स जीवस्य। तिव्वं तीव्रं। किं? मिच्छत्तं मिथ्यात्वं अश्रद्धानं ॥

अग्न्यादिभ्यो मिथ्यात्वस्य विशिष्टां दुष्टतामाचष्टे—

मूलारा—करेज्जण्हू कुर्युः। तदेव स्पष्टयति ॥

अर्थ—आग, विष और काला सर्प वगैरह पदार्थोंसे भी उतनी हानि होती नहीं. जितनी बडी हानि तीव्र मिथ्यात्वसे जीवोंकी होती है. अर्थात् तत्त्वमें अश्रद्धान करनेसे संसारमें भ्रमण करना पडता है.

अग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि दोसं करंति एयभवे ॥
मिच्छत्तं पुण दोसं करेदि भवकोडिकोडीसु ॥ ७३० ॥

विषाग्निकृष्णसर्पाद्याः कुर्वन्त्येकत्र जन्मनि ॥
मिथ्यात्वमावहेद्दोषं भवानां कोटिकोटिषु ॥ ७५८ ॥

विजयोदया—अग्न्यादिभिः क्रियमाणस्य अल्पतां मिथ्यात्वेन संपाद्यस्य च महत्तां दर्शयत्युत्तरगाथया । अग्न्यादीन्येकभवदुःखदानि मिथ्यात्वं पुनर्दोषं करोति भवानां कोटीकोटीषु ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—अग्नि, विष और काला सर्प वगैरह पदार्थोंसे जीवकी हानि एक ही भवमें हो सकती हैं परंतु मिथ्यात्वसे अनेक कोटिकोटिभवोंमें हानि होती है.

मिच्छत्तसल्लविद्धा तिव्वाओ वेदणाओ वेदंति ॥
विसलित्तकंडविद्धा जह पुरिसा णिप्पडीयारा ॥ ७३१ ॥

विद्धो मिथ्यात्वशल्येन तीव्रां प्राप्नोति वेदनाम् ॥
कांडेनेव विपाक्तेन कानने निःप्रतिक्रियः ॥ ७५९ ॥

विजयोदया – मिच्छत्तसल्लविद्धा मिथ्यात्वाख्येन शल्येन विद्धाः । तिव्वाओ वेदणाओ तीव्रा वेदनाः । वेदंति अनुभवन्ति । विसलित्तकंडविद्धा विषलिप्तेन शरेण विद्धाः । जह यथा । पुरिसा पुरुषाः । णिप्पडीयारा निष्प्रतीकाराः ॥ मिथ्यात्वकृतमपकारं दर्शयति--

मूलारा--वेदन्ति अनुभवंति । णिप्पडीयारा प्रतीकाररहिताः । अचिकित्स्याः संत इत्यर्थः ॥

अर्थ--विषलिप्त बाण शरीरमें घुसनेपर उसका विष सर्व शरीरमें पसरकर मनुष्य प्राणरहित होता है. अर्थात् उस पुरुषपर कुछ इलाज हो नहीं सकता. वैसा मिथ्यात्वशल्यसे विद्ध हुए मनुष्य तीव्र वेदनाओंका अनुभव लेते हैं.

अच्छीणि संघसिरिणो मिच्छत्तणिकाचणेण पडिदाई ॥
कालगदो वि य संतो जादो सो दीहसंसारे ॥ ७३२ ॥

मिथ्यात्वोत्कर्षतः संघश्रीसंज्ञस्य विलोचने ॥
गलिते प्राप्तकालोऽपि यातोऽसौ दीर्घसंसृतिम् ॥ ७६० ॥

विजयोदया—अच्छीणि अक्षिणी। संघसिरिणो सघश्रीसंज्ञितस्य। मिच्छत्तणिकाचणेण मिथ्यात्वप्रकर्षेण। पडिदाणि पतिते। इहैव जन्मनि। कालगदो वि य संतो मृत्यापि। जादो सो। जातोऽसौ। दीहसंसारे दीर्घसंसारे ॥

तदेवोपाख्यानेन दृढयति—

मूलारा—संघसिरिणो संघश्रीसंज्ञितस्यामात्यस्य। मिच्छत्तणिकाचणेण मिथ्यात्वप्रकर्षेण। कालगदो मृतः ॥

अर्थ—संघश्री नामक प्रधान की आंखें तीव्र मिथ्यात्व से नष्ट हुई और मरणके अनंतर वह दीर्घ संसारी हुआ.

कडुगम्मि अणिव्वलिदम्मि दुद्धिए कडुगमेव जह खीरं ॥
होदि णिहिदं तु णिव्वलियम्मि य मधुरं सुगंधं च ॥ ७३३ ॥

कटुकेऽलाबुनि क्षीरं यथा नश्यत्यशोधिते ॥
शोधिते जायते हृद्यं मधुरं पुष्टिकारणम् ॥ ७६१ ॥

यदि नाम उपगतमिथ्यात्वोऽस्मि तथापि दुर्धरं चारित्रमनुष्ठितं मया तदस्मान्निस्तरणे समर्थमित्याशा न कर्तव्येति।

विजयोदया—कडुगम्मि दुद्धिए कटुकालाब्वां। अणिव्वलिदम्मि अशुद्धायां। णिहिदं खीरं निक्षिप्तं क्षीरं। जहा कडुगमेव होदि यथा कटुकरसमेव भवति। एवकारेण माधुर्यव्यावृत्तिः क्रियते। णिव्वलिदम्मि य शुद्धायामलाब्वां। णिहिदं निक्षिप्तं क्षीरं जह मधुरं होदि सुगंधं च। यथा मधुरं भवति सुरभि च॥

मिथ्यात्वाविष्टोऽपि दुश्चरतपश्चारित्राद्याचरणादस्मान्निस्तरिष्यामीत्याशां निरसितुं दृष्टांतपुरःसरं गाथाद्वयेनोत्तरमाह—

मूलारा—अणिम्मलिदम्मि अशोधिते। दुद्धिएणे तुंबके।

यद्यपि मैं मिथ्यात्वयुक्त हूं तो भी मैंने दुर्धर चारित्र का पालन किया है इसलिये यह दीर्घ संसारसे मेरा रक्षण करेगा ऐसी आशा नहीं करनी चाहिये. ऐसा आशय दिखाते हैं—

अर्थ—गीरसहित कटुक तूंबीमें डाला हुआ दूध कडु होजाता है. अर्थात् उसका मधुरपना सब नष्ट होता है. परंतु शुद्ध अर्थात् गीररहित तूंबीमें रक्खा हुआ दूध कडु होता नहीं. वह मधुर और सुगंधित रहता है.

तह मिच्छत्तकडुगिदे जीवे तवणाणचरणविरियाणि ॥
णासंति वंतमिच्छत्तम्मि य सफलाणि जायंति ॥ ७३४ ॥

तपोज्ञानचारित्राणि समिथ्यात्वे तथांगिनि ॥
नश्यंति वांतमिथ्यात्वे जायन्ते फलवन्ति च ॥ ७६२ ॥

विविधदूषणकारि कुदर्शनं लघु विमुच्य कुमित्रमिवोत्तमाः ॥
सकलधर्मविधायि सुदर्शनं सुविभजंति सुमित्रमिवाशनम् ॥ ७६३ ॥

इति मिथ्यात्वापोहनम् ॥

विजयोदया—तह तथा। मिच्छत्तकडुगिदे मिथ्यात्वेन कटूकृते जीवे। तवणाणचरणविरियाणि तपो, ज्ञानं,चारित्रं; वीर्यमित्येतानि णासंति नश्यन्ति। सम्यक्स्वरूपविनाशात्। समीचीनं, तपो,ज्ञानं, चरणं, वीर्यानिगूहनं च मुक्त्युपायो न तप प्रभृतिमात्रं। सा च सम्यक्श्रद्धाबलेनेव नान्यथा। वंतमिच्छम्मि निरस्तमिथ्यात्वे जीवे सफलानि फलसमन्वितानि तपःप्रभृतीनि। जायन्ति जायन्ते। किं तपसः फलं? अभ्युदयसुखं, निःश्रेयससुखं वा। मिच्छत्तस्स य वमणं इत्येतद्व्याख्यातं। मिच्छत्तं ॥

मूलारा—णासंति नश्यन्ति। सम्यक्स्वरूपविनाशात् ॥ वंतमिच्छत्तम्मि निरस्तमिथ्यात्वजीवे। सफलानि अभ्युदयनिःश्रेयससुखकराणि। इति मिथ्यात्ववमनम् ॥

अर्थ—वैसे मिथ्यात्वसे विपरीत रुचि अर्थात् विपरीत श्रद्धानी बने हुये इस जीवमें तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य ये गुण नष्ट होते हैं. अर्थात् मिथ्यात्वरहित तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य ये मुक्ती के उपाय हैं परंतु एकेक तपादिक मुक्तीके उपाय नहीं. जब सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है तब तपादिकमें सम्यक्पना आता है. इसके अभावसे तपादिकोंमें सम्यक्पना आ नहीं सकता. मिथ्यात्वका त्याग जिसने किया है ऐसे जीवमें—सम्य-

सद्दष्टिमें तपादिक सद्गुण सफल होते हैं इस तपश्चरणसे इहलोकका सुख और इंद्रपदकी प्राप्ति होती है और मोक्ष-सुखका भी लाभ होता है. 'मिच्छत्तस्स य वमणं' इस गाथासूत्रका यहां तक विवेचन किया.

सम्मत्तं भावणा इत्येतद्व्याचष्टे—

मा कासि तं पमादं सम्मत्ते सव्वदुक्खणासयरे ॥
सम्मत्तं खु पदिट्ठा णाणचरणवीरियतवाणं ॥ ७३५ ॥
मा स्म कार्षीः प्रमादं त्वं सम्यक्त्वे भद्रवर्धके ॥
तपोज्ञानचरित्राणां सस्यानामिव पुष्करं ॥ ७३४ ॥

विजयोदया—मा कासि मा कार्षीः । तं भवान् । पमादं प्रमादं । सम्मत्ते सम्यक्त्वे । सव्वदुक्खणासणे सर्वदुःखनिर्मूलनोद्यते । कथं सम्यक्त्वं सर्वदुःखनाशकारि ? ननु ज्ञानादीन्यपि सर्वदुःखनिवृत्तिनिमित्तानि इत्यत आह—

सम्मत्तं खु श्रद्धानमेव तत्त्वस्य । पदिट्ठा आधारः । णाणचरणवीरियतवाणं ज्ञानस्य, चरणस्य, वीर्याचारस्य, तपसश्च । ननु सर्व एव परिणाम परिणामिद्रव्याधारो न परस्परमधिकरणतां याति ततः कथमुच्यते सम्यक्त्वमाधार इति । यथा परिणामिद्रव्यमंतरेण ज्ञानादीनामनवस्थितिरेवं समीचीनता तेषां न दर्शनं विनेति दर्शनस्याधारता ॥

सम्यक्त्वभावनां गाथाष्टकेन व्याचक्षाणः क्षपकं तदवधानपरायणं कर्तुमाह—

मूलारा—मा कासि मा कार्षीः । तं त्वं । पमादं अनवधानम् । पदिट्ठा प्रतिष्ठा आश्रयः । ज्ञानादीनां जीवद्रव्य विनावस्थितिरिव सम्यक्त्वं विना समीचीनता न स्यादिति तस्य तदाधारतोच्यते ॥

'सम्मत्तभावणा' इस पदका स्पष्टीकरण करते हैं -

अर्थ – यह सम्यग्दर्शन संपूर्ण दुःखों का नाश करता है. इसलिये इसमें हे क्षपक तुम प्रमादी मत बनो. शंका—सम्यग्दर्शनसे सर्व दुःखोंका नाश कैसे होता है ? उत्तर—यह सम्यग्दर्शन अर्थात् जीवादितत्वोंका श्रद्धान ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तपका आधार है. इसलिये यह संपूर्ण दुःखो का नाश करता है ऐसा समझना चाहिये. शंका–परिणाम परिणामिद्रव्यके आधारसे रहते हैं इस वास्ते वे अन्योन्य आधार होते नहीं. अतः सम्यक्त्व परिणाम ज्ञानादि परिणामोंका आधार हैं ऐसा आप क्यों कहते हैं. उत्तर–जैसे परिणमनशील द्रव्यके बिना–आत्मा

के विना ज्ञानादिक रहते नहीं वैसे ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप को सम्यक् पना–सम्यग्दर्शनके विना प्राप्त होता नहीं इस लिये सम्यग्दर्शनको आधार माना है.

णगरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं ॥
तह जाण सुसम्मत्तं णाणचरणवीरियतवाणं ॥ ७३६ ॥

सारं द्वारं पुरस्येव वक्त्रस्येव विलोचनम् ॥
मूलं महीरुहस्येव संज्ञानादेः सुदर्शनम् ॥ ७६५ ॥
चलानि नायकेनेव शरीराणीव जंतुना ॥
ज्ञानादीनि प्रवर्तंते सम्यक्त्वेन विना कुतः ॥ ७६६ ॥

विजयोदया—णगरस्स जह दुवारं नगरस्य द्वारमिव नगरप्रवेशनोपायो यथा द्वारं। तहा तथा सम्मत्तं सम्यक्त्वं द्वारं। णाणचरणवीरियतवाणं ज्ञानादीनां । एवं हि ज्ञानादीन्यनुप्रविष्टो भवति जीवो यदि परिणतो भवेत्सम्यक्त्वे तदंतरेण सम्यग्ज्ञानाद्यनुप्रवेशस्यासंभवात् । न हि सातिशयमवध्यादि, यथाख्यातं चारित्रं, बहुतरनिर्जरानिमित्तं वा तपः प्रतिलभते जंतुः सम्यक्त्वं विना। मुहस्स चक्खू जहा मुखस्य चक्षुर्यथा शोभाविधायि तथा ज्ञानादीनां सम्यक्त्वं विधत्ते श्रद्धानं। तरुस्स मूलं यथा तरोर्मूलं यथा स्थितिनिबंधनं, तथा सम्यक्त्वं ज्ञानादिस्थितिनिमित्तं ॥

ज्ञानादीनि प्रति सम्यक्त्वस्य प्रवेशशोभाबहुत्वस्थितिनिमित्तत्वानि दर्शयति—

मूलारा—दुवारं द्वारेण पौरजनो नगरमिव सम्यक्त्वेन ज्ञानादिषु प्रविशति जीवः। न ह्यसौ सातिशयमवध्यादिज्ञानं यथाख्यातचारित्रं बहुतरनिर्जरानिमित्तं वा प्रतिलभते जन्तुः सम्यक्त्वं विना ॥

अर्थ—जैसे द्वार नगरमें प्रवेश करनेका उपाय है. वैसे सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तपका आत्मामें प्रवेश होनेके लिये द्वारके समान है. अर्थात् जब आत्मामें सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है तब उसमें ज्ञानादिकोंका भी प्रवेश होता है. सम्यक्त्वके विना सम्यग्ज्ञान, तप, चारित्रादिकोंकी प्राप्ति होती ही नहीं. सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति न होनेसे जीवको विशिष्ट अवध्यादिक ज्ञान, यथाख्यातचारित्र, कर्मकी अतिशय निर्जरा करनेवाला तप प्राप्त होते ही नहीं. मुखको आंखोंसे जैसा सौंदर्य प्राप्त होता है तथा ज्ञानादिकोंमें सम्यग्दर्शनसे सम्यक्पना प्राप्त होता है. जैसे झाडको मूलसे दृढता आती है वैसे ज्ञानादिकोंमें स्थिरता और दृढता सम्यग्दर्शनसे प्राप्त होती है.

भावाणुरागपेमाणुरागमज्जाणुरागरत्तो वा ॥
धम्माणुरागरत्तो य होहि जिणसासणे णिच्चं ॥ ७३७ ॥
दंसणभट्ठो भट्ठो दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ॥
सिज्झन्ति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥ ७३८ ॥
दंसणभट्ठो भट्ठो ण हु भट्ठो होइ चरणभट्ठो हु ॥
दंसणममुयत्तस्स हु परिवडणं णत्थि संसारे ॥ ७३९ ॥

भ्रष्टोऽस्ति दर्शनभ्रष्टो व्रतभ्रष्टोऽपि नो पुनः ॥
पतनं ह्यस्ति संसारे न दर्शनममुंचतः ॥ ७६७ ॥
ये धर्मभावमज्जादिप्रेमरागानुरंजिताः ॥
जैने संति मते नेषां न किंचिद्वस्तु दुर्लभम् ॥ ७६८ ॥

विजयोदया—दंसणभट्ठो भट्ठो दर्शनाद्भ्रष्टो भ्रष्टतमः। चरणभट्ठो वि चारित्रभ्रष्टोऽपि दर्शनादभ्रष्टः। ण हु न च। भट्ठो होदित्ति वाक्यशेषं कृत्वा संबंधः। न तु तथा भ्रष्टो भवति चारित्रभ्रष्टः यथा दर्शनाद्भ्रष्टः। दंसणं श्रद्धानं। अमुयत्तस्स अत्यजतः। चारित्राद्भ्रष्टस्यापि परिवडणं संसारे णत्थि खु परिपतनं संसारे नास्त्येव। असंयमनिमित्तार्जितपापसंहतेरस्त्येव संसारः। किमुच्यते परिपतनं नास्तीति? अयमभिप्रायः—परि समंतात्सर्वासु गतिषु चतसृषु संचरणं नास्तीति। स्वल्पत्वात्संसारः सन्नपि नास्तीति व्यवह्रियते। तथा हि स्वल्पद्रविणोऽधन इत्युच्यते। दर्शनात्प्रभ्रष्टस्य अर्धपुद्गलपरिवर्तनं भवत्यतिमहत्संसारमिति निकृष्टतमो दर्शनभ्रष्टः॥ *

अर्थ—कितनेक लोक भावानुरागी रहते हैं जैसे जिनदत्त श्रेष्ठी. अर्थात् जो जिनेश्वरने वस्तुस्वरूप कहा है वह सत्य ही है ऐसा पक्का श्रद्धान करनेवाला मनुष्य तत्वका स्वरूप मालूम नहीं भी हो तो भी जिनेश्वरका कहा हुआ तत्वस्वरूप कभी झूठा होता ही नहीं ऐसी श्रद्धा करता है इसको भावानुराग कहते हैं. प्रेमयुक्त अनुरागका दृष्टान्त

* दंसणभट्ठो भट्ठो इस गाथासे लेकर अहिंसा, सत्य, अचौर्य महाव्रत इतने विषयोका वर्णन करनेवाली गाथाओंकी मूलाराधना पंजिका कारंजाकी मूलप्रतीमें नहीं है. बीचके पत्र ही नष्ट होगये हैं. अतः यहांसे हमने विजयोदया ही जोड दी है.

मणिचूल है. इसने अपने मित्रको—सगरचक्रवर्तीको वार वार समझाकर भोगादिकोंसे विरक्त किया था. जिसके ऊपर प्रेम है उसको बारबार समझाकर सन्मार्गमें लगाना यह प्रेमानुराग कहाता है. मज्जानुराग यह पांडवोंमें था अर्थात् वे जन्मसे लेकर आपसमें अतिशय स्नेहयुक्त थे. वैसे हे क्षपक तूं धर्मानुरागसे जैनधर्ममें स्थिर रहकर उसको कदापि मत छोड.

अर्थ—जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हुआ है वह भ्रष्टही समझना चाहिये. दर्शनभ्रष्ट जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती नहीं. चारित्रभ्रष्ट जीव मुक्तिकी प्राप्ति कर सकते हैं परंतु दर्शनभ्रष्ट जीवको मुक्तिलाभ होता नहीं.

अर्थ—जो जीव दर्शनसे भ्रष्ट हुआ है उसको भ्रष्टतम कहना चाहिये. चारित्रभ्रष्ट जीव दर्शनसे भ्रष्ट नहीं माना जाता है. अर्थात् चारित्रभ्रष्ट जीवसे दर्शनभ्रष्ट जीव अतिशय भ्रष्ट है. जो चारित्रसे भ्रष्ट हुआ है, परंतु सम्यग्दर्शन से च्युत नहीं हुआ है उसको संसारपतनकी भीति नहीं है. शंका—असंयमसे उत्पन्न हुए पापके भारसे जीवको संसारमें भ्रमण करना पडता ही है अत चारित्रभ्रष्ट जीवका संसारपतन नहीं है ऐसा आप क्यों कहते हो? इस प्रश्नका उत्तर—चारित्रभ्रष्ट जीव चारो गतिओंमें भ्रमण करता नहीं. उसका संसार अल्प रहता है अतः उसको संसार नहीं है ऐसा कहा जाता है जैसे किसीके पास थोडासा धन है तो भी वह धनी कहलाता नहीं. परंतु दर्शनभ्रष्ट मनुष्यको अर्ध पुद्गलपरिवर्तन कालतक संसारमें भ्रमण करना पडता है इसलिये वह अत्यन्त निकृष्ट है.

एकस्य सम्यग्दर्शनस्य माहात्म्यं कथयति—

सुद्धे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणामं ॥
जादो दु सेणिगो आगमेसि अरुहो अविरदो वि ॥ ७५० ॥

श्रेणिको व्रतहीनोऽपि निर्मलीकृतदर्शनः ॥
आर्हन्त्यपदमासाद्य सिद्धिसौधं गमिष्यति ॥ ७६९ ॥

विजयोदया—सुद्धे शुद्धे । सम्मत्ते सम्यक्त्वे । शंकाद्यतिचाराभावात् । अविरदो वि अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभानामुदयात् हिंसादिनिवृत्तिपरिणामरहितोऽपि । तित्थयरणामकम्मं तीर्थकरत्वस्य कारणं कर्म अर्जयति । विनयसंपन्नतादिरपि तीर्थकरनामकर्मणो हेतुरेव तत. कोऽतिशयो दर्शनस्य इति चेत् दर्शने सत्येव तेषां तीर्थ

करनामकर्मण. कारणता। नान्यस्येति मन्यते। जादो खु जातः खलु। सेणिगो श्रेणिकः। आगमेसिं भविष्यति काले। अरुहो अर्हन्। अविरदो वि असयतोऽपि सन्। ननु श्रेणिको भविष्यत्यर्हन् न त्वर्हत्त्वं तस्यातीतं तेन कथमुच्यते जात इति। भाविष्यदर्हत्त्वं न निष्पन्नं इति युक्तमुच्यते जात इति॥

अकेला भी सम्यग्दर्शन माहात्म्ययुक्त होता है ऐसा विवेचन आचार्य करते हैं—

अर्थ—शंका, कांक्षा वगैरह अतिचारोंसे रहित अविरत सम्यग्दृष्टीको भी तीर्थकरनाम कर्मका बंध होता है. अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया और लोभ इनका उदय होनेसे, परिणामोंमें हिंसादिकोंसे विरक्तता उत्पन्न न होने पर भी केवल निरतिचार सम्यग्दर्शन धारण करनेवाले मनुष्यको तीर्थकर कर्मका बंध होता है. शंका—विनयसंपन्नता वगैरह अन्य कारणोंसे भी तीर्थकरत्वकी प्राप्ति होती हैं. सम्यग्दर्शनमें ही ऐसी क्या विशिष्टता है? उत्तर-सम्यग्दर्शन होनेपर ही विनयसंपन्नतादिक तीर्थकर कर्म बंधके कारण होते हैं अन्यथा उनमें कारणता नहीं हैं. केवल सम्यग्दर्शनके साहायतासे ही श्रेणिक राजा भविष्यत्कालमें अरहंत हुआ है.

शंका—श्रेणिक भूपाल भविष्यकालमें अर्हन होनेवाला है उसको अर्हदावस्था प्राप्त होचुकी है ऐसा नहीं है. अत वह अर्हंत होगया ऐसा क्यों कहते हैं?

उत्तर—भविष्य कालीन अर्हतपना अभी निष्पन्न नहीं हुआ है इसलिये वह होगया ऐसा कहना योग्य है.

कल्लाणपरंपरयं लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्ता ॥
सम्मद्दंसणरयणं णग्घदि ससुरासुरो लोओ ॥ ७४१ ॥

अच्छिन्ना लभ्यते येन कल्याणानां परंपरा
मूल्यं सम्यक्त्वरत्नस्य न लोके तस्य विद्यते ॥ ७७० ॥

विजयोदया—कल्लाणपरंपरयं कल्याणपरंपरां। इंद्रत्वं, सकलचक्रलांछनतां, अहमिंद्रत्वं, तीर्थकृत्वमित्यादिकं लभंते जीवाः। विसुद्धसम्मत्ता विशुद्धसम्यक्त्वाः। सम्मद्दंसणरयणं सम्यग्दर्शनरत्नं। णग्घदि ससुरासुरो लोओ सकलो लोको मूल्यतया दीयमानोऽपि न लभते सम्यक्त्वरत्नमित्यर्थः॥

अर्थ—इस निर्मल सम्यग्दर्शनसे इंद्रपदवी, चक्रवर्तीपना, अहमिंद्रावस्था और तीर्थकरपद ऐसी कल्याण परंपरा उत्तरोत्तर जीवको मिलती है. यह सम्यक्त्व रत्न इतना मूल्यवान हैं कि देव और असुरोंसहित यह संपूर्ण

लोक भी प्रदान किया तो भी उसकी कीमतकी भरपायी होती नहीं है. अर्थात् संपूर्ण त्रैलोक्य देनेपरभी सम्यक्त्वरत्न मिलता नहीं.

सम्मत्तस्स य लंभे तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लंभो ॥
सम्मद्दंसणलंभो वरं खु तेलोक्कलंभादो ॥ ७४२ ॥
लद्धूण वि तेलोक्कं परिवडदि हु परिमिदेण कालेण ॥
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसोक्खं हवदि मोक्खं ॥ ७४३ ॥
सम्यक्त्वस्य च यो लाभस्त्रैलोक्यस्य च यस्तयोः ॥
सम्यक्त्वस्य मतो लाभः प्रकृष्टः सारवेदिभिः ॥ ७७१ ॥
त्रैलोक्यमुपलभ्यापि ततः पतति निश्चितम् ॥
अक्षयां लभते लक्ष्मीमुपलभ्य सुदर्शनम् ॥ ७७२ ॥
ददाति सौख्यं विधुनोति दुःखं भयं लुनीते नयते विमुक्तिं ॥
निहन्ति निंदां कुरुते सपर्यां सम्यक्त्वरत्नं विदधाति किं न ॥ ७७३ ॥
इति सम्यक्त्वं ।

विजयोदया – स्पष्टार्थतया न व्याख्यायते गाथाद्वयम् । अनंतरसम्मत्ते भावणा इत्येतद्व्याख्यातं ॥ सम्मत्तं ॥

अर्थ—एक सम्यग्दर्शनका लाभ और दूसरा त्रैलोक्यका लाभ इन दो लाभोंमें सम्यग्दर्शनका लाभही श्रेष्ठ है. त्रैलोक्यका लाभ होनेपर भी वह थोडे कालके अनंतर नष्ट होता है. परंतु सम्यग्दर्शनका लाभ जीवको अविनाशी सुख देनेवाले मोक्षकी प्राप्ति करा देता है. अतः सम्यग्दर्शनका लाभ त्रैलोक्यलाभसे भी श्रेष्ठ है. सम्यक्त्वका वर्णन समाप्त हुआ.

परा भत्ती इत्येतद्व्याख्यानाय प्रबंध उत्तरः—

अरहंतसिद्धचेदियपवयणआयरियसव्वसाहूसु ॥
तिव्वं करेहि भत्ती णिव्विदिगिंछेण भावेण ॥ ७४४ ॥

भक्तिमर्हत्सु सिद्धेषु चैत्येष्वाचार्यसाधुषु ॥
विधेहि परमां साधो ! निश्चयस्थितमानसः ॥ ७७४ ॥

विजयोदया— रहतसिद्धचेदियपवयण गायरियसव्वसाहूसु अर्हत्सिद्धेषु तत्प्रतिबिंबेषु, प्रवचने, आचार्येषु सर्वसाधुषु च। तिव्व भत्ति करेहि तीव्रां भक्तिं कुर्विति। णिव्विदिगिंछेण विचिकित्सारहितेन। भावेन परिणामेन ॥

पराभत्ती इस पदका आचार्य स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—अरहंत, सिद्ध, और उनकी प्रतिमायें, आगम, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इनके ऊपर हे क्षपक ! तुम मलिनपरिणामोंका त्याग कर तीव्र भक्ति करो.

जिनभक्तिमाहात्म्यं कथयति—

संवेगजणिदकरणा णिस्सल्ला मंदरोव्व णिक्कंपा ॥
जस्स दढा जिणभत्ती तस्स भयं णत्थि संसारे ॥ ७४५ ॥

विजयोदया—संवेगजणिदकरणा संसारभीरुतया उत्पादितात्मलाभा। णिस्सल्ला मिथ्यात्वेन, मायया, निदानेन, च रहिता। *मंदरोव्व णिक्कंपा मंदर इव निश्चला*। जस्स दढा जिणभत्ती यस्य दृढा जिनभक्तिः। तस्स संसारे भयं णत्थि तस्य संसारनिमित्त भयं नास्ति ॥

जिनभक्तिका माहात्म्य दिखाते हैं—

अर्थ—संसारभयसे उत्पन्न हुई, मिथ्यात्व, माया और निदानसे रहित, मेरु पर्वतके समान निश्चल ऐसी जिनभक्ति जिसके अंतःकरणमें हैं उस पुरुषको संसारमें किसी से भी भय उत्पन्न नहीं होगा. अर्थात् जिनभक्ति के प्रभावसे उसका संसार नष्ट होकर उसको शीघ्र मुक्तिलाभ होता है.

एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गइं णिवारेण ॥
पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धिपरंपरसुहाणं ॥ ७४६ ॥
तह सिद्धचेदिए पवयणे य आइरियसव्वसाधूसु ॥
भत्ती होदि समत्था संसारुच्छेदणे तिव्वा ॥ ७४७ ॥

विज्जा वि भत्तिवंतस्स सिद्धिमुवयादि होदि सफला य ॥
किह पुण णिव्वुदिबीजं सिज्झहिदि अभत्तिमंतस्स ॥ ७५८ ॥

जिनेंद्रभक्तिरेकापि निषेद्धुं दुर्गतिं क्षमा ॥
आसिद्धिलब्धि नो दातुं सारां सौख्यपरंपराम् ॥ ७७५ ॥
सिद्धचैत्यश्रुताचार्यसर्वसाधुगता परा ॥
विच्छिनत्ति भवं भक्तिः कुठारीव महीरुहम् ॥ ७७६ ॥
नेह सिध्यति विद्यापि सफला न हि जायते ॥
किं पुनर्निर्वृतेर्बीजं भक्तिहीनस्य सिध्यति ॥ ७७७ ॥

विजयोदया— विज्जा विद्यापि । भत्तिवंतस्स भक्तिमतः । सिद्धिमुवयादि सिद्धिमुपयाति । होदि सफला य फलवती च भवति । किध पुण कथं पुनः । णिव्वुदिबीजं निर्वृतेर्बीजं रत्नत्रयं ॥ सिज्झहिदि सेत्स्यति ॥ अभत्तिमंतस्स भक्तिरहितस्य ॥ क ? अर्हदादिषु ॥

अर्थ—अकेली जिनभक्ति ही दुर्गतिका नाश करने में समर्थ है. इससे विपुल पुण्यकी प्राप्ति होती है और मोक्षप्राप्ति होने तक इसमें इंद्रपद, चक्रवर्तीपद, अहमिंद्रपद और तीर्थंकरपदके सुखोंकी प्राप्ति होती है.

सिद्धपरमेष्ठि, और उनकी प्रतिमा, आगम, आचार्य, सर्वसाधु, इनमें की हुई तीव्र भक्ति संसार का नाश करनेमें समर्थ होती है. जो भक्तिमान् है उसको इष्ट पदार्थोंकी दात्री विद्या सिद्ध होती है. अर्थात् उससे इष्ट पदार्थ भक्तिमानको मिलते हैं. जो भक्तिहीन है अर्थात् जो अर्हदादिकोंमें भक्ति नहीं करेगा उसको मुक्तिका बीज जो रत्नत्रय वह कैसे प्राप्त हो सकेगा ?

तेसिं आराधणणायगाण ण करिज्ज जो णरो भत्तिं ॥
धत्तिं पि संजमंतो सालिं सो ऊसरे ववदि ॥ ७५९ ॥

भक्तिमाराधनेशानां योऽकुर्वाणस्तपस्यति ॥
स वपत्यूषरे शालीननालोच्य समं ध्रुवम् ॥ ७७८ ॥

विजयोदया—तेसिं आराधणणायगाणं अर्हदादीनां आराधनाया नायकाना। ण करिज्ज जो णरो भत्तिं यो नरो भक्तिं न करोति। स धारिं पि संजमतो नितरां संयमे उद्यतोऽपि शालीनूपरे देशे वपति। ऊषरे शाल्यिवपन अफल यथा करोत्येव दुश्चर संयम चरन्नपि अर्हदादिषु भक्तिरहितो मिथ्यादृष्टि सन्निति भाव ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओंके नायक ऐसे अर्हदादिपरमेष्ठिओंमें जो पुरुष भक्ति नहीं करता है, वह चारित्रमें खूप तत्पर रहनेपर भी क्षार मृत्तिकामें शालिबीज बोनेवाले मनुष्य के समान है.

जैसे शालिबीज क्षारजमीनमें बोनेसे कुछ फायदा नहीं है वैसे मिथ्यादर्शनसहित होकर खूब तपश्चरण करनेसे भी मुक्तिफल की प्राप्ति होती नहीं.

बीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमब्भएण विणा ॥
आराधणमिच्छन्तो आराधणभत्तिमकरंतो ॥ ७५० ॥

ते बीजेन विना सस्यं वारिदेन विना जलम् ॥
कांक्षन्ति ये विना भक्तिं कांक्षन्त्याराधनां नराः ॥ ७७९ ॥

विजयोदया—बीजेण विणा सस्सं शस्यमिच्छति बीजेन विना। वासमब्भएण विणा वृष्टिं अभ्रेण विना। कारणेन विना कार्यमिच्छतीति यावत्। आराधना रत्नत्रयसंसिद्धिं इच्छति। अकुर्वन्नाराधनाभक्तिं हेतुभूतां ॥

अर्थ—आराधनारूप भक्ति न करके ही जो रत्नत्रयसिद्धिरूप फल चाहता है वह पुरुष बीजके विना धान्यप्राप्तिकी इच्छा रखता है अथवा मेघके विनाही जलवृष्टि की इच्छा करता है ऐसा समझना चाहिए.

विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा णिप्पादयं हवदि वासं ॥
तह अरहादिगभत्ती णाणचरणदंसणतवाणं ॥ ७५१ ॥

विधिनोप्तस्य सस्यस्य वृष्टिर्निष्पादिका यथा ॥
तथैवाराधनाभक्तिश्चतुरंगस्य जायते ॥ ७८० ॥

विजयोदया—विधिणा कदस्स विधीयते जन्यते कार्यमनेनेति कारणसंदोहो विधिः। तेन कारणकलापेन कृत स्योप्तस्य। सस्सस्स शस्यस्य। वासं जह णिप्पादयं हवदि वर्षं यथा फलनिष्पत्तिं करोति। तह तथैव। आराधणभत्ती

आराहणभत्ती आराधकेषु अर्हदादिषु भत्ती भक्तिः । णाणचरणदंसणतवाणं ज्ञानस्य, दर्शनस्य, चारित्रस्य, तपसश्च निष्पादिका भवति ॥

अर्थ—धान्य उत्पन्न करनेके संपूर्ण कार्योंका आश्रय कर जमीनमें बीज बोनेके अनंतर जलवृष्टि होनेसे फल निष्पत्ति होती है. वैसे अर्हदादि पूज्य पुरुषोंपर भक्ति करनेसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तपरूपी फल उत्पन्न होता है.

भक्तिमाहात्म्यं फलातिशयोपदर्शनेन कथयितुकामोऽधाख्यानमुपक्षिपति गाथायाम्—

वंदणभत्तीमित्तेण मिहिलाहिओ य पउमरहो ॥
देविंदपाडिहेरं पत्तो जादो गणधरो य ॥ ७५२ ॥

वंदनाभक्तिमात्रेण पद्मको मिथिलाधिपः ॥
देवेंद्रपूजितो भूत्वा बभूव गणनायकः ॥ ७८१ ॥
रोगमारिचौरवैरिभूपभूतपूर्वकाणि ॥
भक्तिराशु दुःखदा निहन्ति सेविताऽखिलानि ॥ ७८२ ॥

इति भक्तिः ।

विजयोदया—वंदणभत्तीमित्तेण वंदनानुरागमात्रेण चैव । मिहिलाहिओ य पउमरहो मिथिलानगराधिपतिः पद्मरथो नाम । देविंदपाडिहेरं पत्तो देवेंद्रकृतां पूजा प्राप्तवान् । जादो गणधरो य गणधरश्च जात ॥ भत्ती ॥

विशिष्ट फलका प्रदर्शन करके भक्तिका माहात्म्य कहने की इच्छासे आचार्य उदाहरण देते हैं—

अर्थ—वंदना करनेकी तीव्र भक्तीसे मिथिला देशका राजा पद्मरथ देवेंद्रसे पूजातिशयको प्राप्त हुआ और वह वासुपूज्य तीर्थंकर का गणधर हुआ. भक्तीका वर्णन हुआ.

आराधणापुरस्सरमणण्णहिदओ विसुद्धलेस्साओ ॥
संसारस्स खयकरं मा मोचीओ णमोक्कारं ॥ ७५३ ॥

आराधनापुरोयानं मा स्मैकाग्रमना मुच ॥
शुद्धलेश्यो नमस्कारं संसारक्षयकारकम् ॥ ७८३ ॥

विजयोदया—आराधणापुरस्सरं णमोकारं मा मोचीथो आराधनाया अग्रेसरं नमस्कारं मा मुंच। कीदृग्भूतं? संसारस्स खयकरं संसारस्य पंचविधपरिवर्तनस्य क्षयकरं । अणण्णहिदओ अनन्यहृदयः अनन्यगतचित्तः सन् । विसुद्धलेस्साओ विशुद्धलेश्यया परिणतः । तत्र नमस्कारः नामस्थापनाद्रव्यभावविकल्पेन चतुर्धा व्यवस्थितः । तत्र नाम नमस्कारो यस्य कस्यचिन्नमस्कार इति कृता संज्ञा इदमस्य नामधेयं यथा स्यादिति नियुज्यमानं पदं सर्वं सर्वत्र प्रवर्तते । नमस्करणव्यापृतो जीवस्तस्य कृतांजलिपुटस्य यथाभूतेनाकारेणावस्थापिता मूर्तिः स्थापनानमस्कारः । नमस्कारप्राभृतं नामास्ति ग्रंथः यत्र नयप्रमाणादिनिक्षेपादिमुखेन नमस्कारो निरूप्यते, तं यो वेत्ति न च सांप्रतं तन्निरूप्येऽर्थे उपयुक्तोऽन्यगतचित्तत्वात् स नमस्कारयाथात्म्यग्राहिश्रुतज्ञानस्य कारणत्वादागमद्रव्यनमस्कार इत्युच्यते । नो आगमद्रव्यनमस्कारस्त्रिविधः, ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदात् । नमस्कारप्राभृतज्ञस्य यच्छरीरं त्रिकालगोचरं तदप्यंतरेण श्रुतज्ञानं नोपजायते इति शरीरमपि कारणं तत्रापि नमस्कारशब्दो वर्तते । तद्भूतशरीरं त्रिविकल्पं च्युतं, च्यावितं, त्यक्तमिति । आयुषो निःशेषगलनादात्मनश्च्युतं एकं । चेतनस्योपसर्गवशाद्वा च्यावितशब्देनोच्यते । आयुषो भवमवेत्य आत्मनैव यत्त्यक्तं तत्त्यक्तशब्देनोच्यते । तत्त्रिविकल्पं भक्तप्रत्याख्यानं, प्रायोपगमनं, इंगिनीमरणं इति । तेष्वन्यतमेन त्यक्तं विधिना कायकषायसल्लेखनापुरःसरं प्रव्रज्यातःप्रभृति निर्यापकगुरुसमाश्रयणदिवसमंत्यं कृत्वा मध्ये प्रवृत्तान् ज्ञानदर्शनचारित्राणां अतिचारानालोच्य तदभिमतप्रायश्चित्तानुसारिणः द्रव्यभावसल्लेखनामुपगतस्य त्रिविधाहारप्रत्याख्यानादिक्रमेण रत्नत्रयाराधनं भक्तप्रत्याख्यानं । इंगिनीमरणप्रायोपगमने वक्ष्यमाणलक्षणे तैः परित्यक्तं त्यक्तमुच्यते । यदेव तत्सति जीवे नमस्कारोपयोगं प्रति जीववदेव कारणमासीन्नमस्कारोपयोगस्य तदेवेदमिति तत्रापि नमस्कारशब्दः प्रवर्तते । नमस्कारोपयोगरूपेण यो भाविष्यति स भावीति भण्यते । स्थापना अर्हदादीनां आगमनमस्कारज्ञानं आगमभावनमस्कारः । नमस्क्रियमाणार्हदादिगुणानुरागवतः मुकुलीकृतकरकमलस्य, प्रणामो नो आगमभावनमस्कार इह गृह्यते ।

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानैरनुयोगद्वारैर्निरूप्यते । अर्हदादिगुणानुरागवतः आत्मनो वाक्कायक्रियास्तवनशिरोवनतिरूपो नमस्कारः । सम्यग्दृष्टिर्नो आगमभावनमस्कारस्य स्वामीति । मतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमः, दर्शनमोहोपशमः, क्षयः, क्षयोपशमश्च बाह्यं साधनं, अभ्यंतरं आत्मा प्रत्यासन्नभव्यः । आत्मनि वर्तते नमस्कारः । अंतर्मुहूर्तस्थितिकः । अर्हदादिनमस्कार्यभेदेन पंचविधः । अर्हदादीनां प्रत्येकमनेकविकल्पत्वात् नमस्कारोऽपि तावद्धा भिद्यते ।

अर्थ—यह भावनमस्कार आराधना पुरःसर हृदयमें धारण कर. इससे पांच परिवर्तनमय संसारका नाश होता है. हे क्षपक! तू एकाग्र हृदयसे और विशुद्ध परिणामसे इसका स्वीकार कर. इसका कभी भी त्याग न करना चाहिये.

इस नमस्कार के नामनमस्कार, स्थापनानमस्कार, द्रव्यनमस्कार और भावनमस्कार ऐसे चार भेद हैं.

नामनमस्कार—जिस किसीका ' नमस्कार ' ऐसा नाम रखना यह इस पदार्थका नाम हो इस हेतुसे जो जो पद प्रयोग किया जाता है उसको नामनमस्कार कहते हैं

स्थापनानमस्कार—नमस्कार करनेमें तत्पर होकर हाथ जोडकर मस्तकपर जिसने स्थापन किये हैं ऐसे जीवकी जैसी आकृति होती है वैसी आकारयुक्त जो मूर्ति स्थापी जाती है उसको स्थापनानमस्कार कहते हैं.

द्रव्यनमस्कार—नमस्कारप्राभृत नामका ग्रंथ है जिसमें नय प्रमाण और निक्षेप वगैरहके द्वारा नमस्कारका निरूपण किया है इस ग्रंथका जिसको ज्ञान है परंतु इसमें निरूपण किये गये अर्थमें सांप्रतकालमें जिसका उपयोग नहीं है. अर्थात् सांप्रतकालमें जिसका अन्य पदार्थके तरफ चित्त गया है वह पुरुष ' द्रव्यनमस्कार ' शब्दसे वाच्य है. यह पुरुष नमस्कारका यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन करनेवाले श्रुतज्ञानका कारण होनेसे उसको आगम द्रव्यनमस्कार कहते हैं

नो आगम द्रव्यनमस्कारके ज्ञायक शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त. ऐसे भेद हैं. नमस्कार प्राभृतके ज्ञाताका जो त्रिकालगोचर शरीर उसमें भी नमस्कार शब्दका प्रयोग करते हैं क्योंकि शरीरके बिना नमस्कार शास्त्रका ज्ञान जीवको होता नहीं. इस लिये शरीर भी ज्ञानका कारण है. उसमें भी नमस्कार पदका प्रयोग करते हैं. त्रिकालगोचर शरीर में जो भूतशरीर नामक भेद है उसके च्युत, च्यावित और त्यक्त ऐसे तीन भेद हैं. आयुष्य पूर्ण गलने पर जो शरीर आत्मासे छूट जाता है उसको च्युत शरीर कहते हैं. उपसर्ग होनेपर जो शरीर छूट जाता है वह च्यावित कहा जाता है. आयुष्यका अभाव हुआ है ऐसा समझकर आत्माके द्वारा जो शरीर त्यागा जाता है उसको त्यक्त कहते हैं. इसके तीन भेद हैं. भक्तप्रत्याख्यान, प्रायोपगमन और इंगिनीमरण इन तीनो भेदोंमें से किसीका भी आश्रय कर योग्य विधीसे शरीरका त्याग होता है उसको त्यक्त कहते हैं.

भक्तप्रत्याख्यान—मुनिदीक्षा लेनेके अनंतर दीक्षा कालसे कषाय सल्लेखना और शरीरसल्लेखना करके निर्यापकाचार्यका आश्रय करनेके कालपर्यंत बीचके कालमें ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें जो जो अतिचार हुए हैं उनकी आलोचना करके गुरुके दिये हुये प्रायश्चित्त का स्वीकार करना चाहिये. तदनंतर द्रव्यसल्लेखना और भावसल्लेखनाका आश्रय करके तीन प्रकारके आहारोंका त्याग कर रत्नत्रयकी आराधना करना इसको भक्तप्रत्या-

ख्यान कहते हैं. इंगिनीमरण और प्रायोपगमन मरण ऐसे दो भेदोंका लक्षण आचार्य आगे कहेंगे. इन मरणोंके द्वारा शरीरका त्याग करना उसको भी त्यक्त कहते हैं.

जीव जब था तब वह जैसा नमस्काररूप उपयोगको कारण था वैसा वह भी शरीर नमस्कारके प्रति उपयोग लगानेका कारण था अतः वही यह शरीर है ऐसा ज्ञान शरीरको देखनेसे होता है इसलिये भूतशरीरमें भी नमस्कारका प्रयोग कर सकते हैं. जिसमें भविष्यकालमें नमस्कारके प्रति उपयोग होगा वह भावि कहाता है

नमस्कार विषयक ज्ञानके तरफ जिसका उपयोग लगा है उसको आगम भावनमस्कार कहते हैं. जिनको नमस्कार करना योग्य है ऐसे अर्हदादिक परमेष्ठिओं के गुणोंमें अनुरक्त होकर अपने दो हाथ जिसने कमलकलिकाकार किये हैं तथा जो नमस्कार कर रहा है उसको नो आगम भावनमस्कार कहते हैं.

इस नमस्कारका निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इसने अनुयोगों के द्वारा वर्णन करते हैं—

अर्हदादिकी गुणोंमें अनुरागी होकर जो आत्मा वचनसे स्तुति करता है और मस्तक नम्र करता है उसकी इस अवस्थाको नमस्कार स्वामी—सम्यग्दृष्टि इस नो आगम भाव नमस्कारका स्वामी है. इस नमस्कारके ये साधन हैं.— मति श्रुतज्ञावरण कर्मका क्षयोपशम, दर्शन मोहका उपशम क्षय और क्षयोपशम ये बाह्य साधन हैं आत्मा अन्तरंग साधन है. अर्थात् प्रत्यासन्नभव्य अन्तरंग साधन है. आधिकरण—आत्मामें यह नमस्कार रहता है. अत वह आधार है. इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है. अर्हदादि पंचपरमेष्ठिओंके अपेक्षासे इसके पांच प्रकार हैं. अथवा अर्हदादिकोंमें अनेक विकल्प हैं इस लिये भी नमस्कारके अनेक भेद होते हैं. अर्हन्तके सामान्य केवलि अर्हत्, गणधर केवलि अर्हत्, तीर्थंकर केवलि अर्हत् ऐसे भेद हैं. सिद्धोंके भी गति सिद्ध, तीर्थसिद्ध, क्षेत्रसिद्ध, लिंग सिद्ध ऐसे अनेक भेद हैं इनकी अपेक्षासे नमस्कारके भी अनेक भेद होते हैं.

मणसा गुणपरिणामो वाचा गुणभासणं च पंचण्हं ॥
काएण संपणामो एस पयत्थो णमोक्कारो ॥ ७५४ ॥

विजयोदया—अत्र नमस्कारसूत्रेण ' णमो लोए सव्वसाधूणं ' इत्यत्र लोकग्रहणं सर्वग्रहणं प्रत्येकमभिसंब-

ध्यते। णमो लोए सव्वेसिं अरहंताणं, णमो लोए सव्वेसिं सिद्धाणं, णमो लोए सव्वेसिं आइरियाणं, णमो लोए सव्वेसिं उवज्झायाणं " इति। अरहंताणमित्यादि बहुवचननिर्देशादेव सर्वेषामर्हदादीनां ग्रहणं सिद्धमतो न कर्तव्यं सर्वशब्दोपादानं इति चेन्। अर्धतृतीयद्वीपगतभरतेषु, ऐरावतेषु, विदेहेषु च ये अर्हतः, सिद्धा, आचार्या, उपाध्यायाः, साधवश्चातीता, वर्तमाना, भविष्यंतश्च तेषां ग्रहणार्थं सर्वशब्द उपात्तः। सादरविशेषख्यापनार्थं प्रत्येकं नमःशब्दोपादानं।

अर्थ—नमस्कार इस पदका अर्थ इस प्रकार है. मनके द्वारा अर्हदादिकोंके गुणोंका स्मरण करना, वचनके द्वारा अर्हदादि पंच परमेष्ठिओंके गुणोंका वर्णन करना, शरीरसे पंच परमेष्ठिओंके चरणोंको नमस्कार करना यह नमस्कार शब्दका अर्थ है.

णमो अरहंताणं इत्यादि नमस्कार सूत्रमें ' णमो लोए सव्व साहूणं ' ऐसा अन्तिम वाक्य है. इसमें लोक शब्द और सर्व शब्द इन दो शब्दोंका संबंध प्रत्येकके साथ करना चाहिये. अर्थात् णमो लोए सव्वेसिं अरहंताणं, णमो लोए सव्वेसिं सिद्धाणं, णमो लोए सव्वेसिं आइरियाणं, णमो लोए सव्वेसिं उवज्झायाणं।

शंका—अरहंताणं, सिद्धाणं वगैरहमें बहु वचनका प्रयोग होनेसे ही सर्व अर्हदादिकोंका ग्रहण होता है अतः सर्व शब्दकी जरूरत नहीं है.

उत्तर—ढाई द्वीपमें पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेहों में जितने अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं, हो गये हैं, और होंगे उनका ग्रहण करनेके लिये यहां सर्व शब्दका प्रयोग किया है. और आदर विशेषता दिखानेके लिये प्रत्येकके आगे नमः शब्दका प्रयोग किया है.

अरहंतणमोक्कारो एक्को वि हविज्ज जो मरणकाले ॥
सो जिणवयणे दिट्ठो संसारुच्छेदणसमत्थो ॥ ७५५ ॥

एकोऽप्यर्हन्नमस्कारो मृत्युकाले निषेवितः ॥
विध्वंसयति संसारं भास्वानिव तमश्चयम् ॥ ७८४ ॥

विजयोदया—अरहंतणमोक्कारो अर्हतां नमस्कारः। जो मरणकाले भवेज्ज एक्को वि। यो मरणकाले भवेदेकोऽपि। सो सः। जिणवयणे दिट्ठो जिनवचने दृष्टः। संसारुच्छेदणसमत्थो संसारोच्छेदनसमर्थः॥

अर्थ—मरण समयमें अरहंतोंको एक भी यदि नमस्कार किया तो वह भी संसारका नाश करनेमें समर्थ है ऐसा जिनागममें कहा है.

ननु सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपांसि संसारमुच्छिंदंति यद्यपि न स्यान्नमस्कार इत्याशंकायामाह—

जो भावणमोकारेण विणा सम्मत्तणाणचरणतवा ॥
ण हु ते होंति समत्था संसारुच्छेदणं कादुं ॥ ७५६
संसारं न विना शक्तं नमस्कारेण सूदितुं ॥
चतुरंगगुणोपेतं नायकेनेव विद्विषम् ॥ ७८५ ॥

विजयोदया—जो भावणमोक्कारेण विणा यो भावनमस्कारेण विना सम्यक्त्वं, ज्ञानं, चारित्रं, तपश्च । खु शब्द एवकारार्थः । ण हु ते संसारुच्छेदणं कादुं समत्था होन्ति । न हि ते संसारोच्छेदनं कर्तुं समर्था भवंति ॥

सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तप संसारका नाश करते हैं इस लिये नमस्कार की क्या आवश्कता है? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—भावनमस्कारके विना सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तप संसारका नाश करने में समर्थ नहीं होते हैं.

यद्येवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति सूत्रेण विरुध्यते । नमस्कारमात्रमेव कर्मणांविनाशने उपाय इत्येकमुक्तिमार्गकथनादित्याशंकायामाह—

चदुरंगाए सेणाए णायगो जह पवत्तओ होदि ॥
तह भावणमोक्कारो मरणे तवणाणचरणाणं ॥ ७५७ ॥
विद्विषो नायकेनेव चतुरंगं बलीयसा ॥
संसारस्य विघाताय नमस्कारेण योज्यते ॥ ७८६ ॥

विजयोदया—चदुरंगाए सेणाए णायगो चतुरंगाया. सेनाया नायको । जह पवत्तगो होज्ज यथा प्रवर्तको भवति । तह भावणमोक्कारो तथा भावनमस्कारः । मरणे मरणगोचरः । तवणाणचरणाणं तपोज्ञानचरणानां क्षायिक

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनवीर्यगुणात्मका अर्हन्त इत्येवं श्रद्धानात्मको भावनमस्कारः सम्यग्दर्शनात्मकत्वात् । समीचीनं तपो, ज्ञानं, चारित्रं च प्रवर्तयति । न ह्याप्तगुणश्रद्धानं विना शब्दश्रुतस्य प्रामाण्यमयं व्यवस्थापयितुमीशः । वक्तृप्रामाण्याद्विना न वचनप्रामाण्यसिद्धिः । न हीन्द्रियविषयज्ञानमयथार्थमिदमेतद्यथार्थमिति वा विवेक्तुं शक्यते अस्मदादिना । अर्थयाथात्म्यवेदिनो वीतरागद्वेषस्य च यतो वचस्ततो यथार्थमेव विज्ञानं जनयति, नायथार्थमिति समीचीनज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानपुरस्सरतया चरणं तपश्च समीचीनं सत्कर्मापनोदे निमित्तं नान्यथेति प्रवर्तकता भावनमस्कारस्य ततः प्रभावत्वाद्भावनमस्कारः संसारोच्छेदकारीति व्यपदिश्यते ॥

यदि आप भावनमस्कारसे ही संसारनाश होता है ऐसा कहते हो तो ' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ' इस सूत्रके साथ विरोध उत्पन्न होगा. क्यों कि नमस्कार ही केवल कर्मोंका नाश करनेमें उपाय है ऐसा आपका अभिप्राय है. सम्यग्दर्शनादिक तीनो मिलकर मोक्षका उपाय है और आपके मतसे केवल नमस्कार ही मोक्षोपाय है. इस शंकाका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ—गज, रथ, अश्व और पायदळ इस प्रकार चार सेनाओंका जैसे सेनापति प्रवर्तक माना जाता है. वैसे यह भावनमस्कार भी मरणसमय में तप, ज्ञान, चारित्रका प्रवर्तक है.

क्षायिक सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनंतवीर्य ये अर्हतके गुण हैं ऐसी श्रद्धा करना यही भावनमस्कार है. यह नमस्कार सम्यग्दर्शनात्मक ही है. इससे ही मुनिराजके ज्ञान, तप, और चारित्र, कर्मनिर्जरा करना, संवर करना इन कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं. आप्तगुणोंपर यदि श्रद्धा न होगी तो यह भावनमस्कार शब्दश्रुतका प्रामाण्य सिद्ध करनेमें समर्थ न होगा. वक्तामें यदि प्रमाणता न होगी तो उसके वचन प्रमाणभूत कैसे माने जायेंगे. इंद्रियज्ञान से यह यथार्थ है और यह अयथार्थ है इसका निर्णय कर नहीं सकता. जिनके रागद्वेष नष्ट होगये हैं और जो पदार्थोंका सच्चा स्वरूप जानते हैं उनका वचन अर्थात् आगम प्रमाणभूत मानना चाहिये. उसको अप्रमाण समझना योग्य नहीं है. सम्यग्दर्शनसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह सम्यग्ज्ञान है. उसी तरह चारित्र और तप भी जब उत्कृष्ट-निर्दोष होते हैं तब कर्मनाश करनेमें निमित्त हो जाते हैं अन्यथा नहीं. इसलिए भावनमस्कार इनका प्रवर्तक है ऐसा समझना चाहिए. यह भावनमस्कार प्रभावसंपन्न होनेसे संसारका उच्छेद करता है ऐसा मानना अयोग्य नहीं है.

आराधणापडायं गेण्हंतस्स हु करो णमोक्कारो ॥
मल्लस्स जयपडायं जह हत्थो घेत्तुकामस्स ॥ ७५८ ॥

नमस्कारेण गृह्णाति देवीमाराधनां यतिः ॥
पताकामिव हस्तेन मल्लो निश्चितमानसः ॥ ७८७ ॥

विजयोदया – आराधनापताकां ग्रहीतुकामस्य मल्लस्य भावनमस्कार एव करो जयपताकां ग्रहीतुकामस्य हस्त इवेत्युत्तरगाथार्थः ॥

अर्थ—जो क्षपक आराधनारूप पताका ग्रहण करता है उसका भावनमस्कार ही हाथ है. जैसे जयपताकाको मल्ल पुरुष अपने हाथसे ग्रहण करता है.

अण्णाणी वि य गोवो आराधित्ता मदो णमोक्कारं ॥
चंपाए सेट्ठिकुले जादो पत्तो य सामण्णं ॥ ७५९ ॥

अज्ञानोऽपि मृतो गोपो नमस्कारपरायणः ॥
चम्पाश्रेष्ठिकुले भूत्वा प्रपेदे संयमं परम् ॥ ७८८ ॥

समस्तानि दुःखानि विच्छिद्य सद्यः। सुखानि प्रभूतानि साराणि दत्वा ॥
मुदा सेव्यमानं विधानेन मोक्षे। विधाधानि दत्ते नमस्कारमित्रम् ॥ ७८९ ॥

इति नमस्कारः ।

विजयोदया—अर्हद्गुणश्रवणरहितोऽपि गोपो द्रव्यनमस्कारमाराध्य मृतश्चंपापुरे श्रेष्ठिकुले जातः । श्रामण्यं च प्राप्तवान् इति च द्रव्यनमस्कारोऽप्येवं विपुलं फलं प्रयच्छतीति भावः । नमस्कारो व्याख्यातः । णमोक्कारं ॥

अर्थ—सुभग नामक ग्वालाको अर्हतके ज्ञानादि गुणोंका स्वरूप मालूम नहीं था. उसने मरण समयमें अर्हतको द्रव्यनमस्कार किया था. मरणके अनंतर वह चंपापुरनगरमें वृषभदत्तश्रेष्ठीका पुत्र हुआ. श्रमण अवस्थाको प्राप्त होकर मुक्त हुआ. द्रव्यनमस्कार भी ऐसा विपुल फल अर्पण करता है. नमस्कारका विवेचन हुआ.

णाणोवओगरहिदेण ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं ॥
णाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स ॥ ७६० ॥
न शक्यते वशीकर्तुं विना ज्ञानेन मानसं ॥
अंकुशेन विना कुत्र क्रियते कुंजरो वशे ॥ ७९० ॥

विजयोदया—णाणुवओगं इत्येतद्व्याख्यानायोत्तरः प्रबंधः—णाणोवओगरहिदेण ज्ञानपरिणामरहितेन पुंसा। सक्को चित्तणिग्गहो काउं चित्तनिग्रहः कर्तुमशक्यः। कस्मात् ज्ञानमंतरेण न शक्यश्चित्तनिग्रहः कर्तुमित्यारेकायां-ज्ञानं निग्रहकरणे साधकतमं ततस्तदंतरेण न भवति चित्तनिग्रह इत्याचष्टे। णाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स ज्ञानमंकुशभूतं मत्तस्य चित्तहस्तिनः। इदमत्र चोद्यते-इह चित्तशब्देन किमुच्यते ? अन्यत्र सचित्तशीतसंवृतइत्यादौ चित्तं चैतन्यमिति गृहीतं इहापि यदि तदेव तस्य निग्रहो नाम कः ? अत्रोच्यते-विपर्ययज्ञानतया अशुभध्यानलेश्यातया वा परिणतिः प्राणभृतो यस्य तस्य निरोधो यथार्थज्ञानपरिणामेन क्रियते। परिणामो हि परिणामिनं निरुणद्धि, परिणामोऽस्मद्विरुद्धस्त्वया नादातव्यः इति। यथा मत्तो हस्ती न क्वचिदवतिष्ठते बंधनमर्दनादिकं विना तद्वच्चित्तहस्त्यपि यत्र कुत्र चनाशुभपरिणामे प्रवर्तते इति ॥

अर्थ—ज्ञानपरिणामसे रहित पुरुष अपने चित्तका निग्रह करनेमें समर्थ नहीं होता है. अर्थात् ज्ञान मनको जीतनेमें साधकतम है उसके बिना मन अन्य उपायसे नहीं जीता जा सकता है. जैसे मत्तहाथीको अंकुश वश करता है वैसे उन्मत्त हुए इस चित्तरूप हाथीको वश करनेके लिये यह ज्ञान अंकुशके समान है.

प्रश्न—यहां चित्तशब्दसे क्या अभिप्राय समझना चाहिये. 'सचित्तशीतसंवृत' इत्यादि सूत्रमें चित्तशब्दका अर्थ चैतन्य ऐसा माना है. क्या यहां भी वही अर्थ मानते हो ? तो– 'चैतन्यनिग्रह करना' इसका क्या अभिप्राय समझना चाहिये. ?

उत्तर– जो विपरीत ज्ञानरूप अथवा अशुभध्यानरूप या अशुभलेश्यारूप परिणति जीवकी होती है उसका निरोधही आत्माके यथार्थ ज्ञानरूपपरिणतीसे युक्त होता है. परिणाम परिणामीका विरोध करता है जैसे हमारे विरुद्ध तुम अपने परिणाम धारण करना योग्य नहीं है. जैसे मत्तहत्ती बंधन मर्दनादिकके बिना कहां परभी स्थिर रहता नहीं है. वैसा यह मनरूप हाथी भी जिस किसी अशुभ परिणामोंमें प्रवृत्त होता है.

विज्जा जहा पिसायं सुट्ठु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ॥
णाणं हिदयपिसायं सुट्ठु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ॥ ७६१ ॥

स्वभ्यस्तं कुरुते ज्ञानं नानानर्थपरं मनः ॥
पुरुषस्य वशे विद्या पिशाचमिव दुर्ग्रहम् ॥ ७९१ ॥

विजयोदया – विज्जा सुट्ठु पउत्ता जहा पिसायं पुरिसवसं करेदि । विद्या सुष्ठु प्रयुक्ता सम्यगाराधिता यथा पिशाचं पुरुषस्य वश्यं करोति । तह णाणं सुट्ठुवजुत्तं वसं करेदि हिदयपिसायं च । तथा ज्ञानं सुष्ठु प्रयुक्तं वशं करोति । किं ? हृदयपिशाचं । चित्तं पिशाचवदयोग्यकारितया ज्ञानं समीचीनं असकृत्प्रवर्तमानं शुभे शुद्धे वा परिणामे प्रवर्तयति चेतनामिति यावत् ॥

अर्थ—पूर्ण विधीसे विद्याकी आराधना करनेपर पिशाच वश हो जाता है वैसे ज्ञानके तरफ पूर्ण उपयोग देनेसे यह हृदयरूपी पिशाच पुरुषके स्वाधीन होता है. यह हृदय पिशाचके तुल्य अयोग्य कार्य करता है परंतु ज्ञानोपयोगसे पुरुष इस हृदयको शुभ अथवा शुद्ध परिणामोंमें प्रवर्ता सकते है. जैसे सम्यग्दृष्टि जीव विद्याराधन करके पिशाचको वश कर उससे धर्मप्रभावना के कार्य कराता है वैसे इस मनको भी हे क्षपक! तू ज्ञानाराधना कर शुद्ध परिणामोंमें तत्पर कर.

उवसमइ किण्हसप्पो जह मंतेण विधिणा पउत्तेण ॥
तह हिदयकिण्हसप्पो सुट्ठुवजुत्तेण णाणेण ॥ ७६२ ॥

ज्ञानेन शम्यते दुष्टं नित्याभ्यस्तेन मानसम् ॥
मंत्रेण शम्यते किं न सुप्रयुक्तेन पन्नगः ॥ ७९२ ॥

विजयोदया – उवसमदि किण्हसप्पो उपशाम्यति कृष्णसर्पः । जह यथा । मंतेण पउत्तेण स्वाहाकारांता विद्या इति स्वाहाकारो मंत्रशब्देनोच्यते मंत्रेण सुष्ठु प्रयुक्तेन । तह तथैव । हिदयकिण्हसप्पो उवसमदि हृदयकृष्णसर्प उपशाम्यति । सुट्ठुवजुत्तेण णाणेण सुष्ठु प्रयुक्तेन ज्ञानपरिणामेन । अशुभनिग्रहहेतुता ज्ञानस्य आद्यया गाथयोक्ता । द्वितीयया चित्तस्य स्ववशकारित्वं ज्ञानभावनयोक्तं । अनया तु अशुभपरिणामप्रशांतिकारिता ज्ञानभावनया निरूप्यते ॥

अर्थ—योग्य विधीसे साध्य किया हुआ मंत्र प्रयोग करनेपर कृष्णसर्पको वश करता है. अर्थात् मंत्रके प्रभावसे क्रोधसे फूत्कार करनेवाला सर्प शांत होकर मांत्रिकके वश होता है. वैसे यह हृदय रूपी कृष्ण सर्प भी उत्तम प्रकारसे प्रयुक्त किये ज्ञानपरिणामके द्वारा वश किया जाता है. पहिली गाथासे ज्ञान अशुभ परिणामोंको निग्रह करनेमें कारण है यह दिखाया है. दूसरी गाथाके द्वारा चित्त स्ववश करनेका उपाय दिखाया है. अर्थात् ज्ञानभावसे चित्त वश होता है ऐसा कहा है. और प्रस्तुत गाथासे ज्ञानभावना-ज्ञानाभ्यास अशुभ परिणामोंकी प्रशांति करता है यह बताया है

आरण्णवो वि मत्तो हत्थी णियमिज्जदे वरत्ताए ॥
जह तह णियमिज्जदि सो णाणवरत्ताए मणहत्थी ॥ ७९३ ॥
नियम्यते मनोहस्ती मत्तो ज्ञानवरत्रया ॥
हस्ती चारण्यकः सद्यो भयदायी वरत्रया ॥ ७९३ ॥

विजयोदया—आरण्णवो वि मत्तो हत्थी अरण्यचारी मत्तो हस्ती। णियमिज्जदे वरत्ताए नियम्यते निरुध्यते वरत्रेण यथा। तथा मणहत्थी मनोहस्ती नियम्यते। णाणवरत्ताए ज्ञानवरत्रेण। प्राणिनामहितकारितया, दुर्निवारतया च मनो हस्तीवेति मनोहस्तीति भण्यते। ज्ञानमशुभप्रवादं निरुणद्धि। इत्यनयोच्यते।

अर्थ—अरण्यमें स्वच्छंदपनासे विहार करनेवाला मत्त हाथी जैसे मजबूत शृंखलासे बांधा जाता है वैसे यह मन प्राणिओंका अहित करता है और दुर्निवार है अतः यह हाथीके समान होनेसे इसको हाथी कह सकते हैं. यह मनरूपी हाथी ज्ञानरूपी शृंखलासे बांधा जाता है. अर्थात् ज्ञान अशुभसंकल्पोंके समूहको रोकता है. मनमें ज्ञानके प्रभाव से अशुभ संकल्प उत्पन्न नहीं होते हैं.

ज्ञानवरत्रया नियमितस्य मनोव्यापारं निरूपयत्युत्तरगाथा—

जह मक्कडओ खणमवि मज्झत्थो अत्थिदुं ण सक्केइ ॥
तह खणमवि मज्झत्थो विसएहिं विणा ण होइ मणो ॥ ७९४ ॥

मध्यस्थो न कपिः शक्यः क्षणमायासितुं यथा ॥
मनस्तथा भवेन्नैव मध्यस्थं विषयैर्विना ॥ ७९४ ॥

विजयोदया—मक्कडओ खणमवि मज्झत्थो अच्छिदुं ण जहा सक्केदि मर्कटकः क्षणमपि मध्यस्थो निर्विकारः सन् स्थातुं न शक्नोति। तहा मणो विसएहिं विणा मज्झत्थो खणमवि ण होदि तथा मनो विषयैः शब्दादिनिमित्तर रागादय इह विषयशब्दवाच्या विषयकार्यत्वात्। ततोऽयमर्थः, अत्र रागद्वेषौ विना मध्यस्थं मनो न भवति। ज्ञानभावनायामसत्यां रागद्वेषयोर्वृत्तिरेवं मनसो व्यापार इत्यर्थः। एतथा ज्ञानं मनसो माध्यस्थं करोतीत्याख्यायते। यस्मान्मनसोऽमाध्यस्थ्यमस्ति संनिहितमनोज्ञामनोज्ञविषयरागद्वेषसहचारितया—

ज्ञानरूपी शृंखलासे न बंधे हुए मनकी चेष्टाओं का वर्णन—

अर्थ—वानर एकक्षण पर्यन्त भी स्थिर अर्थात् निर्विकार एकस्थानमें रहता नहीं. मन भी विषयों के विना स्थिर नहीं रहता है. हमेशा विषयोंमें विचरता है. अर्थात् हमेशा शब्द रस, स्पर्श वगैरे विषयोंका निमित्त पाकर यह रागद्वेषोंसे युक्त हुआ ही करता है. विषयोंसे निवृत्त होकर माध्यस्थ भावमें यह रममाण होता नहीं. सतत ज्ञानका अभ्यास न होनेसे इसकी रागद्वेषमें परिणति हो रही है. परंतु ज्ञानका अभ्यास करनेसे माध्यस्थभाव मनमें उत्पन्न होता है. मनोज्ञ-इष्ट विषय और अमनोज्ञ अनिष्ट विषयके सहवाससे मनमें क्रमसे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं. तब माध्यस्थ भावका लोप होता है.

तह्मा सो उड्डहणो मणमक्कडओ जिणोवएसेण ॥
रामेदव्वो णियदं तो सो दोसं ण काहिदि से ॥ ७९५ ॥

सदा रमयितव्योऽसौ जिनवाक्यवने ततः ॥
रागद्वेषादिकं दोषं करिष्यति ततो न सः ॥ ७९५ ॥

विजयोदया—तह्मा तस्मात्। सो मणक्कडओ मनोमर्कटः। उड्डहणो इतस्तत उल्लंघनपरः। रामेदव्वो णियदं सर्वकालं रमयितव्यः। क जिणोवदेसम्मि जिनागमे। तो ततो जिनागमरतेः। सो मनोमर्कटः। दोसं रागद्वेषादिकं। ण काहिदि न करिष्यति। से तस्य ज्ञानाभ्यासकारिणः॥

अर्थ—तब यह मनोमर्कट इतस्ततः कूदने लगता है. इस मनोमर्कटको जिनागमके अभ्यासमें दिनरात तत्पर करना चाहिये. जिससे यह रागद्वेपादिक विकारको छोड देगा. ९२६

यस्माज्ज्ञानाभ्यासे सति मनोमर्कटको क्षेपं अशुभपरिणामं न करोति—

तह्मा णाणुवओगो खवयस्स विसेसदो सदा भणिदो ॥
जह विंधणोवओगो चंदयवेज्झं करंतस्स ॥ ७६६ ॥

ज्ञानाभ्यासस्ततो युक्तः क्षपकस्य विशेषतः ॥
विवेध्यं कुर्वतस्तस्य चंद्रकव्यधनं यथा ॥ ७९६ ॥

विजयोदया — तह्मा णाणुवओगो तस्माज्ज्ञानपरिणामः । खवगस्स विसेसदो सदा भणिदो क्षपकस्य विशेषतः सदा निरूपितः । जध विंधणोवओगो यथा व्यधनाभ्यासो विशेषतो भणितः । कस्य ? चंदयवेज्झं करंतस्स चंद्रकवेधं कुर्वतः ।

ज्ञानाभ्याससे यह मनोमर्कट अशुभ परिणाम नहीं करेगा ऐसा कथन—

अर्थ—चंद्रक यंत्रका वेध करने की इच्छा रखनेवाला वीर पुरुष जैसे हमेशा लक्ष्यवेध करनेका अभ्यास करता है. वैसा मनोमर्कट वश करनेके लिये हमेशा क्षपक को ज्ञानाभ्यासकी आवश्यकता है.

णाणपदीओ पज्जलइ जस्स हियए विसुद्धलेस्सस्स ॥
जिणदिट्ठमोक्खमग्गे पणासणभयं ण तस्सत्थि ॥ ७६७ ॥

शुद्धलेश्यस्य यस्यान्ते दीप्यते ज्ञानदीपिका ॥
तस्य नाशभयं नास्ति मोक्षमार्गे जिनोदिते ॥ ७९७ ॥

विजयोदया — णाणपदीओ ध्यानप्रदीपः । पज्जलइ प्रज्वलति । यस्य विशुद्धलेश्यस्य हृदये । तस्य संसारावर्ते पतित्वा विनष्टोऽस्मीति विनाशभयं नास्ति । जिणदिट्ठमोक्खमग्गे जिनदृष्टे श्रुते रत्नत्रयवृत्तिरपि मोक्षमार्गशब्द इह श्रुतवृत्तिर्ग्राह्यः ॥

अर्थ—विशुद्ध परिणामयुक्त ऐसे जिसे क्षपकके हृदयमें ज्ञानरूपी दीपक सतत प्रकाशमान रहता है उसको जिनेश्वरने कहे हुए आगम में नष्ट होनेका भय नहीं रहेगा. अर्थात् सतत ज्ञानाभ्यास करनेसे जीवादिक पदार्थोंका जैनशास्त्रमें जो नयोंके आधारसे अनेक अपेक्षाओं को लेकर स्वरूपवर्णन किया है उसका खूप खुलासा होगा. परंतु जिसको ज्ञानाभ्यास नहीं है उसको जिनागमका रहस्य मालूम न होगा.

ज्ञानप्रकाशमाहात्म्यं कथयति—

णाणुज्जोवो जोवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो ॥
दीवेइ खेत्तमप्पं सूरो णाणं जगमसेसं ॥ ७६८ ॥

ज्ञानोद्योतो महोद्योतो व्याघातो नास्य विद्यते ॥
क्षेत्रं द्योतयते सूर्यः स्वल्पं सर्वमसौ पुनः ॥ ७९८ ॥

विजयोदया—णाणुज्जोवो ज्ञानोद्योत एव द्योतोऽतिशयितः । कस्तस्यातिशय इत्यत आह—णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो ज्ञानोद्यतस्य नास्ति प्रतिघातः । दीवेदि प्रकाशयति । खेत्तमप्पं स्वल्पं क्षेत्रं । कः ? सूरो आदित्यः । णाणं जगमसेसं ज्ञानं जगदशेषं । दीवेदि प्रकाशयति । समस्तव्यापिज्ञानवदन्यः प्रकाशो नास्तीत्यर्थः ॥

ज्ञानप्रकाशका महत्त्व आचार्य कहते हैं—

अर्थ—ज्ञानरूपी जो प्रकाश है वही उत्कृष्ट प्रकाश है. इसमें यह विशेषता है कि यह किसीके द्वारा नष्ट कर नहीं सकते हैं. हवा वगैरह पदार्थ दीपकका नाश करते हैं परंतु ज्ञानदीपका नाश करनेवाला जगमें कोइ भी पदार्थ नहीं है. सूर्यका प्रकाश बहुत तीव्र है परंतु वह भी अल्पक्षेत्रको ही प्रकाशित करता है. परंतु यह ज्ञानप्रदीप समस्त जगतको प्रकाशित करता है. समस्तको व्याप कर जाननेवाले ज्ञानके समान दुसरा प्रकाश जगमें नहीं है.

णाणं पयासओ सो वओ तवो संजमो य गुत्तियरो ॥
तिण्हंपि समाओगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥ ७६९ ॥

ज्ञानं प्रकाशकं वृत्तं गोपकं साधकं तपः ॥
त्रयाणां कथिता योगे निर्वृतिर्जिनशासने ॥ ७९९ ॥

विजयोदया—णाणं पयासगं ज्ञानं प्रकाशयति । संसारं संसारकारणं, मुक्तिं मुक्तिकारणं च ॥ सो धओ तवो निर्जरानिमित्तं तपः । संजमो य गुत्तियरो संयमश्च गुप्तिकरः । तिण्हंपि त्रयाणामपि । समाओगे संयोगे मोक्खो मोक्षः । जिणसासणे दिट्ठो । जिनशासने दृष्टः ॥

अर्थ—ज्ञान संसार और मुक्तिके कारणोंको प्रकाशित कर ... को

उत्पन्न करनेवाला संयम और इन तीनोंका संयोगरूप मोक्ष जिनका स्वरूप जैनागममें कहा है ज्ञान उन सबको जानता है.

णाणं करणविहूणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं ॥
संजमहीणो य तवो जो कुणदि णिरत्थयं कुणदि ॥ ७७० ॥
णाणुज्जोएण विणा जो इच्छदि मोक्खमग्गमुवगंतुं ॥
गंतुं कडिल्लमिच्छदि अंधलओ अंधयारम्मि ॥ ७७१ ॥
करणेन विना ज्ञानं संयमेन विना तपः ॥
सम्यक्त्वेन विना लिंगं क्रियमाणमनर्थकम् ॥ ८०० ॥
ज्ञानोद्योतं विना योऽत्र मोक्षमार्गे प्रयास्यति ॥
प्रयास्यति वने दुर्गे सोऽन्धोऽन्धतमसे सति ॥ ८०१ ॥

विजयोदया—णाणुज्जोएण विणा ज्ञानोद्योतेन विना। जो इच्छदि यो वांछति। मोक्खमग्गमुवगंतुं चारित्रं तपश्च इह मोक्षमार्ग इत्युच्यते चारित्रं तपश्चोपगंतुं। गंतुं कडिल्लमिच्छदि गंतुं दुर्गमिच्छति। कः? अंधलओ अंधः। अंधयारम्मि अंधकारे तमसि। यथा वृक्षतृणगुल्मादिनिचिते प्रदेशे गमनं अतिदुष्करं अप्रकाशे सति। तद्वद्धिंसादिपरिहारो जीवनिकायाकुले दुष्कर इति मन्यते॥

अर्थ—चारित्रहीन ज्ञान, सम्यग्दर्शनरहित मुनिदीक्षा धारण करना, संयमरहित तप करना, ऐसे कार्य व्यर्थ हैं. अर्थात् इससे मोक्षकी प्राप्ति होती नहीं. अर्थात् चारित्रसहित ज्ञान और प्राणिसंयम और इंद्रियसंयम सहित तप करना चाहिये. सम्यग्दर्शनसहित मुनिदीक्षा धारण करनी चाहिये तब मोक्षकी प्राप्ति होती है.

अर्थ—ज्ञानरूपी प्रकाश अर्थात् ज्ञानदीपकको त्याग कर मोक्षका उपायभूत ऐसा चारित्र और तपकी प्राप्ति करनेकी जो इच्छा करता है वह अंधकारमें वृक्ष तृणादिकोंसे व्याप्त ऐसे दुर्गमप्रदेशमें प्रवेश करने वाले अंधमनुष्यके समान समझना चाहिये. जैसे जीवोंसे भरे हुए प्रदेशोंमें हिंसादिकोंका परिहार करना कठिन है वैसे ज्ञानके विना मोक्षमार्गकी प्राप्ति कर लेना कठिन है.

जइदा खंडसिलोगेण जमो मरणा दु फेडिदो राया ॥
पत्तो य सुसामण्णं किं पुण जिणउत्तसुत्तेण ॥ ७७२ ॥

संयमं श्लोकखंडेन निवार्य मरणं यमः ॥
यदि नीतस्तदा किं न जिनसूत्रेण साध्यते ॥ ८०२ ॥

विजयोदया—जइदा खंडसिलोगेण यदि तावत्खंडेन श्लोकस्य। जमो राया मरणादो फेडिदो यमो राजा मरणादपसारितः। पत्तो य सुसामण्ण प्राप्तश्च शोभनं श्रामण्यं । किं पुण जिणउत्तसुत्तेण । किं पुनर्जिनोक्तसूत्रेण भाव्यफले आश्चर्यं। भाव्यमानाख्यानकं च। तदुक्तं भवति—

अज्ञेनांधेन जीवितार्थिना यत्कि चिदुक्तं वचनं श्रुत्वा हास्यपरेण राज्ञा भाव्यमानं यद्यापत्सारणे निमित्तं विश्ववेदिनां वचो भाव्यमानं किमभिलपितं न प्रापयति।

अर्थ—यम नामक राजा श्लोकके खंडका स्वाध्याय करनेसे मरणकी आपत्तीसे मुक्त हुआ और उत्कृष्ट चारित्रको भी प्राप्त हुआ. स्वयं बनाये श्लोकखंडसे भी वह आपत्तीसे मुक्त होकर उज्ज्वल चारित्रको प्राप्त हुआ तो जिनसूत्रके अध्ययनसे उत्कृष्ट फल अर्थात् मोक्ष क्यों न मिलेगा. (इस यमराजाकी कथा आराधनाकथाकोषमें देखो)

जैसे एक राजाने भीख मांगनेवाले एक अज्ञ अंधेका वचन सुनकर हसीसे कंठस्थ किया. उस वचन से उसके ऊपर आई हुई आपत्ति टली. एक अंधेका वचन भी आपत्ती दूर होनेमें निमित्त होगया तो विश्वके समस्त पदार्थ जाननेवाले जिन भगवान के वचनोका अभ्यास करनेसे क्या अभिलपित पूर्ण न होगा ? अवश्य पूर्ण होगा.

स्वल्पस्यापि श्रुतस्य भावना मरणकाले महाफलं ददातीत्येवं तत्कथयति—

दढसुप्पो सूलहदो पंचणमोकारमेत्त सुदणाणे ॥
उवजुत्तो कालगदो देवो जावो महड्ढीओ ॥ ७७३ ॥

दृढसूर्पोऽथ शूलस्थो जातो देवो महर्द्धिकः ॥
नमस्कारश्रुताभ्यासं कुर्वाणो भक्तितो मृतः ॥ ८०३ ॥

विजयोदया—दढसुप्पो सूलहदो दृढसूर्पो नाम चौरः शूलमारूढः । पंचणमोक्कारमेत्त सुदणाणे उवजुत्तो

कालगतो पंचनमस्कार एव श्रुतज्ञाने उपयुक्तः सन् कालगतः । महड्ढिगो देवो जादो महर्द्धिको देवो जातः ॥

स्वल्पश्रुतका अभ्यास भी मरणकालमें महाफल देनेवाला होता है इस का विवेचन--

अर्थ—शूलपर चढाया हुआ दृढसूर्य नामक चोर पंचनमस्कार मात्र श्रुतज्ञानमें चित्तकी एकाग्रता करके मरण को प्राप्त हुआ और स्वर्गमें महाऋद्धिशाली देव हुआ.

ण य तम्मि देसयाले सव्वो बारसविधो सुदक्खंधो ॥
सक्को अणुचिंतेदुं बलिणा वि समत्थचित्तेण ॥ ७७४ ॥

मृत्युकाले श्रुतस्कंधः समस्तो द्वादशांगकः ॥
बलिना शक्तिचित्तेन यतो ध्यातुं न शक्यते ॥ ८०४ ॥

विजयो—सव्वो बारसविधो वि सुदक्खंधो तम्मि देसयाले ण य सक्को अणुचिंतेदुं बलिणा वि समत्थचित्तेण सर्वो द्वादशविधोऽपि श्रुतस्कंधस्तस्मिन्मरणे देशे काले च नैव शक्योऽनुस्मर्तुं नितरामपि समर्थचित्तेन । बहुश्रुतस्यापि न ध्यानालंबनं समस्तं किं तु किंचिदेव सूत्रं। तथा ह्युक्तं 'एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानमिति' ॥

अर्थ – मरणकालमें सर्व- बारा प्रकारका श्रुतस्कंधका चिंतन करना बलवान और समर्थ मनके पुरुष द्वारा भी शक्य नहीं है. बहुश्रुत विद्वान मुनि भी संपूर्ण श्रुतज्ञान को आपने ध्यानका विषय नहीं बना सकते हैं. अर्थात् किसी भी कालमें और किसी भी क्षेत्रमें संपूर्ण श्रुतज्ञान ध्यानका विषय होता नहीं फिर मरण समयमें संपूर्ण श्रुतज्ञान ध्यानका कैसा विषय हो सकेगा ? श्रुतज्ञानका कोइ एक सूत्र ध्यानमें विचारा जा सकता है. इसी वास्ते ध्यानका लक्षण 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं' ऐसा कहा है.

एक्कम्मि वि जम्मि पदे संवेगं वीदरायमग्गम्मि ॥
गच्छदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥ ७७५ ॥

एकत्रापि पदे यत्र संवेगं जिनभाषिते ॥
संयतो भजते तन्न त्यजनीयं ततस्तदा ॥ ८०५ ॥

विजयोदया—तण्हाछुहादिपरिदाविदो वि तृषा, क्षुधा, रोगेण, शीतेन, आतपेन बाधितोऽपि सन्। जीवाणं घादणं किचा जीवानामुपघातनं कृत्वा। पडिगारं कादुंजे तृडादीनां प्रतिकारं कर्तुं। तं मा चिंतेहि मा कार्षीश्चित्तं। लभसु सुदिं लभस्व स्मृतिं। पिबामि हिमशीतलं जलं कर्पूरक्षोदवासितं। अगाधं वा सरः सुरभितरोत्पलरजोवगुंठितं प्रविश्य मदांधसिंधुर इव निमज्जनोन्मज्जने करोमि। ललाटे, शिरसि, पृथुले चोरःस्थले करकप्रकरनिपातो यदि स्यादृद्रं भवेत्। अपसारिततीक्ष्णकरकरानि-कल्हारसिकताधिकपल्लवशयनादिलाभे वा जीवामि इति वा। आतपति वा दिवानिशं तर्षं। अपसारिततीक्ष्णकरकराति-कुरुवमिति व्यजनतालवृन्तसमुपनीतशीतमारुतपातेन श्रममशेषमपाकुर्वंतु भवन्तः। हिमानी पततु। वांतु मातरिश्वान इति वा। भ्राष्ट्रपकानपूपान्सुरभिघृताद्रान् भक्षयामीति। सम्यक् कथितं, क्षीरं शर्करामिश्रं सुखोष्णं पिबामीति च। धगधगायमानं खादिरमग्निं कुरुत। शीतेन स्फुटन्ति ममांगानि इत्येवमादिका प्रतिक्रिया मनसि न कार्येत्यर्थः। असद्वेद्योदयः स नो महानिति निपतति, को नु तस्य प्रतीकारः? तदुपशमकालभाविन एव बाह्यद्रव्यसंपाद्याः प्रतीकारा इति मनो निधेहि॥

अर्थ—प्यास, भूख, रोग, शीत, उष्ण, इत्यादिकसे तुमको पीडा होने पर भी तुम जीवोंका घातकर प्यास वगैरहको मिटानेका प्रयत्न करनेका विचार कभी मनमें मत लाओ. ऐसे दुःखके समय आगमके वचनोंका स्मरण करो. और आगे कहा हुआ विचार मनमें मत लाओ.

कापूरका चूर्ण डालकर सुगंधित किया हुआ, बर्फके समान शीतल जल मैं पीऊं, अथवा सुगंधित कमलरजोंसे व्याप्त ऐसे अगाध सरोवरमें मत्त हाथी के समान प्रवेश कर निमज्जन करके स्नान करूं; ललाट, मस्तक, विशाल छाती इनके ऊपर ओलेका समुदाय पडेगा तो बहुत ही आल्हाद होगा. कमल, शीत वालुका, कोमल कोंपल, इनका किया हुआ बिछाना यदि मेरेको सोनेके लिये मिलेगा तो मैं जीऊंगा अन्यथा मेरे प्राण चले जायेंगे ऐसा विचार मनमें नहीं करना चाहिये- रातमें और दिनमें प्यास मेरेको सताती है इसवास्ते सूर्यके तीक्ष्ण किरणों को यहांसे दूर करो. पंखा वगैरहके द्वारा ठंडी हवा करो और मेरा संपूर्ण श्रम आप दूर करो. बर्फ वृष्टि होवो, वायु वहने दो. ऐसा विचार नहीं करना चाहिये. कढाईमें तले हुए, सुगंधित घृतसे गीले हुए अपूप मैं भक्षण करूंगा, अच्छी तरहसे पका हुआ, खांडमिश्रित सुखोष्ण दूध मैं पिऊंगा ऐसा विचार नहीं करे. धगधग करता हुआ खैरका अग्नि जल्दी तयार करो. मेरे सर्व अंग थंडीसे फूट रहे हैं इस प्रकार के इलाजके विचार क्षपकको मनमें करना योग्य नहीं हैं- मेरे ऊपर असाता वेदनीय कर्मका बडा रोष हुआ है उसको क्या इलाज है. जब उसका उपशम होनेका समय आवेगा तब बाह्य पदार्थोंके द्वारा इलाज हो सकते हैं ऐसा मनमें विचार करना चाहिये.

रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीणत्तणादिजुत्तो वि ॥
भोगपरिभोगहेदुं मा हि विचिंतेहि जीववहं ॥ ७७९ ॥

हर्षोत्सुकत्वदीनत्वरत्यरत्यादिसंयुतः ॥
त्वं भोगपरिभोगार्थं मा कार्षीर्जीवबाधनम् ॥ ८१० ॥

विजयोदया—रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीणत्तणादिजुत्तोऽवि । शब्दादिविषया प्रीती रतिः । अमनोज्ञविषयसन्निधाने या विमुखता सा अरतिः । हास्यकर्मोदयनिमित्तः परिणामो हर्षः । भयं, उत्सुकता, दीनतेत्येवमादिभिर्युक्तोऽपि । भोगपरिभोगहेदुं भोगोपभोगार्थं या जीववधं मा कृथा मनसि ॥

अर्थ—स्पर्शादि विषयोंपर प्रेम होना वह रति है. अनिष्ट पदार्थों से संयोग होनेपर जो विमुखता होती है उसको अरति कहते हैं. हास्य कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए परिणामोंको हर्ष कहते हैं. भय, उत्सुकता, दीनपना इत्यादिक परिणाम आत्मामें उत्पन्न होने परभी भोगोपभोगके लिये हे क्षपक! तूं जीववध करनेका विचार मनमें मत कर.

महुकरिसमज्जियमहुं व संजमो थोवथोवसंगलियं ॥
तेलोक्कसव्वसारं णो वा पूरेहि मा जहसु ॥ ७८० ॥

माक्षिकं मक्षिकाभिर्वा स्तोकस्तोकेन संचितं ॥
मा नीनशो जगत्सारं संयमं चेन्न पूरयेः ॥ ८११ ॥

विजयोदया—महुकरिसमज्जियमहुं व मधुकरीभिः समर्जितं मध्विव । संजमं चारित्रं । थोवथोवसंगलिदं स्तोकस्तोकेनोपचितं । तेलोक्कसव्वसारं त्रैलोक्यस्य सर्वसारं त्रिप्रपञ्चे यदतिशयवत् स्थानं, मानं, ऐश्वर्यं सुखं वा तस्य कारणत्वात् त्रैलोक्यसर्वसारं । मा जहसु मा त्याक्षीः ॥

अर्थ—मधुमक्खियां जैसा थोडा थोडा मधु संचित करती है वैसा थोडा थोडा करके संचित किया हुआ यह संयम तू मत छोड क्योंकि त्रैलोक्यमें जो अतिशय उत्कृष्ट स्थान, मान, ऐश्वर्य और सुख है उसकी इससे प्राप्ति होती है. अतः ऐसे महान् संयम का हे क्षपक ! तू त्याग मत कर.

दुक्खेण लभदि माणुस्सजादिमदिसवणदंसणचरित्तं ॥

दुक्खज्जियसामण्णं मा जहसु तणं व अगणंतो ॥ ७८१ ॥

नृत्वं जातिः कुलं रूपमिंद्रियं जीवितं बलम् ॥

श्रवणं ग्रहणं बोधिः संसारे संति दुर्लभाः ॥ ८१२ ॥

विजयोदया—दुक्खेण लभदि माणुस्सजादिमदिसवणदंसणचरित्तं दुःखेन लभते मनुष्यजन्म जंतुः। सूत्रे यद्यपि मणुस्सजादिशब्दः सामान्यवाच्युपात्तस्तथापि विशेषमवसाययति इति ग्राह्यं । मनुजा हि चतुःप्रकाराः—

कर्मभूमिसमुत्थाश्च भोगभूमिभवास्तथा ॥
अंतरद्वीपजाश्चैव तथा सम्मूर्च्छिमा इति ॥
असिर्मषिः कृषिःशिल्पं वाणिज्यं व्यवहारिता ॥
इति यत्र प्रवर्तंते नृणामाजीवयोनयः ॥
प्रपाल्यसंयमं यत्र तपःकर्मपरा नराः ॥
सुरसंगतिं वा सिद्धिं प्रयांति हतशत्रवः ॥
एताः कर्मभुवो ज्ञेयाः पूर्वोक्ता दश पंच च ॥
यत्र संभूय पर्याप्तिं यांति ते कर्मभूमिजाः ॥
मद्यतूर्यवराहारपात्राभरणमाल्यदैः ॥
गृहदीपज्योतिषाख्यैस्तरुभिस्तत्र जीविकाः ॥
पुरग्रामादयो यत्र न निवेशा न चाधिपः ॥
न कुलं कर्म शिल्पानि न वर्णाश्रमसंस्थितिः ॥
यत्र नार्यो नराश्चैव मैथुनीभूय नीरुजः ॥
रमंते पूर्वपुण्यानां प्राप्नुवन्ति परं फलं ॥
यत्र प्रकृतिभद्रत्वात् दिवं यांति मृता अपि ॥
ता भोगभूमयश्चोक्तास्तत्र स्युर्भोगभूमिजाः ॥
अभाषका एकोरुका लांगूलिकविषाणिनः ॥
आदर्शमुखहस्त्यश्वविद्युदुल्कमुखा अपि ॥
हयकर्णगजकर्णाः कर्णप्रावरणास्तथा ॥
इत्येवमादयो ज्ञेया अंतरद्वीपजा नराः ॥

समुद्रद्वीपमध्यस्थाः कंदमूलफलाशिनः ॥
वेद्यंते मनुष्यायुस्ते मृगोपमचेष्टिताः ॥
कर्मभूमिषु चक्रास्त्रहलभृद्धरिभूभुजां
स्कंधावारसमूहेषु प्रस्रवोच्चारभूमिषु ॥
शुक्रसिंघाणकश्लेष्मकर्णदंतमलेषु च
अत्यंताशुचिदेशेषु सद्य सम्मूर्छनेन ये ॥
भूत्वांगुलस्यासंख्येयभागमात्रशरीरकाः ॥
आशु नश्यन्त्यपर्याप्तास्ते स्युः सम्मूर्छना नराः ॥

एतेषु कर्मभूमिजमानवानां एव रत्नत्रयपरिणामयोग्यता नेतरेषां इति तदेव मनुजजन्म गृह्यते । लब्धेऽपि तस्मिन् ज्ञानावरणोदयाद्धिताहितपरीक्षायां समर्था बुद्धिर्न सुलभा । तया विना लब्धमपि मनुजजन्म विफलमेव । दृष्टिरहितमिवायतं लोचनं, द्रविणसंपदं विना कुलीनत्वमिव, सुभगनामंतरेण रूपमिव, यथार्थतारहितं वचनमिव, सत्यामपि मतौ यदि माप्तानां वचः श्रृणुयात् सापि निफलेव सरोजरहिता सरसीव । इहापि श्रवणं आप्तवचनगोचरमेव गृहीतं, श्रवणमपि श्रद्धानरहितं सुलभमेव । इदं यथा येन प्रतिपादितं तथैवेति श्रद्धानं दुर्लभं दर्शनमोहोदयात् । सत्यपि श्रद्धाने चारित्रमोहोदयात् श्रोतेऽभिरुचिते मार्गे प्रवृत्तिर्दुर्लभा । एवं दुरवज्जिदसामण्णं दुःखार्जितश्रामण्यं । मा जहसु मा त्याक्षीः । तणं व अगणंतो तृणमिव अगणयन्

अर्थ—इस प्राणीको दुःखसे मनुष्य जन्मकी प्राप्ति होती है. उत्तम जाति, बुद्धि, मुनिपना, सम्यग्दर्शन, चारित्र ये अवस्थायें उत्तरोत्तर दुर्लभ होनेसे महाकष्टसे प्राप्त होती हैं. गाथामें यद्यपि मनुष्यत्व, जाति ये शब्द सामान्यवाची हैं तो भी उनसे विशिष्ट मनुष्यत्व, उच्च जाति ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये.

मनुष्यके चार प्रकार हैं. उनका वर्णन—

कर्मभूमिज, भोगभूमिज, अन्तर्द्वीपज और सम्मूर्छिम ऐसे मनुष्यके चार भेद हैं. जहां असि—शस्त्र धारण करना, मषि—बही खाता लिखना, कृषि—खेती करना, पशुपालन करना, शिल्पकाम करना अर्थात् हस्तकौशल्य के काम करना, वाणिज्य—व्यापार करना और व्यवहारिता—न्यायदानका कार्य करना. ऐसे छह कार्योंसे जहां उपजीविका करनी पडती है, जहां संयमका पालन कर मनुष्य तप करनेमें तत्पर होते हैं और जहां मनुष्योंको पुण्यसे स्वर्ग प्राप्ति होती है और कर्मका नाश करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसे स्थानको कर्मभूमि कहते हैं. ये कर्मभूमि अढाइद्वीपमें पंधरा हैं. अर्थात् पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेह.

जहां मद्यांग, तूर्यांग, वस्त्रांग, भोजनांग, पात्रांग, आभरणांग, माल्यांग गृहांग, दीपांग, और ज्योतिरंग ऐसे दश प्रकारके कल्पवृक्ष रहते हैं. और इससे मनुष्योंकी उपजीविका चलती है ऐसे स्थानको भोगभूमि कहते हैं. भोगभूमिमें नगर, कुल, असिमष्यादि क्रिया, शिल्प, वर्णाश्रमकी पद्धति ये नहीं होती हैं. यहां मनुष्य और स्त्री पूर्वपुण्यसे पतिपत्नी होकर रममाण होते हैं. वे सदा नीरोगही रहते हैं और सुख भोगते हैं. यहां के लोक स्वभावसे ही मृदु परिणामी अर्थात् मंद कषायी होते हैं. इसलिये मरणोत्तर उनको स्वर्गकी प्राप्ति होती है. भोगभूमिमें रहने-वाले मनुष्योंको भोगभूमिज कहते हैं.

अन्तरद्वीपज मनुष्योंका वर्णन—ये मनुष्य, अभाषक गूंगे, एक टांगवाले, पूंछवाले, सींगको धारण करनेवाले, ऐसे अनेक प्रकारके रहते हैं. यहांके कोई मनुष्य दर्पणके समान मुखवाले, हाथी, घोडा. इनके मुख समान मुखवाले, बिजली और उल्का समान मुखवाले रहते हैं. किसी २ मनुष्योंके कान हाथी और घोडोंके कान सरीखे रहते हैं. कितने मनुष्योंके कान इतने बडे होते हैं कि वे उसको ओढ सकते हैं. इन सब मनुष्योंको अन्तर्द्वीपज मनुष्य कहते हैं. ये मनुष्य लवणोद और कालोद समुद्रके बीचमें ९६ अन्तर्द्वीप हैं उनमें रहते हैं. उनका आचरण पशुके समान रहता है. ये मनुष्यायुका अनुभव लेते हैं.

कर्मभूमीमें चक्रवर्ती, बलभद्र वगैरह बडे राजाओंके सैन्योंमें, मलमूत्रोंका जहां क्षेपण करते हैं ऐसे स्थानोंपर, वीर्य, नाकका मल, कफ, कान और दांतोंका मल और अत्यंत अपवित्र प्रदेश इनमें जो तत्काल उत्पन्न होते हैं. जिनका शरीर अंगुलका असंख्यात भाग मात्र रहता है. और जो जन्म लेनेके बाद शीघ्र नष्ट होते हैं और जो लब्ध्यपर्याप्तक होते हैं उनको सम्मूर्च्छन मनुष्य कहते हैं.

इन मनुष्योंमें जो कर्मभूमिज मनुष्य हैं उनको ही रत्नत्रयपरिणाम की योग्यता हैं. इतरोंको नहीं हैं. इस वास्ते मनुज शब्दसे इनका ही ग्रहण समझना चाहिये.

रत्नत्रयकी योग्यताको धारण करनेवाला मनुष्यजन्म मिलने पर भी ज्ञानावरणकर्मके उदयसे हिताहित की परीक्षा करनेवाली बुद्धि प्राप्त होना सुलभ नहीं है. ऐसी बुद्धि यदि प्राप्त नहीं हुई तो यह मनुष्यजन्म प्राप्त होकर भी निष्फल ही हुआ समझना चाहिये. नेत्र बडे होकर भी उनसे पदार्थ दीखते नहीं है, अच्छे कुलमें जन्म होनेपर भी यदि सौंदर्य प्राप्त नहीं हुआ, बोलनेकी शक्ति प्राप्त होकर भी यदि असत्य बोलनेके तरफ ही प्रवृत्ति होने

रही, तो नेत्र, उच्चकुल, सुभगता और वचनशक्ति सब प्राप्त होना विफल है. वैसे उत्तम बुद्धि प्राप्त होनेपर भी यदि मनुष्य आप्तका वचन नहीं सुनेगा तो वह बुद्धि भी कुछ कामकी नहीं है ऐसा समझना चाहिये. जैसे कमलरहित सरोवर सुंदर नहीं दीखता है वैसी आप्तवचन न सुननेवाली बुद्धि भी शोभाहीन ही है ऐसा समझना चाहिये. यहां श्रवण शब्द कुछ भी सुनना इस सामान्य अर्थ का वाचक नहीं है. परंतु आप्तके वचन सुनना यही श्रवण शब्दका अर्थ है. श्रवण भी श्रद्धान रहित सुलभ है. जैसे जिनेश्वरने कहा है वैसाही श्रद्धानगुणयुक्त श्रवण जगतमें दुर्लभ है. दर्शनमोहका उदय होनेसे यह श्रद्धान जीवको प्राप्त होना कठिन है. पदार्थ का स्वरूप जान लेनेपर भी और श्रद्धा करनेपर भी चारित्रमोहकर्मका उदय होनेपर रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करना बडा ही कठिन है. इसलिये हे क्षपक! तुमको यह दुर्लभ श्रामण्य–मुनिपनाभी प्राप्त हुआ है अतः इसको तृणके समान जानकर मत त्यागो.

जीवघातदोषमाहात्म्यं गाथाद्वयेन कथयति—

तेलोक्कजीविदादो वरेहि एक्कदरमत्ति देवेहिं ॥
भणिदो को तेलोक्कं वरिज्ज संजीविदं मुच्चा ॥७८२॥

देवैरेकं वृणीष्व त्वं त्रैलोक्यजीवितव्ययोः ॥
इत्युक्तो जीवितं मुक्त्वा त्रैलोक्यं वृणुतेऽत्र कः ॥ ८१३ ॥

विजयोदया– त्रैलोक्यजीवितयोरेकं गृहाणेति देवैश्चोदितः कस्त्रैलोक्यं वृणीते। जीवस्य जीवितं त्यक्त्वा, जीवनमेव ग्रहीतुं वाञ्छति। यस्मादेवं त्रैलोक्यस्य मूल्यं जीवितं सर्वप्राणिनस्तस्माज्जीवितघातो जीवस्य जीवादन्यत्राघृत्ते जीवस्येद वचनमनर्थकमिति चेन्न, उत्तरेण सम्बन्धात्। जीवस्य हंतुस्त्रैलोक्यघातसमो महान्दोषो भवतीति यावत् ॥

जीवघातसे उत्पन्न हुए दोष का महत्त्व आचार्य दो गाथाओंसे दिखाते हैं

अर्थ—त्रैलोक्य और जीवित इन दोनोंमेंसे तुम कोई एक ग्रहण कर सकते हो ऐसा देवोंके द्वारा कहा-जानेपर मनुष्य जीवन को ही लेगा. क्योंकि यह जीवन त्रैलोक्यकी कीमतका है. अर्थात् संपूर्ण जीवोंका जीवन त्रैलोक्यके बराबरीका है. इस वास्ते जीवका घात करना त्रिलोकका घात करनेके समान है. तात्पर्य–जीवघात करना यह महान् दोष है.

जं एवं तेलोक्कं णग्घदि सव्वस्स जीविदं तह्मा ॥
जीविदघादो जीवस्स होदि तेलोक्कघादसमो ॥ ७८३ ॥

त्रैलोक्येन यतो मूल्यं जीवितव्यस्य जायते ॥
जीवजीवितघातोऽतस्त्रैलोक्यहननोपमः ॥ ८१४ ॥
प्राप्य दुर्लभसंतत्या श्रामण्यं सुखसाधकम् ॥
एकाग्रमानसो रक्ष निधानमिव सर्वदा ॥ ८१५ ॥

अर्थ—संपूर्ण जीवोंका जीवित क्योंकि त्रैलोक्यके कीमतकी बराबरीका है अतः जीवके जीवितका घात करना त्रैलोक्यघातके समान है.

अहिंसाव्रतमहत्ता निवेदयति—

णत्थि अणूदो अप्पं आयासादो अणूणयं णत्थि ॥
जह तह जाण महल्लं ण वयमहिंसासमं अत्थि ॥ ७८४ ॥

अल्पं यथाणुतो नास्ति महदाकाशतो यथा ॥
अहिंसाव्रततो नास्ति तथा परमुरुव्रतम् ॥ ८१६ ॥

विजयोदया—णत्थि अणूदो अप्पं नास्त्यणोरल्पं अन्यत्किंचिद्द्रव्यं। आयासादो अणूणयं णत्थि। आकाशाद्धा अन्यन्महन्नास्ति यथा तथान्यद्व्रतं अहिंसातो महन्नास्ति॥

अर्थ—इस जगतमें अणु से छोटी दुसरी वस्तु नहीं है और आकाशसे भी वडी कोई चीज नहीं है इसी प्रकार अहिंसा व्रतसे दूसरा कोई वडा व्रत नहीं है.

जह पव्वदेसु मेरू उव्वाओ होइ सव्वलोयम्मि ॥
तह जाणसु उव्वायं सीलेसु वदेसु य अहिंसा ॥ ७८५ ॥

पर्वतेषु यथा मेरुश्चक्रवर्ती यथा नृषु ॥
जीवरक्षाव्रतं सारं सर्वस्मिन्नपि व्रते तथा ॥ ८१७ ॥

विजयोदया—जह पव्वदेसु सर्वस्मिह्लोके पर्वतेभ्यो मेरुर्यथोच्चैस्तथा अहिंसा शीलेषु व्रतेषु च उन्नततमेति जानीहि। व्रताना, शीलानां, गुणाना च अधिष्ठानमहिंसेति वदति ॥

अर्थ—जैसे सर्व जगतमें समस्त पर्वतोमें मेरुपर्वत बडा है वैसे यह अहिंसा व्रत संपूर्ण शील और समस्त व्रतोंमें बडा है.

सव्वो वि जहायासे लोगो भूमीए सव्वदीउदधी ॥
तह जाण अहिंसाए वदगुणसीलाणि तिट्ठंति ॥ ७८६ ॥
यथाऽऽकाशे स्थितो लोको धरण्यां द्वीपसागराः ॥
सर्वव्रतानि तिष्ठन्ति जीवत्राणव्रते तथा ॥ ८१८ ॥

विजयोदया—यथा सर्वलोक ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्विकल्प आकाशाधिकरणः। भूमौ च स्थिता. सर्वे द्वीपा उदधयश्च। तथैव जाण जानीहि। व्रतगुणशीलान्यहिंसायां तिष्ठन्ति इति ॥

यह अहिंसा व्रत, गुण और शील सर्वोंको आधार है ऐसा कथन—

अर्थ—उर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्य लोक ऐसे लोकके तीन भेद हैं परंतु यह लोक भी आकाशमें है. अर्थात् त्रैलोक्यका आधार आकाश है इस भूतलमें सर्व द्वीप और समुद्र आधेय होकर रहे हैं. वैसे व्रत गुण, और शील ये सब अहिंसाके आश्रयसे रहते हैं.

कुव्वंतस्स वि जत्तं तुंबेण विणा ण ठंति जह अरया ॥
अरएहिं विणा य जहा णट्ठं णेमी दु चक्कस्स ॥ ७८७ ॥
यथा तिष्ठंति चक्रस्य न तुंबेन विनारकाः ॥
एतैर्विना न तिष्ठन्ति यथा चक्रस्य नेमयः ॥ ८१९ ॥

विजयोदया—कुर्वतस्स वि जत्तं यत्नं कुर्वतोऽपि । पिंडीमंतरेण यथा न तिष्ठन्त्यराणि । अरैर्विना नेम्यवस्थानं चक्रस्य यथा नास्ति ॥

तह जाण अहिंसाए विणा ण सीलाणि ठंति सव्वाणि ॥
तिस्सेव रक्खणट्ठं सीलाणि वदीव सस्सस्स ॥ ७८८ ॥

तथा शीलानि तिष्ठन्ति न विना जीवरक्षया ॥
तस्याः शीलानि रक्षार्थं सस्यादीनां यथा वृतिः ॥ ८२० ॥

विजयोदया—तह जाण तथैव जानीहि। अहिंसां विना सर्वाणि शीलानि न तिष्ठंति। अहिंसाया एव रक्षार्थं शीलानि वृत्तिरिव सस्यस्य ॥

अर्थ—कितनाभी प्रयत्न करो तुंबीके विना चक्रके आरे नहीं रह सकते हैं. वैसे अहिंसाके विना सर्व शीलोंका पालन करनेका कितना भी प्रयत्न करो उनका पालन नही किया जायगा. अर्थात् अहिंसाके विना शीलकी स्थिति नही है. जैसे धान्यके रक्षणार्थ वाढ लगाते हैं तथा अहिंसाके रक्षार्थही शीलव्रत हैं. कितना भी प्रयत्न करो और न होंगे तो नेमीकी स्थिति नही होती है वैसे अहिंसाके विना शील नहीं टिक सकते हैं.

अहिंसाव्रतमंतरेणेतरेषां नैष्फल्यमाचष्टे—

सीलं वदं गुणो वा णाणं णिस्संगदा सुहच्चाओ ॥
जीवे हिंसंतस्स हु सव्वे वि णिरत्थया होंति ॥ ७८९ ॥

व्रतं शीलं तपो दानं नैर्ग्रन्थ्यं नियमो गुणः ॥
सर्वे निरर्थकाः सन्ति कुर्वतो जीवहिंसनम् ॥ ८२१ ॥

विजयोदया—शीलादीनि हि संवरनिर्जरां चोद्दिश्यानुष्ठीयंते । हिंसायां तु सत्यां न स्तः फलभूते संवरनिर्जरे मुक्त्युपायभूते इति निष्फलता मन्यते ॥

अहिंसाके विना इन व्रतोंको निष्फलता प्राप्त होती है ऐसा कथन—

अर्थ—शील, व्रत, गुण, ज्ञान, निष्परिग्रहता, और विषयसुखका त्याग ये सर्व आचार जीवहिंसा

करनेवालेके विफल हो जाते हैं. शीलादिक आचार कर्मकी निर्जरा, और संवरके उद्देश्यसे किये जाते हैं परंतु हिंसा करनेसे मुक्तिके उपायभूत संवर और निर्जरा व्यर्थ होते हैं.

सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं ॥
सव्वेसिं वदगुणाणं पिंडो सारो अहिंसा हु ॥ ७९० ॥

आश्रमाणां मतो गर्भः शास्त्राणां हृदयं परम् ॥
पिंडं नियमशीलानां समतानामहिंसनम् ॥ ८२२ ॥

विजयोदया—सव्वेसिमासमाणं सर्वेषामाश्रमाणां हृदयं । शास्त्राणां गर्भः । सर्वेषां व्रतानां गुणानां च पिंडभूतः सारो भवत्यहिंसा ॥

अर्थ—यह अहिंसा सर्व आश्रमोंका हृदय है, सर्वशास्त्रोंका गर्भ है, और सर्व व्रतोंका निचोडा हुआ सार है.

जम्हा असच्चवयणादिएहिं दुक्खं परस्स होदित्ति ॥
तप्परिहारो तह्मा सव्वे वि गुणा अहिंसाए ॥ ७९१ ॥

असूनृतादिभिर्दुःखं जीवानां जायते यतः ॥
परिहारस्ततस्तेषां अहिंसाया गुणोऽखिलः ॥ ८२३ ॥

विजयोदया—जह्मा असच्चवयणादिगेहिं यस्मादसत्यवचनेन, अदत्तादानेन, मैथुनेन, परिग्रहेण च परस्य दुःखं भवति । तस्मात्तेषां असत्यवचनादीनां परिहार इति सर्वेपि अहिंसाया गुणाः ॥

अर्थ—असत्य बोलनेसे, न दी हुई वस्तु लेनेसे, मैथुनसे और परिग्रहसे परको दुःख उत्पन्न होता है. परंतु अहिंसाके पालनेसे इन सब दोषोंका त्याग होता है. अतः सत्यवचनादिक अहिंसाके ही गुण हैं ऐसा समझना चाहिये.

गोबंभणित्थिवधमेत्तिणियत्ति जदि हवे परमधम्मो ॥
परमो धम्मो किह सो ण होइ जा सव्वभूददया ॥ ७९२ ॥

गोस्त्रीब्राह्मणबालानां धर्मो वधस्त्वहिंसनम् ॥
न तदा परमो धर्मः सर्वजीवदया कथम् ॥ ८२४ ॥

विजयोदया-- गोबभणिथिवधमेत्तणियत्ति गवा, ब्राह्मणाना, स्त्रीणा च वधमात्रनिवृत्तिर्यदि भवेदुत्कृष्टो धर्म परमो धर्म कथ न भवति या सर्वजीवदया ॥

अर्थ—गोहत्या, ब्राह्मणहत्या, स्त्रीवध इनसे निवृत्त होना यदि, उत्कृष्ट धर्म समझा जाता है तो सर्व जीवोंपर दया करना यह उत्कृष्ट धर्म क्यों नहीं माना जायगा

हिंसानिवृत्ति उपायेन कारयति कृतापकारानपि बांधवान्स्नेहान मारयितुमीहते जन । तत्परेषामसकृज्जन्मान्तरे पितृपुत्रादिभावमुपागताना अग ' मारणमयुक्त इति वदति--

सव्वे वि य संबंधा पत्ता सव्वेण सव्वजीवेहिं ॥
तो मारंतो जीवो संबधी चेव मारेइ ॥ ७९३ ॥

सर्वैः सर्वे समं प्राप्ता संबंधा जंतुभिर्यतः ॥
संबंधिनो निहन्यंते ततस्ताञ्झिघ्नता ध्रुवम् ॥ ८२५ ॥

विजयोदया-सव्वे वि य सर्वेऽपि च । संबधा संबधा प्राप्ता । सव्वेण सर्वेण जीवेन । सव्वजीवेहिं सर्वजीवै । तो तस्मात् । जीवो मारणोद्यत संबधिन एव घातयति ॥

उपायसे हिंसाका निषेध लोक करते हैं अपने बंधुओंने अपराध किये होंगे तो भी उनको मारते नहीं. तो अनेक पूर्व जन्मोंमे जो पिता, पुत्र इत्यादिक संबंध को प्राप्त हुए होंगे ऐसे प्राणिओंको मारना क्या योग्य है ? नहीं इसका स्पष्टीकरण—

अर्थ—सर्व जीवोंका सर्व जीवोंके साथ पिता, पुत्र, माता इत्यादि रूप संबंध अनेक भवोंमें हुआ है. इसलिये मारनेके लिये उद्युक्त हुआ मनुष्य अपने संबधीको ही मारता है ऐसा समझना चाहिये जगतमें संबंधिओंका घात करना अतिशय निंद्य माना जाता है.

तथ संबधिहननं लोके अतिनिंदितं ।

जीवनहो अप्पनहो जीवदया होइ अप्पणो हु दया ॥
विसकंटओव्व हिंसा परिहरियव्वा तदो होदि ॥ ७९४ ॥

आत्मघातोऽङ्गिनां घातो दया तस्यात्मनो दया ॥
विषकांट इव त्याज्या हिंसातो दुःखभीरुणा ॥ ८२६ ॥

विजयोदया—जीवयहो अप्पयहो जीवानां घात आत्मघात एव । जीवाना क्रियमाणा दया आत्मन एव कृता भवति । यदेकजीवघातनोद्यत स्वयमनेकेषु जन्मसु मार्यते । एकैकजीवदयोऽपि स्वयमनेकेषु जन्मसु परै रक्ष्यते । इति विषकंटकवत् परिहार्या हिंसा दुःखभीरुणा ॥

अर्थ—प्राणिओंका नाश करना यह अपना ही नाश करना है और प्राणिओंपर दया करना ही अपने ऊपर दया करना है जो एकजन्ममें प्राणीका घात करता है वह अनेक जन्मोंमें मारा जाता है और जिसने एकवार भी प्राणीके उपर दया की है वह अनेक जन्मोंमें इतर प्राणिओंसे रक्षा जाता है- ऐसा विचार कर विषसे लिप्त हुए कंटकसे जैसे लोक दूर होते हैं वैसे दुःखभीरु मनुष्यको इस हिंसासे दूर रहना चाहिये.

हिंसादोषमिहैव जन्मनि दर्शयति—

मारणसीलो कुणदि हु जीवाणं रक्खसुव्व उव्वेगं ॥
संबंधिगो वि ण य विस्संभं मारितए जंति ॥ ७९५ ॥

उद्वेगं कुरुते हिंस्रो जीवानां राक्षसो यथा ॥
संबंधिनोऽपि नो तस्य विश्वासं जातु कुर्वते ॥ ८२७ ॥

विजयोदया—मारणसीलो हु मारणशील परहननोद्यत । राक्षस इव जीवानामुद्वेगं करोति । संबंधिनोऽपि न विस्रंभ उपयाति तस्मिन्घातके ॥

इसही जन्ममें हिंसासे हानि होती है इसका विवेचन करते हैं—

अर्थ—जो मनुष्य दूसरोंको मारनेमें उद्युक्त होता है वह राक्षसके समान प्राणिओंको भय उत्पन्न करता है. उसके संबंधि मनुष्य भी उसके ऊपर विश्वास नहीं रखते हैं.

गोबंभणित्थिवधमेत्तिणियत्ति जदि हवे परमधम्मो ॥
परमो धम्मो किह सो ण होइ जा सव्वभूददया ॥ ७९२ ॥

गोस्त्रीब्राह्मणबालानां धर्मो वधस्त्यहिंसनम् ॥
न तदा परमो धर्मः सर्वजीवदया कथम् ॥ ८२४ ॥

विजयोदया-- गोबंभणित्थिवधमेत्तणियत्ति गवां, ब्राह्मणानां, स्त्रीणां च वधमात्रनिवृत्तिर्यदि भवेदुत्कृष्टो धर्मः परमो धर्मः कथं न भवति या सर्वजीवदया ॥

अर्थ—गोहत्या, ब्राह्मणहत्या, स्त्रीवध इनसे निवृत्त होना यदि, उत्कृष्ट धर्म समझा जाता है तो सर्व जीवोंपर दया करना यह उत्कृष्ट धर्म क्यों नहीं माना जायगा.

हिंसानिवृत्तिं उपायेन कारयति कृतापकारानपि बांधवान्स्नेहान्न मारयितुमीहते जनः । तत्परेषामसकृज्जन्मान्तरे पितृपुत्रादिभावमुपागतानां अंग ! मारणमयुक्तं इति वदति--

सव्वे वि य संबंधा पत्ता सव्वेण सव्वजीवेहिं ॥
तो मारंतो जीवो संबंधी चेव मारेइ ॥ ७९३ ॥

सर्वैः सर्वे समं प्राप्ता संबंधा जंतुभिर्यतः ॥
संबंधिनो निहन्यंते ततस्तान्निघ्नता ध्रुवम् ॥ ८२५ ॥

विजयोदया-सव्वे वि य सर्वेऽपि च । संबंधा सबंधा प्राप्ताः । सव्वेण सर्वेण जीवेन । सव्वजीवेहिं सर्वजीवैः । तो तस्मात् । जीवो मारणोद्यतः संबंधिन एव घातयति ॥

उपायसे हिंसाका निषेध लोक करते हैं- अपने बंधुओंने अपराध किये होंगे तो भी उनको मारते नहीं. तो अनेक पूर्व जन्मोंमे जो पिता, पुत्र इत्यादिक संबंध को प्राप्त हुए होंगे ऐसे प्राणिओंको मारना क्या योग्य है? नहीं इसका स्पष्टीकरण---

अर्थ—सर्व जीवोंका सर्व जीवोंके साथ पिता, पुत्र, माता इत्यादि रूप संबंध अनेक भवोंमें हुआ है. इसलिये मारनेके लिये उद्युक्त हुआ मनुष्य अपने संबंधीको ही मारता है ऐसा समझना चाहिये. जगतमें संबंधिओंका घात करना अतिशय निंद्य माना जाता है.

तच्च संबंधिहननं लोके अतिनिंदितं।

जीववहो अप्पवहो जीवदया होइ अप्पणो हु दया ॥
विसकंटओव्व हिंसा परिहरियव्वा तदो होदि ॥ ७९४ ॥

आत्मघातोऽङ्गिनां घातो दया तस्यात्मनो दया ॥
विषकांड इव त्याज्या हिंसातो दुःखभीरुणा ॥ ८२६ ॥

विजयोदया--जीववहो अप्पवहो जीवानां घात आत्मघात एव। जीवानां क्रियमाणा दया आत्मन एव कृता भवति। सकृदेकजीवघातनोद्यतः स्वयमनेकेषु जन्मसु मार्यते। कृतैकजीवदयोऽपि स्वयमनेकेषु जन्मसु परै रक्ष्यते। इति विषलिप्तकंटकवत् परिहार्या हिंसा दुःखभीरुणा॥

अर्थ--प्राणिओंका नाश करना यह अपना ही नाश करना है और प्राणिओंपर दया करना ही अपने ऊपर दया करना है. जो एकजन्ममें प्राणीका घात करता है वह अनेक जन्मोंमें मारा जाता है. और जिसने एकवार भी प्राणीके उपर दया की है वह अनेक जन्मोंमें इतर प्राणिओंसे रक्षा जाता है. ऐसा विचार कर विषसे लिप्त हुए कंटकसे जैसे लोक दूर होते हैं वैसे दुःखभीरु मनुष्यको इस हिंसासे दूर रहना चाहिये.

हिंसादोषमिहैव जन्मनि दर्शयति--

मारणसीलो कुणदि हु जीवाणं रक्खसुव्व उव्वेगं ॥
संबंधिणो वि ण य विस्संभं मारितए जंति ॥ ७९५ ॥

उद्वेगं कुरुते हिंस्रो जीवानां राक्षसो यथा ॥
संबंधिनोऽपि नो तस्य विश्वासं जातु कुर्वते ॥ ८२७ ॥

विजयोदया--मारणसीलो हु मारणशीलः परहननोद्यत.। राक्षस इव जीवानामुद्वेगं करोति। संबंधिनोऽपि न विस्रंभं उपयाति तस्मिन्वधके॥

इसही जन्ममें हिंसासे हानि होती है इसका विवेचन करते हैं--

अर्थ--जो मनुष्य दूसरोंको मारनेमें उद्युक्त होता है वह राक्षसके समान प्राणिओंको भय उत्पन्न करता है. उसके संबंधि मनुष्य भी उसके ऊपर विश्वास नहीं रखते हैं.

वधबंधरोधधणहरणजादणाओ य वेरमिह चेव ॥
णिव्विसयमभोजित्तं जीवे मारंतगो लभदि ॥ ७९६ ॥

इह बंधं वधं रोधं यातनां देशधाटनम् ॥
हिंस्रो वैरमभोग्यत्वं लब्ध्वा गच्छति दुर्गतिम् ॥ ८२८ ॥

विजयोदया – वधं मारणं, बंधं बंधनं, रोधं उत्फोटकादिक रोधनं, धनहरणं, रिन्थोद्दालनं । यातनाश्च कदर्थनानि । वैरं विषयाद्वाटनं अभोज्यतां च रोषाद्ब्राह्मणादिहननात् । मारंतगो हंता । लभदि लभते ॥

अर्थ—जो ब्राह्मणादिकोंका वध करता है वह मारना, बांधना, रोकना, धन हरण करना, और अनेक प्रकारसे पीडा देना, वैर करना, देशसे निकालना, जातिसे च्युत करना, इत्यादिक दुःखोंको प्राप्त होता है.

क्रुद्धो परं वधित्ता सयंपि कालेण मारइज्जंते ॥
हदघादयाण णत्थि विसेसो मुत्तूण तं कालं ॥ ७९७ ॥

यतो रुष्टः परं हत्वा कालेन म्रियते स्वयम् ॥
हतहंत्रोस्ततो नास्ति विशेषस्तं क्षणं विना ॥ ८२९ ॥

विजयोदया – क्रुद्धो परं वधित्ता क्रुद्धः सन्परं अन्यं घधित्वा । स्वयमपि गच्छता कालेन म्रियते । हतघातकयोर्नास्ति विशेषः । मुत्तूण तं कालं मुक्त्वा तं कालं । पूर्वमसौ मृतः पश्चात्स्वयमिति ॥

अर्थ—क्रुद्ध होकर जो मनुष्य दुसरोंको मारता है वह भी कुछ काल बीतनेके अनंतर मरणको प्राप्त होता है. इस वास्ते हत और घातकमें कुछ फरक नहीं है. हां फक्त कालका ही अंतर रहता है.

अप्पाउगरोगिदयाविरूवदाविगलदा अवलदा य ॥
दुम्मेहवण्णरसगंधदाय से होइ परलोए ॥ ७९८ ॥

अल्पायुर्दुर्बलो रोगी विरूपो विकलेन्द्रिय ॥
दुष्टगंधरसस्पर्शो जायतेऽमुत्र हिंसकः ॥ ८३० ॥

विजयोदया—अप्पाउगरोगिदाविरूवदाविगलदा अबलदा य अल्पजीवितरोगिताविरूपता, विकलेंद्रियता दुर्बलता। दुम्मेधवण्णरसगंधदा य दुर्मेधता, दुर्वर्णता, दूरसदुर्गंधता च। से तस्य। होदि भवति। परलोए जन्मान्तरे।

अर्थ—हिंसा करनेवाला मनुष्य परजन्ममें अल्पायुषी, रोगी, कुरूप, विकलेंद्रिय अर्थात् अंध, बहिरा, गूंगा, दुर्बल, मूर्ख, अशुभवर्ण, रस गंधवाला, होता है.

मारेदि एयमवि जो जीवं सो बहुसु जम्मकोडीसु ॥
अवसो मारिज्जंतो मरदि विधाणेहिं बहुएहिं ॥ ७९९ ॥

एकोऽपि हन्यते येन शरीरी भवकोटिषु ॥
म्रियते मार्यमाणोऽङ्गी विधानैर्विविधैरसौ ॥ ८३१ ॥

विजयोदया—मारेदि हंति। एगमवि एकमपि। जो जीवं यो जीवं। सो सः। बहुसु जम्मकोडीसु बह्वीषु जन्मकोटिषु। अवसो मरदि मारिज्जंतो अवशो मार्यमाणो म्रियते। विधाणेहिं बहुगेहिं बहुभिः प्रकारैर्मार्यमाणः॥

अर्थ—जो मनुष्य एक प्राणीको भी मारता है वह अनेक कोट्यवधि जन्मोंमें अवश अर्थात् परतंत्र होकर नाना प्रकारसे मारा जाकर मरणको प्राप्त होता है.

जावइयाइं दुक्खाइं होंति लोयम्मि चदुगदिगदाइं ॥
सव्वाणि ताणि हिंसाफलाणि जीवस्स जाणाहि ॥ ८०० ॥

दुर्गतौ यानि दुःखानि दुःसहानि शरीरिणाम् ॥
हिंसाफलानि सर्वाणि कथ्यन्ते तानि सूरिभिः ॥ ८३२ ॥

विजयोदया—जावदियाइं यावन्ति। दुक्खाइं दुःखानि। हुंति भवंति। चदुगदिगदाइं गतिचतुष्टयगतानि। सव्वाणि ताणि हिंसाफलाणि सर्वाणि तानि हिंसाफलानि। जीवस्स जाणाहि जीवस्येति जानीहि॥

अर्थ—इस जगतमें चार गतिओंमें जो जो दुःख जीवको प्राप्त होते हैं वे सर्व हिंसाके ही फल हैं ऐसा समझना चाहिये.

का हिंसा नाम यस्या इमे दोषा निरूप्यंते इत्याचष्टे—

हिंसादो अविरमणं वहपरिणामो य होइ हिंसा हु ॥
तम्हा पमत्तजोगे पाणव्ववरोवओ णिच्चं ॥ ८०१ ॥

हिंसातोऽविरतिर्हिंसा यदि वा वधचिंतनम् ॥
यतःप्रमत्तता योगस्ततःप्राणवियोजकः ॥ ८३३ ॥

विजयोदया—हिंसादो अविरमणं हिंसातोऽविरतिर्हिंसेति संबधनीयं । प्राणान् प्राणिनो व्यपरोपयामीति संकल्पकरणं हिंसा इत्यर्थं । वधपरिणामो वा हन्मीति एवं परिणामो वा हिंसा । तह्मा तस्मात् । पमत्तयोगो प्रमत्तता सबंध । पाणव्ववरोवओ प्राणानपनयति । णिच्च नित्य । विकथा, कषाय इत्येवमादय पचदशपरिणामा आत्मनो भाव । प्राणानां परस्य च द्रव्यभाव प्राणानां वियोजका इति हिंसेत्युच्यते । तथा चोक्तम्—

रत्तो वा दुट्ठो वा मूढो वा जं पयुंजदि पओगं ॥
हिंसा वि तत्थ जायदि तह्मा सो हिंसगो होइ ॥ ८०२ ॥

विजयोदया—रक्तो द्विष्टो मूढो वा सन्प्रयोगं प्रारभते तस्मिन्हिंसा जायते । न प्राणिनः प्राणानां वियोजनमात्रेण आत्मनि रागादीनामनुत्पादक सोऽभिधीयते अहिंसक इति । यस्माद्रागाद्युत्पत्तिरेव हिंसा । न हि जीवांतरगतवेशतया अन्यतमप्राणवियोगापेक्षा हिंसा, तदभावकृता वा अहिंसा, किंतु आत्मैव हिंसा आत्मा चैव अहिंसा । प्रमादपरिणत आत्मैव हिंसः अप्रमत्त एव च अहिंसा । उक्त च—

अत्ता चेव अहिंसा अत्ता हिंसत्ति णिच्छओ समये ॥
जो होदि अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इदरो ॥ ८०३ ॥

जीवपरिणामायत्तो बंधो जीवो मृतिमुपेतु नोपेयाद्वा । तथा चाभाणि—

अज्झवसिदो य बंधो सत्तो दु मरेज्ज णो मरिज्जेत्थ ॥
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ ८०४ ॥

जीवास्तदीयानि शरीराणि शरीरग्रहणस्थानयोनिसंश्रितं (?) वराकगो चेत्ति तत्संभवकालं तत्पीडापरिहारेच्छुरसकृत्तप क्रियायां लोभसत्कारादनपेक्ष्य प्रवृत्तो भवत्यहिंसकः । उक्तं च—

णाणी कम्मस्स खयत्थमुट्ठिदो णोट्ठिदो य हिंसाए ॥

अददि असढो हि यत्थं अप्पमत्तो अवधगो सो ॥ ८०५ ॥

शुभपरिणामसमन्वितस्याप्यात्मनः स्वशरीरनिमित्तान्यप्राणिप्राणवियोगमात्रेण बंधः स्यान्न कस्यचिन्मुक्तिः स्यात्। योगिनामपि वायुकायिकवधनिमित्तबंधसद्भावात्। अभाणि च—

जदि सुद्धस्स य बंधो होहिदि बाहिरगवत्थुजोगेण ॥

णत्थि दु अहिंसगो णाम होदि वायादिवधहेदु ॥ ८०६ ॥

तस्मान्निश्चयनयाश्रयेण प्राण्यंतरप्राणवियोगापेक्षा हिंसा ॥

जिसके दोष आप कहते हैं उस हिंसाका क्या स्वरूप है? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—हिंसासे विरक्त न होना अथवा हिंसा करनेके परिणाम होना अर्थात् मैं प्राणिके प्राणोंका घात करूंगा ऐसा विचार रखना हिंसा है. प्रमत्तयोग प्राणों का नाश करता है. विकथा, कषाय वगैरे पंधरा प्रकारके परिणामों को प्रमाद कहते हैं. इस प्रमादसे युक्त हुए प्राणीको प्रमत्त कहते हैं. ऐसे प्रमत्तका जो योग अर्थात् मनवचन और शरीरका व्यापार उसको प्रमत्तयोग कहते हैं. इस प्रमत्तयोगसे अपने भावप्राणोंका और दुसरों के द्रव्य प्राण, और भाव प्राणोंका नाश होता है. इसलिये प्रमत्त योगको हिंसा कहते हैं.

अन्य आगमग्रंथमें हिंसाके विषयमें ऐसा लिखा है—

रागी, द्वेषी अथवा मूढ बनकर आत्मा जो कार्य करता है उससे हिंसा होती है. प्राणीके प्राणोंका वियोग तो हुआ परंतु रागादिक विकारोंसे आत्मा यदि उस समय मलिन नहीं हुआ है तो उससे हिंसा नहीं हुई है ऐसा समझना चाहिये. वह अहिंसक ही रहा ऐसा समझना चाहिये. अन्य जीवके प्राणोंका वियोग होनेसेही हिंसा होती है ऐसा नहीं अथवा उनके प्राणोंका नाश न होनेसे अहिंसा होती है ऐसा भी नहीं समझना चाहिये. परंतु आत्माही हिंसा है और वही अहिंसा है ऐसा मानना चाहिये. अर्थात् प्रमाद परिणतआत्मा ही स्वयं हिंसा है और अप्रमत्त आत्माही अहिंसा है. आगममें भी ऐसा कहा है—

आत्मा ही हिंसा है और आत्माही अहिंसा है ऐसा जिनागममें निश्चय किया हैं. अप्रमत्त अर्थात् प्रमाद रहित आत्मा को अहिंसक कहते हैं, और प्रमादसहित आत्माको हिंसक कहते हैं. जीवके परिणामोंके अधीन बंध

होता है. जीव मरण करो अथवा न करे परिणामके वश हुआ आत्मा कर्मसे बद्ध होता है ऐसा निश्चय नयसे जीवके बंधका संक्षेप से स्वरूप कहा है.

जीव, उसके शरीर, शरीरकी उत्पत्ति जिसमें होती है ऐसी योनि इनके स्वरूप जान कर और उसके उत्पत्तिका काल जानकर पीडाका परिहार करनेवाला और लाभ, सत्कारादिकी अपेक्षा न करके तप करनेवाला जीव अहिंसक माना जाता है. आगममें इस विषयमें ऐसा विवेचन है—

ज्ञानी पुरुष कर्मक्षय करनेके लिये उद्युक्त होते हैं वे हिंसाके लिये उद्युक्त नही होते हैं. उनके मनमें शठ भाव-माया नहीं रहती है और वे अप्रमत्त रहते हैं इसलिये वे अबंधक-अहिंसक माने गये हैं.
जिसके शुभपरिणाम हैं ऐसे आत्माके शरीरसे यदि अन्य प्राणि के प्राणका वियोग हुआ और वियोग होने मात्रसे यदि बंध होगा तो किसी को भी मोक्षकी प्राप्ति न होगी, क्योंकि योगिओंको भी वायुकायिक जीवोंके वधके निमित्तसे कर्मबंध होता है ऐसा मानना पडेगा. इस विषयमें शास्त्रमें ऐसा लिखा है—

यदि रागद्वेषरहित आत्माको भी बाह्यवस्तुके संबंधसे बंध होगा तो जगतमें कोई भी अहिंसक नहीं है ऐसा मानना पडेगा अर्थात् शुद्ध मुनिको भी वायुकायिक जीवके वधके लिये हेतु समझना होगा. इसलिये निश्चय-नयके आश्रयसे दूसरे प्राणीके प्राणका वियोग होनेपर भी अहिंसामें बाधा आती नहीं है ऐसा समझना चाहिये.

गतिक्रियाभेदान्प्ररूपयति—

पादोसिय अधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए ॥
एदे पंचपओगा किरियाओ होंति हिंसाओ ॥ ८०७ ॥
द्वैपिकी कायिकी प्राणघातिकी पारितापिकी ॥
क्रियाधिकरणी चेति पंच हिंसाप्रसाधिकाः ॥ ८३४ ॥

विजयोदया—पादोसियाधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए पादोसिय शब्देनेष्टदारवित्तहरणादिनिमित्तः कोपः प्रद्वेष इत्युच्यते। प्रद्वेष एव प्राद्वेषिको यथा विनय एव वैनयिकमिति । हिंसाया उपकरणमधिकरणमित्युच्यते। हिंसोपकरणादानक्रिया आधिकरणिकी क्रिया। दुष्टस्य सतः कायेन वा चलनक्रिया कायिकी । परितापो दुःखं दुःखो-

त्पत्तिनिमित्ता क्रिया पारितापिकी क्रिया । आयुरिंद्रियबलप्राणानां वियोगकारिणी प्राणातिपातिकी क्रिया । एते पंच प्रयोगा एते पंच प्रयोगाः । हिंसाक्रियाओ हिंसासंबंधिन्यः क्रियाः ॥

हिंसासंबंधि क्रियाओंका वर्णन—

अर्थ—द्वेषसे क्रिया करना, अर्थात् इष्ट स्त्री व धनादिक पदार्थका किसीके द्वारा हरण किया जानेसे जो क्रोध उत्पन्न होता है उसको प्रद्वेष कहते हैं. हिंसाके उपकरणोंको ग्रहण करना, अधिकरण क्रिया कहते हैं. दुष्ट होकर शरीरके द्वारा चलन होना कायिकी क्रिया है. परिताप—दुःख—दुःखोत्पत्तिके लिये जो क्रिया की जाती है उसको पारितापिकी क्रिया कहते हैं. आयु, इंद्रिय, बल और प्राण इनका घात करनेवाली क्रियाको प्राणातिपातिकी क्रिया कहते हैं. ऐसे पांच प्रकारके प्रयोगोंको हिंसा क्रिया कहते हैं.

तिहिं चदुहिं पंचहिं वा कमेण हिंसा समप्पदि हु ताहिं ॥
बंधो वि तया सरिसो जइ सरिसो काइयपदोसो ॥ ७०८ ॥

हिंसा त्रिभिश्चतुर्भिश्च पंचभिः साधयन्ति ताः ॥
क्रिया बंधः समानेन द्वैपिकी कायिकी क्रिये ॥ ८३५ ॥

विजयोदया – तिहिं चदुहिं पंचहिं वा त्रिभिर्मनोवाक्कायैः, चतुर्भिः क्रोधमानमायालोभैः, पंचभिः स्पर्शनादिभिरिंद्रियैर्वा । कमेण हिंसा समप्पदि हु क्रमेण हिंसा समाप्तिमुपैति । ताभिर्मनसा प्रद्वेषो वचसा द्विष्टोऽस्मीति वचनं वाग्द्वेषः, कायेन मुखवैवर्ण्यादिकरणं कायद्वेषः । मनसा हिंसोपकरणादानं, वाचा शस्त्रं उपगृह्णामीति हस्तादिताडनं इति अधिकरणमपि त्रिविधं । मनसा उत्तिष्ठामीति चिंता, वचसा उत्तिष्ठामि इति, हंतुं ताडयितुमिति उक्तिः । कायेन चलनं कायिकी । मनसा दुःखमुत्पादयामीति चिंता दुःखं भवतः करोमि इति उक्तिर्वाचा पारितापिकी क्रिया, हस्तादिताडनेन दुःखोत्पादनं कायेन पारितापिकी क्रिया । प्राणान्वियोजयामीति चिंता मनसा प्राणातिपातः, हन्मीति वचः वाक्प्राणातिपातः । कायव्यापारः कायिकप्राणातिपातः । क्रोधनिमित्ता कस्मिंश्चिद्द्वेषीति, माननिमित्ता, मायानिमित्ता, लोभनिमित्ता, क्रोधादिना शस्त्रग्रहणं क्रोधादिनिमित्तः कायपरिस्पंदः । क्रोधादिनिमित्ता परपरितापकरणं, प्राणातिपातो वा क्रोधवशिना भवति । स्पर्शनादीन्द्रियनिमित्तो वा प्रद्वेषः, इंद्रियसुखार्थं वा फलपल्लवप्रसूनादिच्छेदननिमित्तसाधनोपादानं, तत्सुखार्थमेव विषयसत्यासक्तिमभिप्रेत्यायतः कायपरिस्पंदः । परस्य वा गाढालिंगननखक्षतादिना संतापकरणं, मांसाद्यर्थं वा प्राणिप्राणवियोजनमिति । किमेताभिर्हिंसाभिः संपाद्यः कर्मबंधः समान उत न्यूनाधिकभावो बंधस्येत्याशंकायामाचष्टे

बंधोऽपि कर्मबंधोऽपि सिया सरिसो स्यात्सदृशः। कथं? जदि सारिसो यदि सदृशः। कायिकपदोसो कायिकी क्रिया प्रद्वेषश्च यदि समः स्यात्कारणसामान्यात्कार्यस्यापि बंधस्य सादृश्यं, अन्यथा न सदृशता। तीव्रमध्यमंदरूपाः परिणामाः तीव्रं, मध्यं, मंदं च बंधमापादयन्ति। इति भावः॥

अर्थ—मन, वचन और शरीर ऐसे तीन योग क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय और स्पर्शनादिक पांच इंद्रियां इनके द्वारा क्रमसे हिंसा समाप्त होती है. मनसे द्वेष करना, मैं द्वेषयुक्त हुआ हूं ऐसा वचनसे कहना यह वाग्द्वेष है शरीरके द्वारा द्वेष करना अर्थात् मुख लाल होना, भोंहें वक्र होना वगैरह कायद्वेष है.

मनके द्वारा हिंसाके उपकरण लेना, मैं शस्त्रग्रहण करता हूं ऐसा बोलना, हाथ पांव इत्यादिकसे ठोकना. ऐसे अधिकरणके तीन भेद हैं. मनसे ऊडने का विचार करना, वचनसे मैं ठोकूंगा, ताडन करूंगा ऐसा बोलना, शरीरसे हिलना फिरना, यह सब कायिकी क्रिया है. मैं दुःख उत्पन्न करूंगा ऐसा मनसे विचार करना, मैं तुमको दुःखित करूंगा ऐसे वचनसे बोलना, हस्तादिकोंसे ताडन करना यह कायिकी क्रिया है. प्राणोंसे मैं प्राणीको अलग करूंगा ऐसा विचार करना, मैं मारूंगा ऐसा मुखसे बोलना वाक्प्राणातिपात है. शरीरसे मारनेकी क्रिया करना कायिकप्राणातिपात है. ये पांच क्रियायें कोई पुरुष क्रोधसे, कोई मानसे, मायासे और लोभसे करते हैं.

क्रोधादिकसे शस्त्र ग्रहण करना क्रोधादि निमित्त कायपरिस्पंद कहा जाता है. क्रोधादिकसे दूसरों को संताप उत्पन्न करना, क्रोधादिकसे प्राणवध करना, स्पर्शनादि इंद्रियोंके निमित्तसे भी द्वेष उत्पन्न होता है. इंद्रियसुखके लिये फल, कोमल कोंपल, पुष्प वगैरहका छेदन करनेका साधन ग्रहण करना, इंद्रियसुखके लिये ही विषयका सान्निध्य पाकर शरीरकी बहुत हालचाल करना, दूसरोंको गाढ आलिंगन देना, नखोंसे क्षत करना, मांसादिकोंके लिये प्राणिओंको प्राणसे वियुक्त करना ये सब हिंसा क्रियायें हैं.

इस हिंसाक्रियासे उत्पन्न होनेवाला कर्मबंध समान होता है अथवा कम जादा होता है. इस शंका का उत्तर आचार्य ऐसा देते हैं—

कर्म बंध कथंचित् समान होता है. अर्थात् शरीरके द्वारा होनेवाली क्रिया और प्रद्वेष यदि समान होगा तो उससे कर्मबंध भी समान होगा अन्यथा नहीं. कारणोंमें सामान्यता यदि होगी तो कार्यमें अर्थात् कर्मबंधमें

भी समानता होगी. और यदि कारणोंमें विशेषता होगी तो कार्यमें–बंधमें विशेषता होगी ही. तीव्र, मंद, और मध्यम रूप परिणाम उत्पन्न होनेपर तीव्र, मंद मध्यम प्रकारका बंध होगा ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये.

अधिकरणभेदं निरूपयति—

वीस पल तिण्णि मोदय पण्णरह पला तहेव चत्तारि ॥
बारह पलिया पंच दु तेसिं पि समो हवे बंधो ॥ ८०९ ॥
जीवगदमजीवगदं समासदो होदि दुविहमधिकरणं ॥
अट्ठुत्तरसयभेदं पढमं विदियं चदुब्भेदं ॥ ८१० ॥

जीवाजीवविकल्पेन तत्राधिकरणं द्विधा ॥
ज्ञातमष्टोत्तरं पूर्वं द्वितीयं च चतुर्विधम् ॥ ८३६ ॥

विजयोदया—जीवगदमजीवगदं इति जीवगत इति जीवपर्याय उच्यते। न हि जीवद्रव्यत्वमात्रमेव हिंसायां उपकरणं भवति। किंतु जीवस्य पर्यायः आस्रवस्य। हिंसादेर्जीवपरिणामो युक्तोऽभ्यंतरकरणं। अजीवगतः पर्यायः द्रव्यार्थं हि अजीवद्रव्यत्वात्स्यः सदा सन्निहितकार्यः स्यात्कादाचित्कतां कथमिव संपादयति। पर्यायस्तु स्वकारण सान्निध्यात्कदाचिदेवेति। यदा स्वयं सन्निहितसहकारिकारणास्तदैव स्वकार्यं कुर्वन्ति। नान्यदेति युक्ता कादाचित्कता कार्यस्येति भावः। समासदो दुविधमधिकरणं संक्षपतो द्विविधमधिकरणं। अट्ठुत्तरसयभेदं अष्टोत्तरशतभेदं। पढमं जीवगदमधिकरणं। विदियं द्वितीयं अजीवगतमधिकरणं चदुब्भेदं चतुर्विकल्पं॥

अधिकरण भेदोंका निरूपण करते हैं—

अर्थ—प्रादोषिक वगैरह हिंसाके पांच भेद ऊपर कहे हैं. प्रत्येकके क्रोध, मान, माया और लोभके आश्रयसे पांच पांच भेद होते हैं. अर्थात् क्रोधादिकके आश्रयसे प्रादोषादिकके वीस भेद होते हैं. इन्द्रियोंकी अपेक्षासे इन प्रादोषिकादि पांच क्रियाओंके पंचवीस भेद होते हैं. और मन वचन, और शरीर की अपेक्षासे इन क्रियाओंके पंधरा भेद होते हैं. इन सबोंका कर्मबंध समान होता है.

अर्थ—अधिकरणके जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण ऐसे संक्षेपसे दो भेद हैं. जीवाधिकरण के एकसो

आठ भेद हैं और अजीवाधिकरणके चार भेद हैं. जीवाधिकरण अर्थात् केवल जीवद्रव्य आस्रवका आधार नहीं होता है. किंतु पर्यायसहित जीवद्रव्य आस्रवका आधार होता है. जीवके परिणाम हिंसादिकोंके लिये कारण होते हैं और ये परिणाम अभ्यंतर कारण है. अजीवका पर्यायभी आस्रवका आधार है यदि द्रव्य ही आस्रवका आधार माना जायेगा तो द्रव्य तो हमेशा ही रहता है अतः उसका आस्रवरूप कार्य हमेशाही रहेगा, उसमें अनित्यता नहीं रहेगी. पर्याय अपने २ कारण मिलने पर उत्पन्न होते हैं. जब पर्यायों को सहकारि कारणोंका साहाय्य मिलता है तब वे आस्रवात्मक कार्य करते हैं अन्यथा करते नहीं. इस लिये कार्यमें कादाचित्कता अर्थात् अनित्यता आती है.

प्रथमस्य भेदान्निरूपयति—

संरंभसमारंभारंभं जोगेहिं तह कसाएहिं ॥
कदकारिदाणुमोदेहिं तहा गुणिदे पढमभेदा ॥ ८११ ॥
विधिना योगकोपादिसंरंभादिकृतादयः ॥
भिदा भवंति पूर्वस्य गुण्यमानाः परस्परम् ॥ ८३७ ॥

विजयोदया—संरंभसमारंभारंभयोगेहिं तह कसाएहिं प्राणव्यपरोपणादौ प्रमादवतः प्रयत्नः संरंभः। सा ध्याया हिंसादिक्रियायाः साधनानां समाहारः समारंभः। संचितहिंसाद्युपकरणस्य आद्यः प्रक्रम आरंभः। योगशब्देन मनोवाक्कायव्यापारा उच्यंते। एतैः संरंभसमारंभारंभयोगैः। तथा कसाएहिं कषायैः कदकारिदाणुमोदेहिं कृतकारितानुमोदितैः। तहा गुणिदा तथा गुणिताः। पढमभेदा जीवाधिकरणभेदाः। प्रयत्नपूर्वकत्वाच्चेतनावतो व्यापारस्यादौ संरंभस्य वचनं। अनुपायसाध्यसिद्धिर्न भवति प्रयत्नवतोऽपि ततः साधनसमाहरणं। प्रयत्नादनंतरमिति समारंभो युक्तः। साध्यं पुनः उपसाधनसंहतौ सत्यां प्रक्रमते क्रियामिति आरंभः पश्चादुपन्यस्तः। स्वातंत्र्यविशिष्टेन आत्मना यत् क्रियते प्रक्रियते तत् कृतं। परस्य प्रयोगमपेक्ष्य सिद्धिमुपयाति यत्तत्कारितं। स्वयं न करोति न च कारयति, किं त्वभ्युपैति यत्तदनुमननं अभ्युपगमस्तत्र संरंभस्तावदुच्यते क्रोधनिमित्तं स्वतंत्रस्य हिंसाविषयः प्रयत्नावेशः क्रोधकृतकायसंरंभः। मानकृतकायसंरंभः, मायाकृतकायसंरंभः, लोभकृतकायसंरंभः। क्रोधकारितकायसंरंभः, मानकारितकायसंरंभः मायाकारितकायसंरंभः, लोभकारितकायसंरंभः। क्रोधानुमतकायसंरंभः, मानानुमतकायसंरंभः, मायानुमतकायसंरंभः, लोभानुमतकायसंरंभः। इति द्वादशधा संरंभः। क्रोधकृतकायसमारंभः, मानकृतकायसमारंभः, मायाकृतकायसमारंभः, लोभकृतकायसमारंभः। क्रोधकारितकायसमारंभः, मानकारितकायसमारंभः। मायाकारितकायसमारंभः, लोभकारितकायसमारंभः

क्रोधानुमतकायसमारंभः, मानानुमतकायसमारंभः, मायानुमतकायसमारंभः, लोभानुमतकायसमारंभः इति द्वादशधा-समारंभः । क्रोधकृतकायारंभः, मानकृतकायारंभः, मायाकृतकायारंभः, लोभकृतकायारंभः । क्रोधकारितकायारंभः मानकारितकायारंभः, मायाकारितकायारंभः, लोभकारितकायारंभः । क्रोधानुमतकायारंभः, मानानुमतकायारंभः, मायानुमतकायारंभः । लोभानुमतकायारंभः । इति द्वादशधा आरंभः । एवं एते संपिंडिताः कायारंभाः षट्त्रिंशत् । एते संपिंडिताः जीवाधिकरणास्रवभेदा अष्टोत्तरशतसंख्या भवन्ति ॥

अब प्रथम जीवाधि करणके भेद कहते हैं.

अर्थ—हिंसा, चोरी वगैरह पापकार्योंमें प्रमादी होकर प्रयत्न करना संरंभ कहाता है. हिंसादिक कार्य करनेके लिये शस्त्रादिकोंका संग्रह करना समारंभ कहाता है. और संचित किये शस्त्रादिकोंसे हिंसादिकार्य करना, शुरु करना उसको आरंभ बोलते है. योग शब्दसे मनोयोग, वचन और काययोगका ग्रहण करना चाहिये. संरंभ, समारंभ आरंभ, मनोयोग, वचन योग, और काय योग, कृत, कारित और अनुमोदन और कषाय इनके द्वारा हिंसादिक पाप प्रवृत्तियोंको गुणित करनेपर प्रथम जीवाधिकरणके भेद होते हैं. चैतन्यवान् आत्मा प्रयत्नपूर्वक व्यापार करता है अतः प्रथम संरंभ कहा है. उपायके विना साध्य सिद्धि नहीं होती है इस लिये प्रयत्नके अनंतर उपायोंका—साधनोंका सग्रह करना इसको समारंभ कहते हैं. अतः संरंभके अनंतर समारंभ कहा गया है. कार्यकी शुरुआत साधनोंकी संग्रह होनेके अनंतर होती है. इस लिये आरंभका उसके अनंतर उल्लेख किया है.

स्वातंत्र्य विशिष्ट आत्मा जो कार्य करता है वह कृत है. दूसरेके प्रयोगकी अपेक्षासे जो सिद्ध होता है उसको कारित कहते हैं. जो कार्य स्वयं करता ही नहीं और दुसरोंसे कराता नहीं परंतु स्वयं करने वालेको सम्मति देता है उसको अनुमोदन कहते हैं.

क्रोधसे स्वयं हिंसाकार्यमें प्रयत्न करना उसको क्रोधकृतकाय संरंभ कहते हैं. मान, माया और लोभसे स्वयं हिंसा कार्यमें शरीरके द्वारा जो प्रयत्न करना उसके मानकृत कायसंरंभ, मायाकृत काय संरंभ, और लोभकृत काय संरंभ ऐसे चार भेद हुए.

क्रोध, मान, माया और लोभके वश होकर हिंसा कार्यमें दूसरोंको शरीरके द्वारा जो प्रवृत्त करना उसको क्रमसे क्रोधकारित कायसंरंभ, मानकारित कायसंरंभ, मायाकारित कायसंरंभ और लोभकारितकाय संरंभ ऐसे चार भेद होते हैं.

क्रोधादिक चारोंसे हिंसादि कार्योंमें स्वयं प्रवृत्त हुए मनुष्योंको शरीरके द्वारा जो अनुमति देना उसके भी चार भेद हैं. यथा क्रोधानुमतकायसंरंभ, मानानुमतकायसंरंभ, मायानुमतकायसंरंभ और लोभानुमतकायसंरंभ ऐसे चार भेद हैं सब मिलकर संरंभके बारा भेद हुए

समारंभके भी बारा भेद होते हैं. उनका क्रम—क्रोधकृत कायसमारंभ, मानकृत काय समारंभ मायाकृत कायसमारंभ और लोभ कृत काय समारंभ, क्रोध कारितकायसमारंभ, मानकारितकाय समारंभ मायाकारितकायसमारंभ, और लोभ कारित काय समारंभ, क्रोधानुमत काय समारंभ, मानानुमत काय समारंभ, मायानुमतकायसमारंभ और लोभानुमत, कायसमारंभ.

आरंभ के भी संरभ और समारंभ के समान बारा भेद होत है—

यथा—क्रोधकृतकायारंभ, मानकृत कायारंभ, मायाकृत कायारंभ और लोभकृत कायारंभ. क्रोधकारित कायारंभ, मानकारितकायारंभ, मायाकारित कायारंभ, लोभाकरित कायारंभ मायानुमत कायारंभ और लोभानुममत कायारंभ मानानुमतकायारंभ, मायानुमत कायारंभ और लोभानुमत कायारंभ इस प्रकार आरंभके भी बारा भेद होते हैं इस प्रकार कायके आरंभतक छत्तीस भेद होते हैं. इसी प्रकार वचनके छत्तीस और मनके छत्तीस मिलकर एकसो आठ भेद जीवाधिकरणके होते हैं.

अजीवाधिकरणस्य चतुरो भेदानाचष्टे—

संरंभो संकप्पो परिदावकदो हवे समारंभो ॥
आरंभो उद्दवओ सव्ववयाणं विसुद्धाणं ॥ ८१२ ॥
णिक्खेवो णिव्वत्ति तहा य संजोयणा णिसग्गो य ॥
कमसो चदु दुग दुग तिय भेदा होंति हु विदीयस्स ॥ ८१३ ॥
संरंभोऽकथि संकल्पः समारंभो वितापकः ॥
शुद्धबुद्धिभिरारंभः प्राणानां व्यपरोपकः ॥ ८३८

निर्वर्तना सनिक्षेपा संयोगः सनिसर्गकः ॥
द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः स्युर्द्वितीयस्य यथाक्रमम् ॥ ८३९ ॥

विजयोदया--णिक्खेवो णिव्वत्ति तहा य संजोयणा णिसग्गो य निक्षेपश्चतुःप्रकारः। निर्वर्तना द्विप्रकारा। संयोजना द्विप्रकारा। निसर्गस्त्रिविध इति संबध्यते ॥

अर्थ—हिंसादिक कार्योंका विचार करना संकल्प है. प्राणिओंको संताप उत्पन्न करना समारंभ है और आरंभ सर्व निर्मल व्रतोंका नाश करनेवाला है.

अर्थ—निक्षेप, निर्वर्ति, संयोजना और निसर्ग ऐसे अजीवाधिकरणके चार प्रकार हैं. निक्षेपके चार भेद, निर्वर्तनाके चार भेद, संयोगके दो भेद और निसर्गके तीन भेद हैं.

निक्षेपस्य चतुरो विकल्पानाचष्टे—

सहसाणाभोगिय दुप्पमज्जिद अपच्चवेक्खणिक्खेवो ॥
देहो व दुप्पउत्तो तहोवकरणं च णिव्वत्ति ॥ ८१४ ॥
निर्वर्तनोपधिर्देहो दुःप्रयुक्तोऽभिधीयते
निक्षेपः सहसादृष्टदुर्दृष्टाप्रत्यवेक्षणौ ॥ ८४० ॥

विजयोदया—सहसाणाभोगियदुप्पमज्जिद अप्पच्चवेक्खणिक्खेवो-सहसानिक्षेपाधिकरणं, अनाभोगनिक्षेपाधिकरणं, दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं, अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं चेति। निक्षिप्यते इति निक्षेपः। उपकरणं पुस्तकादि, शरीरं, शरीरमलानि वा सहसा शीघ्रं निक्षिप्यमाणानि भयात्। कुतश्चित्कार्यांतरकरणप्रयुक्तेन वा त्वरितेन षड्जीवनिकायबाधाधिकरणतां प्रतिपद्यंते। असत्यामपि त्वरायां जीवाःसन्ति न संतीति निरूपणामंतरेण निक्षिप्यमाणं तदेवोपकरणादिकं अनाभोगनिक्षेपाधिकरणमुच्यते। दुःप्रमृष्टमुपकरणादि निक्षिप्यमाणं दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं स्थाप्यमानाधिकरणं वा दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं। प्रमार्जनोत्तरकाले जीवाःसन्ति न सन्तीति अप्रत्यवेक्षितं यन्निक्षिप्यते तदप्रत्यवेक्षितं निक्षेपाधिकरणं। निर्वर्तनाभेदमाचष्टे—देहो य दुप्पउत्तो दुःप्रयुक्तं शरीरं हिंसोपकरणतया निर्वर्त्यते इति निर्वर्तनाधिकरणं भवति। उपकरणानि च सच्छिद्राणि यानि जीवबाधानिमित्तानि निर्वर्त्यन्ते तान्यपि निर्वर्तनाधिकरणं। यस्मिन्सौवीरादिभाजने प्रविष्टानि म्रियन्ते।

निक्षेपके चार भेदोंका वर्णन--

अर्थ—सहसा निक्षेपाधिकरण, अनाभोग निक्षेपाधिकरण, दुःप्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण और अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण ऐसे निक्षेपाधिकरणके चार भेद हैं

महसानिक्षेपाधिकरण—पिंछी, कमंडलु वगैरह उपकरण, पुस्तकादिक शरीर और शरीरका मल इनको भयसे महसा जलदी फेक देना, रखना किसी कार्यमें तत्पर होनेसे अथवा त्वरासे पिंछी कमंडल्वादिक पदार्थ जब जमीन पर रक्खे जाते हैं तब षट्काय जीवोंको बाधा देनेमें आधाररूप होते हैं अर्थात् इन पदार्थोंसे जीवको बाधा पहुंचती है,

त्वरा नहीं होनेपर भी जीव हैं या नहीं हैं इसका विचार न करके, देख भाल किये विनाही उपकरणादिक जमीनपर रखना, फेकना उसको अनाभोग निक्षेपाधिकरण कहते हैं.

उपकरणादिक वस्तु विना साफसूफ किये ही जमीनपर रख देना अथवा जिसपर उपकरणादिक रक्खे जाते हैं उसको अर्थात् चौकी जमीन वगैरहको अच्छी तरह से साफ सूफ न करना इनको दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण कहते हैं

साफ सूफ करने पर जीव हैं अथवा नहीं हैं यह देखे विना उपकरणादिक रखना अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण है.

अब निर्वर्तनाधिकरणके भेद कहते हैं—

शरीरकी असावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करना दुःप्रयुक्त कहा जाता है ऐसा दुःप्रयुक्त शरीर हिंसाका उपकरण बन जाता है इस वास्ते इसको देह निर्वर्तनाधिकरण कहते हैं. जीव बाधाको कारण ऐसे छिद्रसहित उपकरण बनाना इसको भी निर्वर्तनाधिकरण कहते हैं जैसे कांजी वगैरह रक्खे हुए पात्रमें जन्तु प्रवेश कर मर जाते हैं.

संजोयणमुवकरणाणं च तहा पाणभोयणाणं च ॥
दुट्ठणिसिट्ठा मणवचिकाया भेदा णिसग्गस्स ॥ ८१५ ॥
आहारोपधिभेदेन द्विधा संयोजनं मतम् ॥
दुःसृष्टाः स्वान्तवाक्काया निसर्गस्त्रिविधो मतः ॥ ८४१ ॥

विजयोदया—संजोजणमुवकरणाणं उपकरणानां पिच्छादीनां अन्योन्येन संयोजना । शीतस्पर्शस्य पुस्तकस्य कमंडल्वादेर्वा आतपादितप्तेन पिच्छेन प्रमार्जनं इत्यादिकं । तहा तथा । पाणभोजणाणं च पानभोजनयोश्च पानेन पानं,

भोजनं भोजनेन, भोजनं पानेनेत्येवमादिकं संयोजनं यस्य सम्मूर्छनं संभवति सा हिंसाधिकरणत्वेनाभोपात्ता न सर्वा। दुष्टनिसिष्टा मनवचिकाया दुष्टप्रवृत्ता मनोवाक्कायभेदा निसर्गशब्देनोच्यंते ॥

अर्थ—पिच्छी, कमंडलु वगैरह उपकरणोंका संयोग करना जैसे ठंडस्पर्शवाले पुस्तकका धूपसे संतप्त कमंडलु और पिच्छीके साथ संयोग करना अथवा धूपसे तपी हुई पिच्छीसे कमंडलु पुस्तकको स्वच्छ करना वगैरहको उपकरण संयोजन कहते हैं. जिनसे सम्मूर्च्छन जीवकी उत्पत्ति होगी ऐसे पेयपदार्थ दुसरे पेयपदार्थ के साथ संयुक्त करना. अथवा भोज्य पदार्थके साथ संयुक्त करना, भोज्य पदार्थके साथ अथवा पेयपदार्थको संयुक्त करना, जिनसे जीवोंकी हिंसा होती ऐसा ही पेय और भोज्य पदार्थोंका संयोग निषिद्ध हैं इससे अन्य संयोग निषिद्ध नहीं है.

मन वचन और शरीरके द्वारा दुष्ट प्रवृत्ति करना उसको निसर्ग कहते हैं.

अहिंसारक्षणोपायमाचष्टे—

जं जीवणिकायवहेण विणा इंदियकयं सुहं णत्थि ॥
तम्हि सुहे णिस्संगो तम्हा सो रक्खदि अहिंसा ॥ ८१६ ॥
नास्तीन्द्रियसुखं किंचिज्जीवहिंसां विना यतः ॥
निरपेक्षस्ततस्तस्मिन्नहिंसां पाति पावनीम् ॥ ८२५ ॥

विजयोदया—जं जीवणिकायवहेण यस्माज्जीवनिकायघातं विना। इंदियसुहं इंद्रियसुखं नास्ति। स्त्रीवस्त्रगंधमाल्यादिसेवा विचित्रा जीवनिकायपीडाकारिणी आरंभेण महतोपार्जनीयत्वात्। तस्मिन्निंद्रियसुखे। णिस्संगो यस्स पात्यहिंसां नेंद्रियसुखार्थी। तस्मादिंद्रियसुखादरं मा कृथा इत्युपदिशति सूरिः।

अहिंसाके रक्षणका उपाय आचार्य बताते हैं—

अर्थ—जीवोंका वध किये विना इंद्रियसुखकी प्राप्ति होती ही नहीं. स्त्रीसंभोग करना, वस्त्रधारण करना, पुष्पमाला गलेमें धारण करना इनसे इंद्रियसुख उत्पन्न होता है परंतु स्त्रीसंभोगादि कार्योंमें जीवहिंसा अवश्य होती है. स्त्री वगैरह पदार्थोंकी प्राप्ति करनेमें महान् आरंभ करना पडता है. इसवास्ते इंद्रिय सुखसे अहिंसाका रक्षण होता नहीं. हे क्षपक ! तू इस इंद्रियसुखमें स्नेह मत कर जो इंद्रिय सुखमें इच्छा नहीं करता है वही अहिंसा का रक्षण करता है.

जीवो कसायबहुलो संतो जीवाण घायणं कुणइ ॥

सो जीववहं परिहरदु सया जो णिज्जियकसाओ ॥ ८१७ ॥

कषायकलुषो यस्माज्जीवानां कुरुते वधम् ॥

नि:कषायो यतिस्तस्मादहिंसारक्षणक्षमः ॥ ८२६ ॥

विजयोदया—हिंसा कषायैः प्रवर्त्यते, ततोऽहिंसाभिरुचिना एते परिहर्तव्या इत्युत्तरसूत्रार्थम् ।

हिंसा कषायसे उत्पन्न होती है अहिंसाको चाहने वालोंको कषायोंका त्याग करना चाहिये ऐसा आगेके गाथामें लिखते हैं

अर्थ—जीव जब कषायके वश होता है तब वह जीवोंको मारता है. परंतु जिसने कषाय जीते हैं वही जीववधका परिहार करता है. अर्थात् अहिंसाका वही पालन करता है. प्रमाद अर्थात् कषाय हिंसामें जीवको प्रवृत्त करते हैं इसलिये अहिंसाव्रतको चाहनेवाले उसको दूरसे ही त्यागे

आदाणे णिक्खेवे वोसरणे ठाणगमणसयणेसु ॥

सव्वत्थ अप्पमत्तो दयावरो होदु हु अहिंसो ॥ ८१८ ॥

काएसु णिरारंभे फासुगभोजिम्मि णाणहिदयम्मि ॥

मणवयणकायगुत्तिम्मि होइ सयला अहिंसा हु ॥ ८१९ ॥

शयनासननिक्षेपग्रहचंक्रमणादिषु ॥

सर्वत्राप्यप्रमत्तस्य जीवत्राणं व्रतं यतेः ॥ ८२७ ॥

विवेकनियताचारप्रासुकाहारसेविनि ॥

मनोवाक्कायगुप्तेऽस्ति दयाव्रतमखंडितम् ॥ ८२८ ॥

विजयोदया—प्रमादो हिंसाया प्रवर्तकः स परित्यज्योऽहिंसाव्रतार्थिना इति गाथार्थः ॥

विजयोदया—परित्यक्तारंभस्य प्रासुकभोजिनो ज्ञानभावनासहिते मनसि गुप्तित्रयोपेते संपूर्णा भवत्यहिंसा इति सूत्रार्थः ॥

अर्थ— वस्तु उठा लेना, रखना, छोडना, खडे होना, बैठना, शयन करना इत्यादि समस्त कार्य करते समय जिन्होंने प्रमादका त्याग किया है ऐसे श्रेष्ठ दयाके धारक साधुजनोंसे अहिंसा पूर्णतासे पाली जाती है.

अर्थ—जिसने आरंभका त्याग किया है, जो प्रासुक आहार लेता है. ज्ञानाभ्यास करनेमें जिसने अपने चित्तको स्थिर किया है, तीन गुप्तिओंका धारक ऐसे मुनिराजमें यह अहिंसा पूर्णताको प्राप्त होती है.

आरंभे जीववहो अप्पासुगसेवणे य अणुमोदो ॥
आरंभादीसु मणो णाणरदीए विणा चरइ ॥ ८२० ॥
आरंभेऽङ्गिवधे जन्तुरप्रासुकनिषेवणे ॥
प्रवर्ततेऽनुमोदे च शश्वज्ज्ञानरतिं विना ॥ ८२९ ॥

विजयोदया—पृथिव्यादिविषयो व्यापार आरंभ.। तस्मिन्सति तदाश्रयप्राण्युपद्रव इति जीववधो भवति। उद्गमादिदोषोपहतस्य आहारस्य भोजने जीवनिकायवधानुमोदो भवति। ज्ञानरतिमंतरेण आरंभे कषाये च मनः प्रवर्तते।

अर्थ—पृथिवी, जल, इत्यादिकके आश्रयसे आरंभ होता है. अर्थात् जमीन खोदना, पानी सींचना, वृक्ष तोडना इत्यादि क्रियाओंको आरंभ कहते हैं. ऐसा आरंभ करनेसे उनके आश्रयसे रहनेवाले जीवोंका घात होता है. उद्गमादिदोषसहित आहार लेनेसे, जीवनिकायके वधके लिये सम्मति दी है ऐसा समझा जाता है. और ज्ञानाभ्यासमें यदि प्रेम न हो तो मन आरंभ और कषायमें प्रवृत्त होता है.

तम्हा इहपरलोए दुक्खाणि सदा अणिच्छमाणेण ॥
उवओगो कायव्वो जीवदयाए सदा मुणिणो ॥ ८२१ ॥
मुनिनानिच्छता लोके दुःखानि धृतये सदा ॥
उपयोगो विधातव्यो जीवत्राणव्रते परः ॥ ८३० ॥

विजयोदया —तह्मा तस्मात् । आरंभो भवता त्याज्यः, प्रासुकभोजनं भोज्यं, ज्ञाने भरतिश्च अपाकार्या इति क्षपकशिक्षा। अहिंसा जीवदया तस्याः फलमुपदर्शयति—तह्मा इत्यनया उभयलोकगतदुःखपरिहारमिच्छता दयाभावना कार्या इति कथयति।

अर्थ—इस वास्ते हे क्षपक! यदि तुम इहपर लोकमें दुःखको नहीं चाहते हो तो हमेशा जीवदया करनेमें अपने चित्तको स्थिर करो प्रासुक भोजन ग्रहण करनेमें यदि अरति उत्पन्न हुई हो तो उसको दूर करो.

क्षपकस्य स्वल्पकालवर्त्यपि अहिंसाव्रत करोत्यात्मनो महान्तमुपकारमित्याख्यान कथयति—

पाणो वि पाडिहेरं पत्तो छूढो वि सुंसुमारहदे ॥
एगेण एक्कदिवसक्कदेण हिंसावदगुणेण ॥ ८२२ ॥

अप्येकाहव्यापकेन प्रकृष्टं प्राप्तः पाणः प्रातिहार्यं सुरेभ्यः ॥
एकेनैव प्राणिरक्षाव्रतेन क्षिप्तः क्रूरोऽनेकनक्रौघमध्ये ॥ ८३१ ॥
परां सपर्यां ददती निरत्यये निवेशयन्ती बुधयाचिते पदे ॥
करोत्यहिंसा जननीव पालिता सुखानि सर्वाणि रजांसि धुन्वती ॥८३२॥

इति अहिंसा

विजयोदया —पाणो वि चंडालोऽपि पाडिहेरं प्रातिहार्यं पत्तो प्राप्त । सुंसुमारहदे शिशुमाराकुले ह्रदे निक्षिप्तोऽपि । एक्केण हिंसावदगुणेण एकेनैव अहिंसाव्रताख्येन गुणेन । अप्पकालकदेन अल्पकालकृतेन ॥ अहिंसा ॥

स्वल्पकालतक पाला जाने पर भी यह अहिंसाव्रत प्राणीपर महान् उपकार करता है—

अर्थ—शिंशुमार ह्रदमें फेंके गये चांडालने अल्पकाल तकही अहिंसा व्रतका पालन किया था परंतु वह इस व्रतके माहात्म्यसे देवोंके द्वारा पूजा गया. इस प्रकार अहिंसा व्रतका वर्णन पूर्ण हुआ.

द्वितीयव्रतनिरूपणाय उत्तरप्रबंध —

परिहर असंतवयणं सव्वं पि चदुव्विधं पयत्तेण ॥
धत्तं पि संजमिंतो भासादोसेण लिप्पदि हु ॥ ८२३ ॥

मुंचासत्यं वचः साधो! चतुर्भेदमपि त्रिधा ॥
संयमं विदधानोऽपि भाषादोषेण बाध्यते ॥ ८३३ ॥

विजयोदया—परिहर परित्यज । असंतवयणं असद् अशोभनं वचनं । यत्कर्मनिबंधनं वचस्तदशोभनं । तथा चोक्तं—'असदभिधानमनृतं' ननु वचनमात्मपरिणामो न भवति । द्रव्यांतरं हि तत्पुद्गलाख्यं, आत्मपरिणामो हि त्याज्यो यो बंधस्य बंधस्थितेर्वा निमित्तभूतो मिथ्यात्वमसंयमः कषायो योग इत्येवंप्रकारः । तस्मादसद्वचनपरिहारोपदेशोऽनुपयोगी कस्मात्कृत इति अत्रोच्यते—असंयमो हि त्रिप्रकारः कृतः कारितोऽनुमतश्च । इममस्मिन्नसंयमे प्रवर्तयामि अनेन वचनेन प्रवृत्तं वानुजानामि । इत्यभिसंधिमंतरेण वास्य वचनस्याप्रवृत्तेस्तद्वचनकारणभूतोऽभिसंधिरात्मपरिणामो भवति कर्मनिमित्तमिति परिहार्यस्तस्य परिहारे तत्कार्यं वचनमपि परिहृतं भवति । न ह्यसति कारणे कार्यप्रतिपत्तिरित्यसद्वचनपरिहारोऽनेनन क्रमेणोपन्यस्त इति स्वयमसद्वचनैकदेशपरिहारेऽप्यपहृतमसद्वचनं भवति इत्याशंकां परिहरति सव्वमिति चदुव्विधमिति तदीयभेदोपन्यासः। पयत्तेणेति । तत्र अप्रमत्ततामुपदिशति । वत्तं पि संजमंतो नितरामपि संयममाचरन्नपि । भासादोसेण भाषावचनं तन्निमित्तत्वाद्वाग्योगाख्य आत्मपरिणामो भाषाशब्देनोच्यते । भाषादुष्टः भाषादोषः । वाग्योगेन दुष्टेन निमित्तेन जातं यत्कर्म तेन। लिप्पदि लिप्यत एव संबध्यत एव आत्मा । एतेन कर्मबंधनिमित्तादोषकथनेन असद्वचनपरिहारे दार्ढ्यं करोति क्षपकस्य ॥

दुसरे सत्यमहाव्रतका निरूपण करनेके लिये आचार्य प्रारंभ करते हैं.

अर्थ—असत्य भाषण का हे क्षपक! तू त्याग कर क्यों कि वह बंधन का कारण है. तत्वार्थाधिगममें 'असदभिधानमनृतम्' इस सूत्रमें यही अभिप्राय कहा है.

शंका—वचन अर्थात् बोलना यह आत्मपरिणाम नहीं है. वह पुद्गल नामक द्रव्यका परिणमन है. जो आत्मपरिणाम बंध अथवा बंधस्थितिका निमित्त है वही त्याज्य है. मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, योग ये आत्मपरिणाम कर्मबंधके कारण होनेसे त्याज्य है. इस लिये असत्य वचनका परिहार करना, त्याग करना कुछ उपयोगी नहीं है. अतः उसका त्याग करनेका उपदेश क्यों किया?

उत्तर—असंयमके कृत कारित और अनुमत ऐसे तीन प्रकार हैं. इस मनुष्यको इस असंयममे मैं प्रवृत्त करूंगा अथवा वचनके द्वारा स्वयं असंयममें प्रवृत्त हुए इस मनुष्यको मैं अनुमोदन देऊंगा. इस प्रकारके संकल्पके विना वचनकी प्रवृत्ति होती नहीं. इसवास्ते ऐसे वचनका कारण आत्मपरिणाम है. यह आत्मपरिणाम कर्मबंध होनेमें कारण है अतः त्याज्य है. इसके त्यागसे इसका कार्यभूत वचन भी त्यागा जाता है. यदि कारण न हो तो कार्यका ज्ञान कैसे हो सकेगा. इस लिये असत्य वचनका त्याग इस क्रमसे आचार्यने दिखाया है.

असत्य वचनके—आचार्यने चार भेद किये हैं. इन सब भेदोंका त्याग हे क्षपक! तूं प्रयत्नसे कर. क्योंकि संयमका आचरण करता हुआ भी मुनि भाषादोषसे उत्पन्न हुए कर्मसे लिप्त होता है. अर्थात् दुष्ट वचन योगसे जो

कर्मास्रव आता है उससे वह लिप्त होता है, दुष्ट वचन कर्मबंधका निमित्त होता है इसलिये हे क्षपक तूं उसका त्याग कर.

प्रतिज्ञातं चातुर्विध्यमाचष्टे—

पढमं असंतवयणं संभूदत्थस्स होदि पडिसेहो ॥
णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति जधेवमादीयं ॥ ८२४ ॥

प्रथमं तद्वचोऽसत्यं यत् सतः प्रतिषेधनम् ॥
अकाले मरणं नास्ति नराणामिति यद्वचः ॥ ८३४ ॥

विजयोदया—पढमं असंतवयणं चतुर्षु आद्यमसद्वचनं संभूदत्थस्स होदि पडिसेहो सतोऽर्थस्य प्रतिषेधः । सतां सतो न वचनं असद्वचनमित्येकोऽर्थः । तस्योदाहरणमाह—णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति एवमादिकं नास्त्यकाले मनुष्यस्य मृतिरिति एवमादिकं वचनं । आयुषः स्थितिकालः काल इत्युच्यते । तस्मात्कालादन्यः कालोऽकालः । तस्मिन्नकाले । ननु च भोगभूमिनराणामनपवर्त्यमायुरतः अकाले मरणं नास्त्येव अतो युक्तमुच्यते णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति । नरशब्दस्य सामान्यवाचित्वात्सर्वनरविषयः अकालमरणाभावोऽयुक्तः केषुचित्कर्मभूमिजेषु तस्य सतो निषेधादित्यभिप्रायः ।

अर्थ—चार असत्य वचनोंमें पहिला असत्य वचन इस प्रकार समझना चाहिये—अस्तित्वरूप पदार्थका निषेध करना यह प्रथम असत्य वचनका भेद है. जैसे मनुष्यको अकालमें मृत्यु नहीं है, आयुष्यके स्थिति कालको यहां काल कहना चाहिये. इस कालसे जो अन्य काल उसको अकाल कहते हैं. शंका—मनुष्यको अकालमें मृत्यु नहीं है यह कहना सत्यही है क्योंकि भोगभूमिके मनुष्योंका आयुष्य विष शस्त्रादिसे कम होता ही नहीं अतः उनको अकालमें मरण नहीं है यह कहना योग्यही है. उत्तर—नर शब्द सामान्यवाची होनेसे संपूर्ण मनुष्योंका वाचक है. इस लिये अकाल मरण नहीं है ऐसा कहना अयोग्य ही है. कितने कर्मभूमीके मनुष्योंमें अकाल मृत्यु है उसका यहां निषेध किया है. अतः अकालमें मनुष्योंको मरण नहीं है यह कहना सत्पदार्थका—विद्यमान पदार्थका निषेध करनेवाला होनेसे अवश्य असत्यही है.

अहवा सयबुद्धीए पडिसेधो खेत्तकालभावेहिं ॥
अविचारिय णत्थि इह घडोत्ति जह एवमादीयं ॥ ८२५ ॥

कलशोऽस्तीति यद्भूते द्रव्यादीनां चतुष्टयम् ॥
अपर्यालोच्य यत्प्रोक्तमभूतोद्भावकं जिनैः ॥ ८२६ ॥

विजयोदया:—अथवा विवादबुद्धीए पडिसेध खेत्तकालभावेहिं अविचारिय भावमिति शेषः। स्वबुद्ध्या क्षेत्र कालभावैरभावमविचार्यमाणं अत्र नास्ति इदानीं न विद्यते। शुक्लकृष्णरूपो न वेत्यनिरूप्य घटस्य भाव इत्थं अनेन प्रकारेण णत्थि घडो जह एवमादीणं नास्ति घट इत्येवमादिकं। सतो घटस्य अविशेषेण असंतवचनं असद्वचनमित्युदाहरणान्तरमिदं।

अर्थ—अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन अपेक्षाओंसे विचार न कर यहां घडा नहीं है. इत्यादि रूप वचन अपनी बुद्धीसे कह देना. अभिप्राय यह है कि किसी अपेक्षासे घटकी सत्ता होने पर भी घट सर्वथा नहीं है ऐसा कहना यह भी असत्य वचन ही है. जैसे काला घट नहीं हैं परंतु घरमें यदि श्वेतघट है तो घट है ही नही ऐसा कहना कैसा योग्य होगा? क्षेत्रकी अपेक्षासे एक क्षेत्रमें घट न होगा. तो दूसरे क्षेत्रमें उसका सद्भाव होगा. परंतु स्वक्षेत्र परक्षेत्रका विचार न करके एकदम घट है ही नहीं ऐसा कहना असत्य ही है. वह अपने स्वरूपमें रहता है परंतु स्वस्वरूपकी अपेक्षासे भी नही है ऐसा कहना. यह असत्य है. भूतकालकी अपेक्षासे कोई घट न होनेपर वर्तमान कालकी अपेक्षासे भी उसकी सत्ता नहीं मानना यह कालकी अपेक्षासे निषेध करना है इत्यादिक पहिले असत्य के उदाहरण हैं.

जं असभूदुब्भावणमेदं विदियं असंतवयणं तु ॥
अत्थि सुराणमकाले मच्चुत्ति जहेवमादीयं ॥ ८२६ ॥

द्वितीयं तद्वचोऽसत्यमभूतोद्भावनं मतम् ॥
अस्त्यकाले सुराणां च मृत्युरित्येवमादि यत् ॥ ८२७ ॥

विजयोदया—जं असभूदुब्भावणमेदं विदियं असंतवयणं तु। यदसदुद्भावनं द्वितीयं असद्वचस्तस्योदाहरणमुत्तरं। अत्थि सुराणमकाले मच्चुत्ति जहेवमादीयं। सुराणामकाले मृत्युरस्तीत्येवमादिकं यथा असदेव अकालमरणमनेनोच्यते इत्यसद्वचनम्॥

अर्थ—जो नहीं है उसको है कहना यह असत्य वचनका दूसरा भेद है जैसे 'देवोंको अकाल मृत्यु नहीं है ऐसा आगम कहता है परंतु देवों को अकाल मृत्यु है ऐसा कहना. इत्यादि रूप असत्यका दूसरा प्रकार है.

अहवा जं उब्भावेदि असंतं खेत्तकालभावेहिं ॥
अविधारिय अत्थि इह घडोत्ति जह एवमादीयं ॥ ८२७ ॥

विजयोदया—अथवा जं उब्भावेदि यद्वचनं उद्भावयति। असंतं घटं। कथमसंतं? खेत्तकालभावेहिं क्षेत्रांतरसंबंधित्वेन संतं इहस्थं घटं कालांतरसंबंधेन अतीते अनागते वा असंतं भावान्तरसंबंधित्वेन कृष्णत्वादिना संतं। अविधारिय अविचार्य इत्थं सत् इत्थमसत् इति अस्ति घट इत्येवमादिकंसर्वथास्तित्वमसद्भावयतीति असद्वचनं।

अर्थ—अथवा द्रव्य क्षेत्रकालांतरसे घट न होने पर भी बिना विचारके सर्व द्रव्यक्षेत्रकालापेक्षया घट है ऐसा कहना यह दूसरा उदाहरण है. जैसे एक कोठरीमें घट है परंतु दूसरे कोठरीमें न होनेपर भी दूसरे कोठरीमें है ऐसा कहना. सफेत घट है परंतु कालाभी है ऐसा कहना. पर रूपसे घट नही रहता है परंतु उसके स्वरूपसे भी वह है ऐसा कहना. वर्तमानकालमेंही घट की सत्ता होनेपरभी भूतकालमें भी था ऐसा कहना यह सब असत्यके दूसरे प्रकारके उदाहरण है. ।

तदियं असंतवयणं संतं जं कुणदि अण्णजादीगं ॥
अविचारित्ता गोणं अस्सोत्ति जहेवमादीयं ॥ ८२८ ॥
तृतीयं तद्वचोऽसत्यं यदनालोच्य भाषते ॥
पदार्थमन्यजातीयं गौर्वाजीत्येवमादिकम् ॥ ८२७ ॥

विजयोदया—तदियं असंतवयणं तृतीयमसद्वचनं। संतं जं कुणदि अण्णजादीगं सद्यत्करोति अन्यजातीयं। अविचारित्ता गोणं अस्सोत्ति जहेवमादीगा। अश्वमित्येवमादिकं। सतो बलीवर्दत्वात् अश्वत्वं असत्तस्य वचनं।

अर्थ—एक जातीके सत्पदार्थ को अन्य जातीका सत्पदार्थ कहना यह असत्यका तीसरा भेद है. जैसे बैल है इसका विचार न कर यहां घोडा है ऐसा कहना. यह कहना विपरीत सत् पदार्थका प्रतिपादन करनेसे असत्य है.

चतुर्थमसद्वचनमाचष्टे—

जं वा गरहिदवयणं जं वा सावज्जसंजुदं वयणं ॥
जं वा अप्पियवयणं असत्तवयणं चउत्थं च ॥ ८२९ ॥

सावद्यं गर्हितं वाक्यमप्रियं च मनीषिभिः ॥
त्रिप्रकारमिति प्रोक्तं तुरीयकमसूनृतम् ॥ ८२८ ॥

विजयोदया—जं वा गरहिदवयणं यद्वा गर्हितं वचनं। जं वा सावज्जसंजुदं वयणं। यद्वा सावद्यसंयुतं वचनं। जं वा अप्पियवयणं यद्वा अप्रियवचनं। तत् चउत्थं चतुर्थं वयणं असत्तवयणं असद्वचनं ॥

असत्यका चौथा प्रकार कहते हैं—

अर्थ—जो निंद्यवचन बोलना, जो पापयुक्त वचन बोलना और जो अप्रियवचन बोलना वह सब चौथे प्रकारका असत्य वचन है.

तेषु वचनेषु गर्हितवचनमाचष्टे—

कक्कस्सवयणं णिट्ठुरवयणं पेसुण्णहासवयणं च ॥
जं किंचि विप्पलावं गरहिदवयणं समासेण ॥ ८३० ॥

कर्कशं निष्ठुरं हास्यं परुषं पिशुनं वचः ॥
ईर्ष्यापरमसंबंधं गर्हितं सकलं मतम् ॥ ८३९ ॥

विजयोदया—कक्कसवयणं कर्कशवचनं नाम सगर्ववचनमिति केचिद्वदन्त्यन्ये असत्यमिति। णिट्ठुरवयणं निष्ठुरवचनं। पेसुण्णहासवयणं च परदोषसूचनपरं वचनं। पैशून्यवचनं हासावहं वचनं। जं किंचि विप्पलावं यत्किंचिदप्रलपनं च मुखरतया। गरहिदवयणं गर्हितवचनं। समासेण संक्षेपेण ॥

अर्थ—कर्कशवचन-गर्वयुक्त भाषण को कर्कशवचन कहना चाहिये ऐसा कोई आचार्य कहते हैं. कोई झूट वचनको कर्कशवचन कहते हैं. निष्ठुर भाषण दूसरोंके दोष दिखानेवाला वचन, उपहासका वचन जो कुछ भी वड-वड करना अर्थात वाचाल होकर चाहे जैसा बोलना यह सब संक्षेपसे गर्हित वचन ही है.

सावद्यवचनं निरूपयति—

जत्तो पाणवधादी दोसा जायंति सावज्जवयणं च ॥
अविचारित्ता थेणं थेणत्ति जहेवमादीयं ॥ ८३१ ॥

प्राणिघातादयो दोषाः प्रवर्तंते यतोऽखिलाः ॥
सावद्यं तद्वचो ज्ञेयं षड्विधारंभवर्णकम् ॥ ८४० ॥

विजयोदया—जत्तो पाणवधादी दोसा जायंतीति यस्माद्वचनाद्धेतोः प्राणवधादयो दोषा जायंते । सावज्जवयणं तं सावद्यं वचनं तत् पृथिवीं खन । महिषीं पीतोदकां पयसा प्रपूरय, प्रसूनानि उच्चिनु । इत्येवमादिकानि अविचारित्ता अविचार्य किमेवं वक्तुं युक्तं ममेति । अथवा दोषोऽनेन वचसा नवेति अपरीक्ष्य चौरं चौरोयमिति कथनं ।

अर्थ—जिस भाषणसे प्राणिहिंसा वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा भाषण बोलना उसको सावद्य वचन कहते हैं. जैसे इस जमीनको खोदो, इस भैसने पानी पिया हैं अब इसको पानीसे धो डालो. पुष्प तोडो. इत्यादिक वचनोंको सावद्य भाषण कहते हैं. मेरा बोलना योग्य हैं या नहीं इसका विचार न करके अथवा ऐसे भाषण सदोष हैं या निर्दोष हैं कुछ विचार न करके परीक्षाके बिनाही कह देना यह सब सावद्य वचन है. जैसे चोरको यह चोर है ऐसा कहना.

परुसं कडुयं वयणं वेरं कलहं च जं भयं कुणइ ॥
उत्तासणं च हीलणमप्पियवयणं समासेण ॥ ८३२ ॥

हासभयलोहकोहप्पदोसादीहिं तु मे पयत्तेण ॥
एवं असंतवयणं परिहरिदव्वं विसेसेण ॥ ८३३ ॥

अवज्ञाकारणं वैरकलहत्रासवर्द्धकम् ॥
अश्राव्यं कटुकं ज्ञेयमप्रियं वचनं बुधैः ॥ ८४१ ॥
रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहादिसंभवं ॥
वितथं वचनं हेयं संयतेन विशेषतः ॥ ८४२ ॥

विजयोदया—हासभय-हास्येन, भयेन, लोभेन, क्रोधेन, प्रद्वेषेणेत्येवमादिना कारणेन। एवं असंतवयणं एतद् असद्वचनं त्वया पत्तेण प्रयत्नेन। परिहरिदव्वं परिहर्तव्यं। विसेसेण विशेषेण॥

अर्थ—मर्मच्छेद करनेवाले भाषणको परुष कहते हैं जैसे तूं अनेक दोषोंसे दुष्ट है. मनको उद्विग्न करनेवाली भाषाको कटु भाषा कहते हैं जैसे तू निंद्य जातीमें पैदा हुआ है, तूं धर्म रहित पापी है, इत्यादि. वैर उत्पन्न करनेवाला भाषण जैसे तू गधा है, तेरेको कुछ भी ज्ञान नहीं है. तेरे समान मूर्ख इस संसारमें दूसरा कोई नहीं है. इत्यादि जिससे कलह हो जाता है वह कलहकारि वचन कहते हैं. मनको त्रास पोहोंचेगा क्लेश होगा वह वचन उत्रासनकर है. दूसरोंकी अवज्ञा करनेवाले शब्द बोलना वह हीलन वचन है. जैसे तुमको धिक्कार हो. इस तरह अप्रिय वचनका संक्षेपसे वर्णन किया. हास्य, भीति, लोभ, क्रोध, द्वेष इत्यादि कारणोंसे जो असत्य भाषण किया जाता है हे क्षपक! उसका तूं प्रयत्नसे विशेष त्याग कर.

एवमसत्क्रियादं परिहार्यमुपदिश्य सत्यवचनलक्षणमुक्तासद्वचनलक्षणतया दर्शयति—

तव्विवरीदं सच्चं कज्जे काले मिदं सविसए य ॥
भत्तादिकहारहियं भणाहि तं चेव सुयणाहि ॥ ८३४ ॥
विपरीतं ततः सत्यं काले कार्ये मितं हितम् ॥
निर्भक्तादिकथं ब्रूहि तदेव वचनं शृणु ॥ ८४३ ॥

विजयोदया—तव्विवरीदं असद्वचन विपरीतं। सच्चं सत्यं भणाहि भण। कज्जे कार्ये ज्ञानचारित्रादिशिक्षालक्षणे। असंयमपरिहारे परस्य वा सन्मार्गस्थापनाकरे काले। आवश्यकादीनां कालादन्यः काल इत्यकालशब्देनोच्यते। अथवा कालशब्देन नत्ताम उच्यते। मिदं परिमितं वचनं। सविसए च भवतो ज्ञानस्य विषये प्रवृत्तं वचनं। भणाहि भण। भत्तादिकथारहिदं भणाहि तं चेव य सुणाहि भक्तचोरस्त्रीराजकथादिरहितं। तं चेव य तथाभूतमेव

वचन सुणाहि शृणु। अयमयोग्य न ब्रवीति एतावता सत्यव्रत पालितमिति आशा न कार्या । परेणोच्यमानमसद्वचनं शृण्वतो मनोऽशुभतया च कर्मबंधो महानिति भाव ।

असत्य भाषणका त्याग करनेके लिये ऊपर आचार्यने उपदेशकिया अब सत्यवचनका स्वरूप कहते हैं

अर्थ—असत्य भाषणके जितने प्रकार ऊपर कहे हैं उनके विरुद्ध जो जो भाषण हैं वह २ हे क्षपक! तुम बोलो ज्ञान, चारित्रादिकों का उपदेश देनेवाला, असंयमसे परावृत्त करनेवाला, अन्य साधुजनोंको सद्धर्ममें स्थिर करनेवाला ऐसा भाषण हे क्षपक! तुम बोलो सामायिक, प्रतिक्रमण, वंदना, स्तुति वगैरह आवश्यकों के कालके सिवाय अन्य समयको यहा काल समझना चाहिये अर्थात् योग्य काल प्रसंगको जानकर प्रगट होनेवाला ऐसे भाषणको यहा सत्यभाषण कहते हैं ऐसा सत्य भाषण हे क्षपक ! तू मितही बोल वह भाषण भक्तकथा, राजकथा चोरकथा वगैरह विकथाओंसे वर्जित होना चाहिये ऐसा भाषण तू बोल और अन्यका भी विकथावर्जित भाषण सुन यह वक्ता अयोग्य बोलता नहीं है एतावता इसने सत्यव्रत पाला है ऐसा तूं मत समझ दूसरेका असद्भाषण सुननेपरभी मनमें अशुभ संकल्प उत्पन्न होकर महान्कर्मबंध होता है ऐसा जानकर दूसरोंका असत्य भाषण हे क्षपक! तू मत सुन

सत्यवचनगुण हृदयनिर्वाण ख्यापयति गाथोत्तरा स्पष्टा—

जलचंदणससिमुत्ताचंदमणी तह णरस्स णिव्वाणं ॥

ण करंति कुणइ जह अत्थज्जुयं हिदमधुरमिदवयणं ॥ ८३५ ॥

नरस्य चंदनं चन्द्रचन्द्रकांतमणिर्जलम् ॥

न तथा कुरुते सौख्य वचनं मधुर यथा ॥ ८४४ ॥

सत्यवचनमें हृदयको सुख देनेका गुण है इसका विवेचन--

अर्थ—पानी, चंदन, चंद्र, मोती, और चंद्रकांतमणि ये पदार्थ लोगोंको उतना आनद उत्पन्न करनेमें असमर्थ हैं जितना आनद अर्थयुक्त, हितकर और मधुर भाषण उत्पन्न करता है अर्थात् पानी, चंदन और चंद्रादिकोंसे भी सत्यवचन जीवोंको अधिक आनद देता है

न सत्यमित्येतावतो वचनं वक्तव्यं, सत्यमेव सदेव वक्तव्यमेव नेति ब्रवीति—

अण्णस्स अप्पणो वा विधम्मिए विद्दवंतए कज्जे ॥
जं अ पुच्छिज्जंतो अण्णेहिं य पुच्छिओ जंप ॥ ८३६ ॥

स्वकीये परकीये वा धर्मकृत्ये विनश्यति ॥
त्वमपृष्टो वदान्यत्र पृष्ट एवं सदा वद ॥ ८४५ ॥

विजयोदया—अण्णस्य अप्पणो वापि अन्यस्य आत्मनो वा धार्मिककार्ये विनश्यति सति अपृष्टोऽपि ब्रूहि। अनतिपातिनि कार्ये पृष्ट एव वद नापृष्टः॥

जो सत्य है वह बोलना चाहिए ऐसा नहीं परंतु सत्य होकर जो प्राणिओंका कल्याण करता है वह भाषण बोलना चाहिए यही अभिप्राय आगेकी गाथामें कहा है—

अर्थ—दूसरोंका अथवा अपना धार्मिक कार्य नष्ट होनेका प्रसंग आनेपर विना पूछे हि बोलना चाहिये. यदि कार्य विनाशका प्रसंग न हो तो जब कोई पूछेगा तब बोलो. नहीं पूछेगा तो बोलना नहीं.

सच्चं वदंति रिसओ रिसीहिं विहिदाउ सव्व विज्जाओ ॥
मिच्छस्स वि सिज्झंति य विज्जाओ सच्चवादिस्स ॥ ८३७ ॥

वदंति ऋषयः सत्यं यद्विद्या निखिलाः कृताः ॥
तन्म्लेच्छस्यापि सिध्यन्ति सर्वदा सत्यवादिनः ॥ ८४६ ॥

विजयोदया—सच्चं वदंति रिसओ सत्यं वदंति यतयः। रिसीहिं विहिदाओ यतिभिर्विहिताः सर्वविद्याः। मिच्छस्सवि म्लेच्छस्यापि सिज्झंति सिध्यन्ति। विज्जाओ विद्याः। सच्चवादिस्स सत्यवादिनः॥

अर्थ—ऋषिगण सत्यभाषण करते हैं. ऋषियोंने सर्व विद्यायें उत्पन्न की हैं. जो सत्यवादी है ऐसे म्लेच्छ को भी विद्यायें सिद्ध होती हैं.

अर्थ—एकदफे ही बोला हुआ असत्य भाषण अनेक बार बोले हुए सत्यभाषणोंका संहार करता है. असत्यवादी पुरुष स्वयं भी मनमें डरता है. शंकायुक्त रहता है. मेरा असत्यभाषण यदि प्रकट होगा तो मेरा नाश होगा ऐसी भीति उसके मनमें उत्पन्न होती है.

अप्पच्चओ अकित्ती भंमारदिकलहवेरभयसोगा ॥
वधबंधभेदणाणा सव्वे मोसम्मि सण्णिहिदा ॥ ८४८ ॥

अप्रत्ययो भयं वैरमकीर्तिर्मरणं कलिः ॥
विषादो मत्सरः शोकः सर्वेऽसत्यस्य बांधवाः ॥ ८५७ ॥
आधाररसनाछेदसर्वस्वहरणादयः ॥
इहासत्येन लभ्यंते परत्र नरकापनिः ॥ ८५८ ॥

विजयोदया—अपच्चओ अप्रत्ययः । अकीर्तिः, संक्लेशः, अरतिः, कलहो, वैरं, भयं, शोकः, वधो, बंधः, स्वजनभेदः, धननाशश्चेत्यमी दोषाः सन्निहिता मृषावचने ॥

अर्थ—अविश्वास, अकीर्ति, संक्लेशपरिणाम, तिरस्कार, कलह, वैर, भय, शोक, वध, बंध, स्वजनमें फूट, और धनका नाश ऐसे पाप सत्यभाषणसे उत्पन्न होते हैं.

पापस्सागमदारं असच्चवयणं भणंति हु जिणिंदा ॥
हिदपुण अपात्रो वि हु मोसेण गदो वसू णिरयं ॥ ८४९ ॥

कलिलस्यास्रवद्वारं वितथं कथितं जिनैः ॥
निष्पापो हि वसुस्तेन भितेन नरकंगतः ॥ ८५९ ॥

विजयोदया—पापस्यागमद्वारमिति वदंत्यसत्यं जिनेंद्राः । इतर अपापोऽपि मृषामात्रेण वसुर्गतो नरकं इत्याख्यानकं वाच्यं ।

अर्थ—जिनेंद्र भगवान असत्य भाषण पाप कर्मके आस्रव दरवाजेके समान है ऐसा कहते हैं अर्थात्

असत्य भाषण पापास्रवका कारण है. हृदयमें पापरहित वसु राजा असत्यभाषणसे नरकमें चला गया.

परलोगम्मि वि दोसा ते चेव हवंति अलियवादिस्स ॥
मोसादीए दोसे जत्तेण वि परिहरंतस्स ॥ ८५० ॥

असत्यवादिनो दोषाः परत्रापि भवन्ति ते ॥
मुंचतोऽपि प्रयत्नेन मृषाभाषादिदूषणम् ॥ ८६० ॥

विजयोदया—परलोगम्मि वि दोसा परभवेऽपि दोषास्त एव अप्रत्ययादय एव भवंत्यलीकवादिनः। यत्नेनापि परिहरतः। किं ? मोसादिगे दोसे मृषादिकान्दोषान्। मृषा आदिर्येषां स्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणां ते मृषादयः। अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिरत्र ग्राह्यः। स्तेयादिदोषान्परिहरतोऽपीत्यर्थः॥

अर्थ—असत्य बोलनेवाले पुरुषको अविश्वास वगैरे दोष परलोकमें भी प्राप्त होते हैं. असत्य भाषण चोरी मैथुन, परिग्रह वगैरह पापोंका त्याग करनेपर भी, परलोकमें इन दोषोंका यह पुरुष कर्ता है ऐसा माना जाता है. परजन्ममें बडे प्रयत्नसे इनका त्याग करने पर भी इन दोषोंका उसके ऊपर आरोप आता है.

भवतु नाम अप्रत्ययत्वादिका मृषावादस्य दोषाः कर्कशवचनादिना परभवे इह वाथ के दोषा इत्यत्राचष्टे—

इहलोइय परलोइय दोसा जे होंति अलियवयणस्स ॥
कक्कसवयणादीण वि दोसा ते चेव णादव्वा ॥ ८५१ ॥

ये सन्ति वचनेऽलीके दोषा दुःखविधायिनः ॥
त एव कथिता जैनैः सकलाः कर्कशादिकाः ॥ ८६१ ॥

विजयोदया—इहलोगिग दोसा अस्मिञ्जन्मनि परत्र च ये दोषा भवंति अलीकवादिनः। कर्कशवचनादीनामपि त एव दोषा इति ज्ञातव्या॥

असत्यवचन बोलनेसे अविश्वास वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं परंतु कर्कशवचनादिकसे परभवमें अथवा इस भवमें कोनसे दोष उत्पन्न होते हैं? इस प्रश्नका उत्तर—

वचनं सुणाहि शृणु। अयमयोग्यं न ब्रवीति एतावता सत्यव्रतं पालितमिति आशा न कार्या । परेणोच्यमानमसद्वचनं शृण्वतो मनोऽशुभतया च कर्मबंधो महानिति भावः ।

असत्य भापणका त्याग करनेके लिये ऊपर आचार्यने उपदेशकिया अब सत्यवचनका स्वरूप कहते हैं.

अर्थ—असत्य भापणके जितने प्रकार ऊपर कहे हैं उनके विरुद्ध जो जो भापण हैं वह २ हे क्षपक! तुम बोलो. ज्ञान, चारित्रादिकों का उपदेश देनेवाला, असंयमसे परावृत्त करनेवाला, अन्य साधुजनोंको सद्धर्ममें स्थिर करनेवाला ऐसा भापण हे क्षपक! तुम बोलो. सामायिक, प्रतिक्रमण, वंदना, स्तुति वगैरह आवश्यकों के कालके सिवाय अन्य समयको यहां काल समझना चाहिये अर्थात् योग्य काल प्रसंगको जानकर प्रगट होनेवाला ऐसे भापणको यहां सत्यभापण कहते हैं. ऐसा सत्य भापण हे क्षपक! तूं मितही बोल. वह भापण भक्तकथा, राजकथा चोरकथा वगैरह विकथाओंसे वर्जित होना चाहिये. ऐसा भापण तू बोल और अन्यका भी विकथावर्जित भापण सुन. यह वक्ता अयोग्य बोलता नहीं है एतावता इसने सत्यव्रत पाला है ऐसा तूं मत समझ. दूसरेका असद्भापण सुननेपरभी मनमें अशुभ संकल्प उत्पन्न होकर महान्कर्मबंध होता है ऐसा जानकर दूसरोंका असत्य भापण हे क्षपक! तू मत सुन.

सत्यवचनगुणं हृदयनिर्वाणं ख्यापयति गाथोत्तरा स्पष्टा—

जलचंदणससिमुत्ताचंदमणी तह णरस्स णिव्वाणं ॥
ण करंति कुणइ जह अत्थज्जुयं हिदमधुरमिदवयणं ॥ ८३५ ॥

नरस्य चंदनं चंद्रचंद्रकातमणिर्जलम् ॥
न तथा कुरुते सौख्यं वचनं मधुरं यथा ॥ ८४४ ॥

सत्यवचनमें हृदयको सुख देनेका गुण है इसका विवेचन—

अर्थ—पानी, चंदन, चंद्र, मोती, और चंद्रकांतमणि ये पदार्थ लोगोंको उतना आनंद उत्पन्न करनेमे असमर्थ हैं जितना आनंद अर्थयुक्त, हितकर और मधुर भापण उत्पन्न करता है. अर्थात् पानी, चंदन और चंद्रादिकोंमे भी सत्यवचन जीवोंको अधिक आनंद देता है.

अण्णस्स अप्पणो वा विधम्मिए विद्दवंतए कज्जे ॥
जं अ पुच्छिज्जंतो अण्णेहिं य पुच्छिओ जंप ॥ ८३६ ॥

स्वकीये परकीये वा धर्मकृत्ये विनश्यति ॥
त्वमपृष्टो वदान्यत्र पृष्ट एवं सदा वद ॥ ८४५ ॥

विजयोदया—अण्णस्य अप्पणो वापि अन्यस्य आत्मनो वा धार्मिककार्ये विनश्यति सति अपृष्टोऽपि ब्रूहि। अनतिपातिनि कार्ये पृष्ट एव वद नापृष्टः ॥

जो सत्य है वह बोलना चाहिए ऐसा नहीं परंतु सत्य होकर जो प्राणिओंका कल्याण करता है वह भाषण बोलना चाहिए यही अभिप्राय आगेकी गाथामें कहा है—

अर्थ—दूसरोंका अथवा अपना धार्मिक कार्य नष्ट होनेका प्रसंग आनेपर बिना पूछे हि बोलना चाहिये यदि कार्य विनाशका प्रसग न हो तो जब कोई पूछेगा तब बोलो. नही पूछेगा तो बोलना नही.

सच्चं वदंति रिसओ रिसीहिं विहिदाउ सव्व विज्जाओ ॥
मिच्छस्स वि सिज्झंति य विज्जाओ सच्चवादिस्स ॥ ८३७ ॥

वदंति ऋषयः सत्यं यद्विद्या निखिलाः कृताः ॥
तन्म्लेच्छस्यापि सिध्यन्ति सर्वदा सत्यवादिनः ॥ ८४६ ॥

विजयोदया—सच्चं वदंति रिसओ सत्यं वदंति यतयः। रिसीहिं विहिदाओ यतिभिर्विहिताः सर्वविद्या.। मिच्छस्सवि म्लेच्छस्यपि सिज्झंति सिध्यन्ति। विज्जाओ विद्याः। सच्चवादिस्स सत्यवादिनः ॥

अर्थ—ऋषिगण सत्यभाषण करते हैं. ऋषियोंने सर्व विद्यायें उत्पन्न की हैं. जो सत्यवादी है ऐसे म्लेच्छ को भी विद्यायें सिद्ध होती हैं.

ण डहदि अग्गी मच्चेण णरं जलं च तं ण बुड्डेइ ॥
सच्चबलियं खु पुरिसं ण वहदि तिक्खा गिरिणदी वि ॥ ८३८ ॥

दह्यते न हुताशेन न निमज्जति वारिणि ॥
अन्यः सत्यबलोपेतो नरो नद्यापि नोह्यते ॥ ८४७ ॥

विजयोदया—ण डहदि अग्गी णरं न दहत्यग्निः सत्येन नरं । जलं च तया बुड्डेदि जलं च तत्र निमज्जयति । सत्यबलियं सत्यमेव बलं तद्वन्तमपि तं न वहति नाकर्षयति । तिक्खा गिरिनदीवि तीव्रवेगा गिरिनद्यपि ॥

अर्थ—सत्यवादी को अग्नि जलाता नहीं पानी उसको डुबोनेमें असमर्थ होता है. सत्यभाषण ही जिसका सामर्थ्य है ऐसे मनुष्य को बडे वेगसे पर्वतपरसे कूदनेवाली नदी भी नहीं वहा सकती है.

सच्चेण देवदाओ णवंति पुरिसस्स ठंति य वसम्मि ॥
सच्चेण य गहगहिदं मोएइ करेंति रक्खं च ॥ ८३९ ॥

वश्या भवंति सत्येन देवताः प्रणमन्ति च ॥
विमोचयन्ति सत्येन ग्रहतः पांति च स्फुटम् ॥ ८४८ ॥

विजयोदया—सच्चेण देवदाओ णमंति सत्येन देवता नमस्यंति । पुरिसस्स ठंति य वसम्मि पुरुषस्य च वशे तिष्ठंति । गहगहिदं सच्चेण मोएइ पिशाचग्रहणं मोचयंति सत्येन । करेंति सच्चेण रक्खं च कुर्वन्ति सत्येन रक्षां ॥

अर्थ—सत्यके प्रभावसे देवतायें सत्यवादी को वंदन करती हैं. और उसके वश होती होती है. सत्यके प्रभावसे पिशाच भाग जाता है. और सत्यके प्रभावसे देवताये रक्षण करती हैं. अर्थात् सत्यवादीपर आये हुये संकट दूर करती हैं.

माया व होइ विस्सस्सणिज्ज पुज्जो गुरुव्व लोगस्स ॥
पुरिसो हु सच्चवादी होदि हु सणियल्लओव्व पिओ ॥ ८४० ॥

नरो मातेव विश्वास्यः पूज्यो गुरुरिवाखिले ॥
सत्यवादी प्रियो नित्यं स्वबंधुरिव जायते ॥ ८४९ ॥

विजयोदया—मादा व होदि विस्सससणिज्ज मातेव भवति विश्वसनीयः। पुज्जो गुरुव्व लोगस्स पूज्यो गुरुवल्लोकस्य। क. सच्चवादी पुरिसो सत्यवादी पुरुषः। पिओ होदि सगियल्लओव्व प्रियो भवति बंधुरिव ॥

अर्थ—सत्यवादी के ऊपर लोक माताके समान विश्वास रखते हैं. सत्यवादी लोक गुरुके समान पूज्य समझे जाते हैं. सत्यवादी मनुष्य स्वजनके समान लोकोंको प्रिय होता है.

सच्चं अवगददोसं वुत्तूण जणस्स मज्झयारम्मि ॥
पीदिं पावदि परमं जसं च जगविस्सुदं लहइ ॥ ८४१ ॥
भाषमाणो नरः सत्यं लभते प्रीतिमुत्तमाम् ॥
बुधानंदकरीं कीर्तिं शशांककरसुंदराम् ॥ ८५० ॥

विजयोदया—सच्चं वुत्तूण सत्यवचनमुक्त्वा। कीदृग्भूतं? अवगददोसं दोषरहितं। क? जणस्स मज्झयारम्मि जनमध्ये। पीदिं पावदि परमां प्रीतिं प्राप्नोति परां। जसं लभदि यशश्च लभते। जगविस्सुदं जगति विश्रुतं ॥

अर्थ—दोषरहित सत्यभाषण लोक समुदायमें बोलनेसे मनुष्य उत्कृष्ट आदरको प्राप्त होता है. और जगतमें उसका यश प्रसिद्ध होता है.

सच्चम्मि तवो सच्चम्मि संजमो तह वसे सया वि गुणा ॥
सच्चं णिबंधणं हि य गुणाणमुदधीव मच्छाणं ॥ ८४२ ॥
गुणानामालयः सत्यं मत्स्यानामिव नीरधिः ॥
प्रमाणमस्ति सत्येन वर्जितोऽपि गुणैः परैः ॥ ८५१ ॥

विजयोदया—सच्चम्मि तवो सच्चम्मि संजमो सत्याधारौ तपःसंयमौ, शेषाश्च गुणाः। सच्चं णिबंधणं गुणाणं सत्यं गुणानां निबंधनं। सच्चं मच्छाण उदधीव सत्यं मत्स्यानामुदधिरिव ॥

अर्थ—सत्यके आश्रयसे तप और संयमकी वृद्धि होती है. इस सत्यका आधार पाकर ही सर्वगुण अपनी वृद्धि कर सकते हैं. समुद्र जैसे मच्छोंका आश्रयस्थान है वैसे संपूर्ण गुणोंको सत्य आश्रय स्थान है.

सच्चेण जगे होदि पमाणं अण्णो गुणो जदि वि से णत्थि ॥
अदिसंजदो य मोसे ण होदि पुरिसेसु तणलहुओ ॥ ८४३ ॥

संपद्यंते गुणाः सत्ये संयमो नियमस्तपः ॥
संयतोऽपि मृषावादी जायते तृणतो लघुः ॥ ८५२ ॥

विजयोदया—सच्चेण जगे होदि सत्येन जगति भवति । पमाणं प्रमाणं । यद्यप्यन्यो गुणो नास्ति । अतीव संयतोऽपि सतां मध्ये तृणवल्लघुर्भवति मृषावचनेनेति गाथार्थः ॥

अर्थ—पुरुषमें सत्यके सिवाय अन्य गुण न होनेपर भी सत्यगुणसे ही वह प्रमाण माना जाता है. महान संयमी मुनि भी सत्पुरुषोंके समुदायमें असत्य वचन बोलनेसे तृणके समान तुच्छ होजाता है.

होदु सिहंडी व जडी मुंडो वा णग्गओ व चीवरधरो ॥
जदि भणदि अलियवयणं विलंबणा तस्स सा सव्वा ॥ ८४४ ॥

मुंडो जटी शिखी नग्नश्चीवरी जायतां नरः ॥
विडंबनाखिला सास्य वितथं यदि भाषते ॥ ८५३ ॥

विजयोदया— होदु सिहंडी भवतु नाम शिखावान् । जडी मुंडो वा । नग्नश्चीवरधरो वा यद्यलीकं वदति तस्य सा सर्वा विलंबना ॥

अर्थ—मनुष्य शिखा रखनेवाला हो, जटा धारण करनेवाला हो, मुंडन करनेवाला नग्न अथवा चीवरधारी, हो, यदि वह असत्य बोलता है तो यह सर्व उसकी विटंबनाही समझनी चाहिये.

जह परमण्णस्स विसं विणासयं जह व जोव्वणस्स जरा ॥
तह जाण अहिंसादी गुणाण य विणासयमसच्चं ॥ ८४५ ॥

कालकूटं यथान्नस्य यौवनस्य यथा जरा ॥
गुणानां विद्धि सर्वेषां नाशकं वितथं तथा ॥ ८५४ ॥

विजयोदया—जह परमण्णस्स यथा परमान्नस्य विनाशकं विषं । यथा वा जरा यौवनस्य, तथा जानीहि अहिंसादिगुणानां विनाशकं असत्यं ॥

अर्थ—जैसे उत्कृष्ट अमृतोपम अन्नको विष नष्ट कर देता है, वृद्धावस्था तारुण्यको नष्ट करती है वैसे यह असत्य भाषण अहिंसादि गुणोंको नष्ट करती है.

मादाए वि य वेसो पुरिसो अलिएण होइ इक्केण ॥
किं पुण अवसेसाणं ण होइ अलिएण सत्तुव्व ॥ ८४६ ॥

स्वमातुरप्यविश्वास्यो मृषाभाषणलालसः ॥
शेषाणां किमु लोकानां न शत्रुरिव जायते ॥ ८५५ ॥

विजयोदया—मादाए वि य मातुरप्यविश्वास्यो भवत्यलीकेन एकेन पुरुषः । शेषाणां पुनर्न किं भवेदलीकेन शत्रुरिव ॥

अर्थ—झूठ बोलनेवाले मनुष्यपर माता भी विश्वास नहीं रखती है. फिर इस एक असत्य भाषणरूपी दोषसे अन्य लोक उसको शत्रुसमान क्यों नहीं गिनेंगे.

अलियं स किं पि भणिदं घादं कुणदि बहुगाण सच्चाणं ॥
अदिसंकिदो य सयमवि होदि अलियभासणो पुरिसो ॥ ८४७ ॥

एकेनासत्यवाक्येन सत्यं ऽपि हन्यते ॥
सर्वत्र जायते नित्यं शंकितो ऽसत्यभाषकः ॥ ८५६ ॥

विजयोदया—अलियं स किंपि भणियं सकृदप्युक्तं सत्यानि बहूनि नाशयति। अलीकवादी पुरुषः स्वयमपि शंकितो भवति नितरां॥

अर्थ—एकदफे ही बोला हुआ असत्य भाषण अनेक बार बोले हुए सत्यभाषणोंका संहार करता है असत्यवादी पुरुष स्वयं भी मनमें डरता है शंकायुक्त रहता है मेरा असत्यभाषण यदि प्रकट होगा तो मेरा नाश होगा ऐसी भीति उसके मनमें उत्पन्न होती है

अप्पच्चओ अकित्ती भंभारदिकलहवेरभयसोगा ॥
वधबंधभेदणाणा सव्वे मोसम्मि सण्णिहिदा ॥ ८४८ ॥

अप्रत्ययो भयं वैरमकीर्तिर्मरणं कलिः ॥
विषादो मत्सरः शोकः सर्वेऽसत्यस्य बांधवाः ॥ ८५७ ॥
आयासरसनाछेदसर्वस्वहरणादयः ॥
इहासत्येन लभ्यते परत्र नरकावनिः ॥ ८५८ ॥

विजयोदया—अप्पच्चओ अप्रत्यय । अकीर्तिः, संक्लेश, अरतिः कलहो, वैरं, भय, शोक, वधो, बंध, स्वजनभेद, धननाशश्चेत्यमी दोषा संनिहिता मृषावचने ॥

अर्थ—अविश्वास, अकीर्ति, संक्लेशपरिणाम, तिरस्कार, कलह, वैर, भय, शोक, वध, बंध, स्वजनमें फूट, और धनका नाश ऐसे पाप सत्यभाषणसे उत्पन्न होते हैं.

पापस्सागमदारं असच्चवयणं भणंति हु जिणिंदा ॥
हिदएण अपावो वि हु मोसेण गदो वसू णिरयं ॥ ८४९ ॥

कलिलस्यास्रवद्वारं वितथं कथितं जिनैः ॥
निष्पापो हि वसुस्तेन श्रितेन नरकं गतः ॥ ८५९ ॥

विजयोदया—पापस्यागमद्वारमिति वदंत्यसत्यं जिनेंद्रा । हृदयेन अपापोऽपि मृषामात्रेण वसुर्गतो नरक इत्याख्यानकं वाच्यं ।

अर्थ—जिनेंद्र भगवान असत्य भाषण पाप कर्मके आस्रव दरवाजेके समान है ऐसा कहते हैं अर्थात्

असत्य भाषण पापास्रवका कारण है. हृदयमें पापरहित वसु राजा असत्यभाषणसे नरकमें चला गया.

परलोगम्मि वि दोस्सा ते चेव हवंति अलियवादिस्स ॥
मोसादीए दोसे जत्तेण वि परिहरंतस्स ॥ ८५० ॥

असत्यवादिनो दोषाः परत्रापि भवन्ति ते ॥
मुंचतोऽपि प्रयत्नेन मृषाभाषादिदूषणम् ॥ ८६० ॥

विजयोदया—परलोगम्मि वि दोसा परभवेऽपि दोषास्त एव अप्रत्ययादय एव भवंत्यलीकवादिनः। यत्नेनापि परिहरतः। किं? मोसादिगे दोसे मृषादिकान्दोषान्। मृषा आदिर्येषां स्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणां ते मृषादयः। अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिरत्र ग्राह्य। स्तेयादिदोषान्परिहरतोऽपीत्यर्थः॥

अर्थ—असत्य बोलनेवाले पुरुषको अविश्वास वगैरे दोष परलोकमें भी प्राप्त होते हैं. असत्य भाषण चोरी मैथुन, परिग्रह वगैरह पापोंका त्याग करनेपर भी, परलोकमें इन दोषोंका यह पुरुष कर्ता है ऐसा माना जाता है. परजन्ममें बडे प्रयत्नसे इनका त्याग करने पर भी इन दोषोंका उसके ऊपर आरोप आता है.

भवतु नाम अप्रत्ययरवादिका मृषावादस्य दोषाः कर्कशवचनादिना परभवे इह वाथ के दोषा इत्यत्राचष्टे—

इहलोइय परलोइय दोसा जे होंति अलियवयणस्स ॥
कक्कसवदणादीण वि दोसा ते चेव णादव्वा ॥ ८५१ ॥

ये सन्ति वचनेऽलीके दोषा दुःखविधायिनः ॥
त एव कथिता जैनैः सकलाः कर्कशादिकाः ॥ ८६१ ॥

विजयोदया—इहलोगिग दोसा अस्मिञ्जन्मनि परत्र च ये दोषा भवंति अलीकवादिनः। कर्कशवचनादीनामपि त एव दोषा इति ज्ञातव्याः॥

असत्यवचन बोलनेसे अविश्वास वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं परंतु कर्कशवचनादिकसे परभवमें अथवा इस भवमें कोनसे दोष उत्पन्न होते हैं? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—असत्य बोलनेसे इहपर लोकमें जो दोप उत्पन्न होते हैं वे ही दोप कर्कशवचनादिकसे भी उत्पन्न होते हैं ऐसा समझना चाहिये.

उपसंहारगाथा—

एदेसिं दोसाणं मुक्को होदि अलिआदिवचिदोसे ॥
परिहरमाणो साधू तव्विवरीदे य लभदि गुणे ॥ ८५२ ॥

असत्यमोचिनो दोषा मुंचंति सकला इमे ॥
तद्विपक्षा गुणाः सर्वे लभ्यन्ते बुधपूजिताः ॥ ८६२ ॥
भवभयविचयनवितथविमोची निरुपमसुखकरजिनमतरोची ॥
परमं दवयति कलिलमशेषं वशयति मुनिनुतवचनविशेषम् ॥ ८६३ ॥

इति सत्यम् ॥

विजयोदया—एतेभ्यो दोषेभ्यो मुक्तो भवति व्यलीकादिवचने दोषान्य परिहरति साधु । लभदि तव्विवरीदे तेनापि दोषप्रतिपक्षभूतान्प्रत्ययितत्वादिगुणान् । प्रत्यय, कीर्ति, असंक्लेश, रति, कलहाभाव, निर्भयतादिकश्च । सत्य ॥

उपसंहार गाथा—

अर्थ—असत्य भाषण, कर्कशादिभाषणोंके दोषोंका जो त्याग करता है वह पुरुष इन दोषोंके प्रतिपक्षरूपी गुणोंकी प्राप्ति कर लेता है. अर्थात् जगमें विश्वास, कीर्ति, असंक्लेश, कलहका अभाव, निर्भयता वगैरह गुणोंका उसको लाभ होता है. सत्यमहाव्रतका वर्णन हुआ

व्याख्याय सत्यव्रत तृतीयव्रत निगदति—

मा कुणसु तुमं बुद्धिं बहुमप्पं वा परादियं घेत्तुं ॥
दंतंतरसोधणयं कलिदमेत्तं पि अविदिण्णं ॥ ८५३ ॥

यहल्पं च परद्रव्यमदत्तं मा ग्रहीस्त्रिधा॥
व्रतस्य ध्वंसने शक्तं दंतानामपि शोधनम् ॥ ८६४ ॥

विजयोदया—मा कुणसु तुमं बुद्धिं मा छथास्त्वं बुद्धिं । कीदृशीं ? परादियं घेत्तुं परकीयं वस्तु ग्रहीतुं । परकीयवस्तुविशेषणमाचष्टे—बहुमप्पं वा महद्दप्पं वा । अल्पद्रव्यपरिमाणमभिदधाति—दंतंतरसोधणगं कालिदमेत्तंपि दंतान्तरशुद्धिकारि तृणशलाकामात्रमपि । अविदिण्ण अदत्तं ॥

अचौर्यव्रतका वर्णन—

अर्थ—हे क्षपक! तुम दुसरोंके द्वारा नही दी गई छोटी या मोटी वस्तु कदापि मत ग्रहण करो. जिससे दांतोंमेंसे मल निकाला जाता है ऐसी तृणशलाकाभी ग्रहण करना योग्य नहीं है.

जह मक्कडओ धादो वि फलं दट्ठूण लोहिदं तस्स ॥
दूरत्थस्स वि डेवदि घित्तूण वि जइ वि छंडेदि ॥ ८५४ ॥
दूरस्थितं फलं रक्तं यथा तृप्तोऽपि मर्कटः ॥
ग्रहीतुं धावते दृष्ट्वा भूयो यद्यपि मोक्ष्यति ॥ ८६५ ॥

विजयोदया—जह मक्कडगो यथा मर्कटो वानरः । धादो वि तृप्तोऽपि । दट्ठूण फलं दृष्ट्वापि फलं । लोहिदं रक्तं । तस्स दूरत्थस्स वि डेवदि दूरस्थमपि फलमुद्दिश्योल्लंघनं करोति । जदि वि घित्तूण छंडेदि यद्यपि गृहीत्वा त्यजति ।

अर्थ—जैसे मर्कट-वानर तृप्त होकरभी लालरंगका फल देखकर दूरसे ग्रहण करनेके लिये दौडकर आता है. यद्यपि वह ग्रहण कर उसको छोड देगा तोभी प्रथम लोभयुक्त होकर उसे ग्रहण करता है.

दार्ष्टान्तिके योजयति—

एवं जं जं पस्सदि दव्वं अहिलसदि पाविदुं तं तं ॥
सव्वजगेण वि जीवो लोभाइट्ठो न तिप्पेदि ॥ ८५५ ॥

तथा निरीक्षते द्रव्यं यद्यत्तत्तज्जिघृक्षति ॥
जीवस्त्रिलोकलाभेऽपि लोभग्रस्तो न तृप्यति ॥ ८६६ ॥

विजयोदया—एव जं जं पस्सदि एवं यद्यत्पश्यति द्रव्यं । तं त पाविदुमहिलसदि । तत्तद्द्रव्यं प्राप्तुमभिलषति । सव्वजगेण वि सर्वेणापि जगता । लोभाइट्ठो जीवो ण तिप्पेदि जीवो लोभाविष्टो न तृप्यति ॥

दार्ष्टान्तिकमें ऊपरका आशय संघटित करते हैं—

अर्थ—ऐसे लोभी मनुष्य जो जो वस्तु देखता है वह वह प्राप्त कर लेने की इच्छा करता है लोभवश हुआ मनुष्य सर्व त्रैलोक्यकी प्राप्ति होनेपरभी तृप्त होता नहीं

जह मारुवो पवट्टइ खणेण वित्थरइ अब्भयं च जहा ॥
जीवस्स तहा लोभो मंदो वि खणेण वित्थरइ ॥ ८५६ ॥
यथा विवर्द्धते वातः क्षणेन प्रथते यथा ॥
प्रथते क्षणतो लोभस्तथा मंदोऽपि देहिनः ॥ ८६७ ॥

विजयोदया—जह मारुओ पवट्टइ यथा मारुतः प्रवर्द्धते । खणेण क्षणेन । वित्थरदि विस्तीर्णो भवति । अब्भयं च जहा यथा चाभ्रं । जीवस्स जीवस्य । तह तथा लोभो मंदोऽपि क्षणेनैव विस्तीर्णतामुपयाति ।

अर्थ—जैसे मंद वायु एक क्षणके अनंतर बढकर विस्तीर्ण होता है. अथवा जैसे आकाशमें मेघ प्रथम थोडे रहते हैं और अनंतर बढते बढते सर्व आकाश व्याप्त कर देते हैं एवं जीवका लोभ प्रथम मंद होता है नंतर क्षणसे विस्तीर्ण होता है.

यद्यद्द्रव्यसन्निधिमपेक्ष्य लोभकर्मण उदयो जायते तस्य लोभः संवर्द्धते तद्वृद्धौ चायं दोष इति व्याचष्टे—

लोभे य वड्ढिदे पुण कज्जाकज्जं णरो ण चिंतेदि ॥
तो अप्पणो वि मरणं अगणिंतो चोरियं कुणइ ॥ ८५७ ॥
प्रवृद्धे च ततो लोभे कृत्याकृत्यविचारकः ॥
स्वस्य मृत्युमजानानः साहसं कुरुते परं ॥ ८६८ ॥

विजयोदया—लोभे य वड्ढिदे पुण लोभे च वृद्धिमुपगते पुनः। कज्जाकज्जं णरो ण चिंतेदि कार्यं अकार्यं च न मनसा निरूपयति। इदं खलु युक्तं न वेति। तो ततः युक्तायुक्तविचारणाभावात्। अप्पणो मरणमपि अगणित्ता आत्मनो मृत्युमप्यगणय्य। चोरिय चौर्यं करोति। बन्दीग्रहणं, तालोद्घाटनसंप्रवेशादिकं च। भय मृत्योः कष्टतरमवस्थितमपि न गणयति नरश्चौर्ये प्रवृत्त इति भावः॥

बाह्यपदार्थोंका सान्निध्य प्राप्त करके जब लोभ कर्मका उदय होता है तब लोभ वृद्धिंगत होता है- लोभ बढनेसे आगे लिखे हुए दोषकी वृद्धि होती है—

अर्थ—लोभ की वृद्धि होनेपर मनुष्य करने योग्य अथवा न करने योग्य कार्यका मनसे विचार ही नही करता है अथवा अकार्य भी उसको योग्य जचता है. युक्तायुक्त विचार के नष्ट होनेसे जिससे मरण प्राप्त होगा ऐसा भी साहसकर्म करनेके लिये उद्युक्त होता है. चोरी करता है. चोरी करनेसे कारागृहमें दुःख भोगता है. श्रीमंतके घरका ताला खोलकर अंदर प्रवेश करता है. मृत्युका कष्टतर भय उपस्थित होनेपरभी लोभाविष्ट मनुष्य कुछ पर्वा नहीं करता है.

न केवलमात्मन एवोपद्रवकारि चौर्यं अपि तु परेषामपि महतीमानयति विपदमिति कथयति—

सव्वो उवहिदबुद्धी पुरिसो अत्थे हिदे य सव्वो वि ॥
सत्तिप्पहारविद्धो व होदि हियमंमि अदिदुहिदो ॥ ८५८ ॥

सर्वोप्यथ हृते द्रव्ये पुरुषो गतचेतनः ॥
शक्तिविद्ध इव स्वान्ते सदा दुःखायते तराम् ॥ ८६१ ॥

विजयोदया—सव्वो उवहिदबुद्धी सर्वो जनः उपहितबुद्धिः स्थापितचित्तः। क? अत्थे वस्तुनि इदं भवत्विति। अत्थे हिदे य सव्वो वि सर्वोऽपि जनो अर्थे हृते। अतिदुहिदो अतीव दुःखितो भवति। किमिव? सत्तिप्पहारविद्धो हिदये शक्त्याख्येन शस्त्रेण हृदये विद्ध इव।

चोरी करनेसे चोरकोही उपद्रव होता है ऐसा नहीं- अन्य लोगोंके ऊपरभी उससे बडी विपत्ति आती है.

अर्थ—सर्व लोकोंकी बुद्धि धनमें आसक्त रहती है. इसलिये ऐसे धनका चोरकेद्वारा हरण होनेपर उनको मरणतुल्य दुःख होता है हृदयपर शक्तिनामक शस्त्रकी चोट लगनेपर जैसा दुःख होता है वैसा धनहरण होनेसे दुःख होता है.

अत्थम्मि हिदे पुरिसो उम्मत्तो विगयचेयणो होदि ॥

मरदि य हक्कारकिदो अत्थो जीवं खु पुरिसस्स ॥ ८५९ ॥

द्रविणे ग्रहिलीभूय म्रियतेऽथ हृते नरः ॥

हाकारमुखरः क्षिप्रं नृणामर्थो हि जीवितम् ॥ ८७० ॥

विजयोदया—अत्थम्मि हिदे अर्थे हृते परेणात्मीये। पुरिसो पुरुषः। उम्मत्तो विगयचेयणो होदि उन्मत्तो विचेतनो भवति। चेतनाविशेषे ज्ञानपर्याये चेतनाशब्दो वर्तते नष्टज्ञानो भवतीति यावत्। अन्यथा चैतन्यस्य विनाशाभावात्॥ मरदि य म्रियेत वा॥ अत्थे हक्कारकिदो अर्थे हारर्थं कुर्वन्॥ अत्थो जीवं खु पुरिसस्स पुरुषस्य जीवितमर्थः॥

अर्थ—दूसरेके द्वारा अपना धन लूटा जानेपर मनुष्य उन्मत्त अर्थात् पागल बनता है, ज्ञानरहित होता है. मेरा धन मेरा धन ऐसा वारवार कहता हुआ प्राणोंका भी त्याग करता है. इसलिये 'धन मनुष्यका प्राण है' ऐसी जो लोकोक्ति जगमें मचलित हुई है उसमें सत्यता है.

अडईगिरिदरिसागरजुद्धाणि अडंति अत्थलोभादो ॥

पियबंधं चेवि जीवं पि णरा पयहंति धणहेदुं ॥ ८६० ॥

विशंति पर्वतेऽम्भोधौ युद्धदुर्गवनादिषु ॥

त्यजंति द्रव्यलोभेन जीवितं बांधवानपि ॥ ८७१ ॥

विजयोदया—अडईगिरिदरिसागर अटवीं, दरीं, गिरिं, सागरं, युद्धं प्रविशन्ति अर्थलोभात्। प्रियान्बंधून् जीवितं च नरा जहति धननिमित्तं,। सर्वेभ्यो धनं प्रियतमं यतस्तदर्थिनः सर्वं त्यजन्ति इति भावार्थो गाथायाः॥

अर्थ—धनके लोभमे मनुष्य जंगल, पर्वत, समुद्र और युद्धमे प्रवेश करते हैं. धनके निमित्तसे अपने प्रियबंधुओंका और प्राणोंका भी त्याग करते हैं. प्रिय बांधव और प्राणोंसे भी धन मनुष्यको अत्यंत प्रिय है क्यों कि इसके लिये धनार्थी सबोंका त्याग करते हैं.

अत्थे संतम्मि सुहं जीवदि सकलत्तपुत्तसंबंधी ॥

अत्थं हरमाणेण य हिदं हवदि जीविदं तेसिं ॥ ८६१ ॥

विद्यमाने धने लोका जीवन्ति सहबंधुभिः ॥
तस्मिन्नपहृते तेषां सर्वेषां जीवितं हृतम् ॥ ८७२ ॥

विजयोदया—अत्थे संतम्मि सुहं अर्थे सति सुखं। जीवदि सकलत्तपुत्तसंबंधो जीवति सह कलत्रैर्भार्याभिः, पुत्रैर्बंधुभिश्च। अर्थं हरता तेषां कलत्रादीनां जीवितमेव हृतं भवति ॥

अर्थ—चोरके हृदयमें दया, लज्जा, दम, और विश्वास ये गुण निवास नहीं करते हैं. चोरको धनके लिये कुछ भी अकर्तव्य नहीं है. अर्थात् अत्यंत निंद्य, और क्रूर कार्यभी वह धनके लिये करता हैं.

चोरस्स णत्थि हियए दया च लज्जा दमो व विस्सासो ॥
चोरस्स अत्थहेदुं णत्थि य कादव्वयं किं पि ८६२ ॥

न विश्वासो दया लज्जा सन्ति चौरस्य मानसे ॥
नाकृत्यं धनलुब्धस्य तस्य किंचन विद्यते ॥ ८७३ ॥

विजयोदया—चोरस्स णत्थि हियए चौरस्य नास्ति हृदये। दया, लज्जा, दमो, विश्वासो वा। चोरस्य नास्ति अकर्तव्यं किंचित्। अर्थार्थिन इति भावार्थ।

अर्थ—धनसे इंद्रियसुखकी प्राप्ति होती है, धनसे मनुष्य पत्नी, पुत्र और संबंधी जनोंके साथ जी सकता है. और यदि उसका धन चोरने हरण किया तो उसने उसका और उसके पत्नी पुत्रादिकोंका जीवित हरण किया ऐसा समझना चाहिये.

लोगम्मि अत्थि पक्खो अवरद्धंतस्स अण्णमवराधं ॥
पीयलुया वि पक्खे ण होंति चोरिक्कसीलस्स ॥ ८६३ ॥

अपराधे कृतेऽप्यत्र पक्षे लोकोऽपि जायते ॥
बंधवोऽपि न चौरस्य पक्षे सन्ति कदाचन ॥ ८७४ ॥

विजयोदया—लोयम्मि अत्थि पक्खो लोकेऽस्ति पक्षोऽन्यमपराधं हिंसादिकं कुर्वतो बंधवोऽपि न पक्षतां प्रतिपद्यंते ये चौर्यकारिणः ॥

अर्थ—हिंसादिक अन्य अपराध करने वालोंके पक्षमें लोक रहते हैं परतु नंधुभी चोरी करने वालोंके पक्षमें रहना नहीं चाहते हैं

अण्णं अवरज्झंतस्स दिंति णियये घरम्मि आवासं ॥
माया वि य ओगासं ण देइ चोरिक्कसीलस्स ॥ ८६४ ॥

वितरंति जना स्थानं दोषेऽन्यत्र कृते सति ॥
स्तेये पुनर्न मातापि पुरुपातकदायिनि ॥ ८७५ ॥

विजयोदया—अण्णं अवरज्झंतस्स अन्य अपराध कुर्वत ददति स्वावासे अवकाश । माताप्यवकाश न ददाति चुराया प्रवृत्तस्य ॥

अर्थ—अन्य अपराध करने वालोंको लोक अपने घरमें आश्रय देते हैं परतु लोक तो क्या चोरी करनेवाले मनुष्यको उसकी माता भी आश्रय देती नहीं

परदव्वहरणमेद आसवदारं खु वेंति पावस्स ॥
सोगारियवाहपरदारयेहिं चोरो हु पावदरो ॥ ७६५ ॥

द्रव्यापहरणं द्वारं पापस्य परमिष्यते ॥
सर्वेभ्यः पापकारिभ्य, पापीयांस्तस्करो मतः ॥ ८७६ ॥

विजयोदया—परदव्वहरणमेद परद्रव्यापहरणमेतत् पापस्यास्रवद्वार ब्रुवति । शौकरिकात्, व्याधात्, पर दाररतिप्रियाच्च चौर पापीयान् ॥

अर्थ—परद्रव्य हरण करना यह पाप आनेका द्वार है सुअर का घात करनेवाला, मृगादिकाको पकडनेवाला और परस्त्री गमन करनेवाला इनसे भी चोर अधिक पापी गिना जाना जाता है

सयण मित्तं आसयमल्लीणं पि य महल्लए दोसे ॥
पाडेदि चोरियाए अयसे दुक्खम्मि य महल्ले ॥ ८६६ ॥

आश्रयं स्वजनं मित्रं दुराचारो मलिम्लुचः ॥
सर्वं पातयते दोषे दुष्पमे दुर्यशस्यपि ॥ ८७७ ॥

विजयोदया—सयणं मित्तं बंधूनिमित्राणि आश्रयभूतं समीपस्थं च महति दोषे बंधवधधनापहरणादिके पातयति चौर्यं । महत्ययशसि दुःखे च निपातयति ॥

अर्थ—चोरके जो स्वजन, मित्र, और आश्रयसे रहनेवाले अन्य लोगोंको भी यह चोरी बडे संकटमें गिरा देती है. अर्थात् चोरके साथ उसके स्वजन मित्रादिकोंकोभी लोक बांधते हैं, उनके अवयव तोडते हैं, उनका धन छीन लेते हैं. बडी अपकीर्ति और दुःखमें गिराते हैं.

बंधवधजादणाओ छायाघादपरिभवभयं सोयं ॥
पावदि चोरो सयमवि मरणं सव्वस्सहरणं वा ॥ ८६७ ॥
वधं बंधं भयं रोधं सर्वस्वहरणं, मृतिम् ॥
विषादं यातना लोके तस्करो लभते स्वयम् ॥ ८७८ ॥

विजयोदया—बंधवधजादणाओ बंधं, वधं, यातनाश्च, छायाघातं, परिभवं, भयं, शोकं प्राप्नोति । स्वयमपि चौरो मरणं सर्वस्वहरणं वा ॥

अर्थ—अवयव तोडना, बांधना, अनेक प्रकारसे पीडा देना, पराभव करना इत्यादिक प्रकारोंसे लोक चोरोंको तकलीफ देते हैं. शोक, सर्वस्वहरण और मरण इन दुःखोंको चोर प्राप्त होता है.

णिच्चं दिवा य रत्तिं च संकमाणो ण णिद्दमुवलभदि ॥
तेणं तओ समंता उव्विग्गमओ य पिच्छंतो ॥ ८६८ ॥
शंकमानमना निद्रां तस्करो जातु नाश्नुते ॥
कुरंग इव चित्रस्तो वीक्षते सकला दिशः ॥ ८७९ ॥

विजयोदया—णिच्चं दिवा य रत्तिं च संकमाणो नित्यं दिवारात्रिं शंकामानः न निद्रामुपलभते चौरः । समंतात्प्रेक्षते उद्विग्नहरिण इव ॥

अर्थ— चोरके मनमें दिनरात भय रहता है. उसको भयके मारे निद्रा भी आती नहीं. वह हमेशा चारों तरफ भययुक्त हरिणके समान देखता रहता है.

उंदरकंदपि सद्दं सुच्चा परिवेवमाणसव्वंगो ॥
सहसा समुच्छिदभओ उव्विग्गो धावदि खलंतो ॥ ८६९ ॥

आकर्ण्य मूषिकस्यापि शब्दं शंकितमानसः ॥
धावते सर्वतः सद्यः स्खलन्स्वमरणाकुलः ॥ ८८० ॥

विजयोदया—उंदरकंदंपि सद्दं मूषकचलनकृतमपि शब्दं श्रुत्वा प्रस्फुरत्सर्वगात्रः । सहसोत्थभयोद्विग्नो धावति । स्खलन्पदे पदे ॥

अर्थ—भागते हुए मूषकका अर्थात् चूहेका ध्वनि सुनकर चोर भीतीसे थरथर कांपने लगता है और डरकर दौडने लगता है. दौडते समय गडबडीसे गिरजाता है.

घात्तिं पि संजमंतो घेत्तूण किलिंदमेत्तमविदिण्णं ॥
होदि हु तणं व लहुओ अप्पच्चइओ य चोरो व्व ॥ ८७० ॥

अदत्ते तृणमात्रेऽपि गृहीते संयतोऽपि ना ॥
अप्रत्येयो यथा स्तेनस्तृणतो जायते लघुः ॥ ८८१ ॥

विजयोदया—घात्तिं पि संजमंतो नितरामपि संयमं कुर्वन् । अदत्तं तृणमात्रमपि गृहीत्वा तृणवल्लघुर्भवति, अप्रत्ययितश्चौर इव ॥

अर्थ—महान् संयम धारण करके भी साधु न दिया हुआ तृणमात्र भी ग्रहण करके चोरके समान अविश्वासी बन जाता है और तिनके के समान हलका हो जाता है.

परलोगम्मि य चोरो करेदि णिरयम्मि अप्पणो वसदिं ॥
तिव्वाओ वेदणाओ अणुभवहिदि तत्थ सुचिरंपि ॥ ८७१ ॥

विधाय पुरुषः स्तेयं नारकीं वसतिं गतः ॥
सहते वेदनास्तत्र चिरकालं सुदुःसहाः ॥ ८८२ ॥

विजयोदया—परलोगम्मि य चोरो करेदि परलोके चौरः करोत्यात्मनो नरके वसतिं। कीदृग्भूतो यत्र नरकेषु सुचिरं दीर्घकालं पच्यमानः तीव्रवेदना अनुभवति ॥

अर्थ—चोरीके पापसे मरकर चोर नरकमें जाता है, उत्पन्न होता है. और दीर्घ कालतक पचता हुआ तीव्र वेदनाओंका अनुभव करता है.

तिरियगदीए वि तहा चोरो पाउणदि तिव्वदुक्खाणि ॥
पाएण णीयजोणीसु चेव संसरइ सुचिरंपि ॥ ८७२ ॥

लभते दारुणं दुःखं स्तेनस्तिर्यग्गतावपि ॥
प्राप्नोति प्रायशः पापो योनीं नीचामसौ चिरम् ॥ ८८३ ॥

विजयोदया—तिरियगदीए वि तहा तिर्यग्गतावपि चौरः प्राप्नोति तीव्राणि दुःखानि । प्रायेण नीचयोनिष्वेव संसरति सुचिरमपि ॥

अर्थ—चौर पापकर्मसे पशुगति में जन्म लेकर तीव्र दुःखोंका दीर्घ कालतक अनुभव लेता हुआ भ्रमण करता है और प्रायः नीच पशुओंमें-अर्थात् कुत्ता, सुवर, गधा इत्यादिकोंमें तथा विकलत्रयादिक योनिओंमें भ्रमण करता है.

माणुसभवे वि अत्था हिदा व अहिदा व तस्स णस्संति ॥
ण य से धणमुवचीयदि सयं च ओलुट्टदि धणादो ॥ ८७३ ॥

नृत्वेऽहृता हृता वार्थाः पलायंतेऽखिलाः स्वयम् ॥
न चीयंते प्रयत्नेऽपि स्वयं यास्यति वा ततः ॥ ८८४ ॥

विजयोदया—माणुसभवे वि मनुष्यभवेऽपि तस्य अर्था नश्यन्ति हृता वा अहृता वा। न चोपयाति संचयं धनं, तस्य उपचितेऽपि धने स्वयं तस्मादपयाति धनात् ॥

अर्थ—मनुष्यभवमें भी वह चोर जन्म लेनेपर उसका धन पूर्व पापकर्मके उदयसे हरा जाता है. अथवा वह दरिद्री हो जाता है. कितना भी प्रयत्न करनेसे उसके पास धनसंचित होताही नहीं. अथवा धन संचित होनेपरभी वह स्वयं उससे दूर चला जाता है. अर्थात् अन्तराय कर्मके उपार्जनसे वह धनका उपभोग ले नहीं सकता.

परदव्वहरणबुद्धी सिरिभूदी णयरमज्झयारम्मि ॥
होदूण हदो पहदो पत्तो सो दीहसंसारं ॥ ८७४ ॥

श्रीभूतिर्महतीं प्राप्य पुरमध्ये विडम्बनाम् ॥
परद्रव्यरतो दीनः प्रपेदे दीर्घसंसृतिम् ॥ ८८५ ॥

विजयोदया—परदव्वहरणबुद्धी परद्रव्यहरणबुद्धिः , सिरिभूदी श्रीभूतिर्नगरमध्ये ताडितः प्रहतश्च भूत्वा दीर्घसंसारं प्राप्तः ॥

अर्थ—परद्रव्य हरणमें जिसकी बुद्धि प्रवीण थी ऐसा श्रीभूति नामका ब्राह्मण जो कि राजाका पुरोहित था वह नगरमें पीटा गया और मारा गया. इस चोरीके दोषसे उसने दीर्घ कालतक संसारमें भ्रमण किया.

अदत्तादानदोषानुपदर्श्य दत्तं योग्यं गृहाणेति व्याचष्टे—

एदे सव्वे दोसा ण होंति परदव्वहरणविरदस्स ॥
तव्विवरीदा य गुणा होंति सदा दत्तभोइस्स ॥ ८७५ ॥
देविंदरायगहवइदेवदसाहम्मि उग्गहं तम्हा ॥
उग्गहविहिणा दिण्णं गेण्हसु सामण्णसाहणयं ॥ ८७६ ॥

एते दोषा न जायंते परद्रव्यविवर्जने ॥
तद्विपक्षा गुणाः सन्ति सुंदरा दत्तभोजिनः ॥ ८८६ ॥
इंद्रराजगृहस्वामिदेवतासमधर्मिभिः ॥
वितीर्णं विधिना ग्राह्यं रत्नत्रितयवर्धकम् ॥ ८८७ ॥

विमुंचते यः परवित्तमंजसा निरीक्ष्यमाणं सदृशं मृदा सदा ॥
अनन्यसाधारणभूतिभूषितः स याति निर्वाणमपास्तकल्मषः ॥ ८८८ ॥

इति अस्तेयम् ॥

विजयोदया—देविंदराजगहवइ देवेंद्राणां, राज्ञां, गृहपतीनां, राष्ट्रकूटानां, देवतानां, सधर्मणां च परिग्रहं। उग्गहविहिणा अवग्रहविधिना । दिण्णं दत्तं । गिण्हसु गृहाण । सामण्णसाहणयं श्रामण्यसाधनं ज्ञानसंयमस्य वा साधनं । अदत्तं ॥

आचार्यने अदत्तादानके—चोरीके दोष दिखाये अब योग्य दी हुई वस्तूका तू ग्रहण कर ऐसा क्षपकको उपदेश करते हैं-

अर्थ—उपर्युक्त दोष चोरीका जिसने त्याग किया है ऐसे महापुरुषमें नहीं रहते हैं. परंतु उस महापुरुषमें उपर्युक्त दोषोंके विरुद्ध गुण उत्पन्न होते हैं; दिया हुआ पदार्थका उपभोग लेनेवाले उस महा पुरुषमें अच्छे अच्छे गुण प्रकट होते हैं.

देवेंद्र, राजा, गृहस्थ, राजाधिकारी, देवता और साधर्मिक साधु इन्होंने योग्य विधीसे दिया हुआ, मुनिपनाकी सिद्धि करनेवाला, जिससे ज्ञानकी सिद्धि होगी और संयमकी वृद्धि होगी ऐसा पदार्थ हे क्षपक तूं ग्रहण कर. आचौर्य महाव्रतका वर्णन पूर्ण हुआ.

चतुर्थं व्रतं निरूपयति—

रक्खाहि बंभचेरं अब्बंभे दसविधं तु वज्जित्ता ॥
णिच्चं पि अप्पमत्तो पंचविधे इत्थिवेरग्गे ॥ ८७७ ॥

अब्रह्म दशधा त्यक्त्वा रामावैराग्यपंचके ॥
निवेश्य मानसं पाहि ब्रह्मचर्यमनारतम् ॥ ८८९ ॥

विजयोदया—रक्खाहि बंभचेरं पालय ब्रह्मचर्यं । अब्रह्म दशप्रकारमपि वर्जयित्वा नित्यमप्रमत्तः पंचविध स्त्रीवैराग्ये ॥

अर्थ—हे क्षपक ! तू दस प्रकारके अब्रह्मोंका त्याग कर. ब्रह्मचर्यका आचरण कर. हमेशा ब्रह्मचर्यके पालन में सावधान रहना चाहिये और पांच प्रकारके स्त्रीवैराग्यमें हे क्षपक! तुम तत्पर रहो

ब्रह्मचर्यं पालयेत्युक्तं तदेव न ज्ञायते इत्यारेकायां तद्व्याचष्टे—

जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो ॥

तं जाण बंभचेरं विमुक्कपरदेहतित्तिस्स ॥ ८७८ ॥

निरस्तांगांगरागस्य स्वदेहेऽपि विरागिणः ॥

जीवे ब्रह्मणि या चर्या ब्रह्मचर्यं तदीर्यते ॥ ८९० ॥

विजयोदया—जीवो बंभा ब्रह्मशब्देन जीवो भण्यते । ज्ञानदर्शनादिरूपेण वर्द्धते इति वा । यावल्लोकाकाशं वर्धते लोकपूरणाख्याया क्रियाया इति वा । जीवम्मि चेव ब्रह्मण्येव चर्या । जीवस्वरूपमनंतपर्यायात्मक एव निरूपयतो वृत्तिर्या । तं जाण जानीहि । बंभचरियं ब्रह्मचर्यं । विमुक्तपरदेहतित्तिस्स विमुक्तपरदेहव्यापारस्य ॥

मूलारा—

या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धेश्चर्या परद्रव्यमुचः प्रवृत्तिः ।

तद्ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौमं ये पाति ते यांति परं प्रमोदम् ॥

ब्रह्मचर्यका रक्षण कर ऐसा आपने कहा परन्तु ब्रह्मचर्य का स्वरूप क्या है ? ऐसी शंकाका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—ब्रह्मचर्य इस सामासिक शब्दमें जो ब्रह्म शब्द है उसका अर्थ जीव ऐसा होता है. अथवा वृह धातुका अर्थ वृद्धिंगत होना बढना ऐसा है इस वृह धातुसे ब्रह्म शब्द सिद्ध होता है ज्ञान और दर्शन रूपसे जो वृद्धिंगत होता है उसको ब्रह्म कहते हैं. जीव इन गुणोंसे वृद्धिंगत होता है इस वास्ते इसको ब्रह्म कहते हैं अथवा लोकपूरण समुद्घातमें यह आत्मा संपूर्ण लोकाकाशमें अपने प्रदेश पसार कर बढता है इस लिये जीवको ब्रह्म कह सकते हैं इस जीवका स्वरूप अनंत पर्यायात्मक है ऐसा समझकर उसके स्वरूपमें जो रमामण होने की क्रिया उसको ब्रह्मचर्य कहते हैं इतरोंके शरीरमें प्रवृत्ति करना अर्थात् उसके देहको आलिंगन करना वगैरे क्रियाओंसे जो विरक्त हुआ है वह मुनि अपने आत्माके स्वरूपका—उसके ज्ञान, दर्शन चारित्र वगैरे शुद्ध गुणोंका विचार कर उसमें ही तृप्त होता है इसलिये ऐसे मुनिका ब्रह्मचर्य विशुद्ध होता है

मनसा वचसा शरीरेण परशरीरगोचरव्यापारातिशयं त्यक्तवतः दशविधाब्रह्मत्यागात् दशविधं ब्रह्मचर्यं भवतीति वक्तुकामो ब्रह्मभेदमाचष्टे—

इच्छिविसयाभिलासो वच्छिविमोक्खो य पणिदरससेवा ॥
संसत्तदव्वसेवा तदिंदियालोयणं चेव ॥ ८७९ ॥

विजयोदया—इत्थिविसयाभिलासो स्त्रीसंबंधिनो ये इंद्रियाणां विषयास्तासां रूपं, तदीयोऽधररसः, तासां वक्त्रभवो गंधः, तासां कलं गीतं, हासो, मधुरं वचः, मृदुस्पर्शश्च तत्र अभिलाषः । आत्मस्वरूपपरिज्ञानपरिणतिलक्षणं ब्रह्मचर्यं वहतीति आत्मा ब्रह्म ततोऽन्यो वामलोचनाशरीरगतो रूपादिपर्यायः सोऽत्र भण्यतेऽब्रह्मशब्देन तत्र चर्या नामाभिलाषपरिणतिः । वत्थिविमोक्खो मेहनविकारानिवारणं । पणिदरससेवा वृष्याहाररससेवना । संसत्तदव्वसेवा स्त्रीभिः संसक्तानां संबद्धानां शय्यादीनां सेवा तदंगस्पर्शवदेव कामिनां तत्संबद्धद्रव्यस्पर्शोऽपि प्रीतिं जनयति । तदिंदियालोयणं चेव तासां वरांगावलोकनं च ॥

किं तद्दशविधं ब्रह्म यत्परित्यागात्तद्विलक्षणं दशप्रकारं ब्रह्मचर्यं भवतीति जिज्ञासायामब्रह्मभेदान्दश गाथाद्वयेन निर्दिशति—

मूलारा—इत्थिविसयाभिलासो स्त्रीणां संबंधिनो ये विषया इंद्रियाणां गोचराः स्त्रियाः सुन्दरं रूपं, तदधररसस्तन्मुखसुरभिश्वसितादिगंधस्तत्कलगीतहसितमधुरमन्मनवचनतत्कुचादिस्पर्शेषु अभिलाषो महीतुमौत्सुक्यं । वत्थिविमोक्खो लिंगविकारकरणं । पणिदरससेवा वृष्यद्रव्यरसोपयोगः । संसत्तदव्वसेवा स्त्रीसेवितशय्यावस्त्राद्युपभोगः कामिनीतनुस्पर्शवत्कामिनां तत्संयुक्तद्रव्यस्पर्शोऽपि हि प्रीतिमुत्पादयति । तदिंदियालोयणं स्त्रीवरांगनिरीक्षणं ॥

मनसे, वचनसे और शरीरसे परशरीरके साथ जिसने प्रवृत्ति करना छोड दिया है ऐसा मुनि दश प्रकारके अब्रह्मका त्याग करता है. तब वह दश प्रकारके ब्रह्मचर्योंका पालन कर सकता है. ग्रंथकार अब्रह्मके दस प्रकारोंका वर्णन करता है—

अर्थ—स्त्रीसंबंधी जो इंद्रियोंका विषय हैं उनकी अभिलाषा करना अर्थात् उनका सौंदर्य, उनका अधर रस, उनके मुखका गंध, उनका मनोहर गायन, हंसना और मधुर भाषण, तथा उनके शरीरका मृदुस्पर्श इनकी अभिलाषा करना. यह अब्रह्म है. आत्माके शुद्ध स्वरूपको जानकर उसमें परिणति करना अर्थात् प्रवृत्ति करना ब्रह्मचर्य है. इस ब्रह्मचर्य को धारण करनेवाले आत्माको ब्रह्म कहते हैं. इस ब्रह्मसे विरुद्ध जो स्त्रीके शरीरके रूपादि

पर्याय उनको अब्रह्म कहते हैं एसे अब्रह्ममें चर्या करना अर्थात् अभिलाषा करना यह अब्रह्मचर्य हैं.

२ वत्थिविमोक्खो—अपने इंद्रियमें विकार होना, अर्थात् अपने लिंगमें विकार होना वह स्थिर और दृढ होना.

३ वृष्यरससेवा—जिससे शरीरमें बल बढेगा, वीर्यवृद्धि होगी, ऐसा आहार और ऐसे रसोंका सेवन करना.

४ संसक्तद्रव्यसेवा—स्त्रियोंके शय्या वगैरह पदार्थोंका सेवन करना—उपभोग लेना. स्त्रीके शरीरका स्पर्श जैसे कामियोंको प्रीति उत्पन्न करता है वैसे उनके शय्यादिक पदार्थों का स्पर्श भी कामिओंको हर्ष उत्पन्न करता है.

५ तदिंद्रियालोचन—स्त्रिओंके सुंदर अंगोंका अवलोकन करना.

सक्कारो संकारो अदीदसुमरणमणागदभिलासे ॥
इट्ठविसयसेवा वि य अब्बंभं दसविहं एदं ॥ ८८० ॥

गद्य— स्त्रीरूपाद्यभिलापवास्तिमोक्षणवृष्याहारसेवनतत्संसक्तद्रव्यानुरागतद्वरांगनिरीक्षणसत्कारसंस्कारादरतातीतरतस्मरणानागताभिलपणेष्टविषयनिषेवणस्वरूपं दशविधमब्रह्म मंतव्यम् ॥ ८९१ ॥

विजयोदया—सक्कारो सत्कारः सन्मानना । स च तदनुरागप्रवर्तितः। संकारो संस्कारः तासां वस्त्रमाल्यादिभिः। अदीदसुमरणं अतीतकालवृत्तिरतिक्रीडास्मरणं । आणागदभिलासा भविष्यति काले एवं ताभिः क्रीडां करिष्यामि इति रत्यभिलापः। इट्ठविसयसेवा वि य इष्टविषयसेवापि च । अब्बंभं दसविधं एदं अब्रह्म दशप्रकारमब्रह्मैतत्। अक्षीणरागस्य परद्रव्योपयोगाद्रागद्वेषौ भवतः । तेन स्वद्रव्योपयोगः, परद्रव्यालंबनं, ज्ञानश्रद्धानमिति वीतरागतादिषु चरणं ब्रह्मचर्यं ततोऽन्यदिदं दशविधमब्रह्मेति निरूपितं ॥

मूलारा—सक्कारो पूजा । सम्माणो वरांबराभरणाद्युपचारः । अदीदसुमरणं अतीतकालवृत्तसंभोगस्मरणं । अणागदभिलासो भविष्यति काले ताभिः सहैवं क्रीडिष्यामीत्येवमादिमनोरथः । इट्ठविसयसेवा मनोवांछितसौधोद्यानाद्युपयोगः ॥ तथा चावोचाम धर्मामृते—

मा रूपादिरसं पिपास सुदृशां मा वस्तिमोक्षं कृथाः ॥
वृष्यं स्त्रीशयनादिकं च भज मा मा दा वरांगे दृशं ॥

मा स्त्रीं सत्कुरु मा च संस्कुरु रतं वृत्तं स्मर स्मार्य मा ॥
वर्त्स्यन्मेच्छ जुषस्व मेष्टविषयान् द्विःपंचधा ब्रह्मणे ॥

दशविधमप्यब्रह्म मुमुक्षुणात्यंतापकारत्वात्त्याज्यमित्युपदेष्टुं तद्दोषानाह—

अर्थ—सत्कार–स्त्रियोंका सत्कार करना, सम्माणो–उनके देहपर प्रेम रखकर वस्त्र, माला वगैरह पदार्थों-से उनका सत्कार करना. उनको अलंकारादिक पदार्थ अर्पण करना.

अतीतस्मरण—भूतकालमें किये हुए रतिक्रीडाओंका स्मरण करना. अनागताभिलाष–भविष्यत्कालमें उनके साथ ऐसी २ रतिक्रीडा करूंगा ऐसी अभिलाषा मनमें करना.

इष्टविषयसेवा—मनोवांछित सौध, उद्यान वगैरहका उपयोग करना. जिसके रागभाव प्रबल हैं ऐसे पुरुष के परद्रव्योंके सेवनसे रागद्वेष प्रबल होते हैं. ज्ञान, श्रद्धान, और वीतरागता इत्यादिकोंमें प्रवृत्ति करना ब्रह्मचर्य है. इससे विरुद्ध अब्रह्मके दशप्रकार कहे हैं.

एवं विसग्गिभूदं अब्बंभं दसविहंपि णादव्वं ॥
आवादे मधुरम्मिव होदि विवागे य कडुयदरं ॥ ८८१ ॥

आपाते मधुरं रम्यमब्रह्म दशधाप्यदः ॥
विपाके कटुकं ज्ञेयं किंपाकमिव सर्वदा ॥ ८९२ ॥

विजयोदया—एवं विसग्गिभूदं विषाग्निना सदृशं एतदब्रह्म दशप्रकारं ज्ञातव्यं । आपाते मधुरमिव भवति विपाके तु कटुकतमं ॥

मूलाराधना—विसग्गिभूदं विषवदग्निवच्च संतापमोहमूर्च्छामरणादिकरणात् । आवादे आपाते सेवोपक्रमे । विवागे विपाके विरमणक्षणे । कडुगदरं अत्यंतदुस्त्यजत्वादतिकष्टम् ॥

अर्थ—यह दश प्रकारका अब्रह्म विष और अग्निके समान है ऐसा समझना चाहिए. यह अब्रह्म प्रारम्भ में बडा मिष्ट मालुम होता है परन्तु अन्तमें अत्यंत कडवा है.

दिनमें और रातमें भी निद्रा आती नहीं हैं- और हमेशा स्त्रीका ही चिंतन करता है- और कल्याणकारक धर्मको भूल जाता है-

सयणे जणे य सयणासणे य गामे घरे व रण्णे वा ॥
कामपिसायग्गहिदो ण रमदि य तह भोयणादीसु ॥ ८८५ ॥
आसने शयने स्थाने नगरे भवने वने ॥
स्वजनेऽन्यजने कामी रमते नास्तचेतनः ॥ ८९७ ॥

विजयोदया—सयणे जणे य स्वजने, परजने, शयने, आसने, ग्रामे, गृहे, अरण्ये, भोजनादिक्रियासु च न रमते कामपिशाचगृहीतः ॥

मूलारा०—सयणे स्वजने । जणे परजने ॥

अर्थ—कामातुर मनुष्य, अपने संबंधी जनोंमें, अथवा परकीय लोगोंमें, तिष्ठता हुआ हमेशा खिन्न ही रहता है- गाममें, घरमें, अरण्यमें, और भोजनादि क्रियाओंमें भी उसका मन खुश नहीं रहता है- उसको हमेशा कामरूपी पिशाच सताता रहता है.

कामादुरस्स गच्छदि खणो वि संवच्छरो व पुरिसस्स ॥
सीदंति य अंगाइं होदि अ उक्कंठिओ पुरिसो ॥ ८८६ ॥
न रात्रौ न दिवा शेते न भुंक्ते न सुखायते ॥
दष्टः कामभुजगेन न जानाति हिताहिते ॥ ८९८ ॥
कामाकुलितचित्तस्य मुहूर्तो वत्सरायते ॥
सर्वदोत्कंठमानस्य भवनं काननायते ॥ ८९९ ॥

विजयोदया—कामादुरस्स गच्छदि खणो वि कामव्याधितस्य गच्छति क्षणोऽपि । संवत्सर इव अंगानि च सीदंति । भवत्युत्कंठितश्च पुरुषः ॥

मूलारा०—उक्कंठिदो इष्टकामिनी प्रत्युत्सुकः ।

अर्थ—जो मनुष्य कामपीडित हुआ है उसको एक क्षण भी वर्षके समान भासने लगता है. उसके सपूर्ण अंग कृश होते हैं, और वह किसीकी मार्गप्रतीक्षा कर रहा है ऐसा दिखता है. अर्थात् उत्कंठितसा दीखता है. अर्थात् प्रियस्त्रीकी उत्कंठासे वह व्याकुल होता है.

पाणिदलधारिदगंडो बहुसो चिंतेदि किं पि दीणमुहो ॥
सीदे वि णिवाइज्जइ वेवदि य अकारणे अंगं ॥ ८८७ ॥

हस्तन्यस्तकपोलोऽसौ दीनो ध्यायति संततम् ॥
प्रस्विद्यति तुषारेऽपि कंपते कारणं विना ॥ ९०० ॥

विजयोदया—पाणिदलधरिदगंडो पाणितलधृतगंड', बहुसो चिंतेदि बहुशश्चिंतां करोति। किमपि दीनमुखः ॥ शीतेऽपि स्विद्यते । वेपते च अंगं कारणमन्यदन्तरेण ।

मूलारा—पाणिदलधरिदगंडो हस्ततलन्यस्तकपोलः । णिवाइज्जदि प्रस्विद्यति ॥

अर्थ—कामरूपी रोगसे पीडित हुआ मनुष्य अपना गाल हाथके ऊपर रखकर दीनमुखसे अतिशय चिंतायुक्त होता है. इस चितासे ठंडीके दिनमें भी उसके सर्व अवयव खेदसे गीले होते हैं. और उसके अवयव विना कारणके थर थर कांपने लगते हैं. भीति अथवा ठंडी यह अवयव कंपके लिए कारण हैं. परंतु इनके बिना भी इसके अवयव कंपने लगते हैं.

कामुम्मत्तो संतो अंतो डज्झदि य कामचिंताए ॥
पीदो व कलकलो सो रदग्गिजाले जलंतम्मि ॥ ८८८ ॥

अरत्यग्निशिखाजालैर्ज्वलद्भिरनिवारितैः ॥
सोन्तर्विदह्यते पीतैस्तप्तैस्ताम्रद्रवैरिव ॥ ९०१ ॥

विजयोदया-कामुम्मत्तो कामोन्मत्तः। कामचिंतया चिरं दह्यते। पीतताम्रद्रव इव। अरत्यग्नेर्ज्वालासु ज्वलंतीषु॥

स्त्रीविषयो रागोऽब्रह्म स च तत्प्रतिपक्षभूतवैराग्येन नाशयितुं शक्यते इति मत्वा वैराग्योपायकथनायाचष्टे—

कामकदा इत्थिकदा दोसा असुचित्तवुड्ढसेवा य ॥
संसग्गीदोसा वि य करंति इत्थीसु वेरग्गं ॥ ८८२ ॥

दोषाः कामस्य नारीणामाशौचं वृद्धसंगतिः ॥
संगदोषाश्च कुर्वंति स्त्रीवैराग्यं तपस्विनः ॥ ८९३ ॥

विजयोदया—कामकदा इत्थिकदा कामकृताः स्त्रीकृताश्च दोषाः । अशुचित्वं, वृद्धसेवा, संसर्गदोषाश्च कुर्वन्ति स्त्रीषु वैराग्यं ॥

स्त्रीविषयरागलक्षणमब्रह्म स्त्रीवैराग्यात्मकतत्प्रतिपक्षभावनावष्टंभान्निष्ठापयितुं शक्यते इति स्त्रीवैराग्योपायपंचकमुत्तरत्र प्रबंधेन प्रपंचयितुमादौ तदुद्दिशति—

मूलारा०—कामकदा कंदर्पेण निर्मिताः । दोसा अपराधाः । पुंसोऽपकारा इत्यर्थः । असुचित्त अमेध्यत्वं देहस्य । वुड्ढसेवा शीलवृद्धानामुपासना । संसग्गीदोसा स्त्रीसांगत्यकृतापकाराः । एते पंचतये भाव्यमानाः स्त्रीषु वैराग्यं जनयन्ति । श्लोकः—

कामांगनांगनासंगदोषाशौचानि भावयन् ॥
कृतार्यसंगतिः स्त्रीषु विरक्तो ब्रह्म बृंहय ॥

एवमुपक्षेपगाथाः षट् ॥

स्त्रीविषयके रागभावको अब्रह्म कहते हैं यह इसके प्रतिपक्षभूत वैराग्यसे नष्ट होता है. ऐसा समझकर वैराग्यके उपायोंका आचार्य कथन करते हैं—

अर्थ—कामदोष, स्त्रीकृत दोष, शरीरकी अपवित्रता, वृद्धोंकी सेवा, और संसर्गदोष इन पांच कारणोंसे स्त्रियोंमें वैराग्य उत्पन्न होता है.

कामकृतदोषनिरूपणा उत्तरेण प्रबंधेन क्रियते—

जावइया किर दोसा इहपरलोए दुहावहा होंति ॥
सव्वे वि आवहदि ते मेहुणसण्णा मणुस्सस्स ॥ ८८३ ॥

दृश्यंते भुवने दोषा यावन्तो दुःखदायिनः ॥
पुरुषस्य क्रियन्ते ते सर्वे मैथुनसंज्ञया ॥ ८९४ ॥

विजयोदया—जावदिया किर दोसा इत्यादिना यावंतः किल जन्मद्वये। दुहावहा दुःखावहा भवंति दोषा हिंसादयस्तान्सर्वानपि आवहति मैथुनसंज्ञा मनुष्यस्य ॥

कामदोषान्गाथापंचपंचाशतोत्तरप्रबंधेन व्याचिख्यासुरादौ तत्सामान्यसंग्रहगाथामाह—

मूलारा०—दोसा हिंसादयः। आवहदि करोति। मेहुणसण्णा योन्यादौ रंतुमिच्छा काम इति यावत् ॥

कामकृत दोषोंका वर्णन आचार्य विस्तारसे करते हैं—

अर्थ—इहलोकमें और परलोकमें जितने दुःख देनेवाले हिंसादिक दोष उत्पन्न होते हैं वे सब काम संज्ञासे अर्थात् मैथुन की इच्छासे उत्पन्न होते हैं.

सोयदि विलपदि परितप्पदी य कामादुरो विसीयदि य ॥
रत्तिंदिया य णिद्दं ण लहदि पज्झादि विमणो य ॥ ८८४ ॥

ध्यायति शोचति सीदति रोदिति, वल्गति भ्राम्यति नृत्यति गायति ॥
क्राम्यति माद्यति रुष्यति तुष्यति, जल्पति कामवशो विमना बहु ॥९५॥
खिद्यते खिद्यते तप्यते मुह्यते, याचते सेवते मोदते धावते ॥
मुंचते गौरवं गाहते लाघवं, किं न मर्त्यो विधत्ते मनोजातुरः ॥ ८९६ ॥

विजयोदया—सोयदि विलपदि शोचते, विलपति। परितप्यते। कामादुरो विसीयदि य कामातुरो विषीदति च। नक्तं दिनं निद्रां न लभते। पज्झादि विमनस्को भवति ॥

कामार्त इदमिदं करोतीति प्रबंधेनाभिधत्ते—

मूलारा०—सोयदि शोकं याति। विलवदि विलापं करोति। विसीददि विसूरयति। पज्झादि प्रबंधेन स्मरतीष्टस्त्रियं, विस्मरति वा धर्मादिकम् ॥

अर्थ—कामसे पीडित मनुष्य शोक करता है, रोता है, पश्चात्ताप करता है और खिन्न होता है. उसको

मूलारा—संतो सन्। कललये अग्नितप्ततामादिद्रवे । अरत्यग्निजाले पीताग्नितप्ततामद्रव इवान्तर्ज्वलति सति कामचिंताभिर्विशिष्टः सन् काममहाविष्टः पुरुषः परितप्यते । इति पदघटना ॥ उक्तं च—

कामोन्मत्तो भवंश्चित्ते चिंताभिर्दह्यते नरः ॥
अरत्यग्नौ ज्वलत्युच्चैस्तप्ततामद्रवो यथा ॥

मूलारा—वयणपडिवत्तिकुसलत्तणं वचनप्रतिपत्तिवाक्पाटवं । कुशलत्वमर्थनैपुणं वचनप्रतिपत्तौ वागुपन्यासे प्रावीण्यं वा । सत्थप्पहदा शास्त्रक्षुण्णा । तिक्खा तीक्ष्णा ॥

अर्थ—कामवेदनासे मनुष्य उन्मत्त होकर चिंतासे दग्ध होता है. जैसे अग्निसे तपाहुआ तांबेका गोला जलता है वैसा यह कामीपुरुष कामचिंतासे अरतिरूप अग्निमें हमेशा जलता है.

कामादुरो णरो पुण कामिज्जंते जणे हु अलहंतो ॥
धत्तदि मरिदुं बहुधा मरुप्पवादादिकरणेहिं ॥ ८८९ ॥

मंदायते मतिर्याति सद्यो वचनकौशलं ॥
मदनेन ज्वरेणेव बाधितस्य चितापिना ॥ ९०२ ॥
काम्यमानं जनं कामी यदा न लभते कुधीः ॥
मुमूर्षति तदोद्विग्नो नगप्रपतनादिभिः ॥ ९०३ ॥

विजयोदया—कामादुरो कामातुरो नरः । स्वाभिलषिते जने अलभ्यमाने चेष्टते बहुधा मर्तुं। पर्वतोदधिनिपातेन तरुशाखावलंबनेन, अग्निप्रवेशादिना वा ॥

मूलारा—धत्तदि चेष्टते । गवेषयति वा । मरुप्पवादादिकरणेहिं गिरिप्रपाताद्युपायैः । उक्तं च—

काम्यमानं जनं कामी यदा न लभते कुधीः ॥
मुमूर्षति तदोद्विग्नो नगप्रपतनादिभिः ॥

अर्थ—कामातुर मनुष्यको अपना प्रिय मनुष्य न मिलनेसे अर्थात् उसको इष्ट स्त्री की प्राप्ति न होनेसे

वह पर्वतपरसे गिरकर मरनेकी इच्छा करता है. समुद्रमें प्रवेश कर प्राण देना चाहता है. झाडकी शाखामें फांसी लगाकर मरना चाहता है और अग्निप्रवेशादिक से प्राणत्याग करनेकी इच्छा करता है.

संकप्पंडयजादेण रागदोसचलजमलजीहेण ॥
विसयबिलवासिणा रदिमुहेण चिंतादिरोसेण ॥ ८९० ॥

संकल्पांडकजातेन विषयच्छिद्रवासिना ॥
रागद्वेषद्विजिह्वेन वृद्धचिंतामहाक्रुधा ॥ ९०४ ॥

विजयोदया—संकप्पंडयजादेण संकल्पांडप्रसूतेन । रागद्वेषचलयमलजिह्वेन । विषयबिलवासिना रतिमुखेन चितातिरोषेण ॥

मूलारा—संकप्प इष्टांगनादर्शनाद्यां प्रत्युत्कंठागर्भाध्यवसायः । जमलं द्वयं । चिंतादिरोसेण इष्टांगनागुणसमर्थन तद्दोषपरिहरणार्थविचारात्मचिंतनातिक्रोधेन ॥

अर्थ—यह कामरूपी सर्प संकल्प रूपी अंडेसे उत्पन्न होता है. राग और द्वेष ऐसी दो जिह्वा उसको है. यह विषयरूपी बिलमें रहता है. विषयासक्ति ही इसका मुख है. और यह चितारूप रोषसे युक्त है.

कामभुजगेण दट्ठा लज्जाणिम्मोगदप्पदाढेण ॥
णासंति णरा अवसा अणेयदुक्खावहविसेण ॥ ८९१ ॥

दष्टकामभुजंगेन लज्जानिर्मोकमोचिना ॥
दर्पदंष्ट्राकरालेन रतिवक्त्रेण नश्यति ॥ ९०५ ॥

विजयोदया—कामभुजगेण कामसर्पेण । लज्जात्वङ्निर्मोचनकारिणा, दर्पदंष्ट्रेण दष्टा अनेकदुःखावहविषेण नरा नश्यन्ति ॥

मूलारा—लज्जाणिम्मोग लज्जैव निर्मोकः कंचुको यस्य मोच्यत्वात् । लज्जानिर्मोकमोचिनेत्यर्थः । अणेगदुक्खप्पगविसेण अनेकदुःखात्मकविषेण ॥

अर्थ—यह कामरूपी सर्प लज्जारूप कांचलीका त्याग करता है. उन्मत्ततारूप दाढसे यह महाभयंकर दीखता है. ऐसा यह सर्प जब दंश करता है तब अनेक दुःखरूपी विषसे मनुष्य व्याप्त होकर नष्ट होते हैं.

आसीविसेण अवरुद्धस्स वि वेगा हवंति सत्तेव ॥
दस होंति पुणो वेगा कामभुअंगावरुद्धस्स ॥ ८९२ ॥

आशीविषेण दष्टस्य सप्तवेगाः शरीरिणः ॥
दष्टस्य स्मरसर्पेण जायंते दश दुःसहाः ॥ ९०६ ॥

विजयोदया—आसीविसेण आशीविषेण सर्पाग्रण्या दष्टस्यापि सप्तैव वेगा भवन्ति । कामभुजंगेन दष्टस्य दशवेगा भवन्ति ।

मूलारा—आसीविसेण सर्पाग्रण्या । अवरुद्धस्स दष्टस्य । वेगा विषोद्रेकाः । सत्तेव ॥ तद्यथा—

पूर्वे दर्वीकृतो वेगे दुष्टं श्यावीभवत्यसृक् ॥
श्यावता नेत्रवक्त्रादौ सर्पन्तीव च कीटकाः ॥
द्वितीये मन्थयो वेगे तृतीये मूर्द्धगौरवं ॥
दृग्रोधो दंशविक्लेदश्चतुर्थे ष्ठीवनं वमिः ॥
संधिविश्लेषणं तंद्रा पंचमे पर्वभेदनम्
दाहो हिध्मा च षष्ठे तु हृत्पीडा गात्रगौरवम् ॥
मूर्च्छोऽविपाकोऽतीसारः प्राप्य शुक्रं तु सप्तमे ॥
स्कंधपृष्ठकटीभंगः सर्वचेष्टानिवर्तनम् ॥

अर्थ—जिसको सर्प दंश करता है उस मनुष्यको सात विषवेग उत्पन्न होते हैं. अर्थात् सर्पके विषसे उस मनुष्यको सात अवस्थायें क्रमसे प्राप्त होती हैं. परंतु कामरूपी सर्पके दंशसे मनुष्यको दस अवस्थाओंको भोगना पडता है.

तान्दशापि वेगान्क्रमेण दर्शयति—

पढमे सोयदि वेगे दट्ठुं तं इच्छदे बिदियवेगे ॥
णिस्ससदि तदियवेगे आरोहदि जरो चउत्थम्मि ॥ ८९३ ॥

शोचति प्रथमे वेगे द्वितीये तां दिदृक्षते ॥
तृतीये निश्वसित्युच्चैर्ज्वरस्तुर्ये प्रवर्तते ॥ ९०७ ॥

विजयोदया—पढमे सोयदि वेगे प्रथमे वेगे शोचति। द्वितीये वेगे स तं द्रष्टुमिच्छति। निःश्वसिति च तृतीये वेगे। आरोहति ज्वरश्चतुर्थे वेगे ॥

के ते दशवेगा इत्यत्र गाथात्रयमाह—

मूलारा—स्पष्टम्।

उन दश वेगोंका वर्णन क्रमसे आचार्य करते हैं—

अर्थ—कामवेगकी पहिली अवस्थामें वह कामी पुरुष शोकयुक्त होता है. दूसरी अवस्थामें इष्ट स्त्रीको देखनेकी इच्छा करता है. तीसरे वेगमें दीर्घ श्वासोच्छ्वास करता है. चौथे वेगमें उसको ज्वर चढता है.

डज्झदि पंचमवेगे अंगं छट्ठे ण रोचदे भत्तं ॥
मुच्छिज्जदि सत्तमए उम्मत्तो होइ अट्ठमए ॥ ८९४ ॥

दह्यते पंचमे गात्रं भक्तं षष्ठे न रोचते ॥
प्रयाति सप्तमे मूर्छामुन्मत्तो जायतेऽष्टमे ॥ ९०८ ॥

विजयोदया—डज्झदि पंचमवेगे पंचमवेगे दह्यते। भक्तारुचिः षष्ठवेगे। सप्तमवेगे मूर्च्छति। उन्मत्तो भवत्यष्टमे ॥

मूलारा—स्पष्टम्।

अर्थ—पांचवे वेगमें उसके अंगमें दाह उत्पन्न होता है. छट्ठे वेगमें उसको अन्नादिकोंमे अरुचि उत्पन्न होती है. सातवे वेगमें वह मूर्च्छित होता है. आठवे वेगमें उसको उन्मत्तावस्था प्राप्त होती है.

णवमे ण किंचि जाणदि दसमे पाणेहिं मुच्चदि मदंधो ॥
संकप्पवसेण पुणो वेगा तिव्वा व मंदा वा ॥ ८९५ ॥

न वोत्ति नवमे किंचिद्दशमे मुच्यतेऽसुभिः ॥
संकल्पतस्ततो वेगास्तीव्रा मंदा भवंति वा ॥ ९०९ ॥

विजयोदया—नवमे नात्मानं वेत्ति । दशमे वेगे प्राणैर्विमुच्यते । मदान्धस्य संकल्पवशेन पुनस्तीव्रा मंदा वा भवन्ति वेगाः ।

मूलारा—मदंधो कामांधः ॥

अर्थ—नववे वेगमें वह अपने को भी जानता नहीं है और दशमें वेगमें वह प्राण छोड देता है. ये दश-वेग संकल्पकी जैसी तीव्रता अथवा मंदता होगी वैसे तीव्र या मंद होते हैं.

जेट्ठामूले जोण्हे सूरो विमले णहम्मि मज्झण्हे ॥
ण डहदि तह जह पुरिसं डहदि विवड्ढंतउ कामो ॥ ८९६ ॥

ज्येष्ठे सूरः सिते पक्षे मध्याह्ने विमलेऽम्बरे ॥
नरं दहति नो तद्वद्वर्धमानो यथा स्मरः ॥ ९१० ॥

विजयोदया—जेट्ठामूले ज्येष्ठमासे शुक्लपक्षे विमले नभसि मध्याह्ने रविः स न दहति तथा यथा पुरुषं दहति प्रवर्द्धमानः कामः ॥

मूलारा—जेट्ठे ज्येष्ठमासे । मूले मूलनक्षत्रे । जोण्हे शुक्लपक्षे । णहम्मि आकाशे ॥

अर्थ—ज्येष्ठमासके शुक्ल पक्षमें निरभ्र आकाशमें मध्याह्नसमयमें सूर्य भी उतना पुरुषको संतप्त नहीं करता है जितना यह काम संतप्त करता है. अर्थात् ज्येष्ठमासके सूर्यतापसे भी इस कामका ताप प्रचंड और असह्य है.

सूरग्गी डहदि दिवा रत्तिं च दिवा य डहइ कामग्गी ॥
सूरस्स अत्थि उच्छागारो कामग्गिणो णत्थि ॥ ८९७ ॥

दिवसे प्लोषते सूर्यो मनोवासी दिवा निशम् ॥
अस्ति प्रच्छादनं सूर्ये मनोवासिनि नो पुनः ॥ ९११ ॥

विजयोदया—सूरग्गी डहदि दिया सूर्याग्निर्दहति दिवा, नक्तं दिवा दहति कामाग्निः । सूर्यस्याच्छादनकारी छत्रादिकमस्ति न कामाग्नेः ॥

मूलारा—इच्छाकारी आच्छादनकारि छत्रादिकं ॥

अर्थ—सूर्यरूपी अग्नीका ताप लोकोंको दिनमें ही संतप्त करता है. परंतु यह कामाग्नि रातमें और दिनमेंभी चोवीस घंटे जीवोंको सताता है. सूर्यसंताप छत्रादिकसे दूर कर सकते हैं परंतु इस कामाग्नीको लोक शांत नहीं कर सकते हैं.

विज्झायदि सूरग्गी जलादिएहिं ण तहा हु कामग्गी ॥
सूरग्गी डहइ तयं अब्भंतरबाहिरं इदरो ॥ ८९८ ॥
वन्हिर्विध्याप्यते नीरैर्मन्मथो न कदाचन ॥
प्रप्लोषते बहिर्वह्निर्बहिरन्तश्च मन्मथः ॥ ९१२ ॥

विजयोदया—विज्झायदि सूरग्गी विध्याति सूर्यजनितस्तापो जलादिभिर्न तथा जलादिभिः कामाग्निः प्रशाम्यति । सूर्यस्योष्णत्वं त्वच दहति । कामाग्निरंतर्बहिश्च दहति ।

मूलारा—सूरग्गी सूर्यजनितस्तापः । तयं त्वचम् ॥

अर्थ— सूर्यरूपी अग्नीका संताप जलादिक शीतोपचारसे दूर कर सकते हैं. परंतु कामाग्निको बुझानेके लिये कोइ उपाय नहीं हैं. सूर्यकी उष्णता त्वचाको जलाती हैं परंतु कामाग्नि इस शरीरको और आत्माकोभी जलाती हैं.

जादिकुलं संवासं धम्माणि य बंधवम्मि अगणित्ता ॥
कुणदि अकज्जं पुरिसो मेहुणसण्णापसंमूढो ॥ ८९९ ॥

बंधुं जातिं कुलं धर्मं संवासं मदनातुरः ॥
अवमन्य नरः सर्वं कुरुते कर्म निंदितम् ॥ ९१३ ॥

विजयोदया—जादिकुलं मातृपितृवंशं । संवासं सहवसनं । धर्मं बांधवानपि अवगणय्य पुरुषोऽकार्यं करोति मैथुनसंज्ञा मूढः

मूलारा—संवासं सहवसतो जनान् मित्रादीन् ॥

अर्थ—कामेच्छासे जब मनुष्य व्याकुल होता है तब आपकी जाति और कुलका विचार नहीं करता है. अपने साथीदारोंका अपने धर्मबंधुओंको भी वचन मानता नहीं है अर्थात् वह निर्लज्ज होता है. और अकार्य कर बैठता है.

कामपिसायग्गहिदो हिदमहिदं वा ण अप्पणो मुणदि ॥
होइ पिसायग्गहिदो वसदा पुरिसो अणप्पवसो ॥ ९०० ॥

पिशाचेनेव कामेन व्याकुलीकृतमानसः ॥
हिताहितं न जानाति निर्विवेकीकृतोऽधमः ॥ ९१४ ॥

विजयोदया—कामपिसायग्गहिदो कामपिशाचगृहीतः हितमहितं वा न वेत्ति, पिशाचेन गृहीतः पुरुष इव सदा अनात्मवशो भवति ।

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—पिशाचग्रस्त मनुष्य जैसा आपेमें नहीं रहता है वैसा कामपिशाचके वश हुआ मनुष्य हिताहित जानता नहीं. वह बुद्धिभ्रष्ट होता है.

णीचो व णरो बहुगं पि कदं कुलपुत्तओ वि ण गणेदि ॥
कामुम्मत्तो लज्जालुओ वि तह होदि णिल्लज्जो ॥ ९०१ ॥

नोपकारं कुलीनोऽपि कृतघ्न इव मन्यते ॥
लज्जालुरपि निर्लज्जो जायते मदनातुरः ॥ ९१५ ॥

विजयोदया—णीचो व णरो नीच इव नरः कृतमपि बहुमुपकारं न गणयति । कुलपुत्तोऽपि सन्कामोन्मत्तो, लज्जावानपि पूर्वं विगतलज्जो भवति ।

मूलारा— णीचो व अकुलीन इव । कुलपुत्तओ कुलीनः ॥

अर्थ—नीच मनुष्य सज्जनोंने किये हुए उपकारको भूल जाता है वैसे कामपीडित मनुष्य प्रथम लज्जावान होता है परन्तु अन्तमें वह लज्जाको तिलांजलि देता है.

कामी सुसंजदाण वि रूसदि चोरो व जग्गमाणाणं ॥
पिच्छदि कामग्घत्थो हिदं भणंते व सत्तू व ॥ ९०२ ॥

स्तेनो वा जागरूकेभ्यः संयतेभ्यः प्रकुप्यति ॥
हितोपदेशिनं कामी द्विषन्तमिव पश्यति ॥ ९१६ ॥

विजयोदया—कामी सुसंजदाण वि कामी सुसंयतानामपि रुष्यति । जाग्रतां चोर इव कामग्रस्तः, प्रेक्षते हितं प्रतिपादयतः शत्रुरिव ॥

मूलारा— कम्मग्घत्थो कामग्रस्तः ॥

अर्थ—कामी मनुष्य संयमी मनुष्योंपर रुष्ट होता है जैसा चोर जागरण करनेवाले पुरुष पर रुष्ट होता है. जो मनुष्य उसको हितका उपदेश करते हैं उसको कामीपुरुष शत्रुके समान गिनता है.

आयरियउवज्झाए कुलगणसंघस्स होदि पडिणीओ ॥
कामकलिणा हु वत्थो धम्मियभावं पयहिदूणं ॥ ९०३ ॥

सूर्योपाध्यायसंघानां जायते प्रतिकूलिकः ॥
धार्मिकत्वं परित्यज्य प्रेर्यमाणो मनोभुवा ॥ ९१७ ॥

विजयोदया—अयरियउवज्झायग आचार्याणां अध्यापकानां, कुलस्य गुरुशिष्यवर्गस्य, गुरुधर्मभ्रातृशिष्याणां वा । चातुर्वर्ण्यस्य वा संघस्य च भवति प्रतिकूलः कामकलिना ग्रस्तः धार्मिकत्वं विहाय ॥

मूलारा— उवज्झाया अध्यापकाः। कुल स्वगुरुशिष्यवर्गो। गुरुधर्मभ्रातृशिष्यो वा। गण स्वशिष्यवृंदं। संघ चातुर्वर्ण्यम्। पडिणीओ प्रतिकूलः। कलि दोषः॥

अर्थ—कामदोषसे व्याप्त हुआ पुरुष आचार्य, उपाध्याय, गुरु और शिष्यवर्ग और अपने सहाध्यायी, चातुर्वर्ण्य और संघके प्रतिकूल होता है.

कामग्घत्थो पुरिसो तिलोयसारं जहदि सुदलाभं ॥
तेलोक्कपूइदं पि य माहप्पं जहदि विसयंधो ॥ ९०४ ॥

माहात्म्यं भुवनख्यातिं श्रुतलाभं च मुंचति ॥
सतृणावज्ञया सारं मोहाच्छादितचेतनः ॥ ९१८ ॥

विजयोदया—कामग्घत्थो कामग्रस्तः। त्रैलोक्यसर्वसारमपि श्रुतलाभं जहाति। त्रैलोक्येन पूजितमपि माहात्म्यं त्यजति विषयांधः॥

मूलारा— स्पष्टम्।

अर्थ—कामग्रस्त मनुष्य त्रैलोक्यमें सर्वोत्कृष्ट और साररूप ऐसे श्रुतज्ञानके लाभको छोडता है. त्रैलोक्यसे पूजनीय ऐसा भी अपना माहात्म्य वह कामग्रस्त होकर खो बैठता है.

तह विसयामिसघत्थो तणं च तवचरणदंसणं जहइ ॥
विसयामिसगिद्धस्स हु णत्थि अकायव्वयं किंचि ॥ ९०५ ॥

जीर्णं तृणमिव मुख्यं चतुरंगं विमुंचतः ॥
नाकृत्यं विद्यते किंचिज्जिघृक्षोर्विषयामिषम् ॥ ९१९ ॥

विजयोदया—तह विसयामिसघत्थो विषयामिषलंपटः। तृणमिव तपश्चरणं दर्शनं च जहाति। विषयामिषलंपटस्य नास्त्यकार्यं किंचित्॥

मूलारा— आमिस आहारः। घत्थो लंपटः॥

अर्थ—विषयरूपी आहारमें लपट होकर कामी पुरुष रत्नत्रयको तिनकेके समान त्याग देता है तप छोडता है. उसके लिए अकार्य कुछ भी नहीं है.

अरहंतसिद्ध आयरिय उवज्झाय सव्ववग्गाणं ॥
कुणदि अवण्णं णिच्चं कामुम्मत्तो विगयवेसो ॥ ९०६ ॥

गृह्णात्यवर्णवादं यः पूज्यानां परमेष्ठिनाम् ॥
अकृत्यं कुर्वतस्तस्य मर्यादा कामिनः कुतः ॥ ९२० ॥

विजयोदया—अरहंतसिद्धआयरिय अर्हतां, सिद्धानां, आचार्याणां, उपाध्यायानां, सर्वेषां यतीनां अवर्णवादं करोति नित्यं विकृतवेषः ॥

मूलारा—अवण्णं अकीर्तिं। विगदवेसो विकृतवेषः। विनष्टयतिरूप इत्यर्थः ॥

अर्थ—कामी पुरुष अरहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और सर्व मुनिओंकी सदा निंदा करता है. अर्थात् उनमें दोष न होनेपर भी दोषारोपण करता है. और यदि स्वयं वह यति होगा तो यतिपना छोडकर अन्य वेष धारण कर यथेष्टाचरण करता है.

अयसमणत्थं दुःखं इहलोए दुग्गदा य परलोए ॥
संसारं पि अणंतं ण मुणदि विसयामिसे गिद्धो ॥ ९०७ ॥

स दुःखमयशोऽनर्थं कल्मषं द्रविणक्षयम् ॥
संसारसागरेऽनंते भ्रमणं च न मन्यते ॥ ९२१ ॥

विजयोदया—अयसमणत्थं अयश अनर्थं। दुःखं चेहपरलोके दुर्गां गतिं, संसारमप्यनंतं भाविनं न वेत्ति विषयामिषे गृद्धः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—विषयरूपी आहारमें आसक्त होकर वह कामी अयश, अनर्थ, दुःख, इह परलोकमें अशुभगति,

और अनंत संसारकी वृद्धि इन वातोंको वह जानताही नहीं अर्थात् मैं विषयलंपटी बननेसे मेरी बुरी हालत बनेगी मेरेको संसारमें अनंतकालतक दुर्गति धारण कर अपकीर्ति के साथ भ्रमण करना पडेगा इन वातोंका वह विचार ही नहीं करता है

णीचं पि विसयहेदुं सेवदि उच्चो वि विसयलुद्धमदी ॥
वहुगं पि य अवमाणं विसयंधो सहइ माणीवि ॥ १०८ ॥

उच्चोऽपि सेवते नीचं विषयामिषकांक्षया ॥
स्मरार्तः सहतेऽवज्ञां मानवानपि मानवः ॥ ९२२ ॥

विजयोदया—णीचं पि विसयहेदुं ज्ञानकुलादिभिरतीव न्यूनमपि सेवते कुलीनो बुद्धिमानपि विषयलुब्धमतिः। परिभवं महान्तमपि धनिभिः क्रियमाणं सहते विषयांध ॥

मूलारा—अवमाणं धनिभिः क्रियमाणं पराभवं । माणी वि मानवानपि ।

अर्थ—विषयसेवनके लिए वह उच्चकुलीन और बुद्धिमान होकर भी विषयमें लुब्ध होकर ज्ञान, जाति और कुलादिसे हीन ऐसे नीच पुरुषोंकी सेवा करता है तथा उसका मानी स्वभाव होते हुएभी वह विषयांध नीचोंसे किये गये अनेक अपमानोंको, और धनिओंसे किये गये अपमानोंको सहता है.

णीचं पि कुणदि कम्मं कुलपुत्तदुगुंछियं विगदमाणो ॥
वारत्तिओ वि कम्मं अकासि जह लंघियाहेदुं ॥ १०९ ॥

कुलीनो निंदितं कर्म कुरुते विषयाशया ॥
जिघृक्षुर्नर्तकीं वृत्तं चारित्रं त्यक्तवान्न किं ॥ ९२३ ॥

१००८ विजयोदया—णीचं पि कुणदि नीचमपि करोति कर्म उच्छिष्टभोजनादिकं कुलीननिंदितं विनष्टाभिमानः । वारत्तिगो नाम यतिरतिगर्हितं कर्म कृतवान् यथा कुलीन स्त्रीनिमित्त ॥

मूलारा—णीचंपि उच्छिष्टभोजनादिकं । वारत्तओ वारत्रको नाम यतिः । अकासि अकार्षीत् कृतवान् । लंघियाहेदु नर्तकीनिमित्तम ॥

अर्थ—कुलीन जिसकी निंदा करते हैं ऐसा कर्म-कृत्य वह विषयी पुरुष अभिमानको तिलांजली देकर करने लगता है. उच्छिष्टभोजनादिक कार्य नीच कार्य है. ऐसे कार्य वह करता है. कुलीन ऐसा वारत्रिक नामक यतिने नाचनेवाली स्त्रीके निमित्त निंद्यकर्म किये थे. यह उदाहरण है.

सूरो तिक्खो मुक्खो वि होइ वसिओ जणस्स सधणस्स ॥
विसयामिसम्मि गिद्धो माणं रोसं च मोत्तूणं ॥ ९१० ॥

कामी शूरोऽपि तीक्ष्णोऽपि मुख्योपि भवति स्फुटम् ॥
विगर्वः श्रीमतो वश्यो वैश्यस्य गदचानिव ॥ ९२४ ॥

विजयोदया—सूरो तिक्खो मुक्खो वि होइ सूरस्तीक्ष्णो मुख्योऽपि धनिनो जनस्य वशवर्ती भवति। विषयाभिलाषे लुब्ध गृद्धः अभिमानं रोष मुक्त्वा ॥

मूलारा—तिक्खो असहनः । मुक्खो मुख्यः, प्रधानः, वसिगो वशवर्ती ॥

अर्थ—विषयाभिलाषी होकर शूर, निपुण और मुख्य ऐसा भी पुरुष विषयवश होकर मान और रोषको छोडकर धनिक जैसे नचाते हैं वैसा नाचता है.

माणी वि असरिसस्सवि चडुयम्मं कुणदि णिच्चमविलज्जो ॥
मादापिदरे दासं वायाए परस्स कामेंतो ॥ ९११ ॥

विधत्ते चाटु नीचस्य कुलीनो मानवानपि ॥
मातरं पितरं वाचा दासं कुर्वन्नपत्रपः ॥ ९२५ ॥

विजयोदया—माणी वि असरिसस्स वि मानी असदृशस्यापि चाटुं करोति । वाचा आत्मीयां मातरं पितरं वा दास्यमापादयति । तथाहं दासो गृहे भवामीति वदन्परं कामयमानः ॥०

मूलारा—असरिसस्स वि नीचस्यापि । चडुकम्मं चाटुकारपूर्वकं कर्म पादमर्दनादिकं । अविलज्जो निर्लज्जः सन् । कामेंतो कामयमानः कुर्वन् इत्यर्थः । मम माता तव दासी मम पिता तव दास इति कथयन् । उक्तं च—

मानी च करोति सदा चडुकर्म लज्जितोऽप्यसदृशस्य ॥
मातापितरौ दासस्य कथयति लोकस्य कामांधः ॥
इमां गाथां टीकाकारो नेच्छति ॥ १

अर्थ—मानी मनुष्य भी हीन जातीय लोगोंकीभी विषयलंपट होकर खुशामत करता है. उनके पांव दाबना शरीर मर्दन करना वगैरह कार्य करता है. और निर्लज्ज होकर मैं दास बनकर तेरी सेवा करूंगा ऐसा कहता है. मेरी माता और पिताभी तुमारे दास बनेंगे ऐसा कहता है.

वयणपडिवत्तिकुसलत्तणे पि णासइ णरस्स कामिस्स ॥
सत्थप्पहव्व तिक्खा वि मदी मंदा तहा हवदि ॥ ९१२ ॥

विजयोदया—वयणपडियत्तकुसलत्तणं पि वचने प्रतिपत्तौ च कुशलतापि विनश्यति कामिनो नरस्य । शास्त्रमहता शास्त्रे घटिता अतितीक्ष्णापि मति कुंठिता भवति ॥

अर्थ—कामी मनुष्यका वचन-चातुर्य और उसकी बुद्धीकी चतुरता नष्ट होती है. शास्त्रोंका निरूपण करनेवाली अतिशय चातुर्ययुक्त भी उसकी बुद्धि मंद हो जाती है.

होदि सचक्खू वि अचक्खुव बधिरो वा वि होइ सुणमाणो ॥
दुट्ठकरेणुपसत्तो वणहत्थी चेव संमूढो ॥ ९१३ ॥
न पश्यति सनेत्रोपि सश्रोत्रोऽपि शृणोति न ॥
कामार्त्तः प्रमदाकांक्षी दंतीव हतचेतनः ॥ ९२६ ॥

विजयोदया—होदि सचक्खू वि अचक्खुव चक्षुष्मानपि अचक्षुरिव भवति । परं समीपस्थमपि यतो न पश्यति । बहिरो वा वि होदि बधिर इव भवति । सुणमाणो शृण्वन्नपि अव्यक्तश्रवणात् । दुट्ठकरेणुपसत्तो दुष्टकरिणीप्रसक्तः । वणहत्थी चेव वनहस्तीव । संमूढः ॥

मूलारा—अचक्खुव अध इव समीपस्थमपि यतो न पश्यति । सुणमाणो शृण्वन्नपि । बधिर इव भवत्यव्यक्त-श्रवणात् । वणहत्थी चेव वनगज इव ॥

अर्थ—वह कामी मनुष्य नेत्रयुक्त होकर भी अंधेके समान होता है. अपने पासकी भी वस्तुको वह देखता नहीं. सुनकर भी बहिरेके समान अनसुनी कर देता है. जैसे वनका उन्मत्त हाथी दुष्ट हाथिनीके वश होकर मूढ बन कर कुछ सुनता नहीं कुछ देखता नहीं. वैसी ही कामी पुरुषकी स्थिति होती है, वे हितकी बातें सुनना नहीं चाहते हैं. और हितकर जिनमूर्ति, मुनि वगैरोंको दर्शन करना नहीं चाहते हैं.

सलिलणिवुढोव्व णरो वुज्झंतो विगयचेयणो होदि ॥
दक्खो वि होइ मंदो विसयपिसाओवहदचित्तो ॥ ९१४ ॥
सलिलेनेव कामेन सद्यो जाड्यविधायिना ॥
दक्षो पि जायते मंदो नीयमानः समंततः ॥ ९२७ ॥

विजयोदया—सलिलणिवुढो वुज्झंतो णरोव्व सलिलनिमग्नः प्रवाहेणोह्यमानो नरो यथा। विगयचेयणो विगतचैतन्यो भवति । दक्खो वि होदि मंदो दक्षोऽपि सर्वकार्येषु प्रवीणोऽपि जडो भवति । विसयपिसाओवहदचित्तो विषयपिशाचोपहतचित्तः विषया रूपादयश्चेतोविभ्रमहेतुत्वात्पिशाचा इवेति विषयाः पिशाचा इत्युक्ताः॥

मूलारा—वुज्झंतो प्रवाहेणोह्यमानः। दक्खो सर्वकार्येषु प्रवीणः। विसयपिसाओवहदचित्तो विषया रूपादयः पिशाच इव चेतोविभ्रमहेतुत्वात्। तदुपद्रुतमनाः॥

अर्थ—जैसे पानीके प्रवाहमें डुबा हुआ और बहता जा रहा है ऐसा मनुष्य चेतनारहित अर्थात् मूर्छित होता है. वैसे पांचों इन्द्रियोंके विषयरूपी पिशाचसे ग्रस्त हुआ मनुष्य यदि कार्य कुशल हो तो भी वह मंद बुद्धि होता है. अर्थात् रूपादि पदार्थोंमें ही उसकी बुद्धि दौडती है अतः इतर कार्यों में वह मंदसा होता है.

बारसवासाणि वि संवसित्तु कामादुरो ण णासीय ॥
पादंगुट्ठमसंतं गणियाए गोरसंदीवो ॥ ९१५ ॥
वर्षद्वादशकं वेश्यां निषेव्यापि स्मरातुरः ॥
नाज्ञासीद्गोरसंदीवः पदांगुष्ठमशोभनम् ॥ ९२८ ॥

विजयोदया—बारसवासाणि द्वादशवर्षमात्रं सहोषित्वापि । कामाउरोपि । कामातुरोपि । न ज्ञातवान्गोरसंदीपः । किं ? गणिकायाः पादांगुष्ठमसन्तं ॥

मूलारा—संवसित्तु सहवासं कृत्वा । ण णासीय न ज्ञातवान् । असंतं अविद्यमानं अशोभनं वा शीर्णमित्यर्थः । गणियाए वेश्यायाः कायसुंदरीनाम्न्याः । गोरसंदीवो मुनिनामेदं ॥

अर्थ—गोरसंदीव नामक मुनि बारा वर्षतक एक कायसुंदरी नामक गणिकाके सहवासमें रहा था परंतु उस गणिकाके पावको अंगुठा नहीं था यह बात उसको माल्लमही नही थी.

सीदं उण्हं तण्हं खुहं च दुस्सेज्ज भत्त पंथसमं ॥
सुकुमारो वि य कामी सहइ भारमवि गरुयं ॥ ९१६ ॥
शीतमुष्णं क्षुधां तृष्णां दुराहारं पथि श्रमम् ॥
दुःशय्यां सहते कामी वहते भारसुल्बणम् ॥ ९२९ ॥

विजयोदया—सीदं उण्हं तण्हं शीतं, उष्णं, तृष्णां । क्षुधां, दुःशयनं, दुराहारं कृते, अध्वगमनश्रमं च सहते । कामी सुकुमारोऽपि गुरुमपि भारं वहति ॥

मूलारा—दुस्सेज्ज भत्त दुःशयनं दुराहारं च । पंथसमं मार्गगमनखेदम् ॥

अर्थ—ठंडी, ऊन, प्यास, भूख, खराब शय्या, खराब आहार, और मार्गश्रम इन सबको कामी मनुष्य सहता है- वह सुकुमार होनेपर भी बडा भार धारण करता है.

गायदि णच्चदि धावदि कसइ ववदि लवदि तह मलेइ णरो ॥
तुण्णइ उण्णइ जाचइ कुलम्मि जादो वि विसयवसो ॥ ९१७ ॥
क्षुप्यते कृष्यते लूयते पूयते प्राप्यते पाद्यते सीव्यते चित्र्यते ॥
छिद्यते भिद्यते क्रीयते दीर्यते रभ्यम्पते रज्यते सज्यते कामिना ॥ ९३० ॥

विजयोदया—गायदि णच्चदि-गायति, नृत्यति, धावति, कृषति, वपति, लुनाति, मर्दयति, सीव्यति, पट्टचक्रादिवयनं करोति । याचते कुलप्रसूतोऽपि सन्विषयमुपगत आत्मानं भार्यां च पोषयितुं ॥

मूलारा—किमदि क्षपति क्षेत्रं वाहयतीत्यर्थः । लवदि लुनाति, मलेदि मर्दयति । तुण्णेदि तुण्णयति । विणदि वयति ॥

अर्थ—विषयवश उच्चकुलीन मनुष्य गाता है, नाचता है, दौडता है, बीज बोता है, जमीन नांगरता है. मर्दन करता है, कपडे सीता है, कपडे बुनता है, अपना और परनीका पोषण करनेके लिये उपर्युक्त कार्य करता है.

सेवदि णिवादि रक्खदि गोमहिसिमजाविर्यं हयं हत्थिं ॥
ववहरदि कुणदि सिप्पं सिणेहपासेण दढबद्धो ॥ ९१८ ॥

गोमहिषीहयरासभरक्षी काष्ठतृणोदकगोमयवाही ॥
प्रेषणकंडणमार्जनकारी कामनरेन्द्रस्यास्ति मनुष्यः ॥ ९३१ ॥
आयुधैर्विविधैः कीर्णां रणक्षोणीं विगाहते ॥
लेखनं कुरुते दीनः पुस्तकानामनारतम् ॥ ९३२ ॥
संयुक्तां कर्षति क्षोणीं गर्भिणीमिव योषितम् ॥
अधीत्य बहुशःशास्त्रं कुरुते शिशुपाठनम् ॥ ९३३ ॥
शिल्पानि बहुभेदानि तनुते परतुष्टये ॥
विधत्ते वचनां चित्रां वाणिज्यकरणोद्यतः ॥ ९३४ ॥
अवमन्य भवाम्भोधौ पतनं बहुवीचिके ॥
किं किं करोति नो कर्म मर्त्यो मदनलंघितः ॥ ९३५ ॥

विजयोदया—सेवदि णिवादि-सेवति सस्यांतर्गतं तृणादिकमेव । निजति, रक्षति गां, महिषीं, अजाः, आविकं, हयं, हस्तिनो वा । वाणिज्यं करोति । समस्तनैपुण्यं अतीव तत्कर्मादिकं करोति कामिनीगतस्नेहभावेन दृढबद्धः ॥

मूलारा—सेवदि शियादि सेवते नीचादिकं । अथवा सेवदि राजादिसेवां करोति । णियादि निंदयति सस्यांतर्गतं तृणादिकमुत्पाटयतीत्यर्थः । अजाविगं छागमेषं । ववहरदि वाणिज्यं करोति । सिप्पं शिल्पं करकौशलं काष्ठचित्रादिकर्म।

अर्थ—स्त्रीके स्नेहपाशसे जखडा हुआ वह कामी मनुष्य नीच मनुष्यकी अथवा राजाकी सेवा करता है. धान्यके बीचमें उत्पन्न हुआ तृण निकालता है. गाय, भैस, बकरा, हाथी, घोडा वगैरह प्राणिओंका रक्षण करता है. व्यापार करता है, हस्तकौशल्यके कार्य करता है. अर्थात् नानाप्रकारके काठके चित्रादिक बनाता है.

वेढेइ विसयहेदुं कलत्तपासेहिं दुव्विमोएहिं ॥
कोसेण कोसियारुव्व दुम्मदी णिच्च अप्पाणं ॥ ९१९ ॥

दुर्मोचैः कामिनीपाशैः कामी वेष्टयते कुधीः ॥
लालापाशैरिवात्मानं कोशकारकृमिः स्वयम् ॥ ९३६ ॥

विजयोदया—वेढेइ विसयहेदु वेष्टयति विषयहेतुनिमित्त । आत्मानं कलत्रपाशैर्मोचयितुमशक्यैः कोशेन कोशकारकीट इव दुर्मतिः ॥

मूलारा—वेढेदि वेष्टयति बध्नाति । दुव्विमोयेहिं मोचयितुमशक्यैः । कोसेण लालातंतुजालेन ।

अर्थ—विषयसुख भोगनेकी इच्छासे जिसका छुटना अशक्य है ऐसे स्त्रीके स्नेहपाशसे कामी मनुष्य अपनेको वेष्टित करता है. जैसे रेशमको उत्पन्न करने वाला कीडा अपने मुखमेंसे निकले हुए तंतुओंसे अपनेको वेष्टित करता है.

रागो दोसो मोहो कसायपेसुण्ण संकिलेसो य ॥
ईसा हिंसा मोसा सूया तेणिक्क कलहो य ॥ ९२० ॥

रागो द्वेषो मदोऽसूया पैशून्यं कलहो रतिः ॥
वचनेर्ष्या पराभूतिर्दोषाः सन्ति स्मरातुरे ॥ ९३७ ॥

विजयोदया—रागो दोसो रागो द्वेष', अज्ञानं, कषायाः. परदोषसंस्तवनं, संक्लेशः, ईर्ष्या, हिंसा, मृषा, परगुणासहनं, स्तैन्यं कलहश्च ॥

मूलारा—मोहो अज्ञानं । पेसुण्णं परदोषसूचनं । मोसं असत्यं । असूया परगुणासहनं । तेणिक्कं चौर्यं ॥

जंपणपरिभवणियडिपरिवादरिपुरोगसोगधणणासो ॥

विसयाउलम्मि सुलहा सव्वे दुक्खावहा दोसा ॥ ९२१ ॥

विजयोदया—जंपणपरिभव जल्पनं परिभवः। वंचना परोक्षेऽपवादः। शत्रुः, रोगशोकौ, धननाश इत्यादयः। विसयाउलम्मि सुलहा विषयाकुले सुलभाः सर्वेऽपि दुःखावहा दोषाः ॥

मूलारा—जंपण दोषोद्घोषणं। णियडि निकृतिः वंचना। परिवाद परोक्ष अपवादः। विसयाउलम्मि विषयाकुले पुंसि ॥

अर्थ—जो विषयसे दुःखित है ऐसे मनुष्यमें रागद्वेष, मोह, अज्ञान, कषाय, परदोषोंका कथन करना, संक्लेश परिणाम, इर्ष्या, स्पर्द्धा, हिंसा, असत्यभाषण, अन्योंके गुण सहन न करना, चोरी और कलह ऐसे दोष उत्पन्न होते हैं. वडपडना, पराभव, फसाना, परोक्षमें निंदाकरना, रोग, शोक, धननाश वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं प्रायः ये सब दोष कामी मनुष्यमें सुलभतया उत्पन्न होते हैं.

न केवलमात्मन एव अपि तु परोपद्रवमपि करोति कामीति वदति—

अवि य वहो जीवाणं मेहुणसेवाए होइ बहुगाणं ॥

तिलणालीए तत्ता सलायवेसो य जोणीए ॥ ९२२ ॥

तिलनाल्यामिव क्षिप्रं तप्तलोहप्रवेशने ॥

तिलानां देहिनां पीडा योन्यां लिंगप्रवेशने ॥ ९२८ ॥

विजयोदया—अवि य वहो जीवाण। अपि च बहूनां जीवानां वधो भवति। मैथुनसेवया। जोणीए योन्यां। तिलैः पूर्णायां नालिकायां तप्तायःशलाकाप्रवेश इव ॥

मूलारा—अपि य अपि च। न केवलं मैथुनं भजन्नात्मानमेव तैस्तैर्दोषैः कदर्थयति किं तर्हि योनिजंतूनपि बहून् हिनस्ति इत्यधिकमुच्यते इत्यर्थः। तत्तासलायवेसो य तप्तलोहशलाकायां प्रवेश्यमानायां तिलपूर्णनालिकायां तिलानां बाधा यथेति संबंधः ॥ उक्तं च—

तिलनाल्यामिव क्षिप्रं तप्तलोहप्रवेशने ॥

तिलानां देहिनां पीडा योन्यां लिंगप्रवेशनात् ॥

कामी पुरुष स्वयंही इतने दोषसे पीडित होता है ऐसा नहीं परंतु दुसरोंकोभी उपद्रव करता है—

अर्थ—मैथुन सेवन करनेसे वह अनेकजीवोंका वध करता है. जैसे तिलकी फलीमें अग्निसे तपी हुई सलई प्रविष्ट होनेसे सब तिल जलकर खाक होते हैं वैसे मैथुन सेवन करते समय योनीमें उत्पन्न हुए जीवोंका नाश होता है.

कामुम्मत्तो महिलं गम्मागम्मं पुणो अविण्णाय ॥
सुलहं दुलहं इच्छियमणिच्छियं चावि पत्थेदि ॥ ९२३ ॥

इच्छावतीमनिच्छां स्त्रीं दुर्बलां दुर्लभां कुधीः ॥
अज्ञात्वा याचते कामी सर्वाचारबहिर्भवः ॥ ९३९ ॥

विजयोदया—कामुम्मत्तो कामोन्मत्तो । स्त्रियाः शरीरमात्मनश्च गम्यं भोग्यं उतस्विदगम्यमभोग्यमिति अविधाय इदमित्थमशुचि इति ब्रवीति । सुलभां दुर्लभां आत्मन्यभिलाषवतीं निरभिलाषां च प्रार्थयते ॥

मूलारा—गम्मागम्मं स्त्रियाःशरीरमात्मनश्च गम्यं भोग्यं उतस्विदगम्यं अभोग्यं इत्यविज्ञाय यथास्वमनिरूप्य, सुलभां दुर्लभामात्मनीच्छावतीमनिच्छावतीं वा कामोन्मत्तः स्त्रियं प्रार्थयते इति टीकाकारः । अन्ये तु गम्मागम्ममित्यपि महिलाविशेषणमाहुः । तथा च तद्ग्रन्थः—

कामोन्मत्तो गम्यामगम्यरूपां च दुर्लभां सुलभां ॥
अज्ञात्वा प्रार्थयते भोक्तुं सेच्छामथानिच्छाम् ॥

अर्थ—कामविकारसे उन्मत्त हुआ मनुष्य स्त्रीका शरीर और अपना शरीर भोग्य है या अभोग्य है इसका कुछभी विचार नहीं करता है. यह शरीर पवित्र है या अपवित्र है इसका भी वह विचार नहीं करता है. यह स्त्री दुर्लभ हैं या सुलभ है, यह स्त्री मेरी अभिलाषा करती है या नहीं इसका बिना विचार करके ही उसकी वह प्रार्थना करने लगता है.

दट्ठूण परकलत्तं किहिदा पत्थेइ णिग्घिणो जीवो ॥
ण य तत्थ किं पि सुक्खं पावदि पावं च अज्जेदि ॥ ९२४ ॥

परकीयां स्त्रियं दृष्ट्वा किं कांक्षति विमूढधीः ॥
न हि तां लभते जातु पापमर्जयते परम ॥ ९४० ॥

विजयोदया—दट्ठूण परकलत्तं परेषां कलत्रं दृष्ट्वा। कथं वा तत्प्रार्थयते जीवो निरस्तलज्जो ममेयं भवतीति। एतस्यां प्रार्थनामात्रादधिगतायां दु खं प्राप्नोति। पापं नियोगेनार्जयति ॥

परदारान्प्रार्थयमानं जुगुप्सते—

मूलारा—किदधा कथं तावत्। गिग्घिणो निर्लज्जः। तत्थ प्रार्थनामात्रप्राप्ते परकलत्रे। च अज्जदि उपार्जयत्येव ॥

अर्थ—परस्त्रीको देखकर यह मनुष्य निर्लज्ज होकर कैसी प्रार्थना करता है. यह स्त्री मेरी होगी ऐसा समझकर क्यों प्रार्थना करता है? प्रार्थना करनेसे तथा वह प्राप्त होने परभी दुःखही प्राप्त होगा और नियमसे पापोपार्जन होगा.

आहट्टिदूण चिरमवि परस्स महिलं लभित्तु दुक्खेण ॥
उप्पित्थमाविसत्थं अणिव्वुदं तारिसं चेव ॥ ९२५ ॥

अभिलष्य चिरं लब्ध्वा परनारीं कथंच न ॥
अनिर्वृत्तमविश्वस्तं सेवने तादृगेव सः ॥ ९४१ ॥

विजयोदया—आहट्टिदूण चिरमवि चिरकालमभिलष्यापि। परस्स महिलं परस्य महिलां परस्य स्त्रियं। दुक्खेण लभित्तु कृच्छ्रेण लब्ध्वा। उप्पित्थं व्याकुलमविश्वस्तमनिर्वृतं चरणं इति क्रियाविशेषत्वेन नेयं। तारिसो चेव यथा तदैवाप्राप्तेः पूर्वमतृप्तहृदयः पश्चादपि तथैवातृप्तहृदयत्वात्तादृश इत्युच्यते ॥

परस्त्रीसेविनमनुशोचति—

मूलारा—आहट्टिदूण अभिलष्य। उब्बिग्गं सोत्रासं। उप्पिच्छादिति पाठेऽपि स एवार्थः। अवीसत्थं अविश्वासमाकुल वा। अणिव्वुदं असंतुष्टं। सेवमान इत्यध्याहारार्थक्रियायास्त्रीण्यपि विशेषणानि। तारिसो चेव पूर्ववदवितृप्तचित्त एव भवति। उक्तं च—

अभिलष्य चिरं लब्धां परनारीं कथं न च ॥
अनिर्वृत्तमविश्वस्तं सेवने तादृगेव सः ॥

अर्थ—चिरकाल परस्त्रीकी मनमें अभिलाषा करने परभी कदाचित् उसकी प्राप्ति होतीभी नहीं. अथवा कष्टसे मिलभी गई तोभी उसका भोग लेते समय मनमें भय उत्पन्न होता है. मनमें अविश्वास उत्पन्न होता है. जिससे सुखकी प्राप्ति होती नहीं. अर्थात् मिलनेके पूर्व जैसा वह अतृप्त था वैसा मिलनेपर भी भयादि विकार उत्पन्न होनेसे अतृप्तही रहता है.

कहमवि तमंधयारे संपत्तो जत्थ तत्थ वा देसे ॥
किं पावदि रइसुक्खं भीदो तुरिदो वि उल्लावो ॥ ९२६ ॥

यत्र तत्र प्रदेशे तामंधकारे कथंचन ॥
अवाप्य त्वरितो भीतो रतिसौख्यं किमश्नुते ॥ ९४२ ॥

विजयोदया—कथमपि तमंधकारे केनचित्प्रकारेण परवंचनां ज्ञात्वा । अंधकारं संप्रासः । तां यत्र तत्र वा देशे, शून्यगृहे शून्यायतने, अटव्यां च किं प्राप्नोति ? रतिसौख्यं। प्रकाशे स्वाभिलषितानवयवांस्तस्याः पश्यतो मृदुनि शयनतले विगतमनोव्याकुलस्य सुखं भवति । नान्यथेति भावः । किं प्राप्नोति रतिसुखं भीतः सन् राजपुरुषेभ्यस्तस्या वा संबंधिभ्यः । पश्यंति मां, परे घ्नंति मां, परपत्नीति वा संभाषणं अपि तया त्वरितं किं पुना रतम् ॥

परस्त्रीसेवायां तमेव सुखाभावमुल्लिखति—

मूलारा—तं परमहिलां । जत्थतत्थ शून्यगृहादौ । भीदो तत्पतिराजपुरुषादिभ्यस्त्रस्तः । तुरिदो उत्तालकः । विउल्लावो विगतसंभाषणः । प्रकाशे तन्मनोज्ञावयवान्पश्यतो मृदुशयनतले तदालिंगनादि कुर्वतो निर्भयनिराकुलतया वचनहसनादिकमनुभवतश्च संभोगसुखं भवतीति भावः ॥

अर्थ—दुसरोंको फसाकर किसी तरह अंधकारमें उसकी प्राप्ति भी हो गई तो शून्य घरमें, शून्य देवालयमें अथवा जंगलमें उसके साथ रममाण होनेसे क्या रतिसौख्य मिलेगा अर्थात् उसके मनमें यदि इसका पति हम दोनोंको देखेगा, अथवा राजाधिकारियोंके नजरमें हम आजावेंगे किंवा परस्त्रीके कोई संबंधी यदि हमको देखेंगे तो वे हमको बांधेंगे, मारेंगे ऐसे विचारसे उसके साथ उसको भाषण करनेके लिये भी निर्व्याकुलता नहीं रहती है तो उसके साथ रतिसुखकी प्राप्ति कैसी होगी? रतिसुखकी प्राप्ति होने पर भी वह सुखी नहीं होता है. प्रकाशमें व्याकुलतारहित मृदुशय्यापर परस्त्रीके सर्व अवयव देखनेसे, उसके साथ क्रीडा करनेसे सुख होगा अन्यथा नहीं. अत

परस्त्रीके सेवनमें सुख नहीं. उसके विचारसे अशुभ कर्मके आस्रव आते हैं जिससे आत्माको कुगतीमें दारुण दुःख भोगने पडते हैं.

परमहिलं सेवंतो वेरं वधबंधकलहधणनासं ॥
पावदि रायकुलादो तिस्से णीयल्लयादो वा ॥ ९२७ ॥

सर्वस्वहरणं रोधं वधं बंधं भयं कलिम् ।
तज्ज्ञातिपार्थिवादिभ्यो लभते पारदारिकः ॥ ९४३ ॥

विजयोदया— परमहिलं सेवंतो परस्त्रियं सेवमानः, वैरं, वधं, बंधं, कलहं, धननाशं च प्राप्नोति राजमूलात् तस्याः स्वजनाद्वा ॥

परस्त्रीभाजोऽपायानाह—

मूलारा—तिस्से तस्याः ।

अर्थ—परस्त्रीका सेवन करने वालोंको राजासे अथवा परस्त्रीके संबंधिओंसे वैर, वध, बंध, कलह, धननाश वगैरेह आपत्ति प्राप्त हो जाती है.

जदि दा जणेइ मेहुणसेवा पावं सगम्मि दारम्मि ॥
अदितिव्वं कह पावं ण हुज्ज परदारसेविस्स ॥ ९२८ ॥

अनर्थकारणं पुंसां कलत्रे स्वेपि मैथुने ॥
करोति कल्मषं घोरं परकीये न किं पुनः ॥ ९४४ ॥

विजयोदया—जदि ता जणेइ यदि तावज्जनयति मैथुनकर्मसेवा किं पापं स्वभार्यायां । अतितीव्रं पापं कथं न भवेत् परदारसेविस्स परस्त्रीसेविनः । अदत्तादानमब्रह्मेति द्वौ यतो दोषौ ॥

परदारसेविनस्तीव्रतरपापबंधमाह—

मूलारा—अदितिव्वं अदत्तादानाब्रह्मासेवनदोषद्वयावेशादत्र तीव्रतरत्वमिति भावः ॥

अर्थ—अपनी पत्नीमेंभी यदि मैथुनसेवन करनेसे पाप उत्पन्न होता है. तो परस्त्रीके साथ मैथुन सेवन करनेसे परस्त्रीसेवी मनुष्यको तीव्र पापकर्मका क्यों बंध न होगा. परस्त्रीसेवन करनेमें चोरी, ब्रह्मचर्यविनाश ऐसे दो दोष उत्पन्न होते हैं. परस्त्री न दी हुई वस्तु है.

मादा धूदा भज्जा भगिणीसु परेण विप्पयम्मि कदे ॥
जह दुक्खमप्पणो होइ तहा अण्णस्स वि णरस्स ॥ ९२९ ॥

यथाभिद्रूयमाणासु स्वस्त्रमातृसुतादिषु ॥
दुःखं संपद्यते स्वस्य परस्यापि तथा न किम् ॥ ९४५ ॥

विजयोदया—मादा धूदा मातरि दुहितरि भगिन्यां परेण विप्रिये कृते कर्मणि यथा दुःखमात्मनो भवति। तथा तस्यापि नरस्य दुःखं भवति। तन्मात्रादिविषये असद्व्यवहारे सति ॥

स्वस्येव परस्यापि परेण मात्रादिषु दुराचारकरणे दुःखं भवतीत्येवंविधविचाररहितः पारदारिकोऽसद्वेद्या-यतितीव्रपापं संचिनोतीत्येतद्गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—धूदा पुत्री।

अर्थ—माता, लडकी, अपनी पत्नी, और अपनी बहिन, इनके साथ किसीने कुछ दुराचार किया तो जैसे अपनेको दुःख होता है वैसे अन्य पुरुषकी माता, पत्नी, बहिन और लडकीयोंके साथ असद्व्यवहार करनेसे उसकोभी दुःख होता है ऐसा समझना चाहिये

एवं परजणदुक्खे णिरवेक्खो दुक्खबीयमज्जेदि ॥
णीयं गोदं इत्थीणउंसवेदं च अदितिव्वं ॥ ९३० ॥

इत्थमर्जयते पापं परपीडाकृतोद्यमः ॥
स्त्रीनपुंसकवेदं च नीचगोत्रं दुरुत्तरम् ९४६ ॥

विजयोदया—एवं परजणदुःखे एवमन्यजनदुःखे निरपेक्षः परदाररतिप्रियो दुःखबीजं संचिनोति। किं? असद्वेद्यं कर्म, नीचैर्गोत्रं, स्त्रीत्वं, नपुंसकत्वं च ॥

मूलारा—णिरवेक्खो निर्विचारः परदाररतिप्रिय इत्यर्थः ॥ दुक्खबीयं असद्वेद्यं । णीचागोदं नीचैर्गोत्रम् ॥

अर्थ—जो दूसरोंके दुःखकी पर्वा नहीं करता है उसको दुःखका बीज ऐसा असातावेदनीय कर्मका बंध होता है और नीचगोत्र, स्त्रीपना, नपुंसकपना ऐसी अवस्थाओंकी प्राप्ति होती है.

जमणिच्छंती महिलं अवसं परिभुंजदे जहिच्छाए ॥
तह य किलिस्सइ जं सो तं से परदारगमणफलं ॥ ९३१ ॥

भुज्यते यदनिच्छंती क्लिश्यमानांगनावशा ॥
तदेतस्याः पुरातन्याः परदाररतेः फलम् ॥ ९४७ ॥

विजयोदया—जमणिच्छंती महिलं यदनिच्छन्ती पुमांसं स्त्रीत्वेन अवशा यथेच्छया परिभुज्यमाना यत्क्लिश्यति तत्तस्या जन्मान्तराचरितपरदारगमनफलं ॥

प्राक्तनपरदाररत्युपार्जितस्त्रीत्वो जीवः स्त्रीपर्यायमापन्नः परपुरुषेण बलादुपभुज्यमानः क्लेशमुपैतीत्याह—

मूलारा—जं यत् । अणिच्छंती भोक्तारमकामयमाना । परिभुज्जदे परपुरुषेण बलात्परिभुज्यमाना सा स्त्री क्लिश्यते । तं से तत्तस्य जन्मांतरपरदारभुक्तिफलमिति संबंधः ॥ उक्तं च—

भुज्यते यदनिच्छंती क्लिश्यमानांगनावशा ॥
तदेतस्याः पुरातन्याः परदाररतेः फलम् ॥

अन्ये—जमणिच्छती महिला अवसं परि भुंजदे जहिच्छारा ॥

तह वि किलिस्सदि जं सो इति पठित्वा एवं व्याचक्षते—यदनिच्छंतीमवशां महिलां परिभुंक्ते यथेच्छया यश्च तथा परिभुंजानोऽसौ निर्वृतिं न प्राप्नोति तत्तस्य क्लेशप्राप्तिरूपं परस्त्रीभुक्तिफलमिति । तथा चोक्तम्—

यदयमकामयमानां कामयते योषितं बलादवशाम् ॥
क्लेशमुपैति तथासौ तदस्य परदारगमनफलम् ॥

अर्थ—पुरुषकी इच्छा न करनेवाली परंतु पुरुषके द्वारा जो बलात्कार किया गया उससे संक्लेशपरिणामोंसे युक्त होती है. यह उसका पूर्वजन्ममें परस्त्रीभोगका फल है ऐसा समझना चाहिये. अर्थात् जिसने पूर्व जन्ममें जबरदस्तीसे

परस्त्रीका उपभोग लिया था वह पुरुष इस जन्ममें स्त्रीपर्यायको प्राप्त होता है तब वहभी बलात्कारसे भोगा जाता है.

महिलावेसविलंबी जं णीचं कुणइ कम्मयं पुरिसो ॥
तह वि ण पूरइ इच्छा तं से परदारगमणफलं ॥ ९३२ ॥
योषावेषधरः कर्म कुर्वाणो न यदश्नुते ॥
कांक्षितं शर्म तत्तस्य परदाररतेः फलम् ॥ ९४८ ॥

विजयोदया—महिलावेसविलंबी स्त्रीवेषविलंबनपरः पुरुषो यन्नीचं कर्म करोति । तथापि न पूर्यते इच्छा तत्तस्य पंढत्वं परदारगमनफलम् ॥

जन्मांतरपरस्त्रीभुक्त्युपार्जितनपुंसकवेदो जीवो नपुंसकपर्यायमापन्नः स्त्रीवेषं धारयन् यत्र तत्र कामक्रीडां कुर्वन्नपि न तृप्यतीत्युपदिशति—

मूलारा—महिलावेसविलंबी स्त्रीवेषधारी । कम्मयं कामक्रीडां । तं से तत्पंढत्वं तस्य स्त्रीवेषधारिणः ॥

अर्थ—स्त्रीवेष धारण करनेवाला पुरुष अर्थात् नपुंसक नीच कर्म करता रहता है तो भी उसकी इच्छा पूर्ण होती नहीं. यह उसका नपुंसकपना पूर्व जन्ममें परस्त्रीसंभोग करनेका फल है. अर्थात् परस्त्रीसंभोग करनेवाले पुरुष अन्य जन्ममें नपुंसक होते हैं.

भज्जा भगिणी मादा सुदा य बहुएसु भवसयसहस्सेसु ॥
अयसायासकरीओ होंति विसीला य णिच्चं से ॥ ९३३ ॥
जननी भगिनी भार्या देहजा बहुजन्मसु ॥
आयासाकीर्तिकारिण्यस्तस्य संति विशीलिकाः ॥ ९४९ ॥

विजयोदया—भज्जा भगिणी मादा भार्या भगिनी माता सुता च बहुषु भवसहस्रेषु अयशः आयासं कुर्वन्त्यो भवन्ति नित्यं विशीलास्तस्य ॥

पारदारिकस्य बहुषु भवेषु भार्यादयो विशीलाः संपद्यन्ते इत्याह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—परस्त्री सेवन जिसने पूर्व जन्ममें किया था उसकी पत्नी, बहिन, माता और लडकी लक्षावधि जन्मोंमें अपकीर्ति करनेवाली, दुःख देनेवाली और हमेशा व्यभिचारिणी हो जाती है.

होइ सयं पि विसीलो पुरिसो अदिदुब्भगो परभवेसु ॥
पावइ वधबंधादि कलहं णिच्चं अदोसो वि ॥ ९२४ ॥

विशीलो दुर्भगोऽमुत्र जायते पारदारिकः ॥
निर्दोषोऽप्यश्नुते बंधं संक्लेशं कलहं वधम् ॥ ९५० ॥

विजयोदया—होदि सयं पि भवति स्वयमपि विशीलः, पुरुषो दुर्भगश्च प्राप्नोति नित्यं च वधबंधं आत्मा सकलहं च अदोषोऽपि ॥

परस्त्रीभाजो विशीलभावादिलाभमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—वह परदारसेवी पुरुष भी विशील–शीलव्रत रहित होता है और कुरूप होता है. निर्दोष होनेपर भी वध, बंध कलह इत्यादि दुःखोंको वह प्राप्त होता है.

इहलोए वि महल्लं दोसं कामस्स वसगदो पत्तो ॥
कालगदो वि य पच्छा कडारपिंगो गदो णिरयं ॥ ९२५ ॥

महान्तं दोषमासाद्य भवेऽत्र स्मरमोहितः ॥
मृत्वा कडारपिंगोऽगाच्छ्वभ्रं दुःसहवेदनम् ॥ ९५१ ॥

विजयोदया—इहलोए वि महल्लं कडारपिंगो इहलोकेऽपि महान्तं दोषं प्राप्तः कामवशंगतः । कालं कृत्वा पश्चान्नरकेषु प्रविष्टः । वाच्यमव्याख्यानकम् ॥

उक्तमेवार्थमाख्यानेन ख्यापयन्नाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—इस लोकमे भी कडारपिंग नामक राजपुत्र कामवश होकर महान् दोषसे दूषित हुआ. और मरणोत्तर नरकमें उत्पन्न हुआ. (आराधना कथा कोषमें इसकी कथा प्रसिद्ध है.)

एदे सव्वे दोसा ण होंति पुरिसस्स बंभचारिस्स ॥
तव्विवरीया य गुणा हवंति बहुगा विरागिस्स ॥ ९३६ ॥
भवंति सकला दोषा नैवामी ब्रह्मचारिणः ॥
संपद्यंते गुणाश्चित्रास्तद्विपक्षा विरागिणः ॥ ९५२ ॥

विजयोदया—एदे सव्वे एते सर्वे दोषा न भवन्ति ब्रह्मचारिणः पुंसः । तद्विपरीताश्च गुणा भवन्ति बहवो विरागस्य ॥

एवं कामदोषान्प्रदर्श्य तदभावं प्रकृते भावयति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

उपर्युक्त सर्व दोष ब्रह्मचारी पुरुषको स्पर्श नही करते हैं. कामसेवनसे विरक्त ऐसे ब्रह्मचारीमें कामदोषसे विरुद्ध बहुत गुण निवास करते हैं.

अर्थ—जिसका रागभाव नष्ट हो चुका है ऐसा ब्रह्मचारी मुक्तजीव के समान प्रेक्षक होकर तीव्र कामाग्नीसे दग्ध होने वाले इस सर्व जगको देखता है. कामाग्नीके कष्टसे ब्रह्मचारी मुक्त होता है. और वीतराग होता है. अर्थात् काम विकारसे दूर रहना यही सचे सुख की प्राप्तिका उपाय है. कामकृत दोषोंका वर्णन समाप्त हुआ.

कामग्गिणा धगधगंतेण य डज्झंतयं जगं सव्वं ॥
पिच्छइ पिच्छयभूदो सीदीभूदो विगदरागो ॥ ९३७ ॥
कामाध्वना कुचफलानि निषेवमाणा रम्ये नितंबविषये ललनानदीनाम ॥
विश्रम्य चारुवदनाम्बु निपीयमानाः सौख्येन नारकपुरीं प्रविशांति नीचाः ॥९५३॥

नरो विरागो बुधवृंदवंदितो जिनेंद्रवध्वस्तसमस्तकल्मषः ॥
विदह्यमानं ज्वलता दिवानिशं स्मराग्निना लोकमवेक्षतेऽखिलम् ॥ ९५४ ॥
इति कामदोषाः ॥

विजयोदया—कामाग्निना कामाग्निना। धगधगायमानेन दह्यमानेन। दह्यमानं जगत्सर्वं प्रेक्षते प्रेक्षकभूतः स्वयं विरतीभूतः। कः ? वीतरागः ॥

ब्रह्मचारिणः सुखातिशयमाह—

मूलारा—पेच्छगभूदो प्रेक्षक इव। द्रष्टैव न तत्कष्टाविष्ट इति भावः। सीदीभूदो निर्वृतो मुक्तात्मवत् ॥

इति कामदोषाः ॥

इत्यधिकथा इत्येतद्व्याख्यानायोत्तरः प्रबंधः ॥ कामकंदा ॥

महिलाकुलसंवासं पदिं सुदं मादरं च पिदरं च ॥
विसयंधा अगणंता दुक्खसमुद्दम्मि पाडेइ ॥ ९३८ ॥

जननीं जनकं कांतं तनयं सहवासिनं ॥
पातयंति नितंबिन्यः कामार्ता दुःखसागरे ॥ ९५५ ॥

विजयोदया—महिला दुःखसमुद्रे पातयति विषयांधा अगणयन्ती। किं ? कुलं सहवासिनः पतिं, सुतं, मातरं च॥

एवं कामदोषान्प्रबंधेन व्याख्यायेदानीं स्त्रीदोषान्व्याचिख्यासुर्गाथाः पंचषष्टिमाह—

मूलारा—संवासं सहवासिनं। विसयंधा कामार्ता। पाडेदि पत्यादीन् क्षिपति ॥

अर्थ—विषयांध हुई स्त्री कुल, सहवासी, पति, पुत्र, माता और पिता इनका आदर नहीं करती है और सबको दुःखसमुद्रमें डुबा देती है.

माणुण्णयस्स पुरिसदुमस्स णीचो वि आरुहदि सीसं ॥
महिलाणिस्सेणीए णिस्सेणीए व्व दीहदुमं ॥ ९३९ ॥

स्त्रीनिःश्रेण्योन्नतस्यापि दुरारोहस्य लीलया ॥
मस्तकं नरवृक्षस्य नीचोऽप्यारोहति द्रुतम ॥ ९५६ ॥

विजयोदया—माणुण्णयस्स मानोन्नतस्य पुरुषद्रुमस्य शिर आरोहति नीचपुरुषोऽपि महिलानिःश्रेण्या दीर्घमिव द्रुमं ॥

मूलारा—दिग्घदुमं उच्चैर्वृक्षम् ॥

अर्थ—स्त्री रूपी नसेनीके आश्रयसे नीच पुरुष अभिमानसे उन्नत ऐसे पुरुषरूपी वृक्षके मस्तकपर चढ बैठता है जैसे नसेनीके द्वारा ऊंचे वृक्षपर लोक चढते हैं. अभिप्राय यह है. नीच पुरुषका आश्रय कर अपने पतिका अभिमान मट्टीमें मिला देती है. उसके कीर्तिका क्षय कर देती है.

पव्वदमित्ता माणा पुंसाणं होंति कुलबलधणेहिं ॥
बलिएहिं वि अक्खोहा गिरीव लोगप्पयासा य ॥ ९४० ॥

मान्या ये संति मर्त्यानामक्षोभ्या बलिनामपि ॥
सर्वत्र जगति ख्याता महांतो मंदरा इव ॥ ९५७ ॥

विजयोदया—पव्वदमित्ता माणा भवन्ति मानानि पुरुषाणां कुलबलधनैः। बलिभिः अक्षोभ्याणि गिरिवल्लोके प्रकाशभूतानि च ॥

मूलारा—माणा अहंकाराः। बलिएहिं वि बलवद्भिरपि। अक्खोभा चालयितुमशक्याः। गिरीव लोगप्पगासा जगति ख्याता मेरवो यथा। अत्र पर्वतसामान्यार्थोऽपि गिरिशब्दो गिरींद्रवृत्तिर्गृह्यते तादृग्विशेषणयोगात्। उक्तं च—

पर्वतसदृशा माना कुलबलविभवैर्भवन्ति पुरुषाणाम् ॥
गिरिराजवत्प्रकाशा ये चाक्षोभ्या महद्भिरपि ॥

अर्थ—उच्च कुल, बल-सामर्थ्य, और धनसे पुरुषोंका मान पर्वत तुल्य बडा होता है. उनके मानका ध्वंस करनेके लिये बलिष्ठ पुरुषभी असमर्थ होते हैं. और जगतमें उनका मान पर्वतके समान सर्वत्र प्रसिद्ध होता है

ते तारिसया माणा ओमच्छिज्जंति दुट्ठमहिलाहिं ॥
जह अंकुसेण णिस्साइज्जइ हत्थी अदिबलो वि ॥ ९४१ ॥

शठैस्ते स्त्रीजनैस्तीक्ष्णैर्नाम्यन्ते क्षणमात्रतः ॥
नितांतकुटिलीभूतैरंकुशैरिव दंतिनः ॥ ९५८ ॥

विजयोदया—ते तारिसगा माणा तानि तथाभूतानि मानानि अवमथ्यन्ते दुष्टस्त्रीभिः। यथा अंकुशेन निपद्या कार्यते हस्ती अतिबलोऽपि ॥

मूलारा—ओमच्छिज्जंति विनाश्यंते। णिसियाविज्जदि उपवेश्यते।

अर्थ—ऐसे पुरुषोंकाभी महामान दुष्ट स्त्रियोंके द्वारा ध्वस्त नष्ट किया जाता है. अर्थात् अपने हीनाचार से वे अपने पतीका अभिमान धूलमें मिलाती है. जैसे हाथी बडाभी हो तोभी छोटा अंकुश उसको बलात्कारसे जमीनपर बिठा सकता है.

आसीय महाजुद्धाइं इत्थिहेदुं जणम्मि बहुगाणि ॥
भयजणणाणि जणाणं भारहरामायणादीणि ॥ ९४२ ॥

आसन्रामायणादीनि स्त्रीभ्यो युद्धान्यनेकशः ॥
मलिनाभ्योऽब्दमालाभ्यः सलिलानीव विष्टपे ॥ ९५९ ॥

विजयोदया—आसीय महाजुद्धाणि आसन्महायुद्धानि जगति स्त्रीनिमित्तानि बहूनि भयजननानि जनानां भारतरामायणादीनि ॥

मूलारा—आसन् वृत्तानि।

अर्थ—इस जगतमें इस स्त्रीके लियेही भयानक रामायण, महाभारतके समान मनुष्योंका महा क्षय करने वाले अनेक बडे युद्ध हुए हैं.

महिलासु णत्थि वीसंभपणयपरिचयकदण्णदा णेहो ॥
लहुमेव परगयमणाओ ताओ सकुलंपि य जहंति ॥ ९४३ ॥

विश्रंभसंस्तवस्नेहा जातु संति न योषितः ॥
त्यजन्ति या परासक्ताः कुलं तृणमिव द्रुतम् ॥ ९६० ॥

विजयोदया—महिलासु स्त्रीषु न संति विस्रंभप्रणया', परिचय', कृतज्ञता, स्नेहश्च। सहसा परगतचित्तास्ताः स्वकुलं जहति ॥

मूलारा—पणय प्रसाद'। कदण्णदा कृतज्ञता। सकुलं स्वकुलं कुलीनं वा।

अर्थ—स्त्रियोंमें विश्वास, प्रसाद, परिचय, कृतज्ञता अर्थात् किये उपकारोंका स्मरण रखना-कृतघ्न न बनना, और स्नेह ये गुण नहीं रहते हैं. वे जब परपुरुषासक्त हो जाती हैं तब अपने हित करनेवाले पतिकोभी छोड देती हैं, अपनी कुलीनताको छोडती हैं. नीचोंका हाथ पकडती हैं.

पुरिसस्स दु वीसंभं करेदि महिला बहुप्पयारेहिं ॥
महिला वीसंभेदुं बहुप्पयारेहिं वि ण सक्का ॥ ९४४ ॥

विस्रंभयन्ति ता मर्त्यं प्रकारैर्विविधैर्लघु ॥
विस्रंभः शक्यते कर्तुमेतासां न कथंचन ॥ ९६१ ॥

विजयोदया—पुरिसस्स दु वीसंभं पुरुषस्य विस्रंभं जनयंति स्त्रियो बहुभिः प्रकारैर्युवतीर्विस्रंभं नेतुं न शक्ताः पुमांसः ॥

मूलारा—वीसंभेदुं विश्वासं नेतुं ॥

अर्थ—अनेक कपट प्रयोगोंसे वे पुरुषके मनमें विश्वास उत्पन्न करती हैं अर्थात् अपने हावभाव, मधुर भाषण, वगैरहसे अपनेमें अनुरक्त करती हैं, परंतु पुरुष उसको अपनेमें अनुरक्त नहीं कर सकता है

अदिलहुयगे वि दोसे कदम्मि सुकदसहस्समगणंती ॥
पइ अप्पाणं च कुलं धणं च णासंति महिलाओ ॥ ९४५ ॥

स्वल्पेऽपि विहिते दोषे कृतदोषसहस्रशः ॥
उपकारमवज्ञाय स्वं निघ्नन्ति पतिं कुलम् ॥ ९६२ ॥

विजयोदया—अदिलहुगे वि दोसे स्वल्पेपि दोषे कृते सुकृतशतमप्यगणय्य पतिं, आत्मानं, कुलं, धनं च नाशयति युवतय ॥

मूलारा—अदिव अतीव। सुगदसद उपकारशतं।

अर्थ—पतिके द्वारा छोटासा भी अपराध हुआ तो उसके हजारो उपकारभी वह भूल जाती है और उसका, कुलका, और धनका और अपनाभी नाश कर डालती है

आसीविसो व्व कुविदा ताओ दूरेण णिहुदपावाओ ॥
रुट्ठो चंडो रायाव ताओ कुव्वंति कुलघादं ॥ ९४६ ॥

आशीविषा इव त्याज्या दूरतो नीतिहेतव ॥
दुष्टा नृपा इव क्रुद्धास्ता कुर्वन्ति कुलक्षयम् ॥ ९६३ ॥

विजयोदया—आसीविसो व्व अशीविष इव कुपितस्ता दूरेण ढौकितु न शक्या। रुष्टश्चडो राजेव ता कुर्वन्ति कुलघात ॥

मूलारा—दूरेण त्याज्या इति शेष णिहुदपावाओ प्रच्छन्नपातका। दूरेणाढौकितुं सक्का दूरादपि नाश्रेया इत्यर्थ.।

अर्थ—भयंकर सर्पका जैसे दूर से ही त्याग करना हितकर है वैसे दुष्ट स्त्रियोंका दूरसे ही त्याग करना कल्याण करक होता है जैसे क्रुद्ध राजा अपराधीके कुलका समूळ नाश करता है वैसे दुष्ट स्त्रिया भी अपने पतिके कुलका पूर्ण नाश करती है.

अकदम्मि वि अवराधे ताओ वीसच्छमिच्छमाणीओ ॥
कुव्वंति वह पदिणो सुदस्स ससुरस्स पिदुणो वा ॥ ९४७ ॥

अकृतेप्यपराधे ता नीचा स्वच्छंदवृत्तय ॥
निघ्नंति निर्घृणा पुत्रं श्वशुरं पितरं पतिम् ॥ ९६४ ॥

विजयोदया—अकदम्मि वि अकृतेऽपि। अवराधे अपराधे। ताओ ता। वीसच्छमिच्छमाणीओ स्वेच्छा

प्रवृत्तिमभिलषन्त्यः । पदिणो वधं कुव्वंति पत्युर्वधं कुर्वन्ति, सुदस्स श्रुतस्य, ससुरस्स श्वशुरस्यापि । पिदुणो वा पितुर्वा वधं कुर्वन्ति ॥

मूलारा—वीसत्थं स्वेच्छाप्रवृत्ति ॥

अर्थ—स्वच्छंद प्रवृत्ति करनेवाली स्त्रिया निरपराधी पतिका, अच्छे ज्ञानका, अपने ससुरका और पिताकाभी घात करती हैं. जो जो अपने स्वच्छंद प्रवृतीमें बाधक होगा ऐसा समझती हैं उनका २ वे घात करती हैं.

सक्कारं उवकारं गुणं व सुहलालणं च णेहो वा ॥
मधुरवयणं च महिला परगदहिदया ण चिंतेइ ॥ ९४८ ॥

उपकारं गुणं स्नेहं सत्कारं सुखलालनम् ॥
न मन्यंते परासक्ता मधुरं वचनं स्त्रियः ॥ ९६५ ॥

विजयोदया—सक्कारं सत्कारं सन्मानं । उवयारं उपकारं, गुणं कुलरूपयौवनादिकं गुणं च पत्युः । सुहलालणं सुखेन पोषणं च । णेहो वा स्नेहं च । महुरवयणं च मधुरवचनं च । महिला युवतिः । परगदहिदया परपुरुषानुरक्तचित्ता । ण चिंतेइ न चिंतयति ॥

मूलारा—गुणं कुलरूपयौवनादिकं पत्युः । सुहलालणं सुखेन पोषणं ॥

अर्थ—आदरसत्कार, उपकार, गुण, कुल, तारुण्य और सौंदर्य इत्यादि गुणोंसे पतियुक्त होनेपर भी-यदि स्त्री जब परपुरुषपर अनुरक्त होजाती है तब पतिके इतने गुणोंका कुछभी विचार नहीं करती है. पतीने बडे प्यार से उसका पोषण किया, उसने स्नेह दिखलाया और मधुर वचन भी बोले तो भी इन बातोंका वह कुछभी विचारकरती नहीं है.

साकेदपुराधिवदी देवरदी रज्जसुक्खपब्भट्ठो ॥
पंगुलहेदुं छूडो णदीए रत्ताए देवीए ॥ ९४९ ॥

साकेताधिपतिर्देवरतिः प्रच्याव्य राज्यतः ॥
देव्या नदीन्हदे क्षिप्तो रक्तया पंगुरक्तया ॥ ९६६ ॥

विजयोदया—साकेदपुराधिवदी साकेतपुरस्य स्वामी । देवरदी देवरतिसंज्ञितः । रज्जसोक्खपब्भट्ठो राज्येन सौख्येन च नितरां भ्रष्टः । पगुलहेदुं पगुलनिमित्तं गंधर्वप्रवीणेन पंगुना सह जीवितुमभिलषन्त्या । छूडो विक्षिप्तः । णदीए नद्यां । रत्ताए देवीए रक्तानामधेयया देव्या ॥

मूलारा—साकेद. अयोध्या । देवरदी देवरतिसंज्ञः । पंगुलहेदुं गांधर्वप्रवीणेन पंगुना सह जीवितुमिच्छन्त्या । बूढो प्रक्षिप्तः । रत्ताए रक्तासंज्ञया ॥

अर्थ—साकेत नगरका देवरती नामक राजा था. उसको रक्ता नामकी अत्यंत प्रिय रानी थी. रानीके स्नेहसे उसने राज्यका और सुखकाभी त्याग कर दिया तथापि गानविद्यामें प्रवीण ऐसे एक पंगुके ऊपर वह प्रेम करने लगी. उसके साथ रहनेकी इच्छासे उसने अपने पतिको नदीमें ढकेल दिया.

ईसालुयाए गोववदीए गामकूडधूदिया सीसं ॥
छिण्णं पहदो तध भल्लएण पासम्मि सीहबलो ॥ ९५० ॥

गोपवत्या क्रुधा छित्वा ग्रामकूटसुताशिरः ॥
राजा सिंहबलः कुक्षौ शक्त्येर्ष्यापरया हतः ॥ ९६७ ॥

विजयोदया—ईसालुयाए ईर्ष्यावत्या । गोववदीए गोपवतीनामधेयया । गामकूडधूदिया ग्रामकूटस्य दुहितुः । सीसं छिण्णं शिरश्छिन्नं । पहदो प्रहतस्तथा । भल्लएण शक्त्या । पासम्मि पार्श्वदेशे सीहबलो सिंहबलसंज्ञितः ॥

मूलारा—ईसालुगाए ईर्ष्यावत्या । गोववदीए गोपवतीसंज्ञया । गामकुडधूदियासीसं ग्रामकूटदुहितुः शीर्षं । भल्लएण शक्त्या । कुंतविशेषेणेत्यपरः । पासम्मि पार्श्वदेशे । सीहबलो सिंहबलो नाम ॥

अर्थ—सिंहबल नामक मनुष्य को गोपवती नामक दुष्ट ईर्ष्यालु स्त्री थी, उसने अपने सौतका मस्तक तोडकर अपने पतिकोभी भालेसे मार डाला.

वीरमदीए सूलगदचोरदट्ठोट्ठिगाए वाणियओ ॥
पहदो दत्तो य तहा छिण्णो ओट्ठोत्ति आलविदो ॥ ९५१ ॥

वीरवत्यापि शूलस्थस्तेन छिन्नोष्ठया निजः ॥
ओष्ठश्छिन्नो ममानेन पापयेत्युदितं मृषा ॥ ९६८ ॥

विजयोदया—वीरवदीए वीरवतीसंज्ञिकया । सूलगदचोरदट्ठोट्ठिगाए शूलस्थचोरदष्टाधरया । वाणियगो वणिक्सुत । पहदो प्रहत । दत्तो य दत्तश्च । तहा तथा । छिण्णो ओट्ठोत्ति ओष्ठच्छेदोऽनेन कृत' इति च । आलविदो भणित ॥

मूलारा—पहदो प्रहर्तुमारब्धं । दत्तो दत्तनामा । छिण्णो उट्ठोति अनेन छिन्नो ममौष्ठ इति आलविदो आल प्रापित. ॥

अर्थ—शूलपर चढाये हुए चोरके द्वारा जिसका ओष्ठ खंडित किया गया था ऐसी वीरमति नामकी स्त्रीने दत्तनामक मेरे पतीने मेरा ओष्ठ छिन्न किया है ऐसा राजासे जाकर कहा और उसके द्वारा अपने पतीका उस दुष्टाने घात करवाया

वग्घविसचोरअग्गी जलमत्तगयकण्हसप्पसत्तूसु ॥
सो वीसंभं गच्छदि । वीसंभदि जो महिलियासु ॥ ९५२ ॥

व्याघ्रे विषे जले सर्पे शत्रौ स्तेनेऽनले गजे ॥
स विश्वसिति नारीणां यो विश्वसिति दुर्मनाः ॥ ९६९ ॥

विजयोदया—वग्घविसचोरअग्गीजलमत्तगयकिण्हसप्पसत्तूसु । व्याघ्रे, विषे, चोरे, अग्नौ, जले, मत्तगजे, कृष्णसर्पे, शत्रौ च । सो विस्सभ गच्छदि स विस्रंभ गच्छदि । विस्सभदि जो महिलियासु विस्रंभं यः करोति वनितासु ॥

मूलारा—वीसभदि विश्वसिति ।

अर्थ—जो पुरुष स्त्रियोंपर विश्वास करता है वह वाघ, विष, चोर, आग, जलप्रवाह, मदवाला हाथी, कृष्णसर्प और शत्रु इनके ऊपर विश्वास करता है ऐसा समझना चाहिये.

वग्घादीया एदे दोसा ण णरस्स तं करिज्जण्हु ॥
जं कुणइ महादोसं दुट्ठा महिला मणुस्सस्स ॥ ९५३ ॥

व्याघ्रादयो महादोषं कदाचित्तं न कुर्वते ॥
लोकद्वयविघातिन्यो यं स्त्रियो वक्रमानसाः ॥ ९७० ॥

विजयोदया—व्याघ्रादिषु विश्रंभगमनात्पापीयो विश्रंभगमनं वनितास्विति कथयत्युत्तरगाथा । वग्घादीया व्याघ्रविषादय पूर्वसूत्रनिर्दिष्टा । दोस दोषं । णरस्स नरस्य । त ण करिज्जण्हु न कुर्युः । जं कुणदि महादोसं यं करोति महान्तं दोषं । दुट्ठा महिला दुष्टा वनिता । मणुस्सस्स मनुष्यस्य ॥

मूलारा—करिज्जण्हु कुर्युः ।

अर्थ—व्याघ्रादिकोंमें विश्वास करने से जितना नुकसान मनुष्यका होता है उससेभी अत्यधिक नुकसान दुष्ट महिलाओंसे होता है. अर्थात् व्याघ्रादिकोंमें विश्वास करना कथंचित् अच्छा माना जायगा परंतु दुष्ट स्त्रीपर विश्वास करनेसे सर्वथैव अपना घात करलेना है.

पाउसकालणदीवोव्व ताओ णिच्चंपि कलुसहिदयाओ ॥
धणहरणकदमदीओ चोरोव्व सकज्जगुरुयाओ ॥ ९५४ ॥

सकश्मलाशया रामाः प्रावृषेण्या इवापगाः ॥
स्तेनवत्स्वार्थतनिष्ठाः सर्वस्वहरणोद्यताः ॥ ९७१ ॥

विजयोदया—पाउसकालणदीवोव्व प्रावृट्कालस्य नद्य इव । ताओ ताः । णिच्चं पि नित्यमपि । कलुसहिदयाओ कलुषहृदयाः । स्त्रीषु हृदयशब्देन चित्तमुच्यते । नदीष्वभ्यंतरं । रागेण, द्वेषेण, मोहेन, ईर्ष्यया, असूयया, मायया वा कलुषितमेव चित्तं तासां । चोरोव्व चोर इव । सकज्जगुरुगाओ स्वकार्ये गुर्व्यः । धणहरणकदमदीओ धनापहरणे कृतबुद्धयः । चोरा अपि कथमस्माभिरिदमेतदीयमात्मसात्कृतं भवतीति कृतबुद्धयः । ता अपि मधुरवचनेन रतिक्रीडानुकूलतया वा पुरुषस्य द्रव्यमाहर्तुमुद्यताः ॥

मूलारा—कलुसहिदयाओ रागद्वेषमोहेर्ष्यासूयामायाविष्टचित्ता आविलमध्याश्च । सकज्जगुरुगाओ स्वकार्यगुर्व्यः ।

अर्थ—वर्षाकालकी नदीका मध्यप्रदेश मलिन पानीसे भरा रहता है और स्त्रियोंका चित्तभी राग, द्वेष, मोह, ईर्ष्या, असूया, कपट इत्यादिक दुष्टभावोंसे मलिन होता है. चोर जैसा मनमें इन लोगोंका धन किस उपायसे

ग्रहण किया जावेगा ऐसा विचार करता है वैसे स्त्रिया भी धन हरण करनेमें निपुण होती हैं. अर्थात् वे मधुरवचन बोलकर, रतिक्रीडामें अनुकूलता दिखाकर पुरुषका द्रव्य हरण करनेमें उद्युक्त रहती हैं. अपने कार्यमें हमेशा तत्पर रहती हैं.

रोगो दारिद्दं वा जरा व ण उवेइ जाव पुरिसस्स ॥
ताव पिओ होदि णरो कुलपुत्तीए वि महिलाए ॥ ९५५ ॥

दारिद्र्यं विस्रसां व्याधिं यावन्नाप्नोति मानवः ॥
जायते तावदेवास्याः कुलपुत्र्या अपि प्रियः ॥ ९७२ ॥

विजयोदया—रोगो दारिद्द वा व्याधिर्दारिद्र्यं वा जरा वा । ण उवेदि न ढोकते यावत्पुरुषं । ताव पिओ होदि णरो तावत्प्रियो भवति नरः । कुलपुत्तीए वि कुलपुत्र्या अपि । महिलाए कांताया. । कुलपुत्रीषु चान्यः किमस्ति साध्यो हि प्रायेण कुलपुत्र्य पतिमिव देवतेति मन्यमाना. प्रियं त्यजंतीति ॥

मूलारा—ण उवेदि नायाति ।

अर्थ—रोग, दारिद्र्य, अथवा वृद्धावस्था जबतक पुरुषको प्राप्त होती नहीं तबतक स्त्रीको अपना पति प्रिय होता है जब उसका शरीर रोगसे पीडित होता है, वृद्धावस्था उसके शरीरको जर्जर करती है तब वह स्त्रीको अप्रिय होता है. साधारण स्त्रियोंको ही दारिद्र्यादि अवस्थामें वह अप्रिय मालूम होता है ऐसा नहीं. किंतु जो पतिको देवतुल्य समझती हैं ऐसी कुलीन स्त्रिया भी पतीको अप्रिय समझ कर त्याग करती हैं.

जुण्णो व दरिद्दो वा रोगी सो चेव होइ से वेसो ॥
णिप्पीलिओव्व उच्छू मालाव मिलाय गदगंधा ॥ ९५६ ॥

प्रसूनमिव निर्गंधं द्वेष्यो भवति निर्धनः ॥
म्लानमालेव वर्षिष्ठो रोगीक्षुरिव नीरसः ॥ ९७३ ॥

विजयोदया—जुण्णो वृद्धो वा । दरिद्दो दरिद्रः । रोगिदो व्याधितः । सो चेव स एव युवत्वे धनित्वे नीरोगत्वे वा यः प्रियः स एव होदि भवति । से तस्याः । वेसो द्वेष्यः । णिप्पीलिदोव्व निष्पीडित इव उच्छू इक्षुः ।

मालाच मिलाय गदगंधा मालेव म्लाना नष्टगंधा। अपहृतरस इक्षुः शोभारहितनिर्गंधमाला च यथाऽप्रिया। यौवनं, धनं, शक्तिश्च पुंसोऽतिशयस्तदपाये नैवासाविष्यते स्त्रीभिः॥

मूलारा—सो चेव स एव। यो युवत्वे धनित्वे नीरोगत्वे च सति प्रियः। से तस्याः। वेस्सो द्वेष्यः। उच्छू इक्षुः। मिलादगदगंधा म्लाना नष्टगंधा च ॥

अर्थ—पुरुष तरुण, श्रीमान और नीरोगी जबतक रहता है तबतक वह स्त्रीको प्रिय लगता है परंतु वही जब वृद्ध, दरिद्री और रोगी बनता है तब स्त्री उसका द्वेष करती है. जैसे रसहीन ईख मनुष्य त्याग देते हैं अथवा शोभारहित निर्गंधम्लानपुष्पोंकी माला जैसी लोक त्यागते हैं वैसे धनहीन, वृद्ध और रोगी पतिकी स्त्री इच्छा नहीं करती है. तारुण्य, धन और सामर्थ्य ये बाते पुरुषमें विशेषता उत्पन्न करती हैं. जिसमें ये बातें पायी जाती हैं वह स्त्रीको प्रिय होता है. इनका नाश होनेसे वह उनको अप्रिय लगता है.

महिला पुरिसमवण्णाए चेव वंचेइ णियडिकवडेहिं ॥
महिला पुण पुरिसकदं जाणइ कवडं अवण्णाए ॥ ९५७ ॥
वंचयन्ति नरान्नार्यः समस्तानपि हेलया ॥
जानंति वचनं पौंस्नं तदीयं न नराः पुनः ॥ ९७४ ॥

विजयोदया—महिला पुरिसमवण्णाए वनिता पुरुषमनादरेणैव वंचयति। निकृत्या कपटतया च स्त्रीभिः कृतां निकृतिं वंचनां शठतां च न जानंति पुमांसः। महिला पुण वामलोचना पुन जाणदि जानाति। किं कपटशतं पुरिसकदं पुरुषेण कृतं। अवण्णाए अवज्ञया औदासीन्येनैव अक्लेशेनेति यावत् ॥

मूलारा—अवण्णाए चेव अवज्ञयैव अक्लेशेनैवेत्यर्थः। णियडिकवडेहिं मृषास्मितजल्पितशपथकोपकथाभिः स्त्रीभिः कृतां निकृतिं वंचनां कपटं च शठतां नरा न जानंति इति भावः॥

अर्थ—स्त्री पुरुषको आयास के विना फसाती है अर्थात् झूठा हास्य, असत्य भाषण, शपथ, असत्य कोप, और मधुर भाषण इत्यादिकोंसे वे पुरुषको अनायाससे फसाती है. स्त्रीका किया हुआ कपटप्रयोग पुरुष नही जान सकते हैं. परंतु स्त्री पुरुषके कपट तत्काल जान लेती है.

नरो ह्येवं मन्यते प्रियोऽहमेतस्या इति न चासौ प्रिय इत्याचष्टे—

जह जह मण्णेइ णरो तह तह परिभवइ तं णरं महिला ॥
जह जह कामेइ णरो तह तह पुरिसं विमाणेइ ॥ ९५८ ॥

यथा यथा स्त्री पुरुषेण मन्यते तथा तथा सा कुरुते पराभवं ॥
यथा यथा कामवशेन मन्यते तथा तथा सा कुरुते विडंबनाम् ॥ १७५ ॥

विजयोदया—जह जह मण्णेइ णरो यथा यथा मानयति नरः तथा तथा परिभिवति तं नरं युवतिः। जह जह कामेदि णरो यथा यथा कामयते मनुष्यस्तथा तथा पुरिसं विमाणेदि तथा तथा पुरुषं विमानयति ॥

मूलारा—विमाणेदि अवज्ञाद्दर्त करोति।

मै इस स्त्रीका प्रिय हूं ऐसा पुरुष समझता है परंतु वास्तविक वह उसका प्रिय नहीं हैं इस विषयका विवेचन—

अर्थ—जैसे जैसे पुरुष स्त्रीका आदर करता है वैसे २ वह उसका अनादर करती है, तथा जैसे २ पुरुष उसकी इच्छा करता है वैसे २ वह उसका तिरस्कार करने लगती है.

मत्तो गउव्व णिच्चं पि ताउ मदविंभलाउ महिलाओ ॥
दासेव सगे पुरिसे किं पि य ण गणंति महिलाओ ॥ ९५९ ॥

भवंति सर्वदा योषा मत्तास्तंबेरमा इव ॥
स्वं दासमिव मन्यंते पुरुषं मूढमानसाः ॥ १७६ ॥
शीलसंयमतपोबहिर्भवास्ता नरांतरनिविष्टमानसाः ॥
चिंतयन्ति पुरुषस्य सर्वदा दुःखमुग्रमपकारिणो यथा ॥ १७७ ॥

विजयोदया—मत्तो गओव्व मत्तगज इव। णिच्चं नित्यं। ताओ मदविंभलाओ मदेन विह्वला युवतयः। दासे व सगे पुरिसे दासे वा स्वपुरुषे वा। किंचिवि किंचिदपि विशेषजातं। ण गणंति नैव गणयंति। कुलीनो ममान्यो भर्ता स्वामी। दास्याः पुत्रोऽयं जघन्यः अहमस्य स्वामिनीति विवेकं करोति ॥

मूलारा—किंचिदप्यंतरं। अयं दासीपुत्रोऽयं च कुलीनो मान्यो मम स्वामीति न विवेचयंति मदांधाः प्रमदाः किं तु मम दास्याः पुत्रोऽयं निकृष्टोऽहमस्य स्वामिनी महामान्येति दृप्यन्ति। उक्तं च—

मत्तो गजपतिर्यद्वत् नित्यमतिविह्वलाः ॥
दासे वा स्वपतौ वापि विवेकं नैव कुर्वते ॥

दासेय सगे पुरिसे इति पाठे अयं कुलीनः स्वामीत्यादि विशेषणं जातं । दास इवं स्वपुरुषे न गणयंति दासत्वं मन्यंते इत्यर्थः । उक्तं च—

भवंत्यः सर्वदा योषा मत्ताः स्तंबेरमा इव ॥
स्वं दासमिव मन्यंते पुरुषं मूढमानसाः॥

अर्थ—जैसा मत्त हाथी मदसे विह्वल होता है वैसी गर्विष्ठस्त्रिया भी गर्वसे अपने पतिको और दासको नोकरको समानभावसे देखती है. अर्थात् नौकरके समान अपने पतिको ये मानती है. पति में नोकरसे कुछ विशेषता है ऐसा ये जानती नहीं. मेरा पति मेरा स्वामी है और कुलीन है और यह दास दासीका पुत्र है. यह हीनजातिका है मैं उसकी स्वामिनी हूं ऐसा विवेक उनके अंतःकरणमें उत्पन्न होता नहीं.

अणिहुदपरगदहिदया तावो वग्घीव दुट्ठहिदयाओ ॥
पुरिसस्स ताव सत्तूव सदा पावं विचिंतंति ॥ ९९० ॥

कुर्वन्ति दारुणां पीडामामिषाशनलालसाः ॥
अपराधं विनाप्येताः पुंसां व्याघ्रा इवाधमाः ॥ ९७८ ॥

विजयोदया—अणिहुदपरगदहिदया तावो अनिभृतं परगतं हृदयमासामिति अनिभृतपरगतहृदया भवन्ति । अनिवारितपरासक्तचित्तास्ताः। वग्घीव दुट्ठहृदयमासां अकृतेऽप्यपकारे यथा व्याघ्री परं मारयितुमेव कृतचित्तेति दुष्टहृदया एवमिमा अपि । पुरिसस्स ताव पुरुषस्य तावत् । सत्तूव सदा पावं विचिंतंति । शत्रुरिव सदा पापमेव अशुभमेव चेतसि कुर्वन्ति । यथा यो रिपुः कश्चित्कस्यचित्सर्वदा धनमस्य विनश्यतु, विपदोऽस्य भवन्त्विति चित्तं करोति तथैव ता अपि ॥

मूलारा—अणिहुदपरगदहिदयाओ अनिवारितपरासक्तचित्ता । अन्ये अनिभृतमपि चंचलमाहुरसंवृतमित्यपरे । दुट्ठहिदयाओ अकृतेऽप्यपराधे मारणोन्मत्तचित्ताः । पावं अशुभं । धनमस्य विनश्यतु विपदोऽस्य भवन्त्वित्यादि ॥

अर्थ—स्त्रिया परपुरुषमें आसक्त हुए अपने हृदयको परावृत्त नहीं करती हैं. व्याघ्री जैसी अपकार न करने पर भी मनुष्यको मार डालती है वैसे दुष्ट स्त्रिया निरपराधी पतिको भी मारती है. जैसे शत्रु अपने प्रतिपक्षीका अशुभ होनेका ही चिंतन करता है. वैसे ये दुष्ट स्त्रिया भी अपने पतिका अशुभ कब होगा इसका ही विचार करती हैं. शत्रु प्रतिपक्षका धन नष्ट होनेका चिंतन करता है विपत्तिओंका विचार करता है वैसे हि दुष्ट विचार ये दुष्ट स्त्रिया अपने मनमें करती हैं.

संझाव णरेसु सदा ताओ हुंति खणमेत्तरागाओ ॥
वादोव्व महिलियाणं हिदयं अदिचंचलं णिच्चं ॥ ९६१ ॥
शंपेव चंचला नारी संध्येव क्षणरागिणी ॥
छिद्रार्थिनी भुजंगीव शर्वरीव तमोमयी ॥ ९७९ ॥

विजयोदया—संझाव णरेसु सदा ताओ होंति संध्या इव नरेषु सदा ता भवंति । खणमित्तरागाओ अल्पकालरागाः । अस्थिररागता नाम दोषः प्रकटितः । यथा संध्यायाः रक्तता विनाशिनी । महिलियाणं हिदयं अदिचंचलं णिच्चं । स्त्रीणां हृदयं अतिचंचलं नित्यं । किमिव वादो व वात इव ॥

मूलारा—रागाओ रागः प्रीतिर्नीलादिवर्णश्च ॥

अर्थ—संध्याकालका लालरंग क्षणमात्र टिकता है अनंतर वह जैसा नष्ट होता है वैसी स्त्रियोंकी प्रीति क्षणमात्र रहती है अर्थात् अल्पकाल प्रेम करना यह दोष स्त्रिओंमें रहता है. स्त्रियोंका हृदय हमेशा वायुके समान अतिशय चंचल रहता है.

जावइयाइं तणाइं वीचीओ वालिगाव रोमाइं ॥
लोए हवेज्ज तत्तो महिलाचिंताइं बहुगाइं ॥ ९६२ ॥
सिकतातृणकल्लोलरोमाणि भुवनत्रये ॥
यावन्ति सन्ति तावन्ति मानसानि मृगीदृशाम् ॥ ९८० ॥

विजयोदया—जावइयाइं यावंति तृणानि, वीचयः, वालुकाः, रोमाणि च जगति ततो युवतीनां चित्तं बव्हा ॥

मूलारा— ततो तेभ्योऽपि ।

अर्थ—जगतमें जितना तृण है, जितनी समुद्रकी और नदीकी लहरें है, जितना वालुकासमुदाय और प्राणिओंका केशसमूह है उनसे भी अधिक तरुण स्त्रियोंके मनमें विचारसमुदाय उत्पन्न होता है.

आगास भूमि उदधी जल मेरू वाउणो वि परिमाणं ॥
मादुं सक्का ण पुणो सक्का इत्थीण चित्ताइं ॥ ९६३ ॥
नगभूमिनभोऽम्भोधिसलिलर्क्षनभःस्वताम् ॥
शक्यते परिमा कर्तुं स्त्रीचित्तानां न सर्वथा ॥ ९८१ ॥

विजयोदया—आगासभूमि आकाशस्य भूमेरुदधेर्जलस्य, मेरोर्वायोश्च परिमाणमस्ति । स्त्रीणां चित्तं पुनर्मातुं न शक्यमस्ति ॥

मूलारा— आगासेत्यादि । आकाशादीनां परिमाणमस्ति । अत एव ते मातुमियत्तयावधारितुं शक्याः, न पुनः स्त्रीचित्तानि परिमाणाभावात् । निरंतरं नानाप्रकारविकल्पजालाकुलत्वात्तेषां ॥ उक्तं च—

नगभूमिनभोऽम्भोधिसलिलर्क्षनभस्वताम् ॥
शक्यते परमा कर्तुं स्त्रीचित्ताना न सर्वथा ॥

अर्थ—आकाश, जमीन, समुद्र, पानी, मेरु और वायु इन पदार्थोंका कुछ परिमाण है परंतु स्त्रीके चित्तका अर्थात् उनके मनमें निरंतर उत्पन्न होनेवाले संकल्प विकल्पोंका परिमाण जानलेना अशक्य है.

चिट्ठंति जहा ण चिरं विज्जुज्जलबुब्बुदो व उक्का वा ॥
तह ण चिरं महिलाए एक्के पुरिसे हवे पीदी ॥ ९६४ ॥
यथा समीरणोल्काम्भोबुद्बुदाश्चिररोचिषः ॥
एकत्र नावतिष्ठंते तथैताश्चलवृत्तयः ॥ ९८२ ॥

विजयोदया—जहा ण चिरं चिट्ठंति यथा न चिरं तिष्ठंति विद्युत. । जलबुद्बुदा उल्काश्च तथा वनितानां न कस्मिंश्चित्पुरुषे प्रीतिश्चिरं तिष्ठति ॥

मूलारा— चिट्ठदि तिष्ठति । जलबुब्बुदो जलबुद्बुदः । उक्का उल्का । कम्हिवि कस्मिन्नपि ॥

अर्थ—जैसे बिजली, पानीका बबूला, और उल्कापात ये पदार्थ शीघ्र नष्ट होते हैं. वैसे स्त्रिओंकी किसी पुरुषपर प्रीति दीर्घ कालतक नही रहती है

परमाणू वि कहंचिवि आगच्छेज्ज गहणं मणुस्सस्स ॥
ण य सक्का घेत्तुं जे चित्तं महिलाए अदिसण्हं ॥ ९६५ ॥
ग्रहीतुं शक्यते जातु परमाणुरपि ध्रुवम् ॥
न सूक्ष्मं योपितां स्वान्तं दुष्टानामिव चंचलम् ॥ ९८३ ॥

विजयोदया—परमाणुरपि कथंचिन्मनुष्यस्य ग्रहणमागच्छेत् । वनितानां चित्तं पुनः ग्रहीतुं न शक्यमति सूक्ष्मं ॥

मूलारा— आगच्छेज्ज गहणं आगच्छेद्ग्रहणं । ग्राह्यो भवेदित्यर्थः । ण य सक्का घेत्तुं जे ग्रहीतुं न शक्यं ॥

अर्थ—परमाणु को भी मनुष्य किसी उपाय के द्वारा ग्रहण करेगा. परंतु स्त्रियों का अत्यंत सूक्ष्म चित्त उसके द्वारा ग्रहण किया नहीं जाता है

कुविदो व किण्हसप्पो दुट्ठो सीहो गओ मदगलो वा ॥
सक्का हवेज्ज घेत्तुं ण य चित्तं दुट्ठमहिलाए ॥ ९६६ ॥
क्रुद्धःकंठीरवःसर्पःस्वीकर्तुं जातु शक्यते ॥
न चित्तं दुष्टवृत्तीनामेतासामतिभीषणम् ॥ ९८४ ॥

विजयोदया—कुविदो व कुपित. । कृष्णसर्पं । दुष्टः सिंहो, मदगजो वा ग्रहीतुं शक्यते । न तु ग्रहीतुं शक्यते दुष्टवनिताचित्तम् ॥

मूलारा—मदगलो मत्तः ॥

अर्थ—अतिशय क्रुद्ध हुआ काला सर्प, दुष्ट सिंह, और उन्मत्त हाथी को भी मनुष्य पकडनेमें समर्थ हैं. परंतु दुष्ट स्त्रीका मन पकडनेमें ये समर्थ नहीं हैं.

सक्कं हविज्ज दट्ठुं विज्जुज्जोएण रूवमच्छिम्मि ॥
ण य महिलाए चित्तं सक्का अदिचंचलं णादुं ॥ ९६७ ॥

रूपं संतमसौ द्रष्टुं विद्युद्द्योतेन पार्यते ॥
चेतश्चलस्वभावानां योषाणां न कथंचन ॥ ९८५ ॥

विजयोदया—सक्कं हवेज्ज विद्युद्द्योतेन अक्षिस्थं रूपं द्रष्टुं शक्यं न पुनर्युवतिचित्तमतिचपलं अवगंतुं शक्यम् ॥

मूलारा—अच्छिम्मि नेत्रे स्थितं । नेत्ररूपमित्यर्थः । अच्छीहिं इति पाठे अक्षिभिर्यस्य कस्यचिद्रूपं विद्युत्प्रकाशेन द्रष्टुं शक्यमिति व्याख्येयम् ॥

अर्थ—बिजलीके अत्यल्प प्रकाशसे भी नेत्रका रूप देखना शक्य है परंतु अतिशय चंचल ऐसा तरुण स्त्रीका मन जान लेना अति कठिन है.

अणुवत्तणाए गुणवत्तणेहिं चित्तं हरंति पुरिसस्स ॥
मादा व जाव ताओ रत्तं पुरिसं ण याणंति ॥ ९६८ ॥

अलिएहिं हसियवयणेहिं अलियरुयणेहिं अलियसवहेहिं ॥
पुरिसस्स चलं चित्तं हरंति कवडाओ महिलाओ ॥ ९६९ ॥

महिला पुरिसं वयणेहिं हरदि पहणदि य पावहिदएण ॥
वयणे अमयं चिट्ठदि हियए य विसं महिलियाए ॥ ९७० ॥

हरंति मानस रामा नराणामनुवर्तनैः ॥
तावद्यावन्न जानंति रक्तं कुटिलचेतसः ॥ ९८६ ॥
हसितै रोदनैर्वाक्यैः शपथैर्विविधैः शठाः ॥
अलीकैर्मानसं पुंसां गृह्णन्ति कुटिलाशयाः ॥ ९८७ ॥
हरंति पुरुषं वाचा चेतसा प्रहरंति ताः ॥
वाचि तिष्ठति पीयूषं विषं चेतसि योषिताम् ॥ ९८८ ॥

विजयोदया—महिला पुरिसं वयणेहिं वनिता पुरुष वचनैर्हरति। हंति च पापेन हृदयेन। वाक्ये मधु तिष्ठति। हृदये विषं युवतीनाम् ॥

मूलारा—अणुवत्तणाए छंदानुवृत्त्या। गुणवयणेहिं गुणकीर्तनैः। हरन्ति गृह्णन्ति। अनुरंजयन्ति। मादा वा माता यथा बालस्य ॥

मूलारा—अलिएहिं असत्यैः। एते द्वे अपि गाथे टीकाकारो नेच्छति ॥

मूलारा— वाचाए वचसि ॥

अर्थ—पुरुषके छंदका अनुसरण करके, और उसके गुणोंका वर्णन करके वे पुरुषका मन हरण करती हैं. जब तक पुरुष अपनेमें अनुरक्त हुआ नहीं तब तक वे उसकी गुणप्रशंसा, उसके छंदानुकूल प्रवृत्ति करती हैं. स्त्रिया मिथ्या हास्यवचन, मिथ्या रोना, मिथ्या सोगंद खाना इत्यादि कपटयुक्तिओंसे पुरुषका मन हरण करती हैं. स्त्री पुरुषका चित्त मधुर वचनसे चोरती है और पापयुक्त हृदयसे उसका घात करती है. स्त्रियों के वचनोंमे मधु रहता है और हृदयमें विष रहता है

तो जाणिऊण रत्तं पुरिसं चम्मट्ठिमंसपरिसेसं ॥
उद्दाहंति वधंति य बडिसामिसलग्गमच्छं व ॥ ९७१ ॥
उदए पवेज्जहिं सिला अग्गी ण डहिज्ज सीयलो होज्ज ॥
ण य महिलाण कदाई उज्जुयभावो णरेसु हवे ॥ ९७२ ॥

पाषाणोऽपि तरेत्तोये न दहेदपि पावकः ॥
न चित्तं पुरुषे स्त्रीणां प्रांजलं जातु जायते ॥ ९८९ ॥

विजयोदया—उदए पवेज्ज खु उदके तरेदपि शिला, अग्निरपि न दहेत्, शीतलो वा भवेत् । नैव वनितानां कदाचित्नरेषु ऋजु भवति मनः ॥

मूलारा—उद्दोहेंति निष्काशयंति । एतां टीकाकारो नेच्छति ॥

मूलारा—उदये जले । पवेज्ज खु तरदपि । कदाइ कदाचित् । उज्जुगभावो प्रांजलपरिणामः ॥

अर्थ—अपनेपर आसक्त हुआ पुरुष चर्म, हड्डी और मांस ही शेष जिसका बचा हुआ है ऐसा देखकर गलको लगे हुए मत्स्य के समान उसको मार देती हैं अथवा उसको अपने घरमेंसे निकाल देती हैं. अर्थात् जब पुरुषके पास धन नहीं रहता है तब स्त्रिया उसको अपने घरसे निकाल देती हैं या उसको मार डालती हैं, कदाचित् पानीमें शिला तरने लगेगी, अग्नी अपना दाहक स्वभाव छोडकर ठंडी होगी तोभी स्त्रिओंका मन कभीभी कपट छोडकर सरलता नहीं धारण करेगा.

उज्जुयभावम्मि असत्तयम्मि किध होदि तासु वीसंभो ॥
विस्संभम्मि असंते का होज्ज रदी महिलियासु ॥ ९७३ ॥

प्रांजलत्वं विना स्त्रीषु विसंभो जायते कथम्
विस्रंभेण विना तासु जायते कीदृशी रतिः ॥ ९९० ॥

विजयोदया—उज्जुगभावम्मि ऋजुभावे असति कथं भवति तासु विस्रंभः। असति विस्रंभे का वनितासु रतिः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—स्त्रिओंमें सरलपना नहीं रहता है. अतः वे पुरुषोंपर विश्वास रखती नहीं. विश्वासके अभावमें उनका प्रेम भी स्थिर नहीं रहता.

गच्छिज्ज समुद्दस्स वि पारं पुरिसो तरित्तु ओघवलो ॥
मायाजलम्मि महिलोदधिपारं ण य सक्कदे गंतुं ॥ ९७४ ॥

बाहुभ्यां जलधेः पारं तीर्त्वा याति परं ध्रुवम् ॥
न मायाजलधेः स्त्रीणां बहुविभ्रमधारिणः ॥ ९९१ ॥

विजयोदया—गच्छिज्ज गच्छेत् समुद्रस्य अपि परं पारं तीर्त्वा महाबलः। मायाजलवनितोदधिपारं नैव गंतुं शक्नोति ॥

मूलारा— तरित्तु तीर्त्वा। ओघबलो महाबलः। बाहुबल इत्यन्ये ॥

अर्थ—सामर्थ्यवान् मनुष्य समुद्रका दूसरा किनारा प्राप्त कर सकता है, परंतु कपटरूपी जल जिसमें है ऐसा स्त्रीरूपी समुद्रको तीरकर दूसरा किनारा पुरुषके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है.

रदणाउला सवग्घाव गुहा गाहाउला च रम्मणदी ॥
मधुरा रमणिज्जावि य सढा य महिला सदोसा य ॥ ९७५ ॥

सव्याघ्रेव गुहा रत्नैर्बहुभेदैर्विराजते ॥
रमणीया सदोषा च जायते महिला सदा ॥ ९९२ ॥

विजयोदया—रदणाउला रत्नसंकीर्णा सव्याघ्रा गुहेव रम्या नदी ग्राहाकुलेव मधुरा रम्या शठा सदोषा च वनिता ॥

मूलारा— रयणाउला रत्नाकीर्णा। वा यथा। गाहाउला मकरादिसंकुला रम्मणदी रमणीयापगा ॥

अर्थ—पर्वतकी रत्नपूर्ण गुहा सुंदर दीखती है परंतु उसके अंदर व्याघ्रका निवास होनेसे वह भयानक भी है. नदीका स्वरूप ऊपरसे रमणीय दीखाता है, परंतु अंदर मकरादि क्रूर जतुओंका निवास होनेसे वह भयावह है. वैसे स्त्री भी मधुर और सुंदर होने परभी कपटमय और दोषोंसे भरी हुई होनेसे अहित करने वाली ही है.

दिट्ठं पि ण सब्भावं पडिवज्जदि णियडिमेव उद्देदि ॥
गोधागुलुकमिच्छी करेदि पुरिसस्स कुलजावि ॥ ९७६ ॥

न दृष्टमपि सद्भावं चक्रधीः प्रतिपद्यते ॥
गोधान्तर्द्धिं विधत्ते सा पुरुषे कुलपुत्र्यपि ॥ ९९३ ॥

विजयोदया—दिट्ठंपि दृष्टमपि न प्रतिपद्यते सद्भावं निकृतिमेवोपन्यस्यति ॥

मूलारा— दिट्ठंपि परेणालोकितमपि । सब्भावं दोषरूप । उद्देदि उपन्यस्यति । अयमर्थः परेण दृष्टमपि दोष सत्यं न प्रतिपद्यते स्त्री, अस्त्ययं दोष इति न मन्यते किंतु नास्त्ययं न कृतो मयेति वंचनामेवावष्टभ्नाति । अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह–गोधाणुलुक्क गोधाया इव ग्राहं पुरुषविषये कुलपुत्रिकापि करोति । यथा गोधा स्वावष्टब्धां भूमिं बलात्कारेणापि त्याज्यमाना न त्यजति तथा योषिदपि स्वगृहीतं पदं न मुंचति । यत्नशतेनापि त्याज्यमाना । अन्ये तु गोधाणुलुक्कं गोधान्तर्धानमाहुः । यथा गोधा पुरुषं दृष्ट्वा तत आत्मानं गोपायति । तथा योषिदपि यथैव मां न पश्यति तथा करोमीति । अथवा गोधाया अन्तर्द्धिं करोति ग्राहेण गोधामपि तिरस्करोतीत्यर्थः । तथा चोक्तम्–

न दृष्टमपि सद्भावं वक्रधीः प्रतिपद्यते ॥

गोधान्तर्द्धिं विधत्ते सा पुरुषे कुलपुत्र्यपि ॥

अथवैवं,व्याख्येयं–परेण क्रियमाणं शोभनमपि अर्थमात्मना दृष्टमपि न प्रत्येति स्त्री, किं तर्हि तमशोभनं वक्रतया प्रत्येति । तथा पुरुषस्य संबंधित्वेनात्मानं गोपायति । तथा चोक्तम्–

प्रत्येति न सद्भावं दृष्ट्वापि हि कपटनाटकं तनुते ॥

गोधागुप्तिं योषा विदधाति नरस्य कुलजापि ॥

अर्थ—दूसरे मनुष्यने स्त्रीका कुछ दोष देखा हो तोभी यह मेरेमें यह दोष है अथवा मैंने यह दोष किया है ऐसा कभी नहीं कहेगी. कपटसे उस दोषका आच्छादन ही करेगी, जैसा गोह नामक प्राणी किसी स्थानका आश्रय लेकर उसको इतना चिपक जाता है कि उससे कोईभी अलग नहीं करसकते हैं. वैसे दुष्ट स्त्री अपराध करके भी मैंने यह अपराध किया है ऐसा कभीभी स्वीकार न करेगी.

पुरिसं वधमुवणेदित्ति होदि बहुगा णिरुत्तिवादम्मि ॥
दोसे संघादिंदि य होदि य इत्थी मणुस्सस्स ॥ ९७७ ॥

दोषाच्छादनतः सा स्त्री वधूर्वधविधानतः ॥
प्रमदा गदिता प्राज्ञैः प्रमादबहुलत्वतः ॥ ९९४ ॥

विजयोदया—पुरिस वधमुवणेदित्ति पुरुषं वधमुपनयतीति वधूरिति निरुच्यते । मनुष्यस्य दोषान्संहतान्करोतीति स्त्रीति निगद्यते ॥

स्त्रीवाचकशब्दनिरुक्तिद्वारेण तद्दोषानाह—

मूलारा—पुरिसमित्यादि । णिरुत्तिवादम्मि व्याकरणे । दोसं संघाडेत्ति दोषान्संघातीकरोति । पुरुषं वधमुपनयतीति वधूरिति व्यपदिश्यते योषित् । तथा मनुष्यस्य दोषान्संहतीकरोति इति स्त्रीति च ॥

अर्थ—स्त्री पुरुषको मारती है इस वास्ते उसको 'वधु' कहते हैं पुरुषमें यह दोषोंका समुदाय संचित करती है इस वास्ते इसको 'स्त्री' यह नाम है.

तारिसओ णत्थि अरी णरस्स अण्णेत्ति उच्चदे णारी ॥
पुरिसं सदा पमत्तं कुणदित्ति य उच्चदे पमदा ॥ ९७८ ॥

नारिर्यतः परोस्त्यस्यास्ततो नारी निगद्यते ॥
यतो विलीयते दृष्ट्वा पुरुषं विलया ततः ॥ ९९५ ॥

विजयोदया—तारिसओ तादृगन्यो नरस्य नारिरस्तीति नारीत्युच्यते । पुरुषं सदा प्रमत्तं करोतीति प्रमदेति निरुच्यते ॥

मूलारा—तादृगन्यो नरस्य नारिरस्तीति नारी । पमदा पुरुषं प्रमत्तं करोतीति प्रमदा ॥

अर्थ—मनुष्यको इसके समान दूसरा शत्रु नहीं है अतः इसको 'नारी' कहते हैं. यह पुरुषको प्रमत्त, अर्थात् उन्मत्त बनाती है इस लिये इसको 'प्रमदा' कहते हैं.

गलए लायदि पुरिसस्स अणत्थं जेण तेण विलया सा ॥
जोजेदि णरं दुक्खेण तेण जुवदी य जोसा य ॥ ९७९ ॥
अबलत्ति होदि जं से ण दढं हिदयम्मि धिदिबलं अत्थि ॥
कुम्मरणोपायं जं जणयदि तो उच्चदि हि कुमारी ॥ ९८० ॥

आलं जणेदि पुरिसस्स महल्लं जेण तेण महिला सा ॥
एवं महिलाणामाणि होंति असुभाणि सव्वाणि ॥ ९८१ ॥
णिलओ कलीए अलियस्स आलओ अविणयस्स आवासो ॥
आयमस्सावसधो महिला मूलं च कलहस्स ॥ ९८२ ॥

कुत्सिता नुर्यतो मारी कुमारी गदिता ततः ॥
बिभेति धर्मकर्मभ्यो यतो भीरुस्ततो मता ॥ ९९६ ॥
यतो लाति महादोषं महिलाभिहिता ततः ॥
अबला भण्यते तेन न येनास्ति बलं हृदि ॥ ९९७ ॥
जुषते प्रीतितः पापं यतो योषा ततो मता ॥
यतो ललति दुर्वृत्ते ललना भणिता ततः ॥ ९९८ ॥
नामान्यपि दुरर्थानि जायंते योषितामिति ॥
समस्तं जायते प्रायो निंदितं पापचेतसाम् ॥ ९९९ ॥
मत्सराविनयायासक्रोधशोकायशोभियाम् ॥
सर्वासां कारणं रामा विषाणामिव सर्पिणी ॥ १००० ॥

विजयोदया—णिलओ कलीए कलेर्निलयः । व्यलीकस्यालयः । अविनयस्याकरः । आयासस्यावकाशः । कलहस्य मूलं युवतिः ।

मूलारा—पुरुषस्य गलेऽनर्थं लागयतीति, पुरुषं वा दृष्ट्वा विलीयते इति विलया कथ्यते । जोजदीत्यादि नरं दुःखेन योजयतीति युवतिर्योषा च ॥

मूलारा—अबलत्ति नास्ति हृदये धृतिबलमस्या इति अबला।कुमारी कुत्सितं मरणोपायं जनयति इति कुमारी ॥

मूलारा—महिला पुरुषस्य महान्तं आलं जनयति इति महिला । एतद्गाथाद्वयं श्रीविजयाचार्यो नेच्छति ॥

मूलारा—कलीए रागद्वेषयोः । आगरो आकरः । आवसधो आवासः ॥

अर्थ—पुरुषके गलेमें यह अनर्थोंको बांधती है अथवा पुरुषको देखकर उसमें यह लीन होजाती है अतः इसको 'विलया' कहते हैं. यह स्त्री पुरुषको दुःखसे संयुक्त करती है अतः 'युवति' और 'योषा' ऐसे दो नाम इसके हैं.

इसके हृदयमें धैर्यरूपी बल दृढ रहता नहीं अतः इसको अबला कहते हैं. कुत्सित ऐसा मरण का उपाय उत्पन्न करती है इस लिये इसको कुमारी कहते हैं. यह पुरुषके ऊपर दोषारोपण करती है उस लिये इस को महिला कहते हैं. एसे स्त्रियोंके जितने नाम हैं वे सर्व अशुभ ही हैं. स्त्रिया रागद्वेषका निवासस्थान है. असत्य भाषणका घर हैं, अविनयका स्थान हैं और दुःखोंका कारण हैं. और कलहका मूल हैं.

सोगस्स सरी वेरस्स खणी णिवहो वि होइ कोहस्स ॥
णिचओ णियडीणं आसवो य महिला अकित्तीए ॥ ९८३ ॥

कुलजातियशोधर्मशरीरार्थशमादयः ॥
नाश्यंते योषया सर्वे वात्यया तोयदा इव ॥ १००१ ॥

विजयोदया—सोगस्स सरी शोकस्य नदी । वैरस्यावनिः । निवहः कोपस्य । निचयो निकृतीनां । अकीर्तेराश्रयो युवतिः ॥

मूलारा—सरी नदी, खणी खानिः, निवहो संघातः । णिचओ राशिः ॥

अर्थ—स्त्री शोककी नदी है. वैर की भूमि–अर्थात् उत्पत्ति स्थान है. स्त्री कोपका समुदाय रूप है. कपटोंका समूह है और अकीर्तिका आधार है.

णासो अत्थस्स खओ देहस्स य दुग्गदीपमग्गो य ॥
आवाहो य अणत्थस्स होइ पहवो य दोसाणं ॥ ९८४ ॥

पावकः सुखदारूणां आवासो दुःखपाथसाम् ॥
प्रभवो बलरत्नानामनर्थानां निकेतनम् ॥ १००२ ॥

विजयोदया—णासो अत्यस्स अर्थस्य नाशः । वेदस्य क्षयः । दुर्गतेर्मार्गः । अनर्थस्य कुल्या । दोषाणां प्रभवः॥
मूलारा—आवाहो गवादीनां जलपानस्थानं कुल्येत्यपरः । पवाहो प्रवेशः ॥
अर्थ—स्त्री धननाशका कारण है. देहमें क्षयरोग उत्पन्न करती है. दुर्गतिका मार्ग है और अनर्थोंका निवास है और दोषोंकी उत्पत्तिस्थान है.

महिला विग्घो धम्मस्स होदि परिहो य मोक्खमग्गस्स ॥
दुक्खाण य उप्पत्ती महिला सुक्खाण य विवत्ती ॥ ९८५ ॥

असत्यानां गृहं योषा वचनानां वसुंधरा ॥
कुठारी धर्मवृक्षाणां सिद्धिसौधमहार्गला ॥ १००३ ॥
दोषाणामालयो रामा मीनानामिव वाहिनी ॥
गुणानां नाशिका माया व्रतानामिव जायते ॥ १००४ ॥

विजयोदया—महिला विग्घो वनिता विघ्नो भवति । धम्मस्स धर्मस्य । परिघो मोक्षमार्गस्य । दुःखानां चोत्पत्तिः । सौख्यानां च विपत्तिः ॥
मूलारा—परिहो परिघः । अर्गलेत्यर्थः । विवत्ती विनाशः ॥
अर्थ—स्त्री धर्माचरणमें विघ्न समान है. मोक्षमार्गमें यह अर्गलाके समान प्रतिबंधक है. दुःखोंकी उत्पत्तिस्थान है और सुखोंका नाश करनेवाली है.

पासो व बंधिदुं जे छेत्तुं महिला असीव पुरिसस्स ॥
सिल्लं व विंधिदुं जे पंकोव निमज्जिदुं महिला ॥ ९८६ ॥

बंधने महिला पाशः खड्गः पुंसां निकर्तने ॥
छेदने निशितः कुंतः पंकोऽगाधो निमज्जने ॥ १००५ ॥

विजयोदया—पासोव बंधिदुं जे पाश इव बंधितुं । सुगमा गाथा अनादरो व्याख्याने ॥

मूलारा—बंधिदुं जे बद्धुं । विंधिदुं जे छेत्तुं । पंको पणको नाम कर्दमभेदः । णिमज्जिदुं ब्रुडितुं ॥

अर्थ—स्त्री पुरुषको बंधनेकेलिये पाशके समान है. पुरुषको तोडनेके लिये कुन्हाडकिसमान है और विद्ध करने के लिये बाण के समान है- और डुबोनेके लिये कीचडके समान है.

सूलो इव भित्तुं जे होइ पवोढुं तहा गिरिणदी वा ॥
पुरिसस्स खुप्पदुं कद्दमोव मच्चुंव्व मरिदुं जे ॥ १८७ ॥
अग्गीवि य डहिदुं जे मदोव पुरिसस्स मुज्झिदुं महिला ॥
महिला णिकत्तिदुं करकचोव कंडूव पउलेदुं ॥ १८८ ॥
पाडेदुं परसू वा होदि तहा मुग्गरो व ताडेदुं ॥
अवहणणं पि य चुण्णेदुं जे महिला मणुस्सस्स ॥ १८९ ॥
चंदो हविज्ज उण्हो सीदो सूरो त्रि थद्धुमागासं ॥
ण य होज्ज अदोसा भद्दिया वि कुलबालिया महिला ॥ १९० ॥
एए अण्णेय बहुदोसे महिलाकदे वि चिंतयदो ॥
महिलाहिंतो विचित्तं उव्वियदि विसग्गिसरसीहिं ॥ १९१ ॥
वग्घादीणं दोसे पच्चा परिहरदि ते जहा पुरिसो ॥
तह महिलाणं दोसे दट्ठुं महिलाओ परिहरइ ॥ १९२ ॥
महिलाणं जे दोसा ते पुरिसाणं पि हुंति णीचाणं ॥
तत्तो अहियदरा वा तेसिं बलसत्तिजुत्ताणं ॥ १९३ ॥

जह सीलरक्खयाणं पुरिसाणं णिंदिदाओ महिलाओ ॥
तह सीलरक्खयाणं महिलाणं णिंदिदा पुरिसा ॥ ९९४ ॥
किं पुण गुणसहिदाओ इत्थीओ अत्थि वित्थडजसाओ ॥
णरलोगदेवदाओ देवेहिं वि वंदणिज्जाओ ॥ ९९५ ॥
तित्थयरचक्कधरवासुदेवबलदेवगणधरवराणं ॥
जणणीओ महिलाओ सुरणरवरेहिं महियाओ ॥ ९९६ ॥
एगपदिव्वइकण्णावयाणि धारिंति कित्तिमहिलाओ ॥
वेधव्वतिव्वदुक्खं आजीवं णिंति काओ वि ॥ ९९७ ॥
सीलवदीवो सुच्चंति महीयले पत्तपाडिहेराओ ॥
सावाणुग्गहसमत्थाओ वि य काओव महिलाओ ॥ ९९८ ॥
उग्घेण ण वूढाओ जलंतघोरग्गिणा ण दड्ढाओ ॥
सप्पेहिं सावज्जेहिं वि हरिदा खद्धा ण काओ वि ९९९ ॥
सव्वगुणसमग्गाणं साहूणं पुरिसपवरसीहाणं ॥
चरमाणं जणणित्तं पत्ताओ हवंति काओ वि ॥ १००० ॥
मोहोदयेण जीवो सव्वो दुस्सीलमइलिदो होदि ॥
सो पुण सव्वो महिला पुरिसाणं होइ सामण्णा ॥ १००१ ॥
तम्हा सा पल्लवणा पउरा महिलाण होदि अधिकिच्चा ॥
सीलवदीओ भणिदे दोसे किह णाम पावंति ॥ १००२ ॥
इत्थिगदा ॥

नराणां भेदने शूलं वहने नगवाहिनी ॥
मारणे दारुणो मृत्युर्मलिनीकरणे मषी ॥ १००६ ॥
अनलो दहने पुंसां मुद्गरश्चूर्णने परः ॥
ज्वलंती पवने कंडूः करपत्रंविपाटने ॥ १००७ ॥
उष्णश्चंद्रो रविः शीतो जायते गगनं घनम् ॥
नादोषा प्रायशो रामा कुलपुन्यपि जातु चित् ॥ १००८ ॥
सर्पिणीव कुटिला विभीषणा वैरिणीव बहुदोषकारिणी ॥
मंडलीव मलिना नितंबिनी चाटुकर्म वितनोति यच्छतम् ॥ १००९ ॥
नारीभ्यः पश्यतो दोषानेतानन्यांश्च सर्वथा ॥
चित्तमुद्विजते पुंसो राक्षसीभ्य इव स्फुटम् ॥ १०१० ॥
योषास्त्यजंति विद्वांसो दोषाञ्ज्ञात्वेति दूरतः
व्याघ्रीरिव कृपाहीनाः परामिषपरायणाः ॥ १०११ ॥
दोषा ये संति नारीणां नराणां ते विशेषतः ॥
द्रष्टव्या दुष्टशीलानां प्रकृष्टबलतेजसाम् ॥ १०१२ ॥
व्याघ्रा इव परित्याज्या नरा दूरं कुचेतसः ॥
रामाभिः शुद्धशीलाभी रक्षंतीभिर्निजं व्रतम् ॥ १०१३ ॥
यथा नरा विमुंचंते वनिता ब्रह्मचारिणः ॥
त्याज्यास्ताभिर्नरा ब्रह्मचारिणीभिस्तथा सदा ॥ १०१४ ॥
न रामा निखिलाः संति दोषवन्त्यः कदाचन ॥
देवता इव दृश्यंते वंदिता बहवः स्त्रियः ॥ १०१५ ॥
मातरस्तीर्थकर्तॄणां भुवनोद्योतकारिणां ॥
जायंते वनिता धन्याः शक्रवंद्यक्रमांबुजाः ॥१०१६ ॥

शलाकापुरुषास्ताभिर्जन्यंते भुवनार्चिताः ॥
धात्रीभिरिव शुद्धाभिर्मणयः पुरुतेजसः ॥ १०१७ ॥
पुंरत्नानि न जायंते शुद्धशीलाः स्त्रियो विना ॥
विना नीरदमालाभिः पानीयानां क्व संभवः ॥ १०१८ ॥
आजन्म विधवाः काश्चिद्ब्रह्मचर्यमखंडितम् ॥
धरंति दुर्धरं धन्या ज्वलद्दीपमिवोज्ज्वलम् ॥ १०१९ ॥
कन्याभिरार्यिकाभिश्च चीयते दुश्चरं तपः ॥
विच्छिद्य शमशस्त्रेण मन्मथप्रतिबन्धकम् ॥ १०२० ॥
ध्रियते शुद्धशीलाभिर्यावज्जीवमदूषितम् ॥
पतिव्रताव्रतं स्त्रीभिः पराभिः पूजितं सताम् ॥ १०२१ ॥
देवेभ्यः प्रातिहार्याणि प्राप्ता विख्यातकीर्तयः ॥
योषाः शीलप्रसादेन श्रूयंते बहवो भुवि ॥ १०२२ ॥
शीलवंत्यो विलोक्यंते ता धन्या बुधवंदिताः ॥
समर्थाः शीतलीकर्तुं या ज्वलंतं हुताशनम् ॥ १०२३ ॥
सर्वशास्त्रसमुद्राणां वंदितानां जगत्त्रये ॥
सविभ्यः सन्ति शीलाढ्याः साधूनां चरमांगिनाम् ॥ १०२४ ॥
निमज्ज्यंते न पानीयैर्नीयंते न नदीजलैः ॥
सत्यो व्यालैर्न भक्ष्यन्ते न दह्यन्ते हुताशनैः ॥ १०२५ ॥
मोहोदयेन जायंते स्त्रीपुंसामशुभाःशुभाः ॥
परिणामा इति ज्ञात्वा मोहो निंद्यो न जन्तवः ॥ १०२६ ॥
साधारणेऽत्र सर्वेषां जीवानामनिवारिते ॥
दुष्टाः सन्ति परीणामास्ततः कार्योऽस्य निग्रहः ॥ १०२७ ॥

श्लाघ्या भवंति नार्योऽपि शुद्धशीला महीयसा ॥
स्त्री पुमानिति कुर्वन्ति शेमुषीं मंदमेधसः ॥ १०२८ ॥
सामान्येन ततो नेह निंदिताः सन्ति योषितः ॥
शुद्धशीला न गच्छंति दूषणं हि कदाचन ॥ १०२९ ॥
शुद्धशीलकलितासु जायते नांगनासु चरितं मलीमसं ॥
आस्पदं हि विदधाति तामसं हंसरश्मिषु कदाचनापि किं ॥ १०३० ॥
इति स्त्री दोषाः ॥

इत्थि गदा ॥

मूलारा—सूलो वि य शूलमिव । पवोढुं प्रवाहयितुं संसारार्णवे पातयितुं । मच्चुव्व मृत्युरिव ॥

मूलारा—अगणिवि य अग्निरिव । डहिदुं जे दग्धुं । मदोव मद्यादिजनितचित्तविकार इव । मज्झिदुं मूढीभवितुं । णिकिंत्तिदुं खंडयितुं । करकचोव करपत्रमिव । कंडू कंडुः । स्वेदनिका । पउलेदुं स्वेदयितुम् । पक्तुमिति यावत् ।

मूलारा—पाडेदुं दारयितुं परसू कुठारः । अवहणणं लोहकारस्य घनः ॥

मूलारा—थद्ध स्तब्धं, कठिनं, भद्दिया भद्रिका । अक्रूरा ।

मूलारा—महिलाहिंतो स्त्रीभ्यः । उव्वियदि उद्विजते ॥

मूलारा—स्पष्टम् ।

एवं प्रबंधेन स्त्रीषु दोषान्प्रदर्श्य नीचपुरुषेष्वपि तेषां ताभ्योऽधिकतराणां वा सद्भावं भावयति ॥

मूलारा—बल अन्नादिजनितसामर्थ्यं । सत्ति शक्तिः वीर्यमचिंत्यप्रभावमित्यर्थः । ताभ्यां सहितानां स्त्रीभ्योऽधिकतरमित्यत्रापि लिंगादिपरिणामेनानुवर्त्यम् ॥

शीलरिरक्षिषया पुंभिर्दुष्टाः स्त्रिय इव स्त्रीभिरपि दुष्टपुमांसो जुगुप्स्या इति दर्शयति—

मूलारा—णिंदिदा निंद्या त्याज्या इत्यर्थः । सीलरक्खियाणं शुचिचरितं रक्षितुमुद्यतानां ॥

ननु च सीलरक्खियाणमित्येतद्दोषैकमयत्वप्रतिपादनपरेण पूर्वोक्तप्रबंधेन स्त्रीणां निरुध्यते तत्किमिदानीं काश्चिच्छीलवत्योऽपि स्त्रियः संभवेयुरिति पर्यनुयुंजानं प्रति सविस्मयं स्त्रीमतल्लिकानां गुणग्रामसद्भावख्यापनार्थमाह—

मूलारा—किं पुण किं पुनर्वक्तव्यम् ॥ यद्यपि जातिमात्रेण संसारशरीरभोगनिर्विण्णैर्मोक्षसुखैकरसिकैः संयमिमिस्तथापि याश्रिद्गुणातिशयशालिन्यस्तेपामपि स्तुतिपदं भवन्तीति विस्मयद्योतनार्थमेतत् । यतः गुणेत्यादि । वित्थडजसाओ विस्तीर्णकीर्तयः ॥

विशेषेणाह—

मूलारा—गणधरवराणं तीर्थकराग्रशिष्याणां वृषभसेनपुरस्सरेन्द्रभूतिपर्यंतगणधरप्रधानानां । सुरणरपवरेहिं सौधर्मेन्द्रादिदेवेन्द्रभरतचक्रवर्त्यादिनरेन्द्रैः ॥

स्त्रीविशेषाणां शीलपालनातिशयमुन्मुद्रयति—

मूलारा—एगपदिव्वद एकपतिव्रतं देवाग्निगुरुसाक्षिकपाणिग्रहणप्रतिपन्ने भर्तरि प्रवृत्तिं । कण्णावद कन्याव्रतं कौमारब्रह्मचारित्वं । कित्तिमालाओ यशोभूषणाः । कित्तिमहिलाओ इति पाठे कीर्तियुक्ताःस्त्रिय इत्यर्थः ॥

वेधव्यतिव्वदुक्खं रंडात्वदुःसहमहादुःखं । जीवंतं जीवितपर्यन्तं ।णेंति नयन्ति प्रापयन्ति । कावो काश्चित् ॥

तथा काश्चिच्छीलसत्वाभिव्यक्षशापानुग्रहशक्तयोऽपि लोके श्रूयंते इत्याह—

मूलारा—सुव्वंति श्रूयंते । पत्तपाडिहेराओ देवतादिभ्यः प्रतिलब्धव्यापत्प्रतिकारसत्काराः । सावाणुग्गहसमत्थाओ आक्रोशोपकारसमर्थाः । कावो वि काश्चित्सीतादयः ॥

काश्चिच्च शीलाप्रतिबद्धतत्तद्धोरव्यापत्तयोऽपि श्रूयंते इत्याह—

मूलारा—ओघेण महानदी जलप्रवाहेण । ण वूढाओ न नीताः । कावो वि काश्चन शीलवत्यः सुलोचनाद्यः । तद्भवमोक्षगामिपुंरत्नप्रसूत्वेन सत्यापितनिजसुचरितनिर्वाक्षाः काश्चिच्छ्रूयंते इत्युपदिशति—

मूलारा—परिमाणं चरमदेहानां । जणणित्तं सवित्रीभावं । कावो वि सुनंदादयः ।

किंच सर्वेऽपि जीवाः प्रकृत्यैव शुद्धबुद्धस्वभावाः शीलमलिन्यं तु मोहोदयैकनिमित्तमेषां स च सर्वेषां संसारिणां प्रायेण साधारण इति मोह एव निंदनीयो न जंतव इति शिक्षयन्गाथाद्वयेन प्रस्तुतमुपसंहरति—

मूलारा—स्पष्टम् ।

मूलारा—सा प्रागुक्ता । पण्णवणा दोषप्रख्यापना । पवरा महिला प्रवराः स्त्रियः अधिकृत्य न भवतीति संबंधः इत्याह—भणिदा प्रतिपादितान् । किध णाम कथमहो न कथमित्यर्थः ॥ स्त्रीदोषः ॥ १०५५

अर्थ—स्त्री पुरुषको शूलके समान भेद करती है. जैसे पर्वत परसे नीचे गिरनेवाली नदी पदार्थको बडे जोरसे अपने साथ बहाती हुई समुद्रमें ले जाती है वैसे स्त्री भी पुरुषको भवसमुद्रमें फेंक देती है. जैसे कीचड मनुष्यको खोल फसाता है वैसे स्त्री भी पुरुषको कीचडके समान फसाती है. जैसे मृत्यु मनुष्यको मारता है वैसे स्त्री भी पुरुषको मारती है. अग्नीके समान स्त्री पुरुषको जलाती है. मद्य जैसे चित्तमें विकार उत्पन्न करता है वैसे स्त्री भी पुरुषके चित्तको विकृत करती है. करोत जैसा लकडीको फाडता है वैसे स्त्री भी मनुष्यके हृदयको दुर्भाषण और अयोग्य व्यवहारसे चीरती है. खुजलीसे जैसे सब अंगमें कंडु खुजली उत्पन्न होती है वैसे इसके सहवाससे शांति नहीं मिलती है. यह परशुके समान फाडती है व मुद्गरके समान दुराचरणसे पुरुषके हृदयपर आघात उत्पन्न करती है. पुरुषके चूर्ण करनेके लिये स्त्री लोहके घन समान है.

चंद्र कदाचित् शीतलताको त्यागकर उष्ण बनेगा, सूर्य भी थंडा होगा. आकाश भी लोहपिंडके समान घन होगा. परंतु कुलीन वंशकी भी स्त्री कल्याणकारिणी और सरलस्वभावकी धारक नहीं होगी.

ऊपर कहे हुए दोषोंके साथ और और भी अनेक दोष स्त्रियोंमें हैं. उनका यदि पुरुष विचार करेगा तो वे स्त्रिया उसको विष और अग्निके समान भयानक दीखेंगी और उनसे उनका चित्त लौटेगाही. व्याघ्र, सर्प वगैरे क्रूर प्राणीओंके दोष जानकर जैसे मनुष्य उनसे दूर रहता है वैसे स्त्रियोंमें दोष है ऐसा जानकर पुरुषको उनका त्याग करना उचित है.

स्त्रियों में जो दोष हैं वे ही दोष नीच पुरुषों में भी रहते हैं. इतनाही नहीं स्त्रियोंसे भी उनकी अन्नादिकों से उत्पन्न हुई शक्ति अधिक रहनेसे उनमें अधिक दोष रहते हैं.

शीलका रक्षण करनेवाले पुरुषको स्त्री जैसे निंदनीय अर्थात् त्याग करने योग्य है वैसे शीलका रक्षण करने वाली स्त्रियोंको भी पुरुष निंदनीय अर्थात् त्याज्य है. संसार, शरीर और भोगसे विरक्त मुनिओंके द्वारा स्त्रिया निंदनीय मानी गई है तथापि जगतमें कोई २ स्त्रिया गुणातिशयसे शोभायुक्त होनेसे मुनिओंके द्वारा भी स्तुति
योग्य हुई हैं. उनका यश जगतमें फैला है. ऐसी स्त्रिया मनुष्यलोकमें देवताके समान पूज्य हुई हैं. देव उनको १०५६
नमस्कार करते हैं. तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र और गणधरादिकोंको प्रसवनेवाली स्त्रिया देव, और मनुष्योंमें जो प्रधान व्यक्ति है उनसे वंदनीय होगई है, कितनेक स्त्रिया एक पतिव्रत धारण करती है, कितने

स्त्रिया आजन्म अविवाहित रहकर निर्मल ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती हैं. कितनेक स्त्रिया वैधव्यका तीव्र दुःख आजन्म धारण करती हैं.

शीलव्रत धारण करनेसे कितनेक स्त्रियोंमें शाप देना और अनुग्रह करनेकी भी शक्ति प्राप्त हुई थी ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन है. देवताओंके द्वारा ऐसी स्त्रियोंका अनेक प्रकारसे माहात्म्य भी दिखाया गया है.

ऐसी महाशीलवती स्त्रियोंको जलप्रवाह भी बहानेको असमर्थ है. अग्नि भी इनको नहीं जला सकती है. वह शीतल होती है. ऐसी स्त्रियोंको सर्प व्याघ्रादिक प्राणी खा नहीं सकते हैं. अथवा मुहमें लेकर अन्यस्थानमें नही फेक देते हैं

संपूर्ण गुणोंसे परिपूर्ण, श्रेष्ठ पुरुषमेंभी श्रेष्ठ, तद्भव मोक्षगामी ऐसे पुरुषोंको कितनेक शीलवती स्त्रिओंने जन्म दिया है.

मोहोदयसे जीव कुशील बनते हैं. मलिन स्वभावके धारक बनते हैं. यह मोहोदय सर्व स्त्रियोंमें और पुरुषोंमें समान रीतीसे है. जो पीछे स्त्रियोके दोषोंका विस्तारसे वर्णन किया है वह श्रेष्ठ शीलवती स्त्रियोंके साथ संबंध नहीं रखता है अर्थात् वह सब वर्णन कुशील स्त्रियोंके विषयमें समझना चाहिए. क्योंकि शीलवती स्त्रिया गुणोंका पुंजस्वरूपही है. उनको दोष कैसे छू सकते हैं. स्त्रीकृत दोषोंका यहांतक वर्णन किया।

स्त्रीगतान्दोषानभिधाय अशुचिनिरूपणार्थं उत्तरप्रबंधः—

देहस्स बीयणिप्पत्तिखेत्तआहारजम्मवुड्ढीओ ॥
अवयवणिग्गमअसुई पिच्छसु वाधी य अधुवत्तं ॥ १००३ ॥

देहस्य बीजनिष्पत्तिक्षेत्राहारजन्मवृद्धयः ॥
अंगाश्च निर्गमोऽशौचं ज्ञेयं व्याधिरनित्यता ॥ १०३१ ॥

विजयोदया—देहस्य बीज इत्यादिकः। देहस्य बीजं, निष्पत्तिः, क्षेत्रं, आहारः, जन्म, वृद्धिः, अवयवः, निर्गमः, अशुचि, व्याधिरध्रुवतेत्येतान्पश्येति सूरिर्ब्रवीति क्षपकं ॥

एवं स्त्रीदोषान्व्याख्यायेदानीं देहाशुचित्वं समयद्वया व्याचष्टे। तत्र शरीरस्य बीजं, निष्पत्तिः, क्षेत्रमाहारो, जन्म, वृद्धिरवयवनिर्गमाशुचित्वमसारत्वप्रेक्षणं, व्याधयोऽध्रुवत्वं चेति द्वादश प्रबंधेन व्याचिकीर्षुः क्षपकं प्रत्युद्दिशति—

मूलारा— देहस्स प्रकरणान्मनुजानामिति द्रष्टव्यं । णिप्पत्ति निष्पद्यमानता । जन्म प्रसवः । वुड्ढी जन्मक्षणोत्तरकालभाव्युपचयः । णिग्गम कर्णादिभ्यो निर्गच्छन्तीति निर्गमाः कर्णमलादयः । पेच्छसु अहो महासत्व, कर्मक्षपणोद्यत, मुमुक्षो ! ब्रह्मचर्यव्रतसिद्ध्यर्थं देहस्य बीजादीनि प्रेक्षस्व त्वं ।

अपवित्रताका वर्णन करनेके लिए अब उत्तर प्रबंध है—

अर्थ—देहका बीज, उत्पत्ति, क्षेत्र, आहार, जन्म, वृद्धि, अवयव, निर्गम, अशुचि, व्याधि और नश्वरता इतने प्रकारोंको हे क्षपक !तुम देखो ऐसा आचार्य क्षपकको कहते हैं. १ देहके बीज, उत्पत्ति वगैरह विषयोंका विवेचन यहांसे आचार्य करेंगे ।

देहस्य बीजमित्येतद्व्याख्यानायोत्तरगाथा—

देहस्स सुक्कसोणिय असुई परिणामिकारणं जह्मा ॥
देहो वि होइ असुई अमेज्झघदपूरवो व तदो ॥ १००४ ॥

देहस्याशुचिनिर्बीजं यतो लोहितरेतसी ॥
ततोऽसावशुचिर्ज्ञेयो यथा गूथाज्यपूरकः ॥ १०३२ ॥

विजयोदया—देहस्य बीजं मनुजानां शुक्रशोणितं । अशुचि शुक्रं पुंसः, शोणितं च वनितायाः परिणामिकारणं। जह्मा यस्मात्।परिणामिकारणं शरीरत्वेन तदुभयं परिणमति तस्मात्परिणामिकारणं । देहोवि असुइ शरीरमपि अशुचि तत एव । अमेज्झघदपूरगो व अमेध्यघृतपूरक इव । यदशुचिपरिणामि कारणं तदशुचि यथामेध्यघृतपूरकः अशुचिपरिणामकारणं च शरीरं इति सूत्रार्थः ॥

देहबीजं गाथात्रयेण व्याचक्षाणः प्रथमं मानुषवपुषो अशुच्युपादानकारणकत्वेन अशुचित्वमुपपादयति—

मूलारा—सुक्कसोणिदं शुक्रं गर्भयोग्यं पुंसो रेतः शोणितं च शुक्रशोणितं । समाहारद्वंद्वस्य संहतिप्रधानत्वात् किंचिद्गर्भप्ररोहणयोग्यं तार्तीयिकमवस्थांतरमापन्नं शुक्रार्तवमित्यर्थः । तथा चोक्तं अष्टांगहृदये—

शुद्धे शुक्रार्तवे सत्वः स्वकर्मक्लेशचोदितः ।
गर्भः संपद्यते युक्तिवशादग्निरिवारणौ ॥

परिणामिकारणं परिणमते विवर्तते इति परिणामि तच्च तत्कारणं च जनकं परिणामिकारणं उपादानकारणं । तल्लक्षणं यथा—

त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पौर्वापर्येण वर्तते ॥
कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥

अमेज्झघदपुण्णगोव अमेध्यघृतपूरक इव । तथा चोक्तम्—

शुक्रशोणितमंगस्य यदुपादानकारणं ॥
अशुच्यंगं ततो यद्वदमेध्यघृतपूरकः ॥

प्रयोगः—यदशुचि परिणामिकारणं तदशुचि, यथाऽमेध्यघृतपूरकः । अशुचिपरिणामिकारणं च शरीरं तस्मादशुचि ।

देहके बीजका दो गाथाओंसे वर्णन—

अर्थ—जिससे देहकी उत्पत्ति होती है ऐसा यह वीर्य और रक्त अपवित्र है. अतः इनसे उत्पन्न होनेवाला देह पवित्र कैसे हो सकता है ? रक्त और वीर्यसे ही शरीरका परिणमन होता है अतः शरीर अपवित्र है. विष्ठासे बने हुए घृतपूरके समान शरीर अपवित्र है. अपवित्र पदार्थोंका परिणमन जिसके कारण है वह पदार्थ अपवित्र होता है. जैसा अपवित्र विष्ठाका घृतपूरक अपवित्र होता है वैसा शरीर भी अपवित्र कारणोंका ही परिणमन होनेसे अपवित्र है. ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है—

दट्ठुं विहिंसणीयं अमेज्झमिव संकुदो पुणो होज्ज ॥
ओज्झिग्घिदुमालद्धुं परिभोत्तुं चावि तं बीयं ॥ १००५ ॥

द्रष्टुं घृणायते देहो वर्चोराशिरिव स्फुटम् ॥
स्प्रष्टुमालिंगितुं भोक्तुं तद्बीजो भुज्यते कथम् ॥ १०३२ ॥

विजयोदया—दट्ठुं वि य द्रष्टुमपि । विहिंसणीयं जुगुप्सनीयं । अमेज्झमिव अमेध्यमिव । संकुदो पुणो होज्ज ओज्झिग्घिदुं कुतः पुनर्भवेदाघ्रातुं । आलद्धुं आलिंगितुं । परिभोत्तुं चावि परिभोक्तुं चापि । तं बीजं तत् शुक्रशोणिताख्यं बीजं । तत्परिणामत्वाच्छरीरमपि तदेव बीजमिदं शरीरमिति मत्वा बीजमिति उक्तं ॥

शरीरस्याशुचिशुक्रार्तवमयत्वेनाशुचित्वादत्यंतोपेक्षणीयत्वमनुशास्ति—

मूलारा—अमेज्झमिव गूथमिव । विहिंसणिज्जं जुगुप्सनीयं । उज्जिघिदु आघ्रातुं ॥

आलद्दु आलिंगितुं ओप्तुं वा । परिभोत्तुं उपभोक्तुं तं बीजं शरीरमित्यर्थः । तच्छुक्रशोणिताख्यं बीजं तत्परिणामत्वाच्छरीरं इत्यर्थः । अथवा तब्बीजमिति पाठः । तत्र तच्छुक्रशोणितं बीजमस्येति तद्बीजं शरीरमित्यर्थः । अत्रेदमैदंपर्यम्—यतः शरीरं द्रष्टुमपि पुरीषमिव घृणा क्रियते ततः कुतः पुनराघ्राणादियोग्यं भवेत् । तथा चोक्तम्—

द्रष्टुं घृणायते देहो वर्चोराशिरिव स्फुटम् ॥
स्प्रष्टुमालिंगितुं भोक्तुं तद्बीजो युज्यते कथम् ॥

अर्थ—यह शुक्र और रक्त देखनेके लिये भी अयोग्य है. विष्ठा जैसी देखने योग्य नहीं है. इसलिये इनका आलिंगन करना, उपभोग लेना कैसा योग्य समझा जायगा ? जब शुक्र शोणित अर्थात् रक्त वीर्यकी ऐसी अपवित्र अनुपभोग्य अवस्था है तब उनसे बना हुआ शरीर भी आलिंगनयोग्य और भोगने योग्य नहीं है ऐसा समझना चाहिये.

परिणामिकारणशुद्ध्या तत्परिणामरूप कार्यं शुद्धं भवति । शरीरं न तथेति कथयति—

समिदकदो घदपुण्णो सुज्झदि सुद्धत्तणेण समिदस्स ॥
असुचिम्मि तम्मि बीए कह देहो सो हवे सुद्धो ॥ १००६ ॥

कणिकाशुद्धितः शुद्धः कणिकाघृतपूरकः ॥
वर्चोबीजः कथं देहो विशुद्ध्यति कदाचन ॥ १०३४ ॥

इति बीजम् ।

विजयोदया—समिदकदो घदपुण्णो सुज्झदि कणिकाकृतं घृतपूर्णक सुज्झदि शुद्ध्यति । सुद्धत्तणेण शुद्धतया । समिदस्स कणिकाद्रव्यस्य । असुचिम्मि तम्मि बीए अशुचिबीजे तस्मिन्स्थिते । कह देहो सो हवे सुद्धो देहः परिणामः कथं शुद्ध्यति ॥ बीयं ॥

परिणामिकारणशुद्ध्या तत्परिणामात्मकस्यात्कार्यमपि शुद्धं भावशुद्धकणिकाघृतपूरवन्न पुनर्मनुष्यशरीरं तद्विपर्ययादित्यावेदयति—

मूलारा—समिदकदो इत्यादि— समिधा कणिकाद्रव्येण कृतो निर्वृत्तः । वीए उत्पन्ने इत्याध्याहारः ।

कार्यरूपसे परिणत होनेवाले कारणमें यदि शुद्धता हो तो उससे उत्पन्न होनेवाला कार्य भी शुद्धतायुक्त दीखता है शरीर शुद्ध नहीं है क्योंकि उसका कारण अशुद्ध है इस विषय का विवेचन—

अर्थ—गेहूंके आटेसे बनाया हुआ घृतपूरक पवित्र है क्योंकि, गेहूंका आटा पवित्र है. वैसे वीर्य और रक्त ये पदार्थ पवित्र नहीं है अतः इनसे उत्पन्न होनेवाला पदार्थ अर्थात् शरीर शुद्ध कैसा माना जायगा अर्थात् वह अशुद्ध ही है

शरीरनिष्पत्तिक्रमनिरूपणार्थं उत्तरप्रबंध.—

कललगदं दसरत्तं अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं ॥
थिरभूदं दसरत्तं अच्छदि गब्भम्मि तं वीयं ॥ १००७ ॥

दशाहं कलिलीभूतं दशाहं कलुषीकृतं ॥
दशाहं च स्थिरीभूत बीजं गर्भेऽवतिष्ठते ॥ १०३५ ॥

विजयोदया—कललगदं कललत्वं नाम पर्याय तं गत प्राप्तं बीज दश दिनमात्रं । अच्छदि आस्ते । कलुसीकदं च कलुषीकृत च । दश रात्रमात्र अवतिष्ठते । थिरभूदं दसरत्तं स्थिरभूत यावद्दशदिनमात्रं । अच्छदि आस्ते । गब्भम्मि गर्भे त बीज तद्बीज ॥

नृदेहनिष्पत्तिक्रम गाथापंचकेन व्याचष्टे—

मूलारा—कललगदेति । कललगदं विलीनताम्ररजतद्रव्यकल्पकललत्वपर्याय प्राप्तं । दसरत्तं दशाहोरात्रान् । कलुसीकदं मिश्रित । थिरभूद दृढीभूत । गब्भम्मि गर्भाशये ।

अर्थ—माताके उदरमें वीर्यका प्रवेश होनेपर वहा दश दिनतक वीर्यकी कलल नामकी अवस्था होती है. तदनंतर दस दिन पर्यन्त वह कलुष होता है इसके अनंतर वह दस दिनतक स्थिरपनाको प्राप्त होता है. अभिप्राय यह है कि, गले हुए ताम्र और चांदीका रस परस्पर मिलानेसे जो अवस्था उन दोनोंकी होती है वही अवस्था माताके रक्तसे संयोग होनेपर वीर्यकी होती है. उसको कललावस्था कहते हैं. तदनंतर वह काला होता है उसके इस

अवस्थाका नाम 'कलुष' है. इसके अंनतर वह स्थिर होता है. ऐसी तीन अवस्थायें क्रमसे वीर्यको प्रथम मासमें प्राप्त होती हैं.

तत्तो मासं बुब्बुदभूदं अच्छदि पुणो वि घणभूदं॥
जायदि मासेण तदो मंसप्पेसी य मासेण ॥ १००८ ॥

मासेन बुद्बुदीभूतं तन्मासेन घनीकृतम्॥
मांसपेशी च मासेन जायते गर्भपंजरे ॥ १०३६ ॥

विजयोदया—तत्तो स्थिरभावोत्तरकालं । मासं बुद्बुदभूतं अच्छदि मासमात्रं बुद्बुद इव आस्ते । पुणो वि घणभूदं पुनरपि घनभूतं। जायदि मासेण जायते मासेन ततोऽपि घनभावादुत्तरकालं। मासेण मासेन। मंसप्पेसीय मांसपेशी भवति ॥

मूलारा—तत्तो इति—स्थिरभावोत्तरकालं । बुब्बुदभूदं बुब्बुद इव । घणभूदं कठिणत्वं प्राप्तं। मंसपेसी हुंडसंस्थानो मांसपिंडः ॥

अर्थ—प्रथममासके अनंतर दूसरे मासमें वीर्यको बबुलेकी अवस्था–बुद्बुदावस्था प्राप्त हो जाती है. पुनः एक मासतक वह घट्ट बन जाता है. इसके अनंतर चतुर्थ मासमें उसको मांसपेशीकी आकृति प्राप्त होती है.

मासेण पंच पुलगा तत्तो हुंति हु पुणो वि मासेण ॥
अंगाणि उवंगाणि य णरस्स जायंति गब्भम्मि ॥ १००९ ॥

मासेन पुलकाः पंच मासेनांगानि षष्ठके ।
उपांगानि च जायंते गर्भवासनिवासिनः ॥ १०३७ ॥

विजयोदया—मासेण पंच पुलगा मासेन पंच पुलका भवन्ति । पुणो वि मासेण पुनरुत्तरेण मासेन । अंगाणि उवंगाणि य अंगान्युपांगानि च । णरस्स जायंति गब्भम्मि नरस्य जायन्ते गर्भे ॥

1052 मासेण—पुलया पुलकाः । नलकबाहुशिरोदेशेष्वंकुराः । अंगाणि द्वौ नलकौ, नितंबो, द्वौ बाहू, उरः पृष्ठं, शिरश्चेत्यष्टौ । उवंगाणि उपांगानि अंगान्युपगताः कर्णनासागंडोष्ठनेत्रांगुलिप्रभृत्यवयवाः । उक्तं च—

णल्या बाहू य तहा णियंब पुट्ठी उरो य सीसो य ॥
अट्ठेव दु अंगाई देहे सेसा उवंगाई ॥

अर्थ---पांचवे माससे उस मांसपेशीको पांच पुलक अर्थात् पांच अंकुर उत्पन्न होते हैं. इनसे नीचेके दो अंकुरोंसे दो पैर, उपरके तीन अंकुरोंमेसे बीचके अंकुरसे मस्तक और पार्श्वके दो अंकुरोंसे हाथोंकी उत्पत्ति होती है. इन अवयवोंकी यह अंकुर पूर्वावस्था है- तदनंतर छठे मासमें हाथ, पाय और मस्तककी रचना होती है और उपांग आंख, कान, नेत्र इत्यादिक अंगोंकी रचना होती हैं. इसप्रकार गर्भस्थ बालकके अवयवों की रचना है.

मासम्मि सत्तमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिप्पत्ती ॥
फंदणमट्ठममासे णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥ १०१० ॥
चर्मरोमाणि जायंते मासे तस्यात्र सप्तमे ॥
स्पंदोऽष्टमे-विनिर्याणं नवमे दशमे ततः ॥ १०३८ ॥

विजयोदया—मासम्मि सत्तमे सप्तमे मासे । तस्स तस्य गर्भस्थस्य । चम्मणहरोमणिप्पत्ती चर्मनखरोमनिष्पत्तिर्भवति । फंदणमट्ठममासे स्पंदनमीषच्चलनं अष्टमे मासे । णवमे दसमे य णिग्गमणं नवमे दशमे चोदरान्निर्गमनं भवति ॥

मूलारा—मासम्मि इति—फंदणं संचलनं णिग्गमणं मातुरुदरान्निःसरणं प्रसूतिरित्यर्थः ।

इसके अनंतर—

अर्थ—सांतवे महिनेमें उस गर्भके अवयवों पर चर्म और रोमकी उत्पत्ति होती है, और हाथ और पेरके नख उत्पन्न होते हैं. आठेंमे मासमें उस गर्भ में चलन वलन होने लगता हैं. नववा और दसवा इन दो महिनोंमें गर्भसे बालक बाहर आता है अर्थात् उसका जन्म होता है.

सव्वासु अवत्थासु वि कललादीयाणि ताणि सव्वाणि ॥
असुईणि अमिज्झाणि य विहिंसिणिज्जाणि णिच्चंपि ॥ १०११ ॥

यतोऽशुचीनि सर्वाणि कललादीनि कारणम् ॥
वर्चोंऽशवत्ततो देहो जुगुप्स्यो महतां सदा ॥ १०३९ ॥

इति निष्पत्तिः ॥

विजयोदया—सव्वासु अवत्थासु वि सर्वास्वप्यवस्थासु शुक्रशोणितयो.। कललादियाणि कललमर्बुदमित्यादिकानि। सव्वाणि असुईणि सर्वाणि अशुचीनि। अमेज्झाणिव अमेध्यमिव । विहिंसणिज्जाणि जुगुप्सनीयानि । णिच्चं पि नित्यमपि ॥

सव्वासु इति—अवस्थासु प्रतिसमयभाविनीषु शुक्रादिविवर्तपरिणामिषु अमेज्झाणि व गूथानि यथा ॥ निष्पत्तिः ॥

अर्थ— रक्त और वीर्य की प्रथम माससे आरंभ कर दस मास तक जो जो अवस्थायें होती हैं वह सबही अपवित्र ही हैं. जैसे विष्ठा नित्य जुगुप्सा करने लायक ही है. निष्पत्ति नामक प्रकार का वर्णन हुआ.

गर्भेऽवस्थानक्रमं अशुभं कथयत्युत्तरगाथया। णिप्पत्ति गदं—

आमासयम्मि पक्कासयस्स उवरिं अमेज्झमज्झम्मि ॥
वत्थिपडलपच्छण्णो अच्छइ गब्भे हु णवमासं ॥ १०१२ ॥

तिष्ठत्यामाशयस्याध ऊर्ध्वं पक्वाशयस्य सः ॥
जरायुर्वेष्टितो मासान्नवामेध्यमध्यगः ॥ १०४० ॥

विजयोदया—आमासयम्मि आमाशये। आममुच्यते भुक्तमशनमुदराग्निना अपक्वं तस्य आशयः स्थानं तस्मिन्। पक्कासयस्स उवरिं जाठरेण अग्निना पक्व आहार' पक्वं तस्य आशय' स्थान । तत उपरि । अमेज्झमज्झम्मि अमेध्ययोः पक्वापक्वयोर्मध्ये। गब्भो अत्थदि आस्ते गर्भ.। कीदृक् वत्थिपडलपच्छण्णो वितत मांसशोणित जालसस्थानीय वत्थिपडलशब्देनोच्यते तेन प्रतिच्छन्न.। कियंतं कालमास्ते ? णवमासं उपलक्षण नवमासग्रहण दशमासमात्रमप्यवस्थानात्।

नृदेहनिष्पत्तिक्षेत्रं गाथात्रयेण निरूपयिष्यन्गर्भावस्थानक्रममशोभनं तस्याभिधत्ते—

मूलारा—आमासयम्मि—उदराग्न्यपक्वभुक्ताश्रस्थाने। पक्कासयस्स जठराग्निपक्वभुक्ताहारस्थानस्य । अमेज्झमज्झम्मि अमेध्ययोः पक्वापक्वयोर्मध्ये। वत्थिपडलपच्छण्णो वस्तिपटलं जालस्थानीय विततमांसशोणितं तेन प्रच्छादितः।

गब्भो हु अत्र पाठे आमाशयादधः पक्वाशयाच्चोर्ध्वं नवदशमासान् जरायुप्रच्छादितो गर्भ आस्ते इति सूत्रार्थः ॥ गब्भाशयम्मि इति पाठे नगे नरदेहो वा गर्भे तिष्ठतीति व्याख्येयं । णवमासे उपलक्षणाद्दशापि ॥

गर्भ में बालक किस स्थानमें रहता है इसका विवेचन—

अर्थ—आमाशय और पक्वाशय इन दोनो के बीचमें जालके समान मांस और रक्तसे लपेटा हुआ वह गर्भ नउ महिने तक रहता है. खाया हुआ अन्न उदराग्निसे जिस स्थानमें थोडासा पचाया जाता है वह स्थान आमाशय कहा जाता है. और जिस स्थानमें पूर्ण पकाया जाता है वह स्थान पक्वाशय है. ये दोनो स्थान अपवित्र हैं. पक्वाशयके ऊपर और अपक्वाशयके नीचे अर्थात् दोनोंके बीचमें गर्भका स्थान रहता है. गाथामें 'णवमास'-यह शब्द उपलक्षणवाची है. इससे दस मासका भी ग्रहण होता है. अर्थात् कोई गर्भ दसमासतक भी माताके उदरमें रहता है.

अशुचिस्थाने अवस्थितः स्वल्पकालं यदि जुगुप्स्यते चिरावस्थितः कथमयं न जुगुप्सनीय इत्याचष्टे—

वमिदा अमेज्झमज्झे मासंपि समक्खमत्थिदो पुरिसो ॥
होदि हु विहिंसणिज्जो जदि वि हु णीयल्लओ होज्ज ॥ १०१२ ॥

मासमेकं स्थितोऽध्यक्षं वर्चोमध्ये जुगुप्स्यते ॥
निजोऽपि न कथं गर्भे वांते नवदश स्थितः ॥ १०४१ ॥

इति क्षेत्रं ॥

विजयोदया—वमिदा अमेज्झमज्झे वांतस्य अमेध्यस्य च मध्ये । मासंपि मासमात्रमपि समक्खमत्थिदो स्वप्रत्यक्षतया स्थितः पुरुषः । खु शब्द एवकारार्थः स च क्रियापदात्परो द्रष्टव्यः । विहिंसणिज्जो इत्यतः परतः । विहिंसणीओ होदि इति जुगुप्सनीय एव भवति नाजुगुप्स्य इति यावत् । जदि वि हु णीयल्लओ होज्ज यद्यपि बंधुर्भवेत् ॥

स्वल्पकालं वमनेध्यमध्यमध्युषितो बंधुरपि जुगुप्स्यते तत्कथमयं देहश्चिरं तत्र स्थितो न जुगुप्स्य इति गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—वमिया इति—वमिया अमेज्झमज्झम्मि वांतस्य अमेध्यस्य च मध्ये । ससमक्खं आत्मप्रत्यक्षं । जदि वि यद्यपि । णीयल्लओ बंधुः ॥

अपनिग्रस्थानमें स्वल्प कालतक रहा हुआ मनुष्य भी जुगुप्सा योग्य माना जाता है तो चिरकाल वहां रहा हुआ क्यों जुगुप्सा योग्य नहीं माना जायगा? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—वान्ति और विष्ठाके बीचमें अपना कोई संबंधी मनुष्य एक मासतकभी रहा हुआ अपने प्रत्यक्ष हुआ तो हम उसकी ग्लानि करते ही है. यद्यपि वह हमारा स्वजन भी हो तो भी उसकी ग्लानि हमारे मनमें होगी ही.

किह पुण णवदसमासे उसिदो वमिगा अमेज्झमज्झम्मि ॥
होज्जण विहिंसणिज्जो जदि वि हु णीयल्लओ होज्ज १०१४ ॥

विजयोदया—किह पुण कथं पुनः। न होज्ज विहिंसणिज्जो न भवेज्जुगुप्सनीयः। णवदसमासं उसिदो नवमासं दशमासं वायस्थितः। वमिगा अमेज्झमज्झम्मि माता उपयुक्त आहारो वमिगाशब्देनोच्यते। शेषः सुगमः॥ सिद्धं गतं॥

मूलारा—किध—उसिदो स्थितः। वमिगा जनन्योपयुक्त आहारः। क्षेत्रम्॥

अर्थ—तो जिसने गर्भमें नउ दस महिनेतक निवास किया है और माताका भक्षण किया हुआ आहार खाकर जो वृद्धिको प्राप्त हुआ है वह क्यों न ग्लानिका पात्र बनेगा? अर्थात् वह अवश्य घृणाका पात्र है.

येनाहारेणासावुपचितशरीरो जातस्तमाचष्टे—

दंतेहिं चव्विदं वीलणं च सिंभेण मेलिदं संतं॥
मायाहारियमण्णं जुत्तं पित्तेण कडुएण ॥ १०१५ ॥
पिच्छिलं चर्वितं दन्तैर्मिश्रितं श्लेष्मणा च यत्॥
अन्नं मात्राशितं युक्तं पित्तेन कटुकात्मना ॥ १०४२ ॥

विजयोदया—दंतेहिं चव्विदं दंतैश्चूर्णितं। वीलणं पिच्छिलं। कथं, सिंभेण मेलिदं श्लेष्मणा मिश्रितं सत्। मादाहारिदमण्णं मात्रा भुक्तमन्नं। कडुएण पित्तेण जुत्तं कटुकेन पित्तेन युक्तं॥

येनाहारेणोपचितशरीरो नरः संपन्नस्तं गाथापंचकेन व्याचष्टे—

मूलारा—थंतेहिं इति—चीलणं पिच्छिलं । मिलिदं संतं मिश्रितं सत् । मादाइरिदं मातृभुक्तम् ।

जिस आहारसे उसका शरीर पुष्ट होता है उसका वर्णन आचार्य करते हैं.—

अर्थ— दांतोंसे चबाया गया, कफसे गीला होकर मिश्रित हुआ ऐसा माताने खाया हुआ अन्न उदरमें पित्तके मिश्रणसे कडुवा होता है.

वमिगं अमेज्झसरिसं वादविओजिदरसं खलं गब्भे ॥

आहारेदि समंता उवरिं थिप्पंतगं णिच्चं ॥ १०१६ ॥

अमेध्यसदृशं वांतं समीरेण पृथक्कृतम् ॥

ऊर्ध्वं कटुकमश्नाति विगलंतमसौ रसम् ॥ १०४३ ॥

विजयोदया—वमिगं वांतं । अमिज्झसरिसं अमेध्येन सदृशं । वादवियोजिदरसं खलं वातेन पृथक्कृतं रसं खलभागं । गब्भे आहारेदि णिर्च्च नित्यं गर्भस्थो भुंक्ते । समंता समंतात् । उवरिं उपरि । थिप्पंतगं विगलद्बिंदुकं एतेनाध्नर समाहरतीति ज्ञायते ॥

मूलारा— वमियं इति— वमियं अन्तश्छर्दितं । वादविओजिदरसक्खलं वायुपृथक्कृतरसखलभागं । आहरदि भुंक्ते गर्भस्थो मनुष्यः । समंतो समंततः । सर्वांगैरित्यर्थः ॥ थिप्पंतगं विगलद्बिंदुकं । एतेनान्नरसमाहरतीति ज्ञायते । उक्तं च—

अंधसो मातृभुक्तस्य श्लेष्ममिश्रस्य पिच्छिलं ॥

चूर्णितस्य भृशं दंतैः पित्तसंगमुपेयुषः ॥

अमेध्यसदृशं वांतं समीरेण पृथक्कृतं ॥

ऊर्ध्वं कटुकमश्नाति विगलंतमसौ रसं ॥

अर्थ—वांति और विष्ठाके समान, वातसे जिसका रसभाग और खलभाग अलग किया गया है ऐसे आहारका ऊपरसे और चारों तरफसे एक एक बिंदु जब गिरने लगता है तब वह गर्भस्थ जीव उसको नित्य ग्रहण करता है. जबतक शरीरमें नाभि उत्पन्न नहीं होती है तब तक वह जीव चारों तरफसे मातृभुक्त आहार शरीरके द्वारा ग्रहण करता है.

तो सत्तमम्मि मासे उप्पलणालसरिसी हवइ णाही ॥
तत्तो पाए वमियं तं आहारेदि णाहीए ॥ १०१७ ॥

ततोऽस्ति सप्तमे मासे नाभी ह्युत्पलनालवत् ॥
ततो नाभ्या तया वान्तं तदादत्ते स गर्भगः ॥ १०४४ ॥

विजयोदया—तेषां मासानां रत्तं सत्तमम्मि मासे रक्तं सप्तममासे । उप्पलणालसरिसी नाही हवइ उत्पलनालसदृशीनाभिर्भवति ततो नाभिनिष्पत्त्युत्तरकालं । वमिगं तं आहारेदि णाभीए वांतमाहारयति नाभ्या ॥

मूलारा—तो सत्तम इति—तत्तो पाए ततः प्रभृतिः ॥

अर्थ—सातवे महिनेमें शरीरमें कमलके डंठलके समान दीर्घ नाल पैदा होता है. तबसे यह जीव माताका खाया हुआ आहार दीर्घनालसे ग्रहण करने लगता है.

वमियं व अमेज्झं वा आहारिदं स किं पि ससमक्खं ॥
होदि हु विहिंसणिज्जो जदि वि य णीयल्लओ होज्ज ॥ १०१८ ॥

अमेध्यं भक्षयन्नेकं मासं दृष्टो जुगुप्स्यते ॥
निजोपि न कथं गर्भे मासान्नवदशानसौ ॥ १०४५ ॥

इत्यंधः ॥

विजयोदया—वमिगं व अमिज्झं वा वांतममेध्यं वा । आहारिदं वा भुक्तवान् । स किं पि सकृदपि एकवारं । ससमक्खं सप्रत्यक्षं । होदि खु विहिंसणिज्जं भवति जुगुप्सनीयो । यदि वि य णीयल्लिओ होज्ज । यद्यपि बंधुर्भवेत् ॥

मूलारा—वमियतिति—आहारिदवं भुक्तवान् । स किंपि एकवारमपि ।

अर्थ—कोई मनुष्य अपने सामने वांति और विष्ठाको यदि खागया तो उसको देखकर मनमें ग्लानि पैदा होती है. यदि वह मनुष्य अपना संबंधी भी हो तो भी ग्लानि उत्पन्न हुए विना नहीं रहेगी.

किह पुण णवदसमासे आहारेदूण तं णरो वमियं ॥
होज्ज ण विहिंसणिज्जो जदि वि य णीयल्लओ होज्ज ॥ १०१९ ॥

विजयोदया—स्पष्टोत्तरा गाथा। आहारगदं सम्मत्तं ॥ आहारो निरूपितः ॥

मूलारा—किहेति—आहारेदूण भुक्त्वा ॥ आहारः ॥ ५ ॥

अर्थ—पुनः जो नउ दस महिने तक वांति खाकर वृद्धिगत हुआ है वह अपना संबंधी भी हो तो भी यह ग्लानिका पात्र क्यों न होगा? यह आहार का प्रकरण समाप्त हुआ.

जन्मनिरूपणायोत्तरा गाथा—

अशुचिं अपेच्छणिज्जं दुग्गंधं मुत्तसोणियदुवारं ॥
वोत्तुं पि लज्जणिज्जं पोट्टमुहं जम्मभूमी से ॥ १०२० ॥

शोणितमूत्रवद्वारं दुर्गंधं जठराननं ॥
अवाच्यजन्मभूतस्य लज्जनीयमशौचकम् ॥ १०४६ ॥

विजयोदया—असुचिं, असुचि । अपेच्छणिज्जं अप्रेक्षणीयं । दुग्गंधं दुर्गंधं । मुत्तसोणियदुवारं मूत्रस्य शोणितस्य च द्वारं । वोत्तुं पि लज्जणिज्जं वक्तुमपि स्वनाम्ना लज्जनीयं । पोट्टमुहं उदरमुखं वरांगं । जम्मभूमी से जन्मभूमिस्तस्य ॥

मूलारा—असुचिमिति—अपेच्छणीयं अद्रष्टव्यं । वोत्तुं पि कथयितुमपि प्रसिद्धनाम्ना । पोट्टमुहं उदरमुखं योनिरित्यर्थः । से तस्य नरस्य नरदेहस्य वा ।

अर्थ—प्राणी की जन्मभूमि जिसको उदरका मुख कहते हैं वह अपवित्र है, देखने लायक नहीं है, वह दुर्गंधयुक्त और मूत्र तथा रक्त वहनेका द्वार है. उसका नाम लेकर वर्णन करनेसे लज्जा उत्पन्न होती है.

जदि दाव विहिंसिज्जइ वत्थीए मुहं परस्स आलद्धुं ॥
कह सो विहिंसणिज्जो ण होज्ज सह्लीढपोट्टमुहो ॥ १०२१ ॥

परो बस्तिमुखस्पर्शी महद्भिर्निंद्यते यदि ॥
उदरद्वारसंस्पर्शी विनिंद्यो न तदा कथम् ॥१०४७

इति जन्म।

विजयोदया—जदि दाव विहिंसज्जदि यदि तावज्जुगुप्स्यते । वत्थीए मुहं वस्तिमुखं । परस्स आलद्धुं परस्य द्रष्टुं । किध सो विहिंसणिज्जो ण होज्ज कथमसौ न जुगुप्सनीयो भवेत् । लद्धीढयोट्ठमुद्धो आस्वादितवरांग. ॥

मूलारा—जदिदा इति । वत्थीए मुहं वस्तिमुखं, अपानं योनिं वा । आलद्धुं स्प्रष्टुं प्रवृत्तः । लद्धीढ समास्वादितं ॥ जन्म ॥

अर्थ—ऐसे अपवित्र योनीको देखनेवाला मनुष्य ग्लानिका विषय होता है तो जो इस अवयवका आस्वाद लेता है वह क्यों न ग्लानिका विषय न होगा ?

जन्मवृद्धिं निरूपयति—

बालो विहिंसणिज्जाणि कुणदि तह चेव लज्जणिज्जाणि ॥
मेज्झामेज्झं कज्जाकज्जं किंचिवि अयाणंतो ॥ १०२२ ॥

निंद्यानि लज्जनीयानि कर्माणि कुरुते शिशुः ॥
कृत्याकृत्यमजानानो सेव्यासेव्यं च मूढधीः ॥ १०४८ ॥

विजयोदया—बालो विहिंसणिज्जाणि कुणदि बालो जुगुप्सनीयानि कर्माणि कुरुते । तथा चेव लज्जणिज्जाणि तथा चैव लज्जनीयानि । मेज्झामेज्झं शुच्यशुचि च । कज्जाकज्जं किं चि वि अयाणंतो कार्याकार्यं किंचिदप्यजानन् ॥

मूलारा—बालो इति—कुणदि कर्माणि इति शेषः । किंचिवि किंचिदपि ।

जन्म वृद्धिका निवेचन करते हैं—

अर्थ—यह बालक ग्लानि उत्पन्न करनेवाले कार्य करता है, तथा जिससे लज्जित होना पडेगा ऐसे भी कार्य करता है. यह कार्य उत्तम है अथवा यह कार्य अयोग्य है इसका उसको थोडासा भी ज्ञान नहीं रहता है.

अण्णस्स अप्पणो वा सिंहाणयखेलमुत्तपुरिसाणि ॥
चम्मट्ठिवसापूयादीणि य तुंडे सगे छुभदि ॥ १०२३ ॥

स चर्मपूयमांसास्थिवर्चोमूत्रकफादिकं ॥
स्वस्यापरस्य वा वक्त्रे क्षिपते विगतत्रपः ॥ १०४९ ॥

विजयोदया—अण्णस्स अप्पणो वा अन्यस्यात्मनो वा। सिंघाणगं श्लेष्माणं। मूत्रं, पुरीषं, चम्मट्ठिवसापूयाणि वा चर्म अस्थि वसां पूयादिकं वा। सगे तुंडे छुभदि आत्मीये मुखे क्षिपति॥

मूलारा—अण्णस्स इति—सिंघाणय श्लेष्मा। खेल थुक्कं। पुरिस पुरिषं। तुंडे मुखे।

अर्थ—दूसरेका अथवा अपना श्लेष्मा-कफ, मूत, विष्ठा, चर्म, हड्डी, वसा, पीब, अपने मुखमें डालता है. इस कार्य को करते समय उसको ग्लानि नहीं आती है.

जं किं चि खादि जं किं चि कुणदि जं किं चि जंपदि अलज्जो॥
जं किं चि जत्थ तत्थ व वोसरदि अयाणगो बालो॥ १०२४॥

यत्किंचित्कुरुते मूते बालः स्वादत्यलज्जितः॥
हदते विगतज्ञानः प्रदेशे यत्र तत्र वा॥ १०५०॥

विजयोदया—जं किं चि खादि, यत्किंचिदत्ति, यत्किंचित्करोति। यत्किंचिज्जल्पत्यलज्जः। जं किं चि जत्थ तत्थ वि यत्किंचिद्यत्र तत्र वा शुच्यशुचौ वा देशे। वोसरदि व्युत्सृजति। अजाणगो बालो अज्ञो बालः॥

मूलारा—जं इति—जं किंचि यत्किंचिद्भक्ष्यमभक्ष्यं वा। जत्थ तत्थ यत्र तत्र शुचावशुचौ वा प्रदेशे। वोसरदि मुंचति मूत्रपुरीषादिकं।

अर्थ—जो कुछ भी पदार्थ बालक खाता है, मनमें जो आया वह कार्य करता है; मुहमें जो आया वह बोलता है, जगह पवित्र हो अथवा अपवित्र हो वहां अज्ञ बालक मलमूत्रका विसर्जन करता है.

बालत्तणे कदं सव्वमेव जदि णाम संभरिज्ज तदो॥
अप्पाणम्मि वि गच्छे णिव्वेदं किं पुण परंमि॥ १०२५॥

बाले यदि कृतं कोऽपि कृत्यं संस्मरति स्वयम्॥
तदात्मन्यपि निर्वेदं यात्यन्यत्र न किं पुनः॥ १०५१॥

विजयोदया—बालत्तणे कदं बालत्वे कृतं। सर्वमेव यदि स्मरेत्ततः आत्मन्यपि गच्छेन्निर्वेदं किं पुनरन्यस्मिन्।
वुद्दि॥

मूलारा—बालत्तणे इति—संभरेज्ज स्मरेत्। अप्पाणम्मिवि आत्मन्यपि। गच्छे गच्छेत्। णिव्वेदं वैराग्यं। परदि स्त्रीशरीरादौ॥ वृद्धिः॥

अर्थ—मनुष्य बालपनमें जो जो कृत्य करता है उसकी यदि उस को स्मृति होगी तो वह अपनी भी ग्लानि करेगा फिर अन्य के विषयमें अर्थात् स्त्रीके शरीर वगैरह में उसको ग्लानि होगी इस विषयमें कहना ही क्या है?

कुणिमकुडी कुणिमेहिं य भरिदा कुणिमं च सवदि सव्वत्तो॥
ताणं व अमेज्झमयं अमेज्झभरिदं सरीरमिणं॥ १०२६॥

अमेध्यस्य कुटी गात्रममेध्येनैव पूरिता॥
अमेध्यं स्रवते छिद्रं अमेध्यमिव भाजनम्॥ १०५२॥

इति वृद्धिः।

विजयोदया—कुणिमकुडी कुथिता कुडी, कुणिमेहिं भरिदा कुथितैर्भरिता। कुणिमं च सवदि सव्वत्तो कुथितं सर्वतः स्रवति समंतात्। ताणं व अमेज्झमयं ताणमिव अमेज्झमयं अमेध्यमिव। अमेज्झभरिदं अमेध्यपूर्णं। सरीरमिमं शरीरमिदं॥

अवयवान्गाथाभिश्चतुर्दशभिर्व्याचक्षाणः प्रथममन्वयिनं निर्दिशति—

मूलारा—कुणिमेति कुणिमकुडी कुणिम कुथितं दुर्गंधं तन्मयगृहं। इमं इदं मानवीयं। एतां गाथां श्रीविजयाचार्यः पाश्चात्यसूत्रे पठति॥

अर्थ—यह शरीर दुर्गंध है, दुर्गंध वस्तुओंसे भरा है. इससे दुर्गंध स्वेद मूत्रादि पदार्थ निकलते रहते हैं. यह शरीर विष्ठासे भरी हुई तृणकी बनी झोपडीके समान दुर्गंध है.

वृद्धिक्रमं निरूप्य शरीरावयवानाचष्टे—

अट्ठीणि हुंति तिण्णि दु सदाणि भरिदाणि कुणिममज्जाए॥
सव्वम्मि चेव देहे संधीणि हवंति तावदिया॥ १०२७॥

शतानि त्रीणि संत्यस्थ्नां मज्जापूर्णानि विग्रहे ॥
संधीनामपि तावन्ति सन्ति सर्वत्र मानुषे ॥ १०५४ ॥

विजयोदया—अट्ठीणि हुंति तिण्णि हु सदाणि त्रिशतान्यस्थीनि । भरिदाणि कुणिममज्जाए पूर्णानि कुथितेन मज्जासंज्ञितेन । सव्वम्मि चेव देहम्मि सर्वस्मिन्नेव देहे शरीरे । संधीणि हवंति तावदिगा । संधिप्रमाणमपि त्रिशतमेव ॥

नृदेहावयवेयत्तावधारणार्थमुत्तरप्रबंधमाह—

मूलारा—अट्ठीणि इति—तावदिया त्रिशतप्रमाणाः ॥

शुद्धिके क्रमका निरूपण कर शरीरके आवयवोंका विवेचन करते हैं—

अर्थ—इस मनुष्यके देहमें तीनसे आस्थि हैं. वे दुर्गंध मज्जा नामक धातुसे भरी हुई हैं. और तीनसे ही संधि हैं.

ण्हारूण णवसदाइं सिरासदाणि य हवंति सत्तेव ॥
देहम्मि मंसपेसीण हुंति पंचेव य सदाणि ॥ १०२८ ॥

मांसपेशीशिरास्नायुशतान्यंगे यथाक्रमम् ॥
पंच सप्त नव प्राज्ञाः सर्वदापि प्रचक्षते ॥ १०५५ ॥

विजयोदया—ण्हारूण णवसदाई स्नायूनां नवशतानि । सिरासदाणि य भवंति सत्तेव सिराणां सप्तशतानि । देहम्मि मंसपेसीण हवंति पंचेव य सदानि पंचशतानि शरीरे मांसपेश्यः ॥

मूलारा—ण्हारूण इति—ण्हारूण स्नायूनां । छिरा शिराः ॥

अर्थ—देहमें नउसे स्नायु हैं. तथा सातसैं सिरा हैं और इस शरीरमें पांचसै मांसकी पेशिया हैं.

चत्तारि सिराजालाणि हुंति सोलस य कंडराणि तहा ॥
छच्चेव सिराकुच्चा देहे दो मंसरज्जू य ॥ १०२९ ॥

शिराजालानि चत्वारि कंडराणि च षोडश ॥
शिरामूलानि षट् चैव मांसरज्जुद्वयं तथा ॥ १०५६ ॥

विजयोदया—चत्तारि सिराजालाणि चत्वारि शिराजालानि शिरासंघाताः। सोलस य कंडराणि तहा। षोडश कंडरसंज्ञितानि। तथा छच्चेव सिराकुच्चा षडेव शिरामूलानि। देहे दो मंसरज्जू य शरीरे मांसरज्जूद्वयं॥

मूलारा—चत्तारि इति–सिराजालाणि शिरासंघाताः। कंडराओ रक्तपूर्णमहाशिराः। कंडराणि तहा इत्यपि पठन्ति। शिराकुचा शिरामूलानि। मंसरज्जू पृष्ठोदराश्रिते।

अर्थ—शिराओंके चार जाल हैं सोलह कंडरा हैं. छह सिराओंके मूल हैं. और देहमें दो मांसरज्जु हैं.

सत्त तयाओ कालेज्जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि॥
देहम्मि रोमकोडीण होंति सीदी सदसहस्सा॥ १०३०॥
कालेयकानि सप्तांगे त्वचः सप्त निवेदिताः॥
सर्वत्र कोटिलक्षाणामशीती रोमगोचरा॥ १०५७॥

विजयोदया—सत्त तयाओ सप्त त्वचः। कालेज्जगाणि सत्तेव होंति देहम्मि सप्तैव कालेयकानि देहे। देहम्मि रोमकोडीण होंति सीदीसदसहस्सा शरीरे रोमकोटीनां अशीतिशतसहस्राणि॥

मूलारा—सत्त तयाओ इति। तया त्वचः। कालेज्जयाणि कालेयकानि मांसखंडानि। असीदिं अशीतिं। सदसहस्सा लक्षाणि॥

अर्थ—इस शरीरमें सात त्वचा हैं. और सात कालेयक हैं और अस्सीलाख कोटि रोम हैं.

पक्कामयासयत्था य अंतगुंजाओ सोलस हवंति॥
कुणिमस्स आसया सत्त हुंति देहे मणुस्सस्स॥ १०३१॥
आमपक्काशयस्थानं षोडशैवांत्रपट्टयः॥
कुथितस्याश्रयाः सप्त शरीरे सन्ति मानुषे॥ १०५८॥

विजयोदया—पक्कामयासयत्था पक्काशये आमाशये अवस्थिता.। अंतगुंजाओ अंत्रपट्टयः। सोलस हवंति षोडशैव भवन्ति। कुणिमस्स आसया कुथितस्य आश्रया. सप्त भवन्ति देहे मनुजस्य॥

मूलारा—पक्कामगासयत्था इति–पक्कामगासयत्था पक्वाशये आमाशये च स्थिताः। अंतगुंजाओ अंत्रयष्टयः। कुणिमस्स कुथितस्य। आसया आश्रयाः॥

अर्थ– पक्वाशय और आमाशयमें सोलह आतें रहती हैं. मनुष्यके देहमें दुर्गंध मलके सात आशय हैं.

थूणाओ तिण्णि देहम्मि होंति सत्तुत्तरं च मम्मसदं ॥
णव होंति वणमुहाइं णिच्चं कुणिमं सवंताइं ॥ १०३२ ॥
नव संति व्रणास्यानि मुच्यमानानि कश्मलम् ॥
तिस्रः स्थूणाशतं देहे मर्मणां सप्तसंयुतं ॥ १०५९ ॥

विजयोदया—थूणाओ तिण्णि देहम्मि होंति स्थूणास्तिस्रो भवन्ति। देहे सत्तुत्तरं च मम्मसदं मर्मणां शतं सप्ताधिकं। णव होंति वणमुहाइं व्रणमुखानि नव भवंति। णिच्चं कुणिमं नित्यं कुथितं स्रवन्ति॥

मूलारा—थूणाओ इति। थूणाओ वातपित्तश्लेष्माण.। मम्मसदं मर्मशतं। सवंताइं स्रवंति स्रवंति संति।

अर्थ– इस देहमें तीन स्थूणा हैं. और एकसो सात मर्मस्थान हैं. और नउ व्रणमुख हैं जिससे नित्य दुर्गंध स्रवता है.

देहम्मि मच्छुलिंगं अंजलिमित्तं सयप्पमाणेण ॥
अंजलिमित्तो मेदो उज्जोवि य तत्तिओ चेव ॥ १०३३ ॥
शुक्रमस्तिष्कमेदांसि प्रत्येकं सूरयो विदुः ॥
स्वकीयांजलिमानानि मनुष्याणां कलेवरे ॥ १०६० ॥

विजयोदया—देहम्मि शरीरे। मच्छुलिंगं मस्तिष्कं अंजलिमित्तो सगप्पमाणेण स्वांजलिप्रमाणं परिच्छिन्नं। मेदोऽप्यंजलिप्रमाणं। ओजोपि तत्तिओ चेव। शुक्रमपि तावन्मात्रमेव॥

मूलारा—देहम्मि इति। मच्छुलिंगं मस्तिष्कं गुहियलीत्यर्थः। सगा स्वकीयं। ओजो शुक्रं। तत्तिओतावन्मात्रं
उक्तं च—शुक्रमस्तिष्कमेदांसि प्रत्येकं सूरयो विदुः॥
स्वकीयांजलिमानानि मनुष्याणां कलेवरे॥

अर्थ– इस देहमें मस्तिष्क एक अंजलिप्रमाण है. अर्थात् वह अपने अंजलिप्रमाण जानना. मेद और ओज अर्थात् शुक्र ये दोनों भी स्वांजलि प्रमाण समझने चाहिये.

तिण्णि य वसंजलीओ छच्चेव य अंजलीओ पित्तस्स ॥
सिंभो पित्तसमाणो लोहिदमद्धाढगं होदि ॥ १०३४ ॥

षडंजलिमितं पित्तं वसांजलित्रयप्रमा ॥
श्लेष्मा पित्तसमो रक्तमर्द्धाढकमितं मतम् ॥ १०६१ ॥

विजयोदया—तिण्णि य वसंजलीओ तिस्रो वसांजलयः । छच्चेव य अंजलीओ पित्तस्स षडंजलयः पित्तस्य । सिंभो पित्तसमाणो श्लेष्मा पित्तप्रमाणः । लोहिदमद्धाढगं होदि लोहितोऽप्यर्धाढकं भवति ॥

मूलारा—तिण्णि इति-वसंजलीओ वसाया अंजलयः । अद्धाढगं द्वात्रिंशत्पलमात्रं ।

अर्थ– वसा नामक धातु देहमें तीन अंजलिप्रमाण रहती है. पित्तका प्रमाण छह अंजुलि हैं. श्लेष्म अर्थात् कफका भी इतना ही प्रमाण है. रुधिरका प्रमाण आधा आढक है.

मुत्तं आढयमेत्तं उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा ॥
वीसं णहाणि दंता बत्तीसं होंति पगदीए ॥ १०३५ ॥

षट्प्रस्थप्रमितं वर्चो मूत्रमर्द्धाढकप्रमम् ॥
नखानां विंशतिर्दन्ता द्वात्रिंशत्प्रकृता मताः ॥ १०६२ ॥

विजयोदया-मुत्तं आढयमेत्तं मूत्रं आढकमात्रं । उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा षट्प्रस्थप्रमाण उच्चारः । वीसं णहाणि विंशतिसंख्या नखानां । दंता बत्तीसं होंति द्वात्रिंशद्भवन्ति दंताः । पगदीए प्रकृत्या ॥

मूलारा—मुत्तं इति । उच्चारस्स पुरीषस्य । छप्पच्छा षट्प्रस्थाः प्रस्थः षोडशपलानि । पगदीए प्रकृत्या अन्तर्दीपकमिदं ॥

अर्थ– मूत्र एक आढक प्रमाण है और उच्चार–विष्ठा यह छह प्रस्थ प्रमाण है. नख वीस रहते हैं और दांत बत्तीस होते हैं- स्वभावतः शरीरमें इन अवयवोंका प्रमाण कहा हैं.

किमिणो व वणो भरिदं सरीरं किमिकुलेहिं बहुगेहिं ॥
सव्वं देहं अप्फंदिदूण वादा ठिदा पंच ॥ १०३६ ॥

कायः कृमिकुलाकीर्णः कृमिणो वा व्रणोऽखिलः ॥
तं सर्वं सर्वतो व्याप्य स्थिताः पंच चरण्यंचः ॥ १०६३ ॥

विजयोदया—किमिणो व वणो संजातकिमिव्रणवत् । बहुगेहिं किमिकुलेहिं भरिदं सरीरमिति संबंधः । बहुभिः क्रिमीणां कुलैर्भरितं । सव्वं देहं अप्फंदिदूण वादा ठिदा पंच समस्तं शरीरं व्याप्य पंच वायवः स्थिताः ॥

मूलारा—किमिणो इति-किमिणो वणोव्व संजातक्रिमिर्व्रण इव । अप्फंदिदूण व्याप्य । पंच प्राणोदानव्यानसमानापानाः ॥

अर्थ– व्रण जैसा किमियोंसे भरा रहता है. वैसा यह देह भी सर्वत्र क्रिमियोंसे भरा है. इस देहको व्यापकर पांच वायु रहते हैं.

एवं सव्वे देहम्मि अवयवा कुणिमपुग्गला चेव ॥
एक्कं पि णत्थि अंगं पूयं सुचियं च जं होज्ज ॥ १०३७ ॥

इत्यंगेऽवयवाः सन्ति सर्वे कुथितपुद्गलाः ॥
नैकोऽप्यवयवस्तत्र पवित्रो विद्यते शुचिः १०३४ ॥

विजयोदया—एवं अनेन प्रकारेण । देहम्मि सव्वे अवयवा शरीराधाराः सर्वे अवयवाः । कुणिमपुग्गला चेव अशुभपुद्गला एव । एक्कं पि णत्थि अंगं एकोऽपि नास्त्यवयवः । जं पूयं सुचियं च होज्ज । योऽवयवः पूतः शुचिर्वा भवेत् ।

मूलारा—एवं इति-कुणिमपोग्गलाः कुथिताः पुद्गला येषां ते । पूयं पवित्रं । सुचियं शुद्धं मनोज्ञं वा ।

टीप—१ वायवः ।

अर्थ- ऊपर कहे प्रकारसे इस देहके सर्व अवयव अशुभ पुद्गलोंसे बने हैं. इसमें एक भी ऐसा अवयव नहीं दीखेगा जो अवयव पवित्र और शुचि हैं.

परिदड्ढसव्वचम्मं पंडुरगत्तं मुयंतवणरसियं ॥
सुट्ठु वि दइदं महिलं दट्ठुंपि णरो ण इच्छेज्ज ॥ १०३८ ॥
दग्धनिःशेषचर्माणं पांडुरांगीं गलद्रसां ॥
दिदृक्षतेऽपि नो कोऽपि वल्लभामपि वल्लभः ॥ १०६५ ॥

विजयोदया—परिदड्ढसव्वचम्मं परितो दग्धसर्वत्वक्पटलं। पंडुरगत्तं पांडुरगात्रं पांडुरतनुं। मुयंतवणरसियं विगलद्रसं। सुट्ठु वि दइदं महिलं प्रियतमामपि वनितां। दट्ठुंपि णरो ण इच्छेज्ज द्रष्टुमपि नरो न वांछति।

मूलारा—परिदड्ढ इति-सवतव्रणरसियं स्रवन्व्रणरसो यस्यास्तां स्रवद्व्रणरसिकां। सुट्ठुवि दइदं अतिवल्लभामपि ॥

अर्थ- जिसकी देहकी त्वचा अग्नीसे जल जानेसे सफेद दीख रही है. जिससे रस सदा झरता है. ऐसी स्त्री यदि पूर्वमें अतिशय प्रिय थी तो भी उसकी ऊपर लिखे प्रकार ग्लानि उत्पन्न करने वाली अवस्था देखकर मनुष्य उसको देखनेको भी चाहता नहीं.

जदि होज्ज मच्छियापत्तसरिसियाए तयाए णो थगिदं ॥
को णाम कुणिमभरियं सरीरमालद्धुमिच्छेज्ज ॥ १०३९ ॥
अभविष्यच्च चेद्गात्रं पिहितं सूक्ष्मया त्वचा ॥
को नामेदं तदास्प्रक्ष्यन्मक्षिकापत्रतुल्यया ॥ १०६६ ॥
इत्यंशाः ॥

विजयोदया—जदि होज्ज तयाए ण थगिदं यदि त्वचा न स्थगितं भवेत्। कीदृश्या मच्छियापत्तसरिसियाए मक्षिकापत्रसदृश्या। तदा को नाम इच्छेज्ज कुणिमभरिदं सरीरं को नाम वांछेत्? किं कुथितपूर्णं शरीरं। आलद्धुं स्प्रष्टुं ॥ सपययवाः ॥

मूलारा–जदि इति-मच्छियापत्तसरिसियाए मक्षिकापक्षतुल्यया । आलद्दुं स्प्रष्टुं आलिंगितुं वा । अवयवाः ॥

अर्थ– मक्खीके पंखके समान पतली त्वचासे यह शरीर यदि नहीं ढका होता तो दुर्गंध से भरे हुए इस शरीरको स्पर्श करनेकी किसको इच्छा होती ? अर्थात् कोई भी इसको छूना नहीं चाहता-

कण्णेसु कण्णगूधो जायदि अच्छीसु चिक्कणंसूणि ॥
णासागूधो सिंघाणयं च णासापुडेसु तहा ॥ १०५० ॥

कर्णयोः कर्णगूथोऽस्ति तथाक्ष्णोर्मलमश्रु च ॥
सिंघाणकादयो निंद्या नासिकापुटयोर्मलाः ॥ १०६७ ॥

विजयोदया—कण्णेसु कर्णयोः । कण्णगूधो कर्णगूथः । जायदि जायते । अच्छीसु अक्ष्णोः । चिक्कणंसूणि मलमश्रुबिंदवश्च । णासागूधो नासिकामलं सिंघाणगं च सिंघाणकं च णासापुडेसु नासापुटयोः ।

मूलारा–कण्णेसु-इति-कण्णेसु कर्णविवरयोः । कण्णगूधो कर्णोद्भवो मलः । चिक्क दूषिका । णासागूधो नासिकोद्भवो मलः । सिंघाणयं नासास्रावी श्लेष्मा ॥

अर्थ– कानमें कर्णगूथ अर्थात् कर्णमल पैदा होता है. आंखोमें नेत्रमल होता है. और आंसु उत्पन्न होते हैं. नाकमें घट्टमल और पतला मल उत्पन्न होता है.

खेलो पित्तो सिंभो वमिया जिब्भामलो य दंतमलो ॥
लाला जायदि तुंडम्मि मुत्तपुरिसं च सुक्कमिदरत्थे ॥ १०५१ ॥

लालानिष्ठीवनश्लेष्मपुरोगा विविधा मलाः ॥
जायंते सर्वदा वक्त्रे दंतकीटाकुलव्रणे ॥ १०६८ ॥
ये मेहगुदयोः सन्ति वर्चोमूत्रादयो मलाः ॥
न वक्तुमपि शक्यंते वीक्षितुं ते कथं पुनः ॥ १०६९ ॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथा—

सेदो जादि सिलेसो व चिक्कणो सव्वरोमकूवेसु ॥
जायंति जूवलिक्खा छप्पादियाओ य सेदेण ॥ १०४२ ॥

चिक्कणो रोमकूपेषु स्वेदः सर्वेषु सर्वतः ॥
यूकाः षट्पदिका लिक्षा जायंते सर्वदा ततः ॥ १०७० ॥

विजयोदया—सेदो जादि सेदो जायते । सिलेसो व चिक्कणो चर्मकारश्लेष्मवच्चिक्कणः । सव्वलोमकूवेसु सर्वलोमकूपेषु जायंति जायंते । जूका यूकाः । लिक्खा लिक्षाश्च । छप्पादिगाओ य चर्मयूकाश्च । सेदेण हेतुना स्वेदेन हेतुना । एतावता प्रबंधेन शरीरावयवा व्याख्याताः ॥

एवं देहस्यावयवान्प्रबंधेन व्याख्यायेदानीं तन्निर्गमव्याख्यानाय गाथाचतुष्टयमाह—

मूलारा—खेलो इति—इदरत्थे मेहनयोनिगुदयोः ।

मूलारा—सेदो इति । सेदो प्रस्वेदः । जादि प्रादुर्भवति । सिलेसो वा वज्रलेप इव । श्लेष्मेव वा । छप्पदिआओ षट्पदिकाश्चर्मयूकाः ॥

अर्थ—नाकका मल, थूक, पित्त, कफ, वमन, जिव्हाका मल, दन्तमल और लाला ये मल मुखमें उत्पन्न होते हैं. मूत्र, विष्ठा और वीर्य ये उदर में होतें हैं.

अर्थ—शरीरके संपूर्ण रोमरंध्रोंसे चम्हारके यहांके सचिक्कण पदार्थ के समान स्वेद निकलता है. इस स्वेदसे यूका, लिक्षा तथा चर्मयूका उत्पन्न होती हैं. यहांतक शरीरके अवयवोंका वर्णन किया है.

णिग्गमणं । निर्गमनव्याख्यानायाचष्टे—

विट्ठापुण्णो भिण्णो व घडो कुणिमं समंतदो गलइ ॥
पूदिगालो किमिणोव वणो पूदिं च वादि सदा ॥ १०४३ ॥

गात्रैर्मुंचति वर्चांसि विग्रहो निखिलैरपि ॥
गूथपूर्णो घटो गूथं छिद्रितो विवरैरिव ॥ १०७१ ॥

शुक्रैरवयवैः स्रोणां निचितैर्विविधैर्मलैः ॥
सारासारप्रदृष्टानां मानसं ह्रियते कथम् ॥ १०७२ ॥
लज्जनीयेऽतिबीभत्से मूढधी रमते कथम् ॥
योनौ क्लिन्ने स्रवद्रक्ते निंद्ये कृमिरिव व्रणे ॥ १०७३ ॥
अंगारस्येव कायस्य बहिरंतश्च दृश्यते ॥
नैकोऽप्यवयवः शुद्धः सर्वथा मलिनात्मनः ॥ १०७४ ॥

इति निर्गमः ।

विजयोदया—विट्ठापुण्णो विष्ठाभिः पूर्णः । भिण्णो व घडो भिन्नघट इव । कुणिमं कुथितं । समंतदो समंतात् । गलदि क्षरति । इंगालोव्वणो गलत्पूति निचितक्रिमिव्रणवत् । पूर्दि च वादि सदा दुरभिवाति सदा । णिग्गमणं सम्मत्तं ॥

एवं प्रत्यंगमलस्रावित्वमाख्याय देहस्य सामस्त्येन दुर्गंधोद्गारित्वं चाह—

मूलारा—विट्ठापुण्णो इवि-गलदि स्रवति देहः । पूर्दिगालो दुर्गंधोद्गारी । किमिणो क्रिमिनिचितः । वादि मुंचति देहः । एतां गाथां केचिदुत्तरत्र पठन्ति । निर्गमः ॥

अर्थ—विष्ठासे पूर्ण घडा जैसा चारों तरफसे दुर्गंधको स्रवता है. अथवा क्रिमिओंसे भरा हुआ व्रण सडकर जैसा गलने लगता है वैसा इस देहसे भी हमेशा दुर्गंध मलमूत्रादिक पदार्थोंका स्राव होता रहता है.

इंगालो धोवंतो ण सुज्झदि जह महापयत्तेण ॥
सव्वेहिं समुद्देहिंभि सुज्झदि देहो ण धुव्वंतो ॥ १०४४ ॥
सिण्हाणुब्भंगुव्वट्टणेहिं मुहदंतअच्छिधुवणेहिं ॥
णिच्चंपि धोवमाणो वादि सदा पूदियं देहो ॥ १०४५ ॥
कायो जलैः पयोधीनां धाव्यमानोऽखिलैरपि ॥
स्वभावमलिनो जातु नांगार इव शुध्यति ॥ १०७५ ॥

अभ्यंगोद्वर्तनस्नानमुखदंताक्षिधावनैः ॥
शश्वद्विशोध्यमानोऽपि दुर्गंधं वाति विग्रहः ॥ १०७६ ॥

विजयोदया—सिण्हाणुब्भंगुव्वट्टणेहिं य स्नानेन, अभ्यंगेन, उद्वर्तनेन । मुहदंतअच्छिधुवणेहिं मुखस्य दंतानामक्ष्णोश्च प्रक्षालनेन । णिच्चंपि धुव्वमाणो नित्यमपि क्रियमाणशौचः । वाति सदा पूदिगं देहो । दुरभिगंधतां न त्यजति देहः ॥

एवं निर्गमं व्याख्याय देहस्याशुचित्वं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूलारा—इंगालो इति-इंगालो अंगारः । धोव्वंतो धाव्यमानः, शोध्यमानः ॥

सिण्हाणेति—सिण्हाणब्भंगुव्वट्टणेहिं स्नानाभ्यंगोद्वर्तनैः । धुवणेहिं प्रक्षालनैः । पूदिगं दुरभिगंधं ॥

अर्थ—जैसे कोला प्रयत्नपूर्वक धोनेपर भी स्वच्छ अर्थात् सफेद रंगका नहीं होता है वह काला ही रहता है. वैसा यह देह संपूर्ण समुद्रके पानीसे धो डालने पर भी स्वच्छ-पवित्र नहीं होता है. अपवित्र ही रहता है. इस शरीरको स्नान, अभ्यंग स्नान, उबटन भी स्वच्छ नहीं कर सकते हैं. मुंह, दांत और आंखें बार बार धोने पर भी अशुद्ध ही बने रहते हैं. यह देह हमेशा दुर्गंधताको बाहर छोडता ही रहता है.

पाहाणधादुअंजणपुढवितयाछल्लिवल्लिमूलेहिं ॥
मुहकेसवासतंबोलगंधमल्लेहिं धूवेहिं ॥ १०४६ ॥

मृत्तिकांजनपाषाणधातुत्वङ्मूलवल्लिभिः ॥
केशास्यवासतांबूलधूपपुष्पदलादिभिः ॥ १०७७ ॥

विजयोदया—पाहाणधादुअंजणपुढवितयाछल्लिवल्लिमूलेहिं । पाषाणशब्देन रत्नान्युच्यंते । धातुर्जलं । अंजणं अंजनं सौवीरं च । पुढवी मृत्तिका । तया त्वक् । मुखवासः । मुखं वास्यते सुगंधतां नीयते येनासौ मुखवासः । केशाः सुरभितां नीयंते येनासौ केशवासः, एतैः पाषाणादिभि. ॥

यद्येवं अत्यंताप्रतिविधेयदौर्गंध्यः कायस्तत्कथं लोकैः सेव्यते इत्यत्र गाथाद्वयमाह—

मूलारा—पासाणे इति-पासाण रत्नानि । धादु हेमादिकं जलं वा । अंजण सौवीरकज्जलादि । पुढवि खटिकादि । तया मध्यत्वक् । छल्लि बाह्यवल्कलं । मुहकेसवासा वास्यंते सुरभीक्रियंते मुखं केशाश्च येनासौ । गंध कस्तूरिकादि । मल्लं पुष्पमाला ।

अर्थ—पाषाण शब्दसे रत्न यह अर्थ लेना चाहिये. धातुका अर्थ जल ऐसा होता है. अथवा सुवर्णादिकको धातु कहते हैं. अंजन, मृत्तिका त्वचा, मुख सुगंधित करने वाले पदार्थ, केशको सुगंधित करने वाले पदार्थ, अर्थात् रत्न, सुवर्णादि धातु, अंजन, मृत्तिका, वनस्पतिओंकी छाल, मुख और केशोंको सुगंधित करनेवाले पदार्थ, तांबूल, पुष्पमाला, इत्र, इन पदार्थोंसे—

अभिभूददुब्भिगंधं परिभुज्जदि मोहिएहिं परदेहं ॥
परिभुज्जदि पूइयमं संजुत्तं जह कडुगभंडेण ॥ १०४७ ॥

प्रच्छाद्य निंदितं गंधं भुज्यतेऽन्यकलेवरम् ॥
हिंग्वादिभिरिव द्रव्यैः पिशितं विघृणात्मभिः ॥ १०७८ ॥

विजयोदया—अभिभूददुब्भिगंधो निरस्ताशुभगंधः । परदेहं संजुत्तं परस्य देहः संयुक्तः । मोहिदेहिं मूढैः । परिभुज्यते । परिभुज्जदि पूइयमं मांसं यथा युक्तं संस्कृतं । कडुगभंडेण मरिचैर्हिंग्वादिभिश्च ॥

मूलारा—अभिभूयेति—अभिभूय निरस्य । दुब्भिगंधं दुस्सहविरुद्धगंधं । उपलक्षणाद्बीभत्सभावं च । रमणीयभावापादनार्थः । अभिभूददुब्भिगंधो इति वा पाठः । कडुगभंडेहिं मरिचहिंग्वादिभिः । अशुचित्वं ॥

अर्थ—इन पदार्थोंसे जिसका दुर्गंध दूर किया है ऐसा परकीय देह मोहित लोगोंके द्वारा भोगा जाता है. जैसा अपवित्र, दुर्गंध मांसको हिंग, जीरा, मिरच वगैरे पदार्थोंसे छोंक देकर जैसे मांसलुब्ध लोक खाते हैं वैसे परकीय देहका कामी लोक उपभोग लेते हैं.

अब्भंगादीहिं विणा सभावदो चेव जदि सरीरमिमं ॥
सोभेज्ज मोरदेहुव्व होज्ज तो णाम से सोभा ॥ १०४८ ॥

मयूरदेहवद्देहो यद्यभास्यन्निसर्गतः ॥
अभविष्यत्तदा शोभा तस्मिन्नीक्षणतोषिणी ॥ १०७९ ॥

१०८३ विजयोदया—अब्भंगादीहिं विणा सुगंधतैलेन म्रक्षणं, उद्वर्तनं, स्नानमालेपनमित्यादिभिर्विना । सभावदो चेव

यदि सोभेज्ज इमं शरीरं सभावत एव यदि शोभेत इदं शरीरं। मोरदेहुव्व मयूरदेहवत्। होज्ज तो णाम से सोभा भवेत्तत् स्फुटं देहस्य शोभा॥

एवमशुचित्वं प्रपंच्य देहस्यासारताप्रेक्षणार्थं गाथाचतुष्टयमाचष्टे—

मूलारा—अब्भंगादीहिं इति—इमं माणुषं। णाम स्फुटं॥

अर्थ—सुगंध तेल लगाकर स्नान करना, उबटन लगाना, स्नान करना, लेप करना इत्यादिकाकी अपेक्षा के विनाही मयूर देहके समान यह देह स्वभावतः सुंदर होता तो ही मनुष्यदेह सुंदर है ऐसा कह सकते. परंतु बाह्य पदार्थोंके विना सुंदरता आती नहीं है.

जदि दा विहिंसदि णरो आलद्धुं पडिदमप्पणो खेलं॥
कध दा णिपिवेज्ज बुधो महिलामुहजायकुणिमजलं॥ १०४९॥

आत्मनः पतितो खेलो यदि स्प्रष्टुं घृणायते॥
तदा रामामुखांभो हि पीयते कुथितं कथम्॥ १०८०॥

विजयोदया—जदि दा विहिंसदि णरो आलध्दुं पडिदमप्पणो खेलं यदि तावन्नरो जुगुप्सते स्प्रष्टुमात्मनोऽपि कासं। कधदा णिपिवेज्ज बुधो कथमिदानीं पिबेद्बुधः महिलामुहजणिदकुणिमजलं युवतिमुखसमुद्भवमशुचिजलं॥

मूलारा—जदिदा इति-दाणि इदानीं। पिवेज्ज पिबेत्। कुणिमजलं अशुच्यंभः। लालामित्यर्थः॥

अर्थ—मनुष्य यदि अपने भी थूकको स्पर्श करनेमें ग्लानि उत्पन्न करता है अर्थात् अपना थूक, कफ वगैरह को वह हाथसे स्पर्श करना भी चाहता नहीं तो यह बुद्धिमान मनुष्य स्त्रीके मुहमें उत्पन्न हुआ अपवित्र जल कैसे पीता है. कुछ मालुम नहीं पडता.?

अंतो बहिं च मज्झे व कोइ सारो सरीरगो णत्थि॥
एरंडगो व देहो णिस्सारो सव्वहिं चेव॥ १०५०॥

वीक्ष्यमाणे मनुष्याणां बहिरंतश्च वीक्ष्यते॥
एरंडदंडवद्देहो न सारोऽत्र कदाचन॥ १०८१॥

विजयोदया—अंतो बहिं च मज्झे अंतर्बहिर्मध्ये। को वि सारो सरीरगो णत्थि। शरीरेऽङ्के सारभूतं न किंचिदस्ति। एरंडको वा णिस्सारो सव्वहिं चेव साररहितः सर्वत्र चैव ॥

मूलारा—अंतो बहिं च इति–मज्झे अंतराले। सारो सेव्यं रूपं। सव्वहिं सर्वत्र।

अर्थ—अंतमें, बाहर और मध्यमें भी इस देहमें कुछ भी सार वस्तु नहीं मिलेगी जैसे एरंडकी लकडी सर्व तरहसे सारहीन होती है वैसे इस देहमें सारका नाम भी नहीं मिलेगा.

चमरीवालं खग्गिविसाणं गयदंतसप्पमणिगादी ॥
दिट्ठो सारो ण य अत्थि कोइ सारो मणुस्सदेहम्मि ॥ १०५१ ॥

चमरीणां कचं क्षीरं गवां शृङ्गाणि खड्गिनां ॥
भुजंगानां मणिः पिच्छं बर्हिणां करिणां रदः ॥ १०८२ ॥

विजयोदया—चमरीवालं चमरीरोमाणि। खग्गिविसाणं खड्गिनां मृगाणां विषाणं। गजानां दंताः। सर्पाणां रत्नादिकं च। दृष्टं सारभूतं। ण य अत्थि कोइ सारो मणुस्सदेहम्मि नास्ति किंचित्सारं मनुष्यदेहे ॥

छगलं मुत्तं दुद्धं गोणीए रोयणा य गोणस्स ॥
सुचिया दिट्ठा ण य अत्थि किंचि सुचि मणुयदेहस्स ॥ १०५२ ॥

कस्तूरिका कुरंगाणामित्थं सारो विलोक्यते ॥
शरीरे न पुनर्नॄणां कोऽपि क्वापि कदाचन ॥ १०८३ ॥

विजयोदया—असुइ ॥

मूलारा—चमरी इति–चमरीवाला अरण्यगवीपुच्छकेशाः। खग्गिविसाणं गंडकशृंगं। मणिगादी आदिशब्देन मयूरबर्हमृगकस्तूरिकादिकं। यत्र संस्कृतटीकाकारः कण्णेसु कण्णगूथो इत्यादिगाथात्रयं पूर्वसूत्रे पठित्वा 'विट्ठापुण्णो' इत्यादि गाथानवकं निर्गमव्याख्यानमकार्षीत्। असुचीति च बीजादिभिरष्टाभिरपि समवधनात्। एवं च सति द्वादशसूत्री तेन नेष्टा ज्ञायते। अस्माभिस्तु प्राकृतटीकाकारादिमतेनैव व्याख्यायते। अन्ये त्वसारत्वप्रेक्षणमाशौचान्तर्गमयन्ति ॥ १०८५

तथा च तत्पाठः—ज्ञेयानि बीजनिष्पत्तिक्षेत्राधोजन्मवृद्धिभिः।

सहांशनिर्गमाशौचव्याध्याभ्रौव्याणि विम्रहे ॥ असारत्वप्रेक्षणं ॥

अर्थ—चमरी नामक गौके केस, गेंडेका सींग, हाथीके दांत, सर्पके मस्तकका मणि आदि शब्दसे मोरका पंख, कस्तुरी वगैरह पदार्थोंमें सार अर्थात् उत्कृष्टता—पवित्रता देखी गई है परंतु इस मनुष्यदेहमें कुछ सार नहीं दीखता है.

अर्थ—बकरेका मूत, गायका दूध और गाय और बैलकी गोरोचना ये पदार्थ पवित्र है. परंतु मनुष्य देहमें कुछभी पवित्र चीज अवलोकनेमें नहीं आवेगी. अशुचि प्रकरण समाप्त हुआ.

व्याधि इत्येतद्याचष्टे प्रबंधेनोत्तरेण—

वाइयपित्तियसिंभियरोगा तण्हा छुहा समादी य ॥
णिच्चं तवंति देहं अद्दहिदजलं'व जह अग्गी ॥ १०५३ ॥

कुथितसद्मानि वा कुथितैःकृते कृमिकुलैर्विविधैरभितो भृते ॥
शुचि नृणां सकलाशुचिमंदिरे भवति किंचन नात्र कलेवरे ॥ १०८४ ॥

इति अशौचं ।

विजयोदया—वाइयपत्तियसिंभियरोगा दोषत्रयप्रभवा व्याधयः । तृष्णाक्षुधाश्रम इत्यादयश्च । देहं नित्यं तपंति ज्वलितोऽग्निर्जलमिव चुल्ल्युपरिस्थितभाजनगतं ॥

देहव्याधिनिरूपणार्थं गाथात्रयमाह—

मूलारा—वादिय इति-वादिय पित्तिय सेंभिय वातादिभिः पृथक् मिश्रैः समस्तैश्च जनिता ज्वरादयो व्याधयः। समादीय श्रमादयश्च । तवेंति तापयंति । अद्दहिदजलं चुल्ल्युपरिस्थापितभाजनगतं तोयं ॥

अर्थ—वातजन्य रोग, पित्तके रोग और कफसे होनेवाले रोग, प्यास भूक, और श्रम इत्यादिकोंसे अग्निके द्वारा जैसा जल तप जाता है वैसा यह देह संतप्त होता है.

जदि रोगा एक्कम्मि चेव अच्छिम्मि होंति छण्णउदी ॥
सव्वम्मि दाइं देहे होदव्वं कदिहिं रोगेहिं ॥ १०५४ ॥

१०८६

यदि षण्णवति रोगाः संभवंति विलोचने ॥
कियंतस्ते तदा नृणां सर्वत्रापि कलेवरे ॥ १०८५ ॥
कोटाः पंचाष्टषष्टीश्च लक्षाः सह सहस्रकैः ॥
नवभिर्नवतिः पंचशत्याशीतिश्चतुर्युता ॥ १०८६ ॥

विजयोदया—जदि रोगा एक्कम्मि चेव अच्छिम्मि यदि तावद्रोगा एकस्मिन्नेव नेत्रे षण्णवतिसंख्या भवन्ति। सव्वम्मि दाई देहे समस्ते इदानीं शरीरे। होदव्व कदिहिं रोगेहिं। कतिभिर्व्याधिभिर्भवितव्यम् ॥ चाधिगदं ॥

मूलारा—जदि दाइ इति-छण्णउदी षण्णवतिः। दाई इदानीं।

पचेव य कोडीओ भवति तह अट्ठसट्ठिलक्खाई ॥
णव णउदिं च सहस्सा पंचसदा होंति चुलसीदी ॥

अर्थ—यदि एक आंखमें रोग छानवे उत्पन्न होते हैं तो सम्पूर्ण देहमें कितने व्याधि होंगे. अर्थात् सपूर्ण देहमें असंख्यात होंगे. व्याधिका प्रकरण समाप्त.

अध्रुवतामुसरया गाथया व्याचष्टे—

पीणत्थणिंदुवदणा जा पुव्वं णयणदइदिया आसे ॥
सा चेव होदि संकुडिदंगी विरसा य परिजुण्णा ॥ १०५५ ॥

पीनस्तनीन्दुवक्त्रा या तारुण्ये हरते मनः ॥
अप्रिया जायते जीर्णा सेक्षुयष्टिरिवारसा ॥ १०८७ ॥

विजयोदया—पीणत्थणिंदुवदणा पीनस्तनभागासंपूर्णचंद्रानना। जा पुव्वं या पूर्वं। णयणदयिदिया नयनवल्लभा जाता। सा चेव होदि संकुडिदंगी सैव भवति संकुटिततनुः। विरसा कामरसरहिता। परिजुण्णा परितो, जीर्णा जरत्कुटीव ॥

अध्रुवत्वख्यापनार्थं गाथाः पंचदश आह—

मूलारा—पीणत्थणेति-पीणत्थणवयणंगी पीनस्तनभागसंपूर्णचंद्रानना। णयणदइदिया नेत्रप्रिया। आसी जाता। विरसा कामरसरहिता।

अर्थ—जिसके स्तन पुष्ट थे और मुखचंद्रके साथ स्पर्द्धा करता था, जो पूर्वमें नेत्रोंको अतिशय आनंद दायिनी थी, वही स्त्री संकुचित शरीरवाली अर्थात् रसहीन, और जीर्ण झोपडीके समान चारो तरफसे जीर्ण होती है.

जा सव्वसुंदरंगी सविलासा पढमजोव्वणे कंता ॥
सा चेव मदा संती होदि हु विरसा य बीभच्छा ॥ १०५६ ॥
या यौवने प्रिया कांता सर्वावयवसुंदरी ॥
दुर्गंधा कुथिता साऽस्ति बीभत्सा विरसा मृता ॥ १०८८ ॥

विजयोदया—जा सव्वसुंदरंगी यस्याः सर्वाणि अंगानि सुंदराणि । सविलासा विलाससहिता । पढमजोव्वणा प्रथमयौवना । कंता कांता । सा चेव मदा संती सैव मृता सती । होदि हु विरसा भवति विरसा । बीभच्छा जुगुप्सनीया ॥

मूलारा—जा सव्वेति—मदा सती मृता सती । बीभच्छा जुगुप्सनीया ।

अर्थ—जिसके सर्व अवयव सुंदर, विलाससहित, और प्रथम तारुण्यसे युक्त थे वही स्त्री मरनेपर विरस और ग्लानि करने योग्य होती है. अर्थात् शरीरकी सुंदरता दृढता वगैरे गुण अस्थिर हैं ऐसा इन दो गाथाओंसे आचार्यने दिखाया है.

शरीरसंपदो ध्रुवता व्याख्याता गाथाद्वयेन । दंपत्योः संयोगस्याध्रुवतां व्याचष्टे—

मरदि सयं वा पुव्वं सा वा पुव्वं मदिज्ज से कंता ॥
जीवंतस्स व सा जीवंती हरिज्ज बलिएहिं ॥ १०५७ ॥
म्रियते वल्लभा पूर्वं स्वयं वा म्रियते पुरा ॥
जीवंती जीवतो वाऽन्यैर्ह्रियते बलिभिर्बलात् ॥ १०८९ ॥

विजयोदया—मरदि सयं वा पुव्वं म्रियते स्वयं वा पूर्वं पुमान् । सा वा पूर्वं म्रियेत । से तस्य पुनः कान्ता । जीवन्तस्स जीवतो वा सा जीवन्ती ह्रियते बलिगेहिं बलिभिरपरैः । इत्थं संयोगस्य बहुधाऽनित्यता ॥

एवं शरीरसंपदध्रुवत्वं व्याख्याय दंपत्योः संयोगाध्रुवत्वं व्याचष्टे—

मूलारा—मरदि इति-मरदि स्वयं म्रियते स्वयं पुमान् ।

अर्थ—पति, पत्नीके प्रथम आयु नष्ट होनेसे मरता है अथवा उसकी स्त्री मर जाती है. अथवा पति जीता रहतेहि बलवान लोग स्त्रीको हरण कर ले जाते हैं.

सा वा हवे विरत्ता महिला अण्णेण सह पलाएज्ज ॥
अपलायंती व तगी करिज्ज से वेमणस्साणि ॥ १०५८ ॥
विरज्यते स्वयं तस्याः सा वा तस्य विरज्यते ॥
परेण वा समायाति तिष्ठंती वा विरुध्यते ॥ १०९० ॥

विजयोदया—सा वा होज्ज विरत्ता सा भवेद्विरक्ता पुरुषे तथापि तयोः संगतिः । महिला अण्णेण वा सह पलाएज्ज सा विरक्ता युवतिरन्येन वा सह पलायनं कुर्यात् । अपलायन्ती अपलायमाना वा । तगी सा । करेज्ज से वेमणस्साणि कुर्यात्सचेतोदुःखानि ॥

मूलारा—सा वा इति-पलाएज्ज गच्छेत् । तगी सा । वेमणस्साणि चित्तदुःखानि ॥

अर्थ—अथवा वह स्त्री अपने पतीसे असंतुष्ट होकर अन्य पुरुषके साथ भाग जायगी, अथवा विरक्त होकर वे दोनो एक साथ रहेंगे तथापि वह स्त्री पतिके मन को दुःख देती रहेगी. अर्थात् प्रतिकूल विचार, आचार और भाषण से वह पतिको दुःख देनेवाली होगी.

शरीरस्याध्रुवतामाचष्टे—

रूवाणि कट्ठकम्मादियाणि चिट्ठंति सारवेंतस्स ॥
धणिदं पि सारवेन्तस्स ठादि ण चिरं सरीरमिदं ॥ १०५९ ॥
चिरं तिष्ठति संस्कारे काष्ठग्रावादिरूपकम् ॥
कलेवरं मनुष्याणां न संस्कारे महत्यपि ॥ १०९१ ॥

विजयोदया—रूपाणि कट्ठकम्मादियाणि काष्ठे उत्कीर्णानि रूपाणि स्त्रीणां पुंसां अन्येषां च आदिशब्देन शिलादंतादिपरिग्रहश्चिरं चिठ्ठंति सारवेंतस्स चिरं तिष्ठंति संस्कुर्वतः। धणिदं पि सारवेंतस्स नितरामपि संस्कुर्वतः। ठादि ण चिरं शरीरमिमं न तिष्ठति चिरं शरीरमिदं॥

देहाध्रुवत्वमाह—

मूलारा— रूवाइं इति–सारवेंतस्स संस्कुर्वतः।

शरीरकी अनित्यताका विवेचन—

अर्थ—लकडी, पत्थर, हस्तिदंत इत्यादिकोंसे बनाये हुए स्त्रीपुरुषोंके चित्र और अन्य प्राणिओंके चित्र संस्कार करनेसे बहुत काल तक रहते हैं परंतु इस देहपर व्यायाम, अन्नादिकोंके द्वारा कितना भी संस्कार करो चिरकालतक ठहरता नहीं.

न केवलं शरीरमेव अनित्यमपि त्वन्यदपि इति व्याचष्टे—

मेघहिमफेणउक्कासंझाजलबुब्बुदो व मणुगाणं ॥
इंदियजोव्वणमदिरूवतेयबलवीरियमणिच्चं ॥ १०६० ॥

यौवनेंद्रियलावण्यतेजोरूपबलादयः ॥
गुणाः क्षणेन नश्यंति शारदा इव नीरदाः ॥ १०९२ ॥

विजयोदया—मेघहिमफेणउक्कासंझाजलबुब्बुदोध् मेघवद्धिमवत्फेनवदुल्कावत्संध्यावज्जलबुद्बुदवच्च। मणुयाणं मनुजानां। इंदियजोव्वणमदिरूवतेजबलवीरियमणिच्चं। इंद्रियाणि, यौवनं, मतिः, रूपं, तेजो, बलं, वीर्यं, चानित्यं॥

न परं शरीरमेवानित्य अपि तु अपरमपीत्याह—

मूलारा—मेघहि–स्पष्टम्।

अर्थ—मेघ, बर्फ, पानीका फेन, उल्का, संध्याकाल और पानीका बबूला इन के समान मनुष्योंकी इंद्रियां, तारुण्य, बुद्धि, रूप, तेज, बल, वीर्य ये भी अनित्य हैं. जब मनुष्यपर्याय ही अनित्य है तो उस पर्यायमें प्राप्त होनेवाली उपयुक्त चीजें कैसी स्थिर हो सकती हैं.

झटिति शरीरसंपद्व्यावर्तते इत्याख्यानकं दर्शयति—

साधुं पडिलाहेदुं गदस्स सुरयस्स अग्गमहिसीए ॥
णट्ठं सदीए अंगं कोढेण जहा मुहुत्तेण ॥ १०६१ ॥

गतस्याहारदानार्थं सुरतस्य तपस्विनः ॥
क्षणान्न किं महादेव्या नष्टः कुष्ठेन विग्रहः ॥ १०९३ ॥

विजयोदया—साधुं पडिलाहेदुं गदस्स साधोराहारदानार्थं गतस्य । सुरयस्स सुरतनामधेयस्य राज्ञः । अग्गमहिसीए अग्रमहिष्याः सदीए सत्याः शोभनायाः । अंगं णट्ठं शरीरं नष्टं । कोढेण कुष्ठेन । जहा मुहुत्तेण यथा मुहूर्तेन ॥

झटिति शरीरसंपद्व्यावर्तते इत्याख्यानकेन दर्शयति—

मूलारा— साधुं इति- साधुं पडिलभेदुं संयमिनं भोजयितुं । सुरदस्स सुरतनाम्नो राज्ञः । अग्गमहिसीए पट्टमहादेव्याः । सदीए शोभनायाः ।

अर्थ—सुरत राजाकी पट्टरानी बहुत ही सुंदर थी. एक समयमें राजा मुनीश्वरको आहार देनेके लिये गया था उस समय इधर रानीका शरीर अंतर्मुहूर्तमें कोढ रोगसे व्याप्त होगया. अभिप्राय यह है कि, जो रानीका शरीर अन्तर्मुहूर्तके पूर्वमें बडा ही सुंदर और राजाको अत्यंत प्रिय था वही अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर ही अत्यन्त विरूप हो गया. अतः शरीर परिवर्तनशील है यह बात इस उदाहरणसे स्पष्ट होती है.

वज्झो य णिज्जमाणो जह पियइ सुरं च खादि तंबोलं ॥
कालेण य णिज्जंता विसए सेवंति तह मूढा ॥ १०६२ ॥

हंतुमग्रे कृतो मूढो दुर्निवारेण मृत्युना ॥
सेवते विषयं वध्यः पाणेनेव सुरादिकम् ॥ १०९४ ॥

विजयोदया—वज्झो य णीयमाणो हन्तुं नीयमानः । जह पियइ यथा सुरां पिबति । खादि तंबोलं तांबूलं भक्षयति । तथा कालेण य णिज्जंता मृत्युना नीयमाना मूढाः । विसए सेवंति विषयाननुभवन्ति ॥

मूलारा—वज्झो इति-चौर्यापराधेन वधार्हः पुमान् । पणिज्जमाणो हंतुं नीयमानः श्वपचेन । कालेण परिज्जंतो मृत्युना नीयमानः । १०९१

उक्तं च—हंतुमग्रे कृतो मूढो दुर्निवारेण मृत्युना ।
सेवते विषयं वध्यः पाणेनेव सुरादिकं ॥

अर्थ—वध करनेके लिये जिसको ले जा रहे हैं ऐसा कोई मूढ मनुष्य जैसे मदिरा पीकर तांबूल भक्षण करता है वैसे कालके द्वारा मारने के लिये ले जानेवाले मनुष्य भी मूढ हो कर विषयोंका सेवन करते हैं.

वग्घपरद्धो लग्गो मूले य जहा ससप्पबिलपडिदो ॥
पडिदमधुबिंदुभक्खणरदिओ मूलम्मि छिज्जंते ॥ १०६३ ॥

व्याघ्रेणाग्रे कृतो हंतुं बिले साऽजगरे गतः ॥
छिद्यमाने दृढं लग्नो मूले विविधमूषिकैः ॥ १०९५ ॥
अपश्यन्नग्रतो मृत्युं यथा कश्चन मूढधीः ॥
पतन्मधुकणास्वादे विधत्ते परमां रतिम् ॥ १०९६ ॥

विजयोदया—वग्घपरद्धो व्याघ्रेणाभिद्रुतः । लग्गो लग्नः । मूलम्मि लतायाः मूले ससर्पवति बिले पतितः । पडिदमधुबिंदुभक्खणरदिओ स स्वमुखस्थानपतितमधुबिंद्वास्वादनरतिकः । मूलम्मि छिज्जंते । मूले छिद्यमाने मूषिकाभिर्यथा ॥

दृष्टांतोपन्यासपुरःसरं विषयविनश्वरत्वं गाथात्रयेण भावयति—

मूलारा—वग्घेति-वग्घपरद्धो व्याघ्रेण प्रारब्धोऽभिद्रुतो हंतुमग्रे कृत इति यावत् । मूलम्मि ससर्पकूपभित्तितटप्ररूढवल्लीबुध्ने । पडिदमधुबिंदुचक्खणरदिओ कथमपि मुखपतितमाक्षिकलवास्वादनप्रीतिकः । छिज्जंते छिद्यमाने मूषिकैः ।

अर्थ—मारनेके लिये जिसके पीछे व्याघ्र लगा है, ऐसा कोई पथिक, जिसमें सर्प हैं ऐसे कूयेकी भीतके तटपर ऊगी हुई वेलीके बुधाको पकडकर लटकने लगा. उस समय मधके छत्तेसे मधुबिंदु उसके ओष्ठके अग्रभागपर गिरने लगे तब वह व्याघ्र का दुःख भूल कर मधुबिंदुसे उत्पन्न होनेवाले स्वादमेंही आसक्त होगया. परंतु वह इस वेलीका मूल चूहोंके द्वारा काटा जा रहा है और मैं उसके काटनेपर कुएंमें पडूंगा यह सब बाते वह पथिक जैसे भूल गया वैसीही संसारी मनुष्य की हालत है.

तह चेव मच्चुवग्धपरद्धो बहुदुक्खसप्पबहुलम्मि ॥
संसारबिले पडिदो आसामूलम्मि संलग्गो ॥ १०६४ ॥

मृत्युव्याघ्रेक्षितो दुःखसर्पे जन्माबिले गतः ॥
लूयमानस्तथा मूढो बहुभिर्विघ्नमूषकैः ॥ १०९७ ॥

विजयोदया—तह चेव तथैव । मच्चुवग्धपरद्धो मृत्युव्याघ्रेणाभिद्रुतः । संसारबिले पडिदो संसार एव बिलः तस्मिन्पतितः । कीदृग्भूते बहुदुःखसर्पाकुले आशामूले । संलग्गो सम्यग्लग्नः ॥

मूलारा—तथेति-आसामूलम्मि आशा विषयाकांक्षा मूलमिवालंबनभूतत्वात् ।

इसीका आगेके दो गाथाओं से वर्णन करते हैं—

अर्थ—इस मनुष्यके पीछे मृत्युरूपी व्याघ्र लगा है, यह मनुष्य अनेक दुःख रूपी सर्प जिसमें निवास करते हैं ऐसे संसाररूपी बिलमें गिरा है, परंतु इसने आशारूपी बेली की जड हाथमें पकड रक्खी है.

बहुविग्घमूसएहिं आशामूलम्मि तम्मि छिज्जंते ॥
लेहदि विभयविलज्जो अप्पसुहं विसयमधुबिंदुं ॥ १०६५ ॥

आशामूले दृढं लग्नो विषयास्वादने रतिम् ॥
महतीं कुरुते नाशमपश्यन्नग्रतः स्थितः ॥ १०९८ ॥

इति अधौव्यम् ॥

विजयोदया—बहुविग्घमूसगेहिं य बहुभिर्विघ्नमूषकैः । आशामूलम्मि तम्मि छिज्जंते । आशाख्ये मूले तस्मिंश्छिद्यमाने । लेहदि खादति । विभयविलज्जो निर्भयो निर्लज्जश्च । अप्पसुहं विसयमधुबिंदुं । अल्पसुखं विषयमधुबिंदुं अल्पसुखनिमित्तत्वादल्पसुखमित्युच्यते । विषयमधुबिंदु विषयशब्देन रूपादय इत्युच्यंते । तेषु पुरो वर्तमानस्य पुद्गलस्कंधस्य वर्तमानाः कतिपयाः पर्याया अतिस्वल्पास्त एव मधुबिंदवः ॥ अधुवत्तं ॥

मूलारा—बहुविग्घेति-विसयमधुबिंदु विषयश्चक्षुरादिना गृह्यमाणो रूपाद्यर्थो मधुरिव स्वल्पसुखनिमित्तत्वात् । तस्य बिंदुस्तत्क्षणभज्यमानपुरोऽवस्थितपुद्गलविवर्तिपर्यायः । तथा चावोचाम सिद्धचक्रे-

सुधागर्वं खर्वन्त्यभिमुखतृपीकप्रणयिनः ॥
क्षणं ये तेऽप्यूर्द्धं विपसपवर्द्वत्यंग विषयाः ॥
न एथाविर्भूय प्रतिचितधनायाः खलु तिरो--
भवन्त्यंधास्तेभ्योऽप्यहह किमु कर्षन्ति विपदः ॥

अर्थ--आशारूपी वेलीकी जड नाना विघ्नरूपी चूहोंके द्वारा काटी जा रही है इस बातको वह जानता ही नहीं. परंतु विषयसुखरूपी अल्प मधुके कणका आस्वादन करनेमें ही वह लवलीन होरहा है. नेत्र वगैरह इंद्रियोंके द्वारा जिनका ग्रहण होता है ऐसे रूप, रस, गंध स्पर्शादिकोंको विषय कहते हैं. ये विषय मधुके समान अल्प सुख उत्पन्न करनेमें निमित्त हैं. अतः इनको मधु कहते हैं. इनका बिंदु अर्थात् इन रूपादि पदार्थोंके जो थोडेसे पुद्गलस्कंध भोगनेमें आते हैं उसको बिंदु कहते हैं. इस प्रकार अध्रुवतत्वका वर्णन हुआ.

बालो अमेज्झलित्तो अमेज्झमज्झम्मि चेव जह रमदि ॥
तह रमदि णरो मूढो महिलामज्झे सयममेज्झो ॥ १०९६ ॥
रामावर्चोमध्यवर्ती मनुष्यः क्रीडत्येपोऽमेध्यरूपः शिशुर्वा ॥
वर्चोलिप्तोऽमेध्यमध्यं प्रवृत्तो कीदृक्सारं निंदनीयस्वभावं ॥ १०९९ ॥

विजयोदया—बालो अमेज्झलित्तो बालोऽ अमेध्येन लिप्तः । अमेज्झमज्झम्मि चेव अमेध्यमध्ये एव । जह रमइ यथा रमते प्रीतिमुपैति । तथा रमदि णरो मूढो तथा रमते मूढः । महिलामज्झे योषिदेव अनेकाशुचिपूर्णशरीरतया अमेध्यशब्देनोच्यते । सयममेज्झो स्वयममेध्यभूतः ॥

सकलाभिमतेंद्रियार्थनायके स्त्रीनाम्नि विषये यथावत्स्वरूपानुवादपरत्वेन जुगुप्सामुद्भावयन्स्वांगवत्तदंगान्मुमुक्षुमुपरमयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—बालो इति—रमदि प्रीतिमुपैति । महिलामेज्झे महिला अमेध्यमिव समस्ताशुचिप्राग्भारशरीरत्वात् ॥

अर्थ—विष्ठासे लिप्त हुआ बालक जैसे विष्ठामें ही क्रीडा करता है उसमें सुख मानता है. वैसे अनेक अपवित्र पदार्थ जिसके शरीरमें भरे हुये हैं ऐसी स्त्रीरूपी विष्ठामें यह कामी अपवित्र पुरुष क्रीडा करता है.

कुणिमरसकुणिमगंधं सेविंता महिलियाए कुणिमकुडी ॥
जं होंति सोचइत्ता एदं हासावहा तेसिं ॥ १०६७ ॥

अमेध्यनिर्माणममेध्यपूर्णं निषेवमाणैर्वनिताशरीरम् ॥
यैर्मन्यते स्वं शुचिरस्तबोधैर्हास्यास्पदं कस्य न ते भवंति ॥ ११०० ॥

विजयोदया—कुणिमरसकुणिमगंधं अशुचिरसमशुचिगंधं । सेविंता सेवमानाः । महिलियाए महिलाया युवत्याः । कुणिमकुडि अशुचिशरीरकुटिं । जं होंति सोचयंता । एदं हासावहं एतच्छौचत्वं हास्यावहं । तेसिं तेषां ॥

मूलरा—कुणिमेति—कुणिमकुडि अशुचिशरीरकुटीं । सोचइत्ता शौचे चित्तं येषां ते शौचचित्ताः शुचित्वमनसः आत्मानं शुचिं मन्यमानाः । इत्यर्थः ।

अर्थ—जिनसे अशुचि रस बहता है, जिसका गंधभी अपवित्र है ऐसी स्त्रीरूपी झोपडीको सेवन करनेवाले कामी पुरुष अपनेको पवित्र मानते हैं यह उनका विचार हास्यास्पद है.

एवं एदे अच्छे देहे चिंततयस्स पुरिसस्स ॥
परदेहं परिभोत्तुं इच्छा कह होज्ज सघिणस्स ॥ १०६८ ॥

बीजादयो येन शरीरधर्माश्चित्ते क्रियन्ते बुधनिंदनीयाः ॥
निषेव्यते मेध्यमयी न नारी कदाचनामेध्यकुटीव तेन ॥ ११०१ ॥

विजयोदया—एवं एदे अच्छे एवमेतानर्थान्।देहे शरीरविषयान् । चिंततयस्स चिंतयतः । पुरिसस्स पुरुषस्य । परदेहं परस्य शरीरं परिभोत्तुं परिभोक्तुं । इच्छा किह होज्ज इच्छा कथं भवेत् । सघिणस्स घृणावतः । लज्जावतः ॥
देहबीजादिभावनानुभावविभावनाय गाथाद्वयमाह—

मूलरा—एदे बीजादीन । सघिणस्स लज्जावतः । उक्तं च—

बीजादयो येन शरीरधर्माश्चित्ते क्रियंते बुधनिंदनीयाः ॥
निषेव्यते मेध्यमयी न नारी कदाचनामेध्यकुटीव तेन ॥

अर्थ—इस प्रकार इस देहसे उत्पन्न होनेवाले अनेक विषयोंका जो पुरुष मनमें विचार करता है. उसको

परदेहका उपभोग लेते समय क्यों न लज्जा उत्पन्न होगी? अर्थात् ऐसे अपवित्र देहका उपभोग लेनेसे वह विचारी मनुष्य पराङ्मुख होगाही.

एदे अत्थे सम्मं दोसं पिच्छंतओ णरो सघिणो ॥
ससरीरे वि विरज्जइ किं पुण अण्णस्स देहम्मि ॥ १०६९ ॥

निरीक्षते यो वपुषः स्वभावं वर्चोनिवासस्य विनश्वरस्य ॥
देहे स्वकीयेऽपि विरज्यतेऽसौ दोषास्पदायाः किमु नांगनायाः ॥११०२॥

इति अशौचम् ॥

विजयोदया—एदे अत्थे देहस्स बीजणिप्फत्तिरोत्त इत्येतत्सूत्रनिर्दिष्टानेतानर्थान् । देहे शरीरे। पिच्छितगो सम्यङ् निरूपयन् । ससरीरे वि विरज्जइ आत्मनोऽपि शरीरे विरज्जति विरक्ततामुपैति । किं पुण अण्णस्स देहम्मि किं पुनरन्यशरीरे विरक्तता नोपयात् ॥ अशुचि ॥ अशुचित्वं व्याख्यातं ॥

मूलारा—एदे अत्थे इति—पिच्छंतओ निरूपयन् । अध्रुवत्वं ॥ अशुचित्वं ॥ ६७ ॥

अर्थ—देहका बीज, निष्पत्ति वगैरह प्रकरणोंका वर्णन किया गया है. इनके स्वरूपका इस देहमें जिसने सम्यक्प्रकार से विचार किया है वह पुरुष अपने शरीरसे ही विरक्त होगा फिर अन्यके देहके विषयमें उसको क्यों न वैराग्य उत्पन्न होगा? अशुचित्वका वर्णन समाप्त.

वृद्धसेवानिरूपणाय उत्तरप्रबंधस्तरुणा वा इत्यादिकः । शीलवृद्धता भवति न केवलन वयसा इत्याचष्टे—

थेरा वा तरुणा वा वुड्ढा सीलेहिं होंति वुड्ढीहिं ॥
थेरा वा तरुणा वा तरुणा सीलेहिं तरुणेहिं ॥ १०७० ॥

वृद्धा नराः शीलैस्तरुणैस्तरुणा यतः ॥
जाते तरुणा वृद्धास्ततः शीलं बुधैः स्तुतम् ॥ ११०३ ॥ १०९६

विजयोदया—थेरा वा तरुणा वा स्थविरास्तरुणाश्च । वुड्ढा होंति वृद्धा भवंति । सीलेहिं होंति तरुणेहिं वुड्ढेहिं शीलैः प्रवृद्धैः । क्षमा, मार्दव, ऋजुता, संतोषं इत्यादिकं शीलशब्देनोच्यते । थेरा वा तरुणा वा स्थविरास्तरुणाश्च । तरुणा

पय। सीलेहिं तरुणेहिं तरुणैः शीलैः। एतेन शीलवृद्धा इह वृद्धशब्देन गृहीताः। एतेषां सेवा वृद्धसेवेति कथितं भवति। वृद्धगुणानां सेवकः स्वयमपि गुणोत्कर्षमुपैतीति मन्यते॥

एवं कामदोषस्त्रीदोषाशुचित्वानि त्रीणि स्त्रीवैराग्यनिमित्तानि व्याख्याय सांप्रतं वृद्धसेवां पंचदशभिर्गाथाभिर्व्याचक्षाणो वृद्धस्वरूपनिरूपणार्थं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—थेरा वेति–सीलेहिं क्षमादिभिः। बुड्ढेहिं वृद्धिं गतैः। न वयसा वृद्धेन। तरुणेहिं कामादिभिः प्रायेण तारुण्येन सह वृत्तित्वात्तेषां। यत्पठन्ति लोकाः—

अवश्यं यौवनस्थेन क्लीवेनापि हि जंतुना।

विकारः खलु कर्तव्यो नाविकाराय यौवनम्॥

सुप्रसिद्धौ च वृद्धगुणदोषपुरुषसेवनाद्गुणदोषोत्कर्षौ।

अब वृद्धसेवाका वर्णन विस्तारसे करते हैं—केवल वय अधिक होनेसे मनुष्य शीलवृद्ध होता नहीं इसका वर्णन—

अर्थ—वृद्ध हो अथवा तरुण हो यदि उनका शील बढ गया हो अर्थात् क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच वगैरह आत्मधर्म बढ गये तो उनको शीलवृद्ध कहना चाहिये और जिनके ये धर्म नहीं बढ पाये उनको चाहे वयसे वृद्ध भी हो तो भी तरुण ही कहना चाहिये. अभिप्राय यह है कि शीलवृद्धोंको ही यहां वृद्ध कहना चाहिये और उनकी सेवाकाही नाम वृद्धसेवा है. जिनके क्षमादिक गुण वृद्धिगत हुए हैं उनकी सेवा करनेसे अपने भी गुण बढते हैं.

अपि चेह यत्यादीनामपि संसर्गो गुणवान्यतस्तेऽपि तपसैव मंदीभूतकामरतिदर्पक्रीडा इति वदति—

जह जह वयपरिणामो तह तह णस्सदि णरस्स बलरूवं॥

मंदा य हवदि कामरदिदप्पकीडा य लोभो य॥ १०७१॥

यथा यथा वयोहानिः पुरुषस्य तथा तथा॥

मंदाः कामरतिक्रीडादर्परूपबलादयः॥ ११०४॥

विजयोदया—जह जह वयपरिणामो अतिक्रामति यथा यथा वयःपरिणामो युवत्वमध्यमत्वसंज्ञितः। परस्स परिणामो प्राणिनः परिणामः। तध तध से तथा तथा तस्य मंदा हवंति मंदा भवंति। कामरदिदप्पकीडा कामयन्त इति कामा विषयास्तत्र रतिर्दर्पः, क्रीडा, लोभः लोभश्च मंदविषयरत्यादिपरिणामेन वृद्धेन सह संवासात्। स्वयमेवापि मंदकामादिपरिणामो भवतीति भावः॥

यद्यपि तपसैव कामरतिदर्पक्रीडा लोभा न्यग्भावयितुं शक्यास्तथापि वयःपरिणतिरपि तदनुकूलकारणतां प्रतिपद्यते इति वयोवृद्धसंसर्गस्य अपि गुणवत्त्वख्यापनार्थमाह—

मूलारा—अथ जवेति—वयपरिणामो युवत्वमध्यत्वसंज्ञितः। मंदा न्यग्भूता। कामरदी विषयप्रीतिः उक्तं च—

यथा यथा वयोहानिः पुरुषस्य तथा तथा॥
मंदाः कामरतिक्रीडादर्परूपबलादयः॥

तथैव च लोकोऽप्यधीते—

प्रथमे वयसि यः शांतः स शांत इति मे मतिः।
धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते॥

मंदकामरत्यादिपरिणामेन वृद्धेन सह संवासात् स्वयमेव च तादृक्परिणामो भवतीति मन्यते। कुलीनान्प्रत्येतदुच्यते कुशीलानामन्यथापि भावात्। यत्पठंति—

वयसः परिणामेऽपि कुशीलस्य कुतः शमः॥
सुपक्वमपि माधुर्यं नोपयातींद्रवारुणं॥

यति, त्यागीजन इनका भी संसर्ग करना सद्गुणप्राप्तिका उपाय है क्योंकि यतिगणोंने तपके द्वारा विषयप्रीति कम की है. इसी अभिप्रायको स्पष्ट करते हैं.—

अर्थ—जैसी जैसी मनुष्यकी आयु अधिक होती जाति हैं वैसा २ उसका विषयोंमें प्रेम कम होता जाता है मद, क्रीडा, और लोभ ये दुर्विकार कम होते हैं. तरुणावस्थामें इन दुर्विकारोंका अदमनीय वेग रहता है. मध्यमवय होनेपर इनके वेग में मंदता आती है. जिनके ये उपर्युक्त विकार मंद हुये हैं ऐसे वृद्धोंकी संगति करनेसे ये कामादिविकार मंद हो जाते हैं.

खोभेदि पत्थरो जह दहे पडंतो पसण्णमवि पंकं ॥
खोभेइ तहा मोहं पसण्णमवि तरुणसंसग्गी ॥ १०७२ ॥
शांतोऽपि क्षोभ्यते मोहो युवसंगेन देहिनः ॥
कर्दमः पतता क्षिप्रं प्रस्तरेणेव वारिणः ॥ ११०५ ॥

विजयोदया—खोभेदि क्षोभयति । पत्थरो शिला महती । जह यथा । दहे न्हदे पडंतो पतन् । पसण्णमवि पंकं प्रशांतमपि पंकं । खोभेदि चालयति । तथा मोहं । पसण्णमवि प्रशांतमपि । तरुणसंसग्गी तरुणगोष्ठी ॥

तरुणगोष्ठीमपवदति—

मूलारा—खोभेदि इति—खोभेदि उदीरयति । पसंतं प्रशांतं अनुद्भूतं । मोहं कामं ॥

अर्थ—जैसा बडा पत्थर सरोवरमें पडनेसे उसका निर्मल पानी उछलकर मलिन बनता है वैसा तरुण संसर्ग मनके अच्छे विचारोंमें मलिनता उत्पन्न करके उनको गंदे बनाता है. यदि कोई मनुष्य शांतिपरिणामका धारक है. तो भी उसको तरुणसंसर्ग त्यागना ही योग्य है अन्यथा उसके शांत विचारभी तरुण संसर्गसे बिघडेंगे.

कलुसीकदंपि उदयं अच्छं जह होइ कदयजोएण ॥
कलुसो वि तहा मोहो उवसमदि हु वुड्ढसेवाए ॥ १०७३ ॥
उदीर्णोऽप्यंगिनो मोहो वृद्धसंगेन निश्चितम् ॥
पंकः कतकयोगेन सलिलस्येव शाम्यति ॥ ११०६ ॥

विजयोदया—कलुसीकदंपि उदगं कलुषीकृतमप्युदकं । कदगजोएण कतकफलसंबंधेन । अच्छं स्वच्छं । जध होदि यथा भवति । कलुसोऽपि कलुषितोऽपि । मोहो मोहः । उवसमदि उपशाम्यति । वुड्ढसेवाए वृद्धसेवया ॥

वृद्धसेवायाः कामोत्कटयविलुंटकत्वं वक्ति—

मूलारा—कलुसीकदंपि इति—कदकजोएण कतकफलसंबंधेन । कलुसो उत्कटः ॥

अर्थ—जैसा मलिन पानी भी कतकफलके संयोगसे स्वच्छ होता है वैसा कलुष मोह भी शीलवृद्धोंके संसर्गसे शांत होता है.

लीणो वि मट्टियाए उदीरदि जलासयेण जह गंधो ॥
लीणो उदीरदि णरे मोहो तरुणासयेण तहा ॥ १०७४ ॥
शांतोप्युदीयते मोहः पुंसस्तरुणसंगतः ॥
लीनः किं मृत्तिकागंधो नोदेति जलयोगतः ॥ ११०७ ॥

विजयोदया—लीणो वि लीनोऽपि। मट्टियाए मृत्तिकायाः। गंधो गंधः। जधा जलासयेण जलाश्रयेण। उदीरदि उदयमुपैति। लीणो वि मोहो णरे लीनोऽपि नरे मोहः। उदीरदि उदयमुपनीयते। तरुणासएण तरुणाश्रयेण तथा ॥

मोहोदयभावाभावयोस्तरुणसंसर्गभावाभावानुविधायित्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—लीणो वि इति–लीणो अनुद्भूतः। जलासएण नीरसंसर्गेण ॥

अर्थ—जैसा मट्टीमें गंध रहता है परंतु जलके आश्रयसे वह प्रगट होता है वैसा तरुण के आश्रयसे गुप्त भी मोह उमड पडता है.

संतो वि मट्टियाए गंधो लीणो हवदि जलेण विणा ॥
जह तह गुट्ठीए विणा णरस्स लीणो हवदि मोहो ॥ १०७५ ॥
रहितो युवसंगत्या मोहः सन्नपि लीयते ॥
जीवस्य जलसंगत्या पुष्पगंध इव स्फुटं ॥ ११०८ ॥

विजयोदया—सन्तो वि सन्नपि मृत्तिकाया गंधः। जलेन विना लीनो भवति यथा तथा गोष्ठ्या विना मोहो नरस्य लीनो भवति ॥

मूलारा—संतो वि इति—लीणो हवइ नोदेतीत्यर्थः ॥

अर्थ—मट्टीका गंध मट्टीमें रहता हुआ भी जलके संसर्गके विना प्रगट होता नही है. वैसा संसर्ग के विना मनुष्यका मोह प्रगट नही होता है.

तरुणो वि वुड्ढसीलो होदि णरो वुड्ढसंसिओ अचिरा ॥
लज्जासंकामाणावमाणभयधम्मवुद्धीहिं ॥ १०७६ ॥

युवापि वृद्धशीलोऽस्ति नरो हि वृद्धसंगतः ॥
मानापमानभीशंकाधर्मबुद्धित्रपादिभिः ॥ ११०९ ॥

विजयोदया—तरुणो वि तरुणोऽपि । वुड्ढसीलो भवति । वृद्धं संश्रितोऽचिरात् । लज्जया, शंकया, मानेन, अपमानभयेन धर्मबुद्ध्या च ॥

वृद्धसेवामाहात्म्यमाह—

मूलारा—तरुणो वि इति—माण संयतोऽहमिति अभिमानः । अवमाणभयं महत्त्वखण्डनभीतिः ।

अर्थ—वृद्धोंके संसर्गसे तरुण मनुष्य भी शीघ्रही शीलगुणोंकी वृद्धि होनेसे शीलवृद्ध बनता है. लज्जासे, भीतिसे, अभिमानसे, अपमानके डरसे और धर्मबुद्धीसे तरुण मनुष्य भी वृद्ध बनता है.

वुड्ढो वि तरुणसीलो होइ णरो तरुणसंसिओ अचिरा ॥
वीसंभणिव्विसंको समोहणिज्जो य पयडीए ॥ १०७७ ॥

वृद्धस्तरुणशीलोऽस्ति नरस्तरुणसंगतः ॥
विश्रंभनिर्विशंकत्वमोहप्रकृतियोगतः ॥ १११० ॥

विजयोदया—वुड्ढो वि वृद्धोऽपि तरुणशीलो भवति तरुणसंश्रितः क्षिप्रं । विस्संभणिव्विसंको विश्रंभेन निर्विशंकः समोहणिज्जो य सह मोहनीयेन वर्तमानः । पयडीए प्रकृत्या ॥

तरुणाश्रयेण दोषमाह—

मूलारा—वुड्ढो वि इति—वीसंभणिव्विसंको स्त्रिया विश्वासेन दुर्गतिदुःखादिभयरहितः । समोहणिज्जो सकामो ज्ञतः । पयडीए प्रकृत्या ॥

अर्थ—तरुणोंकी संगतिसे वृद्ध मनुष्य भी स्वभावतः कामविकारसे युक्त होकर स्त्रियोंके ऊपर विश्वास करने लगता है और दुर्गतीके भयसे रहित होता है.

सुंडयसंसग्गीए जह पादुं सुंडओऽभिलसदि सुरं ॥
विसए तह पयडीए संमोहो तरुणगोट्ठीए ॥ १०७८ ॥

इंद्रियार्थरतिर्जीवो युवगोष्ठ्या विमूढधीः ॥
शौण्डगोष्ठ्या यथा शौण्ड सुरां कांक्षति सर्वदा ॥ ११११ ॥

विजयोदया—सुंडयसंसग्गीए यथा शौंडगोष्ठ्या। जह पादुं सुरमभिलसदि यथा पातुं सुरामभिलषति। तथा पयडीए समोहो तथा प्रकृत्या समोहः। तरुणगोट्ठीए विसए अभिलसदि तरुणगोष्ठ्या विषयानभिलषति ॥

मूलारा—सुंडय इति–सुंडयससग्गीए मद्यपगोष्ठ्या। पादुं पातुं ॥

अर्थ—जैसे मद्यपीके सहवाससे मद्यका प्राशन न करने वाले मनुष्य को भी उसके पानकी अभिलाषा उत्पन्न होती है वैसे तरुणोंके संगसे वृद्ध मनुष्य भी विषयोंकी अभिलाषा करता है

तरुणेहिं सह वसंतो चलिंदिओ चलमणो य वीसत्थो ॥
अचिरेण सइरचारी पावदि महिलाकदं दोसं ॥ १०७९ ॥

विश्रब्धश्चपलाक्षो य स्वैरी तरुणसंगतः ॥
महिलाविषयं दोषं स शीघ्रं लभते नरः ॥ १११२ ॥

विजयोदया—तरुणेहिं तरुणैः सह वसन् चलेन्द्रियश्चलचित्त, सुष्ठु विश्वस्त अचिरेण स्वैरचारी। पावदि प्राप्नोति। महिलाकदं दोसं वनिताविषयं दोषं ॥

मूलारा—तरुणेहिं इति–सइरचारी स्वैरचारी। महिलागदं स्त्रीविषयं ॥

अर्थ—तरुणोंके संसर्गसे वृद्ध मनुष्यकी इंद्रियां रूपादिविषयोंमें उत्सुक होती हैं मन चंचल बनता है और स्त्रियोंमें विश्वास रखकर वह स्वच्छंदी होता है स्त्रियोंके सहवाससे वह दोषी बनता है

पुरिसस्स अप्पसत्थो भावो तिहिं कारणेहिं संभवइ ॥
वियरम्मि अंधयारे कुसीलसेवाए ससमक्खं ॥ १०८० ॥

ध्वांतैकांतकुशीलेहदर्शनैः करणैस्त्रिभिः ॥
कुत्सितो जायते भावः स्त्रीपुंसानामसंशयम् ॥ १११३ ॥

विजयोदया—पुरिसस्स पुरुषस्य अप्रशस्तो भावस्त्रिभिः कारणैः संभवति । एकांते, अंधकारे, कुशीलसेवा दर्शनेन च प्रत्यक्षम् ॥

मूलारा—पुरिसस्स उपलक्षणात्स्त्रियाश्च । अप्पसत्थो कामाभिलापयुक्तः । वियरम्मि स्त्रिया सहैकान्ते पुंसः, पुंसा च स्त्रियाः । कुसीलसेवाए ससमक्खं आत्मप्रत्यक्षं स्त्रीपुंसयोः कामसेवायां सत्यां तदवलोकने सति इत्यर्थः ।

उक्तं च— ध्वान्तैकान्तकुशीलेहदर्शनैः कारणैस्त्रिभिः ॥
कुत्सितो जायते भावः स्त्रीपुंसानामसंशयम् ॥

अर्थ—पुरुषमें तीन कारणोंसे अप्रशस्त विचार उत्पन्न होते हैं, अर्थात् एकांत स्थानमें, अंधकारमें और अपने समक्ष कोई स्त्रीपुरुष काम सेवनमें, अंधकारमें और अपने समक्ष कोई स्त्रीपुरुष काम सेवन करते हुए देखकर कामाभिलापरूप अप्रशस्त विचार उत्पन्न होते हैं

पासिय सुच्चा व सुरं पिज्जंतं सुंडओ भिलसदि जहा ॥
विसए य तह समोहा पासिय सोच्चा व भिलसंति ॥ १०८१ ॥

निसर्गमोहितस्वान्तो दृष्ट्वा श्रुत्वाभिलष्यति ।
विषयं सेवितुं जीवो मदिरामिव मद्यपः ॥ १११४ ॥

विजयोदया—पासिय सुच्चा य सुरं सुरां पीयमानां दृष्ट्वा वा श्रुत्वा वा शौंडोऽभिलषति । यथा तथा समोहा विषयानभिलषंति दृष्ट्वा श्रुत्वा वा ॥

मूलारा—पासिय दृष्ट्वा । सोच्चा श्रुत्वा । पिज्जंती पीयमानं ॥

अर्थ—मदिरापान करते हुए पुरुष को देखकर अथवा मदिराका वर्णन सुनकर जैसे मद्यपी मनुष्य मद्य पीनेकी इच्छा करता है तथा मोहयुक्त मनुष्य भी विषयोंका सेवन करनेवालोंको देखकर या सुनकर विषयभोगनेकी इच्छा मनमें करता है.

जादो खु चारुदत्तो गोट्ठीदोसेण तह विणीदो वि ॥
गणियासत्तो मज्जासत्तो कुलदूसओ य तहा ॥ १०८२ ॥

चारुदत्तो विनीतोऽपि जातः संसर्गदोषतः ॥
वेश्यामांससुरासक्तः कुलदूषणकारकः ॥ १११५ ॥

विजयोदया—जादो खु चारुदत्तो विनीतोऽपि चारुदत्तो गोष्ठीदोषेण गणिकासक्तो जातः मद्यासक्तः कुल दूषकश्च ॥

मूलारा—विणीदो सुचरितः ।

अर्थ—ज्ञानी भी चारुदत्त कुसंसर्गसे गणिकामें-वेश्यामें आसक्त हुआ तदनंतर उसने मद्यमें आसक्ति कर अपन कुलको दूषित किया.

तरुणस्स वि वेरग्गं पण्हाविज्जदि णरस्स वुड्ढेहिं ॥
पण्हाविज्जइ पाडच्छीवि हु वच्छस्स फरुसेण ॥ १०८३ ॥

तरुणस्यापि वैराग्य शीलवृद्धैर्न जायते ॥
क्रियते प्रस्नुतक्षीरा वत्सस्पर्शेन गौर्न किम् ॥ १११६ ॥

विजयोदया—तरुणस्स वि तरुणस्यापि वैराग्य जन्यते ज्ञानवयस्तपोवृद्धैः । वत्सस्य स्पर्शेन यथा गोः प्रस्नुतक्षीरा क्रियते ॥

शीलवृद्धेभ्यो यूनोऽपि वैराग्योत्पत्तिमाह—

मूलारा—पण्हाविज्जदि जन्यते । पण्हाविज्जादि दुग्धक्षरणं कार्यते । पाडच्छीवि विशुष्कापि दुग्धरहितस्तनापि गौः । फरिसेण स्पर्शेन ॥

अर्थ—जैसे बछडेके स्पर्शसे गौके स्तनोंमें दुग्ध उत्पन्न होता है वैसे ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध और तपोवृद्धोंके सहवाससे तरुणके मनमें भी वैराग्य उत्पन्न होता है.

परिहरइ तरुणगोट्ठी विसं व वुड्ढाउले य आयदणे ॥
जो वसइ कुणइ गुरुणिद्देसं सो णिच्छरइ बंभं ॥ १०८४ ॥

यः करोति गुरुभाषितं मुदा संश्रये वसति वृद्धसंकुले ॥
मुंचते तरुणलोकसंगतिं ब्रह्मचर्यममलं स रक्षति ॥ १११७ ॥
रजो धुनीते हृदयं पुनीते तनोति सत्त्वं विधुनोति कोपम् ॥
मानेन पूतं विनयं नयंति किं वृद्धसेवा न करोत्यभीष्टम् ॥ १११८ ॥

इति वृद्धसंगतिः ॥

विजयोदया—परिहरइ तरुणगोट्ठी परिहरति तरुणैः सह गोष्ठीं विषमिव यः, वृद्धैराकीर्णे चायतने यो वसति । करोति च गुर्वाज्ञां स निस्तरति ब्रह्मचर्यमिति संक्षेपोपदेशः ॥ वृद्धसेवा गता ॥

ब्रह्मचर्यनिर्वाहोपायमाह—

मूलारा—विसं वा विषमिव । वुड्ढाउले शीलवृद्धसंकुले । आयदणे स्थाने । गुरुणिद्देसं गुरोराज्ञां । णिच्छरदि निर्वाहयति । बंभं ब्रह्मचर्यं । वृद्धसेवा ॥

अर्थ—जो मनुष्य तरुणोंका संग विषतुल्य समझकर छोडता है, वृद्ध जहां रहते हैं ऐसे स्थानों में रहता है, और जो गुरुओंकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करता है वही मनुष्य ब्रह्मचर्यका पालन कर सकता है.

वृद्धसेवाका प्रकरण समाप्त हुआ.

स्त्रीसंसर्गकृतदोषावेक्षणं स्वमनसा संसर्गीदोसाचि य इत्यस्य सूत्रपदस्यार्थः साध्याहारतया सूत्राणामपि विवक्षिता इति वाक्यशेषात् ।—

आलोयणेण हिदयं पचलदि पुरिसस्स अप्पसारस्स ॥
पेच्छंतयस्स बहुसो इच्छीण थणजहणवदणाणि ॥ १०८५ ॥

मानसं स्वल्पसत्वस्य स्त्रीसंसर्गे विनश्यति ॥
जघनस्तनवक्त्राणि पश्यतो बहु चल्यते ॥ १११९ ॥

विजयोदया—आलोगणेण आलोकनेन। हिदयं हृदयं प्रचलति। अल्पधृतिकस्य पुंसः प्रेक्षमाणस्य वहुशो युवतीनां वदनपयोधरपृथुजघनानि ॥

स्त्रीसंसर्गीकृतदोषावेक्षणं नाम पंचम स्त्रीवैराग्यकारणं गाथाद्वाविंशत्या व्याचक्षाणः प्रथमं योषिदालोकनलक्षण-संसर्गस्य दुर्निवारत्वाद्दोषपरंपरामुद्भावयति।

मूलारा—आलोयणेण निरीक्षणेन प्रकरणान्नारीणां। पचलदि प्रकर्षेण क्षुभ्यति। अप्पसारस्स अल्पधृतिकस्य। पेच्छंतगस्स चिंतयतः। उक्तं च—

दृष्टिपातो भवेत्पूर्वं व्यामुह्यति ततो मनः ॥
प्रणिधत्ते जनः पश्चात्तत्कथागुणकीर्तने ॥

, वहुसो वारंवारं ॥

स्त्रीसंसर्ग करनेसे कोनसे दोष उत्पन्न होते हैं इसका विवेचन—

अर्थ—जिसमें धैर्यगुण अल्प है ऐसे पुरुषका हृदय स्त्रीको देखकर चंचल होता है. अर्थात् उसका मुख, स्तन, बडा नितंबभाग ये अवयव देखनेसे अल्प धैर्यवाला पुरुष मोहित होता है.

लज्जं तदो विहिंसं परिचयमध णिव्विसंकिदं चेव ॥
लज्जालुओ कमेणारुहंतओ होदि वीसत्थो ॥ १०८९ ॥

निरस्यति ततो लज्जां संस्तवं कुरुते ततः ॥
ततो भवति निःशंकस्ततो विश्वसिति ध्रुवम् ॥ ११२० ॥

विजयोदया—लज्जं तदो विहिंस ततो हृदयचलनोत्तरकाले लज्जां विनाशयति। विनष्टलज्जः परिचयमुपेति। ताभिर्दर्शनसमीपगमनहसनादिकं करोतीति यावत् पश्चान्निर्विशंको भवतीति मामनया सह स्थितं पश्यंति इति या शंका तामपाकरोति। लज्जावानपि नरः क्रमेण अभिहिता अवस्था उपारोहन्, विश्वस्तो भवति ॥

1106 मूलारा—तदो हृदयप्रचलनोत्तरकाल। विहिंसं विहिंसन् विनाशयन्। परिचयं दर्शनसमीपगमनहसनादिकं। णिव्विसंकिद मामनया सह स्थितं पश्यंतीति शंकाविगमं। परिचयं निर्विशक्तां च क्रमेणारोहन् विश्वस्तचित्तेन स्त्रीषु कृत-सुखसाधनत्वप्रत्ययः स्यात् ॥

अर्थ—मन चंचल होनेके अनंतर उसकी लज्जा नष्ट होती है. लज्जा नष्ट होनेपर उनके साथ उसका परिचय होता है अर्थात् वह उनको स्थिर नयनोंसे देखता है. उनके पास जाता है, उनके साथ हसी मजाक करता है. तदनंतर उसका भय भी नष्ट होता है. मैं इस स्त्रीके साथ रहता हूं मेरी लोक निंदा करेंगे यह भय उसके मनसे दूर चला जाता है. तात्पर्य—लज्जावान् भी मनुष्य ऐसी अवस्था ओंको प्राप्त होकर स्त्रियोंमे विश्वस्त होता है. अर्थात् स्त्री यह सुख का साधन है ऐसा वह समझता है.

वीसत्थदाए पुरिसो वीसंभं महिलियासु उवयादि ॥
वीसंभादो पणयो पणयादो रदि हवदि पच्छा ॥ १०८७ ॥

विश्वासे सति विश्रंभो विश्रंभः प्रणये सति ॥
रामासु परमा पुंसः प्रणये जायते रतिः ॥ ११२१ ॥

'विजयोदया—वीसत्थदाए विश्वस्ततया मनसः विश्रंभमुपयाति युवतिषु। विश्रंभात्प्रणयः प्रणयाद्रतिर्भवति ॥

मूलारा—वीसत्थदाए स्वमनसा विश्वासेन। वीसंभं आप्तत्वेन व्यवहारं विश्वासेनात्र प्रवृत्तिनिवृत्ती विस्रंभशब्देनोच्यते। तथा चोक्तं—

विश्वस्तेन च चित्तस्य विश्रंभं स्त्रीषु गच्छति ॥
विश्रंभात्प्रणयोऽस्त्येव प्रणयाच्च रतिस्ततः ॥

अर्थ—सुखसाधनकी कल्पनासे वह स्त्रियोंमें विश्वास करता है. इस विश्वाससे प्रेमकी उत्पत्ति होती है. अर्थात् यह स्त्री हमारी आप्त है ऐसा अभिप्राय उसमें उत्पन्न होता है. जिससे प्रेमका उदय होता है. इसके अनंतर दोनोंमें आसक्ति पैदा होती है.

उल्लावसमुल्लावहिं चा वि अच्छियणपेच्छणेहिं तहा ॥
महिलासु सइरचारिस्स मणो अचिरेण खुब्भदि हु ॥ १०८८ ॥

नारीणां दर्शनोद्देशभाषणप्रतिभाषणैः ॥
आकृष्यते मनो नृणामयस्कांतैरिवायसम् ॥ ११२२ ॥

विजयोदया—उल्लावसमुल्लावेहिं संभाषणप्रतिवचनैः, ढौकनेन, प्रेक्षणेन, तथा वनिताभिः स्वच्छाचारी तस्य दीर्घं मनश्चलति ॥

मूलारा—उल्लावसमुल्लावेहिं संभाषणप्रतिवचनैः । अल्लियपेच्छणेहिं आश्रयणेन भणितकरणेन च सइरचारिस्स स्वेच्छाचारिणः ॥

अर्थ—स्त्रियोंके साथ संभाषण और प्रत्युत्तरसे, उनके पास आना जाना करनेसे, उनको देखनेसे, स्वेच्छाचारी बने हुए पुरुषका मन चंचल बनता है.

ठिदिगदिविलासविब्भमसहासचेट्ठिदकडक्खदिट्ठीहिं ॥
लीलाजुदिरदिसम्मेलणोवयारेहिं इत्थीणं ॥ १०८९ ॥

हासोपहासलीलाभिर्गुह्यगात्रप्रकाशनैः ॥
विलासैर्विभ्रमैर्हावैर्भावैः सह गमागमैः ॥ ११२३ ॥

विजयोदया—ठिदिगदि-स्त्रीणां स्थित्या, गत्या विभ्रमेण, नर्तनाभिप्रायेण, निगूहनेन, कटाक्षावलोकनेन, शोभया, द्युत्या, क्रीडया, सहगमनादिना उपचारेण च ॥

मूलारा—ठिदि स्थानकं । गदि चलन । विलास नयनविकारः । विब्भम भ्रूयुगांतविकारः । लासः मसृणनृत्यं चेट्ठिद अंगप्रकटनं । लीला शोभा मधुरांगविचेष्टितैः प्रियानुकरणं वा । द्युतिस्तेजः । सम्मेलण एकत्रावस्थानं । उवयारेहिं सहगमनाशनाद्युपचारैः ॥

अर्थ—स्त्रियोंका खडा होना, उनका गमन करना, अवलोकन करना, भोंहें वक्र करना, मधुर नृत्य, स्तनादिकोंको दिखाना, अभिप्राय छिपाना, कटाक्ष फेंकना, सुंदर रीतीसे अंगोंको हिलाना, प्रिय करके छंदानुसार प्रवृत्ति रखना, शोभा, कांति, क्रीडा, साथ गमन करना, साथ बैठना, इत्यादिक उपचारोंसे पुरुषका मन चंचल होता है.

हासोवहासकीडारहस्सवीसत्थजंपिएहिं तहा ॥
लज्जामज्जादीणं मेरं पुरिसो अदिक्कमदि ॥ १०९० ॥

मन्मनैः कोमलैर्वाक्यैर्हृद्यैर्विस्रंभभाषणैः ॥
गतिस्थितिद्युतिक्रीडानर्मविव्वोकमोहनैः ॥ ११२४ ॥

विजयोदया—हासोपहासक्रीडा हासेन प्रतिहासेन च, क्रीडया, एकांते विश्वस्तजल्पितेन च लज्जामर्यादयोः सीमातिक्रमं करोति नरः ॥

मूलारा—हासो वर्करं। उपहास प्रतिहासः। रहस्सवीसंभजंपिदेहिं एकांतविश्वासेन संजल्पैः। लज्जामज्जाद्राणं लज्जामर्यादयोः। मर्यादात्र स्थितिरित्थंभावनियम इति यावत्। मेरं सीमां।

अर्थ—स्त्रीके हासपर स्वयं हंसना उसके साथ खेलना, एकान्तमें विश्वासयुक्त होकर बोलना, लज्जाका त्याग करना और स्त्रियोंके साथ पुरुषोंका जो सभ्य व्यवहार होता है जिसको मर्यादा कहते हैं उसको तोडना ऐसे कार्योंसे पुरुष सीमातिक्रम करते हैं.

ठाणगदिपेच्छिदुल्लावादी सव्वेसिमेव इच्छीणं ॥
सविलासा चेव सदा पुरिसस्स मणोहरा हुंति ॥ १०९१ ॥

वक्रावलोकनैः स्त्रीणां वैराग्यं ह्रियते नृणाम् ॥
शरीरस्पर्शिभिः क्रुद्धैः पन्नगैरिव जीवितम् ॥ ११२५ ॥

विजयोदया—ठाणगदि स्थानं, गतिः, प्रेक्षितमुल्लापमपीत्यादयः सर्वासामेव स्त्रीणां सविलासाः पुरुषस्य मनः सदापहरन्ति ॥

मूलारा—होंति सर्वासां स्त्रीणां स्थानादयः सविलासा भवन्त्येव ॥

अर्थ—स्त्रियोंका खडा होना, सलील गमन, कटाक्ष फेककर देखना, मधुर भाषण करना इत्यादि सभी बातें विलासयुक्त-हावभावयुक्त होनेसे पुरुषोंका मन हरण करनेवाली होती हैं.

संसग्गीए पुरिसस्स अप्पसारस्स लद्धपसरस्स ॥
अग्गिसमीवे लक्खेव मणो लहुमेव विघलाइ ॥ १०९२ ॥

योषितां नर्तनं गानं विकारो विनयो नयः ॥
द्रावयन्ति मनो नृणां मदनं पावका इव ॥ ११२६ ॥

विजयोदया—संसग्गीए सहगमनेन, गमनेन, आसनेन च पुरुषस्य अल्पसारस्य लब्धप्रसरस्य मनो द्रवीभवति। अग्निनिकटस्थिता लाक्षेव ॥

मूलारा—संसग्गीए स्त्रीसंगत्या सहवासादिकया । अप्पसारस्स हीनसत्वस्य । प्राप्तस्वेच्छाजल्पनादिप्रवृत्तेः । विलादि विलीयते । द्रवीभवति ॥

अर्थ—सहगमन करना, एकासनपर बैठना, इन कार्योंसे अल्पधैर्यवाले और स्वच्छदसे बोलना, हंसना, वगैरह क्रिया करनेवाले पुरुषका मन अग्नीके समीप जैसी लाख पिघल जाती है वैसा पिघल जाता है.

संसग्गीसम्मूढो मेहुणसहिदो मणो हु दुम्मेरो ॥
पुव्वावरमगणंतो लंघेज्ज सुसीलपायारं ॥ १०९२ ॥

महिला मन्मथावासविलासोल्लासितानना ॥
स्मृता पि हरते चित्तं वीक्षिता कुरुते न किं ॥ ११२७ ॥
निर्मर्यादं मनः संगात्संमूढं सुरतोत्सुकम् ॥
पूर्वापरमनादृत्य शीलशालं विलंघते ॥ ११२८ ॥

विजयोदया—संसग्गीसम्मूढो स्त्रीसंसर्गसंमूढः मनो मिथुनकर्मपरिणतं निर्मर्यादं पूर्वापरमगणयदुल्लंघयेच्छीलप्राकारं ॥

मूलारा—मेहुणसहिदो सुरतोत्सुकं । अत्र पूर्वोत्तरयोश्चार्षत्वात्पुल्लिंगनिर्देशः । णिम्मेरो निर्मर्यादं । पुव्वावरं कारणकार्यभावं ॥ अगणंतो अपर्यालोचयन् । उल्लंघदि उल्लंघयति । चालेज्ज सुसीलेति पाठेऽपि स एवार्थः ॥

अर्थ—स्त्रीसहवाससे मनुष्यका मन मोहित होता है तब उसमें मैथुनसंज्ञा अर्थात् मैथुन करनेकी तीव्र इच्छा होती है. उस समय वह कार्यकारणका विचार करता नहीं. वह शीलतटका उल्लंघन करनेके लिये उतारु हो जाता है.

इंदियकसयसण्णागारवगुरुया सभावदो सव्वे ॥
संसग्गिलद्धपसरस्स ते उदीरंति अचिरेण ॥ १०३४ ॥
कषायेन्द्रियसंज्ञाभिर्गारवैर्गुरुकाःसदा ॥
सर्वे स्वभावतः संगादुद्भवन्त्यचिरेण ते ॥ ११२९ ॥

विजयोदया—इंदियकसायसण्णागारवगुरुका इंद्रियैः, कषायैः, संज्ञाभिराहारभयमैथुनपरिग्रहविषयाभिः। ऋद्धिरससातगौरवैश्च गुरुकाः। स्वभावत एव सर्वे प्राणभृतः संसर्गलब्धप्रसरस्य अतीव अशुभपरिणामा अचिरादेवोत्पद्यन्ते ॥

मूलारा—सव्वे सर्वे प्राणिनः। इंद्रियादिभिश्चतुर्भिः स्वभावतो गुरुका महांतः संति। ते इंद्रियादयोऽशुभ परिणामचतुष्टयं। उदीरेंति उदीर्यन्ते स्त्रीसंगतिलब्धप्रसरस्स शीघ्रं समुद्भवंतीत्यर्थः ॥

अर्थ—प्रायः प्राणिओंमें स्वभावसे ही इंद्रिया, कषाय, संज्ञा और गारव उत्कट रहते हैं. स्त्रियोंका संसर्ग होनेसे पुरुष स्वच्छंदी बनता है तब इंद्रियादिक उच्छृंखल हो जाते हैं. जिससे शीघ्रही अत्यंत अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं. संज्ञाके आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, और परिग्रहसंज्ञा ऐसे चार भेद हैं. आहारकी उत्कट अभिलाषा होना, भीति उत्पन्न होना, मैथुनकी तीव्र इच्छा रहना और परिग्रहोंमें अभिलाष उत्पन्न होना ऐसा चार संज्ञाओंका क्रमशः अर्थ है. ऋद्धिगारव, रसगारव और सातगारव ऐसे गारवके तीन भेद हैं. इनका वर्णन पीछे गया है-

---

मादं सुदं च भगिणीमेगंते अल्लियंतगस्स मणो ॥
खुब्भइ णरस्स सहसा किं पुण सेसासु महिलासु ॥ १०३५ ॥
मातृस्वसृसुताः पुंस एकांते श्रयतो मनः ॥
शीघ्रं क्षोभं व्रजत्येव किं पुनः शेषयोषितः ॥ ११३० ॥

विजयोदया—स्पष्टार्था ॥

मूलारा—अह्लियंतगस्स आश्रयतः

अर्थ—माता, अपनी लडकी और बहिन इनकाभी एकान्तमें आश्रय पाकर मनुष्यका मन क्षुब्ध होता है फिर दुसरी महिलाओंके विषयमें कहना ही क्या ?

उत्तरा—

जुण्णं पोच्चलमइलं रोगिय बीभस्स दंसणविरूवं ॥
मेहुणपडिगं पच्छेदि मणो तिरियं च खु णरस्स ॥ १०९६ ॥

निःसारां मलिनां जीर्णा विरूपां रोगिदुर्दशम् ॥
तिरश्चीं वा समीहेत न्मनो मैथुनं प्रति ॥ ११३१ ॥

विजयोदया—जुण्णं जीर्णतरां । पोचलमइलं निःसारमलिनां । रोगिदबीभस्सदंसणविरूवं व्याधितां बीभत्सलोचनां विरूपामपि स्त्रियं । मेहुणपडिगं मैथुनकर्मनिमित्तं पच्छेदि प्रार्थयते । मणो मनः । तिरियं खु तिरश्चीं वा दृष्ट्वा हि तीव्रकामावेशात् तिर्यक्ष्वपि नराणां प्रवृत्तिः ॥

रहस्येप्याश्रीयमाणास्तरुण्यादिरमणीया एव रमण्यो मनःक्षोभाय पुंसः प्रभविष्यंतीत्याशंकायामाह—

मूलारा—जुण्णं अतिवृद्धां । पोच्चडमइलं निःसारां, मलिनां च । रोगिद व्याधितां । बीभच्छदंसणा बीभत्सा लोचनां । मेहुणपडियं मैथुनं प्रति सुरतार्थमित्यर्थः । तिरियं खु तिरश्चीं वा । तिरश्चीमपि वा । उक्त च—

रोगवतीमतिजीर्णां बीभत्सां दुर्बलां विरूपां च ॥
अपि च तिरश्चीमबलामिच्छति मदनज्वरी भोक्तुम् ॥

अर्थ—जो स्त्री वृद्ध है, निःसार है, मलिन है, रोगी है, जिसकी आंखें बीभत्स-भयानक है, जो कुरूप है ऐसी स्त्रीकीभी यह मन मैथुन करनेके लिये प्रार्थना करता है. इतनाही नहीं तिर्यंच स्त्रीकोभी चाहता है. तीव्रकामके आवेशमें आकर मनुष्यकी पशुके साथभी मैथुन करनेकी प्रवृत्ति हो जाती है.

प्रकारांतरेणापि स्त्रीसंसर्गमादर्शयति—

दिट्ठाणुभूदसुदविसयाणं अभिलाससुमरणं सव्वं ॥
एसा वि होइ महिलासंसग्गी इत्थिविरहम्मि ॥ १०९७ ॥

दृष्टश्रुतानुभूतानां विषयाणां रुचिस्मृतिः ॥
नारीसंसर्ग एषोऽपि विरहेऽप्यस्ति योषितः ॥ ११३२ ॥

विजयोदया—दिट्ठाणुभूदसुदविसयाणं दृष्टानां, अनुभूतानां, श्रुतानां च विषयाणां अभिलाससुमरणं अभिलाषस्मरणं । सव्वं एसो वि होदि महिलासंसग्गी एषोऽपि भवति युवतिसंसर्गः । इत्थीविरहे स्त्रीविरहे ॥

स्त्रिया सहवासादिना विनापि स्त्रीसंसर्गमादर्शयति—

मूलारा—एसा वि यदिदं दृष्टानां, अनुभूतानां, वा विषयाणां अभिलषणं स्मरणं वा तत्सर्वमियं अपरा स्त्री संसर्गी भण्यते। इत्थिविरहे वि योषितो व्यवधानेऽपि सति ॥

उक्तं च—दृष्टश्रुतानुभूतान्विषयानभिलष्यतश्च संस्मरतः ॥
प्रमदाविरहेऽपि मुनेर्भवति प्रमदाश्रयो दोषः ॥

प्रकारांतरसेभी स्त्रीसंसर्गका निरूपण करते हैं—

अर्थ—स्त्रीके विरहमेंभी देखे हुए, सुने हुए, अनुभव जिनका लिया है ऐसे पदार्थकी अभिलाषा करना बारबार उनका स्मरण करना यह भी संसर्गका एक भिन्न प्रकार है.

थेरो बहुस्सुदो पच्चईं पमाणं गणी तवस्सित्ति ॥
अचिरेण लभदि दोसं महिलावग्गम्मि वीसत्थो ॥ १०९८ ॥

वृद्धो गणी तपस्वी च विश्वास्यो गुणवानपि ॥
अचिराल्लभते दोषं विश्वस्तः प्रमदाजने ॥ ११३३ ॥

विजयोदया—थेरो स्थविरः, बहुश्रुतः, प्रत्ययितः, प्रमाणभूतः गणधरः, तपस्वीत्येवं प्रकारः। अचिरेण चिरकालमंतरेण । लभदि दोसं अयशो लभते । महिलावग्गम्मि युवतिवर्गे । वीसत्थो विश्वस्तः ॥

वृद्धत्वादिधर्मणामपि स्त्रीविश्वासो दोषाय स्यादित्याह—

मूलारा—पच्चई प्रत्ययितो विश्वास्य इति यावत् । पमाणं प्रमाणभूतः । तवस्सित्ति तपस्वीत्येवंप्रकारोऽपि किं पुनस्तारुण्यादिदुर्यशस्करधर्मभागिसीति शब्देन प्रकाश्यते ।

१११२ अर्थ—वृद्धमुनि, बहुश्रुतमुनि-अनेक मतोंको जाननेवाले मुनि, प्रमाणभूत मुनि आचार्यपदधारक मुनि बहुत

कालके दीक्षित मुनि ये भी महिलावर्गमें विश्वस्त होनेसे दोषयुक्त माने जाते हैं. अपयशके पात्र होते है.

किं पुण तरुणा अबहुसुदा य सइरा य विगदवेसा य ॥
महिलासंसग्गीए णट्ठा अचिरेण होंहंति ॥ १०९९ ॥
किं पुनर्विकृताकल्पाः स्वैरिणः शेषसाधवः ॥
नारीसंसर्गतो नष्टा न संति स्वल्पकालतः ॥ ११३४ ॥

विजयोदया—किं पुण तरुणा सयौवना , अबहुश्रुता', स्वैरचारिण . विकृतवेषाश्च युवतिसंसर्गेण झटिति नष्टा न भवन्ति ? किं पुनर्भवन्त्येवेति यावत् ॥

तदेव सविस्मयवक्रभणित्या भणति—

मूलारा—सइरा स्वैराः स्वच्छंदचारिणः । विगदवेसा विकृतवेषाः । देशकुलवयोवर्णविद्याचरणाद्यनुचितने-पथ्याः स्वानुरूपाचारच्युताः ॥

अर्थ—जो तरुण है, अल्पज्ञ है, स्वैराचारी है, जो देश, कुल, वय, वर्ण, विद्या, आचार इत्यादिकोंको प्रतिकूल ऐसा वेष धारण करते हैं. ऐसे मनुष्य स्त्रीसंसर्गसे क्यों न शीघ्र नष्ट होंगे अर्थात् होंगे ही. अर्थात् वे लोक स्त्रीसंसर्गसे अकीर्तिमान् होंगे इसमें क्या आश्चर्य है.

सगडो हु जइणिगाए संसग्गीए दु चरणपब्भट्ठो ॥
गणियासंसग्गीए य कूववारो तहा णट्ठो ॥ ११०० ॥
जैनिकासंगतो नष्टश्चरणाच्छकटो यतिः ॥
वेश्यायाः सह संसर्गान्नष्टः कूपचरस्तथा ॥ ११३५ ॥

विजयोदया—सगडो हु सगडानामधेय' । जइणिगाए संसग्गीए जइणिगासंज्ञायाः संसर्गेण । चरणपब्भट्ठो चारित्राद्भ्रष्ट. । गणिकासंसग्गीए गणिकागोष्ठ्या कूवरो वि कूपारनामक. । तहा णट्ठो तथा चारित्रान्नष्टः ॥

स्त्रीसंसर्गेण पूर्वेषामपि संयमभ्रंशं गाथाद्वयेन दर्शयति—

मूलारा—सगडो शकटो नाम मुनिः ॥ जइणियाए जैनिकानाम्न्या ब्राह्मण्याः ॥

अर्थ—शकट नामके मुनि जैनिका नामक वेश्याके संसर्गसे चारित्रसे च्युत होगये. तथा कूपार नामक मुनिभी वेश्याके सहवासमें चारित्रभ्रष्ट हो गये हैं.

रुद्दो परासरो सच्चईयरायरिसि देवपुत्तो य ॥
महिलारूवालोई णट्ठा संसत्तदिट्ठीए ॥ ११०१ ॥
रुद्रः पाराशरो नष्टो महिलारक्तया दृशा ॥
देवर्षिः सात्यकिदेवपुत्रश्च क्षणमात्रतः ॥ ११३६ ॥

विजयोदया—रुद्दो परासरो रुद्रः, पराशरः, सात्यकिः, राजर्षिर्देवपुत्रश्च युवतिरूपावलोकितसंसक्तया दृष्ट्या नष्टाः ॥

मूलारा—सच्चई सात्यकिर्नाम । रायरिसी राजर्षिनामा, । महिलारूवालोई स्त्रीरूपालोकिनः । संसत्तदिट्ठीए सम्मुखसासक्तया दृशा ।

अर्थ—रुद्र, पराशरमुनि, सात्यकीमुनि, राजर्षि नामक मुनि और देवपुत्र नामक मुनि स्त्रियोंका रूप देखनेमें आसक्त हुई दृष्टीसे नष्ट भ्रष्ट हो गये.

जो महिलासंसग्गी विसंव दट्ठूण परिहरइ णिच्चं ॥
णित्थरइ बंभचेरं जावज्जीवं अकंपो सो ॥ ११०२ ॥
भुजंगीनामिव स्त्रीणां सदा संगं जहाति यः ॥
तस्य ब्रह्मव्रतं पूतं स्थिरीभवति योगिनः ॥ ११३७ ॥

विजयोदया—जो महिलायाः स्त्रीणां संसर्गं विषमिव दृष्ट्वा नित्यं परिहरति । असौ ब्रह्मचर्यं उद्वहति यावज्जीवं निश्चलः ॥

स्त्रीगोष्ठीपरिहारगुणमाह—

मूलारा—अकंपो निश्चलः ।

अर्थ—जो पुरुष स्त्रीका संसर्ग विषके समान समझकर उसका नित्य त्याग करता है वही महात्मा यावज्जीव ब्रह्मचर्यमें दृढ रह सकता है

सव्वम्मि इत्थिवग्गम्मि अप्पमत्तो सदा अवीसत्थो ॥
बंभं णिच्छरदि वद चरित्तमूलं चरणसारं ॥ ११०३ ॥
अविश्वस्तोऽप्रमत्तो य स्त्रीवर्गे सकले सदा ॥
यावज्जीवमसौ पाति ब्रह्मचर्यमखंडितम् ॥ ११३८ ॥

विजयोदया—सव्वम्मि सर्वस्त्रीवर्गे। अप्रमत्त सदा अविश्वस्त, ब्रह्मव्रतमुद्वहति चारित्रस्य मूलं सारं च ॥

मूलारा—स्पष्टम्।

अर्थ—संपूर्ण स्त्रीवर्गमें जो पुरुष-मुनि सावध रहता है, अविश्वस्त रहता है वही ब्रह्मचर्य का पालन करता है यह ब्रह्मचर्य चारित्रका मूल और सार है.

किं मे जंपदि किं मे पस्सदि अण्णो कहं च वट्टामि ॥
इदि जो सदाणुपेक्खइ सो दढबंभव्वदी होदि ॥ ११०४ ॥
अहं वर्ते कथं किं मे जनः पश्यति भाषते ॥
चिंता यस्येदृशी नित्यं दृढब्रह्मव्रतोऽस्ति सः ॥ ११३९ ॥

विजयोदया—किं मे जप्पदि किं जल्पति मा जनोऽन्य। किं पश्यति, कीदृशी वा मम वृत्तिरिति य सदानुप्रेक्षते असौ दृढब्रह्मचर्यव्रतो भवति ॥

ब्रह्मव्रतदार्ढ्योपायमाह—

मूलारा—अणुपेक्खदि अनुचिंतयति।

अर्थ—लोक मेरे विषयमें क्या बोलते हैं, लोक मेरे तरफ किस निगाहसे देखते हैं, और मेरी प्रवृत्ति कैसी है ऐसा जो प्रतिदिन वारवार विचार करता है वही दृढ ब्रह्मचारी बन सक्ता है

मज्झण्हतिक्खसूरं व इच्छिरूवं ण पासदि चिरं जो ॥
खिप्पं पडिसंहरदि य मणं खु सो णिच्छरदि बंभं ॥ ११०५ ॥

न पश्यत्यंगनारूपं ग्रीष्मार्कमिव यश्चिरम् ॥
क्षिप्रं संहरते दृष्टिं तस्य ब्रह्मव्रतं स्थिरम् ॥ ११४० ॥

विजयोदया—मज्झण्हतिक्खसूरं व मध्यान्हे स्थितं तीक्ष्णमादित्यमिव स्त्रीणां रूपं चिरं यो न पश्यति । क्षिप्रमुपसंहरति दृष्टिं च स निस्तरति ब्रह्मचर्यं ॥

मूलारा—खिप्पं शीघ्रं । पडिसंहरदि निवर्तयति ॥

अर्थ—मध्यान्हको प्राप्त हुए तीक्ष्ण सूर्यके समान जो स्त्रीका रूप देरतक नहीं देखता है अर्थात् स्त्रीके रूपसे अपनी दृष्टि को जल्दी हटाता है वही ब्रह्मचर्यका रक्षण कर सकता है.

एवं जो महिलाए सद्दे रूवे तहेव संफासे ॥
ण चिरं सज्जदि हु मणं णिच्छरदि स संततं बंभं ॥ ११०६ ॥

गंधे रूपे रसे स्पर्शे शब्दे स्त्रीणां न सज्जति ॥
जातु यस्य मनस्तस्य ब्रह्मचर्यमखंडितम् ॥ ११४१ ॥

द्विपमिव हरिकांता मंक्षु मीनं बकीव । भुजगमिव मयूरी मूषिकं वा बिडाली ॥
गिलति निकटवृत्तिःसंयतं निर्दया स्त्री । निकटमिति तदीयं सर्वदा वर्जनीयं ॥ ११४२ ॥
प्रथयति भवमार्गं मुक्तिमार्गं वृणक्ति । दवयति शुभबुद्धिं पापबुद्धिं विधत्ते ॥
जनयति जनजल्पं शोकवृक्षं लुनीते । वितरति किमु कष्टं संगतिर्नांगनानाम् ॥११४३

इति स्त्रीसंसर्गदोषाः ॥

विजयोदया—एवं जो महिलाए एवं यो युवतिशब्दे, रूपे, संस्पर्शे च चिरं मनो न सधत्तेऽसो ब्रह्म निस्तरति । संसर्गी ॥

मूलारा—सज्जदि संधत्ते । स्त्रीसंसर्गदोषाः ॥

अर्थ—इस प्रकार जो स्त्रीका गंध, शब्द, रूप, रस, स्पर्श, इनमें अपने मनको लगाता नहीं वही ब्रह्मचर्य का पालन निरतिचार करता है.

इहपरलोए जदि दे मेहुणविस्सुत्तिया हवे जण्हु ॥
तो होहि तमुवजुत्तो पंचविधे इत्थिवेरग्गे ॥ ११०७ ॥

यदि ते जायते बुद्धिर्लोकद्वितयमैथुने ॥
उद्योगः पंचधा कार्यः स्त्रीवैराग्ये तदा त्वया ॥ ११४४ ॥

विजयोदया—इहपरलोए इहपरलोके च यदि मैथुनपरिणामो भवेत्। पंचविधे स्त्रीवैराग्ये त्वमुपयुक्तो भव। तदुपयोगाद्विनश्यत्यसावशुभपरिणाम इति सूरेरुपदेशः ॥

एवं वैराग्योपायपचकं प्रपंच्य तदुपयोगविपर्यं निर्दिशन्क्षपकं तत्र प्रयुंक्ते—

मूलारा—मेहुणविस्सोत्तिया मैथुनाशुभतमपरिणामः। हवे जण्हु भवेत्। इहलोकविषयपरलोकविषयं वा मैथुनं सेवितुमाकांक्षा यदि तव स्यादिति संबंधः। तं त्वम् ॥

अर्थ—इहलोकमें और परलोकमें यदि मैथुन करनेका परिणाम हृदयमें उत्पन्न होगा तो पांच प्रकारके स्त्रीवैराग्यमें हे क्षपक तूं हमेशा उद्युक्त हो जिससे तेरा मैथुन परिणाम जो कि अशुभ है नष्ट होगा. ऐसा आचार्य का क्षपकको उपदेश है.

उदयम्मि जायवड्ढिय उदएण ण लिप्पदे जहा पउमं ॥
तह विसएहिं ण लिप्पदि साहू विसएसु उसिओ वि ॥ ११०८ ॥

लिप्यते वर्तमानोऽपि विषयेषु न तैर्यतिः ॥
पद्मजातं जले वृद्धं जातुं किं लिप्यते जलैः ॥ ११४५ ॥

विजयोदया—उदयम्मि जायवड्ढिय उदके जातं परिवृद्धं च यथा पद्मं उदकेन न लिप्यते। तथा न लिप्यते विषयैः साधुर्विषयेषु वर्तमानोऽपि ॥

श्रीवैराग्यभावनापरस्य माहात्म्यमाह—

मूलारा—उसिदो वि वर्तमानोऽपि ।

अर्थ—जलमें उत्पन्न होकर वहां ही वृद्धिंगत हुआ ऐसा कमल जैसे पानीसे अलिप्त ही रहता है. वैसे साधु विषयमें रहकर भी–उन विषयोंमे रहकर भी उन विषयोंसे अलिप्त रहते हैं. तात्पर्य यह है कि, वे पंच प्रकारके वैराग्य कारणोंका वारवार विचार करके अपने हृदयके सिंहासन पर वैराग्यको दृढ बिठाते हैं. जिससे वे विषयोंसे अलिप्त रह सकते हैं.

उग्गाहिंतस्सुदधिं अच्छेरमणोल्लणं जह जलेण ॥
तह विसयजलमणोल्लणमच्छेरं विसयजलहिम्मि ॥ ११०९ ॥

विषयैर्विष्टपस्थस्य चित्तमस्पर्शनं यतेः ॥
सागरं गाहमानस्य सलिलैरिव जायते ॥ ११४६ ॥

विजयोदया—ओग्गाहंतस्सुदधिं अवगाहमानस्योदधिं आश्चर्यं यथा जलेनास्पर्शनं । तथा विषयजलेनार्द्रचित्तता आश्चर्यं विषयजलधिमध्यमध्यासीनस्य ॥

विषयपरिकरितस्य विषयैरनभिष्वंगे विस्मयं भावयति—

मूलारा—उग्गाहितस्स प्लवमानस्य । अच्छेरं आश्चर्यं अणोल्लणं अनार्द्रीकरणं । अस्पर्शनम् । विसयजलधिम्मि विषयोदधिमध्यमध्यासीनस्य श्रीवैराग्यभावनापरस्य साधोर्विषयजलानार्द्रीकरणमाश्चर्यमित्यर्थः ।

अर्थ—जैसे कोई पुरुष समुद्रमें अवगाहन करके भी यदि जलस्पर्शसे अलिप्त रहेगा तो वह आश्चर्यकारक बात समझनी चाहिये. वैसे विषयसमुद्रके बीचमें अवगाहन करके भी विषयजलसे चित्त अलिप्त रहना आश्चर्यकारक है.

मायागहणे बहुदोससावए अलियदुमगणे भीमे ॥
अमुइतणिल्ले साहू ण विप्पणस्संति इत्थिवणे ॥ १११० ॥

न दोषश्वापदे भीमे वंचनागहने यतिः ॥
नश्यति स्त्रीवनेऽलीकपादपेऽशुचितातृणे ॥ ११४७ ॥

विजयोदया—मायागहणे यथा गहनं परेषां दु प्रवेशं एवं मायापि परैर्दुरधिगमेति मायापि गहनमित्युच्यते। मायागहनं यस्मिन्वने तन्मायागहनं तस्मिन्। बहुदोससावदे बहवो दोषा बहुदोषाः असूया, पिशुनता, चपलता, भीरुता, नितरां प्रमत्तता चेत्येवमादयस्ते श्वापदा यस्मिन्। अलियदुमगणे यथा द्रुमो महाननेकशाखोपशाखाकुलश्च तद्वदलीकता द्रुमगणो यस्मिन्। भीमे भयकरे। अशुचितणिल्ले अशुचितृणकुले। यतयो न विप्रणश्यन्ति स्त्रीवने ॥

योषिदटव्यामविभ्राम्यतः साधून्प्रकाशयति—

मूलारा—मायागहणे मायैव परमदुर्गमत्वाद्गहनं लतादिगुल्मजालं यत्र। बहुदोससावदे बहवो दोषाश्चासूयापैशून्यचापलभीरुत्वप्रमत्तत्वादयः। ते श्वापदा व्याघ्रादयो यत्रानिवारितप्रसरत्वात्। अलियदुमगणे अलीकमसत्यं वचस्तदेव द्रुमगणा यत्र अनेकशाखोपशाखाकुलत्वात्। अशुचितणिल्ले अशुचीनि देहांगोपांगानि तान्येव तृणानि निरंतरप्रसृतत्वात् तैर्युक्तः। ण विप्पणासंति न विभ्राम्यन्ति। दिङ्मूढा न भवन्तीत्यर्थः।

अर्थ—यह स्त्रीवचन मायासे गहन हुआ है अर्थात् जैसे गहन वनमें प्रवेश करना कठिन है वैसा इस मायाका स्वरूप जाननाभी बडा कठिण है अतः माया भी गहन कहलाती है. इस स्त्रीवनमें यह माया गहन है. जैसे वन सिंहव्याघ्रादि क्रूर प्राणिओंसे व्याप्त रहता है वैसे स्त्रीवन भी अनेक दोषरूप श्वापदोंसे व्याप्त हुआ है. इस स्त्रीवनमें असूया-दूसरोंके गुण सहन न होना, चुगली करना, चंचलपना, डरपोकपना, और अत्यंत उन्मत्तता इत्यादि दोषरूप क्रूर प्राणी इस स्त्रीवनमें विचरते हैं. जैसे वृक्ष बडा होता है. उसको शाखा उपशाखाए रहती हैं. वैसे स्त्रीवनमें असत्य भाषणरूप वृक्ष अपनी अनेक शाखा उपशाखाओंसे बढ गये हैं. यह स्त्रीवन भयकर है इसमें अपवित्रतारूपी तृण ऊगता है. परंतु ऐसे स्त्रीवनमें जितेन्द्रिय तपस्वीगण दिङ्मूढ नहीं बनते हैं।

सिंगारतरंगाए विलासवेगाए जोव्वणजलाए ॥ ११२०
विहसियफेणाए मुणी णारिणईए ण बुज्झंति ॥ ११११ ॥

भूरिशृंगारकल्लोला यौवनाम्बुर्वधूनदी ॥
विलासास्पदा हासफेना वहति संयतम् ॥ ११४८ ॥

विजयोदया—सिंगारतरंगाए शृंगारतरंगया, विलासवेगया, यौवनजलया, विहसितफेनया, नारीनद्या मुनिर्नोह्यते ॥

मुनेः स्त्रीसरिदप्रेर्यत्वमाह—

मूलारा—सिंगार सर्वांगसंस्कारः । ण वुज्झंति नोह्यन्ते ।

अर्थ—स्त्री नदीके तुल्य है. नदीमें तरंग, वेग, पानी, फेन, इतनी बातें रहती हैं. इस स्त्रीरूपी नदीमें शृंगाररूपी तरंग हमेशा उछलते रहते हैं. विलासरूपी वेगसे यह बहती है. तारुण्यरूपी जलसे भरी हुई है और मंदहास्यरूपी फेनसे यह व्याप्त हो रही है. ऐसी स्त्रीरूपी नदी जितेन्द्रिय मुनिओंको नहीं वहा सकती है.

ते अदिसूरा जे ते विलाससलिलमदिचवलरदिवेगं ॥
जोव्वणणइंसु तिण्णा ण य गहिया इच्छिगाहेहिं ॥ ११९२ ॥
विलाससलिलोत्तीर्णा यैस्तीव्रा यौवनापगा ॥
अग्रस्ताः प्रमदाग्राहैस्ते धन्या मुनिपुंगवाः ॥ ११४९ ॥

विजयोदया—ते अदिसूरा ते अतिशूराः । ये विलाससलिलां मतिचपलरतिवेगां, यौवननदीमुत्तीर्णाः, न च गृहीता युवतिग्राहैः ॥

योषिद्ग्राहबाधाविरहेण तारुण्यतरंगिणीमतिक्रान्तान्प्रशंसति—

मूलारा—स्पष्टम्—

अर्थ—यह यौवनरूप नदी विलासरूपी पानीसे और अतिशय चंचल रतिरूपवेगसे युक्त है. इस नदीमें तरुण स्त्रीरूपी मगर रहते हैं. परंतु जिन मुनिराजोंको स्त्रीरूप मगरने नहीं पकडा है वे मुनिराज इस जगतमें धन्य हैं. ऐसे मुनिराज ही अतिशूर समझने चाहिए.

महिलावाहविमुक्का विलासपुंखा कडक्खदिट्ठिसरा ॥
जण्ण विधंतीह सदा विसयवणे सो हवइ धण्णो ॥ १११३ ॥

धन्यं स्त्रीव्याधनिर्मुक्ताः कटाक्षेक्षणसायकाः ॥
विध्यति विषयारण्ये वर्तमानं न योगिनम् ॥ ११५० ॥

विजयोदया—महिलावाहविमुक्का युवतिव्याधविमुक्ता । विलासपुंखका, कटाक्षदृष्टिशरा । यं न घ्नंति सदा विषयवने चरत भवति स धन्य ॥

कामिनीकटाक्षनिरीक्षणाक्षोभ्यमाणमनस्कमभिष्टौति—

मूलारा—वाह व्याधः । ण विधंति न विध्यति ।

अर्थ—स्त्रीरूपी पारधीके द्वारा छोडे गए कटाक्षरूपी बाण विषयवनमें भ्रमण करनेवाले जिस महात्माका घात नहीं करते हैं वे इस जगत में धन्यताके पात्र हैं.

विव्वोगतिक्खदंतो विलासखंधो कडक्खदिट्ठिणहो ॥
परिहरदि जोव्वणवणो जमित्थिवग्घो तगो धण्णो ॥ १११४ ॥

न विव्वोकरदोऽभ्येति विलासनखरो मुनिम् ॥
कटाक्षाक्षोऽङ्गनाव्याघ्रस्ताण्यारण्यवर्तिनम् ॥ ११५१ ॥

विजयोदया—विव्वोगतिक्खदंतो विलासखंधो विभ्रमतीक्ष्णदंतो विलासस्कंध कटाक्षदृष्टिनख परिहरति यौवनवने यं युवतिव्याघ्र स धन्य ॥

योषानभिगम्यमभिनंदति—

मूलारा—विव्वोग भ्रूयुगातविकारः । विलास नेत्रविकारः । कडक्खदिट्ठी अपांगनिरीक्षणं । तगो सः ।

अर्थ—जो हावभावरूपी तीक्ष्ण दाढाओंसे युक्त हैं विलासरूपी बाहु जिसके हैं, कटाक्षरूप नखों को धारण करनेवाला यह तरुणीरूपी व्याघ्र तारुण्यवनमे विचरनेवाले जिन माहात्माओंको पकडता नहीं वे महात्मा धन्य हैं.

तेल्लोक्काडविडहणो कामग्गी विसयरुक्खपज्जलिओ ॥
जोव्वणतणिल्लचारी जं ण डहइ सो हवइ धण्णो ॥ ११११५ ॥

त्रिलोकदाही विषयोद्धतेजाः । तारुण्यतृण्याज्वलितः स्मराग्निः ॥
न प्लोषते यं स्मृतिधूमजालः । स वंदनीयो विदुषा महात्मा ॥ ११५२ ॥

विजयोदया—तेल्लोकाडविडहणो त्रैलोक्याटविदहनः । कामाग्निर्विषयवृक्षे प्रज्वलिते यौवनतृणसंचरणचतुरं यन्न दहत्यसौ धन्यः ॥

कामदहनादाह्यं शंसति—

मूलारा—तणिल्ल तृणं । तृण्या वा तत्र चरत्यभीक्ष्णमिति । अन्ये यौवनतृण्याचारिणं यं न दहतीति प्रतिपन्नाः द्वितीयार्थे प्रथमाभिधानात् । उक्तं च—

त्रैलोक्यकाननोदाही कामाग्निर्ज्वलितस्तराम ॥
यौवनोदयतृण्यास्थं धन्यं दहति नो नरं ॥

अर्थ—यह कामाग्नि विषयरूपी वृक्षोंका आश्रय लेकर प्रज्वलित हुआ है. त्रैलोक्यरूपी वनको यह कामाग्नि जलानेके लिये उद्युक्त हुआ है. परंतु तारुण्यरूपी तृणपर संचार करनेवाले जिन महात्माओंको यह जलानेमें असमर्थ हैं वे माहत्मा धन्य हैं.

विसयसमुद्दं जोव्वणसलिलं हसियगइपेक्खिदुम्मीयं ॥
धण्णा समुत्तरंति हु महिलामयरेहिं अच्छिक्का ॥ ११११६ ॥

विपुलयौवननीरमनाकुलो विषयानीरनिधिं रतिवीचिकम् ॥
इह वधूमकरैरकदर्थितस्तरति धन्यतमः परदुस्तरम् ॥ ११५३ ॥

इति चतुर्थं व्रतम् ॥

विजयोदया—विसयसमुद्दं विषयसमुद्रं । यौवनसलिलं हसनगमनप्रेक्षणतरंगनिचितं । धन्याः समुत्तरंति युवतिमकरैरस्पृष्टाः ॥ चतुर्थं व्रतं व्याख्यातं ॥ चतुर्थं ॥

इष्टेंद्रियार्थानुज्झतां स्त्रीभिरप्रतिवंधं प्रतिवर्णयति—

मूलारा—हसिदगदिपेक्खदुम्मीयं हसितगमनप्रेक्षणतरंगं । अच्छिका अस्पृष्टाः । ब्रह्मचर्यव्रतम् ॥

अर्थ—यह विषयसमुद्र यौवनरूपी जलसे भरा हुआ है. स्त्रियोंका मंदहास, गमन, कटाक्ष फेंक कर देखना येही इसमें तरंग हैं. जो महात्मा स्त्रीरूपी मगरोंसे ग्रसित न होकर इस विषयसमुद्रको तीर कर जाते हैं। वे ही स्तुतीके पात्र अर्थात् धन्य हैं. चतुर्थ ब्रह्मचर्यमहाव्रतका वर्णन पूर्ण हुआ.

पंचममहाव्रतनिरूपणायोत्तरप्रबंधः—

अब्भंतरबाहिरए सव्वे गंथे तुमं विवज्जेहि ॥
कदकारिदाणुमोदेहिं कायमणवयणजोगेहिं ॥ ११२७ ॥

बाह्यमाभ्यंतरं संगं कृतकारितमोदनैः ॥
विमुंचस्व सदा साधो ! मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ ११५४ ॥

विजयोदया—अब्भंतरबाहिरगे अभ्यंतरान्बाह्यांश्च । सव्वे गंथे सर्वान्ग्रंथान् । तुमं विवज्जेहि वर्जय भवान् । कदकारिदाणुमोदेहिं कृतकारितानुमननैः । कायमणवयणजोगेहिं कायेन मनसा वाचा च ॥

एवं ब्रह्मचर्यव्रतं व्यावर्ण्य सांप्रतं अपरिग्रहाख्यं पंचमं महाव्रतं गाथापंचपष्ट्या प्रबंधेन व्यावर्णयितुकामः प्रथमं नैर्ग्रन्थ्यं प्रति क्षपकं प्रयोजयति—

मूलारा—अब्भंतरबाहिरए अभ्यंतरान्बाह्यांश्च । गंथे परिग्रहान् । तुमं त्वं ॥

अब पांचवे परिग्रहपरित्याग महाव्रतका आचार्य विस्तारसे निरूपण करते हैं—

अर्थ—हे क्षपक! तुम संपूर्ण अंतरंग और बहिरंग परिग्रहोंका मन, वचन, और शरीरसे तथा कृत, कारित और अनुमोदनसे अर्थात् नऊ प्रकारोंसे त्याग करो.

तत्राभ्यंतरपरिग्रहभेदं निरूपयति गाथा —

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हासादिया य छद्दोसा ॥
चत्तारि तह कसाया चउदस अब्भंतरा गंथा ॥ ११२८ ॥

एकत्रिपद्चतुःसंख्याः संगाः संति चतुर्दश ॥ ११५५ ॥

विजयोदया—मिच्छत्तवेदरागा वस्तुयाथात्म्याश्रद्धानं मिथ्यात्वं, वेदशब्देन स्त्रीपुन्नपुंसकवेदाख्यानां कर्मणां ग्रहणं। तज्जनिताः स्त्र्यादीनां अन्योन्यविषयरागाः स्त्रियः पुंसु रागः। पुंसो युवतिषु, नपुंसकस्योभयत्र। हस्सादिगा य छद्दोसा हास्यं, रतिररतिः शोको, भयं जुगुप्सेति। एते षड्दोषाः। चत्तारि तह कसाया चोद्दस अब्भंतरा गंथा। चत्वारस्तथा कषायाश्चतुर्दशैते अभ्यंतराः परिग्रहाः॥

कियंतोऽभ्यंतरग्रंथा भवन्तीत्यत्राह—

मूलारा—वेदैः स्त्रीपुंनपुंसकवेदाख्यैः कर्मभिर्जनिता रागाः। स्त्र्यादीनामन्योन्यविषयाः प्रीतयः। स्त्रियाः पुंसु रागो, मैथुनसंज्ञोद्बोधः, पुंसः स्त्रीषु। नपुंसकस्योभयत्र च। हासादिया हास्यादिकाः। हास्यं रतिररतिः, शोको, भयं, जुगुप्सेति षट्। हासादिगा य छद्दोषा इति प्रायिकः पाठः। चत्वारि क्रोधमानमायालोभाख्याः।

अंतरंग परिग्रहोंका वर्णन—

अर्थ—जीवादि पदार्थोंके सत्य स्वरूपपर श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद ऐसे वेदकर्मके तीन भेद हैं. स्त्रीवेद कर्मका उदय होनेसे जीवकी पुरुषमें अभिलाषा होती है. पुरुषवेद का उदय होनेसे स्त्रीमें अभिलाषा होती है. व नपुंसक वेदसे स्त्री और पुरुष दोनोंमें अभिलाषा होती है. हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, ऐसे छह दोष हैं, क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे चार कषाय हैं. सब मिलकर अंतरंग परिग्रहके चौदह भेद होते हैं.

बाहिरसंगा खेत्तं वत्थं धणधण्णकुप्पभंडाणि ॥
दुपयचउप्पय जाणाणि चेव सयणासणे य तहा ॥ ११२२ ॥
क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम् ॥
यानं शय्यासनं कुप्यं भांडं संगा बहिर्दश ॥ ११५६ ॥

विजयोदया—बाहिरसंगा बाह्यपरिग्रहाः। खेत्तं कर्षणाद्यधिकरणं। वत्थं वास्तु गृहं। धणं सुवर्णादि। धण्ण धान्यं व्रीह्यादि। कुप्प कुप्यं वस्त्रं। भंड भांडशब्देन हिंगुमरिचादिकमुच्यते। दुपदशब्देन दासदासीभृत्यवर्गादि। चउप्पय ११२५
गजतुरगादयश्चतुष्पदाः। जाणाणि शिबिकाविमानादिकं यानं। सयणासणे शयनानि आसनानि च॥

बाह्यग्रंथाः कति सन्तीत्याह—

मूलारा—खेत्तं कर्षणाद्यधिकरणं । वत्थुं वास्तु गृहं । धण धनं ग्रामसुवर्णादि । धण्णं धान्यं व्रीह्यादि । कुप्य कुप्यं वस्त्रकंबलादिकं । भंड भांडं हिंगुमरीचादिकं । दुपद द्विपदं दासीदासादिभृत्यवर्गादि । चउप्पद चतुष्पदं गजतुरगादि । जाणाणि यानं शिबिकानरविमानादि । सयणासणाणि शय्याविष्टरादि । एते दश ॥

अर्थ– बाह्य परिग्रहके दस प्रकार हैं. उनका खुलासाः— खेत्त–अर्थात् क्षेत्र जहां धान्य उत्पन्न होता है. वत्थ–वास्तु घर. धण–सुवर्णादि धातु. धान्य–चावल, गेहू, चना वगैरह. कुप्य–वस्त्र. भांड–हिंग, मीरच वगैरह. दुपद–दास, दासी, नोकर वगैरह. चउप्पय–हाथी, घोडा, बैल इत्यादि. जाण–यान–पालखी, विमान इत्यादि. शयन–बिछाना. आसन–पलंग वगैरह. ये दस प्रकारके बाह्य परिग्रह हैं.

बाह्यमलमनिराकृत्याभ्यंतरकर्ममलं ज्ञानदर्शनसम्यक्त्वचारित्रवीर्याव्याबाधत्वानामात्मगुणानां छादने व्यापृतं न निराकर्तुं शक्यते इत्येतद्दृष्टांतमुखेनाचष्टे—

जह कुंडओ ण सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स ॥
तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संगसत्तस्स ॥ ११२० ॥

नाभ्यंतरः ससंगस्य साधोः शोधयितुं मलः ॥
शक्यते सतुपस्येव तंदुलस्य कदाचन ॥ ११५७ ॥

विजयोदया—जह कुंडओ ण सक्का तुषसहितस्य तंदुलस्यान्तर्मलं । बाह्ये तुषेऽनपनीते यथा शोधयितुमशक्यं । तथा बाह्यपरिग्रहमलसंसक्तस्याभ्यंतरकर्ममलं अशक्यं शोधयितुमिति गाथार्थः । सपरिग्रहस्य कस्मान्न कर्मविमोक्षः ? जीवाजीवद्रव्ये बाह्यपरिग्रहशब्देनोच्येते ॥ तौ च सर्वदा सर्वत्र सन्निहिताविति बंधक एवायमात्मा स्यादिति पर्य च मुक्त्यभाव इति चोदिते, न तयोः संबंधहेतुरपि तु लोभादयः परिणामाः । लोभादिपरिणामहेतुकं बाह्यद्रव्यग्रहणं ॥

ननु च मिथ्यात्वादयोऽन्तरंगसंगा एव जीवस्य कर्मबंधने हेतवस्तत्किमर्थं बहिरंगसंगपरित्यागोऽयमुपदिश्यत इति पर्यनुयुंजानं प्रत्याह—

मूलारा—कोंडओ अन्तर्मलः । कुकुस इति यावत् । ण सक्को न शक्यते । सोधेदुं निराकर्तुं । संगसत्तस्स बाह्यपरिग्रहसक्तस्य । बाह्यद्रव्यग्रहणस्य लोभादिपरिणामहेतुकस्याल्लोभादिपरिणामस्य चापरापरकर्मबंधनिबंधनत्वान्न केना-

ऽयुपायेन समंथस्यात्मनः कर्मोच्छेदः कर्तुं शक्यते इति भावः ॥

बाह्य मल जबतक दूर न किया जावेगा तबतक ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य और अव्याबाधत्व वगैरे आत्मगुणोंको ढकनेवाला अंतरंगमल दूर करना अशक्य है इसका दृष्टांत द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—ऊपरका छिलका निकाले विना चावलका अंतरंग मल नष्ट नहीं होता है. वैसे बाह्यपरिग्रह रूप मल जिसके आत्मामें उत्पन्न हुआ है ऐसे आत्माका कर्ममल नष्ट होना शक्य नहीं है. ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

प्रश्न—परिग्रहसहित जीवको मोक्षकी प्राप्ति क्यों होती नहीं ? जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य ये बाह्य परिग्रह हैं और ये दो द्रव्य हमेशा रहते ही हैं इसलिये यह आत्मा सर्वकाल कर्मबंधसे बद्ध ही रहेगा. और सर्वकाल बद्ध होनेसे उसको मुक्ति का अभाव ही होगा.

उत्तर—जीव और अजीवका संबंध रहना परिग्रह नहीं कहलाता है, परंतु लोभादिक परिणाम कर्मका संबंध होनेमें निमित्त होते हैं जब आत्मा लोभादिपरिणामोंसे युक्त होता है तब बाह्य परिग्रहका ग्रहण होता है इसलिये जो मनुष्य बाह्य परिग्रहको ग्रहण करता है वह मनमें लोभादिक परिणामोंके विना ग्रहण नहीं करता है. अर्थात् लोभादिक विकार जब आत्मामें उत्पन्न होते हैं तब आत्मा बाह्य परिग्रहका स्वीकार करता है

यतो यो बाह्यमुपादत्तेऽभ्यंतरपरिणाममंतरेण नैवादत्ते इति वदति—

रागो लोभो मोहो सण्णाओ गारवाणि य उदिण्णा ॥
तो तइया घेत्तु जे गंथे बुद्धी णरो कुणइ ॥ ११२१ ॥
उदीयते यदा लोभो रागः संज्ञा च गारव ॥
शरीरी कुरुते बुद्धिं तदादातुं परिग्रहम् ॥ ११५८ ॥

विजयोदया—रागो लोभो मोहो ममेद भावो राग, द्रव्यगतगुणासक्तिर्लोभ, परिग्रहेच्छा मोहो । ममेद भाव सज्ञा । किंचित् मम भवति शोभनमिति इच्छानुगत ज्ञान । तीव्रोऽभिलाषो य परिग्रहगत स गारवशब्देनोच्यते । एते यदोदिताः परिणामास्तदा ग्रथान्यादातुं प्रवर्तते मन करोति नान्यथा । तस्माद्यो बाह्य गृह्णाति परिग्रह स नियोगतो लोभाद्यशुभपरिणामवानेवेति कर्मणा बधको भवति । ततस्त्याज्या परिग्रहा ॥

एतदेवाह—

मूलारा—लोभो ममेदं भावः । रागो ममकारक्रोडीक्रियमाणद्रव्यगतासक्तिः । सण्णा संज्ञा उपकरणदर्शनोपयोगाज्जायमाना परिग्रहेच्छा यदि किंचिन्मम भवति शोभनं इति इच्छानुगतं तथा ज्ञानमित्यर्थः । गारवाः परिग्रहगतास्तीव्राभिलापाः । उदिण्णाणि उदितानि । ते तान् बाह्यानित्यर्थः । उक्तं च—

लोभरागौ तथा संज्ञागौरवे व्यक्तितां गते ॥
यदा तदा बहिर्ग्रंथान्ग्रहीतुं कुरुते मतिं ॥

तस्माद्यो बाह्यं गृह्णाति परिग्रहं स नियोगतो लोभाद्यशुभपरिणामवानेवेति कर्मणां बंधको भवति । ततस्त्याज्या एव बाह्याः परिग्रहाः । कर्मबंधनिबंधनमूर्च्छानिमित्तत्वात् । तथा चोक्तम्—

मूर्च्छालक्षणकरणात्सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य ॥
सग्रंथो मूर्च्छावान्विनापि किल शेषसंगेभ्यः ॥
यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरंगः ॥
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम् ॥
एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम् ॥
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति ॥

इसी अभिप्रायका आगेकी गाथा खुलासा करती है—

अर्थ—रागभाव, लोभ, और मोह जब मनमें उत्पन्न होते हैं तब इस आत्मामें बाह्य परिग्रह ग्रहण करनेकी बुद्धि उत्पन्न होती है. अन्यथा नहीं. यह मेरा है ऐसा भाव मनमें उत्पन्न होना उसको राग कहते हैं. पदार्थोंके गुणोंमें असक्ति होना ही लोभ कहलाता है. परिग्रहमें इच्छा उत्पन्न होना मोह कहा जाता है. ये पदार्थ मेरे हैं और अच्छे हैं ऐसा अभिप्राय रहना संज्ञा है. परिग्रहोंमें तीव्र अभिलाप उत्पन्न होना गौरव कहलाता है. ये परिणाम जब आत्मामें उत्पन्न होते हैं तब यह आत्मा परिग्रहमें अपना मन लगाता है. उपर्युक्त परिणाम जब आत्मामें उत्पन्न नहीं होते हैं तब परिग्रहका ग्रहण करनेमें वह उद्युक्त नहीं होता है. इसलिए जो बाह्य परिग्रह ग्रहण करता है वह नियमसे लोभादिक अशुभ परिणामोंसे घिरा हुआ है ऐसा समझना चाहिये. अतः उसको कर्मबंध

होता है. जिसका मन कर्मबंधसे भयभीत है वह परिग्रहका त्याग करे? यह परिग्रहका त्याग मनमें आया तब किया अन्यथा नहीं किया ऐसी स्वेच्छाचारप्रवृत्ति योग्य नहीं है. निश्चयसे परिग्रहका त्याग करना चाहिये.

स च परिग्रहत्यागो न स्वमनीषिकाचर्चितोऽपि तु निश्चयेन कर्तव्यतयोपदिष्ट इत्याचष्टे—

चेलादिसव्वसंगच्चाओ पढमो हु होदि ठिदिकप्पो ॥
इहपरलोइयदोसे सव्वे आवहदि संगो हु ॥ ११२२ ॥

ग्रंथो लोकद्वये दोषं विदधाति यतेस्ततः ॥
स्थितिकल्पो मतः पूर्वं चेलादिग्रंथमोचनः ॥ ११५९ ॥

विजयोदया—चेलादिसव्वसंगचागो इति दशविधा हि स्थितिकल्पा निरूपिता अचेलतादयः। तत्र आचेलक्यं नाम चेलमात्रस्यागो न भवति। किंतु चेलादिसर्वसंगत्यागः प्रथमः स्थितिकल्पो दशानामाद्यः। इहपरलोगिगदोसे ऐहिकामुष्मिकांश्च दोषानावहति परिग्रहो, यस्मात्तस्माज्जन्मद्वयगतदोषपरिहारेणादरवता सकलः परिग्रहस्त्याज्यः। इति भाव. ॥

स च बाह्यपरिग्रहत्यागो न स्वमनीषिकाचर्चितोऽपि तु निश्चयेन कर्तव्यतयोपदिष्ट इत्याचष्टे—

मूलारा—पढमो प्रागुक्तानामाचेलक्यादिस्थितिकल्पानां दशानामाद्यः। हि नियमेन। इहपरलोइयदोसे ऐहिकानामुष्मिकांश्च दोषानपकारकधर्मान्। हु यस्मात्। तस्माज्जन्मद्वयगतदोषपरिहारे आदरवता सकलः परिग्रहस्त्याज्य इति भावः ॥

आगममें परिग्रहका त्याग करनेका उपदेश किया है वह इस प्रकार—

अर्थ—आचेलक्य, उद्देशिग वगैरह दश प्रकारका स्थितिकल्प पूर्वमें कहा है. आचेलक्य नामक कल्पमें वस्त्रकाही त्याग करनेका उपदेश दिया है ऐसा नहीं किंतु वस्त्रादि सर्व परिग्रहका त्याग अचेलक्य शब्दका अर्थ है. 'आचेलक्य कल्प' दस कल्पोंमें प्रथम गिना है. परिग्रहसे इहलोकसंबंधी और परलोकसंबंधी दोष उत्पन्न होते हैं. परिग्रहसे यह मेरा है, यह मेरा है ऐसा संकल्प जिस चीजमें होता है उसका संरक्षण करना, संस्कार करना इत्यादिक कार्य करने पडते है. रक्षणादिक करते समय हिंसा होती है. उसके लिये झूठ बोलता है. चोरीभी करता है. मैथुनकार्यमें प्रवृत्ति करता है. इस परिग्रहसे अशुभ परिणाम होते हैं. नरकादि दुर्गतिका बंध होता है. और ११२९

उसका फल नरकादिगतिओंमें विविध दुःखरूप प्राप्त होता है, इहलोक और परलोकके दोषोंका परिहार हो ऐसी अभिलाषा जिनके मनमें उत्पन्न हुई है वे संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग करे. ऐसा इस विवेचनका अभिप्राय है.

श्रुतं चेलपरित्यागमेव सूचयति आचेलक्कमिति न इतरत्यागमित्याशंकायामाचष्टे—

देसामासियसुत्तं आचेलक्कंति तं खु ठिदिकप्पे ॥
लुत्तोत्थ आदिसद्दो जह तालपलंबसुत्तम्मि ॥ ११२३ ॥

उद्देशामर्शकं सूत्रमाचेलक्यमिति स्थितम् ॥
लुप्तोऽथवादिशब्दोऽत्र तालप्रालम्बसूत्रवत् ॥ ११६० ॥

विजयोदया—देसामासिगसुत्तं परिग्रहैकदेशामर्शकारिसूत्रं आचेलक्कंति आचेलक्यमिति । तं खु तत् । ठिदिकप्पे स्थितिकल्पे वाच्ये प्रवृत्तं सूत्रं नियोगतो मुमुक्षूणां यत्कर्तव्यतया स्थितं तत्स्थितमुच्यते स्थितिकल्पः । स्थितप्रकारः । एतदुक्तं भवति-चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलग्रंथत्याग आचेलक्यशब्दस्यार्थ इति । तालपलंबं ण कप्पदिति सूत्रे तालशब्दो न तरुविशेषवचनः किंतु वनस्पत्येकदेशस्तरुविशेष उपलक्षणाय वनस्पतीनां गृहीतं । तथा चोक्तं कल्पे—

हरिततणोसहिगुच्छा गुम्मा वल्लीलदा य रुक्खा य ॥
एवं वणप्फदीओ तालोद्देसेण आदिट्ठा ॥
इति । तालेदि दलेदित्तिय तलेय आदेत्ति उस्सिदो वत्ति ॥
तालादिणो तरुत्तियवणप्फदीणं हवदि णामं ॥

प्रलंबं द्विविधं मूलप्रलंबं, अग्रप्रलंबं च । कंदमूलफलाख्यं, भूम्यनुप्रवेशिकंदमूलप्रलंबं, अंकुरप्रवालफलपत्राणि अग्रप्रलंबानि । तालस्य प्रलंबं तालप्रलंबं वनस्पतेरंकुरादिकं च लभ्यते इति यथा सूत्रार्थस्तथेहापीति मन्यते । अथवा लुत्तोथ आदिसद्दो लुप्तोथ सूत्रे आदिशब्दः । अचेलादित्वमिति प्राप्ते । यथा तालपलंबसुत्तम्मि यथा तालप्रलंबसूत्रे । तालादीति शब्दप्रयोगमकृत्वा तालपलंबमित्युक्तं । तथाचोक्तं सिद्धांतादिति निश्चयेनैव सूत्रकारेण देशामर्शकसूत्रं ह्येतत्कृतं । आदिशब्दलोपोऽत्र तालप्रलंबसूत्रे न तु देशामर्शकं भवतीति ॥

ननु च आचेलक्कुद्देसिय इत्यादि सूत्रे वस्त्रमात्रत्याग एव ज्ञायते श्रुतत्वान्न पुनरितरस्त्यागस्तत्कथमुच्यते "चेलादि सव्वसंगच्चाओ पढमो हु होदि ठिदिकप्पो" इत्यत्राह—

मूलारा—देसामासिय इत्यादिस्थितिकल्पे वाच्ये तत्प्रथमतयोपादिष्टमाचेलक्यमिति सूत्रं देशामर्शकं । वाग्र-

परिग्रहैकदेशस्य चेलस्य परामर्शकं बाह्यपरिग्रहाणामुपलक्षणार्थं उपात्तं । यथा तालपलंबं ण कप्पदित्ति सूत्रे तालशब्दो वनस्पत्येकदेशस्य तरुविशेषस्य परामर्शको वनस्पतीनां उपलक्षणार्थं गृहीतः । तथा चोक्तं कल्पे—हरिदतणोसधिगुच्छागुम्मा वल्ली लदा य रुक्खा य ॥ एवं वणप्फदीओ तालादेसेण आदिट्ठा ॥

तालेदि दलेदित्तिय तलेम जावोत्ति उस्सिदो यत्ति ॥
तालादिणो तरुत्तिय वणप्फदीणं हवदि णामं ॥

तालस्य प्रलंबं तालप्रलंबं । प्रलंबं च द्विविधं मूलप्रलंबं, अग्रप्रलंबं च । तत्र मूलप्रलंबं भूम्यनुप्रवेशि कंद मूलांकुरादिकं । ततो अन्यदग्र प्रलंबं अंकुरप्रवालपत्रपुष्पफलादिकं । वनस्पतिकंदादिकमनुभोक्तुं निर्ग्रंथानामार्याणां च न युज्यते इति । यथा । तालपलंबं ण कप्पदित्ति इत्यत्र सूत्रेऽर्थस्तथा सकलोऽपि बाह्यः परिग्रहो मुमुक्षूणां ग्रहीतुं न युज्यते इत्याचेलक्केति सूत्रेऽर्थ इति तात्पर्यं । अथवा लुत्तोत्थ आदिसद्दो लुप्तोऽत्रादिशब्दः । अत्र आचेलक्केति सूत्रे ताल प्रलंबं सूत्रवदादिशब्दो लुप्तो बोद्धव्यः । यथा तालादीति शब्दप्रयोगमकृत्वा तालप्रलंबमित्युक्तं । तथा आचेलादिकत्वमिति शब्दप्रयोगमकृत्वा आचेलक्यमित्युक्तं इत्याशयः । अन्ये त्वेवं प्रतिपन्नाः देशो मूर्च्छालक्षणस्य अंतरंगबहिरंगभेदभिन्नस्य परिग्रहस्यैकदेशो बाह्यः परिग्रहः तत्परामर्शकमाचेलक्यमिति सूत्रं कर्तव्यतयावधारितं । शेषं समानं । तथा चोक्तं—

तद्देशामर्शकं सूत्रमाचेलक्यमिति स्थितम् ॥
लुप्तोऽथवादिशब्दोऽत्र तालप्रलंबसूत्रवत् ॥

आचेलक्य शब्दका अर्थ वस्त्रमात्रका त्याग ही है ऐसा आगमका अभिप्राय है इतर परिग्रहका त्याग करना चाहिए ऐसा आगम कहता नहीं है. इस शंकाका उत्तर आचार्य कहते हैं—

अर्थ—दस प्रकारके स्थिति कल्पोंमें से आचेलक्य नामक पहिला स्थितिकल्प है. आचेलक्य शब्द परिग्रहके एक देशका विचार दिखानेवाला सूत्र है. मुनिओंके स्थिति का–कर्तव्य कर्मका प्रतिपादन करनेवाला यह सूत्र है. इसलिए इसको स्थितिकल्प कहते हैं. आचेलक्य अर्थात् नग्नता धारण करना मुनिका कर्तव्य ही है इसलिए इसको स्थितिकल्प कहते हैं. इसका अभिप्राय यह है— चेल शब्द परिग्रहका उपलक्षण है. अतः चेल शब्दका अर्थ वस्त्र ही न समझकर उसके साथ अन्य परिग्रहोंका भी ग्रहण करना चाहिये अर्थात् आचेलक्य शब्दका अर्थ वस्त्रका त्याग इतनाही नही है किंतु वस्त्रत्यागके साथ अन्य संपूर्ण परिग्रहका त्याग माना जाता है. इसके लिये

आचार्यने तालपलंबका उदाहरण दिया है. तालपलंब इस सामासिक शब्दमें जो ताल शब्द है उसका अर्थ ताडका वृक्ष इतनाही लोक नहीं समझते हैं किंतु वनस्पतिका एकदेशरूप जो ताडका वृक्ष वह वनस्पतिओंका उपलक्षण रूप समझकर उससे सम्पूर्ण वनस्पतिओंका ग्रहण करते है.

कल्पनामक ग्रंथमें इस विषयमें ऐसा कहा है—

'हरिद तणोसधि' इति – "हरित, तृण, फलकी पक्वदशा होने तकही टिकनेवाली वनस्पतिको ओषधि कहते हैं. गुच्छ, गुल्म–छोटे छोटे पोधे, वेली, कोमल वृक्ष, वगैरह वनस्पतिओं का ताल शब्दसे संग्रह होता इस-लिये ताल शब्दसे संपूर्ण वनस्पतिका जैसा संग्रह माना जाता है वैसा 'आचेलक्य' शब्दसे संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग यह अर्थ उपलक्षणसे ग्रहण किया जाता है

'तालप्रलंब' इस शब्दमें जो प्रलंब शब्द कहते हैं उसका स्पष्टी करण ऐसा है— प्रलंबके मूलप्रलंब, अग्रप्रलंब ऐसे दो भेद हैं. कंद मूल और अंकुर जो भूमीमें प्रविष्ट हुये हैं उनको मूलप्रलंब कहते हैं. अंकुर, कोमल पत्ते, फल, और कठोर पत्ते इनको अग्रप्रलंब कहते हैं. अर्थात् तालप्रलंब इस शब्द का अर्थ उपलक्षणसे वनस्पति ओंके अंकुरादिक ऐसा होता है. तालप्रलंब शब्दसे जैसे संपूर्ण वनस्पतिओंके अंकुरादिकोंका ग्रहण हो जाता है वैसे प्रस्तुत विषयमें भी आचेलक्य शब्दका संपूर्ण परिग्रह–त्याग यह अर्थ अभीष्ट है.

अथवा यहां आदि शब्दका लोप हुआ है ऐसा समझना चाहिये. अर्थात् अचेल शब्दके आगेके आदि शब्दका लोप हुआ है. 'अचेलादित्व' के एवजमें, अचेल शब्दका प्रयोग कर आदि शब्दका लोप किया गया है. तालपलंब इस सूत्रमें 'तालादि' ऐसा शब्दप्रयोग न करके तालपलंब ऐसा कहा है. सिद्धांतके आधारसे आचेलक्य सूत्र को आचार्यने देशामर्शक सूत्र कहा है परंतु यहां आदि शब्द लुप्त हुआ है ऐसा जब मानते हैं. तब यह सूत्र देशामर्शक नहीं है ऐसा समझना चाहिये.

ण य होदि संजदो वत्थमित्तचागेण सेससंगेहिं ॥
तह्मा आचेलक्कं चाओ सव्वेसिं होइ संगाणं ॥ ११२४ ॥ ११५२

चेलमात्रपरित्यागी शेषसंगी न संयतः ॥
यतो मतमचेलत्वं सर्वं ग्रंथोज्झनं ततः ॥ ११६१ ॥

विजयोदया—ण य होदि संजदो नैव संयतो भवति इति । वस्त्रमात्रत्यागेन शेषपरिग्रहसमन्वितः । वस्त्रादन्यः शेषः इत्युच्यते । आचेलक्कमित्यत्र चेलत्यागमात्रमेव यदि निर्दिष्टं स्याच्चेलादन्यपरिग्रहं गृह्णन् संयतः स न भवति यस्मात्तस्मादाचेलक्यं नाम सर्वसंगपरित्यागोऽत्र मंतव्य. इति युक्तिरुपन्यस्ता चेलशब्दस्य परिग्रहोपलक्षणतायां । किंच महाव्रतोपदेशप्रवृत्तानि च सूत्राणि ज्ञापकानि । सर्वसंगपरित्याग आचेलक्कमित्यत्र निर्दिष्ट इत्यस्य ॥

चेलशब्दस्य सकलबाह्यपरिग्रहोपलक्षणतायां युक्तिमुपन्यस्यति—

मूलारा—सेससंगेहिं वस्त्रवर्जपरिग्रहैः समन्वितो मुमुक्षुर्वस्त्रमात्रत्यागेन संयतो नैव भवति । समस्तद्रव्योपरतो हि संयत इत्युच्यते स कथं वस्त्रमात्रं त्यजन् तत्वतो व्यपदिश्यते । तस्मादाचेलक्यं सर्वसंगपरित्यागः । आचेलक्येत्यत्र सूत्रे निर्दिष्ट इत्यस्यार्थस्य ॥

अर्थ—वस्त्रमात्रका त्याग करने पर भी यदि अन्य परिग्रहों से पुरुष युक्त है तो उसको संयत मुनि नहीं कहना चाहिये. अर्थात् वस्त्रके साथ संपूर्ण परिग्रहत्याग जिसने किया वही मुनि माना जाता है इसलिये " आचेलक्यका " अर्थ संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग ऐसा ही होता है. अचेलक्य शब्दका वस्त्रत्याग इतनाही अर्थ माना जाय तो वस्त्र छोडकर अन्य सब परिग्रहोंका स्वीकार करनेवाला व्यक्ति मुनि माना जायगा—इसलिये संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग ही आचेलक्य शब्दका अर्थ है ऐसा उपलक्षणसे समझना चाहिये- महाव्रतोंका उपदेश देनेवाले सूत्रोंसे भी ' आचेलक्य ' शब्दका अर्थ सर्वसंगत्याग है ऐसा सिद्ध होता है. यदि वस्त्रका ही त्याग किया और बाकी परिग्रहोंका त्याग नहीं किया तो अहिंसादि व्रतसमुदाय मुनिओंमें नहीं रह सकेगा.

कथं यदि चेलमात्रमेव त्याज्यं स्यादितरं अहिंसादिव्रतानि न स्युः इत्येतद्व्याचष्टे उत्तरगाथायां—

संगणिमित्तं मारेइ अलियवयणं च भणइ तेणिक्कं ॥
भजदि अपरिमिदमिच्छं सेवदि मेहुणमवि य जीवो ॥ ११२५ ॥

परिग्रहार्थं प्राणिहन्ति देहिनो वदत्यसत्यं विदधाति मोषणं ॥
निषेवते स्त्रीं श्रयते परिग्रहं न लुब्धबुद्धिः पुरुषः करोति किम् ॥ ११६२ ॥

विजयोदया—संगणिमित्तं मारेदि परिग्रहनिमित्तं प्राणिनो हिनस्ति षट्कर्मप्रवृत्तेः। अथ द्रव्यं परकीयं ग्रहीतु कामस्तं हिनस्ति, भणत्यलीकं करोति स्तैन्यं, भजते अपरिमितामिच्छां, मैथुने च प्रवर्तते। सत्येवमहिंसादिव्रतानि न स्युः। परिग्रहस्य च त्यागे तिष्ठंति निश्चलान्यहिंसादीनि ॥

कथं यदि चेलमात्रमेव त्याज्यं स्यान्नान्यत्तदा अहिंसादिव्रतानि न स्युरिति ॥ एतद्व्याख्यातुमाह—

मूलारा—मारेदि हिनस्ति प्राणिनः षट्कर्मसु प्रवृत्तेः। परद्रव्यं वा ग्रहीतुकामस्तं हिनस्ति। अपरिमिच्छं अपरिमितामिच्छा। निरवधितृष्णामित्यर्थः। एवंच सति कथमहिंसादिव्रतानि स्युः। समग्रग्रंथपरित्यागयुतानि निश्चलानि तिष्ठंत्येव क्षोभनिमित्ताभावात् ॥

यही अभिप्राय आगेकी गाथामें आचार्य कहते हैं—

अर्थ—परिग्रहके निमित्तसे यह जीव असि, मषि, कृषि आदि छह कर्म करता है जिससे जीवोंकी हिंसा होती है. दूसरेका धन हरण करनेकी इच्छासे उसका घात करता है असत्य भाषण बोलता है. चोरी करता है. मनमें अमर्याद इच्छा धारण करता है. तथा मैथुनमें प्रवृत्त होता है. परिग्रहके वश होनेसे ऐसे पापोंको यह जीव करता है तब उसके अहिंसादिक व्रत कैसे हो सकते है. जब परिग्रहोंका त्याग होता है तब ही अहिंसादिक व्रत निश्चल हो जाते हैं.

अपि चाशुभपरिणामसंवरणमंतरेण प्रत्यग्रकर्मोपचयः कथं निवार्यते। प्रत्यग्रकर्मोपचयेन कर्मणां सैवानंतकाला संसृतिरित्येतच्चेतसि कृत्वा परिग्रहग्रहणभाविनोऽशुभान्परिणामानाचष्टे—

सण्णागारवपेसुण्णकलहफरुसाणि णिट्ठुरविवादा ॥
संगणिमित्तं ईसासूयासल्लाणि जायंति ॥ ११२६ ॥

संज्ञागौरवपैशुन्यविवादकलहादयः ॥
दोषा ग्रंथेन जन्यंते दुर्नयेनेव सर्वदा ॥ ११६३ ॥

विजयोदया—सण्णागारवपेसुण्ण परिग्रहसंज्ञा तत्सन्निधेर्गौरवं च जायते सपरिग्रहस्य। पिशुनयति सूचयति परदोषानिति पिशुनस्तस्य कर्म पैशुन्यं। परिग्रहवानात्मनैव स्वधनपरिपालनेच्छुः परस्य दोषान्प्रकाश्य तदीयं धनं

हारयति, कलहं वा करोति। धनार्थं परुषं वचो वदति विवादं वा कुर्यात्, ईर्ष्यासूयाशल्यानि च जायंते। अयमेतस्मै प्रयच्छति न मह्यं इति संकल्प ईर्ष्या। परस्य धनवत्तासहनमसूया॥

परिग्रहग्राहिणोऽनंतसंसृतिसवित्रीमशुभपरिणामप्रवृत्तिमनर्थपरंपरां च व्याकर्तुमुत्तरप्रबंधमाह—

मूलारा—सण्णा परिग्रहसंज्ञा। गारव ऋद्धिगौरवं। सपरिग्रहस्य च जायेते। पेसुण्ण परदोषसूचनं। ग्रंथग्राहि-ष्टो हि स्वधनरक्षार्थं परस्य दोषान्प्रकाश्य तद्धनं नृपादिना हारयति। कलहं वा करोति धनार्थं। परुषं वा वचो वक्ति, निष्ठुरं विवादं वा करोति। ईसा ईर्ष्या। अयमेतस्मै प्रयच्छति न मह्यमिति संकल्पं। असूया परसंपत्तासहनम्।

यदि अशुभपरिणामोंका संवर न होगा अर्थात् अशुभपरिणाम यदी नहीं रोके जायेंगे तो नवीन कर्मोंका आगमन नहीं रुक सकता है. नवीन कर्मोंका आगमन होनेसे फिर संसार अनंतकालतक रहेगा ही. परिग्रहके सद्भा-वमें अशुभ परिणाम होते हैं और संसार दीर्घकालका होता है ऐसा विवेचन आगेके गाथामें आचार्य करते हैं—

अर्थ—परिग्रहसंज्ञाका उदय होनेसे आत्मामें परिग्रहके प्रति अभिलाषा उत्पन्न होती है. तदनंतर मैं बडा ऐश्वर्यशाली हूं ऐसा अभिमान उत्पन्न होता है. परिग्रहसे मनमें दुष्टपना उत्पन्न होता है. अपने धनका संरक्षण करनेमें वह सावध रहता है. और दूसरेके असावधनतादिक दोष देखकर उसका धन दूसरोंसे हरण कराता है. कलह करता है. धनके लिये कठोर भाषण करता है. तथा विवाद करता है. इस परिग्रहसे ईर्ष्या, असूया और कपट ये दोष उत्पन्न होते हैं. यह पुरुष इसको धन देता है मेरेको धन नहीं देता है ऐसा भाव उसके मनमें उत्पन्न होता है. यह ईर्ष्या दोष है. दूसरोंका धनिकपना सहन न होना असूया दोष है. परधन हरण करनेके लिये उसको ठगना मायाशल्य कहते हैं.

कोधो माणो माया लोभो हास रइ अरदि भयसोगा॥
संगाणिमित्तं जायइ दुगुंच्छ तह रादिभत्तं च ॥ ११२७ ॥
क्रोधं लोभं भयं मायां विद्वेषमरतिं रतिम्॥
द्रविणार्थी निशाभुक्तिं विदधाति विचेतनः॥ ११६४॥

विजयोदया—तहा कोधो माणो क्रोधः परिग्रहस्तस्य परिणामोऽदाने जायते। धन्योऽहमिति गर्वितो भवति।

परो धनं दृष्ट्वा गृह्णातीति तन्निगूहनकरणान्माया च भवति। काकणिलाभे कार्षापणं वांछति । तल्लब्ध्या कर्षापणसहस्रादिकमिति लोभस्य हेतुर्द्रव्यलाभः। निर्द्रविणं लोको हसतीति हासस्यापि कारणं। द्रव्यमात्मीयं पश्यतः तत्रानुरागो रतिः। तद्विनाशे अरतिः। तदन्ये हरंति इति भयं। शोको वा । जुगुप्सते वा विरूपं । परिग्रहपरिपालनार्थं रात्रावपि भुंक्ते। मदीयं भोजनं परे दृष्ट्वार्थिनो भवंति इति मन्यमानः ॥

मूलारा—क्रोधो ग्रंथे परेण गृह्यमाणे जायते । माणो धनाढ्योऽहमिति गर्वः। माया परो धनं दृष्टं गृण्हाति इति तन्निगूहनकरणाद्वंचनां। लोभो काकण्यादिलाभे कार्षापणादिकं कांक्षतीति। द्रव्यलाभाल्लोभः प्रवर्तते। हस हास्यं धनिनो निर्धनं दृष्ट्वा हसतः स्यात्। रदि स्वधनं पश्यतस्तत्रानुरागः। अरदि धनविनाशे कचिदपि चित्तस्यानवस्थानं। भय धनमन्ये हरन्तीति भीतिः। सोगा शोको धनविच्छेदे मनस्तापः। दुगुंछ विरूपके परिग्रहे जुगुप्सा । धनार्थत्वाद् गुणिनामपि राजादिछंदानुवृत्त्या निंदनं। रादिभत्तं मदीयं भोजनं दिवा परे हरंतीति तद्रक्षार्थं नक्तंभुक्तिः। स्वाम्यादिछंदानुवृत्त्या वा द्रव्यलाभाय रात्रौ भुक्तिः।

अर्थ—परिग्रहवान् मनुष्यको धन देते समय क्रोध आता है. परिग्रह पास होनेसे मैं धन्य हूं ऐसा अभिमान उत्पन्न होता है. मेरा धन देखकर अन्य पुरुष हरण करेगा इस विचारसे उसको छिपाता है. यह माया दोष है. काकणिका का लाभ होनेपर कार्षापणका लाभ होनेकी इच्छा करता है. वह भी मिलनेपर हजारों कार्षापणकी प्राप्ति मेरे को कब होगी ऐसा विचार उसके मनमें उत्पन्न होता है. अतः द्रव्यका लाभ होना लोभका हेतु है. जो दरिद्री है उसको देखकर लोक हसते हैं. अतः यह धन हास्यका हेतु है. अपने धनको वारंवार देखकर परिग्रहवान उसमें रति–आसक्ति करता है. उसका विनाश होनेपर वह दुःखी होता है. मेराधन दुसरे हरण करेंगे ऐसी भावना उत्पन्न होकर भय उत्पन्न होता है अथवा शोक भी उत्पन्न होता है. परिग्रहका रक्षण करनेके लिए वह रातमें भी भोजन करता है. क्योंकि मैं यदि दिनमें भोजन करूंगा तो याचक लोग मांगेंगे ऐसी उसकी समझ रहती है.

गंथो भयं णराणं सहोदरा एयरत्थजा जं ते ॥
अण्णोण्णं मारेदुं अत्थणिमित्तं मदिमकासी ॥ ११२८ ॥

ग्रंथो महाभयं नृणामेकरथ्ये सहोदरौ ॥
ग्रंथार्थं हिंसितुं बुद्धिं यतोऽकार्ष्टां परस्परम् ॥ ११६५ ॥

विजयोदया—ग्रंथो भयं नराणां । ननु भयसंज्ञस्य कर्मणः उदयादुपजातः परिणाम आत्मनो भयं न वास्तु क्षेत्रादिको ग्रंथः तथाभूतस्ततः किमुच्यते ग्रंथो भयमिति, भयहेतुत्वाद्भयमिति न दोषः । सहोदरा एकोदरे प्रसवा अपि संतः एयरत्थगा एकरथ्यनगरे जाताः । जं यस्मात् । ते अण्णोण्णं मारेदुं अन्योन्यं हन्तुं । अत्थणिमित्तं वसुनिमित्तं मदिमकासी बुद्धिं कृतवंतः ॥

ग्रंथस्य भयहेतुत्वमर्थाख्यानेन ख्यापयति—

मूलारा—भयं भयहेतुः । सहोदरा एकोदरप्रभवा अपि सन्तः । एयरत्थया एकरथ्ये नगरे जाताः । जं यस्मात् ते मलिम्लुचाः । मदिमकासी मतिमकार्षुः । चित्तं कृतवन्त इत्यर्थः । अत्रान्ये द्वित्वमिच्छन्ति—

अर्थ—परिग्रहसे मनुष्यमें भय विकार उत्पन्न होता है. शंका—भयनामक कर्मके उदयसे जो परिणाम उत्पन्न होता है उसको भय कहते हैं. वास्तु क्षेत्रादिक परिग्रह भयरूप नहीं हैं. इस लिये परिग्रहको आप भय क्यों कहते हो ?

उत्तर—भयके लिये परिग्रह कारण है इस वास्ते उसको हम भय कहते हैं. एक माताके उदरसे उत्पन्न हुए भाई भी एकरथ्या नामक ग्राममें अन्योन्यको मारनेके लिये उद्यत हुये थे यह विचार करके बुद्धिमान लोक परिग्रहमें अभिलाषा नहीं रखते हैं.

अत्थणिमित्तमदिभयं जादं चोराणमेक्कमेक्केहिं ॥
मज्जे मंसे य विसं संजोइय मारिया जं ते॥ ११२९ ॥

तस्कराणां भयं जातमन्योन्यद्रविणार्थिनाम् ॥
मद्ये मांसे विषं घोरं यतः संयोज्य मारिताः ॥ ११६६ ॥

विजयोदया—अत्थणिमित्तं अदिभयं जादं अतीव भयं जातं । चोराणं एक्कमेक्केहिं ॥ चौराणामन्योन्यैः सह । मज्जे मंसे य विसं संजोइय मद्ये मांसे च विषं संयोज्य । मारिदा जं ते यस्मात्ते मारिताः ॥

आख्यानांतरेण तदेवाह—

परो धनं दृष्ट्वा गृह्णातीति तन्निगूहनकरणान्माया च भवति । काकणिलाभे कार्षापणं वांछति । तल्लब्ध्वा कर्षापणसहस्रादिकमिति लोभस्य हेतुर्द्रव्यलाभः । निर्द्रविणं लोको हसतीति हासस्यापि कारणं । द्रव्यमात्मीयं पश्यतः तत्रानुरागो रतिः । तद्विनाशे अरतिः । तदन्ये हरंति इति भयं । शोको वा । जुगुप्सते वा विरूपं । परिग्रहपरिपालनार्थं रात्रावपि भुंक्ते । मदीयं भोजनं परे दृष्ट्वार्थिनो भवंति इति मन्यमानः ॥

मूलारा—क्रोधो भंगे परेण गृह्यमाणे जायते । माणो धनाढ्योऽहमिति गर्वः । माया परो धनं दृष्टं गृण्हाति इति तन्निगूहनकरणाद्वंचनां । लोभो काकण्यादिलाभे कार्षापणादिकं कांक्षतीति । द्रव्यलाभाल्लोभः प्रवर्तते । हस हास्यं धनिनो निर्धनं दृष्ट्वा हसतः स्यात् । रदि स्वधनं पश्यतस्तत्रानुरागः । अरदि धनविनाशे कचिदपि चित्तस्यानवस्थानं । भय धनमन्ये हरन्तीति भीतिः । सोगा शोको धनविच्छेदे मनस्तापः । दुगुंछ विरूपके परिग्रहे जुगुप्सा । धनार्थत्वाद् गुणिनामपि राजादिछंदानुवृत्या निंदनं । रादिभत्तं मदीयं भोजनं दिवा परे हरंतीति तद्रक्षार्थं नक्तंभुक्तिः । स्वाम्यादिछंदानुवृत्त्या वा द्रव्यलाभाय रात्रौ भुक्तिः ।

अर्थ—परिग्रहवान् मनुष्यको धन देते समय क्रोध आता है. परिग्रह पास होनेमें मैं धन्य हूं ऐसा अभिमान उत्पन्न होता है. मेरा धन देखकर अन्य पुरुष हरण करेगा इस विचारसे उसको छिपाता है. यह माया दोष है. काकणिका का लाभ होनेपर कार्षापणका लाभ होनेको इच्छा करता है. वह भी मिलनेपर हजारो कार्षापणकी प्राप्ति मेरे को कब होगी ऐसा विचार उसके मनमें उत्पन्न होता है. अतः द्रव्यका लाभ होना लोभका हेतु है. जो दरिद्री है उसको देखकर लोक हसते हैं. अतः यह धन हास्यका हेतु है अपने धनको वारंवार देखकर परिग्रहवान उसमें रति-आसाक्ति करता है. उसका विनाश होनेपर वह दुःखी होता है. मेराधन दुसरे हरण करेंगे ऐसी भावना उत्पन्न होकर भय उत्पन्न होता है अथवा शोक भी उत्पन्न होता है. परिग्रहका रक्षण करनेके लिए वह रातमें भी भोजन करता है. क्योंकि मैं यदि दिनमें भोजन करूंगा तो याचक लोग मांगेंगे ऐसी उसकी समझ रहती है.

गंथो भयं णराणं सहोदरा एयरत्थजा जं ते ॥
अण्णोण्णं मारेदुं अत्थणिमित्तं मदिमकासी ॥ ११२८ ॥

ग्रंथो महाभयं नृणामेकरथ्ये सहोदरौ ॥
ग्रंथार्थं हिंसितुं बुद्धिं यतोऽकार्ष्टां परस्परम् ॥ ११६५ ॥

विजयोदया—ग्रंथो भयं नराणां । ननु भयसंज्ञस्य कर्मणः उदयादुपजातः परिणाम आत्मनो भयं न वास्तु क्षेत्रादिको ग्रंथ, तथाभूतस्तत. किमुच्यते ग्रंथो भयमिति, भयहेतुत्वाद्भयमिति न दोषः । सहोदरा एकोदरे प्रसवा अपि संतः एयरत्थजा एकरथ्यनगरे जाताः । जं यस्मात् । ते अण्णोण्णं मारेदुं अन्योन्यं हन्तुं । अत्थणिमित्तं वसुनिमित्तं मदिमकासी बुद्धिं कृतवंतः ॥

प्रथस्य भयहेतुत्वमर्थाख्यानेन ख्यापयति—

मूलारा—भयं भयहेतुः । सहोदरा एकोदरप्रभवा अपि सन्तः । एयरत्थया एकरथ्ये नगरे जाताः । जं यस्मात् ते प्रसिद्धाः । मदिमकासी मतिमकार्षुः । चित्तं कृतवन्त इत्यर्थः । अत्रान्ये द्विरवमिच्छन्ति—

अर्थ—परिग्रहसे मनुष्यमें भय विकार उत्पन्न होता है. शंका—भयनामक कर्मके उदयसे जो परिणाम उत्पन्न होता है उसको भय कहते हैं. वास्तु क्षेत्रादिक परिग्रह भयरूप नहीं हैं. इस लिये परिग्रहको आप भय क्यों कहते हो ?

उत्तर—भयके लिये परिग्रह कारण है इस वास्ते उसको हम भय कहते हैं. एक माताके उदरसे उत्पन्न हुए भाई भी एकरथ्या नामक ग्राममें अन्योन्यको मारनेके लिये उद्यत हुये थे यह विचार करके बुद्धिमान लोक परिग्रहमें अभिलाषा नहीं रखते हैं.

अत्थणिमित्तमदिभयं जादं चोराणमेक्कमेक्केहिं ॥
मज्जे मंसे य विसं संजोइय मारिया जं ते॥ ११२९ ॥

तस्कराणां भयं जातमन्योन्यद्रविणार्थिनाम् ॥
मद्ये मांसे विषं घोरं यतः संयोज्य मारिताः ॥ ११६६ ॥

विजयोदया—अत्थणिमित्तं अदिभयं जादं अतीव भयं जातं । चोराणं एक्कमेक्केहिं ॥ चौराणामन्योन्यैः सह । मज्जे मंसे य विसं संजोइय मद्ये मांसे च विषं संयोज्य । मारिदा जं ते यस्मात्ते मारिताः ॥ 1137

आख्यानांतरेण तदेवाह—

मूलारा—एकमेकेहिं अन्योन्यैः कर्तृभिर्मारिताः । अन्योन्यतोऽतिभयं जातमित्यन्ये । संजोइय संयोज्य ॥

अर्थ— इस धनके निमित्तसे चार चोरोंको महाभय उत्पन्न हुआ था. अर्थात् इन्होंने मद्य मांसमें परस्परोंको मालुम न पडेगा इस प्रकारसे विष मिलाया था जिससे मद्य मांसका भक्षण करके वे लोग मरणको प्राप्त हुए.

संगो महाभयं जं विहेडिदो सावगेण संतेण ॥
पुत्तेण चेव अत्थे हिदम्मि णिहिदिल्लए साहुं ॥ ११३० ॥

संगो महाभयं यस्माच्छ्रावकेण कदर्थितः ॥
निहितेऽपहृते द्रव्ये तनूजने तपोधनः ॥ ११६७ ॥

विजयोदया—संगो महाभयं परिग्रहो महद्भयं । जं यस्मात् । विहेडिदो बाधितः । सावगेण संतेण श्रावकेण सता । पुत्तेण चेव पुत्रेणैव । णिहिदिल्लगे अत्थे हिदंहि साहुं निक्षिप्तेऽर्थे हृते साधुं ॥

पुनरप्याख्यानमाह—

मूलारा—विहेडिदो कदर्थितः । पुत्तेण श्रावकस्यैव । णिहिदल्लगे गर्तानिक्षिप्ते ॥

अर्थ—एक श्रावकके पुत्रने अपने पिताका जमीन में गाडा हुआ धन हरण कर अन्य स्थानमें रखा था. जब उसको अपना गाडा हुआ धन नहीं प्राप्त हुआ तब उसके मनमें मेरा धन मुनिने लिया होगा ऐसा संशय उत्पन्न हुआ क्योंकि मुनिको उसने चातुर्मासमें अपने घरमें ही रहनेके लिये आवास दियाथा. जब मुनि चातुर्मास समाप्त होनेपर विहार करने लगे तब इस श्रावकने अनेक प्रकारकी कथायें कहकर बाधा दी हैं. ये कथायें श्रेणिक पुराणमें हैं.

दूओ बंभण विग्घो लोओ हत्थी य तह य रायसुयं ॥
पहियणरो वि य राया सुवण्णयारस्स अक्खाणं ॥ ११३१ ॥
वण्णरणउलो विज्जो वसहो तावस तहेव चूदवणं ॥
रक्खसिवण्णीडुंडुहु मेदज्ज मुणिस्स अक्खाणं ॥ ११३२ ॥

सीदुण्हादववादं वरिसं तण्हा छुहासमं पंथं ॥
दुस्सेज्जं दुज्झत्तं सहइ वहइ भारमवि गुरुयं ॥ ११३३ ॥
गावइ णच्चइ धावइ कसइ ववइ लवदि तह मलेइ णरो ॥
तुण्णदि विणादि जायदि कुलम्मि जादो वि गंथत्थी ॥ ११३४ ॥

वर्षं वातं क्षुधं तृष्णां तापं शीतं श्रमं क्लमं ॥
दुर्भुक्तं सहतेऽर्थार्थी भारं वहति पुष्कलं ॥ ११६८ ॥
कृषति दीव्यति सीव्यति खिद्यते वपति पश्यति त्रस्यति याचते ॥
धमति धावति वल्गति सेवते रुदति ताम्यति नृत्यति गायते ॥ ११६९।
पठति जल्पति लुंठति लुंपते हरति रुष्यति नश्यति लिख्यति ॥
रजति कस्यति दहति सिंचति मुह्यति वंदते ॥ ११७० ॥
श्वसिति रोदिति माद्यति लज्जते हसति तृष्यति दृप्यति नृत्यति ॥
तुदति गृध्यति रज्यति सज्जते द्रविणलुब्धमनाः कुरुते न किम् ॥ ११७१

विजयोदया—गायदि गायति, नृत्यति, धावति, कृषति, वपति, कणिशच्छेदं करोति, मर्दनं करोति, सीव्यति, वयति, याचते कुले जातोऽपि परिग्रहार्थं ॥

इतोऽर्थाय यद्दुष्करनियकृच्छ्रादिकर्म करोति तदाह —

मूलारा—सीदुण्हादववादं शीतोष्णातपवातं । पंथार्थी सहते इति संबंधः । एतां संस्कृतटीकाकारो नेच्छति ।

मूलारा—कसदि कृषति । जायदि याचते ॥

अर्थ—दूत, ब्राह्मण, व्याघ्र, लोक, हाथी, राजपुत्र, पथिक, राजा, और सोनार इनकी कथायें तथा वानर, नौला, वैद्य, बैल, तपस्वी, चूतवन, सर्प ऐसी सोला कथाओंका वर्णन श्रेणिक पुराणमें आया है. श्रावकने मुनिराजको आठ कथा धन उन्होनेही ग्रहण किया है ऐसे अभिप्रायसे कही थी. अनंतर मुनिराजनेभी तेरा धन मैने नही ग्रहण किया है इस अभिप्रायको पुष्ट करनेके लिये कही थी. इसके अनंतर श्रावक पुत्रने पिताका धनकलश लाकर दिया तब उसका संदेह दूर हो गया. यह मनुष्य परिग्रहार्थ गाता, है, नाचता है, इधर उधर दौडता है, खेत हाल

से नांगरता है, उसमें बीज बोता है, धान्य पकनेपर, उसको काटता है, मलता है इतने कार्य परिग्रहका संग्रह करने के लिये करता है, इस परिग्रहके निमित्त ही मनुष्य कपडे सीता है, बुनता है, और याचना करता है, कुलीन होकर भी ऐसे ऐसे कार्य करता है

सेवइ णियादि रक्खइ गोमहिसमजावियं हयं हत्थिं ॥
ववहरदि कुणदि सिप्पं अहो य रत्ती य गयणिद्दो ॥ ११३५ ॥
आउधवासस्स उरं देइ रणमुहम्मि गंथलोभादो ॥
मगरादिभीमसावदबहुलं अदिगच्छदि समुद्दं ॥ ११३६ ॥

क्रीणाति वयते वस्त्रं गोमहिष्यादि रक्षति ॥
अर्थार्थी लोहकाष्टास्थिस्वर्णकर्म करोति ना ॥ ११७२ ॥
रुधिरकर्दमदुर्गममाहवं निशितशस्त्रविदारितकुंजरं ॥
हरिपुरस्सरजंतुविभीषणं भ्रमति वित्तमना गहनं वनम् ॥ ११७३ ॥
विपुलवीचिविगाढनभस्तलं मकरपूर्वकवार्चरसंकुलम् ॥
जलनिधिं द्रविणार्जनलालसो विशति जीवितनिस्पृहमानसः ॥ ११७४ ॥

विजयोदया—आउधवासस्स उरं देइ आयुधवर्षस्य उरो ददाति। रणमुहे रणमुखे। गंथलोहादो ग्रंथलोभात् मकरादिभीमश्वापद बहुलं प्रविशति समुद्रं ॥

मूलारा—णियादि निंधति।निंदिणइ इति लोके। ववहरदि क्रयविक्रयादिकं करोति। सिप्पं लेपादिहस्तविज्ञानं। एतां श्रीविजयो नेच्छति।

मूलारा—आउधवासस्स आयुधवर्षस्य। शस्त्रपातस्येत्यर्थः। सावद श्वापदाः। अतिक्रूरत्वख्यापनार्थं मकरादयोऽप्येवमुक्ताः। अदिगच्छदि प्रविशति।

अर्थ— यह मनुष्य प्राणी सेवा करता है, गौ, महिष, बकरी, भेडे, हाथी, घोडा वगैरह प्राणिओंका रक्षण

करता है. व्यापार करता है, शिल्पकार्य करता है. परिग्रहोंकी प्राप्ति हो इस लिये निद्राका भी त्याग कर इन कार्योंमें रात दिन तत्पर होता है. परिग्रहके लोभमें यह मनुष्य संग्राममें—युद्धमें शस्त्रोंकी वृष्टि अपने छातीपर होने देता है. अर्थात् युद्धमें हजारो बाणोंकी वर्षा होनेसे उत्पन्न हुये अघातोंको सह लेता है. जिसमें मगर—क्रूर जलजंतु विचरते हैं ऐसे भयानक समुद्रमें भी यह प्रवेश करता है.

जदि सो तत्थ मरिज्जो गंथो भोगा य कस्स ते होज्ज ॥
महिलाविहिंसणिज्जो लूसिददेहो व सो होज्ज ॥ ११३७ ॥

निधनमृच्छति तत्र यदेकको भवति कस्य तदा धनमर्जितम् ॥
विविधविघ्नविनाशितविग्रहो जनतयाखिलयापि जुगुप्सते ॥ ११७५ ॥
लुनीते धुनीते पुनीते कृणीते न दत्ते न भुंक्ते न शेते न विंते ॥
सदाचारवृत्तेर्बहिर्भूतचित्तो धनार्थी विधेयं विधत्ते निकृष्टम् ॥ ११७६ ॥

विजयोदया—जदि सो तत्थ मरिज्जो यद्यसौ रणमुखे मृतिमियात् । ग्रंथा भोगाश्च ते तावत्कस्य भवेयुः । वनिताभिर्निंद्यः विनष्टकरचरणाद्यवयवो भवेद्यद्यपि न मृतः ॥

मूलारा—तत्थ रणमुखादौ । गंथा अर्थाः । महिलाविहिंसणिज्जो स्त्रीणां निंद्यः । लूसिददेहो खंडखंडीकृतशरीर. सन् । यद्यपि न मृतस्तथापि दुर्भगो भवेदिति भावः ॥

अर्थ— यदि यह प्राणी रणमें कालके गालमें चला गया तो सब परिग्रह और भोग पदार्थ किसके होंगे ? यदि युद्धमें वह नहीं मरा और हाथ, पाय वगैरह अंग टूटनेपर ऐसे मनुष्य की उसकी स्त्रिया निंदा करती हैं.

गंथणिमित्तमदीदिय गुहाओ भीमाओ तह य अडवीओ ॥
गंथणिमित्तं कम्मं कुणइ अकादव्वयंपि णरो ॥ ११३८ ॥

गिरिकंदरदुर्गाणि भीषणानि विगाहते ॥
अकृत्यमपि वित्तार्थं कुरुते कर्म मूढधीः ॥ ११७७ ॥

विजयोदया—ग्रंथणिमित्तमदीदिय ग्रंथनिमित्त प्रविशति गुहां। तथा भीमाश्चाटवी। ग्रंथनिमित्तं कर्म अकर्तव्यमपि करोति नरः॥

मूलारा—अदीदि प्रविशति।

अर्थ—इस परिग्रहमें लुब्ध होकर उसके लिये भयंकर गुहाओंमें प्रवेश करता है. इस परिग्रहके लिये अकर्तव्य भी कर बैठता है.

सूरो तिक्खो मुक्खो वि होइ वसिओ जणस्स सधणस्स ॥
माणी वि सहइ गंथणिमित्तं बहुयं पि अवमाणं ॥ ११३९ ॥

जायते धनिनो वश्यः कुलीनोऽपि महानपि ॥
अपमानं धनाकांक्षी सहते मानवानपि ॥ ११७८ ॥

विजयोदया—सूरो तिक्खो मुक्खो वि शूरस्तीक्ष्णो मूर्खश्च वशवर्ती भवति जनस्य सधनस्य। अभिमानवानपि सहते ग्रंथनिमित्त अपि परिभव।

मूलारा—तिक्खो असहनः। मुक्खो मुग्धः। वसिओ वशवर्ती। अवमाणं परिभवं॥

अर्थ— शूर, तीक्ष्ण, और मूर्ख सब मनुष्य धनवानके वश हो जाते हैं. अभिमानी मनुष्य भी इस धनके लिये घोर अपमान दुःख सहता है

गंथणिमित्तं घोरं परितावं पाविदूण कंपिल्ले ॥
लल्लक्कं संपत्तो णिरयं पिण्णागगंधो खु ॥ ११४० ॥

कांपिल्यनगरेऽर्थार्थं परितापं दुरुत्तरं ॥
प्राप्य पिण्याकगंधोऽगाल्लल्लकं नरकं कुधीः ॥ ११७९ ॥

विजयोदया—अत्थणिमित्तं वसुनिमित्तं महत् दुःख प्राप्य। कांपिल्ले कंपिल्लनगरे। लल्लकं लल्लकनामधेयं संप्राप्तो नरकं पिण्याकगंधसंज्ञ॥

पुनराख्यानमाह—

मूलारा–कंपिले कांपिल्यनगरे । लक्कं लक्कसंज्ञकं । तमःप्रभाख्यायां षष्ठनरकभूमौ तृतीयप्रस्तारं । उक्तं च-हिमवर्दललल्लकास्त्रयःषष्ठ्यामपीन्द्रकाः । पिण्णागगंधो पिण्याकगंधसंज्ञः ।

अर्थ– इस धनके निमित्त पिण्याकगध नामक मनुष्य नरकमें–लल्लक नरक बिलमें जन्म लेकर तीव्रतम दुःख भोगने लगा.

एवं चेट्ठंतस्स वि संसइदो चेव गंथलाहो दु ॥
ण य संचीयदि गंथो सुइरेणवि मंदभागस्स ॥ ११४१ ॥

कुर्वतोऽपि परां चेष्टामर्थलाभो न निश्चितं ॥
संचीयते विपुण्यस्य नार्थो लब्धोऽपि जातुचित् ॥ ११८० ॥

विजयोदया—एवं चेट्ठंतस्स वि यत्न चेष्टमानस्यापि संशयित एव ग्रंथलाभः । न च संचयमुपयाति ग्रंथः । सुचिरेणापि मंदभाग्यस्य ॥

तत्ताहककर्मपरस्यापि पुण्यालपत्वे धनालाभमाह—

मूलारा—संसइदो अनिश्चित. ॥

अर्थ– ऊपर कहा हुआ प्रयत्न करने पर भी परिग्रहलाभ अर्थात् धनप्राप्ति होगी ही ऐसा निश्चय नहीं है. जिसका भाग्य फूटा है उसको दीर्घ कालसे प्रयत्न करने पर भी धनप्राप्ति होती नहीं है.

जदि वि कहंचि वि गंथा संचीएज्जण्हु तह वि से णत्थि ॥
तित्ती गंथेहिं सदा लोभो लाभेण वड्ढदि खु ॥ ११४२ ॥

नार्थे संचीयमानेऽपि पुरुषो जातु तृप्यति ॥
अपथ्येन यथा व्याधिर्लोभो लाभेन वर्द्धते ॥ ११८१ ॥

विजयोदया—जदि वि यद्यपि कथंचित्केनचित् प्रकारेण ग्रंथाः संचयमुपेयुः । तथापि तस्य तृप्तिर्नास्ति ग्रंथैः । सदा लोभो लाभेन वर्द्धते ॥

अर्थोपचये तृप्त्यभावमाह—

मूलारा—कथचि केनापि प्रकारेण। सचीएजण्ह संचयमुपेयु'। लाभादु धनप्राप्ते ॥

अर्थ—यद्यपि किसी प्रकारसे किसी उपायसे परिग्रहका सग्रह हुआ तथापि यह आत्मा उसके प्राप्तिमे तृप्त होता नहीं. क्योंकि सदा लाभ होनेपर परिग्रहोंसे लोभ बढताही रहता है

जध इंधणेहिं अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं ॥
तह जीवस्स ण तित्ती अत्थि तिलोगे वि लद्धम्मि ॥ ११४३ ॥

नदीजलैरिवाम्भोधिरिंधनैरिव पावक' ॥
लोकैस्त्रिभिरपि प्राप्तैर्न जीवो जातु तृप्यति ॥ ११८२ ॥

विजयोदया—जध इंधणेहिं इंधनैर्यथाग्नि, यथा वा समुद्रो नदीसहस्रै। तथा परिग्रहैर्न तृप्यति जीवस्त्रैलोक्ये लब्धेऽपि ॥

मूलारा—स्पष्टम्।

अर्थ—जैसे लकडीओंसे अग्निकी तृप्ति होती नहीं. हजारो नदिओंके जल मिलनेपर भी लवणसमुद्रकी प्यास नहीं बुझती है वैसे त्रैलोक्य की प्राप्ति होनेपर भी इस परिग्रहोंके द्वारा जीव तृप्त होता नहीं है.

पडहत्थस्स ण तित्ती आसी य महाधणस्स लुद्धस्स ॥
संगेसु मुच्छिदमदी जादो सो दीहससारी ॥ ११४४ ॥

महाधनसमृद्धोऽपि पटहस्ताभिधो वणिक् ॥
जातस्तृप्तिमनासाद्य लुब्धधीर्दीर्घसंसृति ॥ ११८३ ॥

विजयोदया—पडहत्थस्स पटहस्तनामधेयस्य वणिज न तृप्तिरासीत्तथा महाधन्यस्य लुब्धस्य। परिग्रह मूर्च्छितमतिरसो जातो दीर्घससार ॥

अथ लाभेनात्मा सत्या दोषमाख्यानेन स्फुटयति—

मूलारा—फडहत्थस्स स्फटहस्तनाम्नो वणिजः । आसी जातः ॥

अर्थ—पटहस्त नामक वैश्य बडा धनिक और अतीव लोभी था. इस परिग्रहसे उसकी तृप्ति हुई नहीं. इन परिग्रहोंमे लुब्ध होकर ही उसने प्राण छोडे और दीर्घ संसारी हुआ.

तित्तीए असंतीए हाहाभूदस्स धणचित्तस्स ॥
किं तत्थ होज्ज सुक्खं सदा वि पंपाए गहिदस्स ॥ ११४५ ॥
हाहाभूतस्य जीवस्य किं सुखं तृप्तितो विना ॥
आशाया ग्रस्यमानस्य पिशाच्येव निरंतरम् ॥ ११८४ ॥

विजयोदया—तित्तीए असंतीए तृप्तावसत्यां । हाहाभूदस्स लंपटचित्तस्य किं तत्र सुखं भवेत् । आशाया गृहीतस्य ॥

तृप्तावसत्यामिहैव दुःखमाह—

मूलारा— हाहाभूदस्स संतोषरहितस्य लंपटमनसः । तत्थ ग्रंथे लब्धेऽपि । पंपाए आशया ॥

अर्थ—यदि परिग्रहोंकी प्राप्ति होनेसे भी मनुष्य तृप्त नहीं हुआ और उसमें ही लुब्ध हुआ तो आशाका दास बना हुआ वह मनुष्य क्या सुखी होगा? नही कभी भी सुखी नही होगा.

हम्मदि मारिज्जदि वा बज्झदि रुंभदि य अणवराधे वि ॥
आमिसहेदुं धण्णो खज्जदि पक्खीहिं जह पक्खी ॥ ११४६ ॥
हन्यते ताड्यते बध्यते रुध्यते मानवो वित्तयुक्तोऽपराधं विना ॥
पक्षिभिः किं न पक्षी गृहीतामिषः खाद्यते लुप्यते दोषहीनः परैः ११८५

विजयोदया—हम्मदि आहन्यते । मारिज्जदि मार्यते, बध्यते रुध्यते वानपराधोऽपि । आमिषनिमित्तं लंपटः खाद्यते यथा पक्षिभिः पक्षी गृहीताहारः ॥

मूलारा— हम्मदि ताड्यते । धण्णो लुब्धः । पक्खी गृहीताहारः पक्षी । यथा मांसार्थं परैः पक्षिभिः खाद्यते तथा धनार्थं परैर्धनी ताडनादिकं प्राप्यते इति संबंधः ॥

अर्थ—जिसके मुहमें मांस है ऐसा पक्षी मांसाभिलाषी इतर पक्षिओंके द्वारा खाया जाता है. वैसे परिग्रहवान् धनाढ्य मनुष्य इतर परिग्रहको चाहनेवाले लोगोंके द्वारा पीटा जाता है मारा जाता है, उसको किसी कोठडीमें बंद कर देते हैं किसीका अपराध नहीं करनेपर भी उसको लोक परिग्रहाभिलाषी बनकर दुःख देते हैं

मादुपिदुपुत्तदारेसु वि पुरिसो ण उवयाइ वीसंभं ॥
गंथणिमित्तं जग्गइ कंक्खंतो सव्वरत्तीए ॥ ११५७ ॥

प्रियासवित्रीपितृदेहजादौ सदापि विश्वासमनादधानः ॥
न त्रायमाणः सकलां त्रियामां प्रयाति निद्रां धनलुब्धबुद्धिः ॥ ११८६ ॥

विजयोदया—मादुपिदुपुत्तदारेसु वि विश्वसनीयेष्वपि मात्रादिषु विश्रंभं नोपयाति । जागर्ति सर्वरात्रीः प्रलपन् ॥

मूलारा— स्पष्टम् ।

अर्थ—यह मनुष्य परिग्रहोंका अभिलाषी होकर सर्व रात्रिमें बडबडता हुआ जागता है माता, पिता, लडका, पत्नी इन विश्वसनीय लोगोंपर भी विश्वास नहीं रखता है.

सव्वं पि संकमाणो गामे–णयरे घरे व रण्णे वा ॥
आधारमग्गणपरो अणप्पवसिओ सदा होइ ॥ ११५८ ॥

अरण्ये नगरे ग्रामे गृहे सर्वत्र शंकित. ॥
आधारान्वेषणाकांक्षी स्ववशो जायते कदा ॥ ११८७ ॥

विजयोदया—सव्वं पि संकमाणो सर्वमपि शंकमान ग्रामे, नगरे, गृहे, अरण्ये वा, आधारान्वेषणपरोऽनात्मवश सदा भवति ॥

मूलारा—सव्वंपि साधुमसाधुम्वा । संकमाणो धनापहारकत्वेन कल्पयन् । आधाररक्षायुक्तस्थानं । अणप्पवसिगो परवशः ॥

अर्थ—सर्व मनुष्योंपर उसका विश्वास नहीं रहता है. इसलिए वह परिग्रहवान मनुष्य गांवमें, शहरमें, घरमें, अरण्यमें, अपने परिग्रहका जहां रक्षण होगा ऐसा स्थान ढूंढनेकी फिक्रमें रहता है. वह अपनी आत्माको वश करनेमें असमर्थ होता है.

गंथपडियाए लुद्धो धीराचरियं विचित्तमावसधं ॥
णेच्छदि बहुजणमज्झे वसदि य सागारिगावसए ॥ ११४९ ॥

धीरैराचरितं स्थानं विविक्तं धनलालसः ॥
विहाय भूरिलोकानां मध्ये गेहीव तिष्ठति ॥ ११८८ ॥

विजयोदया—गंथपडिगाए लुद्धो ग्रंथनिमित्तं लुब्धोपि धीरैराचरितं विविक्तमावसथं नेच्छति । बहुजनमध्ये वसति । गृहस्थानां वेश्मनि ॥

मूलारा—गंथपडियाए ग्रंथनिमित्तं धनं रक्षितुमित्यर्थः । यदि वा गंथपडियायलुद्धो ग्रंथविशेषलुब्धः साधुः । धीराचरिदं महामुनिसेवितं । आवसधं वसतिं । सागारिगावसए गृहस्थोपाश्रये ।

अर्थ—वह कृपण मनुष्य परिग्रहमें लुब्ध होकर धीर पुरुष जहांपर रहते हैं ऐसे एकांत स्थानमें रहना पसंद नहीं करता है. वह जहां बहुत लोक रहते हैं ऐसे गृहस्थोंके घरमें रहता है.

सोदूण किंचिसद्दं सगंथो होइ उट्ठिदो सहसा ॥
सव्वत्तो पिच्छंतो परिमसदि पलादि मुज्झदि य ॥ ११५० ॥

शब्दं कंचिदसौ श्रुत्वा सहसोत्थाय धावति ॥
सर्वतः प्रेक्षते द्रव्यं परामृशति मुह्यति ॥ ११८९ ॥

विजयोदया—सोदूण किंचि सद्दं श्रुत्वा कंचन शब्दं परिग्रहवान्सहसोत्थितः सर्वा दिशः प्रेक्षमाणः परामृशति स्वं द्रव्यं, पलायते, मुह्यति वा ॥

मूलारा—सोदूण किंचि सद्दं श्रुत्वा कंचन शब्दं सव्वत्तो सर्वा दिशः । परिमसदि परामृशति । स्वं धनं ॥

अर्थ—परिग्रहवान् मनुष्यके कुछ शब्द सुन लेनेपर भयसे चकित होता है. उठकर खडा होता है. चारो

दिशाओंका अवलोकन करता है. अपने द्रव्यको ढूंढता है. भीतिसे भाग जाता है अथवा मूर्छित होकर गिर पडता है.

तेणभएणारोहइ तरुं गिरिं उप्पहेण व पलादि ॥
पविसदि य हदं दुग्गं जीवाण वहं करेमाणो ॥ ११५१ ॥
आरोहति नगं वृक्षमुत्पथेन पलायते ॥
निम्नंस्तनुमतो भीतो ह्रदं विशति दुस्तरम् ॥ ११९० ॥

विजयोदया—तेणभएण स्तेनभयेन आरोहदि आरोहति तरुं गिरिं वा। व्यध्वो भवति। प्रविशति वा ह्रदं। दुर्गं वा स्थानं जीवाना घातनं कुर्वन् ॥

मूलारा—तेणभएण चोरभीत्या। हद ह्रदं नदं। करेमाणो कुर्वन् ॥

अर्थ—मेरा परिग्रह चोर लेगा इस डरके मारे वह झाडपर अथवा पर्वतपर चढकर छिपकर बैठता है. अथवा मार्ग छोडकर अमार्गसे दौडने लगता है. सरोवरमें प्रवेश करता है. अथवा जीवोंका घात करता हुआ दुर्गम स्थानमें प्रवेश करता है.

तह वि य चोरा चारभडा वा गन्छं हरेज्ज अवसरस ॥
गेण्हिज्ज दाइया वा रायाणो वा विलुंपिज्ज ॥ ११५२ ॥
अवशस्य नरस्यार्थो हठतो बलिभिः परैः ॥
दायादैस्तस्करैर्भूपैस्त्रायमाणोऽपि लुप्यते ॥ ११९१ ॥

विजयोदया—तथापि पलायनधावनादिकं कुर्वतो द्रव्यं हरंति चोरा वा चारभटा वा। परवशस्य दायादा वा गृह्णन्ति राजानो वा विलुपंति ॥

मूलारा—तध वि पलायनं कुर्वतोऽपि। चारभडा सुभटपुरुषाः। दाइया दायादाः। विलुंपेज्ज उद्दालयेयुः ॥

अर्थ—भागनेवाला अथवा दौडनेवाला उस मनुष्यके पीछे चोर जाकर उसको पकडते हैं. उससे धन छीन

लेते हैं. पराधीन होनेपर नावीदार लोक, उसका धन लेते हैं. अथवा राजा उसका धन हर लेता है.

संगणिमित्तं कुद्धो कलहं रोलं करिज्ज वेरं वा ॥
पहणेज्ज व मारेज्ज व मारेजेज्ज व य हम्मेज्जा ॥ ११५३॥

कलिं कलकलं वैरं कुरुते नाथते परं ॥
म्रियते मार्यते लोकैर्हस्यते चार्थलंपटः ॥ ११९२ ॥

विजयोदया—संगणिमित्तं कुद्धो ग्रंथः परिग्रहनिमित्तं कलहं वैरं वा करोति हंति, ताडयति, । परं स्वयं प्राणान्वियोजयति वा। परेण वा ताड्यते मार्यते परेण ॥

मूलारा— पहणेज्ज ताडयेत्परं । मारेज्जो मारयेत्परं । मारेज्जेज्ज मार्यते परैः । हम्मेज्ज ताड्यते परैः ॥

अर्थ—परिग्रहके निमित्तसे क्रोधी हुआ यह मनुष्य दूसरोंके साथ तंटा करता है. वैर करता है. दूसरोंको मारता है, पीटता है. दूसरोंके प्राण लेता है, अथवा दूसरोंके द्वारा यह मारा जाता है, पीटा जाता है.

अहवा होइ विणासो गंथस्स जलग्गिमूसायादीहिं ॥
णट्ठे गंथे य पुणो तिव्वं पुरिसो लहदि दुक्खं ॥ ११५४ ॥

कृशानुमूषिकांभोभिः संचितोऽर्थो विनाश्यते ॥
तत्र नष्टे पुनर्गाढं दह्यते शोकवह्निना ॥ ११९३ ॥

विजयोदया—अथवा होज्ज विणासो अथवा ग्रंथस्य विनाशो भवेत् । अग्निजलमूषकादिभिः नष्टे पुनर्ग्रंथे तीव्रं दुःखं लभते मनुष्यः ॥

मूलारा— स्पष्टम्—

अर्थ—अथवा उसके परिग्रहका नाश अग्नि, जल, चूहे वगैरहसे होता है. परिग्रह नष्ट होनेपर फिर वह पुरुष दुःखी होता है.

सोयइ विलवइ कंदइ णट्ठे गंथम्मि होइ वीसण्णो ॥
पज्झादि णिवाइज्जइ वेवइ उक्कंठिओ होइ ॥ ११५५ ॥

श्वसिति रोदिति सीदति वेपते गतवति द्रविणे ग्रहिलोपमः ॥
करनिविष्टकपोलतलोऽधमो मनसि शोचति पृत्कुरुतेऽभितः ॥ ११९४ ॥

विजयोदया—सोयदि विलवदि शोचति, विलपति, क्रंदति नष्टे परिग्रहे विषण्णश्च भवति । चिंतां करोति । पिपासंतस्संतापाज्जलादिक, वेपते उत्कंठितो भवति ॥

मूलारा— विसण्णो विपण्णो विचेतनो वा। पज्झादि चिंतां करोति। णिवाइज्जदि पिवत्यन्तःसंतापाज्जलादिकं । प्रस्वेदेनापूर्यत इत्यन्यः ॥

अर्थ—परिग्रहका नाश होनेपर शोक करता है, जोरसे रोने लगता है. लोगोंके हृदयमें दया उत्पन्न होगी ऐसा रोता है. मनमें खिन्न होता है, चिंता करने लगता है. हृदयमें बहुत जलन पैदा होनेसे पानी पिता है, उसके अवयव कांपने लगते हैं और वह उत्कंठित होता है.

उज्झदि अंतो पुरिसो अप्पिए णट्ठे सगम्मि गंथम्मि ॥
वायावि य अक्खिप्पइ बुद्धी विय होइ से मूढा ॥ ११५६ ॥

अंतरे द्रव्यशोकेन पावकेनेव ताप्यते ॥
बुद्धिर्मंदायते वाढं मुह्यत्युत्कळते तराम् ॥ ११२८ ॥

विजयोदया—उज्झदि दह्यते अंतः पुरुष आत्मीये नष्टे परिग्रहे । वागपि नश्यति बुद्धिरपि मंदा भवति ॥

मूलारा— अक्खिप्पदि नश्यति स्खलति वा ॥

अर्थ—परिग्रहका नाश होनेसे मनुष्य मनमें जला करता है उसका वचन भी नष्ट होता है. अर्थात् उसका बोलना भी बंद पडता है उसकी बुद्धि भी मंद होती है.

उम्मत्तो होइ णरो णट्ठे गंथे गहोवसिट्ठो वा ।

घट्टदि मरुप्पवादादिएहिं बहुधा णरो मरिदुं ॥ ११५७ ॥

उन्मत्तो बधिरो मूको द्रव्ये नष्टे प्रजायते ।

चेष्टते पुरुषो मर्तु गिरिप्रपतनादिभिः ॥ ११९६ ॥

विजयोदया—उम्मत्तो होइ णरो उन्मत्तो भवति नरः। नष्टे परिग्रहे ग्रहगृहीत इव चेष्टते मरुत्प्रतापादिभिर्मर्तु ॥

मूलारा—गहोवसिट्ठो वा भूताविष्ट इव । घत्तदि चेष्टते । मरुप्पवादादिएहिं भृगुपातादिभिः ॥

अर्थ—परिग्रहका नाश होनेपर यह जीव उन्मत्त होता है. पिशाच ग्रस्त मनुष्यके समान चेष्टा करता है. और पर्वत, अग्नि, पानी इत्यादिकसे मरनेकी इच्छा करता है.

चेलादीया संगा संसज्जंति विविहेहिं जंतूहिं ॥

आगंतुगा वि जंतू हवंति गंथेसु सण्णिहिदा ॥ ११५८ ॥

चेलादयोऽखिला ग्रंथाः संसजन्ति समंततः ॥

संति सन्निहिताश्चित्रास्तस्मिन्नागंतुकास्तथा ॥ ११९७ ॥

विजयोदया—चेलादिआ चेलादिसंगाश्चेलप्रावरणादयः परिग्रहाः । संसज्जंति सम्मूर्च्छनामुपयंति । विविहेहिं जंतूहिं नानाप्रकारैर्जंतुभिः । आगंतुगा वि आगंतुकाश्च जंतव । गंथेसु सण्णिहिदा भवंति ग्रंथेषु संनिहिता भवन्ति । यूकापिपीलिका मत्कुणादय. । धान्येषु कीटकादयः । गुडापूपादिषु रसजीवाः । तेषामादाने ॥

मूलारा—संसिज्जंति संमूर्च्छन्ति । वस्त्रशय्यादयो यूकामत्कुणादिभिः धान्यानि कीटकादिभिः । गुडापूपादीनि च रसजप्राणिभिः ॥

अर्थ—ओढनेके वस्त्र प्राय णादिक परिग्रहोंमें नाना प्रकारके सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते हैं. जूं, चिंटी, मत्कुण वगैरह आगंतुक प्राणी भी आकर परिग्रहोंमें ठहरते हैं. धान्यमें कीडे उत्पन्न होते हैं, गुडके बनाये अपूपादिक खाद्य पदार्थोंमें रससे सूक्ष्म जंतु उत्पन्न होते हैं. इस प्रकार परिग्रह जंतुओंका उत्पत्ति स्थान होता है.

आदाणे णिक्खेवे सरेमणे चावि तेसि गंथाणं ॥

उक्कस्सणे वेक्कसणे फालणपप्फोडणे चेव ॥ ११५९ ॥

विजयोदया—आदाने, निक्षेपे, संस्करणे, वहिर्नयने, बंधने, मोचने, तेषां ग्रंथानां पाटने विधूनने च ॥

मूलारा—सरेमणे संस्करणे । उक्कस्सणे वहिर्नयने । वेक्कसणे बंधमोचने । फालणे पाटने पप्फोडणेऽवधूनने ॥

अर्थ—पदार्थ ग्रहण करना, जमीन पर रखना, उसको सोधना, बाहर लेजाना, बांधना, खोलना, फोडना,, झटकना इत्यादि क्रिया करते समय प्राणिओंको बाधा पोहोचती है.

छेदणबंधणवेढणआदावणधोव्वणादिकिरियासु ॥

संघट्टणपरिदावणहणणादी होदि जीवाणं ॥ ११६० ॥

बंधने छोटने छेदने भेदने पाटने धूनने चालने शोषणे ॥

वेष्टने क्षालने स्वीकृतौ क्षेपणेऽर्थस्य पीडा परा जायते देहिनाम् ॥११९८॥

विजयोदया—छेदने, बंधने, वेष्टने, शोषणे प्रक्षालने च । सम्मर्दने परितापनहननादिकं भवति जीवानां ॥

मूलारा—आदावण शोषणे । धोव्वणादि प्रक्षालनक्रयविक्रयादिकं । संघट्टण सम्मर्दनं । परिदावण पीडनं उद्दावण मारणं ॥

अर्थ—छेदन करना, बांधना, वेष्टन करना, सुखाना, धोना, इत्यादिक कार्य करते समय जीवोंको मर्दन संतापन और घात उत्पन्न होता है.

जदि वि विविंचदि जंतू दोसा ते चेव हुंति से लग्गा ॥

होदि य विकिंचणे वि हु तज्जोणिविओजणा णिययं ॥ ११६१ ॥

तेभ्यो निरसने तेषां ध्रुवा योनिवियोजना ॥

दोषा मर्दनसंघट्टवितापमरणादयः ॥ ११९९ ॥

विजयोदया—जदि वि विविंचदि यद्यपि निराक्रियंते जीवास्त एव संघट्टादयो दोषा भवंति । भवति च पृथक्करणे तेषां तद्योनिवियोजना निश्चयेन ।

मूलारा—जदिवि यद्यपि । विकिंचदि स्फेटयति । ते चैव संघट्टनादयः । से सग्रंथस्य यतेः । लग्गा अनुपक्ताः । तज्जोणिविजोयणा तेषां जन्तूनामुत्पत्तिस्थानवियोगः ॥

अर्थ—यद्यपि जीवोंको अलग करने पर भी संघर्षणादिक दोष परिग्रहवानके होते ही हैं. जब जीवोंको पृथक् किया जाता है तब उनको अपने उत्पत्तिस्थानका वियोग होता है.

एवमचित्तपरिग्रहगतदोषमभिधाय सचित्तपरिग्रहदोषमाचष्टे—

सच्चित्ता पुण गंथा वधंति जीवे सयं च दुक्खंति ॥
पावं च तण्णिमित्तं परिगिण्हंतस्स से होई ॥ ११६२ ॥

सचित्ता अंगिनो घ्नन्ति स्वयं संसक्तमानसाः ॥
ग्रहीतुर्जायते पापं तन्निमित्तमसंशयम् ॥ १२०० ॥

विजयोदया—सचित्ता पुण गंथा वधंति जीवे परिग्रहाः दासीदासगोमहिष्यादयो घ्नंति । जीवान्स्वयं च दुःखिता भवंति । कर्मणि नियुज्यमाना कृष्यादिके पापं च स्वपरिगृहीतजीवकृतासंयमनिमित्तं तस्य भवति ॥

एवमचित्तग्रंथगतान्दोषान्प्रकाश्य सचित्तग्रंथगतान्दोषानाह—

मूलारा—दुक्खंति कृष्यादिकर्मणि नियुज्यमाना दुःखिता भवन्ति । तण्णिमित्तं परिगृहीतजीवकृतासंयमतः दुःखोत्पादनहेतुकं ।

अर्थ—जो सचित्त परिग्रह है अर्थात् दास दासी, गो महिष वगैरे सजीव परिग्रह हैं वे जीवोंका घात करते हैं. और खेती वगैरह कर्मोंमें नियुक्त करनेपर दुःखी होते हैं. जिनका परिग्रहवानने स्वीकार किया है ऐसे दास दास्यादिक असंयमरूप प्रवृत्तिकर जो पाप उत्पन्न करते हैं उसका संबंध परिग्रहवानके साथ होता है. अर्थात् स्वामी की प्रेरणासे वे असंयमरूप कार्य करनेमें स्वामी पापसे बद्ध होता है.

इंदियमयं सरीरं गंथं गेण्हदि य देहसुक्खत्थं ॥
इंदियसुहाभिलासो गंथग्गहणेण तो सिद्धो ॥ ११६३ ॥

देहस्याक्षमयत्वेन देहसौख्याय गृण्हतः ॥
अक्षसौख्याभिलापोऽस्ति सकलस्य परिग्रहः ॥ १२०१ ॥

विजयोदया—इंद्रियसुखाभिलाषः कर्मबंधनिमित्तो मुमुक्षुणा त्याज्यः। स परिग्रहग्रहणे बलादापततीति व्याचष्टे-इंद्रियमयं शरीरं स्पर्शनादिपंचेन्द्रियाधारत्वात्। परिग्रहं च चेलप्रावरणादिकं इंद्रियसुखार्थमेव गृण्हाति। वातातपाद्यनभिमतस्पर्शनिषेधाय आत्मशरीरे वस्त्रालंकारादिभिरलंकृते पराभिलाषमुत्पाद्य तदंगासंगजनितप्रीत्यर्थितया अभिमतमापादयति। सेवनार्थं च तत् इंद्रियसुखाभिलाषो ग्रंथं गृह्णतः सिध्यति। स्वाध्यायध्यानाख्ययोस्तपसो विघ्नकारी परिग्रहस्तदुभयं चान्तरेण न संवरनिर्जरे॥

इंद्रियसुखाभिलाषः कर्मबंधननिबंधनत्वान्मुमुक्षुभिस्त्याज्य एव। स च परिग्रहग्रहणेन बलात्सिध्यति इति व्याचष्टे—

मूलारा—इंद्रियमयं स्पर्शनादीन्द्रियाधारत्वात्। ग्रंथं चेलप्रावरणादिकान्। देहसौख्यार्थं वातातपाद्यनिषेधादिना शरीरस्य स्वास्थ्यमुत्पादयितुं सिद्धो निश्चितः॥

अर्थ—इंद्रियसुखोंमें अभिलाषा करनेसे कर्मबंध होता है अतः मुमुक्षु इंद्रियसुखकी अभिलाषा नहीं करते हैं. जिन्होंने परिग्रहोंका स्वीकार किया है उनको नियमसे कर्मबंध होता है. इस विषयका स्पष्टीकरण—शरीर पंचेंद्रियोंका आधार है अतः उसको इंद्रियमय कहते हैं. जीव स्पर्शनादि इंद्रियसुखके लिए वस्त्रादिपरिग्रहका स्वीकार करता है. हवा, धूप वगैरहका अनिष्ट स्पर्श शरीरको न होवे इस हेतुसे वस्त्रादिकोंका जीव स्वीकार करता है. जब जीव अपना शरीर वस्त्रादिकोंसे अलंकृत करता है तब अपनेमें दूसरोंकी अभिलाषा उत्पन्न करके उसके शरीरके सहवासकी प्रीति उत्पन्न करके अपना इष्ट साध्य करता है. दूसरेके शरीरसुखकी प्राप्ति करनेके लिए अपने शरीरको अलंकारादिसे सजाता है. अतः ग्रंथ—परिग्रह धारण करनेका मूल कारण इंद्रियसुखकी अभिलाषा है यह सिद्ध होता है इस परिग्रहसे स्वाध्याय और ध्यानकी सिद्धि होती नहीं. स्वाध्याय और ध्यान के विना कर्मके संवर और निर्जराके अभावमें संपूर्ण कर्मोंका नाश कैसा होगा. ?

तयोरभावे कुतो निरवशेषकर्मापायो भवतीति कथयति—

गंथस्स गहणरक्खणसारवणाणि णियदं करेमाणो ॥
विक्खित्तमणो ज्झाणं उवेदि कह मुक्कसज्झाओ ॥ ११६२ ॥

रक्षणस्थापनादीनि कुर्वाणोऽर्थस्य सर्वदा ॥
निरस्ताध्ययनो ध्यानं व्याक्षिप्तः कुरुते कथम् ॥ १२०२ ॥

विजयोदया—ग्रंथस्य ग्रहणरक्षण परिग्रहादानं, तद्रक्षणं, तत्संस्कारं च नित्यं कुर्वन् । व्याक्षिप्तचित्तः कथं शुभध्यानं कुर्यात् विमुक्तस्वाध्यायः । एतदुक्तं भवति—व्याक्षिप्तचित्तस्य न स्वध्यायः असति तस्मिन्वस्तुयाथात्म्याविदुषः ध्येयैकनिष्ठं ध्यानं कथमिव वर्तते ॥

परिग्रहात्स्वाध्यायध्यानविघातस्ततश्च संवरनिर्जराविरहात्कुतो मोक्षो भवेदित्यनुशास्ति—

मूलारा—विक्खित्तमणो व्याकुलचित्तः । मुक्कसज्झाओ त्यक्तश्रुतभावनाकः । ग्रंथग्रहणादिना चित्तस्य विक्षेपे सति स्वाध्यायासंभवात् । वस्तुयाथात्म्यमजानतः कथमिव ध्येयैकनिष्ठं ध्यानमुपविष्टत इति भावः ॥

यही अभिप्राय आगेकी गाथामें आचार्य कहते हैं—

अर्थ—परिग्रहका स्वीकार करना, रक्षण करना, उनमें संस्कार करना इसी कार्यमें जिसका चित्त लगा है ऐसे मनुष्यकी धर्मध्यानमें प्रवृत्ति नहीं होती है. इस परिग्रहके जालमें पडे हुए मनुष्य स्वाध्याय भी नहीं कर सकते हैं. चित्तकी एकाग्रता होनेपर स्वाध्याय सिद्ध होता है. परंतु चित्तका लय परिग्रह में ही होनेसे स्वाध्यायसे मनुष्य विमुख होता है. स्वाध्यायसे वस्तुओंका यथार्थ स्वरूप जब मालूम होता है तब चित्तकी एकाग्रतासे धर्म ध्यानकी सिद्धि होती है. स्वाध्यायविमुख और परिग्रहासक्त लोकोंको यथार्थ वस्तुस्वरूप मालूम न पडनेसे शुभ ध्यानकी सिद्धि होती नहीं है.

परभवव्याप्यं दोषं परिग्रहमुखायातमुपदर्शयति—

गंथेसु घडिदहिदओ होइ दरिद्दो भवेसु बहुगेसु ॥
होदि कुणंतो णिच्चं कम्मं आहारहेदुम्मि ॥ ११६५ ॥
अर्थप्रसक्तचित्तोऽस्ति निःस्वो बहुषु जन्मसु ॥
ग्रासार्थमपि कर्माणि निंद्यानि कुरुते सदा ॥ १२०३ ॥

विजयोदया—गंथेसु घडिदहिदओ ग्रंथासक्तचित्तः बहुषु भवेषु दरिद्रो भवति । आहारमात्रमुद्दिश्य नीचकर्मकारी भविष्यति । शिबिकोद्वहनं, उपानद्वेचनं, पुरीषमूत्राद्यपनयनं इत्यादिकं नीचं कर्म ॥

संगत्यागंगमुखोपस्थितं भवान्तरप्राप्यं दोषमाख्याति—

मूलारा—पडिबद्धहिदओ आसक्तचित्तः । णीचं कम्मं शिबिकोद्वहनादिकं कुर्वन्वर्ततेऽपि । आहारहेदुं आहारमात्रमुद्दिश्य ॥

परिग्रहसे उत्पन्न हुआ दोष अनेक भवमें जीवके साथ रहकर दुःख उत्पन्न करता है इस अभिप्रायका वर्णन—

अर्थ—जिसका मन परिग्रहासक्त हुआ है ऐसा मनुष्य अनेक भवोंमें दरिद्री होता है. आहारकी अभिलाषा करके वह नीच कार्य करनेके लिए भी उत्तारु होता है. अर्थात् पालखी उठाकर अन्य स्थानमें ले जाना, श्रीमान पुरुषोंके जूते उठाना, विष्ठा, मूत वगैरह अपवित्र पदार्थ निकालना इत्यादिक नीच कार्य करता है.

विविहाओ जायणाओ पावदि परभवगदो वि धणहेदुं ॥
लुद्धो पंपागहिदो हाहाभूदो किलिस्सदि य ॥ ११६६ ॥

लभते यातनाश्चित्रा ग्रंथहेतून्भवान्तरे ॥
संक्लिश्यत्याशया ग्रस्तो हाहाभूतोऽर्थलुब्धधीः ॥ १२०४ ॥

विजयोदया—विविहाओ जायणाओ पाउणदि विविधा यातनाः प्राप्स्यति । परभवगतोपि धननिमित्तं लुब्धः आशाया महत्या गृहीतो हा मम क्लेशशतं कुर्वतोपि मम धनं न भवति, जातं वा नष्टमिति कृतहाहाकारः क्लिश्यति ।

मूलारा—हाहा—मम क्लेशशतं कुर्वतोऽपि धनं न संपद्यते । संपन्नं वा विनश्यति इति कृतहाहाकारः ॥

अर्थ—परिग्रहासक्त मनुष्य अन्य जन्ममें भी धनके लिए अनेक आपत्तिओंको प्राप्त होता है. उसकी आशा अत्यंत बढती ही जाती है. सेंकडो प्रयत्न करने पर भी मेरे धनकी वृद्धि होती नहीं अथवा धनकी वृद्धि होकर भी वह नष्ट होता है ऐसे विचार कर वह महान् दुःखी होता है.

एदेसिं दोसाणं मुंचइ गंथजहणेण सव्वेसिं ॥
तव्विवरीया य गुणा लभदि य गंथस्स जहणेण ॥ ११६७ ॥

अमीभिरखिलैर्दोषैर्ग्रंथत्यागी विमुच्यते ॥
भूरिभिस्तद्विपक्षैश्च निलपीक्रियते गुणैः ॥ १२०५ ॥

विजयोदया—पदेसिं दोसाणं मुंचा पूर्वोक्तान्परिग्रहग्रहणगतान्दोषान्शेषांस्त्यजेदिति दोषप्रतिपक्षभूतान्गुणानपि लभते ॥

ग्रंथत्यागिनो दोषविच्छेदं गुणप्रतिलंभं चोपदिशति—

मूलारा—मुंचदि पूर्वोक्तान्दोषांस्त्यजति । द्वितीयार्थेऽत्र षष्ठी ॥

अर्थ—परिग्रहका त्याग करनेसे पूर्वोक्त सर्व दोषोंका त्याग हो जाता है, और इन दोषोंके प्रतिपक्षी औदार्य, निस्पृहता वगैरह गुणोंकी प्राप्ति होती है.

गंथच्चाओ इंदियणिवारणे अंकुसो व हत्थिस्स ॥
णयरस्स खाइया वि य इंदियगुत्ती असंगत्तं ॥ ११६८ ॥
अंकुशो गतसंगत्वं विषयेभनिवारणम् ॥
इंद्रियाणां परा गुप्तिः पुरीणामिव खातिका ॥ १२०६ ॥

विजयोदया—गंथच्चाओ ग्रंथत्यागः इंदियणिवारणे इत्ययमिंद्रियशब्द उपयोगेंद्रियविषयः सप्तमी च निमित्तलक्षणा । तेनायमर्थ -इंद्रियज्ञानस्य रागद्वेषमूलस्य निवारणे निमित्तभूतोऽकुश इव हस्तिनो निवारणे उत्पथयानात् । नगरस्स खादिगा वि य नगरस्य खातिका इव । असंगत्तं निष्परिग्रहता । इंदियगुत्ती इंद्रियगुप्तिरिंद्रियरक्षा रागोत्पत्तिनिमित्तेंद्रियज्ञानरक्षा ॥

नैर्ग्रंथस्येन्द्रियजयोपायत्वमाह—

मूलारा—इंदियणिवारणे इंद्रियज्ञानस्य रागद्वेषमूलस्य निरोधने निमित्तभूतः । सप्तम्या निमित्तार्थे विधानात् । अंकुसो व उत्पथगमननिवारणे इति शेषः । खादिगा वि य खातिका यथा निवारणोपायः । इंदियगुत्ति रागद्वेषोत्पत्तिनिमित्तेंद्रियज्ञाननिवारणोपायः ॥

अर्थ—जैसे कुमार्गमें प्रवृत्त हुए हाथीको अंकुश निवारण कर योग्य मार्गपर लाता है, खंदक अर्थात् खाईसे जैसे नगरका रक्षण होता है वैसे परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेष जिसके मूल कारण हैं ऐसे इंद्रिय ज्ञानकी

निवृत्ति होती है अर्थात् परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेष नष्ट होते हैं; जिससे इंद्रियां अयोग्य कार्यमें प्रवृत्त होती नहीं.

सप्पबहुलम्मि रण्णे अमंतविज्जोसहो जहा पुरिसो ॥
होइ दढमप्पमत्तो तह णिग्गंथो वि विसएसु ॥ ११६९ ॥
विषयेभ्यो दुरंतेभ्यस्त्रस्यति ग्रंथवर्जितः ॥
अल्पमंत्रौषधो मर्त्यः सर्पेभ्य इव सर्वदा ॥ १२०७ ॥

विजयोदया—सप्पबहुलम्मि सर्पबहुले रण्णे अरण्ये । अमंतविज्जोसहो मंत्रेण, विद्यया औषधेन च रहितः पुमान् । दढमप्पमत्तो होदि नितरां अप्रमत्तो भवति । तथा निर्ग्रंथोऽपि क्षायिकश्रद्धानकेवलज्ञानयथाख्यातचारित्रमंत्रविद्यौषधिरहितो विषयारण्ये रागादिसर्पबहुले सावधानोऽपि भवेत् ॥

निःसंगत्वस्याप्रमत्तताहेतुत्वमाह —

मूलारा—रण्णे अरण्ये । विसएसु इंद्रियार्थेषु रागद्वेषलक्षणप्रमादरहितः । बाह्यद्रव्य हि मनसा स्वीकृतं रागद्वेषप्रवृत्तिं करिष्यतो मोहनीयकर्मणः सहकारिकारणमिति तत्त्यागे सा न स्यात् । तदभावे च नापूर्वकर्मबंध इति नैर्ग्रंथ्यमेव प्रथमो मोक्षोपाय इति भावः ॥

अर्थ—जिसको सर्पविष दूर करनेकी विद्या, मंत्र और औषधिका ज्ञान नहीं है ऐसा मनुष्य जिसमें सर्पोंका बहुत प्रचार है ऐसे अरण्यमें कारणवश प्राप्त होनेपर बहुत सावधान रहकर सर्पोंसे अपना बचाव करता है. वैसे क्षायिक सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, यथाख्यातचारित्र, एतत्स्वरूपी मंत्र, विद्या और औषधिरहित निर्ग्रंथ मुनि रागद्वेषादि सर्पोंसे भरे हुए पंचेंद्रिय विषयरूपी अरण्यमें सावधान रहते हैं. अभिप्राय यह है कि, परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेष नष्ट होते हैं और विषयाभिलाषाका अभाव होता है.

रागो हवे मणुण्णे विसए दोसो य होइ अमणुण्णे ॥
गंथच्चाएण पुणो रागद्दोसा हवे चत्ता ॥ ११७० ॥

रागो मनोहरे ग्रंथे द्वेषश्चास्त्यमनोहरे ॥
रागद्वेषपरित्यागो ग्रंथत्यागे प्रजायते ॥ १२०८ ॥

विजयोदया—रागद्वेषयोः कर्मणां मूलयोर्निमित्तं परिग्रहः, परिग्रहत्यागे रागद्वेषौ एव त्यक्तौ भवतः । बाह्यद्रव्यं मनसा स्वीकृतं रागद्वेषयोर्बीजं, तस्मिन्नसति सहकारिकारणे न च कर्ममात्राद्रागद्वेषवृत्तिर्यथा सत्यपि मृत्पिंडे दंडाद्यनंतरकारणवैकल्ये न घटोत्पत्तिर्यथेति मन्यते ॥

एतदेवाह—

मूलारा—मणुण्णे इट्ठे मनसा स्वीकृते सति ॥

अर्थ—इष्ट विषयोंमें रागभाव उत्पन्न होता है और अनिष्ट विषयोंमें द्वेष उत्पन्न होता है. परंतु परिग्रहका त्याग करनेसे राग और द्वेष दोनों भी नष्ट होते हैं. रागद्वेष कर्मबंध होनेमें मूल कारण हैं. रागद्वेषसे ही कर्मबंध होता है. परंतु परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेषोंका त्याग होता है. मनमें विचार कर जब जीव बाह्य द्रव्यका अर्थात् बाह्य परिग्रहका स्वीकार करता है तब रागद्वेष उत्पन्न होते हैं. यदि सहकारिकारण न होगा तो केवल कर्ममात्र से रागद्वेष उत्पन्न होते नहीं. यद्यपि मृत्पिंडसे घट उत्पन्न होता है तथापि दंडादिक कारण नहीं होंगे तो घटकी उत्पत्ति नहीं होती है.

कर्मणां निर्जरणोपायः परीषहसहनं । तथा चोक्तं पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः सोढा भवन्ति ग्रंथचेलप्रावरणादिकं त्यजतेति व्याचष्टे—

सीदुण्हदंसमसयादियाण दिण्णो परीसहाण उरो
सीदादिणिवारणए गंथे णिययं जहंतेण ॥ ११७१ ॥

शीतादयोऽखिलाः सम्यग्विषह्यंते परीषहाः ॥
शीतादिवारकं संगं योगिना त्यजता सदा ॥ १२०९ ॥

विजयोदया—सीदुण्हदंसमसयादियाण ननु च दुःखोपनिपाते संक्लेशरहितता परीषहजयः । न तु शीतोष्णादयो नहि ते आत्मपरिणामाः अनात्मपरिणामाश्च बंधसंवरनिर्जरादीनामुपायो न भवन्ति । योऽनात्मपरिणामो नासौ निर्जराहेतुः यथा पुद्गलगतरूपादयः । अनात्मपरिणामाश्च शीतादयः क्षुत्पिपासादयो दुःखहेतवः । ननु दुःखं तत्

किमुच्यते क्षुत्पिपासादयः परीषहा इति नैव दोषः। क्षुदादिजन्यदुःखविषयत्वात् क्षुदादिशद्वानां। तेन क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यादीनां परीषहत्वोक्तिर्नविरुध्यते। सीदुण्हदंसमसयादियाण शीतोष्णदंशमशकादीनां। परिस्सहाणं उरो दिण्णा परीषहाणां उरो दत्तं। केन सीदादिणिवारणगे शीतादीनां निषेधकान्। गंथे णियद जहंतेण ग्रंथान्नियतं त्यजता ॥

चेलादिग्रन्थ त्यजता दुःकृतनिर्जरणोपायः परीषहसहनं कृतं स्यादित्याह—

मूलारा—परीसहाण शीतादिजन्यदुःखानां। उरो हृदयं। शीतादिदुःखोद्भवे निःसंक्लेश मनः कृतमित्यर्थः। णियारणग निवारकान् ॥

परिषह महन करनेसे कर्म की निर्जरा होती है 'पूर्वभवमें जीवने जो कर्मसंचय किया है उसकी निर्जरा करनेकेलिए परिषह सहन करना चाहिए' ऐसा आगममें कहा है. ग्रंथ का अर्थात् वस्त्रप्रावरणादिकोंका त्याग करने वाले मुनि परिषह सहन करते हैं इसका विवेचन—

अर्थ—दुःख आनेपर भी संक्लेश परिणाम न होना ही परिषह जय है. परंतु शीत, उष्ण, भूख, प्यास वगैरहको परीषह जय नहीं कहते हैं क्यों कि वे आत्मपरिणाम नहीं हैं. वे बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षके उपाय होते नहीं. जो जो आत्मपरिणाम नहीं है वे निर्जराके हेतु नहीं हैं जैसे पुद्गलके रूपादिक गुण. शीत उष्णता वगैरह आत्माके परिणाम नहीं, क्षुधा, प्यास वगैरहभी आत्माके परिणाम नहीं हैं वे सब दुःखके कारण हैं. वे स्वयं दुःख नहीं है इसवास्ते उनको परिषह कहना योग्य नहीं है.

उत्तर—आपका कहना योग्य है. क्षुदादिकोंसे उत्पन्न होनेवाला दुःख क्षुदादिशब्दोंका विषय है. इस वास्ते क्षुधा, पिपासा शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य इत्यादिकोंको परीषह कहना अनुचित नहीं है.

इस गाथाका अभिप्राय यह है कि, शीत उष्ण इत्यादिकोंको मिटाने वाला वस्त्रादि परिग्रह जिसने नियमसे छोड दिया है उसने शीत, उष्ण, दंशमशक वगैरह परीषहोंको छाती आगे करके शूर पुरुषके समान जीत लिया है ऐसा समझना चाहिये.

देहे आदरः सर्वस्य हिंसादेःसंयमस्य मूलं परित्यक्तो भवति परिग्रहं त्यजतेत्याचष्टे—

जम्हा णिग्गंथो सो वादादवसीददंसमसयाणं ॥
सहदि य विविधा बाधा तेण सदेहे अणादरदा ॥ ११७२ ॥

शीतवातातपादीनि कष्टानि सहते यतः ॥
क्रियतेऽनादरो देहे निःसंगेन ततः परं ॥ १२१० ॥

विजयोदया—जम्हा यस्मात् । णिग्गंथो सो निष्परिग्रहोऽसौ । वादादवसीददंसमसयाणं विविधं बाधां वातातपशीतदंशमशकानां विविधं दुःखं ।सहदि विसहदि सहते । तेण सहनेन । सदेहे स्वदेहे अणादरश्च आदराभावः । शरीरे अकृतादरश्च जहात्यशेषं हिंसादिकं, तपसि च स्वशक्त्यनिगूहनेन प्रयतते ॥

हिंसादिसकलासंयममूलं शरीरादरः संगं त्यजता त्यक्तः स्यादित्याह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

जिसने परिग्रहोंका त्याग किया है उसने देहका ममत्वही छोड दिया है ऐसा समझना चाहिये. क्योंकि देहममत्व ही सर्व हिंसादिक असंयमका मूल कारण है. इस विषयका विवेचन—

अर्थ—यह परिग्रहत्यागी वात, धूप, शीत, दंशमशकादिपरिषहोंसे होनेवाले विविध दुःख सहता है इसलिये यह परिग्रहोंमें अनादरवान् है यह बात निर्णीत होती है. जब शरीरसे ममत्वभाव दूर होता है तब हिंसादिक सर्व पापोंका त्याग होता है. और तपश्चरणमें अपनी शक्तिके अनुसार प्रवृत्ति होती है.

संगपरिमग्गणादी णिस्संगे णत्थि सव्वविक्खेवा ॥
ज्झाणज्झेणाणि तओ तस्स अविग्घेण वच्चंति ॥ ११७२ ॥

व्याक्षेपोऽस्ति यतस्तस्य न ग्रंथान्वेषणादिषु ॥
ध्यानाध्ययनयोर्विघ्नो निःसंगस्य ततोऽस्ति नो ॥ १२११ ॥

विजयोदया—संगपरिमग्गणादी परिग्रहान्वेषणादि परिग्रहस्य स्वाभिलषितस्य अस्तित्वगवेषणे क्लेशनमस्तीति । तथा तत्स्वामिनां कोऽस्य स्वामी ? क्व च न क्वासौ अवतिष्ठते इति पुनर्याञ्चा ? लाभे संतोषो, अलाभे दीनमनस्कता, तदानयनं तत्संस्करणं, तद्रक्षणं इत्यादिकं आदिशब्देन गृह्यते । निःसंगे संगरहिते णत्थि सव्वविक्खेवा । न संति सर्वे व्याक्षेपाः । ज्झाणज्झेणाणि ध्यानं अध्ययनं च । तवो व्याक्षेपाभावात् चेतसि । तस्स अपरिग्रहस्य । अविग्घेणं वच्चंति विघ्नमंतरेण वर्तते । सर्वेषु तपस्सु प्रधानयोर्ध्यानस्वाध्याययोरुपायो अपरिग्रहता इत्याख्यातमनया गाथया ॥

सर्वतपसामुत्तंसयोः स्वाध्यायध्यानयोर्नैःसंग्यहेतुकत्वे युक्तिमाह—

 1161

मूलारा—संगपरिमग्गणादी परिग्रहान्वेषणमादिशब्देन च तत्स्वामिबोधतत्स्थानावस्थानगवेषणतत्प्रार्थनतल्लाभप्रीतोपतदलाभदैन्यतदानयनसंस्करणरक्षणादीनि। विक्खेवा व्याक्षेपाश्चित्तव्यासंगाः। अविग्घेण वट्टंति निरंतरायं प्रवर्तते ॥

अर्थ—जो परिग्रहोंमे विरक्त हुआ है. उसको परिग्रहोंको ढूंढनेकी चिंता नहीं रहती है. जिस परिग्रहको लोक चाहते हैं उसको ढूंढनेका प्रयत्न करते हैं. किसके पास मेरी अभिलषित वस्तु मिलेगी ? क्या तेरे पास मेरी इष्ट वस्तु है ? ऐसा प्रश्न करते हैं. उस वस्तुका स्वामी कहां रहता है ? इसकी खोज वे करते हैं. उसके पास जाकर याचना करते हैं इष्ट वस्तु मिलने पर मन आनंदित होता है. परंतु नहीं मिलनेपर दीनता उत्पन्न होती है. अभीष्ट चीजको लाकर उसको सुंदर बनाकर रक्षण करते हैं. परंतु जो निष्परिग्रही हुए हैं ऐसे मनुष्य इन सर्व झंझटोंसे दूर होकर सुखी होते हैं. निष्परिग्रही मनुष्यों का मन अव्याकुल रहता है जिससे उनके ध्यानाध्ययन कार्य निर्विघ्न सिद्ध होते हैं. सर्व तपोंमें ध्यान स्वाध्याय ये प्रधान हैं. यह निष्परिग्रहता उनकी प्राप्ति का उपाय है ऐसा अभिप्राय इस गाथासे व्यक्त होता है.

गंथच्चाएण पुणो भावविसुद्धी वि दीविदा होइ ॥
ण हु संगघडिदबुद्धी संगे जहिदुं कुणदि बुद्धी ॥ ११७४ ॥
दर्शितास्ति मनःशुद्धिः संगत्यागेन तात्विकी ॥
संगासक्तमना जातु संगत्यागं करोति किम् ॥ १२१२ ॥

विजयोदया—संगच्चाएण पुणो संगत्यागेन पुनः। भावविसुद्धी वि दीविदा होदि परिणामस्य विशुद्धिर्दीपिता दर्शिता भवति। ण हु संगघडिदबुद्धी नैव परिग्रहघटितबुद्धिः। संगे जहिदुं कुणदि बुद्धी परिग्रहांस्त्यक्तुं करोति बुद्धिं ॥

भावविशुद्धेरपि नैःसंग्यं लिंगमित्याह—

मूलारा—दीविदा दर्शिता ॥

अर्थ—परिग्रहोंका त्याग करनेसे परिणाम निर्मल होते हैं और प्रतिदिन परिणामोंकी निर्मलता बढती ही रहती है. परिग्रहोंमें जिसका मन लुब्ध हुआ है वह मनुष्य परिग्रहोंका त्याग करनेमें असमर्थ हो जाता है.

या च प्रक्रांता सल्लेखना कषायविषया सा च परिग्रहत्यागमूलेति कथयति—

णिस्संगो चेव सदा कसायसल्लेहणं कुणदि भिक्खू ॥
संगा हु उदीरंति कसाए अग्गीव कट्ठाणि ॥ ११७५ ॥

निःसंगे जायते व्यक्तं कषायाणां तनूकृतिः ॥
कषायो दीप्यते संगैरिंधनैरिव पावकः ॥१२१३॥

विजयोदया—णिस्संगो चेव निष्परिग्रहश्चैव सदा कषायपरिणामांस्तनूकरोति न सपरिग्रहः । कथं इति तत्राचष्टे—संगा हु उदीरेंति परिग्रहा उदीरयन्ति । कसाए कषायान् । अग्गीव अग्निरिव कट्ठाणि काष्ठानि ॥

किं च प्रशांतकषायसल्लेखनापि संगत्यागमूला चेत्यनुशास्ति—

मूलारा—उदीरेंति उद्भावयंति । अग्गीव अग्निं यथा ॥

परिग्रहका त्याग करनेसे ही यति कषायसल्लेखना कर सकते हैं.

अर्थ—जो परिग्रहका त्यागी है वही अपने कषाय परिणाम क्षीण कर सकता है. परिग्रहवान् के कषाय कभी क्षीण होते ही नहीं. जैसे इन्धनोंकी प्राप्ति होनेसे अग्नि बढेगी ही कभी वह उपशांत न होगी वैसे परिग्रहोंसे कषाय उत्पन्न होते हैं नष्ट होते नहीं.

सव्वत्थ होइ लहुगो रूवं विस्सासियं हवदि तस्स ॥
गुरुगो हि संगसत्तो संकिज्जइ चावि सव्वत्थ ॥ ११७६ ॥

लघुः सर्वत्र निःसंगो रूपं विश्वासकारणम् ॥
गुरुः सर्वत्र सग्रंथः शंकनीयश्च जायते ॥ १२१४ ॥

विजयोदया—सव्वत्थ होइ सर्वत्र भवति । गमने आगमने च लघुगो लघुः । रूवं वेसासिगं रूपं विश्वासकारि न भवति । तस्स निर्ग्रंथस्य । वस्त्रप्रावरणादिकप्रच्छादितशस्त्रोऽस्माकमुपद्रवं करोति धनं वा स्तेन चीवरादिना प्रच्छाद्य नयतीति शंकां कुर्वन्ति परिग्रहं दृष्ट्वा ।

निःसंगस्य लघुत्वविश्वास्यत्वे वक्ति—

मूलारा—सव्वत्थ गमनागमनादौ । लहुगो अभारिको भवति निःसंगः । वेसासियं विश्वासकारि ॥

अर्थ—जिसने परिग्रहोंका त्याग किया है वह सर्वत्र लघु होता है अर्थात् चिंतारहित होता है. उसके स्वरूपको देखकरही लोग उसके ऊपर विश्वास करते हैं. परंतु जिसके पास वस्त्र प्रावरणादिक हैं उसके ऊपर लोक विश्वास नहीं करते हैं. इसने अपने पास शस्त्र छिपाकर रक्खा होगा ऐसा समझते हैं. तथा यह हमारा धन वस्त्रमें छिपाकर ले जायगा ऐसी शंका उनके मनमें उत्पन्न होती. अभिप्राय यह है कि परिग्रह अविश्वासका कारण है.

सव्वत्थ अप्पवसिओ णिस्संगो णिब्भओ य सव्वत्थ ॥
होदि य णिप्परियम्मो णिप्पडिकम्मो य सव्वत्थ ॥ ११७७ ॥

प्रतिबंधप्रतीकारप्रतिकर्मभयादयः ॥
निर्ग्रंथस्य न जायंते दोषाः संसारहेतवः ॥ १२१५ ॥

विजयो—सव्वत्थ अप्पवसिगो सर्वत्र ग्रामे, नगरे, अरण्ये च आत्मवशकः । णिस्संगो निष्परिग्रहः । सव्वत्थ य णिब्भओ सर्वत्र निर्भयश्च । होदि य णिप्पडिकम्मो भवति च निर्व्यापारः कृष्यादिक्रियाप्रारंभरहितः । णिप्पडिकम्मा य इदं पूर्वकृतं इदं परत्रावशिष्टं कार्यमित्येतच्चास्य न विद्यते ॥

निःसंगस्य स्वातंत्र्यनिर्भयत्वानारंभत्वनिश्चितत्वगुणसंपत्तिमाह—

मूलारा—णिप्परियम्मो परिकर्मभ्यः कृष्यादिव्यापारेभ्यो निष्क्रांतः । णिप्पडियम्मो इदं पूर्वं कृतं, इदं इदानीं करोमीदं च पुरस्तात्करिष्यामि इत्येवमादिक आत्मनि चिंतासंस्कारोऽत्र प्रतिकर्म तस्मान्निष्क्रान्तो निष्प्रतिकर्मा । अन्ये तु णिप्पडियम्मो यतिः । णिप्पडियम्मो निर्व्यापार इति व्याख्यान्ति ॥

अर्थ— निष्परिग्रही मनुष्य गांवमें, नगरमें, अरण्यमें, सर्व स्थानोंमे अपने स्वाधीनही रहता है. उसको कहां भी भय नहीं है उसको खेती, उद्योग, धंदा करने की चिंता नहीं रहती है. यह कार्य आज मैंने समाप्त किया है अब यह अवशिष्ट कार्य कल या परसों करूंगा ऐसी चिंता उसको नहीं रहती है.

सुखार्थिनो महत्सुखं भवति संगपरित्यागेनेति वदति—

भारक्कंतो पुरिसो भारं ऊरुहिय णिव्वुदो होइ ॥
जह तह पयहिय गंथे णिस्संगो णिव्वुदो होइ ॥ ११७८ ॥

महाश्रमकरे भारे रभसाद्भारवानिव ॥
निरस्ते सकले ग्रंथे निर्वृतो जायते यतिः ॥ १२१६ ॥

विजयोदया—भारक्कंतो पुरिसो भाराक्रांतः पुरुषः । भारं ऊरुहिय भारमवतार्य । णिव्वुदो होदि सुखी भवति । यथा तथा णिस्संगो णिव्वुदो होदि निष्परिग्रहः सुखी भवति । गंथं पयहिय ग्रंथान्परित्यज्य । बाधाभावलक्षणं हि सुखं सर्वमेव । तथाहि—अशनादिना क्षुधाद्यपगते जातं स्वास्थ्यमेव सुखमिति लोको मन्यते ॥

संगत्यागात्सुखित्वमाह—

मूलारा—ऊरुहिय अवतार्य । णिव्वुदो सुखी । सर्वमपि हि सांसारिकं सुखं बाधाभावलक्षणमेव । भोजनादिना क्षुदाद्यपनोदाज्जाते स्वास्थ्ये लोकस्य सुखव्यवहारोपलंभात् । पजहिय परित्यज्य ग्रंथान्निःसंगः सन् ॥

जिसको सुखकी इच्छा है उसको परिग्रहका त्याग करनेसे महासुख प्राप्त होता है ऐसा आचार्य कहते हैं—

अर्थ— जिसने अपने मस्तकपर बोझा धारण किया है उसको वह बोझा उतरनेपर सुख होता है. वैसे ग्रंथका-परिग्रहोंका त्याग करनेसे मनुष्य सुखी होता है. बाधाका अभाव होना ही सुख है जैसे अन्न- खानेसे भूख मिटती है तब जो स्वास्थ्य प्राप्त होता है लोक उसकोही सुख कहते हैं.

यस्मादेवं परिग्रहग्रहणेऽतिबहवो जन्मद्वयभाविनो दोपाश्च—

तह्मा सव्वे संगे अणागए वट्टमाणए तीदे ॥
तं सव्वत्थ णिवारहि करणकारावणुण्णाहिं ॥ ११७९ ॥
भवंतो भाविनो भूता ये भवन्ति परिग्रहाः ॥
जहाहि सर्वथा तांस्त्वं कृतकारितमोदितैः ॥ १२१७ ॥

विजयोदया—तह्मा तस्मात् । सव्वे संगे सर्वान्परिग्रहान् । अणागदे अनागतान् । वट्टमाणगे तीदे वर्तमानानतीतांश्च भवान् । सव्वत्थ णिवारेहि सर्वथा निवारय । करणकारावणुण्णाहिं कृतकारिताभ्यामनुमोदनेन । कथं अतीतो भावी वा परिग्रहो बंधकारणं येन निवार्यते? अयमभिप्रायः अतीतस्वस्वामिसंबंधेऽपि वस्तुनि ममेदं यस्त्वासीदिति तदनुस्मरणानुरागादिना अशुभपरिणामेन बंधो भवतीति मा कृथास्तदनुस्मरणं अनुरागं वा । एवं भविष्यति इत्थंभूतं मम द्रविणं इति ॥

यस्मादेवं परिग्रहग्रहणेऽतिबहवो जन्मद्वयभाविनो दोषा भवेयुः—

मूलारा—अणागदे भविष्यतीत्थंभूत मम वाछितं वस्त्विति, भाविन्यपि वस्तुनि स्वस्वामिसंबंधानुरागेणाशुभपरिणामेन पापबंधो भवतीति भाविनो ग्रंथान्निवारय त्वमिति क्षपकं नियुंक्ते। दीदे अतीतान् तत्ताहग्वस्तु ममासीदित्यतीतवस्तुन्यपि स्वस्वामिसंबंधानुस्मरणानुरागादिरप्यशुभपरिणामः पापबंधाय प्रभवतीत्यतीतपरिग्रहनिवारणनियोगः। काराविणुण्णाहिं काराव कारापः कारापणं, अणुण्णा अनुज्ञा, अनुमतिः ॥

परिग्रहत्याग करनेसे सुख मिलता है और परिग्रह ग्रहण करनेसे इस भवमें और परभवमें दोष उत्पन्न होते हैं—

अर्थ— इसलिये हे क्षपक भविष्यकालीन, वर्तमानकाल संबंधी और भूतकाल संबंधी संपूर्ण परिग्रहोंका तूं त्याग कर तथा कृत, कारित और अनुमोदनासे इनका तूं त्याग कर.

शंका— जो परिग्रह बीत चुका और जो आगे प्राप्त होनेवाला है वह बंधका कारण कैसे हो सकता है? इस वास्ते उसका निरवाण करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—जो परिग्रह नष्ट हो चुकनेसे उसमेंसे स्वस्वामिसंबंध नष्ट हुआ है तोभी यह परिग्रह वस्तु मेरी थी ऐसा स्मरण होकर उसमें ममत्व होता है. जिससे अशुभ परिणाम उत्पन्न होकर बंध होता है. इसी प्रकार भविष्यत्कालीन परिग्रहमेंभी ममत्व होता है. भविष्यत्कालमें मेरेको अमुक चीज मिलेगी ऐसे संकल्प मनमें उत्पन्न होकर शुभाशुभ परिणामोंसे कर्मबंध होता है इसलिए त्रिकालसंबंधी संपूर्ण परिग्रहोंका तू त्याग कर ऐसा क्षपकको आचार्य उपदेश करते हैं

जावंति केइ संगा विराधया तिविहकालसंभूदा ॥
तेहिं तिविहेण विरदो विमुत्तसंगो जह सरीरं ॥ ११८० ॥

यावन्तः केचन ग्रंथाः संभवन्ति विराधकाः ॥
निर्वृत्तः सर्वथा तेभ्यः शरीरं मुंच निःस्पृहः ॥ १२१८ ॥

विजयोदया—जावंति केइ संगा यावन्तः केचन परिग्रहाः। विराधगा विनाशकाः। कस्य? रत्नत्रयस्य।

तिविधकालसंभूदा कालत्रयप्रवृत्ताः । तेहिं तिविधेण विरदो विमुत्तसंगो तेभ्यो मनोवाक्कायैर्विरतः सन् विमुक्तसंगः । जह सरीरं त्यज शरीरं ।

ग्रंथा रत्नत्रयविनाशका इत्यशेषान्ग्रंथान्निरस्य निःसंगः सन्नंगं त्यजेति क्षपकमादिशति—

मूलारा—विराधया रत्नत्रयविनाशकाः । जह त्यज त्वं ॥

अर्थ—जो त्रिकालसंबंधी परिग्रह रत्नत्रयके विनाशक हैं उनसे हे क्षपक तूं मन, वचन और कायसे वि-रक्त होकर अर्थात् निष्परिग्रह होकर इस शरीरका त्याग कर.

एवं कदकरणिज्जो तिकालतिविहेण चेव सव्वत्थ ॥
आसं तण्हं संगं छिंद ममत्तिं च मुच्छं च ॥ ११८१ ॥
इत्थं कृतक्रियो मुंच विषयं सार्वकालिकम् ॥
तृष्णामाशां त्रिधा संगं ममत्वं त्यज सर्वदा ॥ १२१९

विजयोदया—एवं कदकरणिज्जो एवं कृतकरणीयः । मत्कर्तव्यमाराधनां वांछता आहारशरीरत्यागादिकं । स एवंभूतः । तिकाले वि कालत्रयेऽपि । तिविधेण त्रिविधेन । सव्वत्थ सर्वत्र सर्वविषयां सुखसाधनगोचरां । आसं आशां । तण्हं तृष्णां । संगं परिग्रहभूतां । छिंद ममत्तिं ममेदमिति संकल्पं छिंद्धि । मुच्छं मूर्च्छां मोहमिति यावत् ॥

इत्थं कृताराधनासिद्ध्यंगभूतसल्लेखनाहारशरीरत्यागादिकर्तव्यः सन्ननादिविभ्रमसंस्कारवशाद्विषयसुखेषु प्रादुर्भव-दाशादिपंचकं निर्मूलयेति शिक्षासर्वस्वमाह —

मूलारा—सव्वत्थ सर्वेषु मनोज्ञस्पर्शनादिविषयेषु । आसं आशां । चिरमेते ईदृशा विषया ममोदितोदिता भूयासुरित्याशंसा । तण्हं तृष्णां । इमे मनागपि मत्तो मा विच्छिद्यंतां इति तीव्रं प्रबंधप्रवृत्त्यभिलाषं । संगं तन्मयीभावं । छिंद छिंद्धि त्वं । ममत्तिं ममेमे भोग्या अहमेषां भोक्तेति संकल्पं । मुच्छं मूर्च्छां मूढतां निश्चेतनतां । अन्ये पुनरित्थमर्थं कथयंति–सर्वत्र शरीरादावाशां । इतरं शरीरमद्यापि मे भविष्यतीत्यादिबुद्धिं । तथा तृष्णां सर्वोपायेन रक्षणापेक्षां । तथा संगमासक्तिं । तथा ममतां ममेदमिति प्रतिबंधं । तथा मूर्च्छामत्रैव तिष्ठामीति आसक्तिवृद्धिं । भोः क्षपकराज ! निवारयेति ॥

अर्थ—आराधना की सिद्धीके अंगभूत कर्तव्य जिसने किये है अर्थात् शरीरसल्लेखना जिसने की है ऐसे

हे क्षपक मुने! तूं तीनों कालमें मनवचन कायसे सर्व परिग्रहोंकी आशा और तृष्णाका त्याग कर. संग, ममत्व और मूर्च्छाका त्याग कर. चिरकालतक मेरेको सुख देनेवाले विषय उत्तरोत्तर अधिक प्रमाणसे मिले ऐसी इच्छा रखना उसको आशा कहते हैं. तृष्णा-ये सुखदायक पदार्थ कभी भी मेरेसे अलग न होवे ऐसी तीव्र आभिलाषाको तृष्णा कहते हैं. संग-परिग्रहोंमें आतिशय तन्मय होना. ममत्व-ये पदार्थ मेरे भोग्य हैं मैं इन का भोक्ता हूं ऐसा मनमें संकल्प करना. और मूर्च्छा अर्थात् मोहयुक्त बनना. हे क्षपक तूं आशा, तृष्णा, संग, मूर्च्छा वगैरह अशुभ भावोंको छोड दे.

परिग्रहस्य त्यागजन्यसुखातिशयमिह जन्मनि प्राप्यं निर्दिशत्युत्तरगाथा—

सव्वगंथविमुक्को सीदीभूदो पसण्णचित्तो य ॥
जं पावइ पीयिसुहं ण चक्कवट्टी वि तं लहइ ॥ ११८२ ॥

समस्तग्रंथनिर्मुक्तः प्रसन्नो निर्वृताशयः ॥
यत्प्रीतिसुखमाप्नोति तत्कुतश्चक्रवर्तिनः ॥ १२२० ॥

विजयोदया—सव्वगंथविमुक्को परित्यक्ताशेषबाह्याभ्यंतरग्रंथः । सीदीभूदो शीतीभूतः । पसण्णचित्तो य प्रसन्नचित्तः सन् । जं पावदि पीदिसुहं यत्प्राप्नोति प्रीत्यात्मकं सुखं । न चक्कवट्टी वि तं लभदि चक्रवर्त्यपि तन्न लभेत ॥

बाह्याभ्यंतरपरिग्रहत्यागसमुद्भवं सुखातिशयमिह जन्मनि प्राप्यमुपदिशति—

मूलारा—सीदीभूदो ग्रंथेष्विति कर्तव्यताचिंताव्याकुलत्वात्मकसंतापनिवर्तनाच्छैत्यं प्राप्तः । पीदिसुहं आनंदात्मकं सौख्यम् ॥

परिग्रहका त्याग करनेसे जो सुखातिशय इस जन्ममें प्राप्त होता है उसका आगेकी गाथामें उल्लेख करते है—

अर्थ—जिसने बाह्याभ्यंतर परिग्रहोंका त्याग किया है वह शीतीभूत होता है अर्थात् परिग्रह रहनेपर उसकी रक्षा करनेकी चिंता उत्पन्न होती, है. व्याकुलता बढनेपर मन संतप्त होता है. परिग्रहका त्याग करनेसे संतापका नाश होता है. जिससे मुनिराज शीतावस्थाको प्राप्त होते हैं. उनका अन्तःकरण प्रसन्न होता है. अतः ऐसी अवस्थामें जो सुख उनको प्राप्त होता है वैसा चक्रवर्तीको भी प्राप्त नहीं होता है.

चक्रवर्तिसुखस्य स्वल्पतायाः कारणमाचष्टे—

रागविवागसतण्हादिगिद्धि अवतित्ति चक्कवट्टिसुहं ॥
णिस्संगणिव्वुइसुहस्स कहं अग्घइ अणंतभागं पि ॥ ११८३ ॥

गृध्याकांक्षाकारणं सेचले यच्चक्री सौख्यं रागपाकं चितृप्ति ॥
सौख्यस्येदं नास्तसंगस्य तुल्यं स्वस्थोऽस्वस्थैः सौख्यमाप्नोति कुत्र॥१२२१
दुःखानि नश्यंति शर्माणि पुष्यन्ति कर्माणि त्रुट्यन्ति चित्राणि संगे ॥
ऽगृहीते यतः संयतस्यापि हेयस्ततः सर्वदासौ पटिष्ठेन पुंसा ॥ १२२२ ॥

इति पंचमं व्रतम् ॥

विजयोदया—रागविवागसतण्हादिगिद्धि अवतित्ति चक्कवट्टिसुहं। रागो विपाकः फलमस्येति रागविपाकरूपं विषयसुखमासेव्यमानं रंजयति विषयेष्विति रागो विपाकः फलं सुखस्येत्युच्यते । सह तृष्णया वर्तते इति सतृष्णं, अतिशयेन गार्द्धं कांक्षां जनयति इति अतिगृद्धि। न विद्यते तृप्तिरस्मिन्नित्यवितृप्ति यदेवंभूतं चक्रवर्तिसुखं। णिस्संगणिव्वुदिसुखस्स निःसंगस्य यन्निर्वृतिसुखं तस्यानन्तभागमपि न प्राप्नोति ॥

कुतश्चक्रिसुखं निःसंगसुखादपकृष्यत इत्यारेकां निराकरोति ॥

मूलारा—रागविवाग विषयसुखमासेव्यमानं विषये पुरुषं रंजयतीति रागो विपाकःफलमस्येति रागविपाकं चक्रिसुखं। सतण्हा प्रागुक्तलक्षणतृष्णानुबंधि । अदिगिद्धी अतिशयेन गृद्धिराकांक्षा लाम्पट्यमस्मिन्निति अतिगृद्धि। अवितित्ति नास्ति विशेषेण पुनराकांक्षा निवृत्तिलक्षणेन तृप्तिः सौहित्यं, पुनर्नानुभवामि कदाचिदपीत्येवंविधपरिणतिरूपं यत्र तदवितृप्ति। यत इत्थंभूतं चक्रवर्तिसुखमत एतद्विलक्षणं निःसंगस्य यतेर्यन्निवृत्तौ संगत्यागे निर्द्वन्द्वतायां सुखं मुक्तात्मनामेव शर्म तस्य भागंपि अनंतांशमपि । कथमग्घेज्ज अर्घेत् प्राप्नुयात्तदिति संबंधः ॥ आकिंचन्यम् ॥

निष्परिग्रहतासे होनेवाले सुखसे चक्रवर्तीका सुख अल्प है. यह बताते हैं—

अर्थ—विषयसुखका उपभोग लेने से वह इंद्रिय-विषयोंमें आसक्ति करता है. इस वास्ते चक्रवर्तिका सुख रागभाव को उत्पन्न करने वाला है यह तृष्णाको बढाता है, इस सुखमें अतिशय लंपटताप्राप्ति होती है. बार बार भोगनेपर भी तृप्ति उत्पन्न होती ही नहीं. इसलिए परिग्रहका त्याग करनेपर रागद्वेषरहित यतीश्वरको जो सुख

प्राप्त होता है चक्रवर्तीका सुख उसके अनंत भागकी भी बरोबरी नहीं कर सकता है. इस तरह पांचों महाव्रतोंका वर्णन हुआ

महाव्रतसंज्ञा अन्वर्था अहिंसादीनामिति दर्शयति—

पंचमहव्वयं ॥

साधेंति जं महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं ॥
जं च महल्लाइं सयं महव्वदाइं हवे ताइं ॥ ११८४ ॥

साधयन्ति महार्थं यन्महद्भिः सेवितानि यत् ॥
महान्ति यत्स्वयं सन्तो महाव्रतान्यतो विदुः ॥ १२२३ ॥

विजयोदया—साधेंति जं महत्थं साधयंति यस्मान्महाप्रयोजनं असंयमनिमित्तप्रत्ययकर्मकदंबकनिवारणं महाप्रयोजनं संपादयंतीति महाव्रतानि। आयरिदाइं च जं महल्लेहिं यस्मादाचरितानि महद्भिः तस्मान्महाव्रतानि इति निरुक्तिः। जं च यस्मान्महन्ति स्वयं महांति ततो महाव्रतानि स्थूलसूक्ष्मभेदसकलाहिंसादिरूपतया वा महान्ति ॥

एवमहिंसादीनि व्रतानि पंचापि प्रपंच्य सांप्रतं तद्रक्षारात्रिभोजननिवृत्त्यादिलक्षणं गाथा पंचोत्तरशतेन व्याचिख्यासुः प्रथमं तेषां महाव्रतसंज्ञाया अन्वर्थतां समर्थयते—

मूलारा— साधेन्ति संपादयन्ति । महत्थं असंयमनिमित्तप्रत्ययकर्मबंधकनिवारणलक्षणं महाप्रयोजनं । महल्लेहिं तीर्थंकरादिभिः । महल्लाणि स्थूलसूक्ष्मविकल्पसकलहिंसादिविरतिरूपतया महांति विपुलानि । हवे भवंति । ताइं अहिंसादीनि हिंसादिविरतिरूपाणि शुद्धचिद्रूपाणि नो आगमभावव्रतापेक्षया चारित्रमोहस्य क्षयोपशमादुपमात्क्षयाद्वा प्रवृत्ता जीवस्य हिंसादिपरिणामव्यावृत्तयो यावज्जीवं न हिनस्मि, नानृतं वदामि, नादत्तमाददे, न मैथुनं करोमि, न परिग्रहं गृह्णामीत्येवंभूताः परिणतय इति यावत् ॥

अहिंसादिक व्रतों की महाव्रत संज्ञा अन्वर्थक है ऐसा आचार्य कहते हैं—

अर्थ— अहिंसादिकों को महाव्रत संज्ञा अन्वर्थक है असंयमसे उत्पन्न होनेवाले नवीन कर्मसमूह का निवारण करना यह महाकार्य इन अहिंसादिकों से होता है अतः इनको महाव्रत कहते हैं. महापुरुषोंने इनका

आचरण किया था इस लिए भी इनको महाव्रत कहते हैं- अथवा ये स्वयं महान् हैं अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकारके पंच पातकोंका त्याग ही इनका स्वरूप है इसलिए भी इनको महाव्रत कहते हैं-

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती ॥
अट्ठप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥ ११८५ ॥

रक्षणाय मता तेषां निवृत्ती रात्रिभुक्तितः ॥
राद्धांतमातरश्चाष्टौ सर्वाश्चापि च भावनाः ॥ १२२४ ॥

विजयोदया—तेसिं चेव वदाणं तेषामेवाहिंसादिव्रतानां। रक्खट्ठं रक्षणार्थं । रादिभोयणणियत्ती रात्रिभोजनान्निवृत्तिः । रात्रौ यदि भिक्षार्थं पर्यटति त्रसान्स्थावरांश्च हन्यात् दुरालोकत्वात् । न च दायकागमनमार्गं, तस्यान्नाद्यवस्थानदेशं, आत्मनो वा उच्छिष्टस्य वा निपातदेशं, दीयमानं वाहारं योग्यं न वेति निरूपयितुमयं कथं समर्थः ? दिवापि दुःपरिहारान्न जानाति स सूक्ष्मानयं कथं परिहरेत् कडुच्छकादिकं दायिकायाः भाजनं वा कथं शोधयति । एषणासमितिं वा एषणासमित्यालोचनां सम्यगपरीक्षितविषयां कुर्वतः कथं सत्यव्रतमवतिष्ठते ? सुप्तेन स्वामिभूतेनादत्तमप्याहारं गृह्णतोऽदत्तादानं स्यात् । कचिद्भाजने दिवैव स्थापितं, आत्मवासे भुंजानस्यापरिग्रहव्रतलोपः स्यात् रात्रिभोजनात्तु व्यावृत्तेः सकलानि व्रतान्यवतिष्ठते संपूर्णानि। अट्ठप्पवयणमादाओ अष्टौ प्रवचनमातृकाश्च सद्व्रतपरिपालनायां । एवं पंच समितयः तिस्रो गुप्तयश्च प्रवचनमातृका। रत्नत्रयं प्रवचनं तस्य मातरः इमाः । क उपमार्थः ? यथा माता पुत्राणां अपायपरिपालनोद्यता, एवं गुप्तिसमितयोऽपि व्रतानि पालयन्ति । भावणाओ य सव्वाओ, भावनाश्च सर्वाः । वीर्यान्तरायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमापेक्षेणात्मना भाव्यंतेऽसकृत्प्रवर्त्यंते इति भावनाः । अथ किमिदं व्रतं नाम ? यावज्जीवं न हिनस्मि, नानृतं वदामि, नादत्तमाददे, न मैथुनकर्म करोमि, न परिग्रहमाददे । इत्येवंभूत आत्मपरिणाम उत्पन्नः कथंचित्तथैव अवतिष्ठते उत विनश्यति वा ? । अवस्थानमनुभवविरुद्धं । जीवादिपरिज्ञाने तस्य श्रद्धाने वा प्रवृत्तस्य इत्थमुपयोगाभावात् । अथ विनश्यति ? परिणामान्तरोत्पत्तौ असति का रक्षा ? सतो ह्यपायपरिहारो रक्षा ततः किमुच्यते व्रतानां रक्षार्थं रात्रिभोजनविरतिरिति । यदा न हिनस्मीत्युपयोगो न तदा नानृतं वदामीत्येवमादयः संति परिणामाः। किं पुनः परिणामांतरे वाच्यम् । अत्रोच्यते—

नामादिविकल्पेन चतुर्विधानि व्रतानि। तत्र नामव्रतं कस्यचिद्व्रतमिति कृता संज्ञा । हिंसादिनिवृत्तिपरिणामवत आत्मनः शरीरस्य चेयं प्रत्येकत्वात् आकारः सामायिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाव्रतं । भाविव्रतत्वप्राहिज्ञानपरिणतिरात्मा आगमद्रव्यव्रतं । व्रतज्ञस्य शरीरं त्रिकालगोचरं, ज्ञायकशरीरव्रतं । चारित्रमोहस्य क्षयात्क्षयोपशमाद्वा यस्मिन्नात्मनि भविष्यंति विरतिपरिणामाः स भाविव्रतं । उपशमे क्षयोपशमे वावस्थितः चारित्रमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तं

कर्म व्रतं। न हिनस्मीत्यादिको ध्यानोपयोगो भण्यते आगमभावव्रतमिति। नो आगमभावव्रतं नाम चारित्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तो हिंसादिपरिणामाभावः अहिंसादिव्रतं। प्राणिनां वियोजने प्राणानां, असदभिधाने, अदत्तादाने, मिथुनकर्मविशेषे, मूर्च्छायां चाऽपरिणतिरिति यावत्। तथा चोक्तं—'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतमिति' हिंसादयः क्रियाविशेषा आत्मनः परिणामास्तेभ्यो आत्मनो व्यावृत्तिर्हिंसादिष्वपरिणतिर्व्रतमिति सूत्रार्थः। यस्मिन् हिंसादिव्यावृत्तत्वं नाम यद्रूपं जीवस्य व्रतसंज्ञितं तत्परिपाल्यते रात्रिभोजननिवृत्त्या प्रवचनमातृकाभिश्च। यस्मिन्नसति नश्यति सति च न विनश्यति तत्तत्पालयति यथा दुर्गो राजानं। सत्यां रात्रिभोजननिवृत्तौ प्रवचनमातृकासु भावनासु या सतीषु हिंसादिव्यावृत्तत्वं भवति। न तास्वसतीषु इति युक्तमुक्तं सूत्रकारेण॥

कस्तद्रक्षणार्थमुपायं इत्याह—

मूलारा—रक्खट्ठं अपायपरिहारलक्षणं रक्षणनिमित्तं। पवयणमादाओ प्रवचनमातरः। प्रवचनस्य रत्नत्रयस्य मातर इव पुत्राणां मातर इव सम्यग्दर्शनादीनां अपायनिवारणपरायणास्तिस्रो गुप्तयः, पंचसमितयश्च। अथवा प्रवचनस्य मुनेश्चारित्रमात्रस्योत्पादनरक्षणविशोधनविधानात्तास्तथा व्यपदिश्यंते। तथा चावोचाम धर्मामृते-वृत्तं॥

अहिंसां पंचात्मव्रतनथ यतांगं जनयितुं।
सुवृत्तं त्रातुं वा विमलयितुमंबाः श्रुतविदः।
विदुस्तिस्रो गुप्तीरपि च समितीः पंच तदिमा
श्रयन्त्विष्टायाष्टौ प्रवचनसवित्रीर्व्रतपरः॥ १॥

भावणाओ वीर्यान्तरायचारित्रमोहक्षयोपशमाद्यपेक्षेणात्मना भाव्यंतेऽसकृत्प्रवर्त्यन्ते इति भावना असकृत्प्रवृत्तयः। अभ्याससंस्कारा इति यावत्। सव्वाओ निःशल्यताभावनासंग्रहार्थमिदं। यस्मिन्नश्यति यद्विनश्यति सति च तिष्ठति तत्तत्परिपालयति। यथा दुर्गो राजानं। तिष्ठति च सति रात्रिभोजननिवृत्त्यादिपरिणामजाते जीवस्य हिंसादिव्यावृत्तं नाम नोआगमभावव्रतापरनामधेयं स्वरूपं न असतीति तत्परिपालयन्ति रात्रिभोजननिवृत्त्यादयः शुद्धचित्परिणतय इति निर्णयः। ननु च जीवान्न हिनस्मि, इत्यादि परिणामो व्रतमित्युच्यते। स किमुत्पन्नः सन्विनश्यत्युत तथैवावतिष्ठते। न तावदवतिष्ठते अनुभवविरोधाज्जीवादितत्त्वज्ञाने तच्छ्रद्धाने चाप्रवृत्तस्यात्मनस्तथोपयोगप्रतीतेः। अथ विनश्यति परिणामान्तरोत्पत्तावसावितीष्यते तर्हि तस्यासतो मृतपुनरस्य रक्षा। सतो ह्यपायपरिहारो रक्षा। ततस्तेसिं चेवेत्यादि सूत्रं युक्तिवियुक्तमिव पश्यामः। अत्रोच्यते—यावज्जीविकहिंसादिव्यावृत्तिरूपपरिणतस्य अवस्थातुरात्मनः कथंचित्तथैवावस्थानस्य विवक्षितत्वात्प्रोक्तदोषोऽनवकाशं लभते इति॥

अर्थ—इन अहिंसादि व्रतोंके रक्षणार्थ रात्रिभोजन त्यागका उपदेश आचार्योंने किया है. यदि रात्रिमें भिक्षाके लिए मुनिपर्यटन करेंगे तो त्रस और स्थावर जीवोंका वध होगा. क्योंकि वे रातमें नहीं दीखते हैं. आहार देने वालेका आगमन मार्ग, आहारके पदार्थ रखने का स्थान, स्वयं जहां आहारके लिए खडे हुए हैं वह प्रदेश, जहां उच्छिष्ट अन्न गिरता है वह स्थान, दिया जाने वाला आहार ये सब योग्य है अथवा अयोग्य हैं इन का निरीक्षण रातमें करना शक्य नहीं है. दिनमें भी जीवोंका परिहार करना अशक्य हैं. फिर रात्रीमें उनका कैसा परिहार हो सकेगा. पळी वगैरह अन्न परोसनेके साधन और अन्न रखनेके पात्र रातमें सोधना अशक्य है.

जिसके विषयोंका सम्यक् निरीक्षण हुआ ही नहीं ऐसी पदविभागिका आलोचना अथवा एषणा समिति आलोचना करनेवाले मुनीके सत्यव्रतका कैसे रक्षण होगा. दानका स्वामी सोया होगा तो उसने नही दिया हुआ आहार ग्रहण करनेसे अचौर्य व्रत नही टिक सकता है. किसी पात्रमें दिनमें स्थापन किया हुआ आहार वसतिकामें ले जाकर भोजन करनेसे अपरिग्रहव्रतका रक्षण कैसे होगा. रात्रिभोजनका त्याग करनेसे सर्व व्रत पूर्ण होते हैं. इन व्रतोंके रक्षणार्थ ही आठ प्रवचन माताओंका और सर्व भावनाओंका रक्षण करना चाहिये. तीन गुप्ति और पांच समितिओंको प्रवचनमाता कहते हैं. रत्नत्रयको प्रवचन कहते हैं. इस रत्नत्रयकी ये गुप्ति और समिति माता के समान है. जैसी माता पुत्रका अपाय से रक्षण करती है वैसे गुप्ति और समिति व्रतोंका रक्षण करती हैं. सर्व भावना भी व्रतोंका रक्षण करती हैं.

वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम, चारित्रमोहका उपशम अथवा क्षयोपशम इनसे युक्त ऐसे आत्माके द्वारा जो वारवार पाली जाती हैं उनको भावना कहते हैं.

व्रत किसको कहते हैं ? उत्तर–आमरण मैं हिंसा नहीं करूंगा, झूठ भाषण नहीं करूंगा, दूसरेने नहीं दी हुई वस्तु मैं ग्रहण नहीं करूंगा, मैथुन सेवन नहीं करूंगा और परिग्रहका स्वीकार नहीं करूंगा इस प्रकारका जो आत्मामें परिणाम उत्पन्न होता है. उसको व्रत कहते हैं.

शंका—यह आत्माका परिणाम कथंचित् वैसा ही रहता है अथवा नष्ट होता है ? यदि यह परिणाम आत्मामें स्थिर रहता है ऐसा कहोगे तो यह कहना अनुभवविरुद्ध है. क्यों कि जब आत्मा जीवादि पदार्थोंका स्वरूप जाननेमें उद्युक्त होता है अथवा श्रद्धान करनेमें अपने चित्तको लगाता है तब उपर्युक्त परिणाम आत्मामें

नहीं रहता है. यदि यह व्रतरूप परिणाम दूसरे परिणाम उत्पन्न होनेपर नष्ट होता है ऐसा कहोगे तो वह असद्रूप ठहरा, असत्पदार्थका रक्षण कैसा कर सकते हैं? कोई पदार्थ सद्रूप होनेपर ही उसमें अपाय और परिहार हो सकते हैं. अतः व्रतोंके रक्षणार्थ रात्रिभोजन त्यागका वर्णन करना व्यर्थ है.

जब मैं प्राणीका घात नहीं करूंगा ऐसा परिणाम आत्मामें उत्पन्न होता है तब मैं असत्य नहीं बोलूंगा वगैरह परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकते हैं. तब अन्य परिणामोंके विषयोंमें क्या कहना चाहिए.

उपर्युक्त शंकाका उत्तर आचार्य इस प्रकार देते हैं—

नामादिक विकल्पोंसे व्रतके चार प्रकार होते हैं. किसीका व्रत ऐसा नाम रखना यह नामव्रत कहलाता है.

स्थापना व्रत—हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि पापोंसे निवृत्तिरूप परिणाम जिसमें उत्पन्न हुए हैं ऐसा आत्मा और शरीर दोनो भी बंधकी अपेक्षासे एकरूप हुए हैं. अतः सामायिकमें परिणत हुए जीवके आकारमें व्रतोंकी स्थापना करके उसको स्थापना व्रत कह सकते हैं.

आगम द्रव्यव्रत—भविष्यकालमें आत्मामें व्रतके स्वरूपको ग्रहण करनेवाला अर्थात् जाननेवाला ज्ञान-परिणाम व्रतके स्वरूप जाननेमें अनुपयुक्त है. ऐसे ज्ञानपरिणत आत्माको आगम द्रव्यव्रत कहते हैं.

ज्ञायकशरीरव्रत—व्रतज्ञ आत्माका त्रिकालगोचर जो शरीर उसको ज्ञायकशरीरव्रत कहते हैं.

चारित्र मोह कर्मके क्षयसे, अथवा क्षयोपशमसे जिस आत्मामें विरक्तिरूप परिणाम उत्पन्न होगा वह आत्मा भावव्रत कहलाता है.

उपशममें अथवा क्षयोपशममें जो चारित्र मोहकर्म रहा है उसको नो आगम द्रव्य व्यतिरिक्तकर्म व्रत कहते हैं.

मैं हिंसा नहीं करूंगा, झूठ नहीं बोलूंगा इत्यादिरूप जो ज्ञानोपयोग उसको आगमभावव्रत कहते हैं.

चारित्र मोहनीय कर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम, होनेपर जो हिंसादि परिणामोंका अभाव होता है उसको अहिंसादि व्रत कहते हैं. इसको नो आगमभावव्रत कहते हैं.

प्राणिओंके प्राणोंका वियोग करनेमें प्रवृत्ति नहीं करना यह अहिंसाव्रत है. झूठ बोलनेमें, नहीं दी हुई वस्तु ग्रहण करनेमें, मैथुनमें, और ममत्वमें आत्माकी परिणति नहीं होना इनको क्रमसे सत्यव्रत, अचौर्यव्रत,

ब्रह्मव्रत और परिग्रहत्यागव्रत कहते हैं. श्री उमास्वामी आचार्य 'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं' ऐसा व्रतका कथन करनेवाला सूत्र कहते हैं. ये हिंसादिक क्रियाविशेष आत्माके परिणाम हैं उनसे परावृत्त होना अर्थात् हिंसादिकोंमें परिणति न होना ही व्रत है ऐसा उपर्युक्त सूत्रका अभिप्राय है.

हिंसादिकोंसे परावृत्त होना इस प्रकारका जो आत्माका परिणाम है उसका रात्रिभोजन त्यागके द्वारा, प्रवचन माताके द्वारा रक्षण होता है अर्थात् रात्रिभोजन त्याग और समिति गुप्ति ये अहिंसादि व्रतोंका रक्षण करते हैं. प्रवचन माता और रात्रिभोजन त्यागके अभावमें व्रत नष्ट होते हैं और इनके सद्भावमें व्रतोंका रक्षण होता है. जिसके अभावमें जिसका नाश होता है और जिसके सद्भावमें जो नष्ट नहीं होता है तो समझना चाहिए कि वह उसका रक्षण करता है. जैसे दुर्गके अभावमें राजाका नाश होता है और उसके सद्भावमें रक्षण होता है. वैसे रात्रिभोजन त्याग, प्रवचनमाता व भावना इनके सद्भावमें हिंसादिकोंसे आत्मा परावृत्त होता है. और इनके अभावमें परावृत्त नहीं होता है इसलिए इनको आचार्यने व्रतरक्षणार्थ माना है यह योग्य ही है.

तेसिं पंचण्हं पि य अहयाणमावज्जणं व संका वा ॥
आदविवत्ती य हवे रादीभत्तप्पसंगम्मि ॥ ११८६ ॥

हिंसादीनां मुनेः प्राप्तिः पंचानां सह शंकया ॥
विपत्तिर्जायते स्वस्य रात्रिभुक्तेस्तथा स्फुटम् ॥ ११२५ ॥

विजयोदया—तेसिं पंचण्हं पि य अहयाणमावज्जणं तेषां पंचानां हिंसादीनां प्राप्तिः । संका वा शंका वा मम हिंसादयः संवृत्ता न वेति । हवे भवेत् । रादीभत्तप्पसंगम्मि रात्रावाहारप्रसंगे सति न केवलं हिंसादिषु परिणतिः । विवत्ती य हविज्ज आत्मनश्च यतेः स्वस्यापि विपद्भवेत् । स्थाणुसर्पकंटकादिभिः ॥

रात्रिभोजने मुनेर्दोषानाह—

मूलारा—अण्हयाणं हिंसादीनां । आवज्जणं प्राप्तिः । संका मम हिंसादयः किं संवृत्ता न वेति शंका । आदवि-वत्ती आत्मविपत् । रात्रौ भिक्षार्थं पर्यटतो यतेः सर्पकंटकादिभिरुपसर्गश्च भवेत् । पसंगम्मि प्रवृत्तौ सत्याम् । उक्तं च—

प्राप्तिः शंका च पंचानां हिंसादीनां यतेर्भवेत् ॥
रात्रिभोजनसद्भावे स्वविपत्तिश्च जायते ॥

अन्ये तु अण्हुयाणं व्रतानां । आयजणं सर्वथाविनाश इति व्याख्यांति । तथा चोक्तम्—

तेषां पंचानामपि महाव्रतानां विनाशने शंका ॥

आत्मविपत्तिश्च भवेद्विभावरीभक्तसंगेन ॥

रात्रिभोजनप्रवृत्तौ हिंसादयः कथमिति चेदुच्यते । रात्रौ भिक्षार्थं पर्यटन्प्राणिनस्त्रसान्स्थावरांश्च हिनस्ति । तेषां तमस्यदृश्यत्वात् ॥ न च दायकागमनमार्गं, तस्य स्वस्य च अवस्थानदेशं, भोजनभाजनादिस्थापनस्थानं, उच्छिष्टस्य वा निपातदेशं, दीयमानं चाहारं, योग्यमयोग्यं वेति निरूपयितुं पारयति ध्वांतप्रतिबद्धदृष्टित्वात् ॥ प्रदीपेऽपि प्रबोधितेऽतिसूक्ष्मत्रसानां निरूपणा न स्यात् । पतंगादिघातप्रसंगश्च स्यादिति रात्रौ भुंजानः कथमहिंसाव्रतमनुपालयेत् । तथा रात्रौ भुक्त्वा पदविभागिकामेषणासमित्यालोचनां सम्यगपरीक्षितविषयां कुर्वतः । कथमिव सत्यव्रतमवतिष्ठेत् । तथा सुप्तस्य स्वामिभूतस्याहारमन्येन दत्तं रात्रौ तद्बुद्ध्या गृह्णतोऽदत्तादानमपि कथं न स्यात् । तथा विद्विष्टगोत्रिणो वैरिणो वा निःशंकिता रात्रौ मार्गादौ ब्रह्मचर्यं नाशयन्ति । कामांधाः स्वैरिण्यो वा हठादभिसारयन्त्यः । तथा दिवानीतं निजवसतौ स्वपात्रे स्थापितं आहारं रात्रौ भुंजानः समंधः किमिति न स्यात् । ततो महाव्रतसंपूर्णतामिच्छन्रात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतमनुतिष्ठेत् । अणुव्रतत्वं चास्य दिवा भोजनस्यापि करणात् । यदाहुः—छट्ठे अणुव्वदे राइभोयणादो वेरमणमिति । तथा चावोचाम धर्मामृते ॥

पंचैतानि महाफलानि महतां मान्यानि विप्रविरत्यासमानीति महांति नक्तमशनोज्झाणुव्रतप्राणि ये ॥

प्राणित्राणमुखप्रवृत्युपरमानुक्रान्तिपूर्णीभवत्साम्याः शुद्धदृशो व्रतानि सकलीकुर्वन्ति निर्वान्ति ते ॥

नामनिर्देशद्वारेण गुप्तीः समितीश्च लक्षयति—

अण्हुयदारोपरमणदस्स गुत्तीओ होन्ति तिण्णेव ॥

चेट्ठिदुकामस्स पुणो समिदीओ पंच दिट्ठाओ ॥ ११८६ ॥

मूलारा—अण्हुयदारोपरमणदस्स आस्रवद्वारनिरोधासक्तस्य । चेट्ठिदुकामस्स गमनवचनादिकं कर्तुं प्रवृत्तस्य ।

उक्तं च—

भवंति गुप्तयस्तिस्रो योगनिग्रहलक्षणाः ॥

सम्यक्प्रवृत्तयः पंच सतां समितयो मताः ।

एतां श्री विजयो नेच्छति ॥

अर्थ—रात्रिमें आहारप्रसंग होनेपर हिंसादिक पांच पापोंकी उत्पत्ति होती है. अथवा शंका उत्पन्न होती है. अर्थात् रात्रिभोजन करनेसे हिंसादिक पाप उत्पन्न होते हैं या नहीं ऐसा संशय उत्पन्न होता है. रात्रिभोजन करनेसे हिंसादिक पाप ही उत्पन्न होते हैं ऐसा नहीं किंतु इससे यतीका नाश भी होता है. ठूंठ, सर्प, कंटक इत्यादिकसे यतिका घात भी होगा. यति यदि रात्रिमें आहार करनेके लिए श्रावकके घर जायेंगे तो सर्पादिकोंसे उनके प्राण नष्ट होनेकी संभावना है.

प्रवचनमातृकाव्याख्यानायोत्तरप्रबंधस्तत्र मनोगुप्तिं वाग्गुप्तिं व्याख्यातुमायातोत्तरगाथा—

जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्तिं ॥
अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती ॥ ११८७ ॥

मनसो दोषविश्लेषो मनोगुप्तिरितीष्यते ॥
वाग्गुप्तिश्चाप्यलीकादेर्निवृत्तिर्मौनमेव च ॥ १२२६ ॥

विजयोदया—जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्तिं । या रागद्वेषाभ्यां निवृत्तिर्मनसस्तां जानीहि मनोगुप्तिं । अत्रेदं परीक्ष्यते । मनसो गुप्तिरिति यदुच्यते किं प्रवृत्तस्य मनसो गुप्तिरथाप्रवृत्तस्य ? प्रवृत्तं चेदं शुभं मन तस्य का रक्षा । अप्रवृत्तं तथापि असतः का रक्षा ? सतोऽप्यपायपरिहारोपयुक्तेत्युच्यते ? किं च मनःशब्देन किमुच्यते द्रव्यमन उत भावमनः ? द्रव्यवर्गणामनश्चेत् तस्य कोऽपायो नाम यस्य परिहारो रक्षा स्यात् ? किं च द्रव्यांतरेण तेन रक्षितेनास्य जीवस्य फलं च आत्मनः परिणामोऽशुभमावहति । ततोऽयुक्ता रक्षात्मनः । अथ नो इंद्रियमतिज्ञानावरणक्षयोपशमसंजातं ज्ञानं मन इति गृह्यते तस्य अपायः कः ? यदि विनाशः स न परिहर्तुं शक्यते यतोऽनुभवसिद्धो विनाशः । अन्यथा एकस्मिन्नेव ज्ञाने प्रवृत्तिरात्मनः स्यात् । ज्ञानानीह वीचय इवानारतमुत्पद्यंते न चास्ति तद्विनाशोपायः । अपि च इंद्रियमतिरपि रागादिव्यावृत्तिरिव किमुच्यते रागादिणियत्ती मणस्स इति ॥

अत्र प्रतिविधीयते—नो इंद्रियमतिरिह मनःशब्देनोच्यते । सा रागादिपरिणामैः सह एककालं आत्मनि प्रवर्तते । न हि विषयावग्रहादिज्ञानमंतरेणास्ति रागद्वेषयोः प्रवृत्तिः, अनुभवसिद्धैवास्ति नापरा युक्तिः अनुगम्यते । वस्तुतत्त्वानुयायिना मानसेन ज्ञानेन समं रागद्वेषौ न वर्तेते इत्येतदप्यात्मसाक्षिकमेव । तेन मनसस्तत्त्वावग्राहिणो रागादिभिरसह

चरिता या सा मनोगुप्तिः । मनोग्रहणं ज्ञानोपलक्षणं तेन सर्वो बोधो निरस्तरागद्वेषकलंको मनोगुप्तिरन्यथा इंद्रियमतौ श्रुते, अवधौ, मनःपर्यये वा परिणममानस्य न मनोगुप्तिः स्यात् । इष्यते च । अथवा मनःशब्देन मनुते य आत्मा स एव भण्यते तस्य रागादिभ्यो या निवृत्तिः रागद्वेषरूपेण या अपरिणतिः सा मनोगुप्तिरित्युच्यते । अथैवं ब्रूषे सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः दृष्टफलमनपेक्ष्य योगस्य वीर्यपरिणामस्य निग्रहो रागादिकार्यकरणनिरोधो मनोगुप्तिः । अलिगादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात्परदुःखोत्पत्तिनिमित्तत्वाच्चाधर्मोद्या व्यावृत्तिः सा वाग्गुप्तिः । ननु च वाचः पुद्गलत्वात् विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वादिभ्यो व्यावृत्तिहेतुर्वाचो धर्मो न चासौ संवरणे हेतुरनात्मपरिणामत्वात् । शब्दादिवत् । एवं तर्हि व्यलीकात्परुषादात्मप्रशंसापरात् परनिंदाप्रवृत्तात्परोपद्रवनिमित्ताच्च वचसो व्यावृत्तिरात्मनस्तथाभूतस्य वचसोऽप्रवर्तिका वाग्गुप्तिः । या वाचं प्रवर्तयन् अशुभं कर्म स्वीकरोत्यात्मा तस्या वाच इह ग्रहणं वाग्गुप्तिस्तेन वाग्विशेषस्यानुत्पादकता वाचः परिहारो वाग्गुप्तिः । मौनं वा सकलाया वाचो या परिहृतिः सा वाग्गुप्तिः । अयोग्यवचनेऽप्रवृत्तिः प्रेक्षापूर्वकारितया योग्यं तु वक्ति वा न वा ॥ भाषासमितिस्तु योग्यवचसः कर्तृता ततो महान्भेदो गुप्तिसमित्योः । मौनं वाग्गुप्तिरत्र स्फुटतरो वचोभेदः । योग्यस्य वचसः प्रवर्तकता । वाचः कस्याश्चिदनुत्पादकतेति॥

मनोगुप्तिं वाग्गुप्तिं च लक्षयति—

मूलारा—मणस्स नो इंद्रियज्ञानलक्षणस्य मनसस्तत्त्वावग्राहिणो । जा रागादिणियत्ती रागद्वेषादिभिरात्मपरिणामैरसहचरिता सा मनोगुप्तिः । मनसि हि चक्षुरादिकरणे रूपादिविषयान्भोग्याभोग्यरूपतया गृह्णति सत्यात्मनो रागद्वेषौ प्रवर्तेते । उपेक्षणीयरूपतया तु तैस्तान्स्वीकुर्वाणे तदप्रवृत्तिरेव तथा प्रतीतिः ॥

तदर्थानिंद्रियैर्गृह्णन्मुह्यति द्वेष्टि रज्यते ॥
ततो बद्धो भ्रमत्येवं मोहव्यूहगतः पुमान् ॥
अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः ॥
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥

इत्यागमसद्भावाच्च । मनोग्रहणं ज्ञानोपलक्षणं । तेन सर्वो बोधो । निरस्तरागादिकलंको मनोगुप्तिः स्यादन्यथा इंद्रियमतौ, श्रुतेऽवधौ मनः पर्यये वा परिणममानस्य न मनोगुप्तिः स्यात् । अथवा मनुते विचारयति हेयमुपादेयं च तत्त्वं योऽन्तरात्मा स मनः शब्देनोच्यते । तस्य रागादिरूपेण अपरिणतिर्मनोगुप्तिरिति ग्राह्यम् । एवं च सति सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिरित्यपि न विरुद्ध्येत । दृष्टफलमनपेक्ष्य हि योगस्य वीर्यपरिणामस्य निग्रहो रागादिकार्यकरणनिरोधो जीवस्य नार्थांतरं तदव्यतिरेकात् ।

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ॥
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥

इति वचनाश्च योगशब्देनात्र वीर्यमुच्यते ॥ अलिगादिणियति विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात्परदुःखोत्पत्तिनिमित्तत्वाद्वाधर्मांद्या॰ याचो व्यावृत्तिः सा वाग्गुप्तिः तथाविधवाक्प्रवृत्तिनिमित्तवीर्यरूपेणापरिणतिरात्मन इत्यर्थः । मौनं सकलवाक्प्रवृत्तिनिमित्तवीर्यनिरोधो जीवस्य । अयोग्यवचो न वदत्येव, प्रेक्षापूर्वकारितया योग्यं तु वक्ति न वेति प्रथमा वाग्गुप्तिर्भाषासमितिस्तु योग्यवचसः कर्तृतेत्यनयोर्नाविशेषः शंक्यः । मौनपक्षे तु शकानवकाश एव ॥

प्रवचनमाताओंका व्याख्यान आचार्य सविस्तर करते हैं प्रथमतः मनोगुप्ति और वाग्गुप्तिका लक्षण कहते हैं—

अर्थ–रागद्वेषसे मन परावृत्त होना यह मनोगुप्तिका लक्षण है. असत्य भाषणादिकसे निवृत्त होना अथवा मौन धारण करना यह वचनगुप्तिका लक्षण है

शंका—प्रवृत्त हुये मनकी गुप्ति होती है अथवा रागद्वेषमें अप्रवृत्त मनकी गुप्ति होती है ? यदि मन शुभ कार्यमें प्रवृत्त हुआ है तो उसका रक्षण करनेकी क्या आवश्यकता है. और यदि किसी कार्यमें वह प्रवृत्त ही नहीं है और वह यदि असद्रूप है तो उसके रक्षणकी जरूरत ही क्या है ? जो चीज स्वयं सद्रूप होगी तो उसमें अपाय होनेकी सभावना रहती है अतः उसको अपायसे बचाना योग्य होगा. असत्का न नाश होता है और न रक्षण होता है.

और भी हम आपको पूछते हैं कि, मन शब्दका आप क्या अर्थ करते हैं. मन शब्दका द्रव्यमन ऐसा अर्थ होता है या भावमन ऐसा अर्थ आप मानते हैं ?

द्रव्य वर्गणासे बना हुआ जो उसको ही हम मन कहते हैं ऐसा यदि कहोगे तो उसका अपाय क्या चीज है जिससे तुम उसको बचना चाहते हैं ? अथवा अन्य पदार्थ के द्वारा उसका रक्षण करनेसे भी कोनसी फल-निष्पत्ति होगी ? क्या आत्माके परिणाम अशुभ फल उत्पन्न करेंगे ? अर्थात् द्रव्यांतरके सहायसे आत्मामें 'अशुभ परिणाम उत्पन्न नहीं होते हैं इसवास्ते आत्माका अपायसे रक्षण करना व्यर्थ है 1179

नो इंद्रियमतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे जो मतिज्ञान उत्पन्न होता है उसको मन कहते हैं ऐसा यदि

आप कहते हैं तो उस मनका अपाय क्या चीज है ? नाश होना ही अपाय है ऐसा कहोगे तो इस नाशका परिहार करना शक्य ही नहीं है. क्योंकि प्रत्येक वस्तुका नाशपर्याय होता ही है. यदि मनका नाश नहीं होता है ऐसा मानोगे तो आत्माकी एक ही ज्ञानमें हमेशा प्रवृत्ति रहेगी. परंतु समुद्रमें जैसे हमेशा अनेक लहरें उत्पन्न होती हैं वैसे आत्मामें हमेशा अनेक ज्ञान उत्पन्न होते हैं. उनका अविनाश होनेका अर्थात् वे स्थिर रहनेका जगतमें कोई उपाय नहीं है. इंद्रियसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान रागादिकोंसे युक्त ही रहता है. अत एव रागादिकोंसे व्यावृत्त होना यह मनोगुप्तिका लक्षण है ऐसा समझना अयोग्य है.

उपर्युक्त शंकाका आचार्य उत्तर देते हैं:— नो इंद्रियमतिको हम मन कहते हैं अर्थात् नो इंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे जो जो ज्ञान मनमें उत्पन्न होते हैं उसको हम मन कहते हैं. यह नो इंद्रियमति रागादि परिणामोंके साथ एक कालमें आत्मामें रहती हैं. विषयोंमें जब अवग्रह, ईहादिज्ञान होते हैं तब रागद्वेषकी भी साथ प्रवृत्ति होती है. यह सबको अनुभवमें आता है. इसकी सिद्धि करनेके लिये अन्य युक्तिकी आवश्यकता नहीं है. परंतु जब वस्तुके यथार्थ स्वरूपका मन विचार करता है तब मानसिक ज्ञानके साथ रागद्वेष नहीं रहते हैं. यह भी अनुभव सिद्ध है. जब मन वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानते समय रागद्वेषसे रहित होता है तब मनोगुप्ति आत्मा में है ऐसा समझा जाता है. अर्थात् जो जो ज्ञान रागद्वेषसे रहित होगा वह वह मनोगुप्ति ही है. ऐसा समझना अयोग्य न होगा. मनोगुप्ति इस शब्दमें मन शब्द उपलक्षणात्मक है. अर्थात् रागद्वेषरूपी कलंकसे रहित सर्व प्रकारके ज्ञानोंको मनोगुप्ति कह सकते हैं. अन्यथा इंद्रियज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, और मनःपर्ययज्ञानमें परिणत और राग द्वेषरहित आत्माको मनोगुप्तिका अभाव है ऐसा मानना पडेगा. परंतु उपर्युक्त रागद्वेषरहित ज्ञानपरिणत आत्मामें भी मनोगुप्ति है आगममें ऐसा माना है.

अथवा 'मनुते य आत्मा स एव मनो भण्यते' अर्थात् जो आत्मा विचार करता है उनको मन कहना चाहिये. ऐसा आत्मा जब रागद्वेष परिणामसे परिणत होता नहीं तब उसको मनोगुप्ति कहनेमें हर्ज नहीं है.

अथवा 'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः' यह गुप्तिका लक्षण है. दृष्ट फल—कीर्ति, आदर इत्यादिक दृष्टफलकी अपेक्षाके विना वीर्यपरिणामरूप जो योग उसका निरोध करना अर्थात् रागादि कार्योंको योग कारण है. उसका निरोध करनेसे मनोगुप्ति होती है. तात्पर्य यह है कि मनोयोगसे जीवमें रागद्वेषादिक परिणाम उत्पन्न होते हैं.

कीर्ति, लोकादर, स्वर्गादिसुख वगैरहकी इच्छा धारण न करते हुए मनोयोगको केवल आत्मकल्याणकी भावनासे रोकना अर्थात् रागद्वेषादि कार्योंकी मनोयोगसे उत्पत्ति न होने देना इसको भी मनोगुप्ति कहते हैं.

वाग्गुप्तीका स्वरूप—' अलियादिवचोगुत्ती, मोणं वा होइ वचिगुत्ती ' जो विपरीत अर्थका ज्ञान करनेमें हेतु होगा, जो दूसरोंको दुःख उत्पन्न करनेमें निमित्त होगा. जिससे अधर्म वृद्धि होगी ऐसे भाषणसे परावृत्त होना यह वचनगुप्ति है.

शंका—वचन पुद्गलमय हैं और वे विपरीतार्थका ज्ञान करानेमें हेतु हैं. किसी पदार्थसे आत्माको हटानेमें वचन समर्थ है. परंतु कर्मका संवर करनेमें शब्द अर्थात् वचन समर्थ नहीं है. क्यों कि वे आत्माका परिणाम अर्थात् धर्म नहीं हैं. शब्दादिक आत्मधर्म नहीं है.

व्यलीक—असत्य, कठोर, आत्मप्रशंसायुक्त, परनिंदा करनेवाला, जिससे परप्राणिओंको उपद्रव होत है ऐसे भाषणसे आत्मा परावृत्त होना यह वाग्गुप्ति है अर्थात् वाग्गुप्ति उपर्युक्त भाषणोंमें आत्माको प्रवृत्त नहीं करती है. जिस भाषणमें प्रवृत्ति करनेवाला आत्मा अशुभ कर्मका स्वीकार करता है ऐसे भाषणसे परावृत्त होना वाग्गुप्ति है. अर्थात् विशिष्ट वचनका आत्मा त्याग करता है उसीको वाग्गुप्ति कहना चाहिये. अथवा संपूर्ण प्रकारके वचनोंका त्याग करना अर्थात मौन धारण करना इसको भी वाग्गुप्ति कहते हैं. जो आत्मा अयोग्य वचनमें प्रवृत्ति नहीं करता है परंतु विचारपूर्वक योग्य भाषण बोलता है अथवा नहीं भी यह उसकी वाग्गुप्ति है. परंतु योग्य भाषण बोलना यह भाषा समिति है इस प्रकार गुप्ति और समितिमें अंतर है. मौन धारण करना यह वाग्गुप्ति है. योग्य भाषणमें प्रवृत्ति करना समिति है और गुप्तिमें किसी भाषाको अर्थात् वचनको उत्पन्न न करना यह गुप्ति है ऐसा इन दोनों में स्पष्ट भेद है.

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती ॥
हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिट्ठा ॥ ११८८ ॥
कायक्रियानिवृत्तिर्वा देहनिर्ममतापि वा ॥
हिंसादिभ्यो निवृत्तिर्वा वपुषो गुप्तिरिष्यते ॥ १२२८ ॥

विजयोदया—कायकिरियाणियत्ती कायस्यौदारिकादेः शरीरस्य या क्रिया तस्या निवृत्तिः सरीरगे गुत्ती शरीरविषया गुप्तिः कायगुप्तिरिति यावत्। आसनस्थानशयनादीनां क्रियात्वात् सा चात्मनः प्रवर्तकत्वात् कथमात्मना कार्या क्रियाभ्यो व्यावृत्तिः। अथ मतं, कायस्य पर्यायः क्रिया, कायाच्चार्थांतरमात्मा ततो द्रव्यान्तरपर्यायात् द्रव्यांतरं तत्परिणामशून्यं तथाऽपरिणतं व्यावृत्तं भवतीति कायक्रियानिवृत्तिरात्मनो भण्यते। सर्वेषामेवात्मनामित्थं कायगुप्तिः स्यात् न चेष्टेति।

अत्रोच्यते—कायस्य संबंधिनी क्रिया कायशब्देनोच्यते। तस्याः कारणभूतात्मनः क्रिया कायक्रिया तस्या निवृत्तिः। काउस्सग्गो कायोत्सर्गः शरीरस्याशुचितामसारतामापन्निमित्ततां चावेत्य तद्गतममतापरिहारः कायगुप्तिः। अन्यथा शरीरमायुःशृंखलावबद्धं त्यक्तुं न शक्यते इत्यसंभवः कायोत्सर्गस्य। धातूनामनेकार्थत्वात् गुप्तिर्निवृत्तिवचनं इहेति सूत्रकाराभिप्रायोऽन्यथा 'कायकिरियाणिवत्ती सरीरगे गुत्ती' इति कथं ब्रूयात्। कायोत्सर्गग्रहणे निश्चलता भण्यते। यद्येवं कायकिरियाणिवत्ती इति न वक्तव्यं, कायोत्सर्गः कायगुप्तिरित्येतदेव वाच्यं इति चेत् न कायविषयं ममेदंभावरहितत्वमपेक्ष्य कायोत्सर्गस्य प्रवृत्तेः। धावनगमनलंघनादिक्रियासु प्रवृत्तस्यापि कायगुप्तिः स्यान्न चेष्यते। अथ कायक्रियानिवृत्तिरित्येतावदुच्यते मूर्च्छापरिगतस्यापि अपरिस्पंदता विद्यते इति कायगुप्तिः स्यात्। तत उभयोपादानं व्यभिचारनिवृत्तये। कर्मादाननिमित्तसकलकायक्रियानिवृत्तिः कायगोचरममतात्यागपरा वा कायगुप्तिरिति सूत्रार्थः। हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिट्ठा हिंसादिनिवृत्तीर्वा शरीरगुप्तिरिति दृष्टा जिनागमे, प्राणिप्राणवियोजनं, अदत्तादानं, मिथुनकर्म शरीरेण, परिग्रहादानमित्यादिका या विशिष्टा क्रिया सेह कायशब्देनोच्यते। कायिकोपकृतेर्गुप्तिर्व्यावृत्तिः कायगुप्तिरिति व्याख्यातं सूरिणा॥

कायगुप्तिं द्विधा लक्षयति—

मूलारा—कायकिरियाणियत्ती कायस्य औदारिकादिशरीरस्य संबंधिनी क्रिया परिणामः। उपकरणग्रहणनिक्षेपण गमनादिकर्मलक्षणा कायक्रिया। अत्र पुनः तत्कारणभूता जीवस्य क्रिया तच्छब्देन गृह्यते काये कारणोपचारात्। तेन कायक्रियायां कारणभूतायाः क्रियायाः सकाशादात्मनो निवृत्तिर्व्यावृत्तिः कायक्रियानिवृत्तिरात्मनः कायपरिस्पंदनिमित्तस्वपरिस्पंदाप्रवर्तकेनेत्यर्थः॥

काउस्सग्गो शरीरस्याशुचितामसारतामपन्निमित्ततां च भावयतस्तद्गतममत्वपरिहारः। कर्मादाननिमित्तसकलकायक्रियानिवृत्तिः। कायगोचरममतात्यागपुरोगा कायगुप्तिरित्युभयं तल्लक्षणं। यदि हि कायक्रियानिवृत्तिरित्येवोच्यते तदा मूर्च्छावस्थायां कायपरिस्पंदाभावात्कायगुप्तिरनिष्टानुपज्येत। अथ कायोत्सर्गः कायगुप्तिरित्येवोच्येत तदापि कायविषयममेदंभावरहितस्य गमनादिक्रियाप्रवृत्तस्यापि कायगुप्तिरनिष्टा प्रसज्येत इति व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमुभयोपादानं॥ सरीरगे

शरीरविषया । हिंसादिणियत्ती प्राणिप्राणव्यपरोपणादत्तग्रहणमैथुनकर्मविशेषकरणोपकरणादिपरिग्रहग्रहणादिकायक्रिया व्यावृत्तिः ॥ सरीरगुत्ति शरीरमत्र सक्रिया तेन शरीराच्छरीरक्रियायागुप्तिर्निवृत्तिः शरीरगुप्तिरिति स्थितम् ॥

अर्थ—औदारिकादि शरीर की जो क्रिया होती रहती है उससे निवृत्त होना यह कायगुप्तिका लक्षण है. अथवा हिंसा, चोरी वगैरह पापक्रियासे परावृत्त होना इसको भी कायगुप्ति कहते हैं.

शंका—बैठना, खडे रहना, शयन करना वगैरहको क्रिया कहते हैं. ये क्रिया आत्माके द्वारा होती हैं अतः आत्मा इन क्रियाओंका प्रवर्तक होनेसे वह इन क्रियाओंसे कैसे परावृत्त हो सकता है ? अब इसके ऊपर यदि आप ऐसा कहोगे आसनादिक क्रिया शरीरकी पर्यायें हैं. आत्मा तो शरीरसे अन्य भिन्न वस्तु है. अर्थात् शरीरकी क्रियासे आत्मामें कुछ परिणति होती नहीं इसवास्ते शरीरकी क्रियाका आत्मामें त्याग होनेसे आत्मा शरीरक्रियासे परावृत्त है ही अतः कायक्रियासे आत्मा निवृत्त होनेसे आत्माकी कायगुप्ति है ऐसा कह सकते हैं. परंतु यह आपका कहना अनुचित है. ऐसा कायगुप्तिका स्वरूप माननेसे संपूर्ण आत्माओंमें कायगुप्ति मानना पडेगी.

उत्तर—शरीरसंबंधिनी जो क्रिया होती है उसको 'काय' कहना चाहिये. इस क्रियाको कारणभूत जो आत्माकी क्रिया होती है उसको कायक्रिया कहना चाहिये एसी क्रियासे निवृत्ति होना यह कायगुप्ति है.

कायोत्सर्गको भी कायगुप्ति कहते हैं शरीर अपवित्र है, असार है, आपत्तिका कारण है ऐसा विचार कर उस ममताका त्याग करना भी कायगुप्ति है अर्थात् शरीरपरसे ममत्वभावको हटाना भी कायगुप्ति है. शरीरका त्याग करना इसको कायगुप्ति नहीं कहना चाहिये क्यों कि शरीर आयुकी शृंखलामें जकडा है उसका त्याग करना शक्य नहीं हैं. अतः इसकी अपेक्षासे कायगुप्ति मानेंगे तो कायोत्सर्गका अभावही होगा.

धातुके अनेक अर्थ होते हैं इसलिये यहां गुप्ति शब्दका निवृत्ति एसा अर्थ लेना चाहिये ऐसा सूत्रकारका अभिप्राय है. अन्यथा 'कायकिरियाणिवत्ती सरीरगे गुत्ती' एसा वचन सूत्रकार कभी न कहते.

कायोत्सर्ग ग्रहणमें जो शरीर की निश्चलता होती है उसको कायगुप्ति कहते हैं ऐसा यदि कहोगे तो 'कायकिरियाणिवत्ती शरीरगे गुत्ती' ऐसा कहना व्यर्थ है. 'कायोत्सर्गः कायगुप्तिः' इतनाही गुप्तीका लक्षण कहना योग्य था ऐसी शंका करना भी योग्य नहीं है. क्योंकि शरीर विषयक ममत्व रहितपनाकी अपेक्षासे कायोत्सर्गकी प्रवृत्ति होती है. यदि इतनाही अर्थ कायगुप्तिका माना जायगा तो भागना, एकस्थानसे अन्य स्थानके

प्रति जाना, कूदना वगैरह क्रियाओंमें प्रवृत्त हुए प्राणिको भी कायगुप्ति है ऐसा मानना पडेगा परन्तु ऐसा माना नहीं जाता हैं.

यदि 'कायाक्रियानिवृत्तिः' अर्थात् शरीरकी क्रियाका त्याग करना कायगुप्ति है इतनाही लक्षण मानोगे तो मूर्च्छित होकर जो मनुष्य पडा है उसको भी कायगुप्ति है ऐसा मानना पडेगा. इस वास्ते व्यभिचार निवृत्तिके लिए कायोत्सर्ग को कायगुप्ति मानना चाहिए और शरीर की क्रियानिवृत्ती को भी कायगुप्ति कहना चाहिए. इस विवेचनका अभिप्राय इस प्रकार समझना चाहिए--कर्मग्रहण जिनसे होता है ऐसी संपूर्ण शरीर क्रियाओंका त्याग करना इसको कायगुप्ति कहते हैं तथा शरीरविषयक ममताका त्याग करना इसको भी कायगुप्ति कहते हैं. ऐसा इस गाथासूत्रका अभिप्राय है.

हिंसादिकोंका त्याग करना भी कायगुप्ति है ऐसा जिनागममें कहा है प्राणिओंके प्राणोंका वध करना, न दी हुई चीज लेना अर्थात् चोरी करना, मैथुन क्रिया करना, शरीरसे परिग्रहोंका ग्रहण करना, इत्यादिक जो विशिष्ट क्रियायें उनका यहां काय शब्दसे संग्रह करना चाहिये. कायिक क्रियाओंसे आत्माका संरक्षण करना कायगुप्ति है ऐसा आचार्यमहाराजने व्याख्यान किया है.

छेत्तस्स वदी णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो ॥
तह पावस्स णिरोहो ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥ ११८९ ॥
पुरस्य खातिका यद्वत्क्षेत्रस्य च यथा वृतिः ॥
तथा पापस्य संरोधे साधूनां गुप्तयो मताः ॥ १२२९ ॥

विजयोदया—छेत्तस्स वदी क्षेत्रस्य वृतिः । नगरस्य खातिका अथवा प्राकारो भवति नगरस्य । तथा पावस्स णिरोधो पापस्य निरोधोऽपायः । ताओ गुत्तीओ ता गुप्तयः साधोः ॥

गुप्तीनां पापनिरोधोपायतां द्रढयति—

मूलारा—पावस्स णिरोधो यथा क्षेत्रादेर्मृगचोराद्यपायहेतुनिरोधे वृत्यादय उपायास्तथा पापनिवारणे मुनेर्गुप्तय इत्यर्थः ।

अर्थ—खेतका संरक्षण उसके आसमंतात् जो बाड लगाई जाती है वह करती है. नगरका संरक्षण खाई व तट करते हैं तथा ये तीन गुप्तियां साधुका पापसे रक्षण करती हैं. पापोंका निरोध करनेमें अर्थात् संवर करनेमें ये उपाय हैं.

तह्मा तिविहेण तुमं मणवचिकायप्पओगजोगम्मि ॥
होहि सुसमाहिदमदी णिरंतरं ज्झाणसज्झाए ॥ ११९० ॥
तस्मान्मनोवचःकायप्रयोगेषु समाहितः ॥
भव त्वं सर्वदा जातस्वाध्यायध्यानसंगतिः ॥ १२३० ॥

विजयोदया—तह्मा तिविधेण मणवचिकायपओगजोगम्मि मनोवाक्कायविषयप्रकृष्टे योगे । तुमं त्वं । सुसमाहिदमदी होहि सुष्ठु समाहितमतिर्भव । कथं ? णिरंतरं ज्झाणसज्झाए निरंतरप्रवृत्तध्यानस्वाध्यायः ध्यानस्वाध्यायांतरेण गुप्तयो नावतिष्ठन्त इति भावः ॥

एवं तिस्रोऽपि गुप्तीः प्ररूप्य तत्र क्षपकं सुसमाहितं कर्तुं क्षेमनुपायमाह—

मूलारा—तम्हा यस्माद्गुप्तयः पापनिरोधोपायास्तस्मात्त्रिविधेऽपि मनोवाक्कायविषये प्रकृष्टे योगे व्यापारे सुसमाहितमतिर्भव त्वं । कथंभूतः सन् ? णिरंतरं ज्झाणसज्झाए संततं ध्याने स्वाध्याये वा प्रवर्तमानः सन् । ध्यानस्वाध्यायाभ्यां विना गुप्तयो नावतिष्ठन्ते इति भावः ॥ उक्तं च—

तस्मान्मनोवचःकायप्रयोगे सुसमाहितः ॥
भव त्वं सर्वदा जातस्वाध्यायध्यानसंगतिः ॥

अर्थ—ये तीनो गुप्तियां पापका संवर करनेमें कारण हैं इसलिये मन, वचन और शरीरकी प्रवृत्तिओंमें हे क्षपक ! तुमको हमेशा सावधान रहना चाहिये. और हमेशा ध्यान और स्वाध्यायमें तत्पर रहना चाहिये. ध्यान और स्वाध्यायमें तत्पर रहनेसे गुप्तिओंका संरक्षण होता है. जो ध्यान और स्वाध्यायमें अपनेको तत्पर नहीं करता है उस क्षपककी गुप्तियां स्थिर नहीं रह सकेगी.

समितिव्याख्यानायोत्तरप्रबंधस्तत्रेर्यासमितिनिरूपणायोत्तरा गाथा—

मग्गुज्जोदुपओगालंबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो ॥
सुत्ताणुवीचि भणिदा इरियासमिदी पवयणम्मि ॥ ११९१ ॥
मार्गोद्योतोपयोगानामालंबस्य च शुद्धिभिः ॥
गच्छतः सूत्रमार्गेण मतेर्यासमितिर्यतेः ॥ १२३१ ॥

विजयोदया—मग्गुज्जोदुपओगालंबणसुद्धीहिं मार्गशुद्धिः, उद्योतशुद्धिरुपयोगशुद्धिश्चालंबनशुद्धिरिति चतस्रः शुद्धयस्ताभिः करणभूताभिः । इरियदो गच्छतः । मुणिणो मुनेः । सुत्ताणुवीचि सूत्रानुसारेण । भणिदा कथिता । इरियासमिदी ईर्यासमितिः । पवयणम्मि प्रवचने । तत्र मार्गस्य शुद्धिर्नाम अप्रचुरपिपीलिकादित्रसता, बीजांकुरतृणहरितपलाशकर्दमादिरहितता ॥ स्फुटतरता व्यापिता च उद्योतशुद्धिः । निशाकरनक्षत्रादीनामस्फुटः प्रकाशः, अव्यापी प्रदीपादिप्रकाशः । पादोद्धारनिक्षेपदेशजीवपरिहरणाचहितचेतस्ता उपयोगशुद्धिः । गुरुतीर्थयतिवंदनादिकमपूर्वशास्त्रार्थ ग्रहणं, संयतप्रायोग्यक्षेत्रमार्गणं, वैयावृत्यकरणं, अनियतावासस्वास्थ्यसंपादनं श्रमपराजयं, नानादेशभाषाशिक्षणं, विनेयजनप्रतिबोधनं चेति प्रयोजनापेक्षया आलंबनशुद्धिः । किं तत् सूत्रानुसारिगमनं, अद्रुतं, नातिविलंबितं,पुरो युगमात्र दर्शनप्रवृत्ति, अविकृष्टचरणन्यासं, भयविस्मयांतरेण सलीलमनत्युत्क्षेपं, परिहृतलंघनधावनप्रविलंबितभुजं, निर्विकारं, अचपलमसंभ्रान्तमनूर्ध्वतिर्यक्प्रेक्षणं, हस्तमात्रपरिहृततरुणतृणपल्लवं, अकृतपशुपक्षिमृगोद्वेजनं, विरुद्धयोनिसंक्रमणजातबाधाव्युदासाय कृतासकृत्प्रतिलेखनं, अप्रतिसारितप्रतिमार्गयायिसंघट्टनं । दुष्टधेनुबलीवर्दसारमेयादिपरिहृति चतुरं, परिहृततुसतुषमषीभस्मार्द्रगोमयतृणनिचयजलोपलफलकं, दूरीकृतचोरीकलहं, अनारूढसंक्रमं निरूपयतो यतेरीर्यासमिति ॥

समितीर्व्याकरिष्यन्नादौ ईर्यासमितिं निर्दिशति—

मूलारा—मग्गुज्जोदुपयोगालंबणसुद्धीहिं मार्गोद्योतोपयोगालंबनशुद्धिभिश्चतसृभिः करणभूताभिः । इरियदो गच्छतः । सुत्ताणुवीचि सूत्रस्यानुसारेण । तत्र मार्गस्य शुद्धिः पिपीलिकादित्रसाल्पत्वं, बीजांकुरतृणहरितपत्रजलकर्दमादिरहितत्वं, स्फुटतरत्व, व्यापित्वं च । उद्योतशुद्धिः स्पष्टप्रसृतत्वं, रविकरप्रकाशस्य ॥ उपयोगशुद्धिः—पादोद्धारनिक्षेपदेशवर्तिप्राणिपरिहरण प्रणिधानपरायणत्वं । आलंबनशुद्धिर्गुरुतीर्थचैत्ययतिवंदनादिकमपूर्वशास्त्रार्थग्रहणं, संयमयोग्यक्षेत्रमार्गणा, वैयावृत्यकरणं, अनियतावासस्वास्थ्यसंपादनं, श्रमजयो, नानादेशभाषाशिक्षणं, विनेयजनप्रतिबोधनमेवमादिमार्गाविरोधिप्रयोजनापेक्षा । सूत्रानुवीचिगमनं तु नातिद्रुतविलंबितं, पुरो युगमात्रदर्शनप्रवृत्तिकं, अदूरचरणन्यासं, निर्भयविस्मयमसलीलमनत्युत्क्षेपं,

परिहृतलंघनधावनादिक्रियं, प्रविलंबितभुजं, निर्विकारमचपलं, असंभ्रान्तं, अनूर्ध्वतिर्यक्प्रेक्षणं, हस्तमात्रपरिहृततरुणतृणपल्लवं, अकृतपशुपक्षिमृगोद्वेजनं, विरुद्धयोनिसंक्रमभाविजीवबाधापरिहारायासकृत्प्रतिलेखनं, वर्जितसम्मुखागच्छज्जनसंघट्टनं, दुष्टधेनुवृषभसारमेयादिपरिहारचतुरं, परिहृततुसतुषमसीभस्मार्द्रगोमयतृणनिचयजलोपलफलकं, दूरीकृतचोरीकलहं, अनारूढसंक्रमं चेति ॥

समितिका व्याख्यान आचार्य करते हैं. प्रथमतः ईर्यासमितीका निरूपण करते हैं—

अर्थ—मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोगशुद्धि, और आलंबनशुद्धि ऐसी चार शुद्धिओंका आश्रय करके गमन करनेवाले मुनिकी सूत्रानुसार ईर्यासमिति पाली जाती है ऐसा आगममें कहा है.

मार्गकी शुद्धि—चींटी वगैरे त्रसजीव, तथा बीज, अंकुर, तृण, हरे हरे पत्र, और कीचड वगैरहसे रहित जो मार्ग है वह शुद्धमार्ग माना जाता है.

उद्योतशुद्धि–प्रकाशमें अर्थात् सूर्य प्रकाशमें अधिक स्पष्टपना, और व्यापकता होना उद्योतशुद्धि है. चंद्र और नक्षत्रोंका प्रकाश, अस्पष्ट रहता है. प्रदीपक वगैरहका प्रकाश अव्यापक अर्थात् थोडीसी जगह घेरता है.

उपयोगशुद्धि—पांव उठाकर जिस स्थानपर रखना हो उस स्थानपर जीव जंतु हैं या नहीं इसका विचार कर पांव रखना चाहिए यह उपयोग शुद्धि है.

आलंबनशुद्धि–गुरुवंदना, तीर्थवंदना, चैत्यवंदना और यतिवंदनादिकोंका कारण, तथा अपूर्व शास्त्रार्थका ग्रहण, संयमीके योग्य क्षेत्रको ढूंढना, वैयावृत्य करना, अनियत स्थानमें रहना, स्वास्थ्यका संपादन करना, श्रमको दूर करना, अनेक देशोंकी भाषाओंका अध्ययन करना, भव्योंको उपदेश देना इत्यादि कार्योंकी अपेक्षासे एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाना इसको आलंबनशुद्धि कहते हैं.

आचार–शास्त्रमें वर्णन किये प्रकारसे गमन करना चाहिये. अर्थात् वेगसे गमन नहीं करना, अतिशय मंद भी गमन नहीं करना चाहिये, आगे चार हाथ जमीन देखकर गमन करना चाहिये. दूर अंतर पर पांव नहीं रखने चाहिये. भीति और विस्मय का त्यागकर चलना चाहिये. इधर उधर न देखकर गमन करना चाहिये. कूदना, भागना ये क्रिया छोडकर और बाहु नीचे छोडकर जाना चाहिये. निर्विकार, चपलता रहित, ऊपर तथा इधर उधर न देखकर, जाना चाहिये. तृण, पल्लवादिकसे एक हाथ दूर रहकर गमन करना चाहिये. पशु, पक्षी और मृगोंको

तकलीफ न होगी इस प्रकारसे गमन करना चाहिये. विरुद्ध उत्पत्ति स्थानोंमें प्रवेश करते समय वहांके त्रसजीवोंको अपने शरीरसे बाधा न हो इसलिये बार बार प्रतिलेखनसे अर्थात् पिछिकासे शरीर स्वच्छ करना चाहिये. मार्गमें चलते समय अपने शरीरको इतरोंका धक्का न लगे इस तरहसे चलना चाहिये. दुष्ट गौ, बैल, कुत्ता, इत्यादि प्राणिओंका परिहार करके गमन करना चाहिये. धान्यका भूसा, शालीधान्यके छिलके, कज्जल, भस्म, गीला गोबर, तृणका ढेर, पानी, पत्थर, फलक इनका परिहार करके गमन करना चाहिये. चोर, कलह इत्यादिकसे दूर रहकर गमन करना योग्य है. जाते समय अपने पावोंसे कोई चीजका अथवा प्राणीका आपसमें प्रवेश न हो इस प्रकारसे गमन करना यह मुनिकी ईर्यासमिति है.

भाषासमितिनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

सच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं ॥
वदमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवदि सुद्धा ॥ ११९२ ॥

व्यालीकादिविनिर्मुक्तं सत्यासत्यमृषाद्वयम् ॥
वदतः सूत्रमार्गेण भाषासमितिरिष्यते ॥ १२३२ ॥

विजयोदया—चतुर्विधा वाक्—सत्या, मृषा, सत्यसहिता मृषा, असत्यमृषा चेति । सतां हिता सत्या । न सत्या न च मृषा या सा असच्चमोसा । द्विप्रकारां वाचमित्थंभूतां । अलियादिदोसवज्जं व्यलीकता अर्थाभावः, पारुष्यं, पैशुन्यमित्यादिदोषरहितं । अणवज्जं पापास्रवो न भवति इत्यनवद्यं । वदमाणस्स व्याहरतः । अणुवीची सूत्रानुसारेण भासासमिदी सुद्धा हवदि भाषासमितिः शुद्धा भवति ॥

भाषासमितिं व्याकरोति—

मूलारा—सच्चं सत्यं । जनपदादिभेदाद्दशविधं । असत्याद्धर्मसत्याच्च कोऽस्य भेद इति चेत् ब्रूमः । श्लोकः—

असत्यविरतौ सत्यं सत्स्वसत्स्वपि यन्मतम् ॥
वाक्समित्यां मितं तद्धि धर्मे सत्स्वेव बह्वपि ॥ १ ॥

असच्चमोसं असत्यमृषा । न सत्यं नाप्यसत्यमित्यर्थः । अलियादीदोसवज्जं । असत्यता, असत्यासत्यता, पारुष्यं, पैशुन्यमित्यादिदोषरहितं । अणवज्जं हिंसादिपापास्रवरहितं । अणुवीचि सूत्रानुसारेण ॥

अर्थ—वचनके चार प्रकार हैं. सत्यवचन, मृषावचन–असत्यवचन, सत्यासत्यवचन और असत्यासत्य वचन. सत्पुरुषोंका हित करनेवाला वचन सत्यवचन है. जो सत्य ही नहीं और असत्य ही नहीं ऐसे वचनको असत्यमृषा अर्थात् असत्यासत्य वचन कहते हैं. साधु अर्थात् यतिगण उपर्युक्त दो प्रकारके भाषण बोलते हैं. इन दो प्रकारोंके वचनोंमें असत्यपना, व्यर्थपना, कठोरता, निंदा वगैरे दोषोंका अभाव रहता है. ऐसे वचनोंसे पाप कर्मका आगमन होता नहीं. मुनिगण सूत्रानुसार निर्दोष भाषण करते हैं. इसको भाषासमिति कहते हैं.

सत्यवचनभेदं निरूपयति—

जणवदसंमदिठवणा णामे रूवे पडुच्चववहारे ॥
संभावणववहारे भावेणोपम्मसच्चेण ॥ ११९२ ॥

देशसम्मतिनिक्षेपनामरूपप्रतीतिता ॥
संभावनोपमाने च व्यवहारे भाव इत्यपि ॥ १२३३ ॥

विजयोदया—जणवदसंमदि नानाजनपदप्रसिद्धा सुसंकेतानुविधायिनी वाणी जनपदसत्यं। गच्छति इति गौः, गर्जतीति गज इत्येवमादिका अवयवार्थानुगमाभावेऽपि विवक्षितार्थप्रवृत्तिनिमित्तभूता। सम्मदिशब्देन संस्थानाभ्युपगम उच्यते। गजेन्द्रो नरेन्द्र इत्यादिकाः शब्दाः शुभलक्षणयोगात् केषांचित् स्वतो लक्षणत्वादीश्वरत्वेनाभ्युपगममाश्रित्य कस्मिन्नपि मानवे वा प्रयुज्यमानाः सम्मतिसत्यशब्देनोच्यंते। अर्हन्निंद्रः स्कंदः इत्येवमादयः सद्भावासद्भावस्थापनाविषया स्थापनासत्यं। अरिहननं, रजोहननं, इंदनं इत्येवमादीनां क्रियाणां तत्राभावाद्धलीकता नाशंकनीया आकारमात्रे परमार्थतयास्तसर्वभावानां। तस्य च स्थापनायां यस्त्वास्तित्यादबुद्धिपरिग्रहेण वा सद्भावात्। इंद्रादि संज्ञा स्वप्रवृत्ति निमित्तजातिगुणक्रियाद्रव्यनिरपेक्षा तच्छब्दाभिधेयसंबंधपरिणतिमात्रेण वस्तुनः प्रवृत्ता नामसत्यं। रूपग्रहणं उपलक्षणं प्रवृत्तिनिमित्तानां नीलमुत्पलं, धवलो हि मृगलाञ्छन इत्येवमादिकं रूपसत्यं। संबंध्यंतरापेक्षाभिधानं च वस्तुस्वरूपालंबनं दीर्घो ह्रस्व इत्येवमादिकं प्रतीत्यसत्यं। वस्तुनि तथाऽप्रवृत्तेऽपि तथाभूतकार्ययोग्यतादर्शनात् संभावनया वृत्तं संभावनासत्यं। अपि दोर्भ्यां समुद्रं तरेत्। शिरसा पर्वतं भिंद्यात् इत्यादि॥ वर्तमानकाले स परिणामो यद्यपि नास्ति तथाप्यतीतानागतपरिणामान्प्रति इदमेव द्रव्यमिति कृत्वा प्रवृत्तानि वचांसि ओदनं पच, कटं दुर्निरीक्ष्यमादीनि व्यवहारसत्यं। अहिंसालक्षणो भावः पाल्यते येन वचसा तद्भावसत्यं निरीक्ष्य स्वप्रयताचारो भवेत्येवमादिकं। पल्योपमसागरोपमादिकमुपमा सत्यम्॥

किं तज्जनपदादिभेदाद्दशधा सत्यमित्याह—

मूलारा—जनपदेत्यादि–जनपदसत्यं नानादेशप्रसिद्धवचनं । यथा कूरो, चारो, ओदनमिति । सम्मतिसत्यं यथा राजा नरोऽपि देवो भण्यते । तद्वार्थो देवीति सर्वैस्तथाभ्युपगमात् । अथवा गजेन्द्रो नरेन्द्र इत्यादिकाः शब्दाः शुभलक्षणयोगात्कांचित्र स्त्री लक्षणानां ईश्वरत्वेनाभ्युपगममाश्रित्य कस्मिंश्चिज्जने मानवे वा प्रयुज्यमानाः सम्मतिसत्यशब्देनोच्यन्ते । स्थापनासत्यं यथा पाषाणप्रतिमादिरियं चक्रेश्वरी, अयमर्हन् इति तदिदमिति बुद्धिपरिग्रहेण सद्भावात् । नामसत्यं इंद्रादिसंज्ञा । प्रवृत्तिनिमित्तजातिगुणक्रियाद्रव्यनिरपेक्षा तच्छब्दाभिधेयत्वपरिणतिमात्रेण वस्तुनः प्रवृत्ता यथा मनुष्यमात्रेऽपि अयमिंद्रोऽयमीश्वर इत्यादि ॥ रूपसत्यं नानारूपत्वेऽपि कस्यचिद्रूपस्य प्रकर्षमपेक्ष्य प्रयुज्यमानं वचनं यथा नीलमुत्पलं, श्वेता बलाकेति ॥ प्रतीत्यसत्यं संबंध्यंतरापेक्षाभिव्यंग्यवस्तुस्वरूपालंबनं दीर्घो ह्रस्व इत्येवमादि । लघ्वंगुली, बृहदंगुली इत्यादि ॥ संभावनासत्यं यथा वस्तुनि तथा प्रवृत्तेऽपि तथाभूतकार्ययोग्यतादर्शनात्प्रवृत्तं यथा—अपि दोर्भ्यां समुद्रं तरेदयमिति ॥ व्यवहारसत्यं यथा—धूपचूर्णवासनानुलेपनप्रकर्षादिषु पद्ममकरहंससर्वतोभद्रक्रौंचव्यूहादिषु वा चेतनेतरद्रव्याणां यथाभागविधानसन्निवेशाविर्भावकं यद्वचस्तत्संयोजनासत्यम् । भाविभूतपरिणामापेक्षया प्रवृत्तं यथा सिद्धेऽप्योदने लोकव्यवहारानुसरणात्तंडुलान्पचेति वाच्ये ओदनं पचेत्यादिवचनं ॥ भावसत्यं छद्मस्थज्ञानस्य द्रव्ययाथात्म्यादर्शनेऽपि संयतस्य संयतासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुकमिदमप्रासुकमिदमित्यादिवचनं । निरीक्षस्व, श्रमणाचारी भवेत्येवमादिकं वा । अहिंसालक्षणाभावपालनांगत्वात् । औपम्यसत्यं यथा चंद्रमुखी कन्या, समुद्रवत्तडागमित्यादि ॥

सत्य वचनके भेद कहते हैं—

अर्थ—जनपदसत्य, सम्मतिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीतिसत्य, संभावनासत्य, व्यवहारसत्य, भावसत्य और उपमासत्य ऐसे सत्यके दस भेद हैं. इनके विशेष स्वरूपका विवेचन—

१ जनपदसत्य—अनेक देशोंमें प्रसिद्ध संकेतका अनुकरण करनेवाला जो वचन उसको जनपदसत्य कहते हैं. जैसे ' गच्छतीति गौः ' ' गर्जतीति गजः ' अर्थात् जो जाता है उसको गौ कहते हैं अर्थात् बैलको गौ कहना चाहिए. गौ शब्दका संकेत बैल नामक पदार्थमें है. जो गर्जना करता है उसको गज अर्थात् हाथी कहना चाहिए. गजशब्दका संकेत हाथीमें प्रसिद्ध है. यद्यपि यहां निरुक्तीमें प्रतिपादित अर्थका वस्तुमें अनुसरण नहीं दीखता है तथापि ये शब्द निरीक्षित पदार्थोंमें प्रवृत्ति करानेमें निमित्त होते हैं.

२ सम्मतिसत्य—सम्मति शब्दमें आकृतिका ग्रहण होता है. गजेंद्र, नरेंद्र इत्यादिक शब्द शुभ लक्षणके द्योतक हैं. कोई पदार्थ स्वतः शुभ लक्षणसंपन्न दीखते हैं अतः उसमें स्वतः ईश्वरपना–संपन्नपना दृष्टिगोचर होता है. उसके ईश्वरपनाका आधार लेकर अन्य गज–हाथी अथवा मनुष्यमें उसका प्रयोग करते हैं ऐसे शब्दको सम्मति सत्य कहते हैं. जैसे गजकी विशालता देखकर उसको गजेंद्र कहना. किसी मनुष्यमें राजाके समान संपन्नता देखकर उसको सब लोक नरेंद्र कहते हैं. राजा, राय, राणा वगैरह शब्द सम्मतिसत्य हैं.

स्थापना सत्य—अर्हन्, इंद्र और स्कंद वगैरह शब्द सद्भाव असद्भाव स्थापनाके विषय हैं. इनको स्थापना सत्य कहते हैं. अरिहनन मोहनीयकर्मका नाश होना, रजोहनन ज्ञानावरण और दर्शनावरणका नाश होना इत्यादिक क्रिया अर्हन्तमें रहती हैं अतः उसमें असत्यपनाका संशय लेना योग्य नहीं है. अर्हन्तके समान प्रतिमाका आकार रहता है अतः अर्हन्तकी उसमें स्थापना करते हैं. ऐसा आकार रखकर मूल पदार्थोंकी उसमें स्थापना करते हैं. तथा वैसे पदार्थ देखकर उसमें यह वह वस्तु है ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती ही है. यह स्थापना सत्य समझना चाहिए.

नाम सत्य—जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया इनकी अपेक्षाके बिना ही शब्दका पदार्थ के साथ संबंध कर देना वह नाम सत्य है. जैसे जीवनक्रिया अचेतन पदार्थ में न रहते हुए भी उसको जीव कहना. किसी पदार्थका इंद्र वगैरह नाम रखते समय इंद्रकी देवत्व जाति, परमैश्वर्य संपन्नता वगैरह गुणोंका विचार न करके व्यवहार के लिए इंद्र ऐसा नाम रखना.

रूपसत्य—रूपशब्द प्रवृत्ति निमित्तका उपलक्षण हैं. जैसे कमलमें नीलगुणका प्रकर्ष देखकर उसको नीलकमल कहना. चंद्रमें सफेदपनाकी अधिकता देखकर उसको धवल कहना इत्यादिक उदाहरण रूपसत्यके समझ लेने चाहिये.

प्रतीतिसत्य—किसी अन्य संबंधी पदार्थकी अपेक्षासे वस्तुस्वरूपका निर्णय करके वैसा कहना जैसा दीर्घ वस्तुको देखकर दुसरी वस्तु ऱ्हस्व कहना वगैरह.

संभावना सत्य—वस्तुका वैसी प्रवृत्ति नहीं होते हुये भी वैसी प्रवृत्ति करनेकी उस पदार्थमें योग्यता है यह जान कर वैसी कल्पना करना जैसे यह आदमी अपनी दो भुजाओंसे समुद्रको तीर सकेगा ऐसा कहना यह

यह संभावना सत्य है. यह मनुष्य मस्तकसे पर्वतका भेद न करेगा वगैरह इस सत्यके उदाहरण हैं.

व्यवहारसत्य—वर्तमानकालमें पदार्थका वह परिणाम नहीं है तथापि भूतकालमें वह परिणमन था अथवा भविष्यत्कालमें वह उत्पन्न होगा तथापि वही यह पदार्थ है ऐसा समझकर जो वचनप्रवृत्त होते हैं उनको व्यवहार सत्य कहते हैं. जैसे भात पकाओ, चटाइ बनाओ इत्यादि.

भावसत्य—अहिंसालक्षणात्मक परिणामका जिस वचनसे रक्षण होता है उसको भावसत्य कहते हैं. जैसे जीवोंको देखकर यत्नचारपूर्वक प्रवृत्ति करो ऐसा उपदेश देना. उपमासत्य—जैसे पल्योपम है, सागरोपम है यह उपमा सत्य है.

मृषादिवचनत्रयलक्षणं कथयन्ति—

तव्विवरीदं मोसं तं उभयं जत्थ सच्चमोसं तं ॥

तव्विवरीया भासा असच्चमोसा हवे दिट्ठा ॥ ११९४ ॥

विजयोदया—तव्विवरीदं सत्यविपरीतं। मोसं मृषा 'असदभिधानमनृतं' इति वचनात्। मिथ्याज्ञानमिथ्यादर्शनयोरसंयमस्य वा निमित्तं वचनमसदभिधानं अप्रशस्तं तत्सत्यविपरीतं। तं उभयं तत्सत्यमनृतं च उभयं जत्थ यस्मिन् वाक्ये। तं तद्वाक्यं। सच्चमोसं सत्यमृषेत्युच्यते। तव्विवरीदा भासा सत्यादनृतान्मिश्रा च पृथग्भूता भासा भाषा वचनं असच्चमोसा असत्यमृषेति। हवे भवेत्। दिट्ठा दृष्टा पूर्वागमेषु। एकांतेन न सत्या नापि मृषा नोभयमिश्रा किंतु जात्यंतरं यथा वस्तु नैकांतेन नित्यं नापि अनित्यं नापि सर्वथा एकांतयोः समुच्चयः किंतु कथंचिद्रूपान्नित्यानित्यात्मकं। एवमियं भारती॥

असत्यादिवचनत्रयलक्षणार्थमाह—

मूलारा—तव्विवरीदं मोसं मिथ्याज्ञानासंयमादिनिमित्तत्वात्सत्यविपरीतमृषा। तं उभयं सत्यमृषाद्वयं। जत्थ यस्मिन्वचने। सच्चमोसं सत्यानृतं यथा सर्वं दत्तं, सर्वं श्रुतं, सर्वं भुक्तं। अथवा घृतशर्कराभिश्रं गोक्षीरं शोभनं स्यादिति ज्वरितेन पृष्टे सति शोभनमिति वचस्तस्य माधुर्यादिप्रशस्यगुणापेक्षया सत्यत्वाज्ज्वरवृद्धिनिमित्तत्वापेक्षया च मृषात्वात्। तव्विवरीदा सत्यादसत्यान्मिश्राच्च पृथग्भूता असच्चमोसा एकान्तेन न सत्या, नापि मृषा, नोभयमिश्रिता किंतु जात्यंतरं। यथा वस्तु नैकान्तेन नित्यं, नाप्यनित्यं नापि सर्वथैकान्तयोः समुच्चयः किंतु कथंचिद्रूपान्नित्यानित्यात्मकमेव। नवधा चैषा॥

असत्यादि तीन वचनोंका लक्षण कहते हैं—

अर्थ—उपर्युक्त सत्य भाषणके विरुद्ध जो भाषण उसको असत्य भाषण कहते हैं. 'असदभिधानमनृतं' प्रमादसे प्राणिओंको पीडा होगी ऐसा भाषण बोलना यह असत्यभाषण है ऐसा सूत्रकार कहते हैं. अथवा जिस भाषणसे मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और असंयमकी उत्पत्ति होगी वह भी असत्य भाषण है. जो भाषण अप्रशस्त है अर्थात् सज्जनोंने जिसकी प्रशंसा की नहीं वह असत्य भाषण समझना चाहिये.

जिस भाषणमें सत्यपना और असत्यपना दोनो हैं उसको सत्यमृषा भाषण कहते हैं. सत्य, असत्य और मिश्र भाषणोंसे जो भिन्न है अर्थात् जिसमें सत्यताभी नहीं और असत्यताभी नहीं वह भाषण असत्यमृषा है. जिसको सत्यभी नहीं कह सकते जो असत्यभी नहीं मानी जाती है ऐसी और जिसको मिश्रभी नहीं कहा जाता है ऐसी भाषाको असत्यमृषा कहना चाहिये.

जैसे वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है, सर्वथा अनित्य नहीं है व सर्वथा नित्यानित्यात्मकभी नहीं है. परंतु उस नित्यानित्यपर धर्मोंका समुचय है अर्थात् कथंचिन्नित्यानित्यात्मक है. उसी तरह असत्यमृषा भाषण समझना चाहिये. सत्य और मृषा इन दोनोंका मिश्रणभूत जो भाषा उसको सत्यमृषा कहते हैं उसका उदाहरण ऐसा है— घी और गांवमें स्थित गायका दूध शोभन है क्या? ऐसा पूछने पर यह शोभन है ऐसा कहना दूधको माधुर्यादि गुणोंकी अपेक्षासे सत्य कह सकते हैं और ज्वर बढानेमें वह कारण होगा इसकी अपेक्षासे वह असत्य है.

सा नवप्रकारा तस्याश्च भेदा इवंत इति गाथाद्वयेनाचष्टे—

आमंतणि आणवणी जायणि संपुच्छणी य पण्णवणी ॥

पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य ॥ ११९५ ॥

आज्ञापनी संबोधनी प्रच्छनी प्रत्याख्यानी याचनी प्रज्ञापनीच्छानुलोमा सांशयिकी

निरक्षरा चेति नवधा सत्यमृषाभाषा मंतव्या ॥ ११३४ ॥

विजयोदया—आमंतणी यया वाचा परोऽभिमुखीक्रियते सा आमंत्रणी । हे देवदत्त इत्यादि अगृहीतसंकेतानभिमुखी करोति तेन न मृषा गृहीतागृहीतसंकेतयोः प्रतीतिनिमित्तमनिमित्तं चेति द्व्यात्मकता । स्वाध्यायं कुरुत, विरमतासंयमात् इत्यादिका अनुशासनवाणी आणवणी । चोदितायाः क्रियायाः करणमकरणं चापेक्ष्य नैकान्तेन सत्या न 1193

मृषैव वा । जायणी ज्ञानोपकरणं पिच्छादिकं वा भवद्भिर्दातव्यं इत्यादिका याचनी । दातुरपेक्षया पूर्ववदुभयरूपा । निरोध वेदनास्ति भवतो न वेति प्रश्नवाक् संपुच्छणी यद्यस्ति सत्या न चेदितरा । वेदनाभावाभावमपेक्ष्य प्रवृत्तेरुभयरूपता । पण्णवणी नाम धर्मकथा । सा यद्दृमिदिश्य प्रवृत्ता कैश्चिन्मनसि करणमितरैरकरणं चापेक्ष्य करणत्वादुभयरूपा । पच्चक्खाणी नाम केनचिद्गुरुमननुज्ञाप्य इदं क्षीरादिकं इयंतं कालं मया प्रत्याख्यातं इत्युक्तं कार्यांतरमुद्दिश्य तत्कुर्वित्युदिते गुरुणा प्रत्याख्यानावधिकालो न पूर्ण इति नैकांततः सत्यता गुरुवचनात्प्रवृत्तो न दोषायेति न मृषैकांतः । इच्छानुलोमा य ज्वरितेन पृष्टं घृतशर्करामिश्रं क्षीरं न शोभनमिति । यदि परो ब्रूयात् शोभनमिति । माधुर्यादिप्रशस्य गुणसद्भावं ज्वरवृद्धिनिमित्ततां चापेक्ष्य न शोभनमिति वचो न मृषैकांततो नापि सत्यमेवेति द्व्यात्मकता ॥

के ते उभयभाषाभेदा नवेति पृष्टस्तान्गाथाद्वयेनाचष्टे—

मूलारा—आमंतणि संबोधिनी हे देवदत्त इत्यादिका । आणवणी आज्ञापनी इदं कुर्वित्यादिका । जायणी याचनी यथा त्वां किंचिदहं याचिष्ये । संपुच्छणी संप्रच्छनी यथा त्वां किंचित्पृच्छामि । पण्णवणी प्रज्ञापनी यथा तव किंचित्कथयिष्यामि । पच्चक्खाणी प्रत्याख्यापनी यथा त्वां किंचित्याजयिष्यामि । इच्छाणुलोमा छंदानुकूला वाक् यथा शालितालव्रीहयो भवन्तीति गुरुप्रोक्ते एवमेतदिति शिष्यवाक् ॥

असत्यमृषा भाषण के नऊ प्रकार हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

अर्थ—जिस भाषासे दूसरोंको अभिमुख किया जाता है उसको आमंत्रणी-संबोधिनी भाषा कहते हैं. जैसे 'हे देवदत्त यहां आओ' देवदत्त शब्दका संकेत जिसने ग्रहण किया है उसकी अपेक्षासे यह वचन सत्य है जिसने संकेत ग्रहण नहीं किया उसकी अपेक्षासे असत्य भी है.

आणवणी—आज्ञापनी भाषा जैसे स्वाध्याय करो, असंयमसे विरक्त हो जाओ. ऐसी आज्ञा दी हुई क्रिया करनेसे सत्यता और न करनेसे असत्यता इस भाषामें है, इस लिये इसको एकान्त रीतीसे सत्यभी नहीं कहते और असत्यभी नहीं कह सकते हैं.

याचनी—ज्ञानके उपकरण शास्त्र और संयमके उपकरण पिच्छादिक मेरेको दो ऐसा कहना यह याचनी भाषा है. दाताने उपर्युक्त पदार्थ दिये तो यह भाषा सत्य है और न देनेकी अपेक्षासे असत्य है. अतः यह सर्वथा सत्यभी नहीं है और सर्वथा असत्यभी नहीं है.

प्रश्न पूछना उसको प्रश्नभाषा कहते हैं जैसे तुमको निरोधमें—कारागृहमें वेदना—दुःख है या नहीं वगैरह.

यदि वेदना होती हो तो सत्य समझना न हो तो असत्य समझना. वेदनाका सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा इसको सत्यासत्य कहते हैं.

पण्णवणी-धर्मोपदेश करना इसको प्रज्ञापनी भाषा कहते हैं. यह भाषा अनेक लोगोंको उद्देश्य कर कही जाती है. कोई मनःपूर्वक सुनते हैं और कोई सुनते नहीं. इसकी अपेक्षा इसको असत्यमृषा कहते हैं.

पच्चक्खाणी-किसीने गुरुका अपने तरफ लक्ष न खीचकरके कहा कि मैंने इतने कालतक क्षीरादिक पदार्थोंका त्याग किया है ऐसा कहा. कार्यांतरको उद्देश करके यह करो ऐसा गुरूने कहा. प्रत्याख्यानकी मर्यादाका काल पूर्ण नहीं हुआ तब तक यह एकांतसत्य नहीं है. गुरूके वचनानुसार प्रवृत्त हुआ है इस वास्ते असत्य भी नहीं है.

इच्छानुलोमा-ज्वरितमनुष्यने पूछा घी और शक्कर मिला हुआ दूध अच्छा नहीं है ? यदि दूसरा कहेगा कि यह अच्छा है. तो मधुरतादिक गुणोंका उसमें सद्भाव देखकर यह शोभन है ऐसा कहना योग्य है. परन्तु ज्वर वृद्धिको यह निमित्त होता है इस अपेक्षासे यह शोभन नहीं है अतः सर्वथा असत्य और सत्य नहीं है इसलिए इस वचनमें उभयात्मकता है.

संसयवयणी य तहा असच्चमोसा य अट्ठमी भासा ॥
णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवदि णेया ॥ ११९६ ॥

विजयोदया—संसयवयणी किमयं स्थाणुरुत पुरुष इत्यादिका द्वयोरेकस्य सद्भावमितरस्याभावं चापेक्ष्य द्विरूपता । अणक्खरगदा अंगुलिस्फोटादिध्वनिः कृताकृतसंकेतपुरुषापेक्षया प्रतीतिनिमित्ततामनिमित्ततां च प्रतिपद्यते इत्युभयरूपा ॥

मूलाराधना—संसयवयणी किमयं स्थाणुरुत पुरुष इत्यादि संदिग्धवाक् । अणक्खरगदा अक्षरहीना यथा अंगुलिस्फोटादिशब्दाः कृतसंकेतस्यार्थप्रतिपत्तिनिमित्तत्वात् । सिद्धांतरत्नमालायां पुनरित्थमाम्नातम्—

याचनी ज्ञापनी पृच्छानयनी संशयन्यपि ॥
आह्वानीच्छानुकूला वाक् प्रत्याख्यान्यप्यनक्षरा ॥
असत्यमोषभाषेति नवधा बोधिता जिनैः ॥

व्यक्ताव्यक्तमतिज्ञानं वक्तुः श्रोतुश्च यद्भवेत् ॥
त्वामहं याचयिष्यामि ज्ञापयिष्यामि किंचन ॥
प्रष्टुमिच्छामि किंचित्त्वामानेष्यमि च किंचन ॥
बालः किमेष वक्तीति ब्रूत संदेग्धि मन्मनः ॥
आह्वयाम्येहि भो भिक्षो ! करोम्याज्ञां तव प्रभो ! ॥
किंचित्त्वां स्तवयिष्यामि हुंकरोत्यत्र गौः कुतः ॥
याचन्यादिषु दृष्टांता इत्थमेवे प्रदर्शिताः ॥

अर्थ—संशय वचन यह असत्यमृषाका आठवा प्रकार है. जैसे यह ठूंठ है अथवा मनुष्य है इत्यादि इसमें दोनोंमेंसे एककी सत्यता है और इतरका अभाव है इस वास्ते उभयपना इसमें है.

अनक्षर वचन—चुटकी बजाना, अंगुली से इशारा करना जिसको चुटकी बजानेका संकेत मालूम है उस की अपेक्षा से उसको वह प्रतीतिका निमित्त है और संकेत मालूम नहीं है उसको अप्रतीति का निमित्त होती है इस तरह उभयात्मकता इसमें है.

उग्गमउप्पायणएसणाहिं पिंडमुवधिं सेज्जं च ॥
सोधिंतस्स य मुणिणो विसुज्झए एसणासमिदी ॥ ११९७ ॥
आहारमुपधिं शय्यामुद्गमोत्पादनादिभिः ॥
विमुक्तं गृह्णतः साधोरेषणा समितिर्मता ॥ १२३५ ॥

विजयोदया—उग्गमउप्पादणएसणाहिं उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितं भक्तमुपकरणं वसतिं च गृह्णत एषणासमितिर्भवतीति सूत्रार्थः । दशवैकालिकटीकायां श्रीविजयोदयायां प्रपंचिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यन्ते ॥

एषणासमितिं निर्दिशति—

मूलारा—सोधिंतस्स साधयतः । उद्गमादिदोषत्यक्तं पिंडादिकं गृह्णत इत्यर्थः ॥ विसुज्झदे निर्मला भवति ।

अर्थ—उद्गमदोष, उत्पादनदोष और एषणादोष इन दोषोंसे रहित जो मुनि उपकरण, आहार और

वगतिका का स्वीकार करते हैं. वे मुनि एषणासमितीको निरतीचार पालते हैं ऐसा समझना चाहिये. श्रीविजयोदया नामकी दशवैकालिक टीकामें उद्गमादि दोषोंका सविस्तर विवेचन अपराजित सूरीने किया है अत एव यहां उसका निरूपण करना वे नहीं चाहते हैं.

आदाननिक्षेपणनिरूपणार्था गाथा—

सहसाणाभोगिददुप्पमज्जिय अपच्चवेसणा दोसो ॥
परिहरमाणस्स हवे समिदी आदाणणिक्खेवो ॥ ११९८ ॥

सहसादृष्टदुर्दृष्टाप्रत्यवेक्षणमोचिनः ॥
भवत्यादाननिक्षेपसमितिर्व्रतवर्तिनः ॥ १२२६ ॥

विजयोदया—सहसणाभोगिद आलोकनप्रमार्जनमकृत्वा आदानं निक्षेपं इत्येको भंगः। अनालोक्य प्रमार्जनं कृत्वा आदानं निक्षेपो वेति द्वितीयो भंगः। आलोक्य दुःप्रमृष्टं इति तृतीयः। आलोकितं प्रमृष्टं च न पुनरालोकितं च शुद्धं नेति चतुर्थो भंगः। एतद्दोषचतुष्टयं परिहरतो भवति आदाननिक्षेपणसमितिः।

आदाननिक्षेपसमितिं लक्षयति—

मूलारा—आलोकनप्रमार्जनेऽकृत्वा पुस्तकादेरादानं, निक्षेपं वा कुर्वत एकः सहसाख्यो दोषः। अनालोक्य प्रमार्जनं कृत्वा पुस्तकादेरादानं निक्षेपं वा कुर्वतोऽनाभोगिताख्यो द्वितीयो दोषः। आलोक्यासम्यक्प्रतिलिख्य तद्गृह्णतो-निक्षिपतो वा तृतीयो दुष्प्रमृष्टसंज्ञो दोषः। आलोकितं प्रमृष्टं च न पुनः शुद्धमशुद्धं चेति निरूपितमित्यादाननिक्षेपकरणाच्चतुर्थोऽप्रत्यवेक्षणाख्यो दोष एतांस्त्यजत आदाननिक्षेपसमितिः स्यात् ॥

आदान निक्षेपका आचार्य निरूपण करते हैं.—

अर्थ—बिना देखे और बिना भूमि स्वच्छ किये पदार्थ उठा लेना, यह पहिला भंग हुआ. बिना देखे भूमि स्वच्छ करके पदार्थ जमीनपर रखना अथवा उठा लेना यह द्वितीय भंग है. देखकरके भूमि स्वच्छ किये बिना पदार्थ उठा लेना अथवा रखना यह तीसरा भंग है. देखना और थोडासा झाड लेना यह चौथा भंग है इन चार दोषोंका त्याग कर पदार्थोंको उठा लेना और रखना आदाननिक्षेपण समिति है अर्थात् जमीनको अच्छी तरहसे

देखकर और स्वच्छ कर उसपरसे पदार्थ उठा लेना अथवा उसपर पदार्थ रखना यह आदान निक्षेपण समिति है.

एदेण चेव पदिट्ठावणसमिदीवि वण्णिया होदि ॥
वोसरणिज्जं दव्वं थंडिल्ले वोसरिंतस्स ॥ ११९९ ॥

अनेनैव प्रकारेण प्रतिष्टापनका मता ॥
समितिस्त्यजतस्त्याज्यं प्रदेशे स्थंडिले यतेः ॥ १२३७ ॥

विजयोदया—एदेण चेव आदाननिक्षेपविषययत्नकथनेन । पदिट्ठावणसमिदीवि वण्णिदा होदि । प्रतिष्ठापनसमितिर्वर्णिता भवति । वोसरणिज्जं परित्यक्तव्यं मूत्रपुरीषादिकं मलं । थंडिल्ले वोसरिंतस्स स्थंडिले निर्जन्तुके, निश्छिद्रे, समे व्युत्सृजतः ॥

प्रतिष्ठापनसमितिं व्याचष्टे—

मूलारा—एदेण आदाननिक्षेपविषययत्नकथनेन । वोसरणिज्जं अवश्योत्सृज्यं । दव्वं विण्मूत्रखेलसिंघाणकच्छर्दिलुंचितकेशादिकं । थंडिले निर्जन्तुकनिश्छिद्रसमत्वादिविशिष्टे प्रदेशे । तथा चावोचाम धर्मामृते—

निर्जन्तौ कुशले विविक्तविपुले लोकोपरोधोज्झिते ॥
प्लुष्टे कृष्ट उतोपरक्षितितले विष्ठादिकानुत्सृजन् ॥
नुप्रज्ञाश्रमणेन नक्तमभितो दृष्टे विभज्य त्रिधा ॥
सुदृष्टेऽप्यपहस्तकेन समितावुत्सर्गे उत्तिष्ठते ॥

अर्थ—आदाननिक्षेपण समितिका निर्दोष पालन करनेके कथनसेही प्रतिष्ठापन समितिकाभी वर्णन हुआ. त्यागने योग्य मूत्र पुरीषादिक मलका त्याग निर्जन्तुक और निश्छिद्र जमीनमें करनेवाले मुनि प्रतिष्ठापन समिति का पालन करते हैं.

एदाहिं सदा जुत्तो समिदीहिं जगम्मि विहरमाणो हु ॥
हिंसादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकायाउले साहू ॥ १२०० ॥

आभिः समितिभिर्योगी लोके षड्जीवसंकुले ॥
दोषैर्हिंसादिभिर्नैव लिप्यते विहरन्नपि ॥ १२३८ ॥

विजयोदया—एदाहिं एताभिः। सदा जुत्तो सदा युक्तः। जगम्मि विहरमाणो दु जगति विचरन्नपि। कीदृशो? जीवणिकायाउले षड्जीवनिकायाकीर्णे। हिंसादीहिं हिंसादिभिः। ण लिप्पदि न लिप्यते साधुः। आदिग्रहणेन परितापनं, संघट्टनं, अंगन्यूनताकरणादिपरिग्रहः। समितिषु प्रवर्तमानः प्रमादरहितः प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसेत्युच्यते। हिंसादिभिरहितानि कर्माणि हिंसादिशब्देनोच्यंते। कार्ये कारणशब्दप्रवृत्तिः प्रतीततरत्वात्। यद्यपि विवर्जननिमित्तगुणान्वितं तत्र प्रवर्तमानमपि तेन न लिप्यते यथा स्नेहगुणान्वितं तामरसपत्रं काचनीलनीरवर्तमानमपि नांबुना लिप्यते। निरंतरनिचितजीवनिकायाकुलेऽपि जगति संचरन्नपि मुनिर्न लिप्यते अप्रमत्ततया प्रवृत्तः पंचसु समितिष्विति ॥

समितिसंततसमाहितस्य हिंसादिद्वारायातपातकबंधाभावं भावयति—

मूलारा—हिंसादीहिं प्राणातिपातपरितापनसंघट्टनांगन्यूनताकरणादिषड्जीवोपघातापूत्ताद्युजनितपातकैः। ण लिप्पदि न बध्यते ॥

अर्थ—इन पांच समितिओंका पालन करनेवाला मुनि जीवसमुदायसे भरे हुए जगतमें हिंसादिक पातकोंसे अलिप्त रहता है. आदिशब्दसे परितापन, अर्थात् तकलीफ देना, संघट्टन जीवोंको परस्परमें मिलाना, उनके अंग कम करना, इत्यादि दोषोंसे समिति धारक यति लिप्त नहीं होता है. जो समितिओंको पालता है. वह प्रमादरहित होता है. प्रमादसे प्राणोंका घात करनाही हिंसा है. हिंसादि सहित कर्मोंको हिंसादि कहते हैं अर्थात् हिंसादिक कारण हैं और उससे होनेवाली क्रियायें कार्य हैं. यहां कार्यमें कारणका उपचार करके हिंसादिकके कार्यकोभी हिंसा कह सकते हैं. त्यागगुणयुक्त यति विषयोंसे भरे हुए इस जगतमें रहकरभी विषयोंमें आसक्त होते नहीं हैं. अतः वे पापसे लिप्त नहीं होते हैं. जैसे स्नेहगुणसे युक्त कमलपत्र वैडूर्यके समान नीलजलमें रहकर भी उससे लिप्त होता नहीं. निरंतर प्राणिओंसे भरे हुए इस लोकमें मुनि विहार करते हैं तो भी वे प्रमादरहित होकर पांच समितिओंमें प्रवृत्त होते हैं अतः पापोंमें लिप्त होवे ही नहीं.

पउमणिपत्तं व जहा उदयेण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्तं ॥
तह समिदीहिं ण लिप्पइ साधू काएसु इरियंतो ॥ १२०१ ॥

समितो लिप्यते नाघैर्जीवमध्ये चरन्नपि ॥
स्निग्धं कमलिनीपत्रं सलिलैरिव वा स्थितम् ॥ १२३९ ॥

विजयोदया—पउमणिपत्त इत्यनया गाथया-पद्मपत्रं यथा नोदकेन विलिप्यते स्नेहगुणसमन्वितं । तथा कायेसु शरीरेषु प्राणभृता प्रवर्तमानोऽपि न लिप्यते साधु समितिभिर्हेतुभूताभि ॥

उक्तार्थसमनार्थं युक्तिमुपन्यस्यति—

मूलारा—समिदीहिं समितिभिर्विशिष्ट । ण लिप्पदि हिंसादिभिर्न बध्यते । काएसु षड्जीवदेहेषु । इरियंतो प्रवर्तमान । अत्र कायशब्देन प्राणिशरीरपीडनापाद्यमानकर्मत्वपरिणतिस्तद्योग्यपुद्गला सकललोकव्यापिनो गृह्यंते । तथैव दृश्यते साध्यव्याप्तसाधनस्य दर्शयितु शक्यत्वात् । तथा च प्रयोग —यद्यद्धि येनेनसमर्थगुणान्वितं तत्तत्र प्रवर्तमानमपि तेन न लिप्यते । यथा जलविरनेनक्षमस्नेहनगुणान्वित पद्मिनीपत्रं जलान्त प्रवर्त्यपि जलेन । प्राणिशरीरपीडनापाद्यमानकर्मत्वपरिणतिस्तद्योग्यपुद्गलविरनेनसमर्थसमितिगुणान्वितश्च साधुस्तस्माल्लोकव्यापिषु तेषु अन्त· प्रवर्तमानोऽपि न लिप्यते ॥

अर्थ—स्नेहगुणसे युक्त कमलका पत्र जलमें लिप्त होता नहीं है तद्वत् प्राणिओंके शरीरोंमें विहार करने वाला यतिराज समितिओंसे युक्त होनेसे पापमें लिप्त होता नहीं

सरवासे वि पडते जह दढकवचो ण भिज्जदि सरेहिं ॥
तह समिदीहिं ण लिप्पइ साधू काएसु इरियंतो ॥ १२०२ ॥
बध्यते समितो नाघैं कायमध्ये भ्रमन्नपि ॥
सन्नद्धो भिद्यते कुत्र शरवर्षे रणांगणे ॥ १२४० ॥

विजयोदया—सरवासे वि पडते शरवर्षेऽपि पतति सति च रणागणे यथा दृढकवचो न शरैर्भिद्यते, तथा समितिभिर्हेतुभूताभिर्न लिप्यते हिंसादिना कायेषु वर्तमानो मुनि ॥

तमेवार्थमुदाहरणातरेण द्रढयति—

मूलारा—सरवासे बाणवृष्टौ वर्षग्रहणेन असकृत्प्रवृत्तिं लक्षयति ॥ दढकवचो अभेद्यसन्नाह· । अत्रापि प्रयोग· पूर्ववत्स्वनीय ॥

अर्थ—रणांगणमें वाणोंकी वृष्टि होनेपर भी जिसने दृढ बकतर धारण किया है ऐसा शूरपुरुष भिन्न नहीं होता है अर्थात् वह शरवृष्टिमें सचार करता हुआ भी अक्षतही रहता है वैसे समितिरूपी कवच धारण करनेवाले मुनिरूपी योद्धा भी हिंसादि वाणोंसे अक्षत ही रहते हैं. जीवनिकायमें विहार करते हुए भी वे पापोंसे अलिप्त ही रहते हैं.

जत्थेव चरइ बालो परिहारण्हू वि चरइ तत्थेव ॥
वज्झदि पुण सो बालो परिहारण्हू वि मुच्चइ सो ॥ १२०३ ॥

बालश्चरति यत्रैव तत्रैव परिहारवित् ॥
बध्यते कल्मषैर्बाल इतरो मुच्यते पुनः ॥ १२४२ ॥

विजयोदया—जत्थेव चरइ बालो यत्रैव क्षेत्रे चरति जीवपरिहारक्रमानभिज्ञः । परिहारण्हू वि जीवबाधा परिहारक्रमज्ञोऽपि तत्रैव चरति । तथापि वज्झदि सो पुण बालो बध्यते पुनरसौ ज्ञानबालश्चारित्रबालश्चासौ । परिहारण्हू परिहारज्ञः । मुच्चइ मुच्यते कर्मलेपात् ॥

समानदेशचारिणोरप्यज्ञविज्ञयोः पापबंधाबंधौ दर्शयति—

मूलारा—जत्थेव यत्रैव क्षेत्रे । चरदि गमनादिक्रियासु प्रवर्तते । बालो वधपरिहारक्रमानभिज्ञः । वज्झदि पापैर्बध्यते । मुचदि पापलेपान्मुच्यते पापैर्न लिप्यते वेत्यर्थः ॥

अर्थ—जीवोंकी बाधाका परिहार करनेका क्रम जिसको ज्ञात नहीं हुआ है ऐसा अज्ञ जीव जिस जगहमें रहता है उसी जगहमें जीवबाधाका परिहार करनेवाले मुनिभी रहते हैं- परंतु अज्ञ जीव कर्मसे बद्ध होता है अर्थात् ज्ञानसे बाल और चारित्रसे बाल ऐसा अज्ञ कर्मबद्ध होता है परंतु ज्ञानी और चारित्रवान् जीव कर्मबद्ध होता नहीं है.

उक्तमर्थमुपसंहरत्युत्तरगाथया—

तह्मा चेट्ठिदुकामो जइया तइया भवाहि तं समिदो ॥
समिदो हु अण्णमण्णं णादियदि खवेदि पोराणं ॥ १२०४ ॥

यदा तदा ततश्चेष्टां चिकीर्षुः समितो भव ॥
पुराणं क्षिप्यते कर्म नाप्नोति समितो नवम् ॥ १२४२ ॥

विजयोदया—यस्मात्समितिषु प्रवर्तमानो न वध्यते, पापेन मुच्यते । असमितस्तु महता वध्यते कर्मसमूहेन तस्मात् । तम्हा चेट्ठिदुकामो गमनभाषणाद्यभिलाषी । जइया तइया यदा तदा । तं भवान् । समिदो भवाहि समितिपरो भवेति निर्यापकसूरिराह क्षपकं । सामिदो खु समितः सम्यक्प्रवृत्तः ईर्यादिषु । अण्णमण्णं कर्म अन्यत् अन्यत् । प्रत्यग्रं । णादियदि नैवादत्ते । खवेदि पोराणं प्राक्तनं च कर्म क्षपयति निर्जरयति ॥

एवमीर्यादिसमितीर्व्याख्यायोपसंहरंस्तासु क्षपकं नियोक्तुमनुशास्ति—

मूलारा—यस्मादसमितः पापैर्बध्यते समितस्तु पापैरपि मुच्यते तस्माद्धेतोः । चेट्ठिदुकामो निरवद्यप्रयोजनार्थितया गमनादिषु प्रवर्तितुमिच्छन् । जयिगा तइगा यदा तदा सर्वदेत्यर्थः । भवाहि तं भोः क्षपकराज ! भव त्वं । समिदो ईर्यादिषु श्रुतिनिरूपितक्रमेण प्रवृत्तः । अण्णमण्णं अपरमपरं पापं । कम्ममण्णमिति पाठे कर्मान्यदित्यर्थः । णादियदि नैवादत्ते । उक्तं च—

यदा तदा ततश्चेष्टां चिकीर्षुः समितो भवः ॥
समितो न नवं कर्म लाति क्षपयतीतरत् ॥

इदमत्रोक्तार्थसंग्रहवृत्तमवग्राह्यम् ।

पापेनान्यवधेऽपि पद्ममणुशोऽप्युद्वेय नो लिप्यते ॥
यद्युक्तो यदनादृतः परवधाभावेऽप्यलं वध्यते ॥
यद्योगादधिरुह्य संयमपदं भांति व्रतानि द्वया–
न्यप्युद्धांति च गुप्तयः समितयस्ता नित्यमित्याः सताम् ॥

उपरके अर्थकाही आचार्य आगेकी गाथामें उपसंहार करते हैं.

अर्थ—समितिओंमें प्रवृत्ति करनेवाले मुनि पापसे बद्ध होते नहीं वे उससे मुक्त होते हैं. जो समितिरहित प्रवृत्ति करते हैं वे कर्मसमुदायसे वंध जाते हैं. इस लिये आना, जाना, भाषण करना इत्यादि कार्य करनेके अभिलापीओंको चाहिये कि वे समितिओंमें तत्पर रहें. इसलिये हे क्षपक ! तुम समितिमें तत्पर रहो. जो समितिओंमे तत्पर रहते हैं उन्हें नवीन २ कर्मका बंध नहीं होता है और उनका पूर्वबद्ध कर्म झड जाता है.

एदाओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं ॥
रक्खंति सदा मुणिणो मादा पुत्तं व पयदाओ ॥ १२०५ ॥

राद्धांतमातरोऽष्टौ ताः पांति रत्नत्रयं यतेः ॥
जनन्यो यत्नतो नित्यं तनुजस्येव जीवितम् ॥ १२४४ ॥

विजयोदया—एदाओ अट्ठपवयणमादाओ एता अष्टप्रवचनमातृकाः । पयदाओ प्रयताः । णाणदंसणचरित्तं रक्खंति समिचीनज्ञानदर्शनचारित्राणि पालयन्ति सदा मुनेः । मादा पुत्तं व जधा जननी पुत्रं यथा । प्रयता माता पुत्रं पालयत्यपायस्थानेभ्यः ॥

इदानीं गुप्तिसमितीनां प्रवचनमातृत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूलारा—रक्खंति अपायमुत्सारयन्ति । पयदाओ सम्यक्प्रवर्तिताः प्रयत्नपराश्च ।

अर्थ—ये अष्टौ प्रवचनमातायें प्रयत्नपूर्वक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनका पालन करती हैं. पुत्रका हित करनेमें सावधान माता अपायोंसे जैसे उसको बचाती है वैसे ये गुप्ति और समितियां रत्नत्रयका रक्षण करती हैं उसमें दोष उत्पन्न न होने देती हैं.

व्रतभावनानिरूपणायोत्तरप्रबंधः । त्रयोदशविधं चारित्रं अखंडमाराधयतश्चारित्राराधना । तत्र व्रतानां स्थैर्य संपादयितुं भावना एकैकस्य पंच पंचाभिहितास्तत्रेमा अहिंसाव्रतभावना इति बोधयति ॥

एसणणिक्खेवादाणिरियासमिदी तहा मणोगुत्ती ॥
आलोयभोयणं वि य अहिंसाए भावणा होंति ॥ १२०६ ॥

मनोगुप्त्येषणादाननिक्षेपेर्येक्षिताशिताः ॥
महाव्रते मता जैनैरादिमाः पंच भावनाः ॥ १२४५ ॥

विजयोदया—एसणणिक्खेवादाणिरियासमिदी । एसणासमिदी एषणासमितिरादाननिक्षेपणासमितिः, ईर्यासमितिस्तथा मनोगुप्तिः । आलोयभोजणं च आलोकभोजनं च । अहिंसाए अहिंसाव्रतस्य । भावणा भावनाः । होंति भवंति ॥

एषणासमितिर्निरूप्यते—

१२०३ भिक्षाकालः, बुभुक्षाकालोऽवग्रहकालश्चेति कालत्रयं ज्ञातव्यं । ग्रामनगरादिषु इयता कालेन आहारनिष्पत्तिर्भवति, अमीषु मासेषु, अस्य वा कुलस्य पाटकस्य वायं भोजनकाल इच्छायाः प्रमाणादिना भिक्षाकालोऽवगन्तव्यः । क्षुदय

मम तीव्रा मंदा वेति स्वशरीरव्यवस्था च परीक्षणीया। अयमवग्रहः पूर्वं गृहीतः। एवंभूत आहारो मया न भोक्तव्यः इति अवायभयग्रही ममेति मीमांसा कार्या। तदनंतरं पुरतो युगांतरमात्रभूभागावलोकनरतः अद्रुतं, अविलंबितं, असंभ्रान्तं व्रजेत्। प्रलंबबाहुरविक्षिप्तचरणन्यासो निर्विकार ईषदवनतोत्तमांगः। अकर्दमेनानुदकेन अत्रसहरितबहुलेन वर्त्मना व्रजेत्। दृष्ट्वा तु खरान्, करभान्, बलीवर्दान्, गजांस्तुरगान्महिषान्सारमेयान्कलहकारिणो वा मनुष्यान्दूरतः परिहरेत्। पक्षिणो मृगाश्चाहारकालोद्यता वा यथा न बिभ्यति,यथा वा स्वमाहारं मुक्त्वा न व्रजन्ति तथा यायात्। मृदुना प्रतिलेखनेन कृतप्रमार्जनो गच्छेदपि निरंतरकुसुमाहितफलादिकं यावतो भवेत् मार्गान्तरमस्ति। भिन्नवर्णां था भूमिं प्रविशन्त-द्वर्णभूभाग एव अंगप्रमार्जनं कुर्यात्। तुषगोमयभस्मबुस्सपलालनिचयं, दलोपलफलादिकं च परिहरेत्। निंद्यमानो न क्रुध्ये-त्, पूज्यमानोऽपि न तुष्येत्। न गीतनृत्यबहुलं, उच्छ्रितपताकं वा गृहं प्रविशेत्। तथा मत्तानां गृहं न प्रविशेत्। सुरापण्यां-गनालोकगर्हितं कुलं वा, यज्ञशालां, दानशालां, विवाहगृहं, वार्यमाणानि, रक्ष्यमाणानि, अन्यमुक्तानि च गृहाणि परिहरेत्। दरिद्रकुलानि उत्क्रमाढ्यकुलानि न प्रविशेत्। ज्येष्ठालयमध्यानि समभेवाटेत्। द्वारमर्गलं कवाटं वा नोद्घाटयेत्। वालवत्सं, एलकं, शुनो वा नोल्लंघयेत्। पुष्पैः फलैर्बीजैर्वाचकीर्णां भूमिं वर्जयेत्। तदानीमेव लिप्तां। भिक्षाचरेषु परेषु लाभार्थिषु स्थितेषु तद्गेहं न प्रविशेत्। तथा कुटुंबिषु व्यग्राधिपण्णदीनमुखेषु च सत्सु नो तिष्ठेत्। भिक्षामार्गणभूमिमति-क्रम्य न गच्छेत्। यांचामव्यक्तस्वनं वा स्वागमनिवेदनार्थं न कुर्यात्। विद्युदिव स्वां तनुं च दर्शयेत् कोऽमलभिक्षां दास्य-तीति अभिसंधिं न कुर्यात्। रहस्यगृहं, वनगृहं, कदलीलतागुल्मगृहं, नाट्यगांधर्वशालाश्च अभिनंद्यमानोऽपि न प्रविशेत्। पशुजनप्रचारे प्राणिरहिते अशुच्यपरोपरोधवर्जिते,अनिर्गमनप्रवेशमार्गे गृहिभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत। समे विच्छिद्रे,भूभागे चतुरं-गुलपादान्तरो निश्चलः कुड्यस्तंभादिकमनवलम्ब्य तिष्ठेत्। छिद्रद्वारं कवाटं,प्राकारं वा न पश्येत् चोर इव। दातुरागमनमार्गं अवस्थानदेशं, कडुच्छकभाजनादिकं च शोधयेत्। स्तनं प्रयच्छन्त्या, गर्भिण्या वा दीयमानं न गृह्णीयात्। रोगिणा, अति-वृद्धेन, बालेनोन्मत्तेन, पिशाचेन, मुग्धेनांधेन, मूकेन, दुर्बलेन, भीतेन शंकितेन, अत्यासन्नेन, अदूरेण, लज्जाव्यावृतमुख्या, आवृतमुख्या, उपानदुपरिन्यस्तपादेन वा दीयमानं न गृह्णीयात्। खंडेन भिन्नेन वा कडच्छुकेन दीयमानं वा। मांसं, मधु, नवनीतं, फलं अदारितं, मूलं, पत्रं, सांकुरं, कंदं च वर्जयेत्। तत्स्पृष्टानि सिद्धान्यपि विषमरूपरसगंधानि, कुथितानि, पुष्पितानि, पुराणानि, जंतुसंस्पृष्टानि च न दद्यान्न खादेत्, न स्पृशेच्च। उद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्टं नाभ्यवहरेत्। नवको-टिपरिशुद्धाहारग्रहणमेषणासमितिः॥

यन्निक्षिप्यते यत्र यदादीयते तदुभयं प्रतिलेखनायोग्यं न वेति विलोक्य पश्चात्कृतमार्जनं पुनरवलोक्य निक्षिपेद्गृह्णीयाद्वा। एषा आदाननिक्षेपणसमितिः। ईर्यासमितिर्निरूपितैव तथा मनोगुप्तिश्च। स्फुटतरप्रकाशावलोकि-तस्य भोजनमित्यहिंसाव्रतभावनाः पंच॥

सांप्रतं व्रतानां स्थैर्यार्थं भावनाः पंचशो व्याचक्षाणः पूर्वमहिंसाव्रतभावनाः पंच व्याचष्टे —

मूलारा—आलोगभोयणं स्फुटतरप्रकाशेऽवलोकितस्य चतुर्विधस्याप्याहारस्य वल्भनं। १२०७

अब व्रतोंकी भावनाओंका आचार्य वर्णन करते हैं. चारित्रके गुप्ति, समिति और अहिंसादिक व्रत ऐसे ते.। प्रकार हैं. भावनाओंसे व्रतोंमें स्थिरता उत्पन्न होती हैं. एकैक व्रतकी पांच २ भावनायें आचार्योंने कही हैं. प्रथमतः अहिंसा व्रतकी भावनाओंका आचार्य वर्णन करते हैं—

एषणासमिति, आदाननिक्षेपणासमिति, ईर्यासमिति, मनोगुप्ति और आलोकित पानभोजन ऐसी पांच अहिंसाव्रतकी भावनाए हैं

अब एषणा समितीका वर्णन—भिक्षाकाल, बुभुक्षाकाल और अवग्रहकाल ऐसे तीन काल हैं. गांव, शहर वगैरह स्थानोंमें इतना काल व्यतीत होनेपर आहार तयार होता है, अमुक महिनेमें, अमुक कुलका, अमुक गल्लीका अमुक भोजन काल है यह भोजनकालका वर्णन है.

बुभुक्षाकाल—आज मेरेको भूख तीव्र लगी है या मंद लगी है. मेरे शरीरकी तबियत कैसी है इसका विचार करना यह बुभुक्षाकालका स्वरूप है.

अमुक नियम मैने फल ग्रहण किया था, इस तरहका आहार मैंने भक्षण न करनेका नियम लिया था, आज मेरा यह नियम है इस प्रकार विचार करना इसको अवग्रहकाल कहते हैं.

इतना विचार होनेपर आहार के लिये जब मुनि निकलते हैं तब आगे चार हाथ प्रमाण जमीनका निरीक्षण कर जलदी, अति सावकाश और गडबडी ऐसे दोषोंका त्यागकर गमन करना चाहिये. जाते समय अपने हाथ नीचे छोडकर चलना चाहिये. दूर अन्तरपर पांव रखते हुए नही जाना चाहिये. निर्विकार होकर और अपना मस्तक थोडासा नीचे करके जाना चाहिये. जिसमें कीचड नही है, पानी फैला हुआ नही है, जो त्रस और हरितकाय जंतुओंसे रहित है ऐसे मार्गसे प्रयाण करना चाहिये. मार्गमें गदहा, ऊंट, बैल, हाथी, घोडा, भैंसा, कुत्ता और कलह करने वाले लोक इनका दूरसेही त्याग करे अर्थात् इनके समीपसे गमन नहीं करना चाहिये. आहार करनेवाले पशु पक्षीओंको अपनेसे भीति उत्पन्न न हो और वे अपना खाना छोडकर न भागे इस तरहसे मुनिको आहारार्थ जाना चाहिये.

रास्तेमें जमीनसे समान्तर फलक पत्थर वगैरे चीज होगी, अथवा दूसरे मार्गमें प्रवेश करना पडे, अथवा भिन्न वर्णकी जमीनपरसे चलना हो तो जहांसे भिन्नवर्णका प्रारंभ हुआ है वहां खडे होकर प्रथम अपने सर्व अंग परसे पिच्छिका फिरानी चाहिये. धानके छिलके, गोबर, भस्मका ढेर, भूसा, वृक्षके पत्ते, पत्थर फलकादिकोंका परिहार करके गमन करना चाहिये.

मम शीघ्रा मंदा वेति स्वशरीरव्ययस्था च परीक्षणीया। अयमवग्रहः पूर्वं गृहीतः। एवंभूत आहारो मया न भोक्तव्यः इति अथायमवग्रहो ममेति मीमांसा कार्या। तदनंतरं पुरतो युगांतरमात्रभूभागावलोकनरतः अद्रुतं, अविलंबितं, असंभ्रान्तं व्रजेत्। प्रलंबबाहुरविकृष्टचरणन्यासो निर्विकार ईषदवनतोत्तमांगः। अकर्दमेनानुदकेन अत्रसहरितबहुलेन वर्त्मना व्रजेत्। उद्धता तु नरान्, करभान्, बलीवर्दान्, गजांस्तुरगान्महिषान्सारमेयान्कलहकारिणो वा मनुष्यान्दूरतः परिहरेत्। पक्षिणो मृगाश्चाहारकालोद्यता वा यथा न बिभ्यति,यथा वा स्वमाहारं मुक्त्वा न व्रजन्ति तथा यायात्। मृदुना प्रतिलेखनेन कृतप्रमार्जनो गच्छेद्यदि विरतजंतुसमाहितफलादिकं बाधतो भवेत् मार्गांतरमस्ति। भिन्नवर्णां वा भूमिं प्रविशंस्तत्र प्रमार्जनं कुर्यात्। तुषगोमयभस्मबुसपलालनिचयं, दृषदुपलफलादिकं च परिहरेत्। निधनानो न क्रुध्येत्, पूज्यमानोऽपि न तुष्येत्। न गीतनृत्यबहुलं, उच्छ्रितपताकं वा गृहं प्रविशेत्। तथा मत्तानां गृहं न प्रविशेत्। सुरापण्यांगनालोकगर्हितं कुलं वा, यज्ञशालां, दानशालां, विवाहगृहं, बाध्यमाणानि, रक्ष्यमाणानि; अन्यमुक्तानि च गृहाणि परिहरेत्। दरिद्रकुलानि उत्क्रमाढ्यकुलानि न प्रविशेत्। ज्येष्ठाल्पमध्यानि सममेवाटेत्। द्वारमर्गलं कवाटं वा नोद्घाटयेत्। बालवत्सं, एलकं, शुनो वा नोल्लंघयेत्। पुष्पैः फलैर्बीजैर्वावकीर्णां भूमिं वर्जयेत्। तदानीमेव लिप्तां। भिक्षाचरेषु परेषु लाभार्थिषु स्थितेषु तद्गृहं न प्रविशेत्। तथा कुटुंबिषु व्यग्रविपण्णदीनमुखेषु च सत्सु नो तिष्ठेत्। भिक्षामार्गणभूमिमतिक्रम्य न गच्छेत्। यांचामव्यक्तवचनं वा स्वागमनिवेदनार्थं न कुर्यात्। विद्युदिव स्वां तनुं च दर्शयेत् कोऽमलभिक्षां दास्यतीति अभिसंधिं न कुर्यात्। रहस्यगृहे, वनगृहे, कदलीलतागुल्मगृहं, नाट्यगांधर्वशालाश्च अभिनंद्यमानोऽपि न प्रविशेत्। गृहजनप्रचारे प्राणिरहिते अशुच्यपरोपरोधवर्जिते,अनिर्गमनप्रवेशमार्गे गृहिभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत। समे विच्छिद्रे,भूभागे चतुरंगुलपादान्तरो निश्चलः कुड्यस्तंभादिकमनवलम्ब्य तिष्ठेत्। छिद्रद्वारं कवाटं,प्राकारं वा न पश्येत् चोर इव। दातुरागमनमार्गं चरस्थानदेशं, कडुच्छकभाजनादिकं च शोधयेत्। स्तनं प्रयच्छन्त्या, गर्भिण्या वा दीयमानं न गृह्णीयात्। रोगिणा, अतिवृद्धेन, बालेनोन्मत्तेन, पिशाचेन, मुग्धेनांधेन, मूकेन, दुर्बलेन, भीतेन शंकितेन, अत्यासन्नेन, अदूरेण, लज्जाव्यावृतमुख्या, आवृतमुख्या, उपानदुपरिन्यस्तपादेन वा दीयमानं न गृह्णीयात्। खंडेन भिन्नेन वा कडकच्छुकेन दीयमानं वा। मांसं, मधु, नवनीतं, फलं अदारितं, मूलं, पत्रं, सांकुरं, कंदं च वर्जयेत्। तत्स्पृष्टानि सिद्धान्यपि विपन्नरूपरसगंधानि, कुथितानि, पुष्पितानि, पुराणानि, जंतुसंस्पृष्टानि च न दद्यान्न खादेत्, न स्पृशेच्च। उद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्टं नाभ्यवहरेत्। नवकोटिपरिशुद्धाहारग्रहणमेषणासमितिः॥

यन्निक्षिप्यते यत्र यदादीयते यतस्तदुभयं प्रतिलेखनायोग्यं न वेति विलोक्य पश्चात्कृतमार्जनं पुनरवलोक्य निक्षिपेद्गृह्णीयाद्वा। एषा आदाननिक्षेपणसमितिः। ईर्यासमितिर्निरूपितैव तथा मनोगुप्तिश्च। स्फुटतरप्रकाशावलोकितस्य भोजनमित्यहिंसाव्रतभावनाः पंच॥

सांप्रतं व्रतानां स्थैर्यार्थं भावनाः पंचशो व्याचक्षाणः पूर्वमहिंसाव्रतभावनाः पंच व्याचष्टे —

मूलारा—आलोकभोयणं स्फुटतरप्रकाशेऽवलोकितस्य चतुर्विधस्याप्याहारस्य वल्भनं। १२०४

चोरके समान, छिद्र, दरवाजा, किवाड, तट वगैरहका अवलोकन न करे, दाताका आनेका रस्ता. उसका खडे रहनेका स्थान, पत्नी और जिसमें अन्न रखा है ऐसे पात्र इनकी शुद्धताके तरफ विशेष लक्ष्य देना चाहिए.

जो अपने बालकको स्तनपान करा रही है और जो गर्भिणी है ऐसी स्त्रियोंका दिया हुआ आहार न लेना चाहिए. रोगी, अतिशयवृद्ध, बालक, उन्मत्त, अंध, गूंगा, अशक्त, भययुक्त, शंकायुक्त, अतिशय नजदीक जो खडा हुआ है, जो दूर खडा हुआ है, ऐसे पुरुषसे आहार नहीं लेना चाहिए. लज्जासे जिसने अपना मुंह फेर लिया है, जिसने अपना मुंह ढक लिया है, जिसने जोडा अथवा चप्पलपर पांव रखा है, जो उंचे जगहपर खडा हुआ है, ऐसे मनुष्यका दिया हुआ आहार नहीं लेना चाहिए. टूटी हुई अथवा खंडयुक्त हुई ऐसे पत्नीके द्वारा दिया हुआ नहीं लेना चाहिए.

मांस, मद्य, मक्खन, नही विदारा हुआ फल, मूल, पत्र, अंकुर और कंदका त्याग करना चाहिए. इन पदार्थोंका स्पर्श जिसको हुआ है वह अन्न भी त्यागना चाहिए. जिनका रूप, रस, गंध, स्पर्श, चलित हुआ है, जो कुथित हुआ है अर्थात् खराब हुआ है, जिसको जंतुओंने स्पर्श किया है ऐसा अन्न न देना चाहिये, न खाना चाहिये और उसको स्पर्श भी नहीं करना चाहिए. उद्गम, उत्पादन, एषणा दोषोंसे दूषित आहार नहीं खाना चाहिए. नऊ कोटीमें परिशुद्ध आहार ग्रहण करना एषणासमिति है.

जो चीज जहां रखना हो, और जो चीज जहांसे उठाना हो वे दोनो पिंछीसे स्वच्छ करना योग्य है या नही है. इसका विचार कर नंतर उनको स्वच्छ करना चाहिये. और वह चीज रखनी चाहिये या उठानी चाहिये. इसको आदाननिक्षेपण समिति कहते हैं. ईर्यासमितिका और मनोगुप्तिका वर्णन पूर्वमें किया है. अधिक स्पष्ट प्रकाशमें देखकर भोजन करना अर्थात् सूर्य प्रकाशमें भोजन करना ऐसी अहिंसाव्रतकी पांच भावनायें हैं.

द्वितीयव्रतभावना उच्यंते—

कोधभयलोभहस्सपदिण्णा अणुवीचिभासणं चेव ॥
विदियस्स भावणाओ वदस्स पंचेव ता होंति ॥ १२०७ ॥ १२०७

१२०५ किसीने निंदा की तो क्रोधित न होना चाहिये और किसीने आदर किया तो आनंदित न होना चाहिये अर्थात् तोष और रोषका त्याग करके जाना चाहिये- जहां गीत नृत्य हो रहा है, जहां पताकाओंकी पंक्ति सजाइ जारही है, ऐसे घरमें प्रवेश न करे. मत्त पुरुषोंके घरमें प्रवेश न करे, मदिरागृह अर्थात् मदिरा पीनेवालोंका स्थान, वेश्याका गृह, लोकनिंद्य कुलोंका त्याग करना चाहिये. यज्ञशाला, दानशाला, विवाहगृह, जहां प्रवेश करनेकी मनाइ है, जो पहरेदारोंसे युक्त है, जिसको अन्य भिक्षुकोंसे छोडा है ऐसे ग्रहोंका त्याग करना चाहिये.

अतिशय दरिद्री लोगोंके गृह, आचार विरुद्ध चलनेवाले, श्रीमंत लोगोंके गृहका त्याग करे बडे, छोटे, और मध्यम ऐसे घरोंमें प्रवेश करना चाहिए.

यदि द्वार बंद होगा, अर्गलासे बंद होगा तो उसको उघाडना नहीं चाहिये. छोटा बछडा, बकरा, और कुत्ता इनको लांघ कर नहीं जाना चाहिए. जो जमीन, पुष्प फल और बीजोंसे व्याप्त हुई है उसपरसे जाना निषिद्ध है. हाल ही जो लीपी गई है, जहां अन्य भिक्षुक आहार लाभके लिए खडे हुए हैं ऐसे घरमें प्रवेश करना निषिद्ध है ।

जहांके मनुष्य, किसी कार्यमें तत्पर दीखते हो, खिन्न दीख रहे हो उनका मुख दीनतायुक्त दीख रहा हो तो वहां ठहरना निषिद्ध है.

जहां अन्य भिक्षु ठहरते हैं तथा जहां भिक्षा ग्रहण करते हैं उस भूमीको उल्लंघ कर आगे गमन नहीं करना चाहिये. याचना करना, अथवा अपना आगमन सूचित करनेके लिये अस्पष्ट शब्द बोलना निषिद्ध है. बिजलीके समान अपना शरीर दिखाना चाहिये. मेरेको कोन श्रावक निर्दोष भिक्षा देगा ऐसा संकल्प नहीं करे.

एकांतगृह, उद्यानगृह, कदलीओंसे बना हुआ गृह, लतागृह, छोटे २ वृक्षोंसे आच्छादित गृह, नाट्य, शाला, गंधर्वशाला, इन स्थानोंमें प्रतिग्रह करनेपर भी प्रवेश करना निषिद्ध है.

जिसमें बहुत जनोंका प्रचार नहीं हैं, जो प्राणिरहित है अपवित्रता और परोपरोधरहित—अर्थात् दूसरोंका जहां प्रतिबंध नहीं है ऐसे घरमें जाने आनेका मार्ग छोडकर गृहस्थोंने प्रार्थना करनेपर खडे होना चाहिये. समान, छिद्ररहित ऐसे जमीनपर अपने दोन पावोंमें चार अंगुल अंतर रहेगा इस तरह निश्चल खडे रहना चाहिये. १२०६ भींत, खांब वगैरहका आश्रय न लेकर स्थिर खडे रहना चाहिये.

चोरके समान, छिद्र, दरवाजा, किवाड, तट वगैरहका अवलोकन न करे, दाताका आनेका रस्ता उसका खडे रहनेका स्थान, पळी और जिसमें अन्न रखा है ऐसे पात्र इनकी शुद्धताके तरफ विशेष लक्ष्य देना चाहिए

जो अपने बालकको स्तनपान करा रही है और जो गर्भिणी है ऐसी स्त्रियोंका दिया हुआ आहार न लेना चाहिए रोगी, अतिशयवृद्ध, बालक, उन्मत्त, अंध, गूंगा, अशक्त, भययुक्त, शंकायुक्त, अतिशय नजदीक जो खडा हुआ है, जो दूर खडा हुआ है, ऐसे पुरुषसे आहार नहीं लेना चाहिए लज्जासे जिसने अपना मुंह फेर लिया है, जिसने अपना मुह ढक लिया है, जिसने जोडा अथवा चप्पलपर पांव रखा है, जो उंचे जगहपर खडा हुआ है, ऐसे मनुष्यका दिया हुआ आहार नहीं लेना चाहिए टूटी हुई अथवा खंडयुक्त हुई ऐसे पळीके द्वारा दिया हुआ नहीं लेना चाहिए.

मांस, मद्य, मक्खन, नहीं विदारा हुआ फल, मूल, पत्र, अंकुर और कंदका त्याग करना चाहिए. इन पदार्थोंका स्पर्श जिसको हुआ है वह अन्न भी त्यागना चाहिए. जिनका रूप, रस, गंध, स्पर्श, चलित हुआ है, जो कुथित हुआ है अर्थात् खराब हुआ है, जिसको जंतुओंने स्पर्श किया है ऐसा अन्न न देना चाहिये, न खाना चाहिये और उसको स्पर्श भी नहीं करना चाहिए उद्गम, उत्पादन, एषणा दोषोंसे दूषित आहार नहीं खाना चाहिए. नऊ कोटीसे परिशुद्ध आहार ग्रहण करना एषणासमिति है.

जो चीज जहां रखना हो, और जो चीज जहासे उठाना हो वे दोनो पिंछीसे स्वच्छ करना योग्य है या नहीं है. इसका विचार कर नंतर उनको स्वच्छ करना चाहिये और वह चीज रखनी चाहिये या उठानी चाहिये इसको आदाननिक्षेपण समिति कहते हैं ईर्यासमितिका और मनोगुप्तिका वर्णन पूर्वमें किया है अधिक स्पष्ट प्रकाशमें देखकर भोजन करना अर्थात् सूर्य प्रकाशमें भोजन करना ऐसी अहिंसाव्रतकी पांच भावनायें हैं

द्वितीयव्रतभावना उच्यते—

कोधभयलोभहस्सपइण्णा अणुवीचिभासणं चेव ।

विदियस्स भावणाओ वदस्स पंचेव ता होंति ॥ १२०७ ॥ १२०७

हास्यलोभभयक्रोधप्रत्याख्यानानि योगिनः ॥
सूत्रानुसारिवाक्यं च द्वितीये पंच भावनाः ॥ १२४६ ॥

विजयोदया—क्रोधभयलोभहास्यानां प्रत्याख्यानानि चत्वारः। आनुवीचिभाषणं चैव सूत्रानुसारेण च भाषणं। सत्या, मृषा, सत्यमृषा, असत्यमृषा चेति चतस्रो वाचः। तत्र सत्या असत्यमृषा वा व्यवहरणीया नेतरद्द्वयं। क्रोधादीनामसत्यवचनकारणानां प्रत्याख्याने असद्वाक्परिहृता भवति नान्यथा ॥

अनृतविरतिभावनाः पंच सूचयति—

मूलारा—पढिण्णा त्यागः। क्रोधादीनां प्रत्याख्याने ह्यसत्यासत्यानृतवचसी त्यक्तुं शक्येते तेषां तत्कारणत्वादिति द्वितीयव्रतस्य भावनाः भणिताः।

दूसरे व्रतकी सत्यव्रतकी भावना कहते हैं—

अर्थ—क्रोध, भय, हास्य और लोभ का त्याग करना ये चार भावनायें और सूत्रानुसार भाषण करना ऐसी सत्यव्रतकी पांच भावनायें हैं सत्यवचन, असत्यवचन, सत्यमृषा और असत्यमृषा ऐसे वचनके चार प्रकार निरूपणमें सत्यवचन और असत्यमृषावचन ऐसे दो वचन व्यवहार योग्य माने हैं. बाकीके दो व्यवहार योग्य नहीं हैं. क्रोध, भय, लोभ और हास्य असत्यभाषणके कारण हैं. उनका त्याग करनेसे असत्यवचनोंका परिहार होता है. अन्यथा नहीं.

तृतीयव्रतभावना उच्यते—

अणणुण्णादग्गहणं असंगबुद्धी अणुण्णविच्चा वि ॥
एदावंतियउग्गहजायणमध उग्गहाणुस्स ॥ १२०८॥

असम्मताग्रहः साधोः सम्मतासक्तबुद्धिता ॥
दीयमानस्य योग्यस्य गृहीतिरुपकारिणः ॥ १२४७ ॥

विजयोदया—अणणुण्णादग्गहणं तस्य स्वामिभिरननुज्ञातस्य अग्रहणं। ज्ञानोपकरणादेः असंगबुद्धी अणुण्णवेऊण अनुज्ञां संपाद्य गृहीतेऽपि असक्तबुद्धिता। एदावंतिय उग्गहजायणं एतत्परिमाणमिदं भवता दातव्यमिति परिग्रहः यावद्याचितो भवता तावदपि इति न बुद्धिः कार्या। उग्गहाणुस्स ग्राह्यवस्तुज्ञानस्य इदं ज्ञानसंयमयो-

अस्तेयव्रतभावनाः पंच गाथाद्वयेन निगदति—

मूलारा—अणणुण्णादग्गहणं अननुज्ञातग्रहणं । वसतिशयनासनपुस्तकास्तत्स्वामिभिरननुज्ञाताः । असंगबुद्धी अणुण्णवित्तावि असंगबुद्धिरनुज्ञाप्यापि तत्स्वामिनं इच्छाकारं कारयित्वा गृहीतेऽपि ज्ञानादिसाधनांगेऽनासक्तचित्तता । पठनाद्यर्थं परेषां पुस्तकादिकं याचित्वा यद्गृहीतं तत्रालोभगमनमित्यर्थः । सैषा द्वितीया । एदावत्तियउग्गहजायणं एतावदिति यावग्रहयाचनं । एतत्परिमाणमिदं मे भवद्भिर्दातव्यमिति स्वप्रयोजनसाधनमात्रस्य अवग्रहस्य परिग्रहस्य पुस्तकादेर्याचनं । याचितो दाता यावद्ददाति तावद्गृह्णामीति बुद्धेरकरणमिति भावः सैषा तृतीया । कस्यैता इत्याह—उग्गहणगस्स अवगृह्यते धर्मांगतया परिगृह्यते इत्यवग्रहोऽग्राह्यं ग्रहणयोग्यं वस्तु पुस्तकादिकं । अवग्रहं जानातीत्यवग्रहज्ञस्तस्यावग्रहज्ञस्येत्यर्थः

तीसरे व्रतकी भावनाओंका वर्णन—

अर्थ—ज्ञानोपकरणादिक अर्थात् शास्त्र, पिंछी, कमंडल्वादिक पदार्थ जिसके हैं उसकी परवानगी यदि न होगी तो उनका ग्रहण नहीं करना चाहिए. उनकी अनुज्ञासे शास्त्रादिकको ग्रहण करने पर भी उनमें आसक्ति न रखना, इतना आप मेरेको दीजिए क्योंकि मेरा इतनेसे ही प्रयोजन सिद्ध होगा ऐसा मनमें विचार कर उतनी ही वस्तु मांगना चाहिए. जितनी वस्तु दाता देगा उतनी सब मैं ग्रहण करूंगा ऐसी भावना अचौर्यव्रत धारक को करना योग्य नहीं है. जिस वस्तु से ज्ञान और चारित्र की सिद्धि होगी जिसके बिना ज्ञान और चारित्रकी प्राप्ति न होगी ऐसी वस्तु लेना यतिको योग्य है. अनुपयोगी वस्तुकी याचना करना योग्य नहीं है.

वज्जणमणण्णुणादगिहप्पवेसस्स गोयरादीसु ॥
उग्गहजायणमणुवीचिए तहा भावणा तइए ॥ १२०९ ॥

अप्रवेशोऽननुज्ञाते योग्यगांचादिधानतः ॥
तृतीये भावनाः पंच प्राज्ञैः प्रोक्ता महाव्रते ॥ १२१८ ॥

विजयोदया—वज्जणमणणुण्णादगिहप्पवेसस्स गृहस्वामिभिरननुज्ञातस्य गृहप्रवेशवर्जनं भावना । गोयरादीसु गोचरादिषु इदं वेश्म प्रविश, अत्र वा तिष्ठेति योऽननुज्ञातो देशस्तस्य अप्रवेशन । उग्गहजायणअणुवीचिए अवग्रहयाचना सूत्रानुसारेण तृतीये भावनाः ॥ १२०२

मूलारा—यत्तणमणणुण्णादगिहप्पवेसस्स वर्जनमननुज्ञातगृहप्रवेशस्य । गृहस्वामिभिरिदं गृहं प्रविशात्र तिष्ठ इत्येवमनुज्ञातगृहप्रवेशस्य गृहस्वामिभिरिदं गृहं प्रविशात्र तिष्ठत्येवमननुज्ञाते प्रदेशे प्रवेशस्य वर्जनं । क्व तद्दित्याह गोयरादिषु गोचरे भ्रमेषं वसत्यालयस्थानशयनादिकर्मणि च । सैषा चतुर्थी । उग्गहजायणमणुवीचिए अवग्रहयाचनमनुवीच्या । यमीदं सर्वं भवद्भिर्मे दातव्यमिति सूत्रानुसारेण योग्यस्य परिग्रहस्य प्रार्थना । एतेनैतदपि संगृहीतं शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पंचेति सैषा पंचमी । तथा तथा पंचेत्यर्थः ॥

अर्थ—गृहके स्वामीने यदि घरमें प्रवेश करनेकी मनाई की होगी तो उसके घरमें प्रवेश करना यतिको निषिद्ध है. अर्थात् इस घरके प्रदेशमें आप प्रवेश कर सकते हैं इस रीतीसे यदि परवानगी न हो तो वहां प्रवेश करना अनुचित होगा. आगममें अविरुद्ध ज्ञानसंयमोपकरणकी याचना करनी चाहिये. इसप्रकार अचौर्यव्रतकी भावनायें हैं.

महिलालोयणपुव्वरदिसरणं संसत्तवसहिविकहाहिं ॥
पणिदरसेहिं य विरदी भावणा पंच बंभस्स ॥ १२१० ॥

महिलालोकनालापौ चिरंतनरतस्मृतिं ॥
वासं संसक्तवस्तूनां वलिष्ठाहारसेवनम् ॥ १२४९ ॥
योगिनो मुच्यमानस्य विरागीभूतचेतसः ॥
तुरीये भावनाः पंच संपद्यंते महाव्रते ॥ १२१० ॥

विजयोदया—महिलालोयणपुव्वरदिसरणसंसत्तवसदियिकहाहिं । स्त्रीणामालोकनं, पूर्वरतिस्मरणं, स्त्रीभिराकुला या वसतिः शृंगारकथा इत्येतद्विरतयः । पणिदरसेहिं य विरदी बलदर्पकरेभ्यो विरतिश्चेति पंच व्रतभावनाः ॥

ब्रह्मचर्यभावनाः पंचाह—

मूलारा—पुव्वरदिसरण प्राक्सेवितमैथुनस्मरणं । संसत्तवसधि स्त्रीभिराकुला वसतिः । असंयतजनयुक्तवसतिरित्यन्यः । विकधा शृंगारकथा । पणिदरसेहिं बलदर्पकरेभ्यो रसेभ्यः ।

१२१० अर्थ—स्त्रियोंके अंग देखना, पूर्वानुभूत संभोगादिकका स्मरण करना, स्त्रियां जहां रहती है वहां रहना

शृंगारकथा करना इन चार बातोंसे विरक्त रहना ये चार ब्रह्मव्रतकी भावनायें हैं जिससे मद और उन्मत्तता अर्थात् कामविकार होगा ऐसे पदार्थोंका त्याग करना चाहिये ये ब्रह्मचर्य की पांच भावनायें हैं.

अपडिग्गहस्स मुणिणो सद्दफरिसरसयरूवगंधेसु ॥
रागद्दोसादीणं परिहारो भावणा हुंति ॥ १२११ ॥

यतेः स्पर्शे रसे गंधे वर्णे शब्दे शुभाशुभे ॥
रागद्वेषपरित्यागो भावनाः पंच पचमे ॥ १२५१ ॥

विजयोदया—अपरिग्गहस्स मुणिणो परिग्रहरहितस्य मुने । सद्दफरिसरसयरूवगंधेसु शब्दस्पर्शरसरूपगंधेषु । मनोज्ञेषु । रागद्दोसादीण रागद्वेषयोः परिहारो विषयभेदात्पंचप्रकारभावना पंचमस्य ॥

मनोज्ञेतरपंचेंद्रियार्थपरिहार्यभेदात्पंचपरिग्रहव्रतभावनाः प्राह—

मूलारा—अपरिग्गहस्स नैर्ग्रन्थ्यस्य । दोसादीण आदिशब्देन मोहस्यापि ग्रहणं ॥

अर्थ—परिग्रहरहित मुनि मनोज्ञ और अमनोज्ञ ऐसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द इनमें राग द्वेष करते हैं. अर्थात् स्पर्शादि पांच इष्टानिष्ट विषयोंमें रागद्वेष नहीं करना ये पांच परिग्रहत्यागव्रत की पांच भावनाये हैं.

भावनामाहात्म्यं कथयति—

ण करेदि भावणाभाविदो खु पीडं वदाण सव्वेसिं ॥
साधू पासुत्तो समुद्दो व किमिदाणि वेदंतो ॥ १२१२ ॥

भावना भावयन्नेता संयतो व्रतपीडनम् ॥
विदधाति न सुप्तोऽपि जागरूकः कथं पुनः ॥ १०५२ ॥

विजयोदया—ण करेदि खु न करोत्येव । कः ? भावणाभाविदो भावनाभिर्भावित । पीडं पीडां । वदाण व्रतानां । सव्वेसिं सर्वेषां । साधू साधुः । पासुत्तो प्रकर्षेण निद्रामुपगत । समुद्दो व समुद्धात गतो वा । किमिदाणि वेदंतो । वेदयमान ॥ १२११

भावनामाहात्म्यमाह—

मूलारा-पीडं पीडां। विराधनां। पासुत्तो निर्भरनिद्राक्रांतः। समुहदो मूर्छितः। वेदंतो चेतयमानः।

अर्थ—इन व्रतोंकी भावनाओंका अभ्यास करनेसे यति इन भावनाओंसे संस्कृत होता है. तब वह गाढ सोता हुआ भी अथवा मूर्च्छित हुआ भी अपने व्रतोंको अतिचार युक्त नहीं करता है. तो जागृत अर्थात् सावधान रहनेवाला वह मुनि अपने व्रतोंको कैसे दूषित होने देगा? अर्थात् दिनरात व्रतोंकी भावनाओंका अभ्यास करनेसे उसके व्रत हमेशा निरतीचार रहकर उत्तरोत्तर उन्नतावस्था की प्राप्ति कर लेते हैं.

एदाहिं भावणाहिं हु तम्हा भावेहिं अप्पमत्तो तं ॥
अच्छिद्दाणि अखंडाणि ते भविस्संति हु वदाणि ॥ १२१३ ॥

त्वमतः समितीः पंच भावयस्वैकमानसः ॥
महाव्रतान्यखंडानि निश्छिद्राणि भवंति ते ॥ १२५३ ॥
भावनाः समितिगुप्तयो यतेर्वर्धयन्ति फलदं महाव्रतम् ॥
शर्मकारि रजसां निरासकाश्चारुसस्यमिव कालवृष्टयः ॥ १२५४ ॥

इति महाव्रतवृष्टिः।

विजयोदया—एदाहि एताभिः। भावणाहिं भावनाभिः। तम्हा तस्मात्। भावेहि भावय। अप्पमत्तो तं अप्रमत्तस्त्वं। अच्छिद्दाणि अच्छिद्राणि। नैरंतर्येण प्रवृत्तानि। अखंडानि संपूर्णानि तव भविष्यंति व्रतानि ॥

एवं प्रकाशितस्वरूपमाहात्म्यासु भावनासु संन्यासिनं प्रयुंक्ते—

मूलारा-भावेहिं संस्कुरु त्वमात्मानं। अच्छिद्दाणि नैरंतर्येण प्रवृत्तानि। निर्दोषाणि वा। अखंडाणि संपूर्णानि। ते तव। तत्तादृग्भावनानिष्ठस्य ॥

अर्थ—इस वास्ते हे क्षपक! तुम अप्रमत्त अर्थात् निर्दोष आचरणयुक्त होकर इन भावनाओंका अभ्यास करो. तुम जब भावनामय होंगे तब तुमारे संपूर्ण व्रत निरंतर टिक सकेंगे और पूर्णावस्थाको प्राप्त कर लेंगे. अतः हे क्षपक! तुम अपनेको भावनाओंसे सुसंस्कृत बनाओ.

व्रतपरिणामोपघातनिमित्तानि शल्यानि ततस्तद्वर्जनं कार्यमित्याचष्टे—

णिस्सल्लस्सेव पुणो महव्वदाइं हवंति सव्वाइं ॥
वदमुवहम्मदि तीहिं दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं ॥ १२१४ ॥

महाव्रतानि जायंते निःशल्यस्य तपस्विनः ॥
निदानवंचनामिथ्यादर्शनैर्हन्यते व्रतम् ॥ १२५५ ॥

विजयोदया—णिस्सल्लस्सेव शल्यरहितस्यैव शृणाति हिनस्तीति शल्यं । शरकंटकादि शरीरादिप्रवेशि तेन तुल्यं यत्प्राणिनो बाधानिमित्तं, अंतर्निविष्टं परिणामजातं तच्छल्यमिह गृहीतं । महव्वदाइं महाव्रतानि भवंति । शल्यं कस्यचिदेव व्रतस्योपघातकं, यथा एषणासमित्यभावो अहिंसाव्रतस्येत्याशंकां निरस्यति सर्वशब्दो । ननु च महत्त्वेन व्रतमधोप्यं । मिथ्यात्वादिशल्यं अणुव्रतान्यपि हन्त्येव । सत्यं प्रस्तुतत्वान्महाव्रतानामित्थमुक्तं। अत्र चोद्यं—हिंसादिभ्यो विरतिपरिणाममात्राणि व्रतानि । शल्ये मिथ्यात्वादिके सति किं न भवंति ? येनैवमुच्यते निःशल्यस्यैव महाव्रतानि भवंति ? एतत्प्रतिविधानायाह—वदमुवहम्मदि व्रतमुपहन्यते । तीहिं दु तिसृभिः । णिदाणमिच्छत्तमायाहिं निदानमिथ्यात्वमायाभिः । अल्पाच्तरत्वान्मायाशब्दस्य पूर्वनिपात इति चेन्न-मिथ्यात्वं व्रतविघातं प्रकर्षेण करोतीति प्रधानं ततो मिथ्यात्वं माया चेति द्विपदे द्वंद्वे मिथ्यात्वशब्दस्य पूर्वनिपातः पश्चान्निदानशब्देन द्वंद्वः तस्याल्पाच्तरत्वात्पूर्वनिपातः । सम्यक्चारित्रमिह मोक्षमार्गत्वेन प्रस्तुतं, तच्च नासतोः सम्यग्दर्शनज्ञानयोर्भवति । सति मिथ्यात्वे विरोधिनि न ते स्तः । समीचीनज्ञानदर्शनचारित्ररत्नत्रयस्यान्मुक्तेः । अनंतज्ञानादिकान्यत्र चित्तप्रणिधानं इदमेतत्फलं स्यादिति निदानं । तच्च सम्यग्दर्शनादिपरंपरया व्रतोपघातकारि ॥ मनसा स्वातिचारनिगूहनलक्षणा माया च व्रतमुपहन्तीति मन्यते ॥

व्रतानि रिरक्षिपुणा मुमुक्षुणा व्रतोपघातनिमित्तांतर्निविष्टपरिणामलक्षणानि त्रीण्यपि शल्यानि वर्ज्यानीति शिक्षार्थमाह—

मूलारा—सव्वाइं यथा एषणासमित्यभावः अहिंसाव्रतस्यैवं शल्यं कस्यचिदेव व्रतस्योपहन्तृ भविष्यतीत्याशंका निरासार्थमिदं, अणुव्रतग्रहणार्थं वा। वदं स्वनिमित्ताज्जातं महदणुव्रतं । तीहिं दु तिसृभिरपि । तथाहि—सम्यक्चारित्रमिह मोक्षमार्गत्वेन प्रस्तुतं तच्च सम्यग्दर्शनज्ञानयोः सतोरेव भावात् । तच्च स्वविरोधिनि मिथ्यात्वे सति न स्यादिति मिथ्यात्वेन व्रतमुपहन्यते । तथा रत्नत्रयान्मुक्तेरनंतज्ञानादेर्वाऽन्यत्र इदमेतस्मान्मे भूयादिति चित्तप्रणिधानं निदानमिष्यते । तच्च सम्यग्दर्शनमविचरत्तन्मूलं व्रतमुपहन्त्येव । तथा मायात्र मनसा स्वातिचारनिगूहनलक्षणा गृह्यतेऽतः सापि व्रतोपघातिनीति मन्यते ॥

शल्य व्रतपरिणामोंको घातते हैं अतः उनका त्याग करना चाहिये ऐसा क्षपकको कहते हैं.—

अर्थ—शल्यरहित व्रतोंके संपूर्ण महाव्रतोंका संरक्षण होता है. परंतु जिन्होंने शल्योंको आश्रय दिया है उनके व्रत माया, मिथ्यात्व और निदान इनसे नष्ट होते हैं.

विशेषार्थ—जो प्राणीके शरीरमें प्रवेश कर उसका घात करता है उसको शल्य कहते हैं. अर्थात् बाण, कंटक वगैरह शरीरादिकमें प्रवेश कर उसको पीडित करते हैं इसलिये उनको शल्य कहते हैं वैसे प्राणिको दुःख देनेमें कारणीभूत ऐसे अंतरंग परिणामोंको वे भी बाणादिकके समान दुःख देनेवाले होनेसे शल्य कहते हैं

शंका—एषणासमितीका अभाव होनेसे संपूर्ण व्रतोंका नाश नहीं होता है परंतु फक्त अहिंसाव्रत का ही घात होता है वैसे इन शल्योंसे सर्व व्रतोंका घात नहीं होता है.

उत्तर—गाथामें 'सर्व' शब्द है इससे सर्व व्रतोंका नाश होता है ऐसा सूचित होता है.

शंका—शल्योंसे महाव्रतके समान अणुव्रतों का भी नाश होता है परंतु ग्रंथकारने महाव्रतोंका नाश होता है ऐसा क्यों कहा है.

उत्तर—अणुव्रतोंका और महाव्रतोंकाभी शल्योंसे नाश होता है परंतु यहां महाव्रतोंका विवेचन करना ग्रंथकारको अभीष्ट है अतः ' महाव्रतोंका शल्य घात करते हैं ऐसा ग्रंथकारने कहा है.

शंका—हिंसादिक पापोंसे विरक्त होना यह व्रतोंका लक्षण है तो मिथ्यात्वादिक शल्य जीवमें रहने पर भी व्रत अर्थात् विरक्तिपरिणाम रह सकते हैं. अतः शल्यरहित पुरुषकेही महाव्रत होते हैं ऐसा कहना योग्य नहीं है.

उत्तर—व्रतोंका शल्यसे घात होता है. वे शल्य तीन प्रकारके माया मिथ्यात्व और निदान ऐसे हैं. यहां सम्यक्चारित्रको मोक्षमार्ग कहा है. परतु विना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके चरित्रको मोक्षमार्गता आती नहीं है. मिथ्यात्वपरिणाम आत्मामें रहनेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होते ही नहीं. क्योंकि मिथ्यत्व इनका विरोधी है. वह इनको उत्पन्न होने नहीं देता है. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र इनको रत्नत्रय कहते हैं. रत्नत्रयकी पूर्णताको मोक्ष कहते हैं. अनंतज्ञानादिक अनंतचतुष्टयकी प्राप्ति करनेमें चित्तको न लगाकर अन्यबातोंमें अपने मनको एकाग्र करना जैसे इस तपसे मेरेको इंद्रादि पदवीकी प्राप्ति होनी चाहिये ऐसी अभिलाषा करना निदान शल्य है. यह शल्य सम्यग्दर्शन का नाश करता है और परंपरया व्रतोंका भी घात करता है. मनके द्वारा

अतिचार छिपानेका भाव रहना मायाशल्य है. अर्थात् ये तीन शल्य व्रतोंका—चारित्रपरिणामका घात करते हैं ऐसा सिद्ध हुआ.

तत्थं णिदाणं तिविहं होइ पसत्थापसत्थभोगकदं ॥
तिविधं पि तं णिदाणं परिपंथो सिद्धिमग्गस्स ॥ १२१५ ॥

निषेद्धृ सिद्धिलाभस्य विभवस्यैककल्मषम् ॥
निदानं त्रिविधं शस्तमशास्तं भोगकारणम् ॥ १२५६ ॥

विजयोदया—तत्थ तेषु शल्येषु णिदाणं निदानाख्यं शल्यं। तिविधं त्रिविधं। होदि भवति। पसत्थमप्पसत्थभोगकदं प्रशस्तनिदानमप्रशस्तनिदानं, भोगनिदानं चेति। तिविधं पि तन्निदानं त्रिप्रकारमपि निदानं परिपंथो विघ्नः। सिद्धिमग्गस्स रत्नत्रयस्य।

निदानस्य त्रैविध्यं रत्नत्रयप्रतिबंधकत्वं चाभिधत्ते—

मूलारा—भोगकदं भोगा इष्टेन्द्रियार्थाः कृता येन तद्भोगकृतं। भोगकारणमित्यर्थः। पडिपंथो विघ्नः ॥

अर्थ—तीनशल्योंमेंसे निदान नामक शल्यके तीन भेद हैं, प्रशस्त निदान, अप्रशस्तनिदान और भोगकृत निदान ये तीनो भी निदान रत्नत्रयके विरोधी हैं.

प्रशस्तनिदाननिरूपणार्थोत्तरगाथा—

संजमहेदुं पुरिसत्तसत्तबलविरियसंघदणबुद्धी ॥
सावअबंधुकुलादीणि णिदाणं होदि हु पसत्थं ॥ १२१६ ॥

नृत्वं सत्वं बलं वीर्यं संहतिं पावनं कुलं ॥
वृत्ताय याचमानस्य निदानं शस्तमुच्यते ॥ १२५७ ॥

विजयोदया—संजमहेदुं संयमनिमित्तं पुरिसत्तसत्तबलविरियसंघडणबुद्धी पुरुषत्वमुत्साहः, बलं शरीरगतं दार्ढ्यं, वीर्यं वीर्यांतरायक्षयोपशमजः परिणामः। अस्थिबंधविषया वज्रऋषभनाराचसंहननादिः। एतानि पुरुषत्वादीनि संयमसाधनानि मम स्युरिति चित्तप्रणिधानं प्रशस्तनिदानं सावयबंधुकुलादिनिदानं अदरिद्रकुले, बंधुकुले वा उत्पत्ति प्रार्थना प्रशस्तनिदानं ॥

प्रशस्तनिदानं वक्ति—

मूलारा–सत्त उत्साहः। बलं देहदार्ढ्यं। सावअबंधुकुलादि अदरिद्रकुलं, बंधुकुलं, सुजात्यादिकं च। पुंस्त्वादीनि संयमार्थनिन्छतः प्रशस्तनिदानं स्यादिति संबंधः।

अर्थ—पुरुषत्व अर्थात् उत्साह, शारीरिकबल, वीर्यांतरायकर्मका क्षयोपशम होनेसे उत्पन्न होनेवाला दृढ परिणाम, अस्थिबंधन अर्थात् वज्रवृषभनाराचादिकसंहनन, ये सब संयमसाधक सामग्री मेरेको प्राप्त हो ऐसी मनकी एकाग्रता होती है उसको प्रशस्तनिदान कहते हैं, धनिककुलमें, बंधुओंके कुलमें उत्पन्न होनेका निदान करना प्रशस्त निदान है-

---

अप्रशस्तनिदानमाचष्टे—

माणेण जाइकुलरूवमादि आइरियगणधरजिणत्तं ॥
सोभग्गाणादेयं पत्थंतो अप्पसत्थं तु ॥ १२१७ ॥

अर्हद्गणधराचार्यसुभगादेयतादिकं ॥
प्रोक्तं प्रार्थयते शस्तं मानेन भवबर्धकम् ॥ १२५८ ॥

विजयोदया—माणेण मानेन हेतुना जातिकुलरूवमादि जातिर्मातृवंशः, कुलं पितृवंशः, जातिकुलरूपमात्रस्य सुलभत्वात्प्रशस्तजात्यादिपरिग्रहः। इह आइरियगणधरजिणत्तं आचार्यत्वं, गणधरत्वं, । जिनत्वं, सोभग्गाणादेज्जं सौभाग्यं, आज्ञां, आदेयत्वं च। पेच्छंतो प्रार्थयतः। अप्रशस्तमेव निदानं मानकषायदूषितत्वात् ॥

अप्रशस्तनिदानमाह–

मूलारा–माणेण अभिमानवशेन। जादिकुलरूवमाऊ प्रशस्यं मातापितृकुलं। सौरूप्यं दीर्घं चायुरिह प्रार्थ्यं। तन्मात्रस्य सुलभत्वात्। सोभग्गाणादेज्जं सौभाग्यमाज्ञामादेयवाक्यतां वा। पत्थंतो प्रार्थयतः। अप्पसत्थं मानकषायदूषितत्वात् ॥

अर्थ—अभिमानके वश होकर उत्तम मातृवंश, उत्तम पितृवंश, अर्थात् प्रशस्त जाति और प्रशस्त कुल, रूप इसकी अभिलाषा करना, आचार्य पदवी, गणधर पद, तीर्थंकरपद, सौभाग्य, आज्ञा और सुंदरपना इनकी प्रार्थना करना यह सब अप्रशस्त निदान है, क्यों कि मानकषायसे दूषित होकर उपर्युक्त अवस्थाकी अभिलाषा की जाती है-

---

कुद्धो वि अप्पसत्थं मरणे पच्छेइ परवधादीयं ॥
जह उग्गसेणघादे कदं णिदाणं वसिट्ठेण ॥ १२१८ ॥

*अशस्तं याचते क्रुद्धो मरणेऽन्यवधं कुधीः ॥
अयाचतोग्रसेनस्य वसिष्ठो हननं यथा ॥ १२५९ ॥

विजयोदया—कुद्धो वि क्रुद्धोऽपि । अप्पसत्थं परवधादिकं । मरणे मरणकाले । पच्छेदि प्रार्थयते । जधा यथा उग्गसेणघादे उग्रसेनमरणे । कदं णिदाणं वासिट्ठेण वसिष्ठेन यतिना ॥

क्रोधादपि तदप्रशस्तं स्यादित्याह—

मूलारा—वसिट्ठेण वसिष्ठेन यतिना ॥

अर्थ—क्रुद्ध होकर मरणसमयमें शत्रुवधादिककी इच्छा करना यह भी अप्रशस्त निदान है. वसिष्ठ नामक मुनीने उग्रसेन राजाका वध करनेका निदान किया था जिससे वह मरकर उग्रसेन राजाका कंस नामक पुत्र हुआ था. अपने पिताको कारागारमें बंद कर वह राज्यपर आरुढ हुआ. (आराधना कथाकोषमें इसकी कथा है.

भोगनिदाननिरूपणा—

देविगमाणुसभोगो णारिस्सरसिट्ठिसत्थवाहत्तं ॥
केसवचक्कधरत्तं पच्छंतो होदि भोगकदं ॥ १२१९ ॥

स्वर्गभोगिनरनाथकामिनीः श्रेष्ठिचक्रिबलसार्थवाहिनां ॥
भोगभूतिमधियो निदानकं कांक्षतो भवति भोगकारणम् ॥ १२६० ॥

विजयोदया—देविगमाणुसभोगे देवेषु मनुजेषु च भवान्भोगान् । पच्छंतो अभिलषति भोगकदं भोगकृतं निदानं । णारिस्सरसिट्ठिसत्थवाहत्तं नारीत्वं, ईश्वरत्वं, श्रेष्ठित्वं, सार्थवाहत्वं च । केसवचक्कधरत्तं वासुदेवत्वं सकलचक्रवर्तित्वं च वांछति भोगार्थं । भोगनिदानं च भवति ॥

भोगनिदानमाह—

मूलारा—नारीस्सर नारीत्वमीश्वरत्वं च । पच्छंतो वांछति सति । देवमर्त्यभोगान्भोगार्थमेव च स्त्रीत्वादीनि ॥

अर्थ—देवोंमें और मनुष्योंमें प्राप्त होनेवाले भोगोंकी अभिलाषा करना यह भोगकृत निदान है. स्त्रीपना, धनिकपना, श्रेष्ठिपद, सार्थवाहपना अर्थात् सब व्यापारिओंका स्वामित्व, केशवपद–नारायणपद्वी, सकलचक्रवर्तीपना इनकी भोगोंके लिये अभिलाषा करना यह भोगनिदान है.

संजमसिहरारूढो घोरतवपरक्कमो तिगुत्तो वि ॥
पगरिज्ज जइ णिदाणं सोवि य वड्ढइ दीहसंसारं ॥ १२२० ॥

वृद्धसंयमतपःपराक्रमः शुद्धगुप्तिकरणोऽपि ना ततः ॥
याति जन्मजलधिं सुदुस्तरं कापरस्य गणना कुचेतसः ॥ १२६१ ॥

विजयोदया—संजमसिहरारूढो संयमः शिखरमिव दुरारोहत्वादचलत्वाद्वा । एतदुक्तं भवति । प्रकृष्टसंयमोऽपि । घोरतवपरक्कमो घोरे तपसि पराक्रम उत्साहो यस्य सोऽपि दुर्धरतपोऽनुष्ठाय्यपि । तिगुत्तो वि गुप्तित्रयसमन्वितोऽपि । पगरिज्ज जइ णिदाणं निदानं यदि कुर्यात् । वड्ढइ वर्धयति संसारमात्मनः । किमपरस्मिन्निदानकारिणि वाच्यम् ॥

जिनेंद्रप्रणयस्यापि निदानकरणे संसारदीर्घकारणमाह—

मूलारा—संजमसिहरारूढो संयमः शिखरमिव दुरारोहत्वादचलत्वाद्वा । तदारूढः संयमकाष्ठानिष्ठ इत्यर्थः । घोरतवपरक्कमो दुष्करे तपस्युत्साहो यस्यासौ ॥

अर्थ—जैसे पर्वतका शिखर निश्चल और चढकर ऊपर जानेके लिये कठिन है वैसे उत्कृष्ट संयम भी धारण करना कठिन है. ऐसा उत्कृष्ट संयम जिसने धारण किया है, घोर तपमें जो उत्साहयुक्त है अर्थात् जो दुर्धर तपश्चरण करनेमें तत्पर रहता है. जो तीन गुप्तिओंका धारक है ऐसा भी मुनि निदान करेगा तो वह भी संसारको बढावेगा अर्थात् उसको भी संसारमें दीर्घकाल तक भ्रमण करना पडेगा. तो अन्य निदान करनेवाले क्षुद्र मनुष्यको संसार में घूमना पडेगाही.

जो अप्पसुक्खहेदुं कुणइ णिदाणमविगणियपरमसुहं ॥
सो कागणीए विक्केइ मणिं बहुकोडिसयमोल्लं ॥ १२२१ ॥

निदानं योऽल्पसौख्याय विधत्ते सौख्यनिस्पृहः ॥
काकिण्या स मणिं दत्ते शंके कल्याणकारणम् ॥ १२६२ ॥

विजयोदया—जो अप्पसुक्खहेदु योऽल्पसुखनिमित्तं निदानं करोति परमे मुक्तिसुखे अनादरं कृत्वा। स काकण्या विक्रीणीते मणिं बहुकोटिशतमौल्यम् ॥

संसारसुखाय निदानयंतं निंदति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—जो मनुष्य उत्कृष्ट मोक्षके सुखमें अनादर करके अल्प सुखके लिए निदान करता है वह अनेक कोटि रुपयोंकी कीमतवाला मणि कौडी मिलने की इच्छासे बेचता है ऐसा समझ लेना चाहिए.

सो भिंदइ लोहत्थं णावं भिंदइ मणिं च सुत्तत्थं ॥
छारकदे गोसीरं डहदि णिदाणं खु जो कुणदि ॥ १२२२ ॥

स सूत्राय मणिं भिन्ते नावं लोहाय भस्मने ॥
कुधीर्दहति गोशीर्षं निदानं विदधाति यः ॥ १२६३ ॥

विजयोदया—सो भिंदइ स भिनत्ति कीललोहार्थं नावं अनेकवस्तुभृतां। भिनत्ति रत्नं च सूत्रार्थं। गोशीर्षं चंदनं दहति भस्मार्थं यो निदानं करोति स्वल्पार्थं। सारविनाशसाधर्म्यादभेदमाचष्टे—सूपकारोपरि कथा यो निदानकारी, तेन नौप्रभृतिकं विनाशितं। अर्थाख्यानकानि वाच्यानि ॥

मूलारा—गोसीरं वरचंदन। अत्र सारविनाशनसाधर्म्यादभेदो वेद्यः।

अर्थ—जो मनुष्य निदान करता है वह मनुष्य लोहके कीलके लिए नौकाका भेदन करता है, दोरीके लिए रत्नहारको तोडता है, भस्मके लिए गोशीर्ष चंदनको जलाता है ऐसा समझना चाहिए. अर्थात् तुच्छ संसार सुखकी प्राप्तिके लिए निदान करना अयोग्य है. उत्कृष्ट संयमका उससे नाश होता है. रसोइयाकी कथामें उपर्युक्त बातोंका उल्लेख है.

कोडी संतो लद्धूण डहइ उच्छुं रसायणं एसो ॥
सो सामण्णं णासेइ भोगहेदुं णिदाणेण ॥ १२२३ ॥

श्रामण्यं नाश्यते तेन भोगार्थं सिद्धिसाधकम् ॥ १२६४ ॥

विजयोदया—कुष्ठी सन् रसायनभूतमिक्षुं लब्ध्वा दहति यः समानतां नाशयति सर्वदुःखव्याधिविनाशनोद्यतां भोगार्थनिदानेन ॥

मूलारा—कोढी संतो कुष्ठी सन् । रसायणं कुष्ठविनाशनरसायनभूतं ॥

अर्थ—जैसे कोइ कुष्ठरोगी मनुष्य कुष्ठरोगका नाशक रसायन तुल्य इंख को पाकर उसको जलाता है वैसे निदान करनेवाला मनुष्य सर्वदुःखरूपी रोगका नाश करनेवाले संयमका भोगकृत निदानसे नाश करता है.

पुरिसत्तादिणिदाणं पि मोक्खकामा मुणी ण इच्छंति ॥
जं पुरिसत्ताइमओ भावो भवमओ य संसारो ॥ १२२४ ॥

नरत्वादिनिदानं च न कांक्षंति मुमुक्षवः ॥
नरत्वादिमयं तस्मात्संसारस्तन्मयो यतः ॥ १२६५ ॥

विजयोदया—पुरिसत्तादिणिदाणं पुरुषत्वादिनिदानमपि मोक्षाभिलाषिणो मुनयो न वाछंति । यस्मात्पुरुषत्वादिरूपो भवपर्यायः । भवात्मकश्च संसारः भवपर्यायपरिवर्तस्वरूपत्वात् ॥

प्रशस्तनिदानस्यापि मुमुक्षूणामकरणीयत्वमाह—

मूलारा—भावो देहग्रहणपर्यायः ।

अर्थ—पुरुषत्व, बल, वीर्य वगैरहका निदान भी मुमुक्षु मुनि करते नहीं. क्योंकि पुरुषत्वादिपर्याय भी भव ही है और भव संसाररूप है.

दुक्खक्खयकम्मक्खयसमाधिमरणं च बोधिलाभो य ॥
एयं पत्थेयव्वं ण पच्छणीयं तओ अण्णं ॥ १२२५ ॥

समाधिमरणं बोधिर्दुःखकर्मक्षयस्ततः ॥
प्रार्थनीयो महाप्राज्ञैः परं नातः कदाचन ॥ १२६६ ॥

विजयोदया—दुक्खक्खय दुःखानां शारीराणां, आगंतुकानां स्वाभाविकानां च क्षयो भवतु । तथा कर्मणां तत्कारणभूतानां रत्नत्रयसंपादनपुरःसरं मरणं, दीक्षाभिमुखो बोधिलाभश्च एतत्प्रार्थनीयं नान्यत् ॥

तर्हि व्रतानुष्ठायिना किं प्रार्थ्यमित्याह—

मूलारा—बोधिलाभो रत्नत्रयप्राप्तिः । अत्र यथापूर्वं हेतुहेतुमद्भावो भाव्यः ॥

अर्थ—मेरे शारीरिक दुःखोंका, आगंतुक-अकस्मात् उत्पन्न होनेवाले दुःखोंका, और स्वाभाविक दुःखोंका जन्मजरामरणादि दुःखोंका नाश हो. तथा इन दुःखोंको उत्पन्न करनेवाले असातावेदनीयादि कर्मोंका भी नाश हो. मेरेको समाधिमरणकी अर्थात् रत्नत्रयप्राप्ति पूर्वक मरणकी प्राप्ति हो. दीक्षाधारण करनेमें प्रवृत्त करनेवाली रत्नत्रय प्राप्ति हो इन बातोंकी प्रार्थना करनी चाहिये. अन्य वस्तुकी प्रार्थना करना योग्य नहीं है.

पुरिसत्तादीणि पुणो संजमलाभो य होइ परलोए ॥
आराधयस्स णियमा तदत्थमकदे णिदाणे वि ॥ १२२६ ॥

नरत्वसंयमप्राप्ती परत्र भवतः स्वयम् ॥
निदानमंतरेणापि दृगाद्याराधनांऽगिनः ॥ १२६७ ॥

विजयोदया—पुरिसत्तादीणि पुरुषत्वादिकं, संयमलाभश्च भविष्यति परजन्मनि कस्य ? कृतरत्नत्रयाराधनस्य निश्चयेन । तदर्थमकृतेऽपि निदाने ॥

आराधकस्य निदानं विनापि प्रेत्यपुरुषत्वादिभावमवश्यंभावि संभावयति—

मूलारा—अकदे अकृतेऽपि ॥

अर्थ—जिसने रत्नत्रयकी आराधना की है उसको निदान न करनेपरभी अन्यजन्ममें अर्थात् आगेके जन्ममें निश्चयसे पुरुषत्वादिककी और संयमकी प्राप्ति होती है.

माणस्स भंजणत्थं चिंतेदव्वो सरीरणिव्वेदो ॥
दोसा माणस्स तहा तहेव संसारणिव्वेदो ॥ १२२७ ॥

भवशरीरनिर्वेदमानदोषविचिंतनम् ॥
कर्तव्यं मानभंगाय संसारान्तं यियासता ॥ १२६८ ॥

विजयोदया—माणस्स भंजणत्थं मानभंजनार्थं ध्यातव्य शरीरनिर्वेदः । तथा दोषाश्च मानस्य । तथैव संसार-निर्वेदश्च ध्यातव्य इति क्षपक निर्यापकसूरिः शिक्षयति । शरीरस्य अशुचित्वादिस्वभावचिंतनतः । किमेतेन शरीरेणेति शरीरे अनादरः शरीरनिर्वेदः । स कथं मानस्य भंजने निमित्तं । स हि शरीरानुरागमेवावहति । तत्प्रतिपक्षत्वात् । अत्रोच्यते मानशब्दः सामान्यवचनोऽपि रूपाभिमानविषयो गृहीत । स च शरीरनिर्वेदेन भज्यते । मानस्य दोषा नीचकुलेषूत्पत्तिर्मान्यगुणालाभः, सर्वविद्वेष्यता, रत्नत्रयाद्यलाभ इत्यादिका । संसारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपरिवर्तनरूपस्य पराङ्मुखता संसारनिर्वेदः । तत्रोपयुक्तस्य अहंकारनिमित्तानां विनाशात्, विनिधानां च गुणानां बहूनां असकृत्प्रवृत्तिः अनेकप्राणिलभ्यत्वात् । सुप्राप्येभ्यो गुणेभ्योऽतिशयितानां गुणानामन्यैरुपलंभनात् ॥

अप्रशस्तनिदानागमानभंगोपायान्क्षपकं शिक्षयति—

मूलारा—सरीरणिव्वेदो बीभत्सपूतिक्षयितापकत्वात्तत्रानादरः । किमनेन शरीरेणाशुच्यादिस्वभावेनेत्यवमानन-मित्यर्थः ॥ तदुपयुक्तो हि देहाश्रितसौरूप्येण क्रियमाणामात्मोत्कर्षसंभावनां विनाशयतीति रूपाभिमानभंजनाय तद्भावनो-पदेशः । दोसा दोषा अपकाराः । ते च नीचकुलेषूत्पत्तिर्मान्यगुणाप्राप्तिः, सर्वविद्वेष्यता, रत्नत्रयाद्यलाभश्चेत्यादिकाः ॥ संसारणिव्वेदो द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपरिवर्तनरूपस्य संसारस्य पराङ्मुखता । तदुपयुक्तस्य स्वाहंकारकारणानां निधगुणा-नामनेकप्राणिसुलभत्वेनोपलंभात् । स्वप्राप्यमान्यगुणेभ्योऽतिशयितानां ज्ञानतपःप्रमुखगुणानां महापुरुषगोचराणां असकृत्प्रवृत्तिदर्शनाच्च तद्गुणालंबनो मानो विनश्यति ॥

अर्थ—मानका मर्दन करनेके लिये शरीरनिर्वेदका चिंतन करना चाहिये अर्थात् शरीरसे मन विरक्ति-युक्त होगा ऐसा विचार करना चाहिये. तथा मानानाशार्थ अभिमानके दोषोंका भी विचार जरूर करना योग्य है ऐसा आचार्य क्षपकको उपदेश देते हैं. शरीरके अपवित्रत्वादि स्वभावोंका चिंतन करनेसे ऐसे शरीरसे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ऐसा समझकर आत्मा उससे विरक्त होता है.

प्रश्न—शरीरवैराग्य माननाशके लिए कैसे कारण होता है ? क्योंकि, वह मानसे उलटा है. वह तो शरीरपर प्रीति उत्पन्न करनेके लिए कारण होगा ?

उत्तर—मान शब्द यद्यपि सामान्यका वाचक है परंतु यहां रूपाभिमानमें रूढ समझना चाहिए. यह रूपाभिमान शरीरनिर्वेदसे नष्ट होता है.

मानके दोष इस प्रकार है—मान जीवको नीच कुलमें उत्पन्न करता है. मानसे गुणोंकी प्राप्ति नहीं होती है. मानी पुरुषका सर्व जन द्वेष करते हैं. उसको रत्नत्रयादिक का लाभ नहीं होता है. इत्यादिक दोष मान कषायमें हैं.

द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन, भवपरिवर्तन और भावपरिवर्तन ऐसे पांच परिवर्तन स्वरूप संसारसे पराङ्मुख होनेका विचार हमेशा करना चाहिए. इस विचारसे भी मानका घात होता है. जब आत्मा संसारसे पराङ्मुख होता है तब अहंकारके साधनभूत कारणोंका नाश होता है. अनेक प्रशंसनीय गुणोंकी प्राप्ति होती हैं. मेरे को जो ज्ञान तप वगैरह गुण प्राप्त हुए हैं वे अन्य पुरुषों को भी प्राप्त होते हैं अतः गर्व करना योग्य नहीं है ऐसा विचार करनेसे मानका नाश होता है.

कुलाभिमाननिरासोपायमाचष्टे—

णीचो वि होइ उच्चो उच्चो णीचत्तणं पुण उवेइ ॥
जीवाणं खु कुलाइं पथियस्स व विस्समंताणं ॥ १२६८ ॥
उच्चं भवे कुलं नीचो नीचमुच्चः प्रपद्यते ॥
कुलानि सन्ति जीवानां पांथानामिव विश्रमः ॥ १२६९ ॥

विजयोदया—णीचो वि होदि स्थानमानैश्वर्यादिभिस्तिरोभूतो नीच इत्युच्यते। सोपि होदि भवति । उच्चो तैरेवोन्नतः। स उच्चो अतिशयितस्थानमानादिकोऽपि नीचत्तणं तैर्न्यूनतां। पुण उवेदि पुनः उपैति । जीवाणं खु जीवानां खलु। कुलाइं कुलानि। कीदृग्भूतानां? विस्समत्ताणं विश्रमतां बहूनां कुलानि कुलबहुत्वप्रकटनेन कुलानित्यता दर्शिता। अनियतकुलस्य कः कुलगर्वः। पथिकस्सव पथिकस्य यथा विश्रमस्थानं न नियतमस्ति तद्वदेवास्येति भावः ॥

कुलाभिमाननिरासोपायमाह—

मूलारा—णीचो स्थानमानैश्वर्यादिभिस्तिरोभूतः। उच्चो अतिशयितस्थानमानादिकः। कुलाइं गोत्राणि स्थानानि च। विस्समंताणं विश्राम्यतां स्थितिकुर्वतां कुलानि जीवानां संपद्यंते। यथा पथिकस्य न विश्रामस्थानं नियतमस्ति तथा कुलं जीवस्येति भावः। अनियतकुलस्य कः कुलगर्व इति माननिर्जयः। विस्समत्थाणमिति क्वचित्पाठः। उक्तं च—

उच्चं भवे कुलं नीचो नीचमुच्चः प्रपद्यते ॥
कुलानि संति जीवानां पांथानामिव विश्रमाः ॥

कुलाभिमानका नाश करनेका उपाय कहते हैं—

अर्थ—स्थान, मान, ऐश्वर्यादि न होनेसे मनुष्य नीच कहलाता है. ऐसा नीच मनुष्य इनकी प्राप्ति होने पर लोकोंके द्वारा उच्च माना जाता है. जिसके स्थान, मान, ऐश्वर्यादिक बढ गये हैं वह मानव कालान्तरसे इस मानके दोषसे हीनताको प्राप्त होता है. जैसे प्रवास करनेवाला मनुष्य एक जगहमें ही विश्रांति नहीं लेता है. भिन्नभिन्न स्थानोंका वह आश्रय लेता है वैसे यह जीव भी एक ही कुलमें नहीं रहता है. भिन्न भिन्न कुलोंमें उसको जन्म लेना पडता है. कभी उच्च कुलमें यह जन्म धारण करता है कभी नीचकुलमें उत्पन्न होता है अतः कुलका गर्व करना योग्य नहीं है.

किं च गर्वो ह्यात्मनो वृद्धिं परस्य वा हानिं बुद्ध्वो संक्षेपते तस्य युक्तोऽहंकारः न चास्य वृद्धिहानी स्त इति कथयति—

उच्चासु व णीचासु व जोणीसु ण तस्स अत्थि जीवस्स ॥
वड्ढी वा हाणी वा सव्वत्थ वि तित्तिओ चेव ॥ १२२९ ॥

हानिवृद्धी प्रजायेते नीचोच्चासु न योनिषु ॥
सर्वत्रोत्पद्यमानस्य जीवस्य सममानता ॥ १२७० ॥

विजयोदया— उच्चासु व णीचासु व यत्र स्थित आत्मा शरीरं निष्पादयति तद्योनिशब्देनोच्यते । न तस्य उच्चता नीचता वा ततः किमुच्यते उच्चासु व णीचासु व इति । अत्रोच्यते—योनिशब्देन कुलमेवात्रोच्यते। तेनायमर्थः। मान्ये कुले गर्हिते वा उत्पन्नस्य न तस्य जीवस्य वृद्धिर्हानिर्वा सर्वत्र तत्प्रमाण एव ज्ञानादिगुणातिशयादेव [उत्कृष्टता। निंदितगुणः कुलीनोपि न पूज्यते तरामन्यैः । अमान्येपि कुले संभूतो यदि गुणी स्यात् । उक्तं च—

संसारवासे भ्रमतो हि जंतोर्न चात्र किंचित्कुलमस्ति नित्यं ॥
स एव नीचोत्तममध्यजातः स्वकर्मवश्यः समुपैति तास्ताः ॥
नृपश्च दास' श्वपचश्च विप्रो दरिद्रवंशश्च समृद्धवंशः ॥
चोराग्निदावाहितयाचिता च संजायते कर्मवशात्स एव ॥

को वाधिकारः सुकुलेषु नृणां का वा विहिंसान्यकुलप्रसूतौ ॥
कार्योऽधिकारो ननु धर्म एव कार्या विहिंसापि च दुष्कृतेषु ॥

किंच सर्वोऽपि पृथग्जनः स्वस्योत्कर्षं परस्य चापकर्षं मन्यमानो गर्वमुपैति। न चात्मान उच्चनीचकुलप्राप्तिनिमित्ते वृद्धिहानी स्तस्तोऽस्योभकुलत्वेऽहंकार इति शिक्षयति—

मूलारा—जोणीसु कुलेषु। शरीरनिष्पादनस्थानानामुच्चत्वनीचत्वासंभवात्। अत्र योनिशब्देन कुलमेवोच्यते। तथाप्येष असंख्यातप्रदेशप्रचयात्मक एव। मान्यकुले प्रसूतो नैकेनापि प्रदेशेन वर्द्धते, नापि निंद्ये जातो हीयत इति भावः। ततो ज्ञानादिगुणातिशययोगादेव पूज्यते न कुलोच्चत्वयोगात्तत्कः कुलीनत्वगर्व इति गर्वखर्वणोपायशिक्षणं ॥

गर्व करनेसे आत्मकी वृद्धि होती है और न करनेसे उसकी हानि होती हो तो गर्व करना योग्य होगा. परंतु आत्मा कम जादा होता हुआ नहीं दीखता है. इस विषयका विवेचन—

अर्थ—जहां आत्मा रहकर शरीर उत्पन्न करता है अर्थात् धारण करता है ऐसे आधारको योनि कहते हैं. आधाररूप योनि उत्तमी नहीं है और नीच भी नहीं है. इसलिये 'उच्चासु व णीचासु व' ऐसा कहना अनुचित है.

उत्तर—योनिशब्दका अर्थ उत्पत्तिस्थान ऐसा नहीं है. प्रस्तुत प्रकरणमें योनिशब्दका कुल ऐसा अर्थ लेना चाहिए. इसलिए यहां ऐसा अर्थ समझना योग्य होगा—मान्यकुलमें अथवा निंद्य कुलमें उत्पन्न होने पर भी जीवकी वृद्धि वा हानि नहीं होती है. सर्वत्र वह असंख्यात प्रदेशात्मक ही रहता है. ज्ञानादिगुणोंके अतिशय से ही उत्कृष्टता प्राप्त होती है. जिसके गुण निंद्य है वह कुलीन होनेपरभी अन्य पुरुषोंके द्वारा नहीं पूजा जाता है. हीन कुलमें उत्पन्न होने परभी यदि वह गुणी होगा तो पूजा जाता है.

अन्य ग्रंथमें इस विषयमें ऐसा कहा है—

" इस संसारमें भ्रमण करनेवाले प्राणीका कोईभी कुल नित्य नहीं है. अपने किये हुए कर्मके वश होकर यह संसारी आत्मा नीच कुल, उच्च कुल और मध्य कुलमें जन्म लेता है. और नीच, उच्च, मध्यम अवस्थाको प्राप्त होता है. इस संसारमें राजा भी दुर्दैवयोगसे दास होता है. श्वपच भी—मातंगभी अन्य जन्ममें ब्राह्मण बन जाता है. दरिद्री वंश भी धनसंपन्न होता है. कर्मके वश होकर इस जीवको चोर, अग्नि, सर्प इत्यादिकोंसे दुःख प्राप्त होता है. मनुष्यको उच्च कुलकी प्राप्ति होनेपर गर्व नहीं करना चाहिये और नीच कुलमें उत्पन्न हुए प्राणिओंकी जुगुप्सा

नहीं करनी चाहिये. अर्थात् उनका तिरस्कार करना योग्य नहीं हैं. मनुष्यको धर्ममें अधिकार करना योग्य है. अर्थात् धर्माचरण करना उसका कर्तव्य है और पापकार्यसे उसको पराङ्मुख होना योग्य है"

कालमणंतं णीचागोदो होदूण लहइ सगिमुच्चं ॥
जोणीमिदससलागं ताओ वि गदा अतणाओ ॥ १२३० ॥

लाभं लाभमनंताश्च नीचामुच्चां प्रपद्यते ॥
तथाप्युच्चा अपि प्राप्ता अनंता योनयो भवे ॥ १२७१ ॥

विजयोदया—कालमणंतं णीचागोदो होदूण अनंतकालं नीचैर्गोत्रो भूत्वा । लभदि सगिमुच्चं जोणिं । लभते सकृदुच्चैर्गोत्रं । कीदृशीं इदरसलागं इतरशलाकां । इतरा नीचैर्योनयः । गदा अणंताओ आनंताः प्राप्ता एकेन जीवेन ॥

यद्यप्ययमात्मा संसारे पर्यटन्ननंतशो नीचा योनीर्भूयो लब्ध्वा कथमप्यंतरांतरोच्चां योनिमेकैकशो लभते तथाप्यनंतनीचयोनिलाभांतरालवर्तिन्य उच्चा योनयोऽप्यनंतर एवानेनानादिकालेन लब्धा इत्युपदिशति—

मूलारा—णीचागोदो नीचैर्गोत्रः । सगिं सकृत् । उच्चं जोणिं उच्चैर्गोत्रं । इतरा नीचैर्योनयः । शलाका अंतरान्तरवर्तिन्यो यस्या उच्चैर्योनेस्ताः । ताओ वि ता अप्यन्तरालेऽन्तराले लब्ध्वा अप्युच्चैर्योनयो गदा प्राप्ताः । उक्तं च—

लाभं लाभमनंताश्च नीचामुच्चां प्रपद्यते ॥
तथाप्युच्चा अपि प्राप्ता अनंता योनयो भवेत् ॥

तत्कोऽस्य दैवायत्ते मान्यकुले प्रसूतस्य मदः । को वा निंद्ये कुले जातस्य विषादः कर्तव्य इत्युपेक्षैव श्रेयसीति शिक्षासर्वस्वं ॥

अर्थ—यह जीव अनंतकालतक नीच गोत्रकर्मके उदयसे उच्च कुलमें जन्म लेता है. इस जीवने अनंतवार नीच कुलमें जन्म लिया है.

बहुसो वि लद्धविजडे को उच्चतम्मि विब्भओ णाम ॥
बहुसो वि लद्धविजडे णीचत्ते चावि किं दुक्खं ॥ १२३१ ॥

उच्चत्वे बहुशः कोऽत्र लब्ध्वा त्यक्तेऽस्ति विस्मयः ॥
नीचत्वे वास्ति किं दुःखं लब्ध्वा त्यक्ते सहस्रशः ॥ १२७२ ॥

विजयोदया—एवं बहुसो वि बहुशोऽपि लद्धविजडे लब्धपरित्यक्ते च। उच्चत्तम्मि मान्यकुलप्रसूतत्वे । को णाम विम्भओ को नाम विस्मय.। कदाचिदलब्धपूर्वमिदमिदानीमेव लब्धमिति भवेद्गर्व.। बहुसो वि बहुशोऽपि। लद्धविजडे लब्धपरित्यक्ते। णीचत्ते वावि नीचैर्गोत्रप्रसूतत्वे अपि। किं दुक्खं किमिदं दुःख ॥

एतदेवाह—

मूलारा—लद्धविजडे प्राप्ते परित्यक्ते च। विम्भओ कदाचिदलब्धपूर्वमिदं इदानीमेव लब्धमिति गर्वः स्यात् ॥

अर्थ—इस जीवने बहुतवार उच्च कुलमें भी जन्म लेकर त्याग किया है. उसमें दुःख मानना भी व्यर्थ है यदि उच्चकुलकी प्राप्ति पूर्व कालमें कभी भी नहीं हुई थी और अबही हुई हो तो गर्व करना योग्य था. नीच गोत्र के उदयसे नीचकुलमें भी अनेक वार जन्म हुआ है उसका खेद माननेकी आवश्यकता नहीं है. परंतु जिससे उच्च कुलमें जन्म प्राप्त होगा ऐसा धर्माचरण करना चाहिये.

उच्चत्तणम्मि पीदी संकप्पवसेण होइ जीवस्स ॥
णीचत्तणे ण दुक्खं तह होइ कसायबहुलस्स ॥ १२३२ ॥

उच्चत्वे जायते प्रीतिः संकल्पवशतोऽगिनः ॥
नीचत्वेऽपि महादुःखं कषायवशवर्तिनः ॥ १२७३ ॥

विजयोदया—उच्चत्तणम्मि मान्यकुलत्वे। पीदी प्रीति । संकप्पवसेण संकल्पवशेन होदि जीवस्स भवति जीवस्य प्रशस्ते कुले जातोऽहमिति मनोनिधानात्। प्रीतो भवत्यस्वर्थं जन। नेत्थभूतं संकल्पमंतरेण सामान्यकुलत्वे सत्यपि प्रीतिर्भवति। नीचकुलत्वमेव च न दु खस्य निमित्तं अपि च नीचत्तणे य नीचैर्गोत्रत्वे च दु ख तथा होदि तथा भवति। प्रीतिरिव परनिमित्तक भवति। कस्य ? कषायबहुलस्य कसायशब्द सामान्यवचनोऽपि मानकषाये वर्तते। तेनायमर्थः। प्रचुरमानकषायो जनयति दु खमस्य न नीचैर्गोत्रत्व ॥

नैवोच्चनीचकुलत्वे सुखदुःखे कुरुतः। किंतु मानाभिमानस्य तदालंबनः संकल्प एवेत्यनुशास्ति—

मूलारा—सकप्पवसेण उत्तमं मे कुल इति मन.प्रणिधानसामर्थ्येन। तध प्रीतिरिव। संकल्पवशेनैव। कसायबहुलस्स मानोत्कटस्य प्रचुरो मानोऽस्य जनयति दुःखं न नीचैर्गोत्रत्वमेवेति भावः ॥

अर्थ—जीव उच्चकुलकी प्राप्ति होनेसे प्रीतियुक्त होता है उसका कारण उच्चकुल हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये. मैं उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ हूं ऐसा विचार उत्पन्न होनेसे जीव अतिशय खुश होता है. यदि ऐसा संकल्प मनमें न होगा तो मान्य कुलकी प्राप्ति होनेपर भी वह प्रीतियुक्त नहीं होता है. उसी तरह नीच कुल भी दुःखका कारण नहीं है. किंतु संकल्पही दुःखका कारण होता है. कषाय जिसमें प्रचुर है उस जीवको उससे दुःख होता है नीचगोत्र उसका कारण नहीं है. गाथामें कषाय शब्द सामान्यतया प्रयुक्त किया है परंतु यहां वह शब्द प्रकरण वश मानकषायका वाचक समझना चाहिये. अर्थात् मानकषायसे ही जीवको दुःख होता है. नीचगोत्रत्व उसका कारण नहीं है.

एव प्रीतिपरितापौ संकल्पायत्तावित्येतत्स्पष्टयत्युत्तरगाथया—

उच्चत्तणं व जो णीचत्तं पिच्छेज्ज भावदो तस्स ॥
उच्चत्तणे व णीचत्तणे वि पीदी ण किं होज्ज ॥ १२३३ ॥
उच्चत्वमिव नीचत्वं चेतसा यो निरीक्षते ॥
उच्चत्व इव नीचत्वे किमसौ न सुखायते ॥ १२७४ ॥

विजयोदया—उच्चत्तणं व उच्चैर्गोत्रत्वमिव जो णीचत्तं पेच्छदि यो नीचैर्गोत्रं प्रेक्षते । इदं चंडालत्वं वरमिति भावशब्दोऽनेकार्थवाच्यपि इह चित्तवाची। यत् येन लब्धं तत्तस्य शोभनं । अलभ्येन शोभनेनापि किं तेनेति मनसि करोति यदा तदा तत्रैव प्रीतिरस्य जायते इति वदति-उच्चत्तणे वि मान्यकुलत्व इव नीचत्तणेऽवि नीचैर्गोत्रत्वेऽपि । पीदी किं ण होज्ज । प्रीतिः किं न भवेत् । भवत्येवेति यावत् ॥

संकल्पायत्तौ प्रीतिपरितापौ इति स्पष्टयितुं गाथाद्वयमाचष्टे—

मूलारा—भावदो चित्तेन । इदं चांडालत्वं वरमित्यादिरूपेण भावयेदित्यर्थः । पीदी यद्येन लब्धं तत्तस्य शोभनं अलभ्येन शोभनेनापि किं तेनेति यो यदा संकल्पं करोति तस्य तदा तत्र प्रीतिर्भवत्येव तथानुभवात् ॥

अर्थ—जो मनुष्य उच्चगोत्रके समान नीच गोत्रको भी देखता है अर्थात् चांडालपनाभी अच्छा है ऐसा जो मानता है उसको उच्चत्वके समान नीचत्वमेंभी प्रीति क्यों न होगी अर्थात् वह नीचत्वको भी अच्छा ही

समझेगा. जिसने जो प्राप्त किया है उसको वह अच्छा समझता है. जो चीज अलभ्य है वह अच्छी होनेपरभी मेरा उससे कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसा समझकर प्राप्त चीजही अच्छी है ऐसा वह मनमें समझता है. तात्पर्य यह है कि मोहके वश होकर जीव नीचपनाकोभी अच्छा समझते हैं.

णीचत्तणं व जो उच्चत्तं पेच्छेज्ज भावदो तस्स ॥
णीचत्तणेव उच्चत्तणे वि दुक्खं ण किं होज्ज ॥ १२१४ ॥
यो नीचत्वमिवोच्चत्वं विकल्पयति मानसे ॥
तस्योच्चत्वे न किं दुःखं नीचत्वमिव जायते ॥ १२७५ ॥

विजयोदया—एतद्विपरीतार्थोत्तरा गाथा। स्पष्टतया वस्तुस्थितिं नापेक्षते। संकल्पायत्ता प्रीतिर्वैरयनुभवसिद्ध' मेतदखिलस्य जगत इति वदति। यस्मादुच्चैर्गोत्रत्वेऽपि न सुखदुःखयोर्भावाभावौ च भवतः संकल्पात् ॥

मूलारा—स्पष्टम्

अर्थ—जो जीव नीचपनाके समान उच्चपनाको देखता है उसको उच्चतामेंभी नीचत्वके समान दुःखही अनुभवमें आता है. अभिप्राय यह है कि, संकल्पसे उत्पन्न हुई प्रीति अथवा दुःखसे वस्तुका यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जाता है. यह अनुभवसिद्ध सत्य है. संकल्पसे उच्च गोत्रमेंभी प्रीति अप्रीति उत्पन्न होती है. संकल्पसे नीचत्वमें भी प्रीति और अप्रीति उत्पन्न होती है.

तह्मा ण उच्चणीचत्तणाइं पीदिं करेंति दुःक्खं वा ॥
संकप्पो से पीदीं करेदि दुक्खं च जीवस्स ॥ १२३५ ॥
ततो नोच्चत्वनीचत्वे कारणं प्रीतिदुःखयोः ॥
परमुच्चत्वनीचत्वसंकल्पः कारणं तयोः ॥ १२७६ ॥

विजयोदया—तह्मा तस्मात्। उच्चणीचत्तणाणि मान्यामान्यकुलत्वानि। न करेंति दुक्खं वा न कुरुतः प्रीतिं दुःखं वा। सति संकल्पे भावादसति अभावाच्च ॥

उपसंहारमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—इस लिये मान्यकुल और अमान्यकुल वास्तविक विचार करनेपर सुख और दुःखके विधाता नहीं हैं संकल्पही जीवको प्रीति और अप्रीति उत्पन्न करता है अर्थात् संकल्पके साथ प्रीति और अप्रीतिका अन्वय व्यतिरेक है जब संकल्प उत्पन्न होता है तब ही सुख दुःखोंकी उत्पत्ति होती है. और जब संकल्प मनमें नहीं होता है तब सुख दुःखोंकी उत्पत्ति नहीं होती है इसलिये संकल्प ही सुख और दुःख उत्पन्न करता है ऐसा समझना चाहिये

मानकषायसाध्योऽयं दोष इति कथयति सूरिः ।

कुणदि य माणो णीचागोदं पुरिसं भवेसु बहुएसु ॥
पत्ता हु णीचजोणी बहुसो माणेण लच्छिमदी ॥ १२३६ ॥

नीचगोत्रं नरं मानो विधत्ते बहुजन्मसु ॥
प्राप्ता लक्ष्मीमतिर्नीचा योनीर्मानेन भूरिशः ॥ १२७७ ॥

विजयोदया—कुणदि य करोति । माणो अहंकारः । णीचागोदं पुरिसं नीचैर्गोत्रमस्येति नीचैर्गोत्रं पुरिसं आत्मानं । भवेसु जन्मसु । बहुगेसु बहुषु । पत्ता प्राप्ता । णीचजोणी खु नीचैर्गोत्रमेव । का ? लच्छिमदी लक्ष्मीमती । केन निमित्तेन ? माणेण सुरूपा यौवनानुकूला कुलीना चेति गर्वेण ॥

मानदोषमधाख्यानकेन ख्यापयति—

मूलारा—माणेण सुरूपा, सुयौवना, कुलीना कन्याहमेवेत्यहंकारेण ॥

मानकषायसे जीवको नीचगोत्रकी प्राप्ति होती है ऐसा उदाहरण के द्वारा आचार्य कहते हैं

अर्थ—मान कषायसे मनुष्य प्राणी अनेक जन्मोंमें नीच गोत्रयुक्त होता है अर्थात् नीचकुलमें जन्मता है. मैं रूपवती सुंदरी हूं. तरूणी हूं और कुलीन हूं ऐसा तीव्र मानकषाय लक्ष्मीमतीको हुआ था जिससे उसको अनेक जन्मोंमें नीचकुलमें उत्पन्न होना पडा था

पूयावमाणरूवविरूवं सुभगत्तदुब्भगत्तं च ॥
आणाणाणा य तहा विधिणा तेणे व पडिसेज्ज ॥ १२३७ ॥

सुभगत्वमसौभाग्यं स्वरूपत्वं विरूपता ॥
आज्ञानाज्ञादरो निंदा चित्ते कृत्या न धीमता ॥ १२७८ ॥

विजयोदया—पूयावमाणरूवविरूव, पूजा, अवमानं परिभवः। रूपशब्दः सामान्यवचनोऽपि शोभनरूपविषयतया इह विरूपशब्दसंनिधाने प्रयुज्यमानोऽतिशयितं रूपे प्रवर्तते। तेन सौरूप्यं वैरूप्यं चेत्यर्थः। सुभगत्तदुब्भगत्तं च सौभाग्यं दौर्भाग्यं च सर्वेषां प्रियत्वं द्वेष्यत्वं चेति यावत्। आणाणाणा य तहा आदेशाप्रतिघातः अनाज्ञा च तथा विधिना नाननिषेधप्रकारेणैव। पडिसेज्ज प्रतिषेध्याः। अभिधेयवशाल्लिंगवचनप्रवृत्तिरिति लिंगांतरेण पूजादिशब्दोपनीतेन प्रतिषेध्यशब्दस्याभिसंबंधः। परिभवं प्राप्तोऽपि कदाचित्पूज्यते। एवं प्राप्ता अनंतेषु पूजास्तत्र कोऽनुरागो स्य। दुःखं वा परिभवप्राप्तौ। पूज्यमानोऽपि बहुषु पुनः परिभवानवाप्स्यति। न चात्मनः पूजायां काचिद्वृद्धिः। परिभवे वा हानिः संकल्पवशादेवात्मनो जायेते प्रीतिपरितापौ न केवलं पूजापरिभवाभ्यामेवेति ॥ उक्तं च—

य: स्तूयते शुचिगुणो मधुरैर्वचोभिः। संनिंद्यते च परुषैर्वचनैर्विचित्रैः ॥
हा चित्रतां कथमयं भवसंकटस्थः प्राप्नोत्यनेकविधिकर्मफलोपभोगं ॥
भूत्वा मनुष्यपतयः पुनरेव दासा हीना भवंति शुचयोऽशुचयश्च भूयः ॥
कांत्या च ये युवतिभिर्विषमानुरूपा द्वेष्या भवंत्यसुभगत्वमुपेत्य भूयः ॥
दृष्टः क्वचित्प्रवररत्नविभूषणो यः संदृश्यते विकलपुण्यतया दरिद्रः ॥
भूयश्च मित्रबहुबंधुजनोपगूढः संलक्ष्यते व्यसनभारभृदेक एव ॥

उच्चनीचकुलवत्पूज्यावमानादयोऽपि तत्त्वज्ञैः। प्रत्याख्येया इत्याख्याति—

मूलारा—अवमाण परिभवः। न्यायेन तेणेव। कालमणंतमित्यादिप्रबंधोक्तेन। पडिसेज्जा प्रतिषेध्याः। तथाहि प्राप्तपरिभवोऽपि कदाचित्पूज्यते पुनर्बहुशः परिभवः। एवं प्राप्ता अनंतेषु पूजाः। न चैवमप्युच्चनीचकुलवज्जीवस्य वृद्धिहानी स्यातां तत्कास्य पूजायां प्रीतिः। परिभवे चाप्रीतिः। संकल्पवशाच्चास्य प्रीतिपरितापौ स्यातां न केवलपूजावमानाभ्यां। एवमन्येष्वपि शुभाशुभधर्मेषु व्यतिषंगनिषेधः कल्प्यः ॥

अर्थ—मानकषायका त्याग जैसे करना योग्य है वैसे उसके साथ पूजा—लोकोंसे आदरसत्कार प्राप्त होना अवमान—पराभव अनादर प्राप्त होना, रूप—सौंदर्य, विरूप—कुरूपता, सुभगता—सौभाग्य, दुर्भाग्य, आज्ञा सर्वत्र अखंडित रहना, और उसका लोकोंसे पालन न होना, इत्यादिकोंसे गर्व या दुःख होता है परंतु वहभी त्यागना योग्य है.

इनके विषयमें ऐसा विचार करना चाहिये— मेरा कभी पराभव—अनादर—अपमानभी हुआ है तथा कभी पूजाभी हुई है. इस प्रकार इस संसारमें अनतवार मैं पूजाभी गया था. न पूजामें अनुराग करना चाहिये और न अनादर होनेके प्रसंगमें खेद खिन्न होना चाहिये. जैसे मेरी वारवार पूजा हुई थी वैसा वारवार अनादर भी हुआ था. पूजाके समय न मेरा आत्मा कुछ वढा था और न अपमानके समय कुछ घटा था. दोनो प्रसंगमें यह असंख्यात प्रदेशी ही रहा था अर्थात् पूजा और अपमानके समय जब आत्माकी घट वढ नहीं होती है तो आनंद खेद मानना अज्ञानता का ही द्योतक समझना चाहिये सकल्प वश होकर आत्मा प्रीतियुक्त और संतापयुक्त होता है. उसको पूजा और अपूजा कारण नहीं है. अन्यत्र इस विषयमें ऐसा कहा है—जो पुरुष निर्मल गुणोंका धारक होनेसे मधुर वचनोंसे स्तुतिका पात्र वना था वही मनुष्य नानाप्रकारके कठोर वचनोंसे, निंदाके वचनोंसे अपमानित भी हुआ था. यह वडा आश्चर्य है. ससारके संकटोंसे यह घिरा हुआ यह पुरुष—आत्मा किये हुए नाना कर्मोंके फलोंका उपभोग लेता हुआ संसारमें घूमता रहता है. कभी जीवोंको नृपत्व प्राप्त होता है तो कभी वे दास वनते हैं. कभी वे हीनकुली होते हैं कभी उच्च कुली. पुनरपि हीनकुली होते हैं. जो पुरुष शरीरकी कांतीसे मदनतुल्य और स्त्रिओं को अतिशय प्रिय थे वे ही जब असुभगत्व प्राप्त होनेपर उनके द्वारा तिरस्करणीय अवस्थाको भी प्राप्त हुये थे. पुण्योदयसे जो पुरुष उत्कृष्ट रत्नोंसे अलंकृत थे पापका उदय आनेपर वे दरिद्र हुए ऐसाभी देखनेमें आया है. जो पुरुष अनेक सकटोंसे घिरा हुआ देखा गया था वही कालान्तरसे मित्र और वहुत प्रियजनोंके द्वारा आलिंगित हुआ है ऐसाभी देखनेमें आता है अतः उपर्युक्त आदर अनादर वगैरे वातोंमें आनंद और खेद मानना योग्य नहीं है ऐसा विचार कर अभिमानका त्याग करना चाहिये.

इच्चेवमादि अविचिंतयदो माणो हवेज्ज पुरिसस्स ॥
एदे सम्मं अत्थे पसदो णो होइ माणो हु ॥ ११३८ ॥

जइदा उच्चत्तादिणिदाणं संसारवड्ढणं होदि ॥
कह दीहं ण करिस्सदि संसारं परवधणिदाणं ॥ १२३९ ॥

एतेषां चिंतनान्मानो वर्धते सर्वदाऽग्निवत् ॥
संसारवर्द्धकः सद्यो हीयते तत्वचिंतने ॥ १२७९ ॥
उच्चत्वादिनिदानेऽपि संसारं लभते यदि ॥
तदा वधनिदानेऽगी भवभागीति का कथा ॥ १२८० ॥

विजयोदया—जइवा यदि तावत् । उच्चत्तादिणिदाणं उच्चैर्गोत्रता, पुरुषत्वं, स्थिरशरीरता, अदरिद्रकुलप्रसूति-र्धुतेत्येवमादिकं मुक्तेः परंपरया कारणमपि चित्ते क्रियमाणमपि । संसारवड्ढणं होदि संसारवृद्धिं करोति । किध ण करिस्सदि कथं न करिष्यति । दीहसंसारं दीर्घसंसारं । परवधणिदाणं परवधे चित्तप्रणिधानं ॥

उच्चत्वनीचत्वादितथाविधचिंतनाचिंतनभवौ मानसद्भावाभावौ इत्यनुशास्ति—

मूलारा—परसद्दो चिंतयतः । एवां श्रीविजयो नेच्छति ॥

परवधनिदानं सुतरां द्राघयति संसारमित्याचष्टे—

मूलारा—उच्चत्वपुरुषत्वादिकं मुक्तेः परंपरया कारणमपि तन्मे भूयादित्याशास्यमानं ॥

अर्थ—जो पुरुष उपर्युक्त बातोंको विचार नहीं करते हैं वे गर्वसे मानकषायमे युक्त होकर दुःख पाते हैं. परंतु जो इनका विचार करते हैं अर्थात् मानसे होनेवाली हानिओंका विचार करते हैं वे मानसे दूर रहकर सुखी होजाते हैं.

उच्चगोत्रमें जन्म होना, पुरुषत्व, दृढ शरीरपना, श्रीमंत कुलमें जन्म होना इत्यादिक बातें यद्यपि मोक्ष प्राप्तिमें परंपरासे कारण हैं तो भी इनकी प्राप्ति मेरे को हो ऐसी अभिलाषा करनेसे संसार वृद्धिके लिये कारण हो जाती हैं. तो दूसरे का वध करनेका निदान–अभिलाषा क्यों संसारवर्धक न होगा.

आचार्यगणधरत्वादिप्रार्थना कथमशोभना रत्नत्रयातिशयलाभप्रार्थिता हि सेत्याशंकायामुच्यते—

आयरियत्तादिणिदाणे'वि कदे णत्थि तस्स तम्मि भवे ॥
घणिदं पि संजमंतस्स सिज्झणं माणदोसेण ॥ १२४० ॥

निदानेऽपि कुलादीनि जायंते नात्र जन्मनि ॥
संयमं विदधानस्य मानिनो यातना परा ॥ १२८१ ॥

विजयोदया—आयरियत्तादिणिदाणे वि कदे आचार्यत्वादिनिदानेऽपि कृते । णत्थि तस्स नास्ति तस्य । तम्मि भवे तस्मिन्भवे निदानकरणभवे । घणिदं पि संजमंतस्स नितरामपि संयमं कुर्वतः । किं नास्ति सिज्झणं सेधनं मुक्तिः । केन ? माणदोसेण मानकषायदोषेण । स ह्याचार्यत्वादिप्रार्थनां करोति । प्रष्ठो भविष्यामीति संकल्पेन, ततोऽप्यहंयुता ॥

आचार्यत्वादिप्रार्थना कथं दुष्या रत्नत्रयातिशयलाभप्रार्थनापरत्वादिति शंकायमाह—

मूलारा—तम्हि भवे निदानकरणजन्मनि.। सिज्झणं सेधनं सिद्धिः । यद्यपि अस्ति तद्भवे आचार्यत्वादिकं तथापि नास्ति मुक्तिरिति भावः । माणदोसेण आचार्यादिर्भवन्पूज्यो भविष्यामि इति संकल्पपराधेन ॥

आचार्यपदवी, गणधरपदवी इत्यादिककी अभिलाषा करना अयोग्य नहीं है क्यों कि रत्नत्रयका माहात्म्य प्राप्त होनेके लिये उनकी अभिलाषा की जाति है. इस शंकाका उत्तर आचार्य कहते हैं—

अर्थ—आचार्यत्व, गणधरपदवी इत्यादिका निदान करने परभी इनपदोंकी प्राप्ति इसी जन्ममें होती भी नहीं. बहुत उज्ज्वल संयम होनेपर भी इन पदोंकी उसी जन्ममें प्राप्ति नहीं होती है. कदाचित् आचार्यत्वादिककी उसी भवमें प्राप्ति भी हो गई तो भी उस संयमी को मुक्तिपदकी प्राप्ति मानकषाय दोषसे नहीं होती है. मैं आचार्य होकर पूज्य होऊं इस अभिप्रायसे प्रवृत्ति होती है अतः उसमें अहंकार प्रकट दीखता है.

भोगदोषचिंतायां सत्यां निदानं तथा न भवति इति कथयति—

भोगा चिंतिदव्वा किंपाकफलोवमा कडुविवागा ॥
महुरा व भुंजमाणा मज्झे बहुदुक्खभयपउरा ॥ १२४१ ॥

मधुराः सेव्यमाना हि विपाके दुःखदायिनः ॥
चिंतनीयाः सदा भोगाः किंपाकफलसंनिभाः ॥ १२८२ ॥

विजयोदया—भोगा चिंतिदव्वा भोगाश्चिन्त्याः । किंपागफलोवमा किंपाकफलसदृशाः । कडुविवागा कडु अनिष्टं विपाकः फलं येषामिति कटुविपाकाः । महुराव मधुरा इव । भुंजमाणा भुज्यमानाः । मज्झे मध्ये । बहुदुक्खभयपउरा निचितदुःखभयाः ॥

भोगनिदानाभावाय भोगदोषभावनामाह—

मूलारा—मधुरा व मधुरा इव । मज्झे मध्ये भुजिक्रियायाः । बहुदुक्खभयपउरा भोगसेवया पापं बध्नतः कानि-यानि दुःखानि ते न भविष्यंति इति चिचिन्नदुःखत्रासाकुलाः ॥

भोगोंके दोषोंका विचार करनेसे भोगनिदान उत्पन्न नहीं होता है इस विषयका विवेचन—

अर्थ—भोग किंपाकफलके समान अवसानमें कटुविपाक है अर्थात् किंपाकफल खाते समय मधुर लगता है परंतु उसका कटु परिणाम होता है अर्थात् अन्तमें उससे प्राणीको अत्यंत दुःख होकर मरणकी प्राप्ति होती है. भोग भी सेवन करते समय मधुर — आनंददायी मालूम होते हैं परंतु अन्तमें तीव्र अशुभ कर्मबंधके कारण बनकर चतुर्गतीमें अतिशय दुःखदायक होते हैं.

भोगनिदानदोषं कथयन्ति—

भोगणिदाणेण य सामण्णं भोगत्थमेव होइ कदं ॥
साहोलंबो जह अत्थिदो वि णेको वि भोगत्थं ॥ १२८२ ॥
भोगार्थमेव चारित्रं निदाने सति जायते ॥
कर्म कर्मकरस्येव द्रविणार्थविचारणे ॥ १२८३ ॥

विजयोदया—भोगणिदाणेण य भोगनिदानेन वा । सामण्णं श्रामण्यं । भोगत्थमेव होइ कदं भोगार्थमेव कृतं न कर्मक्षयार्थं भवति । भोगनिदाने सति रागव्याकुलितचित्तस्य प्रत्यग्रकर्मप्रवाहस्वीकृतौ उद्यतस्य का संयतता ॥

भोगनिदाने दोषं भाषंते—

मूलारा—भोगत्थमेव न कर्मक्षयार्थं । भोगरागाकुलचित्तत्वे प्रत्यग्रपापकर्मप्रवाहस्वीकरणाभियोगात् । साहोलंबो शाखायामवलग्नो यस्यासौ फलाद्युपयोगार्थी यथा वृक्षशाखालम्बितः कश्चित्स्वेष्टस्थानगमनं विप्रयति तथा श्रमणोऽपीति भावः । अन्यस्त्वाह—

भोगार्थमेव चारित्रं निदाने सति जायते ॥
कर्म कर्मकरस्येव द्रविणार्थं विचारणे ॥

भोगनिदानके दोष कहते हैं—

अर्थ—मुनिव्रत धारण कर जिसने भोगप्राप्तिका निदान किया समझना चाहिये कि भोगके लिये ही उसने मुनिव्रत धारण किये हैं न कि कर्मक्षयके लिये. भोगनिदान करनेसे भोगाभिलाषासे–भोगोंकी उत्कंठासे चित्त व्याकुल होता है तब नवीन कर्मप्रवाहका स्वीकार करने के लिये वह उद्युक्त होता है. जिससे संयतपनेका अभाव होता है. जैसे कोई अपने इष्ट स्थानपर जारहा था मार्गमें किसी वृक्षका फल खानेकी उसको इच्छा हुई तब वह वृक्षकी शाखाको फलके आशासे पकडकर खडा हुआ. इस कार्यमें लगनेसे स्वेष्ट स्थानको जानेमें उसने विघ्न ही पैदा किया ऐसा समझना चाहिये. इसी तरह यदि निदान करेगा तो उसने कर्मक्षयरूपकार्यमें स्वयं विघ्न उपस्थित किया है ऐसा समझना चाहिये. अथवा निदान करनेवाला मुनि भोगार्थ ही चारित्र धारण करता है. जैसे नोकर केवल द्रव्यके लिये स्वामीकी सेवा करता है.

आवडणत्थं जह ओसरणं मेसस्स होइ मेसादो ॥
सणिदाणबंभचेरं अब्बंभत्थं तहा होइ ॥ १२४३ ॥

भवत्यब्रह्मचर्यार्थं सनिदानं तपो यतः ॥
अपसारो विघातार्थं मेषस्येवास्ति मेषतः ॥ १२८४ ॥

विजयोदया—आवडणत्थं अभिघातार्थं । जह यथा । ओसरणं अपगमः । मेसस्स होदि मेषस्य भवति । मेसादो मेषात् । सणिदाणबंभचेरं सनिदानस्य यतेर्ब्रह्मचर्यं । अब्बंभत्थं मैथुनार्थं । तहा होदि तथा भवति ॥

भोगाकांक्षया ब्रह्मचर्यं पालयतो भूयो मैथुनार्थमेव तद्भवति न प्रशमसुखार्थं इति दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूलारा—आवडणत्थं अभिघातार्थं । ओसरणं अपसरणं । सणिदाण भोगा मे भूयासुरिति निदानयतो यतेः ॥

अर्थ—एक बकरेसे दूसरा बकरा जैसे अघात करनेके लिये पीछे हटता है उसी तरह निदानयुक्त मुनिका ब्रह्मचर्यव्रत मैथुनके लिये है ऐसा समझना चाहिये. अर्थात् भोगप्राप्ति की आशासे ही सनिदान मुनि व्रताचरण करता है. कर्मक्षयके लिये वह व्रत पालन करता है ऐसा मानना अयोग्य होगा.

जह वाणिया य पणियं लाभत्थं विक्किणंति लोभेण ॥
भोगाण पणिदभूदो सणिदाणो होइ तह धम्मो ॥ १२४४ ॥

विक्रीणाति तपोनर्घं भोगेन सनिदानकः ॥
माणिक्यमिव काचेन सारासाराविचारकः ॥ १२८५ ॥

विजयोदया—जह वाणिया यथा । वणिजः । पणियं पण्यं । लाभत्थं लाभार्थं । विक्किणंति विक्रीणंति । लोभेण लोभेन । भोगाण भोगानां । पणिदो पण्यभूतः । सणिदाणो सनिदानः । तहा धम्मो होदि तथा धर्मो भवति ॥

भोगाकांक्षया चारित्रं भोगविक्रेयं भवेदित्याह—

मूलारा—पणियं पण्यं विक्रेयद्रव्यं । भोगाण पणिदभूदो भोगैर्विक्रेयतां प्राप्तः ॥

अर्थ—जैसे व्यापारी लोभवश होकर लाभके लिये आपना माल बेच डालता है वैसे निदान करनेवाला मुनि भोगके लिये धर्मरूपी माल बेच डालता है, ऐसा समझ लेना चाहिये.

भोगनिदानवतः श्रामण्यं प्रणिंदति—

सपरिग्गहस्स अब्बंभचारिणो अविरदस्स से मणसा ॥
काएण सीलवहणं होदि हु णडसमणरूवं व ॥ १२२५ ॥
ससंगस्यानिवृत्तस्य चित्तेनाब्रह्मचारिणः ॥
कायेन शीलवाहित्वं व्यर्थं नटयतेरिव ॥ १२८६ ॥

विजयोदया—सपरिग्गहस्स सपरिग्रहस्य भोगनिदानवतो वेदजनितो रागोऽभ्यंतरः परिग्रह इति सपरिग्रह इति । तस्य अब्बंभचारिणो मनसा मैथुनकर्मणि प्रवृत्तस्य । अविरदस्स अव्यावृत्तस्य मैथुनात् । मनसा चित्तेन । से तस्य कायेन खु शारीरेणैव। सीलवहणं ब्रह्मव्रतवहनं । होदि भवति । णडसमणरूवं व नटानां श्रमणरूपमिव ॥ कायेन भावश्रामण्यरहितं यथा अफलमेवमिदमपि इति भावः ॥

भोगनिदानवतः श्रामण्यं प्रणिन्दति—

मूलारा—सपरिग्गहस्स वेदजनितरागेण अभ्यंतरपरिग्रहयुक्तस्य । अब्बंभचारिणो भावमैथुनप्रवृत्तस्य । अविरदस्स मनसा स्त्रीसेवनादनिवृत्तस्य । से भोगनिदानवतो मुनेः । सीलवहणं ब्रह्मव्रतधारणं । हु पदार्थको यो नैवेत्यर्थः । णडसवणरूवं व नटानां यतिवेषधारणमिव । यथा कायेन नटैर्यतिरूपं धार्यमाणं भावश्रामण्यरहितत्वान्निष्फलं तथेदमपीति भावः ॥

भोगका निदान करनेवाले मुनिका मुनिपना निंदनेलायक है ऐसा आचार्य कहते हैं.

अर्थ—भोगका निदान जिसने किया है वह मुनि अंतरंगमें रागभावसे युक्त है. अर्थात् उसके मनमें मैथुनकी अभिलाषा है इसलिये वह परिग्रह सहित ही है ऐसा समझना चाहिये. उसका मन मैथुन कर्ममें प्रवृत्त होनेसे वह मैथुन कर्मसे परावृत्त नहीं हैं ऐसा समझना चाहिये. वह शरीरसे ही शीलव्रतको धारण करनेवाले नटके समान भावसे मुनिपनासे च्युत हुआ है. ऐसा मुनिपना व्यर्थ है ऐसा अभिप्राय समझना.

रोगं कंखेज्ज जहा पडियारसुहस्स कारणे कोई ॥
तह अण्णेसदि दुक्खं सणिदाणो भोगतण्हाए ॥ १२४६ ॥

आकांक्षति महादुःखं निदानी भोगतृष्णया ॥
रोगित्वं प्रतिकाराय कुबुद्धिरिव कश्चन ॥ १२८७ ॥

विजयोदया—रोगं कंखेज्ज व्याधिमभिलषति । जहा कोइ यथा कश्चित् । किमर्थं ? पडियारसुहस्स कारणे औषधसेवासुखाधिगमनार्थं । तह तथा अविरदस्स अव्यावृत्तस्य । अण्णेसदि अन्वेषते । दुक्खं दुःखं । कः सणिदाणो सनिदान. । भोगतण्हाए भोगतृष्णया ॥

भोगनिदानविधायिनमुपहसति—

मूलारा—पडिगारसुहस्स कारणे औषधसेवाजन्यसुखप्राप्त्यर्थं अण्णेसदि प्रार्थयते ॥

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य औषधसेवनका सुख प्राप्त करनेकी अभिलाषासे देहमें रोगोत्पत्तीकी इच्छा करता है. वैसे निदान करनेवाला मुनि भोगकी लालसासे दुःखोंको चाहता है ऐसा समझना चाहिये.

खंदेण आसणत्थं वहेज्ज गरुगं सिलं जहा कोइ ॥
तह भोगत्थं होदि हु संजमवहणं णिदाणेण ॥ १२४७ ॥

भोगार्थं वहते साधुर्निदानित्वेन संयमम् ॥
स्कंधेनेव कुधीर्गुर्वीमासनाय महाशिलाम् ॥ १२८८ ॥

विजयोदया—खंधेण स्कंधेन । जह कोइ यथा कश्चित् । गरुगं सिलं गुर्वी शिलां । वहेज वहति । किमर्थं ? आसणत्थं आसनार्थं । अस्या उपरि सुखेनासे इति मत्वा स यथा गुरुशिलोद्वहनखेदं नापेक्षते, स्वल्पं तस्या उपर्यासनसुखमपेक्षते स्वबुद्धया । तह भोगत्थं तु तथा भोगार्थमेव । होदि भवति । संजमवहणं दुव्वहं संयमधरणं । णिदाणेण निदानेन सह ॥

मूलारा—आसणत्थं अस्या उपरि सुखेनोपवेक्ष्यामीति मत्वा । तु भोगार्थमेव । णिदाणेण अनेन दुर्धरसंयमेन भोगा भूयासुरिति प्रार्थनया सह । अत्र बहुदुःखेन स्वल्पसुखसाधनमित्युपहासः ॥

अर्थ—इस शिलापर मैं सुखसे बैठुंगा इस अभिप्रायसे जैसे कोई मूर्ख मनुष्य अपने कंधेपर बडी शिला धारण करता है. अर्थात् शिलाका भार अपने कंधेपर सदैव वहता है उससे होनेवाले कष्टकी वह परवाह नहीं करता है वैसे भोगका निदान करनेवाला मुनि जो महान् संयम धारण करता है वह भोग के लिये ही समझना चाहिये. शिलापर बैठनेसे अल्पसुख होगा परंतु हमेशा शिलाको कंधे पर रखना कष्टदायक है वैसे अल्पसुखके लिये महान् संयम धारण करना शिलाके समान दुःखदायक है.

बाह्यवस्तुजनितादिन्द्रियसुखात्तन्निमित्तवस्तुविनाशे यज्जायते दुःखं तदधिकतमं अतः स्वल्पसुखनिमित्तं को नाम सचेतनो दुःखभीरुर्दुःखाब्धौ पतेदिति दर्शयति—

भोगोवभोगसोक्खं जं जं दुक्खं च भोगणासम्मि ॥
एदेसु भोगणासे जातं दुक्खं पडिविसिट्ठं ॥ १२४८ ॥

यत्सुखं भोगजं जंतोर्यद्दुःखं भोगनाशजम् ॥
भोगनाशोत्थितं दुःखं सुखाधिकतमं मतम् ॥ १२४९ ॥

विजयोदया—भोगोवभोगसोक्खं मृष्टाशनतांबूलादिभिः स्त्रीवस्त्रालंकारादिभिश्च । जनितं यत्सुखं । भोगणासम्मि सुखसाधनस्य वस्तुनो विनाशे च । जं जं दुक्खं च यद्यद्दुःखं जायते । एदेसु एतयोः सुखदुःखयोः भोगनाशे सुखसाधनानां विनाशे च । दुक्खं पडिविसिट्ठं अधिकतममिति यावत् ॥

मृष्टाशनवरांगनादिनिमित्तकसुखात्तन्निमित्तवस्तुविनाशजन्यं दुःखमधिकतरमतः स्वल्पसुखार्थी कः सुधीर्दुःखाब्ध्यद्दुःखाब्धौ पतेदिति दर्शयति—

मूलारा—भोगणासम्मि भोगांगविनाशे। पडिविसिठ्ठं अधिकतरं।

बाह्य वस्तुके संयोगसे जो सुख प्राप्त होता है उससे उस वस्तुका वियोग होनेसे प्राप्त होनेवाला दुःख अधिक है. इसलिये स्वल्पसुखके लिये कोन दुःखसे भयभीत सचेतन प्राणी-विद्वान मनुष्य दुःखसमुद्रमें गिरना चाहेगा.

इस अभिप्रायका आचार्य उल्लेख करते हैं—

अर्थ—मधुर अन्न, तांबूलादिक पदार्थोंको भोग कहते हैं. स्त्री, वस्त्र, अलंकारादिकोंको उपभोग कहते हैं. इन भोगोपभोगोंसे जो सुख आत्माको प्राप्त होता है. तथा भोगसाधनात्मक इन पदार्थोंका वियोग होनेसे जो दुःख उत्पन्न होता है. इन दोनोंमेंसे दुःख ही अधिक समझना चाहिये. अर्थात् सुख साधनोंका नाश होनेसे मनुष्य को अधिक दुःख होता है.

देहे छुहादिमहिदे चले य सत्तस्स होज्ज कह सोक्खं ॥
दुक्खस्स य पडियारो रहस्सणं चेव सोक्खं खु ॥ २२४९ ॥
क्षुदादिपीडिते देहे समासक्तः कथं सुखी ॥
दुःखस्यास्ति प्रतीकारो न्हस्वीकारोऽथवा सुखम् ॥ १२९० ॥

विजयोदया—देहे शरीरे मनुजानां। छुहादिमहिदे क्षुधा, पिपासया, शीतोष्णेन, व्याधिभिश्च मथिते। चले अनित्ये च। सत्तस्स आसक्तस्य। किं सुखं होज्ज किमत्र सुखं भवेत्। दुक्खस्स य पडिगारो दुःखस्य प्रतीकारः रहस्सणं चेव न्हस्वकरणं एव सोक्खं सौख्यं। खु शब्दः पादपूरणः दुःखप्रतीकारोत्पत्तो वा दुःखस्य सुखमित्यनेनाख्यातम् ॥

किंचित्कथंचिल्लब्धेष्वपि इच्छानुरूपभोगेषु क्षुदादिबाधाकदर्थितेऽनित्ये विनाशिनि च मानुषदेहे जाग्रदादरस्स कथं सुखस्य गंधोऽपि सत्यः स्यादिति व्यवस्थापयति—

मूलारा—छुधादिमधिदे बुभुक्षादिकदर्थिते। चले अनित्ये। सत्तस्स आसक्तस्य मनुजस्य। पडियारो निराकरणं। रहस्सणं न्हासनं ॥

अर्थ—यह देह भूख, प्यास, शीत, उष्ण और रोगोंसे पीडित होता है तथा अनित्य भी है ऐसे देहमें

आसक्त होनेसे इस आत्माको कितना सुख प्राप्त होगा? अत्यल्प सुखकी प्राप्ति होगी. दुःख निवारण होना अथवा दुःख कमी होना ही सुख है ऐसा संसारमें माना जाता है. दुःख के प्रतीकारको ही लोक सुख समझते हैं.

सुखमंतरेणापि आस्ति दुःखं, सुखं पुनरैन्द्रियक न जायते दुःखं विना ततः सुखार्थी दुःखमेव प्रागात्मनोऽभिलषति न च दुःखाभिलाषः प्राज्ञस्य युक्त इति कथयति—

सोक्खं अणपेक्खित्ता बाधदि दुक्खमणुगंपि जह पुरिसं ॥

तह अणपेक्खिय दुक्खं णत्थि सुहं णाम लोगम्मि ॥ १२५० ॥

अनपेक्ष्य यथा सौख्यं न दुःखं बाधते नरम् ॥

अनपेक्ष्य तथा दुःखं न सुखं विद्यते जने ॥ १२९० ॥

विजयोदया—सोक्खं सौख्यं । अणपेक्खित्ता अनपेक्ष्य । बाधदि दुक्खमणुगं पि बाधते दुःखमण्वपि । जह पुरिसं यथा पुरुषं । तह तथा अणवेक्खिय अनपेक्ष्य दुक्खं दुःखं । लोगम्मि णत्थि सुहं लोके नास्ति सुखं नामैंद्रियिकं । क्षुत्पिपासाभ्यां पीडिता एवाशनं पानं वान्वेषंते। कठोरातपतप्त एव शीतं, शीतसंकुचिततनुरेव प्रावरणादिकं, वातातपाम्बुभिरेवोपद्रुतो भवनमभिलषति । स्वानासलोपजातश्रम एव शय्यां कामयते । पादगमनजातखेदव्यपोहनायैव शिबिकादिकं, वैरूप्यनिराकृतये एव वस्त्राणि भूषणानि च, दौर्गंध्यनाशनायैव तुरुष्ककालागुर्वादिकं, खेदगमनायैव रमणा इति सर्वं दुःखप्रतीकारमेव ॥ त्रिविधवेदोदयजनितः प्राणिनां लिंगत्रयवर्तिनां परस्पराभिलाषः । स तेषां परस्परशरीरसंसर्गे सत्यपि न विनश्यति । अभिलाषनिमित्तानां कर्मणां सद्भावात् । न हि कार्यमविकलकारणसन्निधौ न भवति । कामो हि सेव्यमानो वैरस्यं प्रत्यग्रमाकर्षति । सतोऽप्यनुभवमुपबृंहयते । कारणसंपर्कात्कार्यसंपातः । नित्यमपि निरंतराभिलाषदहनदह्यमानचेतसो न कदाचिन्निर्वृतिरस्ति । अपनीते तु वेदाख्ये कारणाभावात् कार्याभाव इति ॥ निरवशेषवेदापगमे स्वास्थ्यं यदस्य तदेव सुखमिति मन्यमानो दृष्टांतं दर्शयति—

सुखं विनाप्यस्ति दुःखं सुखं पुनरैन्द्रियिकं दुःखं विना न भवति ततः सुखार्थी दुःखमेव प्रागात्मनोऽभिलषति न च दुःखाभिलाषः प्राज्ञयुक्त इति वक्ति—

मूलारा—अणुगंपि स्तोकमपि । अणवेक्खिय अनपेक्ष्य । दुःखे सत्येव सुखं जायते । क्षुदादिपीडितस्यैव भोजनाद्यन्वेषकत्वदर्शनादिति भावः । ऐंद्रियिकसुखदुःखे स्वविपक्षापेक्षे इत्यर्थः । तथा चोक्तम्—

अनपेक्ष्य यथा सौख्यं न दुःखं बाधते नरम् ॥

अनपेक्ष्य तथा दुःखं न सुखं विद्यते जने ॥

दुःख सुखके विनाभी होता है परंतु ऐंद्रियिक सुख दुःखके विना उत्पन्न नहीं होता है. इस लिये सुखकी अभिलाषा करनेवाला प्राणी प्रथम दुःखकी अभिलाषा करता है ऐसा सिद्ध हुआ. परंतु दुःख की इच्छा करना बुद्धिमानके लिये योग्य नहीं है ऐसा अभिप्राय आगेकी गाथामें दिखाते हैं—

अर्थ—सुखकी अपेक्षा न करता हुआ थोडासाभी दुःख मनुष्यको दुःखित बनाता है. परंतु सुख दुःखके विना—उसकी अपेक्षा न करके मनुष्यको सुखी करनेमें असमर्थ होता है अर्थात् जितना ऐंद्रियिक सुख है वह सब दुःखसे भरा हुआ है. और दुःखका प्रतीकार मात्र है. लोक प्रतिकारको ही सुख समझ रहे हैं. जब भूख और प्यास मनुष्यको सताती है तब वह अन्न और पानीका अन्वेषण करता है अर्थात् अन्न पानी सेवन कर अपनेको सुखी समझता है. सूर्यके कठोर किरणोंसे दुःखी होता है तब शीत पदार्थको चाहता है. जाडेसे जब शरीर सिकुडने लगता है तब वस्त्रादिकको चाहता है. हवा, आतप, और पानीसे जब पीडा होने लगती है तब उसको हटानेके लिए घरमें प्रवेश कर सुखी होता है. खडे होनेसे और बैठनेसे तकलीफ मालूम पडनेपर शय्याको चाहता है. पावोंको प्रवाससे थकावट उत्पन्न होनेपर पालकी वगैरह वाहनोंको चाहता है. कुरूपता दूर करनेके लिए वस्त्रालंकार, शरीरकी दुर्गंधता मिटानेके अर्थ कालागुरु आदिक सुगंध पदार्थकी स्पृहा उसको होती है . खेद दूर करनेके लिए स्त्रीको चाहता है. ये सब दुःखके प्रतीकार ही हैं.

स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद इनके उदयसे तीनो लिंगोंके प्राणिओंको परस्पराभिलाषा उत्पन्न होती है. परंतु वह अभिलाषा अन्योन्यके शरीरसंसर्ग होनेपर भी नहीं मिटती है. क्योंकि अभिलाषको उत्पन्न करनेवाले कर्म हमेशा आत्मामें मौजूद हैं. ये बार बार अन्यान्याभिलाषा उत्पन्न करते रहते हैं जब तक अखंड कारण मिलते ही रहेंगे तबतक कार्यकी उत्पत्ति होगी. जब कामसेवन मनुष्य करता है तब नवीन २ तीन वेदोंकी उत्पत्ति होती जाती है. पूर्वानुभवमें वृद्धिही होती है. कारण के संपर्कसे कार्यमें नित्यता आती है. मनुष्य निरंतर इच्छारूपी अग्निमें दग्ध होता है अतः उसको संतोषकी प्राप्ति नहीं होती है. जब तीन वेद नष्ट होते हैं तब पर-
१२४२ स्पराभिलाषाका कारण ही नष्ट हुआ तब वह भी नष्ट होती है. संपूर्ण वेद नष्ट होने पर जो स्वास्थ्यलाभ होता है उसको ही सुख समझना चाहिए.

जह कोढिल्लो अग्गिं तप्पंतो णेव उवसमं लभदि ॥
तह भोगे भुंजंतो खणं पि णो उवसमं लभदि ॥ १२५१ ॥

सेवमानो यथा वह्निं न कुष्ठी लभते शमम् ॥
भुंजानो न तथा भोगं संतोषं प्रतिपद्यते ॥ १२९१ ॥

विजयोदया—जह कोढिल्लो यथा कुष्ठेनोपद्रुतः । अग्गिं तप्पंतो अग्निना दह्यमानमूर्तिरपि । णेव उवसमं लभदि नैव व्याधेरुपशमं लभते । न ह्यग्निरुपशामकः कुष्ठस्यापि तु वर्द्धकः । यद्यस्य वृद्धिनिमित्तं न तत्तदुपशमयति । यथा कुष्ठं नोपशमयति वन्हिः । वर्धयति चाभिलाषं अवलादिसंगमः । तह तथा । भोगे भुंजंतो भोगानुभवनोद्यतः। खणं पि णो उवसमं लभदि । क्षणमात्रमपि नोपशमं लभते भोगाभिलाषरोगस्य ॥

भोगैस्तृष्णाभिवर्धनेन परितापानुबंधं बोधयति—

मूलारा—अग्गिं तप्पंतो अग्निं सेवमानः । उवसमं शांतिं कुष्ठस्य । वन्हितापस्य तद्वर्धकत्वात् । उवसमं भोगाभिलाषरागशांतिं । तन्निमित्तवेदाख्यकर्मणः प्रियांगनाद्युपयोगेन प्रतिक्षणमाधीयमानोदीरणश्रवणत्वात् ॥

ऐसे सुखको ही सुख माननेवाले आचार्य दृष्टान्त प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—जैसे कुष्टी मनुष्य अग्निसे शरीर तपनेपर भी उपशमको प्राप्त नहीं होता है. अर्थात् अग्नि सेवन से कुष्ठ उपशांत नहीं होता है, उलटा बढने लगता है. जो जिसके बढनेमें निमित्त होता है वह उसका उपशमन नहीं कर सकता है. जैसे अग्नि कुष्ठको शांत नहीं कर सकता है. वैसे स्त्री वगैरह पदार्थोंका सहवास भी अभिलाषाका उपशम नहीं करता है किंतु वह उसको बढाता ही है. भोगोंका उपभोग लेनेमें उद्युक्त हुआ पुरुषका अभिलाषारूपी रोग क्षणपर्यंत भी शान्त नहीं होता है. प्रतिदिन वह बढता ही है.

कच्छुं कंडुयमाणो सुहाभिमाणं करेदि जह दुक्खे ॥
दुक्खे सुहाभिमाणं मेहुण आदीहिं कुणदि तहा ॥ १२५२ ॥

मैथुनं सेवमानोऽङ्गी सौख्यं दुःखेऽपि मन्यते ॥
शितैः कंडूयमानो वा कच्छूं कररुहैः कुधीः ॥ १२९२ ॥

विजयोदया—कच्छुं कच्छुं। कंडुयमाणो नखैर्मर्दयन् । सुहाभिमाणं करेइ सुखाभिमानं करोति । जह दुक्खे यथा दुःखे। तह मेहुण आदीहिं तथा मैथुनादिदु खे रभसालिंगने, अधरदशने, उरस्ताडने नखैर्निशितैरंगच्छेदने कचाकर्षणे ॥ उक्तं च—

नग्नः प्रेत इवाविष्टः स्वनन्निव शपन्निव ॥
श्वासायासपरिश्रांतः स कामी रमते किल ॥ १ ॥ इति ॥

अनुभवसिद्धं विषयसुखं कथं प्रतिषिध्यते इत्याशंकां दृष्टांतपंचकावष्टंभेन निराकर्तुं गाथाद्वयमाचष्टे—

मूलारा—कंडुयमाणो नखैरुल्लिखन् । मेहुण आदिम्मि रभसालिंगनाधरदशनोरस्ताडनकचाकर्षणतीक्ष्णनखच्छेदनादिजन्ये ॥

अर्थ—कच्छु रोगको नखोंसे खुजानेवाला मनुष्य खुजाते समय अपनेको सुखी समझता है. वैसे यह जीवभी मैथुनादि दुःखोंसे भी अपनेको सुखी समझता है. गाढ आलिंगन करनेमें, अधरचुंबनमें, वक्षस्थल मर्दनमें, नखोंसे अंगमें व्रण करनेमें और केशाकर्षणमें अपनेको सुखी समझता है. इस विषयमें अन्यग्रंथमें ऐसा कहा है—वह कामी मनुष्य पिशाचके समान नग्न होकर, शब्द करनेवाला, और आयाससे थककर मैथुन सेवन करता है.

घोसादकीं य जह किमि खंतो मधुरित्ति मण्णदि वराओ ॥
तह दुक्खं वेदंतो मण्णइ सुक्खं जणो कामी ॥ १२५३ ॥

सेवमानो नरो नारीं दुःखदां सुखदां कुधीः ॥
मन्यते मधुरां यद्वत् कृमिर्घोषातकीमिव ॥ १२९३ ॥

विजयोदया—घोसादकीं घोपातकीं । किमि कृमिः । खंतो भक्षयन् । जह मधुरित्ति यथा मधुरमिति मन्यते वराकः । तह तथैव । दुक्खं वेदंतो दुःखमनुभवन् । मण्णदि सोक्खं जणो कामी मन्यते कामिजनः सुखं ॥

मूलारा—घोसादकीं घोपातकीं । खंतो भक्षयन् ॥

अर्थ—घोपातकी नामका कडुआ फल भक्षण करनेवाला कृमि उसको मीठा ही समझता है. वैसे दुःखका अनुभव करनेवाला कामी पुरुष दुःखको ही सुख मानता है.

सुट्ठु वि मग्गिज्जंतो कत्थ वि कयलीए णत्थि जह सारो ॥
तह णत्थि सुहं मग्गिज्जंते भोगेसु अप्पं पि ॥ १२५४ ॥

संपद्यते सुखं भोगे सेव्यमाने न किंचन ॥
सारो नोऽन्विष्यमाणोऽपि रंभास्तंभे विलोक्यते ॥ १२९४ ॥

विजयोदया—सुट्ठु वि सुष्ठु अपि मग्गिज्जंतो मृग्यमाणोऽपि सारः कदल्यां कचिदपि मूले मध्येऽन्ते वा यथा नास्ति तथा भोगेष्वन्विष्यमाणं सुखं न विद्यते ॥

इंद्रियैर्भोग्यतया गृह्यमाणेषु विषयेषु निःसुखत्वैकान्तमनुशास्ति—

मूलारा—कत्थइ कचित्। मूले मध्येऽन्ते वा।

अर्थ—सूक्ष्म विचार करने पर भी केलेके वृक्षमें प्रारंभ में, मध्यभागमें और अन्तमें भी कुछ भी सार दीखता नहीं हैं वैसे भोगोंमे विचार करनेपर भी कुछ सुख नहीं है.

ण लहदि जह लेहंतो सुक्खल्लयमट्ठियं रसं सुणहो ॥
से सगतालुगरुहिरं लेहंतो मण्णए सुक्खं ॥ १२५५ ॥

विश्वस्ता यैः प्रतार्यन्ते विमुच्यंते निषेवकाः ॥
प्रवर्द्धकाः प्रपीड्यंते कस्तैर्भोगैः समो रिपुः ॥ १२९५ ॥

निषेव्यमाणो वनिताकलेवरं स्वदेहखेदेन सुखायते जनः ॥
श्वा व्यश्नुवानो रसमस्थि नीरसं स्वतालुरक्ते मनुते सुखं यथा ॥ १२९६ ॥

विजयोदया—ण लहदि जध सुणगो सुक्खल्लगं अट्ठियं लेहंतो रसं। श्वा शुष्कमस्थि लिहन् सन् यथा रसं न लभते। सगतालुगरुहिरं लेहंतो सो सोक्खं मण्णदे तीक्ष्णास्थिच्छिन्नस्वतालुगलितरुधिमास्वादयन्सुखाभिमानं करोति। जह तह यथा तथा। पुरिसो ण किंचि सुखं लभइ। पुरुषो न किंचित्सुखं लभते ॥

मूलारा—लेहंतो आस्वादयन्। सुक्खल्लगं शुष्कं। अट्ठिगं अस्थि। सगतालुगरुहिरं। तीक्ष्णास्थिच्छिन्नस्वतालुगलितलोहितं।

अर्थ—जैसे कुत्ता रक्तहीन सूखी हड्डी चाटने लगता है. परंतु उसमें रस नहीं होता है. हड्डीको चूसते समय उसीके तालुका रक्त निकलने पर वह उसमें सुख समझता है. वैसे कामी पुरुष भी विषयोंमें सुख समझता है. अर्थात् स्त्रीसहवासमें उसका स्वयं वीर्यपतन होता है. और उसमेंही वह सुख समझता है.

महिलादिभोगसेवी ण लहदि किंचिवि सुहं तथा पुरिसो ॥
सो मण्णदे वराओ सगकायपरिस्समं सुक्खं ॥ १२५६ ॥

नग्नो बाल इवास्वस्थः स्वनन्नव्यक्तजल्पनः ॥
श्वासाकुलो जनो नार्यां कीदृशीं श्रयते रतिम् ॥ १२९७ ॥
आरटंतीं भराक्रान्तां दीनामुष्ट्रीमिवाकुलाम् ॥
किं सुखं लभते मूढः सेवमानो नितंबिनीम् ॥ १२९८ ॥
विभीमरूपाः कुटिलस्वभावा भोगा भुजंगा इव रंध्रसंस्थाः ॥
ये स्पर्शमाणा जनयन्ति दुःखं ते सेविताः कस्य भवन्ति शान्त्यै ॥१२९९।
प्रदर्श्य सौख्यं वितरन्ति दुःखं विश्वासमुत्पाद्य च वंचयंति ॥
ये पीडयन्ते परिचर्यमाणास्ते सन्ति भोगाः परमा द्विपन्तः ॥ १३०० ॥

विजयोदया—महिलादिभोगसेवी स्त्र्यादिभोगसेवनोद्यतः । तथा सो ण किंचि वि सुहं लहदि तथा पुरुषो न किंचिदपि सुखं लभते एव । सो वराओ सगकायपरिस्समं सोक्खं मण्णदे स वराकः स्वकायश्रमं सौख्यं मन्यते । अनुभवसिद्धं सुखं कथं नास्तीति शक्यते वक्तुं इत्याशंक्य असत्यपि सुखे सुखाभिमानं जगतो भवति विपर्यस्तं सुखकारणस्येति वदति ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—स्त्री वगैरहको भोगनेवाला यह कामी पुरुष किंचित्भी सुख नहीं प्राप्त करता है. यह दीन पुरुष अपने शरीरपरिश्रममें ही सुखकी कल्पना करता है. स्त्रीसहवासमें सुखकी प्राप्ति होती है यह बात अनुभव सिद्ध है उसको आप सुखाभाव कैसे कहते हो ?

इस शंकाका उत्तर ऐसा है—सुखके अभावमें भी जगत् को सुखकी भ्रांति होरही है. यह उसका विपर्यस्त ज्ञान है.

दीसइ जलं व मयतण्हिया हु जह वणमयस्स तिसिदस्स ॥
भोगा सुहं व दीसंति तह य रागेण तिसियस्स ॥ १२५७ ॥

कामिभिर्भोगसेवायामसत्यं दृश्यते सुखम् ॥
कुरंगैर्मृगतृष्णायां पानीयं तृषितैरिव ॥ २०१ ॥

विजयोदया—दीसइ वणमयस्स तिसिदस्स जहा जलं मयतण्हिया वनं मृगेण हरिणादिना तृषाभिभूते जलकांक्षावता जलमिव दृश्यते मृगतृष्णिका । न सा मृगेण जलतयोपलब्धेऽपि जलं भवति । तथा रागेण तिसिदस्स भोगा सुहं व दीसंति रागतृषितेन भोगाः सुखमिव दृश्यंते ॥

मूलारा—वणमयस्स वनमृगेण हरिणादिना अत्र तृतीयायाः षष्ठीभावः । भोगा कामिन्यादिनिर्भासाः, इंद्रियमतीत्यः ।

इसी विषयका स्पष्टीकरण—

अर्थ—जैसे जंगलमें विचरनेवाले हरिणोंको तृषासे पीडित होनेपर मृगतृष्णिका जलके समान दीखती है. परंतु वह वास्तविक जलरूप नहीं है वैसे रागभावमें व्याकुल हुए इस जीवको भोगपदार्थ सुखमय दीखते हैं परंतु वे वास्तविक सुखरूप नहीं है.

वग्घो सुखेज्ज मदयं अवगासेऊण जह मसाणम्मि ॥
तह कुणिमदेहसंफंसणेण अबुहा सुखायंति ॥ १२५८ ॥

कुथितस्त्रीतनुस्पर्शो नष्टबुद्धिः सुखायते ॥
अवगुह्य शवं व्याघ्रः श्मशाने किं न तृप्यति ॥ १३०२ ॥

विजयोदया—वग्घो सुखेज्ज श्मशाने व्याघ्रो मृतकमवगाह्य तृप्यति यथा तथा कुथितदेहसंस्पर्शनेनाबुधा सुखाधिगमहर्षनिर्भरांगा भवन्ति ॥

मूलारा—सुखेज तृप्यति प्रीणितो भवति ॥ मदयं मृतकं । अवगासेदूण आलिंग्य उपरि चटित्वा वा । सुसाणम्मि श्मशाने । कुणिमदेहसंफासणेण कुथितयुवतिकलेवरस्पर्शनेन । सुखायंति सुखाधिगमदर्पनिर्भरा भवंति ॥

अर्थ-श्मशानमें व्याघ्र प्रेतका भक्षण कर तृप्त होता है वैसे मूर्ख लोक दुर्गंध शरीरके स्पर्शसे मेरेको सुख प्राप्त हो रहा है ऐसा समझकर अतिशय हर्षित होते हैं.

भवतु नाम सुखं भोगस्तथापि तदत्यल्पमिति निवेदयति—

तह अप्पं भोगसुहं जह धावंतस्स अठितवेगस्स ॥
गिम्हे उण्हातत्तस्स होज्ज छायासुहं अप्पं ॥ १२५१ ॥

मध्यंदिनार्कतप्तस्य यावच्छायाव्यतिक्रमे ॥
वेगतो धावतः सौख्यं तावद्भोगनिषेवणे ॥ १३०३ ॥

विजयोदया—तथा अप्पं भोगसुहं-धावंतस्स अठितवेगस्स गिंभे उण्हातत्तस्स जहा छायासुहं अप्पं तह अप्पं भोगसुहं । धावंतोऽस्थितवेगस्य ग्रीष्मे उष्माभितप्तस्य यथा मार्गस्थैकतरुच्छायासुखमल्पं भोगसुखं तथा ॥

एवं दुःखे मूढात्मनां सुखाभिमानं समर्थ्य सांप्रतं परानुरोधेन भवतु नाम भोगसुखं तथा तदत्यल्पमित्यभ्युपगम सिद्धांतेन दर्शयति—

मूलारा—अठिदवेगस्स अविच्छिन्नजवस्य । वा अथवा उण्हातत्तस्स मध्याह्नार्करश्मितप्तस्य । छायासुहं मार्गस्थैकतरुच्छायाप्राप्त्या शर्म ॥ उक्तं च—

मध्यंदिनार्कतप्तस्य यावच्छायाव्यतिक्रमे ॥
वेगतो धावतः सौख्यं तावद्भोगनिषेवणे ॥

भोग पदार्थ सुख है ऐसा यद्यपि मान लिया तथापि यह सुख अत्यल्प है ऐसा दिखाते हैं—

अर्थ-ग्रीष्मकालमें सूर्यकी धूपसे जिसको कष्ट होरहा है और जो भागता जारहा है ऐसे पथिकको रास्तेमें वृक्षकी छायासे अल्प सुख मिलता है वैसे इस जीवको प्राप्त हुए भोगपदार्थोंसे अल्पसा सुख मिलता है ।

अहवा अप्पे आसाससुहं सरिदाए उप्पियंतस्स ॥
भूमिच्छिक्कंगुट्ठस्स उब्भमाणस्स होदि सोत्तेण ॥ १२६० ॥

स्रोतसा नीयमानस्य यावदाशासुखं भवेत् ॥
पादांगुष्ठे क्षितिस्पर्शे तावद्भोगसुखं स्फुटम् ॥ १३०४ ॥

विजयोदया—अहवा अथवा। अप्पं अल्पं। आसाससुहं आश्वास एव सुखं। सरिदाए नद्यां। उप्पियंतस्स निमज्जतः। भूमिच्छिक्कंगुट्ठस्स भूमिस्पृष्टांगुष्ठस्य। सोत्तेण उब्भमाणस्स स्रोतसा मर्यादेनोह्यमानस्य। अल्पं आश्वाससुखं तद्वदिंद्रियसुखमस्त्वल्पमित्यतिक्रांतेन संबंधः॥

मूलारा—यथा वा वक्ष्यमाणमत्यल्पं तथा भोगसुखमिति संबंधः॥ आसाससुहं आश्वास एव सुखं। लब्धा मयास्थाद्य तटं प्राप्स्यामि इत्याशया निर्वृतिरित्यर्थः। सरिदाए नद्यां। उप्पियंतस्स निमज्ज्यागच्छतः। भूमिच्छिक्कंगुट्ठस्स भूमिः स्पृष्टांगुष्ठेन येन तस्य। घोज्झमाणस्स उह्यमानस्य। सोत्तेण प्रवाहेण॥ उक्तं च—

स्रोतसा नीयमानस्य यावदाशासुखं भवेत्॥
पादांगुष्ठक्षितिस्पर्शे तावद्भोगसुखं स्फुटम् ॥

अर्थ—अथवा नदीमें जलके प्रवाहसे जो बहता जारहा है ऐसे मनुष्यके पांवके अंगुठेका थोडासा स्पर्श जमीनपर होनेपर मैं अब डुबूंगा नहीं ऐसा भास होकर थोडासा उसको आश्वासनसुख प्राप्त होता है वैसे इस जीवको संसारमें इंद्रियोंसे अल्पसुख प्राप्त होता है ऐसा पूर्व गाथाके साथ संबंध समझना चाहिए.

इंद्रियसुखानि चपलान्यपूर्वाणि युक्तो विस्मयस्तव तानि सर्वाणि अनंतवारपरिभुक्तानि, तेषु भुक्तेषु परित्यक्तेषु न युक्तो विस्मय इति अनादरं जनयति तेषु सूरिः—

जावंति केइ भोगा पत्ता सव्वे अणंतखुत्ता ते ॥
को णाम तत्थ भोगेसु विंभओ लद्धाविजडेसु ॥ १२६१ ॥

येऽनंतशोऽङ्गिना भुक्ता भोगाः सर्वे त्रिकालगाः ॥
को नाम तेषु भोगेषु भुक्तत्यक्तेषु विस्मयः ॥ १३०५ ॥

विजयोदया—जावंति केइ भोगा यावन्त केचन भोगाः। सव्वे पत्ता अणंतखुत्ता ते । सर्वे प्राप्ता अनंतवारं, तव। को णाम तत्थ भोगेसु को नाम तेषु भोगेषु विस्मयः लब्धपूर्विझितेषु ॥

इंद्रियसुखेष्वनादरोत्पादनार्थमाह —

मूलारा—अणंतखुत्ता अनतवारान् । विम्हओ विस्मयः आश्चर्यं । लद्धविजडेसु प्राप्तत्यक्तेषु ॥

इंद्रियसुख यदि पूर्वकालमें कभी मिला ही नहीं और अब ही प्राप्त हुआ होगा तो विस्मय-हर्ष मानना योग्य है परंतु सर्व इंद्रियसुखोंका इस जीवने अनंत बार उपभोग लिया है और उनका त्याग किया है. अतः उनमें आश्चर्यचकित होना योग्य नहीं है. इस प्रकार इंद्रियसुखमें आचार्य अनादर उत्पन्न करते हैं—

अर्थ—जितने भोग हैं वे सर्व अनतवार जीवको प्राप्त हुए हैं इस लिए प्राप्त करके त्याग किए गए इन भोगोंमें आश्चर्य ही क्या है ? भोग कुछ अलब्धपूर्व नहीं हैं अतः इनके प्राप्तिसे आश्चर्ययुक्त होना योग्य नहीं है.

भोगतृष्णा निरंतरं दहति भवन्तं, सेव्यमानाः पुनर्भोगास्तामेव तृष्णां वर्द्धयंति ततो भोगेच्छां शिथिलतां नयेति वदति—

जह जह भुंजइ भोगे तह तह भोगेसु वड्ढदे तण्हा ॥
अग्गीव इंधणाइं तण्हं दीविंति से भोगा ॥ १२६२ ॥

यथा यथा निषेव्यन्ते भोगास्तृष्णा तथा तथा ॥
भोगा हि वर्धयन्ते तामिंधनानीव पावकम् ॥ १२०६ ॥

विजयोदया—जह जह भुंजदि भोगे यथा यथा भोगान्भुंक्ते । तह तह तथा तथा । भोगेसु वड्ढदे तण्हा भोगेषु वर्धते तृष्णा । अग्गि व अग्निं वा । यथा इंधणाइं इंधनानि । दीविंति दीपयंति । तहा तथा । तण्हं तृष्णां दीपयन्ति । से तस्य भोक्तुर्भोगा ॥ तथा चोक्त-तृष्णार्चिषः परिदहति न शांतिरासां ॥ इष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ॥

भोगतृष्णार्चिर्दाहशांतये सेव्यमाना भोगास्तदभिवृद्धयर्थं एव भवन्त्यतस्तच्छांतये भोगेच्छामेव शिथिलयेति शिक्षार्थमाह ॥

मूलारा—अग्गीव अग्निमिव ॥

यह भोगतृष्णा हे क्षपक ! तेरेको निरंतर जला रही है. यदि भोगपदार्थोंका तूं सेवन करेगा तो उसी

तृष्णाको ये बढायेंगे. इसलिए तू इस भोगेच्छाको शिथिल कर ऐसा निर्यापकाचार्य क्षपकको उपदेश करते हैं—

अर्थ—जैसे जैसे मनुष्य भोगोंको भोगते हैं वैसी २ उनकी भोगतृष्णा बढती है. जैसे लकडीओंसे अग्नि बढता है वैसे भोगोंसे तृष्णा बढती है. श्रीसमंतभद्र आचार्य तृष्णा और भोगके विषयमें ऐसा कहते हैं. ये तृष्णाग्नि की ज्वालायें प्राणिओंको जलाती हैं परंतु उनकी इंद्रियोंके इष्ट पदार्थोंसे शांति नहीं होती है उलटी तृष्णाज्वाला-ओंकी वृद्धि ही होती है.

जीवस्स णत्थि तित्ती चिरं पि भोएहिं भुंजमाणेहिं ॥

तित्तीए विणा चित्तं उव्वूरं उव्वुदं होइ ॥ १२६३ ॥

भुज्यमानैश्चिरं भोगैस्तृप्तिर्नास्ति शरीरिणाम् ॥

उत्पूरमुद्धतं चित्तं विना तृप्त्यात्र जायते ॥ १३०७ ॥

विजयोदया—जीवस्स जीवस्य । नास्ति तृप्तिश्चिरकालमपि भोगाननुभवतः । पल्योपमत्रयं काले भोगभूमिषु । त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमकाल अमरेषु तृप्त्या च विना चित्तं । उव्वूरं उव्वुदं उत्पूरं उच्छूतं भवतीति सूत्रार्थः ॥

सुचिरमपि सेवितैर्भोगैस्तृप्तिर्न भवति ततश्चित्तस्य सुतरामौत्सुक्यं भवतीति भोगापराधमुपदिशति—

मूलारा—उव्वूरं उत्पूरं, अत्यर्थमित्यर्थः । उव्वुदं उध्दुतं उत्कंठितमित्यर्थः ॥

अर्थ—चिरकालपर्यंत भोगोंका अनुभव लेनेपर भी जीवको तृप्ति होती ही नहीं. भोगभूमीमें इस जीवने तीन पल्योपमकालतक भोगोंका अनुभव किया है. अमरलोकमें तेहतीस सागरोपम कालतक देवभो-गोंका सुख भोगा है तो भी तृप्तीके विना इस जीवका चित्त हमेशा उत्कंठित रहता है.

जह इंधणेहिं अग्गी जह व समुद्दो णदीसहस्सेहिं ॥

तह जीवा ण हु सक्का तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥ १२६४ ॥

नदीजलैरिवांभोधिर्विभावसुरिवेंधनैः ॥

सेव्यमानैरयं भोगैर्न जीवो जातु तृप्यति ॥ १३०८ ।

विजयोदया—अह इंधणेहिं यथेंधनैरग्निर्न तृप्यति । यथा वा समुद्रो नदीसहस्रैः । तथा जीवो न शक्यो भोगैस्तर्पयितु ॥

भोगानामतर्पकत्वं सदृष्टान्तमाचष्टे—

मूलारा—तिप्पेदु तर्पयितुं ॥

अर्थ—जैसे इंधनोंसे अग्नि तृप्त नहीं होता है, जैसे हजारो नदीओंसे समुद्र तृप्त होता नहीं वैसे जीव भोगोंसे संतुष्ट होता नहीं है.

देविंदचक्कवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमीया ॥
भोगेहिं ण तिप्पंति हु तिप्पदि भोगेसु किह अण्णो ॥ १२६५ ॥

भोगेषु भोगिगीर्वाणबल्कंशवचक्रिणः ॥
न तृप्तिं ये तु गच्छंति तत्र तृप्यंति किं परे ॥ १३०९

विजयोदया—देविंद देवानामधिपतय., चक्रलांछना वासुदेवा अर्धचक्रवर्तिन. । भोगभूमिजाश्च भोगैर्न तृप्यन्ति। कथमन्यो जनस्तृप्तिमुपयोद्भोगे. । सुलभामितभोगसाधनाश्चिरजीविनः स्वतंत्राश्चामी । अन्ये तु भवद्दशा जठरभरणमात्रमपि कर्तु अशक्ता . स्वल्पायुप , पराधीनवृत्तयश्च तृप्यंतीति का कथा ॥

सुलभाभिमतभोगसाधनाश्चिरजीविनः स्वतंत्राश्च देवेंद्रादयोऽपि इन्द्रियसुखैर्न तृप्यन्ति किं पुनरितर इति सकौतुकोऽमार्स शिक्षयति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—देवेन्द्र, चक्रवर्ती, अर्द्ध चक्रवर्ती अर्थात् नारायण, प्रतिनारायण, और भोगभूमिज ये भोगोंसे तृप्त होते नहीं है. तो अन्यपुरुष उनसे कैसे तृप्त होंगे ? देवेन्द्रादिकोंको भोगपदार्थ सुलभ हैं, वे दीर्घायुषी हैं, और स्वतंत्र हैं, इनसे भिन्न जीव-हम तुम पेट भरनेमें भी असमर्थ हैं स्वल्पायुषी हैं, और पराधीन हैं इस लिये हम तुम कैसे तृप्त हो सकते हैं.

संपत्तिविवत्तीसु य अज्जणरक्खणपरिग्गहादीसु ॥
भोगत्थं होदि णरो उध्दुयचित्तो य घण्णो य ॥ १२६६ ॥
व्याकुलीभवति प्राणी ग्रहणे रक्षणेऽर्जने ॥
नाशे संपदि तत्तस्य भोगायोत्कंठितश्चलः ॥ १३१० ॥

विजयोदया—संपत्तिविवत्तीसु य संपत्सु विपत्सु च । अज्जणरक्खणपरिग्गहादीसु द्रव्यस्य लब्धस्यार्जने, पुंजीकरणे, राशीकृतस्य रक्षणेपि । हस्ते विप्रकीर्णस्य ग्रहणे । आदिशब्देन तद्व्ययकरणे वा । भोगत्थं अनुभवार्थं । अर्जनादिषु प्रवृत्तः । उध्दुदचित्तो य घण्णो य णरो होदि चलचित्त उत्कंठावांश्च भवति नरः । द्रव्यसंपदि जातायां रागाच्चलचित्तं भवति । द्रविणादिविनाशे कथं जीवामि । पुनर्द्रव्यार्जनं करोमीति ।

भोगसाधनस्य धनस्य संपत्तावुपार्जनादिषु चलचित्तता तद्विपत्तौ च पुनस्तत्प्राप्त्युत्कलिकाकुलता च स्यादिति भोगकृतं द्वन्द्वदुःखावर्तं बोधयति—

मूलारा—परिग्गहादीसु परहस्ते विप्रकीर्णस्य द्रविणस्य स्वीकरणे स्वायत्तस्य व्ययकरणे च । उध्दुदचित्तो द्रव्य संपदि जातायां रागाच्चलचित्तः । घण्णो द्रव्यविनाशे द्रव्याभिकांक्षी कथं पुनर्धनं लप्स्ये इत्युत्कंठावान् ॥

अर्थ—संपत्तिकी प्राप्ति होनेपर उसका रक्षण करना, बढाना, दूसरोंको दी हुई संपत्तीको वापिस लेना, उसका व्यय करना, और भोगमें लाना इत्यादि कार्योंमें मनुष्यका मन चंचल और उत्कंठित होता है. द्रव्यसंपत्ति प्राप्त होनेपर मनुष्य का मन रागभावसे चंचल होता है. धनादिकोंका नाश होनेपर ' अब मैं कैसा जीऊंगा, अब पुनः द्रव्यार्जन करूंगा ऐसा विचार उत्पन्न होता है.

उध्दुयमणस्स ण सुहं सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी ॥
पीदीए विणा ण रदी उध्दुयचित्तस्स घण्णस्स ॥ १२६७ ॥
व्याकुलस्य सुखं नास्ति कुतः प्रीतिर्विना सुखम् ॥
कुतो रतिर्विना प्रीतिमुत्कंठां वहतः परम् ॥ १३११ ॥

विजयोदया—उध्दुदमणस्स व्याकुलचित्तस्य ण सुहं न सुखं भवति । सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी । सुखेन

विना कुतो भवति प्रीतिस्तृतिः। पीदीए विणा प्रीत्या विना। ण रदी न रतिः। उध्दुदचित्तस्स व्याकुलचेतसः। वण्णस्स उत्कंठाडाकिन्या गृहीतस्य ॥

मूलारा—पीदी तृतिः ॥

अर्थ—जिसका मन व्याकुल हुआ है उसको सुख होती नहीं है. सुखके विना प्रीति उत्पन्न नहीं होती है. और विना प्रीतिके रति उत्पन्न नही होती है. जिसके मनमें उत्कंठा उत्पन्न हुई है उसको व्याकुलता सताती है.

जो पुण इच्छदि रमिदुं अज्झप्पसुहम्मि णिव्वुदिकरम्मि ॥
कुणदि रदिं उवसंतो अज्झप्पसमा हु णत्थि रदी ॥ १२६८ ॥

निरस्तदारादिविपक्षसंगती रिरंसुरध्यात्मसुखे निरंतरम् ॥
रतिं विधत्तां शिवशर्मकारणे तया समा नास्ति जगत्त्रये रतिः ॥१३१२।

विजयोदया—जो पुण इच्छदि रमिदुं य. पुना रमितुं इच्छदि। सो कुणदि रदिं स करोतु रतिं। क ? अज्झप्पसुहम्मि अध्यात्मसुखे। णिव्वुदिकरम्मि निर्वृतिकरे। उवसंतो उपशांतरागकोपः। एतदुक्तं भवति। मनोज्ञामनोज्ञविषयसन्निधाने संकल्पहेतुको यौ रागद्वेषौ तौ परित्यज्य निवृत्तितृप्तिकरे अध्यात्मसुखे रतिं करोतु। अज्झप्पसमा आत्मस्वरूपविषया रतिरध्यात्मशद्वेनोच्यते। तया सदृशी रतिः। णत्थि खु न विद्यते एव। यस्मात् भोगरतिरध्यात्मनो रत्या न सदृशी ॥

भगवन्नेवं तर्हि निरंतररत्यर्थिना पुरुषेण किं विधीयतामिति पृच्छंतं परमार्थतथ्योपदेशसर्वस्वदानेनानुगृण्हंति ॥

मूलारा — इच्छदि रमिदुं नित्यं रतिमभिलषति इत्यर्थः। अज्झप्पसुहम्मि शुद्धस्वात्मानुभूत्यानंदे। णिव्वुदिअरम्मि तृप्तिकरे। कुणदु रदिं आसक्तिं। उवसंतो मनोज्ञामनोज्ञविषयसंनिधानात्मसंकल्पहेतुकौ रागद्वेषौ निवर्त्य स्वात्मदर्शनोद्यतः सन्। अज्झप्पसमा आत्मस्वरूपविषयरतिसदृशी। रदी प्रीतिः काचिदपि जगत्त्रयसारभोगानुभूतिरतिषु मध्ये ॥ उक्तं च—

यदत्र चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसां ॥
कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनाम् ॥

अपि च।

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः ॥
जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥

अर्थ–जो मनुष्य रममाण होनेकी इच्छा करता है, राग और कोप जिसके शांत हुए है वह पुरुष अध्यातम सुखमें जो कि आनंददायक है उसमें रममाण होवे. अर्थात् अपनी आत्मानुभवमें हमेशा तत्पर रहे. इष्टानिष्ट विषयकी प्राप्ति होनेपर मनमें संकल्प होता है. और इस संकल्पसे रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है. रागद्वेषोंका त्याग कर तृप्ति उत्पन्न करनेवाले आत्मानुभवरूप सुखमें प्रीति करे. क्योंकि अध्यात्मरतिके समान भोगरति है नहीं.

कथम् ?

अप्पायत्ता अज्झपरदी भोगरमणं परायत्तं ॥
भोगरदीए चइदो होदि ण अज्झप्परमणेण ॥ १२६९ ॥
स्वस्थाध्यात्मरतिर्जन्तोर्नैव भोगरतिः पुनः ॥
भोगरत्यास्ति निर्मुक्तो परया न कदाचन ॥ १३१३ ॥

विजयोदया—अप्पायत्ता स्वायत्ता । अज्झप्परदी आत्मस्वरूपविषया रतिः । परद्रव्यानपेक्षणात् । भोगरमणं भोगरतिः परायत्त परायत्ता परद्रव्यालंबनत्वात् । तेषां च कथंचिदेव सान्निध्यं कचिदेव कस्यचिदेवेति । एतेन स्वायत्ततया परायत्ततया चा साम्यमाख्यातं । प्रकारांतरेणापि वैषम्यं दर्शयति । भोगरदीए चइदो होदि भोगरत्या च्युतो भवति, न प्रच्युतो भवति । अज्झप्परमणेण अध्यात्मरत्या ॥

कथमध्यात्मरतिर्भोगरतिं तिरस्करोतीत्याह—

मूलारा—अप्पायत्ता परद्रव्यनिरपेक्षत्वात् । अज्झप्परदी आत्मस्वरूपविषया रतिः । परायत्तं बहिर्द्रव्यालंबनत्वात् । चइदो त्यक्तः । भोगरतिनिमित्तपरद्रव्याणां कचित्कदाचित्कथंचित्सान्निध्यात् । णेत्यादि । अध्यात्मरत्यालंबनस्य स्वद्रव्यस्य सर्वत्र सर्वदा सर्वथा सन्निहितत्वात् ।

अध्यात्मरति क्यों श्रेष्ठ है इसका उत्तर—

अर्थ—स्वात्मानुभवमें रति करनेके लिए अन्य द्रव्यकी अपेक्षा नहीं रहती है, भोगरतिमें अन्य पदार्थोंका आश्रय लेना पडता है. अन्य पदार्थोंकी किसीको प्राप्ति होती है और किसीको नहीं भी होती है. अतः इन दो रतिओंमें साम्य नहीं है. भोगरतीसे आत्मा च्युत होनेपर भी अध्यात्मरतिसे वह भ्रष्ट नहीं होता है. अतः इस हेतुसे भी अध्यात्मरति भोगरतिसे–श्रेष्ठ है.

अनेकविघ्नसहिता विनाशिनी च भोगरतिः, अध्यात्मरतेस्तु भाविताया न नाशो नापि विघ्न इति कथयत्युत्तर

गाथा—

भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिबहुगा ॥
अज्झप्परदीए सुभाविदाए णासो ण विग्घो वा ॥ १२७० ॥

नाशो भोगरतेरस्ति प्रत्यूहाश्च सहस्रशः ॥
नाशोऽध्यात्मरतेर्नास्ति न प्रत्यूहाः कुलश्चन ॥ १३१४ ॥

विजयोदया—भोगरदीए भोगरत्या. । णियदो णासो नियतो विनाशः । विग्घा य हुति विघ्नाश्च भवन्ति । अदियबुगा अतीव बहव. । अज्झप्परदीए अध्यात्मरते. सुभाविदाए सुष्ठु भाविताया: । णासो नाशो न विद्यते । विग्घा वा विघ्ना वा न संति । नियतं नश्वरतयाऽनश्वरतया, बहुविघ्नतया, निर्विघ्नतया च तयोर्वैषम्यमिति भावः ॥

प्रकारांतरेणाऽपि तद्वैसादृश्यं दर्शयति—

मूलारा—णियदो अवश्यंभावी । विग्घो अंतरायः ॥ अंतरान्तरा तद्विघातनिमित्तावश्यकरणीयव्यासंगानुप्रवेशात् ॥ सुभाविदाए स्वभ्यस्तायाः । विग्घो एकोऽप्यंतरायः सुभाविताध्यात्मरतेः कृतकृत्यतया व्याक्षेपासंभवात् ॥

भोगरति अनेक विघ्नोंसे भरी हुई है परंतु अध्यात्मरतिका अभ्यास करनेसे उसका न नाश होता है न उसमें कोई विघ्न भी उपस्थित होता है इसका विवेचन—

अर्थ—भोगरतीका सेवन करनेसे नियमसे आत्माका नाश होता है तथा इस रतीमें अनेक विघ्न भी उपस्थित होते हैं. अध्यात्मरतीका उत्कृष्ट अभ्यास करनेपर आत्माका नाश भी नहीं होता है और विघ्न भी नहीं आते हैं. अध्यात्मरति अनश्वर है अर्थात् नित्य है. और भोगरति नश्वर अर्थात् अनित्य है. भोगरति विघ्नोंसे युक्त होती है परंतु अध्यात्मरति निर्विघ्न है ऐसी इन दोनोंमें महान् विषमता है.

इन्द्रियसुखं शत्रुतया संकल्पनीयं तथा च तत्रादयो जन्तोर्निवृत्तेः अतीन्द्रिय सुखत्वमेव वीतरागत्वहेतुके संचरे इति मत्वा सूरिचूलामणिराह—

दुक्खं उप्पादिंता पुरिसा पुरिसस्स होदि जदि सत्तू ॥
अदिदुक्खं कदमाणा भोगा सत्तू किह ण हुंती ॥ १२७१ ॥

कुर्वन्तो देहिनां दुःखं जायंते यदि शत्रवः ॥
तदानीं न कथं भोगा लोकद्वितयदुःखदाः ॥ १३१५ ॥

विजयोदया—दुक्खं उप्पादिंता दुःखमुत्पाद्य । जदि सत्तू होंति शत्रवो भवंति । पुरिसा पुरिसस्स पुरुषाः पुरुषस्य । अदिदुक्खं कुणमाणा भोगा अतीव दुःखं कुर्वन्तो भोगा इंद्रियसुखानि । किध सत्तू ण हुंति कथं शत्रवो न भवन्ति भवन्त्येवेति । कथं भोगानां दुःखहेतुता एवं मन्यते ? इंद्रियसुखं नाम स्त्रीवस्त्रगंधमाल्यादिपरद्रव्यसंनिधानजन्यं । तच्च स्त्र्यादिकं दुर्लभतमं निर्द्रविणस्य, तेन तदर्थं कृष्यादिकर्मणि प्रयतितव्यं । ततो महानायासः । इहैव भवान्तुगामि दुःखनिमित्तं च कर्म हिंसादिषु प्रवर्तमानोऽर्जयति । तदिदं दुरंते संसारांभोधौ निमज्जयति । तत्र च निमग्नेन कतमं दुःखमनेन नावाप्यते ॥

इंद्रियसुखानामतिदुःखकरत्वप्रदर्शनेन शत्रुत्वं व्यवस्थापयंस्तत्रानादरं कारयति—

मूलारा—अदिदुक्खं इंद्रियसुखार्थं कमनीयकामिन्यादिकं सन्निधापयति । तत्सन्निधापनं च धनसाध्यमेवेति धनार्थं कृष्यादिकं करोति । तच्च कुर्वन्निरंतरं आत्मानमायासयति, हिंसादिकं च प्रवर्तयति । तथा च महान्पापबंधस्तेन च दुरंतदुःखविवर्तः संसारावर्त इति इंद्रियसुखमेव दुर्निवारदारुणदुःखकारणतः शत्रुत्वेन मुमुक्षुणा तद्भावयितव्यमिति क्षपकस्य शिक्षासर्वस्वविधानार्थमेष यत्नः कृतः सूरिशिरोरत्नेन ॥

इंद्रियसुख शत्रुसमान समझना चाहिये. इंद्रियसुखमें आदर करनेसे तृप्ति होती नहीं है. अतीन्द्रिय सुख ही वीतरागपना और संवरका कारण है ऐसा आचार्य चूडामणि कहते हैं

अर्थ—दुःख उत्पन्न करनेसे यदि पुरुष पुरुषके शत्रु होते हैं, तो अतिशय दुःख देनेवाले इंद्रियसुख क्यों न शत्रु माने जायेंगे ? इंद्रियसुख दुःखदायक कैसा इस प्रश्नका—

उत्तर—स्त्री, वस्त्र, गंध, पुष्पमाला वगैरह पदार्थोंके सांनिध्यसे इंद्रियसुख उत्पन्न होते हैं. परंतु स्त्री वगैरह पदार्थोंकी प्राप्ति होना दरिद्री मनुष्यको अतिशय दुर्लभ है. दरिद्री मनुष्यको उनकी प्राप्तीके लिये कृषि वगैरहे कर्मोंमें प्रयत्न करना पडता है. जिससे महान् परिश्रम होता है. हिंसादिकार्योंमें वह दरिद्री मनुष्य स्त्री वगैरहके लिए प्रवृत्त होता है जिससे संसार बढानेवाला और दुःखका कारण ऐसा कर्मबंध उसको होता है. यह कर्म दुःखदायक और जिसका अंत अतिकष्टसे प्राप्त होगा ऐसे संसारसमुद्रमें जीवको डुबाता है. संसारमें निमग्न हुए इस जीवको कौनसा दुःख प्राप्त नहीं होता ? अर्थात् सर्व प्रकारके दुःख इस जीवको भोगने पडते हैं.

शत्रुतया भोगा इति कथयति—

इधइं परलोगे वा सत्तू मित्तत्तणं पुणमुवेंति ॥
इधइं परलोगे वा सदाइ दुःखावहा भोगा ॥ १२७२ ॥

शत्रवो यान्ति मित्रत्वमिह वामुत्र वा भवे ॥
मित्रत्वं प्रतिपद्यन्ते भोगा लोकद्वयेऽपि नो ॥ १३१६ ॥

विजयोदया—इधइं अस्मिन्नेव जन्मनि। परलोगे वा परजन्मनि वा। सत्तू शत्रवः। मित्तत्तणं मित्रतां। पुणमुवेंति पुनर्ढौकन्ते। शत्रव शत्रुतामपि जह्यु.। कार्यवशात्, उपकारातिशयसंपादनान्मित्रतां वा यान्ति च। वाचा न स्फुटतरा। इहैव तथा परलोके वा सव्वदा दुक्खावहा भोगा सर्वदा दुःखावहा भोगा.। ततः शत्रुतमा इति भावनीयं ॥

भोगाना शत्रुतमत्वभावनार्थमाह—

मूलारा—इधइं अस्मिन्नेव जन्मनि। अन्यस्त्वेवं व्याख्यात्॥ इध इहभवे। ईं किं इह लोके परलोके इत्यर्थः। पुण उवेन्ति कार्यवशाच्छत्रवो भूत्वा पुनर्मित्रत्वं यान्ति ॥

अर्थ—इसी जन्ममें अथवा अन्य जन्ममें अपने शत्रु शत्रुत्व का त्याग कर मित्र हो सकते हैं. कार्यके वश होकर शत्रु अपना वैर छोडकर मित्र होते हैं. अथवा उनके ऊपर बहुत उपकार करनेसे भी वे अपना शत्रुत्व छोड देते हैं. परंतु इस जन्ममें अथवा जन्मांतरमें भी भोग हमेशा दुःखदायी ही हैं. इसलिए उनसे जगतमें कोई भी महान् शत्रु नहीं है,

---

एगम्मि चेव देहे करेज्ज दुक्खं ण वा करेज्ज अरी ॥
भोगा से पुण दुक्खं करंति भवकोडिकोडीसु ॥ १२७३ ॥

वैरिणो देहिनां दुःखं यच्छन्त्येकत्र जन्मनि ॥
संततं दुस्सहं दुःखं भोगा जन्मनि जन्मनि ॥ १३१७ ॥

विजयोदया—एगम्मि चेव देहे। करेज्ज दुक्ख ण वा करेज्ज अरी एकस्मिन्नेव देहे कुर्याद्दुःखं न वा शत्रुः। भोगा पुण भोगा. पुनः। से तस्य। दुक्खं करंति दुक्खं कुर्वंति। भवकोडिकोडीसु अनंतेषु भवेषु। एवं भोगदोषानवेत्यात्र निदानं त्वया न कार्यं इत्युपदिष्टं सूरिणा ॥

मूलाराधना—करेज्ज कुर्यात् । भवकोडिकोडीसु ॥ अनंतेषु भवेषु ॥

अर्थ—इस भवमें जो शरीर प्राप्त हुआ है उसको शत्रु दुःख देगा या नहीं भी. क्यों कि हम भी उसके साथ लडकर हमारे शरीरका रक्षण कर सकते हैं. अतः वह नियमसे हमारे शरीरको पीडित नहीं कर सकेगा. परंतु भोग अनंतभवोंमें इस शरीरधारक आत्माको दुःख दे रहे हैं. भोगोंके ऐसे दोषोंका स्वरूप जानकर हे क्षपक ! तूं भोगनिदान मत कर ऐसा आचार्यने उपदेश दिया है.

मधुमेव पिच्छदि जहा तडिओलंबो ण पिच्छदि पपादं ॥
तह सणिदाणो भोगे पिच्छदि ण हु दीहसंसारं ॥ १२७४ ॥
निदानी प्रेक्षते भोगान्न संसारमनारतम् ॥
मध्वेव प्रेक्षते पातं तटस्थायी न दुस्सहम् ॥ १३१८ ॥

विजयोदया—मधुमेव पिच्छदि मध्वेव पश्यति तथा तटेऽवलंबमानः । ण पिच्छदि न प्रेक्षते । पपादं प्रपातमा- त्मनः । तह तथा । सणिदाणो निदानसहितः । भोगे पिच्छदि भोगान्प्रेक्षते । ण हु पेच्छदि दीहसंसारं । नैव प्रेक्षते दीर्घसंसारं ।

भोगनिदानवतो भोगजन्यापायपरंपरानपेक्षित्वं दृष्टान्तेन भावयति—

मूलारा—मधुमेव मुखे पतन्तं क्षौद्रविन्दुमिव । तडिओलंबो कूपभित्त्येकदेशेऽवलम्बमानः । पवादं प्रपतनं ॥

अर्थ—कूपके भित्तिके एक भागपर खडा हुआ मनुष्य मधुके छत्तेसे गिरते हुए मधुबिंदुओंका आस्वाद लेनेमें ही मस्त रहता है परंतु कुएमें गिरनेका भय मनमें नहीं लाता है वैसे निदान करनेवाला मनुष्य भोगोंके पदार्थका आस्वादन लेनेमें निमग्न रहता है परंतु इससे मेरेको संसारमें दीर्घकालतक भ्रमण करना पडेगा ऐसा विचार मनमें लाता नहीं है.

जालस्स जहा अंते रमंति मच्छा भयं अयाणंता ॥
तह संगादिसु जीवा रमंति संसारमगणंता ॥ १२७५ ॥

भोगमध्ये प्रदीव्यन्ति जन्मदुःखमनारतम् ॥
अपश्यंतो मृतित्रासं जालमध्ये झषा इव ॥ १३१९ ॥

विजयोदया—जालस्स जालस्य । अंते मध्ये । जहा मच्छा रमंति यथा मत्स्या रमंते । भयमयाणंता भयमनवबुध्यमाना । तह संगादिसु तथा परिग्रहादिषु । जीवा रमंति जीवा रमंते । संसारमगणंता संसारमगणयंतः ॥

कामिन्यादिभोगेषु निर्भयक्रीडां प्राणिनां दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूलारा—अन्ते मध्ये । भयं मृत्युभीतिं । संसारमगणंतो संसारादविभ्यत इत्यर्थः ॥

अर्थ—धीवरके जालमें भयका जिनको परिज्ञान नहीं है ऐसी मछलियां जैसी खेलती कूदती हैं, वैसे संसारी जीव संसारभयसे रहित होकर स्त्री वगैरह परिग्रहमें रममाण होरहे हैं.

कुयोनिपतनमूलानींद्रियसुखानि नियोगतः प्रकृष्टयोर्द्वेषरागयोर्निमित्तत्वात् । तासु कुत्सितासु योनिषु उत्पद्य दुःखानि विचित्राणि अनुभवतः देवादिभवेषु वृत्ता भोगा वस्त्रालंकारभोजनादयो दुःखं निराकर्तुं न क्षमा इति वदति गाथाद्वयेन—

दुक्खेण देवमाणुसभोगे लद्धूण चावि परिवडिदो ॥
णियदिमदीदि कुजोणीं जीवो सघरं पउत्थो वा ॥ १२७६ ॥

प्राप्यापि कृच्छ्रतो जीवो देवमानवसंपदम् ॥
प्रवासीव निजं स्थानं कुयोनिं याति निश्चितं ॥ १३२० ॥

विजयोदया—दुक्खेण लद्धूण क्लेशेन लब्ध्वा । देवमाणुसभोगे दैवान्मानुषांश्च भोगान् । परिवडिदो परिपतितः प्रच्युतस्ततो भोगाज्जीवः । कुजोणीं णियदमदीदि कुत्सितां योनिं नियतमुपैति । किमिव ? सघरं स्वगृहं, पउत्थो वा प्रवासीव ॥

दुश्चरतपश्चरणपूर्वनिदानेन देवादिभोगान्प्राप्य भुंजानस्य मोहवृद्धिसमुल्लप्रकृष्टरागद्वेषपरिणामसंगृहीतदुष्कृतचक्रस्य नियोगेन कुयोनिपूत्पत्तिर्भवति । तत्र च दुःखान्यनुभवतस्तत्तादृक्कामिन्यादिभोगा न मनागपि परित्राणं कुर्वन्तीति गाथाद्वयेनोपदिशति—

मूलारा—दुक्खेण संयमक्लेशपूर्वकनिदानेन । परिवडिदो परिच्युतः । अदीदि उपैति । पउच्छो वा प्रवासी यथा ॥

इन इंद्रियसुखोंका उपभोग लेनेसे आत्मामें तीव्र रागद्वेष उत्पन्न होते हैं और इनसे आत्मा कुयोनिमें पडकर नाना प्रकारके दुःखोंका अनुभव लेता है. यद्यपि देवादिगतिमें वस्त्र, अलंकार, भोजनादिक भोग मिलते हैं तथापि वे इस आत्माके दुःखोंका नाश नहीं कर सकते हैं. इसी विषयका आचार्य दो गाथाओंमें वर्णन करते हैं—

अर्थ—संयमके क्लेशसे निदान वश होकर देवोंके और मनुष्योंके भोगोंकी प्राप्ति कर लेनेपर यह आत्मा प्रवासी जैसा अपने घरके प्रति गमन करता है वैसा कुत्सित योनिओंमें निश्चयसे उत्पन्न होता है.

जीवस्स कुजोणिगदस्स तस्स दुक्खाणि वेदयंतस्स ॥
किं ते करंति भोगा मदोव वेज्जो मरंतस्स ॥ १२७७ ॥

किं करिष्यंति ते भोगा योनिं यातस्य कुत्सितां ॥
किं कुर्वन्ति मृता वैद्या म्रियमाणस्य देहिनः ॥ १३२१ ॥

विजयोदया—जीवस्स कुजोणिगदस्स कुयोनिगतस्य जीवस्य। दुक्खाणि वेदयंतस्स दुःखानि वेदयमानस्य। किं ते करेंति भोगा किं ते कुर्वन्ति भोगाः स्त्रीवस्त्रादयः। नैव किंचिदपि दुःखलवमपनेतुं क्षमाः। मदो व वेज्जो वैद्यो मृतो यथा। मरंतस्स म्रियमाणस्य न किंचित्कर्तुं क्षमः॥

मूलारा—मदो मृतः। मरंतस्स म्रियमाणस्य रोगिणः॥

अर्थ—कुयोनिओंमें जीव जब दुःखानुभव लेता है तब स्त्री वस्त्रादिक पदार्थ उसका थोडासा दुःख भी हरण करनेमें समर्थ नहीं है. क्या मरा हुआ वैद्य मरनेवालेका रोगदुःख मिटा सकता है ?

जह सुत्तबद्धसउणो दूरंपि गदो पुणो व एदि तहिं ॥
तह संसारमदीदि हु दूरंपि गदो णिदाणगदो ॥ १२७८ ॥

संसारं पुनरायान्ति निदानेन नियंत्रिताः ॥
दूरं यातोऽपि पक्षीव रश्मिना निजमास्पदम् ॥ १३२२ ॥

विजयोदया—जह सुत्तबद्धसउणो यथा सूत्रेण दीर्घेण बद्धः पक्षी। दूरंपि गदो दूरमपि गतः। पुणो एदि तहिं

पुनरप्येति तमेव देशं । तह संसारमदीदि खु संसारशब्दात्परः खु शब्दो द्रष्टव्यः, तेनायमर्थः—संसारमेवाधिगच्छतीति । दूरं पि गदो महर्द्धिकं स्वर्गादिस्थानमुपगतः, णिदाणगदो निदानं परभवे सुखातिशये मनःप्रणिधानं गतः ॥

निदानिनः संसारावर्तं समर्थयते—

मूलारा—सुत्तबद्धसउणो दीर्घसूत्रनियंत्रितः पक्षी । तहिं स्वस्थानमेव । हु संसारमेवाधिगच्छतीत्यर्थः । दूरं महर्द्धिकस्वर्गादिस्थानं । णिदाणगदो परभवसुखादिशायिमनःप्रणिधानं प्राप्तः ॥

अर्थ—दोरीसे बंधा हुआ पक्षी दूर जाकर भी पुनः अपने पूर्व स्थानपर आता है वैसा यह जीव भी निदानके प्रभावसे महाऋद्धिसंपन्न स्वर्गादि स्थानमें जाकर पुनः संसारमें भ्रमण करता है.

कश्चिद्रुद्धः कारागृहे इयता कालेन तव द्रविणं दास्यामि मयवीयमेव तावत्प्रयच्छेति गृहीत्वा द्रव्यं रोधकेभ्यः प्रदाय स्वगृहे सुखं वसन्नपि पुनर्यथा तैरुत्तमर्णैर्धार्यते तथैव निदानकारी कृतेन पुण्येन परिप्राप्तस्वर्गोऽपि पुनरधः पततीति निगदति—

दाऊण जहा अत्थं रोधणमुक्को सुहं घरे वसइ ॥
पत्ते समए य पुणो रुंभइ तह चेव धारणिओ ॥ १२७१ ॥

अधमर्णो निजे गेहे रोधमुक्तो सुखं वसेत् ॥
दत्वार्थं समये प्राप्ते यथा भूयो निरुध्यते ॥ १२२३ ॥

विजयोदया—दाऊण दत्वा, अत्थं अर्थं, जह यथा, रोधणमुक्को रोधेन मुक्तः, सुहं घरे वसदि खु सुखेन गृहे वसति । पत्ते समये य प्राप्ते चावधिकाले, पुणो रुंभइ पश्चाच्च रुंध्यते, तथा चेव पूर्ववदेव, धारणिओ अधमर्णः ॥

निदानेन दिवं प्राप्य पुनरधमयोनिषु पततीति निदर्शनपुरःसरं गाथाद्वयेनोपदिशति—

मूलारा—अत्थं कलांतरस्कंधकादिद्रव्यं । रोधणमुक्को धरणकाद्विच्युतः । समए इयता कालेन पुनर्दास्यामि इति प्रतिपन्नावधिकाले । रुंभदि धरणके ध्रियते । तथा चेव पूर्ववदेव । धरणिगो अधमर्णः ॥

कारागृहमें कैद किया हुआ कोई मनुष्य इतने दिनके अनंतर मैं तुह्मारा द्रव्य देऊंगा इस समय तुम अपना धन मेरेको दो ऐसा कहकर उनसे धन लेकर वह कैदमें रखनेवालोंको देकर उनसे अपनी मुक्तता कर लेता है. घरमें जाकर वह सुखसे रहता है. परंतु पुनः वे कर्जा देनेवाले धनिक आकर उसको पकडते हैं. वैसी

ही निदान करनेवालेकी परिस्थिति होती है. अर्थात् निदानकारी मनुष्य किए हुए पुण्यसे स्वर्गप्राप्ति कर लेनेपर भी पुनः अधोगतिमें चला जाता है. इसी अभिप्रायको स्पष्ट करते हैं–

अर्थ–कर्ज लेनेवाला पुरुष धन देकर कैदसे मुक्त होता है और घरमें आकर सुखसे रहने लगता है. परंतु जब पुनः साहुकारको धन चुकानेका काल प्राप्त होता है तब पुनः वह कर्जा लेनेवाला पुरुष कैदमें डाला जाता है. वैसे—

दार्ष्टान्तिके योजयति—

तह सामण्णं किच्चा किलेसमुक्कं सुहं वसइ सग्गे ॥
संसारमेव गच्छइ तत्तो य चुदो णिदाणकदो ॥ १२८० ॥
संभूदो वि णिदाणेण देवसुक्खं च चक्कहरसुक्खं ॥
पत्तो तत्तो य चुदो उववण्णो णिरयवासम्मि ॥ १२८१ ॥

इदानीं चरणं कृत्वा सुखं भुक्त्वाऽवतिष्ठते ॥
त्रिदिवे समये प्राप्ते तथा याति पुनर्भवम् ॥ १३२४ ॥
देवश्चक्री सुखं भुक्त्वा संभूतो हि निदानतः ॥
निरंतरं महादुःखं प्राप्तश्च प्रतिवासितम् ॥ १३२५ ॥

विजयोदया—संभूदो वि णिदाणेण निदानेन संभूतः कश्चित् , देवसुक्खं देवसुखं , चक्कधरसोक्खं चक्रधरसौख्यं , पत्तो प्राप्तः । तत्तो य चुदो तस्मात्सुखात्प्रच्युतः , णिरयवासम्मि निरयवासे ॥

मूलारा–णिदाणकदो एतत्तपोनुभावेन देवलोको मे भूयादिति निदानं कृतं येनासौ ॥

भोगनिदानदोषमर्थाख्यानेनाख्याति——

मूलारा——संभूदो संभूतनामकः कुटुम्बिकपुत्रः । देवसोक्खं सौधर्मकल्पवासिसुरसुखं । चक्कधरसोक्खं ब्रह्मदत्ताख्यद्वादशचक्रवर्तिशर्म ॥

अर्थ—निदानयुक्त तप करके कोई पुरुष स्वर्गमें सुख भोगता हुआ काल व्यतीत करता है. परंतु वहांका आयुष्य समाप्त होनेके अनंतर वह पुरुष स्वर्गसे च्युत होकर संसारमें भ्रमण करता है.

अर्थ—सभूत नामक कोइ किसानका लडका निदान युक्त तप करके सौधर्म स्वर्गके सुखका उपभोग लेकर यहां भरत क्षेत्रमें ब्रह्मदत्त नामक अन्तिम बारहवां चक्रवर्ति हुआ. चक्रवर्तीके सौख्य भोगकर चक्रवर्ति पदसे भ्रष्ट होकर नरकगतीमें सातवे नरकमें उत्पन्न हुआ.

णच्चा दुरंतमद्धुयमत्ताणमतिप्पयं अविस्सायं ॥
भोगसुहं तो तम्हा विरदो मोक्खे मदिं कुज्जा ॥ १२८२ ॥

अतर्पकमविश्रामं भोगसौख्यं विनश्वरम् ॥
दुरंतं सर्वथा त्यक्त्वा मुक्तिसौख्ये मतिं कुरु ॥ १३२६ ॥

विजयोदया—णच्चा ज्ञात्वा, दुरवसानदुःखफलमिति यावत्, अद्धुवं अनित्यं, अत्ताणं अत्राणं, अतिप्पगं अतर्पकं, अविस्सायं असकृद्भुक्तं, भोगसुखं भोज्यते सेव्यते इति भोगा. स्त्र्यादयः, तैर्जनितं सुखं, तो पश्चात्, तम्हा पश्चात् भोगसुखात्, दुरंतादिद्दष्टदोषात्, विरदो व्यावृत्तः, मोक्खे मोक्षे निरवशेषकर्मापाये । मदिं कुज्जा मतिं कुर्यात्, अनुष्ठीयमानेन चारित्रेण तपसा वा कर्मक्षयोऽस्तीति मतिं कुर्यात्, न निदानं कुर्यादित्यर्थः ॥

एवं भोगनिदाने दोषान्प्रपंच्य भोगसुखदोषानुवादपुरःसरं तपसा कर्मक्षयोऽस्तीति भावनीयत्वेनोपदिशति—

मूलारा—णच्चा ज्ञात्वा । दुरंतं दुरवसानं । दुःखफलमिति यावत् । अत्ताणं अरक्षकं, रक्षितुमशक्यमिति वा । अतिप्पयं अतृप्तिकरं । अविस्समं असकृद्भुक्तं । अनादिसंसारेऽनेकवारान्भुक्तत्वात । तो पश्चात् । मदिं अनुष्ठीयमानेन तपः संयमादिना कर्मक्षयोऽस्तीति बुद्धिं न निदानं ॥

अर्थ—यह भोगसुख अन्तरहित ऐसे दुःखरूप फलको देता है, अनित्य हैं, इससे जीवका संरक्षण नहीं होता है अर्थात् कुगतिमें जानेवाले जीवको यह भोगसुख उससे संरक्षण नहीं करता है. इस भोगसुखसे जीव तृप्त नहीं होता है. यह सुख जीवको वार वार प्राप्त होता है. एवं दोषविशिष्ट इस भोगसुखका जब ज्ञान होता है तब यह आत्मा संपूर्ण कर्मका नाश करनेवाले मोक्षसुखमें अपनी बुद्धिको लगाता है. अतः हे क्षपक ! आचरणमें लाये हुए रत्नत्रयसे और तपसे कर्मक्षय होता है ऐसा समझकर तूं निदानका त्याग कर.

१२६४

निदानदोपं विस्तरत उपदर्श्य अनिदानत्वे गुणं व्याचष्टे—

अणिदाणो य मुणिवरो दंसणणाणचरणं विसोधेदि ॥
तो सुद्धणाणचरणो तवसा कम्मक्खयं कुणइ ॥ १२८३ ॥

विशोध्य दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयं यतिः ॥
निर्निदानो विशुद्धात्मा कर्मणां कुरुते क्षयम् ॥ १३२६ ॥

विजयोदया—अणिदाणो य मुणिवरो अनिदानो यतिवृषभः, दंसणणाणचरणं रत्नत्रयं विसोधेदि विशोधयति, निदानाभावादनतिचारं सम्यग्दर्शनं शुद्धं भवति, तस्मिन्निर्मलं ज्ञानं, विशुद्धज्ञानपुरोगं चारित्रं विशुद्धं भवति, तवसा कम्मक्खयं कुणदि तपसा कर्माणि निरवशेषाणि वियोजयत्यात्मनः ॥

एवं निदानदोपान्विस्तरेण व्याख्याय संप्रत्यनिदानत्वे गुणं व्याचष्टे—

मूलारा—विसोधेदि निदानाभावाद्धि निरतिचारे सति सम्यक्त्वे, जातायां ज्ञानविशुद्धौ, चारित्रं विशुद्धं संपद्येत॥

निदानके दोषोंका सविस्तर विवेचन हुआ. निदान नहीं करनेमें क्या गुण है इनका विवेचन—

अर्थ—जिन्होंने निदान नहीं किया है ऐसे मुनिराज अपना रत्नत्रय निरतिचार करते हैं. निदानके अभाव से सम्यग्दर्शन निर्मल होता है निर्मल सम्यग्दर्शन ज्ञानको निर्मल बनाता है. विशुद्ध ज्ञानके साथ पाला गया चारित्र भी निर्मल होजाता है. इस तरहसे निर्मल रत्नत्रयधारक साधु तपश्चरणके द्वारा संपूर्ण कर्मोंको अपने आत्मासे अलग करता है.

इच्चेवमेदमविचिंतयदो होज्ज हु णिदाणकरणमदी ॥
इच्चेवं पस्संतो ण हु होदि णिदाणकरणमदी ॥ १२८४ ॥

दोषानिति सुधीर्बुद्ध्वा निदानं विदधाति नो
जानानो दारुणं मृत्युं को हि भक्षयते विषम् ॥ १३२७ ॥
लुंपति पातकलोपि चारित्रं सिद्धिसुखं विधुनोति पवित्रम् ॥
देहवतामुरुदोषनिधानं किं कुशलो न श्रृणाति निदानम् ॥ १३२८ ॥

विजयोदया—इच्चेयमेदमविचिंतयदो इत्येवमेतद्वस्तुजातं अविचिंतयतः॥ होज्ज दु मयेदेव, णिदाणकरणमदी निदानकरणे मतिर्बुद्धिः, एवं पस्संतो इत्येवमेतत्पश्यन्, न खु नैव, होदि भवति णिदाणकरणमदी निदानकरणमतिः ॥ णिदाणं ॥

एवंविधभावनानुष्ठानानुष्ठानयोः फले ब्रवीति—

मूलारा—इच्चेयमेवं इति प्राक्प्रबंधेनोक्तं। वस्तु। एवमेव इत्थमिदं। अविचिंतयतो अध्ययतोऽध्ययित्वा ॥

अर्थ-उपर्युक्त बातोंका जो पुरुष विचार नहीं करता है उसकी बुद्धि निदान करनेके तर्फ लगती है. परंतु जो इन बातोंका विचार करता है वह निदान नहीं करता है. निदान करनेसे रत्नत्रयमें निर्मलता आती है और तपके द्वारा कर्मका क्षय होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसा विचार करनेवाला मुनि निदानका त्याग करता है. परंतु भोगोंमें जिसकी बुद्धि लुब्ध हो गई है वह मुनि रत्नत्रयकी निर्मलताके तर्फ ध्यान नहीं देता है अतः वह निःशल्य नहीं होनेसे संसारमें भ्रमण करता है.

मायासल्लस्सालोयणाधियारम्मि वण्णिदा दोसा ॥
मिच्छत्तसल्लदोसा य पुव्वमुववण्णिया सव्वे ॥ १२८५ ॥

आलोचनाधिकारस्य मायाशल्यस्य दूषणं ॥
उक्तं मिथ्यात्वशल्यस्य मिथ्यात्ववमनस्तवे ॥ १३२९ ॥

विजयोदया—मायासल्लस्स मायाशल्यस्य, आलोयणाधिकारम्मि आलोचनाधिकारे वण्णिदा दोसा वर्णिता दोषा, मिच्छत्तसल्लदोसा मिथ्यात्वशल्यदोषाश्च। सव्वे सर्वे, पुव्वमुववण्णिदा पूर्वमेव व्यावर्णिताः, शल्यत्रयगतदोषा भवतो व्यावर्णिता इत्यनेन सूरिरेतत्कथयति आबुद्धदोषेण शल्यत्रयं त्वया त्याज्यमिति ॥

मायामिथ्यात्वशल्यदोषान्प्रयुक्तान्क्षपकमनुस्मारयति—

मूलारा—पुव्वं मिथ्यात्ववमनवर्णनाधिकारे ॥

अर्थ—आलोचनाके अधिकारमें मायाशल्यके दोषोंका वर्णन ग्रंथकारने किया है. मिथ्यात्वशल्यके दोषोंका भी पूर्वमें वर्णन हो चुका है. हे क्षपक[1] तुझको इन तीनों शल्योंके दोषोंका परिज्ञान हुआ है अतः तू इन तीनों शल्योंका त्याग कर.

मायाशल्यपरित्यागाभावे दोषमर्थाख्यानेन दर्शयति—

पब्भट्ठबोधिलाभा मायासल्लेण आसि पूदिमुही ॥
दासी सागरदत्तस्स पुप्फदंता हु विरदा वि ॥ १२८६ ॥
मायाशल्येन ही बोधेः प्रभ्रष्टा कुथितानना ॥
दासी सागरदत्तस्य पुष्पदंतार्जिकाभवे ॥ १३३० ॥

विजयोदया—पब्भट्ठबोधिलाभा विनष्टो दीक्षाभिमुखबुद्धिलाभो यस्याः सा प्रभ्रष्टबोधिलाभा । आसी आसीत् । का ? पूदिमुही पूतिमुखीसंज्ञिता । सागरदत्तस्स दासी सागरदत्तवैश्यस्य दासी । केन ? मायासल्लेण माया शल्येन । पुप्फदंता हु विरदा वि मायासल्लेण पब्भट्ठबोधिलाभा आसी इति पदसंबंधः पुष्पदंताख्या संयता च मायया प्रभ्रष्टबोधिलाभा आसीत् । मायाशल्यं ॥

मायाशल्यफलमर्थाख्यानेन कथयति—

मूलारा—बोधि दीक्षाभिमुखबुद्धिः । आसि संजाता। पूदिमुही पूतिमुखीत्यन्वर्थनाम्नी । विरदा वि आर्यिकापि सती ॥

मायाशल्यका त्याग न करनेसे जिसका नुकसान हुआ था ऐसी व्यक्तिका दृष्टांत आचार्य कहते हैं—

अर्थ—पुष्पदंता नामकी आर्यिका मायाशल्यसे दीक्षाके विचारसे रहित हुई अर्थात् मैंने दीक्षा आत्मकल्याणके लिये धारण की है ऐसी भावना मायाशल्यसे उसकी नष्ट हुई और वह मरकर सागरदत्तके यहां पूतिमुखी नामकी दासी हुई. इस तरह मायाशल्यका वर्णन हुआ.

मिच्छत्तसल्लदोसा पियधम्मो साधुवच्छलो संतो ॥
बहुदुक्खे संसारे सुचिरं पडिहिंडिओ मरिची ॥ १२८७ ॥
विद्धो मिथ्यात्वशल्येन धार्मिको वत्सलाशयः ॥
मरीचिरभ्रमद्भीमे चिरं संसारकानने ॥ १३३१ ॥

निदानमायाविपरीतदर्शनैर्विदार्यतेऽङ्गी निशितैः शरैरिव ॥
विबुध्य दोषानिति शुद्धबुद्धयस्त्रिधापि शल्यं दवयन्ति यत्नतः ॥१३३२॥
इति शल्यम् ॥

विजयोदया—मिच्छत्तसल्लदोसा मिथ्यात्वशल्यदोषात् । पियधम्मो साधुवच्छलो संतो प्रियधर्मः साधूनां वत्सलोऽपि सन् मरीचिः । बहुदुक्खे संसारे सुचिरं पडिहिंडिओ संसारे सुचिरं भ्रांतः, कीदृशे ? बहुदुःखे ॥ मिथ्याशल्यं ॥

मिथ्यात्वशल्यापकारमर्थाख्यानेन आह—

मूलारा—मरिची मरीचिकुमारः । पंचमहाव्रतधरा ॥

अर्थ—जिसका धर्मपर प्रेम था और जिसमें साधुओंके प्रति वात्सल्य था ऐसे मरीचिनामक मुनिने मिथ्यात्व शल्य दोषसे चिरकालतक अनेक दुःखोंसे व्याप्त संसारमें भ्रमण किया. इस प्रकार मिथ्यात्वशल्यका वर्णन हुआ.

एवं निर्यापकेण सूरिणा संस्तूयमानः साधुवर्गो निर्वाणपुरं प्रविशतीति दर्शयति उत्तरप्रबंधेन—

इय पव्वज्जाभंडिं समिदिवइल्लं तिगुत्तिदिढचक्कं ॥
रादियभोयणउद्धं सम्मत्तक्खं सणाणधुरं ॥ १२८८ ॥

प्रव्रज्यागंत्रिकां गुप्तिचक्रां ज्ञानमहाधुरं ॥
समित्युक्षाणमारुह्य क्षपको दर्शनादिकम् ॥ १३३३ ॥

विजयोदया—इय सारविज्जंतो साधुवग्गसत्थो साधुवणियगो संसारमहाडविं तरदित्ति पदघटना । व्यावर्णितक्रमेण संक्रियमाणः साधुवृंदसार्थः संसारमहाटवीं तरति । पव्वज्जाभंडिमारुहिय पच्छिदो प्रव्रज्याभंडिमारुह्य प्रस्थितः, समिदिवइल्लं समितियलीवर्दां, तिगुत्तिदिढचक्कां त्रिगुप्तिदृढचक्रां, सम्मत्तक्खं सम्यक्त्वाक्षां, सणाणधुरं समीचीनज्ञानधूर्वर्ती ॥

सांप्रतं सामान्यविशेषाभ्यामिंद्रियकषायनिर्जयं व्याचिख्यासुः पूर्वं सामान्येन तद्दोषान्वक्तुं गाथात्रिपष्टया प्रक्रमते । तद्विषयविशेषसिध्यर्थं च तावत्प्रबंधेन व्याख्यातमर्थं सुखस्मृत्यर्थमुपसंगृह्य गाथाद्वयेनोपमालंकारसुभगमभिधत्ते—

मूलारा—पव्वज्जाभंडिं प्रव्रज्या दीक्षा सा भंडिरिव गंत्रिका यथेति यावत् । बहुबाधभारक्षमत्वात् । रादिअभोयणउद्धिं रात्र्यभोजनं द्रव्यतो भावतश्च रात्रिभोजननिवृत्तिद्वयं दीर्घदंडिकाद्वयं यस्याः सा रात्र्यभोजनाद्धि संतविधेरनिलत्वाभाव कप् ॥ १२६८

निर्यापक आचार्यके द्वारा स्तुति किए हुए साधु मोक्षनगरीमें प्रवेश करते हैं इस विषयका विवेचन आगे आचार्य करते हैं–

अर्थ—जो उपदेशका क्रम यहांतक आचार्य महाराजने बताया है उससे जब साधुसमूहरूपी सार्थ संस्कृत किया जाता है तब वह संसाररूपी महान् जंगलके दूसरे किनारेपर सुखसे जा सकता है अन्यथा नहीं. जिसको समितीरूपी बैल जोडे हैं, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिरूपी पहिये जिसके हैं सम्यक्त्वरूपी आंख और सम्यग्ज्ञान जिसकी धुरा है, और द्रव्यरात्रिभोजन साक्षात् रातमें आहार लेना और भावरात्रिभोजन–रात्रौ भोजनकी मनमें अभिलाषा करना इन दोनोंका त्याग ही जिसके दीर्घ दंड है ऐसी दीक्षारूपी गाडीपर सवार होकर साधुरूपी व्यापारिओंका समुदाय संसाररूपी महाजंगलके दूसरे किनारेको सुखसे जाता है.

वदभंडभरिदमारुहिदसाधुसत्थेण पत्थिदो समयं ॥
णिव्वाणभंडहेदुं सिद्धपुरीं साधुवाणियओ ॥ १२८९ ॥

प्रस्थितः साधुसार्थेन व्रतभांडभृता सह ॥
सिद्धिसौख्यमहाभांडं ग्रहीतुं सिद्धिपत्तनम् ॥ १३३४ ॥

विजयोदया—वदभंडभरिदं व्रतभांडपूर्णं । साधुसत्थेण पत्थिदो साधुसार्थेन सह प्रस्थितः । किं प्रति ? सिद्धिपुरं । णिव्वाणभंडहेदुं निर्वाणद्रव्यनिमित्तं साधुवाणियगो क्षपकसाधुवणिक् ॥

मूलारा—भंडं क्रयणकं । समयं सह । णिव्वाण सिद्धिसुखं । साधुवाणियओ क्षपकयतिवणिक् ॥

अर्थ—साधुरूप व्यापारिओंके साथ इस क्षपकरूप व्यापारीने दीक्षारूपी—व्रतरूप माल भर दिया है और वह इसको बेचकर मोक्षरूपी मालकी खरीदी करनेके लिये सिद्धिपुरको रवाना हो रहा है.

आयरियसत्थवाहेण णिज्जउत्तेण सारविज्जंतो ॥
सो साहुवग्गसत्थो संसारमहाडविं तरइ ॥ १२९० ॥

सार्थः संस्क्रियमाणोऽसौ भीमां जन्ममहाटवीम् ॥
आचार्यसार्थवाहेन महोद्योगेन लंघते ॥ १३२५ ॥

विजयोदया—आयरियसत्थवाहेण आचार्यसार्थवाहेन । णिच्चजुत्तेण सर्वदानपयिना सारविज्जंतो संस्क्रियमाणः ।

तथाभूतक्षपकस्य यतिविशिष्टस्य यतिवृंदस्य संसारलंघनोपायमाह—

मूलारा—णिच्चजुत्तेण सततसमाहितेन । सारविज्जंतो संस्क्रियमाणः । पुनः पुनरपायहेतुव्यावर्तनोपाये नियुज्यमान इत्यर्थः । सो तत्ताहगाराधकसाधुविशिष्टः । सत्थो वाणिज्योद्यतः । वणिक्संघातः तरदि अतिक्रामति ॥

अर्थ—आचार्यरूपी व्यापारिओंके नायकके द्वारा जो कि सर्वदा सावधान रहता है संस्कारयुक्त हुवा यह साधुरूप व्यापारिओंका समुदाय संसाररूपी जंगलको तीरकर मोक्षपुरको सुखसे जाता है.

तो भावणादियंतं रक्खदि तं साधुसत्थमाउत्तं ॥
इंदियचोरेहिंतो कसायबहुसावदेहिंतो ॥ १२९१ ॥

तं भावनामहाभांडं त्रायते भवकानने ॥
कषायव्यालतः सूरिरिंद्रियस्तेनतस्तथा ॥ १३२६ ॥

विजयोदया—तो ततः । भावणादियंतं रक्खदि भावनादिभिः प्रयत्नं रक्षति । साधुसत्थं तं साधुसार्थं तं । आउत्तं आयुक्तं आत्मना । कुतो रक्षति इत्याशंकायां उत्तरं-इंदियचोरेहिंतो इंद्रियचौरेभ्यः, कसायबहुसावदेहिंतो । कषायबहुश्वापदेभ्यश्च ॥

मोक्षपथप्रस्थायिनो यतिवृंदस्याचार्यकार्यमिंद्रियकषायसंपाद्यापायपरित्राणमाह—

मूलारा—तो सः सार्थवाहायमानो धर्माचार्यः । भावणादिजुत्तं भावना रात्रिभोजननिवृत्त्यष्टप्रवचनमातृकाभिर्युक्तं महाभवेषु प्रयत्नपरं । जुत्तमिति कचित्पाठः । आजुत्तो सर्वत्रोद्यतः । आजुत्तमिति कचित्पाठः । चोरेहिंतो चोरेभ्यः । स्वाध्यायध्यानप्रवर्तनेन प्रमादाद्व्यावर्तयन्निंद्रियमत्यनुयायिरागद्वेषक्रियमाणसंयमबाधारहितं यतिवर्गं सूरिः करोतीति भावः ॥

अर्थ—रात्रिभोजनत्याग, पंच महाव्रत, गुप्ति समिती इनमें प्रयत्न करना एतत्स्वरूप भावनाओंसे आचार्य साधुरूप सार्थको इंद्रियचारोंसे और कषायरूप हिंस्र प्राणिओंसे रक्षण करते हैं.

विसयाडवीए मज्झे ओहीणो जो पमाददोसेण ॥
इंदियचोरा तो से चरित्तभंडं विलुंपंति ॥ १२९२ ॥

प्रमादवशतो यातो भ्रष्टो विषयकानने ॥
तदीयं व्रतसर्वस्वं लुप्यतेऽक्षमलिम्लुचैः ॥ १३३७ ॥

विजयोदया—विसयाडवीए मज्झे स्पर्शरसरूपगंधशब्दादिविषया अटवीव ते दुरतिक्रमणीयाः । तस्या विषयाटव्या मध्ये जो ओहीणो य साधुरपसृतः। पमाददोसेण प्रमादाख्येन दोषेण। इंदियचोरा इंद्रियाख्याश्चोराः । से तस्य साधुवणिजः । चरित्तभंडं चरित्रभांडं । विलुंपंति अपहरंति । सन्निहितमनोज्ञामनोज्ञविषयजाः इंद्रियमत्यनुयायिनो रागद्वेषाश्चारित्रं विनाशयंति प्रमादिनः । आचार्यस्तु ध्याने स्वाध्याये प्रवर्तयन् प्रमादमपसारयतीति नेंद्रियचौरैर्बध्यंते इति भावः॥

विकथाद्यन्यतमप्रमादेन यतिवर्गादपसृतस्य मुमुक्षोरिंद्रियकषायसाध्यं संयमधनस्य रत्नत्रयगात्रस्य वा क्षतिं गाथाद्वयेन लक्षयति —

मूलारा—जो साधुवणिक् । ओहीणो अपसृतः । सार्थाद्बहिर्भवतित इत्यर्थः । तो सार्थापसरणादनंतरमेव विलुंपंति रागद्वेषहस्तैः ॥

अर्थ—प्रमादके वश होकर जो साधु स्पर्श, रूप, गंध, रस और शब्द इत्यादि इंद्रियविषयरूपी अटवीमें प्रविष्ट हुआ है उसका चारित्ररूपी मांडवल इंद्रियरूपी चोर हर लेते हैं. जब साधु प्रमादी होते हैं तब समीपके इष्ट और अनिष्ट पदार्थ देखकर उनके मनमें रागद्वेष उत्पन्न होते हैं. जिससे उनका चारित्र नष्ट होता है. आचार्य प्रमादके वशीभूत मुनिओंको ध्यान और स्वाध्यायमें प्रवृत्त करके उनका प्रमाद दूर करते हैं तब वे इंद्रियचोर उनको बाधा नहीं देते हैं ऐसा इस गाथाका भाव है.

अहवा तह्छिच्छाइं कूराइं कसायसावदाइं तं ॥
खज्जंति असंजमदाढाइं किलेसादिदंसेहिं ॥ १२९३ ॥

तमसंयमदंष्ट्राभिः संक्लेशदशनैः शितैः ॥
कषायश्वापदाः क्षिप्रं दूरक्षा भक्षयन्ति च ॥ १३३८ ॥

विजयोदया—अद्दवा अथवा। तह्लिच्छाइं अपसृतजनलिप्सावंतः। कूराइं कूराः। कसायसावदाइं कषायव्याला मृगाः। तं अपसृतं। खज्जंति भक्षयेयुः। असंजमदाढाहिं असंयमदंष्ट्राभिः। किलेसादिदंसेहिं क्लेशादिदंशैश्च। इंद्रियाणां-कषायाणां या वशे निपतत्यसति निर्यापके सूराविति भावः।

मूलारा—तह्लिच्छाइं अपसृतजनलिप्सावंतः। सर्वे च्युतजनग्रसनपरा इत्यर्थः। कूराइं निर्दयाः। कसायसावदाइं क्रोधादिव्यालमृगाः। खज्जं भक्षयेयुः। संकिलेसादिदंसेहिं संक्लेशा रागद्वेषमोहाः। आदिशब्देन परिषहादिक्लेशाः त एव दंशा दशना दन्तास्तैश्च।

अर्थ—अथवा विषयारण्यमें प्रवेश किये हुए अर्थात् मुनिसार्थसे भ्रष्ट हुए मुनिको चाहनेवाले, पकडनेकी इच्छा करनेवाले क्रूर कषायरूपी हिंस्र प्राणी असंयमरूपी दाढाओंसे परीषह, रागद्वेष मोह वगैरह दांतोंसे भक्षण करते हैं. जब प्रमाद वश हुए मुनिओंको सुधारनेवाले आचार्यका अभाव रहता है तब मुनिओंकी क्या परिस्थिति होती है इसका इस गाथामें उल्लेख किया है.

तयोरिंद्रियकषाययोः प्रवृत्तिरनेकदोषमूलेति कथयति—

ओसण्णसेवणाओ पडिसेवंतो असंजदो होइ ॥
सिद्धिपहपच्छिदाओ ओहीणो साधुसत्थादो ॥ १२९४ ॥
इंदियकसायगुरुगत्तणेण सुहसीलभाविदो समणो ॥
करणालसो भवित्ता सेवदि ओसण्णसेवाओ ॥ १२९५ ॥

यः साधुःसार्थतो भ्रष्टः सिद्धिमार्गानुयायिनः ॥
सोऽवसन्नक्रियाः साधुः सेवमानोऽस्त्यसंयतः ॥ १३३९ ॥
कषायाक्षगुरुत्वेन तपस्वी सुखभावनः ॥
अवसन्नक्रियो भूत्वा सेवते करणालसः ॥ १३४० ॥

[इति अवसन्नः]

विजयोदया—इंद्रियकसायगुरुगत्तणेण तीव्रेंद्रियकषायपरिणामतया । सुहसीलभाविदो समणो सुसमाधिभावितः श्रमणः। करणालसो त्रयोदशविधासु क्रियासु अलसः । भवित्ता भूत्वा। सेवदि सेवते। ओसण्णसेवाओ अघसन्नसेवाः। भ्रष्टचारित्राणां क्रियासु प्रवर्तते इति यावत् ॥ ओसण्णो ॥

इंद्रियकषायपरतंत्रतया साधुसंघाटकबहिश्चरमवसन्नादिरूपेण संयमभ्रंशं व्याचिख्यासुरादावयसन्नं गाथाद्वयेनाह-

मूलारा—ओसण्णसेवणाओ भ्रष्टचारित्राणां क्रियाः । पडिसेवंतो मार्गप्रातिलोम्येन भजन् ॥ भ्रष्टक्रियाचरणकारणं भणति—

मूलारा—गरुगत्तणेण तीव्रपरिणामेन । सुहसीलभाविदो शर्मैकामतायासितः । करणालसो आवश्यककायक्लेशस्वाध्यायध्यानेषु, त्रयोदशसु क्रियासु वा शिथिलः । अवसन्नः ॥

इंद्रियकषायोंमे प्रवृत्ति करनेसे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा कहते हैं.

अर्थ–भ्रष्टचारित्र मुनिओंकी क्रिया रत्नत्रयमार्गके विरुद्ध होकर जब मुनि करते हैं तब वे मोक्षमार्गसे भ्रष्ट होते हैं। और साधुवर्गसे अलग रहते हैं. अर्थात् संघका त्यागकर स्वच्छंद होते हैं. तीव्र कषाययुक्त होकर मुनि इंद्रियोंके विषयोंमें आसक्त होते हैं. इस आसक्तिसे वे सुखशील होकर समिति, गुप्ति और महाव्रत ऐसे तेरह प्रकारके चारित्रमे आलसी होजाते हैं, और भ्रष्ट मुनिओंके आचरणमें प्रवृत्ति करते हैं.

केई गहिदा इंदियचोरेहिं कसायसावदेहिं वा ॥
पंथं छंडिय णिज्जंति साधुसत्थस्स पासम्मि ॥ १२९६ ॥
हृषीकतस्करैर्भीमैः कषायश्वापदैरपि ॥
विमोच्य नीयते मार्गे साधुः सार्थस्य पार्श्वतः ॥ १३४१ ॥

विजयोदया—केई गहिदा इंदियचोरेहिं केचिद्गृहीता इंद्रियचौरैः । कसायसावदेहिं तहा तथा कषायश्वापदैश्च गृहीताः। साधुसत्थस्स पंथं छंडिय साधुसार्थस्य पंथानं त्यक्त्वा । पासम्मि णिज्जंति पार्श्वं यांति ॥ पार्श्वस्थं गाथापंचकेनाह—

मूलारा—छंडिय त्याजयित्वा । पासाओ पार्श्वे रत्नत्रयाभास इत्यर्थः ।

अर्थ–कितनेक मुनि इंद्रियरूपी चोर और कषायरूप हिंस्र प्राणिओंसे जब पकडे जाते हैं तब साधुरूप व्यापारिओंका त्याग कर पार्श्वस्थ मुनिके पास जाते हैं.

तो साधुसत्थपंथं छंडिय पासम्मि णिज्जमाणा ते ॥
गारवगहणकुडिल्ले पडिदा पावेंति दुक्खाणि ॥ १२९७ ॥

साधुः सार्थं परित्यज्य नीयमानो महाभयम्॥
सहते दारुणं दुःखं प्राप्तो गौरवकाननम् ॥ १३४२ ॥

विजयोदया—तो साधुसत्थपंथं साधुसार्थस्य पंथानं। छंडिय त्यक्त्वा। पासम्मि पार्श्वे। णिज्जमाणा ते नीयमानास्ते। गारव चिरऋद्धिरसासातगौरवसंछन्ने गहने। पडिदा पतिताः। पावेंति प्राप्नुवन्ति। दुक्खाणि दुःखानि॥

मूलारा—गारवगहणकडिल्ले रिद्धिरससातगौरवनिविडकंटकवान् ॥

अर्थ–वे मुनि साधुसार्थका मार्ग छोडकर पार्श्वस्थ मुनिके पास जब जाते हैं तब ऋद्धिगर्व, रसगर्व और सातगर्व इनसे व्याप्त जंगलमें पडकर दुःख भोगते हैं.

सल्लविसकंटएहिं विद्धा पडिदा पडंति दुक्खेसु ॥
विसकंटयविद्धा वा पडिदा अडवीए एगागी ॥ १२९८ ॥

शल्यदुःकंटकैर्विद्धाः पतिता दुःखमासते ॥
एकाकिनोऽटव्यां याता विद्धा वा विषकंटकैः ॥ १३४१ ॥

विजयोदया—सल्लविसकंटएहिं विद्धा मिथ्यात्वमायानिदानशल्यकंटकैर्वा विद्धाः। पडिदा पतिताः। दुक्खेसु पडंति दुःखेषु पतंति। विसकंटयविद्धा वा अडवीए एगागी पडिदा इव विषकंटकेन विद्धा अटव्यामेकाकिनः पतिता यथा दुःखेषु पतंति तथैवेति दार्ष्टान्तिकयोजना॥

मूलारा—विद्धा दूषिताः। पडिदा चारित्राद्भ्रष्टाः। एगागी असहायाः॥

अर्थ—जैसे विषरूप कंटकसे विद्ध हुए पुरुष जंगलमें अकेलेहि पडकर दुःख भोगते हैं वैसे मिथ्यात्व,

माया और निदानरूप विपकंटकोंसे विद्ध होकर विषयरूप जंगलमें अकेले पडकर अतिशय दुःख भोगते हैं.

पंथं छंडिय सो जादि साधुसत्थस्स चेव पासाओ ॥
जो पडिसेवदि पासत्थसेवणाओ हु णिद्धम्मो ॥ १२९९ ॥

साधुः सार्थपथं त्यक्त्वा स पार्श्वे याति संयतः ॥
पार्श्वस्थानां क्रियां याति यश्चारित्रविवर्जितः ॥ १३४४ ॥

विजयोदया—साधुसार्थस्य पंथानं त्यक्त्वा कस्य पार्श्वे याति यस्यामी दोषा व्यावर्णिताः । गौरवगहने पतः शल्यविषकंटकवेधादयश्चेत्याशंकायामाह—पंथं छंडिय साधुसत्थस्स जादि परित्यज्य साधुसार्थस्य पंथानमसौ याति । पासम्मि पार्श्वे । जो पडिसेवदि यः प्रतिसेवते, पासत्थसेवणाओ हु पार्श्वस्थसेवनाः, णिद्धम्मो धर्मश्चारित्रं तस्मादपगतः, धर्मादपगतः सन्पार्श्वस्थादिचरणीयासु क्रियासु प्रवर्तते ॥

मूलारा—छंडिय त्यक्त्वा । णिद्धम्मो चारित्रान्निर्गतः ॥

अर्थ—साधुसार्थका मार्ग छोडकर जिस मुनिका आश्रय लेते हैं वह मुनि चारित्रका त्यागी होता है. और पार्श्वस्थ मुनिओंकी क्रियाओंका आचरण करता है.

सैवं कथं निर्धर्मता तस्येत्याशंक्य वदति—

इंदियकसायगुरुयत्तणेण चरणं तणं व पस्संतो ॥
णिद्धम्मो हु सवित्ता सेवदि पासत्थसेवाओ ॥ १३०० ॥

कषायाक्षगुरुत्वेन पश्यन्वृत्तं तृणं यथा ॥
भूत्वा निर्द्धर्मको याति पार्श्वस्थानां सदा क्रियाः ॥ १३४५ ॥ (पार्श्वस्थः)

विजयोदया—इंदियकसायगुरुगत्तणेण इंद्रियकषायविषयेगौरवाच्च रागद्वेषपरिणामयोः क्रोधादिपरिणामानां च तीव्रत्वात् । चरणं चारित्रं, तणं व तृणमिव, पस्संतो पश्यन् रागादयोऽप्यशुभपरिणामास्तत्त्वज्ञानस्य प्रतिबंधकास्तेन सकलुषं ज्ञानचारित्रं निस्सारमिव पश्यति, तत एव तत्राकृतादरः चारित्रादपैतीति निर्द्धर्मतास्य । ततः पार्श्वस्थसेवासु प्रयतते । पासत्थो ॥

निर्धर्मताहेतुमाह—

मूलारा—पर्स्सतो रागद्वेषाद्यशुभपरिणामप्रतिबद्धतत्त्वज्ञानतया चारित्रानादरं कुर्वन्नित्यर्थः । पार्श्वस्थः ॥

पार्श्वस्थ मुनि धर्मरहित क्यों रहता है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—पार्श्वस्थ मुनि इंद्रिय, कषाय और पंचेंद्रियोंके विषयोंसे पराभूत होकर चारित्रको तृणके समान समझता है उसके रागद्वेष और क्रोधादि परिणाम तीव्र होजाते हैं. रागद्वेषादिक अशुभ परिणाम पार्श्वस्थ मुनिके तत्त्वज्ञानका नाश कर डालते हैं. इसलिए यह मुनि अपने मलिन ज्ञानसे चारित्रको तुच्छ समझता है. और ऐसी समझ होनेसे चारित्रसे भ्रष्ट होजाता है ऐसे चारित्रभ्रष्ट मुनिको पार्श्वस्थ कहते हैं. जो मुनि सन्मार्गमें प्रवर्तनेवाले मुनिओंका त्याग करते हैं वे पार्श्वस्थ मुनिका आश्रय लेकर वैसे बनते हैं.

इंदियचोरपरद्धा कसायसावदभएण वा केई ॥
उम्मग्गेण पलायंति साधुसत्थस्स दूरेण ॥ १३०१ ॥

अक्षचौरहृताः केचित्कषायव्यालभीतितः ॥
उन्मार्गेण पलायंते साधुसार्थस्य दूरतः ॥ १३४६ ॥

विजयोदया—इंदियचोरपरद्धा इंद्रियचोरकृतोपद्रवाः । कसायसावदभएण वा केई कषायव्यालमृग भयेन वा केचित् उम्मग्गेण उन्मार्गेण पलायंति पलायनं कुर्वंति । साधु सत्थस्स दूरेण साधुसार्थस्य दूरात् ॥

कुशीलं गाथासप्तकेन दर्शयति—

मूलारा—परद्धा कृतोपद्रवाः । दूरेण दूरात् । निर्लज्जो दुराचारावष्टंभात् ।

अर्थ—कितनेक मुनि इंद्रियचोरोंसे पीडित होते हैं और कषायरूप श्वापदोंसे ग्रहण किए जाते हैं तब साधुसार्थका त्याग कर उन्मार्गसे पलायन करते हैं ।

तो ते कुसीलपडिसेवणावणे उप्पथेण धावंता ॥
सण्णाणदीसु पडिदा किलेससुत्तेण वुड्ढंति ॥ १३०२ ॥

तलोऽपथेन धावन्तः कुशीलानां क्रियावने ॥
क्लेशस्रोतोभिरुह्यन्ते याताः संज्ञामहानदीः ॥ १२४७ ॥

विजयोदया—तो ततः साधुसार्थाद्दूरादपसृताः , कुसीलपडिसेवणावणे कुशीलप्रतिसेवनावने , उप्पथेण धावंता उन्मार्गेण पलायन्तः । सण्णाणदीसु संज्ञानदीषु । पडिदा पतिताः । किलेससोत्तेण क्लेशस्रोतसा । वुड्डन्ति ते बुडंति ॥

मूलारा—ते साधुसार्थाद्दूरापसृताः ॥ सण्णा आहारभयमैथुनपरिग्रहवांछां । बुज्झन्ति उह्यंते ॥

अर्थ—साधुसार्थसे दूर पलायन जिन्होंने किया हैं ऐसे वे मुनि कुशील प्रतिसेवना-कुशील नामक भ्रष्ट मुनिके सदोष आचरणरूप वनमें उन्मार्गसे भागते हुए आहार, भय, मैथुन और परिग्रहकी वांछारूप नदीमें पडकर दुःखरूप प्रवाहमें डूबते हैं.

सण्णाणदीसु ऊढा वुड्ढा थाहं कहंपि अलहंता ॥
तो ते संसारोदधिमदंति बहुदुक्खभीसम्मि ॥ १३०३ ॥
संज्ञानदीषु ते मग्नाः कचिदप्यनवस्थिताः ॥
पश्चाज्जन्मोदधिं यांति दुःखभीमझषाकुलम् ॥ १३४८ ॥

विजयोदया—सण्णाणदीसु ऊढा संज्ञानदीभिराकृष्टाः संतो निमग्नाः । तो पश्चात् । संसारोदधिमदंति संसार सागरं प्रविशंति । बहुदुक्खभीसम्मि बहुदुःखभीष्मे ॥

मूलारा—ऊढा आकृष्टाः । वुड्ढा मग्नाः । थाहं अवस्थानं । कहिं पि कचिदपि सम्यक्त्वादीनामन्यतमेऽपि । तो पश्चात् । अदंति प्रविशन्ति। झसं झषा मत्स्या ॥

अर्थ—चार संज्ञारूपी नदीमें जब मुनि डूबते हैं तब वे कहांभी स्थिरताको प्राप्त होते नहीं अर्थात् संज्ञारूपी नदीमें बहते बहते वे मुनि अतिशय दुःखोंसे भयंकर संसारसमुद्रमें प्रवेश करते. हैं.

आसागिरिदुग्गाणि य अदिगम्म तिदंडकक्खडसिलासु ॥
ऊलोडिदपब्भट्ठा खुप्पंति अणंतियं कालं ॥ १३०४ ॥

दुराशागिरिदुर्गाणि गत्वा दंडशिलोत्करे ॥
भ्रष्टा सन्तश्चिरं कालं गमयंति महान्यथाः ॥ १३४९ ॥

विजयोदया—आसागिरिदुग्गाणि च आशागिरिदुर्गाश्च । अदिगम्म अतिक्रम्य । तिदंडकक्कडसिलासु त्रिदंडकर्कशशिलासु । उलंढिय पब्भट्टा अवलुंठिताः संत. प्रभ्रष्टा. खुर्वंति गमयंति । अणंतियं कालं अनंतं कालं ॥

मूलारा—अदिगम्म अतिक्रम्य । प्रविशत्यन्यः। कक्कड निष्ठुराः। ऊलोडिदपब्भट्ठा पूर्वमेव लुठिताः परिवृत्ताः। पश्चात्प्रभ्रष्टाः पतिताः । लुठित्वा पतिता इत्यन्ये । उत्तरगुणेभ्यः प्रच्युत मूलगुणेभ्यः सम्यक्त्वाच्च प्रच्युता इत्यर्थः । खवेंत्तिय गमयंति च अन्ये खुप्पंति इति पठित्वा गमयंतीत्यर्थमाहुः । उक्तं च—

दुराशागिरिदुर्गाणि गत्वा दंडशीलोत्करे ॥
भ्रष्टाः सन्तश्चिरं कालं गमयंति महान्यथाः ॥

अर्थ—आशारूपी पर्वतके दुर्गम स्थानको उल्लंघकर तीन दंडरूप निष्ठुर शिलापर गिरते हैं. अर्थात् मन वचन और शरीरकी असत्प्रवृत्तिमे तत्पर होते हैं. इस प्रकार चारित्रसे भ्रष्ट होकर अनंतकाल व्यतीत करते हैं.

बहुपावकम्मकरणाडवीसु महदीसु विप्पणट्ठा वा ॥
अदिट्ठणिव्वुदिपधा भमंति सुचिरंपि तत्थेव ॥ १३०५ ॥
पापकर्ममहाटव्यां विप्रनष्टाः कदाचन ॥
मुक्तमार्गमपश्यन्तस्तत्रैवायान्ति ते पुनः ॥ १३५० ॥

विजयोदया—बहुपावकम्मकरणाडवीसु बहुविधान्यशुभकर्माण्येवाटव्यः । तासु महदीसु दीर्घासु । विप्पणट्ठा विप्रनष्टाः । अदिट्ठणिव्वुदिपधा अदृष्टनिर्वृत्तिमार्गाः । भमंति भ्रमंति । सुचिरंपि सुचिरमपि । तत्थेव तत्रैव ॥

मूलारा—करणं निर्वर्तनं । विप्पणट्ठा विभ्रान्ताः । भ्रमन्ति आवर्तन्ते ॥

अर्थ—नानाप्रकारके पापरूप अरण्यमें जो दिङ्मूढ हुए हैं और जिनको मुक्तिमार्गका दर्शन नहीं हुआ है ऐसे वे भ्रष्ट मुनि उसी पापरूप अरण्यमें चिरकाल भ्रमण करते हैं.

दूरेण साधुसत्थं छंडिय सो उप्पधेण खु पलादि ॥
सेवदि कुसीलपडिसेवणाओ जो सुत्तदिट्ठाओ ॥ १२०६ ॥

साधुसार्थं स दूरेण त्यक्त्वोन्मार्गेण नश्यति ॥
क्रिया याति कुशीलानां या सूत्रे प्रतिदर्शिताः ॥ १३५१ ॥

विजयोदया—दूरेण साधुसत्थं दूरात्साधुसार्थं । छंडिय त्यक्त्वा । सो सः । उप्पधेण खु पलादि उन्मार्गेण पलायते । सेवदि कुसीलपडिसेवणाओ सेवते कुशीलप्रतिसेवनाः । जो यः । सुत्तणिदिट्ठाओ सूत्रनिर्दिष्टाः ॥

कुशीलक्रियासेवनाप्रकारमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—भ्रष्ट मुनि दूरसे ही साधुसार्थका त्यागकर उन्मार्गसे पलायन करता है. तथा आगममें कहे हुए कुशीलनामक भ्रष्ट मुनीके दोषोंका आचरण करता है.

इंदियकसायगुरुगत्तणेण चरणं तणं व पस्संतो ॥
णिद्दंधसो भवित्ता सेवदि हु कुसीलसेवाओ ॥ १२०७ ॥

कषायाक्षगुरुत्वेन वृत्तं पश्यंस्तृणं यथा ॥
सेवते न्हस्वको भूत्वा कुशीलविषयाः क्रियाः ॥ १३५२ ॥

(इति कुशीलः)

विजयोदया—इंदियकसायगुरुगत्तणेण इंद्रियकषायपरिणामानां गुरुत्वेन । चरणं तणं व पस्संतो चरणं तृणमिव पश्यन् । णिद्दंधसो भवित्ता अन्हीको भूत्वा । सेवदि सेवते कुशीलसेवाः ॥ कुसीला ॥

कुशीलक्रियासेवानिमित्तमाह—

मूलारा—णिद्धंधसो निर्लज्जः निर्धर्मः इत्यन्ये ॥ कुशील ॥

अर्थ—इंद्रियके विषयोंमें और कषायके तीव्र परिणामोंमें तत्पर हुए ये भ्रष्टमुनि चारित्रको तृणसमान समझकर निर्लज्ज होकर कुशीलका सेवन करते हैं. कुशीलमुनिवर्णन समाप्त.

सिद्धिपुरमुवल्लीणा वि केइ इंदियकसायचोरेहिं ॥
पविलुत्तचरणभंडा उवहदमाणा णिवट्टंति ॥ १३०८ ॥
केचित्सिद्धिपुरासन्नाः कषायेन्द्रियतस्करैः ॥
मुक्तमाना निवर्तंते लुप्तचारित्रसंपदः ॥ १३५३ ॥

विजयोदया—सिद्धिपुरमुवल्लीणा वि सिद्धिपुरमुपलीना अपि। केई केचित्। इंदियकसायचोरेहिं इंद्रियकषायचोरैः। पविलुत्तचरणभंडा अपहृतचारित्रभांडाः। उवहदमाणा उपहताभिमानाः। णिवट्टंति निर्वर्तन्ते ॥

यथाछंदं गाथापंचकेनाह—

मूलारा—उवल्लीणा निकटीकृतवंतः। उवहदमाणा खंडितसंयमाभिमानाः। णिवत्तंति मिथ्यात्वमापतन्तीत्यर्थः ॥

अर्थ—मोक्षनगरके समीप आकरभी कितनेक मुनि इंद्रिय और कषायरूपी चोरोंसे जिनका चारित्ररूपी भांडवल लूटा गया है और संयमका अभिमान जिनका नष्ट हुआ है ऐसे होकर मिथ्यात्वको प्राप्त होते हैं.

तो ते सीलदरिद्दा दुक्खमणंतं सदा वि पावंति ॥
बहुपरियणो दरिद्दो पावदि तिव्वं जधा दुक्खं ॥ १३०९ ॥
ततः शीलदरिद्रास्ते लभंते दुःखमुल्बणम् ॥
बहुभेदपरीवारा निर्द्धना इव सर्वदा ॥ १३५४ ॥

विजयोदया—तो पश्चात्। ते सीलदरिद्दा ते शीलदरिद्राः। दुक्खं दुःखं। अणंतं अंतातीतं। सदा वि पावंति सदा प्राप्नुवन्ति। बहुपरियणो बहुपरिजनो। दरिद्दो दरिद्रः। पावदि दुक्खं तिव्वं प्राप्नोति दुःखं तीव्रं यथा॥

मूलारा—बहुपरियणो प्रचुरपोष्यवर्गः ॥

अर्थ—जिसका परिवार बहुत है ऐसा दरिद्री मनुष्य जैसे अतिशय तीव्र दुःखको प्राप्त होता है वैसे वे शीलदरिद्री मुनि हमेशा तीव्र दुःखको प्राप्त होते हैं.

सो होदि साधुसत्थादु णिग्गदो जो भवे जधाछंदो ॥
उस्सुत्तमणुवदिट्ठं च जधिच्छाए विकप्पंतो ॥ १३१० ॥

स सिद्धियाधिनः साधुर्निर्गतः साधुमार्गतः ॥
स्वच्छंदस्वेच्छमुत्सूत्रं चरित्रं यः प्रकल्पते ॥ १३५५ ॥

विजयोदया—सो होदि स भवति । साधुसत्थादु णिग्गदो साधुसार्थान्निर्गतः । जो हवे जधाछंदो यो भवति स्वेच्छावृत्तिः । उस्सुत्तं उत्सूत्रं । अणुवदिट्ठं अनुपदिष्टं च स्थविरैः । जदिच्छाए विकप्पंतो यथेच्छया विकल्पयन् ॥

यथाछंदीभावे दोषानाह—

मूलारा—जधाछंदो स्वेच्छप्रवृत्तिः ॥ उस्सुत्तं उल्लंघितप्रवचनं । अणुवदिट्ठं अनाम्नातं स्थविरैः । विकप्पंतो इदमित्थमेव घटते न तथेति विकल्पयन ॥

अर्थ—जो मुनि साधुसार्थका त्यागकर स्वतंत्र हुआ है. जो स्वेच्छाचारी बनकर आगमविरुद्ध और पूर्वाचार्योंने नहीं कहे हुए आचारोंकी कल्पना करता है. वह स्वच्छंद नामक भ्रष्टमुनि समझना चाहिये.

जो होदि जधाछंदो हु तस्स धणिदंपि संजमिंतस्स ॥
णत्थि दु चरणं चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी ॥ १३११ ॥

यज्जायते यथाछंदो नितरामपि कुर्वतः ॥
वृत्तं न विद्यते तस्य सम्यक्त्वसहचारिनः ॥ १३५६ ॥

विजयोदया—जो होदि जधाछंदो यो भवति स्वेच्छावृत्तिः । तस्स धणिदंपि संजमिंतस्स तस्य नितरामपि संयमे प्रवर्तमानस्य । णत्थि दु नास्त्येव । चरणं चारित्रं । चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी सम्यक्त्वसहचार्येव यतश्चारित्रं । स्वच्छंदवृत्तेस्तु यत्किंचित्परिकल्पयतः सूत्रमननुसरतः नैव सम्यग्दर्शनमस्ति । तदंतरेण सम्यक्चारित्रं नैव तस्य भवति ॥

मूलारा—सम्मत्तसहचारी सम्यक्त्वसहभाव्येव ॥ स्वेच्छावृत्तेः सुसूत्रमननुसरतः सम्यक्त्वाभावात् कुतस्त्यं सम्यक्चारित्रमिति भावः ॥

अर्थ—यथेच्छ प्रवृत्ति करनेवाले उस भ्रष्ट मुनिने यद्यपि घोर संयम धारण किया होगा तथापि उसका संयम चारित्र नहीं कहा जाता है. क्योंकि उसको सम्यग्दर्शन नहीं है. सम्यग्दर्शनके साथ संयमको ही सम्यक्चारित्र कहते हैं. स्वच्छंदवृत्ति मुनि अपने मनोनुकूल तत्त्वकल्पना करता है, आगमविरुद्ध कल्पना करनेसे वह सम्यग्दृष्टि नहीं है सम्यग्दर्शनके विना उसको चारित्रकी प्राप्ति कैसे होगी ?

इंदियकसायगुरुगत्तणेण सुत्तं पमाणमकरंतो ॥
परिमाणेदि जिणुत्ते अत्थे सच्छंददो चेव ॥ १३१२ ॥

जिनेंद्रभाषित तथ्यं कषायाक्षगुरूकृतः ॥
प्रमाणीकुरुते वाक्यं यथाछंदो न दुर्मनाः ॥ १३५७ ॥

(इति स्वच्छंदः)

विजयोदया—इंदियकसायगुरुगत्तणेण कषायाक्ष रूकृतत्वेन सूत्रमप्रमाणयन्, परिमाणेदि अन्यथा गृह्णाति, जिणुत्ते अत्थे जिनोक्तानर्थान्, सच्छंददो चेव स्वेच्छाभिप्रायेणेव ॥ जथाछंद ॥

मूलारा—परिमाणेदि अन्यथा गृह्णाति चिंतयतीत्यन्यः । अत्थे जीवादिपदार्थान् । सच्छंददो चेव स्वाभिप्रायेणेव यथाछंदः ॥

अर्थ—इंद्रिय और कषायोंमें अत्यंत आधीन होनेसे यह भ्रष्ट मुनि जिनप्रणीत सिद्धांतको प्रमाण नहीं मानता है और स्वच्छंदचारी बनकर सिद्धांतका स्वरूप अन्यथा समझता है और अन्यथा विचारमें लाता है.

इंदियकसायदोसेहिं अधवा सामण्णजोगपरितंतो ॥
जो उव्वायदि सो होदि णियत्तो साधुसत्थादो ॥ १३१३ ॥

कषायेन्द्रियदोषेण वृत्तात् सामान्ययोगतः ॥
यः प्रभ्रष्टः परिश्रान्तः स भ्रष्टः साधुसार्थतः ॥ १३५८ ॥

विजयोदया—इंदियकसायदोसेहिं इन्द्रियकषायदोषैः । अधवा सामण्णजोगपरित्तो अथवा सामान्ययोगेन दात । जो उव्वायदि यश्चारित्राच्च्यवते । सो होदि स भवति । णियत्तो साधुसत्थादो निवृत्त साधुसार्थात् ।

ससक्तं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—परिदत्तो निर्विण्ण । श्रातो वा । उव्वायन्ति चारित्राच्च्यवते । विलंबते इत्यन्ये ॥

अर्थ—इंद्रिय और कषायोंके दोषसे अथवा सामान्य ध्यानादिकसे विरक्त होकर जो साधु चारित्रसे भ्रष्ट होता है वह साधुसार्थसे अलग होता है

इंदियकसायवसिया केई ठाणाणि ताणि सव्वाणि ॥
पाविज्जते दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं ससत्ता ॥ १३१४ ॥

स्थानानि तानि सर्वाणि कषायाक्षगुरूकृताः ॥
ससक्ता सकलैर्दोषैः केचिद्गच्छन्ति दुर्धियः ॥ १३५९ ॥

विजयोदया—इंदियकसायवसिया इन्द्रियकषायवशगाः । केई केचित् । ठाणाणि ताणि सव्वाणि तान्यशुभस्थानपरिणामानि । पाविज्जति प्राप्यते । दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं ससत्ता दोषैस्तैः सर्वैः ससक्ताः ॥ सम्मत्ता ॥

मूलारा—ठाणाणि परिणामान् । ताणि मिथ्यात्वासंयमादीनि ॥ पाविज्जंते नीयंते । तेहिं तैः प्रसिद्धै रागादिभिः ॥ ससत्ति ॥

अर्थ—इंद्रियविषय और कषायके वशीभूत कितनेक भ्रष्ट मुनि सर्व दोषोंसे युक्त होकर सर्व अशुभ स्थानकी प्राप्ति करानेवाले परिणामोंको— अशुभ परिणामोंको प्राप्त होते हैं

इय एदे पंचविधा जिणेहिं सवणा दुगुंछिदा सुत्ते ॥
इंदियकसायगुरुयत्तणेण णिच्चपि पडिकुट्ठा ॥ १३११ ॥

इत्येते साधवः पंच निंदिता जिनशासने ॥
प्रत्यनीकक्रियारंभा कषायाक्षगुरूकृताः ॥ १३६० ॥

विजयोदया—पासत्थादिगद ॥

अवसन्नादीनां सामान्यदोषमाह—

मूलारा—दुगुंछिदा निन्दिताः पडिकुद्धा प्रतिपक्षभूता नंदा वा ॥

अर्थ—ये पांच तरहके भ्रष्ट मुनिओंकी जिनेश्वरोंने आगममें निंदा की है. ये पांच प्रकारके मुनि इंद्रिय और कषायके गुलाम जिनसिद्धांतानुसार आचरण करनेवाले मुनिओंके प्रतिपक्षी हैं.

दुट्ठा चवला अदिदुज्जया य णिच्चं पि समणुबद्धा य ॥
दुक्खावहा य भीमा जीवाणं इंदियकसाया ॥ १३१६ ॥

दुरंताश्चंचला दुष्टा वृत्तसर्वस्वहारिणः ॥
दुर्जयाः सन्ति जीवानां कषायेन्द्रियतस्कराः ॥ १३६१ ॥
छिद्रापेक्षाः सेव्यमाना विभीमा नो पार्श्वस्थाः कस्य कुर्वन्ति दुःखम् ॥
क्रोधाविष्टाः पन्नगा वा द्विजिह्वाः विज्ञायेत्थं दूरतो वर्जनीयाः ॥ १३६२ ॥
तृणतुल्यमवेत्य विशिष्टफलं परिमुच्य चरित्रमपास्तमलम् ॥
बहुदोषकषायहृषीकवशा निवसन्ति चिरं कुगतावशाः ॥ १३६३ ॥

[इति संसक्तः]

विजयोदया—दुट्ठा दुष्टा आत्मोपद्रवकारित्वात् । चपला अनवस्थितत्वात् । अदिदुज्जया अतीव दुर्जयाः अनुपलब्धचारित्रमोहक्षयोपशमप्रकर्षेण जीवेन दुःखेन अभिभूयंते इति । णिच्चंपि नित्यमपि । समणुबद्धा य सम्यगनुबद्धाश्चारित्रमोहोदयस्य स्वकारणस्य सदा सद्भावात् । नित्याश्चेत्कथं चपलाः । नित्यशब्दो ध्रौव्ये न प्रयुक्तः किंत्वभीक्ष्णं मुहुर्मुहुरनुबद्धाः इत्यर्थः । चपलता तु परिणामानां अनवस्थितत्वं अतो न विरोधः । दुःखावहा य दुःखावहाश्च । जीवाणं जीवानां अभिमतभोगालाभे प्राप्तस्य चाऽपाये महत् दुःखमित्यनुभवसिद्धमेव सर्वप्राणभृतां । कषायास्तु क्रोधादयः कषायंति हृदयं । अथवा दुःखकारणासद्वेद्यानां निमित्तत्वात् दुःखावहाः । इंद्रियकषायवशगो जीवान् हिनस्ति । दुःखकरणेन चास्यान्यमद्वेद्यं इति । यत एव दुःखावहा अत एव भीमाः । इंदियकसाया इंद्रियकषायपरिणामाः ।

एवमवसन्नादिरूपाणां इंद्रियकषायाणामपायावद्यकदंबकरत्वमुपदर्श्य सांप्रतं तद्दौरात्म्यमाह—

मूलारा—दुट्ठा उपद्रवकारित्वात् । चपला अनवस्थितत्वात् । अदिदुज्जया चारित्रमोहक्षयोपशमप्रकर्षप्राप्तौ

अभिभवितुमशक्यत्वात् । समयुनक्षा सम्यगनुपक्ता । चारित्रमोहोऽन्यस्य स्वकारणस्य मुहुर्मुहु प्रवर्तनात् । दुःखावहा च इष्टभोगस्याप्राप्तौ, प्राप्तस्य नाशे चक्षुरादिमुखेन दु मस्यानुभवसिद्धत्वात् । क्रोधादिकृतहृन्यतापकत्वात् । दु खकारणास- द्वेद्यानिमित्तत्वाद्वा द्वयेऽपि दु खकरा । भीमा भयंकरा । दु खावहत्वादेव वा ॥

अर्थ—ये इंद्रिय और कषाय जीवोंको अतिशय उपद्रव करते हैं और चंचल हैं. इनको जीतना अतिशय कठिन है जबतक चारित्र मोहनीय कर्मका क्षयोपशम नहीं बढा हुआ है तबतक इनको जीतना अशक्य है जबतक चारित्रमोहरूप कारणका सद्भाव है तबतक इन कषाय और इंद्रियोंका संबंध रहता ही है इंद्रिय और कषाय नित्य हैं अर्थात् वारंवार इनका आत्मासे संबंध होता है अतः इनको नित्य कहते हैं इंद्रिय और कषाय परिणामोंका एक स्वरूप नहीं रहता है कभी क्रोध परिणाम, कभी मानपरिणाम, कभी लोभ परिणाम ऐसा परिवर्तन होता ही रहता है इसलिये इनको चंचल भी कहते हैं ये इंद्रिय और कषाय जीवोंको दु ख देते हैं. जीवोंको इष्ट भोगोंका अलाभ होनेसे अथवा प्राप्ति होने पर भी उनका नाश होनेसे महान् दु ख उत्पन्न होता है यह बात अनुभव सिद्ध है. कषाय—क्रोधादिक हृदयका घात करते हैं इंद्रिय और कषायोंके आधीन होकर प्राणी जीवोंका घात करते हैं. जीवोंको घातनेमें असातावेदनीय कर्मके आस्रव आते हैं ये इंद्रिय और कषाय दु खदायक हैं इसलिए भयानक हैं.

तरुतेल्लमपि पियंतो वत्थो जह वादि पूदिय गंध ॥
तध दिक्खिदो वि इंदियकसायगधं वहदि कोई ॥ १३१७ ॥

काश्चिद्दीक्षामुपेतोऽपि कषायाक्षं निषेवते ॥
तैलमगुरुवं वस्त्र प्रतिवाति पिबन्नपि ॥ १२६४ ॥

विजयोदया—तुरुष्कतैलमपि, पियंतो पिबन्, वत्थो वस्त्र अजपोत । जह वादि पूदिय गध पूतिगध यथा वाति । प्राक्तनगध यथा न जहाति । सम्रियमाणाऽपि सुरभिणा द्रव्येण, तध दिक्खिदो वि तथा दीक्षितोऽपि परित्यक्ता सर्वोऽपि । इंदियकसायगध वहदि । इंद्रियकषायदुर्गंधमुद्वहति इति यावत् ॥

दीक्षाया इंद्रियविजयाभावमाह—

मूलारा—मक्तेहं तुरुष्कतैल सेल्हारस सुगंधितैलमित्यन्ये । वत्थो छाग । पूदिय गधं दुर्गंधं प्राक्तनमेव । दिक्खिदो कृतव्रतस्वीकारसंस्कार । इंदियकसायगध चक्षुरादिक्रोधादिवासना ॥

अर्थ—बकरेको तुरुष्कतैल पिलानेपर भी उसके शरीरसे दुर्गंध ही निकलता है अर्थात् वह अपने प्राकृतिक गंधका त्याग नहीं करता है. तुरुष्कतैल अतिशय सुगंध रहता है परंतु बकरेके प्राकृतिक गंधमें उससे कुछ भी फरक नहीं होता है वैसे भ्रष्ट साधु संयम सहित होनेपर भी इंद्रिय कषायरूपी दुर्गंधका त्याग नहीं करता है.

भुंजंतो वि सुभोयणमिच्छदि जध सूयरो समलमेव ॥
तध दिक्खिदो वि इंदियकसायमलिणो हवदि कोइ ॥ १३१८ ॥

मुक्त्वापि कश्चन ग्रंथं कषायाक्षं न मुंचति ॥
हित्वापि कंचुकं सर्पो विजहाति विषं नहि ॥ १३६५ ॥
दीक्षितोप्यधमः कश्चित्कषायाक्षं चिकीर्षति ॥
शूकरः शोभनै रत्नैर्नलं तृप्तोऽपि कांक्षति १३६६ ॥

विजयोदया—भुंजंतो वि सुभोयणं भुंजानोऽपि शोभनमाहारं । सूयरो जध समलमेव इच्छदि सूकरो यथा समलमेवाभिलषति चिरंतनाभ्यासात् । तह तथा। दिक्खिदो वि दीक्षितोऽपि कृतव्रतपरिग्रहसंस्कारोऽपि। कोइ कश्चित्। इंदियकसायमलिणो हवदि इंद्रियकषायाख्याशुभपरिणामोपगतो भवति। भव्योपि जनः गुरूपदेशादधिगतदुःखनिवृत्त्युपायतया परित्यक्तेंद्रियकषायोऽपि गार्हस्थ्यपरित्यागकाले पुनरपि तत्रापततीति ॥

मूलारा—समलं पुरीषं ॥

अर्थ—जैसे सूकर उत्तम आहारका भोजन करता हुआ भी विष्टाका ही अभिलाष मनमें धारण करता है क्योंकि उसको दीर्घकालसे विष्टाभक्षणका अभ्यास रहता है. वैसे जिसने दीक्षा धारण की है अर्थात् व्रतका स्वीकार जिसने दीर्घ कालसे किया है ऐसा भी कोई मुनि इंद्रिय और कषाय रूप अशुभ परिणामोंसे परिणत होता है गुरुका उपदेश सुनकर दुःख नाश करनेके उपायका ज्ञान होनेपर इंद्रिय और कषायोंका त्याग करता है गृहस्थावस्थाका त्याग करनेपर पुनः वह मुनि उसीमें पडता है.

अनेकदृष्टांतोपन्यासेन दर्शयति सूरिरुत्तरप्रबंधेन—

वाहभएण पलादो जूहं दट्ठूण वागुरापडिदं ॥
सयमेव मओ वागुरमदीदि जह जूहतण्हाए ॥ १३१९ ॥

विहाय हरिणो यूथं व्याधभीतः पलायितः ॥
स्वयं पुनर्यथा याति वागुरां यूथतृष्णया ॥ १३६७ ॥

विजयोदया—वाहभएण व्याधभयेन । पलादो मगो कृतपलायनो मृग । वागुरापडिदं जूहं दट्ठूण वागुरापतितं स्वयूथं दृष्ट्वा । सयमेव वागुरमदीदि मगो स्वयमेव वागुरां प्रविशति मृग , जह यथा, कुतः, जूहतण्हाए यूथतृष्णया, एव को वि गिहवास मुयइ इत्यनया गाथया संबंधः कार्यः ॥

कश्चोऽपि जनो गुरूपदेशाधिगतदुःखनिवृत्त्युपायतया परित्यक्तेन्द्रियकषायो जिनदीक्षां प्रतिपद्यापि विराध्यरत्न-कषायेन्द्रियदोषावेशवशात्पुनरपि गृहवासदोषानेवापतत्येतद्दृष्टांतपदकसुपर्ण गाथासप्तकेन स्फुटयति—

मूलारा—पलाओ कृतपलायनः । मओ मृगः । अदीदि प्रविशति ॥

अर्थ—पारधीके भयसे भागा हुआ हरिण जालमें अपना मृगसमूह पडा हुआ देखकर स्वयं भी जालमें प्रवेश करता है. मृगसमूहमें उसका प्रेम रहता है. प्रेमवश होकर वह स्वयं बंधनमें पडता है. वैसे कोइ गृहस्थावस्थाका त्याग कर पुनरपि उसका स्वीकार करता है.

पंजरमुक्को सउणो सुइरं आरामए सुविहरंतो ।
सयमेव पुणो पंजरमदीदि जध णीडतण्हाए ॥ १३२० ॥

आरामे विचरन्स्वेच्छं पतत्री पंजरच्युतः ॥
यथा याति पुनर्मूढः पंजरं नीडतृष्णया ॥ १३६८ ॥

विजयोदया—पंजरमुक्को सउणो पंजरान्मुक्तः पक्षी । सुइरं आरामए सुविहरंतो आरामेषु स्वेच्छया विहरन् । सयमेव स्वयमेव । पुणो पुनः । पंजरमदीदि पंजरमुपैति, जह णीडतण्हाए यथा नीडतृष्णया ॥

मूलारा—सइरं स्वेच्छया । णीडतण्हाए स्वावासलाभेन ॥

अर्थ—पिंजरेसे मुक्त हुआ पक्षी उद्यानमें-बगीचेमें दीर्घ काल स्वेच्छासे घूम कर जैसे अपने घरकी अभिलाषासे पुनरपि पिंजेरमें आता है. वैसे यह मुनि भी गृहस्थावस्थाका त्याग कर पुनः उसका स्वीकार करता है.

कलभो गएण पंकादुद्धरिदो दुत्तरादु बलिएण ॥
सयमेव पुणो पंके जलतण्हाए जह अदीदि ॥ १३२१ ॥

उत्तारितः करींद्रेण पंकतः कलभो यथा ॥
स्वयमेव पुनः पंकं प्रयाति जलतृष्णया ॥ ११६९ ॥

विजयोदया—कलभो गजपोत महति कर्दमे पतितः । गएण पंकादुद्धरिदो गजेन परेण पंकादुद्धृतो । दुत्तरादु दुस्तरात् पंकात । बलिएण अतिशयवता गजेन, सयमेव पुणो पंके जह अदीदि, स्वयमेव कलभो यथा पंकमुपैति । जलतण्हाए जलतृष्णया ॥

मूलारा—कलभो बालगजः । उद्धरिदो उद्धृतः । दुत्तरादु दुस्तरात् ॥

अर्थ—हाथीका बच्चा बडे कीचडमें फसा था उसको शक्तिवान् हाथीने बाहर निकाला परंतु पानीकी प्यासमें वह फिरभी कीचडमें फसता है वैसे कोई मुनि फिर गृहस्थ होते हैं.

अग्गिपरिक्खित्तादो सउणो रुक्खादु उप्पाडित्ताणं ॥
सयमेव तं दुमं सो णीडणिमित्तं जध अदीदि ॥ १३२२ ॥

उड्डीय शाखिनः पक्षी सर्वतो वन्हिवेष्टितात् ॥
तत्रैव नीडलोभेन यथा याति पुनः स्वयम् ॥ ११७० ॥

विजयोदया—रुक्खादो सउणो उप्पडित्ताणं वृक्षादुत्पत्य शकुनि । कीदृग्भूतात् ? अग्गिपरिक्खित्तादो अग्निना समंताद्वेष्टितात् , सयमेव त दुमं जह अदीदि स्वयमेवासौ पक्षी अग्निपरिक्षिप्तद्रुममधिगच्छति, णीडणिमित्तं स्वावास निमित्त ॥

मूलारा- अग्गिपरिक्खित्तादो वह्निवलयितात् । उप्पडित्ताणं उड्डीय ॥

अर्थ—अग्निमें घिर हुए वृक्षका त्यागकर पुनरपि अपने घरकी अभिलाषासे जैसे पक्षी उसी वृक्षके तरफ जाता है वैसे कोई मुनि फिर गृहस्थावस्था धारण करते हैं.

...अहिणा पासुत्तो कोइ जग्गमाणेण ॥
उट्ठविदो तं घेत्तुं इच्छदि जध कोदुगहल्लेण ॥ १३२३ ॥
लंघ्यमानोऽहिना सुप्तो जाग्रतोत्थापितो यथा ॥
कौतुकेन तमादातुं कश्चिदिच्छति मूढधीः ॥ १३७१ ॥

विजयोदया—लंघिज्जंतो अहिणा लंघ्यमानोऽहिना, कोइ पासुत्तो कश्चित्प्रसुप्तः, जग्गमाणेण उट्ठविदो जाग्रता उत्थापितः। जह तं घेत्तुमिच्छति यथा सर्पं ग्रहीतुमिच्छति, कोदुगहल्लेण कौतूहलेन ॥

मूलारा—पासुत्तो निर्भरनिद्राक्रान्तः ॥

अर्थ—जिसके ऊपरसे सर्प आरहा है ऐसे सोये हुए किसी मनुष्यको किसीने जगाया पर जगकर उठे हुए उस मनुष्यने उसी सर्पको कौतुकसे पकडना चाहा वैसे कोइ गृहस्थावस्था संसारका कारण है ऐसा समझकर उसको त्यागकर फिरभी उसीको स्वीकारता है.

सयमेव वंतमसणं णिल्लज्जो णिग्घिणो सयं चेव ।
लोलो किविणो भुंजदि सुहणो जध असणतण्हाए ॥ १३२४ ॥
स्वयमेवाशनं वांतं निर्लज्जो निर्घृणाशयः ॥
सारमेयो यथाश्नाति कृपणोऽशनतृष्णया ॥ १३७२ ॥

विजयोदया—सयमेव वंतमसणं स्वयमेव वांतमशनं सुणहो णिल्लज्जो णिग्घिणो श्वा निर्लज्जः निर्घृणः। जहा यथा। सयमेव भुंजदि स्वयमेव भुंक्ते। लोलो अशक्तः। किविणो कृपणः असणतण्हाए अशनतृष्णया ॥

मूलारा—वंतं छर्दिम्। किविणो कृपणः ॥

अर्थ—जैसे निर्लज्ज और जुगुप्सारहित कुत्ता स्वयं किया हुआ वमन स्वयं ही अन्नकी इच्छासे भक्षण करता है. कृपण और अन्नमें आसक्त कुत्ता स्वयंका वमन किया हुआ अन्न स्वयं खाने लगता है.

एवं केई गिहवासदोसमुक्का वि दिक्खिदा संता ॥
इंदियकसायदोसे हि पुणो ते चेव गिण्हंति ॥ १३२५ ॥

गृहवासं तथा त्यक्त्वा कश्चिद्दोषशताकुलं ॥
कषायेन्द्रियदोषार्तो याति तं भोगतृष्णया ॥ १३७३ ॥

विजयोदया—एवं केई एवं केचित्। गिहिवासदोसमुक्का गृहवासेभ्यो ये दोषास्तेभ्यो मुक्ताः दिक्खिदा वि संता दीक्षिता अपि संतः। इंदियकसायदोसे इंद्रियकषायदोषान्। ते चेव तांश्चैव गृहवासगतान्। गिण्हंति गृह्णन्ति ॥ कीदृग्गृहवासो येन दुष्ट इति भण्यते। ममेदं भावाधिष्ठानः अनुपरतमायालोभोत्पादनप्रवीणजीवनोपायप्रवृत्तः। कषायाणामाकरः परेषां पीडानुग्रहयोरावद्धपरिकरः। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिष्वनारतवृत्तव्यावृत्तव्यापारो, मनोवाक्कायैः सचित्ताचित्तानेकाणुस्थूलद्रविणग्रहणवर्द्धनोपजातयासः यत्र स्थितो जनोऽसारे सारतां, अनित्ये नित्यतां, अशरणे शरणतां, अशुचौ शुचितां, दुःखे सुखितां, अहिते हिततां, असंश्रये संश्रयणीयतां, शत्रुभूते च मित्रतां च मन्यमानः परितः परिधावति। सभयसशंकोऽपि पदमधिगच्छति। दुरुत्तरकाललोहपंजरोदरगतो हरिरिव, वागुरापतितमृगकुलमिव, अन्यायकर्दमोन्मग्नो जरत्कुंजर इव हताशः, पाशबद्धो विहग इव, चारकावरुद्धस्तस्कर इव, व्याघ्रमध्यमध्यासीनोऽल्पबलो मृग इव, सदंतिकोपयानजातसंकटः कूटपाशावरुद्धो जलचर इव, । यत्रावस्थितो जनः कामबहलतमःपटलेनाव्रियते। रागमहानागैरभद्रुतः, चिंताडाकिनीभिः कवलीक्रियते, शोकवृकैरनुगम्यते, कोपपावकेन भस्मसात् क्रियते, दुराशालतिकाभिर्निश्चलं वध्यते, प्रियविप्रयोगाशनिभिरनिशं शकलीक्रियते, प्रार्थितालाभशरशतैस्तूणीरतां नीयते, मायास्थविरिकया गाढमालिंग्यते, परिभवकठिनकुठारैर्विदार्यते, अयशोमलेन लिप्यते, मोहमहावनवारणेन हन्यते, पापघातकैरवबोधः पात्यते, भयायःशलाकाभिस्तुद्यते, आयासवायसैः प्रतिवासरं भीष्यते, ईर्ष्यामष्या विरूपतां परिप्राप्यते परिग्रहग्रहैर्गृह्यते। यत्रावस्थितोऽसंयमाभिमुखो भवति। असूयाजायायाः प्रियतां याति, मानदावाधिपातितां अनुभवति, विशालधवलचारित्रातपत्रच्छायासुखं न लभते, संसारचारकादात्मानं नापनयति, कर्मनिर्मूलनाय न प्रभवति, मरणविषपादपं न दहति, मोहघनशृंखलां न त्रोटयति, विविक्तयोषिमुखसंचरणं न निषेधति। तत इत्थंभूतान्गृहवासदोषांस्त्यक्त्वा संतोऽपि दीक्षिता इंदियकसायदोसे हि इंद्रियकषायदोषान्। हि शब्दः समुच्चयार्थः। तेनैवमभिसंबध्यते पुणो हि पुनरपि ते चेव तानेव। गिण्हंति गृह्णन्ति ॥

मूलारा—इंदियकसायदोसेहिं इंद्रियैरिष्टानिष्टविषयग्रहणे सत्युदीर्णैः क्रोधादिहास्यादिद्रव्यकषायनोकषायैर्जनिता दोषा रागद्वेषमोहादयस्तैः कारणभूतैः। ते चेव तानेव गृहदोषान्। एषा प्राकृतटीकाकारमतेन व्याख्या। तथा चोक्तम्—

एवं केचिद्गृहद्वन्द्वविमुक्ता अपि दीक्षिताः ॥
कषायेंद्रियदोषेण तदेवाददते पुनः ॥
अपि च—गृहवासं तथा त्यक्त्वा कश्चिद्दोषशताकुलं ॥
कषायेंद्रियदोषार्तो याति तं भोगतृष्णया ॥

श्रीविजयाचार्यस्तु—गृहवासदोषास्त्यक्त्वा दीक्षिता अपि सतः । केचिदिंद्रियदोषान्गृहवासगतानेव पुनरपि गृण्हन्तीति व्याख्यात् । हि शब्दस्य समुच्चयार्थस्य भिन्नक्रमणस्य पुणो इत्यतोऽनंतरमभिसंबंधात् । तथा चोक्तं विदग्ध प्रीतिवर्धन्याम्—

एवं केचिद्गृहवासदोषमुक्ताश्च दीक्षिताः संतः ॥
इंद्रियकषायदोषान्पुनरपि तानेव गृह्णन्ति ॥

गृहवासदोषास्तु ममेदंभावमहावेशो, दुराशापिशाचीपारवश्यं समस्तपापमूललोभमहोरगातुरत्वं, जीवनोपायकृष्यादिकार्यैर्दुर्नैरंतर्यप्रवृत्तायाससंहस्रसंकुलक्लिष्टता, षड्जीवनिकायप्राणातिपातद्वारप्रविशद्दुर्निवारत्रह्महत्याप्रबंधान्यंतगर्हाकलंककश्मलत्वं, दुर्यशःपुरीषोपलेपनिमित्तत्व, विपदावर्तसहस्रशंकातंकदौर्मनस्यं, परपीडानुग्रहकरणपरिकरबंधसमिद्धदुरहंकारराक्षसक्षिप्तचेतनत्वं, स्थूलेतरसचित्ताचित्तद्रव्योपार्जनग्रहणरक्षणवर्धनव्ययकरणान्यासंगसहस्रजायमानमनोवाक्कायदौरथ्यमसाराशुचिनश्वराशरणसश्रयणीयाहितदुःखानात्मसु साराद्बुद्धिनिर्बंधाः । कंदर्पसर्पगरलघूर्णितत्वं, चिंताशाकिनीविकारभूयिष्ठत्वं, परितापनिष्ठत्वं, प्रियविप्रयोगाशनिनिपातविशरारुता, शोकानलज्वालाकरालता, अनिष्टसंयोगदुरन्तविषादास्पदत्वं, कोपपावकभस्मसात्करणत्वं, प्रार्थितामाप्तिहेतिशतजर्जरत्व, मायारथविरिकानिर्भरपरिरंभता, भयायःशलाकाप्रतोदन, मात्सर्येर्ष्यास्तेयपैशुन्यदैन्यानृतास्तेयविषयलांपट्यविषकीटकोपसृष्टता, कुयोनिसहस्रसुरप्रवेशकर्मठपापबंधनिबंधनत्वं इत्यादयः केवलिभिः श्रुतकेवलिभिर्वा कथमपि कलयितुं शक्या नु शक्या वेति ॥

अर्थ—उपर्युक्त दृष्टांतसे यह सिद्ध होता है कि कोई गृहस्थावस्थाके दोषोंसे मुक्त होकर और दीक्षा लेकर भी इंद्रिय और कषायोंके दोषोंको पुनः ग्रहण करते हैं.

इस गृहस्थपनाको क्यों दुष्ट कहते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर—

यह गृहवास ममत्वका अधिष्ठान अर्थात् मूल कारण है. हमेशा माया और लोभ को उत्पन्न करनेवाले ऐसे जीवनोपाय इसमें जीवको करने पडते हैं यह गृहवास कषायोंकी खान है. यह जीवोंपर पीडा और अनुग्रह भी करता है. अर्थात् गृहस्थावस्थामें रहने पर किसीको पीडा करनेका और किसी पर अनुग्रह करनेका हमेशा प्रसंग आता है. पृथ्वी, जल, अग्नि, हवा और वनस्पति इन स्थावरोंका इसमें हमेशा घात करना पडता है. मन वचन और शरीरके द्वारा सचित्त अचित्त अनेक स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ तथा द्रव्य प्राप्त करनेके लिये इस गृहवासमें

महा आयाम करने पडते हैं. इस गृहवासमें रहकर लोक असारको सार, अनित्यको नित्य, अशरणको शरण, अपवित्रको पवित्र, दुःखमें सुख, अहितमें हित, अनाधारमें आधार, शत्रुमे मित्रकी कल्पना करते हैं. और चारो तरफ भागते हैं. मनमें भीति और शंका होनेपर भी अपायके स्थानकी ही उनको प्राप्ति होती है.

जिससे मुक्तता होना अतिशय कठिण है ऐसे लोहेके पिंजरेमें कैद किये हुए सिंहके समान, जालसे जकड कर बांधे हुए हरिणके समान, अतिशय दुस्तर कीचमें फसे हुए बूढे हाथीके समान ये सर्व गृहस्थ हताश होजाते हैं. अर्थात् ऐसी पापमय, संसारमें घुमानेवाली गृहस्थावस्थासे निकलकर आत्मकल्याण करना अतिशय कठिन है. पाशमें पकडे गये पक्षीके समान, कैद खानेमें डाले हुए असमर्थ दीन हरिणके समान, इन गृहस्थोंको यमसे-मृत्युसे अत्यंत भय होता है. कूट पाशमें पकडे गये मत्स्यके समान इस गृहस्थावस्थामें रहनेवाले लोक कामवेदना रूप गाढ अंधकारसे अर्थात् काममोहसे युक्त हो जाते हैं. इन गृहस्थोंके पीछे पकडनेके लिये रागरूपी हाथी दौड रहा है. चिंता रूपी पिशाची से ये पीडित होते हैं. शोक रूपी अग्नि इनको जलाकर भस्म करती है. दुःखद आशासे बंधे हुए ये गृहस्थ अपने स्थानसे हिल भी नहीं सकते हैं. प्रिय पुत्र, भार्या, इत्यादिकोंका वियोग रूपी वज्र इनके हमेशा तुकडे २ कर डालता है.

इष्ट वस्तुकी प्राप्ति न होना एतत्स्वरूप सैकडो पापके लिये ये भाते के समान है. जैसे बाण भातेमें रहते हैं वैसे इन गृहस्थोंमें हमेशा इष्ट विषयकी प्राप्ति न होना यह दुःख निवास करता है. मायारूपी बूढी इनको गाढा लिंगन देती है. अपमान रूपी कठिन कुल्हाडीसे इनका मन विदीर्ण होता रहता है.

अकीर्तिरूपी विष्ठासे ये लीपे जाते हैं. मोहरूपी बडा वनका हाथी इनको मार डालता है. पापरूपी वधक लोक इनके ज्ञानका वध करते हैं. भयरूपी लोहेकी सुईयां इनका अंगको चुभती हैं. परिश्रमरूपी कौवे इनको प्रतिदिन भय दिखाते हैं. ईर्ष्यारूपी कज्जलसे ये लीपे जानेसे कुरूप होजाते हैं. परिग्रहरूपी पिशाचोंसे ये पकडे जाते हैं. इस गृहस्थावस्थामें रहनेपर मनुष्य असंयमके तरफ झुक जाता है. दुसरोंके गुण सहन नहीं होना एतत्स्वरूपी पत्नी इनको बहुत प्रिय मालूम होती है. अर्थात् इनका मन अन्यके गुणोंका द्वेष करता है. अभिमानरूपी वनाग्नीमें पडकर ये महान् कष्टका अनुभवन करते हैं. महान् और निर्मल ऐसे चारित्ररूपी छत्रत्रयका सुख इन गृहस्थोंको प्राप्त होता नहीं है. यह गृहस्थावस्था कर्मका नाश करनेमें असमर्थ है. इससे मरणरूपी विषवृक्ष दग्ध नहीं होता है.

यह गृहवास मोहरूपी मजबूत बेडीको गृहस्थावस्था तोडनेमें समर्थ नहीं है. अनेक योनिओंमें जीवका भ्रमण करना इससे बंद नहीं हो पाता. इस लिए ऐसे गृहवासके दोषोंका त्याग कर मुनिदीक्षा धारण करके भी कितनेक मुनि फिर भी उन्हीं दोषोंका आश्रय करते हैं.

बंधणमुक्को पुनरेव बंधणं सो अचेयणोदीदि ॥
इंदियकसायबंधणमुवेदि जो दिक्खिदो संतो ॥ १३२६ ॥

बंधमुक्तः पुनर्बंधं निश्चितं स यियासति ॥
यो दीक्षितः कषायाक्षानिसषेच यिषेत्त कुधीः ॥ १३७४ ॥

विजयोदया—बंधणमुक्को बंधनमुक्तः । पुनरेव बंधणं पुनर्बंधनं । अदीदि प्रतिपद्यते । सो अचेदणो सोऽज्ञः । कः ? जो दिक्खिदो संतो इंदियकसायबंधणमुवेदि यो दीक्षितः सन्निंद्रियकषायबंधमुपैति । इंद्रियकषायपरिणामाः कर्मबंधनक्रियायां साधकतमतया इह बंधनशब्देनोच्यंते ॥

गृहवासदोषदुष्टगृहवाससेवनाभिमुखीकरणप्रवणंकरणकषायदोपगणमाश्रियमाणं प्रव्रजितं वक्रभणितप्रबंधेन तिरस्करोति—

मूलारा—अचेदणो अज्ञः । अदीदि प्रतिपद्यते । इंदियकसायबंधणं इंद्रियकषाया एव बंधनं कर्मबंधक्रियायां साधकतमत्वात् ॥

अर्थ—जो दीक्षा लेकर इंद्रियां और कषायके बंधनको प्राप्त होता है वह जैसा कोई अज्ञप्राणी बंधन मुक्त होकर भी पुनः बंधनका स्वीकार करता है वैसा समझना चाहिए. इंद्रिय और कषाय ये कर्मबंधनक्रियामें साधकतम कारण होनेसे उनको भी बंधन कहना अयोग्य नहीं है.

मुक्को वि णरो कलिणा पुणो वि तं चेव मग्गदि कलिं सो ॥
जो दिक्खिदो वि इंदिय कसायमइयं कलिमुवेदि ॥ १३२७ ॥

दीक्षित्वापि पुनः साधुः कषायाक्षकलिं यदि ॥
जिघृक्षति कलिं मुक्त्वा पुनः स्वीकुरुते कलिम् ॥ १३७५ ॥

विजयोदया—प्रसिद्धार्थो ॥

मूलारा—कलिणा कलहेन ॥

अर्थ—जो साधु दीक्षित होकर भी पुनः इंद्रिय और कषायरूप कलहका स्वीकार करता है वह कलह से रहित होकर भी फिर कलहका स्वीकार करता है ऐसा समझना चाहिये.

उत्तरगाथा—

सो णिच्छदि मोत्तुं जे हत्थगयं उम्मुयं सपज्जलियं ॥
सो अक्कमदि कण्हसप्पं छादं वग्घं च परिमसदि ॥ १३२८ ॥
विधाय ज्वलितं हस्ते मुर्मुरं स बुभुक्षते ॥
आक्रामति स कृष्णाहिं व्याघ्रं स्पृशति सक्षुधं ॥ १३७६ ॥

विजयोदया—सो णिच्छदि स नेच्छति । मोत्तु मोक्तु । किं हत्थगयं हस्तस्थितं हस्तगतं वा । उम्मुकं सपज्जलियं उल्मुकं सुष्ठु प्रज्वलितं । सो कण्हसप्पमक्कमदि स कृष्णसर्पमतिक्राम्यति । छादं वग्घं च परिमसदि क्षुधोपद्रुतं व्याघ्रं च स्पृशति ॥

मूलारा—मोत्तुं जे त्यक्तुं । उम्मुगं अर्धप्रज्वलितकाष्ठं । अक्कमदि लंघयति । छादं क्षुत्पीडितं । परिमसदि स्पृशति॥

अर्थ—जो साधु दीक्षित होकर पुनरपि इंद्रिय और कषायरूप परिणामोंको स्वीकारता है वह हाथमें जलते हुए अग्निको नहीं त्यागना चाहता है अथवा काले सर्पको लांघकर जाना चाहता है किंवा भूखसे पीडित व्याघ्र को स्पर्श करना चाहता है ऐसा समझना चाहिये.

सो कंठोलग्गिदसिलो दहमत्थाहं अदीदि अण्णाणी ॥
जो दिक्खिदो वि इंदिय कसायवसिगो हवे साधू ॥ १३२९ ॥
कंठालग्नशिलोऽगाधं सोऽज्ञानो गाहते न्हदम् ॥
अनलो नापि यो दीक्षां कषायाक्षं मपद्यते ॥ १३७७ ॥

विजयोदया—सो कंठोलग्गिदसिलो स कंठावलंबितशिलः । दहमत्थाहं ह्रदमगाधं । अदीदि प्रविशति । अपणाणी अज्ञः । जो दिक्खिदो वि य यो दीक्षितोऽपि इंदियकसायवसिगो इंद्रियकषायवशवर्ती सादृश्यादभेदव्यवहारः ॥

मूलारा—कंठोलग्गिदसिलो गलावलंबितदृषद् ॥

अर्थ—जो अज्ञानी साधु दीक्षा लेकर इंद्रिय और कषायके वश होता है वह कंठमें शिला बांधकर अगाध सरोवरमें प्रवेश करना चाहता है. गाथामें इंद्रिय और कषायके वश हुआ साधु और गलेमें शिला जिसने बांधी है ऐसा पुरुष इनमें सादृश्य होनेसे आचार्यने अभेदका व्यवहार कर एक ही व्यक्तीको दो विशेषणोंसे युक्त किया है परंतु एक दृष्टांत और दुसरा दार्ष्टांत है.

इंदियगहोवसिट्ठो उवसिट्ठो ण दु गहेण उवसिट्ठो ॥
कुणदि गहो एयभवे दोसं इदरो भवसदेसु ॥ १३३० ॥

गृहीतोऽक्षग्रहाघातो नापरो ग्रहपीडितः ॥
अक्षयः स सदा दोषं विदधाति कदाग्रहः ॥ १३७८ ॥

विजयोदया—इंदियगहोवसिट्ठो इंद्रियग्रहगृहीतः । उवसिट्ठो गृहीत । ण दु गहेण उवसिट्ठो नैव ग्रहेणोपसृष्टः। कुत. ? यस्मात् । कुणदि गहो एयभवे दोसं एकस्मिन्नेव भवे ग्रहो बुद्धिव्यामोहलक्षणं दोषं करोति । इदरो भवसदेसु इंद्रियकषायग्रहो भवशतेषु दोषं करोति ॥

मूलारा—उवसिट्ठो ग्रहाविष्टः । दोसं बुद्धिव्यामोहं ॥

अर्थ—जो इंद्रियरूप ग्रहसे पीडित हुआ है उसको ही ग्रहपीडित कहना चाहिये. जो ग्रहसे पीडित है वह वास्तविक पीडित नहीं है. क्यों कि ग्रह तो एक भवमें ही पीडा देता है अर्थात् बुद्धिमें मोह उत्पन्न करता है परंतु इंद्रिय और कषाय रूपी ग्रह इस जीवको सैंकडो भवोंमें दुःख देता हैं अतः उसको ही ग्रह कहना चाहिये.

होदि कसाउम्मत्तो उम्मत्तो तध ण पित्तउम्मत्तो ॥
ण कुणदि पित्तुम्मत्तो पावं इदरो जधुम्मत्तो ॥ १३३१ ॥

कषायमत्त उन्मत्तः पित्तोन्मत्तोऽपि नो पुनः ॥
प्रमत्तं कुरुते पापं द्वितीयो न तथा स्फुटम् ॥ १२७९ ॥

विजयोदया—होदि कसाउम्मत्तो अत्रैवं पदघटना । उम्मत्तो होदि उन्मत्तो भवति यथा । कः ? कसायउम्मत्तो कषायोन्मत्तः । तथा उम्मत्तो ण होदित्ति पदघटना तथा उन्मत्तो न भवति । कः ? पित्तउम्मत्तो पित्तोन्मत्तः । एतेन पित्तकृतादुन्मादात् कषायकृतस्योन्मादस्य जघन्यता ख्याता । कथं ? न कुणदि पित्तुम्मत्तो पापं न करोति पित्तोन्मत्तः । पापं इदरो अधुम्मत्तो कषायोन्मत्तो यथा पापं करोति, तथाभूतं न करोति । यतः एकैकोपिऽपि क्रोधादिः हिंसादिषु प्रवर्तयति । कर्मणां स्थितिबंधं दीर्घीकरोति । विवेकज्ञानमेव तिरस्करोति पित्तोन्मादः ततोऽनयोर्महदंतरं इति भावं ॥

मूलारा—उम्मत्तो उन्मदात्तः । तध ण तथा न । पित्तोन्मत्तो भवत्युन्मत्तो यथा कषायोन्मत्त इति संबंधः ॥

अर्थ—जो कषायसे उन्मत्त हुआ है उसको ही वास्तविक उन्मत्त कहना चाहिये. परंतु जो पित्तसे उन्मत्त हुआ है वह वास्तविक उन्मत्त नहीं है. पित्तसे जो उन्माद उत्पन्न होता है उससे भी कषायोन्माद अतिशय तीव्र है. और दुःखदायक है. पित्तोन्मत्त मनुष्य पाप नहीं करता है परंतु कषायोन्मत्तमनुष्य पाप करता है. अर्थात् पित्तोन्मत्त मनुष्यसे कषायोन्मत्त मनुष्य महान् अन्याय करता है. एकेकभी क्रोधादिक कषाय हिंसादिक पापोंमे जीवको प्रवृत्त करता है. कर्मका स्थितिबंध उत्तरोत्तर दीर्घ करता है. परंतु पित्तोन्माद फक्त विवेक ज्ञानको ही नष्ट करता है उससे हिंसादिक पाप और कर्मकी दीर्घ स्थिति नहीं होती है. अतः इन दोनोंमें महान् अंतर है.

इंदियकसायमइओ णरं पिसायं करंति हु पिसाया ॥
पावकरणवेलंबं पेच्छणयकरं सुयणमज्झे ॥ १३३२ ॥
कषायाक्षपिशाचेन पिशाचीक्रियते जनः ॥
जनानां प्रेक्षणीभूतस्तीव्रपापक्रियोद्यतः ॥ १२८० ॥

विजयोदया—इंदियकसायमइओ इंद्रियकषायमयः पिशाचः । णरं पिसायं करेदि नरं पिशाचं करोति । कीदृग्भूतं पिशाचं करोति ? सुजणमज्झे पेच्छणयकरं सुजनमध्ये प्रेक्षणिककारणं । पावकरणवेलंबं हिंसादिपापक्रियाविलंबनो प्रेक्षणीयत्वेन संपादयन्तं पिशाचं करोतीति यावत् ॥

मूलारा—पापकरणवेलंबं पापकरणमेव विडंबना यस्य तं। पेच्छणयकरं प्रेक्षणकारिणं हिंसादिपापक्रियाविडंबनां प्रेक्षणीयकत्वेन संपादयंतं पिशाचं करोतीत्यर्थः। उक्तं च—

कषायाक्षपिशाचेन पिशाचीक्रियते नरः ॥

सन्मध्ये प्रेक्षणीभूतः कुर्वन्पापविडंबनाम् ॥

अर्थ—इंद्रिय और कषाय रूपी पिशाच मनुष्यको सुजनोंको देखनेलायक हिंसादि पापक्रिया करनेवाला पिशाच बनाता है.

कुलजस्स जस्समिच्छत्तगस्स णिधणं वरं खु पुरिसस्स ॥

ण य दिक्खिदेण इंदियकसायवसिएण जेदुंजे ॥ १३३३ ॥

संयतस्य कुलीनस्य योगिनो मरणं वरम् ॥

लोकद्वयसुखध्वंसि न कषायाक्षपोषणम् ॥ १३८१ ॥

विजयोदया—कुलजस्स पुरिसस्स जस्समिच्छत्तगस्स कुलप्रसूतस्य पुंसः यशोऽभिलाषिणः। णिधणं वरं मृतिः शोभना। ण दु वरं जीविदुंजे नैव वरं जीवनं। दिक्खिदेण इंदियकसायवसिएण दीक्षितस्येंद्रियकषायवशवर्तिनः। जीवनं न शोभनमित्यर्थः ॥

मूलारा—णिधणं मरणं। जीविदुं जे जीवितुं ॥

अर्थ—उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ तथा यशकी अभिलाषा करनेवाला ऐसे पुरुष का मरना भी अच्छा ही मानना चाहिये. परंतु दीक्षा लेकर पुनः इंद्रिय और कषाय के वश होकर जीना अच्छा नहीं है. अभिप्राय यह है, कि इंद्रिय और कषाय के आधीन होकर जीना पापास्रवके लिये कारण है अतः ऐसा जीना खराब है.

जध सण्णद्धो पग्गहिदचावकंडो रधी पलायंतो ॥

णिंदिज्जदि तध इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो ॥ १३३४ ॥

निंद्यते संयतः सर्वैः कषायाक्षवशंगतः ॥

विजयोदया—यथा रथी पलायंतो णिंदिज्जदि यथा रथी पलायन्निंद्यते । कीदृक् ? सण्णद्धो पग्गहिदचावकंडो सन्नद्धः प्रगृहीतचापकांड। तथा इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो तथा इंद्रियकषायवशवर्त्यपि प्रव्रजितो निंद्यते ॥

मूलारा–रथी रथारोढः ॥

अर्थ—जैसे-युद्धके लिये तयारी जिसने की है अर्थात कवच पहन कर और हाथमें धनुष्य और बाण लेकर लढनेके लिये जो रथमें आरूढ हुआ है ऐसा रथी वीर रणको देखकर यदि डरके मारे युद्धसे भागने लगेगा तो जगतमें उसकी निंदा हुए विना नहीं रहेगी. वैसे दीक्षित होनेपर इंद्रियकषायवश हुआ पुरुष जगतमें निंदाका पात्र होता है.

जध भिक्खं हिंडंतो मउडादि अलंकिदो गहिदसत्थो ॥
णिंदिज्जइ तध इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो ॥ १३३५ ॥

कषायाक्षवशस्यायी दृष्यते कैर्न संयतः ॥
याचमानो यथा भिक्षां भूषितो मुकुटादिभिः ॥ १३८३ ॥

विजयोदया—जध भिक्खं हिंडंतो मुकुटादिभिरलंकृतो गृहीतशस्त्रो भिक्षां भ्रमन् निंद्यते । निंद्यते इंद्रियकषायवशवर्ती प्रव्रजितः ॥

मूलारा–गहिदसत्थो धृतास्त्रः ।

अर्थ—जैसे मुकुट, अंगद वगैरह आभूषण पहना हुआ, हाथमें शस्त्र को धारण करनेवाला मनुष्य यदि भीख मांगता हुआ देखा गया तो उसकी लोक निंदा करते हैं वैसे दीक्षा लेकर इंद्रियवश और कषायवश होना यह ऊपरके दृष्टांत के समान निंदनीय है.

इंदियकसायवसिगो मुंडो णग्गो य जो मलिणगत्तो ॥
सो चित्तकम्मसमणोव्व समणरूवो असमणो हु ॥ १३३६ ॥

सर्वांगीणमलालीढो नग्नो मुंडो महातपाः ॥
जायते सकषायाक्षश्चित्रश्रमणसन्निभः १३८४ ॥

विजयोदया—इंदियकसायवसिगो इंद्रियकषायवशीकृतः, मुंडो नग्नश्च यो मलिनगात्रः सन् । सो समणरूवो न समणो स श्रमणरूपो न श्रमणः । सो चित्तकम्मसवणो व्व स चित्रकर्मश्रमण इव । परमार्थश्रमणसदृशरूपोऽपि यथा चित्रश्रमणो न श्रमणस्तद्वदशुभपरिणामप्रवणः ॥

मूलारा—चित्तकम्मसमणोव्व चित्रलिखितयतिरिव । समणरूवो परमार्थयतिसदृशरूपोऽपि ।

अर्थ—जो इंद्रिय और कषायके वश हुआ है, मुंडमस्तक, और मलिन शरीर है वह मुनि होनेपर भी मुनि नहीं माना जाता है. यह चित्रलिखित मुनिके समान है ऐसा मानना चाहिए. जैसे चित्र लिखित मुनि वास्तविक मुनि नहीं है वैसे इंद्रियवश कषायवश मुनि पाप परिणामोंसे मलिन होनेसे अशुभ कर्मके बंधक माने गये हैं इसलिए उनको मुनि नहीं समझना चाहिए.

ज्ञानं नरस्य दोषानपहरति इंद्रियकषायजयमुखेन यथा सत्वयतः प्रहरणमावरणं च शत्रुं नाशयतीत्युत्तरगाथार्थः, इंद्रियकषायाजये ज्ञानं दोषापहारित्वाख्यं अतिशयं न लभते यथा सत्वहीनस्यावरणसन्नाहाख्यं प्रहरणं च खड्गचक्रादिकं शत्रुजयत्वमतिशयं नासादयति ॥

णाणं दोसे णासिदि णरस्स इंदियकसायविजयेण ॥
आउहरणं पहरणं जह णासेदि अरिंससत्तस्स ॥ १३३७ ॥

ज्ञानदोषविनाशाय कषायेंद्रियनिर्जयः ॥
नास्त्रं शत्रुविघाताय जायते सत्वसंभवे ॥ १३८५ ॥

विजयोदया—णाणं ज्ञानं दोसे दोषान् । णासिदि नाशयति । णरस्स नरस्य इंद्रियकसायविजयेन । जह यथा । आउहरणं पहरणं आयुषो हरणं प्रहरणं शस्त्रं । सत्वमत्वेन वर्तते इति ससत्वस्तस्य । अरिं रिपुं । णासेदि नाशयति ॥

मूलारा—आवरण सन्नाहः । ससत्तस्स सत्वयुक्तस्य ।

इंद्रियां और कषायोंको जीतनेसे ज्ञान मनुष्यके दोषोंका नाश करता है. जैसे धैर्ययुक्त मनुष्यका शस्त्र और कवच शत्रुका नाश करता है ऐसा आगेकी गाथाका भाव है, इंद्रिय और कषायोंको यदि न जीता जायगा तो ज्ञान दोषोंका नाश नहीं कर सकेगा. जैसे धैर्यहीन मनुष्यके शस्त्र और कवच शत्रुको नहीं जीत सकते हैं.

अर्थ—इंद्रिय और कषायोंपर विजय प्राप्त करके ज्ञान पुरुषके दोषोंका नाश करता है. जैसे धैर्यवान् मनुष्यका आयुध शत्रुका आयुष्य नष्ट कर देता है.

णाणंपि कुणदि दोसे णरस्स इंदियकसायदोसेण ॥
आहारो वि हु पाणो णरस्स विससंजुदो हरदि ॥ १३१८ ॥

दोषाय जायते ज्ञानं कषायेंद्रियदूषितम् ॥
आहारो हरते किं न जीवितं विषमिश्रितम् ॥ १३८६ ॥

विजयोदया—णाणपि कुणदि दोसे णरस्स ज्ञानं दोषानपि करोति नरस्य । इंदियकसायदोसेण इंद्रियकषाय-परिणामदोषेण । उपकार्यपि अनुपकारितामुद्वहति परसंसर्गेण । यथा प्राणधारणनिमित्तोऽप्याहारो विषमिश्रः प्राणान्विनाशयति ॥

मूलारा—दोसे अपकारान् ॥

अर्थ—इंद्रिय कषायरूपी परिणाम दोषोंसे पुरुषका ज्ञान भी दोषोंको उत्पन्न करता है. यद्यपि ज्ञान उपकार करनेवाली चीज है परंतु दूसरेके अर्थात् सदोषके संसर्गसे दोष उत्पन्न करता है. जैसे अन्नसे प्राण धारण होता है परंतु वह विषसंयुक्त होकर प्राणोंका नाश कर देता है.

णाणं करेदि पुरिसस्स गुणे इंदियकसायविजयेण ॥
बलरूववण्णमाऊ करेदि जुत्तो जधाहारो ॥ १३२९ ॥

विदधाति गुणं ज्ञानं कषायेंद्रियवर्जितम् ॥
वपुर्योग्यं करोत्यन्नं बलवर्णादिसुंदरम् ॥ १३८७ ॥

विजयोदया—णाण करेदि ज्ञान करोति। पुरिसस्स गुणे पुरुषस्य गुणान् । कथं ? इंदियकसायविजएण इंद्रियकषायविजयेन बलवण्णरूवमाऊ करेदि बल रूप, तेज , आयुश्च करोति । जुत्तो जधाहारो युक्तः शोभनो यथाहारः ॥ विषेणामिश्रित- ॥

मूलारा—वण्ण तेजः । जुत्तो विहितः ॥

अर्थ—इंद्रियां और कषायोंको जीतकर ज्ञान मनुष्यमें गुण पैदा करता है. जिसमें विष मिश्रण नहीं हुआ है ऐसा उत्तम आहार बल, वीर्य, रूप, पराक्रम और आयुको बढाता है.

णाणं पि गुणे णासेदि णरस्स इंदियकसायदोसेण ॥
अप्पवधाए सत्थं होदि हु कापुरिसहत्थगयं ॥ १३४० ॥

कषायेंद्रियदोषेण ज्ञानं नाशयते गुणं ॥
शस्त्रमात्मविनाशाय किल भीरुकरास्थितम् ॥ १३८८ ॥

विजयोदया—ज्ञानमपि गुणान्नाशयति नरस्य इंद्रियकषायपरिणामदोषेण । आत्मवधाय भवति शस्त्रं कापुरुषहस्तगतं इति ॥

मूलारा— अप्पवधाए स्वघातार्थं ॥

अर्थ—इंद्रिय और कषायोंके दोषोंसे मनुष्यका ज्ञान गुणोंका ध्वंस करता है. धैर्यहीन पुरुषके साथमें रहनेवाली तरवार उसका ही नाश करती है.

उत्तर गाथार्थः ॥

सबहुस्सुदो वि अवमाणिज्जदि इंदियकसायदोसेण ॥
णरमाउधहत्थंपि हु मदयं गिद्धा परिभवंति ॥ १३४१ ॥

कषायेंद्रियदोषार्तः शास्त्रज्ञोऽप्यवमन्यते ॥
किं प्रेतः शास्त्रहस्तोऽपि न खगैः परिभूयते ॥ १३८९ ॥

विजयोदया—सुबहुस्सुदोपि सुष्ठु बहुश्रुतोऽप्यवमन्यते इंद्रियकषायदोषेण । गृहीतास्त्रमपि नरं मृतं गृध्राः परिभवन्ति यथा ॥

मूलारा— अवमाणिज्जदि अवज्ञाहेतुःक्रियते ॥

अर्थ—इंद्रिय कषायोंके दोषोंसे बहुश्रुत विद्वानका भी लोक अपमान करते हैं. जिसके हाथमें शस्त्र है ऐसे मरे हुए मनुष्यका गीध पराभव करते हैं.

इंदियकसायवसिगो बहुस्सुदो वि चरणे ण उज्जमदि ॥
पक्खीव छिण्णपक्खो ण उप्पडदि इच्छमाणो वि ॥ १३४२ ॥

धृत्ते नाक्षकषायार्त्तः श्रुतज्ञोऽपि प्रवर्तते ॥
उड्डीयते कुतः पक्षी लूनपक्षः कदाचन ॥ १३९० ॥

विजयोदया—इंद्रियकसायवसिगो इंद्रियकषायवशगः बहुश्रुतोऽपि चारित्रे नोद्यमं करोति । यथा छिन्नपक्षः पक्षी नोत्पतति इच्छन्नपि ॥

मूलारा— इच्छमाणो वि उप्पतिदुमिच्छन्नपि ॥

अर्थ—इंद्रिय और कषायोंके वश हुआ पुरुष विद्वान होकर भी चारित्रमें उद्यम नहीं कर सकता है. जिसके पक्ष टूट गये हैं ऐसा पक्षी उडनेकी इच्छा करता हुवा भी नहीं उड सकता है.

णस्सदि सगंपि बहुगं पि णाणमिंदियकसायसम्मिस्सं ॥
विससम्मिसिददुद्धं णस्सदि जध सक्कराकढिदं ॥ १३४३ ॥

स्रंसते बह्वपि ज्ञानं कषायेंद्रियदूषितम् ॥
सशर्करमपि क्षीरं सविषं मंक्षु नश्यति ॥ १३९१ ॥

विजयोदया—णस्सदि सगंपि बहुगंपि णाणं नश्यति स्वयं बह्वपि ज्ञानं इंद्रियकषायसन्मिश्रं । शर्कराकथितं दुग्ध विषमिश्रमिव । माधुर्यातिशयता दुग्धस्य शर्कराकथितशब्देन कथ्यते ॥

मूलारा— णासदि विनश्यति । सुदं श्रुताख्यं । सक्कराकढिदं अतिमधुरमित्यर्थः ॥

अर्थ—इंद्रिय और कषाय विकारोंसे मिश्र हुआ बहुतसा भी ज्ञान नष्ट होता है. विषमिश्रित भी मीठा कढाया हुवा दूध नष्ट होता है अर्थात् उसका स्वभाव नष्ट होता है.

इंदियकसायदोसमलिणं णाणं ण वट्टदि हिदे से ॥
वट्टदि अण्णस्स हिदे खरेण जह चंदणं ऊढं ॥ १३४४ ॥

ज्ञानं परोपकाराय कषायेंद्रियदूषितम् ॥
किमूढमुपकाराय रासभस्य हि चंदनम् । १३९२ ॥

विजयोदया—ज्ञानं यदीयं तस्मै उपकारितया प्रसिद्धमपि स्वयोपकारि भवति इंद्रियकषायमलिनं परोपकारि तु भवति खरेणोढं चंदनादिकमिवेति सूत्रार्थः ॥

मूलारा— हिदे उपकारे । से तस्य ज्ञानवतः ॥ उपकारितया प्रसिद्धमपि नोपकाराय भवतीत्यर्थः ।

अर्थ—इंद्रिय और कषायोंसे ज्ञान मलिन होता है तब वह अपने स्वामीका हित करनेमें असमर्थ होता है परंतु उस ज्ञानसे दूसरों का हित होता है. गधा चंदनका बोझा धारण करता है परंतु उससे उसका भी हित होता नहीं. जो उस चंदन का उपभोग लेते हैं उनकाही उससे हित होता है. उसी तरह इंद्रियकषायसे जिसका ज्ञान मलिन हुआ है ऐसा आत्मा गधेकेसमान स्वज्ञानसे अपना हित नहीं कर सकता है.

ज्ञानं प्रकाशकत्वमपि जहाति—

इंदियकसायणिग्गहणिमीलिदस्स हु पयासदि ण णाणं ॥
रत्तिं चक्खुणिमीलस्स जधा दीवो सुपज्जलिदो ॥ १३९५ ॥

कषायाक्षगृहीतस्य न विज्ञानं प्रकाशते ॥
निमीलितेक्षणस्येव दीपः प्रज्वलितो निशि ॥ १३९३ ॥

विजयोदया—इंद्रियकषायपरिणामवशादिति निगदति । इंदियकसायणिग्गहणिमीलिदस्स इंद्रियकषायनिग्रहे निमीलितस्यात्मनो ज्ञानं न प्रकाशकं । रत्तिं च रात्राविव । चक्खुणिमिलिदस्स निमीलितचक्षुषः पुंसः । जह दीवो सुपज्जलिदो यथा सुप्रज्वलितः प्रदीपः ॥

मूलारा— णिमीलिदस्स अनुपयुक्तस्य । इंद्रियकषायाभिभूतस्येत्यर्थः । पयासदि ण वस्तुप्रकाशकं न भवति । रत्तिं रात्रौ । चक्खुणिमीलिदस्स पिहितनेत्रस्य ।

ज्ञानका पदार्थको प्रकाशित करना अर्थात् जानना यह धर्म है परंतु वह भी कषायवश होनेपर नष्ट होता है ऐसा कहते हैं.

अर्थ—इंद्रिय और कषायवश होकर आत्मा हीनावस्थाको पोहोंचता है तब उसका ज्ञान पदार्थ स्वरूपको प्रकाशित करनेमें असमर्थ होता है जैसे रातमें कोई आदमी आखें मीचकर सोया हुआ है ऐसी परिस्थितिमें उसके

पास जलता हुआ भी दीपक क्या पदार्थोंको दिखानेमें उस पुरुषको सहायक होता है? इसी प्रकार कषायवश होने-
पर आत्माको उसके ज्ञानसे पदार्थोंको जाननेमें सहायता नहीं मिलती है.

इंदियकसायमइलो बाहिरकरणणिहुदेण वेसेण ॥
आवहदि को वि विसए सउणी वीदंसगेणेव ॥ १३४६ ॥

बहिर्निभृतवेषेण गृह्णीते विषयान्सदा ॥
अंतरामलिनः कंको मीनानिव दुराशयः ॥ १३९१ ॥

विजयोदया—इंदियकसायमइलो इंद्रियकषायपरिणाममलिनः बाह्रिरकरणणिहुदेण वेसेण । बाह्याया गमनादिकायाः क्रियाया निभृतेन वेषेण । कोई विसए आवहदि । कश्चिद्विषयानाहरति आत्मनो भोगाय ॥

मूलारा— बाहिरकरणणिहुदेण । गमनागमनादिक्रियासंवृतेन । वेसेण आकारेण । आवहदि सेवते । सउणो पक्षिणः । वीदंसगेणेव वीतशंकेनेव । गृहधृतशिक्षितपक्षिणो यथा व्याध इति शेषः । अन्यस्तु सउणो वीदंसगेणेव इति पठित्वा पक्षी चंच्वा यथेति प्रतिपन्नः ॥ तथा च तद्ग्रथः—

कषायाक्तो कुटीश्चित्ते बहिर्निभृतवेषवान् ॥
आदत्ते विषयांश्चंच्वा निभृतः शकुनो यथा ॥

अर्थ—इंद्रिय और कषायवश होकर जिसका आत्मा मलिन हुआ है ऐसा पुरुष बाह्य आना जाना वगैरह क्रियाओंसे अपना मूलस्वरूप-मलिनस्वरूप छिपाकर विषयोंका सेवन करता है परंतु मनमें वह निःशंक नहीं रहता है अर्थात् मेरा मलिन स्वरूप कदाचित् लोक जानेंगे ऐसा भय हमेशा उसको व्यथित करता है. जैसे पारधी किसी पक्षीको पकडकर उसको शिक्षण देकर उसका पूर्वस्वरूप छिपाता है वैसे कषायमलिन आत्मा अपना मलिन स्वरूप छिपाकर बाह्य क्रियाओंसे अपनी शुद्धता दिखानेका प्रयत्न करता है परंतु वह मनमें हमेशा शंकित ही रहता है.

घोडगलिंडसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स ॥
बाहिरकरणं किं से काहिदि बगणिहुदकरणस्स ॥ १३४७ ॥

घोटकोच्चारतुल्यस्य किमन्तः कुथितात्मनः ॥
कुष्टस्य बकचेष्टस्य करिष्यति बहिः क्रिया ॥ १३९५ ॥

विजयोदया—घोडगलिंडसमाणस्स घोटकालिंडसमानस्य यथा बहिर्मसृणता न तद्वदन्तर्मसृणता । तद्वत्कस्य-चिद्बाह्यं चरणं समीचीनं नाभ्यंतराः परिणामाः शुद्धाः । स एवमुच्यते । बाहिरकरणं किं काहिदि बाह्यक्रिया अनशना-दिका किं करिष्यति । अब्भंतरम्मि कुधिदस्स अंतः कुथितस्य । इंद्रियकषायसंज्ञाऽशुभपरिणामेन नष्टाभ्यंतरतपोवृत्ते-रिति यावत् । बगणिहुदकरणस्स बकवन्निभृतक्रियस्य ॥

मूलारा०—घोडयलिंडसमाणस्स यथा घोटकलिंडं बहिर्मसृणं मध्ये परुषं तथा बहिः सुवृत्तोऽन्तरशुद्धवृत्त इत्यर्थः । कुधिदस्स इंद्रियकषायसंज्ञादूषितस्य । बाहिरकरणं अनशनादितपश्चरणं । किं से काहिदि किं तस्य करिष्यति । बगणिहुद-करणस्स बकवन्मूढचेष्टस्य ।

अर्थ—घोडे की लीद अंदर दुर्गंधियुक्त रहती है परंतु बाहरसे वह स्निग्धकांतिसे युक्त होती है. अंदरभी वह वैसी नहीं होती, उपर्युक्त दृष्टान्तके समान किसी पुरुषका–मुनिका आचरण ऊपरसे अच्छा–निर्दोष दीख पडता है, परंतु उसके अंदरके विचार कषायोंसे मलिन अर्थात् गंदे रहते हैं. यह बाह्याचरण उपवास, अवमो-दर्यादिक तप उसकी कुछ उन्नति नहीं करता है, क्योंकि इंद्रियकषायरूप अंतरंग मलिन परिणामोंसे उसका अभ्यं-तर तप नष्ट हुआ है. जैसे बगुला ऊपरसे स्वच्छ और ध्यान धारण करता हुआ दीखता है परंतु अंतरंगमें मत्स्य मारनेके गंदे विचारोंसे युक्तही होता है.

बाह्यं तपः करणीयतयोपदिष्टं तत्सफलं संपादयत्येव किमुच्यते बाह्यक्रिया किं करोतीत्याशंकायां सूरिराचष्टे—

बाहिरकरणविसुद्धी अब्भंतरकरणसोधणत्थाए ॥
ण हु कुंडयस्स सोधी सक्का सतुसस्स कादुं जे ॥ १३४८ ॥

मता बहिः क्रियाशुद्धिरन्तर्मलविशुद्धये ॥
बहिर्मलक्षयेनैव तंदुलोऽन्तर्विशोध्यते ॥ १३९६ ॥

विजयोदया—बाहिरकरणविसुद्धी बाह्यक्रियाविशुद्धिः । अब्भंतरकरणसोधणत्थाए अभ्यंतरक्रियाणां विनया-दीनां शुद्धये, अभ्यंतरतपसा लब्धेष्य बहुतरकर्मनिर्जराक्रमाणां परिशुद्धये थूयंते बाह्यान्यनशनादितपांसि । ततोऽन्वर्थतया

१३०५

बाह्यान्युपदिष्टानि। यद्वि यदर्थं तत्प्रधानं इति प्रधानताभ्यंतरतपसः। तच्च शुभशुद्धपरिणामात्मकं। तेन विना न निर्जरायै बाह्यमलं। उक्तं च-बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थं ॥इति॥ ण खु कुंडयस्स सोधी सक्का कादुं जे नैवान्तर्मलस्य शुद्धिः शक्या कर्तुं। कस्य? सतुसस्स सतुषस्य धान्यस्य॥

न चैवं बाह्यं तपो नानुष्ठेयमित्यवसेयं यतः—

मूलारा— अब्भंतरेत्यादि अभ्यंतरक्रियाणां विनयादीनां शुद्ध्यर्थं अभ्यंतरतपसा लब्ध्वेव बहुतरकर्मनिर्जरणसमाणां परिवृद्धये बाह्यतपांसि क्रियंते। इति न व्यर्थतया तान्युपदिष्टानि। यद्धि यदर्थं तत्र तत्प्रधानमिति, तत्प्रधानताभ्यंतरतपस इति तात्पर्यं॥ कोंडयस्स अन्तर्मलस्य। सुद्धी स्फोटनं सतुसस्स सतुषस्य धान्यस्य।

बाह्य तप करना चाहिये ऐसा आगममें कहा है. और वह अपना फल जीवको देता ही है परंतु आप तो उसको निष्फल बता रहे हैं अतः यह आपका कहना विरुद्धसा मालूम होता है? इस प्रश्नका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ—बाह्य क्रियाओंकी अनशनादि तपोंकी निर्मलता अंतरंग विनयादि तपोंकी निर्मल करनेके लिये होती है अर्थात् अभ्यंतर तप थोडे कालमें बहुत कर्मोंकी निर्जरा करनेका सामर्थ्य रखते हैं. और बाह्य तप इनतपोंका सामर्थ्य बढाता है. अतः बाह्य तपोंको 'बाह्य यह नाम सार्थक है. अभ्यंतर तपके लिये बाह्य तप हैं अतः अभ्यंतर तप प्रधान है. यह अभ्यंतर तप शुभ और शुद्ध परिणामोंसे युक्त रहता है. इसके बिना बाह्यतप कर्म निर्जरा करनेमें असमर्थ है. श्रीसमन्तभद्र आचार्य 'हे प्रभो आप अतिशय कठिन ऐसा बाह्य तप अन्तरंग तपकी वृद्धीके लिये करते थे' ऐसी जिनेश्वर की स्तुति करते हैं. इससे अभ्यतर तप प्रधान है. और बाह्य तपसे अभ्यतर तपमें विशुद्धता प्राप्त होती है यह सिद्ध होता है. बाह्य तप निष्फल अर्थात् व्यर्थ है ऐसा समझना योग्य नहीं है, जो धान्य सतुष है अर्थात् ऊपरके छिलकेसे युक्त है उसका अन्तर्मल नष्ट नहीं होता है. जब छिलका नष्ट होता है तब धान्यका अन्तर्मलभी नष्ट होता है. अतः अन्तरंग तपकी विशुद्धताके लिये बाह्य तप भी करना चाहिये ऐसा आचार्यका मत इस गाथासे स्पष्ट होता है.

अब्भंतरसोधीए सुद्धं णियमेण बाहिरं करणं ॥
अब्भंतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरं दोसं ॥ १३४९ ॥

विजयोदया—अभ्भंतरसोधीए अभ्यंतरशुध्या । सुद्धं णियमेण वाहिरं करणं शुद्धं निश्चयेन वाह्यं करणं । अब्भंतरदोसेण खु अंतःपरिणामदोषेणैव इंद्रियकषायपरिणामादिना । कुणदि णरो वाहिरं दोसं करोति नरो बाह्यान्दोषान्वाक्कायाश्रयान् ॥

मूलारा— शुद्धं निर्दोषं भवति । वाहिरकरणं वाक्कायक्रिया वाहिरं वाक्कायाश्रयं ।

अर्थ—अभ्यंतर शुद्धिपर नियमसे बाह्य शुद्धि अवलंबित है. अंतरंग यदि अशुद्ध है तो मनुष्य वचन और शरीरके आश्रयसे दोष करता है. इंद्रिय और कषाय परिणाम ये अन्तरंग दोष है इनसे आत्मा जब मलिन होता है तब वचन और शरीरसे भी दोष होता है और यदि अन्तरंग परिणाम निर्मल हैं तो वचनवृत्ति और शरीर प्रवृत्ति भी निश्चयसे शुद्ध होती है.

लिंगं च होदि अब्भंतरस्स सोधीए बाहिरा सोधी ॥
भिउडीकरणं लिंगं जह अंतो जादकोधस्स ॥ १३५० ॥

बहिः शुद्धिर्यतो लिंगमन्तःशुद्धेःप्रजायते ॥
नांतः कोपविमुक्तेन भ्रकुटिः क्रियते बहिः ॥ १३९८
यत्र प्रयान्ति स्थितिजन्मवृद्धीस्तद्दश्यते यैर्द्वयं कषायैः ॥
काष्ठं हुताशैरिव तीव्रतापैस्ते कस्य कुर्वन्ति न दुःखमुग्रम् ॥ १३९९ ॥
यैः पोष्यंते दुःखदानप्रवीणास्तेषां पीडां ये ददन्ते दुरन्ताम् ॥
भीमाकारा व्याधयो वा मरूद्धाः संत्यक्षार्थाः कस्य ते न क्षयाय ॥१४००॥
इति सामान्याक्षकषायदोषाः ॥

विजओदया—लिंगं च होदि चिह्नं च भवति । अब्भंतरस्स परिणामसोधीए अभ्यंतरस्य परिणामस्य शुद्धेः । बाहिरा सोधीबाह्या शुद्धिरनशनादितपोविषया । भिउडीकरणं लिंगं भृकुटीकरणं लिंगं । जह यथा । अंतो जादकोधस्स

अंतर्जातस्य कोपस्य लिंगं लिंगभावः। बाह्यानामभ्यंतराणां चैवं भवति यदि परस्पराविनाभाविता स्याद्वह्निधूमयोरिव। प्रसिद्धश्च लिंगलिंगिभावः कार्येण बाह्येन कारणस्याभ्यंतरस्येति भावार्थः॥

मूलारा— लिंगं गमकं। धूम इव वन्हेः कार्यत्वं साधनमित्यर्थः। अब्भंतरस्स अन्तःपरिणामस्य। बाहिरा अनशनादितपोविषया। सामान्येन्द्रियकषायदोषा॥

अर्थ—अभ्यंतर परिणाम शुद्धीका अनशनादि बाह्य तप लिंग है, चिह्न है. जैसे किसी मनुष्यके मनमें क्रोध जब उत्पन्न होता है तब उसकी भोंहें ऊपर चढती है और ज्यादह वक्र होती हैं. अर्थात् चढी हुई भोंहें देखकर लोक इस मनुष्यके मनमें क्रोधका विकार उत्पन्न हुआ है ऐसा अनुमान करते हैं. इस प्रकार बाह्य और अभ्यंतर परिणामोंमें लिंगलिंगिभाव है. अर्थात् बाह्य लिंग है अंतरंग लिंगी है. अभ्यंतर और बाह्य इनमें जब आपसमें धूम और अग्निके समान अविनाभाव रहता है तब लिंगलिंगिभाव माना जाता है. अर्थात् बाह्य कार्यरूप और अभ्यंतर कारणरूप होनेसे अविनाभाव इनमें होता है ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये.

ते चेव इंदियाणं दोसा सव्वे हवंति णादव्वा॥
कामस्स य भोगाण य जे दोसा पुव्वणिदिट्ठा॥ १३५१॥

ये रामाकामभोगानां प्रपंचेन निरूपिताः॥
अक्षाणामपि ते दोषा द्रष्टव्याःसकलाः स्फुटम्॥ १४०१॥

विजयोदया—ते चेव इंदियाणं दोसा त एवेंद्रियाणां सर्वेषां दोषा भवन्ति इति ज्ञातव्याः। के? ये दोसा पुव्वणिदिट्ठा ये दोषाः पूर्वनिर्दिष्टाः। कामस्स य भोगाण य कामस्य भोगानां च संबंधितया निर्दिष्टा दोषाः॥ इदानीं विशेषेण इंद्रियदोषान्गाथानवकेन व्याचिख्यासुः पूर्वं सामान्येन तदभिधानाय गाथाद्वयमाह—

मूलारा— स्पष्टम्॥

अर्थ—काम और भोगसंबंधी जो दोष पूर्व कहे हैं वे ही सर्व दोष इंद्रियोंके विषयमें भी समझने चाहिए.

महुलित्तं असिधारं तिक्खं लेहिज्ज जध णरो कोई॥
तध विसयसुहं सेवदि दुहावहं इहहि परलोगे॥ १३५२॥

मधुलिप्तामसेर्धारां तीक्ष्णां लेढि स मूढधीः ॥
इंद्रियार्थं सुखं भुंक्ते यो लोकद्वयदुःखदं ॥ १४०२ ॥

विजयोदया—मधुलित्तं मधुना लिप्तां। असिधारं असेर्धारां। तिक्खं तीक्ष्णां। जह णरो कोई लेहिज्ज यथा नरः कश्चिदास्वादयति जिह्वया। तह विसयसुहं सेवदि तथा विषयसुखं सेवते। दुहावहं इह य परलोए दुःखावहमत्र जन्मनि परत्र च, स्वल्पसुखतया बहुदुःखतया च साम्यं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः ॥

विषयसेवायां लोकद्वयदुःखभूयिष्ठायां स्वल्पसुखलांपट्यस्य प्रयोजकत्वं दृष्टान्तेन समर्थयते।

मूलारा— लेहेज्ज जिह्वया स्वादयेत्।

अर्थ—जैसे कोई पुरुष मधसे लिप्त तरवारकी तीक्ष्ण धारा जिह्वासे चाटता है वैसे सर्व प्राणी इहलोकमें और परलोकमें दुःखदायक विषयोंका सेवन करते हैं. तरवारकी मधुलिप्त तीक्ष्ण धारा चाटनेसे थोडासा सुख मिलता है परंतु बहुत दुःख होता है. वैसे ये विषय भी इहपरलोकमें अल्पसुख और अधिक दुःख देते हैं अतः दृष्टांत और दार्ष्टान्तिकका साम्य है.

एकैकेन्द्रियविषयवशवर्तिभिर्मृगादिभिरुपद्रवो प्राप्तः, किं पुनरशेषेंद्रियविषयलंपटैर्जनैः प्राप्येऽनर्थ वाच्यमिति मत्याचष्टे—

सद्देण मओ रूवेण पदंगो वणगओ वि फरिसेण ॥
मच्छो रसेण भमरो गंधेण य पाविदो दोसं ॥ १३५३ ॥

रूपशब्दरसस्पर्शगंधासक्ता यथाक्रमम् ॥
पतंगमृगमीनेभभ्रमराः मलयं गताः ॥ १४०३ ॥

विजयोदया— सद्देण मओ शब्देन मृगः वाणच्छेद्यसरससुरभितृणाग्रग्रासेन, मृदुपवनानीतशैत्यस्फाटिकसंकाशपानीयपानेन च पुष्टमूर्तिरंतःकरणमिव लघुतरप्रयाणो हरिणो व्याधकलगीतश्रवणेन सुखाकूणितलोचनः, दुष्पमदंष्ट्रासमाननिशितविशालविशिखावलीभिन्नतनुर्जहाति प्रियतमान्प्राणान्। वणगओ वि फरिसेण वनगजश्च विलासिनीहृदयमिव दुष्प्रवेशासु, संसृतिरिव महतीषु अरण्यानीषु, विपद इव दुरतिक्रमणीयासु सल्लकीतरुपातशाखाहारः, रमणीरिनदीविपुलन्हदे, स्वेच्छापानतरणनिमज्जनोन्मज्जनैरुपगतप्रीतिः, अनुकूलानेककारिणीकदंबकेनानु-

गम्यमानो वासिताविशालजघनस्पर्शनोपनीतप्रीतिर्मदकलो विचेतनो रागबहलतिमिरपटलावगुंठितलोचनो महति गर्ते निपतितः परं व्यसनमवगाहते । मच्छो मत्स्यः युवजनमनःसरोनपायिविलासिनीविलोचनविभ्रमविलंघनोद्यतः स्वल्पाहाररसलोलुपो विपदमास्यवशः प्रयाति । विचित्रसुरभिप्रसूनप्रकररजोऽङ्गरागो भ्रमरः । विषपादपकुसुमगंधेनापहृतप्रियतमप्राणो भवति । एवमेते दोषान्प्रापिताः ॥

इंद्रियविशेषदोषान्गाथासप्तकेन व्याचिख्यासुरेकैकस्यापीन्द्रियविषयस्य सेवायां मरणांतविपदः संपद्यंते किं पुनः पंचानामिति गाथाद्वयेन दृष्टांतस्फुटमाचष्टे—

मूलारा—पाविदो प्रापितः । दोसे मरणावसानदुःखानि ॥

एकैक इंद्रियोंके वश होकर भृंग वगैरे प्राणिओंको दुःख प्राप्त हुआ है. परंतु मनुष्य प्राणीको पंचेंद्रिय विषयलंपटतासे क्यों न दुःख प्राप्त होगा ? अर्थात् इन पंचेंद्रिय विषयोंसे अवश्य अनेक अनर्थ प्राप्त होते हैं. इसी विषयका विवेचन—

अर्थ—शब्द सुनकर हरिण मरण कष्टको प्राप्त होते हैं. हरिण जंगलमें केवल मुखके वाष्पसे भी टूट सके ऐसा कोमल तृण खाकर और मृदु वायुके शैत्य स्पर्शसे ठंडे पानीका स्थान जानकर वहांका स्फटिक तुल्य निर्मल पानी पीकर पुष्ट होता है. अंतःकरणके समान वेगसे दौडनेवाला यह हरिण जब व्याधका गायन सुनता है तब सुखसे आंखें मीचकर खडा हो जाता है. दुष्ट यमके दाढाके समान तीक्ष्ण और विशाल बाणपंक्तिसे शरीर भिन्न होने पर वह अपने अत्यंत प्रिय प्राणोंको छोड देता है,

वनहस्ती स्पर्शनेंद्रियके वश होकर अतिशय दुःखको प्राप्त होता है. विलासिनी स्त्रीके हृदयके समान प्रवेश करनेमें अशक्य, संसारके समान विस्तृत, विपत्तीके समान दुर्लंघ्य, ऐसे अरण्योंमें सल्लकीके वृक्षोंके कोमल पत्तोंका और शाखाओंका आहार वनहाथी करता है. सुंदर पर्वतोंपरसे वहनेवाली नदियोंके अगाध न्हदमें स्वच्छंदसे पानी पीना, स्वेच्छासे मज्जन करना इन बातों से वह प्रसन्न होता है. अनुकूल अनेक हथिनीओंके साथ विहार करता है. तरुण हथिनीके विशालजघनका स्पर्शन करनेसे वह उन्मत्त होकर अचेतनसा होता है. रागरूप गाढांधकारसे उसके नेत्र मुंद जाते हैं. तब वह महान् गर्तमें गिरकर अतिशय संकट को प्राप्त होता है.

मत्स्य भी रसनेंद्रिय वश होकर प्राणोंको छोड बैठता है. सुंदर स्त्रियोंके विशाल लोचनके विभ्रमका

अनुकरण करनेवाला मत्स्य मत्स्य आहारके रसमें लोलुप होकर शीघ्र ही प्राणोंका नाश करनेवाली विपत्तीको प्राप्त होता है.

नाना प्रकारके सुगंधित पुष्प समुदायके परागसे व्याप्त हुआ भ्रमर विषवृक्षके पुष्प का सुगंध सूंघकर अपने प्रिय प्राणोंको गमाता है.

पतंग नामक पक्षी दीपकको सुवर्ण कलिका समझकर उसपर ग्रहण करनेके लिए झपटता है और अपने प्राण छोड देता है. इस प्रकारसे ये तिर्यंच प्राणी दुःखको प्राप्त होते हैं.

तिरश्चां दुःखं प्रतिपाद्य विषयरागजनितं मनुजगतौ दर्शयति ॥

इदि पंचहि पंच हदा सदरसफरिसगंधरूवेहिं ॥
इक्को कहं ण हम्मदि जो सेवदि पंच पंचेहिं ॥ १३५४ ॥
सरजूए गंधमित्तो घाणिंदियवसगदो विणीदाए ॥
विसपुप्फगंधमग्घाय मदो णिरयं च संपत्तो ॥ १३५५ ॥

रूपशब्दरसस्पर्शगंधानां यदि हन्यते ॥
एकैकेन तदा कस्य सौख्यं पंच निषेविणाम् ॥ १४०४ ॥
सरय्वां गंधमित्राख्यो घ्राणेंद्रियवशं गतः ॥
विषप्रसूनमाघ्राय विपन्न नरकं गतः ॥ १४०५ ॥

विजयोदया—सरजूए सरय्वां नद्यां । गंधमित्तो गंधमित्रो नाम भूपालः । मदो मृतः । विणीदाए विनीतापुरी पतिः । घाणिंदियवसगदो घ्राणेंद्रियवशंगतः । विसगंधपुप्फमग्घाय विषचूर्णवासितपुष्पमाघ्राय । मदो मृतः । णिरयं च णरको नरकं च संप्राप्तः । तीव्रविषयरागाज्जातेन कर्मभारेण ॥

मूलारा—पंच विषयान् । एतां श्रीविजयो नेच्छति ॥

एवं तिरश्चां प्रत्येकं तीव्रविषयरागहेतुकं दुःखं प्रदर्श्य मनुष्याणां प्रसिद्धार्थाख्यानैः पंचभिः प्रदर्शयिष्यन्नादौ गंधमित्रोपाख्यानमनर्थं तावत् कथयति—

मूलारा—भरऊए सरयूसंज्ञितायां नद्यां । गंधमित्तो गंधमित्रो नाम राजा । विणीदाए अयोध्यायाः स्वामी । विसपुप्फगंधं ज्येष्ठभ्रातृमधुकरौद्रविपस्त्रीवासितसुरभितमकुसुमगंधं । अग्घाय सिंधित्वा । संपत्तो गतस्तीव्रविषयरागार्जितदुष्कृतपाकोद्रेकेण ॥

तिर्यंचोंके दुःखका वर्णन कर अब मनुष्य गतिमें विषयरागसे उत्पन्न हुये दुःखका वर्णन करते हैं—

अर्थ—इस प्रकार शब्द, रस, स्पर्श, गंध और रूप ऐसे पांच विषयोंसे हरिण, मत्स्य, भ्रमर, और पतंग ऐसे तिर्यंच प्राणोंसे रहित होगये हैं. परंतु जो पांचोंहि विषयोंका सेवन करता है ऐसा मनुष्य क्यों न प्राण मुक्त हो जावेगा ?

अर्थ—विनीता नगरीमें गंधमित्र नामक राजा घ्राणेंद्रियके वश होकर विषगंध पुष्प को सूंघकर मर गया और नरकमें उत्पन्न हुआ. तीव्र विषयरागसे कर्मबंध होकर यह राजा नरकमें उत्पन्न हुआ.

पाडलिपुत्ते पंचालगीदसद्देण मुच्छिदा संती ॥
पासादादो पडिदा णट्ठा गंधव्वदत्ता वि ॥ १३५६ ॥

मूर्च्छिता पाटलीपुत्रे श्रव्यपंचालगीतितः ॥
मृता गंधर्वदत्तापि प्रासादात्पतिता सती ॥ १४०६ ॥

विजयोदया—पाटलिपुत्रे पांचालस्य गीतशब्देन मूर्छिता सती प्रासादात्पतिता नष्टा गंधर्वदत्ता नामधेया गणिका ॥

मूलारा—पाचाल गायनोपाध्यायनामेदं । गंधर्वदत्ता गणिकानामेदम् ॥

अर्थ—पाटलिपुत्रनगरमें पांचालनामक गायनाचार्यका गाना सुनकर गधर्व दत्ता नामक वेश्या मूर्छित होगई और प्रासादसे गिरकर मरगई.

माणुसमंसपसत्तो कंपिल्लवदी तधेव भीमो वि ॥
रज्जब्भट्ठो णट्ठो मदो य पच्छा गदो णिरयं ॥ १३५७ ॥

मद्यमांसरसासक्तः कांपिल्यनगराधिपः ॥
राज्यभ्रष्टो मृतः प्राप्तो भीमः श्वभ्रमुरुव्यथाम् ॥ १४०७ ॥

विजयोदया—मानुषमांसप्रसक्तः कांपिल्यपुराधिपो भीमो राज्यभ्रष्टो नष्टो मृतः पश्चान्नरकमुपयातः ॥

मूलारा—कंपिल्लवदी कांपिल्यपुराधिपतिः ॥

अर्थ—कांपिल्यनगरका राजा भीम मांसभक्षण करनेमें लुब्ध हुआ था इस मांसासक्तिदोषसे वह राज्यभ्रष्ट होकर मृत्युको प्राप्त हुआ और नरकमें उत्पन्न हुआ.

चोरो वि तह सुवेगो महिलारूवम्मि रत्तदिट्ठीओ ॥
विद्धो सरेण अच्छीसु मदो णिरयं च संपत्तो ॥ १३५८ ॥

सुवेगस्तस्करो दीनो रामारूपविपक्तधीः ॥
बाणविद्धेक्षणो मृत्वा प्रपेदे नारकीं पुरीम् ॥ १४०८ ॥

विजयोदया—चोरो वि तह सुवेगो सुवेगनामधेयश्चौरोपि युवतिरूपाकृष्टदृष्टिः शरैर्विद्धः क्षणेन मृतो नरकमुपगतः॥

मूलारा—सुवेगो सुवेगसंज्ञः । अच्छीसु नेत्रयोः ॥

अर्थ—सुवेग नामका चोर स्त्रियोंके रूपावलोकनमें मुग्ध होकर बाणोंसे विद्ध होकर तत्काल मरणको प्राप्त हुआ और नरकमें उत्पन्न हुआ.

फासिंदिएण गोवे सत्ता गहवदिपिया वि णासक्के ॥
मारेदूण सपुत्तं धूयाए मारिदा पच्छा ॥ १३५९ ॥

गोपासक्ता सुतं हत्वा नासिक्यनगरे मृता ॥
पापा गृहपतेर्भार्या दुहित्रा मारिता सती ॥ १४०९ ॥

दुःखदाननिपुणा निषेविताःस्पर्शरूपरसगंधनिस्वनाः ॥
दुर्जना इव विमोह्य मानवं योजयंति कुपथे प्रयीयसि ॥ १४१० ॥

अग्निनेव हृदयं प्रदह्यते मुह्यते नु विषयैर्विशाङ्कितः ॥
तत्कथं विषयवैरिणो जनाः पोषयन्ति भुजगानिवाधमान् ॥ १४११ ॥

इति इंद्रियविशेषदोषाः।

विजयोदया—फासिंदियेण स्पर्शनेन्द्रियेण हेतुना । गोवे सत्ता आत्मीये गोपाले आसक्ता । गिहवदिपिया राष्ट्रकूटभार्या । णासक्के नासिक्ये नगरे । मारेदूण सपुत्तं स्वपुत्रं हत्वा । धूदाए दुहित्रा । पच्छा पश्चात् । मारिदा मृतिं नीता ॥ इंदिया ॥

मूलारा—गोवे गोपाले । गहवदिपिया राष्ट्रकूटभार्या । णासिक्के नासिक्यनगरे । मारेदूण हत्वा तिष्ठन्ती ॥

सामान्यविशेषाभ्यामिंद्रियदोषाः ॥

अर्थ—नासिक्य नगरमें अपने पाले हुये ग्वालेपर आसक्त हुई एक ग्रामकूटकी भार्याने अपने पुत्रका वध किया तदनंतर अपनी लडकीके द्वारा मारी जानेपर मरकर नरकमें उत्पन्न हुई. इंद्रियोंका वर्णन हुआ.

पर्यामिंद्रियदोषानुपदर्श्य कोपदोषप्रकटनार्थं प्रक्रम्यते—

रोसाइट्ठो णीलो हदप्पभो अरदिअग्गिसंसत्तो ॥
सीदे वि णिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिट्ठो वा ॥ १३६० ॥

अरत्यर्चिःकरालेन श्यामलीकृतविग्रहे ॥
प्रस्विद्यति तुषारेऽपि तापितः कोपवह्निना ॥ १४१२ ॥

विजयोदया—रोसाघिट्ठो रोषाविष्टः । नीलवर्णो भवति हदप्पभो विनष्टदीप्तिः । अरदिअग्गिसंतत्तो अरत्यग्निसंतप्तः । सीदे वि णिवाइज्जइ शीतेपि तापितो भवति । वेवदि वेपते च । गहोवसिट्ठोव ग्रहेणोपसृष्ट इव ॥

इतः कषायविशेषदोषान्गाथाचतुस्त्रिंशतोपर्युपदिश्यन्पूर्वं कोपदोषान्पंचदशगाथाभिः कथयति—

मूलारा—रोसाइट्ठो कोपग्रस्तः । णीलो श्यामलवर्णः । हदप्पभो विनष्टदीप्तिः । णिवाइज्जदि तापितो भवति । प्रस्विद्यतीत्यन्यः । वेवदि कंपते ॥

अब इंद्रियदोषोंका वर्णनकर अब कोपके दोषोंको प्रगट करनेके लिये शुरुआत करते हैं—

अर्थ—जब मनुष्य क्रोधसे संतप्त होता है तब नीलवर्ण बनता है. अर्थात् क्रोधोदय होनेके पूर्व मुखका जो

वर्ण दीसता था उससे भिन्न मलिन ऐसा वर्ण होता है. उसकी कांति नष्ट होती है. अरति—तिरस्काररूप अग्नीसे वह जलने लगता है. जाडेके समयमें भी उसको प्यास लगती है. और पिशाचपीडित मनुष्यके समान वह कंपता है.

भिउडीतिवलियवयणो उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो ॥
कोवेण रक्खसो वा णराण भीमो णरो भवदि ॥ १३६१ ॥

अभाष्यां भाषते भाषामकृतां कुरुते क्रियाम् ॥
कोपव्याकुलितो जीवो ग्रहार्त इव कम्पते ॥ १४१३ ॥
त्रिवलीकालितालीको रक्तस्तब्धीकृतेक्षणः ॥
दंतदष्टाधरो दुष्टो जायते राक्षसोपमः ॥ १४१४ ॥

विजयोदया—भिउडीतिवलियवयणो भृकुटीत्रिवलितवदनो । उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खखो उद्गतनिश्चलसुरक्तरूक्षेक्षण.। रोसेण रोषेण हेतुना। रक्खसो राक्षस इव। णराण भीमो णरो होदि। नराणां भीमो भयावहो भवति नरः ॥

मूलारा—तिवलिद ललाटवलित्रययुक्तं । उग्गद निर्गत । लुक्खक्खो रूक्षचक्षुः । भीमो भयावहः ॥

अर्थ—क्रोधसे भोंहें चढती हैं और ललाट तीन वलिओंसे युक्त होता है. क्रोधसे आंखें बडी बडी होती हैं, निश्चल होती हैं और लालसुर्ख होती हैं. तब मनुष्य मानो राक्षसके समान भयानक दीख पडता है.

जह कोइ तत्तलोहं गहाय रुट्ठो परं हणामित्ति ॥
पुव्वदरं सो डज्झदि डहिज्ज व ण वा परो पुरिसो ॥ १३६२ ॥

आददानो यथा लोहं परदाहाय कोपतः ॥
स्वयं प्रदह्यते पूर्वं परदाहे विकल्पनम् ॥ १४१५ ॥

विजयोदया—जह कोइ यथा कश्चित्तत्तलोहं गहाय तप्तलोहं गृहीत्वा । किमर्थं रुट्ठो परं हणामित्ति रुष्टः परं हन्मीति । पुव्वदरं सो डज्झदि पूर्वतरं स एव दह्यते तेन तप्तेन लोहेन गृहीतेन । डहिज्ज परो ण वा पुरिसो दह्यते परः पुरुषो न वा दह्यते ॥

मूलारा—गहाय गृहीत्वा वर्तमानः ॥

अर्थ—जैसे कोई क्रुद्ध मनुष्य दूसरोंका घात करनेके हेतुसे अग्निसे तापा हुआ लोहा हाथमे लेता है परंतु प्रथम ही वही दग्ध होता है दूसरा पुरुष अग्नितप्त लोह पिंडमे दग्ध होगा या नहीं भी

तध रोसेण सयं पुव्वमेव डज्झदि हु कलकलेणेव ॥
अण्णस्स पुणो दुक्खं करिज्ज रुट्ठो ण य करिज्जा ॥ १३६३ ॥

विदधानस्तथा कोपं परघाताय मूढधीः ॥
स्वयं निहन्यते पूर्वमन्यघातो विकल्प्यते ॥ १४१६ ॥

विजयोदया—तध रोसेण तथा रोषेण स्वयं पूर्वं दह्यते द्रवीकृतलोहसंस्थानीयेन । अन्यस्य पुनर्दुःखं कुर्यान्न वा रुष्ट. ॥

मूलारा— कलकलेणेव ताम्रद्रवेण यथा ॥

अर्थ— तप्त लोहेके समान क्रोधी मनुष्य प्रथम स्वयं संतप्त होता है तदनंतर वह अन्य पुरुषको दुःखित कर सकेगा अथवा नहीं भी. नियमपूर्वक दुःखित करना इसके हाथमें नहीं है. जिसके ऊपर हम रोष करते हैं उसके शुभ कर्मका उदय होगा तो हम उसका बाल भी बांका नहीं कर सकते हैं.

णासेदूण कसायं अग्गी णासदि सयं जधा पच्छा ॥
णासेदूण तध णरं णिरासवो णस्सदे कोधो ॥ १३६४ ॥
कोधो सत्तुगुणकरो णीयाणं अप्पणो य मण्णुकरो ॥
परिभवकरो सवासे रोसे णासेदि णरमवसं ॥ १३६५ ॥

आधारं पुरुषं हत्वा पापः कोपः पलायते ॥
मदस्य जनकं काष्ठं वन्हिः किं नोपशाम्यति ॥ १४१७ ॥
शत्रूपकाराद्रोपो यः स्वबंधूनां च शोककृत् ॥
स्थानं कुलं बलं क्रोधं हत्वा नाशयते नरम् ॥ १४१८ ॥

विजयोदया—रोसो सत्तुगुणकरो रोषः शत्रोर्यो गुणो धर्मोऽपकारित्वं नाम तं करोति । अथवा शत्रूणां गुणमुपकारं करोति रोषः । यतोऽस्य हि रोषदहनेन दह्यमानं तं दृष्ट्वा ते तुष्यंति । कथमस्य रोषमुत्पादयाम इत्येवमादृताश्चे सदार्पयंति । णीयाणं अप्पणो या निजानामात्मनश्च बांधवानां शोकं करोति । परिभवकरो सवासे स्वनिवासस्थाने परिभवमानयति रोसो णासेदि णरमवसं रोषो नरमवशं नाशयति ॥

मूलारा—सगासयं आत्माधारं । एतां श्रीविजयो नेच्छति ॥

मूलारा—सत्तुगुणकारो शत्रोर्यो गुणोऽपकाराख्यस्तं करोति ॥ अथवा शत्रूणां गुणमुपकारं करोति । ते हि नरं कोपाग्निना दह्यमानं क्रोधकृतं मतिभ्रंशं वा दृष्ट्वा तुष्यन्ति ॥ णीयाणं बांधवानां । मण्णुकरो शोकजनकः । सवासे स्वनिवासस्थाने परिभवमानयतीत्यर्थः ॥

अर्थ—जैसे अग्नि अपनी आधारभूत लकडीको प्रथम जलाकर पश्चात् स्वयंभी नष्ट होती है वैसे क्रोधभी अपने आधारस्तंभ पुरुषका प्रथम नाश करके अनंतर स्वयं शांत होती है.

अर्थ—शत्रूमें अपकार करना यह गुण है वही गुण क्रोधमें भी है अर्थात् क्रोध जीवपर अपकार ही करता है. अथवा क्रोध शत्रूपर उपकार करता है क्योंकि जब मनुष्य क्रुद्ध होता है तब उसके शत्रुओंको आनंद उत्पन्न होता है और इसको हमेशा क्रोध किस प्रकारसे उत्पन्न किया जा सकेगा उसका ही विचार कर वे अपने प्रतिपक्षको क्रोधयुक्त करते हैं. क्रोधसे मनुष्य अपने बांधवोंको भी कष्ट पोहोंचाता है उनको शोकयुक्त करता है. क्रोध अपने घरमें अपमानको लाता है और अपने आश्रयस्थानका नाश करता है.

ण गुणे पेच्छदि अववददि गुणे जंपदि अजंपिदव्वं च ॥
रोसेण रुद्दहिदओ णारगसीलो णरो होदि ॥ १३६६ ॥
गुणागुणौ न जानाति वचो जल्पति निष्ठुरं ॥
नरो रौद्रमना रुष्टो जायते नारकोपमः ॥ १४१९ ॥

विजयोदया—ण गुणे पेच्छदि गुणं न पश्यति यस्मै कुप्यति । अववदति निंदति । गुणे गुणानपि तदीयान् । जंपदि अजंपिदव्वं च वक्तव्यावाच्यमपि । रोसेण रुद्दहिदओ रोषेण रौद्रचित्तः । णारगसीलो णरो हवदि नारकशीलो भवति नरः ॥

मूलारा— गुणो गुणान्। तस्मै कुप्यति। वदीयान्। अवयददि निंदति। अजंपिदव्वं च अवाच्यमपि। करहिदओ क्रूरचित्तः॥

अर्थ—जब मनुष्य जिसके ऊपर क्रोध करता है तब उस व्यक्तीके गुणोंका महत्त्व वह भूल जाता है. उसके गुणोंकी निंदा करता है. जो शब्द मुहसे निकालना अयोग्य माना जाता है ऐसे शब्दोंका उच्चार वह बेशक करता है. अर्थात् क्रोधके आवेशमें आकर मनुष्य गाली देता है. असभ्य शब्द बोलता है. क्रोधसे मन क्रूर बनता है. अत एव क्रोधसे मनुष्योंका नारकियोंकासा स्वभाव बनता है.

जध करिसयस्स धण्णं वरिसेण समज्जिदं खले पत्तं॥
डहदि फुलिंगो दित्तो तध कोहग्गी समणसारं॥ १३६७॥
धान्यं कृषीवलस्येव पावकः क्लेशतोऽर्जितम्॥
श्रामण्यं प्लोषते रोषः क्षणेन व्रतिनोऽखिलं॥ १४२०॥

विजयोदया—जह करिसगस्स यथा कर्षकस्य धान्यं वर्षेण समर्जितं खल्प्राप्तं दहति विस्फुलिंगो दीप्तस्तथा क्रोधाग्निर्दहति श्रमणस्य सारं पुण्यपण्यं॥

मूलारा— करिसयस्स कर्षकस्य। खलं खलजे। फुलिंगो अग्निकणः। समणसारं यतिधर्मं। तपः पुण्यं वा॥

अर्थ—एक वर्षतक परिश्रम कर उपजाया और खलेमें संचित किया हुआ किसानका धान्य एक छोटेसे अग्निके स्फुलिंगसे नष्ट होजाता है वैसे क्रोधरूपी अग्नि मुनिके अमूल्य पुण्य नामक वस्तूका नाश कर डालता है.

जध उग्गविसो उरगो दब्भतणंकुरहदो पकुप्पंतो॥
अचिरेण होदि अविसो तध होदि जदी वि णिस्सारो॥ १३६८॥
यथैवोग्रविषः सर्पः क्रुद्धो दर्भतृणाहतः॥
निर्विषो जायते शीघ्रं निःसारोऽस्ति तथा यतिः॥ १४२१॥

विजयोदया—जह उग्गविसो उरगो यथोग्रविष उरगो दर्भतृणांकुरहतः तत्प्रकृष्टरोषवशमुपनयन् स्पृष्टं तृणादिकं भक्षयित्वा झटिति निर्विषो भवति। तथा यतिरपि निस्सारो भवत्यचिरेण रत्नत्रयविनाशात्॥

मूलारा— उरगो सर्पः । दब्भतणंकुरहदो दर्भसूचीविद्धः । पकुप्पंतो प्रकर्षेण कुप्यन् । अविसो स्पृष्टं दर्भादिकं भक्षयित्वा भवित्युद्गीर्णगरलो भवति । णिस्सारो क्रोधविषयमपकृत्य नष्टरत्नत्रयः स्यात् ॥ उक्तं च—

कुपितो गर्हमाणोऽन्यं निःसारो जायते यतिः ॥
दर्भांकुरमिव स्पृष्ट्वा दुष्टबुद्धिर्भुजंगमः ॥

अर्थ—जैसे उग्रविषका धारक सर्प दर्भ तृणांकुरसे व्यथित होकर अतिशय क्रुद्ध होता है. और उस तृण को क्रोधसे खा डालता है तब निर्विष होता है वैसे यति भी क्रोधसे रत्नत्रयका नाश करता है जिससे वह निःसार होता है.

पुरिसो मक्कडसरिसो होदि सरूवो वि रोसहदरूवो ॥
होदि य रोसणिमित्तं जम्मसहस्सेसु य दुरूवो ॥ १३६९ ॥

सुरूपोऽपि नरो रुष्टो जायते मर्कटोपमः ॥
कोपोपार्जितपापश्च विरूपो जन्मकोटिषु ॥ १४२२ ॥

विजयोदया—पुरिसो मक्कडसरिसो पुरुषो मर्कटसदृशो भवति । सुरूपोऽपि सरोषोऽपहतरूपः । इह जन्मनि रोषानुपदर्शं पारभविकमाचष्टे-होदि भवति । जन्मसहस्रेषु कुरूप एतज्जन्मकृतात्कोपात् ॥

मूलारा— रोसणिमित्तं एकजन्मकृतेन रोषेण हेतुना ॥

अर्थ—पुरुष सुंदर होनेपर भी जब वह क्रोधयुक्त होता है तब उसका रूप नष्ट होता है. वह मर्कट सरीखा दीखता है. इतनाही नहीं रोषसे वह अनेकजन्मोंमें अर्थात् हजारो जन्मोंमें कुरूपही होता है. एक भवमें रोष करनेसे अनेक जन्मोंमें कुरूपता प्राप्त होती है.

सुट्ठु वि पिओ मुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोधेण ॥
पाधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण ॥ १३७० ॥

द्वेष्यो जनः प्रकोपेन जायते वल्लभोऽपि सन् ॥
अकृत्यकारिणस्तस्य नश्यति प्रथितं यशः ॥ १४२३ ॥

विजयोदया—सुट्ठुवि नितरामपि। जनस्य प्रियो मुहूर्तमात्रेणैव द्वेष्यो भवति रोषेण प्रथितमपि यशो नश्यति। कस्य ? क्रुद्धस्य अकज्जकरणेन क्रुद्धस्य अकार्यकरणेन ॥

मूलारा— वेसो द्वेष्यः ॥ पधिदोवि मख्यातमपि । विश्रुतमपि वा ।

अर्थ—क्रोध करनेसे अतिशयप्रिय मनुष्य भी अप्रिय बनता है. अर्थात् क्रोध करनेसे क्रोधी मनुष्यका सब द्वेष करते हैं. क्रुद्ध होकर मनुष्य अयोग्य कार्य करता है जिससे उसका प्रसिद्ध यशभी नष्ट होता है.

णीयल्लगो वि कुद्धो कुणदि अणीयल्ल एव सत्तू वा ॥
मारेदि तेहिं मारिज्जदि वा मारेदि अप्पाणं ॥ १३७१ ॥

कुपितः कुरुते मूढो बांधवानपि विद्विषः ॥
परं मारयते तैर्वा मार्यते म्रियते स्वयम् ॥ १४२४ ॥

विजयोदया—णीयल्लगो वि रुट्ठो बंधुरपि बंधून्करोति शत्रुवत्। हंति बांधवान्। मार्यते वा स्वयं तैरात्मानं वा हन्यात् ॥

मूलारा— णीयल्लगो वि बंधूलपि । अणिअल्लगेवा अबंधूनिव । सत्तूव शत्रूनिव । मारेदि हंति बंधूनपि । तेहिं बंधुभि. अप्पाणं वा आत्मानं ॥

अर्थ—निकट संबंधी मनुष्य भी क्रोधसे अपने बंधुओंको शत्रुतुल्य समझता है, उनको मारता है अथवा उनसे स्वयं मारा जाता है.

पुज्जो वि णरो अवमाणिज्जदि कोवेण तक्खणे चेव ॥
जगविस्सुदं वि णस्सदि माहप्पं कोहवसियस्स ॥ १३७२ ॥

कुपितः पूजनीयोऽपि मंडलो चापमन्यते ॥
समस्तं लोकविख्यातं माहात्म्यं च पलायते ॥ १४२५ ॥

विजयोदया—पुज्जो वि पूज्योऽपि नरो अवमन्यते रोषेण । तत्क्षण एव जगति विश्रुतमपि माहात्म्यं नश्यति रोषिणः ॥

मूलारा— स्पष्टम् ॥

अर्थ—रोष करनेवाला मनुष्य पूजनीय होनेपरभी तत्काल अपमानित होता है. उसका प्रसिद्ध माहात्म्य भी रोषसे नष्ट होता है.

हिंसं अलियं चोज्जं आचरदि जणस्स रोसदोसेण ॥
तो ते सव्वे हिंसालियचोज्जसमुब्भवा दोसा ॥ १३७३ ॥

कृत्वा हिंसानृतस्तेयकर्माणि कुपितो यथा ॥
सर्वं हिंसानृतस्तेयदोषमाप्नोति निश्चितम् ॥ १४२६ ॥

विजयोदया—हिंसं अलियं चोज्जं हिंसामसत्यं चौर्यं चाचरति जनस्य रोषदोषेण । तस्मात्तस्य हिंसादिप्रभवा दोषा भवे भविष्यन्ति ॥

मूलारा— चोज्जं चौर्यं । जणस्स लोकस्य संबंधि । हिंसादिकं करोतीति संबंधः ॥

अर्थ—क्रोधयुक्त मनुष्य लोगोंकी हिंसा करता है. असत्य बोलता है. चोरी करता है अतएव अनेक जन्मोंमें उसकी भी हिंसा होती है, उसके विषयमें असत्य बोला जाता है, लोक उसका धन चुराकर ले जाते हैं. ऐसे अनेक भवमें क्रोधसे दुःख भोगने पडेंगे.

बारवदीय असेसा दड्ढा दीवायणेण रोसेण ॥
बद्धं च तेण पावं दुग्गदिभयवंधणं घोरं ॥ १३७४ ॥

द्वीपायनेन निःशेषा दग्धा द्वारावती रुषा ॥
पापं च दारुणं दग्धं तेन दुर्गतिभीतिदम् ॥ १४२७ ॥

इति कोपः।

विजयोदया—वारवती द्वारवती निरशेषा दग्धा रुष्टेन द्वीपायनेन। घोरं च पापं बद्धं दुर्गतिभयप्रवृत्तिनिमित्तं। क्रोधुगि गदं॥

क्रोधदोषानर्थाख्यानेनाह—

मूलारा— वारवदी द्वारावती। दुग्गादिभयबंधणं नरकादिभयवृद्धिकरं॥ क्रोधदोषाः॥

अर्थ—द्वीपायन मुनीने क्रोधवश होकर संपूर्ण द्वारका नगरी दग्ध की थी इससे उसको दुर्गतिके भय उत्पन्न करनेवाला घोरपाप बंध हुआ. क्रोधका वर्णन समाप्त हुआ.

मानदोषप्रकटनार्थः प्रबंध उत्तर—

कुलरूवाणाबलसुदलाभिस्सरयत्थमदितवादीहिं॥
अप्पाणमुण्णमेंतो नीचागोदं कुणदि कम्मं॥ १३७५॥

जातिरूपकुलैश्वर्यविज्ञानाज्ञातपोबलैः॥
कुर्वाणोऽहंकृतिं नीचं गोत्रं बध्नाति मानवः॥ १४२८॥

विजयोदया—कुलरूवाणा कुलेन रूपेण आज्ञया, बलेन, श्रुतेन लाभेन, ऐश्वर्येण तपसाऽन्यैश्च आत्मानमुत्कर्षयन्नीचैर्गोत्रं कर्म बध्नाति॥

मानदोषन्गाथासत्केनाह—

मूलारा—रूवाणा रूपमाज्ञा च। लाभिस्सरयत्थ लाभैश्वर्यमर्थश्च। उण्णमंतो उत्कर्षयन्। कुणदि बध्नाति॥

मानदोषका वर्णन विस्तारसे आचार्य करते हैं.—

अर्थ—कुल, रूप, आज्ञा, शरीरबल, शास्त्रज्ञान, लाभ, ऐश्वर्य, तप और अन्यपदार्थोंसे अपनेको ऊंचा समझनेवाला मनुष्य नीचगोत्रका बंध कर लेता है.

दट्ठूण अप्पणादो हीणे मुक्खाउ विंति माणकलिं॥
दट्ठूण अप्पणादो अधिए माणं ण यंति बुधा॥ १३७६॥

दृष्ट्वात्मनः परं हीनं मूर्खो मानं करोति ना ॥
दृष्ट्वात्मनोऽधिकं प्राज्ञो मानं मुंचति सर्वथा ॥ १४२९ ॥

विजयोदया—दट्ठूण अप्पणादो आत्मनो हीनान् दृष्ट्वा मूर्खा मानकलिं उद्वहन्ति । बुधाः पुनरात्मनोऽधिकान्विलोक्य मानं निरस्यन्ति ।

मूलारा—अप्पणादो आत्मनः सकाशात् । हीणे कुलादिभिरपकृष्टान् । कलिं पापं । अधिए कुलादिभिरुत्कृष्टान् बुद्धयावलोक्य । ण यंति न यांति त्यजंतीत्यर्थः ॥

अर्थ—अपनेसे कुलादिकमें हीन लोकोंको देखकर कितनेक मूर्ख मनुष्य अभिमानयुक्त होकर पाप उपार्जन करते हैं, तथा अपनेसे भी कुलादिकमें बडे लोकोंको देखकर मानरहित होजाते हैं.

माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलहभयवेरदुक्खाणि ॥
पावदि माणी णियदं इहपरलोए य अवमाणं ॥ १३७७ ॥
द्वेषं कलिं भयं वैरं दुःखं यशःक्षतिम् ॥
पूजाभ्रंशं पराभूतिं मानी लोकद्वयेऽस्नुते ॥ १४३० ॥

विजयोदया—माणी विस्सो सव्वस्स मानी सर्वस्य द्वेष्यो भवति । कलहं, भयं, वैरं, जन्मांतरानुगं दुःखं च प्राप्नोति । नियोगत इह परत्र चापमानं ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—मानी मनुष्यका सब लोक द्वेष करते हैं. वह कलह, वैर, भय, और अनेक जन्मोंमें दुःखोंको प्राप्त होता है. नियमसे इहलोकमें और परलोकमें उसका अपमान भी होता है.

सव्वे वि कोहदोसा माणकसायस्स होदि णादव्वा ॥
माणेण चेव मेधुणहिंसालियचोज्जमाचरदि ॥ १३७८ ॥

सर्वेऽपि कोपिनो दोषा मानिनः सन्ति निश्चितम् ॥
मानी हिंसानृतस्तेयमैथुनानि निषेवते ॥ १४३१ ॥

विजयोदया—सव्वे वि कोधदोसा कोधस्य वर्णिता दोषाः । न गुणे पिच्छदि इत्येवमादिसूत्रेण ते सर्वे मानकषायस्यापि ज्ञातव्याः । मानी मैथुने चौर्ये हिंसायामसत्याभिधाने च प्रयतते ॥

मूलारा—कोधदोसा ण गुणो पेच्छदि इत्येवमादिसूत्रोक्ताः ॥

अर्थ—क्रोध करनेसे जो दोष प्राप्त होते हैं वेही मानसे प्राप्त होते हैं. मानवश होकर मनुष्य मैथुन, चोरी असत्यभाषण और हिंसा वगैरह पाप करता है.

सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा हवदि लोए ॥
णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि ॥ १३७९ ॥
निर्मानो लभते पूजां दुःखं गर्वमपास्यति ॥
कीर्तिं साधयते शुद्धामास्पदं भवति श्रियाम् ॥ १४३२ ॥

विजयोदया—सयणस्स मानरहितः स्वजनस्य परजनस्य च सदा प्रियो जनो भवति । लोए लोके । णाणं ज्ञानं । जसं यश , अत्थं द्रविणं लभते स्वं कार्यमन्यदपि साधयति ॥

मानमर्दिगुणप्रकाशनमुखेन मानिनो दोषांस्तद्वैपरीत्येन लक्षयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—सजणस्स बंधुलोकस्य । जणस्स सामान्यलोकस्य ॥

अर्थ—निरभिमानी मनुष्य स्वजन और परजनोंको प्रिय होता है. जगतमें सदा उसको ज्ञान, यश और धनकी प्राप्ति होती है. निरभिमानितासे वह अपने इतर कार्य भी साधलेता है.

ण य परिहायदि कोई अत्थे मउगत्तणे पउत्तम्मि ॥
इह य परत्त य लब्भदि विणएण हु सव्वकल्लाणं ॥ १३८० ॥

मार्दवं कुर्वतो जन्तोः कश्चनार्थो न हीयते ॥
संपद्यते परं सद्यः कल्याणानां परंपरा ॥ १४२१ ॥

विजयोदया—ण य परिहायदि मार्दवे प्रयुक्ते नैव कश्चिदर्थो हीयते । येनायमर्थहानिभयात् मानं कुर्यात् । मार्दवे तु प्रयुक्ते इह जन्मांतरे च लभ्यते विनयेनैव सर्वकल्याणं ॥

मूलारा—मउअत्तणे मार्दवे ॥

अर्थ—मार्दव भाव धारण करनेसे मनुष्यका कुछ नुकसान नहीं होता है. अतः अभिमान धारण करना व्यर्थ है इस जन्ममें और पर जन्ममें विनयधारण करनेसे मनुष्यका सर्वथा कल्याण होता है.

सट्ठि साहस्सीओ पुत्ता सगरस्स रायसीहस्स ॥
अदियलवेगा संता णट्ठा माणस्स दोसेण ॥ १४८१ ॥

मानेन सद्यः सगरस्य पुत्रा महाबलाः षष्ठिसहस्रसंख्याः ॥
हठेन भिन्नाः कुलिशेन तुंगा धराधरेंद्रा इव भूरिसत्वाः ॥ १४२४ ॥

इति मानः ॥

विजयोदया—सट्ठि साहस्सीओ सगरस्य राजसिंहस्य चक्रिणः षष्ठिसहस्रसंख्याः । पुत्रा महाबलाः विनष्टा मानदोषेण ॥ माणत्तिगदं ॥

अर्थाख्यानेन मानदोषं द्रढयति—

मूलारा—रायसीहस्स चक्रिणः । उक्तं च—

मानेन सद्यः सगरस्य पुत्रा महाबलाः षष्ठिसहस्रसंख्याः ॥
हठेन भिन्नाः कुलिशेन तुंगा धराधरेन्द्रा इव भूरिसत्वाः ॥

मानदोषाः ॥

अर्थ—राजसिंह सगर चक्रवर्ती को साठ हजार पुत्र थे वे महा बलवान् थे परंतु मानके वश होकर वे सब नष्ट होगये. (आराधना कथाकोषादिकोंमें इनकी कथा है.

मायादोषनिरूपणायोत्तरगाथा—

जध कोडिसमिद्धो वि ससल्लो ण लभदि सरीरणिव्वाणं ॥
मायासल्लेण तहा ण णिव्वुदिं तव समिद्धो वि ॥ १३८२ ॥

विदधानोऽपि चारित्रं मायाशल्येन शल्यितः ॥
न धृतिं लभते कुत्र शल्येनेव घनर्द्धिकः ॥ १४३५ ॥

विजयोदया—जध कोडिसमिद्धो वि यथा कोटिसमृद्धोऽपि शरीरानुप्रविष्टशल्यो न शरीरसुखं लभते । तथा मायाशल्येन न निर्वृतिं लभते तपःसमृद्धोऽपि ॥

मायादोषान्गाथासप्तकेनाह—

मूलारा—कोडिसमिद्धो कोटीश्वरः ॥

मायादोषका निरूपण करनेकी लिये उत्तर गाथा—

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य कोटिधनका स्वामी होनेपर भी उसके शरीरमें प्रविष्ट हुआ बाण उसको व्यथित करेगा ही. वैसे मुनिराज तप से समृद्ध होनेपर भी माया शल्यसे उनको सुखलाभ नहीं होगा.

होदि य वेस्सो अप्पच्चइदो तध अवमदो य सुजणस्स ॥
होदि अचिरेण सत्तू णीयाणवि णियडिदोसेण ॥ १३८३ ॥

द्वेषमप्रत्ययं निंदां पराभूतिमगौरवम् ॥
सर्वत्र लभते मायी लोकद्वयाविरोधकः ॥ १४३६ ॥

विजयोदया—होदि य वेस्सो द्वेष्यो भवत्यप्रत्ययितः तथा सुजनस्यावमतः । बांधवोपि शत्रुश्चिरेण भवति मायादोषेण ॥

मूलारा—अप्पचइदो अविश्वास्यः । णीयाणवि बंधूनामपि । णियडि माया ॥

अर्थ—मायावी मनुष्यका सब लोक द्वेष करते हैं. उसके ऊपर कोई विश्वास रखता नहीं. उसको अपमानका दुःख सहना पडता है. सुजन उसको मान देते नहीं है. मायावी मनुष्य अपने संबंधी जनोंका भी शत्रु बनता है.

पावइ दोसं मायाए महल्लं लहु सगावराधेवि ॥
सच्चाण सहस्साण वि माया एक्का वि णासेदि ॥ १३८४ ॥

अरतिर्जायते मायी बंधूनामपि दारुणः ॥
महान्तमश्नुते दोषमपराधनिराकृतः ॥ १४३७ ॥
एका सत्यसहस्राणि माया नाशयते कृता ॥
मुहूर्तेन तुषाणीव नित्योद्वेगविधायिनी ॥ १४३८ ॥

विजयोदया—पावदि दोसं प्राप्नोति दोषं महांतं अल्पापराधोऽपि मायया । एकापि माया सत्यसहस्राणि नाशयति । महादोषप्रापणं सत्यसहस्रविनाशनं च मायादोषौ ॥

मूलारा—लहुसगावराधे वि । अल्पेऽप्यात्मना कृते दोषे सति ॥

अर्थ—मायावी मनुष्यने अल्पसा अपराध किया हो तो भी वह महान् दोषी माना जाता है. एक माया हजारों सत्य वचनोंका नाश करती है, अतः महादोषका आरोपण करना और हजारों सत्योंका कुचलना ऐसे दो बडे दोष मायामें रहते हैं.

मायाए मित्तभेदे कदम्मि इधलोगिगच्छपरिहाणी ॥
णासदि मायादोसा विसजुददुद्धंव सामण्णं ॥ १३८५ ॥

मित्रभेदे कृते सद्यः कार्यं नश्यति मायया ॥
विषमिश्रमिव क्षीरं समार्यं नश्यति व्रतम् ॥ १४३९ ॥

विजयोदया—मायाए मायया । मित्तभेदे मैत्र्या विनाशे कृते । इह लोगिगच्छपरिहाणी ऐहलौकिककार्यविनाशः । णासदि सामण्णं नश्यति श्रामण्यं ॥ मायादोसा माया दोषाद्धेतोः । विसजुददुद्धंव विषयुतदुग्धमिव । मित्रकार्यविनाशः श्रामण्यहानिश्च मायाजनितदोषौ ॥

मूलारा—मित्तभेदे मित्रविनाशे । सुहृदि शठावुद्दामीने वाकृते सतीत्यर्थः । इह लोगिगत्थपरिहाणी ऐहिकस्वकार्यक्षतिः ॥

अर्थ—इस कपटसे मैत्रीका नाश होता है. मैत्रीके नाशसे इहलौकिक धर्मार्थादि कार्योंका नाश होता है.

यह कपट मुनिपनाका नाश करता है. जैसे विषमिश्रित दुग्ध भक्षण करनेसे मनुष्यका नाश होता है. मायामें मित्र-कार्य विनाश और श्रामण्यहानि नामके दोष है.

माया करेदि णीचागोदं इच्छी णवुंसयं तिरियं ॥
मायादोसेण य भवसएसु डंभिज्जदे बहुसो ॥ १३८६ ॥

स्त्रैणपंढत्वतैरश्चनीचगोत्रपराभवाः ॥
मायादोषेण लभ्यंते पुंसा जन्मनि जन्मनि ॥ १४४० ॥

विजयोदया—माया करेदि णीचागोदं माया करोति नीचैर्गोत्रं कर्म नीचैर्वा गोत्रमस्य जन्मांतरे। इत्थी णवुंसयं-तिरियं स्त्रीवेदं, नपुंसकवेदं, तिर्यग्गतिं च नामकर्म करोति । अथवा स्त्रीत्वं, नपुंसकत्वं, तिर्यक्त्वं वा । मायादोसेण । मायासंजनितेन दोषेण । भवसदेसु जन्मशतेषु । डंभिज्जदि वंच्यते । बहुसो बहुशः ॥

मूलारा—डंभिज्जदे वंच्यते । येन तेनापि इह लोके वंचितेन वा ॥ उक्तं च—

स्त्रैणपंढत्वतैरश्च्यनीचगोत्रपराभवाः ॥
मायादोषेण लभ्यंते पुंसा जन्मनि जन्मनि ॥

अर्थ—मायासे नीच गोत्रकी प्राप्ति होती है. अर्थात् परजन्ममें नीच कुलमें जन्म होता है. इस मायासे स्त्रीपना, नपुंसकपना और तिर्यग्गतिकी प्राप्ति जीवको होती है. जो जीव माया करता है वह सैकडो भवमें अन्य लोगोंसे अनेक उपायों द्वारा वंचित होता है.

कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा ॥
कोहमदलोहदोसा सव्वे मायाए ते होंति ॥ १३८७ ॥

यः क्रोधमानलोभानामाविर्भावोस्ति मायिनः ॥
संपद्यन्तेऽखिला दोषास्ततस्तेषामसंयमम् ॥ १४४१ ॥

विजयोदया—कोधो माणो क्रोधमानलोभास्तत्र जीवे सन्निहिता यत्र स्थिता माया । क्रोधमानलोभजन्या दोषाः सर्वेऽपि मायावतो भवन्ति ॥

मूलारा—सण्णिहिदा स्थिता । अत एव मायाविनः क्रोधादिदोषाः सर्वेऽपि स्युः । मायाए मायाविनि जीवे ॥

अर्थ-जहां माया रहती है वहां क्रोध, मान और लोभ भी साथ ही रहते हैं. अर्थात् क्रोध, मान और लोभसे जो दोष उत्पन्न होते हैं वे सब मायावानको भी होते हैं.

सस्सो य भरधगामस्स सत्तसंवच्छराणि णिरसेसो ॥
दड्ढो डंभणदोसेण कुंभकारेण रुट्ठेण ॥ १३८८ ॥

सप्तवर्षाणि निःशेषं कुम्भकारेण कोपिना ॥
भस्मितं भरतग्रामशस्यं मायेन वंचना ॥ १४४२ ॥
धर्मपादपनिकर्तनशस्त्री जन्मसागरनिपातनकर्त्री ॥
दुःखशोकभयवैरसहाया निंदितं किमु करोति न माया ॥ १४४३ ॥

इति माया ॥

विजयोदया—सस्सो सस्यं । भरधगामस्स भरतनामधेयग्रामस्य सत्तसंवच्छराणि वर्षसप्तकं । णिस्सेसो दड्ढो निरवशेषं दग्धं । डंभणदोसेण मायादोषेण हेतुना । रुट्ठेण कुंभकारेण रुष्टेन कुंभकारेण ॥ मायात्तिगदा ॥

मायादोषमर्थाख्यानेन द्रढयति—

मूलारा—सस्सो खलजापुंजीकृतं धान्यं । भरधगामस्स भरतनाम्नो ग्रामस्य । मायादोषाः ॥

अर्थ—भरतनामक ग्राममें सात वर्षतकका समस्त धान्य कुंभकारने मायादोषसे रुष्ट होकर भस्म कर दिया. मायावर्णन समाप्त.

लोभदोषानाचष्टे—

लोभेणासाधंतो पावइ दोसे बहुं कुणदि पावं ॥
णीए अप्पाणं वा लोभेण णरो ण विगणेदि ॥ १३८९ ॥

लोभतो लभते दोषं पातकं कुरुते परम् ॥
जानीते परमात्मानं नीचमुच्चं न नष्टधीः ॥ १४४४ ॥

विजयोदया—लोभेण लोभेन हेतुना। असाघण्णो ममेदंभविष्यतीत्याशया ग्रस्तः। पावदि दोसे प्राप्नोति दोषान्। बहुं कुणदि पावं पापं च बहु करोत्याशावान्। णीए बांधवान्। अप्पाणं वा आत्मानं वा। लोभेण लोभेन। णरो ण विगणेदि न विगणयति मनुज.। बांधवानपि बाधते स्वशरीरश्रमं च नापेक्षते इति यावत्॥

लोभदोषानाथापंचकेनाह—

मूलारा—आसाघण्णो इदमिदं भविष्यतीत्याशया ग्रस्तः। दोसा बहुपापकरणादीन्। णीए बांधवान्। ण विगणेदि बांधवानपि बाधते स्वशरीरस्य श्रमं च नापेक्षते इति भावः॥

लोभके दोषोंका वर्णन—

अर्थ—लोभसे मनुष्य आशाग्रस्त होता है अर्थात् मेरेको यह मिलेगा वह मिलेगा ऐसा मनोरथ उत्पन्न करनेवाली आशा वृद्धिगत होती है. यह लोभ दोषोंका संचय है. लोभवश होकर पुरुष बहुत पाप करते हैं. लोभसे अपने बंधुओंको भी वह उपेक्षा करता है. और लोभसे अपने शरीरको कष्ट पोहोंचाता है.

वस्तुतः सारासारतया न कश्चित् कर्मबधातिशय येन केनचिद्द्रव्येण जनिता मूर्च्छा कर्मबंधे निमित्तं आत्मा शुभपरिणामनिमित्तत्वादिति मत्वा सूरिराचष्टे—

लोभो तणे वि जादो जणेदि पावमिदरत्थ किं वच्चं॥
लगिदमउडादिसंगस्स वि हु ण पावं अलोहस्स॥ १३९०॥

लोभस्तृणेऽपि पापार्थमितरत्र किमुच्यते॥
मुकुटादिधरस्यापि निर्लोभस्य न पातकम्॥ १४४५॥

विजयोदया—लोभो तणे वि जादो लोभस्तृणेऽपि जातो। जणेदि पावं जनयति पापं। इदरत्थ इतरत्र सारवति वस्तुनि। किं वच्च किं वाच्यं॥ लगिदमगुडादिसंगस्स वि स्वशरीरविलग्नमुकुटादिपरिग्रहस्यापि न पापं भवति। अलोहस्स लोभकषायवर्जितस्य मुकुटादेः सारद्रव्यस्यापि प्रत्यासत्तिर्न बंधायेति मन्यते॥

यत्र कुत्रचित्प्रवृत्तो लोभ एव पापबंधायालमित्युपदिशति—

मूलारा—इदरत्थ सारवस्तुनि। वच्चं वक्तव्यं। लगिदमगुडादिसंगस्स वि स्वशरीरालग्नकिरीटादिपरिग्रहस्यापि। अलोहस्स तद्गतमूर्च्छारहितस्य॥

वस्तु सार और असार दोनो तरहकी होती है. परंतु उससे कुछ कर्मबंधमें विशेषता उत्पन्न नहीं होती. किंतु उस वस्तुके संगसे उत्पन्न होनेवाली मूर्च्छा अर्थात् ममता कर्मबंधका निमित्त है. और यही ममता आत्मामें शुभाशुभ परिणामोंको निमित्त होती है. इसी अभिप्रायको आचार्य विशद करते हैं—

अर्थ—तृणमें भी लोभ उत्पन्न होनेसे वह पापबंध उत्पन्न करता है. तब इतर सारयुक्त वस्तुओंमें उसकी उत्पत्ति होनेपर पापबंध अवश्य होगाही. परंतु मन यदि निर्लोभी है तो शरीरपर मुकुटादि परिग्रह होने पर भी उस को पापबंध नही होता है लोभकषायका अभाव जब होता है. तब किसीने जबरदस्तीसे मुकुटादि पहनाये तो भी वह परिग्रह उसको पापकर्ममें बद्ध नहीं कर सकता है. ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

तेलोक्केण वि चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि लोभघत्थस्स ॥
संतुट्ठो हु अलोभी लभदि दरिद्दो वि णिव्वाणं ॥ १३९१ ॥

सुखं त्रैलोक्यलाभेऽपि नासंतुष्टस्य जायते ॥
संतुष्टो लभते सौख्यं दरिद्रोऽपि निरंतरम् ॥ १४४६ ॥

विजयोदया—तेलोक्केण वि त्रैलोक्येनापि। चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि चित्तस्य निर्वृतिर्नास्ति। लोभघत्थस्स लोभग्रस्तस्य। संतुट्ठो संतुष्टः लब्धेन केनचिद्वस्तुना शरीरस्थितिहेतुभूतेन। अलोभो द्रव्यगतमूर्छारहितः। लभदि लभते। दरिद्दो वि दरिद्रोऽपि। णिव्वाणं निर्वाणं। संतोषायत्तचित्ता निर्वृतिर्न द्रव्यायत्ता, सत्यपि द्रव्ये महति असंतुष्टस्य हृदये महति दुःखासिका ॥

मूलारा—तेलोक्केण वि त्रैलोक्येनापि लब्धेन। णिव्वुदी तृप्तिः। संतुट्ठो येन केनचिद्वस्तुना शरीरस्थितिहेतुभूतेन धृतिं प्राप्तः। अलोभो द्रव्यगतमूर्छारहितः। णिव्वाणं सुखं। संतोषायत्ता चित्तनिर्वृतिर्न द्रव्यायत्ता, द्रव्ये हि महत्यपि सत्यसंतुष्टस्य महादुःखासिका स्यात् ॥

अर्थ—लोभग्रस्त मनुष्यको त्रैलोक्यकी प्राप्ति होनेपर भी संतोष नहीं होता है. जो जो शरीरको सुख देनेवाली वस्तु प्राप्त होगी उसमें उसका लोभ बढताही जाता है. जिससे शरीर स्थिर रहेगा ऐसी किसी भी वस्तुसे जो मनुष्य संतुष्ट है ममता रहित है वह चाहे दरिद्री हो तो भी उसीको समाधानवृत्ति प्राप्त होती है. संतोषके स्वाधीन

ही समाधानवृत्ति रहती है. द्रव्यके अधीन वह नही रहना चाहती. बहुत द्रव्य होनेपर भी असंतुष्ट व्यक्तीके हृदयमें सदा दुःख होता है.

सव्वे वि गंथदोसा लोभकसायस्स हुंति णादव्वा ॥
लोभेण चेव मेहुणहिंसालियचोज्जमाचरदि ॥ १३९२ ॥

जायंते सकला दोषा लोभिनो ग्रंथतापिनः ॥
लोभी हिंसानृतस्तेयमैथुनेषु प्रवर्तते ॥ १४४७ ॥

विजयोदया—सव्वे वि गंथदोसा सर्वेऽपि परिग्रहस्य ये दोषाः पूर्वमाख्यातास्ते सर्वेऽपि । लोभकसायस्स लोभकषायवतः लोभः कषायोऽस्यास्तीति लोभकषाय इति गृहीतत्वात् । अथवा लोभसंज्ञितस्य कषायस्य दोषा इति संबंधनीयं । लोभेण चेव लोभेन चैव । मैथुनं, हिंसां, अलीकं, चौर्यं वा चरति । ततः सावद्यक्रियायाः सर्वस्या आदिमान् लोभः ।

किं च—

मूलारा—गंथदोसा परिग्रहापराधाः प्रागुक्ताः ॥

अर्थ—परिग्रहके दोषोंका विस्तारसे पूर्व प्रकरणमें वर्णन हो चुका है. वे सर्व दोष लोभ कषाययुक्त मनुष्यके होते हैं. अथवा लोभसे उपर्युक्त दोष उत्पन्न होते हैं. इस लोभसेही मैथुन, हिंसा, असत्यवचन, और चोरी इन पापोंको जीव करता है. जितनी पापक्रियायें हैं उनको लोभ हेतु है.

रामस्स जामदग्गिस्स वज्जं घित्तूण कत्तविरिओ वि ॥
णिधणं पत्तो सकुलो ससाहणो लोभदोसेण ॥ १३९३ ॥

रामस्य जामदग्न्यस्य गृहीत्वा लुब्धमानसः ॥
कार्तवीर्यो नृपः प्राप्तः सकुलः सबलः क्षयम् ॥ १४४८ ॥

लोभेन लोभः परिवर्धमानो दिवानिशं वह्निरिवेन्धनेन ॥
निषेव्यमाणो मलिनत्वकारी न कस्य तापं कुरुते महान्तं ॥ १४४९ ॥

इति लोभः । इति कषायविशेषदोषाः ॥

विजयोदया—रामस्स रामस्य । जामदग्गिस्स जामदग्न्यस्य । वजं व्रजं । घित्तूण गृहीत्वा । कत्तविरिओ वि कार्तवीर्योऽपि । णिधणं पत्तो निधनं प्राप्तः । सकुलो सबंधुवर्गः । ससाहणो सबलः । लोभदोसेण लोभदोषेण । लोभः ॥

लोभदोषमहत्त्वमंथाख्यानेन व्यनक्ति—

मूलारा—जामदग्गिस्स जमदग्निसूनोः । परशुरामस्येत्यर्थः । वजं व्रजं कामधेनुमित्यर्थः । ससाहणो चतुरंगबलेन सह ॥ उक्तं च—

रामस्य जामदग्न्यस्य गां हृत्वा लुब्धमानसः ॥
कार्तवीर्यो नृपः प्राप्तः सकुलः सबलः क्षयम् ॥

लोभदोषाः । कषायविशेषदोषाः ॥

अर्थ—जमदग्नि राम अर्थात् परशुरामका सर्व गौका समूह कार्तवीर्य राजाने लोभवश होकर ग्रहण किया था. इस लोभदोषसे वह अपने बंधुवर्ग और सर्व सैन्यके साथ परशुरामके द्वारा मारा गया. लोभ वर्णन समाप्त.

ण हि तं कुणिज्ज सत्तू अग्गी वग्घो व किण्हसप्पो वा ॥
जं कुणइ महादोसं णिव्वुदिविग्घं कसायरिवू ॥ १३९४ ॥

शत्रुसर्पानलव्याघ्राः कदाचित्तन्न कुर्वते ॥
यं करोति महादोषं कषायारिः शरीरिणाम् ॥ १४५० ॥

विजयोदया—स्पष्टा ॥

कषायसामान्यदोषसंग्रहगाथामाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—शत्रु, अग्नि, वाघ, और कृष्ण सर्प इनसे भी वह महादोष उत्पन्न नहीं होता है. जो कषायशत्रु उत्पन्न करता है. लोभकषाय मोक्षप्राप्तीमें महाविघ्न उपस्थित करता है.

उत्तरगाथा—

इंदियकसायदुदंतस्सा पाडेंति दोसविसमेसु ॥
दुःखावहेसु पुरिसे पसढिलणिव्वेदखलिया हु ॥ १३९५ ॥
कषायेन्द्रियदुष्टाश्वैर्दोषदुर्गेषु पात्यते ॥
त्यक्तनिर्वेदखलिनैः पुरुषो बलवानपि ॥ १४५१ ॥

विजयोदया—इंदियकसायदुदंतस्सा इंद्रियकषायदुर्दांताश्वाः । पाडेंति पातयंति । दोसविसमेसु पापविषमस्थानेषु । दुक्खावहेसु दुःखावहेषु । पुरिसे पुरुषान् । पसढिलणिव्वेदखलिआओ प्रशिथिलनिर्वेदखलिनाः ॥

सांप्रतमिंद्रियकषायाणां जीवस्य परमार्थकाष्ठाधिरूढमपकारकत्वं मन्यमानस्तदनुवर्तने बहून् दोषांस्तद्व्यावर्तने च प्रचुरगुणान्प्रदर्शयन्सामान्येन तन्निर्जयमष्टादशभिरनुवर्णयति—

तत्र तावदुभयनिर्जयं गाथाचतुष्टयेनाचष्टे—

मूलारा—दुदंतस्स दुष्टघोटकाः । दोसविसमेसु पापविषमस्थानेषु । पुरिसे जीवान् । पसिढिलणिव्वेदखलिणिदा श्लथवैराग्यकविकान् ॥

अर्थ—इंद्रिय और क्रोधादिक कशायरूपी दुर्दमनीय घोडे जब उनकी वैराग्यरूपी लगाम ढिली होजाती है तब मनुष्यको अथवा प्राणिओंको पापरूपी विषमस्थानोंमें अर्थात् पापरूपी दुःखदायक गड्ढोंमें गिराये बिना रहते नहीं. गिराते ही हैं.

इंदियकसायदुदंतस्सा णिव्वेदखलिणिदा संता ॥
ज्झाणकसाए भीदा ण दोसविसमेसु पाडेंति ॥ १३९६ ॥
कषायेन्द्रियदुष्टाश्वैर्दृढनिर्वेदयंत्रितैः ॥
दोषदुर्गेषु पात्यंते न सद्ध्यानकशावशैः ॥ १४५२ ॥

विजयोदया—इंदियकसायदुदंतस्सा इंद्रियकषायदुर्दान्ततुरंगाः वैराग्यखलीननियमिताः संतः ध्यानकशासु- भीता न दोषविषमेषु पातयन्ति ॥

मूलारा—खलिणिदा नियंत्रिताः । झाणकसाए सद्ध्यानचर्मयष्टैः । भीदा त्रस्ताः ॥

अर्थ—परंतु जब इंद्रियकषायरूपी दुष्ट घोडे वैराग्यरूपी लगामसे खींचे जाते हैं और ध्यानरूपी चाबुकसे वे ताडित किये जाते हैं तब पापरूपी दुःखदायक गड्ढोंमें मनुष्यको वे नहीं पटकते हैं.

इंदियकसायपण्णगदट्ठा बहुवेदणुद्दिदा पुरिसा ॥
पब्भट्ठझाणसुक्खा संजमजीवं पविजहंति ॥ १३९७ ॥

विचित्रवेदनादष्टाः कषायाक्षभुजंगमैः ॥
नष्टध्यानसुखाः ! यो मुंचंते वृत्तजीवितम् ॥ १५५३ ॥

विजयोदया—इंद्रियकषायपन्नगदष्टा, बहुवेदनावष्टब्धाः पुमांसः प्रभ्रष्टध्यानसुखाः संयमजीवं परित्यजंति ॥

मूलारा—बहुवेदणुद्दिदा भूरिव्यथार्दिताः ॥

अर्थ—इंद्रिय और कषायरूपी सर्पोंसे डसे गये पुरुष तीव्र विष वेदनासे पीडित होकर उत्तम ध्यानरूपी सुखसे च्युत होते हैं. और संयमरूपी प्राणोंका त्याग करते हैं.

झाणागदेहिं इंदियकसायभुजगा विरागमंतेहिं ॥
णियमिज्जंता संजमजीवं साहुस्स ण हरंति ॥ १३९८ ॥

सद्ध्यानमंत्रवैराग्यभेषजैर्निर्विषीकृताः ॥
न साधोस्ते क्षमा हर्तुं दीर्घं संयमजीवितम् ॥ १५५४ ॥

विजयोदया—ध्यानागदैरिंद्रियकषायभुजगा वैराग्यमंत्रैर्नियम्यमाणाः साधोः संयमजीवितं न हरन्ति ॥

मूलारा—झाणागदेहिं सद्ध्यानसिद्धौषधैः ॥

अर्थ—ध्यानरूपी औषध और वैराग्यरूपी मंत्र इनके द्वारा जब इंद्रियकषायरूपी विषयुक्त सर्प नियमित किये जाते हैं तब वे मुनिके संयमरूपी प्राणोंका नाश करनेमें समर्थ नहीं होते हैं.

सुमरणपुंखा चिंतावेगा विसयविसलित्तरइधारा ॥
मणधणुमुक्का इंदियकंडा विंधंति पुरिसमयं ॥ १३९९ ॥
हृषीकमार्गणास्तीक्ष्णाश्चिंतापुंखाः स्मृतिस्यदाः ॥
नरं मनोधनुर्मुक्ता विध्यंति सुखहारिणः ॥ १४५५ ॥

विजयोदया—सुमरणपुंखा स्मरणपुंखा, चिंतावेगा विषयविषेण लिप्ता रतिधारा येषां ते मनोधनुर्मुक्ताः इंद्रियबाणाः पुरुषमृगं घातयन्ति ॥

इंद्रियनिर्जयं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—विसयविसलित्तरदिधारा—विषयविषेण लिप्ता रतिधारा येषां अत्र विषयशब्देन भोग्यबुद्धया गृह्यमाणानां रूपादीनां निर्भासा विवक्षिताः । इंद्रियशब्देन चक्षुराद्युपयोगाः । विंधंति विध्यन्ति । मए मृगान् ॥

अर्थ—स्मरण रूपी पुंख अर्थात् पंख जिनके लगे हैं, चिंता रूप वेगसे युक्त, विषयरूपी विषसे लिप्त हुए, रतिधारासे संयुक्त, ऐसे इंद्रियरूप बाण मनरूप धनुष्यसे छूटकर मनुष्य मृगका घात करते हैं. यहां नेत्रादिक इंद्रियोंका विषयोंके तरफ जो उपयोग लगना उसको ही इंद्रिय कहना चाहिये. भोग्यबुद्धीसे ग्रहण किये रूपरसगंधादिकोंका जो ज्ञान होता है उसको विषय कहते हैं.

तान्बाणान्पुरुषमृगहननोद्यतान्यतय एव वारयन्तीति कथयति—

धिदिखेडएहिं इंदियकंडे ज्झाणवरसत्तिसंजुत्ता ॥
फेडंति समणजोहा सुणाणदिट्ठीहिं दट्ठूण ॥ १४०० ॥
हृषीकमार्गणास्तीक्ष्णा साधुभिर्धृतिखेटकैः ॥
ध्यानसायकमादाय खण्डयन्ते ज्ञानदृष्टिभिः ॥ १४५६ ॥

विजयोदया—धिदिखेडएहिं धृतिखेटैः इंद्रियशरान्वारयन्ति ध्यानसत्वसमन्विताः । समणजोहा श्रमणयोधाः सम्यग्ज्ञानदृष्ट्या दृष्ट्वा ॥

मूलारा—धिदिखेडएहिं संतोषफलकैः । फेडंति वारयंति ॥

इंद्रियबाण जब आत्माका घात करनेके लिये उद्युक्त होते हैं तब यति उनका इस प्रकार निवारण करते हैं.

अर्थ—ध्यानरूपी बलसे युक्त होकर मुनिराज सम्यग्ज्ञानरूपी आंखोंसे देख लेते हैं नंतर धैर्यरूपी ढाल हाथमें लेकर इंद्रियरूपी बाणोंका निवारण करते हैं.

गंथाडवीचरंतं कसायविसकंटया पमायमुहा ॥
विंधंति विसयतिक्खा अधिदिदढोवाणहं पुरिसं ॥ १४०१ ॥

प्रमादवदनाः साधुं चरंतं संगकानने ॥
धृत्युपानद्विनिर्मुक्तं विध्यन्तीन्द्रियकण्टकाः ॥ १४५७ ॥

विजयोदया—गंथाडवीचरंतं परिग्रहवने चरन्तं । कषायविषकंटकाः प्रमादमुखा विध्यन्ति विषयैस्तीक्ष्णा धृतिदृढोपानद्रहितं पुरुषं ॥

कषायनिर्जयं गाथाचतुष्टयेनाह—

मूलारा—विसयतिक्खा विषयैः क्रोधाद्यालंबनभूतैर्वस्तुभिस्तीक्ष्णाः । अधिदिदढोवाणहं धृतिदृढमाणहितारहितं ॥

अर्थ—परिग्रहवनमें भ्रमण करनेवाला पुरुष यदि संतोषरूपी दृढ जूता नहीं पेहनेगा तो कषायरूपी विषयुक्त कांटे विषयोंसे तीक्ष्ण होकर प्रमादरूपी मुखके द्वारा पुरुष को चुभेंगेही.

संयतस्य पुनर्धर्यपरिकरस्य कषायविषकंटकाः किंचिदपि न कुर्वन्ति इत्याचष्टे सूरिः—

आवद्धधिदिढोवाणहस्स उवओगदिट्ठिजुत्तस्स ॥
ण करिंति किंचि दुक्खं कसायविसकंटया मुणिणो ॥ १४०२ ॥

आबद्धधृत्युपानत्कमुपयोगविलोचनम् ॥
कषायकण्टकाः साधुं न विध्यन्ति मनागपि ॥ १४५८ ॥

विजयोदया—आवद्धधिदिदढोवाणहस्स आबद्धधृतिदृढोपानत्कस्य ज्ञानोपयोगसहितदृष्टेर्मुनेः स्वल्पमपि दुःखं न कुर्वन्ति कषायविषकंटकाः ॥

मूलारा—आरूढा परिहिता । उवयोगदिट्ठिजुत्तस्स भेदज्ञानोपयोगेन यतव्यापारसहितस्य ॥

परंतु मुनिराज कषायकंटकोंसे दुःख न होगा ऐसी सामग्रीसे युक्त होते हैं अतः उनको दुःख नहीं होता है. इसीके विवेचनार्थ गाथा—

अर्थ—जिसने सतोषरूपी मजबूत जूता पहना है, और भेदज्ञानोपयोग रूप आंखोंसे जो देखता है ऐसे मुनिराजको कषायविषयकंटक तिलमात्रभी दुःख देनेमें समर्थ नहीं होते हैं.

उड्डहणा अदिचवला अणिग्गहिदकसायमक्कडा पावा ॥
गंथफललोलहिदया णासंति हु संजमारामं ॥ १४०३ ॥

कषायमर्कटा लोलाः परिग्रहफलैषिणः ॥
लुंपन्ति संयमारामं योगिनो निग्रहं विना ॥ १४५९ ॥

विजयोदया—उड्डहणा असंयता अतिचपला अनिगृहीताः कषायमर्कटाः, परिग्रहफलासक्तहृदया नाशयन्ति संयमारामं ॥

मूलारा—उड्डहणा उद्धृताः । अणिग्गहिदा अकृतनिग्रहाः संतः॥

अर्थ—जो असयमको उत्पन्न करते हैं, अतिशय चपल हैं, जिनका निग्रह नहीं किया है ऐसे कषायमर्कट परिग्रहरूप फलोंपर लुब्ध होकर संयमरूपी बगीचोंको उद्ध्वस्त करते हैं.

णिच्चं पि अमज्झत्थे तिकालविसयाणुसरणपरिहत्थे ॥
संजमरज्जूहिं जदी बंधंति कसायमक्कडए ॥ १४०४ ॥

त्रिकालदोषदा नित्यं चंचला मुनिपुंगवैः ॥
कषायमर्कटा गाढं बध्यन्ते धृत्तरज्जुभिः ॥ १४६० ॥

विजयोदया—णिच्चं पि नित्यमपि अमाध्यस्थान्, त्रिकालविषयदोषानुसरणपटून्, कषायमर्कटान्यतयः संयमरज्जुभिर्बध्नन्ति ॥

मूलारा—अमन्नत्थे चंचलान्। परिहत्थे पटून्।

अर्थ—हमेशा चंचल, और तीनो कालोंमभी दोष उत्पन्न करनेमें निपुण ऐसे कषायरूपी मर्कटोंको यतिराज संयमरूप दोरीसे बांधते हैं. जिससे वे कुछभी अपाय नहीं उत्पन्न करेंगे.

धिदिवम्मिएहिं उवसमसरेहिं साहूहिं णाणसत्थेहिं ॥
इंदियकसायसत्तू सक्का जुत्तेहिं जेदुंजे ॥ १४०५ ॥

महोपशमसत्वाद्यैर्ज्ञानास्त्रैर्धृतिवर्मितैः ॥
साधुयोधैर्विजीयन्ते कषायेन्द्रियविद्विषः ॥ १४६१ ॥

विजयोदया—धिदिवम्मिएहिं धृतिसन्नद्धैः, उपशमशरैः साधुभिर्ज्ञानास्त्रैरपयुक्तैरिंद्रियकषायशत्रवो जेतुं शक्याः ॥

पुनरुभयनिर्जयं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूलारा—धिदिवम्मिदेहिं संतोषसन्नद्धैः। णाणसत्तेहिं ज्ञानसत्वैः। जुत्तेहिं उपयुक्तैः ॥

अर्थ—संतोषरूपी कवच पेहेनकर हाथमें जिन्होंने उपशमरूप बाण लिये हैं ऐसे साधु, भेदज्ञानरूपी शस्त्रोंसे इंद्रियकषायरूपी शत्रूको जीत लेते हैं.

इंदियकसायचोरा सुभावणासंकलाहिं बज्झंति ॥
ता ते ण विकुव्वंति चोरा जह संकलाबद्धा ॥ १४०६ ॥

कषायाक्षद्विषो बद्धा भावनाभिस्तपस्विना ॥
शृंखलाभिरिव स्तेना न दोषं जातु कुर्वते ॥ १४६२ ॥

विजयोदया—इंदियकसायचोरा इंद्रियकषायचोराः शुभध्यानभावशृंखलाभिर्बध्यंते। बंधस्थास्ते न विकारं कुर्वन्ति शृंखलाबद्धचोरा इव ॥

मूलारा— ण विकुव्वंति विरूपकं न कुर्वंति ॥

अर्थ—जैसे शृंखलासे जकडे हुए चोर स्वस्थानमें स्थिर बैठते हैं उनसे कुछ उपद्रव नहीं होता है वैसे इंद्रियकषायरूपी चोर शुभभावनारूपी शृंखलाओंसे जब जखडकर बांधे जाते हैं तब वे रागादिक विकारको उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाते हैं.

इंदियकसायवग्घा संजमणरघादणे अदिपसत्ता ॥
वेरग्गलोहदढपंजरेहिं सक्का हु णियमेदुं ॥ १४०७ ॥

कषायाक्षमहाव्याघ्राः संयमप्राणभक्षिणः ॥
अधिरोप्य नियम्यन्ते वैराग्यदृढपञ्जरे ॥ १४६३ ॥

विजयोदया—इंदियकसायवग्घा इंद्रियकषायव्याघ्राः संयमनरभक्षणे अत्यासक्ताः वैराग्यलोहदृढपंजरे नियन्तुं शक्याः, शक्या वशे नेतुं ॥

मूलारा—अदिपसत्ता अतीवासक्ताः ॥

अर्थ—इंद्रियकषायरूपी व्याघ्र संयमरूप मनुष्यको भक्षण करनेमें अत्यासक्त होते हैं. इस लिये उनको वैराग्यरूप लोहेके पिंजरेमें बांधकर वश किया जा सकता है.

इंदियकसायहत्थी वयवारिमदीणिदा उवायेण ॥
विणयवरत्तावद्धा सक्का अवसा वसे कादुं ॥ १४०८ ॥

नीता व्रतमहावारिं कषायाक्षमतंगजाः ॥
वशा संत्यवशाः सन्तो बद्धा विनयरश्मिभिः ॥ १४६४ ॥

विजयोदया—इंदियकसायहत्थी इंद्रियकषायहस्तिनः व्रतवारीमुपनीताः विनयवरत्राबद्धा अवशा अपि शक्या वशे नेतुं ।

मूलारा—वदवारिं व्रतबंधनगर्तम् । अदिणीदा प्रवेशिताः । उवाएण विशिष्टयतिहस्तिनिदर्शनेन ॥

अर्थ—इंद्रियकषायरूपी हाथीओंको व्रतरूप बंधनस्थानमें ले जाकर विनयरूपी रज्जूसे बांधना चाहिये जिससे वे अवश होनेपर भी वश हो जाते हैं.

इंदियकसायहत्थी वोलेदुं सीलफलियमिच्छंता ॥
धीरेहिं रुंभिदव्वा धिदिजमलारुप्पहारेहिं ॥ १४०९ ॥

कषायाक्षगजाः शीलपरिखालंघनैषिणः ॥
धर्तव्याः सहसा धीरैर्धृतिकर्णप्रतोदनैः ॥ १४६५ ॥

विजयोदया—इंद्रियकषायहस्तिनः शीलपरिघालंघनैषिणो रोद्धव्या धीरैर्धृतिकर्णतोदप्रहरैः ॥

मूलारा—वोलेदु लंघयितुं । फलिहं अर्गलां । जमलार आराद्युगलं ॥

अर्थ—इंद्रिकषायरूपी हाथी जब शीलरूपी अर्गलाको उल्लंघनेकी अभिलाषा धारण करते हैं, तब धीर पुरुष उनको संतोषरूपी कर्णप्रहारोंसे वश करते हैं.

इंदियकसायहत्थी दुस्सीलवणं जदा अहिलसेज्ज ॥
णाणंकुसेण तइया सक्का अवसा वसं कादुं ॥ १४१० ॥

कषायाक्षद्विपा मत्ता दुःशीलवनकांक्षिणः ॥
ज्ञानांकुशैर्विधीयन्ते तरसा वशवर्तिनः ॥ १४६६ ॥

विजयोदया—इंदियकसायहत्थी इंद्रियकषायहस्तिनः दुःशीलवनं प्रवेष्टुं यदाभिलषंति तदा अवशा अपि वशे कर्तुं शक्यंते ज्ञानांकुशेन ॥

मूलारा—अहिलसेज्ज प्रवेष्टुमिच्छेयुः ।

अर्थ—इंद्रियकषायरूपी हाथी जब दुःशीलरूप वनमें प्रवेश करने की इच्छा करता है तब भेदज्ञानरूप अंकुशसे अवश होने पर भी वश हो जाता है.

जदि विसयगंधहत्थी अदिणिज्जदि रागदोसमयमत्ता ॥
विण्णाणज्झाणजोहस्स वसे णाणंकुसेण विणा ॥ १४११ ॥

ध्यानयोधावशीभूता रागद्वेषमदाकुलाः ॥
ज्ञानांकुशं विना यांति तदा विषयकाननम् ॥ १४६७ ॥

विजयोदया—जदि विसयगंधहत्थी यद्यपि विषयगंधहस्तिनः स्वयं ग्रंथाटवीं प्रविशंति रागद्वेषमत्ता न तिष्ठेयुर्विज्ञानध्यानयोधस्य वशे ज्ञानांकुशेन विना ॥

मूलारा—वि एव । सयं स्वयं स्वयमेव । स्वामिस्थानीयजीवप्रयोगं विनैव । गंथवणं ग्रंथः संगः स चात्र कामिनीसौधाद्यालंबनोद्दीपनकारणलक्षणो गृह्यते । ग्रन्थो वनमिव हस्तिनामिवेंद्रियकषायाणां प्रचारविषयत्वात् । अदिंणि- जदि प्रविशंति । इंद्रियकषायहस्तिन इति वक्ष्यमाणेन संबंधः । चेट्ठेज्ज ज्ञाणजोहस्सवास वास इत्यत्र अकारप्रश्लेषः, तेन ध्यानयोधस्यावशे तिष्ठेयुर्ध्यानयोधवशे न स्युरित्यर्थः । णाणंकुसेण विणा रागद्वेषमदांधाः संतो ध्यानयोधयुक्तं ध्यानांकुशमतिक्रम्य ग्रंथवने स्वामिस्थानीयजीवप्रयोगं विना पंचेंद्रियकषायहस्तिनो यदि प्रविशंतीति संबंधः ।

अर्थ—यद्यपि विषयरूपी मत्त हाथी स्वयं प्रेरकके विना परिग्रहरूपी जंगलमें प्रवेश करते हैं, और वे रागद्वेषमें मत्त हो गये हैं तो भी वे ज्ञानरूपी अंकुशके विना विज्ञान और ध्यानरूप योधाके वश होते नहीं हैं.

विसयविरमणलोला बाला इंदियकसायहत्थी ते ॥
पसमे रामेदव्वा तो ते दोसं ण काहिंति ॥ १४१२ ॥

तदा शमवने रम्ये कषायाक्षमहागजाः ॥
रम्यमाणा न कुर्वन्ति दोषं साधोर्मनागपि ॥ १४६८ ॥

इति सामान्यकषायनिर्जयः ।

विजयोदया—विसयवणरमणलोला विषयवनरमणलोलाः बाला इंद्रियकषायहस्तिनः ते रतिमुपनेयाः प्रशमेन ततस्ते दोषं न कुर्वन्ति ॥

कथंभूताः संत इत्याह—

मूलारा—विसयवणरमणलोला विषयाः कामिन्यादिगताः काम्यरूपादयः । वनानि शल्यक्यादिकाननानि विषया वनानीव भोग्यत्वात् । पूर्वं वनशब्देन विंध्याटवी इह च तदन्तर्गतशल्यक्यादिवनं गृह्यते । पसमे आत्मदेहांतरज्ञाना-

विभूतस्यामाविरवैराग्ये । अत्र पुरोयाने इत्युपमानस्याक्षेपः । काहिंति करिष्यंति । एषा श्रीविजयाचार्यमतेन व्याख्या । तथा चोक्तम्—

यदि संगाटवीं यांति रागद्वेषमदोद्धताः ।
ध्यानयोधवशा नैव संति ज्ञानांकुशं विना ॥
विषयारण्यसाकांक्षास्ते कषायाक्षहस्तिनः ॥
ततः शमरतिं नेया येन दोषं न कुर्वते ॥

अन्यस्त्वेवमाह—

ध्यानयोधावशीभूता रागद्वेषमदाकुलाः ॥
ज्ञानांकुशं विना यांति यदा विषयकाननम् ॥
तदा शमवने रम्ये कषायाक्षमहागजाः ॥
रम्यमाणा न कुर्वंति दोषं साधोर्मनागपि ॥

अन्ये पुनरेतद्गाथाद्वयं पृथक् संबध्नन्ति तत्पाठस्त्वयम्—अत्र विषयशब्देन तद्योगादिंद्रियं व्याख्यान्ति । अदि-जिगदि इत्यस्यातिक्रम्य याति इत्यर्थमाहुः । अपि शब्दं च नियमार्थे । तथा च तद्ग्रंथः—

रागद्वेषमदांधः करणकरीन्द्रो विशन्विषयविंध्यम् ॥
ध्यानसुभटस्य वश्यो ज्ञानांकुशितो भवेन्नियतम् ॥

द्वितीयगाथायां तु चपला स्थाने याला इति पठंति । तत्रापि तैरुक्तम्—

इंद्रियकषायकलभा विषयवने क्रीडनैकरसरसिकाः ॥
उपशमवने प्रवेश्यास्ततो न दोषं करिष्यंति ॥

इति सामान्याक्षकषायनिर्जयः ॥

अर्थ—विषय वनमें क्रीडा करनेमें आसक्त और अज्ञ ऐसे इंद्रिय कषायरूप हाथीको वैराग्यमें तत्पर करना चाहिये ऐसा करनेसे ये दोष नहीं करेंगे.

सद्दे रूवे गंधे रसे य फासे सुभेय असुभे य ॥
तम्हा रागदोसं परिहर तं इंदियजएण ॥ १४१३ ॥

शब्दे वर्णे रसे गंधे स्पर्शे साधुः शुभाशुभे ॥
रागद्वेषपरित्यागी हृषीकविजयी मतः ॥ १४६९ ॥

विजयोदया—सद्दे रूवे गंधे रसे य शुभाशुभेषु शब्दादिषु रागद्वेषं च निराकुरु त्वं इंद्रियजयेनेत्युत्तरसूत्रस्यार्थः॥

सांप्रतं सामान्येन इंद्रियजयं गाथापंचकेन व्याचक्षाणः प्रथमं तज्जयेन तद्ग्राह्यशब्दादिविषयरागद्वेषपरित्यागे क्षपकं नियुंक्ते—

मूलारा—तम्हा करणगृह्यमाणशब्दादिविषयाभिव्यज्यमानरागद्वेषवशोल्लंघितज्ञानांकुशत्वेन सद्ध्यानानुप्रवेशविनाशहेतोः ॥

अर्थ—हे क्षपक! तूं शुभाशुभ शब्द, रस, गंध, और रूप इनमें राग द्वेषका निराकरण कर अर्थात् इंद्रियोंको जीत कर शुभाशुभ शब्दादिक विषयोंमें उत्पन्न होनेवाले राग द्वेषका तू नाश कर.

जह णीरसं पि कडुयं ओसहं जीविदत्थिओ पिबदि ॥
कडुयं पि इंदियजयं णिव्वुइहेदुं तह भजेज्ज ॥ १४१४ ॥

हृषीकविजयः सद्भिः कटुकोऽपि निषेव्यते ॥
भैषज्यमिव वांछद्भिर्नित्यसौख्यं यथांजसा ॥ १४७० ॥

विजयोदया—जह णीरसं पि यथा स्वादुरहितं कटुकमप्यौषधं जीवितार्थं पिबति । तथा इंद्रियजयं भजेत कटुकमपि निर्वृतिहेतुम् ॥

किमर्थमत्यर्थदुःखावहत्वात्सर्वजनानामनभिमतमिंद्रियजयं शास्त्रे नियोगेनोपदिश्यतेइत्यनाश्वसंतं दृष्टांतावष्टंभेन प्रकृते व्यवस्थापयति—

मूलारा—णीरसं स्वादरहितं । कडुगंपि पीडकमपि । भजेज्ज सेवेथास्त्वं ॥

अर्थ—जैसे रोगी पुरुष स्वादरहित व कडु ऐसा भी औषध जीनेके लिये पीता है. वैसे मोक्ष प्राप्तिके लिए कडुक भी इंद्रियजय करनेके लिये हे क्षपक! तूं हमेशा तत्पर रहना चाहिये.

इंद्रियजये क उपाय इत्याशंकायां इंद्रियकषायविषयाणां शुभाशुभत्वे अनवस्थितेः । ये शुभास्त एवेदानी मशुभाः । अशुभा ये ते एव शुभाः । ये तु अशुभतया द्वेष्या इदानीं हरि? से शुभा इति गृहीता न त्वशुभा जातास्ता यथामी- इति कथं नानुरागस्तत्र ये चाऽशुभास्तेषु कथं द्वेषः शुभतां प्रतिपत्स्यमानेषु इति निवेदयति—

जे आसि सुभा एण्हिं असुभा ते चेव पुग्गला जादा ॥
जे आसि तदा असुभा ते चेव सुभा इमा इण्हिं ॥ १४१५ ॥

पुद्गला ये शुभाः पूर्वमशुभाः सन्ति ते ऽधुना ॥
अशुभाः पूर्वमासन्ये सांप्रतं सन्ति ते शुभाः ॥ १४७१ ॥

विजयोदया—जे आसि सुभा एण्हि ये पुद्गलाः शुभा आसन्निदानीं त एवाशुभा जाताः । ये चासंस्तदा अशुभा ते चैव शुभा इदानीं इति न तौ रागद्वेषौ युक्तौ इति शिक्षयति ॥

यद्येवमिंद्रियजयः सूत्रे विधेयतया नियुक्तस्तर्हि कस्तत्रोपायो नीरूपायाः साध्यसिद्धेरयोगात् इत्यनुयुंजानमनुशास्ति—

मूलारा—आसि पूर्वकाले भूताः । सुभा इष्टकामिन्यादिरूपतामापन्न भोग्यबुद्धिमादधानाः शोभना इति गृहीताः । असुभा शुभवैपरीत्येन गृहीताः । तदा प्राक्तनभुक्त्युपक्रमकाले असुभा अनिष्टरूपादिरूपतामापन्नाभोग्यमतिमावर्त्यंतोऽशोभ- ना इति गृहीताः । असुभा शुभाभ्यस्यासेन प्रतिपन्नाः । तदा तेष्वनवस्थितशुभाशुभरूपेषु कस्तत्त्वविदां रागद्वेषावतार प्रचार इति शिक्षारहस्यम् ॥

इंद्रियोंको जीतनेमें कौनसा उपाय है ऐसी शंका होनेपर उत्तर देते हैं. इंद्रिय और कषायोंके विषयमें शुभाशुभपना निश्चितरूपसे नहीं कहा जाता है. जो विषय शुभ थे वे वर्तमान समयमें अशुभ बनते हैं. और जो अशुभ थे वे शुभ भी होते हैं. अशुभ होनेसे जिनका यह जीव द्वेष करता था वे ही अब शुभ बननेपर उनमें यह जीव अनुरक्त होता है. और जो अब अशुभ हैं वे कालांतरमें शुभ होनेवाले हैं इसलिए उन से द्वेष करना भी योग्य नहीं. तात्पर्य यह है कि, जो अशुभ हैं वे शुभ बनेंगे तथा जो शुभ हैं वे अशुभ बनेंगे अतः इस जीवका रागद्वेष युक्त होना योग्य नहीं है यही अभिप्राय आगेकी गाथामें स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—जो पुद्गल शुभ थे वे ही अब अशुभ होगये हैं तथा जो पुद्गल अशुभ थे वे अब शुभरूप हुए हैं अतः इन के ऊपर रागद्वेष करना योग्य नहीं है.

सव्वे वि य ते मुत्ता चत्ता वि य तह आणंतखुत्तो मे ॥
सव्वेसु एत्थ को मज्झ विंभओ मुत्तविजडेसु ॥ १४१६ ॥

मुक्तोज्झिताः कृताः सर्वे पूर्वं तेऽनन्तशोऽङ्गिना ॥
को मे हर्षो विपादो वा द्रव्ये प्राप्ते शुभाशुभे ॥ १४७२ ॥

विजयोदया—सव्वे वि य ते मुत्ता सर्वेऽपि च ते पुद्गलाः शुभाशुभरूपा अनुभूतास्त्यक्ता अनंतवारं मया । तेषु द्रव्येषु मुक्तत्यक्तेषु को विसयो ममेति त्वया चिंता कार्या ॥

यदा च तथा भाव्यमानेष्वपि पुद्गलेष्वनादिविद्यावासना भवंतमासंजयति तदा भवतैवं भावनीयमिति सन्यासिनमुद्बोधयति—

मूलारा—भोग्यबुद्धावभिनिविश्य सानुरागं सेव्यमानः । मे मया । एत्थ एतेषु भोगतया गृहीत्वा सेव्यमानेषु पुद्गलद्रव्येषु । विम्भओ अभुक्तपूर्वबुद्ध्या गृहीत्वाश्चर्यावतारः ॥

अर्थ – उपर्युक्त सर्व शुभाशुभ पुद्गल मैंने अनंतवार भोगे हैं और अनंतवार उनका त्याग भी किया है. अतः भोगकर त्यागे गये इन पदार्थोंमें विस्मित होना मेरे लिए अयोग्य है. ऐसा विचार हे क्षपक ! तू हमेशा कर.

यदि सुखसाधनतया तेष्वनुरागो, यदि दुःखसाधनतया रोषः सैव सुखदुःखसाधनता शुभाशुभादीनां रूपाणां नैवास्ति संकल्पमंतरेणात्मनः इति वदति—

रूवं सुभं च असुभं किंचि वि दुक्खं सुहं च ण य कुणदि ॥
संकप्पविसेसेण हु सुहं च दुःखं च होइ जए ॥ १४१७ ॥

रूपे शुभाशुभे न स्तः साधनं सुखदुःखयोः ॥
सङ्कल्पवशतः सर्वं कारणं जायते तयोः ॥ १४७३ ॥

विजयोदया—रूपं सुभं च रूपं शुभमशुभं वा किंचिद्दुःखं सुखं च नैव करोति । संकल्पवशेनैव सुखं वा दुःखं भवति जगति ॥

किं च कामिन्यादिनि इंद्रियग्राह्ये द्रव्ये यदि सुखसाधनतया तवानुरागो दुःखसाधनतया वा प्रद्वेषः संपद्येत तर्हि तस्यैषा सुखदुःखसाधनता संकल्पपरतंत्रैवात्मन इति चिंत्यमित्युपदिशति—

मूलारा—रूपं रूपं तद्योग्यादिंद्रियभावं कामिन्यादिपुद्गलद्रव्यं । संकल्पविशेषेण तु शुभाशुभाकारोल्लेखि-मानसाध्यवसायपरवश्येनैव । जगे बहिरात्मप्राणिगणे ॥ सामान्येंद्रियनिर्जयः ।

ये पुद्गल पदार्थ सुखके साधक हैं अतः इनमें मेरा अनुराग है और अन्य पुद्गल दुःखके साधन होनेसे उन से मैं द्वेष करता हूं ऐसा कहना भी योग्य नहीं है. शुभाशुभ रूप पुद्गल न दुःखके न सुखके साधन हैं. परन्तु तेरा संकल्प ही सुख और दुःखका साधन है ऐसा आचार्य कहते हैं—

अर्थ—शुभ रूप अथवा अशुभ रूप सुखका अथवा दुःखका उत्पादक नहीं है. परंतु हे आत्मन्! संकल्प से ही सुख और दुःख होता है.

इह य परत्त य लोए दोसे बहुगे य आवहइ चक्खू ॥
इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि चक्खू ॥ १४१८ ॥

विदधाति यतश्चक्षुर्महादोषमनिर्जितम् ॥
निर्जेतव्यं ततः सद्भिः सर्वथा तदतंद्रितैः ॥ १४७४ ॥

विजयोदया—इह य परत्त य जन्मद्वयेऽपि बहून्दोषानावहति चक्षुरित्यात्मनावगणय्य निर्जेतव्यं चक्षुः ॥

अधुना लोकद्वयबहुदोषे बहुलभावनार्येन्द्रियविशेषनिर्जयं गाथाद्वयेन व्यावर्णयिष्यन्नादावतिदुर्जयतमत्वा-च्चक्षुषो निर्जये नियुंक्ते—

मूलारा— णिज्जेदव्वो श्रोत्रादिभ्योऽतिशयेन निग्राह्यम् ॥

अर्थ—इहलोकमें और परलोकमें चक्षुरिंद्रिय अनेक दोषोंको उत्पन्न करता है ऐसा जानकर चक्षुरि-न्द्रिय पर विजय प्राप्त करलेना चाहिये.

एवं सम्मं सद्दरसगंधफासे विचारयित्ताणं ॥
सेसाणि इंदियाणि वि णिज्जेदव्वाणि बुद्धिमदा ॥ १४१९ ॥

शब्दगंधरसस्पर्शगोचराण्यपि यत्नतः ॥
जेतव्यानि हृषीकाणि योगिना शमभागिना ॥ १४७५ ॥

दुर्जयाक्षरानीलिंपभर्तृभिः पंच यो विजयतेऽक्षविद्विषः ॥
तस्य सन्ति सकलाः करस्थिताः संपदो भुवननाथपूजिताः ॥ १४७६ ॥

इति इंद्रियनिर्जयः ॥

विजयोदया—एवं सम्मं उभयजन्मगोचरानेकदोषावहत्वं विचार्य स्वबुद्ध्या शेषाण्यपींद्रियाणि शब्दरसगंधस्पर्शविषयाणि निर्जेतव्यानि बुद्धिमता। सद्दरसगंधफासे इति वैषयिकी सप्तमी ॥

मूलारा—एवं लोकद्वयगतानेकदोषावहत्वेन। सद्दरसगंधफासे शब्दरसगंधस्पर्शविषयाणि ॥ इंद्रियविशेषनिर्जयः।

अर्थ— इसी प्रकार स्पर्शनेंद्रिय, रसनेंद्रिय, घ्राणेन्द्रिय वगैरह इन्द्रियां भी इहपर लोकमें अनेक दोषोंको उत्पन्न करती हैं ऐसा विचार कर उनको भी बुद्धिमान पुरुष जीतनेका प्रयत्न करें. अर्थात् इन इंद्रियोंके शब्द रसादिक विषयोंमें रागद्वेषका संकल्प करना छोडकर समभावना रखनी चाहिये.

क्रोधजयोपायमाचष्टे—

जदिदा सवदि असंतेण परो तं णत्थि मेत्ति खमिदव्वं ॥
अणुकंपा वा कुज्जा पावइ पावं वरावोत्ति ॥ १४२० ॥

दत्ते शापं विना दोषं नायं मेऽस्तीति सह्यते ॥
कृपा कुर्येत्ययं पापं वराकः कथमर्जति ॥ १४७७ ॥

विजयोदया—जदिदा सवदि असंतेण यदि तावदसता दोषेण शपति परः स दोषो न ममास्तीति क्षमा कार्या। असद्दोषख्यापनेनास्य मम किं नष्टं इति। अथवानुकंपां आक्रोशके कुर्याद्वराकोऽसदभिधानेन समार्जयति पापमारं अनेकदुःखावहं। मदीयैर्दोषैरस्य किंचिन्नश्यति दोषजातं। गुणैर्वा किमसौ किंचिद्भवति? प्राणिनां प्रतिनियता गुणदोषास्तत्त्वमेव मति सुखदु खयोजमास्ततो मुधानेन कर्मबंधः संपाद्यते इति ॥

इदानीं कषायविशेषनिर्जयं गाथानामेकान्नविंशत्या व्याचक्षाणः पूर्वं क्षमालक्षणं प्रतिपक्षादिभावनास्वभावं क्रोधनिर्जयोपायं गाथासप्तकेनाह—

मूलारा—सपदि आक्रोशति। असंतेण अविद्यमानदोषेण अहेतुना। तं णत्थि मेत्ति खमिदव्वं स शापनिमित्त

तथा परोपतापकारिणो दोषो मम नास्तीति क्षमा कार्या । असद्दोषख्यापनेनास्य मम किं नष्टमिति । अणुकंपं अनुकंपां । अयं वराकोऽसत्प्रलपनेन भूरिदुःखमयं दुष्कृतभारं अर्जयति, नहि मदीयैर्दोषैरस्य किंचिद्दोषजातमायाति गुणैर्वा गुण जातं । नवो मुधानेन पापं बध्यते इति क्षमामयीं चिंतां आक्रोशके कुर्यात् । एवंभूते हि क्षान्त्यनुकंपाभावने, सद्यः कोपमस्मारयतः ॥

अर्थ—मैंने इसका अपराध किया नहीं तो भी यह पुरुष मेरेपर क्रोध कर रहा है गालि दे रहा है. मैं तो निरपराधी हूं ऐसा विचार कर उसके ऊपर क्षमा करनी चाहिये. इसने मेरे असद्दोषका कथन किया तो मेरी इसमें कुछ भी हानि नहीं है. अथवा क्रोध करनेपर दया करनी चाहिये. क्योंकि यह दीन पुरुष असत्य दोषोंका कथन कर पापोपार्जन कर रहा है. यह पाप उसको अनेक दुःखोंको देनेवाला होगा. मेरे दोषोंसे न इसमें दोष उत्पन्न होते हैं और न मेरे गुणोंसे इस में गुण पैदा हो जाते हैं. प्राणिओंके गुण दोष उनके साथ ही संबद्ध रहते हैं अतः गुण दुःखका संबंध ही नियत प्राणिओंमें ही रहता है अतः दीन व्यर्थ ही कर्मबंध कर रहा है ऐसा विचार कर असदोष रहने वालेपर दयाभाव रखना चाहिए.

चिंता करुणात्मिका रोषं प्रकम्पमपसारयति—

जदि वा सवेज्ज संतेण परो तह वि पुरिसेण खमिदव्वं ॥
सो अत्थि मज्झ दोसो ण अलीयं तेण भणिदात्ति ॥ १४२१ ॥

सत्येऽपि सर्वतो दोषे सहनीयं मनीषिणा ॥
विद्यते मम दोषोऽयं न मिथ्यानेन जल्पितम् ॥ १४७८ ॥

विजयोदया—जदि वा सवेज्ज यदि वा शपेत् सता दोषेण तथापि क्षमा कार्या । सोऽनेन कथ्यमानो दोषो ममास्ति न व्यलीकं नतोक्तमिति संकल्पयता । न हि संतो दोषाः परे चेद्ब्रुवन्ति विनश्यंति ॥

मूलारा—जदि वा सवेज्ज इत्यादि । लोको हि प्रायेणासतोऽपि दोषाञ्जल्पति । किं पुनः सतस्तत्कोऽस्य दोषो न कश्चिन्नैवायं प्राणनदुर्दैवानुभावो वैराग्यमेवंविधं दोषं जानन्नपि न त्यक्तुं शक्नुयामिति तत्त्वज्ञानभावनामयीं क्षमां कुर्यादिति तात्पर्यं ॥

करुणात्मक विचार कठोर रोषको दूर करता है—

अर्थ—यदि मेरेमें दोष हैं और इसने मेरे सत्य दोषोंका कथन किया है तो भी इसके ऊपर क्षमा करना मेरा कर्तव्य है. इसने जो दोष कहा है वह मेरा है ही. इसने असत्य तो कहा ही नहीं ऐसा विचार कर क्षमा करनी चाहिए. विद्यमान दोषोंको कोई कहे तो क्या वे नष्ट होजाते हैं ?

यो यस्य समुपकारं महांतं चेतसि करोति स तस्यापराधं अल्पं सहते इति प्रसिद्धमेव लोके इति कथयति—

सत्तो वि ण चेव हदो हदो वि ण य मारिदो त्ति य खमेज्ज ॥
मारिज्जंतो विसहेज्ज चेव धम्मो ण णट्ठोत्ति ॥ १४२२ ॥

शप्तोऽस्मि न हतोऽनेन निहतोऽस्मि न मारितः ॥
मरणेऽपि न मे धर्मो नश्यतीति विषह्यते ॥ १४७९ ॥

विजयोदया—सत्तो चेव शप्त एवास्मि न हतः इत्यहनने गुणं पृथुं चेतसि संस्थाप्य किमनेन शपनेन मे नष्टमिति क्षन्तव्यं। एवमितरत्रापि योज्यं । हत एव न मृत्युं प्रापितः । मार्यमाणोऽपि सहेत विपश्चिमूलनक्षमोऽभिलषितसुखसंपादनोद्यतो धर्मो न विनाशित इति ॥

यो यदीयं महांत उपकारं चित्ते करोति स तदीयमल्पमपराधं सहते इति लोकप्रसिद्धेनैव मार्गेण क्रोधाद्व्यावर्तयति—

मूलारा—सत्तोम्हि चेव शप्त एवास्मि । ण हदो न कशादिभिस्ताडितः । एवमहननं महांतं गुणं चेतसि संस्थाप्य किमनेनास्य शापनेन मम नष्टम्। यावन्न ताडयतीति वा आक्रोष्टरि क्षमां कुर्यात् । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । धम्मो समस्तविपदपसारणप्रवणः सकलसुखसंपादनोद्यतो वृषो ममानेन न नाशित इति ॥

जो जिसके ऊपर महान उपकार करता है वह उसका अल्प अपराध सहता है. यह लोकोक्ति जगतमें प्रसिद्ध ही है. इसीका विवेचन—

अर्थ—इसने मेरे को गालीही दी है. इसने मेरे को पीटा तो नहीं है. अर्थात् न मारना यह इसमें महान् गुण है इसने गालि दी है परंतु गालि देने से मेरा तो कुछ भी नुकसान नहीं हुआ अतः इसके ऊपर क्षमा करना ही मेरे लिए उचित है. ऐसा विचार कर क्षमा करनी चाहिए. इसने मेरे को फक्त ताडन ही किया है. मेरा वध तो

नहीं किया है. वध करने पर भी क्षमा करनी चाहिए. मेरा धर्म संकटको दूर करनेवाला और इच्छित सुख देने वाला है वह धर्म इसने नष्ट नहीं किया है इसने यह महान् उपकार मेरे ऊपर किया है ऐसा मानकर क्षमा ही करना योग्य है.

उपायांतरमपि रोषविजये निरूपयति—

रोसेण महाधम्मो णासिज्ज तणं च अग्गिणा सव्वो ॥
पावं च करिज्ज माहं बहुगंपि णरेण खमिदव्वं ॥ १४२१ ॥
क्रोधो नाशयते धर्मं विभावसुरिवेन्धनम् ॥
पापं च कुरुते घोरमिति मत्वा विपद्यते ॥ १४८० ॥

विजयोदया—रोसेण महाधम्मो दुरर्जनो दुर्लभतरो धर्मोऽनुयायी रोषेण मदीयो नश्यति ॥ अग्निना तृणमिव । तथा चाभ्यधायि—

अज्ञानकाष्ठजनितस्त्वपमानवातैः ।
संधुक्षितः परुषवाग्गुरुविस्फुलिंगः ।
हिंसाशिखोऽपि भृशमुत्थितवैरधूमः ॥
क्रोधाग्निरुद्दहति धर्मवन नराणां ॥ इति ॥

पापं वा कुर्यान्ममायं कोपस्तदनेकदुःखबीजमिति चित्ते वा क्षमा कार्या ॥

उपायांतरमपि रोषविजयेऽब्रवीति—

मूलारा—सदं मम दुर्लभो दुर्लभो दुश्चरोऽनुगामी च मे धर्मो निःशेषोऽपि रोषेण नश्यतीति भावयेत् । तथा चोक्तम्—

अज्ञानकाष्ठजनितस्त्वपमानवातैः
संधुक्षितः परुषवाग्गुरुविस्फुलिंगः ॥
हिंसाशिखो भृशसमुत्थितवैरधूमः ।
क्रोधोऽग्निरुद्दहति धर्मवनं नराणाम् ॥

मोऽहं मम रोषो भूरिपापं कुर्यात् तच्चानेकभयदुःखबीजं इति चिंतया क्षमा कार्या। अथवा पापं करोऽन्न मा{ऽ}हं पापं मा कुर्यां महारोषेणेति नियोज्यम् ॥

और भी उपाय कहते हैं—

अर्थ—जैसे अग्निसे सर्व तृण नष्ट होता है जलकर खाक होता है वैसे अतिशय दुर्लभ, परभवमें साथ आनेवाला, बडे कष्टसे प्राप्त किया गया सद्धर्म क्रोधसे नष्ट होता है.

पूर्वाचार्य इस विषयमें ऐसा कहते हैं—

यह क्रोधरूप अग्नि अज्ञान रूपी इंधनसे उत्पन्न होता है, अपमानवायुसे भभक उठता है, कठोर वचनरूपी स्फुलिंगसे युक्त है, हिंसा रूपी ज्वालासे युक्त है और अतिशय प्रगट ऐसा वैरही इसका धूम है ऐसा यह क्रोधाग्नि मनुष्यके धर्म रूपी बगीचेका क्षणात् नाश करता है. मै यदि कोप करूंगा तो मेरेसे पाप होगा. पाप अनेक दुःखोंका बीज है. इस प्रकारका विचार कर मनमें क्षमा करना चाहिये.

उपायांतरमपि वदति—

पुव्वकदमज्झपावं पत्तं परदुःखकरणजादं मे ॥
रिणमोक्खो मे जादो मे अज्जत्ति य होदि खमिदव्वं ॥ १४२९ ॥

परदुःखक्रियोत्पन्नमुदीर्णं कल्मषं मम ॥
ऋणमोक्षोऽधुना प्राप्तो विज्ञायेति विपह्यते ॥ १९८१ ॥

विजयोदया—पुव्वकदमज्झपावं पापागमद्वारमजानता अनेनापि प्रमादिना पूर्वं कृतं यत्कर्म पापं परेषां दुःखकारणं तदद्य निर्वर्तितं। ऋणमोक्षोऽद्य मम जात इति चिंतयताऽपमार्षयितव्यो रोषः।

मूलारा—पुव्वकदं पापास्रवकारणं जानताऽजानताऽपि वा प्रमादवता सता यत्पुरोपार्जितं तदिदं पापमद्योदितं ममेति संबंधः ॥ ऋणमोक्खो ऋणमोचनं। अज्जत्ति अद्येति। उक्तं च—

परदुःखक्रियोत्पन्नमुदीर्णं कल्मषं मम ॥
ऋणमोक्षोऽधुना प्राप्तो विज्ञायेति विपह्यते ॥

और भी उपाय बतलाते हैं.—

अर्थ—मैंने पूर्व जन्ममें दूसरोंको दुःख देकर पापबंध कर लिया था. पाप आनेका कारण नहीं जानते हुए इस प्रमादी मनुष्यने मेरा पाप अब उदयावस्थामें लाया है. अतः मैं इस ऋणसे आज मुक्त हो रहा हूं ऐसा विचार कर दुःख देनेवालोंपर क्षमा धारण करनी चाहिये. अर्थात् कोपको अपने मनसे हटाना चाहिये.

पुव्वं सयमुवभुत्तं काले णाएण तेत्तियं दव्वं ॥
को धारणीओ धणियस्स दिंतओ दुक्खिओ होज्ज ॥ १४२५ ॥

अनुभुक्तं स्वयं यावत्काले न्यायेन तत्समम् ॥
अधमर्णस्य किं दुःखमुत्तमर्णाय यच्छतः ॥ १४८२ ॥

विजयोदया—पुव्वं सयमुवभुत्तं पूर्वं स्वयमेव भुक्तं, अवधिकाले प्राप्ते। णायेण नीत्या। द्रव्यं अधमर्ण उत्तमर्णाय प्रयच्छन् को दुःखं करोति ॥

पूर्वजन्मविराद्धेन परेणोदीरितं तद्विराधनोपार्जितं पापमनुभवतो मे किं दुःखं स्यादधमर्णाय पूर्वमृणीकृत्य स्वयं भुक्तं द्रव्यं तावन्मात्रमेव यथा व्यवहारमवधिकाले प्राप्ते ददत इत्येवापकर्तरि दीप्यमानस्य कोपस्य निग्रहार्थमुपायांतरमुपदिशति—

मूलारा—णाएण धर्माचारेण। धारणिओ ऋणिकः ॥

अर्थ—जैसे साहुकारसे द्रव्य लाकर उसका उपभोग लिया परंतु उसका धन मर्यादा काल आनेपरभी लौटाया नहीं. परंतु अब धन लौटानेका समय यदि प्राप्त हुवा है तो अवश्य साहुकारको उसका धन वापिस देना चाहिये. उसका धन उसको देनेमें कोन दुःख करेगा. वैसे इस मनुष्यको पूर्व जन्ममें दुःख देकर पापोपार्जन किया था. अब यह मेरेको दुःख दे रहा है यह योग्य ही है. इसने दिया हुवा दुःख मैं यदि शांत भावसे सहन करूंगा तो मेरा पापकर्म सब नष्ट हो जायगा. मैं इस पाप ऋणसे रहित होकर सुखी होऊंगा ऐसा विचार कर रोष नहीं करना चाहिये.

१३५३

इह य परत्त य लोए दोसे बहुए य आवहदि कोधो ॥
इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिदव्वो हवइ कोधो ॥ १४२६ ॥

निषेवितः कोपरिपुर्यतोऽङ्गिनां ददाति दुःखान्युभयत्र जन्मनि ॥
निकर्तनीयः शमखड्गधारया तपोवियोधैः स ततोऽन्यदुर्जयः ॥ १४८३ ॥
इति क्रोधनिर्जयः ।

विजयोदया—स्पष्टा ॥

मूलारा—स्पष्टम् । क्रोधनिर्जयः ॥

अर्थ—इस लोकमें और परलोकमें यह क्रोध अनेक दोषोंको उत्पन्न करता है ऐसा विचार कर क्रोधका परिहार-त्याग करना चाहिये.

उत्तरा गाथा-क्रोधजयोपायभूतान्परिणामानुपदर्श्य मानप्रतिपक्षपरिणामं निरूपयति—

को एत्थ मज्झ माणो बहुसो णीचत्तणं पि पत्तस्स ॥
उच्चत्ते य अणिच्चे उवट्ठिदे चावि णीचत्ते ॥ १४२७ ॥

नीचत्वे मम किं दुःखमुच्चत्वे कोऽत्र विस्मयः ॥
नीचत्वोच्चत्वयोर्नास्ति नित्यत्वं हि कदाचन ॥ १४८४ ॥

विजयोदया—को एत्थ मज्झ माणो कोऽत्रासकृत्प्राप्तेऽज्ञानादिकरत्नत्रयतत्त्वे गर्वो मम बहुशो ज्ञानकुलरूपतपोद्रविणप्रभुत्वैकयततां प्राप्तस्य प्राप्तेऽप्युन्नतत्वे अनवस्थायिनि सति उपस्थिते चोत्तरकालनीचत्वे ॥

मानजयोपायं गाथाचतुष्केणोपदिशति—

मूलारा—एत्थ अत्र वर्तमाने ज्ञानादिकृतताम् । अणिच्चे उच्चत्वे च दैववशात्प्राप्तेऽनवस्थायिनि सति । किं मम बहुवारान्नीचत्वमपि प्राप्तस्यापि अस्मिन्नुच्चत्वे प्राप्ते गर्व इति मार्दवं भावयेत् इति भावः ॥

उक्तं च—

नीचत्वे मम किं दुःखमुच्चत्वे कोऽत्र विस्मयः ।
नीचत्वोच्चत्वयोर्नास्ति नित्यत्वं हि कदाचन ॥

मानके प्रतिपक्ष भूत परिणामोंका वर्णन करते है—

अर्थ—मैं इस संसारमें अनंतवार नीचावस्थामें उत्पन्न हुआ हूं. उच्चत्व और नीचत्व ये, दो अवस्थायें नित्य नहीं हैं. कुछ काल रहकर नष्ट होती हैं. ज्ञान, कुल, रूप, संपत्ति, प्रभुत्व ये अनेकवार इस जीवको प्राप्त हुए हैं. ये प्राप्त होकर भी पुनरपि नष्ट हो चुके हैं. और पुनः नीचत्व प्राप्त हुआ है. अतः अभिमान करना फिजूल है.

अधिगेसु बहुसु संतेसु ममादो एत्थ को महं माणो ॥
को विब्भओ वि बहुसो पत्ते पुव्वम्मि उच्चत्ते ॥ १४२८ ॥

परेषु विद्यमानेषु किं दुःखमधिकेषु मे ॥
योनिहीनेष्वहंकारः संसारे परिवर्तिनि ॥ १४८५ ॥

विजयोदया—स्पष्टा ॥

मूलारा—ममादो मत्तकाशात् । विब्भओ हर्षः ॥

अर्थ—कुल, रूप, संपत्ति इत्यादिक बातोंमें मेरेसेभी अधिक श्रेष्ठ लोक जगतमें हैं अतः इसमें मेरा अभिमान करना व्यर्थ है तथा ऐसा उचत्व मेरेको पूर्वकालमें अनेक बार प्राप्त हुआ था इसलिए इसमें आश्चर्य चकित होना भी मेरे लिए अयोग्य है.

उत्तरगाथा—

जो अवमाणणकरणं दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्तो ॥
सो णाम होदि माणी ण दु गुणचत्तेण माणेण ॥ १४२९ ॥

स मानी कुरुते दोषमपमानकरं न यः ॥
न कुर्वाणः पुनर्मानमपमानाभिवर्द्धकम् ॥ १४८६ ॥

विजयोदया—जो अवमाणणकरणं योऽवमानकरणं दोषं परिहरति नित्यमुपयुक्तः स मानी भवति । न तु भवति मानी गुणरिक्तेन मानेन ॥

अलौकिकमानित्वोपदर्शनद्वारेणाहंकारनिराकरणं कारयितुमाह—

मूलारा—अवमाणणकरणं परिभवकरं स्वस्य परस्य वा। दोसं कुलतपोविद्यादिभिरात्मोत्कर्षसंभावनं परप्रधर्षणं वा। आउत्तो सर्वत्र समाहितः। सो णाम स एव मानी भवति। तन्माहात्म्यस्य केनापि खंडयितुमशक्यत्वात्। गुणरित्तेण स्वपरपराभवकारणमानाख्यदोपदोषनित्यपरिहरणलक्षणगुणपरिहीनेन। माणेण स्तब्धत्वमात्रेण। तन्माहात्म्यखंडनस्य येन केनापि कर्तुं शक्यत्वात्॥ उक्तं च—

स मानी कुरुते दोषमपमानकरं न यः॥
न कुर्वाणः पुनर्मानमपमानविवर्धकम्॥

अर्थ—जो पुरुष अपमानका कारण ऐसे दोषका त्याग करता है और हमेशा दोषरहित प्रवृत्ति रखता है उसको ही मानी समझना योग्य है. गुणरहित होनेपर भी मान करनेसे कोई मानी नहीं माना जासकता है.

इह य परत्तय लोए दोसे बहुगे य आवहदि माणो॥
इदि अप्पणो गणित्ता माणस्स विणिग्गहं कुज्जा॥ १४३०॥

द्वितयलोकभयंकरमुत्तमो विविधदुःखशिलाततदुर्गमम्॥
प्रबलमार्दववज्रविघाततो नयति मानगनं शतखंडनम्॥ १४८७॥
इति माननिर्जयः॥

विजयोदया—इह य परत्तय जन्मद्वये दोषान्बहूनावहति मानमिति विगणय्य माननिग्रहं कुर्यात्साधुजनः॥

मूलारा—स्पष्टम्। माननिर्जयः॥

अर्थ—इस जन्ममें और परजन्ममें यह मानकषाय बहुत दोषोंको उत्पन्न करता है. ऐसा जानकर सत्पुरुष मानका निग्रह करते हैं. अर्थात् मानका त्याग करते हैं.

मायाप्रतिपक्षपरिणामस्वरूपं निगदति—

अदिगूहिदा वि दोसा जणेण कालंतरेण णज्जंति॥
मायाए पउत्ताए को इत्थ गुणो हवदि लद्धो॥ १४३१॥

दोषो निगुह्यमानोऽपि स्पष्टतां याति कालतः ॥
निक्षिप्तं हि जलेवर्चो न चिरं व्यवतिष्ठते ॥ १४८८ ॥

विजयोदया—अदिगूहिदा वि दोसा अतीव संवृता अपि दोषा जनेन ज्ञायंते कालांतरे मायया प्रयुक्तया को गुणो लब्ध इति चिंतया निर्वृति ॥

मायाजयोपायं गाथापंचकेनाह—

मूलारा—अदिगूहिदा सुष्ठु गोपिताः । लद्धो येन वंचना प्रयुज्यते इत्यार्जवभावनया मायां निर्जयेदिति तात्पर्यम् ॥

मायाका प्रतिपक्षी परिणामका स्वरूप आचार्य कहते हैं—

अर्थ—दोषोंको अतिशय छिपाने पर भी कालांतरसे कुछ काल व्यतीत होनेके बाद वे दोष लोकोंको मालूम पडते ही हैं, इसलिए मायाका प्रयोग करने पर भी क्या फायदा होता है ? ध्यानमें नहीं आता.

पडिभोगम्मि असंते णियडिसहस्सेहिं गूहमाणस्स ॥
चंदग्गहोव्व दोसो खणेण सो पायडो होइ ॥ १४३२ ॥
जणपायडो वि दोसो दोसोत्ति ण घेप्पए सभागस्स ॥
जह समलत्ति ण घिप्पदि समलं पि जए तलायजलं ॥ १४३३ ॥

प्रकटोऽपि जनैर्दोषः सभाग्यस्य न गृह्यते ॥
समलं मलिनं केन गृह्यते सारसं जलम् ॥ १४८९ ॥
नीचैन छाद्यमानोऽपि स्पष्टतामेति निर्मलः ॥
राहुणा पिहितश्चंद्रो भूयः किं न प्रकाशते ॥ १४९० ॥

विजयोदया—जणपायडो वि दोसो लोकप्रकटोऽपि दोषो दोष इति न गृह्यते भाग्यवतः । यथा समलमिति सदृशं । एतदुक्तं भवति पुण्यवतोऽपि मायया न किंचित्साध्यं । प्रकटेऽपि दोषे यतोऽसौ जगति मान्यः । दोषविनिगूहनं हि मान्यताविनाशभयादिति भावः ॥

किं च कृतदोषाविर्भावतिरोभावौ भाग्यानुदयोदयाधीनौ न पुरुषाकारायत्तौ तत्किमर्थं राक्षसीवापायप्राया माया प्रतायते इति शिक्षयति—

मूलारा--पडिभोगम्भि पुण्ये । चंदग्गहो सोमग्रहणं । एतां श्रीविजयो नेच्छति ॥

भाग्यशालिनो दोषमपि दोष इत्यगृहीत्वा लोको माननां करोति इति पुण्यवतो मायया न किंचित्साध्यं तथाप्यसौ प्रयुज्यमाना मान्यतामेव विनाशयेत् इति शिक्षयति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—उत्कृष्ट भाग्य यदि न होगा तो हजारो कपट करके दोषोंको छिपाने पर भी वे प्रगट होते ही हैं. जैसे चंद्रको राहू ग्रास लेता है यह बात छिपती नहीं सर्व जनप्रसिद्ध होती है. वैसे दोष छिपानेका कितना भी प्रयत्न करो परंतु यदि तुम पुण्यवान न होंगे तो तुह्मारे दोष लोगोंको मालूम होंगे ही.

अर्थ—जो भाग्यवान मनुष्य है उसका दोष सर्व जनोंको प्रत्यक्ष होनेपर भी लोक उसको दोष मानते नहीं हैं. जिस तालावका पानी मलिन होनेपर भी उसके मलिनपनाके तर्फ जब लक्ष्य नहीं देते हैं. इससे यहां यह अभिप्राय समझना चाहिए— पुण्यवान् कपट करनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है. क्योंकि दोष प्रगट होनेपर भी श्रीमान मान्य होते ही हैं. मान्यताका नाश होगा इस भयसे दोषोंको छिपाते हैं परंतु जब मान्यताका नाश होनेका भय ही नहीं है तो कपट करनेकी क्या आवश्यकता है.

अथ मायां करोत्यर्थार्थं तथापि सानर्थिकेति वदति—

डंभसएहिं वहुगेहिं सुपउत्तेहिं अपडिभोगस्स ॥
हत्थं ण एदि अत्थो अण्णादो सपडिभोगादो ॥ १४३४ ॥
दंभेऽर्थः क्रियमाणेऽपि विपुण्यस्य न जायते ॥
आयाति स्वयमेवासौ सुकृते विहिते सति ॥ १४९१ ॥

विजयोदया— डंभसदेहिं वहुगेहिं दंभशतैर्बहुभिः सुप्रयुक्तैरपि अपुण्यस्य हस्तं नायात्यर्थः । अन्यस्मात्पुण्यात् ॥
विपुण्यस्य मायाप्रयोगो धनसाधनायापि न स्यादिति बोधयति—

मूलारा—अपडिभोगस्स अपुण्यस्य । अण्णादो अन्यस्माद्वंचनाविषयीकृतात् । सपडिभोगादो सपुण्यात् ॥

धनके लिये माया करते हैं यह कहना भी व्यर्थ है ऐसा कहते हैं—

अर्थ—सैकडो कपट प्रयोग करने पर भी और बेमालूम कपट प्रयोग करने पर भी पुण्यवान मनुष्यसे भिन्न मनुष्यको अर्थात् पापी मनुष्यको धन प्राप्त नहीं होता है- तात्पर्य—कपट करनेसे धन प्राप्ति होती नहीं वह पुण्यसे ही मिलता है-

---

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ माया ॥
इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिदव्वा हवइ माया ॥ १४२५ ॥

वितरति विपुला निकृतिधरित्री बहुविधमसुखं दुरितसवित्री ॥
इयमिति निहता विपुलमनस्कै ऋजुगुणपविना विमलयशस्कैः ॥ १४९२ ॥

इति मायानिर्जयः ॥

विजयोदया—इह य परत्त य इहपरलोकयोर्बहून्दोषानावहति माया । इति आत्मनि निरूप्य परिहर्तव्या भवति माया ॥

मूलारा—स्पष्टम् । मायानिर्जयः ॥

अर्थ—इहपरभवमें मायासे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा जानकर मायाका त्याग करना चाहिये.

लोभे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्स अपडिभोगस्स ॥
अकएवि हवदि लोभे अत्थो पडिभोगवंतस्स ॥ १४२६ ॥

संपद्यते सपुण्यस्य स्वयमेत्यान्यतो धनम् ॥
हस्तप्राप्तमपि क्षिप्रं विपुण्यस्य पलायते ॥ १४९३ ॥

विजयोदया—लोभे कदे लोभे कृतेप्यर्थो न भवति पुरुषस्य अपुण्यस्य । अकृतेऽपि लोभे पुण्यवतः । ततः अर्थासक्तिरर्थलाभे मम न निमित्तमपि तु पुण्यमित्यनया चिंतया लोभो निराकार्यः ॥

लोभजयोपायं गाथात्रयेणाह—

मूलारा—पडिभोगवंतस्स पुण्यवतः । अर्थासक्तिर्नार्थलाभनिमित्तमपि तु पुराकृतं पुण्यमित्यनया चिंतया शौचमनुबध्नन् लोभं निराकुर्यादितिभावः ॥

अर्थ—लोभ करनेपरभी पुण्यरहित मनुष्यको द्रव्य मिलता नहीं है. और लोभ न करनेपर भी पुण्यवान को धनकी प्राप्ती होती है इसलिये धनप्राप्ति होती है इसलिये धनप्राप्ति होनेमें धनासक्ति कारण नहीं है परंतु पुण्य ही कारण है ऐसा विचार कर लोभ का त्याग करना चाहिये.

अपि च अर्थप्राप्तये जनः प्रयतते अर्थाः पुनरसकृत्प्राप्तास्त्यक्ताश्च तेषु को विस्मय इति मनःप्रणिधानं कुरु लोभविजयायेति वदति—

सव्वे वि जए अत्था परिगहिदा ते अणंतखुत्तो मे ॥
अत्थेसु इत्थ को मज्झ विंभओ गहिदविजडेसु ॥ १४३७ ॥

संसारेऽटाट्यमानेन प्राप्ताः सर्वे सहस्रशः ॥
विस्मयो लब्धमुक्तेषु कस्तेषु मम सांप्रतम् ॥ १४९४ ॥

विजयोदया—सव्वे वि जये अत्था सर्वेऽपि जगत्यर्थाः परिगृहीता मयानंतवारं ममार्थेष्वमीषु को विस्मयो गृहीतत्यक्तेषु ॥

उपायांतरमाह—

मूलारा—स्पष्टम् । लोभनिर्जयः ॥

धन प्राप्त्यर्थ लोक यत्न करते हैं धन तो अनेक बार मिल गया था और नष्ट भी हुआ था इसलिये धनमें आश्चर्य करना फिजूल है लोभ विजयके लिये ही हे क्षपक तू मनको स्थिर कर ऐसा आचार्य उपदेश करते हैं—

अर्थ—इस त्रैलोक्यमें मैंने अनंतवार धन प्राप्त किया है. अतः अनंतवार ग्रहण कर त्यागे हुए इस धनके विषयमें आश्चर्य चकित होना फिजूल है.

इह य परत्त य लोए दोसे बहुए य आवहइ लोभो ॥
इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि लोभो ॥ १४३८ ॥

लोकद्वये दुःखफलानि दत्ते गार्धक्यतोयेन विवर्धितोऽयम् ॥
संतोषशस्त्रेण निकर्तनीयः स लोभवृक्षो बहुलः क्षणेन ॥ १४९५ ॥

कषायचौरानतिदुःखकारिणः पवित्रचारित्रधनापहारिणः ॥
शृणाति यश्चारुचरित्रमार्गणैः करस्थितास्तस्य मनीषिताः श्रियः ॥१४९६॥
इति लोभनिर्जयः ॥

विजयोदया—इंद्रियकषायलिंगदं ।

मूलारा—स्पष्टम् ॥ लोभनिर्जयः ॥

अर्थ—इहपरलोकमें यह लोभ अनेक दोषोंको उत्पन्न करता है ऐसा समझकर लोभकषायपर विजय प्राप्त करना चाहिये. इंद्रिय और कषायोंका वर्णन समाप्त हुआ.

एवमिंद्रियकषायपरिणामनिरोधोपायभूतान्परिणामानुपदिश्य निद्राजयक्रमं निरूपयति सूरिः—

णिद्दं जिणाहि णिच्चं णिद्दा हु णरं अचेयणं कुणइ ॥
वट्टिज्ज हु पासुत्तो खवओ सव्वेसु दोसेसु ॥ १४३९ ॥

निद्रां जय नरं निद्रा विदधाति विचेतनम् ॥
सुप्तः प्रवर्तते योगी दोषेषु सकलेष्वपि ॥ १४९७ ॥

विजयोदया—णिद्दं जिणाहि निद्रां जय । अजिता सा किमपकारं करोति इत्याशंक्य आह—णिद्दा हु णरं अचेयणं कुणइ निद्रा नरं अचेतनं करोति । चैतन्यरहितावस्थाभावात्किमुच्यते अचेतनं करोतीति । अत्रोच्यते-विवेकज्ञानरहितत्वमेवात्राचेतनशब्देनोच्यते । यत एव योग्यायोग्यविवेकज्ञानरहित अत एव । वट्टिज्ज हु वर्तेत एव । पासुत्तो प्रकर्षेण सुप्तः । खवगो क्षपकः । सव्वेसु दोसेसु हिंसामैथुनपरिग्रहादिकेषु ॥

एवमिंद्रियकषायजयान्संवरहेतुनुपदिश्य तत्प्रकरणानुरोधात्प्रसक्तं निद्राजयोपायं सोपायं गाथादशकेनोपदिशति

मूलारा—जिणाहि जय त्वं । अचेयणं युक्तायुक्तविवेकविमुक्तं । दोसेसु हिंसादिषु ॥

इंद्रिय कषाय परिणामोंका निरोध करनेमें उपायभूत परिणामोंका यहांतक आचार्यने विवेचन किया अब निद्राजयका क्रम कहते हैं —

अर्थ—हे क्षपक ! तू निद्राको जीत ले. निद्राको न जीतनेसे क्या हानि होती है इस शंकाका उत्तर ऐसा है-निद्रा मनुष्यको अचेतन करती है. आत्मामें चैतन्यरहित अवस्थाका अभाव ही है अतः निद्रा अचेतन करती है. ऐसा क्यों

कहा है ? उत्तर—विवेकज्ञानका अभाव निद्राके समय होता है. अतः निद्रा मनुष्य को अचेतन करती है ऐसा कहा है. योग्यायोग्यविवेकज्ञान न होनेसे आत्मा अचेतन होता है, ऐसा कह सकते हैं, गाढ निद्रित हुआ मनुष्य हिंसा, मैथुन, परिग्रहादिक दोषोंमें प्रवृत्त होता है.

निद्रा कर्मोदयवशाद्भवति कथं मयाऽपाकर्तव्या इत्याह—

जदि अधिवाधिज्ज तुमं णिद्दा तो तं करेहि सज्झायं ॥
सुहुमत्थे वा चिंतेहि सुणव संवेगणिव्वेगं ॥ १४४० ॥

यदा प्रबाधते निद्रा स्वाध्यायं त्वं तदाश्रय ॥
अर्थानणीयसो ध्यायन्कुरु संवेगनिर्वेदौ ॥ ४९८ ॥

विजयोदया—जदि अधिवाधिज्ज तुमं यद्यधिबाधेत भवंतं निद्रा। ततस्त्वं कुरु स्वाध्यायं। सुहुमत्थे वा चिंतेहि सूक्ष्मानर्थान् चिंतय। सुणव संवेगणिव्वेगं श्रृणुष्व संवेजनीं निर्वेजनीं वा कथां ॥

दर्शनावरणोदयोद्रेकादाविर्भवंती निद्रा कथं मया निरोद्धुं शक्येत्यत्राह—

मूलारा—तुमं त्वं। सुण व श्रृणु वा। संवेगणिव्वेदं संवेजनीं निर्वेजनीं वा कथाम् ॥

निद्रा कर्मके उदय से आती है अतः वह मेरेसे कैसी हटाई जा सकेगी इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—यदि निद्रा तुझको सतावेगी तो तू स्वाध्याय कर, सूक्ष्म पदार्थोंका विचार कर, संवेजनी और निर्वेजनी कथाओंका भी श्रवण कर ये निद्रा जीतनेके उपाय हैं.

प्रकारांतरं निद्राविजयहेतु निगदति—

पीदी भए य सोगे य तहा णिद्दा ण होइ मणुयाणं ॥
एदाण तुमं तिण्णिवि जागरणत्थं णिसेवेहि ॥ १४४१ ॥ १३९२

निद्रा प्रीतौ भये शोके यतः पुंसो न जायते ॥
निर्जयाय ततस्तस्यास्त्वमिदं त्रितयं भज ॥ १४९९ ॥

विजयोदया—पीदी भए च सोगे प्रीत्यां भये शोके च सति निद्रा मनुष्याणां न भवति । तेन प्रीत्यादिसेवां कुरु स्वं निद्राविजितये ॥

मूलारा—प्रीत्यादित्रये सति नोदेति ॥

निद्राविजयके लिए दूसरा उपाय.

अर्थ-प्रीति, भय और शोक इनमेंसे कोई भी विकार होनेपर निद्रा नहीं आती है. इसलिए निद्रा विजयार्थ तूं प्रीत्यादिकका सेवन कर.

प्रीतिभयशोकानां अशुभपरिणामत्वात्कर्मास्रवनिमित्तता । निद्राया वा अविशिष्टत्वात् कथं वा संवरार्थिनो निरूप्यते प्रीत्यादिकं इत्याशंकायां संवरहेतुभूततया तद्व्यपदेशं प्रति नियतविषयमुपदर्शयति—

भयमागच्छसु संसारादो पीदिं च उत्तमट्ठम्मि ॥
सोगं च पुरादुच्चरिदादो णिद्दाविजयहेदुं ॥ १४४२ ॥

ज्ञानाद्याराधने प्रीतिं भयं संसारदुःखतः ॥
पापे पूर्वार्जिते शोकं निद्रां जेतुं सदा कुरु ॥ १५०० ॥

विजयो—भयमागच्छसु भयं प्रतिपद्यस्व । संसारादो संसारात् पंचविधपरिवर्तनरूपात् । प्रीतिं रत्नत्रयाराधनायां । शोकं उपैहि पूर्वकृतादुश्चरितात् । निद्रां विजेतुं नरकादिगतिष्वसकृत्परिवर्तमानेन शारीरमागंतुकं, मानसिकं, स्वाभाविकं च दुःखं विचित्रमनुभूतं तत्पुनरप्यायास्यति इति मनः प्रणिधेहि । सकलामापत्संहतिमुन्मूलयितुं, अभ्युदयनिश्रेयससुखानि च प्रापयितुं, असारशरीरभारमपनेतुं, अनंतावबोधदर्शनसाम्राज्यश्रियमाक्रष्टुं, कर्मविषविटपानुत्पाटयितुं क्षमामिमां, अनंतेषु भवेषु अनवाप्तपूर्वां रत्नत्रयाराधनां कर्तुं उद्यतोऽस्मीति प्रीतिर्भावनीया । हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेषु मिथ्यात्वकषायेष्वशुभमनोवाक्काययोगेषु च विचित्रकर्मार्जनमूलेषु चतुर्विधबंधपर्यायनिमित्तेषु अनारतं मंदभाग्यः प्रवृत्तोऽस्मि हिताहितविचारणाविमुग्धबुद्धितया सन्मार्गस्योपदेष्टॄणामनुपलंभात्प्रचरज्ञानावरोधोदयात्तदुदीरितार्थानवबोधात् । अवगमे सत्यपश्रद्धायाः, चारित्रमोहोदयात्सन्मार्गेऽप्रवृत्तेश्च दुःखांभोधौ निमग्नोऽस्मीत्युद्विग्नचित्ततया च निद्रा प्रयाति ॥

संवरार्थं निद्रां जिगीषता किं विषयं प्रीत्यादित्रयं विधेयमित्यत्राह—

मूलारा—प्रतिपद्यस्व । नरकादिगतिषु असकृत्परिवर्तमानेन शारीरमागंतुकं, मानसं, स्वाभाविकं च दुःखं मयानुभूतं तत्पुनरपीदमायातीति चेतः प्रणिधेहीत्यर्थः ॥ १२६३

उत्पन्नेऽस्मिन् रत्नत्रयाराधनायां सर्वा विपदो निराकर्तुमभ्युदयनिःश्रेयससंपदः संपादयितुं, कर्मविषवृक्षमुन्मूलयितुं, अनंतज्ञानादिचतुष्टयकिंचिनाक्रष्टुं, असारशरीरभारमपसारयितुं च समर्थतमामिमामासंसारमप्राप्तचरी रत्नत्रयाराधनां विधातुमुद्यतोऽस्मि, धन्योऽस्मि, कृतकृत्योऽस्मि, पुण्याहं ममेदमद्येति प्रीतिं भावयेदित्यर्थः। पुरा दुश्चरिदादो पूर्वाचरिते दुराचारे। हा कष्टमनादिकालं मिथ्यात्वासंयमकषायाऽशुभयोगग्रावर्तेषु चतुर्विधबंधनिबंधनतया विविधचतुर्गतिदुःखप्रबंधविधातृषु मंदभाग्यः कथमहं प्रवृत्तः ? हिताहितमीमांसामूढतया सन्मार्गोपदेशकं गुरुं लब्ध्वापि प्रबलज्ञानावरणोदयवशात् तदुपदिष्टार्थतत्त्वस्यानवबोधेऽपि दुर्मथमिथ्यात्वविपाकेनाश्रद्धानेऽपि, दुर्वारचारित्रमोहोद्रेकेण श्रेयोमार्गाप्रवृत्तोऽस्मि कथमहं दुरंतसंसारपारावारदुःखावर्तसहस्रेषु मुहुर्मुहुर्निवृत्तोऽस्मीत्युद्विग्नहृदयो भवेदित्यर्थः।

प्रीति, भय और शोक ये अशुभ परिणाम हैं अतः अशुभ कर्मका आगमन होनेमें ये हेतु हैं. निद्राके समान ये भी त्याज्य हैं तो भी संवरार्थके लिए इन भयादिकोंका निरूपण आचार्य क्यों करते हैं ? इस शंकाका परिहार करनेके लिए प्रीत्यादिकके विषयोंका भी खुलासा करते हैं—

अर्थः—हे क्षपक ! तू पंच प्रकारके परिवर्तन रूप संसारसे भययुक्त हो, रत्नत्रयकी आराधना करने में तू प्रेम युक्त हो और पूर्वकृतपापोंके विषयमें मनमें शोक कर. ऐसा करनेसे तू निद्रापर विजय पा सकेगा.

नरकादि गतिओंमें अनेक वार उत्पन्न होकर अनेक प्रकारके शारीरिक, आगंतुक, मानसिक दुःखोंका तू अनुभव लिया है ये दुःख फिर भी मेरेको प्राप्त होंगे ऐसा विचार कर भययुक्त हो. और अपना मन ध्यानमें एकाग्र कर. यह रत्नत्रयाराधना सर्व संकटसमुदायका नाश करती है. अभ्युदय और मोक्षसुख देती है. असार शरीरका भार इस रत्नत्रयाराधनासे दूर होता है. इससे जीवको अनंत दर्शन और अनंतज्ञानकी प्राप्ति होती है. यह कर्मरूप विषवृक्षको उखाडनेमें समर्थ है. इसकी अनंत भवोंमें कभी भी प्राप्ति नहीं हुई थी. मैं आज इसको प्राप्त करनेमें उद्युक्त हुआ हु. ऐसा विचार करके रत्नत्रयाराधनामें प्रीतिकी भावना भानी चाहिये.

हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, मैथुन सेवन और अब्रह्मचर्य ये पांच कुकार्य विचित्रकर्मकी उत्पत्ति करनेमें हेतु हैं मिथ्यात्व, कषाय, और अशुभ मनोवचन और काय इनसे नाना प्रकारके कर्मोंका जीवमें आगमन होता है. उपर्युक्त कारणोंसे प्रकृति, स्थिति वगैरह चार प्रकारके कर्म बंधकी उत्पत्ति होती है. मंदभाग्यवान मैं ऐसे कार्योंमें हमेशा प्रवृत्त हुआ था. हिताहितविचार करनेवाली बुद्धिकी मेरेमें कमी थी. सन्मार्गका उपदेशक न मिलनेसे, १२६४

तथा ज्ञानावरण कर्मका उदय होनेमे मेरेको हितज्ञान आजतक नहीं हुआ था. अथवा उपदेशक मिलनेपर भी उसके उपदेशका अभिप्रायही मैं नहीं जान सका. कभी ज्ञान होनेपर भी मैंने उस उपदेशपर विश्वास नहीं किया. विश्वास करनेपर भी चारित्रमोहकर्मके वश होकर चारित्र नहीं पाला. इसी कारणसे मैं संसारसमुद्रमें डूबा हूं इस प्रकारके शोकविचारसे निद्रा नष्ट होती है.

जागरणत्थं इच्चेवमादिकं कुण कमं सदा उत्तो ॥
झाणेण विणा वंझो कालो हु तुमे ण कायव्वो ॥ १४४३ ॥

सदैवमुपयुक्तेन निद्रां निर्जयता त्वया ॥
न ध्यानेन विना स्थेयं पवित्रेण कदाचन ॥ १५०१ ॥

विजयोदया—जागरणार्थं निद्रानिरासार्थं एवमादिकं कुरु क्रमं सदोपयुक्तं । ध्यानेन विना वंध्यः कालो न कर्तव्यस्त्वया ॥

मूलारा—जागरणत्थं निद्रानिरासार्थं । वंझो निष्फलः । तत्तदुपायसिद्धौषधप्रयोगैर्निद्रामहाव्याधिं जितवतापि त्वया सद्ध्यानशून्येन क्षणमपि न स्थातव्यम् । तस्यैव कर्मसंवरणनिर्जरणकर्मणि धुरीणत्वात् इति भावः ॥

अर्थ—निद्रका नाश करने के लिये इस प्रकारका उपयुक्त क्रम तूं कर. और ध्यानके विना एक कालकला भी तुझको नष्ट करना योग्य नहीं है.

संसाराडविणित्थरणमिच्छदो अणपणीय दोसाहिं ॥
सोदुं ण खमो अहिमणपणीय सोदुं व सघरम्मि ॥ १४४४ ॥

न दोषाननपाकृत्य स्वप्तुं जन्मनि युज्यते ॥
अनर्थकारिणो रौद्रान्पन्नगानिव मंदिरे ॥ १५०२ ॥

विजयोदया—संसाराडविणिच्छरण मिच्छदो संसाराटविनिस्तरणमिच्छन्ननपाकृत्य दोषान् न हि स्वप्तुं क्षमः। अहिं अनपनीय स्वप्तुमिव गृहे ॥

यावद्दोषा न निराकृतास्तावदस्मिञ्जन्मनि स्वापः कर्तुं न युज्यते इति वक्रभणित्या निद्राविजयाय सज्जयति ॥

मूलारा—इच्छादो इच्छन्। वांछतो वा। अन्ये णिच्छिदो इति पठित्वा निश्चययुक्तो मुनिरित्यर्थमाहुः। अणवणीय स्वस्मादनिःसार्य। दोसाहि रागादिसर्पं। सोदु स्वप्तुं। ण समो न युक्तोऽसि त्वम्। ण सममिति पाठे न युक्तं नवेति योग्यम्॥ अहिं सर्पं॥ उक्तं च॥

न दोषाननपाकृत्य स्वप्तुं जन्मनि युज्यते ॥
अनर्थकारिणो रौद्रान्पन्नगानिव मंदिरे ॥

अर्थ—संसाररूप जंगलमेंसे निकलनेकी इच्छासे दोषोंको विना दूर किये ही सोना योग्य नहीं है. क्या सर्पको घरमेंसे बाहर निकाले विनाही घरमें सोना योग्य है ?

को णाम णिरुव्वेगो लोगे मरणादिअग्गिपज्जलिदे ॥
पज्जलिदम्मि व णाणी घरम्मि सोदुं अभिलसिज्ज ॥ १४६५ ॥
संसारे युज्यते स्वप्तुं कस्य दोषैः प्रदीपिते ॥
महातापकरैर्गेहे पावकैरिव भीषणे ॥ १५०२ ॥

विजयोदया—को णाम णिरुव्वेगो लोगे मरणादि अग्गिपज्जलिदे जातिजरामरणव्याधयः, शोकानयानि, प्रार्थितालाभो, अभिमतवियोग इत्यादिनाग्निना प्रज्वलिते। णाणी सोतुमभिलसेज्ज ज्ञानी स्वप्तुमभिलषेत्। पज्जलिदम्मि घरम्मि व प्रज्वलिते गृह इव॥

भंग्यंतरेण निद्रां निराकारयति—

मूलारा—अणुव्विग्गो उद्वेगरहितः॥ मरणादि मृत्युव्याधिजराजन्मभयमानभंगशोकादि। णाणी तत्त्वज्ञः।

अर्थ—इस जगतमें कौन निरुद्वेग है अर्थात् किसको भय है नहीं ? सभी मनुष्योंको जन्म, वृद्धावस्था, मरण, रोग, शोक, इच्छित वस्तुओंकी प्राप्ति न होना, इष्ट वस्तुओंका वियोग होना एतत्स्वरूप अग्नीसे सब पीडित हो रहे हैं. ऐसा विचार कर ज्ञानी सोनेकी इच्छा करेगा क्या ? कौनसा ज्ञानी मनुष्य अग्निसे घर प्रज्वलित होने पर सोनेकी इच्छा करेगा ?

को णाम णिरुव्वेगो सुविज्ज दोसेसु अणुवसंतेसु ॥
गहिदाउहाण बहुयाण मज्झयारेव सत्तूणं ॥ १४४६ ॥

को दोषेष्वप्रशांतेषु निरुद्वेगोऽस्ति पंडितः ॥
द्विपत्स्विव समीपेषु विविधानर्थकारिषु ॥ १५०४ ॥

विजयोदया—को णाम णिरुव्वेगो को नाम निरुद्वेगः स्वपेद्रागादिषु संसारप्रवर्द्धनेषु दोषेषु अनुपशांतेषु गृहीतायुधानां शत्रूणां बहूनां मध्ये इव ॥

मूलारा—मज्झयारे मध्ये ॥

अर्थ—जैसे जिन्होने हाथोंमें शस्त्रधारण किये हैं ऐसे शत्रुओंके बीचमें निर्भय होकर कोन स्थिर रह सकता है ? वैसे संसारको बढानेवाले रागादिक दोष शांत नहीं होनेपर कौन ज्ञानी पुरुष निर्भयतासे सोवेगा. अर्थात् रागादिक विकार शत्रुके समान इस जीवको कष्ट दे रहे हैं एसे प्रसंगमें निद्राधीन होना क्या योग्य माना जायगा ?

णिद्दा तमस्स सरिसी अण्णो णत्थि हु तमो मणुस्साणं ॥
इदि णच्चा जिणसु तुमं णिद्दा ज्झाणस्स विग्घयरी ॥ १४४७ ॥

नास्ति निद्रातमस्तुल्यं परं लोके यतस्तमः ॥
सर्वव्यापारविध्वंसि जयेदं सर्वदा ततः ॥ १५०५ ॥

विजयोदया—णिद्दा निद्रा तमसमदृशमन्यत्तमो नास्ति मनुजानां इति ज्ञात्वा निद्रां ध्यानस्य विघ्नकारिणीं जयेति ॥

मूलारा—णत्थि तिमिरांतरस्य सद्ध्यानप्रतिबंधाक्षमत्वात् ॥ उक्तं च—

नास्ति निद्रातमस्तुल्यं परं लोके यतस्तमः ॥
सर्वव्यापारविध्वंसि जयेदं सर्वदा ततः ॥

अर्थ निद्रारूप अंधकारके समान जगतमें अन्य अंधकार है ही नहीं ऐसा समझकर ध्यानमें विघ्न डालनेवाली इस निद्राको तुम जीतो

कुण वा णिद्दामोक्खं णिद्दामोक्खस्स भणिदवेलाए ॥
जह वा होइ समाही खवणकिलिंतस्स तह कुणह ॥ १४४८ ॥

निद्राविमोक्षकाले त्वं निद्रां मुंचाथवा यते ॥
यथा वा क्लान्तदेहस्य समाधानं तथा कुरु ॥ १५०६ ॥

विजयोदया—कुण वा णिद्दामोक्खं कुरु वा निद्रामोक्षं । निद्रामोक्षस्य कथितायां वेलायां रात्रेस्तृतीये यामे इति यावत् । यथा वा समाधिर्भवति भवत उपवासपरिश्रांतस्य तथा वा निद्रामोक्षं कुरु ॥ णिद्दत्तिगदं ॥

एवं निद्रानिरासमुत्सर्गेणोपदिश्य तदपवादमाह—

मूलारा—भणिदवेलाए रात्रितृतीयप्रहरे । खमणकिलिंतस्स उपवासस्वाध्यायादिना ग्लानिं गतस्य । उक्तं च—

निद्राविमोक्षकाले त्वं निद्रां मुंचाथवा यते ॥
यथा वा क्लांतदेहस्य समाधानं तथा कुरु ॥

अर्थ-निद्राका त्याग करनेके समयमें अर्थात् रात्रीके तिसरे प्रहरमें हे क्षपक! तू निद्राका त्याग कर. अथवा उपवाससे थके हुए तुझको जिस प्रकारसे समाधान रहेगा वैसा निद्राका त्याग कर. निद्राका प्रकरण समाप्त.

उक्तार्थोपसंहारं वक्ष्यमाणं वाधिकारं दर्शयत्युत्तरगाथा—

एस उवाओ कम्मासवदारणिरोहणो हवे सव्वो ॥
पोराणयस्स कम्मस्स पुणो तवसा खओ होइ ॥ १४४९ ॥

कर्मास्रवनिरोधेऽयमुपायः कथितस्तव ॥
कल्मषस्य पुराणस्य तपसा निर्जरा पुनः ॥ १५०७ ॥
उदीयमानेन महोद्यमेन क्षत्रेण ? निद्रा तमसां सवित्री ॥
प्रशस्तकर्मव्यवधानशक्ता विजीयते भानुमतेव रात्रिः ॥ १५०८ ॥

इति निद्रानिजयः ।

विजयोदया—एस उवाओ कर्मणामास्रवद्वारनिरोधे उवाओ उपायोऽयं सर्वोऽभिहितः । पौराणस्य कर्मणस्तपसा क्षयो भवति । संवरपूर्विका निर्जरा मुक्तये भवति न संवरहीनेति पूर्वं संवरोपन्यासः ॥

एवं संवरपूर्वेव निर्जरा निर्वाणाय प्रभवतीति संवरोपायान्प्रपंच्य सांप्रतं निर्जरानिमित्ते तपसि गाथासमर्पिशरया क्षपकमुद्यमयति—

मूलारा—एस मिच्छत्तस्स य वमणमित्यादिसूत्रसमुदायनिर्दिष्टः ॥

उपर्युक्त अर्थका उपसंहार अथवा आगे कहा हुआ अधिकार उत्तर गाथासे कहते हैं—

अर्थ—जितना कर्तव्य पूर्वमें कहा है वह सर्व कर्मागमनका निरोध करनेका उपाय है. तथा इस कर्तव्यका पालन करनेसे पूर्वबद्ध कर्मका क्षय भी होता है. तपसे पूर्व कर्मका क्षय होता है. संवरसहित निर्जरा कर्मका नाश कर मोक्ष प्राप्तिका भी कारण होती है संवरहीन निर्जरा मोक्षका कारण नहीं है यह दिखानेके लिये आचार्यने प्रथम संवरका गाथामें उल्लेख किया है.

अब्भंतरबाहिरगे तवम्मि सत्तिं सगं अगूहंतो ॥
उज्जमसु सुहे देहे अप्पडिबद्धो अणलसो तं ॥ १४५० ॥

यतस्वाभ्यंतरे बाह्ये स्वां शक्तिमनिगूहयन् ॥
तपस्यनलसः स त्वं देहसौख्यपराङ्मुखः ॥ १५०९ ॥

विजयोदया—अब्भंतरबाहिरगे अभ्यंतरे बाह्ये च तपस्युद्योगं कुरु स्वां शक्तिं गूहमानः । सुखे शरीरे चानासक्तिः अनालस्यः । न हि शरीरे सुखे वा आदरवांस्तत्प्रतिपक्षभूते तपसि प्रयतते । न चालसः प्रवर्तते तपसि । प्रत्यूहभावेन स्थितं सुखे शरीरे च प्रतिपक्षत्वमलसत्वमावेदितमनेन ॥

द्विविधे तपसि तत्प्रत्यूहं परिहरन् स्वशक्त्या समुद्यच्छेत्यनुशास्ति —

मूलारा—अप्पडिबद्धो सुखे देहे चानासक्तः । न हि शरीरे सुखे वा आदरवांस्तत्प्रतिपक्षभूते तपसि प्रयतते न चालसः ।

अर्थ—हे क्षपक ! तू अभ्यंतर तप और बाह्य तपमें अपनी शक्ति न छिपाता हुआ उद्यम-प्रयत्न कर. सुखमें और शरीरमें तू आसक्ति मत कर. आलस्यको जिसने छोडा है वह शरीरमें और सुखमें आसक्त न होकर

सुख और शरीरके प्रतिपक्षभूत तपमें सदा उद्योग करता है. आलसी मनुष्य तपके विरुद्ध शरीर और सुखमें आसक्त होकर तपका त्याग करता है. अतः तू शरीर और सुखमें आसक्ति न करता हुआ तपमें उद्योग कर.

सुहसीलदाए अलसत्तणेण देहपडिबद्धदाए य ॥
जो सत्तीए संतीए ण करिज्ज तवं स सत्तिसमं ॥ १४५१ ॥

आलस्यसुखशीलत्वे शरीरप्रतिबंधने ॥
विदधाति तपो भक्त्या स्वशक्तिसदृशं न यः ॥ १५१० ॥

विजयोदया—सुहसीलदाए सुखासक्ततया, अलसतया, देहप्रतिबद्धतया वा यः शक्तौ सत्यामपि तपो न करोति शक्तिसमं ॥

यथोक्तमनाचरतो दोषानुत्तरप्रबंधेनाह—

मूलारा—सत्तिसमं यावच्छक्तिः ॥

अर्थ—सुखस्वभावसे, आलस्यसे, और देहकी प्रीतीसे जो सामर्थ्य होनेपर भी शक्त्यनुसार तप नहीं करता है—

तस्स ण भावो सुद्धो तेण पउत्ता तदो हवदि माया ॥
ण य होइ धम्मसद्धा तिव्वा सुहदेहपिक्खाए ॥ १४५२ ॥

तस्य शुद्धो न भावोऽस्ति माया तेन प्रकाशिता ॥
शरीरसौख्यसक्तस्य धर्मश्रद्धा न विद्यते ॥ १५११ ॥

विजयोदया—तस्स ण भावो तस्य परिणामो न शुद्धस्तस्मात्तेन शक्तिसमे तपस्यवर्तमानेन माया प्रयुक्ता भवति। यतस्ततो न भावः शुद्धः, धर्मे तीव्रा च श्रद्धा न भवति। केन ? सुहदेहपिक्खाए सुखे देहे च प्रेक्षया तत्र आसक्तया बुद्ध्या हेतुभूतया॥

मूलारा—जदो यस्मात्तेन शक्तिसमे तपसि अप्रवर्तमानेन स्वशक्तिप्रच्छादिना माया प्रयुज्यते, यस्माच्च सुख-

देहयोरासक्त्या तस्य धर्मे श्रद्धा तीव्रा नास्ति, यस्मात्तस्य लाभस्तमोऽनुरागः श्रद्धा नास्तीति संबंधः ॥ तदो इति पाठे तपः कर्तुं शक्तिर्मम नास्तीति प्रकाशनया तपोऽकरणादित्यर्थः ॥

अर्थ—उसका परिणाम निर्मल नहीं है ऐसा समझना चाहिये. शक्त्यनुसार तपमें प्रवृत्त न होनेसे वह मायावी है ऐसा सिद्ध होता है. मायासे भावमें-परिणाममें शुद्धता नहीं रहती है और धर्ममें तीव्र श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती है. सुखमें और देहमें बुद्धि संलग्न होती है इससेभी परिणाममें निर्मलता नहीं रहती है और धर्ममें तीव्रश्रद्धा नहीं उत्पन्न होती है.

अप्पा य वंचिओ तेण होइ विरियं च गूहियं भवदि ॥
सुहसीलदाए जीवो बंधदि हु असादवेदणियं ॥ १४५३ ॥

वीर्यं निगूह्यते येन तेनात्मा वंच्यते स्वयम् ॥
सुखशीलतया तेन कर्मासातं च बध्यते ॥ १५१२ ॥

विजयोदया—अप्पा य वंचिओ आत्मा वंचितस्तेन । शक्त्यनुरूपे तपस्यनभ्युद्यतेन शक्तिश्च प्रच्छादिता भवति सुखासक्ततया जीवो बध्नात्यसातवेदनीयं चानेकभवेषु दुःखावहं ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—शक्त्यनुरूप तपमें जो प्रवृत्ति नहीं करता है उसने अपने आत्माको फसाया है और अपनी शक्ति भी छिपा दी है ऐसा मानना चाहिये. सुखासक्त होनेसे जीवको असाता वेदनीयका अनेक भवमें तीव्र दुःख देनेवाला तीव्र बंध होता है.

आलस्यदोषमाचष्टे—

विरियंतरायमलसत्तणेण बंधदि चरित्तमोहं च ॥
देहपडिबद्धदाए साधू सपरिग्गहो होइ ॥ १४५४ ॥

वीर्यान्तरायचारित्रमोहावर्जयतेऽलसः ॥
शरीरप्रतिबंधेन जायते सपरिग्रहः ॥ १५१३ ॥

विजयोदया—विरियंतरायं वीर्यांतरायमलसतया बध्नाति चारित्रमोहनीयं च । शरीरासक्त्या साधुः सपरिग्रहो भवति ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—अलसी होनेसे वीर्यांतराय कर्मका बंध होता है. और चारित्र मोहनीय कर्म का भी बंध होता है. शरीरमें आसक्ति होनेसे साधु परिग्रह का त्याग नहीं कर सकता है. वह परिग्रह धारक होता है.

मायादोसा मायाए हुंति सव्वे वि पुव्वणिद्दिट्ठा ॥

धम्मम्मि णिप्पिवासस्स होइ सो दुल्लहो धम्मो ॥ १४५५ ॥

मायादोषाः पुरोद्दिष्टाः समस्ताः सन्ति मायया ॥

धर्मेऽपि निःपिपासस्य धर्मोऽस्य सुलभः कथम् ॥ १५१४ ॥

विजयोदया—मायादोसा मायादोषाः सर्वेऽपि पूर्वनिर्दिष्टाः । मायायां तपसि स्वशक्तिनिगूहनलक्षणायां भवंति किं च धम्मम्मि धर्मे तपोलक्षणे । णिप्पिवासस्स अनादरस्य जन्मांतरे दुर्लभो भवति धर्मः ॥

मूलारा—मायाए तपसि स्वशक्तिनिगूहनेन । णिप्पिवासस्स निरादरस्य । दुल्लहो जन्मांतरदुर्लभं तपः ॥

अर्थ—तपमें अपनी शक्ति छिपाना ही माया है. माया करने से होनेवाले दोषोंका पूर्वमें वर्णन कर चुके हैं जो तप धर्ममें अनादर करता है उसको अन्य जन्ममें धर्म दुर्लभ होता है.

दोषांतरमपि निगदति—

पुव्वुत्ततवगुणाणं चुक्को जं तेण वंचिओ होइ ॥

विरियणिगूही बंधदि मायं विरियंतरायं च ॥ १४५६ ॥

अकुर्वाणस्तपः सर्वैर्वंचितोऽस्ति तपोगुणैः ॥

मायावीर्यान्तरायौ च तीव्रौ बध्नाति कर्मणी ॥ १५१५ ॥

विजयोदया—पुव्वुत्ततवगुणाणं पूर्वोक्तसंवरनिर्जरा वैराग्यमादिभिस्तपःसाध्यैरुपकारैः । चुक्को च्युतः । जं यस्मात् । तेण तेन तपःसाध्योपकारप्रच्युतत्वेन । वंचिदो होदि वंचितो भवति । विरियणिगूही बंधदि मायं संवरणपरो मायाकर्म, वीर्यांतरायं च बध्नाति ॥

और भी दोषोंका वर्णन करते हैं—

अर्थ—पूर्वमें तपश्चरणके संवर और निर्जरा गुणोंका वर्णन किया है. जो तपश्चरण नहीं करता है उसके कर्म का संवर और निर्जरा नहीं होगी. अर्थात् संवर और निर्जरासे वह पुरुष हमेशा वंचित रहेगा. जो अपनी शक्ति छिपाता है उसको मायाकषायका और वीर्यांतराय कर्मका बंध होता है.

तवमकरिंतस्सेदे दोसा अण्णे य होंति संतस्स ॥
होंति य गुणा अणेया सत्तीए तवं करेंतस्स ॥ १४५७ ॥

अकुर्वतस्तपोऽन्येऽपि दोषाः सन्ति तपस्विनः ॥
कुर्वाणस्य पुनः शक्त्या जायन्ते विविधा गुणाः ॥ १५१६ ॥

विजयोदया—तवमकरेंतस्स तपस्यनुद्यतस्येमे दोषा अन्ये च भवन्तीति ज्ञातव्याः । भवंति चानेकगुणाः शक्त्या तपसि यतमानस्य ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—तपश्चरणमें उद्युक्त न होनेवाले पुरुषको ये दोष तो होते ही हैं परंतु अन्य भी दोष उत्पन्न होते हैं. जो व्यक्ति तपश्चरणमें शक्त्यनुसार प्रवृत्त होते हैं उन में अनेक गुणोंकी उत्पत्ति होती है.

तपोगुणप्रख्यापनायोत्तरप्रबंधः—

इह य परत्त य लोए अदिसयपूयाओ लहइ सुतवेण ॥
आवज्जिज्जंति तहा देवा वि सइंदिया तवसा ॥ १४५८ ॥

लोकद्वये पराः पूजाः प्राप्यन्ते कुर्वता तपः ॥
आवर्ज्यन्तेऽखिला देवाः पुरंदरपुरःसरा ॥ १५१७ ॥

विजयोदया—इह जन्मनि परत्र च तपसा सम्यक् कृतेन अतिशयपूजा लभ्यते । आवर्ज्यंते च तपसा देवाः सेन्द्रकाः ॥ १३७३

तपोमाहात्म्यमाह—

मूलारा—पूजादि आदिशब्देन बुध्याद्यतिशयर्द्धिकीर्त्यादि ॥ आवज्जिंति प्रणामं कार्यंते। अन्ये आकंपि इति पठित्वा अक्षोभमुपयातीत्यर्थमाहुः। सइंदिया सेन्द्राः ॥

तपगुणका निरूपण करने के लिए उत्तर प्रबंध—

अर्थ—इह लोकमें और परलोकमें निरतिचार तप करने से आत्मामें अतिशय-ऋद्धि प्राप्त होती है और सर्वत्र महादर भी होता है. तप के माहात्म्यसे इंद्रादिक देव भी नम्र होते हैं.

अप्पो वि तवो बहुगं कल्लाणं फलइ सुप्पओगकदो ॥
जह अप्पं वडवीअं फलइ वडमणेयपारोहं ॥ १४५९ ॥

तपः फलति कल्याणं कृतमल्पमपि स्फुटम् ॥
बहुशाखोपशाखाढ्यं वटबीजं यथा वटम् ॥ १५१८ ॥

विजयोदया—अप्पोवि तओ अल्पमपि तपः महाकल्याणं फलति सुसंयमनिष्पन्नं। सुष्ठु प्रयुज्यते प्रवर्त्यतेऽनेनेति च विग्रहे संयम सुप्रयोगशब्देनोच्यते। यथा अल्पमपि वटबीजं फलति वटमनेकप्ररोहं अल्पमपि पृथुलं फलदायि तपः इत्येतदाख्यातमनया ॥

मूलारा—सुप्पओगकदो यथाशक्ति संयमेनाचरितम्। निदानासंयमरहितमिति वा। फलदि जनयति। अणेयपारोहं अनेकप्ररोहम् ॥

अर्थ—अल्प तपश्चरणसे भी महा कल्याण होता है संयम की भी उत्तम-निर्दोष सिद्धि होती है. जैसे सूक्ष्म वटबीज अनेक शाखाओंसे युक्त महान वटवृक्षको जन्म देता है, वैसे अल्प तप भी विपुल फल-स्वर्गादिक सुखको उत्पन्न करता है.

सुट्ठु कदाण वि सस्सादीणं विग्धा हवंति अदिबहुगा ॥
सुट्ठु कदस्स तवस्स पुण णत्थि कोइ वि जए विग्घो ॥ १४६० ॥

विधिनामस्य सस्यस्य विघ्नाः सन्ति सहस्रशः ॥

तपसो विहितस्यास्ति प्रत्यूहो न मनागपि ॥ १५१९ ॥

विजयोदया—सुट्ठु कदाण वि सम्यक् कृतानामपि सस्यादीनां अतीव विघ्ना भवंति। तपसः पुनः सम्यक् कृतस्य जगति न कश्चिद् विघ्नः फलदाने। निर्विघ्नफलदायित्वं तपसो माहात्म्यं कथितं अनया ॥

मूलारा—सस्सादीणं धनधान्यादिनाम् ॥ स्वफलं ददतो व्याघातः ॥

अर्थ—खेती बहुत परिश्रमसे करने पर भी, उसका फल मिलने तक बहुत विघ्न उत्पन्न होते हैं परंतु निरतिचार तप पालनेपर कोई भी विघ्न उत्पन्न होता नहीं. अर्थात् विघ्नके बिना ही तपश्चरणसे स्वर्गादि फल मिलता है. तप में निर्विघ्न फल देना गुण है ऐसा इस गाथासे सिद्ध होता है.

जणणमरणादिरोगादुरस्स सुतवो वरोसधं होदि ॥

रोगादुरस्स अदिविरियमोसधं सुप्पउत्तं वा ॥ १४६१ ॥

मृत्युजन्मजरार्तस्य तपः सुखविधायकम् ॥

महारोगातुरस्येव भैषज्यं वीर्यसंयुतम् ॥ १५२० ॥

विजयोदया—जणणमरणादिरोगादुरस्स जन्ममरणाद्यापीडितस्य सुतपो वरौषधं भवति। रोगपीडितस्य सुप्रयुक्तमतिवीर्यमौषधमिव। जननमरणादीनां विनाशकत्वं तत्कारणकर्मविनाशादनेनाख्यायते ॥

मूलारा—वरोसधं जननमरणादिरोगकारणकर्मापहारकत्वात् ॥

अर्थ—जन्म, मरण वगैरह रोगोंसे पीडित इस प्राणीसे उत्तम तप उत्कृष्ट औषधके समान हितकर है. जैसे रोगसे पीडित मनुष्यका रोग उत्तम औषधीके सेवनसे नष्ट होता है वैसे तपसे जन्ममरणादि रोगोंका नाश होता है. तपसे जन्ममरणके कारणभूत कर्मका नाश होता है अतः कारणका नाश होनेसे कार्यकाभी नाश होगाही.

संसारमहाडाहेण डज्झमाणस्स होइ सीयघरं ॥

सुतवोदाहेण जहा सीयघरं डज्झमाणस्स ॥ १४६२ ॥

संसारस्याविपक्षेन ग्रीष्मकस्येव भास्वतः ॥
तापेन तप्यमानस्य तपो धारागृहायते ॥ १५२१ ॥

विजयोदया—संसारमहादाहेण संसारमहादाघेन दह्यमानस्य तपो भवति जलगृहं। यथा दह्यमानस्य सूर्यांशुभिर्धारागृहं। संसारिकदुःखनिर्मूलनकारिता तपसोऽनेन सूच्यते॥

मूलारा—सीदधरं धारागृहम्। तीव्रग्रीष्मार्करश्मिकृततापस्येव संसारमहादुःखस्य निर्मूलकत्वात्॥

अर्थ—जैसे सूर्यके प्रचंड किरणोंसे संतप्त मनुष्य का शरीरदाह धारागृहसे नष्ट होता है वैसे संसारके महादाहसे दग्ध होनेवाले भव्योंके लिये तप जलगृहके समान शांति देनेवाला है. तपमें संसारिक दुःख निर्मूलन करना यह गुण है ऐसा यह गाथा कहती है.

णीयल्लओ व सुतवेण होइ लोगस्स सुप्पिओ पुरिसो ॥
मायाव होइ विस्ससणिज्जो सुतवेण लोगस्स ॥ १४६३ ॥

विदधानस्तपो भक्त्या निरालस्यो विधानतः ॥
देशांतरमपि प्राप्तः स बंधुरिव गृह्यते ॥ १५२२ ॥

विजयोदया—णीयल्लओ व बंधुरिव लोकस्य नितरां प्रियो भवति पुरुषः। शोभनेन तपसा सर्वजगत्प्रियतां करोति तप इत्यनेन आख्यातं भवति। मादाव होइ विस्ससणिज्जो मातेव विश्वसनीयो भवति लोकस्य। सर्वजगद्विश्वास्यत्वं तपःसंपाद्यमनेन कथ्यते॥

मूलारा—स्पष्टम्॥

अर्थ—उत्तम तप करनेसे तपस्वी मुनि-पुरुष बंधुके समान सर्व लोगोंको अतिशय प्रिय होता है. उत्तम तपमें सर्व जगत्प्रियता प्राप्त होती है ऐसा इस गाथासे सिद्ध होता है. माताके समान तप करनेवाला सर्व लोगोंको विश्वसनीय होता है. तपका सर्व जगद्विश्वसनीयता गुण इस गाथासे कहा गया है-

---

कल्लाणिड्ढिसुहाइं जावदियाइं हवे सुरणराणं ॥
जं परमणिव्वुदिसुहं व ताणि सुतवेण लब्भंति ॥ १४६४ ॥

मतिवास्ति सुविश्वास्यः पूज्यो गुरुरिवाखिलैः ॥
महानिधिरिव श्राघ्यः सर्वत्रैव तपोधनः ॥ १५२३ ॥
लभ्यंते नरदेवानां सर्वाः कल्याणसंपदः ॥
परमं सिद्धिसौख्यं च कुर्वता निर्मलं तपः १५२४

विजयोदया—कल्लाणिड्ढिसुहाई कल्याणानि स्वर्गावतरणादीनि। ऋद्धयो विभूतयश्चक्रलांछनानां अर्द्धचक्रवर्तिनां सुखानि च यानि देवानां मनुष्याणां च, यच परमनिर्वृतिसुखं तानि शोभनेन तपसा लभ्यंते॥

मूलारा—कल्लाण स्वर्गावतरणादीनि ॥ इड्ढि चक्रवर्त्यादिविभूतयः ॥

अर्थ—स्वर्गसे चयकर माताके गर्भमें आना, मेरु पर्वतपर इंद्रके द्वारा अभिषेक किया जाना इत्यादिक कल्याणिकोंकी प्राप्ति तपसे होती है. अनेक ऋद्धि संपत्ति, सकल चक्रवर्ति और अर्द्धचक्रवर्तिके सुख भी इससे जीवको मिलते हैं. और मनुष्योंके जो सुख हैं वे मिलते हैं- और मुक्तिसुख भी इससे मिलता है.

कामदुहा वरधेणू णरस्स चिंतामणिव्व होइ तओ ॥
तिलओव्व णरस्स तओ माणस्स विहूसणं सुतओ ॥ १४६५ ॥
चिन्तामणिस्तपः पुंसो धेनुः कामदुघा तपः ॥
तिलकोऽस्ति तपो भव्यस्तपो मानविभूषणम् ॥ १५२५ ॥

विजयोदया—कामदुहा कामदुघा वरधेनुः, चिंतामणिश्च तपः यदभिलषितं तस्य दानात्। तिलकाख्यालंकारो नरस्य शोभनं तपः,मानस्य विभूषणं च। तपसा हि सर्वेण जगता मान्यस्य मानः शोभते इति॥

मूलारा—माणस्स विभूसणं। तपसा हि सर्वजगन्मान्येन मानः शोभते ॥

अर्थ—तप इच्छित पदार्थ देता है अतः वह कामधेनु और चिंतामणि रत्नके समान माना गया है. तिलक नामक अलंकार से जैसे मनुष्य सुंदर दीखता है वैसा सुंदर तप मानका अलंकार है. तपसे मनुष्य जगन्मान्य होता है अतः उसका मान शोभने लगता है.

होइ सुतवो य दीओ अण्णाणतमंधयारचारिस्स ॥
सव्वावत्थासु तओ वट्ठदि य पिदा व पुरिसस्स ॥ १४६६ ॥

अज्ञानतिमिरोच्छेदि जायते दीपकस्तपः ॥
पितेव सर्वावस्थासु करोति नृहितं तपः ॥ १५२६ ॥

विजयोदया—होइ सुतओ य दीओ सम्यक्तपः प्रदीपो भवति अज्ञानतमसि महति संचरतः। एतेन जगतोऽज्ञानाख्यं तमो विनाशयति तपः इति सूचितं ॥ सर्वावस्थासु हितं तपो वर्तते पितेव पुंसः ॥

मूलारा—अण्णाणतमा प्रकृष्टमज्ञानं। तद्धि तपसा विनाश्यते तत्कारणकर्मक्षपणात् ॥

अर्थ—अज्ञानरूप अंधकारमें संचार करनेवाले इस जगतको उत्तम तप दीपकके समान है. अर्थात् अज्ञान नामका अंधकार तपसे नष्ट होता है ऐसा सूचित हुआ. संपूर्ण अवस्था में तप पिता के समान हितकर ही है.

विसयमहापंकाउलगड्डाए संकमो तवो होइ ॥
होइ य णावा तरिदुं तवो कसायातिचवलणदिं ॥ १४६७॥

विभीमविषयांभोधेस्तपो निस्तारणे प्लवः
तप उत्तारकं ज्ञेयं विभीमविषयावटात् ॥ १५२७॥

विजयोदया—विसयमहापंकाउलगड्डाए विषयो महापंकाकुलगर्त इव दुस्तरत्वात्। तस्मिन् संक्रमो भवति। तदुत्तरणे हेतुर्भवति तपः। तपो नौरुल्लंघयितुं कषायातिचपलनदीं ॥

मूलारा—गड्डाए गर्ते अवटे। लघुनद्यामित्यन्यः। संकमो सेतुबंधः। अदिचवलणदिं महानदीं।

अर्थ—ये पंचेंद्रियोंके विषय जिममें अतिशय कीचड है ऐसे गड्ढोंके समान हैं. कीचड युक्त गड्ढोंमें फसा हुआ आदमी उसमें से निकलकर बाहर आना अतिशय कठिन कार्य है. वैसे ही ये इंद्रियविषय भी हैं परंतु तपके सामर्थ्यसे इन विषयरूप गड्ढोंसे मनुष्य निकल सकता है. कषायरूपी अतिचपल नदी को उल्लंघनमें तप नौकाके समान है.

फलिहो व दुग्गदीणं अणेयदुक्खावहाण होइ तवो ॥
आमिसतण्हाछेदणसमत्थमुदकं व होइ तवो ॥ १४९८ ॥

इंद्रियार्थमहातृष्णाच्छेदकं सलिलं तपः ॥
दुर्गतीनामगम्यानां निषेधे परिघस्तपः ॥ १५२८ ॥

विजयोदया—फलिहो व दुग्गदीणं दुर्गतीनां परिघ इव। कीदृशां दुर्गतीनां ? अनेकदुःखावहानां । किं च विषयतृष्णाच्छेदनसमर्थं च तपः उदकमिव तृष्णाच्छेदने ॥

मूलारा—फलिहो अर्गला। आमिसतण्हा विषयगृद्धिः । आहारगृद्धिरित्यन्यपक्षे तण्हा पिपासा ॥

अर्थ—अनेक दुःखोंको उत्पन्न करनेवाली दुर्गतिओंको तप अर्गलाके समान है. अर्थात् तप करनेवाले मनुष्यको दुर्गतिका बंध होता नहीं है. पानीसे जैसी प्यास उपशांत होती है वैसी तपसे तृष्णा—लोभ नष्ट होती है.

मणदेहदुक्खवित्तासिदाण सरणं गदी य होइ तवो ॥
होइ य तवो सुतित्थं सव्वासुहदोसमलहरणं ॥ १४६९ ॥

मनःकायासुखव्याघ्रत्रस्तानां शरणं तपः ॥
कल्मषाणामशेषाणां तीर्थं प्रक्षालने तपः ॥ १५२९ ॥

विजयोदया—मणदेहदुक्खवित्तासिदाण मानसानां शारीराणां दुःखानां ये वित्रस्तास्तेषां शरणं गतिश्च तपः। भवति च तपस्तीर्थं सर्वाशुभदोषमलनिरासकारि ॥

मूलारा—वित्तासदाण वित्रस्तानाम् ॥ सरण त्राणं। गदी आश्रयणीयं। सुतित्थं नद्यादिस्नानस्थानम्। असुहदोस पापकर्मास्रवकारिणो रागादयः ॥

अर्थ—मानसिक और शारीरिक दुःखोंसे जो दुःखित हैं उनको तपही रक्षक है और उपाय है. यह तप सर्व अशुभ परिणामरूप मलको दूर करनेमें तीर्थके समान है.

संसारविसमदुग्गे तवो पणट्ठस्स देसओ होदि ॥
होइ तवो पच्छयणं भवकंतारम्मि दिग्घम्मि ॥ १४७० ॥

तपः संसारकांतारे नष्टानां देशकं यतः ॥
दीर्घे भवपथे जन्तोस्तपः संबलकायते ॥ १५३० ॥

विजयोदया—संसारविसमदुग्गे संसारो विषमदुर्ग इव दुरुत्तरणीयत्वात्। तस्मिन्प्रणष्टस्य दिङ्मूढस्य। तवो देसगो होदि तप उपदेष्टा भवति। संसारविषमदुर्गमुत्तारयतीति। होदि तवो पच्छदणं भवति तपः पथ्यदनं भवकांतारम्मि सघाटकं। दिग्घम्मि दीर्घे ॥

मूलारा—विसमदुग्गे दुरुत्तरारण्ये। पणट्ठस्स दिङ्मूढस्य। देसओ मार्गदेशकः। पच्छदणं पथ्यदनं शंबलं। कंतारे दुर्गममार्गे ॥

अर्थ—जैसे महारण्यमें प्रवेश किया हुआ मनुष्य दिङ्मूढ होता है, उससे निकलना कठिन होता है, वैसा यह संसारभी महावन के समान दुरुत्तर है. यह तप उसको उपदेशक है अर्थात् संसारवनसे वह तप प्राणीको निकालता है. यह तप इस दीर्घसंसारवनमें मार्गमें भक्षण करने योग्य कलेवाके समान है.

रक्खा भएसु सुतवो अब्भुदयाणं च आगरो सुतवो ॥
णिस्सेणी होइ तवो अक्खयसोक्खस्स मोक्खस्स ॥ १४७१ ॥

श्रेयसामाकरो ज्ञेयं भयेभ्यो रक्षकं तपः ॥
सोपानमारुरुक्षूणामबाधं सिद्धिमंदिरम् ॥ १५३१ ॥

विजयोदया—रक्खा भएसु सुतवो भयेषु रक्षा सुतपः। अभ्युदयानां चाकरः सुतपः। मोक्षस्य अक्षयसुखस्य निश्रयणी भवति तपः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—यह तप भयमें जीवका रक्षण करता है. यह सुतप अभ्युदय का आकर है अर्थात् स्वर्गादिसुखोंका उत्पत्तिस्थान है. और अक्षय सुख जिसमें है ऐसे मोक्षके लिये यह तप नसेनीके समान है.

तं णत्थि जं ण लब्भइ तवसा सम्मं कएण पुरिसस्स ॥
अग्गीव तणं जलिओ कम्मतणं डहदि य तवग्गी ॥ १४७२ ॥

तन्नास्ति भुवने वस्तु तपसा यन्न लभ्यते ॥
तपसा दह्यते कर्म वह्निनेव तृणोत्करः ॥ १५३२ ॥

विजयोदया—तण्णत्थि तन्नास्ति यन्न लभ्यते तपसा सम्यक्कृतेन । तपोऽग्निः कर्मतृणं दहति तृणमिवाग्निः प्रज्वलितः ॥

मूलारा—पुरिसस्स पुरुषेण । अथवा पुरुषस्य कर्मतृणमिति संबंधः ॥

अर्थ—निर्दोष तपसे जो प्राप्त न होगा ऐसा पदार्थ जगतमें है नहीं. अर्थात् तपसे पुरुषको सर्व उत्तम पदार्थोंकी प्राप्ति होती हैं जैसे प्रज्वलित अग्नि तृणको जलाती है वैसे तपरूप अग्नि कर्मरूप तृणको जलाती है.

सम्मं कदस्स अपरिस्सवस्स ण फलं तवस्स वण्णेदुं ॥
कोई अत्थि समत्थो जस्स वि जिब्भासयसहस्सं ॥ १४७३ ॥

चिंतितं यच्छतो वस्तु सर्वं चिंतामणेरिव ॥
तपसः शक्यते वक्तुं न माहात्म्यं कथंचन ॥ १५३३ ॥

विजयोदया—सम्मं कदस्स सम्यक् कृतस्य निरास्रवस्य तपसः फलं वर्णयितुं न कश्चित्समर्थोऽस्ति जिह्वाशतसहस्रं यद्यप्यस्ति ॥

मूलारा—सम्मं कदस्स निरास्रवस्य । अपरिस्सवस्स अखंडितस्य ॥

अर्थ—उत्तम प्रकारसे किया गया और कर्मास्रव रहित तपका फल वर्णन करनेमें जिसको हजार जिह्वा है ऐसा भी कोई शेषादि देव समर्थ नहीं है.

एवं णादूण तवं महागुणं संजमम्मि ठिच्चाणं ॥
तवसा भावेदव्वा अप्पा णिच्चं पि जुत्तेण ॥ १४७४ ॥

इति विलोक्य तपःफलमुत्तमं विमलवृत्तनिवेशितमानसः ॥
तपसि पूतमतिर्यततं यतिः कुतपसः स फले विगतादरः॥ १५३४ ॥

विजयोदया—एवं णादूण एवं ज्ञात्वा तपो महोपकारि संयमे स्थित्वा तपसा भावयितव्य आत्मा नित्यमपि उपयुक्तेन ॥

उपसंहारमाह—

मूलारा—ठिञाणं स्थित्वा । जुत्तेण उपयुक्तेन ॥

अर्थ—इस प्रकार तप महा उपकारक है ऐसा जानकर संयममें स्थिर होकर हमेशा उपयुक्त तपके द्वारा आत्माका अभ्यास करना चाहिए।

जह गहिदवेयणो वि य अदयाकज्जे णिउज्जदे भिच्चो ॥
तह चेव दमेयव्वो देहो मुणिणा तवगुणेसु ॥ १४७५ ॥

तपःक्रियायामनिशं स्वविग्रहो नियोजनीयो यतिना हितैषिणा ॥
नियोज्यते किं न गृहीतवेतनो मनीषिते कर्मणि न स्वचेटकः ॥ १५३५ ॥

विजयोदया—जह गहिदवेयणो वि य यथा गृहीतवेतनोऽपि न दयाकार्ये नियुज्यते भृतकः। तथैव दमितव्यो देहो मुनिना तपोगुणेषु । उत्तरार्थ ॥

मूलारा—गहिदवेदणो गृहीतं वेतनं कर्ममूल्यं येन । अदयाए निर्दयं । भवगो भृतकः कर्मकरः । दमेदव्वो क्लेश्यः । तवगुणेसु तपोभेदेष्वनशनादिषु । तपस्युद्यमः ॥

अर्थ—जिसको वेतन दिया है ऐसे नोकरको हमेशा कार्यमें नियुक्त करना चाहिए उसके ऊपर दया नहीं करना चाहिए. वैसे यह देह मुनिके द्वारा तपोगुणमें हमेशा लगाना चाहिये.

इच्चेव समणधम्मो कहिदो मे दसविहो सगुणदोसे ॥
एत्थ तुममप्पमत्तो होहि समणणागदसदीओ ॥ १४७६ ॥

गुणैरशेषैः कलिते मनोरमैर्निरस्तदोषे कथिते तपोधनैः ॥
सदात्र धर्मे शिवसौख्यकारणे प्रमादमुक्तैः क्रियतां महादरः ॥ १५३६ ॥

इति तपसःक्रमः ।

विजयोदया—इच्चेव समणधम्मो इत्येवं श्रमणधर्मः दशविधः सगुणदोषः कथितो मया । एत्थ तुममप्पमत्तो होहि अत्र दशविधे धर्मे त्वमप्रमत्तो भव । समागतस्मृतिकः इति गणिना स्वशिक्षापरिसमाप्तिरादर्शिता ॥

अधुना सूरिः स्वशिक्षासमाप्तिमादर्शयन्नुपदिष्टार्थसारणद्रढिमनि सन्यासिनं प्रगुणयति—

मूलारा—इच्चेस इत्येषः । मे मया । दसविधो उत्तमक्षमादीनां । यथास्थानं पूर्वनिरूपणात् । तुमं त्वं । समागदसदीओ समागतदृढस्मृतिकः सम्मुखप्रवलस्मरणः । समण्णागदसदीओ इति पाठे समागतस्मृतिक इत्यर्थमाहुः ॥

अर्थ—इस प्रकार मैंने दस प्रकारके धर्मोंका उसके गुण और दोषोंसहित वर्णन किया. इस दशविध धर्ममें हे क्षपक ! तू हमेशा प्रमादरहित प्रवृत्ति कर. जिसको स्मृति है ऐसे क्षपकको इस प्रकार उपदेश देकर उपदेशकी आचार्यने समाप्ति की है.

तो खवगवयणकमलं गणिरविणो तेहिं वयणरस्सीहिं ॥
चित्तप्पसायविमलं पफुल्लिदं पीदिमयरंदं ॥ १४७७ ॥

क्षपकाननराजीवं ततो भाति विकासितम् ॥
हतमोहतमस्कांडैः सूरिवाक्यमरीचिभिः ॥ १५३७ ॥

विजयोदया—तो खवगवयणकमलं ततः शिक्षानंतरं तस्य क्षपकस्य वदनकमलं प्रफुल्लितं सूरिधर्मरश्मेस्तैर्वचनरश्मिभिः चित्तप्रसादविमलं प्रीतिमकरंदं ॥

अथ द्वादशगाथाभिश्चूलिकामाचष्टे तत्रादौ निर्यापकाचार्यसदुपदेशसंपादितं क्षपकस्य सभायाश्च धर्मरसास्वादनातिशयं गाथाद्वयेन व्यक्तानुभावेन ग्रंथकृत्कथयति—

मूलारा—तो शिक्षानंतरं । तेहिं श्रुतायधारितैः । रस्सीहिं रश्मिभिः । विमलं विवर्णरहितं । पफुल्लिदं विकसितं ॥

अर्थ—आचार्यरूप सूर्यके उपदेशरूप किरणोंसे क्षपकका मुखकमल प्रफुल्लित होता है. चित्त प्रसन्नतासे निर्मल होकर उसमेंसे प्रीतिरूपी मकरंद बहने लगता है.

वयणकमलेहिं गणिअभिमुहेहिं सावत्थिदत्थिपत्तेहिं ॥
सोभदि ससभा सूरोदयम्मि फुल्लं व णलिणिवणं ॥ १४७८ ॥

सूरेर्भाति प्रभावेण तत्सदो मुखपंकजैः ॥
सरोवरमिवाकीर्णं पद्मैर्विकसितै रवेः ॥ १५३८ ॥

विजयोदया—वयणकमलेहिं वदनकमलैः यतीनां गणिनोऽभिमुखे विस्तृताक्षिपत्रैः सा सभा शोभां वहति स्म । सूर्योदये पुष्पितनलिनवनमिव ॥

मूलारा—सोभदि शोभते स्म । सोहदि य इति पाठे तत्कालापेक्षया वर्तमानता । उक्तं च—

गुरु येन मुखांभोजैर्विस्तृताक्षिदलैःसभा ॥
शोभते स्मोदये भानोः फुल्ल पद्मवनं यथा ॥

अर्थ—आचार्यके समक्षमें जिनके नेत्रकी पापनी विस्मित हुई हैं ऐसे यतिओंके मुखकमलोंसे वह मुनि सभा सूर्योदयमें प्रफुल्लित कमलवनके समान शोभा धारण करती है.

गणिउवएसामयपाणएण पल्हादिदम्मि चित्तम्मि ॥
जाओ य णिव्वुदो सो पादूणय पाणयं तिसिओ ॥ १४७९ ॥

माप्योपदेशपीयूषं क्षपकोऽजानि निर्वृतः ॥
समस्तश्रमविध्वंसि तृषार्त इव पानकम् ॥ १५३९ ॥

विजयोदया—गणिउवएसामयपाणएण गणिनः उपदेशामृतपानकेन प्रल्हादिते चित्ते जातोसौ सुष्ठु निर्वृतः तृषितः पानकं पीत्वेव ॥ १२८४

गुरूपदेशकृतां क्षपकस्य निर्वृतिं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूलारा—अमयपाणएण अमृतपानकेन ॥

अर्थ-जैसे पानकका प्राशन कर प्यासा हुआ मनुष्य आनंदित होता है वैसे निर्यापकाचार्यके उपदेशामृत पानकको पीकर अंतःकरण प्रसन्न होनेसे यह क्षपक खूब संतुष्ट होगया.

तो सो खवओ तं अणुसट्ठिं सोऊण जादसंवेगो ॥
उट्ठित्ता आयरियं वंदइ विणएण पणदंगो ॥ १४८० ॥

ततोऽसौ शासनं श्रव्यं श्रुत्वा संविग्नमानसः ॥
उत्थाय वंदते सूरिं स नम्रीकृतविग्रहः ॥ १५४० ॥

विजयोदया—तो सो खवओ ततोऽसौ क्षपकः तदनुशासनं श्रुत्वा जातसंवेग उत्थाय आचार्यं वंदते विनयेन प्रणताङ्गः ॥

तदनुशिष्टिश्रवणोत्पन्नधर्मतत्फलदर्शनानुरागेण क्षपकेण विधेयां निर्यापकाचार्यसपर्याचर्यां दर्शयति—

मूलारा—तं तां

अर्थ-आचार्यका उपदेश सुनकर जिसको धर्ममें अतिशय श्रद्धा हुई है ऐसा वह क्षपक नम्र होकर, ऊठकर आचार्यके चरणोंको विनयसे वंदन करता है.

भंते सम्मं णाणं सिरसा य पडिच्छिदं मए एदं ॥
जं जह उत्तं तं तह काहेत्ति य सो तदो भणइ ॥ १४८१ ॥

तवेमां देशनां कृत्वा शेषामिव शिरस्यहम् ॥
यथोक्तमाचरिष्यामि पराजितपरीषहः ॥ १५४१ ॥

विजयोदया—भंते सम्मं णाण भगवन् सम्यग्ज्ञाने एतच्छिरसा मया परिगृहीतं । यद्यथोक्तं भवद्भिस्तथा करिष्यामि इति वदति ॥

वंदनानंतरकरणीयं क्षपकस्य गुरोरग्रे शासनस्वीकारपुरःसरं तदर्थानुष्ठानप्रतिज्ञाकममाह—

मूलारा—भंते भगवन् ! । अणं आज्ञां । एदं इयं । काहेत्ति करिष्यामीति ॥

अर्थ—हे भगवन्! आपने जो सम्यग्ज्ञानका उपदेश मेरेको दिया है,उसे मैं मस्तक नम्र कर ग्रहण करता हूं. आपने जो जैसा कहा है वैसी ही मैं प्रवृत्ति करूंगा.

अप्पा णिच्छरदि जहा परमा तुट्ठी य हवदि जह तुज्झ ॥
जह तुज्झ य संघस्स य सफलो हु परिस्समो होइ ॥ १४८२ ॥

यथा मे निस्तरत्यात्मा तुष्टिरस्ति यथा तव ॥
संघस्य सर्वस्य यथा तवास्ति सफलः श्रमः ॥ १५४२ ॥

विजयोदया—अप्पा णिच्छरदि जहा अहं यथा निस्तीर्णो भवामि संसारात्। यथा युष्माकं परमा तुष्टिर्भवति। भवतां संघस्य चास्मदनुग्रहे प्रवृत्तानां श्रमस्य फलं भवति ॥

मूलारा—अप्पा णिथरदि अयं संसारार्णवान्निस्तीर्णो भवामीत्यर्थः। तुब्भं युष्माकम् ॥

अर्थ—इस संसारसे मैं जिससे उत्तीर्ण होउंगा, जिससे आपको संतोष उत्पन्न होगा, मेरे उपर अनुग्रह करने में उद्युक्त हुए आपका और संघका परिश्रम जिससे सफल होगा ऐसे उपायका मैं अवलम्ब करूंगा.

जह अप्पणो गणस्स य संघस्स य विस्सुदा हवदि कित्ती ॥
संघस्स पसायेण य तहहं आराहइस्सामि ॥ १४८३ ॥

यथात्मनो गणस्यापि कीर्तिरस्ति प्रथीयसी ॥
अहमाराधयिष्यामि तथा संघप्रसादतः ॥ १५४३ ॥

विजयोदया—जह अप्पणो गणस्स यथा मम गणस्य संघस्य च कीर्तिर्विश्रुता भवति तथाहमाराधयिष्यामि संघस्य प्रसादेन ॥

मूलारा— अप्पणो ममेत्यर्थः ॥

अर्थ—मेरी गणकी, और संघकी जिस उपायसे कीर्ति प्रसिद्ध होगी, गणकी कृपासे मैं उस उपायका आश्रय कर रत्नत्रयाराधन करूंगा.

धीरपुरिसेहिं जं आयरियं जं च ण तरंति कापुरिसा ॥
मणसा वि विचिंतेदुं तमहं आराहणं काहं ॥ १४८४ ॥

याराधिता महाधीरैरधीरैर्मनसापि नो ॥
अस्ताघां साधयिष्यामि देवीमाराधनामहम् ॥ १५४४ ॥

विजयोदया—धीरपुरिसेहिं धीरैः पुरुषैर्या आचरिता, यां च शक्नुवन्ति कापुरुषा मनसापि न चिंतयितुं तादृशीमाराधनामहं करिष्यामि ॥

मूलारा—ण तरन्ति न शक्नुवंति । काहं करिष्यामि ॥

अर्थ—जिसका वीरपुरुषोंनेही आचरण किया है, धैर्यहीन पुरुष जिसको धारण करनेमें बिलकुल असमर्थ हैं ऐसी आराधानाका हे प्रभो ! मैं पालन करूंगा.

एवं तुज्झं उवएसामिदमासादइत्तु को णाम ॥
बीहेज्ज छुहादीणं मरणस्स वि कायरो वि णरो ॥ १४८५ ॥

तवोपदेशपीयूषं पीत्वा को नाम पावनम् ॥
बिभेतीह क्षुदादिभ्यः कातरोऽपि नरः प्रभो १५४५ ॥

विजयोदया—एवं तुज्झं एवं भवतामुपदेशामृतमास्वाद्य को नाम बिभेति कातरोऽपि नरः क्षुधादीनां मृत्योर्वा ॥

मूलारा—असादइत्तु आस्वाद्य । अत्र महाघोरपरीषहेभ्यो मरणाद्वा न भीतिः करिष्यत इति प्रतिज्ञा गम्यते ॥

अर्थ—उपर्युक्त आपके उपदेशामृतका आस्वाद लेकर कोनसा भययुक्त पुरुषभी क्षुधादिकसे और मरणसे डरेगा ? अर्थात् भययुक्त पुरुष भी आपका उपदेश सुनकर निर्भय होता है और मृत्युसे भी निडर होकर आराधनाओंका आराधन करता है

किं जंपिएण बहुणा देवा वि सइंदिया महं विग्घं ॥
तुम्हं पादोवग्गहगुणेण कादुं ण तरिहंति ॥ १४८६ ॥

पलालैरिव निःसारैर्बहुभिर्भाषितैः किम् ॥
मत्युद्दकरणे शक्तो न मे शक्रोऽपि निश्चितम् ॥ १५४६ ॥

विजयोदया—किं जंपिएण बहुणा किं बहुना जल्पितेन देवा अपि शतमखप्रमुखा मम विघ्नं कर्तुं असमर्थाः भवत्पादोपग्रहणगुणेन ॥

आराधनानिर्वहणासौष्ठवं कथ्यमानमिष्ठते—

मूलारा—सइंदिया शक्रमुख्यमुखाः । पादोवग्गहणेण पादप्रसादानुग्रहेण । ण तरिहंति न समर्था भविष्यंति ॥

अर्थ—अधिक बोलनेसे क्या मतलब है? इंद्रसहित देवभी आपके चरणानुग्रह होनेपर विघ्न करनेमें असमर्थ होते हैं.

किं पुण छुहा व तण्हा परिस्समो वादियादि रोगो वा ॥
काहिंति ज्झाणविग्घं इंदियविसया कसाया वा ॥ १४८७ ॥

ध्यानविघ्नं करिष्यंति किं क्षुदादिपरीषहाः ॥
कषायाक्षद्विषो वा मे त्वत्प्रसादमुपेयुषः ॥ १५४७ ॥

विजयोदया—किं पुण किं पुनः कुर्वन्ति ध्यानस्य विघ्नं क्षुधा वा, तृषा वा, परिश्रमो वा, वातिकादिरोगो वा, इंद्रियाणां विषयाः, कषाया वा ॥

मूलारा— वादियादि वातिकपैत्तिकश्लेष्मकादि । काहिंति मनागपि न करिष्यंति इत्यर्थः ॥

अर्थ—क्षुधा, प्यास, परिश्रम, वातादिकसे होनेवाले रोग, इंद्रियोंके विषय और कषाय ये सब मेरे ध्यानमें विघ्न कैसे कर सकेंगे. इंद्रादिक देव भी मेरी आराधनामें बाधा लानेमें असमर्थ हैं फिर ये क्षुद्र उपद्रव मेरा क्या नुकसान कर सकते हैं?

ठाणा चलेज्ज मेरू भूमी ओमच्छिया भविस्सिहिदि ॥
ण य हं गच्छमि विगदिं तज्झं पायप्पसाएण ॥ १४८८ ॥

स्थानतश्चलतात् नाकपर्वतः पृथ्व्यां वसुमति भपतत ॥
त्वत्प्रसादमुपगम्य न प्रभो! जातु यामि विकृतिं मनागपि ॥ १५४८ ॥
मनसा वपुषा वचसा भगवन्ननुशासनमेतदनन्यमतिः ॥
तव यो विदधाति सदा विधिना शिवतातिमुपैति स मुक्तमलः ॥१५४९॥

इति अनुशिष्टिः ॥

विजयोदया—ठाणा चलिज्ज स्वस्मात्स्थानाच्चलिष्यति मेरुः । भूमिः पराबृतमस्तिका भविष्यति । नाहं विकृतिं गमिष्यामि भवतां पादप्रसादेन ॥

मूलारा—चलेज्ज चलिष्यति । ओमच्छिया अधोमस्तका । गच्छं गमिष्यामि । विगर्दि विकृतिं विराधनामित्यर्थः ॥ चूलिका १२ क्षपकानुशिष्टिः ॥ सूत्रतः ३३ ।

अर्थ—स्थानसे पर्वतभी हिल जायेगा, अथवा समस्त पृथ्वी भी औंधी हो जायगी, तो भी मैं आपके चरणानुग्रहसे विकारी नहीं होऊंगा.

इत्थं गणेन्द्रमुखचंद्रभवं समिच्छ-
दाशाधरेष्टमनुशिष्टयमृतं प्रवर्ज्य ॥
श्रद्धाप्रियामनुसमरवयने किलांतो ॥
हृष्यन्त्वलं क्षपकपुंगवपुंश्चकोराः ॥

इत्याशाधरानुस्मृतग्रंथसंदर्भे मूलाराधनादर्पणे पदप्रमेयार्थप्रकाशीकरणप्रवणे षष्ठ आश्वासः ॥

सप्तम आश्वासः ।

पंकोद्रेककृतेष्वघेषु गुरुणा नीत्वा स्मृतिं वर्भितः ।
सम्यक्त्वसाम्यमधिष्ठितः पुरु पिजन्सद्ध्यानशर्मामृतम् ॥
लेश्याशुद्धिमितश्चतुर्विधमहासंघाभिकांक्ष्यं पदं ।
यः प्राप्नोति महान्तमर्हति महं देहोऽपि तस्याघहृत् ॥ १ ॥

अथ यथोपदिष्टं स्वसत्वनिगूहनेन संस्तरस्थस्य साधोरनुतिष्ठतः प्राक्तनदुर्दैवविपाकवशादुपस्थिते कचित्समाधिविघ्ननिबंधने निर्यापकाचार्येणावश्यकरणीयं सारणाक्रमं कथयितुं गाथाविंशत्योपक्रमते तत्रादौ प्रागुक्तमेवार्थमनुस्मरयितुं ज्ञाप्यपति—

एवं खवओ संथारगओ खवइ विरियं अगूहंतो ॥
देदि गणी वि सदा से तह अणुसट्ठिं अपरिदंतो ॥ १४८९ ॥

निर्जरां कुरुते गुर्वीं कुर्वाणः क्षपकस्तपः ॥
दत्ते निर्यापकः शिक्षामनिर्विण्णः प्रियंवदः ॥ १५५० ॥

क्षमातमनुशासनम् ॥

मूलारा—एवं यथोक्तदशलक्षणश्रमणधर्माचरणक्रमेण। खवदि क्षपयति च बहुतरमेकदेशेनाशुभं कर्म प्रागुपार्जितं अभिनवं निरुंधानः। तथा पूर्वोक्तेनैव विधिना। अपरिदंतो अनिर्विण्णः। उक्तं च—

निर्जरां कुरुते गुर्वीं कुर्वाणः क्षपकस्तपः ॥
दत्ते निर्यापकः शिक्षामनिर्विण्णः प्रियंवदः ॥

एतां श्रीविजयो नेच्छति—

अर्थ—इस प्रकार दश प्रकारके धर्मका आचरण करनेमें क्षपक पूर्वबद्ध कर्मका एक देश अथवा बहुभाग का क्षपण-क्षय करता है. और निर्यापकाचार्यभी न थककर उसे सदा उपदेश देते रहते हैं.

सारणेऽयतत्सूत्रपदव्याख्यानमुत्तरम् ॥

अकडुगमतित्तयमणं विलंब अकसायमलवणं मधुरं ॥
अविरस मदुब्विगंधं अच्छमणुण्हं अणदिसीदं ॥ १४९० ॥

कटुतिक्तकषायाम्ललवणस्वादुभीरसैः ॥
पानकं मध्यमैर्युक्तं तस्मै क्षीणाय दीयते ॥ १५५१ ॥

विजयोदया—अकडुगं अकटुकं, अतिक्तं, अनाम्लं, अकषायं, अलवणं, अमधुरं, अविरसं, अदुरभिगंधं,

स्वच्छमनुष्णशीतं ॥

गलालग्रबोग्यं पानकं गाथाद्वयेनानुसमाग्यति--

मूलारा—अकडुगं अनेकार्थे नञ्। तेन कटुतिक्ताम्लकषायलवणमधुरोष्णगुणानामौत्कट्यमेव निषेध्यमनति शीतमिति निर्देशन ज्ञापितत्वात्। अविरसं अविगतरसं। मध्यमकटुकादिरसयुक्त इत्यर्थः। अदुब्भिगंधं सुगंधि। उक्तं च--

कटुतिक्तकषायाम्ललवणस्वादुभी रसैः ॥
पानकं मध्यमैर्युक्तं तस्मै क्षीणाय दीयते ॥

अर्थ—जो आहार कडुक, तिक्त, आम्ल, कसायला नमकीन, मधुर, विरस, दुर्गंध, अस्वच्छ, उष्ण और शीत नहीं है ऐसा आहार क्षपकको देना चाहिये. अर्थात् मध्यम रसोंका आहार देना चाहिए.

पाणगमसिंभलं परिपूयं खीणरस तस्स दादव्वं ॥
जह वा पच्छं खवयस्स तस्स तह होइ दायव्वं ॥ १४९१ ॥

विजयोदया—पाणगमसिंभलं पानकमश्लेष्मकारि परिपूतं क्षीणाय क्षपकाय दातव्यं। यथाभूतं वा क्षपकस्य तस्य पथ्यं तथा भूतं दातव्यम् ॥

मूलारा—असिंभलं यत्कफं न करोति। परिपूदं गालितं। पच्छं समाध्यविरोधि ॥

अर्थ—जो पेय पदार्थ क्षीण क्षपकको दिया जाता है वह कफको उत्पन्न करनेवाला न होना चाहिये. और वह स्वच्छ पवित्र होना चाहिये. क्षपकको जो देनेमें पथ्य–हितकर होगा ऐसा ही पानक देने योग्य है.

संथारत्थो खवओ जइया खीणो हवेज्ज तो तइया ॥
वोसरिदव्वो पुव्वविधिणेव सोपाणगाहारो ॥ १४९२ ॥

यदासौ नितरां क्षीणस्तदापि त्याज्यते तदा ॥
पटीयांसो न कुर्वन्ति निरर्थकं नियोजनम् ॥ १५५२ ॥

विजयोदया—संथारत्थो संस्तरस्थः क्षपको यदा क्षीणो भवेत्तदा व्युत्सृष्टव्योऽपानकविकल्पः पूर्वविधिनैव ॥

अतीक्ष्णस्य यथोक्तपानकत्यजनविधिमनुस्मरयति —

मूलारा—अतिक्षीण इत्यर्थः । तो तथाविधपानकदानात् । वोसरिदव्वो त्याजयितव्यः । पुव्वविधिणेव हानिसूत्रोक्तक्रमेणैव ॥

अर्थ—संस्तरपर सोया हुआ क्षपक जब क्षीण होगा तब पानकके विकल्पका भी ' हानि ' नामक सूत्रके अनुसार त्याग करना चाहिये

एवं संथारगदस्स तस्स कम्मोदएण खवयस्स ॥
अंगे कच्छइ उड्डिज्ज वेयणा ज्झाणविग्घयरी ॥ १४९३ ॥

इत्थं शुश्रूषमाणस्य संस्तरस्थस्य वेदना ॥
पूर्वकर्मानुभावेन काय कायस्य जायते ॥ १५५३ ॥

विजयोदया—एवं संथारगदस्स एवं संस्तरगतस्य क्षपकस्य कर्मोदयेन क्वचिदुद्वेदनोपजायते ध्यानविघ्नकारिणी ।

इत्थं शुश्रूषमाणस्यापि दुष्कर्मोदयवशात्कस्यचिदङ्गे वेदनोत्पद्यते इत्याह—

मूलारा—कत्थइ कचिरुदरादौ । वेयणा शूलादिपीडा ॥

अर्थ—संस्तरपर आरूढ हुए क्षपकके शरीरमें कर्मके उदयसे ध्यानमे विघ्न उत्पन्न करनेवाली वेदना उत्पन्न होती है अर्थात् पेट वगैरह शरीरके किसी अवयवमें शूलादि पीडा कर्मोदयसे उत्पन्न होती है.

बहुगुणसहस्सभरिया जदि णावा जम्मसायरे भीमे ॥
भिज्जदि हु रयणभरिया णावा व समुद्दमज्झम्मि ॥ १४९४ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपोरत्न भृतस्ततः ॥
संसारसागरे घोरे यतिपोतो निमज्जति ॥ १५५४ ॥

विजयोदया—बहुगुणसद्दरसभरिदा बहुभिर्गुणसहस्रैर्भरिता संपूर्णा यतिनौर्जन्मसागरे भीमे यदि भेदमुपेयात् रत्नत्रयपूर्णा नौरिव समुद्रमध्ये ॥

तद्वेदनोदयात्सद्ध्यानविनाशेन दुर्ध्यानावेशात्साधुर्विराध्य रत्नत्रयं मृतो घोरे संसारसागरे निमज्जतीति दर्शयति—

मूलारा—उदिणावा यतिनौः । पोत इव यत्नतः प्रणेयत्वादाश्रितानां तारकत्वाच्च । भिज्जदि दैववशाद्विघटते । यतिभावं नौभावं मुंचतीत्यर्थः ॥

अर्थ—यह यतिरूप नौका हजारो गुणोंसे भरी हुई है कदाचित् भयंकर संसारसमुद्रमें डूब जायगी. तात्पर्य व्रत, शील, समिति गुप्ति, रत्नत्रय इत्यादि गुणोंसे भरी हुई क्षपकरूपी नौका रोगवेदनासे डूबनेका प्रसंग आनेपर उसे बचाना चाहिये

गुणभरिदं जदि णावं दट्ठूण भवोदधिम्मि भिज्जंतं ॥
कुणमाणो हु उवेक्खं को अण्णो हुज्ज णिद्धम्मो ॥ १४९५ ॥

निमज्जंतं भवाम्भोधौ यो दृष्ट्वा तमुपेक्षते ॥
अधार्मिको निराचारो नापरो विद्यते ततः ॥ १५५५ ॥

विजयोदया—गुणभरिदं जदि णाव गुणैः पूर्णां यतिनावं भवसमुद्रमध्ये भिद्यमानां दृष्ट्वा यः करोत्युपेक्षां तस्मात्कोऽन्यो भवेदधर्मनि रतः ॥

आराधकस्य समाधिविघ्नकारणमप्रतिकुर्वाणं प्रणिंदति—

मूलारा—कुणमाणादो कुर्वाणात् । उवेक्खं दुर्दैवोदयजन्यमानशूलादिपीडाप्रतीकाराभावं ॥

अर्थ—गुणोंसे परिपूर्ण यतिनौका यदि भवसमुद्रमें फूटती हुई देखकर जो उसकी उपेक्षा करता है उससे जगतमें अन्य अधार्मिक कौन होगा ?

वेज्जावच्चस्स गुणा जे पुव्वं विच्छरेण अक्खादा ॥
तेसिं फिडिओ सो होइ जो उवेक्खेज्ज तं खवयं ॥ १४९६ ॥

वैयावृत्यगुणाः पूर्वं कथिता ये प्रपंचतः ॥
तैरुपेक्षापरो नीचस्त्यज्यते निखिलैरपि ॥ १५५६ ॥

विजयोदया—वेज्जावच्चस्स गुणा वैयावृत्यस्य गुणा ये पूर्वं विस्तरेण व्याख्यातास्तेभ्यः प्रच्युतो भवति य उपेक्षते क्षपकं ॥

आराधकबाधाप्रतिकुर्वतः स्वार्थभ्रंशोऽपि स्यादित्याह—

मूलारा—पुव्वं गुणानुशिष्वे गुणपरिणामो इत्यादिना । तेसिं फिडिदो तेभ्यश्च्युतः ॥

अर्थ—वैयावृत्यके गुणोंका विस्तारसे पूर्वमें वर्णन किया है. जो क्षपककी उपेक्षा करता है वह उन गुणोंसे भ्रष्ट होता है. अर्थात् क्षपककी उपेक्षा करनेसे क्षपक संसारसमुद्रमें डूबेगा और उपेक्षकके भी गुण नष्ट होंगे उसके वात्सल्यादि गुणोंका नाश होगा

तो तस्स तिगिंछा जाणएण खवयस्स सव्वसत्तीए ॥
विज्जादेसेण वसे पडिकम्मं होइ कायव्वं ॥ १४९७ ॥

वैयावृत्यं ततः कार्यं चिकित्सां जानता स्वयम् ॥
वैद्योपदेशतश्चास्य शक्तितो भक्तितः सदा ॥ १५५७ ॥

विजयोदया—तो तस्स ततस्तस्य क्षपकस्य चिकित्सां जानता सर्वशक्त्या प्रतिकर्म कर्तव्यं वैद्यस्य चोपदेशेन ॥

एवं क्षपकोपेक्षणे क्षतिप्रदर्शनाद्वैयावृत्ते निर्यापकाचार्यं नियुंक्ते—

मूलारा—तो प्रणिधानस्वार्थभ्रंशाद्धेतोः । तस्स तिगिंछाजाणएण तस्य संबंधिनीं चिकित्सां स्वयं वैद्योपदेशेन वा जानता निर्यापकाचार्येण सपडिकम्मं तस्य प्रतीकारः कार्यं इति संबंधः ॥

अर्थ—क्षपकके रोगका निदान जाननेवाले यतीने वैद्यके उपदेशानुसार अपनी सर्व शक्तीसे उसके रोगका परिहार करना चाहिये.

णाऊण विकारं वेदणाए तिस्से करेज्ज पडियारं ॥
फासुगदव्वेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडिघादं ॥ १४९८ ॥

विज्ञाय विकृतिं तस्य वेदनायाः प्रतिक्रिया ॥
औषधैः पानकैः कार्या वातपित्तकफापहैः ॥ १५५८ ॥

विजयोदया—णादूण विकारं ज्ञात्वा विकारं तस्या वेदनायाः ततः प्रतिकारं कुर्यात् । योग्यैर्द्रव्यैर्वातकफपित्तप्रतिघातं ॥

मूलारा—विचार दोषवैषम्यं । तिस्से तस्याः । पडिघादं शान्तिम् ॥

अर्थ—वातादिकसे उत्पन्न हुए विकार को जानकर योग्य पदार्थोंसे वेदनाका प्रतिकार करना चाहिये. जिससे वातादिक विकार नष्ट होंगे.

वच्छीहिं अवद्दवणतावणेहिं आलेवसीदकिरियाहिं ॥
अब्भंगणपरिमद्दण आदीहिं तिगिंछदे खवयं ॥ १४९९ ॥
अभ्यंगस्वेदनालेपवस्तिकर्मांगमर्दनैः ॥
परिचर्यापरेणापि कृत्यास्य परिकर्मणा ॥ १५५९ ॥

विजयोदया—वच्छीहिं वस्तिकर्मभिः, अवद्दवणतावणेहिं ऊष्मकरणतापनैः, आलेपनेन, शीतक्रियया, अभ्यंगपरिमर्दनादिभिश्च चिकित्सते क्षपक ॥

मूलारा—वच्छीहिं वस्तिकर्मभिः । वत्तीहिं इति पाठे वर्तिभिरित्यर्थः । अवद्दवण उपनाहैः । तावणेहिं स्वेदनैः सीदकिरियाहिं प्रासुकजलसेवनादिभिः । परिमद्दण अंगमर्दनैः । तिगिंच्छदे अपगतवेदनं करोति ॥

अर्थ—वस्तिकर्म (इनिमा करना) अग्निसे सेकना, शरीरमें उष्णता उत्पन्न करना, औषधीका लेप करना, शीतपना उत्पन्न करना, सर्व अंगका मर्दन करना, इत्यादिके द्वारा क्षपककी वेदनाका उपशम करना चाहिये.

एवं पि कीरमाणो परियम्मे वेदणा उवसमो सो ॥
खवयस्स पावकम्मोदएण तिव्वो ण हु ण होज्ज ॥ १५०० ॥
कस्यचित्क्रियमाणेऽपि बहुधा परिकर्मणि ॥
पापकर्मोदये तीव्रे न प्रशाम्यति वेदना ॥ १५६० ॥

विजयोदया—एवं पि कीरमाणे प्रतीकारे क्षपकस्य वेदनोपशमः तीव्रेण पापकर्मोदयेन नापि भवेदपि, नहि बहिर्द्रव्यमाहात्म्येनैव कर्माणि स्वफलं न प्रयच्छन्ति । तदेव हि बहिर्द्रव्यं एकस्य वेदनां प्रशमयति नापरस्येति प्रतीतमेतद् ॥

अभिमुखपापविपाके प्रतीकारवैयर्थ्यमाह—

मूलारा—तिव्वेण घोरेण । उक्तं च—

कस्यचित्क्रियमाणेऽपि बहुधा परिकर्मणि ॥
पापकर्मोदये तीव्रे न प्रशाम्यति वेदना ॥

अन्ये पावकम्मोदयेण तिव्वा य सा होज्ज इति पठित्वा पापकर्मोदये सति वेदनोपशमो न भवेत्, तीव्रा वा वेदना भवेदिति प्रतिपन्नाः ॥

अर्थ—इस प्रकार इलाज करनेपरभी, तीव्र कर्मका उदय होनेसे बाह्य उपचारोंसे वेदनाका उपशम होता नहीं. बाह्य द्रव्योंसे किसी की वेदनाका उपशम होता है और किसीकी नहीं भी अतः कर्मोदयकी विचित्रता सिद्ध होती है.

अहवा तण्हादिपरीसहेहिं खवओ हविज्ज अभिभूदो ॥
उवसग्गेहिंव खवओ अचेदणो होज्ज अभिभूदो ॥ १५०१ ॥

क्षपको जायते तीव्रैरुपसर्गपरीषहैः ॥
अभिभूतः परायत्तो विह्वलीभूतचेतनः ॥ १५६१ ॥

विजयोदया—अहवा तण्हादिपरीसहेहिं अथवा तृडादिभिः परीषहैरभिभूतो भवेत्क्षपकः, उपसर्गैर्वाभिभूतो निश्चेतनः स्यात् ॥

निमित्तान्तरमपि समाधिविघ्नस्याभिधत्ते—

मूलारा—अचेदणो विभ्रान्तो मूढो वा ॥

अर्थ—अथवा भूक, प्यास इत्यादि परिषहोंसे पीडित होकर क्षपक निश्चेतन होगा अर्थात् मूर्च्छित होगा अथवा भ्रान्त होगा. तथा उपसर्गसे भी पीडित होनेपर मूर्च्छित होता है.

तो वेदणावसट्टो वाउलिदो वा परीसहादीहिं ॥
खवओ अणप्पवसिओ सो विप्पलवेज्ज जं किं पि ॥ १५०२ ॥

व्याकुलो वेदनाग्रस्तः परीषहकरालितः ॥
प्रलपत्यनिबद्धानि वाक्यानि स विचेतनः ॥ १५६२ ॥

विजयोदया—ततो वेदनावशार्तो व्याकुलितः परीषहोपसर्गैः क्षपकोऽनात्मवशो विप्रलपेद्यदि किंचित् ॥

विभ्रान्तत्वे विकारानाह—

मूलारा—तो विभ्रान्ताचेतनत्वात्पश्चात्। वेदणावसट्टो वेदनावशेनातुरः सन्। वाउलिदो व्याकुलीकृतः। विप्पलवेज्ज विविधं अनर्थकं जल्पेत् जं किंचि अनिबद्धं ॥

अर्थ—वेदनाकी असह्यतासे दुःखी होकर, परीषह और उपसर्गसे व्याकुल होकर क्षपक आपेमें नहीं रहेगा अर्थात् उसके चित्तकी एकाग्रता भंग होगी जिससे वह पूर्वापर संबंध विरहित बडबड करेगा.

उब्भासेज्ज व गुणसेढीदो उदरणबुद्धिओ खवओ ॥
छट्टं दोच्चं पढमं वसिया कुंटिलिदपदमिछंतो ॥ १५०३ ॥

अयोग्यमशनं पानं रात्रिभुक्तिं स कांक्षति ॥
चारित्रत्यजनाकांक्षी जायते वेदनाकुलः ॥ १५६३ ॥

विजयोदया—उब्भासेज्ज वदेदयोग्यं, संयमगुणश्रेणितः कृतावतरणबुद्धिः, छट्टं रात्रिभोजनं, दोच्चं पाणं, दिवसे पढमं च अशनं वा। सिया कदाचित्। कुंटिलिदपदमिच्छंतो स्खलनपदं इच्छन् ॥

मूलारा—उभासेज्ज अयोग्यं वदेत्। गुणसेढीदो संयमगुणारोहणात्। उदरणबुद्धीओ अवतरणे कृतमतिः। छट्टं रात्रिभोजनं। दोच्चं पानं। पढमं भोजनं। सिया कदाचित्। अकाले भोजनं पानं वेत्यर्थः। कुंटिलिदपदं स्खलनपदं। हीनस्थानमित्यन्यः ॥ उक्तं च—

वदेद्धानुचितं साधुः संयमत्यजनोन्मुखः ॥
अकाले भोजनं पानं वा वांछन्स्खलितं पदम् ॥

अर्थ—अयोग्य भाषण बोलेगा, संयमगुणसे उतरनेकी बुद्धि करेगा, अर्थात् संयम छोडनेका विचार उसके मनमें उत्पन्न होगा. रात्रिभोजन करना, अथवा रात्रौ पानी पीना, दिनमें प्रथम-भोजन करना, एतद्विषयक विचार उसके मनमें उत्पन्न होंगे. इस प्रकारसे वह संयमसे स्खलित होनेकी इच्छा करेगा.

तह मुज्झंतो खवगो सारेदव्वो य सो तवो गणिणा ॥
जह सो विसुद्धलेस्सो पच्चागदवेदणो होज्ज ॥ १५०४ ॥

तथेति मोहमापन्नः सारणीयो गणेशिना ॥
यथास्ति शुद्धलेश्याकः स प्रत्यागतचेतनः ॥ १५६४ ॥

विजयोदया—तह मुज्झंतो खवगो मोहमुपगच्छन् क्षपकस्तथा सारयितव्योऽसौ गणिना कथं ? यथा विशुद्धलेश्यो भवति प्रत्यागतचेतनश्च ॥

वेदनादिना विभ्रम्य विकुर्वाणे क्षपके किं कार्यमित्याह—

मूलारा—तध मुज्झंतो खवओ विप्रलपनादिप्रकारेण व्यक्तविभ्रमो भवन् । सारेदव्वो स्मरयितव्यः सर्वः । तगो सः । आसन्नमृत्युरित्यर्थः । पच्चागदवेदणो व्याघुटितयथार्थबुद्धिः सन् ॥

अर्थ—इस प्रकार मोहको प्राप्त हुए क्षपकको आचार्य पूर्वाचरणका स्मरण दिलाते हैं. जिस उपायसे वह निर्मल लेश्याका धारक होगा और चैतन्यकी प्राप्ति करेगा ऐसा ही उपाय वे करते हैं.

सारणोपायं कथयति—

कोसि तुमं किं णामो कत्थ वससि को व संपही कालो ॥
किं कुणसि तुमं कह वा अत्थसि किं णामगो थाहं ॥ १५०५ ॥

कस्त्वं किं नाम ते कालः सांप्रतं क्व क्व वर्तसे ॥
कोऽहं किं मम नामेति तं पृच्छति गणी यतिम् ॥ १५६५ ॥

विजयोदया—कोऽसि तुमं कस्त्वं ? किं नामधेयः ? कत्थ वससि क्व वससि ? को य संपहीकालो को वेदानीं कालः ? किमयं दिवा रात्रिर्वा ? किं कुणसि तुमं किं करोषि भवान् ? कधं वा अत्थसि कथं वा तिष्ठसि ? किं णामगो थाहं अहं वा किं नामधेयः ?

कथमेष सारयितव्य इत्याह—

मूलारा—संपदि काले। इदानींकालः किमयं दिवा रात्रिर्वा ॥

सारणोपाय कहते हैं—

अर्थ—हे मुने! तुम कौन हो? तुम्हारा नाम क्या है? तुम कहां रहते हो? अब कौनसा काल है? अर्थात् अब दिवस है या रात्री है? तुम क्या कार्य करते हो? और कैसे रहते हो? मेरा नाम क्या है?

एवं आउच्छित्ता परिक्खहेदुं गणी तयं खवयं ॥
सारइ वच्छल्लयाए तस्स य कवयं करिस्संति ॥ १५०६ ॥

इत्थं क्षपकमापृच्छ्य चित्तं जिज्ञासता सता ॥
वत्सलत्वेन कर्तव्या सारणा तस्य सूरिणा ॥ १५६६ ॥

विजयोदया—एवं आउच्छित्ता एवमनुपरतं सारयति गणी तं क्षपकं। किं सचेतनो निश्चेतन इति परीक्षितुकामः वत्सलतया यद्यस्ति चेतना कवचं करिष्यामीति मत्वा ॥

किमर्थमेष सार्यते इत्याह—

मूलारा—अव्वोच्छिण्णं अनुपरतं। आपुच्छित्ता इति प्रायिकः पाठः। परिक्खहेदुं किमयं सचेतन उत निश्चेतन इति परीक्षणार्थं। सारेदि स्मृतिं प्रापयति। वच्छल्लदाए वात्सल्येन। कवचं करिस्संति यद्यस्ति चेतनास्य तदा कवचं करिष्यामीति मत्वा ॥

अर्थ—यह क्षपक सचेतन है अथवा अचेतन है अर्थात् यह सावधान है किंवा असावध है इसका परीक्षण करनेके लिये बडे प्रेमसे उपर्युक्त प्रश्न वारवार उसको पूछते हैं यदि इसमें चेतना होगी अर्थात् यह सावध होगा तो मेरे पूछे हुए प्रश्नोंका उत्तर देगा. औरसावध है ऐसा सिद्ध होनेपर इसको हम; कवच करेंगे ऐसा हेतु मनमें धारण कर आचार्य उपर्युक्त प्रश्न क्षपकको करते हैं.

जो पुण एवं ण करिज्ज सारणं तस्स वियलच्चक्खुस्स ॥
सो तेण होइ णिद्धंधसेण खवओ परिच्चत्तो ॥ १५०७ ॥

मुश्चतः क्षपकस्येत्थं यः करोति न सारणम् ॥
तेनासौ वर्जितो नूनं जिनधर्म इवोज्ज्वलः ॥ १५६७ ॥

विजयोदया—जो पुण एवं ण करिज्ञ यः पुनरेवं न कुर्यात् सारणं। स्खलितचित्तवृत्तेः स क्षपकस्तेन परित्यक्तो भवति सूरिणा ॥

तथा तदुपसारणे च पगाह—

मूलारा—विप्पजहदस्स स्खलितचित्तवृत्तेः । णिद्दंधसेण निर्दयेन ॥

अर्थ—जो निर्यापकाचार्य ऐसे प्रश्न नहीं पूछेगा और जिसकी चित्तवृत्ति भ्रष्ट हुई है ऐसे क्षपकको स्मरण दिलाकर रत्नत्रयमें स्थिर न करेगा तो उस निर्दय निर्यापकाचार्यने क्षपकका त्याग किया है ऐसा माना जावेगा।

एवं सारिज्जंतो कोई कम्मुवसमेण लभदि सदिं ॥
तह य ण लभिज्ज सदिं कोई कम्मे उदिण्णम्मि ॥ १५०८ ॥

तस्येति सार्यमाणस्य कस्यचिज्जायते स्मृतिः ॥
तीव्रकर्मोदये नान्यः स्मरणं प्रतिपद्यते ॥ १५६८ ॥
संततसारणवारणकारी कामकषायहृषीकनिवारी ॥
धर्मयतो विदधीत समाधिं सर्वमपास्य गणी तरसाधिम् ॥ १५६९ ॥

इति सारणं

विजयोदया—एवं सारिज्जंतो एवं सार्यमाणः कश्चित् चारित्रमोहोपशमेन वा स्मृतिं यो योग्यविषयां लभते। अयुक्तेयं मम इच्छा अकाले भोक्तुं पातुं वा प्रत्याख्यातं कथं कालेऽपि प्रार्थयामीति न लभते स्मृतिं कश्चित्कर्मण्युदीर्णे नो इंद्रियमतिज्ञानावरणे । सारणा ॥

तथा सारणायामपि लघुकर्मण एव स्मृतिः स्यान्नान्यस्येत्याह—

मूलारा—कोई कश्चिन्नोइंद्रियमतिज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषं प्राप्तः । कम्मुवसमेण चारित्रमोहोपशमेन । असद्वेद्योपशमेन वा । सदिं अयुक्तेयमिच्छा मम काले भोक्तुं पातुं । वा प्रत्याख्यातं वा कथं कालेऽपि प्रार्थयामीति योग्यायो-

स्वविषयां श्रुतिं । तस्स वि सारिज्जमाणोऽपि । कम्मे नोइंद्रियमतिज्ञानावरणे । उदिण्णम्मि तीव्रवेदनाविषयाद्दुर्निवारमुदेति ॥ मालती मूलाः १४ अंकाः २०

अर्थ—इस प्रकार अयोग्य इच्छासे परावृत्त करनेपर भी कोई क्षपक पापकर्मके उपशमसे योग्य विषयके स्मरण को प्राप्त होता है. अर्थात् मैं अकालमें भोजन करनेकी और पेय पदार्थ पीनेकी इच्छा की थी. जिसका मैंने त्याग किया है उसका योग्य कालमें भी सेवन करना अनुचित है. ऐसा स्मरण उसको होकर वह अयोग्य आचरणसे परावृत्त होता है. परंतु जिसका पापकर्म उदयमें आता है और जो इंद्रियमतिज्ञानावरण कर्म उदयमें आता है वह स्मरणशून्य होता है. यह सारणा नामक प्रकरण समाप्त हुआ.

सदिमलभंतस्स वि कादव्वं पडिकम्ममट्ठियं गणिणा ॥

उवदेसो वि सया से अणुलोमो होदि कायव्वो ॥ १५०९ ॥

प्रतिकर्म विधातव्यं तस्य स्मृतिमगच्छतः ॥

उपदेशोऽपि कर्तव्यः स्मरणारोपणक्षमः ॥ १५७० ॥

विजयोदया—सदिमलभंतस्स वि स्मृतिमलभमानस्यापि गणिनाऽस्थिते कर्तव्यं । प्रतिकारः, उपदेशोऽपि अनुकूलः सदा तस्य कर्तव्यः ॥

अथ यथाक्रमसारणरचारामकस्य चवनं गाथानां चतुःसप्तत्यधिकेन शतेन व्याचिख्यासुस्तदुपक्रमाय प्रथमं गाथाः कथयति—

मूलारा—अट्ठिदं निरंतरं । अणुलोमो स्मरणारोपणप्रवणः । दर्शनानुयायीत्यपरः ॥

अर्थ—जो स्मृतिको प्राप्त होता नहीं है उसको भी निरंतर उपाय करना चाहिये उसको सावध करनेके उपाय करने चाहिये. वैसे उसको अनुकूल उपदेश भी हमेशा करना चाहिये.

चेयंतोऽपि य कम्मोदयेण कोई परीसहपरद्धो ॥

उब्भासेज्ज वउक्कावेज्ज व भिंदेज्ज व पदिण्णं ॥ १५१० ॥

परीषहातुरः कश्चिज्जानानोऽपि न बुध्यते ॥
आर्तः पूत्कुरुते दीनो मर्यादां च बिभित्सति ॥ १५७१ ॥

विजयोदया—चेदंतो पि चेतयमानोऽपि कर्मोदयेन कश्चित्परीषहपराजितो यत्किंचिद्वदेत् आरटेत्, भिंद्यात्स्वां प्रत्याख्यातप्रतिज्ञां ॥

जानतोऽपि दुःखाकुलतयानुचितमाचरतः कटुकवचनादिकं न प्रयोज्यमित्युपदिशति—

मूलारा—परद्धो पराजितः । उकावेज्ज आरटेत् । पदिण्णं प्रत्याख्यानप्रतिज्ञां ॥

अर्थ—कोई क्षपक सावद्य होकर कर्मोदयसे परीषहोंसे व्याकुल होकर जो भी कुछ बोलेगा अनुचित भाषण करेगा अथवा जो जो आहारके और पीनेके पदार्थ त्यागनेकी प्रतिज्ञा की थी वह उसका भंग भी करेगा.

ण हु सो कडुवं फरुसं व भाणिदव्वो ण खीसिदव्वो य ॥
ण य वित्तासेदव्वो ण य वट्टदि हीलणं कादुं ॥ १५११ ॥

न विभीष्यः स नो वाच्यो वचनं कटुकादिकम् ॥
न त्याज्यः सूरिणा तस्य कर्तव्यासादना न च ॥ १५७२ ॥

विजयोदया—ण हु सो कडुगं स एवं कुर्वन्क्षपकः न कर्तव्यः कटुकं परुषं वा न भर्त्सनीयं, न च त्रासं नेतव्यः, न च युक्तं परिभवः कर्तुं तस्य ॥

मूलारा—ण खीसिदव्वो न निर्भर्त्स्यः । नोपहसनीय इत्यन्यः । न रोषयितव्य इत्यपरः । ण य वट्टदि नापि युक्तं भवति । हीलणं अनादरः ॥

अर्थ—प्रतिज्ञा भंग करनेपरभी निर्यापकाचार्य उसे कडवे और कठोर शब्द न बोले उसकी भर्त्सना न करे. उसको भय न दिखावे. अथवा उसका अपमान न करे.

परुषवचनादिभिः को दोषो जायते इत्यत्रोच्यते—

फरुसवयणादिगेहिं दु माणी विप्फुरिसिदो तगो संतो ॥
उद्धाणमवक्कमणं कुज्जा असमाधिकरणं च ॥ १५१२ ॥

विराधितो भवन्मानो वचनैः कटुकादिभिः ॥
जिघृक्षत्यसमाधानं प्रत्याख्यानं जिहासति ॥ १५७३ ॥

विजयोदया—परुषवचणादिगेहिं परुषवचनादिभिर्मानी विराधितः सन् ॥

वाक्पारुष्यादिप्रयोगे दोषानाह—

मूलारा—विप्फुरिसिदो विराधितः । उड्डाण गुणश्रेणितः पतनं । दुर्ध्यानं वा । अवक्कमणं सम्यक्त्वत्यागं ।

कठोरादिक वचन बोलनेसे कौनसा दोष उत्पन्न होता है? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—परुषवचनादिकोंसे यदि उसकी भर्त्सना की जावेगी तो वह संयमसे भ्रष्ट होगा, अथवा दुर्ध्यान को प्राप्त होगा, किंवा सम्यक्त्वका त्याग कर मिथ्यात्वी बनेगा.

तस्स पदिण्णामेरं भित्तुं इच्छंतयस्स णिज्जवओ ॥
सव्वादरेण कवयं परीसहणिवारणं कुज्जा ॥ १५१३ ॥

निर्यापकेन मर्यादां तस्य भंक्षु मुमुक्षतः ॥
कर्तव्यः कवचो गाढः परीषहनिवारणः ॥ १५७४ ॥

विजयोदया—तस्स पडिण्णामेरं तस्य स्वप्रतिज्ञाव्यवस्थां भेत्तुं वांछतो निर्यापकसूरिः कवचं कुर्यान्निवारणक्षमं ॥

तस्य प्रतिज्ञालंघनोन्मुखत्वे प्रतिविधानमनुशास्ति—

मूलारा—मेरं व्यवस्थाम् ॥

अर्थ—जब क्षपक प्रतिज्ञाभंग करनेके लिये उद्युक्त होगा तब निर्यापकाचार्य क्षपकको प्रतिज्ञा भंगसे निवृत्त करनेकेलिये कवच करे.

णिद्धं मधुरं पल्हादणिज्ज हिदयंगमं अतुरिदं वा ॥
तो सीहावेदव्वो सो खवओ पण्णवंतेण ॥ १५१४ ॥

गंभीरं मधुरं स्निग्धमादेयं हृदयंगमम् ॥
सूरिणा शिक्षणीयोऽसौ प्रज्ञापनपटीयसा ॥ १५७५ ॥

विजयोदया—णिद्धं स्नेहसहितं, मधुरं श्रोत्रप्रियं, हृदयसुखविधायि, हृदयप्रवेशि, अत्वरितं असौ शिक्षयितव्यः क्षपकः प्रज्ञापयता ॥

मूलारा—तो सीहावेदव्वो शिक्षयितव्यः । पण्णवंतेण स्निग्धादिगुणयुक्तं वचनं वदता गणिना ॥

अर्थ-निर्यापकाचार्य क्षपकको प्रेमसहित, कर्णप्रिय, हृदयको सुख देनेवाला, हृदयमें प्रवेश करनेवाला, ऐसा उपदेश करे.

रोगादंके सुविहिद विउलं वा वेदणं धिदिवलेण ॥
तमदीणमसंमूढो जिण पच्चूहे चरित्तस्स ॥ १५१५ ॥
संतोपवलतस्तीव्रास्ता रोगान्तकवेदनाः ॥
अकातरो जयामूढो वृत्तविघ्नं च सर्वथा ॥ १५७६ ॥

विजयोदया—रोगातंके महतोल्पांश्च व्याधीन् । विपुलां वा वेदनां धृतिबलेन जय त्वमदीनोऽमूढश्च प्रत्यूहान् चारित्रस्य । वीतरागकोपता हि चारित्रं । तद्व्याधिप्रतीकारार्थेषु आदरवतो वेदनासु च द्वेषवतो नश्यति । ततश्चारित्रविघ्नास्त्वया जेतव्या इति भावः ॥

दुःखनिवारणीं शिक्षां कथचापरनाम्नीमितः प्रबंधेनाभिधत्ते—

मूलारा—रोगातंके अल्पान्महतश्च व्याधीन् । पच्चूहे विघ्नान् । वीतरागकोपता हि चारित्रं तद्व्याध्यादिप्रतीकारार्थेषु वस्तुषु आदरवतो व्याध्यादिषु द्वेषवतश्च नश्यति ॥

अर्थ—हे क्षपक ! तू दीनता का छोड कर मोहका त्याग कर अल्प और बडे दोनो प्रकारके व्याधिओं को तथा वेदनाको धैर्यके बलसे जीतले. चारित्रके जो शत्रु हैं उनको भी तू जीतले. राग और कोपसे अपने आत्माको अलग रखनाही चारित्र है. रोगका नाश करनेवाले पदार्थोंमें जो आदर करता है और वेदनाओंमें जो द्वेष रखता है उसका चारित्र नष्ट होता है. अतः चारित्रके विघातक पदार्थोंको जीतना योग्य हैं.

सव्वे उवसग्गे परिसहे य तिविहेण णिज्जिणाहि तुमं ॥
णिज्जिणिय सम्ममेदे होहिसु आराहओ मरणे ॥ १५१६ ॥
त्वं पराजित्य निःशेषानुपसर्गपरीषहान् ॥
समाधानपरो भद्र ! मूलाबाराधको भव ॥ १५७७ ॥

विजयोदया—सव्वे वि य उवसग्गे सर्वांश्चोपसर्गान् परीषहांश्च मनोवाक्कायैर्जेय । उपसर्गपरीषहजयदुःखाभीरुता मनसा जयः । भीतोऽयमिति दयया न दुःखानि हरन्ति । सन्निहितद्रव्यादिसहकारिकारणमसद्वेद्यमुदयागतं अनिवार्यवीर्यं फलं प्रयच्छत्येवेति धृतिबलेन भावना मनसा जयः । श्रांतोस्मि वेदनादुःसहात्मतां पश्यत मदीयामिमां अतिकष्टामवस्थां । दग्धोऽस्मि ताडितोऽस्मि इत्येवमादिदीनवचनानुच्चारणं । असकृदनुभूतार्थाः परीषहाः क्षुदादयः, उपसर्गाश्च पूर्वं। पूत्कुर्वन्तमपि नामी मुंचन्ति । केवलं धृतिरहितोयं वराको राटीति निंद्यते । न सन्मार्गात्प्रच्यावयितुं इमे क्षमा इति उदारवचनता वचनेन जयः । अदीनेक्षणमुखरागवत्ता अचलता च कायेन जयः । णिज्जिणिय सम्ममेदे निर्जित्यैवं सम्यगेतानुपसर्गपरीषहान्मरणे मरणकाले । आराधओ होहिसि रत्नत्रयपरिणतो भविष्यसि । उपसर्गपरीषहव्याकुलितचेतसो नैवाराधकता ॥

मूलारा—त्रिविधेन द्रव्यादियोगवशादापन्नोदयमवार्यवीर्यमसद्वेद्यमिसानुपसर्गपरीषहान्प्रतत्वकेन (?) निवार्येत । तदिदानीं वृथेयं दुःखभीरुता, न खलु भीतोऽयमिति कृपया दुःखानि त्यजंतीतीदृशी धृतिबलभावना मनसा तन्निर्जयः श्रांतोऽस्मि दुःसहा मे वेदना । पश्यत मदीयामिमामतिकष्टामवस्थां । हा दैव ! दैवदग्धोऽस्मीत्यादि दीनवचनानुच्चारणं । परीषहाश्च सर्वेण शरीरिणा आसंसारमनुभूताः असकृदुपसर्गाश्च । न चामी पूत्कुर्वन्तमपि मुंचंति केवलं निःसत्वोऽयं कापुरुषो राटीति निंद्यते न चैते सन्मार्गाच्च्यावयितुं मां क्षमंते इत्यादिधीरोदात्तवचनोच्चारणं च वाचा तत्पराजयः ॥

अदीनेक्षणत्वं प्रहसितमुखत्वाद्यवस्थानं कायेन तद्विजयः ॥ एदे एतान् ॥

अर्थ—हे क्षपक ! तूं मन वचन और शरीरसे सर्व उपसर्ग और परीषहोंको जीतले. जब इनको तू पूर्ण जीतनेमें समर्थ होगा तबही मरणसमयमें तूं रत्नत्रयाराधक होगा. अन्यथा नहीं.

विशेषार्थ—उपसर्ग और परीषहोंके दुःखोंसे भयभीत न होना यही मनसे उपसर्ग और परीषहोंको जीतना माना जाता है. यह पुरुष भययुक्त है ऐसा समझकर उपसर्ग और परीषह तकलीफ उत्पन्न करनेका कार्य दयासे छोडते हैं. ऐसा नहीं समझना चाहिये. समीपके द्रव्यादि पदार्थ ये असाता वेदनीय कर्मका उदय आनेमें सहकारि कारण हैं जब

वेदनीय कर्म उदयमें आता है और उसका अनिवार्य सामर्थ्य है तब वह अपना फल देकर ही नष्ट होगा ऐसा धैर्य धारण कर विचार करना यह मनके द्वारा उपसर्ग परीषहो का जय समझना चाहिये.

मैं थक गया हूं, ये दुःख दुःसह हैं मैं अतिशय कष्टतम अवस्था को प्राप्त हुआ हूं, मेरे शरीरमें आग लगी है, मैं पीटा जा रहा हूं इत्यादिक दीनता व्यक्त करनेवाले शब्द मुंहमे न निकालना यह वचनसे जय समझना चाहिये.

क्षुधादिक परीषहोंका अनंत वार अनुभव ले चुका हूं. अनेक वार घोर उपसर्ग भी मेरेको प्राप्त हुए थे. जोरसे रोनेपरभी ये उपसर्गादिक दुःख मेरेको क्या छोड देंगे? यह पुरुष धैर्यरहित है, यह दीन है, वारवार रोता है, चिल्लाता है ऐसी लोक मेरी निंदा करेंगे. ये उपसर्गादिक दुःख मेरेको सन्मार्गसे भ्रष्ट करनेमें असमर्थ हैं ऐसे उदार वचन कहना यह भी वचनजय समझना चाहिये.

परीषहादिकोंसे दुःख होने परभी मुखमें दीनता न दिखाना, आखोंमें दीनता न धारण करना, मुख न सूखना, शरीरमें निश्चलता रहना, यह शरीरसे जय समझना चाहिये.

इस प्रकार उपसर्ग और परीषहोंको दृढतासे जीत कर मरणसमयमें हे क्षपक! तू रत्नत्रयाराधक हो.

संभर सुविहिय जं ते मज्झम्मि चदुव्विहस्स संघस्स ॥
वूढा महापदिण्णा अहयं आराहइस्सामि ॥ १५१७ ॥

अहमाराधयिष्यामि प्रतिज्ञा या त्वया कृता ॥
मध्ये संघस्य सर्वस्य तां स्मरस्यधुना न किम् ॥ १५७८ ॥

विजयोदया—संभर स्मृतिं निधेहि। सुविहिद सुचारित्र। किं स्मरामि इति चेत् तं तां प्रतिज्ञां कृतवानसि। मज्झम्मि मध्ये। कस्य? चदुव्विधस्स चतुर्विधस्य संघस्य। वूढा धृता। महापदिण्णा महती प्रतिज्ञा। अहयं अहं आराध-इस्सामि आराधयिष्यामि इति ॥

मूलारा—जं ते यत्त्वया। वूढा कृता ॥

अर्थ—हे निर्दोषचारित्र धारक क्षपक, तू चार प्रकारके संघमें अर्थात् उनके समक्ष बडी प्रतिज्ञा धारण की है अर्थात् मैं रत्नत्रयका आराधना करूंगा ऐसी महाप्रतिज्ञा धारण की है उसका स्मरण कर.

को णाम भडो कुलजो माणी थोलाइदूण जणमज्झे ॥
जुज्झे पलाइ आवडिदमेत्तओ चेव अरिभीदो ॥ १५१८ ॥
जनमध्ये भुजास्फालं विधाय बलगर्वितः ॥
कः कुलीनो रणे मानी शत्रुत्रस्तः पलायते ॥ १५७९ ॥

विजयोदया—को णाम भडो कः पलायते युद्धे भटः शूरः । कुलजो मानी । थोलाइदूण भुजास्फालनं कृत्वा । जनमध्ये । एव युद्धे शत्रुपराजयं करिष्यामीति उद्घुष्य आवडिदमेत्तओ अभिमुखायातशत्रुरेव अरिभीतः । कः पलायनं करोति ॥

इतः क्षपकं लोकप्रसिद्धदृष्टांतसंहृत्या प्रबंधेन प्रोत्साहयति—

मूलारा—माणी यशःसंपादनाहंकारी । थोलाइदूण आत्मानं स्तुत्वा । भुजास्फालनं कृत्वा । एवं शत्रुपराजयं करिष्यामि इत्युद्घोष्येति यावत् । आवडिदमेत्तओ चेव मिलितमात्र एवारिणा सह अथवा अभिमुखायातमात्रादेवारेरिति योज्यम् ॥

अर्थ—" मैं शत्रुको अवश्य पराजित करूंगा " ऐसी प्रतिज्ञा जिसने भुजास्फालन करके सर्व जनसमक्ष की है ऐसा कौन स्वाभिमानी कुलीन शूर पुरुष शत्रु समीप आनेपर डरकर पलायन करेगा.

दार्ष्टान्तिके योजयति—

थोलाइदूण पुव्वं माणी संतो परीसहादीहिं ॥
आवडिदमित्तओ चेव को विसण्णो हवे साहू ॥ १५१९ ॥
कः कृत्वा स्वस्तवं मानी संघमध्ये तपोधनः ॥
परीषहरिपुत्रस्तः क्लिश्यत्यापातमात्रतः ॥ १५८० ॥

विजयोदया—थोलाइदूण पुव्वं भुजास्फालनं कृत्वा पूर्वं । परीसहादीहिं आवडिदमेत्तगो चेव परीषहारातिभिरभिमुखायात एव । को विसण्णो हवे साहू माणी संतो को विषण्णो भवेत्साधुवर्गो मानी सन् ॥

एवं दृष्टांते दर्शितमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—

मूलारा—आवडिदमेत्तओ परीषहारिभिर्मिलितमात्रकः । विसण्णो दुःखितः ।

अर्थ—सर्व संघके समक्ष परीषह और उपसर्ग आनेपर भी मैं प्रत्याख्यात आहारादिक पदार्थोंका स्वीकार न करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा लेकर परीषहादिक आतेही कोनसा साधु दुःखी होकर स्वप्रतिज्ञाका त्याग करेगा ? अर्थात् अपनी प्रतिज्ञामें परीषहादिक आनेपर भी दृढता धारण कर उसको नष्ट न करेगा.

आवडिया पडिकूला पुरओ चेव क्कमंति रणभूमिं ॥
अवि य मरिज्ज रणे ते ण य पसरमरीण वड्ढंति ॥ १५२० ॥

प्रविशंति रणं पूर्वं शत्रुमर्दनलालसाः ॥
यच्छन्ति नासुनाशेऽपि शत्रूणां प्रसरं पुनः ॥ १५८१ ॥

विजयोदया—आवडिदा पडिकूला अभिमुखायाताः शत्रवः । पुरदो चेव क्कमंति रणभूमिं पुरस्तादेवोपसर्पन्ति रणभूमिं । अवि य मरिज्ज रणे यद्यपि रणे म्रियन्ते । ण य पसरमरीण वड्ढन्ति नैव प्रसरमरीणां वर्धयन्ति ॥

मूलारा—आवडिदप्पडिकूला आपतिता अभिमुखा जाताः प्रतिकूलाः शत्रवो येषां सुभटानां ते । पुरदो चेव पूर्वमेव शत्रुभिरनाक्रांतमेवेति भावः ॥ कमंति आक्रामंति । रणभूमिं युद्धाय कल्पितां भुवं । मरेज्ज म्रियेरन् । पसरं उत्साहं । वड्ढंति वर्धयंति ।

अर्थ—हल्ला करनेवाले शत्रु युद्धभूमीमें आगे आगे ही पैर बढाते हैं कदाचित् युद्धमें शत्रु प्रहारसे मरणका स्वीकार करेंगे परंतु अपने प्रतिपक्षीका उत्साह बढेगा ऐसा कार्य वे कदापि नहीं करेंगे अर्थात् रणभूमीसे पलायन नहीं करेंगे.

तह आवडिदप्पडिकूलदाए साहू विमाणिणो सूरा ॥
अइतिव्ववेयणाओ संहंति ण य विगडिमुवयांति ॥ १५२१ ॥

मानिनो योगिनो धीराः परीषहनिषूदिनः ॥
सहन्ते वेदना घोराः प्रपद्यन्ते न विक्रियाम् ॥ १५८२ ॥

विजयोदया—तह आवड पडिकूलदाए तथा आपत्प्रतिकूलतया । साधवो मानिनः शूराः । अदितिव्ववेदणाओ अतीव तीव्रवेदनाः । सहंति सहंते । ण य विगडिमुवयांति नैव विकृतिमुपयांति ॥

मूलारा—आवड्डिदपडिकूलदाए आपतितां दुर्दैववशादुपस्थिता: प्रतिकूला उपसर्गपरीषहा येषां ते आपतितप्रतिकूलास्तेषां भाव आपतितप्रतिकूलता तस्यां सत्यां। उपसर्गपरीषहेषु उपस्थितेषु सत्स्विति यावत्। अन्ये तु आवइ पडिकूलदाए इति पठित्वा आपत्प्रतिकूलतयेत्यर्थमाहुः। विगादिं रत्नत्रयविराधनं॥

अर्थ—जैसे पूर्वकृत अशुभ कर्मके उदयसे परीषहादिक अति तीव्र दुःख देनेपर भी अर्थात् उनसे अतितीव्र वेदना होनेपर भी साभिमानी साधुगण सब सहलेते हैं परंतु वे विकार को प्राप्त होकर रत्नत्रयाराधनाका त्याग नहीं करते हैं.

थोलाइयस्स कुलजस्स माणिणो रणमुहे वरं मरणं॥
ण य लज्जणयं काउं जावज्जीवं सुजणमज्झे॥ १५२२॥
रणारंभे वरं मृत्युर्भुजास्फालनकारिणः॥
यावज्जीवं कुलीनस्य न पुनर्जनजल्पनम्॥ १५८३॥

विजयोदया—थोलाइयस्स कृतभुजास्फालनस्य। माणिणो मानिनः। रणमुहे वरं मरणं युद्धमुखे शोभनं मरणं। ण य वरं नैव शोभनं। लज्जणयं काउं जावज्जीवं च सुजणमज्झे सुजनमध्ये यावज्जीवं निंदाकरणं॥

मूलारा—थोलाइदस्स कृतभुजास्फालनस्य। वरं शोभनं। लज्जणयं लज्जाकारकं। धर्मपलायनमित्यर्थः॥

अर्थ—जिसने भुजास्फोट कर शत्रुको जीतनेकी प्रतिज्ञा की है ऐसे कुलीन स्वाभिमानी मनुष्यका रणमें मर जाना भी भला है. परंतु सज्जनोंमें जिससे निंदा होगी ऐसा कार्य अर्थात् रणसे भागना, शत्रुको पीठ दिखाना कभी भी भला नहीं है. क्यों कि ऐसे कार्यसे आजन्म निंदा होती है.

सभणस्स माणिणो संजदस्स णिहणगमणं पि होइ वरं॥
ण य लज्जणयं कादुं कायरदादीणकिविणत्तं॥ १५२३॥
संयतस्य वरं मृत्युर्मानिनोऽस्तकताडिनः॥
न दीनत्वविपण्णत्वे परीषहरिपूदये॥ १५८४॥

विजयोदया—समणस्स समानस्य श्रमणस्य वा । माणिणो मानिनः, संजदस्स संयतस्य । णिधणगमणं पि होदि वरं निधनगमनमपि भवति वरं । ण य लज्जणगं काढुं नैव लज्जनीयकरणं शोभनं । कातरता न वरं । दीणकिविणत्तं दीनत्वं कृपण त्वं च न वरं ॥

मूलारा—णिधणगमणं मरणापत्तिः । कादरदा चित्तभीरुता । दीणकिविणत्तं दीनत्वं, वैवर्ण्यं, कृपणत्वं किमपि कर्तुं न शक्नोमि इति वचनं ॥

अर्थ—रागद्वेष रहित, अपनी प्रतिज्ञापर अटल रहनेवाले ऐसे मुनिका मरण होना भी भला है. जिससे लज्जित होना पडेगा ऐसा कार्य-रत्नत्रयाराधनासे च्युत होना-कभीभी योग्य नहीं है. चित्तमें भय उत्पन्न होना, मुख भयसे सूखना, मैं असमर्थ हूं. प्रतिज्ञा धारण करनेमें समर्थ नहीं हूं इत्यादिवचन बोलना निंद्य है.

एयस्स अप्पणो को जीविदहेदुं करिज्ज जंपणयं ॥
पुत्तपउत्तादीणं रणे पलादो सजणलंछं ॥ १५२४ ॥

वरं मृत्युः कुलीनस्य पुत्रपौत्रादिसंततेः ॥
न युद्धे नश्यतोऽरिभ्यः कर्तुं स्वकुललांछनम् ॥ १५८५ ॥

विजयोदया—एयस्स अप्पणो एकस्यात्मनः । जीविदहेदुं जीवितनिमित्तं । को करिज्ज जंपणगं कः कुर्यादपवादं । पुत्तपउत्तादीणं पुत्रपौत्रादीनां । रणे पलादो रणात्पलायमानः । सजणलंछं स्वजनलांछनं ॥

मूलारा—जंपणयं अपवादं । पउत्तादीणं पौत्रप्रपौत्रादीनां । पलंतो पलायमानः । अन्यः पलावो इति पठित्वा पलाय्येत्यर्थमाह । सुणगलंछं ललाटे कुकुरदाहसमानं ॥

अर्थ—अकेले अपने जीवितके लिये कोन मानी पुरुष अपवादका-निंदाका कार्य करेगा. ऐसे अकार्य से अर्थात् रणसे भागने के कार्यसे पुत्र पौत्रादिक तक अकीर्ति रहा करती है. अर्थात् पुत्र पौत्रादिक भी अपने पूर्वजोंकी अकीर्तिसे दुःखी होते हैं. उनको लज्जित होना पडता है.

तह अप्पणो कुलस्स य संघस्स य मा हु जीवदत्थं तं ॥
कुणसु जणे जंपणयं किविणं कुव्वं सगणलंछं ॥ १५२५ ॥

मा ... स्वकुललांछनम् ॥
कुलस्य स्वस्य संघस्य मा गास्त्वं वेदनावशम्॥ १५८९ ॥

विजयोदया—तह तथा। अप्पणो जीविदत्थं आत्मनो जीवितार्थं। कुलस्स संघस्स य मा कुणसु जणे दूसणयं कुलस्य संघस्य च दूषणं जने मा कार्षीः। किविणं कुव्वं कृपणत्वं कुर्वन्। सगणलंछं सगणलांछनं॥

मूलारा—किवणं कुव्वं कृपणत्वं कुर्वन्। परीषहादिविनिपाते हीनसत्वतां विदधत्।

अर्थ—वैसे हे क्षपक ! तुम अपने जीवितके लिये अपने कुल और संघको दूषण उत्पन्न होगा ऐसा कार्य मत करो अर्थात् तुम अपनी प्रतिज्ञामें दृढ रहो. मेरेसे प्रतिज्ञाका पालन नहीं होता है ऐसा दीनवचन कहोगे तो तुमारे संपूर्ण गणको लज्जित होना पडेगा.

गाढप्पहारसंताविदा वि सूरा रणे अरिसमक्खं॥
ण मुहं भंजंति सयं मरंति भिउडीए सह चेव॥ १५२६ ॥
म्रियंते समरे वीराः प्रहाराकुलिता अपि॥
कुर्वन्ति भ्रुकुटीभंगं न पुनर्वैरिणां पुरः॥ १५८७ ॥

विजयोदया—गाढप्पहारसंताविदा वि गाढप्रहारसंतापिता अपि शूरा रणे युद्धे। सगं मुहं अरिसमक्खं ण भजंति स्वमुखभंगं अरीणां पुरतो न कुर्वन्ति। मरंति म्रियंते। भिगुडीए सह चेव भ्रकुट्या सह चैव॥

मूलारा—भंजंति वक्रयंति। सयं स्वं मुखं। भिउडिमुहा भ्रुकुट्यो मुखेषु येषां ते भ्रकुट्या सहैव म्रियंते इत्यर्थः॥

अर्थ—शूर पुरुष रणमें गाढ शस्त्रप्रहार होनेमें शत्रुके समक्ष मुख फिराकर भागते नहीं हैं. वे अपनी भोंहें टेढी करके मरण का ही अंगीकार करते हैं.

सुट्ठु वि आवइपत्ता ण कायरत्तं करिंति सप्पुरिसा॥
कत्तो पुण दीणत्तं किविणत्तं वा वि काहिंति॥ १५२७ ॥
कातरत्वं न कुर्वन्ति परीषहकरालिताः॥
किं पुनर्दीनतादीनि करिष्यन्ति महाधियः॥१५८८ ॥

विजयोदया—सुट्ठु वि आवइपत्ता नितरामापदं प्राप्ता अपि । सप्पुरिसा ण कायरत्तं करंति सत्पुरुषा न कातरतां कुर्वन्ति । कत्तो पुण काहिंति कुतः पुनः करिष्यन्ति । दीणत्तं किविणत्तं चावि दीनतां कृपणतां च ॥

मूलारा—सुट्ठुवि आवदि पत्ता नितरां आपदं प्राप्ता अपि ॥

अर्थ—अतिशय विपत्ति प्राप्त होने पर भी सत्पुरुष डरते नहीं हैं तो वे असमर्थता और दीनता क्यों दिखायेंगे ?

कोई अग्गिमदिगदा समंतओ अग्गिणा वि डज्झंता ॥
जलमज्झगदा व णरा अत्थंति अवेदणा चेव ॥ १५२८ ॥

अग्निमध्यगताःकेचिद्दह्यमानाः समंततः ॥
अवेदना वितिष्ठन्ते जलमध्ये गता इव ॥ १५८९ ॥

विजयोदया—कोई अत्थंति अवेदणा चेव केचिदासते अचेतना इव । अग्गिमदिगदा अग्निं प्रविष्टाः । समंतदो अग्गिणा वि डज्झंता समंतात् अग्निना अपि (जलमज्झगदा व णरा जलमध्यगता नरा इव । अचेतना इव ॥

मूलारा—अग्गिमदिगदा अग्निं प्रविष्टाः ॥

अर्थ—कितनेक पुरुष अग्निके बीचमें पडनेपर और चारों तरफसे अग्नि लगने पर भी अर्थात् उसके दाहसे दग्ध होनेपर भी मानो जलमें प्रवेश किये पुरुष के समान अथवा अचेतन पदार्थके समान स्थिर रहते हैं.

तत्थ वि साहुक्कारं सगअंगुलिचालणेण कुव्वंति ॥
केई करंति धीरा उक्किट्ठिं अग्गिमज्झम्मि ॥ १५२९ ॥

साधुकारं परे तत्र कुर्वन्त्यंगुलिनर्तनैः ॥
आनंदितजनस्वान्ता उत्कृष्टिं कुर्वते परे ॥ १५९० ॥

विजयोदया—तत्थ वि तत्राप्यग्निमध्ये । साहुक्कारं सगअंगुलिचालणेण कुव्वंति साधुकारं स्वांगुलिचालनया कुर्वंति । केई अग्गिमज्झगदा धीरा केचिदग्निमध्यगता धीराः । उक्किट्ठि करंति उत्क्रोशनं कुर्वन्ति ॥

मूलारा—तध वि य यद्यपि अग्निमध्यगतास्तथापि । साधुकारं भद्रकं भवतीद यदशुभं कर्म क्षयं यातीति प्रशंसां । सगमंगुलिचालणेण स्वांगुलिनर्तनेन । नखच्छोटिकयेत्यन्यः । केई एतदुभयत्र योज्यं । उक्किट्टि उत्क्रोशनं । विशिष्टशब्दकलकलमित्यर्थः ।

अर्थ—उस अग्नीमें भी अपनी अंगुलियां हिलाकर कोई धीर पुरुष अच्छा ही हुआ ऐसा सूचित करते हैं. इस उपसर्गसे मेरा कर्म क्षयको प्राप्त होगा. यह अग्नि मेरे कर्मको नष्ट करता है. इसका हमारे ऊपर बडा उपकार हो रहा है ऐसा अंगुलियां हिलाकर सूचित करते हैं. कोई धीर पुरुष आनंदसे विशिष्ट शब्द करते हैं.

जदिदा तह अण्णाणी संसारपवड्ढणाए लेस्साए ॥
तिव्वाए वेदणाए सुहसाउलया करिंति धिदिं ॥ १५३० ॥

वेदनायामसह्यायां कुर्वन्त्यज्ञानिनो धृतिम् ॥
लेश्यया भववर्द्धिन्या सुखास्वादपरा यदि ॥ १५९१ ॥

विजयोदया—जदिदा यदि तावत् । तह तथा अण्णाणीधिदिं करिंति तथा अज्ञानिनो धृतिं कुर्वन्ति । संसारपवड्ढणाए लेस्साए संसारप्रवर्द्धनकारिण्या लेश्यया । तिव्वाए वेदणाए तीव्रायां वेदनायां सत्यां । सुहसाउलगा सुखास्वादनलंपटाः ॥

मूलारा—तध तेन साधुकारकरणादिप्रकारेण । संसारपवड्ढणाए संसारप्रवर्धनकारिण्या । सुहसाउलगा सुखास्वादनलंपटाः ।

अर्थ—संसारको बढानेवाली लेश्यासे युक्त होकर भी उपसर्गसे तीव्र वेदना होनेपर भी यदि सुखास्वाद करनेमें लंपट अज्ञानी पुरुष धैर्य धारण कर दुःख सहन करते हैं तो—

किं पुण जदिणा संसारसव्वदुक्खक्खयं करंतेण ॥
बहुतिव्वदुक्खरसजाणएण ण धिदी हवदि कुज्जा ॥ १५३१ ॥

तदा धृतिं न कुर्वन्ति किं भवच्छेदनोद्यताः ॥
ज्ञातसंसारनैःसार्या वेदनायां तपोधनाः ॥ १५९२ ॥

विजयोदया—किं पुण जदिणा ण कारिज्जा हवदि धिदि किं पुनर्न कार्या भवति धृतिः यतिना। कीदृशा? संसारसव्वदुक्खक्खयं करंतेण संसारसर्वदुःखक्षयं कुर्वता। बहुतिव्वदुक्खरसजाणगेण बहूनां चतुर्गतिगतानां दुःखानां रसं जानता॥

मूलारा—रसजाणएण स्वादवेदिना। कुज्जा कर्तव्या।

अर्थ—संपूर्ण दुःखोंका रस जाननेवाले यति क्यों न धैर्य धारण करें. अर्थात् जब कोई अज्ञानी भी जीव धैर्य धारण कर दुःख सहते हैं तो वैराग्यशील यतिओंका दुःख सहन करना कर्तव्य ही ठहरा दुःखसे भययुक्त होना उनके लिए नितरां अयोग्य है.

अंसिवे दुब्भिक्खे वा कंतारे वा भएव आगाढे॥
रोगेहिं व अभिभूदा कुलजा माणं ण विजहंति॥ १५२२॥

दुर्भिक्षे मरके कक्षभये रोगे दुरुत्तरे॥
मानं क्वापि विमुंचंति कुलीना जातु नापदि॥ १५९२॥

विजयोदया—असिवे मार्या। दुब्भिक्खे वा दुर्भिक्षे वा। कंतारे अटव्यां वा। गाढे भये च। उपर्युपरि निपतितभये वा। रोगेहिं य अभिभूदा व्याधिभिर्वा अभिभूताः। ण विजहंति कुलजा माणं न विजहति कुलप्रसूता मानं॥

मूलारा—असिवे मार्यां। आगाढे उपर्युपरि निपतति सति। अनिवार्येण।

अर्थ—मारी, दुर्भिक्ष, गहन अरण्य, पुनः पुनः भय प्राप्त होना, रोगोंसे पीडित होना इत्यादि प्रसंगपर कुलवान् मनुष्य अभिमान छोडते नहीं है.

ण पियंति सुरं ण य खंति गोमयं ण य पलंडुमादीयं॥
ण य कुव्वंति विकम्मं तहेव अण्णंपि लज्जणयं॥ १५२३॥

सेवंते मद्यगोमांसपलाण्ड्वादि न मानिनः॥
कर्मान्यदपि कृच्छ्रेऽपि लज्जनीयं न कुर्वते॥ १५९४॥

विजयोदया—ण पिबंति सुरं न पिबंति सुरां । ण खंति न च भक्षयंति गोमांसं । ण य पलंडुमादीयं न पलांडु प्रभृतिकं भक्षयंति । ण य कुव्वंति विकम्मं नैव कुर्वन्ति कुत्सितं कर्म परोच्छिष्टभोजनादिकं न कुर्वन्ति । तहेय अण्णंपि लज्जणयं तथैव नान्यदपि लज्जनीयं कुर्वंति ॥

मूलारा—ण य खंति नच भक्षयंति मानिनः । गोमांसमित्यर्थः । पलांडुमादीयं लशुनगृंजनप्रभृतिकं । विकम्मं कुत्सितं कर्म परोच्छिष्टभोजनादिकं ॥

अर्थ—कुलीन मनुष्य कभी मदिरापान नहीं करते हैं. गोमांस भक्षण नहीं करते हैं. प्याज, लहसन, वगैरह कंदोंका भक्षण नहीं करते हैं. तथा वे दूसरोंका उच्छिष्टान्न भक्षणादिक कर्म नहीं करते हैं. वैसा अन्य भी लज्जा उत्पन्न करनेवाले कर्म वे करते नहीं. तो—

किं पुण कुलगणसंघजसमाणिणो लोयपूजिदा साधू ॥
माणं पि जहिय काहंति विकम्मं सुजणलज्जणयं ॥ १५३४ ॥

कुलसंघयशस्कामाः किं कर्म जगदर्चिताः ॥
मानं विमुच्य कुर्वन्ति लज्जनीयं तपोधनाः ॥ १५९५ ॥

विजयोदया—किं पुण साहू वि कम्मं काहिंति किं पुनः साधवः कुत्सितं कर्म करिष्यंति । कुलगुणसंघजस जसमाणिणो कुलस्य संघस्य च यशःसंपादनाहंकारवंतः । लोगपूजिदा साधू लोके कृतपूजाः । माणं विजहिय मानं त्यक्त्वा जणलज्जणयं साधु जनेन विलज्जनीयं कर्म ॥

मूलारा—जसमाणिणो यशःसंपादनाहंकारवंतः ॥

अर्थ—कुल, गण, संघ इनकी यशोवृद्धि चाहनेवाले साधुगण क्या कुत्सित कर्म कभी करेंगे? कभी भी नहीं करेंगे. सत्पुरुषोंके द्वारा निंद्य ऐसा कर्म लोकवंद्य साधु मानका त्याग कर करेंगे क्या? कभी भी नहीं करेंगे.

जो गच्छिज्ज विसादं महल्लमप्पं व आवदिं पत्तो ॥
तं पुरिसकादरं विंति धीरपुरिसा हु संडुत्ति ॥ १५३५ ॥

लघ्वीं विपत्तिमुर्वीं वा यः प्रयातो विषीदति ॥
नरा वदन्ति तं पंढं धीराः पुरुषकातरम् ॥ १५९६ ॥

विजयोदया—जो गच्छिज्ज विसादं यो गच्छेद्विषादं। महल्लं अप्पं व आवदं पत्तो महतीं अल्पां वा आपदं प्राप्तः॥ तं पुरिसकातरं पुरुषेषु कातरं। धीरपुरिसा संढुत्ति विंति धीराः सुपुरुषाः पंढ इति ब्रुवन्ति॥

आपदि विषीदतोऽपवादं दर्शयति—

मूलारा—विसावं विषादं। आवदिं आपदं। पुरिसकादरं पुरुषेषु कातरं। संढोत्ति नपुंसकमिति ब्रुवंति॥

अर्थ—जो छोटी या बडी आपत्ति आनेपर खिन्न होता है धीर पुरुष उसको कातर-डरपोक मनुष्य ऐसा कहते हैं तथा उसको पंढ कहते हैं.

मेरुव्व णिप्पकंपा अक्खोभा सागरुव्व गंभीरा ॥
धिदिवंतो सप्पुरिसा हुंति महल्लावईए वि ॥ १५३९ ॥

समुद्रा इव गंभीरा निःकम्पाः पर्वता इव ॥
विपद्यपि महिष्टायां न क्षुभ्यन्ति महाधियः ॥ १५९७ ॥

विजयोदया—मेरुव्व णिप्पकंपा मेरुरिव निश्चलाः। अक्खोभा अकंपाः। सागरोव्व सागर इव धिदिवंतो सप्पुरिसा धृतिमंतः संतोषवंतः सत्पुरुषाः। महल्लावईए वि महत्यामापदि अपि॥

सत्पुरुषसद्वृत्तख्यापनेन विपदि धैर्यमवलम्बयति—

मूलारा—महल्लावदीए वि महत्यामप्यापदि। अक्षोभ्या क्षोभयितुमशक्याः। अचाल्यचित्ता भवंतीति संबंधः। उक्तं च—

समुद्रा इव गंभीरा निष्कंपाः पर्वता इव ॥
विपद्यपि महिष्ठायां न क्षुभ्यंति महाधियः ॥

अर्थ—बडी आपत्ति आनेपर भी धैर्ययुक्त, संतुष्ट सत्पुरुष मेरुके समान निश्चल रहते हैं. और समुद्रके समान क्षोभरहित होते हैं.

केई विमुत्तसंगा आदारोविद्भरा अपडिकम्मा ॥
गिरिपब्भारमभिगदा बहुसावदसंकडं भीमं ॥ १५३७ ॥

स्वारोपितभराः केचिन्निःसंगा निःप्रतिक्रियाः ॥
गिरिप्राग्भारमापन्नाश्चित्रश्वापदसंकटम् ॥ १५९८ ॥

विजयोदया—केई उत्तमट्ठं साधेंति इति वक्ष्यमाणेन संबंधः । केचिदुत्तमं वस्तु रत्नत्रयं साधयन्ति । कीदृग्भूताः ? विमुत्तसंगा निष्परिग्रहाः । आदारोविद्भरा आत्मारोपितभराः । अपडिकम्मा निष्प्रतीकाराः । गिरिपब्भारमभिगदा गिरिप्राग्भारमभिगताः । कीदृशं ? बहुसावदसंकडं बहुव्यालमृगाकुलं । भीमं भयावहं ॥

महासत्वानां महोपसर्गेऽपि रत्नत्रयसाधननिर्वाहं गाथाद्वयेन प्रकाशयति—

मूलारा—आदारोविदभरा आत्मन्यारोपितकरणीयभाराः । अपडिकम्मा अप्रतीकाराः । गिरिपब्भारं पर्वतगुहां । अभिगदा प्रविष्टाः

अर्थ—कितनेक सत्पुरुष संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग कर तथा संपूर्ण कार्य अपने ऊपर लेकर आपत्तिको दूर करनेके लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं करते हैं और जहां बहुत हिंस्रजीव निवास करते हैं ऐसे पर्वतोंकी गुहामें जाकर उत्तम वस्तुकी प्राप्ति कर लेते हैं. अर्थात् रत्नत्रयको साध लेते हैं.

धिदिधणियबद्धकच्छा अणुत्तरविहारिणो सुदसहाया ॥
साहिंति उत्तमट्ठं सावददाढंतरगदे वि ॥ १५३८ ॥

राद्धान्तसचिवाः सन्तः सन्तुष्टाः शुद्धवृत्तयः ॥
साधयन्ति स्थिताः स्वार्थं व्यालदन्तान्तरेष्वपि ॥ १५९९ ॥

विजयोदया—धिदिधणियबद्धकच्छा धृत्या नितरां बद्धकक्ष्याः । अणुत्तरविहारिणो प्रकृष्टचारित्राः । सुदसहायाः श्रुतज्ञानसहायाः । साधिंति उत्तमट्ठं साधयंत्युत्तमार्थं रत्नत्रयं । सावददाढंतरगदा वि श्वापददंष्ट्रामध्यगता अपि ॥

मूलारा—बद्धकच्छा स्वीकृतयत्नाः कृतप्रतिज्ञा वा । अणुत्तरविहारिणो उत्कृष्टचारित्राः ॥

अर्थ—जिन्होंने अलौकिक धैर्य धारण किया है, जिनका चारित्र उत्कृष्ट है. तिलमात्रभी जिसमें दोष नहीं

है ऐसे चारित्रके धारक, श्रुतज्ञानकी मदत जिनको मिली है ऐसे मुनिराज क्रूर प्राणिओंके दाढमें चले जाने पर भी रत्नत्रयकी सिद्धि कर ही लेते हैं.

भल्लुकिए तिरत्तं खज्जंतो घोरवेदणट्टोऽवि ॥
आराधणं पवण्णो ज्झाणेणावंतिसुकुमालो ॥ १५३९ ॥

धीरोऽवन्तिकुमारोऽगात्त्रिरात्रं शुद्धमानसः ॥
श्रृगाल्या खाद्यमानोऽपि देवीमाराधनां प्रति ॥ १६०० ॥

विजयोदया—भल्लुकिए तिरत्तं खज्जंतो श्रृगालेन तिसृषु रात्रिषु भक्ष्यमाणः। घोरवेदणट्टो वि घोरवेदना-बाधितोऽपि। आराधणं पवण्णो ज्झाणेण शुभध्यानेनाराधनां प्रपन्नः। कः ? अवंतिसुकुमालो अवंतिसुकुमारः ॥

उपसर्गसहानामर्थाख्यानान्युपन्यस्यति—

मूलारा—भल्लुकीए श्रृगाल्या। तिरत्तं त्रिरात्रं। वेदणट्टो वेदनार्तः। अवंति उज्जयिन्यां। सुकुमालो सुकुमारस्वामी।

अर्थ—शृगालीके द्वारा तीन रात्रतक जो खाये गये, जिनके प्रत्यंगोंमें तीव्र वेदनायें हो रही थी, ऐसे भी अवंति सुकुमार मुनि शुभध्यानसे रत्नत्रयाराधनाको प्राप्त हो गये. (इनकी कथा तथा आगेके उदाहरणोंकी कथायें आराधना कथाकोषोंमें हैं)

मोग्गिलगिरिम्मि य सुकोसलो वि सिद्धत्थदइय भयवंतो ॥
वग्घीण वि खज्जंतो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४० ॥

शिश्रायाराधनां देवीं मुद्गलाद्रौ सुकोशलः ॥
भक्ष्यमाणो मुनिर्व्याघ्र्या सैद्धार्थिरविषण्णधीः ॥ १६०१ ॥

विजयोदया—मुद्गलगिरौ सुकोशलोऽपि सिद्धार्थस्य पुत्रो भगवान् व्याघ्र्या जननीचर्या भक्षितः सन् प्रतिपन्नश्च उत्तमार्थं ॥

मूलारा—मोग्गिलगिरिम्मि मुद्गलाख्यगिरौ। सिद्धत्थदइवगो सिद्धार्थस्य वल्लभः पुत्रत्वात्। वि खज्जंतो खाद्यमानोऽपि

अर्थ—मुद्गल नामक पर्वत पर सिद्धार्थ राजाके पुत्र सुकोशल नामके मुनिराज को पूर्व जन्ममें माता

थी ऐसी व्याघ्रीने भक्षण किया, तो भी उन्होंने शुभध्यानसे रत्नत्रयकी प्राप्ति की अर्थात् इस तिर्यंच कृत उपसर्गसे वे रत्नत्रयसे भ्रष्ट नहीं हुए.

भूमीए समं कीलाकोट्टिददेहो वि अल्लचम्मं व ।
भयवं पि गयकुमारो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४१ ॥

धरण्यामार्द्रचर्मेव किल कीलितविग्रहः ॥
प्रापद्गजकुमारोऽपि स्वार्थं निर्मलमानसः ॥ १६०२ ॥

विजयोदया—भूमीए समं भूमौ समं । कीलाकोट्टिददेहो कीलोत्कृतदेहः । अल्लचम्मं व आर्द्रचर्मवत् । भयवंपि भगवान् गजकुमारोऽपि । उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ॥

मूलारा—कीलाकोट्टिद कीलैः प्रसार्य कीलितः ॥

अर्थ—गीले चमडेके समान कीले ठोककर जिनको जमीनके साथ एक कर दिया है ऐसे भगवान गजकुमार मुनीने उत्तमार्थ को रत्नत्रयको साध लिया अर्थात् रत्नत्रय प्राप्तिके द्वारा वे मुक्त होगये.

कच्छुजरखाससोसो भत्तच्छदुच्छिकुच्छिदुक्खाणि ॥
अधियासयाणि सम्मं सणक्कुमारेण वाससयं ॥ १५४२ ॥

कासशोषारुचिच्छर्दिकच्छुप्रभृतिवेदनाः ॥
सोढाः सनत्कुमारेण यतिना शरदां शतम् ॥ १६०३ ॥

विजयोदया—कच्छुजरखाससोसो कच्छूज्वरकासशोषाः । भत्तेच्छदुच्छिकुच्छिदुक्खाणि तीव्रो जठराग्निः अक्षिकुक्षि दुःख च । अधियासयाणि असंक्लेशेन धृतानि सणक्कुमारेण सनत्कुमारेण । वाससदं वर्षशतं ॥

मूलारा—कच्छू कण्डूः । जर ज्वरः । भत्तेच्छदुच्छिकुच्छिदुक्खाणि तीव्रजठराग्निर्जठरबाधाः । अन्ये अभत्तच्छंदि इति पठित्वा अभक्तच्छन्दः अरुचिः । छद्दि छर्दिरित्यर्थमाहुः । अधियासिदा सोढानि । सम्मं निःसंक्लेशं । वाससदं वर्षशतम् ॥ १४१२

अर्थ—कच्छु, ज्वर, खासी, श्वास, भस्मक व्याधि, आंखके रोग, इत्यादिक रोगोंसे होनेवाली पीडा सनत्कुमार मुनिने जो कि गृहस्थावस्थामें चक्रवर्ती थे सो वर्ष तक संक्लेश परिणामके विना धारण की परंतु रत्नत्रयका त्याग नहीं किया.

णावाए णिव्वुडाए गंगामज्झे अमुज्झमाणमदी ॥
आराधणं पवण्णो कालगओ एणियापुत्तो ॥ १५४३ ॥

गंगायां नावि मग्नायां एणिकातनयो यतिः ॥
अमूढमानसः स्वार्थं साधयामास शाश्वतम् ॥ १६०४ ॥

विजयोदया—णावाए णिव्वुडाए नावि निमग्नायां च । गंगामज्झे गंगाया मध्ये । अमुज्झमाणमदी अमुह्यमानमतिः । आराधणं पवण्णो आराधनां प्रतिपन्नः । कालगओ सन् । कालं गतः । एणियापुत्तो एणिकपुत्रनामधेयो यतिः ॥

मूलारा—कालगदं मरणं प्राप्तः । एणियापुत्तो एणिकापुत्राख्यो मुनिः ॥

अर्थ—एणिकापुत्र नामके यतिराज नावमें आरोहण कर गंगाके दूसरे किनारे पर जारहे थे तब वह नाव गंगामें डूब गई परंतु मुनिराजकी बुद्धि में जरासाभी मोह उत्पन्न नहीं हुआ और वे आराधनाप्राप्ति कर मर गये.

ओमोदरिए घोराए भद्दबाहू असंकिलिट्ठमदी ॥
घोराए तिगिंच्छाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥ १५४४ ॥

अवमोदर्यमंत्रेण भद्रबाहुर्महामनाः ॥
बुभुक्षाराक्षसीं जित्वा स्वीचकारार्थमुत्तमम् ॥ १६०५ ॥

विजयोदया—ओमोदरिए घोराए घोरेणावमोदर्येण तपसा समन्वित । भद्दबाहू असंकिलिट्ठमदी भद्रबाहुरसंक्लिष्टचित्तः । घोराए तिगिंच्छाए घोरया क्षुधा बाधितोऽपि । पडिवण्णो उत्तमं ठाणं प्रतिपन्न उत्तमार्थं ॥

मूलारा—ऊमोदरिए अवमोदर्येण तपोविशेषेण विशिष्टः । तिगिंछाए बुभुक्षया ॥

अर्थ—घोर अवमोदर्य तप करनेवाले भद्रबाहु मुनि तीव्र भूखसे पीडित होनेपर भी संक्लेश परिणाम के वश नहीं हुए और उन्होने रत्नत्रय को प्राप्त कर लिया.

कोसंबीललियघडा वूढा णइपूरएण जलमज्झे ॥
आराधणं पवण्णा पाओवगदा अमूढमदी ॥ १५४५ ॥

चंपाए मासखमणं करित्तु गंगातडम्मि तण्हाए ॥
घोराए धम्मघोसो पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥ १५४६ ॥

मासोपवाससंपन्नश्चंपायां तृड्ज्वरार्दितः ॥
धर्मघोषो मुनिः प्राप्तः स्वार्थं गंगानदीतटे ॥ १६०६ ॥

विजयोदया—चंपाए चंपानगर्यां । मासखवणं करित्तु मासोपवासं कृत्वा । गंगातडम्मि गंगायास्तटे । तण्हाए घोराए तृष्णया तीव्रया बाधितोऽपि । धम्मघोसो धर्मघोषः । उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ।

मूलारा—कोसंबी कौशांब्यां नगर्यां । ललियघडा ललिताः सुखवर्धिताः इंद्रदत्तादयो द्वात्रिंशदिभ्याः श्रावकाः तेषां घटाः समुदायाः । णदिपूरेण यमुनाप्रवाहेण । पाओवगदा प्रायोपगमनमरणं प्राप्ताः । एतां श्रीविजयो नेच्छति ॥

मूलारा—मासखमणं मासोपवासं । करित्तु कृत्वा ॥

अर्थ—कौशांबी नगरीमें ललित घट नामके मुनिओंका समुदाय नदीके प्रवाहसे बह गया तो भी संक्लेश परिणामके वश वह नहीं हुआ.

तात्पर्य—सुखसे जिनके दिन व्यतीत होगये थे ऐसे इंद्रद्रदत्तादिक बत्तीस श्रीमंत वैश्यपुत्र थे. उन्होंने दीक्षा लेकर यमुना नदीके तटपर तप किया. एक दिन वे सब यमुनानदीके प्रवाहसे बह गये परंतु रत्नत्रयमें स्थिर रहकर उन्होंने प्रायोपगमन मरण प्राप्त कर लिया.

चंपानगरीमें एक महिनाके उपवास करके गंगानदीके किनारेपर तीव्र प्यासले पीडित होनेपर भी धर्मघोष मुनिराजने असंक्लिष्ट परिणामोंसे उत्तमार्थ प्राप्त कर लिया.

सीदेण पुव्ववइरियदेवेण विकुव्विएण घोरेण ॥
संतत्तो सिरिदत्तो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४७ ॥

अर्थ—दंश और मशकोंसे भक्षण किया गया विद्युच्चरनामक मुनि तीव्र वेदनाओंको सहकर रत्नत्रयारा-धनाको प्राप्त हुआ.

हत्थिणपुरगुरुदत्तो सम्मलिथाली व दोणिमंतम्मि ॥
डज्झंतो अधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५५२ ॥

वास्तव्यो हास्तिने धीरो द्रोणीमालिमहीधरे ॥
गुरुदत्तो यतिः स्वार्थं जग्राहानलवेष्टितः ॥ १६१२ ॥

विजयोदया—हत्थिणपुरगुरुदत्तो हास्तिनापुरवास्तव्यो गुरुदत्तः । संवलियालीव हस्तिसंकोश निरामास [?] पूर्णभाजनं अर्कपत्रपिहितमिदं अधमुखं संस्थाप्य उपरिभाजनस्य अग्निप्रक्षेप. संवलीत्युच्यते ॥ तद्वच्छिरसि निक्षिप्ताग्निः । द्रोणिमंतम्मि द्रोणीमत्पर्वते दह्यमानः मपद्यः उत्तमार्थं ॥

मूलारा—हत्थिणपुरगुरुदत्तो हास्तिनं पुरं यस्यासौ हास्तिनपुरो हास्तिनागपुरस्वामी स चासौ गुरुदत्तश्च स मुनिः सन् । संवलिथालीए धान्यशिंबिपूरितमर्कपत्रप्रच्छादितमधोमुखभाजनं सर्वत्राग्निसंवेष्टितं संवलिस्थालीत्युच्यते ॥ दोणिमंतम्मि द्रोणिमति पर्वते । अधियासिय तद्दाहवेदनां सहित्वा ॥

अर्थ—हस्तिना नगरके गुरुदत्त नामक मुनि द्रोणिमति पर्वतपर तप करते थे. कोई दुष्टने संभली थाली के समान उनके मस्तकपर अग्नि रखकर जलाया था. उसकी घोर वेदना सहकर वे रत्नत्रयको प्राप्त होगये. मट्टीके भाजनमें धानकी फली भरकर चारों तरफ आंकके पत्ते भरना चाहिये अनंतर उस भाजनका मुंह नीचे करके उसके चारो तरफ अग्नि लगा देना चाहिये इसको ही संभलीथाली कहते हैं.

गाढप्पहारविद्धो पूइंगलियाहिं चालणीव कदो ॥
तध वि य चिलादपुत्तो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५५३ ॥

गाढप्रहारविद्धोऽपि कीटिकाभिरनाकुलः ॥
स्वार्थं चिलातपुत्रोऽगाच्चालनीकृतविग्रहः ॥ १६१३ ॥

विजयोदया—गाढप्पहारविद्धो नितरामायुधैर्विद्धः । पूइंगलियाहिं कृष्णैः स्थूलोत्तमांगैः पिपीलिकाभिः । चालणीव कदो चालनीव कृतश्चिलातपुत्रस्तथाप्युत्तमार्थमुपगतः ॥

मूलारा—गाढप्रहारविद्धो नितरामायुधैर्विद्धः । पूइगिलियाइंहिं स्थूलमस्तककृष्णकीटिकाभिः । चिलादपुत्तो चिलातपुत्रो मुनिः ॥

अर्थ—तीव्र शस्त्रप्रहार होनेसे जो जखमी हुये थे और जिनका मस्तक बडा है ऐसी काली काली चींटीओंने खाकर जिनका शरीर चालनीके समान छिद्रमय किया था ऐसे चिलातपुत्रनामक मुनि उत्तमार्थ को प्राप्त हो गये.

दंडो जउणावंकेण तिक्खकंडेहिं पूरिदंगो वि ॥
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५५४ ॥

यमुनावक्रनिक्षिप्तः शरपूरितविग्रहः ॥
अध्यास्य वेदनां चंडः स्वार्थं शिश्राय धीरधीः ॥ १६१४ ॥

विजयोदया—दंडो दंडनामको यतिः । जमुणावंकेण यमुनावक्रसंज्ञितेन । तिक्खकंडेहिं तीक्ष्णैः शरैः पूरितांगोऽपि रत्नत्रयं समाराधयति स्म ॥

मूलारा—धण्णो धन्यो नाम मुनिः । दंडो इत्यन्ये । जमुणावंकेण यमुनावक्रनाम्ना राज्ञा ॥

अर्थ—दंड नामक मुनिराजके ऊपर यमुनावक्र नामक दुष्टमनुष्यने बाणोंकी वृष्टि करके उनका सर्व शरीर व्रणयुक्त कर दिया तो भी उस मुनिराजने रत्नत्रयकी आराधना की ही.

अभिणंदणादिया पंचसया णयरम्मि कुंभकारकडे ॥
आराधणं पवण्णा पीलिज्जंता वि यंतेण ॥ १५५५ ॥

यंत्रेण पीड्यमानांगाः प्राप्ताः पंचशतप्रमाः ॥
कुंभकारकटे स्वार्थमभिनंदनपूर्वगाः ॥ १६१५ ॥

विजयोदया—अभिणंदणादिगा अभिनंदनप्रभृतयः पंचशतसंख्याः, कुंभकारकटे नगरे यंत्रेण पीड्यमाना अप्याराधनं प्राप्ताः ॥

मूलारा—कुंभकारकडे कुंभकारकटसंज्ञे ॥

पूर्वकारातिदेवेन कृतैः शीतोष्णमारुतैः ॥
श्रीदत्तः पीड्यमानोऽपि जग्राहाराधनां सुधीः ॥ १६०७ ॥

विजयोदया—सीदेण शीतेन। संतत्तो संतप्तः। पुव्ववइरियदेवेण विकुव्विएण पूर्वजन्मशत्रुणा देवेनोत्पादितेन सिरिदत्तः श्रीदत्तः। उत्तमार्थमुपगतः॥

मूलारा—विउव्विदेण उत्पादितेन। संतत्तो पीडितः। सिरिदिण्णो श्रीदत्तः॥

अर्थ—पूर्व जन्मका वैरी किसी देवने शीतजल वृष्टि, व शीत हवा उत्पन्न कर श्रीदत्तनामक मुनीको घोर दुःख दिया था तो भी इस मुनीश्वरने उत्तमार्थ प्राप्त कर ही लिया.

उण्हं वादं उण्हं सिलादलं आदवं च अदिउण्हं ॥
सहिदूण उसहसेणो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४८ ॥
मारुतं ग्रैष्मकं तापं वह्नितप्तं शिलातलम् ॥
सोढ्वा वृषभसेनोऽपि स्वार्थं प्रापदनाकुलः ॥ १६०८ ॥

विजयोदया—उण्हं धादं उष्णं वातं, उण्हं सिलादलं उष्णं शिलातलं॥ आदवं च अदिउण्हं आतापं चात्युष्णं सहिदूण मसह्य वृषभसेन उत्तमार्थं प्रतिपन्नः॥

मूलारा—सिलादलं शिलातलं। आदवं आतपं। उसभसेणो वृषभसेनः॥

अर्थ—अतिशय उष्ण वायु, अग्निसे गरम किया हुआ पर्वतका शिलातल और सूर्यसंताप इन तापत्रयसे पीडित होनेपर भी वृषभदत्तने यह सब सह लिया तथा उत्तमार्थ को वश किया.

रोहेडयम्मि सत्तीए हओ कोंचेण अग्गिदइदो वि ॥
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४९ ॥
अग्निराजसुतः शक्त्या विद्धः क्रौंचेन संयतः ॥
रोहेडकपुरे सोढ्वा देवीमाराधनां श्रितः ॥ १६०९ ॥

विजयोदया—रोहेडयम्मि रोहेडगे नगरे । सत्तीए हवो शक्त्या हतः । कोंचेण क्रौंचनामधेयेन । अग्गिदइदोवि अग्निराजसुतोऽपि । तं वेयणमधियासिय तां वेदनां प्रसह्य । उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ॥

मूलारा—रोहेडयम्मि रोहेटकनाम्नि नगरे । सत्तीए शक्त्या शस्त्रविशेषेण । कोंचेण क्रौंचनाम्ना राज्ञा । अग्गिदइदो अग्निराजनाम्नो राज्ञः पुनः कार्तिकेयसंज्ञः । अधियासिय अध्यास्य प्रसह्येत्यर्थः ।

अर्थ—रोहेड नगरमें क्रौंच राजाने अग्निराजाका पुत्र कार्तिकेय मुनिको शक्ति नामक शस्त्रसे मारा था तब मुनिराजने उस दुःखको सह कर रत्नत्रयकी प्राप्ति की.

काइंदि अभयघोसो वि चंडवेगेण छिण्णसव्वंगो ॥
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥ १५५० ॥
काकंद्यां चंडवेगेन छिन्ननिःशेषविग्रहः ॥
विपद्याभयघोषोऽपि पीडामाराधनां गतः ॥ १६१० ॥

विजयोदया—काइंदि अभयघोसो काकंद्यां नगर्यां अभयघोषोऽपि । चंडवेगेण छिण्णसव्वंगो चंडवेगेन छिन्नसर्वांगः ॥

मूलारा—काकंदि काकंद्यां नगर्यां । अभयघोसो अभयघोषः ॥ चंडवेगेण चंडवेगनाम्ना राजपुत्रेण ॥

अर्थ—काकंदी नामक नगरमें चंडवेग नामक दुष्ट राजपुत्रने अभयघोष मुनि के सर्व अंगोंको छेद डाला था तो भी वह तीव्र वेदना उन्होंने सह कर उत्तमार्थकी प्राप्त कर ली.

दंसेहिं य मसएहिं य खज्जंतो वेदणं परं घोरं ॥
विज्जुच्चरोऽधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५५१ ॥
प्रपेदे मशकैर्दंशैः खाद्यमानो महामनाः ॥
विद्युच्चोरमुनिः स्वार्थं सोढदुःसहवेदनः ॥ १६११ ॥

विजयोदया—दंसेहिं य दंशैर्मशकैश्च भक्ष्यमाणः विद्युच्चरचोरस्तां वेदनां अवगणय्य आराधनां प्रपन्नः ॥

मूलारा—विज्जुचरो विद्युच्चरः ॥

अर्थ—अभिनंदनादिक पांचसो मुनिओंको कुंभकारकट नामक नगरमें यंत्रोंमें पेलकर मारा था तो भी उन्होंने आराधनाका त्याग किया ही नहीं.

गोट्ठे पाओवगदो सुबंधुणा गोच्चरे पलिवदम्मिं ॥
डज्झंतो चाणक्को पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५५६ ॥
वसदीए पलिविदाए रिट्ठामच्चेण उसहसेणो वि ॥
अराधण पवण्णो सह परिसाए कुणालम्मि ॥ १५५७ ॥

कुलालेऽरिष्टसंज्ञेन दग्धायां वसतौ गणी ॥
सार्धं वृषभसेनोऽगादुत्तमार्थं तपोधनैः ॥ १६१६ ॥

विजयोदया—वसदीए पलिविदाए वसतौ दग्धायां। रिट्ठामात्यनामधेयेन वृषभसेनः सह मुनिपरिषदा प्रतिपन्न आराधनाम् ॥

मूलारा—गोट्ठे गोकुले। पाओवगदो प्रायोगमनं श्रितः। सुबंधुणा सुबंधुनाम्ना मंत्रिणा। गोच्चरे करीषे। पलित्तम्मि प्रदीपिते। एतां श्री विजयो नेच्छति ॥

मूलारा—रिट्ठामच्चेण रिष्टनाम्ना मंत्रिणा। परिसाए परिषदा। स्वशिष्यसमाजेनेत्यर्थः। कुणालम्मि कुणालपुरे ॥

अर्थ - गोठमें चाणक्य नामक मुनिने प्रायोपवेशन धारण किया था. सुबंधुनामक राजमंत्री उसका वैरी था. उसने गोमय-कंडोंकी राशिमें चाणक्य मुनिको अग्नि लगाकर जलाया. तो भी उन्होंने रत्नत्रयाराधनाका त्याग नहीं किया. और उत्तम अर्थ को वे प्राप्त हुए.

अर्थ— कुणालनगरकी एक वसतिकामें आग लगाकर रिष्ट नामक राजमंत्रीने अनेक शिष्योंके साथ वृषभसेन नामक मुनिराजको जलाया तो भी संपूर्ण शिष्योंके साथ मुनिराजने आराधनाको धारण किया.

जदिदा एवं एदे अणगारा तिव्ववेदणट्टा वि ॥
एयागी पडियस्सा पडिवण्णा उत्तमं अट्ठं ॥ १५५८ ॥

अमी तपोधनाः मान्याः स्वार्थमेकाकिनो यदि ॥
अध्यास्य वेदनास्तीव्राः निःप्रतीकारविग्रहाः ॥ १६१७ ॥

विजयोदया—अथवा एवं यदि तावदेयमेते यतयस्तीव्रवेदनापीडिता अपि एकाकिनोऽप्रतीकारा उत्तमार्थं प्रतिपन्नाः ॥

मूलारा—एगागी एकाकिनोऽसहायाः ॥

अर्थ—यदि ये उपर्युक्त दृष्टांतरूप मुनिओंने तीव्र वेदनाओंसे पीडित होकर भी अकेले ही तीव्रवेदनाका कुछभी इलाज नहीं किया. और उत्तमार्थ की अर्थात् रत्नत्रयाराधना की प्राप्ति की.

किं पुण अणयारसहायगेण कीरंतयम्मि पडिकम्मे ॥
संघे ओलग्गते आराधेदुं ण सक्केज्ज ॥ १५५९ ॥

चतुर्विधेन संघेन विनीतेन निषेवितः ॥
तदाराधयसे न त्वं देवीमाराधनां कथम् ॥ १६१८ ॥

विजयोदया—किं पुण अणगारसहायगेण किं पुनर्न शक्यते आराधयितुं अनगारसहायेन भवता क्रियमाणे प्रतिकारे संघे चोपासनां कुर्वति सति ॥

मूलारा—ओलग्गते उपासनां कुर्वति सति । ण सक्केज्ज न शक्येत त्वया ॥

अर्थ—हे क्षपक! तुम तो अनेक मुनिओंकी सहायतासे युक्त हो और तुह्मारी तीव्र वेदनाका इलाजभी हो रहा है. संघमें अनेक मुनि भी तुह्मारी शुश्रूषा करते हैं. अतः तुम आराधना देवीकी भक्ति क्यों नहीं करते हो ?

जिणवयणममिदभूदं महुरं कण्णाहुदिं सुणंतेण ॥
सक्का हु संघमज्झे साहेदुं उत्तमं अट्ठं ॥ १५६० ॥

कर्णाञ्जलिपुटैः पीत्वा जिनेंद्रवचनामृतम् ॥
संघमध्ये स्थितः शक्तः स्वार्थं साधयितुं सुखम् ॥ १६१९ ॥

विजयोदया—जिणवयणं जिनानां वचनं, । अमृतभूतं, मधुरं कर्णाहुतिं शृण्वता त्वया संयमध्ये शक्यमाराधयितुं ॥

मूलारा—कण्णाहुदि कर्णयोराहुतिरिव । तयोरग्निरिव पाटवकारित्वात् । सक्का शक्या त्वया ॥

अर्थ—जिनेश्वरका वचन अमृतके समान मीठा है, कर्णको प्रिय है इसका तुमको उपदेश प्रतिदिन मिलता है अतः इस संघमें तुमको रत्नत्रयाराधना करना अशक्य नहीं है.

णिरयतिरिक्खगदीसु य माणुसदेवत्तणे य संतेण ॥
जं पत्तं इह दुक्खं तं अणुचिंतेहि तच्चित्तो ॥ १५६१ ॥

श्वभ्रतिर्यग्नरस्वर्गसुखदुःखानि सर्वथा ॥
त्वं चिंतय महाबुद्धे भवलब्धान्यनेकशः ॥१६२०॥

विजयोदया—णिरयतिरिक्खगदीसु य नरकातिर्यग्गतिषु च । माणुसदेवत्तणे य संतेण मानुषत्वदेवत्वयोश्च सता यत्प्राप्तं इह सुखानंतरं दुःखं तं अणुचिंतेहि तच्चित्तस्तदनुचिंतय ॥

एवं प्राक्तनमहासत्वमुमुक्षुवर्गदुःसहपरीषहोपसर्गसहनप्रदर्शनप्रबंधेनाराधकस्य धृतिबलभावनामुद्बोध्य सांप्रतमनादिकालानुभूतचातुर्गतिकदुःखसुखानुचिंतनबलेन तत्सहनं प्रबंधेनोपदिशति—

मूलारा—संतेण सता भवता । तच्चित्तो तद्गतमनाः ॥

अर्थ- नरकगति तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगतिओंमें हे क्षपक ! तुमने जो दुःख सहन किया है उसका भी तो तुम कुछ विचार करो.

णिरएसु वेदणाओ अणोवमाओ असादबहुलाओ ॥
कायणिमित्तं पत्तो अणंतखुत्तो बहुविधाओ ॥ १५६२ ॥

नरके वेदनाश्चित्रा दुःसहासातदायिनीः ॥
देहासक्ततया प्राप्ताश्चिरं यास्ता विचिंतय ॥ १६२१ ॥

विजयोदया—णिरएसु नरकेषु। वेदणाओ वेदनाः। अणोवमाओ अनुपमाः। तादृश्या वेदनाया जगत्यन्यस्या अभावात्। असादबहुलाओ असद्वेद्यकर्मबहुलाः। कारणबहुलत्वेन कार्यानुपरतिराख्याता। कायणिमित्तं पत्तो शरीरनिमित्तासंयमार्जितकर्मनिमित्तत्वान्मूलकारणं निर्दिष्टं कायनिमित्तमिति। अणंतसो अणंतवारं। तं भवान्। बहुविधाओ बहुधाः॥

इतो नरकदुःखानुचिंतने गाथानामेकान्नविंशत्या क्षपकं व्यापारयति—

मूलारा—अणोवमाओ अनुपमास्तादृश्याः पीडायास्त्रिषु लोकेष्वपि अन्यस्या अभावात्। असादबहुलओ असद्वेद्यकर्मोदयप्रबंधेन निरंतरं प्रवर्तमाना इत्यर्थः। कायणिमित्तं शरीररक्षानिमित्तासंयमार्जितकर्मनिमित्तत्वात्तासां मूलकारणज्ञापनार्थं इदं। पत्तो प्राप्तस्त्वं जीव इति वा। बहुविधाओ उष्णशीतनरकादिकारणनानात्वादनेकप्रकाराः॥

अर्थ—नरकमें तुमने ऐसी तीव्रवेदनाओंका अनुभव लिया है कि जगतमें अन्यत्र कहीं भी ऐसी वेदनायें नहीं हैं. असाता वेदनीय कर्मका बहुत काल तक तीव्र उदय होनेसे नरकमें सतत दुःख भोगना पडता है. हे क्षपक! शरीरके निमित्त अर्थात् शरीरके मोहमें पडकर तू असंयमी हुआ था, इससे तेरे को दीर्घकालीन असाताकर्मका बंध हुआ था. अनंत भवोंमें इस कर्मके उदयसे तूंने दुःख भोगा है.

उष्णनरकेषु उष्णमहत्तासूचनार्थोत्तरा गाथा—

जदि कोइ मेरुमत्तं लोहुण्डं पक्खविज्ज णिरयम्मि॥
उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विलेज्ज सो तत्थ॥ १५६३॥

क्षिप्तः श्वभ्रावनौ क्षिप्रं मेरुमात्रोऽपि सर्वथा॥
उष्णामुर्वीमनासाद्य लोहपिंडो विलीयते॥ १६२२॥

विजयोदया—णिरयम्मि उण्हे लोहुण्डं मेरुमत्तं जदि कोइ पक्खिवेज्ज उष्णनरके लोहपिंडं मेरुसमानं यदि कश्चिद्देवो दानवो वा प्रक्षिपेत्। सो तत्थ भूमिमपत्तो चेव विलेज्ज लोहपिंडो भूमिमप्राप्त एव द्रवतामुपयाति। उण्हेण उष्णेन नरकबिलानां॥

नारकाणामुग्रदुःखनिमित्तमुष्णत्वमहत्त्वमुपपत्तिकल्पनया ख्यापयति—

मूलारा—कोइ कश्चिद्देवो दानवो वा। लोहुंडं लोहपिंडं। उण्हे उष्णे प्रकृत्या। आर्षत्वादुष्णमिति वा। भूमिमपत्तो भूतलमप्राप्यैवेत्यर्थः। णिमिसेण निमेषमात्रकालेन। विलेज्ज द्रवीभवेत्॥

अर्थ—उष्ण नरकमें यदि देव अथवा राक्षस मेरुप्रमाण लोहका गोला फेक देगा तो वह बिलकी तलभूमीको प्राप्त होनेके पूर्वमेंही बिलकी उष्णतासे पिघलकर पानी होता है.

तह चेव य तद्देहो पज्जलिदो सीयाणिरयपक्खित्तो ॥
सीदे भूमिमपत्तो णिमिसेण सडिज्ज लोहुण्डं ॥ १५६४ ॥

क्षिप्तस्त्वाग्निना तप्तो मेरुमात्रः सहस्रधा ॥
शीतामवानिमप्राप्य लोहपिंडो विशीर्यते ॥ १६२३ ॥

विजयोदया—तह चेव तथैव। तद्देहो मेरुमात्रदेहः लोहुंडो लोहपिंडः। पज्जलिदो प्रज्वलितः। सीदणिरयम्मि शीतनरके। पक्खित्तो प्रक्षिप्तो भूमिमप्राप्त एव। सीदेण सडिज्ज शीतेन विशीर्यते॥

तद्वच्छीततीव्रतां ब्रवीति—

मूलारा—तद्देहोच्चिय मेरुमात्र एव। पज्जलिदो ज्वलनसंतप्तः। सीदो शीतं। सडेज्ज खंडखंडी भवेत्॥

अर्थ—यदि वही लोहका गोला उष्णतासे पिघला हुआ शीत नरक बिलमें फेक दिया जायगा तो वहांकी शीत भूमीका स्पर्श होनेके पूर्वमें ही थंडीसे उसके टुकडे टुकडे हो जायेंगे.

शीतोष्णजनितवेदनातिशयमुद्दिश्य शारीरवेदनामाचष्टे—

होदि य णरये तिव्वा सभावदो चेव वेदणा देहे ॥
चुण्णीकिदस्स वा मुच्छिदस्स खारेण सित्तस्स ॥ १५६५ ॥

तादृशी वेदना श्वभ्रे घोरदुःखे निसर्गजा ॥
यादृशी चूर्णितस्यास्ति क्षिप्तक्षारस्य चेतनः ॥ १६२४ ॥

विजयोदया—होदि य णरये तिव्वा भवति च नरके तीव्रा वेदनाः। देहे शरीरे। सभावदो चेव स्वभावत एव। चुण्णीकदस्सेव चूर्णीकृतस्येव। खारेण सित्तस्स क्षारेण सिक्तस्य। अमुच्छिदस्स अमूर्छितस्य। यादृशी वेदना तादृश्येव शरीरे येत्रेति यावत्॥

नरकेषु परमोष्णशीतप्रभवां तीव्रां वेदनां निवेद्य नैसर्गिकीं शरीरपीडामुपमानबलेन व्यनक्ति—

मूलारा—चुण्णीकदस्स मुद्गरादिना क्षुण्णस्य मानुषस्य यथा । अमुच्छिदस्स मूर्च्छामप्राप्तस्य चेतयमानस्येत्यर्थः ।

उक्तं च—

तादृशी वेदना श्वभ्रे घोरे दुःखे निसर्गजा ॥
यादृशी चूर्णितस्यास्ति क्षिप्तक्षारस्य चेततः ॥

शीतोष्ण वेदनाका वर्णन हुआ अब शारीरिक वेदनाका वर्णन करते हैं—

अर्थ—मुद्गरादिकोंसे जिसको चूर्ण किया है, जिसके ऊपर क्षार जलका सिंचन किया है ऐसे अमूर्च्छित मनुष्यके शरीरमें जैसी वेदना होती है वैसी वेदना नरकमें जीवको स्वभावतः ही होती है.

णिरयकडयम्मि पत्तो जं दुक्खं लोहकंटएहिं तुमं ॥
णेरइएहिं य तत्तो पडिओ जं पाविओ दुक्खं ॥ १५६६ ॥

यच्छ्वभ्रावसथे भीमे प्राप्तो दुःखमनेकधा ॥
निशितैः कटकैर्लोहैस्तुद्यमानः समंततः ॥ १६२५ ॥

विजयोदया—णिरयकडयम्मि नरकबिलसमूहे-नरककंधावारे इति केचिद्वदन्ति । अन्ये तु निरयगर्ते इति । पत्तो जं दुक्खं यद्दुःखं प्राप्तः । लोहकंटएहिं निशिततरलोहकंटकैः तुद्यमानस्त्वं ॥

इतो नरकेषु विचित्राणि तीव्रदुःखांतराणि बहुशः प्राप्तपूर्वाणि परीषहोपसर्गदुःखतीव्रतापविस्मारणाय संन्यासिनं बोधयति—

मूलारा—णिरयकडयम्मि रत्नप्रभादिभूमिबिलसमूहे अन्ये कटकशब्देन स्कंधावारमाहुरपरे गर्तम् । जं दुक्खं तं अणुचिंतेहि णिस्सेसमिति गत्वा संबंधः कार्यः । लोहकंटयेहिं निशिततरलोहकंटकैस्तुद्यमानस्त्वं । तत्तो तस्माल्लोहकंटकनिचितभूमिभागान्निष्क्रान्तः सन् । एषा केषांचिदाचार्याणां मतेन व्याख्या ॥ उक्तं च—

नरककटे त्वं प्राप्तो यद्दुःखं लोहकंटकैस्तीक्ष्णैः ॥
यन्नारकैस्ततोऽपि च निष्क्रान्तः प्रापितो घोरम् ॥

अन्येषां त्वयं पाठो मन्यते । "णेरइएहिं य संतो पडिदो तिक्खेहिं तुदंतो" पूर्वार्द्धं तु समानम् तदुक्तं—

आयसैःकंटकैः प्राप्तो यद्दुःखं नरकावनौ ॥

नारकैस्तुद्यमानः सन्पतितो निशितैर्भवान् ॥

अर्थ—नरकके बिलोंमें अतिशय तीक्ष्ण लोहेके कंटकोंसे जो दुःख तुमने प्राप्त किया है उसका इस समय तुम चिंतन करो. अर्थात् वह भुक्त दुःखसे अनंत गुण बडा था ऐसा समझकर सांप्रतका दुःख तुम शांत भावसे सहन करो.

जं कूडसामलीए दुक्खं पत्तोसि जं च सूलम्मि ॥
असिपत्तवणम्मि य जं जं च कयं गिद्धकंकेहिं ॥ १५६७ ॥

यच्छूले कूटशाल्मल्यामसिपत्रवने गतः ॥
सर्वतो भक्ष्यमाणोऽयं कंककाकादिपक्षिभिः ॥ १६२६ ॥

विजयोदया—जं कूडसामलीहिं य यद् त्वं प्राप्तोऽसि विक्रियाजनितनिशातशाल्मलीभिः । ऊर्ध्वमुखैरधोमुखैश्च तीक्ष्णकंटकैराकीर्णकूटशाल्मलीरारोहन् नारकभयात् । जं च सूलम्मि यच्च दुःखमवाप्तोसि शूलाग्रप्रोतः । असिपत्तवणम्मि य जं असय एव पत्राणि यस्मिन्वा तदसिवनं । उष्णार्दितानां पूत्कुर्वतां नारकाणां असिपत्रवनेऽनेकासुरविक्रियाविनिर्मितविचित्रायुधपत्राणि वनानि । जं च कयं यच्च कृत । गिद्धकंकेहिं गृद्धैः कंकैश्च वज्रमयैस्तुंडैः तरललोचनैस्तुदंति । तीक्ष्णीकृतक्रकचसदृशैः पक्षैः प्रहरंति नित्यं । नखरपकैश्चरणांकुशैस्ताडयन्ति ॥

मूलारा—कूडसामलीए ऊर्ध्वाधोमुखकंटकाकीर्णविक्रियाकृते शाल्मलीवृक्षे नारकैर्धृष्यमाणःसन् । तद्भयाद्वा समारोहन् । शूलम्मि शूलाग्रेष्वंतःप्रोतःसन् ॥ असिपत्तवणम्मि उष्णार्तानां पूत्कुर्वतां नारकाणां कृते संक्लिष्टासुरैर्निर्मिते खड्गसमानपत्रद्रुमसमूहे । च शब्दाच्चित्रायुधपत्रवनेषु । गिद्धकंकेहिं गृद्धैःकंकैश्च । ते हि वज्रमयतुंडैर्नेत्राणि तुदंति ॥ तीक्ष्णीकृतक्रकचसपक्षैः प्रहरंति, निशिततरखरपक्षैःखरणांकुशैश्च ताडयंति ॥

अर्थ—नरकमें विक्रियाके सामर्थ्यसे कूट शाल्मली नामक वृक्ष असुर देव बनाते हैं. इस वृक्षको नीचेसे लेकर चोटीतक कांटे रहते हैं.-कोई कांटोंका मुह ऊपर रहता है और कितनोंका मुह नीचे होता है. नारकोंके भयसे दीन नारकी उस वृक्षपर चढते हैं तब कोई नारकी जीव उनको ऊपर खींचते हैं और कोई नीचे खींचते हैं. ऐसे

कायसे उन दीन नारकिओंका देह विदीर्ण होकर उनको घोर वेदना होती है. शूलपर चढानेसे जो दुःख होता है. उगका तूं स्मरण कर. नरकमें असुरदेव विक्रियासे नाना प्रकारके शस्त्रोंके समान जिनके पत्र हैं ऐसे वन उत्पन्न करते हैं. उष्णतासे पीडित होकर रोते हुए नारकी जीव उसमें विश्रामके लिये जाते हैं परंतु वे शस्त्रमय पत्र पडकर उनके अवयव टूटते हैं जिससे उनको घोर वेदना होती है. गीधपक्षी, और बक पक्षीभी अपने वज्रके समान मुंहसे और तीक्ष्ण चरण रूपी अंकुशोंसे नारकिओंको दुःख उत्पन्न करते हैं.

सामसवलेहिं दोसं वइतरणीए य पाविओ जं सि ॥
पत्तो कयंववालुयमइगम्मसायमदितिव्वं ॥ १५६८ ॥
असुरवैतरण्यां च प्रापितो निर्घृणाशयैः ॥
कंदंबवालुकापुंजे गाहमाना यदा सृतः (?) १६२७

विजयोदया—सामसवलेहिं श्यामशवलसंज्ञितैरसुरैः। दोसं दोषं दंडानां। वइतरणीए य पाविओ जं सि। वैतरण्यां नद्यां प्रापितो यदसि। तृडभिभूतानां जलं मृगयतां दिक्षु विन्यस्तदीनलोचनानां शुष्कतालुगलानां वैतरणी नदीमुपदर्शयंति। रंगत्तरंगाकुलां, अगाधनीलनीरभरितन्हदां, विषयसेवेव दुरन्ततृष्णानुबंधनोद्यतां, संसृतिरिव दुरुत्तरां, धारेव विशालां, कर्मपुद्गलस्कंधसंहतिरिव विविधविपद्विधायिनीं, तद्दर्शनाद्दूराद्धोपजातोत्कंठा लब्धजीविताःस इति मन्यामाना द्रुततरगतयस्तामवगाहंते। तदवगाहनानंतरमेव कृतांजलयः पिबंति ताम्रद्रवसन्निभं तदंभः। परुषवचनमिव हृदयदाहविधायि, हा विमलब्धाः स्मेति करुणं रसतां शिरांसि परुषतमसमीरणप्रेरणोत्थिततरंगासिधारा निकृन्तन्ति करचरणानि च। तेनातिक्षारेणोष्णेन, कालकूटविषायमानेन जलेन, व्रणांतरप्रवेशिना दह्यमाना झटिति घटितकरचरणा-स्तटमेव रटन्तः समारोहन्ति। तेषां च ग्रीवासु श्यामशवला महतीः शीला वज्रशृंखलाप्रोता वध्नंति दुर्विमोचाः। वध्वा च तस्यामेव पातयंति। पातितास्तत्र कृतोन्मज्जननिमज्जनानामुत्तमांगानि असुरविक्रियानिर्मितमहामकरकरप्रहारेण जर्जरीभूय निपतंति। पुनश्च तटमारूढान्गच्छतस्तांस्तरूभूय निश्चलं वध्नंति। तानपरिस्पंदमवस्थितान्लक्षीकृत्य विध्यंतीति निशातशरशतसहस्रैः। पत्तो कलंववालुगमदिगम्म प्राप्य कदंबप्रसूनाकारा वालुकाचितदुःप्रवेशाः, वज्रदलालंकृतखदिरांगारकणप्रकरोपमनाः परिप्राप्य तत्र बलात्संचार्यमाणः यत्प्राप्तवानासि दुःखं तच्चिंतय ॥

मूलारा—सामसवलेहिं श्यामशवलसंज्ञकासुरकुमारैः। दोसं दंडनं वइदरणीए य वैतरण्यां च। जं सि यदुःखम-सि त्वं प्रापितः। ते हि नारकाणां तृडभिभूतानां जलमन्वेषमाणानां। दिक्षु निक्षिप्तदीनचक्षुषां। शुष्कतालुमूलानां। नरकनदीं

रंगत्तरंगमालाकुलगंभीरनीलनीरपूरित-ह्रदां । विषयसुखसेवामिव दुरंततृषानुबंधनोद्यतां । संसृतिमिव दुरुत्तरामाशामिवाति विशालां । कर्मपुद्गलसंहतिमिव विचित्रविपत्करीं दर्शयंति । तद्दर्शनाच्च ते दूरादेव समुद्भूतोत्कंठा लब्धजीविताःसंजाताःस्म इति मन्यमानाः । द्रुततरगतयस्तामवगाहन्ते । तदनंतरमेव कृतांजलयः पयः पिबन्ति तप्तताम्रोद्रवमिवात्यंतसर्वांगीण-दाहविधायि । ततश्च तेषां हा विप्रलब्धाःस्म इति करुणं रसतां शिरांसि करचरणं च प्रकुपितसमीरणप्रेरणोच्छ्रिततरंगाति-निशितासिधारा निकृन्तन्ति ॥ तेन च भृशोष्णक्षारवारिणा कालकूटविषदर्पापहारिणा, व्रणांतरप्रवेशिना, दंदह्यमाना झटिति पुनर्घटितशिरःकरचरणास्तटमवरुह्यंतस्ते चटंति । ततश्च तेऽसुरकुमारास्तान्यश्रृंखलाबद्धदुर्विमोचमहाशिलाकूटकंधरां-स्तरसैव पातयन्ति । तत्र च तेषां कृतनिमज्जनोन्मज्जनानां शिरांसि असुरनिर्मितमहामकरकरप्रहारेण जर्जरीभूय निपतं-न्ति । ततश्च ते तटमारूढाःपुनःसंयोजितशिरसां तेषां ताः शिलाः पुनर्निश्चलं बध्नंति । कर्कशधालुगं कर्दमसुकुमारवालिकां पत्राद्यालंकृतां प्रदीप्तखदिरांगारप्रकाशां । अद्रिगम्य प्राप्य । तत्रागतासुरैःसंचार्यमाणो यत्र दुःखं प्राप्तस्तत्स्मर (?) प्रति-मनस्ययचारयेति क्षपकशिक्षा संपादनं ॥

अर्थ—श्यामशबल नामके असुर देवोंके द्वारा वैतरणी नदीमें नारकिओंको जो दुःख दिया जाता है उसका हे क्षपक ! तू स्मरण कर. जिनको तीव्र प्यास लगी है, जो पानीको ढूंढ रहे हैं. चारों दिशाओंमें दीन नेत्र लगाकर जो देख रहे हैं, जिनकी तालु प्याससे सुख गई है, ऐसे नारकिओंको वे असुरदेव वैतरणी नदी दिखाते हैं.

यह नदी अनेक तरंगोंसे उछलती है, इसमें अगाध पानीसे अनेकसरोवर भरे हुए रहते हैं. विषयका सेवन जैसे तृष्णाको बढाता है वैसी यह दुःखदायक नदी प्यास को बढाती है. संसारसे निकलना जैसे कठिन है वैसे वैतरणी नदीमें प्रवेश करनेसे उसमेंसे बाहर निकलना नितांत कठिन है. यह नदी आशाके समान विशाल है. कर्म के पुद्गल जैसे अनेक तरहकी आपत्तिओंको उत्पन्न करते हैं वसी यह नदी भी नारकिओंको अनेक प्रकारके दुःख देती है. इस नदी का दर्शन होते ही नारकिओंको इसमें प्रवेश करनेकी उत्कंठा उत्पन्न होती है. अब हमारे सब दुःख नष्ट होंगे और हम सुखसे जीयेंगे ऐसा समझकर वे उसमें जलदी प्रवेश करते हैं.

उसमें प्रवेश करते ही वे अपनी अंजलिओंसे तांबेके द्रवके समान लाल रंगका पानी पीना शुरू करते हैं, परंतु जैसे कठोर भाषण हृदय को संतप्त करता है वैसा वह जल मनको अतिशय दुःख उत्पन्न करता है. तब हाय! हाय! हम बिलकुल फस गये हैं ऐसा करुण वचन बोलते हैं. अतिशय कठोर वायुसे उछले हुए जलतरंगरूप तरवारियोंसे

नारकियोंके मस्तक, हाथ, पाय टूट जाते हैं. अतिशय क्षार और उष्ण जल कालकूट विषके समान जब व्रणोंमें प्रवेश करता है तब उनको अत्यंत दाहदुःख होने लगता है.

जब उनके हाथ और पैर जुड जाते हैं तब वे नदीके तटपर चढते हैं उस समय श्यामशबल नामके असुर वज्रकी शंखलासे बंधे हुए बडे २ पत्थर उनके गलेमें बांधकर पुनः वैतरणीमें उनको ढकेल देते हैं. पडने पर वे उस नदीमें डूबकर पुनः उपर आते हैं और पुनः डुब जाते हैं. असुरोंके द्वारा उत्पन्न किये मगर नामक प्राणीओंके हाथका आघात होनेसे उनका मस्तक फूट जाता है और वे पुनः नदीमें डुब जाते हैं.

पुनः जब ये तटपर आते हैं तब उनको असुरदेव झाडको निश्चल बांधते हैं और तीक्ष्ण लक्षावधि बाणोंसे विद्ध करते हैं.

तदनंतर वे नारकी जिसमें वज्रके टुकडे मिले हुये हैं, और जो खदिर की अग्नी के समान लालरंगकी है ऐसी अग्नितप्त वालुकामें उन नारकिओंको बलात्कारसे इधर उधर घुमाते हैं. ऐसे समय जो दुःख उनको होता है हे क्षपको उसका तुम विचार करो.

जं पीलमंडवे तत्तलोहपडिमाउले तुमे पत्तं ॥
जं पाइओसि खारं कडुयं तत्तं कलयलं च ॥ १५६९ ॥

तप्तायःप्रतिमाकीर्णे यत्प्राप्तो लोहमंडपे ॥
आयसं पाय्यमानोऽपि प्रतप्तं कललं कटु ॥ १६२८ ॥

विजयोदया—जं पत्तं तं चिंतेहि यत्प्राप्तं दुःखं तच्चिंतय । पीलमंडवे काललोहघटिते मंडपे । तत्तलोहपडिमाउले तप्तलोहप्रतिमाकुले । बलात्कारसंपाद्यमानस्तप्तलोहप्रतिमायुवत्यालिंगितो यद्दुःखं प्राप्तवानसि तन्मनसि निधेहि । जं पाइदोऽसि खारं यत्पायितोऽसि क्षारं । कडुगं कटुकं । तत्तं तप्तं ॥

मूलारा—जं पीलमंडपे काललोहघटितमंडपे । तत्तलोहपडिमाकुले अग्निलोहवर्णतप्तलोहमययुवतिसंघाते । तुमे त्वया । पत्तं प्राप्तं । बलात्कारसंपाद्यमानतप्तलोहप्रतिमायुवत्यालिंगनादिदुःखं । पज्जिदो सि पायितोऽसि । कलयलं ताम्रशीसकविलसर्जरसगुग्गुलसिक्थकलधणजतुवज्रलेपाः क्वाथयित्वा मिलिताः कलकल इत्युच्यंते ॥

अर्थ—काले लोहसे बनाये मंडपमें बहुतसी तपाये लोहकी प्रतिमायें रहती हैं. तुमको उनसे बलात्कारसे आलिंगन करवाते हैं। तब जो दुःख तुमको उत्पन्न होता था उसको तुम ध्यानमें लाओ तथा क्षार, अग्नितप्त और कडुआ रस तुमको पिलाते थे उसका भी तुम स्मरण करो.

जं खाविओसि अवसो लोहंगारे य पज्जलंते तं ॥
कंडुसु जं सि रद्धो जं सि कवल्लीए तलिओ सि ॥ १५७० ॥

दुःस्पर्शं खाद्यमानो यल्लोहमंगारसंचयम् ॥
पच्यमानः कंदकासु मंडका इव रंधितः ॥ १६२९ ॥

विजयोदया—जं खाविओसि यत्खादितोऽसि अवशोऽवशः। बलायंत्रविदारिताननः। लोहंगारे य पज्जलंते तं लोहांगारान्प्रज्वलतः त्वं। कंडसु जं सि रद्धो कंदुकासु यन्मंडका इव पक्व ॥

मूलारा—खादिदो खादितः। अवसो बलायंत्रविदारितमुखतः। लोहंगारे लोहमयांगारान्। तं त्वं कंदसु मंडक पचनार्थासु स्वेदनिकासु। रद्धो मंडक इव पक्वः। कवल्लीए कवल्या कटाहिकायामित्यर्थः ॥

अर्थ—उस नरकमें हे क्षपक! तुमको बलात्कारसे यंत्रके द्वारा मुख फाडकर लोहेके जलते अंगार खिलाये थे. और तुमको मांडेके समान कढाईमें तलाया था. उसका तुम विचार करो.

कुट्टाकुट्टिं चुण्णाचुण्णि मुग्गरमुसुंढिहत्थेहिं ॥
जं वि सखंडो खंडिं कओ तुमं जणसमूहेण ॥ १५७१ ॥

चूर्णितः कुट्टितश्छिन्नो यन्मुद्गरमुसंडिभिः ॥
बहुशः खंडितो लोकैर्यच्छूरस्थैरितस्ततः ॥ १६३० ॥

विजयोदया—कुट्टाकुट्टिं बहुशो यत्कुट्टितश्चूर्णितः मुद्गरमुसंडिहस्तैः, यच्च जनसमूहेन भवान् असकृत्खंडितस्तत्कारणे कुरु ॥

अनुवृत्तिक्रिया भावा सप्तति: सुखशीलता ॥

जपा कृपा दमो दानं प्रसादो मार्दवं क्षमा ॥ १ ॥
इत्येवमाद्याः सुगुणाः प्रशस्ता ये शरीरिणां ॥
तेषु ते दुर्लभा नित्यं कांतारेष्विव मानुषाः ॥ २ ॥
शत्रुर्मित्र उदासीन इत्यन्यत्र त्रिधा जनः ॥
शत्रुरेव हि सर्वोऽत्र जनः सर्वस्य नारकः ॥ ३ ॥
कंपनैः कणयैश्चक्रैर्नाराचैः क्रकचैर्नखैः ॥
गदाभिर्मुशलैः शूलैः प्रासैः पाषाणपट्टिशैः ॥ ४ ॥
मुष्टिभिर्यष्टिभिर्लोष्टैः शंकुभिः शाकिभिः शरैः ॥
असिभिः क्षुरिकाभिश्च कुंतैर्दंडैः सतोमरैः । ५ ॥
तथा प्रकारैरन्यैश्च निशितैर्नैकसंस्थितैः ॥
भूस्वभावात्स्वयं जातैर्वैक्रियैरपि चायुधैः ॥ ६ ॥
नारकास्तत्र तेऽन्योन्यं रोषवेगेन पूरिताः ॥
पूर्ववैराण्यनुस्मृत्य वैभंगज्ञानसंभवात् ॥ ७ ॥
घ्नंति छिंदंति भिंदंति खादंति च तुदंति च ॥
विध्यंति चापि मथ्नंति प्रहरन्ति हरन्ति च ॥ ८ ॥
श्वशृगालवृकव्याघ्रगृध्ररूपाणि चापरे ॥
विकृत्य विविधं पापा बाधंतेऽत्र परस्परं ॥ ९ ॥
काष्ठशैलशिलारूपैर्निपतंति च केषु चित् ॥
पततस्तान्प्रतीच्छंति ते च शूलाग्रसंस्थिताः ॥ १० ॥
मज्जयंति जलीभूय वायूभूय तुदंति च ॥
दहंति दहनीभूय न दयंति परस्परं ॥ ११ ॥
तिष्ठ दासेय हन्मि त्वां त्वं कुतस्त्यः पलायसे ॥
निगूहसे महामोहान्मृत्युस्त्वां समुपस्थितः ॥ १२ ॥
छिंद्धि भिंद्धि तदाकर्ष रुंद्धि बंधि विधानतः ॥
यथानेन मुदानाशु दह च्छादय मारय ॥ १३ ॥
प्रबंधे पातयाप्येयं तुद पिंडीं प्रदीपय ॥
विशसेति च संरभ्य तं मुंचंति गिरोऽशुभाः ॥१४॥

मूलारा—कुट्टाकुट्टि अतीव कुट्टःकृतः । चुण्णाचुण्णि अतीव चूर्णकृतः । मोग्गर लोहकंटकितयष्टिं । मुसुंढि वज्र

मुष्टि । मुद्गरहस्तैर्नारकैर्यद्दरयत्वं कुट्टितो, यच्च मुसुंढिहस्तैः सुतरां चूर्णितस्त्वं तावित्येति संबंधः ॥ जं चासि यच्चासि । खंडाखंडि कदो खंड खंड कृत । जण नारकाः ॥

अर्थ—नरकमें मुद्गर, भूसुंढी वगैरह आयुधोंद्वारा तुम अनेक नारकियों द्वारा चूर्ण किये गये थे. और अनेक नारकिओंने तेरे अनेक वार टुकडे भी किये थ. उन दु खोंका तू स्मरण कर

१–२ अनुकूल क्रिया करना, और बोलना, नम्र स्वभाव, सुख स्वभाव, लज्जा, दया, प्रसन्नता, दान, देना, इंद्रिय दमन करना, विनय क्षमा इत्यादिक जो उत्तम गुण मनुष्योंमें होते हैं वे जंगलमें जैसे मनुष्य दुर्लभ होते हैं वैसे नारकियोंमे दुर्लभ होते हैं ३–८ इस जगतमें शत्रु, मित्र और उदासीन ऐसे तीन भेद हैं परंतु नरकमें मित्र और उदासीन ये भेद हैं ही नहीं किंतु सबही नारकी जीव आपसमें शत्रुपना ही धारण करते हैं. बाण, चक्र, नाराच, करोंत, नख, गदा मुशल, शूल, पाश पाषाण, पट्टिश, मूठ, लाठी, मट्टीके ढेले, कील, शंकुनामक आयुध, बाणविशेष, तरवार, छुरी भाला, दंड तोमर इत्यादि अनेक आयुधोंसे नारकी जीव क्रोधसे संतप्त होकर परस्परमें लडा करते हैं नरक भूमीका भी ऐसा स्वभाव है कि उपर्युक्त शस्त्र स्वयं उत्पन्न होते हैं नारकी भी अपनी विक्रियासे ऐसे शस्त्र उत्पन्न करते हैं विभंगज्ञानसे भी पूर्व वैरोका स्मरण कर वे नारकी अन्योन्य को मारते हैं, छेदते हैं भिन्न करते हैं भक्षण करते हैं दुःख देते है बाणोंसे जखमी करते हैं. प्रहार करते है. ९–१० कोई कोई दुष्ट पापी नारकी कुत्ता, सियाल, भेडिया, बाघ, गीध इत्यादि प्राणिओंका रूप धारण कर आपसमें लडते हैं. कोई २ नारकी लकडी और पर्वत बनकर अन्य नारकियोंको ऊपर गिर पडते हैं अर्थात् शूलके अग्रभागपर चढाये हुए नारकियोके शरीरपर वे गिर पडते हैं ११ कितनेक नारकी जीव पानी होकर डुबाते हैं. वायु होकर उडाते हैं अग्नि होकर जलाते हैं परतु परस्परपर वे दया नहीं करते हैं १२–१४ अरे दास तू यहां ठहर मैं तेरेको मारूंगा, तू कहां भाग जाता है, महामोहसे तूं छिपना चाहता है परतु मैं तेरे लिये मृत्यु होकर आया हूं वे नारकी छेदन कर, भेदन कर, पीडा कर, खींच, रोक, जलाव, बांध, चूर्णकर, ढकल, मार, प्राणले इत्यादि अशुभ भाषण आपसमें बोलते हैं

जनेनेदृशा नारकेण प्रापितवेदनां बुद्धिं निरूपयति—

जं आवट्ठादो उप्पाडिदाणि अच्छीणि णिरयवासम्मि ॥
अवसस्स उक्खया जं सतुलमूलायते जिब्भा ॥ १५६४ ॥

उत्पाट्य बहुशो नेत्रे जिह्वा संछिद्य मूलतः ॥
यन्नीतो नारकैर्दुःखं दुःखदानविशारदैः ॥ १६३१ ॥

विजयोदया—जं आवट्ठदो उप्पाडिदाणि शिर पृष्ठदेशादुत्पाटिते । अच्छीणि लोचने । णिरयवासे य नरकवासे च । अवसस्स अवशस्य । जं यत् । सतूलमूलायते जिब्भा निरवशेषा ते जिह्वा ॥

मूलारा—अवट्ठदो अवट्टुतः । कृकटिकातः ग्रीवापश्चिमभागादित्यर्थः अन्यस्तु तसं तृतीयार्थे मन्यते । उक्खयादा उत्खाता । उत्पाटिता ॥

नारकी जीव और भी जो दुःख देते हैं आचार्य उनका वर्णन करते हैं—

अर्थ—हे क्षपक! नरकमें मस्तकके पश्चिमभागसे तेरी आंखे निकाली गईं थी और पराधीन हुए तेरी जिह्वा भी मूलभागसे नारकिओंने उखाडी थी इसका भी मनमें विचार कर.

कुंभीपाएसु तुमं उक्कढिओ जं चिरं पि वं सोल्लं ॥
जं सुट्ठिउव्व णिरयम्मि पउलिदो पावकम्मेहिं ॥ १५७२ ॥

कुंभीपाके महातापे क्वथितो यत्समंततः ॥
अंगारप्रकरैः पक्वो यच्छूलप्रोतमांसवत् ॥ १६३२ ॥

विजयोदया—कुंभीपाएसु तुमं कुंभीपाकेषु त्वं । उक्कड्ढिदो उत्कथितः । जं सुट्ठिउव्व शूलप्रोतमांसवत् । णिरयम्मि नरके । पोलिदो अंगारप्रकरे पक्वः । पावकम्मेहिं पापकर्मभिः ॥

मूलारा—कुंभीपागेसु कुंभ्य उष्ट्रिकाः । पाकाः पचनाधिकरणानि । कुंभ्यश्चताः पाकाश्चते कुंभीपाकास्तेषु । सोल्लं घृतमिश्रिततैलं, यज्ञलेप इत्यन्यः ॥ सुंट्ठिउव्व शलाकाप्रोतमांसं । पउलिदो अंगारप्रकारपक्वः । पावकम्मेहिं नारकैः ।

अर्थ—क्षपक! नरकमें अनेकबार तुम कुंभीपाकमें पकाये गये थे. तथा दुष्ट नारकीओंके द्वारा शूलमांसके

समान तीव्र अग्नीमें भुने भी गयेथे. इन बातोंका भी स्मरण करो.

जं भज्जिदोसि भज्जिदगंपि व जं गालिओसि रसयं व ॥
जं कप्पिओसि वल्लूरयं व चुण्णं व चुण्णकदो ॥ १५७४ ॥

शाकवद्भृज्यमानो यत् गाल्यमानो रसेन्द्रवत् ॥
चूर्णवच्चूर्ण्यमानो यद्वल्लूरमिव कर्तितः ॥ १६३३ ॥

विजयोदया—जं भज्जिदोसि यद्भृष्टो भज्जिदंपि भज्जिदगनामधेयशाकवत् । जं गालिओसि रसगोव्व यद्गालितोऽसि रसवत् । जं कप्पिदोसि यत्कर्तितः । जं छिण्णो सि यत् छिन्नः । वल्लूरयं पि व वल्लूरवत् । चुण्णंव चूर्णवत् चुण्णकदो चूर्णीकृतः ॥

मूलारा—भज्जिदो भृष्टः । भज्जिदगंपि व भज्जिदगनामधेयशाकवत् ॥ पचनीयमिवेत्यन्यः ॥ रसयंव गुडरस इव । कप्पिदो अवयवेषु छिन्नः । वल्लूरियं व मांसखण्डमिव । वल्लूरं पि वेति पाठे शुष्कमांसमिवेत्यर्थः । चुण्णिकदो चूर्णीकृतः ।

अर्थ—हे क्षपक! तुम नरकमें भज्जिद नामक साग के समान अग्नीपर पकाये गये थे. तथा गुड के रस के समान तुम गाले गये थे. शुष्क मांसके समान तुह्मारे टुकडे २ किये गये थे. और चूर्णके समान चूर्ण किया गया था.

चक्केहिं करकचेहिं य जं सि णिकत्तो त्रिकत्तिओ जं च ॥
परसूहिं फाडिओ ताडिओ य जं तं मुसंडीहिं ॥ १५७५ ॥

दारितः क्रकचैश्छिन्नः खड्गैर्विद्धः शरादिभिः ॥
यत्पाटितः परश्वाद्यैस्ताडितो मुद्गरादिभिः ॥ १६३४ ॥

विजयोदया—चक्केहिं करकचेहिं चक्रैः क्रकचैश्च । जं सि णिकत्तो यदसि निकृत्तः । विकत्तिदो विविधं कृत्तः । परसूहिं फालिदो परशुभिः पाटितः । ताडिदो ताडितः । जं यत् त्वं मुसंडीहिं भुशुंडीभिः ॥

मूलारा—णिकत्तो नियतं छिन्नश्चकैः । विकत्तिदो विविधं खंडितः ककचैः । परसूहिं परशुभिः । फालिदो फाटितः । त्वं त्वम् ॥

अर्थ—चक्रमे हे क्षपक' तेरा छेदन किया गया था और करोंतसे अनेक प्रकारसे तू चीरा गया था. कुल्हाडीसे तू फाडा गया था. तथा भूशुंडी नामक शस्त्रके द्वारा अर्थात् मुद्गरोंसे तू पीटा गया था.

पासेहिं जं च गाढं बद्धो भिण्णो य जं सि दुघणेहिं ॥
जं खारकद्दमे खुप्पिओ सि ओमच्छिओ अवसो ॥ १५७६ ॥

पाशैर्बद्धोऽभितो भिन्नो द्रुघणैरवशो घनैः ॥
दुर्गमेऽधोमुखीभूतो यत्क्षिप्तः क्षारकर्दमे ॥ १६३५ ॥

विजयोदया—पासेहिं पाशैः । जं यत् । गाढं बद्धो दृढं बद्धः । भिण्णो य भिन्नश्च । जं सि यदसि । दुघणेहिं घनैः । जं यत् । खारकद्दमे क्षारकर्दमे । खुप्पिदोसि निखातोऽसि । ओमच्छिओसि अधोमस्तकः । अवसो परवशः ॥

मूलारा—दुघणेहिं लोहकारघनैः । खारकद्दमे क्षारपंके । खुप्पिदो निखातः । ओमच्छिओ अधोमस्तकः ॥

अर्थ—पाशसे नारकिओंने तेरेको दृढ बांधा था. और तेरे मस्तक पर घनके प्रहार किये थे. परवश होनेसे क्षारके कीचडमें नीचे मस्तक और ऊपर पाय करके तुमको गाड भी दिया था.

जं छोडिओसि जं मोडिओसि जं फाडिओसि मलिदोसि ॥
जं लोडिदोसि सिंघाडएसु तिक्खेसु वेएण ॥ १५७७ ॥

यदापन्नः परायत्तो नारकैः क्रूरकर्मभिः ॥
लोहशृंगाटके तीक्ष्णे लोठ्यमानोऽतिवेगतः ॥ १६३६ ॥

विजयोदया—यद्भग्नः, पातितः, मर्दितः, लोठितश्च तीक्ष्णेषु शृंगाटकेषु वेगेन ॥

मूलारा—छोडिदो निश्चलीकृतः । आकृष्ट इत्यन्यः । मोडिदो नमयित्वा भग्नः । फाडिदो पातितः । मलिदो मर्दितः पादैः । लोडिदो लोठितः । सिंघाडएहिं शृङ्गाटकेषु त्रिकोणकर्करेषु लोहमयत्रिकोणकंटकेष्वित्यन्यः ।

अर्थ—नारकिओंने तेरा जमीनपर पटककर मर्दन किया था, तीन अग्र जिनके हैं ऐसे लोहेके कंटकोंपर तू बडे वेगसे घसीटा गया था तथा नमाकर उन्होंने तुझको मोडा था.

विच्छिण्णगोवंगो खारं सिंचित्तु वीजिदो जं सि ॥
सत्तीहिं विमुक्कीहिं य अदयाए खुंचिओ जं सि ॥ १५७८ ॥

तष्ट्वा लोकेऽखिलं गात्रं क्षुरप्रैर्निशितैश्चिरम् ॥
वीजितः क्षारपानीयैः सिक्त्वा सिक्त्वा निरंतरम् ॥ १६३७ ॥

विजयोदया—विच्छिण्णंगोवंगो विच्छिन्नांगोपांग. । खारं सिंचित्तु क्षारं सिक्त्वा । वीजिदो जं सि यद्वीजितः । सत्तीहिं शक्तिभि' । विमुक्कीहिं य अयोमयकटकाग्रैर्दंडै । अदयाए दयामंतरेण । खुंचिदो परावर्तित. ॥

मूलारा—विच्छिण्णंगोवंगो विविधं खंडितानि हस्तादीन्यंगुल्यादीनि च यस्य । खारं क्षारेण । सिंचित्तु सिक्त्वा । सुतिक्खेहिं अतिनिशाताभिः । श्रीविजयाचार्यस्तु विमुक्कीहिं इति पठित्वा अयोमयकंटकाग्रैर्दंडैरित्यर्थमकथयत् । खुंचिदो भिण्णः । परावर्तित इत्यन्यः ॥

अर्थ—तुमारे भिन्न भिन्न अवयवोंपर क्षार चूर्ण का जल सींचकर नारकी उसके उपर हवा कर देते थे. तदनंतर शक्ति नामक शस्त्रसे और लोहके कांटे जिनको लगे हैं ऐसी लाठिओंसे निर्दय होकर खींचकर लोटते थे.

पगलंतरुधिरधारो पलंबचम्मो पभिन्नपोट्टसिरो ॥
पउलिदहिदओ जं फुडिदत्थो पडिचूरियंगो य ॥ १५७९ ॥

शक्तिभिः सूचिभिः खड्गैर्यश्छिन्नाखिलविग्रहः ॥
विगलद्रक्तधाराभिः कर्दमीकृतभूतलः ॥ १६३८ ॥

विजयोदया—पगलंतरुधिरधारो प्रगलद्रुधिरधारः । पलंबचम्मो प्रलंबत्वक् । पभिन्नपोट्टसिरो प्रभिन्नोदरशिराः । पउलिदहिदओ प्रतप्तहृदयः । जं यत् । फुडिदच्छो स्फुटितलोचनः । पडिचूरिदंगो य परिचूर्णितांगः ॥

मूलारा—पोट्ट उदरं । पउलिदहिदओ प्रतप्तचित्तः । फुडिदत्थो स्फोटितनेत्र' ॥

अर्थ—जिसके शरीरमेंसे रक्तकी धारा बह रही है, शरीरका चमडा नीचे लटक रहा है, जिसका पेट और मस्तक फूट गया है, जिसका हृदय तप्त हुआ है, आँखे फूट गई है, तथा सब शरीर चूर्ण हुआ है ऐसा तू नरकमें अनेक बार दुःख भोगता था उसका चिंतन कर.

जं चडयंडतकरचरणंगो पत्तो सि वेदणं तिव्वं ॥
णिरए अणंतखुत्तो तं अणुचिंतेहि णिस्सेसं ॥ १५८० ॥

यत्स्फुटल्लोचनो दग्धो ज्वलिते वज्रपावके ॥
यच्छिन्नहस्तपादादिश्छिद्यमानास्थिसंचयः ॥ १६३९ ॥
शोषणे पेषणे कर्षणे घर्षणे लोटने मोटने कुट्टने पाटने ॥
त्रासने ताडणे मर्दने चूर्णने छेदने भेदने तोदने यच्छिन्नः ॥ १६४० ॥
दुःकृतकर्मविपाकवशोत्थं कालमपारमनंतमसह्यम् ॥
सोढमिदं हृदये कुरु सर्वं कातरतां विजहीहि सुबुद्धे ! ॥ १६४१ ॥
इति श्वभ्रगतिः ॥

विजयोदया—जं यत्। चडयंडतकरचरणंगो वेपमानकरचरणांगः। पत्तो सि वेदणं तिव्वं। प्राप्तोऽसि वेदनां तीव्रां। णिरए नरके। अणंतवारं अनंतवारं तत् अणुचिंतेहि अनुक्रमेण चिंतय। णिस्सेसं निरवशेषं॥ नरकगतिदुःखं वर्णितम्॥

मूलारा—चडयडंत प्रकंपमानं। अणुचिंतेहि अनुक्रमेण चिंतय त्वं॥ इति नरकगतिदुःखानुचिंतनं॥

अर्थ—हे क्षपक! नरकमें जिसके हाथ पाय वेदनासे कंप रहे हैं ऐसे तूने अनंत वार जो दुःख भोगा है उसका अनुक्रमसे पूर्वस्मरण कर. नरक गतिके दुःखका वर्णन समाप्त हुआ.

तिरियगदिं अणुपत्तो भीममहावेदणाउलमपारं ॥
जम्मणमरणरहट्टे अणंतखुत्तो परिगदो जं ॥ १५८१ ॥

जन्ममृत्युजराकीर्णां घोरां तिर्यग्गतिं गतः ॥
किं तीव्रां बहुशो लब्धां स्मरसि त्वं न वेदनाम् ॥ १६४२ ॥
पंचधा स्थावरा जीवा विमुढीभुतचेतनाः ॥
लभंते यानि दुःखानि कः शक्तस्तानि भाषितुम् ॥ १६४३ ॥

विजयोदया—तिरियगदिं अणुपत्तो तिर्यग्गतिमनुप्राप्तः । भीममहावेदनाउलमपारं। भीममहावेदनाकुलमपारं जम्मणमरणरहट्टं जन्ममरणघटीयंत्रं। अणंतखुत्तो अनंतवारं। परिगदो परिप्राप्तोऽसि। यत् चिंतेहि तं इति वक्ष्यमाणेन संबंधः। तिर्यंचो हि नानाविधाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसभेदेन ॥

आत्मानुभूतान्यपि न स्मरंति दुःखानि केचिद्धि नराः प्रमत्ताः ॥
दृष्टश्रुतान्यन्यसमुद्भवानि ते विस्मरंतीति न विस्मयोऽत्र ॥ १ ॥
प्रमादलोपार्थमतो नरेभ्यो ज्ञातोऽपि सोऽर्थः परिकथ्य एव ॥
संस्मार्यमाणे प्रभवंति यस्मिन्गुणा न दोषाश्च समुद्भवंति ॥ २ ॥
शीते निवातं सलिलादि चोष्णे क्षेमं भवे संश्रयितुं समर्थाः ॥
ये जंगमास्ते न तु सास्ति शर्करैकेंद्रियाणां बत जीवकानां ॥ ३ ॥
सर्वोपसर्गानिह मोक्षकामा यथा विरागा मुनयः सहंते ॥
सर्वोपसर्गानवशा वराका एकेंद्रिया ये च सदा सहंते ॥ ४ ॥
जात्यंधमूका बधिराश्च बाला रथ्यासु रक्षाशरणप्रहीणाः ॥
प्रमर्द्यमाना गजवाजियानैर्यथा म्रियंते विवशा वराकाः ॥ ५ ॥
तथा प्रकारो विकलेंद्रियाणां प्रवर्तते नारकदुःखतुल्यः ॥
मृत्युः समंतात् सततं सुघोरो ग्रामेष्वरण्येषु च निःशरण्याः ॥ ६ ॥
गोऽजाविकाद्यैः परिमर्द्यमाना यानाद्रिचक्रैः परिपिष्यमाणाः ॥
अन्योन्यवक्त्रैः परिभुज्यमाणाः दुःखं च मृत्युं च हि ते लभंते ॥ ७ ॥
छिन्नैः शिरोभिश्चरणैश्च भग्नै रुजार्दितैश्चावयवैस्तनूनां ॥
चिरं स्फुरंतः प्रतिकारहीनाः कृच्छ्रेण केचिज्जहति स्वमायुः ॥ ८ ॥
निमज्ज्यमाना उदबिंदुनापि निश्वासवातैरपि चोद्यमानाः ॥
प्रक्षोभ्यमाना लघुनोष्मणापि नश्यंति ये तेषु भवेत्कथा का ॥ ९ ॥
सरः प्रविश्येह यथा नरः सम्नुन्मजनं चैव निमज्जनं च ॥
क्रीडाप्रसक्तो बहुशोऽपि कुर्यादनन्यकार्यं स्ववशो वयस्थः ॥ १० ॥

प्रविश्य जन्मोदधिमध्यमेव शरीरिणस्ते बहु जन्ममृत्यून् ॥
अन्तर्मुहूर्तेऽपि समाप्नुवन्ति पेपीयमानाः कटुदुःखतोयम् ॥ ११ ॥
सूक्ष्मैः शरीरैरपि ते महान्ति दुःखानि नित्यं समवाप्नुवन्ति ॥
स्थूलेषु देहेषु समीहितेषु दुःखोदयो देहिगणैश्च दृष्टः ॥ १२ ॥
येषां न माता न पिता न बंधुर्न चापि मित्रं न गुरुर्न नाथः ॥
न भेषजं नाभिजनो न भक्ष्यं न ज्ञानमस्त्येव कुतः सुखं स्यात्?॥१३॥
मात्रा वियोगेऽपि सतीह तावत् दुःखाम्बु तर्तुं न जनो लभेत ॥
मात्रा वियोगस्तु भवेन्न येषां स्थानं कथं ते न हि दुःखराशेः ॥१४॥
मा भैष्ट मा भूत्तव दुःखजालं मा विद्र मा वेति वराककाणां ॥
आश्वासको वाप्यनुकंपिता वा तेषां जनः कोऽस्ति यथा नराणां ॥
तैस्तैः प्रकारैः सततं समंताच्छ्रद्दधाना अपि मृत्युमुग्रं ॥
करोति वा को ग्रहणं निरीक्ष्य विमुच्य संबंधविदो मनुष्यान् ॥१६॥
अन्योन्यतो मर्त्यजनाच्च पापात् क्षुधार्दितश्चापि महाभयानि ॥
पंचेंद्रिया यानि समाप्नुवंति दुःखानि तेषामिह कोपमा स्यात् ॥१७॥
स्तनंधयान्स्वानपि भक्षयंति श्रितास्तिरश्चोऽपि न निष्कृपाकाः ॥
निहत्य खादत्सु परान्परेषु तिर्यक्षु किं विस्मयनीयमस्ति ॥ १८ ॥
अन्योन्यघातार्थमनुप्रयाति हंतुं तमन्यः कृपणोऽनुयाति ॥
तं कश्चिदन्यः सहसा निहंता ही धिक्ततो भीमतरं किमन्यत् ॥
अन्योन्यरौक्षणनष्टनिद्रा अन्योन्यमाहत्य जिजीविषन्तः ।
स्वस्था न येऽन्योन्यभवात्स्वपंति किं ते भवेयुः सुखिनः कदाचित् २०
वने मृगास्तोयतृणप्रपुष्टाः मृगीसहाया रतिमाप्नुवन्ति ॥
व्याधादिभिर्यद्भयमाप्नुवन्ति निरेनसः कारणमत्र कर्म ॥ २१ ॥
वियोजिता आत्मसुतैश्च बालैर्मृग्यो मृगैश्चात्ममनोऽनुकूलैः ॥
दिशस्तु दीनाक्षिभिरीक्ष्यमाणाः सुदारुणं मारणमाप्नुवन्ति ॥२२॥
स्वभावपापाः कुकचीरिताभिः प्रोत्साहिता दुःश्रुतिभिः पुनश्च ॥
आविभ्यतो दुर्गतितो यथेष्टं भ्रन्तोऽभ्यर्दतश्च हितान्नमन्ते ? २३
वने मृगेभ्यः पिशिताशनेभ्यो ग्रामेषु नृभ्यश्च तथाविधेभ्यः
ते बिभ्यते न क्वचिदाश्वसंतो यदृच्छया विभ्रति जीवितानि २४

यदंकुशादिप्रहतैर्गजाश्च कशादिघातैश्च हया हताशाः
गावश्च तोत्रादिवधैः परेषां कुर्वन्ति कर्मामरणादकामाः २५
मत्या युतानामलमेतदेव विरागभावप्रभवे निमित्तम्
ताहग्विधानां बहवो हि कोट्यः कथं प्रकुर्वन्त्यमितेतरस्य २६
दंदह्यमानाश्च दवाग्नियोगैर्महाजलौघैश्च समूह्यमानाः
मृगाः खगाः सर्पसरीसृपाश्च सार्धं म्रियंते बहवो वनान्ये २७

इदानीं तिर्यग्गतिदुःखानुचिंतने गाथासप्तकेन क्षपकं व्यापारयति—

मूलारा—अणुप्पत्तो नरकगतः पश्चात्प्राप्तः। अपारं अतीरं चिरानुबंधित्वात्। रहट्टं घटीयंत्रं। परिगदो जं। प्राप्तो यद्दुःखं। चिंतेहि तं सव्वमिति वक्ष्यमाणेन संबंधः।

अर्थ—भयंकर वेदनाओंसे व्याकुल पाररहित ऐसे तिर्यंचगतीको प्राप्त हुआ तू अनंतवार जन्ममरणरूप घटीयंत्र को प्राप्त हुआ था. उसका भी तू विचार कर, स्मरण कर. तिर्यंचोंके पृथिवी, वायु, जल, अग्नि, वनस्पति और त्रस ऐसे अनेक भेद हैं.

१–२ कितनेक उन्मत्त मनुष्य पूर्वानुभूत दुःख भी यदि भूल जाते हैं तो देखे हुए सुने हुए अन्य लोगोंके दुःख वे भूल जाते हैं इसमें क्या आश्चर्य है. अपना प्रमाद नष्ट होनेके लिये मनुष्योंको स्वयं के ज्ञात हुए भी अपराध कहनेही चाहिये. अपने दोषोंका स्मरण रखना और दूसरोंको कहना गुणोत्पत्तिके लिये कारण होता है दोषस्मरण करनेसे और कहनेसे गुणोंकी वृद्धि होती हैं.

३ मनुष्य ठंडीसे बाधा होनेपर निर्वातस्थलका आश्रय करते हैं. उष्णतासे पीडित होने पर ठंडा जल पीते हैं भय उत्पन्न होनेपर निर्भय स्थानका आश्रय लेते हैं द्वीन्द्रियादि जीव भी उपर्युक्त बाधाओंसे अपना रक्षण करनेमें समर्थ हैं. परंतु एकेन्द्रिय जीवोंमें वह सामर्थ्य नहीं हैं.

४ जैसे वैराग्ययुक्त मोक्षेच्छु मुनिगण सर्वप्रकारके उपसर्ग सहते हैं वैसे वृक्षादिक एकेंद्रिय जीव पराधीन और दीन होनेसे हमेशा सर्व प्रकारके उपसर्ग सह लेते हैं.

५–९ जैसे जन्मांध, गूंगे, बहिरे लोक और बालक उनका कोई रक्षक न होनेसे दीन और परतंत्र होकर हाथी घोडे, यान वाहनादिकसे मर्दित होते हुए मरते हैं. वैसे द्वींद्रिय, त्रींद्रिय और चतुरिंद्रिय जीव भी उपर्युक्त प्रकारसे

मरते हैं उनको नारकिओंके तुल्य दुःख भोगना पडता है. ये जीव गांवमें अथवा अरण्यमें भी रहे परंतु सर्वत्र भयंकर मृत्यु हाथ धोकर उनके पीछे दौडता ही है. गाय, बकरा, मेंढा, वगैरे प्राणिओंके हाथ पाओंसे वे कुचले जाते हैं. रथादिकोंके पहियोंसे उनका नाश होता है. वे स्वयंभी अपने देहसे अन्योन्यको पीडा देकर मरते हैं. कितनेक जीवोंके मस्तक तूटते हैं, पाव टूट जाते हैं तथा शरीर के सब अवयव रोगसे पीडित हो जाते हैं तब अधिक दुःखी होकर महाकष्टसे प्राण त्याग करते हैं. द्वीद्रियादिक कोई जंतु इतने छोटे होते हैं कि वे एक पानीके बूंदमें भी डुब जाते हैं. निश्वासकी हवासे भी उड जाते हैं. थोडीसी उष्णतासे भी उनको दुःख होता है. ऐसे प्राणिओंको यदि उपर्युक्त दुःखोंकी प्राप्ति होगी तो कहना ही क्या ?

१०–११ क्रीडामें चतुर, तरुण, ऐसा कोई मनुष्य जैसे सरोवरमें प्रवेश करके वारंवार उन्मज्जन निमज्जन करता है अनेक प्रकारसे क्रीडा करता है. स्वाधीन होकर और अन्य कार्योंको छोडकर जलक्रीडामें ही तत्पर होता है वैसे सर्व प्राणी भी जन्मसमुद्रके मध्यमें प्रवेश कर एक अन्तर्मुहूर्तमें भी अनेक जन्मसमुद्रके मध्यमें प्रवेशकर एक अन्तर्मुहूर्तमें भी अनेक जन्म मरणोंको प्राप्त करते हैं. इस संसारसमुद्रमें उनको दुःखरूपी कडवा पानी वारंवार पीना पडता है.

१२ उनके सूक्ष्म शरीर होनेपर भी उनको हमेशा तीव्र दुःख भोगने पडते हैं. जब उनको स्थूल शरीर प्राप्त होता है तब उनके दुःखादिक इतर स्थूलत्रस प्राणिओंके समान ही देखे जाते हैं.

१३ इन द्वीन्द्रियादिक प्राणिओंको माता, पिता, बंधु, गुरु, स्वामी मित्र, कोई भी हितकर्ता नहीं रहते हैं. बीमार होनेपर न इनके कोई संबंधी भी है जो कि उनको अन्न खानेको देंगे इन जीवोंको ज्ञान भी नहीं रहता है तो सुखकी प्राप्ति इनको कैसी हो सकेगी.

१४–१५ माता का वियोग होनेपर भी दुःखरूपी समुद्र मनुष्य तीर नहीं सकता तो जिनको माता ही नहीं है वे अत्यंत दुःखके स्थान क्यों नहीं बनेंगे. अरे तूं भीति छोड दे, तेरेको कुछ दुःख नहीं होगा ऐसा आश्वासन मनुष्योंको मिलता है. इस प्रकार इन दीन प्राणिओंको कोई भी आश्वासन देनेवाला नजर नहीं आता है. और उनके ऊपर कोई दया भी करनेवाला दीखता नहीं.

१६ उपर्युक्त प्रकारोंसे वे पशु चारों तरफसे उग्र मृत्युको धारण करते हैं. अर्थात् वे अनेक प्रकारसे मरण

के वश हो जाते हैं. जिनको पशुगतिके संबंध का ज्ञान हुआ है ऐसे मनुष्योंको छोडकर अन्य कोई भी व्यक्ति उनका रक्षण करनेका प्रयत्न नहीं करती है.

१७ कोई पंचेंद्रिय पशु आपसमें लड भिडकर दुःखी होते हैं. कितनोंको तो मनुष्य दुःख देते हैं. कितने पशु पापोदयसे और क्षुधा तृषादिकसे पीडित होकर दुःखी होते हैं. नानाप्रकारके भय उनके उत्पन्न होते हैं. उनके दुःखोंको उपमा ही नहीं है ?

१८ कोई तिर्यंच प्राणी इतने निर्दय होते हैं कि वे अपने बच्चोंको भी खाते हैं. तो वे अन्य प्राणिओंको खाते होंगे इसमें आश्चर्यावह क्या है.

१९ ये पशु आपसको मारनेके लिए टूट पडते हैं, कोई निर्दय प्राणी, उन दोनों को मारनेके लिए दौडता है. कोई अकस्मात् आकर उनको मार देता है.

२० ये सब पशु अन्योन्यको मारनेका योग्य मोका देखते रहते हैं. और अन्योन्यको खाकर जीने की अभिलाषा करते हैं. अन्य प्राणी मेरेको मारेंगे ऐसा भय सभीके मनमें होनेसे उनको निद्रा आती नहीं इस विवेचनसे आपको मालूम होगा कि क्या ये प्राणी सुखी हैं ?

२१ वनमें हरिण पानी पीकर और तृण भक्षणकर पुष्ट होते हैं और हरिणीओंके साथ रहकर सानंददिन बिताते हैं. ये किसीका कुछ नुकसान तो करते ही नहीं परंतु व्याधाधिक दुष्ट मनुष्यसे इनको हमेशा भय उत्पन्न होता है इसमें पूर्वकृत पापकर्म ही कारण हैं.

२२ हरिण अपने बालक और हरिणीसे वियुक्त होते हैं. और हरिणी भी अपने बालक और अपने इष्ट हरिणोंसे वियुक्त होकर दीननेत्रोंसे चारों दिशाओंको देखती हैं. इस रीतीसे दुःखित होकर भयंकर मृत्युके गालमें पोहोंचते हैं.

२३ कितनेक मनुष्य स्वभावतः पापी होते हैं. कुकवी शिकार वगैरहका महत्त्व बताकर और दुष्ट शास्त्रोंका प्रमाण दिखाकर पशुओंको मारनेमें प्रवृत्त करते हैं तब वे भी दुर्गतिसे भयरहित होकर प्राणिओंको यथेष्ट मारते हैं और उनको खाते हैं.

२४ हरिणादिक पशुओंको वनमें हिंस्र पशुओंसे भय रहता है और ग्राममें भी वे आवे तो दुष्ट लोकोंसे

उनको भय उत्पन्न होता है. अतः उनको कहीं भी निर्भयता का अनुभव आता ही नहीं. बिचारे किसी प्रकारसे अपने दिन व्यतीत करते हैं.

२५ हाथी वगैरह प्राणिओंको अंकुशादिकके आघातोंसे दुःख भोगना पडता है. छडी वगैरहका आघात घोडे सहन करते हैं. बैल भैंस वगैरह पशु चाबुक वगैरहका प्रहार सहन करते हैं. और आमरण मनुष्योंके वश होकर उनको कार्य करने पडते हैं.

२६ जो मनुष्य बुद्धिमान है वे इन दुःखों का विचार कर विरक्त होते हैं ऐसे मनुष्य इतर प्राणिओंको दुःख देनेका कार्य नहीं कर सकते हैं.

२७ बहुतसे प्राणी दवाग्निके वश होकर मरते हैं, कोई जलप्रवाहमें बहते बहते इहलोककी यात्रा पूर्ण करते हैं. कोई हरिण, पक्षी, सर्प, और तज्जातीय बहुत प्राणी इसी प्रकार मृत्युवश होते हैं.

ताडणतासणबंधणवाहणलंछणविहेडणं दमणं ॥
कण्णच्छेदणणासावेहणणिल्लंछणं चेव ॥ १५८२ ॥

सदा परवशीभूताश्चतुर्धा त्रसकायिकाः ॥
दुःखं बहुविधं दीना लभन्ते चिरमुल्बणम् ॥ १६४४ ॥
ताडने वाहने बंधने त्रासने नासिकातोदने कर्णयोः कर्तने ॥
लांछने दाहने दोहने हंडने पीडने मर्दने हिंसने शातने ॥ १६४५ ॥

विजयोदया—ताडणतासण ताडनत्रासनबंधनलांछनवाहनविहेडनकर्णछेदननासिकावेधनबीजपिनाशनानि ॥

मूलारा—ताडण यष्ट्यादिभिराघातः। तासण त्रासनं भयापादनं। बंधण दुष्टगतिनिरोधाय रज्ज्वादिभिर्यंत्रणं। वाहण भारार्पणेन देशांतरनयनं। लंछण शंखपद्माद्याकारेण दाहं। विहेडणं कदर्थनं। दमणं कर्मप्रयोगाय हठाच्छिक्षाग्रहणं। रंधनं वा। णिल्लंछणं वृषणनिष्कर्षणम्।

अर्थ—लाठी वगैरहसे पीटना, भय दिखाना, दोरी वगैरहसे बांधना, बोझा लादकर देशांतरमें ले जाना,

शंखपद्मादिक आकारसे उनके अवयवपर दाह करना, तकलीफ देना, कान नाक छेदना, अंडका नाश करना इत्यादिक दुःख तिर्यग्गतिमें भोगने पडते हैं.

छेदणभेदणडहणं णिपीलणं गालणं छुहातण्हा ॥
भक्खणमद्दणमलणं विकत्तणं सीदउण्हं च ॥ १५८३ ॥

सलिलमारुतशीतमहातपभ्रमणभक्षणपाननिरोधनैः ॥
दमनतोदनगालनभंजनं जलवियोजनभोजनवर्जनै ॥ १६४६ ॥

विजयोदया—छेदनभेदनदहननिपीडनगालनानि क्षुत्तृड्बाधाभक्षणमर्दनमलनविकर्तनानि । शीतमुष्णं च ॥

मूलारा—डहणं अभिघातादिना शूलानां दाहः । णिप्पीलण नाडीव्रणपीडनं । गालणं रोगादौ रक्तनिःसारणं । मलणं कणिकावन्मलनं । विकत्तणं कर्णादीनां विविधं कर्तनं ।

अर्थ—अवयवोंका छेदन, भेदन करना, कुछ अवयवोंपर सूजन चढनेपर उसको जलाना, नाडीमें व्रण होनेपर उसका मर्दन करना, रक्त निकालना, कणिकाके समान मर्दन करना, भूक और प्याससे दुःख होना, कान नाक वगैरह अवयवोंको अनेक प्रकारसे कतरना इत्यादि तिर्यंच गतिमें दुःख हैं.

जं अत्ताणो णिप्पडियम्मो बहुवेदणुद्दिओ पडिओ ॥
बहुएहिं मदो दिवसेहिं चडप्फडंतो अणाहो तं ॥ १५८४ ॥

अत्राण-पतितः क्षोण्यां निःप्रतीकारविग्रहः ॥
दुःसहां वेदनां सोढ्वा बहुभिर्वासरैर्मृतः ॥ १६४७ ॥

विजयोदया—जं अत्ताणो यदत्राणो णिप्पडियम्मो निष्प्रतीकारः । बहुवेदणद्दिओ बहुवेदनार्दितः । पडिदो पतितः । बहुगेहिं मदो दिवसेहिं बहुभिर्मृतो दिवसैः । चडप्फडंतो स्फुरद्देहः । अणाहो अनाथः । तं त्वं ॥

मूलारा—अत्ताणो अशरणः । णिप्पडियम्मो निष्प्रतीकारः । वेदणुट्ठिदो वेदनार्दितः । चडयडंतो स्फुरद्देहः । अणाहो अनाथः । तं त्वम् ॥

अर्थ—इस पशुगतिमें, अरक्षित, उपायरहित, बहुततीव्र वेदनाओंसे दुखित, होकर हे क्षपको तूं जमीनपर अनेक वार पडा था. तथा बहुत दिनतक अपने सर्व अवयव वेदनासे हिलाता हुआ अनाथ ऐसे तूने प्राण छोडे थे उसका तू स्मरण कर.

रोगा विविहा बाधाओ तह य णिच्चं भयं च सव्वत्तो ॥

तिव्वाओ वेदणाओ धाडणपादाभिघादाओ ॥ १५८५ ॥

क्षुत्तृष्णाव्याधिसंहारविह्वलीभूतमानसः ॥

पदुःखं बहुशः प्राप्तस्तत्सर्वं हृदये कुरु ॥ १६४८ ॥

विजयोदया—रोगा विविहा व्याधयो नानाप्रकाराः । बाधाओ बाधाश्च । तथा णिच्चं भयं च सव्वत्तो नित्यं भयं च सर्वतः । तिव्वाओ वेदणाओ तीव्रा वेदना घाटनपादाभिघाताश्च ॥

मूलारा—सव्वत्तो सर्वतः । वेदणाओ विक्षिप्त शूलादयः ॥ धाडणं घाटणं । पादाभिघादा चरणेन ताडनं । पादाभिघादा इति पाठे अभिघातः पीडामात्रं ।

अर्थ—इस पशुगतिमें नाना प्रकारके रोग, अनेक तरहकी वेदनायें, तथा नित्य चारों तरफसे भय भी प्राप्त होता है. अनेक-प्रकारके पावमें रगडना, ठोकना इत्यादि दुःखों की प्राप्ति पशु गतिमें तुझको प्राप्त हुई थी.

सुविहिय अदीदकाले अणंतकायं तुमे अदिगदेण ॥

जम्मणमरणमणंतं अणंतखुत्तो समणुभूदं ॥ १५८६ ॥

विजयोदया—सुविहिद सुचारित्र ! अदीदकाले अतीतकाले । अणंतकायं तुमे अदिगदेण अनंतकायं त्वया प्रविष्टेन । जम्मणमरणमणंतं जन्ममरणं चानंतं । अणंतखुत्तो अनंतवार क्षितः । समनुभूतं ॥

मूलारा—अणंतकायं साधारणशरीरं । तुमे त्वया । अदिगदेण प्रविष्टेन ।

अर्थ—हे उत्तम चारित्रके धारक क्षपक ! अतीतकालमें अर्थात् बीते हुए कालमें अनंत शरीरोंको धारण करके अनंत जन्ममरणोंका अनंतवार अनुभव लिया है.

इच्चेवमादिदुक्खं अणंतखुत्तो तिरिक्खजोणीए ॥
जं पत्तोसि अदीदे काले चिंतेहि तं सव्वं ॥ १५८७ ॥

तिर्यग्गतिं तीव्रविचित्रवेदनां गतो जराजन्मविपर्ययाकुलम् ॥
दुःखासिकां यां गतवाननारतं विचिंतयेस्तामपहाय दीनताम् ॥ १६४९ ॥

इति तिर्यग्गतिः।

विजयोदया—इच्चेवमादिदुक्खं इत्येवमादिदुःखं। अणंतखुत्तो अनंतवारं। तिरिक्खजोणीए तिर्यग्योनौ। जं यत्। पत्तोऽसि प्राप्तोऽसि। अदीदकाले अतीतकाले। चिंतेहि तं सव्वं तत्सर्वं चिंतय॥ तिरियगदी॥

मूलारा—स्पष्टम्॥ तिर्यग्गतिदुःखानुचिंतनम्॥

अर्थ—इस प्रकार तिर्यग्गतिमें अनंतवार जो दुःख तुझको भोगना पडाथा उस सर्व दुःखका हे क्षपक! तू वारंवार मनमें विचार कर इस प्रकार तिर्यग्गतिका दुःखवर्णन पूर्ण हुआ.

देवत्तमाणुसत्ते जं ते जाएण सक्कयकम्मवसा ॥
दुक्खाणि किलेसा वि य अणंतखुत्तो समणभूदं ॥ १५८८ ॥

मानुषीं गतिमापद्य यानि दुःखान्यनेकशः ॥
त्वमवाप्तश्चिरं कालं तानि स्मर महामते ! ॥ १६५० ॥

विजयोदया—देवत्तमाणुसत्ते देवत्वमानुषत्वयोः। जादेण जातेन। सक्कयकम्मवसा स्वकृतकर्मवशात्। दुक्खाणि किलेसा वि य दुःखानि क्लेशाश्च। अणंतखुत्तो अनंतवारं समनुभूताः॥

देवत्वमनुष्यत्वयोश्चिरानुभूतानि दुःखान्यनुचिंतयितुमुपक्षिपति—

मूलारा—जादेण गतेन। सकद स्वकृतं। दुक्खाणि अंतःपीडाः। किलेसा शरीरकष्टानि॥

अर्थ—हे क्षपक! तूने कुछ पुण्य कर्म का उदय होनेसे देव और मनुष्य गतिमें भी जन्म धारण किया था. इन गतिओंमें भी तुम्हें अनंतवार दुःख और क्लेश सहन करने पडे थे.

पियविप्पओगदुक्खं अप्पियसंवासजाददुक्खं च ॥
जं वेमणस्सदुक्खं जं दुक्खं पच्छिदालाभे ॥ १५८९ ॥

प्रियस्य विगमे दुःखमप्रियस्य समागमे ॥
अलाभे याच्यमानस्य संपन्नं मानसं स्मर ॥ १६५१ ॥

विजयोदया—पियविप्पओगदुक्खं प्रियविप्रयोगजातं दुःखं । अप्पियसंवासजाददुक्खं च अप्रियैः सहवासेन जातं च दुःखं । येषां नामश्रवणेऽपि शिरः शूलं जायते, येषां दर्शनाद्दृशौ धूमायेते । जं वेमणस्सदुक्खं यद्वैमनस्यदुःखं पच्छिदालाभे प्रार्थितालाभे यद्दुःखं ॥

मानुषगतिदुःखानुचिंतने क्षपकं प्रयोक्तुं गाथा नव दिशप्रादौ दुःसहतरत्वान्मानसदुःखानि गाथात्रयेणानुस्मरयति—

मूलारा—पियविप्पओगदुक्खं यन्नामश्रवणेऽपि सर्वांगीणरोमांचाभिव्यज्यमानो मनस्याल्हादो जायते । यद्दर्शने च चक्षुषी पीयूषसिक्ते इव स चेतसे प्रिय इत्युच्यते । प्रियेण विप्रयोगाविघटनं । तस्माज्जातदुःखं सुखं वेद्योत्तस्तापः ॥ अप्पियसंवासो यन्नामश्रावणेऽपि शिरःशूलमुदेति यद्विलोकने च लोचने धूमायेते सोऽप्रिय इत्याख्यायते ॥ अप्रियेण संवासः सहावस्थानं संयोग इति यावत् ॥ जं ते माणसदुक्खं यत्त्वया प्रियविप्रयोगदुःखादिविकल्पं मानसं दुःखं मानुषभावसंप्राप्तं तत्सर्वमेव चिंतयेति वक्ष्यमाणेन संबंधः । पच्छिदालाभो प्रार्थ्यमानस्य वस्तुनोऽप्राप्तौ जातः ॥ उक्तं च—

प्रियस्य विगमे दुःखमप्रियस्य समागमे ॥
अलाभे याच्यमानस्य संपन्नं मानसं स्मर ॥

अर्थ—प्रिय पुत्र, पत्नी वगैरहका वियोग होनेसे तथा अप्रिय शत्रु, विष, कंटकादिकोंका संयोग होनेसे तुझको बहुत दुःख प्राप्त हुआ था. अप्रिय पदार्थोंका नाम सुनते ही तुझको मस्तकशूल उत्पन्न होता था और अप्रिय शत्रुओंका दर्शन होनेसे ही आंखें लाल हो जाती थीं. तथा याचना करनेपर इच्छित वस्तुका जब लाभ न होता था तब तुझको मनमें बहुत कष्ट भोगना पडता था.

परभिच्चदाए जंते असब्भवयणेहिं कडुगफरुसेहिं ॥
णिब्भत्थणावमाणणतज्जणदुक्खाइं पत्ताइं ॥ १५९० ॥

कर्कशे निष्ठुरे निःश्रवे भाषणे तर्जने भर्त्सने ताडणे पीडने ॥
अंकने दंभने मुंडने सेचने बाधने वर्तने मर्दने छेवने ॥ १६५२ ॥
दुःसहं किंकरीभूतः करणे निंद्यकर्मणः ॥
यदवापश्चिरं दुःखं तन्निवेशाय मानसे ॥ १६५३ ॥

विजयोदया—परभिघदाए परभृत्यतया । असब्भवयणेहिं अशिष्टवचनैः । कडुगफरुसेहिं कटुकैः परुषैश्च । णिब्भच्छणायमाणणतज्जणदुक्खाई पत्ताई निर्भर्त्सनावमाननतर्जनदुःखानि प्राप्तानि ॥

मूलारा—परेत्यादि परस्य राजादेर्भृत्यतायां प्रेष्यतायां सत्यां अशिष्टवचनादिजनितं मानसं दुःखं त्वया संप्राप्तं तच्चिंतय ॥ उक्तं च—

दुःसहं किंकरीभूतः करणे निंद्यकर्मणः ॥
यदवापश्चिरं दुःखं तन्निवेशय मानसे ॥

णिब्भच्छणा धिक्कारतिरस्कारौ । अवमाणणा बहूनां मध्ये अवज्ञाकरणं । तज्जणा तर्जनीमुत्क्षिप्य ज्ञास्यते यत्ते करिष्यामीति क्रोधावेशान्निग्रहप्रदर्शनं ॥

अर्थ—श्रीमान लोक राजादिकोंकी सेवा करते समय उनके असंख्य शब्द; कटु, और कठोर शब्द सुनकर तेरेको तीव्र मनोदुःख प्राप्त होता था. निर्भर्त्सना, अपमान, इत्यादिक का दुःख अनेकवार तुझको प्राप्त हुआ था.

दीणत्तरोसचिंतासोगामरिसग्गिपउलिदमणो जं ॥
पत्तो घोरं दुक्खं माणुसजोणीए संतेण ॥ १५९१ ॥
भीशोकमाननमात्सर्यरागद्वेषमदादिभिः ॥
तप्यमानो गतो दुःखं पावकैरिव चिंतय ॥ १६५४ ॥

विजयोदया—दीणत्तरोस—चिंतादीनत्वरोषचिंताशोकामर्षाग्निभिः संतप्तमना यत् । पत्तो घोरं दुक्खं प्राप्तं घोरं दुःखं । माणुसजोणीए संतेण मनुष्ययोनौ सत्यां भवता ॥

मूलारा—पउलिदमणो दीनत्वादिभिरग्निरिव संतप्तं मनो येन यत्र वा । तन्मानसं दुःखं यत्त्वया मानुषयोनौ भवता प्राप्तं तच्चिन्तय । उक्तं च—

भीशोकमानमात्सर्यरागद्वेषमदादिभिः ॥
तप्यमानो गतो दुःखं पावकैरिव चिंतय ॥

अर्थ—दीनपना, क्रोध, चिंता, शोक, असहनशीलता, एतद्रूप अग्निओंसे पीडित होकर हे क्षपक! तुझको घोर दुःखोंका अनुभव मिल चुका है.

दंडणमुंडणताडणधरिसणपरिमोससंकिलेसा य ॥
धणहरणदारधरिसणघरदाहजलादिधणनासं ॥ १५९२ ॥

स्तेनाग्निजलदायादपार्थिवैर्धनविप्लवे ॥
कशादंडादिभिर्घाते हस्तपादादिमर्दने ॥ १६५५ ॥

विजयोदया—दंडण मुंडण—दंडनमुंडनताडनदूषणपरिमोषणसंक्लेशाः परधनापहरणदारदूषणानि गृहदारजन्विभिर्दृश्यणनाशात् ॥

उभयदुःखानुस्मरणाय गाथाषट्कमाह—

मूलारा—दंडण अपराधे सति राजादिभिर्धनापहरणं । धरिसणा साक्षेपदूषणारोपणं । परिमोसे परद्रव्यहरणं दारधरिसणं भार्याविधर्षणं जलादिधणणासो जलाग्न्यादिभिर्धनविनाशः ॥

अर्थ—मनुष्य गतिमें अपराध होनेपर राजादिकोंसे धनापहार होता है. यह दंडनदुःख है. कुछ अपराध होनेपर मस्तकके सब केश निकलवाना यह मुंडण दुःख है. ताडण दुःख—अपराध होनेपर फटके लगाना. घर्षण दुःख आक्षेपसहित दोषारोपण करनेसे मनमें दुःख उत्पन्न होता है. अपराध होनेसे राजा धन लुटवाता है तब जो दुःख होता है उसको परिमोष दुःख कहते हैं. चोर द्रव्य हरण करते हैं तब जो दुःख उत्पन्न होता है उसको धन हरण दुःख कहते हैं. भार्याको कोई दुष्ट जबरदस्तीसे हरण करनेपर उत्पन्न हुए दुःखको दारहरण दुःख कहते हैं. घर जलनेसे, धन नष्ट होनेसे इत्यादिक कारणोंसे मानसिक दुःख उत्पन्न होते हैं.

दंडकसालट्ठिसदाणि डंगुराकंटमद्दणं घोरं ॥
कुंभीपाको मच्छयपलीवणं भत्तवुच्छेदो ॥ १५९३ ॥

मूर्ध्नि प्रज्वालने वह्नेर्भक्तपानादिरोधने ॥
शृंखले रज्जुभिः काष्ठैर्हस्तपादादिबंधने ॥ १६५६ ॥

विजयोदया—दंडकसालट्ठिसदाणि दंडकशायष्टिशतैस्ताडनानि दंडादिकार्यत्वाद्दंडशब्देनोच्यंते । डंगुरा मुष्टिप्रहाराः । कंटमद्दणं कंटकानामुपरि प्रक्षिप्य मर्दनं घोरं । कुंभीपाकः । मच्छगपलीवणं मस्तके अग्निप्रज्वलनं । भत्तवुच्छेदो आहारनिरोधः ॥

मूलारा—कसा चर्मयष्टिः । अत्र दंडादिशब्दैः दंडादिकार्यत्वात्ताडनान्युच्यंते । डंगुरा मुष्टिप्रहारः । दोषपदह यादनानि वा । कंटयमद्दणं कंटकोपरि प्रक्षिप्य मर्दनं । कुंभीपागो उष्ट्रिकायां प्रक्षिप्य पचनं । पलेवणं अग्निप्रज्वलनम् । भत्तवोच्छेदो आहारनिरोधः ॥

अर्थ—लाठी, चाबुक और वेंतसे ठोकना, मुठिओंसे शरीरपर प्रहार करना, कांटोंपर सुलाकर खूप मर्दन करना, कुंभीमें पकाना, मस्तकपर अग्नि जलाना, आहार पानी नहीं देना इत्यादिकोंसे मनुष्य गतिमें दुःख होता था.

दमणं च हत्थिपादस्स णिगलअंदूवरत्तरज्जूहिं ॥
बंधणमाकोडणयं ओलंवणणिहणणं चेव ॥ १५९४ ॥

पराभवे तिरस्कारे वृक्षशाखावलंबने ॥
व्याघ्रसर्पविषारातिरोगादिभ्यो विपर्यये ॥ १६५७ ॥

विजयोदया—दमणं च हत्थिपादस्स हस्तिपादेन मर्दनं । णिगलअंदूवरत्तरज्जूहिं निगलेन, अंदुकाभिः, वरत्राभिः, रज्जुभिश्च बंधन । आकोडणय हस्तौ पृष्ठतो नीत्वा बंधन । ओलंवण ग्रीवाबद्धपाशस्य तरुशाखासु लंबनं । णिहणणं गर्ते निक्षिप्य पूरणं ॥

मूलाराधना—दाणं च हत्थिपादस्स गजचरणतलप्रक्षेपः । अथवा दानं खंडनं हस्तिपादेनैव । अन्ये दमणं इति पाठित्वोन्मर्दनमित्यर्थमाहुः । कंडु शृंखला इति इत्यन्यः । अन्ये अंदु इति पाठित्वा चर्मबंधनमित्यर्थमाहुः ॥ आकोडणं हस्तौ पृष्ठतो नीत्वा बंधनं । उल्लम्बणं ग्रीवाबद्धपाशस्य तरुशाखायामवलंबनं ॥ णिहणणं गर्ते निक्षिप्य पूरणं ॥

१४५६

अर्थ-हाथके पायोंमे कुचलाना, वेडी, संखल, चर्मकी वादी और दोरी इनसे बांधना, हाथ पीठके तरफ बांधना, कंठको पाशबद्ध कर शाखापर लटकाना, गड्ढेमें फेककर ऊपर मट्टी डालकर बंद कर देना इत्यादि दुःख भोगे थे.

कण्णोट्ठसीसणासाछेदणदंताण भंजणं चेव ॥
उप्पाडणं च अच्छीण तहा जिब्भायणीहरणं ॥ १५९५ ॥

जिह्वाकर्णोष्ठनासाक्षिपाणिपादादिकर्तनैः ॥
शीतवातातपोदन्याबुभुक्षादिकदर्थनैः ॥ १६५८ ॥

विजयोदया—कण्णोट्ठसीसणासाछेदण कर्णयोरोष्ठयोः, शिरसो, नासिकायाश्च छेदः । दंताण भंजणं चेव दंतानां भंजनं । उप्पाडणं च अच्छीणं अक्ष्णोरुत्पाटनं, तथा जिब्भाए णीहरणं जिह्वानिर्हरणं ॥

मूलारा—हरणं निष्काशनं ।

अर्थ-कर्णच्छेद करना, होठोंको छेदना, नाकको काटना, मस्तक तोडना, दांत गिराना, आंखें निकालना, फोडना, जीभ निकालना, अर्थात् मुंहमेंसे जीभ बाहर खींचना इत्यादि दुःख प्राप्त हुए थे.

अग्गिविससत्तुसप्पादिवालसत्थाभिघादघादेहिं ॥
सीदुण्हरोगदंसमसएहिं तण्णाछुहादीहिं ॥ १५९६ ॥

विजयोदया—अग्गिविससत्तुसप्पादिवालसत्थाभिघादघादेहिं अग्नेर्विषस्य, शत्रूणां, सर्पादिव्यालमृगाणां, शस्त्रप्रहारस्य च घातैः । सीदुण्हरोगदंसमसएहिं शीतोष्णेन, दंशमशकैः, तण्णाछुहादीहिं तृट्क्षुधादिभिः ॥

मूलारा—सप्पादि सर्पवृश्चिककुक्कुरगोमहिषादयः । वाल व्याघ्रसिंहादयः ॥

अर्थ-अग्नि, विष, शत्रु, सर्प, क्रूर प्राणी, और शस्त्रप्रहार इनसे भी अनंत वार दुःख प्राप्त हुआ था. शीतसे, उष्णसे, रोगोंसे, दंशमशकोंसे अनंत वार दुःख प्राप्त हुए थे.

जं दुक्खं संपत्तो अणंतखुत्तो मणे सरीरे य ॥
माणुसभवे वि तं सव्वमेव चिंतेहि तं धीर ! ॥ १५९७ ॥

शारीरं मानसं दुःखं सार्यो ! प्राप्तमनेकशः ॥
यद्दुःसहं त्वया नृत्वे तत्त्वं चिंतय यत्नतः ॥ १६५९ ॥
गर्हितं दुरितकर्म निर्मितं मानुषीं गतिमुपेयुषा त्वया ॥
दुःसहं चिरमवाप्तमूर्जितं किं न चिंतयसि तत्त्वतोऽसुखम् ॥ १६६० ॥

इति नृगतिः ।

विजयोदया—जं दुक्खं संपत्तो यद्दुःखं प्राप्तः । अणंतखुत्तो अनंतवारं । मणे सरीरे य मनसि शरीरे च । मानसं शारीरं च दुःखं प्राप्तः माणुसभवे वि मनुष्यभवेऽपि । तं सव्वमेव चिंतेहि तत्सर्वमेव चिंतय । तं धीर त्वं धीर! ॥

मूलारा—स्पष्टम् । मनुष्यगतिदुःखानुचिंतनम् ॥

अर्थ—हे क्षपक ! इस मनुष्यगतिमें भी अनंतवार जो मानसिक और शारीरिक दुःख तेरेको प्राप्त हुआ था हे धीर ! तू उसका वार २ चिंतन कर.

सारीरादो दुक्खादु होइ देवेसु माणसं तिव्वं ॥
दुक्खं दुस्सहमवसस्स परेण अभिजुज्जमाणस्स ॥ १५९८ ॥

देवत्वे मानसं दुःखं घोरं कायिकतोऽगिनः ॥
पराधीनस्य वाहत्वं नीयमानस्य जायते ॥ १६६१ ॥

विजयोदया—सारीरादो दुक्खादु शारीराद्दुःखात् । होदि भवति । देवेसु माणसं तिव्वं देवेषु मानसं तीव्रं । दुःसहं सोढुमशक्यं । अवसस्स अवशस्य । परेण अभिजुज्जमाणस्स अन्येन अभियुज्यमानस्य वाहनतां नीयमानस्य ।

देवगतिदुःखमाराधकमनुस्मारयितुं गाथाचतुष्टयमाश्रयन्नादौ तद्दुःखतीव्रतरत्वं सहेतुकमुपदिशति—

मूलारा—परेण स्वस्वामिभूतेन देवेन । अभिजुज्जमाणस्स वाहनतां नीयमानस्य । सच्च वाहत्वापादनद्वारावतारेण मानसं दुःखं त्वया बहुशः सुरगतौ संसरता प्राप्तमिवत्वदेवेदानीमनुचिंतयेति विधिरत्र व्यंग्यः ॥

अर्थ—देवगतिमें शारीरिक दुःखकी अपेक्षा मानसिक दुःख अतितीव्र है. जब अधिक पुण्यवाला अधिकारी देव हीन पुण्यके धारक देवको वाहनकर्म में नियुक्त करता है तब उसको महान् मानसिक कष्ट अनुभवमें आता है.

देवो माणी संतो पासिय देवे महड्ढिए अण्णे ॥
जं दुक्खं संपत्तो घोरं भग्गेण माणेण ॥ १५९९ ॥

गुर्वीं दृष्ट्वामरो मानी महर्द्धिकसुरश्रियम् ॥
तदा स श्रयते दुःखं मानभंगेन मानसम् ॥ १६६२ ॥

विजयोदया—देवो माणी संतो देवो मानी सन्। पासिय देवे देवान् दृष्ट्वा। महड्ढिए महर्द्धिकान्। अण्णे अन्यान्। जं दुक्खं संपत्तो यद्घोरं दुःखं प्राप्तः। भग्गेण माणेण भग्नेन मानेन ॥

सुरगतावेव प्रकारान्तरायाताणि मानसदुःखान्यनुस्मारयितुं गाथात्रयमाह—

मूलारा—माणी स्वोत्कर्षसंभावनाभिनिवेशेन स्तभ्यमानः। पासिय दृष्ट्वा। महिड्ढिग महती निजर्द्धेरधिका गुर्वी ऋद्धिरणिमादिगुणसंपद् परिवारादिविभूतिश्च येषां तान्। संपत्तो मानी देवःसन्सांमुख्येन प्राप्तस्त्वं यद्दुःखं तच्चिंतयेति संबंधः। न सप्तमेव चिंतेहि तं धीरेत्यनुवृत्तिकृतस्य समन्वयस्य विवक्षितत्वात्। एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ॥

अर्थ—मानी देव अन्य महाऋद्धिशाली देवोंको देखकर जिस घोर दुःख को प्राप्त होता है वह मनुष्य गतिके दुःखोंकी अपेक्षासे अनंत गुणित है. ऋद्धिशाली देवोंको देखकर उसका गर्व शतशः चूर्ण होनेसे वह महा कष्टी होता है

दिव्वे भोगे अच्छरसाओ अवसस्स सग्गवासं च ॥
पजहंतगस्स जं ते दुक्खं जादं च्चयणकाले ॥ १६०० ॥

सुंदरास्त्रिदिवयासिसुंदरीर्मुंचतो विबुधभोगसंपदः ॥
ध्यायतो भवति दुःखमुल्बणं गर्भवासवसतिं च निंदितां ॥ १६६३ ॥

विजयोदया—दिव्वे भोगे दिव्यान्भोगान्। अच्छरसाओ देवकन्यकाः। सग्गवासं च स्वर्गवासं च। पजहंतगस्स परित्यजतः। अवसस्स परवशस्य। जं ते दुक्खं जादं यत्तव दुःखं जातं। चयणकाले च्यवनकाले ॥

च्यवनसमयसमुत्थं दु खमनुस्मारयति–

मूलारा —अयमस्स गत्यंतरनिर्वर्तककर्मपरतंत्रस्य ॥

अर्थ—जब मृत्युके पाश गलेमें आ पडते हैं तब दिव्य भोग, देवांगना, और स्वर्गवास का त्याग करते समय जो तुमको दुःख हुआ था, हे क्षपक! तू उसे स्मरण कर.

जं गब्भवासकुणिमं कुणिमाहारं छुहादिदुक्खं च॥
चिंतंतगस्स यं सुचि सुहिदियस्स दुक्खं चयणकाले ॥ १६०१ ॥
पूर्वभवार्जितदुष्कृतजातं । उत्पन्नं त्रिदशत्वमशस्तम् ॥
दुःखमसह्यमपारमवाप्तम् । चिंतय भद्र विमुच्य विषादम् ॥ १६६४ ॥
इति देवगतिः ॥

विजयोदया—जं गब्भवासकुणिम यद्गर्भवासकुथितं । कुणिमाहारं कुथिताहारं । छुधादिदु.खं च । चिंतंतगस्स चिंतयत. । सुचिसुहिदियस्स शुचे. सुखितस्य । जं दुक्खं चयणकाले यद्दुःखं चयणकाले स्वर्गाच्च्यवनकाले॥

मूलारा—कुणिमं कुथितं । अशुचिशुक्रार्तवादि । सुचिसुहिदयस्स देवत्वे शुचेःसुखितस्य सतः । वृत्तम्–

हरकल्पद्रुमकंपभूषणमणित्विण्मांद्यभूषामल–
स्रग्म्लान्यावरणापरागविभवच्छायाप्रभाह्रासवताम् ।
रूढपीडद्युगर्भिणा दिविषदां षण्मासशेषायुषाम् ॥
तद्दुःखं प्रथते प्रमित्स्विव सुखं श्वभ्रेपि यन्नेष्यते ॥

देवगतिदुःखानुचिंतनम् ॥

अर्थ—आयुष्यकी समाप्ति समयमें अब यहांसे चयकर मेरेको माताके दुर्गंध गर्भमें रहना पडेगा, दुर्गंध पदार्थोंका गर्भावस्थामें आहार लेना पडेगा और क्षुधा, प्यास वगैरह दुःखोंसे मेरे को पीडा होगी. मैं इस देवपर्यायमें सुखी और पवित्र हूं परंतु अब क्या करूं यह आगामी परिस्थिति कैसे टल सकती है ऐसा विचार आनेपर जो दुःख तुमको प्राप्त हुआ था उसका हे क्षपक! तू मनमें विचार कर

एवं एदं सव्वं दुक्खं चदुगदिगदं च जं पत्तो ॥
तत्तो अणंतभागो होज्ज ण वा दुक्खमिमगं ते ॥ १६०२ ॥
दुर्गतौ यत्त्वया प्राप्तमेवं दुःखमनेकशः ॥
न तस्यानंतभावोऽपि भद्र ! दुःखमिदं स्फुटम् ॥ १६६५ ॥

विजयोदया—एवं एदं सव्वं एवमेतत्सर्वं । दुक्खं चदुगदिगदं दुःखं चतुर्गतिगतं । जं पत्तो यत्प्राप्तवान् । तत्तो तत ॥ अणंतभागो अनंतभागः । होज्ज ण वा भवेद्वा न वा । दुक्खमिमगं ते दुःखमिदं भवे मनुजजन्मनि ॥

एवं चतुर्गतिदुःखानि स्मारयित्वा प्रकृते योजयति—

मूलारा—होज्ज च ण च भवेद्वा नवा । इमगं इदानीतनं ॥

अर्थ—इस प्रकार इस चतुर्गतिमें जो जो दुःख प्राप्त हुआ था, उसका विचार करनेसे ऐसा मालुम होता है कि जो सांप्रतकालीन दुःख है वह पूर्व दुःखोंका अनंतांश होगा या नहीं भी होगा. अर्थात् यह दुःख अत्यंत अल्प है इससे घबरा कर तू अपने शुद्ध स्वरूपसे च्युत होना अयोग्य है.

संखेज्जमसंखेज्जं कालं ताइं अविस्समंतेण ॥
दुक्खाइं सोढाइं किं पुण अदिअप्पकालमिमं ॥ १६०३ ॥
संख्यातमप्यसंख्यातं कालमध्यास्य तादृशम् ॥
अल्पकालमिदं दुःखं सहमानस्य का व्यथा ॥ १६६६ ॥

विजयोदया—संखिज्जमसंखिज्जं कालं संख्यातमसंख्यातं वा कालं । ताइं दुक्खाइं सोढाइं तानि दुःखानि सोढानि । अविस्समंतेण विश्रामरहितेन । किं पुण किं पुनः सह्यते । अदिअप्पकालमिमं अत्यल्पकालमिदं दुःखं ॥

एवं परिमाणतः पूर्वानुभूतदुःखातात्कालिकदुःखस्याल्पत्वं समर्थ्य कालतोऽपि तत्तस्याल्पत्वं ब्रवीति—

मूलारा—संखेज्जं संख्यातं दशवर्षसहस्रादिसर्वजघन्यस्थितेरपेक्षया । असंखेज्जं एकसागरोपमाद्युत्कृष्टस्थित्यपेक्षया । अविस्समंतेण विश्रामरहितेन ॥

अर्थ—हे क्षपक! नरकादिदुर्गतिओंमें तुझको संख्यात वा असंख्यात कालतक निरंतर दुःख भोगना पडा

था. वह भी तुमने भोगा है. परंतु आजका दुःख अत्यंत अल्प है. और वह अतिशय अल्पकाल पर्यंत ही रहने वाला है.

जदि तारिसाओ तुह्मे सोढाओ वेदणाओ अवसेण ॥
धम्मोत्ति इमा सवसेण कहं सोढुं ण तीरेज्ज ॥ १६०४ ॥

अवशेन त्वया सोढास्तादृश्यो वेदना यदि ॥
किं तदा धर्मबुद्ध्येयं स्ववशेन न सह्यते ॥ १६४७ ॥

विजयोदया—जदि तारिसाओ यदि तादृश्यः। तुह्मे सोढाओ वेदणाओ त्वया सोढा वेदनाः। परवसेण परवशेन। धम्मोत्ति धर्म इति। इमा इयं वेदना। सवसेण स्ववशेन सता। सोढुं ण तीरेज्ज सोढुं न शक्यते? । कथं वेदना धर्मः? उत्तमक्षमामार्दवार्जवादिभि• दशप्रकारो धर्म उच्यते। वेदनासहनं धर्म इति कृत्वा कथं न शक्यते सोढुं संबंधोऽत्र ॥

धर्मानुस्मरणेन अनिवार्यदुःखसहनाय धैर्यमुदीरयति—

मूलारा—तुमे त्वया। धम्मोत्ति वेदनासहनमुत्तमक्षमादिलक्षणो धर्म इत्यनुध्यायता। ण तीरेज्ज न शक्येत ॥

अर्थ—ऐसी घोर वेदना भी तुमने सही है क्यों कि तुम नरकादि कुगतिओं में परतंत्र थे जब परतंत्र हो कर इतना भारी दुःख सह लिया तो अब तो तुम स्वाधीन हो. स्वाधीनतामें थोडासा दुःख सहनेका समय प्राप्त होनेपर कायर नहीं होना चाहिये ये वेदनायें धर्मरूप हैं ऐसा समझकर वेदना दुःख सहना चाहिये. उत्तमक्षमादि भावोंको धर्म कहते हैं. वेदना धर्मरूप कैसी है. इसका उत्तर–वेदना का मतलब वेदना सहन करना ऐसा है अतः उसमें धर्म शब्दका प्रयोग करना अयोग्य नहीं है.

तण्हा अणंत खुत्तो संसारे तारिसी तुमं आसी ॥
जं पसमेदुं सव्वोदधीणमुदगं ण तीरेज्ज ॥ १६०५ ॥
आसी अणंतखुत्तो संसारे ते छुधावि तारिसिया ॥
जं पसमेदुं सव्वो पुग्गलकाओ ण तीरेज्ज ॥ १६०६ ॥

जदि तारिसया तण्हा छुधा य अवसेण ते तदा सोढा ॥
धम्मोत्ति इमा सवसेण ण कधं सोढुं ण तीरेज्ज ॥ १६०७ ॥
सुदपाणएण अणुसट्ठिभोयणेण य सदोवगहिएण ॥
ज्झाणोसहेण तिव्वा वि वेदणा तीरदे सहिदुं ॥ १६०८ ॥

संसारे भ्रमतस्तृष्णा दुरंता या तवाभवत् ॥
न सा शमयितुं शक्या सर्वांभोधिजलैरपि ॥ १६६८ ॥
बुभुक्षा तादृशी जाता संसारे सरतस्तव ॥
न शक्या यादृशी हंतुं सर्वपुद्गलराशिना ॥ १६६९ ॥
सोढ्वा तृष्णाबुभुक्षे ते त्वं नेमे सहसे कथम् ॥
स्ववशे धर्मवृद्ध्यर्थमल्पकाले महामते! ॥ १६७० ॥
समुद्रो लंघितो येन मकरग्राहसंकुलः ॥
गोष्पदं लंघतस्तस्य न खेदः कोऽपि विद्यते ॥ १६७१ ॥
श्रुतिपानकशिक्षान्नश्रुतध्यानौषधैर्यते ! ॥
वेदनानुगृहीतेन सोढुं तीव्रापि शक्यते ॥ १६७२ ॥

विजयोदया—सुदपाणएण त्रिविधधर्मकथाश्रुतपानेन । अणुसट्ठिभोयणेण य अनुशासनभोजनेन । उवगहिदेण उपगृहीतेन । ज्झाणोसधेण शुभध्यानौषधेन च । तिव्वा वि वेदणा । तीव्रापि वेदना । तीरदे सहिदुं शक्यते सोढुं ॥ दुःसहतृष्णाक्षुधानुस्मरणया तत्क्षणोदीर्णतृष्णाक्षुधापरीषहौ तिरस्कार्यं धर्मावष्टंभेन सत्वमुन्मुद्रयितुं गाथात्रयमाह—

मूलारा—तुमे तव । आसी भूता । सव्वोदधीणं सकलसमुद्राणां । उदय जलम् ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

मूलारा—इमा इयं क्षुधा तृष्णा च ॥ पतद्गाथात्रयं श्रीविजयो नेच्छति ॥

वेदनासहनार्थमुपायत्रयमाह—

मूलारा—सुदि आक्षेपणी, संवेजनी, निर्वेदनी चेति त्रिविधकर्मकथाश्रवणं। उवगहिदेण आहितबलेन त्वया। नन्वयं वेदनासहाय सेषस्वेति विचित्र पर्यवस्यति। उक्तं च—

श्रुतिपानकशिक्षान्नशुभध्यानौषधैर्धृते ! ॥
वेदनानुगृहीतेन सोढुं तीव्रापि शक्यते ॥

अर्थ—हे क्षपक! इस संसारमें अनंतवार तुमको इतनी तीव्र प्यास लगती थी की उसको प्रशमन करनेके लिये सर्व समुद्रोंका जलभी असमर्थ था

अर्थ—हे क्षपक! भूख भी अनतवार इतनी तीव्र लगीथी की उसको मिटानेके लिये सर्व जगत्के पुद्गल भी अक्षम रहे

अर्थ—ऐसी तीव्रभूख और प्यास यदि तुमने परतंत्र होकर सह ली थी तो अबकी वेदना धर्म समझकर तुम स्ववश होकर क्यों न सहन कर सकोगे अवश्य सहन कर सकोगे ही.

अर्थ—संवेजनी, निर्वेजनी और आक्षेपणी इन तीन धर्म कथाओंका श्रवण करना ही मानो अमृत हैं. इस अमृतका प्राशन करके तथा निर्यापकाचार्यका उपदेश रूपी भोजन भक्षण कर तुह्मारा आत्मबल बढेगा शुभध्यानरूपी औषधीका भी सेवन कर तुम इस वेदनाका अन्त कर सकते हो

भीदो व अभीदो वा णिप्पडियम्मो व सपडियम्मो वा ॥
मुच्चइ ण वेदणाए जीवो कम्मे उदिण्णम्मि ॥ १६०९ ॥

पीडानामुपकारस्य सोपकारस्य चोदिता
नाभीतस्य न भीतस्य जंतोर्नश्यति कर्मणि ॥ १६७३ ॥

विजयोदया—भीदो व अभीदो वा भीतोऽभीतो वा। णिप्पडियम्मो सप्पडियम्मो वा निष्प्रतिकार. सप्रतिकारो वा। मुच्चदि ण वेदणाए जीवो न मुच्यते वेदनाया जीव। उदिण्णम्मि कम्मे कर्मण्यसद्वेद्ये उदीर्णे।

असद्वेद्योदयसामर्थ्ये वेदनाविमोक्षाभावमाह—

मूलारा—कम्मे असद्वेद्याख्ये ॥

अर्थ—मनुष्य डरपोक हो अथवा धैर्यवान हो वह प्रतिकार करे अथवा न करे जब असातावेदनीय कर्मकी तीव्र उदीरणा होती है तब वेदना होगी ही. उसको दूर करनेका सामर्थ्य किसी भी उपायोंमें नहीं है.

पुरिसस्स पावकम्मोदएण ण करंति वेदणोवसमं ॥
सुट्ठु पउत्ताणि वि ओसधाणि अदिवीरियाणी वि ॥ १६१० ॥

औषधानि सवीर्याणि प्रयुक्तान्यपि यत्नतः ॥
पापकर्मोदये पुंसःशमयंति न वेदनाम् ॥ १६७४ ॥

विजयोदया—पुरिसस्स पावकम्मोदयम्मि पुरुषस्य पापकर्मोदये न करेंति न कुर्वन्ति ॥ वेदणोवसमं वेदनोपशमं। सुट्ठु पउत्ताणि वि सुष्ठु प्रयुक्तान्यपि। ओसधाणि अदिवीरियाणि औषधानि अतिवीर्याण्यपि॥

पापोद्रेके प्रबलानामपि प्रतीकाराणां अकिंचित्करत्वमाह—

मूलारा—आदिवीरियाणी वि वीर्यातिशययुक्तान्यपि ॥

अर्थ—पापकर्मके उदयसे अतिशय सामर्थ्य युक्त उत्तम औषध भी वेदनाका उपशम करनेमें असमर्थ होते हैं. ये औषध निपुणतासे रोगीको देनेपर भी वे रोग दूर करनेमें असमर्थ होते हैं.

रायादिकुडुंबीणं अदयाए असंजमं करंताणं ॥
धण्णंतरी वि कादुं ण समत्थो वेदणोवसमं ॥ १६११ ॥

असंयमप्रवृत्तानां पार्थिवादिकुटुंबिनाम् ॥
पीडा धन्वन्तरिःशक्तो निराकर्तुं न कर्मजाम् ॥ १६७५ ॥

विजयोदया—रायादिकुडुंबीणं राजादीनां अनेक द्रव्यसंपत्परिचारकसंपत्प्रख्यातानां। अदयाए असंजमं करेंताणं दयामंतरेणासंयमं कुर्वतां। धण्णंतरी वि धन्वंतरिरपि कर्तुं असमर्थः। वेदणोवसमं वेदनाया उपशमं ॥ वैद्यसंपत्ता धन्वंतरेर्ग्रहणेन सूचिता ॥

पापप्रक्रियाधायां द्रव्यादिसंपद्वैफल्यमाह—

मूलारा—कुडुंबीणं एतेन द्रव्यसंपत्परिचारकसंपच्च सूचिता ॥ अदयाए निर्दयत्वेन। असंयमं षड्जीवनिकायबाधां। धण्णंतरी वि धन्वंतरिरपि। वैद्यसंपत्सूचनार्थमिदम् ॥

अर्थ—राजा वगैरह लोक अतिशय धनवान होते हैं. उनकी शुश्रूषा करनेके लिये अनेक मनुष्य सदा तत्पर रहते हैं. रोग दूर करनेमें वे असंयमकी परवाह नहीं करते हैं. धन्वंतरीके समान चतुर वैद्य उनके रोगका निदान कर औषधि देते हैं. परंतु वे भी वेदनाका उपशम करनेमें असमर्थ होते हैं. तात्पर्य यह है कि, उदय आनेपर रोगकी वेदना उत्तम औषधीसे भी शांत नहीं होती हैं.

किं पुण जीवणिकाये दयंतया जादणेण लद्धेहिं ॥
फासुगदव्वेहिं करेंति साहुणो वेदणोवसमं ॥ १६१२ ॥

दयालोःसर्वजीवानामौषधेन व्यथाशमम् ॥
प्रार्थनाप्तेन किं साधोः प्रासुकेन करिष्यति ॥ १६७६ ॥

विजयोदया—किं पुण किं पुनः। जीवणिकाए जीवनिकायान् । दयंतगा दयमानाः। जादणेण लद्धेहिं याञ्चया लब्धैः। फासुगदव्वेहिं प्रासुकद्रव्यैः । करेज्ज कुर्यात् । साहुणो वेदणोवसमं साधोर्वेदनोपशमं ॥ परिचारकसंपदभावो दर्श्यते जीवणिकाए दयंतगा इत्यनेन यथा व्याधिरुपशमो भवति तथा कुर्वंति परिचारकाः । अमी पुनर्यतयः षड्जीवनिकाय बाधापरिहारोद्यताः स्वसंयमविनाशभीरवः याचनेन लद्धेहि इत्यनेन द्रव्यसंपदभाव आख्यायते ॥

विपर्यये पापपक्तिमवेदनायाः सुतरां दुर्जयत्वमाह—

मूलारा—दयंतगा दयावंतः । एतेन परिचारकसंपदभावो दर्श्यते ॥ अन्येहि परिचारका यथाकथंचिद्व्याधि रुपशाम्यति तथा कुर्वते । यतयः पुनः स्वसंयमाविरोधेनैव तं प्रति व्याधिविध्वंसनार्थमयोग्यद्रव्यसेवां निराकरोति

अर्थ—मुनिराज तो छह प्रकारके जीवोंपर नित्य दया करते हैं वे याचनासे लाये हुए प्रासुक औषधोंसे क्षपक साधुकी अथवा रोगी साधुकी रोगवेदना कैसी मिटा सकते हैं ? उनके पास द्रव्य नहीं रहता है और राजाके समान शुश्रूषा करनेवाले वैद्यादिक परिचारक भी नहीं रहते हैं. राजाकी वेदनाका उपशम जिस प्रकारसे होगा वह उपाय परिचारक करते हैं उसमें असंयमका ध्यान ही वे नहीं रखते हैं. मुनि तो छह प्रकारके जीवोंको बाधा नहीं हो इसके तरफ ध्यान देते हैं. यदि वे नहीं ध्यान देंगे तो उनके संयमका नाश होगा. संयमके रक्षणके साथ रोगपरिहार यदि होगा तो वे औषधका सेवन करते हैं. यदि संयमरक्षण न होगा तो वे औषध ग्रहण नहीं करते हैं.

मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होदि वरं ॥
ण य वेदणाणिमित्तं अप्पासुगसेवणं कादुं ॥ १६१३ ॥

संयतस्य वरं साधोर्मरणं मोक्षकांक्षिणः ॥
वेदनोपशमं कर्तुं नाप्रासुकनिषेवणम् ॥ १६७७ ॥

विजयोदया—मोक्खाभिलासिणो निरवशेषकर्मापायाभिलाषिणः । संजदस्स प्राणसंयमवतः । णिधणगमणं पि होदि वरं मरणमपि वरं । ण य नैव वरं । वेदणाणिमित्तं वेदनोपशमार्थं । अप्पासुगसेवणं कादुं अयोग्यद्रव्यसेवनं कर्तुम् ॥

मूलारा—वेदणाणिमित्तं वेदनोपशमनार्थम् ॥

अर्थ—संपूर्ण कर्मके विनाशकी अभिलाषा करनेवाले मुनि मरणको भी अच्छा समझते हैं, परंतु वेदनाके उपशमके लिए अयोग्य द्रव्यका सेवन नहीं करते हैं. अर्थात् संयम पालकर योग्य प्रासुक औषध मिलेगा तो लेते हैं अन्यथा नहीं.

णिधणगमो एयभवे णासो ण पुणो पुरिल्लजम्मेसु ॥
णाणं असंजमो पुण कुणइ भवसएसु बहुगेसु ॥ १६१४ ॥

एकत्र निधनं नाशो न तु भाविषु जन्मसु
असंयमः पुनर्नाशं दत्ते बहुषु जन्मसु ॥ १७७८ ॥

विजयोदया—णिधणगमो एयभवे निधनगमनमेकभवे । णासो ण पुणो न पुनर्नाशः । पुरिल्लजम्मेसु भाविषु जन्मसु । असंजमो पुण असंयमः पुनः । भवसएसु जन्मशतेषु । बहुएसु बहुषु । णासं कुणइ नाशं करोति । वेदनाहि न संयतमनुयाति रत्नत्रयभावनोद्यतं । सा हि अमानं मंदं करोति । असंयमः पुन असद्वेद्यं प्रकृष्टानुभवं करोति । उक्तं च—
दुःखशोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्येति ॥

वेदनामरणादसंयमेन तत्प्रतिकारोऽत्यर्थमपथ्य इत्याह —

मूलारा—णासो अभावः । पुरिल्ल अग्रेतनेषु ॥

अर्थ—मरणरूप नाश एक भवमें ही होगा परंतु वह नाश नहीं है. क्योंकि उससे आत्माका अहित होता नहीं है. परंतु असंयमाचरणसे भावि सैकडो जन्मोंका नाश होता है. जो मुनि रत्नत्रय भावनामें तत्पर रहते हैं

वेदना उनको नहीं अनुसरती है. प्रत्युत वह मंद होती है. क्योंकि यह भावना असातावेदनीय कर्म का रस मंद करती है. असंयममें असातावेदनीय कर्मका अनुभव तीव्र बनता है. आचार्य उमास्वामी महाराजने 'दुःखशोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य' इस सूत्रमें असाता वेदनीय कर्मके कारणोंका–दुःख शोक गैरह कारणोंका उल्लेख किया है.

ण करेंति णिव्वुइं इच्छया वि देवा सइंदिया सव्वे ॥
पुरिसस्स पावकम्मे अणवक्कमगे उदिण्णम्मि ॥ १६१५ ॥

कांक्षतोऽपि न जीवस्य पापकर्मोदये क्षमाः ॥
वेदनोपशमं कर्तुं त्रिदशाः सपुरंदराः ॥ १६७९ ॥

विजयोदया—ण करेंति णिव्वुइं न कुर्वन्ति निर्वृतिं। पुरिसस्स पुरुषस्य। सइंदिया देवा सव्वे इच्छया वि सेंद्रकाः सर्वे देवा इच्छंतोऽपि। पावकम्मे पापकर्मणि। अणुक्कमगे अनुक्रमके। उदिण्णम्मि उदयमुपगते॥

न च कालेन पच्यमाने दुर्निवारे असद्वेद्यकर्मणींद्रादयोऽपि पुरुषं सुखयितुं प्रभवंतीत्युपदिशति—

मूलारा—इच्छया वि वेदनां निराकर्तुमिच्छंतोऽपि। अणवक्कमगे निष्प्रतिकारे। उक्तं च–

न कुर्वंति सुराः सर्वे प्रसन्ना अपि निर्वृतिम् ॥
पापकर्मोदये पुंसः सत्येव निरुपक्रमे ॥

अपि च ॥

कांक्षतोऽपि न जीवस्य पापकर्मोदये क्षमाः ॥
वेदनोपशमं कर्तुं त्रिदशाः सपुरंदराः ॥

अर्थ—जब पाप कर्मका उदय पुरुषको क्रमसे आता है तब सब देव मिलकर भी उस पुरुषको सुखी बना नहीं सकते हैं. सुखी बनाने की तीव्र इच्छा होनेपरभी वे उसको सुख देनेमें असमर्थ होते हैं.

किह पुण अण्णो काहिदि उदिण्णकम्मस्स णिव्वुदिं पुरिसो ॥
हत्थीहिं अतीरं तं भेत्तुं भंजिहिदि किह ससओ ॥ १६१६

उदीर्णकर्मणः पीडां शमयिष्यति किं परः ॥
अभग्नो दंतिना वृक्षःशशकेन न भज्यते ॥ १६८० ॥
कर्माण्युदीर्यमाणानि स्वकीये समये सति ॥
प्रतिषेद्धुं न शक्यन्ते नक्षत्राणीव केनचित् ॥ १६८१ ॥

विजयोदया—किह पुण कथं पुन । अण्णो काहिदि पुरिसो अन्यः करिष्यति पुरुषः । उदिण्णकम्मस्स उदयागतासद्वेद्यकर्मणः । णिव्वुदिं निर्वृतिं । हत्थीहिं अतीरतं हस्तिभिर्महाबलैः कर्तुमशक्यं यद्भंजनं । किध ससगो भजोदि कथं स्वल्पमाणो भंक्ष्यति शशकः॥

दिव्यशक्तेर्वेदनाप्रतिचिकीर्षाहितस्य निरुपक्रमपापकर्मविपाकिमवेदनानिराकरणे सुतरां सामर्थ्याभावं दृष्टांतेन द्रढयति—

मूलारा—अण्णो दिव्यशक्त्या वेदनाप्रतीकारेच्छयावहितः । काहिदि करिष्यति । उदिण्णकम्मस्स उदयागत दुर्निवारासद्वेद्यकर्मकस्य जीवस्य । अतीरतं अशक्यं । भत्तुं भंक्तुं । भंजिहिदि भंक्ष्यति । ससओ शशकः । अनुकंपायामल्पे वा कः । महाबलैर्बहुभिर्गजैर्यो भेत्तुं न शक्यते स कथं वराकेणाल्पबलेनैकेन शशेन भज्यते इत्यर्थः । उक्तं च—

कर्माण्युदीर्यमाणानि स्वकीये समये सति ॥
प्रतिषेद्धुं न शक्यंते नक्षत्राणीव केनचित ॥

अर्थ—जब देव भी इच्छा होनेपर भी पुरुषके दुःखको नष्ट कर सुखी करनेमें असमर्थ हैं तो अन्य पुरुष कर्मकी उदीरणा होनेपर कैसा सुखी करनें मे समर्थ होंगें. महासामर्थ्यसंपन्न हाथी भी जिस वृक्षको तोडने में असमर्थ है उसको अल्प शक्तीका धारक खरगोश कैसे तोड सकेगा.

ते अप्पणो वि देवा कम्मोदयपच्चयं मरणदुक्खं ॥
वारेदुं ण समत्था धणिदं पि विकुव्वमाणा वि ॥ १६१७ ॥
ये शक्राः पतनं शक्ता न धारयितुमात्मनः ॥
ते परित्रां करिष्यंति परस्य पततःकथम् ॥ १६८२ ॥

विजयोदया—ते देवा अप्पणो वि कम्मोदयपच्चयं मरणदुक्खं ते देवाः सेंद्रकाः कर्मोदयप्रत्ययं विश्वासं। मरणदुःखं आत्मनोऽपि। वारेदुं ण समत्था निवारयितुं न समर्थाः। धणिदंवि विकुव्वमाणा नितरां विक्रियां कुर्वन्तोऽपि॥

इंद्रादीनां स्वपरमृत्युदुःखनिराकरणाशक्तिमैकांतिकीमुपदिशति—

मूलारा—ते सेन्द्राः। कम्मोदयपच्चयं दुर्निवारासद्वेद्यादिकर्मविपाकहेतुकं। मरणदुःखं मृत्युं पराविशयद्विद्-शैनप्रेष्यकर्महठप्रयोगादिप्रभवमनस्तापं च। अथवा मरणसमानं दुःखं मरणदुःखं दुर्निवाराविपद्धान्तर्मनस्तापमित्यर्थः। विउव्वमाणा दिव्यशक्त्यनुभावाद्विविधां च क्रियां पलायनात्मगोपनादिकां कुर्वतः। उक्तं च—

ये शक्ताः पतनं शक्रा न वारयितुमात्मनः॥
ते परित्रां करिष्यंति परस्य पततः कथं॥

अर्थ—देवभी कर्मके उदयसे होनेवाले अपने मरणके दुःखोंको स्वयंभी दूर नहीं कर सकते हैं. प्रयत्न करके भी वे अपना मरण दुःख दूर नहीं कर सकते हैं.

उज्झंति जत्थ हत्थी महाबलपरक्कमा महाकाया॥
सुत्ते तम्मि वहंते ससया उद्धेलुया चेव॥ १६१८॥

तरसा येन नीयंते कुंजरा मदमंथराः॥
शशकानामसाराणां तत्र स्रोतसि का स्थितिः॥ १६८३॥

विजयोदया—उज्झंति यस्मिन् स्रोतसि हस्तिनः उह्यंते महाबलपराक्रमा महाकायाः। तस्मिन् स्रोतसि वहति शशका गता एव॥

उक्तार्थसमर्थनार्थमाह—

मूलारा—वुज्झंति उह्यन्ते। स्वयमेव वहन्तो यांतीत्यर्थः। अथवा स्रोतसः स्वातंत्र्यविवक्षया जत्थेत्यत्र कर्तरि तृतीया उक्तं च—

तरसा येन नीयंते कुंजरा मदमंथराः॥
शशकानामसाराणां तत्र स्रोतसि का स्थितिः॥

बलं आहारादिजं सामर्थ्यं। परक्कमो नैसर्गिकं वीर्यं। यूढेल्लया चेव वहंतो गता एव। अनायासनयनमत्र व्यंग्यं॥

अर्थ—जिस नदीके प्रवाहमें महान् शरीरके धारक–जिनका शारीरिक बल और पराक्रम महान् है ऐसे मत्त हाथी भी डूब जाते हैं तो उसमें खरगोश कैसे स्थिर रह सकेंगे. अर्थात् वे तो अवश्य डूबेंगे ही.

किह पुण अण्णो मुच्चहिदि सगेण उदयागदेण कम्मेण ॥
तेलोक्केण वि कम्मं अवारणिज्जं खु समुवेदं ॥ १६१९ ॥

त्रिदशा येन पात्यंते विक्रियाबलशालिनः ॥
नायासो विद्यते तस्य कर्मणोऽन्यनिपातने ॥ १६८४ ॥

विजयोदया—किह पुण अण्णो मुच्चहिदि कथं पुनरन्यो मोक्ष्यते, स्वेन कर्मणा उदयागतेन। त्रैलोक्येनापि कर्मानिवार्यमेव समुपगतं ॥

मूलारा—पुण वाक्यालंकारे। अण्णो त्रैलोक्यांतरवर्ती कश्चिदेकः कर्मोदयप्रतिबंधव्यलीकाहंकारविडंबितः। मुच्चहिदि मोक्ष्यते। स्वकर्म नानुभाविष्यत इत्यर्थः। समुवेदं सम्मुखमुदयमागतं।

अर्थ—देव भी कर्मके उदयवश होकर मरण दुःखसे अलग नहीं रह सकते हैं तो अन्य प्राणी इस दुःखसे कैसी अपनी मुक्तता कर सकेंगे. सर्व त्रैलोक्यने भी यदि उदयमें आये हुए कर्म को रोकनेका प्रयत्न किया तो भी वह उनसे नहीं रुका जायगा अर्थात बलवान् कर्म अनिवार्य है.

कह ठाइ सुक्कपत्तं वाएण पडंतयम्मि मेरुम्मि ॥
देवे वि य विहडयदो कम्मस्स तुमम्मि का सण्णा ॥ १६२० ॥

कर्मणा पततीन्द्रे तु परस्य क व्यवस्थितिः ॥
मेरौ पतति वातेन शुष्कपत्रं न तिष्ठति ॥ १६८५ ॥

विजयोदया—कह ठाइ सुक्कपत्तं कथं तिष्ठेत् शुष्कपत्रं। वातेन पतति मेरौ। अणिमाद्यष्टगुणसंपन्नान्देवानपि पुरसीकुर्वतः कर्मणो भयत्वत्पयले का संज्ञा ॥

दृष्टांतमुपन्यस्य कर्मणोऽशक्यप्रतीकारतां दर्शयन्क्षपकं तदुपेक्षायां सदृढमवस्थापयति—

मूलारा—पर्वतम्मि पतति सति । देवे अणिमाद्यष्टगुणैश्वर्यसंपन्नान्सुरान् । विहेडयदो अभिभवतः । तुमम्मि रजसि । आसन्नमृत्यौ मनुष्यमात्रे । का सण्णा को विचारः । इच्छमानेनेदमसद्वेद्यमुपनीयमानं प्रतिबद्धुं शक्यते नेत्यमिति चर्चात्मिका युक्तिरिति यावत् । अथवा ॥

अर्थ—जिस वायुसे मेरु पर्वत भी स्थिर रह नहीं सकता है क्या उससे शुष्क पत्र स्थिर रहेगा? कर्मोदय अणिमादिक आठ गुणोंके धारक देवोंको दुःखी बनाता है. इतर प्राणिवर्ग तो उनसे अत्यल्प शक्तिके धारक हैं क्या उनको यह कर्म दुःख दिये बिना रहेगा?

कम्माइं बलियाइं बलिओ कम्मादु णत्थि कोइ जगे ॥
सव्वबलाइं कम्मं मलेदि हत्थीव णलिणिवणं ॥ १६२१ ॥

बलीयेभ्यः समस्तेभ्यो बलीयः कर्म निश्चितम् ॥
तद्बलीयांसि मृद्गाति कमलानीव कुंजरः ॥ १६८६ ॥

विजयोदया—कम्माइं कर्माणि बलवंति, कर्मभ्यो बलवान्नास्ति जगति । कस्माद्यस्मात्सर्वाणि बंधुविद्याद्रव्यशरीरपरिवारबलानि मर्दयति हस्तीव नलिनवनं ॥

कर्मबलस्य सर्वबलोपमर्दकत्वमाह—

मूलारा—सव्वबलाइं बंधुविद्याद्रव्यशरीरपरिवारादिबलानि । मलेदि मर्दयति ॥

अर्थ—जगत्में कर्म ही अतिशय बलवान् है,उससे दुसरा कोई भी बलवान् नहीं है.जैसे हाथी कमलवनका नाश करता है वैसे यह बलवान् कर्म भी सर्व बंधु, विद्या, द्रव्य, शरीर, परिवार, सामर्थ्य इत्यादिकोंका नाश करता है

इच्चेवं कम्मुदओ अवारणिज्जोत्ति सुट्ठु णाऊण ॥
मा दुक्खायसु मणसा कम्मम्मि सगे उदिण्णम्मि ॥ १६२२ ॥

कर्मोदयमिति ज्ञात्वा दुर्निवारं सुरैरपि ॥
मा कार्षीर्मानसे दुःखमुदीर्णे सति कर्मणि ॥ १६८७ ॥

विजयोदया—इथेयं कम्मुदओ इतिशद्वः प्रकांतपरिसमाप्तिं सूचयति । एवं इत्युक्तपरामर्शी । कम्मुदओ कर्मोदयः । अवारणिज्जोत्ति अनिवार्य इति । सुट्ठु णाउण सम्यग्ज्ञात्वा । मा दुक्खायसु मणसा मा कार्षीर्दुःखं मनसा । कम्मम्मि णगे उदिण्णम्मि कर्मणि उदीर्णे ॥

प्रकृतं उपसंहृत्य क्षपकमनसि निवेशयति—

मूलारा—इच्चेवं इतिः समाप्ती । एवमुक्तपरामर्शे । उक्तप्रकारेण समाप्तं कर्मोदयसामर्थ्यवर्णनमित्यर्थः । मा दुक्खायसु मा दुःखायस्व मा दुःखं वेदयस्व दुःखितमात्मानं मा मंस्था इत्यर्थः । परमानंदमयो ह्यात्मेति भावः । मणसा । तद्दुःखमपि न दुःखं यत्र न संक्लिश्यते मनः । इति भावः ।

अर्थ–इस प्रकारसे कर्मका उदय दुर्निवार है ऐसा समझकर स्वकीय कर्मका उदय होनेपर हे क्षपक ॥ तूं मनमें दुःखित मत हो.

पडिकूविदे वि सण्णे रडिदे दुक्खादिदे किलिट्ठे वा ॥
ण य वेदणोवसामदि णेव विसेसो हवदि तिस्से ॥ १६२३ ॥
विपादे रोदने शोके संक्लेशे विहिते सति ॥
न पीडोपशमं याति न विशेषं प्रपद्यते ॥ १६८८ ॥

विजयोदया—पडिकूविदे परिदेवने कृते शोके । विपादे रुदने, दुःखे, संक्लेशे वा न वेदनोपशाम्यति । नापि काश्चिदतिशयो भवति वेदनायाः ॥

न च परिदेवनादिना दुःखस्योपशमोऽपकर्षो वा कश्चिद् भवति केवलमात्मनः क्लीबता प्रकाश्यते इति शिक्षयति—

मूलारा—पडिकूविदे आर्तविलापिनि पुरुषे आर्तविलपने वा कृते । एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयं । विसण्णे शोके कृते । रडिदे रोदने कृते । दुक्खाइदे दुःखे कृते । किलिट्ठे स्वस्य परस्य चोपतापे कृते । विसेसो अतिशयः स च प्रकर्णादिमकर्षः । उक्तं च—

विपादे रोदने शोके संक्लेशे विहिते सति ॥
न पीडोपशमं याति न विशेषं प्रपद्यते ॥

अर्थ—शोक, विषाद, दुःख, संक्लेशपरिणाम करनेपर तथा रुदन करनेसे भी दुःखोंका शमन नहीं होता है. अथवा उसमें कुछ विशेषता भी नहीं होती है.

अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ संकिलेसेण होइ खवयस्स ॥
अट्टं सुसंकिलेसो उझाणं तिरियाउगाणिमित्तं ॥ १६२४ ॥

नान्योऽपि लभ्यते कोऽपि संक्लेशकरणे गुणः ॥
केवलं बध्यते कर्म तिर्यग्गतिनिबंधनम् ॥ १६८९ ॥

विजयोदया—अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ अन्योप्यत्र गुणो न कश्चिच्छोकादिना संक्लेशेन। प्रेक्षापूर्वकारिणो हि तत्कर्तुं प्रारभंते यस्य साध्यं फलं अस्ति । संक्लेशेन न किंचित्फलं अपि मुमुक्षोः, अपि तु संक्लेशपरिणामो ह्यार्तं ध्यानममनोज्ञविप्रयोगाख्यं तच्च तिर्यगायुषो निमित्त। ततोऽल्पदु खभीरुं भवंतं त्वदीयः संक्लेशो दुरुत्तरे तिर्यगावर्ते निपातयतीति भयोपदर्शनं कृतं ॥

परिदेवनादिदुर्ध्यानादुपकारांतरमपि मुमुक्षोर्न भवत्यपि महाननुपकारः स्यादित्यावेदयति —

मूलारा—अण्णो वि प्रवृत्तदुःखोपशमापकर्षविलक्षणतः पुण्यबंधसाधुकारादिकः। गुणो उपकारः। अत्थ अत्र असद्वेद्योदयादापतिते सति दुःखे। संकिलेसेण परिकूजितादिना। खवयस्स अशुभकर्मक्षपणोद्यतस्य। अट्टं वेदनास्मृतिसमन्वाहाराख्यमार्तध्यानं । तिरिआउगणिमित्तं तिर्यगायुष्ककर्मबंधनिबंधनं। ततोऽस्मादल्पदु खादुद्विजमानं भवंतं दुरुत्तरे तिर्यग्दुःखावर्ते संक्लेशः पातयतीति भयोपदर्शनार्थमिदं ।

अर्थ—शोकादिक संक्लेश परिणाम उत्पन्न करनेमें कुछ भी फायदा नहीं होता है. जिससे फायदा होता है बुद्धिमान लोक वही कार्य करते हैं. संक्लेश परिणामोंसे मुमुक्षुओंको कुछ भी फल प्राप्त होता नहीं उनमें तो उलटा अमनोज्ञ विप्रयोग नामक आर्तध्यान उत्पन्न होता है. अर्थात् विष, कंटक, शत्रु आदिक प्रतिकूल-अनिष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर ये पदार्थ मेरेसे कब अलग होंगे ऐसा बार बार चिंतन होना ही अमनोज्ञ विप्रयोग नामक आर्तध्यान है. इसकी उत्पत्ति संक्लेश परिणामोंसे होती है. यह ध्यान तिर्यंचायुका बंध होनेमें कारण है. अतः हे क्षपक! यदि तू इस अल्प दुःखसे भययुक्त होगा तो उत्पन्न हुए संक्लेश परिणाम तुझे दुर्निवार तिर्यग्गतिमें गिरा देंगे. अतः तू संक्लेशपरिणामोंको छोड दे.

संक्लेशस्य नैरर्थक्यप्रकटनार्थोत्तरा गाथा—

इदमाकासं मुट्ठीहिं होइ तह कंडिया तुसा होंति ॥
सिगदाओ पीलिदाओ घुसिलिदमुदयं च होइ जहा ॥ १६२५ ॥

हतं मुष्टिभिराकाशं विहितं तुषखंडनम् ॥
सलिलं मथितं तेन संक्लेशो येन सेवितः ॥ १६५० ॥

विजयोदया—इदमागासं हतं मुष्टिभिराकाशं ताडितं । तुषकंडनं तंडुलार्थं । सिकतापीडनं तिलयंत्रे तैलार्थं । जलमंथनं च घृतार्थं यथापार्थकं तथानर्थकः सङ्क्लेशो वेदनाकुलस्य । वेदनायाः अनिराकरणत्वान्नैरर्थक्यसाम्यादभेदोपन्यासो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः ॥

वेदनाकुलस्य सक्लेशवैयर्थ्यसमर्थनार्थं चतुरो दृष्टांतानाचष्टे—

मूलारा—इदं अपकारकाभिभवाय ताडितं । कंडिदा तंडुलार्थं कुट्टिताः । पीलिदाओ तिलयंत्रे निक्षिप्य तैलार्थं चूर्णिताः । घुसिलिदमुदयं मथितमुदकं घृतार्थं । तेन येन वेदनाशांत्यर्थं संक्लेशः कृत इति संबंधः । तं तत् । यतः संक्लेशवेदनोपशमादि. पुण्यबंधादिर्वा प्रत्युत तिर्यगायुर्बंधः स्यात् । उक्तं च—

हतं मुष्टिभिराकाशं विहितं तुषकंडनं ॥
सलिलं मथितं तेन संक्लेशो येन सेवितः ॥

अर्थ—जैसे आकाशको मुष्टिओंसे मारना, तंडुलोंके लिये भूसा कूटना, तेलके लिये वालु को यंत्रसे पीसना और धीके लिये जलका मंथन करना जैसा व्यर्थ है वैसा दुःखनिराकरणके लिये संक्लेशपरिणाम उत्पन्न करना व्यर्थ है. क्यों कि वेदनाकुल मनुष्योंके वेदनाओंका परिहार करनेमें संक्लेश परिणाम असमर्थ हैं. यहां दृष्टांत आकाशादिकको कूटना और दार्ष्टान्त संक्लेशपरिणाम इन दोनोंमें साम्य दिखाया है. निरर्थकतारूप धर्म दोनो में होनेसे साम्य स्पष्ट है.

पुव्वं सयमुवभुत्तं काले णाएण तेत्तियं दव्वं ॥
को धारणीओ धणिदस्स देंतओ दुक्खिओ होज्ज ॥ १६२६ ॥

पूर्वं भुक्तं स्वयं द्रव्य काले न्यायेन तत्स्वयं ॥
अधमर्णस्य किं दु खमुत्तमर्णाय यच्छत ॥ १६९१ ॥

विजयोदया—पुव्व सयमुवभुत्त पूर्वं स्वयमुपभुक्त। काले णायेण न्यायेन। तेत्तिग दव्व तावद्द्रव्यं। को दुक्खिदो होज्ज धारणिगो को दु खितो भवेदधमर्ण धणिदम्मि उत्तमर्णे। हरते स्व द्रव्य हरति ॥

स्वयमादाय भुक्तं यावद्द्रव्यं तावदेव काले धनिकाय प्रयच्छतो धारणिकस्येव स्वयमर्जितपूर्वस्य पापस्य फलमनुभवतस्तत्त्वज्ञस्य किं दु खं स्यादिति ज्ञात्वा पूर्वकर्मोदयकृतैतद्दु खसहनमृणमोक्षमिव पश्यन्मास्म दुःखवशो भूरिति स्मरयितुं प्रयुक्तमेव गाथात्रयमन्वाचयाति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—जैसे कोइ पुरुष योग्य कालमें स्वय धनिक से धन लेकर उसका उपभोग करता है परंतु जब वह धनिक उससे योग्यकाल व्यतीत होनेपर धन लेता है तब वह पुरुष क्या खिन्न होता है? क्योंकि वह जानता है कि मैंने कर्जरूपमे लिया हुआ धन धनिकको लौटा देना मेरा कर्तव्य है

तह चेव सयं पुव्वं कदस्स कम्मस्स पाककालम्मि ॥
णायागयम्मि को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणंता ॥ १६२७ ॥
कृतस्य कर्मणः पूर्वं स्वय पाकमुपेयुषः ॥
चिकारं बुध्यमानस्य कस्य दु खायते मन ॥ १६९२ ॥

विजयोदया—तह चेव तथा चैव। सय पुव्व कदस्स कम्मस्स आत्मना पूर्वं कृतस्य कर्मण। पाककालम्मि फलदानकाले न्यायेनागते। को णाम दुक्खिदो होज्ज जाणतो को नाम दु खितो भवेज्ज्ञाता॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—उसी प्रकार जो जीवने पूर्वजन्ममें कर्म किये हैं उनका फलदानका काल आवश्य प्राप्त होता ही है. उसके प्राप्त होनेपर कोन ज्ञाता पुरुष दु खी होगा ? अभिप्राय यह है कि कर्म जब फल देने लगेगा उस समय उसका शान्त परिणामोंसे अनुभव करना चाहिये.

इय पुव्वकदं इणं मज्ज महं कम्माणुगत्ति णाऊण ॥
रिणमुक्खणं च दुक्खं पेच्छसु मा दुक्खिओ होज्ज ॥ १६२८ ॥

पूर्वकर्मागतासातं सहस्वं त्वं महामते ! ॥
ऋणमोक्षमिव ज्ञात्वा मा भूर्मनासि दुःखितः ॥ १६९३ ॥

विजयोदया—इय पुव्वकद इय एवभूत । दुक्ख पुव्वकद पूर्वकर्मणा कृतं । इणं इद दुःखं । मज्ज मम । मह कम्माणुगत्ति मम कर्मणामिति । णादूण ज्ञात्वा । रिणमुक्खण ऋणमोक्ष. । दुक्खं पिच्छसु दु.ख प्रेक्षस्व । मा दुक्खिदो होज्ज दु खितो मा भू ॥

मूलारा—इणं अनुभूयमानदुःखाभिव्यक्तपाकं । महं मम ॥ उक्तं च—

पूर्वकर्मागतासात सहस्व त्वं महामते ! ॥
ऋणमोक्ष इति ज्ञात्वा मा भूर्मनसि दुःखितः ॥

अर्थ—जो दुःख मैं इस समय भोग रहा हू वह पूर्वकृत कर्म के अनुसार ही है- मैंने पूर्व जन्ममें कुकर्म नहीं किये होते तो इस जन्ममें उनका फलभोग मेरेको कैसे प्राप्त हो जाता ? यह तो मैं ऋणमोक्ष कर रहा हूं ऐसा चिंतन हे क्षपक' तू हृदयमें कर और दुःखी मत हो.

पुव्वकदमज्झ कम्मं फलिदं दोसेण इत्थ अण्णस्स ॥
इदि अप्पणो पओगं णच्चा मा दुक्खिदो होज्ज ॥ १६२९ ॥

स्वय पुराकृतं कर्म ममाद्य फलितं स्फुटम् ॥
दोषो नैवात्र कस्यापि मत्वा दुःखासिकां त्यज ॥ १६९४ ॥

विजयोदया—पुव्वकदमज्झ कम्म पूर्वकृत मदीय कर्म फलिद फलित। दोसो ण एत्थ अण्णस्स दोषो नैवान्यस्य इति । अप्पणो पओगं णच्चा ज्ञात्वा । मा दुक्खिदो होज्ज मा कृथा दु ख ।

पुनस्तदेव भावयति—

मूलारा—अप्पणो पओगं स्वय भोक्तव्य स्वयं कृतत्वात् ॥

अर्थ—मैंने किया हुआ पूर्वकर्म अब मुझको दुःख दे रहा है. इसमें अन्य किसीका भी कसूर नहीं है. जब मैंने स्वयं कर्म किया था तो अब उसका फल मेरेको ही भोगना पडेगा ऐसा विचार करके हे क्षपक! तू कष्टी मत हो.

जदिदा अभूदपुव्वं अण्णेसिं दुक्खमप्पणो चेव ॥
जादं हविज्ज तो णाम होज्ज दुक्खाइदुं जुत्तं ॥ १६३० ॥

अभूतपूर्वमन्येषामात्मनो यदि जायते ॥
तदा दुःखासिका कर्तुं मानसे युज्यते तव ॥ १६९५ ॥

विजयोदया—जदिदा यदि तावत्। दुःखमन्येषां अभूतपूर्वं। अप्पणो चेव जादं हविज्ज आत्मन एव जातं भवेत्। तो णाम होज्ज दुक्खाइदुं जुत्तं। ततो नाम दुःखं कर्तुं युक्तं॥

किं च सर्वसंसारिसाधारणं पापविपाकिमं तव दुःखमनुभवतः का दुःखासिकेति शिक्षयति—

मूलारा—अप्पणो चेव तवैव। दुक्खाइदुं दुःखं कर्तुं। उक्तं च—

अनिष्टयोगप्रियविप्रयोगौ साधारणौ सर्वशरीरभाजां ॥
इत्यात्मबुद्ध्या विगणय्य धीमान्न खेदयत्यात्ममनो विषादैः।

अर्थ—यदि हमने पूर्वजन्ममें तो दुःख देने वाला कार्य नहीं किया था और यदि इस समय हमको दुःख भोगना पड रहा है तो अवश्य दुःख करना अथवा संक्लेशपरिणाम करना योग्य है.

सव्वेसिं सामण्णं अवस्सदादव्वयं करं काले ॥
णाएण य को दाऊण णरो दुक्खादि विलवदि वा ॥ १६३१ ॥

अवश्यमेव दातव्यं काले न्यायेन यच्छलः ॥
सर्वसाधारणं दंडं दुःखं कस्य मनीषिणः ॥ १६९६ ॥

विजयोदया—सव्वेसिं सामण्णं सर्वेषां भव्यानां श्रामण्यं। काले कर्मविनाशनकाले। अवस्स दादव्वयं अवश्य दातव्यं। यस्मात्तस्मात्। करं करदानव्यायं दाऊण दत्वा। णाएण य न्यायेन च को णरो दुक्खदि विलवदि वा को नरो दुःखं करोति विलपति वा॥

युक्त्यन्तरेण गाथाद्वयमाह—

मूलारा—करं सिद्धार्य। दुक्खादि दुःखं करोति। विलवदि परिदेवनं करोति ॥

अर्थ—सर्व भव्योंको मुनिव्रत कर्मविनाश करनेके समयमें अवश्य देना योग्य है. क्यों कि राजाको कर देनेसे क्या कोइ मनुष्य दुःख करेगा? विलाप-शोक करेगा? जैसा कर देना न्याय प्राप्त है वैसे मुनिव्रत धारण करना अथवा दूसरोंको देना अवश्य कार्य है.

सव्वेसिं सामण्णं करभूदमवस्सभाविकम्मफलं ॥
इण मज्ज मेत्ति णच्चा लभसु सदिं तं धिदिं कुणसु ॥ १६३२ ॥

सर्वसाधारणं दुःखं दुर्निवारमुपागतम् ॥
सहमानो मुने माभूर्दुःखितस्त्वं भज स्मृतिम् ॥ १६९७ ॥

विजयोदया—सव्वेसिं सर्वेषां विनेयानां। सामण्णं करभूदं अवस्स भाविकम्मफलं अवश्यभाविकर्मफलं। णमज्जमेदि इदं श्रामण्यं अद्य करभूतं ममेति। णच्चा ज्ञात्वा। लभसु सदिं स्मृतिं प्रतिपद्यस्व॥ तं तत् धिदिं कुणसु धृतिं कुरु॥

मूलारा—सदिं स्मृतिं। प्रक्रमादाहारप्रत्याख्यानविषयां। धिदिं कुणसु

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा॥
समभवमहमिन्द्रोऽनंतशोऽनंतवारान्॥
पुनरपि च निगोदानंतशोन्तर्विवृत्तः॥
किमिह फलमभुक्तं तद्यदद्यापि भोक्ष्ये।
सकलफलविपत्तेः कारणं देव! देयाः॥

इत्येवमादिसंतोषभावनावष्टंभाद्वेदनाद्वेदनाप्रतिकारार्थितयाप्यौषधाशनाद्यभिलाषं मा कार्षीरित्यर्थः॥

अर्थ—यह मुनिव्रत कर्म का फल है, यह करदानके समान है. ऐसा समझकर सर्व भव्योंको अवश्य

धारण करना चाहिये. यह मेरा मुनिव्रत कर के समान है ऐसा समझकर पूर्वमें जो आहारका त्याग किया था उसका स्मरण करो और धैर्य धारण करो.

अरहंतसिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसंघसक्खिस्स ॥
पच्चक्खाणस्स कदस्स भंजणादो वरं मरणं ॥ १६३२ ॥

साक्षीकृत्य गृहीतस्य पंचापि परमेष्ठिनः
सयतस्य वर मृत्युः प्रत्याख्यानस्य भंगतः ॥ १६९८ ॥.

विजयोदया—अरहंत सिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसंघसक्खिस्स । अर्हत, सिद्धान्, केवलिनः, तत्रस्था देवता सर्व च संघ साक्षित्वेनोपादाय कृतस्य । पचक्खाणस्स भंजणादो प्रत्याख्यानस्य विनाशनात् । वर शोभनं मरण प्राणपरित्याग ५

एवमपि बोध्यमानो दुर्धारमोहोदयात्प्रत्याख्यान यदावभुंक्ति तदा तद्भंगमहादोषप्रदर्शनेन प्रत्यवस्थाप्यो गुरुणे त्युपन्ध्यमाह—

मूलारा—अविउत्ता तत्स्थानवासिदेवताः । अर्हदादयः साक्षिणो यत्र तत्तत्साक्षि तस्य । पचक्खाणस्स कदस्स भंजणादो प्रत्याख्याताहारसेवनादित्यर्थः ।

अर्थ—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सामान्य केवली, दीक्षास्थानस्थित देवता और सर्व संघ इनके साक्षीसे जो आहार के त्यागका व्रत धारण किया था उसका त्याग करना योग्य नहीं है. उससे तो मरनाही अच्छा है.

कथ मरणादशोभनता प्रत्याख्यानभगस्येत्याशकायामाचष्टे प्रथममुत्तर प्रत्याख्यानभंजने दुष्टतां निवेदयितुम्—

आसादिदा तओ होंति तेण ते अप्पमाणकरणेण ॥
राया विव सक्खिकदो विसंव संतेण कज्जम्मि ॥ १६३३ ॥

अप्रमाणयता तेन न्यक्कृताः परमेष्ठिनः ॥
कार्यान्निवर्तमानेन साक्षीकृतनृपा इव ॥ १६९९ ॥

विजयोदया—आसादिदा परिभूताः। तदो ततः पश्चात्। प्रत्याख्यानग्रहणोत्तरकाले। तेन प्रत्याख्यानभंग-कारिणा। ते अर्हदादय। अप्पमाणकरणेन अप्रमाणकरणेन तत्साक्षिकं कर्म प्रतिज्ञातं विनाशयता ते अप्रमाणीकृता भवन्ति। अप्रमाणकरणे च ते परिभूता भवन्ति। राजा विव सक्खिकदो राजेव साक्षीकृतः। कज्जम्मि विसंवदंतेण कार्ये विसं-वदता। एतदुक्तं भवति राजसाक्षिक प्रतिज्ञातं कर्म चान्यथा कुर्वता राजा यथा परिभूतो भवति एवमर्हदादय इति।

इतः प्रत्याख्यानभंगदुष्टता प्रबंधेनाचष्टे—

मूलारा—आसादिदा अवज्ञाहताः कृताः। तदो प्रत्याख्यानग्रहणोत्तरकालं। तेण प्रत्याख्यानभंगकारिणा। अप्प-माणकरणेण तत्साक्षिकप्रतिज्ञातानुष्ठाननिष्ठापनाद्विसंवादनेन। यश्च यं विप्रलभते स तं परिभवतीति प्रतीतमेव। राया वि य नृप इव। विसंवदतेण व्यभिचरता राजसाक्षिकं प्रतिज्ञातकर्माकुर्वता राजा यथा परिभूतो भवत्येवमर्हदादयोऽपि इत्यर्थः॥

प्रत्याख्यानका भंग करना मरणसे भी कैसा बुरा है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य सविस्तर देते हैं. प्रथमतः प्रत्याख्यान का नाश करना क्यों बुरा है? इसका खुलासा करते हैं—

अर्थ—प्रत्याख्यान ग्रहण कर जिसने उसका त्याग किया है उसने तो अरहंतादिकको को साक्षीभूत सम-झकर उसने प्रत्याख्यान लिया था यदि उसने प्रत्याख्यानको नष्ट किया तो अर्हंतादिकों को उसने अप्रमाण माना था ऐसा समझना चाहिये उनको अप्रमाण माननेसे उसने उनका तिरस्कार-अनादर किया है ऐसा भाव सिद्ध होता है. जैसे किसी मनुष्य ने किसी कार्यमें राजाको प्रमाणभूत मानकर प्रतिज्ञा की थी परंतु उसने उस कार्यकी प्रतिज्ञाका यदि भंग कर दिया तो उसने राजाको अप्रमाणभूत समझकर उसका अपमान किया ऐसा लोक समझते हैं. इसी प्रकार प्रत्याख्यान लेकर उसको तोडनवाले पुरुषने अर्हदादिकों को अप्रमाणभूत माना है उसने उनका तिरस्कार किया है ऐसा समझना चाहिये.

जइ दे कदा पमाणं अरहंतादी हवेज्ज खवएण ॥
तस्सक्खिदं कथं सो पच्चक्खाणं ण भंजिज्ज ॥ १६३५ ॥
प्रमाणीकुरुते भक्तो यो योगी परमेष्ठिनः ॥
तत्साक्षिकमसौ जातु प्रत्याख्यानं न मुंचति ॥ १७०० ॥

विजयोदया—जइ दे कदा पमाणं यदि ते कृताः प्रमाणं । अरहंतादी अर्हदादयः । भवेज्ज भवेयुः । खवएण क्षपकेण । तम्मदिकादं तइं पच्चक्खाणं तत्साक्षिकं कृतं प्रत्याख्यानं । सो ण भंजिज्ज क्षपको न नाशयेत् ॥

व्यतिरेकं दर्शयति—

मूलारा—प्रमाणं अतिक्रमणाविषय. । हवेज्ज भवेयुः ॥

अर्थ—यदि उसने अर्थात् क्षपकने अर्हदादिकोंको प्रमाणभूत—कल्याण करनेवाले समझा है तो उनके प्रत्यक्षमें किया हुआ प्रत्याख्यान नष्ट करना क्षपकके लिए कैसा उचित हो सकता है? अर्थात् अर्हदादिकोंको साक्षीभूत समझकर किया हुआ प्रत्याख्यान तोड देने से मिथ्यात्वकी प्राप्ति होती है. जो कि अनंत संसारमें भ्रमण करानेमें हेतु है.

सक्खिकदरायहीलणमावहइ परस्स जह महादोसं ॥
तह जिणवरादिआसादणा वि दोसं महं कुणदि ॥ १६३६ ॥

साक्षीकृत्य पराभूताः कुर्वते परमेष्ठिनः ॥
पुनःसद्यो महादोषं भूमिपाला इव स्फुटम् ॥ १७०१ ॥

विजयोदया—सक्खिकदरायहीलणं साक्षीकृतराजपरिभवः । आवहदि परस्स जह महादोसं आनयति यथा नरस्य महान्तं दोषं । तह जिणवरादि आसादणा तथा अर्हदाद्यासादनापि । दोसं महं कुणदि दोषं महान्तं करोति ॥

जिनाद्यासादनादोषमहत्त्वं समर्थयते—

मूलारा—हीलणं परिभवः । महं महांतम् ॥

अर्थ—किसी कार्यमें राजाको साक्षी समझकर हमने यदि वह कार्य नहीं किया अर्थात् प्रतिज्ञाका नाश किया तो हमने राजाका परिभव किया ऐसा समझना चाहिये. प्रतिज्ञा भंग करनेवालोंको राजा दंडित करता है वह उसको महान् अपराधी समझकर दंडका घोर दुःख देता है. उसी प्रकार जिनेश्वरादिके सामने प्रतिज्ञात प्रत्याख्यान का भंग करनेपर जिनेश्वरादिकोंका हमने घोर अविनय किया है ऐसा समझना चाहिये. यह अविनय महान् दोषोंको उत्पन्न करता है.

तं महान्तं दोषं कथयति—

तित्थयरपवयणसुदे आइरिए गणहरे महड्ढीए ॥
एदे आसादंतो पावइ पारंचियं ठाणं ॥ १६३७ ॥

संघतीर्थकराचार्यश्रुताधिकमहर्द्धिकान् ॥
परा भवति योगी च स पारांचिकमंचति ॥ १७०२ ॥

विजयोदया—तित्थयरपवयणसुदे तीर्थकरान्, रत्नत्रयं, आगमं, । आयरिए आचार्यान् । गणहरे गणधरान् । महड्ढीए महर्द्धिकान् । एदे एतान् असादंतो असादयन् । पावदि प्राप्नोति । पारंचियं ठाणं पारंचियनामधेयं प्रायश्चित्तस्थानं ॥

तद्दोषमहत्त्वं तत्प्रतीकारगुरुत्वप्रापणदर्शनेन व्यवस्थापयति—

मूलारा—पवयण रत्नत्रयं । पारंचियं ठाणं पारंचिकं नाम प्रायश्चित्तं ॥

उसी महान् दोषोंका आचार्य कथन करते है.

अर्थ—तीर्थंकर, रत्नत्रय, आगम, आचार्य, गणधर, और महर्द्धिक मुनिराज इनकी आसादना करनेवाला पारंचिक नामक प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है. अर्थात् पारंचिक प्रायश्चित्त लेने पर ही उसकी शुद्धि होती है.

सक्खीकयरायासादणे हु दोसं करे हु एयभवे ॥
भवकोडीसु य दोसं जिणादि आसादणं कुणइ ॥ १६३८ ॥

तिरस्कृता नृपाः संतः साक्षित्वेऽस्य शरीरिणः ॥
एकत्र ददते दुःखं जिनेंद्रा भवकोटिषु ॥ १७०३ ॥

विजयोदया—साक्षीकृतराजावमानजाताद्दोषादर्हदाद्यवमानजनितदोषो महानिति दर्शयति । स्पष्टार्था गाथा ॥

राजावमाननजाद्दोषाज्जिनाद्यवमानजदोषस्य महत्तां व्यनक्ति—

मूलारा—दोसं दुःखं, तत्कारणं च ।

अर्थ—साक्षीभूत राजाकी आसादना करनेसे एक भवमें ही प्राणीको हानि भोगनी पडती है अर्थात् राजा एकही भवमें उसको दंड या शिक्षा देगा परंतु जिनेश्वरादिकोंकी आसादना करनेसे इस जीवको कोट्यवधि

भवोंमें दुःख भोगना पड़ता है. राजाकी आसादनाकी अपेक्षा अर्हदादिकोंकी आसादना महान् दुःख देती है ऐसा अभिप्राय समझना चाहिए.

मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होइ वरं ॥
पच्चक्खाणं भंजेतस्स ण वरमरहदादिसक्खिकदा ॥ १६३९ ॥
णिधणगमणभेयभवे णासो ण पुणो पुरिल्लजम्मेसु ॥
णासं वयभंगो पुण कुणइ भवसएसु बहुएसु ॥ १६४० ॥
ण तहा दोसं पावइ पच्चक्खाणमकरित्तु कालगदो ॥
जह भंजणा हु पावदि पच्चक्खाणं महादोसं ॥ १६४१ ॥

मोक्षाभिलाषिणः साधोर्मरणं शरणं वरम् ॥
प्रत्याख्यानस्य न त्यागो जिनसिद्धादिसाक्षिणः ॥ १७०४ ॥
एकत्र कुरुते दोषं मरणं न भवांतरे ॥
व्रतभंगः पुनर्जातो भवानां कोटिकोटिषु ॥ १७०५ ॥
प्रत्याख्यानमनादाय म्रियमाणस्य देहिनः ॥
न तथा जायते दोषः प्रत्याख्यात्यजने यथा ॥ १७०६ ॥

विजयोदया—ण तहा दोसं पावदि न तथा दोषं प्राप्नोति । पच्चक्खाणमकरित्तु प्रत्याख्यानमकृत्वा । कालगदो मृतः। जह भंजंतो पावदि यथा प्रत्याख्यानभंगान्महादोषं प्राप्नोति ॥

मुमुक्षुयतेः संन्यासविलासं गाथायुगेन पुनर्जुगुप्सते—

मूलारा—भंत्तुं भक्तुम् ।

मूलारा—स्पष्टम् ॥ एते द्वे श्रीविजयादयो नेच्छंति ॥

अकृतसंन्यासादकृतसंन्यासस्य मरणे सुतरां दोषमाह—

मूलारा—अकरितु अकृत्वा। पच्चक्खाणं प्रत्याख्यानस्येति पाठगन्तं। जध भंजंतो पावदि इति पाठे द्वितीयांतं माध्य। अत्रोक्तं च—

प्रत्याख्यानमकृत्वैव मृतस्तन्नैव दोषवान्॥
प्रत्याख्यानं यथा भंजन् महान्तं दोषमाप्नुयात्॥

अर्थ—मोक्षप्राप्तिकी अभिलाषा करनेवाले मुनिका मरण होना भी अच्छा ही है परन्तु अर्हदादिकोंको साक्षी कर लिए हुए प्रत्याख्यानका भंग करना कभी भी योग्य नहीं होगा. मरण होनेसे एक भवका ही नाश होगा अर्थात् आगेके जन्ममें पुनः प्राणी अपनी उन्नति कर सकेगा परंतु व्रतभंग करनेसे ऐसी प्राणीकी हानि होती है कि आगेके कोट्यवधि भवोंमें भी वह अपनी उन्नति करनेमें असमर्थ ही हो जाता है.

अर्थ—प्रत्याख्यान किए बिना ही जिसने प्राण छोडे हैं वह उस दोषको प्राप्त नहीं होता है जिसको कि प्रत्याख्यान करके छोडने वाला प्राप्त होता है. अर्थात् आहारका त्याग करने की प्रतिज्ञा किए बिना ही जिसने मरण किया होगा उसके मनमें व्रतभंग करने लायक भाव नहीं रहते हैं इसलिए वह महान् दोषको प्राप्त होता नहीं परंतु आहारत्यागकी प्रतिज्ञा ले चुकने पर फिर जो अपनी प्रतिज्ञा तोडता है उसके हृदयमें संक्लेशपरिणाम तीव्रतया उत्पन्न होते हैं अत एव वह महान् दोषी होता है.

प्रत्याख्यानाहारसेवा हि प्रत्याख्यानभंगः स चाहारः प्रार्थ्यमानो हिंसादिदोषानखिलानानयतीति निगदति—

आहारत्थं हिंसइ भणइ असच्चं करेइ तेणक्कं॥
रूसइ लुब्भइ मायां करेइ परिगिण्हदि य संगे॥ १६४२॥
हिनस्ति देहिनोऽन्नार्थं भाषते वितथं वचः॥
परस्य हरते द्रव्यं स्वीकरोति परिग्रहम्॥ १७०७॥

विजयोदया—आहारत्थं हिंसइ आहारार्थं षड्जीवनिकायान्हिनस्ति। असत्यं भणति, स्तैन्यं करोति। रुष्यत्यलाभे, लुभ्यति लाभे, मायां करोति, परिगृण्हाति संगान्।

रुआहारोऽर्हदादिसाक्षिकं प्रत्याख्यातः स प्रार्थ्यमानोऽहिंसादीनशेषान्दोषाननुवर्तयति इति वक्तुमुत्तरप्रबंधमाह

मूलारा—हिंसदि षड्जीवनिकायान्हिनस्ति। रुससदि भोजनतदंगप्रतिबंधकाय कुप्यति। लब्भदि ग्रहं विधत्ते भक्तादावाहारसाङ्गने। संगे गृहगृहिण्यादीन्।

छोडे हुए आहारका सेवन करनेसे प्रत्याख्यानभंग होता है. प्रत्याख्यानको छोडकर जो आहारकी अभिलाषा करता है वह हिंसादि संपूर्ण दोषोंको उत्पन्न करता है इस अभिप्रायको प्रगट करते हैं—

अर्थ—यह जीव आहारके लिये छहकाय जीवोंको मारता है. असत्य वचन बोलता है. चोरी करता है. आहारका लाभ न होनेपर रुष्ट होता है. और होनेपर ज्यादा लोभ बढाता है. आहारके वास्ते मनुष्य कपट करता है. तथा परिग्रहोंको बढाता है.

होइ णरो णिल्लज्जो पयहइ तवणाणदंसणचरित्तं ॥
आमिसकलिणा ठइओ छायं मइलेइ य कुलस्स ॥ १६४३ ॥

रत्नत्रयं जगत्सारमाहारार्थं विमुंचति ॥
निस्त्रपो भुवनख्यातं मलिनीकुरुते कुलम् ॥ १७०८ ॥

विजयोदया—होइ णरो णिलुज्जो निर्लज्जो भवति नरः। आहारार्थं परयाञ्चाकरणात्। प्रजहाति च तपो, ज्ञानं, दर्शनं चारित्रं च। आमिषशब्देन कलिनावष्टब्ध. छायां कुलस्य मलिनयति परोच्छिष्टभोजनादिना॥

मूलारा—णिल्लज्जो आहारार्थं परयांचादिकरणात्। आमिसकलिदो आहारसंज्ञाख्येन कलिना पापकर्मणा। ठइदो श्यामः। अन्ये कलिदो आसक्तः। ठइदो बुभुक्षित इति व्याचक्षते। छायं शोभां माहात्म्यं वा॥

अर्थ—आहारके लिये मनुष्य याचना करता है. जिससे उसकी निर्लज्जता प्रकट होजाती है, आहारके लिये वह तप, ज्ञान, दर्शन और चारित्रको तिलांजलि देता है. आहार संज्ञारूपी पापके वश होकर अपने कुलको मलिन करता है.

णाभदि बुद्धी जिब्भावसस्स मंदा वि होदि तिक्खा वि ॥
जोणिगसिलेसलग्गो व होइ परिसो अणप्पवसो ॥ १६४४ ॥

जिह्वेन्द्रियवशस्याशु बुद्धिस्तीक्ष्णापि नश्यति ॥
संपद्यते परायत्तो योनिगश्लेषलग्नवत् ॥ १७०९ ॥

विजयोदया—णासदि बुद्धी बुद्धिर्नश्यति । आहारलंपटतया युक्तायुक्तविवेकाकरणात् । कस्य । जिह्वावशस्य तीक्ष्णा वि सती पूर्व बुद्धिः कुंठा भवति । रसरागमलोपप्लुता अर्थयाथात्म्यं न पश्यतीति पारभीकक्लेशलग्नालिंग इव भवति पुरुषोऽनात्मवश ॥

मूलारा—णासदि आहारलंपटतया युक्तायुक्तविवेकाकरणात । मंदा रसरागमलोपप्लवात्कुंठा । अर्थयाथात्म्यं न पश्यतीत्यर्थः । जोणिगसिलेसलग्गो वज्रलेपावलग्न इव ।

अर्थ—जो मनुष्य जिह्वाके वश होता है. उसकी बुद्धि नष्ट होती है. अर्थात् वह आहार लुब्ध होकर युक्तायुक्त का विचार मनमें से निकाल देता है. जिह्वाके वशीभूत हुए मनुष्य की बुद्धि.प्रथम यद्यपि तीक्ष्ण होगी तो आगे वह मलिन होती है. रसोंमें लुब्ध होकर पदार्थोंका यथार्थ निश्चय करनेमें वह असमर्थ होती है. आहारलोलुप मनुष्य वज्रके बंधनमें मानो बंधा हुआ बिलकुल अस्वतंत्र होता है.

धीरत्तणमाहप्पं कदण्णदं विणयधम्मसब्भावो ॥
पयहइ कुणइ अणत्थं गललग्गो मच्छओ चेव ॥१६४१ ॥
धर्मधैर्यकृतज्ञत्वमाहात्म्यानि निरस्यति ॥
महान्त कुरुतेऽनर्थं गललग्नो यथा झषः ॥ १७१० ॥

विजयोदया—धीरत्त धीरत्वं, माहात्म्य, कृतज्ञतां, विनयं, धर्मश्रद्धां च प्रजहाति । करोत्यनर्थश्रद्धां च । प्रजहाति करोत्यनर्थमात्मन. । गलावलग्नमत्स्य इव ॥

मूलारा—कदण्णदा कृतज्ञता । अणत्थं मरणांतं दुःखमात्मनः । गललग्गो बडिशासक्तः । मच्छगो चेव मत्स्य इव ॥

अर्थ—आहारके वश होकर मनुष्य धैर्य, महत्ता, कृतज्ञता, विनय, धर्मश्रद्धा, इन गुणोंको छोड देता है. गलमें लगी हुई मछली जैसे अपने प्राणोंको छोड देती है वैसे आहारलुब्ध पुरुष भी अपने प्राणोंको छोड देते हैं.

आहारत्थं पुरिसो माणी कुलजादि पहियकित्ती वि ॥
भुंजंति अभोज्जाए कुणइ कम्मं अकिच्चं खु ॥ १६४६ ॥

कुलीनो धार्मिको मानी ख्यातकीर्तिर्विचक्षणः ॥
अभक्ष्यं वल्भते वस्तु विरुद्धां कुरुते क्रियाम् ॥ १७११ ॥

विजयोदया—आहारत्थ आहारार्थं भुंजते अभोज्यानि पुरुषो । मानी कुलीन, प्रथितकीर्तिरपि अकरणीयं करोति ॥

मूलारा—माणी मानिनोऽपि । अकिचं च करणायोग्यमपि ॥

अर्थ—आहारके वश होकर पुरुष अभक्ष्यभक्षण भी करता है मानी, कुलीन, कीर्तिमान भी पुरुष आहार लुब्ध होकर अकार्य करते हैं

आहारत्थं मज्जारिसुंसुमारी अही मणुस्सी वि ॥
दुब्भिक्खादिसु खायंति पुत्तभंडाणि दइयाणि ॥ १६४७ ॥

इहपरलोइयदुक्खाणि आवहंते णरस्स जे दोसा ॥
ते दोसे कुणइ णरो सव्वे आहारगिद्धीए ॥ १६४८ ॥

दुर्भिक्षादिषु मार्जारीशिशुमाराहिमानवाः ॥
वल्लभान्यपत्यानि भक्षयन्ति बुभुक्षिताः ॥ १७१२ ॥

ये जन्मद्वितये दोषाः केचनानर्थकारिणः ॥
ते जायंतेऽखिला जन्तोराहारासक्तचेतसः ॥ १७१३ ॥

विजयोदया—स्पष्टम् ॥

अभक्ष्यतमभक्षणं क्षुधार्त्तानां लक्षयति—

मूलारा—अही सर्पाः क्रौर्यादभक्ष्यतमा । मणुस्सा मानुषीः सजातीयत्वात्क्रौर्याच्चाभक्ष्यतमा । दुब्भिक्खादिसु दुर्भिक्षदुर्गोपरोधादिषु । पुत्तभंडाणि सुपुत्रान् ॥

आहारगृद्धेः सर्वापराधकारणत्वमाह—

मूलारा—णरस्स आत्मनः ।

अर्थ—मार्जारी, शिशुमारी, सर्पिणी, और स्त्री भी दुष्कालादिक प्रसंगमें अपने प्रिय बालकोंको भी खा जाते हैं. 'जिन दोषोंसे इहलोक और परलोकमें दुःखोंकी प्राप्ति होती है मनुष्य आहार लुब्ध होकर उन सर्व दोषोंको कर डालता है.

उत्तरगाथाद्वयम्—

आहारलोलुपतया स्वयंभूरमणसमुद्रे तिमितिमिंगिलादयो मत्स्या महाकाया योजनसहस्रायामाः षण्मासं विवृतवक्त्राः स्वपन्ति । निद्राविमोक्षानन्तरं पिहिताननाः स्वजठरप्रविष्टमत्स्यादीनाहारीकृत्य अवधिष्ठाननामधेयं नरकं प्रविशन्ति । तत्कर्णावलग्नमलाहाराः शालिसिक्थमात्रतनुत्वाच्च शालिसिक्थसंज्ञकाः यदीदृशमस्माकं शरीरं भवेत् । किं निःसरेत् एकोऽपि जन्तुर्लभते? सर्वान्भक्षयामीति कृतमनःप्रणिधानास्ते तमेव चावधिस्थानं प्रविशन्ति । इति कथयति गाथया—

अवधिट्ठाणं णिरयं मच्छा आहारहेदु गच्छंति ॥
तत्थेवाहारभिलासेण गदो सालिसिच्छो वि ॥ १६४९ ॥

अहारसंज्ञया श्वभ्रं महान्तं सप्तमं परम् ॥
गच्छन्ति तिमयो यातः शालिसिक्थोऽपि नष्टधीः ॥ १७१४ ॥

विजयोदया—अवधिट्ठाणमित्यादिका गाथा ॥

चक्कधरो वि सुभूमो फलरसगिद्धीए वंचिओ संतो ॥
णट्ठो समुद्दमज्झे सपरिजणो तो गओ णिरयं ॥ १६५० ॥

चतुरंगबलोपेतः सुभूमः फललालसः ॥
नष्टोऽम्भोधौ निजैः सार्धं ततोऽपि नरकं गतः ॥ १७१५ ॥

विजयोदया—चक्कधरो वि सुभूमो नाम चक्रलांछनः फलरसगृद्धया वंचितः समुद्रमध्ये विनष्टः सपरिजनः । पश्चाच्च नरकं गतः ।

मत्स्यसुभौमदृष्टांताभ्यां आहारगृद्धिदोषान्निदर्शयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—अवधिठ्ठाणं सप्तमनरकभूमौ अवधिस्थानाख्यं प्रस्तारं। आहारगृद्धिजनितपातकं हेतुर्निमित्तं यत्र गमने। मालिसित्थो शालिसिक्थकमात्रगात्रत्वाच्छालिसिक्थो नाम क्षुद्रमत्स्यः। तत्कथानकं यथा—स्वयंभूरमणसमुद्रवास्तव्या पंचशतयोजनसहस्रायामा योजनपंचाशन्मात्रपृष्ठविष्कंभाः, सार्धयोजनशतद्वयोच्छ्राया महामत्स्या आहारलोलुपत्वेन पण्मासान्मुखं प्रसार्य तिष्ठंति। ततो मुखं पिधायांत प्रविष्टतरमत्स्यादीन्भक्षयित्वा बद्धोग्रपाप्मानोऽवधिस्थानं व्रजंति। तत्कर्णसान्निध्य यद्दी-यामिनस्तत्कर्णमलाहाराश्च तद्दंष्ट्रांतरालैर्निर्गच्छतो मत्स्यादीन् अवलोक्य इमे अवज्ञानिनो यन्मुखं पिधातुं न जानंति यदीदृग्स्माकं शरीरं भवेन्निःसर्तुमेकोऽपि न लभेतेति कृतोत्कृष्टरौद्रध्यानाः शालिसिक्थका अपि तत्सहवासिनो भवंति ॥

मूलारा—चक्कधरो अष्टमः। वंचिदो प्रतारितः। णिरयं सप्तमं ॥

स्वयंभूरमण समुद्रमें तिमि तिमिंगिलादिक महामत्स्य रहते हैं. उनका शरीर बहुतही बडा रहता है. उनकी शरीरकी लंबाई हजार योजनकी कही हैं. वे मत्स्य छह मासतक अपना मुंह उघाडकर नींद लेते हैं. नींद खुलनेके बाद आहारमें लुब्ध होकर अपना मुंह बंद करते हैं. तब उनके मुहमें जो मत्स्यादिक प्राणी आते हैं उनको वे निगल जाते हैं. ये मत्स्य आयुष्य समाप्तिके अनंतर अवधि स्थान नामक नरकमें प्रवेश करते हैं. इन मत्स्योंके कानमें शालिसिक्थ नामक मत्स्य रहते हैं वे उनके कानका मल खा कर जीवन निर्वाह करते हैं. उनका शरीर तंदुलके सीथके प्रमाणका रहता है अतएव उनको शालिसिक्थक ऐसा अन्वर्थक नाम हैं. वे अपने मनमें यदि हमारा शरीर इन महामत्स्योंके समान बडा होता तो हमारे मुंहसे एक भी प्राणी निकल नहीं सकता. हम संपूर्ण प्राणिओंको खा जाते ऐसा विचार सतत करते हैं. इस विचारसे उत्पन्न हुए पापोंसे वे भी उसी नरकमें प्रवेश करते हैं. यही अभिप्राय आगेकी गाथासे आचार्य कहते हैं—

अर्थ—आहारकी अभिलाषासे मत्स्य अवधि स्थान नामक सातवे नरकमें गमन करते हैं. इस आहाराभिलाषसे ही शालिसिक्थक मत्स्य भी उसी नरकमें उत्पन्न हुआ. (इसकी कथा आराधना कथाकोषमें देखो)

अर्थ—फलोंके रसका आस्वादन करनेमें आसक्त होकर सुभूम चक्रवर्ती भी अपने परिवार सहित समुद्रमें पडकर मर गया और नरकमें उत्पन्न हुआ.

आहारत्थं काऊण पावकम्माणि तं परिगओ सि ॥
संसारमणादीयं दुक्खसहस्साणि पावंतो ॥ १६५१ ॥

आहारसंज्ञया भद्र कृत्वा पापं दुरुत्तरम् ॥
चिरकालं भवाम्भोधौ प्राप्तो दुःखमनारतम् ॥ १७१६ ॥

विजयोदया—आहारार्थं पापानि कर्माणि कृत्वा संसारमनादिकं प्रविष्टो भवान्दुःखसहस्राणि वेदयमानः ॥ एवमाहारदोषान्प्रकाश्य क्षपके अवतारयति—

मूलारा—परिगदो भ्रान्तः ।

अर्थ—हे क्षपक ! इस आहारके वश होकर तूने अनेक पापकर्म कर अनादि संसारमें भ्रमण किया था, हे क्षपक ! अनादि कालपर्यंत तूने आहार वश होकरही हजारो दुःख सह लिये थे.

पुणरवि तहेव तं संसारं किं भमिदुमिच्छसि अणंतं ॥
जं णाम ण वोच्छिज्जइ अज्जवि आहारसण्णा ते ॥ १६५२ ॥

किं त्वमिच्छसि भूयोऽपि भ्रमितुं भवकानने ॥
दुःखदामशनाकांक्षां येनाद्यापि न मुंचसि ॥ १७१७ ॥

विजयोदया—पुणरवि पुनरपि । तथैव संसारमनन्तमटितु किमिच्छसि ? यस्मादद्याप्याहारे तृष्णा न नश्यति ॥

मूलारा—ण वोच्छिज्जदि न निराक्रियते । ते त्वया । उक्तं च—

किं त्वमिच्छसि भूयोऽपि भ्रमितुं भवकानने ॥
दुःखदामशनाकांक्षां येनाद्यापि न मुंचसे ॥

अर्थ—हे क्षपक तेरी आहाराभिलाषा अद्यापि शांत नहीं हुई है अतः तू अभी भी पूर्ववत् अनंत संसारमें भ्रमण करना चाहता है क्या ?

जीवस्स णत्थि तित्ती चिरंपि भुंजंतयस्स आहारं ॥
तित्तीए विणा चित्तं उव्वूरं उद्धुदं होइ ॥ १६५३ ॥

आहारं वल्भमानोऽपि चिरं जीवो न तृप्यति ॥
उद्वृत्तं सर्वदा चित्तं जायते तृप्तितो विना ॥ १७१८ ॥

विजयोदया—जीवस्स णत्थि तित्ती जीवस्य नास्ति तृप्तिः चिरमप्याहारं भुंजानस्य । तृप्त्या च विना चित्तं नितरामुघलं भवति ॥

किं च—

मूलारा—उव्वूरं अत्यंतं । उद्धुदं आकुलं ॥

अर्थ—हे क्षपक ! चिरकालपर्यंत आहार ग्रहण करके भी यह जीव तृप्त नहीं हुआ है और तृप्तिके विना यह चित्त अत्यंत आकुल रहता है.

जह इंधणेहिं अग्गी जह य समुद्दो णदीसहस्सेहिं ॥
आहारेण ण सक्को तह तिप्पेदुं इमो जीवो ॥ १६५४ ॥

इंधनेनेव सप्तार्चिः सलिलेनेव वारिधिः ॥
अंधसा गृह्यमाणेन जीवो जातु न तृप्यति ॥ १७१९ ॥

विजयोदया—जह इंधणेहि अग्गी यथेन्धनैरग्निर्नदीसहस्रैरुदधिस्तर्पयितुमशक्यस्तथाहारेण जीवः ॥

मूलारा—सुगम ॥

अर्थ—जैसे इंधनोंसे अग्नि तृप्त नहीं होता, जैसे हजारो नदीओसे समुद्र तृप्त नहीं होता है तथा यह जीव भी आहारसे कभी भी तृप्त नहीं होता है.

देविंदचक्कवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमा य ॥
आहारेण ण तित्ता तिप्पदि कह भोयणे अण्णो ॥ १६५५ ॥

भोगिनश्चक्रिणो रामा वासुदेवाः पुरंदराः ॥
नाहारैस्तृप्तिमायातास्तृप्यंत्यत्र परे कथम् ॥ १७२० ॥

विजयोदया—देविंद्रचक्रवट्टी य देविंद्रा लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षात् आत्मीयतनुतेजोनिमित्तेन आहारेण, चक्रवर्तिनोऽपि षष्ट्यधिकत्रिशतसूपकारैर्वर्षमात्रेणैकदिनाहारेण संस्करणोद्यतैः ढौकितेन तथार्धचक्रवर्तिनोऽपि। भोगभूमिजा भोजनांगकल्पतरुप्रभवेन न तृप्ताः। कथमन्यो जनस्तृप्यति॥

मूलारा—देविंदेत्यादि सुरेंद्रा लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षोद्भवात्मीयतनुतेजोनिमित्तेनाहारेण न तृप्ताः। नाप्युभयेऽपि चक्रिणः षष्ट्यधिकत्रिशतसूपकारैः वर्षमात्रेणैकदिनमाहारसंस्करणोद्यतैर्ढौकितेन, नापि भोगभूमिजातभोजनांगकल्पतरुप्रभवेन॥

अर्थ—देवेंद्रों को लाभांतराय कर्मका तीव्र क्षयोपशम रहता है इस लिये उन शरीरमें कांति स्थिर करने वाला जो आहार उसकी प्राप्ति होती है उससे वे तृप्त नहीं होते हैं. सकल चक्रवर्ती और त्रिखंड चक्रवर्तीके घरमें तीनसो साठ रसोइया रहते हैं वे सब मिलकर दररोज एक दिनका आहार तयार करते हैं उसका भोग लेकर चक्रवर्तीओंकी भी तृप्ति नहीं होती है. भोगभूमि जीव भी भोजनांग नामक कल्पवृक्षसे दिव्य आहार की प्राप्ति करके संतुष्ट नहीं होते है. उपर्युक्त देवेंद्र, चक्रवर्ति और भोगभूमिज जीव लाभान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे युक्त होते हैं इनको स्वेच्छित आहारके पदार्थ मिलते हैं तो भी वे तृप्त नहीं होते हैं तो अन्य तुझसरीखे जन कैसे तृप्त होते हैं?

उध्दुदमणस्स ण रदी विणा रदीए कुदो हवदि पीदी ॥
पीदीए विणा ण सुहं उध्दुदचित्तस्स घण्णस्स ॥ १६५६ ॥
रत्याकुलितचित्तस्य प्रीतिर्नास्ति रतिं विना ॥
प्रीतिं विना कुतः सौख्यं सर्वदा गृद्धचेतसः ॥ १७२१ ॥

विजयोदया—उध्दुदमणस्स इतो भद्रमतो भद्रमस्माचेदमिति परिप्लवमानचेतसो न रतिः, क च तया विना प्रीतिः। प्रीत्या च विना सुखं चलचित्तस्य तत्तदाहारलंपटस्य॥

मूलारा—उद्धुदमणस्स इदमितो भद्रमस्माच्चेदमिति परिप्लवमानचेतसः। घण्णस्स तत्तदाहारलंपटस्य॥ १४९२

अर्थ—यह आहार स्वादु है यह आहार मीठा है इससे मैं सुखी होता हूं ऐसे विचारसे मनुष्यका मन

हमेशा चचल होता है इसलिये रतिको प्राप्त होता नहीं. विना रतिके प्रीतिकी उत्पत्ति कैसी हो सकती है? और प्रीतीके विना आहार लंपट पुरुषको सुख नहीं होगा.

सव्वाहारविधाणेहिं तुमे ते सव्वपुग्गला बहुसो ॥
आहारिदा अदीदे काले तित्तिं च सि ण पत्तो ॥ १६५७ ॥

पुद्गला विविधोपायैः सकला भक्षितास्त्वया ॥
अतीतेऽनंतशः काले न च तृप्तिं मनः श्रितम् ॥ १७२० ॥

विजयोदया—सव्वाहरणविधाणेहिं अशनपानखाद्यलेह्यविकल्पैस्त्वया सर्वे पुद्गला बहुश आहारिता' अतीते काले तृप्तिं च न च प्राप्तो भवान् ॥

मूलारा—विधाणेहिं अशनादिविकल्पैः ।

अर्थ—हे क्षपक ! आजतक जितना भूतकाल व्यतीत हुआ है उतने कालमें अन्न, पान, खाद्य और लेह्य ऐसे चार प्रकारके आहार तूने बहुवार भक्षण किये हैं तो भी तू तृप्त नहीं हुआ है.

किं पुण कंठप्पाणो आहारेदूण अज्जमाहारं ॥
लभिहिसि तित्तिं पाऊणुदधिं हिमलेहणेणेव ॥ १६५८ ॥

भोज्यं कंठगतप्राणैर्भुक्त्वा प्रार्थनयाहृतं ॥
किमिदानीं पुनस्तृप्तिं सुबुद्धे ! त्वं गमिष्यसि ? ॥ १७२३ ॥
न तृप्तिर्यस्य संपन्ना पीते जलनिधेर्जले ॥
अवश्यायकणैर्लिह्यैः पीतैः किमु स तृप्यति ? ॥ १७२४ ॥

विजयो—किं पुण किं पुन कंठप्राणोप्याहारं गृहीत्वा प्रीतिं लप्स्यसे । पीत्वोदधिं न तृप्तो यथा हिमलेहनेन ॥

मूलारा—कंठप्पाणो कंठगतप्राणः । लभिहिसि प्राप्स्यसि त्वं । हिमलेहणेणे व अवश्यायस्य जिह्वयास्वादनेन यथा न तृप्यति पीत्वोदधिं न तृप्तः सस्तथा त्वमप्यद्य प्रयुक्तेनाहारेण न तप्स्यसीत्यर्थः ।

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य समुद्रको पीकर भी तृप्त नहीं हुआ तो वह क्या एकाद हिमबिंदुका आस्वादन करनेमें तृप्त होगा? वैसे हे क्षपक! तू आजतक आहार भक्षण कर तृप्त नहीं हुआ है. आज तेरे कंठमें प्राण आये है तो आज आहार ग्रहण कर तू तृप्ति की प्राप्ति कर लेगा क्या? विचार कर और आहारेच्छा छोड दे

को एत्थ विंभओ दे बहुसो आहारभुत्तपुव्वम्मि ॥
जुंज्जेज्ज हु अभिलासो अभुत्तपुव्वम्मि आहारे ॥ १६५९ ॥

भुक्तपूर्वे यते ! कोऽस्मिन्नाहारे तव विस्मयः ॥
अपूर्वे युज्यते कर्तुमभिलाषो हि वस्तुनि ॥ १७०५ ॥

विजयोदया—को एत्थ विंभ ओ कोऽत्र विस्मय । आहारे बहुसो भुत्तपुव्वे युज्यते आहारार्थे अभिलाषो भुक्तपूर्वे ॥

मूलारा—आहारा आहारे । जुजेज्ज युक्तो भवेत् ।

अर्थ—जो आहार पूर्वकालमें अनेकवार भक्षण किया था उसमें फिर अभिलाप तेरे मनमें उत्पन्न हुई है. इसमें आश्चर्य करना फिजूल है जिसका भक्षण किया नहीं था उसमें भी अभिलाषा जीवको उत्पन्न होती है

आवादमेत्तसोक्खो आहारेण हु सुखं बहुं अत्थि ॥
दुःखं चेवत्थ बहु आहड्डतस्स गिद्धीए ॥ १६६० ॥

आपातसुखदे भोज्ये न सुखं बहु विद्यते ॥
गृद्धितो जायते भूरि दुःखमेवाभिलाष्यतः ॥ १७०६ ॥

विजयोदया—आवादमित्तसोक्खो जिह्वाग्रपातमात्रसुख आहार । न सुखमत्र बह्वस्ति । दुःखमेवात्र बहु अभिलषत आहारगृद्ध्या ॥

मूलारा— आवादमेत्तसोक्खो जिह्वामेलापकमात्रसुखः । आहड्डंतस्स अभिलषतः । अर्जयतो वा ॥

अर्थ—जब जिह्वाके उपर आहार आता है तभी सुख होता है. वह भी सुख अत्यल्प है परंतु अतिशय

अभिलाषासे आहार ग्रहण करनेमे सुखकी अपेक्षासे दुःखही जादा है. अथवा आहारकी प्राप्ति करनेके लिये अधिक कष्ट करने पडते हैं अतएव आहारमें सुख कम हैं और दुःख अधिक है.

सुखस्याल्पतायाः कारणमाचष्टे—

जिब्भामूलं वोलेइ वेगदो वरहओव्व आहारो ॥
तत्येव रसं जाणइ ण य परदो ण वि य से परदो ॥ १६६१ ॥

अतिक्रामति वाजीव जिव्हामूलं स वेगतः ॥
तत्रैव बुध्यते स्वादं भुंजानो न पुनः परे ॥ १७२७ ॥

विजयोदया—जिह्वाया मूलं वेगेनातिक्रामत्याहारः आत्यश्व इव। जिह्वामात्र एव रसं वेत्ति जीवो न आहारानुपरितः, न च पुरतोऽप्रत । अल्पा च जिह्वा ॥

कुतो भोक्तुराहारात्सुखमल्पमित्याह—

मूलारा—वोलेदि वेगेन जिह्वां लंघयित्वा यातीत्यर्थः। तत्येव जिह्वामात्र एव । अल्पैव जिह्वा । रसं स्वादं जाणदि वेत्ति । भोक्ता। पुरदो जिह्वायाः पूर्वस्मिन मुखदेशे। से जिह्वायाः। परदो परस्मिन्भागे गलदेशादौ॥ उक्तं च—

नात्यश्व इव वाहारो जिह्वामत्यानिवेगतः ॥
तत्रैव तद्रसं वेत्ति नैवार्वाक्परतोऽपि वा ॥

अर्थ—जैसे उत्तम घोडा बडे वेगसे दौडता है वैसेही यह आहार भी जिह्वाके अग्र भागका उल्लंघन करके शीघ्र पेटमें प्रवेश करता है. जिह्वाके अग्रभागमेंही आहारका रस जाननेका सामर्थ्य है अर्थात् संपूर्ण जिह्वा आहार का रस जाननेमें असमर्थ है ऐसा समझना चाहिये. आहार थालीमें परोसा है ऐसी अवस्थामें अथवा वह पेटमें लेजानेके अनंतर जीव उसका रसस्वाद लेनेमें असमर्थ है. और जिव्हा अल्प भी है इस लिये आहार का सुखानुभव अत्यल्प है.

१४९६ अच्छिणिमिसेणमेत्तो आहारसुहस्स सो हवइ कालो ॥
गिद्धीए गिलइ वेगं गिद्धीए विणा ण होइ सुखं ॥ १६६२ ॥

निमिषमात्रके सौख्यमाहारग्रहणे परं ॥
गृद्धितो गिलति क्षिप्रं तया न हि विना सुखम् ॥ १७२८ ॥

विजयोदया—अच्छिणिमिसमित्तो अक्षिनिमेषणमात्रः कालः । आहाररससेवाजनितसुखस्य गृद्धया वेगेन गिलति । यतो गृद्धया च विना नास्तींद्रियसुखं ॥

मूलारा—आहारसुहस्स आहाररसजनितसुखस्य । वेगं शीघ्रम् ॥

अर्थ—आहारके रसानुभवसे जो सुख मिलता है उसका काल आंख मूंदकर फिर उघडनेमें जितना काल लग सकता है उतना है यह जीव अभिलाषासे आहारको शीघ्र निगल जाता है. और अभिलाषाके विना इंद्रिय सुखकी प्राप्ति होती नहीं.

दुक्खं गिद्धीघत्थस्साहट्टंतस्स होइ बहुगं च ॥
चिरमाहट्टियदुग्गयचेडस्स व अण्णगिद्धीए ॥ १६६३ ॥

अशनं कांक्षतो नित्यं व्याकुलीभूतचेतसः ॥
दरिद्रचेटकस्येव गृद्धस्यास्ति कुतः सुखं ॥ १७२९ ॥

विजयोदया—दुक्खं गिद्धीघत्थस्स दुःखं महद्भवति लंपटतया ग्रस्तस्याभिलषतः । चिरमाहट्टियदुग्गदचेडस्स व अण्णगिद्धीए अन्नगृद्धया चिरं व्याकुलस्य दरिद्रसंबंधिनो दासेरस्येव ॥

मूलारा—गिद्धीघत्थस्स लंपटताग्रस्तस्य । आहट्टंतस्स आहारमभिलषतः । आहट्टिद व्याकुलस्यान्नगृद्धया । दुग्गचेडस्स दरिद्रदासेरस्य ।

अर्थ—आहारमें लंपट होकर जो उसकी अभिलाषा करता है उसको बडे बडे दुःख भोगने पडते हैं. जो चिरकालसे अन्नकी अभिलाषामें पीडित हुआ है ऐसा दरिद्री पुरुष जैसे दुःख पाता है वैसा दुःखानुभव आहार लंपटीको भी होता है

को णाम अप्पसुक्खस्स कारणं बहुसुखस्स चुक्केज्ज ॥
चुक्कइ हु संकिलिसेण मुणी सग्गापवग्गाणं ॥ १६६४ ॥

को नामाल्पसुखस्यार्थे वंच्यते सुखतो बहोः ॥
संक्लेशः क्रियते येन मृतिकालेऽपि दुर्धिया ॥ १७३० ॥

विजयोदया—को णाम अल्पसुखस्य कारणं को नामाल्पसुखनिमित्तं महतोऽनिमित्तसुखात्प्रच्यवते च मुनिः संक्लेशेन स्वर्गापवर्गसुखाभ्यां ॥

मूलारा—बहुसुहस्स निर्वृतिसुखात् । चुकेज्ज भ्रन्श्येत ॥

अर्थ—कौनसा प्राणी थोडेसे सुखके लिये बहुत सुख जिससे मिलता है ऐसे निमित्तोंको छोड देगा. अर्थात् हे क्षपक ! तूं अन्न भक्षण करके थोडासा सुख अल्पकालतक टिकनेवाला प्राप्त कर लेगा परन्तु इससे तुझको स्वर्गसुख और मोक्षसुखसे वंचित रहना पडेगा. आहाराभिलाषासे संक्लेश परिणाम वृद्धिंगत होते हैं और उनमें स्वर्गापवर्ग सुखसे हाथ धोने पडते हैं.

महुलित्तं असिधारं लेहइ भुंजइ य सो सविसमण्णं ॥
जो मरणदेसयाले पच्छेज्ज अकप्पियाहारं ॥ १६६५ ॥

मधुलिप्तामसेर्धारां निशातां स लिलिक्षति ॥
बुभुक्षते विषं घोरं संन्यस्तो योऽशनायति ॥ १७३१ ॥

विजयोदया—महुलित्तं मधुना लिप्तामसिधारां आस्वादयति । सविषमशनं भुंक्ते यो मरणदेशकाले अयोग्याहारप्रार्थनां करोति ॥

प्रत्याख्यातभक्तस्यासन्नमृत्योर्दुर्धरमोहोदयादाहारमिच्छतो दृष्टांतद्वारेण महांतं दोषमावेदयति—

मूलारा—मरणदेसयाले मरणं दिशति ददाति कथयति वा मरणदेशः स चासौ कालश्च तस्मिन्मृत्युवेलायामित्यर्थः । पच्छेज्ज वांछेत् । अकप्पियाहारं अर्हदादिसाक्षिकं प्रत्याख्यातत्वादयोग्यमाहारं ॥

अर्थ—जो क्षपक मरण समयमें अयोग्य आहारकी अभिलाषा रखता है वह शहदमें लपेटी हुई तरवारकी धाराको जिह्वासे चाटता है ऐसा समझना चाहिये. अथवा वह विषमिश्र हुआ अन्न खाता है ऐसा समझना चाहिये. तात्पर्य यह है कि आहार की अभिलाषासे संक्लेश परिणाम होते हैं जो कि दुर्गतीके कारण हैं.

असिधारं व विसं वा दोसं पुरिसस्स कुणइ एयभवे ॥
कुणइ दु मुणिणो दोसं अकप्पसेवा भवसएसु ॥ १६६६ ॥

असिधाराविषे दोषमेकत्र कुरुतो भवे ॥
अशनायाःपुनर्जन्तोर्दुरितं भवकोटिषु ॥ १७३२ ॥

विजयोदया—असिधारं व असिधारा वा विषं वा पुरुषस्य दोषमेकस्मिन्नेव भवे करोति । अयोग्यसेवनं भवशतेषु मुनेर्दोषं करोति ॥

मूलारा—अकल्पसेवा अयोग्योपयोगः ॥

अर्थ—तरवारकी धारा अथवा विष ये दोन चीजे एकभवमें ही पुरुषका नुकसान करती है परंतु मुनिओंके लिये आयोग्य आहारका सेवन सैकडो भवोंमें हानिकारक होता है. अर्थात् कुगतिमें दुःख देनेवाला होता है.

जावंति किंचि दुक्खं सारीरं माणसं च संसारे ॥
पत्तो अणंतखुत्तं कायस्स ममत्तिदोसेण ॥ १६६७ ॥

शारीरं मानसं दुःखं इदयते यज्जगत्त्रये ॥
तद्दाति यतः सर्वं अशनाया विसंशयम् ॥ १७३३ ॥

विजयोदया—जावंति किं चि दुक्ख यावत्किंचिद्दुःखं शारीरं मानसं वा संसारे त्वमनंतवारं प्राप्तवान् । तत्सर्वं शरीरममतादोषेणैव ॥

किं च कायममत्वादेव तदाहारे स्पृहा प्रादुर्भवति तच्च संसारकारणकर्मबंधनिबंधनत्वाद्दुःखावर्तनिमित्तमत स्तत्परिहाराय सततं प्रयतस्वेति शिक्षयितुं उत्तरप्रबंधमाह —

मूलारा—ममत्तिदोसेण ममायमहमस्य स्वामी उपलक्षणादयमेवाहमहमेवायमिति च ममत्वं तदेव दोषो वैकारिकं रूपमात्मनः । तेन हेतुना ।

अर्थ—हे क्षपक! इस अनादि संसारमें अनतवार जो शारीरिक अथवा मानसिक दुःख तुझको भोगने पडे है उनका कारण एक शरीरके ऊपर ममता करना यही है. अर्थात् शरीरसे प्रेम आजतक तेरा नहीं नष्ट हुआ इससे ही सर्व दुःखोंका तू पात्र बन चुका है

एण्हं पि जदि ममत्तिं कुणसि सरीरे तहेव ताणि तुमं ॥
दुक्खाणि संसरंतो पाविहिसि अणंतयं कालं ॥ १६६८ ॥

यते! देहममत्वेन प्राप्तं दुःखमनारतम् ॥
इदानीं सर्वथा साधो! तत्ततस्त्वं निराकुरु ॥ १७३४ ॥

विजयोदया—एण्हं पि इदानीमपि शरीरे करोषि ममतां तथैव तानि दुःखानि चतुर्गतिषु परावर्तमानोऽनंतकालं प्राप्स्यसि ॥

मूलारा—संसरंतो चतुर्गतिषु परिवर्तमानः ॥

अर्थ—पूर्ववत् इस समयमें भी यदि तू शरीरस्नेह को न छोडेगा तो चतुर्गतिओंमें अनंतकाल भ्रमण करता हुआ तू पुनः उनही दुखोंका स्थान होगा. अर्थात् अनंतकालतक शरीरस्नेह दुःख देगा ही. शरीरस्नेह छोडना ही दुःखसे छूटनेका उपाय है.

णत्थि भयं मरणसमं जम्मणसमयं ण विज्जदे दुःखं ॥
जम्मणमरणादंकं छिण्ण ममत्तिं सरीरादो ॥ १६६९ ॥

दुःखं जन्मसमं नास्ति न मृत्युसदृशं भयम् ॥
जन्ममृत्युकरीं छिंद्धि शरीरममतां ततः ॥ १७३५ ॥

विजयोदया—णत्थि भयं मरणसमं मरणसदृशं भयं नास्ति। कुयोनिषु जन्मसमानं दुःखं न विद्यते। जन्ममरणातंकं छिंद्धि शरीरममतां।

मूलारा—जम्मणमरणादंकं जन्ममरणे आतंको मारणात्मकव्याधिरिव दुःखभयप्रकर्षत्वात्। तद्धेतुत्वाच्च देहममत्वं तथोक्तम्। उक्तं च—

दुःखं जन्मसमं नास्ति न मृत्युसदृशं भयं ॥
जन्ममृत्युकरीं छिंद्धि शरीरममतां ततः ॥

अर्थ—इस जगतमें मरणके समान अन्य भय नहीं है. और कुयोनियोंमें जन्म लेना महान् दुःख दायक

है. इसके समान दूसरा दुःख है नहीं. इसलिये जन्ममरणरूपी व्याधिको उत्पन्न करनेवाली शरीरममता तू अपने हृदयमे दूर कर.

अण्णं इमं सरीरं अण्णो जीवोत्ति णिच्छिदमदीओ ॥
दुक्खभयकिलेसयरी मा हु ममत्तिं कुण सरीरे ॥ १६७० ॥

परोऽयं विग्रहःसाधो ! चेतनोऽयं यतःपरः ॥
ततस्त्वं विग्रहस्नेहं महाक्लेशकरं त्यज ॥ १७३६ ॥

विजयोदया—अण्णं इमं सरीरं अन्यदिदं शरीरं अन्यो जंतुरिति निश्चितमतिर्दुखसंक्लेशसंपादनोद्यतांमा कृथाः शरीरे ममताम् ॥

महादुःखोपायकायममत्वत्याजनाय देहात्मभेदभावनां भावयति—

मूलारा—दुक्खपरिकिलेसयरिं चिंताप्रसादलक्षणेन चित्तविक्षेपरूपेण वा दुःखेन क्रियमाणः परिक्लेशः शारीरो मानसश्च संतापः । उत्करणकारणं ।

अर्थ—हे क्षपक! यह शरीर भिन्न है और जीव इससे भिन्न है ऐसा निश्चयसे समझकर दुःख और संक्लेश रहित परिणामोंकी जननी देहममता तू छोड दे.

सव्वं अधियासंतो उवसग्गविधिं परीसहविधिं च ॥
णिस्संगदाए सहिह असंकिलेसेण तं मोहं ॥ १६७१ ॥

सहमानो मुने ! सम्यगुपसर्गपरीषहान् ॥
निःसंगस्त्वमसंक्लिष्टो देहमोहं तनूकुरु ॥ १७३७ ॥

विजयोदया—सव्वं उवसग्गविहिं सर्वं उपसर्गविकल्पं परीषहविकल्पं च सहमानो मोहं भवांस्तनूकुरु ॥ निस्संगतया असंक्लेशेन च ॥

रागादिसंगत्यागभावनया आर्तरौद्रपरित्यागभावनया चोपसर्गादिभिभयं परिहरन शरीरममत्वं प्रासयेति शिक्षार्थमाह—

मूलारा—विधि विकल्पं । णिस्संगदाए निःसंगत्वभावनया । सल्लिह कृशीकुरु । असंकिलेसेण आर्तरौद्रभावना न सम्मोहं शरीर ममत्वं । उक्तं च—

सहमानो मुने ! सम्यगुपसर्गपरीषहान् ॥
निःसंगस्त्वमसंक्लिष्टो देहमोहं तनुं कुरु ॥

अर्थ— हे क्षपक सर्व प्रकारके उपसर्ग और सर्व प्रकारके परीषह सहकर निःसंगत्वकी भावनासे और संक्लेशरहित परिणामोंसे तू मोह को क्षीण कर.

ण वि कारणं तणादीसंथारो ण वि य संघसमवाओ ॥
साधुस्स संकिलेसो तस्स य मरणावसाणम्मि ॥ १६७२ ॥
तृणादिसंस्तरो योग्यश्चतुर्द्धा संघमीलनम् ॥
निःफलं जायते साधो ! मृत्यौ संक्लिष्टचेतसः ॥ १७३८ ॥

विजयोदया—ण वि कारणं तणादी नैव कारणं तृणादिसंस्तरः सल्लेखनाया, नापि संघसमुदायः मरणावसाने संक्लिश्यतः साधोः ॥

मरणान्ते संक्लेशमाविशतः संस्तरादिविधिवैयर्थ्यमाह—

मूलारा—कारणं समाधिनिमित्तं । मरणावसाणम्मि मृत्योर्निकटे सति ॥

अर्थ—यदि मरणके समयमें संक्लेश परिणाम उत्पन्न होंगे. तो तृणादिकोंका संस्तर, और संघसमुदाय भी सल्लेखनाके प्रति कारण रूप नहीं होंगे. क्योंकि ये बाह्य कारण हैं. असंक्लेश रूप परिणाम ही सल्लेखनाकेलिए उपादान कारण माने गये हैं. इसलिए परिणामोंमें संक्लेश न उत्पन्न होगा ऐसा क्षपकने प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् शरीरममताका त्याग करना चाहिए.

जह वाणियगा सागरजलम्मि णावाहिं रयणपुण्णाहिं ॥
पत्तणमासण्णा वि हु पमादमूढा वि वज्जंति ॥ १६७३ ॥

रत्नसंभृतपात्रस्था वाणिजःसागरे यथा ॥
पत्तनं निकषा साधो ? निमज्जंति प्रमादतः ॥ १७३९ ॥

विजयोदया—जह वाणियगा यथा वणिजो रत्नसंपूर्णाभिर्नौभिः सह विनश्यंति । समुद्रजलमध्ये प्रमादेन मूढा पत्तनांतिकमागता अपि ॥

सम्यक्कृतशरीरसल्लेखनावतां संस्तरसंश्रयवतामपि रागद्वेषादिभावपरिग्रहमहिम्नामसमाधिकरणं स्यादिति दृष्टांतपुरःसरं गाथाभिरथाधिमनुसरति—

मूलारा—पमादमूढा निद्रादिना प्रमादेन दुर्वातमहामत्स्यचौरादिविनिपातमानतेवयंतः (?) विवज्जंति मरणांतां विपदमाप्नुवंति । रत्नपूर्णाभिर्नौभिः सह ॥

अर्थ—जैसे नौकासे देशांतरमें जाकर व्यापार करनेवाले वैश्य रत्नोंसे भरी हुई नौकाके साथ शहरके समीप आकर भी प्रमादवश होनेसे समुद्रमें डूबकर मरते हैं वैसे—

सल्लेहणा विसुद्धा केई तह चेव विविहसंगेहिं ॥
संथारे विहरंता वि संकिलिट्ठा विवज्जंति ॥ १६७४ ॥

तथा सिद्धिसमीपस्थाः शुद्धसंस्तरयायिनः॥
निपतंति भवावर्ते जीवाः संक्लेशयोगतः ॥ १७४० ॥

विजयोदया—सल्लेहणा विसुद्धा शरीरसल्लेखनाभावात् । सल्लेखनया विशुद्धा अपि संतः । पूर्वं केचित् विविधसंगेहिं विचित्रै रागद्वेषादिभावपरिग्रहैः सह । संथारे विहरंता वि संस्तरे प्रवर्तमाना अपि । संकिलिट्ठा विवज्जंति संक्लिष्टपरिणताः विनश्यन्ति ॥

मूलारा—सल्लेहणा विसुद्धा वि सम्यक्कृशीकृतवपुषोऽपि । विविधसंगेहिं । विचित्रै रागद्वेषादिभावपरिग्रहैः सह । संकिलिट्ठा आर्तरौद्रध्यानाभ्यामाविष्टाः ॥

अर्थ—शरीरसल्लेखना तो जिनकी निरतिचार हो रही है परंतु मनमें विचित्र रागद्वेषादि रूप भावपरिग्रह धारण करते हैं ऐसे मुनि कषायसल्लेखना की शुद्धि नहीं होनेसे संस्तरमे आरूढ होनेपर भी संक्लेश परिणामोंसे कलंकित होकर संसारसमुद्रमें डूबकर मरते हैं.

सल्लेहणापरिस्समिमं कयं दुक्करं च सामण्णं ॥
मा अप्पसोक्खहेउं तिलोगसारं वि णासेइ ॥ १६७५ ॥

सल्लेखनाश्रमं साधो ! चारित्रं च सुदुश्चरम् ।
मा स्म त्याक्षोर्जगत्सारमल्पसौख्यजिघृक्षया ॥ १७४१ ॥

विजयोदया—सल्लेहणापरिस्समिमिदं शरीरसल्लेखनायां क्रियमाणायां अनशनादितपसा त्रिविधाहारत्यागेन, यावज्जीवं वा पानपरिहारेण । जातं परिश्रममिमं । दुक्करं च सामण्णं दुष्करं कृतं च श्रामण्यं । चिरकालं त्रिलोकसारं अतिशयितस्वर्गापवर्गसुखप्रदानात् । अप्पसुक्खहेदुं अल्पाहारसेवाजनितसुखनिमित्तं । मा विणासेहि नैव विनाशय ॥

एवं रागाभावमंथर्यौरत्स्यमवबुध्य स्वल्पाहारसेवाजनितसुखाभिलाषेणोत्कृष्टसुखसाधनं चिराभ्यस्तदुष्करतपोरत्नं मानूनशेति शिक्षयति—

मूलारा—सल्लेहणापरिस्समं शरीरसल्लेखनायां क्रियमाणायां अनशनादिना तपसा त्रिविधाहारत्यागेन यावज्जीवं वा पानपरिहारेण जातं देहेन्द्रियमनसां खेदं । तिलोगसारं सातिशयाभ्युदयनिःश्रेयससुखसंपादनात् ॥

अर्थ - शरीरसल्लेखना करते समय अनशनादि तप करनेसे, जलके विना अन्य तीन प्रकारके आहारोंका त्याग करनेसे, तथा आमरण पानाहारका त्याग करनेसे जो श्रम हे क्षपक ! तुझको हुआ है उससे तुझको यह मुनि व्रत दुष्करसा दीखता है तो भी यह उत्कृष्ट स्वर्ग और मोक्षका सुख देनेवाला होनेसे त्रैलोक्यका अपूर्व सार है. ऐसे लोकोत्तर मुनिव्रतको आहारजन्य अल्प सुखके लिये हे क्षपक ! तू मत छोडदे.

धीरपुरिसपण्णत्तं सप्पुरिसणिसेवियं उवणमित्ता ॥
धण्णा णिरावयक्खा संथारगया णिसज्जंति ॥ १६७६ ॥

पुरुषैःकथितं धीरैर्मार्गं सद्भिर्निषेवितम् ॥
निरपेक्षाःश्रिता धन्याःसंस्तरस्था निशेरते ॥ १७४२ ॥

विजयोदया—धीरपुरिसपण्णत्तं उपसर्गाणां परिषहाणां चोपनिपातैः अविचलधृतयो ये धीरास्तैरुपदिष्टं तासर्थं । सप्पुरिसणिसेवियं सत्पुरुषनिषेवितं । मार्गं उवणमित्ता आश्रित्य । धण्णा धन्याः पुण्यवंतः । णिरावयक्खा निरपेक्षाः परित्यक्ताकांक्षाः । संथारगदा संस्तरारूढाः । णिसज्जंति शेरते ॥

मूलारा–धीरा उपसर्गपरीषहनिपातेऽपि अविचलधृतयः । उवणिसा आश्रित्य मार्गं । णिराहारकला प्रत्याख्यात-महनगिरपेक्षाःसंतः । णिसजंति णिसीदंते निमुद्धंतीत्यर्थः । उक्तं च —

पुरुषैः कथितं धीरैर्मार्गं सद्भिर्निषेवितं ॥
निरपेक्षाःश्रिता धन्याः संस्तरस्था निशेरते ॥

अर्थ—महान् उपसर्ग और परिषहोंसे पीडित होनेपर भी जिनका धैर्य निश्चल रहता है ऐसे धीर पुरुषोंने इस मुनिव्रतका उपदेश दिया है. यह मुनिव्रत सत्पुरुषोंके द्वारा सेवन किया गया है. पुण्यवान मुनीश्वर जिन आहारोंका त्याग किया है उनका सेवन कभी भी नहीं करते हैं और संस्तरमें आरूढ होकर इस मुनिव्रतकी पूर्ण तया सिद्धि कर लेते हैं

तम्हा कलेवरकुडी पव्वोढव्वत्ति णिम्ममो दुक्खं ॥
कम्मफलमुवेक्खतो विसहसु णिव्वेदणो चेव ॥ १६७७ ॥

कलेवरमिदं त्याज्यमिति विज्ञाय निःस्पृहः ॥
सहस्व कर्मजं दुःखं निर्वेदन इवाखिलम् ॥ १७४२ ॥

विजयोदया—तम्हा तस्मात् । कलेवरकुडी शरीरकुटी । पव्वोढव्वात्ति परित्याज्येति मत्वा । णिम्ममो शरीरे ममतारहितो । दुक्खं विसहसु दुःखं विसहस्व । कम्मफलमुवेक्खतो कर्मफलमुपेक्षमाणो । णिव्वेदणो चेव निर्वेदनमेव ॥

उपसंहारमाह—

मूलारा—पव्वोढव्वत्ति परित्याज्येति मत्वा । कम्मफलं निष्प्रतीकारमित्यर्थः । णिव्वेदणो चेव निर्वेदन इव ॥

अर्थ– इसलिये यह शरीररूपी झोपडी त्यागने योग्य है ऐसा समझकर हे क्षपक ! शरीरमें तू ममता रहित होकर कर्मफलके विषयमें रागद्वेषरहित हो. वैराग्यमें तत्पर होता हुआ परीषहादिकोंसे उत्पन्न हुए दुःखोंको वेद-नारहित समझकर सहन कर.

१८९

इय पण्णविज्जमाणो सो पुव्वं जायसंकिलेसादो ॥
विणियत्तंतो दुक्खं पस्सइ परदेहदुक्खं वा ॥ १६७८ ॥

एवं प्रज्ञाप्यमानोऽसौ त्यक्तसंक्लेशवासनः ॥
अन्यदुःखमिवात्मीयं दुःखं पश्यति सर्वथा ॥ १७४४ ॥

विजयोदया—इय एवं । पण्णविज्जमाणो प्रज्ञाप्यमान. । सो पुव्वं जादसंकिलेसादो पूर्वं जातसंक्लेशात् । विणियत्तंतो विनिवर्तमानः । दुक्खं पस्सदि दु खं पश्यति । किमिव ? परदेहदुक्खं वा परशरीरगतमिव दु खं ॥

सम्यग्दृष्टिप्रशमिनं क्षपकं प्रति तत्तादृक्प्रबोधनायाः फलवत्तां कथयति—

मूलारा—सो तत्त्वसंस्कारभावितःसंन्यस्तः । पुव्वंजाद पूर्वोत्पन्नात् । विणियत्तो विनिवृत्तः । विणियंतो इति पाठे विनिवर्तमान इत्यर्थः ।

अर्थ—इस प्रकारसे जिसको उपदेश दिया जा रहा है ऐसा वह क्षपक उत्पन्न हुए संक्लेश परिणामोंको अपने मनसे हटाता है. और परीषहादिकोंसे उत्पन्न हुए दुःखको वह दुसरोंके शरीरगत दुःखके समान समझने लगता है. मानो मैं दुःखसे मुक्तही हुआ हूं ऐसा मानने लगता है.

रायादिमहड्ढियागमणपओगेण चा वि माणिस्स ॥
माणजणणेण कवयं कायव्वं तस्स खवयस्स ॥ १६७९ ॥

धन्यस्य पार्थिवादीनामागमादिप्रयोगतः ॥
क्षपकस्यापि दातव्यो मानिनः कवचो दृढः ॥ १७४५ ॥

विजयोदया—रायादिमहड्ढियागमणपओगेण राजादिमहर्द्धिकागमनप्रयोगेण । चावि माणिस्स मानिनोऽपि । माणजणेण मानजनेन । कवयं कायव्वं । कवचः कर्तव्यः । तस्स खवयस्स तस्य क्षपकस्य । मम धीरतां द्रष्टुं अमी महर्द्धिकाः समायाताः । अमीषां पुरस्ताद्यदपि प्राणा यांति यांतु कामं तथापि स्वां मनस्वितां नाहं त्यजामीति मानधनो दु.खं सहते न कुरुते व्रतभंगं ॥

मानधनस्य प्रकारांतरेणापि कवचमितिकर्तव्यतयोपदिशति—

मूलारा—महड्ढियागमण महर्द्धिकानां तत्समीपनयनं । माणजणणेण पूजाप्रशंसोत्पादनेन । तस्स दुर्निवारदुःखा-

त्येय। मानधना हि मम धीरतां द्रष्टुं इमे महर्द्धिकाः समायाता यद्यप्येषां पुरो वेदनायाः प्राणा यांति कामं यांतु। तथाप्यहं मनस्वितां न मुंचामीति स्तम्यमानो दुःखं सहते ॥

अर्थ—हे क्षपक! राजा वगैरह श्रीमान लोक तेरी सल्लेखाना देखने के लिये आये हैं ऐसा कहकर अभिमानी क्षपकको मान उत्पन्न कर कवच करना चाहिये. अर्थात् जब राजादिक श्रीमान् पुरुष क्षपकदर्शन करनेके लिये आते हैं तब उस क्षपककी अभिमानप्रशंसा करनी चाहिये. मेरी दृढता तथा धैर्य देखनेके लिये ये राजादिक पुरुष आये हैं इनके आगे मेरे प्राण चले जावे तोभी कुछ परवाह नहीं है. मैं अपना मान नहीं छोडूंगा. दुःख सहकर भी मैं अपने व्रतका नाश नहीं करूंगा ऐसे भाव क्षपकके मनमें राजादिकोंको लाकर उत्पन्न करने चाहिये.

इच्चेवमाइकवचं भणिदं उस्सग्गियं जिणमदम्मि ॥
अववादियं च कवयं आगाढे होइ कादव्वं ॥ १६८० ॥

इत्येव कवचोऽवाचि संक्षेपेण श्रुतोदितः ॥
विशेषेणापि कर्तव्यो दुःखे सति दुरुत्तरे ॥ १७४६ ॥

विजयोदया—इच्चेवमादिकवचं भणिदं इत्येवमादिकः कवचः कथितो जिनमते । उस्सग्गिगो औत्सर्गिकः सामान्यभूतः । अववादिगं कवचं कादव्वं विशेषरूपोऽपि कवचः कर्तव्यो भवत्यागाढे मरणे ॥

एवं दूरमरणस्य सामान्यरूपतया प्रबंधेन कवचमभिधाय निकटमरणस्य तं विशेषरूपतया विधेयमनुशास्ति—

मूलारा—उस्सग्गियं सामान्यभूतः । अववादियं विशेषरूपः । तत्कालोत्पन्नध्यानांतरायनिमित्तक्षुदादिदुःखनिराकरणोपायतया यथायथं प्रयोज्य इत्यर्थः । आगाढे आसन्नमरणे ॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीजिनमतमें कवचका औत्सर्गिक-सामान्यस्वरूप कहा है. तथा जब आगाढमरण प्राप्त होता है तब विशेषरूप कवचभी करना चाहिये.

जह कवचेण अभिज्जेण कवाचिओ रणमुहम्मि सत्तूणं ॥
जायइ अलंघणिज्जो कम्मसमत्थो य जिणदि य ते ॥ १६८१ ॥

स्तोष्यते क्षपकः सूरेर्वचनैर्हृदयंगमैः ॥
चंद्रस्येव करैः शुद्धैः शीतलैः कुमुदाकरः ॥ १७४७ ॥
क्षणेन दोषोपचयापसारिणः समेत्य वाक्यानि तमोऽपहारिणः ॥
जडोऽपि सूरेः क्षपको विबुध्यते महांसि भानोरिव नीरजाकरः॥ १७४८ ॥
परीषहं प्रभवति संस्तरे स्थितो निकर्तितुं परमपराक्रमक्रमः ॥
निराकुलः कवचधरस्तपोधनो रणांगणे रिपुमिव कर्कशं भटः ॥ १७४९॥

इति कवचः ।

विजयोदया—जह कवचेण यथा कवचेन । अभिज्जेण अभेद्येन । कवचिदो सन्नद्धः । रणमुहे सत्तुणमलंघिज्जो होदि रणमुखे शत्रूणामलंघ्यो भवति । कम्मसमत्थो य प्रहरणादिक्रियासमर्थः । जिणदि य ते जयति च तानरीन् ॥

पादकवचस्थानीयाच्चिकवचस्य फलं स्फुटयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा— अभेज्जेण भेत्तुमशक्येन । कवचिदो सन्नद्धः । अलंघणिज्जो अनभिभाव्यः । कम्म प्रहरणक्रिया । ते शत्रून् ॥

अर्थ—जैसे अभेद्य कवच पहना हुआ वीर पुरुष रणमें शत्रुके सम्मुख निःशंक होकर जाता है और वह शत्रुओंसे अकंपनीय होता है अर्थात् शत्रु उनको मारनेमें असमर्थ होता है. शस्त्रप्रहारमें समर्थ वह वीरपुरुष शत्रुओंको जीतता है. वैसे—

एवं खवओ कवचेण कवचिओ तह परीसहरिऊणं ॥
जावइ अलंघणिज्जो ज्झाणसमत्थो य जिणदि य ते ॥ १६८२ ॥

विजयोदया—एवं खवगो एवं क्षपकः कवचेनोपगृहीतः परीषहारिभिर्न लुप्यते, ध्यानसमर्थो जयति च तान्परीषहारीन ॥ कवचम् ॥

मूलारा—उपगूहितो आलिंगितस्तथा । कवचः । सूत्रतः ३५ । अंकतः १७४ ॥

अर्थ—इस प्रकार क्षपक भी जब उपदेशरूपी कवचसे युक्त होता है तब परीषहरूपी शत्रु उसका पराजय

करनेमें असमर्थ होते हैं. इस कवचसे युक्त होकर क्षपक धर्मध्यान और शुक्लध्यान में तत्पर होकर परीषहरूप शत्रुको जीतता है. कवचाधिकारका वर्णन पूर्ण हुआ.

एवं अधियासेंतो सम्मं खवओ परीसहे एदे ॥
सव्वत्थ अपडिबद्धो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥ १६८३ ॥

इत्येवं क्षपकः सर्वान्सहमानः परीषहान् ॥
सर्वत्र निःस्पृहीभूतः प्रयाति समचित्तताम् ॥ १७५० ॥

विजयोदया—एवं अधियासेंतो एवं सहमानः सम्यक्परीषहानेतान्। सर्वत्राप्रतिबद्धः शरीरे, वसतौ, गणे, परिचारकेषु च सर्वत्रोपैति समचित्ततां ॥

अथ तथाविधकवचोपग्रहबलेन तादात्विकपरीषहसहिष्णोः क्षपकस्य निर्वृत्यां सर्वाचरणशिरोमणिकल्पामभिलषमाणसमाधिसाधनधौरेयतायलिप्ता समतां गाथाषोडशकेन व्याचष्टे—

मूला—एवं कवचोपग्रहविधिना। अधियासेंतो सहमानः। एदे तत्कालोपस्थितान्। सव्वत्थ शरीरवसतिगणपरिचारकादौ। अपडिबद्धो ममेदमहमस्येति संकल्परहितः। उवेदि प्रतिपद्यते। सव्वत्थ जीवितमरणादौ। समता वा रागद्वेषोपशमं। अपि च—

अर्थ—इस प्रकार समस्त परीषहोंको अव्याकुलतासे सहन करनेवाला यह क्षपक शरीर, वसतिका, गण और परिचारक मुनि इन सर्व वस्तुमें ममत्वरहित होता है. रागद्वेषोंको छोडकर समताभावमें तत्पर होता है.

सव्वेसु दव्वपज्जयविधीसु णिच्चं ममत्तिदो विजडो ॥
णिप्पणयदोसमोहो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥ १६८४ ॥

समस्तद्रव्यपर्यायममत्वासंगवर्जितः ॥
निःप्रेमरागमोहोऽस्ति सर्वत्र समदर्शनः ॥ १७५१ ॥

विजयोदया—सव्वेसु सर्वेषु द्रव्यपर्यायविकल्पेषु नित्यं परित्यक्तममतादोषः ममेदं सुखसाधनं मदीयं इति वा। णिप्पणयदोसमोहो निस्नेहो, निर्दोषो, निर्मोहः सर्वत्र समतामुपैति ॥

मूलारा—विधीसु विकल्पेषु। ममत्तदो विजढो ममेदं सुखसाधनं मदीयमिदमिति वा ममत्वेन त्यक्तः। णिप्पणयदोसमोहो निस्नेहो, निर्द्वेषो, ममेदमिष्टमिदं चानिष्टमित्यज्ञानरहितश्च। उवेदि तत्ताहकवचोपगृहीतः सन्। क्षपक इति सर्वत्र योज्यं॥

अर्थ—संपूर्ण द्रव्य और उनके पर्यायभेदोंमें वह क्षपक ममतारहित होता है अर्थात् ये द्रव्य और पर्याय मेरे सुखसाधन हैं ऐसा विकल्प उसके मनमें नहीं उत्पन्न होता है. वह स्नेह, मोह और द्वेषरहित होकर सर्वत्र समताभाव धारण करता है.

संजोगविप्पओगेसु जहदि इट्ठेसु वा अणिट्ठेसु॥
रदि अरदि उस्सुगत्तं हरिसं दीणत्तणं च तहा॥ १६८५॥

प्रियाप्रियपदार्थानां समागमवियोगयोः॥
विजहीहि त्वमौत्सुक्यं दीनत्वमरतिं रतिं॥ १७५२॥

विजयोदया—संयोगे रतिं, विप्रयोगे अरतिं, इष्टे वस्तुन्युत्कंठां, इष्टयोगे रदिं रतिं, हर्षं, इष्टविप्रयोगे अरतिं दीनतां। उस्सुगत्तं उत्सुकतां च तथा जहाति क्षपकः कवचेनोपगृहीतः॥

मूलारा—रदि इष्टे वस्तुनि संयुज्यमाने, चित्तविश्रांतिमनिष्टे वा वियुज्यमाने। अरदि अनिष्टे संयुज्यमाने इष्टे वा वियुज्यमाने चित्तानवस्थितिं। उस्सुगत्तं इष्टे वस्तुनि उत्कंठां, यदि तन्मे मिलति, भद्रकं भवेदिति हृदयोत्कलिकां। हरिसं इष्टसंयोगे रोमांचवचनप्रसादादिनाभिव्यज्यमानमानंदं॥ दीणत्तणं इष्टवियोगे वैवर्ण्यादिना व्यज्यमानं विषादं। कवचोपगृहीतो जहातीति संबंधः।

अर्थ—इष्टवस्तुका संयोग होनेसे चित्तमें प्रेम उत्पन्न होता है. अथवा अनिष्ट वस्तु अपनेसे हट जानेसे भी प्रेम उत्पन्न होता है. अनिष्ट वस्तुका संयोग होनेसे अथवा इष्टवस्तुका वियोग होनेसे चित्तमें अस्थिरपना उत्पन्न होता है. इष्ट वस्तुमें उत्कंठा अर्थात् यदि इष्ट वस्तु मिलजाय तो बहुत ही अच्छा होगा ऐसा हृदयमें विचार उत्पन्न होना इसको उत्सुकता कहते हैं. इष्ट वस्तुका संयोग होनेसे रोमांच, वचनमें प्रसन्नता इत्यादिसे जो आनंद उत्पन्न होता है उसको हर्ष कहते हैं. इष्ट वस्तुका वियोग होनेपर मुखमें विवर्णता उत्पन्न होती है जिससे मनकी

खिन्नताका अनुमान होता है इस खिन्नताको दीनता कहते हैं. क्षपक मुनि कवचसे युक्त होकर रति अरति, उत्सुकता, हर्ष, दीनता इन मनोविकारोंका त्याग करता है.

मित्तेसुयणादीसु य सिस्से साधम्मिए कुले चावि ॥
रागं वा दोसं वा पुव्वं जायंपि सो जहइ ॥ १६८६ ॥

मित्रे शत्रौ कुले संघे शिष्ये साधर्मिके गुरौ ॥
रागद्वेषं पुरोत्पन्नं विमुंचस्व मर्षयेते ! ॥ १७५३ ॥

विजयोदया—मित्तेसुयणादीसु य मित्रेउ बंधुषु वा । शिष्येषु च सधर्मणि कुले वा पूर्वं जातं रागद्वेषं वा सौ जहाति ॥

मूलारा—सुयणादीसु बंधुमातापितृगुर्वादिषु । पुव्वं जादं च दीक्षाग्रहणाद्वा प्रागुत्पन्नं संस्कारेणानुबध्यमानं । च शब्दादुत्पद्यमानं, उत्पत्स्यमानं च । सो कवचोपगृहीतः ॥

अर्थ—मित्र, बंधु-माता, पिता, गुरु वगैरह, शिष्य, और साधर्मिक इनके ऊपर दीक्षा ग्रहणके पूर्वमें अथवा कवचसे अनुगृहीत होनेके पूर्व जो रागद्वेष उत्पन्न हुए थे क्षपक उनका त्याग करता है.

भोगेसु देवमाणुससगेसु ण करेइ पच्छणं खवओ ॥
मग्गो विराधणाए भणिओ विसयाभिलासोत्ति ॥ १६८७ ॥

कुर्यान्दिव्यादिभोगानां क्षपकः प्रार्थनां न तु ॥
उक्ता विराधनामूलं विषयेषु स्पृहा यतः ॥ १७५४ ॥

विजयोदया—भोगेसु देवमाणुससगेसु देवमानवगोचरभोगप्रार्थनां न करोति क्षपको व्यावर्णितकवचोपगृहीतः । विषयाभिलाषो मुक्तिमार्गविराधनाया मूलमिति मत्वा ॥

मूलारा—देवमाणुससगेसु सुरनरगोचरेषु । मग्गो उपायः । विराधणाए रत्नत्रयविप्लावनयोः ॥ भणिदा उक्ता मुने । विसयाभिलासोत्ति विषयाकांक्षेति मन्यमानः । हेत्वर्थे वा इति ॥

अर्थ—इस कवचसे युक्त होकर क्षपक देव और मनुष्यके भोगों की अभिलाषा नहीं करता है. यह विषयेच्छा मुक्तिमार्गके विरुद्ध है. ऐसा समझकर क्षपक उसका त्याग करता है.

इट्ठेसु अणिट्ठेसु य सद्दफरिसरसरूवगंधेसु ॥
इहपरलोए जीविदमरणे माणावमाणे च ॥ १६८८ ॥
सव्वत्थ णिव्विसेसो होदि तदो रागरोसरहिदप्पा ॥
खवयस्स रागदोसा हु उत्तमट्ठं विराधेंति ॥ १६८९ ॥

शब्दे रूपे रसे गंधे स्पर्शे साधो! शुभेऽशुभे ॥
सर्वत्र समतामेहि तथा मानापमानयोः ॥ १७५५ ॥
समानो भव सर्वत्र निर्विशेषो महामते! ॥
रागद्वेषोदये जंतोरुत्तमार्थो विनश्यति ॥ १७५६ ॥

विजयोदया—स्पष्टं।

मूलारा—इधपरलोगे इहलोके इष्टे अनिष्टे वा तद्वत्परलोकेऽपि अथवा इहलोके परलोके च सम इति ग्राह्यम् ।

मूलारा—णिव्विसेसो इष्टानिष्टविकल्पविमुक्तः । तदो निर्विशेषकात्कवचोपगृहीतत्वाद्वा । उत्तमट्ठं रत्नत्रयं, सद्ध्यानं, समाधिमरणं वा विराधेन्ति विनाशयत ॥

अर्थ—इष्ट और अनिष्ट ऐसे शब्द, रस, गंध, स्पर्श, रूप विषयोंमें, इहलोक और परलोकमें. जीवित और मरणमें, मान और अपमानमें यह क्षपक समानभाव धारण करता है. अर्थात् रागद्वेष रत्नत्रय, उत्तम ध्यान और समाधिमरणका नाश करते हैं. इसीलिये क्षपक अपने हृदयसे इनको दूर करता है.

उत्तरगाथाद्वयं—

जदि वि य से चरिमंते समुदीरदि मारणंतियमसायं ॥
सो तह वि असंमूढो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥ १६९० ॥

गुर्वी यद्यपि पीडास्ति प्रकृष्टा मारणान्तिकी ॥
तथापि क्षपको याति सर्वत्र समचित्तताम् ॥ १७५७ ॥

विजयोदया—जदि वि य से यद्यपि तस्य क्षपकस्य चरमकालांते मारणांतिकं दुःखं भवेत् सो कवचेनोपगृहीतः क्षपकः तथापि असंमूढः समभावं सर्वत्रोपैति ॥

मारणांतिकेऽपि दुःखे समुदीर्णे कवचोपगृहीतः साम्यान्न प्रच्यवते इति कवचानुभावं भावयति—

मूलारा—से कवचोपगृहीतस्य क्षपकस्य । चरिमंते चरमकालांते । मारणंतियं मरणं यावद्भोग्यं तथाविधासद्वेद्योदयसंपाद्यत्वात् । आसादं दुःखं । असंमूढो शरीरादात्मनुत्पन्नात्मख्यातिः ॥

अर्थ—यद्यपि उस क्षपकको अंतसमयमें मरण प्राप्त होनेतक दुःख होगा तो भी कवचसे युक्त होनेपर वह मोहरहित होजाता है- देह और आत्माकी भिन्नताका उसको सम्यग्ज्ञान हुआ है अतः वह सर्व देहादिक वस्तुओंमें समभाव धारण करता है.

एवं सुभाविदप्पा विहरइ सो जाववीरियं काये ॥
उट्ठाणे सयणे वा णिसीयणे वा अपरिदंतो ॥ १६९१ ॥
एवं भावितचारित्रो यावद्वीर्यं कलेवरे ॥
तावत्प्रवर्तते साधुरुत्थाय शयनादिषु ॥ १७५८ ॥

विजयोदया—एवं सुभाविदप्पा निर्यापकेन सूरिणा गदितोर्थ एवमित्युच्यते । तेन सम्यग्भावितचित्तः सन्विहरदि प्रवर्तते अपरिश्रांतः । जाववीरियं काये यावच्छरीरे बलमस्ति उत्थाने, शयने आसने वा ॥

निर्यापकसूरिनिरूपितार्थसम्यग्भावितचित्तस्य सर्वत्र खेदाभावं यावद्देहबलमभिलपति—

मूलारा—एवं गुरूक्तार्थेन । सुभाविदप्पा सम्यग्भावितः सन् विहरति । सयणे शयने । णिसीयणे उपवेशने । अपरिदंतो अपरिश्रांतः ॥

अर्थ—इस प्रकार निर्यापकाचार्यके कहे हुए उपदेशसे जिसने पदार्थोंका स्वरूप जानकर अपने आत्माको सुसंस्कृत बनाया है ऐसा वह क्षपक जब तक देहमें सामर्थ्य रहता है तबतक ऊठना, सोना, और बैठना इन क्रियाओंमें न थका हुआ प्रवृत्ति करता है.

जाहे सरीरचेट्ठा विगदत्थामस्स से यदणुभूदा ॥
देहादि वि ओसग्गं सव्वत्तो कुणइ णिरवेक्खो ॥ १६९२ ॥

क्षीणशक्तेर्यदा चेष्टा स्वल्पा भवति सर्वथा ॥
तदा देहप्रहाणाय यतते निःस्पृहाशयः ॥ १७५९ ॥

विजयोदया—जाहे सरीरचेट्ठा यदा शरीरचेष्टा विगतबलस्य तस्य स्वल्पा जाता, तदा शरीरानुत्सर्गं करोति सर्वतो मनोवाक्कायैर्निरपेक्ष ॥

गृहीतकवचस्य मरणवेलायां करणीयमाह—

मूलारा—जाधे यदा । थाम बलं । यदणुभूदा स्वल्पा जाता । विउसग्गं परित्यागं । सव्वत्तो मनोवाक्कायैः । कुणदि तद्वितिशेष ॥

अर्थ—जब उसका देहसामर्थ्य नष्ट होता है तब उसकी स्वयं उठना, बैठना, सोना वगैरह क्रियायें बंद होती हैं तब मनवचन और शरीर से निरपेक्ष होकर वह शरीर का त्याग करता है, उसके ऊपरका मोह पूर्णतया छोड देता है

तदेव शरीरादिकं त्याज्यमुत्तरगाथया दर्शयति—

सेज्जा संथारं पाणयं च उवधिं तहा सरीरं च ॥
विज्जावच्चकरा वि य वोसरइ समत्तमारूढो ॥ १६९३ ॥

उपधिं संस्तरं शय्यां पानं व्यावृत्तिकारिणः ॥
शरीरं मुंचते योगी सम्यक्त्वारूढमानसः ॥ १७६० ॥

विजयोदया—सेज्जा वसतिं । संस्तरं तृणादिकं, पानं पिच्छं, शरीरं च वैयावृत्यकरांश्च व्युत्सृजति । समत्तमारूढो समाप्तं सपूर्णं रत्नत्रयमारूढ ॥

उक्तार्थव्यवहरणार्थमाह—

मूलारा—सम्मत्तं संपूर्णं रत्नत्रयं, साम्यं वा ॥

क्षपक शरीरादिकोंका त्याग करता है इस विषयका विवेचन—

अर्थ—संपूर्ण रत्नत्रयपर आरूढ होकर यह क्षपक वसतिका, तृणादिकका संस्तर, पानाहार, अर्थात् जल पान, पिच्छ, शरीर और वैयावृत्य करनेवाले परिचारक मुनि इनका निर्मोह होकर त्याग करता है.

अवहट्ट कायजोगे व विप्पओगे य तत्थ सो सव्वे ॥
सुद्धे मणप्पओगे होइ णिरुद्धज्झवसियप्पा ॥ १६९४ ॥

निराकृत्य वचोयोगं काययोगं च सर्वथा॥
स विशुद्धे मनोयोगे स्थिरात्मा व्यवतिष्ठते ॥ १७६१ ॥

विजयोदया—अवहट्टकायजोगे वाग्योगान्काययोगांश्च सर्वान्निराकृत्य असावत्र मनोयोगे शुद्धे स्थितो भवति। विषयांतरसंचारानिरुद्धं अध्यवसितं च आत्मरूपं ज्ञानाख्यं यस्य सः ॥

मूलारा—अवहट्ट निराकृत्य । वविप्पओगो वाग्व्यापारान् । तत्थ तस्मिन्मरणक्षणे । सो समत्वमारूढः । सुद्धे रागद्वेषमोहरहिते मनोयोगे स्थितो भवति ॥ णिरुद्धज्झवसिदप्पा निरुद्धो विषयान्तरसंचाराद्व्यवर्तितोऽध्यवसितश्च पुनःपुनर्वितर्केण निश्चित आत्मा स्वरूपं ज्ञानाख्यं येन स तथाभूतः सन् । उक्तं च—

समस्तान्कायवाग्योगान्निरस्यैकत्र संस्थितः ॥
मनोयोगेऽस्ति संरुद्धनिश्चितात्मस्वरूपकः ॥

अर्थ—वाग्योग और काययोग का पूर्ण त्याग कर अर्थात् शरीरकी प्रवृत्ति और बोलना बंदकर शुद्ध मनोयोगमें निश्चल होता है. उसके मनसे इतर विषयोंका विचार हट जाता है और आत्मस्वरूप का विचार ही स्थान पाता है.

एवं सव्वत्थेसु वि समभावं उवगओ विसुद्धप्पा ॥
मित्ती करुणं मुदिदमुवेक्खं खवओ पुण उवेदि ॥ १६९५ ॥

समत्वमिति सर्वत्र प्रपन्नामलमानसः ॥
स मैत्रीकरुणोपेक्षामुदिताः प्रतिपद्यते ॥ १७६२ ॥

विजयोदया—एवं सव्वत्थेसु वि एवं सर्ववस्तुषु समतापरिणाममुपगतो विशुद्धचित्तः, मैत्रीं, करुणां, मुदितामुपेक्षां च पश्चादुपैति क्षपकः ॥

समत्वपरिणत्यंतरकरणीया मैत्र्यादिभावनाः प्रतिनिर्दिशति—

मूलारा—उवेक्ख उपेक्षा । तदो पश्चात् । एतेनाध्यात्मैकनिष्ठ उत्साहोऽस्य विधेयतयोपदिश्यते ॥

अर्थ—इस प्रकार संपूर्ण वस्तुओंमें समताभाव धारण कर यह क्षपक अन्तःकरणको निर्मल बनाता है तथा उसमें मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओंको स्थान देता है.

मैत्रीप्रभृतीनां चिंतानां विषयमुपदर्शयति—

जीवेसु मित्तचिंता मेत्ती करुणा य होइ अणुकंपा ॥
मुदिदा जदिगुणचिंता सुहदुक्खधियासणमुवेक्खा ॥ १६९६ ॥
जीवेषु सेव्या सकलेषु मैत्री परानुकंपा करुणा पवित्रा ॥
यथैकपेक्षा सुखदुःखसाम्यं गुणानुरागो मुदितावगम्या ॥ १७६२ ॥

विजयोदया—जीवेसु मित्तचिंता अनंतकालं चतसृषु गतिषु परिभ्रमतो घटीयंत्रवत्सर्वे प्राणभृतोऽपि बहुशः कृतमहोपकारा इति तेषु मित्रताचिंता मैत्री । करुणा य होइ अणुकंपा शारीरं, मानसं, स्वाभाविकं च दुःखमसह्यमाप्नुवतो दृष्ट्वा हा वराका मिथ्यादर्शनेनाविरत्या कषायेणाशुभेन योगेन च समुपार्जिताशुभकर्मपर्यायपुद्गलस्कंधतदुदयोद्भवा विपदो विवशाः प्राप्नुवन्ति इति करुणा अनुकंपा । मुदिता नाम यतिगुणचिंता यतयो हि विनीता, विरागा, विभया, विमाना, विरोषा, विलोभा इत्यादिकाः सुखे अरागा दुःखे वा अद्वेषा उपेक्षेत्युच्यते । समता गता ॥

मैत्र्यादीना लक्षणान्याह—

मूलारा—मित्तचिंता उपकारकाध्यवसितिः । आसंसारं नरकादिगतिषु घटीयंत्रवत्परिभ्रमतो ममामी सर्वेऽपि प्राणिनो बहुशःकृतमहोपकारा इत्यंतर्विमर्शो इत्यर्थः । अथवा सर्वसत्वेषु दुःखानुत्पत्त्यभिलाषः । परमार्थसुखप्राप्त्याशंसनं च । [नवचिंतनं मित्रचिंता मैत्रीत्युच्यते । तथा चोक्तम्—

मा कार्षीत्कोऽपि पापानि मा च भूत्कोऽपि दुःखितः ॥
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते ॥

अणुकंपा—क्लिश्यमानजन्तूद्धरणबुद्धिः । हा वराका इमे मिथ्यात्वाद्युपार्जितदुष्कृतविपाकसंपाद्या विपदः

पारतंत्र्येण प्राप्नुवंतः कर्मं यद्विमोक्षं लभेरन्नित्यादिचेतःस्रोतःप्रवृत्तिरित्यर्थः । जदिगुणचिंता यतीनां गुणा विनीतत्वविराग-त्वभयरहितैश्वरतिरित्यादयः । तेषां चिंता प्रमोदनिर्भरेण मनसानुसंधानं । सुखदुःखाधिआसणा सुखदुःखयोः साम्येन भावनं उक्तं च—

मित्रचिंतांगिनां मैत्री करुणाप्यनुकंपनं ॥
मुदिता सद्गुणेरतोप उपेक्षा समचित्तता ॥

यथा वा तत्त्वार्थमतेनाशेषाम धर्मामृते तथा मैत्र्यादयो भाव्याः ॥ वृत्तं ।

मा भूत्कोपीह दुःखी भजतु जगदसद्भर्मशर्मेति मैत्री ॥
ज्यायो हृत्सु रुच्यन्नयनमधिगुणेष्वेष्विवेति प्रमोदम् ॥
दुःखात्त्रायेयमार्तान्कथमिति करुणां नाह्मि मामेह्मि शिक्षा ।
का द्रव्येष्वित्युपेक्षामपि परसपदाभ्युदता भावयन्तु ॥

मैत्री वगैरह भावनाओंके विषयोंका वर्णन—

अर्थ—अनंतकालसे मेरा आत्मा घटीयंत्रके समान इस चतुर्गतिमय संसारमें भ्रमण कर रहा है. इस संसारमें संपूर्ण प्राणिओंने मेरे ऊपर अनेकवार महान् उपकार किये हैं ऐसा मनमें जो विचार करना वह मैत्री भावना है. अथवा संपूर्ण प्राणिओंमें किसीको भी दुःख न उत्पन्न हो ऐसी मनमें इच्छा रखना इसको भी मैत्री भावना कहते हैं.

शारीरिक, मानसिक, और स्वाभाविक ऐसी असह्य दुःखराशी प्राणीओंको सता रही है यह देखकर अहह इन दीनप्राणिओंने मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और अशुभयोगसे अशुभकर्म उत्पन्न किया था वह कर्म उदयमें आकर इन जीवोंको दुःख दे रहा है. ये कर्मवश होकर दुःख भोग रहे हैं इनके दुःखसे दुःखित होना करुणा है. ये इस दुःखसे कैसे मुक्त होंगे ऐसी मनमें आर्द्रता उत्पन्न होना करुणा है. यतिओंके गुणोंका विचार करके उनके गुणोंमें हर्ष मानना यह प्रमोद भावना का लक्षण है. यतिओंमें नम्रता, वैराग्य, निर्भयता, अभिमानरहितपना, निर्दोषता और निर्लोभीपना ये गुण रहते हैं. सुख प्राप्त होने पर रागरहित रहना और दुःख प्राप्त होनेपर द्वेषभाव न होना यह उपेक्षा भावना है. ऐसी भावना क्षपक अपने मनमें भाता है. समताका वर्णन समाप्त.

दंसणणाणचरित्तं तवं च विरियं समाधिजोगं च ॥
तिविहेणुवसंपज्जिय सव्वुवरिल्लं कमं कुणइ ॥ १६९७ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्यनिविष्टधीः॥
प्रकृष्टां कुरुते चेष्टां मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ १७६४ ॥

विजयोदया—दंसणणाणचरित्तं तवं विरियं समाधिजोगं च तत्त्वश्रद्धानं तत्त्वावगमं, वीतरागतां, अशनत्यागक्रियां, स्वशक्त्या निगूहनं चित्तैकाग्रयोगं । तिविधेणुवसंपज्जिय मनोवाक्कायैः प्रतिपद्य । सव्वुवरिल्लं सर्वेभ्यः पूर्वप्रवृत्तदर्शनादिपरिणामेभ्योऽतिशयितक्रमं । कुणदि दर्शनादिपदन्यासं करोति ।

मैत्र्यादिभावनाबलाद्व्यवहारमोक्षमार्गं प्रतिपद्य परमार्थमुक्तिपथप्रस्थानाय क्षपको यतत इत्युपदिशति—

मूला—तवं अशनत्यागक्रिया । विरियं स्वशक्त्यनिगूहनं । समाधिजोगं रत्नत्रयैकाग्रतया संबंधं शुद्धोपयोगं वा । अथवा समाध्याख्यो योगो यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिलक्षणानामष्टानां योगांगानां मध्ये अष्टममंगं समाधियोगोऽत्र । तिविहेण मनोवाक्कायैः उवसंपज्जिय प्रतिपद्य । सव्वुव्वरिल्लं सर्वेभ्यःपूर्वप्रवृत्तदर्शनादिपरिणामेभ्योऽविशयितं । कमं दर्शनादिपरिणामपदन्यासं शुभतमध्यानप्रक्रमोद्यममिति यावत् ।

अर्थ—जीवादितत्त्वोंपर श्रद्धा रखना, तत्त्वोंका स्वरूप जान लेना, रागद्वेषरहित होना, अपनी शक्तीके अनुसार आहारका त्याग करना, चित्तको एकाग्र करना, इत्यादि क्रियाओंका स्वीकार करके मनवचन काय योगोंसे पूर्वके दर्शन ज्ञान चरित्र इत्यादिक गुणोंमें अधिकतासे उज्ज्वल परिणाम उत्पन्न कर प्रवेश करता है.

शुभध्यानमारुरुक्षतः परिकरमाचष्टे—

जिदरागो जिददोसो जिदिंदिओ जिदभओ जिदकसाओ ॥
अरदिरदिमोहमहणो ज्झाणोवगओ सदा होहि ॥ १६९८ ॥

रागद्वेषक्रोधमात्सर्यमोदा येन त्यक्ता निर्जिताक्षेण सर्वे ॥
ध्यानं ध्यातुं योग्यता तस्य साधोः सामग्रीतो याति कार्यं प्रसिद्धिं ॥१७६५॥

इति समता ॥

विजयोदया—जिदरागो स्वतो व्यतिरिक्तेषु जीवाजीवद्रव्येषु तेषां पर्यायेषु रूपरसगंधस्पर्शशब्दाख्येषु विचित्रभेदेषु तत्संस्थानादिषु च यो रागः स जितो येन सोऽभिधीयते । तथा मनोज्ञेषु या प्रीतिः स दोष उच्यते स च जितो येन स जितदोष । "णेहुत्तुप्पिदगत्तस्स रेणुओ लग्गदे जहा अंगे तह रागदोसणेहोल्लिदस्स कम्मासवो होदि " इति जिनवचनाधिगमाद् दभीरुर्यतिः सर्वदुःखानां मूलकारणभूतौ रागद्वेषाविति मनसा विनिश्चित्य यस्तयोर्न विपरिणमते सोऽभिधीयते जितरागद्वेषः । तस्योपायो जितेंद्रियतेत्याचष्टे—जद जिदिंदिओ इति वाक्यशेषं कृत्वा संबंधः । जिदिंदिओ इंद्रियशब्देन रूपाद्यालंबनोपयोगः परिगृह्यते स जितो येन स उच्यते जितेंद्रिय इति । कथमसौ मतिज्ञानोपयोगो जेतुं शक्यते इति चेत् श्रुतज्ञानोपयोगे आत्मनः प्रवृत्तौ सत्यां, युगपदुपयोगद्वयस्यात्मन्येकत्र विरोधादप्रवृत्तेः न च बाह्यद्रव्यालंबनमुपयोगमंतरेणास्ति संभवो रागद्वेषयोः । संकल्पपुरोगौ हि ताविति । जिदकसायो क्षमामार्दवार्जवसंतोषपरिणामनिरस्तकषायपरिणामप्रसरो जितकषाय इत्युच्यते । अरते रतेश्च कर्मण उदये उपजातो रत्यरतिपरिणामौ, मोहो, मिथ्याज्ञानं च सम्यग्ज्ञानभावनया मथ्नाति य स भण्यते अरदिरदिमोहमथणो एवं निरस्तध्यानप्रतिपक्षपरिणामः । ज्झाणोवगदो होदि ध्यानाख्यं परिणाममाश्रितो भवति । न हि रागादिभिर्व्याकुलीकृतस्य अर्थयाथात्म्यग्राहि भवति विज्ञानं अविचलं च नावतिष्ठते । अविचलमेव वस्तुनिष्ठ ज्ञानं ध्यानमिष्यते ।

मूलारा—जिदरागो स्वतो व्यतिरिक्तेषु जीवाजीवद्रव्येषु तत्पर्यायेषु च रूपरसगंधस्पर्शशब्दाख्येषु विचित्रभेदेषु तत्संस्थानादिषु च यो रागः प्रीतिः स जितो येन । णेहुत्तुप्पिदगत्तस्स रेणुओ लग्गदे जधा अंगे ॥ तध रागदोसणेहोल्लिदस्स कम्मास्सवो होदि ॥ इति जिनवचनाधिगमाद्दुःखभीरोर्यतेः सर्वदुःखानां मूलकारणभूतौ रागद्वेषौ इति मनसा निश्चित्य यस्तयोर्न परिणमते स जितरागद्वेष उच्यते । जिदिंदिओ श्रुतज्ञानोपयोगैकवृत्तिबलेन जितोऽभिभूतो रूपाद्यालंबनश्चक्षुराद्युपयोगो येनासौ जितेंद्रियः । अत एव जितरागद्वेषो बाह्यद्रव्यालंबनोपयोगप्रवृत्तसंकल्पपुरःसरत्वेन तयोः संभवात् ॥ जिदभओ' न मे मृत्युः कुतो भीतिः ॥ इत्यादि भावनया तिरस्कृतभीतिः जिदकसाओ क्षमादिभावनाप्रतिबद्धक्रोधादिपारतंत्र्यः । मोहो मिथ्याज्ञानं तन्मथनं सम्यग्ज्ञानसंस्कारेण साम्यभावनया रत्यरतिमथनवत् । सदा तथा निरस्तध्यानप्रतिप्रतिपक्षपरिणामत्वात् । एतद्गाथाद्वयमन्ये पुरस्तात्पठन्ति । समता सूत्रतः १६ ॥ अंकतः १६ ॥

शुभध्यानपर आरूढ होनेवालेकी सामग्रीका वर्णन—

अर्थ—जिदरागो जीवाजीव द्रव्य आत्मासे अर्थात् स्वस्वरूपसे भिन्न है. रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये इन द्रव्योंके पर्याय हैं इनके भी अनेक उत्तरभेद हैं. तथा इन द्रव्योंकी अनेक प्रकारकी आकृतियां दृष्टिगोचर होती हैं. इन परसे जिसने अपनी प्रीति अलग की है अर्थात् जो इनसे मोहरहित हुआ है उसको 'जितराग' कहते हैं. जीवादि द्रव्योंके अनिष्ट पर्यायोंको देखकर द्वेष करना जिसने छोड दिया है उसको 'जितद्वेष' कहते हैं.

अपने अंगको तेल लगाकर बैठे हुए मनुष्यके सर्वांगपर वायुमें आये हुए धूलि रेणु चिपक जाते हैं वैसे राग, द्वेष और मोहसे लिप्त हुए जीवके संपूर्ण प्रदेशोंमें कर्मका आगमन होता है. जिनेश्वरके उपदेशका स्वरूप जानकर दुर्गतिके दुःखोंसे भययुक्त हुआ भव्य पुरुष रागद्वेष ही सर्व दुःखोंके मूल कारण हैं ऐसा मनमें निश्चयकर रागद्वेषोंमें परिणत नहीं होता है. ऐसे पुरुषको 'जित रागद्वेष' कहते हैं इन रागद्वेषोंको जीतनेका उपाय जितेन्द्रियता है.

रूपरस वगैरह विषयोंके तरफ आत्माका उपयोग लगना यह इंद्रिय शब्दका अर्थ यहां समझना चाहिए अर्थात् मतिज्ञानके उपयोग का नाम इंद्रिय है. यह मतिज्ञान उपयोग कैसा जीता जासकता है.

इस प्रश्नका उत्तर– श्रुतज्ञानके उपयोगमें आत्माकी प्रवृत्ति होनेसे मतिज्ञानोपयोग जीता जासकता है. एक समयमें आत्मामें दोन उपयोगोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि इन प्रवृत्तिओंमें विरोध पाया जाता है. बाह्य द्रव्यका आश्रय जिनको है ऐसे उपयोगोंके विना रागद्वेषकी उत्पत्ति नहीं होती है रागद्वेष संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं. इसलिए मतिज्ञानका उपयोग श्रुतज्ञानोपयोगमें आत्माको प्रवृत्त करनेसे जीता जाता है जिससे रागद्वेष का भी पराजय होता है

जिदकसाय — क्षमा, मार्दव, आर्जव और संतोषरूप परिणामोंसे क्रोधादिक चारों कषाय भी जीते हैं अरति और रति कर्मका उदय होनेसे रति और अरति परिणाम उत्पन्न होते हैं मोह और मिथ्याज्ञानका सम्यग्ज्ञानकी भावनासे नाश होता है जब आत्मा जितेंद्रिय होता है तब क्रोधादिक कषाय, रति, अरति मोह और मिथ्याज्ञान इनका नाश होता है और आत्मामें सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति होती है. उपर्युक्त सब परिणाम ध्यानके शत्रु हैं उनका नाश करनेपर आत्मा ध्यान नामक परिणामका आश्रय करता है. जब आत्मा रागादि कषायोंसे व्याकुल होता है तब उसका ज्ञान पदार्थोंका यथार्थ ग्रहण नहीं करता है और निश्चलभी नहीं रहता है, जब ज्ञान निश्चल होकर वस्तुमें स्थिर होता है तब उसकोही ध्यान कहते हैं.

धम्मं चदुप्पयारं सुक्कं च चदुव्विधं किलेसहरं ॥
संसारदुक्खभीरो दुण्णि वि ज्झाणाणि सो ज्झादि ॥ १६११ ॥

धर्म्यं चतुर्विधं ध्यात्वा संसारासुखभीरुकः ॥
शुक्लं चतुर्विधं ध्यानं ध्यातुं प्रक्रमते यतिः ॥ १७६६ ॥

विजयोदया—धम्मं चदुप्पयारं धर्मध्यानं चतुःप्रकारं । धारयति वस्तुनो वस्तुतामिति धर्मः स्वभावाति शयादेव चैतन्यादिकाज्जीवादिकं वस्तु भवति । अतिशयभावादेव वस्तु भण्यते न खरविषाणादि, तेन धर्मशब्दो वस्तु-स्वभाववाची । धर्माद्वस्तुस्वभावादनपेतमिति धर्म्यमित्युच्यते । यद्येवमार्तादेरपि धर्मादनपेतत्वमस्ति । संप्रयुक्तामनोज्ञ वस्तुवियोगं, वियुक्तमनोज्ञवस्तुयोगं रोगातंकादिप्रशमनं, अभिमतप्राप्तिं च धर्ममाश्रित्य प्रवर्तमानत्वाद्धर्मादनपेततेति नैष दोषः विवक्षितधर्मविशेषवृत्तिर्धर्मशब्दः अत एव आज्ञापायविपाकसंस्थानमित्यादिकैर्धर्मैर्ध्येयैरनपेतत्वाद्ध ध्यानमाज्ञाविचयादिसंज्ञाभिरुच्यते । ध्येयं ज्ञेयवस्तुस्वरूपं तदविनाभावि च ज्ञानं ध्यानमिति संगतार्थं व्याख्येयं । अन्ये तु व्याचक्षते-क्षमामार्दवार्जवादिकाद्धर्मादनपेतत्वाद्धर्म्यं इति । ननु च ध्यानं ध्येयाविनाभावि न च क्षमादयो धर्मा ध्येया येन तदनपेतत्वमुच्यते । अथ क्षमादिको दशविधो धर्मो ध्येयस्तस्मादनपेतस्तस्यान्यत्राप्रवृत्ते 'आज्ञापाय विपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यमिति सूत्रं न युज्यते उत्तमक्षमादिधर्मपरिणतादात्मनोऽनपेतत्वात् । धर्मादनपेततेति शब्दव्युत्पत्तिमात्रं क्रियते । न सा क्रियातत्र आशुगमनादश्व इति व्युत्पाद्यमानः स्थिते शयिते च प्रवर्तते न चाशुयायिन्यपि धेनतेयादौ प्रवर्तते । तद्वदिहापि शुक्ले न धर्मशब्दो वर्तते । धर्मादन्यत्राप्याज्ञादौ वर्तते । अथ किं ध्यानं, उत्तमसंहननस्यै काग्रचिंतानिरोधो ध्यानमिति चेत् षट्सु संहननेष्वाद्यसंहननं च वज्ररिषभनाराचसंहननं, वज्रनाराचसंहननं, नाराचसंहननमिति । तेषु त्रिषु एकं संहननं यस्य स उत्तमसंहननस्तस्य एकमग्रं मुखमस्येत्येकाग्रे यश्चिंतानिरोधः स ध्यान मित्युच्यते । ननु चिंतानिरोधः । चिंताया अभावस्तस्य का एकमुखता कथं वा कर्मणां भावे अभावे च निमित्तता आर्तरौद्र योरशुभकर्मनिमित्ततेष्यते । इतरयोस्तु शुभकर्मणां निमित्तता निर्जरायाश्च हेतुतेण अत्रोच्यते । न निरोधशब्दोऽत्रा भाववाची किंतु रोधवचनो यथा मूत्रनिरोध इति । ननु च परिस्पंदवतो निरोधो भवति । चिंतायास्तु को निरोध इत्यत्रो-च्यते । केचित्प्रवदंति नानार्थावलंबनेन चिंता परिस्पंदवती तस्या एकस्मिन्नग्रे नियमश्चिंतानिरोध इति त इदं प्रष्टव्याः । नानार्थाश्रया चिंता सा कथमेकत्रैव प्रवर्तते? एकत्रैव चेत्प्रवृत्ता नानार्थावलंबनं परिस्पंदं नासादयतीति निरोधवाचो युक्ति रसंगता, तस्मादेवमत्र व्याख्यानं चिंताशब्देन चैतन्यमुच्यते तच्च चैतन्यमन्यमन्य वार्थमवगच्छता ज्ञानपर्यायरूपेण वर्तत इति परिस्पंदवत्तस्य निरोधो नाम एकत्रैव विषये प्रवृत्तिस्तथा हि य एकत्रैव वर्तते स तत्र निरुद्ध इति भण्यते। उत्तमसंहनन प्रयोगादेवार्तरौद्रयोरनुत्तमसंहननेषु प्रवृत्तिर्न स्यात् । तेन तद्ध्यानावलंबनो गतिविभागो न स्यात्तेषामनुभवविरोधश्चेदानीं तनानामपि तयोर्वृत्तेः सूत्रांतरविरोधश्च "तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानां" "हिंसानृतस्तेयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेश-विरतयो" रिति गुणस्थानमात्राश्रयणेनैव स्वामिनिर्देशकृतत्वात् । अत्र प्रतिविधीयते-निर्जराहेतुतया विकल्पे ध्यानेषु तत्र स्तुते शुक्ले साक्षात् मुक्त्यंगं ध्यानं निर्देष्टुमिति मन्यमानेन उत्तमसंहननग्रहणं कृतं सूत्रकारेण । यदेव आर्तरौद्रधर्म्यशुक्ला-

नीति सूत्रमुत्तरं नोपपद्यते न निर्जराहेतुतास्यार्त्तरौद्रयोरिति । अत्रोच्यते । उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधो ध्यान-मितीदं सूत्रं मुख्यं ध्यानं मुक्त्यंगमुद्दिश्य प्रवृत्तमुत्तरं तु सूत्रमार्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानीत्येतदेकाग्रचितासामान्येऽन्तर्भूतं अनभिमतमपि ध्यानं निरूपयति । प्रस्तुतस्यैव ध्यानस्य अनभिमतध्यानविविक्तरूपमधिगमयितुमतः प्रासंगिकयोः आर्त्त-रौद्रयोरुत्तरन्यास इति न दोषः ॥ अथवोत्तमसंहननग्रहणं वीर्यातिशयवत आत्मन, उपलक्षणं, उत्तमसंहननस्य वीर्यातिशयवतो आत्मनो यदेकवस्तुनिष्ठं ध्यानं तत् ध्यानमिति सूत्रार्थः ॥ सुक्कं च चदुविधं शुक्लं च ध्यानं चतुर्विधं ध्यानं क्लेशहरं संसारदुःखभीरुः चतुर्गतिपरावर्तनेन यानि दुःखानि तेभ्यो भीतः । दोण्णि वि झाणाणि सो झादि ध्याने धर्म्यशुक्ले क्षपकः झादि ध्यायति ॥

अथ तत्परिकर्मदृढाभ्याससमुद्भावितवीर्यातिशयःसंविग्नतमः क्षपकः कर्मक्षपणप्रधानतमोपायं परीषहाद्यभिभव तिरस्कारप्रचंडप्रतापमानंदसांद्रत्वानुभावं मंदाक्षितत्रिजगत्सुखसाधनस्कंधं प्रशस्तध्यानविशेषं यथाविभवमाराधयतीत्युपक्षेप-पुरःसरं गाथाद्वयधिकद्विशत्या ध्यानमासूत्रयति—

मूलारा—धम्मं धर्म्यं । धर्माद्ध्येयाज्ज्ञेयवस्तुस्वरूपादुत्तमक्षमामार्दवादेर्वानपेतं ध्यानमुच्यते । धारयत्यवस्था-पयति वस्तुनो वस्तुतामिति धर्मो वस्तुयाथात्म्यं । वस्तुस्वभावातिशयादेव हि चैतन्यादिकाज्जीवादिकं वस्तु भवति । स्वभावातिशयाभावादेव वाऽवस्तु भण्यते खरविषाणादि । तेन धर्मशब्दो वस्तुवाच्यपीह रूढिवशादाज्ञादिविवक्षितधर्मवि-शेषवृत्तिर्गृह्यते । अन्यथा आर्त्तरौद्रयोरपि धर्म्यतानुषज्येत । वस्तुस्वभावमात्रधर्मानपेतत्वाविशेषात् । उक्तं चार्षे—

प्रशस्तप्रणिधानं यत्स्थिरमेकत्र वस्तुनि ॥
तद्ध्यानमुक्तं मुक्त्यंगं धर्म्यं शुक्लमिति द्विधा ॥
तत्रानपेतं यद्धर्मात्तद्धर्म्यं ध्यानमिष्यते ॥
धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमुत्पादादित्रयात्मकं ॥

चदुप्पयारं चतुर्विधमाज्ञापायविपाकसंस्थानलक्षणध्येयविशेषविचयविकल्पात् । सुक्कं कषायरजसः क्षया-दुपशमाद्वा प्रतिसमयमाविर्भवद्भिर्यथोत्तरं शुचिभिः संयमविकल्पलक्षणैर्गुणैः संबध्यमानत्वाच्छुक्लमिति व्यपदिश्यते विशुद्धिस्वामिविशेषात्प्रशस्ततरं ध्यानं । अत एव धर्म्यादर्थान्तरत्वं । उक्तं च—

शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा ॥
माणिक्यशिखावदिदं सुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च ॥

चतुर्विधं पृथक्त्ववितर्कवीचारमेकत्ववितर्कवीचारं, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्ति चेति चतुर्भिर्भेदैर्विकल्पनात् ॥ किलेसहरं सहजशारीरमानसागंतुदुःखचक्रचेतनाव्यावर्तकत्वात्, तन्निमित्तकदुष्कृतकर्मविपाकानुभूतिनिरोधकत्वात्तथाविधदुःखनिमित्तकर्मशक्तिशातनपरत्वाच्च, क्लेशोच्छेदकरं धर्म्यंशुक्लं च द्वितयं अपि । अत एव संसारदुःखभीतः कृतपरिकरः साधुस्तद्ध्यायति । अनयोश्च शुक्लस्य क्लेशहरतरत्वेऽपि पश्चादुपादानं धर्म्यपूर्वकत्वैदंयुगीनमुमुक्षुजनासाध्यत्वज्ञापनार्थं सूरिरकार्षीत् । तथा च भगवद्रामसेनपादाः कांश्चनात्रेदानीं ध्याननिषेधैकांतपरानुपालेभिरे ।

तथथा—

येऽत्राहुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति ॥
तेऽर्हन्मतानभिज्ञत्वं ख्यापयन्त्यात्मनः स्वयम् ॥
अत्रेदानीं निषधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः ॥
धर्म्यध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनाम् ॥

झाणाणि ध्यातिर्ध्यानमेकाग्रचिंतानिरोधः । एकवस्तुनिष्ठमात्मनो ज्ञानमित्यर्थः । अत्र चिंताशब्देन चैतन्यमुच्यते तच्चैतन्यमन्यमन्यं चार्थमवगच्छता ज्ञानपर्यायरूपेण वर्तते इति परिस्पंदवद्भवति । एकस्मिन्विवक्षितेऽग्रे मुख्ये ह्यालंबने चिंताया यथोक्तपरिस्पंदवच्चैतन्याश्रितायाः अंतःकरणप्रवृत्तेर्निरोधोऽवरोधो नानार्थव्यावर्तनेन तत्रैवावस्थापनमेकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानस्याक्षूणं लक्षणमुपलक्षणीयम् ।

तदुक्तम्—

इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्संतानवर्तिनी ॥
ज्ञानांतरापरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता ॥
छद्मस्थेषु भवेदेतल्लक्षणं विश्वदृश्वनाम् ॥
योगास्रवस्य संरोधे ध्यानत्वमुपचर्यते ॥

झादि ध्यायति प्रणिधत्ते । धर्म्ये शुक्ले वा ध्याने परिणतो भवतीत्यर्थः । उक्तं च—

प्रत्याहृत्य यथा चिंता नानालंबनवर्तिनी ॥
एकालंबन एवैनां निरुणद्धि विशुद्धधीः ॥

तदास्य योगिनो योगश्चिंतैकाग्रनिरोधनं ॥
प्रसंख्यानं समाधिःस्याद्ध्यानं स्वेष्टफलप्रदम् ॥

अर्थ--धर्मध्यानके चारभेद हैं और शुक्लध्यानके भी चार भेद हैं. इन दो ध्यानोंसे संसारके क्लेश दूर होते हैं अतःसंसार से भययुक्त क्षपक इन दोनो ध्यानोंका हृदयमें चिंतन करते हैं.

जो वस्तुकी वस्तुताको धारण करता है उसको धर्म कहते हैं अर्थात् वस्तुका जो विशिष्ट स्वभाव उसको धर्म कहते हैं. चैतन्यादिक विशिष्ट स्वभाव होनेसेही जीवादिक पदार्थों को वस्तु कहते हैं. विशिष्ट स्वभावसे पदार्थको ' वस्तु ' यह नाम प्राप्त हुआ है. खरविषाणादिकोंको कोई भी विद्वान् वस्तु नहीं कहते हैं क्योंकि उसमें कोई भी धर्म नहीं है. अर्थात् खरविषाण चीज ही नहीं है अतः यहां धर्म यह शब्द वस्तुके स्वभावका वाचक है. इस धर्मसे अर्थात् वस्तुस्वभावसे ध्यानयुक्त रहता है उसको धर्म्यध्यान कहते हैं.

शंका—यदि आप वस्तुस्वभावसे युक्त ध्यानको धर्मध्यान कहते हो तो आर्त्तध्यान भी वस्तुस्वभावसे युक्त होनेसे उसको भी धर्मध्यान कहो, क्यों कि इनमें संयुक्त हुए अनिष्ट वस्तुका वियोग, संयुक्त इष्टवस्तुका अवियोग, रोगपीडा वगैरहका शमन, भाविकालमें इष्ट वस्तुकी प्राप्ति इत्यादि वस्तु धर्मोंका आश्रय लेकर ये ध्यान प्रवृत्त होते हैं अतः इनमे धर्मसे अनपेतत्व–सहितपना है. अतः इनको भी धर्मध्यान कहना चाहिये ?

उत्तर—यहां धर्म शब्द विशिष्ट अर्थात् विवक्षितधर्मका वाचक है इसलिये आज्ञा, अपाय, विपाक, संस्थान इत्यादि विशिष्ट धर्मोंसे जो युक्त है ऐसे आज्ञाविचय, अपायविचय वगैरह ध्यानोंको धर्मध्यान कहना चाहिये. आज्ञा, अपाय, विपाक वगैरह धर्म धर्मध्यानके ध्येय हैं. अर्थात् ज्ञेय ध्येय हैं. इन ज्ञेयोंको धर्मध्यान विषय करता है. वस्तुस्वरूपही ध्येय और ज्ञेय बन सकता है. इन वस्तुस्वरूपके साथ अविनाभावी एकाग्ररूप जो ज्ञान उसको धर्मध्यान कहते हैं. इस प्रकार धर्मध्यान शब्दका अर्थ स्पष्ट करना चाहिये.

उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव इत्यादिकोंको धर्म कहते हैं इन धर्मोंसे जो ध्यान युक्त है उसको धर्मध्यान कहना चाहिये ऐसा कोई आचार्य कहते हैं.

शंका—ध्यान तो ध्येयके साथ अविनाभावी है. अर्थात् वह ध्येयके बिना रहताही नहीं. क्षमादिक धर्म ध्येय नहीं है अतःध्यान इनसे युक्त रहता है ऐसा कहना योग्य नहीं है यदि क्षमादिक

धर्मध्यानके ये क्षमादिक धर्म ही विषय-ध्येय ठहरगे ऐसा होनेपर 'आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्' यह सूत्र विरुद्ध है ऐसा मानना पडेगा क्योंकि इस सूत्रमें आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान ये धर्मध्यानके ध्येय विषय हैं ऐसा कहा है यदि उत्तम क्षमादि दश धर्मोंसे आत्मा युक्त है और उस आत्मासे यह ध्यान भी अभिन्न है अतः यह ध्यान क्षमादि धर्मोंसे युक्त है ऐसा कह सकते हैं यह आपका भी कहना अनुचित है क्योंकि शुक्ल ध्यान भी इन धर्मों से क्या अभिन्न नहीं है? अर्थात् शुक्ल ध्यानको भी धर्मध्यान कहना चाहिये. इस प्रकार शंकाकारका कथन है. अब आचार्य इसका उत्तर देते हैं--

रूढि शब्दोंमें जो क्रिया दिखाकर शब्दार्थ कहते हैं वह केवल शब्दव्युत्पत्तिके लिये ही समझना चाहिये. उस रूढिशब्दोंमें वह क्रिया होती ही है ऐसा नियम नहीं है. 'आशु गमनादश्वः' अर्थात् जो शीघ्र गमन करता है-जाता है उसको अश्व कहते हैं यह अश्व शब्दकी व्युत्पत्ति दिखानेके लिये उसकी निरुक्ति दिखाई है. परंतु यह अश्व शब्द सोये हुए अथवा खडे हुए घोडेमें भी व्यवहृत होता है बडे वेगसे दौडनेवाले गरुड वगैरे प्राणिओंमें इस अश्व शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती है. वैसे इस शुक्लध्यानमें धर्म शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती हैं धर्मध्यानसे भिन्न आर्त रौद्रध्यानमें भी इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है.

प्रश्न—ध्यान किसको कहते हैं? उत्तर— 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्' अर्थात् उत्तमसंहननवालेके एकाग्रचिंतानिरोधको ध्यान कहते हैं छह संहननोंमें वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, और नाराच संहनन इन तीन संहननोंको उत्तम संहनन कहते हैं. इन तीनोंमें से एक संहनन जिसको है ऐसा पुरुष उत्तम संहनन धारक है वह पुरुष एकाग्रमें चिंताका निरोध करता है इस चिंताके निरोधको ध्यान कहना चाहिये.

शंका— चिंताके अभावको चिंतानिरोध कहते हैं वह एकमुख कैसा होता है? तथा वह कर्मके भाव अथवा अभावमें कैसा कारण होता है? आर्तध्यान और रौद्रध्यान अशुभकर्मका निमित्त है. धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान शुभ कर्मका तथा निर्जराका निमित्त है.

उत्तर—यहां निरोध शब्द अभावका वाचक नहीं है किंतु रोधका वाचक है जैसे मूत्रनिरोध शंका—जो पदार्थ चंचल है उसका निरोध होता है परंतु चिंताका निरोध कैसे हो सकता है? उत्तर—कितनेक विद्वान अनेक पदार्थोंका आश्रय लेकर चिंता चंचल होती है उसको एक विषयमें स्थिर करनाही चिंतानिरोध है ऐसा कहते हैं उनको ऐसा

पूछना चाहिये—यदि चिंता अनेक अर्थोका–पदार्थोंका आश्रय लेती हैं तो वह एक वस्तुमें ही कैसी स्थिर होगी और यदि एकही पदार्थमें स्थिर होगी तो अनेक पदार्थोंका वह अवलंबन क्यों लेगी. इस वास्ते उसके निरोध का वर्णन करना असंगतसा दीखता है. चिंतानिरोधका यहां ऐसा विवेचन करना चाहिये—

चिंता शब्दसे चैतन्य अर्थ समझ लेना. यह चैतन्य अन्य अन्य पदार्थको जानता हुवा ज्ञानपर्यायसे परिणत होता है. ऐसे परिस्पंदयुक्त चिंताका निरोध करना अर्थात् एकही विषयमें उसकी प्रवृत्ति होनाही चिंता निरोध समझना चाहिये. जो एक पदार्थमेंही निरुद्ध हुआ हैं वह वही प्रवृत्त हुआ है ऐसा कहा जाता है. उत्तम संहननवालोंको ध्यान होता है ऐसा सूत्रप्रयोग है इससे उत्तमसंहननरहित जीवोंमें आर्त रौद्रध्यानकी प्रवृत्ति नहीं होगी. इससे इन ध्यान के आश्रयसे जो नरकादि गतिओंकी प्राप्तिका वर्णन आचार्यने किया है वह अनुभवसे विरुद्ध होता है. इस कालमें भी इन ध्यानोंका सद्भाव हैं अतः अन्यशास्त्रोंसे भी उपर्युक्त कथन विरुद्ध पडता है. यह कथन अन्यग्रंथोंसेभी विरुद्ध होता है. 'तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्' हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः' इन सूत्रोंमें केवल गुणस्थानोंका आश्रय लेकर ही आर्तरौद्रध्यानके स्वामीओंका वर्णन किया है. इससे भी ध्यान अनुत्तमसंहननवालोंको भी होता है यह सिद्ध होता है.

उपर्युक्त आक्षेपका निराकरण—

निर्जराके कारण जो ध्यान है उनका यहां वर्णन है. इसवास्ते मुक्तीके लिये साक्षात्कारणभूत ध्यानका वर्णन करनेके लिये आचार्यने 'सूत्रमें उत्तमसंहननस्य' ऐसा शब्द ग्रहण किया है.

शंका—यदि ऐसा है तो 'आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि' ऐसा आगेका सूत्र है वह असंगत है क्योंकि आर्तध्यान और रौद्रध्यान निर्जराके कारण नहीं हैं.

उत्तर—'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं' यह सूत्र मुख्य ध्यान जो कि मुक्तिका अंग है उसको उद्देश करके प्रवृत्त हुआ है. और उस के आगेका 'आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि' यह सूत्र एकाग्रचिंताको सामान्यसे उद्देशकरके लिखा है. यह सूत्र अनभिमत अनिष्टध्यानका वर्णन करता है. प्रस्तुत ध्यान अनभिमत ध्यानसे-आर्त और रौद्रध्यानसे अलग हैं और इसका स्वरूप बिलकुल आर्तरौद्र ध्यानसे उलटा है यह दिखानेके लिये यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है. इसलिये प्रासंगिक आर्त रौद्रध्यानका मुख्यध्यानके आगे उल्लेख किया है.

अथवा 'उत्तमसंहननस्य' यह शब्द विशिष्ट वीर्यवान् आत्माके लिए उपलक्षण है. अर्थात् उत्तमसंहनन वीर्यविशिष्ट आत्माका एकवस्तु में स्थिर ऐसा जो ध्यान उसको ध्यान कहना चाहिये ऐसा सूत्रार्थ है.

शुक्ल ध्यान चार प्रकारका है (इसका ग्रंथकार आगे वर्णन करेंगे) यह ध्यान चतुर्गतिके दुःखोंका नाश करता है चतुर्गति भ्रमण करनेसे जिसको भय उत्पन्न हुआ है अर्थात् चतुर्गतिके दुःखोंसे जो भययुक्त है. ऐसा क्षपक धर्मध्यान और शुक्लध्यान ऐसे दो ध्यानोंका चिंतन करता है.

ण परीसहेहिं संताविडं वि सो झाइ अट्टरुद्दाणि ॥
सुद्धवहाणे सुद्धं पि अट्टरुद्दा वि णासंति॥ १७०० ॥

आर्तरौद्रद्वयं त्याज्यं सर्वदा दुःखदायकम् ॥
नेन विध्वस्यते ध्यानं दुर्नयेनेव सन्नयः ॥ १७६७ ॥

विजयोदया—ण परिषहेहिं स क्षपकः परिषहैः परीषहैः । संताविदो वि बाधितोऽपि अट्टरुद्दाणि आर्त रौद्रं च न ध्याति नाध्याति । सुद्धवहाणे सुष्ठु उपधाने । सुद्धमपि अट्टरुद्दाणि णासंति आर्तरौद्रध्याने नाशयतः ॥

तीव्रदुःखार्तोऽपि मद्ध्याने प्रतिपन्ने इति स्वरूपानुवादाभिव्यक्तं दुर्ध्यानप्रतिषेधमनुशास्ति—

मूलारा—सो सद्धानोपरः साधुः । सुद्धविधाणे विशुद्धपि सुस्वरूपानिरसंक्लेशपरिणामैर्विशुद्धं विशिष्टां शुद्धिं कर्मनिर्जरणसमर्थां प्राप्तमपि सद्ध्यानमार्तरौद्रे नाशयतः । किं पुनरितरदिति त्वया संसारभीरुणा घोरपरीषहोपहते-नापि ते दुर्ध्याने मनागपि नालंबनीये इति प्रतिषेधपरोक्तिः ॥

अर्थ—यह क्षपक परीषहोंके द्वारा पीडित होनेपर भी आर्त ध्यान और रौद्रध्यानका चिंतन नहीं करता है. शुद्ध परिणामोंके द्वारा उस क्षपकका ध्यान कर्मनिर्जरा करनेमें समर्थ है तो भी ये आर्तरौद्रध्यान उस उत्तम ध्यानका नाश करते हैं. इसलिये हे क्षपक! संसारदुःख से भययुक्त होकर परीषहोंसे पीडित होनेपर भी इन अशुभ ध्यानोंका स्वीकार करना तेरे लिये बिलकुल अयोग्य है.

अट्टे चउप्पयारे रुद्दे य चउव्विधे य जे भेदा ॥
ते सव्वे परिजाणदि संथारगओ तओ खवओ ॥ १७०१ ॥

रौद्रं चतुर्विधं ध्यानं ये चार्ते सन्ति केचन ॥
ते भेदा दूरतस्त्याज्या विज्ञाय विधिवेदिना ॥ १७६८ ॥

विजयोदया—अट्टे चदुप्पयारे आर्ते चतुःप्रकारे. जे भेदा रुद्दे य चदुव्विधे ये भेदाः। ते सव्वे परिजाणदि तान् सर्वान् विजानाति। संथारगदो संस्तरगतः। तवो खवगो असौ क्षपकः। जो यत् परिहरे धुस्स कथं तत्वतोऽनवबुध्यमानो नियोगतः परिहरेदि छदि? । यार्थं आर्तरौद्रं परिहरन् तस्मात् ज्ञातव्येति इति दर्शयति ॥

यो यन्नियोगतः परिजिहीर्षति स नित्यं तत्स्वरूपपरिज्ञानपरो भवतीति सविकल्पमपि दुर्ध्यानद्वयं क्षपकेण विमर्शनीयमित्युपदेष्टुमिदमाह—

मूलारा—परिजाणदि लक्षणनिर्वचनभेदस्वामिदेशकालफलभावगुणस्थानप्रभेदानामर्थनिर्णयविषयबलाधारैरार्तं रौद्रं च अवबुध्यते इत्यर्थः।

अर्थ—आर्तध्यानके चार प्रकार है तथा रौद्रध्यानके चार भेद हैं. संस्तरपर पडा हुआ क्षपक इनके सर्व भेदोंका स्वरूप जानता है. यदि इनके भेदोंका परिज्ञान उसको न होगा तो वह उसका त्याग नहीं कर सकेगा. आर्तरौद्रध्यानका त्याग करनेके लिये उसके स्वरूपका ज्ञान होना अवश्यंभावी है.

अमणुण्णसंपओगे इट्ठविओए परिस्सहणिदाणे ॥
अट्टं कसायसहियं झाणं भणियं समासेण ॥ १७०२ ॥
तेणिक्कमोससारक्खणेसु तह चेव छव्विहारंभे ॥
रुद्दं कसायसहियं झाणं भणियं समासेण ॥ १७०३ ॥
अवहट्टु अट्टरुद्दे महाभये सुग्गदीए पच्चूसे ॥
धम्मे सुक्के य सदा होदि समण्णागदमदीओ ॥ १७०४ ॥

स्तेयासत्यवचोरक्षाषड्विधारंभभेदतः ॥
कषायसहितं रौद्रं ध्यानं ज्ञेयं समासतः ॥ १७६९ ॥
प्रियायोगाप्रियप्राप्तिपरीषहनिदानतः ॥
कषायकलितं ध्यानमार्तं प्रोक्तं चतुर्विधम् ॥ १७७० ॥
रौद्रमार्तं त्रिधा त्यक्त्वा सुगतिप्रातिबंधकम् ॥
धर्म्यशुक्लद्वये योगी साम्यं कर्तुं प्रवर्तते ॥ १७७१ ॥

विजयोदया-अवहट्ट अपहृत्य । अट्टरुद्दे आर्तरौद्रे । महत्तो भयस्य हेतुत्वान्महाभये । सुग्गदीए पच्चूसे सुगते-विघ्नभूते । धम्मे सुक्के वा धर्म्ये शुक्के वा ध्यानेऽसौ क्षपकः । समण्णागदमदी सो होदि सम्यगनुपरतमतिर्भवति ॥

संक्षेपेणार्तध्यानविकल्पान्व्याचष्टे—

मूलारा-अट्टं ऋते अमनोज्ञसंयोगादिना पीडिते पुंसि भवमार्तं । उक्तं चार्षे—

ऋते भवमथार्तं स्याद्ध्यानमाद्यं चतुर्विधं ॥
इष्टानवाप्त्यनिष्टाप्तिनिदानासातहेतुकम् ॥

कसायसहिदं प्रमादाधिष्ठितत्वात् ॥ समासेण संक्षेपेण । विस्तरस्त्वार्षोक्तो यथा—

ऋते विना मनोज्ञार्थात्तद्भवमिष्टवियोगजम् ॥
निदानप्रत्ययं चैवमप्राप्तेष्टार्थचिंतनात् ॥
ऋते ह्युपगतेऽनिष्टे भवमार्तं तृतीयकम् ॥
भवेच्चतुर्थमप्येकं वेदनोपगमोद्भवम् ॥
प्राप्त्यप्राप्त्योर्मनोज्ञेतरार्थयोः स्मृतियोजने ॥
निदानवेदनापायविषये चानुचिंतने ॥
इत्युक्तमार्तमार्तात्माचिंत्यं ध्यानं चतुर्विधम् ॥
प्रमादाधिष्ठितं तत्तु षड्गुणस्थानसंश्रितम् ॥
अप्रशस्ततमं लेश्यात्रयमाश्रित्य जृंभितम् ॥

अंतर्मुहूर्तकालं तदप्रशस्तावलंबनम् ॥
क्षायोपशमिकोऽस्य स्याद्भावस्तिर्यग्गतिः फलम् ॥
तस्मादध्यानमार्त्ताख्यं हेयं श्रेयोर्थिनामिदम् ॥
मूर्च्छाकौशील्यकैनाश्यकौसीद्यान्यतिगृध्नुता ॥
भयोद्वेगानुशोकाश्च लिंगान्यार्ते स्मृतानि वै ॥
बाह्यं च लिंगमार्तस्य गात्रग्लानिर्विवर्णता ॥
हस्तन्यस्तकपोलत्वं साश्रुतान्यच्च तादृशम् ॥

रौद्रभेदानाह—

मूलारा—सारक्खणेसु शब्दादि गृहीत्वा स्वद्रव्यादिरक्षणे । छव्विधारंभे षड्जीवनिकायहिंसने । रुदं रोदयते प्राणिन इति रुद्रो हिंस्रो रुद्रे भवं रौद्रं ॥ समासेण संक्षेपेण, विस्तरस्त्वार्षोक्तो । यथा—

प्राणिनां रोदनाद्रुद्रः क्रूरः सत्वेषु निर्घृण. ॥
पुमांस्तत्र भवं रौद्रं विद्धि ध्यानं चतुर्विधम् ॥
हिंसानंदमृषानंदस्तेयसंरक्षणात्मकम् ॥
षष्ठात्तु तद्गुणस्थानात्प्राक् पंचगुणभूमिकम् ॥
प्रकृष्टतरदुर्लेश्यात्रयोपोद्बलबृंहितम् ॥
अंतर्मुहूर्तकालोत्थं पूर्ववद्भावमिष्यते ॥
वधबंधाभिसंधानमंगच्छेदोपतापने ॥
दंडपारुष्यमित्यादि हिंसानंद स्मृतो बुधैः ॥
हिंसानंदं समाधाय हिंस्रः प्राणिषु निर्घृणः ॥
हिनस्त्यात्मानमेव प्राक् पश्चाद्धन्यान्न वा परान् ॥
पुरा किलारविंदाख्यः प्रख्यातः खचराधिपः ॥
रुधिरस्नानरौद्राभिसंधिः श्वाभ्रीं विवेश सः ॥

निसर्गहिंस्रता चेति लिंगान्यस्य स्मृतानि वै ॥
मृषानंदो मृषावाक्यैरतिसंधानाचिंतनम् ॥
वाक्पारुष्यादिलिंगं तद्द्वितीयं रौद्रमिष्यते ॥
च
स्तेयानंदः परद्रव्यहरणे स्मृतियोजनम् ॥
भवेत्संरक्षणानंदः स्मृतिरर्थार्जनादिषु ॥
प्रतीतलिंगमेवैतद्रौद्रध्यानद्वयं भुवि ॥
नारकं दुःखमस्याहुःफलं रौद्रस्य दुस्तरं ॥
बाह्यं तु लिंगमस्याहुरभंगं मुखविक्रियाम् ॥
प्रस्वेदमंगकंपं च नेत्रयोश्चैति ताम्रताम् ॥
प्रयत्नेन विनैवैतद्रौद्रध्यानद्वयं भवेत् ॥
अनादिवासनोद्भूतमतस्तद्विसृजेन्मुनिः ॥
अपि च—अतत्त्वमित्यतत्त्वाद्वावैपरीत्येन भावयन् ॥
प्रीत्यप्रीती समाधाय संक्लिष्टं ध्यानमृच्छति ॥
संकल्पो मानसी वृत्तिर्विषयेष्वनुतर्षिणी ॥
सैव दुष्प्रणिधानं स्यादपध्यानमतो विदुः ॥

स्वार्थघातकत्वाद्दुर्ध्यानं त्यक्त्वा नित्यं सद्ध्यानैकतानो भवेत्युपदेशार्थमाह—

मूलारा— अवहट्ट अपहृत्य । महाभये दुर्गतिदुःखहेतुदुरितबंधनिदानत्वात् । सुगदीए सुदेवत्वसुमानुषपंच-मागतिरूपायाः सुगतेः । पच्चूहे विघ्नभूते तत्कारणपुण्यबंधप्रक्षयप्रतिबंधित्वात् । समण्णागदमदीओ सम्यगनुगतबुद्धिः ।

अर्थ—अमनोज्ञसंप्रयोग-अनिष्टपदार्थोंका संयोग होनेपर उसका वियोग किस उपायसे होगा ऐसा वार २ विचार करना अमनोज्ञ संप्रयोग नामक आर्तध्यान है. इष्टवियोगज—स्त्रीपुत्रादिक पदार्थोंका वियोग होनेपर उनकी प्राप्ति की बार बार चिंता करना, परीषह प्राप्त होनेपर ये कैसे दूर होंगे ऐसा मनमें बार २ विचार करना. १५३१

आगेके भवमें मेरेको अच्छे २ पदार्थ प्राप्त होने चाहिये ऐसा विचार करना यह निदान नामक आर्तध्यान है.

चोरी करनेका वार २ विचार करना, चोरसे धन न लूटा जावे इस लिये उसका संरक्षण करनेके लिये शस्त्रादिक ग्रहणकर उनका रक्षण करनेके रुद्रपरिणाम वारंवार होना, छह प्रकारके आरंभ करना अर्थात् षट्कायजीवोंकी जिसमें हिंसा होती है ऐसा आरंभ करनेमें तल्लीन होना इसको रौद्रध्यान कहते हैं. हिंसा करनेवाले मनुष्यको रुद्र कहते हैं ऐसे मनुष्यमें उत्पन्न हुआ जो ध्यान उसको रौद्रध्यान कहते हैं ऐसा रौद्र ध्यानका लक्षण संक्षेपसे कहा है. ये आर्त और रौद्रध्यान दोनो भी त्यागने चाहिये. क्योंकि ये महाभयके कारण हैं और सुगतिके प्रतिबंधक है अर्थात् दुर्गतिके कारण हैं. ये धर्मध्यान और शुक्लध्यानके बाधक हैं ऐसा समझकर धर्म और शुक्ल ध्यानमें क्षपक सदा स्थिर रहता है.

किमर्थमसौ ध्यानयोः शुभयोर्वर्तेत इत्याशंकायां ध्यानप्रवृत्तौ कारणमाचष्टे—

इंदियकसायजोगणिरोधं इच्छं च णिज्जरं विउलं ॥
चित्तस्स य वसियत्तं मग्गादु अविप्पणासं च ॥ १७०५ ॥

ध्याने प्रवर्तते कांक्षन्कषायाक्षनिरोधनम् ॥
वश्यत्वं मनसो मार्गादभ्रंशं निर्जरां पराम् ॥ १७७२ ॥

विजयोदया—इंदियकसायजोगणिरोधं स्पर्शादिपूपजात उपयोग इंद्रियशब्देनोच्यते । कषायाः क्रोधादयस्तै र्योगः संबंधस्तस्य निरोधं निवारणमिच्छन्निर्जरां च विपुलामिच्छन्, वस्तुयाथात्म्यसमाहितचित्तस्य नेंद्रियविषय जन्योपयोगसंभवः, कषायाणां चोत्पत्तिः, चित्तस्स य वसियत्तं चित्तस्य स्ववशत्वं इच्छन् स्वेष्टविषये चित्तमसकृत्स्था-पयतोऽनिष्टाच्च व्यावर्तयतः स्ववशं भवति ॥ चित्तस्य मग्गादो अविप्पणासं च मार्गाद्रत्नत्रयादविप्रणाशं च वांछन्, अशुभध्यानप्रवृत्तौ रत्नत्रयात्प्रच्युतो भवामीति ध्याने प्रयतते ॥

धर्मध्यानस्य प्रयोजनमात्तरं परिकरं च निर्देष्टुं गाथाचतुष्टयमाचष्टे—

मूलारा—जोग संबंधः । इच्छं वांछन् । णिज्जरं शुभकर्मैकदेशसंक्षयं । विउलं बाह्याभ्यंतरतपोविकल्पांतरसाध्य निर्जरातोऽतिशायिनीं । वसियत्तं स्ववश्यतां । स्वेष्टेऽर्थे चित्तं स्थापयितुं अनिष्टाच्च व्यावर्तयितुमित्यर्थः । मग्गादु अवि-प्पणासं रत्नत्रयादप्रच्यवनम् ।

यह क्षपक शुभध्यानोंमें क्यों प्रवृत्त होता है इस शंकाके उत्तरमें कारणका निवेदन करते हैं—

अर्थ—स्पर्शादिक विषयोंमें उत्पन्न हुआ जो उपयोग उसको यहां इंद्रिय कहते हैं. इंद्रिय और कषायोंका संबंध नष्ट करनेकी यदि इच्छा हो, कर्मोंकी विपुल निर्जरा करनेकी यदि इच्छा हो, तो तू अपना चित्त स्वाधीन रखने का प्रयत्न कर. वस्तुके यथार्थ स्वरूप को जाननेमें अपने मनको एकाग्र कर. जब मन स्वाधीन होता है तब इंद्रियोंके विषयके प्रति उपयोग नहीं लगता है और कषायों की भी उत्पत्ति नहीं होती है. चित्तको अपने इष्ट विषयमें अर्थात् उत्तम क्षमादिक धर्मोंमें स्थिर करना चाहिये. और अनिष्टविषयोंसे परावृत्त करना चाहिये. रत्नत्रयमार्गसे अपनी च्युति न हो ऐसी इच्छा करनेवाले क्षपक को अशुभ ध्यानका त्याग करना चाहिये. और शुभ ध्यानमें स्थिर रहना चाहिये.

ध्यानपरिकरप्रतिपादनायोत्तरगाथा—

किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु झाणे णिरुद्धदिट्ठीओ ॥
अप्पाणंहि सदिं संधित्ता संसारमोक्खट्ठम् ॥ १७०६ ॥

एकाग्रमानसश्चक्षुर्व्यावर्त्य परवस्तुतः ॥
आत्मनि स्मृतिमाधाय ध्यानं श्रयति मुक्तये ॥ १७७३ ॥

विजयोदया—किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु बाह्यद्रव्यालोकात् किंचिच्चक्षुर्व्यावर्त्तयित्वा । झाणे णिरुद्धदिट्ठीओ एकविषये परोक्षज्ञाने निरुद्धचैतन्यः। दृष्टिनिमित्ते हि चैतन्ये दृष्टिशब्दोऽत्र युक्तः । अप्पाणंहि आत्मनि । सदिं स्मृतिं । संधित्ता संधाय । स्मृतिशब्देनात्र श्रुतज्ञानेनावगतस्यार्थस्य स्मरणमुच्यते, संसारमोक्खट्ठं संसारविमुक्तये ॥

प्रयोजनमुक्त्वा परिकर्माह—

मूलारा—किंचिवि किंचित् । दिट्ठिं चक्षुः । उव्वत्तयितु उपावर्त्य । बाह्यद्रव्यालोकनाद्व्यावर्त्य नासाग्रे दृष्टिं कृत्वेत्यर्थः । णिरुद्धदिट्ठीओ एकविषये परोक्षज्ञाने निरुद्धचैतन्यः दृष्टिनिमित्ते हि चैतन्ये दृष्टिशब्दोत्र प्रयुक्तः । अप्पाणम्मि स्वसंवेदनसुव्यक्ते शुद्धचिद्रूपे स्वात्मनि । सदिं श्रुतज्ञानाधिगतार्थस्मरणं । उक्तं च—

पूर्वश्रुतेन संस्कारं स्वात्मन्यारोपयेत्ततः ।
तत्रैकाग्र्यं समासाद्य न किंचिदपि चिंतयेत् ॥

१५३३.

अपि च— गहियं तं सुयणाणा पच्छा संवेयणेण भावेज्ज ॥
जाणदु सुअमवलंबदि मोमज्झदि अप्पसब्भावे ॥

ध्यानका परिकर कहनेके लिये गाथा—

अर्थ—नेत्रोंको बाह्य पदार्थोंके अवलोकनसे हटाना चाहिये अर्थात् नाकके अग्रभागपर नेत्रोंको निश्चल करना चाहिये. तदनंतर एक विषयको धारण करनेवाले परोक्षज्ञानमें अपना ज्ञानोपयोग स्थिर करना चाहिये. स्वसंवेदनज्ञानसे जिसका अनुभव आता है ऐसे अपने शुद्ध चैतन्यरूप आत्मामें श्रुतज्ञानके साहाय्यसे आगमसे जाने हुए पदार्थोंका स्मरण करना चाहिये. यह ध्यान मुनिगण संसारसे मुक्त होनेके लिये करते हैं.

पच्चाहरित्तु विसयेहिं इंदियेहिं मणं च तेहिंतो ॥
अप्पाणम्मि मणं तं जोगं पणिधाय धारेदि ॥ १७०७ ॥

प्रत्याहृत्य मनोऽक्षाणि विषयेभ्यो महाबलः ॥
प्रणिधानं विधत्तेसावात्मनि ध्यानलालसः ॥ १७७४ ॥

विजयोदया—पच्चाहरित्तु प्रत्याहृत्य । विसयेहिं विषयेभ्यः। इंदियाइं इंद्रियाणि मणं च मनश्च व्यावर्त्य । तेहिंतो विषयेभ्यः । मणं त धारेदि तन्मनो धारयति । क अप्पाणंहि आत्मनि । जोगं योगं वीर्यांतरायक्षयोपशमजवीर्यपरिणामं । पणिधाय प्रणिधायास्थाप्य,एतदुक्तं भवति वीर्यपरिणामेन नोइंद्रियमतिं धारयतीति ॥

पुनरांतरमेव परिकर्माह—

मूलारा—पच्चाहरित्तु व्यावर्त्य । इंदियाइं चक्षुरादुपयोगान् । मणं नो इंद्रियमतिं । तेहिंतो तेभ्यः । च विषयीकृतं । जोगं पणिधाय वीर्यांतरायक्षयोपशमजं वीर्यपरिणाममवष्टभ्य वीर्यपरिणामविशेषेण शुद्धस्वात्मनि निर्विषयां नोइंद्रियमतिं धारयतीत्यर्थः । स एषोऽन्तः परिकरः सूत्रकृतोक्तः । बाह्यस्त्वयं—

पर्वतगुहायां, गिरिकंदरे, दर्यां, तरुकोटरे, नदीपुलिने, पितृवने, जीर्णोद्याने, शून्यागारे, वा व्यालमृगाणां पशूनां पक्षिणां, मनुष्याणा वा ध्यानविघ्नकारिणां सान्निध्यशून्ये, तत्रस्थैरागंतुभिश्च क्षुद्रजीवैर्वर्जिते उष्णशीतोने प्रवातादिविहिते निरस्तेन्द्रियमनोविक्षेपहेतौ, शुचावनुकूलस्पर्शभूभागे मंदमंदप्राणापानप्रचारो नाभेरूर्ध्वं, हृदि ललाटे वा यत्र वा मनोवृत्तिं यथापरिचयं प्रणिधाय ध्यायतीति तथैव चाह्याचक्षुस्तत्र भवंतो भगवद्रामसेनपादाः—

यथोक्तलक्षणो ध्याता ध्यातुमुत्सहते यदा ॥
तदेदं परिकर्मादौ कृत्वा ध्यायतु धीरधीः ॥
शून्यागारे गुहायां च दिवा वा यदि वा निशि ॥
स्त्रीपशुक्लीबजीवानां क्षुद्राणामप्यगोचरे ॥
अन्यत्र वा क्वचिद्देशे प्रशस्ते प्रासुके समे ॥
चेतनाचेतनाशेषध्यानविघ्नविवर्जिते ॥
भूतले वा शिलापट्टे सुखासीनः स्थितोऽथवा ॥
सममृज्वायतं गात्रं निष्कंपावयवं दधत् ॥
नासाग्रन्यस्तनिःस्पंदलोचनो मंदमुच्छ्वसन् ॥
द्वात्रिंशद्दोषनिर्मुक्तकायोत्सर्गव्यवस्थितः ॥
प्रत्याहृत्याक्षलुंटाकांस्तदर्थेभ्यः प्रयत्नवः ॥
चिंतां चाकृष्य सर्वेभ्यो निरुध्य ध्येयवस्तुनि ॥
निरस्तनिद्रो निर्भीतिर्निरालस्यो निरंतरः ॥
स्वरूपं पररूपं वा ध्यायेदंतर्विशुद्धये ॥
किंच—देहावस्था पुनर्येव न स्याद्ध्यानोपरोधिनी ॥
तदवस्थो मुनिर्ध्यायेत्स्थित्वासित्वाधिशय्य वा ॥
देशादिनियमोऽप्येवं प्रायो वृत्तिव्युपाश्रयः ॥
कृतात्मनां तु सर्वोपि देशादिर्ध्यानसिद्धये ॥

अर्थ—विषयोंमें इंद्रियां और मनको हटाना चाहिये. अर्थात् इंद्रियोंका उपयोग और मनका उपयोग बाह्य पदार्थमें रागद्वेषसे प्रवृत्त होता है. उनको रागद्वेषरहित होकर वहांसे हटाना चाहिये. और वीर्यांतरायकर्मके क्षयोपशमसामर्थ्यसे मनोयोगको अपने आत्मामें स्थिर करना चाहिये.

कृतमनोनिरोधः किं करोतीत्याशंकयाह—

एयग्गेण मणं रुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झादि ॥
आणापायविवागं विचयं संठाणविचयं च ॥ १७०८ ॥

ध्यायत्येकाग्रचेतस्को धर्म्यध्यानं चतुर्विधम् ॥
आज्ञापायविपाकानां संस्थाया विचयं सुधीः ॥ १७७५ ॥

विजयोदया—एयग्गेण एकध्येयमुखतया । मणं रुंभिदूण मनो निरुध्य । धम्मं धर्म्यवस्तुस्वभावं । चदुव्विहं चतुर्विकल्पं । झादि ध्यायति । अभ्यंतरपरिकरोयमुक्तः सूत्रकारेण । बाह्यःपरिकर उच्यते । पर्वतगुहायां, गिरिकंदरे, दर्यां, तरुकोटरे, नदीपुलिने, पितृवने, जीर्णोद्याने, शून्यागारे वा व्यालमृगाणां पशूनां, पक्षिणां, मनुष्याणां वा ध्यानविघ्नकारिणां सन्निधानशून्ये, तत्रस्थैरागंतुभिश्च जीवैर्वर्जिते, उष्णशीतातपवातादिविरहिते, निरस्तेंद्रियमनोविक्षेपहेतौ, शुच्यनुकूलस्पर्शे भूभागे मंदं मंदं प्राणापानविचारः नाभेरूर्ध्वं हृदि ललाटेऽन्यत्र वा मनोवृत्तिं यथापरिचयं प्रणिदधातीति बाह्यपरिकरः। आणापायविपाकविचयं आज्ञाविचयमपायविचयं, विपाकविचयं, संठाणविचयं च संस्थानविचयं च । तत्राज्ञाविचयो निरूप्यते— कर्माणि मूलोत्तरप्रकृतीनि तेषां चतुर्विधो बंधपर्याय उदयफलविकल्पः जीवद्रव्यं मुक्त्यवस्थेत्येवमादीना मतींद्रियत्वात् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षाभावात् बुद्ध्यतिशये असति दुरवबोधं यदि नाम वस्तुतत्वं तथापि सर्वज्ञज्ञानप्रामाण्यात् आगमविषयतत्वं तथैव नान्यथेति निश्चयः सम्यग्दर्शनस्वभावत्वान्मोक्षहेतुरित्याज्ञाविचारनिश्चयज्ञानं आज्ञाविचयाख्यं धर्मध्यानं । अन्ये तु वदंति स्वयमधिगतपदार्थतत्वस्य परं प्रतिपादयितुं सिद्धांतनिरूपितार्थप्रतिपादिहेतुभूतयुक्तिगवेषणावहितचित्ता सर्वज्ञज्ञानप्रकाशनपरा अनया युक्त्या इयं सर्वविदमाज्ञावबोधयितुं शक्येति प्रवर्तमानत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यत इति ॥ अनादौ संसारे स्वैरं मनोवाक्कायवृत्तेर्मम अशुभमनोवाक्कायस्याऽपायः कथं स्यादिति अपाये विचयो मीमांसास्मिन्नस्तीत्यपायविचयं द्वितीयं धर्मध्यानं । जात्यंधसंस्थानीया मिथ्यादृष्टयः समीचीनमुक्तिमार्गापरिज्ञानात् दूरमेवापयंति मार्गादिति सन्मार्गापाये प्राणिनां विचयो विचारो यस्मिंस्तदपायविचयं इत्युच्यत इति मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्यः कथमिमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः ॥ विपाकविचय उच्यते—समूलोत्तरप्रकृतीनां कर्मणामष्टप्रकाराणां चतुर्विधबंधपर्यायाणां मधुरकटुकविपाकानां तीव्रमध्यमंदपरिणामप्रपंचकृतानुभावविशेषाणां द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षाणां एतासु गतिषु योनिषु वा इत्थंभूतं फलमिति विपाके कर्मफले विचयो विचारोऽस्मिन्निति विपाकविचयः ॥ वेत्रासनझल्लरीमृदंगसंस्थानो लोक इति लोकत्रयसंस्थाने विचयोऽस्मिन्निति संस्थानविचयता ॥

एवं कृतपरिकर्मा मुमुक्षुः किं करोतीत्याशाह—

मूलारा—एयग्गेण एकध्येयमुखतया । रुंभिऊण निरुध्य । आणेत्यादि आज्ञादिषु विचयः सम्यग्विचारणानिष्टं

ज्ञानं यस्मिन्नस्ति तदाज्ञाविचयमपायविचयं, विपाकविचयं, संस्थानविचयं चेति चतुर्विधं धर्मध्यानं मुमुक्षुः प्रणिधत्ते। तद्यथा—

उपदेष्टुरभावान्मंदबुद्धित्वात्कर्मोदयात्सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टांतोपरमे सर्वज्ञप्रणीतमागमं प्रमाणीकृत्य इत्थमेवेदं नान्यथा वादिनो जिना इति गहनपदार्थश्रद्धानादर्थावधारणमाज्ञाविचयः। अथवा स्वयं विदितपदार्थतत्त्वस्य सतः परं प्रतिपिपादयिषोः स्वसिद्धांताविरोधेन तत्त्वसमर्थनस्तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रदर्शनार्थत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यते॥ जात्यंधवन्मिथ्यादृष्टयः सर्वज्ञप्रणीतमार्गाद्विमुखा मोक्षार्थिनः सन्मार्गापरिज्ञानात्सुदूरमेवापयांतीति सन्मार्गापायचिंतनमपायविचयः। अथवा मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्यः कथं नाम इमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः॥ कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययं फलानुभवं प्रति चिंताप्रबंधो विपाकविचयः॥ त्रिलोकसंस्थानस्वभावविचारणप्रणिधानं संस्थानविचयः॥ स एवं संक्षेपेण धर्मध्यानभेदनिर्णयो विस्तरतस्त्वार्षोक्तं धर्म्यं यथा—

तदाज्ञापायसंस्थानविपाकविचयात्मकं॥
चतुर्विकल्पमाम्नातं ध्यानमाम्नायवेदिभिः॥
तत्राज्ञेत्यागमः सूक्ष्मविषयः प्रणिगद्यते॥
दृश्यानुमेयवर्ज्ये हि श्रद्धेयांशे गतिः श्रुतेः॥
जैनीं प्रमाणयन्नाज्ञां योगी योगविदांवरः॥
ध्यायेद्धर्मास्तिकायादीन्भावान्सूक्ष्मान्यथागमम्॥
आज्ञाविचय एष स्यादपायविचयः पुनः॥
तापत्रयादिजन्माब्धिगतापायविचिंतनम्॥
तदपायप्रतीकारचित्रोपायानुचिंतनम्॥
अत्रैवान्तर्गतं ध्येयमनुप्रेक्षादिलक्षणम्॥
शुभाशुभविभक्तानां कर्मणां परिपाकतः
भवावर्तस्य वैचित्र्यमभिसंदधतो मुनेः।
विपाकविचयं धर्म्यमाम्ननंति कृतागमाः॥

विपाकश्च द्विधाम्नातः कर्मणामाप्तसूक्तिषु ॥
यथाकालमुपायाच्च फलपक्तिर्वनस्पतेः ॥
यथा तथैव कर्मापि फलं दत्ते शुभाशुभं ॥
मूलोत्तरप्रकृत्यादिबंधसत्वाद्युपाश्रयः ॥
कर्मणामुदयश्चित्रः प्राप्य द्रव्यादिसन्निधिं ॥
यतश्च तद्विपाकज्ञस्तदपायाय चेष्टते ॥
ततो ध्येयमिदं ध्यानं मुक्त्युपायो मुमुक्षुभिः ॥
संस्थानविचयं प्राहुर्लोकाकारानुचिंतनम् ॥
तदन्तर्भूतजीवादितत्वान्वीक्षणलक्षणम् ॥
द्वीपाब्धिवलयानद्रीन्सरितश्च सरांसि च ॥
विमानभवनव्यंतरावासनरकक्षितीः ॥
त्रिजगत्सन्निवेशेन सममेतान्यथागमम् ॥
भावान्मुनिरनुध्यायेत्संस्थानविचयोपगः ॥
जीवभेदांश्च तत्रस्थान्ध्यायेन्मुक्तेतरात्मकान् ॥
ज्ञातृकर्तृत्वभोक्तृत्वद्रष्टृत्वादींश्च तद्गुणान् ॥
तेषां स्वकृतकर्मानुभावोत्थमतिदुस्तरं ॥
भवाब्धिव्यसनावर्तं शौण्डादःकुलाकुलं ॥
सज्ञाननावा संतार्यमतार्यं प्रविकात्मभिः ॥
अपारमतिगंभीरं ध्यायेदध्यात्मविद्यति ॥
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वोप्यागमविस्तरः ॥
नयभंगशताकीर्णो ध्येयोऽध्यात्मविशुद्धये ॥
तदप्रमत्तमालंबं स्थितिमात्तमुहूर्तिकीम् ॥

दधानमप्रमत्तेषु परां कोटिमधिष्ठितम् ॥
सद्दृष्टिषु यथाम्नायं शेषेष्वपि कृतस्थितिः ॥
प्रकृष्टशुद्धिमल्लेश्यात्रयोपोद्बलबृंहितम् ॥
क्षायोपशमिकं भावं स्वसात्कृत्य विजृंभितं ॥
मोहोदर्कं महाप्राज्ञैर्महर्षिभिरुपासितं ॥
वस्तुधर्मानुयायित्वात्प्राप्तान्वर्थनिरुक्तिकम् ॥
धर्म्यं ध्यानमनुध्येयं यथोक्तध्येयविस्तरं ॥
प्रसिद्धचित्तता धर्मसंवेगः शुभयोगता ॥
सुश्रुतत्वं समाधानमाज्ञाधिगमजा रुचिः ॥
भवन्त्येतानि लिंगानि धर्म्यस्यांतर्गतानि वै ॥
अनुप्रेक्षाश्च पूर्वोक्ता विविधा शुभभावनाः ॥
बाह्यं हि लिंगमंगानां सन्निवेशः पुरोदितः ॥
प्रसन्नवक्रता सौम्या दृष्टिश्चेत्यादिलक्षणं ॥
फलं ध्यानवरस्यास्य विपुला निर्जरैनसां ॥
शुभकर्मोदयोद्भूतं सुखं च विबुधेशिनां ॥
स्वर्गापवर्गसंप्राप्तिं फलमस्य प्रचक्षते ॥
साक्षात्स्वर्गपरिप्राप्तिं पारंपर्यात्परं पदं ॥
ध्यानेऽप्युपरते धीमानभीक्ष्णं भावयेन्मुनिः ॥
भानुप्रेक्षाः शुभोदर्का भवाभावाय भावनाः ॥ इति ॥
व्याख्यातार्थसुखस्मृत्यर्थं चेयं गीतिरिंतश्चिन्त्या—
ध्यानस्य लक्षणभिर्निर्वचोधिपतिदेशकालफलभावाः ॥
स्थानं प्रभेदनामार्थनिर्णयो गोचरो बलाधानम् ॥

मनका निरोध करनेके अनंतर ध्याताका कर्तव्य बताते हैं.

अर्थ—एक विषयके तरफ मनको निश्चल कर चार प्रकारके वस्तु स्वभावोंका वह क्षपक ध्यान करता है. यहांतक ध्यानका अभ्यंतर परिकर कहा है. अब बाह्य परिकरका वर्णन आचार्य करते हैं. पर्वतकी गुहा, कंदरा, दरी, वृक्षका कोटर, नदीका रेतीला किनारा, श्मशान, जीर्ण बगीचा, शून्य मकान, ऐसे स्थानोंमें तथा दुष्ट पशु, गाय, बैल, हरिण वगैरे भद्र प्राणी, पक्षी और मनुष्य जिनसे ध्यानमें विघ्न आसकता है ऐसे प्राणिओंसे वर्जित स्थानमें ध्यान करना चाहिये. जहां ध्यान करना हो वह स्थान आगंतुक कृमिकीटादिओंसे रहित होना चाहिये, उष्ण, शीत, जोरदार वायु और धूप इत्यादि ध्यानमें विघ्न उत्पन्न करनेवाली अवस्थासे रहित ऐसे स्थानमें ध्यान करना चाहिये. जो स्थान इन्द्रिय और मनमें विकार उत्पन्न करेगा उसका त्याग करना चाहिये. पवित्र, अनुकूल, स्पर्शयुक्त ऐसा भूप्रदेश ध्यानयोग्य है. ऐसे प्रदेशमें जाकर पद्मासनसे बैठकर श्वासोच्छ्वास धीरेधीरे करना चाहिये. नाभिके ऊपर, हृदयमें, ललाटपट्टमें अथवा अन्य स्थानमें अपनी मनोवृत्तीको यथाभ्यास एकाग्र करना चाहिये. यह सब ध्यानकी बाह्य सामग्री है.

धर्मध्यानके आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक विचय और संस्थानविचय ऐसे चार भेद हैं. प्रथम आज्ञाविचयका वर्णन करते हैं—कर्मके मूल कर्म और उत्तर कर्म ऐसे बहुत भेद हैं. इन कर्मोंके प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभाग बंध और प्रदेशबंध ऐसे पर्याय हैं. इन कर्मोंका उदय होना, फल मिलना ऐसे अनेक प्रकार हैं. जीवद्रव्यके मुक्त्यवस्था वगैरह पर्याय होते हैं. ये सब अतीन्द्रिय हैं. ज्ञानावरणकर्मका विशिष्ट क्षयोपशम नहीं होनेसे मंद बुद्धिके द्वारा इन पदार्थोंका निश्चय नहीं होता है. यद्यपि उपर्युक्त पदार्थोंका स्वरूप हमसे नहीं जाना जाता है. सर्वज्ञका ज्ञान प्रमाण है और उपर्युक्त पदार्थ उसने कहे हुए आगमके विषय हैं, जैसा जिनेश्वरने इन वस्तुओंका स्वरूप कहा है वह सब सत्य ही है असत्य नहीं है ऐसा निश्चय करना यह निश्चय सम्यग्दर्शनका स्वभाव होनेसे मुक्तिका कारण है. इस प्रकार प्रभूके आज्ञाका विचार करना, निश्चय करना उसको आज्ञा विचय कहते हैं. यह आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है.

अन्य आचार्य इसी आज्ञाविचय धर्मध्यानका स्वरूप इसप्रकार से भी कहते हैं— स्वयं तो पदार्थोंका स्वरूप जानता है, सिद्धान्तमें कहे हुए जीवादि तत्वोंका ज्ञान करा देने वाली सत्ययुक्तीका

अन्वेषण करने वाली, सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रगट करनेवाली ऐसी तर्कशक्तिके द्वारा मैं भव्यजीवोंको जिनप्रतिपादित तत्वोंका स्वरूप कह सकूंगा ऐसा तत्वस्वरूप जाननेवालेके मनमें जो वार वार विचार उत्पन्न होना यह भी आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है.

मैं अनादिकालसे इस घोर संसारमें भ्रमण कर रहा हूं, मेरे मनवचन और कायकी प्रवृत्ति स्वछंदसे होती है. इस अशुभ मन वचन काय योगसे मैं किस उपायसे अलग हो सकूंगा ऐसी अपायमें वार वार स्मृति होना यह अपायविचय नामक धर्मध्यान है.

मिथ्यादृष्टि लोक जन्मांध मनुष्यके समान हैं. उनको सत्य मोक्षमार्गका ज्ञान नहीं है इसलिए सन्मार्गसे वे बहुत दूर जारहे हैं. ऐसा उनके विषयमें वार वार विचार उत्पन्न होना इसको भी अपायविचय कहते हैं. ये मिथ्या दृष्टि लोक मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से कैसे अलग होंगे ऐसा वार वार मनमें चिंता होना यह भी अपायविचय ध्यान है.

कर्मके मूल भेद आठ हैं. उत्तरभेद एक सौ अडेचालीस हैं. इन कर्मोंके प्रकृति बंधादिक चार भेद होते हैं. इनका मधुर और कटुक ऐसा फल मिलता है. आत्मामें तीव्र, मंद, मध्यम रूप अनुभवबंध उत्पन्न होता है. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे इन कर्मोंमें विशेषता उत्पन्न होती है. विशिष्ट गतिमें और विशिष्ट योनिओंमें विशिष्ट कर्मका फलानुभव जीवको प्राप्त होता है. इस प्रकार विपाकका अर्थात् कर्मफलका बार बार विचार जिसमें उत्पन्न होता है उस ध्यानको विपाकविचय ध्यान कहते हैं.

वेत्रका आसन, झल्लरी और मृदंगके समान तीन लोकका आकार है ऐसा विचार करना संस्थानविचय नामक धर्मध्यान है ।

धर्म्यध्यानस्य लक्षणं निर्दिशति—

धम्मस्स लक्खणं से अज्जवलहुगत्तमद्दवोवसमा ॥
उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ॥ १७०९ ॥
मार्दवार्जवनैःसंग्यहेयोपादेयपाटवं ॥
ज्ञेयं प्रवर्तमानस्य धर्म्यध्यानस्य लक्षणं ॥ १७७६ ॥

विजयोदया—धम्मस्स लक्खणं से,से तस्य। धम्मस्स धर्मस्य ध्यानस्य। लक्खणं लक्षणं। लक्ष्यते धर्म्यं ध्यानं येन तल्लक्षणं। अज्जवलहुगत्तमद्दवमुवदेसा आकृष्टांतद्वयरज्जुवत्तनुवक्रकुटिलताविरह आर्जवं। लघुगत्त लघुता निस्संगता आत्मायणविधाभिमानाभावो मार्दवं। उपेत्य जिनमतं देशनं कथनमुपदेशः हितोपदेश इति यावत्॥ आर्जवादिभिः कार्यैर्लक्ष्यते धर्मध्यानमिति आर्जवादिकः लक्षणं। न ह्यार्तरौद्रे आर्जवादिकं संपादयतः यदार्जवादिकं परिणाममात्मनः करोति तद्धर्म्यध्यानमिति लक्षणभावः अथवा आर्जवादिपरिणामसद्भाव एव धर्म्यध्यानं प्रवर्तते नासत्यार्जवादौ। नहि मानमायालोभकषायाविष्टो धर्मे प्रवर्तते, तेनार्जवादिकं कारणं तेन लक्ष्यते धर्म्यमिति लक्षणतार्जवादीनाम्॥

धर्मध्यानलिंगमवगमयति—

मूलारा—लक्खणं लक्ष्यते धर्म्यध्यानं येन कार्यभूतेन कारणभूतेन वा आर्जवादिना तत्तस्य चिन्हं। दे से। प्रसिद्धाः। लहुगत्त निःसंगत्वं। उवदेसणा य सुत्ते जिनमतोपदेशं। च निसग्गजा स्वभावोत्था। अन्ये तु उवदेसणो सुत्ते इति पठिता उपदेशे आज्ञायां तत्रैव रुचय इत्यर्थमाहुः॥

धर्मध्यानका लक्षण—

अर्थ—जिससे धर्मध्यानका परिज्ञान होता है वह धर्मध्यानका लक्षण समझना चाहिए. आर्जव, लघुत्व, मार्दव, और उपदेश ये इसके लक्षण हैं. डोरीके दोनों छोर पकडकर खीचनेसे वह सीधी होती है, उसमें वक्रता नहीं रहती है वैसे कुटिलता अर्थात् कपटका अभाव होना यह आर्जव नामक स्वभाव है. निःसंगता अर्थात् निर्लोभी स्वभावको लघुत्व कहते हैं. जातिका गर्व, कुलगर्व इत्यादि आठ प्रकारके गर्वोंका अभाव होना इसको मार्दव कहते हैं. इन गुणोंसे युक्त होकर उपदेश करना यह उपदेश नामक गुण है. इसको हितोपदेश भी कहते हैं. आर्जवादिक कार्योंको देखकर धर्मध्यानको जान सकते हैं अतः आर्जवादिक धर्मध्यानका लक्षण माने गए हैं. आर्तध्यान और रौद्र ध्यानोंसे आर्जवादिक गुणोंकी प्राप्ति नहीं होती है. जो आर्जवादिकपरिणाम आत्मा में उत्पन्न करता है उसको धर्मध्यान कहते हैं. अथवा आर्जवादिक परिणाम होने परही धर्मध्यान उत्पन्न होता है उनके अभावमें नहीं उत्पन्न होता है. मान, माया, लोभादिकषायपरिणत मनुष्य धर्ममें प्रवृत्त नहीं होता है इसलिये आर्जवादिक धर्मध्यानके कारण हैं अतः धर्मध्यान और आर्जवादिक इनमें लक्ष्यलक्षणभाव सिद्ध होता है.

आलंवणं च वायण पुच्छण परियट्टणाणुपेहाओ ॥
धम्मस्स तेण अविसुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥ १७१० ॥

वाचनाप्रच्छनाम्नायानुप्रेक्षाधर्मदेशनाः ॥
भवत्यालंबनं साधोर्धर्म्यध्यानं चिकीर्षतः ॥ १७७७ ॥

विजयोदया—आलंबनप्रतिपादनायोत्तरगाथा । आलंवणं च आश्रयश्च कस्स धम्मस्स धर्मध्यानस्य, वायण पुच्छण परियट्टणाणुपेहाउ, वाचना प्रश्न परिवर्तनमनुप्रेक्षेति स्वाध्यायविकल्पाः । वाचनादिस्वाध्यायाभावे वस्तुयाथात्म्यज्ञानमेव नास्तीति ध्यानाभावः । सति स्वाध्याये भवति ज्ञानं निश्चलं ध्यानसंज्ञितमित्यालंबनता स्वाध्यायस्य । तेण तेन धर्मस्य ध्यानेनाविरुद्धाः सव्वाणुपेहाउ, सर्वानुप्रेक्षा एकदेकनाश्रये वृत्तेरविरोधः । अनित्यतादिवस्तुस्वभावानुप्रेक्षणमनुप्रेक्षाणामालम्बनं ध्यानमिति । एतेनानुप्रेक्षाणां ध्यानेऽन्तःपातित्वमाचक्षाणेनानुप्रेक्षोपन्यासे बीजाधानं कृतम् ॥

धर्मस्याश्रयमाह—

मूलारा—आलंबन वाचनादिस्वाध्यायाभावे वस्तुयाथात्म्यज्ञानमेव नास्तीति ध्यानाभावः । सति स्वाध्याये भवति ज्ञानमविचलं ध्यानसंज्ञितमित्यालम्बनता वाचनादेर्धर्म्यं प्रति । परियट्टण पाठगुणनं । अणुपेहा अर्थचिंतनं । तेण-धर्मेण । अविरुद्धाओ अनित्यत्वादिवस्तुस्वभावानुप्रेक्षणमाश्रित्य तत्प्रवृत्तेस्तदालंबनमनित्याद्यनुप्रेक्षाः संप्रेक्ष्याः ॥

धर्मध्यानके आधारभूत कारण—

अर्थ—वाचना, पच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और परिवर्तन ये स्वाध्यायके भेद हैं. ये भेद धर्मध्यानके आधार भी हैं. वाचनादिक स्वाध्यायके अभावमें वस्तुका यथार्थ ज्ञान ही नहीं होता है. ज्ञानके अभावमें धर्मध्यान नही होता है अतः स्वाध्याय धर्मका अवलंबन है. स्वाध्यायसे जो निश्चलज्ञान प्राप्त होता है उसको ध्यान कहते हैं. इस धर्मध्यानके साथ अनुप्रेक्षाओंका अविरोध है. वस्तुके अनित्यादिधर्मोंका वार २ विचार करना यह अनुप्रेक्षाका लक्षण है ये अनुप्रेक्षाएं ध्यानके लिये आधार हैं इसलिये ध्यानमें इनका अन्तर्भाव होता है. इसीलिये ग्रंथकार आगे अनुप्रेक्षाओंका सविस्तर वर्णन करेंगे.

पूर्वोक्तान् धर्मस्य चतुरो भेदान् व्याचष्टे चतसृभिर्गाथाभिः । तत्राज्ञाविचयं निरूपयति—

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाए दव्वमण्णे य ॥
आणागज्झे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥ १७११ ॥

पंचास्तिकायषट्कायकालद्रव्याणि यत्नतः ॥
आज्ञाग्राह्याणि दक्षेण विचार्याणि जिनाज्ञया ॥ १७७८ ॥

विजयोदया—पंचेव अत्थिकाया पंचास्तिकाया जीवाः पुद्गलधर्मास्तिकाया अधर्मास्तिकाया आकाशमिति तान् छज्जीवणिकायो षड्जीवनिकायान् कालदव्वं कालाख्यं। अण्णे य अन्यांश्च कर्मबंधमोक्षादीन्। आणागेज्झे भावे सर्वज्ञागमग्राह्यान्भावान्। आणाविचयेण आज्ञाविचयाख्येन धर्मध्यानेन विचिणादि विचारयति। सर्वविद्भिरपास्तरागद्वेषैः परमकारुणिकैः यथामीति निरूपितास्ते तथैवेति चिंताप्रबंध आज्ञाविचय यावत्। आणापायविवागविचये इत्यस्मिन्पाठे अपायविचयो नाम धर्मध्यानमिति गाथापूर्वार्धेन व्याचष्टे ।

आज्ञाविचयादीन्क्रमेण व्याचष्टे—

मूलारा—पंचत्थिकाय जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशान् ॥ जीवणिकाये पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसान् अण्णे बंधमोक्षादीन्। आणागज्झे सर्वज्ञाज्ञागम्यान् । विचिणादि विचारयति । सर्वविद्भिरपास्तरागद्वेषैः परमकारुणिकैर्यथामी निरूपितास्तथैवेति प्रपंचेन चिंतयतीत्यर्थः ॥

आज्ञाविचय धर्मध्यानका वर्णन—

अर्थ—जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य इनको पंचास्तिकाय कहते हैं. पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति ये पांच स्थावर जीव हैं तथा द्वींद्रियसे लेकर पंचेंद्रिय तक जीवोंको त्रस कहते हैं. इनको आगममें षट्काय संज्ञा है. कालद्रव्य, कर्मबंध, मोक्ष वगैरह अनेक पदार्थोंका स्वरूप सर्वज्ञ जिनेश्वर प्रणीत आगमसे जाना जाता है. इन तत्वोंका स्वरूप आज्ञाविचय नामक ध्यानसे ध्याता वार २ स्मृतिमें लाता है. जिनके रागद्वेष नष्ट हुए हैं, ऐसे परमदयालु श्री जिनेश्वरनें जैसे इन तत्वोंका स्वरूप कहा है वैसाही उनका स्वरूप है ऐसा वार २ स्मरण करना इसको आज्ञाविचयनामक धर्मध्यान कहते हैं.

कल्लाणपावगाणउपाये विचिणादि जिणमदमुवेच्च ॥
विचिणादि वा अवाए जीवाण सुभे य असुभे य ॥ १७१२ ॥

कल्याणप्रापकोपायश्चिंतनीयो जिनागमे ॥
शुभाशुभविकल्पानामपायः कर्मणां परम् ॥ १७७९ ॥

विजयोदया—कल्याणागमनात् उपाये तीर्थंकरत्वप्रापकाणां दर्शनविशुद्ध्यादीनामुपायान् जिनावादीन् विचिनोति विचिनुते जिनकथिते ग्रन्थे। विचिनोति वा अपाये जीवानां शुभे च अशुभे च जीवानां शुभाशुभकर्मविषयानपायान् न विचारयति धर्म्यं भवति । शुभाशुभकर्मणः कथमपायो भवति जीवस्य इति चिंताप्रवाहोऽपायविचयो नाम स्मरणीयं ध्यानम् ।

अपायविचयं व्याख्यायोपायविचयमुत्तरं व्याचष्टे—

मूलारा—कल्याणागमनानुपायं कल्याणानामभ्युदयनिःश्रेयसमुखानां प्रापकाणि संपादकानि सम्यग्दर्शनादीनि ते षोडशभावनादीनि दर्शनविशुद्ध्यादीनि । जिनमतमुपेत्य जिनमतमाश्रित्य । शुद्धे शुभकर्मविषयान् । शुभाशुभकर्मभ्यः कथमपायो जीवानां भवेदित्यपायविचयं ध्यायतीत्यर्थः । श्रीजिनमतात्सोऽयं आज्ञापायविचयविचयो नाम धर्मध्यानं आज्ञापाय इत्यपि पाठे उपायविचयो नामेति व्याख्या ॥

अर्थ—अभ्युदय अर्थात् इहलोकके सुख और श्रेयस मोक्षसुखकी प्राप्ति करा देने वाले दर्शनविशुद्ध्यादिक सोलह कारण अर्थात् सोलह भावना तीर्थंकर पदकी प्राप्ति कर देते हैं ऐसा जिनागमका उपदेश है इस उपदेशका वारंवार स्मरण करना इसको उपाय विचय धर्मध्यान कहते हैं द्रव्य, क्षेत्रादिकोंका आश्रय लेकर शुभ कर्म विपाक और अशुभकर्मविपाक अपायोंको जीव प्राप्त होता है ऐसा वारवार विचार करना इसको अपायविचय नामक धर्मध्यान भी कहते हैं

एयाणेयभवगदं जीवाणं पुण्णपावकम्मफलं ॥
उदओदीरणसंकमबंधे मोक्खं च विचिणादि ॥ १७१३ ॥
अहतिरियउड्ढलोए विचिणादि सपज्जए ससंठाणे ॥
एत्थेव अणुगदाओ अणुपेहाओ वि विचिणादि ॥ १७१४ ॥

एकानेकभवोपात्तपुण्यपापात्मकर्मणाम् ॥
उदयोदीरणादीनि चिन्तनीयानि धीमताम् ॥ १७८० ॥
रूपाणि सत्रिलोकस्या द्रव्यपर्यायसंस्थितीः ॥
विचिन्वत्यनुप्रेक्षास्त्वत्रैवानुगतो गतिः ॥ १७८१ ॥

विजयोदया— अहतिरियउड्ढलोए ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकान्। विचिणादि विचारयति । कीदग्भूतान् । सपज्जए सपर्ययान् संस्थानसहितान् सपर्यायं सत्रिभुवनं संस्थानविचारविचयाख्यं धर्मध्यानं । एत्थेव अत्रैव । अणुगदाओ अनुगता॥ अणुपेक्खाओ वि अनुप्रेक्षा अपि । विचिणादि विचारयति । अनित्यत्वादिस्वभावविचारं करोति धर्मध्याने इति कथितं भवति ॥

विपाकविचयं व्याचष्टे—

मूलारा —उदयक्रमेण कर्मणोऽनुभवनं । उदीरण अक्रमेण कर्मणां भुक्तिः । उक्तं च—

कर्मणां फलदातृत्वं द्रव्यक्षेत्राणि योगतः ॥

उदयं पाकजं ज्ञेयमुदीरणमपाकजम् ॥

समुदीर्यानुदीर्णानां स्वल्पीकृत्य स्थितिं बलात् ॥

कर्मणामुदयावस्थां प्रक्षेपणमुदीरणं ॥

संक्रमः प्रकृते. सजातीयप्रकृतिस्वरूपेण परिणमनम् ॥

संस्थानविचयं निर्दिशति —

मूलारा--सपज्जए सभेदान् । ससंठाण वेत्रासनझल्लरीमृदंगसमानाकारसहितान् । एत्थेव अत्रैव धर्म्यध्याने । अणुगदाओ तत्साधकतममनोनिर्जयांगत्वेन संबद्धाः । तदुक्तम्--

संचितयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः ॥

जयत्येव मनःसाधुरिन्द्रियार्थपराङ्मुखः ॥

अर्थ—जीवोंको पुण्य और पाप कर्मका फलानुभवन संसारमें करना पडता है. इन कर्मका उदय, उदीरणा संक्रम, बंध और मोक्षका वारंवार विचार करना उसको विपाकविचय कहते हैं. द्रव्यक्षेत्रादिके आश्रयसे कर्मका योग्य कालमें आत्माको फल मिल जाना उदय कहा जाता है. और उदयमें आनेका जो निश्चित काल था उसके पूर्व ही कर्म अपना फल जीवको देता है उसको उदीरणा कहते हैं. एक कर्मप्रकृति सजातीय कर्म के स्वरूपसे परिणत होना संक्रमण कहते हैं. आत्माके प्रत्येक प्रदेश पर अनंतानंत कर्म आकर दूध और पानीके समान आत्म प्रदेशसे मिल जाना बंध है और संपूर्ण कर्म आत्मासे अलग होकर आत्मा पूर्ण शुद्ध स्वरूपधारक होता है यह मोक्ष है. इस प्रकार वार २ विचार करना विपाकविचय है.

अर्थ—यह जगत् अधोलोक, मध्य लोक व ऊर्ध्वलोक ऐसा तीन प्रकारका है. वेत्रासन, झल्लरी और मृदंगके समान क्रमसे तीन लोकोंका आकार है इनका बार बार विचार करना संस्थानविचय नामक धर्मध्यान है इन ही धर्मध्यानोंमें अनुप्रेक्षाओंका भी अन्तर्भाव है

कायाः अनुप्रेक्षा ध्यानकायामधुवादीननुप्रेक्षा निरूपयन्नुत्तरप्रबन्धेन—

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोयमसुइत्तं ॥

आसवसंवरणिज्जर धम्म बोधिं च चिंतिज्ज ॥ १७१५ ॥

लोगो विलीयदि इमो फेणोव्व सदेवमाणुसतिरिक्खो ॥

रिद्धीओ सव्वाओ सिविणयसंदसणसमाओ ॥ १७१६ ॥

अध्रुवाशरणैकान्यजन्मलोकविसूचिका ॥

आस्रव संवरश्चिन्त्यो निर्जराधर्मबोधय ॥ १७८२ ॥

डिंडीरपिंडवल्लोक सकलोऽपि विलीयते ॥

समस्ता संपदश्चात्र स्वप्नभूतिसमागमा ॥ १७८३ ॥

विजयोदया—लोगो विलीयदि इमो लोको विलयमुपयाति। किमिव फेणोव्व फेनवत्। सदेव माणुसतिरिक्खो देवैर्मानुषैस्तिर्यग्भिश्च समन्वितः इत्यनेन लोकत्रयस्यापि विनश्वरताभिहिता। रिद्धीओ सव्वाओ ऋद्धय सर्वाः। सुविणगद समागमाओ स्वप्नगतसमा। ननु लोगो विलीयदि इत्यनेन सर्वस्यानित्यता व्याख्याता, ऋद्ध्यादयोऽपि लोकान्तर्भूता इति किमर्थं भेदोपन्यास ?। अत्रोच्यते। समुदायस्यावयवानामप्यावयवानित्यतामन्तरेण तदनित्यता न सुखेनावगम्यत इति विशेषोपन्यास ॥

अनुप्रेक्षा अध्रुवादिविषयतया द्वादश निवेदिताह—

मूलारा—अण्णं देहान्मनोऽन्य। असुइत्त अशुचित्व। एवा विनयो नेच्छति। अधुनानुप्रेक्षा त्रयोदशगाथाभिरनुप्रेक्ष्य गाथार्थौ—

समुदायस्यानित्यता निरूप्योत्तरप्रबन्धेन तदन्तर्गतावयवानित्यता भावयति—

मूलारा—सिविणयसंदसणसमाओ स्वप्नदर्शनसमाना ॥

अब अध्रुवादि अनुप्रेक्षाओंका सविस्तर वर्णन करते हैं—

अर्थ—अध्रुव, अशरण एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि ऐसे बारा अनुप्रेक्षाओंका भी चिंतन करना चाहिए

अर्थ—देव, मनुष्य और तिर्यंच सहित यह जगत् फेनके समान नष्ट होता है. सब ऋद्धियां भी स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंके समान नष्ट होती हैं. शंका–सर्व लोकका नाश होता है इस कथनसे ही सर्व पदार्थोंकी अनित्यता सिद्ध हो गई अतः ऋद्धि भी लोकान्तर्भूतही हैं उनके नाशका वर्णन करनेकी क्या आवश्यकता थी ? क्यों भेदरूपसे उनका वर्णन किया गया है ? उत्तर—समुदाय जो कि अवयवी हैं उसकी अनित्यता अवयवकी अनित्यता दिखाये विना अवयवी भूत पदार्थोंकी अनित्यता सुखसे ध्यानमें नहीं आसकती हैं. इस लिये भेदोपन्यास किया है.

द्रव्यगतो लोभो महान् प्राणभृतां तन्मूलत्वादिंद्रियसुखस्य प्राणानप्ययं त्यजति द्रव्यनिमित्तमतस्तदनित्यतामथ मागुपदर्शयति । निस्संगतामात्मनः संपादयितुं ॥

विज्जूव चंचलाइं दिट्ठपणट्ठाइं सव्वसोक्खाइं ॥

जलबुब्बुदोव्व अधुवाणि हुंति सव्वाणि ठाणाणि ॥ १७१७ ॥

दृष्टनष्टानि सौख्यानि स्फुरितानीव विद्युताम् ॥

बुद्बुदा इव निःशेषा नश्वराः सन्ति गोचराः ॥ १७८४ ॥

विजयोदया—विज्जूव चंचलाइं विद्युदिव चंचलानि, दिट्ठपणट्ठाइं दृष्टप्रणष्टानि, सव्वसोक्खाइं सर्वाणि सुखानि अभिमतरूपादिविषयपंचकस्य प्रपंचस्य सन्निधानादुपजातानि यानि मनः समुत्थानि सर्वेषां वा मानवानां तिरश्चां विविधानां वा सुखानि सुखलंपटतया जनः क्लेशाशनिशतनिपातमपि सहते, तानि च नीरभरविनतसंभारगंभीरधीराराधनीलनीरदोदरपरिस्फुरत्तडिल्लतेव, एतेनानित्यतादोषोत्प्रकटनेन सांसारिकसुखपराङ्मुखतोपायो निगदितः । जलबुब्बुदोव्व जलबुद्बुदवत् । अधुवाणि अध्रुवाणि । हुंति भवंति । ठाणाणि सव्वाणि सर्वाणि स्थानानि । तिष्ठंत्येतेषु जीवा इति स्थानानि । ग्रामनगरपत्तनादीनि ॥ इदं मदीयं स्थानं अत्राहं वसामीति माकृथाः संकल्पं । तानि अनित्यानि नित्यबुद्ध्या परिगृहीतानि विनाशे संक्लेशशतान्यानयंतीति कथितं ॥ अथवा तिष्ठंत्यस्मिन्स्वकृतविचित्रकर्मोदयात्प्राणिन इतींद्रत्वं, चक्रलांछनत्वं, गणाधिपतित्वं वा एतानि स्थानान्यनित्यानि ॥

मूलारा—सव्वलोकगाइ सर्व पञ्चप्रकारादिविषयानुभवप्रभवानि देवमानुषतिर्यक्संबंधीनि वा सुखानि। ठाणाणि इंद्रत्वादिपदानि ग्रामपुरपत्तनादीनि वा।

प्राणिओंको सबसे बडा द्रव्यहीका लोभ है द्रव्य लोभसे इंद्रिय सुख की प्राप्ति होती है द्रव्यके निमित्त प्राणोंको भी त्यागते हैं इस लिए द्रव्यकी अनित्यताका आचार्य प्रथमतः दिग्दर्शन करते हैं. इस दिग्दर्शनसे द्रव्यमें आत्मा निःसंग होता है—

अर्थ—सब प्रकारके सुख बिजलीके समान दीखकर नष्ट हो जाते हैं इष्ट रूपादिक पांच प्रकारके विषयोंके सांनिध्यसे मनसे मनुष्य तिर्यच और देवोंके सुखमें प्राणी सुखलंपट होकर लुब्ध होता है. इस सुखके लिये हजारों क्लेश देनेवाली आपत्ति भी भोगनेके लिये जीव तयार होते हैं. परंतु ये सुख जलसे नम्र और गंभीर गर्जना करनेवाले नील मेघोंमें चमकनेवाली बिजलीके समान चंचल हैं. जहां जीव निवास करता है ऐसे ग्राम, नगर, पत्तन वगैरह स्थान अध्रुव अर्थात् नाशवंत हैं यह मेरा स्थान है, मैं यहां रहता हूं ऐसा मनमें तू संकल्प करना छोडदे क्यों कि ये स्थान अनित्य हैं परंतु इनमें नित्यपनाका संकल्प करके स्वीकार करनेपर उनका नाश होनेसे मनको संक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हैं अथवा इस जगतमें अपने किये हुए विचित्र कर्मके उदयसे जीवोंको इंद्रपना, चक्रवर्तिपना, गणधरत्व ऐसे स्थानोंकी प्राप्ति होती है परंतु इन स्थानोंकी अनित्यता ही है.

णावागदाव बहुगइपधाविदा हुंति सव्वसंबंधी ॥
सव्वेसिमासया वि अणिच्चा जह अब्भसंघाया ॥ १७१८ ॥

नानादेशागताः पांथा नौगता इव बांधवाः ॥
गत्वरा आश्रया सर्वे शारदा इव नीरदाः ॥ १७८४ ॥

विजयोदया—णावागदाव अल्पयानपात्रारूढा इव बहुगदिपधाविदा हुंति सव्वसंबंधी विचित्रशुभाशुभपरिणामोपात्तगति कर्मवशात्तदुपनीयमानदेवमानवनारकतिर्यग्गतिपर्यायग्रहणाय कृतप्रयाणाः भवंत सर्वेऽपि। एतेन बंधुताया अनित्यतोक्ता। उपात्तिमत्यागरत्यागे बंधुता स्थिरा भवति, उपात्ता चेत् त्यक्तान्या च गृहीता पितृपुत्रादीनां मत्यन्तरमुपगतानामपि बंधुत्वे स्वजनपरजनविवेक एव न स्यादिति मन्यते। सव्वेसिमासया वि सर्वेषामाश्रया अपि यानाधित्य प्राणिनो जीवितुमुत्सहते तेप्याश्रयाः स्वामी भृत्य पुत्रो भ्रातेत्येवमादयोऽनित्याः यथा अब्भसंघादा अभ्रसंघा इव॥

मूलारा—णावागदाव यानपात्रारूढा इव। बहुगदिपधाविदा विचित्रशुभाशुभपरिणामोपात्तगतिकर्मवशात्तदुपनी-

यमानदेवनारकमानवतिर्यक्त्वारव्यगतिपरिणामग्रहणार्य प्रभूतमार्गगमनाय च कृतप्रयाणाः। संबंधी बांधवाः। आसया या-
नाश्रित्य प्राणिनो जीवितुमुत्सहंते ते आश्रयाः स्वामी, भृत्यः पुत्रो भ्रातेत्येवमादयः।

अर्थ—नानाप्रकारके शुभाशुमपरिणामोंसे जिनको भिन्न २ गतिबंध हुआ है ऐसे अपने बंधुगण कर्मके वश होकर देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति और नरकगति एतत्स्वरूप पर्याय ग्रहण करने के लिये प्रयाण करते हैं. इसलिये बंधुगण भी अनित्यही हैं. उनके ऊपर मोहयुक्त होना अयोग्य ही है. जिस गतिका बंध हुआ है उसको त्यागनेका सामर्थ्य इनमें यदि होता तो ये स्थिर माने जाते थे. परंतु जो गति ग्रहण की थी-उसको छोडकर जीव अन्य अन्य गति ग्रहण करते जाते हैं. पिता पुत्रादिक पूर्व पर्याय छोडकर अन्यगतिको प्राप्त करते हैं तो भी उनको बंधु ही माना जायगा तो ये मेरे स्वजन हैं ये परजन है इनका विवेक ही नहीं रहेगा

संवासो वि अणिच्चो पहियाणं पिण्डणं व छाहीए ॥
पीदी वि अच्छिरागोव्व अणिच्चा सव्वजीवाणं ॥ १७१९ ॥

छायानामिव पांथानां संवासो नश्वरोऽगिनाम् ॥
चक्षुषामिव रागोऽत्र न स्नेहो जायते स्थिरः॥ १७८६ ॥

विजयोदया—संवासो वि सहावस्थानमपि बंधुभिर्मित्रैः परिजनैर्वा, अणिच्चो अनित्यः। पधियाणं पिण्डणं इव- छाहीए नानादिग्देशागतानां पथिकानां भिन्नस्थानयायिनां मार्गोपकंठस्थितनिबिडतरखदिरपलाशालंकारविनतशा- खाकरशतनिवारितधर्मरश्मिप्रसरतरुवरशीतलाविरलविपुलछायायां पांथानां समाज इव। पीदीवि प्रीतिरपि। अच्छि रागोव्व प्रणयकलहपांसुपातदूषितप्रियतमालुठत्पाठीनोदरधवललोचनांतराग इव अनित्या सर्वजीवानां। तथाह्यभि- यान्तरणविरफणिकाप्रणयलोचनप्रलयं संविदधातीति प्राणभृतामनुभवसिद्धमेव ॥

मूलारा – संवासो बंधुमित्रपरिजनादिभिः सहावस्थानं। पधियाणं नानादिग्देशागतानां भिन्नस्थानयायिनां पांथानां। पिंडणं मीलणं। छाहीए मार्गोपकंठस्थवृक्षवितानछायायां। अच्छिरागोव्व प्रणयकलहपांसुपातदूषितप्रियतमा- लुठत्पाठीनोदरधवललोचनगतो रागो लौहित्यं यथा।

जिनके आश्रयमें प्राणी अपना जीवित धारण करनेमें समर्थ होते हैं वे मालिक, नोकर, पुत्र भाई वगैरह आश्रयस्थान भी बादलोंके समुदायके समान चंचल है. अतः सबसे मोह त्याग करके निःसंग होना चाहिये.

अर्थ—बंधु, मित्र और परिजनोंके साथ अपना रहना भी नित्य नहीं है जैसे रास्तेमें अनेक दिशा और देशोंसे आये हुए पथिक भिन्न भिन्न स्थानके प्रति जानेवाले होते हैं परंतु मार्गके समीपके सघन जो पलाश, खदिर वृक्षोंकी सूर्यकिरणों को निवारण करनेवाली विस्तृत, शीतल, विपुल छायामें क्षणपर्यंत बैठकर विश्रांति लेते हैं अनंतर वे भिन्न भिन्न स्थानको प्रयाण करते हैं तद्वत मित्रादिक बंधुओंका सहवासभी अनित्य है. बांधवोंकी प्रीति भी अनित्य है. अपराधलवरूपी धूल पडनेसे कुपित प्राणप्रिय स्त्रीके कुदनेवाली मछलीके समान सफेत आखोंमें जैसा लालपना थोडी देरतक रहता है वैसा मित्रादिक बंधुओंका सहवास भी थोडी देरके लिये है. अप्रिय आचरण रूपी तिरस्कारसे प्रेमरूपी नेत्रका नाश होता है. यह संपूर्ण प्राणिओंके अनुभवमें आई हुई बात है.

रत्तिं एगम्मि दुमे सउणाणं पिण्डणं व संजोगो ।
परिवेसोव अणिच्चो इस्सरियाणाधणारोग्गं ॥ १७२० ॥

संयोगो देहिनां वृक्षे शर्वर्यामिव पक्षिणाम् ॥
आज्ञैश्वर्यादयो भावाः परिवेषा इव स्थिराः ॥ १७८७ ॥

विजयोदया—रत्तिं रात्रौ। एगम्मि दुमे एकस्मिन् द्रुमे। सउणाणं पक्षिणां। पिण्डणं व पिण्डितमिव संजोगो संयोगो यथास्तमनप्रभाभिमुखं तत्र वयं प्राप्स्यामोऽन्योन्यमित्यकृतसंकल्पानां यथाकथंचिदन्योन्यप्राप्तिरल्पकाला तथा प्राणभृतामपि समानकालकालमारुतप्रेरितानामेकस्मिन् कुलविटपिनि कतिपयदिनभावीसंप्रयोगः । परिवेसो व परिवेष इव। अणिच्चं अनित्यं। किं? इस्सरियाणाधणारोग्गं। ऐश्वर्यं प्रभुता आज्ञा धनं आरोग्यं च ॥

मूलारा—दुमे वृक्षे। संजोगो अकृतसंकल्पानां प्राणिनां एकस्मिन्कुले अन्योन्यप्राप्तिः। परिवेसो सूर्यपरिधिः। इस्सरियाणा प्रभुत्वमाज्ञा वा ॥

अर्थ—जैसे रातमें एक वृक्षपर पक्षियोंका समुदाय आकर बैठता है हम सब मिलकर एक वृक्षपर निवास करेंगे ऐसा मनमें संकल्प कर वे वृक्षपर आकर नहीं बैठते हैं. रातमें निवासकर प्रातःकालमें वे वहांसे स्वेच्छासे गमन करते हैं वैसे प्राणीभी समान कालरूप वायुसे प्रेरित होकर एक कुलरूप वृक्षपर कुछहि कालपर्यंत आकर उत्पन्न होते हैं. जैसे सूर्यके चारो तरफ परिवेष उत्पन्न होता है परंतु वह थोडे कालतक ही टिकता है वैसे जीवोंमें आरोग्य सामर्थ्य, ऐश्वर्य थोडे दिनका है.

इंदियसामग्गी वि अणिच्चा संझाव होइ जीवाणं ॥
मज्झण्हं व णराणं जोव्वणमणवट्ठिदं लोए ॥ १७२१ ॥
जीवानामक्षसामग्री शंपेवास्ति चला चलम् ॥
विनश्वरमशेषाणां मध्याह्न इव यौवनम् ॥ १७८८ ॥

विजयोदया-इंदियसामग्गीवि इंद्रियाणां सामग्र्यपि। अणिच्चा अनित्या। अंधता बधिरता च दृश्यत एव। मज्झण्हं व मध्याह्नवत्, णराणं जोव्वणमणवट्ठिदं लोगे नराणां यौवनमनवस्थितं लोके यौवनोऽहमिति जनः श्लाघ्यते, यौवनदर्पविकारादेव दुष्यमानोपि धर्मे न प्रयतते तदनित्यं मध्यान्हवत् ॥ क्षिप्रतरं व्यतिवर्तिनि यौवने को यौवनकृतोत्तीर्णमदः स्यात्‌ मनस्विनाम् ॥

मूलारा—अणवट्ठिदं क्षिप्रतरगत्वरं ॥

अर्थ—इंद्रियोंकी सामग्री भी इस जीवको अपूर्ण रहती है. कोई जीव अंधा रहता है तो कोई जीव बहरा होता है. अर्थात् संध्याकालके समान यह सामग्री अनित्य है. मनुष्योंका तारुण्य अस्थिर है परंतु मनुष्य मैं तरुण हूं ऐसी स्वयं प्रशंसा करता है. तारुण्यके अभिमानमें आकर धर्ममें तत्पर नहीं होता है. परंतु तारुण्य चिरकालतक नहीं रहता है यह भी मध्यान्ह कालके समान जल्दी नष्ट होता है. ऐसे जल्दी नष्ट होनेवाले तारुण्यके विषयमें गर्व करना क्या बुद्धिमानोंको योग्य है? कभी भी नहीं.

चंदो हीणो व पुणो विड्ढदि एदि य उदू अदीदो वि ॥
णदु जोव्वणं णियत्तइ णदीजलमदछिदं चेव ॥ १७२२ ॥
चंद्रमा वर्द्धते क्षीण ऋतुरेति पुनर्गतः ॥
नदीजलमिवातीतं भूयो नायाति यौवनम् ॥ १७८९ ॥

विजयोदया—चंदो हीणोव पुणो वड्ढदि नित्यराहुमुखकुहरप्रवेशाद्धानिमुपगतोऽपि निशानाथः कृष्णपक्षे हीयते ॥ हीनो भवति। पुणो वड्ढदि पुनः शुक्लपक्षे वर्द्धते ॥ प्रतिदिनोऽपचीयमानकालः। एदि य उदू अदीदोवि हिमशिशिर वसंतादयोऽतीता अपि ऋतवः पुनरायांति न तु जोव्वणं णियत्तेदि नैव यौवनं निवर्ततेतिक्रांतम्। तस्मिन्नेव भवे नदीजल मदछिदं चेव नदीजलमतिक्रांतमिव न पुनरेति ॥ तद्वदिदं यौवनमित्यनेनानित्यतातिशयो यौवनस्य दर्शितः ॥

मूलारा—क्षीणो नित्यराहुमुखकुहरप्रवेशाद्धानिं गतः । यदि च पुनरायाति च । ऋतु हेमंतादि ऋतुर्नक्षत्रं वा । णियट्टदि पुनरायाति । अदिच्छिदं अतिक्रांतं । चेव यथा ।

अर्थ—हमेशा नित्य राहु के मुखमें प्रवेश करनेसे हानिको प्राप्त होता हुआ भी अर्थात् कृष्णपक्षमें प्रतिदिन कम कम होता हुआ भी चद्र शुक्ल पक्षमें बढने लगता है. अर्थात् चंद्रकी एकांत रूपसे हानि ही नहीं है. उसकी वृद्धि भी है. हिम, शिशिर वसंतादिक ऋतु व्यतीत होनेपर भी पुनः उनका आगम होता है परंतु तारुण्य बीतनेपर पुनः लौटता नहीं है. उसभवमें तारुण्यकी पुनरावृत्ति होती नही है. जैसे नदीका गया हुआ पानी फिर वही नहीं आता है वैसा यह तारुण्य पुनः आता नहीं है. इससे तारुण्यमें अनित्यताका अतिशय है यह सिद्ध होता है.

धावदि गिरिणदिसोदंव आउगं सव्वजीवलोगम्मि ॥
सुकुमालदा वि हीयदि लोगे पुव्वण्हछाही व ॥ १७२३ ॥
धावते देहिनामायुरापगानामिवोदकम् ॥
क्षिप्रं पलायते रूपं जलरूपमिवांगिनाम् ॥ १७९० ॥

विजयोदया—धावदि गिरिणदिसोदंव धावति गिरिनदीप्रवाह इव । किं ? आउगं आयुः । सव्वजीवलोगंहि सर्वस्मिन् जीवलोके । सुकुमालदा वि हीयदि सुकुमारतापि हीयते । पुव्वण्ह छाही व पूर्वाह्णछाया इव । यथा यथोद्गच्छति तामरसबंधुस्तथा तथोपसंहरति छायां शरीरादीनां ॥

मूलारा—पुव्वण्णछाहीव पूर्वाह्णछाया यथा । सूर्यो हि यथा यथोदेति तथा तथोपसंहरति शरीरादीनां छायां ॥

अर्थ—पर्वतपरसे बडवगसे बहने वाली नदीके प्रवाहके समान प्राणियोंका आयुष्यप्रवाह शीघ्र बहकर समाप्त होता है. जैसे जैसे कमलबंधु सूर्य ऊपर आता है वैसे २ शरीरादिकोंकी छाया कम होती है. इस सर्व जीवोंके जगतमें प्राणिओंकी कोमलता भी पूर्वाह्नकी छायाके समान कम कम होती जाती है. अर्थात् प्राणिओंका सौंदर्य वृद्धावस्था आनेपर नष्ट होता है.

अवरण्हरुक्खछाही व अद्दिदं वड्ढदे जरा लोगे ॥
रूवं पि णासइ लहुं जलेव लिहिदेछ्यं रूवं ॥ १७२४ ॥

पौर्वाह्णिकी यथा छाया हीयते सुकुमारता ॥
पराह्णिकी यथा छाया सर्वदा वर्धते जरा ॥ १७९१ ॥

अद्दिदं वड्ढदे अस्तित्वं वर्द्धते ॥ क्रियाविशेषणत्वा-
विजयोदया—अवरण्हरुक्खछाहीव अपराण्हवृक्षच्छायेव । त्प्रुंनकता । जरा लोगे लोके । सौरूप्यपल्लवदवानलशिखा, सौभाग्यप्रसूनकरकावृष्टिः, युवतिहरिणालीव्याघ्री, ज्ञानलोचनपांसुवृष्टिस्तपस्तामरसवनस्य हिमानी, दीनताया जननी, परिभवस्य धात्री, मृतेर्दूती, भीतेः प्रियसखी या जरा सा वर्द्धते । रूपंणि णासदि लहुं रूपमपि विलासिनीकटाक्षेक्षणशरशततूणीरायमाणं, चेतोवलक्षसूक्ष्मवसनरंजने कौसुंभरसायनानं, प्रीतिलतिकाया मूलं, सौभाग्यतरुफलं, कूलं पूज्यताया यद्रूपं तल्लघु विनश्यति ॥ किमिव जलेव लिहिदक्कगं रूवं जले लिखितरूपमिव ॥

मूलारा—अद्दिदं वड्ढदे अश्रांतं वर्धते । लिहिदेछ्यं लिखितं ॥

अर्थ—दिवसके उत्तरार्धमें वृक्षकी छाया जैसी बढने लगती है जरा वृद्धावस्था भी प्राप्त होनेपर प्रति दिन बढने लगती है- यह वृद्धावस्था सौंदर्य रूप कोमल कोंपलपर अग्नीकी ज्वालाके समान आक्रमण कर उसको जलाती है. सौभाग्यरूपी पुष्पपर ओले की वृष्टिके समान है. तारुण्यरूपी हरिणपर यह व्याघ्री के समान टूट पडती है ज्ञानरूपी नेत्रपर यह धूलीवृष्टिके समान है. तपरूपी कमलवनके लिये यह वृद्धावस्था बर्फके समान है. अर्थात् वृद्धपना तपको नष्ट करता है. यह वृद्धावस्था दीनताकी माता है. अपमानकी धाय है. मृत्युकी दूती है. भय की प्रिय सहेली है. इस वृद्धावस्थाकी प्राप्ति होनेपर रूपका नाश होता है. यह रूप गुणसुंदर स्त्रियोंके कटाक्ष बाणोंका आश्रयस्थान है. मनरूपी स्वच्छ वस्त्र को रंगानेके लिये कुसुंबी रंगके समान है. प्रीतिलताकी यह मूल है. सौभाग्य वृक्षका यह फल है, पूज्यताका यह किनारा है. ऐसा भी उत्तम रूप पानीमें लिखे हुए चित्रके समान शीघ्र नष्ट होता है.

तेओ वि इंदधणुतेजसण्णिहो होइ सव्वजीवाणं ॥
दिट्ठपणट्ठा बुद्धी वि होइ मुक्काव जीवाणं ॥ १७२५ ॥

नश्यो नश्यति जीवानां विलिंपनमुपाभिव ॥
उत्पद्येशनश्वरी बुद्धिर्दृष्टनष्टा प्रजायते ॥ १७९२ ॥

विजयोदया—तेजोपि इंद्रधनुराकारलिंगहो शरीरस्य तेजोपि पौलोमीप्रियतमचापस्य तेज इव सज्जनज्जन नयनानंद जनोदयादपि क्षणेन नाशमुपयाति ॥ विद्दगहा दृष्टप्रणष्टा बुद्धिः सकलवस्तुयाथात्म्यप्रकटशाज्ञानतमःपटल शातनकारिणी, विविधदुःखमकरकर्दमकालिंजरावनीविशालसरित्प्रवेशनिवारणोद्यता, चारित्रनिधिप्रकटनक्षमा-दीपवर्तिः, सकलसंपत्करणप्रविणा विद्यानिकायिकल्पवल्ली एवंभूता बुद्धिरप्युत्पद्य नाशमुपयाति ॥

मूलारा—तेजो देहप्रभा । बुद्धि यथार्थप्रतिपत्तिः ।

अर्थ—मनुष्यके शरीरकी कांति इंद्रधनुष्यके समान क्षणपर्यंत नेत्रोंको लुभाती है परंतु क्षणके अनंतर नष्ट होती है, संपूर्ण पदार्थ का यथार्थ स्वरूप दिखानेवाली, अज्ञानांधकारके समूहको नष्ट करनेवाली, अनेकदुःखरूपी मगरोंसे भरी हुई दुःखानिरूप विशाल नदीमें जीवके प्रवेशको रोकनेवाली, चारित्ररूपी निधिको प्रकट करनेको दीप के समान संपूर्ण संपत्तिको उत्पन्न करनेवाली, मंत्रविद्याके समान, मुक्ति लक्ष्मी के दूतिके समान ऐसी बुद्धि भी व्यभिचारिणी स्त्रीके समान मनुष्यको त्याग देती है.

अदिवडइ बलं खिप्पं रूवं धूलीकदंबरं छाए ॥
वीचीव अद्धुवं वीरियंपि लोगम्मि जीवाणं ॥ १७२६ ॥

बलं पलायते रूपमिव रथ्यागतं रजः ॥
जलानामिव कल्लोलो वीर्यं नश्वरमंगिनाम् ॥ १७९३ ॥

विजयोदया—अतिपतत बलं क्षिप्रं शिघ्रमतिपतति बलं, रूपं धूलीकर्दमरं छाए रथ्यायां पांशुरचितरूपमिव ॥ वीचीव नश्वरमंजनाभिमानोकाभिवल्लरंगमालेव, अद्धुवं अध्रुवं । वीरियं धैर्यमपि । जीवानां शरीरस्य दृढता पलं-वीर्यमात्मपरिणामः ॥

मूलारा—अदिवडदि नश्यति । धूलीरचं रथ्यायां पांशुरचितं रूपमिव । वीची लहरी । अद्धुवं अध्रुवं । लो-गम्मि लोके मध्ये ।

अर्थ—मार्गमें वायुसे धूली उठकर उसकी वर्तुलाकृति उत्पन्न होती है. परंतु वह शीघ्र ही नष्ट होती है वैसे मनुष्यका बलभी जल्दी नष्ट होता है. बडे मल्लभी क्षयरोगसे ग्रस्त होते हैं. मनुष्योंका पराक्रम भी प्रचंड हवाके १५५५

आघातोंसे उठी हुई लहरियोंकी पंक्तिके समान नष्ट हो जाता है. शरीरकी दृढता को बल कहते हैं, आत्माके अदम्य उत्साह को-धैर्य को वीर्य-पराक्रम कहते हैं

हिमणिचओ वि व गिहसयणासणभंडाणि होंति अधुवाणि ॥
जसकित्ती वि अणिच्चा लोए संज्झब्भरागोव्व ॥ १७२७ ॥

हिमपुजा इवानित्या भवन्ति स्वजनादय. ॥
जंतूनां गत्वरी कीर्तिः संध्याश्रीरिव सर्वथा ॥ १७९४ ॥

मूलारा—वेय इव । जसकित्ती यश कीर्तिः । संज्झब्भ दिनातमेघ ।

अर्थ—वर्फ के समुदायके समान घर, शय्या, आसन, पात्र वगैरह पदार्थ नश्वर हैं और यशकी प्रसिद्धि भी सध्याकालीन मेघके समान नश्वर है.

स्पष्टोत्तरगाथा—

किह दा मत्ता कम्मवसत्ता सारदियमेहसरिसमिणं ॥
ण मुणंति जगमणिच्चं मरणभयसमुत्थिया संता ॥ १७२८ ॥

इदं जगच्छारदवारिदोपमं न जानते नश्वरमंगिनः कथम् ॥
यमेन हंतुं सकला पुरस्कृता मृगारिपेनेव मृगा बलीयसा ॥ १७९५ ॥

इति अध्रुवम् ॥

विजयोदया—किह कथ तावत् । अणिच्च जग ण मुणन्ति जगदनित्य न जानन्ति । के सत्त्वादी सीदंति स्वकृतपापव शाघासु तासु योनिष्विति सत्वा । सारदियमेघसरिसमिण शरदृतुसमुत्पन्न नेकवर्णविचित्रसस्थानजीमूतमालासदृश । मरणभयसमुच्छिन्ना सता मरण प्रिय धृततमजीवितस्य सरीत्कृत प्रियवियोगाकारकस्य, शोकाशनिजलदपटल, भयस्कातोप दुरन्तोद्यापणे, वधुहृदयोपलाना द्रावकमौषधमाधितापदामायतन एवभूतमरणभयसमुत्थिता सत ॥ वयमनित्यतादोषवस्तुविपया धीर्यादस्य प्रवर्तते धर्म्यं ध्यान ॥ अध्रुव ॥

भोगार्थकर्मण्यमाणां प्राणिनां जगदनित्यत्वाज्ञानं साश्चर्यमनुशोचति—

मूलारा—श तावत् । वाक्यालंकारे । सत्ता प्राणिनः । कम्मपसत्ता कृष्यादिष्वासक्ताः । सारइग शरत्प्रभवः । समीछिदा आच्छादिता अपि । उक्तं च—

कर्मासक्ताः कथं सत्वाःशरन्मेघसमं जगत् ॥
सर्वमेतन्न जानंति मृत्युभीतियुता अपि ॥

अपिच— कथमिव दुरितज्वरणो भोगासक्ताः शरद्घनप्रतिमं ॥
जानंति जगदनित्यं न जन्मिनो मरणभीतिभृतः ॥

अनित्यतानुप्रेक्षा ॥

अर्थ—ये सर्व प्राणी मृत्युभयसे युक्त होकर भी शरत्कालके मेघके समान इस विनश्वर जगत् को क्यों नहीं जानते हैं यह बडा आश्चर्य है. ये सर्व प्राणी अपने किये पापों के आधीन होकर अनेक योनियोंमें दुःख पाते रहते हैं इसलिये 'सीदंतीति सत्वाः' अर्थात् सत्व ऐसे अन्वर्थक नामको धारण करते हैं. शरदृतुमें उत्पन्न हुए अनेक रंगोंको धारण करनेवाले, अनेक आकृति युक्त परंतु नश्वर ऐसे मेघसमूहके समान यह जगत् नश्वर हैं. प्राणिओं को मरण विषके समान अप्रिय है. शोकरूपी वज्रपातको उत्पन्न करनेवाला मानो मेघ पटल ही है, दुःखरूप लोहको खीचने के लिये मरण लोहचुंबके समान है, बधुओंके हृदयरूपी पत्थरको द्रवयुक्त करनेमें औषधीके समान है, यह मरण दीर्घआपत्तिओं का घर है. इस प्रकार मरणभयसे युक्त सत्पुरुष संपूर्ण विषय अनित्य धर्मसे युक्त है ऐसा समझकर उन वस्तुओंको धर्मध्यानका विषय करते हैं.

मशरणताकथनायोत्तरप्रबंध । कर्माण्यात्मपरिणामोपनीतचिरकालस्थितीनि सन्निहितक्षेत्रकालभावाख्य सहकारिकारणानि यदा फलमशुभं प्रयच्छति तदा तानि न निवारयितुं कश्चित्समर्थोऽस्ति तेनाशरणोऽस्म्यहमिति चिंता प्रबंध कार्य इत्याचष्टे—

१५५७ णासदि मदी उदिण्णे कम्मेण य तस्स दीसदि उवाओ ॥
अमदंपि विसं सच्छं तणं पि णीयं त्रि हुंति अरी ॥ १७२९ ॥

कर्मोदये मतिर्याति नोपायो विद्यतेऽङ्गिनाम् ॥
सुधा विषं तृणं शस्त्रं बंधुः शत्रुश्च जायते ॥ १७९६ ॥

विजयोदया—णासदि मदी नश्यति मतिः । उदिण्णे कम्मे उदीर्णे कर्मणि । बुद्धिर्द्विधा स्वाभाविकी आगमभवा च ता द्वयी यस्यासौ हितमवैति नेतरः ॥ उक्तं च-द्विधेह बुद्धिं प्रवदंति संतः स्वाभाविकीमागमसंभवां च । बुद्धिद्वयी यस्य शरीरिणः स्यात् द्रष्टुं हितं सोऽलमलं न चान्यः ॥१॥ स्वाभाविकी यस्य मतिर्विशुद्धा, तीर्थाद्वाप्तं न तु शास्त्रमस्ति द्रष्टुं हितं धर्ममसौ न शक्तो मार्गं विना रूपमिवात्यंधः ॥२॥ तीर्थाद्वाप्तं श्रुतमस्ति यस्य स्वाभाविकी नास्ति मतिर्विशुद्धा, श्रुतस्य नाप्नोति फलं स तस्य दीपस्य हस्तेऽपि सतो यथांधः ॥ ३ ॥ किं दर्पणेनावृतलोचनस्य विदानभोगस्य धनेन वा किं । शस्त्रेण किं वा युधि भीरुकस्य तथैव किं मंदमतेः श्रुतेन ॥ ४ ॥ ईदृशी बुद्धिर्नश्यति ज्ञानावरणाख्ये कर्मण्युदयमुपागते । तच्च ज्ञानावरणं बध्नाति जंतुर्ज्ञानिनां ज्ञानस्य ज्ञानोपकरणानां च प्रद्वेषाच्छिन्हवाद्युपघातात् मात्सर्याद्विघ्नकरणादासादनाद्दूषणात् ज्ञानादेर्निग्रहकरणादकाले पठनात् परेंद्रियोपघातकरणादर्जितं, अवग्रहेहावायधारणाविकल्पं मतिज्ञानं श्रुतादिकं वा नाशयति ॥ उक्तं च॥ अवग्रहीतुं च तथेहितुं च सोपेहितुं धारयितुं च सम्यग् । नालं भवत्यर्जितवानपुण्यः कर्माधमं ज्ञानवृतेर्निमित्तं ॥ १ ॥ अंधश्च पश्यन् बधिरश्च शृण्वन् जिह्वां विना सोरसतांस्तथाखन् । त्वगीतये सत्यपि विष्वगेव न योविशेषान्विषयेषु वेत्ति ॥ २ ॥ एकेंद्रियद्वींद्रियतां भवेषु स त्रींद्रियत्वं चतुरिंद्रियत्वं । तेनावृतः कर्ममहार्बुदेन प्राप्नोति जीवो विमनस्कतां च ॥ ३ ॥ द्रष्टुं हितं श्रोतुमथेहितुं च कर्तुं च दातुं विधिना च भोक्तुं ॥ स्वकर्मणा तेन नरो वृतस्सन् न बुध्यमानः पशुनैति साम्यं । ४ ॥ स्वबुद्धिनाशमपि शक्यमाप्तुं श्रेयः समीपस्थमिहाप्यविद्वान् । सुदूरसंस्थं च श्रुताभिगम्यं स केन विंद्यात्परलोकपथ्यं ॥५॥ महाशुक्राभीमतमःप्रवेशात् सदाप्यगाधांभसि मज्जनाच्च । घनाचिरं चारकरोधनाच्च स्याद्देहिनः कष्टतरोऽज्ञभावः ॥ ६ ॥ तमःप्रवेशोंऽभसि मज्जनं च स्याद्दुःखकृच्चारकरोधनं च ॥ जातावपि एकत्र भवांस्त्वनंतानज्ञानजं दुःखमनुप्रयाति ॥ ७ ॥ नालं विशालं नयनं तृतीयं श्रुतं च मत्यारहितो ग्रहीतुम्॥ अंधोपि यस्मिन् सति याति मार्गं क्षेमं शिवं मोक्षमहापुरस्य ॥८॥ एवं भूतामज्ञतामापादयति ज्ञानावरणं न किंचित्तन्निवारणक्षमं शरणमस्ति ॥ ण य तस्स दिस्सदि उवाउ, नैव तस्य कर्मणो निवारणे उपायो दृश्यते । असद्वेद्यस्य कर्मण उदयात् अमदंपि विसं होदि अमृतमपि विषं भवति । तणमपि सच्छं तृणमपि शस्त्रं भवति । णीआ वि य होंति अरी बंधवोपि शत्रवो भवंति ॥

एवमशेषवस्तुविषयामनित्यतां ध्येयीकृत्य प्रवर्त्यमानं निर्वर्ण्य सांप्रतमशरणतां तद्ध्येयामापाद्यमानामष्टादशगाथाभिर्भावयितुमुपदिशति । तत्र कषायावेशवशाज्जीवेन तद्घातिकर्माणि द्रव्यक्षेत्रादिसहकारिकारणसन्निधानादुद्भूयोद्भूय कटुतरमात्मफलं प्रयच्छंति न कश्चिन्निवारयितुं शक्नोति इत्यहमस्मिन्नशरणोऽस्मीति चिंताप्रबंधो विधेय इति संग्रहः —

मूलारा—मदी अवग्रहादिमतिज्ञानमाप्तोपदेशप्रभवं श्रुतं च । तद्द्वययोगादेव हि हितमहितं वा जानाति नान्यथा । उक्तं च—

द्विधेह बुद्धिं प्रवदन्ति संतःस्वाभाविकीमागमसंभवां च ॥
बुद्धिद्वयी यस्य शरीरिणःस्यात् द्रष्टुं हितं सालमलं च नान्यः ॥

इदंद्वयपि द्वितयी बुद्धिर्ज्ञानावरणविशेषे कर्मण्युदिते सति नश्यति । तस्य तत्ताद्दग्बुद्धिविध्वंसनोद्यतस्य कर्मणो निवारणे । उपाओ प्रतीकारो । लोके च न दृश्यते इत्यशरणं बुद्धिविध्वंसि कर्मास्रवं भावयेत् । सर्वे पुरुषार्थसिद्धिनिबंधनत्वाद्बुद्धेः प्रधानतमत्वात्तद्विघातिकर्मानिवार्यताभावना प्रागुपदिष्टा । अमदंपीत्यादि सद्वेद्याख्यकर्मण्युदीर्णे सति इति संबंधः ।

अशरणता भावनाका सविस्तर वर्णन आचार्य करते हैं. ज्ञानावरणादिकर्म आत्मपरिणामोंसे उत्पन्न होते हैं. कषायसे इन कर्मोंमें अधिक स्थिति पडती है. जब क्षेत्र, काल भाव वगैरह कारण आकर मिलते हैं तब अशुभ फल आत्माको इनसे मिलता है. तब इन कर्मोंका निवारण करनेमें कोई भी समर्थ नहीं होता है. इस वास्ते मैं अशरण हूं ऐसा बार बार विचार करना योग्य है ऐसा आचार्य कहते हैं.—

अर्थ—कर्मका उदय आनेपर विचार युक्त बुद्धि नष्ट होती है. अवग्रह ईहा इत्यादिरूप मति ज्ञान और और आप्तके उपदेशसे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान इन दोनों से मनुष्य प्राणी हित और अहितका स्वरूप जान लेता है. अन्य उपायसे हिताहित नहीं जाना जाता है. शास्त्रों में इनका स्वरूप इस प्रकार कहा है—

१ सत्पुरुष स्वाभाविक बुद्धि और आगमजन्य बुद्धि ऐसे बुद्धिके दो भेद मानते हैं. जो मनुष्य इन दो बुद्धि ओंको धारण करता है वही अपना हित जाननेमें समर्थ होता है अन्य समर्थ नहीं होता है.

२ जिसकी स्वाभाविक बुद्धि तो निर्मल है. परंतु गुरुके मुखसे जिसने शास्त्राध्ययन नहीं किया है वह पुरुष जैसे नेत्रयुक्त मनुष्य रूपको देखकर भी भाषाके विना उसका वर्णन नहीं कर सकता है वैसे हितकर धर्मका स्वरूप जाननेमें असमर्थ होता है.

३ जिसको शास्त्रज्ञान तो है परंतु स्वाभाविक निर्मल बुद्धि नहीं है वह श्रुतज्ञानका फल जो हित उसको नहीं प्राप्त कर सकता जैसे दीप हाथमें लेकर भी अंधा पुरुष अपनी इच्छित वस्तु नहीं प्राप्त कर सकता है.

४ जिसने अपना मुंह वस्त्रसे ढक लिया है उसको दर्पणकी क्या जरूरत है. जो दान देता नहीं और भोगता भी नहीं उसको धनकी क्या अवश्यकता है। जो डरपोक है युद्धमें वह पुरुष शस्त्र लेकर करेगा ही क्या? वैसे जिसकी स्वाभाविक बुद्धि नहीं है वह शास्त्रसे अपना हित साध्य नहीं कर सकेगा.

५ ज्ञानावरण कर्मका उदय आनेसे उपर्युक्त बुद्धि नष्ट हो जाती है. ज्ञानी पुरुष, ज्ञान और उपकरण इनका द्वेष करना, इनको छिपाना इनका नाश करना, इनके साथ मत्सरभाव रखना, इनमें विघ्न उत्पन्न करना इनको अयोग्य बतलाना, इनमें दोष लगाना, इनको पीडा देना, अकालमें अध्ययन करना दुसरों की इंद्रिया बिघाडना, इत्यादि कारणोंसे ज्ञानावरणीय कर्मका बंध होता है यह बंध अवग्रह ईहा, अवाय और धारणा रूप मतिज्ञान अथवा श्रुत ज्ञानादिकका नाश करता है.

१ ज्ञानको आच्छादन करनेवाला कर्म जब यह अपुण्यवान जीव बंध लेता है तब अवग्रह ईहा, अवाय और धारण ऐसे चारों ज्ञानोंसे भी पदार्थोंका सच्चा स्वरूप जानने में असमर्थ होता है.

२ जो मनुष्य पदार्थोंके विशेषधर्मोंको नहीं जानता है वह नेत्रवान होकर भी अंधा है, सुनता हुआ भी बहिरा है, और जिव्हा युक्त होनेपर भी रसोंको नहीं जानता है ऐसा समझना चाहिये.

३ कर्मसे ढका हुआ यह कभी एकेंद्रिय, कभी द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय और कभी असंज्ञी पंचेंद्रिय बनता है.

४ कर्माच्छादित यह जीव हितकर वस्तु को न देख सकता है न सुन सकता है और न उसका विचार करनेमें समर्थ होता है. कर्मके वश होकर भी न दान देता है और न धनका स्वयं उपभोग ले सकता है इसलिये ऐसा कर्माच्छादित जीव पशुके बराबरीका समझना चाहिये.

५ अल्प बुद्धि होनेसे मनुष्य अपने समीपका भी हितकर पदार्थका स्वरूप जाननेमे असमर्थ होता है. फिर जो श्रुतज्ञानमे ही जाना जाता है, जो परलोकमें हित करनेवाला है ऐसे पदार्थका स्वरूप वह अज्ञ कैसा जानेगा?

६ महाभयानक गुहाके सघन अंधकारमें प्रवेश करनेसे, आगाध पानीमे प्रवेश करनेसे, दृढ ऐसे कैदखानेमें डाला जानेमे प्राणीको कष्ट दायक अज्ञानका अनुभव आता है.

७ अंधकारमें प्रवेश, पानीमें डूबना, कैदखानेमें डाला जाना इन बातोंसे प्राणिओंको एक जन्ममें—ही कष्ट होगा परंतु अज्ञानजन्य दुःख अनंत भवतक प्राणिओंका साथ नहीं छोडता है.

८ जो पुरुष स्वाभाविक बुद्धिसे रहित है वह विशाल श्रुतज्ञान जो कि मनुष्यकी तीसरी आंख है धारण करनेमें असमर्थ होता है.

१५६०

जिसको यह श्रुतज्ञान है वह नेत्रोंसे अंध होनेपर भी मोक्ष नगरीके कल्याणकारक मार्गमें सुखसे जा सकता है.

यह ज्ञानावरण कर्म इस प्रकारका अज्ञान उत्पन्न कर देता है कि उसको हटानेमें कोई समर्थ नहीं है. इसका निवारण करनेमें कोई उपाय है नहीं असातावेदनीय कर्मके उदयसे अमृत भी विष होता है और तृण भी छुरीका काम देता है बंधु भी शत्रु बन जाते हैं

ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे किं स्यादित्याह—

मुक्खस्स वि होदि मदी कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ ॥
णीया अरी वि सच्छ वि तणं अमयं च होदि विसं ॥ १७३० ॥

अस्ति कर्मोदये बुद्धिरुपायमवलोकते ॥
विपक्षो जायते बंधुः शस्त्रं पुष्पं विषं सुधा ॥ १७९७ ॥

विजयोदया—मुक्खस्स वि होदि मदी मूर्खस्यापि भवति मतिः । कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ कर्मोपशमे ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे सति उपायो दृश्यते । शुभगत्वपुण्यकर्मोदयात् । णीया अरी वि शत्रवोऽपि बंधवो भवंति स्वच्छंपि तणं शस्त्रमपि तृणं भवति, अमद होदि विसं विषमप्यमृतं भवति सद्वेद्योदये ॥

तद्विपर्ययदर्शनात्तत्कर्मनिवार्यता दृश्यते—

मूलारा—मुक्खस्स वि यथाजातस्य । कम्मोवसमे तथाविधमतिज्ञानावरणक्षयोपशमे सति । उवाओ कर्मोपशमस्य साधनं । च विसं विषमपीत्यर्थः ॥ असद्वेद्योदयाभावे सद्वेद्योदये वा सति द्विषदादयोऽपि बांधवादिभावं भजंति । तद्भावकरणक्षपणप्रगुणकर्मण उपशमे उदये वा उपायो लोके शास्त्रे च प्रतीयते इति समन्वयः ॥

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमसे क्या होता है इसका विवेचन—

अर्थ—ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होनेपर मूर्ख भी विद्वान् होनेमें देर नहीं लगती है. ज्ञानावरण क्षयोपशमसे संकटसे पार पडनेका उपाय ध्यानमें आ सकता है. क्योंकि उस समय पुण्यकर्मका उदय होजाता है. शत्रु भी मित्र होते हैं. शस्त्र भी तृणतुल्य निःसार होता है अर्थात् शस्त्रप्रहार भी पुष्पमालाके समान अनुभवमें आ जाता है. विष भी अमृत होता है.

पाओदएण अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स ॥
दूरादो वि सपुण्णस्स एदि अत्थो अयत्तेण ॥ १७३१ ॥

अर्थः पापोदये पुंसो हस्तप्राप्तोऽपि नश्यति ॥
दूरतो हस्तमायाति पुण्यकर्मोदये सति ॥ १७९८ ॥

विजयोदया—पावोदयेण लाभांतरायस्य कर्मण उदयेन, अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स हस्तप्राप्तोप्यर्थो नश्यति पुंसः । दूरादो वि दूरतोऽपि । सपुण्णस्स पुण्यवतः । एदि अत्थो आयात्यर्थः । अयत्तेण अयत्नेन ॥

तद्दर्थविप्लवसंप्राप्तावपि तत्कारणकर्मायत्ताविति स्थेयत्वेनोपदिशति—

मूलारा—पावोदयेण लाभांतरायविपाकेन । सपुण्णस्स सद्वेद्योदयवतः । अयत्तेण यत्नं विनापि ।

अर्थ—लाभांतराय कर्मका उदय आनेपर द्रव्य हस्तगत होकर भी नष्ट होजाता है. और पुण्यवानको प्रयत्न के विना ही दूर देशसे भी धन प्राप्ति होती है.

पाओदएण सुठ्ठु वि चेठ्ठंतो को वि पाउणदि दोसं ॥
पुण्णोदएण दुठ्ठु वि चेठ्ठंतो को वि लहदि गुणं ॥ १७३२ ॥

नरः पापोदये दोषं यतमानोऽपि गच्छति ॥
गुणं पुण्योदये श्रेष्ठं यत्नहीनोऽपि तत्वतः ॥ १७९९ ॥

विजयोदया—पावोदएण अयशस्कीर्तिकर्मोदयेन । सुठ्ठु वि चेठ्ठंतो सम्यक् चेष्टमानः । कोवि पाउणदि दोसं कश्चिदाप्नोति दोषं । पुण्णोदयेण पुण्यकर्मण उदयेन । दुठ्ठु वि चेठ्ठंतो यत्किंचित्कार्यं कुर्वन्नपि । कोवि लभदि गुणं कश्चिल्लभते गुणम् ॥

मूलारा—पावोदएण अयशःकीर्तिकर्मपाकेन । सुठ्ठुवि सम्यगपि । दोसं उपालंभं । दुठ्ठु वि चेठ्ठंतो अत्यर्थं विरुद्धं चेष्टमानो यत्किंचित्कार्यं कुर्वन्नपि इत्यर्थः । गुणं श्लाघा ।

अर्थ—पापका उदय आनेपर अर्थात् अयशस्कीर्ति कर्मका उदय होनेपर सदाचारी मनुष्य भी दोषी माना जाता है. पुण्यके उदयसे अकार्य करनेवाला भी कोई मनुष्य प्रशंसा का पात्र बनता है.

पुण्णोदएण कस्सइ गुणे असंते वि होइ जसकित्ती ॥
पाओदएण कस्सइ सुगुणस्स वि होइ जसघाओ ॥ १७१३ ॥

पुण्योदये परां कीर्तिं लभते गुणवर्जितः ॥
पापोदयेऽश्नुते गुर्वीमकीर्तिं गुणवानपि ॥ १८०० ॥

विजयोदया—पुण्णोदएण पुण्यस्योदयेन । कस्सइ होइ जसकित्ती कस्यचिद्भवति यशस्कीर्तिश्च । पाओदएण पापस्योदयेन । कस्सइ सुगुणस्स वि कस्यचित् सुगुणवतोऽपि । जसघादो होदि यशोघातो भवति ॥

मूलारा—जसकित्ती यशःकीर्तिश्च । छाघादो छायाघातः यशोविनाश इत्यर्थः ।

अर्थ—पुण्योदयसे किसी मनुष्य का यश सर्वत्र फैल जाता है. पापके उदयसे गुणी सदाचारी मनुष्यका भी यश नष्ट होता है.

णिरुवक्कमस्स कम्मस्स फले समुवट्ठिदंमि दुक्खंमि ॥
जादिजरामरणरुजाचिंताभयवेदणादीए ॥ १७३४ ॥

जन्ममृत्युजरातंके दुःखशोकभयादिके ॥
दीयमाने विपक्षेण निरुपक्रमकर्मणा ॥ १८०१ ॥

विजयोदया—णिरुवक्कमस्स निःप्रतीकारस्य कर्मणः । फले समुवट्ठिदंहि दुक्खंहि समुपस्थिते दुःखे, जादिजरामरणरुजाचिंताभयवेदणादीगे जातौ, जरायां, मरणे, व्याधौ, चिंतायां, भये, वेदनायां च समुपस्थिते ॥

दुर्वारकर्मोदयहेतुके जातादौ दुःखे संप्राप्ते कश्चित्क्वचित्त्राता आश्रयो वा नास्तीति भावनां गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—णिरुवक्कमस्स निष्प्रतीकारस्य । समुवट्ठिदम्मि संप्राप्ते ।

अर्थ—उपायरहित कर्मका जब उदय आता है तब उसका फल जो दुःख वह भोगना पडता ही है. अर्थात् जन्म, जरा-वृद्धावस्था, मरण, रोग, चिंता, भय, वेदना वगैरह दुःख भोगने पडते ही हैं.

जीवाण णत्थि कोई ताणं सरणं च जो हवेज्ज इधं ॥
पायालमदिगदो वि य ण मुच्चदि सकम्मउदयम्मि ॥ १७३५ ॥

न कोऽपि विद्यते त्राणं देहिनो भुवनत्रये ॥
न प्रविष्टोऽपि पातालं मुच्यते कर्मणा जनः ॥ १८०२ ॥

विजयोदया—जीवाण जीवस्य । नास्ति कश्चिद्रक्षा शरणं वा । जो हवेज्ज यो भवेत् । पादालमदिगदो वि पातालं प्रविष्टोपि । ण मुच्चदि । न मुच्यते दुःखात् । सकम्मउदयंहि स्वकर्मोदये सति ॥

मूलारा—ताणं रक्षा । सरणं आश्रयः। इधं अस्मिन् । मुच्चइ मुच्यते । लोके। अवि य अपि च । एतेन दुर्गमक्षेत्रलब्धेर्वैयर्थ्यं समर्थ्यते । ण मुचदि न विछिद्यते जालादिकादुदुःखात् ॥

अर्थ— प्राणिओंको जगतमें कोई भी शरण नहीं है. यह जीव कर्मसे पिंड छुडानेके लिये पातालमें चला जाय तो वहां भी यह कर्म उसको छोडता नहीं. जबतक यह जीव स्वकर्मोदयसे अलग नहीं होगा तब तक इसका दुःख से छुटकारा नहीं होगा.

गिरिकंदरं च अडविं सेलं भूमिं च उदधिं लोगंतं ॥
अदिगंतूणं वि जीवो ण मुच्चदि उदिण्णकम्मेण ॥ १७३६ ॥

नगदुर्गे क्षितौ शैले लोकांते काननेऽम्बुधौ ॥
गतोऽपि कर्मणा जीवो नोदीर्णेन विमुच्यते ॥ १८०३ ॥

विजयोदया—गिरिकंदरं च गिरिकंदरं अटवीं शैलभूमिमुदधिं । लोकांतं प्रविश्यापि जीवो न मुच्यते । उदयागतेन कर्मणा ॥

भूयोऽपि क्षेत्रलब्धिं प्रबंधेन तिरस्करोति —

मूलारा—गिरिकंदरं पर्वतपानीयविदारितस्थानं । अदिगंतूण वि गत्वा पि तिष्ठन् ।

अर्थ—पर्वतकी दरीमें, जंगलमें, पर्वतमें, जमीनमें, समुद्रमें इतना ही नहीं लोकके अंतमें भी जीव यदि जाकर बसेगा तो भी उदयमें आये हुए कर्मसे यह छुटकारा नहीं पाता है.

दुगचदुअणेयपाया परिसप्पादी य जंति भूमीओ ॥
मच्छा जलम्मि पक्खी णभम्मि कम्मं तु सव्वत्थ ॥ १७३७ ॥
द्विचतुर्बहुपादा ये ते गच्छंति महीतले ॥
जले मीनाः खगा व्योम्नि कर्म सर्वत्र सर्वदा ॥ १८०४ ॥

विजयोदया—दुगचदुअणेगपादा द्विचतुरनेकपादिकाः । परिसप्पादी य जंति भुमीओ परिसर्पादयश्च यांति भूमावेव । मत्स्या जले पक्षिणो नभसि यांति ॥ कर्म सर्वत्र ॥

मूलारा—परिसप्पंता अपादा उरगादयः । कम्मं तु सव्वत्थ स्वकृतकर्मविपाकेन जीवाः कचिदपि न मुच्यंते इत्यर्थः ।

अर्थ—दो पांवके जीव, चार पांवके जीव, अनेक पांवके जीव और सर्पादिक जीव जमीन पर निवास करते हैं. मत्स्य पानीमें रहते हैं. पक्षी आकाशमें रहते हैं. परंतु कर्म सर्वत्र रहता है.

रविचंदवादवेउव्वियाणमगमा वि अत्थि हु पदेसा ॥
ण पुणो अत्थि पएसो अगमो कम्मस्स होइ इधं ॥ १७३८ ॥
अगम्या विषयाः संति रविचंद्रानिलामरैः ॥
प्रदेशो विद्यते कोपि नागम्यः कर्मणा पुनः ॥ १८०५ ॥

विजयोदया—रविचंदवादवेउव्विगाणं सूर्येण, चंद्रेण, वातेन, देवैश्चागम्यास्संति प्रदेशाः । न कर्मणामगम्योऽत्र प्रदेशोऽस्ति लोके ॥

कुत इत्याह—

मूलारा—वेउव्वियाण वैक्रियिकाणां । देवविद्याधरादीनां । अगमा अगम्याः ।

अर्थ—सूर्य, चंद्र, वायु और देव भी जहां प्रवेश नहीं कर सकेंगे ऐसे भी बहुतसे प्रदेश हैं. परंतु कर्मके लिए अगम्य प्रदेश कोई भी नहीं है.

विज्जोसहमंतबलं बलवीरिय अस्सहत्थिरहजोहा ॥
सामादिउवाया वा ण होंति कम्मोदए सरणं ॥ १७३९ ॥

न योधा रथहस्ताश्चा विद्यामंत्रौपधादयः ॥
सामादयोऽपि चोपायाः पान्ति कर्मोदयेऽङ्गिनाम् ॥ १८०५ ॥

विजयोदया—विज्जामंतोसधिबलवीरियं विद्या स्वाहाकारांता तद्रहितता मंत्रस्य । वीर्यमात्मनः शक्त्यतिशयः । बलमाहारव्यायामजं शरीरस्य दार्ढ्यं, अनीकवध । सामभेददण्डोपप्रदानाख्याश्च हेतवो न शरणं ॥

दुष्कृतपाकोद्रेकनिराकरणविद्यामत्रादीनामपि माहात्म्यप्रतिघातमनुसंधत्ते—

मूलारा—बल आहारव्यायामादिज देहदार्ढ्यं । वीया बाधवाः ।

अर्थ–जिसके अंतमें स्वाहाकार है वह विद्या है. मंत्र स्वाहाकारसे रहित होता है. मंत्रकी शक्तिको वीर्य कहते हैं. शरीरमें आहार और व्यायाम करनेसे जो दृढता उत्पन्न होती है उसको बल कहते हैं. ये पदार्थ कर्मके उदयसे आत्माका रक्षण करनेमें असमर्थ हैं. घोडे, हाथी, रथ, योद्धागण, साम दंडादिक उपाय, इनका भी सामर्थ्य कर्मोदय आनेपर नष्ट होता है. कर्म सबसे बलवान है.

जह आइच्चमुदेंतं कोई वारेंतउ जगे णत्थि ॥
तह कम्ममुदीरंतं कोई वारेंतउ जगे णत्थि ॥ १७४० ॥

फेनेद्धादीयमानानां कर्मणां ज्योतिषामिव ॥
निषेधः शक्यते कर्तुं स्वकीये समये सति ॥ १८०६ ॥

विजयोदया—जह आइच्चमुदेंत यथा दिनमणिमुदयाचलचूडामणितामुपयांत न निवारयति कश्चित्तथा समधिगतसहकारिकारणं कर्म न निषेद्धुमास्ति समर्थ. ॥

किंबहुना—

मूलारा—आइच्चं आदित्यं । उदीरंतं उदयावलिकाप्रवेशोन्मतं ।

अर्थ जैसे उदयाचल पर आनेवाले सूर्यको कोई रोक नहीं सकता वैसे सहकारी कारण मिलनेपर उदयमें आये हुए कर्मको कोई भी जीव रोक नहीं सकता.

रोगाणं पडिगारा दिट्ठा कम्मस्स णत्थि पडिगारो ॥
कम्मं मलेदि हु जगं हत्थीव णिरंकुसो मत्तो ॥ १७४१ ॥
प्रतीकारोऽस्ति रोगाणां कर्मणां न पुनर्जने ॥
कर्म मृद्गाति एरुनीव लोकं मत्तो निरंकुशः ॥ १८०७ ॥

विजयोदया—रोगाणं पडिगारा दिट्ठा व्याधीनां प्रतीकारा दृष्टा औषधादयः । कर्मणां नास्ति प्रतीकारः जगद्दोषं मर्दयति कर्म मदगज इव निरंकुशो नलिनीवन ॥

समुद्योक्तमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण निरूपयत्याह—

मूलारा—रोगाण व्याधीनां अर्थाद्दुष्टापचारजानां । कर्मजानां तु तन्हानामेव प्रतीकारः ।

अर्थ-रोगोंका प्रतिकार औषधादिक इलाज तो देखे गये हैं. कर्मका इलाज किसीने भी नहीं देखा है. उन्मत्त हाथी अंकुशकी भी पर्वाह नहीं रखता हुआ कमलवनका मर्दन करता है वैसे ये कर्म भी संपूर्ण जगका मर्दन करते हैं.

रोगाणं पडिगारो णत्थि य कम्मे णरस्स समुदिण्णे ॥
रोगाणं पडिगारो होदि हु कम्मे उवसमंते ॥ १७४२ ॥
प्रतीकारो न रोगाणां कर्मणामुदये सति ॥
उपचारो ध्रुवं तेषामस्ति कर्मशमे सति ॥ १८०८ ॥

विजयोदया—रोगाण पडिगारो व्याधीनां प्रतीकारो नास्ति कर्मण्यसद्वेद्ये प्राप्तोदये सति, पथ्यौषधादिभिरुपशमो रोगादीनां सो पि कर्मण्युपशम गत एव नानुपशांतेऽस्र ॥

मूलारा—समुदिण्णे सम्मुखोदये । उवसमंते उपशम याति मंदोदये भवतीत्यर्थः ।

अर्थ- जब असाता वेदनीय कर्मका उदय आता है तब रोगोंका नाश करनेमें औषधियां असमर्थ हो जाती हैं. यद्यपि पथ्य और औषधियोंका सेवन करनेसे रोगोंका शमन होना अनुभवमें आता है तो भी वहां कर्मका

उपशमन होना ही मूल कारण है. अंतरंग कारण कर्म जब उपशांत होता है तब औषधि और पथ्य सेवन रोगनाश करनेमे समर्थ होते हैं अन्यथा वे निष्फल हो जाते हैं.

विज्जाहरा य बलदेववासुदेवा य चक्कवट्टी वा ॥
देविंदा व ण सरणं कस्सइ कम्मोदए होंति ॥ १७४३ ॥

बलकेशवचक्रेशदेवविद्याधरादयः ॥
सन्ति कर्मोदये क्वापि शरणं न शरीरिणाम् ॥ १८०९ ॥

विजयोदया—विज्जाहरा य विद्याधरादयो महाबलपराक्रमा अपि न शरणं भवंति कर्मोदय इति गाथार्थः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—जब कर्मोदय तीव्र होता है तब महापराक्रमी विद्याधर, बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ति भी प्राणीका रक्षण करने में समर्थ नहीं होते हैं. इतनाही नहीं, देवेंद्रभी उस प्राणीका रक्षण करने में असमर्थ है.

वोलिज्ज च कमंतो भूमिं उदधिं तरिज्ज पवमाणो ॥
ण पुणो तीरदि कम्मस्स फलमुदिण्णस्स वोलेदुं ॥ १७४४ ॥

गच्छन्नुल्लंघते क्षोणीं नरस्तरति नीरधिम् ॥
नातिक्रांतुं पुनः कोऽपि कर्मणामुदयं क्षमः ॥ १८१० ॥

विजयोदया—वोलिज्ज उल्लंघयेत् गच्छन् भूमिं, समुद्रांतरप्लवमानः। उदीर्णस्य कर्मणः फलमुल्लंघयितुं न वेत्ति कोऽप्यो वा महाबलोपि ॥

मूलारा—वोलिज्ज उल्लंघयन् । चंकमंतो पद्भ्यां गच्छन् । पवमाणो प्लवमानः । तीरदि शक्नोति ।

अर्थ—भूमिपर चलता हुआ प्राणी भूमीके अंततक जा सकेगा. समुद्रको भी उलंघकर जा सकेगा. परन्तु कर्मका उदय आनेपर उसको उलंघनकी ताकद महाबलवान पुरुषोंमें भी नहीं है. अल्पशक्तियोंकी तो क्या कथा ? १५६८.

सीहतिमिंगिलगहिदस्स णत्थि मच्छो मगो व जध सरणं ॥
कम्मोदयम्मि जीवस्स णत्थि सरणं तहा कोई ॥ १७४५ ॥

मृगमीनौ परौ जन्त्वोः सिंहमीनगृहीतयोः ॥
जायते रक्षकः कोऽपि कर्मग्रस्तस्य नो पुनः ॥ १८११

विजयोदया—सीहतिमिंगिलगहिदस्स सिंहेन तिमिंगिलाख्येन महामत्स्येन च गृहीतस्य नैव शरणं भवति अन्यो मृगो मत्स्यो वा । तथा कर्मोदये जीवस्य नास्ति कश्चिच्छरणम् ॥

मूलारा—तिमिंगिलो महामत्स्यः । मच्छो तिमिंगिलादन्यः ॥

अर्थ—सिंह किंवा तिमिंगल (महामत्स्य ने) पकडे हुए प्राणीको कोई पशु अथवा मत्स्य उससे नहीं छुडा सकता है वैसे तीव्र कर्म के उदयसमयमें इस प्राणी को कोई भी व्यक्ति नहीं छुडा सकती है उसे उस कर्मका फल भोगना ही पडता है.

व्यावर्णितानामशरणत्वं मनसावधार्य इदं शरणमिति चिंतनीयमिति कथयति—

दंसणणाणचरित्तं तवो य ताणं च होइ सरणं च ॥
जीवस्स कम्मणासणहेदुं कम्मे उदिण्णम्मि ॥ १७४६ ॥

कर्मनाशनसहानि जनानां ज्ञानदर्शनचरित्रतपांसि ॥
नापहाय सति कर्मणि पक्के रक्षकानि खलु संति पराणि ॥ १८१२ ॥

इति अशरणम्

विजयोदया—दंसणणाणचरित्तं तवो य ज्ञानं दर्शनं चारित्रं तपश्च रक्षा शरणं च भवति । जीवस्य कर्मणां नाशहेतुः कर्मण्युदीर्णेष्वसहायादौ । प्रथमदारणानुप्रेक्षा गता ॥ असरण ॥

असत्कर्मोदये प्रागुक्तानामशरण्यतां प्रणिधाय दर्शनादिकं शरण्यतया प्रणिधेयमित्यनुशास्ति—

मूलारा—कम्मणासणहेदुं अशुभकर्मक्षपणकारणत्वात् । अशरणानुप्रेक्षा ॥

ऊपर जिनका वर्णन किया गया है वे अशरणरूप हैं परंतु आगेकी गाथामें प्रतिपादित पदार्थ शरण समझकर उनका चिंतन करना चाहिये ऐसा आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान,चारित्र और तप ये चार आत्मगुण ही आत्माके शरण–रक्षक हैं. जीवके कर्मोंका ये ही नाश करते हैं. असतावेदनीयादि कर्मके उदय होनेपर भी उपर्युक्त चार पदार्थ ही आत्माका रक्षण करते हैं. अशरणानुप्रेक्षा समाप्त.

एकत्वानुप्रेक्षा उत्तरेण प्रबंधेनोच्यते—

पावं करेदि जीवो बंधवहेदुं सरीरहेदुं च ॥
णिरयादिसु तस्स फलं एक्को सो चेव वेदेदि ॥ १७४७ ॥

करोति पातकं जन्तुर्देहबांधवहेतवे ॥
श्वभ्रादिषु पुनर्दुःखमेकाकी सहते चिरम् ॥ १८१३ ।

विजयोदया—पापं करोति जीवो बांधवनिमित्तं शरीरनिमित्तं च । बांधवशरीरपोषणार्थं कृतस्य कर्मणः फलं नरकादिष्वेक एवानुभवति । नरकादिगतिषु प्राप्तं दुःखमपश्यंतस्तत्रासंतो बांधवाः किं कुर्वंतीति आशंकां निरस्यति-सन्निहिताः पश्यंतोप्यकिंचित्करा इति कथनेन ॥

धर्म्यध्यानध्येयतया भावयितुमेकत्वं गाथासप्तकेन वर्णयति–

मूलारा—बंधवेत्यादि बंधूनां स्वदेहस्य च पोषणार्थं । एक्कओ चेव एकक एव । असहाय एवेत्यर्थः ।

एकत्वानुप्रेक्षाका सविस्तर वर्णन.

अर्थ—अपने शरीरका पोषण करनेके लिये तथा बांधवों के पोषणार्थ यह जीव पाप करता है. किये हुए कर्मका फलभी इस अकेले जीवको ही भोगना पडता है. नरकादिगतिके जो दुःख इस जीवको भोगने पडते हैं. बंधुओंको उनका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता है अतएव वे उसका दुःख दूर करनेमें असमर्थ होते हैं ऐसा कहना भी योग्य नहीं है. क्यों कि जब इस प्राणी को इस लोकमे रोगादिसे दुःख होता था तब भी वे केवल देखकर भी दूर करनेमें असमर्थ थे तो परलोकका दुःख उनसे दूर होगा ऐसी आशा करना कैसा योग्य होगा?

रोगादिवेदणाओ वेदयमाणस्स णिययकम्मफलं ॥
पेच्छंता वि समक्खं किंचिवि ण करंति से णियया ॥ १७४८ ॥

वेदनां कर्मणा दत्तां रोगशोकभयादिकाम् ॥
किं भुंजानस्य कुर्वन्तु पश्यन्त्यो ज्ञातयो ऽङ्गिनः ॥ १८१४ ॥

विजयोदया—रोगादिवेदणाउ रोगादिदु-खानि । णियय कम्मफलं निजकर्मफलं स्वयोगत्रयोपचितकर्मणः फलं । वेदयमाणस्स वेदयमानस्य । समक्खं पेच्छंतावि प्रत्यक्षं पश्यंतोपि । णियया निजका बांधवाः,ते तस्स किंचिवि ण करंति किंचिदपि प्रतीकारजातं न कुर्वंति । परत्रेह वा जन्मन्येक एवानुभवति जंतुर्न तदीयकर्मफलसंविभागकरणे समर्थः कश्चिदिति भवति ॥

नरकादिदुर्गतिगतस्य दुःखमपश्यंतो बांधवाः कथं प्रतिविदध्युरित्यभिसंधिं प्रत्याचष्टे—

मूलारा—किंचिवि प्रतीकारजातं । परत्रेह वा जन्मनि स्वकर्मफलमनुभवतो जीवस्य न कश्चित्संविभागी भवतीति भावः ॥

अर्थ—इस जीवको रोगादिकसे जो वेदना होती है वह मन वचन और काययोगसे उपार्जन किये पापकर्मका फल है. इस फलका अनुभव जब यह जीव लेता है तब उसका बंधुगण प्रत्यक्ष देखकर भी उस दुःखका प्रतीकार नहीं कर सकता है. इह लोक हो चाहे परलोक हो अकेले प्राणीको ही दुःख भोगना पडता है. उसके किये हुए कर्म का भागीदार कोइ नहीं हो सकता है.

तह तथा यथा दुःखं स्वकर्मफलमेक एवानुभवति ॥—

तह मरइ एक्कओ चेव तस्स ण विदिज्जगो हवइ कोई ॥
भोगे भोत्तुं णियया विदिज्जया ण पुण कम्मफलं ॥ १७४९ ॥

एकाकी म्रियते जीवो न द्वितीयो ऽस्य कश्चन ॥
सहाया भोगसेवायां न कर्मफलसेवने ॥ १८१५ ॥

विजयोदया—तथा स्वायुर्गलने । एक्कगो चेव मरदि एक एव प्राणांस्त्यजति॥ ण विदिज्जगो ण कोई न सहायो भवति कश्चित् । तदीयं मरणं संविभज्य गृहीत्वा सहायतां न कश्चित्करोतीत्यर्थः ॥ अन्यथा एक एव म्रियते इत्यघटमाने बहूनामप्येकदा मरणात् । भोगे भुज्यंतेऽनुभूयंत इति भोगाः द्रव्याणि अशनवसनसुखवासादीनि । भोत्तुमनुभवितुं निजका बांधवाः । विदिज्जगा सहायाः । ण पुण न पुनः । कम्मफल भोत्तुं णीयगा विदिज्जया, तदीयकर्मफलं भोक्तुं न बंधवस्सहायाः ॥

दुःखानुभूतिनिदर्शनेन मरणे सहायाभावं भावयति—

मूलारा—तथ दु सानुभवनतत् । ण विदिज्जगो न द्वितीयः । दुःखवन्मरणं विभज्य गृहीत्वा सहायो न कश्चि-द्भवनीत्यर्थः । भोगे अशनवसनादीन् ॥

जैसे अपने किये हुए कर्मका दुःखरूपी फल यह जीव स्वयं ही भोगता है वैसे—

अर्थ—इस प्राणीका आयुष्य पूर्ण होनेपर उसको अकेलेको ही मरण का स्वीकार करना पडता है. अर्थात् मरणदुःखका विभाग लेकर उसको कोई साहायक नहीं होता है. अन्यथा एकही मरता है इस वचनकी घटना ही अयुक्त दीखेगी. क्योंकि बहुत जन एक समयमें मरेंगे. परन्तु ऐसा नहीं होता है अतः 'तह मरइ एकओ चेव' यह वचन युक्तियुक्त है. अन्न, वस्त्र, तांबूल, धन इनका उपभोग लेनेके लिए बांधव सहाय्य करते हैं परन्तु कर्मफल का अनुभव अकेले को ही लेना पडता है. अन्य बांधव उनको सहायक नहीं होते हैं.

प्रकारांतरेणैकत्वभावनामाचष्टे—

णीया अत्था देहादिया य संगा ण कस्स इह होंति ॥
परलोगं अण्णेत्ता जदि वि दइज्जंति ते सुट्ठु ॥ १७५० ॥

देहार्थबांधवाः सार्धं न केनापि भवांतरम् ॥
वल्लभा अपि गच्छन्ति कुर्वन्तो ऽपि महादरम् ॥ १८१६ ॥
स्वकीया देहिनो ऽत्रैव देहार्थस्वजनादयः ॥
स्वीकृताःसंभ्रमेणापि न कदाचिद्भवान्तरे ॥ १८१७ ॥

विजयोदया—णीगा अत्था बंधवो धनं शरीरादिकाश्च परिग्रहाः कस्यचिदपि संबंधिनो न यांति परलोकं प्रति प्रस्थितं । यद्यपि सुष्ठु काम्यंते परिग्रहा । गृहीत्वा तान्यदि नामास्य गंतुमुत्कंठा तथापि ते नानुगच्छंत्येक एव यातीत्ये-कत्वभावना ॥

ना भूवन्पुपरिग्रहा परलोके सहगंतारः पृष्ठगंतारस्तु भविष्यन्ति इति व्यामोहव्यपोहनार्थमाह—

मूलारा—अण्णेत्ता अन्वेतारः । परलोकं गच्छत कस्यचित्पश्चाद्गामिनो न भवंतीत्यर्थः । इच्छिज्जंति इच्छितीक्रियंते काम्यंते इत्यर्थः ।

अर्थ—बांधव, धन, शरीर, पुत्र, स्त्री, वगैरह सम्बन्धीजन परलोक यात्रा करनेवाले प्राणीके साथ आते नहीं हैं. सुन्दर परिग्रहों पर इस जीवका ममत्व रहता है और परलोकमें भी इनको ले जानेकी उत्कण्ठा उसके मनमें उत्पन्न होती है परन्तु वे उसके साथ नहीं जाते हैं अर्थात् यह मोही जीव भी उनको ले जानेका सामर्थ्य अपनेमें नहीं रख सकता है ऐसी एकत्वभावना भानी चाहिए.

इहलोगबंधवा ते णियया ण परस्स होंति लोगस्स ।
तह चेव धणं देहो संगा सयणासणादीयं ॥ १७५१ ॥
स्वकीयं परकीयं न विद्यते भुवनत्रये ॥
नैकस्याटाट्यमानस्य परमाणोरिवांशिनः ॥ १८१८ ॥

विजयोदया—इहलोगबंधवा अस्मिन्नेव जन्मनि बांधवाः । परस्स लोगस्स ण णीयया होंति अन्यस्य जन्मनो न बंधवो भवंति । तह चेव बांधवा इव धणं देहो संगा सयणासणादी य धनं शरीरं शयनासनादयश्च परिग्रहा इह लोके एव न परजन्मनि उपकारका भवंति ॥ एवं हि ते बांधवाः परिग्रहाश्च सहाया इति ग्रहीतुं शक्यते यद्यनपायितया उपकारिणः स्युः । इह जन्मन्येव ये प्रयान्ति ते परलोकं गच्छंतमनुसरंतीति का प्रत्याशा ॥

मूलारा—तह चेव बांधवा इवैहिकधनादयोऽपि नामुत्रोपकारकाःस्युरित्यर्थः ॥

अर्थ—जो इह लोकमें अपने बांधव हैं वे इहलोकसम्बन्धी ही है. परलोकमें अर्थात् अन्यजन्म में वे अपने बांधव नहीं माने जाते हैं. इन बांधवोंके समान धन, शरीर, परिग्रह,—शयनासनादिक परिग्रह भी इह लोकके ही समझने चाहिए परलोकमें इनसे सहाय होगा ऐसा संकल्प मनसे हटाना चाहिए. इसलिए बांधव और परिग्रह सहायक नहीं है ऐसा समझना चाहिए. इस जन्ममें भी इस प्राणीका सम्बन्ध ये बांधवादिक छोड देते हैं ऐसा अनुभवमें आता है तो परलोकमें जीव के साथ ये आवेंगे ऐसी आशा रखना क्या अज्ञानताका खेल नहीं है.

यद्येते बांधवादयो न सहायाः कस्तर्हि सहाय इत्याशंकायामाचष्टे—

जो पुण धम्मो जीवेण कदो सम्मत्तचरणसुदमइओ ॥
सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥ १७५१ ॥

भवांतरं समं गत्वा धर्मो रत्नत्रयात्मकः ॥
उपकारं परं नित्यं पितेव कुरुते ऽङ्गिनः ॥ १८१९ ॥

विजयोदया—जो पुण यः पुनः । जीवेण कदो धम्मो जीवेन कृतो धर्मः,सम्मत्तचरणसुदमइगो रत्नत्रयरूपो दुर्गतिं प्रस्थितं जीवं धारयति धत्ते वा शुभे स्थाने इति रत्नत्रयं धर्म इत्युच्यते । सो सः व्यावर्णितो धर्मः। जीवस्स जीवस्य । परलोगे परजन्मनि । गुणकारकः सहायो भवति ॥ अभ्युदयनिश्रेयससुखप्रदानात् ॥ तथा चोक्तं—

दत्वा द्यावापृथिव्योर्धरविपर्ययरति वीतभीशुग्विषादां, कृत्वा लोकत्रयैश्वर्यं सुरनरपतिभिः प्राप्य पूजां विशिष्टां ॥ मृत्युव्याधिप्रसूतिप्रियविगमजरारोगशोकप्रहीणे मोक्षे नित्योरुसौख्ये क्षिपति निरुपमे यस्स नोऽव्यात्सुधर्म इति । ननु असहायत्वभावनाधिकारे सहायनिरूपणा कथमुपयुज्यते ॥ नैष दोषः यो येन जंतुना सहायत्वेनाध्यवसितो बांधवादिरसौ सहायो न भवतीति न तत्रादरः कार्यः । सम्यक्त्वज्ञानचारित्रात्मकस्तु धर्मः । धर्मोपि जीवपरिणाम उपकारि सहाय इति । तत्रादरो जन्यते सूरिणा । अतिशयितधर्माख्यसहायनिरूपणेन ज्ञातिधनादीनां तथाभूतसहायता समर्थता भविष्यति । अत्रोच्यते । सम्यक्त्वादयः शुभपरिणामाः प्रशस्तगतिजातिगोत्रसंघातसंहननायुःसद्वेद्यादिकमात्मनि निधाय नश्यंति तेन देवो वा नरः पंचेंद्रियः पर्याप्तकः कुलीनः शुभनीरोगशरीरश्चिरजीवी सुखी भविष्यति ॥ धर्मानुबंधिनः पुण्यस्योदयात् ॥ दीक्षाभिमुखा बुद्धिर्निरतिचाररत्नत्रयसंपत्तिश्च भविष्यतीति संभवत्युपकारसहायता धर्मस्य ॥ ननु च ज्ञानपूर्वकत्वाच्चरणस्य सम्मत्तचरणसुदमइगो इति कथमुपन्यस्तं ? अयमभिप्रायः सत्यपि श्रुतज्ञाने असंयतसम्यग्दृष्टेश्चारित्राभावाच्च महत्यौ संवरनिर्जरे मुख्यगुणे भवतः ॥ तस्मान्मुख्यार्थिनश्चारित्रं प्रधानं, किंच तज्ज्ञानमुपायश्चारित्रमुपेयं अतः परार्थत्वाज्ज्ञानं प्रधानं उपेयत्वाचरणं प्रधानमिति॥ जो पुण धम्मो जीवेण कदो इत्यनेन धर्मस्य सर्वथा नित्यत्वं प्रतिविद्धं फलवैचित्र्यमनुभवसिद्धं, सर्वदैकरूपत्वं धर्मस्य विरुध्यते । सुखसाधनानां स्त्रीवस्त्रगंधमाल्यादीनां वैचित्र्यात् । तत्कार्यसुखस्यापि वैचित्र्यं नित्यत्वेपि धर्मस्य घटयेदिति चेत् अत्रोच्यते ॥ अतिशयितानतिशयितसुखसाधनता तस्य धर्महेतुना न वेत्यत्र विकल्पद्वये धर्महेतुत्वाभ्युपगमे कथं न वैचित्र्यं धर्मस्य । अथ न धर्मो हेतुः सहेतुसामान्यायत्तसुखसाधनानां सातिशयनिरतिशयतदायत्तः फलविभाग इति । धर्मस्यानर्थक्यमापद्यते ॥ ततो न धर्मस्य सर्वथा नित्यता ॥

कस्तर्हि प्रेत्योपकारीत्यत्राह—

मूलारा—गुणकारयसहाओ अभ्युदयनिःश्रेयसप्रदानादुपकारः सहगामी । उक्तं च—

दत्त्वा द्यावापृथिव्योर्वरविपयरतिं वीतभीशुग्विषादां ॥
कृत्वा लोकत्रयीशं सुरनरपतिभिः प्राप्य पूजां विशिष्टाम् ॥
मृत्युव्याधिप्रसूतिप्रियविगमजरारोगशोकप्रहीणे ॥
मोक्षे नित्योरुसौख्ये क्षिपति निरुपमे यः सो नोऽव्यात्सुधर्मः ॥

बांधवादयोऽत्रामुत्र परमार्थेनोपकारकसहाया न स्युरिति तेषु न मनागप्यादरः कार्यः। धर्मे तु तद्विलक्षणत्वादभी-क्ष्णमादरवता भवितव्यमित्युपदेशेनासहायत्वप्रकरणेऽपि धर्मस्योपकारकसहायतोक्तिरुपयोगिनी। ननु चारित्रप्रधानस्य धर्मस्य मैत्रसहायत्वाभावात्सहायतानुपपन्नेति न शंक्यं । धर्मानुबन्धितदनुरागजन्यसुकृतसम्भारस्य निःश्रेयसावसाना-भ्युदयसाधकत्वस्योपकारकसहायभावसम्भवाविरोधात् ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यग्ज्ञान रूप अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्म जो इस जीवने धारण किया था वही पर लोकमें इसका कल्याण करनेवाला सहायक होता है. यह रत्नत्रयात्मक धर्म दुर्गतिके तरफ जानेवाले जीवको धारण करता है अर्थात् शुभ इंद्रादिपदोंमें स्थापन करता है. इसलिये इस रत्नत्रयको धर्म यह अन्वर्थ नाम प्राप्त हुआ है. यह जीव इस जीवको परलोकमें कल्याण करनेवाला मित्र है क्योंकि यह अभ्युदयसुख और मोक्षसुखको देनेवाला है.

आगममें इस धर्म के विषयमें ऐसा कहा है —

भय, शोक और खिन्नताको दूर कर यह धर्म जीवको इस भूतलके और स्वर्गके सौख्योंको अर्पण करता है. लोकत्रयके ऐश्वर्य देकर यह धर्म देवेंद्र और राजेंद्रों के द्वारा जीवको पूजित करता है. यह जीव धर्म के प्रसादसे मृत्यु, रोग, इष्ट पदार्थोंका वियोग, वृद्धावस्था, शोक इत्यादिक आपत्तियोंसे रहित होता है. और नित्य, उपमारहित और महान् सौख्य जिसमें है ऐसे मोक्षकी भी प्राप्ति कर लेता है. ऐसा अपूर्व हितकारक धर्म अर्थात् रत्नत्रयात्मक धर्म हमारा नित्य रक्षण करे

शङ्का—असहायत्व भावनाके प्रकरणमें सहायका निरूपण करना कैसा योग्य दीखता है ?

उत्तर – इस जनने जिन बांधवोंको सहायक समझकर रक्खा है वे वास्तवतया सहायक नहीं है इसलिये उनमें आदर नहीं करना चाहिये और सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्रात्मक धर्म में आदर करना चाहिये क्योंकि यह

जीवपरिणाम हैं और उपकारक अर्थात् सहायक हैं. इस धर्ममें आचार्य आदर उत्पन्न करते हैं. धर्म ही सबसे उत्कृष्ट सहायक है. जाति, धन वगैरह पदार्थोंसे ऐसी उत्कृष्ट सहायता कभीभी नहीं मिलती है और न मिलेगी. इसलिये प्रकृत असहायताकाही यह वर्णन हुआ.

सम्यक्त्वादिक शुभपरिणाम उत्तमगति, जाति, गोत्र, संवास, संहनन, आयुष्य, सातावेदनीयादि शुभकर्म इत्यादिक उत्तम सामग्रीको देकर नष्ट हो जाते हैं. इन परिणामोंमें देवपना, मनुष्यपना, पंचेंद्रियपूर्णता, पर्याप्तक, अवस्था, कुलीनपणा, शुभ और नीरोगशरीर, दीर्घजीवित्व और सुखावस्था प्राप्त होती है क्योंकि इन परिणामोंसे पुण्यका उदय होता है. इन परिणामोंसे दीक्षा लेनेके लिये आत्मा तयार होता है, और निरतिचार रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है, इसलिये धर्मसे उपकाररूप सहायता प्राप्त होती है.

शंका—चारित्र ज्ञानपूर्वक होता है परंतु गाथामें 'सम्मत्तचरणसुदमइगो' ऐसा उलटा क्यों कहा है अर्थात् चारित्रपूर्वक ज्ञान होता है ऐसा क्यों उल्लेख किया है ?

उत्तर इस उल्लेख का अभिप्राय ऐसा है—सम्यग्ज्ञान होनेपर भी असंयत सम्यग्दृष्टिको चारित्रका अभाव रहता है इसलिये चारित्रके बिना महान् संवर और निर्जराभी मुख्यगुण नहीं माने जाते हैं. इस लिये मुख्यताका अभिप्राय लेकर चारित्रको प्रधानता दी गई है. और इस विषयमें ऐसी युक्ति है—सम्यग्ज्ञान उपाय है और चारित्र उपेय है पदार्थ की दृष्टिसे सम्यग्ज्ञान प्रधान है अर्थात् कारण की दृष्टिसे ज्ञान प्रधान है परंतु चारित्र प्राप्य है इस दृष्टिसे मुख्य है

'जो पुण धम्मो जीवेण कदो' इस वाक्यसे धर्म सर्वथा नित्य है इस कल्पना का परिहार हुआ. क्योंकि धर्माचरणमें प्राणिओंको जो विविध सुखादि फलों का अनुभव आजाता है इसलिए धर्मका सर्वदा एक स्वरूप नहीं है अर्थात् रत्नत्रय रूप परिणाम जिनको धर्म संज्ञा आचार्योंने दी है उनमें तरतमता होनेसे उनसे प्राप्त हुए सुखादि फलोंमें भी तरतमता अवश्य अनुभवमें आती है. सुखके साधक स्त्री, वस्त्र, गन्ध, पुष्पमालादिक पदार्थोंमें विविधता देखी जाती है इससे उसका कार्य जो सुख वह भी अनेक रूपका अनुभवमें आता है.

धर्म नित्य मानने पर भी ऐसी विचित्रता हो सकेगी ऐसा कहना योग्य नहीं है. अतिशय सुखके साधक अथवा असाधन ये स्त्री गंधादिक पदार्थ होते हैं उसके लिए धर्म कारण है या नहीं. ऐसे दो विकल्प यहां होते हैं.

यदि धर्म कारण है ऐसा मानते हो तो धर्म की विचित्रता अर्थात नानाविधता है ऐसा मानना होगा. यदि धर्म उसका हेतु नहीं है तो सामान्यकारणोंके आधीनता से सुखके साधनोंमें निरतिशय और सातिशय ऐसा फल विभाग नहीं हो सकता है. अत एव धर्म ही कारण मानना चाहिये. नहीं तो धर्म की व्यर्थता होती है. इस वास्ते धर्म को सर्वथा नित्य मानना योग्य नहीं है.

शरीरद्रविणादीनां असहायताभावनां तद्गोचरानुरागनिवर्तनमुखेन स्थिरयत्युत्तरगाथा—

बद्धस्स बंधणे व ण रागो देहम्मि होइ णाणिस्स ॥
विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तहा ॥ १७५२ ॥

भोगं रोगं धनं शल्यं गेहं शुषिः स्त्रियो यथा ॥
मंधुं च मन्यते बंधं साधुरेकत्वचासित : ॥ १८२० ॥
यद्वद्बंधनेनेव रागो यस्य न विग्रहे ॥
स करोत्यावरं साधुःकिमर्थं ऽनर्थकारिणि ॥ १८२१ ॥
बंधनतुल्यं चरणसहायं पश्यति गात्रं मथितकषायः ॥
यो मुनिवर्यो जनधनसंगे तस्य न रागःकृताहितभंगे ॥ १८२२ ॥

इति एकत्वम् ।

विजयोदया—बद्धस्स बंधणेव ण रागो रज्जुश्रृंखलाभिर्बद्धस्य बंधनक्रियासाधकतमे रज्ज्वादौ दुःखहेतौ यथा न रागः। तथा देहम्मि होदि णाणिस्स सुखदु खसाधनविवेकज्ञस्य दुःखहेतावसारेऽस्थिरेऽशुचिनि काये न रागो भवति ॥ गुणपक्षपातिनो हि प्राज्ञाः । विससरिसेसु विषसदृशेष्वपि ण रागो णाणिस्स ज्ञानिनो नैव रागः । केषु ? अत्थेसु सर्व्वेसु ॥ कथमर्थानां विषसदृशतेति चेत् । यथा विष दु सदापि प्राणान्वियोजयति तथार्थोप्यर्जनरक्षणादिषु व्यापृतं दु पेन योजयति, प्राणानां च विनाशे निमित्तं भवति ॥ तथाहि ॥ प्राणिनोऽर्थार्थं एव परस्परं प्रघ्नंते प्रयतंते अतएव महाभयहेतुत्वान्महाभयतार्थानां सूत्रकारेणोक्ता । अत्थेसु महाभयेसु इति यद्धि यस्यानुपकारि तस्य तस्मिन्न विवेकिनः सहायबुद्धिर्यथा विषकंटकादौ, अपकारि शरीरद्रविणादिकमिति पुनः पुनरभ्यस्यतो नेतरः सहायोऽयमिति चिंताप्रबंधः प्रवर्तते ॥

तनुधनानुरागनिवारणद्वारेण तत्र सहायवान्भावयितुमाह—

मूलारा—बन्धणे रज्जुशृंखलादौ । ण रागो न प्रीतिः दुःखहेतुत्वात् । णाणिस्स सुखदुःखसाधनविवेकज्ञस्य । विससरिसेसु दुरुद्धरत्वात्प्राणप्रणाशित्वाच्च क्ष्वेडकल्पेषु । महब्भएसु विपवदपकारकतमत्वादतिभयंकरेषु । यद्धि यन्यानुपकारि तत्र तस्य न विवेकिनः सहायबुद्धिर्यथा विपकंटकादि । अपकारि च शरीरद्रविणादिकमिति पुनः पुनरस्य पश्यतो यतेरसहायोऽहमिति चिंताप्रबन्धः प्रवर्तते इति तात्पर्यम् "इत्येकत्वानुप्रेक्षा"

अर्थ—रज्जु अथवा शृंखलासे बद्ध हुआ पुरुष बंधनक्रिया करने में साधकतम ऐसी रज्जु-दोरी और लोह की सांखल में प्रेम नहीं करता है वैसे सुखदुःख के साधनोंका विवेकज्ञान जिनको हैं ऐसे पुरुष शरीर में स्नेह नहीं रखते हैं. यह शरीर, निःसार, अस्थिर, अपवित्र है ऐसा समझकर वे इससे विरक्त होते हैं. क्योंकि वे गुणोंके पक्षपाती हैं. ज्ञानी पुरुष विषके समान दुःखद ऐसे धनोंमें राग भाव नहीं रखते हैं. विषके सदृश धन दुःखदायक क्यों हैं इसका उत्तर ऐसा है—विष दुःख देता है और प्राणोंका नाश करता है वैसे धन भी कमाना, रक्षण करना इत्यादि कार्योंमें तत्पर पुरुष को दुःख उत्पन्न करता है—यह धन प्राणों का भी नाश करनेमें निमित्त है. इस धनके लिये प्राणी परस्पर घातपात करनेमें प्रवृत्त होते हैं. इस लिये यह महाभयका कारण है.

जो जिसका नाश-अपाय करता है उसमें उसकी-अर्थात् विवेकी पुरुषकी सहायता बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है. विषकंटकादिकोंमें जैसे लोक ये मेरे उपकारक है ऐसा नहीं समझते हैं वैसे शरीर, धनादिक पदार्थ भी अपकारी हैं ऐसे विवेकी जन समझते हैं. और वारवार इसी विषयका आभ्यास कर यति मैं असहाय हूं ऐसी चिंता करते हैं. एकत्वानुप्रेक्षाका वर्णन समाप्त.

अन्यत्वभावनानिरूपणार्थमुत्तर प्रबंध ॥ एकत्त—

किहदा जीवो अण्णो अण्णं सोयदि हु दुक्खियं णीयं ॥
ण य बहुदुक्खपुरक्कडमप्पाणं सोयदि अबुद्धी ॥ १७१४ ॥

दुःखव्याकुलितं दृष्ट्वा किमन्योऽन्येन शोच्यते ॥
किं नात्मा शोच्यते जन्ममृत्युदुःखपुरस्कृतः ॥ १८२३ ॥

विजयोदया—किहदा अण्णो जीवो अण्ण णीगं किहदात्तोयदिलि गदवटना । अन्यो जीवो नीगं स्वस्मादन्यं-

ज्ञातिवर्ग। दुःखितं दुःखेनाभिभूतं, कथं तावच्छोचति। न य सोचदि नैव शोचते ॥ कं अप्पाणं आत्मानं कीदृग्भूतं बहुदुक्खपुरक्कडं शारीरैरागंतुकैः, मानसैः, स्वाभाविकैश्च बहुभिर्दुःखैः पुरस्कृतं अबुद्धिमापतिते काले चतसृषु गतिषु चिरमनुभूतासद्वेद्योदयात् द्रव्यक्षेत्रकालभावसहकारिकारणसान्निध्यापेक्षयानुपरतमापदः प्राप्ताः पुनरप्यागमिष्यंति मां स कथमलीकर्तुं। न हि कारणाभ्यासस्थितसहकारिसमये सति कार्यस्यानुद्भवो नामास्ति, यो यद्भावेपि नासादयेदुदयं स कथं तद्धेतुकः, यथा सत्यपि यवबीजेऽनुपजायमानस्यूतांकुरस्तथा सत्यसद्वेद्योदये यदि न स्युर्दुःखादीन्यसद्वेद्यकारणानि न स्युर्न भवंति च तस्मादात्मप्रदेशावस्थितस्य दुःखबीजस्य केनोपायेनापायो भविष्यतीत्यकृतबुद्धिः तथा ह्यबुद्धिः। एतदुक्तं भवति परस्य दुःखं आत्मन एव दुःखमिति मत्वा शोकमभ्युपैति तद्विनाशे च सततं प्रयत्नं च करोति तथा च प्रवर्तमानस्य स्वदुःखस्य निवृत्तये न प्रारंभोऽस्ति ततोयं दुःखं भोजं भोजं पर्यटति न च परो दुःखात्त्रातुं शक्यते तेन हि संचितानि कर्माणि कथं फलं न प्रयच्छंति॥ न हि परस्य शोकः फलदायिनां कर्मणां प्रतिबंधकः, तथा चाभ्यधायि॥ प्रीतिपूर्वं कृतं कर्म मनोवाक्कायकर्मभिः। न निवारयितुं शक्यं संहतत्रिदशैरपि। इति तेनान्यदुःखापेक्षः शोकोऽस्य व्यर्थः॥ अन्यशब्देन च स्वदुःखात्पृथक्त्वं परदुःखस्योच्यते। अन्यत्र परदुःखागतस्यानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षा एव परदुःखस्यान्यतामरं प्रेक्षमाणः परदुःखस्योपहननं कर्तुं न शक्यत इति न शोचति, स्वदुःखोन्मूलने प्रयतत इति भावोऽस्य सूरेः॥

धर्म्ये ध्यियतां प्रापयितुं अन्यत्वं त्रयोदशगाथाभिर्व्याचक्षाणः स्वदुःखात्परदुःखमन्यदित्यबुद्धिः कथमन्यं दुःखार्तं शोचतीति सखेदादद्भुतमिदमाह—

मूलारा—णीयं निजं ज्ञातिवर्गं। पुरक्कडं पुरस्कृतं। भायविचित्रदुर्गतिदुःखबीजस्यासद्वेद्यस्यात्मनि अवस्थितत्वात्। अबुद्धी आत्मस्थदुःखबीजापायोपायचिंताशून्यत्वादनिशाधिपरदुःखशोचनानुचरणाच्चाबुद्धिः। एतदुक्तं भवति—परस्य दुःखमात्मन एव मन्यमानः शोकमयसङ्गो जनो याति। तदुच्छेदे च नित्यं प्रयतते। तथा चास्य न स्वदुःखोच्छेदाय प्रयत्नः स्यात्। ततोऽयं दुःखं भोजं भोजं संसरति। न च परो दुःखात्त्रातुं शक्यते। न हि परस्य शोचनं तद्दुःखफलं तत्कर्मणो प्रतिबंधकं। तथा चाभ्यधायि—

प्रीतिपूर्वं कृतं कर्म मनोवाक्कायकर्मभिः॥
न निवारयितुं शक्यं संहतत्रिदशैरपि॥

एवं परदुःखस्य स्वदुःखादन्यतामनुप्रेक्षमाणः परदुःखं निराकर्तुं न शक्यते। इति न शोचति परदुःखं। दुःखस्य छेत्तुं यतत इत्यभिप्रायः॥

अर्थ—अपने संबंधी जनोंको दुःखसे पीडित देखकर यह अबुद्धि मनुष्य दुःख करता है शोक करने १५७९
लगता है. शोक करना उसके लिये अयोग्य है. क्योंकि वह स्वयं अनेक दुःखोंसे पीडित हुआ है. अर्थात् अपना

दुःख दूर करनेमें असमर्थ जन दूसरों का दुःख दूर करने में कैसा समर्थ होगा? शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक दुःखों से पीडित होकर वह अपने को सुखी समझ रहा है अत एव स्वयं अज्ञानी है-चारों गतिओं में नाना प्रकारके असाता वेदनीय कर्म के उदयसे और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप सहकारी कारणों की सहाय्यतासे अनेक आपत्तियां मेरे उपर आई हुई थी और भविष्यकालमें आवेंगी, मेरे को दुःखित करेंगी इसको वह स्वयं नहीं जानता है. उपादान कारणों को सहकारी कारणोंकी मदत होनेपर अवश्य कार्य होता है- जो जिसके होनेपरभी उत्पन्न नहीं होता है वह उसका कैसा कार्य माना जायगा? जैसे सातूका बीज होने पर भी आम्रवृक्षका अंकुर उत्पन्न नहीं होता है क्यों कि वह यवबीजका कार्य नहीं हैं वैसा यदि असता वेदनीय कर्म का उदय होनेपर भी दुःख, शोक, तापादिक कार्य नहीं होंगे तो असता वेदनीय कर्म उदयका कारण नहीं है ऐसा मानना पडेगा. परंतु दुःखादिक उत्पन्न होते है. इससे असाता वेदनीय कर्म उनका उपादान कारण है ऐसा सिद्ध होता है.

इसलिए आत्मप्रदेशोंमें ठहरा हुआ, दुःखका कारणभूत असातावेदनीय कर्म किस उपायसे नष्ट होगा इसका ज्ञान इस जीवको नहीं है. इसलिए इसको अज्ञानी कहा है. यह जीव अन्यके दुःखोंको अपने ही समझकर शोकको प्राप्त होता है और उसका नाश करनेका प्रयत्न सतत करता है. ऐसी प्रवृत्ति करनेवाला यह अज्ञानी पर दुःख दूर करने के लिए प्रवृत्त होता है. परंतु स्वदुःख दूर करनेका प्रयत्न नहीं करता है जिससे संसारमें बार बार दुःख भोगता हुआ भ्रमण करता है. परंतु उससे दूसरा पुरुष दुःखोंसे रहित नहीं किया जा सकता है. जिसने जो कर्म उपार्जित किए हैं वे उसको फल देते ही हैं शोक करनेपर क्या फल देने वाले कर्म रुक सकते हैं ? अर्थात् शोक करने से स्वजनोंको दुःख देनेवाला कर्म कोई दूर नहीं कर सकते हैं. आगममें इस विषय में ऐसा कहा है.

प्रीतिपूर्वक मन वचन और कायके द्वारा जो प्राणिओंने कर्मोपार्जन किया है उसके फलको सर्व देव इकट्ठे होकर भी दूर नहीं कर सकते हैं. इसलिये दूसरोंका दुःख देखकर शोक करना व्यर्थ है. अपने दुःखसे परकीय दुःख भिन्न है. ऐसा विचार करनेवाला जीव दुसरोंका दुःख दूर करना अशक्य है ऐसा समझकर शोक नहीं करता है. और अपने दुःखोंको दूर करनेका प्रयत्न करता है ऐसा अभिप्राय आचार्यने व्यक्त किया है.

अथैरुम जीवराशितरात्मनोऽन्यत्वस्यैवानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षेति कथयत्युत्तरगाथा—

संसारम्मि अणंते सगेण कम्मेण हीरमाणाणं ॥
को कस्स होइ सयणो सज्जइ मोहा जणम्मि जणो ॥ १७५५ ॥
संसारे भ्रममाणानामनंते कर्मणाङ्गिनः ॥
कः कस्यास्ति निजो मूढः सज्जतेऽत्र जने जने ॥ १८२४ ॥

विजयोदया—संसारंमि अणंते अंतातीते पंचविधे संसारे परिवर्तने । सगेण कम्मेण आत्मीयमिथ्यादर्शनादि परिणामोत्पादितकर्मपर्यायेण पुद्गलस्कंधेन हीरमाणाणं आकृष्यमाणानां बहुविधां गतिं प्रति । को कस्स होदि सयणो नैव कश्चित् कस्यचित्स्वजनो नाम प्रतिनियतोऽस्ति । युज्यतेयं विवेकःस्वजनोऽयं परजनोऽयमिति। यदि यो यस्य स्वज-नत्वेनाभिमतस्स तस्यैव स्वजनः सर्वदा भवेत्। परजनो वा स्वजनतां नोपेयात् ॥ न चायमस्ति प्रतिनियमः स्वकर्म परतंत्राणामतो न कश्चित् स्वो जनः परो वा ममास्ति ।सर्वो जीवराशिर्मिथ्यात्वादिगुणविकल्पोपनीतनानात्वोऽन्य एवेति कृतव्यवसायस्य क्वचिदेव दया प्रीतिर्वा क्वचिन्निर्दयता द्वेषोऽसमानतारूपो न प्रादुर्भवति ॥ ततो विरागद्वेषस्य चारित्रम-विकलं भवति । सज्जदि जणंमि जणो आसक्तिं करोति जने जनोममायं भ्राता पिता पुत्रो भागिनेयो दासःस्वामीति वा मोहादयस्तुनत्वस्य अन्यतामात्ररूपस्य निरस्तस्वजनत्वस्य परिज्ञानात् ॥

न कश्चित्कस्यापि स्वो जनः परो वास्तीति सर्वेभ्यःपृथक्त्वं भावयितुमाह—

मूलारा—हीरमाणाणं तां तां गतिं नीयमानानां । को इत्यादि । यदि हि यो यस्य स्वजनत्वेनाभिमतः । स तस्य स्वजन एव स्यात्सदा । परत्वेनाभिमतो वा कदाचिदपि स्वाजन्यं गच्छेत् तदा स्वजनोऽयं परजनोऽयं इति नियमो यु-ज्येत । नैवमोऽस्ति, स्वस्वकर्मपरतंत्रत्वात्सर्वेषां तर्हि कुवस्त्योऽयं स्वपरविभाग इत्यत्राह—सज्जदि ममायं पुत्रो भ्रातेत्यादि तया प्रीतिविषयतया शत्रुरयमेवादीत्यादिनिर्दयत्वद्वेषविषयतया वा आसक्तिं बध्नाति । मोहो मत्तः । सर्वेऽप्यन्ये, सर्वेभ्यो पि याहमन्य इति भेदज्ञानाभावात् । एवं च भावयतो यतेः स्वपरविभागबुद्धिव्यपगमादप्रादुर्भवद्रागद्वेषपरिणतेः सर्वत्र ममताचरणचूडामणिः परिणमते ।

संपूर्ण जीवराशि अपनेसे भिन्न है ऐसा विचार करना ही अन्यत्वानुप्रेक्षा है ऐसा आगेकी गाथामें आचार्य कहते हैं—

अर्थ—पांच प्रकार के परिवर्तनोंसे युक्त इस अनंत संसार में मिथ्यादर्शन, अविरति, वगैरह परिणामोंसे

उत्पन्न हुए कर्मरूपी पुद्गल स्कंधोंसे बद्ध होकर यह जीव अनेक गतिओंमें भ्रमण करता है. इस लिये इस संसारमें कोई भी जीव किसी का नियमसे स्वजन है नहीं. यदि स्वजनसंबंध होता तो यह स्वजन है और यह परजन है ऐसा मानना योग्य होता. यदि जो जिसका स्वजन है वह उसका हमेशा ही स्वजन मानना पडेगा. जो परजन है वह कभी भी स्वजन नहीं होगा अतः यह नियमन नहीं है. सब जीव कर्मसे परतंत्र हो रहे हैं. अतः मेरा कोई स्वजन और परजन नहीं है. सर्व जीवसमुदाय मिथ्यात्वादि भिन्नभिन्न परिणामोंसे एक दूसरेसे भिन्न ही है ऐसा विचार कर हे क्षपक तू किसीमें प्रेम किसीमें निर्दयता, द्वेष ऐसी असमानता नहीं धारण करनी चाहिये. जब रागद्वेषरहित तू हो जावेगा तब निर्विकल्प चारित्रका धारक बनेगा. मोहसे यह मेरा भाई है, यह मेरा पिता है, पुत्र है भानजा है ऐसी कल्पना करके अन्यजनोंपर आसक्ति करता है. मैं इनसे भिन्न हूं और ये मेरेसे भिन्न हैं. ऐसा भेदज्ञान नहीं होनेसे अन्य जनोंमें आसक्ति उत्पन्न होती है,

---

प्रकारांतरेण स्वजनपरजनाविवेकाभावं दर्शयत्युत्तरगाथा ॥

सव्वो वि जणो सयणो सव्वस्स वि आसि तीदकालम्मि ।
पंते य तहाकाले होहिदि सजणो जणस्स जणो ॥ १७४६ ॥

काले ऽतीते ऽभवत्सर्वः सर्वस्यापि निजो जनः ॥
तथा कर्मानुभावेन भविष्यति भविष्यति ॥ १८२५ ॥

विजयोदया—सव्वो वि जणो सजणो निरवशेषो जंतुरनंतः स्वजनः । सव्वस्स वि सर्वस्यापि प्राणभृतः। तीदकालंमि अतीते काले आसि आसीत् । पंते य तथा काले भविष्यति तथा काले। होहिदि भविष्यति । सजणो जणस्स जणो स्वजनो जनस्य जनः । एतदनेनाख्यायते ॥ अतीते भविष्यति च काले सर्वस्य सर्वः स्वजन आसीद्भविष्यति च ॥ तत-स्सर्वसाधारणत्वे स्वजनत्वस्य सति ममायं स्वजन इति मिथ्यासंकल्पः । तेऽप्यन्ये ममाप्यन्यस्तस्य इत्येतदेव तत्त्वमित्य-न्यत्वस्य स्वपरविषयस्यानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षा ॥

सर्वः सर्वस्य स्वजन आसीत्कर्मवशाद्भविष्यति भवति चेति सर्वसाधारणे स्वजनत्वे सति ममैवायं स्वजन इत्येष संकल्पो मम स्यात्, ते मदन्ये तेभ्यश्चाहमन्य इति स्वपरविषयान्यत्वभावनार्थमाह—

मूलारा—जणो जन्तुः । सव्वस्स प्राणिनः ' तीद अतीताः । पंते भविष्यंति ।

स्वजन और परजन इस विवेकका अभाव प्रकारांतरसे दिखाते है.

अर्थ—इस जगतमें जितने प्राणी है उनसे भूतकालमें मेरा बंधुत्वका संबंध था भविष्यकालमें भी इनसे स्वजन संबंध रहेगा अर्थात् सर्वजन सर्वजनके बंधु थे और आगेभी अर्थात् भविष्य कालमें भी रहेंगे अर्थात् स्वजनत्व संबंध सर्व जीवोंके साथ सर्वजीवोंका सामान्य रूपसे होनेपरभी यही मेरा स्वजन है और ये मेरेसे भिन्न है ऐसा समझना भूलसे खाली नहीं है. इसलिये ये प्राणी मेरेसे भिन्न हैं और मैं इनसे भिन्न हूं ऐसा विचार करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है.

रत्तिं रत्तिं रुक्खे रुक्खे जह सउणयाण संगमणं ॥
जादीए जादीए जणस्स तह संगमो होई ॥ १७५७ ॥

संगमोऽस्ति शकुंतानां रात्रौ रात्रौ तरौ तरौ ॥
तथा तथा तनूभाजां जातौ जातौ भवे भवे ॥ १८२६ ॥

विजयोदया—रत्ति रत्ति रात्रौ रात्रौ । रुक्खे रुक्खे वृक्षे वृक्षे । जह सउणयाण संगमणं यथा पक्षिणां संगमनं । जादीए जादीए जन्मनि जन्मनि । जणस्स जनस्य । तहा तथा संगमो होदि संगमो भवति । यथा रात्रावाश्रयमंतरेण स्थातुमसमर्थाः पक्षिणो योग्यं वृक्षमन्विष्य ढौकंते ॥ तद्वत्प्राणिनोपि निरवशेषगलितायुःपुद्गलस्कंधाः परित्यक्तभाक्तनशरीराः शरीरांतरग्रहणार्थिनः शरीरग्रहणयोग्यदेशं योनिसंज्ञितमास्कंदंति ॥ तत्र ययोः शुक्रशोणितमयमाश्रितोऽशुचि तयं तौ पितराविति संकल्पयति । तथाभूतयोरेव शुक्रशोणितयोरुत्पत्तिर्देहा भ्रातर इति ॥ अन्ये न एवंभूताश्च स्वजनिनोतिसुलभाः ॥ कांतारे पक्षिणां निवासवृक्षा इवेति भावः ॥

तदेव स्वजनाप्रतिनियतत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति ॥

मूलारा—जादीए जन्मनि ॥

अर्थ—प्रत्येक रात्रीमें प्रत्येक वृक्षपर जैसे पक्षी आकर बैठते हैं. वैसे प्रत्येक जन्ममें प्राणिओंका संगम होता है. जैसे रात्रीमें आश्रयके विना पक्षी ठहर नहीं सकते हैं इस लिये योग्य वृक्षको शोधकर उसका आश्रय लेते हैं. वैसे प्राणी भी संपूर्ण आयुष्य रूपी पुद्गलस्कंध नष्ट होने पर पूर्व शरीरका त्याग करते हैं. अन्य शरीरको धारण करने की इच्छा करते हुए शरीरग्रहणके योग्य प्रदेशकी जिसको योनि ऐसा नामान्तर है प्राप्त कर लेते हैं. वहां

जिनके रक्त और वीर्यका आश्रय इस को मिला है उनको यह जीव मातापिता समझने लगता है. तथा जिन्होंने उसके समान जिनके रक्तवीर्य का आश्रय लेकर जन्म धारण किया है वे उसके भाई है इस प्रकारसे स्वजनता सुलभ है. जैसे जंगलमें पक्षिओंको रहनें के लिये वृक्ष सुलभ है.

पहिया उवासये जह तहिं तहिं अल्लियंति ते य पुणो ॥
छंडित्ता जंति णरा तह णीयसमागमा सव्वे ॥ १७५८ ॥

अध्वनीना इवैकत्र प्राप्य संगं ततोऽगिनः ॥
स्थानं निजं निजं यान्ति हित्वा कर्मवशीकृताः ॥ १८०७ ॥

विजयोदया—पहिया पथिकाः। उवासये उपाश्रये कास्मिंश्चित्। जह यथा। तहिं तहिं तस्मिंस्तस्मिन् ग्रामनगरादौ। अल्लियंति अन्योन्यं ढौकंते। ते य तेच संगताः पथिकाः। पुणो पश्चात्। छंडित्ता त्यक्त्वा। जंति यांति स्वाभिमतं देशं। तथा। णीयसमागमा सव्वे तथा बंधुसमागमाः सर्वेपि च ॥ एतेन बंधुसमागमस्यानित्यता व्याख्याता ॥

बंधूनां विघटनद्वारेणान्यत्वं भावयितुमाह—

मूलारा—उवासए वसेरकस्थाने । तहिं ग्रामनगराद्युपांतवर्तिनि । अल्लियंति अन्योन्यं ढौकन्ते । तथ पथिकनरसंगमसमा बंधुसमागमा यदमी स्वतः पृथक् न स्युः कथं विघटंते इत्यनित्यत्वानुप्रेक्षणम् ॥

अर्थ—जैसे किसी एक धर्मशालामें पथिक लोक आकर ठहरते हैं. तथा किसी ग्राम और नगरमें मिलकर भी जाते हैं पुनः वे पथिक नियुक्त होकर भी इधर उधर अपने इष्ट स्थान को जाते हैं. वैसा ही सर्व बंधुसमागम हैं. इस गाथासे बंधुसमागमकी अनित्यता स्पष्ट की गई है.

भिण्णपयडिम्मि लोए को कस्स सभावदो पिओ होज्ज ॥
कज्जं पडि संबंधं वालुयमुट्ठीव जगमिणमो ॥ १७५९ ॥

नानाप्रकृतिके लोके कस्य कस्तत्त्वतः प्रियः ॥
कार्यमुद्दिश्य संबंधो वालुकामुष्टिवज्जनः ॥ १८२८ ॥

विजयोदया—भिण्णपयडिम्मि लोगे नानास्वभावे लोके । कस्स सभावदो पिओ होज्ज कः कस्य स्वभावेन प्रियो भवेत् । समानशीलतायां हि सख्यं भवति । न च सर्वबंधवः समानशीलाः कथं तर्हि तेषां वा स बांधवः । कज्जं पडि संबंधो कार्यमेवोद्दिश्य संबंधः नास्ति कार्येऽस्ति संबंधः । वालुगमुट्ठीव वालुकामुष्टिरिव । जगमिणमो लोकोयं । यथा वालुकानां भिन्नप्रकृतीनां द्रवद्रव्यमंतरेण न स्वाभाविकः संबंधो येन संगता मुष्टिमुपेयुः । उदकादिद्रव्योपनीतैव संगतिस्तासां, एवं कार्योपनीतैव संगतिः स्वजनानां ॥

मा भूदनुभवविरोधिना तदात्मनो बंधुभिः संबन्धः । स्वाभाविकप्रेमादिभावेन भविष्यति इति मोहादभिनिविशमानमुद्बोधयति—

मूलारा—भिण्णपयडिम्मि नानास्वभावे । को इत्यादि समानशीलतायां हि सख्यं । न च सर्वे बंधवः समानशीलाः । कथं तर्हि तेषां संबंध इत्याह—कज्जं पडि कार्यमुद्दिश्य, स्वाभिमतसाध्यमपेक्ष्य । संबंधः प्रियत्वेन वृत्तिः । न चार्थं स्थेयान् । यदोक्तः—

गते ते लोचने तात ये लग्ने त्रिफलारसे ॥

कार्यानुबंधे यत्प्रेम तद्विद्धि गतमेव हि ॥

ततः किं स्थितमित्याह—जगमिणमो लोकोयं । वालुकामुष्टिरिव । यथा वालुका द्रवद्रव्येणैव न स्वाभाविक संबंधेन संगताः सत्यो मुष्टिमुपेयुस्तथा ज्ञातयः कार्यापेक्षयैव संबद्धा एकत्वं गच्छेयुरिति भावः । एवं च भावयतः कार्योपनीतसंगविवलप्रवृत्तताहात्म्यविभ्रमविभ्रंशादन्यत्वैकातनिर्बंधेन धर्मध्यानाय योग्यता समुन्मीलति ॥

अर्थ—यह जग नाना स्वभावात्मक है. इसलिये कौन प्राणी स्वभावतः प्रिय है? समानशील प्राणीमेंही सख्य रहता है. परंतु सर्व बंधु समानशील–समान स्वभाववाले नहीं होते हैं. किस कार्यके वश होकर ही संबंध होता है. कार्य हो जानेपर संबंध नष्ट होता है. जैसे वालुके कण भिन्नभिन्न रहते हैं परंतु उनमें जलादि द्रवपदार्थ का प्रवेश होनेपर वे कण अन्योन्य मिल जाते हैं अर्थात् स्वाभाविक संबंध उनमें नहीं हैं. उदकादि द्रव्यसे ही उनका परस्पर संबंध होता है. उसी प्रकार कार्यसेही स्वजनोंके साथ संबंध है.

तं च कार्यकृतं संबंधं स्पष्टयत्युत्तरगाथा—

माया पोसेइ सुयं आधारो मे भविस्सदि इमोत्ति ।

पोसेदि सुदो मादं गब्भे धरिओ इमाएत्ति ॥ १७६० ॥ १५८५

माता पोषयते पुत्रमाधारोऽयं भविष्यति ॥
मातरं पोषयत्येष गर्भेऽहं विधृतोऽनया ॥ १८२९ ॥

विजयोदया—माया पोसेदि सुदं माता पोषयति सुतं। आधारो मे भविस्सदि इमोत्ति अयं ममाधारो भविष्यतीति। पोसेदि सुदो मादं पोषयति सुतो मातरं। गब्भे धारिदो इमायत्ति गर्भे धारितोऽनयेति ॥

कार्यापेक्षमेव सम्बन्धं निर्दिशति—

मूलारा—इमाए त्ति अनया। मातरं पोषयतो मे कृतज्ञतातिशयादनुरक्तोऽन्योऽप्युपकाराय प्रवर्तिष्यत इति तदाऽपोषणे च यो मातुरपि न प्रत्युपकरोति स कथमन्यस्य कृतघ्नः प्रत्युपकरिष्यतीत्यपरथा तु (?) सर्वोऽपि जनो मम निश्वसन्त्यार्थेन प्रवर्तिष्यते कार्यापेक्षयैव पुत्रो मातरं पुष्णातीति मन्यते।

इस संबंध को उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—माता यह मेरा लडका मेरा आधार होगा इस हेतुसे पुत्र का पोषण करती है. तथा इसने मेरेको गर्भ में नउ महिने तक धारण किया था ऐसा समझकर पुत्रभी माताका रक्षण करता है. अर्थात् कार्योद्देशसे स्वजन परजन यह विभाग होता है. उपकारसे मित्रता और अपकारसे शत्रुता होती है.

उपकारापकारयोः प्रतिबंधात् शत्रुता मित्रता चेति कथयति—

होऊण अरी वि पुणो मित्तं उवकारकारणा होइ ॥
पुत्तो वि खणेण अरी जायदि अवयारकरणेण ॥ १७६१ ॥

अमित्रं जायते मित्रमुपकारविधानतः ॥
तनूजो जायते शत्रुरपकारविधानतः ॥ १८३० ॥

विजयोदया—होऊण अरी वि शत्रुरपि भूत्वा। पुणो पुनः। मित्तो होदि सुहृद्भवति स एवारिः। कुतः? उपकारकरणानुपकारकरणेन। पुत्तोवि खणेण अरी जायदि पुत्रोपि क्षणेन शत्रुर्भवति, केन? अपकारकरणेन, निर्भर्त्सनताडनाद्यपकरणक्रियायाः ॥ यस्मादेवं ॥

मित्रत्ववच्छत्रुत्वस्याप्यौपाधिकत्वमेव बोधयति—

मूलारा—अरी अपमानाद्यपकारकरणादपकारकत्वेन शत्रुरपि भूत्वा। अत्र ममायं शत्रुरित्यपकार्यापकारकभावे-

मेव ममार्थं पुत्र शत्रुकार्याविकारकभावेनापि संबंधस्यानवस्थितत्वात् शत्रुणेव पुत्रेणापि न स्वाभाविकः संबंधोऽस्तीति भावनाद्वारेण अन्यत्वनिरूपणमीयते ।

इसका विवेचन—

अर्थ—जो शत्रु है वही उपकार करनेसे मित्र बनता है. पुत्र भी एकक्षण में अपकार करनेसे शत्रु बनता है. अर्थात् निर्भर्त्सना करना, ठोकना इत्यादि अपकारोंसे पुत्र पिता का शत्रु बन जाता है.

तम्हा ण कोइ कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि संसारे ॥
कज्जं पडि हुंति जगे णीया व अरी व जीवाणं॥ १७६२ ॥

न कोपि देहिनः शत्रुर्न मित्रं विद्यते ततः ॥
जायते कार्यमाश्रित्य शत्रुर्मित्रं विनिश्चितम् ॥ १८३१ ॥

विजयोदया—तम्हा तस्मात् । ण कोइ कस्सइ सयणो य जणो य अत्थि संसारे नैव कश्चित्कस्यचित्स्वजनः परजनो विद्यते । कज्जं पडि होंति णीया य अरी य जनः कार्यमेवोपकारापकारलक्षणं प्रति बंधवः शत्रवश्च भवंति । न स्वभाविकी बंधुता शत्रुता वा जीवानामानि उपकारापकारक्रिययोरनवस्थितत्वात्तन्मूलोऽरिमित्रभावोप्यनवस्थित इति न रागद्वेषौ कर्तव्यौ कार्यौ । मत्तोऽन्ये सर्व एव प्राणभृत इति कार्यान्यत्वानुप्रेक्षेति प्रस्तुताधिकारेणाभिसंबंधः ॥

यत एवम्—

मूलारा—सयणो य जणो य स्वजनो वा बंधुः । जनो वा सामर्थ्यात्परजनः । अथवा अवजणो अपकर्ता जन इति भावम् । कज्जं उपकारापकारलक्षणं कार्यं । एवं च बंधुत्वशत्रुत्वयोःअनवस्थितत्वाध्यवसायाद्रागद्वेषोपरमान्मत्तोऽन्ये सर्वेऽपि भिन्ना इत्यन्यत्वानुप्रेक्षणाभिसंबंधः ॥

अर्थ—इसलिये इस संसारमें कोई किसीका स्वजन और परजन नहीं है. कार्य के वश होकर स्वजन परजन व्यवहार दुनियामें चलता है. जिसके ऊपर हम उपकार करते हैं वह हमारा मित्र बनता है. और जिसके ऊपर हम अपकार करेंगे वही हमारा शत्रु होगा. स्वाभाविक बंधुता किसीमें नहीं है. शत्रुता भी किसी के साथ स्वाभाविक नहीं रहती है. उपकार और अपकार पर शत्रुत्व और मित्रत्वका व्यवहार निर्भर है ऐसा समझकर किसीमें भी रागद्वेष नहीं करना चाहिये. सभी प्राणी मेरेसे भिन्न हैं यह भावना हृदयमें सदैव धारण करनी चाहिये

शत्रुमित्रयोर्लक्षणमाचष्टे—

जो जस्स वट्टदि हिदे पुरिसो सो तस्स बंधवो होदि ॥
जो जस्स कुणदि अहिदं सो तस्स रिवुत्ति णायव्वो ॥ १७६३ ॥

हितं करोति यो यस्य स मतस्तस्य बांधवः ॥
स तस्य भण्यते वैरी यो यस्याहितकारकः ॥ १८३२ ॥

विजयोदया—जो जस्स वट्टदि हिदे यो यस्य उपकारे वर्तते। पुरिसो पुरुषः। सो तस्स बंधवो होदि स तस्य बंधुर्भवति। जो जस्स कुणदि अहिदं यो यस्य करोत्यहितं। सो तस्स रिउत्ति णायव्वो स तस्य रिपुरिति ज्ञातव्यः ॥

मित्रशत्रुत्व लक्षणाविष्करणेन समर्थयते—

मूलारा—हिदे उपकारे ॥

शत्रु और मित्रका लक्षण कहते हैं—

अर्थ—जो मनुष्य जिसका हितकार्य करता है वह मनुष्य उसको अपना बंधु समझता है. जो जिसका अहित करता है उसको वह अपना शत्रु समझता है. अभिप्राय यह है कि, उपकार और अपकार पर क्रमसे मित्रत्व और शत्रुत्व अवलंबित है.

शत्रुलक्षणं बंधुषु दर्शयति—

णीया करंति विग्घं मोक्खब्भुदयावहस्स धम्मस्स ॥
कारिंति य अइबहुगं असंजमं तिव्वदुक्खकरं ॥ १७६४ ॥

कुर्वन्ति बांधवा विघ्नं धर्मस्य शिवदायिनः ।
तीव्रदुःखकरं घोरं कारयन्त्यप्यसंयमम् ॥ १८३३ ॥

विजयोदया—णीया करंति विग्घं बंधवः कुर्वन्ति विघ्नं । कस्य ? धम्मस्स धर्मस्य, कीदृशः ? मोक्खब्भुदयावहस्स निरवशेषदुःखकारिकर्मापायं सांसारिकमतिशयवत् सुखं च संपादयतो रत्नत्रयस्य। कारिंति य कारयंति च। किं ? असंयमं। हिंसानृतस्तेयादिकं, अदिबहुगं अतीव महांतं। तिव्वदुक्खकरं दुःसहनरकादिदुःखोत्थापनोद्यतं । हितस्य विघ्नकरणादहिते च प्रवर्तनात् दर्शिता शत्रुता बंधूनामेतेन । अन्येषां बांधवाद्यभिमतानां शत्रुत्वेनानुप्रेक्षणं अन्यत्वानुप्रेक्षेति कथितं भवति ॥

बंधूनां हितविघातादितप्रवर्तनपरत्वेन शत्रुत्वावस्थापनादन्यत्वं भावयन्नाह—

मूलारा—असंजमं हिंसानृतस्तेयादिकं ॥

बंधुभी वास्तविक शत्रु है ऐसा अभिप्राय—

अर्थ—जिसका आचरण करने से संपूर्ण कर्मोंका नाश होकर आत्मा को मोक्षप्राप्ति होती है और संसारिक उत्कृष्ट सुख की-अर्थात् अहमिन्द्र सुखकी जिससे प्राप्ति होती है ऐसा रत्नत्रय धारण करने में बंधुगण विघ्न उपस्थित करते हैं. इतनाही नहीं परंतु हिंसा, असत्य, चोरी वगैरह असंयमभी इस जीवसे ये कराते हैं. अतिशय घोर, दुःसह नरकादि दुःखोंसे प्राणीका उद्धार करनेवाले धर्ममें ये बंधु विघ्न करते हैं और अहितमें प्रवृत्त करते हैं. इस लिये इन बंधुओंमें शत्रुता दीख पडती है. इस प्रकार बंधुओंके विषयमें विचार करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है.

इदानीमन्यशब्देन साधवो भण्यंते तेषामुपकारकत्वरूपेणानुप्रेक्षेति चेतसि कृत्वा व्याचष्टे—

णीया सत्तू पुरिसस्स हुंति जदिधम्मविग्घकरणेण ॥
कारेंति य अतिबहुगं असंजमं तिव्वदुःखयरं ॥ १७६५ ॥

विजयोदया—अन्येषां यतीनां बंधुत्वं कथमसत्तुतायां अन्यत्वानुप्रेक्षायामुपयुज्यतेऽस्य ॥

अन्य शब्दसे सत्पुरुषोंका ग्रहण होता है उनको उपकारक समझकर चिंतन करना यह भी अन्यत्वानुप्रेक्षा शब्दका अभिप्राय है. इसका खुलासा—

अर्थ—बंधुगण यतिधर्ममें विघ्न करनेमें प्रवृत्त होता है और नरकादि गतिओंमें तीव्र दुःख देनेवाला असंयम कराता है इस लिये वह ही शत्रु है. और सत्पुरुष—

पुरिसस्स पुणो साधू उज्जोयं संजणंति जदिधम्मे ॥
तध तिव्वदुक्खकरणं असंजमं परिहरावेंति ॥ १७६६ ॥

बंधुरं साधवो धर्मं वर्धयन्ति शरीरिणः ।
संसारकारणं निंद्यं त्याजयन्त्यप्यसंयमम् ॥ १८३४ ॥

विजयोदया— पुरिसस्स पुरुषस्य। पुणो साधू पुनः साधवः । पुनः उज्जोवं संजणंति उद्योगं सम्यग्जनयंति ॥ जदिधम्मे सर्वारंभपरिग्रहत्यागलक्षणे यतिधर्मे, तध असंजमं परिहरावेंति तथा असंयमं परिहारयंति। कीदृग्भूतं ? तिव्वदुक्खयरं तीव्राणां दुःखानामुत्पादकं ॥

एवं बंधूनामपकारकरूपेणान्यत्वमनुप्रेक्ष्य साधूनामुपकारकरूपेणाप्यन्यत्वमनुचिंतयति—

मूलारा— उज्जमं उद्यमं । जदिधम्मे सर्वारंभपरिग्रहत्यागलक्षणे मुनिधर्मे । परिहरावेंति त्याजयंति । अत्रोपकार्योपकारकभावदर्शनेनान्यत्वं वेद्यते

अर्थ—यति धर्ममें पुरुषको अतिशय दृढचित्तवाला करते हैं तथा असंयमसे प्रयत्न पूर्वक हटाते हैं. सर्व आरंभ और परिग्रहोंका जिसमें पूर्ण त्याग हो जाता है ऐसे मुनिधर्ममें तीव्र दुःख देनेवाले असंयमोंके त्यागमें जीवको मुनिगण प्रवृत्त करते हैं अतः वे ही परमार्थसे हित करनेवाले बांधव है-

---

उपसंहरति प्रस्तुतमर्थं तथा हिते प्रवर्तनादहितान्निवर्तनात् ॥

तह्मा णीया पुरिसस्स होंति साहू अणेयसुहहेदु ॥
संसारमदीणंता णीया य णरस्स होंति अरी ॥ १७६७ ॥

साधवो बांधवास्तस्माद्देहिनः परमार्थतः ।
ज्ञातव्यः शत्रवो रौद्रभवाम्भोधिनिपाततः ॥ १८३५ ॥
शरीरादात्मनोऽन्यत्वं निस्त्रिंशस्येव कोशतः ।
परवत्तं न जानंन्ति मोहान्धतमसावृताः ॥ १८३६ ॥
अनादिनिधनो ज्ञानी कर्ता भोक्ता च कर्मणाम् ॥
सर्वेषां देहिनां ज्ञेयो मतो देहस्ततोऽन्यथा ॥ १८३७ ॥

पूर्वजन्मकृतकर्मनिर्मितं पुत्रमित्रधनबांधवादिकम् ॥
न स्वकीयमखिलं शरीरिणो ज्ञानदर्शनमपास्य विद्यते ॥ १८३८ ॥

इति अन्यत्वं ।

विजयोदया—तह्मा तस्मात् । हिदे प्रवर्तनात् । णीगा पुरिसस्स बंधवः पुरुषस्य । के ? साधू साधवः। अणेगसुख हेदू इंद्रियानिंद्रियसकलसुखहेतवः । संसारमदीणंता संसारमपारानेकदुःखसंकुलमवतारयंतः । णीया य णरस्स होति अरी शत्रवो भवंति मनुष्यस्य बंधवः । एतेन सूत्रेण अन्येषां यतीनां बंधूनां मित्रत्वशत्रुत्वानुप्रेक्षणं अन्यत्वानुप्रेक्षेति कथ्यते । एवमनुप्रेक्षमाणस्य धर्मे तदुपदेशकारिणि च यतिजने महानादरो भवति । अभिमतं सकलसुखमुपस्थापयतो धर्मस्य विघ्नं भवति संपादयत्सु चतुर्गतिघटीयंत्रे दुःखभारे आरोहत्सु नितरामनादरो भवति ॥ अण्णत्तं ॥

वस्तुवृत्त्या यतीनां च बंधुत्वेनापि बंधूनां च शत्रुतयापि स्वस्मादन्यत्वं भावयितव्यमन्यथा विभ्रमावेशादिष्टसिद्धि व्याघातो भवेदित्यन्यत्वानुप्रेक्षासर्वस्वमुपदेष्टुमाह—

मूलारा—अणेग ऐंद्रियिकमतींद्रियं च । अदीणंता प्रवेशयंतः

अन्यत्वानुप्रेक्षा ॥

अर्थ—सत्पुरुष प्राणिओंको हितमार्ग में लगाते हैं इसलिए वे ही सच्चे बांधव हैं. ये सत्पुरुष ही जीवों को इंद्रिय सुख और अतींद्रिय सुखकी प्राप्ति होनेमें हेतु होते हैं. परंतु अपने जो बंधु हैं वे अनेक दुःखोंसे व्याप्त अपार संसार में डुबोते हैं इसलिए वे मनुष्यके शत्रु हैं. इस गाथासे अपनेसे भिन्न जो सत्पुरुष हैं वे बंधु हैं और अपनेसे भिन्न बांधवगण वास्तविक शत्रु हैं ऐसा विचार करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है ऐसा कहा गया है. इस प्रकार जो पुरुष विचार करता है उसके मनमें धर्मके विषयमें और उसका उपदेश करनेवाले सत्पुरुषोंमें महान् आदरभाव उत्पन्न होता है. और बंधुओंमें अनादर होता है. क्योंकि वे इष्ट सुख देनेवाले धर्माचरण में बाधा लाते हैं. संसार वर्धक क्रियाओंमें जीवोंको लगाते हैं. चतुर्गतिरूप घटी यंत्र जो कि दुःखका भार है उसपर स्वयं उन्होंने आरोहण किया है. इस प्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षाका वर्णन समाप्त हुआ ।

संसारानुप्रेक्षा कथ्यते प्रबंधेनोत्तरेण—

मिच्छत्तमोहिदमदी संसारमहाडवी तदोदीदि ॥
जिणवयणविप्पणट्ठो महाडवीविप्पणट्ठो वा ॥ १७६८ ॥

मिथ्यात्वमोहितस्वान्तो भवे भ्रमति दुर्गमे ॥
मार्गभ्रष्ट इवारण्ये भवभारिभयंकरे ॥ १८३९ ॥

विजयोदया—मिच्छत्तमोहिदमदी वस्तुयाथात्म्याश्रद्धानं दर्शनमोहोदयजं मिथ्यात्वं तेन मिथ्यात्वेन हेतुना मोहमुपगता मतिर्यस्यासौ संसारमहाडवीं संसारो महाटवी दुस्तरत्वादनेकदुःखत्वाद्बहुत्वाद्विनाशयितुमुद्यतत्वाच्च तां संसारमहाटवीं। तदो तस्मात् मिथ्यात्वमूढमतित्वादतीति प्रविशति ॥ ननु मिथ्यात्वासंयमकषाययोगाश्चत्वारोऽपि संसारस्य निमित्तभूताः सूत्रे किमुच्यते मिथ्यात्वमूढमतिः संसारमहाटवीं प्रविशतीति ॥ अत्रोच्यते—उपलक्षणं मिथ्यात्वग्रहणं असंयमादीनां। जिणवयणविप्पणट्ठो द्रव्यभावकर्मारातिजयात् जिनास्तेषां वचनं जीवाद्यर्थयाथात्म्यप्रकाशनपटु प्रत्यक्षादिप्रमाणांतराविरोधि ततो विप्रनष्टस्तदर्थापरिज्ञानात् यत्तत्वाश्रद्धानं तन्निरूपितेन मार्गेणानाचरणाच्च महाटवीं प्रविशति। विप्पणट्ठो वा मार्गाद्विप्रनष्ट इव। संसारमपिगम्म जीवपोतो भमदि संसारमहासमुद्रं प्रविश्य जीवयानपात्रं भ्रमति ॥ कीदृग्भूतं संसारमहोदधिं ॥

धर्म्यध्यानालंबनत्वेन संसारकारणस्वरूपप्रकारादिपरिकरं गाथासप्तत्रिंशत्यानुप्रेक्षयिष्यन्नादौ संसारप्रवेशपर्यटने गाथाचतुष्टयेनानु चिंतयति—

मूलारा—मिच्छत्त उपलक्षणादसंयमादिश्च । तदो मिथ्यात्वमोहितमतित्वात्। अवीदि प्रविशति। विप्पणट्ठो तदर्थानवबोधाश्रद्धानाननुष्ठानाज्जिनवचनादपसृतः ॥ विप्पणट्ठो व मार्गमूढ इव ॥

संसारानुप्रेक्षाका वर्णन विस्तारसे करते हैं—

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदय से जीवादि पदार्थोंपर यथास्वरूप श्रद्धा जीव नहीं करता है. जीवके इस अश्रद्धारूप परिणामको मिथ्यात्व कहते हैं. इस मिथ्यात्व परिणामसे जिसकी बुद्धि मोहित हुई है ऐसा प्राणी दुस्तर, नाश करनेवाला अनेक दुःखोंसे परिपूर्ण और अपार ऐसे संसाररूपी जंगलमें भ्रमण करता है. अर्थात् जैसे सच्चे मार्गसे भ्रष्ट हुआ पथिक भूल कर महावनमें प्रवेश करता है और दिङ्मूढ होकर उसमें ही इतस्ततः भ्रमण करता है. वैसे जिनेश्वरके वचनोंका अभिप्राय न जाननेसे जीवादिक पदार्थोंके सत्य स्वरूप पर श्रद्धा न रखनेवाला और जिनेश्वरके दिखाए हुए मार्गसे जानेवाला ऐसा प्राणी संसारवनमें भ्रमण करता है।

ज्ञानावरणादि कर्मोंको द्रव्यकर्म कहते हैं और राग, द्वेप मोह, क्रोधादिक मनोविकारको भावकर्म कहते हैं. जिनने इन दोनो कर्मोंका अत्यंत नाश किया है ऐसे अर्हत्परमात्माको जिन कहते हैं उनके मुखसे जो

उपदेश निकलता है वह सत्य और हितकारक ही होता है. वह जीवादि पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप दिखाता है और प्रत्यक्षादि प्रमाणसे अबाधित है. परंतु ऐसे उपदेशका अनादर करनेवाला जीव मिथ्यात्वी होकर अवश्य संसार भ्रमण करेगा ही. ' मिच्छत्तमोहिदमदी, ऐसा गाथामें पद है. यहां मिथ्यात्व शब्द उपलक्षणात्मक है. इस शब्दसे असंयम, कषाय और योगोंका भी ग्रहण करना चाहिये.

बहुतिव्वदुक्खसलिलं अणंतकायप्पवेसपादालं ॥
चदुपरिवट्टावत्तं चदुगदिबहुपट्टणमणंतं ॥ १७६९ ॥

अनेकदुःखपानीये नानायोनिभ्रमाकुले ॥
अनंतकायपाताले विचित्रगतिपत्तने ॥ १८४० ॥

विजयोदया—बहुतिव्वदुक्खसलिलं बहूनि तीव्राणि दुःखानि सलिलानि यस्मिन्संसारमहोदधौ तं । अणंतकायप्पवेसपादालं अनंतानां जीवानां कायः शरीरमनंतकायस्तत्र प्रवेशास्ते पातालसंस्थानीया यस्य तं । अथवा न विद्यते अंतो निश्चयोऽस्यैव जीवस्येदं शरीरमिति बहूनां साधारणत्वात् यस्मिन् काये सोऽनंतः कायोऽस्य जीवस्येत्यनंतकायः । भन्तरेणापि भावप्रत्ययं भावप्रधानो निर्देशः । तेनायमर्थः अनंतकायत्वस्य प्रवेशः अनंतकायप्रवेशः स पातालं यस्य तं । चदुपरिवट्टावत्तं चत्वारः द्रव्यक्षेत्रकालभावाख्याः परिवर्ताः आवर्ता यस्मिंस्तं । चदुगदिबहुपट्टणं चतस्रो गतयो बहूनि महांति पत्तनानि यस्मिंस्तं । अणंतं अनंतं ॥

मूलारा—अणंतेत्यादि अनंतानां जीवानां कायस्तत्र प्रवेशाः पातालानि यस्य । चदुपरिवट्टावत्तं द्रव्यक्षेत्रकालभावपरिवर्तनजलभ्रमं ॥

यह जीवरूपी नौका संसारसमुद्रमें प्रवेश कर उसमें भ्रमण करती है आचार्य संसारसमुद्रका विस्तारसे वर्णन करते हैं—

अर्थ—संसारसमुद्र नानाविध दुःखरूपी पानीसे भरा हुआ है. अनंतजीवोंके जो शरीर उनमें प्रवेश करना ये ही यहां पाताल हैं.साधारण जीव अर्थात् निगोदी जीवोंका जो निवासस्थान है वह ही इसमें पातालप्रदेश समझना चाहिये.साधारण जीवोंके शरीर को अनंतकाय कहते हैं.यह नाम अन्वर्थक है.इसही जीवका यह शरीर है ऐसा निश्चय नहीं कर सकते हैं क्योंकि वह साधारण होनेसे अनंत जीवोंका आश्रयस्थान बना है.अर्थात् एकही जीवका अथवा अमुक

जीवका यह शरीर है ऐसा निश्चय नहीं होता है. द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परि परिवर्तन, काल परिवर्तन और भावपरिवर्तनरूपी भोवरे इस संसारसमुद्रमें हमेशा भ्रमण करते हैं. इस संसारसमुद्रमें चार गतिरूपी बडे बडे द्वीप हैं. और यह समुद्र अनंत है.

हिंसादिदोसमगरादिसावदं दुविहजीवबहुमच्छं ॥
जाइजरामरणोदयमणेयजादीसुदुम्मीयं ॥ १७७० ॥
रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहादिपावासे ॥
अनेकजातिकल्लोले त्रसस्थावरबुद्बुदे ॥ १८४१ ॥

विजयोदया— हिंसादिदोसमगरादिसावदं हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहा हिंसादिदोषास्ते मकरादयः श्वापदा यस्मिंस्तं। दुविहजीवबहुमत्थं द्विविधा स्थावरजंगमविकल्पा जीवा इति द्विविधा जीवास्ते बहवो मत्स्या यस्मिंस्तं। जादिजरामरणोदयं जातिरभिनवशरीरग्रहणं, जरा नाम गृहीतस्य शरीरस्य तेजोबलादिभिरूनता, मरणं शरीरादपगमः एतानि जातिजरामरणानि उदयं उद्गतिर्यस्मिंस्तं । अणेयजादीसुदुम्मीगं अनेकानि जातिशतानि ऊर्मयो यस्मिंस्तं। एक-द्वित्रिचतुष्पंचेंद्रियजातयः प्रत्येकमवांतरभेदापेक्षया पृथिवीकायिका, अप्कायिकास्तेजस्कायिकवनस्पतिकायिका इति ॥ एकेंद्रियजातिरनेका षट्त्रिंशद्विकल्पा पृथिवी । आपोऽपि वर्षहिमहिमानीकरकादिभेदभिन्ना । अग्निरपि प्रदीपोल्मुकमार्चिरित्यनेकभेदः ॥ वायुरपि गुंजामण्डलिकादिविकल्पः ॥ वनस्पतयोपि तरुगुल्मवल्लीलतातृणादिभेदास्ततो जातिशतानीत्युक्तं ॥

मूलारा—दुविधा जीवा स्थावरास्त्रसाश्च । जादि अभिनवशरीरग्रहणं । उदयं जलं । जादीसद जातीनामेकेन्द्रियादिजातिभेदानां पृथिवीकायिकाप्कायिकाद्यवांतरजातिप्रभेदयुक्तानां शतानि ॥

अर्थ—हिंसा असत्य, चोरी, कुशीलसेवन और परिग्रहाभिलापा इत्यादि पापरूप मगर वगैरह क्रूर हिंस्र प्राणी जिसमें हैं, त्रसस्थावर जीव रूपी मत्स्य जिसमें हैं. जन्म—नवीन शरीर ग्रहण करना, जरा—ग्रहण किये हुए शरीरमेंसे तेज, बल वगैरह शक्तिया कम होते जाना, मरण—शरीरसे आत्माका गमन होना इत्यादि अवस्थाओंसे यह ससार समुद्र उन्नत हुआ है. अनेक एकेंद्रियादि सैंकडो जातिरूपी तरंग जिसमें है ऐसा यह संसारसमुद्र महाभयानक है. जातिकर्मके एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, पंचेंद्रिय जाति ऐसे पांच भेद हैं. इन प्रत्येक जातिओंके अवांतर भेद बहुत हैं. पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक

ऐसे एकेंद्रिय जातिके भेद हैं. उनमें भी अवांतर भेद इस प्रकार हैं. अर्थात् पृथ्विकायिकके छव्वीस भेद हैं, जलके भी वृष्टि, हिम, बर्फ, ओले इत्यादि भेद हैं. अग्निके भी प्रदीप, उल्मुक, ज्वाला इत्यादि अनेक भेद हैं. वायुके भी गुंजा, वायु, मंडलिक वायु वगैरह भेद हैं. इस तरह जाति कर्मके अनेक भेद होने से जातिरूपी तरंगों से यह संसारसमुद्र युक्त है ऐसा समझना चाहिये.

दुविहपरिणामवादं संसारमहोदधिं परमभीमं ॥
अदिगम्म जीवपोदो भमइ चिरं कम्मभण्डभरो ॥ १७७१ ॥

जीवपोतो भवांभोधौ कर्मनाविकचोदितः ॥
जन्ममृत्युजरावर्ते चिरं भ्राम्यति संततम् ॥ १८४२ ॥

विजयोदया—दुविधपरिणामवादं द्विविधाः शुभाशुभपरिणामा वाता यस्मिंस्तं । परमभीमं अतिभयंकरं । अदिगम्म प्रविश्य । जीवपोदो जीवपोतः भमइ चिरं चिरकालं भ्रमति । कम्मभण्डभरो कर्मद्रविणभारः । त्रिभिः संबंधः ॥ भवसंसारं निरूपयति ॥

मूलारा—दुविधा शुभाशुभाः । अदिगम्म प्रविश्य । पोदं यानपोतं ।

अर्थ—यह संसारसमुद्र शुभ और अशुभपरिणामरूप हवासे युक्त है और अतिशय भयानक है. इसमें जीवरूपी नौका कर्मरूपी द्रव्यसे युक्त होकर जब प्रवेश करती है तब चिरकालतक भ्रमण करती है.

एगविगतिगचउपंचिंदियाण जाओ हवंति जोणीओ ॥
सव्वाउ ताउ पत्तो अणंतखुत्तो इमो जीवो ॥ १७७२ ॥

एकद्वित्रिचतुःपंचहृषीकाणामनंतशः ॥
जातयः सकला भ्रान्ता देहिना भ्रमता भवे ॥ १८४३॥

विजयोदया—एगविगतिगचउपंचिंदियाण नामकर्मगतिजात्यादिविचित्रभेदं तत्र जातिकर्म पंचविकल्पं एकद्वित्रिचतुःपंचेंद्रियजातिविकल्पेन तासां जातीनामुदयात् ॥ एकेंद्रियतादिपर्यायभाजो जीवाः एकेंद्रियादिशब्देनोच्यंते । तेषामेकेंद्रियादीनां योनय आश्रया बादरसूक्ष्मपर्याप्तकाद्या जीवद्रव्याणामिहाश्रयत्वेन विवक्षिताः ।

सचित्तशीतसंवृता सेतरा मिश्राश्चैकशस्तथोनय इति सूत्रे ये निर्दिष्टाश्चतुरशीतिशतसहस्रविकल्पास्त इह न गृह्यंते । यतः सूत्रांतरे देवत्वनारकत्वमनुष्यत्वतिर्यक्त्वाख्या भवपर्यायपरावृत्तिर्भवसंसार इत्युक्तः ॥ णिरयादिजहण्णादिसु जाव तु उवरिल्लयातु गेवज्जा । मिच्छत्तसंसिदेण दु भवट्ठिदी भज्जिदा बहुसो इति वचनात् । योनयो न भवशब्दवाच्याः। जीवपर्यायो हि भवस्तथ भवसंसारस्त्रिंशद्विधः—पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायाः प्रत्येकं बादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्त विकल्पाद्विंशतिविधाः । द्वित्रिचतुरिंद्रियासंज्ञासंज्ञिविकल्पाः पंचेंद्रियाश्च पर्याप्तापर्याप्तकविकल्पा दशविधाः । अन्ये तु भवपरिवर्तनमेवं वदंति । नरकगतौ सर्वजघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि । तेनायुषा तत्रोत्पन्नः पुनः परिभ्राम्य तेनैवायुषा तत्र जायते । एवं दशवर्षसहस्राणां यावंतः समयास्तावत्कृत्वा तत्रैव जातो मृतः पुनरेकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणां परिसमापितानि ततः प्रच्युत्य तिर्यग्गतौ अंतर्मुहूर्तायुःसमुत्पन्नः पूर्वोक्तेन क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि परिसमापितानि ततः प्रच्युत्य एवं मनुष्यगतौ । देवगतौ नारकवत् । अयं तु विशेषः,एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि यावत्तावद्भवपरिवर्तनाः सर्वास्ता भवंति । अनंतवारमयं प्राप्तो जीवः ॥

मूलारा—भवसंसारमाह—जोणीओ आश्रयाः । ते चेह जीवद्रव्याणां बादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्तकाख्याः स्थावराणां विंशतिः त्रसानां च बादरत्वनियमाद्दशेति त्रिंशत्पर्याया विवक्षिताः । चतुरशीतिलक्षसंख्याःसचित्तादियोनयः । देवत्वनारकत्वमनुष्यत्वतिर्यक्त्वाख्यपर्यायपरावृत्तेर्भवसंसारत्वेन ग्रंथान्तरे ऽभिधानात । तथा चोक्तं—

णिरयादिजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लियादु गेवेज्जा ॥
मिच्छत्तसंसिदेण दु भवट्ठिदी भज्जिदा बहुसो ॥

अन्ये तु भवपरिवर्तनमेवमाहुः ॥ नरकगतौ सर्वजघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि । तेनायुषा तत्रोत्पन्नःपुनः परिभ्रम्य तेनैवायुषा तत्रैव जातो मृतः । पुनरेकसमयाधिकभावेन तत्रैव जातो यावत् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि । ततः प्रच्युत्य तिर्यग्गतौ सर्वजघन्यांतर्मुहूर्तायुपोत्पन्नः । पूर्वोक्तेन क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि तेन परिसमापितानि, एवं मनुष्यगतौ च । देवगतौ नारकगतिवत् । अयं तु विशेषः । एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि । एवं समुदितं यावत्तावद्भवपरिवर्तनं ॥

अर्थ—नामकर्मके गति जाति वगैरे अनेक भेद हैं. उसमें जातिकर्मके पांच भेद हैं इन जातिकर्मके उदयसे एकेंद्रियादि जीवोंके जो आश्रय है उनको योनि कहते हैं. बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे इन योनिओंके भेद हैं. येही जीवद्रव्योंको यहां आश्रयभूत समझने चाहिये. सचित्तयोनि, शीतयोनि वगैरह चौरासी-लक्ष योनिभेद जो सूत्रमें कहे हैं उनका यहां संबंध नहीं है. क्योंकि सूत्रांतरमें देवत्व, नारकत्व, मनुष्यत्व और

पशुत्वरूपसे जो संसारमें पर्याय धारण करने पडते हैं उनको भवसंसार कहते हैं. नरकगति, मनुष्यगति, पशुगति इन गतिओंमें जघन्य आयुष्यसे उत्कृष्ट आयुष्यतक मिथ्यात्वका आश्रय करनेसे इस जीवने भ्रमण किया है. देवगतिमें भी मिथ्यात्वयुक्त बनकर जघन्य आयुष्यसे नौवे ग्रैवेयकतक उत्कृष्ट आयुष्य धारण कर इस जीवने भ्रमण किया है. ऐसा भवसंसारका वर्णन किया है. इससे योनिओंका यहां भव शब्दसे संग्रह नहीं होता है. किंतु बादर सूक्ष्मादि अवस्थाकोही भवसंसार कहना चाहिये. जीवकी अवस्थाको भव कहते हैं. इस भवमें उत्पन्न हुए संसारीके ३० भेद हैं.

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति इनके प्रत्येकके बादर, सूक्ष्म, पर्याप्तक और अपर्याप्तक ऐसें भेद होनेसे मिलकर वीस भेद होते हैं. द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, संज्ञिपंचेंद्रिय, असंज्ञी पंचेंद्रिय इनके पर्याप्त और अपर्याप्त के भेदसे दस भेद होते हैं. दूसरे आचार्य भवपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—नरकगतिमें सर्वसे जघन्य आयुष्य दस हजार वर्षका है. उस आयुष्यसे कोइ जीव पहिले नरकमें उत्पन्न हुआ. आयुसमाप्तिके अनंतर संसारमें भ्रमण कर पुनः पूर्वोक्त आयुसेही वह जीव उसी नरकमें उत्पन्न होता है. इस प्रकार दस हजार वर्षके जितने समय होते हैं उतनी बार पहले नरकमें पूर्वोक्त आयुका धारक होता है. आयुसमाप्ति के अनंतर संसारमें भ्रमण कर उसी नरकमें फिर उत्पन्न होता है परंतु अबकी बार एक समयाधिक दसहजार वर्षका आयुष्य उसको प्राप्त होता है. इस प्रकार एक एक समय वृद्धिंगत होते २ इस जीवने तेहतीस सागरोपम आयुष्यतक असंख्यात वार जन्ममरण किया है.

तदनंतर सप्तमनरकसे निकल कर यह जीव तिर्यंचगतिमें उत्पन्न होता है. वहां उसका जघन्य आयुष्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण का होता है. पूर्वक्रम के अनुसार तीन पल्योपम आयुष्य समाप्त किया. तदनंतर मनुष्यगतिमें भी उत्कृष्ट तीन पल्योपम आयुष्यतक तिर्यग्गतिके समानही क्रम जानना चाहिए. देवगतिमें नरकगतिके समानही क्रम जानना चाहिये. परंतु इतनी विशेषता है—देवगतिमें एकतीस सागरोपम आयुष्य की समाप्ति होनेतकही भवपरिवर्तन है. ये सर्व परिवर्तन इस जीवके अनंतवार हो चुके हैं.

द्रव्यपरिवर्तनमुच्यते ॥

अण्णं गिण्हदि देहं तं पुण मुत्तूण गिण्हदे अण्णं ॥
घडिजंतं व य जीवो भमदि इमो दव्वसंसारे ॥ १७७३ ॥

गृह्णीते मुंचमानोऽङ्गी शरीराणि सहस्रशः ॥
भ्रमति द्रव्यसंसारे घटीयंत्रमिवानिशम् ॥ १८४४ ॥

विजयोदया—अण्णं गेण्हदि देहं अन्यच्छरीरं गृह्णाति । तं पुण तच्छरीरं मुक्त्वा पुनरन्यत् गृह्णाति । घटीयंत्रमिव जीवो घटीयंत्रवज्जीव । यथा घटीयंत्रं अन्यज्जलं गृण्हाति तत् त्यक्त्वा पुनरन्यदादत्ते एवमयं शरीराणि गृह्णन् मुंचश्च भ्रमति । शरीराणि विचित्राणि द्रव्यशब्देनोच्यते तत्स्यात्मन' परिवर्तनं द्रव्यसंसार इति सूत्रकारस्यास्य व्याख्या स्थूलबुद्धीनुद्दिश्य । एवं तु द्रव्यपरिवर्तनं ग्राह्यं । द्रव्यपरिवर्तनं द्विविधं—नोकर्मपरिवर्तनं कर्मपरिवर्तनं चेति । तत्र नोकर्मपरिवर्तनं नाम त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेन एकस्मिन्समये गृहीताः स्निग्धरूक्षवर्णगंधादिभिस्तीव्रमंदमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा अगृहीताननंतवारानतीत्य, मिश्रकांश्च अनंतवारानतीत्य मध्ये तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापद्यंते यावत्तावत्समुदितं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं । कर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेन अष्टविधकर्मभावेन ये च गृहीताः समयाधिकावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त एव तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यंते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनं ॥

द्रव्यसंसारमाह—

मूलारा—घडिजंतं घटीयंत्रमिव जलं गृहीतं गृहीतं मुक्त्वा अन्यदन्यच्छरीरं गृह्णन्जीवो भ्रमति इति स्थूलबुद्धीनुद्दिश्य द्रव्यसंसारः सूत्रकारेणोक्तः ॥ एवं तु द्रव्यपरिवर्तनं ग्राह्यम् । द्रव्यपरिवर्तनं द्विविधं—नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं कर्मद्रव्यपरिवर्तनं चेति । तत्र नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं उच्यते—त्रयाणां शरीराणां, षण्णा पर्याप्तीनां योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेनैकस्मिन्समये गृहीताःस्निग्धरूक्षवर्णगंधादिभिस्तीव्रमंदमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णाः । अगृहीताननंतवारानतीत्य मिश्रकांश्च अनंतवारानतीत्य, मध्ये गृहीतांश्चानंतवारानतीत्य त एव तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापद्यंते यावत्तावत्समुदितं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं । कर्मद्रव्यपरिवर्तनं उच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेनाष्टविधकर्मभावेन गृहीताः समयाधिकामावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णाः पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यंते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनं ॥ उक्तं च—

सव्वे वि पुग्गला खलु कमसो भुत्तुज्झिया य जीवेण ॥
असई अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे ॥

अर्थ—जैसे घटीयंत्र पूर्व जलका त्याग करके दूसरा दूसरा जल ग्रहण करता है वैसे यह आत्मा भी पूर्व शरीरका त्याग कर उत्तरोत्तर भिन्न भिन्न शरीर धारण करता है इस प्रकार यह जीव पूर्व शरीरका त्याग कर और उत्तर शरीर को ग्रहण कर संसारमें अनादि कालसे भ्रमण कर रहा है. नाना प्रकारके शरीर को द्रव्य कहते हैं इनको धारण कर जीवका जो संसारमें भ्रमण करना है उसी को द्रव्यसंसार कहते हैं इस प्रकार स्थूल बुद्धिके लोगों को समझानेके लिए आचार्यने द्रव्यसंसारका वर्णन किया है द्रव्यपरिवर्तनका इस प्रकारसे भी स्वरूप कहा है—

द्रव्यपरिवर्तनके नोकर्म परिवर्तन और कर्मपरिवर्तन ऐसे दो भेद हैं—

नो कर्म परिवर्तन—तीन शरीर (औदारिक, वैक्रियिक और आहारक) और छह पर्याप्ति (आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इनके योग्य पुद्गल एक जीवने एक समयमें ग्रहण किये उनमें स्निग्ध रूप, स्पर्श, वर्ण, गन्ध जैसा तीव्र, मंद, मध्यम भावसे था द्वितीयादि समयमें वे पुद्गल निर्जीर्ण हुए. तदनंतर अ-गृहीत पुद्गलोंको अनंतवार उलघकर, मिश्रवर्गणाको भी अनंतवार ग्रहण कर मध्ये गृहीत नामक वर्गणाको भी अनंतवार ग्रहण कर पुनः वे ही वर्गणा उसी जीवको प्रथम समयमें जैसे ग्रहण की गई थी वैसी जब ग्रहण की जाती है तब नोकर्मपरिवर्तन होता है

कर्मद्रव्य परिवर्तनका स्वरूप कहते हैं—

एक समयमें एक जीवने आठ प्रकारके कर्म रूप से जो पुद्गल ग्रहण किए थे वे समयाधिक आवलि प्रमाण काल व्यतीत होनेपर द्वितीयादिक समयमें निर्जीर्ण हो गये. तदनन्तर पूर्वोक्त क्रमानुसारही वे ही पुद्गल उसी जीवको जब कर्मरूप बन जाते हैं तब कर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है

रंगगदणडो व इमो बहुविहसंठाणवण्णरूवाणि ॥
गिण्हदि मुच्चदि अठिदं जीवो संसारमावण्णो ॥ १७७४ ॥

बहुसंस्थानरूपाणि चित्रचेष्टाविधायकः ॥
रंगस्थनटवज्जीवो गृह्णीते मुंचते भवे ॥ १८४५ ॥

विजयोदया—रंगगदणडोव्व रंगप्रविष्टनट इव । इमो अयं बहुविहसंठाणवण्णरूवाणि बहुविधसंस्थानवर्ण स्वभावान् । गिण्हदि य मुच्चदि अठिदं गृण्हाति मुंचति अवस्थितं । क्रियाविशेषणमेतत् । जीवो संसारमावण्णो जीवो द्रव्यसंसारमापन्न ॥

विचित्रशरीरद्रव्यपरिवर्तनमेव निदर्शनांतरेण प्रणयति—

मूलारा—अठिदं अनारतम् ॥

अर्थ—रंगभूमिपर आया हुआ नट नाना प्रकारकी आकृति, वर्ण, और स्वभाव को ग्रहण करता है और छोड देता है वैसे द्रव्यसंसारमें भ्रमण करनेवाला यह जीव नानाप्रकारके आकार, वर्ण और स्वभाव को धारण करके बार बार छोड देता है.

क्षेत्रससार निरूपयति—

जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज जीवो अणंतसो चेव ॥
काले तीदम्मि इमो ण सो पदेसो जए अत्थि ॥ १७७५ ॥

भूत्वा भूत्वा मृतो यत्र जीवो मेऽयमनंतशः ॥
अणुमात्रोऽपि नो देशो विद्यते स जगत्त्रये ॥ १८४६ ॥

विजयोदया—जत्थ न जादो ण मदो हवेज्ज यत्र क्षेत्रे जातो मृतो वा न भवेज्जीवः । अणतसो चेव अनंत वारान् । काले तीदंमि इमो अतीते कालेऽयं । न सो पदेसो जगे अत्थि नासौ प्रदेशो जगति विद्यते । अन्ये तु क्षेत्रपरिवर्तनमेवं वदन्ति—जगति जघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रदेशान् स्वशरीरमध्यप्रदेशान् कृत्वोत्पन्नः,क्षुद्रभवग्रहणं जीवित्वा मृतः, स एव पुनस्तेनैवावगाहेन द्विरुत्पन्नस्तथा त्रिचतुरिति एवं यावतोऽगुलस्यासख्येयभागप्रमिताकाशप्रदेशास्तावत्कृत्वा तत्रैव जनित्वा पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन सर्वलोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपपद्य जीवो भवति यावत्तावत् क्षेत्रपरिवर्तनं ॥

उक्तं च—

सव्वंमि लोगखित्ते कमसो तं णत्थि जम्म उप्पण्णं ॥
ओगाहणा य बहुसो परिभमिदो खित्तसंसारे ॥ १७७६ ॥

क्षेत्रसंसारमाह—

मूलारा—जए लोकाकाशे । प्राक्संक्षेपेणेदमुक्तम् । विस्तरतस्त्वेवं क्षेत्रपरिवर्तनमाहुः—

सूक्ष्मनिगोतजीवोऽपर्याप्तकःसर्वजघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रदेशान्स्वशरीरमध्यप्रदेशान्कृत्वोत्पन्नःक्षुद्रभवग्रहणं जीवित्वा मृतः । स एव पुनस्तेनैवावगाहेन द्विरुत्पन्नस्तथा त्रिस्तथा चतुरिति । एवं यावंतोऽगुलस्यासंख्येयभागप्रमिताकाशप्रदेशास्तावत्कृत्वस्तत्रैव जनित्वा मृतः । पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन सर्वलोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपनीतो भवति यावत्तावत्क्षेत्रपरिवर्तनम् ॥ उक्तं च—

सव्वम्मि लोगखेत्ते कमसो तं णत्थि जत्थ ण उप्पण्णो ॥
ओग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ॥

क्षेत्रसंसारका निरूपण करते हैं—

अर्थ—यह जीव अतीतकालमें लोकके जिस प्रदेशमें अनंतवार जन्म लेकर मृत्युवश नहीं हुआ है ऐसा प्रदेशही न मिलेगा. अर्थात् लोकाकाशमें-त्रैलोक्यमें सर्वत्र सर्व जीव अनंतवार जन्ममरण कर चुके हैं. यह क्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप है. अन्य आचार्य इस परिवर्तनका स्वरूप ऐसा भी कहते हैं—

सबसे जघन्य प्रदेशयुक्त शरीरका धारक, अपर्याप्तक सूक्ष्मनिगोदी जीव, जगतके आठ मध्य प्रदेशोंको अपने शरीरके मध्यमें करके उत्पन्न हुआ. क्षुद्रभव ग्रहणसे जीकर मरणवश हुआ अर्थात् श्वासके अठरावा हिस्सा प्रमाण आयु समाप्त होनेके अनंतर मर गया. पुनः उसी अवगाहनसे दुसरीवार तिसरीवार, चौथीवार उत्पन्न हुआ इस प्रकार अंगुलासंख्यात भागसे नापे गये लोकके असंख्यात भागमें जितनी प्रदेशसंख्या है उतनीवार उस जीवने वही जन्ममरण किया. तदनंतर एक एक प्रदेश अधिक आगे बढकर उसने सर्व लोक अपना जन्मक्षेत्र बना लिया इसको एकक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं. ऐसे क्षेत्र परिवर्तन इस जीवके अनंतो होगये हैं. आगममें इस विषयमें ऐसा कहा गया है—इस समस्त लोकक्षेत्रमें क्रमसे यह जीव जहां उत्पन्न नहीं हुआ है ऐसा क्षेत्रही नहीं है. यह जीव इस जगतमें इस अवगाहनसे बहुतवार परिभ्रमण कर चुका है.

कालपरिवर्तनमुच्यते—

तक्कालतदाकालसमएसु जीवो अणंतसो चेव ॥
जादो मदो य सव्वेसु इमो तीदंम्मि कालम्मि ॥ १७७७ ॥

ये कल्पानामनंतानां समयाः सन्ति भो यते! ॥
जातो मृतः समस्तेषु शरीरी तेष्वनेकशः ॥ १८४७ ॥

विजयोदया—तक्कालतदाकालसमयेसु उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसंज्ञितयोः कालयोर्ये समयास्तेषु । जीवो अणंतसो चेव जीवोऽ अनंतवारान् । जादो मदो य सव्वेसु जातो मृतश्च सर्वेषु समयेषु । इमो तीदंमि कालंमि अयमतीते काले॥ इयमस्या गाथायाः-प्रपंचव्याख्या-उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये जातः कश्चिज्जीवः स्वायुषः परिसमाप्तौ मृतः,स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जातः स्वायुषः क्षयान्मृतः । स एव पुनस्तृतीयाया उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जातः । एवमनेन क्रमेण उत्सर्पिणी परिसमाप्ता तथावसर्पिणी । एवं जन्मनैरंतर्यमुक्तं । मरणस्यापि नैरंतर्यं तथैव ग्राह्यमेवं तावत्कालपरिवर्तनं ।

उक्तं च—

उवसप्पिणिअवसप्पिणिसमयावलिगासु णिरवसेसासु ॥
जादो मदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे ॥ १७७८ ॥

कालसंसारमाह—

मूलारा—तक्कालतदाकालसमयेसु उत्सर्पिण्यवसर्पिण्याः समयेषु । अत्रापि प्रपंचेनेयं व्याख्या—

उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये जातः कश्चिज्जीवः स्वायुषः परिसमाप्तौ मृतः । स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जातः स्वायुषःक्षयान्मृतः । स एव पुनस्तृतीयाया उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जातो मृतश्च स्वायुःक्षयात् । एवमनेन क्रमेण उत्सर्पिणी परिसमाप्ता । तथा अवसर्पिणी च । एवं जन्मनैरन्तर्यमुक्तम् । तथैव मरणमपि ग्राह्यम् । एतावत्कालपरिवर्तनम् । उक्तं च—

उवसप्पिणिअवसप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु ॥
जादो मदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे ॥

कालपरिवर्तनका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—यह जीव अतीत उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके समयोंमें अनंतवार उत्पन्न हुआ है और मृत्युवश हुआ है. ऐसा कालपरिवर्तनका संक्षेप है. इसका विस्तार इस प्रकार है—
पहिले उत्सर्पिणीके समयमें कोइ जीव उत्पन्न हुआ। आयुष्यक्षय होनेपर उसने मरण किया. वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी

के दुसरे समयमें उत्पन्न हुआ. आयुष्य समाप्त होनेपर फिर मरा. वही जीव तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समयमें उत्पन्न हुआ. इस प्रकार इस जीवने क्रमसे उत्सर्पिणी काल समाप्त किया. इसी प्रकार जन्मसे उसने अवसर्पिणी कालभी पूरा किया. मरणकी निरंतरता जन्मकी निरन्तराके समान समझनी चाहिये. इतना यह स्वरूप कालपरिवर्तनका है ऐसा समझना चाहिये. आगममें इस विषयमें ऐसा कहा है–

यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालकी संपूर्ण समय पंक्तिओंमें कालसंसारमें भ्रमण करता हुआ अनंतवार भ्रमण कर चुका है.

स्पंदनसंसारं निरूपयत्युत्तरगाथा–

अट्ठपदेसे मुत्तूण इमो सेसेसु सगपदेसेसु ॥
तत्तंपि व अद्धरणं उव्वत्तपरत्तणं कुणदि ॥ १७७१ ॥

प्रदेशाष्टकमत्यस्य शेषेषु कुरुते भवी ॥
उद्वर्त्तनपरावर्तं संतप्तास्विव तंदुलाः ॥ १८४८

विजयोदया–अट्ठपदेसे मुत्तूण अष्टौ प्रदेशान्रुचकाकारान् मुक्त्वा। इमो अयं जीवः। सेसेसु सगपदेसेसु शेषेषु स्वप्रदेशेषु शेषेषु। संसारनामात्मनः क्षेत्रसंसारत्वेनोच्यते ॥

स्वप्रदेशलक्षणक्षेत्रसंसरणरूपं क्षेत्रसंसारात्मकस्पंदनसंसारमाह–

मूलारा–अट्ठपदेसे अष्टौ प्रदेशान्रुचकाकारान्। तत्तंपिअसद्दहणं तप्तमिवाधिश्रयणम्। तप्तजलमध्यस्थिततंदुलवदित्यर्थः। उव्वत्तणपरत्तणं उद्वर्त्तनपरावर्तनं। उक्तं च–

प्रदेशाष्टकमत्यस्य शेषेषु कुरुते भवी ॥
उद्वर्त्तनपरावर्तं तप्तास्विव तंडुलाः ॥

स्पंदन संसारका वर्णन–

अर्थ–रुचकाकार आठ प्रदेश छोडकर बाकी के सर्व आत्म प्रदेश हमेशा चंचल रहते हैं और जैसे अग्नीसे गरम जलमें डाले हुए चावल हमेशा उपर नीचे होते हैं वैसे इस संसारी जीवके आठ मध्यप्रदेश छोडकर बाकीके प्रदेश हमेशा ऊपर नीचे हमेशा घूमते हैं.

लोगागासपएसा असंखगुणिदा हवंति जावदिया ॥
तावदियाणि हु अज्झवसाणाणि इमस्स जीवस्स ॥ १७८० ॥

असंख्यलोकमानेषु परिणामेषु वर्तते ॥
शरीरी भवसंसारे कर्मभूपवशीकृतः ॥ १८४९ ॥
जघन्या मध्यमा वर्या निर्दिष्टाः स्थितयोऽखिलाः ॥
अतीतानंतशः काले भवभ्रमणकारिणा ॥ १८५० ॥

विजयोदया—लोगागासपदेसा लोकाकाशस्य प्रदेशाः । असंखगुणिदा असंख्यगुणिताः । हवंति जावदिया यावन्तो भवंति । तावदियाणि हु अज्झवसाणाणि तावदध्यवसायस्थानानि भवंति । इमस्स जीवस्स अस्य जीवस्य । जीवस्य असंख्यातलोकप्रमाणेष्वध्यवसायसंज्ञितेषु भावेषु परावृत्तिर्भावसंसारः ॥

असंख्यातलोकप्रमाणाध्यवसानस्थानाभिधानभावपरिवर्तनलक्षणं भावसंसारमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—लोकाकाशके प्रदेशोंको असंख्यातसे गुणित करने पर जो संख्या उत्पन्न होगी जीवके उतने अध्यवसायस्थान होते हैं. अर्थात् असंख्यात लोकपरिमाण जीवके कषायाध्यवसायस्थान, स्थिति बंधाध्यवसायस्थान, योग और अनुभागाध्यवसायस्थान होते हैं.

अज्झवसाणठाणंतराणि जीवो विकुव्वइ इमो हु ॥
णिच्चं पि जहा सरडो गिण्हदि णाणाविहे वण्णे ॥ १७८१ ॥

परिणामांतरेष्वंगी सर्वदा परिवर्तते ॥
वर्णेषु चित्ररूपेषु कृकलास इव स्फुटम् ॥ १८५१ ॥

विजयोदया—अज्झवसाणठाणंतराणि जीवो विकुव्वइ इमो खु अध्यवसायस्थानांतराणि जीवः परिणमत्ययं । निच्चंपि नित्यमपि, जधा सरडो णाणाविहे वण्णे यथा गोधा नानाविधान्वर्णानुपादत्ते । एवं संसारः ॥

अपरापरपरिणामपरिणमनमावत्यमात्मनो दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूलारा—विकुव्वदि विकरोति परिणमतीत्यर्थः । पयलासरडो कृकलासः ॥ उक्तं च—

भावस्थानान्तराण्येवं देहवान्स प्रपद्यते ॥
कर्केटुको यथा नित्यं वर्णान्स्वीकुरुते बहून् ॥

भावपरिवर्तनप्रपंचस्त्वयम्—

पंचेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तको मिथ्यादृष्टिः कश्चिज्जीवः सर्वजघन्यां स्वयोग्यां ज्ञानावरणप्रकृतेः स्थितिमन्तःकोटीकोटिसंज्ञिकामापद्यते । तस्य कषायाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानप्रमितानि तत्स्थितियोग्यानि भवंति । तत्र सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थाननिमित्तान्यनुभागाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि भवन्ति । एवं सर्वजघन्यां स्थितिं, सर्वजघन्यं च कषायाध्यवसायस्थानं, सर्वजघन्यमेवानुभागबंधस्थानं आस्कंदतस्तद्योग्यं सर्वजघन्यमेकं योगस्थानं भवति । तेषामेव स्थितिकषायानुभागस्थानानां द्वितीयमसंख्येयभागवृद्धियुक्तं योगस्थानं भवति । एवं तृतीयादिषु चतुःस्थानपतितानि तानि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि भवति । तथा तामेव स्थितिं, तदेव कषायाध्यवसायस्थानं च प्रतिपद्यमानस्य द्वितीयमनुभागाध्यवसायस्थानं भवति । तस्य च योगस्थानानि पूर्ववद्वेदितव्यानि । एवं तृतीयादिषु अनुभागाध्यवसायस्थानेषु आ असंख्येयलोकपरिसमाप्तेः । एवं तामेव स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीयं कषायाध्यवसायस्थानं भवति । तस्याप्यनुभागाध्यवसायस्थानानि पूर्ववद्वेदितव्यानि । एवं तृतीयादिष्वपि कषायाध्यवसायस्थानेषु श्रेण्यसंख्येयलोकपरिसमाप्तेर्वृद्धिक्रमो वेदितव्यः । उपरि जघन्यायाः स्थितेः समयाधिकायाः कषायादिस्थानानि पूर्ववदेव । एवं समयाधिकक्रमेण आ उत्कृष्टस्थितेस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीपरिमितायाः कषायादिस्थानानि पूर्ववदेव वेदितव्यानि ॥ एवं सर्वेषां कर्मणां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च परिवर्तनक्रमो वेदितव्यः । तदेतत्सर्वं समुदितं भावपरिवर्तनं । उक्तं च—

सव्वा पयडिठिदीओ अणुभागपदेसबंधठाणाणि ॥
मिच्छत्तसंसिदेण य भमिदा पुण भावसंसारे ॥

इस प्रकार इस जीवका भावपरिवर्तनरूप संसारका स्वरूप है.

अर्थ—जैसे सरड नामका प्राणी हमेशा अपने रंग बदलता है वैसे इस संसारी जीवके उपर्युक्त परिणामोंमें हमेशा तरतम भाव होता ही रहता है. इस प्रकार पांच प्रकारके संसारोंका स्वरूप आचार्यने दिखाया है.

तस्य भयमुपदर्शयति ॥

आगासम्मि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी ॥
हिंसंति एक्कमेक्कं सव्वत्थ भयं खु संसारे ॥ १७८२ ॥

आकाशे पक्षिणोऽन्योन्यं स्थले स्थलविहारिणः ॥
जले मीनाश्च हिंसन्ति सर्वत्रापि भयं भवे ॥ १८५२ ॥

विजयोदया—आयासम्मि वि पक्खी आकाशे संचरंतं परकीयपक्षिणो विवाधंते । जलेवि मच्छा जलेपि मत्स्याः । थलेवि थलचारी भूभावपि भूमिचारिणः । हिंसंति बाधंते । एक्कमेक्कं अन्योन्यं । सव्वत्थ भयं खु संसारे सर्वत्र भयं संसारे॥

एवं पंचप्रकारं संसारं निरूप्य तद्व्यापायादीन्पंचदशगाथाभिश्चितयति—

मूलारा— एक्कमेक्कं अन्योन्यम् ॥

अब संसारसे भय दिखाते हैं—

अर्थ—आकाशमें विहार करनेवाले छोटे २ पक्षिओंको दूसरे क्रूर पक्षी पीडा देते हैं. अर्थात् उनको मारते हैं-खा जाते हैं. पानीमें बडे मत्स्य छोटे मत्स्यको निगल जाते हैं. और भूतलपरभी हिंस्रप्राणी परस्परको मारते हैं अतः इस जगतमें सर्वत्र भयही भय है.

सत्तउ वाहपरद्धो विलित्ति णाऊण अजगरस्स मुहं ॥
सरणत्ति मण्णमाणो मच्चुस्स मुहं जह अदीदि ॥ १७८३ ॥

शयालोर्मुखमभ्येत्य व्याधारब्धो यथा शशः ॥
मन्वानो विवरं दीनः प्रयाति यममंदिरम् ॥ १८५३ ॥

विजयोदया—ससगो वाहपरद्धो शशो व्याधेनोपद्रुतः, विलित्तिणाऊण अजगरस्य मुहं बिलमिति ज्ञात्वा अजगरस्य मुखं । सरणत्ति मण्णमाणो शरणमिति मन्यमानः । मच्चुस्स मुहं जह अदीदि मृत्योर्मुखं यथा प्रविशति ॥

मूलारा—वाहपरद्धो व्याधेनोपद्रुतः । विलित्ति बिलमिति । सरणंति त्राणमिति ।

अर्थ-पारधीसे पीडित हुआ खरगोश अजगरके मुखको बिल समझकर उसमें प्रवेश करता है- इस बिलमें मैं रह सकूंगा इस अभिप्रायसे उसमें घुसता है. परंतु वहां वह मृत्युके वश होता है वैसे—

तह अण्णाणी जीवा परिद्धमाणच्छुहादिवाहेहिं ॥
अदिगच्छंति महादुहहेदुं संसारसप्पमुहं ॥ १७८४ ॥
क्षुत्तृष्णादिमहाव्याधिभारवश्चेतनस्तथा ॥
अज्ञो दुःखकरं याति संसारभुजगाननम् ॥ १८५४ ॥

विजयोदया—तह अण्णाणी जीवा तथा अज्ञानिनो जीवाः । परिद्धमाणच्छुहादिवाहेहिं अनुभाव्यमानाः क्षुदादिभिर्व्याधैः व्याधैश्च । अदिगच्छंति प्रविशंति । महादुहहेदुं महतो दुःखस्य निमित्तं । संसारसप्पमुहं संसारसर्पमुखं ॥

मूलारा—अदिगच्छंति प्रविशंति ॥

अर्थ—ये अज्ञ संसारी जीव क्षुधा,तृषा रूप व्याधोंसे और व्याघ्रोंसे पीडित होकर महादुःखदायक संसाररूपी सर्पके मुंहमें प्रवेश करते हैं.

जावदियाइं सुहाइं हवंति लोगम्मि सव्वजोणीसु ॥
ताइंपि बहुविधाइं अणंतखुत्तो इमो पत्तो ॥ १७८५ ॥
यावन्ति सन्ति सौख्यानि लोके सर्वासु योनिषु ॥
प्राप्तानि तानि सर्वाणि बहुवारं शरीरिणा ॥ १८५५ ॥

विजयोदया—जावद्दियाइं यावंति । सुहाणि होंति लोगम्मि सुखानि भवंति लोके । सव्वजोणीसु सर्वासु योनिषु । ताइंपि बहुविधाइं तान्यपि बहुविधानि । अणंतखुत्तो इमो पत्तो अनंतवारमयं जीवः प्राप्तः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—सर्व योनिओंमें जितने नानाप्रकारके सुख हैं वे भी इस जीवको अनंतवार प्राप्त हो गये हैं.

दुक्खं अणंतखुत्तो पावेत्तु सुहंपि पावदि कहिं वि ॥
तह वि य अणंत खुत्तो सव्वाणि सुहाणि पत्ताणि ॥ १७८६ ॥
अवाप्यानंतशो दुःखमेकशो लभते यदि ॥
सुखं तथापि सर्वाणि तानि लब्धान्यनेकशः ॥ १८५६ ॥

विजयोदया—दुक्खं अणंतखुत्तो पावेत्तु सुहंपि पावदि कहिंवि दुःखमपि अनंतवारं प्राप्य सुखमपि प्राप्नोति कथंचित्। तधवि य अणंतखुत्तो तधाप्यनंतवारं सव्वाणि सुखाणि पत्ताणि सर्वाणि सुखानि प्राप्तानि ॥ गणभृतां चक्रवर्तिनां पंचानुत्तरविमानवासिनां लोकांतिकानामहमिंद्राणां च सुखानि मुक्त्वा ॥

मूलारा—सव्वाणि गणधृता, चक्रवर्तिनां, अनुदिशानुत्तरविमानवासिनां, लौकांतिकादीनां च सुखानि मुक्त्वा ॥

अर्थ—इस संसारमें गणधर, नारायण, प्रतिनारायण, चक्रवर्ती, पंचानुत्तर विमानवासि देव, और लौकांतिक देव इनके सुखोंकी इन जीवोंको प्राप्ति नहीं हुई है. बाकीके संपूर्ण सुखोंके प्रकार इन जीवोंको अनंतवार प्राप्त हुये हैं.

करणेहिं होदि विगलो बहुसो वचिचित्तसोदणिचेहिं ॥
घाणेण य जिब्भाए चिट्ठाबलविरियजोगेहिं ॥ १७८७ ॥

स चतुर्भिस्त्रिभिर्द्वाभ्यामेकेनाक्षेण वर्जितः ॥
संसारसागरेऽनंते जायते ऽनन्तशोऽसुमान् ॥ १८५७ ॥

विजयोदया—करणेहिं होदि विगलो विकलेंद्रियः कश्चिद्भवति। बहुसो बहुशः। वचिचित्तसोदणिचेहिं मनसा वचसा श्रोत्रेण नेत्रेण करणेन हीनः। स्पर्शनेंद्रियवैकल्यस्यासंभवात् तदनुपन्यासः ॥ घाणेण य घ्राणेन च। जिब्भाए। जिव्हया चेट्ठाबलविरियजोगेहिं चेष्टया बलेन वीर्येण च ॥

मूलारा—करणेहिं चित्तादिभिः कश्चिद्विकलः स्यात्। स्पर्शनेंद्रियस्य वैकल्यासंभवादनुपन्यासः ॥

अर्थ—यह जीव अनेकवार विकलेंद्रिय हुआ है. कभी नेत्र रहित, कभी कान रहित हुआ था. कभी असंज्ञी मन रहित और वचन रहित हुआ था. कभी इसको नाककी प्राप्ति नहीं हुई और कभी इसको शक्ति, बल, पराक्रम इससे रहित होना पडा था. ऐसी अनेक दुरवस्थायें इस जीवकी अनंत बार हुई हैं.

जच्चंधबहिरमूओ छादो तिसिओ वणे व एयाई ॥
भमइ सुचिरंपि जीवो जम्मवणे णट्ठसिद्धिपहो ॥ १७८८ ॥

विचक्षुर्बधिरो मूको वामनः पामनः कुणिः ॥
दुर्वर्णो दुःस्वरो मूर्खश्चुल्लश्चिपिटनासिकः ॥ १८५८ ॥
व्याधितो व्यसनी शोकी मत्सरी पिशुनः शठः ॥
दुर्भगो गुणविद्वेषी वंचको जायते भवे ॥ १८५९ ॥
क्षुधितस्तृषितः श्रांतो दुःखभारवशीकृतः ॥
एकाकी दुर्गमे दीनो हिंडते भवकानने ॥ १८६० ॥

विजयोदया—जच्चंधबधिरमूगो जात्यंधो, बधिरो, मूकः। छादो क्षुधा पीडितः, तिसिदो तृषाभिभूतः। वणे व एगागी भमदि असहायो यथा वने भ्रमति। तथा सुचिरंपि चिरकालमपि। जीवो जम्मवणे जन्मवने भ्रमति। णट्ठसिद्धिपहो नष्टसिद्धिमार्गः ॥ उक्तं च—कलुषचरितैर्नैकस्थानसुसंचितकर्मभिः । करणविकलः कर्मोद्भूतो भयार्णवपाततः। मुनिरमयशो मृगालोऽयं निमीलितलोचनो। भ्रमति कृपणो नष्टत्राणःशुभेतरकर्मकृत् ॥ श्रवणविकलो वाग्धीनोऽक्षो यथागृतलोचनः। तृषितमलिनो नष्टोऽटव्यां चेरसहायकः। असहदसहत् गृण्हन्मुंचंश्चराचरदेहतां। भ्रमति सुचिरं जन्मारण्यां तथायमदेहकः ॥ इति ॥

मूलारा—छादो क्षुधितः। एगागी असहायः ॥

अर्थ—कभी यह जीव जन्मसेही अंधा, बहिरा, गूंगा होकर जन्मा था. अनंतवार भूख और प्याससे पीडित हुआ था. जैसा कोई मार्गभ्रष्ट जीव जंगलमें अकेलाही भ्रमण करता है वैसे यह संसारी जीव मोक्षमार्गसे भ्रष्ट होकर संसारवनमें सहायके बिना भ्रमण करता है. आगममें इस विषयमें ऐसा कहा है—यह अज्ञजीव हिंसादिक पापोंसे कर्मसंचय करके भ्रमण करता है.कभी कभी यह जीव संपूर्ण इंद्रियोंसे पूर्ण नहीं होता है अर्थात् नेत्रादिक इंद्रियोंके अभावसे यह अंधा, बहिरा, गूंगा वगैरेह अवस्थाको प्राप्त होता है. इस संसारमें अशरण, दुःखपीडित और दीन होकर अशुभ कार्य करके भ्रमण करता है. जैसे बहिरा, मूक, अंध, अज्ञ ऐसा प्राणी वनमें भूख और प्याससे पीडित होकर सहायरहित अशरण दीन होकर एकाकी भ्रमण करता है वैसे यह जीवभी त्रस, स्थावर जीवोंके देह को ग्रहण करता है, कभी छोडता है. इस तरह चिरकालसे जन्मवनमें भ्रमण कर रहा है.

एइंदियेसु पंचविधेसु वि उत्थाणवीरियविहूणो ॥
भमदि अणंतं कालं दुक्खसहस्साणि पावेंतो ॥ १७८९ ॥

एकेंद्रियेष्वयं जीवः पंचस्वपि निरंतरम् ॥
उत्थानवीर्यरहितो दीनो संभ्रमते चिरम् ॥ १८६१ ॥

विजयोदया—एगिंदियेसु पंचविधेसु वि एकेंद्रियेषु पंच प्रकारेष्वपि । पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिशरीरधारिषु । उत्थाणवीरियविहीणो पृथिव्यादिकायान् परित्यज्य त्रसकायप्राप्तिनिमित्तोत्थानवीर्यरहितः । भमदि अणंतं काले भ्रमति अनंतकालं । दुक्खसहस्साणि पावेंतो दुःखसहस्राणि प्राप्नुवन् ॥

मूलारा–उत्थाणवीरियविहीणो पृथिव्यादिकायत्यागेन त्रसकायप्राप्तये यदुत्थानवीर्यमुद्भवशक्तिस्तद्रहितः ॥

अर्थ—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति ये पांच स्थावरकायिक जीव हैं इनमें अपना पर्याय त्याग कर त्रसत्व प्राप्त करनेकी शक्ति नहीं रहती है. इसलिये अनंतकालतक हजारो दुःख सहन करते हुये ये जीव इसही पर्यायमें भ्रमण करते हैं.

बहुदुक्खावत्ताए संसारणदीए पावकलुसाए ॥
भमइ वरागो जीवो अण्णाणनिमीलिदो सुचिरं ॥ १७९० ॥

चित्रदुःखमहावर्तामिमां संसृतिवाहिनीम् ॥
अज्ञानमिलितो जीवो गाहते पापपाथसम् ॥ १८६२ ॥

विजयोदया—बहुदुक्खावत्ताए बहुदुःखावर्तायां । संसारणदीए संसृतिनद्यां । पावकलुसाए पापकलंकसहितायां । वरागो जीवो भमदि दीनो जीवो भ्रमति । सुचिरं अण्णाणनिमीलिदो अज्ञानेन निमीलितः ॥

मूलारा–स्पष्टम् ॥

अर्थ—अनेक दुःखरूपी भोवरे जिसमें हैं, पापरूपी मलिन पानीसे जो युक्त है ऐसी इस संसारनदीमें यह दीन जीव अज्ञानसे बेसुध होकर भ्रमण करता है-

---

विसयामिसारगाढं कुजोणिणेमि सुहदुक्खदढखीलं ॥
अण्णाणतुंबधरिदं कसायदढपट्टयावंधं ॥ १७९१ ॥

इंद्रियार्थाभिलापारं चंचलं योनिनेमिकं
मिथ्याज्ञानमहातुंबं दुःखकीलकयंत्रितम् ॥ १८६३ ॥

विजयोदया—विसयाभिसारगाढं विषयाभिलापारैर्गाढं स्तब्धं । कुजोणिणेमि सुहदुक्खदढखीलं कुत्सित योनिनेमिकं । सुखदुःखदृढकीलं । अण्णाणतुंबधरिदं अज्ञानतुंबधारितं । कसायदढपट्टिगाबद्धं कषायदृढं पट्टिकाबंधं ॥

मूलारा—विसयाभिसारगाढं विषयाभिलापैररैरिव स्तब्धं निविडं वा ।

अर्थ—यह संसारचक्र विषयाभिलाषारूपी आरोंसे गाढ अर्थात् मजबुत है. कुयोनिरूपी नेमिसे युक्त है अर्थात् नरकादि दुर्गतिरूप नेमिसे–पूठीसे यह संसारचक्र युक्त है. सुखदुःखरूपी कीलसे यह युक्त है तथा इसमें अज्ञानभावरूपी तुंबा है. कषायही इस संसारचक्रपर लोहकी पट्टी है.

बहुजम्मसहस्सविसालवत्तणि मोहवेगमहिचवलं ॥
संसारचक्कमारुहिय भमदि जीवो अणप्पवसो ॥ १७९२ ॥

कषायपट्टिकाबद्धं जरामरणवर्तनम् ॥
संसारचक्रमारूह्य चिरं भ्राम्यति चेतनः ॥ १८६४ ॥

विजयोदया--बहुजम्मसहस्सविसालवत्तणि अनेकजन्मसहस्रविशालमार्गे । मोहवेगं मोहवेगं । संसारचक्कमारुहिय पर्यभूतं संसारचक्रमारुह्य । अणप्पवसो जीवो भमदि अनात्मवशो जीवो भ्रमति ॥

मूलारा—विसालवत्तणि विपुलमार्गं ॥

अर्थ—अनेक जन्मरूपी विशाल मार्गपर यह संसारचक्र भ्रमण करता है. मोहरूपी वेगसे यह चक्र अतिशय चंचल दीखता है. ऐसे संसाररूपी चक्रपर आरोहण कर यह जीव परवश होकर भ्रमण करता है.

भारं णरो वहंतो कहंचि विस्समदि ओरुहिय भारं ॥
देहभरवाहिणो पुण ण लहंति खणं पि विस्समिदुं ॥ १७९३ ॥

वहमानो नरो भारं क्वापि विश्राम्यति ध्रुवम् ॥
न देहभारमादाय विश्राम्यति कदाचन ॥ १८६५ ॥

विजयोदया—भारं णरो वहंतो भारं वहन्नरः। कहंचि भारमोरुहिय कस्मिंश्चिद्देशे काले च भारमवतार्य । विस्समदि विश्राम्यति । देहभरवाहिणो पुण देहभारोद्वाहिनो जीवाः पुनः । न लभंति खणं पि विस्समिदुं न लभंते क्षणमपि विश्रामं कर्तुं। औदारिकवैक्रियिकयोर्विनष्टयोरपि कार्माणतैजसयोरवस्थानात् ॥

मूलारा- कहिं पि देशे काले च । ओरुहिय अवतार्य । णोइत्यादि औदारिकवैक्रियिकयोर्विनष्टयोरपि कार्मण तैजसयोरवस्थानात् ॥

अर्थ—बोझा उठानेवाला मनुष्य किसी स्थानमें कुछ कालतक बोझा अपने मस्तकपरसे उतार कर विश्रांति लेता है. परंतु देहका भार वहनेवाला यह संसारी जीव एक क्षणमात्रभी देहभारको उतार कर विश्रांति नहीं ले सकता है. यद्यपि औदारिक और वैक्रियिक शरीर इस जीवके कुछ कालतक अर्थात् एकसे तीन समयतक नहीं रहते हैं तोभी कार्मण और तैजस शरीर इस जीवके साथ सतत रहते हैं इसलिये इसको सदाही विश्रान्तिका अभाव है.

कम्माणुभावदुहिदो एवं मोहंधयारगहणम्मि ॥

अंधोव्व दुग्गमग्गे भमदि हु संसारकंतारे ॥ १७९४ ॥

बंभ्रमीति चिरं जीवो मोहांधतमसावृत्तः ॥

संसारे दुःखितस्वान्तो विचक्षुरिव कानने ॥ १८६६ ॥

विजयोदया—कम्माणुभावदुहिदो असद्वेद्यादिपापकर्ममाहात्म्यजनितदुःखः। एवमुक्तेन क्रमेण । संसार कंतारे भमदि संसारकांतारे भ्रमति । कीदृशे मोहंधयारगहणे मोहांधकारगहने । अंधो व दुग्गमग्गे अंध इव दुर्गमार्गे ॥

मूलारा—कम्माणुभाव असद्वेद्यादि पापकर्ममाहात्म्यम् ॥

अर्थ—असातावेदनीयादि पापकर्मके प्रभावसे दुःखित होकर यह जीव पूर्वोक्त क्रमसे संसारवनमें भ्रमण करता है. यह संसारवन मोहरूपी अंधकारसे व्याप्त होनेसे अंधा मनुष्य जैसे खराब रास्तेमें जाता हुआ दुःख पाता है संसारी मनुष्यभी इसमें दुःखी होता है.

दुक्खस्स पडिगरंतो सुहमिच्छंतो य तह इमो जीवो ॥

पाणवधादीदोसे करेइ मोहेण संछण्णो ॥ १७९५ ॥

भीतिः करोति दुःखेभ्यः सुखसंगमलालसः ॥
अज्ञानतमसा छन्नो हिंसारंभादिपातकम् ॥ १८६७ ॥

विजयोदया—दुक्खस्स पडिगरंतो दुःखस्य प्रतीकारं कुर्वन् । सुहमिच्छंतो य इंद्रियसुखमभिलषन् । इमो जीवो अयं जीवः। पाणवधादीदोसे हिंसादिदोषान्। करेदि मोहेण संछण्णो करोति मोहेन संछन्नः। भीकरो विशेषदुःखपापस्यापायं न वेत्ति ॥ दुःखनिराकरणार्थ्यपि दुःखहेतूनेव हिंसादीन् प्रवर्तयति । इंद्रियसुखलंपटोऽपि तेष्वेव हिंसादिषु दुःखहेतुषु प्रवर्तते । ततोऽस्य सकलो व्यापारो दुःखस्यैव मूलमिति ॥

मूलारा—दुक्खस्सेत्यादि दुःखभीरुरपि नैव निःशेषदुःखापायोपायं वेत्ति । दुःखनिराकरणार्थ्यपि दुःखहेतून् हिंसादीन्प्रवर्तयति । इंद्रियसुखलंपटोऽपि तेष्वेव हिंसादिषु दुःखहेतुषु वर्तते । ततोऽस्य सकलोपि व्यापारो दुःखस्यैव मूलमिति भावः ॥

अर्थ—यह जीव दुःखका नाश करनेकी इच्छा रखता है और सुखको चाहता है. परंतु मोहवश होकर हिंसादिक दोषोंको करता है. तात्पर्य यह है कि संसारी जीव दुःखसे डरता है परंतु दुःखके नाशका उपाय वह नहीं जानता है. दुःखका निराकरण करनेकी इच्छा है परंतु दुःखोंके कारणोंकाही आश्रय करता है. इंद्रियसुखमें लंपट होकर हिंसादि दुःखोंके कारणमें प्रवृत्त होता है. इस वास्ते इसकी सब प्रवृत्ति दुःखकाही मूल है.

दोसेहिं तेहिं बहुगं कम्मं बंधदि तदो णवं जीवो ॥
अध तेण पच्चइ पुणो पविसित्तु व अग्गिमग्गीदो ॥ १७९६ ॥

हिंसारंभादिदोषेण गृहीतनवकल्मषः ॥
प्रदह्यते प्रविष्टोऽग्नौ पावकादिव पावकम् ॥ १८९८ ॥

विजयोदया—दोसेहिं तेहिं प्राणिवधादिकैर्दोषैः। बहुगं कम्मं बंधदि महत्कर्म बध्नाति । नवं प्रत्यग्रं । तदो पश्चात् । अध कर्मबंधानंतरं । तेण पच्चदि तेन बंधनेन कर्मणा पच्यते । पविसित्तुव प्रविश्येव । किं अग्गिं अग्निं। अग्गीदो अग्नेः । अंगारागस्य अग्निं प्रविश्य यथा पच्यते । एवं पूर्वैः कर्मभिर्बाधितः पुनः प्रत्यग्रकर्मानलेन (निबंधेन) दह्यते इति ॥

मूलारा—पविसित्तुव प्रविश्य यथा ॥

अर्थ—यह जीव प्राणिवधादिक अनेक दोषोंसे महातम्र कर्मका नवीन बंध करता है. जब उस कर्मका

उदय आता है तब एक अग्निसे निकल कर दुसरे अग्निमें पडनेवाला जीव जैसे घोर दुःखका अनुभव करता है वैसा इस जीवको कर्मोदयसे दुःख होता है. अर्थात् पूर्वकर्म उदयमें आकर वह स्थिर हो जाता है और उसीसमय नवीन कर्म भी बंध जाता है. अतएव दुःखका कारण जो पूर्व कर्म उसका नाश होते समय ही नवीन कर्म बंध जाता है. इसलिये वह भी कर्म उसके अनंतर उदयमें आता है इसलिये इस जीवको सतत दुःखही दुःख भोगना पडता है.

बंधंतो मुच्चंतो एवं कम्मं पुणो पुणो जीवो ॥

सुहकामो बहुदुक्खं संसारमणादियं भमइ ॥ १७९७ ॥

गृह्णता मुंचता दारुणं कल्मषं सौख्यकांक्षिणा जीवेन मूढात्मना ॥

भ्रम्यते संसृतौ सर्वदा दुःखिना पावनं मुक्तिमार्गं ततोऽपश्यता ॥१८६९॥

इति जन्मानुप्रेक्षा ॥

विजयोदया—बंधंतो मुच्चंतो बंधन् मुंचन्। एवं कम्मं पुणो पुणो जीवो कर्म पुनः पुनर्जीवः दत्तफलानि मुंचति, कर्मफलानुभवकालोपजातरागद्वेषपरिणामैरभिनवानि कर्माणि बध्नाति। सुहकामो सुखाभिलाषवान्। बहुदुक्खं विचित्र दुःखं। संसारमणादियं भमदि अनादिसंसारं भ्रमति। संसारचिंता ॥

मूलारा—बंधंतो पूर्वकर्मफलानुभवकाले जाताभ्यां रागद्वेषाभ्यां अभिनवं बध्नन्। मुचंतो उपयुक्तफलं प्राक्तनं मुंचन् ॥ संसारानुप्रेक्षा ॥

अर्थ—जिन कर्मोंसे आत्माको फल मिल चुका है वे कर्म गल जाते हैं. परंतु पूर्व कर्मके फलोंका अनुभव लेते समय यह जीव रागद्वेषयुक्त होता है अतः उसको नवीन कर्म बंध जाता है. इस जीवके मनमें सुखकी तीव्र अभिलाषा है परंतु वह सुख उसके उपायोंका ज्ञान न होनेसे प्राप्त नहीं होता है. उलटे उपायोंमें प्रवृत्त होनेसे इसको नानादुःखोंसे परिपूर्ण ऐसे अनादि घोर संसारमें भ्रमण करना पडता है.

लोकानुप्रेक्षा निरूप्यते नामस्थापनाद्रव्यादिविकल्पेन। यद्यप्यनेकप्रकारो लोकस्तथापीह लोकशब्देन जीवद्रव्य लोक पर्योच्यते। कथं? सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात् ॥

आहिंडयपुरिसस्स व इमस्स णीया तहिं तहिं होंति ॥
सव्वे वि इमो पत्तो संबंधे सव्वजीवेहिं ॥ १७९८ ॥

सर्वे सर्वैः समं प्राप्ताः संबंधा जंतुनांगिभिः ॥
भवति भ्रमतः कस्य तत्र तत्रास्य बांधवाः ॥ १८७० ॥

विजयोदया—आहिंडयपुरिसस्स व देशांतरं भ्रमतः पुंस इव । इमस्स णीया तहिं तहिं होंति अस्य बंधवस्तत्र तत्र भवंति । सव्वेवि इमो पत्तो सर्वानयं प्राप्तः । संबंधे संबंधान् । सव्वजीवेहिं सर्वजीवैः सह ॥

धर्म्यध्येयतया लोकं पंचदशगाथाभिरनुप्रेक्षते । नामस्थापनाद्रव्यादिविकल्पेन यद्यपि चानेकप्रकारो लोकस्तथापि इह लोकशब्देन जीवद्रव्यलोक एवोच्यते । सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात् ।

मूलारा—आहिंडग देशांतरभ्रमणपरः ।

लोकानुप्रेक्षाका वर्णन आचार्य करते हैं. नाम, स्थापना, द्रव्य वगैरे विकल्पोंसे लोकके अनेक भेद हैं तथापि यह लोग शब्दसे द्रव्यलोक ही ग्राह्य है, क्योंकि जीवके धर्म प्रवृत्तिका क्रम यहां कहा गया है.

अर्थ—एकदेशसे दुसरे देशको जानेवाले पुरुषके समान इस जीवको सर्व जगमें बंधुलाभ होता है अर्थात् सर्व जीवोंसे अनादिकालसे इसका संबंध होता चला आया है. अमुक जीवके साथ इसका पिता पुत्र वगैरह रूपसे संबंध नहीं हुआ था ऐसा कालही नहीं था अतः सर्व जीव इसके संबंधी है.

माया वि होइ भज्जा भज्जा मायत्तणं पुणमुवेदि ॥
इय संसारे सव्वे परियट्टंते हु संबंधी ॥ १७९९ ॥

माता सुता स्नुषा भार्या सुता कांता स्वसा स्नुषा ॥
पिता पुत्रो नृपो दासो जायतेऽनंतशो भवे ॥ १८७१ ॥

विजयोदया—मादा य होदि भज्जा माता भार्या भवति । भार्या मातृतां पुनरुपैति । एवं संसारे सर्वे संबंधाः परिवर्तंते इति गाथार्थः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—इस लोकमें माताभी पत्नी होती है और पत्नी भी माता होती है. अर्थात् स्ववीर्यसे खुद उसमें उत्पन्न होकर यह पतिरूपजीव उसका पुन बनता है इस प्रकार इस संसारमें सर्व संबंधोंका परिवर्तन होता रहता है.

जणणी वसंततिलया भगिणी कमला य आसि भज्जाउ ॥
धणदेवस्स य एक्कम्मि भवे संसारवासम्मि ॥ १८०० ॥

वसंततिलका माता भगिनी कमला च ते ॥
एकत्र धनदेवस्य भार्या जाता भवे ततः ॥ १८७२

विजयोदया—जणणी वसंततिलया धनदेवस्य जननी वसंततिलका। कमला भगिनी। ते उभे भार्ये जाते धनदेवस्य। तस्मिन्नेव भवे भवांतरेषु संबन्धान्यथाभावे किमस्ति वाच्य ?

यद्येकदेहवहने लभतेऽपवादं। दु ख ततो व्यथनमुग्रफलं च पापं। नानाशरीरवहनेषु कथं न दु.खं। प्राप्नोति केन विषयार्जितपापकर्म ॥

उक्त च-कुर्योन्न तन्मदगजोद्धतदन्तवेग । खड्गो विकम्पवलपाणिविसृष्टधार. । कुर्वंति दु.खमधिक विषया नराणां तस्मात्त्यजंति विषयान् परिदृष्टतत्वा. । एवमयं कष्टो लोकधर्म. ॥

मूलारा—आसि भज्जाओ जाते द्वे अपि मातृस्वसारौ भार्ये। तस्मिन्नेव भवे, किं भवांतरेषु संबंधान्यत्वे कथ्यमित्यर्थः॥

अर्थ—एकही भवमें धनदेव नामक मनुष्यके वसंततिलका माता और कमला नामक भगिनी दोनो पत्नी हुई थी जब एकही भवमें ऐसे विचित्र संबंध होते हैं तो भवांतर के संबधोंमें कहनाही क्या? आगममें इसविषयमें ऐसा कहा है–एकही भवमें एक शरीर धारण करनेंमे भी इस जीवको नाना प्रकारके अपवाद सहन करने पडते हैं. उसमे उसको दुःख क्यों न होगा अर्थात अपवादसे इस जीवको तीव्रदुःखानुभव होता है विषयोपभोग करनेसे पापकर्मका बंध होता है.एक शरीरके साथ जीवकासंबंध होनेसे इसको इतना कष्ट होता है तो अनेक जन्मोंमें इसने आजतक अनंत शरीर धारण कर छोड दिये हैं तो इन देहोंके आश्रयसे अपवादजनित दुःख और अनंत दुःखदायक कर्मोंका संबंध होनेमे कितना कष्ट हुआ होगा इसका विचार विचारी पुरुष मनमें कर सकते हैं.

अर्थ—बडे वेगसे दौडनेवाला उन्मत्त हाथी, मनुष्यकी उतनी हानि नहीं करता है. बलवान पुरुषके हाथमें रहनेवाला तीव्र धारका खड्ग भी लोगोंकी उतनी हानि नहीं करेगा. परंतु विषयसुख मनुष्योंकी उनसे भी अत्यंत अधिक हानि करता है. अतिशय दुःख देता है. इसलिये तत्वदर्शी लोग ऐसे विषयोंका त्यागकर सुखी होते हैं. इसप्रकार ये लोकधर्म कष्टदायक है.

राया वि होइ दासो दासो रायत्तणं पुणमुवेदि ॥
इय संसारे परिवट्टंते ठाणाणि सव्वाणि ॥ १८०१ ॥
संसारे जायते यस्मि न्नृपोऽपि खलु किंकरः ॥
कीदृशी क्रियते तत्र रतिर्निंदानिधानके ॥ १८७३ ॥

विजयोदया—राया वि होइ दासो राजा दासो भवति, नीचैर्गोत्रार्जनात्, दासो राजतां पुनरुपैति उच्चैर्गोत्रकर्मण उदयात्। एवं संसारे परिवर्तंते सर्वाणि स्थानानि ॥

मूलारा—दासो नीचैर्गोत्रोदयात्।

अर्थ—राजा भी जब उसको नीच गोत्रका उदय होता है तब भवांतरमें दास होता है. और दासभी उच्चगोत्र कर्मका उदय होनेसे भवांतरमें राजा होता है. इस प्रकार इस संसारमें सर्व स्थानोंमें परिवर्तन होता है.

कुलरूवतेयभोगाधिगो वि राया विदेहदेसवदी
वच्चघरम्मि सुभोगो जाओ कीडो सकम्मेहिं ॥ १८०२ ॥
विदेहाधिपती राजा तेजोरूपकुलाधिकः ॥
जातो वर्चोगृहे कीटः सुभोगः पूर्वकर्मभिः ॥ १८७३ ॥

विजयोदया—कुलरूवतेयभोगाधिगो वि कुलेन रूपेण तेजसा भोगेनाधिकोपि। विदेहजनपदाधिपती राजा सुभोगसंज्ञः सुवर्चोगृहे कीटो जातः स्वैः कर्मभिः प्रेरितः। उक्तं च— इयाः क्वचित्सुरमनुष्यगणप्रधानाः सर्वर्द्धिदीप्तवपुषः नाशिगतरूपाः ॥ भ्रप्रास्त एव पुनरन्यगतिं प्रपन्ना हीना भवंति कुलरूपधनप्रतापैः ॥

मूलारा—वच्चघरम्मि विष्ठागृहे। सुभोगो सुभोगाख्यो राजा सन् ॥

अर्थ—कुल, रूप, तेज, और भोगोंसे इतर जनोंमें श्रेष्ठ ऐसा विदेह देशका अधिपति सुभोग नामका राजाभी मरकर पैखानेमें गूथमें कीटक हुआ. अपने किये हुए कर्मके वश होकर सुभग राजाकी ऐसी दुर्दशा हो गयी. इसलिये कहा भी है कि,—देव और मनुष्योंमें प्रधान, सर्व ऋद्धिकी प्राप्ति होनेसे जिनका शरीर तेजस्वी और सुंदर दीखता था, जिनका रूपगुण चंद्रके समान आल्हादकारक था, वे भी मनुष्य भ्रष्ट होकर अन्यगतिको प्राप्त होकर कुल रूप, प्रताप इत्यादिकोंसे हीन होगये हैं.

होऊण महड्ढीउ देवो सुभवण्णगंधरूवधरो ॥
कुणिमम्मि वसदि गब्भे धिगत्थु संसारवासस्स ॥ १८०३ ॥

देवो महर्द्धिको भूत्वा पवित्रगुणविग्रहः ॥
गर्भे वसति बीभत्से धिक्संसारमसारकम् ॥ १८७१ ॥

विजयोदया—होऊण महड्ढीउ देवो महर्द्धिको देवो भूत्वा । सुभवण्णगंधरूवधरो प्रशस्ततेजोगंधरूपान्वितः ॥
इंद्रचापतडिदंबुधराणां यद्वदाशु गगने सहसैव ॥ जन्म संभवति तद्वदमीषां जन्म वेद्यमशुचिप्रविमुक्तं ॥ १ ॥
वातपित्तकफजैः परिमुक्तं व्याधिभिर्विगतखेदमतीर्द्धं, अच्युतं परमयौवनयुक्तं सर्वतोऽविकलमुत्तमकांति ॥ २ ॥
सर्वतश्च विमलांबरवर्णस्पर्शगंधवरवाञ्छितहासं । सद्विलासगतिचेष्टितलीलं ते शरीरमररमत्र लभंते ॥ ३ ॥
गीतवाद्यततितूर्यनिनादैस्तांस्तदाथ समुपेत्य सहर्षाः । देवदेववनिता प्रणिपत्य कुर्वतेऽत्र समुपासनमेषां ॥ ४ ॥
फुल्लपंकजसमैरथ हस्तैर्दक्षिणैः प्रवरलक्षणकीर्णैः । चारुचंद्रवदना नतिभेत्रां स्निग्धदृष्टिहसिताः प्रतिगृह्य ॥ ५ ॥
मृगपासनमस्तकोपविष्टान् मृगपानगतानिवाचलानां । अथ तानभिषेकमापयंति मुदितास्तत्र सुराः सुवर्णकुंभैः ॥ ६ ॥
प्रविकाशय वक्त्रपंकजानि सुरनाथार्कगुणांशुभिः सुराणां । कुरु नः सुचिरं त्वमाधिपत्यमिति तान्वाग्भिरभिष्टुवंति चैव ७
आदाय नैदाघरविं शिरःसु न्यस्तैर्विचित्रैर्मुकुटानि भूत्वा । विभूषिताश्चाभरणैरनर्धैर्हैरैर्हारांगदकुण्डलाद्यैः ॥ ८ ॥
ज्योतिर्विभूषान् गगनप्रदेशान्, विशुद्धिनद्धान् रुचिरांबुदांश्च, रत्नार्चितान् हेममहागिरींश्च विशेषयंतोऽभ्यधिकं विभांति ९
दिव्यवीर्यबलविक्रमायुषो दिव्यदीप्तवपुषो दिशो दश । भासयंति विमलांबरार्कवद्दिव्यसौम्यवपुषः शशांकवत् ॥ १० ॥
दूरप्यतिपतंति लाघवात् गौरवाद्गिरिसमा भवंति च ॥ अर्णवादतिविशंति मेदिनीं पार्थिवाच्च महतोऽपि रुंधते ॥ ११ ॥
काष्ठमग्निमनिलं जलं महीं संप्रविश्य च तनूः शरीरिणां । निर्विशेषगुणकाः सहासितु ते भवंति सुचिरं सुशक्तयः ॥ १२ ॥
पावकाचरम्बुरन् धनावनीसागरांश्च सहसा निपत्य ते ॥ स्थानमीप्सिततमं श्रमाद्विना यांति चामीतहताशरीरवत् ॥ १३ ॥
उत्क्षिपेयुरवनीं महाचलात् पातयेयुरपि मंदरान्करैः । मंदराद्रिशिखरं धरास्थितास्ते स्पृशेयुरपि यद्यभीप्सितं ॥ १४ ॥

ईशितुं सुरनृणामयत्नतः कर्तुमात्मवशगान्मृगानपि । रूपमप्रतिममलसा समीक्षितं स्पष्टुमप्यलमसि सशद्धया ॥ १५ ॥
शंसितुं सुरनृणामयत्नतः ... सन्तानाद्यैर्विरचितमाला निर्यात्म्लानाः परिवहमानाः ॥ १६ ॥
मंधुलिताः स्वसुरभिगंधैर्वा भृङ्गैः शुभकुसुमैश्च ॥ संतानाद्यैर्विरचितमाला ... रतिनिपुणाभिस्स्वाभिः सार्द्धं वरवनिताभिः ॥ १७ ॥
माल्यैर्गंधैः मुखमनुलिप्ता वस्त्राण्यतिविरजांसि वसानाः । रंरम्यंते रतिनिपुणाभिस्स्वाभिः सार्द्धं वरवनिताभिः ॥ १८ ॥
दुःखेनैव जीवं यांति वियोगकृतं परितापं, तत्र महर्द्धियुता अपि देवाः स्त्रीपुरुषा विषमायुष एव ॥ १९ ॥
प्रायभूतामिह मध्यमलोके तीव्रतरादिकषायचतुष्कं । स्यात्सुरसंततयः समकालाः, तत्र भवंति हि कर्मवशेन ॥ २० ॥
अच्युतमानितजीवितदेवे, स्त्री चिरजीवितवत्यति तस्याः । पल्यमितं वत जीवितकालं तेन वियोगमितः सुरलोकः ॥ २१ ॥
मृत्युकृतं च विचिंत्य सुदुःखं भावि सुराःशरभीतमनस्काः। तत्र भजंति मृगा इव बद्धा व्याघ्रसमीपमुपेत्य सभीकाः ॥ २२ ॥
गर्भकृतामपि ते कुटयस्यां संपरिचिंत्य पुनः समवाप्य । शोकभये विपुले परियांति चारकरोध इवाभ्युपयाते ॥ २३ ॥
मूत्रयथाशुचेरतिदुःखं निर्गमनं स्मरतामशुचीनां । जन्मतयेति भयं दिविजानां, स्यादधिकं तदवाप्य सुखं तत् ॥ २४ ॥
तानपि चाप्नुपतेत् सुरनिधा पदयत सर्पवधूरिव कष्टा, वर्षसहस्रमितीह पतेपि कालदरो न जहात्यहमिदं ॥ २५ ॥
उच्छ्वसनं श्रमजं नृपतेरपि पक्षमितैर्दिवसैर्यदि यांति । कान्यसुरेषु कथा वत लोके हा सभयो जननार्णववासः ॥ २६ ॥
रोगजराविकलत्वविहीनास्तत्र पुनश्च मनस्मनुजानां तत्सहितं प्रसमीक्ष्य पुरस्तात् प्राप्यमवश्यमतश्च्युतमात्रे ॥ २७ ॥
मन्मथशात्मवशा विलपंतो देशमिवान्यमुपद्रवयुक्तं । संप्रतिपत्स्यथ उग्रभयं ते शोकवशा बहुशोऽपि भवंति ॥ २८ ॥
परसुरसौख्यमथाप्य विमाने भूतरजो जगतोरपि यांति । तत्परिचिंतयतां कुशलानां केन सुरेषु भवेद्बहुमानं ॥ २९ ॥
तेऽवधिना विधिना बहुतरं दूरगतामपि जानत एव । तेन भयान्यनुभूय पुरस्तादश्नुवते भयकृच्छ्रदपश्चात् ॥ ३० ॥
यस्सहसा भयमभ्युपयाति पूर्वतरं न भयं स उपैति प्राग्विदितात्मवधं सुनरःप्राक् प्राप्य भयं वधमेत्ति हि पश्चात् ॥ ३१ ॥
अतो न सौख्यं त्रिदिवास्ति किंचन विमृश्यमाने मनसा भवार्णवे। सुखे प्रसक्तो विपुले पुमानयं भजेत दुःखेन विनाणुनापि यत्॥
यथाणुकेशोपहतेऽपि भोजने न तन्नरो रोचयते कुलोदितः तथाल्पदोषोप्यसुखे सुखे सति न तद्बुधो रोचयते कदाचन ३२
प्रणीयमानेषुनि पातितो यथा लघोपि मूत्रस्य तदंबु दूषयेत्। तथा लवांशोप्यसुखस्य सत्सुखे करोति सर्वस्य सुखस्य दूषणं॥
गुणैरनेकैरपिसंयुतां स्त्रियं कृतापचारां सकृदप्यनिर्घृणः। नरो जहात्येव यथा तथा बुधो न दृष्टदोषादिव सौख्यमिच्छति(?)
कुणिममिव वसति गर्भे कुथितगर्भे वसति ॥ धिगस्तु संसारवासस्य धिगस्तु संसार वासस्य ॥ उक्तं च—त्योगाद्भोगादेव
समुत्थं मनुजेषु गर्भस्मृत्या गर्भनिपातं च समीक्ष्य । प्रस्तादेव देहाशुचीनपि निरीक्ष्य गर्भाविष्टा दुःखमिवांतेनुभवंति ॥

मूलारा–स्पष्टम् ॥

अर्थ—देवगति नामक कर्मके उदयसे यह जीव महान ऋद्धि धारक, शुभ वर्ण, गंध, रूप इत्यादि उत्कृष्ट गुणोंका स्थान बनता है. अर्थात् स्वर्गीय देव बनता है. परंतु आयुष्य समाप्त होनेपर दुर्गंध युक्त गर्भावासमें उसको रहना पडता है इसलिये ऐसे विचित्र संसारको धिकार हो.

१ जैसे आकाशमें इंद्रधनुष्य, बिजली, और मेघ अकस्मात् उत्पन्न होते हैं वैसे देवोंका अकस्मात् जन्म होता है. इन देवोंका जन्म अशुचितासे-अपवित्रतासे रहित होता है ऐसा समझना चाहिये.

२ वात, पित्त और कफ इन तीन दोषोंसे जो व्याधियां मनुष्य देहमें उत्पन्न होती हैं उनसे देवोंका शरीर रहित होता है खेद उनमें नाममात्र भी नहीं रहता है. सदा तरुणताही रहती है. सर्वावयवपरिपूर्णता और उत्तम कांतीसे वह सदाही युक्त होता है.

३ उत्तम विलास, गति, चेष्टा और लीलासे वह मन हरण करता है. निर्मल वस्त्र, वर्ण, स्पर्श, सुगंध, मिष्ट भाषण और हास्यसे उसकी शोभा चित्तको अपने तरफ आकर्षित करती है. ऐसा शरीर शुभ कर्मके उदयसे देवोंको प्राप्त होता है.

४ जब उपपाद शय्यापर देवका जन्म होता है तब देव देवांगना हर्षसे उसके सामने आकर नमस्कार करते हैं. और गीत वाद्यादिक ध्वनिओंसे उसका अभिनंदन कर अपना हर्ष भाव प्रकट करते हैं उसकी उपासना करते हैं.

५ उत्तम लक्षणोंसे युक्त, प्रफुल्ल कमल समान सुंदर ऐसे हाथोंसे किया हुआ नमस्कार ये उत्पन्न हुए देव ग्रहण करते हैं. चंद्रके समान सुंदर मुखवाले ये देव स्निग्ध दृष्टिसे हसकर देवोंके नमस्कारका स्वीकार करते हैं.

६ पर्वतके शिखरपर बैठे सिंहके समान सिंहासनपर बैठे हुए उन उत्पन्न हुए देवोंका आनंदित हुए देव सुवर्ण कलशसे अभिषेक करते हैं.

७ हे देवेंद्र! सूर्यके समान गुणोंसे हमारे मुखकमलोंको आप प्रफुल्लित करो. और हमारे ऊपर आपका दीर्घकाल तक आधिपत्य रहे ऐसी देव उनकी वचनोंके द्वारा स्तुति करते हैं.

८ ये देवेंद्र मानो ग्रीष्मकालके सूर्य ही हैं ऐसे रत्नोज्ज्वल मुकुट मस्तकपर धारण करते हैं. हार, अंगद, कुंडल वगैरह अमूल्य रत्नाभरणोंसे वे अलंकृत रहते हैं.

९ बिजलीसे व्याप्त हुए सुंदर मेघोंको, रत्नोंसे जडित सुवर्ण पर्वतोंको अलंकृत करते हुए वे देव अतिशय शोभाको धारण करते हैं.

१० जो दिव्य बल, वीर्य और पराक्रमोंसे युक्त हैं. जिनका शरीर दिव्य और दीप्तियुक्त है. ऐसे देव

विमल आकाशस्थित सूर्यके समान दश दिशाओंको प्रकाशित करते हैं. तथा चंद्रके समान अपनी सौम्य कांतीसे दश दिशाओंको सौम्ययुक्त बनाते हैं ।

११ अतिशय लघु होकर वे अतिशय दूर जाते हैं. और गुरु होकर वे पर्वतके समान विशाल बनते हैं. जलके समान होकर पृथ्वीमें प्रवेश करते हैं और पृथ्वीके समान अन्य पदार्थोंको रोध करते हैं ।

१२ लकडी, अग्नि, हवा, पानी, पृथ्वी इनमें और प्राणिओंके शरीरमें वे प्रवेश करनेमें समर्थ होते हैं. उनके गुणके समान गुण और प्राणिओंके नहीं होते हैं. और वे समर्थ होते हैं ।

१३ वे देव अग्नि, पर्वत, जंगल, समुद्र वगैरहको एकदम उलंघकर विना परिश्रमके इच्छित स्थानपर पोहोच जाते हैं. सिद्धके समान उनको किसी पदार्थसे बाधा नहीं पोहोचती हैं.

१४ उनमें पर्वतोंको जमीनपर गिरा देनेका सामर्थ्य होता है. वे मंदर पर्वतोंको भी गिरा सकते हैं. जमीनपर ठहर कर भी मंदर पर्वतके शिखरको स्पर्श कर सकते हैं.

१५ देव और मनुष्योंपर विना प्रयत्नसे वे ईशत्व रख सकते हैं. और सर्व पशुओंको वश करते हैं. मनमें वे जिस रूपको चाहते हैं तत्काल उसको धारण कर सकते हैं. वे जिस पदार्थको चाहते हैं तत्काल उसको प्राप्त कर सकते हैं ।

१६ अपने शरीरकी सुगंधसे संपूर्ण दिशाओंको भर देते हैं. उनके गलेमें संतानकादि कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी आम्लान माला रहती है ।

१७ पुष्प, गंधोंसे सुगंधित वस्त्र वे धारण करते हैं. और संभोगमें प्रवीण देवांगनाओंके साथ वे हमेशा रतिक्रीडा करते हैं ।

१८ वे महान ऋद्धिधारक देव और देवांगना विषमायुष्य होनेसे वियोग दुःखको प्राप्त होते हैं. अर्थात् देवको देवीका और देवीको देवका वियोग होता है ।

१९ इस मध्यमलोकमें प्राणिओंको तीव्रतर तीव्रतम वगैरह विकल्पोंके क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं. परंतु देवलोकमें कषायोंका तीव्रभाव नहीं रहता है.

२० अच्युत स्वर्गतक देवांगनाका दीर्घकाल आयुष्य यद्यपि है तो भी वह पल्यप्रमाण ही है अर्थात्

सागरोंसे उनका आयुष्य नहीं नापा जाता है. और देवोंका आयुष्य सागरोंका होता है इस लिये देवोंको वारवार अनेक देवांगनाओंका वियोग होता है.

२१ मृत्युके समयमें होनेवाले दुःखोंका विचार कर उनके मनमें दुःख उत्पन्न होता है जैसे व्याघ्रके समीप बांधे हुए हरिणको दुःख होता है वैसे इन देवोंको मृत्यु समय दुःख होता है.

२२ कैदी होनेका प्रसंग आनेपर जैसा मनुष्यको बहुत शोक और भय उत्पन्न होता है वैसे देवभी यहांका आयुष्य समाप्त होनेपर हमको मनुष्यस्त्रीके गर्भमें जो कि कैदखानेके समान है रहना पडेगा ऐसा विचार कर बहुत शोकयुक्त और भयवान् होते हैं.

२३ गर्भके अनंतर अपवित्र ऐसे मूत्रमार्गसे हमको बाहर निकलना पडेगा. यह तो बहुत कष्टकी बात है. यह मनुष्य जन्म महान् अपवित्र है ऐसा विचार करनेसे उन देवोंको महान भय होने लगता है.

२४ इस स्वर्गमें हजारो वर्ष बीतनेपर भी हमको क्षुधा बाधा न होती थी. परंतु मनुष्यत्व प्राप्त होनेपर सर्पिणीके समान यह क्षुधाबाधा हमको तकलीफ देगी हा यह बडा कष्ट है. २५ देव गतीमें एकपक्ष बीतनेपर उच्छ्वास लेते थे परंतु यहां मनुष्यगतीमें उच्छ्वासका भी परिश्रम होगा हाय हाय इससंसारसमुद्रमें रहना बडा कठिन है.

२५ इस देवावस्थामें रोग, जरा-वृद्धावस्था, इंद्रियविकलता, इत्यादि दोष नहीं रहते हैं. परंतु मनुष्य-भवमें ये बाधायें अवश्य भोगनी पडेंगी ऐसा मनमें देव विचार करते हैं. यहांसे हम च्युत होनेके अनंतर दुःखद परिस्थिति प्राप्ति होगी ऐसा वे विचार करते हैं.

२६ यद्यपि देव परतंत्र नहीं होते है. तथापि उपद्रवयुक्त देशको मानो हम प्राप्त हुए हैं ऐसा समझकर मनमें शोक उक्त होकर अतिशय तीव्र भीतिको प्राप्त होते हैं.

२७ जिनको कभी भी रोग पीडा नहीं हुई थी ऐसे भी देव आयुष्य समाप्तिके अनंतर इस मनुष्य लोकमें उत्पन्न होते हैं. ऐसा समझकर कोन विद्वान देवावस्थाको अच्छी समझेगा ? अर्थात् वह भी कष्टयुक्त है ऐसा समझकर विद्वान लोक उसमें अनादर करते हैं.

२८ ये देव अपने अवधिज्ञानसे बहुत दूर की बात भी जानलेते हैं. अतः आगे आनेवाली विपत्तिको जानकर वे प्रथम ही भययुक्त होते हैं. और तदनंतर वास्तविक भयका अनुभव करते हैं.

२९ जिसको अकस्मात् भय उत्पन्न होता है वह प्रथम ही अर्थात् भय प्राप्त होनेके पूर्वमें भय
युक्त नहीं होता है. परंतु देव भयकी वार्ता प्रथमही जान लेते हैं अतः वे प्रथमही दुःखी होते हैं. जैसे अपने वध
होनेकी गत जिसको प्रथमही मालूम पडी है वह मनुष्य प्रथम ही भयको प्राप्त होकर अनंतर वधयुक्त हो जाता है.

३० इसलिए इस संसारसागरमें विचार करनेवाले पुरुषको कहां भी सौख्य नहीं है ऐसा अनुभव
आवेगा. अतिशय सुखमें आसक्त ऐसे भी प्राणीको यदि अणुमात्र भी दुःख हो जावेगा तो भी सुखमें न्यूनता है
ऐसा मानना पडेगा. तात्पर्य यह है कि, जिसमें अणुमात्र भी दुःख हो वह सुख है नहीं.

जैसे भोजन करते समय अन्नमें छोटासा भी केश निकला तो वह अन्न कुलीन मनुष्यको अप्रिय होता
है. वैसा सुखमें यदि अल्प भी दोष होगा तो वह सुख बुद्धिमानोंको अप्रिय लगता है ।

३१ पीनेके लिए जो पानी दिया गया है उसमें यदि थूकका एक भी बिंदु पडेगा तो वह पानी दूषित
होता है. वैसे उत्तम सुखमें यदि थोडासा भी दुःख उत्पन्न होगा तो वह सुख दोषयुक्त ही मानना चाहिए.

३२ यदि अनेक गुणोंसे स्त्री संपन्न है तो भी एक दफे भी जिसने व्यभिचार किया है उसको दयार्द्र
मनुष्य भी छोड ही देगा. वैसे बुद्धिमान् लोग जिसमें दोष दीखता है ऐसे सुखकी इच्छा नहीं करते हैं.

अभिप्राय यह निकला कि यह संसार दुःखमय है. इस संसारमें कुथित मांस रक्तादि से भरे हुए गर्भमें
निवास करना पडता है. इसलिए इस संसारवासको धिक्कार हो. शास्त्रमें इस विषयमें ऐसा कहा है—इस मनुष्य
जन्ममें आनेकेलिए गर्भमें रहना पडता है. इसका स्मरण होने से दुःख होता है. गर्भ मे आकर भी कोई जीवका
पतन भी हो जाता है. यह शरीर भी अपवित्र है. और यहांके भोग भी रोग के समान हैं. इत्यादि विचार करने
से देवोंको गर्भ में प्रवेश करने के समान दुःख होता है.

इध किं परलोगे वा सत्तू पुरिसस्स हुंति णीया वि ॥
इहइं परत्त वा खाइ पुत्तमंसाणि सयमादा ॥ १८०४ ॥
यत्र खादति पुत्रस्य जनन्यपि कलेवरम् ॥
तत्रामुत्र वा बंधौ शत्रुत्वे कोऽस्ति विस्मयः ॥ १८७५ ॥

विजयोदया—इधई परलोगेवा इहलोके परलोके वा, पुरिसस्स णीया वि सत्तू होंति बंधवोपि शत्रवो भवंति पुरुषस्य। इहइ परत्त वा खाइ इह वा परत्र वा अत्ति, पुत्तमंसाणि सयमादा पुत्रस्य मांसं आत्मीयजननी अत्ति किमतः परं कष्टं ॥

मूलारा—इधइ इहलोके। परं कष्टमिति भावः ॥

अर्थ—इह लोकमें अथवा परलोक में बंधु भी पुरुषका मनुष्यका शत्रु होता है. इस लोकमे जननी भी माता भी अपने पुत्रका मांस खाती है. अहह— इस से अधिक कष्टकारक क्या होगा ?

होऊण रिऊ बहुदुक्खकारओ बंधवो पुणो होदि ॥
इय परिवट्टइ णीयत्तणं च सत्तुत्तणं च जये ॥ १८०५ ॥

बंधू रिपू रिपुर्बंधुर्जायते कार्यतस्ततः ॥
यतो रिपुत्वबंधुत्वे संसारे न निसर्गतः ॥ १८७६ ॥

विजयोदया—होऊण रिऊ रिपुर्भूत्वा पूर्वं। बहुदुक्खकरो विचित्रदुःखकारी। स एव पुणो पश्चादपि। बंधवो होदि प्रियबांधवो भवति। इय परिवट्टदि एव परिवर्तते। णीगत्तणं च सत्तुत्तणं च बंधुत्वं च शत्रुत्वं च। जगे जीवलोके ॥

मूलारा—णीयत्तणं बंधुत्त्वम् ॥

अर्थ—जो अपना कट्टर शत्रु है जिसने नाना प्रकारके दुःख दिये थे वह भी बंधु–प्रिय बांधव होता है. इस प्रकार शत्रुत्व और बन्धुत्वका जगतमें परिवर्तन होता रहता है.

विमलाहेदुं वंकेण मारिओ णियय भारियागब्भे ॥
जाओ जाओ जादिंभरो सुदिट्ठी सकम्मेहिं ॥ १८०६ ॥

वक्रेण विमलाहेतोः सुदृष्टिर्विनिपातितः ॥
निजांगनांगजो भूत्वा जातो जातिस्मरो यत ॥ १८७७ ॥

विजयोदया—विमलाहेदुं विमलनिमित्तं। वंकेण मारिदो वक्राख्येन भृतकेन मारितः। कः सुदिट्ठी सुदृष्टिनामधेयः। सकम्मेहि आत्मीयैः कर्मभिः। जादो उत्पन्नः। क णियय भारियागब्भे निजभार्यागर्भे जादिंभरो जादो जातिस्मरश्च जातः ॥

मूलारा—बंधेण धनाम्येन स्वशिष्येण। मारिदो विमलानाम्न्या स्वभार्यया सह मैथुनं कुर्वाणो हतः। भारिया भार्या। जादिंभरो जातिस्मरश्च जातः। सुदिट्ठी सुदृष्टिर्नामनगरवैज्ञानिकः

अर्थ—विमला नामक स्त्रीके वश होकर वंक नामक पुरुषने अपने स्वामीका वध किया. वह स्वामी उसही स्त्रीके उदरमें कर्मोदयसे गर्भ रूप होकर उसका पुत्र होकर उत्पन्न हुआ. उसका सुदृष्टि नाम रक्खा गया. उसको कालांतरमें जातिस्मरण हो गया तब मैं अपनी स्त्रीमें ही पुत्र उत्पन्न हुआ हूं ऐसा उसको ज्ञान होगया.

होऊण वंभणो सोत्तिओ खु पावं करित्तु माणेण ॥
सुणगो व सूगरो वा पाणो वा होइ परलोए ॥ १८०७ ॥
श्रोत्रियो ब्राह्मणो भूत्वा कृत्वा मानेन पातकम् ॥
सूकरो मंडलः पाणो शृगालो जायते धकः ॥ १८७८ ॥

विजयोदया—होऊण वंभणो सोत्तिओ श्रोत्रियो ब्राह्मणो भूत्वा। माणेण जातिमदेन। गुणिजननिंदावमानाभ्यां पावं करित्तु पापं कृत्वा नीचैर्गोत्रमुपचित्य। सुणगोव सूगरो वा पाणो वा होदि परलोए श्वा शूकरश्चाण्डालो वा भवति परजन्मनि॥

मूलारा—माणेण जातिमदेन। गुणिजननिंदावमानाभ्यां नीचैर्गोत्रमुपार्ज्य शुनकादिर्भवतीति संबन्धः॥

अर्थ—यह जीव श्रोत्रिय ब्राह्मण होकर जातिमदसे गुणिजनोंका अपमान करता है, निंदाकरता है. इस कार्यसे पापसंचय करके अर्थात् नीच गोत्र कर्मका बंध करके परभवमें कुत्ता, अथवा सुवर किंवा चांडाल होता है.

दारिद्दं अड्ढित्तं णिंदं च थुदिं च वसणमब्भुदयं ॥
पावदि बहुसो जीवो पुरिसित्थिणवुंसयत्तं च ॥ १८०८ ॥
निंदां दारिद्र्यमैश्वर्यं पूजामभ्युदयं स्तुतिम् ॥
स्त्रैणं पौंस्नं चिरं जीवः षंढत्वं प्रतिपद्यते ॥ १८७९ ॥

विजोदया—दारिद्दं दारिद्र्यं। बहुसो जीवो पावदि बहुशः जीवः प्राप्नोति लाभांतरायोदयात्। अड्ढित्तं आढ्यतां पूर्ववेय संबंधः पावदि बहुसो इमो इत्यनेन। लाभांतरायक्षयोपशमादीप्सितानि द्रव्याणि लभते, लब्धानि च नश्यंति॥

ततः आढ्यतां। निंदा श्वपाकश्चंडालः कुणः काणो दुर्भगो मूर्खः कृपण इत्यादिकां ॥ थुदिं च स्तुतिं च कुलीनो रूपवान् वाग्मी आढ्यः प्राज्ञ इत्यादिकां यशस्कीर्तेरुदयात् । एवं वसणं दुःख असद्वेद्योदयात् । अब्भुदयं देवमनुजभवजं सुखं सद्वेद्योदयात्। पुरिसित्थिणवुंसयत्तं च पुरुषत्वं च स्त्रीत्वं च नपुंसकत्वं च बहुशः प्राप्नोति ॥

मूलारा—अड्ढत्तं आढ्यत्वं लाभान्तरायक्षयोपशमाद्धनेश्वरत्वं प्राप्नोति। णिंदं श्वपाकः, पाणो, मूर्खः, कृपण इत्यादिकं निंदां प्राप्नोति अयशःकीर्त्युदयात्॥ वसणं दुःखं। अब्भुदयं उत्तमदेवत्वमानवत्वभवप्रभवं सुखं सद्वेद्योदयात् ॥

अर्थ—इस जीवको अनेकवार लाभांतराय कर्मका उदय होनेपर दारिद्र्य प्राप्त होता है. वैसे इसको अनेकवार धनप्राप्ति होनेसे धनाढ्यपनाभी हुआ था. लाभांतराय कर्मके क्षयोपशमसे यह जीव धनाढ्यभी हुआ था. बहुतवार मिला हुआ धनभी नष्ट हुआ है. इसकी बहुतवार तूं चांडाल है, लंगडा है, अंधा, कृपण, मूर्ख है, ऐसी निंदा भी हुई है. अयशस्कीर्ति कर्मके उदयसे जगतमें जीवकी निंदा होती है. इसी प्रकार असातावेदनीय कर्मके उदयसे अनेकप्रकारके संकटोंसे यह जीव ग्रस्त होता है. देवगतिके और मनुष्यके सुखोंको अभ्युदय कहते हैं. यह अभ्युदय सातावेदनीय कर्मके उदयसे प्राप्त होता है यह जीव पुरुष, स्त्री और नपुंसक इन पर्यायोंकोभी अनेकवार प्राप्त हुआ है.

कारी होइ अकारी अप्पडिभोगो जणो हु लोगम्मि ॥
कारी वि जणसमक्खं होइ अकारी सपडिभोगो ॥ १८०९ ॥

निर्दोषमपि निःपुण्यं सदोषं मन्यते जनः ॥
सदोषमपि पुण्याढ्यं निर्दोषं पुरुषः पुनः ॥ १८८० ॥

विजयोदया—अकारी अपि दोषमकुर्वन्नपि कारी भवति, अप्पडिभोगो जनो पुण्यरहितो जनः। कारीवि कुर्वन्नप्यनाचारं, जणसमक्खं जनानां प्रत्यक्षं अकारी होदि दुराचारो न भवति। सपडिभोगो पुण्यवान् ॥

मूलारा—कारी दोषकर्ता। अकारी दोषमकुर्वन्नपि। अप्पडिभोगो अपुण्यः। कारी वि दोषं कुर्वन्नपि। सपडिभोगो सपुण्यः ॥

अर्थ—जो मनुष्य पुण्यरहित होता है तब उसने दोष नहीं भी किये हो तो भी वह दोषी माना जाता है तथा जब पुण्योदय होता है तब अनाचारी होकरभी निर्दोषी माना जाता है. लोक उसको निर्दोष समझते हैं.

सरिसीए चंदिगाये कालो वेस्सो पिओ जहा जोण्हो ॥
सरिसे वि तहाचारे कोई वेस्सो पिओ कोई ॥ १८१० ॥

निसर्गतः कोपि समेऽपि वल्लभो विचेष्टतेऽन्योऽसुमतामवल्लभः ॥
समानरूपे सति चंद्रिकोदये प्रियो हि पक्षो धवलः प्रियोऽपरः ॥ १८८१ ॥

विजयोदया—सरिसीए चंदिगाए चंद्रिकायां समानायामपि। कालो वेस्सो कालपक्षो द्वेष्यः। पिओ जहा जोण्हो शुक्लपक्षो यथा प्रियः। सरिसे वि तहाचारे सदृशेप्याचारे द्वयोः पुंसोः॥ कोई वेस्सो पिओ कोई कश्चित् द्वेष्यः प्रियः॥

मूलारा—चंदियाए ज्योत्स्नायां समानायां सत्यामपि। कालो कृष्णपक्षः। जोण्हो सितपक्षः। कोई दुर्भगनामकर्मोदयं प्राप्तः ॥

अर्थ—चंद्रका प्रकाश दोन पक्षमें समानही रहता है तोभी कृष्णपक्ष लोकोंको अप्रिय लगता है और शुक्लपक्ष प्रियसा मालूम पडता है. वैसे आचार समान होने परभी किसीको लोक अप्रिय समझते हैं और किसीको प्रिय समझते हैं.

इय एस लोगधम्मो चिंतिज्जंतो करेइ णिव्वेदं ॥
धण्णा ते भयवंता जे मुक्का लोगधम्मादो ॥ १८११ ॥

विचिंत्य मानं जगतो विचेष्टितं विचित्ररूपं भयदायि दुर्गमम् ॥
करोति वैराग्यमनन्यगोचरं दुरीहितं पूर्वमिवोदयं गतम् ॥ १८८२ ॥

विजयोदया—इय एस लोगधम्मो अयमेव प्राणिधर्मः। चिंतिज्जंतो चिंत्यमानो। करेइ णिव्वेदं निर्वेदं करोति। धण्णा ते भयवंता पुण्यवंतस्ते यतयः। जे मुक्का लोगधम्मादो ये मुक्ताः प्राणिधर्माद्यावर्णितात्॥

प्राणिस्वरूपचितामुपसंहरंस्तत्फलमाह—

मूलारा—लोगधम्मादो प्राग्वर्णितप्राणिस्वरूपे अनासक्तचित्ता इत्यर्थः॥

अर्थ—इस प्रकार यह लोकोंका धर्म है. इसका विचार कर कोई महात्मा विरक्त होता है. वे पूज्य ऋषि धन्य हैं जिन्होंने लोकधर्मका त्याग किया है.

विज्जू व चंचलं फेणदुब्बलं वाधिमहियमच्चुहदं ॥
णाणी किह पेच्छंतो रमेज्ज दुक्खुद्दुदं लोगं ॥ १८१२ ॥

लोकस्वभावं चपलं दुरंतं दुःखानि दातुं सकलानि शक्तम् ॥
निरीक्षमाणा न बुधा रमंते भयकरं व्याघ्रमिवानिवार्यम् ॥ १८८३ ॥

इति लोकानुप्रेक्षा ॥

विजयोदया—विज्जू व चंचलं विद्युदिव चंचलं, फेणुदुब्बलं फेनमिव दुर्बलं । वाधिमहिदमच्चुहदं व्याधिभिर्मथितं मृत्युना हतं । लोगं पेच्छतो लोकं पश्यन्। णाणी किध रमेज्ज ज्ञानी कथं तत्र रतिं कुर्यात् ॥

तदनासक्तिकारणं व्यनक्ति—

मूलारा—फेणदुब्बलं नीरडिंडीरवन्निःसारम् । णाणी रत्नरतिकारणज्ञः । दुक्खुद्दुदं दुःखेन कंपितं । उक्तं च—

तडिच्चपलं फेनदुर्बलं व्याधिपीडितम् ॥
ज्ञानी पश्यन्रतिं कुर्यात्कथं दुःखार्दितं जगत् ॥

लोकानुप्रेक्षा ॥—

अर्थ—यह जगत् बिजलीके समान चंचल है, समुद्रके फेनके समान बलहीन है, व्याधि और मृत्युसे पीडित हुआ है. ज्ञानी पुरुष दुःखोंसे भरा हुआ यह लोक देखकर उसमें कैसी प्रीति करते हैं, अर्थात् ज्ञानी इस लोकमें प्रेम नहीं करते हैं. इसके ऊपर वे माध्यस्थ भाव धारण करते हैं.

॥ लोगधम्मचिंता ॥ अशुभत्वानुप्रेक्षा प्रकथ्यते ॥

असुहा अत्था कामा य हुंति देहो य सव्वमणुयाणं ॥
एओ चेव सुभो णवरि सव्वसोक्खायरो धम्मो ॥ १८१३ ॥

अशुभाः सन्ति निःशेषाः पुंसां कामार्थविग्रहाः ॥
शुभोऽत्र केवलं धर्मो लोकद्वयसुखप्रदः ॥ १८८४ ॥

विजयोदया—असुहा अत्था कामा य हुंति अशुभा अर्थाः कामाश्च भवंति । देहो य सव्वमणुयाणं देहश्च सर्व

मनुजानाम् ॥ एक्को चेय सुभो एक एव शुभः पुनः । सव्वसुक्खायरो धम्मो सर्वेषां सौख्यानामाकरो धर्मः ॥

धर्म्यध्यानवृद्ध्यर्थं अशुचित्वं गाथाष्टकेनानुचिंतयति–

अशुचिश्चाशुभो ऽमेध्यश्च भावो भण्यते । तत्रादौ दुःखैकमूलत्वेन अर्थकामकायानामशुभत्वं व्यवस्थाप्य लोकद्वयसुखप्रदत्वेन धर्मस्य शुभत्वं भावयति—

मूलारा —स्पष्टम् ॥

अशुचित्वानुप्रेक्षाका वर्णन–

अर्थ--अर्थ पुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ अशुभ है. सर्व मनुष्योंका देह अपवित्र है. एक धर्मही पवित्र है और वही सर्व सौख्योंका दाता है.

अर्थस्याशुभतां व्याचष्टे—

इहलोगियपरलोगियदोसे पुरिसस्स आवहइ णिच्चं ॥
अत्थो अणत्थमूलं महाभयं मुत्तिपडिपंथो ॥ १८१४ ॥
अर्थो मूलमनर्थानां निर्वाणप्रतिबंधकः ॥
लोकद्वये महादोषं दत्ते पुंसां दुरुत्तरम् ॥ १८८५ ॥

विजयोदया—इहलोगियपरलोगियदोसे ऐहिकान् पारलौकिकांश्च दोषान् । पुरिसस्स आवहइ णिच्चं पुरुषस्य आवहति नित्यं । अत्थो अणत्थमूलं अर्थोऽनर्थानां मूलं, महाभयस्य मूलत्वान्महाभयं । मुत्तिपडिपंथो मुक्तेरर्गलीभूतः ॥

अर्थस्याशुभत्वं समर्थयते—

मूलारा—दोसे दुःखानि । अणत्थमूलं अधर्मविपदादिनिदानं । महाभयं विपुलभीतिनिमित्तत्वात् । मुत्तिपडिपंथो मुक्तेरर्गलीभूतः ॥

अर्थकी अशुभताका वर्णन—

अर्थ-इह लोकके दोष और परलोकके दोष अर्थ पुरुषार्थसे मनुष्यको भोगने पडते हैं. अर्थ पुरुषार्थके वश होकर पुरुष अन्याय करता है. चोरी करता है. और राजासे दंडित होता है और परलोकमें नरकमें नाना

दुःखोंका अनुभव लेता है इसलिए यह अर्थ अर्थात् धन अनर्थका कारण है. महाभयका कारण है. मोक्ष प्राप्तिके लिए यह अर्गलाके समान प्रतिबंध करता है.

कामस्यानुभतमतामाचष्टे—

कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अप्पकालिया कामा ॥
उवधो लोए दुक्खावहा य ण य हुंति ते सुलहा ॥ १८१५ ॥

निंद्यस्थानभवाः कामा भीमा लाघवहेतवः ॥
दुःखप्रदा द्वये लोके स्वल्पकालाःसुदुर्लभाः ॥ १८८६ ॥

विजयोदया—कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अशुचिकुटिभवाः अलघुत्वकारिणः । अप्पकालिया कामा अल्पकालेषु भवाः । कामकाले उवधो लोए लोकद्वये । दुःखावहाश्च । ण य होंति ते सुलभाः नैव ते सुलभा भवंति ॥

कामाशुभत्वमाख्याति—

मूलारा—कुणिमकुडिभवा अशुचिस्वपरशरीरप्रभवाः । अप्पकालिया स्तोककालभवाः । कामा काम्यमानाः । इंद्रियार्थाः तत्रभवप्रीतयो वा । उवधो लोए लोकद्वये ॥

काम पुरुषार्थ अत्यंत अशुभ है—

अर्थ—यह काम पुरुषार्थ अपवित्र शरीरसे उत्पन्न होता है. इससे आत्मा हलकी होता है. इसकी सेवासे आत्मा दुर्गतिमें दुःख पाती है. यह पुरुषार्थ अल्पकालमें ही उत्पन्न होकर नष्ट होता है. और प्राप्त होनेमें कठिन है.

अट्ठिदलिया छिरावक्कवद्धिया मंसमट्टियालित्ता ॥
बहुकुणिमभण्डभरिदा विहिंसणिज्जा खु कुणिमकुडी ॥ १८१६ ॥

मांसलिप्ता सिरावद्धा कुथितास्थिदलाचिता ॥
सतां कायकुटी कुत्स्या कुथितैर्विविधैर्भृता ॥ १८८७ ॥

विजयोदया—अट्ठिदलिया अस्थिदलनिष्पन्ना छिरावक्कवद्धिया सिरावल्कलवद्धा । मंसमट्टियालित्ता मांसमृत्तिकालिप्ता । बहुकुणिमभण्डभरिदा अनेकाशुचिद्रव्यपूर्णा विहिंसणिज्जा खु कुणिमकुडी जुगुप्सनीया अशुचिकुटी ॥

देहाशुचित्वं भीषयते—

मूलारा—अट्ठिदलिया अस्थीनि दलानि पत्राणि यस्यां सा अस्थिदलिका शिरावल्कबद्धा। कुणिमकुडी कुटीया अमेध्यस्य कणंपातोरः ॥ उक्तं च—

अस्थिजालकृता स्नायुवल्कबद्धाविनिर्मिता ॥
अमुत्रमूत्रकुटी मांसमृत्तिकाकृतलेपना ॥

अर्थ—इस गाथामें शरीररूपी झोपडीका वर्णन करते हैं.

यह शरीररूपी झोपडी हाडोंसे बनी है. अस्थिरूपी पत्तोंसे यह झोपडी रची गई है. नसा जालरूप वल्कलसे बांधी गई है. मांसरूपी मट्टीसे ये लीपी गई है. अपवित्र रक्तादि पदार्थोंसे भरी हुई है और जुगुप्सा उत्पन्न करनेवाली है.

इंगालो धोव्वंतो ण सुद्धिमुवयादि जह जलादीहिं ॥
तह देहो धोव्वंतो ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं ॥ १८१७ ॥

निसर्गमलिनः कायो धाव्यमानो जलादिभिः ॥
अंगार इव नायाति स्फुटं शुद्धिं कदाचन ॥ १८८८ ॥

विजयोदया—इंगालो धोव्वंतो प्रक्षाल्यमानो मषी न शुद्धिमुपयाति, न शुक्लतामुपयाति। जह यथा। जलादीहि जलादिभिः. तह देहो धोव्वंतो तथा शरीरं प्रक्षाल्यमानं। ण जादि सुद्धिं जलादीहिं न याति शुद्धिं जलादिभिः ॥

देहस्याशक्यशोधनतामाह—

मूलारा—स्पष्टम्।

अर्थ—अंगारको पानी वगैरहके द्वारा धोनेपर भी वह अपना कालावर्ण छोडकर सफेद नहीं बनता है। वैसे शरीरको धोनेसे शुद्ध नहीं होता है.

सलिलादीणि अमेज्झं कुणइ अमेज्झाणि ण दु जलादीणि ॥
मेज्झममेज्झं कुव्वंति सयमवि मेज्झाणि संताणि ॥ १८१८ ॥

मेध्यान्यमेध्यानि करोत्यमेध्यं सद्यः शरीरं सलिलानि नूनम् ॥
अमेध्यमिश्राणि पुनः शरीरं न तानि मेध्यं विदधात्यमेध्यम् ॥ १८८९ ॥

विजयोदया—सलिलादीणि सलिलादीनि द्रव्याणि शुचीनि। अमेज्झं कुणदि अमेध्यं करोति। अमेज्झाणि अशुचीनि। ण दु जलादीणि मेज्झं कुणदि नैव जलादीनि शुचितामापादयंतीति। अमेज्झाणि अशुचीनि सयममेज्झाणि संताणि अमेध्ययोगात् स्वयमशुचीनि संति ॥

जलादिशुचित्वादीनादर्शं स्वयाशुचित्वस्याचष्टे—

मूलारा—अमेज्झं स्वभावेनाशुचिभूतं शरीरं कर्तृ। उक्तं च—

अशुचि शरीरं तोयादिकानि विदधात्यमेध्यरूपाणि ॥
सलिलादीनि न मेध्यं विदधति देहं ह्यमेध्यमयम् ॥

एषा प्राकृतटीकाकारमतेन व्याख्या—अन्ये सयममेज्झाणीति पठित्वा अमेध्ययोगात्स्वयमशुचीनि संतीत्यर्थमाहुः ॥

तदुक्तम् —

मेध्यान्यमेध्यानि करोत्यमेध्यं सद्यः शरीरं सलिलानि नूनम् ॥
अमेध्यमिश्राणि पुनः शरीरं न तानि मेध्यं विदधात्यमेध्यम् ॥

अपरे पुनः सलिलादीणित्यादि सूत्रं सामान्येन व्याख्यायोत्तरसूत्रेण प्रकृतं देहाशुचित्वं अनुसंदधते ।

अर्थ—पानी वगैरह पवित्र पदार्थोंको देह अपने संसर्गसे अपवित्र बना देता है. पानी स्वयं अपवित्र नहीं है. देहके संसर्गसे उसको अपवित्रता आती है.

तारिसयममेज्झमयं सरीरयं किह जलादिजोगेण ॥
मेज्झं हवेज्ज मेज्झं ण हु होदि अमेज्झमयघडओ ॥ १८१९ ॥
अमेध्यनिर्मितो देहः शोध्यमानो जलादिभिः ॥
अमेध्यैर्विविधैः पूर्णो न कुंभ इव शुद्ध्यति ॥ १८९० ॥

विजयोदया—तारिसयममेज्झमयं शुचीनामशुचिताकरणसमर्थाशुचिमयशरीरकं। किह कथं। जलादिजोगेण-जलादिसंबंधेन। मेज्झं हवेज्ज शुचिर्भवेत् ॥ अमेज्झमय घडगो अमेध्यमयो घटः। न खु मेज्झो होदि नैव शुचिर्भवति ॥

मूलारा-तारिसगमेध्यमयं शुचिद्रव्याणामशुचित्वापादनसमर्थेनामेध्येन पुद्गलप्रचयेन निर्वृत्तं सत्। अन्ये तारिसयममेध्यमयं इति मत्वानुवंत्याहुः। तथा—

बाह्यममेध्यमयं शरीरकं किं जलादियोगेन ॥
मेध्यं भवेद्विमेध्येनामेध्यमयो घटो भवति ॥

अर्थ—पवित्र पदार्थोंको अपवित्र बनानेवाला यह शरीर जलादिकोंके द्वारा शुद्ध कैसा हो सकता है? विष्ठासे भरा हुआ घट क्या पवित्र हो सकता है? नहीं कभी नहीं.

यदि शरीमशुचि किं तर्हि शुचीत्यत्राह—

णवरि हु धम्मो मेज्झो धम्मत्थस्स वि णमंति देवा वि ॥
धम्मेण चेव जादि खु साहू जल्लोसधादीया ॥ १८२० ॥

भवन्ति जल्लौषधयो मुनीन्द्रा धर्मेण देवाः प्रणमन्ति सेन्द्राः ॥
यतस्ततो नास्ति ततः प्रशस्तः कल्याणविश्राणनकल्पवृक्षः ॥ १८९१।

इति अशुच्यनुप्रेक्षा।

विजयोदया—णवरि हु धम्मो मेज्झो धर्मः पुनः शुचिः। कस्मात् खुशब्दो यस्मादित्यर्थे वर्तते। धम्मत्थस्स वि णमंति देवा वि यस्माद्धर्मे रत्नत्रयात्मके स्थितस्य देवा अपि नमस्कारं कुर्वंति॥धर्मेण शुचिना योगादात्मापि शुचिरिति, धम्मेण चेव जादि खु साधू धर्मेणैव प्राप्नुवंति साधवः। किं जल्लोसधादीया जल्लौषध्यादिकमृद्ध्यतिशयं ॥ अशुमत्तं ॥ यथेमवशुचिः कायः किं तर्हि परं शुचि इत्यत्राह—

मूलारा— णवरि केवलं। णवरि हु इति पाठे धर्म एव केवलं मेध्य इत्यर्थः। धम्मत्थस्स रत्नत्रये तिष्ठतः साधोः। जल्लोसधादीया सर्वौषधिमलौषधविप्रौषधप्रभृतिकाः ॥ अशुचित्वानुप्रेक्षा ॥

अर्थ—इस जगतमें धर्म ही पवित्रतम वस्तु है. जो रत्नत्रयात्मक धर्ममें स्थिर है उसको देव भी वंदन करते हैं. इसके संयोगसे आत्माभी पवित्र हुआ है. साधु धर्मके प्रसादसेही जल्लौषधादि ऋद्धीको प्राप्त कर सकते हैं. अशुचित्वानुप्रेक्षा समाप्त.

आस्रवानुप्रेक्षा निरूप्यते—

जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिए दुक्खजलयराइण्णे ॥
जीवस्स परिब्भमणम्मि कारणं आसवो होदि ॥ १८२१ ॥

दुःखोदके भवांभोधौ कषायेंद्रियवाचरैः ॥
आस्रवः कारणं ज्ञेयं भ्रमतो भवभागिनः ॥ १८९२ ॥

विजयोदया—जम्मसमुद्दे जन्मसमुद्रे । बहुदोसवीचिए विचित्रदोषतरंगे । दुक्खजलयराकिण्णे दुःखजलचरैराकीर्णे । जीवस्स परिब्भमणम्मि जीवस्य परिभ्रमणे यत् कारण तत् आसवो आस्रवो भवति । ननु च कर्माणि कारणानि नास्रवः ॥ अत्रोच्यते ॥ कर्मणां परिभ्रमणकारणानां कारणत्वादास्रवः कारणमित्युक्तं ॥

धर्म्यध्याने आस्रव चतुर्दशगाथाभिरनुचिंतयति—

मूलारा—संसारपरिभ्रमणकारणकर्मणां कारणत्वात् ॥ आसवो मिथ्यात्वादिः ॥

आस्रवानुप्रेक्षा का वर्णन—

अर्थ—यह जन्मसागर विचित्र दोषरूपी तरंगोंसे व्याप्त हुआ है. दुःखरूपी नक्रमकरादि जलचर प्राणिओंमे यह भरा हुआ है. जीवके परिभ्रमणमें जो कारण है उसको आस्रव कहते हैं. कर्म जीवको संसारमें घुमाता है परन्तु यह आस्रव उनका भी कारण है अतः यही संसारमें घुमाता है ऐसा आचार्यने कहा है.

संसारसागरे से कम्मजलमसंवुडस्स आसवदि ॥
आसवणीणावाए जह सलिलं उदधिमज्झम्मि ॥ १८२२ ॥

कर्मास्रवति जीवस्य संसारे विषयादिभिः ॥
सलिलं विविधै रन्ध्रैः पोतस्येव पयोनिधौ ॥ १८९३ ॥

विजयोदया—संसारसागरे संसारसमुद्रे । से तस्य । असंवुडस्स संवररहितस्य सम्यक्त्वसंयमक्षमामार्दवार्जवसंतोषपरिणामरहितस्य । कम्मजलमासवदि ज्ञानावरणादिकर्मजलमास्रवत्यागच्छति । आसवणीणावाए आस्रवणशीलायां नावि यथा सलिलं प्रविशति । उदधिमज्झे समुद्रमध्ये ॥

मूलारा—कम्मजलं कर्मशब्देनात्र कर्मपरिणामोन्मुखः पुद्गलस्कंधो गृह्यते । कर्म जलमिवेत्युपमासमासः । असं-

दुरस्य सम्यक्त्वाद्यात्मकसंवररहितस्य । आसवदि कर्मत्वपरिणतियोग्यतामागच्छति प्रविशति च । आसवणीसावाए आगमनशीलायां नावि ॥

अर्थ—जो जीव इस संसारसमुद्रमें संवररहित प्रवृत्ति करता है. अर्थात् जो जीव सम्यक्त्व, संयम, उपशमभाव, मार्दव, आर्जव, संतोष इन परिणामोंसे रहित है उसमें कर्मरूपी जल प्रवेश करता है. जैसे छिद्रसहित नौकामें पानीका प्रवेश होनेसे वह समुद्रमें डूबती है वैसा यह आत्माभी संसाररूपी समुद्रमें कर्मरूपी जल प्रवेश करनेसे डूबता है

धूली णेहुत्तुप्पिदगत्ते लग्गा मलो जधा होदि ॥
मिच्छत्तादिसिणेहोल्लिदस्स कम्मं तधा होदि ॥ १८२३ ॥
कर्मसंबध्यता जाता रागद्वेषाक्तचेतसः ॥
स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रजोराशिरिवानिशम् ॥ १८९४ ॥

विजयोदया—धूली णेहुत्तुप्पिदगत्ते लग्गा धूली स्नेहाभ्यक्तशरीरलग्ना । जहा मलो होदि यथा मलं भवति ॥ मिच्छत्तादिसिणेहोल्लिदस्स मिथ्यात्वासंयमकषायपरिणामस्नेहाभ्यक्तस्यात्मनः प्रदेशेष्ववस्थितं कर्मप्रायोग्यं द्रव्यं । तहा तथा कम्मं होदि तथा कर्म भवति । एतदुक्तं भवति-आत्मपरिणामान्मिथ्यात्वादिकात् विशिष्टं पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमतीति कर्मत्वपर्यायहेतुरात्मनः परिणाम आस्रव इत्यर्थः ॥

मूलारा—णेहुत्तुप्पिदगत्तेत्ति तैलाद्यभ्यक्तशरीरे । मिच्छत्तादिसिणेहोल्लिदस्स मिथ्यात्वासंयमकषायस्नेहाभ्यक्तस्य जीवस्य । कम्मं प्रदेशेष्ववस्थितं कर्मप्रायोग्यं द्रव्यं मलो इत्यनुवृत्तेर्मलो भवतीति सम्बंधः । एतदुक्तं भवति—आत्मपरिणामान्मिथ्यात्वादिकाद्विशिष्टं पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमते तेन विशिष्टस्य पुद्गलद्रव्यस्य कर्मत्वपर्यायहेतुर्मिथ्यात्वादिजीवपरिणाम आस्रव इत्यर्थः ।

अर्थ—जैसे जिसने अपने सर्वांगमें तेल लगाया है ऐसे मनुष्यके शरीरपर धूली आकर चिपक जाती है. और वह मल बनती है वैसे मिथ्यात्व, असंयम, कषायात्मक परिणामरूपी तैलसे लिप्त हुए आत्मप्रदेशोंमें बैठा हुआ कर्मरूप परिणतिको प्राप्त होनेवाला पुद्गल द्रव्य कर्म बन जाता है. इस विवेचनका यह अभिप्राय है—मिथ्यात्वादि-

रूप आत्मपरिणामों का निमित्त पाकर विशिष्ट पुद्गलद्रव्य कर्मपर्यायको धारण करता है. इस लिये कर्मात्मकपर्यायको आत्माका मिथ्यात्वादिरूप परिणाम कारण है. उसीको आस्रव भावास्रव कहते हैं.

ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलदव्वेहिं सव्वदो लोगो ॥
सुहमेहिं बादरेहिं य दिस्सादिस्सेहिं य तहेव ॥ १८२४ ॥

अदृश्यैश्चक्षुषा दृश्यैः स्थूलैः सूक्ष्मैश्च पुद्गलैः ॥
विविधैर्निचितो लोकः कुंभो धूमैरिवाभितः ॥ १८९५ ॥

विजयोदया—ओगाढगाढणिचिदो अनुप्रवेशगाढं निचित । पुग्गलदव्वेहिं पुद्गलद्रव्यैः,सव्वदो लोगो कात्स्न्येन लोकः । सुहमेहि बादरेहि य सूक्ष्मैः स्थूलैश्च । दिस्सादिस्सेहि चक्षुषा दृश्यैरदृश्यैश्च । तहेव तथैव । एतया गाथया कर्मत्वपर्याययोग्यानां पुद्गलद्रव्याणां सर्वलोकाकाशे बहूनामस्तित्वमाख्यातं ॥

कथं जीवप्रदेशेष्ववस्थितत्वं कर्मयोग्यपुद्गलाना संभवतीत्याशंकायामाह—

मूलारा— ओगाढगाढणिचिदो अवगाहनमवगाढं परस्परानुप्रवेशः तेनागाढं निर्भरं णिचिदो व्याप्तः । दिस्सादिस्सेहिं चक्षुषा दृश्यैरदृश्यैश्च ।

अर्थ—इस जगत्के प्रदेशोंमें पुद्गलद्रव्य अतिशय निबिडरूपसे भरा हुआ है. अर्थात् लोकाकाशका एक भी प्रदेश इस पुद्गलद्रव्यसे रिक्त नहीं है. इस लोकाकाशमें सूक्ष्म, स्थूल, नेत्रसे देखने योग्य व नहीं देखे जानेवाले ऐसे पुद्गल भरे हैं. इस गाथामें कर्मत्वपर्यायको प्राप्त होनेकी योग्यता रखनेवाले बहुतसे पुद्गलद्रव्योंका आकाशमें अस्तित्व है ऐसा सूचित होता है

के ते आस्रवा इत्याह—

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होंति ॥
अरहंतवुत्तअत्थेसु विमोहो होइ मिच्छत्तं ॥ १८२५ ॥

मिथ्यात्वाव्रतकोपादियोगानत्रास्रवान्विदुः ॥
मिथ्यात्वमर्हदुक्तानां पदार्थानामरोचनम् ॥ १८९६ ॥

विजयोदया—मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति मिथ्यात्वमसंयमः कषाययोगाश्च आस्रवा भवंति । आस्रवंत्यागच्छंति । कर्मत्वपर्यायं पुद्गला एभिः कारणभूतैरिति मिथ्यात्वादय आस्रवशब्दवाच्याः ॥ तेष्वास्रवेषु मिथ्यात्वस्वरूपं कथयति । अरहंतवुत्तअत्थेसु अर्हदुक्तेषु अनंतद्रव्यपर्यायात्मकेषु विमोहो मिच्छत्तं होदि अश्रद्धानं मिथ्यात्वं भवति । असंयममाचष्टे ॥

के ते आस्रवा इत्यत्राह—

मूलारा—आसवा आस्रवंत्यागच्छंति कर्मत्वपर्यायं पुद्गला यैरित्यास्रवा मिथ्यात्वादयश्चत्वारः प्रमादानां कषायान्तर्भावात्पृथगनुपादानं । अत्थेसु अनंतद्रव्यपर्यायात्मकेषु भावेषु । विमोहो विपरीताभिनिवेशलक्षणमश्रद्धानम् ।

वे आस्रव कोनसे हैं ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये आस्रवके प्रकार हैं. जिनका निमित्त पाकर पुद्गलोंको कर्मत्वपर्याय प्राप्त होता है ऐसे जो कारण उनको आस्रव कहते हैं. अर्थात् मिथ्यात्वादिकको आस्रव कहना यह अन्वर्थक है. इन आस्रवोंमेंसे मिथ्यात्वनामक आस्रवका स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये—अर्हद्भगवानने अनंत द्रव्यपर्यायात्मक जीवादिक पदार्थोंका जो स्वरूप कहा है उसमें विमोह अर्थात् अश्रद्धान करना वही मिथ्यात्व है.

अविरमणं हिंसादी पंच वि दोसा हवंति णायव्वा ॥
कोधादीया चत्तारि कसाया रागदोसमया ॥ १८२६ ॥

हिंसादयो मता दोषाः पंचाप्यव्रतसंज्ञकाः ॥
कोपादयः कषायाः स्यू रागद्वेषद्वयात्मकाः ॥ १८९७ ॥

विजयोदया—अविरमणं अविरमणं नाम । हिंसादि पंच वि दोसा हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाख्याः पंचापि दोषाः हवंति णादव्वा अविरमणं भवंतीति ज्ञातव्याः । प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं, असदभिधानं, अदत्तादानं, मैथुनकर्म विशेषः, मूर्छा चेति एते परिणामा अविरमणशब्देनोच्यंते । विरमणं हि निवृत्तिस्ततोऽन्यत्वात् । प्रवृत्तिरूपा हिंसादयः अविरमणं इत्युच्यते । कोधादीया क्रोधमानमायालोभाः चत्तारि चत्वारः कसाया कषाया इत्युच्यंते । रागदोसमया रागद्वेषात्मकाः ॥

मूलारा—रागदोसमया रागद्वेषात्मकाः ।

अर्थ—हिंसा, असत्य भाषण, चोरी करना, मैथुन सेवन, परिग्रह ऐसे पांच दोषोंको अविरति कहना

चाहिये. कषाययुक्त होकर प्राणीके दस प्राणोंका नाश करना हिंसा है- प्राणीओं को पीडा देनेवाला भाषण असत्य कहा जाता है. लेने देनेका व्यवहार जिस वस्तुमें होता है ऐसी अन्यकी नहीं दी गई वस्तु लेना उसको चोरी कहते हैं. चारित्रमोहके उदयसे रागाविष्ट होकर परस्परोंको स्पर्शन करनेकी जो स्त्रीपुरुषोंमें इच्छा उत्पन्न होती है उसको मैथुन कहते हैं. चेतन, अचेतन और मिश्र पदार्थोंमें और रागद्वेषादिकोंमें जो ममत्वबुद्धि होती है उसको परिग्रह कहते हैं. इन परिणामोंको अविरति कहते हैं- क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं ये सब परिणाम राग द्वेषमय हैं.

रागद्वेषयोर्माहात्म्यं दर्शयति—

किह्दा राओ रंजेदि णरं कुणिमे वि जाणुगं देहे ॥
किह्दा दोसो वेसं खणेण णीयंपि कुणइ णरं ॥ १८९७ ॥

जानंतं कुथिते काये रागो रंजयते कथम् ॥
बांधवं कुरुते द्वेष्यं द्वेषो ह्यीक्षणतः कथम् ॥ १८९८ ॥

विजयोदया—किह्दा राओ रंजेदि णरं कथं तावद्रागो रंजयति नरं । कुणिमे वि देहे अशुचावपि देहे, अनुरागस्यायोग्ये । जाणुगं शरीरस्याशुचित्वं जानंतं अहो रंजयति,सारे वस्तुनि न रंजयतीति न तच्चित्रं ज्ञातारमशुचिन्यसारे शरीरे रंजयतीत्येतदद्भुतमिति भावः, दोसो दोषः,किह्दा दोसं कुणदि कथं तावद्द्वेष्यं करोति। खणेण क्षणमात्रेण । णीयंपि णरं बांधवमपि नरं। अनेनापि द्वेषमाहात्म्यमाख्यायते । रागाश्रयानपि बंधून् द्वेष्यान् करोतीति ॥

रागद्वेषयोर्माहात्म्यमाह–

मूलारा किह्दा कथमिति विस्मये । तावदिति वाक्यालंकारे । कुणिमे वि अशुच्यसारेपि । जाणुगं देहस्याशुचित्वमसारत्वं च जनानां ज्ञातारं अनुरागोऽयोग्येऽनुरंजयतीत्येतदद्भुतं इति भावः । वेसं द्वेष्यं णीयं पि रागाश्रयं बंधुमपि ॥

अर्थ—यह शरीर अपवित्र है इसके ऊपर प्रीति करना योग्य नहीं हैं. परंतु यह रागभाव अज्ञजीवको इस शरीरपर अनुरक्त करता है. सार वस्तुमें इस जीवको अनुरक्त नहीं करता है. आश्चर्य यह है कि विद्वान लोकों को भी अपवित्र और निःसार शरीरमें यह अनुरक्त करता है. यह रागभाव अपने निकट जनोंको भी एक क्षणमें द्वेषयोग्य करता है. अर्थात् जिनके ऊपर प्रेम करना योग्य है उनके ऊपर भी यह द्वेष उत्पन्न करता है.

सम्मादिट्ठी वि णरो जेसिं दोसेण कुणइ पावाणि ॥
धिद्धेसि गारविंदियसण्णामयरागदोसाणं ॥ १८२८ ॥
कल्मषं कार्यते घोरं सद्दृष्टिरपि यैर्जनः ॥
रागद्वेषविपक्षांस्तान्धिक्संज्ञागौरवात्मनः ॥१८९९ ॥

विजयोदया—सम्मादिट्ठी वि णरो तत्वज्ञानश्रद्धानसमन्वितोऽपि नरः । जेसिं दोसेण कुणदि पावाणि येषां दोषेण करोति पापानि, धिद्धेसि गारवेंदियसण्णामयरागदोसाणं धिक्कान्गौरवानिंद्रियाणि संज्ञामदान् रागद्वेषांश्च ॥

मूलारा— सम्मादिट्ठी तत्त्वज्ञानश्रद्धावान् । दोसेण अपराधेन विकारप्रापणेनेत्यर्थः । धिद्धेसिं धिक्तान् । एष प्रतान् । द्वितीयार्थेन षष्ठी ॥

अर्थ—तत्वज्ञान और श्रद्धानसे युक्त भी भव्य जीव जिनके दोषसे पाप करते हैं उन गारव, इंद्रिय, संज्ञा रूप रागद्वेषोंको धिक्कार हो.

जो अभिलासो विसएसु तेण ण य पावए सुहं पुरिसो ॥
पावदि य कम्मबंधं पुरिसो विसयाभिलासेण ॥ १८२९ ॥
विषयेष्वभिलाषो यः पुरुषस्य प्रवर्तते ॥
न ततो जायते सौख्यं पातकं बध्यते परम् ॥ १९०० ॥

विजयोदया—जो अभिलासो विसएसु यो अभिलाषो विषयेषु स्पर्शादिषु । तेण विसयाभिलासेण ण पावदे सुहं पुरिसो सुखं प्राप्नोति नैव सुखं पुरुषः । पावदि य कम्मबंधं प्राप्नोति च कर्मबंधं,पुरिसो विसयाभिलासेण पुरुषो विषयाभिलाषेण निमित्तेन । एतेन विषयाभिलाषपरिणामस्य प्राणिनामसकृत् प्रवर्तमानस्याहितता निवेदिता, सुखं न प्रयच्छति कर्मबंधकारणं तु भवतीति विषयाभिलाषस्यास्रवस्य स्वरूपं कथितं ॥

विषयाभिलाषः सुखं न प्रयच्छति कर्मबंधे च निमित्तं भवतीत्युपदिश्यते—

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—पंचेंद्रियांके विषयोंमें जो अभिलाषा उत्पन्न होती है वह प्राणिओंको सुख नहीं देती है. अर्थात्

उस अभिलाषासे कर्मबंध होता है जो कि दुःख देनेमें कारण है. यह विषयाभिलाषा प्राणिओंमें हमेशा उत्पन्न होती है परंतु वह सुखके बदले आत्माका अहितही करती है. यहां विषयाभिलाषरूप आस्रवका स्वरूप कहा है.

विषयाभिलाषस्य दुष्टतां प्रकारान्तरेणाचष्टे—

कोई डहिज्ज जह चंदणं णरो दारुगं च बहुमोल्लं ॥
णासेइ मणुस्सभवं पुरिसो तह विसयलोहेण ॥ १८३० ॥

इंद्रियार्थसुखे येन मानुष्यं प्राप्य योज्यते ॥
भस्मार्थं प्लोषते काष्ठं महामौल्यमसौ स्फुटम् ॥ १९०१ ॥

विजयोदया—कोई डहिज्ज जह चंदणं कश्चिद्यथा दहेच्चंदनं । बहुमोल्लं महामूल्यं । दारुगं च अगुर्वादिदारु च, यथा दहति भस्मादिकं स्वल्पं समुद्दिश्य, तहा णासेदि मणुस्सभवं तथा नाशयति मानुषभवं अतींद्रियानंतसुखकारणं । पुरिसो तह विसयलोभेण अतितुच्छविषयगार्ध्येन ॥ उक्तं च ॥ विषया जनितेंद्रियोरसवा बहुभिश्चापि समन्विता रसैः । विषगर्भसुसंस्कृतान्नवत् परिभुक्ताःपरिणामदारुणाः। विषयसुखप्रतिबद्धलोलचित्तो विषयनिमित्तमनिष्टकर्म कृत्वा विषयसुखप्रविहीणजातिजातो विषयसुखं लभते न वा विपुण्यः ॥

अंथंतरेण विषयलांपट्यस्य दौष्ट्यमाचष्टे—

मूलारा—दहेज्ज भस्मार्थं दहेत् । दारुगं काष्ठं बहुमूल्यमिति विशेषेणागुर्वादिकम् । मणुस्सभवं बहुमूल्यमित्यनुवृत्तेरतीन्द्रियानंतसुखकारणसम्यगाचरणमूलं मानुष जन्म ॥

अर्थ—कोई मनुष्य भस्मादिकके लिये अतिशय मूल्यवान् अगुरुचंदनकी लकडी जला देता है. वैसे यह मनुष्य भी अतिशय तुच्छ विषयोंमें लंपट होकर अतींन्द्रिय अनंत सुखको देनेवाले इस मनुष्य जन्मको नष्ट कर देता है. आगममें इस विषयमें ऐसा कहा है—ये विषय इन्द्रियोंको आल्हाद उत्पन्न करते हैं और अनेक रसोंसे युक्त है परंतु जैसे विषमिश्रित अन्न बहुत रसोंसे युक्त होने पर भी भक्षण करनेसे प्राण लेता है वैसे ये विषय आत्माका नाश करते हैं अर्थात् दुर्गतीमें घुमाते हैं. जो मनुष्य विषयसुखमें आसक्त होता है वह उस विषयके लिये अनिष्ट कार्य करता है. जिससे विषयसुखरहित लोगोंमें जन्म लेता है. उचित ही है कि पुण्यरहित मनुष्यको विषय सुखकी प्राप्ति होती नहीं.

बुड्डिय रयणाणि जहा रयणद्दीवा हरेज्ज कट्ठाणि ॥
माणुसभवे वि छुड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा ॥ १८३१ ॥
नृत्वे योऽक्षसुखं मूढो धर्मं मुक्त्वा निषेवते ॥
लोष्ठं गृह्णात्यसौ मुक्त्वा रत्नद्वीपेऽनर्घं मणिम् ॥ १९०२ ॥

विजयोदया—छुड्डिय रयणाणि जहा रत्नानि त्यक्त्वा यथा, रयणद्दीवा हरेज्ज कट्ठाणि रत्नद्वीपात्काष्ठान्याहरति। तहा माणुसभवे वि मनुष्यभवेपि, छुड्डिय धम्मं धर्मं विहाय। भोगे भिलसदि भोगान्वांछति। एतदुक्तं भवति—अनेकसार रत्नाकरं रत्नद्वीपं सुदुर्लभं प्राप्य मुधा लब्धान्यपि रत्नान्यनुपादाय असारमिंधनं सुलभं सारबुद्ध्या यथा कश्चिदाहरति जडः। तथानेकगुणरत्नाकरं मनुष्यभवं दुरवापमवाप्य अतर्पकं पराधीनं अल्पकालिकं विषयसुखमभिलषति ॥

अनेकगुणरत्नाकरं सुदुर्लभं मनुष्यभवमासाद्य परायत्तमतर्पकं स्वल्पकालं विषयसुखमभिलषंतं अनुशोचति—

मूलारा—रयणाणि मुधा लब्धान्यपि हीरकादीनि। रयणदीवा रत्नद्वीपात्। हरेज्ज सारदुर्लभबुद्ध्याऽनयेत् ॥

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य रत्नद्वीपमें जाकर भी रत्नोंका त्याग कर काष्ठ लाता है वैसे मनुष्यभवमें भी कोई धर्मको छोडकर भोगोंकी अभिलाषा करता है. अभिप्राय यह है कि, अनेक उत्कृष्ट रत्नोंका स्थान जो रत्नद्वीप जो कि बहुत दुर्लभ है वहां जाकर सहज प्राप्त हुए रत्नोंको ग्रहण न कर जो तुच्छ निःसार और अयत्नप्राप्य इंधनों को सारयुक्त समझकर उनका संग्रह करता है वह जैसा मूर्खशिरोमणि समझा जाता है वैसा अनेकगुणरत्नोंकी मनुष्यभव खान है. ऐसा अलभ्य मनुष्यजन्म पाकर यदि तृप्ति उत्पन्न नहीं करनेवाला, पराधीन अल्पकाल तक टिकनेवाला ऐसा विषयसुख मनुष्य चाहता है तो यह चाहना रत्नद्वीप में आकर लकडिओंका संग्रह करनेके समान है.

गंतूण णंदणवणं अमयं छंडिय विसं जहा पियइ ॥
माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा ॥ १८३२ ॥
यो नृत्वे सेवते भोगं हित्वा धर्ममकल्मषम् ॥
असौ विमुच्य पीयूषं विषं गृह्णाति नंदने ॥ १९०३ ॥

विजयोदया—गंतूण णंदणवणं गत्वा नंदनवनं। अमयं छड्डिय अमृतं त्यक्त्वा। विसं जहा पियइ विषं यथा पिबति कश्चित्। माणुसभवे वि छड्डिय मनुष्यभवेपि त्यक्त्वा। धम्मं धर्मं। भोगेभिलसदि तहा, भोगानभिलाषयति तथा ॥

मूलारा—अमयं देवाहारम् ॥

अर्थ—जैसे कोई मूर्ख मनुष्य नन्दन वनमें जाकरभी वहां अमृतका त्याग कर विषपान करता है. वैसे कोई मनुष्य मनुष्यभवमें भी धर्मको छोडकर भोगोंकी अभिलाषा करता है.

योगशब्दार्थमाचष्टे—

पावपओगा मणवचिकाया कम्मासवं पकुव्वंति ॥
भुञ्जंतो दुब्भत्तं वणम्मि जह आसवं कुणइ ॥ १८२३ ॥

योगः कर्मास्रवं दुष्टो मनोवाक्कायलक्षणः ॥
यथा भुक्तो दुराहारो विदधाति व्रणास्रवम् ॥ १९०४ ॥

विजयोदया—पावपओगा पापे प्रयुज्यते प्रवर्त्यते एभिरिति पापप्रयोगाः। मणवचिकाया मनोवाक्कायाः,कम्मासवं पकुव्वंति कर्मस्वपर्यायागमं पुद्गलानां कुर्वंति। भुंजंतो दुब्भत्तं भुंजमानो दुराहारं। वणंमि जह आसवं कुणदि, व्रणे यथा आस्रवं स्रुतिं पूतीनां करोति ॥

योगान्व्याचष्टे—

मूलारा—पावपओगा पापं दुष्कृतं, कर्ममात्रं वा प्रयुज्यते प्रवर्त्यते यैरिति पापप्रयोगाः। कर्मत्वपरिणमनशक्तियुक्ता इत्यर्थः। कम्मासवं पुद्गलानां कर्मत्वपर्यायोपगमनं। भुंजत्तं भुज्यमानं। दुब्भत्तं अपथ्यान्नपानं। वणम्मि व्रणे। आसवं आस्रुतिं पूयादीनां ॥

योगशब्दका स्पष्टीकरण—

अर्थ—जिनसे पापोंकी प्रवृत्ति की जाती है ऐसे मनोयोग, वचनयोग और काययोग पुद्गलोंमें कर्मत्व पर्याय उत्पन्न करते हैं. जैसे अपथ्याहारका भक्षण करनेसे व्रणमेंसे दुर्गंध रक्त, पीव उत्पन्न होता है वैसे इन पापयोगोंसे कर्म उत्पन्न होता है.

कर्माणि शुभाशुभरूपाणि द्विविधानि, तत्र कस्य कर्मणः क आस्रव इत्यत्राह—

अणुकंपासुद्धवओगो वि य पुण्णस्स आसवदुवारं ॥
तं विवरीदं आसवदारं पावस्स कम्मस्स ॥ १८२४ ॥

आस्रवं कुरुते योगो विशुद्धः पुण्यकर्मणाम् ॥
विपरीतः परं सद्यः संचितः पापकर्मणाम् ॥ १९०५ ॥

विजयोदया—अणुकंपा अनुकंपा। सुद्धुवओगो शुद्धश्च प्रयोगः परिणामः, पुण्णस्स आसवदुवारं पुद्गलानां पुण्यत्वपर्यायागमनमुखं सद्वेद्यं सम्यक्त्वं रतिहास्यपुंवेदाः शुभे नामगोत्रे शुभं चायुः पुण्यं एतेभ्योऽन्यानि पापानि। अनुकंपा त्रिप्रकारा॥ धर्मानुकंपा मिश्रानुकंपा सर्वानुकंपा चेति ॥ तत्र धर्मानुकंपा नाम परित्यक्तासंयमेषु मानावमान सुखदुःखलाभालाभतृणसुवर्णादिषु समानचित्तेषु दान्तेन्द्रियांतःकरणेषु मातरमिव मुक्तिमाश्रितेषु परिहृतोग्रकषाय विषयेषु दिव्येषु भोगेषु दोषान्विचिन्त्य विरागतामुपगतेषु, संसारमहासमुद्रभयेन निशास्वप्यल्पनिद्रेषु, अंगीकृतनिस्संगेषु, क्षमादिदशविधधर्मपरिणतेषु यानुकंपा सा धर्मानुकंपा, यया प्रयुक्तो जनो विवेकी तद्योग्यान्नपानावसथौषधादिकं संयमसाधनं यतिभ्यः प्रयच्छति। स्वामविनिगुह्य शक्तिं उपसर्गदोषानपसारयति आज्ञाप्यतामिति सेवां करोति भ्रष्टमार्गाणां पंथानमुपदर्शयति। तैः प्रसंयोगमवाप्य अहो सपुण्या वयमिति हृष्यति, सभासु तेषां गुणान्कीर्तयति स्वांते गुरुमिव पश्यति तेषां गुणानामभीक्ष्णं स्मरति, महात्मभिः, कदा नु मम समागम इति ॥ तैः संयोगं समीप्सति, तदीयान् गुणान् परैरभिवर्ण्यमानान्निशम्य तुष्यति। इत्थमनुकंपापरः साधुगुणानुमननानुकारी भवति। त्रिधा च संतो बंध गुणदर्शीनि स्वयं कृतैः, कारणायाः, परैः कृतस्यानुमतेश्च ततो महागुणराशिगतहर्षात् महान् पुण्यास्रवः। मिश्रानुकंपोच्यते। पृथुपापकर्ममूलेभ्यो हिंसादिभ्यो व्यावृत्ताः संतोषवैराग्यपरमनिरताः दिग्विरतिं, देशविरतिं, अनर्थदण्डनिरतिं चोपगतास्तीव्रदोषाद् भोगोपभोगान्निवृत्य शेषे च भोगे कृतप्रमाणाः पापात्परिभीतचित्ताः, विशिष्टदेशे काले च निर्वर्जितसर्वसावद्याः पर्वस्वारंभयोगं सकलं विसृज्य उपवासं ये कुर्वंति तेषु संयतासंयतेषु क्रियमाणानुकंपा मिश्रानुकंपोच्यते ॥ जीवेषु दयां च कृत्वा कृत्स्नामबुध्यमानाः जिनसूत्राद्बाह्या येऽन्य पाखंडरताविनीताः कष्टानि तपांसि कुर्वंति, तेषु क्रियमाणानुकंपा तया सर्वोऽपि कर्मपुण्यं प्रचिनोति देश प्रवृत्तिर्गृहिणामकृत्स्नत्वात्। मिथ्यात्वदोषोपहतोन्यधर्म इत्येष मिश्रो भवति धर्मो मिश्रानुकपांमवगच्छेज्जंतुः ॥ सद्दृष्टयो यापि कुदृष्टयो वा स्वभावतो मार्दवसंप्रयुक्ताः ॥ यां कुर्वते सर्वशरीरवर्गे सर्वानुकंपेत्यभिधीयते सा ॥ छिन्नान् भिन्नान् बद्धान् प्रहतविलुप्यमानांश्च मर्त्यान्, सहैनसो निरेनसो वा परिदृश्य मृगान्विहगान् सरीसृपान् पशूंश्च मांसादिनिमित्तं प्रहन्यमानान् परलोके परस्परं वा तान् हिंसतो भक्षयतश्च दृष्ट्वा सूक्ष्मांकान् कुंथुपिपीलिका प्रभृति प्राणभृतो मनुजकरभखरशरभकरितुरगादिभिः संमृद्यमानानभिवीक्ष्य असाध्यरोगोरगदशनात् परितप्यमानान् मृतोस्मि गतोस्म्यभिधावतेति रोगानुभूयमानान्, स्वपुत्रकलत्रादिभिरप्रातकालैः (?) सहसा वियुज्य कुर्वतो रुजा विक्रोशतः, स्वांगानि घ्नतश्च, शोकेन उपार्जितद्रविणैर्वियुज्यमानान प्रनष्टबंधून् धैर्यशिल्पविद्याव्यवसायहीनान् वराकान् निरीक्ष्य दुःसमारमस्थमिव विचिंत्य स्वास्थ्यमुपशमनमनुकंपाः। सुदुर्लभं मानुषजन्म लब्ध्वा मा क्लेशपात्राणिभूत॥ धर्मं शुभे भूतहितेयतध्वमित्येवमादैरपि चोपदेशाः। कृतकरिष्यमाणोपकारानपेक्षैरनुकंपा कृता भवति। पुण्यास्रवं त्रिविधानुकंपा भूतेषु पुत्रं जननी शुभेव,तेनानुकंपा प्रभवाद्विपुण्यात्पाके मृता अभ्युपपत्तिमीयुः १ शुद्धप्रयोगो निरूप्यते

न च द्विप्रकारः। यतिगृहिगोचरभेदेन यतेः शुद्धोपयोग इत्थम्भूतः। जीवान्न हन्यां न मृषा वदेयं। चौर्यं न कुर्यान्न भजेयमोगान्॥ धनं न सेवेय न च क्षपासु भुंजीय शुच्छ्रेऽपि शरीरतापे॥१॥ रोषेण मानेन च मायया च॥ लोभेन चाहं बहुदुःखकेन भुंजेय नारंभपरिग्रहैश्च, दीक्षां शुभामभ्युपगम्य भूय॥२॥ यथा न भायाच्चलमौलिमालो॥ भिक्षां चरन्कार्मुकबाणपाणिः, तथा न भाया यदि दीक्षितः सन्। वदेय दोषानवहाय लज्जां॥३॥ लिंगं गृहीत्वा महतामृषीणां, अंग च विभ्रत्यरिकर्महीनं। भंगं यतानामविचिंत्य कष्टं। संगं कथ कामगुणेषु कुर्याम्॥४॥ चर्यासनायाचरितामधैर्या धैर्येण हीनाः कृपणत्वमेत्य, कथं वृथामुण्डशिरश्चिरेण लिंगीभवन्संगविकारयुक्तः॥५॥ इत्येवमादिः शुभकर्मचिंता सिद्धार्हदाचार्यबहुश्रुतेषु, । चैत्येषु संघे जिनशासने च भक्तिर्विरक्तिर्गुणरागिता च॥ विनीतता संयमो अप्रमत्तता, मृदुता, क्षमा, आर्जवं, संतोषः, संज्ञाशल्यगौरवविजयः, उपसर्गपरीषहजयः, सम्यग्दर्शनं, तद्विज्ञानं, सरागसंयमं, दशविधं धर्मध्यानं जिनेंद्रपूजा, पूजोपदेशः, निःशंकितत्वादिगुणाष्टकं, प्रशस्तरागसमेतता तपोभावना, पंचसमितयः, तिस्रो गुप्तय इत्येवमाद्याः शुभप्रयोगाः। गृहिणां शुद्धोपयोग उच्यते गृहीतव्रतानां धारणपालनयोरिच्छा क्षणमपि व्रतभंगोऽनिष्टः अभीक्ष्णं यतिसंप्रयोगः, अन्नादिदानं श्रद्धादिविधिपुरस्सरं श्रमनोदनाय भोगान् भुक्त्वापि स्थगितशक्तिनिगूहनं सदा गृहमोक्षप्रार्थना, धर्मश्रवणोपलंभात्मनसोऽतितुष्टिः। भक्त्या पंचगुरुस्तवनप्रणामेन तत्पूजा, परेषां च स्थिरीकरणमुपबृंहणं, वात्सल्यं, जिनेंद्रभक्तानामुपकारकरणं, जिनेंद्रशास्त्राभिगमः, जिनशासनप्रभावना इत्यादिकः। तद्विपरीतं अनुकंपाशुद्धप्रयोगाभ्यां विपरीतः परिणामः। आस्रवद्वारं आस्रवद्वारं, पापस्स कम्मस्स अशुभस्य कर्मण आस्रवं। संवरानुप्रेक्षा कथ्यते। संव्रियंते निरुध्यंतेऽभिनवाः कर्मपर्यायाः पुद्गलानां येन जीवपरिणामेन मिथ्यात्वादिपरिणामो वा निरुध्यते स संवरः। तत्रायं सूरिर्मिथ्यात्वादिपरिणामसंवरात् सम्यक्त्वादीनां संवरतामाचष्टे॥

कः पुण्यस्यास्रवः कश्च पापस्यास्रव इत्यत्राह—

मूलारा—अणुकंपा कृपा। सा च त्रिधा। धर्ममिश्रसर्वानुकंपाभेदात्। तत्र धर्मानुकंपा नाम यया प्रयुक्तो विवेकिलोकः स्वशक्त्यनिगूहनेन संयमनिष्ठेभ्यस्तद्योग्यान्नपानवसत्युपकरणौषधादिकं संयमसाधनं प्रयच्छति। तेषामुपसर्गानपसारयति। आज्ञाप्यतामिति सेवां करोति। पथि विभ्रान्तानां पंथानमुपदिशति। तत्सम्प्रयोगमवाप्य सुपुण्योऽहमिति हृष्यति। सभासु तद्गुणान्कीर्तयति। कीर्त्यमानाननुमोदते, स्मरति चाभीक्ष्णं। तैर्महात्मभिः कदा नु मे समागमो भविष्यतीति तत्सम्प्रयोगाय सोत्कंठः स्पृहयति। एवमादिमहागुणराशिगतहर्षप्रकर्षान्महान्पुण्यास्रवो भवति। यद्व्रतसंयतासंयतेषु जिनसूत्रबाह्यकष्टतपश्चारिषु च यथायोग्यं क्रियमाणानुकंपा मिश्रानुकंपोच्यते। सा च मिश्रपुण्यास्रवः स्यात्। सद्दृष्टिभिः कुदृष्टिभिर्वा क्रियमाणा क्लिश्यमानसर्वप्राणिषु अनुकंपा सर्वानुकंपेत्युच्यते। यथा प्रयुक्तोऽन्यदुःखं स्वात्मस्थमिव मन्यमानस्तत्त्राण्याय प्रत्युपकारनिरपेक्षं प्रयतते। सदुपदेशं च ददाति। सापि पुण्यास्रवायैव स्यात्। शुद्धोपयोगो शुद्धश्च परिणामः। १६४४

स च द्वधा यतिगृहिगोचरभेदात् । तत्र यतिशुद्धप्रयोगो निर्मलमनःशीलस्वाध्यायध्यानादिलक्षणः । गृहिशुद्धप्रयोगस्तु हिंसाविरतिरूपानुव्रतशीलादिलक्षणः । पुण्यस्य सद्वेद्यसम्यक्त्वरतिहास्यपुंवेदशुभायुर्नामगोत्ररूपस्य कर्मणः । आस्रवद्वारं शुद्धानां पुण्यस्यपर्यायागमनम् ॥ आस्रवानुप्रेक्षा ॥

कर्मके शुभकर्म और अशुभ कर्म ऐसे दो भेद हैं उनमें किस कर्मका कोनसा आस्रव है इसका विवेचन आचार्य करते हैं--

अर्थ—अनुकम्पा-दया, शुद्धोपयोग-आत्माके निर्मलपरिणाम ये पुण्यकर्मके आगमनद्वार हैं इन परिणामोंसे पुण्यकर्मका पर्याय पुद्गलमें उत्पन्न होता है. सातावेदनीय, सम्यक्त्वप्रकृति, रति, हास्य, पुंवेद, शुभनाम कर्म और उच्च गोत्र, शुभआयु इनको पुण्य कहते हैं. इनसे जो भिन्न कर्म है उसको पाप कहते हैं.

अनुकम्पा-दया-इसके तीन भेद हैं. धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा और सर्वानुकम्पा, धर्मानुकंपाका स्वरूप इस प्रकार है—

जिन्होंने असंयमका त्याग किया है. मान, अपमान, सुख दुःख, लाभालाभ, तृण सुवर्ण इत्यादिकोंमें जिनकी बुद्धि रागद्वेषरहित हो गयी है, इंद्रिय और मन जिन्होंने अपने वश किये हैं, उग्रकषाय और विषयोंको जिन्होंने छोड दिया है, दिव्यभोगोंके दोष देखकर जो वैराग्ययुक्त हो गये हैं, संसारसमुद्रकी भीतिसे रातमें भी अल्पनिद्रा लेनेवाले, जिन्होंने संपूर्ण परिग्रहों को छोडकर, निःसंगता धारण की है, जो क्षमादि दश प्रकारके धर्मोमें इतने तत्पर रहते हैं कि मानो स्वयं क्षमादि दशधर्म स्वरूपही बनेहो ऐसे संयमी मुनिओंके ऊपर जो दया करना उसको धर्मानुकंपा कहते हैं.

यह धर्मानुकंपा अंतःकरणमें जब उत्पन्न होती है तब विवेकी गृहस्थ यतिओंको योग्य अन्नपाणी, वसतिका, औषधादिक पदार्थ देता है. अपनी शक्तिको न छिपाकर वह मुनि के उपसर्गको दूर करता है. हे प्रभो! आप आज्ञा दीजिये ऐसी प्रार्थनाकर सेवा करता है. यदि कोई मुनि मार्गभ्रष्ट होकर दिङ्मूढ हो गये हो तो उनको मार्ग दिखाता है. मुनिओंका संयोग प्राप्त होनेसे हम धन्य हैं ऐसा मनमें समझ कर आनंदित होता है. सभामें उनके गुणोंका कीर्तन करता है. मनमें मुनिओंको धर्मपिता, गुरु, समझता है. उनके गुणोंका चिंतन मनमें हमेशा करता है. ऐसे महात्माओंका फिर कब संयोग होगा? ऐसा विचार करता है. उनका सहवास हमेशाही

होनेकी इच्छा करता है. दुसरों के द्वारा उनके गुणोंका वर्णन सुनकर संतुष्ट होता है. इस प्रकार धर्मानुकंपा करनेवाला जीव साधुके गुणोंको अनुमोदन देनेवाला और उनके गुणोंका अनुकरण करनेवाला होता है. आचार्य पंथके तीन प्रकार कहते हैं. अच्छे कार्य स्वयं करना, कराना, और करनेवालों को अनुमति देना इससे महान् पुण्यास्रव होता है. क्योंकि महागुणोंमें प्रेम धारण कर जो कृत कारित और अनुमोदन प्रवृत्ति होती है वह महापुण्यको उत्पन्न करती है.

मिश्रानुकंपाका वर्णन—महान् पातकोंके मूलकारणरूप हिंसादिकोंसे विरक्त होकर अर्थात् अणुव्रती बनकर संतोष और वैराग्यमें तत्पर रहकर जो दिग्विरति, देशविरति, और अनर्थ दंडत्याग इन गुणव्रतोंको धारण करते हैं, जिनके सेवनसे महादोष उत्पन्न होते है ऐसे भोगोपभोगोंका त्याग कर बाकीके भोगोपभोग के वस्तुओंका जिन्होंने प्रमाण किया है, जिनका मन पापसे भययुक्त हुआ है. अर्थात् पापसे डरकर विशिष्ट देश और कालकी मर्यादा कर जिन्होंने सर्व पापोंका त्याग किया है अर्थात् जो सामायिक करते हैं, पर्वोंके दिनमें संपूर्ण आरंभका त्याग कर जो उपवास करते हैं ऐसे संयतासंयत अर्थात गृहस्थोंपर जो दया की जाती है उसको मिश्रानुकंपा कहते हैं. जो जीवोंपर दया करते हैं. परंतु दया का पूर्ण स्वरूप जो नहीं जानते हैं. जो जिनसूत्रसे बाह्य हैं, जो अन्य पाखंड गुरुकी उपासना करते हैं, नग्न और कष्टदायक कायक्लेश करते हैं इनके ऊपर कृपा करना यह भी मिश्रानुकंपा है. क्योंकि गृहस्थोंकी एकदेशरूपतासे धर्ममें प्रवृत्ति है वे संपूर्ण चारित्ररूप धर्मका पालन नहीं कर सकते हैं. अन्य जनोंका धर्म मिथ्यात्वसे युक्त है. इसवास्ते गृहस्थधर्म और अन्यधर्म दोनोंके ऊपर दया करनेसे मिश्रानुकंपा कहते हैं.

सुदृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टिजन, कुदृष्टि मिथ्यादृष्टि जन ये दोनों भी स्वभावतः मार्दवसे युक्त होकर संपूर्ण प्राणिओंके ऊपर दया करते हैं इस दयाका नाम सर्वानुकंपा है.

जिनके अवयव टूट गये हैं, जिनको जखम हुई है, जो बांधे गये हैं, जो स्पष्ट रूपसे लूटे जारहे हैं ऐसे मनुष्योंको देखकर, अपराधी अथवा निरपराधी मनुष्योंको देखकर मानो अपनेको ही दुःख हो रहा है ऐसा मानकर उनके ऊपर दया करना यह सर्वानुकंपा है.

हरिण, पक्षी, पेटसे दौडनेवाले प्राणी, पशु इनको मांसादिकके लिये लोक मारते हैं ऐसा देखकर अथवा

आपसमें उपर्युक्त प्राणी लडते हैं और भक्षण करते हैं ऐसा देखकर जो दया उत्पन्न होती हैं उसको सर्वानुकंपा कहते हैं. सूक्ष्म कुंथु, चींटी, वगैरह प्राणी, मनुष्य, ऊंट, गधा, शरभ, हाथी घोडा इत्यादिकोंके द्वारा मर्दित किये जा रहे हैं ऐसा देखकर दया करना चाहिये. असाध्य रोगरूपी सर्पसे काटे जानेसे जो दुःखी हुए हैं. मैं मर रहा हूं, मेरा नाश हुआ, हे जनहो दौडो ऐसा जो दुःखसे शब्द करते हैं उनके ऊपर दया करनी चाहिये. पुत्र कलत्र- पत्नी वगैहरसे जिनका वियोग हुआ है. जो रोग पीडासे शोक कर रहे हैं. अपना मस्तक वगैरह अवयव जो वेदनासे पीटते हैं. कमाया हुआ धन नष्ट होनेसे जिनको शोक हुआ है. जिनके बांधव छोडकर चले गये हैं, जो धैर्य, शिल्प, विद्या, व्यवसाय इत्यादिकोंसे रहित हैं उनको देखकर अपनेको इनका दुःख हो रहा है ऐसा मानकर उन प्राणिओंको स्वस्थ करना उनकी पीडाका उपशम करना यह सर्वानुकंपा है.

यह मनुज जन्म अतिशय दुर्लभ है. सज्जनो ! इसकी प्राप्ति आपको हुई है इस वास्ते अकृत्य करके आप दुःखके पात्र मत बनो. कल्याण कारक शुभ ऐसे सत्य धर्ममें दृढ रहनेका आप प्रयत्न करो. इस प्रकारका उपदेश देना चाहिये. जो प्राणिओंपर दया करते हैं उनको इसने मेरे ऊपर उपकार किया है. यह मेरे ऊपर उपकार करेगा ऐसी आशा करना योग्य नहीं है. इस प्रकार प्राणिओंपर तीन प्रकारकी दया की जाती है. इस दयासे जो पुण्य संचित होता है उससे स्वर्गमें जन्म होता है. अब शुद्ध प्रयोगका निरूपण करते हैं— यतिका शुद्धप्रयोग और गृहस्थोंका शुद्ध प्रयोग ऐसे इसके दोन भेद है.

यतिके शुद्धप्रयोगका वर्णन इस प्रकार है—

' मैं जीवोंको नहीं मारूंगा, असत्य भाषण नहीं बोलूंगा, और चौर्य नहीं करूंगा, भोगोंका उपभोग मैं नहीं करूंगा, धनका सेवन नहीं करूंगा और शरीरको अतिशय कष्ट होनेपर भी रातमें भोजन नहीं करूंगा, क्रोध, मान, माया और लोभसे बहु दुःख देनेवाले आरंभ परिग्रहोंका सेवन नहीं करूंगा, मुनिदीक्षा धारण कर ऐसा कर्म करना मेरे लिये अत्यंत अयोग्य है.

जैसे जिसने अपने किरीटपर माला धारण की है, हाथमें धनुष्य और बाण धारण किये हैं ऐसा राजाके सदृश मनुष्य यदि भीख मांगेगा तो उसके लिये यह भीख मांगना बिलकुल योग्य नहीं है. वैसे मैं भी दीक्षा लज्जाको छोडकर आरंभ परिग्रहादिक कार्य करूंगा तो क्या वह मेरेलिए योग्य होगा ? कदापि नहीं. मैंने पूज्य

महर्षियोंका लिंग धारण किया है, मैंने यदि व्रतोंके नाशकी पर्वा नहीं की तो यह योग्य नहीं होगा यदि मैंने आवश्यकादि षट् कर्म भी नहीं किये तो यह मेरे लिए योग्य नहीं होगा. दीक्षा धारण कर काम विकार में मैं अपनी आसक्ति कैसी करूं ? धैर्य छोडकर चाहे जैसी प्रवृत्ति करना यह अनार्यपना का सूचक है धैर्य छोडकर हीन होकर प्रवृत्ति करना योग्य नहीं हैं, यदि मेरे देहमें विकार रहेगा ही तो व्यर्थ मस्तक मूंडकर यति का आचरण करना व्यर्थ है इस प्रकार विचार कर आरंभ परिग्रहादिकोंमें वैराग्य बढाना चाहिए

सिद्ध, अर्हंत्, आचार्य, उपाध्याय, जिनप्रतिमा, संघ, जिनधर्म इनके ऊपर भक्ति करना, विषयोंसे विरक्त होना, इनके गुणोंपर प्रेम रखना, नम्रता, संयम, अप्रमाद स्वकृत्योंमें सावधान रहना, मार्दव, क्षमा, आर्जव, संतोष ये गुण धारण करने चाहिये. आहारादिक चार संज्ञाओंको जीतना चाहिये, शल्य और गारवोंका त्याग करना उपसर्ग और परीषहोंको जीतना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सरागसंयम, दस प्रकारका धर्मध्यान ये गुण धारण कर जिनेन्द्रकी पूजाका उपदेश करना, निःशंकितादिक आठगुण, प्रशस्तरागसे तपोभावना अर्थात् मैं तपद्वारा कर्मोंका क्षय करूंगा ऐसी उत्कृष्ट अभिलाषा, पांच समिति, तीन गुप्ति इत्यादिक मुनिवर्योंका शुद्ध प्रयोगका वर्णन है

गृहस्थोंके शुद्ध प्रयोगका वर्णन—

जो व्रत धारण किया है उसको धारण करना और पालन करनेकी इच्छा रहना, एक क्षणतक भी व्रतका नाश होना अनिष्ट है, अकल्याण कारक है ऐसा समझना, हमेशा यतियोंके सहवास की इच्छा रखना, श्रद्धादि-गुणोंके अनुसार आहारादिकदान देना, श्रमपरिहार करनेकी इच्छासे भोगोंको भोगकरभी इनका मैं त्याग करनेमें असमर्थ हूं ऐसी अपनी निंदा करना, सदा घरका त्याग करनेकी इच्छा रखना, धर्मश्रवण करने पर मनमें अत्यानंदित होना, भक्तीसे पंच गुरुओंकी स्तुति करना, प्रणाम करना, पूजा करना, अन्य लोगों को भी जैनधर्म में स्थिर करना, उपगूहन करना, साधर्मिकोंपर प्रेम रखना, जिनेंद्रके भक्तोंपर उपकार करना जिनशास्त्रका सत्कार पूजा करना, जिनधर्म की प्रभावना करना इत्यादिक गृहस्थोंके शुद्ध प्रयोग है.

अनुकंपा और शुद्ध प्रयोगके विपरीत परिणाम होने से अशुभ कर्मके आस्रव आते हैं.

अब संवरानुप्रेक्षाका आचार्य वर्णन करते हैं—

पुद्गलों में होनेवाले कर्मपर्याय जिस जीवपरिणामसे रुक जाते हैं उस परिणामको संवर कहते हैं,

अथवा जिस जीवके परिणामसे मिथ्यात्वादिपरिणाम रुकजाते हैं उस सम्यक्त्वादि परिणामको आचार्य संवर कहते हैं. मिथ्यात्वादि परिणामोंको रोकनेसे सम्यक्त्वादि परिणामोंको संवर कहते हैं.

मिच्छत्तासवदारं रुंभइ सम्मत्तदिढकवाडेण ॥
हिंसादिदुवाराणिवि दढवदफलहेहिं रुंभंति ॥ १८३५

कुदर्शनावृत्तकषाययोगैर्जीवो भवे मज्जति कर्मपूर्णः ॥
दुरापपारे विवरैरनेकैः पोतः पयोधाविव वारिपूर्णः ॥ १९०६ ॥
इत्यास्रवानुप्रेक्षा ।
मिथ्यात्वमास्रवद्वारं पिधत्ते तत्त्वरोचनम् ॥
संयमासंयमं सद्यो गृहीत्वारमिवारेरे ॥ १९०७ ॥

विजयोदया—मिच्छत्तासवदारं तत्त्वाश्रद्धानमास्रवद्वारं । रुंभंति रुंधते, सम्मत्तदिढकवाडेण तत्त्वश्रद्धान कवाटेन। हिंसादिदुवाराणि वि हिंसादिद्वाराण्यपि, दढवदफलहेहिं रुंभंति दृढव्रतपरिघैः स्थगयंति ॥

धर्म ध्यापयितुं गाथादशकेन संवरमनुप्रेक्षते——तत्र संव्रियन्ते निरुध्यंते प्रत्ययाः कर्मपर्यायाः पुद्गलानां येन जीवपरिणामेन मिथ्यात्वादिर्वा येन निरुध्यते स संवर इति मिथ्यात्वादिपरिणामसंचरणात्प्राधान्येन सम्यक्त्वादीनां संवरतां निरूपयन्विधेयतां भावयति—

मूलारा——रुंभंति रुन्धन्ति के मुमुक्षवः । फलिहेहिं अर्गलाभिः ॥

इसीका आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं. सम्यग्दर्शनरूप मजबुत किवाडकेद्वारा पुरुष मिथ्यात्वरूपी दरवाजा जोकि पापकर्म आनेका कारण है बंदकर देते हैं.दृढ अहिंसादि व्रतरूपी अर्गलाओंसे पुरुष हिंसादि दरवाजों को बंद कर देते हैं.

उवसमदयादमाउहकरेण रक्खा कसायचोरेहिं ॥
सक्का काउं आउहकरेण रक्खाव चोराणं ॥ १८३६ ॥ १६४९

कषायतस्करा रौद्रा दयादमशमायुधैः ॥
शक्यंते रक्षितुं दिव्यैरायुधैरिव तस्कराः ॥ १९०८ ॥

विजयोदया—उवसमदयादमाउहकरेण उपशम कषायवेदनीयस्य कर्मणस्तिरोभवनं, दया सर्वप्राणिविषया, दमः कषायदोषभावनया चित्तनिग्रह । एते एव आयुधाः करे यस्य तेन । कसायचोरेहिं कषायचोरेभ्यः । रक्खा सक्का कार्तुं रक्षा शक्या कर्तुं, आयुधकरेण रक्खाव चोरेहिं आयुधहस्तेन चोरेभ्यो रक्षेव, कषायदोषपरिज्ञानेनासकृत् प्रवृत्तेन क्रोधादिनिमित्तवस्तुपरिहरेण तत्प्रतिपक्षक्षमादिपरिणामेन च कषायनिवारणं ॥ उक्तं च ॥ जेयस्तदा क्रोधमुपाश्रितः क्षमां, जयेच्च मानं समुपेत्य मार्दवं । तथैव मायामपि चार्जवाज्जयेत्, जयेच्च संतोषवशेन लुब्धतां । जिताः कषाया यदि किन्न तैर्जितं कषायमूलं सकलं हि बंधनमिति ॥

मूलारा—उवसम-कषायवेदनीयकर्मण उदयनिमित्तवर्जनेन क्षमादिभावनया वा तिरोभावादात्मनः प्रसत्तिः ॥ दमकषायदोषभावनया चित्तनिग्रहः ॥

अर्थ—कषाय वेदनीय कर्मका उदय न होना उसको उपशम कहते हैं. सर्व प्राणिओंके ऊपर उनका दुःख देखकर अपना अंतःकरण आर्द्र होना दयाका लक्षण है. कषायोंके दोषोंका विचारकर चित्तको स्वाधीन रखना निग्रह कहते हैं. उपशम, दया और निग्रह ये तीनशस्त्र जिसने अपने हाथमें लिये हैं वह पुरुष कषायरूपी चोरोंसे सशस्त्र मनुष्य जैसा चोरोंसे अपना रक्षण करता है रक्षण करता है- संवरकी इच्छा रखनेवालोंने वारंवार कषायोंके दोषोंका परिज्ञान कर लेना चाहिये. जिन वस्तुओंका आश्रय करनेसे क्रोधादि कषाय उत्पन्न होंगे उनका त्याग करना चाहिये. और क्रोधादिकोंके प्रतिपक्षीरूप क्षमा, विनय, सरलपना, निर्लोभता वगैरह परिणाम आत्मामें उत्पन्न करने चाहिये. इससे कषायोंका अवश्य निवारण होगा. इस विषयमें ऐसा कहा है—क्षमाका आश्रय लेकर क्रोधको जीतना चाहिये. मार्दवके आश्रयसे मानकषायका पराभव करना चाहिये. आर्जव गुणसे मायाको और संतोष धारण कर लुब्धताका परिहार करना चाहिये. यदि जिसने कषाय जीते हैं उसने सर्व जीत लिया ऐसा समझना चाहिये. क्योंकि संपूर्ण कर्मबंधनकेलिये कषायही कारण है.

मिथ्यात्वसंवरं कषायसंवरं निरूप्य इंद्रियसंवरं व्याचष्टे—

इंदियदुद्दंतस्सा णिग्घिप्पंति दमणाणखलिणेहिं ॥
उप्पहगामी णिग्घिप्पंति हु खलिणेहिं जह तुरया ॥ १८३७ ॥

इन्द्रियाश्वा नियम्यंते वैराग्यखलिनैर्दृढैः ॥
उत्पथप्रस्थिता दुष्टास्तुरगाः खलिनैरिव ॥ १९०९ ॥

विजयोदया—इंदियदुद्दंतस्सा इंद्रियदुर्दांताश्वाः णिग्घिप्पंति निगृह्यंते निरुध्यंते, केन दमणाणखलिणेर्हि दमप्रधानानि दमज्ञानानि, तान्येव खलिनानि तैः। शब्दादिषु वर्तमानानि इंद्रियज्ञानानि रागद्वेषमूलानि तानीहेंद्रियशब्देनोच्यंते तेषां चास्रवाणां निरोधस्तत्वज्ञानभावनया भवति । द्वयो रूपयोर्युगपदेकस्मिन्नात्मन्यप्रवृत्तेः । उत्पथगामी उन्मार्गयायिनः। जह तुरगा णिग्घिप्पंति यथाश्वा निगृह्यंते। खलिणेहिं खरैः खलिनैः ॥

एवं मिथ्यात्वासंयमकषायसंवरान्निरूप्य करणसंवरं व्याकरोति—

मूलारा—इंदिय इष्टानिष्टरूपादिषु प्रवर्तमानानि चक्षुरादिज्ञानानि। णिग्घिप्पंति निगृह्यंते। दमणाणखलिणेहिं दमप्रधानानि ज्ञानानि तत्त्वावबोधाः तानि खलीनानि इव दुष्टवाजिनामिव रागद्वेषेन्द्रियज्ञानानां निरोधनिमित्तत्वात्। इंद्रियज्ञानं हि इष्टानिष्टे वा स्वविषये रागं द्वेषं वा जनयत्तदुपेक्षावता ज्ञानेन प्रतिबध्यते। द्वयोरुपयोगयोर्युगपदेकस्मिन्नात्मन्यप्रवृत्तेः ॥

मिथ्यात्वसंवर और कषाय संवरका निरूपण किया. अब इंद्रिय संवरका वर्णन करते हैं—

अर्थ—इंद्रियरूपी दुष्ट घोडोंको दमगुणकी मुख्यतासे युक्त ऐसे ज्ञानरूपी लगामोंसे जो पुरुष वश करते हैं. शब्द, स्पर्श, रस वगैरह विषयोंमें प्रवृत्ति करनेवाले इंद्रियज्ञानोंको रागद्वेषही कारण हैं. अर्थात् रागद्वेषसे इन्द्रियज्ञानकी प्रवृत्ति स्पर्शादि विषयोंमें होती हैं. इस गाथामें इंद्रियज्ञानको ही 'इंद्रिय' कहा है. इंद्रियज्ञानसे उत्पन्न हुए आस्रवोंका निरोध तत्त्वज्ञानकी भावनासे होता है. स्पर्शादिविषयोंमें प्रवृत्ति और तत्त्वज्ञान ये दोन उपयोग एकसमय आत्मामें नहीं होते हैं. एक समयमें दोन उपयोग उत्पन्न नही होते हैं ऐसा आगममें कहा है. उन्मार्गपर जानेवाले दुष्ट घोडोंका जैसे लगाम के द्वारा निग्रह करते हैं वैसे तत्त्वज्ञानकी भावनासे इंद्रियरूपी अश्वोंका निग्रह हो सकता है.

अणिहुदमणसा इंदियसप्पाणि णिगेण्हिदुं ण तीरंति ॥
विज्जामंतोसधहीणेणव आसीविसा सप्पा ॥ १८३८ ॥

नाक्षसर्पा निगृह्यन्ते मीपणाश्चलमानसैः ॥
दंदशूका इव ग्राह्या विद्यासंवादवर्जितैः ॥ ॥ १९१० ॥

...ग्रमुपविशिष्टभोजनप्रियापलेह्यापि मनोहरान् रसान् ॥ ६ ॥ निषेवितुं रागवशेन कांक्षति यदृच्छया वा न निषेव्य रुष्यति रसाननेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितुं ॥ ७ ॥ निषेव्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता रसनेंद्रियस्य च । मनोज्ञशय्यासनकांतयोषितां, शुभांश्च यः स्पर्शविधीन् मनोहरान् ॥ ८ ॥ न सेवितुं रागवशेन वांछति यदृच्छया वा न निषेव्य रुष्यति । प्रमर्दनाच्छादनमार्जनानि वा विलेपनाभ्यंजनमार्जनानि च ॥ ९ ॥ शरीरसौख्याय न यश्च सेवते विमुक्तवैराग्ययुतो महायतिः । हिमोष्णभूशैलशिलातृणारिजानशोभनान् स्पर्शविधींश्च सर्वदा ॥ १० ॥ न नेच्छति द्वेष्टि न वाप्युपागतान् स्पर्शेंद्रियस्यैव भजेद्विजिष्णुतां, रणे रिपूणामिह निर्भयो जयेत् यथेंद्रियाणां जयमाश्रितो यतिरिति ॥ ११ ॥ निद्रायाः प्रतिपक्षभूतोऽप्रमादः, अनशनमवमोदर्यं, रसपरित्यागः, संसारभीतिर्निद्रादोषचिंता रत्नत्रयेऽनुरागः स्वदुश्चरितानां स्मरणेन शोक इत्येवमादिकः । स्नेहप्रमादप्रतिपक्षभावनोच्यते, बंधुताया अनवस्थितत्वभावना, तदर्थानेकारंभपरिग्रहप्रवृत्तिचिंता, धर्मविघ्नता, दोषानुप्रेक्षणमित्यादिकः । एवंभूतेनाप्रमादफलकेन प्रवर्तता निरुध्यते । कीरदि फलगेण जहा क्रियते फलकेन यथा । पावाण जलासवणिरोधो नावः जलास्रवनिरोधः ॥

प्रमादास्रवं सविस्तरं ब्रवीति—

मूलारा—पावपयोगा विकथादयः पंचदशप्रमादपरिणामाः। अप्पमादफलगेण अप्पमादो विकथादिप्रमादप्रतिपक्षभावना । सफलकमिव प्रमादसंपाद्यकर्मणां प्रतिभटप्रहाराणामिव प्रतिबंधकत्वात् । तत्र विकथाप्रतिपक्षाः सत्यासत्यमृषाभाषास्वाध्यायो ध्यानं च । कषायप्रत्यनीकाः क्षमादयस्तदुदयकारणविमुक्तदेशावस्थानं । तद्दोषापायावद्यभावना च । इंद्रियप्रतिबंधिनस्तत्त्वज्ञानभावना रागद्वेषनिमित्तेंद्रियविषयविविक्तदेशावस्थानतद्विषयप्रभवरागद्वेषास्मरणं विषयोपलब्धौ तेऽध्वनादरश्च । निद्राविरोधिनो ऽनशनमवमोदर्यं रसपरित्यागः । संसाराद्भीतिः, सम्यक्त्वाद्याराधने प्रीतिः । स्वदुश्चरणस्मरणानुशोचनं, निद्रादोषानुचिंतनं च । स्नेहविपक्षा बंधुत्वस्यानवस्थितत्वभावनां तदर्थानेकारंभपरिग्रहप्रवृत्तिदोषचिंता धर्मप्रतिबंधकत्वदोषानुप्रेक्षणं च ॥

प्रमादका संवर किस प्रकारसे होता है इसका वर्णन करनेवाली गाथा—

अर्थ—विकथादिक पंधरा प्रमाद हैं इनके द्वारा जो आत्मामें अशुभ परिणाम होते हैं उनको पापप्रयोग कहते हैं. जैसे शत्रुके शस्त्रप्रहारको फलकसे [ढालसे] वीर पुरुष रोकते हैं. वैसे कर्मोंका संवर चाहनेवाले पुरुष स्वाध्याय, ध्यान इत्यादिक ढालें हाथमें लेकर विकथादि प्रतिपक्षिओंके आघातका निवारण करते हैं. स्वाध्याय और ध्यानसे एकाग्रतारूपी अप्रमादसे-सावधानीसे विकथादि प्रमादका निरोध होनेसे प्रमादजनित कर्मका आस्रव आत्मामें आता नहीं. सत्यभाषा, असत्यमृषा भाषा, स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता ये विकथा प्रमादके प्रतिपक्षी हैं.

महामृष्टविशिष्टभोजनप्रियफलेह्णापि मनोहरान् रसान् ॥ ६ ॥ निषेवितुं रागवशेन कांक्षति यदृच्छया वा न निषेव्य रज्यति रसाननेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितु ॥ ७ ॥ निषेव्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता रसनेंद्रियस्य च । मनोज्ञशय्यासनकांतयोषिता, शुभांश्च य स्पर्शविधीन् मनोहरान् ॥ ८ ॥ न सेवितु रागवशेन वांछति यदृच्छया वा न निषेव्य रज्यति । प्रमर्दनाच्छादनमार्जनानि वा विलेपनाभ्यंजनमार्जनानि च ॥ ९ ॥ शरीरसौख्याय न यश्च सेवते विवृद्धवैराग्ययुतो महायति । हिमोष्णभूशैलशिलातृणादिजानशोभनान् स्पर्शविधींश्च सर्वदा ॥ १० ॥ न नेच्छति द्वेष्टि न चाप्युपागतान् त्वगिंद्रियस्यैव भजेद्विजिष्णुता, रणे रिपूणामिह निर्भयो जयेत् यथेंद्रियाणां जयमास्थितो यतिरिति ॥ ११ ॥ निद्राया प्रतिपक्षभूतोऽप्रमाद , अनशनमवमोदर्यं, रसपरित्याग , संसारद्भीतिर्निद्रादोषचिंता रत्नत्रयेऽनुराग स्वदुश्चरिताना स्मरणेन शोक इत्येवमादिक । स्नेहप्रमादप्रतिपक्षभावनोच्यते, बंधुताया अनवस्थितत्वभावना, तदर्थनेकारंभपरिग्रहप्रवृत्तिचिंता, धर्मविघ्नता, दोषानुप्रेक्षणमित्यादिक । एवंभूतेनाप्रमादफलकेन प्रवर्तता निरुध्यते । कीरदि फलगेण जहा णियेते फलकेन यथा । णावाए जलासवणिरोधो नाव जलास्रवनिरोध ॥

प्रमादास्रव सविस्तरं ब्रवीति—

मूलारा—पावपयोगा विकथादयः पंचदशप्रमादपरिणामा.। अप्पमादफलगेण अप्पमादो विकथादिप्रमादप्रतिपक्षभावना । सफलकमिव प्रसादसंपाद्यकर्मणा प्रतिभटप्रहाराणामिव प्रतिबंधकत्वात् । तत्र विकथाप्रतिपक्षाः सत्यासत्यमृषाभाषास्वाध्यायो ध्यानं च । कषायप्रत्यनीकाः क्षमादयस्तदुदयकारणविमुक्तदेशावस्थानं । तद्दोषापायावद्यभावना च । इंद्रियप्रतिपंथिनस्तत्त्वज्ञानभावना रागद्वेषनिमित्तेंद्रियविषयविविक्तदेशावस्थानतद्विषयप्रभवरागद्वेषास्मरणं विषयोपलब्धौ तेष्वनादरश्च । निद्राविरोधिनो ऽनशनमवमोदर्यं रसपरित्यागः । संसाराद्भीति, सम्यक्त्वाद्याराधने प्रीतिः । स्वदुश्चरणस्मरणानुशोचनं, निद्रादोषानुचिंतनं च । स्नेहविपक्षा बंधुत्वस्यानवस्थितत्वभावनां तदर्थनेकारंभपरिग्रहप्रवृत्तिदोषचिंता धर्मप्रतिबंधकत्वदोषानुप्रेक्षणं च ॥

प्रमादका संवर किस प्रकारसे होता है इसका वर्णन करनेवाली गाथा—

अर्थ—विकथादिक पंधरा प्रमाद हैं इनके द्वारा जो आत्मामें अशुभ परिणाम होते हैं उनको पापप्रयोग कहते हैं. जैसे शत्रुके शस्त्रप्रहारको फलकेस [ढालसे] वीर पुरुष रोकते हैं. वैसे कर्मोंका संवर चाहनेवाले पुरुष स्वाध्याय, ध्यान इत्यादिक ढालें हाथमें लेकर विकथादि प्रतिपक्षिओंके आघातका निवारण करते हैं. स्वाध्याय और ध्यानसें एकाग्रतारूपी अप्रमादसे-सावधानीसे विकथादि प्रमादका निरोध होनेसे प्रमादजनित कर्मका आस्रव आत्मामें आता नहीं. सत्यभाषा, असत्यमृषा भाषा, स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता ये विकथा प्रमादके प्रतिपक्षी हैं-

क्षमा, मार्दव, आर्जव, और संतोष ये कषाय नामक प्रमाद के शत्रु हैं. ज्ञानका हमेशा अभ्यास करना, रागद्वेष उत्पन्न करनेवाले इंद्रियोंके विषयोंसे अलग होकर एकान्त प्रदेशमें रहना, ज्ञानसे मनको स्वस्वरूपमें एकाग्र करना, इंद्रिय विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले रागद्वेषोंका स्मरण न करना, विषयप्राप्ति होनेपर उनमें आदर न करना, ये सब कारण इंद्रियप्रमादके शत्रु हैं. इन विषयोंका वर्णन इस प्रकार हैं. १ रागभावसे युक्त होकर प्रमादरहितमुनि सुंदर स्त्रीके अंग नहीं देखते हैं. अथवा यदृच्छासे देखकर उनपर अनुरक्त नहीं होते हैं द्वेषके वश होकर वे अशुभरूप देखना चाहते नहीं है ऐसा नहीं. अर्थात् अशुभरूप देखनेपर उनके मनमें द्वेषभावना और सुंदररूप देखनेपर राग भावना उत्पन्न नहीं होती है यदृच्छासे अशुभरूप देखकर भी वे द्वेष नहीं करते हैं. ऐसे मुनिओंने नेत्रेंद्रियोंको जीत लिया है ऐसा समझना. उत्तम गायन और वाद्यके मनोहर स्वर और उत्तम युवतिओंके–स्त्रियोंके कंठसेसे निकले हुये मधुर भाषण जो आदरसे सुननेकी इच्छा नहीं रखते हैं और यदृच्छासे सुन पडनेपर उनमें आसक्त नहीं होते हैं तथा अनेक अमनोहर–कर्कश शब्द सुननेपरभी जिनको क्रोध आता नहीं है वे मुनि कर्णको जीतनेवाले समझने चाहिये. ३ कालागुरु, कुष्ट; केशर, तमालपत्र, कमल, चंपक वगैरहके मनोहर सुवासको जो आदरसे चाहते नहीं हैं यदृच्छासे ऐसे पदार्थोंका सुवास प्राप्त होनेपर जो उसमें आसक्त होते नहीं.

तथा अशुभ गंधका संबन्ध होनेपर जो उससे द्वेष नहीं रखते हैं अथवा शुभगंधका सेवन करनपरे भी जो उसमें आसक्त नहीं होते हैं. वे मुनिराज घ्राणेंद्रियको जीतनेवाले समझने चाहिये. जो अतिशय सुंदर और विशिष्ट मधुर भोजनोंके रसमें लोलुप नहीं होते हैं अथवा यदृच्छासे सेवन करके उसमें आसक्त नहीं होते हैं. अमनोहर रसोंकी सेवा करनेसे मनमें द्वेष भी उनको नहीं उत्पन्न होता हैं. यदृच्छासे अमनोहर रस सेवन करनेका प्रसंग आपडनेपर जिनको द्वेष उत्पन्न नहीं होता है वे रसनेन्द्रियजेता माने जाते हैं.

सुन्दर शय्या, सुंदर स्त्रिया, और शुभ स्पर्श ये मन हरण करते हैं. परंतु मुनि रागवश होकर उनका सेवन करनेकी इच्छा नहीं रखते हैं. यदृच्छासे सुन्दरस्पर्शोंका सेवन करनेसे अनुरक्त नहीं होते हैं. मुनि मर्दन करना, वस्त्रसे अंगको ढकना, अंगको स्पर्श करना, विलेपन लगाना, आंखोंमें अंजन लगाना, ये कार्य नहीं करते है. इन कृत्योंमें शरीरको सुख होता है. परंतु वैराग्य युक्त मुनीश्वर इनसे विरक्त रहते हैं. शीतस्पर्श, उष्णस्पर्शसे युक्त ऐसी भूमि, पर्वत, शीला और तृण इत्यादिकोंके अमनोहर स्पर्शके विषयमें वे द्वेष नहीं करते हैं. जो मुनि अच्छे १६५४

स्पर्शयुक्त पदार्थ की इच्छा नहीं करते हैं और अशुभ स्पर्शके पदार्थ प्राप्त होनेपर द्वेष भी नहीं करते हैं वे स्पर्शनेंद्रियजयी माने जाते हैं. जैसे निर्भय वीर पुरुष युद्धमें शत्रुको जीतता है वैसे ये महामुनि निर्भय और वैराग्ययुक्त इंद्रियों को जीतते हैं.

निद्राके प्रतिपक्षभूत अप्रमाद ये हैं—अनशन, अवमोदर्य, रसोंका त्याग करना, संसारसे भययुक्त रहना निद्राके दोषोंका विचार करना, रत्नत्रयमें प्रीति रखना, अपने दुष्कृत्योंका स्मरण कर शोक करना.

स्नेह के प्रतिपक्षी—बंधुगण अस्थिर हैं, उनके लिये अनेक आरंभ परिग्रह करनेकी चिंता होती है जिससे नरकादि कुगतिकी प्राप्ति होती है. धर्ममें बंधुगण विघ्न उपस्थित करते हैं. इत्यादिक दोषोंका विचार करनेसे स्नेह प्रमादका नाश होता है.

इस प्रकार अप्रमादरूपी ढाल हाथमें लेकर यति प्रमादरूपी शत्रुसे लढते हैं. जैसे नौकाका छिद्र बंद करनेसे जल नहीं आता है वैसे अप्रमाद प्रवृत्तिसे प्रमाद जनित आगमन बंद होता हैं.

गुत्तिपरिखाइगुत्तं संजमणयरं ण कम्मरिउसेणा ॥
बंधेइ सत्तुसेणा पुरं व परिखादिहिं सुगुत्तं ॥ १८४० ॥

कर्मभिः शक्यते भेत्तुं न चारित्रं कदाचन ॥
सम्यग्गुप्तिपरिक्षिप्तं विपक्षैरिव पत्तनम् ॥ १९१२

विजयोदया—गुत्तिपरिखाइगुत्तं गुप्तिपरिखाभिर्गुप्तं, संयमनगरं कर्मरिपुसेना न भंक्तुं शक्नोति । परिखादिभिर्गुप्तं शत्रुसेनेवेति । गुप्तेः संवरताख्याता ॥

गुप्तीनां संवरतामाख्याति—

मूलारा—बंधेदि भनक्ति ।

अर्थ—परिखा-खाई, तट वगैरहोंसे रक्षित नगरका शत्रुसेना नाश नहीं कर सकती वैसे गुप्तिरूपी खाईसे रक्षित किया गया यह संयमरूपनगर कर्मरूप शत्रु के द्वारा ध्वस्त नहीं किया जाता है.

समिदिदिढणावमारुहिय अप्पमत्तो भवोदधिं तरदि ॥
छज्जीवणिकायवधादिपावमगरेहिं अच्छित्तो ॥ १८४१ ॥

गुणबंधनमारुह्य संयतः समितिप्लवं ॥
हिंसादिमकराग्रस्तो जन्मांभोधिं विलंघते ॥ १२१३ ॥

विजयोदया—समिदिदिढनावमारुहिय समितिसंज्ञितां दृढनावमारुह्य। अप्पमत्तो अप्रमत्तो भवोदधिं तरति। षड्जीवनिकायवधादिपापमकरैरस्पृष्टः ॥ एतेन समितेः संवरताख्याता ॥

समितीनां संवरत्वमाह—

मूलारा— अच्छिक्को अस्पृष्टः ॥

अर्थ—जो समितिरूपी दृढ नावमें आरोहण करता है वह अप्रमत्तमुनि षट्कायजीवोंका वध, असत्य भाषण इत्यादि पापरूप मगरोंसे पीडित नहीं होता है. और वह सुखसे संसारसमुद्रसे उत्तीर्ण होता है. समितीसे संवर होता है यह इस सूत्रमें सिद्ध हुआ.

दारेव दारवालो हिदये सुप्पणिहिदा सदी जस्स ॥
दोसा धंसंति ण तं पुरं सुगुत्तं जहा सत्तू ॥ १८४२ ॥

द्वारपाल इव द्वारे यस्यास्ति हृदये स्मृतिः ॥
दूषयंति न तं दोषा गुप्तं पुरमिवारयः ॥ १९१४ ॥

विजयोदया—दारेव दारवालो द्वारे द्वारपाल इव। हृदये सम्यक्प्रणिहिता वस्तुतत्वानां स्मृतिर्यस्य तं दोषा ना भिभवंति पुरं सुगुप्तं शत्रव इव ॥

वस्तुतत्त्वस्मृतेः संवरतां वक्ति—

मूलारा—सदी वस्तुतत्त्वचिंतनम् ॥ धंसंति ण नातिभवन्ति।

अर्थ—जैसे सुरक्षित नगरका शत्रु विनाश नहीं कर सकते हैं वैसे जिसके हृदयमें दरवाजेपर द्वारपालके समान वस्तुतत्त्वोंकी एकाग्रस्मृति स्थिर रहती है. दोष उसका पराभव नहीं करसकते हैं.

जो खु सदिविप्पहूणो सो दोसरिऊण गेज्झओ होई ॥
अंधलगोव चरंतो अरीणमविदिज्जओ चेव ॥ १८४३ ॥

न यस्यास्ति स्मृतिश्चित्ते स दोषैर्ग्रस्यते स्फुटम् ॥
असहायोऽखिलैः क्षिप्रं विचक्षुरिव वैरिभिः ॥ १९१५ ॥

विजयोदया—जो खु सदिविप्पहूणो यः स्मृतिहीनः । सो दोसरिऊण गेज्झओ होइ असौ दोषरिपुभिर्ग्राह्यो भवति । अरीणां मध्ये असहायोऽन्धः शत्रुग्राह्यो यथा ॥

स्मृतिहीनस्यापायमाह—

मूलारा—गेज्झओ ग्राह्यः । अविदिज्जओ असहायः ।

अर्थ—जिसकी स्मृति वस्तुतत्त्वोंमें एकाग्र स्थिर नहीं है ऐसा यति दोषोंके आधीन होता है. अंध मनुष्य जैसे शत्रुग्राह्य होता है वैसे तत्वज्ञानकी स्मृति जिसको नहीं है वह यति दोषोंसे पराभूत होता है.

अमुयंतो सम्मत्तं परीसहसमोगरे उदीरंतो ॥
णेव सदी मोत्तव्वा एत्थ दु आराधणा भणिया ॥ १८४४ ॥

ज्ञानदर्शनचरित्रसंपदं पूर्णतां नयति स व्रती स्फुटम् ॥
यो विमुंचति परीषहारिभिर्बाधितोऽपि न कदाचन स्मृतिम् ॥ १९१६ ॥

इति संवरानुप्रेक्षा.

विजयोदया—अमुयंतो अमुंचता । सम्मत्तं रत्नत्रयं परीसहसमोगरे, परीषहमकरे अभिभवत्यपि नैव स्मृतिर्मो-क्तव्या अत्राराधना कथिता ॥ संवरः ॥

तीव्रदुःखकारणपरीषहव्यूहाभिभवेऽपि रत्नत्रयमत्यजता तत्त्वस्मृतिरनुसर्तव्येत्यनुशास्ति—

मूलारा—सभत्तं समस्तं रत्नत्रयं समत्वं वा साम्यं ॥ एत्थ क्षिनिपातोपनिपातेऽपि रत्नत्रये चेष्टते तेन स्मृत्यव-लंबने सति । संवरानुप्रेक्षा ॥

अर्थ—परीषहके समूहके द्वारा पीडा होनेपर भी रत्नत्रयको धारण करनेवाले यतिओंने स्मृतिका त्याग नहीं करना चाहिए अर्थात् तपके साथ रत्नत्रयकी आराधना करनी चाहिये. संवरानुप्रेक्षा समाप्त.

निर्जरानुप्रेक्षोच्यते—

इय सव्वासवसंवरसंवुडकम्मासवो भवित्तु मुणी ॥
कुव्वंति तवं विविहं सुत्तुत्तं णिज्जराहेदुं ॥ १८४५ ॥

यो मुनिर्यदि शुद्धात्मा सर्वथा कर्मसंवरम् ॥
करोति निर्जराकांक्षी सिद्ध्ये विविधं तपः ॥ १९१७ ॥

विजयोदया—इय एवं । सव्वासवसंवर उक्तैः संवरप्रकारैः । संवुडकम्मासवो भवित्तु मुणी संवृतकर्मास्रवो भूत्वा मुनिः करोति विविधं तप. सूत्रोक्तं निर्जराहेतु ॥

धर्म्यं ध्यापयितुं द्वादशगाथाभिर्निर्जरामनुचिंतयिष्यन्नादौ संवृतानां सूत्रोक्तविचित्रतपसा निर्जरां भावयति–

मूलारा—संवुड निरुद्धः । भवित्तु भूत्वा ॥

निर्जरानुप्रेक्षा का वर्णन—

अर्थ—इस प्रकारसे संवरके प्रकारोंसे जिसने कर्मोंके आस्रव का निरोध किया है ऐसा मुनि निर्जराका कारण ऐसा सूत्रोक्त तप करता है.

तवसा विणा ण मोक्खो संवरमित्तेण होइ कम्मस्स ॥
उवभोगादीहिं विणा धणं ण हु खीयदि सुगुत्तं ॥ १८४६ ॥

न कर्मनिर्जरा जन्तोर्जायते तपसा विना ।
संचितं क्षीयते धान्यमुपयोगं विना कुतः ॥ १९१८ ॥

विजयोदया—तवसा विणा तपसोंतरेण न कर्ममोक्षो भवति संवरमात्रेण । सुरक्षितमपि धनं नैव क्षीयते । उपभोगमंतरेण । तथा तस्मात् तपोनुष्ठातव्यं निर्जरार्थं । का सा निर्जरा नाम पूर्वकृतकर्मशातनं तु निर्जरा ॥

[भगवती] आराधना १६५८

संवरणैव कर्मक्षय इति मत्वा तपस्यनुत्सहमानमुत्साहयति—

मूलारा—उवभोगादीहिं स्वयमुपभोगपात्रविनियोगादिभिः ॥

अर्थ-तप से ही केवल कर्मके संवरसे मोक्ष नहीं होता है. जिस धनका संरक्षण किया है वह धन उपभोग नहीं किया तो समाप्त नहीं होगा इसलिए कर्मकी निर्जरा होनेके लिए तपश्चरण करना चाहिये.

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा ॥
पढमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य ॥ १८४७ ॥

पूर्वस्य कर्मणः पुंसो निर्जरा द्विविधा मता ॥
आद्या विपाकजातात्र द्वितीया त्वविपाकजा ॥ १९१२ ॥

विजयोदया—पुव्वगदकम्मसडणं पूर्वगतकर्मपुद्गलस्कंधावयवानां जीवप्रदेशेभ्योऽपगमनं निर्जरा। तथा चोक्तं। एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरेति । निर्जरा द्विविधा द्रव्यनिर्जरा भावनिर्जरा चेति । द्रव्यनिर्जरा नाम गृहीतानामशनपानादिद्रव्याणां एकदेशापगमनं वमनादि । भावनिर्जरा नाम कर्मत्वपर्यायविगमः पुद्गलानां । सा पुनर्द्विविधा, आद्या विपाकजाता द्वितीयाऽविपाकजाता ॥

निर्जरां द्विविकल्पां निर्दिशति—

मूलारा—पुव्वकयकम्मसडणं प्राक्संचितकर्मपुद्गलस्कंधावयवानां जीवप्रदेशेभ्योऽपगमनम् । विवागजादा स्वकालेन दत्तफलानां कर्मणां गलनं विपाकजा निर्जरा । अविवागजादा उपक्रमेण दत्तफलानां कर्मणां गलनमविपाकजा । उक्तं च

जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण ॥
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥

अर्थ-पूर्व कर्मके स्कंधोंमेंसे थोडा थोडा कर्मका हिस्सा जीवके प्रदेशोंसे निकल जाना यह निर्जराका स्वरूप है. आगममें इस निर्जराका लक्षण ऐसा किया है— ' एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा ' अर्थात् कर्मके एक देशका क्षय होना यह निर्जराका लक्षण है. निर्जराके द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा. ऐसे दो भेद हैं. भक्षण किए हुए अन्नपानादि पदार्थोंका एक देशका क्षय होना यह द्रव्यनिर्जरा है. और वमन होना अथवा पूर्ण पचन होना यह

भावनिर्जरा है. पुद्गलका कर्मपर्याय नष्ट होना निर्जराका लक्षण है. इसके भी दो भेद हैं. विपाकजाता निर्जरा और अविपाकजाता निर्जरा.

अत्र दृष्टांतमाचष्टे द्विविधां निर्जरामवगमयितुं—

कालेण उवायेण य पच्चंति जहा वणप्फदिफलाइं ॥
तह कालेण तवेण य पच्चंति कदाणि कम्माणि ॥ १८४८ ॥

नानाविधानि कर्माणि गृहीतानि पुराभवे ॥
फलानीव विपच्यंते कालेनोपक्रमेण च ॥ १९२० ॥

विजयोदया—कालेण उवाएण य यथा कालेनोपायेन च वनस्पतीनां फलानि पच्यंते तथा कालेन तपसा पच्यंते कृतानि कर्माणि ॥

कर्मणां कालोपायानां पाक्यत्वं दृष्टान्तेन स्फुटयति—

मूलारा—उवाएण ऊष्मधूमादिप्रयोगेण ।

दृष्टांतके द्वारा इनका स्पष्टीकरण—

अर्थ—जैसे वृक्षोंके फल योग्य कालकी अपेक्षाकर अर्थात् योग्य काल प्राप्त होनेपर पक्व होते हैं अथवा उपायसे पक्वावस्था को प्राप्त होते हैं वैसे पूर्व कर्मभी योग्यकाल प्राप्त होनेसे तथा तपसे पक्व होते हैं.

तयोर्निर्जरयोः का कस्य भवतीत्याशंकायामाचष्टे—

सव्वेसिं उदयसमागदस्स कम्मस्स णिज्जरा होइ ॥
कम्मस्स तवेण पुणो सव्वस्स वि णिज्जरा होइ ॥१८४९॥

कालेन निर्जरा नूनमुदीर्णस्यैव कर्मणः ॥
तपसा क्रियमाणेन कर्म निर्जीर्यतेऽखिलम् ॥ १९२१ ॥

विजयोदया—सव्वेसिमुदयसमागदस्स सर्वेषां समयपूर्वके तपसि वृत्तानां अवृत्तानां अथवा मिथ्यादृष्ट्यादीनां सम्यग्दृष्ट्यादीनां वा उदयावलिकाप्रविष्टस्य दत्तस्य फलस्य कर्मणो निर्जरा भवति । एतेन विपाकनिर्जरा

स्वल्पेत्याख्यातं भवति । कथं न सर्वाणि कर्माणि भिन्नस्थितिकानि सहकारिकारणानां द्रव्यक्षेत्रादीनां युगपदसान्निध्यादुदयं सर्वस्य नोपव्रजंति, ततो यदुदयप्राप्तं तदेवागच्छति नेतरदिति । तवेण दुणो तपसा पुनः । कम्मस्स सव्वस्स चि कर्मणः सर्वस्यापि निर्जरा भवति ॥

सर्वसाधारण्या विपाकजनिर्जराया इतरानिर्जरायाः सुतरां विधेयतां दर्शयितुं विशिष्टतां भावयति—

मूलारा— उदयसमयागदस्स अनुभवसमयावलिकाप्रविष्टस्य दत्तस्वफलस्येत्यर्थः । णिजरा अपगमः । एतेन विपाकनिर्जरा स्वल्पेत्युक्तं भवति । सव्वस्स उदितस्यानुदितस्य ॥ उक्तं च—

कालेन निर्जरा नूनमुदीर्णस्यैव कर्मणः ॥
तपसा क्रियमाणेन कर्म निर्जीर्यतेऽखिलं ॥
एतेन—नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

इत्येकांतः शैवसिद्धान्तोक्तः प्रत्युक्तः ॥

इन दो निर्जराओंमें कोन किसकी होती है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जो तपश्चरणमें प्रवृत्त हैं अथवा नहीं है ऐसे लोकोंको अर्थात् मिथ्यादृष्टि वगैरह किंवा सम्यग्दृष्टी वगैरहको कर्म उदयपंक्तिमें प्रवेशकर अपना फल देकर नष्ट होता है यह विपाकनिर्जराका स्वरूप है. यह विपाक निर्जरा अल्प होती है. क्योंकि सर्व कर्मोंकी भिन्न भिन्न स्थिति रहती है. द्रव्य क्षेत्रादिक सहकारी कारण सबके एकदम नहीं मिलते हैं इसलिये कर्म एकसाथ उदयमें आकर फल देकर नष्ट नहीं होता है. जो उदयमें आता है वही फल देकर नष्ट होता है अन्य नहीं. और तपश्चरणके द्वारा सर्व कर्मकी निर्जरा होती है.

ण हु कम्मस्स अवेदिदफलस्स कस्सइ हवेज्ज परिमोक्खो ॥
होज्ज व तस्स विणासो तवग्गिणा डज्झमाणस्स ॥ १८५० ॥ १६६१
अनिर्दिष्टफलं कर्म तपसा दह्यते परम् ॥
सस्यं हुताशनेनेव बहुभेदमुपार्जितम् ॥ १९२२ ॥

विजयोदया—कम्मस्स ण हु हवेज्ज परिमोक्खो अननुभूतफलस्य कर्मणो नैव कस्य चित् मोक्षो भवति इति ततः फलं प्रदापयाति । एतेन विपाकनिर्जरोक्ता, होज्जव तस्स कम्मस्स विणासो भवेद्वा तस्य कर्मणो विनाशः तवग्गिणा डज्झमाणस्स तपोऽग्निना दह्यमानस्य एतेन कृतं कर्म तत्फलमदत्त्वा न निवर्तेत इत्येतन्निरस्तं ।

उक्तमेवार्थं उत्सर्गापवादाभ्यां दृढयति—

मूलारा—अवेदिदफलस्स अभुक्तफलस्य । एतेन स्वफलं प्रदापयाति कर्मेति विपाकनिर्जरा सामान्येनोक्ता । डज्झमाणस्स निर्जीर्यमाणस्य । एतेन कृतं कर्म यत्तत्फलमदत्त्वा न निवर्तते इत्येकान्तो निरस्तः ॥ उक्तं च—

अनिर्दिष्टफलं कर्म तपसा दह्यते परं ॥
सस्यं हुताशनेनेव बहुभेदमुपार्जितम् ॥

अर्थ—जिस कर्मका फल जीवकेद्वारा नहीं भोगा गया है ऐसा कर्म नष्ट नहीं होता है. अर्थात् कर्म अपना फल जीवको देकर ही चला जाता है. इस विवेचनसे विपाक निर्जरा कही गयी. परंतु तपोग्नीसे जो कर्म दग्ध होता है वह कर्म आत्माको फल न देकर ही नष्ट होता है. इससे ' जो कर्म इस जीवने किया है वह फल जबतक नहीं देता है, तबतक नष्ट नहीं होता है. ऐसा एकान्त मत खंडित होता है. तात्पर्य यह है कि, विपाक-निर्जरा जिस कर्मकी होती है वह कर्म आत्माको फल देता है. अविपाक निर्जराका कर्म फल नहीं देता है.

डहिऊण जहा अग्गी विद्धंसदि सुबहुगंपि तणरासी ॥
विद्धंसेदि तवग्गी तह कम्मतणं सुबहुगंपि ॥ १८५१ ॥

तपसादीयमानेन नाश्यते कर्मसंचयः ॥
आशुशुक्षणिना क्षिप्रं दीप्तेनेव तृणोत्करः ॥ १९२३ ॥

विजयोदया—डहिऊण जहा अग्गी यथाग्निर्दग्ध्वा नाशयति महांतमपि तृणराशिं तथा तपोग्निः सुमहदपि कर्मतृणं विनाशयति ॥

तपसः कर्मशातनसामर्थ्यं समर्थयते—

मूलारा—स्पष्टम् । उक्तं च—

तत्कालमपि तद्ध्यानं ज्वलदेकाग्रमात्मनि ॥
उच्चैःकर्मोच्चयं भिंद्याद्वज्रं शैलमिव क्षणात् ॥

अर्थ—जैसे प्रज्वलित अग्नि बडी भारी तृण राशिको भी जलाकर भस्म कर डालती है. वैसी तपरूपी अग्नि बहुत मोटाभी कर्मसमूह तृण के समान नष्ट कर देती है.

तपसः कर्मविनाशनक्रममुपदर्शयत्युत्तरगाथा—

कम्मं विपरिणमिज्जइ सिणेहपरिसोसएण सुतवेण ॥
तो तं सिणेहमुक्कं कम्मं परिसडदि धूलिव्व ॥ १८५२ ॥
स्वयं पलायते कर्म तपसा विरसीकृतम् ॥
रजोऽवतिष्ठते कुत्र नीरसे स्फटिकेऽश्मनि ॥ १९२४ ॥

विजयोदया—कम्मं वि परिणमिज्जदि कर्माण्यपि अन्यथा भावं नीयंते, केण सुतवेण ज्ञानदर्शनचरणसहभाविना तपसा। सिणेहपरिसोसगेण कर्मपुद्गलगतस्नेहपरिणामविशोषणकारिणा। तो पश्चात्। स्नेहपरिणामविनाशोत्तरकाले। कम्म परिसडदि कर्म परितोऽपयाति, सिणेहमुक्कं स्नेहमुक्तं धूलीव। दृश्यते हि स्नेहार्द्रभावमुपागतानां तत्क्षतेः। परस्परतो वियोगः यथा जलेनैव पिण्डतागतानां सिकतानां शुष्के जले वियोगमापद्यमानता ॥

तपसः कर्मविनाशनक्रमं कथयति—

मूलारा—विपरिणमिज्जदि अन्यथाभावं नीयते जीवपरतंत्रीकरणशक्तिं त्याज्यते इत्यर्थः। अन्ये परिसोसिज्जदि इति पठंति। सिणेहपरिसोसगेण कर्मपुद्गलगतस्नेहपरिणामविशोषणकारिणा। सुतवेण रत्नत्रयसहभाविना तपसा। धूलीव यथा जलार्द्रभावं गतानां सिकतानां जले शुष्के परस्परतोऽपगमनं। एवं कषायादिकृतस्नेहाज्जीवेन सहैकलोलीभावं गतानां कर्मपुद्गलानां तपसा रूक्षत्वं गमितानां ततोऽपगम इत्यर्थः ॥ उक्तं च—

स्वयं पलायते कर्म तपसा विरसीकृतं ॥
रजोऽवतिष्ठेत कुत्र नीरसस्फटिकेऽश्मनि ॥

तपश्चरण के कर्म विनाशक्रमका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—तपश्चरणसे अर्थात् ज्ञान, दर्शन चारित्रके साथ रहनेवाले तपसे कर्ममें फरक किया जाता है. अर्थात् जीवको परतंत्र करनेका स्वभाव कर्ममें रहता है तपके द्वारा उस स्वभावका नाश होता है. यह तपश्चरण कर्ममें जो स्नेहशक्ति थी उसको नष्ट करता है. जिससे कर्म आत्मासे संबंध छोडकर चला जाता है. जैसे स्नेहसे धूलि

एकत्र होती है. परंतु स्नेहके हरनेसे धूली के कण बिखर जाते हैं उनका बंधन नहीं रहता हैं. पानीसे वालुका पिंड बनता है परंतु पानी सूख जानेपर वालुके कण अलग होते हैं. वैसी स्नेहशक्ति तपसे नष्ट होनेपर कर्म आत्मासे अलग होता है. अर्थात् पुद्गलका कर्मत्वपर्याय नष्ट होता है.

धादुगदं जह कणयं सुज्झइ धम्मंतमग्गिणा महदा ॥
सुज्झइ तवग्गिधंतो तह जीवो कम्मधादुगदो ॥ १८५३ ॥

तपसा ध्मायमानोऽङ्गी क्षिप्रं शुद्ध्यति कर्मभिः ॥
पाषाणः पावकेनेव कानकः सकलैर्मलैः ॥ १९२५ ॥

विजयोदया—धादुगदं यथा सुवर्णपाषाणगतं कनकं महताग्निना दह्यमानं शुध्यति, मलात् पृथग्भवति तथा जीवः कर्मधातुगतस्तपोऽग्निना दह्यमानः शुध्यति ॥

तपसा शुद्धस्यात्मनि दीप्यमानस्यात्मनः कर्मभ्यः पृथग्भावं भावयति—

मूलारा—धादुगदं सुवर्णपाषाणस्थं । सुज्झदि पृथग्भवति । धम्मंतं ताप्यमानं । तवग्गिधंतो तपोऽग्निनाध्मातः सद्धस्वचिद्रूपे देदीप्यमानः कृतः ।

तपसा ध्मायमानोऽगी क्षिप्रं शुध्यति कर्मभिः ॥
पाषाणः पावकेनेव कानकः सकलैर्मलैः ॥

अर्थ—महान् अग्निसे दग्ध होनेपर जैसे सुवर्णपाषाणमेंसे सुवर्ण शुद्ध होता है अर्थात् मलसे अलग होता है. वैसे कर्मरूपी धातुओंसे मिश्र हुआ यह जीवरूपी सुवर्ण तपरूपी अग्निमें जब दग्ध होता है तब यह निर्मल होता है.

यद्येवं तप एवानुष्ठातव्यं किं संवरेणेति शंकां निराकरोति—

तवसा चेव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ जिणवयणे ॥
ण हु सोत्ते पविसंते किसिणं परिसुस्सदि तलायं ॥ १८५४ ॥

मोक्षःसंवरहीनेन तपसा न जिनागमे ॥
रविणा शोष्यते नीरं प्रवेशे सति किं सरः ॥ १९२६ ॥

विजयोदया—तपसा नैव ण मोक्खो तपसैव न सर्वकर्मापायो भवति, संवरहीनस्य जिनवचने। स्रोतसि प्रविशति न जलादिकं कृत्स्नं परिशुष्यति ॥

यद्येवं तर्हि तदेवानुष्ठेयं न संवर इत्यत्राह—

मूलारा—मोक्खो सर्वकर्मापगमः ॥ उक्तं च—

मोक्षः संवरहीनेन तपसा न जिनागमे ॥
रविणा शोष्यते नीरप्रवेशे सति किं सरः ॥

यदि तप से आत्मा शुद्ध होता है तो तप ही करना चाहिए संवरकी क्यों आवश्यकता है ? आचार्य इस शंका का उत्तर देते हैं—

अर्थ—जो मुनि संवररहित है केवल तपश्चरणसे ही उसके कर्मका नाश नहीं हो सकता है ऐसा जिन-वचनमें कहा है. यदि जलप्रवाह आता ही रहेगा तो तालाव कब सूखेगा ? अर्थात् नहीं सूखता है.

एवं पिणद्धसंवरवम्मो सम्मत्तवाहणारूढो ॥
सुदणाणमहाधणुगो झाणादितवोमयसरेहिं ॥ १८५५ ॥

विजयोदया—एवं पिणद्धसंवरवम्मो एवं पिनद्धसंवरकवचः, सम्यक्त्ववाहनारूढः, श्रुतज्ञानचापधरः, ध्यानादितपोमयशरैः ॥

चतुर्विधाराधनानिष्ठः संवरसहितया निर्जरया कर्मारिचमूं निःशेष्याक्षयामनंतज्ञानादिराज्यश्रियं प्राप्नोति इति गाथाद्वयेनोपसंहरति—

मूलारा—पिणद्धसंवरवम्मो बद्धास्रवनिरोधसन्नाहः ।

अर्थ—जिसने संवररूपी बख्तर पहना है, जो सम्यग्दर्शनरूपी वाहनपर चढा है- जिसने सम्यग्ज्ञानरूपी धनुष्य हाथ में लेकर ध्यान और तपरूपी शर–बाण सम्यग्ज्ञानरूप धनुष्य के ऊपर जोड दिये हैं.

संजमरणभूमीए कम्मारिचमू पराजिणिय सव्वं ॥
पावदि संजमजोहो अणोवमं मोक्खरज्जसिरिं ॥ १८५६ ॥

दर्शनद्विपमधिष्ठितो बुधो लब्धबोधसचिवस्तपःशरैः ॥
कर्मशत्रुमपहत्य संयुतः सिद्धिसंपदमुपैति शाश्वतीम् ॥ १९२७ ॥
इति निर्जरा ।

विजयोदया—संजमरणभूमीए संयमयुद्धांगणे कर्मारिचमू सर्वामभिभूय आप्नोति संयतयोधः अनुपमां-मोक्षराज्यश्रियं ॥ निर्जरा ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥ निर्जरानुप्रेक्षा ।

अर्थ-ऐसा मुनिरूपी वीर पुरुष संयमरणमें संपूर्ण कर्मसेनाका पराजय कर मुक्तिरूप राज्यलक्ष्मीकी प्राप्ति कर लेता है ।

धर्मगुणानुप्रेक्षणयोच्यते—

जीवो मोक्खपुरक्कडकल्लाणपरंपरस्स जो भागी ।
भावेणुववज्जदि सो धम्मं तं तारिसमुदारं ॥ १८५७ ॥
मोक्षावसानकल्याणभाजनेन शरीरिणा ॥
आर्हतो भावनाधर्मो भावतः प्रतिपद्यते ॥ १९२८ ॥

विजयोदया—जीवो मोक्खपुरक्कडकल्लाणपरंपरस्स जो भागी, यो जीव.मोक्षावसानकल्याणपरंपराया भाजनभूतः। स धर्मं भावेन प्रतिपद्यते, तं तादृशमुदारं सकलसुखसंपादनक्षमं महांतं धर्मं ॥

धर्म्यध्यानसिद्धये गाथानवकेन धर्ममहिमानमनुचिंतयति—

मूलारा—मोक्खपुरक्कडकल्लाणपरंपरस्स मोक्षेण पुरःसरता नीतानि यानि कल्याणानि सुदेवत्वसुमानुषत्व पशाभ्युदयसुखानि मोक्षसुखावसानसांसारिकसुखानीत्यर्थः ॥ तत्प्रबंधस्य भागी भजनयोग्यः । भावेणुववज्जदि परमार्थेन प्रतिपद्यते । उदारं सकलसुखसंपादनसमर्थत्वान्महान्तं ।

उक्तं च—मोक्षावसानकल्याणभाजनेन शरीरिणा ॥
आर्हतः पावनो धर्मो भावतः प्रतिपद्यते ॥

अर्थ-मोक्षप्राप्ति तक जो जो कल्याणपरंपरा प्राप्त होती है वह सब धर्मकी सहायतासे ही होती है

अर्थात् धर्मसे अभ्युदय और मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है. इस उदार, सर्व सुखोंकी प्राप्ति करा देनेमें समर्थ धर्म को भव्यजीव हृदयसे धारण करता है.

धम्मेण होदि पुज्जो विस्ससणिज्जो पिओ जसंसी य ॥
सुहसज्झो य णराणं धम्मो मणणिव्वुदिकरो य ॥ १८५८ ॥
यशस्वी सुभगः पूज्यो विश्वास्यो धर्मतःप्रियः ॥
सुसाध्यः सोऽन्यकार्येभ्यो मनोनिर्वृतिकारकः ॥ १९२९ ॥

विजयोदया—धम्मेण होदि पुज्जो धर्मेण पूज्यो भवति। विश्वसनीयः प्रियो यशस्वी च भवति, सुखेनैव साध्यो- नराणां धर्मः ॥ उक्तं च ॥ दृष्टे श्रुते च विदिते स्मृते च धर्मे फलागमो भवतीति मनसो निर्वृत्तिं च करोति ॥

मूलारा—जसंसी कीर्तिमान्। सुहसज्झो शुभपरिणाममात्रसाध्यः अथवा सुखेन साधयितुं शक्यः। 'दृष्टे श्रुते च विदिते स्मृते च धर्मे फलागमो भवति' इति वचनात् ॥

अर्थ—इस धर्मके आचरणसे मनुष्य पूज्य, विश्वसनीय, प्रिय और यशस्वी होता है. यह धर्म सुखसे भव्य जीव धारण कर सकते हैं. धर्म धारण करनेसे मनुष्योंका मन संतुष्ट होता है. धर्मका फल देखनेसे, सुननेसे, जान लेनेसे और स्मरण करनेसे मन प्रसन्न होता है. ऐसा शास्त्रोंमें कहा है.

जावदियाइं कल्लाणाइं सग्गे य मणुअलोगे य ॥
आवहदि ताण सव्वाणि मोक्खं सोक्खं च वरधम्मो ॥ १८५९ ॥
धर्मः सर्वाणि सौख्यानि प्रदाय भुवनेऽङ्गिनम् ॥
निधत्ते शाश्वते स्थाने निर्बाधसुखसंकुले ॥ १९३० ॥

विजयोदया—जावदियाइं कल्लाणाइं यावंति कल्याणानि स्वर्गे मनुष्यलोके च तानि सर्वाण्याकर्षति धर्मो मोक्षं सुखं च ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—स्वर्गलोकमें और मनुष्यलोकमें जितने सुख प्राप्त होते हैं वे सब धर्मसे ही प्राप्त होते हैं. मोक्ष सुखकी प्राप्ति भी धर्मसे ही होती है.

ते धण्णा जिणधम्मं जिणदिट्ठं सव्वदुक्खणासयरं ॥
पडिवण्णा दिढधिदिया विसुद्धमणसा णिरावेक्खा ॥ १८९० ॥

ते धन्या ये नरा धर्मं जैनं सर्वसुखाकरम् ॥
निरस्तनिखिलग्रंथाः प्रपन्नाः शुद्धमानसाः ॥ १९३१ ॥

विजयोदया—ते धण्णा पुण्यवंतः । जिनदृष्टं धर्मं सर्वदुःखनाशकरं प्रतिपन्नाः शुद्धेन मनसा दृढधृतिका, निर्व्याकुलाः ॥

मूलारा—दढधिदिया अविचलधृतयः ।

अर्थ—जिन्होंने निर्मल मनसे निःस्पृह होकर धैर्य धारण कर सर्व दुःखोंका अन्त करनेवाला जिनेश्वर प्रतिपादित जिनधर्म धारण किया है वे पुरुष धन्य हैं.

विसयाडवीए उम्मग्गविहरिदा सुचिरमिंदियस्सेहिं ॥
जिणदिट्ठणिव्वुदिपहं धण्णा ओदरिय गच्छंति ॥ १८९१ ॥

ये च वीयेंद्रियाश्वेभ्यो नीता विषयकानने ॥
धर्ममार्गं प्रपद्यन्ते ते धन्या नरपुंगवाः ॥ १९३२ ॥

विजयोदया—विसयाडवीए विषयाटव्यां उन्मार्गविहारिण. सुचिरमिंद्रियाश्वैर्बलान्नीताः संतः ते जिनदृष्ट निर्वृतिमार्गं गच्छंति धन्या इंद्रियाश्वेभ्योऽवरुह्य ॥

मूलारा—उम्मग्गविहरिदा इंद्रियाश्वैर्मिथ्यात्वादित्रयं विशेषेण नीताः । ओदरिय इंद्रियाश्वेभ्योऽवरुह्य ॥

अर्थ—इंद्रियरूपी घोडे इस जीवको उन्मार्ग में दौडकर विषय रूपी जगलमें ले जाते है. ऐसी परिस्थितीमें जो इंद्रियरूपी अश्वोंसे नीचे उतरकर जिनेश्वरने देखे हुए मोक्षमार्गपर जाते हैं वे पुरुष जगमें धन्य समझने चाहिये.

रागेण य दोसेण य जगे रमंतम्मि वीदरागम्मि ॥
धम्मम्मि णिरासादम्मि रदी अदिदुल्लहा होइ ॥ १८६२ ॥

अहो द्वेषेण रागेण लोके क्रीडति सर्वदा ॥
वीतरागे निरास्वादे बोधिर्धर्मेऽतिदुर्लभा ॥ १९३३ ॥

विजयोदया—रागेण य दोसेण य जगे रमंतम्मि रागद्वेषाभ्यां सह जगति क्रीडति। वीतरागे धर्मे निरास्वादे रतिरतीव दुर्लभा भवति॥ उक्तं च ॥ कुलं च रूपं च यशश्च कीर्तिर्धनं च विद्या च सुखं च लक्ष्मीः। आरोग्यमाज्ञेप्सितसंप्रयोगो ह्यन्यैर्वियोगोऽपि च दीर्घमायुः ॥ १ ॥ स्वर्गश्च मोक्षश्च मयोपदिष्टा भावा इमेऽन्ये च जगत्प्रशस्ताः। धर्मेण शक्या जगतीह लब्धुं, हिताय तं कर्तुमतोऽर्हसि त्वं ॥

जिनधर्मरतेरतिदुर्लभतां भावयति—

मूलारा—रागेणेत्यादि बहिरात्मप्राणिगणो रागद्वेषाभ्यां सह क्रीडति॥ एतेन संसर्गजा दोषगुणा भवंति इत्याश्रित्य कथमीदृशि लोके प्रवर्तमानानां रागाद्यप्रादुर्भावलक्षणाहिंसात्मनि निरास्वादे वा भावितपूर्वत्वादकल्ये धर्मे रतिं कर्तुं शक्यते इति मन्यते ॥

अर्थ—राग और द्वेषके साथ यह जगत् रममाण हो रहा है इस लिये निरास्वाद वीतराग धर्ममें प्रेम होना अतीव कठिन है. शास्त्रमें इस विषयमें ऐसा कहा है—कुल, रूप, यश, कीर्ति, धन विद्या, सुख, और संपत्ति, आरोग्य, आज्ञा, इच्छित पदार्थों की प्राप्ति, अनिष्ट पदार्थोंसे वियोग, दीर्घ आयुष्य, स्वर्ग मोक्ष इनका मैंने वर्णन किया है. अतः हे भव्य जीव ! तूं स्वहित के लिये धर्माचरण कर.

सहलं माणुसजम्मं तस्स हवदि जस्स चरणमणवज्जं ॥
संसारदुक्खकारणकम्मागमदारसंरोधं ॥ १८६३ ॥

तदीयं सफलं जन्म तदीयं वृत्तमुज्ज्वलम् ॥
जन्ममृत्युजराकारिकर्मास्रवनिरोधकम् ॥ १९३४ ॥

विजयोदया—सहलं माणुसजम्मं तस्य मनुष्यस्य जन्म सफलं भवति यस्य चरणमनवद्यं। कीदृशं संसारदुःखसंपादनोद्यतकर्मागमद्वारनिरोधकारी। अनेन चारित्रमिह शब्दो धर्मत्वेनोच्यत इत्याख्यातं भवति ॥

इह धर्मश्चारित्रमित्याख्यातुमाह—

मूलारा—अणवज्जं निरतिचारम् ।

अर्थ—जिसका चारित्र निर्दोष है, संसारदुःखाको करनेवाले कर्मका आनेका द्वाररूप जो अविरत्यादि परिणाम जिससे मंद पडता है ऐसा निर्दोष चारित्र जिसने धारण किया है उसी मनुष्यका जन्म सफल माना जाता है. उपर्युक्त चारित्रकोही यहां धर्म समझना चाहिये.

जह जह णिव्वेदसमं वेरग्गदयादमा पवड्ढंति ॥
तह तह अब्भासयरं णिव्वाणं होइ पुरिसस्स ॥ १८६४ ॥

यथा यथा विवर्द्धते निर्वेदप्रशमादयः ॥
प्रयात्यासन्नतां पुंसः सिद्धिलक्ष्मीस्तथा तथा ॥ १९३५ ॥

विजयोदया—यथा यथा निर्वेद उपशमो दया चिन्तानिग्रहश्च प्रवर्तते तथा तथा समीपतरं भवति निर्वाणं पुरुषस्य ॥

मद्धर्मैकसाध्यनिर्वाणाभ्यर्णतरत्वलिंगमाह—

मूला॥—अब्भासयरं समीपतरम् ॥

अर्थ— जैसे २ वैराग्य, रागद्वेषोंका प्रशम, दया, जितेंद्रियता ये गुण बढेंगे तैसे २ पुरुषके पास मोक्ष आता है

धर्म स्तौति—

सम्मद्दंसणतुंबं दुवालसंगारयं जिणिंदाणं ॥
वयणेमियं जगे जयइ धम्मचक्कं तवोधारं ॥ १८६५ ॥

द्वादशात्मकतपोरयंचितं तत्त्वबोधरुचिवृत्तनेमिकम् ॥
धर्मचक्रमनवद्यमार्हतं विष्टपे विजयतामनश्वरम् ॥ १९३६ ॥

॥ इति धर्मानुप्रेक्षा ॥

विजयोदया—सम्मइंसणतुंबं द्वादशांगारकं व्रतनेमिकं तपोधारं जिनेंद्राणां धर्मचक्रं जगति जयति ॥ धर्मं ॥

धर्मं स्तोतुमाह—

मूलारा—तुंबं नाभिः । दुवालसगारयं मुन्याचारादीन्याचाराणि यस्य । वदनेमियं व्रतमेव नेमिर्धारा यस्य । तवोधारं तप एव धारा द्वितीया नेमिर्यस्य । धर्मानुप्रेक्षा ॥

धर्मकी स्तुति करते हैं.

अर्थ—धर्मरूप चक्रमें सम्यग्दर्शन रूप तुंबा है, इस धर्मचक्रको द्वादशांगज्ञान रूप आरे हैं, पांच महाव्रत नेमिके स्थानमें हैं. और तप धारा है. ऐसा जिनेंद्रोंका यह धर्मचक्र जगतमें जयवान रहे.

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कथ्यते—

दंसणसुदतवचरणमइयम्मि धम्मम्मि दुल्लहा बोही ॥
जीवस्स कम्मसत्तस्स संसरंतस्स संसारे ॥१८६६॥

धर्मे भवति सम्यक्त्वज्ञानवृत्ततपोमये ॥
दुर्लभा भ्रमतो बोधिः संसारे कर्मतोऽङ्गिनः ॥ १९३७ ॥

विजयोदया—दंसणसुदतवचरणमइयम्मि दर्शनश्रुततपश्चरणमये धर्मे दुर्लभा बोधिर्जीवस्य कर्मसक्तस्य संसारे संसरतः ॥

धर्म्यालंबनत्वेन बोधिं गाथाष्टकेन भावयति—

मूलारा—बोधी दीक्षाभिमुखा बुद्धिः प्राप्तिर्वा बोधिशब्देनेहोच्यते । रत्नत्रयप्राप्तिः खलु बोधिः प्रसिद्धा । कम्मसत्तस्स कर्मसक्तस्य कर्मणि वा कायादिव्यापारे सक्तस्य प्रयतस्य ॥

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षाका वर्णन—

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, तप और चारित्र एतत्स्वरूप धर्ममें बोधिकी प्राप्ति होना दुर्लभ है. यह जीव कर्मसे लिप्त है और संसारमें भ्रमण कर रहा है इसको बोधिप्राप्त होना कठिन है.

तस्या दुर्लभतां प्रकटयत्युत्तरप्रबंधेन—

संसारम्मि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तं ॥
जुगसमिलासं जोगो जह लवणजले समुद्दम्मि ॥ १८६७ ॥

संसारे देहिनोऽनंते मानुष्यमतिदुर्लभं ॥
समिलायुगसांगत्यं पयोधाविव दुर्गमे ॥ १९३८ ॥

विजयोदया—संसारम्मि अणंते अनंतसंसारे । जीवानां मनुष्यत्वं दुर्लभं, पूर्वापरसमुद्रनिक्षिप्तयुगतत्संबंधिकाष्ठसंयोग इव ॥

कथं दुर्लभता बोधेरित्याह—

मूलारा—लवणजले एतेन समुद्रांतरेभ्यः प्रस्वारसलिलेभ्यः सकाशाल्लवणोदसमुद्रस्य वेलाकुलेन वैशिष्ट्यं लक्षयति । अत एव पूर्वादिदिग्विभागप्रक्षिप्तयूपसमिलयोरतिदुर्घटः संयोगः स्यात् ॥

बोधिकी दुर्लभताका आचार्य सविस्तर वर्णन करते हैं—

अर्थ-इस अनंत संसारमें जीवको मनुष्यपनाका लाभ होना कठिन है. जैसे पूर्वसमुद्र और अपरसमुद्रमें क्रमशः जुवा और उनकी लकडियां फेंक देनेपर उनका पुनरपि संयोग होना अत्यंत कठिन है वैसा नष्ट हुआ मनुष्य जन्म पुनःप्राप्त होना अतिशय कठिन है.

मनुजताया दुर्लभत्वे कारणमाह—

असुहपरिणामबहुलत्तणं च लोगस्स अदिमहल्लत्तं ॥
जोणिबहुत्तं च कुणदि सुदुल्लहं माणुसं जोणी ॥ १८६८ ॥

प्राचुर्यं गर्ह्यभावानां महत्त्वं जगतोऽङ्गिनाम् ॥
विधत्ते योनिबाहुल्यं मानुष्यं जन्मदुर्लभ ॥ १९३९ ॥

विजयोदया—असुहपरिणामबहुलत्तण च अशुभपरिणामानां मिथ्यात्वासंयमकषायप्रमादानां परिणामानां बहुत्वं मनुजयोनिदुर्लभतां करोति । मनुजरहितलोकस्यातिमहत्वं च तत् दुर्लभतां करोति । असंख्येया हि द्वीपसमुद्रनारकावासाः, स्वर्गपटलानि, इतरथ लोकाकाशमतिमहत् । योनीनां बहुत्वं चेतरासा निबंधनं तद्दुर्लभतायाः ॥

मानुषत्वसुदुर्लभत्वयोः कारणत्रयमाह—

मूलारा—असुभपरिणामबहुलत्तणं प्रचुरा मिथ्यात्वादयः कुयोनिजन्मनिमित्तकर्महेतवः परिणामा इत्यर्थः ॥ लोगस्स अदिमहल्लत्तं। मनुजरहितस्य लोकाकाशस्य विपुलत्वं। जंबूद्वीपाद्यर्धतृतीयद्वीपेष्वेव हि मनुजाः संभवन्ति। जोणिबहुत्तं मनुष्ययोनिभ्यश्चतुर्दशलक्षसंख्याभ्योऽन्या योनयो बह्व्यः सप्ततिलक्षसंख्यात्वात् ॥

मनुष्यपना दुर्लभ क्यों है इसका उत्तर—

अर्थ–मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, प्रमाद इनसे युक्त परिणाम–अशुभ परिणामोंसे ही यह जगत् भरा हुआ है. इसमें मनुष्यजन्म प्राप्त होना कठिन है. मनुष्योंसे रहित लोकक्षेत्र बहुत ही विस्तीर्ण है और मनुष्य युक्त लोकक्षेत्र अत्यल्प है इससे हि मनुष्यपना दुर्लभ है यह बात सिद्ध होती है. असंख्यात द्वीपसमुद्र मनुष्यविरहितही हैं. नरकभूमि, स्वर्गभूमि और इतर लोकाकाश ये सब मनुष्यविरहित हैं. इतर योनिओंकी बहुलता होनेसे मनुष्ययोनीकी दुर्लभता सिद्ध होती है.

अपरामपि दुर्लभतापरंपरां दर्शयत्युत्तरगाथा—

देसकुलरूवमारोग्गमाउगं बुद्धिसवणगहणाणि ॥
लद्धे वि माणुसत्ते ण हुंति सुलभाणि जीवस्स ॥ १८६९ ॥
देशो जातिः कुलं रूपमायुर्नीरोगता मतिः ॥
श्रवणं ग्रहणं श्रद्धा नृत्वे सत्यपि दुर्लभम् ॥ १९४० ॥

विजयोदया—देसकुलरूवमारोग्गं देशकुलरूपमारोग्यं। आयुगमायुष्कं। बुद्धिसवणगहणाणि बुद्धिश्रवणग्रहणानि। लब्धेपि मनुष्यत्वे मनुष्यगतिनामकर्मोदयात्, जिनप्रणीतधर्मप्रगल्भमानवबहुलो देशो दुर्लभः। अंतर्द्वीपानां शकयवन किरातबर्बरपारसीकसिंहलादिदेशानां धर्मज्ञमानवरहितानामतिबहुलत्वात् ॥ लब्धेपि देशे सुजनावासे ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यादिकं कुलं दुरधिगमनीयं सत्कुलानामल्पत्वात्। असकृन्नीचैर्गोत्रबंधनात्। मिथ्यात्वोदयात् प्रायेण प्राणिनो गुणान् गुणिजनं च निंदत्याक्रोशति, निर्गुणोऽपि कुलाभिमानमतिमहांतमुद्वहति, तेन नीचैर्गोत्रमुपचिनोति, गुणे गुणिजने चानुरागः कुलाभिमानतिरस्करणं वा कदाचिदेव भवति इति शोभनं कुलं कदाचिदेव लभ्यते, चारित्रमोहोदयात् षड्जीवनिकायबाधाकरणे सततमुद्यतः तदीयरूपशोभोन्मूलनसंपादनेनोपार्जितेनाशुभरूपनामकर्मणा विरूपो बहुशो भवति। जीव-

त्यां कदाचिदेव करोति । प्रशस्तरूपनामकर्मलभ्यसौरूप्यमपि क्लेशेन लभ्यते । परजीवसंतापकरणे कृतोत्साहः सर्वे- र्वेति रोगी भवति बहुशः, परसंतापपरिहारं वैयावृत्यं च कदाचिदेव करोति इति नीरोगतापि कादाचित्का दुर्लभा। परेषां प्रायेणायुर्निहंतीति स्वल्पायुरेवायं जनो जायते । कदाचिदेवाहिंसाव्रतपरिपालनाच्चिरंजीविता सदा न लभ्यते । समीचीन- ज्ञानिजनदूषणात्तन्मात्सर्यात् तद्विघ्नकरणात्तदासादनाच्चक्षुरादींद्रियोपघातकरणाच्च मतिश्रुतज्ञानावरणे वराको बध्ना तीति दुर्मेधा भवति । बहुषु जन्मशतसहस्रेषु मतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात् शुभपरिणामोपनीतात् कदाचिदेव विवेक कारिणी बुद्धिर्भवति, सत्यामपि बुद्धौ हिताहितविचारणक्षमं धर्मश्रवणमतिदुर्लभं, यतीनां विरागद्वेषाणां, समीचीनज्ञान- प्रकाशनोन्मूलितदुर्भेद्यमोहांधतानां, अशेषजीवनिकायदयाक्रियोद्यतानां असौलभ्यात्, तीव्रमिथ्यादर्शनोपनीतगुणिजनद्वे- षेण मिथ्याज्ञानभवलाभदुर्विदग्धतया स्वगृहीततत्त्वपरवशतया आलस्येन वा यतीनां स्वपरोद्धरणप्रवीणतापरिज्ञानाच्च न ढौकते यतिजनमिति धर्मश्रवणस्य दुर्लभता । कदाचिदेव पापोपशमाद्यतिजनानुढौकनेपि नयपुरस्सरे संप्रश्ने प्रशस्तवाग- नुयायिनि गुरुजने नाभिमुखे सति श्रवणं भवतीति दुर्लभता श्रवणस्य, किंच यतिजननिकेतनमुपगतोपि यदृच्छया निद्रा- ति,स्वयं परेषां यत्किंचिदसारं वदति, मुग्धानां वा वचनं शृणोति न विनयेन ढौकत इति वा दुर्लभं श्रवणं । श्रवणं श्रुतेपि धर्मे तत्परिज्ञानमतिदुर्लभं श्रुतज्ञानावरणोदयात् । दुःकरत्वं मनःप्रणिधानस्य कदाचिदप्यश्रुतपूर्वत्वात्, सूक्ष्मत्वाच्च जीवा- दितत्वस्य श्रुतज्ञानाधिकरणे क्षयोपशमे मनःप्रणिधानं वक्तुर्वचनसौष्ठवं चेति । सकलमिदमसुलभमिति धर्मज्ञानं दुर्लभं । ज्ञातेपि धर्मे अस्ति धर्मो जीवपरिणामसम्यक्त्वज्ञानचरणतपोदानपूजात्मकोऽभ्युदयनिश्रेयसफलदायी जिनैर्व्यावर्णितरूप इति श्रद्धानं न सुखेन लभ्यते, दर्शनमोहोदयात् । उपदेशकालकरणलब्धयश्च कदाचित्का इति ॥

मनुष्यत्वलाभेऽपि देशादीनां यथोत्तरं दुर्लभत्वमाह—

मूलारा॰—देसो जिनधर्मप्रगल्भमानजनबहुलो विषयो दुर्लभः । शकयवनादिदेशानां धर्मरहितानामतिबहुल- त्वात् । कुलं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यवंशः । सुकुलानामल्पत्वादसकृन्नीचैर्गोत्रबंधनाच्च । मिथ्यात्वोदयाद्धि प्रायेण निर्गुणोऽपि कुलाभिमानमविभ्रहान्तं उद्वहन्गुणिनश्च निंदति । तेन नीचैर्गोत्रं बध्नाति गुणे गुणिनि चानुरागः कुलाभिमानतिरस्करणं वा । कदाचिदेव भवतीति शोभनं कुलं कदाचिदेव लभ्यते । रूवं सौरूप्यं जीवो हि चारित्रमोहोदयात्षड्जीवबाधाकर- णनिरतोद्योगात्तद्रूपशोभानिमीलनसंपादिताशुभरूपनामकर्मविपाकेन बहुशो विरूपः स्यात् जीवदयां कदाचित्कचित्करोतीति शुभरूपनामकर्मनिर्मेयसौरूप्यमपि क्लेशेन लभते । आरोग्गं परजीवसंतापनसंततोत्साहवदसद्वेद्योदयाद्धि जीवो बहुशो रोगी भवति । परसंतापत्यागं गुणवद्वैयावृत्यं च कदाचिदेव करोतीत्यरोगतापि कादाचित्की । आयुगं चिरजीवित्वं जनो हि परेषां प्रायेणायुःसंहरति इति बहुशःस्वल्पायुरेव जायते । कदाचित्कचिदेवाहिंसाव्रतं चरति इति दीर्घायुष्कतापि न सदातनी । बुद्धि अयं खल्वात्मा समीचीनज्ञानज्ञानिप्रदूषणनिन्हवादिकरणाच्चक्षुरादींद्रियोपघातसंपादनाच्च बद्धयोर्मतिश्रुत

ज्ञानावरणयोरुदयाद्बहुशो मतिश्रुतज्ञानहीनो भवति। शुभपरिणामसंपाद्यं तदावरणक्षयोपशमविशेषं कदाचित्कश्चिदेव प्राप्नोतीति तत्त्वविवेकबुद्धिरप्यनेन वराकेण दुरवापा। श्रवण यतीनां श्रुतज्ञानप्रदीपनिरस्तांतस्तमसां विरागद्वेषाणां, करुणापरतंत्राणां, परहितप्रतिपादनैककार्याणां अतिदुर्लभत्वात्तीव्रमिथ्यात्वकृतगुणिजनद्वेषेण, मिथ्याज्ञानलवलाभदुर्विग्धतया, स्वगृहीततत्त्वपरवशतया, अलसतया, यतीनां स्वपरोद्धरणप्रावीण्यापरिज्ञानाद्वा, भयेन तदुपसर्पणाभावात्, कथंचित्पापोपशमात्तदुपसर्पणेऽपि विनयपुरःसरं संप्रश्नस्य कदाचिदेव संभवाच्च। मनुष्यत्वादिसप्तकप्राप्तावपि जीवस्य सद्धर्मश्रवणं दुष्प्रापं॥ यतिजननिकेतने गतोऽपि यदृच्छया निद्रायति, स्वयं वा परेषां यत्किंचिदसारं वदति, मुग्धानां वा वचनं शृणोति, विनयेन या ढौकते। इति दुर्लभा धर्मश्रुतिः। गहणाणि श्रुतेऽपि धर्मे तत्परिज्ञानं अतिदुर्लभं। श्रुतज्ञानावरणोदयादात्मनः प्रणिधानस्य दुष्करत्वाज्जीवादितत्त्वस्य कदाचिदप्यश्रुतपूर्वत्वात्सूक्ष्मत्वाच्च। ज्ञातेऽपि धर्मेऽस्ति धर्मः सम्यक्त्वाद्यात्मकोऽभ्युदयनिःश्रेयसफलप्रदो जिनोक्त इति श्रद्धानमतिदुर्लभतमं कालादिलब्धीनां सुदुर्घटत्वात्॥

और भी वातोंकी दुर्लभता आगेकी गाथासे दिखाते हैं—

अर्थ—देश, कुल, रूप आरोग्य, आयुष्य, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण, ये वातें मनुष्य जन्म मिलनेपर भी दुर्लभ हैं. मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे मनुष्यपना प्राप्त होता है. तो भी जिनप्रणीत धर्मसे प्रगल्भ मानव जिनमें रहते हैं ऐसे देशमें जन्म होना बहुत दुर्लभ है. अंतर्द्वीपोंमें जन्म होकर भी मनुष्यता मिलती है. शक, यवन, किरात, बर्बर, पारसीक, सिंहलादिक देश धर्मज्ञ मनुष्योंसे रहित है ऐसे ही देश बहुत हैं. जहां सज्जन रहते हैं ऐसा देश प्राप्त होनेपर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादिक कुलोंकी प्राप्ति होना दुर्लभ है. क्योंकि उत्तम कुल दुनियामें अल्प हैं. वारवार नीचगोत्रका बंध होता है. प्रायः मिथ्यात्वका उदय होनेसे मनुष्य गुणोंकी और गुणिजनोंकी निंदा करने लगता है. निर्गुण होनेपर भी अपने कुलका अतिशय अभिमान धारण करता है. ऐसे अभिमानसे यह जीव नीच गोत्रका संचय करता है. गुणमें और गुणिजनमें प्रेम होना, अपने कुलाभिमानका तिरस्कार होना यह वातें अत्यल्प पायी जाती हैं इसलिए उत्तम कुलकी प्राप्ति क्वचित् होती है.

चारित्रमोहनीयके उदयसे यह आत्मा हमेशा षट्काय जीवोंका नाश करनेमें हमेशा उद्युक्त होता है. उन जीवोंकी रूपशोभाको विगाडता है इससे अशुभ नाम कर्मका बंध होता है. इस कर्मका उदय होनेपर यह जीव अनेक वार विरूप होता है.

जीवदया कभी कभी करता है. प्रशस्त रूप नाम कर्मके उदयसे सुंदर रूपकी प्राप्ति बहुत क्लेशसे प्राप्त
होती है. परजीवोंको हमेशा संताप देनेमें ही तत्पर रहनेसे सर्वदा देहमें रोग उत्पन्न होता है. परसंतापको दूर
करना, वैयावृत्त्य करना ये बातें कभी कभी करनेसे नीरोगताकी प्राप्ति होना दुर्लभ होगया है. प्रायः यह आत्मा
दुसरोंकी आयुको नष्ट करता है. इस लिये यह स्वल्पायु हो जाता है. कदाचित् अहिंसा व्रतका पालन करनेसे
यह पुरुष कभी २ चिरंजीवी होता है. इस लिये चिरजीविताभी दुर्लभ है.

समीचीन ज्ञानको दूषण देना, उससे मत्सर करना, ज्ञानमें विघ्न करना, उसका नाश करना, चक्षुरा-
दिक इंद्रियोंका नाश करना, इन कार्योंसे इसको मतिज्ञानावरणका और श्रुतज्ञानावरण कर्मका बंध होता है.
जिसका उदय होनेसे यह जीव अतिमंदबुद्धि हो जाता है. लक्षावधि जन्मोंकी प्राप्ति होनेपर मति श्रुतज्ञानावरण
कर्मका क्षयोपशम होनेके योग्य शुभपरिणाम जब होते हैं तब कदाचित् विवेकको उत्पन्न करनेवाली बुद्धि उत्पन्न
होती हैं.

बुद्धि उत्पन्न होने परभी हिताहितका विचार सुझानेवाला धर्मश्रवण प्राप्त होना अतिशय कठिन है. राग-
द्वेषरहित, समीचीन ज्ञान प्रकाशके द्वारा दुर्भेद्य मोहांधकारको हटानेवाले, संपूर्ण प्राणिमात्रोंपर दया करनेमें
उद्युक्त रहनेवाले मुनिराज दुर्लभ हैं इस लिये धर्मश्रवणका पाना दुर्लभ हो रहा है.

तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे गुणिजनोंमें द्वेषभाव उत्पन्न होता है. मिथ्याज्ञानकी प्राप्ति होनेसे दुराग्रह
बढता है, मैंने जो पदार्थ स्वरूप जान लिया है वही सच्चा है ऐसी धारणा होनेसे, आलस्यसे यतिजन स्वपरोद्धा-
रमें प्रवीण रहते हैं इसका परिज्ञान न होनेसे यह जीव यतिराजोंके पास जाता नहीं है. इससे धर्मश्रवणसे इसको
वंचित रहना पडता है.

कदाचित् पापका उपशम होनेपर यतिजनके पास यह पुरुष जाता भी है. वहां नयोंके अनुसार प्रश्न
होता है, प्रशस्त भाषण बोलने वाले गुरुजन धर्मोपदेश देनेपर इसको धर्मश्रवणका लाभ होता है. इससे धर्मश्र-
वण दुर्लभ है यह सिद्ध हुआ. यह जीव यतिके स्थानपर जाकर भी यथेच्छ सो जाता है. अथवा स्वतः दुसरोंके
साथ निःसार भाषण करने लगता है. मूर्खोंके भाषण सुनता है. विनयका आश्रय नहीं करता है. इस लिये भी
आचार्यजीने धर्मश्रवणकी दुर्लभता दिखाई है.

धर्म सुननेपर भी उसका ज्ञान होना दुर्लभ है. क्योंकि श्रुतज्ञानावरण कर्मके उदयसे उपदेशका अभिप्राय जाननेकी पात्रता नहीं रहती है. कभी गुरूका उपदेश पूर्वमें नहीं सुना था, इसलिये मन एकाग्र नहीं होता है. जीवादिक तत्व सूक्ष्म हैं इसलिये भी मन एकाग्र नहीं होता है. श्रुतज्ञानका आधारभूत क्षयोपशम प्राप्त होनेपर मन एकाग्र हो सकता है. वक्ताके वचनोंमें सुंदरता होनेसे भी मनमें एकाग्रता उत्पन्न होती है. संपूर्ण देश, कुल, आरोग्य दीर्घायु इत्यादिक उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं ऐसा ज्ञान होना कठिन है.

धर्मका स्वरूप जानने पर भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, दान, पूजा एतत्स्वरूपी आत्मपरिणाम ही धर्म हैं यही धर्म अभ्युदय व मोक्षसुखको देता है ऐसी श्रद्धा होना कठिन है. दर्शनमोहनीय का उदय होनेसे श्रद्धान नहीं होता है. उपदेश, काल, करणलब्धि ये बातें कभी कभी जीवोंको प्राप्त होती हैं सर्वदा नहीं है.

लद्धेसु वि तेसु पुणो बोधी जिणसासणम्मि ण हु सुलहा ॥
कुपधाकुलो य लोगो जं बलिया रागदोसा य ॥ १८७० ॥
देशादिष्वपि लब्धेषु दुर्लभा बोधिरंजसा ॥
कुपथाकुलिते लोके रागद्वेषवशीकृते ॥ १९४१ ॥

विजयोदया—लद्धेसु वि तेसु पुणो लब्धेष्वपि तेषु मनुजभवादिषु बोधिर्दीक्षाभिमुखा बुद्धिर्न सुलभा प्रबलत्वात्संयमघातिकर्मणः । कुमार्गाकुलत्वात् लोकस्य बहूनामाचरणमेव प्रमाणयन् यत्किंचनाचरति, बलवंतश्च रागद्वेषाः ज्ञानश्रद्धानोपेतमपि न सन्मार्गे ढौकितुं ददति ॥

मूलारा—कुपधाकुलो लोको हि बहूनामेवाचरणं प्रमाणयन् यत्किंचनाचरति । दृष्टानुसारी च प्रायेण जनः स्वकार्ये मुह्यति । बलिया तत्त्वज्ञानश्रद्धानतोतिसदाचरणानुचरणप्रतिबंधकत्वात् ॥

अर्थ—मनुजभव वगैरहकी प्राप्ति होनेपर भी जिनधर्ममें दीक्षा धारण करनेकी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है. संयम धारण करनेकी बुद्धि प्राप्त होना बहुत कठिन है क्योंकि संयमघात करनेवाला कर्म प्रबल रहता है. लोक प्रायः बहुत लोगोंका आचरण देखकर वैसा स्वयं भी आचरण करते हैं. अन्य जनोंका आचरण योग्य है

या नहीं इसका विचार ही नहीं करते हैं. लोग कुमार्गपर चलते हैं उस कुमार्गसे वे आकुल हो रहे हैं. उनको देखकर यह अज्ञ भी वैसा ही कुछ भी आचरण करता है. जीवमें रागद्वेष प्रबल हैं वे सन्मार्ग पर इसको चलने नहीं देते हैं. ज्ञान और श्रद्धानसे युक्त होनेपर भी यह जीव सन्मार्ग से पराङ्मुख होता है.

इय दुल्लहा पवोहीए जो पमाइज्ज कह वि लद्धाए ॥
सो उल्लट्टइ दुक्खेण रदणगिरिसिहरमारुहिय ॥ १८७१ ॥

इत्थं यो दुर्लभां बोधिं लब्ध्वा तत्र प्रमाद्यति ॥
रत्नपर्वतमारुह्य ततः पतति नष्टधीः ॥ १९४२ ॥

विजयोदया—इय दुल्लहा पवोहीए उक्तेन क्रमेण दुर्लभायां दीक्षाभिमुखायां बुद्धौ लब्धायामपि यः प्रमाद्यत्य-सौ रत्नगिरिशिखरमारुह्य ततः पतति प्रमादी ॥

एवं दुर्लभां बोधिं लब्ध्वापि प्रमाद्यंतमनुशोचति—

मूलारा—उल्लट्टदि पतति । रयणगिरिसिहरं मेरुशृंगम् ॥

अर्थ– ऊपर कहे मुजब दीक्षाभिमुख बुद्धि दुर्लभ है. उसकी प्राप्ति होनेपर भी यदि कोई जीव प्रमादी बनेगा तो रत्नपर्वतके शिखरपर चढकर फिर उससे वह गिरता है ऐसा समझना चाहिये.

फिडिदा संती बोधी ण य सुलहा होइ संसरंतस्स ॥
पडिदं समुद्दमज्झे रदणं व तमंधयारम्मि ॥ १८७२ ॥

नष्टा प्रमादतो बोधिः संसारे दुर्लभा भवेत् ॥
नष्टं तमसि सद्रत्नं पयोधौ लभ्यते कथम् ॥ १९४३ ॥

विजयोदया—फिडिदा संती बोधिर्विनष्टा सती दीक्षाभिमुखा बुद्धिः पुनर्न सुलभा भवति संसरतः । अंधकारे समुद्रमध्ये पतितं रत्नमिव ।

उक्तार्थसमर्थनार्थमाह—

मूलारा—फिडिदा विनष्टा ॥

अर्थ—यह दीक्षाकी बुद्धि नष्ट होनेपर फिर मिलती नहीं है अंधकारमें समुद्रमें रत्न फेक देनेपर जैसे पुनः रत्न नहीं मिलता है. वैसे दीक्षासे बुद्धि हट जानेपर पुनः दीक्षा धारण करना दुर्लभ है.

ते धण्णा जे जिणवर दिट्ठे धम्मम्मि होंति संबुद्धा ॥
जे य पवण्णा धम्मं भावेण उवट्ठिदमदीया ॥ १८७३ ॥

विपुलसुफलानां कल्पने कल्पवल्ली भवसरणतरूणां कल्पने या कुठारी ॥
भवति मनसि शुद्धा सा स्थिरा शुद्धबोधिः फलममलमलंभि प्राणितव्यस्य तेन ॥१९४४॥
इति बोधिः ।

विजयोदया—स्पष्टोत्तरा गाथा ॥ बोधित्ति ॥

जिनोक्तधर्मे संबुद्धान्भावेन परिणतांश्च परिणौति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥ बोध्यनुप्रेक्षा ॥

अर्थ—जो पुरुष जिनेश्वरने कहे हुए धर्ममें प्रबुद्ध होते हैं वे धन्य हैं, तथा जिन्होंने प्रबुद्ध होकर जैन धर्मका आचरण किया है-करते हैं अर्थात् हृदयसे जिन्होंने जैन धर्मको अपनाया है ऐसे महात्मा इस संसारमें धन्यताके पात्र हैं. अनुप्रेक्षाओंका वर्णन समाप्त हुआ.

प्रस्तुतमर्थमुपसंहरति—

इय आलंबणमणुपेहाओ धम्मस्स होंति ज्झाणस्स ॥
ज्झायंतो ण वि णस्सदि ज्झाणे आलंबणेहिं मुणी ॥ १८७४ ॥

द्वादशापीत्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानावलंबनम् ॥
नालंबनं विना चित्तं स्थिरतां प्रतिपद्यते ॥ १९४५ ॥

विजयोदया—इय आलंबणं एवमालंबनं भवत्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानस्य ध्याने प्रवृत्तो न विप्रणश्यति ध्याननिमित्तालंबनेभ्यो यतिः। यो हि यद्वस्तुस्वरूपे प्रणिहितचित्तः सततं वस्तुयाथात्म्यात्प्रच्यवते तस्य विस्मरणात् ॥

एवं द्वादशाप्यनुप्रेक्षा निरूप्य प्रस्तुतेन योजयति ॥

मूलारा—ज्झाणे आलंबणेहिं ध्याननिमित्तालंबनान्याश्रित्य ध्यायन्न विनश्यति । ध्यानान्न प्रच्यवते इत्यर्थः ।

इसी विषयका उपसंहार—

अर्थ...धर्मध्यानमें जो प्रवृत्ति करता है उसको ये द्वादशानुप्रेक्षा आधाररूप है, अनुप्रेक्षाके बलपर ध्याता धर्मध्यानमें स्थिर रहता है. जो जिस वस्तुस्वरूपमें एकाग्रचित्त होता है वह विस्मरण होनेपर उससे चिगता है परंतु वार वार उसको एकाग्रताके लिए आलंबन मिल जावेगा तो वह नहीं चिगेगा.

ध्यातुरालंबनबाहुल्यं दर्शयत्युत्तरागाथा—

आलंबणं च वायण पुच्छणपरिवट्टणाणुपेहाओ ॥
धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥ १८७५ ॥
आलंबणेहिं भरिदो लोगो झाइदुमणस्स खवयस्स ॥
जं जं मणसा पेच्छदि तं तं आलंबणं हवइ ॥ १८७६ ॥
आलंबनैर्भृतो लोको ध्यातुकामस्य योगिनः ॥
यदेवालोकते सम्यक् तदेवालंबनं मतम् ॥ १९४६ ॥

विजयोदया—धम्मस्स आलंबणेहिं भरिदो ध्यानस्यालंबनैः पूर्णो लोको ध्यातुकामस्य क्षपकस्य यद्यन्मनसा पश्यति तत्तदालंबनं भवति ॥

दिध्यासोरालंबनबाहुल्यमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

ध्याताको ध्यानके लिए अनेक आलंबनोंकी आवश्यकता है इस विषयका विवेचन—

अर्थ—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा ये सब धर्मध्यानके आलंबन हैं. इनके आश्रयसे धर्मध्यान उन्नत दशाकी प्राप्ति कर लेता है. इस लिए पूर्वोक्त द्वादशानुप्रेक्षायें भी धर्मध्यानके अनुकूल ही हैं धर्मध्यान करनेकी इच्छा करनेवाले यतिराजको यह संपूर्ण लोक भी आलंबन है क्षपक जो जो चीज देखेगा वह २ ध्यानकी आलंबनभूत होगी.

धर्मध्यानं व्याख्याय ध्यानांतरं व्याख्यातुमुत्तरप्रबंध —

इच्चेवमदिक्कंतो धम्मज्झाणं जदा हवइ खवओ ॥
सुक्कज्झाणं झायदि तत्तो सुविसुद्धलेस्साओ ॥ १८७७ ॥
धर्मध्यानमतिक्रांतो यदा भवति शुद्धधी ॥
शुद्धलेश्यस्तदा ध्यानं शुक्लं ध्यायति सिद्धये ॥ १९४७ ॥

विजयोदया—इच्चेवमदिक्कंतो धर्मध्यानमेव व्यावर्णितरूपमतिक्रांतो यदा भवेत् क्षपक शुक्लध्यानमसौ ध्याति सुविशुद्धलेश्यासमन्वित ॥ परिणामश्रेण्या हि उत्तरोत्तरानुगुणतया स्थित । क्रमेणैव प्रवर्तते न हि प्रथमे सोपाने स्थापितचरण द्वितीयादिकं सोपानमारोढुं प्रभवति ॥ एवमप्रमत्तो धर्मध्याने प्रवृत्त एव शुक्लध्यानमर्हतीति सूत्रेणानेन ज्ञापित ॥

एवं धर्मध्यानं व्याख्याय शुक्ल प्रबंधेन व्याचिख्यासुरप्रमत्तो धर्म्ये शुक्लमर्हतीति ज्ञापयति —

मूलारा—सुविसुद्धलेस्साओ परिणामश्रेण्या ह्युत्तरोऽनुगुणतया स्थितोपक्रमेणैव प्रवर्तमानो न हि प्रथमे सोपाने स्थापितपादो द्वितीयादिकं सोपानमारोढुं क्षमते—

धर्मध्यानके अनंतर शुक्ल ध्यानका सविस्तर आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—जिसका स्वरूप पूर्वमें वर्णित हुआ है ऐसे धर्मध्यान के अनंतर क्षपक शुक्लध्यानका चिंतन करता है तब विशुद्ध लेश्यायुक्त होता है अर्थात् उस ध्याताके परिणामोंमें क्रमसे अधिकाधिक निर्मलता आती है. जैसे जिसने प्रथम सोपान पर पैर रखा है वह दुसरे सोपानपर आरूढ नहीं हो सकता है अर्थात् प्रथम सोपानपर आरूढ होकर ही द्वितीय सोपानपर सिडीपर अनंतर पैर रख सकता है वैसे यहां भी धर्मध्यान के

अनंतर अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती क्षपक शुक्लध्यानमें प्रवेश करता है. बिना धर्मध्यानके शुक्लध्यानका चिंतन ध्याता नहीं कर सकता है.

चतुर्विधशुक्लध्यानं नामतो दर्शयति गाथाद्वयम् ॥

झाणं पुधत्तसवितक्कसवीचारं हवे पढमसुक्कं ॥
सवितक्केक्कत्तावीचारं झाणं बिदियसुक्कं ॥ १८७८ ॥

विजयोदया—झाणं पुधत्तसवितक्कसवीचारं ध्यानं पृथक्त्वसवितर्कसवीचारं प्रथमशुक्लं भवति । सवितर्कैकत्वावीचारं सवितर्कैकत्वावीचारं द्वितीयं शुक्लध्यानं ॥

शुक्लध्यानस्य चतुरो भेदान्नामतो दर्शयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—पुधत्तसवितक्कसविचारं पृथक्त्वस्य वितर्कं सविचारं यत्र तत्पृथक्त्वसवितर्कसविचारं । पृथक्त्ववितर्कवीचारमिति प्रथमशुक्लस्यान्वर्थं नामेत्यर्थः । उक्तं चार्षे—

पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र तद्विदुः ॥ सवितर्कसवीचारं पृथक्त्वादिपदाह्वये ॥

सवितक्केकत्तवीचारं सवितर्कमेकत्वमवीचारं यत्र तत्सवितर्कैकत्वावीचारं एकत्ववितर्कावीचारमिति द्वितीयशुक्लस्यान्वर्थं नामेत्यर्थः ।

उक्तं चार्षे—एकत्वेन वितर्कस्य स्यादत्र विचरिष्णुता ॥ सवितर्कमवीचारमेकत्वादिपदाभिधम् ॥

सुहुमकिरियं खु तदियं सुक्कज्झाणं जिणेहिं पण्णत्तं ॥
बेंति चउत्थं सुक्कं जिणा समुच्छिण्णकिरियं तु ॥ १८७९ ॥

गद्यं-पृथक्त्ववितर्कवीचारैकत्ववितर्कावीचारसूक्ष्मक्रियासमुच्छिन्नक्रिया-
णि त्र्येकयोगकाययोगायोगध्येयानि चत्वारि शुक्लानि यथार्थानि ॥१९४८॥

विजयोदया—सुहुमकिरियं तु तदियं तृतीयं शुक्लध्यानं जिनैः प्रज्ञप्तं सूक्ष्मक्रियमिति, बेंति चउत्थं सुक्कं ब्रुवते चतुर्थं शुक्लं जिनाः समुच्छिन्नक्रि[ं] ॥

एवं द्विभेदं शुक्लं निरूप्य द्विविधं परमशुक्लं निरूपयति—

मूलारा—सूक्ष्मकिरियं सूक्ष्मा किया कायव्यापारो यत्र तत्सूक्ष्मक्रियमन्वर्थनाम्ना तृतीयशुक्लं श्रुते प्रसिद्धं । समुच्छिन्नक्रियनिलम्बं चतुर्थं शुक्लमाख्यायते ॥

चार शुक्लध्यानोंके नाम दो गाथाओंसे कहते हैं—

अर्थ—पृथक् सवितर्क सवीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान, सवितर्कैकत्ववीचार नामक दूसरा शुक्लध्यान, सूक्ष्मक्रिया नामक तीसरा शुक्लध्यान, समुच्छिन्न क्रिया नामक चौथा शुक्लध्यान ऐसे जिनेश्वरने शुक्लध्यानके चार भेद कहे हैं.

पृथक्त्वसवितर्कसवीचारं व्याचष्टे गाथात्रयेण—

दव्वाइं अणेयाइं तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्झायंति ॥
उवसंतमोहणिज्जा तेण पुधत्तंत्ति तं भणिया ॥ १८८० ॥

वितर्कों भण्यते तत्र श्रुतध्यानविचक्षणैः ॥
अर्थव्यंजनयोगानां वीचारः संक्रमो बुधैः ॥ १९४२ ॥
तत्र द्रव्याणि सर्वाणि ध्यायता पूर्ववादिना ॥
भेदेन प्रथमं शुक्लं शांतमोहेन लभ्यते ॥ १९५० ॥

विजयोदया—दव्वाइं अणेयाइं तीहिं पि जोगेहिं जेण ज्झायंति द्रव्याण्यनेकानि त्रिभिर्योगैः परावर्तमाना येन नितरामुपशांतमोहनीयास्तेन पृथक्त्वमिति प्रथमध्यानमुक्तं, एतदर्थं कथयति—अन्यदन्यद्द्रव्यमवलंब्य प्रवृत्तेनान्येनान्येन योगेन प्रवृत्तस्यात्मनो भवतीति पृथक्त्वव्यपदेशो ध्यानस्येति ॥

प्रथमशुक्लनाम गाथात्रयेण निर्दिदिक्षुः प्रथमं तत्पृथक्त्वं व्यवस्थापयति—

मूलारा—अणेगाइं द्विद्यादीनि । तीहिं वि जोगेहिं त्रिभिरपि योगैर्मनोवाक्कायव्यापारैः परावर्तमानाः । उवसंत मोहणिज्जा उपशांतमोहनीयकर्मणः । त्रियोगैरुपशांतमोहैः प्रथमं शुक्लं साध्यते इत्यर्थः । पुधत्तंत्ति अन्यदन्यद्द्रव्यमवलंब्य प्रवृत्तेनान्येनान्येनयोगेन प्रवृत्तस्यात्मनो भवति इति पृथक्त्वमित्युक्तमित्यर्थः ॥

पहिले शुक्लध्यानका तीन गाथाओंसे आचार्य निरूपण करते हैं— १६८२

अर्थ—इस पृथक्त्व सवितर्क सविचारध्यानमें अनेक द्रव्य विषय होते हैं और इन विषयोंका विचार

चिन्तन करते समय मनोयोग वचन योग और काययोग इन योगोंका परिवर्तन होता हैं. अर्थात् उपशांत मोहनीय मुनि कभी मनोयोगके आश्रयसे, कभी वचनयोगसे और कभी काययोगसे भिन्न भिन्न द्रव्योंका विचार करता है. ध्यानमें विषयभिन्नता, योगभिन्नता और वचनभिन्नता रहती हैं. इस वास्ते इस ध्यानको पृथक्त्व सवितर्क सविचार ऐसा आचार्य कहते हैं.

जम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य ॥
झायदि झाणं एदं सवितक्कं तेण तं झाणं ॥ १८८१ ॥

विजयोदया—जम्हा सुदं वितक्कं यस्मात् श्रुतं वितर्कं यस्मात् पूर्वगतार्थकुशलो ध्यानमेतत्प्रवर्तयति। तेन तत् ध्यानं सवितर्कं। चतुर्दशपूर्वाणां श्रुतत्वात्तदुपदिष्टोर्थः॥ साहचर्यात् वितर्कशब्देनोच्यते। तेन वितर्केणार्थश्रुतेन ध्येयेन सह वर्तत इति श्रुतज्ञानमेवावलंब्य सवितर्कमित्युच्यते अथवा वितर्कशब्दः श्रुतं तद्धेतुत्वात्। श्रुतज्ञानं ध्यानसंज्ञितं सह कारणेन श्रुतेन वर्तत इति सवितर्कः॥

सवितर्कमिति समर्थयते—

मूलारा—पुव्वगदअत्थकुसलो सकलसूत्रार्थे पटुः। सवितक्कं वितर्कोऽत्र श्रुतत्वाच्चतुर्दशपूर्वाणि तत्साहचर्याच्च तदुपदिष्टोऽर्थो वितर्कशब्देनेष्टः। सह वितर्केण चतुर्दशपूर्वोपदिष्टार्थश्रुतेन ध्येयं वर्तते इति सवितर्कम्॥ अथवा वितर्कः। शब्दश्रुतं तद्धेतु। प्राक्श्रुतज्ञानं ध्यानसंज्ञितं। सह वितर्केण कारणेन श्रुतेन वर्तते इति सवितर्कं॥

अर्थ—इस ध्यानका स्वामी १४ पूर्वोके ज्ञाता मुनि होते हैं. श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं. अर्थात् चौदा पूर्वोका जो ज्ञान उसको श्रुतज्ञान कहना चाहिये. पूर्वोमें जो विषय कहा गया है उसकोभी ज्ञान के साहचर्यसे श्रुत कहते हैं. जैसे यष्टिके साहचर्यसे पुरुषकोभी यष्टि कहते हैं. इस श्रुतविषयकोभी वितर्क कह सकते है. यह विषय ध्येय है. तात्पर्य-यह है कि श्रुतशब्द पूर्वज्ञानका व तद्गत विषयकाभी वाचक हैं ऐसा समझना चाहिये. यह श्रुत ज्ञान इस ध्यानका कारण हैं इसलिये इसकोभी ध्यान कह सकते हैं.

अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो ॥
तस्स य भावेण तयं सुत्ते उत्तं सवीचारं ॥ १८८२ ॥

विजयोदया—अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो खु वीचारो अर्थानां ये व्यंजनाः शब्दास्तेषामिति, वैयधिकरण्येन संबंधः,न पुनरर्थानां व्यंजनानां चेति समुच्चयः। अर्थपृथक्त्वशब्देनोपादानात् योगानां च संक्रमो वीचारः तस्स य भावेण वीचारस्य सद्भावेन। तयं तद्धि शुक्लध्यानं सूत्रे सवीचारमित्युक्तं। अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला इत्येवमादिपरिमितानेकद्रव्यप्रत्ययमपरश्रुतवाक्योद्भूतं ध्यानमिति पृथग्भूतद्रव्यालंबनत्वेन रूपेण एकद्रव्यालंबनात् एकत्ववितर्काद्भिद्यते योगत्रयसहायत्वादेकयोगादविचाराद्द्वितीयध्यानाद्भिद्यते । उपशांतमोहनीयस्वामिकत्वात् क्षीणकषायस्वामिकाद्ध्यानाद्भिद्यते। सवितर्कत्वेन अवितर्काभ्यां तृतीयचतुर्थाभ्यां विलक्षणं। अत एव नामनिर्देशेनैव ध्यानांतरविलक्षणं पृथक्त्वसवितर्कसवीचारमिति लक्षणमुक्तं ॥

सविचारमिति विवृणोति—

मूलारा—अत्थाण वंजणाणं अर्थानां ध्येयद्रव्याणां, तत्पर्यायाणां वा यानि व्यंजनानि व्यंजकाः शब्दास्तेषां इति वैयधिकरण्येन संबंधेन पुनरर्थानां व्यंजनानां चेति समुच्चयः। अर्थपृथक्त्वशब्देनोपादानात्। संक्रमो परावर्तनम् ॥

उक्तं च—योगाद्योगांतरं यायाद्व्यंजनाद्व्यंजनांतरम् ॥
पर्यायादपि पर्यायं द्रव्याणोर्श्रितयेदणुम् ॥

भावेण सद्भावेन एतेन ध्यानांतरवैलक्षण्यं प्रथमशुक्लस्योक्तं। इदं हि जीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला इत्येवमादिपरिमितानेकद्रव्यप्रत्यायनपरश्रुतवाक्योद्भूतं ध्यानमिति पृथग्भूतद्रव्यालंबनत्वेन रूपेणैकद्रव्यालंबनादेकत्ववितर्कायोगत्रयसहायत्वादेकयोगात्सविचारत्वादविचाराद्द्वितीयशुक्लध्यानाद्भिद्यते । तथोपशांतमोहनीयत्वादेकत्वान्मोहोपशमकक्षपकत्वाद्वा क्षीणमोहनीयस्वामिकाच्छेषघातित्रयाघातिचतुष्टयक्षपकाद्वितीयादिशुक्लत्रयाद्भिद्यते । सवितर्कत्वाच्चावितर्कान्त्यशुक्लद्वयात्।

उक्तं चार्षे—पृथक्त्वं विद्धि नानात्वं वितर्कःश्रुतमुच्यते ॥
अर्थव्यंजनयोगानां वीचारःसंक्रमो मतः ॥
अर्थादर्थांतरं गच्छन्व्यंजनाद्व्यंजनांतरं ॥
योगाद्योगांतरं गच्छन्ध्यायतीदं वशी मुनिः ॥
त्रियोगः पूर्वविद्यस्माद्ध्यायत्येनं मुनीश्वरः ॥
सवितर्कं सवीचारमतः स्याच्छुक्लमादिमम् ॥
ध्येयमस्य श्रुतस्कंधवार्धेर्यावदर्थविस्तरः ॥

फलं स्यान्मोहनीयस्य प्रक्षयः प्रशमोऽपि वा ॥
प्रशान्तक्षीणमोहेषु श्रेण्योः शेषगुणेषु च ॥
यथाम्नायमिदं ध्यानमामनंति मनीषिणः ॥

भवति चात्र वृत्तम्—

द्रव्य भावम यातिसूक्ष्ममधियन्युक्त्या वितर्कं स्फुरन् ॥
अर्थव्यंजनमंगगीरपि पृथक्त्वेनापि संक्रामता ॥
दर्मांशाननवस्थितेन मनसापूर्णाभिकोत्साहवत् ।
कुंठन द्रुभिवाणुशः परशुना छिंदन्यतिर्मे गतिः ॥

विचार शब्दका स्पष्टीकरण—

अर्थ—इस ध्यानमें अर्थ के वाचक जो शब्द उनका विचार होता है. अर्थात् संक्रमण होता है. वैसे योगोंके संक्रमणको योगसंक्रमण योगवीचार कहते हैं ऐसे विचारोंका सद्भाव होनेसे इस ध्यान को सवीचार कहते हैं. जीव, धर्म, अधर्म आकाश, पुद्गल इत्यादि परिमित अनेक द्रव्योंका ज्ञान करानेवाला जो शब्दश्रुत वाक्य उस से यह ध्यान उत्पन्न होता है यह ध्यान एकत्व वितर्क ध्यानसे भिन्न है क्योंकि एकत्ववितर्क ध्यान एक द्रव्यका ही आलंबन लेकर उत्पन्न होता है. यह प्रथम ध्यान तीन योगोंके सहायसे उत्पन्न होता है और दुसरा शुक्लध्यान फक्त एक योगसे ही उत्पन्न होता है उपशांत मोहनीय मुनि इस ध्यानका स्वामी है और इतर ध्यानोंके स्वामी क्षीणकषाय मुनि हैं यह ध्यान सवितर्क है इसलिये अवितर्क युक्त जो तीसरा और चौथा ध्यान वह इस ध्यानसे भिन्न माना जाता है इस ध्यानका पृथक्त्व सवितर्क सवीचार ऐसा नाम हैं नामसे ही अन्य ध्यानों से यह विलक्षण हैं ऐसा मालुम पडता हैं

जेणेगमेव दव्वं जोगेणेगेण अण्णदरगेण ॥
खीणकसाओ ज्झायदि तेणेगत्तं तयं भणियं ॥ १८८३ ॥

ध्यायता पूर्ववेक्षेण क्षीणमोहेन साधुना ॥
एकं द्रव्यमभेदेन द्वितीयं ध्यानमाप्यते ॥ १९५१ ॥

विजयोदया— जेणगमेव दव्वं जोगेणेगेण अण्णदरगेण यनैकमेव द्रव्यं अन्यतरेणैकेन, एतद्युक्तः, क्षीण कषायो ध्याति तेनैकत्वं तद्भणितं एकद्रव्यालंबनत्वात् । अन्यतरयोगवृत्तेरात्मन उत्पत्तेरेकत्वं ध्यानं क्षीणकषाय स्वामिकं भवेत् ॥

द्वितीयशुक्लनाम व्युत्पादयितव्यंस्तस्यैकत्वं समर्थयते—

मूलारा—एगमेव पण्णा मध्ये यत्किंचिदिष्टं अथवा एकशब्दोत्र प्रधानार्थत्वेन सकलद्रव्येष्वेकं प्रधानमात्मान मेवेत्यर्थः

उक्तं च— निर्विचारावतारासु चेतःस्रोतःप्रवृत्तिषु ॥
आत्मन्येव स्फुरत्यस्मा तत्सद्ध्यानमबीजकम् ॥

एगेण प्रधानतयोपात्तेन । अण्णदरगेण त्रयाणां मध्ये येन तेनापि सह वृत्तः । तेण एकद्रव्यालंबनत्वेनैकयोगवृत्तिक्षीणकषायस्वामिकत्वेन च । तत् तद्द्वितीयं शुक्लं एतेन परिमितानेकासर्वपर्यायद्रव्यालंबनात्त्रियोगोपशांतमोह-प्रथमशुक्लात्समस्तवस्तुविषयाभ्यां सयोगायोगकेवलिस्वामिकाभ्यां तृतीयचतुर्थशुक्लाभ्यां चास्य भेदः ।

अर्थ—एकत्व वितर्क अविचार नामक दुसरे ध्यानका स्वरूप इस प्रकार है—इस ध्यानके द्वारा एकही योगका आश्रय लेकर एकही द्रव्यका ध्याता चिंतन करता है इसलिये यहां अर्थसंक्रमण, योगसंक्रमण और शब्दसंक्रमण नहीं हैं. इस ध्यानका स्वामी क्षीण कषायी मुनि है. तीनयोगोंमेंसे एक ही योग यहां है. इससे ही यह ध्यान उत्पन्न होता है. एक ही द्रव्य इस ध्यानका आलंबन है.

जम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य, ॥
ज्झायदि, ज्झाणं एदं सवितक्कं तेण तं ज्झाणं ॥, १८८४ ॥
अत्थाण वंजणाण य जोगाणं संकमो हु वीचारो ॥
तस्स अभावेण तयं झाणं अविचारमिति वुत्तं ॥ १८८५ ॥

विजयोदया—एकद्रव्यालंबनत्वेन परिमितानेकसर्वपर्यायद्रव्यालंबनात् प्रथमध्यानात्समस्तवस्तुविषयाभ्यां तृतीयचतुर्थाभ्यां च विलक्षणता द्वितीयध्यानस्य गाथया निवेदिता । क्षीणकषायग्रहणेन उपशांतमोहस्वामिकत्वात् । सयोग्ययोगकेवलिस्वामिकाभ्यां च भेदः सवितर्कता पूर्ववदेव । पूर्वध्यायाणांतयोर्वीचाराभावादवीचारत्वं ॥

द्वितीयस्य सवितर्कत्वमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—यह ध्यान एक द्रव्य का ही आश्रय करता है इसलिये परिमित अनेक पर्यायों सहित अनेक द्रव्यों का आश्रय लेनेवाले प्रथम शुक्लध्यानसे भिन्न है, तीसरा और चौथा ध्यान सर्व वस्तुओंको विषय करते हैं अतः इनसे भी यह दुसरा शुक्ल ध्यान भिन्न है. ऐसा इस गाथासे सिद्ध होता है. इस ध्यानका स्वामी क्षीण कषायवाला मुनि है. पहिले ध्यानका स्वामी उपशांत कषायवाला मुनि है. और तीसरे तथा चौथे शुक्ल ध्यानका स्वामी सयोग केवली और अयोग केवली मुनि है अतः स्वामित्वकी अपेक्षासे दूसरा शुक्ल ध्यान इन ध्यानोंसे भिन्न है.

तृतीयध्यानमाचष्टे ॥

अवितक्कमवीचारं सुहुमकिरियबंधणं तदियसुक्कं ॥
सुहुमम्मि कायजोगे भणिदं तं सव्वभावगदं ॥ १८८६ ॥

विजयोदया—अवितक्कमवीचारं श्रुतानालंबनत्वादवितर्कं स्वयं श्रुतज्ञानं भवतीति वा अवितर्कं पूर्वमालंबीकृतादर्थादर्थांतरालंबनत्वं नाम वीचारो नास्तीत्यविचारं, सुहुमकिरियबंधणं सूक्ष्मक्रियास्येति सूक्ष्मक्रियः आत्मसंबंधनमाथयोऽस्येति सूक्ष्मक्रियाबंधनः, तृतीयशुक्लं, सुहुमम्मि काययोगे सूक्ष्मकाययोगे सति प्रवृत्तेः, भणितं सूक्ष्मक्रियमिति तं सव्वभावगदं तृतीयं शुक्लध्यानं त्रिकालगोचरानंतसामान्यविशेषात्मकद्रव्यषट्कयुगपत्प्रकाशनस्वरूपं, युगपत्प्रकाशनमेकमग्रं मुखमस्येति ॥ एकमुखतापि विद्यत इति ध्यानशब्दस्यार्थोऽभिमुखे विद्यते ॥ एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानमित्यत्र सूत्रे चिंताशब्दो ध्यानसामान्यवचनः। तेन श्रुतज्ञानं कचिद्ध्यानमित्युच्यते, कचित्केवलज्ञानं कचिच्छ्रुतज्ञानं कचिन्मतिज्ञानं मत्यज्ञानं वा, यतोऽविचलत्वमेव ध्यानं, ज्ञानस्य तस्याविचलत्वं साधारणं सर्वज्ञानोपयोगानां ॥

तस्यैवावीचारत्वं ब्रूते—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

तीसरे ध्यानका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—तीसरा सूक्ष्मक्रिया नामक शुक्ल ध्यान वितर्करहित अर्थात् श्रुतज्ञान रहित होता है. श्रुतज्ञान

का आलंबन इस ध्यान में नहीं रहता है. सयोग केवली मुनि का यह ध्यान अवीचार है अर्थात् इस ध्यान में एक पदार्थ का आश्रय लेकर उसको छोडकर दूसरे पदार्थका आश्रय लेना यह क्रिया नहीं होती है. अर्थात् संपूर्ण पदार्थ उनके केवल ज्ञानमें प्रतिक्षण युगपत् जाने जाते हैं अतः यह ध्यान 'अवीचार' है. सूक्ष्म क्रिया करने वाला आत्मा इस ध्यान का स्वामी है. अर्थात् इस ध्यानमें आत्मा मनोयोग, वचनयोगको सूक्ष्म करता है. यह ध्यान सूक्ष्म काययोग से प्रवृत्त होता है. त्रिकालको विषय होनेवाले जीवादि छह पदार्थोंको युगपत्प्रगट करनेका इस ध्यानका स्वभाव है. युगपत् सर्व पदार्थोंको प्रगट करना यही एकाग्रता इस ध्यान में है. पदार्थ के अभिमुख होना यह ध्यान शब्दका अर्थ है. 'एकाग्रचितानिरोधो ध्यानम्' इस सूत्रमें चिंता शब्द ज्ञानसामान्यका वाचक है. इसलिए क्वचित् श्रुतज्ञानको ध्यान कहते हैं, क्वचित् केवल ज्ञानको और क्वचित् मतिज्ञानको तथा मत्यज्ञानको और श्रुताज्ञानको भी ध्यान कहते हैं एक पदार्थ पर स्थिर होना यह ध्यान का लक्षण है. यह स्थिरत्व सर्व ज्ञानोपयोगमें है.

सुहुमम्मि कायजोगे वट्टंतो केवली तदियसुक्कम् ॥
झायदि णिरुंभिदुं जे सुहुमत्तणकायजोगंपि ॥ १८८७ ॥

सर्वभावगतं शुक्लं विलोकितजगत्त्रयं ॥
सर्वसूक्ष्मक्रियो योगी तृतीयं ध्यायति प्रभुः ॥ १२५२ ॥

विजयोदया—सुहुमम्मि कायजोगे सूक्ष्मे काययोगे प्रवर्तमानः केवली तृतीयं शुक्लं ध्याति निरोधंतमपि सूक्ष्मकाययोगं ॥

प्रथमं परमशुक्लं अन्वर्थसंज्ञया लक्षयति—

मूलारा— सुहुमकिरियबंधणं सूक्ष्मा क्रिया आत्मा स बंधनमाश्रयो यस्येति सूक्ष्मक्रियबंधनं । भणिदं सूक्ष्मे काययोगे सति प्रवृत्तेस्तत्सूक्ष्मक्रियमिति भणितमिति संबंधः । सव्वभावगदं त्रिकालगोचरतानंतसामान्यविशेषात्मक द्रव्यषट्कयुगपत्प्रकाशनस्वरूपं एकमग्रं मुखं यस्येत्येकाग्रताप्यस्य विद्यते इति ध्यानशब्दोऽपि मुख्यो घटते ॥ एकाग्रचितानिरोधो ध्यानमित्यत्र च सूत्रे चिंताशब्दो ज्ञानसामान्यवचनः । तेन श्रुतिज्ञानं क्वचिद्ध्यानमित्युच्यते, क्वचित्केवलज्ञानं, क्वचिन्मतिज्ञानं, क्वचिच्च श्रुताज्ञानं, मत्यज्ञानं वा यतोऽविचलमेव ज्ञानं ध्यानम् । तदुक्तम्—

एकाग्रग्रहणं चात्र वैयग्र्यविनिवृत्तये ।
व्यग्रं हि ज्ञानमेव स्याद्ध्यानमेकाग्रमुच्यते ॥

किमर्थं केवली सूक्ष्मक्रियायोगवृत्तिःसन्ध्यायतीत्यत्राह—

मूलारा——णिरुंभिदुंजे विनाशयितुं । तां तमपि । उक्तं च ज्ञानार्णवे विस्तरेण——

यदायुरधिकानि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः ॥
समुद्धातविधिं साक्षात्प्रागेवारभते तदा ॥
अनंतवीर्यप्रथिताजिनेशो दंडं कपाटं प्रतरं विधाय ॥
स लोकमानं समयैश्चतुर्भिः निःशेषमापूरयति क्रमेण ॥
लोकपूरणमासाद्य करोति ध्यानवीर्यतः ॥
आयुःसमानि कर्माणि भुक्तिमानीय तत्क्षणे ॥
ततःक्रमेण तानेव स पश्चाद्विनिवर्तते ॥
लोकपूरणतः श्रीमांश्चतुर्भिः समयैः पुनः ॥
काययोगस्थितिं कृत्वा बादरेऽचिन्त्यचेष्टितः ॥
सूक्ष्मीकरोति वाक्चित्तयोगयुग्मं स बादरम्
काययोगे ततःसूक्ष्मे पुनः कृत्वा स्थितिं क्षणात् ॥
योगद्वयं निगृण्हाति सद्यो वाक्चित्तसंज्ञितं ॥
सूक्ष्मक्रियं ततो ध्यानं समक्षो ध्यातुमर्हति ॥
सूक्ष्मैककाययोगस्थस्तृतीयं तद्विपच्यते ॥

अर्थ—इस सूक्ष्म काययोगमें रहनेवाले केवली तृतीय शुक्लध्यानके धारक हैं. उस समय सूक्ष्मकाययोगका वे निरोध करते हैं.

अवियक्कमवीचारं आणियट्टिमकिरियं च सीलेसिं ॥
ज्झाणं णिरुद्धयोगं अपच्छिमं उत्तमं सुक्कं ॥ १८८८ ॥

अयोगकेवली शुक्लं सिद्धिसौधमियासया ॥
चतुर्थं ध्यायति ध्यानं समुच्छिन्नक्रियो जिनः ॥ १९५३ ॥

विजयोदया—अविदक्कमवीचारं पूर्वोक्तवितर्कवीचाररहितत्वात् अवितर्कमवीचारं, अणियट्टि सकलकर्मसातनमकृत्वा न निवर्तत इत्यनिवर्ति । अकिरियं समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगपरिस्पन्दक्रियाव्यापारत्वात् अक्रियं । सीलेसिं शीलानामीशः शीलेशः यथाख्यातचारित्रं शीलेशस्य भावः शैलेश्यं, तत्सहचारि ध्यानमपि शैलेश्यं । निरुद्धयोगं अपच्छिमं न विद्यते पश्चाद्ध्यानमस्मादित्यपश्चिमं । उत्तमं शुक्लं परमं शुक्लं ॥

द्वितीयं परमशुक्लं लक्षयति—

मूलारा—सकलकर्मशातनमकृत्वा न निवर्तते इत्यनिवर्ति । अकिरियं अक्रियं समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारं सर्वकायवाङ्मनोयोगसर्वदेशपरिस्पन्दनक्रियाव्यापारत्वात् । सेलेसिं शीलानामीशः शीलेशस्तस्य भावः शैलेश्यं यथाख्यातचारित्रं । तत्साहचर्याद्ध्यानमपि तथोक्तम् । णिरुद्धजोगं निषिद्धनिःशेषकर्मास्रवम् । अपच्छिमं न विद्यते पश्चाद्ध्यानमस्मादिति अपश्चिमम् । उत्तमं उत्कृष्टं संसारकारणकर्मनिर्मूलनात् ॥

अर्थ—यह ध्यान वितर्क और विचाररहित है ऐसा पूर्वमें कह चुके हैं जबतक संपूर्ण कर्मोंका नाश यह नहीं करता है तबतक यह निवृत्त नहीं होता है इस ध्यानमें सर्व श्वासोच्छ्वासका प्रचार बंद होता है. सर्व काययोग, वचनयोग और मनोयोग यहां नष्ट होते हैं, इस लिये यह ध्यान निष्क्रिय माना गया है यहां अठारह हजार शीलके भेद प्रकट होते हैं इस लिये इस ध्यानके ध्याता शीलेश बनते हैं अर्थात् यथाख्यात चारित्रके धारक होते हैं यह ध्यान संपूर्ण योगोंका निरोध करनेवाला है इससे संपूर्ण कर्मोंके आस्रव यहां बंद होते हैं इसको सबसे उत्तम शुक्ल ध्यान कहते हैं. यह अन्तिम ध्यान कहते हैं. यह अन्तिम ध्यान है

तं पुण णिरुद्धजोगो सरीरतियणासणं करेमाणो ॥
सव्वण्हु अपडिवादी ज्झायदि ज्झाणं चरिमसुक्कं ॥ १८८९ ॥ १६९१

विजयोदया—तं पुनस्तच्चतुर्थं शुक्लध्यानं । निरुद्धयोगः सर्वज्ञः अप्रतिपातिध्यानं ध्याति शरीरत्रिकनाशं कुर्वन्, अयोगात्मपरिणामः केवलज्ञानं चतुर्थशुक्लं, तृतीयं तु सूक्ष्मकाययोगपरिणामः केवलमिति भेदस्तृतीयचतुर्थयोः ।

तत्स्वामिफले निर्दिशति—

मूलारा—सरीरतिय औदारिकतैजसकार्मणानि शरीराणि तन्नाशनमेव हि तत्फलं । अप्पडिवादी अप्रतिपाति । अयोगात्मपरिणामः । केवलज्ञानं चतुर्थं शुक्लं, तृतीयं तु सूक्ष्मकाययोगात्मपरिणामस्तदिति तयोर्भेदः । उक्तं चार्षे—

ततो निरुद्धयोगः सन्योगी स विगतास्रव ॥
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमनिवर्ति तदा भजेत् ॥
अन्तर्मुहूर्तमात्रन्यस्तद्ध्यानमतिनिर्मलम् ॥
विधुताशेषकर्मांशो जिनो निर्वात्यनंतरम् ॥
त्रयोदशास्य कर्मांशा. प्रक्षीणाश्चरमक्षणे ॥
द्वासप्ततिरुपान्त्ये स्युरयोगपरमेष्ठिन ॥
ऊर्ध्वं व्रज्यास्वभावत्वात्समयेनैव नीरजा ॥
लोकाग्रं प्राप्य शुद्धात्मा सिद्धश्चूडामणीयते ॥

अर्थ- यहां संपूर्ण योगोंका निरोध होनेसे औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरोंका नाश होता है. ये सर्व जिनेश्वर अयोगपरिणामात्मक बनते हैं यहां केवलज्ञान योगरहित होता है. तिसरे शुक्लध्यानमें केवलज्ञान योगसहित होता है. ऐसा इन दो ध्यानोंमें अंतर है यह चतुर्थध्यान अप्रतिपाति है अर्थात् हमेशा अयोग स्वरूप-मेंही रहता है

इय सो खवओ ज्झाणं एयग्गमणो समस्सिदो सम्मं ॥
विउलाए णिज्जराए वट्टदि गुणसेढिमारूढो ॥ १८९० ॥
इत्थं यो ध्यायति ध्यानं गुणश्रेणिगतः शुभम्ः ॥
निर्जरां कर्मणामेष क्षपकः कुरुते पराम् ॥ १९०४ ॥

विजयोदया—इय सो खवगो एवमसौ क्षपक, एकाग्रचित्त सम्यग्ध्यान समाश्रित्य विपुलाया कर्मनिर्जरायां वर्तते. गुणसेढिमारूढो गुणश्रेणीमारूढ उपशांतकषायादिकां ॥

प्रकृत धायधन्नुपसंहरति—

मूलारा—समस्सिदो समाश्रितः । गुणसेढिं उपशांतकषायादिकां ॥

अर्थ—इस प्रकार यह यह क्षपक एकाग्रचित्त होकर उपशांत कषायादि गुणस्थानोंपर क्रमसे आरोहण करता हुआ सम्यग्ज्ञानके आश्रयसे बहुत कर्मोंकी निर्जरा करता है.

ध्यानमहात्म्यस्तवनार्थं उत्तरप्रबंधः ॥

सुचिम वि संकिलिट्ठं विहरंतं झाणसंवरविहूणं ॥
झाणेण संवुडप्पा जिणदि अहोरत्तमेत्तेण ॥ १८९१ ॥

तपस्यवस्थितं चित्रं चिरं निर्ध्यानसंवरम् ॥
ध्यानेन संवृतःक्षिप्रं जयति क्षपकः स्फुटम् ॥ १९५५ ॥

विजयोदया—सुचिरमवि संकिलिट्ठं विहरंतं पूर्वकोटिकाले देशोनं क्लेशसहितचारित्रोद्यतं झाणसंवरविहूणं ध्यानाख्येन संवरेण विहीनं । जिणदि जयति । क आहोरत्तमेत्तेण झाणेण संवुडप्पा अहोरात्रमात्रेण ध्यानेन संवृतात्मा ॥

ध्यानमाहात्म्यं प्रबंधेन स्तोतुमाह—

मूलारा—सुचिरमवि देशोनपूर्वकोटिकालमपि । संकिलिट्ठं विहरंतं । क्लेशसहितचारित्रोद्यतं । मुमुक्षुं संवुडप्पा संवृतचित्तो मुमुक्षुः । जिणदि न्यक्करोति ।

ध्यानमाहात्म्यकी स्तुति करनेके लिये उत्तर प्रबंध—

अर्थ—कुछ कम कोटि पूर्व वर्षतक क्लेशसहित चारित्र धारण करनेवाला मुमुक्षु मुनि ध्यानरूपसंवरसे रहित है इस लिये रातदिन ध्यानसे जिनका आत्मा एकाग्र हुआ है उनको नवीन कर्मका संवर होता है. ऐसे मुनि संवररहित मुनिकी अपेक्षासे श्रेष्ठ हैं.

एवं कसायजुद्धंमि हवदि खवयस्स आउधं झाणं ॥
झाणविहूणो खवओ जुद्धेव णिराउधो होदि ॥ १८९२ ॥

आयुधं योगिनो ध्यानं कषायसमरे परम् ॥
निर्ध्यानः संस्तरे युद्धे निरस्त्रभटसन्निभः ॥ १९५६ ॥

विजयोदया—एवं कसायजुद्धं हि कषायसंप्रहारे ध्यानमायुधं क्षपकस्य भवति । ध्यानहीनः क्षपकः युद्धे निरायुध इव न प्रतिपक्षं प्रहर्तुमलं कषायविनाशकारित्वं ध्यानस्यानया कथितं ॥

ध्यानस्य कषायविनाशकत्वमाह—

मूलारा—आउधं प्रहरणम् ॥

अर्थ—कषायोंके साथ युद्ध करते समय ध्यान मुनिको शस्त्रके समान उपयोगी होता है अर्थात् ध्यानरूप खड्गसे संयमी मुनि कर्मोका संवर और निर्जरा करते हैं. शस्त्ररहित वीर पुरुष युद्धमें शत्रुका नाश नहीं कर सकता है. वैसे ध्यानके विना कर्मशत्रुको मुनि नहीं जीत सकते हैं. कषायोंको नष्ट करनेका सामर्थ्य ध्यानमेंही है ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है

रणभूमीए कवचं होदि ज्झाणं कसायजुद्धम्मि ॥
जुद्धे व णिरावरणो ज्झाणेण विणा हवे खवओ ॥ १८९३ ॥

कषायसंयुगे ध्यानं मुमुक्षोः कवचो दृढः ॥
ध्यानहीनस्तदा युद्धे निःकंकटभटोपमः ॥ १९५७ ॥

विजयोदया-रणभूमीए युद्धभूमौ कवचवत्कषाययुद्धे ध्यानं कवचो भवति एतेन कषायपीडारक्षां करोति ध्यानमित्याख्यातं । ध्यानाभावे दोषमाचष्टे । जुद्धे व णिरावरणो युद्धे निरावरण इव भवति ध्यानेन विना क्षपकः ॥

ध्यानस्य कषायपीडारक्षकत्वमाह—

मूलारा—णिरावरणो सन्नाहरहितः ।

अर्थ—रणभूमीमें कवच जैसा रक्षण करता है वैसा कषायके साथ युद्ध करते समय कवचके समान ध्यान मुनिका रक्षण करता है.

कषायसे होने वाली पीडाका नाश ध्यान करता है इसलिये ध्यानमें रक्षकत्व गुण है ऐसा इस गाथासे सिद्ध

होता हैं. युद्धमें कवचरहित पुरुषका बाणादिकोंके प्रहारसे रक्षण नहीं हो सकता है वैसे ध्यानसहित मुनि कषायशत्रुसे अपना रक्षण नहीं कर सकते हैं.

झाणं करेइ खवयस्सोवट्ठंभं विहीणचेट्ठस्स ॥
थेरस्स जहा जंतस्स कुणदि जट्ठी उवट्ठंभं ॥ १८९४ ॥

ध्यानं करोत्यवष्टम्भ क्षीणचेष्टस्य योगिनः ॥
दंडः प्रवर्तमानस्य स्थविरस्येव पावनः ॥ १९५८ ॥

विजयोदया—झाण करेदि ध्यानं करोति क्षपकस्योपष्टंभं हीनचेष्टस्य स्थविरस्य गच्छतो यथा करोति यष्टिरुपष्टंभं ॥

ध्यानस्य बलदायित्वं गाथाद्वयेन सदृष्टान्तं स्फुटयति—

मूलारा—उपट्ठंभं कषायनिर्जये बलावानं । विहीणचेट्ठस्स मनोवाक्कायैश्चारित्रं साधयितुमशक्तस्य ।

अर्थ—जैसे निर्बल बूढेको गमन करते समय लाठी मदत करती है वैसे मन वचन और शरीरसे चारित्र साधनेमें असमर्थ मुनिको ध्यान मदत करता है.

मल्लस्स णेहपाणं व कुणइ खवयस्स दढबलं झाणं ॥
झाणविहीणो खवओ रंगे व अपोसिवो मल्लो ॥ १८९५ ॥

बलं ध्यानं यतेर्धत्ते मल्लस्येव घृतादिकम् ॥
समाऽपुष्टेन मल्लेन ध्यानहीनो यतिर्मतः ॥ १९५९ ॥

विजयोदया—मल्लस्स णेहपाणं च मल्लस्य स्नेहपानमिव क्षपकस्य ध्यानं करोति, ध्यानहीनः क्षपको रंगे अपोषितो मल्ल इव न प्रतिपक्षं जयति ॥

मूलारा—रंगे बाहुयुद्धोपक्रमे ॥

अर्थ—दूध, घी वगैरह स्नेहयुक्त पदार्थ खानेसे मल्ल जैसे पुष्ट होता है और बाहुयुद्धमें अपने प्रति-

पक्षीको धराशायी करता है. वैसे ध्यानभी योगी मुनिओंमें बल उत्पन्न करता है जिससे वे कर्मशत्रुका नाश करनेमें समर्थ होते हैं. स्नेह पदार्थके अभावसे कृश हुआ मल्ल शत्रुको नहीं जीत सकता हैं वैसे ध्यानहीन क्षपक कषाय शत्रुको –कर्म शत्रुको नहीं जीत सकते हैं.

वइरं रदणेसु जहा गोसीसं चंदणं व गन्धेसु ।
वेरुलियं व मणीणं तह ज्झाणं होइ खवयस्स ॥ १८९६ ॥

वज्रं रत्नेषु गोशीर्षं चंदने च यथा मतम् ॥
ज्ञेयं मणिषु वैडूर्यं यथा ध्यानं व्रतादिषु ॥ १९६० ॥

विजयोदया—वेरं रदणेसु जधा रत्नेषु वज्रं गंधद्रव्येषु गोशीर्षं चंदनं । मणिवैडूर्यमिव क्षपकस्य ध्यानं । सर्वेषु-दर्शनचरित्रतपस्सु सारभूतं ॥

ध्यानस्य दर्शनचारित्रतपस्सु सारभूतत्वं दृष्टांतत्रयेण द्योतयति—

मूलारा—वइरं हीरकं । रयणे पद्मरागादिषु । गोसीसं गोशीर्षाख्यं गंधेसु गंधद्रव्येषु । सारभूते । वेरुलियं वैडूर्यं । मणीणं मौक्तिकादीनां । ज्झाणं सम्यक्त्वादिषु सुकृत्येषु मध्ये प्रधानम् ॥

अर्थ—जैसे रत्नोंमे वज्ररत्न श्रेष्ठ है, सुगंधि पदार्थोंमें गोशीर्ष चंदन उत्कृष्ट है, मणिओंमें वैडूर्य रत्न उत्तम है वैसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपोंमें ध्यानही सारभूत–सर्वोत्कृष्ट है.

झाणं किलेससावदरक्खा रक्खाव सावदभयम्मि ॥
झाणं किलेसवसणे मित्तं मित्तंव वसणम्मि ॥ १८९७ ॥

कषायव्यसने मित्रं कषायव्यालरक्षणम् ॥
कषायमारुते गेहं कषायज्वलने ह्रदः ॥ १९६१ ॥

१६०६

विजयोदया—ज्झाणं किलेससावदरक्खा ध्यानं दुःखश्वापदानां रक्षा श्वापदभये रक्षेव ध्यानं क्लेशव्यसने मित्रं व्यसने मित्रमिव ॥

मूलारा—वसनम्मि आपदार्थे ॥

अर्थ—यह ध्यान संक्लेशपरिणामरूप श्वापदोंसे मुनिओंकी रक्षा करता है. जैसे श्वापदों के भयसे हम अपनी रक्षा कर लेते हैं. जैसे संकटों में मित्र सहायक होकर संकटों से बचाता है वैसे संक्लेश परिणामरूप संकटोंसे ध्यान आत्माका रक्षण करता है.

झाणं कसायवादे गब्भघरं मारुदेव गब्भघरं ॥
झाणं कसायउण्हे छाही छाहीव उण्हम्मि ॥ १८९८ ॥
झाणं कसायडाहे होदि वरदहो दहोव डाहम्मि ॥
झाणं कसायसीदे अग्गी अग्गीव सीदम्मि ॥ १८९९ ॥
झाणं कसायपरचक्कभए बलवाहणड्ढओ राया ॥
परचक्कभए बलवाहणड्ढओ होइ जह राया ॥ १९०० ॥
झाणं कसायरोगेसु होदि वेज्जो तिगिंछिदे कुसलो ॥
रोगेसु जहा वेज्जो पुरिसस्स तिगिंछिदे कुसलो ॥ १९०१ ॥
झाणं विसयछुहाए य होइ अण्णं जहा छुहाए वा ॥
झाणं विसयतिसाए उदयं उदयं व तण्हाए ॥ १९०२ ॥

कषायार्कातपे छाया कषायशिशिरेऽनलः ॥
कषायारिभये त्राणं कषायव्याधिभेषजम् ॥ १९६१ ॥
तोयं विषयतृष्णायामाहारो विषयक्षुदि ॥
जायते योगिनो ध्यानं सर्वोपद्रवसूदनम् ॥ १९६२ ॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथा ॥

मूलारा—गब्भघरं गृहातर्वर्त्यपवरकः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

मूलारा—बलवाहणड्ढओ राओ सैन्येन हस्त्यादिवाहनेन च समृद्धो नृपः ॥

मूलारा—विगिंच्छिदे चिकित्सायां ॥

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—जैसे हवासे गर्भगृह बचाता है वैसे कषायरूपी हवासे ध्यान मुनिको गर्भगृहके समान बचाता है. सूर्यके संतापसे छाया प्राणिओंका रक्षण करती है वैसे ध्यान कषायरूपी संतापसे आत्माको बचाता है. जैसे अग्निसंतापसे पानीका द्रह पुरुषोंका बचाता है वैसे कषायाग्निके सतापसे ध्यानरूपी द्रह मुनिओंका रक्षण करता है. जैसे जाडेसे होनेवाली पीडा अग्नि दूर करता है वैसे कषायरूपी जाडेसे होनेवाली संक्लेशपीडा ध्यानाग्नि क्षण मरमें नष्ट कर देता है. जैसे सैन्यसे अर्थात् हाथी, रथ, घोडे वगैरह सेनासे परिपूर्ण राजा परचक्रके भयसे प्रजाकी रक्षा करता है वैसे कषायरूपपरचक्रसे होनेवाली पीडा ध्यानरूपी राजा क्षणमें दूर करता है.

अर्थ—जैसे रोगकी परीक्षा करनेमें कुशल वैद्य रोग दूर कर मनुष्यको सुखी करता है. वैसे ध्यानभी वैद्यके समान कषायरूपरोगकी परीक्षाकर उसको नष्ट करता है. जैसे अन्नसे भूक नष्ट होती है वैसे विषयक्षुधाभी ध्यानरूपी अन्नसे दूर होती है. जैसे पानीसे प्यास बुझती है वैसे ध्यानरूपी पानीसे विषयरूपी प्यास शांत होती है.

इय झायंतो खवओ जइया परिहीणवायिओ होइ ॥
आराधणाए तइया इमाणि लिंगाणि दंसेई ॥ १९०३ ॥

आराधनावबोधार्थं योगी व्यावृत्तिकारणम् ॥
तदा करोति चिन्हानि निश्चेष्टो जायते यदा ॥ १९६४ ॥

विजयोदया—इय झायंतो खवओ एव ध्यानेन प्रवर्तमान क्षपकः । यदा वक्तुमसमर्थो भवति तदा आराधणाए रत्नत्रयपरिणतेरात्मनो लिंगानीमानि दर्शयति ॥

ध्यानपरिणतस्य आसन्नमरणस्य बाह्यो प्रकाश्यान्याराधनाचिह्नान्याह—

मूलारा—परिहीणवाचिओ वक्तुमशक्तः ।

अथ---इस प्रकार ध्यानसे प्रवृत्ति करनेवाला क्षपक जब बोलनेमें असमर्थ होता है तब रत्नत्रयमें मेरी परिणति होरही है ऐसा अपना अभिप्राय वह हुंकारादिकचिह्नोंसे निर्यापकाचार्य को बतलाता है.

हुंकारंजलिभमुहंगुलीहिं अच्छीहिं वीरमुट्ठीहिं ॥
सिरचालणेण य तहा सण्णं दावेदि सो खवओ ॥ १९०४ ॥

हुंकारांगुलिनेत्रभ्रूमूर्द्धकंपांजलिक्रियाः ॥
यथासंकेतमव्यग्रः क्षपकः कुरुते सुधीः ॥१९६५॥

विजयोदया—हुंकारंजलिभमुहंगुलीहिं अच्छीहिं हुंकारेण वा अंजलिरचनया, भ्रूक्षेपेण, अंगुलिपंचकदर्शनेन उपदेष्टारं प्रति प्रसन्नतया दृष्ट्या किं समाहितचित्तोऽसीत्युक्ते शिरःकंपनेन संज्ञां दर्शयति क्षपकः ॥

मूलारा---अंजलि हस्तद्वयमुकुलीकरणं । भमुह भ्रूक्षेपः । अंगुलीहिं अंगुलिपंचकेन । सण्णं प्रसन्नया दृष्ट्या । किं समाहितचित्तोऽसीति निर्यापकेण पृष्टे सति स्वचेतनाम् ॥

अर्थ---हुंकारसे, हाथ जोडनेसे, भौंहे उठाकर, हाथके पांचो अंगुलिया दिखाकर उपदेशकको अपनी प्रसन्नता दिखाता है. तथा अपना मस्तक हिलाकर, व दृष्टिके द्वारा ' क्या तुम्हारा मन प्रसन्न है न ?इस प्रश्नका उत्तर देता है.

तो पडिचरया खवयस्स दिंति आराधणाए उवओगं ॥
जाणंति सुदरहस्सा कदसण्णा कायखवएण ॥ १९०५ ॥

संकेतवंतः परिचारकास्ते चेष्टाविशेषेण विदन्ति साधोः ॥
आराधनोद्योगमवेतशास्त्रा धूमेन चित्रांशुमिव ज्वलन्तम् ॥ १९६६ ॥

इति ध्यानम्

विजयोदया—तो पडिचरगा ततः प्रतिचारकास्तस्य क्षपकस्याराधनायामुपयोगं जानंति श्रुतरहस्याः क्षपकेण कृतसंकेताः ॥ ज्ञानन्ति

मूलारा—वो हुंकारादिकरणात् । सुदरहस्सा ज्ञातशास्त्रान्तस्तत्वाः । कदसंकेदा वक्तुमशक्तोऽहं निजरत्नत्रयपरिणतिं युष्मान्हुंकाराद्यन्यतमेन ज्ञापयिष्यामीति कृतः प्रागेव विहितः संकेतः समयः येषां ते कृतसंकेताः । उक्तं च—

संकेतवंतः परिचारकास्ते चेष्टाविशेषेण विदंति साधोः ॥
आराधनोद्योगमवेतशास्त्रा धूमेन चित्रांशुमिव ज्वलंतम् ॥

ध्यानं । सूत्रतः ३७ । अंकतः २०२ ॥

अर्थ—जिनको शास्त्रका अंतस्तत्त्व मालुम हुआ है ऐसे परिचारक मुनि क्षपकके संकेतोंसे चारों आराधनाओंमें क्षपकका उपयोग है ऐसा जानते हैं. ध्यानका वर्णन समाप्त हुआ.

लेश्यायां सर्वं करोति—

इय समभावमुवगदो तह ज्झायंतो पसत्थझाणं च ॥
लेस्साहिं विसुज्झंतो गुणसेढिं सो समारुहदि ॥ १९०६ ॥

इत्थं समत्वमापन्नः शुभध्यानपरायणः ॥
आरोहति गुणश्रेणीं शुद्धलेश्यो महामनाः ॥ १९६७ ॥

विजयोदया—इय समभावमुवगदो एवं समचित्ततां गतः प्रशस्तध्यानं प्रवर्तयेत्, लेश्याभिर्विशुद्धगुणश्रेणीमारोहति ॥

अथ यथोक्तविधिना साम्यमधिष्ठाय तथा प्रशस्तध्यानैकतानमानसीभवता क्षपकेण समधिगम्यां लेश्याविशुद्धिं गाथानां सप्तदशकेन व्याचिख्यासुरादौ तत्फलसंबंधमभिधत्ते—

मूलारा—तु प्रशस्तध्यानमेव ध्येयं न मनागप्यार्तरौद्रे इत्यर्थः । लेस्साहिं विसुज्झंतो तेजःपद्मशुक्ललेश्यासु क्रमेण परिणममाणः कषायाभावैर्विशुद्धपरिणामो भवन्नित्यर्थः ॥

अर्थ—इस प्रकार समताभावको धारण करनेवाला वह क्षपक प्रशस्त ध्यानमें प्रवृत्त होता है. लेश्याओंमें तेज, पद्म और शुक्ललेश्याओंमें परिणत होकर गुणश्रेणीपर आरोहण करता है अर्थात् उत्तरोत्तर अधिक निर्मल परिणामोंका धारक होता जाता है.

जह बाहिरलेस्साओ किण्हादीओ हवंति पुरिसस्स ॥
अब्भंतरलेस्साओ तह किण्हादी य पुरिसस्स ॥ १९०७ ॥
किण्हा णीला काओ लेस्साओ तिण्णि अप्पसत्थाओ ॥
पइसइ विरायकरणो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥ १९०८ ॥

बाह्याभ्यंतरभेदेन द्वेधा लेश्या निवेदिता ।
शुभाशुभविभेदेन पुनर्द्वेधा जिनेश्वरैः ॥ १९६८ ॥
कृष्णा नीला च कापोती तिस्रो लेश्या विगर्हिताः ॥
धीरो वैराग्यमापन्नः स्वैरिणीरिव मुंचते ॥ १९६९ ॥

विजयोदया—जह बाहिरलेस्साओ कृष्णनीलकापोताश्चेति तिस्रः अप्रशस्ताः प्रजहाति वैराग्यभावनायान् संसारभीरुतां परामुपागतः ॥

प्रसिद्धबाह्यकृष्णादिलेश्याप्रदर्शनेन तदितरास्ताः साधयति—

मूलारा— किण्हादी मिथ्यात्वादिकृतास्तीव्रतमादिसंस्कारा जीवस्य कृष्णादयः षड्भावलेश्या भवन्ति ॥

योगाविरतिमिथ्यात्वकषायजनितास्तु यः ॥ संस्कारः प्राणिनां भावलेश्यासौ कथितागमे ॥
तीव्रो लेश्या स कापोता नीला तीव्रतरश्च सः ॥ कृष्णा तीव्रतमः पीता संस्कारो मंद इष्यते ॥
पद्मा मंदतरःशुक्ला स स्यान्मंदतमस्त्विमाः ॥ षट्स्थानगतयो वृद्ध्या प्रत्येकं षडपीरिताः ॥

फलार्थिनां वृक्षनिर्मूलोच्छेदादिषु तीव्रतमादिकषायानुरंजिता वाक्कायमनःप्रवृत्तयो भावलेश्या व्यवह्रियन्ते तत्र वाचि यथा—

निर्मूलस्कंधशाखोपशाखोच्छेदे तरोर्वचः ॥ उच्चये पतितादाने भावलेश्या फलार्थिनाम् ॥
एवं कायेन मनसि वाऽभ्यूह्यम् । तत्कर्मणि यथा—

दुर्मेदो दुष्टचित्तश्च रागद्वेषादिभिर्युतः ॥ क्रुन्मानवंचनालोभैस्तथानंतानुबंधिभिः ॥
चंडः सततवैरश्च निर्दयः कलहप्रियः । मधुमांससुरासक्तः कृष्णलेश्यो मतोऽसुमान् ॥

निर्बुद्धिर्मानवान्मायी मंदो विषयलंपटः ॥ निर्विज्ञानोऽलसो भीरुर्निद्रालुः परवंचकः ॥
नानाविधे धने धान्ये सर्वत्रैवातिमूर्च्छितः । सारंभो नीलया प्राणी लेश्यया संयुतो भवेत् ॥
बहुशः शोकभीग्रस्तो रुष्यत्यपि च निंदति । असूयन्दूषयन्नित्यं परं परिभवत्यपि ॥
आत्मानं बहुशः स्तौति स्तूयमानश्च तुष्यति । मन्यमानः परं स्वम्वा न प्रत्येति कुतश्चितः ॥
हानिं नावैति वृद्धिम्वा वष्टि मृत्युं रणांगणे । श्लाघ्यमानस्तरां दत्ते जीवः कापोतलेश्यया ॥
सर्वत्र समदृग्वेत्ति कृत्याकृत्यं हिताहितम् । दयादानरतो विद्वांस्तेजोलेश्यावशोऽसुमान् ॥
त्यागी क्षांतिपरश्चोक्तो भद्रात्मा सरलक्रियः । साधुपूजोद्यतो जीवोऽधिष्ठितः पद्मलेश्यया ॥
सर्वत्रापि शमोपेतस्त्यक्तमायानिदानकः । रागद्वेषव्यपेतात्मा स्यात्प्राणी शुक्ललेश्यया ॥
त्यक्तकृष्णादिलेश्याकाः सिद्धिं याता निरापदाः । अंतातीतसुखा जीवा निर्लेश्याः परिकीर्तिताः ॥
कृष्णाद्यशुभभावलेश्यात्रयत्यागयोग्यतां दर्शयति—
मूलारा—कावो कापोती विरागकरणो वैराग्यभावनावान् । जितेंद्रियो वा ।

अर्थ—जैसे पुरुषके बाह्यमें अर्थात् शरीरमें कृष्ण, नीलादिक रंग दीखते हैं वैसे पुरुषके अभ्यंतरमें कृष्ण नीलादिक लेश्यायें रहती हैं.

अर्थ— कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या ये तीन लेश्यायें अशुभ हैं. क्षपक इनका त्याग कर वैराग्यवान होकर संसारसे अत्यंत भय युक्त होता है.

तेओ पम्मा सुक्का लेस्साओ तिण्णि विदुपसत्थाओ ॥
पडिवज्जेइय कमसो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥ १९०९ ॥
तेजः पद्मा तथा शुक्ला तिस्रो लेश्याः प्रियंकराः ॥
निर्वृत्तिमिव गृह्णाति निर्बाधसुखदायिनीं ॥ १९७० ॥

विजयोदया—तेओ पम्मा सुक्का तेज पद्मशुक्ललेश्याः प्रतिपद्यते परिपाट्या ॥

तेजोलेश्यादित्रयपरिणतियोग्यतामाह—

मूलारा—तेऊ तेजोलेश्या । पम्मा पद्मलेश्या ॥

अर्थ—तेजो लेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ल लेश्या ये तीन लेश्या प्रशस्त लेश्या हैं. उत्कृष्ट वैराग्यसे संसारभयको धारण कर यह क्षपक इन तीन लेश्याओंको क्रमसे धारण करता है.

एदेसिं लेस्साणं विसोधणं पडि उवक्कमो इणमो ॥
सव्वेसिं संगाणं विवज्जणं सव्वहा होई ॥ १९१० ॥

कुरुष्व सुखहेतूनां सल्लेश्यानां विशोधनम् ॥
यत्संगानामशेषाणां सर्वथापि विवर्जनम् ॥ १९७१ ॥

विजयोदया—एदेसिं लेस्साणं एतासां शुभलेश्यानां शुद्धिं प्रत्ययमुपक्रमः बाह्याभ्यंतरसर्वपरिग्रहत्यागः ।

शुभलेश्याविशुद्ध्युपायमाह—

मूलारा—उवक्कमो उपायः ॥

अर्थ—संपूर्ण परिग्रहोंका अर्थात् बाह्य और अभ्यंतर परिग्रहोंका सर्वथा त्याग करनेसे इन लेश्याओंसे विशुद्धि होती है अर्थात् परिग्रहत्यागही लेश्या विशुद्धिका उपाय है.

लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जीवस्स ॥
अज्झवसाणविसोधी मंदकसायस्स णादव्वा ॥ १९११ ॥

लेश्यानां जायते शुद्धिः परिणामविशुद्धितः ॥
विशुद्धिः परिणामानां काषायोपशमे सति ॥ १९७२ ॥

विजयोदया—लेस्सासोधी लेश्यानां शुद्धिः । अज्झवसाणविसोधीए होदि परिणामविशुद्ध्या भवति । अज्झवसाणविसुद्धी परिणामविशुद्धिश्च । मंदकसायस्स मंदकषायस्य भवतीति ज्ञातव्या ॥

उक्तार्थसमर्थनार्थमाह—

मूलारा—अज्झवसाण परिणामः ॥

अर्थ—परिणाम निर्मल होनेसे लेश्याओंमें उत्तरोत्तर निर्मलता होती जाती है. तथा मंदकषायी पुरुषके परिणाम निर्मल रहते हैं.

कषायाणां मंदता कथमित्यत्राह—

मंदा हुंति कसाया बाहिरसंगविजडस्स सव्वस्स ॥
गिण्हइ कसायबहुलो चेव हु सव्वंपि गंथकलिं ॥ १११२ ॥

मंदीभवन्ति जीवस्य कषायाः संगवर्जने ॥
कषायबहुलः सर्वं गृह्णीते हि परिग्रहम् ॥ ११७३ ॥

विजयोदया—मंदा हुंति कसाया कषाया मंदा भवंति, कृतबाह्यसंगपरित्यागस्य । कषायबहुल एवायं सर्वो जीवः सर्वं ग्रंथकलिं गृण्हाति ॥

कषायसंयोपायमाह—

मूलारा—सव्वस्य मनोवाक्कायैः । गंथकलिं ग्रंथ एवासौ कलिश्च पापबंधनिबंधनत्वात् ॥

कषायोंकी मंदता कैसी होती है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जिसने बाह्यपरिग्रहोंका त्याग किया है उसके कषाय मंद होते हैं. कषायोंसे भरा हुआ जीव ही सम्पूर्ण परिग्रहरूप पातकका स्वीकार करता है.

जह इंधणेहिं अग्गी वड्ढइ विज्झाइ इंधणेहिं विणा ॥
गंथेहिं तह कसाओ वड्ढइ विज्झाइ तेहिं विणा ॥ १११३ ॥

वृद्धिहानी कषायाणां संगग्रहणमोक्षयोः ॥
अग्नीनामिव काष्ठादिप्रक्षेपणनिरासयोः ॥ ११९४ ॥

विजयोदया—जह इंधणेहिं अग्गी इंधनैर्यथाग्निर्वर्धते तैर्विना प्रशाम्यति ग्रंथैस्तथा कषायो वर्धते, तैर्विना मंदो भवति ॥

ग्रंथानां भावाभावयोः कषायवृद्ध्युपशमनिमित्तत्वं समर्थयते—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ-लकडीओंसे अग्नि वृद्धिंगत होता है परंतु उनके अभावमें वह शांत होता है. तथा परिग्रहोंसे कषाय बढते हैं और उनके अभावमें वे नष्ट होते हैं.

अह पत्थरो पडंतो खोभेइ दहे पसण्णमवि पंकं ॥
खोभेइ पसंतंपि कसायं जीवस्स तह गंथो ॥ १९१४ ॥

कषायो ग्रंथसंगेन क्षोभ्यते तनुधारिणाम् ॥
प्रशांतोऽपि न्हदादीनां पाषाणेनेव कर्दमः ॥ १९९५ ॥

विजयोदया—अह पत्थरो पडंतो यथा पाषाणः पतन् ह्रदे प्रशांतमपि पंकं क्षोभयति, तथा जीवस्य कषायं ग्रंथाः क्षोभयंति ॥

ग्रंथानां कषायक्षोभणसामर्थ्यं हढयति—

मूलारा—खोभेदि उदीरयति ॥

अर्थ-जैसे न्हदमें पाषाण पडनेसे तलभागमें दबा हुआ भी कीचड क्षुब्ध होकर ऊपर आता है वैसे परिग्रह जीवके प्रशांत कषायोंको भी प्रगट करते हैं.

अब्भंतरसोधीए गंथे णियमेण बाहिरे चयदि ॥
अब्भंतरमइलो चेव बाहिरे गेण्हदि हु गंथे ॥ १९१५ ॥
अब्भंतर सोधीए बाहिरसोधी वि होदि णियमेण ॥
अब्भंतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरे दोसे ॥ १९१६ ॥

अंतर्विशुद्धितो जीवो बहिर्ग्रंथं विमुंचति ॥
अंतरामलिनो बाह्यं गृह्णीते हि परिग्रहम् ॥ १९९६ ॥
अंतर्विशुद्धितो जन्तोः शुद्धिः संपद्यते बहिः ॥
बाह्यं हि कुरुते दोषं सर्वमांतरदोषतः ॥ १९९७ ॥

विजयोदया—अभ्यंतरसोधीय अभ्यंतरशुद्ध्या नियमेन बाह्यान्परिग्रहांस्त्यजति, अभ्यंतरदोषेणैव बाह्यान् कायगतान् दोषान् करोति ।

बाह्यग्रंथग्रहणादानयोरंतःशुद्ध्यशुद्ध्यधीनत्वं आह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

मनःशुद्ध्यधीनता वाक्कायशुद्ध्योरभिधत्ते—

मूलारा— बाहिरे वाक्कायगतान् ॥

अर्थ-अंतरंग शुद्धीसे अर्थात् परिणामोंकी निर्मलतासे बाह्य परिग्रहोंका नियमसे त्याग होता है. अभ्यंतर अशुद्ध परिणामोंसे ही वचन और शरीरसे दोषोंकी उत्पत्ति होती है. अंतरंग शुद्धि होनेसे बहिरंग शुद्धि भी नियम पूर्वक होती है. यदि अंतरंग परिणाम मलिन होंगे तो मनुष्य शरीरसे और वचनोंसे अवश्य दोष उत्पन्न करेगा.

जध तंडुलस्स कोण्डयसोधी सतुसस्स तीरदि ण कादुं ॥
तह जीवस्स ण सक्का लिस्सासोधी ससंगस्स ॥ १९१७ ॥

ससंगस्याङ्गिनःकर्तुं लेश्याशुद्धिर्न शक्यते ॥
अंतराशोध्यते केन तुपयुक्तोऽपि तंडुलः ॥ १९९८ ॥

विजयोदया—जह तंडुलस्स यथा तंडुलस्य अभ्यंतरमलशुद्धिः कर्तुं न शक्यते बाह्यतुषसहितस्य । तथा जीवस्य न शक्या लेश्याशुद्धिः कर्तुं सपरिग्रहस्य ॥

सग्रंथस्य लेश्यानामशक्यशोधनत्वमाह—

मूलारा— स्पष्टम् ।

अर्थ-जैसे बाह्य तुषसहित तंडुलकी अभ्यंतर शुद्धि नहीं होती है. अर्थात् तुष हटनेपर ही तंडुल स्वच्छ होता है वैसे परिग्रहसहित जीवके परिणामोंकी अर्थात् लेश्याओंकी विशुद्धि नहीं होती है.

इत उत्तरं लेश्याश्रयेणाराधनाविकल्पो निरूप्यते—

१७०६ सुक्काए लेस्साए उक्कस्सं अंसयं परिणमित्ता ॥
जो मरदि सो हु णियमा उक्कस्साराधओ होई ॥ १९१८ ॥

शुक्ललेश्योत्तमांशं यः प्रतिपद्य विपद्यते ॥
उत्कृष्टाराधना तस्य जायते पुण्यकर्मणः ॥ १९९९ ॥

विजयोदया—सुक्काए लेस्साए शुक्ललेश्याया उत्कृष्टांशे परिणतो यो मृतिमुपैति स नियमादुत्कृष्टाराधको भवति।

लेश्याविशेषवशेनाराधनाविकल्पं प्रबंधेन ब्रवीति—

मूलारा— उक्कस्सं अंसयं उत्तमभागं । उक्कस्साराधओ । उत्कृष्टाराधनेत्यर्थः । उक्तं च—

शुक्ललेश्योत्तमांशं यः प्रतिपद्य विपद्यते ॥
उत्कृष्टाराधना तस्य जायते पुण्यकर्मणः ॥

लेश्याके आश्रयसे आराधनाके विकल्प कहते हैं—

अर्थ—शुक्लेश्याके उत्कृष्ट अंशसे परिणत होकर जो क्षपक मरणको प्राप्त होता है उस महात्माको नियमसे उत्कृष्ट आराधक समझना चाहिये.

खाइयदंसणचरणं खओवसमियं च णाणमिदि मग्गो ॥
तं होइ खीणमोहो आराहित्ता य जो हु अरहंतो ॥ १९१९ ॥

जे सेसा सुक्काए दु अंसया जे य पम्मलेस्साए ॥
तल्लेस्सापरिणामो दु मज्झिमाराधणा मरणे ॥ १९२० ॥

शेषांशान् शुक्ललेश्यायाः पद्मायाश्च तथा श्रितः ॥
म्रियते मध्यमा तस्य साधोराराधना मता ॥ २००० ॥

विजयोदया—जे सेसा सुक्काए दु अंसया उत्कृष्टांशादन्ये ये शुक्ललेश्याया अंशा ये चापि पद्मलेश्याया अंशाः तत्र परिणामो मरणे मध्यमाराधना ॥

मूलारा— सेसा मध्यमाधमौ । जे य ये च त्रयोप्यशकाः ॥

अर्थ—क्षायिक सम्यक्त्व, और चारित्र और क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान इन की आराधना करके आत्मा क्षीणमोही बनता है और तदनंतर अरहंत होता है. (क्षेपक)

अर्थ—शुक्ल लेश्याके मध्यम और जघन्य अंशसे तथा पद्मलेश्याके अंशोंसे जो आराधक मरणको प्राप्त करते हैं वे वे मध्यम आराधक माने जाते हैं.

तेजाए लेस्साए ये अंसा तेसु जो परिणमित्ता ॥
कालं करेइ तस्स हु जहण्णियाराधणा भणदि ॥ १९२१ ॥

तेजोलेश्यामधिष्ठाय क्षपको यो विपद्यते ॥
जघन्याराधना तस्य वर्णिता पूर्वसूरिभिः ॥ २००१ ॥

विजयोदया–तेजाए लेस्साए तेजोलेश्याया ये अंशास्तेषु परिणतो यदि कालं कुर्यात् तस्य जघन्याराधना भवति॥

मूलारा– स्पष्टम् ॥

अर्थ—पीत लेश्याके जो अंश हैं उनसे परिणत होकर जो मरणवश होते हैं वे जघन्याराधक माने जाते हैं.

जो जाए परिणिमित्ता लेस्साए संजुदो कुणइ कालं ॥
तल्लेसो उववज्जइ तल्लेस्से चेव सो सग्गे ॥ १९२२ ॥

प्रतिपद्य तपोवाही यो यां लेश्यां विपद्यते ॥
तल्लेश्ये जायते स्वर्गे तल्लेश्यः स सुरोत्तमः ॥ २००२ ॥

विजयोदया—जो जाए यो यया लेश्यया परिणतः कालं करोति, स तल्लेश्य एवोपजायते, तल्लेश्यासमन्विते स्वर्गे ॥

लेश्याविशेषवशेन स्वर्गविशेषोपपादमाह—

मूलारा– तल्लेस्सा इत्यादि । यत्र यत्र देवलोके सा सा लेश्या तत्र तत्रोत्पद्यते इत्यर्थः ॥

अर्थ—जो जीव जिस लेश्यासे परिणत होकर मरणको प्राप्त होता है वह उत्तर भवमें उसही लेश्याका धारक होकर स्वर्गमें उत्पन्न होता है.

अध तेउपउमसुक्कं अदिच्छिदो णाणदंसणसमग्गो ॥
आउक्खया दु सुद्धो गच्छदि सुद्धिं चुयकिलेसो ॥ १९२३ ॥

सर्वलेश्याविनिर्मुक्तः प्राणांस्त्यजति यो यतिः ॥
आयुषो बंधनेनेव मुक्तो याति स निर्वृतिम् ॥ २००३ ॥
शुद्धतमा गुणवृद्धिगरिष्ठा भव्यशरीरिनिवेशितचेष्टाः ॥
दूरनिवारितसंसृतिवेश्याः कस्य सुखं जनयन्ति न लेश्याः ॥ २००४ ॥
इति लेश्याः ।

विजयोदया—अथ तेउपउमसुक्कं अथ तेजःपद्मशुक्ललेश्या अतिक्रांतः अलेश्यतामुपगतः ज्ञानदर्शनसमग्र आयुषः क्षयात् सिद्धिं गच्छति कर्मलेपापगमाद्विशुद्धो निरस्ताशेषक्लेशः ॥ लेस्सेत्ति ॥

निर्लेश्यस्य सिद्धिप्राप्तिमाह—

मूलारा— अदिच्छिदा अतिक्रान्तः । अलेश्यतां गत इत्यर्थः ॥

लेश्या सूत्रतः ३८ - अंकतः १७ ॥

अर्थ—तेजो लेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ल लेश्यासे अतिक्रांत हुआ अर्थात् जो लेश्यारहित अयोगाव-स्थाको प्राप्त हुआ है. जिसके ज्ञान और दर्शन परिपूर्ण होगये हैं ऐसा जीव सर्वकर्मका विनाश होनेसे संपूर्ण संसारक्लेश रहित होकर आयुष्यके क्षयसे सिद्धावस्थाको प्राप्त होता है.

एवं सुभाविदप्पा ज्झाणोवगओ पसत्थलेस्साओ ॥
आराधणापडायं हरइ अविग्घेण सो खवओ ॥ १९२४ ॥
अविघ्नेन विशुद्धात्मा लेश्याशुद्धिमधिष्ठितः ॥
प्रवर्तितशुभध्यानो गृह्णात्याराधनाध्वजाम् ॥ २००५ ॥

विजयोदया—एवं सुभाविदप्पा एवं सुष्ठु भावितात्मा ध्यानमुपगतः प्रशस्तलेश्यापरिणत आराधनापताकां हरत्यविघ्नेन ॥

अथाराधनाविराधनयोः फलं गाथाभिरेकचत्वारिंशता व्याचिख्यासुरादावाराधनाफलं गाथाचतुर्विंशत्या निरूपय न्नुक्तार्थोपसंहारपुरःसरं सामान्येन तत्फलं निर्दिशति—

मूलारा— एवं अर्हलिंगादिपट्त्रिंशत्क्रियाविशेषविधिना ॥ यतः ॥

अर्थ—इस प्रकारसे जिसने अपने आत्माको सुसंस्कृत किया है शुक्ल ध्यानको प्राप्त हुआ, शुभलेश्यासे परिणत हुआ ऐसा वह क्षपक निर्विघ्नतासे आराधना पताकाको हस्तमें ग्रहण करता है.

तेलोक्कसव्वसारं चउगइसंसारदुक्खणासयरं ॥
आराहणं पवण्णो सो भयवं मुक्खपडिमुल्लं ॥ १९२५ ॥
ददाति चिंतितं सौख्यं छिनत्ति भवपादपम् ॥
इत्थमाराधना देवी भव्येनाराध्यते सदा ॥ २००६ ॥
यैरेपाराधना देवी सिद्धिसौधप्रवेशिनी ॥
आराधिता न तैर्लाभः को लब्धो भुवनत्रये ॥ २००७ ॥

विजयोदया—तेलोक्कसव्वसारं त्रैलोक्ये सर्वस्मिन्सारभूतां चतुर्गतिसंसारदुःखनाशकरणीमाराधनां प्रपन्नोऽसौ भगवान् मोक्षमप्रतिमौल्यं ॥

मूलारा— सो अर्हादिक्रियाकृतपरिकर्मा, शुभध्यानैकतानमानसो विशुद्धलेश्यश्चाराधनां प्रयतो यतस्ततस्तत्पताकां निर्विघ्नेन हरतीति पश्चात्तेन संबंधः— मोक्खपडिमोल्लं मोक्षस्य कर्तव्यस्य परिपूर्णार्थभूतां ॥

अर्थ—इस त्रैलोक्यमें सारभूत, चतुर्गतिरूप संसारदुःखोंका नाश करनेवाली आराधनाको जिसने प्राप्त किया है उसे भगवानने जिसका मूल्य नहीं है ऐसा मोक्ष प्राप्त किया है.

एवमधक्खादविधिं संपत्ता सुद्धदंसणचरित्ता ॥
केई खवंति खवया मोहावरणंतरायाणि ॥ १९२६ ॥
यथाख्यातविधिं प्राप्ता विशुद्धज्ञानदर्शनाः ॥
दहन्ति घातिदारूणि केचिद्ध्यानकृशानुना ॥ २००८ ॥

विजयोदया—एवमधक्खादविधिं एवं यथाख्यातविधिं संप्राप्ताः शुद्धदर्शनचारित्राः केचित्क्षपका घातिकर्माणि क्षपयंति ॥

उत्कृष्टाराधनाफलं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूलारा— अधक्खादविधिं यथाख्यातचारित्रम् । केई चरमदेहाः ॥ आवरण ज्ञानदर्शनावरणे द्वे ॥

अर्थ—जिन्होंने यथाख्यात चारित्रको प्राप्त किया है, निर्मल सम्यग्दर्शन चारित्रको जो प्राप्त हुए हैं वे क्षपक घातिकर्मोंका नाश करते हैं.

केवलकप्पं लोगं संपुण्णं दव्वपज्जयविधीहिं ॥
झायंता एयमणा जहंति आराहया देहं ॥ १९२७ ॥

त्यजंत्याराधका देहं ध्यायन्तो भुवनत्रयम् ॥
द्रव्यपर्यायसंपूर्णं केवलालोकलोकितम् ॥ २००९ ॥

विजयोदया—केवलकप्पं केवलज्ञानस्य परिच्छेद्यत्वेन योग्यं लोकं संपूर्णं द्रव्यपर्यायविकल्पैः परिच्छिदंतः जहति ते स्वदेहं ॥

एवं जीवन्मुक्तिमनंतचतुष्टयात्मिकामुत्कृष्टाराधनाफलमुक्त्वा परममुक्तिमपि तत्फलत्वेनाह—

मूलारा— केवलकप्पं केवलज्ञानस्य परिच्छेद्यत्वेन योग्यं । विधीहिं भेदैः । ज्झायंता जानंतः । एयमणा विशुद्ध-स्थिरज्ञानाः । तो पश्चात् स्वायु-क्षयानंतरमित्यर्थः । सयं निजं ॥

अर्थ—केवलज्ञानके द्वारा जानने योग्य जगतको संपूर्ण द्रव्यपर्यायों के विकल्पोंके साथ जानते हुए वे क्षपक आराधक अपना देह छोड देते हैं.

सव्वुक्कस्सं जोगं जुंजंता दंसणे चरित्ते य ॥
कम्मरयविप्पमुक्का हवंति आराधया सिद्धा ॥ १९२८ ॥

रत्नत्रयकुठारेण छित्वा संसारकाननं ॥
भवंति सहसा सिद्धा नृसुरासुरवंदिताः ॥ २०१० ॥

विजयोदया—सच्चुक्कस्सं सर्वोत्कृष्टं दर्शनचारित्रयोर्योगं प्रतिपद्यमानाः कर्मरजोभ्यो विप्रमुक्ता आराधकाः सिद्धा भवंति ॥

मूलारा–सर्वोत्कृष्टम् । परमनैःकर्म्यपरिणामात् । जोगं संबंधं । जुंजंता प्रतिपद्यमानाः । कम्मरयविप्पमुक्का अघातिकर्मचतुष्कात्प्रच्युताः ॥

अर्थ—सर्वोत्कृष्ट सम्यग्दर्शन और चारित्रको प्राप्त कर कर्मरूप रजसे रहित होकर वे क्षपक आराधक मुक्तावस्थाको प्राप्त होते हैं.

इयमुक्कस्सियमाराधणमणुपलेत्तु केवली भविया ॥
लोगग्गसिहरवासी हवंति सिद्धा धुयकिलेसा ॥ १९२९ ॥

आराध्याराधनामेवमुत्कृष्टां धूतकल्मषाः ॥
भूत्वा केवलिनः सिद्धाः सन्ति लोकाग्रवासिनः ॥ २०११ ॥

विजयोदया—इय उक्कस्सिय एवमुत्कृष्टामाराधनामनुपाल्य केवलिनो भूत्वा निरस्तक्लेशाः लोकाग्रशिखासिनः सिद्धा भवंति ॥

उक्तार्थोपसंहमाह—

मूलारा—उक्कस्सियं उत्कृष्टं । अणुपालेत्तु आराध्य । भविय भूत्वा ॥

अर्थ—इस प्रकार उत्कृष्ट आराधनाका पालन कर केवलज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं. संपूर्ण कर्म क्लेशसे मुक्त होकर लोकाग्रशिखरवासी सिद्ध परमेष्ठि होते हैं.

अह सावसेसकम्मा मलियकसाया पणट्ठमिच्छत्ता ॥
हासरइअरइभयसोगदुगुंछावेयणिम्महणा ॥ १९३० ॥

अवशेषितकर्माणः पवित्रागममातृकाः ॥
कामकोपादिहास्यादिमिथ्यादर्शनमोचिनः ॥ २०१२ ॥

विजयोदया—अद्द साधसेसकम्मा अथ सावशेषकर्माणो मथितकषायाः प्रणष्टमिथ्यात्वहास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्सावेदत्रिकमथनाः ॥

मध्यमाराधनाफलं गथाद्वयकेनादिशति—

मूलारा— अध । मध्यमाराधनाफलमधिक्रियते इत्यर्थः । महिद अभिभूताः ॥

अर्थ--जिनके कर्म बचे हैं, जिन्होने अनंतानुबंध्यादि कषायोंका मथन किया हैं, जिनका मिथ्यात्वकर्म नष्ट हुआ है. हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद और स्त्रीवेद, नपुंसक वेदोंका जिन्होंने मथन किया है–

पंचसमिदा तिगुत्ता सुसंवुडा सव्वसंगउम्मुक्का ॥
धीरा अदीणमणसा समसुहदुक्खा असंमूढा ॥ १९३१ ॥

विजयोदया—पंचसमिदा समितिपंचकोपेताः गुप्तित्रयोपेताः सुसंवृता अपाकृतसर्वसंगाः धीरा अदीनमनसः समसुखदुःखा असंमूढाः ॥

मूलारा—सुसंवुडा ध्यानाख्यप्रधानसंवरोपेताः ॥

अर्थ--जिन्होने पांच समितियां पाली हैं, जो तीन गुप्तिओं में तत्पर हैं. जिन्होंनें कर्मोंका संवर किया है, अर्थात् संवरका प्रधान कारण जो ध्यान उससे जो युक्त है. जो परिग्रहोंसे दूर हैं, धीर हैं, जिनके मनमें दीनता नाममात्र भी नहीं रही है. जो दुःख सुखमें समान बुद्धि रखते हैं. तथा जो मोहरहित हुए हैं.

सव्वसमाधाणेण य चरित्तजोगे अधिट्ठिदा सम्मं ॥
धम्मे वा उवजुत्ता ज्झाणे तह पढमसुक्के वा ॥ १९३२ ॥
सुखदुःखसहा वृत्तज्ञानदर्शनसंस्थिताः ॥
संवृत्ताः ससमाधाना शुभध्यानपरायणाः ॥ २०१३

विजयोदया—सव्वसमाधाणेण सर्वेण समाधानेन चारित्रे सम्यगवस्थिता धर्मध्याने प्रथमशुक्ले वा उपयुक्ताः ॥

मूलारा—सव्वसमाधाणेण मनोवाक्कायप्रणिधानेन ।

अर्थ—मन, वचन, और शरीर इन तीन योगोंसे जो आत्मस्वरूपमें स्थिर हुए हैं, अर्थात् चारित्रमें जो तत्पर रहते हैं, जो धर्मध्यान तथा, प्रथम अथवा दुसरे शुक्लध्यनमें तत्पर होगये हैं.

इय मज्झिममाराधणमणुपालित्ता सरीरयं हिच्चा ॥
हुंति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्सा य ॥ १९३३ ॥

विधायाराधनां देवीं मध्यमां मुक्तविग्रहाः ॥
शुद्धलेश्यान्विता देवाः सन्त्यनुत्तरवासिनः ॥ २०१४ ॥

विजयोदया—इय मज्झिमं एवं मध्यमाराधनामनुपाल्य शरीरं त्यक्त्वा विशुद्धलेश्याधरा अनुत्तरवासिनो देवा भवंति ॥

मूलारा—हिच्चा त्यक्त्वा । अणुत्तरवासी पंचानुत्तरवासिनः ॥

अर्थ—इस प्रकार मध्यमाराधनाका पालनकर शरीरका त्याग करनेवाले मुनिराज विशुद्धलेश्याको धारण कर अर्थात् उत्कृष्ट शुक्ललेश्याके स्वामी बनकर अनुत्तरवासी देवों में उत्पन्न होते हैं.

दंसणणाणचरित्ते उक्किट्ठा उत्तमोपधाणा य ॥
इरियावहपडिवण्णा हवंति लवसत्तमा देवा ॥ १९३४ ॥

विजयोदया—दंसणणाणचरित्ते सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रे प्रकृष्टा उत्तमाभिग्रहा ईर्यापथं प्रपन्ना लवसत्तमा देवा भवंति ॥

मूलारा—उक्किट्ठा कल्पोपपादिरत्नत्रयाराधकेभ्य उत्कृष्टाः । उत्तमोपधाणा प्रधानाभिग्रहाः । इरियावहपडिवण्णा तद्योग्यसुकृतकारणशुभास्रवाश्रिताः । लवसत्तमा अहमिंद्राः । ग्रैवेयकानुदिशविमानवासिन इत्यर्थः ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पालनेमें पूर्ण दक्ष अर्थात् कल्पोपपन्न देवोंमें जिस रत्नत्रय से जन्म होता है उससे भी उत्कृष्ट रत्नत्रयको धारण करनेवाले, उत्कृष्ट तप, ध्यान वगैरह नियमोंके धारक ईर्यापथको जिन्होने प्राप्त किया है अर्थात् कल्पातीत देवत्व प्राप्त होनेके लिये योग्य ऐसे शुभास्रवको जो प्राप्त हो गये हैं ऐसे मुनिराज लवसत्तम देव होते हैं अर्थात् मरकर ग्रैवेयक, अनुदिशविमानमें रहनेवाले देव हो जाते हैं।

कप्पोवगा सुराजं अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति ॥
तत्तो अणंतगुणिदं सुहं दु लवसत्तमसुराणं ॥ १९२५ ॥

सुखं साप्सरसो देवाः कल्पगा निर्विशंति यत् ॥
ततोऽनंत गुणं स्वस्थं लभंते लवसत्तमाः ॥ २०१५ ॥

विजयोदया—कप्पोवगा सुरा जं कल्पोपन्नाः सुराः अप्सरोभिस्सहिता यत्सुखमनुभवंति ततोऽप्यनंतगुणितं लवसत्तमदेवानां ॥

तत्सुखपरिमाणमाह—

मूलारा—कप्पोवगा कल्पोपपन्नाः ।

अर्थ—अप्सराओंके साथ सौधर्मादिक कल्पवासी देव जिस सुखका अनुभव लेते हैं उससे भी अनंत गुणित सुख अहमिंद्र देवोंको मिलता है.

णाणम्मि दंसणम्मि य आउत्ता संजमे जहक्खादे ॥
वड्ढिदतवोवधाणा अवट्ठियलेस्सा सदद्मेव ॥ १९२६ ॥

विशुद्धदर्शनज्ञानाः सयथाख्यातसंयमाः ॥
शश्वन्निर्मललेश्याका वर्द्धमानतपोगुणाः ॥ २०१६ ॥

विजयोदया—णाणम्मि दंसणम्मि य ज्ञानदर्शनयोर्यथाख्याते च संयमे आयुक्ता वार्द्धितपोऽभिग्रहाः सततं विशुद्धलेश्याः क्षपकाः ॥

मूलारा—आउत्तो आसक्ताः । अवट्ठियलेस्सा संशुद्धलेश्याः ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और यथाख्यात चारित्र इनमें हमेशा तत्पर रहनेवाले तथा तपोंके नियम जिन्होंने बढाये हैं, जिनकी शुभलेश्यायें उत्तरोत्तर विशुद्ध होती है ऐसे क्षपक—

पजहिय सम्मं देहं सव्वं सव्वगुणावड्ढिदगुणड्ढा ॥
दोविंदचरमठाणं लहंति आराधया खवया ॥ १९२७ ॥

अदीनमनसो मुक्त्वा कचारमिव चिग्रहम् ॥
देवेंद्रचरमस्थानं प्रपद्यन्ते बुधार्चिताः ॥ २०१७ ॥

विजयोदया—पजहिय देहं विहाय देहं सम्यक्सदा सर्वगुणवर्धितगुणाढ्या देवेंद्रचरमस्थानं लभंते ॥

मूलारा—सव्वगुणवड्ढिदगुणड्ढा सर्वगुणेन सर्वोत्कृष्टगुणकारणे वर्द्धितैर्गुणैरणिमादिमिः समृद्धाः । चरिमठाणं उपरिमस्वर्गस्थानम् ॥

अर्थ— औदारिक शरीरका त्याग कर संपूर्ण गुणोंके कारणोंसे अणिमादिक गुणोंकी उनको प्राप्ति होती है तथा देवेंद्रका अन्तिम पद उनको प्राप्त होता है,

---

सुयभत्तीए विसुद्धा उग्गतवोणियमजोगसंसुद्धा ॥
लोगंतिया सुरवरा हवंति आराधया धीरा ॥ १९३८ ॥
जावदिया रिद्धीओ हवंति इंदियगदाणि य सुहाणि ॥
ताइं लहंति ते आगमेसि भद्दा सया खवया ॥ १९३९ ॥

वयंरत्नत्रयोयोगाः कषायारातिमर्दिनः ॥
संति लौकांतिका देवा देहोद्योतितपुष्कराः ॥ २०१८ ॥
ऋद्धयः संति या लोके यानींद्रियसुखानि च ॥
क्षपकास्तानि लप्स्यन्ते सर्वाण्येष्यत्यनेहासि ॥ २०१९ ॥

विजयोदया—जावदिया रिद्धीओ यावत्यः ऋद्धयो भवति यावंतींद्रियसुखानि च भवंति तानि सर्वाणि लप्स्यंते भद्राशया क्षपकाः ॥

मूलारा—णियम अवग्रहविशेषः । जोग ध्यानमातापनादिर्वा ।

मूलारा—लहंति लप्स्यते । ते मध्यमाराधनाराधकाः ॥ आगमेसि आगामिनि काले । भद्दासया प्रशस्तचित्ताः ।

अर्थ—श्रुतभक्ति-सम्यग्ज्ञानाराधनासे जिनका मन निर्मल बना है; उग्रतप, विशिष्ट नियम, आतापनादिक योग और ध्यानसे जिनका आत्मा निर्मल बना है ऐसे धीर आराधक लौकांतिक नामक उत्कृष्ट देव होते हैं. इस जगतमें जितनी ऋद्धिया और इंद्रियसुख हैं वे सब निर्मल परिणामके क्षपकोंको अवश्य प्राप्त होते हैं.

जे वि हु जहण्णियं तेउलेस्समाराहणं उवणमंति ।
ते वि हु सोधम्माइसु हवंति देवा ण हेट्ठिल्ला ॥ १९४० ॥

जघन्याराधनां देवीं तेजोलेश्यापरायणाः ॥
आराध्य क्षपकाः संति सौधर्मादिषु नाकिनः ॥ २०२० ॥

विजयोदया—जे वि हु जहण्णियं येऽपि जघन्यामाराधनां तेजोलेश्याप्रवृत्तामुपनमंति तेऽपि सौधर्मादिषु देवा भवंति ॥ नाधोभाविनो देवाः ॥

जघन्याराधनाफलमाह—

मूलारा—तेउलेस्सं तेजोलेश्याप्रवृत्तां । ण हेट्ठिल्ले नाधोभाविनः ।

अर्थ—तेजोलेश्याके धारक ऐसे क्षपककी आराधनाको जघन्याराधना कहते हैं इस आराधनाके आराधक क्षपक सौधर्मादिस्वर्गों में देव होते हैं. इन देवोंसे हीन देवोंमें इनका जन्म नहीं होता है.

किं जंपिएण बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्स ॥
तं अचिरेण लहंते फासित्ताराहणं णिखिलं ॥ १९४१ ॥

बहुनात्र किमुक्तेन यत्सारं भुवनत्रये ॥
आराध्याराधनां देवीं लभंते तन्मनीषिणः ॥ २०२१ ॥

विजयोदया—किं जंपिएण बहुणा किंबहुनोक्तेन यत्सर्वस्यास्य लोकस्य सारभूतं तदचिरेण लभंते आराधनां प्रपन्नाः ॥

त्रिविधाया अप्याराधनाया माहात्म्यमभिष्टौति—

मूलारा— केवलस्स सर्वस्य । फासित्ता आराध्य । उक्तं च—

बहुनोक्तेन किं सारो लोकस्य सकलस्य यः ॥ तं लभंते चिरात्स्पृष्ट्वा सम्यगाराधनाविधिम् ॥

अर्थ—अब हम और जादा नहीं कहते हैं जो संपूर्ण लोकका सारभूत पदार्थ है वह आराधनाओंको प्राप्त हुए जीवोंको शीघ्र ही प्राप्त होता है. इसमें संदेह नहीं है.

भोगे अणुत्तरे भुंजिऊण तत्तो चुदा सुमाणुस्से ॥
इड्ढिमतुलं चइत्ता चरंति जिणदेसियं धम्मं ॥ १९४२ ॥
भुक्त्वा भोगं च्युताः सन्तो भूत्वा भुवि नरोत्तमाः ॥
विहाय महतीं भूतिं भूत्वा सिध्यन्ति साधवः । २०२२ ॥

विजयोदया-भोगे अणुत्तरे भोगानुत्कृष्टान् भुक्त्वा स्वर्गच्युता मनुष्यभवेऽपि प्राप्य सकलामृद्धिं तां च त्यक्त्वा जिनाभिहितं धर्मं चरंति ॥

मध्यमाराधनात्रयन्याराधकानां स्वर्गसुखभुक्त्युत्तरकालभोग्यसुखं कृत्यं चोपदिशति—

मूलारा-अणुत्तरे उत्कृष्टान् । तत्तो चुदा स्वर्गादवतीर्णाः । चइत्ता त्यक्त्वा । धम्मं चारित्रम् ॥

अर्थ—आराधकजीवोंको स्वर्गमें भोगोंकी प्राप्ति होती है. उनका भोग लेकर आयुष्य समाप्त होनेपर वे स्वर्गसे च्युत होकर इस मनुष्यभवमें जन्म धारण करते हैं. इस मनुष्यभवमें भी संपूर्ण ऋद्धिकी उनको प्राप्ति होती है. उसको छोडकर वे जिनधर्मका पालन करते हैं अर्थात् मुनि होकर तप, स्वाध्याय और ध्यान करते हैं.

सदिमंतो धिदिमंतो सद्धासंवेगवीरियोवगया ॥
जेदा परीसहाणं उवसग्गाणं च अभिभविय ॥ १९४३ ॥
धृतिस्मृतिमतिश्रद्धावीर्यसंवेगभागिनः ॥
परीषहोपसर्गाणां जेतारो विजितेन्द्रियाः ॥ २०२३ ॥

विजयोदया—सदिमंतो स्मृतिमंतः धृतिसमन्विताः श्रद्धासंवेगवीर्यसहिताः परीषहाणां विजेतारः उपसर्गाणामभिभवितारः ॥

धर्मं चरंतस्तत्कीदृशाः स्युरित्याह—

मूलारा—सदिमंता स्मृतियुक्ताः । जेदा जेतारः । अभिभविदा अभिभवकर्तारः ।

अर्थ-वे शास्त्रका अध्ययन करके उसके तत्वोंको खूब ध्यानमें रखते हैं. परीषह और उपसर्ग प्राप्त होने.

पर भी धैर्यसे डिगते नहीं. श्रद्धा, संवेग-संसारभय, और वीर्य आत्मसामर्थ्यसे वे च्युत नहीं होते हैं. वे उपसर्ग और परीषहों को सह लेते हैं.

इय चरणमधक्खादं पडिवण्णा सुद्धदंसणमुवेदा ॥
सोधिंति ज्झाणजुत्ता लेस्साओ संकिलिट्ठाओ ॥ १९४४ ॥

सयथाख्यातचारित्राः पवित्रज्ञानदर्शनाः ॥
विशोध्य मलिनां लेश्यां शुद्धध्यानविवर्द्धिनः ॥ २०२४ ॥

विजयोदया—इय चरणमधक्खादं एवं यथाख्यातचारित्रं प्रतिपन्नाः शुद्धदर्शनमुपगता ध्यानयुक्ताः संक्लिष्ट लेश्या विनाशयंति ॥

मूलारा—इय एवं चरंतः । सोधिंति नाशयन्ति ।

अर्थ—इस प्रकारसे यथाख्यात चारित्रका लाभ कर वे शुद्ध दर्शनको प्राप्त होकर ध्यानमें तत्पर होते हैं और अपने संक्लिष्ट लेश्याओंका-मलिन परिणामोंका क्षय करते हैं.

सुक्कं लेस्समुवगदा सुक्कज्झाणेण खविदसंसारा ॥
सम्मुक्ककम्मकवया सविंति सिद्धिं धुदकिलेसा ॥ १९४५ ॥

शुक्लेश्यांगनाश्लिष्टा ध्वस्तनिःशेषकल्मषाः ॥
भवन्ति सहसा सिद्धा भुवनोत्तमवंदिताः ॥ २०२५ ॥

विजयोदया-सुक्कं लेस्समुवगदा शुक्ललेश्यामुपगताः शुक्लध्यानेन क्षपितसंसारा उन्मुक्तकर्मकवचा दूरीकृत क्लेशाः सिद्धिमुपयांति ॥

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—शुक्ल लेश्याकी प्राप्ति कर वे आराधक शुक्लध्यानसे संसारका नाश करते हैं. कर्मरूप कवचको फोडकर संपूर्ण क्लेशोंका अर्थात् चतुर्गतिके दुःखोंका नाश करके मुक्त होते हैं.

एवं संथारगदो विसोधइत्ता वि दसणचारित्तं ॥
परिवडदि पुणो कोई झायंतो अट्टरुद्दाणि ॥ १९४६ ॥

इत्थं संस्तरमापन्ना रौद्रार्त्तवशवर्तिनः ॥
रत्नत्रयं विशोध्यापि भूयो भ्रश्यन्ति केचन ॥ २०२६ ॥

विजयोदया—एवं संथारगदो उक्तेन प्रकारेण संस्तरमुपगतोऽपि कृतदर्शनचारित्रशुद्धिरपि कश्चित्कर्मगौर
वार्तरौद्रपरिणतः पतति ॥ तत्र दोषमाचष्टे ॥

एवं साक्षात्पारंपर्येण च प्राप्यमाराधनाफलं व्यावर्ण्य दुर्दैववशेन दुर्ध्यानाद्विराधनां प्राप्तस्य फलं प्रबंधेनाह—

मूलारा— परिवडदि रत्नत्रयात्प्रच्यवते ।

अर्थ—कोई मुनि संसारका आश्रय करने पर भी सम्यग्दर्शन और चारित्रकी शुद्धि करने पर भी पूर्वकर्म के भारसे आर्त ध्यान, रौद्रध्यानमें परिणत होकर अपने शुद्धस्वरूप से भ्रष्ट होते हैं.

ज्झायंतो अणगारो अट्टं रुद्दं च चरिमकालम्मि ॥
जो जहइ सयं देहं सो ण लहइ सुग्गदिं खवओ ॥ १९४७ ॥

आर्तरौद्रपरः साधुर्यो मुंचति कलेवरम् ॥
एतां दुःखप्रदामेष देवदुर्गतिमृच्छति ॥ २०२७ ॥

विजयोदया—ज्झायंतो अणगारो मरणकाले आर्तरौद्रयोः परिणतो भूत्वा यः स्वदेहं जहाति नासौ क्षपकः सुगतिं लभते ॥

विराध्य म्रियमाणस्य दोषमाह—

मूलारा— स्पष्टम् ॥

आर्त रौद्रमें परिणति होनेसे क्या हानि होती है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—मरणके कालमें आर्तध्यान और रौद्रध्यानका आश्रय करने से वह क्षपक आयुष्यकी समाप्ति होनेपर सुगति को प्राप्त नहीं कर सकता है.

जदि दा सुभाविदप्पा वि चरिमकालम्मि संकिलेसेण ॥
परिवडदि वेदणट्टो खवओ संथारमारूढो ॥ १९४८ ॥

चिराभ्यस्तचारित्रोऽपि कषायाक्षवशीकृतः ॥
मृत्युकाले ततःभ्रष्टो यदि भ्रश्यति संयतः ॥ २०२८ ॥

विजयोदया—जदि दा सुभाविदप्पा वि यदि तावत्सुभावितात्मापि संस्तरमारूढः वेदनार्तः क्षपकः संक्लेशेन हेतुना सन्मार्गात्परिपतति ॥

चिराभ्यस्तचारित्रोऽपि क्षपको यदि मरणक्षणे वेदनावशात्प्राप्तसंक्लेशः सन्मार्गात्प्रच्यवते तदा नित्यावसन्नादीनां तत्प्रच्यवने किमाश्चर्यं वाच्यमित्यभिधातुं प्रबंधमभिधत्ते—

मूलारा— स्पष्टम् ॥

अर्थ-जिसने आत्माको आराधनाओंसे सुसंस्कृत किया था तो भी मरणसमयमें संक्लेशपरिणामोंकी उत्पत्ति होने से वह संस्तरपर आरूढ हुआ श्रमण सन्मार्गसे भ्रष्ट होता है.

किं पुण जे ओसण्णा णिच्चं जे वा वि णिच्चपासत्था ॥
जे वा सदा कुसीला संसत्ता वा जहाछंदा ॥ १९४९ ॥

अवसन्नो यथाछंदो यः पार्श्वस्थः कुशीलकः ॥
संसक्तश्च तदा किं न स भ्रश्यति कुमानसः ॥ २०२९ ॥

विजयोदया—किं पुण किं पुनर्न परिपतंति ये नित्यमवसन्ना ये च नित्यं पार्श्वस्था ये वा सदा कुशीलाः संसक्ता वा स्वच्छंदाः ॥

तत्र अवसन्नाः निरूप्यंते—

गच्छंहि केइ पुरिसा पक्खी इव पंजरंतरणिरुद्धा ॥
सारणपंजरचकिदा ओसण्णागा पविहरंति ॥ १९५० ॥

विजयोदया—यथा कर्दमे क्षुण्णः मार्गाद्धीनोऽवसन्न इत्युच्यते स द्रव्यतोऽवसन्नः। भावावसन्नः अशुद्धचरित्रः सीदति उपकरणे, वसतिसंस्तरप्रतिलेखने, स्वाध्याये, विहारभूमिशोधने, गोचारशुद्धौ, ईर्यासमित्यादिषु, स्वाध्यायका-

लाघलोकन, स्वाध्यायावसंग, [illegible] पंथानं पश्यन्नपि तत्समीपेऽन्येन कश्चिद्गच्छति, मायदयकं वाक्कायाभ्यां करोति न भावत एवंभूतश्चारित्रेऽवसीदतीत्यवसन्नः। पंथानं पश्यन्नपि तत्समीपेऽन्येन कश्चिद्गच्छति, यथासौ मार्गपार्श्वस्थः, एवं निरतिचारसंयममार्गं जानन्नपि न तत्र वर्तते, किंतु संयममार्गपार्श्वे तिष्ठति नैकांतेनासंयतः, न च निरतिचारसंयमः सोऽभिधीयते पार्श्वस्थ इति। शय्याधरपिण्डमभिहितं नित्यं च पिंडं भुंक्ते, पूर्वापरकालयोर्दातृसंस्तवं करोति, उत्पादनैषणादोषदुष्टं वा भुंक्ते, नित्यमेकस्यां वसतौ वसति, एकस्मिन्नेव संस्तरे शेते, एकस्मिन्नेव क्षेत्रे वसति। गृहिणां गृहाभ्यंतरे निषद्यां करोति, गृहस्थोपकरणैर्व्यवहरति, दुःप्रतिलेख्यमप्रतिलेखं वा गृह्णाति, सूचीकर्तरिनखच्छेदसंदंशनपट्टिकाक्षुरकर्णशोधनाजिनग्राही, सीवनप्रक्षालनावधूननरंजनादिबहुपरिकर्मव्यापृतश्च वा पार्श्वस्थः। क्षारचूर्णं सौवीरलवणसर्पिरित्यादिकं अनागाढकरणेऽपि गृहीत्वा स्थापयन् पार्श्वस्थः। रात्रौ यथेष्टं शेते, संस्तरं च यथाकामं बहुतरं करोति, उपकरणबकुशो। देहबकुशः—दिवसे वा शेते च यः पार्श्वस्थः। पदप्रक्षालनं म्रक्षणं वा यत्कारणमंतरेण करोति, यश्च गणोपजीवी त्रिपंचकसेवापरश्च पार्श्वस्थः। अयमत्र संक्षेपः—अयोग्यं सुखशीलतया यो निषेवते कारणमंतरेण स सर्वथा पार्श्वस्थः। कुत्सितशीलः कुशीलः, यद्येवं अवसन्नादीनां कुशीलत्वं प्राप्नोति, नैवं लोकप्रकटकुत्सितशीलः कुशील इति विवेकोऽत्र ग्राह्यः। स च कुशीलोऽनेकप्रकारः, कश्चित्कौतुकशीलः औषधविलेपनविद्याप्रयोगेणैव, सौभाग्यकरणं राजद्वारि कौतुकमादर्शयति यः कौतुककुशीलः। कश्चित् भूतिकर्मकुशीलः भूतिग्रहणमुपलक्षणं भूत्या, धूल्या, सिद्धार्थकैः, पुष्पैः, फलैरुदकादिभिर्वा मंत्रितै रक्षां वशीकरणं वा यः करोति स भूतिकुशीलः॥ उक्तं च—

भूदीय धूलीयं वा सिद्धत्थग पुप्फफलुदकादीहिं। रक्खं वसिगरणं वा करेदि जो भूदिगकुसीलो कश्चित्प्रसेनिकाकुशीलः, अंगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनी, प्रदीपप्रसेनी, शशिप्रसेनी, सूर्यप्रसेनी स्वप्नप्रसेनीत्येवमादिभिर्जनं रंजयति यः सोऽभिधीयते प्रसेनिकाकुशील इति। कश्चिदप्रसेनिकाकुशीलः विद्याभिर्मंत्रौषधप्रयोगैर्वा असयंत चिकित्सां करोति सोऽप्रसेनिकाकुशीलः॥ कश्चिन्निमित्तकुशीलः अष्टांगनिमित्तं ज्ञात्वा यो लोकस्यादेशं करोति स निमित्तकुशीलः। आत्मनो जातिं कुलं वा प्रकाश्य यो भिक्षादिकमुत्पादयति स आजीवकुशीलः। केनचिदुपद्रुतः परं शरणं प्रविशति, अनाथशालां वा प्रविश्य आत्मनश्चिकित्सां करोति स वा आजीवकुशलः। विद्यायोगादिभिः परद्रव्यापहरणदंभप्रदर्शनपरः कक्ककुशीलः, इंद्रजालादिभिर्वा जनं विस्मापयति सोऽभिधीयते कुहनकुशील इति। वृक्षगुल्मादीनां पुष्पाणां, फलानां च संभवमुपदर्शयति, गर्भस्थापनादिकं च करोति यः स संमूर्छनाकुशीलः। त्रसानां, कीटादीनां, वृक्षादीनां, पुष्पफलादीनां, गर्भस्य परिशातनं अभिसारिकं च यः करोति शापं च प्रयच्छति स प्रपातनकुशीलः उक्तं च। कोऊतिकभूदिकम्मे पसिणा पसिणे णिमित्तमाजीवे, कक्ककुहन समुच्छण पपादणादीकुसीलो दु॥ इति॥ आदिशब्दपरिगृहीताः कुशीला उच्यंते—क्षेत्रं हिरण्यं चतुष्पदं च परिग्रहं ये गृह्णंति हरितकंदफलभोजिनः कृतकारितानुमतपिण्डोपधिवसतिसेवापराः, स्त्रीकथारतयः, मैथुनसेवापरायणाः, विवेकास्रवादिअधिकरणोद्यताश्च कुशीलाः। भूयः प्रमत्तचिह्नतवेषश्च कुशीलः। संसक्तो निरूप्यते—प्रियचारित्रे प्रियचारित्रः अप्रियचारित्रे दृष्टे अप्रियचारित्रः, नटवदनेकरूपग्राही संसक्तः, पंचेंद्रियेषु प्रसक्तः त्रिविधगौरवप्रतिबद्धः, स्त्रीविषये संक्लेशसहितः, गृहस्थजनप्रियश्च

संसक्तः अवसण्णो अवसन्नः, पार्श्वस्थसंसर्गात्स्वयमपि पार्श्वस्थ , कुशीलसंसर्गात्स्वयमपि कुशील , यः स्वच्छंदसेवको-ऽस्वयमपि स्वच्छंदवृत्तिः । यथाछंदो निरूप्यते—उत्सूत्रमनुपदिष्टं स्वेच्छाविकल्पितं यो निरूपयति सोऽभिधीयते यथाछंद इति । तद्यथा वर्षे पतति जलधारणमसंयमः । क्षुरकर्तरिकादिभिः केशापनयनमशंसनं आत्मविराधनान्यथा भवतीति । भूमिशय्या तृणपुंजे वसतःअवस्थितानामाधायेति,उद्देशिकादिके भोजनेऽदोषः ग्रामं सकलं पर्यटतो महती जीवनिकायविराधनेति, गृहामत्रेषुभोजनमदोष इति कथनं, पाणिपात्रिकस्य परिशातनदोषो भवतीति निरूपणा, संप्रति यथोक्तकारी न विद्यत इति च भाषणं एवमादिनिरूपणापराः स्वच्छंदा इत्युच्यंते ॥

मूलारा— किं पुण किं पुनर्न परिपतंति । सर्वदा येऽवसन्नादिरूपतां धृत्वा पश्चिमकाले एव सन्मार्गमनुसृतास्ते संस्तरारूढाः संतो वेदनातशात्प्राप्तसंक्लेशास्ततः प्रच्यवंत एवेत्यर्थः । ओसण्णा चारित्रेऽवसीदन्तः पथिका इव पंके । यथोक्तमुनिकर्मस्वालस्यादिना पदे पदे स्खलन्त इत्यर्थः । णिच्चं दीक्षाग्रहणात्प्रभृतिचरमकालं यावत् । णिच्चपासत्था निरतिचारसंयममार्गं जानतो पि ये सदा तदवृत्तयो नैकांतेन संगता न च निरतिचारसंयमाः किंतु संयममार्गपार्श्वे तिष्ठन्ति । यथा केचित् पांथा मार्गं पश्यतोऽपि तत्पार्श्वे अयोग्यं सुखशीलतया कारणं विना ये निषेवंते ते पार्श्वस्था इति तात्पर्यं । कुशीला लोकप्रकटकुत्सितशीलाः । संसत्ता ये प्रियचारित्रे दृष्टे प्रियचारित्राः, अप्रियचारित्रे च अप्रियचारित्राः । नटवदनेकरूपग्राहिणोऽवसन्नादिसंसर्गात्स्वयमपि तद्भावभाज इति भावः ॥ जधाछंदा उत्सूत्रानुपदिष्टस्वेच्छाविकल्पित निरूपणापराः ॥

अर्थ—क्या जो अवसन्न, पार्श्वस्थ, कुशलि, संसक्त और यथा छंद मुनि हैं वे अवश्य सन्मार्ग से भ्रष्ट नहीं होते हैं ? अवश्य ही भ्रष्ट होंगे.

अर्थ—जैसे कीचडमें फसेहुए और मार्गभ्रष्ट पथिकको अवसन्न कहते हैं उस को द्रव्यावसन्नभी कहते हैं. वैसे जिसका चारित्र अशुद्ध बन गया है ऐसे मुनिको भावासन्न कहते हैं. यह मुनि पिंछी कमंडलवादिक उपकरणोंमें, आसक्त होता है. वसति और संस्तरकी शोधना करनेमें प्रमादी बनता है. स्वाध्यायमें, विहारभूमिशोधनमें, आहारकी शुद्धिमें, ईर्यासमित्यादिक समितिओं में, स्वाध्यायकालके अवलोकनमें स्वाध्यायको समाप्ति करने में तत्पर नहीं होता है. अर्थात् उपर्युक्त कार्योंमें यह प्रमादी बनता है. आवश्यकादि कार्यों में आलस्य करता है. इतर मुनिओंकी अपेक्षा से यह अवसन्नमुनि आवश्यकोंका अधिक भी पालन करता है परंतु वचन और काय–शरीरसेही करता है. मनसे उनका पालन नहीं करता है. इस प्रकार वह चारित्रसे भ्रष्ट होता है इसलिये ऐसे मुनिको अवसन्न कहते हैं,

मार्गको जानता हुआ भी कोई अन्य पुरुषके साथ उस मार्गके समीप जाता है उसको जैसे मार्गपार्श्वस्थ कहते हैं वैसे अतिचाररहित संयममार्गका स्वरूप जानकर भी उसमें जो प्रवृत्ति नहीं करता है परंतु संयममार्गके पास ही वह रहता है. यद्यपि वह एकांतरूपसे असंयमी नहीं है परंतु निरतिचार संयमका पालन नहीं करता है इसलिये उसको पार्श्वस्थ कहना चाहिये. वसतिका को बनवानेवाला, उसकी मरम्मत करनेवाला, और यहां आप ठहरो ऐसा कहकर मुनिओंको वसतिका देनेवाला इन तीनो को शय्याधर कहते हैं. इनके यहां आहार ग्रहण करना मुनिओंकेलिये निषिद्ध है. परंतु इनके यहां जो हमेशा आहार ग्रहण करते हैं. दाताकी आहार लेने के पूर्व और आहार लेनेके अनंतर प्रशंसा करते हैं. उत्पादन दोष, एषणा दोष सहित आहारको ग्रहण करते हैं. हमेशा एकही वसतिकामें रहते हैं. एकही संस्तरमें हमेशा सोते हैं, एकही क्षेत्रमें रहते हैं. गृहस्थोंके घरमें अपनी बैठक लगाते हैं. गृहस्थोपकरणोंसे अपनी शौचादि क्रिया करते हैं. जिसकी शोधना अशक्य है अथवा जो सोधा नहीं गया है उसको ग्रहण करते हैं सूई, कैंची, नख छेदनका शस्त्र. सांडस (जिसको चिमटा कहते है) वस्तरा तीक्ष्ण बनानेका पत्थर, वस्तरा, कर्णमल निकालनेका साधन. इन वस्तुओंको ग्रहण करते हैं. सीना, धोना, उसको झटकना, रंगाना इत्यादि कार्योंमें जो तत्पर रहते हैं ऐसे मुनिओंको पार्श्वस्थमुनि कहते हैं. जो अपने पास क्षारचूर्ण सोहाग चूर्ण, नमक, घी वगैरह पदार्थ कारण न होने परभी रखते हैं उनको भी पार्श्वस्थ कहना चाहिये. जो रातमें यथेष्ट सोते हैं, अपनी इच्छाके अनुसार बिछानाभी बडा बनाते हैं, उपकरणोंका संग्रह करते हैं, उनको उपकरण बकुश कहते हैं.

जो दिनमें सोता है उसको देहबकुश कहते हैं ऐसे पार्श्वस्थके भेद हैं. कारणके विना पाव धोना अथवा तेल लगाना, गणके ऊपर उपजीविका करना, तीन अथवा पांच मुनिओंकी सेवा करना ? ऐसे जो कार्य करता है वह भी पार्श्वस्थ है.

जिसका आचरण कुत्सित है दोष युक्त है उस मुनिको कुत्सित कहते हैं. यदि ऐसा कुशील मुनिका लक्षण किया जावेगा तो अवसन्नादिक मुनिओंको भी कुशील ही कहना होगा ? उत्तर– जिसका बुरा आचरण लोकमें प्रगट हुआ है उसको कुशील कहते हैं ऐसा अभिप्राय यहां समझना चाहिये.

इस कुशील मुनिके अनेक प्रकार हैं. कोई कौतुककुशील है– औषध, विलेपन और विद्याके प्रयोगसेही राजद्वारमें कौतुक दिखाना, लोकमें प्रियता संपादन करना.

भूतिकुशील—भूति शब्द यहां उपलक्षण है इसलिये भूतिका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये-अभिमंत्रित किये गये धूल, सफेत सरसों, पुष्प, फल, पानी इत्यादिकोंके द्वारा किसीका रक्षण करना, किसीको वश करना, ऐसे कार्य करने वालेको भूतिकुशील कहते हैं. उपर्युक्त अभिप्राय 'भूदीय धूलियं वा' इस गाथामें भी व्यक्त किया है.

प्रसेनिका कुशीलका लक्षण इसप्रकार है. अंगुष्ठ प्रसेनिका, अक्षरप्रसेनिका, प्रदीपप्रसेनी, शशिप्रसेनी, और स्वप्नप्रसेनी इत्यादि विद्याओंसे जो लोकों का मन अनुरंजित करता है उसको प्रसेनिकाकुशील कहते हैं.

अप्रसेनिका कुशील—विद्याओसे और औषधोंसे असंयतोंकी जो चिकित्सा करता है वह अप्रसेनिका कुशील है.

अष्टांगनिमित्तको जानकर जो लोकोंको उनका उपदेश करता है वह निमित्त कुशील है.

अपजी, जाति व कुल प्रकाशित करके जो भिक्षादिककी उत्पत्ति करता है उसको आजीवकुशील कहते हैं.

किसीके द्वारा उपद्रव होनेपर दुसरोंको जो शरण जाता है. अथवा अनाथशालामें प्रवेश कर अपनी चिकित्साको करवाता है उसको आजीवकुशील कहते हैं.

विद्या मंत्रादिकोंके द्वारा परद्रव्यापहरण करके दंभ प्रदर्शन करनेवाला उसको कक्कुशील कहते हैं.

इंद्रजालादिकोंके द्वारा जो जनोंको आश्चर्यचकित करता है वह कुहनाकुशील है.

वृक्ष, छोटे छोटे पेड वगैरहोंको पुष्प और फलोंकी उत्पत्ती का उपाय बतलाता है. गर्भस्थापनादिक कार्य जो करते हैं उसको सम्मूर्छनाकुशील कहते हैं.

त्रस जातिके कीटादिक, वृक्ष, छोटे पेड इनके पुष्प फलादिकोंका जो नाश करते हैं, गर्भका जो नाश करते हैं. जो शाप देते हैं उनको प्रपातनकुशील कहते हैं.

इन सब कुशीलोंका आचार्यने 'काओतिक भूति कम्म' इस गाथामें नाम निर्देश किया हैं. गाथामें आदि शब्द आया है इससे और भी कुशीलोंके भेद होते हैं. उनका स्वरूप इस प्रकार—जो क्षेत्र—जमीन, सुवर्ण, चतुप्पदप्राणी इन परिग्रहोंका स्वीकार करते हैं. हरित, कंद, और कच्चे फल भक्षण करते हैं, कृत, कारित, और अनुमत ऐसी वसतिका, आहार उपाधि—इनका सेवन करते हैं; स्त्रियोंकी कथाओंमें प्रेम रखते हैं. मैथुन सेवामें तत्पर होते हैं;

अविवेकी होते हैं, आलवके अधिकरणों में हमेशा उद्युक्त रहते हैं इनको भी कुशील कहते हैं. जो धृष्ट, निर्लज्ज, प्रमत्त, और विकारयुक्त वेष धारण करते हैं. उनको भी कुशील कहते हैं.

संसक्त मुनिका वर्णन—

ऐसे मुनि चारित्रप्रिय मुनिके सहवासमें जब रहते हैं तब चारित्रप्रिय ये भी बन जाते हैं. जिनको चारित्रप्रिय नहीं है ऐसे मुनिके सहवासमें रहनेपर जो चरित्रको अप्रिय मानने लगते हैं. नटके समान इनका आचरण रहता है. ये संसक्त मुनि पंचेंद्रियों के विषयों में आसक्त होते हैं. तीन प्रकारके गौरवोंमें—ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातगौरव इनमें आसक्त होते हैं. स्त्री के विषयमें इनके परिणाम संक्लेश युक्त होते हैं. गृहस्थोपर इनका अतिशय प्रेम रहता है. अवसन्न मुनिसंसर्गसे ये अवसन्न बनते है. पार्श्वस्थके संसर्गसे पार्श्वस्थ हो जाते हैं. कुशीलके संसर्ग से कुशील और स्वच्छंदके संयोग होनेपर वैसे बनते हैं. अर्थात् नटवत् इनका आचरण है.

यथाछंद मुनिका वर्णन— जो मुनि आगमके विरुद्ध आगमेन न कहा हुआ और स्वेच्छाकल्पित पदार्थोंका स्वरूप कहते हैं उनको यथाछंद मुनि कहते हैं.

वर्षाकालमें जो पानी गिरता है उसको धारण करना यह असंयम है. वस्तरा और कैंचीसे केश निकालना ही योग्य है. केशलोच करनेमें आत्मविराधना होती है. सचित्ततृणपुंजपर बैठनेसे भी भूमिशय्या मूलगुण पाला जाता हैं. तृणपर बैठनेसे भी जीवोंको बाधा नहीं होती है. उद्देशादिक दोषसहित भोजन करना दोषास्पद नहीं है. आहारके लिये सब ग्राममें घूमनेसे अनेक जीवोंका घात होता हैं. घरमें हि भोजन करना अच्छा है. अर्थात् वसतिकामें ही भोजन करना अच्छा है. हाथमें आहार लेकर भोजन करनेसे जीवोंको बाधा पोहोंचती है. ऐसा वे उत्सूत्र कहते हैं. इस कालमें यथोक्त आचरण करनेवाले मुनि कोई नहीं हैं ऐसा कथन करना इत्यादि प्रकारसे विरुद्ध भाषण करनेवाले मुनियोंकि यथाछंद अर्थात् स्वछंदी मुनि कहते हैं.

अविसुद्धभावदोसा कसायवसगा य मंदसंवेगा ॥
अच्चासादणसीला मायाबहुला णिदाणकदा ॥ १९५१ ॥

अशुद्धमनसो वश्याः कषायेन्द्रियविद्विषाम् ॥
पूज्यात्यासादनाशीला नीचा मायानिदानिनः ॥ २०३० ॥

विजयोदया—अविसुद्धभावदोसा भावाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामा', तेषां दोषाः शंकादयः ते अविशुद्धा अनिराकृता यैस्ते अविशुद्धभावदोषाः । कसायवसिगा कषायवशवर्तिनः । मंदसंवेगाः । अच्चासादणसीला गुणाना गुणिनां चापमानकारिण । प्रचुरमायानिदानं गताः ॥

कुतस्ते मृत्युकाले सन्मार्गात्प्रच्यवंते इत्यत्र गाथाषट्कमाह—

मूलारा—अविसुद्धभावदोसा अनिराकृतरत्नत्रयातिचाराः । अच्चासादणसीला गुणानां गुणिनां चावमानकारिणः ।

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको आचार्य भाव कहते हैं. इनके शंकादिक दोष हैं. इन दोषोंको न हटानेसे सम्यग्दर्शनादिक निर्मल नहीं होते हैं. अर्थात् अवसन्नादिक मुनिओंका रत्नत्रय निर्दोष नहीं रहता है. ये कषायके वश हो जाते हैं. उनमें धर्मप्रेम मंद पाया जाता है. वे गुणोंका और गुणिजनो–का अपमान करते हैं. उनमे माया और निदान ये दो शल्य प्रचुर पाये जाते हैं.

सुहसादा किमज्झा गुणसायी पावसुत्तपडिसेवी ॥
विसयासापडिबद्धा गारवगरुया पमाइल्ला ॥ १९५२ ॥

धर्मकार्यपराधीनाः पापसूत्रपरायणाः ॥
संघकृत्ये ममानेन किं कृत्यमिति वादिनः ॥ २०३१ ॥
सर्वव्रतातिचारस्थाः सुखास्वादनलालसाः ॥
अनाराधितचारित्राः परचिंताकृतोद्यमाः ॥ २०३२ ॥

विजयोदया—सुहसादा सुखास्वादनपराः । किमज्झा किं मह्यं केनचिदिति सर्वेषु संघकार्येष्वनादृताः । गुण सायी गुणेषु सम्यग्दर्शनादिषु शेरत इव निरुत्साहाः । पावसुत्तपडिसेवी आत्मनः परेषां वा अशुभपरिणामस्य मिथ्यात्वा-संयमकषायाणां प्रवर्तकं शास्त्रं पापसूत्रं निमित्तं, वैद्यकं, कौटिल्यं, स्त्रीपुरुषलक्षणं, धातुवादः, काव्यनाटकानि, चौरशास्त्रं शस्त्रलक्षणं प्रहरणविद्याचित्रकलागांधर्वगंधयुक्त्यादिकं एतस्मिन् पापसूत्रे कृतादराभ्यासाः, विसयासापडिबद्धा अभिमतविषयपरिप्राप्त्यर्था या आशा तस्यां प्रतिबद्धाः, तिगारवगुरुका गारवत्रयैर्गुरवः । पमादल्ला विकथादिपंचदश प्रमादसहिताः ॥

मूलारा—सुहसादा सुखास्वादनपराः । किमज्झा किं मम केनचिदिति सर्वेषु संघकार्येष्वनादृताः । गुणसाधी गुणेषु सम्यग्दर्शनादिषु घोरत इव । सम्यक्त्वादिनिरुत्साहा इत्यर्थः । पावसुत्तपडिसेवी स्वपरयोर्मिथ्यात्वादिनिवेदकनिमित्त कौटिल्यस्त्रीपुरुषलक्षणं, धातुवादकाव्यनाटकचौर्यशास्त्रचित्रगीतनृत्यवाद्यगंधयुक्त्यादिशास्त्रेषु कृतादराभ्यासाः । पमादिल्ला विकथादिप्रमादयुताः ॥

अर्थ—इन मुनिओंका स्वभाव सुखिया बनता है इसलिये मेरा किसीसे कुछ भी संबंध नहीं है ऐसी कल्पना करके संघके कार्योंसे वे उदासीन रहते हैं. सम्यग्दर्शनादि गुणोंमें वे निरुत्साह रहते हैं अर्थात् इनकी वृद्धि करनेकी उनको इच्छा नहीं होती. अपने अथवा अन्यजनोंके अशुभ परिणाम बनानेवाले अर्थात् जो मिथ्यात्व, असंयम, कषायरूप परिणामोंकी उत्पत्ति करते हैं ऐसे शास्त्रोंका पाप कहते हैं. जैसे निमित्त, वैद्यक, कौटिल्य (चाणक्यका अर्थशास्त्र) स्त्रीपुरुषलक्षण, अर्थात् सामुद्रिक, धातुवाद, काव्य, नाटक चौरशास्त्र, शस्त्रलक्षण, शास्त्रविद्या, चित्रकला, गांधर्व, गंधयुक्त्यादिक इन शास्त्रों को पापसूत्र कहते हैं. ये पार्श्वस्थादि मुनि इन शास्त्रोंका आदरसे अभ्यास करते हैं. इष्ट विषयकी प्राप्ति करानेवाली जो आशा है उससे ये बंध गये हैं. तीन गारवसे ये सदा युक्त रहते हैं. विकथादिक पंदरह प्रमादोंसे ये पूर्ण रहते हैं.

समिदीसु य गुत्तीसु य अभाविदा सीलसंजमगुणेसु ॥
परतत्तीसु पसत्ता अणाहिदा भावसुद्धीए ॥ १९५३ ॥

विजयोदया—समिदीसु य समितिषु गुप्तिषु च संयमगुणेषु भावनारहिता. परव्यापारेषु प्रवृत्ता भावशुद्धावनादृताः ॥

मूलारा—परतत्तीसु परव्यापारचिंतासु अणाढिदा अनादृता अस्थिरा वा ।

अर्थ—समिति, गुप्ति, इनकी भावनाओंसे-अभ्याससे ये दूर रहते हैं. संयमके भेद जो उत्तरगुण शील वगैरह इनसे ये दूर रहते हैं. दूसरोंके कार्योंकी चिंतामें लग रहते हैं. और आत्मकल्याणके कार्योंसे कोसों दूर रहते हैं. इसलिए इनके रत्नत्रयमें निर्मलता नहीं रहती है.

गंथाणियत्ततण्हा बहुमोहा सबलसेवणासेवी ॥
सद्दरसरूवगंधे फासेसु य मुच्छिदा घडिदा ॥ १९५४ ॥
इहलोकक्रियोद्युक्ताः परलोकक्रियालसाः ॥
मोहिनः शबलाः क्षुद्राः संक्लिष्टा दीनवृत्तयः ॥ २०३३ ॥

विजयोदया—गंथाणियत्ततण्हा अवृत्तपरिग्रहतृष्णा, बहुमोहा, अज्ञानबहुलाः, शबलसेवनापराः, शब्दादिषु विषयेषु मूर्छिताः, आस्रवघटिना ॥

मूलारा—गंथाणियत्ततण्हा अनिवृत्तपरिग्रहस्पृहाः । बहुमोहा अज्ञानबहुलाः । सबलसेवणासेवी गृहस्थारंभसेविनः । मुच्छिदा गृद्धिं गताः । घडिदा संबद्धाः ॥

अर्थ—परिग्रहमें इनकी अभिलाषा तृप्त होती नहीं बढती ही रहती है. ये आज्ञानसे घिरे रहते हैं. अर्थात् आत्मस्वरूप का ज्ञान इन को नहीं होता है. गृहस्थोंके आरंभादि कार्य ये करते रहते हैं. शब्द, रस, गंध, रूप, स्पर्श इन विषयोंमें ये अत्यासक्त होते हैं.

परलोगणिप्पिवासा इहलोगे चेव जे सुपडिबद्धा ॥
सज्झायादीसु य जे अणुट्ठिदा संकिलिट्ठमदी ॥ १९५५ ॥

विजयोदया—परलोयणिप्पिवासा परलोकनिस्पृहाः, ऐहिकेष्वेव कार्येषु प्रतिबद्धाः, स्वाध्यायादिष्वनुद्यताः, संक्लिष्टमतयः ॥

मूलारा—णिप्पिवासा निस्पृहाः । अणुट्ठिदा अनुद्यताः ॥

अर्थ—ये परलोकके विषयमें निस्पृह होते हैं. परंतु ऐहिक कार्यों में ही इनका मन तत्पर रहता है. स्वाध्याय, आलोचनादिक कार्योंमें इनका मन लगता नहीं है, इनके बुद्धीमें संक्लेश परिणाम रहते हैं.

सव्वेसु य मूलुत्तरगुणेसु तह ते सदा अइचरंता ॥
ण लहंति खवोवसमं चरित्तमोहस्स कम्मस्स ॥ १९५६ ॥

विजयोदया—मूलोत्तरगुणेषु सदा सातिचारा न लभंते चारित्रमोहस्य क्षयोपशमं ॥

मूलारा—ते नित्यावसन्नादयः समाधिमरणोद्यताः । अदिचरंता अन्तर्वृत्त्या बहिर्वृत्त्या वा भंजंतः । अन्ये विचरंता इति पठित्वा सर्वस्मिन्मूलोत्तरगुणेऽप्रवर्तमाना इत्यर्थमाहुः ॥ णेत्यादि असंयता एव ते भवन्तीत्यर्थः ॥

अर्थ--मूलगुण और उत्तरगुणोंमें हमेशा अतिचार युक्त ही रहते हैं. अर्थात् इन गुणोंमें इनको हमेशा अतिचार लगते हैं. उनको चारित्र मोहनीय कर्मका क्षयोपशम नहीं रहता है. अर्थात् वे असंयत ही होते हैं.

एवं मूढमदीया अवंतदोसा करेंति जे कालं ॥
ते देवदुब्भगत्तं मायामोसेण पावंति ॥ १९५७ ॥

आलोचनामनाधाय ये म्रियंते कुबुद्धयः ॥
त्रिदिवे निंदिताचारा दुर्भगाः संति ते सुराः ॥ २०३४ ॥

विजयोदया—एवं मूढमदीया एवं मूढबुद्धयो अनपास्तदोषा ये कालं कुर्वंति ते देवदुर्भगतां प्राप्नुवंति मायया ॥

तदनंतरं प्राप्यं दर्शयन्ति—

मूलारा—अवंतदोसा अनिराकृतातिचाराः । देवाश्च ते दुर्भगाश्च देवदुर्भगास्तद्भावं । उक्तं च—

आलोचनामनाधाय ये म्रियंते कुबुद्धयः ॥ त्रिदिवे निंदिताचारा दुर्भगाः सन्ति ते सुराः ॥

अर्थ—इस प्रकार मूढमति ये अवसन्नादिक मुनि अपने दोषों को नहीं हटाते हुए अपना सर्व आयुष्य योंही व्यतीत करते हैं, जिससे मायाचारी इन मुनिओंको देव दुर्गतिकी प्राप्ति होती है

किंमज्झ णिरुच्छाहा हवंति जे सव्वसंघकज्जेसु ॥
ते देवसमिदिवज्झा कप्पंते हुंति सुरमेच्छा ॥ १९५८ ॥

संघकृत्ये निरुत्साहाः किमेनन ममेति ये ॥
ते भवन्ति सुरा म्लेच्छा बाह्यवादिदिवौकसां ॥ २०३५ ॥

विजयोदया—किं मज्ञणिरुच्छाहा किं मह्यमिति ये सर्वसंघकार्येष्वनादृतास्ते देवसमितिवाह्याः कल्पानामंते सुरम्लेच्छा भवंति ॥

संघकार्यानादृतानां देवदुर्गतिमाह—

मूलारा—किं मज्ञ णिरुच्छाहा किं ममेत्यनादृताः ॥ समिदि सभायां । कप्पंते सौधर्मादिकल्पानां मत्यंते । सुरमेच्छा देवम्लेच्छाः कर्मचांडाला इत्यर्थः ॥

अर्थ—जो संघके कार्योंका अनादर करते हैं ऐसे मुनि सौधर्मादिक स्वर्गके अंतमें सुरम्लेच्छ अर्थात् चांडालके समान देव होते हैं.

कंदप्पभावणाए देवा कंदप्पिया मदा होंति ॥
खिब्भिसयभावणाए कालगदा होंति खिब्भिसया ॥ १९५९ ॥
अभिजोगभावणाए कालगदा आभिजोगिया हुंति ॥
तह आसुरीए जुत्ता हवंति देवा असुरकाया ॥ १९६० ॥
सम्मोहणाए कालं करित्तु दो हुंदुगा सुरा हुंति ॥
अण्णंपि देवदुग्गइ उवयंति विराधया मरणे ॥ १९६१ ॥

कंदर्पभावनाशीलाः कंदर्पाः संति नाकिनः ॥
निंद्याः किल्बिषिकाः संति मृताः किल्बिषभावनाः ॥ २०३६ ॥
अभियोग्यक्रियासक्ता आभियोग्याःसुरा मृताः ॥
आसुरीभावनाः कृत्वा मृत्वा सन्त्यसुराः पुनः ॥ २०३७ ॥
संमोहभावनोद्युक्ताःसंमोहास्त्रिदशा मृताः ॥
विराधकैःपराप्येवं प्राप्यते देवदुर्गतिः ॥ २०३८ ॥

विजयोदया—स्पष्टार्थमुत्तरगाथात्रयं ॥

कन्दर्पादिभावनामृतानां तथाविधदेवभूयमभिधत्ते—

मूलारा—मदा मृताः ॥

मूलारा—असुरकाया असुराः ॥

मूलारा—करित्तु कृत्वा । भाद्रपदमासकुक्कुराणामनुहरमाणाः । कामातुरतया शुनीनामिव देवीनां अतिनिंद्य पुरोऽतनादिचेष्टाकारिण इत्यर्थः ॥ अण्णं च अपरमपि । उवयंति प्राप्नुवंति ॥

अर्थ—कंदर्प भावनाके वश होकर ये मुनि कंदर्प जाति के देव होते हैं. किल्विषभावनाके वश होनेसे माणोसर किल्विष देवपर्यायकी माप्ति इनको होती हैं. आभियोग्य भावनासे जो मुनि मरण करते हैं वे स्वर्गमें आभियोग्य देव अर्थात् वाहनदेव होते हैं. आसुरीभावनासे प्राणत्याग करनेवाले मुनि असुर देव होते हैं. सम्मोह भावनाके वश होकर मरण करनेवाले मुनि स्वर्गमें सम्मोह नामक देव होते हैं. कामविकारके बाहुल्यसे ये देव देवीके साथ हमेशा कामसेवन करते हैं. मरणकालमें जो आराधानाकी विराधना करते हैं ऐसे मुनि अन्यभी देवदुर्गती में जन्ममें लेते हैं.

इय जे विराधयित्ता मरणे असमाधिणा मरेज्जण्ह ॥
तं तेसि बालमरणं होइ फलं तस्स पुव्वुत्तं ॥ १९६२ ॥

इत्थं विराध्य ये जीवा म्रियंते-संयमादिकम् ॥
तेषां बालमृतिस्तस्याःफलं पूर्वत्र वर्णितम् ॥ २०३९ ॥

विजयोदया—इय जे विराधयित्ता एवं ये रत्नत्रयं विनाश्य मरणकाले असमाधिना मृतिमुपयांति तत्तेषां बालमरणं भवति । तस्य बालमरणस्य फलं पूर्वमुक्तमेव ॥

रत्नत्रयं विराध्य मृतानां कतमन्मरणं स्यादित्यत्राह—

मूलारा—मरेजण्ह म्रियेरन् ॥ तं असमाधिमरणं ॥

अर्थ—जो इस प्रकार रत्नत्रयका नाश कर मरणको प्राप्त होते हैं. अर्थात् असमाधिसे मरण करते हैं. उनका यह मरण बालमरण है ऐसा आचार्य कहते हैं. बालमरणके फलका वर्णन पूर्वमें आ चुका है.

जे सम्मत्तं खवया विराधयित्ता पुणो मरेज्जण्ह ॥
ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा होंति ॥ १९६३ ॥

विराध्य ये विपद्यंते सम्यक्त्वं नष्टबुद्धयः ।
ज्योतिर्भावनभौमेषु ते जायन्ते वितेजसः ॥ २०४० ॥

विजयोदया—जे सम्मत्तं खवगा ये क्षपकाः सम्यक्त्वं विनाश्य म्रियंते भवनवासिनो ज्योतिष्का व्यंतरा वा भवंति ॥

सम्यक्त्वविराधनामरणफलमाह—

मूलारा—भोमेज्जा व्यंतराः ॥

अर्थ—जो क्षपक सम्यक्त्वका नाश कर कर मरण को प्राप्त होते हैं उनकी भवनवासि, व्यंतर अथवा ज्योतिष्क देवों में उत्पत्ति होती हैं.

दंसणणाणविहूणा तदो चुदा दुक्खवेदणुम्मीए ॥
संसारमण्डलगदा भमंति भवसागरे मूढा ॥ १९६४ ॥

दर्शनज्ञानहीनास्ते प्रच्युता देवलोकतः ॥
संसारसागरे घोरे चंभ्रमन्ति निरन्तरम् । २०४१ ॥

विजयोदया—दंसणणाणविहीणा सम्यग्दर्शनज्ञानहीनास्ततः स्वर्गाच्च्युता दुःखवेदनोर्मीके भवसागरे मूढा भ्रमंति, मंडलं गताः ॥

विराधनाधिगतदेवभावभ्रंशोदर्कदुर्जन्मपरंपरां ब्रवीति—

मूलारा—तदो चुदा तत्तदेवभावभ्रष्टाः । दुक्खवेदणुम्मीए क्लेशानुभूतिवीचिके । मंडल आवर्तः ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान इन गुणों से रहित देव आयुष्य समाप्त होने पर स्वर्गसे भ्रष्ट होकर दुःखानुभवरूप तरंगोंसे भरे हुए संसारसमुद्रमें अज्ञानसे अचेत होकर भ्रमण करते हैं.

जो मिच्छत्तं गंतूण किण्हलेस्सादिपरिणदो मरदि ॥
तल्लेस्सो सो जायइ जल्लेस्सो कुणदि सो कालं ॥ १९६५ ॥

ये मृता मुक्तसम्यक्त्वाः कृष्णलेश्यादिभाविताः ॥
तथालेश्या भवाम्भोधौ ते भ्रमन्ति दुरुत्तरे ॥ २०४२ ॥
निवेशयंती भुवनाधिपत्ये मनीषितं कामदुघेव धेनुः ॥
आराधिता किं न ददाति पुंसामाराधना सिद्धिवधूवयस्या ॥ २०४३ ॥

इति फलम् ॥

विजयोदया—जो मिच्छत्तं गंतूण यः कृष्णलेश्यादिपरिणतो मिथ्यात्वं गत्वा म्रियते तल्लेश्यो जायते, परत्र च यल्लेश्यः कालं कृतवान्। फलंचि ॥

मिथ्यात्वपरिणतस्य मरणमाप्यदुर्लेश्यापरिणामाना संसरणानुबंधमभिधत्ते—

मूलारा—जायदि परत्र उत्पद्यते। उक्तं च—

ये मृता मुक्तसम्यक्त्वाःकृष्णलेश्यादिभाविताः।
तथालेश्या भवाम्भोधौ ते भ्रमति दुरुत्तरे ॥

फलं। सूत्रः ३९ अंकतः ४१ ॥

अर्थ—जो मुनि कृष्ण लेश्या वगैरह लेश्याओंके वश होकर मिथ्यात्वी बन कर मरण करते हैं वे परलोकमें भी उसी लेश्या के धारक होते हैं. तात्पर्य जिस लेश्या से मरण होता है परलोकमें भी वही लेश्या उस जीवकी रहती है. इस प्रकार फल का वर्णन हुआ.

विजहणा निरूप्यते—

एवं कालगदस्स दु सरीरमंतोवहिज्ज वाहिं वा ॥
विज्जावच्चकरा तं सयं विकिंचंति जदणाए ॥ १९६६ ॥

एवं कालगतस्यास्य बहिरंतनिवासिनः ।
त्यजंति यत्नतो गात्रं वैयावृत्त्यकराः स्वयम् ॥ २०४४ ॥

विजयोदया-एवं कालगदस्स एवं कालगतस्य शरीरमंतर्बहिर्वावस्थितं वैयावृत्यकराः स्वयमेवापनयंति यत्नेन ॥

अथ लोकांतरप्राप्तक्षपकशरीरस्य त्यजनविधिं गाथाचतुस्त्रिंशता व्याचष्टे—

मूलारा—एवं यथोक्तसंन्यासविधिना । कालगदस्स मृतस्य क्षपकस्य । अंतो मध्ये नगरादेः स्थितस्य । बाहिं बहिः । तं निस्तरणांतसम्यक्त्वाद्याराधनाधिगतपरमपवित्रभावं । विकिंचंति अपनयंति । जदणाए यत्नेन वक्ष्यमाणेन ॥

अर्थ—जो क्षपक लोकांतर को प्राप्त हुआ है अर्थात् मर गया है तब वैयावृत्य करने वाले मुनि उसका शरीर जो कि नगरादिमें अथवा बाहर वसतिकोंमें पडा रहता है उसे आगे कहे हुए प्रयत्नसे ले जाते हैं. अभिप्राय यह है कि-पूर्वोक्त संन्यास विधीसे जो क्षपक सम्यक्त्वादिक चार आराधनाओंकी निस्तरण पर्यंत प्राप्तिकर पवित्र हुआ है वह नगरादिके बीचमें अथवा बाहर जब मरण करता है तब वैयावृत्य करने वाले मुनिगण उसके शवको बडे प्रयत्नसे स्वयमेव ले जाते हैं.

समणाणं ठिदिकप्पो वासावासे तहेव उडुबंधे ॥
पडिलिहिदव्वा णियमा णिसीहिया सव्वसाधूहिं ॥ १९६७ ॥

साधूनां स्थितिकल्पोऽयं वर्षासु ऋतुबंधयोः ॥
समस्तैस्साधुभिर्यत्नाद्यन्निरूप्या निषद्यका ॥ २१४५ ॥

विजयोदया—समणाणं ठिदिकप्पो श्रमणानां स्थितिकल्पो वर्षावासे ऋतुप्रारंभे च नियमेन सर्वैः साधुभिर्निषीधिका नियमेन प्रतिलेखनीया ॥

स्वदेहेऽपि निरीहाः मुमुक्षवः कुतस्तच्छरीरत्यगाय स्वयं यतंते इत्यारेकायामुत्तरयति—

मूलारा—ठिदिकप्पो एष स्थितिकल्पोऽस्त एव वचनान्मासपवज्जाख्यस्थितिकल्पद्वयान्तर्गतत्वेन भवति । वासावासे वर्षासु चतुर्मास्यामेकत्र वासे प्रतिपद्यमाने चातुर्मासिकयोगप्रारंभ इत्यर्थः । उडुबंधे ऋतुप्रारंभे । पडिलिहिदव्वा यदि विशेषा णिसीधिया आराधकशरीरस्थापनस्थानम् ॥ उक्तं च —

साधुनां स्थितिकल्पोऽयं वर्षावासानुबंधयोः ॥ समस्तैः साधुभिर्यत्नाद्वनिरूप्या निषद्यका ॥

अन्ये तु वासे वासे इति पाठित्वा वर्षे वर्षे इत्यर्थं व्याचकुः । अपरे मासे मासे इति पाठं मत्वा एवशब्दं विकल्पार्थमीपुः । तथा चोक्तम्—

श्रवणानां स्थितिकल्पो मासे मासे तथर्तुबंधे वा ॥

प्रतिलेख्यैषा नियतं निषद्यका सर्वसंयमिभिः ॥.

यस्मान्निषद्यादर्शनं कालनैयत्येन सूत्रे साधूनामवश्यकर्तव्यतयोपदिष्टं तस्मान्निषद्याविधानाय मुमुक्षुभिःस्वयं प्रयतितव्यमिति भावः ॥

अर्थ—चातुर्मासिक योगको प्रारंभकालमें तथा ऋतुप्रारंभमें जहां आराधकके शरीर का स्थापन किया है उस स्थानकी प्रति लेखना सर्व साधुओं को नियमसे करनी चाहिये. अर्थात् उस स्थानका दर्शन करना चाहिये, पीछीसे उसको स्वच्छ करना चाहिये. ऐसा यह मुनिओंका स्थित कल्प है.

तस्या लक्षणमाचष्टे—

एगंता सालोगा णादिविकिट्ठा ण चावि आसण्णा ॥

वित्थिण्णा विद्धत्ता णिसीहिया दूरमागाढा ॥ १९६८ ॥

निषद्या नातिदूरस्था विविक्ता प्रासुका घना ॥

कर्तव्यास्ति परागम्या बालवृद्धगणोचिता ॥ २०४६ ॥

विजयोदया—एगंता सालोगा एकांता परैः प्रायेणादृश्या नातिदूरा नात्यासन्ना विस्तीर्णा अविध्वस्ता दूरमवगाढा ॥

किं लक्षणैषा निषद्या स्यादित्यत्राह—

मूलारा—एगंता एकांतप्रदेशस्था । सालोगा सप्रकाशा । णादिवियट्ठा नातिदूरा नगराद्यपेक्षया । ण वादियासण्णा नात्यत्यासन्ना वित्थिण्णा विपुला । विद्धत्था प्रासुका । दूरमोगाढा अतिदृढा । उक्तं च—

निषद्या नातिदूरस्था विविक्ता प्रासुका घना ।

कर्तव्यास्ति परागम्या बालवृद्धगणोचिता ॥

अन्ये एगंता सालोगा इति पठित्वा एकांतपरै-प्रायेणादृश्या इत्यर्थं प्रतिपन्नाः। एकांतैरेकांतवादिभिः न सम्यक् सुखेनालोक्यते दृश्यते इति व्युत्पत्तेः ॥ तदुक्तम्—

नातिदूरा न चासन्ना विध्वस्ता प्रायशः परैः ॥ अदृश्या तु तथा दूरमवगाढा निपद्यका ॥

अपरे तु दूरमोगाढा इत्यस्य निपद्यास्थानस्तंभापेक्षया बहुधःप्रवेशेत्यर्थमाहुः। टिप्पनके तु दूरे दूरे प्रच्छन्नेत्यर्थो व्याख्यायि ॥

निषीधिकाका लक्षण कहते हैं—

अर्थ—निषीधिका एकान्तप्रदेशमें अन्यजनों को दीख न पडेगी ऐसे प्रदेश में हो. प्रकाशसहित होनी चाहिये. वह नगरादिकों से अतिदूर न हो. न अति समीप भी हो. वह टूटी हुई, विध्वस्त की गई ऐसी न हो. वह विस्तीर्ण प्रासुक और दृढ होनी चाहिये.

अभिसुआ असुसिरा अघसा उज्जोवा बहुसमा य असिणिद्धा ॥
णिज्जंतुगा अहरिदा अविला य तहा अणाबाधा ॥ १९६९ ॥
जा अवरदक्खिणाए व दक्खिणाए व अधव अवराए ॥
वसधीदो वण्णिज्जदि णिसीधिया सा पसत्थत्ति ॥ १९७० ॥
वसतेर्नैऋते भागे दक्षिणे पश्चिमेऽपि वा ॥
निषद्यका स्थिता या सा प्रशस्ता परिकीर्तिता ॥ २०४७ ॥

विजयोदया—जा अवरदक्खिणाए अपरदक्षिणाशायां, दक्षिणस्यां, अपरस्यां वा दिशि वसतितः निषीधिका प्रशस्ता ॥

तल्लक्षणशेषमाह—

मूलारा—अभिसुआ उद्देहकारहिता। असुसिरा अधःप्रवेशिच्छिद्ररहिता। अघसा पुप्पटिकारहिता। उज्जोआ सोद्योता। बहुसमा बहुसमाभूमिका। असिणिद्धा अनार्द्रा। अविला तिर्यग्विवररहिता। अणाबाधा बाधारहिता एतां श्रीविजयो नेच्छति ॥

मूलारा—अवरदक्खिणाए नैर्ऋत्यदिशि । अवराण पश्चिमदिशि । वसधीदो क्षपकवसतेः सकाशात् । वण्णिज्जदि प्रतिपाद्यते पूर्वाचार्यैः ॥

अर्थ—यह निषिधिका चीटिओंसे रहित, छिद्रोंसे रहित होनी चाहिये घिसी हुई न होना चाहिये प्रकाशसहित होवे समान भूमिके स्थानपर होवे, निर्जंतुक बाधारहित होवे यह गीली तथा इधर उधर हिलने वाली नहीं होवे यह निषीधिका क्षपककी वसतिकासे नैऋत्य दिशामें, दक्षिण दिशामें अथवा पश्चिम दिशामें होनी चाहिये. ऐसी इन दिशाओंमें निषिधिका की रचना करना पूर्व आचार्यों ने प्रशस्त माना है

सव्वसमाधी पढमाए दक्खिणाए दु भत्तगं सुलभं ॥
अवराए सुहविहारो होदि य उवधिस्स लाभो य ॥ १९७१ ॥

सर्वस्यापि समाधानं प्रथमायां तथान्यत· ॥
आहार सुलभोऽन्यस्यां भवेत्सुखविहारिता ॥ २०४८ ॥

विजयोदया—सव्वसमाधी पढमाए सर्वेषां समाधिर्भवति पढमाए अपरदक्षिणदिगवस्थितायां निषीधिकाया, दक्षिणदिगवस्थितायामाहार सुलभ पश्चिमाया सुखविहार उपकरणलाभश्च ॥

पूर्वोक्तदिक्त्रयनिषद्याकरणे शुभफलविशेषान्प्रकाशयति—

मूलारा—सव्वसमाधी सर्वेषा संघवर्तिश्रमणादीना समाधानं । भत्तग अन्नपान । सुहविहारो सुखप्रवर्तना । उवधिस्स पुस्तकाद्युपकरणस्य ॥

अर्थ—नैऋत्यदिशाकी निषिधिका सर्व संघके समाधिके लिये कारण हो जाती है अर्थात् इस दिशाकी निषिधिका संघका हित करनेवाली होती है दक्षिण दिशाकी निषिधिकासे आहार सुलभतासे संघको मिलता है. पश्चिमदिशामें निषिधिका होनेसे संघका सुखसे विहार होता रहेगा और उनको पुस्तकादिक उपकरणोंका लाभ होता रहेगा

जदि तेसिं वाघादो दट्ठव्वा पुव्वदक्खिणा होइ ॥
अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचिपुव्वुत्तरा कमसो ॥ १९७२ ॥

तदभावेऽनलाशायां वायव्यायां हरेर्दिशि ॥
निषद्यकोत्तरस्यां वा मतेशानस्य वा दिशि ॥ २०४९ ॥

विजयोदया—जदि तासिं वाघादो यदि ता निषीधिका न लभ्यते, पूर्वदक्षिणनिषीधिका द्रष्टव्या, अपरोत्तरा वा पूर्वा वा उदीची वा पूर्वोत्तरा वा क्रमेण ॥

आग्नेयादिदिक्षु निषद्याविधाने यथोत्तरोत्कृष्टफलानि दर्शयन् गाथाद्वयेन निषेधं व्यनक्ति—

मूलारा—तासिं वाघादो प्रागुक्तनिषद्यानां प्रतिबंधः । अपरदक्षिणादिदिक्षु निषीधिकाः कर्तुं न लभ्यंते इत्यर्थः ॥ दट्ठव्वा निषद्यावधाने वक्ष्यमाणयथोत्तरोत्कृष्टाशुभफलप्रदतया निरूप्या भवन्ति । पुव्वदक्खिणा आग्नेयी दिक् । अवरुत्तरा वायवी दिक् । उदीचि उत्तरा । पुव्वुत्तरा ऐशानी दिक् ॥

अर्थ—यदि नैऋत्य, दक्षिण और पश्चिम दिशामें निषिधिका बनवाने में कुछ बाधा उपस्थित होगी तो आग्नेय दिशामें, वायव्य दिशामें, ऐशान्य दिशामें व उत्तर दिशामें इन दिशाओमें से जिस दिशामें सुभीता हो वहां बनवानी चाहिये.

एदासु फलं कमसो जाणेज्ज तुमंतुमा य कलहो य ॥
भेदो य गिलाणं पि य चरिमा पुण कड्ढदे अण्णं ॥ १९७३ ॥

क्रमेण फलमेतासु स्पर्द्धा राटिश्च जायते ॥
भेदश्चापि तथा व्याधिरन्यस्याप्यपकर्षणम् ॥ २०५० ॥

विजयोदया—एदासु एतासु निषीधिकासु । फलं क्रमशो विजानीयात् तुमंतुमा य पूर्वदक्षिणस्यां स्पर्द्धा, अपरोत्तरस्यां कलहः पूर्वस्यां भेदः उदीच्यां व्याधिः, पूर्वोत्तरस्यां अन्योन्येनापकृष्यते ॥

मूलारा—तुमंतुमा स्पर्द्धा अहमेवंभूतस्त्वमेवंभूतोऽन्ये वा ईदृग्भूता इत्यादिसंघर्षः । कलहो राटिः । भेदो संघस्य परस्परं द्विधाभावः । गिलाणं व्याधिः । चरिमा ईशानदिक् । कड्ढदे आकर्षति । पूर्वोत्तरदिग्निषद्याकरणैः परो मुनिर्म्रियते इत्यर्थः । एतेनेदमुपदिष्टं भवति । प्रागेव तथा क्षपकाय वसतिः कल्प्या यथा तन्निषद्या नैऋत्यादिदिक्षन्यतमस्यां कर्तुं शक्यते इति ॥ १७३९

अर्थ—परंतु इन दिशाओंकी निषीधिकाओंका फल इस प्रकार क्रमसे समझ लेना चाहिये. पूर्व दक्षिण दिशामें स्पर्द्धा, अर्थात् मैं ऐसाहूं ऐसा तूं है, दूसरे इस प्रकारके हैं ऐसी स्पर्द्धा, उत्पन्न होगी. पश्चिमोत्तरदिशामें कलह होगा, पूर्व दिशामें संघमें फूट पडेगी, उत्तर दिशामें व्याधि उत्पन्न होगी, ईशान्य दिशामें संघमें परस्पर खींचतानी होगी. पूर्वोत्तर दिशामें निषिधिका करनेसे प्रथमतः मुनिमरण होगा ऐसा इन दिशाओंका फल है.

जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं ॥
जग्गणबंधणछेदणविधी अवेलाए कादव्वा ॥ १९७४ ॥

यदैव म्रियते काले त्यजनीयस्तदैव सः ॥
अवेलायां विधातव्या छेदबंधनजागराः ॥ २०५१ ॥

विजयोदया—जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं यस्यां वेलायां मृतो भिक्षुः तस्यां वेलायामेवापनयनं कर्तव्यं, अवेलायां मृतश्चेत् जागरणं बंधनं छेदनं वा कर्तव्यं ॥

निष्कासनं तद्योग्यवेलायां मृतस्य कार्यमन्यदा जागरणादिकमित्युपदिशति—

मूलारा—जं वेलं यस्यां वेलायां । तं वेलमेव तस्यां वेलायामेव । णीहरणं यथाकथंचित्तद्देहापनयनं यतिभिः कर्तव्यम् । अवेलाए अवेलायां मृतस्य ॥

अर्थ—जिस समय भिक्षुका मरण हुआ होगा उसी वेलामें उसका प्रेत ले जाना चाहिये. यदि अवेलामें मर जानेपर जागरण, बंधन, अथवा छेदन करना चाहिये.

के जागरणं कुर्वंतीत्याचष्टे—

बाले वुड्ढे सीसे तवस्सिभीरूगिलाणए दुहिदे ॥
आयरिए य विकिंचिय धीरा जग्गंति जिदणिद्दा ॥ १९७५ ॥

भीरुशैक्षगणिग्लानबालवृद्धतपस्विनः ॥
अपाकृत्यापारधीरा जितनिद्राःप्रजाग्रति ॥ २०५२ ॥

विजयोदया—बाले वृद्धे बालवृद्धान्, शिक्षकान्, तपस्विनः, भीरून्, व्याधितान्, दुःखितानाचार्यांश्च अपाकृत्य धीरा जितनिद्रा जागरणं कुर्वंति ॥

मृतभिक्षुसमीपे जागरणादिकार्याणि निर्दिशति—

मूलारा—गिलाणएं व्याधितान् । विकिंचिय मुक्त्वा—

अर्थ—बालमुनि, वृद्धमुनि, शिक्षकमुनि, तपस्वी मुनि, भययुक्त मुनि, रोगीमुनि, दुःखपीडित मुनि और आचार्य इनको वर्ज्यकर धीर, निद्राको जिन्होंने जीता है ऐसे मुनिओंको जागरण करना चाहिये.

के पत्तनंतीत्याचष्टे—

गीदत्था कदकज्जा महाबलपरक्कमा महासत्ता ॥
बंधंति य छिंदंति य करचरणंगुट्ठयपदेसे ॥ १९७६ ॥

कृतकृत्या गृहीतार्था महाबलपराक्रमाः ॥
हस्तांगुष्ठादिदेशेषु बंधं छेदं च कुर्वते ॥ २०५३ ॥

विजयोदया—गीदत्था गृहीतार्थाः कृतकरणा महाबलपराक्रमा महासत्वा बध्नंति छिंदंति च करचरणं अंगुष्ठप्रदेशं वा ॥

के कुत्र बंधच्छेदौ कुर्वन्तीत्यत्राह—

मूलारा—कदकरणा असकृत्कृतक्षपककृत्याः । करेत्यादि हस्तं, पादमंगुष्ठप्रदेशं वा ॥

अर्थ—जिन्होंने पदार्थका सत्य स्वरूप जाना है और क्षपकके कृत्य जिन्होंने अनेक बार किये हैं, जिनमें महाबल, पराक्रम और धैर्य हैं ऐसे मुनि क्षपकके हाथ और पाय तथा अंगुठा इनका कुछ भाग बांधते हैं अथवा छेदते हैं.

पत्तमकरणे को दोष इत्याशंकायां दोषमाचष्टे—

जदि वा एस ण कीरेज्ज विधी तो तत्थ देवदा कोई ॥
आदाय तं कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ॥ १९७७ ॥

विधीयते न यद्येवं तदा काचन देवता ॥
कलेवरं तदादाय विधत्ते भीषणक्रियां ॥ २०५४ ॥

विजयोदया—जदि वा एस यद्येष विधिर्न क्रियते कदाचिद्देवता क्रीडनशीला मृतकमादाय उत्तिष्ठेत् प्रधावे-द्वमेत वा बाधयेद्वा तद्दर्शनात् बालादीनां चित्तसंक्षोभः पलायनं मरणं वा भवेत् ॥

उक्तविध्यविधाने दोषमाह—

मूलारा—वा अहो । ण कीरेज्ज न क्रियेत । तत्थ तस्मिन् स्थाने । देवदा कोई क्रीडनशीलो भूतः पिशाचो वा । तदुत्थानादिदर्शनाच्च बालादीनां चित्तसंक्षोभः, पलायनं मरणं वा भवेत् ।

अर्थ—यदि यह विधि न की जावेगी तो उस मृतकशरीरमें क्रीडा करनेका स्वभाववाला कोई भूत अथवा पिशाच प्रवेश करेगा. उस प्रेतको लेकर वह ऊठेगा, भागेगा. क्रीडा करेगा. इस कार्यको देखकर बालमुनि, भीरु-मुनि इनके मनमें क्षोभ उत्पन्न होकर ये भागेंगे अथवा मरण होगा इस लिये हाथपाय व अंगुठा बांधना चाहिये अथवा उनके कुछ प्रदेशोंका छेदन करना चाहिये.

उयसयपडिदावण्णं उवसंगहिदं तु तत्थ उवकरणं ॥
सागारियं च दुविहं पडिहारियमपडिहारिं वा ॥ १९७८ ॥
जदि विक्खादा भत्तपइण्णा अज्जाव होज्ज कालगदो ॥
देउलसागारित्ति व सिविंयाकरणं पि तो होज्ज ॥ १९७९ ॥

यस्योपकरणं किंचित्कृत्वा यांचां यदाहृतम् ॥
कृत्वा संबोधनं सर्वं तत्तस्यार्प्यं विधानतः ॥ २०५५ ॥
प्रसिद्धो यदि संन्यासे स्थानरक्षार्यिका यदि ॥
विपन्ना विधिना कार्या तदानीं शिबिकोत्तमा ॥ २०५६ ॥

विजयोदया—जइ विक्खादा भत्तपदिण्णा यदि सर्वजनप्रकटा सल्लेखना आर्यिका वा भवेत् कालगतास्थानर-क्षका गृहस्था या तत्र शिबिका कर्तव्या ॥

क्षपकोपचारार्थं उपकरणप्रकारान्मतिनिर्दिशति—

मूलारा—उयसयपडियावण्णं वसतिकाप्रतिबद्धं । तत्थ क्षपकनिमित्तं । सागारियं गृहस्थसंबंधि । पडिहारियं अत्यजनीयं । अप्पडिहारिं त्यजनीयं एतां श्रीविजयो नेच्छति ।

एवं यथोक्तसंन्यासविधिमृतस्य संयतजनाविधेयं यथाकथंचिद्दहापनयनं विधाय सांप्रतं प्रसिद्धसंन्यासविधीनां आर्यिकादीनां तद्विधिमभिधत्ते—

मूलारा—अथवा अविशेपोक्तावपि स्थानरक्षार्यिका माह्या । साहचर्यात् ॥ तथा चोक्तम्—

प्रसिद्धा यदि संन्यासे स्थानरक्षार्यिका यदि ॥ विपन्ना विधिना कार्या तदानीं शिबिकोत्तमा ॥

देउल मठपतिः । सागारित्ति । सागार इति । एवं प्रकारो गृहस्थः क्षुल्लको वा । तदुक्तम्—

भक्तत्यागः ख्यातो यद्यर्थो क्षुल्लकोऽथ सागारः ॥ कालगतो देवकुली शिबिकाकरणं ततोयुक्तम् ॥

सर्वजनप्रकटभक्तप्रत्याख्यानेन मृतानां आर्यिकादीनां निष्काशनार्थं शिबिकायाः कुटीविशेषस्य निर्माणं अपि शब्दाद्विमानमपीति केचित् ॥

अर्थ—क्षपक की शुश्रूषा करने के लिये जिन उपकरणोंका संग्रह किया जाता था उनका वर्णन—वसतिका सम्बन्धी उपकरण, कुछ उपकरण गृहस्थोंसे लाये जाते थे जैसे औषध, जलपात्र, थाली वगैरह. कुछ उपकरण त्यागने योग्य रहते हैं और कुछ उपकरण त्यागने योग्य नहीं होते हैं. जो त्याज्य नहीं है वे गृहस्थोंको वापिस दिये जाते हैं. कुछ कपडा वगैरह उपकरण त्याज्य रहता है. यदि सर्वजनोंको विदित ऐसी किसी आर्यिकाने अथवा क्षुल्लकने सल्लेखना धारण कर मरण किया होगा तो उत्तम पालखी अथवा विमानमें उसके शवको स्थापन कर ले जाना चाहिये. संन्यास स्थानका रक्षण करनेवाली आर्यिका, गृहस्थ, मठपति, क्षुल्लक इनका मरण होनेपर शिबिका अथवा विमानमें इनका शव आरोहण कर गृहस्थ ग्रामके बाहर ले जाते हैं.

तेण परं संठाविय संथारगदं च तत्थ बंधित्ता ॥
उट्ठेंतरक्खणट्ठं गामं तत्तो सिरं किच्चा ॥ १९८० ॥

संस्तरेण समं बद्ध्वा मृतकं विधिना दृढम् ॥
विधायोत्थानरक्षार्थं ग्रामस्य विमुखं शिरः ॥ २०५७ ॥

विजयोदया—तेन परं संस्थाप्य तेन मृतकेन संस्तरबंधात्ततो मृतकबंधनं कृत्वा ग्रामाभिमुखं शिरः कृत्वा उत्थानरक्षणार्थं ॥

मृतकनिष्कासनविधानं गाथात्रयेणाह—

मूलारा—तेण परं शिविकानिष्पादनानंतरं । संठाविय शिविकायां प्रवेश्य । बंधित्ता संस्तरेण समं बद्ध्वेत्यर्थः । उट्ठेंतरक्खणट्ठं उत्तिष्ठतो मृतकस्य निवारणार्थं अन्यथा शिरसि कृते कश्चित्तदुत्तिष्ठेदिति भावः । गामं तत्तो ग्रामाभिमुखं ॥

अर्थ—शिबिकाकी रचना करनेके अनंतर बिछानेके साथ उस शवको बांधकर ,शिबिकामें उसको सुलाना चाहिये ग्रामके सन्मुख उसका मस्तक करना चाहिये. ग्रामके सन्मुख ही मस्तक करनेका कारण यह है कि कदाचित् वह उठेगा तो उसका मुख ग्रामके तरफ नहीं होगा और ग्रामके तरफ पैर करके शिबिकामें स्थापन करनेसे वह उठनेपर ग्राममें प्रवेश करेगा इसलिये ग्रामके तरफ सिर करनेका विधान लिखा है

पुव्वाभोगिय मग्गेण आसु गच्छंति तं समादाय ॥
अट्ठिदमणियत्तंता य पिट्ठदो ते अणिब्भंता ॥ १९८१ ॥

क्षिप्रमादाय गच्छंति वीक्षितेनाध्वना पुरा ॥
निवर्तनमवस्थानं त्यक्त्वा पूर्वावलोकनम् ॥ २०५८ ॥

विजयोदया—पुव्वाभोगियमग्गेण पूर्वालोकितेन मार्गेण आशु गच्छंति तत्समादाय अस्थितं अनिवर्तमानाः पृष्ठत आलोकनं मुक्त्वा ॥

मूलारा—पुव्वाभोगिय प्राग्दृष्टः । अट्ठिदं अविश्रान्तं । अणियत्तंतो अव्याघुटंत पट्ठिदो पृष्ठतः । अणिब्भंतो अनालोकमानाः ।

उक्तं च—

सस्तरेण समं बद्ध्वा मृतकं विधिना दृढं ॥
विधायोत्थानरक्षार्थं ग्रामस्याभिमुखं शिरः ॥
क्षिप्रमादाय गच्छंति वीक्षितेनाध्वना पुरा ॥
निवर्तनमवस्थानं त्यक्त्वा पूर्वावलोकनम् ॥

अर्थ—पूर्वसे देखे हुए मार्गसे वह शव शीघ्र लेकर जाना चाहिये. रास्तेमें न खडे होना चाहिये न पीछे लोटकर देखना भी चाहिये

कुसमुट्ठिं घेत्तूण य पुरदो एगेण होइ गंतव्वं ॥
अट्ठिदअणियत्तंतेण पिट्ठदो लोयणं मुच्चा ॥ १९८२ ॥

पुरो गन्तव्यमेकेन गृहीतकुशमुष्टिना ॥
पूर्वावलोकनस्थाननिवर्तनाविवर्जिना ॥ २०५९ ॥

विजयोदया—कुसमुट्ठिं घेत्तूण कुशमुष्टिं गृहीत्वा पुरस्तादेकेन गंतव्यं, अस्थितं अनिवर्तमानेन अपृष्ठावलोकिना।

मूलारा—कुसमुट्ठिं मुष्टिधृतदर्भान्। पुरदो अग्रे। मुच्चा त्यक्त्वा॥

अर्थ— उस शवके आगे एक मनुष्य मुट्ठिमें कुशदर्भ लेकर जावे. वह पीछे न देखे न मार्गमें ठहरे.

तेण कुसमुट्ठिधाराए अव्वोच्छिण्णाए समणिपादाए ॥
संथारो कादव्वो सव्वत्थ समो सागिं तत्थ ॥ १९८३ ॥

कृत्यस्तत्र समस्तेन संस्तरः कुशधारया ॥
अच्छिन्नया सकृद्देशे वीक्षिते समपातया ॥ २०६० ॥

विजयोदया—तेण कुसमुट्ठिधाराए तेन पुरस्ताद्गतेन पूर्वनिरूपितनिषीधिकास्थाने कुशमुष्टिधारया अव्युच्छिन्नया समनिपातया सर्वत्र समः संस्तरः कार्यः॥

कुशमुष्टिकृत्यमाह—

मूलारा—तेण पुरोगतेन। धाराए धारया निक्षेपेण। अव्वोच्छिण्णाए निरंतरया। समणिपादाए सदृशं पतंत्या। कादव्वो प्रस्तरितव्यः। सागिं एकवारेण। तत्थ पूर्वनिरूपितनिषीधिकास्थाने॥

अर्थ—जिसने निषीधिका स्थान पूर्वमें देखा है वह मनुष्य वहां जाकर दर्भमुष्टिकी समान धारासे सर्वत्र सम ऐसा संस्तर करना चाहिये.

जत्थ ण होज्ज तणाइं चुण्णेहिं वि तत्थ केसरेहिं वा ॥
संघरिदव्वा लेहा सव्वत्थ समा अवोच्छिण्णा ॥ १९८४ ॥

स चूर्णैः केशरैर्वापि कुशाभावे विधीयते ॥
समानःसर्वतोऽच्छिन्नो धीमता विधिना सकृत् ॥ २०६१ ॥

विजयोदया—जत्थ ण होज्ज तणाई यत्र न लभ्यंते कुशतृणानि तत्र चूर्णैर्वा केसरैर्वा संस्तरः कार्यः सर्वं समोऽव्युच्छिन्नः ॥

कुशालाभे संस्तरमिमाह—

मूलारा—तणाई कुशाः । चुण्णेहिं प्रासुकतंदुलमसूरादिपिष्टैः । केसरेहिं प्रासुकपद्मादिकिंजल्कैः । लेहा रेखा । सव्वत्थ मस्तकाद्यादिप्रभृति पादांतं यावत् । समा हान्युत्कर्षरहिता ॥

अर्थ—यदि दर्भ तृण नहीं मिला तो प्रासुक तंदुल, मसूरकी दाल इत्यादिकोंके चूर्णसे, कमलकेशर वगैरहसे मस्तकसे लेकर पांवतक समान, नहीं तुटी हुई रेखाएं लिखनी चाहिये.

असमत्वे दोषमाचष्टे—

जदि विसमो संथारो उवरिं मज्झे व होज्ज हेट्ठा वा ॥
मरणं च गिलाणं वा गणिवसभजदीण णायव्वं ॥ १९८५ ॥

आदौ मध्येवसाने च विषमो यदि जायते ॥
आचार्यो वृषभः साधुर्मृत्युं रोगमथाश्नुते ॥ २०६२ ॥

विजयोदया—जदि विसमो संथारो यदि विषमः संस्तरः उपरिष्टात् मध्ये अधस्ताद्वा । उपरिवैषम्ये गणिनो मरणं व्याधिर्वा, मध्ये विषमश्चेत् वृषभस्य मरणं व्याधिर्वा, अधस्ताद्विषमत्वे यतीनां मरणं व्याधिर्वा ॥

संस्तररेखावैषम्ये दोषमाख्याति—

मूलारा—गिलाणं व्याधिं । गणिवसभजदीणं आचार्येलाचार्यसामान्यमुनीनां । तत्र शिरोदेशे संस्तरवैषम्ये गणिनां मरणं व्याधिर्वा स्यात् । उदरदेशे तद्वैषम्ये एलाचार्यस्य मरणं व्याधिर्वा स्यात् । पादांते तद्वैषम्ये तदितरसाधूनां मरणं व्याधिर्वा स्यात् इति टीकाकारौ व्याचक्रतुः । उक्तं च—

आदौ मध्येऽवसाने च विषमो यदि जायते ॥
आचार्यो वृषभः साधुर्मृत्युं रोगमथाश्नुते ॥

टिप्पणके वैषममभिप्रेतम्। उपरि वैषम्ये गणिनो मरणं। मध्यवैषम्ये एलाचार्यस्य व्याधिः। अधो वैषम्ये यतीनो व्याधिःस्यात्॥

यदि असम रेखाए लिखी जाय तो दोष है इसका विवेचन—

अर्थ—ऊपर, मध्यमें अथवा नीचे रेखाओंमें यदि विषमता होगी तो वह अनिष्टसूचक है ऊपरकी रेखायें विषम होंगी तो गणीका-आचार्यका मरण अथवा व्याधि सूचित होता है. मध्यकी रेखा विषम होनेपर एलाचार्यमरण अथवा व्याधि सूचित होता है और नीचेकी रेखा विषम होनेपर सामान्य यतीका मरण अथवा व्याधिकी सूचना मिलती है.

जत्तो दिसाए गामो तत्तो सीसं करित्तु सोवधियं॥
उट्ठंतरक्खणट्ठं वोसरिदव्वं सरीरं तं॥ १९८६॥

ग्रामस्याभिमुखं कृत्वा शिरस्त्याज्यं कलेवरम्॥
उत्थानरक्षणं कर्तुं मस्तकं क्रियते तथा॥ २०६३॥

विजयोदया—जत्तो दिसाए गामो यस्यां दिशि ग्रामः ततः शिरः कृत्वा सपिच्छकं शरीरं व्युत्स्रष्टव्यं, उत्थानरक्षणार्थं ग्रामादिकमभिमुखतया शिरोरचना॥

तच्छरीरशिरःस्थापनदिशं नियमयति—

मूलारा—जत्तो दिसाए यस्यां दिशि। सोवधियं सपिच्छकं शिरःस्थापयित्वा। ग्रामवैमुख्येन शिरसि स्थापिते कदाचिन्मृतकमुत्तिष्ठेदपीत्यभिप्रायं शिरः क्रियते। उक्तं च—

तद्ग्रामस्य दिशं फेन कृत्वा सोपधिकं शिरः॥ तदुत्थाननिषेधाय व्युत्स्रष्टव्यं कलेवरम्॥

अन्ये तु दक्षिणहस्ते पिछं स्थाप्यते इत्याहु। तथा चोक्तम्—

ग्रामपराङ्मुखवदनं संयमसाधनसमन्वितं कृत्वा॥ उत्तिष्ठद्रक्षार्थं विसर्जनीयं वपुस्तस्य॥

अर्थ—जिस दिशामें ग्राम होगा उस दिशामें मस्तक कर पिंछीके साथ उस शवको उस स्थान पर रखना चाहिये. ग्रामके सम्मुख मस्तक करनेका अभिप्राय पूर्वमें लिख चुके हैं.

उपकरणस्थापनायां तत्र गुणमाचष्टे—

जो वि विराधिय दंसणमंते कालं करित्तु होज्ज सुरो ॥
सो वि विबुज्झदि दठ्ठूण सदेहं सोवधिं सज्जो ॥ १९८७ ॥

विजयोदया—जो वि विराधिय योऽपि दर्शनं विनाश्याते कालगतस्सुरो भवेत् सोपि जानाति सोपकरणं स्वदेहं दृष्ट्वा प्रागहं संयत इति ॥

तत्र किमर्थं पिंछं स्थाप्यते इत्याह—

मूलारा—विबुज्झदि प्रागहं संयतोऽभूवं सम्यक्त्वविराधनानुगतमरणादीदृशीं गतिं प्राप्त इति बोधिं लभते। सज्जो सपिंछप्राकनस्वदेहदर्शनानंतरमेव ॥

' पिंछीकी स्थापना करनेका उद्देश बताते हैं—

अर्थ—जिसने सम्यग्दर्शनकी विराधनासे मरण कर देवपर्याय पाया है, वह भी पिंछीके साथ अपना देह देखकर मैं पूर्वभवमें मुनि था ऐसा जान सकेगा.

णत्ता भाए रिक्खे जदि कालगदो सिवं तु सव्वेसिं ॥
एको दु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते मरंति दुवे ॥ १९८८ ॥
सदभिसभरणा अद्दा सादा असलेस्स जिट्ठ अवरवरा ॥
रोहिणिविसाहपुणव्वसु त्तिउत्तरा मज्झिमा सेसा ॥ १९८९ ॥
शांतिर्भवति सर्वेषामृक्षेल्पे क्षपके मृते ॥
मध्यमे मृत्युरेकस्य जायते महति द्वयोः ॥ २०६४ ॥

विजयोदया—णत्ता भाग रिक्खे अल्पनक्षत्रे यदि क्षपकः कालं गतः सर्वेभ्यः शिवं भवति, मध्यमनक्षत्रे यदि मृतः अन्यस्त्वेको मृतिमुपैति, महानक्षत्रे यदि मृतो द्वयोर्भवति मरणं ॥

जघन्यमध्यमोत्कृष्टनक्षत्रेषु क्षपकमरणे फलानि कथयति—

मूलारा—णत्ताभागे रिक्खे जघन्ये पंचदशमुहूर्तिके शतभिषग्भरण्यार्द्रास्वात्याश्लेषाज्येष्ठाना षण्णां मध्ये एकस्मिन्नक्षत्रे तदंशे वा क्षपके मृते सर्वेषां क्षेमं स्यात् ॥ समे खेत्ते मध्यमे त्रिंशन्मुहूर्तिके अश्विनीकृत्तिकामृगशिरःपुष्यमघा-

पूर्वाफाल्गुनीहस्तचित्रानुराधामूलपूर्वाषाढाश्रवणधनिष्ठापूर्वभाद्रपदारेवतीनां मध्ये एकस्मिन्नक्षत्रे तदंशे वा मृते एकोऽन्योऽपि मुनिर्म्रियते । दिवड्ढखेत्ते उत्कृष्टे पंचचत्वारिंशन्मुहूर्तिके उत्तरफल्गुन्युत्तराषाढोत्तरभाद्रापुनर्वसुरोहिणीविशाखानां मध्ये एकस्मिन्नक्षत्रे तदंशे वा क्षपके मृते द्वावन्यावपि मुनी म्रियेते ॥ उक्तं च—

शांतिर्भवति सर्वेषामृक्षेऽल्पे क्षपके मृते ॥ मध्यमे मृत्युरेकस्य जायते महति द्वयोः ॥

अर्थ—अल्प नक्षत्रमें यदि क्षपकका मरण होगा तो वह सबको सुखदायक होगा. मध्यनक्षत्रमें मरण होनेसे और एक मुनिका मरण होता है. महानक्षत्रपर मरण होनेसे दो मुनिओंका मरण होता है.

जो नक्षत्र पंधरा मुहूर्तके रहते हैं उनको जघन्यमुहूर्त कहते हैं. शतभिषक्, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, इन छह नक्षत्रोंमेंसे किसी एक नक्षत्रपर अथवा उसके अंशपर यदि क्षपकका मरण होगा तो सर्व संघका क्षेम होता है. तीस मुहूर्तके नक्षत्रोंको मध्यम नक्षत्र कहते हैं. अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिर, पुष्य, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा ,पूर्वा, पूर्वाषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपदा, और रेवती इन पंधरा नक्षत्रोंपर अथवा उसके अंशोपर क्षपकका मरण होनेसे और एक मुनिका मरण होता है. उत्कृष्ट पंचेचालीस मुहूर्तके नक्षत्रोंको उत्कृष्ट नक्षत्र कहते हैं. उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरभाद्रपदा, पुनर्वसु, रोहिणी इन छह मुहूर्तमेंसे किसी मुहूर्तपर अथवा उसके अंशपर क्षपकका मरण होनेसे और दो मुनिओंका मरण होता है.

गणरक्खत्थं तह्मा तणमयपडिबिंबयं खु कादूण ॥
एक्कं तु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते दुवे देज्ज ॥ १९९० ॥

महन्मध्यमनक्षत्रे मृते शांतिर्विधीयते ॥
यत्नतो गणरक्षार्थं जिनार्चाकरणादिभिः ॥ २०६५ ॥

विजयोदया—गणरक्खत्थं गणरक्षणार्थं तस्मात्तृणमयं प्रतिबिंबकं कृत्वा मध्यमनक्षत्रे एकं दद्यात् । उत्तमनक्षत्रे प्रतिबिंबद्वयं ॥

मध्यमोत्कृष्टनक्षत्रक्षपकमरणोत्पाते संघशांतिविधानाभिधानार्थं गाथात्रयमाह—

मूलारा—तम्हा एकद्विमरणाद्धेतोः । दुवे द्वे तृणमयप्रतिबिंबके । देज्ज दद्यात्संघशांत्यर्थी ।

अर्थ—गणके रक्षण हेतुसे मध्यमनक्षत्रमें तृणका एक प्रतिबिंब कर रखना चाहिये तथा उत्तम नक्षत्रपर दोन तृणके प्रतिबिंब करके अर्पण करना चाहिये.

प्रतिबिंबदानमाचष्टे—

तट्ठाणसावणं चिय तिक्खुत्तो ठविय मडयपासम्मि ॥
बिदियवियप्पिय भिक्खू कुज्जा तह बिदियतदियाणं ॥ १९९१ ॥

विजयोदया—तट्ठाणसावणं मृतपार्श्वे तत्प्रतिबिंबं स्थाप्य त्रिरुच्चैर्घोषयेत्, तस्मिन्स्थाने द्वितीयोर्पित इति एकार्पणेऽयं क्रमः। द्वयोः प्रतिबिंबयोरर्पणे द्वितीयतृतीयौ दत्ताविति त्रिः श्रावयेत् ॥

प्रतिबिंबदानविधानमाह—तट्ठाणसावयं तत्स्थानश्रावकं कुर्यात्। मृतकपार्श्वे तत्प्रतिबिंबं संस्थाप्य तस्य स्थानेऽयं द्वितीयो मयार्पितः। स चिरं तिष्ठतु तपो वा करोत्विति त्रिरुच्चैर्घोषयेदित्यर्थः एष एकार्पणे क्रमः। उक्तंद्विदो समर्पितः। मृतकपार्श्वे एकं तत्प्रतिबिंबं स्थापयित्वा तस्यैकस्य स्थाने मया द्वितीयोऽयमर्पितः स चिरं तिष्ठतु तपो वा करोत्विति त्रीन्वारानुदीरयेदित्यर्थः। बिदियतदियाणं द्वितीयतृतीययोस्तत्स्थानश्रावणं तथा कुर्यात् ॥ मृतकपार्श्वे द्वे तत्प्रतिबिंबे स्थापयित्वा तयोर्द्वयोःस्थाने द्वाविमौ मयार्पितौ तौ चिरं तिष्ठतां तपो वा कुरुतां इति त्रिरुच्चैरुच्चारयेत् इत्यर्थः। उक्तं च—

संस्थाप्य मृतकपार्श्वे त्रिस्तत्स्थाने ममायमामुक्तः ॥ इत्यर्प्यते द्वितीयो विधिरयमन्यत्र च ज्ञेयः ॥

प्रतिबिंबार्थं तृणालाभे प्रकारांतरेण शांतिकर्मोपदिशति—

उक्तं च— संस्थाप्य मृतकपार्श्वे त्रिस्तत्स्थाने ममायमामुक्तः ॥
इत्यर्प्यते द्वितीयो विधिरयमन्यत्र च ज्ञेयः ॥

अर्थ—मृतकके पास प्रतिबिंब स्थापन कर उसे मुनीके स्थानमें मैंने यह यह दूसरा अर्पण किया है यह चिरकाल यहां रहे अथवा तप करे ऐसा जोरसे तीन वार उच्चारण करना चाहिये. एकका अर्पण करनेमें यह क्रम कहा है. मृतकके पास दोन तृणप्रतिबिंब स्थापन करके दोनोंके स्थानमें मैंने ये दो अर्पण किये हैं ये यहां चिरकाल रहे अथवा तप करे ऐसा जोरसे तीनवार बोलना चाहिये.

असदि तणे चुण्णेहिं च केसरच्छारिट्ठियादिचुण्णेहिं ॥
कादव्वोथ ककारो उवरिं हिट्ठा यकारो से ॥ १९९२ ॥

विजयोदया—असदि तणे प्रतिबिंबकरणार्थमसति तृणे चूर्णैः पुष्पकेसरैर्वा भस्मना इष्टकाचूर्णैर्वा उपरि ककारं लिखित्वा तस्याधस्थात् यकारं कुर्यात् काय इति लिखेदित्यर्थः ॥

प्रतिबिंबार्थं तृणालाभे प्रकारांतरेण शांतिकर्मोपदिशति —

मूलारा—केसर पुष्पकेसरैः । छार भस्मना । इट्टियादिचुण्णेहिं इष्टकापाषाणादिचूर्णैः । संघशान्त्यर्थिना । अत्थ अत्र क्षपके स्थापयिष्यमाणे पूर्ववत्प्रासुकधान्यचूर्णादिना कं लिखित्वा तदुपरि क्षपकं स्थापयेत् इत्यर्थः । से तस्योपरि लिखितस्य ककारस्याधस्तकारो लिखितव्य इत्यर्थः । एतेन क्येति व्यंजनद्वयं लेख्यमाम्नातम् । अर्हत्पूजादिना चात्र शान्तिरिष्यते । तदुक्तम्—

महन्मध्यमनक्षत्रमृते शांतिर्विधीयते । यत्नतो गणरक्षार्थं जिनार्चाकरणादिभिः ॥

अर्थ—प्रतिबिंब करनेके लिए यदि तृण नहीं होगा तो तंडुलचूर्ण, पुष्पके केसर, भस्म, अथवा ईटोंका चूर्ण इसमेंसे जो कुछ प्राप्त होगा उससे ऊपर ककार और उसके नीचे यकार लिखना चाहिये. अर्थात् 'काय' ऐसा शब्द लिखना चाहिये. संघ शांतिके लिये ऐसा कार्य करना चाहिये. (क्षपकको स्थापन करनेके पूर्वमें प्रासुक धान्य चूर्णादिकसे क लिखकर उसके ऊपर क्षपकको स्थापन करना चाहिये. क कारके नीचे यकार भी लिखना चाहिये. अर्हन्तकी पूजा वगैरहसे भी शांति करते हैं ऐसा मूलाराधनामें उल्लेख है)

उवगाहिदं उवकरणं हवेज्ज जं तत्थ पाडिहरियं तु ॥
पडिबोधित्ता सम्मं अप्पेदव्वं तयं तेसिं ॥ १९९३ ॥

विजयोदया—उपगहिदं उपकरणं मृतकशयने यद्गृहीतमुपकरणं वस्त्रकाष्ठादिकं गृहस्थयांचां कृत्वा तत्रोपकरेण यत्प्रतिनिर्वर्तनीयं वस्त्रादिकं तत्पाडिहारिकमित्युच्यते । तदर्पयितव्यं तेषां गृहस्थानां सम्यक्प्रतिबोधम् ॥

मृतकनयने यद्गृहस्थेभ्यो याचित्वानीतमुपकरणं तत्प्रत्यर्पणविधिमाह—

मूलारा—तत्थ तस्मिन् वस्त्रकाष्ठादौ पडिहरियं प्रातिहारिकं व्याघोट्य समर्पणायोग्यं इत्यर्थः । सम्मं यथा विधिकिस्त तत्स्वामिनां न भवति तथा तान्प्रतिबोध्य । तेसिं तेभ्यः प्रार्थ्यानीतं तेषां । उक्तं च—

यदुपात्तं तु वस्त्रादि नयनावसरे व्यसोः ॥ तत्स्वामिभ्यस्तदर्प्यं स्यात् कृत्वा सम्यक्प्रबोधनम् ॥

अर्थ—मृतकको निषीधिकाके पास ले जानेके समय जो कुछ वस्त्रकाष्ठादिक उपकरण गृहस्थोंसे याचना करके लाया गया था उसमें जो कुछ लौटकर देने योग्य होगा वह गृहस्थोंको समझाकर देना चाहिये.

आराधणपत्तीयं काउसग्गं करेदि तो संघो ॥
अधिउत्ताए इच्छागारं खवयस्स वसधीए ॥ १९९४ ॥

संपद्यतां नोऽपि विनांतरायमाराधनैषेति गणेन कार्यः ॥
वपुर्विसर्गः क्षपकाधिवासे पृच्छा च तस्मिन्नधिदेवतानाम् ॥ २०६६ ॥

विजयोदया—आराधणपत्तीयं आराधनात्माकमित्येषं यथा स्यादिति संघः कायोत्सर्गं करोति, क्षपकस्य वसतौ अधियुक्तदेवतां प्रति इच्छाकारः कार्यः युष्माकमिच्छया संघोऽत्रासितुमिच्छतीति ॥

आराधकरसत्यां संघस्य तदनंतरकृत्यमनुशास्ति—

मूलारा–आराधणपत्तीयं आराधनार्थं । अस्माकमप्येवमाराधना भवत्विति । अधिउत्ताए तदधिष्ठितदेवतानां । इच्छाकारं युष्माकमिच्छया संघोऽत्रासितुमिच्छतीत्यधिकृतदेवता अनुमतिं कारयितुं उपरोधं च संघः करोतीति सम्बन्धः ।

अर्थ—चार आराधनाओंकी प्राप्ति हमको होवे ऐसी इच्छासे संघको एक कायोत्सर्ग करना चाहिये. क्षपकके वसतिकाकी जो अधिष्ठानदेवता होगी उसके प्रति यहां संघ बैठना चाहते हैं ऐसा इच्छाकार करना चाहिये.

सगणत्थे कालगदे खमणमसज्झाइयं च तद्दिवसं ॥
सज्झाइ परगणत्थे भयणिज्जं खमणकरणंपि ॥ १९९५ ॥

उपवासमनध्यायं कुर्वन्तु स्वगणस्थिताः ॥
अनध्यायं मृतेऽन्यस्मिन्नुपवासो विकल्प्यते ॥ २०६७॥

विजयोदया—सगणत्थे कालगदे आत्मीयगणस्थे यतौ कालं गते उपवासः कार्यः स्वाध्यायश्च न कर्तव्यस्तस्मिन् दिने। परगणस्थे कालं गते पठंति उपवासकरणमपि भाज्यं । अन्ये तु पठंति, ण ज्झाइ परगणत्थे न स्वाध्यायः कर्तव्यः परगणस्थे मृते उपवासकरणीयं भाज्यमिति तेषां व्याख्या ।

आत्मीयसमुदायस्थयतौ मृते तस्मिन्दिने संघेनोपवासोऽनध्ययनं च कार्यमन्यगणस्थे तु मृतेऽनध्ययनमवश्यं कार्यमुपवासस्तु विकल्प्य इत्युपदेष्टुमाह—

मूलारा—असज्झाइय अनध्ययनं संघेन कार्यं। ण ज्झादि न पठति संघः।

अर्थ—अपने गणका मुनि मरण को प्राप्त होनेपर उपवास करना चाहिये. और उसदिन स्वाध्याय नहीं करना चाहिये. परगणके मुनिका मृत्यु होनेपर स्वाध्याय नहीं करना चाहिये. उपवास करना विकल्प्य है अर्थात् उपवास करे अथवा न करे.

एवं पडिठविता पुणो वि तदियदिवसे उवेक्खंति ॥
संघस्स सुहविहारं तस्स गदी चेव णादुंजे ॥ १९९६ ॥

गत्वा सुखविहाराय संघस्य विधिकोविदैः ॥
द्वितीयेऽह्नि तृतीये वा द्रष्टव्यं तत्कलेवरम् ॥ २०६८ ॥

विजयोदया—एवं पडिठविता उक्तेन क्रमेण क्षपकशरीरं प्रतिष्ठाप्य पुनस्तृतीये दिवसे गत्वा पश्यंति, संघस्य सुखविहारं तस्य च गतिं ज्ञातुं ॥

तृतीयदिनकृत्यमाह—

मूलारा—पडिठविता क्षपकशरीरं प्रमुच्य। उवेक्खंति तत्र गत्वा पश्यति विधिना। सुहविहारं सुखाय देशांतरे गमनं। चेव तद्राज्यसुभिक्षादिकं चेत्येवमर्थोऽत्र च। णादुंजे ज्ञातुं। केचित्पुणोवीत्यत्र अपिशब्दमनुक्तसमुच्चयार्थमभिप्रेत्य द्वितीयदिनेऽपीति प्रतिपन्नाः॥ तदुक्तम्—

गत्वा सुखविहाराय संघस्य विधिकोविदैः। द्वितीयेऽह्नि तृतीये वा तद्द्रष्टव्यं कलेवरम् ॥

अर्थ—उपर्युक्त क्रमसे क्षपकके शरीरकी स्थापना कर पुनः तीसरे दिन वहां जाकर देखते हैं. अर्थात् संघका सुखसे विहार होगा या नहीं और उसको कोनसी गति हुई है इसका परिज्ञान करनेकेलिये तिसरे दिन फिर वहां मुनि जाते हैं.

जदिदिवसे संचिट्ठदि तमणालद्धं च अक्खदं मडयं ॥
तदिवरिसाणि सुभिक्खं खेमसिवं तम्हि रज्जम्मि ॥ १९९७ ॥

यावन्तो वासरा गात्रमिदं तिष्ठत्यविक्षतम् ॥
शिवं तावन्ति वर्षाणि तत्र राज्ये विनिश्चितम् ॥ २०६९ ॥

विजयोदया—जदि दिवसे यावतो दिवसा. शृगालवृकादिभिरस्पृष्टमक्षतं च तन्मृतकं तदिवरिसाणि तावंति वर्षाणि सुभिक्षं क्षेम शिवं च तस्मिन्राज्ये ॥

तद्राज्यसुभिक्षादिकालेयत्तानिर्णयार्थं तावदाह—

मूलारा—जदि दिवसे यावंति दिनानि । अणालद्धं अस्पृष्टम् । शृगालादिभिरत्रोटितमित्यन्ये । अक्खदं क्षतवर्जितम् । अत्रटितमित्यन्ये । तदि तावंति । खेम क्षेम लब्धपरिरक्षणं । सिवं सुखं । तम्मि क्षपकमरणविषयभूते ।

अर्थ—जितने दिनतक वृकादिक पशु पक्षियोंके द्वारा यह क्षपकशरीर स्पर्शित नहीं होगा और अक्षत रहेगा उतने वर्षतक उस राज्यमें क्षेम रहेगा ऐसा समझना चाहिये.

जं वा दिसमुवणीदं सरीरयं खगचदुप्पदगणेहिं ॥
खेमं सिवं सुभिक्खं विहारिज्जो तं दिसं संघो ॥ १९९८ ॥

आकृष्य नीयते यस्यां तदंगं श्वापदादिभिः ॥
विहर्तुं युज्यते तस्यां संघस्य ककुभि स्फुटम् ॥ २०७० ॥

विजयोदया—जं वा दिसमुवणीदं यां वा दिशमुपनीतं शरीरं पक्षिभिश्चतुष्पदैर्वा तां दिशं संघो विहरेत् क्षेमादिकं तत्र ज्ञात्वा ॥

संघविहरणोचितदिग्निर्णयार्थं तावदाह—

मूलारा—जं वा या च । खेममित्यादि क्षेमादिकं ज्ञात्वेत्यर्थः । उक्तं च—

उपनीतं दिशं यां वा मृतकं शकुनादिभिः ॥
तां दिशं विहरेत्संघो विज्ञाय कुशलादिकम् ॥

अर्थ—पक्षी अथवा चतुष्पद प्राणी जिस दिशामें उस क्षपकका शरीर ले गये होंगे उस दिशामें संघ विहार करे उस दिशाके तरफ क्षेमादिक समझना चाहिये.

जदि तस्स उत्तमंगं दिस्सदि दंता च उवरिगिरिसिहरे ॥
कम्ममलविप्पमुक्को सिद्धिं पत्तोत्ति णादव्वो ॥ १९९९ ॥

यदि तस्य शिरो दन्ता दृश्येरन्नगमूर्धनि ॥
तदा कर्ममलान्मुक्तो ज्ञेयः सिद्धिमसौ गतः ॥ २०७१ ॥

विजयोदया—जदि तस्स उत्तमंग यदि तस्य शिरो दृश्यते दंता वा गिरिशिखरस्योपरि कर्ममलविप्रमुक्तः सिद्धिगतो ज्ञात इति ज्ञातव्यः ॥

क्षपकगतिनिर्णयाय गाथाद्वयमाह—

मूलारा—उत्तमंगं शिरः । सगवाडुगण स्वलाडुना सह । श्रीविजयस्तु दिस्सदि दंता य उवरीति पाठं मन्यमानो व्याचष्टे तथा चोक्तम्—

यदि तस्य शिरो दंता दृश्येरन्नगमूर्धनि ॥ तदा कर्ममलान्मुक्तो ज्ञेयः सिद्धिमसौ गतः ॥

कम्मेत्यादि अत्र कर्ममल शिलादयादिर्मोहकर्माणि । सिद्धिं सर्वार्थसिद्धिमिति जयनंदिटिप्पणे व्याख्या । प्राकृत टीकायां तु कम्ममलविप्पमुक्को कम्ममलेण मेल्लिदो । सिद्धिं णिव्वाणं । पत्तोत्ति प्राप्त इति ।

अर्थ—क्षपकका मस्तक अथवा दन्तपंक्ति पर्वतके शिखरपर दीख पडेगी तो वह क्षपक कर्ममलसे रहित होकर मुक्त होगया है ऐसा समझना चाहिये.

वेमाणिओ थलगदो समम्मि जो दिसि य वाणविंतरओ ॥
गड्डाए भवणवासी एस गदी से समासेण ॥ २००० ॥

वैमानिकःस्थले गतो ज्योतिष्को व्यंतरःसमम् ॥
गर्ते च भावनस्तस्य गतिरेषा समासतः ॥ २०७२ ॥

इदं विधानं जिननाथदेशितं ये कुर्वते श्रद्दधते च भक्तितः ॥
आदाय कल्याणपरंपरामिमे प्रयांति निष्ठामपनीतकल्मषाम् ॥ २०७३ ॥

इति आराधकांगत्यागः ॥

विजयोदया—वेमाणिओ थलगदो वैमानिको देवो जात उत्तमभूमिस्थे उत्तमागे, समभूमिदेशे यदि दृश्यते ज्योतिष्को व्यंतरो जात, गर्ते यदि दृश्यते भवनवासी देवो जात, एषा गतिस्तस्य संक्षेपेण निरूपिता। विजहणात्ति सूत्रपदं गतं। विजहणा ॥

मूलारा—थलगदे उच्चप्रदेशस्थमस्तके दृश्यमाने विमानवासी देवो जात इति ज्ञातव्यम्। समम्मि समभूमिदेशस्थिते वाण वानोद्भव इति जयनंदी। अन्ये तु वाणवितरओ इत्यनेन व्यंतरमात्रमाहुः। तदुक्तम्—

वैमानिक स्थलगते ज्योतिष्को व्यंतरश्च समभागे ॥
गर्ते भावनदेवो गतिरेषा तस्य संक्षेपात् ॥

आराधकांगत्यागः। सूत्रतः ४० अंकतः ३४ ॥

अर्थ—क्षपकका मस्तक उच्च स्थलमें दीखेगा तो वह वैमानिक हुआ है ऐसा समझना चाहिये. समभूमीमें यदि दीखेगा तो ज्योतिष्क अथवा व्यंतर हुआ है ऐसा समझना चाहिये गड्डेमें यदि दीखेगा तो भवनवासी हुआ है ऐसा मानना चाहिये. इस प्रकार क्षपकके गतिका संक्षेपसे वर्णन किया है. विजहणा सूत्रपदका निरूपण समाप्त हुआ.

आराधकस्तवनमुत्तरं ते सूरा भगवंता—

ते सूरा भयवंता आहुच्चइदूण संघमज्झम्मि ॥
आराधणापडायं चउप्पयारा हिदा जेहिं ॥ २००१ ॥

भगवंतोऽत्र ते शूराश्चतुर्धाराधनां मुदा ॥
संघमध्ये प्रतिज्ञाय निर्विघ्नां साधयन्ति ये ॥ २०७४ ॥

विजयोदया—ते सूरा भगवंत. आहुच्चइदूण प्रतिज्ञां कृत्वा संघमध्ये चतुष्प्रकाराराधना पताका यैरागृहीता ॥

एवं सवीचारभक्तप्रत्याख्यानं प्रबंधेन व्याख्याय सांप्रतमाराधकादीन्प्रबंधेन तुष्टूषुराराधकस्तवनं गाथात्रयेण विधत्ते—

मूलारा—आरूढ्यसमूल प्रतिज्ञां कृत्वा । हिता गृहीता ॥

अर्थ—वे क्षपक शूर और भगवान् अर्थात् पूज्य है जिन्होंने संघमें प्रतिज्ञा कर आराधना पताका ग्रहण की थी.

ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहिं सव्वेहिं ॥
आराधणा भयवदी पडिवण्णा जेहिं संपुण्णा ॥ २००२ ॥

ते धन्या ज्ञानिनो धीरा लब्धनिःशेषचिंतिताः ॥
यैरपाराधना देवी संपूर्णा स्ववशीकृता ॥ २०७५ ॥

विजयोदया—ते धण्णा पुण्यवंतः ते ज्ञानिनः ते लब्धलाभाः सर्वैर्ग्यो यैराराधना भगवती संपूर्णा प्रतिपन्ना ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—वे आराधक पुण्यवंत और ज्ञानी समझने चाहिये जिन्होंने उत्तम पुण्य देनेवाली भगवती आराधनाका स्वीकार किया था. इन आराधकोंनेही वास्तविक जो प्राप्त करने योग्य था वह प्राप्त किया है.

किं णाम तेहिं लोगे महाणुभावेहिं हुज्ज ण य पत्तं ।
आराधणा भगवदी सयला आराधिदा जेहिं ॥ २००३ ॥

किं न तैर्भुवने प्राप्तं वंदनीयं महोदयैः ॥
लीलयाराधना प्राप्ता यैरेषा सिद्धिसंफली ॥ २०७६ ॥

विजयोदया—किं णाम तेहिं लोगे किनाम त्रैलोक्ये महानुभावैरप्राप्तं यैराराधिता सकला आराधना भगवती ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—इन महाभागोंने संपूर्ण भगवता आराधना की आराधना की है. अतः इन्होंने कोनसा अप्राप्त पदार्थ नहीं प्राप्त किया है ? अर्थात् सर्व लोकोत्तर पदार्थ उनको प्राप्त हुए हैं ऐसा समझना चाहिये.

निर्यापकस्तवनमुत्तरं—

ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स ॥
सव्वादरसत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ॥ २००४ ॥

धन्या महानुभावास्ते भाक्तितः क्षपकस्य यैः ॥
ढौकिताराधना पूर्णा कुर्वद्भिः परमादरम् ॥ २०७७ ॥

विजयोदया—ते वि य महाणुभावा तेपि च महाभागा धन्याः यैस्तया तस्य क्षपकस्य सर्वादरेण शक्त्या च सकलाराधना उपविहिता ॥

आराधकसहायानभिष्टौति —

मूलारा—ते वि य क्षपकस्य महानुभावत्वधन्यत्वयोःकतमो विस्मयः कर्तव्य इत्यपि चेत्यनेन निरूप्यते । उवविहिदा संपादिता ॥

अर्थ—वे निर्यापक भी धन्य है महापुण्यवान हैं जिन्होंने बडे आदरसे और पूर्ण प्रयत्नसे क्षापकको मनं आराधनाकी पूर्ण प्राप्ति होनेमें अच्छी सहायता दी है.

निर्यापकानां फलमाचष्टे—

जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स ।
संपज्जदि णिव्विग्घा सयला आराधणा तस्स ॥ २००५ ॥

परस्य ढौकिता येन धन्यस्याराधनाङ्गिनः ॥
निर्विघ्ना तस्य सा पूर्णा सुख संपद्यते मृतौ ॥ २०७८ ॥

विजयोदया—उवविधेदि यो ढौकयति सर्वादरेण अन्यस्याराधनां तस्य आराधना सकला निर्विघ्ना संपद्यते ॥

आराधकशुश्रूषाफलमादर्शयन्नुक्तमर्थं समर्थयते—

मूलारा—उवविधेदि ढौकयति ॥

निर्यापकोंको क्या फल मिलता है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जो पूर्ण आदरभावसे अन्यों को संपूर्ण आराधनाओंकी प्राप्ति कर देते हैं, उनको सर्व आराधनाओंकी निर्विघ्न प्राप्ति होती है.

ये क्षपकप्रेक्षणाय यांति तानपि स्तौति---

ते वि कदत्था धण्णा य हुंति जे पावकम्ममलहरणे ।
ण्हायंति खवयतित्थे सव्वादरभत्तिसंजुत्ता ॥ २००६ ॥

स्नांति क्षपकतीर्थे ये कर्मकर्दमसूदने ॥
पापपंकेन मुच्यन्ते धन्यास्तेऽपि शरीरिणः ॥ २०७९ ॥

विजयोदया—ते पि कदत्था तेपि कृतार्थाः धन्याश्च भवंति ये क्षपकतीर्थे पापकर्ममलापहरणे सर्वादराभिमुखाः स्नांति ॥

क्षपकप्रेक्षणयात्रिकान्विकथ्यते---

मूलारा—ते वि किं पुनर्नियपिका इत्यपिशब्देनोच्यते । ण्हायन्ति स्नान्ति । क्षपकप्रेक्षणप्रार्थनादिताः स्वात्मानं शोधयन्तीत्यर्थः । खवयतित्थं क्षपकतीर्थं संसारसरिदुत्तारणनिमित्तत्वात् ॥

जो क्षपकके दर्शन करनेके लिये जाते हैं उनकी स्तुति—

अर्थ—जो पुरुष संपूर्ण पापरूपी मलहरण करनेमें समर्थ ऐसे क्षपकरूपी तीर्थ में अतिशय भक्तीसे स्नान करते हैं वे क्षपक वंदना करनेवाले भव्यजीव कृतार्थ और धन्य हैं.

क्षपकस्य तीर्थतां व्याचष्टे—

गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवोधणेहिं जदि उसिदा ।
तित्थं कधं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवउ ॥ २००७ ॥

पर्वतादीनि तीर्थानि सेवितानि तपोधनैः ॥
जायंते यदि सत्तीर्थं कथं न क्षपकस्तदा ॥ २०८० ॥

विजयोदया—गिरिणदियादिपदेसा गिरिनद्यादिप्रदेशा यदि तपोधनैरुषितानि तीर्थानि तीर्थं स्वयं कथं न भवेत् क्षपकस्तपोगुणराशिः ॥

क्षपकस्य तीर्थतां मुख्यतयोपपादयति—

मूलारा—उसिदा आश्रिताः । ण होज्जो न भवेत् । सयं परनिरपेक्षतया ॥

क्षपक क्यों तीर्थ माना जाता है, इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—पर्वत, नदी वगैरह प्रदेश जहां तपोधन मुनिओंने निवास किया था वे भी यदि तीर्थ है. तो तपस्वी और गुणोंका राशि स्वरूप क्षपक क्यों न तीर्थ माना जायगा. अर्थात् क्षपकको तो अवश्य तीर्थ समझना चाहिये.

पुव्वरिसीणं पडिमाओ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं ॥
खवयस्स वंदओ किह पुण्णं विउलं ण पाविज्ज ॥ २००८ ॥

वंदमानोऽश्नुते पुण्यं योगिनां प्रतिमा यदि ॥
भक्तितो न तपोराशिस्तदानीं क्षपकः कथम् ॥ २०८१ ॥

विजयोदया—पुव्वरिसीणं पडिमाउ पूर्वेषां ऋषीणां प्रतिमा वंदमानस्य यदि पुण्यं भवति क्षपके वंदनोद्यतः कथं विपुलं पुण्यं न प्राप्नुयात् ॥

क्षपकवंदारोर्विपुलपुण्यलाभमुपपादयति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—प्राचीनमुनिओं के प्रतिमाओंकी वंदना करने वालोंको यदि पुण्य प्राप्त होता है तो क्षपककी वंदना करने वाले भव्यों को क्यों न पुण्यलाभ होगा? अर्थात् क्षपकवंदनसे अवश्य पुण्यप्राप्ति होती है.

जो ओलग्गदि आराधयं सदा तिव्वभत्तिसंजुत्तो ॥
संपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराहणा सयला ॥२००१॥

सेव्यते क्षपको येन शक्तितो भक्तितः सदा ॥
तस्याप्याराधना देवी मत्यक्षा जायते मृतौ ॥ २०८२.॥

विजयोदया—जो ओलग्गदि आराधयं यस्सेवते आराधकं सदा तीव्रभक्तिसंयुक्तः, संपद्यते निर्विघ्ना तस्याप्याराधना सकला ॥

क्षपकोपास्तिफलमनुशास्ति —

मूलारा—ओलग्गइ सेवते ॥

अर्थ—जो भव्य जीव क्षपक की उपासना करता है. अंतःकरण मे तीव्रभक्ति धारण करता है. उसको भी संपूर्ण आराधनाए प्राप्त होती हैं.

सविचारभत्तवोसरणमेवमुववण्णिदं सवित्थारं ॥
अविचारभत्तपच्चक्खाणं एत्तो परं वुच्छं ॥ १०१० ॥

भक्तत्यागः सवाचीरो विस्तरेणेति वर्णितः ॥
अधुना तमवीचारं वर्णयामि समासतः ॥ २०८३ ॥

भक्तत्यागः ।

विजयोदया—सविचारभत्तवोसरणं सविचारभक्तप्रत्याख्यानमेवमुपवर्णितं सविस्तरं अविचारभक्तप्रत्याख्यानं अतः परं प्रवक्ष्यामि ॥

प्रकृतोपसंहारपुरःसरं अवीचारभक्तप्रत्याख्यानं व्याख्यातुमुपक्षिपति—

मूलारा—एत्तो इतः । इति सविचारभक्तप्रत्याख्यानव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ—इस प्रकार सविचार भक्तप्रत्याख्यान का हमने सविस्तर वर्णन किया है. अब यहांसे अवीचार भक्त प्रत्याख्यानका वर्णन करते हैं.

तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढो ॥
अपरक्कमस्स मुणिणो कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ॥ २०११ ॥

भक्तत्यागोस्त्यवचारो निश्चेष्टस्य दुरुत्तरे ॥

सहसोपस्थिते मृत्यौ योगिनो वीर्यधारिणः ॥ २०८४ ॥

विजयोदया—अविचारभत्तपदिण्णा अविचारभक्तप्रत्याख्यानं सहसोपस्थिते मरणे भवति । अपराक्रमस्य यतेः सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य काले असति ॥

अथ अविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य स्वामिसमयनिर्णयार्थमाह—

मूलारा—तत्थ तद्वचने प्रकृतो । आगाढे सहसोपस्थिते । अपरक्कमस्स निश्चेष्टस्य । कालम्मि असंपुहुत्तम्मि । सविचारभक्तत्यागस्य कालेऽसति । स्तोकजीवितकाले सतीत्यर्थः । उक्तं च—

भक्तत्यागो ह्यवीचारो मरणे सहसागते ॥ भवत्युत्साहहीनस्य यतेः काले ऽहसीयसि ॥

अर्थ—सविचारभक्त प्रत्याख्यानकाल नही होने पर अर्थात् अकस्मात् मरण उपस्थित होनेपर असमर्थ मुनि को अविचारभक्तप्रत्याख्यान करना योग्य हैं.

तत्थ पढमं णिरुद्धं णिरुद्धतरयं तहा हवे विदियं ।

तदियं परमणिरुद्धं एवं तिविधं अवीचारं ॥ २०१२ ॥

निरुद्धं प्रथमं तत्र निरुद्धतरमूचिरे ॥

द्वितीयं तु तृतीयं च निरुद्धतममुत्तमाः ॥ २०८५ ॥

विजयोदया—तत्थ पढमं णिरुद्धं तत्र अवीचारभक्तप्रत्याख्याने प्रथमं निरुद्धं, द्वितीयं निरुद्धतरकं,तृतीयं परमनिरुद्धं एवं त्रिविधमवीचारभक्तप्रत्याख्यानं ॥

अविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य निरुद्धनिरुद्धतरपरमनिरुद्धभेदात्रैविध्यमुद्दिशति—

मूलारा—तत्थ अविचारभक्तत्यागे ॥

अर्थ—अविचार भक्त प्रत्याख्यानके निरुद्ध, निरुद्धतर और परमनिरुद्ध ऐसे तीन भेद हैं.

निरुद्धमेवंभूतस्य भवतीत्याचष्टे—

तस्स णिरुद्धं भणिदं रोगादंकेहिं जो समभिभूदो ॥

जंघाबलपरिहीणो परगणगमणम्मि ण समत्थो ॥ २०१३ ॥

निरुद्धं कथितं तस्य रोगातंकादिपीडितं ॥
जंघाबलविहीनो यः परसंघगमाक्षमः ॥ २०८६ ॥

विजयोदया—तस्स णिरुद्धं भणिदं तस्य निरुद्धमुक्तं रोगेण आतंकेन वा यस्समभिभूतः जंघाबलपरिहीनो वा परगणगमनासमर्थो यः ॥

निरुद्धं गाथापंचकेन व्याचष्टे—

मूलारा—ण समत्थो रोगेणातंकेन वा संतताभिभवाज्जंघाबलपरिहीनतया वा परगणं गंतुमशक्त इत्यर्थः ॥

निरुद्धभक्त प्रत्याख्यान किसको होता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ-- छोटे रोग अथवा बडे रोगसे पीडित होनेपर तथा पैरोंमें चलने का सामर्थ्य जिसको नहीं है, जो परगणमें जाने में असमर्थ है वह मुनि निरुद्धअविचारभक्तप्रत्याख्यान करते हैं.

जावय बलविरियं से सो विहरदि ताव णिप्पडीयारो ॥
पच्छा विहरदि पडिजग्गिज्जंतो तेण सगणेण ॥ २०१४ ॥
यावदस्ति बलं वीर्यं स्वयं तावत्प्रवर्तते ॥
क्रियमाणोपकारस्तु तदभावे गणेन सः ॥ २०८७ ॥

विजयोदया—जावय बलविरियं यावद्बलवीर्यं चास्ति। से तस्य। सो विहरति स तावद्गुणे प्रवर्तते निष्प्रतीकारः यदा शक्तिस्तीव्रन्यूना तदा पश्चाद्विहरति तेन स्वगणेन क्रियमाणोपकारः ॥

निरुद्धधामिनः प्रवृत्तौ परानपेक्षाव्यपेक्षावसरो निर्दिशति—

मूलारा—पच्छा अतीव शक्तिन्यूनतायां। पडिजग्गिज्जंतो उपक्रियमाणः।

अर्थ—जबतक देहमें बल, वीर्य था तबतक वह गुणोंमें प्रवृत्ति करता है जब शक्ति तीव्रतासे कम होती जाती है तब स्वगणसे उपकृत होता हुआ अपने रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करता है. अर्थात् अत्यंत अशक्त होनेपर गणस्थ मुनि उनकी सेवा करते हैं.

इय सण्णिरुद्धमरणं भणियं अणिहारिमं अवीचारं॥
सो चेव जधाजोग्गं पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स ॥ २०१५॥

सन्निरुद्धमवीचारं स्वगणस्थमितीरितम्॥
अपरः प्रक्रमः सर्वः पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते ॥ २०८८॥

विजयोदया—इय सण्णिरुद्धमरण भणिदं एवं सन्निरुद्धमरणं भणितं, जंघाबलपरिहीनतया व्याध्यभिभवेन वा स्वस्मिन्गणे निरुद्धो यस्तस्य मरणं निरुद्धमरणं अणिहारिमं सविचारभक्तप्रत्याख्यानोक्तपरित्यागाभावात्, परित्यागादीनं अनियतविहारादिविधिविचारणाभावादवीचारं। आत्मीय एव गणे आचार्यस्य समीपे प्रव्रज्यातीचारं उक्त्वा निंदागर्हापरः कृतप्रतिक्रमः कृतप्रायश्चित्तो यावद्वीर्यमस्ति तावन्निष्प्रतीकारो विहरति, यदा हीनसर्वचेष्टस्तदा परैरनुगृह्यमाणो विहरति॥

मूलारा—सण्णिरुद्धमरण जघाबलपरिहीनतया। रोगातंकाभिभवेन वा स्वगणे सन्निरुद्धस्य प्रतिबद्धपरगणगमनासमर्थस्य मरणं। अणिहारिमं सविचारभक्तप्रत्याख्यानोक्तस्वगणपरित्यागाभावात्। अवीचारं अनियतविहारादिविचारणाविरहात्। सो इत्यादि। स्वगण एव गणिनश्चरणमूले प्रव्रज्याद्यतिचारमालोच्य निंदागर्हापरःकृतप्रतिक्रमप्रायश्चित्तो यावद्वीर्यमस्ति तावन्निष्प्रतीकारो विहरति। सर्वचेष्टापरिक्षये पुनः परैरनुगृह्यमाण इत्यतोऽन्यो यथोचितो विधिः पूर्वोक्त एवेत्यर्थः।

अर्थ—इस प्रकार सन्निरुद्ध मरण का स्वरूप कहा है. पैरोंका सामर्थ्य कम होनेसे अथवा रोगपीडित होनेसे अपने गणमें ही जिसको रहना पडता है अन्य गणमें जो नहीं जा सकता है ऐसे मुनिको सन्निरुद्ध मुनि कहते हैं. ऐसे मुनिके मरणको सन्निरुद्ध मरण कहते हैं. सविचारभक्तके प्रत्याख्यानमें स्वगणका परित्याग कर परगणमें जानेका विधि बतलाया है. वह इसमें नहीं हैं इसलिये इसको 'आणिहारिम कहते हैं. अनियत विहारादि विधि इसमें नहीं है इस लिये इसको अवीचार कहते हैं. यह मुनि स्वगणमें ही रहकर आचार्यके चरणमूलमें दीक्षासे आजतक हुए अपराधों की आलोचना करता है. निंदा और गर्हा करता है. प्रतिक्रमण करके प्रायश्चित्त लेकर जबतक सामर्थ्य है तबतक दुसरोंके सहायके विना रत्नत्रयाचरणमें तत्पर रहता है. जब प्रवृत्ति करने में बिलकुल असमर्थ होता है तब अन्यमुनिओंसे शुश्रूषा साहाय्य लेकर रत्नत्रयमें तत्पर होता है.

दुविधं तं पि अणीहारिमं पगासं च अप्पगासं च ॥
जणणादं च पगासं इदरं च जणेण अण्णादं ॥ २०१६ ॥

प्रकाशमप्रकाशं च स्वगणस्थमिति द्विधा ॥
जनज्ञातं मतं पूर्वं जनाज्ञातं परं पुनः ॥ २०८९ ॥

विजयोदया—दुविधं तं पि अणीहारिमं द्विविधं तदपि अणीहारसंज्ञितं भक्तप्रत्याख्यानं प्रकाशरूपमप्रकाशरूपमिति जनेन ज्ञातं प्रकाशरूपमितरदप्रकाशात्मकं ॥

निरुद्धावीचारभक्तप्रत्याख्यानस्य प्रकाशाप्रकाशभेदाद्द्वैविध्यमभिधत्ते—

मूलारा—अणीहारिमं अनिहारसंज्ञं । स्वगणनिर्गमरहितत्वात् । अत एवान्ये स्वगणस्थमितीदमभ्यधुः । तदुक्तम्-

सन्निरुद्धमवीचारं स्वगणस्थमितीरितम् ॥
अपरः प्रक्रमः सर्वः पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते ॥

निरुद्धावीचारभक्तप्रत्याख्यानके प्रकाश और अप्रकाश ऐसे दो भेद हैं. इनका आचार्य स्वरूप कहते हैं.

अर्थ—अनिहार नामक इस भक्त प्रत्याख्यानके प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप ऐसे दो भेद है. जो जनोंके द्वारा जाना गया है उसको प्रकाशरूप कहते हैं और जो नहीं जाना गया है उसको अप्रकाशरूप कहते हैं.

खवयस्स चित्तसारं खित्तं कालं पडुच्च सजणं वा ॥
अण्णम्मि य तारिसयम्मि कारणे अप्पगासं तु ॥ २०१७ ॥

द्रव्यं क्षेत्रं बलं कालं ज्ञात्वा क्षपकमानसं ॥
अप्रकाशं मतं हेतावन्यत्रापि सतीदृशे ॥ २०९० ॥

इति निरुद्धं

विजयोदया—खवगस्स चित्तसारं क्षपकस्य बुद्धिं, बलं, क्षेत्रं, कालं, स्वजनं वा प्रतिपद्य अन्यस्मिन्वा तादृशे कारणे जाते अप्रकाशभक्तप्रत्याख्यानं, यदि क्षपकः क्षुदादिपरीषहासहः, वसतिर्वा अविविक्ता, कालो वा अतिरूक्षो, बंधवो वा यदि परित्यागविघ्नं कुर्वंति न प्रकाशः कार्यः । णिरुद्धं गदं ॥

अप्रकाशस्य कारणान्याह—

मूलारा—चित्तसारं मनोबलं । पडुच्च प्रतीत्य । सयणं बंधुलोकं । अप्पयासं यदि क्षपकः क्षुदादिपरीषहासहो, वसतिर्वा अविविक्ता,कालो वातिरूक्षः, बांधवा वा संन्यासं विघ्नयंति तदा न प्रकाशः कार्योऽस्मिन्नित्यप्रकाशकं । निरुद्धम् ।

अर्थ—क्षपकका मनोबल. अर्थात् धैर्य, क्षेत्र, काल, उसके बांधव अथवा अन्य भी कारण का विचार कर क्षपकके निरुद्धावीचारभक्त प्रत्याख्यानको प्रगट करते हैं अथवा अप्रगट करते हैं. यदि क्षपक क्षुधादि परीषहोंसे पीडित होगा, अथवा वसतिका एकान्त स्थानमें न होगी, यदि काल समय अति रूक्ष होगा, यदि बंधुगण इस परित्याग विधीमें बाधा करनेवाले होंगे तो यह प्रत्याख्यान-मरण प्रकाशित नहीं करना चाहिये.

निरुद्धतरं व्याचष्टे—

वालग्गिवग्घमहिसगयरिंछ पडिणीय तेण मेच्छेहिं ॥
मुच्छाविसूचियादीहिं होज्ज सज्जो हु वावत्ती ॥ २०१८ ॥

जलानलविषव्यालसन्निपातविसूचिकाः ॥
हरंति जीवितं साधोर्भानुस्रा इव तामसम् ॥ २०९१ ॥

विजयोदया—वालग्गिवग्घमहिस व्यालेनाग्निना, व्याघ्रेण, महिषेण, गजेन, ऋक्षेण,शत्रुणा,स्तेनेन, म्लेच्छेन, मूर्च्छया,विसूचिकादिभिर्वा सद्यो व्यापत्तिर्भवेत् ।

अथ निरुद्धतया वीचारभक्तप्रत्याख्यानं गाथाचतुष्टयेन व्याचिख्यासुरादावायुरपवर्तिन्याः सद्यो व्यापत्तेः संभवमभिधत्ते—

मूलारा—वाल सर्पः । पडिणीय शत्रुः । विसूचियादीहिं विसूचिकया दंडकालशक्तितीव्रमूलादिभिश्च । वावत्ती सद्यो मरणकारणवेदना, मरणं वा ।

निरुद्धतर विधीका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—सर्प, अग्नि, व्याघ्र, भैसा, हाथी, रींछ, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूर्च्छा, तीव्र शूलरोग इत्यादिसे तत्काल मरण का प्रसंग प्राप्त होता है.

जाव ण वाया खिप्पदि बलं च विरियं च जाव कायम्मि ॥
तिव्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खत्तं ॥ २०१९ ॥

यावन्न क्षीयते वाणी यावदिंद्रियपाटवम् ॥
यावद्वीर्यं बलं चेष्टा हेयादेयविवेचनम् ॥ २०९२ ॥

विजयोदया—जाव ण वाया खिप्पदि यदि यावद्वाग् विनश्यति बलं वीर्यं च यावदस्ति काये तीव्रया वेदनया यावच्चित्तं न व्याक्षिप्तं भवति तावत् ॥

तत्क्षणे मुमुक्षुणा यत्करणीयं तदुपदिशति—

मूलारा—खिप्पदि विनश्यति । विक्खित्तं व्याक्षिप्तम् ।

अर्थ—जबतक वचन मुहसे निकलता है जबतक शरीरमें बल और वीर्य है और जबतक शरीरमें होनेवाली तीव्र वेदनासे चित्त आकुलित नहीं हुआ है तबतक—

णच्चा संवट्टिज्जं तमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ॥
गणियादीणं सण्णिहिदाणं आलोचए सम्मं ॥ २०२० ॥

तावद्वेदनया ज्ञात्वा म्रियमाणं स्वजीवितम् ॥
आलोचनां गुरोः कृत्वा धीरा मुञ्चन्ति विग्रहम् ॥ २०९३ ॥

विजयोदया—णच्चा संवट्टिज्जं ज्ञात्वोपसंह्रियमाणमायुः शीघ्रमेव ततो भिक्षुराचार्यादीनां सन्निहितानामालोचनां सम्यक् कुर्यात् रत्नत्रयाराधनायां परिणतः व्युत्सृजेत् वसतिं, संस्तरमाहारमुपधिं शरीरं परिचारकान्, बलवीर्यहाने परगणगमनासमर्थः । निरुद्धं प्रवेशप्रकर्षेण निरुद्धं इति निरुद्धतरक इत्युच्यते ॥

मूलारा—संवट्टिज्जंतं उपसंह्रियमाणं । तीव्रवेदनाया अन्तर्मुहूर्तमात्रभोग्यदशाया प्रवेशमानं ॥ तो ततः । आयुःप्रवर्तनाद्धेतोः आचार्यादीनामग्रे ॥

अर्थ—तबतक अपना आयुष्य प्रतिसमयमें क्षीण हो रहा है ऐसा जानकर आचार्यादिकोंके पास शीघ्र अपने संपूर्ण पूर्व दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये. रत्नत्रयाराधनामें तत्पर होकर वसति, संस्तर आहार, उपधि,

शरीर, परिचारक इन सबोंका त्याग करना चाहिये. अर्थात् इनके ऊपरसे ममत्व हटाना चाहिये. तात्पर्य-जब बल और वीर्यकी हानि होती है तब परगणमें गमन करनेमें असमर्थ मुनिको निरुद्ध कहते हैं. इससे भी जो अधिक असमर्थ होता है उसको निरुद्धतर कहते हैं.

एवं णिरुद्धदरयं विदियं अणिहारिमं अवीचारं ॥
सो चेव जधाजोग्गो पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स ॥ २०२१ ॥

स्वगणस्थमिति प्राज्ञैर्निरुद्धतरमीरितम् ॥
अवशेषो विधिस्तस्य ज्ञेयः पूर्वत्र दर्शितः ॥ २०१४ ॥

इति निरुद्धतरम् ।

विजयोदया—स्पष्टार्थगाथा ॥ निरुद्धदर ॥

मूलारा—णिरुद्धतरगं सद्यो मरणकारणोपनिपातेन सुतरां बलवीर्यहानेः परगणगमनेऽसमर्थान्निरुद्धात्प्रकर्षेणासमर्थो निरुद्धतरस्तद्योगान्मरणमपि निरुद्धतरं ततः संज्ञायां क ॥ निरुद्धतरम् ॥

अर्थ—तत्काल आयुका नाश करनेके कारण प्राप्त होनेपर बल और वीर्यकी अतिशय हानि जब होती है तब परगणमें जानेके लिये जो मुनि अत्यंत असमर्थ होता है. अत ऐसे साधुके मरणकोभी आचार्य निरुद्धतरक मरण कहते हैं. निरुद्धतर मरणका वर्णन हुआ.

वालादिएहिं जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया ॥
तइया परमणिरुद्धं भणिदं मरणं अवीचारं ॥ २०२२ ॥

यदा संक्षिप्यते वाणी व्याधिव्यालविषादिभिः ॥
तदा शुद्धधियः साधोर्निरुद्धतममिष्यते ॥ २०९५ ॥

विजयोदया—वालादिएहिं व्यालादिभिः पूर्वोक्तैः यदोपद्रुतस्य वाग्विनष्टा तदा परमनिरुद्धमरणं वाग्निरोधोऽत्र परमशब्देनोच्यते ॥

अथ परमनिरुद्धावीचारभक्तप्रत्याख्यानं गाथासप्तकेन व्याख्यास्यन् पूर्वं गाथात्रयेण तल्लक्षयति—

मूलारा—वालादिएहिं व्यालादिभिः । पूर्वोक्तैरुपद्रुतस्य अक्षित्ता विनष्टा । परमणिरुद्धं परमेण वाग्निरोधेन निरुध्यस्य साध्यत्वात्परमनिरुद्धमित्याख्यायते । उक्तं च—

यदा संक्षिप्यते वाणी व्याधिव्यालविषादिभि ॥ तदा शुद्धधियःसाधोर्निरुद्धतरमिष्यते ॥

अर्थ – सर्प व्याघ्रादिसे पीडित हुए साधुके अंगमें विषका संचार होकर उसका भाषण भी जब बंद होता है. तब परमनिरुद्ध नामका मरण प्राप्त होता है. वचननिरोध होनेपर परमनिरोध माना जाता है.

णच्चा संवद्विज्जं तमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ॥
अरहंतसिद्धसाहूण अंतिगे सिग्घमालोचे ॥ २०२३ ॥

हरंती जीवितं दृष्ट्वा वेदनामनिवारणाम् ॥
जिनादीनां पुरो धीरः करोत्यालोचनां लघु ॥ २०२६ ॥

विजयोदया—णच्चा संविट्टिज्जं तं आउगं ज्ञात्वोपसंव्हियमाणमायुः अर्हतां सिद्धानां साधूनां चांतिके शीघ्र मालोचनाः कुर्यात् ॥

मूलारा—अंतिगे सन्निधाने । मनस्यर्हदादीन्सन्निहितान्कृत्वेत्यर्थः । आलोचे आलोचनां कुर्यात् ।

अर्थ—उस समय वह मुनि अपना आयुष्य शीघ्र ही समाप्त होनेवाला है ऐसा जानकर मनमें अर्हत् और सिद्धादि परमेष्ठिओंको धारण कर शीघ्र आलोचना करता है.

आराधणाविधी जो पुव्वं उववण्णिदो सवित्थारो ॥
सो चेव जुज्जमाणो एत्थ विही होदि णादव्वो ॥ २०२४ ॥

आराधनाविधिः पूर्वं कथितो विस्तरेण यः ॥
अत्रापि युज्यमानोऽसौ द्रष्टव्यः श्रुतपारगैः ॥ २०२७ ॥

विजयोदया—आराधणाविधी आराधनाविधिर्यः पूर्वं विस्तरो व्यावर्णितः स एवात्रापि युज्यमानो ज्ञातव्यः ॥

मूलारा—जुज्जमाणो प्रयुज्यमानः। सहसा मरणाराधनाया वैफल्याशंकामपाकरोति—

अर्थ—आराधना विधीका जो पूर्वमें सविस्तर वर्णन किया है उसीकीही इस मरणमें योजना करनी चाहिये

एवं आसुक्कारमरणे वि सिज्झंति केइ धुदकम्मा ॥
आराधयित्तु केई देवा वेमाणिया होंति ॥ २०२५ ॥

आराध्याराधनोदर्यो आशुकारं मृतावपि ॥
केचित्सिध्यन्ति जायन्ते केचिद्वैमानिकाः सुराः ॥२०९८ ॥

विजयोदया—एवं आसुक्कारमरणे वि एवं सहसा मरणेऽपि सिध्यंति विधुतकर्मसंहतयः केचिदाराध्य वैमानिका देवा भवंति ॥

मूलारा—एवं अनेन विधिना। चतुर्विधाराधनामुपक्रम्य। आसुक्कारे मरणे झटिति प्राणत्यागे। धुदकम्मे परीतसंसारतया निरस्तकर्मसंहतयः संतः पंडितपंडितमरणेन सिद्धिं गच्छन्तीत्यर्थः। आराधइत्ता भक्तप्रत्याख्यानेन मरणेनैव चतुर्विधाराधनामाराध्य मृताः संतः ॥

अर्थ—इस प्रकार चार प्रकारकी आराधनाका प्रारंभ करनेपर उपर्युक्त कारणोंसे यदि शीघ्र प्राणत्यागका समय प्राप्त हुआ तो कोई साधु संपूर्ण कर्मोंका नाश करके पंडितमरणसे मोक्षकी प्राप्ति कर लेते हैं. और कोई मुनि इन आराधनाओंकी आराधना कर वैमानिक देव होते हैं.

आराधणाए तत्थ दु कालस्स बहुत्तणं ण हु पमाणं ॥
बहवो मुहुत्तमत्ता संसारमहण्णवं तिण्णा ॥ २०२६ ॥

प्रमाणं कालबाहुल्यमस्य नाराधनाविधेः ॥
तीर्णा मुहूर्तमात्रेण बहवो भवनीरधिम् ॥ २०९९ ॥

विजयोदया—कथमल्पेन कालेन निर्वृतिर्भवेदित्याशंका न कार्येति वदति। आराधणाए तत्थ दु तस्यामाराधनायां कालस्य बहुत्वं न प्रमाणं। बहवो मुहूर्तमात्रेणाराध्य संसारमहार्णवं तीर्णाः ॥

कथमल्पेन कालेन निर्वृतिः साध्येत्यत आह—

मूलारा—तत्थ तस्यां । पमाणं मात्रकतमं । मुहुत्तमुत्ता मुहूर्तमाराधनायां स्थिताः ।

अर्थ—इतने अल्पकालमें कैसा मोक्ष प्राप्त होता है ऐसी शंका नहीं करना चाहिये. अर्थात् आराधनाका काल बहुतही होना चाहिये ऐसा कुछ नियम नहीं है. मुहूर्तमात्रमेंही कोई रत्नत्रय की आराधना करके संसार समुद्रको लांघ गये हैं.

खणमेत्तेण अणादियमिच्छादिट्ठी वि वड्ढणो राया ॥
उसहस्स पादमूले संबुज्झित्ता गदो सिद्धिं ॥ २०२७ ॥

सिद्धो विवर्द्धनो राजा चिरं मिथ्यात्वभावितः ॥
वृषभस्वामिनो मूले क्षणेन धुतकल्मषः ॥ २१०० ॥

इति निरुद्धतमम् ।

विजयोदया—खणमेत्तेण क्षणमात्रेणानादिमिथ्यादृष्टिरपि वर्द्धननामधेयो राजा ऋषभस्य पादमूले संबुद्धो गतः सिद्धिं ॥

क्षणमात्राराधनायाः सिद्धिसाधनत्वमर्थाख्यानेन समर्थयते—

मूलारा—विवद्धणो विवर्धनो नामा । संबुज्झित्ता सम्यगात्मानं आत्मनात्मनि संवेद्य ॥

अर्थ—अनादि मिथ्यादृष्टि ऐसा वर्धन नामका राजा ऋषभ भगवानके चरणमूलमें आत्मस्वरूपका ज्ञाता होकर क्षणमात्रमें निर्वाण को प्राप्त हुआ.

सोलसतित्थयराणं तित्थुप्पण्णस्स पढमदिवसम्मि ॥
सामण्णणाणसिद्धी भिण्णमुहुत्तेण संपण्णा ॥ २०१८ ॥

विजयोदया—स्पष्टमिदं ॥

मूलारा—सोलसतित्थयराणं ऋषभादिशांतिपर्यन्तानाम् । तित्थुप्पण्णस्स वचनोत्पत्तेः । सामण्णणाणसिद्धि

केवलज्ञानं निर्वाणगमनं च । भिण्णमुहुत्तेण स्तोककालेन संपत्ता संप्राप्ता बहवः । अन्यस्तु सामण्णेवि चारित्रममस्त । उक्तं च—

षोडशतीर्थकराणां तीर्थोत्पन्नस्य वासरे प्रथमे ॥ श्रामण्यबोधिसिद्धिर्भिन्नमुहूर्तेन संवृत्ता ॥

एतां श्रीविजयो नेच्छति ॥

अर्थ—ऋषभनाथसे लेकर शांतितीर्थंकरपर्यंत सोलह तीर्थंकरोंको जिस दिन दिव्य ध्वनिकी प्राप्ति हो गयी थी उस दिन बहुत मुनिओंको केवलज्ञान और निर्वाण की प्राप्ति भिन्नमुहूर्तमें हुई थी इस प्रकार परमनिरुद्ध मरणका वर्णन समाप्त हुआ.

एसा भत्तपइण्णा वाससमासेण वण्णिदा विधिणा ॥
इत्तो इंगिणिमरणं वाससमासेण वण्णेसिं ॥ २०२९ ॥

प्रोक्ता भक्तप्रतिज्ञेति समासव्यासयोगतः ॥
इदानीमिंगिनीं वक्ष्ये जन्मकक्षकुठारिकाम् ॥ २१०१ ॥

विजयोदया—एसा भत्तपइण्णा एतद्भक्तप्रत्याख्यानं व्यासेन संक्षेपेण च वर्णितं अत ऊर्ध्वं सान्यासिकमिंगिणीमरणं व्याससमासाभ्यां वर्णयिष्यामि ॥

प्रस्तुतोपसंहारपुरःसरं व्याख्येयान्तरमुपक्षिपति—

मूलारा—विधिना पूर्वसूत्रक्रमेण । वण्णेसिं व्याख्यास्याम्यहम् ॥ वृत्तम्—

एवं दीक्षादिकालोचितविधिमुचितज्ञानभक्तप्रतिज्ञा—
प्रौढिव्यूढोत्तमार्थं करतलकलिताराधनाकेतनश्रीः ॥
कोऽप्याशाधरातश्वरविशदयशोगानरज्यन्मुमुक्षु-
मद्भिक्षु स्वर्गलक्ष्मीप्रणयहृतशिवश्रीकटाक्षोत्सवः स्यात् ॥

इत्याशाधरानुस्मृतग्रंथसंदर्भे मूलाराधनादर्पणे पदप्रमेयार्थप्रकाशीकरणप्रवणे सप्तम आश्वासः ॥ ७ ॥ इति भक्तप्रत्याख्यानमरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ—इस भक्तप्रत्याख्यान मरणका विस्तारसे और संक्षेपसे वर्णन किया है. अब सन्यास मरणरूप इंगिणी मरणका विस्तार और संक्षेपमें वर्णन करता हूं

जो भत्तपदिण्णाए उवक्कमो वण्णिदो सवित्थारो ॥
सो चेव जधाजोग्गो उवक्कमो इंगिणीए वि ॥ २०३० ॥

उक्तो भक्तप्रतिज्ञाया विस्तारो यश्च क्रमः ॥
इंगिनीमरणेऽप्येष यथायोगं विबुध्यताम् ॥ २१०२ ॥

विजयोदया—जो भत्तपदिण्णाए यो भक्तप्रत्याख्यानस्य उपक्रमो व्यावर्णितः सविस्तारः स एव यथासंभव मुपक्रमो इंगिनीमरणेऽपि ॥

अष्टमं आश्वासः ॥

अनर्घैरपुनातनैरपि यतेः साध्याविलेत्यादितो । भक्तत्यागमृतस्तथा निगदितो व्यासात्समासादपि ॥
तत्पशानमशेषमप्यनुगुणं मुक्त्यर्थिनामित्यथ । व्याख्यास्यंत इतः सुमृत्युविधयस्तेऽपींगिणीपूर्वकाः ॥

अथातः स्वकृतवैयावृत्त्यमात्रापेक्षालक्षणं पंडितमरणस्य द्वितीयकल्पमिंगिणीमरणं गाथात्रयस्त्रिंशता प्रबंधेन व्याचक्षाणः प्रथमं तदुपक्रमाविदेशार्थं इदमाह—

मूलारा—उपक्रमो प्रयोगविधिः ॥

अर्थ—भक्तप्रतिज्ञा मरणमें जो प्रयोगविधि कहा है वही यथासंभव इस इंगिणीमरणमें भी समझना चाहिये.

पव्वज्जाए सुद्धो उवसंपज्जित्तु लिंगकप्पं च ॥
पवयणमोगाहित्ता विणयसमाधीए विहरित्ता ॥ २०३१ ॥

प्रव्रज्याग्रहणे योग्यो योग्यं लिंगमधिष्ठितः ॥
कृतप्रवचनाभ्यासो विनयस्थःसमाहितः ॥ २१०३ ॥

विजयोदया—पव्वाज्जाए सुद्धो प्रव्रज्यायां शुद्धो दीक्षाग्रहणयोग्य इत्यर्थः। एतेन अर्हत्ता निरूपिता। उवसंपज्जित्तु प्रतिपद्य। लिंगकप्पं च योग्यं लिंगं लिंगं इत्यनेन सूचितम्। पवयणमोगाहित्ता श्रुतमवगाह्य एतेन शिक्षा उपन्यस्ता, विणयसमाधीए विहरित्ता विनयसमाधौ विहृत्य ॥

तदुपक्रमयथोचितविवेचनार्थमाह—

मूलारा—पव्वज्जाए सुद्धो दीक्षाग्रहणयोग्यः । अर्हत्त्वख्यापनार्थमिदं ॥ एवमुत्तरपदानामपि लिंगादिविकल्पविधिख्यापनेन साफल्यमवकल्प्यम् । उवसंपज्जित्तु प्रतिपद्य । लिंगकप्पं निर्ग्रन्थानुष्ठानम् । विणयसमाधीए विनये समाधौ च । विहरित्ता परिणतो भूत्वा । अत्रार्हदादिपंचतयो विधिरुक्तः ।

अर्थ—जो दीक्षाग्रहण करने योग्य है. ऐसा मुनि योग्य लिंग धारण कर श्रुत–आगममें अवगाहन करता है. तथा विनयमें और समाधिमें विहार करता है. तात्पर्य यह है कि, सविचारभक्तप्रत्याख्यान मरणमें जैसा प्रयोग विधि बतानेके लिये अर्ह, लिंग, शिक्षा वगैरह चालिस सूत्रोंका पूर्वमें वर्णन किया है. वैसा यहां भी वही वर्णन समझना चाहिये.

णिप्पादित्ता सगणं इंगिणिविधिसाधणाए परिणमिया ॥
सिदिमारुहित्तु भाविय अप्पाणं सल्लिहित्ताणं ॥ २०३२ ॥

निष्पाद्य सकलं संघं इंगिनीगतमानसः ॥
श्रितिस्थो भारितस्वान्तः कृतसल्लेखनाविधिः ॥ २१०४ ॥

विजयोदया—णिप्पादित्ता सगणं योग्यं कृत्वा स्वगणं । इंगिणीविधिसाधनाय परिणतो भूत्वा, सिदिमारुहित्तु परिणामश्रेणिमारुह्य । भाविय भावनां प्रतिपद्य । अप्पाणं सल्लिहित्ताणं आत्मानं संलेख्य ॥

मूलारा—णिप्पादित्ता योग्यं कृत्वा । इंगिणीविधिसाधनायामित्यत्रापि योग्यं । परिणमिय परिणम्य । साधयिष्यामहमिंगिणीविधिमिति निश्चलं चेतसि निवेश्येत्यर्थः । सिदि शुभपरिणामश्रेणीं । भाविय कंदर्पादिदुर्भावनात्यागेन तपःश्रुतादिभावनाभिः संस्कृत्य । संलिहित्ताणं कायकषायौ कृशीकृत्य ।

अर्थ—अपने गणको मुनिओंके आचरणमें योग्य बनाकर तदनंतर इंगिणी मरण साधनेके लिये वह मुनि परिणति करता है. तदनंतर परिणामके श्रेणीपर आरोहण कर कंदर्पादि भावनाओंका त्याग कर तपोभावना, श्रुत भावना, इत्यादि भावनाओंका अभ्यास करता है और शरीरके साथ कषाय कृश करता है.

परियाइगमालोचिय अणुजाणित्ता दिसं महज्जणस्स ॥
तिविधेण खमावित्ता सबालवुड्ढाउलं गच्छं ॥ २०३३ ॥

संस्थाप्य गणिनं संघे क्षमयित्वा त्रिधाखिलं ॥
यावज्जीवं वियोगार्थी दत्वा शिक्षां प्रियंकराम् ॥ २१०५ ॥

विजयोदया—परियाइगमालोचिय क्रमेण रत्नत्रयाचारमालोच्य । अणुजाणित्ता अनुज्ञाय । दिसं गणधरं । महज्जणस्स महाजनस्य चतुर्विधसंघस्येत्यर्थः । तिविधेण खमावित्ता त्रिविधेन क्षमां ग्राहयित्वा । सबालवुड्ढाकुलं गच्छं ॥

मूलारा—परियाइयं रत्नत्रयातिचारपरिपाटीं । दिसं आचार्यं परिस्थाप्य । महजणस्स महाजनस्य चतुर्विध संघस्येत्यर्थः । खमावेत्ता क्षमां ग्राहयित्वा ।

अर्थ—रत्नत्रयके पालन करते समय जो अतिचार लगे थे उनकी आलोचना कर संघका त्याग करनेके पूर्वमें अपने स्थानमें दूसरे आचार्य की स्थापना करनी चाहिये. अर्थात् चतुर्विध संघको नवीन आचार्यके स्वाधीन कर देना चाहिये. उस समय बालमुनि, वृद्धमुनि वगैरह संपूर्ण गणको क्षमाके लिये प्रार्थना करनी चाहिये.

अणुसट्ठिं दादूण य जावज्जीवाय विप्पओगच्छी ॥
अब्भादिगजादहासो णीदि गणादो गुणसमग्गो ॥ २०३४ ॥

कृतार्थतां समापन्नो हर्षाकुलितमानसः ॥
निर्यातो गणतः सूरिर्गुणशीलविभूषितः ॥ २१०६ ॥

विजयोदया—अणुसट्ठिं दादूणय शिक्षां दत्वा गणपतेर्गणस्य च । जावज्जीवाय विप्पओगच्छी यावज्जीवं विप्रयोगार्थी । अब्भदिगजादहासो कृतार्थोऽस्मीति जातदर्पः । णीदि गणादो निर्याति यतिगणात् । गुणसमग्गो संपूर्णगुणः ॥

मूलारा—दादूण गणपतये गणाय च दत्वा । जावज्जीवाय यावज्जीवं । विप्पजोगत्थी गणेन वियोगमिच्छन् । अब्भधियजादहासो कृतार्थोऽस्मीति निर्भरोत्पन्नप्रीतिः । णीदि निगच्छति ।

अर्थ—आचार्य स्थापनाके अनंतर आचार्य और गणको भी उपदेश देना चाहिये और तदनंतर अब यावज्जीव मैं आपसे अलग होना चाहता हूं ऐसा कहकर गणसे प्रयाण करना चाहिये. आज मैं कृतार्थ हुआ ऐसा मानकर संपूर्ण गणयुक्त एलाचार्यका वह आचार्य त्याग करे.

एवं च णिक्कमित्ता अंतो बाहिं च थंडिले जोगे ॥
पुढवीसिलामए वा अप्पाणं णिज्जवे एक्को ॥ २०३५ ॥

निःक्रम्य स्थंडिलादौ स विविक्ते बहिरंतरे ॥
भूशिलासंस्तरस्थायी स्वं निर्यापयति स्वयम् ॥ २१०७ ॥

विजयोदया—एवं च णिक्कमित्ता एवं विनिष्क्रम्य। थंडिले जोगे समे समुन्नते कठिने जीवरहिततया योग्ये। अंतो बाहिं च अंतर्बहिर्वा। पुढवीसिलामए वा पृथ्वीसंस्तरे शिलामये वा। अप्पाणं णिज्जवे एक्को आत्मानं निर्जयेदसहायः।

तस्य संस्तरारोहणविधिं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—अंतो बाहिं च गुहादेरभ्यंतरे बाहिरेवा। थंडिले समसमुन्नतकठिनभूमिदेशे। जोगे जीवरहितत्वेन योग्ये। पुढवीसिलामए पृथिवीसंस्तरे शिलासंस्तरे वा। णिज्जवे संसारान्निर्गमयति। एक्को देहमात्रसहायः ॥

अर्थ—स्वगणमें निकलकर अंदर और बाहर जो समान ऊंचा और कठिन है ऐसे भूमिप्रदेशमें अर्थात् स्थंडिलमें जो कि जीवरहित होना चाहिये. उसका आश्रय करे. तथा निर्जन्तुक जमीन अथवा शिलाका भी संस्तर के लिये आश्रय करे. उस समय वह शरीरमात्र जिसका सहायक है ऐसा होता है.

पुव्वुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थंडिलम्मि पुव्वुत्ते ॥
जदणाए संथरित्ता उत्तरसिरमधव पुव्वसिरं ॥ २०३६ ॥

योग्यं पूर्वोदितं कृत्वा संस्तरं स्थंडिले तृणैः ॥
पूर्वस्यामुत्तरस्यां वा शिरो दिशि करोति सः ॥ २१०८ ॥

विजयोदया—पुव्वुत्ताणि तणाणि य पूर्वोक्तानि तृणानि निरसंधिछिद्रजंतुरहितानि शरीरस्थितिसाधनमात्राणि मृदूनि प्रतिलेखनायोग्यानि ग्रामे नगरे वा प्रविश्य यांचया गृहीतानि पूर्वोक्ते स्थण्डिले कोऽसौ सालोकः विस्तीर्णो विध्वस्तः असुषिरोऽबिलः निर्जंतुकस्तस्मिन्स्थंडिले जदणाए संथरित्ता यत्नेन संस्तरं कृत्वा, को यत्नः तृणानां पृथक्करणं संस्तरभूमिप्रतिलेखनं, उत्तरसिरमधव पुव्वसिरं संथारं संथरित्ता य पूर्वोत्तमांगमुत्तरोत्तमांगं वा संस्तीर्य शिरःप्रभृति कायं पादौ च यत्नेन प्रमार्ज्य ॥

पृथिवीशिलासंस्तरासंपत्तौ तृणसंस्तरविधानमुपदिशति—

मूलारा—पुव्वुत्ताणि संस्तरसूत्रोक्तानि । निःसंधिनिश्छिद्रनिर्जन्तूनि, मृदूनि, प्रतिलेखनयोग्यानि । शरीरस्थिति साधनमात्राणि च । आणित्ता ग्रामं नगरं वा प्रविश्य प्रार्थ्य गृहीतानि । पुव्वुत्ते सालोकविस्तीर्णविध्वस्ताद्युपरिनिर्बिलनिर्जंतुके । जदणाए तृणपृथक्करणसंस्तरभूमिप्रतिलेखनलक्षणेन यत्नेन । संथरित्ता यथाविधि तृणसंस्तरं उत्तरशिरस्कं पूर्वशिरस्कं वा कृत्वा तत्रात्मानं निर्यापयतीति पूर्वेण संबंधः ।

अर्थ—पूर्वोक्त स्थंडिलपर तृणको पसारना चाहिये. यह तृण ग्राममें अथवा नगरमें जाकर याचना करके लाना चाहिये. छिद्ररहित, जंतुरहित, मृदु, शरीरस्थिरताके लिये कारण, प्रतिलेखनाके योग्य ऐसा यह तृण उस स्थंडिलपर प्रयत्नसे पसारना चाहिये. यह स्थंडिल भी प्रकाशयुक्त, विस्तीर्ण, छिद्ररहित, बिलरहित, निर्जंतुक होना चाहिये. उस स्थंडिलपर यत्नसे तृण बिछाना चाहिये. अर्थात् तृणको पृथकरण करना, संस्तरकी भूमिका प्रतिलेखन करना, झाडकर स्वच्छ करना यहां इन कृत्योंको यत्न कहते हैं. पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशाको मस्तक करने योग्य तृणकी रचना करनी चाहिये. तदनंतर मस्तक वगैरे शरीरके अवयव और पांव पिच्छीसे प्रमार्जित करने चाहिये.

पाचीणाभिमुहो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा ॥
सीसे कदंजलिपुडो भावेण विसुद्धलेस्सेण ॥ २०३७ ॥

भावशुद्धिमधिष्ठाय लेश्याशुद्धिविवर्द्धितः ॥
कर्मविध्वंसनाकांक्षी मूर्धन्यस्तकरद्वयः ॥ २१०९ ॥

विजयोदया—पाचीणाभिमुहो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा प्राङ्मुखो उत्तराभिमुखो वा भूत्वा तत्र संस्तरे संस्थित्वा । सीसे कदंजलिपुडो मस्तके कृतांजलिः । भावेण विसुद्धलेस्सेण विशुद्धलेश्यासमन्वितेन भावेन ॥

स्वयं स्वनिर्यापणविधिं गाथात्रयेणोपदिशति—

मूलारा—पाचीणाभिमुहो पूर्वाभिमुखः । उदीचिहुत्तो उत्तराभिमुखः । तत्थ पृथिव्याद्यन्यतमसंस्तरे । सो इंगिनीमरणोद्यतः साधुः । ठिच्चा उद्धीभूत्वा, पर्यंकाद्यासनेनैकपार्श्वशयनेन वा यथाशक्त्यवस्थाय । विसुद्धलेस्सेण पीतादिलेश्यासमन्वितेन ।

अर्थ—उस संस्तरपर वह इंगिणीमरणकी प्रतिज्ञा करनेवाला मुनि पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशाके तरफ मुख करके खडा हो जाता है. अपने मस्तकपर हाथ जोडकर रखता है. अंतःकरणमें परिणामोंकी निर्मलता उत्पन्न करता है.

अरहादिअंतिगं तो किच्चा आलोचणं सुपरिसुद्धं ॥
दंसणणाणचरित्तं परिसारेदूण णिस्सेसं ॥ २०३८ ॥

विधायालोचनामग्रे जिनादीनामदूषणाम् ॥
दर्शनज्ञानचारित्रतपसां कृतशोधनः ॥ २११० ॥

विजयोदया—अरहादिअंतियं अर्हदाद्यंतिकं। तो पश्चात् आलोचनां कृत्वा सुपरिशुद्धं, दंसणणाणचरित्तं पडिसारेदूण दर्शनज्ञानचारित्राणि संस्कृत्य निरवशेषं ॥

मूलारा—अरहादिअंतिगं अर्हदादिपार्श्वे। पडिसारेदूण निर्मलीकृत्य ॥

अर्थ—तदनंतर अर्हदादिकोंके समीप सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें लगे हुए दोषोंकी वे मुनि आलोचना करते हैं. और संपूर्णतासे रत्नत्रयको संस्कृत करते हैं अर्थात् निर्मल करते हैं .

सव्वं आहारविधिं जावज्जीवाय वोसरित्ताणं ॥
वोसरिदूण असेसं अब्भंतरबाहिरे गंथे ॥ २०३९ ॥

यावज्जीवं त्रिधाहारं प्रत्याख्याय चतुर्विधं ॥
बाह्यमाभ्यंतरं ग्रंथमपाकृत्य विशेषतः ॥ २१११ ॥

विजयोदया—सव्वं आहारविधिं सर्वं आहारविकल्पं। यावज्जीवं परित्यज्य बाह्याभ्यंतरानशेषान् परिग्रहांश्च त्यक्त्वा ॥

मूलारा—विधिं अशनादिभेदं।

अर्थ—संपूर्ण आहारोंके विकल्पोंका वे यावज्जीव त्याग करते हैं. तथा संपूर्ण बाह्य व अभ्यंतर परिग्रहोंका त्याग करते हैं.

सव्वे विणिज्जिणंतो परीषहे धिदिबलेण संजुत्तो ॥
लेस्साए विसुज्झंतो धम्मं ज्झाणं उवणमित्ता ॥ २०४० ॥

परीषहोपसर्गाणां कुर्वाणो निर्जयं परम् ॥
गाहमानः परां शुद्धिं धर्मध्यानपरायणः ॥ २११२ ॥

विजयोदया—सव्वे विणिज्जिणंतो सर्वांश्च जयन् परिषहान् धृतिबलसमन्वितः लेश्याभिर्विशुद्धः सन् धर्मध्यानं प्रतिपद्य ॥

मूलारा—उवणमित्ता प्रतिपद्य ॥

अर्थ—वे मुनि सर्व परिषहोंको अपने धैर्य बलसे सहन करते हैं. विशुद्ध लेश्यायुक्त परिणामोंसे धर्मध्यानका आश्रय करते हैं.

ठिच्चा णिसिदित्ता वा तुवट्टिदूणव सकायपडिचरणं ॥
सयमेव णिरुवसग्गे कुणदि विहारम्मि सो भयवं ॥ २०४१ ॥

निपद्योत्थाय निःशेषामात्मनः कुरुते क्रियाम् ॥
विहरन्नुपसर्गेऽसौ प्रसाराकुंचनादिकम् ॥ २११३ ॥

विजयोदया—ठिचा स्थित्वा आसित्वा शयनं वा कृत्वा स्वकायपरिकरं स्वयमेव निरुपसर्गे विहारे करोति। स्वयमेवात्मनः करोत्याकुंचनादिकाः क्रियाः,उच्चारादिकं च निराकरोति प्रतिष्ठापनासमितिसमन्वितः। यदि पुण उवसग्गा यदा पुनरुपसर्गा देवमनुष्यतिर्यक्कृता भवंति तदा निष्प्रतीकारस्तान् सहते विगतभयः। आदितिगसुसंघडणो माद्येषु त्रिषु संहननेषु अन्यतमसंहननः शुभसंस्थानोऽभेद्यधृतिकवचो जितकरणो जितनिद्रो महाबलो नितरां शूरः॥

मूलारा—ठिचा ऊर्ध्वकायोत्सर्गेण स्थित्वा। पर्यंकादिना आसित्वा। तुवट्टिदूण एकपार्श्वादिना पतित्वा। सकायपरिचरणं स्वशरीरप्रतिकर्म शौचप्रतिलेखनादिकं। विहारम्मि निरुपसर्गे संन्यासे सति। सो ठिचा इत्यत्र निर्दिष्टं स इत्येतन्माहात्म्यातिशयोपेतो यत इति वाक्यभेदेन संबन्धोऽत्र विधेयः। करोतीत्यनेन संबध्य वाक्यसमाप्तिःकार्या॥ कुत एवं करोतीत्याह सो भयवं स तथा कृते गणी परिकरो भगवा

अर्थ— खडे कायोत्सर्गसे खडे होकर, अथवा पर्यंकादि कायोत्सर्गसे बैठकर, किंवा शयन कर एक बाजू पर पडे हुए वह मुनिराज स्वयं ही अपनी शरीर क्रिया करते हैं. अर्थात् उपसर्ग रहित अवस्थामें वे शौच, प्रतिलेखनादि क्रिया स्वयं ही करते हैं. ये क्रिया करते समय प्रतिष्ठापनासमितिमें तत्पर रहते हैं. यदि देव मनुष्य और तिर्यंचोंके द्वारा उपसर्ग होने लगा तो वे उसका प्रतिकार नहीं करते हैं. उनका धैर्यरूपी कवच अभेद्य रहता है. अंतःकरणमें जरासा भी भय नहीं रहता है. इंगिनीमरणके धारक मुनि पहिले तीन संहननोंमेंसे कोई एक संहननके धारक रहते हैं. उनका शुभ संस्थान रहता है. वे निद्राको जीतते हैं., महाबली व शूर रहते हैं.

सयमेव अप्पणो सो करेदि आउंटणादि किरियाओ ॥
उच्चारादीणि तधा सयमेव विकिंचिदे विधिणा ॥ २०४२ ॥
जाधे पुण उवसग्गे देवा माणुस्सिया व तेरिच्छा ॥
ताधे णिप्पडियम्मो ते अधियासेदि विगदभओ ॥ २०४३ ॥
आदितियसुसंघडणो सुभसंठाणो अभिज्जधिदिकवचो ॥
जिदकरणो जिदणिद्दो ओघबलो ओघसूरो य ॥ २०४४ ॥
बीभत्थभीमदरिसणविगुव्विदा भूदरक्खसपिसाया ॥
खोभिज्जो जदि वि तयं तधवि ण सो संभमं कुणइ ॥ २०४५ ॥

स्वयमेवात्मनः सर्वं प्रतिकर्म करोति सः ॥
आकांक्षति महासत्त्वः परतोऽनुग्रहं न हि ॥ २११४ ॥
देवमानवतिर्यग्भ्यः संपन्नमतिदारुणम् ॥
उपसर्गं महासत्वः सहतेऽसौ निराकुलः ॥ २११५ ॥
दुःशीलभूतवेतालशाकिनीग्रहराक्षसैः ॥
न संभीषयितुं शक्यो भीमैरपि कथंचन ॥ २११६ ॥

विजयोदया—बीभत्सभीमदंसणविगुव्विया बीभत्सभीमदर्शनविक्रिया भूतराक्षसपिशाचा यद्यपि क्षोभं कुर्वंति तथा प्यसौ न संभ्रमं करोति ॥

अन्यथानुपसर्गस्य तत्कृत्यमाह—

मूलारा—आवंटणादि आकुंचनप्रसारणादि । विकिंचदे स्फेटयति । विधिणा प्रतिष्ठापनिकासमितिविधानेन ।

उपसर्गसंभवे स किं करोतीत्याह—

मूलारा—जाधे यदा । य अचेतनकृताश्चेति समुच्चिनोत्ययं च । ताधे तदा । णिप्पडियम्मो प्रतिकाररहितः । अधियासेदि सहते ।

तदुपसर्गसहनसामर्थ्यसमर्थनार्थमाह—

मूलारा—आदितियसुसंघडणो वज्रवृषभनाराचं, वज्रनाराचं नाराचं चेत्याद्येषु त्रिषु शोभनसंहननेषु मध्येऽन्यतम संहनन इत्यर्थः । सुभसंठाणो समचतुरस्रसंस्थान. । अभेद्यं अभेद्यं । ओघबलो महाबलः । ओघसूरो नितरां शूरः अत एव देवादिकृतादुपसर्गान्निर्भयःसन्सहते इति पूर्वेण सम्बन्धः ।

पुनस्तस्य महासात्विकत्वं प्रतिकूलोपसर्गसंक्षोभानुद्भवमुखेन व्यनक्ति—

मूलारा—बीभच्छभीमदंसणविउव्विया विकृतभयंकरदर्शनविविधक्रियाः । खोभिज्जो क्षोभियेयुः । संभम संक्षोभं ॥

अर्थ— बीभत्स और भय दिखानेवाला जिनका दर्शन और विक्रिया है ऐसे भूत, राक्षस और पिशाचोंके द्वारा यदि क्षोभ उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया जानेपर भी उनके मनमें भय उत्पन्न नहीं होता है.

इड्ढिमदुलं वि उव्विय किण्णरकिंपुरिसदेवकण्णाओ ॥
लोलंति जदिवियतगं तधवि ण सो विम्भयं जाई ॥ २०४६ ॥
त्रिदशैर्विक्रियावद्भिश्चेतश्चोरणकारिणीं ॥
प्रदश्यं महतीमृद्धिं लोभ्यमानो न लुभ्यति ॥ २११७ ॥

विजयोदया—इड्ढिमदुलं विगुव्विय ऋद्धिमतुलां विकृत्य किंनरकिंपुरुषादिदेवकन्या यद्यप्युपलालनं कुर्वंति-तराप्यसौ न विस्मयं याति ॥

किंनरादिकन्याप्रलोभनं लक्षणानुकूलोपसर्गेऽपि तस्य विस्मयाभावं ब्रूते ॥

मूलारा—इड्ढि ऋद्धिं । लालेंति लोभयंति । विम्हयं विस्मयं ॥ किंबहुना ॥

अर्थ—अनुपम ऋद्धि प्रगट करके किन्नर किंपुरुषादिककी देवकन्याएं उनको लुब्ध करनेका प्रयत्न भी करेंगी तो भी उनका मन आश्चर्यचकित नहीं होता है.

सव्वो पोग्गलकाओ दुक्खत्ताए जदि तमुवणमेज्ज ॥
तधवि य तस्स ण जायदि ज्झाणस्स विसोत्तिया को वि ॥ २०४७ ॥

संपद्यतेऽखिलास्तस्य दुःखाय यदि पुद्गलाः ॥
तथापि जायते जातु ध्यानविघ्नो न धीमतः ॥ २११८ ॥

विजयोदया—सव्वो पोग्गलकाओ सर्वं पुद्गलद्रव्यं दुःखतया यदि तमभिद्रवति तथापि तस्य न जायते ध्यानस्यान्यथावृत्तिः ॥

मूलारा—सव्वो त्रैलोक्योदरवर्ती । पोग्गलकाओ पुद्गलद्रव्यं । दुक्खत्ताए दुःखतया । दुःखोत्पादरूपतयेत्यर्थः उवणमेज्ज उपढौकेत । विसोत्तिया अन्यथाभावः । आर्तरौद्रपरिणतिरित्यर्थः ।

अर्थ—जगतके संपूर्ण पुद्गल दुःखरूप परिणतिको प्राप्त होकर उनको पीडा करनेके लिए उद्यत होनेपर भी उनका मन ध्यानसे च्युत नहीं होता है.

सव्वो पोग्गलकाओ सोक्खत्ताए जदि वि तमुवणमेज्ज ॥
तध वि हु तस्स ण जायदि ज्झाणस्स विसोत्तिया को वि ॥ २०४८ ॥

सुखाय यदि लभ्यंते सर्वे पुद्गलसंचयाः ॥
तथापि धीरधीर्नासौ ध्यानतश्चलति स्फुटम् ॥ २११९ ॥

विजयोदया—स्पष्टोत्तरगाथा ॥

मूलारा—सोक्खत्ताए सुखावहतया ।

अर्थ—सर्व जगत्के पुद्गल यदि सुखरूप बनकर उनको सुखी करनेके लिए उद्यमी होनेपर भी इन मुनिराजका मन उनमें क्षुब्ध होता नहीं अर्थात् अपने आत्मध्यानमें ही स्थिर रहता है.

सच्चित्ते साहरिदो तत्थोवेक्खदि वियत्तसव्वंगो॥
उवसग्गे य पसंते जदणाए थण्डिलमुवेदि ॥ २०४९ ॥

उपेक्षते विनिक्षिप्तः सचित्तहरितादिषु ॥
उपसर्गशमे भूयो योग्यं स्थानमियर्त्ति सः ॥ २१२० ॥

विजयोदया—सचित्ते साहरिदो व्याघ्रादिभिः सचित्ते निक्षिप्तः स तत्रैवोपेक्षते त्यक्तसर्वांगः। उपसर्गे प्रशांते परेन स्थण्डिलमुपैति ॥

व्याघ्रादिभिः प्राणिसंकुलभूतले प्रक्षिप्तोऽसौ किं करोतीत्याह—

मूलारा—सचित्ते हरिततृणादिप्राणिबहुले देशे सा हरिदो व्याघ्रादिभिर्नीत्वा प्रक्षिप्तः। तत्थ तत्रैव उवेक्खदि तिष्ठत्युपसर्गांतं यावत्। वियत्तसव्वंगो त्यक्तसर्वकायः। पसंते स्वयमेव प्रशमं गते ॥

अर्थ—हरा तृण वगैरह प्राणिओंसे व्याप्त ऐसे भूप्रदेशमें यदि व्याघ्रादिकोंने लेजाकर फेंक दिया तो भी उपसर्ग दूर होने तक वे मुनि शमभाव धारण कर शरीरमोहसे रहित होकर वहां ही रहते हैं. उपसर्ग दूर होनेपर यत्नसे स्थंडिलके तरफ आते हैं.

एवं उवसग्गविधिं परीसहविधिं च सोधिया संतो॥
मणवयणकायगुत्तो सुणिच्छिदो णिज्जिदकसाओ ॥ २०५० ॥

परीषहोपसर्गाणामेवं विषहनोद्यतः ॥
मनोवाक्कायगुप्तोऽसौ निःकषायो जितेंद्रियः ॥ २१२१ ॥

विजयोदया—एवं उपसर्गविधिं एवमुपसर्गान् परिषहांश्च सहमानस्त्रिगुप्तः सुनिश्चितो निर्जितकषायः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—इस प्रकार वे मुनिराज उपसर्ग और परीषहों को जीतते हैं. मन वचन और शरीरकी क्रियायें बंद करते हैं अर्थात् तीन गुप्तिओंको पालनकर क्रोधादिक कषायोंको जीतते हैं. आत्मस्वरूपमें स्थिर रहते हैं.

इहलोए परलोए जीविदमरणे सुहे य दुक्खे य ॥
णिप्पडिबद्धो विहरदि जिददुक्खपरिस्समो धिदिमं ॥ २०५१ ॥
इहामुत्र सुखे दुःखे जीविते मरणे सुधीः ॥
सर्वथा निःप्रतीकारश्चतुरंगे प्रवर्तते ॥ २१२२ ॥

विजयोदया—इहलोगे परलोगे इह परत्र च जीविते मरणे सुखे दुःखे च अप्रतिबंधो विहरति जितदुःख परिश्रमः धृतिमान् ॥

मूलारा—णिप्पडिबद्धो इच्छाद्वेषरहितः । धिदिमं धृतिमान् ।

अर्थ—इहलोकमें और परलोकमें, जीवित और मरणमें, सुख और दुःखमें वे इच्छा और द्वेष नहीं रखते हैं. धैर्य धारण करते हैं और दुःखोंके परिश्रमसे वे पीडित नहीं होते हैं.

वायणपरियट्टणपुच्छणाओ मोत्तूण तधय धम्मथुदिं ॥
सुत्तच्छपोरिसीसु वि सरेदि सुत्तत्थमेयमणो ॥ २०५२ ॥
वाचनापृच्छनाम्नायधर्मदेशनवर्जिताः ॥
धीरः सूत्रार्थयोः सम्यग्ध्यायत्येकाग्रमानसः ॥ २१२३ ॥

विजयोदया—वायणपरियट्टणपुच्छणाओ वाचनां, परिवर्तनं, प्रश्नं च मुक्त्वा च तथा धर्मोपदेशं सूत्रस्यार्थस्य वा स्मरत्येकचित्तः ॥

वाचनादिस्वाध्यायभेदेषु मध्ये सूत्रार्थानुप्रेक्षामेवासौ करोतीत्यनुशास्ति—

मूलारा—परियट्टण आम्नायः । धम्मथुदी धर्मोपदेशं देववंदनां च । सुत्तत्थपोरिसीसु पंचसु स्वाध्यायभेदेषु मध्ये अथवा पूर्वाह्णमध्याह्नापराह्णरात्रमध्येषु चतुर्षु पट्पट्घटिकास्वीधीकरणनिर्निर्गच्छति वेष्वपि अस्वाध्यायकालेष्वपि इत्यर्थः । सरेदि चिंतयति । उक्तं च-

वाचनापृच्छनाम्नायधर्मैर्देशनवर्जितः ॥
धीरः सूत्रार्थयोः सम्यक् ध्यायत्येकाग्रमानसः ॥

अर्थ—वे मुनि वाचना, प्रच्छना, परिवर्तन और धर्मोपदेश इस रूपसे चार प्रकारके स्वाध्यायका त्याग कर सूत्र और अर्थका एकाग्रतासे स्मरण करते हैं. अथवा दिनका पूर्वभाग, मध्यभाग, अन्तभाग तथा अर्धरात्र ऐसे चार समयोंमें तीर्थंकरोंकी दिव्यध्वनि निकलती है. ये काल स्वाध्यायके नहीं हैं. ऐसे कालमें भी वे अनुप्रेक्षात्मक स्वाध्याय करते हैं.

एवं अट्ठवि जामे अनुवट्टो तच्च ज्झादि एयमणो ।
जदि आधत्ता णिद्दा हविज्ज सो तत्थ अपदिण्णो ॥ २०५३ ॥

एवमष्टसु यामेषु निर्निद्रो ध्यानलालसः ॥
भवन्नीं हठतो निद्रां न निषेवत्यसौ पराम् ॥ २१२४ ॥

विजयोदया—एवं अट्ठवि जामे एवमेवाष्टसु यामेषु निरस्तशयनक्रियो ध्यात्येकचित्तः, यद्याहृत्य निद्रा भवेत् तत्र अप्रतिज्ञोऽसौ ॥

तस्य स्वापक्रियां निषिध्य ध्यानमनुजानाति—

मूलारा—अनुवट्टो अनिद्रः सन् । तत्र तत्त्वं । आधत्ता आहृत्य हठात् । अपदिण्णो प्रतिज्ञारहितः । हठाद्भवंती भवतीत्यर्थः ॥

अर्थ—इस प्रकार आठों प्रहरोंमें निद्राका परित्याग करके एकाग्रचित्त होकर वे मुनि तत्त्वोंका विचार करते हैं. यदि बलात् निद्रा आगई तो निद्रा लेते हैं.

सज्झायकालपडिलेहणादिकाओ ण संति किरियाओ ॥
जम्हा सुसाणमज्झे तस्स य झाणं अपडिसिद्धं ॥ २०५४ ॥

स्वाध्यायकाले विक्षेपाद्यंतास्तस्य न च क्रियाः ॥
ध्यानं श्मशानमध्येऽपि कुर्वाणस्य निरंतरम् ॥ २१२५ ॥

विजयोदया—सज्झायकालपडिलेहणादिकाओ स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिकाः क्रिया न संति यस्मात् श्मशानमध्येपि तस्य ध्यानं न प्रतिषिद्धं ॥

स्वाध्यायकालगवेषणादिना चित्तविक्षेपसंभवे क्षेत्राशुद्धौ वा ध्यानाप्रवृत्तेः कथं तस्याहोरात्रिकमात्मध्यानं स्यादित्याह—

मूलारा—पडिलेहणा गवेषणा शुद्धिर्वा । सुसाण श्मशानं । अपडिसिध्धं न प्रतिषिद्धं ॥

अर्थ—स्वाध्याय काल और शुद्धि वगैरह क्रियायें उनको नहीं हैं. श्मशानमें भी उनको ध्यानके लिये निषेध नहीं है.

आवासगं च कुणदे उवधोकालम्मि जं जहिं कमदि ॥
उवकरणंपि पडिलिहइ उवधोकालम्मि जदणाए ॥ २०५५ ॥
यथोक्तं कुरुते सर्वमावश्यकमतंद्रितः ।
विधत्ते स द्वयं कालं उपधिप्रतिलेखनम् ॥ २१२६ ॥

विजयोदया—आवासगं च कुणदे आवश्यकं च करोति कालद्वयेऽपि यस्मिन्काले प्रवर्तते, उपकरणप्रतिलेखनमपि यत्नेन कालद्वये करोति ॥

एवं तर्हि नावश्यकादिकमप्यसौ विधास्यतीत्याशंकामपाकरोति—

मूलारा—च पुनः । उवधोकालम्मि रात्रिदिनयोः । कमदि प्रवर्तते ॥

अर्थ—जो आवश्यककर्म जिस कालमें करनेका विधान कहा गया है उस कालमें ये मुनि वह कर्म करते हैं. उपकरणोंका प्रतिलेखन-शुद्धि भी प्रयत्नसे सूर्योदय और सूर्यास्त समयमें अवश्य करते हैं.

सहसा चुक्कखलिदे णिसीधियादीसु मिच्छकारे सो ॥
आसिअणिसीधियाओ णिग्गमणपवेसणे कुणइ ॥ २०५६ ॥
सहसा स्खलने जाते मिथ्याकारं करोति सः ॥
आसीनिषद्यकाशब्दौ विनिःक्रांतिप्रवेशयोः ॥ २१२७ ॥

विजयोदया—सहसा चुकरकलिदे सहसा स्खलने जाते मिथ्या मया कृतमिति ब्रवीति, निष्क्रमणप्रवेशयोःआसिकानिषीधिकाशब्दप्रयोगं करोति ॥

मूलारा—चुक्करक्खलिदे अकरणे किंचित्करणे वा संभवे सति । मिच्छाकारो मिथ्या मया कृतमिति भाषणं । आसिय निर्गमने 'आसिका' शब्दोच्चारणं णिसिधियाओ । प्रवेशे 'निषीधिका' शब्दोच्चारणं ॥

अर्थ—कुछ स्खलन होनेपर अर्थात् आवश्यककर्म थोडासा किया गया किंवा नहीं किया गया तो मैने मिथ्या किया 'मिथ्या मया कृतं' ऐसा बोलते हैं. वंदनादि कार्यके लिये जाते समय और प्रवेश करते समय असहि और निसही ऐसा शब्दोच्चार क्रमसे करते हैं.

पादे कंटयमादिं अच्छिम्मि रजादियं जदाविज्ज ॥
गच्छदि अधाविधिं सो परणीहरणे य तुसिणीओ ॥ २०५७ ॥

पादयोः कंटके भग्ने रजसीक्षणयोर्गते ॥
तूष्णीमास्ते स्वयं धीरो परेणोद्धरणेऽपि सः ॥ २१२८ ॥

विजयोदया—पादे कंटयमादिं पादयोः कंटकप्रवेशे नेत्रयोः रजःप्रभृतिप्रवेशेपि तूष्णीमास्ते, परनिराकरणेपि स तूष्णीमास्ते ॥

पादादौ कंटकादिप्रवेशनस्योपेक्षामुपदिशति—

मूलारा—कंटयमादी कंटककीलकादिकं । आवेज्ज प्रविशेत् । अधाविधि यथाविधि । प्रोक्तविधिना याति निराकर्तुं न प्रवर्तते इत्यर्थः । परणीहरणे परेण निष्कास्यमाने पादभग्नकंटके इत्यर्थः । तुण्हीए मौनेन तिष्ठति । तुसिणीओ इति पाठे तूष्णीको मौनशीलो भवतीत्यर्थः ॥

अर्थ—पैरोंमें कांटा चुभ गया और नेत्रमें रज-धूलीका कण चला गया तो भी वे अपने हाथसे नहीं निकालते हैं. दूसरोंके द्वारा निकाला जानेपर मौन धारण करते हैं.

वेउव्वणमाहारयचारणखीरासवादिलद्धीसु ॥
तवसा उप्पण्णासु वि विरागभावेण सेवदि सो ॥ २०५८ ॥

नानाविधासु जातासु लब्धिष्वेप महात्मनाः ॥
न किंचित्सेवते जातु विरागीभूतमानसः ॥ २१२९ ॥

विजयोदया—वेउव्वणमाहारय विक्रियाऋद्धौ आहारकर्द्धौ चारणऋद्धौ क्षीरास्रवादिलब्धिषु वा तपसोत्पन्नास्वपि विरागतया न किंचित्सेवते सः ॥

विक्रियादिलब्ध्युपयोगाभावमपि तस्याह—

मूलारा—वेउव्वण विक्रियालब्धिः आहारय आहारकलब्धिः। चारण आकाशगमनलब्धिः। खीरासवादि क्षीरस्रावित्वमधुस्रावित्वादिलब्धयः ॥

अर्थ—तपके द्वारा वैक्रियिक ऋद्धि, आहारक ऋद्धि, चारण ऋद्धि, क्षीरास्राविलादि लब्धि प्राप्त होनेपर भी विरक्तता युक्त परिणाम होनेसे वे उनका सेवन नहीं करते हैं. अर्थात् उसका उपयोग नहीं करते हैं.

मोणाभिग्गहणिरदो रोगादंकादिवेदणाहेदुं ।
ण कुणदि पडिकारं सो तहेव तण्हाछुहादीणं ॥ २०५९ ॥

वेदनानां प्रतीकारं क्षुदादीनां च धीरधीः ॥
न जातु कुरुते किंचिन्मौनव्रतमवस्थितः ॥ २१३० ॥

विजयोदया—मोणाभिग्गहणिरदो मौनव्रतोपपन्नः रोगातंकादिवेदनानिमित्तं प्रतीकारं न करोतितथैव तृडादीनामपि ॥

रागद्यप्रतीकारमपि तस्याह—

मूलारा—मोणाभिग्गह मौनस्वीकारः ॥

अर्थ—मौन व्रतको धारण करते हैं. रोगादिकोंसे पीडा होने पर उनका प्रतीकार इलाज नहीं करते हैं. भूख, प्यास, शीत, उष्ण, इत्यादिकोंका भी वे प्रतीकार नहीं करते हैं.

उवएसो पुण आइरियाणं इंगिणिगदो वि छिण्णकधो ॥
देवेहिं माणुसेहिं व पुट्ठो धम्मं कधेदित्ति ॥ २०६० ॥

उपदेशोऽन्यसूरीणामिंगिनीमरणेऽपि सः ॥
त्रिदशैर्मानुषैः पृष्टो विधत्ते धर्मदेशनाम् ॥ २१३१ ॥

विजयोदया—उवएसो पुण आइरियाणं उपदेशः पुनः आचार्याणां इंगिणीगतोपि धर्मं कथयति देवैर्मनुष्यैर्वा पृष्टः। कथं कथयति छिन्नकथं प्रवर्तते न महता ॥

केचिद्धर्मदेशनमिंगिण्यामप्युपदिशंतीति दर्शयन्ति—

मूलारा—आयरियाणं आचार्यवराणाम्। विच्छिण्णकधो विच्छिन्ना स्तोका कथा यस्यासौ विच्छिन्नकथः स्यात्। छिण्णकधो इति वा योज्यं। देवैर्मानवैर्वा धर्मं कथयेति पृष्टः सन्निंगिणीगतोऽपि स्तोकां धर्मकथां करोति। इत्यन्येषां मतमित्यर्थः ॥

अर्थ—इंगिनीमरणमें तत्पर रहकर भी वे मुनि देव अथवा मनुष्यके द्वारा पूछे जानेपर थोडासा धर्मोपदेश भी करते हैं ऐसा अन्य आचार्यों का मत है.

एवमधक्खादविधिं साधित्ता इंगिणीं धुदकिलेसा ॥
सिज्झंति केइ केई हवंति देवा विमाणेसु ॥२०६१॥

इंगिनीमरणेऽप्येवमाराध्याराधनां बुधाः ॥
केचित्सिध्यन्ति केचिच्च सन्ति वैमानिकाः सुराः ॥ २१३२ ॥
इंगिनीमृतिं सुखानुषंगिणीं निर्मलां कषायनाशकौशलाम् ॥
पूजिता भजंति विघ्नवर्जितां ये नरा भवंति तेऽजरामराः ॥ २१३३ ॥

इति इंगिणीमरणम् ॥

विजयोदया—एवमधक्खादविधिं एवं यथाख्यातक्रमेण इंगिणीं प्रसाध्य निरस्तक्लेशाः केचित्सिध्यंति, कचिद्वैमानिकदेवा भवंति ॥

इंगिणीमाहात्म्यमभिष्टौति—

मूलारा—अधक्खादविधिं यथोक्तक्रमं। धुदकिलेसा यथोक्तक्रमेणेंगिणीं प्रसाध्य जीवन्मुक्ताः संत इत्यर्थः। सिज्झंति प्रक्षीणकृत्स्नकर्माणः पंडितपंडितमरणेन निर्वान्तीत्यर्थः।

अर्थ—यहां तक जो इंगिनीमरणका विधि कहा है उसको सिद्ध करके कोई मुनि संपूर्ण कर्मक्लेशोंको दूर करके मुक्त होते हैं. और कोई वैमानिक देव होते हैं.

एवं इंगिणिमरणं वाससमासेण वण्णिदं विधिणा ॥
पाओगमणणिमित्तो समासदो चेव वण्णेसिं ॥ २०६२ ॥

इंगिनीमरणं प्रोक्तं समासव्यासयोगतः ॥
प्रायोपगमनं वक्ष्ये व्यासेन विधिनाधुना ॥ २१३४ ॥

विजयोदया—स्पष्टार्थां गाथा ॥ इंगिणी ॥

प्रकृतमुपसंहरन्नुपदेश्यांतरमुपक्षिपति—

मूलारा—वासमासेण समासवर्णनात्र 'जो भत्तपदिण्णाए' इत्यादिसूत्रातिदेशसामर्थ्याद्भक्तप्रतिज्ञावदवगंतव्या ॥ एवमिंगिणीमरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ—इस प्रकार इंगिणी मरणका विधि विस्तारसे और समाससे-संक्षेपसे हमने वर्णन किया है. अब आगे प्रायोपगमन मरणका संक्षेप से वर्णन करते हैं. इंगिणी मरणका वर्णन समाप्त हुआ.

पाओवगमणमरणस्स होदि सो चेव सुवक्कमो सव्वो ॥
वुत्तो इंगिणिमरणस्सुक्कमो जो सवित्थारो ॥ २०६३ ॥

इंगिनीमरणेऽवाचि प्रक्रमो यो विशेषतः ॥
प्रायोपगमनेऽप्येष द्रष्टव्यः श्रुतपारगैः ॥ २१३५ ॥

विजयोदया—स्पष्टार्थः ॥

अथावसरप्राप्तं वैयावृत्त्यानपेक्षालक्षणं पंडितमरणं स्वतृतीयविकल्पं प्रायोपगमनमरणं गाथानवकेन व्याचिख्यासुरादौ तदुपक्रममतिदिशति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

प्रायोपगमन मरणका वर्णन—

अर्थ—इंगिणीमरणका जो सविस्तर विधि कहा है वही प्रायोपगमन मरणका भी विधि समझना चाहिए.

णवरिं तणसंथारो पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो ॥
आदपरपओगेण य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं ॥ २०६४ ॥

संस्तरः क्रियते नात्र तृणकाष्ठादिनिर्मितः ॥
स्वकीयमन्यदीयं च वैयावृत्त्यं न विद्यते ॥ २१३६ ॥

विजयोदया—णवरिं तणसंथारो णवरं तृणसंस्तरः प्रायोपगमनगतस्य प्रतिषिद्धः, आत्मपरप्रयोगेण यस्मात्प्रतिषिद्धः सर्वः प्रतीकारः । स्वपरसंपाद्यप्रतीकारापेक्षः भक्तप्रत्याख्यानविधिः, परनिरपेक्षमात्मसंपाद्यप्रतीकारमिंगिणीमरणं, सर्वप्रतीकाररहितं प्रायोपगमनमित्यमीषां भेदः ॥

उत्सर्गेणोपदिश्यापवादमाह—

मूलारा—णवरिं किंतु । पाओवगदस्स संघात्पादाभ्यां योग्यदेशमुपगम्य गृहीतसन्न्यासे सतीत्यर्थः । पडिसिद्धो निषिद्धः । आदेत्यादि सर्वप्रतीकाररहितमिदमित्यर्थः । एतेन भक्तप्रतीङ्गिणीभ्यामस्य भेदो दर्श्यते ॥

अर्थ—इस प्रायोपगमनमरणमें तृणके संस्तरका निषेध है. क्योंकि यह प्रायोपगमन करनेवाले मुनि स्वतः और परतः शुश्रूषा नहीं करते हैं. स्वयं भी अपनी शुश्रूषा नहीं करते हैं और दूसरोंको भी शुश्रूषा नहीं करने देते हैं. भक्तप्रत्याख्यानविधीमें स्वपरशुश्रूषा विधिकी अपेक्षा है. इंगिनी मरणमें परशुश्रूषाका निषेध है, परंतु स्वयं अपनी शुश्रूषा करते है. ऐसा इन तीन मरणोंमें आपसमें भेद है.

सो सल्लेहिददेहो जम्हा पाओवगमणमुवजादि ॥
उच्चारादिविकिंचणमवि णत्थि पवोगदो तम्हा ॥ २०६५ ॥

करोत्येनं ततो योगी कृतसल्लेखनाविधिः ॥
उच्चारप्रस्रवादीनां ततो नास्ति निराक्रिया ॥ २१३७ ॥

विजयोदया—सो सल्लेहिददेहो स सम्यक्तनूकृतशरीरो यस्मात्प्रायोपगममनुपयाति तस्मादुच्चारादिनिराकरणमपि नास्ति प्रयोगत ॥

अस्थिचर्मावशेषितशरीरत्वाद्विण्मूत्राद्यपनयनमप्यस्य स्वयं परेण वा न स्यादित्यह--

मूलारा—पओगदो स्वपरव्यापारणया ॥

अर्थ— उत्तम प्रकारसे जिसने अपना देह कृश किया है ऐसे ये मुनि प्रायोपगमन मरण विधीको करते समय विष्ठा मूत्र वगैरहका निराकरण स्वय नही करते हैं और अन्यके द्वारा भी कराते नहीं हैं.

पुढवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो ॥
वोसट्ठचत्तदेहो अधाउगं पालए तत्थ ॥ २०६६ ॥

पृथ्व्यांबाय्वग्निकायादौ निक्षिप्तस्त्यक्तविग्रह ॥
आयु पालयमानोऽसावुदासीनोऽवतिष्ठते ॥ २१३८ ॥

विजयोदया—पुढवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो पृथिव्यादिषु जीवनिकायेषु यद्यपि केनचिद्वाऽऽहृतस्तथापि व्युत्सृष्टशरीरसंस्कारस्त्यक्तदेह स्वमायु पालयेत् ॥

पृथिव्यादिष्वपि जीवनिकायेषु केनचित्प्रतिकूलोपसर्गं चिकीर्षुणा प्रतिक्षिप्तोऽप्यसौ तत्रैव म्रियते इत्युपदिशति—

मूलारा—वोसट्ठचत्तदेहो संस्कारममकाराविषयीकृतशरीर । अधाउग पालए यथायु प्रतीक्षते । स्वायु क्षयं यावदवतिष्ठते इत्यर्थ ॥

अर्थ— सचित्त पृथ्वी, अग्नि, जल, वनस्पति इत्यादि जीवनिकायमें यदि किसीने उनको फेंक दिया तो वे शरीरसे ममत्व छोडकर अपनी आयुसमाप्ति होनेतक वहांही निश्चल रहते हैं

मज्जणयगंधपुप्फोवयारपडिचारणे वि कीरते ॥
वोसट्ठचत्तदेहो अधाउगं पालए तधवि ॥ २०६७ ॥

गन्धप्रसूनधूपाद्ये क्रियमाणेऽप्युपग्रहे ॥
त्यक्तदेहतयोदास्ते स स्वजीवितपालक ॥ २१३९ ॥

विजयोदया—मज्जणयगंधपुष्फोवयारपडिचारणे वि कीरंतो यद्यपि कश्चिदभिषिंचयेत् गंधपुष्पादिभिर्वा संस्तुवस्तथापि व्युत्सृष्टत्यक्तशरीरो न रुष्यति न तुष्यति न निवारयति ॥

केनचिदभिषेकादिनोपचर्यमाणोप्यसौ न तुष्यति न रुष्यति नापि निवारयतीत्यस्यानुकूलोपसर्गोपेक्षामुपदेष्टुमाह—

मूलारा—तथवि तथैव प्रतिकूलोपसर्गवदेवेत्यर्थः ।

अर्थ—यदि कोइ उनका अभिषेक करेगा अथवा उनकी गंध पुष्पादिकोंसे पूजा करेगा तो वे उनके ऊपर न क्रोध करते हैं न प्रसन्न होते हैं. तथा उनका निवारण भी नहीं करते हैं.

वोसट्टचत्तदेहो दु णिक्खिवेज्जो जहिं जधा अंगं ॥
जावज्जीवं तु सयं तहिं तमंगं ण चालेज्ज ॥ २०६८ ॥

यत्र निक्षिपते देहं निःस्पृहः शांतमानसः ॥
ततश्चलयते नासौ यावज्जीवं मनागपि ॥ २१४० ॥

विजयोदया—वोसट्टचत्तदेहो व्युत्सृष्टत्यक्तशरीरो निक्षिपेत् कश्चिद्यस्मिन्यथांगं यावज्जीवं स्वयं तस्मिं स्तदंगं न चालयति ॥

यत्र यथा यत्स्वांगं प्राग्निक्षिप्तं ततस्तथाभावाच्च तत्स्वयं यावज्जीवं न चालयतीत्याचष्टे—

मूलारा—णिक्खिवेज्जो निक्षिपेत् । जहिं यत्र स्थाने । तहि तस्मात् । स्थानादवस्थानाच्च ।

अर्थ—जिस के ऊपर इन मुनिने अपना अंग रख दिया है उसपरसे वे मुनि स्वयं यावज्जीव अपना अंग बिलकुल हिलाते नहीं हैं.

एवं णिप्पडियम्मं भणंति पाओवगमणमरहंता ॥
णियमा अणिहारं तं सिया य णीहारमुवसग्गे ॥ २०६९ ॥

इत्युक्तं निःप्रतीकारं प्रायोपगमनं जिनैः ॥
नियमेनाचलं ज्ञेयमुपसर्गे पुनश्चलम् ॥ २१४१ ॥

विजयोदया—एवं णिप्पडियारं एवं स्वपरकृतप्रतीकाररहितं प्रायोपगमनं जिना वदंति, निश्चयेन तत्प्रायोपगमनमनीहारमचलं स्याच्चलमपि उपसर्गे परकृतचलनमपेक्ष्य ॥

उक्तार्थोपसंग्रहमाह—

मूलारा—णियमा अणीहार निश्चयेनाचलं स्वकृतशरीरचलनाभावात् । सियाय स्यादपि । णीहारमुवसग्गे उपसर्गे परकृतचलनमपेक्ष्य चलमपि भवेदित्यर्थः ।

अर्थ—इस प्रकार स्वय प्रतिकार किया जाना और अन्यके द्वारा प्रतिकार किया जाना इन दोनों प्रतीकारोंसे रहित इस मरणको प्रायोपगमन नामक मरण कहते हैं. निश्चयसे यह मरण अनीहार अचल है. परन्तु उपसर्ग अपेक्षासे इसको चल भी माना जाता है.

उवसग्गेण य साहरिदो सो अण्णत्थ कुणदि जं कालं ॥
तम्हा वुत्तं णीहारमदो अण्णं अणीहारं ॥ २०७० ॥

उपसर्गहृतः कालमन्यत्र कुरुते यतः ॥
ततो मतं चलं प्राज्ञैरुपसर्गमृते स्थिरम् ॥ २१४२ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

मूलारा—अण्णत्थ स्वापाश्रयस्थानादपरत्र । अदो अतः ॥

अर्थ—उपसर्ग के वश होने पर स्वस्थानको छोडकर यदि अन्यस्थानमें मरण हो जाता है तो उसको नीहार प्रायोपगमनमरण कहते हैं. और जो उपसर्ग के अभाव में स्वस्थान में ही हो जाता है उसको अनीहार कहते हैं.

एतदेवोत्तरगाथया स्पष्टयति—

पडिमापडिवण्णा वि हु करंति पाओवगमणमप्पेगे ॥
दीहद्धं विहरंता इंगिणिमरणं च अप्पेगे ॥ २०७१ ॥

प्रायोपगमनं केचित्कुर्वते प्रतिमास्थिताः ॥
भपधाराधनां देवीमिंगिनीमरणं परे ॥ २१४३ ॥

इति प्रायोपगमनम् ॥

विजयोदया—पडिमापडिवण्णा वि दु प्रतिमाप्रतिपन्ना अपि एके प्रायोपगमनं कुर्वंति, एके इंगिणिमरणं ॥ पाउग्गं ॥

प्रायोपगमनं केचित्सल्लेखनामकृत्वैव कायोत्सर्गं प्रतिपन्ना अपि कुर्वन्त्यन्ये पुनश्चिरमुपवासं कृत्वाप्येषमिंगिणीमपीति विभागं दर्शयति—

मूलारा—पडिमा कायोत्सर्गः । दीहद्धं चिरकालं । विहरित्ता उपवासं कृत्वा । उक्तं च—

प्रायोपगमनं केचिदाश्रितप्रतिमा अपि ।
कुर्वन्त्यन्ये विहृत्योर्वीरिंगिणीमरणं तथा ॥

इति प्रायोपगमनमरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

इसी प्रायोपगमनमरणका स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ— कायोत्सर्ग को धारण कर कोइ मुनि प्रायोपगमन मरण करते हैं. और कोई दीर्घकालतक उपवास कर इस मरणसे शरीरका त्याग करते हैं. इसी प्रकार इंगिनीमरणके भी भेद समझने चाहिये.

आगाढे उवसग्गे दुब्भिक्खे सव्वदो विदुत्तारे ॥
कदजोगिसमधियासिय कारणजादेहिं वि मरंति ॥ २०७२ ॥

उपसर्गे सति प्राप्ते दुर्भिक्षे च दुरुत्तरे ॥
कुर्वन्ति मरणे शुद्धिं परीषहसहिष्णवः ॥ २१४४ ॥

विजयोदया—आगाढे उवसग्गे उपसर्गे महति दुर्भिक्षे दुरुत्तरे जाते कृतयोगिनः परीषहसहाः कारणजातमाश्रित्य मरणे कृतोत्साहा भवंति । तस्यैव वस्तुन उदाहरणानि उत्तरगाथाभिस्सूच्यंते ॥

एवं पंडितमरणविकल्पान्भक्तप्रत्याख्यानादींस्त्रीनपि निरूप्य महोपसर्गादौ सति कारणजातमप्याश्रित्य सुभावितात्मानः कृतपंडितमरणोत्साहा भवन्ति इत्युपदेशार्थं चूलिकागाथाषट्कमाह—

मूलारा—दुत्तारे दुरुत्तरे । कदजोगी रत्नत्रययुक्ताः । समाधियासिय उपसर्गादिसहनसमर्थाः । कारणजादेहिंवि अपराण्यपि मरणकारणानि उत्पन्नान्याश्रित्य । अन्यस्तु कारणे जाते इति मन्यते । तदुक्तं—

महोपसर्गे दुर्भिक्षे सर्वतोऽपि दुरुत्तरे । म्रियंते कारणे जाते कृतयोग्यधिवासिनः ।

प्रायोगमन मरण वर्णन समाप्त हुआ.

अर्थ––महान् उपसर्ग प्राप्त होनेपर तथा जिसकी नष्ट होनेकी आशा नहीं है ऐसा भयंकर दुष्काल आ-पडनेपर रत्नत्रययुक्त, उपसर्ग सहन करनेमें समर्थ–ऐसे मुनिराज मरणमें उत्साहयुक्त हो जाते हैं-

---

कोसलय धम्मसीहो अट्ठं साधेदि गिद्धपुट्ठेण ॥
णयरम्मि य कोल्लगिरे चंदसिरिं विप्पजहिदूण ॥ २०७३ ॥
पाडलिपुत्ते धूदाहेदुं मामयकदम्मि उवसग्गे ॥
साधेदि उसभसेणो अट्ठं विक्खाणसं किच्चा ॥ २०७४ ॥
अहिमारएण णिवदिम्मि मारिदे गहिदसमणलिंगेण ॥
उड्डाहपसमणत्थं सत्थग्गहणं अकासि गणी १०७५ ॥
सगडालएण वि तधा सत्तग्गहणेण साधिदो अत्थो ॥
वररुइपओगहेदुं रुट्ठे णंदे महापउमे ॥ २०७६ ॥
एवं पण्डियमरणं सविप्पं वण्णिदं सवित्थारं ॥
वुच्छामि बालपण्डियमरणं एत्तो समासेण ॥ २०७७ ॥

कोशलो धर्मसिंहोऽर्थंससाध श्वासरोधतः ॥
कोल्लतीरे पुरे धीरो हित्वा चंद्रश्रियं नृपः ॥ २१४५ ॥
सुतार्थं पाटलीपुत्रे मातुलेन कदर्थितः ॥
जग्राहर्षभसेनोऽर्थं वैखानसस्मृतिं श्रितः ॥ २१४६ ॥
नृपे हते हि चोरेण यतिलिंगमुपेयुषा ॥
आचार्यःसंघशान्त्यर्थं शस्त्रग्रहणतो मृतः ॥ २१४७ ॥

शस्त्रग्रहणतः स्वार्थःशकटालेन साधितः ॥
कुतोऽपि हेतुतः क्रुद्धे नंदे सति महीपतौ ॥ २१४८ ॥
अकारि पंडितस्येति सप्रपंचा निरूपणा ॥
इदानीं वर्णयिष्यामि मरणं बालपंडितम् ॥ २१४९ ॥

इति पंडितमरणम्

विजयोदया—पण्डितमरणं ॥ एवं पण्डितमरणं सविकल्पं सविस्तरं व्यावर्णितं, वक्ष्यामि बालपण्डितमरणमित ऊर्ध्वं संक्षेपेण ॥

उक्तार्थसमर्थनार्थमर्थाख्यानचतुष्टयमाचष्टे—

मूलारा—कोसलय अयोध्यायां । धम्मसीहो धर्मसिंहो नाम राजा । अट्ठं आराधनां । साधेदि साधयति । तत्कालापेक्षया वर्तमाना, साधयति स्मेत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि । गद्धपुट्ठेण हस्तिकलेवरप्रवेशेन । कोल्लगिरे कोल्लगिरिनाम्नि । चंदसिरिं चंद्रश्रीसंज्ञितां स्वभार्यां । विप्पजहिदूण त्यक्त्वा ॥

मूलारा—धूदाहेदुं पुत्रीनिमित्तं । माययकद्म्मि श्वशुरेण कृते । विक्खाणसं वैरवानसं श्वासनिरोधमित्यर्थः ।

मूलारा—अहिमारएण अहिमारकनाम्ना बुद्धोपासकेन । णिवदिम्मि स्रावस्तिकानगरीनाथे जयसेनाख्ये । उड्डाहप्रसमणत्थं स्वापवादनिवारणार्थः । अकासि कृतवान् । गणी यतिवृषभनामाचार्यः ।

मूलारा—सगडालएण शकटालनाम्ना मुनिना । सत्थग्गहणेण छुरिकया जठरविदारणेन । वररुचिपओगहेदुं वररुचिप्रयोगेण हेतुना । महापउमे महापद्मे महापद्मधर्माचार्यस्य समीपे प्रतिपन्नदीक्षेणेत्यर्थः ।

प्रकृतोपसंहारपुरःसरं व्याख्येयोत्तरमुपक्षिपति—

मूलारा—सवियप्पं भक्तप्रत्याख्यानेंगिनीप्रायोपगमनभेदत्रयसहितं । चूलिका ॥ ६ ॥ इति पंडित मरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

इसके कुछ उदाहरण बताते हैं—

अर्थ—अयोध्या नगरीमें कोल्लगिरिपर्वतपर धर्मसिंह नामक राजाने अपनी पत्नी चंद्रश्रीका त्यागकर हाथीके शरीरमें प्रवेशकर आराधनाकी सिद्धि की है. पाटलिपुत्र नगरमें अपनी पुत्रीके लिये मामाके द्वारा उपसर्ग

किया जानेपर वृषभसेन नामक पुरुषने श्वासरोध करके आराधना की सिद्धि की है. अहिमारकनामक बुद्धधर्मका उपासक पुरुष था उसने मुनिका वेष धारण किया था, उसने स्रावस्ती नगरीके जयसेन राजा को मार दिया. उस समय अपने ऊपर राजाको मारनेका अपवाद आयेगा इस हेतुसे वृषभसेन नामक आचार्यने शस्त्रके द्वारा अपना घातकर आराधनाकी सिद्धि की है. शकटाल नामक मुनिने महापद्म नामक धर्माचार्यके समीप दीक्षा धारण की थी इस शकटाल मुनिने वररुचिके कारण शस्त्रसे अपना घात कर आराधनाओंकी सिद्धि की है.

इस प्रकार पंडित मरणका विकल्पोंके साथ आचार्यने सविस्तर वर्णन किया है. अब यहांसे बालपंडित मरणका संक्षेपमें वर्णन करते हैं.

देसेक्कदेसविरदो सम्मादिट्ठी मरिज्ज जो जीवो ॥
तं होदि बालपण्डिदमरणं जिणसासणे दिट्ठं ॥ २०७८ ॥
संयतासंयतो जीवः सम्यग्दर्शनभूषितः ॥
यत्तस्य मरणं प्रोक्तं श्रुतज्ञैर्बालपंडितम् ॥ २१५० ॥

विजयोदया—देसिक्कदेसविरदो सर्व्वासंयमप्रत्याख्यानस्यासमर्थः हिंसाद्येकदेशाद्विरतः स्थूलभूत प्राणातिपातादिपंचकादेशविरत इत्युच्यते । एकदेशविरतो नाम देशविरमणेपि एकदेशाद्व्यावृत्तः सम्यग्दृष्टिर्यो म्रियते तस्य तद्बालपण्डितमरणं ॥

अथातो बालपंडितमरणं गाथादशकेन व्याचिख्यासुरादौ स्वामिनिर्देशमुखेन तल्लक्षयति—

मूलारा—देसेक्कदेसविरदो स्थूलहिंसादिपंचकान्मनोवाक्कायकृतादिना व्यावृत्तो देशविरत इत्युच्यते । एकदेसविरतस्तु देशविरमणेऽपि एकदेशाद्व्यावृत्तः । स्वशक्त्यनुसारेण कृतहिंसादिनिवृत्तिरित्यर्थः । एतेन सकलेन विकलेन च सागारधर्मेण युक्तः श्रावको निर्दिष्टः । तं तस्य ॥

अर्थ—स्थूलहिंसादि पापोंसे मन, वचन, शरीर, कृत, कारित और अनुमोदन इनके द्वारा जो विरक्त हुआ है उसको देशविरत कहते हैं. और एक देशविरत उसको कहते हैं कि जो एक देशविरतिके भी एक देशसे विरक्त

है अर्थात् अपनी शक्तीके अनुसार जिसने हिंसादिकसे निवृत्ति धारण की है. संपूर्ण गृहस्थके व्रत पालनेवाला अथवा कुछ व्रत पालनेवाला ऐसा जो सम्यग्दृष्टि उसके मरणको जिनागममें बालपंडित मरण कहते हैं.

एतदेव स्पष्टयति ॥

पंच य अणुव्वदाइं सत्तयसिक्खाउ देसजदिधम्मो ॥
सव्वेण य देसेण य तेण जुदे होदि देसजदी ॥ २०७९ ॥

पंचधाणुव्रतं प्रोक्तं त्रिधा प्रोक्तं गुणव्रतम् ॥
शिक्षाव्रतं चतुर्धा च धर्मो देशयतेरयम् ॥ २१५१ ॥

विजयोदया—पंच य अणुव्वयाइं पंचाणुव्रतानि शिक्षाव्रतानि वा सप्त प्रकाराणि देशयतेर्धर्मः तेन समस्तेन धर्मेण युतः स्वशक्त्या वा तदेकदेशेन युतोऽपि देशयतिरेव द्वादशविधगृहिधर्मप्रत्यायनपराणि सूत्राण्युत्तराणि प्रतिद्धार्थानि ॥

देशैकदेशविरतपदार्थविवरणार्थमाह—

मूलारा—सिक्खाओ गुणव्रतत्रयं, चत्वारि, शिक्षाव्रतानीत्यर्थः । सव्वेण सम्यक्त्वपूर्वकद्वादशव्रतात्मकेन । देसेण सद्दर्शनसनाथस्वशक्त्युपकल्पितव्रतरूपेण ॥

अर्थ-सम्यक्त्वके साथ पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत ये गृहस्थके धर्म हैं. इसलिये इन बारा व्रतोंसे जो युक्त है उसको-उस गृहस्थको देशयति कहते हैं इस संपूर्ण धर्मसे अथवा स्वशक्तिसे उस धर्मके एक देशसे जो युक्त हैं वे भी गृहस्थ देशयति कहे जाते हैं.

पाणवधमुसावादादत्तादाणपरदारगमणेहिं
अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइं विरमणाइं ॥ २०८० ॥
जं च दिसावेरमणं अणत्थदंडेहिं जं च वेरमणं ॥
देसावगासियं पि य गुणव्वयाइं भवे ताइं ॥ २०८१ ॥

भोगाणं परिसंखा सामाइयमतिहिसंविभागो य ॥
पोसहविधी य सव्वो चदुरो सिक्खाउ वुत्ताओ ॥ २०८२ ॥
आसुक्कारे मरणे अव्वोच्छिण्णाए जीविदासाए ॥
णादीहि वा अमुक्को पच्छिमसल्लेहणमकासी ॥ २०८३ ॥

हिंसामसूनृतं स्तेयं परनारीनिषेवणम् ॥
विमुंचतो महालोभं पंचधाणुव्रतं मतम् ॥ २१५२ ॥
दिग्देशानर्थदंडानां त्यागस्त्रेधा गुणव्रतम् ॥
शिक्षाव्रतमिति प्राज्ञैश्चतुर्भेदमुदाहृतम् ॥ २१५३ ॥
भोगोपभोगसंख्यानं सामायिकमखंडितम् ॥
संविभागोऽतिथीनां च प्रोषधोपोषितव्रतम् ॥ २१५४ ॥
सहसोपस्थिते मृत्यौ महारागे दुरुत्तरे ॥
स्वबांधवैरनुज्ञातो याति सल्लेखनामसौ ॥ २१५५ ॥

विजयोदया—आसुक्कारे मरणे सहसा मरणे अच्छिन्नायां जीविताशायां बंधुभिर्वा न मुक्तः पश्चिमसल्लेखनामकृत्वा कृतालोचनो निश्शल्यः स्वगृह एव संस्तरमारुह्य देशविरतस्य मृतिर्बालपण्डितमित्युच्यते ॥

पंचाणुव्रतनिर्देशार्थमाह—

मूलारा—दिसाविरमणं सर्वहिंसादिनिवृत्यर्थं दिग्विदिग्गमनं परिमाणावधारणं । अणत्थदंडेहिं पापोपदेशहिंसोपकरणदानापध्यानकुशास्त्रश्रवणप्रमादाचरणेभ्यः पंचभ्यः । देसावगासियं गृहक्षेत्रादिषु हिंसादिनिवृत्यर्थं स्थितिगमनादि परिमाणकारणम् ॥

शिक्षाव्रतचतुष्टयं दर्शयति—

मूलारा—भोगाणं पडिसंखा भोगोपभोगपरिमाणं । सामायियं । त्रिकालदेववंदनादिकं । अदिधि पात्रं । पोसधविधी पर्वचतुष्टये उपवासैकभक्तादिसपश्चरणं । सिक्खाओ शिक्षाव्रतानि ।

यथोक्तश्रावकस्याकृतसल्लेखनस्य मरणं बालपंडितमरणसंज्ञया व्यपदेष्टुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—आसुकारे सहसोपस्थिते। अव्वोच्छिण्णाए अच्छिन्नायां॥

गृहस्थके चार व्रतोंका वर्णन.

अर्थ—प्राणोंका घात करना, असत्य बोलना, चोरी करना, परस्त्री सेवन करना, परिग्रहमें अमर्याद इच्छा रखना, इन पापोंसे विरक्त होना अणुव्रत है. सर्व हिंसादि पातकोंका त्याग करनेके लिये दिशा तथा विदिशामें गमन का परिमाण करना दिग्व्रत है. पापोदेश, हिंसादान, अपध्यान, कुशास्त्रश्रवण और प्रमादयुक्त आचरण इन पांच अकार्योंसे विरक्त होना अनर्थदंडव्रत कहा जाता है. घर, खेत वगैरह की मर्यादा कर हिंसादिनिवृत्ति करना अर्थात् क्षेत्रादि मर्यादाके बाहर जानेका त्याग करना, मर्यादामें ही रहना देशावकाशिक व्रत है. भोग और उपभोगोंका परिमाण करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है. त्रिकालमें देववंदनादिक करना सामायिक है. चारों पर्वतिथिओंमें उपवास करना, एकदफे भोजन करना इत्यादि तप करना प्रोषधोपवास व्रत है. पात्रको दान देना अतिथिसंविभागव्रत है, ये चार शिक्षाव्रत हैं. इन व्रतोंको पालनेवाले गृहस्थ सहसा मरण आनेपर, जीवितकी आशा रहनेपर, अथवा बंधुओंने जिसको दीक्षा लेनेकी सम्मति नहीं दी है ऐसे प्रसंगमें शरीरसल्लेखना और कषायसल्लेखना न करके भी आलोचना कर, निःशल्य होकर घरमें ही संस्तरपर आरोहण करता है. ऐसे गृहस्थकी मृत्युको बालपंडित मरण कहते हैं.

आलोचिदणिस्सल्लो सघरे चेवारुहित्तु संथारं॥
जदि मरदि देसविरदो तं वुत्तं बालपण्डिदयं॥ २०८४॥
जो भत्तपदिण्णाए उवक्कमो वित्थरेण णिद्दिट्ठो॥
सो चेव बालपण्डिदमरणे णेओ जहाजोग्गो॥ २०८५॥
वेमाणिएसु कप्पोवगेसु णियमेण तस्स उववादो॥
णियमा सिज्झदि उक्कस्सएण वा सत्तमम्मि भवे॥ २०८६॥

इय बालपंडियं होदि मरणमरहंतसासणे दिट्ठं ॥
एत्तो पण्डिदपण्डिदमरणं वोच्छं समासेण ॥ २०८७ ॥

विधायालोचनां सम्यक् प्रतिपद्य च संस्तरम् ॥
म्रियते यो गृहस्थोऽपि तस्योक्तं बालपण्डितं ॥ २१५६ ॥
प्रोक्तो भक्तप्रतिज्ञायाःप्रक्रमो यः सविस्तरम् ॥
अत्रापि स यथायोग्यं द्रष्टव्यः श्रुतपारगैः ॥ २१५७ ॥
येन देशयतिना निपद्यते बालपंडितमृतिर्निराकुला ॥
भोगसौख्यकमनीयतावधिः कल्पवासिविबुधः स जायते ॥ २१५८ ॥
एकदा शुभमना विपद्यते बालपंडितमृतिं समेत्य यः ॥
स प्रपद्य नरदेवसंपद सप्तमे भवति निर्वृतो भवे ॥ २१५९ ॥

इति बालपंडितम् ॥

एवं समासतोऽवाचि मरणं बालपंडितम् ॥
अधुना कथयिष्यामि मृत्यु पंडितपंडितम् ॥ २१६० ॥

विजयोदया—स्पष्टार्थतया गाथा. ॥ बालपण्डिदं ॥

मूलारा—आलोचिद विधिवत्कृतालोचनः । णिस्सल्लो मायानिदानमिथ्यात्वमुक्तः । सघरे चेव स्वगृहे एव, न चैत्यालयादौ ।

तत्प्रयोगविधिमतिदिशति—

मूलारा—जधाजोग्गो यो यो योग्यः श्रावकरत्नत्रयोचितः । शीलविनयसमाध्यादिः स स इत्यर्थः ।

तत्फलमभ्युदयपुरःसरं निःश्रेयसमवश्यतया निरूपयति—

मूलारा—कप्पोवगेसु सौधर्मादिकल्पोपपन्नेषु देवेषु मध्ये । तस्स बालपंडितमृतस्य ।

प्रस्तुतोपसंहारपुरस्सरं व्याख्येयान्तरमुपक्षिपति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥ इति बालपंडितमरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ–भक्तप्रत्याख्यान मरणमें जो प्रयोगविधि विस्तारसे हमने कहा है. वही इस बालपंडितमरणमें गृहस्थ के योग्य समझना चाहिये. श्रावकके रत्नत्रय को योग्य ऐसा जो जो विनय, समाधि वगैरह विधि है वह यहां भी समझना चाहिये. बालपंडित मरणसे मरण करनेवाला श्रावक नियमसे सौधर्मादिकल्पोंमें उत्पन्न होता है. तदनंतर उत्कृष्टतासे सात भवोंमें वह नियमसे सिद्ध होता है. इस प्रकार अरहंतके आगममें बालपंडित मरणका स्वरूप कहा है. अब यहांसे आगे पंडितपंडितमरणका स्वरूप हम (आचार्य) कहते हैं.

साहू जधुत्तचारी वट्टंतो अप्पमत्तकालम्मि ॥
ज्झाणं उवेदि धम्मं पविट्ठुकामो खवगसेढिं ॥ २०८८ ॥

अप्रमत्तगुणस्थाने वर्तमानस्तपोधनः ॥
आरोढुं क्षपकश्रेणीं धर्मध्यानं प्रपद्यते ॥ २१६१ ॥

विजयोदया--साहू जधुत्तचारी शास्त्रोक्तेन मार्गेण प्रवर्तमानस्साधुरप्रमत्तगुणस्थानकाले धर्म्यं ध्यान मुपैति क्षपकश्रेणिं प्रवेष्टुकामः ॥

अथैवं बालबालमरणादिचतुष्टयं प्रणिगद्य पंडितपंडितमरणं गाथाद्वासप्तत्या निरूपयन्जीवन्मुक्तिप्रादुर्भावप्रक्रमोपक्रमं पंचदशगाथाभिरभिधत्ते—

मूलारा—पविसिदुकामो प्रवेष्टुमिच्छन् ।

अर्थ–शास्त्रोक्त मार्गका अनुसरण करनेवाले मुनिराज अप्रमत्तगुण स्थानमें क्षपकश्रेणीकी प्राप्ति कर लेनेके लिये धर्मध्यानको धारण करते हैं.

ध्यानपरिकरं बाह्यं प्रतिपादयति—

सुचिए समे विचित्ते देसे णिज्जंतुए अणुण्णाए ॥
उज्जुअआयददेहो अचलं बंधेत्तु पलिअंकं ॥ २०८९ ॥

अनुज्ञाते समे देशे विविक्ते जंतुवर्जिते ॥
ऋज्वायतवपुर्यष्टिः कृत्वा पर्यंकबंधनम् ॥ २१६२ ॥

विजयोदया—सुचिप समे शुचौ समे एकाते देशे निर्ज्जंतुके अनुज्ञाते तत्स्वामिभिः नाज्वायतदेह पल्यंकमचलं बद्ध्वा ॥

धर्म्यध्यानस्य बाह्यपरिकर्मानुस्मरयितु गाथाद्वयमाह—

मूलारा—विविक्ते एकान्ते । अणुण्णादे तदधिष्ठातृदेवताभिरनुमते ।

धर्म्यध्यानके बाह्यपरिकरका वर्णन—

अर्थ—पवित्र, सम, निर्जन्तुक, देवतादिकोंसे अनुमति जहां ली गई है ऐसे स्थानपर मुनि निश्चल खडे होकर अथवा पल्यंकासनसे ध्यान करते हैं

वीरासणमादीयं आसणसमपादमादियं ठाणं ॥
सम्मं अधिट्ठिदो अध वसेज्जमुत्ताणसयणादि ॥ २०९० ॥

वीरासनादिकं बद्ध्वा समपादादिकां स्थितिम् ॥
आश्रित्य वा सुधीः शय्यामुत्तानशयनादिकम् ॥ २१६३ ॥

विजयोदया—वीरासणादिग वीरासनादिकमासन बद्ध्वा समपादादिना स्थितो वा अथवा उत्तानशयनादिना वा वृत्त ॥

मूलारा—सयणादी आदिशब्देनैकपार्श्वादिशयन ।

अर्थ—वीरासनादिक आसनसे बैठकर अथवा समपादादिकसे खडे होकर किंवा उत्तान शयनादिकसे सोते हुए धर्मध्यान करते हैं

पुव्वभणिदेण विधिणा ज्झायदि ज्झाणं विसुद्धलेस्साओ ॥
पवयणसंभिण्णमदी मोहस्स खयं करेमाणो ॥ २०९१ ॥

पूर्वोक्तविधिना ध्याने शुद्धलेश्यः प्रवर्तते ॥
योगी प्रवचनाभिज्ञो मोहनीयक्षयोद्यतः ॥ २१६४ ॥

विजयोदया—पुव्वभणिदेण विधिणा पूर्वोक्तेन क्रमेण ध्याने प्रवर्तते विशुद्धलेश्य । प्रवचनार्थमनुप्रविष्टमति. मोहनीयं क्षय नेतुमुद्यत ॥

मूलारा—पवयणसंभिण्णमदी चतुर्दशपूर्वोर्भिस्तुतानुमविष्टबुद्धिः ॥

अर्थ—मोहनीयकर्मका क्षय करनेमें उद्युक्त होकर चौदहपूर्वोमें कहे गये जीवादिक पदार्थोंके तरफ अपनी बुद्धिका उपयोग लगाते हैं. और परिणामोंको निर्मलकर पूर्वोक्त विधीसे धर्मध्यान करते हैं.

संजोयणाकसाए खवेदि झाणेण तेण सो पढमं ॥
मिच्छत्तं सम्मिस्सं कमेण सम्मत्तमवि य तदो ॥ २०९२ ॥

पूर्वं संयोजनान्हन्ति तेन ध्यानेन शुद्धधीः ॥
मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वत्रितयं क्रमतस्ततः ॥ २१६५ ॥

विजयोदया—संजोयणाकसाए अनंतानुबंधिनः क्रोधमानमायालोभान् क्षपयति ध्यानेन, तेनासौ प्रथमं मिथ्यात्वं, सम्यङ्मिथ्यात्वं, सम्यक्त्वं च क्रमेण एवं प्रकृतिसप्तकं विनाश्य क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा क्षपकश्रेण्यधिरोहाभिमुखोऽथ प्रवृत्तकरणं अप्रमत्तस्थाने प्रतिपद्य ॥

धर्म्यध्यानक्षपणीयसम्यक्त्वघातिमोहप्रकृतिसप्तकक्षपणमुपदिशति—

मूलारा—सजोयण अनन्तसंसारकारणत्वादनंतं मिथ्यात्वं अनुबध्नंतीत्यनंतानुबंधिनः। क्रोधादीनामवस्थाविशेषाश्चत्वारः संयोजनाशब्देनोच्यते। तेण धर्मेण। मिच्छत्तं मिथ्यार्थाभिनिवेशनिमित्तं दृङ्मोहनीयं। सम्मिस्सं सम्यङ्मिथ्यात्वं सामिशुद्धस्वरसं मिथ्यात्वमित्यर्थः सम्मत्तं सम्यक्त्वं शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं मिथ्यात्वमित्यर्थः। तदुदयेपि तत्त्वार्थश्रद्धानं स्यात् ॥

अर्थ—मिथ्यात्वको संसारका कारण होनेसे अनंत कहते हैं. इस अनंतका अर्थात् मिथ्यात्वका संबन्ध करा देने वाले कषायोंको–क्रोध, मान, माया और लोभको अनंतानुबंधी कषाय कहते हैं. धर्मध्यानसे इन कषायोंका मुनिराज नाश करते हैं. तत्त्वोंपर मिथ्याश्रद्धान कराने वाली कर्म प्रकृतिको मिथ्यात्व कहते हैं. जिसमें आधी शुद्धता उत्पन्न हुई है ऐसे कर्मको सम्मिश्र अर्थात् सम्यङ् मिथ्यात्व कहते हैं. इस कर्मके उदयसे एक समयमें मिथ्यात्व और सम्यक्त्व परिणाम युगपत् उत्पन्न होते हैं. शुभपरिणामसे अतत्त्वश्रद्धान परिणाम उत्पन्न करानेवाली शक्ति जिसकी नष्ट होगई है ऐसे मिथ्यात्व प्रकृतिको सम्यक्त्व कहते हैं. इन सातोंका क्षय करके अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि क्षायिक सम्यक्त्वी होते हैं. तदनंतर धर्मध्यानसे क्षपकश्रेणीपर आरोहण करनेकेलिये उन्मुख होते हैं.

क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणिपर चढनेके लिए उद्युक्त होते हैं तब प्रथमतः अप्रमत्त गुणस्थानमें अधः करणको प्राप्त होते हैं.

अध खवयसेढिमधिगम्म कुणइ साधू अपुव्वकरणं सो ॥
होइ तमपुव्वकरणं कयाइ अप्पत्तपुव्वंति ॥ २०९३ ॥
आरुह्य क्षपकश्रेणीमपूर्वकरणो यतिः ॥
भूत्वा प्रपद्यते स्थानमनिवृत्तिगुणाभिधम् ॥ २१६६ ॥

विजयोदया—अध खवगसेढिमधिगम्म अथ क्षपकश्रेणीमधिगम्य करोति साधुरपूर्वकरणमसो । किं तदपूर्वकरणमित्याशङ्कायामुच्यते। होदि तमपुव्वकरणं भवति तदपूर्वकरणं, कदाइ अप्पत्तपुव्वंति कदाचिदप्राप्तपूर्वमिति ॥

धर्मध्यानेनासंयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु चतुर्ष्वन्यतमस्थितः सम्यक्त्वघातिप्रकृतिसप्तकं निशात्य क्षायिकसम्यक्त्वमभ्यास्य क्षपकश्रेण्यारोहणाभिमुखःसन्नप्रमत्तस्थाने तथा प्रवृत्तकरणमधिगम्य साधुरपूर्वगुणं क्षपकश्रेणिप्रथमसोपानमारोहतीत्युपदेष्टुमाह—

मूलारा— अध क्षपकश्रेण्यारोहणमधिक्रियते इत्यर्थः । सो धर्मध्यानसाधितप्रथमशुक्लध्यानोपक्रमः । कयाइ कदाचित् । अनादिकालं । अप्पत्तपुव्वंति पूर्वं अप्राप्ता परिणामा यस्मिंस्तदिदं अप्राप्तपूर्वं यतः ।

अर्थ—क्षपक श्रेणिकी प्राप्ति होनेके अनंतर ये मुनिराज अपूर्व करणको करते हैं. यह अपूर्वकरण पूर्वमें कभी प्राप्त नहीं हुआ था अतः इसको अपूर्वकरण यह अन्वर्थक नाम है. अनादिकालमें ये परिणाम इस जीवको प्राप्त नहीं हुए थे क्योंकि धर्मध्यानके अनंतर प्रथम शुक्लध्यानकी प्राप्ति पूर्वकालमें कभी नहीं हुई थी.

* अणिवित्तिकरणणामं णवमं गुणठाणयं च अधिगम्म ॥
णिद्दाणिद्दा पयलापयला तध थीणगिद्धिं च ॥ २०९४ ॥

* टिप्पणी—अध सो खवेदि भिक्खू अणियट्टिठाणमुवगमित्ताणं ॥ इति मूलाराधनायां पाठः ॥

सूक्ष्मसाधारणोद्योतस्त्यानगृद्धित्रयातपान् ॥
एकाक्षविकलाख्यानां जातिं तिर्यग्द्वयं मुनिः ॥ २१६७ ॥

विजयोदया—अणियट्टिकरणणामं णवमं गुणठाणमधिगम्म अनिवृत्तिगुणस्थानमुपगम्य णिद्दाणिद्दा पयलापयला निद्रांनिद्रां प्रचलाप्रचलां स्त्यानगृद्धिं च ।

अनिवृत्तिबादरसांपरायक्षपकस्थानं प्राप्य क्रमेण क्षपणीयानि कर्माणि गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूलारा—अथ अपूर्वकरणानंतरं । सो पृथक्त्ववितर्कवीचाराख्यशुक्लध्यानप्रविष्टः । खवेदि वक्ष्यमाणान्निद्रानिद्रादीन्सप्तत्रिंशत्कर्मविशेषान् । षोडशाष्टैकैकसंख्याक्रमेण विश्लेषयतीति समुदायार्थः । अणियट्टिठाणमुवगमित्ताणं अनिवृत्तिकरणप्राप्त्या अनिवृत्तिबादरसांपरायक्षपकगुणस्थानमुपगम्य । णिद्दाणिद्दा भुक्तान्नपरिणाममदखेदक्लमादेर्विनोदार्थो निद्राख्यदर्शनावरणकर्मविशेषविपाकनिमित्तो जीवस्येंद्रियात्ममनो-मरुत्सूक्ष्मावस्थालक्षणः स्वापो निद्रा । निद्रया उपरि उपरि वृत्तिर्निद्रानिद्रा । निद्रानिद्रादर्शनावरणकर्मविशेषोदयजन्यश्चेतनस्य दुःखप्रबोधस्वापपरिणाम इति यावत् ॥ उक्तं च—

णिद्दा सुहपडिबोहा णिद्दाणिद्दा य दुक्खपडिबोहा ॥
पयला होइ ठियस्स वि पयलापयला य चंकमंतस्स ॥

पयलापयला वा क्रियात्मानं प्रचलयति घूर्णयति सा प्रचला प्रचलाख्यदर्शनावरणकर्मविशेषविपाकवशस्य जीवस्यासीनस्यापि शोकश्रममदादिप्रभवो नेत्रगात्रविक्रियासूचितः स्वापपरिणाम इत्यर्थः । प्रचलैव पुनःपुनरावर्तमाना प्रचलाप्रचला । चंक्रममाणस्यापि आत्मनः प्रचलाप्रचलाख्यदर्शनावरणकर्मविकल्पविपाकवशाज्जायते । थीणगद्धि स्वप्ने यया वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धिर्दर्शनावरणकर्मविशेषः । स्त्याने स्वप्ने गृद्ध्यति यदुदयादात्मा रौद्रं बहु कर्म करोति । अत्र निद्रादिशब्दैर्हेतुफलभावापन्नभावस्वभावदर्शनावरणकर्मविकल्पाः पुद्गलजीवविवर्त्तौ गृह्यन्ते ॥

अर्थ—अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थानको प्राप्त होनेपर मुनिराज निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि इनका नाश करते हैं

विशेषार्थ—पृथक्त्व वितर्क विचार नामक ध्यानमें प्रवेश करनेपर निद्रा निद्रादिक सदतीस कर्म प्रकृतिओंका क्षय करते हैं. उस समय वे अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें रहते हैं.

निद्रा—भोजन किए हुए अन्नका मद उत्पन्न होनेसे, तथा खेद, क्लम इनको नष्ट करनेके लिए सो जाना उसको निद्रा कहते हैं. जब निद्रा नामक दर्शनावरण कर्मविशेषका उदय होता है तब जीवके इंद्रिय

और मन तथा श्वासोच्छ्वासकी सूक्ष्म प्रवृत्ति होती है. पुनः पुनः निद्रा जब आती है. तब उसको निद्रानिद्रा कहते हैं. अर्थात् निद्रानिद्रा नामक दर्शनावरण कर्मके उदय से बडे कष्टसे जागृतावस्था उत्पन्न होती है. परन्तु निद्रा जल्दी खुलती है. बैठे हुए मनुष्य के अंगमें, नेत्रोंमें जो विक्रिया उत्पन्न होती है उसको प्रचला कहते हैं. यह अवस्था प्रचलादर्शनावरण कर्मके उदयसे होती है. ऐसी अवस्था पुनः पुनः उत्पन्न होना उसको प्रचला प्रचला कहते हैं. यह अवस्था प्रचलाप्रचला दर्शनावरण कर्मोदयसे होती है.

निद्रामें जिसके उदयसे वीर्यविशेष प्रगट होता है उस कर्मको स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण कर्म कहते हैं. इसके उदयमें रौद्रकर्म आत्मा करता है निद्रादिरूप परिणति जो होती है. उसको भाव निद्रा, भाव प्रचला वगैरे कहते हैं. और निद्रादि कर्मोंको जो उदय है वह पुद्गल द्रव्यकी विशेष अवस्था है.

णिरयगदियाणुपुव्विं णिरयगदिं थावरं च सुहुमं च ॥
साधारणादवुज्जोवतिरयगदिं आणुपुव्वीए ॥ २०९५ ॥

स्थावरं नारकद्वंद्वं षोडश प्रकृतीरिमाः ॥
प्लोषते प्रथमं तत्र शुक्लध्यानकृशानुना ॥ २१६८ ॥

विजयोदया—णिरयगदियाणुपुव्विं नरकगत्यानुपूर्वि, नरकगतिं, स्थावरं, सूक्ष्मं, साधारणं, आतपं, उद्योतं तिर्यग्गत्यानुपूर्विं ॥

मूला—णिरयगदिं आणुपुव्विं यदुदयादात्मा भवांतरं गच्छति सा गतिः । नरकस्य गतिर्नरकगतिरात्मनो नारकभावनिमित्तं नामकर्मविशेषः । पूर्वशरीराकाराविनाशो यस्योदयाद्भवति तदानुपूर्व्याख्यं नाम । यत्पूर्वशरीराकारं अविनाश्य जीवेन सह नरकादियावदेव बीजापकवद्गच्छति तन्नरकादिगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यादिभेदाच्चतुर्विधं, तन्मध्यादत्र नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं क्षपयतीति संबंधः । थावरं स्थावराख्यं जीवस्यैकेंद्रियेषु प्रादुर्भावकारणं नामकर्म । सुहुमं सूक्ष्मसंज्ञं परानुपघातकसूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकं नामकर्म । साधारणं बहूनामात्मनां उपभोगहेतुत्वेन साधारणं शरीरं यतो भवति तत्साधारणशरीरनाम । आदव यदुदयादातपनं निष्पद्यते तदातप नाम तच्च प्राप्तोदयमादित्ये वर्तते ॥

उज्जोवो—उद्योतननिमित्तमुद्योतनाम चंद्रखद्योतादिषु स्वफलाभिव्यक्तिं वर्तते ॥ तिरियगदिं आणुपुव्वीओ तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं ॥

अर्थ—इस अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें जैसे निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, और स्त्यानगृद्धि इनका नाश होता है. वैसे नरकगत्यानुपूर्वी, नरकगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, उद्योत, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी इन कर्मोंका भी नाश होता है

जिसके उदयसे आत्मा भवांतरको प्राप्त होता है उस कर्म को गतिकर्म कहते हैं. आत्माको नरकावस्थाकी प्राप्ति जिस कर्म के उदयसे होती है उस कर्म को नरकगति नामकर्म कहते हैं. पूर्व शरीराकार का नाश जिस कर्म के उदय से नहीं होता है उस कर्म को आनुपूर्वी कर्म कहते हैं. पूर्वशरीरका नाश न कर जो कर्म जीवके साथ नरक तक जाता है. उसको नरकगत्यानुपूर्वी कर्म कहते हैं. जो जीवको एकेंद्रिय प्राणिमें उत्पन्न करता है ऐसे कर्म को एकेन्द्रिय कहते हैं. दूसरों को जिससे बाधा नहीं होती है ऐसे सूक्ष्म शरीरको निर्माण करनेवाले कर्म को सूक्ष्म नामकर्म कहते हैं जो शरीर बहु आत्माओं को उपभोग्य बनता है अर्थात् जिसमें अनंत जीव रहते हैं ऐसा जो निगोदशरीर उसको साधारण शरीर कहते हैं. ऐसा शरीर जिससे बनता है उस को साधारण नाम कर्म कहते हैं जिसके उदय से संताप उत्पन्न होता है ऐसे कर्म को आतपनाम कर्म कहते हैं. इस कर्मका उदय सूर्य के बिंबमें रहता है. उद्योत को निमित्त जो कर्म है उसको उद्योतनाम कर्म कहते हैं. इस कर्मका उदय चंद्र बिंब, खद्योत—जुगनु इत्यादिकों में पाया जाता है. तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्व्य—जिसके उदयसे जीव के पूर्व शरीराकारका नाश नहीं होता है तथा जो जीवको तिर्यंच गतितक ले जाता है उसको तिर्यग्गति आनुपूर्वी कहते हैं.

इगविगतिगचदुरिंदियणामाइं तध तिरिक्खगदिणामं ॥
खवयित्ता मज्झिल्ले खवेदि सो अट्ठवि कसाए ॥ २०९६ ॥
कषायान्मध्यमानष्टौ षंढवेदं निकृन्तति ॥
स्त्रीवेदं क्रमतः षट्कं हास्यादीनां ततःपरम् ॥ २१६९ ॥

विजयोदया—इगविग एकद्वित्रिचतुरिंद्रियजाती', तिर्यग्गतिं, अप्रत्याख्यानचतुष्कं, प्रत्याख्यानचतुष्कं च क्षपयति ॥

मूलारा—एगबितिगचउरिंदियणामाओ एकेन्द्रियाद्विजातीश्चतस्र इत्यर्थः । नरकादिगतिष्वव्यभिचारिणा साद-

इयेनैकीकृतोऽर्थात्मा जातिः। तत्कारणं जातिनामकर्म तच्चैकेन्द्रियादिजातिविकल्पात्पंचधा। यदुदयादात्मा एकेंद्रिय इति शब्द्यते तदेकेन्द्रियजातिनाम। एवं शेषेष्वपि योज्यम्। खपयित्वा निद्रानिद्रादिका यथोक्ताः षोडश कर्मप्रकृतीर्युगपत्क्षेप्य। अट्ठवि ईषत्प्रत्याख्यानमप्रत्याख्यानं देशसंयममावृण्वन्ति निरुन्धन्तीत्यप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः। अल्पस्यापि देशसंयमस्य शक्तिं स्वोदयेन हंतारः। प्रत्याख्यानं सकलसंयमं आवृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधादयः कृत्स्नसंयमशक्तिविघातिविपाकाः। तानष्टावपि मध्यमकषायान्क्षपयतीति संबंध।

अर्थ—इस ही गुणस्थानों मे एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिंद्रिय जाति, तिर्यग्गति नाम कर्म, अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ इतने कर्मोका क्षय होता है.

एकेंद्रियादि चार जातिकर्मोका इस गुणस्थानमें क्षय होता है. नरकादि गतिओंमें अविरुद्ध ऐसे सादृश्यसे एक रूप दिखानेवाला जो पदार्थका धर्म उसको जाति कहते हैं. इसीको सामान्य भी कहते हैं. यह सामान्यावस्था जिससे उत्पन्न होती है ऐसे कर्मको जाति नामकर्म कहते हैं. उसके एकेंद्रिय जाति वगैरह पांच भेद हैं. जिसके उदयसे आत्मा एकेंद्रिय माना जाता है ऐसे कर्मको एकेंद्रिय जातिकर्म कहते हैं. इसी प्रकार द्वीन्द्रियादि जातिनामकर्मका स्वरूप जानना चाहिए.

निद्रा निद्रादिक सोलहप्रकृतिओंका इस गुणस्थानमें युगपत् नाश होता है. जो देशसंयमको होने नहीं देते हैं ऐसे कषायोंको अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं. इसके प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे चार भेद हैं. इनका जब उदय होता है तब जीवकी देशसंयम धारण करनेकी शक्ति नष्ट होती है. जो प्रत्याख्यानको अर्थात् सकल संयमको नष्ट करते हैं उनके प्रत्याख्यान क्रोध, मान माया लोभ ऐसे नाम हैं. इनमें सकल संयमका—महाव्रतका घात करनेका सामर्थ्य है. इन आठ मध्यम कषायोंका इस गुण स्थानमें नाश होता है.

तत्तो णपुंसगित्थीवेदं हासादिछक्कपुंवेदं ॥
कोधं माणं मायं लोभं च खवेदि सो कमसो ॥ २०९७ ॥

पुंवेदं क्रमतश्छित्वा शुक्लध्यानमहासिना ।
क्रोधं संज्वलनं मानं मायां संज्वलनाभिधाम् ॥ २१७० ॥

विजयोदया—ततो णपुंसं ततो नपुंसकं वेदं, स्त्रीवेदं, हास्यादिषट्कं, पुंवेदं, संज्वलनक्रोधमानमायाःक्षपयति। पश्चाल्लोभसंज्वलनं॥

तदनंतरक्षपणीयान्क्रमेणाह—

मूलारा—णपुंसगित्थिवेदं नपुंसकवेदं नपुंसकभावप्राप्तिनिमित्तोदयकषायवेदनीयविशेषम्। एवं स्त्रीवेदं स्त्रीभावपरिणतिकारणविपाकम्। हासादिछक्क हास्याविर्भावफलं हास्यं। देशान्तरोद्यानौत्सुक्यनिमित्तोदया रतिः। तद्विलक्षणाऽरतिः। अनुग्राहकसंबंधिविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकःयद्विपाकाज्जायते स शोकः। उद्वेगहेतूदयं भयं। यदुदयादात्मदोषसंवरणं अन्यदोषसाधारण सा जुगुप्सा। चिकित्साहेतुः॥ ततो कषायवेदनीयषट्कं पुंवेदे प्रक्षिप्य क्षपयति, पुंवेदं पुंभावापत्तिनिमित्तं पुंवेदाख्यं नोकषायवेदनीयं। क्रोधसंज्वलने प्रक्षिप्य क्षपयति। कोधमित्यादि। संयमेन सहावस्थानादेकीभूता ज्वलन्ति, संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपीति संज्वलनाः क्रोधादयोऽत्र पारिशेष्याद्गृहीता तत्र क्रोधसंज्वलनं, मानसंज्वलने। तं मानसंज्वलने तं च लोभसंज्वलने प्रक्षिप्य क्षपयति। ततो बादरकृष्टिविभागेन तं लोभसंज्वलनं च क्षपयति।

इनके अनंतर नाश होनेवाली प्रकृतिओंका उल्लेख—

अर्थ—तदनंतर नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुंवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ इन ग्यारह कर्मोंका नाश करता है.

जिसके उदयसे नपुंसक भावकी प्राप्ति होती है ऐसा अकषाय वेदनीयका एक विशेष भेद है. उसको नपुंसक वेद कहते हैं. स्त्रीके समान परिणाम उत्पन्न करना यह जिसका फल है उस कर्मको स्त्रीवेदनीय कहते हैं. जिससे हास्य उत्पन्न होता है वह हास्यवेदनीय है. देशांतर, उद्यान वगैरह पदार्थोंके तरफ जानेके लिये जो मनमें उत्कंठा जिस कर्मके उदयसे उत्पन्न होती है उसको रति कहते हैं, अरतिका स्वरूप इससे विलक्षण है अनुग्रह करनेवाले पदार्थोंका संबंध विच्छेद होनेपर मनमें जो खेद उत्पन्न होता है उसको शोक कहते हैं. जिससे मनमें उद्वेग–डर उत्पन्न होती है उसको भय कहते हैं. जिसके उदयसे अपने दोष छिपाकर दूसरोंके दोष प्रगट करना यह जुगुप्सा कर्म है. इन अकषाय वेदनीय की छहों प्रकृतिओंका पुंवेदमें प्रक्षेपण करते हैं. पुरुषके परिणामोंकी उत्पत्ति जिसके उदयसे होती है ऐसे कर्मको–पुंवेदको भी क्रोधसंज्वलनमें क्षेपण करते हैं. ये संज्वलनक्रोधादिक कषाय संयमके साथ रहकर ज्वलित होते हैं अथवा संयम इनके रहनेपर भी प्रज्वलित होता है. क्रोधसंज्वलनको मान संज्वलनमें, मानको

माया संज्वलनमें और मायाको लोभ संज्वलनमें क्षेपण करके नष्ट करते हैं. इसके अनंतर बादरकृष्टि विभागसे लोभको भी कृश करते हैं-

अध लोभसुहुमकिट्टिं वेदंतो सुहुमसंपरायत्तं ॥
पावदि पावदि य तधा तण्णामं संजमं सुद्धं ॥ २०९८ ॥

सूक्ष्मलोभगुणस्थाने सूक्ष्मलोभं निशुंभति ॥
प्राप्नोति संयमं शुद्धं तदा तदभिधानकम् ॥ २१७१ ॥

विजयोदया—अध लोभसुहुमकिट्टिं अथ पश्चाद्बादरकृष्टयुत्तरकाले लोभसूक्ष्मकृष्टिं वेदयमान सुहुमसंपरायत्तं पावदि सूक्ष्मसांपरायता प्राप्नोति ॥ पावदि य तधा प्राप्नोति च तथा तन्नामकं संयमं शुद्धं सूक्ष्मसांपरायतां अधिगच्छति ॥

तदनन्तरप्राप्यसूक्ष्मसांपरायसंयमप्राप्त्युपपत्तिं कथयति—

मूलाराधना । अध संज्वलनलोभबादरकृष्टिपरिणोत्तरकालं । किट्टि कृष्टिं । तैलाद्यधस्थितकिट्टिकाकल्पं । सुहुमसंपरायत्तं सूक्ष्मसांपरायक्षपकभावं । दशमगुणस्थानम् । तण्णामं । सूक्ष्मसांपरायसंज्ञं । सुद्धं प्रथमशुक्लध्यानप्रकर्षप्रतिबद्ध सूक्ष्मलोभकृष्टिशक्तिरूपत्वाद्यथाख्याताख्यशुद्धसंयमोत्तमनिमित्तत्वाद्वा निष्कलंकम् ॥

अर्थ—तदनंतर अर्थात् लोभकी बादरकृष्टि के अनंतर लोभकी सूक्ष्म कृष्टिका अनुभव करनेवाले मुनिराज सूक्ष्म सांपराय नामक दसवे गुणस्थानका आश्रय करते हैं. तब उनको सूक्ष्म सांपराय नामक चारित्रकी प्राप्ति होती है. प्रथमशुक्लध्यानके सामर्थ्यसे बादर संज्वलन लोभ कषाय सूक्ष्म होता है. इससे उनको सूक्ष्मसांपराय चारित्र प्राप्त होता है.

तो सो खीणकसाओ जायदि खीणासु लोभकिट्टीसु ॥
एयत्त वितक्कावीचारं तो ज्झादि सो ज्झाणं॥ २०९९ ॥

क्षीणासु लोभकृष्टिषु नष्टकषायो यदा यतिर्भवति ॥
एकत्वमवीचारं सवितर्कं ध्यानमश्नुते स तदा ॥ २१७२ ॥

विजयोदया—तो सो खीणकसाओ जायदि ततः सूक्ष्मसंपरायत्वादनंतरं खीणकसाओ जायदि क्षीणकषायो जायते। क्षीणासु लोभकिट्टीसु संज्वलनलोभसूक्ष्मकृष्टिषु क्षीणासु। तो ततः एकत्ववितक्कावीचारं झाणं तो झादि एकत्ववितर्कावीचारं ध्यानं ध्याति॥

तदनंतरप्राप्यक्षीणकषायत्वगुणस्थानसाध्यशुक्लध्यानविशेषोपदेशार्थमाह—

मूलारा—लोभकिट्टीसु संज्वलनलोभसूक्ष्मकृष्टिषु।

अर्थ—सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानके अनंतर क्षीणकषायगुणस्थान प्राप्त होता है. अर्थात् जब संज्वलन लोभ की सूक्ष्मकृष्टि हो जाती है तब वे मुनिराज एकत्ववितर्क विचार नामक ध्यान करते हैं.

झाणेण य तेण अधक्खादेण य संजमेण घादेदि॥
सेसाणि घादिकम्माणि समयमवरंजणाणि मदी॥ २१००॥
तेन ध्यानेन तदा सयथाख्यातेन शेषघातीनि॥
भवकारणानि युगपत्प्रणिहन्ति मुनीश्वरस्तूर्णम्॥ २१७३॥

विजयोदया—झाणेण य तेण तेन ध्यानेन। तो तेनैकत्ववितर्कावीचारेण यथाख्यातेन चारित्रेण शेषघातिकर्माणि समकालमेव क्षपयति। अवरंजणाणि जीवस्यान्यथाभावकारणानि॥

तद्ध्यानविरागसंयमसाध्यं जीवस्वभावप्रतिबंधकापायमावेदयति—

मूलारा—अधक्खादेण यथाख्यातेन वीतरागेणेत्यर्थः। अत्रोभयकर्तरि तृतीया। परमार्थवीतरागसंयमसध्रीचीनैकत्ववितर्कावीचारशुक्लध्यानेन तथाविधध्यानसहायेन संयमेन वा कर्त्रा घातयतीत्यर्थः॥ सेसाणि वक्ष्यमाणानि निद्रादीनि षोडश। समयं युगपत्। एककालता चात्र निर्मूलोच्छेदविवक्षायामुपान्त्यचरमसमययोरतिसूक्ष्मत्वेनाभेदो विवक्षितः। शक्तिघातनविवक्षायां तु शंकानवकाश एव। अथवा समयमवरंजणाणि युगपज्जीवस्वभावघातकानीति व्याख्येयं। दर्शनज्ञानावरणवीर्यान्तराया ह्यनंतदर्शनज्ञानवीर्यात्मकं पारमार्थिकमात्मस्वभावमेककालमेव प्रतिबध्नाति। तदुक्तं—

ध्यानेन तेन वीतरागसंयमेन च हंति सः॥ एकदा घातिकर्माणि शेषाणि च ततः परम्॥

अर्थ—इस एकत्ववितर्क वीचार नामक दूसरे शुक्लध्यानसे यथाख्यात चारित्र प्राप्त होता है. इस चारित्रसे युगपत् बाकी के घाति कर्मोंका अर्थात् ज्ञानावरण, और अन्तराय इन कर्मोंका नाश होता है. जीवका स्वरूप इन

कर्मोंने विपरीत कर दिया था. क्षीणकषाय गुणस्थानमें सोलह प्रकृतिओंका अर्थात् ज्ञानावरणकी पांच मति ज्ञानावरणादि प्रकृतियां, अंतराय कर्म की दानांतराय, लाभांतरायादि पांच प्रकृतियां, निद्रा, प्रचला, चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवल दर्शनावरण ऐसी छह दर्शनावरणकी प्रकृतियां इन सोलह प्रकृतिओंका नाश संपूर्ण मोहनीय कर्मका नाश होने के बाद होता है.

मत्थयसूचीए जधा हदाए कसिणो हदो भवदि तालो ॥
कम्माणि तधा गच्छंति खयं मोहे हदे कसिणे ॥ २१०१ ॥

मोहनीये हते शेषघातिकर्मकदंबकम् ॥
तृणराज इवाशेषसूचीवधे प्रणश्यति ॥ २१७४ ॥

विजयोदया—मत्थयसूचीए जधा हदाए मस्तकसूच्यां यथा हतायां कसिणो तालो हदो भवति कृत्स्नस्तालद्रुमो हतो भवति। कम्माणि तधा कर्माण्यपि तथैव खयं गच्छति क्षयमुपयाति। मोहे हदे कसिणे मोहे हते कृत्स्ने।

ननु च वास्तवात्मस्वभावोपलंभे सत्येव तत्प्रतिबंधकप्रक्षयस्तत्प्रक्षये च तदुपलंभ इत्यन्योन्याश्रयावतारादनाप्तोपज्ञमिदमाभासते इत्याशंकायामिदमाह—

मूलारा—तालो तालवृक्षः। खयं जीवस्वभावघातकत्वशक्तिविनाशं। मोहनीयसहायान्येव हि ज्ञानावरणादीनि जीवस्वभावापघाताय प्रभवन्ति। प्रक्षीणे च तत्सहकारिणि मोहकर्मणि तानि प्रक्षीणकल्पान्येव स्वकार्यासंपादकत्वात्। मस्तकसूचीविनाशे प्रत्यमपत्रपुष्पफलादिस्वकार्यासमर्थतालवत्। ततः सत्स्वपि तेषु वास्तवात्मस्वरूपोपलंभो निर्ग्रंथराजस्यास्य न विरुध्यते इत्याप्तोपज्ञमेवेदमिति स्थितम्। उक्तं च—

तालसूच्या विनष्टायां यथा तालो विनश्यति ॥ तथा कर्म क्षयं याति मोहनीये क्षयं गते ॥

अर्थ—मस्तक सूचीका नाश होनेसे संपूर्ण तालवृक्षका नाश होता वैसे मोहनीय कर्मका नाश होने पर कर्मों का भी नाश होता है.

णिद्दापचलाग दुवे दुचरिमसमयम्मि तस्स खीयंति ॥
सेसाणि घादिकम्माणि चरिमसमयम्मि खीयंति ॥ २१०२ ॥

सूक्ष्मलोभगुणस्थाने सूक्ष्मलोभं निशुंभति ॥
स निद्राप्रचले क्षीणमोहस्योपान्तिमे ततः ॥ २१७५ ॥
पंचज्ञानावृतीस्तत्र चतस्रो दर्शनावृतीः ॥
पंच विघ्नानसौ हन्ति चरमांशे चतुर्दश ॥ २१७६ ॥

विजयोदया—णिद्दा पचला य दुवे निद्राप्रचला च द्वे तस्य क्षीणकषायस्य उपांत्यसमये नश्यतः। सेसाणि घादिकम्माणि अवशिष्टानि घातिकर्माणि त्रीणि तस्य चरमसमये नश्यंति, पंच ज्ञानावरणानि, चत्वारि दर्शनावरणानि, पंचान्तरायाश्च ॥

शेषघातिकर्मनिर्मूलोच्छेदक्रमं कथयति—

मूलारा–दुवे द्वे अपि। दुचरिमसमयम्मि चरमसमयात्पश्चिमे समये। खीयंति निर्मूलं नश्यतः सर्वात्मना जीवाद्विश्लिष्यत इत्यर्थः॥ सेसाणि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानावरणविकल्पात्पंचविधं ज्ञानावरणं। चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणभेदाच्चतुर्विधं दर्शनावरणं। दानलाभभोगोपभोगवीर्यांतरायभेदात्पंचविधश्चान्तराय इति त्रीणि घातिकर्माणि। इत्थं धर्म्यध्यानेन नामकर्मप्रकृतीः त्रयोदशावरणप्रकृतीरित्तिसप्रक्षारित्रमोहस्य च प्रकृतीरेकविंशतिमेकत्ववितर्कवीचाराख्यद्वितीयशुक्लध्यानेन च षट् दर्शनावरणप्रकृतीः पंच, ज्ञानावरणप्रकृतीः पंच, पंचान्तरायप्रकृतीः क्षपयतीत्युक्तार्थसंग्रहः। नारकतिर्यग्देवायुषां च बंधाकारणमेव क्षपणं, तत्क्षिपष्टिमेताः कर्मप्रकृतीः क्षपयित्वा पंडितपंडितमरणोद्यतो मुमुक्षुरनंतदर्शनज्ञानवीर्यसुखस्वभावं जीवन्मुक्तिं चिरमपि अनुभवतीति प्रतिपत्तव्यम् ॥ भवतश्चात्र वृत्ते—

सम्यग्दृष्टिकशाक्षशास्त्रतशुभोत्सातेषु तिष्ठन्क्वचित्। धर्म्यध्यानबलाद्यत्नगलितात्रायुःक्षयः सप्त यः ॥
दृष्टिघ्नप्रकृतीः समातपचतुर्जातित्रिनिद्राद्विधा। श्वात्र स्थावरसूक्ष्मतिर्यगुभयोद्योताः कषायाष्टकम् ॥
क्लैब्यं स्त्रैणमथाद्विभेन नवमे हास्यादिषट्कं नृतां। क्षिप्त्वोदीचि पृथक्क्रुधादिदशमो लोभं कषायान्तकः ॥
निद्रां सप्रचलामुपान्त्यसमये दृग्विघ्नविघ्नांश्च तु। द्विःपंचाक्षयत्परेण चरमे शुक्लेन सोर्हत्प्रभुः ॥

अर्थ—क्षीणकषाय गुणस्थानके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतिओंका नाश होता है. और अन्तिम समयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों कर्मोंका नाश होता है.

तत्तो णंतरसमए उप्पज्जदि सव्वपज्जयणिबंधं ॥
केवलणाणं सुद्धं तध केवलदंसणं चेव ॥ २१०३ ॥

हत्वैकत्ववितर्काग्नौ घातिकर्मेन्धनं सुधीः ॥
दर्शकं सर्वभावानां केवलज्ञानमश्नुते ॥ २१७७ ॥

विजयोदया—तत्तो ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयात् अनंतरसमये उत्पद्यते केवलज्ञानं सर्वपर्याया विशेषरूपाणि तत्र प्रतिबद्धं परिच्छेदकत्वेन ज्ञानस्यातिशयो वस्तुगतविशेषरूप परिच्छेदो नाम सामान्यरूपस्य सुगमत्वादित्याख्यातं भवति। केवलं इंद्रियसहायानपेक्षत्वात् केवलमसहायं ज्ञानं रागादिमलाभावात्। शुद्धं तथा केवलदर्शनं च ॥

जीवन्मुक्तिप्रादुर्भावक्रमोपक्रमवर्णनं—इत उत्तरं प्रबंधेन तामेव जीवन्मुक्तिं गाथाचतुर्विंशत्यानुवर्णयिष्यन्नादौ केवलज्ञानदर्शनोत्पत्तिगुणविशयसंपत्ती वर्णयति—

मूलारा—तत्तो ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयात्। सव्वपज्जयणिबद्धं सर्वेषां द्रव्याणां पर्यायास्त्रिकालविषयाणि विशेषरूपाणि तत्र निबद्धं परिच्छेदकत्वेन संबद्धं। एतेन वस्तुगतरूपपरिच्छेदो ज्ञानस्यातिशयो निरूप्यते। सामान्यरूपपरिच्छेदस्य सुगमत्वादनुक्तिः। केवल इंद्रियाद्यनपेक्षत्वादसहायं। सुद्धं रागादिमलरहितम्।

अर्थ—तदनंतर समयमें संपूर्ण द्रव्योंके सम्पूर्ण त्रिकालवर्ती पर्यायोंको विषय करनेवाला, रागादिदोषोंका अभाव होनेसे निर्मल ऐसा केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होता है. वस्तुका सामान्य स्वरूप सुगम हैं. उसको जाननेमें ज्ञानका अतिशय प्रगट नहीं होता है. वस्तुके विशेष रूप पर्यायोंको जाननेमें ज्ञानका अतिशय प्रगट होता है. अतः 'सव्वपज्जयणिबन्ध' ऐसा गाथामें पद है. इन्द्रियो की सहायताके विना यह ज्ञान होता है इसलिये इसको केवलज्ञान कहते हैं. केवलज्ञान के समान केवलदर्शन भी रागादिमलोंसे रहित और इंद्रियापेक्षारहित है.

अव्वाघादमसंदिद्धमुत्तमं सव्वदो असंकुडिदं ॥
एगं सयलमणंतं अणियत्तं केवलं णाणं ॥ २१०४ ॥

अनंतमप्रतिबंधं निःसंकोचमनिंद्रियम् ॥
निःकंपं केवलज्ञानं निःकषायमकल्मषम् ॥ २१७८ ॥

विजयोदया—अव्याघातं न विद्यते प्रत्ययांतरेण व्याघातो बाधास्येत्यव्याघातं । निश्चयात्मकत्वादसंदिग्धं । सर्वेभ्यो ज्ञानेभ्य उत्तमं प्रधानं श्रुतादिभिरिदं केवल साध्यत इति ।

असंकुटिदं न मत्यादिवदल्पविषयमिति । एकं एकस्मिन्नात्मनि स्वयमेव प्रवर्तत इति । सकलं संपूर्णमात्मनः स्वरूपमिति । मत्यादीनि यथाऽसंपूर्णानि न तथेदं । अणतं अनंतप्रमाणावच्छेद्यं । अणियत्तं न विद्यते निवृत्तिर्विनाशोऽस्येत्यनिवृत्तं केवलज्ञानं ॥

केवलज्ञानातिशयगुणमाहात्म्यमभिष्टौति—

मूलारा—अव्वाघादं नास्ति व्याघातो निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारप्रतिबंधः प्रत्ययांतरेण यस्य । असंदिद्धं निश्चयात्मकत्वादसंशयितं । उत्तमं सर्वज्ञानप्रधानं । सव्वदो असंकुडिदं सर्वेषु द्रव्यपर्यायेषु प्रवर्तमानत्वात । एगं एकस्मिन्नात्मनि स्वयमेव वर्तते इत्येकं भेदहीनं वा । सयलं संपूर्णं । अणंतं अनंतप्रमाणावच्छेद्यं । निरवधीत्यर्थः । अणियत्तं अविनाशमान उत्कीर्तयति (?) ॥

अर्थ—यह केवलज्ञान किसी कारणोंसे रुकता नहीं है. अव्याघाती है. निश्चयात्मक होनेसे संशयरहित है. सर्व ज्ञानोंमें श्रेष्ठ है. श्रुतादिक ज्ञानोंसे यह केवल ज्ञान प्राप्त होता है. मत्यादिज्ञानों के समान इसका विषय अल्प नहीं है अतः इसको असंकुटित कहते हैं. यह एक है अर्थात् यह आत्मामें स्वयं प्रवृत्त होता है. मत्यादिक ज्ञान संपूर्ण नहीं है परंतु यह वैसा नहीं है. यह आत्माका संपूर्ण स्वरूप है. इसलिये इसको संपूर्ण कहते हैं. यह अनिवर्ती है अविनाशी है.

चित्तपडं व विचित्तं तिकालसहिदं तदो जगमिणं सो ॥
सव्वं जुगवं पस्सदि सव्वमलोगं च सव्वत्तो ॥ २१०५ ॥

करस्थितमिवाशेषं लोकालोकं विलोकते ॥
युगपत्तेन बोधेन योगी विश्वप्रकाशिना ॥ २१७९ ॥

विजयोदया—चित्तपडं व विचित्तं चित्रपटवद्विचित्रं विचित्रद्रव्यपर्यायरूपेण प्रत्यवभासनात् । तिकाल सहिदं कालत्रयसहितं जगदिदं, ततः तेन केवलज्ञानेन सर्वं युगपत्पश्यत्यलोकं कृत्स्नं सर्वतः समंतात् ॥

मूलारा—विचित्तं नानाप्रकाराकारं विचित्रद्रव्यपर्यायरूपेण प्रत्यवभासनात् । तदो तेन केवलज्ञानेन । पस्सदि साक्षात्करोति । सव्वत्तो सर्वतः समंतात् । सव्वण्हू इत्यन्ये पठन्ति ॥

अर्थ—इस केवलज्ञानमें विचित्र द्रव्य और पर्याय प्रतिभासित होते हैं इस लिये अनेक रंगोंसे रंगे हुए वस्त्रके समान यह केवलज्ञान है. तीन कालके साथ इस त्रैलोक्यको और अलोकको केवलज्ञान युगपत् देखता है.

वीरियमणंतरायं होइ अणंतं तधेव तस्स तदा॥
कप्पातीदस्स महामुणिस्स विग्घम्मि खीणम्मि ॥ २१०६ ॥

विजयोदया—वीरियमणतरायं होदि निर्विघ्नं वीर्यं भवति । क्षायोपशमिकस्य हि वीर्यस्य पुन वीर्यांतरायोदये सति विघ्नो भवति,न तथा तस्य निरवशेषक्षये। अनत । कप्पातीदस्स छद्मस्थकल्पना अतीतस्य महामुनेर्विघ्ने विनष्टे॥

तदनतरवीर्याविर्भावमभिधत्ते—

मूलारा—अणतराय निर्विघ्नं । कप्पातीदस्स छद्मस्थकल्पनारहितस्य । विग्घम्मि अतरायकर्मणि। एवविधज्ञानादित्रयसाहचर्यात्तत्रानंतरसुखाधिगमो भवति । इति तदनिर्देश ।

अर्थ—केवलज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे आत्मामें जो सामर्थ्य उत्पन्न होता है वह अंतराय-विघ्न-रहित होता है क्षायोपशमिक शक्ति वीर्यांतराय कर्म के उदय से विघ्नयुक्त होती है सम्पूर्ण वीर्यांतरायकर्मकाही केवलज्ञानके समय नाश होनेसे प्राप्त हुए अनन्त शक्तिको बाधित करनेवाला पदार्थ ही नहीं रहा है अत· वह शक्तिगुण अनन्त हुआ है

तो सो वेदयमाणो विहरइ सेसाणि ताव कम्माणि॥
जावसमत्ती वेदिज्जमाणयस्साउगस्स भवे ॥ २१०७ ॥

ततो वेदयमानोऽसौ शेषाघातिचतुष्टयम् ॥
कुर्वाणो जनतानंद भ्रमत्येष सुरार्चितः ॥ २१८० ॥

विजयोदया—तो सो वेदयमाणो केवलज्ञानादिपरिप्राप्त्यनतरकाल वेदयमानो विहरति, सेसाणि ताव कम्माणि अवशिष्टानि तावत्कर्माणि । जावसमत्ती यावत्परिसमाप्ति । वेदिज्जमाणयस्स आउगस्स भवे अनुभूयमानस्य मनुष्यायुषो भवेत् ॥

सर्वविहारसीमानमाह—

मूलारा—सो केवलज्ञानादिपरिप्राप्त्यनंतरम् । विहरदि यथाख्यातचारित्रमभिवर्धयति । सेसाणि अघातीनि । वेदनीयनामगोत्रायूंषि । आउगस्स मनुष्यायुष्कर्मणः ।

अर्थ—जबतक भुज्यमान आयुकर्मकी समाप्ति नहीं होती है तबतक बाकीके अघाति कर्माको भोगते हुए केवली भगवान् यथाख्यात चारित्रको वृद्धिंगत करते हैं.

दंसणणाणसमग्गो विहरदि उच्चावयं तु परिजायं ॥
जोगणिरोधं पारभदि कम्मणिल्लेवणट्ठाए ॥ २१०८ ॥

विवर्द्धमानचारित्रो ज्ञानदर्शनभूषितः ॥
शेषकर्मविघाताय योगरोधं करोति सः ॥ २१८१ ॥

विजयोदया—दंसणणाणसमग्गो क्षायिकेन ज्ञानेन दर्शनेन च समग्रो, विहृत्य उच्चावचं पर्यायं, चारित्रमभिवर्धयन् योगनिरोधं प्रारभते, कर्मणामघातिनामपहरणार्थः ॥

सयोगकेवलिनश्चारित्राभिवर्धनकालस्योत्कर्षापकर्षावघातिघातोपायोपक्रमं च निर्देष्टुमाह—

मूलारा—उच्चावयं उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिमात्रं । जघन्येन च अन्तर्मुहूर्त्तमित्यर्थः । परियायं केवलिसंयमकालं । जोगनिरोधं सत्यानुभयवाङ्मनसचतुष्टयपरमौदारिकतन्मिश्रकार्मणकायत्रयव्यापारलक्षणानां सप्तानां योगानां निग्रहं । कम्मणिल्लेवणट्ठाए अघातिकर्मनिर्मूलोच्छेदनार्थं ।

अर्थ—क्षायिक दर्शन और क्षायिक ज्ञानसे पूर्ण वह केवली भगवान् उत्कर्षसे कुछ कम पूर्वकोटिकाल तक और जघन्यसे अन्तर्मुहूर्ततक यथाख्यात संयमावस्थाको धारण कर विहार करते हैं. तदनंतर अघातिकर्मका नाश करनेके लिये योगनिरोध करते हैं. अर्थात् सत्यवचन योग, अनुभय वचनयोग, सत्य मनोयोग, अनुभय मनोयोग, औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र और कार्मणयोग ऐसे सात योगोंके व्यापारको वे रोकते हैं.

उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा ॥
वच्चंति समुग्घादं सेसा भज्जा समुग्घादे ॥ २१०९

यः षण्मासावशेषायुः केवलज्ञानमश्नुते ॥
अवश्यं स समुद्घातं याति शेषो विकल्प्यते ॥ २१८२ ॥

विजयोदया—उक्कस्सगेण उत्कर्षेण षण्मासावशेषे आयुषि जाते केवलिनो जातास्ते समुद्घातमुपयांति । शेषाः समुद्घाते भाज्याः ॥

योगनिरोधोन्मुखानां केवलिनां समुद्घातविधेर्नियमविकल्पौ निर्दिशति—

मूलारा—वच्चंति गच्छन्ति । समुग्धाद जीवप्रदेशानां शरीराद्बहिर्दण्डाद्याकारेण निःसरणं । भज्जा विकल्प्याः । दण्डादिसमुद्घातं व्रजंति न वेत्यर्थः ॥ उक्तं च—

यदायुरधिकानि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः । समुद्घातविधिं साक्षात्प्रागेवारभते तदा ॥
षण्मासायुषि शेषे स्यादुत्पन्नं यस्य केवलम् । समुद्घातमसौ याति केवली वा परः पुनः ॥

अर्थ—उत्कर्षसे जिनका आयु छह महिनेका अवशिष्ट रहा है ऐसे समयमें जिनको केवलज्ञान हुआ है वे केवली नियमसे समुद्घातको प्राप्त होते हैं. आत्माके प्रदेश शरीरके बाहर दंडादिके आकारसे निकलते हैं ऐसी अवस्थाका नाम समुद्घात है. बाकीके केवलीओंको आयुष्य अधिक होनेपर समुद्घात होगा अथवा नहीं भी होगा. नियम नहीं है.

जेसिं अउसमाइं णामगोदाइं वेदणीयं च ॥
ते अकदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥ २११० ॥

आयुषा सदृशं यस्य जायते कर्मणां त्रयम् ॥
स निरस्तसमुद्घातः शैलेश्यं प्रतिपद्यते ॥ २१८३ ॥
अनंतं दर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यमनश्वरम् ॥
जायते तरसा तस्य चतुष्टयमखंडितम् ॥ २१८४ ॥

विजयोदया—जेसिं आउसमाइं येषामपि आयु समानि शेषाण्यघातिकर्माणि तेऽकृतसमुद्घाता एव शैलेश्यं प्रतिपद्यंते ॥

समुद्घातमंतरेण शैलेश्योपगमे कारणभवाविचतुष्टयसमस्थितिस्वभाचष्टे—

मूलारा—उवणमंति—आश्रयन्ति । सेलेसिं शीलगुणसंपूर्णतां ॥

अर्थ— आयुके समानही अन्य कर्मकी स्थिति धारण करनेवाले केवली समुद्घात किये बिना संपूर्ण शीलोंके धारक बनते हैं.

जेसिं हवंति विसमाणि णामगोदाउवेदणीयाणि ॥
ते दु कदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥ २१११ ॥
ठिदिसंतकम्मसमकरणत्थं सव्वेसिं तेसिं कम्माणं ॥
अंतोमुहुत्त सेसे जंति समुग्घादमाउम्मि ॥ २११२ ॥
यदायुषोऽधिकं कर्म जायते त्रितयं परम् ॥
समुद्घातं तदाभ्येति तत्समीकरणाय सः ॥ २१८५ ॥
अंतर्मुहूर्तशेषायुर्यदा भवति संयमी ॥
समुद्घातं तदा धीरो विधत्ते कर्मधूतये ॥ २१८६ ॥

विजयोदया—ठिदिसत्तकम्म सत्कर्मणां स्थितिं समीकर्तुं चतुर्णां अंतर्मुहूर्तावशेषे आयुषि समुद्घातं यांति ॥ व्यतिरेकेणाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥ एतां श्रीविजयो नेच्छति ॥

दंडादिसमुद्घातविधानप्रयोजनमादिशति—

मूलारा—ठिदिसंतकम्मसमकरणट्ठ । स्थित्या कृत्वा सतां विद्यमानानां चतुर्णां कर्मणां समपरिणामतां कर्तुं ॥

अर्थ—जिनके वेदनीय नाम, और गोत्रकर्मकी स्थिति अधिक रहती है वे केवलि भगवान समुद्घातके द्वारा उनकी आयुकर्मके बराबरीकी स्थिति करते हैं इस प्रकार वे संपूर्ण शीलके धारक बनते हैं.

अर्थ—आयुकर्म अंतर्मुहूर्तमात्र जब रहता है तब नाम गोत्र और वेदनीय कर्मकी स्थिति आयुके समान करने के लिए समुद्घात करते हैं.

ओल्लं संतं वत्थं विरल्लिदं जध लहु विणिव्वादि ॥
संवेढियं तु ण तधा तधेव कम्मं पि णादव्वं ॥ २११३ ॥

प्रविकीर्णं यथा वस्त्रं विशुष्यति न संवृतम् ॥
तथा कर्मापि बोद्धव्यं कर्मविध्वंसकारिभिः ॥ २१८७ ॥

विजयोदया—ओल्लं संतं आर्द्रं सद्यथा वस्त्रं विप्रकीर्णं लघु शुष्यति न तथा संवेष्टितं एवमेव कर्मापि ज्ञातव्यम् ॥

आत्मप्रदेशानां देहाद्बहिर्दंडाद्याकारेण प्रसारणाथ कर्मस्थित्यपकर्षणदृष्टान्तेनोपपादयति—

मूलारा—ओल्लं आर्द्रं । विरल्लिद प्रसारितं । विणिव्वादि विशेषेण शुष्यति । संवेढिदं संवृत्तं ॥

अर्थ—गीला वस्त्र पसारनेसे जल्दी शुष्क होता है. परंतु वेष्टित वस्त्र जल्दी सूखता नहीं उसी प्रकार समुद्घातसे कर्म विरल होकर उनकी स्थिति कम होती है.

ठिदिबंधस्स सिणेहो हेदू खीयदि य सो समुहदस्स ॥
सडदि य खीणसिणेहं सेसं अप्पट्ठिदी होदि ॥ २११४ ॥

समुद्घाते कृते स्नेहस्थितिहेतुर्विनश्यति ॥
क्षीणस्नेहं ततः शेषमल्पीयःस्थिति जायते ॥ २१८८ ॥

विजयोदया—ठिदिबंधस्स स्थितिबंधस्य स्नेहो हेतुर्विनश्यति । समुद्घाते गते सति च क्षीणस्नेहं शेषं कर्माल्पस्थितिकं भवति ॥

एतदेव स्पष्टयति—

मूलारा—सिणेहो स्नेहः । हेदू जीवेन सह कर्मणः कालावधारणमसंश्लेषणे निमित्तं भवति । समुहदस्स दंडाद्याकारेण शरीराद्बहिर्निसृतप्रदेशस्य पुंसः । सडदि शटति, प्रच्यवते । सेसं अक्षीणस्नेहं कर्म ।

अर्थ—स्थिति बंधका कारण जो स्नेहगुण वह इस समुद्घातसे नष्ट होता है इस समुद्घातसे कर्मका स्नेहगुण कम होनेसे उसकी अल्प स्थिति होती है.

चदुहिं समएहिं दंडं कवाड पदरजगपूरणाणि तदा ॥
कमसो करेदि तह चेव णियत्ती चदुहिं समएहिं ॥ २११५ ॥

दंडं कपाटकं कृत्वा प्रतरं लोकपूरणं ॥
चतुर्भिः समयैर्योगी तावद्भिश्च निवर्तते ॥ २१८९ ॥

विजयोदया—चदुहिं चतुर्भिस्समयैर्दण्डादिकं कृत्वा क्रमशो निवर्तते चतुर्भिरेव समयैः ॥

दंडादिप्रवर्तननिवर्तनकालपरिमाणावधारणार्थमाह—

मूलारा—चदुहिं इत्यादि एकैकेन समयेन दंडादीन् कृत्वा, क्रमेणैकैकेनैव लोकपूरणतो निवर्तयतीत्यर्थः ।

अर्थ—चार समयोंमें क्रमशः दंडादिक समुदघात केवली करते हैं. अर्थात् प्रथम समयमें दंड समुदघात, दूसरे समयमें कवाट, तीसरे में प्रतर और चौथेमें लोकपूरण समुद्घात करते हैं, तदनंतर उतरते वखत अर्थात् पांचवें समयमें प्रतराकार, छट्ठे समयमें कपाटाकर, सातवे समयमें दंडाकार और आठवे समयमें मूलदेह प्रमाण आत्माके प्रदेश होते हैं.

काऊणाउसमाइं णामागोदाणि वेदणीयं च ॥
सेलेसिमब्भुवेंतो जोगणिरोधं तदो कुणदि ॥ २११६ ॥

वेद्यायुर्नामगोत्राणि समानानि विधाय सः ॥
प्राप्तुं सिद्धिवधूं धीरो विधत्ते योगरोधनम् ॥ २१९० ॥

विजयोदया—काऊण नामगोत्रवेदनीयानां आयुषा साम्यं कृत्वा मुक्तिमभ्युपनयन् योगनिरोधं करोति ॥

समुद्घातायुःसमीकृतकर्मत्वानंतरकरणीयमाह—

मूलारा— अब्भुवेंतो आश्रयन् ॥

अर्थ—नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मोंकी स्थिति आयुके समान कर योगनिरोधसे मुक्तिको प्राप्त करते हैं.

योगनिरोधक्रममाचष्टे—

बादरवचिजोगं बादरेण कायेण बादरमणं च ॥
बादरकायंपि तधा रुंभदि सुहुमेण काएण ॥ २११७ ॥

स्थूलौ मनोवचोयोगौ रुणद्धि स्थूलकायतः ॥
सूक्ष्मेण काययोगेन स्थूलयोगं च कायिकम् ॥ २१९१ ॥

विजयोदया—बादरौ वाङ्मनोयोगौ बादरकायेन रुणद्धि। बादरकाययोग सूक्ष्मेण काययोगेन ॥

योगनिरोधक्रमं अभिधत्ते—

मूलारा—बादरेण कायेण स्थूलकाययोगे स्थित्वेत्यर्थः। रुंभदि निगृह्णाति ॥

अर्थ—बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको बादरकाययोगमें स्थिर होकर [निरोध करते हैं तथा बादरकाय योगको सूक्ष्म काययोगसे रोकते हैं.

तध चेव सुहुममणवचिजोगं सुहुमेण कायजोगेण ॥
रुंभित्तु जिणो चिट्ठदि सो सुहुमे काइए जोगे ॥ २११८ ॥

सूक्ष्मौ मनोवचोयोगौ रुद्धे कर्मस्तवैर्जिनः ॥
सूक्ष्मेण काययोगेन सेतुनेव जलास्रवम् ॥ २१९२ ॥

विजयोदया—तध चेव तथैव सूक्ष्मवाङ्मनोयोगा सूक्ष्मकाययोगेन रुणद्धि।

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—उसही प्रकारसे सूक्ष्म वचनयोग और सूक्ष्म मनोयोगको सूक्ष्म काययोगमें स्थिर होकर निरोध करते हैं और उसी काययोगमें वे जिनभगवान् स्थिर रहते हैं

सुहुमाए लेस्साए सुहुमकिरियबंधगो तगो ताधे ॥
काइयजोगे सुहुमम्मि सुहुमकिरियं जिणो झादि ॥ २११९ ॥

लेश्याशरीरयोगाभ्यां सूक्ष्माभ्यां कर्मबंधकः ॥
शुक्लं सूक्ष्मक्रियं ध्यानं कर्तुमारभते जिनः ॥ २१९३ ॥

विजयोदया—सूक्ष्मलेश्यया सूक्ष्मक्रियाया बंधकस्तदासौ सूक्ष्मक्रियं ध्यानं ध्याति ॥

सूक्ष्मकाययोगस्य करणीयद्वयमवधारयति —

मूलारा—लेस्साए उत्कृष्टशुक्ललेश्यया । सुहुमकिरियबंधगो सूक्ष्मकाययोगेन सातवेदनीयस्य बंधकः ॥ ताहे तदा । सुहुमकिरियं सूक्ष्मक्रिय नाम परमशुक्लं ॥

अर्थ—उत्कृष्ट शुक्ललेश्याके द्वारा सूक्ष्मकाययोगसे सातावेदनीयकर्मका बंध करनेवाले वे जिनभगवान् 'सूक्ष्मक्रिय' नामक तीसरे शुक्लध्यानका आश्रय करते हैं. सूक्ष्मकाययोग होनेसे उनको सूक्ष्मक्रिय शुक्लध्यानकी प्राप्ति होती है.

सुहुमकिरिएण झाणेण णिरुद्धे सुहुमकाययोगे वि ॥
सेलेसी होदि तदो अबंधगो णिच्चलपदेसो ॥ २१२० ॥

सूक्ष्मक्रियेण रुद्धोऽसौ ध्यानेन सूक्ष्मविग्रहः ॥
स्थिरीभूतप्रदेशोऽस्ति कर्मबंधविवर्जितः ॥ २१९४ ॥

विजयोदया—सुहुमकिरियेण तेन ध्यानेन निरुद्धे सूक्ष्मकाययोगे निश्चलप्रदेशोऽबंधको भवति । बंधनिमित्तानामभावात् ॥

तद्ध्यानफलप्राप्त्यनंतरभाविनी सांसिद्धिकीमवस्थां पुरुषस्योपदिशति—

मूलारा—तदो अलेश्यात् । अबंधओ समस्तबंधनिमित्तानामभावात् ॥

अर्थ— सूक्ष्मक्रिय शुक्लध्यानके द्वारा वे सूक्ष्मकाय योगका निरोध करते हैं. तब आत्माके प्रदेश निश्चल होते हैं और उनको अब साता वेदनीय कर्मका भी बंध होता नहीं है. क्योंकि बंधके कारणही उस समय नष्ट हो गये हैं. अर्थात् बंधका कारण योग भी उस समय नष्ट होता है.

माणुसगदितज्जादिं पज्जत्तादिज्जसुभगजसकित्तिं ॥
अण्णदरवेदणीयं तसबादरमुच्चगोदं च ॥ २१२१ ॥

अयोगोऽन्यतरद्वेद्य नरायुर्द्वय त्रसम् ॥
सुभगादेयपर्याप्तं पंचाक्षोच्चयशांसि सः ॥ २१९५ ॥

विजयोदया—माणुसगदिं मनुष्यगतिं, पंचेंद्रियजातिं, पर्याप्तिमादेयसुभगं, यशस्कीर्तिमन्यतरवेदनीयं, त्रसबादरं, उच्चैर्गोत्रं वेदयते ॥

तत्कालभोग्या मुक्तकेवलिनः एकादशकर्मप्रकृतीस्तीर्थकरस्य द्वादश दिशति—

मूलारा—तज्जादिं पंचेंद्रियजातिं। पज्जत्त आहारादिपर्याप्तिनिर्वर्तकं पर्याप्ताख्यं नामकर्म। आदेज्ज आदेयं प्रभोपेतशरीरताकारणं नामकर्म। सुभग परप्रीतिप्रभवफलं सुभगाख्यं नाम। जसकित्ती पुण्यगुणख्यापनकारणं यशःकीर्तिनाम। अण्णदरवेदणीयं यदुदयाद्देवादिगतिषु शारीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यं। यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यं। तयोर्मध्ये एकतरं। तस द्वीन्द्रियादिषु जन्मनिमित्तं त्रसाख्यं नाम। बादरं अन्यबाधाकरशरीरकारणं नाम। उच्चगोदं लोकपूजितेषु कुलेषु जन्मकारणमुच्चैर्गोत्रम् ॥

अर्थ—मनुष्यगति, पंचेंद्रिय जाति, पर्याप्ति, आदेय, सुभग, यशःकीर्ति, साता वेदनीय और असाता वेदनीय इन दोनोंमेंसे कोई एक, त्रस, बादर और उच्च गोत्र इन कर्मोंका अनुभव करते हैं.

मणुसाउगं च वेदेदि अजोगी होहिदूण तं कालं ॥
तित्थयरणामसहिदाओ ताओ वेदेदि तित्थयरो ॥ २१२२ ॥

बादरं तीर्थकृत्वैतास्तीर्थकारी त्रयोदश ॥
न परो वेदयते साधुस्तदानीं द्वादश स्फुटम् ॥ २१९६ ॥

विजयोदया—मनुष्यायुश्च वेदयते अयोगी भूत्वा तीर्थकरनामसहितास्तीर्थकरो वेदयते ॥

मूलारा—मणुसाउगं मनुष्येषु भवधारणकारणं कर्म। होहिदूण भूत्वा। तित्थयरणाम आर्हन्त्यकारणं तीर्थकरत्व नाम। ताओ मनुष्यगत्यादिका एकादश ॥

अर्थ-मनुष्यायुके साथ ऊपरके दस प्रकारके कर्मोंका अयोगि मुनि अनुभवन करते हैं. जो तीर्थंकर हैं उनको तीर्थंकरकर्मके साथ ऊपरके ग्यारह प्रकृतिओंका उदय होता है और मुंडकेवलीको ग्यारह प्रकृतिओंका उदय होता है.

देहतियबंधपरिमोक्खत्थं केवली अजोगी सो ॥
उवयादि समुच्छिण्णकिरियं तु झाणं अपडिवादी ॥ २१२३ ॥

देहत्रितयबंधस्य ध्वंसायायोगकेवली ॥
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानं निश्चलं प्रतिपद्यते । २१९७ ॥

विजयोदया—देहतिय देहत्रिकबंधपरिमोक्षार्थं समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिध्यानं ध्याति ॥

तत्कालकरणीयमशरीरत्वकारणं परमतरशुक्लध्यानमभिधत्ते—

मूलारा—देहतिय परमौदारिकं, तैजसं, कार्मणं चेति त्रीणि शरीराणि । अपडिवादी य समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति व्युपरतक्रियानिवर्तीत्यपराख्यम् ॥

अर्थ—औदारिकशरीर, तैजस व कार्मणशरीर इन तीन शरीरोंका बन्धनाश करनेके लिये वे अयोगिकेवली भगवान् समुच्छिन्नक्रिया निवृत्त नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको ध्याते हैं.

सो तेण पंचमत्ताकालेण खवेदि चरिमज्झाणेण ॥
अणुदिण्णाओ दुचरिमसमये सव्वाओ पयडीओ ॥ २१२४ ॥

मात्रापंचककालेन तेन ध्यानेन वर्तते ॥
प्रकृतीनामपक्वानां द्वासप्ततिमसौ समम् ॥ २१९८ ॥

विजयोदया—सो तेण स तेन पंचमात्राकालेनानेन ध्यानेन क्षपयति द्विचरमसमये अनुदीर्णाः सर्वाः प्रकृतीः ॥

पंचलघ्वक्षरोच्चारणकालभाविना तद्ध्यानेन करणीयामनुदीर्णत्रिसप्ततिकर्मप्रकृतिक्षपणामालक्षयति—

मूलारा—पंचमत्ताकालेण अ इ उ ऋ ऌ इति पंचमात्रोच्चारणकालप्रमाणेन । अणुदिण्णाओ अनुदयं प्राप्ताः ।

सव्याओ त्रिसप्ततिसंख्याः । ताश्चेमाः—देवगतिः, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम पंचधा । औदारिकशरीरं, वैक्रियिकशरीरं, आहारकशरीरं, कार्मणशरीरं चेति ॥ यदुदयादंगोपांगविवेकस्तदंगोपांगनाम त्रिविधं औदारिकशरीरांगोपांगं, वैक्रियिकशरीरांगोपांगं, आहारकशरीरांगोपांगं चेति । यन्निमित्ता परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणं द्वेधा । स्थाननिर्माणं प्रमाणनिर्माणं चेति । तज्जातिनामोदयापेक्षं चक्षुरादीनां स्थानं प्रमाणं च निर्वर्तयदेकमेव परिगण्यते । औदारिकादिशरीरनामकर्मोदयवशादुपात्तानां पुद्गलानां अन्योन्यप्रदेशसंश्लेषण यतो भवति तद्बंधनं नाम पंचविधमौदारिकबंधनं, वैक्रियिकबंधनं, आहारकबंधनं, तैजसबंधनं, कार्मणबंधनं चेति । यदुदयादौदारिकादिशरीराणां विवरविरहितान्योन्यप्रदेशानुप्रवेशेनैकत्वापादनं भवति तत्संघातनाम पंचप्रकारमौदारिकसंघातनामाविभेदात् ॥ यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतिनिर्वृतिस्तत्संस्थाननाम षड्विधं । समचतुरस्रसंस्थानं, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थानं, स्वातिसंस्थानं, कुब्जसंस्थानं, वामनसंस्थानं, हुंडसंस्थानं चेति ॥ यदुदयादस्थिबंधनाबंधनविशेषस्तत्संहनननाम षोढा । वज्रर्षभनाराचसंहननं, वज्रनाराचसंहननं, नाराचसंहननं, अर्धनाराचसंहननं, कीलिकासंहननं, असंप्राप्तासृपाटिकासंहननं चेति ॥ यदुदयात्स्पर्शोत्पत्तिस्तत्स्पर्शनामाष्टविधं । कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्धं, रूक्षं, शीतमुष्णं चेति ॥ यन्निमित्तो रसविकल्पस्तद्रसनाम । प्रशस्ताप्रशस्ततिक्तकटुकषायाम्लमधुरभेदाद्दशधापि तिक्तादिसामान्यापेक्षयेह पंचधा परिगण्यते । यदुदयाद्गंधस्तद्गंधनाम द्वेधा सुरभिगंधमसुरभिगंधं चेति । यद्धेतुको वर्णविभागस्तद्वर्णनाम । प्रशस्ताप्रशस्तशुक्लकृष्णनीलरक्तहारिद्रभेदाद्दशधापि शुक्लादिसामान्यापेक्षया इह पंचधैव संख्यायते । यस्योदयादयःपिंडवद्गुरुत्वान्नाधः पतति न चार्कतूलवल्लघुत्वादूर्ध्वं गच्छति तदगुरुलघुनाम । यस्योदयात्स्वयं कृतोद्बंधनप्राणापाननिरोधादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातो नाम । यत्कारणकः परशस्त्राद्याघातस्तत्परघातनाम । यद्धेतुरुच्छ्वासस्तदुच्छ्वासनाम । आकाशे गतिनिर्वर्तकं विहायोगतिनाम द्वेधा प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् । शरीरनामकर्मोदयान्निष्पद्यमानं शरीरमेकात्मोपभोगकारणं यतो भवति तत्प्रत्येकशरीरनाम । यदुदयाद्रूपादिगुणोपेतोऽपि अप्रीतिकरस्तद्दुर्भगनाम । मनोज्ञामनोज्ञस्वरनिर्वर्तके सुस्वरदुःस्वरनाम्नी । रमणीयत्वारमणीयत्वकारणे शुभाशुभनाम्नी । षड्विधपर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तनाम । चलाचलभावनिर्वर्तके अस्थिरस्थिरनाम्नी । निष्प्रभशरीरता कारणमनादेयनाम । अपुण्यगुणख्यापनकारणमयशःकीर्तिनाम । एवमेकसप्ततिनामकर्माण्यन्यतरवेदनीयं नीचैर्गोत्रं चेति त्रिसप्ततिः । अन्ये मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वीक्षपणं चरमभवे वांछंतीति तन्मतेन द्वासप्ततिरुपान्त्यसमये तु तीर्थंकरैस्त्रयोदशान्यैश्च द्वादश क्षिप्यन्ते । तथा चोक्तं पंचसंग्रहे— १८२८.

देवदुग पण सरीरं पंच सरीरस्स बंधणं चेव ॥
पंचेव य संघायं संठाणं तह य छक्कं च ॥
तिण्णि य अंगोवंगं संघयणं तह य होइ छक्कं च ॥
पंचेव य वण्णरसं दो गंधं अट्ठफासं च ॥
अगुरुलहुयचउक्कं विहायगदिदुग थिराथिरं चेव ॥
सुहसुस्सरजुयला वि य पत्तेयं दुब्भगं अजसं ॥
अणदेज्जं णिमिणं च अपज्जत्तं तह य णीचगोयं च ॥
अण्णदरवेयणीयं अजोगदुचरिमम्मि वोच्छिण्णा ॥
अण्णयरवेयणीयं मणुयाउ मणुयदुगं च बोद्धव्वा ॥
पंचेंदियजाई वि य तससुभगादेज्ज पज्जत्तं ॥
बादरजसकित्तीवि य तित्थयरं उच्चगोयं चेव ॥
एए तेरसपयडी अजोइह्मिय सभवोच्छिण्णा ॥

अर्थ—ये अयोगि जिन पंचन्हस्वस्वर उच्चारण मात्र कालमें उदयमें नहीं आई हुई सब प्रकृतिओंका इस गुणस्थानके उपान्त्यसमयमें क्षय करते हैं. अर्थात् तिहत्तर प्रकृतिओंका क्षय करते हैं.

चरिमसमयम्मि तो सो खवेदि वेदिज्जमाणपयडीओ ॥
बारस तित्थयरजिणो एक्कारस सेससव्वण्हू ॥ २१२५ ॥
शरीरं पंचधा तत्र पञ्चधा देहबन्धनम् ॥
संघातः पञ्चधा षोढा संस्थानममरद्वयम् ॥ २१९९ ॥
अंगोपांग त्रिसंख्यानं षोढा संहननक्षणे ॥
पंच वर्णा रसाःपंच गंधस्पर्शो द्विधाष्टधा ॥ २२०० ॥
क्षीयते गुरुलघ्वादिचतुष्कं द्वे नभोगती ॥.
शुभद्वयं स्थिरद्वन्द्वं प्रत्येकं सुस्वरद्वयम् ॥२२०१॥

अनादेयायशो निर्माणं चापूर्णानि दुर्भगम् ॥
वेद्यमन्यतरत्तस्य द्वासप्ततिरुपान्तिमे ॥ २२०२ ॥
अंतिमे समये हत्वा प्रकृतीः स त्रयोदश ॥
वंद्यमानः सदाऽयोगः प्रयाति पदमव्ययम् ॥ २२०३ ॥

विजयोदया—चरिमसमयम्मि अंत्ये समये क्षपयति वेद्यमानाः प्रकृतीर्द्वादश तीर्थकरजिनः । शेषसर्वज्ञः एकादश । नामक्खएण नाम्नो विनाशेन तैजसशरीरबंधो नश्यति । आयुषः क्षयेण औदारिकबंधनाशः ॥

तीर्थकरेतरचरमक्षणक्षपणीयाः प्रकृतीः संख्याविशेषेणावधारयति—

मूलारा—बारसमणुस्सगदिमित्यादिना प्रागुक्ताः ॥

अर्थ— अन्त्यसमयमें तीर्थंकरकेवली अनुभवमें आनेवाली बारा प्रकृतिओंका क्षय करते हैं और सामान्य केवली ग्यारह प्रकृतिओंका क्षय करते हैं.

णामक्खएण तेजोसरीरबंधो वि खीयदे तस्स ॥
आउक्खएण ओरालियस्स बंधो वि खीयदि से ॥ २१२६ ॥
तं सो बंधणमुक्को उड्ढं जीवो पओगदो जादि ॥
जह एरण्डयबीयं बंधणमुक्कं समुप्पयदि ॥ २१२७ ॥

नामकर्मक्षयात्तस्य तेजोबन्धः प्रलीयते ॥
औदारिकवपुर्बंधो न स्यादायुःक्षये सति ॥ २२०४ ॥
एरंडबीजवज्जीवो बन्धव्यपगमे सति ॥
ऊर्ध्वं याति निसर्गेण शिखेव विषमार्चिषः ॥ २२०५ ॥

विजयोदया—स्पष्टोत्तरगाथाद्वयं ॥

तैजसौदारिकशरीरबंधविच्छेदनिबंधनविशेषनिर्देशार्थमाह—

मूलारा—तेय। तैजसं । ओरालिदस्स औदारिकशरीरस्य । बन्धो अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशेनैकत्वापत्त्यावस्थानम् । इति जीवन्मुक्तिवर्णनम् ॥

इतः प्रबंधेन गाथैकत्रिंशता परममुक्तिं वर्णयिष्यन्नादौ बंधच्छेदानंतरभाविनीं लोकान्तप्रापणीमेकसमयिकीं नैसर्गिकीं जीवस्योर्ध्वगतिं दृष्टान्तेन समर्थयते—

मूलारा—पयोगदो प्रकृष्टवेगेन । समुप्पयदि यथा बीजकोशनधादेरंडबीजमाश्वेवोर्ध्वं गच्छति तथा मनुष्यादिभवप्रापकत्वादिकृत्स्नबन्धच्छेदादात्मापीत्यर्थः ॥

अर्थ—नाम कर्मके क्षयसे तैजस बन्धका नाश होता है और आयुकर्मके क्षयसे औदारिकबन्धका भी नाश होता है. इस प्रकार बंधमुक्त हुआ यह जीव एरंडका बीज जैसे बंधनमुक्त होकर ऊपर जाता है वैसे उत्कृष्ट वेगसे जाकर मुक्तिस्थानमें स्थिर होता है.

अयोगिकेवली उपान्त्य समयमें बेहत्तर प्रकृतिओंका क्षय करते हैं उन प्रकृतिओंके नाम इस प्रकार हैं—

१ देवगति २ देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी ३ मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी. ५ औदारिकादिक पांचशरीर, औदारिकादि तीन अंगोपांग, निर्माण नामकर्म, बंधननामकर्मके पांचप्रकार,, संघातके पांचभेद, छह संस्थान, छह संहनन, स्पर्श नामकर्मके आठभेद, रसनामके ५ भेद, गंधनामकर्म के दो भेद, वर्णके पांचभेद, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, प्रत्येकशरीर, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, शुभ, अशुभ, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, अनादेय, अयश कीर्ति, अन्यतरवेदनीय और नीचैर्गोत्र ऐसी तिहत्तर प्रकृति हैं उनमें मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी कर्मका नाश अन्त्य समयमें होता है ऐसा कोई आचार्य कहते हैं उनके मतसे उपान्त्य समयमें ७२ बहत्तर प्रकृतियोंका क्षय होता है तीर्थंकरके तेरा प्रकृतिओंका अन्त्य समयमें क्षय होता है और अन्य मुनिओंके बारा प्रकृतिओंका क्षय होता है.

संगजहणेण वलहुदयाए उड्ढं पयादि सो जीवो ॥
जध लाउगो अलेओ उप्पददि जले णिबुड्डो वि ॥ २१२८ ॥

आवेशेनाशुगमिव सपूर्णेन नियोजितः ॥
अलाबुरिव निर्लेपो गत्वा मोक्षेऽवतिष्ठते ॥ २२०६ ॥

विजयोदया—संगजहणेण संगत्यागाल्लघुतयोर्द्ध्वं प्रयाति जलनिमग्ननिर्लेपालाबुवत् ॥

मुक्तात्मा संगत्यागाल्लघुतयोर्द्ध्वं गच्छतीत्येतद्दृष्टान्तेन द्रढयति—

मूलारा—संगजहणेण शरीरत्रयसंसर्गत्यागेन । लाउगो तुंबकं । अलेओ मृदादिलेपमुक्तं । णिबुड्डो निमग्नं । यथा मृदादिलेपजनितगौरवमलाबुद्रव्यं जलेऽधः पतितं जलक्लेदविश्लिष्टमृदादिबंधनं लघुसदूर्द्ध्वमेव गच्छति । तथा कर्मभराक्रांतिवशीकृत आत्मा तदावेशवशात्संसारेऽनियमेन गच्छति । तत्सगतिविप्रमुक्त उपर्येव यातीत्यर्थः ।

अर्थ—कीचडका लेप हटने पर जैसा तुंबीका फल जलमेंसे ऊपर कुदकर आता है वैसे औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरोंका संग हटनेपर यह आत्मा हलका होकर मुक्तिस्थानपर चला जाता है.

झाणेण य तह अप्पा पउइदो जेण जादि सो उड्ढं ॥
वेगेण पूरिदो जह ठाइदुकामो वि य ण ठादि ॥ २१२९ ॥

ध्यानप्रयुक्तो यात्यूर्ध्वमात्मावेगेन पूरितः ॥
तथा प्रयत्नमुक्तोऽपि स्थातुकामो न तिष्ठति ॥ २२०७ ॥

विजयोदया—झाणेण य ध्यानेनात्मा प्रयुक्तो यात्यूर्ध्वं वेगेन पूरितो यथा न तिष्ठति स्थातुकामोपि ।

पुनरुदाहरणांतरेण मुक्तात्मनोऽस्खलितोर्द्ध्वगतिमुपपादयति—

मूलारा—पउइदो प्रेरितः । तेण अपवर्गप्राप्तये बहुशः पूर्वं कृतेन प्राणिधानेन पूरिदो निर्भराविष्टः । ठाइदुकामो वि स्थातुमिच्छन्नपि । उक्तं च—

ध्यानप्रयुक्तो यात्यूर्ध्वमात्मा वेगेन पूरितः ॥
तथा प्रयत्नमुक्तोऽपि स्थातुकामो न तिष्ठति ॥

अत्रेयं तत्वार्थोक्तापि दृष्टांतयुक्तिश्रिरया । यथा कुलालप्रयोगापादितहस्तदंडचक्रसंयोगपूर्वकं चक्रभ्रमणमुपरतेऽपि तस्मिन्पूर्वप्रयोगादासंस्कारक्षयाद्भ्रमत्येवं भवस्थेनात्मनापवर्गप्राप्तये बहुशो यत्प्रणिधानं कृतं तदभावेऽपि तदावेशपूर्वकं मुक्तस्योर्द्ध्वगमनं अवसीयते इति ॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष बडे वेगसे दौड रहा है. वह ठहरना चाहता है तथापि ठहर नहीं सकता है क्योंकि वह वेगके आधीन हो चुका है. वैसा यह आत्मा शुक्लध्यानसे ऊर्ध्वगमन करता है. लोकके अंततक उसकी गति होकर सिद्धशिलाके ऊपर वह ठहरता है.

जह वा अग्गिस्स सिहा सहावदो चेव होदि उड्ढगदी ॥
जीवस्स तह सभावो उड्ढगमणमप्पवसियस्स ॥ २१३० ॥

यथानलशिखा नित्यमूर्ध्वं याति स्वभावतः ॥
तथोर्ध्वं याति जीवोऽपि कर्ममुक्तो निसर्गतः ॥ २२०८ ॥

विजयोदया—स्पष्टोत्तरगाथा ॥
पुनर्मुक्तात्मनः स्वाभाविकोर्ध्वगमननियमं निदर्शनेन व्यवस्थापयति—

मूलारा—जधेत्यादि तथागतिपरिणामाद् यथा तिर्यक्प्लवनस्वभावसमीरणसंबंधनिरुत्सुका प्रदीपशिखा स्वभावादुत्पतति तथा मुक्तात्मापि नानागतिविकारकारणकर्मनिवारणे सत्यूर्ध्वगतिस्वभावत्वादूर्ध्वमेवारोहतीत्यर्थः ।

अर्थ—जैसी अग्नि की ज्वाला स्वभावसे ऊर्ध्व गमन करती है वैसा यह आत्मा स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करता है.

तो सो अविग्गहाए गदीए समए अणंतरे चेव ॥
पावदि जयस्स सिहरं खित्तं कालेण य फुसंतो ॥ २१३१ ॥

यात्यविग्रहया गत्या निर्व्याघातः शिवास्पदम् ॥
एकेन समयेनासौ न मुक्तोऽन्यत्र तिष्ठति ॥ २२०९ ॥

विजयोदया—तो सो अविग्गहाए ततोऽसावविग्रहया गत्या अनंतरसमय एव जगतच्छिखरं प्राप्नोति ॥
तदेकसमयिकाविग्रहगतिप्राप्यं स्थानमाह—

मूलारा—अविग्गहाए अवक्रया । पाणिमुक्तालांगलीगोमूत्रिकाभ्यो गतिभ्योऽन्यया । अणंतरे कर्मक्षयानंतर

माविनि समये । जयरम सिद्दर्ं लोकान्तं । तथा च सूत्रं—' तदनंतरमूर्द्ध्वं गच्छत्यालोकांतादिति ' खेत्तमित्यादि कालकल-
यान्यंतराले सप्तरज्जुप्रमाणमाकाशप्रदेशमस्पृशन् । उक्तं च—

सोऽनिमिषा गत्या समयेनैकेन याति लोकाग्रं ॥ कालकलयापि लोकं न मीलयन्वेगयोगेन ॥

श्रीचंद्रस्तु समयेणणंतरेणेवेति पाठं मत्वा कालेणेत्यन्येन संबंधमदर्शयत् । अनंतरसमयमात्रेण कालेन लोकांतं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

अर्थ—यह कर्मरहित आत्मा अविग्रह गतिके द्वारा अनंतर समयमें सप्तरज्जु प्रमाण आकाशको स्पर्श करता हुआ लोक शिखरको प्राप्त होता है.

एवं इहइं पयहिय देहतिगं सिद्धखेत्तमुवगम्म ॥
सव्वपरियायमुक्को सिज्झदि जीवो सभावत्थो ॥ २१३२ ॥

विच्छिद्य ध्यानशस्त्रेण देहत्रितयबंधनम् ॥
सर्वद्वंद्वविनिर्मुक्तो लोकाग्रमधिरोहति ॥ २२१० ॥

विजयोदया—एवं इहइं एवमिह देहत्रिकं विहाय सिद्धक्षेत्रमुपगम्य सर्वप्रचारविमुक्तः सिध्यति जीवः स्वभावस्थः ॥

प्रस्तुतोपसंहारमाह—

मूलारा—इघइं इह अस्मिन्पंचचत्वारिंशल्लक्षयोजनप्रमितमानुषोत्तरशैलांते मनुष्यक्षेत्रे । सिद्धिखेत्तं तनुवातवलयपर्यन्तावयवाकाशदेशं । उवगम्म प्राप्य । सव्वपरियायमुक्को सकलवैभाविकभावपरित्यक्तः ॥ अन्ये परियायशब्देन प्रचारमाहुः । सिज्झदि टंकोत्कीर्णकज्ञायकभावस्वभावं स्वात्मानमुपलभमानः, कृतार्थतया निर्द्वंद्वमास्ते । सभावत्थो अनंतज्ञानादिचतुष्टयात्मकादात्मस्वरूपादनपगच्छन् ॥

अर्थ—इस प्रकार इस पैतालिस लक्ष प्रमित मानुषोत्तरपर्वतपर्यंतके क्षेत्रमें औदारिक, तैजस और कार्माण ऐसे तीन देहोंका त्याग करके तनुवातवलयपर्यन्तके आकाश देशमें प्राप्त होकर सर्व वैभाविक अवस्थाओंका त्याग कर स्वभावतः जीव सिद्ध होता है.

ईसिप्पब्भाराए उवरिं अत्थदि सो जोयणम्मि सीदाए ॥
धुवमचलमजरठाणं लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो ॥ २१३३ ॥
ईषत्प्राग्भारसंज्ञायां धरित्र्यामुपरि स्थिताः ॥
त्रैलोक्याग्रेऽवतिष्ठन्ति ते किंचिन्न्यूनयोजने ॥ २२११ ॥

विजयोदया—ईसिप्पब्भाराए ईषत्प्राग्भाराया उपरि न्यूनयोजने ध्रुवमचलं स्थानं लोकशिखरमाश्रितः सिद्धः॥ सिद्धिक्षेत्राधोवर्तिनमष्टमीं पृथिवीं निर्दिश्य तत्क्षेत्रस्योत्तम्यमाचष्टे—

मूलारा—ईसिप्पब्भाराए ईषत्प्राग्भाराभिधायाः सिद्धिशिलायाः । जोयणम्मि किंचिदूनैकयोजने । सीदाए पृथिव्याः । तत्स्वरूपप्ररूपक आगमो यथा—

ईषत्प्राग्भारसंज्ञा सावष्टमी पृथिवी स्तुता । अष्टयोजनबाहल्या मध्ये हीनक्रमात्ततः ।
पर्यन्तेऽङ्गुलसंख्येयभागमात्रतनुस्थितिः । सोत्तानितमहावृत्ता श्वेतच्छत्रोपमाकृतिः ॥
चत्वारिंशत्तु विस्तारो लक्षाः पंचभिरन्विताः । योजनानि क्षितेस्तस्या विद्वद्भिरभिधीयते ॥ ४५०००००॥
कोटी तु परिधिर्लक्षा द्वाचत्वारिंशदिष्यते । द्विशत्येकान्नपंचाशत्त्रिसहस्री दशाहता ॥ १४२३०२४९ ॥
अचलं निष्कंपं । अजरं जरारहितं शरीरसंबंधाभावात् ॥
उक्तं च—ईषत्प्राग्भारसंज्ञाया उपरि न्यूनयोजने । लोकाग्रमचलं स्थानं सिद्धास्तदधितिष्ठति ॥

अर्थ--सिद्धभूमीका ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी ऐसा नाम है, एक योजनमें वह कुछ कम है. ऐसे निष्कंप, स्थिर स्थानमें, सिद्ध प्राप्त होकर तिष्ठते हैं.

धम्माभावेण दु लोगग्गे पडिहम्मदे अलोगेण ॥
गदिमुवकुणदि हु धम्मो जीवाणं पोग्गलाणं च ॥ २१३४ ॥
न धर्माभावतः सिद्धा गच्छन्ति परतस्ततः ॥
धर्मो हि सर्वदा कर्ता जीवपुद्गलयो-र्गतेः २२१२ ॥

विजयोदया—धम्माभावेण दु धर्मास्तिकायस्याभावे लोकाग्रे प्रतिहन्यते अलोकेन, यतो जीवपुद्गलानां गतेरुपकारको धर्मः स चोपरि नास्ति ॥

मुक्तात्मा यदूर्ध्वगतिस्वभावनियतो निश्चितस्तर्हि लोकान्तादूर्ध्वमपि कस्मान्नोत्पतति इत्यारेकां निराकरोति—

मूलारा—धम्माभावेण गत्युपग्राहकधर्मद्रव्यशून्यतया । परिहम्मदे लोकं अतिक्रम्य गच्छन्मुक्तात्मा प्रतिबध्यते। अलोगेण धर्मद्रव्यरहितत्वात्केवलेनाकाशेन । उवकुणदि उपकरोति । युगपद्भावगतिपरिणामोन्मुखानां जीवपुद्गलानां गतये बलाधानं करोतीत्यर्थः ॥

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ॥
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥

स चोपरि नास्ति इति साधारणबहिरंगगमनकारणाभावादालोकाकाशे मुक्तात्मनो गमनाभावः सिद्धः ॥

अर्थ—त्रैलोक्यके अन्ततक धर्मास्तिकाय है इसलिए सिद्ध जीवों की गति लोकान्त तक ही होती है. अलोक में जीव और पुद्गलकी गतिको उपकारक धर्म द्रव्य नहीं है इसलिए सिद्ध जीवोंकी ऊपर गति नहीं होती है.

जं जस्स दु संठाणं चरिमसरीरस्स जोगजहणम्मि ॥
तं संठाणं तस्स दु जीवघणं होइ सिद्धस्स ॥ २१३५ ॥
दसविघपाणाभावो कम्माभावेण होइ अच्चंतं ॥
अच्चंतिगो य सुहदुक्खाभावो विगददेहस्स ॥ २१३६ ॥

निष्ठिताशेषकृत्यानां गमनागमनादयः ॥
व्यापारा जातु जायंते सिद्धानां न सुखात्मनाम् ॥ २२१३ ॥
कर्मभिः क्रियते पातो जीवानां भवसागरे ॥
तेषामभावतस्तेषां पातो जातु न विद्यते ॥ २२१४ ॥
क्षुधातृष्णादयस्तेषां न कर्माभावतो यतः ॥
आहाराद्यैस्ततो नार्थस्तत्प्रतीकारकारिभिः ॥ २२१५ ॥
यत्सर्वेषां ससौख्यानां भुवनत्रयवर्तिनाम् ॥
ततोऽनंतगुणं तेषां सुखमस्त्यविनश्वरम् ॥ २२१६ ॥

अंत्यविग्रहसंस्थानसदृशाकृतयः स्थिराः ॥
सुखदुःखविनिर्मुक्ता भाविनं कालमासते ॥ २२१७ ॥
तेषां कर्मव्यपायेन प्राणाः संति दशापि नो ॥
न योगाभावतो जातु विद्यते स्पंदनादिकम् ॥ २२१८ ॥

विजयोदया—दशविधानां प्राणानामत्यंताभावेन भवति आत्यंतिकश्च सुखदुःखाभावः ॥

सुखासंस्थाननिर्णयार्थमाह—

मूलारा—जोगजहणम्मि मनोवाक्कायव्यापारपरिहारसमये । जीवघणं जीवस्वरूपनिर्भरत्वं । एतां श्रीविजयो नेच्छति ॥

सुखस्य निमित्ताभावादात्यंतिकं प्राणानां सुखदुःखयोश्चाभावं भावयति—

मूलारा—दसविधपाणाभावो पंचेंद्रियाणि मनोवाक्कायबलानि आयुरुच्छ्वासश्च । अत्यंतं सर्वथा । विगददेहस्स इंद्रियाधिष्ठानदेहाभावादैन्द्रियिके सुखदुःखे च मुक्तस्य न स्त इत्यर्थः ॥

अर्थ—मन वचन और शरीर इनके योगोंका त्याग करते समय चरमशरीर धारकोंके शरीरका जो आकार रहता है वही आकार पूर्ण स्वस्वरूप को प्राप्त हुए सिद्धों का रहता है. दस प्रकारके प्राण सिद्धों को नहीं रहते हैं अर्थात् पांच इंद्रिय प्राण, मनोबल, वचनबल, कायबल, आयुष्य, उच्छ्वास इन दस प्राणोंका सिद्धपरमेष्ठी में अत्यन्त अभाव रहता है. इंद्रियोंको आश्रय देने वाला देह नहीं होनेसे इंद्रिय जनित सुख दुःखोंका भी अभाव रहता है. इंद्रियोंके अभाव में भी उनको अतींद्रिय अनन्त सुख प्रगट हुआ है.

जं णत्थि बंधहेदुं देहग्गहणं ण तस्स तेण पुणो ॥
कम्मकलुसो हु जीवो कम्मकदं देहमादियदि ॥ २१३७ ॥
न कर्माभावतो भूयो विद्यते विग्रहग्रहः ॥
शरीरं श्रयते जीवः कर्मणा कलुषीकृतः ॥ २२१९ ॥

विजयोदया—जं णत्थि बंधहेदुं यस्मान्नास्ति बंधकारणं तेन न मुक्तस्य देहग्रहणं, कर्मकलुषीकृतो हि जीवः कर्मकृतं देहमादत्ते ॥

मुक्तस्य पुनः शरीरग्रहणाभावे युक्तिमाह—

मूलारा—बंधहेदू बंधस्य हेतुर्मिथ्यात्वादिः । स च मुक्तस्य नास्तीति पुनः कर्मबंधाभावात् । तद्धेतुकदेहग्रहणाभावः । अथवा बंधश्चासौ हेतुश्च पुनः शरीरग्रहणे निमित्तमिति ग्राह्यम् ॥

अर्थ— उन सिद्ध परमेष्ठिके कर्मबंधनके कारण रूप मिथ्यात्वादिकोंका अभाव हो चुका है इस लिए पुनः उनको नवीन कर्मबन्ध नहीं होता है. कर्म के बन्धनेसे देहका ग्रहण होता था. अब कर्मबन्ध ही नही तो नवीन देहकी प्राप्ति कहांसे हो सकेगी. जो जीव कर्मसे मलिन हुआ है. उसके ही नवीन देहकी उत्पत्ति होती है. अन्य को नहीं होती है.

कज्जाभावेण पुणो अच्चंतं णत्थि फंदणं तस्स ॥
ण पओगदो वि फंदणमदेहिणो अत्थि सिद्धस्स ॥ २१३८ ॥

विजयोदया—कज्जाभावेण पुणो कार्याभावेन तत्स्पंदनं नास्ति तस्य परप्रयोगकृतमपि स्पंदनमस्यादेहस्य सिद्धस्य ॥

सिद्धस्य कृतकृत्यतया प्रयोजनाभावाददेहतया च वातादिप्रयोगासम्भवात्कदाचिदपि ततश्चलनं नास्तीत्यवगमयति—

मूलारा—कज्जाभावेण प्रयोजनाभावेन । अच्चंतं सर्वकालं । फंदणं चलनं । पओगदो वि वातादेरपि । अदेहिणो देहसंयोगमुक्तस्य अमूर्तस्येत्यर्थः ।

अर्थ—कुछ भी प्रयोजन नहीं होनेसे सिद्ध परमेष्ठिके प्रदेशोंमें परिस्पंदन-चंचलपना नहीं होता है तथा वातादिकके संयोग से भी उन में चंचलपना नहीं है, क्योंकि उन के देहका ही अभाव हुआ है.

कालमणंतमधम्मोपग्गहिदो ठादि गयणमोगाढो ॥
सो उवकारो इट्ठो अठिदि सभावेण जीवाणं ॥ २१३९ ॥

अधर्मवशतः सिद्धास्तत्र तिष्ठन्ति निश्चलाः ॥
सर्वदाप्युपकर्तासौ जीवपुद्गलयोः स्थितेः ॥ २२२० ॥

विजयोदया—कालमनंतं अनंतकालं अधर्मास्तिकायोपगृहीतः गगनमनुप्रविष्टः तिष्ठति । उपकारोऽहो अधर्मास्तिकायेन संपाद्यमानोपकारः अवस्थानलक्षण इष्टो यस्मात् जीवस्य स्थितिस्वभावश्चेतन्यादिवत् ॥

सिद्धस्य लोकाग्राकाशदेशावस्थाननित्यतायामुपपत्तिमाह—

मूलारा—अधम्मोपग्गहिदो अधर्मास्तिकायेन स्थितो वाहितबलः। आगाढो अनुप्रविष्टः । सो अधर्मसंपाद्यावस्थानलक्षणः । अदिरिसभावेण स्थितिस्वभावाभावेन । न हि जीवस्य स्थितिःस्वभावश्चेतनत्वादिवत् । ततः स्थितिः सिद्धस्याधर्मकृतैव । क्वचित्तु ठिदिसहायेण जीवस्सेति पाठः ॥

अर्थ—सिद्धजीव अनंतकाल तक अधर्म द्रव्यके अनुग्रहसे आकाशमें रहते हैं. अचेतनके समान जीवका स्थितिस्वभाव नहीं है अर्थात् जीवमें चैतन्य जैसा स्वभाव है वैसा स्थितिस्वभाव नहीं है. अतः अधर्म द्रव्यके अनुग्रहसे ही सिद्धजीव स्थिर रहते हैं.

तेलोक्कमत्थयत्थो तो सो सिद्धो जगं णिरवसेसं ॥
सव्वेहिं पज्जएहिं य संपुण्णं सव्वदव्वेहिं ॥ २१४० ॥

लोकमूर्धनि तिष्ठन्ति कालत्रितयवर्तिनं ॥
जानाना वीक्षमाणास्ते द्रव्यपर्यायविस्तरम् ॥२२११ ॥

विजयोदया—तेलोक्कमत्थयत्थो त्रैलोक्यमस्तकस्थः ततोऽसौ जगन्निरवशेषं सर्वैः पर्यायैस्सर्वैर्द्रव्यैस्संपूर्णं ॥

पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे ॥
तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो ॥२१४१॥

विजयोदया—पस्सदि जाणदि पश्यति जानाति च कालत्रये पर्यायसहितानशेषांस्तथा चालोकमशेषं पश्यति भगवान् विगतमोहः ॥

सिद्धस्य दर्शनज्ञानमहिमानमभिष्टौति—

मूलारा—जगं लोकं ॥

मूलारा—जिणो जीवन्मुक्तवत् । सपज्जए पर्यायसहितांस्त्रीनपि कालान् । एतेन वैशेषिकादिकल्पिता ज्ञानादिगुणात्यन्तोच्छित्तिलक्षणा परममुक्तिः प्रत्युक्ता ॥

अर्थ—सिद्ध परमेष्ठी त्रैलोक्यके मस्तकपर आरूढ हुए हैं. वे वहांसेही संपूर्ण द्रव्य और उनके पर्यायोंसे भरे हुए सम्पूर्ण जगत् को तीनों कालोंमे जानते हैं और देखते हैं. तो भी वे मोहरहित ही रहते हैं.

भावे सगविसयत्थे सूरो जुगवं जहा पयासेइ ॥
सव्वं वि तधा जुगवं केवलणाणं पयासेदि ॥ २१४२ ॥

युगपत्केवलालोको लोकं भासयतेऽखिलम् ॥
घनावरणनिर्मुक्तः स्वगोचरमिवांशुमान् ॥ २२२२ ॥

विजयोदया—भावे सगविसयत्थे आत्मगोचरस्थान् भावान् सूर्यो युगपद्यथा प्रकाशयति तथा सर्वमपि ज्ञेयं युगपत्केवलज्ञानं प्रकाशयति ॥

केवलज्ञानस्य युगपदशेषार्थप्रकाशत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूलारा—भावे पदार्थान् । सगविसयत्थे आत्मगोचरस्थान् ॥

अर्थ—जैसे सूर्य अपने प्रकाशमें जितने पदार्थ समाविष्ट होते हैं उन सबको युगपत्प्रकाशित करता है वैसे सिद्ध परमेष्ठीका केवलज्ञान संपूर्ण ज्ञेयोंको–पदार्थोंको युगपत् जानता है.

मदरागदोसमोहो विभवो विमओ णिरुस्सओ विरओ ॥
बुधजणपरिगीदगुणो णमंसणिज्जो तिलोगस्स ॥ २१४३ ॥

रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहविवर्जिताः ॥
ते नमस्यास्त्रिलोकस्य धुन्वते कल्मषं स्मृताः ॥ २२२३ ॥

विजयोदया—मदरागदोसमोहो दूरीकृतरागद्वेषमोहः, विभओ विगतभयः विमओ विगतमदः, क्वचिदप्यनुत्सुको, निरस्तकर्मरज पटलः, बुधजनपरिगीतगुणः विप्रपञ्चेण नमस्करणीयः ॥

सुखात्मनः सकलविकारनिराकाराधिगम्यमात्यंतिकमनन्यलभ्यं परमस्वास्थ्यमावेदयति—

मूलारा—णिरुस्सुगो क्वचिदप्यनुत्सुकः ।

अर्थ—जिन्होंने रागद्वेष और मोह आत्मामें दूर किये हैं जो निर्भय, मदरहित और उत्कंठारहित हैं.

जिन्होंने अपनी आत्मामें कर्मरूपी धूल अलग की है, जिनके गुणोंका वर्णन गणधरादिक विद्वन्मंडली करती है ऐसे सिद्ध परमेष्ठी त्रैलोक्य के द्वारा वंदनीय है.

णिव्वावइत्तु संसारमहग्गिं परमणिव्वुदिजलेण ॥
णिव्वादि सभावत्थो गदजाइजरामरणरोगो ॥ २१४४ ॥

जन्ममृत्युजरारोगशोकातंकाधिव्याधयः ॥
विध्याताः सकलास्तेषां निर्वाणशरवारिभिः ॥ २२२४ ॥

विजयोदया—णिव्वावइत्तु क्षयमुपनीय संसारमहाग्निं परमनिर्वृतिजलेन तृप्यति स्वरूपस्थो विनष्टजातिजरामरणरोगः ॥

मूलारा—णिव्वावइत्तु विध्याप्य । परमणिव्वुदि परमानंदमयी मुक्तिः । णिव्वादि उदितोदितसुखो भवति ॥

अर्थ — इन सिद्ध परमेष्ठीओने संसाररूपी महाग्निको अनंतसुखरूप जलसे बुझाया है. और वे अपने स्वरूपमें ही हमेशा तृप्त रहते हैं. जन्म, जरा, मरणरूपी रोगोंका उन्होंने नाश कर दिया है.

जावं तु किंचि लोए सारीरं माणसं च सुहदुक्खं ॥
तं सव्वं णिज्जिण्णं असेसदो तस्स सिद्धस्स ॥ २१४५ ॥

शारीरं मानसं सौख्यं विद्यते यज्जगत्त्रये ॥
तद्योगाभावतस्तेषां न मनागपि जायते ॥ २२२५ ॥

विजयोदया—जावं तु किंचि लोए यावत् किंचिल्लोके शारीरं मानसं वा यत्सुखं दुःखं च तत्सर्वं निर्जीर्णं निरवशेषं प्रकारकात्स्न्यनिरासार्थमशेषग्रहणं ॥

तयोपाधिकसुखदुःखप्रक्षयमालक्षयति—

मूलारा—सुहदुक्खं स्थितमिति शेषः । णिज्जिण्णं नष्टम् । असेसदो सर्वप्रकारतः । प्रकारकात्स्न्यनिरासार्थमशेषग्रहणम् ॥

अर्थ—इस जगतमें जो कुछ शारीरिक और मानसिक सुख अथवा दुःख होता है वह अपने सम्पूर्ण प्रकारोंके साथ नष्ट हुआ है. अर्थात् सिद्धोंको शारीरिक और मानसिक दुःखोंका सर्वथा अभाव है. क्योंकि उनको देह और मन नहीं है. वे अशरीर और अमनस्क हैं.

जं णत्थि सव्वबाधाउ तस्स सव्वं च जाणइ जदो से ॥
जं च गदज्झवसाणो परमसुही तेण सो सिद्धो ॥ २१४६ ॥

जानतां पश्यतां तेषां विबाधारहितात्मनाम् ॥
सुखं वर्णयितुं केन शक्यते हतकर्मणाम् ॥ २२२६ ॥

विजयोदया—जं णत्थि सव्वबाधाओ यत्र सन्ति सर्वबाधाः, सर्वं च यतो जानाति, यश्चापगताध्यवसानः, तेनासौ सिद्धः परमसुखी भवति ॥

तत्परमसुखित्वं समर्थयते—

मूलारा—बाधाओ शरीरादिदुःखानि स्खलनानि वा । गदज्झवसाणो निश्चितः ॥

अर्थ—इन सिद्धोंको सम्पूर्ण बाधा नहीं रहती हैं. जाननेकी इच्छाके बिना ही सर्व जगत् जानते हैं. इसलिये ये सिद्धजीव परमसुखी हैं.

परमिड्ढिं पत्ताणं मणुसाणं णत्थि तं सुहं लोए ॥
अव्वाबाधमणोवमपरमसुहं तस्स सिद्धस्स ॥ २१४७ ॥

भोगिनो मानवा देवा यत्सुखं भुंजतेऽखिलम् ॥
तत्रैपामात्मनीनस्य सुखस्यांशोऽपि विद्यते ॥ २२२७ ॥

विजयोदया—परमिड्ढिं पत्ताणं परमामृद्धिं चक्रलांछनतादिकां प्राप्तानामपि मनुजानां नास्ति तत्सुखं लोके यदनुपमं तस्य सिद्धस्य सुखमव्याबाधं ॥

तत्सुखस्यानुपमत्वमाह—

मूलारा—परमिड्ढि चक्रवर्तिविभूतिं ॥

अर्थ—इस जगतमें उत्कृष्ट ऋद्धिका अर्थात् चक्रवर्तिपद वगैरहका सम्पाद प्राप्त होने पर भी मनुष्यों को यह सिद्धोंका अनुपम सुख प्राप्त नहीं होता है. अतःइन सिद्धोंका सुख अव्याबाध है.

देविंदचक्कवट्टी इंदियसोक्खं च जं अणुहवंति ॥
सद्दरसरूवगंधप्फरिसप्पयमुत्तमं लोए ॥ २१४८ ॥

रूपगंधरसस्पर्शशब्दैर्यत्सेवितैः सुखम् ॥
तदेतदीयसौख्यस्य नानंतांशोऽपि जायते ॥ २२२८ ॥

विजयोदया—देविंदचक्कवट्टी देवेंद्राश्चक्रवर्तिनश्च यदिंद्रियसुखमनुभवंति शब्दरसरूपगंधस्पर्शात्मकं लोके प्रधानं ॥

अव्वाबाधं च सुहं सिद्धा जं अणुहवंति लोगग्गे ॥
तस्स हु अणंतभागो इंदियसोक्खं तयं होज्ज ॥ २१४९ ॥

विजयोदया-अव्वाबाधं सुहं अव्याबाधात्मकं सुखं यत्सिद्धा लोकाग्रेऽनुभवंति तस्यानंतभागो भवति यदिंद्रियसुखं पूर्वव्यावर्णितं ॥

मूलारा—फरिसप्पयं स्पर्शात्मकं शब्दाद्युपभोगप्रभवत्वात् ।

इंद्रादिसुखस्य सिद्धसुखानंतभागत्वमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—स्पर्श, रस, गंध,रूप, शब्द इत्यादिकों से जो सुख देवेंद्र चक्रवर्ति वगैरहों का प्राप्त होता है. जो कि इस लोकमें श्रेष्ठ माना जाता है. वह सुख सिद्धोंके सुखका अनन्तवा हिस्सा है. सिद्धोंका सुख बाधारहित है यह उनको लोकाग्रमें प्राप्त होता है.

जं सव्वे देवगणा अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति ॥
तत्तो वि अणंतगुणं अव्वाबाहं सुहं तस्स ॥ २१५० ॥

विजयोदया—जं सव्वे देवगणा यत्सुखमनुभवंति साप्सरोगणाः सर्वे देवास्ततोऽप्यनंतगुणं तस्य सिद्धस्याव्याबाधसुखं ॥

सर्वदेवसुखस्यापि तदनंतभागत्वमाह—

मूलारा—सअच्छरगणा अप्सरसा गणैः सहिताः ॥

अर्थ—अप्सराओंके साथ देव जिस सुखका अनुभव लेते हैं सिद्धोंका सुख उससे भी अनंत गुणित है और बाधारहित है

तीसु वि कालेसु सुहाणि जाणि माणुसतिरिक्खदेवाणं ॥
सव्वाणि ताणि ण समाणि तस्स खणमित्तसोक्खेण ॥ २१५१ ॥

कालत्रितयभावीनि यानि सौख्यानि विष्टपे ॥
सिद्धैकक्षणसौख्यस्य तानि यांति न तुल्यताम् ॥ २२२९ ॥

विजयोदया—तीसु वि कालेसु त्रिष्वपि कालेषु यानि मानवानां, तिरश्चां, देवानां च सुखानि सर्वाणि तानि न समानि सिद्धस्य क्षणमात्रेण सुखेन ॥

त्रैकालिकसांसारिकसुखानां क्षणमात्रभाविनापि सिद्धसुखेनातुलनामाह—

मूलारा—ण समाणि । उक्तं च—

यदत्र चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसां ॥ कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनाम् ॥

अर्थ—तीन कालमें मनुष्य, तिर्यंच और देवोंको जो सुख मिलते हैं वे सब मिलकर भी सिद्धके एक क्षणके सुखकी भी बराबरी नहीं करते हैं.

ताणि हु रागविवागाणि दुक्खपुव्वाणि चेव सोक्खाणि ॥
ण हु अत्थि रागमवहत्थिदूण किं चि वि सुहं णाम ॥ २१५२ ॥

रागहेतु पराधीनं सर्वं वैषयिकं सुखम् ॥
स्वाधीनेन विरागेण सिद्धसौख्येन नो समम् ॥ २२३० ॥

विजयोदया—तानि रागविपाकाणि तानि रागविपाकानि रागस्य दुःखहेतोर्जनकानि, एतेन दुःखानुबंधित्वं नामेंद्रियसुखानां दोषोऽभिहितः । दुःखपूर्वाणि न हि क्षुधादिदुःखमंतरेण अशनादिकं प्रीतिं जनयति ॥ न चास्ति रागमन्तरा एत्य सुखं नाम किंचित् ॥

मूलारा—रागविपाकानि रागस्य सुखेहतोर्जनकानि । एतेन दुःखानुबंधित्वमिंद्रियाणां दोषोऽभिहितः । दुःखकारण दुष्कर्मबंधनिबंधनरागकारणत्वात्तेषां । दुःखपुव्वाणि न हि क्षुधादिदुःखमंतरेण भोजनादिकं प्रीतिं जनयति । अत्रह त्थिवूण लपत्ता । अक्षयसुखस्य स्वत्वाल्हादनाकारताविवक्षायां रूपादिविषयगतप्रीतिरूपरागात्मकामिंद्रियमनःप्रसादात्मकत्वविवक्षायां तु तथाविधरागपूर्वकत्वं प्रतीयते ॥

अर्थ—उपर्युक्त सर्व सुख रागविपाकज हैं. यह रागभाव दुःखको उत्पन्न करता है. अर्थात् इंद्रियसुख दुःखानुबंधि है ऐसा सिद्ध होता है. भूख, प्यास, थंडी, उष्णताके बिना अन्नादिक पदार्थ प्रीति उत्पन्न करनेमें असमर्थ हैं. इन पदार्थोंमें जो रागभाव उत्पन्न होता है उसको ही इंद्रियसुख कहते हैं.

इंद्रियसुखस्वरूपमभिधाय अनिंद्रियसुखं व्यावर्णयति—

अणुवममभेयमक्खयममलमजरमरुजमभयमभवं च ॥
एयंतियमच्चंतियमव्वाबाधं सुहमजेयं ॥ २१५२ ॥

अक्षयं निर्मलं स्वस्थं जन्ममृत्युजरातिगं ॥
सिद्धानां स्थावरं सौख्यमात्मनीनं जनार्चितम् ॥ २२३१ ॥

विजयोदया—अणुवममभेयं तत्समानस्य तदधिकस्याभावात् सुखस्य तदनुपमं, छद्मस्थज्ञानैर्मातुमशक्यत्वादमेयं, प्रतिपक्षभूतस्य दुःखस्याभावादक्षयं, रागादिमलाभावादमलं, जरारहितत्वादजरं, रोगाभावादरुजं, भयाभावादभयं, भवाभावादभवं, ऐकांतिकं दुःखस्य सहायस्याभावादैकांतिकमसहायं अव्याबाधरूपं तत्सुखं ॥

इंद्रियसुखं स्वरूपतो व्यावर्ण्यातीन्द्रियसुखस्वरूपं व्यावर्णयति—

मूलारा—अणुवमं तत्समानस्य तदधिकस्य कस्यापि सुखस्याभावात् । अमेयं छद्मस्थज्ञानैर्ज्ञातुं परिमातुं वा शक्यत्वात् । अक्खयं प्रतिपक्षभूतस्य दुःखस्याभावात् । अमलं रागादिमलानुपक्तत्वात् । सिवं विपदामगम्यत्वात् । अजरमित्यादि जरारोगभयभवाभावादजरादिविशेषणं । एयंतियं असहायं । आत्मसमुत्थत्वात् । अच्चंतियं अनंतकालभावि । पदं सिद्धं ।

अर्थ—सिद्धसुखके समान अथवा इससे अधिक सुख जगतमें दुसरा नहीं है. अतः सिद्धोंका सुख अनुपम है. छद्मस्थ जीव अपने ज्ञानसे जाननेमें अथवा उसका परिमाण कहनेमें असमर्थ है. अतःवह सिद्धसुख अमेय है. प्रतिपक्षरूप दुःखका इसमें अभाव है अतःयह अक्षय है. रागादिदोषोंसे रहित है अतः यह अमल है. जरावस्थासे रहित होनेसे इसको अजर कहते हैं. रोगरहित होनेसे यह अरुज है. भय रहित होनेसे अभय है. संसारभ्रमणसे मुक्त होनेसे इसको अभव कहते हैं. यह सिद्धसुख फक्त आत्मासेही उत्पन्न होता है इस लिये यह ऐकांतिक असहाय है. इस प्रकार यह सिद्ध सुख अव्याबाध कहा जाता है.

विसएहिं से ण कज्जं जं णत्थि छुदादियाउ बाधाओ ॥
रागादिया य उवभोगहेदुगा णत्थि जं तस्स ॥ २१५४ ॥

विजयोदया-विसएहिं से ण कज्जं शब्दादिभिर्विषयैः न कार्यं यतः सिद्धस्य न संति क्षुधादिका बाधाः, रागादयश्च विषयोपभोगहेतवो न संति यस्मात्तस्य ॥

प्रतिकार्योपभोगहेत्वभावात्सिद्धात्मनो विषयानर्थित्वमाह—

मूलारा—विसएहिं अन्नपानादिभिः । उवभोगहेदुगा अनुभवकारणानि । रागादिग्रहाविष्टो हि विषयाननुभुंक्ते । वेदनाप्रतीकारार्थी वा न च सिद्धस्य तद्द्वयमप्यस्ति ॥

अर्थ—शब्द, अन्नपानादिक विषयोंसे सिद्धसुख नहीं उत्पन्न होता है. क्यों कि, भूख, प्यास, रागादिक विकार जो कि विषयोपभोगके हेतु हैं वे सिद्धोंके नहीं हैं.

एदेण चेव भणिदो भासणचंकमणचिंतणादीणं ॥
चेट्ठाणं सिद्धम्मि अभावो हदसव्वकरणम्मि ॥ २१५५ ॥

विजयोदया—एदेण चेव भणिदो एतेन चोक्तः भाषणं चंक्रमणं चिंतनादीनामभावः सिद्धे हतसर्वक्रिये ॥

सिद्धस्य सर्वचेष्टोच्छेदमतिदिशति—

मूलारा—हदसव्वकरणम्मि निष्ठितसर्वक्रिये । सर्वक्रियासाधनातीते वा ॥

अर्थ—भाषण, गमन, चिंतन वगैरह क्रियायें सिद्धोंमें नहीं हैं क्योंकि उन्होंने सर्व इंद्रियोंके व्यापारोंका नाश किया है. यह सब उपर्युक्त अभिप्रायसे सिद्ध होता है.

इय सो खाइयसम्मत्तसिद्धविरियदिट्ठिणाणेहिं ॥
अच्चंतिगेहिं जुत्तो अव्वाबाहेण य सुहेण ॥ २१५६ ॥

कर्माष्टकविनाशेन ते गुणाष्टकवेष्टिताः ॥
संतिष्ठन्ते स्थिरीभूताः भुवनत्रयवंदिताः ॥ २२३२ ॥

विजयोदया—इय सो खाइय एवमसौ क्षायिकेण सम्यक्त्वेन सिद्धतया वीर्येण अनंतज्ञानाद्यनंतदर्शनेन चात्यंतिकेन सुखेनाव्याबाधेन युक्तेन ॥

तदात्यंतिकालौकिकधर्मकलापं समुत्पति—

मूलारा—सिद्धता सिद्धत्वं । स्वात्मलाभभाक्त्वम् ।

अर्थ—इस प्रकार क्षायिक सम्यक्त्व, स्वस्वरूपकी प्राप्ति, अनंतवीर्य, अनंतज्ञान, अनंत दर्शन और अव्याबाध सुख इन गुणोंसे सिद्ध विराजमान हुए हैं.

अकसायत्तमवेदत्तमकारकदाविदेहदा चेव ॥
अचलत्तमलेवत्तं च हुंति अच्चंतियाइं से ॥ २१५७ ॥

विजयोदया—अकसायत्तं अकषायत्वं, अवेदत्वमकारकता विदेहता अचलत्वमलेपत्वं च आत्यंतिकं च तस्य भवति । क्रोधादिनिमित्तानां कर्मणां प्राक्तनानां विनाशादभिनवानां चाऽभावादकषायत्वमात्यंतिकं एवमवेदत्वं । साध्यस्यापरस्याभावादकारकत्वं । प्राक्तनस्य शरीरस्य विलीनत्वाद्देहांतरकारिणः कर्मणोऽभावाद्विदेहतया. अवस्थांतरप्राप्तिनिमित्ताभावादचलत्वं । कर्मनिमित्तपरिणामाभावात् । प्राक्तनानां च कर्मणां विनाशादलेपत्वमप्यात्यंतिकं ॥

मूलारा—अकसायत्तमवेदत्तं क्रुधादिहेतूनां प्राक्तनानां विनाशादभिनवानां चानुत्पादात् अकषायत्वावेदत्वे क्षायिके । अकारणता साध्यस्यापरस्याभावान्नित्यनकारकत्वं । विदेहता प्राक्तनस्य देहस्य विलीनत्वाद्देहान्तरहेतोश्चाभावाच्चाशरीरत्वम् । अचलत्वं अवस्थांतरप्राप्तिनिमित्ताभावात् अजन्ममचलत्वं । अलेपत्वं कर्मनिमित्तपरिणामाभावात्पूर्वविनाशाच्च शाश्वतमलेपत्वम् ॥

अर्थ—कषायोंसे रहित, स्त्री, पुरुष, और नपुंसक इन तीन वेदोंसे रहित, ऐसी सिद्धोंकी अवस्था है. सिद्ध कारकत्वरहित, अचल और अलेप हैं. इनकी ये अवस्थायें अविनाशी हैं. क्रोधादिक कषाय तो नष्ट होनेसे और नवीन कषाय उत्पन्न नहीं होनेसे वे अकषाय और अवेद हैं. अब कुछ साध्य करना नहीं रहा है इस लिये वे अकारक हैं. मोक्षरूप साध्यही अन्तिम साध्य था वह उन्होंने प्राप्त कर लिया इस लिये वे अकारक हैं. पूर्व शरीर नष्ट होगया है और नवीन देह उत्पन्न करनेवाले नाम कर्मका नाश हुआ है अतः वे अदेह ही हैं. जो उनका स्वस्वरूप है उसमें कभीभी अवस्थांतर नहीं होगा क्योंकि, स्वरूपांतर उत्पन्न करनेवाले कर्मका अत्यंत अभाव होगया है. अब सिद्धमें नवीन कर्मका अभाव है और पूर्वकर्म नष्ट हुआ है इसलिये वे सर्वदा अलेप हैं.

जम्मणमरणजलोघं दुक्खपरकिलेससोगवीचीयं ॥
इय संसारसमुद्दं तरंति चदुरंगणावाए ॥ २१५८ ॥

संसारार्णवमुत्तीर्णा दुःखनक्रकुलाकुलं ॥
ये सिद्धिसौधमापन्नास्ते सन्तु मम सिद्धये ॥ २२२३ ॥

विजयोदया— जम्मणमरणजलोघं जन्ममरणजलौघं दुःखसंक्लेशशोकवीचिकं संसारसमुद्रं । सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रतपस्संस्थितचतुरंगनावा तरंति ॥

परममुक्तिवर्णनम्—संसारोच्छेदपूर्वकत्वात्परममुक्तेस्तदुच्छेदोपायमनुशास्ति—

मूलारा—परिकिलेस परितापः । चदुरंग सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपांसि व्यवहारेण संसारलंघनोपायः परमार्थेन तु तन्मय आत्मैव ॥

अर्थ—यह संसारसमुद्र जन्म और मरण रूपी पानीसे भरा हुआ है, दुःख, संक्लेशपरिणाम और शोक रूपी लहरें इसमें नित्यही उछलती हैं. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इन चार अवयवोंसे बनी हुई आराधना रूप नौकासे सत्पुरुष इस संसारसमुद्रसे उत्तीर्ण होते हैं.

एवं पण्डिदपण्डिदमरणेण करंति सव्वदुक्खाणं ॥
अंतं णिरंतराया णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥ २१५९ ॥

भ्रजति पंडितपंडितमृत्युना सपदि सिद्धिवधूर्वशवर्तिनी ॥
विमलसौख्यविधानपटीयसी सुभगतेव गुणेन निरेनसा ॥ २२३४ ॥

इति पंडितपंडितम् ॥

विजयोदया- एवं पण्डितपण्डितमरणेण एवमुक्तेन क्रमेण पण्डितपण्डितमरणेण सर्वदुःखानामंतं कुर्वंति। निरंतराया निर्विघ्ना निर्वाणमनुत्तरं प्राप्ताश्च। एतेन पण्डितपंडित मरणंव्याख्यातं॥ पंडितपंडितमरणं गदं॥

प्रकृतमुपसंहरति —

मूलारा—अंतं विनाशं। णिरंतराया निर्विघ्नाः। संतो भव्याः। पत्ता प्राप्तुमारब्धाः। जीवन्मुक्ता इत्यर्थः। इति पंडितपंडितमरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ—इस प्रकार इस पंडितपंडित मरणके द्वारा महापुरुष केवल ज्ञानी अपने सर्व दुःखोंका अन्त करते हैं जिससे उनको निर्विघ्न और सबसे उत्कृष्ट ऐसा मोक्ष प्राप्त होता है, इस प्रकार पंडितपंडितमरण का वर्णन समाप्त हुआ.

एवं आराधित्ता उक्कस्साराहणं चदुक्खंधं ॥
कम्मरयविप्पमुक्का तेणेव भवेण सिज्झंति ॥ २१६० ॥

विजयोदया—एवं आराधित्ता एवमाराध्य। उक्कस्साराधणं उत्कृष्टाराधनां। चदुक्खंधं समीचीनदर्शनज्ञानचरणतपोभिधानचतुष्कस्य। कम्मरजविप्पमुक्का कर्मरजोविप्रमुक्तास्तेनैव भवेन सिध्यंति ॥

अथ चतुर्विधाराधनाया उत्कृष्टमध्यमजघन्यभावनाप्राप्यायाः सिद्धेर्भवावधारणाय गाथात्रयेण चूलिकामाह—

मूलारा—चदुक्खंधं चतुर्विधाम् ॥

अर्थ— जिसके चार भेद हैं ऐसी उत्कृष्टाराधनाकी अर्थात् सम्यग्दर्शन,ज्ञान, चारित्र और तप इनकी आराधना करके जो महापुरुष कर्मरजसे मुक्त हुये हैं अर्थात् जिन्होंने घातिकर्मोंका नाश किया है वे उसी भवमें मुक्त होते हैं.

आराधयित्तु धीरा मज्झिममाराहणं चदुक्खंधं ॥
कम्मरयविप्पमुक्का तच्चेण भवेण सिज्झंति ॥ २१६१ ॥

आराधयित्तु धीरा जहण्णमाराहणं चदुक्खंधं ॥
कम्मरयविप्पमुक्का सत्तमजम्मेण सिज्झंति ॥ २१६२ ॥

आराधना जन्मवतश्चतुर्धा निषेव्यमाणा प्रथमे प्रकृष्टा ॥
भवे तृतीये विदधाति मध्या सिद्धिं जघन्या खलु सप्तमे सा ॥ २२३५ ॥

विजयोदया—आराधयित्तु धीरा आराध्य धीरा जघन्यामाराधनां चतुष्कंधां कर्मरजोविप्रमुक्ताः सप्तमेन जन्मना सिध्यति ॥

मूलारा—तच्चेण तृतीयेन ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥ चूलिका ॥

अर्थ—धीर पुरुष इस चार भेदवाली मध्यम आराधनाका आराधन कर कर्मरजसे रहित होकर तृतीय भवसे मुक्त होते हैं. तथा कोई धीर पुरुष चार भेदवाली जघन्य आराधनाका आराधन कर कर्मरजसे मुक्त होकर सातवे भवमें सिद्ध होते हैं.

एवं एसा आराधणा सभेदा समासदो वुत्ता ॥
आराधणाणिबद्धं सव्वंपि हु होदि सुदणाणं ॥ २१६३ ॥

विजयोदया—एवं एसा एवमेषा आराधना सप्रभेदा समासतो निरूपिता आराधनायामस्यां निबद्धं सर्वमपि श्रुतज्ञानं भवति ॥

प्रष्टोपसंहारपुरःसरमाराधनाविस्तरानभिधाने निबंधनमात्मनः समर्थयते—

मूलारा—आराधणाणिबद्धं आराधनायां प्रतिपाद्यमानायां प्रतिपादकत्वेन संबद्धं यतो द्वादशांगमपि श्रुतं ॥ अतः को मादृशां व्यासेन व्यावर्णयितु प्रभवतीत्युत्तरगाथार्द्धेन संबंधः ॥

अर्थ—इस प्रकार इस आराधनाके भेद संक्षेपसे मैंने कहे हैं क्योंकि इसमें आराधना प्रतिपाद्य विषय है और प्रतिपादक श्रुतज्ञान है. यह श्रुतज्ञान मेरे में अल्प है अतःमैंने आराधनाका संक्षेपसे वर्णन किया है.

आराधणं असेसं वण्णेदुं होज्ज को पुण समत्थो ॥
सुदकेवली वि आराधणं असेसं ण वण्णिज्ज ॥ २१६४ ॥

आराधनैषा कथिता समासतो ददातु सिद्धिं मम मंदमेधसः ॥
अयुध्यमानैरखिलं जिनागमं न शक्यते विस्तरतो हि भाषितुं ॥ २२३६ ॥

विजयोदया—आराधणं असेसं निरवशेषामाराधनां वर्णयितुं कस्समर्थो भवेत्, श्रुतकेवल्यपि निरवशेषं न वर्णयेत्

मूलारा—को न कश्चिदल्पश्रुतो निःशेषामाराधनां वर्णयितुं क्षमते इत्यर्थः ॥ तर्हि श्रुतकेवली तां समस्तां वर्णयितुं प्रभविष्यतीत्याह–सुदेत्यादि एतेन भगवान्सर्वज्ञ एवाराधनासर्वस्वव्याख्याने समर्थ इति गमयति—

अर्थ—इस आराधनाका सविस्तर वर्णन करनेमें कोन समर्थ है ? क्योंकि श्रुतकेवलिभी संपूर्ण आराधनाका वर्णन नहीं कर सकेंगे, अर्थात् केवलज्ञानी अर्हद्भगवान् ही इसका वर्णन करनेमें समर्थ है. अन्य नहीं है.

अज्जजिणणंदिगणि, सव्वगुत्तगणि, अज्जमित्तणंदीणं ॥
अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥ २१६५ ॥

विजयोदया—अज्जजिणणंदि आचार्यजिननंदिगणिनः, सर्वगुप्तगणिनः, आचार्यमित्रनंदिनश्च पादमूले सम्यगर्थं श्रुतं चावगम्य ॥

इदानीमात्मनः सांप्रदायिकत्वमवधानपरत्वं च प्रकाशयन्नात्मकर्तृकत्वेनास्य शास्त्रस्य विनेजयनविश्वासनाय प्रमाणतां व्यवस्थापयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—अज्जजिणणंदिगणि मुमुक्षुजनाभिगम्य आर्यजिननंद्याचार्यः । सव्वगुत्तगणि सर्वगुप्ताचार्यः । अज्ज-मित्तणंदीणं आचार्यमित्रनंदी । आगमिय पठित्वा एतेनात्मनः सूत्रार्थाविसंवादकत्वमुक्तम् ॥

अर्थ—आर्य जिननंदिगणि, आर्य सर्व गुप्तगणी, तथा आर्य मित्रनंदि गणी इनके चरणमूलमें मैंने उत्तम रीतीसे श्रुत और उसके अर्थका अध्ययन किया है. तदनंतर—

पुव्वायरियणिबद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए ॥
आराधणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥ २१६६ ॥

विजयोदया—पुव्वायरिय पूर्वाचार्यकृतामिव उपजीव्य इयं आराधना स्वशक्त्या शिवाचार्येण रचिता पाणितलभोजिना ॥

मूलारा—कयाणि आराधनाशास्त्राणीति शेषः ॥ उवजीवित्ता स्तोकं स्तोक तदर्थमुपसगृह्य । ससत्तीए एतेनात्मनोऽवधानपरताप्रतिपादनद्वारेणौद्धत्याभावाभिधे यस्य च परमगाभीर्यं दर्शितम् ॥ सिवज्जेण शिवकोटचाचार्येण भवेति लक्ष्यति । पाणिदलभोइणा हस्ततलभोजनव्रतेन यतिनेत्यर्थः । एतेन प्रतारकत्वाशंकानिरासः ॥

अर्थ—पूर्वाचार्योंके बनाये हुए शास्त्रोंसें थोडा थोडा अर्थ संगृहीत करके हस्तरूपी पात्रमें भोजनकरनेवाले अर्थात् मुनि ऐसे शिवार्य-शिवकोटी आचार्यने यह आराधना नामक महाशास्त्र रचा है

छदुमत्थदाए एत्थ दु जं बद्धं होज्ज पवयणविरुद्धं ॥
सोधेंतु सुगीदत्था तं पवयणवच्छलत्ताए ॥ २१६७ ॥
विशोध्य सिद्धांतविरोधिबद्धं ग्राह्या श्रुतज्ञैः शिवकारिणीयम् ॥
पलालमध्यस्य न किं पवित्रं गृह्णाति सस्य जनतोपकारि ॥ २२३७ ॥

विजयोदया—छदुमत्थदाए छद्मस्थतया यद्त्र प्रवचननिदर्शनबद्ध भवेत् तत्सुगृहीतार्था शोधयंतु प्रवचनवत्सलतया ॥

अधुना स्वस्य बालभावप्रकाशनेनैदंयुगीनश्रुतधरधुरीणानामनुग्रहेण स्वशास्त्रप्रामाण्यप्रतिष्ठार्थं सधर्मवत्सलतामुन्नसयति—

मूलारा—छदुमत्थदाए सावरणज्ञानतया । एत्थ एतस्मिन्न आराधनाशास्त्रे । पवयणवच्छलत्ताए मयि सधर्मिणि निग्रुन्थे वा नैसर्गिकानुरागपरवत्तया ॥

अर्थ—मैं (शिवकोटि आचार्य) छद्मस्थ होनेसे मेरे द्वारा जो प्रवचनका वर्णन किया गया है वह यदि विरुद्ध होगा तो जिन्होंने आगमके अर्थका सम्यक् निर्णय किया है वे साधर्मिक प्रेमसे उस अर्थका संशोधन करें.

आराधणा भगवदी एवं भत्तीए वण्णिदा संती ॥
संघस्स सिवज्जस्स य समाधिवरमुत्तमं देउ ॥ २१६८ ॥

आराधना भगवती कथिता स्वशक्त्या चिंतामणिर्वितरितुं बुधचिंतितानि ॥
अह्नाय जन्मजलधिं तरितुं तरण्डं भव्यात्मनां गुणवती ददतां समाधिं ॥२२३८॥
करोति वशवर्तिनीस्त्रिदशपूजिताः संपदो ॥
निवेशयति शाश्वते यतिमते पदे पावने ॥
अनेकभवसंचितं हरति कल्मषं जन्मिनाम् ॥
विदग्धमुखमंडनी सपदि सेविताराधना ॥ २२३९ ॥

विजयोदया—आराधणा भगवदी आराधना भगवती एवं भक्त्या कीर्तिता सर्वगुणगणिनः संघस्य शिवाचार्यस्य च विपुलां सकलजनप्रार्थनीयां अव्याबाधसुखां सिद्धिं प्रयच्छतु ॥

शास्त्रदेवं भक्त्या परमाराधनां व्यावर्ण्य स्वव्यावर्णनफलं प्रार्थयते—

मूलारा—समाहिवरं शुक्लध्यानं । उत्तमं व्युपरतक्रियानिवर्तिनामधेयमिति भद्रम् ॥

अर्थ—इस प्रकारसे भक्तिवश होकर वर्णन की गई यह भगवती पूज्य आराधना सर्व संघको और शिवकोटि आचार्यको सर्व जीव जिसकी अभिलाषा करते हैं, जो अव्याबाध सुख देती है ऐसी अनन्त मुक्तिको प्रदान करे.

असुरसुरमणुयकिण्णररविसासिकिंपुरिसमहियवरचरणो ॥
दिसउ मम बोहिलाहं जिणवरवीरो तिहुवणिंदो ॥ २१६९ ॥

खमदमणियमधराणं धुदरयसुहदुक्खविप्पजुत्ताणं ॥
णाणुज्जोदियसल्लेहणम्मि सुणमो जिणवराणं ॥ २१७० ॥

अर्थ—असुर, सुर स्वर्गवासी देव, मनुष्य, किन्नर, सूर्य, चंद्र किंपुरुष इनके द्वारा जिनके चरण पूजे गये हैं, जो त्रैलोक्यके नाथ हैं ऐसे श्रीवीर जिनेश्वर मेरेको रत्नत्रयका लाभ करदे.

अर्थ—क्षमा, जितेन्द्रियता, और नियमोंको धारण करनेवाले, कर्ममलको नष्ट करनेवाले, शारीरिक और मानसिक सुखदुःखसे रहित, केवल ज्ञानसे जिन्होंने सल्लेखनाको प्रगट किया है ऐसे संपूर्ण जिनेश्वरोंको मै नमस्कार करता हूं.

श्रीमदपराजितसूरेर्टीकाकृतः प्रशस्तिः

नमः सकलतत्वार्थप्रकाशनमहौजसे ॥
भव्यचक्रमहाचूडारत्नाय सुखदायिने ॥ १ ॥
श्रुतायाज्ञानतमसः प्रोद्यद्धर्मांशवे तथा ॥
केवलज्ञानसाम्राज्यभाजे भव्यैकबंधवे ॥ २ ॥

चंद्रनंदिमहाकर्मप्रकृत्याचार्यप्रशिष्येण आरातीयसूरिचूलामणिना नागनंदिगणिपादपद्मोपसेवाजातमतिलवेन बलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरणधीरेण लब्धयशःप्रसरेण अपराजितसूरिणा श्रीनागनंदिगणिनावचोदितेन रचिता आराधनाटीका श्रीविजयोदयानाम्ना समाप्ता ॥

॥ एवं भगवती आराधना समाप्ता ॥

टीकाकार श्रीअपराजितसूरीकी प्रशस्ति.

अर्थ—संपूर्ण जीवादि तत्वार्थोंको प्रगट करनेमें जो अतिशय समर्थ है जो भव्यसमुदायको महाचूडामणिके तुल्य है और जो सुखदायक है ऐसे श्रुतज्ञानको मैं नमस्कार करता हूं अर्थात् श्रुतकेवलीको मैं वंदन करता हूं.

अज्ञान रूपी अंधकार का नाश करनेमें जो उगे हुए सूर्यके समान हैं- जिन्होने केवलज्ञानरूपी साम्राज्यपद धारण किया है जो भव्योंके अद्वितीय मित्र हैं ऐसे जिन भगवानको मैं नमस्कार करता हूं.

श्री अपराजित सूरि, चंद्रनंदि और महाप्रकृत्याचार्य नामक मुनिराजोंके प्रशिष्य थे, आरातीय विद्वानोंमें चूडामणिके समान श्रेष्ठ थे इन्होने नागनंदि आचार्यके चरणकमलोंकी सेवा करके ज्ञान प्राप्त किया था. ये बलदेव सूरीके शिष्य थे. जिनशासनका उद्धार करनेमें ये धीर समर्थ थे. इनको खूब यश प्राप्त हुआ था. इन्होने नागनंदि आचार्यकी प्रेरणासे विजयोदया नामकी यह आराधना टीका रचकर समाप्त की है.

ये चिंतयंति वदतद्भवसिद्धिहृद्यद्आराधनानुगतमृत्युविकल्पकल्पं ॥
ऐदंयुगीनयुनयोऽर्हदुपज्ञमेनं सत्वदूतुताभ्युदयमुक्तिसुदीशिनस्ते ॥ १ ॥
इमामष्टाश्वासीमसकृदनुतं त्रिकिचतुरे । निबन्धैष्टीकाद्यैः स्थविरवचनैरप्यवितथैः ॥
कृता संचर्योच्चै शिववचनमीक्षंत इह ये । प्रजंत्यक्षाधीशाधरपुरुपदूरं पदमिमे ॥

इत्याशाधरानुस्मृतग्रंथसंदर्भे मूलाराधनादर्पणे पदप्रमेयार्थप्रकाशीकरणप्रवणेऽष्टम आश्वासः ॥

स्वस्ति स्यात्कारकेतनाय श्रीमदनेकान्तशासनाय ॥

अथ प्रारब्धनिर्विघ्नपरिसमाप्तिप्रमोदभरानुविद्धभक्तिपरवशमानसो ग्रंथकृत्परमाराध्यां भगवतीमाराधनामभिष्टोतुमिदं वृत्तदशकमपाठीत् ॥

लब्धा लब्धपरीक्षिरेण रुचिताः कालादिलब्धीः सतां । श्रित्वाराधकतां विशुद्धिमहती भव्या भवाब्धिभ्यसः ॥
यामाराध्य शिवाध्ववृत्तिमसिधन्सिध्यन्ति सेत्स्यंति वा । तां वंदे व्यवहारनिश्चयमयीमाराधनादेवताम् ॥ १ ॥
सर्वंशाभयहिम्यभूधरहृदोद्भूतेन वाकूस्रोतसा । तत्त्वज्ञप्तितटाभिषिक्तसेगसुभगेनासंगकुंडाश्रिता ॥
भव्यान्यः पुनतात्रिमार्गविलसद्वेदाढ्यरूढौजसा ॥ विरिसिधुं घृणती धुनोतु मदघान्याराधनास्वर्धुनी ॥ २ ॥
या सम्यक्त्वगुणेन बोधगुणोत्तोवादिरोचिंशति-शीलसारेण तपश्चरित्रचरणेनोल्लिखचिच्छक्तिना ॥
रूपेणाभिमतानि भाविकजनं संयोजयंत्यंजसा ॥ तामानंदसुधाब्धिदेवसमुपैम्याराधनां प्रश्रयात् ॥ ३ ॥
दीप्रासिरस्यकिरीटिकामुपशमस्फारोरहारां स्फुरन्निर्विसंसृतिभीतिकुंडलरुचि स्फूर्जत्कृपामुद्रिकाम् ॥

सच्चरित्ररत्नामुरदारयत्नां संतोषपादागदाम् ॥ दोर्भूपीकृतभावनां प्रणिपताम्याराधनामम्बिकाम् ॥ ४ ॥
ह्रीसाटी विनयोत्तरीयरुचिरां वीर्योल्लसत्कंचुकाम् ॥ श्रेयःप्रजलतोज्ज्वलां सुविमलस्वाध्यायलीलाम्बुजाम् ॥
मल्लेश्याहरिचंदनद्रवरुचं साम्यावतंसोत्सवाम् ॥ वर्षन्ती हृदि मे सुधा भगवतीमाराधना धारये ॥ ५ ॥
चेतःपंचनमस्क्रिया श्रुतिमुखेनाविश्य यज्जृंभसे भव्यानां मरणक्षणे त्रिभुवनश्रीणां तदाप्युल्वणम् ॥
किंचित्कार्मणमन्वयत्पुनरनामन्येन धाम्ना तदा । तात्कालप्रचल चिनोषि वरदे मा तात्विकी पुंधिविः ॥ ६॥
श्रद्धस्वेमसमीभममदमपोह्याक्षारभासात्मनः ॥ स्वं स्वेन स्वस्मै स्वस्मात्मना विशदचिन्मात्रात्मकायात्मने ॥
पश्यन्नात्मनि निस्तरंगमहसि त्वा निश्चयाराधने । मातश्चेदहमुत्किराम्यपुनरावृत्त्या कृतार्थोऽस्मि तत् ॥ ७ ॥
किं चित्रं जिनसूरिसाधुवपुषा त्वद्भक्तिसेवापुषाम् ॥ संस्कारेण पवित्रिताः सुरवरैर्दिव्याद्ययो वहयः ॥
पूज्यते द्विजसत्तमैर्विधिवदाधानादिकृत्येषु यत् । तच्चित्रं स्पृशति यत्पुनस्त्वयि गिरिं प्रायो जगत्तद्गुरः ॥ ८ ॥
एकानेकभवेद्यमात्परमनैष्कर्म्याश्रिमध्यासिते । आप्यां पंडितपंडितैः सकलचिच्छक्तेर्भवोच्छेदिनी
त्वं विदन्भवती यथात्र भवतीमाजन्मरीनाकुरन्यायेनालुपजद्भिरेभिरसुभिर्मुच्येऽनुचर्यां तथा ॥ ९ ॥
इत्युद्दामलसत्परापरकलालीलाविलासाखिलक्लेशा । तत्पदसपदार्पणपरामाराधनां संस्तौति यः ॥
स प्राणोपरमोपजाततदुपस्कारः शिवाशाधरैराराध्यक्रमपंकजोऽचलचिदानंदे सदास्ते पदे ॥ १० ॥

इत्याराधनास्तवः ॥

प आशाधरजीने मूलाराधना नामकी टीका भगवती आराधनाके उपर लिखी है. उस की निर्विघ्न समाप्ति होनेसे उनको बडा आनंद हुआ तब भक्तिवश होकर उन्होंने परम आराधनीय ऐसे भगवती आराधनाकी स्तुति करनेके दश श्लोक रचे हैं उसका अनुवाद हम यहां पाठकोंके लिये देते हैं—

१ सत्पुरुषोंको मान्य ऐसी कालादि लब्धि पाकर भव्य जन संसारमे भययुक्त होते हैं. और सम्यग्दर्शनाराधनादि चार प्रकारकी आराधनाओंका आराधन करके आपने परिणाम अतिशय निर्मल बनाते हैं. ये आराधनायें मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होने वाले भव्य लोगोंको कलेवाके समान हैं. इनकी आराधनासे ही पूर्व कालमें बहुत भव्य लोकोंनें मुक्तिकी प्राप्ति करली है. मुक्तिकी प्राप्ति करते हैं व करेंगे अतः व्यवहाराराधनदेवता—भेद रत्नत्रयरूपी आराधना और अभेद रत्नत्रयरूपी निश्चयाराधना मानो देवता ही है. इस देवताको मैं मस्तक नमाकर नमस्कार करता हूं.

२ यह आराधनारूपी महागंगा नदी सर्वज्ञ जिनेश्वररूपी पद्म सरोवरसे उत्पन्न हुई है. दिव्यध्वनिरूपी जल प्रवाहसे सुंदर दीखती है इसका यह दिव्यध्वनिरूपी जलप्रवाह तत्त्वज्ञप्ति अर्थात् तत्त्वज्ञानस्वरूपी आकाशसे उत्तरकर निर्ग्रंथतारूपी कुंडमें पडता है रत्नत्रयरूपी वेदाढ्य पर्वतके पास आये हुए इसकी तेजस्विता बहुत बढ गई है. यह गंगानदी ज्ञानसमुद्रको पूर्ण भरती है. भव्योंको पवित्र करनेवाली यह आराधनारूप गंगा मेरे पापोंका नाश करे

३ इस आराधना देवीका सम्यक्त्वही मुख है. सम्यग्ज्ञान ही शरीर है. उद्योत, उद्यवन, निर्वाह, सिद्धि और निस्तरणरूपी बीस बाहुओंकी शोभासे यह आराधना देवता बडी सुंदर दीखती है. प्रत्येक आराधनामें ये उद्योतादिक पांच प्रकार हैं चार आराधनाके मिलकर उद्योतादिक बीस भेद होते हैं. तप और चारित्ररूपी सुंदर चरणोंसे यही सुहावनी दीखती है. बढी हुई चैतन्य शक्तिरूपी सौंदर्यसे यह युक्त है. ऐसी यह आराधना आनंद सुखकी मुख्य देवता है. मैं इस देवताको विनयसे शरण जाता हूं.

४ इस आराधनारूपी अम्बिकाको मैं वंदन करता हूं. इसने उज्ज्वल आस्तिक्यरूपी किरीट अपने मस्तक पर धारण किया है. क्षयोपशमरूपी कांतिसंपन्न बडा हार गलेमें धारण किया है. वैराग्य और संसारभय रूपी कुंडल इसने अपने दोनो कानोंमें धारण किये हैं. कृपारूपी अंगुठी अपने करांगुलीमें धारण की है. तत्त्व-चर्चारूपी रशना–करधनी इसने धारण की है. संतोषरूपी नूपुर अपने पांवोंमें धारण किये हैं. अहिंसादिक व्रतोंकी भावनारूप मुक्तालंकार इसने धारण किये हैं ऐसी इस आराधनारूप आम्बिकाको मैं नमस्कार करता हूं.

५ मैं इस भगवती आराधनाको अपने हृदयमें धारण करता हूं. इसने लज्जारूपी साडी पेहेनी है, तथा विनयरूपी ऊपरका वस्त्र धारण किया है शक्तिरूपी कंचुलीसे यह सुंदर दीखती है. पुण्यरूपी पत्रलतासे यह उज्ज्वल दीखती है निर्मल स्वाध्यायरूपी क्रीडाकमल इसने अपने करमें धारण किया है. पीत पद्मादि शुभ लेश्यारूपी चंदनचर्चासे इसका शरीर सुंदर दीखता है. साम्यरूपी कर्णभूषणोंसे इसका मुख उज्ज्वल है. ऐसी यह आराधना देवता मेरे हृदयपर ज्ञानामृतकी वर्षा करे.

६ हे जननी, तूं पंचनमस्कारके मिष से मरणके समय भव्योंके अन्तःकरण में कर्णद्वारा प्रवेश करती है. जब तूं उनके अन्तःकरणमें प्रवेश करती हैं तब वे मरणोत्तर त्रैलोक्यलक्ष्मीके उत्कृष्ट पात्र बन जाते हैं. हे भगवति! १८५७

तेरा ऐसा प्रभाव है कि उसका मैं वचनों के द्वारा वर्णन करनेमें असमर्थ हूं हे जननि ! जो तेरा आराधन करते हैं. उनको अचल अनन्त—विनाशरहित ऐसा पुरुषपद प्राप्त होता है. अर्थात् उनको मोक्ष मिलता है.

७ हे आत्मन् ! तू इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानोंको छोडकर निर्मल चैतन्यरूप शरीर धारण करनेवाला आत्माकी प्राप्ति होने के लिये उसको स्वानुभव के द्वारा देख ले जिससे तुझको असीम—अमार्याद आनंद प्राप्त होगा. यह आत्मा आनदरूप है ऐसी तू श्रद्धा कर. हे जननी आराधने ! तुझको निश्चल तेजःस्वरूप अपनी आत्मामें देख लेता हूं. मैं तेरेको स्वस्वरूपमें सर्व तरफ फैलाता हूं जिससे मेरा संसारमें पुनरागमन न होगा और मैं कृतार्थ होऊंगा.

८ हे मातः ! तेरी भक्ति करनेसे साधुगण का चैतन्य स्वरूप पुष्ट हो जाता है. इंद्रादिक श्रेष्ठ देवोंने दक्षिणीय, आवहनीय व गार्हपत्य ऐसे तीन अग्नि साधुओंके शरीरस्पर्शसे पवित्र किये हैं. गर्भाधानादिक कार्यके समय ये तीनो अग्नि गृहस्थाचार्योंके द्वारा पूजे जाते हैं. इसमें आश्चर्य क्या है ?

९ हे आराधना माता, पंडितपडित अर्थात् केवल ज्ञानी मुनि तेरी प्राप्ति कर लेते हैं. तूं भवका—संसारका नाश करने वाली है जो तेरी भक्ति करता है उसको निजस्वरूपकी प्राप्ति होती है. हे मातः! मैं भी तेरी सेवा करूंगा जिससे संसारमें जब तक मैं रहूंगा तबतक बीजांकुरन्यायसे मेरे साथमें रहनेवाले इन प्राणोंसे मैं स्वस्वरूपकी प्राप्ति होने के अनन्तर रहित होऊंगा.

१० जिसमें सम्पूर्ण दुःखोंका अन्त हुआ है ऐसा मुक्तिपद अर्पण करने वाली इस आराधना जननीकी जो स्तुति करता है उसके प्राणोंका त्याग होने से वह मुक्त हो जाता है. उसके चरण कमलोंको मोक्षेच्छु भव्य पूजते हैं और वे भी अचल ज्ञानरूपी आनद जिसमें भरा हुआ है ऐसे मोक्षपदमें सदा ही निवास करते हैं. इस प्रकार आराधनाकी स्तुति समाप्त हुई.(इस स्तुतीके श्लोकोंका अर्थ ठीक हम नहीं लगा सके जैसा हमको जचा वैसा लिखा है.)

अथ परममुख्यावसानमंगलं सिद्धस्तवः ॥

यस्यानुपहतो दुराग्रहपरित्यक्तात्मरूपात्मनः । सद्द्रव्यं चिदचित्त्रिकालविषयं स्वैःस्वैरभीक्ष्णं गुणैः ॥
सार्थव्यंजनपर्ययैः सनिचयैर्जानाति बोधः समं । तत्सम्यक्त्वमशेषकर्मभिदुरं सिद्धाः परं नौमि वः ॥ १ ॥

यत्सामान्यविशेषयोः सहपृथक्त्वान्यस्थयोर्दीपयत् । चित्तं योगकमुद्रिरन्मुदमरं नो रज्यति द्वेष्टि न ॥
धारावाह्यपि तत्प्रतिक्षणनवीभावोद्धुरार्थार्पित-प्रामाण्यं प्रणमामि वःकलितदृग्व्याप्त्युक्तिमुक्तिश्रिये ॥ २ ॥
सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकारं मतं दर्शनम् । साकारं च विशेषगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छया ॥
ते नेत्रे क्रमवर्तिनी सरजसां प्रादेशिके सर्वतः । स्फूर्जन्ती युगपत्पुनर्विरजसां युष्माकमंगातिगाः ॥ ३ ॥
शक्तिव्यक्तिविभक्तविश्वविविधाकारौघाकेर्मीरितानंतानंतभवरथमुक्तपुरुषोत्पादव्ययध्रौव्यवत् ॥
स्वं स्वं तत्त्वमसंकरव्यतिकरं कर्तुंक्षणं प्रत्यथो भोक्तृनन्वयवः स्मरामि परमाश्चर्यस्य वीर्यस्य वः ॥ ४ ॥
यद्व्याहन्ति न जातु किंचिदपि न व्याहन्यते केनचित् । यन्निष्पीतसमस्तवस्त्वपि सदा केनापि न स्पृश्यते ॥
यत्सर्वज्ञसमक्षमप्यविषयस्तस्यापि चार्थाद्रिरं । तद्वः सूक्ष्मतमं स्वतत्त्वमभि वा भावा भवोच्छित्तये ॥ ५ ॥
गत्वा लोकशिरस्यधर्मवशतश्चंद्रोपमे सन्मुखप्राग्भाराख्यशिलातलोपरि मनागूनैकगव्यूतिके ॥
गोगोल्झांगदरोनमित्यपि मिथो संबाधमेकत्र यद्वध्यानंतमितोऽपि तिष्ठति स वः स्तुत्योऽवगाहो गुणः ॥ ६ ॥
सिद्धाश्चेद्गुरवो निराश्रयतया भ्रश्यंत्ययःपिंडवत् । तेऽधश्चेल्लघवोऽर्कतूलवदितश्चेतश्च वेदेन तत् ॥
श्लिष्यन्ते तनुवातवातवलयेनेत्युक्तियुक्तयुद्धतैर्नाभोपलक्षमनीष्यतेऽगुरुलघुः क्षुद्रैः कथं वो गुणः ॥ ७ ॥
यत्तापत्रयमेति भैरवभवोदर्चिःशमाय श्रमो । युष्माभिर्विदधे व्यपच्यत तदव्याबाधमेवध्रुवम् ॥
येनोद्वेलसुखामृतार्णवनिराद्वंकाभिषेकोल्लस- च्चित्कायात्कलयापि यः कलयितुं श्राम्यन्ति योगीश्वराः ॥ ८ ॥
एतेऽनंतगुणोद्गणाःस्फुटमपोद्धृत्याग्र दिग्मा भवत । तत्त्वाद्भावयितुं सतां व्यवहृतिप्राधान्यतस्तादिवेकैः ॥
एतद्भावनया निरंतरगलद्वीकल्पजालस्य मे । स्तावत्स्वंतलयः सनातनचिदानंदात्मनि स्वात्मनि ॥ ९ ॥
उत्कीर्णामिव वर्तितामिव हृदि न्यस्तामिवालोकयन् । एतां चिद्गुणसंस्तुतिं पठति यः शश्वच्छिवाशाधरः ॥
रूपातीतसमाधिसाधितवपुःपातःपतद्दुष्कृत-व्रातः सोऽभ्युदयोपभुक्तमुक्ततोद्रेकैर्न किं सिध्यति ॥ १० ॥

इति सिद्धस्तवः ॥

१ अब पं. आशाधर जी परममुख्य और अन्तिम मंगल ऐसी सिद्धपरमेष्ठिओंकी स्तुति करते हैं—सम्यग्दर्शन संपूर्ण कर्मसमुदायका नाश करनेवाला है. यह दुराग्रहरहित आत्माका स्वरूप दर्शानेवाला है. इसका अनुग्रह जब आत्मापर हो जाता है अर्थात् यह सम्यक्त्व जब आत्मामें प्रगट होता है तब ज्ञानगुणका पूर्ण विकास

होता है. यह केवलज्ञानकी अवस्थाको धारण करता है तब इस आत्मामें संपूर्ण गुणोंसे हमेशा परिपूर्ण, और सूक्ष्म व्यंजन पर्याय और स्थूल नर नारकादि पर्याय जिसमें उत्पन्न होते हैं ऐसे जीवपुद्गलादि षड्द्रव्योंको जाननेका सामर्थ्य उत्पन्न होता है. संपूर्ण भूत भविष्यद्वर्तमानकाल संबंधी पर्यायो सहित जाननेका सामर्थ्य प्राप्त होता है. सिद्धोंमें ऐसा सामर्थ्य प्राप्त हुआ है अतः मैं उनको नमस्कार करता हूं ।

२ दीपक जैसा सामान्य और विशेष पदार्थोंको एकदम और अलगभी प्रगट करता है वैसा केवलज्ञान भी वस्तुके सामान्य और विशेष पर्याय युगपत् और कथंचिद् भिन्नरूप अपने और तमाम पदार्थोंको प्रगट करता है. यह केवलज्ञान अनंत सुख देनेवाला है. इसकी प्राप्ति होनेपर संपूर्ण पदार्थ आत्मा जान लेती है तो भी वह उन पदार्थोंमें आसक्त नहीं होती है और द्वेषी भी नहीं होती है.

यह केवलज्ञान धारावाही ज्ञानके समान होकर भी प्रत्येक क्षणमें नवीन पर्यायोंको धारण करने वाले पदार्थ इसका विषय बनते हैं अतः इसमें प्रामाण्य प्राप्त होता है अनंत दर्शनके साथ यह केवलज्ञान मुक्तिलक्ष्मी की प्राप्ति कर देता है. हे सिद्ध परमेष्ठिन् ! ये दो गुण आपमें सदाके रहते हैं अतः मैं आपको नमस्कार करता हूं.

३ दर्शन सत्ताको विषय करता है और ज्ञान पदार्थ की विशेषताको दिखाता है. ये दर्शन और ज्ञान संपूर्ण जीवोंको नेत्रसमान समझने चाहिये. परंतु दोनोंमें इस प्रकार अंतर है—जो जीव कर्मसहित हैं अर्थात् जो ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मसे सहित हैं उनको ये नेत्र दर्शन पूर्वक वस्तुका स्वरूप दिखाते हैं. अर्थात् छद्मस्थ जीवोंको प्रथम दर्शनोपयोग होता है अनंतर ज्ञानोपयोग होता है. वह भी संपूर्ण पदार्थोंमें नहीं होता है. परंतु जिनका ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म नष्ट होगया है उनके ज्ञान दर्शनमें ऐसा सामर्थ्य प्रगट हुआ है कि जिसके सामर्थ्य से वे युगपत्संपूर्ण पदार्थोंको देखते हैं और जानते हैं हे सिद्ध भगवन् ! आप शरीररहित हुए हैं और आपको ऐसे अद्वितीय नेत्र प्राप्त हुए हैं. इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूं.

४ सिद्धपरमेष्ठिओंको अनंत शक्ति नामक आत्मगुण प्रकट होता है. इसके सामर्थ्यसे उनका ज्ञान आत्मतत्व को जानता है. सिद्ध पुरुषोंमें आत्माकी नानाप्रकारकी शक्ति अर्थात् गुण प्रगट हुए हैं. ये सर्व गुण आपसमें मिले रहनेपर भी सिद्धों को इनके स्वरूपका स्पष्ट अनुभव आता है. अपने उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्यके साथ संसारी जीवोंके समस्त शक्तिरूपमें रहनेवाले गुणोंको भी सिद्धपरमात्मा जानते हैं. उनके जाननेमें संकर व्यतिकर दोष उत्पन्न नहीं होता है. वे इन गुणोंके कर्ता और भोक्ता है. अतः ऐसे सिद्ध परमात्माओंका मैं मनमें स्मरण करता हूं.

५ सिद्धोंमें सूक्ष्मता नामक गुण है उस गुणसे इतर जीवोंको प्रतिबंध नहीं होता है और न वे इसको प्रतिबंध कर सकते हैं. समस्त वस्तुओंको वह स्पर्श करती है परंतु कोई भी उसको स्पर्श करनेमें असमर्थ है. भगवान् इस गुणको जान तो लेते हैं परंतु उनके भी वचन संपूर्णतया इसके वर्णनमें असमर्थ हैं. अर्थात् यह सूक्ष्मतागुण इतना सूक्ष्म है कि सूक्ष्मा जिनवाणी भी इसको ग्रहण नहीं करती है. हे सिद्धपरमात्मन् मैं संसारनाशके लिए उस तुह्मारे सूक्ष्म गुणका चिंतन करता हूं.

६ सिद्ध परमेष्ठि लोकके अग्रभागमें ऊर्ध्व गति स्वभावसे जाकर वहां चन्द्रसमान शुभ्र ऐसी मोक्ष शिला पर तिष्ठते हैं. उस शिलाको प्राग्भारा ऐसा नाम है. वह एक योजनमें कुछ कम ऐसे लोकाग्रमें है. और वातवलयमें विराजमान हैं जब सिद्ध परमेष्ठि सर्व योगोंसे रहित हो जाते हैं तब उनका आकार अन्तिमशरीरसे कुछ कम ऐसा होता है. उस समय उनमें पवित्र अवगाह नामक गुण उत्पन्न होता है. इस गुणके बलसे एक स्थानमें भी बाधारहित अनंतसिद्धोंके साथ वे रहते हैं यद्यपि अनन्त गुणोंका आश्रय स्थान हैं तो भी वे निराकुल अनन्त सिद्धोंके साथ रहते हैं यह सब हे सिद्धात्मन् ! आपके अवगाहगुणका ही प्रभाव है.

७ कोई क्षुद्र वादी लोक ऐसा कहते हैं—यदि सिद्धात्मायें भारी वजनदार हैं तो निराधार लोहेके पिंड समान नीचे गिरने चाहिए और यदि वे हलकी हैं तो आंकके कार्पास समान प्रचण्ड तनुवातवलयके द्वारा इधर उधर फेंके जाने चाहिए. परंतु जिनेंद्र भगवान् सिद्धोंको लघु अथवा गुरुभी नहीं मानते हैं. वे अगुरुलघु नामक गुणके धारक हैं ऐसा कहते हैं. इस गुणका स्वरूप वे क्षुद्रलोक क्या जान सकते हैं ?

८ शारीरिक, मानसिक तथा वाचानिक दुःखरूपी शस्त्रोंका आघात होनेसे जो भयंकर संसाररूपी अग्नि प्रकट हुआ था उसके नाशके लिये हे सिद्धपरमात्मन् ! आपने जो तपरूपी परिश्रम किया था उससे आपको अव्याबाध नामक गुण प्राप्त हुआ है. तटको उल्लंघकर बहनेवाले सुखसमुद्रके द्वारा आपका चैतन्यमय शरीर अभिषिक्त हो रहा है. आपके उस अव्याबाध गुणकी अंशमात्रभी प्राप्ति हमको होवे इस हेतुसे योगीश्वर श्रम करते हैं अर्थात् तप करते हैं.

९ सिद्धपरमेष्ठीओंमें यद्यपि अनत गुण हैं तोभी उनमेसे ये आठगुण अलग आचार्यने वर्णन किये हैं. अर्थात् व्यवहारको प्रधानता देनेवाले विद्वानोंने सिद्धोंका स्वरूप सत्पुरुषोंके द्वारा भाया जावे इस हेतुसे इन गुणों-

का अलग स्वरूप कहा है. इन गुणोंकी भावना मैं करता हूं जिससे मेरे सर्व विकल्पोंका नाश होकर चित्स्वरूपी अनाद्यनंत ऐसे आत्मामें मेरा अत्यंत लय होवे.

१० चैतन्यानुभवमय ऐसे सिद्धों के गुणोंकी स्तुति जो महात्मा अपने हृदयमें मानो उकीरी गई, अथवा लिखी गई, हृदयमें मानो स्थापित की.गई है इस प्रकार हमेशा मोक्षकी इच्छाकरके करता है वह निर्विकल्प शुक्लध्यानसे शरीरके त्यागके साथ संपूर्ण पापराशिका नाश करता है. जबतक ऐसा महात्मा संसारमें रहता है तबतक पुण्योदयसे संसारके वैभवोंको भोगता है. योग्य ही है कि पुण्योदयसे क्या हस्तगत नहीं होता है ?

इस प्रकार सिद्धस्तव समाप्त हुआ.

अथ प्रशस्तिः ।

श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः शाकंबरीभूषणः । तत्र श्रीरतिधाममंडलकरं नामास्ति दुर्गं महत् ॥
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वया । च्छ्रीसल्लक्षणतो जिनेंद्रसमयश्रद्धालुराशाधरः ॥ १ ॥
सरस्वत्यामिवात्मानं सरस्वत्यामजीजनत् । यःपुत्रं छाहडं गुण्यं रंजितार्जुनभूपतिम् ॥ २ ॥
व्याघ्रेरवालवरवंशसरोजहंसःकाव्यामृतौघरसपानसुतृप्तगात्रः ॥
सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षुराशाधरो विजयतां कलिकालिदासः ॥ ३ ॥
इत्युदयकीर्तिमुनिना कविसुहृदा योऽभिनंदितःप्रीत्या ॥ प्रज्ञापुंजोऽसीति च योऽभिहितो मदनकीर्तियतिपतिना ॥
म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति— ॥ त्रासाद्विन्ध्यनरेन्द्रदोःपरिमलस्फूर्जत्त्रिवर्गौजसि ॥
प्राप्तो मालवमंडले बहुपरीवारः पुरीमावसन् ॥ यो धारामपठज्जिनप्रमितिवाक्शास्त्रे महावीरतः ॥

प्रशस्ति अपूर्ण है.

पं. आशाधरजीने अपनी प्रशस्तीका जो परिचय दिया है उसका वर्णन इसप्रकार—

१ सांबर सरोवर जिसका भूषण स्वरूप है ऐसा सपादलक्ष नामका देश है वह त्रिवर्ग संपत्तिसे युक्त है, मंडलकर नामका लक्ष्मीका क्रीडागृहके समान एक बडा कीला है. इस कलि में बघेरवाल नामक वंशमें जिनेंद्रमतमें श्रद्धालु ऐसे पं. आशाधरजी उत्पन्न हुए. इनके पिताका नाम सल्लक्षण था और माताका नाम श्रीरत्नी था.

२ पं० आशाधरजीके पत्नीका नाम सरस्वती था. वाग्देवतामें अर्थात् सरस्वती में जैसा पंडितजीने अपने को उत्पन्न किया था वैसे सरस्वती नामक अपने पत्नी में उन्होंने छाहड नामका पुत्र उत्पन्न किया. यह पुत्र गुणवान था और इसने अर्जुन नामक मालवदेशके राजाको संतुष्ट किया था.

३–४ बघेरवाल वंश रूपी कमलमें जो हंसके समान है, काव्यामृत रसका पान करने से जिसका शरीर पुष्ट हुआ है, जो नयरूपी आखोंसे युक्त है, सल्लक्षणके सत्पुत्र ऐसे इस आशाधर कविको हम 'कलिकालिदास' इस उपाधिसे भूषित करते हैं. ऐसा कहकर कविके मित्र उदयकीर्ति मुनीने बडे प्रेमसे जिसका आदर किया है ऐसे आशाधर कवि जगतमें हमेशा विजयी होवे. इसी तरह मदनकीर्ति यतीश्वरने प्रज्ञापुंज ऐसा विरुद देकर इनको भूषित किया था.

५ साहिबुद्दीन नामक यवनराजाने सपादलक्ष नामक देश जब अपने कब्जे में कर लिया तब अपने सदाचारका विनाश होगा इस डरसे विंध्यराजाके बाहुप्रताप से जिसका रक्षण हो रहा था ऐसे मालव देशमें अपने बडे परिवारके साथ प्रवेश करके धारा नगरी में उन्होंने निवास किया. यहां वादिराज पंडितके शिष्य श्रीधरसेन थे और उनके शिष्य महावीर थे उनसे इन्होंने जैनेंद्र व्याकरण व जैनन्यायका अध्ययन किया. (यहां तक यह प्रशस्ति है. अत एव अपूर्ण है. विशेष जिज्ञासुओंको सागार धर्मामृत अनगार धर्मामृत की प्रशस्ति देखलेना चाहिए.

श्रीमदमितगतियतिपतिप्रशस्तिः ।

श्रीदेवसेनोऽजनि माथुराणां गणी यतीनां विहितप्रमोदः ॥
तत्त्वावभासी निहतप्रदोषः सरोरुहाणामिव तिग्मरश्मिः ॥ २२४० ॥
धूतजिनसमयोऽजनि महनीयो गुणमणिजलधेस्तदनु यतिर्यः ॥
शमयमनिलयोऽमितगतिसूरिःप्रदलितमदनः पदनतसूरिः ॥ २२४१ ॥
सर्वशास्त्रजलराशिपारगो नेमिषेणमुनिनायकस्ततः ॥
सोऽजनिष्ट भुवने तमोपहः शीतरश्मिरिव यो जनप्रियः ॥ २२४२ ॥
माधवसेनोऽजनि मुनिनाथो ध्वंसितमायामदनकदर्थः ॥
तस्य गरिष्ठो गुरुरिव शिष्यस्तत्त्वविचारप्रवणमनीषः ॥ २२४३ ॥

शिष्यस्तस्य मनीषिणोऽमितगतिर्मार्गत्रयालंबिनीम् ॥
एनां कल्मषमोषिणीं भगवतीमाराधनां स्थेयसीम् ॥
लोकानामुपकारकोऽकृत सतीं विध्वस्ततापां हृदः ॥
पद्यः सत्वनिषेवितस्य विमलां गंगां हिमाद्रेरिव ॥ २२४४ ॥
आराधनैषा यदकारि पूर्णा मासैश्चतुर्भिर्न तदस्ति चित्रम् ॥
महोद्यमानां जिनभाक्तिकानां सिध्यन्ति कृत्यानि न कानि सद्यः ॥२२४५॥
स्फुटीकृता पूर्वजिनागमादियं मया जने यास्यति गौरवं परम् ॥
प्रकाशितं किं न विशुद्धबुद्धिना महार्घतां गच्छति दुग्धतो घृतम्॥२२४६॥
यावत्तिष्ठति पांडुकंबलशिला देवाद्रिमूर्ध्नि स्थिरा ॥
यावत्सिद्धिधरा त्रिलोकशिखरे सिद्धैः समाध्यासिता ॥
तावत्तिष्ठतु भूतले भगवती विध्वंसयंती तमः ॥
सा चैषा श्रमदुःखनोदनपरा चंद्रप्रभेवोज्ज्वला ॥ २२४७ ॥

श्रीमदमितगतिसूरिप्रशस्तिः ॥

१ माथुरसङ्घके यतिओंके आचार्य, सब मुनिओं को आनन्द प्रद ऐसे देवसेन आचार्य होगये. जैसे सूर्य कमलोंको विकसित करता है, रात्रीका नाश करता है और पदार्थोंको दिखाता है वैसे ये देवसेन आचार्य निहत प्रदोष थे अर्थात् दोषरहित थे और अन्यमुनिओंको दोषोंसे रहित करते थे. जीवादि तत्वोंका स्वरूप इन्होने भव्य लोगोंको दिखाया था.

२ देवसेनाचार्य के शिष्य अमितगति नामक मुनि थे. वे गुणसमुद्र, शम और व्रतोंका आधारभूत थे, मदनका नाशकरनेवाले थे उनको बडे विद्वानभी वंदन करते थे. आचार्य जैनमतकी प्रभावना करनेवाले हुये हैं.

३ इनके अनन्तर इस माथुर संघमें नेमिषेण नामक आचार्य हुए हैं. सर्व शास्त्रसमुद्रके दुसरे किनारेके ये प्राप्त हुए थे. चंद्र जैसा लोकप्रिय रहता है. वैसे ये आचार्य लोकप्रिय व अज्ञानांधकारका नाश करनेवाले थे.

४ नेमिषेण आचार्यके शिष्य माधवसेन नामक आचार्य थे. इन्होंने माया और मदनका नाश किया था. ये बृहस्पतिके समान चतुर थे और इनकी बुद्धि तत्वविचारमें प्रवीण थी.

५ माधवसेन आचार्यके शिष्य अमितगति हुए हैं. उन्होंने यह भगवती आराधना बनायी है. यह पाप नाशिनी, संसारताप हरण करनेवाली गंगानदीके समान है. गंगानदी हिमाद्रीसे उत्पन्न हुई है. यह भगवती आराधना अमितगत्याचार्यरूपी हिमाचलसे उत्पन्न हो गई है.

६ आचार्यश्रीने यह ग्रंथ केवल चार महिनेमें बनाया है. इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है. क्यों कि महाप्रयत्नशाली जिनभक्त कोनसे कार्य सिद्ध नहीं कर सकते हैं ?

७ पूर्व जिनागमका [शिवकोट्याचार्य का भगवती आराधना ग्रंथ] आधार लेकर मैंने यह ग्रंथ रचा है. मेरा यह ग्रंथ विद्वज्जनोंमें आदरणीय होगा- जैसे दूधसे निकाला हुआ घृत मौल्यवान् और आदरणीय होता है.

८ जब तक मेरु पर्वतके शिखरपर पांडुशिला रहेगी, जब तक सिद्धों से अधिष्ठित सिद्धशिला त्रैलोक्य के शिखरपर विराजमान रहेगी, तब तक चन्द्रकांतिके समान उज्ज्वल, श्रमदुःख का परिहार करने वाली, अज्ञानांधकार का नाश करने वाली यह भगवती आराधना इस संसार में स्थिर रहे.

आराधनास्तवनम् ।

बंधुःस्वर्गापवर्गप्रभवसुखफलप्रापणे कर्मवल्ली ॥
नानाबाधाविधायिप्रचितकलिमलक्षालने जह्नुकन्या
रागद्वेषादिभाविव्यसनघनवनच्छेदने छेदनी या ॥
सारामाराधनासौ वितरतु तरसा शाश्वतीं वो विभूतिम् ॥ २२४८ ॥

९ यह आराधना स्वर्ग और मोक्ष का सुखफल देने में बंधुके समान है. नाना प्रकारकी बाधाओं को उत्पन्न करने वाले पापरूपी कीचडको धोनेके लिए यह आराधना गंगानदी के समान है. रागद्वेषादि विकारों से उत्पन्न होनेवाले संकटरूपी वनको तोडने वाली कुल्हाडी के समान यह आराधना ग्रंथ है. ऐसी यह आराधना तुम लोगों को इच्छित फल देनेमें समर्थ हो.

यामासाद्याचनम्रत्रिदशपतिशिरोघृष्टपादारविन्दाः ॥
सद्यः कुंदावदातस्थिरपरमयशःशोधिताशेषदिक्काः ॥
जायंते जंतवोऽमी जनजनितमुदः केवलज्ञानभाजो ॥
भूयादाराधना सा भवभयमथनी भूयसे श्रेयसे वः ॥ २२४९ ॥

१० इस की आराधना से भव्यजन इंद्रों के द्वारा पूजे जाते हैं. इस आराधनाके माहात्म्य से तत्काल भव्यजन कुंदपुष्प के समान अपने यशके द्वारा त्रैलोक्य भर देते हैं. इस आराधनाका साहाय्य मिलनेसे भव्योंको आनंदित करनेवाले केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है. ऐसी यह आराधना तुम लोगों को विपुल श्रेयः संपत्ति प्रदान करे.

यामाराध्याशु गंता शकलितविपदः पंचकल्याणलक्ष्मीम् ॥
प्राप्यां पुण्यैरपापां त्रिभुवनपतिभिर्निर्मितां भक्तिमद्भिः ॥
सम्यक्त्वज्ञानदृष्टिप्रमुखगुणमणिभ्राजितां यान्ति मुक्तिं ॥
सा चंद्या ह्यविद्यैर्विलसतु हृदये सर्वदाराधना वः ॥ २२५० ॥

११ इस आराधनाकी आराधना से विपत्तिओंका नाश होता है और देवेंद्र, धरणेंद्र और चक्रवर्तिद्वारा भव्य जीवोंको पंचकल्याणकी विभूति प्राप्त होती है. सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र इत्यादि सद्गुणमणिओंसे अलंकृत होकर वे मुक्तीके नाथ बन जाते हैं. हम अज्ञानी हैं हम इस आराधनादेवीको वंदन करते हैं. वह हमारे हृदय में सर्वदा निवास करे.

या सौभाग्यं विधत्ते भवति भवभिदे भक्तितः सेव्यमाना ॥
या छिन्ते मोहदैत्यं भुवनभवभृतां साध्वसं ध्वंसयंती ॥
यां चानासाद्य देही भ्रमति भववने भूरिभावाद्रिरौद्रे ॥
सा भद्राराधना वो भवतु भगवती वैभवोद्भावनाय ॥ २२५१ ॥

१२ जो आराधना सौभाग्यको उत्पन्न करती है. भक्तीसे इसकी सेवा करनेसे यह संसारका नाश करती है. मोहरूपी दैत्यका विध्वंस करके संसारमें प्राणिओंके भयको दूर भगाती है. इसकी प्राप्ति नहीं होनेपर प्राणीओंको नाना प्रकारके कुभावरूप पर्वतोंसे घिरे हुए संसारजंगलमें भ्रमण करना पडता है. अतः यह कल्याण करनेवाली आराधना हमको ऐश्वर्य प्राप्तिमें सहायक बने.

या कामक्रोधलोभप्रभृतिबहुविधग्राहनक्रावकीर्णा ॥
संसारापारसिंधोर्भवमरणजरावर्तगर्तादुपेत्य ॥
गच्छन्त्युत्तीर्य सिद्धिं सपदि भवभृतः शाश्वतानंतसौख्यम् ॥
भव्यैराराधनानौर्गुणगणकलिता नित्यमारुह्यतां सा ॥ २२५२ ॥

१३ यह संसारसमुद्र काम, क्रोध, लोभ, वगैरह नाना प्रकारके ग्राह और नक्रोंसे भरा हुआ है. इसमें जन्म, मरण और जरारूपी भोवरें हैं ऐसे संसार समुद्रमें पडा हुआ प्राणी सद्गुणोंसे बनी हुई आराधनाका आश्रय लेकर उससे उत्तीर्ण होता है तथा नित्य अनंत सुख देनेवाले मोक्षको प्राप्त कर लेता है.

या मैत्रीख्यातिकांतिद्युतिमतिसुगतिश्रीविनीत्यादिकांताम् ॥
संयोज्योपार्जनीयामवहितमतिभिर्मुक्तिकांतां युनक्ति ॥
मुक्ताहाराभिरामा मम मदशमनी सम्यगाराधनाली ॥
भूयाच्छ्रेयसी सा विमलितमनसां साधयन्तीप्सितानि ॥ २२५३ ॥

१४ आराधनाकी सेवा करनेसे वह सेवकोंको मैत्री, ख्याति, कांति, शोभा, बुद्धि, सुगति, संपत्ति, नम्रता इत्यादि स्त्रियोंके साथ संयुक्त करती है. और अन्तमें अवश्य प्राप्ति करनेके योग्य ऐसी मुक्ति भी देती है. यह आराधना मोतिओंकी मालाके समान सुंदर है. मेरे मदको नष्ट करके निर्मल चित्तवाले पुरुषोंको इष्ट पदार्थ समर्पण करती हुई मेरे सान्निध हमेशा रहनेकी कृपा करें.

स्वांतस्था या दुरापा नियमितकरणा स्पष्टसर्वोपकारा ॥
माता सर्वाश्रमाणां भवमथनपराऽनंगसंगापहारा ॥
सत्या चित्तापहारी बुधहितजननी ध्वस्तदोषाकरश्रीः ॥
दद्यादाराधना सा सकलगुणवती नीरजा वः सुखानि ॥ २२५४ ॥

१५ यह आराधना दुर्लभ है. जब प्राणिओंके मनमें यह मुकाम करती है तब उसको जितेन्द्रिय बनाती है. सर्व प्रकारके उपकार करती है. ब्रह्मचर्यादि चारो आश्रमोंकी यह माता है. संसारका नाश करके, कामविकारको दूर भगाती है. सत्यही इसका स्वरूप होनेसे चिन्मय आत्माके संसारतापको दूर करती है. विद्वानोंका

हित करती है संपूर्ण दोषोंको हटाती है और चंद्रकी शोभाको नष्ट करती है. अर्थात् चंद्रकी शोभा भी इसके सामने फीकी मालूम पडती है. सकलगुणसंपन्ना पापरहित यह आराधना हम लोगोंको सदा सुखी करे.

उद्यद्दुःखाद्रिदुर्गं गुरुदुरितदवं दग्धुमग्नीयमाना ॥
हर्तुं मोहान्धकारं कवलितनिखिला तिग्मरश्मीयमाना ॥
निःशेषं वस्तु दातुं भवभृदभिमतं कामधेनूयमाना ॥
निर्बाधा या विधत्तामभितगतिसुखं शीघ्रमाराधना वः ॥ २२५५ ॥

१६ जो अत्युच्च दुःखरूपी पर्वतोंसे घिरा हुआ है ऐसे पापरूपी बडे वनको भस्म करनेमें यह आराधना अग्निके समान है. मोहरूपी अंधकारको नष्ट करनेके लिये यह सूर्यके तुल्य है. संपूर्ण इच्छित वस्तु देनेमें यह कामधेनूकी बराबरी करती है. ऐसी यह आराधना निर्बाध अनंत ज्ञान जिसमें भरा हुआ है ऐसा सुख तुम लोगोंको प्रदान करे

श्वभ्रभूमिज्वलद्वह्नेर्याऽविच्छिन्नजलोद्गतिः ॥
अद्य नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५६ ॥

१७ नरकभूमिमें प्रज्वलित अग्निको शांत करनेके लिये यह आराधना अविच्छिन्न मेघाके समान है. ऐसी रत्नत्रयसे निर्मलरूप आराधना हमको प्राप्त हो.

यैषा कुद्दालिका शाता तिर्यग्दुःखांकुरोद्धृतौ ॥
अद्य नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५७ ॥

१८ तिर्यग्गतिके दुःखरूपी तृणांकुरको उखाडनेके लिये जो कुद्दालकतुल्य है. ऐसी यह आराधना हमारा रक्षण करे.

मर्त्यचिंतितलाभाय यैषा कल्पद्रुमायते ॥
अद्य नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५८ ॥

१९ मनुष्योंको चिंतित पदार्थ देनेके लिये जो कल्पवृक्षके तुल्य मानी गई है ऐसी रत्नत्रयसे विशुद्ध हुई यह आराधना हमारा रक्षण करे.

दूतिका ह्वतये येयं महर्द्धिकसुरश्रियः ॥
अथ नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५९ ॥

२० महाऋद्धिशाली देवोंकी लक्ष्मीको बुलानेके लिये जो दूतीके समान है ऐसी यह रत्नत्रयसे निर्मल बनी हुई आराधना हमारा रक्षण करे.

मुक्तिदाने क्षमा यास्ति विरतिर्भवसंततेः ॥
अथ नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२६० ॥

२१ जो मुक्तिप्रदान करनेमें समर्थ है, जो भवपरंपराका नाश करती है ऐसी यह रत्नत्रयनिर्मल आराधना हमारा संरक्षण करे.

एषैव परमो धर्म एषैव परमं तपः ॥
एषैवार्हद्वचो वाच्यमेषैव ध्यानसंगतिः ॥ २२६१ ॥
एषैव परमो लाभ एषैव परमं मतम् ॥
एषैव परमं तत्वमेषैव परमा गतिः ॥ २२६२ ॥
एतस्या दुर्लभं ब्रूहि त्रिलोके कतमत्सुखम् ॥
अतः शरणमेषैका भवतान्मे भवे भवे ॥ २२६३ ॥

२२–२३ यह आराधनाही उत्कृष्ट धर्म है, उत्कृष्ट तप है, जिनेश्वरने अपनी दिव्यध्वनीसे इसकाही वर्णन किया है. इसकोही ध्यान की प्राप्ति होनेमें कारण मानना चाहिये. जगतमें आराधनाकी प्राप्ति होना ही परम लाभ है यही उत्तम मत है. यही उत्तम तत्व है और यही हमारी परम संरक्षिका है. इसकी जिसको प्राप्ति हुई है उसको जगतमें कोनसा सुख परम दुर्लभ है ? इसलिये प्रत्येक भवमें मैं इसका ही आश्रय ग्रहण करूंगा.

या सर्वज्ञहिमाचलादपसृता शीलप्रवाहात्मिका ॥
या सर्वर्द्धिसमर्थितैर्गणधरैराराधिता निर्मला ॥
या दुर्वारभवासुखाहततृणां निर्वापणी स्वर्धुनी ॥
सा वः पापविशोधनाय शुभदा भूयात्सदाराधना ॥ २२६४ ॥

२४ सर्वज्ञ जिनेश्वर रूपी हिमाचलसे इस आराधनारूपी गंगा नदीकी उत्पत्ति हुई है. यह शीलरूपी प्रवाहसे युक्त है. सर्व ऋद्धि के धारक गणधरों से यह मानी गई है. यह निर्मल है. दुर्वार संसार के असुख से पीडित पुरुषोंको आनंदित करनेवाली, ऐसी यह आराधना गंगा पापनाश करनेके लिए कारण होवे. और हमारा हमेशा कल्याण करें

या सज्ज्ञानसमृद्धिनालकलिता सम्यक्त्वसत्कर्णिका ॥
या चारित्रपलाशसंचयाचिता द्वेधा तपोभासुरा ॥
या भव्योत्तमषट्पदैः परिवृता नैःसग्यपद्माकुला ॥
सा वोऽस्याद्भवतापमुज्ज्वलगुणैराराधना पद्मिनी ॥ २२६५ ॥

२५ सम्यग्ज्ञानकी उन्नति होना ही जिसका नालदंड है. सम्यक्त्वरूपी कर्णिका से जो युक्त है, तेरह प्रकारका चारित्र ही जिसके पत्र हैं. दो प्रकार के तप से जो प्रफुल्लित है, जो भव्य पुरुषरूपी उत्तम भ्रमरोंसे वेष्टित हुई है, और निष्परिग्रहता रूप कमलसे जो सुन्दर दीखती है ऐसी यह आराधनारूप पद्मिनी–कमलिनी अपने उज्ज्वल गुणों से आराधक ऐसे तुम लोगों का भवसंताप दूर करे.

या सर्वास्रवरोधिनी कलिमलं दूरं निरस्यांगजम् ॥
सैद्धं चारुपदं नयेद्गुणवतो भव्यात्मनो वांछितम् ॥
चक्रेशादिसुखं सुरैरभिनुतं संयोज्य संन्यस्यतां ॥
सा वः स्यान्मुनिहंससेवितरसा देवापगाराधना ॥ २२६६ ॥

२६ यह आराधनारूप गंगा नदी संपूर्ण आस्रवोंको रोकती है, शरीर में उत्पन्न हुए रागद्वेषादिक मल नष्ट कर गुणवान् भव्य जीवको इष्ट सुन्दर ऐसा सिद्धपद अर्पण करती है. सल्लेखना मरणका जिन्होंने आश्रय लिया है ऐसे सत्पुरुषोंको देवोंके द्वारा वन्दनीय ऐसा चक्रवर्त्यादिकोंका सुख देती है. मुनिहंस जिसके रसका पान करते हैं ऐसी आराधना रूप गंगा आपको प्राप्त होवे.

या शीलोज्ज्वलपुष्पगंधसुभगा सद्ध्यानसत्पल्लवा ॥
भास्वद्दर्शनसंभवा वरतपःपत्रोच्चयेनाचिता ॥

सम्यग्वृत्तलसन्महाफलवती भव्यालिझंकारिता ॥
सा वो मानसभूतले प्रसरतादाराधनावल्लरी ॥ २२६७ ॥

२७ यह आराधना लता शीलरूपी उज्ज्वल पुष्पगंध से सुरम्य दीखती है, धर्मध्यान और शुक्लध्यान रूपी पल्लवोंसे युक्त है, निर्मल सम्यग्दर्शनरूपी बीजसे इसकी उत्पत्ति हुई है, उत्कृष्ट तपरूपी पत्तों से भर गयी है; सम्यक्चारित्र रूपी महाफल इसको उत्पन्न हुए हैं भव्य पुरुषरूपी भ्रमर इस के ऊपर गुंजारव कर रहे हैं. ऐसी यह आराधनारूप वल्ली तुम्हारे मनोभूमी में खूब प्रसारको प्राप्त होवे-

या श्रीमच्छ्रुतशीलनीरकलिता निर्वाणदानक्षमा ॥
याऽपुण्यांबुधितारिणी शुचितया रंगत्तरंगाकुला ॥
या निर्धूय कलेवराणि महतः संस्थापयेत्सत्सुखे ॥
सा वो मंगलमातनोतु नितरामाराधनास्वर्धुनी ॥ २२६८ ॥

२८ यह आराधना रूप गंगा नदी श्रुतज्ञान और शीलरूप पानी से भरी रहती है- निर्वाणमोक्ष देनेमें समर्थ है. पुण्यसमुद्रको प्राप्त होती है. दोषरहित है. शुक्ल ध्यानरूपी तरंगोंसे युक्त है- सत्पुरुषोंके शरीरका नाश करके जो उनको उत्कृष्ट मोक्ष सुख देती है ऐसी यह आराधनागंगा तुम लोकोंका पूर्ण कल्याण करे.

या मोहासुरसंगलब्धविजया सर्वार्थसंपादनी ॥
शूराणामसमाधिनाशनधिया कार्तित्रयाणां सताम् ॥ (?)
या दुर्वारमहोपसर्गमथनी सिद्धिप्रियाणां सती ॥
सा वः पातु भवाटवीं प्रतिगतानाराधनाऽम्बिका ॥२२६९॥

२९ यह आराधनारूप अंबिका देवी मोहासुरका पराजय करके विजयी हुई है. इसकी भक्ति करनेवाले पुरुषोंको मनें इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है. यह देवी परीषहसहिष्णु शूर मुनिओंका दुःख नष्ट कर समाधिकी प्राप्ति कर देती है. मुनिओंके उपसर्ग कष्ट नष्ट करके सिद्धिकी प्राप्ति कर देती है. ऐसी यह आराधना देवता संसार वनमें भटकनेवाले हम लोगोंका रक्षण करे.

या शुद्धाष्टकचारुमौक्तिकफलैर्मध्यस्थदिङ्नायकैः ॥
भास्वद्बोधविचित्रसूत्ररचितैश्चारित्रसल्लक्षणैः ॥

श्रीमद्गुप्तिसमुज्ज्वलैर्विरचिता दोषोग्ररोगापहा ॥
सा वास्तिष्ठतु वक्षसीह सुतरामाराधनाकंठिका ॥ २२७० ॥

३० यह आराधना कंठके मुक्ताहार तुल्य है. इसमें षोडशकारण भावनारूप मोती पिरोये गये हैं. बीच बीचमें दशलक्षण रूप नायकरत्नोंकी रचना की गयी है. उज्ज्वल सम्यग्ज्ञानरूपी सूतके द्वारा यह आराधनारूप मुक्ताहार रचा गया है. चारित्र और गुप्ति एतत्स्वरूपी मौक्तिक भी इसमें हैं. ऐसी यह आराधना कंठी आप लोगोंके वक्षस्थलपर हमेशा रहे.

या निःशेषपरिग्रहेभदलने दुर्वारसिंहायते ॥
या कुज्ञानतमोघटाविघटने चंडांशुरोचीयते ॥
या चिंतामणिरेव चिंतितफलैः संयोजयंती जनान् ॥
सा वः श्रीवसुनंदियोगिमहिता पायात्सदाराधना ॥ २२७१ ॥

३१ यह आराधना सर्व परिग्रहरूपी हाथिओंका घात करनेके कार्य में सिंह समान है. अज्ञानांधकारका समूह नष्ट करनेके लिये सूर्यकांतिके समान है. चिन्तितफलोंके देनेके लिये वह सब जनोंको चिन्तामणि रत्नतुल्य है. श्रीवसुनंदि आचार्यसे पूजित ऐसी यह आराधना आप लोगोंका नित्य रक्षण करे.

या संसारमहोदधेः प्रतरणी नौरेव भव्यात्मनाम् ॥
या दुःखज्वलनावलीढवपुषां निर्वापणी स्वधुनी ॥
या चिंतामणिरेव चिंतितफलैः संयोजयन्ती जनान् ॥
सा निःश्रेयसहेतुरस्तु भवतामाराधना देवता ॥ २२७२ ॥

३२ भव्य जीवोंको संसारसमुद्र तरनेके लिये यह आराधना नौकाके समान है. दुःखरूपी अग्नीसे जलनेवाले लोगोंको शांतिसुख देनेवाली स्वर्गंगाके समान है. जो चिंतित इष्टफलोंसे लोकोंको संयुक्त कर देती है वह आराधना तुम लोगोंको मोक्ष देनेमें हेतु बने.

या पुण्यास्रवमूर्तिरेकपदवी स्वर्गालयारोहिणाम् ॥
या मार्गत्रयवर्तिनीति विदिता निर्धूतनानारजाः ॥

यस्याः सद्गुरुपर्वतः प्रभव इत्याहुः पुरावेदिनः ॥
सा वः पापमलानि गालयतु स्वल्वाराधनास्वर्धुनी ॥ २२७३ ॥

३३ पुण्यास्रवकी मानो मूर्ति ऐसी यह आराधना गंगा स्वर्गारोहण करनेवालोंको मार्गस्वरूप होने. रत्नत्रयरूप होनेसे लोग इसको त्रिमार्गगा कहते हैं. इसकी सेवासे नानाप्रकारके पातक नष्ट होते हैं. सद्गुरुरूपी पर्वतसे इस आराधनागंगाका जन्म हुआ है ऐसे प्राचीन आचार्य कहते हैं. अतः पापमलसे रहित यह गंगानदी तुह्मारे अन्तःकरणमें वास करे.

या सर्वज्ञहिमाचलात्प्रगलिता पुण्यांबुपूर्णा शुचिः ॥
या सज्ज्ञानचरित्रलोचनधरैर्मूर्ध्ना गणीन्द्रैर्धृता ॥
या कर्मानलघर्मपीडितमुनीन्द्रेभावगाहक्षमा ॥
सा वो मंगलमातनोतु भगवत्याराधनास्वर्धुनी ॥ २२७४ ॥

३४ यह आराधनागंगा सर्वज्ञ जिनेश्वररूपी हिमालयसे उत्पन्न हुई है. पुण्यरूपी जलसे भरी है और पवित्र है. सम्यग्ज्ञान और चारित्ररूप लोचन–आंखे धारण करनेवाले गणधरोंने जिसको अपने मस्तकपर धारण किया है. कर्मरूपी अग्निसे पीडित मुनीश्वररूपी हाथी जिसमें अवगाहन करते हैं ऐसी यह आराधना स्वर्गनदी तुह्मारा मंगल करे.

या पुण्यांबुधिपूरणी कलिमलप्रक्षालनैकोद्यमा ॥
या निर्धूय कलेवराणि विमलीकर्तुं क्षमाराधकान् ॥
यामासाद्य मुनीभयूथपतयो निर्वान्त्यपंकात्मिकाम् ॥
सा वोऽन्तर्मलदाहमाशु निहतादाराधनास्वर्धुनी ॥ २२७५ ॥

३५ यह नदी पुण्यसमुद्रको पूर्ण करती है. पापमल धोनेके कार्यमें यही समर्थ है. यही मुनिओंके शरीरका नाश करके उनको निर्मल बनाती है. पापरूपी कीचडसे रहित ऐसी इस नदीको प्राप्त करके मुनिरूपी हाथीके नायक प्रमोदयुक्त होते हैं. ऐसी यह आराधनानदी हमारी आत्माके अन्तःस्थित कर्ममलके दाहका नाश करे.

या संसारमहाविषापहरणे सन्मंत्रविद्यायते ॥
या कर्माष्टतलाटवीप्रदहने दावानलोयीयते ॥

या दुर्मोहतमोघटाविघटने चंडांशुरोचीयते ॥
सा वः पापमलानि हंतु रुचिरा रत्नत्रयाराधना ॥ २२७६ ॥

२६ जो संसाररूपी तीव्र विषका हरण करनेमें उत्तम विद्याके समान हैं, जो कर्मरूपी वल्लीका वन जलानेमें दावाग्नीके समान है, जो मिथ्यामोहांधकार को नष्ट करनेमें सूर्यकान्तीके समान आचरण करती है ऐसी यह मनोहर रत्नत्रयाराधना हमारे पापमलोंका नाश करे.

धर्मारामहातरोः फलवती या पुण्यसन्मंजरी ॥
मुक्तिश्रीललनाभिसारणपटुर्मृष्टाक्षरा शंफली ॥
स्वर्गाग्रप्रविभासिसौधशिखरारोहैकनिःश्रेणिका ॥
सा वः पातु पवित्रमूर्तिरमला रत्नत्रयाराधना ॥ ॥ २२७७ ॥

२७ यह आराधना धर्मरूपी बगीचे के बडे वृक्षकी फलयुक्त उत्तम मंजरी है यह आराधना मुक्तिरूपी सुंदरी को अभिसरण करने लिये प्रवृत्त करनेवाली स्पष्ट और मधुर बोलनेवाली दासी है. स्वर्गके अग्रभागपर शोभनेवाले मोक्षरूप प्रासादके उपरके भागपर आरोहण करनेके लिये यह आराधना नसैनीके समान है. ऐसी यह पवित्र और निर्दोष आराधना तुह्मारा संरक्षण करे.

या सद्दृष्टिरुचिप्रभास्वरतनुः संज्ञाननेत्रोज्वला ॥
सच्चारित्रविभूषणा शुचितपःशीलौघमाल्यांबरा ॥
मुक्तिश्रीवरकामिनीप्रियसखी पुष्पेषुविद्वेषिणी ॥
सा धीरैरभिवंदिता मम हृदि स्तान्नित्यमाराधना ॥ २२७८ ॥

२८ यह आराधना सम्यग्दर्शनरूपी कांतिसे सुंदर दीखती है. पवित्र तप और शीलसमुदायरूपी पुष्पमाला और वस्त्र धारण करनेवाली है. मुक्तिलक्ष्मीरूपी सुंदर स्त्रीकी यह प्रियसखी है. यह मदनका द्वेष करती है. विद्वान पुरुषोंने जिसको वंदन कियाहै ऐसी यह आराधना मेरे हृदयमें नित्य वसती करे

या शुद्धयष्टकयुक्तदर्शनदलं ज्ञानोल्लसत्कर्णिकम् ॥
चारित्रोज्ज्वलदीर्घनालममलं शीलोल्लसत्केसरम् ॥

मुक्तिश्रीललनानिवासकमलं धत्ते गुणैर्निर्मितम् ॥
सा मे हृत्सरसि स्फुटं विकसतादाराधनापद्मिनी ॥ २२७९ ॥

२९ शुद्धयष्टकोंके साथ रहनेवाला सम्यग्दर्शन ही जिसके दल हैं, अर्थात् निःशंकितादिक आठ अंग ही इस कमलके दल हैं ज्ञानही जिसकी उज्ज्वल कर्णिका है, चारित्रही जिसका उज्ज्वल और दीर्घनाल-दंड है, निर्मल शील समुदायही जिसका केसर है. जो मुक्तिरूपी लक्ष्मीका निवास स्थान है ऐसे कमलको धारण करने वाली, गुणोंसे उत्पन्न हुई ऐसी यहा आराधनारूप कमालिनी मेरे हृदयरूप सरोवरमें हमेशा विकास युक्त रहे.

इसप्रकार श्री अमितगत्याचार्यविरचित आराधनास्तव समाप्त हुआ.

नक्षत्रगुणान्वर्णयिष्यामि ।

१ तं जधा । अस्सिणीणक्खत्ते जइ संथारं गिण्हदि तो सादिणक्खत्ते रत्ते कालं करेदि ॥

२ भरणिणक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तो रेवदिणक्खत्ते पच्चूसे मरदि ॥

३ किंतिगणक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि उत्तरफागुणिणक्खत्ते मज्झण्हे मरइ ॥

४ रोहिणीणक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तो सवणणक्खत्ते अद्धरत्ते मरदि ॥

५ मियसिरणक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तो पुव्वफग्गुणणक्खत्ते मरदि ॥

६ अद्दाणक्खत्ते जदि संथार गेण्हदि तो उत्तरदिवसे मरदि । जदि ण मरेदि तदा तम्हि पुरोगदे णक्खत्ते मरिस्सदि ॥

७ पुनर्वसुणक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तदा अस्सणिणक्खत्ते अवरण्हे मरदि ॥

८ पुस्सणक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तो मियसिरणक्खत्ते मरदि ॥

९ असलिसणक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तो चित्तणक्खत्ते मरदि ॥

१० मघणक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तो तद्दिवसे मरदि यदि ण मरदि तदा तम्हि पुरोगदे णक्खत्ते मरदि ॥

११ पुव्वफग्गुणिणक्खत्ते यदि तो धणिट्ठाणक्खत्ते दिवसे मरदि ॥

१२ उत्तरफग्गुणिणक्खत्ते यदि तो मूलणक्खत्ते पदोसे मरदि ॥

१३ हत्थणक्खत्ते यदि तो भरणिणक्खत्ते दिवसे मरदि ॥

१४ चित्ताणक्खत्तेण यदि तो मियसिरणक्खत्ते अद्धरत्ते मरदि ॥

१५ सादिणक्खत्ते यदि तो रेवदिणक्खत्ते पभादे मरदि ॥

१६ विसाहणक्खत्ते जदि तो असिलेसाणक्खत्ते मरदि ॥

१७ असिलेसाणक्खत्ते जदि तो पुव्वभद्दणक्खत्ते दिवसे मरदि ॥

१८ मूलणक्खत्ते जदि तो जेट्ठणक्खत्ते पभादवेलाए मरदि ॥

१९ पुव्वासाढणक्खत्ते जदि तो मियसिरणक्खत्ते पदोसवेलाए मरदि ॥

२० उत्तरासाढणक्खत्ते जदि तो तद्दिवसे चेव अहवा भद्दपदणक्खत्ते अवरण्हे मरदि ॥

२१ सवणणक्खत्ते जदि तो उत्तरभद्दणक्खत्तेण तद्दिवसे कालं करेदि ॥

२२ धणिट्ठाणक्खत्ते यदि तो तद्दिवसे कालं करेदि, यदि तद्दिवसे कालं ण करेदि तो पुण तद्दिवसे चेव आगदे मरदि ॥

२३ सदभिसणक्खत्तेण यदि गिण्हदि जेट्ठाणक्खत्तेण अत्थवणवेलाए मरदि ॥

२४ पुव्वभद्दपदणक्खत्तेण जदि तो पुणव्वसुणक्खत्ते रत्तिं मरदि ॥

२५ उत्तरभद्दपदे जदि तो दिवसे वट्टमाणे वा पुण रादो वा मरदि ॥

२६ रेवतिणक्खत्ते जदि तो मघणक्खत्ते मरदि ॥

इति मरणकंडिका णक्खत्तगणनया सम्मत्ता ॥

नक्षत्रगुणोंका वर्णन—

१ यदि अश्विनी नक्षत्रके समय क्षपकने संस्तर ग्रहण किया होगा तो स्वाति नक्षत्रके समय रातमें उसको समाधिमरण प्राप्त होता है.

२ यदि भरणि नक्षत्रके समय क्षपकने समाधि मरणके लिये संस्तरका-बिछानेका आश्रय किया होगा तो रेवती नक्षत्रके समय दिनके प्रारंभ समयमें उसको समाधिमरण प्राप्त होगा.

३ कृत्तिका नक्षत्रके समयपर यदि मुनि बिछानेपर शयन करेंगे तो उत्तर फाल्गुनी नक्षत्रपर मध्यान्ह कालमें उनका मरण होगा.

४ रोहिणी नक्षत्रपर संस्तर ग्रहण करनेवाले मुनिओंको श्रवण नक्षत्रमें आधी रातके समय मरण प्राप्त होगा.

५ मृगशिर नक्षत्रपर सल्लेखनाका आश्रय करनेसे पूर्व फाल्गुनि नक्षत्रपर मुनिका देहान्त होगा.

६ आर्द्रा नक्षत्रमें यदि संस्तर ग्रहण किया जायगा तो उत्तरा नक्षत्रके दिन मरण होगा यदि न होगा तो आगेके नक्षत्रमें उसकी मृत्यु होगी.

७ पुनर्वसुनक्षत्र पर बिछाना ग्रहण करने से अश्विनी नक्षत्रपर अपराह्णकालमें मरण होगा.

८ पुष्यनक्षत्रपर शय्या ग्रहण करनेसे मृगशिर नक्षत्रपर मरण होता है.

९ आश्लेषानक्षत्रके समय शय्याका स्वीकार करनेसे चित्रानक्षत्रपर मरण होता है.

१० मघानक्षत्रके समय शय्याका स्वीकार करनेसे उसी नक्षत्रके दिनमें मरण होता है यदि न होगा तो आगेके नक्षत्रमें होता है.

११ पूर्वफाल्गुनिनक्षत्रमें यदि संन्यास ग्रहण करनेके लिये शय्याका स्वीकार किया होगा तो धनिष्ठानक्षत्रके समय दिनमें मरण होगा.

१२ उत्तर फाल्गुन नक्षत्रमें यदि शय्या ग्रहण की होगी तो मूलनक्षत्रपर सायंकाल में मरण होगा.

१३ हस्तनक्षत्रपर यदि संन्यास ग्रहण किया जायगा तो भरणी नक्षत्रपर दिनमें मरण होगा.

१४ चित्रानक्षत्रमे यदि संन्यास ग्रहण किया हो तो मृगशिर नक्षत्रपर आधीरातमें मरण होगा.

१५ स्वातीनक्षत्र पर शय्याग्रहण करनेसे रेवतिनक्षत्रके समय प्रभात कालमें मरण होगा.

१६ विशाखा नक्षत्रपर शय्या धारण करनेसे आश्लेषा नक्षत्रपर मरण होता है.

१७ आश्लेषा नक्षत्रपर शय्या ग्रहण करनेसे पूर्वभाद्रनक्षत्रमें दिनमे मरण होगा.

१८ मूलनक्षत्रपर शय्या ग्रहण करनेसे ज्येष्ठानक्षत्रपर प्रभात कालमें मरण होता है.

१९ पूर्वाषाढानक्षत्रमें शय्या ग्रहण करनेसे मृगशिर नक्षत्रपर रातके प्रारंभके समय मरण होता है.

२० उत्तरापाढा नक्षत्रपर संन्यास ग्रहण करनेसे उसी दिनमें अथवा भाद्रपदा नक्षत्रमें अपराण्ह कालमें मरण होता है.

२१ श्रवणनक्षत्रमें यदि शय्या ग्रहण की जाय तो उत्तरभाद्रपदनक्षत्रमें दिनमें काल होगा.

२२ धनिष्ठा नक्षत्रपर शय्याग्रहण करनेसे उसी नक्षत्रके दिनमें मरण होगा यदि न होगा तो आगेके उसी नक्षत्रके दिनमें मरण होगा.

२३ शतभिषज्नक्षत्रपर संन्यास ग्रहण करनेवाले मुनीका ज्येष्ठानक्षत्रपर सूर्यास्त समयमें मरण होता है.

२४ पूर्वभाद्रपदनक्षत्रमें यदि शय्या ग्रहण की जाय तो पुनर्वसुनक्षत्रपर रातमें मरणकाल होगा.

२५ उत्तर भाद्रपदनक्षत्रमें संस्तर ग्रहण करनेपर उस दिनमें अथवा रातमें मरण होगा.

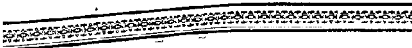
२६ रेवती नक्षत्रपर संस्तरग्रहण करनेवाले क्षपकका मृगनक्षत्रपर मरण होता है.

नक्षत्रगणनाके अनुसार यह मरणकंडिका समाप्त हुई है.

शुभं भवतु पाठकानुवादकप्रकाशकमुद्रकाणामित्याशासे ॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रंथः ॥





श्रीविजयोदयामूलाराधनासहिता हिंदीभाषोपेता

भगवती आराधना समाप्ता ।